'ज़िंदावस्था' और 'वेद' की भाषाओं की समानता

मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित होकर पारसियों के गरोह-के-गरोह अपनी मातृभूमि—'पर्शिया'—को अंतिम नमस्कार कर, अखिल विश्व के धर्मों में दैवी सत्य स्वीकार करनेवाली भारत-भूमि की ही शरण में आए थे। पश्चिमी भारत के तटों पर उन्होंने अपने जहाज़ लगाए, और इस पुण्यभूमि ने उन भयभीत प्राणियों को अपने अंचल में छिपाकर शत्रुओं के क्रूर आक्रमणों से बचा लिया। ये लोग इधर आते हुए अपनी धर्म-पुस्तकों को, मुसलमानों से छिपाकर, अपने साथ लेते आए थे, और इन्हीं में से एक विद्वान् पारसी पुरोहित ने—जिसका नाम नर्योसिंघ धवल था—अपने धर्म के अनेक ग्रंथों का पहलवी-भाषा से संस्कृत में अनुवाद भी किया, जिससे भारतीयों को पारसियों के धर्म का कुछ परिचय हो जाय। इस प्रकार पारसी-धर्म ने पर्शिया से सताए तथा भगाए जाने पर पश्चिमी भारत की संरक्षा में अपने प्राणों को बचाया।

पाश्चात्य विद्वानों को पारसी-धर्म का परिचय तब मिला, जब योरप का भारत के पश्चिमी भाग से व्यापारिक संबंध उत्पन्न हुआ। वैसे तो १७वीं शताब्दी में ही ज़िंदावस्था की कुछ हस्त-लिखित प्रतियाँ योरप में पहुँच चुकी थीं। परंतु उनका महत्त्व पुरानी भोजपत्रों पर लिखी दूसरी पुस्तकों से बढ़कर न था। इन्हीं हस्त-लिखित पुस्तकों के कुछ पृष्ठों की छपी हुई प्रतिलिपि, अजूबा चीज़ के तौर पर, हाथोंहाथ फिरती एक फ्रांसीसी सज्जन—एनक्विटिल डूपरान—ने भी देखी। उसके हृदय में यह प्रबल अभिलाषा उत्पन्न हुई कि योरप में 'ज़िंदावस्था' के अर्थ खोलकर विद्वानों के सम्मुख रखने के गौरव का सेहरा उसके मस्तक पर बँधे। बस, इसी अभिलाषा को हृदय में लेकर वह 'ज़िंदावस्था' की पुरानी हस्त-लिखित प्रतियों को खोजने तथा ख़रीदने के लिये सन् १७५४ में, 'फ्रेंच-इंडियन कंपनी' के जहाज़ में, बंबई को रवाना हुआ। बेचारा निर्धन था, इसलिये उसने जहाज़ में ख़लासी का काम किया, और बंबई पहुँचकर अपने उद्योग में लग गया। उसके इस साहस-पूर्ण उद्योग को देखकर फ्रेंच-सरकार ने भी उसे सहायता दी। पारसी दस्तूर (पुरोहित) योरपियन लोगों को संदेह की दृष्टि से देखते थे, इसलिये डूपरान के हाथ अपनी पुस्तकें बेच देने को कोई तैयार न होता था। अंत में उसने सूरत के दस्तूर-दाराब को रिश्वत देकर बहुत-से प्राचीन ग्रंथ ख़रीदे, और उसी से 'अवस्था' तथा 'पहलवी' भाषा का अध्ययन भी किया। पीछे से उन पुस्तकों को लाकर पेरिस की नेशनल लाइब्रेरी में रख दिया गया।

इस प्रकार योरप में 'ज़िंदावस्था' का अध्ययन आरंभ हुआ। परंतु अभी तक एनक्विटिल डूपरान का कार्य अत्यंत प्रारंभिक अवस्था का था। उसे 'अवस्था' तथा 'पहलवी'-भाषा पढ़ानेवाले पारसी दस्तूर स्वयं इन भाषाओं के विद्वान् नहीं थे। सदियों से इस भाषा का पठन-पाठन छूट चुका था। जिस प्रकार 'ज़िंदावस्था' की प्राचीन हस्त-लिखित प्रतिलिपियों को खोजा गया, उसी प्रकार इस भाषा का भी खोज निकालना आवश्यक था। एनक्विटिल के सराहनीय उद्योग के ७० साल बाद डेन्मार्क के विद्वान् रास्क ने—जो स्वयं बंबई आकर 'अवस्था' तथा 'पहलवी' की हस्त-लिखित पुस्तकें ख़रीद ले गया था—१८२६ ई० में एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि 'ज़िंदावस्था' की भाषा की संस्कृत से प्रगाढ़ समानता है। एनक्विटिल से कुछ लोगों ने यह कहना शुरू कर दिया था कि पारसियों ने तुम्हें धोका देकर मनगढ़ंत भाषा सिखा दी है; जो भाषा तुम सीखकर आए हो, उसका 'ज़िंदावस्था' से कोई संबंध नहीं। परंतु यदि रास्क का कथन ठीक था, तो एनक्विटिल को कुछ सहारा मिल जाता था। ऐसी अवस्था में 'ज़िंदावस्था' की भाषा के व्याकरण का संस्कृत की सहायता से पता लगाने का प्रयत्न किया जा सकता था। संस्कृत का ज्ञान इँगलैंड से फ्रांस तथा जर्मनी तक पहुँच चुका था, और उसके ग्रीक तथा लैटिन से निकट संबंध का पता लगाया जा चुका था। संस्कृत का 'ज़िंदावस्था' से भी घनिष्ठ संबंध देखकर योरप के विद्वानों का ध्यान इस ओर एकदम आकृष्ट हुआ। योरप में संस्कृत तथा ज़िंदावस्था के पारस्परिक संबंध की तरफ़

सबसे पहले ध्यान आकर्षित करनेवाले मि० रास्क ही थे; परंतु वह इस विषय पर निर्देश-मात्र देकर चुप हो गए। इस संबंध पर प्रकाश डालने का श्रेय एक दूसरे फ्रेंच विद्वान् को मिला। आपका नाम यूजीन बर्नफ़ था। मि० बर्नफ़ पेरिस में संस्कृत के अध्यापक थे। आपने नर्योसंघकृत पारसी-ग्रंथों के संस्कृत-अनुवादों से बहुत सहायता ली, और अपने संस्कृत-भाषा-ज्ञान के आधार पर 'ज़िंदावस्था' के शब्द-शास्त्र की आधार-शिला रक्खी। बर्नफ़ लौकिक संस्कृत के पंडित थे; परंतु वैदिक संस्कृत से आपका परिचय अत्यंत साधारण था। 'ज़िंदावस्था' का लौकिक संस्कृत से इतना सादृश्य नहीं, जितना वैदिक संस्कृत से; इसलिये इनका परिश्रम शब्दों के धात्वर्थ खोजने में उतना सफल नहीं हुआ, जितना 'अवस्था' तथा 'संस्कृत' के विभक्ति-प्रत्यय आदि की समानता का पता लगाने में। इनके किए अनुवादों में दोष रहने पर भी वे अपने ढंग के पहले ही अनुवाद हैं। इन्होंने सबसे प्रथम 'यस्न' के दो अध्यायों का अनुवाद प्रकाशित किया, जिससे 'अवस्था-शब्द-शास्त्र' के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिली। बर्नफ़ के समय तक 'ज़िंदावस्था' के संबंध में यथेष्ट खोज नहीं हुई थी। उन्हें इतना तक ज्ञान न था कि 'ज़िंदावस्था' के 'गाथा'-भाग की वेदों की भाषा तथा उनके छंदों के साथ असाधारण समानता है। फिर भी रास्क-प्रदर्शित मार्ग पर चलकर, संस्कृत की सहायता से, 'अवस्था' की भाषा का पता लगाने में बर्नफ़ ने पूर्ण परिश्रम किया, जिसके कारण 'प्राचीन-तत्त्व-ज्ञान' पर आपका ऋण सदा बना रहेगा।

इसी बीच में, योरप में, अन्य अनेक विद्वानों ने 'ज़िंदावस्था' के शब्द-शास्त्र के निर्माण में हाथ बटाने का प्रयत्न किया। इनमें से अध्यापक स्पीगल का कार्य अत्यंत प्रशंसनीय है। स्पीगल ने 'ज़िंदावस्था' के संस्कृत से संबंध को कुछ और अधिक समझने का प्रयत्न किया। उसके ग्रंथों को देखने से पता लगता है कि उसने 'गाथाओं' का वेदों की तरह छंदोबद्ध होना समझ लिया था। परंतु उसने अपनी गवेषणाओं का आधार अधिकतर पहलवी अनुवादों तथा एनक्विटिल के ग्रंथों को ही रक्खा। हैनोवर के संस्कृत के अध्यापक थियोडोर बेनफ़ी ने स्पीगल की पुस्तकों की समालोचना करते हुए फिर से संकेत किया कि यदि 'ज़िंदावस्था' के अनुवादक इधर-उधर न भटककर संस्कृत की सहायता से ही चलने का प्रयत्न करेंगे, तो तभी उन्हें इस विषम कार्य में सफलता की आशा हो सकती है। संस्कृत तथा अवस्था-भाषाओं का अत्यंत गहन सादृश्य है, इसलिये इसी दृष्टिकोण से इस गहन मार्ग में प्रवेश करना चाहिए। 'ज़िंदावस्था' की भाषा, उसका व्याकरण, शब्द-कोष, सबको शब्द-शास्त्र के मौलिक सिद्धांतों के आधार पर फिर से खोज निकालना एक नवीन भाषा के प्रथम बार निर्माण से भी अधिक कठिन कार्य था; परंतु धन्य है पाश्चात्य विद्वानों की लगन, जो दिन-रात एक-एक करके ऐसे-ऐसे कार्यों के लिये जीवन तक अर्पण करने को तैयार हो जाते हैं। अंत को उन्होंने अपने परिश्रम के सहारे इस भाषा को, इसके व्याकरण तथा शब्द-कोष को खोज ही निकाला!

१८५२ में डॉ० मार्टिन हॉग ने 'ज़िंदावस्था' के पन्नों को अज्ञात क्षेत्र से ज्ञात क्षेत्र में लाने का संकल्प किया। रास्क तथा बर्नफ़ की तरह इन्हें भी विश्वास था कि आर्यन भाषाओं में 'ज़िंदावस्था' तथा वेदों की भाषाएँ ही सबसे अधिक पारस्परिक सामीप्य के सूत्र में बँधी हुई हैं। इसलिये आपने वेदों का—उनमें भी विशेष रूप से ऋग्वेद का—स्वाध्याय आरंभ किया। उस समय तक ऋग्वेद का केवल आठवाँ हिस्सा प्रकाशित हुआ था। आपने बाक़ी सात हिस्से प्रो० बेनफ़ी की हस्त-लिखित प्रति से नक़ल किए। फिर वर्णक्रमानुसार वेद-मंत्रों की सूची तैयार की गई। इसके अनंतर अवस्था-भाषा के एक-एक शब्द को लेकर 'ज़िंदावस्था' तथा वेद में जहाँ-जहाँ वह शब्द पाया जाता था, उन स्थलों का संग्रह किया गया। 'ज़िंदावस्था' में सब जगह उस शब्द का जो अर्थ प्रतीत हुआ, उसे वेद-मंत्रों से परखा गया। जब 'ज़िंदावस्था' तथा वेद, दोनों में उस शब्द का एक ही अर्थ निकला, तब उसका अर्थ निर्धारित कर दिया गया। डॉ० हॉग का कथन है कि 'ज़िंदावस्था' के शब्दों के अर्थ का पता लगाने के लिये वर्तमान पर्शियन की अपेक्षा—यद्यपि वर्तमान पर्शियन अवस्था-भाषा का ही परिणत स्वरूप है—वैदिक संस्कृत ही अधिक सहायक है। अवस्था के 'ज़रदय'-शब्द का वर्तमान पर्शियन में 'दिल' बन गया है, जो संस्कृत में 'हृदय' है; अवस्था के 'सरद' का पर्शियन में 'साल' बन गया है, जो संस्कृत में 'शरद्' है; अवस्था के 'करेनोति' का पर्शियन में 'कुनद' बन गया है, जो वैदिक संस्कृत में 'कृणोति' है; अवस्था के

'आतर्श' का पर्शियन में 'आतश' (अग्नि) बन गया है, जो वैदिक संस्कृत में 'आथर्' है, जिससे 'आथर्वन्' शब्द बना है। कारक, लकार तथा उनके प्रत्यय आदि का वर्तमान पर्शियन में नाम-निशान तक मिट चुका है ; परंतु 'ज़िंदावस्था' तथा वेदों की भाषाओं में दोनों वैसे-के-वैसे मौजूद हैं। विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'ज़िंदावस्था' के अध्ययन में वर्तमान पर्शियन उतनी सहायता नहीं दे सकती, जितनी संस्कृत, और उसमें भी लौकिक संस्कृत उतनी सहायक नहीं, जितनी वैदिक संस्कृत। डॉ० हॉग ने संस्कृत की सहायता से जो परिणाम निकाले हैं, उनसे सिद्ध है कि 'ज़िंदावस्था' तथा वेद की भाषाओं में जितनी समानता है, उतनी शायद ही अन्य किन्हीं दो भाषाओं में हो। हम डॉ० हॉग के निकाले कुछ परिणामों को पाठकों के सम्मुख रखते हैं, और उनसे अनुरोध करते हैं कि वे इन समानताओं पर विचार करते हुए सोचें कि संस्कृत का कितना भारी गौरव है।

अवस्था-भाषा के मुख्यतया दो विभाग किए जा सकते हैं। एक भाषा वह है, जो पारसियों की प्राचीनतम धर्म-पुस्तकों—गाथाओं—में पाई जाती है, और बहुत पुरानी है ; दूसरी भाषा वह है, जो गाथाओं से पीछे की पुरानी पुस्तकों में पाई जाती है। यह भाषा 'विस्पराद', 'वेंदीदाद' आदि पारसी धर्म-पुस्तकों में पाई जाती है। सुविधा के लिये हम यहाँ पर पहली को गाथा-भाषा तथा दूसरी को अवस्था-भाषा कहेंगे। वास्तव में दोनों ही अवस्था-भाषाएँ हैं ; क्योंकि गाथाएँ, वेंदीदाद, विस्पराद आदि सभी ज़िंदावस्था के भिन्न-भिन्न हिस्से हैं। अस्तु। गाथाओं की भाषा वेदों की भाषा के अत्यंत निकट है। संज्ञाओं के तीन वचन तथा आठ विभक्तियाँ दोनों भाषाओं में एक-समान पाई जाती हैं। वैदिक संस्कृत के वैदिक लकारों को निकालकर लौकिक संस्कृत में क्रियाओं के लकार निश्चित किए गए हैं ; परंतु वैदिक संस्कृत तथा गाथाओं की भाषाओं में लकार भी एक-समान हैं। ज्यों-ज्यों हम गाथाओं से विस्पराद, वेंदीदाद आदि की तरफ़ आते हैं, त्यों-त्यों उस भाषा की वैदिक संस्कृत से समानता कम होती जाती है। 'ज़िंदावस्था' के पिछले साहित्य में व्याकरण का लोप-सा होता दिखाई देता है—विभक्तियों को भुलाकर प्रकृति-मात्र का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जहाँ तृतीया विभक्ति सूचित करने के लिये 'देवेन' इस सविभक्तिक पद का प्रयोग होना चाहिए था, वहाँ 'देव' इस निर्विभक्तिक पद का ही प्रयोग किया गया है। संस्कृत में जहाँ दीर्घ आकारांत तथा ईकारांत शब्दों को देखकर उनके स्त्री-लिंग होने का सहज ज्ञान किया जा सकता था, वहाँ इस साहित्य में दीर्घ करने का प्रयोग छोड़ दिया गया है। तृतीया तथा चतुर्थी के बहुवचन का समान प्रयोग पाया जाता है। इस प्रकार की गड़बड़ अवस्था-भाषा में तो पाई जाती है, पर गाथा-भाषा में नहीं। जिस प्रकार वैदिक संस्कृत को सरल बनाने के लिये लकारों में कुछ संक्षेप करके लौकिक संस्कृत का विकास हुआ, उसी प्रकार शायद गाथाओं की भाषा को सरल बनाने के उद्देश्य से, पीछे से, विभक्ति आदि का लोप किया जाने लगा। भेद इतना ही है कि लौकिक संस्कृत तो सरल हो जाने पर भी व्याकरण के नियमों से बँधी रही, परंतु अवस्था-भाषा में व्याकरण को शिथिल करके ही सरलता उत्पन्न की गई। फिर भी गाथाओं तथा अवस्था की अन्य पुस्तकों की भाषा का लौकिक संस्कृत से उतना अधिक सादृश्य नहीं, जितना वैदिक संस्कृत से है। उदाहरणार्थ, 'मैं करता हूँ' के लिये वेद में 'कृणोमि' पाया जाता है, और 'ज़िंदावस्था' में 'करेणोमि' ; परंतु लौकिक संस्कृत में 'करोमि' प्रयुक्त होता है। वेद में 'वह जाता है' के लिये 'गमति' पाया जाता है, और 'ज़िंदावस्था' में 'जगति' ; परंतु लौकिक संस्कृत में 'गच्छति'। वेद में 'ग्रहण करता हूँ' के लिये 'गृभ्णामि' आता है, और 'ज़िंदावस्था' में 'गरिव्नामि' ; परंतु लौकिक संस्कृत में 'गृह्णामि' पाया जाता है। क्या ये दृष्टांत 'ज़िंदावस्था' की भाषा को वेदों के निकट की सिद्ध नहीं कर देते ? अवस्था-भाषा की अपेक्षा गाथाएँ पुरानी हैं, इसलिये गाथाओं की भाषा, अवस्था-भाषा की अपेक्षा भी, वेदों के अधिक निकट है। वैदिक तथा गाथा-भाषा में 'करवे' का प्रयोग मिलता है, जिसके लिये अवस्था तथा लौकिक संस्कृत में 'करवाणि' पाया जाता है। इसी प्रकार वेद तथा गाथा में 'मह्या' पाया जाता है, तथा लौकिक संस्कृत में 'मम'। वेद तथा गाथा में ई—ईम्—हिम का प्रयोग प्राचुर्य से मिलता है ; परंतु ये शब्द अवस्था-भाषा तथा लौकिक संस्कृत में पाए ही नहीं जाते। वेद तथा गाथा में उपसर्ग तथा क्रिया का पृथक्-पृथक् प्रयोग मिलता है ; पर

अवस्था-भाषा तथा लौकिक संस्कृत में ऐसा नहीं होता। वेद तथा गाथा के छंदों का पाठ करते हुए ह्रस्व अकार और इकार को स्तोता दीर्घ पढ़ देता है, और कहीं-कहीं संयुक्ताक्षरों को अलग-अलग करके पढ़ता है ; पर लौकिक संस्कृत तथा अवस्था-भाषा में ऐसा नहीं होता। वेदों की भाषा को गाथाओं की भाषा से इतनी समानता और वैदिक भाषा का व्याकरण से नियमित होना तथा गाथा-भाषा का अनियमित होना देखकर हमारी तो यह सम्मति है कि वैदिक संस्कृत से ही गाथाओं की भाषा उत्पन्न हुई है। तदनंतर पर्शिया में गाथाओं की भाषा बिगड़कर अवस्था भाषा बन गई, और इधर भारत में वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत का विकास हुआ। भाषाओं के क्रमिक विकास का अध्ययन करने से यही प्रतीत होता है कि अवस्था-भाषा से गाथा-भाषा पुरानी है, और गाथा-भाषा से वेदों की भाषा। अन्य सब भाषाओं में विकास के चिह्न पाए जाते हैं ; परंतु वेदों की भाषा विकास की छाप से ऊपर उठी हुई है। वह हमें विकसित रूप में दिखाई देती है, विकास में से गुज़रती हुई नहीं, इसलिये उसे गाथा-भाषा तथा उसके द्वारा अवस्था-भाषा की जननी कहा जा सकता है।

डॉ० हॉग ने कुछ ऐसे नियमों का उल्लेख किया है, जिनके आधार पर संस्कृत के शब्दों को 'ज़िंदावस्था' का और 'ज़िंदावस्था' के शब्दों को संस्कृत का बनाया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि उच्चारण-भेद के कारण एक ही शब्द का दोनों जातियों में भिन्न-भिन्न रूप बन गया ; पर वास्तव में वह शब्द एक ही था। वे नियम निम्न प्रकार हैं—

(क) शब्द के प्रारंभ में संस्कृत का 'स' अवस्था में 'ह' हो जाता है। सोम=होम (सोमरस) ; स=ह (वह); सम=हम (इकट्ठा) ; सप्त=हप्त (सात) ; मास=माह (महीना) ; सेना=हेना (फ़ौज) ; सन्ति=हन्ति (वे हैं)। शब्द के बीच में 'स' आ जाय, तो उसका भी अवस्था में 'ह' हो जाता है। अस्मि=अह्मि (मैं हूँ) ; विवस्वत=विवंहवत (सूर्य) ; असु=अंहु (जीवन)। अवस्था में कभी-कभी शब्द के अंत के 'स' का 'ह' नहीं होता। यजेः=यजेश (तू पूजा करेगा)।

(ख) संस्कृत के 'ह' का अवस्था में 'ज़' हो जाता है। हि=ज़ि (निश्चय) ; हिम=ज़िम (बर्फ़) ; ह्वे=ज़्वे (पुकारना) ; आहुति=आज़ुति ; हृदय=ज़रदय (दिल) ; हस्त=ज़स्त (हाथ) ; वराह=वराज़ (सुअर) ; होता=ज़ोता (आहुति डालनेवाला) ; बाहु=बाज़ु ; अहि=अज़ि (साँप) ; मेधा=मज़्दा (बुद्धि, सर्वज्ञ ईश्वर)। कभी-कभी संस्कृत का 'ज' अवस्था में 'ज़' बन जाता है। जन=ज़न (उत्पन्न करना) ; जिह्वा=हिज़्वा (जीभ) ; वज्र=वज़्र (बिजली); अजा=अज़ा (बकरी) ; जानु=ज़ानु (घुटना) ; यज्ञ=यस्त (पूजा) ; यजत=यज़त (देवदूत)।

(ग) संस्कृत के 'श्व' का अवस्था में 'स्प' हो जाता है। अश्व=अस्प (घोड़ा) ; विश्व=विस्प (संसार) ; श्वा=स्पा (कुत्ता)। कभी-कभी 'श्व' तथा 'स्व' के लिये ज़ंद में 'क़' हो जाता है। श्वसुर=क़्सुर (ससुर) ; स्वप्न=क़फ़्न (ख़्वाब) ; स्वाप=ख़्वाब।

(घ) संस्कृत में 'ऋत्' का 'अर्त' बन जाया करता है, और इसीलिये 'मृत्' से 'मर्त्य' बनता है ; परंतु अवस्था में 'ऋत्' का 'अश' बन जाता है। मर्त्य=मश्य (मरणधर्मा) ; 'ऋत'=अश (सत्य)। संस्कृत के 'त' का अवस्था में 'थ' हो जाता है। मित्र=मिथ्र ; त्रित=थ्रित ; त्रैतान=थ्रैतान (फ़रीदून) ; मन्त्र=मन्थ्र।

डॉ० हॉग लिखते हैं—अवस्था तथा संस्कृत के व्याकरण-संबंधी रूपों में इतनी समानता है कि संस्कृत से थोड़ा-सा परिचय रखनेवाला व्यक्ति भी उसे पहचान सकता है। संस्कृत तथा अवस्था के व्याकरण-संबंधी रूपों की समानता का सुदृढ़ प्रमाण यह है कि दोनों भाषाओं में अपवादों में भी समानता है। जहाँ संस्कृत के 'कस्मै' के लिये अवस्था में 'कह्मै', 'अस्मै' के लिये 'अह्मै', 'येषाम्' के लिये 'यैषाम्' है, वहाँ संज्ञा-वाचक रूपों की समानता भी असाधारण है। नीचे 'श्वा' तथा 'पथिन्' शब्दों के संस्कृत तथा अवस्था में रूप दिए जाते हैं, जो हमारे कथन की पुष्टि करते हैं—

'श्वा'-शब्द के रूप

विभक्ति		संस्कृत	अवस्था
प्र० - एकवचन		श्वा	स्पा
द्वि०—	,,	श्वानम्	स्पानम्
च०—	,,	शुने	सुने
प०—	,,	शुनः	सुनो
प्र०—बहुवचन		शुनः	सुनो
प०—	,,	शुनाम्	सुनाम्

'पथिन्'-शब्द के रूप

प्र०—	एकवचन	पंथाः	पन्ता
तृ०—	,,	पथा	पथा
प्र०—	बहुवचन	पंथानः	पन्तानो
द्वि०—	,,	पथः	पथो
ष०—	,,	पथाम्	पथाम्

अवस्था-भाषा की वैदिक भाषा के साथ इस गहरी समानता को देखते हुए एक हिंदू का मस्तक आत्म-गौरव से उन्नत हो जाता है। इस समानता को देखकर क्या इस कथन में अणु-मात्र भी अत्युक्ति समझी जा सकती है कि भारतवर्ष संसार-भर के धर्मों का ही नहीं, अपितु अखिल विश्व में ज्ञान प्रसार का केंद्र-स्थान है? यहाँ की भाषा सर्वत्र फैली, यहाँ के धर्म ने इस देश की परिधि को पार किया, यहाँ की फ़िलासफ़ी ने सब देशों की विचार तथा तर्क-शक्ति को उत्तेजना दी। पर इतने गौरव को प्राप्त कर भी हमने उसे अपने ही हाथों खो दिया! अवस्था-भाषा के शब्द भारतीय विजयों के भग्नावशेष हैं। क्या इन शब्द-रूप खँडहरों में अपने पूर्वजों के विशाल गौरव की झलक देखकर हम फिर से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न न करेंगे? अवश्य करेंगे।

सत्यव्रत

भिखारिन
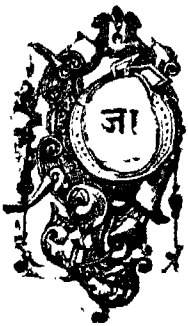
जाह्नवी अपने बालुका के कंबल में ठिठुरकर सो रही थी। शीत कुहासा बनकर प्रत्यक्ष हो रहा था। दो-चार लाल धाराएँ प्राची के क्षितिज में बहना चाहती थीं। धार्मिक लोग स्नान करने के लिये आने लगे थे। निर्मल की मा स्नान कर रही थी, और वह पंडे के पास बैठा हुआ बड़े कुतूहल से धर्मभीरु लोगों की स्नान-क्रिया देखकर मुसकिरा रहा था।

निर्मल की मा स्नान करके ऊपर आई। अपनी चादर ओढ़ते हुए स्नेह से उसने निर्मल से पूछा—"क्या तू स्नान न करेगा?"

निर्मल—"नहीं मा, मैं तो धूप निकलने पर घर पर ही स्नान करूँगा।"

पंडाजी ने हँसते हुए कहा—"माता, अब के लड़के पुण्य-धर्म क्या जानें? यह सब तो जब तक आप लोग हैं, तभी तक है।"

निर्मल का मुँह लाल हो गया। फिर भी वह चुप रहा। उसकी मा संकल्प लेकर कुछ दान करने लगी। सहसा जैसे उजाला हो गया। एक धवल दाँतों की श्रेणी अपना भोलापन बिखेर गई—"कुछ हमको दे दो रानी मा।" निर्मल ने देखा, एक चौदह बरस की भिखारिन माँग रही है। पंडाजी झल्लाए, बीच ही में संकल्प अधूरा छोड़कर बोल उठे—"चल हट।" निर्मल ने कहा—"मा, कुछ इसे भी दे दो।"

माता ने उधर देखा भी नहीं; परंतु निर्मल ने उस जीर्ण मलिन वसन में एक दरिद्र हृदय की हँसी को रोते हुए देखा। उस बालिका की आँखों में एक अधूरी कहानी थी। रूखी लटों में सादी उलझन थी, और बरौनियों के अग्र भाग में संकल्प के जल-बिंदु लटक रहे थे, करुणा का दान जैसे होने ही वाला था।

धर्मपरायणा निर्मल की मा स्नान करके निर्मल के साथ चली। भिखारिन की अभी आशा थी। वह भी उन लोगों के साथ चली। निर्मल एक भावुक युवक था। उसने पूछा—"तुम भीख क्यों माँगती हो?"

भिखारिन की पोटली के चावल फटे कपड़े के छिद्र से गिर रहे थे। उन्हें सँभालते हुए उसने कहा—"बाबूजी, पेट के लिये।" निर्मल ने कहा—"नौकरी क्यों नहीं करती? मा, इसे अपने यहाँ रख

क्यों नहीं लेती हो ? धनिया तो प्रायः आती भी नहीं ।"

माता ने गंभीरता से कहा—"रख लो ! कौन जाति है, कर्मा है, जाना न सुना, बस, रख लो ।"

निर्मल ने कहा—"मा, दरिद्रों की तो एक ही जाति होती है ।" मा झल्ला उठी, और भिखारिन लौट चली । निर्मल ने देखा, जैसे उमड़ी हुई मेघ-माला बिना बरसे हुए लौट गई । उसका जी कचोट उठा । विवश था, माता के साथ चला गया ।

× × ×

"छुने री निर्धन के धन राम !...छुने री"

भैरवी के स्वर पवन में आंदोलन कर रहे थे । धूप गंगा के वक्ष पर उजली होकर नाच रही थी । भिखारिन पत्थर की सीढ़ियों पर सूर्य की ओर मुँह किए गुनगुना रही थी । निर्मल आज अपनी भाभी के संग स्नान करने के लिये आया है । गोद में अपने चार बरस के भतीजे को लिए वह भी सीढ़ियों से उतरा । भाभी ने पूछा—"निर्मल, आज क्या तुम भी पुण्य संचय करोगे ?"

"क्यों भाभी ! जब तुम इस छोटे-से बच्चे को इस सर्दी में नहला देना धर्म समझती हो, तो मैं ही क्यों वंचित रह जाऊँ ?" सहसा निर्मल चौंक उठा । उसने देखा, बगल में वही भिखारिन बैठी गुनगुना रही है । निर्मल को देखते ही उसने कहा—"बाबूजी, तुम्हारा बच्चा फूले-फले, बहू का सोहाग बना रहे । आज तो मुझे कुछ मिले ।" निर्मल अप्रतिभ हो गया । उसकी भाभी हँसती हुई बोली—"दुर पगली !"

भिखारिन सहम गई । उसके दाँतों का भोलापन गंभीरता के परदे में छिप गया । वह चुप हो गई । निर्मल ने स्नान किया । सब ऊपर चलने के लिये प्रस्तुत थे । सहसा बादल हट गए, उन्हीं अमल धवल दाँतों की श्रेणी ने फिर याचना की—"बाबूजी, कुछ मिलेगा ?"

"अरे अभी बाबूजी का ब्याह नहीं हुआ । जब होगा, तब तुझे न्योता देकर बुलावेंगे । तब तक संतोष करके बैठी रह ।"—भाभी ने हँसकर कहा ।

"तुम लोग बड़ी निष्ठुर हो भाभी ! उस दिन मा से कहा कि इसे नौकर रख लो, तो वह इसकी जाति पूछने लगीं, और आज तुम भी हँसी हो कर रही हो ।" निर्मल की बात काटते हुए, भिखारिन ने कहा—"बहूजी, तुम्हें देखकर मैं तो यही जानती हूँ कि ब्याह हो गया है । मुझे कुछ न देने के लिये बहाना कर रही हो ।"

"मर पगली ! बड़ी ढीठ है !"—भाभी ने कहा ।

"भाभी, उस पर क्रोध न करो । वह क्या जाने, उसकी दृष्टि में सब अमीर और सुखी लोग विवाहित हैं । जाने दो घर चलें ।"

"अच्छा, चलो, आज मा से कहकर इसे तुम्हारे लिये नौकर रखवा दूँगी ।"—कहकर भाभी हँस पड़ी ।

युवक-हृदय उत्तेजित हो उठा । बोला—"यह क्या भाभी ! मैं तो इससे ब्याह करने के लिये भी प्रस्तुत हो जाऊँगा । तुम व्यंग्य क्यों कर रही हो ?"

भाभी अप्रतिभ हो गई । परंतु भिखारिन अपने स्वाभाविक भोलेपन से बोली—"दो दिन माँगती रही, तुम लोगों से एक पैसा देते नहीं बना; तो गाली क्यों देते हो बाबू ? ब्याह करके निभाना तो बड़ी दूर की बात है ।" भिखारिन भारी मुँह किए लौट चली ।

बालक रामू अपनी चालाकी में लगा था । मा की जेब से छोटी दुअन्नी अपनी छोटी उँगलियों में दाब-

''लेती जाओ ओ भिखारिन !''
कर उसने निकाल ली, और भिखारिन की ओर फेंककर बोला—''लेती जाओ ओ भिखारिन !''

निर्मल और भाभी को रामू की इस दया पर कुछ प्रसन्नता हुई ; पर वे प्रकट न कर सके ; क्योंकि भिखारिन ऊपर की सीढ़ियों पर चढ़ती हुई गुनगुनाती चली जा रही थी—

''सुने री निर्धन के धन राम।''

जयशंकर ''प्रसाद''

डेनमार्क के फ़ोक हाईस्कूल

रप के पश्चिमोत्तर प्रदेश में डेनमार्क एक छोटा-सा देश है। इस महाद्वीप के विशाल तथा शक्तिशाली देशों में उस देश की गणना नहीं है। न तो वह रूस-जैसा विस्तृत है कि जिसकी विशालता से लोग भयभीत हों, और न उसको इटली-जैसा ज़बरदस्त, इँगलैंड-सा बलवान, अमेरिका-जैसा धनी अथवा जर्मनी-सा वैज्ञानिक होने का गौरव ही प्राप्त है। वहाँ न ऐसे सुंदर नदी, झरने, झील या पर्वत ही हैं कि वह स्विज़रलैंड की तरह संसार के धनी यात्रियों के आमोद-प्रमोद की रंग-भूमि बन सके। डेनमार्क में ऐसी बाहरी चमक-दमक कुछ नहीं है।

जन-संख्या में डेनमार्क-भर की गिनती लंदन शहर की आधी भी नहीं है। सारे देश में बंबई-जितना बड़ा एक भी नगर नहीं है। वहाँ की भूमि रेतीली होने के कारण बहुत उपजाऊ नहीं कही जा सकती। उसका बहुत-सा भाग तो अब भी झाड़ी और दलदल से बेकाम पड़ा रहता है।

यह सब कुछ होते हुए भी कैसे आश्चर्य की बात है कि उस देश के प्रति सभ्य संसार में आज इतनी श्रद्धा और स्नेह है। कई संस्थाओं व सामाजिक सुधारों के लिये विश्व के विद्वानों को मुक्तकंठ होकर उसकी प्रशंसा करते ही बनता है। यही नहीं, डेनमार्क आज उन इने-गिने देशों में अग्रणी है, जहाँ नैतिक और आर्थिक समानता का आदर्श

वास्तव में प्राप्त किया गया है, जहाँ के लोगों में जाति-पाँति, कुल और धन के भेद-भाव का ज़ोर नहीं है, जिनके धनी बहुत धनी नहीं हैं, अर्थात् करोड़पतियों की संख्या अधिक नहीं है, तथापि जहाँ ग़रीब अथवा निकम्मे भी कम हैं, और वे भूखों नहीं मरते। डेनमार्क वह देश है, जो समाज-सुधारक क़ानूनों के जारी करने में संसार-भर में अग्रसर रहा है। यहाँ के किसान नगर-निवासियों के पथ-प्रदर्शक तथा नेता रहे हैं। यहाँ की प्रजा शांति तथा अंतरराष्ट्रीय बंधुवर्ग की हामी होने का, केवल बातों ही से नहीं, कामों से परिचय दे चुकी है, और राजा का आधिपत्य होते हुए भी इस देश में सच्ची स्वतंत्रता और स्वाधीनता प्रत्येक नागरिक को प्राप्त है।

आधुनिक डेनमार्क के जीवन का चित्र अपने सामने जब मैं रखता हूँ तो मुझको इस पर कोई विस्मय नहीं होता कि डेनमार्क के लिये संसार के प्रसिद्ध लेखक और मान्य स्त्री-पुरुष इतना मान दिखाते हैं। वह देश सर्वथा इन भावों के योग्य है।

मुझे वहाँ से लौटे थोड़े ही दिन हुए हैं, और अंतःकरण से मेरी भावनाएँ एक बार नहीं, हज़ार बार यही कहती थीं कि परमात्मा मेरे देश-भाइयों को भी डेनमार्क का-सा सुख, शांति और समानता उपलब्ध करने का बल दे।

पाठकों को यह भी जान लेना चाहिए कि डेनमार्क की यह दशा आदि-काल से न थी। सैकड़ों वर्षों से वहाँ आज की-सी स्वतंत्रता अथवा आर्थिक और नैतिक समानता नहीं चली आई है। पिछली शताब्दी में डेनमार्क अधोगति में ही पड़ा था। वहाँ व्यवसाय की दशा बड़ी शोचनीय थी। वहाँ के लोग कायर, हतोत्साह और शक्ति-हीन-से हो चले थे। आज वहाँ भला ऐसी कौन-सी नई शक्ति आ गई, जिसने देश की नाड़ी में नूतन रक्त भर दिया, और उसके जीवन को फिर उन्नत कर दिया।

यही खोज करने का विषय है। इतिहासवेत्ताओं और अन्वेषण करनेवालों का यह मत है कि डेनमार्क के पुनर्जीवन और प्रादुर्भाव में दो बड़ी मुख्य तथा उपयोगी संस्थाओं ने योग दिया है, जिनसे डेनमार्क आज इतना सँभल चला है, और जिनके द्वारा उस देश में आज ऐसी जागृति और चेतनता दिखाई देती है। उन दोनों संस्थाओं के लिये डेनमार्क सभ्य-संसार में प्रसिद्ध है, और उनमें अध्ययन तथा मनन करने के लिये बहुत लोग उसको तीर्थ समझकर वहाँ जाते हैं। डेनमार्क की वे दो अद्भुत संस्थाएँ—जो इस देश की भूमि में अच्छी फली-फूली हैं—वहाँ की सहकारिता (Co-operative movement) और वहाँ के सार्वजनिक शिक्षालय (Folk High School) हैं। वहाँ के इन विशेष प्रकार के शिक्षालयों के विषय में कुछ बातें पाठकों के सम्मुख, इस लेख द्वारा, उपस्थित की जाती हैं। आशा है, इस लेख को पढ़कर (अथवा किसी अन्य पुस्तक या निबंध द्वारा प्रेरित होकर) भारत के कुछ सपूत डेनमार्क के इन विद्या-मंदिरों की ओर अपना ध्यान देंगे। यदि ऐसा हुआ, तो उसका परिणाम अवश्य हमारे देश के लिये लाभकारी होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं।

डेनमार्क के सहकारिता में अग्रगामी होने के बारे में तो हमारे नवयुवक कॉलेजों में कुछ जान लेते हैं, परंतु दूसरी संस्था के विषय में हममें से अधिकांश लोग सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस लेख से पाठकों को यह ज्ञात हो जायगा कि सहकारिता की अपेक्षा फ़ोक हाईस्कूल ही डेनमार्क के अभ्युदय का मुख्य कारण हैं।

डेनमार्क के फ़ोक हाईस्कूलों के विषय में चर्चा छेड़ने के पहले यह उचित होगा कि उस देश के बारे में कुछ शब्द और कह दिए जायँ, जिससे लेख के मूल-विषय को समझने में सहायता मिले।

कई शताब्दियों से डेनमार्क के किसानों की दशा बहुत गिरी हुई थी। वे लोग ज़मींदारों के अधीन थे। अपने स्वामी की भूमि पर बंदी की तरह हल चलाते और हर तरह से ग़ुलामी में सड़ा करते थे। अपनी जीविका तथा अपनी खेती-बारी के छोड़ने व बदलने में वे स्वतंत्र न थे। भारत के कई प्रांतों में ताल्लुक़दारों, जागीरदारों व ज़मींदारों की ज़मींदारियों में बेचारे कृषकों की जो दशा पिछले सौ बरसों में थी, और कहीं-कहीं अब भी है, वही डेनमार्क में थी। सन् १७८८ में एक ऐसा क़ानून जारी हुआ, जिससे किसान लोग उस शृंखला से मुक्त किए गए, जिसमें वे सदियों से बँधे पड़े थे। यह क़ानून देश के लिये बड़े मार्के का था। इससे किसान आज़ाद हो गए: अब वे अपनी जायदाद के सच्चे मालिक बन गए। यही नहीं, इसके बाद बड़ी-बड़ी सैकड़ों-हज़ारों बीघों की ज़मींदारियों के टुकड़े, सरकारी क़ानून द्वारा, होने लग गए, जिससे अधिकांश लोगों के पास अपने खेत हो गए,

और वे ज़मींदारों के अधीन न रहे। बस, देश के सुधार का आरंभ हो चला! पर केवल क़ानून द्वारा स्वतंत्रता मिलने से क्या होता? उसका प्रयोग करने को चरित्र-बल तथा उसको पचाने की शक्ति कहाँ थी?

सदियों की ग़ुलामी का चरित्र, मन और हृदय पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इस पर लिखने की कोई आवश्यकता नहीं। लोग निकम्मे, हताश, कायर बन गए थे। देश में मुर्दनी-सी छा रही थी। उनकी दशा सुधारनेवाले, उनको मार्ग दिखानेवाले उनके नेता अन्य लोग थे। किसान-समाज दरिद्र और अज्ञान के अंधकूप में पड़ा था।

बेचारे दीन देश के दुर्भाग्य से सन् १८०६ में इँगलैंड ने यह समझकर कि डेन्मार्क नेपोलियन का साथी है, उस पर आक्रमण किया, और उसकी राजधानी (कोपन-हेगन) के निकट उसको बुरी तरह हराया, जिसका उस ग़रीब देश पर बड़ा गहरा असर पड़ा। डेन्मार्क के लिये यह कुछ छोटी बात न था। उसकी मुसीबतों का प्याला भर-सा गया था।

अभागे देश पर इससे भी अधिक दुःख का पहाड़ टूटनेवाला था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में उसे एक भारी आपत्ति का सामना करना पड़ा। डेन्मार्क शुरू से कृषि पर निर्वाह करता आया है। वहाँ के लोग अपनी भूमि की पैदावार को योरप के अन्य देशों में भेजने और उसीसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। उन दिनों में अमेरिका और रायना के देशों का माल योरप में अधि-कता से आने लगा। उसका परिणाम यह हुआ कि उन वस्तुओं की क़ीमत बहुत घट गई। डेन्मार्क के माल की निकासी बराबर घटने लगी। इससे देश में ग़रीबी और मुसीबत ने आकर डेरा डाल दिया।

उस समय डेन्मार्क के कृषि-समाज ने बहुत बड़े साहस, धैर्य तथा उन्नतिशील होने का परिचय दिया। यदि उस आपत्काल में वह पुरानी लकीर का फ़क़ीर बना रहता, तो डेन्मार्क का आर्थिक नाश हो ही जाता। बहुधा यह देखा जाता है कि देहात के लोग—विशेषकर किसान लोग—परिवर्तनशील नहीं होते। जो बातें पुरखों के समय से चली आती हैं, उन्हीं को वे पकड़े रहते हैं; नई बातों, नए आविष्कारों और नए ढंगों का सहारा नहीं लेते। किंतु डेन्मार्क में इसके विपरीत ही हुआ। वहाँ के किसानों ने अपनी स्थिति को तुरंत सँभाल लिया।

उन्होंने बड़े पुरुषार्थ तथा उद्योग से पिछले पचास वर्षों में अपने देश का व्यवसाय बदल दिया। जब देखा कि जौ, गेहूँ, मका, राई आदि के दाम गिरने लगे, और फल-स्वरूप उन वस्तुओं का योरप में बेचना कठिन-सा हो गया, तो बड़ी वीरता से उन्होंने अपने देश का धंधा ही बदल दिया—उन वस्तुओं को पैदा करने की जगह उस देश ने मक्खन, अंडे, सुअर के मांस, पनीर आदि की निकासी शुरू कर दी। जब देश में आर्थिक स्थिति गिर रही और अधिकांश लोगों को ग़रीबी सता रही हो, ऐसे समय में व्यवसाय की गति को फेर देना बहुत साहस तथा उन्नति-परायणता का प्रमाण है। डेन्मार्क ने उक्त गुणों का परिचय दिया; और यह उत्तम क्षमता वहाँ के उन विद्यालयों के प्रभाव से प्राप्त हुई है, जो डेन्मार्क की विशेषता हैं, और जिनको ने फ़ोक हाईस्कूल कहते हैं।

फ़ोक हाईस्कूलों का प्रादुर्भाव कैसे हुआ, इस प्रश्न का उत्तर देने में उस संस्था के जन्मदाता का नाम याद आता है, जिसको डेन्मार्क में गाँव-गाँव और गली-गली में आदर से लोग याद करते हैं।

हमारे देश में जिस श्रद्धा तथा कृतज्ञता के भावों से हम स्वामी दयानंद सरस्वती, राजा राममोहनराय, दादा भाई नौरोजी, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, लो० तिलक और म० गांधी का स्मरण करते हैं, और जिस प्रकार के उत्तम कार्य इन महापुरुषों ने भारत के आधुनिक जीवन-सुधार के लिये किए हैं, उसी प्रकार अपने ढंग के निराले काम करनेवाले, डेनमार्क के इतिहास और जीवन में काया-पलट करनेवाले ऋषि ग्रुंडविग (N. F. S. Grun-dtvig) उस देश में हुए हैं। इसका जन्म साउथ सीलैंड की उडबी नाम की नगरी में, एक पादरी-कुल में, ता० ६ सितंबर, सन् १७८३ ई० को, हुआ था। बालकपन ही से उसके माता-पिता का उस पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा, और धार्मिक विषयों में उसका अनुराग बढ़ता रहा। धर्म-ज्ञान के साथ-साथ बालक ग्रुंडविग को अपने देश के इतिहास, जीवन, रहन-सहन, गीत-गाथा आदि में विशेष रुचि रही। ये दो बातें उसके जीवन में सदा मुख्य रहीं। उसको जीवन-भर बड़ी कठिन समस्याओं तथा आत्मिक संग्रामों का सामना करना पड़ा। बड़े होने पर पिता की तरह वह भी पादरी बना। लोक-सुधार के उत्साह

ऋषि ग्रुंडविग

(फ़ोक हाईस्कूल के जन्मदाता, डेनमार्क के प्रसिद्ध कवि, गुरु, पंडित)

होना पड़ा ; क्योंकि उसके मत के अनुसार देश के ग़रीब-अमीर, छोटे-मोटे, राजा-रंक, सबके लिये एक-सा बर्ताव, एक-सा अवसर और एक-सी शिक्षा की सामग्री होनी चाहिए थी । देश के सब लोगों की सेवा, सबका उत्थान, सबकी उन्नति उसका ध्येय था । यही उसका विचार था, जिसमें अपने काल के सभी मुख्य-मुख्य नेता उसके विरोधी थे । यही उसके देश के उत्थान का कारण भी था । उसकी सर्वोत्तम अभिलाषा यही थी कि सर्वसाधारण के जीवन में सच्चा ज्ञान तथा चरित्र-बल हो । बस, उसके ये ही स्वाधीनता व समानता के विचार उसके पादरी अफ़सरों की दृष्टि में आपत्ति-जनक थे ।

अपने विचारों में ग्रुंडविग प्रति-दिन दृढ़ होता रहा । पूरे पचास वर्ष बीत गए ; परंतु उसके वे भाव कार्यरूप में परिणत नहीं हो सके । उसका उद्देश्य था कि उसके देश के सभी लोगों को अपने जीवन में सच्चा आनंद, ज्ञान तथा आत्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो । सन् १८२९-३० और १८३१ में तीन बार उसे कुछ विशेष अध्ययन के लिये इँगलैंड जाना पड़ा था । अँगरेज़ों के सामाजिक जीवन को देखकर उसके विचार और भी दृढ़ हो गए ।

से ग्रुंडविग का हृदय भरा पड़ा था । लोगों की गिरी हुई दशा उसके अध्ययन का मुख्य विषय था, और उनकी सेवा व सुधार को वह अपना परम पुनीत लक्ष्य बनाए हुए था ।

ऋषि ग्रुंडविग ने कई ग्रंथ लिखे हैं । उसकी कविता बहुत ही ऊँचे साहित्य में गिनी गई है, जिसका अनुवाद योरप की कई भाषाओं में किया जा चुका है । उसने अपनी पुस्तकों द्वारा सारे देश को पुरुषार्थ व स्वावलंबन का पाठ पढ़ाया, और लोगों के हृदयों में उत्साह भर दिया ।

उसे आगे चलकर अपने पादरी-समाज से अलहदा

सन् १८३८ में ग्रुंडविग ने अपने उद्देश्यों को अमली रूप दिया, सोरो-नगर में सर्वसाधारण के लिये एक शिक्षालय स्थापित करने का मत प्रकट किया । उसी वर्ष के जून-मास में उसने, अपने आदर्शों के अनुसार, कोपनहेगन में बहुत-से शिष्यों को लेकर कार्य भी शुरू कर दिया ।

ऋषि ग्रुंडविग जिन शिक्षालयों के पिता तथा जन्म-दाता माने गए हैं, और जिनका डेनमार्क में इतना प्रचार

आ है, उनकी विशेषता क्या है, इस पर कुछ विचार करना अनुचित न होगा।

ग्रुंडविग का यह कहना था कि देश के सर्वसाधारण को जीवन के मर्म का सच्चा ज्ञान होना चाहिए। जिस देश को इस संसार में जीवित रहना है, उसको जान लेना चाहिए कि उसे अपने प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा को शांत, सुखी और संतुष्ट करना है। थोड़े-से चुने हुए आदमियों को साहित्य और कलाओं का ज्ञान कराने से तब तक कुछ न हो सकता, जब तक लाखों मनुष्य अज्ञान, अधर्म और अंधकार में डूबे पड़े हैं। आवश्यकता इस बात की है कि लोग जीवन के तात्पर्य को जान सकें, और मनुष्य बनकर अपने व्यक्तिगत जीवन का सार समझें, न कि पशुओं की तरह उनको हँकाया जाय। उनको अपने देश के बारे में पूरा और सही ज्ञान होना चाहिए। उनकी संस्थाएँ उनके देश के भावों के अनुकूल होनी चाहिए। अपने देश के इतिहास के बनाने में उनका क्या भाग हो सकता है, यह ज्ञान उन्हें होना चाहिए। अपने साहित्य, संगीत तथा कविता से मातृभाषा द्वारा उनका संबंध होना भी आवश्यक है। चाहे खेती करें और चाहे कारख़ाने में काम, वे अपने जीवन की आत्मिक भूख बुझाने को भोजन अवश्य पा सकें। उनको इतना और ऐसा ज्ञान हो जाय कि अपनी शिक्षा द्वारा वे अपने कार्यों को—जो भी कार्य वे अपने जीवन में करते हों—अधिक आनंद, योग्यता और संपूर्णता के साथ संपन्न कर सकें, जिससे उनमें जो आत्मिक शक्तियाँ हैं, उनका पूरा और उत्तम विकास हो, और उनके विकास का लाभ देश और समाज को भी प्राप्त हो। यही ग्रुंडविग के सिद्धांतों का सार है।

ग्रुंडविग जिस संस्था की नींव डाल गए, उस पर आज विशाल और सुंदर भवन खड़ा हो गया है। ग्रुंडविग के कार्य को उनके पीछे चलानेवाले कई बड़े ही योग्य अनुयायी थे। सन् १८७२ में ९० वर्ष की आयु पूरी करके जब ग्रुंडविग स्वर्गवासी हुए, तो डेनमार्क में ऐसा प्रतीत हुआ, मानो देश का धार्मिक गुरु चला गया। उस गुरुदेव के कई शिष्यों में ये तीन बहुत नामी तथा योग्य हुए—क्रिश्चियन कोल्ड (१८१६-१८७०), लडविग स्क्रूडर, और अर्नेस्ट ट्रायर। इनमें प्रथम सज्जन क्रि० कोल्ड इस हाईस्कूल-संस्था के जीवन थे। उनकी
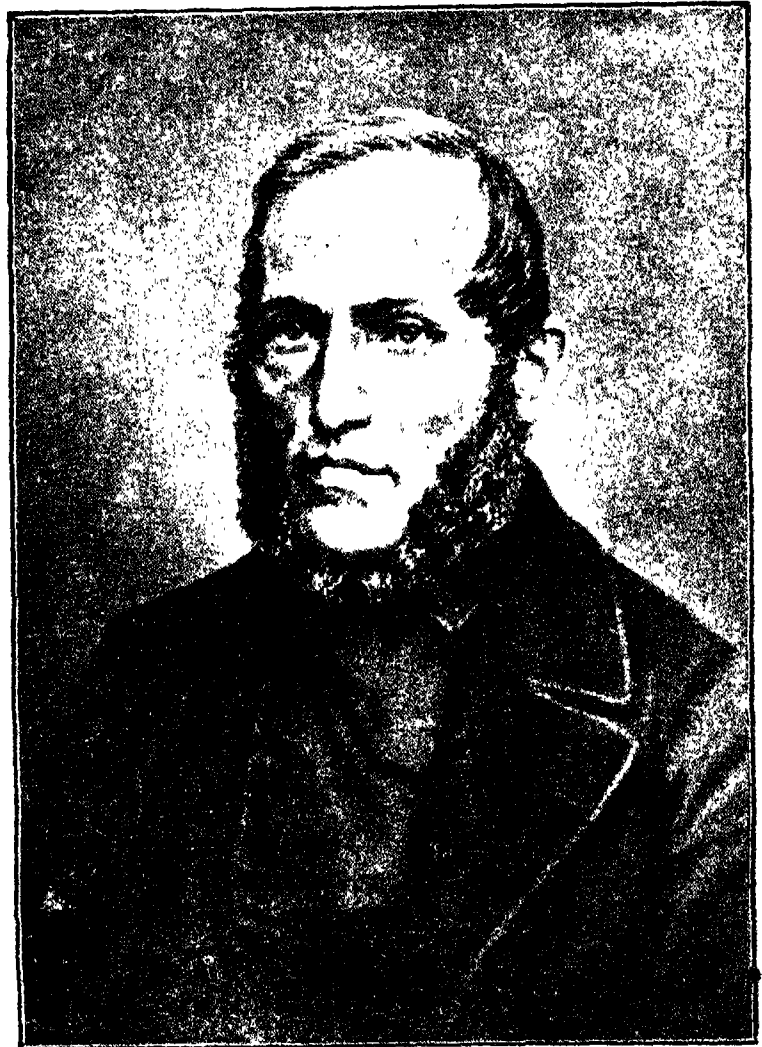
श्रीयुत क्रिश्चियन कोल्ड
(डेनमार्क के हाईस्कूलों के प्रमुख नेता)

शक्ति तथा चरित्र का ही यह प्रताप है कि आज हाईस्कूल-संस्था की ऐसी उन्नति देखने में आती है। कोल्ड के पुरुषार्थ से कई नए स्कूल स्थापित हुए, और उनमें ग्रुंडविग के भावों का प्रचार हुआ। उनके अध्यापक तथा छात्र उनकी प्रतिभाशाली वक्तृताओं से उनकी ओर आकर्षित रहते थे। हाईस्कूल-प्रथा के वह प्राण थे।

ग्रुंडविग का एक वाक्य डेनमार्क के हाईस्कूलों में बहुत प्रसिद्ध है (उसका अनुवाद अँगरेज़ी में करने से ही उसका आशय फीका हो जाता है, फिर हिंदी में किया जाय, तो उसमें क्या रह जायगा, पाठक स्वयं सोच सकते हैं)। इतिहास के पठन-पाठन के विषय में उस वाक्य को "Living Word" अर्थात् "सजीव वाक्य" कहते हैं। उनका मत था कि इतिहास, साहित्य, भुगोल अथवा अन्य विषयों के पढ़ाने में अध्यापक का कार्य ऐसा होना चाहिए कि छात्रों को उसमें जीवन दिखाई दे। इतिहास केवल रूखे-सूखे सन-सदियों और नामों की सूची न रह जाय ; किंतु उसमें समाज व राष्ट्र की उत्पत्ति और जीवन का उन्हें ऐसा दृश्य दिखाई दे कि अध्ययन करनेवाले छात्रों को उससे अपना भी संबंध जान पड़े। छात्र को अपने अध्ययन में अध्यापक के अस्तित्व का घनिष्ठ प्रभाव उसके मुख से निकलते हुए शब्दों व वाक्यों में ज्ञात हो। यही सच्ची शिक्षा है, और यही शिक्षा लाभदायक भी है। क्रिश्चियन कोल्ड "Living Word" प्रथा की पढ़ाई का अनुपम गुरु था। उस विद्वान् का नाम डेनमार्क में आज बड़े ही आदर से लिया जाता है। क्यों न हो, उसने अपने देश की बड़ी सेवा की है। उसने डेनमार्क के भविष्य को उज्ज्वल कर दिया।

डेनमार्क के फ़ोक हाईस्कूल साधारण शिक्षालय नहीं हैं। उनकी विशेषता यह है कि वे स्त्रियों और पुरुषों, दोनों की शिक्षा के लिये स्थापित किए गए हैं। इनमें नर-नारी अपने धंधे को कुछ महीनों के लिये छोड़कर पढ़ने आते हैं ; अर्थात् ये मदरसे छोटे बालकों के लिये नहीं, वरन् देश के नागरिक स्त्री-पुरुषों के लिये हैं। उनका उद्देश्य प्रमाणपत्र देकर नौकरी दिलवाना या रोटी कमाने में सहायता पहुँचाना कदापि नहीं है। उनका उद्देश्य है कि जो कोई कार्य वे लोग पहले से कर रहे हैं, उसी में वापस आकर तन-मन से सचाई के साथ लगें, और अपने हर काम में यह ध्यान रक्खें कि संसार में धन ही सब कुछ नहीं है। धर्म, देश और समाज का भी उन पर कुछ अधिकार है।

उनकी पढ़ाई में साहित्य, देशी भाषा, संगीत, इतिहास, भुगोल, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि का ज्ञान कराया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ हाथ का काम भी कभी-कभी होता है। हर छात्र को शारीरिक व्यायाम में सम्मिलित होना पड़ता है। वाद-विवाद और बातचीत करने के लिये पृथक् समय दिया जाता है।

इन विद्यालयों में पढ़ाई का कड़ा कार्यक्रम तथा निश्चित नियमों का बंधन नहीं है। न परीक्षाएँ होती हैं, और न सर्टिफ़िकेटों का कोई प्रलोभन है। धर्म के मुख्य सिद्धांतों में सारी प्रथा की जड़ स्थापित है, और प्रत्येक छात्र की व्यक्तिगत रुचि का आभास कराया जाता है।

संक्षेप में इन स्कूलों का आदर्श यही है कि संसार में सच्चे सुख और धर्म का साम्राज्य तभी होगा, जब हम लोग, सब स्त्री-पुरुष, अपने-अपने प्रतिदिन के जीवन में उदारचित्त, निःस्वार्थ तथा सत्यभाव और प्रेम से प्रेरित हों। और, बस, इसी लक्ष्य की प्राप्ति में ये शिक्षालय लगे हुए हैं।

इन हाईस्कूलों की विशेषता यह है कि छात्र और अध्यापक साथ ही—एक परिवार बनकर, एक ही जगह—रहते हैं। रात-दिन का साथ रहता है। हर समय भोजन में साथ, खेलने में साथ, उपासना में साथ, बाहर टहलने जाने में साथ। यह "Spiritual Fellowship" (आत्मिक सहयोग) कोल्ड का मुख्य मंत्र था।

ये हाईस्कूल जनता की ओर से चलाए जाते हैं। अब तो सरकारी आर्थिक सहायता लगभग सभी स्कूलों को मिलती है ; परंतु वे अपनी नीति तथा कार्य-शैली में स्वतंत्र हैं, और सरकार का उनके शासन में कोई हस्तक्षेप नहीं है। इस स्वतंत्रता को हाईस्कूल-संस्था के नेतागण परमावश्यक समझते हैं; इसी से वे सरकार के नियमों के बंधन से सदा मुक्त रहा चाहते थे, और अब भी चाहते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि स्कूलों का कार्य देश-सेवा और राष्ट्रोन्नति के आदर्श को लिए हुए है, तथापि वे राजनीतिक झगड़ों में नहीं पड़ते। राजनीतिक विषयों पर वाद-विवाद होता है; परंतु स्कूल का किसी दल या पार्टी से संबंध नहीं रहता। इसी का यह परिणाम है कि इन स्कूलों के प्रति सभी राजनीतिक दलों की श्रद्धा है, और सभी मतवाले इनकी सेवा करने को सदा तत्पर रहते हैं।

देश की जनता के लिये ये विद्यालय हैं। ये जनता की सेवा करते हैं, जनता द्वारा ही इनका संचालन और शासन होता है। सच्चे राष्ट्रीय विद्यालयों के ये उत्तम उदाहरण हैं।

डेन्मार्क के इन फ्रोक हाईस्कूलों को—जिनके जन्मदाता ग्रुंडविग थे, जिनके पोषक क्रिश्चियन कोल्ड हुए—डेन्मार्क के अभ्युदय और जागृति का मुख्य कारण मानकर, योरप व अमेरिका के विद्वान् ऐसे आदर की दृष्टि से देखते हैं कि इनका हाल कई पुस्तकों में लिखा गया है। इस लेख में इनका पूरा-पूरा वृत्तांत नहीं दिया जा सकता। इनके बारे में पुस्तकें पढ़ने अथवा वक्तृताएँ सुनने से भी सही ज्ञान नहीं हो सकता। इनको अच्छी तरह समझने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि आप स्वयं एक विद्यालय में कुछ दिनों तक जाकर रहिए। जो बातें आप देखते हैं, जो विचार और भाव आपके मन में पैदा होते हैं, उनको लिखकर वर्णन करना बड़ा कठिन काम है। मेरी कामना यही है कि मेरे देश-भाई, जिन्हें इधर आने का अवसर मिले, डेन्मार्क के इन विद्यालयों को देखना न भूलें।

प्रथम फ्रोक हाईस्कूल रूडिंग-नगर में, सन् १८४४ में, स्थापित किया गया था। रूडिंग-नगर जटलैंड की दक्षिणी सीमा पर बसा है, जहाँ से वह प्रांत (उत्तर स्लेस्विग) शुरू होता है, जो कि १८६४ में जर्मनी ने युद्ध में डेनमार्क को हराकर उससे छीन लिया था, और जिसे जर्मनी के आधिपत्य में सन् १९१९ तक रहना पड़ा, और इन ५५ वर्षों में बड़े अत्याचार और दमन-नीति का शिकार होना पड़ा। रूडिंग-हाईस्कूल ने डेन्मार्क के पराधीन और पीड़ित अंग की रक्षा और शुश्रूषा का वह काम किया, जो उसकी सेना और सारी शक्ति नहीं कर सकी थी। उसने डेन्मार्क के बिछुड़े लोगों का साहस, धैर्य बनाए रक्खा, उनको अपने देश की भाषा, भाव और साहित्य से विमुख नहीं होने दिया।

आज डेनमार्क में लगभग ६० ऐसे फ्रोक हाईस्कूल हैं, जिनमें कोई ९ हज़ार (१७ से लेकर ३० वर्ष की आयु तक के) स्त्री-पुरुष शिक्षा पा रहे हैं। इनमें अधिकांश स्कूल ऐसे हैं, जिनमें शरद्-ऋतु में सात मास के लिये पुरुष और ग्रीष्म-काल में तीन मास के लिये स्त्रियाँ पढ़ने आती हैं।

फ्रोक हाईस्कूलों की उत्पत्ति और उत्थान का दिग्दर्शन कराने में पाठकों से मैं यह भी निवेदन करना उपयुक्त समझता हूँ कि डेन्मार्क में कई प्रकार के फ्रोक स्कूल हैं, जिनका मूल-सिद्धांत और लक्ष्य तो वही एक मंत्र है, जो ऋषि ग्रुंडविग पढ़ा गए हैं, और जिसका मनन कोल्ड ने सिखाया है, किंतु उनके कार्य करने में, देश और काल के अनुसार, विभिन्नता देखी जाती है।

उस देश में इन विद्यालयों में शिरोमणि और मुख्य एस्को (Askou) का हाईस्कूल माना जाता है। उसकी स्थिति इतनी बढ़ गई है कि वह ऊँचे दर्जे की संस्था समझा जाता है। बहुधा स्त्री-पुरुष पहले किसी हाईस्कूल में एक वर्ष पढ़कर वहाँ जाते हैं। वहाँ स्त्री-पुरुष साथ-साथ पढ़ते हैं। क़रीब २५० से ऊपर छात्र हैं, और उनके मुख्याध्यापक मि० एपेल हैं, जिनको डेन्मार्क के हाईस्कूलों में बहुत मान-नीय समझा जाता है। यह सज्जन क्रिश्चियन कोल्ड के शिष्य और दामाद हैं। एस्को में पढ़े हुए छात्रों में अनेक स्त्री-पुरुष अन्य हाईस्कूलों के अध्यापक भी बनते हैं। बड़े सुंदर स्थान में, एक छोटे-से गाँव में, यह स्कूल बना है। इसके कारण उस गाँव का नाम भी चमक उठा है।
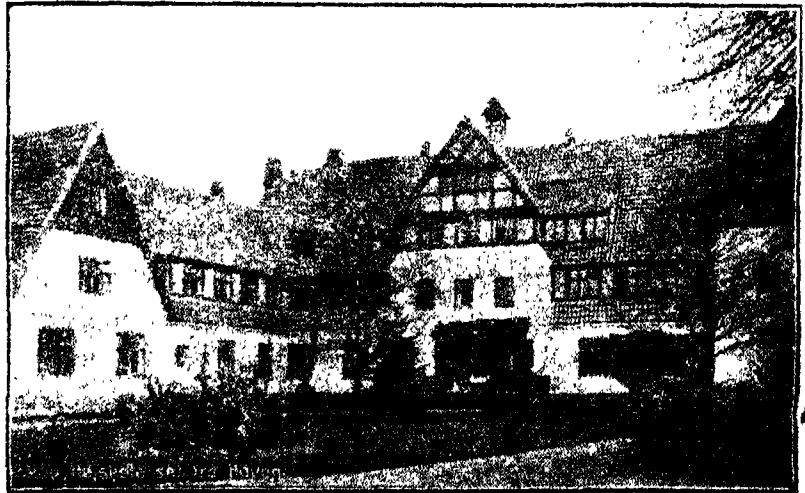
एस्को-हाईस्कूल (जटलैंड) का सबसे बड़ा विद्यालय

श्रीयुत एपेल

(डेनमार्क के सबसे बड़े हाईस्कूल एस्की के प्रधान आचार्य)

दूसरे प्रकार के हाईस्कूल वे हैं, जो विशेषज्ञता (Technical training) की ओर झुके हुए हैं। इस श्रेणी के हाईस्कूल वे हैं, जिनमें कृषि और Dairy Farming (घोसी के काम) की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार के दो सबसे अच्छे और बड़े हाईस्कूल डालम (Dalum) और लाडलंड (Ladelund) में हैं। दोनों बड़े सुसज्जित स्कूल हैं। मैंने दोनों ही को जाकर देखा, और देखने से बड़ा संतोष हुआ।

तीसरे प्रकार के हाईस्कूल वे हैं, जो प्रथम दोनों श्रेणियों के मध्यस्थ-से हैं; अर्थात् न तो एस्की, वेलीकिल्डी आदि की भाँति बिलकुल साधारण हैं, और न लाडलंड के स्कूल की तरह विशेषज्ञता के लिये स्थापित हैं। इनका कार्य ऐसे होता है कि छात्रों को साहित्य, भाषा, संगीत, इतिहास आदि विषयों का कुछ ज्ञान करा दिया जाय, और उसके साथ-साथ ही कृषि, गोविद्या (Agriculture, Horticulture, Dairy Farming, Poultry Farming) की कुछ शिक्षा (theoretical) भी उन्हें मिल जाय। इस प्रकार का एक बड़ा अच्छा स्कूल मैंने ओडेंसी (Odensse) में देखा। यह Husmanskole के नाम से प्रसिद्ध है। कारण, यह तथा इस प्रकार के कई अन्य स्कूल छोटे ज़मींदार किसानों के संघ द्वारा स्थापित किए गए हैं। यह संघ किसान-सुधार का बड़ा काम कर रहा है। उसके १०,००० से ऊपर सदस्य हैं। ओडेंसी-हाईस्कूल के मुख्याध्यापक मि० जेकब लेंग भी बड़े योग्य तथा अनुभवी हैं।

एस्की के-से अनेक अन्य हाईस्कूल हैं; किंतु वे छोटे हैं। वहाँ इतने अध्यापक, इतनी विशाल इमारतें, इतना पुस्तक-संग्रह और सामग्री नहीं, जिसका एस्की को गौरव है। परंतु वहाँ एस्की की तरह साहित्य, अर्थ-शास्त्र, भाषा, भूगोल, इतिहास, वाद-विवाद, व्यायाम आदि की शिक्षा अवश्य दी जाती है। इनको साधारण (General) हाईस्कूल कहना चाहिए। एस्की के बाद ऐसे स्कूलों में वेलीकिल्डी (Vallekilde) और रूडिंग (Ro"dding) के स्कूलों का नाम लेना चाहिए।

चौथे प्रकार के वे हाईस्कूल हैं, जहाँ शारीरिक व्यायाम (Gymnassium High Schools) पर

लैंड शारीरिक व्यायामों के लिये विख्यात हैं। डेन्मार्क में भी इस कला का बड़ा मान है।

मैं इस प्रकार के एक हाईस्कूल में गया, और एक दिन व रात वहाँ रहा। जिन प्रशंसा और विस्मय के भावों से चकित होकर मैं वहाँ से लौटा हूँ, उनका वर्णन करना मेरी लेखनी की शक्ति के बाहर है। उस समय वहाँ तीन मास की शिक्षा के लिये स्त्रियाँ आई हुई थीं। इस संस्था में स्त्रियों को ही शिक्षा दी जाती है। शरीर के निर्माण, विधि-पूर्वक अध्ययन और उसके अंग-प्रत्यंग के बनने व बढ़ाने में जिस कमाल का काम
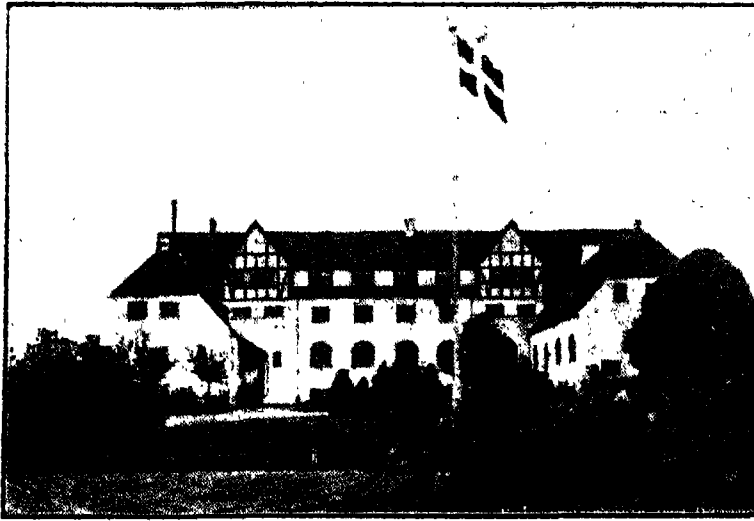
हुस्मनस्कोल ओडेंसी

(छोटे ज़मींदारों का हाईस्कूल)
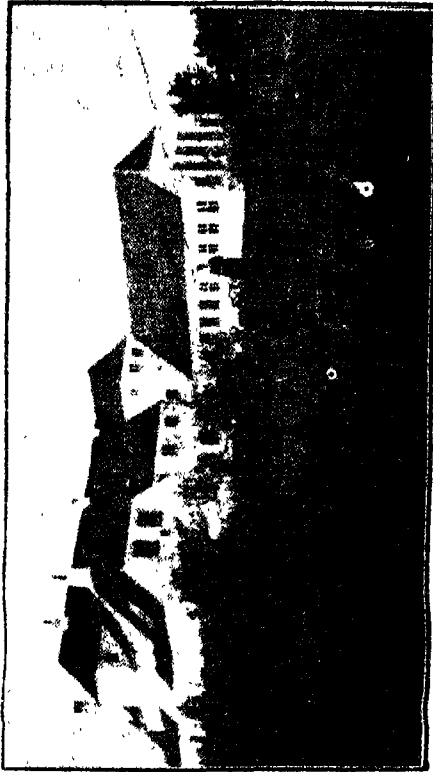
स्नोहाई मां का विद्यालय

(यह इमारत अभी दो वर्ष हुए, तैयार हुई है)

स्नोहाई-विद्यालय की छात्रियाँ खेल रही हैं

विशेष ध्यान दिया जाता है। पाठकों को यह तो मालूम ही है कि योरप में ही नहीं, संसार-भर में स्वीडन और फ़िन-

होता है, और उस पुण्य कार्य में जिस धार्मिक उत्साह और पवित्र प्रेम की प्रेरणा होती है, उसका वर्णन नहीं

किया जा सकता। यह स्कूल Snohygh (स्नोहाई) में है। यहाँ की स्त्रियाँ उस समय खेल रही थीं। इस प्रकार के स्कूलों में नवयुवक और युवतियाँ आकर इसलिये शिक्षा प्राप्त करती हैं कि वे अपने गाँवों में लौटकर छोटे बालकों और बालिकाओं को निःशुल्क शिक्षा दें।

ऐसे हाईस्कूलों में स्नोहाई और ओटरिया (Otteria) के स्कूल सबसे बढ़िया गिने जाते हैं।

इनके अलावा और भी हाईस्कूल स्थापित किए गए हैं, जिनकी उत्पत्ति ग्रुंडविग-मंत्र के कारण हुई है। इनमें दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक हेल्सिगोर का अंतरराष्ट्रीय महाविद्यालय (The international People's College, Helsingør) है। इसका आदर्श विश्व में शांति और प्रेम फैलाना तथा ज्ञान और सहकारिता द्वारा अंतरराष्ट्रीय बंधुता का भाव उत्पन्न करना है। इसको भी मैंने जाकर देखा; पर अभाग्यवश उस समय कॉलेज में छुट्टियाँ थीं। इस संस्था के प्रधान आचार्य श्रीयुत पीटर मानिक (Peter Manniche) हैं। इन महाशय का यह उद्योग बड़ा प्रशंसनीय है। यह कॉलेज दो वर्ष से चल रहा है, और इसमें दो भारतीय भी सम्मिलित हुए हैं। जर्मनी, इँगलैंड, अमेरिका, फ्रांस, स्वीडन नार्वे, आस्ट्रिया आदि देशों के छात्रों ने थोड़े ही दिनों में इससे बहुत लाभ उठाया है। इस संस्था की सहायता करने को इँगलैंड, अमेरिका और जर्मनी में कमेटियाँ बनी हुई हैं।

अंतर-राष्ट्रीय महाविद्यालय, हेल्सिगोर में शिक्षा दी जा रही है

अंतर-राष्ट्रीय महाविद्यालय, हेल्सिगोर के मुख्य अध्यापक श्रीयुत पीटर मानिक और उनकी धर्मपत्नी

दूसरी संस्था, जिसका नाम लिए बिना यह लेख सर्वथा अपूर्ण ही रहेगा, कोपनहेगन के शिक्षा-संसार के नेता मि० बोरप (J. Borup) का चलाया हुआ हाईस्कूल है। इन महाशय से मिलने व इनकी संस्था के उद्देश्यों के बारे में बातचीत करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। मैं इन्हें बड़ी भक्ति और श्रद्धा से याद करता हूँ। यह मुझे चिरकाल तक याद रहेंगे। मि० बोरप का कार्य एक

श्रीयुत बोरप

शब्द में यह है कि ग्रुंडविग के संदेश को देहात के कृषि में लगे हुए स्त्री-पुरुषों के लाभार्थ उन तक पहुँचाना। मि० बोरप का यह मत और दृढ़ विश्वास है कि वह शहर के रहनेवालों, कारख़ानों के मज़दूरों और दूकानदारों के लिये भी परम उपयोगी हो सकता है। बहुत सोच-विचार तथा मित्रों के परामर्श के बाद श्रीयुत जोहन बोरप ने अपनी बरसों की आकांक्षाओं को सन् १८९० की शरद्-ऋतु में कार्य-रूप में परिणत किया, और कोपनहेगन में अपना स्कूल खोला। अब उस संस्था को चलते ३५ वर्ष हो गए हैं। इसी वर्ष, जब मैं कोपनहेगन में था, स्कूल की नई इमारत तैयार हो चुकी थी। महाशय बोरप अब ७४ वर्ष के हो चुके हैं; परंतु अपने हाईस्कूल के जीवन-प्राण हैं। उनके हाईस्कूल में प्रतिवर्ष ७०० से अधिक छात्र शिक्षा पाते हैं। हर तरह से स्कूल बड़ी उन्नति कर रहा है। बोरप महाशय बड़े जोश से स्वयं अब तक उसका कार्य कर रहे हैं।

डेनमार्क की इस हाईस्कूल की प्रथा में इस उच्च कोटि की सफलता प्राप्त हुई है कि उसका अनुकरण अन्य देशों में भी होने लगा है। पाठक समझ गए होंगे कि यह हाई-स्कूल-संगठन केवल शिक्षा का प्रचार ही नहीं है, जिसकी माँग और समर्थन संसार के सभी देशों, स्थानों और समाजों में हो रहा है। ग्रुंडविग की यह प्रथा एक विशेष आदर्श को लेकर आगे आई है। जो विचित्र परिणाम डेनमार्क के उत्थान में इसने दिखाए, वे सभ्य-संसार से कहाँ छिप सकते थे?

सुना जाता है, जर्मनी में भी इसी ढंग के कई हाईस्कूल खुले हैं। मुझे शोक से कहना पड़ता है कि मैं जर्मनी में उनको न देख सका। सुना जाता है, उनकी वहाँ अच्छी उन्नति हो रही है।

इँगलैंड में, डेनमार्क के उदाहरण से प्रोत्साहित होकर, और उसका अध्ययन करने के बाद, स्वर्गीय दानवीर तथा संसार के विख्यात व्यवसायपति मि० जॉर्ज केडबरी की

श्रीयुत टाम ब्रायन
(इँगलैंड के हाईस्कूल फ़ेरक्राफ्ट के जन्मदाता तथा प्रथम संचालक)

सहायता और उत्तेजना से, मि० टाम ब्रायन ने, बरमिंघम के पास, बोर्नविल में, सन् १६०६ में, फ़ेरक्राफ़्ट (Fircroft) नाम का विद्यालय स्थापित किया । यह स्कूल इँगलैंड-भर में अपने ढंग की एक ही संस्था है । टाम ब्रायन (१८६६ में जन्म हुआ तथा अगस्त, सन् १६१७ में शरीरांत) इँगलैंड में बड़ी उम्रवालों की शिक्षा के आंदोलन (Adult Education Movement) के बड़े ही प्रतिष्ठित और सुयोग्य नेता माने जाते हैं । उनका जीवन इसी ओर समर्पित हुआ था । उनके प्रयत्नों और उनके प्रभावशाली चरित्र का परम उत्तम फल "फ़ेरक्राफ़्ट" समझा जाता है । इसकी कार्य-पद्धति डेनमार्क के फ़ोक हाईस्कूल तथा इँगलैंड के Adult Education (बड़ी अवस्थावालों की शिक्षा) के आदर्शों से मिश्रित है । मुझे यह भी देखकर ख़ुशी हुई कि फ़ेरक्राफ़्ट में डेनमार्क, जर्मनी, अन्य देशों और इँगलैंड के विविध प्रांतों से छात्र पढ़ने को आते हैं । वहाँ के मुख्य आचार्य आजकल मि० ला हैं । बरमिंघम के सुप्रसिद्ध Selly Oak Colleges के संघ में होने से उसकी उपयोगिता और भी अधिक हो जाती है ।

इँगलैंड में एक और हाईस्कूल इस ढंग का है । यह लंदन से कोई ३५ या ४० मील की दूरी पर है । इसका नाम है एवनक्राफ़्ट (Avoncroft) । इसे चले अभी दो ही वर्ष हुए हैं । इसके कार्यकर्ताओं से मिलने का अवसर मिला है; पर उस विद्यालय को जाकर नहीं देख सका । यह स्कूल कृषि-कार्य में जीवन बितानेवालों के लिये है ।

मि० ग्लैडस्टन का यह कथन है कि सहकारिता (Co-operative Movement) को आधुनिक संसार के सबसे बड़े सामाजिक चमत्कारों में समझना चाहिए । और, यह हम सब जानते हैं कि डेनमार्क ने अपने यहाँ उस प्रथा की सबसे अच्छी सफलता करके दिखाई है । पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि यह सफलता वहाँ के विश्वविद्यालयों के निकले हुए चंद पढ़े-लिखों या धनी और पूँजीवालों द्वारा नहीं हुई है । कई ऐसे लेखकों तथा विचारवान् पुरुषों का यह मत है (जिनका हाईस्कूलों से कोई संबंध नहीं, और जो उनके समालोचक समझे जाते हैं) कि सहकारी समितियों (Co-operative Societies) के कार्य का भार, उनके मंत्री अथवा प्रधान की हैसियत में, अधिकतर उन लोगों पर पड़ा है, जिन्होंने हाईस्कूलों में शिक्षा पाई है । साधारण सदस्यों की तरह और उनके कार्यकर्ताओं के पदों पर काम करके हाईस्कूलों में पढ़े हुए लोगों ने अपने देश की को-ऑपरेटिव सोसाइटियों को दूसरे देशों के लिये नमूना बना दिया ।

देश को सुखी व संपत्तिशाली बनाने में इन हाईस्कूलों ने बड़ा गहरा प्रभाव डाला है । मैं एक ऐसे ग़रीब छोटे ज़मींदार के घर में जाकर बैठा हूँ, जिसको अपनी ज़मीन लिए और घर बनाए हुए एक वर्ष से भी कम हुआ है, और जिसको अपने खेत में सब काम स्वयं करना होता है । किंतु उसके घर में ग्रुंडविग के चित्र, उसकी रची हुई कविताएँ, डेनमार्क के साहित्य की पुस्तकें और दैनिक समाचार-पत्रों का संग्रह मिलता है । उसके घर में बड़ा विचित्र सुथरापन है । उसका जीवन उस सभ्यता और ज्योति से प्रकाशित है, जिसका कारण आपको तुरंत हाईस्कूलों में दिखाई देता है । इन किसानों व इनकी स्त्रियों ने हाईस्कूल में शिक्षा पाई है ।

डेनमार्क के छोटे ज़मींदार किसानों का एक समाज है जो स्वतंत्र, स्वावलंबी और बड़ा सजीव है । आप उसको यदि एक बार देख लें, तो हाईस्कूलों का उत्तम परिणाम स्पष्ट समझ में आ जाय । उस जाति पर अब कोई अन्य शक्ति—देशी या विदेशी—अत्याचार नहीं कर सकती । उनका देश-प्रेम, उनका मातृभाषा से अनुराग, उनकी सच्ची आत्मिक निर्भयता उनके मुख्य गुण हैं । यों कहिए कि उन लोगों में चरित्र-बल है ।

डेनमार्क के इन हाईस्कूलों का उत्तम फल कई बातों में दिखाई देता है । डेन लोगों के जीवन पर उनका रंग चढ़ा हुआ है । गाँव-गाँव में जागृति हो गई है । हर गाँव में ग्राम-सभाएँ (Meeting Houses) स्थापित हो चली हैं, जिनके अग्रसर नेता और कार्यकर्ता वे लोग हैं, जिनको फ़ोक हाईस्कूल में जाने का अवसर मिला है । उन्होंने अपने घर वापस जाकर नवयुवक-मंडलियाँ (Youth Associations) तथा व्यायामशालाएँ (Gymnassiums) स्थापित की हैं, जिनसे राष्ट्रीय जीवन में बड़ी सामर्थ्य और जागृति आ गई है ।

आप जिधर नज़र दौड़ाइए, आपको डेनमार्क के हाईस्कूलों का असर दिखाई देगा । एक बड़ी अच्छी और शिक्षाप्रद

बात कहे बिना नहीं रहा जाता। डेन्मार्क के उस प्रांत में, जो १८६४ से जर्मनी के अधीन था, जर्मनी की सरकार ने डेनिश-भाषा की शिक्षा की कड़ी मनाही कर दी थी। बेचारों को स्कूलों में जर्मनी-भाषा पढ़नी पड़ती थी। डेन लोगों को अपने स्कूल भी रखने की अनुमति न थी। पिछले महायुद्ध में डेन-प्रांत के लोगों को जर्मनी के क़ानून के अनुसार लड़ने जाना पड़ा था। पचास वर्षों से मातृभाषा का कुछ भी ज्ञान न होते हुए भी यह ओजस्वी दृश्य दिखाई दिया कि वे सैनिक अपने घरवालों को डेनिश-भाषा में पत्र लिखते थे। यह बड़ी ही उत्साह-वर्द्धक घटना है। उनमें से कई लोगों ने डेन्मार्क में आकर अपने राष्ट्रीय हाईस्कूलों द्वारा निज भाषा का ज्ञान प्राप्त किया था। अब सन् १९१९ के सुलहनामे के अनुसार वह प्रांत फिर अपने देश में मिला दिया गया है।

डेन्मार्क के जीवित विद्वानों तथा विख्यात पुरुषों की जीवनियों का एक ग्रंथ छपा है। कहते हैं, वहाँ सन् १९२३ में १२३ ऐसे पुरुष थे, जिनका जन्म गाँवों में हुआ, और जिनमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनकी महत्ता का मुख्य कारण फ़ोक हाईस्कूल थे। अनुमान किया जाता है कि डेनमार्क में सन् १८४८ के पश्चात् जितने महापुरुष हुए हैं, उनमें १०१ छोटे ज़मींदार हैं, और इनमें बहुत बड़ी संख्या उनकी है, जिन्होंने फ़ोक हाईस्कूलों में शिक्षा पाई है। यह कुछ छोटी बात नहीं है।

मैं ऊपर कह आया हूँ कि आपको यह स्थिति डेन्मार्क ही में मिलती है कि समाज-सुधार और देश-हितैषी आंदोलनों में ग्रामीण जनता नगर-निवासियों की पथ-प्रदर्शक बनी है। दूसरे देशों में इसके विपरीत हाल रहा है। सहकारी-सभाओं (Co-operative Societies) की सदस्य-गणना में, राजधानी कोपनहेगन-शहर में, सन् १९०० तक एक भी सभा न थी। अब भी उनका ज़ोर देहातों में ही अधिक है। सन् १९१९ में कोपनहेगन में २, और प्रांतीय शहरों में ७८ ऐसी सभाएँ थीं। बाक़ी १,३११ गाँवों में ही थीं।

मुझे इन हाईस्कूलों पर बड़ी श्रद्धा है, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि हमारे देश को उन्हें अवश्य ही अपनी स्थिति के अनुसार अपनाना चाहिए।

इस संस्था ने डेन्मार्क को डूबते से बचा लिया, उसके जीवन में पुरुषार्थ भर दिया, उसके आर्थिक वैभव और सामाजिक सुख का कारण बनी। यही नहीं, संसार के शिक्षा-सागर में एक नई लहर उठा दी, जिसका वेग सब ओर माना जा रहा है। इँगलैंड, अमेरिका, जापान और जर्मनी आदि देशों में वयोवृद्ध विद्वानों ने इस संस्था की प्रशंसा के गीत गाए हैं।

लंदन] मोहनसिंह मेहता

एक दृश्य

बान लोकसत्ता तकि लाग्यो छूटि छत्ता जिमि,
पत्ता ज्यों झकोरन उड़त द्वार-द्वार है;
तार-तार लत्ता ह्वै कै, फाटिकै चकत्ता फैल्यो,
सत्ता सिवराज की दिखानी दमदार है।
दौरि-दौरि घुसत लुकत कोऊ सूथनी मैं,
ठौर नहिं पावत, मचावत गुहार है;
बीजुरी चमक न धमक धुधकार बज्र,
कोपी आज काली कलकत्ता की बहार है।
तारी दै मचाय किलकारी लै उखारी दाढ़ी,
फेंकति, फबति जनु छूटनि फुहार है;
अष्टभुजी अष्ट हू भुजान मे कृपान लीन्हें,
चीन्हें ज्यों चलावति लगावति न बार है।
काटि रक्तबीज सों सपाटि भूमि चाटि रक्त,
नाचति किलकि कूदि चूमि तरवार है;
रुंडन पै, मुंडन पै, झुंड बरिबंडन पै,
कोपी आज काली कलकत्ता की बहार है।
पारावार कंपै, रबि झंपै, हलकंपै व्योम,
धूरि सों झरत झरि पाप को पहार है;
चोपि खड्ग-हस्तिन की दच्छिन भुजा है रोपी,
टोपिन की चोंटिन सों टूटि रह्यो तार है।
भक्तन के माथन पै हाथन तिलक दै-दै,
लोथन के चोंथन उड़ावति अपार है;
धार मुंडमाल सों भरति करवाल तानि,
कोपी आज काली कलकत्ता की बहार है।

मातादीन शुक्ल

'देव' की प्रेम-पचीसी

उपक्रम

व कैसे कवि थे, वह किन-किन कवियों अच्छे और किन-किन से ख़राब थे, किसी विशेष कवि के साथ तुलना करने में वह किस श्रेणी के ठहरते हैं, इत्यादि विवाद-ग्रस्त विषयों में प्रवेश करने की मैं इच्छा नहीं करता। शायद मुझमें वह योग्यता और साहस भी नहीं कि इस प्रकार के विवाद-ग्रस्त विषयों में प्रवेश कर सकूँ। यह काम तो पंडितों का है, और वे अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार उसका संपादन भी कर रहे हैं। इस वाद-विवाद में पड़ने से अपने को बचाने के लिये मैं जो कुछ कहने जा रहा हूँ, उसमें देव की अन्य कवियों के साथ तुलना करने की इच्छा भी नहीं रखता। मेरे विषय का क्षेत्र जितना संकुचित और सकीर्ण है, उसमें रहकर दूसरे कवियों के साथ तुलना करना उचित भी नहीं। तुलना तो कवि की संपूर्ण कृतियों को एकसाथ लेकर ही औचित्य के साथ की जा सकती है। खिचड़ी का एक चावल देखकर तुलना करना अन्याय है। मैं देव की प्रेम-पचीसी पर ही कुछ कहने की इच्छा करता हूँ। इन इने-गिने २५ छंदों पर ही इन पंक्तियों में प्रकाश डाला जायगा। इसलिये मेरी विवेचना तुलनात्मक न होगी।

एक बात यहा पर बतला देना मैं आवश्यक समझता हूँ। यद्यपि मैं किसी से बहस करने को तैयार नहीं हूँ, तथापि यह कहने में मुझे किसी प्रकार का संकोच नहीं होता कि मैं देवजी को एक उच्च कोटि का कवि मानता हूँ। इस विषय में मेरी धारणा माननीय मिश्रबंधुओं की धारणा से मिलती-जुलती है। मैं समझता हूँ, काव्य-कला की दृष्टि से देवजी बड़े ऊँचे कवि थे— वह महाकवि थे। कुछ लोगों का कथन है कि देव एक बहुत साधारण श्रेणी के कवि थे। वह इसके लिये प्रमाण देने की चेष्टा भी करते हैं। मैं उनके कथन पर ध्यान देता हूँ, उनकी युक्तियों को पढ़ता हूँ, कोशिश करता हूँ कि अपनी धारणा को उनसे मिला दूँ; किंतु न-जाने क्यों यह होता ही नहीं। मेरे हृदय में तो देव की महत्ता कुछ ऐसी जम गई है कि वह हटाए ही नहीं हटती। ज्यों-ज्यों दवा करने की कोशिश करता हूँ, मर्ज़ और भी बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों मैं देव का अध्ययन करता जाता हूँ, उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ती जाती है। मेरी दृढ़ धारणा है कि शुद्ध काव्य-कला का जितना सुंदर विश्लेषण महाकवि देव ने किया है, उतना सुंदर चित्रण करने का सौभाग्य एक ही आध कवि को प्राप्त हुआ है। इस प्रकार की धारणाएँ रखने के कारण, संभव है, कहीं-कहीं मेरे कथन में कुछ पक्षपात भी हो जाय। किंतु मैं विश्वास दिलाता हूँ कि बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ अपने को पक्षपात से बचाने का प्रयत्न करूँगा। फिर भी मैं देवता नहीं, मनुष्य हूँ, और मनुष्य भी एक साधारण-से-साधारण श्रेणी का। और, मनुष्य का यह स्वभाव होता है कि अपने प्रेम-पात्र के अवगुण उसे नहीं दिखलाई पड़ते। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं, जो मुझसे भी, अनजान में, पक्षपात हो जाय। यदि ऐसा हो जाय, तो इसके लिये मैं अभी से क्षमा माँगे लेता हूँ।

वैराग्य-शतक में स्थान पाने का औचित्य

प्रेमपचीसी को देवजी ने अपने वैराग्य-शतक में रक्खा है। देवजी की अनेक पुस्तकों में एक वैराग्य-शतक भी है। इस शतक में जगद्दर्शनपचीसी, आत्मदर्शनपचीसी, तत्त्व-दर्शनपचीसी और प्रेमपचीसी – ये चार पचीसियाँ हैं। देवजी ने प्रेमपचीसी को वैराग्य-शतक में स्थान दिया है। प्रेम और वैराग्य! एक विकट विरोधाभास प्रतीत होता है। कहाँ प्रेम और कहाँ वैराग्य? साधारण बुद्धि से ये बातें परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं। किंतु देव साधारण बुद्धि के कवि न थे। उनमें असाधारण प्रतिभा थी। वह बड़े सूक्ष्मदर्शी थे। वह जानते थे कि जिन्हें लोग एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी समझते हैं, वे ही सूक्ष्म दृष्टि से देखने में अभिन्न मित्र प्रतीत होंगे। वैराग्य और प्रेम में कोई भेद नहीं। किंतु उसी समय, जब वे दोनों अपनी परा काष्ठा को पहुँच गए हों। उस समय नहीं, जब चित्त में यह ज्ञान बना हुआ हो कि मैं तो मोहन को प्यार करता हूँ, और यह मोहन नहीं है, इसलिये मैं इससे विरक्त हूँ; किंतु उस समय, जब यह अवस्था हो गई हो कि मोहन, जिसे मैं प्यार करता हूँ, चारों ओर दिखलाई पड़ रहा है—उस समय, जब सृष्टि की समस्त वस्तुओं में अपने प्रियतम की ही झाँकी हो रही हो। पाषाण-हृदय गिरि-गुफाओं से, जड़

वृक्ष-वल्लियों से, अचेतन नदी-निर्झरों से, शून्य आकाश से, पृथ्वी के एक-एक कण से हमें वही मोहनी मूर्ति दिखलाई पड़ रही हो। उस अभिनंदनीय प्रेम और वैराग्य में फिर भेद करना संभव नहीं होता। उस समय प्रेमी और विरक्त का एक ही लक्षण हो जाता है। विरक्त मोहन से वैराग्य करना चाहता है। वह उस समय तक पूर्ण विरक्त नहीं हो सकता, जब तक उसके हृदय में यह पहचान बनी रहती है कि अमुक पुरुष मोहन है, इसलिये उससे विराग करना चाहिए; क्योंकि इससे यह ध्वनि भी निकलती है कि जहाँ अमुक पुरुष मोहन है, और इसलिये उससे विराग करना चाहिए, वहाँ अमुक पुरुष मोहन नहीं है, इसलिये उससे विराग न करना चाहिए। और, जब चित्त में इस प्रकार के भावों को स्थान रहा, तो पूर्ण वैराग्य कहाँ रह गया? सच्चा विरक्त तो वही है, जो संसार के अणु-अणु में अपनी वैराग्य वस्तु के ही दर्शन करता है। इस प्रकार वैराग्य और प्रेम, दोनों एक ही परिभाषा में आ जाते हैं। प्रेमी और विरक्त, दोनों एक ही मोहन के द्रष्टा हो जाते हैं। दोनों को संसार में मोहन के सिवा कुछ नहीं दिखाई पड़ता। देवजी ने प्रेम और वैराग्य का यही साथ निबाहा है। प्रेम-पचीसी में वर्णित देव का प्रेम लौकिक प्रेम नहीं है। उसमें अलौकिकता है, निर्लिप्तता है, अपनेपन को खो देने का भाव है, विराग है। वह प्रेम की परा काष्ठा है। इसीलिये मनीषी देव ने वैराग्य-शतक में अपनी प्रेमपचीसी को स्थान दिया है।

प्रेमपचीसी को वैराग्य-शतक में स्थान देने का औचित्य एक और प्रकार से भी है। प्रेमपचीसी के छंद-रत्न वैराग्य का आदर्श संदेश है। संसार के समस्त व्यापारों से निर्वेद धारण कर, लाज, काज, भय सबको तिलांजलि दे, दुःख, सुख, यश, कलंक, किसी की कुछ परवा न कर, गुरुजनों और कुटुंबियों की भी अवहेलना कर प्रेमपचीसी की प्रेमिकाएँ "एकै अभिलाख लाख-लाख भाँति लेखती हैं।" जब वे अकेली होती हैं, तब अपने प्रियतम की खोज में —

"चाखिके चखक चख भरि चोखो छबि छाको,
मन-छत छिति परी पीर छतिया की हौं;
गोकुल के छैल, ढूँढ़े गृह बन गैल,
हौं अकेली यहि गैल तोको ऐल करि थाकी हौं।
मंद मुसक्याय लै समाय जो मैं ज्याय लै रे,
प्याय लै पियूष, प्यासी अधर-सुधा की हौं;
मेरे सुखदाई दै रे 'देव' तू दिखाई नेक
एरे ब्रजभूप, तेरे रूप-रस-छाकी हौं।"

इस प्रकार पुकारा करती हैं, और जब कोई दूसरा उन्हें समझाने का प्रयत्न करने लगता है, तब वह यह जवाब पाता है—

"सखिन बिसारि लाज, काज, डर डारि मिलो,
मोहिं मिल्यो लाल डहकाए डहकत नाहिं;
पात-ऐसी पातरी बिचारी चंग लहकत,
पाहन पवन लहकाए लहकत नाहिं।
हिलि-मिलि फूलन फुलेल बास फैले 'देव'
तेल को तिलाई महकाए महकत नाहिं;
जो हौं लौं न जाने अनजाने रही तौलौं, अब
मेरो मन माई, बहकाए बहकत नाहिं।"

अपने प्रेम-पात्र के प्रति यह तल्लीनता, यह दृढ़ व्रत, संसार की उपेक्षा कर प्रेम-पात्र की यह अनन्य उपासकता किस विराग-भाव से कम है? विराग भी तो आखिर संसार की उपेक्षा ही करता है। वही उपेक्षा यहाँ भी विद्यमान है। लोग लाख समझाते हैं, मामूली लोग नहीं, माई समझाती है, फिर भी यही जवाब मिलता है—"मेरो मन माई, बहकाए बहकत नाहिं।" कितनी ज़बर्दस्त उपेक्षा है, कितनी दृढ़ धारणा है, कितनी अटूट लगन है!

"पात-ऐसी पातरी बिचारी चंग लहकत,
पाहन पवन लहकाए लहकत नाहिं।"

उपदेशरूपी वायु मेरे पाहन-हृदय को नहीं हिला सकता। पवन से तो 'पात-ऐसी पातरी बिचारी चंग" ही हिल सकती है। अब इस पत्थर को बरग़लाना मुमकिन नहीं। प्रेम की परा काष्ठा है, दृढ़ता की हद है। अस्तु। इतना ही नहीं, अंत को देवजी साधारण बुद्धि-गम्य विराग तक पर आ गए हैं। अपने मन से कहते हैं—

"ऐसो जो हौं जानतो कि जैहै तू बिषै के संग,
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो;
आज लौं हौं कत नरनाहन की नाहीं सुनि,
नेह सों निहारि हारि बदन निहोरतो।
चलन न देतो 'देव' चंचल अचल करि,
चाबुक-चेतावनीन मारि मुँह मोरतो;
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधाबर-बिरुद के बारिधि में बोरतो।"

इस प्रकार उनकी प्रेमपचीसी वैराग्य-शतक में सम्मिलित होने की सर्वथा उपयुक्तता रखती है।

वर्णित विषय

प्रेमपचीसी में महाकवि देव ने कोई कथानक नहीं कहा, और न क्रम-बद्ध काव्य के किसी विशेष अंग या किसी अन्य विशेष विषय का ही प्रतिपादन किया है। पचीसी में कुछ फुटकल प्रेममय छंद ही लिखे गए हैं। पुस्तक में विशुद्ध शृंगार-रस की विशद कविता है। उसी शृंगार के साथ-साथ, स्थल-विशेष पर, प्रसंग-वश, आध्यात्मिक तत्त्वों, साधारण लोकाचार-संबंधी नीति तथा ऐसी ही अन्य बातों का समावेश हो गया है; किंतु प्रधानता शृंगार-रस-पूर्ण प्रेम-वर्णन की ही है। शृंगार में भी इस पुस्तक में देवजी ने संयोग-शृंगार को स्थान नहीं दिया। शायद इसलिये कि उससे पुस्तक के वैराग्य-शतक में स्थान मिलने के औचित्य में बाधा पड़ने की आशंका थी। प्रस्तुत पुस्तक में विप्रलंभ-शृंगार का ही वर्णन किया गया है, जैसा कि प्राचीन कवियों का प्रायः नियम रहा है। देवजी ने भी अपनी कविता का आधार राधा-कृष्ण की युगल मूर्तियों को ही बनाया है। नटराज कृष्ण मथुरा चले गए हैं: उनके विरह में ब्रज की गोपियाँ व्याकुल हो रही हैं; उन्हें समझाने के लिये उद्धवजी आए हैं: गोपियाँ उन्हें खरी-खरी सुनाती हैं। जब कोई और उन्हें समझाने का उद्योग करता है, तो वे उसकी बातों से अरुचि प्रकट करती हैं। अपने आप ही मन में कुढ़ा करती हैं। संक्षेप में इन्हीं बातों को देवजी ने अपनी प्रेमपच्चीसी में कहा है।

वर्णन-शैली

प्रेमपच्चीसी की वर्णन-शैली बड़ी अनोखी है। जहाँ कहीं जो कुछ कहा गया है, वह बड़े ही अनोखे ढंग से कहा गया है। देव की वर्णन-शैली में कुछ विशेषता रहती है। उनकी विशेषता अतिशयोक्ति में नहीं, स्वभावोक्ति में है। उनकी उक्तियाँ शून्य आकाश से बातें नहीं करतीं, सरस मानव-हृदय से बातें करती हैं। देवजी ने कल्पना का कचूमड़ नहीं निकाला। उन्होंने प्रतिभाशाली विज्ञ सूक्ष्मदर्शी की भाँति मानव-हृदय के मर्मस्थलों को टटोल टटोलकर सामने रख दिया है। उनकी कविता तल्लीनता, अभिन्नता, एकरूपता का ख़ज़ाना है। उन्होंने जिस विषय का वर्णन किया है, तन्मय होकर किया है। देव के नायक-नायिकाओं की उक्तियाँ विद्यार्थियों द्वारा सुनाए जानेवाले पाठ की-सी नहीं हैं। वे उनके हृदयों के अविकृत उद्गार हैं। कहने की स्पष्टता, शब्द-योजना, भावाभिव्यक्ति की सरल शैली आदि देवजी के अपूर्व गुण हैं।

थोड़े-से उदाहरण भी सुनिए—श्याम मथुरा गए हैं। ब्रज-बालाएँ विरहिणी हैं। उद्धव महाराज उपदेश देने आए हैं। उनकी दशा पर करुणा कर, विरह से बचने के लिये उद्धवजी उन्हें व्रत, नियम, संयम, प्राणायाम, आसन, ध्यान आदि करके योग-साधन का उपदेश देते हैं। किंतु ब्रज-बालाएँ साधारण श्रेणी की प्रेमिका नहीं हैं। उनका प्रेम लौकिक प्रेम नहीं है कि योग-याग की आवश्यकता पड़े। वे तो नैसर्गिक प्रेम की पुजारिन हैं। उनका प्रेम अलौकिक है, उसमें असाधारणता है। उद्धवजी को जवाब मिलता है—

"जो न जी में प्रेम, तब कीजै व्रत-नेम,
  जब कंज-मुख भूलै, तब संजम बिसेखिए;
आस नहीं पी की, तब आसन ही साधियतु,
  सासन कै साँसन को मूँदि पति पेखिए।
नख सों सिखा लौ सब स्याममई बाम भई,
  बाहिर हू भीतर न दूजो लेख लेखिए;
जोग करि मिलैं जो बियोग होय बालम सों,
  ह्यां न हरि होहिं, तब ध्यान धरि देखिए।"

कैसी अनूठी उक्ति है! अपने प्रेम-पात्र के साथ कितनी ज़बर्दस्त तन्मयता है! घनिष्ठता और एकरूपता का अंत है। विरहिणी बालाएँ अपने विरह का अनुभव ही नहीं करतीं। कैसे अनुभव करें? उनकी तो रग-रग श्याममय हो रही है। वियोग कहाँ हो भी? वे तो नख से शिखा तक श्याममयी बनी बैठी हैं। उद्धवजी को टका-सा जवाब मिल गया। एक-एक बात गिन-गिनकर उड़ा दी गई।

एक दूसरा प्रसंग लीजिए। गोकुलचंद की चेरी चकोरी एक ब्रज-वनिता उनके ध्यान में मग्न है। सच्ची प्रेमिका की भाँति शायद वह भी गृह-काज और लोक-लाज धोए बैठी होगी। चबाइनों ने उसका मज़ाक़ उड़ाना शुरू किया। वह बेचारी अबला, उस पर प्रेम-विह्वला, इन बातों से ऊब उठी। जाति-पाँति सबसे उसे विराग उत्पन्न हो गया। साथ ही अपनी निस्सहायावस्था से वह कातर हो उठी। अपनी इसी नाना-भाव-मिश्रितावस्था में वह कहती है—

"काहू को कोऊ कहावति हौं नहीं,
जाति न, पाँति न, जाति खसौंगी।
मेरिये हाँसी करौ किन लोगु,
हौं को, 'कवि देवजू' काहू हसौंगी।
गोकुलचंद को चेरी चकोरी हौं,
मंद हँसी मृदु फंद फसौंगी।
मेरी न बात बकौ बलि कोऊ,
हौं बौरिये ह्वै ब्रज-बीच बसौंगी।"

कितनी करुणा है, कितना वैराग्य है, साथ-ही-साथ कितनी दृढ़ता है! लोगों ने जातिच्युत हो जाने का भय दिखाया होगा, उसे पागल बताया होगा, उसकी करतूतों से उसके संबंधियों पर कलंक लगाने का दोषारोपण किया होगा, और हँसी तो उड़ाई ही जा रही थी। किंतु "काहू को कोऊ कहावति हौं नहीं, जाति न, पाँति न, जाति खसौंगी", और "हौं बौरिये ह्वै ब्रज-बीच बसौंगी" सुनकर उन्हें भी चुप ही हो जाना पड़ा होगा।

एक और उदाहरण देकर मैं इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। नायिका ने जब से नायक की ओर एकाएक देख लिया है, तब से उसकी सुध-बुध भूली हुई है। वह कहती है—

"औचक ही अँचयो भरि लोचन,
ता रस के बस ह्वै तुकी चेरिये।
मोहू को मोह मैं हौं नहीं सूझति,
सूझति स्याम घने तम घेरिये।
आनद के मद के नद मैं मन,
बूड़ि गयो हद मैं नहिं हेरिये;
कै उलटो सब लोग लगे, किधौं
'देव' करी उलटी मति मेरिये।"

लोचनों द्वारा रस का आचमन करना, फिर उस रस के बस में हो जाना, वह भी इस प्रकार कि अपने आपका भी अनुभव न करना आदि बातें कितनी सुंदरता के साथ कही गई हैं! मद्य का पान करना, फिर उसी के वश में (नशे में) हो जाना आदि रोज़ाना अनुभव की बातें हैं। ये ही बातें देवजी ने भी कही हैं; किंतु कितने अच्छे ढंग से! तिस पर भी "आनंद के मद के नद में मन का डूब जाना" तो कमाल है।

प्रेमपच्चीसी की वर्णन-शैली के उदाहरणों के लिये तो पच्चीसी-की-पच्चीसी उद्धृत की जा सकती है; क्योंकि सभी उक्तियाँ विशेषता से भरी हैं। किंतु मैं उपर्युक्त तीन उदाहरण देकर ही संतोष करता हूँ। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमपच्चीसी की वर्णन-शैली कितनी अनोखी है।

प्रेम-पच्चीसी में वर्णित प्रेम

प्रेम स्थूल रूप से दो प्रकार का हो सकता है। एक वह, जिसमें समस्त सृष्टि की सब वस्तुओं से प्रेम तो होता है, किंतु वस्तुओं के अलग-अलग अस्तित्व का ज्ञान बना रहता है—यह अमुक वस्तु है, यह प्रेम करने की वस्तु है, यह और वस्तु है, यह भी प्रेम करने की वस्तु है, अमुक व्यक्ति मोहन है, वह भी प्रेम का ही पात्र है, दूसरा सोहन है, वह भी प्रेम का अधिकारी है—इस प्रेम में कुछ इस प्रकार के भाव रहते हैं। सब वस्तुओं से प्रेम होता अवश्य है; किंतु सबमें भेद-भाव विद्यमान रहता है—ये भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, यह पहचान बनी रहती है। यह प्रेम उत्कृष्ट प्रेम अवश्य हो सकता है; किंतु प्रेम की परा काष्ठा नहीं। दूसरा वह प्रेम है, जिसमें सृष्टि की वस्तुओं के अलग-अलग अस्तित्व का ज्ञान ही जाता रहता है, और समस्त वस्तुओं में एकरूपता का प्रदर्शन होता है। इस प्रेम में भेदभाव नहीं रहता। वस्तुओं के अलग-अलग होने की पहचान खो जाती है। सृष्टि की एक-एक वस्तु प्रेमपात्रमय दिखलाई पड़ती है। उस समय वृक्ष वृक्ष और पशु पशु नहीं रहते, वे प्रेम-पात्र की पूजनीय प्रतिमा बन जाते हैं। यह प्रेम की परा काष्ठा है। देवजी ने प्रेमपच्चीसी में ऐसे ही प्रेम का वर्णन किया है। उनके प्रेम में अलौकिकता है। वह पवित्र प्रेम है। वह भोग-लिप्सा से दूषित नहीं है। उसमें शुचिता है। देवजी के प्रेम-मद्य का पान करनेवाला सदा उससे मतवाला ही बना रहता है। "सूरदास की कारी कमरी" की भाँति एक बार उस रंग में रँगा कि फिर कोई दूसरा रंग नहीं चढ़ता। उस नशे की ख़ुमारी कभी दूर नहीं होती। और, जो उसको पीकर मर जाता है, वह तो अमरत्व को प्राप्त हो जाता है। उनके प्रेम को चखकर फिर अमृत के भी चखने की इच्छा नहीं होती। प्रेमपच्चीसी में देवजी अपने प्रेम की यह व्याख्या करते हैं—

"जाके मद मात्यो सो उमात्यो है कहूँ न कोई,
बूड़्यो उछरयो न तरयो सोभासिंधु सामुहे;
पीवत ही जाहि कोई मरयो, सो अमर भयो,
बौरान्यो जगत जान्यो, मान्यो सुखधाम है।

चख के चखक भरि चाखत ही जाहि फिरि ,
चाख्यो न पियूष, कछु ऐसो अभिराम है ;
दंपति-सरूप ब्रज औतर्‌यो अनूप सोई ,
'देव' कियो देखि प्रेम-रस प्रेम-नाम है ।"

देवजी बड़े ऊँचे प्रेम के उपासक थे। वह बड़े शराबी थे ; किंतु बाज़ारू शराब की ओर आँख तक नहीं उठाते थे। वह प्रेम-मदिरा का पान करते थे। प्रेम-मदिरा भी ऐसी-वैसी नहीं, वह प्रेम-मदिरा जिसको पीकर ध्रुव-प्रह्लादादिक त्रिलोक की प्रभुता को 'तिन'-सा मानते हैं ; वह प्रेम-मदिरा, जिसको पीकर 'वेद-मतवारे' भी 'मतवारे' हो जाते हैं ; वह प्रेम-मदिरा, जो अनेक मुनि-देवों को, यहाँ तक कि भगवान् 'शूली' तक को, जो विष के पीने से भी विकृत नहीं हुए थे, अपने प्रभाव से प्रभावित कर देती है। वह प्रेम-मदिरा नहीं, जो साधारण मनुष्यों की एक विशेष वासना को तृप्त करने के लिये होती है। एक स्थान पर वह कहते हैं—

"भौंर तें मधुर, मधु-रस हू बिधुर करै ,
मधुरस आंधि उर गुर रस भूली है ;
ध्रुव- पहलाद हिय हुअ अहलाद जासों ,
प्रभुता त्रिलोक हू की तिन-सम तूली है।
अलस-पै बेद-मतवारे मतवारे परे ,
सहे मुनि-देव 'देव' सूली-सम सूली है ;
प्याला भरि दे री प्यारी सुरति-कलारी, तेरी ,
प्रेम-मदिरा सों मोहि मेरी सुधि भूली है।"

देवजी सुरति-कलारी की इस प्रकार की प्रेम-मदिरा के पीनेवाले थे।

प्रेमपचीसी में वर्णित प्रेम में एकाग्र भावना और एकरूपता का बड़ा व्यापक सामंजस्य है—

"बौरयो बस-बिरह मैं बौरी भई बरजत ,
मेरे बार बार बीर कोऊ पास पैठो जनि ;
बिगरी अकेली हौं हा, सिगरी सयानी तुम ,
मोहन में छाड़यो, मोसों मोहन अमैठो जनि ।
कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर, कुमति, कूर ,
काहू के न काम की, निकाम यांही ऐंठो जनि ;
'देव' तहाँ बैठियतु, जहाँ बुद्धि बढ़े, हौं तौ
बैठी हौं बिकल, कोऊ मोहिं मिलि बैठो जनि।"

"जिन जान्यो बेद, तेतो बादि कै बिदित होहु ,
जिन जान्यो लोक, तेऊ लोक पै लरि मरौ ;
जिन जान्यो तप तीनौं तापनि सौं तपि, जिन
पंचागिनि साध्यो, ते समाधिनि धरि मरौ।
जिन जान्यो जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियो ,
जिन जान्यो जोति, तेऊ जोति लै जरि मरौ ;
हौं तो 'देव' नंद के कुँअर, तेरी चेरी भई ,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ।"

जप, तप, योग, वेद, ज्ञान, धर्म, किसी की परवा नहीं। यश, कलंक, लाज, भय, सब ताक़ पर रक्खे हैं। बस, एक उपासना है, एक ध्यान है, एक लगन है, एक ही रट है वही अभिनंदनीय नंद-नंदन। कितनी ज़बर्दस्त एकांत भावना है! एकरूपता के उदाहरण, कथन-शैली का उल्लेख करते हुए, मैं ऊपर दे आया हूँ। देवजी की बहुज्ञता पर प्रकाश डालते हुए आगे चलकर मैं इस विषय के कुछ उदाहरण और भी दूँगा। इसलिये यहाँ पर इस विषय के कोई उदाहरण देना न उचित मालूम होता है, और न आवश्यक ही।

बहुज्ञता की झलक

इने-गिने २५ छंदों में किसी कवि की बहुज्ञता का कौन-सा परिचय मिल सकता है? किसी कवि के व्यापक पांडित्य और विविध विषय के ज्ञान का पूरा पता तो उसी समय लग सकता है, जब उसकी संपूर्ण कृतियों का ध्यान-पूर्वक मनन किया जाय, और फिर उससे निष्कर्ष निकाला जाय। यही बात देवजी के संबंध में भी चरितार्थ होती है। मैं पचीसी के पचीस छंदों से ही देवजी की बहुज्ञता की परीक्षा करने जा रहा हूँ। किंतु मुझे तो वैसा करना ही है। अस्तु।

देवजी ने इस छोटी-सी पचीसी में भी स्थान-स्थान पर बहुत-से विषयों का समावेश कर दिया है। इन छंदों में उन विषयों की कोई विशद व्याख्या नहीं की गई। उस उद्देश्य से ये लिखे भी नहीं गए। किंतु प्रसंग-वश जो वाक्य कहे गए हैं, वे ही यह व्यंजित करते हैं कि देवजी को उन विषयों का कितना ज्ञान था।

देवजी ने प्रेमपचीसी को वैराग्य-शतक में स्थान दिया है, और उस शतक की चार पचीसियों में प्रेमपचीसी को सबसे पीछे रक्खा है। यह भी उनकी बहुज्ञता का ही प्रमाण है। शतक की पचीसियों का क्रम यह है—जगद्-दर्शन-पचीसी, आत्म-दर्शन-पचीसी, तत्त्व-दर्शन-पचीसी और प्रेम-पचीसी। इस क्रम से भी देवजी की बहुज्ञता का ही

परिचय प्राप्त होता है। इस क्रम में वैराग्य-विषय की क्रम-बद्ध मीमांसा है। पहले जगत् का ज्ञान, फिर अपना ज्ञान, फिर तत्त्व का ज्ञान और उस निचोड़ के बाद प्रेम। देख लिया कि संसार क्या है, हम कौन हैं, और वास्तविकता क्या है। इन सब बातों से जो निष्कर्ष निकला, इस मंथन के बाद जिस रत्न की प्राप्ति हुई, उससे प्रेम हुआ। वास्तविक प्रेम या विराग इसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद हो भी सकता है। बिना समस्त परिस्थितियों का अध्ययन किए, बिना सबका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त किए, किसी वस्तु के साथ प्रेम या विराग होना संभव ही नहीं। देवजी का उक्त क्रम ही एक इतने बड़े सिद्धांत की शिक्षा दे डालता है। उस क्रम से मालूम होता है कि देवजी को वेदांत-विषय का बड़ा सुंदर ज्ञान था। वेदांत-विषय के ज्ञान के और भी प्रमाण प्रेमपचीसी में मिलते हैं—

"याही भौन भीतर रहौ न हौं न जानौ जर,
कौन-कौन हूटे कौन-कौन भाँति लीने जानि;
इन मैं निहारि-सुनै नित मैं निहारे गुन,
चित मैं बिहारै, पै परै न प्यारे पहिचानि।
'देव' सुगहि गहे गहिबे को न गहि अब,
सोइ बयो न राखौ, कोऊ मोहि कहौ न राखो तानि;
कैसो लाज, कैसो काज, कैसे धौं सखी-समाज,
कैसो घर, कैसो धन, कैसो डर, कैसी कानि?"

"मोहिं तुम्हैं अंतर गनै न गुरुजन, तुम
मेरे, हौं तुम्हारी, पै तऊ न पविलत हौ;
पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौ,
पच पूछि देखे, कहूँ काहु न हिलत हौ।
ऊँचे नीचे ठौर, कोई देत न दिखाई 'देव',
गातनि के ओट बैठे, बातनि मिलत हौ;
ऐसे निरमोही सदा मोही मैं रहत, अरु
मोही सों निकसि नेक मोहिं न मिलत हौ।"

इन दोनों छंदों में देवजी ने परमपिता की सर्व-व्यापकता का बड़ा ही सुंदर चित्र खींचा है। "चित मैं बिहारै, पै परै न प्यारे पहिचानि", "पूरि रहे या तन मैं, मन मैं न आवत हौ" आदि वाक्यों में वेदांत का कैसा गूढ़ सिद्धांत देवजी ने भर दिया है! ईश्वर सर्वव्यापक है। वह जैसे अन्य वस्तुओं में है, उसी प्रकार गोपियों के तन में भी व्याप्त है। कृष्णजी भगवान् का अवतार थे ही। अतः वही गोपियों के तन में व्याप्त थे। यही बात देवजी ने उक्त छंदों में कही है। देवजी का यह कथन उनके वेदांत-ज्ञान का द्योतक है। इन छंदों में उपर्युक्त एकरूपता का भी सुंदर समावेश है।

अब योग की कथा सुनिए। योग कैसे किया जाता है, उसके साधन क्या हैं, उसके अंग कौन-कौन हैं आदि बातों का देवजी ने बड़ा सुंदर उल्लेख किया है। ऊपर वर्णन-शैली का उल्लेख करते हुए "जो न जी मैं प्रेम, तब कीजै व्रत-नेम" आदि जो छंद दिया जा चुका है, उसमें भी इन बातों का पूरा-पूरा ब्योरा है। एक दूसरे स्थान पर "संयम, नियम, ध्यान, धारना कौ प्रत्याहार, प्रानायाम, आसन, समाधि रह्यो सेवा हूँ।" आदि कहकर योग के आठों अंगों का देवजी ने बड़े संक्षेप में, किंतु सुंदरता के साथ, वर्णन किया है। योग का प्रधान साधन मन है। मन की चंचलता को रोककर ही योग प्राप्त किया जा सकता है। यह बात भी देवजी जानते थे। इसी लिये एक स्थान पर वह कहते हैं—

"जोगहि सिखैहैं ऊधो जो गहिकै प्रान हाथ,
सो न मन हाथ, ब्रजनाथ साथ कै चुकी!
'देव' पचनायक नचाई खोलि पचन मैं,
पच हू करन पंचामृत मो अँचै चुकी।
कुलबधू ह्वैकै हाय कुलटा कहाइ, अरु
गोकुल मैं, कुल मैं कलंक सिर लै चुकी;
जिन होत हित न हमारे नित ओर तासों,
वाही चितचोरहि चितौनि चित दै चुकी।"

इस छंद में यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि देवजी इस बात को भली भाँति जानते थे कि योग का प्रधान साधन मन ही है। इसीलिये योग की अनिच्छुक गोपियों द्वारा उनके हाथ से मन का पहले ही निकल जाना वर्णन किया है।

अब अन्य साधारण ज्ञानों की ओर दृष्टिपात कीजिए। देवजी के प्रेम के संबंध का वर्णन करते हुए "मधुर ते मधुर मधुरस हू बिधुर करै" इत्यादि जिस छंद का उल्लेख किया गया है, उसमें देवजी के इतिहास-ज्ञान का भी काफ़ी प्रमाण मिलता है। "ध्रुव, पहलाद हिय हुलस अहलाद जासों प्रभुता त्रिलोक हू की तिन-सम तूली है" और "बेदम से बेद-मतवारे मतवारे परे, मोहे मुनि देव 'देव' सूली उर सूली है" आदि वाक्यों में इतिहास के बड़े-बड़े अध्याय भरे पड़े हैं। ध्रुव और प्रह्लाद के विराग और

अटल व्रत का सारा इतिहास इन पंक्तियों के पढ़ते ही सामने आ जाता है। इतिहास की अन्य कथाएँ भी, जहाँ अनेक वेद-मतवारे प्रेम-मतवारे हुए हैं, और अनेक मुनि देव मोहे हैं, इन वाक्यों के अंदर आ जाती हैं। "देव सूली-उर सूली है" में तो एक बहुत ही बड़ा इतिहास भरा हुआ है। अन्य देवतों का उल्लेख न करके देवजी ने भगवान् शूली का ही उल्लेख क्यों किया, इस प्रश्न का उत्तर ही उनके इतिहास-ज्ञान का परिचय देगा। प्रत्यक्षतः इस उक्ति के दो कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यह कि भगवान् शंकर ने विषपान किया था; किंतु उसका भी उन पर कोई असर नहीं हुआ। वही भगवान् शंकर प्रेम-मदिरा से प्रभावित हुए, मोहनी के मोह में पड़े। यदि कथन का यह कारण मानें, तो स्पष्ट होता है कि देवजी शंकर-विष-पान की कथा को जानते थे। उपर्युक्त कथन का दूसरा कारण यह हो सकता है कि भगवान् शंकर कामदेव के मारनेवाले हैं, दिगंबर, सर्वस्व-त्यागी, पूर्ण विरागी हैं, तो भी वह प्रेम-मदिरा से मोहित हुए। इस कारण से भी वही बात सिद्ध होती है। इससे कामदहन और मोहनी-सम्मोहन का पूरा इतिहास आँखों के सामने नाचने लगता है।

देवजी को जगत् की अन्य साधारण बातों का भी खूब ज्ञान था। "मन-मानिक दै हरि-हीरा गाहि बाँध्यो हम, तिन्हें तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को" से व्यापार की बातें, "काहिधौं सिखावनि, सिखै जो काहू सुधि होय" से होश में ही शिक्षा का गृहीत होना, "पात-गमी पातरी बिचारी चंग लहकत, पाहन पवन लहकाए लहकत नाहिं" से हवा लगने से पतंग का हिलना और पत्थर का न हिलना, "आँखिन लगे री स्यामसुंदर सलोने से" से नमक के आँखों में लगने से पीड़ा होना आदि अनेक साधारण रोज़मर्रा की बातों का ज्ञान झलकता है। "हिलि-मिलि फूलन फुलेल-बास फैले 'देव' तेल की तिलाई महकाए महकत नाहिं" में देवजी ने विज्ञान-ज्ञान का भी परिचय दे दिया है। तेल की तिलाई (चिकनाई) में कोई सुगंध नहीं होती। वह तो फूलों के सहवास से उसमें सुगंध आ जाती है। उनके निम्न-लिखित छंद में तो लोकाचार-संबंधी अनेक बातों का समावेश हो गया है—

"जो जिय में साँच जहाँ आनि तहाँ नाचै तब,
कैसी सात-पाँच डर पाँचन को कीबो कहा ;
जोरियै न नेह करि तोरियै न मोरि मुख,
देह क्यों न जाहु, रस पाके बिस पीबो कहा ?
मन में बिराम तब बन में बिराग 'देव',
छोड़यो जब धाम सीत-घाम तब सीबो कहा ;
जो गरीं गरीबी, तौ गुमान करि लीबो कहा,
हाथ गही डीबी, तब बाँदी अरु बीबी कहा ?"

सुहाग-रात की बातें भी देवजी से छिपी नहीं थीं। वह एक स्थान पर लिखते हैं—

"लाज के अठोट कैकै बैठती न ओट कैकै,
घूँघट को काहे के कपट-पट तानती ;
टारि देती डर कर ऐंचती न कोप कर,
डीठि चोरि, पीठि मोरि हौं न हठ ठानती।
'देव' सुख सोवती, न रोवती सोहाग-रैनि,
मेटि ताप ही ते आप ही ते हित मानती ;
हाय-हाय काहे को तितेक दुख देखती जो,
पीतम मिले को हौं इतेक सुख जानती।"

सद्यःपरिणीता नवागता वधू का प्रथम संयोग के समय लाज करना, घूँघट काढ़ना, डरना, मान करना, हठ करना आदि समस्त हाव-भावों का कितना सुंदर प्रदर्शन है !

दोष

सबसे बड़ा दोष प्रेमपचीसी में प्रसाद की कमी है। जैसा कि देवजी की प्रायः सब कृतियों में मिलता है, प्रेम-पचीसी में भी क्लिष्टता का दोष है। इसके अतिरिक्त शब्दों की थोड़ी-बहुत तोड़-मरोड़ (जैसा देवजी ने अपने अन्य ग्रंथों में भी किया है) प्रेमपचीसी में भी पाई जाती है। किंतु मैं उन पर अधिक प्रकाश डालने की इच्छा नहीं करता। इसलिये नहीं कि मैं देवजी के दोषों को छिपाना चाहता हूँ; किंतु इसलिये कि इसको मैं उतना बड़ा दोष नहीं समझता। मेरी तो धारणा यह है कि यदि शब्द उस भाव-विशेष को व्यक्त कर सकता हो, जिसके लिये वह प्रयुक्त हुआ है, तो उसके कुछ तोड़े-मरोड़े होने से भी कोई हानि नहीं। इसके अतिरिक्त मैंने न तो आलंकारिक गुण ही वर्णन किए हैं, और न उस तरह के दोष ही वर्णन करता हूँ। मेरा सारा ध्यान भावों की ओर रहा है। और, भावों को ही मैं प्रधान भी मानता हूँ। इस दृष्टि से दो-एक बातें मुझे खटकती हैं। एक तो ऊपर कहे गए सुहाग-रात के वर्णन-संबंधी छंद को प्रेमपचीसी में स्थान देने का औचित्य मेरी समझ में नहीं आता। संभव है, तोड़-मरोड़ करके अर्थ करने

इसकी उपयुक्तता भी सिद्ध की जा सके ; किंतु प्रत्यक्षतः यह बात खटकनेवाली अवश्य है । दूसरी बात यह है कि ऊपर कहे गए "धुर ते मधुर, मधुरस हू बिधुर करै" आदि छंद में देवजी ने "देव सूली-उर सूली है" लिखकर, मेरी समझ से, अपने आदर्श प्रेम को कुछ नीचा गिराया है । मोहनी-सम्मोहन की ओर इशारा करके यह पद लिखा गया मालूम होता है । मोहनी-सम्मोहन उस उच्च कोटि का प्रेम नहीं है, जिसका वर्णन देवजी ने अपनी प्रेमपच्चीसी में किया है । इतना ही क्यों, वह तो शुद्ध प्रेम के नाम से पुकारा तक नहीं जा सकता । वह तो मोह था । प्रत्यक्ष में ये ही दोष मुझे प्रेमपच्चीसी में दृष्टिगत होते हैं ।

उपसंहार

प्रेमपच्चीसी की कविता में अनेक विशेषताएँ हैं । उसमें मानव-हृदय का बहुत ही सुंदर विश्लेषण किया गया है । उसकी भाषा और उसके भाव, दोनों असाधारण हैं । प्रेमपच्चीसी एक छोटी-सी पुस्तिका है, केवल पच्चीस छंदों का एक नाम-मात्र का ग्रंथ है । किंतु इन पच्चीस छंदों के अंदर जो विशेषताएँ और भाव भरे पड़े हैं, वे किसी बड़े-से बड़े ग्रंथ में भी मिलना कठिन है। यह छोटा सा ग्रंथ भी महत्ता में बड़े-से-बड़े ग्रंथ का मुक़ाबला कर सकता है । मेरी तो यहाँ तक धारणा है कि यदि इस ग्रंथ को निकाल डाला जाय, तो हिंदी-साहित्य ही अधूरा रह जायगा । यह हिंदी-साहित्य का एक अमूल्य रत्न है । संभव है, मेरे इस कथन से बहुत लोग सहमत न हों ; क्योंकि आजकल प्रत्येक कविता को उपयोगिता की दृष्टि से परीक्षा करने की परिपाटी-सी लोगों ने बना ली है । किंतु मेरी समझ में यह परिपाटी ठीक नहीं । कविता और उपयोगिता दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं । कविता में सदा उपयोगिता देखना ठीक नहीं । दोनों में काफ़ी अंतर है । उपयोगिता लौकिक है, कविता अलौकिक ; एक स्वार्थ है, दूसरा परमार्थ । निरी उपयोगिता की दृष्टि से कविता की परीक्षा करना अन्याय है । सोना और सुगंध यदि एक में हों, तो बहुत अच्छा । किंतु दोनों के अलग-अलग रहने से भी किसी का महत्त्व कम नहीं होता । यदि सोने में सुगंध नहीं होती, तो वह टके सेर नहीं बिकता । सुगंध न होने से सोने की निंदा नहीं है । यदि यह सिद्धांत न माना जाय, और दोनों वस्तुओं के एकत्र देखने की ही बात पर ज़ोर दिया जाय, तो मेरी समझ में हिंदी-संसार का सारा साहित्य निर्मूल, निरर्थक और निस्सार हो जायगा । कविता को कविता की दृष्टि से देखिए । वह हमारे किस काम आई, इस बात को थोड़ी देर के लिये भुला दीजिए । अहिंसा के सिद्धांत का क्या परिणाम हुआ, वह सिद्धांत हमारे किस उपयोग में आया आदि बातें विचारने से उसकी महत्ता का यथोचित परिचय नहीं मिल सकता । मौलिक परिणाम की बात छोड़कर उस सिद्धांत के तत्वों पर ही विचार करने से उसकी समुचित महत्ता जानी जा सकती है । इसके अतिरिक्त इस प्रकार की कविताओं में उपयोगिता का सर्वथा अभाव मानने के लिये भी मैं तैयार नहीं हूँ । मेरी धारणा यह है कि इनमें उपयोगिता भी पर्याप्त परिमाण में होती है । किसी आर्थिक या अन्य साधारण अनुभव-गम्य लाभ को ही उपयोगिता नहीं कहते । वह भी उपयोगिता ही है, जिससे मानव-हृदय के उन सोए हुए सुकुमार भावों को जाग्रत् होने का अवसर मिलता है, जिनके होने से कोई मनुष्य पूर्ण मनुष्यत्व प्राप्त कर सकता है । इस दृष्टि से इस प्रकार की कविताएँ भी अनुपयोगी नहीं ठहरतीं । मेरी धारणा है कि यदि अधिक उदारता और सहृदयता के साथ प्रेमपच्चीसी का अध्ययन किया जायगा, तो यह ग्रंथ सब दृष्टियों से अत्यंत उत्कृष्ट सिद्ध होगा ।

विष्णुदत्त शुक्ल

गंधक और उसका तेज़ाब

बहुत प्राचीन समय से मनुष्य-जाति गंधक को जानती और उसका उपयोग करती रही है । हमारे आयुर्वेद में इसकी उत्पत्ति का वर्णन यों है—"किसी समय में श्वेत-द्वीप में क्षीर-सागर के तट पर जगज्जननी पार्वती सखियों के साथ क्रीड़ा कर रही थीं । वहाँ मासिक धर्म प्राप्त होने पर भगवती का सुगंध-युक्त जो रज निकला, वह उस सागर में धोया जाकर गंधक-रूप में परिणत हो गया, और जिस समय समुद्र-मथन हुआ, उस समय और चीज़ों के साथ गंधक भी प्राप्त हुआ ।

उत्तम गंध-युक्त होने के कारण देवता और दानव, सभी प्रसन्न हो गए, और इसका नाम गंधक पड़ा। सबसे पहले राजा बलि ने शक्तिवर्धन के लिये इसका सेवन किया, और इसलिये संस्कृत में इसको बलि भी कहते हैं।"

आयुर्वेद के मत से यह चार प्रकार की होती है—रक्त, पीत, श्वेत और कृष्ण। रक्त तोते की चोंच की भाँति लाल होती है, और सोना बनाने में काम आती है। पीली अम्ल बनाने तथा रसादिक की शुद्धि के लिये काम आती है। सफ़ेद, जो खड़िया की भाँति होती है, लेप में और लोहे को शुद्ध करने में प्रयुक्त होती है; और काली, जो मिलती ही नहीं, बुढ़ापे और मृत्यु का नाश करनेवाली है (माधव-विरचित आयुर्वेदप्रकाशः)। आंग्ल-भाषा में गंधक का प्राचीन नाम Brim stone (ब्रिम स्टोन) है, जो Burn stone (बर्न स्टोन=जलनेवाले पत्थर) का अपभ्रंश है। पुराने रासायनिक इसका मुख्य गुण 'जलना' मानते थे। गंधक शुद्ध अवस्था में ज्वालामुखी-पर्वतों के पास प्राप्त होती है, और उनके विस्फोटन के परिणाम-स्वरूप जो चीज़ें प्राप्त होती हैं, उनमें मुख्य है। ज्वालामुखी-पर्वत के जलते हुए धुएँ में गंधक द्विओषिद (SO_2) और अभिद्रव गंधिद प्रचुर परिमाण में होता है। इन दोनों का सम्मिलन ही गंधक की उत्पत्ति का कारण है। यथा $SO_2+2H_2S=3S+2H_2O$. इस प्रकार की गंधक इटली, सिसली, आइसलैंड, मैक्सिको, उत्तरीय तथा दक्षिणी अमेरिका, जापान, कोहकाफ़, इजिप्ट और न्यूज़ीलैंड इत्यादि में प्राप्त होती है। शुद्ध गंधक दबी हुई चट्टानों में भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यह मिश्रित अवस्था में भी बहुत प्राप्त होती है, जिसके मुख्य रूप दो हैं—गंधिद (Sulphide) और गंधेत (Sulphate)। गंधिद के रूप में यह सीसे, ताँबे, पारे, सुरमे (अंजन) और जस्ते (यशद) इत्यादि के साथ मिली हुई पाई जाती है। जैसे सीस-गंधिद (Pbs), ताम्र-गंधिद (Cus), पारद-गंधिद (Hgs) आदि। गंधेत के रूप में चूना (खटिक), मरियम और स्तंभम से मिली हुई प्राप्त होती है। Gypsum और Selenite प्रथम, Heavy spar द्वितीय, Celestine तृतीय और Epsum Salt (डॉक्टरी जुलाब की औषधि) तथा Kieserite चतुर्थ के रूप हैं। इसके अलावा गंधक पानी में मिश्रित रूप में भी मिलती है, जहाँ यह अभिद्रवजन से मिली हुई होती है। ऐसे पानी का औषधिरूप से बहुत उपयोग किया जाता है। गंधक बालों, नाख़ूनों तथा सींगों, पेशाब तथा पित्त, और किसी-किसी वनस्पति में भी ऐंद्रिक रूप से विद्यमान है। सन् १६०३ तक संसार में इस पदार्थ की अधिकतर माँग सिसली से पूरी होती थी। थोड़ी-बहुत जापान और इटली से भी प्राप्त होती थी। परंतु अब संयुक्त-राज्य अमेरिका के लुइसाना-प्रांत में नवीन उद्योग के कारण सिसली की माँग कम हो गई है। लुइसाना-प्रांत में सन् १८६५ से मिट्टी के तेल की खानों को खोदते समय ४४५ फ़ीट की गहराई पर गंधक की एक १०० फ़ीट गहरी तह का पता लगा। उसके उपरांत ऐसी और तहें भी लुइसाना तथा टेक्सास-रियासतों में पाई गईं। परंतु इन तहों से गंधक का निकालना अत्यंत दुष्कर हो गया। इतनी गहराई से गंधक निकालने में मामूली खोदने के तरीक़े निष्फल हुए। ३७६ फ़ीट बालू तथा मिट्टी की रोक को दूर करके भी, पानी के ज़ोर के कारण—जिसके अभिद्रव के गंधिद तथा गंधसाम्ल गैसें मिल (ई थीं, जो मनुष्यों के लिये घातक सिद्ध हुईं—कुछ भी न हो सका। सन् १८६५ से १८६१ याने २६ वर्ष तक अथक परिश्रम करके भी, जिसमें असंख्य धन तथा प्राणों का नाश हुआ, कोई कामयाबी न हुई। सन् १८६१ में फ्राश साहब नाम के एक विशेषज्ञ का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। उसने बहुत खोज तथा गवेषणा के उपरांत यह सिद्धांत सोच निकाला कि यदि अत्यंत गरम पानी गंधक की तह पर पहुँचाया जाय, जो उसे गला दे, तो गली हुई अवस्था में गंधक ऊपर पंप द्वारा प्राप्त की जा सकती है, जो फिर जमने के बाद शुद्ध रूप में पृथक् कर ली जायगी। उसने स्वयं एक छोटी-सी कंपनी खड़ी करके इस सिद्धांत की परीक्षा की, और उसको सफलता मिली। इस तरीक़े में धीरे-धीरे कई सुधार हुए, और अब यह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसी के कारण सिसली की गंधक की क़दर घट गई, और संभव है, कुछ दिनों बाद गंधक के व्यापार पर लुइसाना तथा टेक्सास का एकच्छत्र अधिकार हो जाय। तरीक़ा यों है—१७ इंच चौड़ा कुआँ ५० फ़ीट गहरा खोदा जाता है। इसमें १३ इंच का एक नल २५० फ़ीट की गहराई तक डाल दिया जाता है। इस नल के भीतर ८ इंच का एक दूसरा नल गंधक की तह तक पहुँचाया जाता है। इसमें आधे-आधे इंच के छेद नीचे की ओर उस भाग में, जो

गंधक के अंदर रहता है, कर दिए जाते हैं। इसके अंदर एक ६ इंच का नल होता है, जो ८ इंचवाले से कुछ छोटा होता है, और जिसमें छेद नहीं होते। इन ८ इंच और ६ इंच के नलों से गरम पानी अंदर डाला जाता है। ६ इंच के नल के अंदर ३ इंच का नल होता है। इसमें से गली हुई गंधक ऊपर आती है। ३ इंचवाले नल के भीतर एक १ इंच का नल है, जिसमें हवा २५० पौंड फ़ी वर्गइंच के दबाव पर अंदर घुसेड़ी जाती है, और जिसके ज़ोर से गली हुई गंधक ऊपर आती है। ८ इंच-वाले नल का पानी गंधक को गला देता है, और वह ३ इंचवाले ख़ाली नल में आ जाती है। ६ इंचवाले नल का पानी उसे ठंडा नहीं होने देता, और १ इंचवाले की हवा उसको ऊपर फेंकती है। एक ऐसा नल लगाने में सन् १६१२ में ४०० पौंड ख़र्च होते थे, और २,००० पौंड और उस पर काम करने में। कोई ५०,००० टन यानी १,३५,००० मन गंधक एक नल से प्राप्त होती है।

गंधक की क़िस्में और उनके गुण

गंधक कई प्रकार की होती है। इसकी क़िस्मों का भेद बहुत सूक्ष्म होता है। मुख्य भेद की बातें गुरुत्व, द्रव पदार्थों के साथ मिश्रण और दाने के रूप इत्यादि में होती हैं। साधारणतः तीन प्रकार की गंधक होती है। इनको आसानी के लिये (१) अ गंधक, (२) ब गंधक तथा (३) स गंधक कह सकते हैं।

अ गंधक वह गंधक है, जो प्राकृतिक अवस्था में खानों इत्यादि से प्राप्त होती है। यह मामूली ताप से लेकर ६८ दर्जे शतांश के ताप तक बनती है। इसके दानों का रूप विषमकोण समचतुर्भुज अठपहलू (Rhombri Octrahadra) होता है। गंधक को कार्बन-द्विगंधिद में घोलकर यदि कार्बन-द्विगंधिद वाष्प-रूप में उड़ा दिया जाय, तो बचनेवाली गंधक के दाने इस रूप के होते हैं। इसका गुरुत्व २·०६ होता है। यह क्लोरोफ़ार्म, बेनज़ीन और तारपीन में भी घुल जाती है; परंतु इतनी सुगमता से नहीं, जितनी कि कार्बन द्विगंधिद में। उबलते हुए सिरके के तेज़ाब (Acetic Acid) और मद्यसार यानी आलकोहल में भी यह घुल जाती है। ११४·५ शतांश पर इस प्रकार की गंधक गलने लगती है; ४४३·६ शतांश पर उबलती है।

ब गंधक ६८ शतांश से ऊपर १२० शतांश तक की गरमी में दाने बनाती है। इसके दाने एक तरफ़ को झुके हुए त्रिपार्श्विक (Monoclinic Pris matic) होते हैं। मद्यसार, तारपीन तथा बेनज़ीन के गरम द्रव के घोल से यह इस रूप में प्राप्त होती है। ९६ शतांश के ऊपर इसका यह रूप स्थायी है; परंतु इसके उपरांत ठंडी होने पर समय के साथ यह धीरे-धीरे अ गंधक में परिणत हो जाती है। १२० शतांश पर यह गलती, और ४४३·६ पर उबलती है। इसका गुरुत्व १·९६ होता है।

स गंधक—गली हुई गंधक पानी में डाल दी जाने से इस रूप में बदल जाती है। यह चूर्ण-रूप में होती है, और कुछ लचीली भी। यह कार्बन-द्विगंधिद में नहीं घुलती। एक मुद्दत तक रखने के बाद यह भी धीरे-धीरे अ गंधक के रूप में बदल जाती है, और तब कार्बन-द्विगंधिद में आसानी से घुल जाती है।

इनके अतिरिक्त और भी तीन प्रकार की गंधक बनाई जा सकती हैं—

श्वेत चूर्ण—स्फटिक पंचगंधिद को हलके हरिकाम्ल यानी नमक के तेज़ाब के साथ मिलाने से यह चूर्ण तैयार होता है।
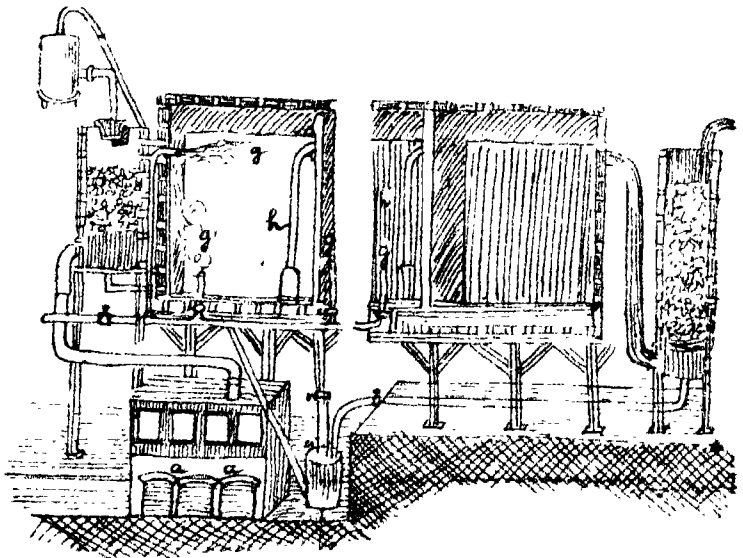
चेंबर का तरीक़ा

काला चूर्ण—क्वार्ट्स के बरतन में गंधक को भाप के रूप में परिणत करने से यह चूर्ण प्राप्त होता है। सुनहली, पीली गंधक ताप के बढ़ने पर बिलकुल बेरंग हो जाती है। इसके उपरांत वह नीली हो जाती है, और ठंडे होने पर काली पड़ जाती है। और, यदि यह गले हुए सुहागे से मिलाई जाय, तो बड़ी गहरी नीली हो जाती है।

रबर-गंधक—यदि गंधक ४०० शतांश तक गरम की जाय, और फिर द्रव-वायु में पतली धार से डाली जाय, तो बहुत पतले डोरे के माफ़िक़ हो जाती है। यह हवा से निकलने पर, थोड़ा ताप देने के बाद, रबर की भाँति लचीली हो जाती है, और घट-बढ़ सकती है। यह अवस्था इसकी केवल ½ घंटे तक ही रहती है। फिर यह धीरे-धीरे ब गंधक और अ गंधक में बदल जाती है।

गंधकाम्ल या गंधक का तेज़ाब

गंधक का तेज़ाब प्राकृतिक अवस्था में बहुत ही कम प्राप्त होता है। ज्वालामुखी-पहाड़ों के विस्फोटन से निकलनेवाले लावे में यह कभी-कभी पाई जाती है, तथा उसमें से निकलनेवाली गैसों में गंधक-द्विओषित (SO_2) और गंधक-त्रिओषित (SO_3), जो इस अम्ल की जननी है, कभी-कभी प्रचुर परिमाण में प्राप्त होती है। गंधकाम्ल पहलेपहल गंधेतों को गर्म करने से बनाया जाता था। ताम्रगंधेत तूतिया ($CuSO_4$) और लोह गंधेत ($FeSO_4$) कसीस भभकों में गरम किए जाते थे, और इनसे उठनेवाला धुआँ पुनः ठंडा कर लिया जाता था। इस प्रकार एक तरह का अशुद्ध गंधकाम्ल प्राप्त होता था। इसका बहुत दिनों तक व्यवहार होता रहा। जोशुआवार्ड नाम के एक सज्जन ने, अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में, गंधक और शोरे को मिलाकर काँच की बड़ी-बड़ी नाँदों में जलाया, और इस प्रकार बहुत दिनों तक गंधक का तेज़ाब बनता रहा। काँच की ये नाँदें बहुत शीघ्र फट और टूट जाती थीं, इसलिये जॉन रोबक नाम के एक दूसरे सज्जन ने, अठारहवीं शताब्दी के मध्य में, बजाय काँच के सीसे (Lead) की नाँदों का व्यवहार आरंभ किया। इस प्रकार वर्तमान तेज़ाब के कारख़ानों का श्रीगणेश हुआ। शुद्ध गंधकाम्ल गंधक-त्रिओषित को पानी में गलाने से प्राप्त होता है। गंधक को जलाने से गंधक-द्विओषित बनती है, यह द्विओषित अधिक ओषजन से मिलकर त्रिओषित में परिवर्तित होती है, और यह त्रिओषित पानी में मिलकर गंधकाम्ल बनाती है। गंधक-
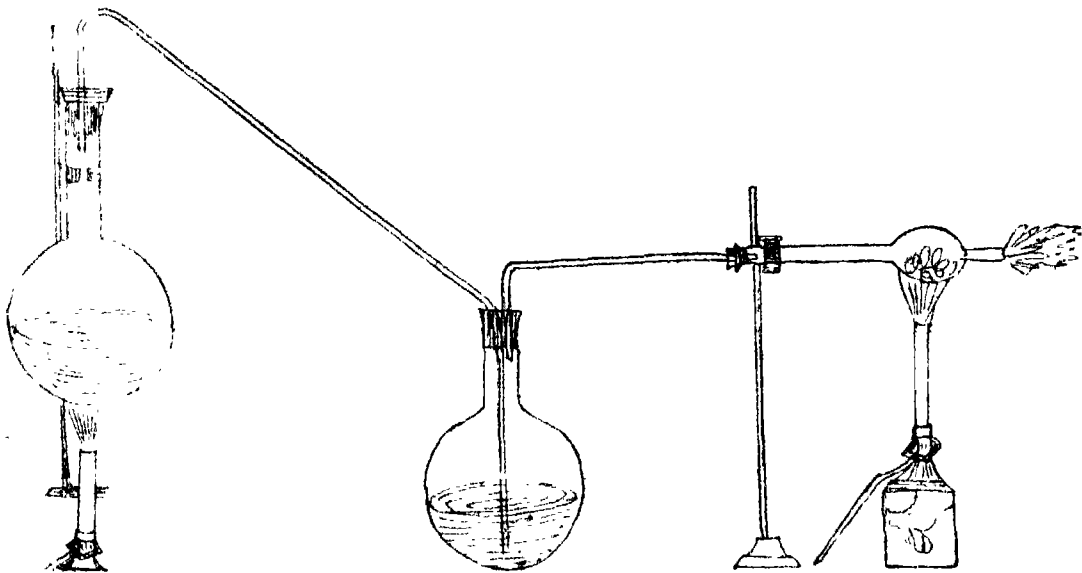
(प्लाटीनम चढ़ा हुआ एज़बेस्टस)

ऑक्सिजन उत्पन्न करनेवाला गंधक-द्विओषित उत्पन्न करनेवाला गंधक-द्विओषित पानी में मिलकर गंधक बनाती है

द्विओषित स्वयं ही पानी में मिलकर एक प्रकार का अम्ल बनाती है। इसको गंधकाम्ल (Sulphurous Acid) कहते हैं। यह अधिक स्थायी नहीं होता। गंधक-द्विओषित आसानी से गंधक-त्रिओषित में नहीं परिवर्तित होती। इसके लिये इसको ओषजन के साथ जलते हुए प्लाटीनम चढ़े हुए एज़बेस्टेस में से गुज़रना होता है। एज़बेस्टेस के टुकड़ों को लेकर प्लाटिनिक हरिद (Platinic Chloride) के द्रव में भिगोते हैं। फिर सुखाकर अमोनियम-हरिद के द्रव में भिगोते हैं। सूखने पर जला लेते हैं। बस, एज़बेस्टेस के रेशे पर प्लाटीनम की एक हलकी तह चढ़ जाती है।

द्विओषित को त्रिओषित बनाने का दूसरा तरीक़ा यह है कि उसे नत्रिकाम्ल के धुएँ से जल की उपस्थिति में मिलाया जाय। दोनों ही प्रकार से गंधकाम्ल बनता है।

पहला तरीक़ा

व्यवसाय के लिये, बृहत् रूप में, प्लाटीनम चढ़े हुए एज़बेस्टेस द्वारा गंधक-द्विओषित को गंधक-त्रिओषित में परिवर्तित करने के लिये बजाय शुद्ध ओषजन के हवा का व्यवहार करते हैं, और हवा में जो ओषजन प्राकृतिक रूप से विद्यमान है, उसी से लाभ उठाते हैं। मुख्य प्रक्रियाएँ चार हैं—

(१) गंधक-द्विओषित और वायु का मिश्रण तैयार करना

(२) उस मिश्रण का शुद्धीकरण

(३) त्रिओषित का बनना

(४) त्रिओषित का जल के साथ मिलकर अम्ल बनाना

(१) गंधक-द्विओषित प्राप्त करने के लिये गंधक या लौह-गंधिद को विशेष प्रकार के चूल्हों में जलाते हैं। अधिकांश इस तरीक़े में शुद्ध गंधक ही जलाते हैं; क्योंकि लौह-गंधिद द्वारा प्राप्त हुई गंधक-द्विओषित अशुद्ध होती है, और उसे शुद्ध करने में बड़ा आडंबर करना पड़ता है। गैस यदि पूर्णतः शुद्ध न हो, तो वह प्लाटीनम को ख़राब कर देती है, और कुछ देर के उपरांत क्रिया बंद हो जाती है। एक ओर से गंधक-द्विओषित उत्पन्न होती है, और दूसरी ओर से नल द्वारा उसमें हवा पंप करके मिलाई जाती है।

(२) उपर्युक्त कारण से प्लाटीनम की रक्षा करने के लिये द्विओषित का शुद्धीकरण अत्यावश्यक है। पहली अशुद्धि है गंधक के सूक्ष्म कण। गैस को भाप से मिलाने से ये कण नीचे बैठ जाते हैं। दूसरी अशुद्धि संखिया का लेश है। उसको दूर करने के लिये गैस को ठंडा करके, जल और गंधकाम्ल से धोया जाता है। साफ़ गैस की भली भाँति परीक्षा कर ली जाती है कि कोई ख़राबी न रह जाय, और वह सुखा लिया जाता है।

(३) यही सबसे कठिन समस्या है। शुद्ध वायु और गंधक-द्विओषित अब एक मशीन द्वारा स्पर्श-यंत्र में पहुँचाई जाती हैं। चित्र में देखिए, स्पर्श-यंत्र में C खड़े हुए तंग छेदवाले लोहे के पंप लगे हैं, जिनमें प्लाटीनम चढ़ा हुआ एज़बेस्टेस भरा रहता है। मिश्रित गैसों का एक भाग G गैस-चेंबर के नीचेवाले पंपों से तथा दूसरा ऊपर की ओर से स्पर्श-यंत्र में दाख़िल होता है। स्मरण रहे, गैस आपकी ठंडी है, और चूँकि ४०० शतांश के लगभग रासायनिक प्रक्रिया ठीक होती है, इसलिये दोनों ओर गैस इस प्रकार से दी जाती है कि गरमी न बढ़ने पावे। जिस समय गंधक-द्विओषित गंधक-त्रिओषित बनती है, उस समय बड़ा ताप उत्पन्न होता है, और यदि इस ताप को रोका न जाय, तो वह इतना बढ़ जायगा कि गंधक-त्रिओषित फिर द्विओषित और ओषजन में टूट जाय। ६०० शतांश से ऊपर जाने में यह परिवर्तन बड़े वेग से होने लगता है। नीचे से दी गई गैसें A जगह से C नलों के चारों ओर से गुज़रती हुई, ऊपर जाकर ऊपर की ओर से आई हुई गैस से मिल जाती हैं, और फिर दोनों C नलों के भीतर से गुज़रती हुई, त्रिओषित बनती हुई, नीचे पहुँच जाती हैं। क्रिया प्रारंभ करने के लिये पहले स्पर्श-यंत्र को ३०० शतांश के लगभग गरम कर लिया जाता है, और फिर मिश्रित गैस को भी आवश्यकतानुसार गरमी दी जाती है। चारों ओर तापमान-यंत्र लगे रहते हैं; क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है, इस क्रिया का ठीक-ठीक होना ताप के नियमित रहने पर ही निर्भर है।

(४) अब इस त्रिओषित को जल के साथ मिलाकर गंधकाम्ल बनाना है। इसमें भी एक कठिनाई होती है। जल या पतले गंधकाम्ल में त्रिओषित के मिलाने से पूर्णतः त्रिओषित मिल नहीं जाती, बल्कि उड़ा करती है।

ग्वालिन

[श्रीदुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला में]

लंक लचाइ, नचाइ दृग, पग उँचाइ, भरि चाइ ;
सिर सँभारि गागरि डगर नागरि नाचति जाइ ।

दुलारेलाल भार्गव

इसलिये ६७-६८ प्रतिशत का गंधकाम्ल (B) नामी स्पर्श-यंत्र के हिस्से में रक्खा जाता है। इसमें त्रिओषित पूर्णतः हज़म हो जाती है, और पतला गंधकाम्ल इसमें धीरे-धीरे मिलाते रहते हैं, ताकि सदैव इसकी उपर्युक्त शक्ति बनी रहे।

दूसरा तरीक़ा ही आजकल अधिकतर काम में लाया जाता है। इसमें भी गंधक या लौह-गंधिद को विशेष प्रकार के बने हुए चूल्हों में जलाते हैं। इन्हीं चूल्हों में एक लोहे की गहरी प्लेट रख दी जाती है, जिसमें शोरा और गंधकाम्ल मिलाकर रक्खा जाता है। गंधक या लौह-गंधिद से निकला हुआ धुआँ प्लेट को गरम करता है, और उस प्लेट से, शोरे के गरम होने से, नत्रकाम्ल का धुआँ उत्पन्न होता है। नत्रकाम्ल का धुआँ और गंधक का धुआँ (गंधक-द्विओषित), दोनों मिलकर एक चिमनी द्वारा ऊपर चढ़ते हैं। इस चिमनी में एक बड़ा भारी गुंबज़-सा बना रहता है, जिससे यदि इस धुएँ में कुछ मिट्टी इत्यादि के कण हुए, तो बैठ जाते हैं। फिर वह धुआँ सीसे के बने हुए बड़े-बड़े कमरों में आता है। इन कमरों में एक ओर से पानी की भाप का प्रवेश होता है और दूसरी ओर से धुएँ का। और, इनकी तह में थोड़ा जल रहता है। बस, रासायनिक क्रिया प्रारंभ हो जाती है, और गंधक-द्विओषित गंधक-त्रिओषित में परिवर्तित होकर जल में मिल जाती है। बचा-खुचा धुआँ इसी प्रकार की अन्य सीसे की कोठरियों में जाता है, और वहाँ भी उसी क्रिया का शिकार होता है। बड़े-बड़े कारख़ानों में ५-६ कोठरियाँ तक होती हैं। आख़िर को धुएँ में अधिकांश नत्रजन और ओषजन ही होता है (गंधक-द्विओषित प्रायः सब समाप्त हो जाता है), और ये चिमनी द्वारा हवा में निकल जाती हैं। इसी चिमनी से हवा का खिंचाव भी पैदा होता है, जिससे गैसें स्वयं खिंची हुई चली आती हैं। इस प्रकार नत्रकाम्ल बहुत-सा ख़राब जाता है। भारत में प्रायः अभी तक इसी तरह पर गंधक का तेज़ाब बनता है। कानपूर में भी दो कारख़ाने ऐसे ही हैं। इन में गंधक जलाते हैं। इस तरह जो गंधकाम्ल प्राप्त होता है, वह बहुत कमज़ोर होता है। उसमें पानी की मात्रा बहुत अधिक होती है। उसे गाढ़ा करने के लिये खुले हुए कड़ाहों में पकाते हैं। 'ग्लवर' और 'गइलूसाक' नाम के दो रसायनज्ञों ने नत्रकाम्ल की इस बरबादी को दूर करने और गाढ़ा तेज़ाब प्राप्त करने के लिये दो मीनारें ईजाद कीं। इनको 'ग्लवर-मीनार' और 'गइलूसाक-मीनार' कहते हैं। इनमें से एक सीसे की कोठरियों के एक तरफ़ और दूसरी दूसरे छोर पर लगाई जाती है। बाईं ओर 'ग्लवर-मीनार' होती है। यह एक प्रकार की लंबी कोठरी-सी होती है। लकड़ी के ढाँचे में सीसे की चद्दर लगाई जाती है, और इसके भीतर एक विशेष प्रकार की ईंटें, जिन पर तेज़ाब और अग्नि का कोई असर नहीं होता, लगी रहती हैं। इन्हीं ईंटों के टुकड़ों से यह भरी रहती है। इसके ऊपर दो टंकियाँ होती हैं,
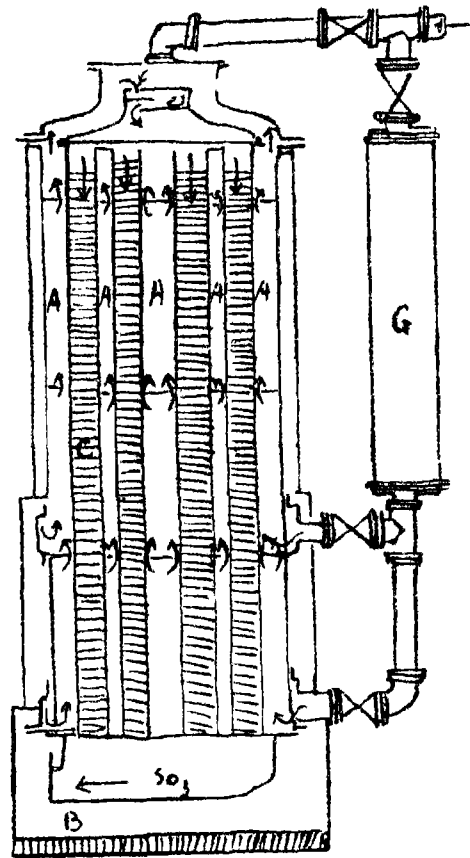
जी—गैस-चेंबर (स्पर्श यंत्र सी के चारों ओर ए स्थानों से ऊपर को गैसें गुज़रती हैं।)

सी—स्पर्श यंत्र मिश्रण इसके नीचे होकर गुज़रता है और SO_3 बनता है।

बी— SO_3 का H_2SO_4 में घुलना।

जिनमें नीचे की ओर नल लगे रहते हैं। इन टंकियों में एक में पतला तेज़ाब (१·६ गुरुत्व) और दूसरी में नत्रजन-मिश्रित तेज़ाब होता है। गंधक-द्विओषित और नत्रकाम्ल का जो धुआँ चूल्हों से प्राप्त होता है, वह इस स्तंभ में से होकर गुज़रता है, जिसमें ऊपर की टंकियों में से पतला तेज़ाब और नत्रजन-मिश्रित तेज़ाब धीरे-धीरे टपक रहा है। गरम ईंट के टुकड़ों में होकर गुज़रने और गरम धुएँ से मिलने के कारण नत्रजन तेज़ाब से निकल जाती है, और धुएँ के साथ मिलकर सीसे की कोठरी में पहुँचती है, जहाँ उसका उपयोग होता है। इधर पतला तेज़ाब गरमी से गाढ़ा हो जाता है, और शुद्ध रूप में स्तंभ के नीचे गिरता है, जहाँ से वह एक ठंडा करनेवाले गुंबज से गुज़रकर एक बड़े भारी हौज़ में पहुँचता है, जिसमें गाढ़ा तेज़ाब रहता है। अब इसका गुरुत्व १·७५ के क़रीब होता है। दूसरे 'गइलूसाक-स्तंभ' में वे नलछुट गैसें, जिनमें नत्रजन बहुतायत से रहती है, गुज़रती हैं। यह भी प्रायः बिलकुल पहले की-सी कोठरी होती है। वही लकड़ी के चौकठे में सीसे की चादर जड़ी हुई, और उसके अंदर विना गारे की ईंटों की दीवाल। इसमें बजाय ईंटों के टुकड़ों के कोक भरा जाता है। इस पर भी दो टंकियाँ होती हैं; परंतु इन दोनों में एक ही प्रकार का तेज़ाब यानी ठंडा, गाढ़ा गंधकाम्ल भरा रहता है। यह ठंडा गंधकाम्ल ऊपर से टपकता है, और ऊपर चढ़ते हुए नत्रजन-मिश्रित धुएँ से नत्रजन को पी लेता है। नत्रजन लेता हुआ यह तेज़ाब एक हौज़ में जमा होता है, जिसमें नत्रजन-मिश्रित तेज़ाब लिखा होता है, और वहाँ से 'ग्लवर-स्तंभ' की टंकी में पहुँचाया जाता है। इस प्रकार चक्कर-सा बँधा रहता है, और बहुत थोड़े शोरे का नुक़सान होता है, तथा अलग पकाने के झंझट के विना ही गाढ़ा तेज़ाब प्राप्त होता है। गाढ़े-से-गाढ़ा गंधकाम्ल १·८३४ गुरुत्व का होता है, जिसमें ९८ प्रतिशत तेज़ाब होता है। १०० प्रतिशत या शुद्ध तेज़ाब विना जमाए हुए नहीं प्राप्त हो सकता। गंधकाम्ल ३३८° सेंटीग्रेड पर उबलता और ४००° सेंटीग्रेड पर विच्छिन्न होता है, यानी पुनः गंधक-द्विओषित और ओषजन में परिणत हो जाता है। इसमें पानी मिलाने से बड़ी भारी गरमी उत्पन्न होती है। इसलिये कभी तेज़ाब में पानी मत डालो; सदैव पानी में तेज़ाब धीरे-धीरे डालना चाहिए।

उपयोग—निम्न-लिखित कामों में इसका व्यवहार किया जाता है—

(१) धातुओं के गलाने में

(२) हाइड्रोजन या अम्लजन-गैस बनाने में। लोह या जस्ते को इस तेज़ाब के साथ गलाने से अम्लजन निकलती है, और लोह-गंधेत और जस्त-गंधेत बनते हैं।

$Fe+H_2SO_4=FeSO_4+H_2$

$Zn+H_2SO_4=ZnSO_4+H_2$
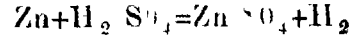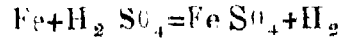
(३) अन्य तेज़ाबों के बनाने में। शोरे का तेज़ाब शोरे और गंधक के तेज़ाब से बनता है। नमक का तेज़ाब, नमक और गंधक के तेज़ाब से बनता है। अर्थात् आयोडीन, क्लोरिन आदि बनाने में

(४) ईथर आदि सेंद्रिय पदार्थों के बनाने में

(५) हड्डी आदि से खाद बनाने में

(६) ओषधि-रूप में। संक्रामक रोगों में विशेषतः उपदंश आदि के घावों को जलाने में इसका उपयोग होता है। दस्तों में अक्सर इसकी थोड़ी मात्रा दी जाती है। कभी-कभी बहुत पुरानी संग्रहणी इससे अच्छी होती देखी गई है। इसका सोमे के ज़हर में भी प्रयोग करते हैं। खाने के लिये १३·६५ फ़ी-सदीवाले गंधक के हलके तेज़ाब का व्यवहार करते हैं। गाढ़ा, तीव्र तेज़ाब हरगिज़ न खाना चाहिए। गंधक के तेज़ाब में अनेक गुण हैं, और उसका अनेक प्रकार से उपयोग किया जाता है। ऊपर उसके उपयोग बहुत संक्षेप में लिखे गए हैं।

किसी प्रसिद्ध विद्वान् का कथन है कि किसी देश की आर्थिक अवस्था का ज्ञान इससे लगाया जाता है कि वहाँ कितना गंधक का तेज़ाब बनता है। भारतवासियों का ध्यान अभी रासायनिक प्रक्रियाओं की ओर बहुत ही कम है। यहाँ के पूँजीपति अभी सिवा सूदख़ोरी के और-और कार्यों में अपना पैसा लगाना पाप समझते हैं। इसीलिये भारत की यह बुरी अवस्था है। ईश्वर जाने, वह कौन-सा दिन होगा, जब यहाँ भी हमको औद्योगिक धूमधाम दृष्टिगोचर होगी!

रामरक्षपाल संघी

क़ानून की फेरी

[चित्रकार—श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा]

हमारी हुंडावन-समस्या

(२)
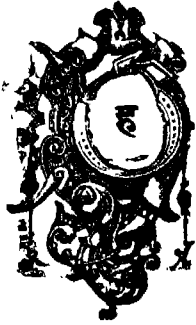
हम पिछले लेख में यह बतला चुके हैं कि हमारा मुख्य विरोध सरकार की हुंडावन-पद्धति से नहीं, वरन् उसकी संस्थापित उस भारतीय मुद्रा-पद्धति से है, जिसने उसे मन-मानी करने के लिये ऐसे अगणित छिद्र खुले रख छोड़े हैं। पिछले पैंतीस वर्षों में इसी मुद्रा-पद्धति की समस्या को हल करने के लिये ४ कमीशन भी बैठ चुके। प्रत्येक कमीशन पर लाखों रुपए ख़र्च कर दिए गए। और, अब पाँचवाँ कमीशन गत नवंबर से इसका पुनः विचार कर रहा है। दिल्ली, बंबई और कलकत्ते में गवाही ली जा चुकी है। अब यह शीघ्र ही विलायत को प्रस्थान करेगा। इन आए दिनों के कमीशनों का ख़र्च इस ग़रीब देश के लिये कितना भारी पड़ता होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि हमारी सरकार अपनी फ़िज़ूलख़र्ची के लिये काफ़ी बदनाम है। आश्चर्य यही है कि इतना ख़र्च होते हुए भी विचारणीय समस्या पूरी तरह हल नहीं हो पाती। यही नहीं, परंतु कभी-कभी तो स्वय एक कमीशन की विचार-णीय समस्या के एक विशेष पहलू का विचार करने के लिये पुनः एक नवीन कमीशन नियुक्त करने तक की अपनी व्यवस्था में सिफ़ारिश कर दी जाती है, और इस प्रकार यह कमीशनों का भूत हमारे पीछे रात-दिन लगा ही रहता है।

इन कमीशनों के संबंध में एक बात यह भी है कि ये केवल परामर्श देने के लिये ही नियुक्त किए जाते हैं। जब जनता में सरकार की नीति-विशेष के प्रति असंतोष की मात्रा अत्यधिक हो जाती है, तब उसके वेग को शांत करने के लिये इन कमीशनों-सी अचूक ओषधि के सिवा और कोई ओषधि किसी सरकार—और ख़ासकर विदेशी सरकार—के पास हो ही नहीं सकती; क्योंकि स्वच्छंद सरकार इन कमीशनों द्वारा—आवश्यक हो, तो—अपनी मनचाही बात भी कहलवा सकती है। पक्षांतर में कमीशन के परामर्शा-नुसार कार्य करना अथवा न करना भी तो सरकार की इच्छा पर निर्भर है। बहुधा यही देखा गया है कि जो परामर्श हमारे अमला लोगों (ब्यूरोक्रेसी) को रुचिकर नहीं होते, वे चाहे हमारे लिये कितने ही हितकर क्यों न हों, इनकी रिपोर्टों के पन्नों में ही ज्यों-के-त्यों रक्खे रह जाते हैं। और, जो उन्हें हितकर हैं, वे इस देश को हानिकारक होते हुए भी किसी-न-किसी बहाने स्वीकार कर लिए जाते हैं। ऐसे परामर्शों की स्वीकृति यदि हमारी व्यवस्थापिका सभाएँ न भी दें, तो वह वायसराय की सर्टी-फ़िकेशन-सत्ता द्वारा दे दी जाती है। इसके प्रमाण की आवश्यकता नहीं देख पड़ती; क्योंकि सन् १९२० का मुद्रा-आईन, जिससे हमारी हुंडी की दर १ शि० ४ पेनी से बढ़ाकर २ शि० कर दी गई थी, और ली-कमीशन आदि की घटना अभी हमारे लिये ताज़ी ही है। अस्तु। इस कमीशन द्वारा हमारी मुद्रा-पद्धति प्रकृत एवं स्व-संचालित (Natural and automatic) हो जायगी, यह आशा रखना केवल निराशा का आह्वान करना है। इस कमीशन के सदस्यों में यद्यपि भारतीय सदस्यों की संख्या पहले से कहीं अधिक है, फिर भी उन सबसे यह आशा करना कि वे एकमत होकर भारतीय हितों की रक्षा करेंगे, एकदम असंभव है। और, यदि कल्पना के लिये हम यह संभव भी मान लें, तो भी बहुमत ऐसे ही लोगों का है, जो इँगलैंड के रुख़ के अनुसार ही परामर्श देंगे। सर्वोपरि यदि हम यह भी कल्पना कर लें कि बहुमत हमारे हित में होगा, तो क्या यह असंभव बात है कि सरकार फ़ाउलर-कमेटी की सिफ़ारिशों की भाँति इन सिफ़ारिशों पर एक-न-एक बहाने अमल करने में आनाकानी करेगी?

हम इस लेख द्वारा आज अपने पाठकों को यह बताना चाहते हैं कि मुद्रा-पद्धति में अनुचित हस्तक्षेप करनेवाले भारतीय समाज को कितनी भीषण हानि पहुँचा सकते हैं? आशा है, वे इस बात को जानकर हमारी मुद्रा-पद्धति को सरकार के अधीन, जैसी अब तक वह है, न रखकर प्रकृत एवं स्व-संचालित रखने में कोई बात उठा नहीं रक्खेंगे। और जब तक ऐसा न हो, सरकार को इस विषय में चैन न लेने देंगे; क्योंकि 'मुद्रा-पद्धति' की पुष्टता पर ही समाज का हित अधिकांश में निर्भर है। उड़ाऊख़ोर राजों तथा सरकारों ने इसी में हस्तक्षेप कर जनता से अनजान में इतना कर अथवा ऋण वसूल किया था, और अब भी ऐसा ही किया जाता है, जिसे जनता जान-बूझकर, लाख चेष्टा करने पर भी, मंज़ूर न करती। विदेशी सरकार अपने अधीन देश का धन अपहरण करने के सिवा

अन्य किसी ऐसे तरीक़े का उपयोग नहीं कर सकती, जिसका जनता को संदेह भी न हो पावे। इन बातों की पुष्टि हमारे इस लेख को ध्यान-पूर्वक पढ़ने से हो जायगी।

सबसे पहले जो प्रश्न इस संबंध में उठता है, वह यह है कि मुद्रा क्या वस्तु है? इस समाज में उसका किस काम के लिये और किस-किस रूप में प्रयोग होता है? अधिक झंझट में न पड़कर हम यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि जिसके द्वारा वस्तुओं का विनिमय सरल और सुलभ हो जाय, वही वस्तु मुद्रा कहलाती है। यह पदार्थ चाहे निर्मूल ही क्यों न हो; परंतु इस विशेषता के कारण वह समाज में, बे-रोक-टोक अथवा बिना हिचकिचाहट के, वस्तुओं के एवज़ में लिया-दिया जाता है। जबतक इसकी स्वीकृति सार्वजनिक एवं रुकावट-रहित रहती है, इसके द्वारा वस्तु-विनिमय भली भाँति होता रहता है। इस मुद्रा से वस्तु-विनिमय के सुलभ एवं सरल होने का कारण यह है कि जनता साथ-ही-साथ इसके मूल्य की इकाई भी स्वीकार कर लेती है। मूल्य की इकाई स्वीकृत हो जाने पर सब वस्तुओं की क़ीमत इसके द्वारा भली भाँति आँकी और कही जा सकती है, जिसका इसकी ग़ैरमौजूदगी में कहना एक प्रकार से दुरूह है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक दूसरे की अपेक्षा भिन्न-भिन्न मालियत की होती है। और, अर्थ-शास्त्रज्ञ मिल के कथनानुसार "भिन्न-भिन्न पदार्थों का किसी एक चीज़ के साथ संबंध स्थिर करना अथवा याद रखना, अनेकों चीज़ों के पारस्परिक संबंध के निर्णय करने अथवा याद रखने की अपेक्षा बहुत अधिक आसान होता है।"

उपर्युक्त दोनों कामों के लिये, मुद्रा चाहे किसी निकम्मे पदार्थ की हो, तो भी काम दे सकती है। परंतु इसके लिये उसमें या तो कुछ विशेष गुण होना आवश्यक है, या सरकारी आज्ञा। इनके अभाव में ऐसा पदार्थ सदैव मुद्रा का काम सफलता-पूर्वक नहीं दे सकता। इन गुणों में सर्व-प्रथम उसका स्वयं मूल्यवान् होना है। इसके बाद उसमें उपयोगिता, बहुमूल्यत्व, चिरस्थायित्व, समजातिकत्व, पूर्णविभाज्यत्व, स्थिरमूल्यत्व और सरल-ज्ञेयत्व गुण भी आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ, प्लाटीनम-धातु सोने की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् होती है; परंतु चाँदी के रूप से इतनी मिलती-जुलती है कि इन दोनों को पृथक् करना मामूली आदमी की समझ के बाहर है। इसी प्रकार हीरा-पन्ना आदि रत्न और लोहा-ताँबा आदि धातुएँ मुद्रा के लिये सोने और चाँदी की अपेक्षा विशेष उपयुक्त नहीं हैं। जिस पदार्थ में उपर्युक्त सभी गुण अधिक-से-अधिक परिमाण में पाए जायँ, उसी की मुद्रा सर्वोपरि वांछनीय है। परंतु ऐसा सर्व-गुण-संपन्न पदार्थ इस संसार में मिलना असंभव है। ख़ासकर ऐसा पदार्थ तो मिल ही नहीं सकता, जिसका मूल्य—सदा की बात तो दूर रही, परंतु अधिक वर्षों तक भी—स्थिर रह सके। उपर्युक्त गुणों में से अधिकांश गुणवाले पदार्थ की मुद्रा, विनिमय-माध्यम और मूल्य की इकाई के साथ-साथ यदि वह पदार्थ काफ़ी तौर से स्थिर मूल्यवाला भी हो, तो अधिक काल के लिये किए गए पर्णों के पारस्परिक लेन-देन के संबंध को प्रदर्शित करने के काम में भी आ सकती है। मुद्रा के इस गुण को अँगरेज़ी में स्टेंडर्ड ऑफ़् डिफ़र्ड पेमेंट (Standard of Defferred Payments) कहते हैं।

यह मुद्रा आजकल सभ्य देशों में मुख्यतः सोने की है। इसके सहायक छोटे सिक्कों के लिये चाँदी, ताँबा आदि धातुएँ काम में लाई जाती हैं। परंतु अब विनिमय का काम इन धातु के सिक्कों के अलावा काग़ज़ी नोटों तथा बैंकों के चेकों से भी बहुत लिया जाता है। इन सभी को व्यापारी लोग 'चलन' कहते हैं, जिसका अँगरेज़ी नाम Circulating media है। काग़ज़ी नोट दो प्रकार के प्रचलित हैं। एक तो वह, जिसके निकालने का अधिकार स्वयं सरकार के हाथ में रहता है। इसे अँगरेज़ी में करेंसी नोट कहते हैं। दूसरा वह, जिसके निकालने का स्वत्वाधिकार देश के प्रधान बैंक को दिया जाता है। ये बैंक-नोट कहे जाते हैं। पहले का उदाहरण हमारे यहाँ के चलनी नोट और दूसरे का बैंक ऑफ़् इँगलैंड के बैंक-नोट हैं। इन काग़ज़ी नोटों से धातु-मुद्रा का-सा विनिमय का काम बख़ूबी चल जाने का प्रधान कारण यह होता है कि या तो वे आवश्यकता पड़ने पर धातु-मुद्रा से बिना बट्टे के परिवर्तित किए जा सकते हैं, अथवा सरकार ने आईन द्वारा उन्हें वैध चलन का रूप (Legal Tender) दे रक्खा है। यह काग़ज़ी मुद्रा फ़ायडयूसरी (Fiduciary)-मुद्रा कहलाती है; क्योंकि यह इसी विश्वास पर चलती है कि जब ज़रूरत होगी, तब धातु-मुद्रा में आसानी से परिवर्तित की जा सकेगी। ऐसी मुद्रा की चलनी क़ीमत की अपेक्षा निजी क़ीमत कुछ भी नहीं होती, और यदि होती भी है, तो बहुत ही थोड़ी। पिछले

प्रकार की मुद्रा का ज्वलंत उदाहरण हमारा चाँदी का रुपया है, जिसकी चलनी क़ीमत चाँदी की क़ीमत की अपेक्षा विशेष है। अस्तु, यह भी दरहक़ीक़त 'फ़ायडगूसरी-मुद्रा ही है। प्रधान मुद्रा तो सोने की है, जिसकी धातु और चलती क़ीमत एक है। मुद्रा की इस परिभाषा से बैंकों के चेक आदि भी मुद्रा की श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। ये नोटों से इतने ही भिन्न होते हैं कि क़र्ज़दार अपने ऋण के परिशोध में महाजन को नोट अथवा रुपयों की भाँति चेक स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं कर सकता, यानी चेक नोटों की भाँति (Legal Tender) वैध चलन नहीं होते। इनका उपयोग परस्पर की इच्छा पर निर्भर रहता है। इसके अलावा चेकों पर साधारणतः बेचाण करना आवश्यक रहता है। अस्तु। इन चेकों का प्रयोग पाश्चात्य देशों में अत्यधिक बढ़ रहा है, और वहाँ पर ये चलन के प्रधान अंग माने जाते हैं। हमारे भारतवर्ष में यद्यपि इनका प्रयोग इतना नहीं बढ़ पाया है, परंतु आशा की जा सकती है कि ज्यों-ज्यों जन-समुदाय शिक्षित होता एवं बैंकों की उपयोगिता समझता जायगा, त्यों-त्यों यह भी बढ़ेगा। आवश्यकता इस बात की है कि चेक पर २०) के ऊपर टिकट लगाना जो अनिवार्य है, वह सर्वथा मुक्त कर दिया जाय, और बैंक हिंदी में लिखे चेकों को बे-रोक-टोक और बिना हिचकिचाहट के स्वीकार करने लग जायँ। हमारे यहाँ चेकों के प्रयोग की स्थिति नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट होगी। कुछ भी हो, हमारे चलन में इन चेकों का भाग फ़िलहाल इतना थोड़ा है कि हम एक प्रकार से उसे नगण्य ही कह सकते हैं।

चेकों की क्लियरिंग

सन्	कलकत्ता	बंबई	मदरास	कराँची	रंगून	कानपुर	लाहौर	योग
१९१५-१६	३,५२,३६	१,७७,१८	२०,२१	१४,०९	३९,५०	...	...	६,०३,३४
१९१६-१७	४,९२,८९	२,६२,२८	२५,२९	१७,३६	५०,६८	...	...	८,४८,५०
१९१७-१८	५,२४,९०	३,८३,५३	२३,०१	२२,१७	५२,८६	...	...	१०,०६,४७
१९१८-१९	७,४१,१३	५,६९,४६	२५,४५	२२,३०	७३,८५	...	...	१४,३२,१९
१९१९-२०	१०,५५,७६	८,८३,०२	३३,९५	२३,१३	९४,७४	...	...	२०,९०,६०
१९२०-२१	१४,४९,९३	१२,१५,२३	७५,७९	३३,४२	१,०४,८४	६,६२	...	२९,८५,८४
१९२१-२२	९,०५,०१	९,०६,७३	३९,५४	३६,७३	१,२२,०२	९,०१	५,८६	१५,२४,९०
१९२२-२३	९,८०,२६	५,५८,१३	४५,१३	३३,५८	१,२५,९६	७,९३	२,४९	१७,५५,०८
१९२३-२४	८,५३,०५	७,०७,९८	५५,४१	४१,५२	१,३२,८२	६,३८	५,८५	१८,०३,०१
१९२४-२५	९,५४,११	६,२१,६६	५५,९६	५५,९६	१,१७,२१	५,३२	५,५७	१८,१५,७९

यह चलन तीन प्रकार का होता है। पहला ग्राम यानी कुल चलन (Gross Circulation)। इसमें सरकार द्वारा डाले हुए समस्त रुपए आदि सिक्कों और छापे हुए कुल नोटों का समावेश किया जाता है। दूसरा नेट यानी खरा चलन (Net Circulation) है। इसमें इन कुल रुपयों तथा नोटों में से वे रुपए तथा नोट, जो सरकार का रिज़र्व ट्रेज़री (Reserve Treasuries) तथा पेपरकरेंसी रिज़र्व में हों, बाद दे दिए जाते हैं; और शेष जो बचे, वह खरा चलन कहलाता है। तीसरा Active Circulation है, जिसमें बैंकों के रिज़र्व में पड़े हुए नोट तथा रुपए तक बाद दे दिए जाते हैं।

अब ज़रा यह भी विचार कीजिए कि विनिमय किसे कहते हैं, और वह कितने प्रकार का हो सकता है? विनिमय का अर्थ है अदला-बदली। यह अदला-बदली तीन प्रकार की हो सकती है। एक तो वस्तुओं की वस्तुओं से, दूसरी वस्तुओं की रुपयों से अथवा रुपयों की वस्तुओं से और तीसरी रुपए यानी मुद्रा की मुद्रा से। इस अंतिम प्रकार की अदला-बदली को सिक्का-परिवर्तन (Money-Changing) अथवा हुंडावन कहते हैं। वस्तुओं की रुपयों से अथवा रुपयों की वस्तुओं से जो अदला-बदली की जाती है, उसे हम लोग ख़रीद-फ़रोख़्त कहते हैं। हमें इस लेख में इन्हीं दोनों प्रकार के विनिमय के संबंध में कुछ विचार करना है। मुद्रा का मुद्रा से विनिमय भी इसीलिये किया जाता है कि विदेश में वस्तु की ख़रीद की जा सके। इसी ख़रीद-फ़रोख़्त को दूसरे शब्दों में व्यापार कहते हैं, और इस व्यापार के संचालन

में जो रुपया* सहायता दे, वही चलन भी कहा जा सकता है। इस चलन में अनुचित हस्तक्षेप से इसके द्वारा होनेवाले विनिमय यानी व्यापार पर भारी प्रभाव पड़ता है।

मुद्रा का राशि-सिद्धांत

इस संबंध में हम अपने पाठकों को मुद्रा-शास्त्र के उस सिद्धांत से परिचय करा देना आवश्यक समझते हैं, जिसे अँगरेज़ी में 'क्वांटिटी थियरी ऑफ़् मनी' (Quantity Theory of Money) याने मुद्रा का राशि सिद्धांत कहते हैं। इस सिद्धांत के माननेवाले यद्यपि अर्थ-शास्त्र के निर्माता आदम स्मिथ, जान स्टुअर्ट मिल आदि से लेकर डॉक्टर मार्शल टासिग, गस्टाव कासल और कीन्स आदि वर्तमान गण्य-मान्य विद्वान् हैं, तथापि कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो इसे ग़लत समझते हैं। पिछली श्रेणी के विद्वान् इने-गिने हैं, और उन सबमें प्रधान हैं अमेरिका के प्रोफ़ेसर लाघलीन (Laughlin)। हम इस लेख में इस सिद्धांत के पक्षापक्ष की दलीलों की छानबीन करने के लिये तैयार नहीं, और न यह हमारे लिये आवश्यक ही है। जबतक अर्थ-शास्त्रज्ञ रुपए की क्रयात्मक शक्ति के घटने-बढ़ने का चलन की तादाद से संबंध मानते रहेंगे, तबतक यह सिद्धांत अजर-अमर रहेगा। जो लोग इसे नहीं मानते, वे उनकी इस दलील का समुचित उत्तर नहीं देते। अस्तु।

यह सिद्धांत संक्षेप में यह प्रतिपादन करता है कि यदि अन्य याने अपरिवर्तित रहें, तो वस्तुओं का भाव साधारणतः मुद्रा की राशि याने तादाद के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। यदि मुद्रा की तादाद बढ़ा दी जाय, तो वस्तुओं का भाव भी उसी के अनुसार बढ़ जायगा; और यदि वह घटा दी जाय, तो भाव भी घट जायगा। यही सिद्धांत बीज-गणित के रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

मुद्रा=भाव×चीज़

हमारे इस प्रकार प्रतिपादन कर देने से शायद पाठक इसे ठीक-ठीक न समझ सकेंगे। इसलिये हम एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। यह सभी जानते हैं कि जितना पैसा किसी के पास होगा, उसी के अनुसार वह आवश्यक चीज़ के दाम दे सकेगा। अर्थात् यदि किसी शख़्स के पास केवल १० रुपए हों, और उसे केवल १ मन गेहूँ की ही आवश्यकता हो, तो वह अधिक-से-अधिक दस रुपए तक उसके लिये दे देगा। यदि गेहूँ बेचनेवाला १० रुपए से ज़्यादा माँगेगा, तो या तो उसे अधिक रुपए देने होंगे अथवा वह स्पष्ट इनकार कर देगा। अब यदि हम यह सोचें कि वह गेहूँ के अलावा इसी रक़म में से १ सेर घी और १ मन लकड़ी भी ख़रीदना चाहता है, तो इस ख़याल से वह अपने १०) का बटवारा शायद इस भाँति करेगा—१ सेर घी २) तक, १ मन गेहूँ ७) तक और १ मन लकड़ी १) तक। यदि घीवाला कुछ विशेष दाम माँगे, तो वह यह कोशिश करेगा कि गेहूँवाला अथवा लकड़ीवाला अथवा दोनों ही मिलकर उसको आवश्यक गेहूँ और लकड़ी इतनी सस्ती दे दें कि वह आवश्यक घी के लिये ज़्यादा दाम दे सके। और, यदि इसमें वह सफल न होगा, तो या तो घी के बिना ही उस समय तक काम चलावेगा, जबतक घी का भाव काफ़ी तौर से न गिर जाय, अथवा उसके पास तेज़ भाव में घी ख़रीदने के लिये उतने रुपए न बढ़ जायँ। इसी प्रकार घीवाला—यदि उसे रुपए की दरकार होगी, तो—अवश्य घी के दाम कम कर देगा; अथवा उसे अपना घी तब तक रोक रखना होगा, जबतक ख़रीदार अधिक रुपए न ले आवे। पिछली स्थिति का यह परिणाम होगा कि हमें बढ़े हुए भाव में व्यापार करने के लिये चलन को भी बढ़ाना होगा; अन्यथा पूरा व्यापार याने ख़रीद-फ़रोख़्त न हो सकेगी।

इस उदाहरण में हमने यद्यपि सुबीते के लिये ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर ली है, जहाँ सिवा एक ख़रीदार के दूसरा कोई ख़रीदार नहीं है, और न एक चीज़ का बेचनेवाला ही एक से अधिक है; किंतु यदि हम एक के स्थान में ऐसे अनेक ख़रीदारों की भी कल्पना कर लें, जिनका सम्मिलित द्रव्य, जिसका विनिमय-माध्यम के रूप में प्रयोग किया जा सके, १०) से अधिक नहीं है, और इसी प्रकार अनेक वस्तु-विक्रेताओं का सम्मिलित माल १ सेर घी, १ मन गेहूँ और १ मन लकड़ी से ही अधिक है, तो ख़रीद-फ़रोख़्त की पूर्ण प्रतिद्वंद्विता होने पर भी वस्तुओं का मूल्य, जबतक मुद्रा के चलन में तादाद न बढ़े, औसतन उतना ही रहेगा, ताकि कुल माल फ़रोख़्त हो सके। यदि एक चीज़ महँगी होगी, तो

* हमने इस लेख में 'रुपया' अथवा 'रुपए' का प्रयोग अँगरेज़ी के मनी (Money) शब्द के अर्थ में ही किया है। जहाँ रुपए से हमारे चाँदी के रुपए का मतलब है, वहाँ वह स्पष्ट बता दिया गया है। लेखक—

दूसरी को औसत मिलाने के लिये भाव में सस्ती होना ही पड़ेगा। अन्यथा सारी चीज़ों की बिक्री न हो सकेगी, यानी व्यापार क़ायम न रह सकेगा। पक्षांतर में अधिक मुद्रा चलन में डालकर महँगी चीज़ महँगे भाव में बेची जा सकेगी।

हमारे पाठक शायद कहेंगे कि तुमने अपने मत की पुष्टि के लिये इस उदाहरण में पहले तो यह मान लिया है कि बिक्री के माल की तादाद स्थिर है, और वह बेची जानेवाली ही है। दूसरे यह कल्पना भी कर ली है कि रुपया हाथ-दर-हाथ नहीं घूमता, यानी ख़रीदार के हाथ से निकलकर वह विक्रेता के पास जाकर चुक जाता है। ऐसी काल्पनिक स्थिति में शायद 'मुद्रा का राशि-सिद्धांत' सच हो; परंतु जिस संसार में हम रहते हैं, वहाँ ये सब बातें हमारी इच्छा के अनुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती हैं। साथ ही हम नक़े के अलावा साख पर उधार भी बहुत कुछ व्यापार यानी ख़रीद-फ़रोख़्त करते हैं। क्या इस दशा में भी यह सिद्धांत सत्य ठहरेगा?

इस संबंध में हम उनसे यही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि 'मुद्रा का राशि-सिद्धांत' सब दशाओं में सत्य नहीं उतरता, और न इसके समर्थकों में ही कोई ऐसा मानता है। लोगों ने इसकी सीमाओं का ख़याल भुलाकर इस पर व्यर्थ के आक्षेप लगा रक्खे हैं। इसकी संक्षिप्त व्याख्या में यह स्पष्ट कहा जा चुका है कि 'यदि अन्य बातें अपरिवर्तित रहें', तो वस्तुओं के भाव मुद्रा के चलन में, तादाद के अनुसार, परिवर्तित होते रहेंगे। अन्य जो बातें स्थिर रहनी चाहिए, वे ये हैं—(१) विक्रयार्थ वस्तुएँ, (२) मुद्रा का परिभ्रमण। मुद्रा नियत अधिक परिभ्रमण याने फेरे कर उतने ही गुना अधिक व्यापार कर सकती है। उदाहरणार्थ १०) यदि १० फेरे करें, तो १००) का कुल व्यापार करेंगे। हम यह बात प्रत्यक्ष देखते हैं कि दूकानदार एक ओर माल बेचता जाता है, और दूसरी ओर उसी रुपए से नया माल ख़रीदता रहता है। इस प्रकार साल-भर में अपनी मूल-पूँजी से कितने ही गुना अधिक का व्यापार वह कर लेता है।

अध्यापक फ़िशर ने 'मुद्रा की क्रयात्मक शक्ति'-शीर्षक अपने बृहत् ग्रंथ में इस सिद्धांत की व्याख्या इस प्रकार की है—

"The level of prices varies directly with the quantity of money in circulation, provided the velocity of circulation of that money and the volume of trade which it is obliged to perform are not changed."

इस विद्वान् ने सिक्का, नोट और चेक आदि, सभी प्रकार के चलन का प्रयोग मानकर एक-एक करके इस सिद्धांत के सत्यासत्य का निर्णय किया है, और फिर ऐतिहासिक दृष्टांतों से यह सिद्ध कर दिखाया है कि संसार में वस्तुओं के भाव की वृद्धि का चलन की परिमाण-वृद्धि से निकट संबंध रहा है। हमने यहाँ पर सरल-से-सरल भाषा में इस सिद्धांत के मूल-तत्त्व को समझाने की यथाशक्ति चेष्टा की है।

जहाँ वस्तुओं की वस्तुओं से अदला-बदली हो, और विनिमय के लिये मुद्रा का प्रयोग ही न हो, वहाँ यह सिद्धांत नहीं लागू होता। परंतु आजकल सारा व्यापार चलन द्वारा ही होता है। अस्तु, चलन की अनावश्यक वृद्धि अथवा संकोच से उक्त सिद्धांतानुसार वस्तुओं के भावों में उलट-फेर किया जा सकता है। जिस देश में चलन पैदा करने की एक-मात्र सत्ता सरकार के अधीन हो, जैसी कि हमारे भारतवर्ष की सरकार के हाथ में है, तो वह अपने मन-मुताबिक़ चलन की वृद्धि अथवा संकोच कर सकती है, और इस प्रकार समस्त सामाजिक स्थिति में भारी क्रांति ला सकती है।

रुपए की क्रयात्मक शक्ति

आजकल हरएक इस बात की शिकायत करता है कि रुपए में बरकत नहीं रही। अब यह रुपया पहले की तरह चीज़ ख़रीदना तो दूर रहा, उसका एक दशमांश भी ख़रीद नहीं कर सकता। चंद्रगुप्त मौर्य और मुग़ल-ज़माने की बातें तो जाने दीजिए, संवत् १९१४ के ग़दर के समय के ही भावों पर दृष्टि डालिए। आपको मालूम होगा कि हमारा रुपया यद्यपि वही सोलह आने का है, परंतु उसके एवज़ में मिलनेवाली वस्तुओं की तादाद आज बेहद गिर गई है। हमारे मध्यम श्रेणी के लोगों तथा मज़दूरों एवं किसानों की बुरी दशा का एक यह भी मुख्य कारण है; क्योंकि उनकी आय इस तेज़ी के साथ नहीं बढ़ पाई है। यह महँगी किस कारण से है, इसकी गवेषणा इस लेख का विषय नहीं है। पर यह कह देना कुछ अनुचित नहीं कि हमारी मुद्रा-नीति ने इस भार को और भी भारी कर दिया है।

पाठक यह तो समझ ही गए होंगे कि रुपए की बरकत किसे कहते हैं। रुपए की बरकत से अभिप्राय है उसकी वस्तु ख़रीद करने की शक्ति की अधिकता। जब रुपया पहले की

अपेक्षा कम वस्तुएँ ख़रीद करता है, तब हम कहते हैं कि रुपए में बरकत नहीं रही। और, रुपए में अब पहले की अपेक्षा थोड़ी चीज़ें मिलने का कारण यह है कि वस्तुओं के भाव पहले की अपेक्षा बहुत बढ़े हुए हैं। रुपए की क्रयात्मक शक्ति तभी बढ़ सकती है, जब वस्तुओं का भाव गिरे। और, इस विपरीत स्थिति में क्रयात्मक शक्ति घटेगी ही। वस्तुओं के भाव और रुपए की क्रयात्मक शक्ति में तराज़ू के पलड़ों का-सा संबंध है। एक तरफ़ का पलड़ा हलका होने पर दूसरा स्वभावतः ही भारी हो जाता है।

यह क्रयात्मक शक्ति दो प्रकार की है। एक तो अपने ही देश में ख़रीद करने की शक्ति, और दूसरी विदेश में। दोनों शक्तियाँ एक दूसरे से संलग्न न हों, यह बात नहीं है। एक का दूसरी पर प्रभाव तो पड़ता ही है। परंतु इनके निर्णायक तत्त्व तनिक भिन्न-भिन्न हैं। ये दोनों ही शक्तियाँ परस्पर से तुलन की चेष्टा करती हैं। जो न्यून होती है, वही विदेश से माल आने पर बढ़ने लग जाती है, और इस प्रकार इनका संतुलन होता रहता है।

अध्यापक कासल (Prof. Gustao Cassel) का मत है कि रुपए की अपने ही देश में क्रयात्मक शक्ति, चलन के प्रसार अथवा संकोच से, मुद्रा के राशि-सिद्धांत के अनुसार, बदलती रहती है। परंतु विदेश में ख़रीद करने की शक्ति, वैदेशिक विनिमय और विदेशी चलन की अपने देश में क्रयात्मक शक्ति, इन दोनों बातों पर निर्भर करती है। मुद्रा का राशि-सिद्धांत क्या है, यह हम पहले ही देख चुके हैं। अब हमें यह देखना है कि आज जो हमारा रुपया विदेश में एक शिलिंग ४ पेंस के स्थान में १ शिलिंग ६ पेंस ख़रीद करता है, इसका क्या कारण है? क्या दरहक़ीक़त हमारे रुपए की विदेश में क्रयात्मक शक्ति बढ़ गई है?

इसके पूर्व कि हम वर्तमान स्थिति का विचार करें, थोड़ा-सा इस विषय का पूर्व-इतिहास भी जान लेना आवश्यक है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हमारा रुपया सन् १९२० ई० में अपनी पुरानी पड़तल को, जो ७·५३,३४४ ग्रेन शुद्ध सोने की थी, छोड़कर क़ानूनन ११·३०,०१६ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर कर दिया गया था; अर्थात् हमारा हुंडी का भाव १ शिलिंग ४ पेनी से बढ़ाकर २ शिलिंग कर दिया गया था। यह परिवर्तन सन् १९१९ ई० की बेबिंगटन-स्मिथ-करेंसी-कमेटी की सिफ़ारिशों के अनुसार हुआ था। उसने इस सिफ़ारिश के लिये अपनी व्यवस्था में निम्न-लिखित तीन कारण बताए हैं*—

(१) रुपए की स्थिरता प्राप्त करना और मुद्रा-पद्धति को जहाँ तक बन सके, शीघ्र स्व-संचालित बनाना हमारा ध्येय होना चाहिए।

(२) यह स्थिरीकरण सुवर्ण की अपेक्षा से होना चाहिए, न कि स्टर्लिंग की अपेक्षा से।

(३) रुपए का सुवर्ण में साम्य पर्याप्त रूप से ऊँचा होना चाहिए, ताकि जहाँ तक संभव हो, हमें यह यक़ीन हो जाय कि रुपया अपनी मौजूदा शुद्धता एवं तौल का रहते हुए भी सिर्फ़ 'चलतू' याने रूपक (Token) सिक्का ही रहेगा; अर्थात् इसकी चाँदी की क़ीमत इसके विनिमय की क़ीमत से अधिक न हो पावेगी।

हुंडावन की ऊँची-से-ऊँची दर का विचार करते हुए उक्त कमीशन ने जो सबसे भारी भूल की, वह यह थी कि उसने चाँदी के भावों के संबंध में बड़ा ही भ्रम-पूर्ण निर्णय किया; क्योंकि इसकी रिपोर्ट के ४२वें अनुच्छेद में यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि "अध्यापक कुलिज़ और कारपेंटर की खोज से यह जान पड़ता है कि मेक्सिको में शांति स्थापित हो जाने पर चाँदी की पैदावार युद्ध से पहले की स्थिति में पहुँच जायगी। यही नहीं, बरन् यह भी संभव जान पड़ता है कि उन हीन धातुओं की, जिनमें चाँदी बतौर By Produce के निकलती है, बढ़ती हुई माग और चाँदी निकालने के तरीक़ों की बेहतरी एवं ऊँचे भाव शीघ्र ही चाँदी की पैदावार बढ़ाने के कारण होंगे।" पर "पिटमैन ऐक्ट" अमेरिका की सरकार पर

---

* (1) The object should be to restore stability to the rupee, and to re-establish the automatic working of the Currency System at as early a date as practicable.

(2) The stable relation to be established should be with gold and not with sterling.

(3) The gold equivalent of the Rupee should be sufficiently high to give assurance, so far as is practicable, that the rupee, while retaining its present weight and fineness, will remain a token coin, or in other words, that the bullion value of the silver it contains will not exceed its exchange value.

अपने रिज़र्व में से निकाली हुई चाँदी को फिर भरती करने की ज़िम्मेदारी डाल चुका है, और इसके लिये यह विधान किया जा चुका है कि अब तक उक्त चाँदी की पूरी भरती न हो जायगी, इसके लिये वहाँ की सरकार अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र का खानों की पैदावार की ओर वहाँ के शोधक कारखानों को चाँदी को, जितनी उसे दी जाय, प्रति शुद्ध औंस एक-एक डालर के भाव से ख़रीद करती रहेगी। इस भरती में वर्तमान पैदावार को लक्ष्य में रखते हुए साल-भर से अधिक अर्से की पैदावार की कुल चाँदी की आवश्यकता रहेगी। परंतु चूँकि संसार की चाँदी की माँग भी अभी अपेक्षाकृत अधिक रहने की संभावना है, इसलिये जितनी पैदा हो, वह सारी-की-सारी चाँदी वहाँ भरी न जा सकेगी। फलतः भरती का यह कार्य कुछ वर्षों तक चलता रहेगा; और इसीलिये इस अर्से में चाँदी का भाव प्रति शुद्ध औंस एक डालर के भाव से नीचे गिरेगा, यह आशा ही नहीं की जा सकती। अब यदि हम अमेरिका और इँगलैंड में हुंडी का भाव युद्ध-पूर्व की पड़तल पर पहुँचा हुआ मान लें, तो इस ऊँचे भाव (१ डालर प्रति औंस) की चाँदी ख़रीदकर रुपए ढालना तब तक, बिना घाटा उठाए, असंभव रहेगा, जब तक रुपए की हुंडावन (विनिमय की दर) १ शि० ६ पेनी अथवा इससे ऊँची न स्थिर कर दी जायगी। इस विचार से उक्त कमीशन ने १ शि० ४ पेनी की दर की बात तो एकदम ही अविचार्य ठहरा दी। उसने इतना तक नहीं विचार किया कि हमारे रुपए का १ शि० ४ पेनी का भाव सन् १८९३ में दरहक़ीक़त सुवर्ण की अपेक्षा से निश्चित किया गया था, अथवा पौंड स्टर्लिंग की अपेक्षा से, जैसा कि उसने मान लिया था। यह बात सच है कि तब सुवर्ण और पौंड स्टर्लिंग में कुछ भिन्नता न थी। ईसवी सन् १८२१ के बाद से लोगों की यह धारणा ही नहीं, बरन् सत्य प्रतीति हो चुकी थी कि पौंड स्टर्लिंग और सोना भिन्न-भिन्न नहीं हैं। यह भेद तो इतने अर्से के बाद इसी महायुद्ध के समय से देख पड़ने लगा था, और कर भी दिया गया था। पर जब हमारी सरकार ने आईन में यह स्पष्ट विधान ही कर दिया था कि आयात सोने का रुपया यानी चलन वह यथासंभव प्रति रुपया ७.५३,३४४ ग्रेन शुद्ध सोने के हिसाब से देने की चेष्टा करेगी, और देगी, तब उक्त १ शि० ४ पेनी का भाव पहले स्टर्लिंग की अपेक्षा से ही था, यह बात किस बुनियाद पर उक्त कमीशन मान बैठी? जब उसकी मूल-नींव ही इस भ्रांति पर टिकी हुई थी, तो उसका निर्णय अभ्रांति-मूलक हो ही कैसे सकता था?

युद्ध के समय तटस्थ राष्ट्रों तक ने विदेश में अपने सिक्के की क़ीमत कृत्रिम रूप से बाँध रक्खी थी। इन लोगों के पारस्परिक समझौते के अनुसार सिक्के का भाव अपनी स्वाभाविक गति पर चलने के लिये स्वतंत्र न था। इँगलैंड और अमेरिका के बीच की हुंडी ४.७६" डालर प्रति पौंड के भाव पर ६ जनवरी, सन् १९१६ से २० मार्च, सन् १९१९ तक बाँधी हुई रही थी। यही हाल अन्य राष्ट्रों का भी था। इँगलैंड ने हुंडी का यह भाव बाँधने के लिये जिन उपायों का अवलंबन किया, उनके विवेचन की यहाँ ज़रूरत नहीं। ठीक ऐसे ही भावों से प्रेरित होकर उक्त अवधि में हमारा हुंडी का भाव भी बाँधना आवश्यक था, और यही सरकार ने भिन्न-भिन्न विज्ञप्तियाँ निकालकर किया भी था। ये विज्ञप्तियाँ इस प्रकार निकाली गई थीं—

तारीख़	नार की हुंडी की नीची-से-नीची दर	
३ जनवरी, १९१७	१ शि० ४" पेनी	प्रति रुपया
२८ अगस्त, १९१७	१ ,, ५ ,,	,,
१२ अप्रिल, १९१८	१ ,, ६ ,,	,,
१३ मई, १९१९	१ ,, ८ ,,	,,
१२ अगस्त, १९१९	१ ,, १० ,,	,,
१५ सितंबर, १९१९	२ ,, ० ,,	,,
२२ नवंबर, १९१९	२ ,, २ ,,	,,
१२ दिसंबर, १९१९	२ ,, ४ ,,	,,

इस प्रकार भाव-परिवर्तन करने का कारण यह था कि चाँदी का भाव बहुत तेज़ी के साथ बढ़ रहा था। १० फ़रवरी, सन् १९१४ को लंदन में हाज़िर चाँदी का भाव २६॥=) पेनी प्रति स्टैंडर्ड औंस था, जो १० फ़रवरी, सन् १९१५ को केवल २२॥≈) पेनी ही रह गया। आगामी वर्ष के इसी दिन यद्यपि यह भाव फिर बढ़कर लगभग २७ पेनी प्रति स्टैंडर्ड औंस तक पहुँच गया था, किंतु तब तक यह इतना ऊँचा न था कि हमारे रुपए को गलाकर बतौर चाँदी के बेच देना लाभदायक रहता। परंतु इस अर्से के बाद से चाँदी के भाव में ऐसी अपूर्व एवं लगातार तेज़ी आई, जिसकी हद ही नहीं रही। ९ फ़रवरी, सन् १९१७ को चाँदी

चढ़कर ३७॥≈) पेनी, ८ फ़रवरी, १९१८ को ४३ पेनी और १९१९ में इसी रोज़ ४८॥≋) पेनी तक पहुँच गई। यह चाँदी का भाव इतना ऊँचा था कि रुपए की चाँदी गलाकर १ शि० ४ पेनी के भाव में बेचने से मुनाफ़ा रहता था। परंतु इसके पश्चात् तो इसने हद ही कर दी। अर्थात् १६ फ़रवरी, १९२० को यह ८९½ पेनी प्रति स्टैंडर्ड-औंस, जैसा कि पहले न तो कभी देखा और न सुना गया था, भाव हो गया। इस भाव में हमारे रुपए का भाव (स्टर्लिंग की अपेक्षा से जब कि इँगलैंड और अमेरिका की हुंडी अपनी स्वाभाविक स्थिति याने ४·८६⅔ डालर प्रति पौंड पर ही यदि रहती, तो) ३३ पेनी से ऊपर न होना चाहिए था। परंतु इँगलैंड और अमेरिका की हुंडी अपनी स्वाभाविक स्थिति को छोड़ चुकी थी, और सरकार के बाँध रखने के कारण ही सन् १९१९ तक विशेष नहीं दब पाई थी। ज्यों ही सरकार ने यह रोक उठा दी, वह एकदम नीचे गिरी, और यहाँ तक गिरी कि ४ फ़रवरी, १९२० को वह ३·२०½ डालर प्रति पौंड तक पहुँच गई, जैसी कि पहले कभी नहीं गिरी थी। ठीक इसी समय का, जब कि पौंड सोने की अपेक्षा लगभग ३४ प्रतिशत बट्टे से बिकता था, यह सबसे ऊँचा चाँदी का भाव था। ८९½ पेनी दरअसल ५९ पेनी के बराबर थी, जिसके हिसाब से हमारे रुपए की विनिमय की दर अधिक-से-अधिक १ शि० १० पेनी हो सकती थी। यह सब असाधारण समय की बात थी। चाँदी का ही लगभग आधी शताब्दी का पूर्व इतिहास भी यह विश्वास नहीं दिलाता था कि चाँदी साधारण स्थिति में पहुँच जाने पर यह भाव क़ायम रख सकेगी। अस्तु। बिलकुल एवं स्पष्ट रूप से असाधारण स्थिति को भी साधारण मानकर कमेटी ने हमारे रुपए की दर भविष्य के लिये २ शि० सोने के बराबर बाँधने की सिफ़ारिश की, जिसे सरकार ने भी चटपट स्वीकार कर लिया। यही नहीं, आईन में भी उसी के अनुसार चटपट संशोधन कर दिया। बेचारे हिंदुस्तानी चिल्लाते और सिर पीटते ही रह गए। जब से यह संशोधन हुआ है, हमारा रुपया आज तक एक दिन भी उस भाव तक नहीं पहुँचा। यही नहीं, लगातार गिरता ही आया है।

लंदन की हुंडी का भाव

नीचे हम लंदन की हुंडी का भाव देते हैं, और फिर बंबई और लंदन की हुंडी के भावों की तालिका देते हैं।

बंबई और लंदन की हुंडी का भाव

मास का नाम	१९२० पहुँचता भाव	१९२० बाज़ार भाव	१९२१ पहुँचता भाव	१९२१ बाज़ार भाव	१९२२ पहुँचता भाव	१९२२ बाज़ार भाव	१९२३ पहुँचता भाव	१९२३ बाज़ार भाव	१९२४ पहुँचता भाव	१९२४ बाज़ार भाव	पहुँचता भाव	बाज़ार भाव
जनवरी	२-७ ३/५	२-३ ५/८	२-१ ५/१६	१-५ १/८	२-३ ५/८	१-३ १/३ ३/१६	२-१ १/१६		२-३ ९/१६			
फ़रवरी	२-१० ९/१६	२-० ५/८	२-५ ११/३२	१-४ १/८	२-२ ५/३२	१-३ ९/१६	२-० १/३ ३/१६		२-३ ५/१६			१-५ ५/१६
मार्च	२-७ ५/३२	२-५ १/४	२-५ ११/३२	१-३ १/४	२-२ ३/३२	१-३ १/१६	२-० ३/३२		२-३ ५/३२			१-५ ३१/३२
अप्रिल	२-५ ९/१६	२-३ ½	२-५ १/६ ३/१६	१-३ ५/८	२-२ ½	१-३ ५/८	२-१ ९/१६		२-२ ३/४	१-४ ३५/३२		१-५ २९/३२
मई	२-६ १/३ ५/१६	२-२ ५/८	२-५ ७/३२	१-३ ७/३२	२-२ ३/४	१-३ ९/१६	२-१ ५/१६		२-२ ५/३२	१-४ २५/३२		
जून	२-५ ३/३२	१-१० ९/१६	२-६ ३/३२	१-३ ३/८	२-२ १/८	१-३ १/३२	२-१ ५/१६		२-३	१-४ १५/१६		
जुलाई	२-५ ३/३२	१-७ ५/१६	२-८ ९/३२	१-३ ३/४	२-२ ५/८	१-३ ५/८	२-१ ५/३२		२-२ ३/१६ ५/६४	१-५ ३/१६		
अगस्त	२-८ ३/३२	१-१० १/१६	२-७ २९/३२	१-४ ३/४	२-२ ३/१६	१-३ ३/३२	२-१ ९/१६		२-१ ९/१६	१-५ ३/१६		
सितंबर	२-१ ९/१६	१-१० ५/१६	२-७ १/३ ५/३२	१-५ ९/१६	२-२ ७/१६	१-३ ८/१६	२-१ ५/८		२-२ ५/३२	१-५ २/५		
ऑक्टोबर	२-६ १/३ १/२	१-७ ३/४	२-६ १/३ ९/३२	१-५ ७/१६	२-२ ५/३२		२-१ ३/३२		२-२ ९/३२	१-५ ३/८		
नवंबर	२-१० ९/१६	१-७ ५/८	२-५ १/३ ९/३२	१-४ १/८	२-१ १५/१६		२-२ २५/६४		१-१० ९/१६	१ ५ ७/८		
दिसंबर	२-९ ९/१६	१-५ ३/४	२-४	१-३ ७/८	२-१ ९/१६		२-२ १/८ ३/१६		१-१० २/३ ५/३२	१-६ ३/३२		

इस तालिका से हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि हमारे रुपए का भाव विलायत में गिर रहा था, अर्थात् उसकी वैदेशिक क्रयात्मक शक्ति गिर रही थी; क्योंकि कोई सिक्का विदेश में अपनी मालियत से अधिक मूल्यवान् नहीं हो सकता, और मालियत उसकी वही है, जितना माल उसके एवज़ में हमें बाज़ार में दिया जाय। इसी मिलनेवाले माल की तादाद पर ही प्रत्येक सिक्के की विदेशी सिक्के में क़ीमत आधार रखती है। उदाहरणार्थ अँगरेज़, अमेरिकन आदि सब व्यापारी हमारे रुपए की इसी दृष्टि से अपनी सिक्के में क़ीमत आँकते हैं कि उन्हें रुपए के एवज़ में यहाँ पर कितना माल मिलता है। हम भी पौंड आदि विदेशी सिक्के की रुपए में क़ीमत इसी दृष्टि से आँका करते हैं। यदि इस देश में रुपए की क्रयात्मक शक्ति बढ़ जाय, और विलायत में पौंड की क्रयात्मक शक्ति न बढ़े, अथवा बढ़े, तो उतनी ही न बढ़े, अथवा उलटी घटने लगे, तो इसका यही परिणाम होगा कि अपेक्षाकृत थोड़े रुपयों में पौंड मिल जायगा; यानी हमारे रुपए की पौंड में क़ीमत (अर्थात् हुंडावन) बढ़ जायगी। पक्षांतर में यदि इस देश में रुपए की क्रयात्मक शक्ति घट जाय, यानी यहाँ पर वस्तुओं के भाव तेज़ हो जायँ, और विलायत में पौंड की क्रयात्मक-शक्ति बढ़ जाय, अथवा स्थिर रहे, अर्थात् उतनी ही तेज़ी के साथ न घटे, तो इसका यह परिणाम होगा कि प्रति पौंड हमें अधिक रुपए देने पड़ेंगे; अर्थात् हमारे रुपए की पौंड में क़ीमत (हुंडावन) घट जायगी।

अब हमें यह देखना चाहिए कि उपर्युक्त सिद्धांत सच है अथवा नहीं, और इसकी परीक्षा के लिये हमें विगत ४० वर्षों के चलन एवं वस्तु के भावों के अंकों की तुलना करनी होगी।

तुलनात्मक अंकों की तालिका

वर्ष	चलन की तादाद रुपए, नोट — तादाद करोड़ रुपयों में	चलन की तादाद रुपए, नोट — निदर्शक अंक Index Number, १८९०-९४=१००	भारतवर्ष में वस्तुओं के भावों के निदर्शक अंक Index Number, १८९-९४-१००	इँगलैंड में वस्तुओं के भावों के निदर्शक अंक Index Number १८९०-९४=१००
१८९०	१२०	९२	११३	१०४
१८९१	१३१	१००	१०६	१०५
१८९२	१४१	१०८	१००	९९
१८९३	१३९	१०१	९६	९९
१८९४	१३९	९९	८५	९३
१८९५	१३२	१०१	८९	९०
१८९६	१२७	९७	९९	८९
१८९७	१२५	९६	१२०	९०
१८९८	१२२	९३	१०९	९१
१८९९	१३१	१००	१०८	९४
१९००	१३४	१०३	१२६	१०३
१९०१	१५०	११५	१२०	९८
१९०२	१४३	१०९	११५	९६
१९०३	१४७	११३	१११	९७
१९०४	१५२	११६	११०	१००
१९०५	१६४	१२६	१२०	१००
१९०६	१८५	१४२	१३४	१०७
१९०७	१९०	१४५	१३४	११३
१९०८	१८१	१३९	१४७	१०४
१९०९	१९८	१५२	१३७	१०५
१९१०	१९९	१५२	१३७	११०
१९११	२०९	१६०	१३९	११४
१९१२	२१४	१६४	१४७	११७
१९१३	२३८	१८२	१५२	१२४
१९१४	२३७	१८२	१५६	१२४
१९१५*	२६६	१०४	११२	१२७·१
१९१६	२९७	११६	१२५	१५९·५
१९१७	३३७	१३२	१४२	२०६·१
१९१८	४०७	१५५	१७७	२२६·५
१९१९	४६३	१७०	२००	२४१·९
१९२०	४११	१६०	२०९	२५५·३
१९२१	३९३	११४	१८३	१८२·४

इस दी हुई तालिका के निरीक्षण से ज्ञात होगा कि ईसवी सन् १८९३ से ९८ तक हमारे रुपए की सोने में क़ीमत बढ़ी थी; क्योंकि इस अवधि में उसकी वस्तु-क्रयात्मक शक्ति में वृद्धि हुई थी। सन् १८९३

*१९१५ के पश्चात् के निदर्शक अंक सन १९१३=१०० के आधार पर दिए गए हैं।

ही से हमारी मौजूदा मुद्रा-पद्धति का प्रारंभ हुआ है। इसके पश्चात् सन् १६०८, १६१४ और १६२० में, जब कि हमारी हुंडी नीचे गिर गई थी, जैसा कि उक्त तालिका से हमें विदित होगा, वस्तुओं के भाव ऊँचाई के शिखर पर पहुँच चुके थे। अर्थात् इन वर्षों में हमारे रुपए की क्रयात्मक शक्ति बेहद गिरी हुई थी।

परंतु हमारी सरकार एवं उसकी मुद्रा-नीति के समर्थक लोग यह सिद्धांत मानने को तैयार नहीं थे, यद्यपि अंकों द्वारा इसकी सत्यता में संदेह करने का कोई समुचित कारण नहीं देख पड़ता था। इसके एवज़ में वे हुंडी के गिरने का मुख्य कारण देश के व्यापार का विपक्ष में होना ही मानते थे, और हमारी सन् १६१६ की स्मिथ-कमेटी ने इसी सिद्धांत में पूर्ण एवं अभ्रांत विश्वास रखकर ऐसी भारी भूल कर दी, जिसके दुरुस्त करने के लिये हम अब तक सरकार से लड़ रहे हैं।

सरकार अगर इतना ही करके संतोष करती, तो हमें उसकी इतनी ज़ोरों से शिकायत करने का मौक़ा शायद न आता। परंतु वह 'जले पर नमक' की भाँति भूल-पर-भूल करती ही गई, जिसने हमारे अनेक कठिनाइयों में पनपते हुए उद्योग-धंधों को बिलकुल चौपट कर दिया। सरकार ने जो दूसरी भूल की, वह थी चलन के संकोच द्वारा रुपए की क्रयात्मक शक्ति बढ़ाने की। यदि भारतवर्ष में रुपया इँगलैंड की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ ख़रीद कर सकता, अर्थात् वस्तुओं का भाव यहाँ पर इँगलैंड की अपेक्षा नीचा होता, तो हमारी हुंडी का भाव स्वभावतः ही ऊँचा रहना चाहिए था। परंतु, जैसा कि तालिका से मालूम पड़ता है, सन् १६१५ से १६२१ तक बराबर हमारे यहाँ के भावों का निदर्शक अंक इँगलैंड की अपेक्षा एकदम नीचा था। इसके पश्चात् भी इनमें इतना अंतर नहीं आया था कि हुंडी के भाव के १२½ प्रतिशत ऊँचे रहने की आवश्यकता होती।

एक बात यह है कि एक स्थान के निदर्शक अंक की दूसरे स्थान के निदर्शक अंकों से तुलना कर निष्कर्ष निकालने के पहले यह आवश्यक है कि दोनों ही स्थानों के निदर्शक अंक एक ही-सी वस्तुओं एवं एक ही पद्धति से निकाले जायँ। इससे विपरीत स्थिति में हम दो समान वस्तुओं की तुलना कर सत्य का पता कभी नहीं लगा सकते। स्वयं इँगलैंड आदि देशों में जितने निदर्शक अंक प्रकट होते हैं, वे भी तो एक दूसरे से नहीं मिलते; क्योंकि उनकी पद्धति एवं वस्तुओं का चुनाव सब भिन्न-भिन्न होता है। अस्तु, इन अंकों के आधार पर स्थिर हुई मुद्रा-पद्धति में सदैव के लिये परिवर्तन कर देना सर्वथा अनुचित है। भावों की तुलना का सबसे मोटा नियम तो यह है कि जिस देश में वस्तुएँ महँगी हों, वहाँ विदेश से वस्तुओं की आयात होती है, और जहाँ सस्ती हों, वहाँ से निर्यात। अब यदि हमारे भारतवर्ष में वस्तुओं का भाव इँगलैंड की अपेक्षा ऊँचा था, जिसके कारण हमारा हुंडावन ऊँचा जाना चाहिए था, तो फिर यहाँ से वस्तुओं का निर्यात होने के बजाय इँगलैंड से उनका यहाँ आयात होना चाहिए था। परंतु ऐसा कभी नहीं हुआ। हुंडी का भाव ऊँचे जाने का यह कारण हो ही नहीं सकता। इस दशा में हमें हमारी हुंडी के ऊँचे जाने का कारण यही मानने को बाध्य होना पड़ता है कि हमारे चलन को आवश्यकता से अधिक संकुचित किया गया है, और इस प्रकार असाधारण रूप से ज़बरन् हुंडी तेज़ की गई है; क्योंकि अध्यापक कासल के मतानुसार, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, रुपए की अपने ही देश में क्रयात्मक शक्ति, चलन के प्रसार अथवा संकोच से, मुद्रा के राशि-सिद्धांत के अनुसार, बदली जा सकती है। सन् १६२० से अब तक की मुद्रा-स्थिति का इतिहास इस बात का स्पष्ट साक्षी है। स्मिथ-कमेटी की रिपोर्ट फ़रवरी, १६२० में प्रकाशित हुई थी। इसी महीने में भारत-मंत्री ने यह विज्ञप्ति प्रकाशित करा दी थी कि बहुमत की सिफ़ारिशें उन्हें एवं भारत-सरकार, दोनों ही को स्वीकृत हैं। इन सिफ़ारिशों को स्वीकृत कर लेने से ही सरकार के लिये यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है कि वह हर तरह से सिफ़ारिशों को कृतकार्य करने की चेष्टा करे, और उसके लिये जो भी करना होगा, करे।

इसके पूर्व कि हम सरकार के उन तरीक़ों का यहाँ विवेचन करें, जिनका आश्रय लेकर पिछले ५ वर्षों में सरकार ने हमारे चलन को, हुंडी की दर ऊँची करने के लिये, संकुचित किया था, हमारे लिये यह आवश्यक होगा कि हम यह भी समझ लें कि देश में चलन की वृद्धि क्यों आवश्यक होती है, तथा हमारे इस देश में चलन-वृद्धि के साधन क्या थे, और क्या हैं?

प्रत्येक देश अपनी आर्थिक उन्नति में लगा हुआ है,

और जिस रफ़्तार से प्रतिवर्ष उनकी आर्थिक उन्नति होती है, उसी रफ़्तार से उनके चलन का भी बढ़ना अनिवार्य है; क्योंकि आर्थिक उत्कर्ष के परिणाम-स्वरूप ऐसे देश का व्यापार बढ़ जाता है, और बढ़े हुए व्यापार के लिये अधिक चलन की आवश्यकता होती है। अमेरिका-जैसे उन्नत देश का आर्थिक उत्कर्ष, अर्थ-शास्त्रज्ञों के मतानुसार, लगभग ३ प्रतिशत प्रतिवर्ष है। हमारे इस देश का आर्थिक उत्कर्ष यद्यपि इतना नहीं कहा जा सकता, फिर भी हमारा कुल व्यापार प्रतिवर्ष बढ़ ही रहा है, और इस बढ़े हुए व्यापार के लिये हमें प्रतिवर्ष कुछ अधिक चलन की आवश्यकता रहती है।

चलन-वृद्धि की दूसरी आवश्यकता यह है कि प्रतिवर्ष मौजूदा चलन का कुछ अंश इस प्रकार खप जाता है कि वहाँ से फिर उसके चलन में आने की उम्मीद ही नहीं रहती। इस प्रकार की चलन की खपत को अँगरेज़ी में ऐबसारपशन (Absorption) कहते हैं। इस खपत की तादाद देश के शिक्षित होने पर निर्भर करती है; यानी जो जितना अधिक शिक्षित देश होता है, उसमें उतनी ही कम चलन की इस प्रकार की खपत रहती है। प्रत्येक आदमी अपनी कमाई का कुछ हिस्सा कुसमय के लिये बचाकर रखता है। योरप आदि देशों में, जहाँ शिक्षितों की संख्या अधिक है, यह बचत बैंकों में जमा कर दी जाती है। परंतु हमारे देश-सरीखे अशिक्षित देश में यह बचत बैंकों में नहीं, वरन् रुपयों में रक्खी जाती है। ऐसी बचत के लिये काग़ज़ के नोट निकम्मे हैं। यदि कल्पना के लिये हम मान लें कि प्रतिवर्ष हमारे देशवासी आठ आने प्रति मनुष्य इस प्रकार बचाकर अलग रक्खें, तो लगभग १५ करोड़ रुपए चलन में से प्रतिवर्ष खिंच जायँ। अस्तु, इस तादाद में तो प्रतिवर्ष हमारे चलन की वृद्धि होनी ही चाहिए।

चलन की वृद्धि के ये दो मुख्य कारण हैं। अब हमें यह देखना है कि यह वृद्धि किस प्रकार होती है। जिन देशों में सिक्का ढलवाने का अधिकार जनता को प्राप्त है, वहाँ व्यापारी लोग अपने पावने में सोना स्वीकार कर लेते हैं, और इस सोने को टकसाल में ले जाकर सिक्का ढलवा लेते हैं। हमारे देश में जन-साधारण को सिक्के ढलवाने का अधिकार सन् १८९४ के पहले प्राप्त था। तब वे अपने पावने में चाँदी मँगाकर टकसाल से उसके रुपए ढलवा लेते थे, और फिर उन रुपयों से व्यापार करते रहते थे। जब से टकसालें बंद कर दी गई हैं, तब से इस प्रकार चलन-वृद्धि करने का मार्ग तो एकदम रुक ही गया है। अब जो मार्ग खुला है, वह है अपने पावने में सोने को आयात करना, और उसके एवज़ में चलन प्राप्त करना। हमारे मुद्रा-आईन में यद्यपि जन-साधारण को सुवर्ण के एवज़ में चलन प्राप्त करने का अधिकार मुक्त रूप से नहीं दिया गया था, तथापि यह स्वीकार कर लिया गया था कि सरकार सोने अथवा गिनी के एवज़ में प्रति गिनी १५) और प्रति ७.५३३,४४ ग्रेन शुद्ध सोने के एवज़ १ रुपया चलन का, यथासंभव, देगी। अधिक चलन की आवश्यकता पड़ने पर लोग सावरेन या सोना देकर चलन प्राप्त कर लेते थे—नहीं-नहीं, सावरेन ही का चलन-रूप से उपयोग करते थे, जैसा कि नीचे दिए हुए सन् १९०९ से १९१४ तक के पाँच वर्षों के सावरेन के आयात के अंकों से स्पष्ट विदित होता है। इस देश में प्रतिवर्ष सोने एवं सावरेन, दोनों का आयात हुआ करता है। गहनों के लिये आयात सोने से अधिक सोने की माँग होने पर ही सावरेन सोने के रूप से खपेगी, यह मानना अनुचित नहीं। अस्तु, सावरेन का इतना अधिक उपयोग चलन ही के लिये हुआ, यह कहना अतिशयोक्ति नहीं। पंजाब और दक्षिण में ये चलन में प्रयुक्त हुआ करती थीं। उक्त ५ वर्षों में सावरेन का आयात इस प्रकार था—

सन् १९०९-१०	१३·८६	करोड़	रुपए की
,, १९१०-११	१२·७१	,,	,,
,, १९११-१२	२७·५१	,,	,,
,, १९१२-१३	२६·६९	,,	,,
,, १९१३-१४	१२·७५	,,	,,
	९३·६२	,,	,,

हम यह नहीं कहते कि आयात होनेवाली कुछ सावरेनें चलन में प्रयुक्त हो जाती थीं, परंतु इस विषय के ज्ञाता यह मानते हैं कि इनमें से अधिकांश आवश्यकता पड़ने पर चलन के लिये प्रयुक्त होती थीं, और हुई थीं। परंतु सन् १९२० के मुद्रा-आईन के अनुसार जब से सावरेन की क़ीमत १०) के बराबर निश्चित कर दी गई है, इनका चलन में प्रयुक्त होना बिलकुल ही रुक गया है; क्योंकि बाज़ार में सावरेन इससे दुगनी क़ीमत तक

महँगी बिकी थी, और अब भी लगभग १३) में बिकती है, हालाँकि आईन में वही १०) की क़ीमत लिखी हुई है। इस दशा में कौन मूर्ख इनको चलन में डालकर हानि उठावेगा ?

यही नहीं, इस परिवर्तन के पहले बैंक, सोना जमाकर सरकार से चलनी नोट, प्रति ७·५३३,४४ ग्रेन का एक रुपया, उसके एवज़ में ले लिया करते थे, और इस प्रकार चलन को, जब ज़रूरत होती, बढ़ा देते थे। परंतु अब वे भी ऐसा नहीं करते; क्योंकि बाज़ार में सोना इससे कहीं अधिक मूल्य में बिकता है।

सरकारी रिपोर्टों से यह भी ज्ञात होता है कि सन् १६०६-१० में हमारे चलनी नोटों की तादाद ४६·६६ करोड़ रुपए की थी, और सन् १६१३-१४ तक यह तादाद बढ़कर ६५·५२ करोड़ हो गई थी। एक अनजान आदमी भी यह मान सकता है कि इस अवधि में हमारे चलन की वृद्धि केवल १५·८६ करोड़ ही हुई थी। पर दरहक़ीक़त बात ऐसी नहीं है। हम ऊपर बता चुके हैं कि इसी अवधि में ६३·६२ करोड़ रुपए क़ीमत की सावरेनों का आयात हुआ था, जो चलन में अधिकांश प्रयुक्त हुई थीं। इसके अलावा इस अवधि में सरकार ने लगभग ३४·२७ करोड़ रुपए नए ढाले थे। इन नए ढले हुए रुपयों में यदि हम बढ़े हुए नोटों की तादाद के उतने रुपए यानी १५·८६ करोड़ घटा दें, तो फिर शेष बचे हुए १८·३४ करोड़ रुपए भी तो चलन के बढ़ाने में काम आने चाहिए। अस्तु, इस अर्से में हमारे चलन की वृद्धि, जैसी कि नोटों की वृद्धि से मालूम पड़ती थी, १५·८६ करोड़ ही नहीं थी, वरन् १८·३८ करोड़ तो रुपयों से और ६३·६२ करोड़ सावरेन से भी हुई थी। यानी कुल वृद्धि १२७·८६ करोड़ थी।

पाठक यह विवेचन पढ़कर शायद शंका करें कि चलन की वृद्धि-संबंधी जनता के ही अधिकार को तो सरकार ने आईन में २ शि० हुंडी का भाव नियत कर अकृतकार्य कर दिया है। अन्य साधन तो उसके पास ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। हमारा चलन तो मुख्यतः रुपए और नोटों का है, जिनकी वृद्धि करना एक-मात्र सरकार के हाथ में है। सरकार ने, जैसा कि सरकारी रिपोर्टों से ज्ञात होता है, समयानुसार नोटों के चलन में वृद्धि की है। तब फिर सरकार पर यह इलज़ाम कैसे लगाया जा सकता है कि उसने चलन के संकोच से हुंडी का भाव बढ़ाने की चेष्टा की है ?

इस शंका का समाधान करने के पहले हम पाठकों को यह और बता देना चाहते हैं कि सरकार चलन की वृद्धि कैसे करती है ? विदेशों से जो हमें प्रतिवर्ष हमारे निर्यात-व्यापार का पावना रहता है, वह 'कौंसिल-बिल' द्वारा चुकाया जाता है। ये 'कौंसिल-बिल' भारत-मंत्री द्वारा लिखी गई भारत-सरकार के ऊपर की हुंडियाँ हैं। इनके एवज़ में भारत-मंत्री को विलायत में पौंड मिलते हैं। पक्षांतर में भारत-सरकार इन्हें नए नोट निकालकर सकार देती और नोटों के कोष में विलायत में पड़े हुए सोने अथवा काग़ज़ की तादाद में इतनी ही वृद्धि कर देती है। इस प्रकार भारत-सरकार की बहियों में जमा-ख़र्च़ी उथल-पुथल-मात्र से चलन बढ़ जाता है। यदि इस बढ़े हुए चलन को अधिक समय तक क़ायम रखना ज़रूरी होता है, तो विलायत से चाँदी मँगाकर नए रुपए ढाल लिए जाते हैं। ठीक इसी का उलटा रास्ता यह है कि यदि सरकार चाहे, तो हमारे चलन को कम कर सकती है। यह उलटा रास्ता है इस देश में विलायत पर की हुई हुंडियों को बेचना। इन हुंडियों को अँगरेज़ी में 'Reverse Bills' कहते हैं। हमारी सरकार ने कमेटी की सिफ़ारिशें स्वीकार करते ही इस रास्ते को पकड़ लिया था। यह हम सबको मालूम है, और इसमें देश के लगभग ६० करोड़ रुपए ही दिए गए थे। अस्तु। स्मिथ-कमेटी की सिफ़ारिशों को स्वीकार करके सबसे पहली जो बात सरकार ने की, वह यह थी कि ये हुंडियाँ बेचना बिलकुल ही बंद कर दिया गया, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम हमारे चलन को संकुचित करना हुआ। दूसरी बात जो उसने की, वह यह कि हमारे नोटों के सकारे की कोष की इस नई पड़ताल पर क़ीमत आँकी। २ फ़रवरी, १६२० को स्मिथ-कमेटी की सिफ़ारिशों के स्वीकृत किए जाने की सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित हुई थी। इस तारीख़ के पहले दिन यानी ३१ जनवरी, १६२० को हमारे नोटों के सकारे के कोष एवं चलन की स्थिति इस प्रकार थी—

करोड़ रुपयों में

३१ जनवरी, १९२०	सकारे का कोष			कुल चलन
	धातव कोष	भारतीय काग़ज़	अँगरेज़ी काग़ज़	
	८७·०५	१५·६०	८२·५०	१८५·१५

उक्त विज्ञप्ति के अनुसार मुद्रा-आईन में सितंबर, १९२० को परिवर्तन किया गया था, और ता० १ अॉक्टोबर को इस नई पड़ताल से सब कोषों के मूल्य का पुनः निर्णय किया गया। पुनर्निर्णय किए जाने के पहले हमारे उक्त कोष एवं नोटों के चलन की स्थिति इस प्रकार थी—

३० सितंबर, १९२०	सकारे का कोष			कुल चलन
	धातव कोष	भारतीय काग़ज़	अँगरेज़ी काग़ज़	
	६४·२१	४७·१४	१६·२७	१५७·६२

सबसे पहली बात जो उक्त अंकों से स्पष्ट विदित होती है, वह यह है कि इन आठ महीनों में लगभग २७·५३ करोड़ रुपए के नोट चलन से खींचकर रद कर दिए गए थे, और इनके रद करने में न तो धातव कोष ही घटाया गया, और न भारतीय काग़ज़ हो—नहीं-नहीं, ये तो पक्षांतर में ७·१६ और ३१·५४ करोड़ रुपयों से क्रमशः बढ़ा दिए गए थे। इन सबके एवज़ ६६·२३ करोड़ रुपए के अँगरेज़ी काग़ज़ बेच दिए गए। पर किस रीति से? वही विलायत के ऊपर का उलटी हुंडी बेचकर भारत-सरकार ने २ जनवरी, १९२० से ता० २८ सितंबर, १९२० तक प्रति सप्ताह कुल ५५,३८२,००० पौंड की ये हुंडियाँ बेचीं। ये हुंडियाँ २ शि० ५ पेनी प्रति रुपए के औसत-भाव में बेची गईं, जिनसे सरकार को लगभग ४७ करोड़ रुपए प्राप्त हुए, और हुंडावन का नुक़सान लगभग ३६ करोड़ उठाना पड़ा। इन हुंडियों में लगभग ४ करोड़ ४० लाख पौंड की हुंडियाँ इस नोटों के सकारे के कोष के अँगरेज़ी-काग़ज़ों को बेचकर सकारी गईं। क्योंकि इस कोष के अँगरेज़ी-काग़ज़, जो १५ प्रति पौंड के हिसाब से ३१ जनवरी, १९२० को ५·५ करोड़ के थे, ३० सितंबर, १९२० को घटकर केवल १·०८५ करोड़ हो के रह गए। लगभग ३०·३२ करोड़ रुपए की यह हुंडावन की हानि न तो छिपाई और न किसी अन्य जगह से पूरी ही की जा सकती थी। फलतः इसके लिये कोष में भारतीय काग़ज़ की तादाद ३१·५४ करोड़ रुपयों से बढ़ा दी गई। पर सचमुच काग़ज़ ख़रीदकर नहीं, केवल फ़र्ज़ी या ख़याली तौर पर। क्योंकि यदि काग़ज़ ख़रीदने को कहीं से धन आ सकता था, तो वह नुक़सान भरने को भी आ सकता था। इस वृद्धि के काग़ज़ का नाम रक्खा गया 'Adhoe' अथवा 'Created' काग़ज़।

दूसरी बात जो सरकार ने इसी समय की, वह थी टेंडरों से सोने की बिक्री। सन् १९१९ के सितंबर से १९२० के सितंबर तक, हर पंद्रहवें दिन, टेंडर से सोना बेचा गया। इन बारह महीनों में सरकार ने २ करोड़ १६ लाख तोले के लगभग सोना बेच दिया, और यह सब इसीलिये किया गया कि हुंडी का भाव, जो उस समय २ शि० सोने से (जैसी कि स्मिथ-कमेटी ने सिफ़ारिश की थी) नीचा था, इस हद तक पहुँच जाय। हम यहाँ पर यह विवेचन नहीं करना चाहते कि सरकार ने ऐसा किस सिद्धांत पर किया। पर हाँ, यह बात सत्य है कि १९१३ के चेंबरलेन-कमीशन और १९२० की स्मिथ-कमेटी, दोनों ही ने अपनी रिपोर्ट में, हुंडी के गिरते हुए भावों को थामने के लिये, सरकार को ऐसी ही तरकीबों का प्रयोग करने की सलाह दी थी। सरकार ने वैसा ही किया। परंतु प्रकृति के विरुद्ध मानवीय प्रयत्न कहाँ तक सफल हो सकते थे? इनकी भी कोई हद थी। सरकार के पास ऐसा अनंत कोष न था, जिसके बल

पर वह ये वापसी की हुंडियाँ और टेंडर से सोना बेच-बेचकर हुंडी को २ शि० सुवर्ण पर पहुँचा ही देती। फलतः असफल-मनोरथ होकर वह कुछ समय के लिये चुप हो गई, और उन मुद्रा-तत्त्व के पंडितों से सलाह करने लगी, जिन्होंने पहले २ शि० की हुंडी स्थिर करने की सिफ़ारिश ज़ोरों के साथ की थी। ऐसी सिफ़ारिश करनेवालों में अग्रगण्य हमारे प्रयाग-विश्वविद्यालय के अर्थ-शास्त्र के प्रोफ़ेसर मिस्टर जेवांस थे। परंतु प्रोफ़ेसर साहब को अपनी भूल शीघ्र ही मालूम हो गई। आपने अपने ग्रंथ 'हुंडी का भविष्य' में इसका संशोधन करते हुए सरकार तक सिफ़ारिश की कि वह २ शि० सुवर्ण की हुंडी स्थापित करने के व्यर्थ प्रयासों को अब छोड़ दे, और उसी १ शि० ४ पे० के भाव पर हुंडी की दर स्थापित एवं स्थिर करने की चेष्टा करे। प्रोफ़ेसर ने साफ़-साफ़ सूचना दे दी कि "वस्तुओं के भावों के ५० से ६० प्रतिशत गिरे बिना २ शि० हुंडी का भाव प्राप्त होना असंभव है। और, ऐसा भावों का भीषण पतन नियत आयवालों को चाहे वांछनीय हो, परंतु उससे करोड़ों कृषक-घरों में हाहाकार मच जायगा। यही नहीं, भारतवर्ष के सब उद्योग-धंधे वर्षों के लिये मर जायँगे, और महाजनों तथा सरकार के लिये भी वह बोझ बहुत ही भारी हो जायगा।" आगे चलकर प्रोफ़ेसर साहब ने यह भी बताया है कि ऐसा भावों का भीषण पतन चलन के असाधारण संकोच से उपस्थित किया जा सकता है, और इसकी भारतवर्ष के लिये निम्न-लिखित तीन युक्तियाँ हैं—

(१) विलायत पर की वापसी हुंडियाँ बेची जायँ, और इनके लिये जितनी रक़म सरकार को देनी पड़े, उतने ही नोट खींचकर ख़ारिज कर दिए जायँ।

(२) नोटों के सकारे के कोष की धातु बेच दी जाय, और उतने ही रुपयों के नोट ख़ारिज कर दिए जायँ।

(३) भारत-सरकार के कोष में जो काग़ज़ हों, बेच दिए जायँ, और उतने ही नोट ख़ारिज कर दिए जायँ।

अपने नोटों के सकारे के कोष को देखने से ज्ञात होगा कि उसमें ये तीन ही चीज़ें हैं। ज्यों-ज्यों एक-एक चीज़ खपती जाय, और फिर भी इच्छित हुंडी का भाव न प्राप्त हो, तो दूसरी तथा तीसरी पर हाथ सफ़ा किया जाय।

इस पंडित की यह व्याख्या सुनकर हम सहज ही समझ सकते हैं कि उपर्युक्त वापसी हुंडियाँ और टेंडर से सोना बेचकर सरकार क्या लाभ करना चाहती थी? पर जब ५·५ करोड़ पौंड की वापसी हुंडी और २ करोड़ १६ लाख तोले सोना बेचकर हमारे कोष ख़ाली-से कर दिए गए, और फिर भी उद्देश्य-सिद्धि उतनी ही दूर रही, जितनी कि पहले थी, तब सरकार बड़े असमंजस में पड़ी। सोना अब उसके पास बेचने को था नहीं, और रिवर्स-बिलस बेचकर भी वह काफ़ी बदनाम हो चुकी थी। यही नहीं, इँगलैंड में इनके सकारे के लिये नोटों के कोष में अँगरेज़ी काग़ज़ भी काफ़ी न थे। सोचते-सोचते उसे यही तरकीब सूझ पड़ी कि क्यों न नोटों के कोष का यहाँ रक्खा सोना थोड़ा इस शर्त पर बेच दिया जाय कि उसका रुपया लंदन में दिया जायगा। ऐसा करने से लंदन में कोष की वृद्धि हो जायगी और, चूँकि बाज़ार में सोने का भाव अभी तक महँगा है, इसलिये उसे जनता को यह धोखा देना सहज हो जायगा कि नफ़ा कमाने की ग़रज़ से ही सरकार सोना बेच रही है। पर इस बीच में भी वह चुप नहीं रही। १ ऑक्टोबर, १९२० को सब कोषों का मूल्य २ शि० के भाव से फिर कूता गया, जिसके अनुसार हमारा नोटों का कोष निम्न-लिखित रहा—

	पूर्व-निर्णय ३० सितंबर, १९२०	पश्चात्-निर्णय ३० सितंबर, १९२०
चाँदी	५८·०६	५८·०६
सोना	३६·१५*	२४·१०*
भारतीय काग़ज़	४७·१४	४७·१४, १७·४७
अँगरेज़ी काग़ज़	१६·२७ *	१०·८५ *
कुल चलन	१५७·६२	१५७·६२

इस निर्णय में १७·४७ करोड़ का भारतीय काग़ज़ और 'उपलक' बनाया गया। इस प्रकार ऐसे 'उपलक' काग़ज़ों की तादाद बढ़कर लगभग ५६·१७ करोड़ हो गई।

एक वर्ष के पश्चात् इसी हमारे नोटों के चलन की स्थिति इस प्रकार थी—

* इस कोष में सोना और अँगरेज़ी काग़ज़ ३० सितंबर, १९२० के पूर्व १५) प्रति पौंड पर रुपयों में परिवर्तित किए जाते थे। उनका पौंड में मूल्य २·४१० और १·०८५ करोड़ क्रमशः होता है। इसका २ शि० यानी १०) प्रति पौंड के हिसाब से मूल्य पुनः निर्णय करने पर २४·१० करोड़ और १०·८५ करोड़ होता है।

३० सितंबर, १९२१

चाँदी	७८·७६
सोना	२४·३४
भारतीय काग़ज़	६६·९२
अँगरेज़ी काग़ज़	८·३५
कुल चलन	१७८·३७

इस वर्ष चलन-संकोच की विशेष चेष्टा नहीं की गई। इसका कारण यह था कि सन् १९२० के अंतिम महीनों में हिंदुस्थान में भारी आर्थिक संकट उपस्थित हो रहा था। हुंडी के असाधारण ऊँचे चले जाने पर लोगों ने विदेशी माल इस वर्ष इस कसरत से मँगा लिया था, जिसकी कुछ हद नहीं। यह माल अब आ रहा था, जिसके दाम लोगों को चुकाने थे। बाज़ार में रुपए की बड़ी तंगी थी। यदि ऐसे समय में भी सरकार अपनी चलन-संकोच की नीति को स्थगित न करती, तो संकट की भीषणता किस हद तक पहुँच जाती, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उस समय हमारे अर्थ-सचिव सर मालकेम हेली ने जिस दूरदर्शिता से काम लिया, उसके लिये वह अवश्य धन्यवाद के पात्र हैं।

यह संकट दूर हो जाने पर इस नीति का फिर से अवलंबन किया गया; क्योंकि ३१ अगस्त, सन् १९२३ तक इस कोष का अँगरेज़ी काग़ज़ सब वापसी हुंडियाँ बेचकर फ़रोख़्त किया जा चुका था। इनके समाप्त हो जाने पर सरकार ने इस कोष का सोना बेचने का काम शुरू किया, और पहले हफ़्ते के लिये उसने १० लाख पौंड का सोना इस शर्त पर बेचा कि उसका रुपया लंदन में दिया जाय। इस नीति का अधिक अवलंबन इस बात से नहीं किया जा सका कि हमारा व्यापार कुछ-कुछ सचेत हो रहा था। इस समय व्यापार की रुपए की माँग ज़ोरों पर थी, यहाँ तक कि सन् १९२४ के जनवरी, फ़रवरी, मार्च और एप्रिल-महीने में बैंक-रेट १० प्रतिशत कर दी गई। ऐसी हालत में सरकार को चलन बढ़ाने के लिये बाध्य होना ही पड़ा, और इसके लिये उसने पहले आईन की उस धारा का आश्रय लिया, जिसके अनुसार इंपीरियल बैंक को बाज़ार की हुंडियों के ऊपर १२ करोड़ रुपए तक के नोट निकालने का अधिकार दिया गया था। परंतु यह अधिकार पूरे तौर से काम में लाए जाने पर भी जब स्थिति में आशा-जनक परिवर्तन नहीं हुआ, और नाणे की माँग ज्यों-की-त्यों जारी रही, तब भी सरकार ने असेंबली में सर पुरुषोत्तमदास-ठाकुरदास द्वारा की गई प्रार्थनाओं का विचार कर आईन में संशोधन करना उचित न समझा, जिससे जनता पहले की भाँति सोना मँगाकर नाणे की माँग को पूरा कर लेती। सच बात तो यह है कि सरकार अपनी नीति बदलना चाहती ही नहीं थी। जब सोना बेचकर बाज़ार से रुपया खींच लेना और उसे इस प्रकार अँगरेज़ी काग़ज़ के कोष में जमा करना सरकार के लिये कठिन हुआ, तो उसने विलायत की हुंडी ख़रीदना शुरू कर दिया। विलायत की हुंडी भारतवर्ष में ख़रीदने का और भारत-मंत्री के कौंसिल-बिल बेचने का एक ही प्रभाव था। सरकार ने हुंडियाँ ख़रीदकर लोगों को आवश्यक चलन देने की ठानी; परंतु वह भी इस शर्त पर कि लोग उसके हाथ उसके भाव में हुंडी बेचें। चूँकि लोगों को नाणे की तब सख़्त ज़रूरत थी, उन्होंने इस शर्त को मंज़ूर करना ही बेहतर समझा, और इस प्रकार ३ महीने में लगभग १ करोड़ ४ लाख पौंड की हुंडियाँ भारत-सरकार को प्राप्त हो गईं।

इस नीति का अवलंबन करने से जनता शंकित न हो जाय, इस ग़रज़ से सरकार ने इसे फिर कुछ काल के लिये स्थगित भी कर दिया, और जनवरी, सन् १९२४ से सितंबर, १९२४ तक वह ख़ामोश रही। इसके बाद फिर उसने इन हुंडियों की ख़रीद शुरू की, यहाँ तक कि सन् १९२५ के मार्च तक कुल २० करोड़ रुपए की हुंडियाँ ख़रीदकर अँगरेज़ी काग़ज़ जमा कर लिया गया। सरकार को दृढ़ विश्वास था कि इस नीति से हुंडी का भाव १शि० ४ पेनी तक नहीं पहुँचेगा। इसी से गत वर्ष मार्च में बंबई इंडियन मरचेंट-चेंबर के समक्ष भाषण करते हुए अर्थ-सचिव ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि हुंडी साधारणतः १ शि० ६ पेनी के आस-पास से नीची-ऊँची नहीं जायगी।

इस प्रकार सरकार हमारी इच्छाओं के विरुद्ध आईन में २ शि० की हुंडी का भाव रखकर ही तो ऐसा करने में समर्थ हुई; क्योंकि वही आईन के पालन करने के लिये उत्तरदायी है। जब तक आईन में परिवर्तन न हो जाय, तब तक उसका कर्तव्य है कि उसी के अनुसार काम करे। यह कौन नहीं जानता कि आईन गढ़ने का काम भी उसी का है! वही तो हमारी एक-मात्र भाग्य-विधाता और संरक्षक है। हम लोग तो अपने भले-बुरे को पहचानने में अभी तक नासमझ ही हैं।

कस्तूरमल बाँठिया

स्वर्गीय चकबस्त लखनवी

स्वर्गीय पं० ब्रजनारायण चकबस्त काव्य-गगन के एक उज्ज्वल नक्षत्र थे। उनमें न तो सूर्य-रश्मियों की प्रखरता थी, जो क्षण-क्षण में असह्य हो जाती है; और न चंद्र-प्रभा का वह अनिश्चित प्रकाश, जो न्यूनाधिक रीति पर पृथ्वी के ऊपर-ऊपर फैलकर रह जाता है। वस्तुतः उनमें एक ऐसी तीव्र एवं स्थायी ज्योति थी, जो अपने अस्तित्व-काल में, अपने नैसर्गिक सादृश्य के कारण, नेत्रों द्वारा प्रविष्ट होती हुई हृदय तक जा पहुँचती, और उसमें ऐसी उज्ज्वलता भर देती है, जिससे प्रभावित होकर आत्मा लौकिक तथा अलौकिक वस्तुओं को उनके यथार्थ रूपों में देखने की क्षमता प्राप्त करती और शक्ति एवं स्फूर्ति पाती है। अस्तु। अत्यंत दुःख है कि १२ फ़रवरी, १९२६ की शाम को, जब नक्षत्र-गण उदय हो-होकर प्रकृत गगन को सुशोभित कर रहे थे, हमारा यह नक्षत्र अकस्मात् ही टूटकर अनंत आकाश में विलीन हो गया। हाँ, हमारी सांत्वना के लिये अपने काव्य-रूपी चिह्न की ऐसी चमकती हुई रेखा छोड़ गया, जो अपने न मिटनेवाले प्रतिबिंब द्वारा अभी दीर्घ समय तक उर्दू के साहित्य-जगत् को आलोकित कर रसिक जनों के हृदयों को चमत्कृत करती रहेगी, और उस जगत् के पथिकों के लिये पथ-प्रदर्शक का काम देगी।

मुझे मई, १९१४ में चकबस्तजी से मिलने का सुयोग प्राप्त हुआ था। मेरी वह मुलाक़ात केवल कुछ मिनटों की थी; पर उनकी प्रभाव-पूर्ण एवं चित्ताकर्षक मूर्ति मानो आज भी आँखों में घूम रही है—वह मूर्ति, जिसे कदाचित् प्रकृति ने अपनी समयोचित प्रवृत्ति से उनकी हृदय-स्पर्शिनी कविता के अनुरूप ही रचा था। मैं कार्य-वश वहाँ अधिक न ठहर सका, अतः बातें बहुत थोड़ी ही हुईं। मैंने तभी पूछा था—"आपका तख़ल्लुस (उपनाम) क्या है?" बोले—"मैं शायर (कवि) हूँ, तो तख़ल्लुस भी हो।" मैं नहीं कह सकता कि यह उत्तर केवल आपकी नम्रता का परिचायक था, अथवा उसमें कुछ हास्य की आभा का भी लेश था। आप अपने इस पद में भी वही बात व्यक्त करते हैं—

> "ज़िक्र क्यों आएगा बज़्मे-शुअरा* में अपना,
> मैं तख़ल्लुस का भी दुनिया में गुनहगार नहीं।"

चकबस्तजी चाहे जो कुछ भी कहें; पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वह बिना 'तख़ल्लुस' के होकर भी अनेकों 'तख़ल्लुस'-वाले कवियों से बढ़कर थे। उनमें नम्रता अवश्य थी, और उसी के साथ हास्य-प्रियता भी। शायद पारसाल मैंने, माधुरी में लिखने के लिये, स्वर्गीय से उनकी संक्षिप्त जीवनी माँगी थी। उत्तर में आप क्या लिखते हैं कि "जहाँ तक ख़याल है, सन् १८८२ ई० में पैदा हुआ था, और मौत की तारीख़ भी मुक़र्रर हो चुकी है; पर मुझे उसका इल्म नहीं। बस, यही मेरी संक्षिप्त जीवनी है।" मैं इस उत्तर से हताश हुआ: पर मुझे हँसी भी आ गई।

इसमें शक नहीं कि चकबस्तजी बहुत बड़े और असाधारण कोटि के कवि थे। यही कारण है कि वह अपनी प्रसिद्धि के लिये स्वयं लालायित न होते हुए भी शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गए। उनका यह कथन उनके योग्य ही है—

> "किस वास्ते जुस्तजू करूँ शुहरत की;
> इक दिन खुद ढूँढ लेगी शुहरत मुझको।"

सच है, जिसे ईश्वर ने प्रतिभा दी है, वह 'शुहरत' की तलाश क्यों करे? वह तो लगन के साथ अपना काम करता जाता है, और 'शुहरत' भी उसी अनुपात से उसके पास खिंचती चली आती है। हाँ, इस प्रकार प्रसिद्धि-प्राप्ति में कुछ देर अवश्य लगती है। कभी ऐसा भी होता है कि प्रतिभा के आकस्मिक प्रस्फुटन के निमित्त कोई विशेष अवसर उपस्थित हो जाता है, जो तुरंत ही मनुष्य की प्रसिद्धि का हेतु बनता है। चकबस्त को भी ऐसा ही अवसर मिला। सन् १९०५ ई० में वह बी० ए० में पढ़ ही रहे थे कि उनके और मौलाना अब्दुल हलीम 'शरर' लखनवी के दरम्यान पं० दयाशंकरजी 'नसीम' की मशहूर मसनवी "गुलज़ारे-नसीम" (क़िस्सा गुले-बकावली) पर वह वाद-विवाद छिड़ा, जिससे उर्दू के साहित्य-जगत् में एक धूम मच गई। चकबस्तजी 'नसीम' के पक्ष में जो कुछ लिखते थे, वह लखनऊ के प्रसिद्ध पत्र 'अवध पंच' में छपता था, और विपक्ष के समर्थनार्थ मौलाना शरर ने अपना 'ज़रीफ़'-पत्र निकाला था। इस विवाद से उर्दू-

* कवियों की सभा।

स्व० सुकवि पं० ब्रजनारायण चकबस्त

होत चीकने पात"वाली लोकोक्ति उस अवस्था में भी उन पर पूर्णतया चरितार्थ हो रही थी। आप "अलवए-सुबह", "आबे-अंगूर", "महादेव-गोविंद रानाडे", और तत्पश्चात् "एक अर्वांमर्ग दोस्त" और "ख़ाके हिंद"-शीर्षक कविताओं को देखिए। आपको ऐसे अंकुर दिखलाई पड़ेंगे, जिनसे आगे चलकर किसी समय ऐसे हरे-भरे वृक्षों के उत्पन्न होने की बलवती आशा हो सकती है, जिनकी छाया में पहुँचकर दिल हरा हो जाता है, जिनके फूलों की सुगंध मस्तिष्क को मस्त बनाती है, और जिनके फलों का रसास्वादन "सत्यं, शिवं, सुंदरम्" की छवि पर मिट जानेवाली आत्माओं को तृप्त कर देता है।

चकबस्तजी बी० ए०, एल्-एल्० बी० थे। वह लखनऊ में वकालत करते थे। इसे साहित्य का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि स्वर्गीय-जैसा महान् कवि अपनी जीविका के निमित्त एक ऐसे पेशे में रहने के लिये विवश हो, जिसे सर्वांगीण रूप से केवल दुनियादारों का ही पेशा कहना उचित होगा। कहाँ वह उच्च कल्पनाओं के सुविस्तृत गगन में विचरण करने का पवित्र संकल्प, और कहाँ इस तुच्छ दुनिया में मुवक्किलों, गवाहों और अदालतों के साथ झक मारते रहने की ठोस आवश्यकता! कैसी विडंबना थी! परंतु यह सब होते हुए भी स्वर्गीय ने उर्दू-साहित्य के लिये (गद्य एवं पद्य के रूप में) जो कुछ किया, वह यद्यपि देखने में थोड़ा है, फिर भी गुरुता की दृष्टि से बहुत है। वह अब तक बहुत-कुछ कर सकते; पर वकालत ने ऐसा न करने दिया। वह अब भी बहुत-कुछ करते; पर शोक कि आकस्मिक मृत्यु के कारण उन्हें इसका अवकाश ही न मिला।

साहित्य के पारखियों पर यह अच्छी तरह रोशन हो गया कि चकबस्त में कितनी विद्वत्ता, कितनी अध्ययनशीलता और कितनी पटुता है। अंत को सत्य की विजय हुई, और चकबस्तजी पूरे २५ वर्ष के भी नहीं हो पाए थे कि उन्हें 'शुहरत' ने ढूँढ लिया। फिर सन् १९११ ई० की हिंदू-युनिवर्सिटीवाली कविता ने तो उनकी 'शुहरत' को कई गुना बढ़ा दिया।

उपर्युक्त कथन से यह न समझना चाहिए कि उनकी प्रारंभिक अवस्था की कविताओं में कोई विशेषता न थी। बल्कि असल बात तो यह है कि "होनहार बिरवान के

उनकी कविता अतीव मनोहारिणी एवं हृदय-स्पर्शिनी होती थी। यह तो हम नहीं कहते कि वह किसी विशेष शैली के आविष्कर्ता थे, पर इस में संदेह नहीं कि उन्होंने 'आतश' और 'अनीस' आदि उर्दू-कविता के प्रसिद्ध लखनवी आचार्यों के अनुसरण में विशेष सफलता प्राप्त की थी। फिर यह दूसरी बात है कि चकबस्त *सामयिक परिस्थितियों* से अवश्य ही प्रभावित हुए थे, और उन्होंने अपने हृदयोद्गारों को उसी रीति पर व्यक्त किया, जो मौलाना 'आज़ाद' और 'हाली'-जैसे उस्तादों के मस्तिष्कों की उपज थी। हाँ, मैं इतना ज़रूर मानता हूँ कि चकबस्त की कविताओं में ओज की मात्रा अत्यधिक है। फिर ओज ही में प्रभाव होता है। वह सादे-सादे शब्दों को चुन-चुनकर ऐसे सरल ढंग पर रखते हैं कि उनकी बात दिलों में पैठ जाती है। वह किसी घटना का ऐसा सजीव चित्र खड़ा कर देंगे कि आप उसकी ओर से आँखें न बंद कर सकेंगे। वह अपने श्रोताओं को किसी विशेष दशा में देखना चाहते हैं, तो अपनी वाणी के प्रभाव से तत्काल ही वैसा देख लेंगे। वह उनसे कुछ करा लेना चाहते हैं, तो दावा कर सकते हैं कि वह वैसा ही कराके छोड़ेंगे। यही उनकी विशेषता है।

इसके अतिरिक्त उनकी वाक्य-प्रौढ़ता, उनकी शाब्दिक योजना, उनका काव्य-प्रवाह, सभी प्रशंसनीय एवं दर्शनीय है। उनकी उपमाएँ ऐसी सुंदर होती हैं कि देखते और सराहते ही बनता है। देखिए, श्रीरामचंद्र वन को जाते हुए दुखी माता को समझाते हैं। माता उनके उपदेश पर कुछ हँस देती है। उसे चकबस्तजी यों बयान करते हैं—

"चेहरे पै यों हँसी का नुमायाँ हुआ असर ;
जिस तरह चाँदनी का हो शमशान में गुज़र।"

कैसी अच्छी और अनोखी उपमा है। एक अन्य स्थान पर कहते हैं—

"दिल में इस तरह से अरमान हैं आज़ादी के ;
जैसे गंगा में झलकती है चमक तारों की।"

कैसी नैसर्गिक सूझ है, और कैसी भाव-पूर्ण उपमा। मिसेज़ बेसेंट की सन् १९१७ ई० वाली नज़र-बंदी के समय आपने एक बड़ी ज़ोरदार कविता कही थी, जिसका एक पद यह है—

"तू नज़र-बंद है, जलवा है तेरा हर घर में ;
शमा फ़ानूस में है, नूर है महफ़िल-भर में।"

उपमा में कितनी सहजता और नवीनता है। चकबस्तजी ! तुम धन्य हो !

सबसे बड़ी बात जो उनकी कविताओं से विदित होती है, वह है उनकी प्रगाढ़ देश-भक्ति। कदाचित् उनकी कोई भी रचना ऐसी न होगी, जिसमें राष्ट्रीयता की पुट न हो। वह स्वयं कहते हैं—

"ज़िंदगी यों तो फ़क़त बाज़िए-तिफ़लाना[1] है ;
मर्द वह है, जो किसी रंग में दीवाना है।"

चकबस्तजी वस्तुतः इसी रंग में दीवाने थे। उनके प्रत्येक शब्द से यही रंग टपकता है, और ऐसी प्रचुरता से कि सहृदय जनों को भी उसी में शराबोर हो जाना पड़ता है। वह एक अन्य स्थान पर फिर कहते हैं—

"जज़बए-क़ौमी[2] से ख़ाली न हो सौदाए-शबाब[3] ;
वह जवानी है, जो इस शौक़ में बर्बाद रहे।"

वह अपनी ही जवानी को जातीयता की धुन में बर्बाद नहीं करते, प्रत्युत अपनी प्रेरणामयी भाषा द्वारा अन्य हृदयों में भी वैसा ही शौक़ पैदा कर देते हैं, जिसमें ऐसा उद्वेग होता है कि उसे रोकना कठिन हो जाता है। सच पूछिए, तो इन्हीं गुणों के कारण उनकी कविताएँ कुछ अधिक हो चित्ताकर्षक एवं प्रभावोत्पादक हो गई हैं। वह जब अपनी बातों के समर्थन के हेतु अथवा अपने अलंकारों के प्रदर्शन के निमित्त किसी दृश्य या नाम की सहायता लेते हैं, तो उन्हें इसका विशेष ध्यान रहता है कि उन सबका संबंध भारत ही से हो; फिर वे उन्हें ऐसी ख़ूबी और सफ़ाई से अपने पद्यों में रखते हैं कि मानो किसी और बात के लिये वहाँ स्थान ही नहीं है। उदाहरण लीजिए। लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर जो कविता है, उसका अंतिम बंद यह है—

"लाश को तेरी सँवारें न रक़ीबाने-कुहन[4] ;
हो जबीं[5] के लिये संदल की जगह ख़ाके-वतन।
तर हुआ है जो शहीदों के लहू से दामन ;
दें उसी का तुझे पंजाब के मज़लूम[6] कफ़न।
शोरे-मातम न हो, झनकार हो ज़ंजीरों की ;
चाहिए क़ौम के भीष्म को चिता तीरों की।"

१ बच्चों का खेल। २ जातीयता-पूर्ण आवेश। ३ युवावस्था का उन्माद। ४ पुराने प्रतिद्वंद्वी (कुहन=पुराना)। ५ ललाट। ६ अत्याचार-पीड़ित।

मतलब यह कि उनकी कविताएँ भारतीयों के लिये अत्यंत रुचिकर एवं हृदयग्राही हैं। संक्षेप में स्वर्गीय चकबस्तजी भारतीय होने के नाते दीन-हीन भारत को ही अपना सर्वस्व समझते थे। कहते भी हैं—

"बुलबुल को गुल मुबारक, गुल को चमन मुबारक;
हम बेकसों को अपना प्यारा वतन मुबारक।"

वह चाहते थे कि प्रत्येक भारतवासी दिल से ऐसा ही कहने लगे। इसी के लिये वह सदैव प्रयत्नशील रहे।

शोक कि जिस स्वराज्य के लिये जीवन-भर लालायित रहे, उसे वह अपने जीवन में न देख सके। स्वराज्य के लिये उनके हृदय में कितनी उत्कट लालसा थी, यह निम्न-लिखित पदों से प्रकट होगा। कहते हैं—

"हो होम-रूल हासिल, अरमान है, तो यह है;
अब दीन है तो यह है, ईमान है तो यह है।"

फिर कहते हैं—

"तलब फ़िजूल है काँटे की फूल के बदले;
न लें बिहिश्त भी हम होम-रूल के बदले।"

स्वराज्य ही उनका धर्म है, और स्वराज्य ही उनका स्वर्ग। उसके मुक़ाबले में वह सबको हेच समझते हैं। वही उनकी उच्चतम आशाओं का लक्ष्य है, और वही उनकी राजनीति का सार। उनकी प्रबल देश-भक्ति को ध्यान में रखते हुए ऐसा होना स्वाभाविक ही जान पड़ता है। उनका संबंध देश के नरम-दल से था; पर वह खरी बात कहने में कभी न हिचकते थे। मिसेज़ बेसेंट के छुटकारा पाने पर कहा था—

"गर्दनें ख़मे हैं निदामत से दिलाज़ारों की;
रह गई बात ज़माने में वफ़ादारों की।"

एक और मौक़े पर कहा था—

"ज़बाँ को बंद करें, या मुझे असीर करें;
मेरे ख़याल को बेड़ी पिन्हा नहीं सकते।
यह कैसी बज़्म है, और कैसे उसके साक़ी हैं;
शराब हाथ में है, और पिला नहीं सकते।
यह बेकसी भी अजब बेकसी है दुनिया में;
कोई सताये हमें, हम सता नहीं सकते।"

असल बात तो यह है कि कवि होने के साथ ही उनमें कवि-सुलभ निर्भिचतता भी थी, और उसी के साथ राष्ट्रोन्नति के हेतु आत्म-समर्पण की लगन भी। स्वयं कहते हैं—

"ऐश क्या शै है ज़रोमाल का सौदा क्या है;
क़ौम के दर का गदा हूँ, मुझे परवा क्या है?"

ऐसी दशा में निर्भीकता का आ जाना अनिवार्य ही था।

परंतु अनेक मनुष्योचित गुणों के होते हुए भी, सबसे बड़ा गुण जो उन्हें इस असार-संसार में अजर-अमर बनानेवाला है, वह उनका अनुपम काव्य-कौशल ही है। चकबस्त-जैसे मनुष्य तो बहुत हैं, और हो सकते हैं; पर चकबस्त-जैसा कवि तो न कदाचित् इस समय है, और न भविष्य में वैसा होना कोई साधारण बात है—विशेषकर अँगरेज़ियत के वर्तमान युग में, जब प्रायः देशी भाषाओं का पढ़ना व्यर्थ समझा जाता है।

अब चकबस्तजी की काव्य-रचना के कुछ बहुत चुने हुए नमूने देकर हम अपने इस लेख को समाप्त करेंगे। चकबस्त की "*गाय*"-शीर्षक कविता बड़ी अच्छी है। उसके तीन पद नीचे लिखे जाते हैं—

"नक़्श है दिल पै मेरे मोहनी सूरत तेरी;
ख़ूब दुनिया के शिवाले में है मूरत तेरी।
कंगुरे-से ये नहीं चेहरए-नूरानी पर;
ताज क़ुदरत ने सजा है तेरी पेशानी पर।
इस हलावत से जो दावाए-सुख़नगोई है;
दूध से तेरे लड़कपन में ज़बाँ धोई है।"

पहले शेर का अर्थ स्पष्ट है। रचना ऐसी उत्तम है कि दिल में पवित्रता का भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता।

दूसरे में गाय के माथे के ऊपर जो छोटे-छोटे उभार-से होते हैं, उन्हीं को '*ताज*' कहा गया है। कवि ने गाय को पशु-जगत् में सर्व-श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये कैसी बढ़िया और अनोखी बात खोज निकाली है! उपमा की उपयुक्तता भी दर्शनीय है।

तीसरे शेर में कहते हैं, मेरी कविताओं में माधुर्य होने का कारण यही है कि मुझे बचपन में तेरे ही दूध से

१ असहाय। २ झुकी हुई। ३ अत्याचारी। ४ क़ैद। ५ महफ़िल। ६ शराब पिलानेवाले। ७ तात्पर्य होम-रूल से है। ८ दीनता।

१ चाँज। २ ख़याल। ३ फ़क़ीर। ४ प्रभा-पूर्ण। ५ मिठास। ६ काव्य-रचना।

अपनी जिह्वा धोने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। समस्त पद में कितनी सरसता, कितनी सरलता और कितना प्रभाव है!

"रामायण के सीन" में रामजी वन-गमन के पूर्व माता से बिदा होने आते हैं। माता समझ जाती है, और रोकर कहती है—

"होकर कहा खामोश खड़े क्यों हो मेरी जाँ?
मैं जानती हूँ जिस लिये आए हो तुम यहाँ।
सबकी खुशी यही है, तो सहरा को हो रवाँ;
लेकिन मैं अपने मुँह से न हरगिज़ कहूँगी 'हाँ'।
किस तरह वन में आँख के तारे को भेज दूँ?
जोगी बना के राजदुलारे को भेज दूँ?"

समूचा बंद माँ की 'ममता' का द्योतक है, जिसका प्रकटीकरण अंतिम पद में अपनी परा काष्ठा को पहुँच गया है। यही पद पूरे बंद में जान डाल देता है। शब्द सादे-सादे हैं; पर उनके चुनने और रखने में कवि ने कमाल किया है।

सन् १९१७ ई० में एनी बेसेंट के क़ैद होने पर चकबस्त ने जो कविता कही थी, उसके दो बंद यहाँ दिए जाते हैं—

"हो तुर्की क़ौम के मातम में बहुत सीनाज़नी[1];
अब हो इस रंग का सन्यास, यह है दिल में ठनी।
मादरे-हिंद की तसवीर हो सीने पे बनी;
बेड़ियाँ पैर में हों, और गले में कफ़नी।
हाँ यह सूरत से अयाँ आशिक़े-आज़ादी है;
क़ुफ़्ल है जिनकी ज़बाँ पर, यह वह फ़रियादी है।
आज से शौक़े[3]-वफ़ा का यही जौहर होगा;
फ़र्श काँटों का हमें फूलों का बिस्तर होगा।
फूल हो जायगा छाती पे जो पत्थर होगा;
क़ैदख़ाना जिसे कहते हैं, वही घर होगा।
संतरी देख के इस जोश को शर्माएँगे;
गीत ज़ंजीर की झनकार पे हम गाएँगे।"

कवि देश-भक्ति तथा स्वराज्य-प्रेम के प्रकटीकरण के निमित्त जिस प्रकार के संन्यास का उपदेश करता है, वह अत्यंत स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक है। शाब्दिक योजना कितनी प्रबल है!

शब्द साधारण हैं; परंतु उनमें असाधारण ओज है। अंतिम पद तो बड़ा ही सजीव है। उससे वह ध्वनि निकलती है, जो मुर्दा दिलों को भी एक बार ज़िंदा कर सकती है।

सन् १९१४ ई० में आफ्रिका-निवासी गोरों के अत्याचारों से निरीह भारतीयों की वहाँ जो दशा हो रही थी, उसका करुण चित्र चकबस्तजी इन शब्दों में खींचते हैं—

"लुटे हैं यों कि किसी के गिरह[1] में दाम नहीं;
नसीब रात को पड़ रहने का मुक़ाम नहीं।
यतीम बच्चों के खाने का इंतज़ाम नहीं;
जो सुबह ख़ैर से गुज़री उमेदे-शाम नहीं।
अगर जिए भी, तो कपड़ा नहीं बदन के लिये;
मरे तो लाश पड़ी रह गई कफ़न के लिये।"

फिर जनता को सहायता के निमित्त प्रोत्साहित करने के लिये प्रवासी भारतीयों के करुण-नाद ने जिस प्रकार भारत के हृदय को आंदोलित कर दिया है, उसे अपने ढंग पर वर्णन करते हैं—

"कहाँ है मुल्क के सरताज, क़ौम के सर्दार;
पुकारते हैं मदद के लिये दरो-दीवार।
वतन की ख़ाक से पैदा है जोश के आसार;
ज़मीन हिलती[2] है, उड़ता है ख़ून बन के गुबार।
जगह से अपनी है चित्तौर की ज़मीं सरकी;
लरज़ रही है कई दिन से क़ब्र अकबर की।"

सच तो यह है कि ऐसे ज़ोरदार शेर चकबस्त ही की लेखनी से निकल सकते हैं। ऐसे ही पदों के बल पर वह अद्वितीय होने का दावा कर सकते हैं। इनमें काव्य-रस का भी अच्छा समावेश है। जोश की हालत में कंपन के साथ ख़ून में उबाल का पैदा होना स्वाभाविक ही है। इसीलिये रजकणों को रक्तकण बनाकर उनका उड़ना दिखलाया गया है—फिर पृथ्वी का रक्त रज के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है? अंतिम पद बड़े मार्के का है। 'चित्तौर' और 'अकबर' हिंदू और मुसलमान जनता के ख़याल से प्रयुक्त किए गए हैं। कारण, महाराणा प्रताप और सम्राट् अकबर, दोनो अपनी-अपनी रीति पर भारत-भक्त ही थे। यह पद बड़ा ही आवेशजनक है।

आगे चलकर कवि सहायता की अपील करता है, और फिर यह बंद कहकर कविता को समाप्त करता है—

१ छाती कूटना। २ सेली। ३ देश-भक्ति की लगन।

१ गिरह। २ काँपना।

"मिटा जो नाम, तो दौलत की जुस्तजू क्या है ;
निसार हो न वतन पर, तो आबरू क्या है ।
लगा दे आग न दिल में, तो आँजू क्या है ;
न जोश खाय जो ग़ैरत से, वह लहू क्या है ।
फ़िदा वतन पै जो हो, आदमी दिलेर है वह ;
जो यह नहीं, तो फ़क़त हड्डियों का ढेर है वह ।"

अर्थ स्पष्ट है । कवि ने किस काव्योपम तथा मार्मिक विधि से जनता को प्रवासियों की मदद का हौसिला दिलाया है ! तीसरे पद में तो कवि ने 'हड्डियों का ढेर' रखकर मार्मिकता की हद कर दी है ।

चकबस्तजी ने कई बड़े ज़ोरदार 'नौहे' लिखे हैं । स्वर्गीय गोखले की मृत्यु पर लिखते हुए उन्हीं को संबोधित करके कहते हैं—

रहा मिज़ाज में सौदाय-क़ौम ग़ों होकर ;
वतन का इश्क रहा दिल में आर्ज़ू होकर ।
बदन में जान रही बर्के-आबरू होकर ;
रगों में अश्के-मुहब्बत रहे लहू होकर ।
खुदा के हुक्म से जब आबो-गिल बना तेरा ;
किसी शहीद की मिट्टी से दिल बना तेरा ।

स्वर्गीय गोखले के देश एवं जाति के प्रगाढ़ प्रेम का परिचय कैसे चुने हुए शब्दों में दिया गया है । प्रेमाश्रुओं का रक्त बनकर नाड़ियों में प्रवाहित होना एक काव्योपम ख़याल है, जिससे स्वर्गीय की गहरी सहानुभूति का पता चलता है । तीसरा पद बड़ा ही प्रभाव-पूर्ण है, और कवि की विशेषता का परिचायक भी ।

इसी कविता में एक उल्लेखनीय पद यह भी है—

"जनाज़ा हिंद का दर से तेरे निकलता है ;
सुहाग क़ौम का तेरी चिता में जलता है ।"

गोखलेजी की मृत्यु से जो घोर क्षति देश को पहुँची है, उसे कवि ने कैसे दिल हिला देनेवाले ढंग पर बयान किया है ।

लोकमान्य तिलक की मृत्यु पर जो 'नौहा' है, उसका पहला बंद यह है—

"मौत ने रात के पर्दे में किया कैसा वार,
रोशनी सुबहे-वतन की है कि मातम का गुबार ।
मारका सर्द है, सोया है वतन का सर्दार ;
तनतना शेर का बाक़ी नहीं, सूनी है कछार ।
बेकसी छाई है, तक़दीर फिरी जाती है ;
क़ौम के हाथ से तलवार गिरी जाती है ।"

बंद कितना करुण है । लोकमान्य-जैसे पुरुष-सिंह की मृत्यु की सूचना इससे अधिक ज़ोरदार ढंग पर नहीं दी जा सकती । शब्दों का चुनाव परखने योग्य है । "सुबहे-वतन की रोशनी" को "मातम का ग़ुबार" बतलाना कवि की काव्योपम सूक्ष्मदर्शिता है । तिलक-जैसे निर्भीक तथा बलवान् रक्षक के न रहने की घटना को "क़ौम के हाथों से तलवार गिरने" के समान बतलाना उचित ही है, जिससे कवि का कमाल ही विदित होता है ।

चकबस्त ने बालिकाओं के लिये "फूल-माला"-शीर्षक पद की रचना की है, जिसे रचना-सौंदर्य की दृष्टि से फूल-माला ही कहना चाहिए । कुछ चुने हुए पद ये हैं—

"नाम रक्खा है नुमाइश का तरक्क़ी वो रिफ़ार्म ;
तुम इस अंदाज़ के धोके में न आना हरगिज़ ।
जो बनाते हैं नुमाइश का खिलौना तुमको ;
उनकी ख़ातिर से यह ज़िल्लत न उठाना हरगिज़ ।
रुख़ से पर्दे को उठाया तो बहुत ख़ूब किया ;
पर्दए-शर्म को दिल से न उठाना हरगिज़ ।
अपने बच्चों की ख़बर क़ौम के मर्दों को नहीं ;
यह है मासूम इन्हें भूल न जाना हरगिज़ ।
काग़ज़ी फूल विलायत के दिखाकर इनको ;
देस के बाग़ से नफ़रत न दिलाना हरगिज़ ।
नग़मए-क़ौम की लै जिसमें समा हो न सके ;
राग ऐसा कोई इनको न सिखाना हरगिज़ ।
परवरिश क़ौम की दामन में तुम्हारे होगी ;
याद इस फ़र्ज़ की दिल से न भुलाना हरगिज़ ।

१, २ और ३ नंबर शेरों के अर्थ स्पष्ट हैं । व्यसनतः विषयासक्ति के विरुद्ध उपदेश दिया गया है, और लड़कियों को यह बात समझाई गई है कि वे यथासमय अपना स्त्रीत्व क़ायम रखते हुए भी केवल बनाव-सिंगार करके पुरुषों को रिझाना ही अपना जीवनोद्देश्य न समझें, प्रत्युत पुरुष की अर्धांगिनी एवं गृह-स्वामिनी होने की ज़िम्मेवारियों का पूर्णतः अनुभव कर वैसा ही आचरण करें, अर्थात् अपनी भारतीयता को सुरक्षित रखते हुए

१ तलाश । २ क़ुर्बान होना । ३ लालसा । ४ राष्ट्र की चिंता । ५ स्वभाव । ६ कामना । ७ अर्पित । ८ प्रेमाश्रु । ९ पानी और मिट्टी अर्थात् शरीर । १० भूल ।

१ निरवलंबिता । २ अबोध । ३ क़ौमी राग ।

योरपियन महिलाओं के गुणों को अपनावें, और उनके दोषों से बचें।

४, ५, ६ और ७ नंबर शेरों में कवि ने इन पदों द्वारा भारत की भावी माताओं से बच्चों के पालन एवं शिक्षण के विषय में कुछ विशेष बातें कही हैं, और 'मासूम' शब्द का प्रयोग करके अपनी बातों को हृदयंगम कर देने की कोशिश की है। कवि में अगाध देश-भक्ति है। फिर वह देश के बच्चों में भी वही भक्ति देखना चाहता है, और इसी एक बात पर ज़ोर देता है। अंतिम पद में जाति-निर्माण के निमित्त स्त्रियों को उत्तरदायी ठहराते हुए उन्हें कर्तव्य-च्युत होने के विरुद्ध चेतावनी देता है, अतः अपनी भाषा में कुछ कड़ाई का लाना उचित समझता है।

अब ज़रा चकबस्तजी की ग़ज़लों का रंग भी देख लीजिए, जिनके केवल कुछ चुने हुए पद नीचे दिए जाते हैं—

"हम पूजते हैं बाग़-वतन की बहार को;
आँखों में अपनी फूल समझते हैं ख़ार को।
हैं बाग़बाँ के भेस में गुलचीं फ़रंग के;
निकले हैं लूटने चमने-रोज़गार को।"

प्रथम पद कवि के मातृभूमि-विषयक हार्दिक स्नेह का परिचायक है, जिसके कारण वह वहाँ के काँटों को भी फूल समझता है। द्वितीय पद में एक अप्रिय सत्य का उल्लेख है। वह यह कि योरपियन लोग हैं तो वस्तुतः फूल तोड़नेवाले, पर भेस बनाए हैं माली अर्थात् वाटिका-रक्षक का, और इसी भेस में वे संसार-रूपी वाटिका को लूटने के लिये संसार भर में फैल रहे हैं। पद की भाषा कितनी अलंकारमयी है।

"दोस्ती में अपना-अपना हक़ अदा करते रहे;
वह जफ़ा करते रहे और हम वफ़ा करते रहे।
क्या कहें किससे कहें दुनिया में क्या करते रहे;
बिदअ़तें होती रहीं शुक्रे-ख़ुदा करते रहे।"

अर्थ स्पष्ट है। परंतु उभय पदों को राजनीतिक विचार-दृष्टि से देखने की कोशिश कीजिए, तभी आपको पूरा मज़ा आवेगा। द्वितीय पद में "दुनिया में क्या करते रहे" से एक ओर अत्याचार और दूसरी ओर संतोष का बाहुल्य प्रकट होता है। शब्द-विन्यास तथा पद्य-प्रवाह प्रशंसनीय है।

१ काँटा। २ फूल तोड़नेवाला। ३ दुनिया। ४ ज़ुल्म। ५ प्रेम। ६ ज़्यादतियाँ, सख़्तियाँ।

"हज़ारों जान देते हैं बुतों की बेवफ़ाई पर;
अगर इनमें से कोई बावफ़ा होता, तो क्या होता।
हवस जीने की है यों उम्र के बेकार कटने पर;
जो हमसे ज़िंदगी का हक़ अदा होता, तो क्या होता।
ज़बाँ के ज़ोर पर हंगामा-आराई से क्या हासिल;
वतन में एक दिल होता, मगर दर्द-आशना होता।"

इन दोनों पदों में दो सच्ची-सच्ची बातें कही गई हैं; पर उन्हें किसी साधारण मनुष्य ने नहीं, प्रत्युत एक असाधारण कवि ने कहा है, अतः उनमें ख़ासी रोचकता आ गई है।

तीसरे में कहते हैं, चाहे वाग्मिता के बल पर धूम मचानेवाले कितने ही लोग हों; परंतु वे व्यर्थ ही हैं। इनके स्थान में कवि भारत में केवल एक ही ऐसे हृदय का अस्तित्व चाहता है, जो सहानुभूति से लबालब भरा हो, और इसी को देशोन्नति के लिये पर्याप्त समझता है।

"निफ़ाक़े गब्र मुसलमाँ का यों मिटा आख़िर;
यह बुत को भूल गए, वह ख़ुदा को भूल गए।
ज़मीं लरज़ती है, बहते हैं ख़ून के दरिया;
ख़ुदी के जोश में बंदे ख़ुदा को भूल गए।"

कवि हिंदू-मुसलिम अनैक्य को मिटाने की कैसी उत्तम एवं सुगम विधि बतलाता है। इसमें संदेह नहीं कि जब तक मज़हबदारी का ख़याल ऐसी अनुचित सीमा तक दिलों में बना रहेगा कि उसका मनुष्यत्व से कोई संपर्क न रहे, उस समय तक दोनों में मेल होना असंभव है।

यह ग़ज़ल सन् १९१५ ई० में योरपियन महासमर के वक़्त लिखी गई थी। दूसरे पद में उसी की ओर संकेत है। कुशल कवि ने संक्षेप में ही युद्ध का कितना भयानक दृश्य दिखलाया है, और इसके साथ ही मनुष्यों को कितना ज़ोरदार उपदेश दे डाला है। शब्दों का चुनाव ऐसा अनुपम है कि उसे इन दोनों कामों में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। ख़ुदी, ख़ुदा, बंदे, ये तीनों शब्द काव्य-दृष्टि से अत्यंत ही उपयुक्त हैं।

"कुछ ऐसा पासे-ग़ैरत उठ गया इस अ़हदे-पुरफ़न में;
कि ज़ेवर हो गया तौक़े-ग़ुलामी अपनी गर्दन में।

१ प्रेमिका। २ धूम मचाना। ३ पीड़ायुक्त अर्थात् महानुभूति-पूर्ण। ४ वैमनस्य। ५ मूर्तिपूजक। ६ मूर्ति। ७ अहम्मन्यता। ८ ख़ुदा के बंदे—तात्पर्य मनुष्य-मात्र से है। ९ लज्जा का ख़याल। १० समय। ११ कपटी।

शबाब आया है, पैदा रंग है, रुख़सार-नाज़ुक से ;
फ़रोग़े-हुस्न कहता है, सहर होती है गुलशन में ।
नहीं होता है मुहताजे-नुमाइश फ़ैज़ शबनम का ;
अँधेरी रात में मोती लुटा जाती है गुलशन में ।
वतन की ख़ाक से मरकर भी हमको उन्स बाक़ी है ;
मज़ा दामाने-मादर का है इस मिट्टी के दामन में ।"

कहते हैं, हम इस कपटी युग के प्रभाव से इतने लज्जाहीन हो गए हैं कि गुलामी के उस तौक़ को, जो हमारी गर्दन में पड़ा हुआ है, ज़ेवर समझते हैं । वाक़ई, ज़िल्लत की चीज़ को शृंगार की वस्तु समझना निर्लज्जता की परा काष्ठा ही है ; पर हम भारतीयों की दशा आजकल ऐसी ही है । किसी का यह कथन सत्य है कि अँगरेज़ी राज्य ने केवल हमारे दिलों पर नहीं, मस्तिष्कों पर भी जादू कर दिया है ।

दूसरा पद शृंगार-रस से ओत-प्रोत है । शाब्दिक योजना बड़ी मनोहर है, जैसा शृंगार में होना ही चाहिए । प्रेमिका के पुष्प-सदृश कपोलों पर यौवनावस्था की प्रारंभिक सौंदर्य-लालिमा को पुष्प-वाटिका पर पड़नेवाले उषःकाल के प्रकाश से समानता देना कवि-कल्पना की असाधारण चरमता है ।

तीसरे का अर्थ स्पष्ट है । कवि ने ओस का उदाहरण देकर दान-विधि की शिक्षा दी है । वर्णन-शैली ऐसी है कि मानो सुंदरता का एक चित्र खींच दिया गया है ।

चौथे में कवि अपने असाधारण देश-प्रेम का परिचय देता है—फिर मातृभूमि की मिट्टी को "मा का दामन" समझना स्वाभाविक ही है ।

"नए झगड़े निराली काविशें ईजाद करते हैं ;
वतन की आबरू अहले-वतन बर्बाद करते हैं ।
निकलकर अपने क़ालिब से नया क़ालिब बसाएगी ;
असीरी के लिये हम रूह को आज़ाद करते हैं ।"

पहला पद सन् १९१२ ई० में लिखा गया था ; पर जिस प्रकार आजकल मुसलमान लोग बाजे की बात पर नए-नए झगड़े पैदा करते हुए देश की प्रतिष्ठा को नष्ट कर रहे हैं, उसे देखते हुए हम आज भी उपर्युक्त पद की आवश्यकता का अनुभव करते हैं—फिर वह सन् १९१२ ई० में चाहे जिस अभिप्राय से रचा गया हो । अस्तु । इसमें संदेह नहीं कि देशवासियों के ही हाथों देश की मर्यादा का नष्ट किया जाना अतीव निंद्य एवं पापपूर्ण है ।

१ यौवनावस्था । २ कपोल । ३ सौंदर्य-विकास । ४ सुबह । ५ दिखावा । ६ उदारता । ७ ओस । ८ प्रेम । ९ मा । १० रंजिश । ११ आतंकून । १२ शरीर । १३ बंधन । १४ आत्मा ।

प्रथम पद्यार्ध में एक सच बात कही गई है, और द्वितीय में उसी बात से एक काव्योपम बात निकाली गई है ।

"दर्दे-दिल, पासे-वफ़ा, जज़्बये-ईमाँ होना ;
आदमीयत है यही, और यही इंसाँ होना ।"

कवि ने केवल तीन विशेष गुणों के वर्णन द्वारा मनुष्यत्व की विशद व्याख्या कर दी है ।

"हाय इस दुनिया की पाबंदी अजब दिलगीर है ;
ख़ुद पहनता है जिसे इंसाँ, ये वह ज़ंजीर है ।"

कहते हैं, सांसारिक बंधनों में ऐसा आकर्षण है कि मनुष्य स्वयं ही उनमें पड़ जाता है । भोग के प्रेरणायुक्त प्रभाव की प्रबलता का रोचक वर्णन है । 'हाय' के प्रयोग से मनुष्य की लाचारी की ओर संकेत किया गया है । बंधन की रियायत से ज़ंजीर का प्रयोग उपयुक्त ही है ।

क़ौम की हालत बयान करते हुए एक बड़ा अच्छा शेर कहा है—

"जान से शौक़े-नुमाइश में गुज़र जायँ अभी ;
क़ब्र चाँदी की जो मिल जाय, तो मर जायँ अभी ।"

चाँदी की क़ब्र में दफ़न होने की लालसा से तत्काल ही मरने पर उद्यत हो जाना दिखावे के शौक़ की परा काष्ठा है । इस परा काष्ठा के प्रदर्शन के निमित्त द्वितीय पद्यार्ध की रचना बड़ी ही अनुपम है, तथा कवि के काव्य-नैपुण्य की झलक भी ।

चकबस्तजी में हास्य-प्रियता भी काफ़ी थी । उनके काव्य-संग्रह में एक ऐसी कविता भी दर्ज है, जिससे इस बात का भी परिचय मिलता है । लार्ड कर्ज़न ने कलकत्ता-युनिवर्सिटी के कानवोकेशन में एक वक्तृता दी थी, जिसमें भारतीय सभ्यता पर अनुचित आक्षेप किया गया था । इसी कारण चकबस्तजी ने एक बड़ी लंबी कविता रची थी, जिसके केवल सात पद चुनकर नीचे दिए जाते हैं । चकबस्तजी लार्ड कर्ज़न को संबोधित करके कहते हैं—

१ समवेदना—सहानुभूति । २ मैत्री का निर्वाह । ३ धार्मिकता व सच्चरित्रता । ४ बंधन । ५ हृदयग्राही ।

गालियाँ किस लिये दरपर्दा सुनाईं हमको ;
नाचने निकले, तो फिर मुँह पै यह कैसा घूँघट ।
[illegible] तो क्या, खुश नहीं तुझसे दिल में—
दुश्मने-मुल्क अलगद के पुराने खूसट ।
जिससे नाशाद रियाया है वह है दौर तेरा ;
कर दिया मुल्क को इस पाँच बरस में चौपट ।
बस तेरा चल न सका कहत-ओ-बा से कुछ भी ;
शहर वीरान हैं, आबाद हुए हैं मरघट ।
अब मुनासिब है यही, कीजिए पिजड़ा खाली ;
हम भी खुश, आप भी खुश, दूर कहीं हो झंझट ।
या इलाही, यह चली बादे-मुखालिफ कैसी ;
आ गया उड़के जो लंदन से यह कूड़ा-कँरकट ।
सोच अंजाम कि इक रोज़ है सबको मरना ;
है नमकख्वार हमारा, तू न कर हमसे कपट ।

संपूर्ण कविता हास्य-रस से परिपूर्ण है, और साथ ही जो बातें कही गई हैं, वे सर्वथा तथ्यशून्य नहीं हैं । देश की तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ऐसी बातें कह डालना निर्भीकता एवं साहस का काम था, और चकबस्तजी इस परीक्षा में भी पूरे उतरे । कविता में प्रासों का चुनाव और उनका सदुपयोग दर्शनीय तथा प्रशंसनीय है ।

अंत में हम इतना और कहना चाहते हैं कि स्वर्गीय चकबस्त केवल कवि न थे, वह अच्छे गद्य-लेखक भी थे । उनकी लेखन-शैली प्रौढ़ तथा गंभीर थी, और उसमें मौलिकता का समुचित समावेश होता था । वह प्रस्तुत विषय पर गहनता के साथ विचार करते थे, और फिर अपनी बातों को सुस्पष्ट शब्दों में कह देते थे । भाषा पर उन्हें असामान्य अधिकार था, और स्वर्गीय इस बात को खूब समझते हुए अपने इस अधिकार के बरतने में कुछ कोर-कसर न रखते थे । यही कारण है कि प्रायः उनके गद्य लेख भी उर्दू-साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति करते हैं । पर ऐसा होते हुए भी उनकी कविताएँ कुछ और ही चीज़ हैं—वे ऐसी चीज़ हैं, जैसे खान में रत्न और समुद्र में मोती । उनके लेखों से साहित्य-क्षेत्र भरा-पुरा मालूम होता है, और उनकी कविताओं से वह एकदम जगमगा रहा है । वस्तुतः वह चमक उस समय तक बराबर बनी रहेगी, जब तक इस असार संसार में स्वयं उस साहित्य का अस्तित्व है ।

इक़बाल वर्मा "सेहर"

१ अप्रसन्न । २ शासन-काल । ३ संक्रामक रोग । ४ उजाड़ । ५ ईश्वर । ६ ख़िलाफ़ हवा । ७ अभिप्राय लार्ड कर्ज़न से है । ८ अंत ।

कोयल

अरी श्यामा, सुंदरी, सुजान !
शून्य कर उदयाचल-उद्यान ;
वसंती उपवन तीर अधीर,
चली आ उड़कर बनी समीर ।
अकेली आँखमिचौनी खेल,
नील-नभ पर मत संकट झेल ;
बालिका-सी-वन-वीथी-बीच,
अरी पगली ! मरु-मानस-सींच ।
बोल के बरसाकर मृदु फूल,
कूक, कुसुमित कदंब पर झूल ;
विरह की लपटों पर चुपचाप,
भस्म कर यौवन के संताप ।
अरी सरला, सुंदरी, कठोर,
देख, इस नन्हे वन की ओर ;
प्रकृति-संन्यासिनि मूँदे कान,
निमंत्रण के गाती है गान ।
फलित द्रुम पर रचकर लघु नीड़,
भीड़ से बच प्रमिका प्रवीण !
लताओं की मृदु खिड़की खोल,
सुना तू मधुर काकली-रोल ।
अरी संगीत-नायिका मौन,
मचल तू पूछ भ्रमर से, कौन ?
पिया करता है मधु-रस आप,
कँटीली कलियों पर चुपचाप ।
उड़ी फिर तू न दूर—अति दूर,
लजीली ! कोई कथा बिसूर ;
विकल है तेरे बिना दिगंत,
सिसकता है नवयुवक वसंत ।

"गुलाब"

"अनाथा"

बस, थोड़ा-सा फूस बचा, जिसको नित पवन उड़ाता है।
छप्पर के नाते ठाठ बचा, जिसको घुन खाता जाता है।
थी दीवाल एक मिट्टी की, खदर गई वह लोने से;
रही-सही मिट्टी भी बहती जाती है नित रोने से।
जब तक मेरा जीवन धन था, सुख-संपति की थाह न थी;
उसके मन-मंदिर में रहती महलों की परवाह न थी।
छोड़ अकेली सजन सिधारे, भाग्य हमारा मंद हुआ;
टूटा तार हृदय-वीणा का, आनँद का स्वर बंद हुआ।
चक्की पीस काटती थी दिन, जब तक तन में था बूता;
चरख़ा रही कातती जब तक दामन रहा अछूता।
अब मैं हुई सूखकर काँटा, नयन-ज्योति ने दिया जवाब;
मुँह में दाँत न आँत पेट में, हिलने की भी रही न ताब।
मेरे लिये अँधेरा छाया, सबको है अपना-अपना;
सोए भाग, जागती हूँ अब, नींद हो गई सपना।
मिट्टी के दीवे का मेरे चुका तेल अब जाता है;
हिचकी आई, दम भी टूटा, छूटा जग का नाता है।

गुरुभक्तसिंह "भक्त"

ज़ात-पाँत-तोड़क मंडल का संदेश

हवा का रुख़ बदला है। समय ने पलटा खाया है। दुनिया कहीं-की-कहीं निकल गई है। इस आर्य-जाति को अपने उच्च सिंहासन से गिरे हुए पाँच सहस्र से भी अधिक वर्ष हो गए। इस बीच में न मालूम यह कितने उलट-फेर और उतार-चढ़ाव देख चुकी।

द्वापर युग है। हम देखते हैं, आर्य-वीरों का सिक्का सारे संसार पर जमा हुआ है। महाभारत के युद्ध में चीन, जापान, योरप और अमेरिका आदि से आकर राजा लोग सम्मिलित होते हैं। महाराज धृतराष्ट्र गांधार के राजा की पुत्री श्रीमती गांधारी से और धनुर्धर अर्जुन अमेरिका के राजा की बेटी श्रीमती उलूपी से विवाह करते हैं। वहाँ ज़ात-पाँत और छूत-छात का कोई प्रश्न ही नहीं। जिस प्रकार प्रचंड जठराग्नि रखनेवाला मनुष्य कच्चा अन्न तक पचा जाता है, और डकार तक नहीं लेता, उसी प्रकार हमारे ये पूजनीय पूर्वज संसार की समस्त जातियों को आत्म-सात्-कर रहे हैं।

महाभारत के पश्चात् एक दूसरा चक्कर चला। यहाँ शक आए, हूण आए, यूची आए, और सब-के-सब आर्य-जातिरूपी महासागर में मिलकर उसी का रूप हो गए। आज उनके अलग अस्तित्व का पता तक नहीं चलता। याद रहे, यह वह काल है, जब आर्य-जाति बराबर नीचे गिरती चली आ रही है।

अब हम पौराणिक समय में पहुँच गए। ज़ात-पाँत और छूत-छात का महारोग इस शक्तिशाली जाति को चिमट गया। इसका सब बल-वीर्य इसने चूस लिया। जिनके पूर्वज योरप और अमेरिका में जाकर डंका बजाया करते थे, वे अपनी भी रक्षा में असमर्थ होकर ज़ात-पाँत की तंग कोठरियों में छिप रहे हैं। जैसे बाहर की चोट खाकर कछुआ अपने अंगों को भीतर सिकोड़ लेता है, वैसे ही ये लोग ज़ात-पाँत के दरबों में दबक रहे हैं। एक दूसरे से अलग-अलग हो जाने के कारण इनका एकता का सूत्र टूट चुका है, और विदेशी आक्रमणकारी एक-एक करके इन्हें अपना दास बना रहे हैं। किंतु यह रक्त की पवित्रता और ऊँच-नीच के नशे में भूले हुए बेसुध पड़े हैं। किसी के कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। फल

क्या होता है ? करोड़ों भाई और बहनें मुसलमान हो जाती हैं, और इन जन्माभिमानी नपुंसकों की जान को कोसती हुई इसी संसार में नरक का जीवन व्यतीत करती हैं । इस समय वे लोग निकालने (नफ़ी) का ही पाठ पढ़ते हैं, जमा इनको भूल-सी गई है । सच है, पाचन-शक्ति कम होने पर रोगी को हर वस्तु से डर लगने लगता है ॥

इस समय तक भारत-भूमि एक प्रकार से दुनिया से अलग पड़ी हुई थी । केवल उत्तर-पश्चिम की ओर से ही इस पर आक्रमण होते थे । परंतु एक नया युग आया । जल-मार्ग से भी विदेशी यहाँ आने लगे । इस कछुए की तरह अंगों को सिकोड़-कर पड़ी हुई जाति को अब और भी चिंता बढ़ी । इसे अपने बल और पराक्रम को बढ़ाकर दूसरों को पचा जाने का ध्यान न आया । गधे और गऊ का उदाहरण देकर अकबर-जैसे सम्राट् को वैदिक धर्म से बाहर रखना ही इसने उचित समझा, और आज भी यह इसी रीति पर चल रही है ।

अब हम एक निराले ही युग में हैं । आज पहाड़, नदी, नाले और समुद्र एक देश को दूसरे देश से और एक जाति को दूसरी जाति से अलग नहीं रख सकते । साइंस ने समय और दूरी को मिटा दिया है । रेल, तार, बिजली, हवाई जहाज़ सब भौतिक दूरियों को मटियामेट कर रहे हैं । एक मनुष्य लंदन में बैठा गीत गा रहा है, और ब्रॉड-कास्टिंग-नामक यंत्र के द्वारा सारा संसार घर-बैठे उसी समय उसे सुन रहा है । बताइए, भौतिक दूरी को स्थिर रखनेवाली कौन-सी वस्तु रह गई ? बे तार-के-तार से फ़ोटो तक दूर-दूर भेजे जा रहे हैं । जो लहर आज इँगलैंड में चलती है, वह वहीं तक परिमित नहीं रह सकती । जल्दी या देर से अवश्य समस्त संसार में फैल जाती है । चुरुट, मदिरा, सिनेमा, स्त्रियों की स्वतंत्रता, पश्चिमी फ़ैशन, भारत ही क्यों, सारे संसार में फैल रहे हैं । इसी प्रकार प्रजातंत्र-राज्य, विचार की स्वतंत्रता, मानवीय समता इत्यादि ऐसी वस्तुएँ हैं, जो एक-न-एक दिन सारे संसार में अवश्य फैलेंगी ।

किसी के रोके रुक नहीं सकतीं । कहने का सारांश यह कि विश्व आज एक घर या परिवार-सा बना चाहता है । कोई जाति इसमें रहकर अपने को दूसरों से अलग और अछूता नहीं रख सकती, लाख कोशिश और रुकावट पेश करने पर भी इसे झक मारकर एक दिन उसी रंग में रँगा जाना पड़ेगा ; नहीं तो उसकी सत्ता असंभव हो जायगी ।

आत्म-रक्षा के पुराने साधन सब निकम्मे हो गए हैं । पुराने ढंग के बड़े-बड़े क़िलों, खाइँयों और पहाड़ों से आज कोई देश अपनी रक्षा नहीं कर सकता । हवाई जहाज़, पनडुब्बियाँ, मशीनगनें और सत्तर-सत्तर मील पर गोला फेंकनेवाली तोपें थोड़े ही समय में उनका विनाश कर देती हैं । इसी प्रकार ज़ात-पाँत की जर्जरित चहारदीवारी अब किसी जाति की रक्षा नहीं कर सकती । दूसरे धर्मों और जातियों की बम-वृष्टि की वह ताब नहीं ला सकती । यदि आर्य-जाति को जीता रहना है, तो उसे अपनी रक्षा के लिये नए साधनों से काम लेना पड़ेगा ।

इसे अब आगे क़दम रखना पड़ेगा, नहीं तो यह अभाव के अतल-तल में सदा के लिये लुप्त हो जायगी ।

परंतु ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् को इस जाति को जीवित रखना अभीष्ट है । इसीलिये इसमें काया-पलट के चिह्न प्रकट हो रहे हैं । अछू-तोद्धार, शुद्धि और हिंदू-संगठन ये सब किस बात

के द्योतक हैं ? आज पुराने ढर्रे के पंडितों की व्यवस्था का मूल्य ही क्या रह गया है ? तथापि इन सबसे बढ़कर आर्य-जाति की रक्षा का एक और साधन है, जिसके बिना उपर्युक्त सब उपाय निस्सार और निष्फल हैं। वह साधन क्या है ? ज़ात-पाँत की संकीर्ण और जीर्ण काल-कोठरियों को तोड़कर सारी आर्य-जाति को रोटी-बेटी के एक सूत्र में पिरो दो। "संघे शक्तिः कलौ युगे।" संघ ही में शक्ति है। झूठे ऊँच-नीच के भेद-भाव को छोड़कर आर्य (हिंदू)-मात्र को अपना भाई समझो। जो भी ईसाई या मुसलमान तुम्हारे धर्म में आना चाहे, उसके रास्ते में ज़ात-पाँत की काँटेदार बाढ़ खड़ी करके उसे भीतर आने से मत रोको। अपने पूर्वजों की तरह उसे अपने में उसी तरह मिला लो, जैसे दूध और पानी मिलकर एक हो जाते हैं। ईश्वर की आज्ञा है—

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"

"सारे जगत् को आर्य बनाओ, और मेरी कल्याणकारिणी वाणी को मनुष्य-मात्र तक पहुँचाओ।"

ज़ात-पाँत को उड़ाए बिना तथा बाहर से आनेवालों को सामाजिक अधिकार दिए बिना आप परमेश्वर की इस आज्ञा का पालन कैसे कर सकते हैं ?

आर्य जाति की पुरानी निर्बलता को दूर करने के लिये ही लाहौर में ज़ात-पाँत-तोड़क मंडल की स्थापना हुई है। मंडल कोई नई बात नहीं कहता। बुद्ध, कबीर, नानक, दादू, राममोहन, केशवचंद्र और दयानंद आदि महात्मा जिस पवित्र मंत्र का उपदेश करते रहे हैं, उसी पर आचरण करने के लिये यह ज़ोर दे रहा है।

सभी आस्तिक लोगों का यह दृढ़ विश्वास है कि संसार की रंगस्थली में यह जो अभिनय हो रहा है, उसका कोई सूत्रधार अवश्य है। उसी के इशारे से सब काम हो रहे हैं। एक पत्ता भी उसकी आज्ञा के बिना नहीं हिलता। ज़ात-पाँत-तोड़क मंडल की स्थापना में भी उसी सूत्रधार का हाथ है। उसी की पवित्र प्रेरणा से इसका आरंभ हुआ है, और उसी की छत्रच्छाया में यह सफलता प्राप्त करेगा।

मंडल क्या है, उस जगन्नियंता के हाथ का एक अन्यतम शस्त्र है। देखते नहीं हो, पुराने ढर्रे के पंडितों की चीख़-पुकार के होते भी आज देश के सभी विचारशील नेता मंडल का पक्ष-पोषण कर रहे हैं। सर पी० सी० राय, देश-भक्त सावरकर, भारत के सुपुत्र हरदयाल, त्यागमूर्ति भाई परमानंद, श्री० वरदाराजुलू, डॉ० हरीसिंह गौड़, श्रीस्वामी श्रद्धानंदजी-जैसे देश-हितैषियों के बम बरसाने से ज़ात-पाँत के बोदे क़ैदख़ाने ध्वंस-प्राय हो रहे हैं। जैसे पिंजड़े में पड़े हुए तोते को स्वतंत्र होने से डर लगता है, वह फिर पिंजड़े में ही बंद रहना चाहता है, उसी प्रकार ज़ात-पाँत के क़ैदी भी इस बंधन से मुक्त होने से डरते हैं। परंतु हमें विश्वास है कि एक बार स्वतंत्रता का रसास्वादन कर लेने पर उनका सब भय दूर हो जायगा।

मंडल आज निर्बल है। उसके पास रुपए-पैसे और मनुष्यों की कमी है। उसकी पीठ पर कोई धन-कुबेर सेठ नहीं। उसके सदस्यों की संख्या सैकड़ों से अधिक नहीं। परंतु उसके पास एक चीज़ है, जिसके बल पर वह इतने महान् कार्य को करने का बीड़ा उठा रहा है। उसे पूर्ण विश्वास है कि उसका काम पवित्र है। उसमें स्वार्थ-परता का लव-लेश तक नहीं। वह परमपिता के पुत्रों और पुत्रियों को सुखी देखना चाहता है। इसलिये

निर्बलों के बल, अनाथों के नाथ, राजों के महाराजा, सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की प्रेरणा और सहायता से ही यह काम हो रहा है। संसार आज नहीं, तो कल अवश्य इसके सिद्धांत के सामने सिर झुकावेगा। संभव है, मंडल के वर्तमान सदस्य और कर्मचारी अपने इस छोटे-से जीवन में इसकी सफलता को न देख सकें। परंतु उनका विश्वास है कि ईश्वर का यह काम उनके इस नश्वर शरीर को छोड़ जाने के बाद भी जारी रहेगा। संसार की कोई भी भौतिक शक्ति इस लहर को रोक नहीं सकती।

जिनके आँखें हैं, वे देख सकते हैं कि यह अनंत आकाश-मंडल ज़ात-पाँत के प्रतिकूल विचारों से परिपूर्ण हो रहा है। सब कहीं इसके विरुद्ध ध्वनि उठ रही है। हमारा मंडल तो उन सब विचारों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का साधन-मात्र है। इसलिये धन्य हैं वे लोग, जो परमात्मा की प्रेरणा से रचे हुए इस पवित्र यज्ञ में अपनी आहुति देने को तैयार हैं; जो आप कष्ट-सहन करके भी आनेवाली पीढ़ियों को सुखी बनाने की पवित्र इच्छा रखते हैं। इसलिये हे देश के युवको और युवतियो, आओ, इस स्वर्गीय संदेश को सुनो, और इस शुभ कार्य में मंडल का हाथ बटाओ। नहीं तो आनेवाली संतानें तुम्हें कायर और देश-घातक कहकर तुम्हारे नाम पर लानत भेजेंगी। जगदीश्वर हमारी बहनों और भाइयों को बल-प्रदान करें, जिससे वे इस आर्य-जाति को ज़ात-पाँत की बेड़ियों से शीघ्र ही मुक्त करने का श्रेय प्राप्त कर सकें।

संतराम

हास्य-रहस्य

आनंद मनुष्य-मात्र का परम धर्म है। वस्तुतः आनंद आत्मा ही में है। परंतु मनरूपी आदर्श में उसके प्रतिबिंबित होने से ऐसा प्रतीत होता है, मानो आनंद मन में ही हो। व्यवहार में आनंद मानसिक ही कहा-सुना जाता है। मन में जिस समय हर्ष का विकास होता है, उस समय मुखारविंद पर भी एक अनिर्वचनीय मधुर रेखा परिभासित होती है। हृदयरूपी ह्रद की प्रशांत वृत्ति में जिस समय हर्ष की तरंगें उठती हैं, उस समय शरीर भी सुमन-कलिका के समान विकसित हो जाता है। शरीर और मन के पारस्परिक गहन संबंध को हास्य सरलता के साथ समझा देता है। यद्यपि हर्ष का उद्रेक संपूर्ण शरीर में ही होता है, तथापि मुख पर उसकी अभिव्यक्ति विशेष रूप से होती है। मुख की जिस अवस्था को देखकर आंतरिक आनंद के अतिरेक का अनुमान किया जाता है, उसी का नाम हास्य है।

संसार में ऐसा कौन जन होगा, जो हँसना न चाहता हो? हँसना तो सभी चाहते हैं। परंतु बहुत-से मनुष्य ऐसे भी हैं, जो नहीं हँसते, अथवा बहुत ही कम हँसते हैं। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि वे आजन्म ऐसी परिस्थितियों में रहे हैं, जिनमें उन्हें हँसने का समुचित अवसर नहीं मिल सका। दूसरा यह कि वे जान-बूझकर हास्य के दिव्य आवेग को दबाए रखकर प्रकट नहीं करना चाहते। ऐसे ही पुरुषों को लक्ष्य करके शेक्सपियर ने कहा है—

"And other of such vinegar aspect
That they will not show their teeth in way of smile
Though Nestor swear the jest be laughable,
There are a sort of men whose visages
Do cream and mantle like a standing pond
And do a wilful stillness entertain."

Merchant of Venice, Act I. Sc. I.

अर्थात् "(हँसमुख पुरुषों के अतिरिक्त) प्रकृति ने ऐसे मनुष्यों की भी सृष्टि की है, जो सदा विषण्ण-मुख रहते हैं।

वे कभी मुसकिराते तक नहीं, चाहे देवता भी उनसे आकर यह कहें कि भाई, इस बात पर तो हँसना ही चाहिए। इन लोगों के चेहरों पर उसी प्रकार शोभा नहीं होती, जिस प्रकार बंद पानीवाले किसी तालाब में शोभा नहीं होती। ऐसे पुरुष स्वतः चुप्पी साधे बैठे रहते हैं।"

हास्य पर तो प्रत्येक पुरुष का अधिकार है। खनिज हीरा तथा सीपी से निकलनेवाले मोती तो बहुत धन ख़र्च करने से मिलते हैं, परंतु हास्यरूपी अपार्थिव रत्न सबको सुलभ है—दयामय ईश्वर ने सबको दे रक्खा है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब जीवन की सब समस्याएँ हल हो रही होती हैं, जब स्वास्थ्य उत्तम होता है, प्रियजन तथा परिवार ईश-दया से प्रसन्न होते हैं, आय समुचित होती है, संक्षेपतः जब विषाद का कोई अवसर नहीं होता, ऐसे सुख के समय में बहुत-से मनुष्य व्यर्थ की कल्पनाओं से भीत होकर विषाद की मूर्ति बन जाते हैं। ऐसे पुरुषों को तुच्छ बात भी बड़े संकट में डाल देती है। उनको चाहिए कि वे अपनी इस प्रकृति को यथासंभव शीघ्र ही दूर करने का प्रयत्न करें।

मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ही प्रयोजन की सिद्धि में इतना तत्पर न हो जाय कि दूसरों के तथा अपने विनोद को भूल जाय। बहुत-से पुरुष ऐसे होते हैं कि यदि उनके मुख की ओर देखा जाय, तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो उनकी जिह्वा कह रही है—

"We look before and after
And pine for what is not
Our sincere laughter
With some pain is wrought.
Our sweetest songs are those that tell of saddest thought."
(Percy Bysshe Shelley)

अर्थात् "हम चारों ओर खोजते हैं, परंतु हमारे उद्देश्य को सत्ता न होने के कारण हम दुखी होते हैं। हमारी हँसी में एक प्रकार का विषाद मिला हुआ है, और हमारे सबसे अच्छे गीतों से भी दुःखमय विचारों की ध्वनि निकलती है।"

हम प्रायः देखते हैं, अनेक व्यापारी लोग हास-परिहास को त्यागकर अपने उद्योग में लीन रह धनोपार्जन करते और निर्धन भी हो जाते हैं। अनेक ग्रंथकर्ता विनोद-परिहास को भूलकर लिखते-लिखते अपने स्वभाव को बिगाड़ डालते हैं। अनेक विद्यार्थी अपनी पुस्तकों में अतिरिक्त मनोयोग करके अपने स्वास्थ्य से हाथ धो बैठते हैं। ये सब ऐसा क्यों करते हैं? इन सब बातों को विचार-कर आप यही स्थिर करेंगे कि ईश्वर ने शायद उनसे चुपचाप यह कह दिया होगा कि 'तुम्हें ही भविष्य में बड़ी संपत्ति मिलेगी—परिश्रम किए जाओ।" अन्यथा वे क्यों हँसमुख स्वभाव को त्यागकर विषण्ण-मुख बनने का प्रयत्न करते? बात यह है कि ऐसे पुरुषों में स्वार्थ की मात्रा आवश्यकता से अधिक होती है। इन लोगों के स्वार्थ का तिरस्कार करते हुए राबर्ट लुई स्टीवेंसन कहते हैं—

'Why should we coddle ourselves into the fancy that our own (life) is of exceptional importance?'

अर्थात् "हम क्यों अपने ही प्रयोजन को सर्वश्रेष्ठ समझें?" उक्त महोदय के मत से ऐसे हास-परिहास के वैरी मनुष्यों को यह कल्पना करनी चाहिए कि यदि शेक्सपियर न हुआ होता, तो आज तक क्या कोई सांसारिक कार्य बंद रहता? कुएँ में डोल न फँसते? किसान खेत न काटते? अथवा विद्यार्थी पुस्तक पढ़ना छोड़ देते? नहीं, सभी कार्य होते। तो फिर जब यह सिद्ध होता है कि एक (Individual) पुरुष का प्रयोजन (वृत्ति) समष्टि संसार में कोई महत्त्व नहीं रखता, तब क्यों वह मिथ्या भ्रम में पड़कर स्वार्थ को सर्वोत्कृष्ट समझे हुए है? स्टीवेंसन महोदय के मत में—

'There is no duty we so much underrate as the duty of being happy. By being happy we sow anonymous benefits upon the world."

अर्थात् "प्रसन्न रहना परम धर्म अथवा कर्तव्य है। हम स्वयं यदि प्रसन्न रहते हैं, तो संसार का महान् उपकार करते हैं।"

दया * के समान हास्य भी इन दोनों का उपकार करता है: एक तो दयालु और हँसनेवाले का, और दूसरे दया-पात्र का, और जिसको हँसाया जाय, उसका। जिस

* "It is twice blest;
It blesseth him that gives and him that takes:"
(W Shakespeare)

पुरुष को हास्य-गुण प्राप्त है, उसे कारागार में भी दिव्य सुख की उपलब्धि सुगम है। ऐसे सज्जनों के लिये औरों को प्रसन्न करना बाएँ हाथ का खेल है। एक दिन एक बालक सड़क पर खेल रहा था। खेलते-खेलते वह अपने गेंद के पीछे ऐसे हास्य-जनक भाव से दौड़ा कि जितने पुरुषों के निकट होकर वह गया, सब-के सब हँस पड़े। दर्शकों में एक ऐसा मनुष्य भी था, जिसको उस समय असाधारण विषाद घेरे हुए था। उस बालक के खेल और हास्य को देखकर वह भी हँस पड़ा, और उसने यह कहकर उसे कुछ पारितोषिक दिया कि हँसाने का पुरस्कार लो। वास्तव में हास्य है भी पुरस्कार-योग्य गुण। एक प्रसन्न, हँसमुख पुरुष का दर्शन अनेक गिन्नियों की प्राप्ति से भी बढ़कर आनंददायक होता है। ऐसे पुरुष के मुखारविंद से शुभेच्छाओं की सुगंध निकलकर निकटवालों को सुवासित किया करती है। स्टीवेंसन कहते हैं—

"And their entrance into a room is as though another candle had been lighted."

अर्थात् "ऐसे पुरुषों के किसी स्थान में शुभागमन से ऐसा प्रतीत होता है, मानो दूसरा दीपक और प्रकाशित कर दिया गया हो * ।"

साहित्य और हास्य

साहित्य-शास्त्र के अनुसार हास्य की गणना रसों में है। अतः हास्य काव्य की आत्मा है। हास्य के देवता प्रमथ हैं। इसका स्थायी भाव हास है। विदूषकों की उक्ति, औरों की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता का ज्ञान, असंबद्ध प्रलाप, व्यंग्य आदि अनेक इसके विभाव हैं। ओष्ठ, कपोल आदि का विकास इसका अनुभाव तथा स्वेद, आलस्य आदि संचारी भाव हैं। हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित ये ६ भेद होते हैं। इनमें हास्य की मात्रा क्रमशः अधिक समझनी चाहिए। 'अट्टहास' शब्द 'अतिहसित' से भी प्रकर्ष का द्योतक है, तथा मार्कंडेय महापुराण में सर्वोच्च 'अट्टाट्टहास' का भी निर्देश है। स्मित तथा हसित गांभीर्य-सूचक हैं; उत्तम मनुष्यों के हास्य के लिये इनका वर्णन होता है। विहसित, उपहसित मध्यम वृत्ति के तथा अपहसित, अतिहसित नीच लोगों के हास्य की सूचना करते हैं। अट्टहास तथा अट्टाट्टहास देवतों के अधिक हास्य का निर्देश करते हैं। मूलतः हास्य दो प्रकार का है—सत्य हास्य तथा मिथ्या हास्य। मिथ्या हास्य में मुख-विकार ही होता है; मानसिक हर्ष नहीं, हर्षाभास होता है। दर्शकों को यही धारणा बनी रहती है कि अमुक पुरुष के हृदय में महान् हर्ष है; परंतु वस्तुतः चित्त हर्ष-शून्य होता है। दूसरों को प्रतारित करने में ही इसकी उपयोगिता है। यद्यपि साहित्य के अनुसार बहुत अधिक हास 'अपहसित' तथा 'अतिहसित' कहकर नीच बताया गया है, तथापि हम तो पाश्चात्य विद्वान् बीरभूमि (Max Beerbohm) से सहमत हैं। वह कहते हैं—

"Laughter is a thing to be related according to its own intensity."

अर्थात् "जितनी अधिक हँसी होगी, उतनी ही प्रशंसनीय होगी।"

संस्कृत साहित्य में स्मित को अच्छा मानकर उत्तरोत्तर अपकर्ष बताया है; परंतु उपर्युक्त महोदय की सम्मति में उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है।

श्रव्य-काव्यों की अपेक्षा दृश्य-काव्यों में हास्य का प्रभाव अधिक होता है। दृश्य-काव्यों के अनेक उपभेदों में प्रहसन भी एक है। इसके नाम से ही ज्ञात होता है कि इसका हास्य के साथ विशेष संबंध है। नाटकों में विदूषक तथा शकारादिकों की सृष्टि का आधार हास्य ही है। श्रव्य-काव्य में हास्य के उदाहरण ये हैं—

(१)

"गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयञ्च ;
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ।
(साहित्यदर्पण)

अर्थात्—लो देखो, यह आए; आपका शुभनाम है श्रीमान् पं० कुक्कुट मिश्रजी। आपने मीमांसा-दर्शन का पाँच दिन में ही मननकर वेदांत-दर्शन का दर्शन प्रारंभ किया, जिसको आपने तीन दिन तक जारी रक्खा। विशेष गौरव की बात तो यह है कि आपने तर्क-शास्त्र-से दुरूह विषय का गंध-मात्र सूँघ करके विद्वत्ता प्राप्त की है। धन्य है आपको!

(२)

"हे हेरम्ब, किमम्ब रोदिषि कथं, कर्णौ लुठत्याग्निभूः
किन्ते स्कन्द विचेष्टितं, मम पुरा संख्या कृता चक्षुषाम् ;

* cf. "A good laughter is a sunrise in a house."

नैतत्तेप्युचितं गजास्य चरितं, नासां मिमीतेऽम्ब मे
तावेवं सहसा विलोक्य हसितव्यग्रा शिवा पातु नः।"

(भट्टश्रीविह्लणस्य)

अर्थात्,

"पार्वती—हे गणेश !

गणेश—(आँखें पोंछते हुए) हे माता, क्या आज्ञा है?

पार्वती—रोता क्यों है ?

गणेश—(मुसकते हुए) भैया स्कंद कान खींचता है।

पार्वती—अरे स्कंद, यह तू क्या करता है ?

स्कंद—इसने भी तो मेरी आँखें (१-२-३-४ करके) गिनी थीं।

पार्वती—हे गजमुख, तुझको भी ऐसा करना उचित नहीं।

गणेश—हे माता, सबसे पहले तो इसने ही (२ अंगुल, ४ अंगुल, ८ अंगुल करके) मेरी नाक नापी थी।

दोनों भाइयों को इस प्रकार झगड़ते देखकर हँसी के कारण लोट-पोट हो रही पार्वती माता हमारी रक्षा करें।"

(३)

"एक मसख़रा अपने बीमार मित्र को देखने गया, और उसका हाल पूछा। उसने कहा, मुझे जाड़े से बुख़ार आता है, और कमर में दर्द भी है। लेकिन दो-तीन घंटे से बुख़ार तो टूट गया है, पर कमर का दर्द बाक़ी है। मसख़रा बोला—बुख़ार टूट गया, ईश्वर ने चाहा, तो कमर भी टूट जायगी।"

(४)

"एक आदमी अपने अस्तबल में गया। देखा, उसका लड़का घोड़े पर बैठा कुछ लिख रहा है ; उसके हाथ में पेंसिल और कॉपी है।

उसने अपने लड़के से पूछा—तुम क्या कर रहे हो ?

लड़के ने उत्तर दिया—मैं एक लेख लिख रहा हूँ।

पिता—घर में बैठकर लेख क्यों नहीं लिखते ?

लड़के ने उत्तर दिया—मेरे मास्टर ने घोड़े पर एक लेख लिखने को दिया है। इसलिये घोड़े पर चढ़कर लिख रहा हूँ।"

("मनमोदक" से उद्धृत)

हास्य का विभाव

वास्तव में हास्य का कोई एक आलंबन और उद्दीपन विभाव (कारण) निश्चित नहीं किया जा सकता। ऊपर दो-चार गिना दिए हैं। परंतु ये यथेष्ट नहीं हैं। प्रकृति, समय, देश, अवस्था आदि के भेद से प्रसन्नता तथा हास्य के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। यदि किसी दुश्चरित्र पुरुष को दूसरों को धोका देने में हास्य की प्राप्ति होती है, तो सदाचारी मनुष्य को, ऐसा करना तो दूर रहा, ऐसे अनुचित कार्य को देखकर क्रोध आ जायगा। किसी विद्वान् को तो विदूषकों की उक्ति सुनकर बड़ी हँसी आवेगी ; परंतु मूर्ख चुपचाप बैठा रहेगा। निम्न-लिखित पद्य को पढ़कर, अथवा नाटक में पात्र के मुख से सुनकर, किसी पढ़े-लिखे को तो हँसी आ जायगी, परंतु मूर्ख के लिये, उसका अभिप्राय न समझ सकने के कारण, हँसी अमावस का चंद्रमा हो जायगी।

"ण्हादेहं शलिलजलेहिं पाणिएहिम् ;
उज्जाणे उववणकाणणे णिशण्णे।"

(मृच्छकटिक ६-१०)

अर्थात् "मूर्ख-शिरोमणि विद्याभिमानी शकार प्राकृत-भाषा में कहता है कि अहा, मैं कैसा अच्छा लगता हूँ ! मैं (आज) सलिल से, जल से और फिर पानी से नहाया हूँ। (इस समय) उद्यान में, उपवन में और बग़ीचे में बैठा हूँ।" इसी प्रकार का एक उदाहरण और लीजिए—

"किं भीमशेणे जमदग्गिपुत्ते
कुन्तीशुदे वा दशकन्धले वा ;
एशे हगे गेण्हिय केशहत्थे
दुश्शाशणश्शाणु किदिं कलेमि।

(मृ० क० १-२६)

अर्थात् "नीच प्रकृति शकार वसंतसेना से कह रहा है कि ले, अब तुझे कौन बचाने आवेगा ? क्या जमदग्नि ऋषि का बेटा भीमसेन तेरी सहायता को यहाँ आवेगा, या कुंती का बेटा रावण, जिसके दस सिर थे ? अब मैं तेरे बाल और हाथ पकड़कर दुःशासन की तरह करूँगा।"

संसार में ऐसे पुरुष कम होते हैं, जिनकी रुचि सर्वथा समान हो। यदि किसी को वसंत अच्छा प्रतीत होता है, तो किसी को शरद्। एक ग्रीष्म की निंदा करता है, तो दूसरा शिशिर की। ऐसी दशा में हास्य का कारण एक हो ही नहीं सकता।

कभी-कभी ऐसा होता है कि दूसरों को हँसते हुए देखकर ही हँसी आ जाती है। परंतु ऐसे समय सर्वदा हास्य में सम्मिलित होना बुद्धिमानों को उचित नहीं। ऐसा हास्य

कभी-कभी बड़े-बड़े उपद्रव कर देता है। राजा महानंद को हँसते हुए देखकर विचक्षणा का हँसना प्रसिद्ध है। इसी हास्य के कारण उसको महाभय उपस्थित हुआ था।

यह कोई नियम नहीं कि हँसी किसी विशाल या अद्भुत वस्तु को देखकर ही आती हो। महानंद को तो वट-बीज ही देखकर हास्य का उद्रेक हुआ था। वट-बीज न तो विशाल ही होता है, और न कोई अद्भुत वस्तु ही। इतना अवश्य है कि उसके दर्शन से महानंद विचार-राज्य के सुंदर और विचित्र नगर में घूमने लगे थे। अणु वट-बीज से महान् वट-वृक्ष का विकास होने की विचित्रता ही राजा की हँसी का हेतु थी। एक बार कवि जॉन्सन (Dr. Johnson) भी तनिक-सी बात पर बहुत हँसे थे। इसका विवरण इस प्रकार है। एक दिन जॉन्सन की तबियत ठीक न थी, इसलिये वह मन-बहलाव के वास्ते अपने मित्र मिस्टर चैंबर्स के यहाँ चले गए। धीरे-धीरे वह स्वस्थ होने और बड़े उत्साह से पुत्र के उत्तराधिकार के औचित्य पर वार्तालाप करने लगे। वहाँ एक महाशय और भी बैठे थे, जो उस दिन चैंबर्स के द्वारा अपनी संपत्ति का उत्तराधिकार अपनी तीन बहनों को दे चुके थे। जॉन्सन ने जब यह सुना, तो लगे हँसने, और उस बेचारे की हँसी उड़ाने। यद्यपि उस हास्य का कोई बड़ा कारण नहीं था, तथापि जॉन्सन के लिये वही तनिक-सी बात बड़ी भारी हँसी का कारण बन गई। वास्तव में इस कविवर की प्रकृति ऐसी थी कि वह क्षुद्र-से-क्षुद्र विचार से गंभीर विचार में पहुँच जाता था। जॉन्सन की वह हँसी क्रमशः इतनी बढ़ी कि उसे अपने को सँभालना भी दूभर हो गया, और लाचार होकर दरवाज़ा पकड़कर खड़ा होना पड़ा। *

ऐसे हास्य का एक और उदाहरण Moore's Life of Byron में मिलता है। एक दिन सायंकाल को कवि बाइरन और मूर मिस्टर राजर्स के यहाँ गए। राजर्स को ये दोनों आदमी तत्कालीन कवियों में सर्वश्रेष्ठ समझते थे। मि० राजर्स की प्रकृति गंभीर होने के कारण उनके साथ घनिष्ठता-पूर्वक वार्तालाप करना टेढ़ी खीर थी। उस समय राजर्स कवि थर्लो-कृत कविता-पुस्तक में दत्तचित थे। बाइरन और मूर थर्लो की कविता में अभिरुचि नहीं रखते थे। ज्यों ही उन दोनों ने उस पुस्तक के पन्ने उलटना आरंभ किया, त्योंही उन्हें हँसी छूटने लगी; और जब राजर्स महाशय उन्हें कवि थर्लो की कविता के गुण बताने लगे, तब तो उन्हें बड़ी ही हँसी आई। पन्ने उलटते-उलटते ही उन्हें अचानक यह पता लगा कि पुस्तक अच्छी होने के सिवा उसमें एक और बात भी थी, जिससे राजर्स महोदय उस पुस्तक के अध्ययन में तत्पर थे। वह बात यह थी कि उस पुस्तक में अन्यान्य कविताओं के साथ एक कविता ऐसी भी थी, जो स्वयं राजर्स की प्रशंसा में लिखी गई थी। उस कविता की प्रथम पंक्ति थी —

"कवितार्थ हुए कटिबद्ध जभी, कवि राजर......।" *

बाइरन इस कविता को पढ़ने लगे; परंतु उनके लिये पहले दो शब्दों से आगे चलना असंभव हो गया। उस समय उनकी हँसी रोके न रुकती थी। बाइरन ने दो या तीन बार उसको पढ़ना चाहा; परंतु जब 'कवितार्थ हुए' ये दो शब्द उनके होठों पर आते, तभी उनकी हँसी और भी बढ़ जाती। अंत में उनका हास्य-पारावार इतना उमड़ा कि स्वयं राजर्स भी (जो गंभीर-प्रकृति के कारण अभी तक चुप थे) उनके हास्य की उत्तुंग तरंगों में मग्न होने लगे। उस समय ऐसा अनुमान होता था कि यदि थर्लो महाशय भी वहाँ आ जाते, तो हँसते-हँसते उनका भी पेट दुखने लगता।

मि० बीरभूमि की सम्मति में संसार की प्रारंभिक अवस्था में अब की अपेक्षा अधिक हास्य रहा होगा, तथा भविष्य में कदाचित् हास्य का नाम पुस्तकों में ही मिले। कारण, सभ्यता की वृद्धि के साथ हास्य की मात्रा कम होने लगती है। वह कहते हैं—हम प्रायः सभाओं में युवाओं को गंभीर तथा वयोवृद्धों को हँसमुख देखते हैं; परंतु साथ ही यह भी देखते हैं कि युवा पुरुष अपनी मंडली में अतिहसित तक करते हैं: परंतु वृद्ध मनुष्य स्मित से आगे पैर नहीं बढ़ाते। ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं, त्यों-त्यों हास्य का भी अपकर्ष होने लगता है। उनका मत है—"Laughter rejoices in bonds" अर्थात् जितना अधिक हम किसी को आदर की दृष्टि से देखते हैं, उतनी ही अधिक हँसी हमें उसमें कोई नियम-विरुद्धता देखकर आती है। यदि किसी बालक की शिखा के बाल टोपी से बाहर देख पड़ते हों, तो उसके सहपाठी इतना नहीं हँसते, जितना कि ऐसी दशा में मास्टर साहब

* Boswell's life of Johnson.

* अँगरेज़ी में "When Ragers o'er this labour bent"

को देखकर—विशेषकर जब कि वह वस्त्रादि पहनने में विशेष ध्यान देने के बारे में उपदेश दे रहे हों।

"साधारण तमाशों में एक विशेष गुण यह है कि वे जन-समूह को हँसाते हैं; पर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो जन-समुदाय में खड़े होकर हँसने को उतना ही हेय समझते हैं, जितना कि गाने को। घनिष्ठ मित्रों के साथ हँसने में अपेक्षाकृत अधिक आनंद का अनुभव होता है। ऐसा कोई नियम नहीं कि सच्ची हँसी तभी आवे, जब हम केवल हँसने के ही प्रयोजन से कहीं जाकर बैठें। सच्ची हँसी बिना हमें सूचना दिए ही आ जाती है। किसी हास्योत्पादक लेख को पढ़कर वैसी हँसी नहीं आती, जैसी कि प्रत्यक्ष घटना को देखकर। फिर भी हास्य लेखक की शैली के बहुत अधीन है। लेखक को हास्य-रस में इतना रँगा होना चाहिए कि वह पाठकों का हँसना बंद न होने दे। उसका हास्य-कोष सदा पूर्ण रहना चाहिए। तभी पाठकों को उत्तम हँसी आने की संभावना है।"

हास्य-निरर्गलता

यद्यपि हास्य की बड़ी महिमा है, तथापि यह ध्यान में रखना चाहिए कि हास्य की निरर्गलता त्याज्य है। सर्वत्र और सर्वदा हँस पड़ना भयावह हो जाता है। यद्यपि कभी-कभी अवस्था, मान, विद्या, धन आदि में बड़े गुरुजनों के सम्मुख हास्य के अवसर उपस्थित हो जाते हैं, तथापि बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे न हँसें। उस समय न हँसना ही श्रेय है। एक समय देवराज इंद्र अपनी सुधर्मा-नामक सभा में समस्त सभासदों के सहित विराजमान थे कि एक मदांध गंधर्व सभा में उपस्थित तपोधन दुर्वासा ऋषि के वेष को देखकर हँसने लगा। ऋषिजी ने लोक-शिक्षार्थ उस मूर्ख को राक्षस हो जाने का शाप दिया, और उसके बहुत अनुनय-विनय करने और क्षमा माँगने पर उस शाप की अवधि श्रीरामावतार बताकर हनुमान्‌जी के हाथ उसकी मुक्ति निश्चित की। उक्त ऐतिहासिक कथानक से अनुचित हास्य का दुष्परिणाम स्पष्ट है। जिस प्रकार ऋषि-मुनियों के निर्द्धनत्व की निंदा करना अनुचित है, उसी प्रकार उनके प्राकृतिक वेष को देखकर हँसी करना निर्लज्जता का सूचक है। इसी भाँति के अनेक उदाहरण इतिहास में दृष्टि-गोचर होते हैं। उनसे शिक्षा लेकर हमें हास्य की उच्छृंखलता त्याग देनी चाहिए। देखिए, भोजन से शरीर की रक्षा होती है; परंतु इसी अमृतोपम आहार में नियमों के प्रतिकूल प्रवृत्ति विष का-सा प्रभाव रखती है। भोजन के समान ही हास्य की भी नियमित रूप में उपयोगिता है। प्रत्येक वस्तु सदुपयोग से लाभप्रद तथा असदुपयोग से हानिकारक हुआ करती है।

भोजन और हास्य

भोजन करते समय हास्य के विषय में मत-भेद है। कोई सज्जन कहते हैं कि भोजन के समय हास्य त्याज्य है; पर दूसरे उसको ग्राह्य बताते हैं। पहले मतवाले भोजन के समय हास्य से गले में फंदा लग जाने का भय बताते हैं; परंतु दूसरे मत से हास्य का आँतों की गति पर उत्तम प्रभाव होने से लाभ-ही-लाभ है। यद्यपि पक्ष दोनों ही ठीक हैं, तथापि इन दोनों का समन्वय हो जाय, तो अत्युत्तम हो। अर्थात् जब तक ग्रास को चबाया जाय, तब तक तो हास्य न किया जाय, पर ग्रास के उदरस्थ हो जाने पर हास्य में कोई हानि नहीं। परंतु अधिक उपादेय पक्ष पहला ही है। प्राच्य शास्त्रों की भी सम्मति ऐसी ही है। *

स्वास्थ्य और हास्य

शरीर के स्वास्थ्य से हास्य का बड़ा संबंध है। जो जन हास्यरूपी परम औषध का सेवन करते हैं, उनके न केवल वर्तमान रोग ही समूल नष्ट हो जाते हैं, प्रत्युत छोटे-मोटे रोग तो होते ही नहीं। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये यह परमावश्यक है कि चिंता आदि दुःखों के भारों से मन को न दबने दिया जाय; क्योंकि आयुर्वेद ने दुखी रहने से बल का क्षय होना बतलाया है, तथा प्रसन्न रहने को पौष्टिक भोज्य कहकर उसकी प्रशंसा की है। हास्य स्वास्थ्यप्रद है, इसमें संशय का अवसर नहीं। मन-कमल को सर्वदा प्रफुल्ल रखना चाहिए। यद्यपि ऐसा करना कठिन है, तथापि

* धर्मशास्त्र में तो भोजन के समय वार्तालाप का भी निषेध है। तब उसके मत में हास्य कैसे ग्राह्य हो सकता है? देखिए, याज्ञवल्क्यजी महाराज अपनी स्मृति में आज्ञा देते हैं—

"कृताग्निकार्यो भुञ्जीत वाग्यतो गुर्वनुज्ञया;
अपोऽशानक्रियापूर्वं सत्कृत्यान्नमकुत्सयन्।"

(आचाराध्याय, प्रकरण २, श्लोक ३१)

अर्थात् "हवन से निवृत्त होकर गुरु से आज्ञा लेकर आचमन कर, तदनंतर भोजन को आदर की दृष्टि से देखता हुआ मौन होकर आहार करे।"

इसका फल भी बहुत है। कठिन होने के कारण ही तो श्रीभगवान् ने इसको तप बताया है। यथा—

"मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत् तपो मानसमुच्यते ।"
(श्रीमद्भगवद्गीता)

प्रसन्नतारूपी अनुष्ठान के द्वारा जो जन स्वास्थ्यरूपी वर की कामना करते हैं या करेंगे, उनकी अभिलाषा क्या कभी अपूर्ण रह सकती है? हास्य पाचन की बड़ी अच्छी दवा है। जो सज्जन मिर्च-मसालेदार चूरन-चटनी अथवा सिरप पीते-पीते उकता गए हों, वे अबकी बार यदि विश्वास-पूर्वक हास्य का सेवन करेंगे, तो उनको लाभ के सिवा हानि की संभावना ही नहीं।

सगुण ब्रह्म और हास्य

क्रीड़ा-परायण श्रीभगवान् के मायामय मधुर हास्य से ही आब्रह्म-स्तंबपर्यंत जगत् में ममत्व का भ्रम व्याप्त हो रहा है। इसलिये उनके हास्य के विषय में कहा गया है—"स्मयो भ्रमः" (श्रीमद्भागवत, १२-८) ईश्वर आनंदमय है—"रसो वै सः"। अतः उसका अवि-रत सहज हास्य शास्त्र-सिद्ध है। उक्त महापुराण में लिखा है—

"हासं हरेरवनताऽखिललोकतीव्र-
शोकाऽश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।"

अर्थात् "हरि का हास्य भक्तों के तीव्र शोकाश्रु-सागर को सुखानेवाला है।" वेद के "श्रीसूक्त" में श्रीलक्ष्मीदेवी की स्तुति "कां सोस्मितां हिरण्यप्राकाराम्" * कहकर की गई है, जिससे उनकी भक्तापत्तिनिवारिणी हँसी भी प्रकट है।

देव-प्रतिमा और हास्य

सामवेद के ब्राह्मण में लिखा है—

"देवत प्रतिमा हसन्ति... नृत्यन्ति स्फुटन्ति
स्विद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति ।"—

अर्थात्, देवतों की मूर्तियाँ हँसती हैं, नाचती हैं, विकृत होती हैं, उनके पसीना आता है, तथा वे आँखें मीचती और खोलती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी रामायण में ऐसी असाधारण घटना का उल्लेख करते हैं। जब जानकी-जी "पति देवता सुतीय महँ प्रथम रेख"-वाली जगन्माता पार्वतीजी का पूजन कर चुकीं, तो "खसी माल, मूरति मुसकानी" अर्थात् पूजा में अर्पण की हुई माला खिसक पड़ी, और पार्वतीजी हँसीं। मूर्तियों का हास्य सदैव कल्याणकारी होता है, इसमें संदेह नहीं। पार्वतीजी का हास्य जानकीजी के अभीष्ट वर की प्राप्ति का सूचक था।

संकट और हास्य

क्रोधित पुरुष को हास्य-पूर्वक उत्तर देने से न केवल क्रुद्ध के क्रोध की शांति की संभावना ही है, प्रत्युत ऐसा उत्तर देनेवाले की प्रकृति की महत्ता भी सूचित होती है। जिस समय परशुरामजी श्रीरामचंद्रजी से परुष वचन कहने लगे, तो श्रीरामजी ने उन्हें हँसकर उत्तर दिया था, न कि क्रोधित होकर। इसी प्रकार जब परशुरामजी क्रोधांध होकर लक्ष्मण-कुमार से कह रहे थे कि "बोलत तू न सँभार", उस समय "लषण कहा हँसि हमरे जाना; सुनहु देव सब धनुष समाना।" महान् पुरुष विपत्ति के समय भी म्लान नहीं होते। हास्य उनका सहचर होता है। जिस समय इंद्रजित् की बाणावली से व्याकुल वानर-सेना त्राहि-त्राहि कर रही थी, उस समय "कौतुक देखि राम मुसकाने", तथा पल-भर में मेघनाद की सब तामसी माया के जाल को काट गिराया।

उत्सव और हास्य

ऊपर कहा जा चुका है कि इस जगत् में हँसनेवाले और न हँसनेवाले सभी तरह के लोग हैं। प्राचीन तत्त्व-वेत्ता ऋषि-मुनियों ने इसी कारण हास्य को विधि का रूप देकर दूसरे प्रकार के भी पुरुषों को हँसाने का प्रयत्न किया है। महर्षि वेदव्यासजी भविष्यमहापुराण में होलिकोत्सव पर आज्ञा देते हैं—

"ततः किलकिलाशब्दैस्तालशब्दैर्मनोहरैः ;
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य गायन्तु च हसन्तु च ।"
(उत्तरार्द्ध, अ० १३२, २६)

अर्थात् "तदनंतर हाथों से रमणीय ताली बजाते और किलकिला (प्रसन्नता-सूचक) ध्वनि करते हुए होली

---

* पूर्ण मंत्र इस प्रकार है—

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मे स्थितां पद्मवर्णां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥ ४ ॥

(ऋग्वेद, ४ अध्याय के ३४ वर्ग के अनंतर परिशिष्ट)

की परिक्रमा करें, गावें और हँसें।" इसी प्रकार १४०वें अध्याय में दीपावली के महोत्सव पर भी ताली बजाकर हँसने की आज्ञा है। नगर को खूब सजाना चाहिए। नगर कैसा हो, इसके लिये लिखा है "अद्भुतोत्कृष्ट-श्रृंगार-प्रदर्शित कुतूहले", अर्थात् ऐसी वेष-रचना को देखे, जिससे कुतूहल हो। कुतूहल हास्य का कारण है। *

इसी अध्याय में आगे चलकर यह कहा गया है कि जो मनुष्य इस महोत्सव को जिस मनोभाव में बितावेगा, उसको वह वर्ष उसी भाव में बीतेगा। भला इस प्रकार की आज्ञा पाकर कौन अज्ञ दिवाली के दिन न हँसेगा? दो-चार बार भी जो कोई हास्य के गुणों से परिचित हो जायगा, वह हमारी सम्मति में, अवश्य हास्य का पक्षपाती हुए बिना न रहेगा। होली और दिवाली ऐसे उत्सव हैं कि इनमें सर्वत्र आनंद की मंदाकिनी के शुभ्र प्रवाह का विस्तार हुआ करता है। यदि ऐसे शुभ असाधारण अवसरों पर भी कोई हास्य का परित्याग कर विषम-मन रहे, तो उसके साधारण दिवसों में प्रसन्नता तथा हास्य की क्या आशा की जा सकती है? जिन दिनों आकाश से हास्य की वृष्टि-सी होती हुई प्रतीत होती है, उन दिनों भी समष्टि-हास्य में अपने हास्य को न मिलानेवालों को तो व्यास-भगवान की हितावह आज्ञा अवश्य शिरोधार्य होनी चाहिए। पुराणाचार्य श्रीव्यासदेवजी के वचनों से हास्य का महत्त्व सुप्रकट है।

स्वप्न और हास्य

हम केवल जाग्रत् अवस्था में ही नहीं हँसते, स्वप्नावस्था में भी हँसते हैं। स्वप्न क्या है? भोजराज, योग-सूत्रों पर विवृत्ति लिखते हुए, एक स्थल पर कहते हैं— "प्रत्यस्तमित बाह्येंद्रियवृत्तिमनोमात्रेणैव यत्र भोक्तृत्वमात्मनः स स्वप्नः।" अर्थात् जिस अवस्था में चक्षु आदि इंद्रियों के व्यापार बंद हो जाने पर भी केवल मन के द्वारा ही पुरुष अपने को द्रष्टा-श्रोता आदि समझता है, वही अवस्था स्वप्न है। यद्यपि निद्रा के समय मन विश्राम के हेतु एक नाड़ी में चला जाता है, परंतु कभी-कभी पूर्वानुभूत विषयों के संस्कार वहाँ भी एक नवीन संसार की रचना करते हैं। ऐसे ही विचित्र जगत् में जो हास्य होता है, वही प्रकृत विषय है। कभी-कभी तो स्वप्न में हास्य इतना अधिक होता है कि जागते हुए पुरुष भी सोते हुए मनुष्य के हास्य को सुन सकते हैं। स्वप्न में यदि कोई हास्य का दृश्य देखे, अथवा स्वयं हँसे, तो उसके जो फल होते हैं, उनका शास्त्र में उल्लेख है। *

हास्य और सामुद्रिक

सामुद्रिक विद्या के अनुसार स्निग्ध हास्य-युक्त मुख परम प्रशस्त होता है। लिखा है, ऐसा मुख राजों का होता है। हँसते समय आँख मीच लेना अच्छा लक्षण नहीं है। इससे पुरुष का पाप-परायण होना सिद्ध होता है। हँसते समय यदि स्त्री के कपोलों में गड्ढा पड़े, तो यह भी अच्छा नहीं समझा जाता। †

अब एक शुभ-कामना के साथ इस लेख को समाप्त किया जाता है—

---

* "हासः कुतूहलकृतो विकासः परिकीर्तितः।"
(साहित्यसार)

* "नर्तनं हसनं चैव विवाहो गीतमेव च।
तन्त्रीवाद्यविहीनानां वाद्यानामपि वादनम्।"
(आग्नेय महापुराण अ० ८, श्लो० ७२८)

अर्थ—स्वप्न में निम्न-लिखित बातें शुभ नहीं हैं। नाचना, हँसना, विवाह, गाना, बिना तन्त्री के और बाजों का बजाना।

† "हसितं शुभदमकम्पं सनिमीलितलोचनं तु पापस्य।
कष्टस्य हसितमसकृत् सोन्मादस्यासकृत्प्रान्ते।"
(बृहत्संहिता—सामुद्रिकम्)

"प्लुतं गतं सकृद् द्विर्विनोदितं प्लावितं तथा।
दीर्घायुषां प्रयुक्तं ते हसितं च विदुर्बुधाः।
शुभावहं मनुष्याणां वदनं स्याद्यथा शृणु।
अदीनमाननं स्निग्धं सस्मितं च विशेषतः।
अकम्पं शुभदं ज्ञेयं नराणां हसितं गुह।
निमीलिताक्षं पापस्य हसितं चार्मकोत्तम।
यस्यास्तु हसमानाया गंडे जायेत कूपकम्।
... ... स्वच्छंदा कार्यकारिणी।"
(भविष्य महापुराण पूर्वार्द्ध)

विशेषार्थ—ऐसा हास्य अच्छा होता है, जिसमें शरीर न काँपे। स्वस्थ पुरुष बारंवार हँसते हैं; परंतु रोगी वाक्य के अंत में हँसते हैं। दीर्घायु-पुरुषों की छींक और हास्य बारंबार और उच्च शब्दयुक्त होते हैं।

भिक्षार्थी स क यातः सुतनु बलिमखे; तांडवं क्वाद्य भद्रे,
मन्ये वृन्दावनान्ते ; क नु स मृगशिशुर्नैव जाने वराहम् ;
बाले कश्चिन्न दृष्टो जरठवृषपतिर्गोप एवाऽस्य वेत्ता,
लीलासंलाप इत्थं जलनिधिहिमवत्कन्ययोस्त्रायतां नः ।

लक्ष्मी और पार्वती का वाग्विलास—

लक्ष्मी—पर्वतराजपुत्रि, भिक्षुक[1] (शिव) कहाँ है ?

पार्वती—सिंधुजे, भिक्षुक (वामन) बलि राजा के यज्ञ में होगा !

लक्ष्मी—कहो, आज तांडव-नृत्य[2] कहाँ हो रहा है ?

पार्वती—सखि, (तांडव-) नृत्य कालीदह में, या वृंदावन की कुंजगली में, ऐसा सुना है।

लक्ष्मी—भद्रे, वह मृग[3]-छौना कहाँ है ?

पार्वती—बहन, मृग-छौने या वराह-छौने को तू ही जाने !

लक्ष्मी—(हँसकर) अच्छा, यह तो बताओ, आज वह वृषपति[4] कहाँ गया है ?

पार्वती—(मुसकिराकर) सखि, वृषपति या गोपति का हाल तो गोपाल ही जानें !

इस प्रकार श्रीलक्ष्मी और पार्वतीजी का हास्य-विलास हम सबकी सदा रक्षा करे।

कृष्णदत्त भारद्वाज

शिव के पक्ष में—

१ भिक्षुक—वेष होने के कारण शिव।

२ नृत्य—तांडव शिवजी का प्रसिद्ध है।

३ मृगशिशु—हरिण का बच्चा ; शिवजी के चार हाथों में परशु, मृग, वर तथा अभय है। संस्कृत में मृग-शब्द न केवल हरिण का ही, प्रत्युत पशु-मात्र का बोधक है। हरिण भी मृग है, और वाराह भी मृग।

४ वृषपति—शिव का वाहन वृष (नंदी) विख्यात है।

विष्णु के पक्ष में—

१ भिक्षुक—वामनावतार ; राजा बलि से भूमि-याचना के कारण।

२ नृत्य—श्रीकृष्ण का तांडव कालिय के फणों पर प्रसिद्ध है। तथा रास-मंडल में भी नृत्य हुआ था।

३ मृगशिशु—वराहावतार।

४ वृषपति या गोपति—श्रीकृष्णजी के गोप या गोपति नाम विदित ही हैं।

प्रकृति और शिक्षा

उपक्रम

आजकल की शिक्षा-प्रणाली पहले से बहुत कुछ बदल गई है। यदि ध्यान-पूर्वक इसकी आलोचना करें, तो मालूम होगा कि शिक्षा का दृष्टिकोण ही बदल गया है। पहले शिक्षकों का विश्वास था कि बालकों के मस्तिष्क कोरी स्लेट-जैसे होते हैं। शिक्षक चाहे जो कुछ उस पर अंकित कर दें। बालकों के व्यक्तित्व की ओर लोगों का कुछ ध्यान ही न था। लोग कहते थे कि बालक संसार में बिलकुल ही कोरे आते हैं। उनमें कोई शक्ति नहीं रहती। उनका विकास केवल अनुभवाधीन है। अतएव वे शिक्षकों के हाथ के पुतले हैं। शिक्षक चाहे जैसा उन्हें बना दें। पर क्रमशः जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता गया, वैसे-वैसे लोग अपनी भूल समझते गए। कुछ ऐसे बालकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से इस मत में कायापलट कर दी। लोग समझने लगे कि बालक कुछ शक्तियों के साथ आते हैं। शिक्षकों को उन्हीं शक्तियों के सहारे लड़कों के विकास की पुष्टि करनी होती है। कोई शिक्षक इन शक्तियों की अवहेलना कर बालक की भलाई नहीं कर सकता। अब वह समय नहीं है, जब हम बालकों के मस्तिष्कों में जो कुछ विचार पाते थे, ठूँस देते थे। अब तो हमें उनके व्यक्तित्व की ओर भी देखना पड़ता है। आजकल की शिक्षा बालकों के व्यक्तित्व और समाज की आवश्यकताओं के आधार पर है। जो शिक्षा इन दोनों का ध्यान नहीं रखती, वह कौड़ी-काम की नहीं। अब लोगों का विश्वास बदल गया है। आज आँखें मूँद-कर हम सभी को एक ही शिक्षा नहीं देते। प्राचीन काल में हमारे ऋषियों का यही मत था। विद्यार्थियों के लिये सबसे पहले अधिकारी होना तो अत्यंत आवश्यक था। इसके लिये कड़ी-से-कड़ी परीक्षाएँ ली जाती थीं। पहले शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, सभी शक्तियों की परीक्षा होती थी, तब कहीं प्रवेश होता था। इसी सत्य पर हमारे यहाँ जातियों का निर्माण हुआ था। सब वर्णों को शिक्षा दी जाती थी, पर एक-सी नहीं। ब्राह्मण शास्त्रों

को, क्षत्रिय शस्त्रों की, वैश्य वाणिज्य की और शूद्र सेवा की शिक्षा पाते थे। यह आवश्यक न था कि ब्राह्मण के लड़के को ब्राह्मण की ही शिक्षा दी जाय। उसकी शक्तियों को देख-कर उसे शिक्षा दी जाती थी। पर यह विश्वास तो अवश्य था कि पिता की शक्तियाँ प्रायः पुत्र में अवश्य ही आती हैं। हाँ, कहीं-कहीं इसमें व्यतिक्रम भी होना संभव है। इसी विचार से विवाह-भोज इत्यादि के नियम धीरे-धीरे बनते गए। यहाँ तक कि जातियाँ आजकल की अवस्था में पहुँच गईं, जब एक जाति दूसरे से घृणा तक करने लगी। यही क्यों, "तीन कनौजिया तेरह चूल्हे" की तो कहावत चरितार्थ ही हो रही है। वार-वनिताओं से जो सरेबाज़ार संसर्ग रखने में नहीं हिचकते, वे ही अपनी ही जाति की कन्या से विवाह करने में आकाश-पाताल की बात करने लगते हैं। एक श्रीवास्तव्य कायस्थ माथुर कायस्थ के यहाँ विवाह कदापि नहीं करेगा, यद्यपि उसके यहाँ तीन-चार विजातीय रखेलियाँ रह सकती हैं। आह, अब वह सभ्य कहाँ गया?

अस्तु, हम देखते हैं कि सहज शक्तियों के विषय में हमारा पहले भी विश्वास था। यह हमारे लिये कोई नई बात नहीं है, और न इसके लिये हम पाश्चात्य दार्शनिकों के ऋणी ही हैं। हाँ, उनके इतने कृतज्ञ तो हम अवश्य हैं कि उन लोगों ने इसकी स्मृति हमारे मन में फिर से सजग कर दी। इन्हीं सहज शक्तियों के विषय में यहाँ पर कुछ उल्लेख होंगे।

इन सहज शक्तियों को हम और आप प्रकृति के नाम से पुकारते हैं। अब प्रश्न यह है कि प्रकृति क्या है? यह किस प्रकार बनती है? इससे क्या लाभ है? बाह्य संसार से इसका क्या संबंध है? प्रकृति अथवा नैसर्गिक बुद्धि और प्रवृत्तियों में क्या अंतर है? प्रकृतियाँ बुरी होती हैं, अथवा भली? शिक्षक किस प्रकार से इनसे काम ले सकते हैं? इस छोटे-से निबंध में इन्हीं प्रश्नों पर आलो-चना की जायगी।

नैसर्गिक बुद्धि का रूप

हम देखते हैं, वसंत ऋतु आते ही पक्षिगण घोंसले बनाने लगते हैं; मछलियाँ जनमते ही तैरने लगती हैं; स्त्रियाँ माता होते ही प्यार करने लगती हैं; वृक्ष सदा ऊपर की ओर बढ़ते हैं; पानी सदा नीचे ही की ओर आता है; लताएँ ऊपर नहीं उठतीं; आग सदा जलाती ही है; रजोदर्शन के बाद ही बालाओं में काम का उद्रेक हो आता है। यह क्यों? हम कहते हैं कि प्रकृति अथवा नैसर्गिक बुद्धि के कारण। अच्छा, नैसर्गिक बुद्धि का रूप क्या है?

प्रारंभिक आवेग, और नैसर्गिक बुद्धि

कुछ लोगों का कहना है कि नैसर्गिक बुद्धि प्रारंभिक आवेग होती है। बालक जनमते ही कुछ समय के उपरांत देखने लगता है। यही उसका प्रारंभिक आवेग अथवा नैसर्गिक बुद्धि है। पर इस प्रकार के सरल कामों को नैसर्गिक बुद्धि कहना ठीक नहीं मालूम होता। यह सत्य है कि नैसर्गिक बुद्धि प्रारंभिक आवेग है। पर यह कदापि ठीक नहीं कि सभी प्रारंभिक आवेग नैसर्गिक बुद्धि होते हैं। कुछ प्रारंभिक आवेग तो इतने सरल हैं कि उन्हें बुद्धि कहना तो दूर रहा, साभिप्राय कार्य भी नहीं कह सकते। प्रायः मिश्रित आवेगों ही को नैसर्गिक बुद्धि के नाम से पुकारते हैं। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के स्वनाम-धन्य प्रोफ़ेसर डॉक्टर स्टीफ़न साहब के मत में नैसर्गिक बुद्धि में ये गुण आवश्यक हैं। पहले तो नैसर्गिक बुद्धि में करने की प्रवृत्ति की आवश्यकता है। दूसरे हमारे आवेग मिश्रित होने चाहिए। तीसरे वह काम व्यक्ति अथवा समाज की रक्षा के लिये आवश्यक हो। चौथे प्रवृत्ति का कारण आंतरिक अशांति हो। पाँचवें न तो भविष्यत् लक्ष्य ही का ज्ञान हो, और न उपायों ही का। इस प्रकार हम देखते हैं कि नैसर्गिक बुद्धि अंग की अशांति से उत्पन्न होती है। फिर यह अशांति आवश्यकता के रूप में परिणत हो जाती है, जिसकी पूर्ति व्यक्ति अथवा समाज के लिये अनिवार्य हो उठती है। अंत को अशांति हमारी शक्तियों को इस प्रकार से प्रेरित करती है कि उस आवश्यकता की पूर्ति हो ही जाती है।

प्रतिक्रियात्मक कार्य, और नैसर्गिक बुद्धि

नैसर्गिक कर्म और प्रतिक्रियात्मक कर्म में अंतर यह है कि पहले की उत्पत्ति अंतःपट से तो दूसरे की उत्पत्ति बाह्य उद्बोधकों से होती है। जैसे हम जब नास लेते हैं, तो छींक आती है। हम जब प्रकाश की ओर देखते हैं, तो हमारी आँखें तिलमिला जाती हैं। अस्तु, प्रति-क्रियात्मक कार्य भी केवल बाह्य उद्बोधकों ही पर निर्भर नहीं हैं। इनका संबंध हमारे अंगों से भी है। जैसे हमारी नाक की बनावट ही ऐसी है कि नास लेने पर हमको छींक आती है। श्रीयुत लोटज़ साहब का कथन है कि लोक ही

पर मुहर का उभरना निर्भर नहीं है, बल्कि उन पदार्थों पर भी, जिन पर मुहरें लगाई जाती हैं। उदाहरण के लिये मेरे पास मेरे नाम की एक मुहर है। काग़ज़ पर दूसरे प्रकार की छाप पड़ती है, तो लोहे पर दूसरे प्रकार की। यही कारण है कि यद्यपि एक ही गुरु एक ही विषय को पढ़ाता है, पर भिन्न-भिन्न विद्यार्थियों पर उसका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने क्या ही ख़ूब लिखा है—"जाकी रही भावना जैसी ; प्रभु-मूरति देखी तिन तैसी।" एक कथा है कि कोई पंडितजी एक बनिए और बनेनी को महाभारत की कथा सुना रहे थे। कथा समाप्त होने पर पंडितजी ने यजमान से पूछा कि आपने इससे क्या शिक्षा पाई? उसने उत्तर दिया—"सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।" फिर यजमानिन पूछने पर बोली कि पाँच पतियों से विवाह करने में कोई पाप नहीं है। उदाहरण के लिये देखिए, वसंत आते ही पक्षी घोंसले बनाने लगते हैं। पर मनुष्यों को तो आपने ऐसा करते न देखा होगा। क्यों? कारण यह है कि यह शक्ति पक्षियों के ही अंगों में है, मनुष्यों के अंगों में नहीं। दूसरे यह कि नैसर्गिक बुद्धि अधिक मिश्रित होती है। तीसरे प्रतिक्रियात्मक कर्मों का संबंध केवल वर्तमान ही से रहता है ; पर नैसर्गिक बुद्धि का संबंध सुदूर भविष्य से भी रहता है। चौथे नैसर्गिक बुद्धि से केवल व्यक्तिगत भलाई ही नहीं, जाति की भी भलाई होती है।

बुद्धि, और नैसर्गिक बुद्धि

हमारे कार्य प्रायः दो प्रकार के होते हैं। कल्पना कीजिए, हम टहलने के लिये कंपनी बाग़ जा रहे हैं। यह काम ऐच्छिक कर्म है। कारण, यहाँ हमें कंपनी बाग़ जाने की इच्छा है। अचानक हमें एक तीव्र शब्द सुनाई पड़ा। हमारा ध्यान उस ओर चला गया, और हम वह शब्द सुनने लगे। यहाँ हमें शब्द सुनने की इच्छा नहीं है। अतएव इसे अनिच्छापूर्वक कर्म कहेंगे। हमारी नैसर्गिक बुद्धि और हमारे ऐच्छिक कर्मों में समानता यह है कि दोनों ही अत्यंत मिश्रित और सलक्ष्य हैं। पर समानता के साथ-ही-साथ अंतर भी है। अंतर यह है कि नैसर्गिक बुद्धि में न तो लक्ष्य ही का ध्यान रहता है, और न उपायों ही का। पशु जो कुछ काम करते हैं, उसके लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं देते। अतएव लोग कहते हैं कि मनुष्य बुद्धि से और पशु नैसर्गिक बुद्धि से काम करते हैं। इस प्रकार बुद्धि और नैसर्गिक बुद्धि में विरोध बतलाया जाता है। लोग कहते हैं कि मनुष्यों में नैसर्गिक बुद्धि की मात्रा बहुत कम और बुद्धि की मात्रा बहुत अधिक रहती है। इसके विरुद्ध मनोविद्या के मर्मज्ञ प्रोफ़ेसर जेम्स साहब का कहना है कि मनुष्यों में पशुओं से कहीं अधिक नैसर्गिक बुद्धि है। पर हाँ, यह शिक्षा, अनुभव और ज्ञान के कारण बहुत कुछ परिवर्तित हो गई है। मातृप्रेम एक नैसर्गिक बुद्धि है। यह पशु और मनुष्य, दोनों ही में है। पर अनुभव और ज्ञान के कारण मनुष्य में यह बहुत कुछ विकसित है। हमारी माताएँ हमें बुरी संगत से बचाना चाहती हैं। पर पशुओं में ऐसा कहाँ देखा जाता है? मनुष्य और पशु, दोनों ही में यह नैसर्गिक बुद्धि है कि दोनों अपनी उन्नति चाहते हैं। पर क्या किसी पशु ने भी कभी वायुयान बनाया है? संतानोत्पादन की नैसर्गिक बुद्धि तो दोनों ही में है। पर क्या कोई सभ्य पुरुष पशुओं के समान किसी स्त्री से सरे-बाज़ार व्यवहार कर सकता है? सभी नैसर्गिक बुद्धियाँ इसी भाँति मनुष्यों में विकसित रूप से रहती हैं। इसके विरुद्ध कलकत्ता-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर स्टीफ़न साहब के मत में नैसर्गिक बुद्धि बिलकुल ही अंधी होती है, और इसकी उन्नति सर्वथा असंभव है।

नैसर्गिक बुद्धि की उत्पत्ति

कुछ लोगों का कहना है कि चेतन कर्म ही अभ्यास के कारण नैसर्गिक बुद्धि के रूप में परिणत हो गए हैं। हमारे पूर्व-पुरुष चेतन कर्म करते थे। वे ही काम बारंबार करने से उनके लिये स्वाभाविक हो गए। कल्पना कीजिए, एक बालक अँगरेज़ी लिखना सीख रहा है। अहा, किस ध्यान से वह क़लम पकड़ता है। कभी दो उँगलियों के बीच, कभी तीन के बीच, कभी पाँचों के बीच क़लम रखता है। किस ध्यान से एक-एक अक्षर की एक-एक रेखा खींच रहा है। कुछ समय बीत गया। अब वह अनायास लिख भी रहा है, और बात भी कर रहा है। इसी प्रकार साइकिल पर चढ़नेवाले, टाइप जोड़ना सीखनेवाले, तैरना सीखनेवाले इत्यादि अभ्यासियों को समझ लीजिए। आज जो काम हम परिश्रम के साथ सचेत होकर करते हैं, वही काम कुछ दिनों के अभ्यास के बाद अनायास कर सकते हैं। लोगों का कहना है कि हमारे पूर्व-पुरुषों के ये अनायास काम हमें पैतृक संपत्ति के रूप में मिले हैं, और

ये ही नैसर्गिक बुद्धि के नाम से पुकारे जाते हैं। यह मत देखने में तो सत्य ही मालूम होता है; पर कठिनता यह प्रश्न उपस्थित करती है कि क्या प्राचीन काल में मनुष्यों का ज्ञान अधिक था। आजकल विकासवाद की सत्यता तो निर्विवाद सिद्ध है। फिर इस समय में यह मत भला कब सत्य माना जा सकता है? एक दूसरा मत भी है। इस मतवालों का कहना है कि हमारी नैसर्गिक बुद्धि हमारी परिस्थिति ही के कारण है। हमारे अंग परिस्थिति के अनुसार काम करने लगे। बहुत-से काम तो हानिकर हुए, और कुछ थोड़े-से लाभदायी भी निकले। हमारे अंगों ने इन्हीं लाभदायी कामों को चुन लिया, और ये ही हमारी नैसर्गिक बुद्धि बन गए। पर कठिनता तो यह है कि यदि इस प्रकार काम होते, तो नैसर्गिक बुद्धि की उत्पत्ति के पहले ही हमारा दीप-निर्वाण हो जाता।

इसके विरुद्ध हमारे मनस्तत्त्व के मर्मज्ञ प्रोफ़ेसर जेम्स साहब कहते हैं कि नैसर्गिक बुद्धि की उत्पत्ति अंगों और परिस्थिति के संबंध से है। अंगों की बनावट से इसका अत्यंत घनिष्ट संबंध है। जिस उपाय से अंग अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाते हैं, उसे हम और आप नैसर्गिक बुद्धि के नाम से पुकारते हैं। यह काम प्रकृति की आज्ञा के अनुसार होता है। यहाँ पर हम इसका विचार नहीं कर सकते कि हमारे अंग इस प्रकार काम क्यों करते हैं। कारण, इस प्रश्न का संबंध अंगों की उत्पत्ति से है। यह हमारी मनोविद्या का प्रश्न नहीं है। इसके लिये हमें अन्य शास्त्रों का सहारा लेना पड़ेगा।

नैसर्गिक बुद्धि के गुण

प्रश्न यह है कि नैसर्गिक बुद्धि के क्या गुण हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि जिस प्रकार अंग परिस्थिति के अनुकूल बनता है, वही नैसर्गिक बुद्धि है। अतएव यह तो सिद्ध ही होता है कि नैसर्गिक बुद्धि अंग की भलाई के लिये है। पहले के किसी लेख में हम यह बतला चुके हैं कि संसार में कोई चीज़ न तो बिलकुल भलाई ही के लिये है, और न बुराई ही के लिये। सभी पदार्थों के सदुपयोग और दुरुपयोग हैं। उचित मात्रा में मदिरा भी औषधि का काम करती है, और अति मात्रा में दूध भी विष का काम करता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः ;
अतिदानाद्बलिर्बद्धः अति सर्वत्र वर्जयेत् ।

संसार के सभी पदार्थों में गुण और अवगुण का मिश्रण है। हमें अपने लाभ के लिये उनका सदुपयोग करना चाहिए। अतएव अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि नैसर्गिक बुद्धि का सदुपयोग हम किस प्रकार कर सकते हैं? पर इसके पहले नैसर्गिक बुद्धि के भेद जान लेना परम आवश्यक है।

नैसर्गिक बुद्धि के भेद और सदुपयोग

परमात्मा ने हमें अनेकानेक नैसर्गिक बुद्धियाँ दी हैं। सबका वर्णन होना यहाँ तो नितांत असंभव ही है। हाँ, कुछ के उल्लेख किए जायँगे। हम बतला चुके हैं (देखो "शिक्षा के उद्देश्य"-शीर्षक लेख) कि हममें व्यक्तित्व और समाजत्व, दोनों ही हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि हमारी नैसर्गिक बुद्धि के मुख्य दो भेद हैं—वैयक्तिक, और सामाजिक।

भय, प्रेम, उत्सुकता, अनुकरण, स्पर्द्धा, एषणा, अभिमान, अहंभाव, समाजप्रियता, संचय, निर्मिति, ख्याति, संकोच इत्यादि नैसर्गिक बुद्धि के भेद हैं। यहाँ पर इनकी कुछ व्याख्या और इनके सदुपयोग के विषय में कुछ का उल्लेख किया जायगा।

भय—हम देखते हैं कि हमारे बच्चे स्वभाव ही से डरते हैं। यह भय की प्रकृति जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है। संसार फूलों का नहीं है। इसके मार्ग में कंटक भरे पड़े हैं। हमारे मार्ग में पग-पग पर विघ्न-बाधाएँ हैं। यदि हम इनसे सचेत न रहें तो हमारे प्राण नहीं बच सकते। यदि हमारा बच्चा आग से न डरे, तो क्या वह नहीं जलेगा? मैं विजयादशमी की छुट्टी में डालटनगंज गया था। चैनपुर-राज के बँगले में हम लोग रहते थे। मेरी बच्ची प्रायः मोटर देखकर दौड़ती थी। उसे ज़रा भी भय न मालूम होता था। हाथियों से भी वह नहीं डरती थी। यह भय का अभाव बुरा है। इसके विरुद्ध हम लोग देखते हैं कि बालक हौवे से डरते हैं। प्रायः देखने में आता है कि बच्चों का रोना देखकर माताएँ घबरा जाती हैं। कोई उपाय न देखकर हौवा और कुत्ते इत्यादि के नाम कह-कहकर डराती हैं। बच्चे भय के कारण चुप हो जाते हैं। पर यह चुप होना वास्तविक चुप होना नहीं है। उनका केवल रोना बंद हो जाता है। पर उनके मन तो दुःखित ही रहते हैं। ऐसे अवसरों पर माताओं को चाहिए, वे प्रेम, उत्सुकता इत्यादि से काम लें। हमारे मन में भूत-

प्रेत इत्यादि झूठी-मूठी चीज़ों का जो विश्वास है, सो हमारी माताओं की अज्ञानता ही के कारण। कुछ ऐसी भी विलास-प्रिय माताएँ हैं, जो अपनी विलासिता के सामने अपने बच्चों की ज़रा भी परवा न कर उनको अफ़ीम खिलाती हैं। यह कैसा अमानुषिक व्यवहार है, सभी कोई जानते हैं। शिक्षकों के लिये तो यह प्रकृति अत्यंत परिचित है "दंड-दान की समस्या"-शीर्षक लेख में हम यह बतलावेंगे कि दंड-दान में इस प्रकृति से क्या काम लिया जाता है।

प्रेम—यह प्रकृति भी सबको विदित ही है। हमें जिससे प्रेम होता है, उसे हम सभी भाँति प्रसन्न करने के प्रयत्न करते हैं। किसी अँगरेज़ी लेखक ने कहा है—"It is better to rule by love than by fear." अर्थात् "प्रेम का शासन भय के शासन से कहीं अधिक अच्छा है।" जो शिक्षक लड़कों की यह प्रकृति सजग कर सकता है, वह निःसंदेह सिद्धहस्त शिक्षक होता है; क्योंकि लड़के उससे सदा प्रसन्न रहते हैं, और बराबर उसे प्रसन्न करने के प्रयत्न करते हैं। वे उसे अपना समझकर उसकी बातों पर विशेष ध्यान देते हैं।

उत्सुकता—यह तीन प्रकार की होती है। यथा—ऐंद्रिय, मानसिक, और आध्यात्मिक। हम लड़कों को पढ़ा रहे हैं। एकाएक ग्रामोफ़ोन बजने लगा। हमारे लड़के पाठ से अलग होकर ग्रामोफ़ोन की ओर लग गए। अचानक बिजली चमकी। लड़कों का ध्यान उसी ओर खिंच गया। यह क्यों? ऐंद्रिय उत्सुकता से। हमारी इंद्रियों की बनावट ऐसी है कि वे सदा प्रमुख पदार्थों की ओर खिंच जाती हैं। इसीलिये हम चाहते हैं कि हमारा स्वर उच्च, मधुर और स्पष्ट हो। हम अपने पाठ को प्रमुख बनाना चाहते हैं; चित्र, कथा, कृष्णपट, मानचित्र इत्यादि सामग्रियों का प्रयोग करते हैं। हम पलासी के युद्ध के विषय में पढ़ा रहे हैं। हमारे शिष्य पूछते हैं कि इसका क्या कारण है? इसी प्रकार के प्रश्न उठते हैं। सूर्य क्यों उगता है, वर्षा क्यों होती है, इत्यादि प्रश्नों के विषय में जानने के लिये हमारे शिष्य व्यग्र हो उठते हैं। यह क्यों? मानसिक उत्सुकता से। ईश्वर क्या है, आत्मा क्या है, संसार क्या है, ये सब प्रश्न आध्यात्मिक उत्सुकता के द्योतक हैं। सारे विज्ञान और दर्शन इसी उत्सुकता की प्रकृति के कारण उत्पन्न हुए हैं। शिक्षकों का कर्तव्य है कि वे इसे सदा सजग रखने का प्रयत्न करें।

अनुकरण, स्पर्द्धा, एषणा, अभिमान, अहंभाव—हम स्वभावतः अनुकरणशील हैं। आपने देखा होगा, जब कोई तमाशेवाला आपके यहाँ आता है, तो आपके बच्चे भी तमाशे करने लगते हैं। अपने बच्चों के खेलों ही को देखिए। ये सभी अनुकरण-मात्र हैं। कभी बच्चा लाठी पर चढ़कर सवार बनता है, कभी स्टेशन-मास्टर बनकर टिकट बेचता है, कभी गार्ड बनता है और कभी पुतलों का विवाह करता है। शिक्षक इस प्रकृति से बहुत कुछ काम ले सकते हैं; पर साथ-ही-साथ उनके आचरण उदाहरणीय होने चाहिए। किसी लेखक ने कहा है—"Example is better than precept." अर्थात् "उदाहरण शिक्षा की अपेक्षा अच्छा है।" पर ये 'Examples' क्या २०) ३०) अथवा ४०) ७५) में मिल सकते हैं? बलिहारी है बिहार के शिक्षा-विभाग के अधिकारियों की। शिक्षक का उत्तरदायित्व माता-पिता से कहीं अधिक है। यदि मेरे आचरण बुरे हैं, तो केवल मेरे ही बाल-बच्चे बुरे होंगे; पर यदि मैं शिक्षक हूँ, तो सारे देश के ही बाल-बच्चे बुरे होंगे। शिक्षकों ही पर भविष्य नागरिकों का दारोमदार है। अतएव शिक्षा-विभाग तो ऐसा होना चाहिए कि जिन व्यक्तियों को इसमें स्थान न मिले, वे ही अन्य विभागों में जायँ; ऐसा नहीं कि दर-बदर ठोकरें खाते-खाते गलियों की ख़ाक छानते फिरते इस अशरण-शरण विभाग में आश्रय पावें। किसी ने ठीक ही कहा है—"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।" फिर शिक्षक यदि पाप करें, तो दोष ही क्या? इसी अनुकरण-प्रकृति से स्पर्द्धा का जन्म हुआ है। हम दूसरे के पीछे नहीं रहना चाहते। इसी प्रकृति के विकास के लिये पुरस्कार इत्यादि की प्रथा स्कूलों में जारी की गई है। स्पर्द्धा ही के लिये एषणा की आवश्यकता पड़ती है। यदि बच्चों के मन में यह अभिलाषा न रहे कि हम सबसे बड़े रहें, तो फिर स्पर्द्धा ही क्यों हो सकती है? इस विषय में शिक्षकों को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि एषणा यथासंभव ऊँची ही रहे। ये सभी प्रकृतियाँ अभिमान और अहंभाव पर निर्भर हैं। सदा ध्यान रखना चाहिए कि इनकी अतिमात्रा न हो।

समाज-प्रियता—मनुष्य सामाजिक जीव है। सदा समाज में रहना हम लोगों की प्रकृति है। आपका बच्चा कभी अकेला नहीं रहना चाहेगा। वह टोले-महल्ले के बालकों के साथ खेलना पसंद करेगा। अलेक्ज़ेंडर ने अपने "Ode

to Solitude" में इस विषय की क्या ही अच्छी विवेचना की है। समाज का हम पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। संगति को महिमा किसी से छिपी नहीं है। तुलसीदासजी ने लिखा है —"सठ सुधरहिं सतसंगति पाई; पारस परसि कुधातु सुहाई।" बहुत-से लड़के ऐसे भी देखने में आते हैं, जो समाज में संकोच करते हैं। यह बात ठीक नहीं। शिक्षकों को चाहिए कि ऐसे शिष्यों को चुन लें, और प्रायः प्रतिदिन उनसे कुछ प्रश्न पूछें, जिससे उन्हें बोलने का कुछ अवसर प्राप्त हो। कुछ लड़के ऐसे भी देखे जाते हैं, जो पाठ पढ़ने में भी संकोच करते हैं। ऐसे विद्यार्थियों को और विद्यार्थियों के साथ पाठ पढ़ने के लिये आदेश देना चाहिए। प्रायः सभी स्कूलों में पारितोषिक-वितरण की प्रथा है। ऐसे अवसरों पर अनुवाचन के लिये अच्छे-अच्छे पद चुने जाते हैं। यह बहुत ही अच्छी बात है। पर भूल यह है कि सदा एक ही विद्यार्थी अनुवाचन के लिये चुना जाता है। ऐसा मालूम होता है कि अनुवाचन के लिये उसी ने ठेका ले रक्खा है। शिक्षक लोग कहते हैं —'क्या किया जाय? कोई और लड़का मिलता ही नहीं।" लड़के क्या कहीं से बरसेंगे? सभी लड़के योग्य बन सकते हैं। पर हाँ, आपको भी कुछ परिश्रम करना पड़ेगा। जिस लड़के को आप लोगों ने अनुवाचन के लिये निर्वाचित किया है, उसके साथ और लड़कों को भी अभ्यास कराइए। आपकी यह शिकायत फिर न रहेगी।

संचय —यह प्रकृति अनेक रूपों में दिखलाती है। बालक पोस्टकार्ड एकत्र करता है—टिकट, चित्र इत्यादि जो कुछ उसे प्रिय मालूम होते हैं, सभी सावधानी से रखता है। इस प्रकृति से शिक्षक बहुत कुछ काम ले सकते हैं। प्रायः जितने विज्ञान हैं, सभी अनुभव के सहारे हैं, और अनुभव के लिये पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है। टिकटों के आधार पर हम इतिहास पढ़ा सकते हैं। पत्थरों के आधार पर भूशास्त्र का अध्ययन हो सकता है। इसके अतिरिक्त शिक्षकों को चाहिए कि सब बालकों को रोज़नामचे लिखने के लिये उत्साहित करें। बालक जो कुछ देखें, उसका वर्णन करें। इससे एक तो भाषा उन्नत होती है, दूसरे अनुभवों में शक्ति आती है, तीसरे स्मृति प्रौढ़ होती है, चौथे कल्पना का विकास होता है। इस प्रकार अनेक लाभ होते हैं। लड़कों को अच्छी-अच्छी कविताओं और भाव-भरे संदर्भों के संग्रह के लिये भी उत्साह देना चाहिए। यहाँ पर यह बतला देना उचित होगा कि इसी प्रकृति के दुरुपयोग से कृपणता की उत्पत्ति है।

निर्मिति और ख्याति—सबकी अभिलाषा रहती है कि हम सबसे अच्छा काम करें। लेखक चाहता है कि हम कोई अच्छी पुस्तक लिखें, जिसका जगत् में मान हो। धनी चाहता है कि हम कोई ऐसा भवन बनावें, जो संसार के सब भवनों से अच्छा हो। इसी प्रकार संसार के सभी व्यक्तियों को अपनी कृति के लिये अभिलाषा रहती है। यह कृति की अभिलाषा हमारी ख्याति की इच्छा के कारण है।

नैसर्गिक वृद्धि और परिस्थिति

प्रश्न यह है कि बालक के विकास पर किसका अधिक प्रभाव पड़ता है, प्रकृति का या परिस्थिति का? इस विषय में शिक्षा-तत्त्व के मर्मज्ञों में मतभेद है। कुछ तो प्रकृति की प्रधानता मानते हैं, और कुछ परिस्थिति का राग अलापते हैं। शिक्षा के विधायकों में गैल्टन साहब का नाम सभी कोई जानते हैं। आपका कहना है कि प्रकृति ही सब कुछ है। जिस प्रकार हमारा शरीर हमारी पैतृक संपत्ति है, ठीक उसी प्रकार हमारा मन भी पैतृक संपत्ति ही है, और यह पैतृक संपत्ति, जैसा हम ऊपर लिख चुके हैं, हमारी प्रकृति है। अतएव गैल्टन साहब का यह मत सिद्ध है कि प्रकृति के बिना बालक के विकास के लिये और कुछ भी साधन नहीं है।

हर्बर्ट स्पेंसर साहब का तो कहना था कि प्रकृति कुछ है ही नहीं। बालक का विकास केवल परिस्थिति ही पर होता है। यदि परिस्थिति अच्छी रही, तो अच्छा विकास हुआ, और यदि बुरी रही, तो बुरा। शिक्षा परिस्थिति का खेल है। शिक्षक का काम है अनुकूल परिस्थिति को लाना। हर्बर्ट स्पेंसर साहब तो इस बात पर इतना विश्वास करते थे कि आपने मनोविज्ञान के अंकगणित लिखने तक का दुःसाहस किया था। आजकल उनके अनुयायी परिस्थिति के इतने अंधभक्त तो नहीं हैं, पर परिस्थिति की प्रधानता तो अवश्य ही मानते हैं। हर्बर्ट-मतावलंबियों का कहना है कि प्रकृति है सही ; पर वह इतनी कच्ची है कि परिस्थिति उसे चाहे जिधर झुका दे।

यद्यपि दोनों मतों में प्रत्यक्ष में तो भेद है, पर दोनों ही के मूल में समानता है। दोनों ही का कहना है कि बाह्य शक्ति ही का विकास पर प्रभाव है। कुँभार चाक पर

वर्तन गढ़ रहा है। कुँभार ही के हाथों में बर्तनों की बनावट है। यहाँ एक के मत में यह कुँभार प्रकृति, तो दूसरे के मत में परिस्थिति है। इस बारे में हमारा कहना है कि मिट्टी का प्रभाव भी बर्तनों पर कुछ-न-कुछ अवश्य ही है। यहाँ हमारे लिये मिट्टी बालक का व्यक्तित्व ही है। हमारा विश्वास है कि यह व्यक्तित्व दोनों ही पर अपना प्रभाव जमाता है; प्रकृति और परिस्थिति दोनों ही इससे प्रभावान्वित होती हैं।

उपसंहार

हम देख चुके कि नैसर्गिक बुद्धि न तो बुरी है, न भली। हम इसका सदुपयोग भी कर सकते हैं, और दुरुपयोग भी। इसी नैसर्गिक बुद्धि के सदुपयोग से हम बालकों में अच्छी आदतें डाल सकते हैं, और दुरुपयोग से बुरी आदतें। यह काम हम किस प्रकार कर सकते हैं, सो अगले किसी अंक में, 'स्वभाव'-शीर्षक लेख में, लिखा जायगा।

"बाग"

भरतपुर और हिंदी
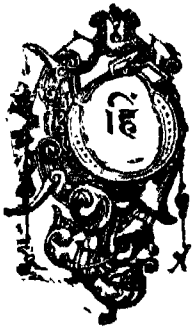
हिंदी-साहित्य के निर्माण में जो उत्कृष्ट स्थान व्रज-भाषा को प्राप्त है, उसका वास्तविक गर्व व्रजवासियों को ही हो सकता है। व्रज-भाषा का प्रचार, उसकी व्यापक प्रौढ़ता के कारण, व्रज की भौगोलिक सीमा का उल्लंघन कर सुदूर-स्थित प्रांतों में भी हो गया। इसी कारण अवधी, राजस्थानी, पूर्वी, बुंदेलखंडी आदि भाषाओं की तो बात ही क्या, मराठी, गुजराती, बँगला आदि अन्य प्रांतीय भाषाओं पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा है। यदि यह भी कहा जाय कि प्राचीन हिंदी-साहित्य व्रज-भाषा में ही है, तो विशेष अत्युक्ति न होगी। यह बात सर्वथा सत्य है कि व्रजवासियों के अतिरिक्त अन्य प्रांतों के भी साहित्यज्ञों ने व्रज-भाषा की मधुरता, सरसता, प्रौढ़ता आदि गुणों से मोहित होकर उसे अपनाया, और सर्वथा उसका भंडार भरा है। परंतु यह बात केवल तभी हो सकी, जब व्रजवासियों ने ही अपनी मातृ-भाषा की निरंतर सेवा कर पहले इन सब गुणों से उसे अलंकृत किया। इस कारण व्रज-प्रदेश के कवियों का परिश्रम सर्वथा सराहनीय है।

'व्रज चौरासी कोस' की सीमा के अंतर्गत मथुरा, वृंदावन, गोवर्धन आदि के साथ भरतपुर-राज्य के एक बड़े भाग का भी समावेश है। इस कारण व्रजभाषा-साहित्य की उन्नति का जितना गर्व मथुरावासियों को हो सकता है, उतना ही भरतपुर-राज्य को भी। एक समय था, जब यह समस्त प्रदेश भरतपुर-राज्य के अंतर्गत ही था। भरतपुर-नरेश तो सदा से ही 'व्रजेंद्र' कहलाते आए हैं। कारण, भरतपुर-नरेश भगवान् श्रीकृष्ण के ही वंशज भी तो हैं। जितना भरतपुर को व्रज-भाषा का गर्व है, उतना ही व्रजभाषा-भाषियों को भरतपुर का। एक छोटे-से राज्य ने केवल दो शताब्दियों में ही व्रज-भाषा के लिये वह कर दिखाया, जो राजपूताना तो क्या, अन्य किसी भी हिंदी-भाषा-भाषी देसी राज्य ने कदाचित् ही किया हो। वास्तव में उत्तरालंकृत-कालीन व्रजभाषा-साहित्य के इतिहास का संबंध विशेषकर भरतपुर-राज्य से ही है। कारण, उत्तरालंकृत-काल (१७९१-१८८९) के पाँच उपविभागों में से तीन के नायकों—देव, सूदन तथा पद्माकर—का भरतपुर-राज्य से गहरा संबंध रहा है।

जिस प्रदेश ने व्रज-भाषा को जन्म देकर उसके साहित्य की श्री-वृद्धि की, उसी पुण्यभूमि के निवासियों ने जातीय तथा धार्मिक स्वतंत्रता के पवित्र भावों से प्रेरित होकर, विक्रम की १८वीं शताब्दी के अंत में, भरतपुर-राज्य की स्थापना की। जिस ऐतिहासिक घटना-चक्र ने भरतपुर-राज्य को स्थापित किया है, उसी की घटनाओं का तत्कालीन हिंदी-साहित्य पर पूरा प्रभाव पड़ा है। भरतपुर-राज्य को स्थापित हुए तो केवल २०० वर्ष हुए; परंतु इसके स्थापित होने के पूर्व भी इसी भूमि ने हिंदी-साहित्य की उन्नति करने में कोई कसर नहीं की। इस भूमि ने ही क्यों, वर्तमान राजवंश के पूर्वजों ने भी भरतपुर-राज्य स्थापित होने के पूर्व ही, व्रज-भूमि को पुण्यतीर्थ मानते हुए, उसकी भाषा को अपनाकर उसकी सेवा में अपूर्व तल्लीनता दिखाई थी। यद्यपि इतिहास बहुत कुछ लुप्त हो गया है, तथापि यह बात सर्वथा मान्य है कि यह भूमि, जिस पर भरतपुर-राज्य इस समय बसा हुआ है, सदा से कवियों को जन्म देती रही है, और वर्तमान राजवंश के पूर्वजों ने भी हिंदी की निरंतर सेवा की है।

विक्रम की ११वीं शताब्दी में ही, जब हिंदी का बाल्य-काल ही था, इस भूमि के यदुवंशी राजा विजयपाल ने अपनी काव्य-रसिकता का इतिहास-प्रसिद्ध परिचय दिया है। महाराज विजयपाल वर्तमान राजवंश के पूर्वज थे। इनकी राजधानी श्रीपथ (वर्तमान बयाना) थी, जहाँ इस प्राचीन हिंदू-राज्य की अक्षय कीर्ति का स्मारक-रूप विजय-मंदिर-गढ़-नामक दुर्ग अब भी एक देखने योग्य स्थान है। इन्हीं महाराज ने महमूद ग़ज़नवी के भांजे सालार मसूद ग़ाज़ी तथा अबूबकर-कंधारी-जैसे आक्रमणकारियों का, हिंदू-धर्म की मान-मर्यादा की रक्षा करने के हेतु, अपूर्व कौशल से सामना किया था। इस युद्ध का मार्मिक विवरण 'विजयपाल-रासो' में है, जो प्रारंभिक हिंदी-काव्य का उत्कृष्ट नमूना है। इस रासो के रचयिता नल्लसिंह का काव्य महाराज विजयपाल को इतना प्रिय लगा कि उन्होंने अपनी स्वाभाविक उदारता तथा काव्य-प्रियता का पूर्ण परिचय देने के लिये ग्रंथकर्ता को ७०० गाँव तथा अपरिमित धन भेंट किया था। महाराज विजयपाल की यह उदारता उनके वंशधरों में अब तक चली आती है। इसका प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं।

महाराज विजयपाल के पश्चात् और वर्तमान भरतपुर-राज्य स्थापित होने के पूर्व, लगभग ६०० वर्ष में, हिंदी-साहित्य में निरंतर विकास के द्वारा जो-जो उन्नतशील परिवर्तन हुए हैं, और उनमें व्रज-प्रदेश ने जो भाग लिया है, वह प्रसिद्ध ही है। सबसे पहले हिंदुओं की स्वतंत्रता का नाश होने के कारण वीर-गाथाओं का एकदम अभाव हो गया। कालांतर में मुसलमानी राज्य की जड़ जमती गई, और हिंदू-धर्म भयानक संकट में आ पड़ा। अतएव अपने धर्म का बल बढ़ाने के हेतु, भारत के सौभाग्य से, अनेक वैष्णव-आचार्यों ने जन्म लिया। इसी धर्म के आवेश में आकर, बंग-देश में जयदेव की चलाई हुई पद्धति के अनुसार, गुजरात में नरसी मेहता, मिथिला में विद्यापति ठाकुर तथा व्रज में महात्मा सूरदास ने, साहित्य तथा संगीत की एकात्मता सिद्ध करते हुए, अनुपम पदों द्वारा, राधाकृष्ण-विषयक भक्तिभाव की कविता रचकर देश में भक्तिमार्ग का सर्वत्र प्रचार किया। गो० तुलसीदासजी, अष्टछाप के कवि तथा अन्य अनेक सांप्रदायिक कवियों ने अपनी मधुर ध्वनि से कबीर तथा दादू का राम-रहीम को एक करनेवाली उक्तियों का विशेष प्रचार नहीं होने दिया।

अकबर के राजत्व-काल में, शांति-पूर्ण साम्राज्य होने से, धार्मिक कविता का पुण्य-स्रोत सहस्रों धाराओं में प्रवाहित हो चला। कालांतर में आचार्य केशवदास द्वारा प्रचारित काव्य की समुचित समीक्षा कर उसे अनेक प्रकार से अलंकृत करने का समय आया। इसका फल यह हुआ कि धार्मिक कविता का शनैः-शनैः लोप होता गया, और कुछ-कुछ 'अभक्त' श्रृंगार की कविता रचने की चाल पड़ गई। पांडित्य-पूर्ण काव्य-कौशल द्वारा साहित्य को अलंकृत करने की धुन में पुरानी लकीर पीटनेवाले कवियों की ही संख्या बढ़ गई। इसके साथ-ही-साथ, मुग़ल-राज्य की अवनति के कारण, हिंदी का कोई महान् पोषक भी नहीं रहा, और इसी कारण हिंदी-साहित्य के वसंत का अंत हो चला।

ठीक इसी समय में मुसलमानों की धर्मांधता-पूर्ण क्षुद्र नीति ने हिंदुओं को पुनः संगठित कर राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये बाध्य किया। दक्षिण में वीर-केसरी शिवाजी के अधीन मराठों ने, पंजाब में सिक्ख-धर्म के प्रवर्तक गुरु गोविंदसिंह के कौशल-पूर्ण नेतृत्व में खालसा-सरदारों ने और महाराज छत्रसाल के नेतृत्व में वीर बुंदेला-जाति ने मुग़ल-राज्य की जड़ हिलाने के लिये घोरतम प्रयत्न किया। राजपूत-जाति ने भी राठौर-वीर जसवंतसिंह के आश्रित होकर इसी कार्य का प्रारंभ किया; परंतु औरंगज़ेब की भेद-नीति ने राजपूतों का समुचित संगठन नहीं होने दिया। इस आंदोलन में राजपूतों की असह्य अकर्मण्यता देखकर महाराज विजयपाल के वंशधर जाट-वीरों को, अपने हल-बैल त्यागकर, तीक्ष्ण तलवार तथा तुरंगों को अपनाना पड़ा। इस हिंदू-जागृति का जो परिणाम हुआ, वह इतिहास-प्रेमियों को विदित ही है। मथुरा-प्रदेश के सूबेदार मुर्शिदकुलीखाँ के हिंदुओं पर किए गए अत्याचार, केशवदेव के मंदिर का विध्वंस और जाट-नेता गोकल का आगरे के थाने पर निर्दयता-पूर्वक वध आदि अनेक कारणों ने जाट-वीरों की उत्साह-अग्नि को और भी प्रज्वलित कर दिया। इसका फल यह हुआ कि महाराज बदनसिंहजी ने डीग (भरतपुर-राज्य की प्राचीन राजधानी) में मुसलमानों के लिये अत्यंत क्रांतिकारी एक जाट-राज्य, संवत् १७७६ में, स्थापित कर दिया, और इस राज्य के विस्तार का भार उनके पुत्र युवराज सूरजमल (सूदन-कृत सुजान-चरित्र के नायक) ने अपने ऊपर ले लिया।

यह भरतपुर-राज्य के सौभाग्य की बात है कि उसके राज्य के संस्थापक स्वयं कवि थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि महाराज बदनसिंहजी स्वयं काव्य-रचना करते थे। मिश्रबंधु-विनोद में भी इनका उल्लेख है। इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ तो मिलता नहीं, किंतु दो-चार फुटकल छंद मिलते हैं। जिस राज्य के नरेश स्वयं कवि हों, वहाँ कवियों का आदर क्यों न होगा? महाराज बदनसिंहजी अपनी रसिकता तथा अनुपम वीरता-पूर्ण सौजन्य के कारण जाट-वीरों में सर्वप्रिय थे। जब इनके भतीजे मुहकमसिंह ने राज्य-पदवी की लालसा से इन्हें बंदी कर लिया था, तब समस्त जाट-जाति ने मिलकर इन्हें छुड़ाया, और इन्हीं को अपना नेता चुनकर राज्य-पद दिया। महाराज बदनसिंहजी काव्यानुरागी होने के अतिरिक्त बड़े कला-प्रिय भी थे। इन्होंने डीग तथा कुम्हेर के विशाल महल बनवाए, और अपने दुर्ग को दृढ़ किया। इनकी कला-प्रियता के कारण ही दूर-दूर के कविगण इनके दरबार में एकत्र होते थे। इन्हीं के राजत्व-काल में महाराज सूरजमल ने निरंतर युद्ध करके, मुसलमानों के हृदय में आतंक जमाकर, अपने राज्य का विस्तार किया। महाराज बदनसिंहजी के समय में ही सूदन, सोमनाथ, कलानिधि, अखयराम आदि कवियों ने भरतपुर राज्य में आकर आश्रय लिया।

हिंदुओं के पुनरुत्थान में, सैनिकों के हृदयों को उत्साहित करने में, वीर-काव्य द्वारा जो सहायता प्राप्त हुई है, उसका अनुमान भावुक साहित्य-प्रेमी ही कर सकते हैं। जिस प्रकार महाराज शिवाजी का बल बढ़ाने के लिये महाकवि भूषण थे, और महाराज छत्रसाल के पास लाल कवि (गोरेलाल पुरोहित—पद्माकर के मातामह) थे, उसी प्रकार हिंदी तथा जाट-वीरों के सौभाग्य से महाराज सूरजमल (सुजानसिंह) के पास माथुर-कुलोत्पन्न चतुर्वेदी मधुसूदन (सूदन कवि) थे।

सूदन की कविता ने महाराज सूरजमल की भुजाओं में अनुपम शक्ति का संचार कर दिया। तत्कालीन वीर-कवियों में सूदन के अतिरिक्त महाकवि भूषण तथा लाल कवि के ही नाम उल्लेख-योग्य हैं, और ये दोनों कवि सूदन के पूर्ववर्ती हैं। व्रज-प्रदेश के कवियों में लुप्तप्राय वीर-रसात्मक कविता करने की प्रणाली सूदन ने ही चलाई। सूदन के पहले व्रज में कवियों की रुचि शृंगार-रस की कविता की ओर थी, और वह भी धार्मिक आवेश में वात्सल्य, सख्य अथवा दास-भाव से संयुत भक्ति-पूर्ण नहीं, किंतु कुविचार-प्रेरित, वासना पूर्ण। यह कविता यद्यपि अश्लील नहीं थी, पर उद्वेग-जनक अवश्य थी। परंतु तत्कालीन जनता में इन कवियों का मान हुआ, इस प्रकार की कविता की रीति चल निकली, और खूब चली।

महाकवि सूदन को इस प्रकार की कविता भारत के राजनीतिक भविष्य के लिये हितकर नहीं प्रतीत हुई। इस कारण उन्होंने 'सुजान-चरित्र' में शृंगार को एकदम तिलांजलि देकर, जातीय भावों से प्रेरित होकर, वीर-रसात्मक कविता रची। उनके आश्रयदाता के भी यही भाव थे। फिर क्या था, सोने और सुगंध का मेल हो गया। वीर-प्रसविनी भरतपुर-राज्य की भूमि ने वीर-रस की कविता का पुनः प्रचार किया। जिस प्रकार महाराज विजयपाल को नल्लसिंह प्राप्त हुए, उसी प्रकार महाराज सूरजमल को महाकवि सूदन। सूदन ने ही जाट-वीरों की तलवारों की तीक्ष्णता बढ़ाकर मुग़ल-साम्राज्य को नष्ट कराया, दिल्ली को लुटवा दिया। वीर-रस-पूर्ण काव्य-प्रबंध रचने में जो चातुर्य सूदन ने दिखाया है, उसे भूषण कदाचित् नहीं दिखा सकते थे, ऐसा साहित्यकारों का मत है।

भरतपुर-राज्य में वीर-रस के प्रादुर्भाव से राजनीतिक इतिहास की गति बदल गई, और साथ ही इसका फल यह हुआ कि सूदन के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी वीर-रस की कविता रचकर महाराज सूरजमल से मान पाया। जिन्होंने अनेक युद्धों में भाग लेकर अपने राज्य का विस्तार किया, और उसे बहुत कुछ निष्कंटक भी कर दिया, उनसे वीर-रस के कवियों का समादृत होना स्वाभाविक ही था। कारण, वह स्वयं एक पराक्रमी वीर होने के अतिरिक्त काव्य-रचना भी करते थे, ऐसा सुना जाता है। सूदन के अतिरिक्त दत्त, केशव, सुधाकर, हरिवंश, राम कवि आदि ने भी इसी प्रकार की वीर-रसात्मक कविता रची। परंतु दुर्भाग्य-वश उनके केवल फुटकल छंद ही मिलते हैं। दत्त कवि-कृत 'महाराज सूरजमल की कृपाण' हिंदी के वीर-साहित्य का एक अनुपम रत्न है।

महाराज सूरजमल की आंतरिक इच्छा थी कि भारत में फिर विक्रमादित्य का समय आ जाय। इस आदर्श के लिये उन्होंने महान् परिश्रम किया, और अधिकांश में सफल-मनोरथ भी हुए। विक्रमादित्य-संबंधी

कथाएँ भी इन्हें अत्यंत रोचक प्रतीत होती थीं। इसी कारण इन्होंने प्रसिद्ध कवि सोमनाथ से सिंहासन-बत्तीसी का पद्यानुवाद कराया। इससे उनकी लालसा तृप्त तो नहीं हुई, किंतु और भी बढ़ गई। इस कारण अखयराम से भी एक अनुवाद और कराया था।

महाराज सूरजमल ने हिंदू-धर्म तथा हिंदी-भाषा के लिये बहुत परिश्रम किया। सूदन, सोमनाथ, शिवराम, अखयरामदत्त, सुधाकर, हरिवंश, केशव आदि कवि इनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। महाकवि देव भी इनसे सम्मानित हुए थे, और डीग का दुर्ग बनवाने के समय महाराज सूरजमल के यहाँ रहते थे। संभवतः इन्होंने सुजान-विनोद-नामक ग्रंथ सूरजमल (उपनाम सुजानसिंहजी) के लिये ही रचा था। सूदन को जो कुछ आदर दिया गया, उसे 'सुजान-चरित्र' की अपेक्षा सर्वथा न्यून समझकर महाराज ने अपनी कृतज्ञता प्रकाश करने को सदैव के लिये राज्य-कोष से इनके वंशजों की आजीविका का प्रबंध किया। यह आजीविका इनके वंशधरों को अब भी बराबर मिल रही है। कविवर सोमनाथ को धन-धरती के अतिरिक्त अपना दानाध्यक्ष बनाया, और उनके वंशधरों को दानाध्यक्ष की पदवी अब तक प्राप्त है। शिवराम कवि को 'नवधाभक्ति' नामक एक छोटे-से ग्रंथ पर छत्तीस हज़ार रुपए भेंट किए थे, जैसा कि इस दोहे से स्पष्ट है—

> जबै ग्रंथ पूरन भयो, तबै करी बकसीस ;
> खरे खरा मान सों, दए सहस छत्तीस।

श्रीमद्भागवत के पद्यानुवाद के कर्ता भागम के वंशज स्वामी अखयराम ने भी, वीर-रस के समुदाय में रहते हुए भी, सिंहासनबत्तीसी के अतिरिक्त धार्मिक ग्रंथ ही रचे हैं, जिनमें गीता-माहात्म्य, कृष्ण-चंद्रिका तथा हस्तामलक वेदांत विशेष उल्लेखनीय हैं। वास्तव में महाराज सूरजमल के राजत्व-काल (सं० १८१२—१८२०) में भरतपुर-राज्य कवियों का पुण्य-क्षेत्र था। जिस प्रकार सूदन ने दिल्ली की लूट के संबंध में लक्ष्मी के लिये लिखा है कि

> देस-देस तजि लच्छमी, दिल्ली कियो निवास ,
> अति ग्रवरे ताहि लूटि मिस चली करन ब्रज-बास।

उसी प्रकार, लक्ष्मी के साथ ही, कवियों तथा पंडितों के लिये भी ऐसा कहा जा सकता है।

महाराज सूरजमल का रणक्षेत्र में स्वर्गवास होने पर उनका कार्य महाराज जवाहरसिंहजी भी उसी रीति से करते रहे। ये भी महाराज बदनसिंहजी के समय से ही अपने पराक्रमी पिता के साथ युद्धों में सदैव भाग लेते रहे थे। सूदन ने 'सुजान-चरित्र' में इनकी भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इन्होंने भी खूब राज्य का विस्तार किया, और दिल्ली को फिर लूटा। उत्तर-भारत में इनका आतंक यहाँ तक बढ़ गया कि सुदूर कलकत्ते वाले अँगरेज़ों ने भी इनसे मित्रता करना आवश्यक समझा। इस कारण इनके राजत्व-काल में भी वीर-रस की बराबर पुष्टि होती रही है। महाकवि देव को भी इनके दरबार में बहुत समय तक आश्रय मिला। देव के रचे हुए कई छंद इनकी प्रशंसा में मिलते हैं। रंगलाल, जोधाराय, भूधर आदि कवियों ने भी वीर-रसात्मक रचना की है। संभवतः यह भूधर वही हों, जिन्होंने असोथर के भगवंतराय खींची के लिये छंद-रचना की है। भरतपुर में रहकर तो इन्होंने कविवर नंददासजी के अनुरूप दानलीला तथा ध्यानबत्तीसी-नामक सुंदर ग्रंथ रचे हैं। इससे यह प्रतिपादित होता है कि सूदन ने भरतपुर-राज्य में जो साहित्यिक बीजारोपण किया, वह महाराज जवाहरसिंहजी के राजत्व-काल (१८२०-१८२४) में भी नियमित रूप से बराबर फल लाता रहा।

भरतपुर-राज्य के उत्तरालंकृतकालीन वीर-साहित्य की गति तो इस प्रकार चलती रही, परंतु शृंगार-रस की कविता का लेश-मात्र भी आदर नहीं घटा। महाराज सूरजमल तथा उनके छोटे भाई प्रतापसिंहजी की प्रकृति में बहुत अंतर था। प्रतापसिंहजी वीर तो थे ही, परंतु केवल युद्ध-प्रिय ही नहीं थे, वह कुछ जीवन का आनंद भी लेना जानते थे। महाराज सूरजमल की तरह इनके शरीर पर खद्दर की मिरज़ई शोभा नहीं पाती थी; किंतु इनके लिये बहुमूल्य वस्त्रों की आवश्यकता थी; इनका निवास-स्थान वैर-नामक स्थान में था। इनकी प्रकृति के अनुसार ही सोमनाथ ने कविता रची है। सोमनाथ ने महाराज सूरजमल के लिये तो केवल सिंहासन-बत्तीसी तथा व्रजेंद्र-विनोद (श्रीमद्भागवत के दशमस्कंध का पद्यानुवाद)-नामक दो ही ग्रंथ रचे, परंतु अन्य सब ग्रंथ प्रतापसिंहजी के लिये रचे। इनका रचित 'रस-पीयूष-निधि' हिंदी-साहित्य का एक उत्कृष्ट ग्रंथ है। ध्रुवविनोद, रामकलाधर, रामचरित्र-रत्नाकर (वाल्मीकि-रामायण का पद्यानुवाद), माधव-विनोद (भवभूति-कृत मालती-माधव का अनुवाद), प्रेम-पचीसी आदि ग्रंथ प्रतापसिंहजी के लिये ही रचे हैं।

भरतपुर का राजवंश

(१) म० बदनसिंह (१७७६-१८१२) (२) म० सूरजमल (१८१२-१८२०) (३) म० जवाहरसिंह (१८२०-१८२५) (४) म० रतनसिंह (१८२५-१८२६)
(५) म० केहरीसिंह (१८२६-१८३४) (६) म० रणजीतसिंह (१८३४-१८६२) (७) म० रणधीरसिंह (१८६२-१८८०) (८) म० बलदेवसिंह (१८८०-१८८१)
(९) म० बलवंतसिंह (१८८२-१९०८) (१०) म० जसवंतसिंह (१९०८-१९५०) (११) म० रामसिंह (१९५०-१९५७)

N. K. Press, Lucknow.

सोमनाथ के अतिरिक्त श्रीकृष्ण भट्ट (लाल कलानिधि) भी इनके आश्रित थे। इनके पांडित्य से हिंदी-संसार परिचित है। सोमनाथजी के अनुरोध से इन्होंने 'दुर्गाभक्ति-तरंगिणी' रची है। प्रतापसिंहजी के सौभाग्य से उस काल के दो सर्वोत्तम कवि इनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। आपने इन कवियों को उचित आश्रय देकर उत्कृष्ट श्रेणी की पांडित्य-पूर्ण रचना कराई है। इन दोनों कवियों के सदुद्योग से ही वाल्मीकि-रामायण का छंदोबद्ध विशुद्ध अनुवाद हिंदी-साहित्य के एक आवश्यक अंग की पूर्ति कर रहा है। कलानिधि बूँदी तथा जयपुर-दरबार में रह चुके थे। इनके सिवा भोकल मिश्र ने भी इनका आश्रय पाकर शकुंतला तथा प्रबोध-चंद्रोदय नाटकों का अच्छा अनुवाद किया है। प्रतापसिंहजी के यहाँ कवियों का अधिक आदर हुआ। इनके वंशजों ने भी कवियों को मान देकर अपना गौरव बढ़ाया है। इनके पौत्र पुष्पसिंह के लिये देवेश्वर कवि ने पुष्पप्रकाश-नामक शृंगार-रस का एक सुंदर ग्रंथ रचा है।

जिस प्रकार महाराज सूरजमल के भाई प्रतापसिंहजी के यहाँ कवियों का समारोह रहता था, उसी प्रकार महाराज जवाहरसिंहजी के भाई नवलसिंहजी तथा नाहरसिंहजी के यहाँ भी कवियों का ख़ूब मान था। शोभ कवि ने नवलसिंहजी के लिये 'नवलरस-चंद्रोदय'-नामक नायिका भेद का सुंदर ग्रंथ रचा है। शोभ कवि के अतिरिक्त ब्रजचंद भी इनके आश्रित थे, और मुरलीधर कवि ने तो श्रीभागवत के पंचम स्कंध का अनुवाद इन्हीं की आज्ञा से किया था। नाहरसिंहजी के यहाँ भोलानाथजी रहते थे, जिन्होंने सुमनप्रकाश (नायिका-भेद) और लीला-पचीसी (राधाकृष्ण-विषयक पद)-नामक दो ग्रंथ रचे।

इससे पता चलता है कि महाराज सूरजमलजी के पिता, पुत्र, भाई आदि सभी संबंधियों के हृदयों में काव्यानुराग कूट-कूटकर भरा हुआ था। पचीस-तीस वर्ष के अंदर ही भरतपुर-राज्य ने हिंदी-साहित्य के लिये क्या कर दिखाया, इसका अनुमान करना सुगम नहीं है। इतना ही नहीं, महाराज सूरजमलजी की धर्मपत्नी रानी किशोरी स्वयं काव्य-रचना करती थीं, और जयसिंह तथा सुधाकर कवि ने तो रानी किशोरी की प्रशंसा में छंद भी रचे हैं।

सं० १८२५ में, महाराज जवाहरसिंहजी के स्वर्गवास के बाद, भरतपुर-राज्य के दुर्भाग्य से, राज्य की लालसा के कारण, गृह-कलह उत्पन्न हो गया। इससे राज्य-विस्तार के साथ साहित्य-वृद्धि में भी बाधा पड़ी। परंतु कुछ ही वर्ष बाद महाराज रणजीतसिंहजी राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुए। इन्होंने अपने पूर्वजों की मान-मर्यादा रखने के लिये वे दुस्तर कार्य किए, जिनके कारण भरतपुर-राज्य के 'लड़वगी अड्डो' का नाम समस्त भारत में फैल गया। इन्होंने अँगरेज़ों के परम शत्रु यशवंतराव हुलकर को अपने यहाँ शरण देकर अँगरेज़ों से शत्रुता बाँध ली। इसका परिणाम यह हुआ कि अँगरेज़ों को कई बार इनसे पराजित होकर अंत में संधि करनी पड़ी। इनकी इतिहास-प्रसिद्ध वीरता के कारण, महाकवि सूदन की परिपाटी के अनुसार, पुनः वीर-रसात्मक कविता का प्राबल्य बढ़ा। लॉर्ड लेक से जो युद्ध हुआ, उसका कथा-प्रासंगिक काव्य तो कोई प्राप्त नहीं है, परंतु फुटकल कविता बहुत मिलती है। गंगाधर, जसराम, प्रसिद्धि, मुरलीधर (प्रेम), भागमल, ब्रजेश आदि अनेक कवियों ने उत्कट वीर-रस-पूर्ण छंदों में इन महाराज की प्रशंसा की है। इन कवियों के अतिरिक्त जगद्विनोद के कर्ता पद्माकर भी इनसे कई बार समादृत हुए थे। महाराज रणजीतसिंहजी की प्रशंसा में इनके रचित अनेक छंद मिलते हैं।

महाराज रणजीतसिंहजी के राजत्व-काल में उदयराम कवि ने अनेक छोटे-बड़े ग्रंथ रचे हैं। भरतपुर-राज्य के कवियों में भूधर तथा उदयराम पर नंददासजी का विशेष प्रभाव पड़ा है। उदयराम ने श्रीमद्भागवत के दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध में कथित राधाकृष्ण के लीला-विषयक अनेक छोटे-छोटे ग्रंथ रचे हैं। इनका 'सुजान-संवत'-नामक ग्रंथ अपूर्व है। इसमें महाराज सूरजमलजी का चरित्र, कवि-जन्य कल्पना के आधार पर, वर्णित है। गुलाममुहम्मद ने प्रेम-रसाल'-नामक एक प्रेम-कहानी रची है, जिसमें जायसी, आलम, कुतुबन शेख़, उसमान, नूरमुहम्मद आदि मुसलमान कवियों द्वारा रचित प्रेम-कहानी लिखने की शैली का अनुसरण किया गया है। इसी समय के आसपास 'गीता-माहात्म्य' के लेखक मूलराय तथा फूल-मंजरी के रचयिता मोहनलाल भी भरतपुर-राज्य में हुए।

राज्य-पद की लालसा से, आपस की फूट के कारण, भरतपुर के फिर दुर्दिन आए। परंतु कुछ ही वर्षों बाद अँगरेज़ों की सहायता से महाराज बलवंतसिंहजी को राज्य-सिंहासन प्राप्त हुआ। किंतु ऐसे समय में भी हिंदी की थोड़ी-बहुत उन्नति बराबर होती रही। पद्माकर तो महाराज

रणजीतसिंहजी के बाद कई बार भरतपुर में आए, और संभवतः यहाँ रहे भी थे। कारण, इनके रचित छंद महाराज रणजीतसिंहजी (१८३४-१८६२), रणधीरसिंहजी (१८६२-१८८०) और बलदेवसिंहजी (१८८०-८१), तीनों महाराजों की प्रशंसा में मिलते हैं। महाराज बलदेवसिंहजी तो स्वयं भी कवि थे। इनकी महारानी लक्ष्मीरानी भी सुंदर पद-रचना करती थीं। महाराज बलदेवसिंहजी ने तो 'चतुर' तथा 'चतुर-प्रिय' के नाम से तथा रानी ने 'चतुर सखी' अथवा 'चतुर प्रिया' के नाम से अनेक पद रचे हैं। ये पद बहुत ललित और ज्ञान तथा भक्ति-विषयक हैं। महारानी लक्ष्मीरानी के पदों में 'गिरिधर गोपाल' की प्रेममयी दासी मीराबाई के पदों की छाया पड़ी प्रतीत होती है। इसी समय श्रीधरानंद (घासीराम) ने 'साहित्य-सार-चिंतामणि'-नामक भाषा-काव्य का बहुत ही पांडित्य-पूर्ण ग्रंथ रचा, जिसमें गद्य-पद्य-मिश्रित भाषा में काव्य-विषयक प्रायः सभी बातों का उल्लेख है। संवत् १८७२ में रसनायक ने भ्रमर-गीत के आधार पर 'विरह-विलास'-नामक पुस्तक लिखी है। इस ग्रंथ की यह विशेषता है कि प्रत्येक कवित्त रचने के पहले उसका भाव एक दोहे में दे दिया है।

महाराज बलवंतसिंहजी के राजत्व-काल (१८८२-१९०१) में भरतपुर-राज्य की ऐतिहासिक गति बिलकुल बदल गई थी। अब युद्ध और परस्पर कलह का समय नहीं था। अँगरेज़ों से भी मित्रता हो गई थी। सर्वत्र शांति का साम्राज्य था। इस कारण हिंदी-कविता का प्राबल्य एकदम बढ़ गया। इस समय "दक्खिनी पछेला करि खेला तैं अजब खेल, हेला मारे गंग में रुहेला मारे जंग में," अथवा "तेरे तेज तत्ता ते चकत्ता की न रही सत्ता, पत्ता-से उड़ाए अँगरेज़ कलकत्ता के" की-सी कविता के दिन नहीं थे। बंदीजनों की विरदावली तथा श्रृंगार-रस की कविता का समय आ गया था। महाराज बलवंतसिंहजी के दरबार में पंडितों का बड़ा मान था। कवियों ने भी अपनी रचनाओं में पांडित्य-पूर्ण चमत्कार दिखाने का सफल प्रयास किया। अलंकृत-काल की जो कुछ विशेषताएँ हैं, वे सब इस काल के भरतपुर के कवियों ने कर दिखाई। धनी, निर्धन, सभी को कविता से प्रेम था। कहा जाता है कि स्वयं महाराज बलवंतसिंहजी भी काव्य-रचना करते थे। अनेक कवियों ने इनके गुण गाए हैं, और अनेक ग्रंथों की रचना इनकी स्वाभाविक उदारता के ही कारण हो सकी। ग्वालियर तथा नाभा के नरेशों से सम्मानित 'प्रबोध-रस-सुधा सागर' के कर्ता नवीन (गोपालसिंह) भी इनके दरबार में रहे थे। नखशिख, अलंकार, पिंगल, नायिका-भेद आदि रीति-ग्रंथों का विशेष प्राबल्य रहा। इन विषयों के ग्रंथ रसानंद, ब्रजचंद, मोतीराम, रामकवि, कवीश्वर, युगलकिशोर तथा चतुर्भुज मिश्र आदि ने रचे हैं। इन कवियों के उदाहरण-रूप में दिए हुए अनेक छंद बहुत ही उत्कृष्ट हैं। चतुर्भुज मिश्र-कृत 'अलंकार-आभा', रसानंद-कृत 'शिखनख' और 'ब्रजेंद्र-विलास' (पिंगल तथा अलंकार) ग्रंथ अधिक महत्त्व के प्रतीत होते हैं। भक्ति-पूर्ण ग्रंथ भी रचे गए थे। इनमें बिहारीदास(ब्रज-दूलह)-कृत पद, युगलकिशोर-कृत 'सत्य-नारायण-करुणा-पचीसी', बटुनाथ-कृत 'रासपंचाध्यायी' तथा बलदेव और लक्ष्मीनारायण-कृत दो 'गंगालहरी' विशेष उल्लेखनीय हैं। बलवंतसिंहजी ने उदयपुर-निवासी कृष्णानंद व्यासदेव को रागसागरोद्भव (संगीतराग-कल्पद्रुम)-नामक पदों का बृहत् संग्रह प्रकाशित कराने के लिये धन की सहायता दी थी। जब संवत् १९०० में यह ग्रंथ कलकत्ते से प्रकाशित हुआ, तब इसके सूर-सागरवाले भाग का भक्ति-पूर्ण आदर करने के लिये अपने एक सरदार को कलकत्ते भेजकर बड़े साज-सामान से यह ग्रंथ मँगाया था। गणेश कवि ने 'विवाह-विनोद' में महाराज बलवंतसिंहजी के विवाह का अच्छा वर्णन किया है। इन्हें 'कवीश्वर' की उपाधि दी गई थी। यह उपाधि इनके वंशधरों को भी प्राप्त हुई। कारण, इनके पुत्र लक्ष्मी-नारायण, पौत्र युगलकिशोर तथा प्रपौत्र नवलकिशोर, सभी भरतपुर-दरबार के कवि रहे हैं। बलदेव कवि ने 'विचित्र रामायण' के नाम से हनुमन्नाटक का अच्छा अनुवाद किया है। मोतीराम ने 'ब्रजेंद्र-वंशावली' में भगवान् कृष्णचंद्र से लेकर महाराज बलवंतसिंहजी तक की पूरी वंशावली दी है। सेनवंशी (नापित जाति) देवीदास (देविया खवास) कविवर रसानंद के बर्तन माँजा करता था। उसने भी हितोपदेश तथा श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद अत्यंत सरस एवं शुद्ध भाषा में किया है। कविवर सोमनाथ के वंशज वैद्यनाथ ने 'विक्रमपंचदंडकथा'-नामक अच्छा ग्रंथ रचा है।

इनके राज्य-काल में वीर-रस की कविता का एकदम अभाव नहीं रहा; परंतु जो कुछ भी वीर-रसात्मक छंद रचे जाते थे, वे बंदीजनों की विरदावली के रूप में ही थे।

चतुरराय ने 'पथैना रासो'-नामक एक छोटा-सा प्रासंगिक वीर-काव्य रचा है, जिसमें पथैना-निवासी शार्दूलसिंह के वंशज ठाकुरों की अद्भुत वीरता का वर्णन है।

महाराज बलवंतसिंहजी के बाद महाराज जसवंतसिंहजी को अल्पावस्था में ही राज्य-भार लेना पड़ा। इनके धाऊ (अभिभावक) श्रीगुलाबसिंहजी ने संवत् १९२६ में 'प्रेमसप्तशती' रचकर अपनी काव्य-चातुरी का अच्छा प्रमाण दिया है। महाराज जसवंतसिंहजी की शिक्षा का भार भी इन्हीं पर था। अतएव उनको राजनीति की उचित शिक्षा देने के लिये रसानंद से हितोपदेश का पद्यानुवाद 'हितकल्पद्रुम' के नाम से कराया गया। श्रीगुलाबसिंहजी के प्रबंध से अच्छी शिक्षा पाकर महाराज जसवंतसिंहजी ने भी हिंदी-साहित्य की यथावकाश सेवा की। इनके यहाँ भी पंडितों का बड़ा आदर था। भरतपुर-राज्य-स्कूल के पंडित जानी बिहारीलालजी का पांडित्य अनेक देसी राज्यों में प्रसिद्ध था। इनकी प्रशंसा भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने भी की थी। कविवचनसुधा, साहित्य-सार-सुधानिधि तथा अन्य सामयिक पत्रों में इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। इन्होंने

महाराज भरतपुर-नरेश व्रजेंद्र सवाई श्रीकृष्णसिंहजी

अनेक ग्रंथ रचे हैं, जिनमें 'दंपति-द्युति-भूषण' तथा 'विज्ञान-विभाकर'-नाटक बहुत ही उत्कृष्ट हैं। काशीरामजी (मनोहर) रिसालदार ने 'मनोहर-शतक'-नामक शृंगार का ग्रंथ रचा था। दीवान आनी विहारीलालजी ने भी अँगरेज़ी के आधार से हिंदी में संस्कृत का एक बृहत् व्याकरण लिखा है। इनके राज्य में रूपकिशोर तो भड़ौआबाज़ी में बहुत ही विख्यात थे।

महाराज जसवंतसिंहजी के समय में लावनी, ख़्याल आदि का प्रचार बहुत हुआ। अनेक लावनी-रचयिता इसी काल में हुए। हरिनारायण-कृत 'भरतपुर-युद्ध' नाम की लावनी बहुत प्रसिद्ध हुई। इन लावनियों में खड़ी बोली-मिश्रित व्रज-भाषा का प्रयोग किया गया है। 'भरतपुर-युद्ध' की लावनी में लार्ड लेकवाले युद्ध का वीर-रसात्मक बहुत ही सच्चा वर्णन है। अब भी इसके गानेवाले एक-दो मनुष्य मिल जाते हैं। गुसाईं रामनारायण का 'राधिका-मंगल,' हरिनारायण का 'रुक्मिणी-मंगल' तथा भाषा-चाणक्य के कर्ता हनुमंत कवि की 'लीला-पचीसी' लावनी के ही ग्रंथ हैं।

भरतपुर-राज्य की रानियों ने भी हिंदी की अतुल सेवा की है। महाराज सूरजमल की धर्मपत्नी रानी किशोरी स्वयं काव्य-रचना करती थीं। जयसिंह तथा सुधाकर के रचे हुए छंद इनकी प्रशंसा में मिलते हैं। भरतपुर-राज्य के नरेश गिरिराज-पर्वत तथा मानसी गंगा के उपासक हैं। गोवर्धन तो इनके लिये एक पुण्य-तीर्थ है। पहले गोवर्धन भरतपुर-राज्य ही में था। वहाँ पर प्रायः सभी नरेशों के स्मारक-रूप सुंदर छतरियाँ बनी हुई हैं। रानी किशोरी विशेषकर वहीं निवास करती थीं। उनका बनवाया हुआ किशोरी-महल मानसी गंगा के तट पर देखने-योग्य है। महाराज बलदेवसिंहजी की स्त्री लक्ष्मीरानी ने तो 'चतुर सखी' अथवा 'चतुर प्रिया' के नाम से अनेक पद रचे हैं। महाराज बलदेवसिंहजी की स्त्री रानी राजकौर ने अपने ड्योढ़ीवान गोपालसिंह तथा सभाविलास के कर्ता चौबे जीवाराम के पुत्र नरसिंह चौबे से पद्म-पुराण के 'कार्तिक-माहात्म्य' का अनुवाद कराया है। उन्होंने रामानंद कवि से 'लीलारत्न-चूड़ामणि'-नामक ग्रंथ रचाया, जिसमें गोवर्धन एवं मानसी-गंगा का माहात्म्य तथा गिरिराज-धारण-लीला का वर्णन है। वर्तमान भरतपुर-नरेश की माता स्वर्गीया गिरिराज कौर की साहित्यानुरागिता तथा धार्मिकता तो आदर्श ही थी। इन्होंने भी भक्ति-रस-विषयक सुंदर पद रचे हैं।

हिं० सा० स० भरतपुर के स्वागताध्यक्ष मयाशंकरजी याज्ञिक

वर्तमान भरतपुर-नरेश ब्रजेंद्र सवाई श्रीकृष्णसिंहजी का हिंदी-प्रेम तो सबको विदित ही है। जिनके वंश में प्रायः सभी राजा-रानियों को हिंदी से अनुराग रहा है, उनमें भी यदि अपने पूर्वजों के गुण हों, तो आश्चर्य

ही क्या है ? आपने राज्याधिकार प्राप्त करते ही भरतपुर-राज्य का समस्त कार्य हिंदी-भाषा में करने की घोषणा कर दी। इस कारण राज्य के प्रत्येक कर्मचारी को हिंदी सीखना अनिवार्य हो गया। इससे हिंदी-भाषा की सरलता का प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिल गया। कारण, मुसलमानों ने भी केवल एक ही महीने में हिंदी की आवश्यक योग्यता प्राप्त कर ली। आपको हिंदी का सर्वदा ध्यान रहता है, और आप समय-समय पर हिंदी में अच्छे व्याख्यान भी देते हैं। इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं कि आपका हिंदी-अनुराग विशेषतः राजमाता गिरिराज कौर की कृपा से है। आप जाटों का—विशेषकर भरतपुर-राज्य का—एक विस्तृत इतिहास लिखाने का सदुद्योग कर रहे हैं। अभी हाल ही में आपने राज्य में हिंदी की शिक्षा अनिवार्य कर दी है। उचित पाठ्य पुस्तकों की रचना कराने का भी प्रबंध हो रहा है। 'भारत-वीर'-नामक साप्ताहिक भी आपने अपने राजकीय यंत्रालय से निकाला है, जिसमें प्राचीन कवियों की कविता को लुप्त हो जाने से बचाने की प्रबल इच्छा से 'कविता-कुंज'-शीर्षक एक आवश्यक स्तंभ खोल दिया गया है। आपसे हिंदी को बहुत आशा है, और यह अत्यंत संतोष-जनक बात है कि आप हिंदी-हित-साधन के लिये घोर प्रयत्न कर भी रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि यदि आपकी तरह अन्य राजा-महाराजा भी हिंदी-साहित्य की सेवा का प्रण ठान लें, तो हिंदी, हिंदी-साहित्य और हिंदी के अनन्य उपासकों का अधिक कल्याण हो।

याज्ञिकत्रय

भारत की सभाएँ

सभा

कोऊ उपदेस के सँदेसन मैं देस-देस,
 भूमि कै बिदाई लेत मसकि बतासा-सी ;
कोऊ धन-मोटैं देखि चपल चमोटैं भरैं,
 कोऊ करैं गूढ़ता प्रकास फूलि कासा-सी।
कोऊ नेम भाखैं राखैं 'जोतिसी' प्रतिज्ञा उतै,
 इतै घर आयकै कटाय बैठैं नासा-सी ;
आसा है न भारत-सुधार की, दुरासा सबै,
 लासा को लगाए सभा करत तमासा-सी।

कोउ निज कीरति चहैं, रहैं कोउ धन की घातनि ;
 कोउ गुरु-गौरव हेत चेत चाहत कोउ बातनि।
कोउ स्वारथ-रथ चढ़त बढ़त रथ-पथ कोउ आगे ;
 समय, देस, इतिहास लखत नहिं तनिक अभागे।
करि चंदा समिति बटोरि कै हाँकन लागे बिन परन ;
कछु कारज सर्यौ न 'जोतिसी' लख भारत गवने घरन।

उचित क्रम

स्वीकृत प्रति प्रस्ताव ताव पर नेम बनावै ;
 सासन सहज सुधार धार मत सबनि जनावै।
सहृदय सबको एक पंथ पै अविचल राखै ;
 पच्छपात छल छोड़ि स्वार्थ की तनिक न भाखै।
निज कार्य क्रम मैं हानि अरु लाभ न देखै व्यक्तिगत ;
सोइ सभा, सभा जग 'जोतिसी' चलै न कोउ बंधन-बिगत।
 उपदेसक उपदेस देहिं निरपेच्छ सत्य-रत ;
 आनैं बेद-पुरान समय, इतिहास, लोक-मत।
 मंत्री, कोसाध्यच्छ, स्वच्छ निर्लोभ सभापति ;
 सुदृढ़प्रतिज्ञ सदस्य 'जोतिसी' देस-निरति अति।
प्रस्ताव पास ह्वै कार्य मैं परिनत होवैं हरत दुख ;
सोइ सभा, सभा-सासन-ध्वजा जग-जग फहरै सर्वमुख।

कार्य-क्रम

प्रथम घुमेरि घेरि घर को मिलैए, फेरि,
 प्रेम कै पुरी को आछी भाँति अपनाइए ;
नीके प्रांत जनता तैं सहज सनेह करि,
 देस की दसा पै चोखी चरचा चलाइए।
पीछे एक मंडल मैं मंडल को हेरि, फेरि
 जाति को कथा को अथाक्रम तैं सुनाइए ;
अंत मैं सभा को जोरि 'जोतिसी' प्रबंधन के,
 फेरि नेम-बंधन के बंधन बनाइए।

सभा का फल

न्याय अरु नीति के करार बिकरार दोऊ,
 सोहैं विप्र-मंडली सितार के पसारा-सी ;
सम्मति सँदेस उपदेस देस-देसन की,
 तरल तरंगैं लोल लहरत पारा-सी।
तन-मन धोवैं बैठि सुजन-समूह संग,
 नारिगन 'जोतिसी' दिखात देव-दारा-सी ;
करिकै प्रतिज्ञा भूल्यौ घर मैं न भूल्यौ आय,
 धरम-समाज राजै गूढ़ गंग धारा-सी।

रामनाथ ज्योतिषी

स्वर-लिपिकार—पं० युगलकिशोर मिश्र बी० ए०,एल्-एल्०बी०]　　　　[**शब्दकार**—अज्ञात

विहाग-ताल रूपक

गीत

अब प्रभु कीजिए उठि सैन :
लटकि आई चाँदनी प्रभु, बहुत बीती रैन।
उठे राज-समाज ते प्रभु, सुनि सखी के बैन :
प्राननाथ प्रवीन हैं प्रभु, जानकी सुखदैन।

स्थायी

	२	३	०	०	२	३
	धीं तृक्	धी ना	ता ती ना	धीं तृक्	धी ना	ता ती ना
	प प	म ग	म प म	गा —	स नि़	मा — स
	अ ब	प्र भु	की — जि	ए —	उ ठि	सै — न
	प प	म ग	सा ग म	पा —	नि ध	सां नि ध
	अ ब	प्र भु	की — जि	ए —	उ ठि	सै — न
	प प	म ग	म प म	गा —	म नि़	सा — स
	अ ब	प्र भु	की — जि	ए —	उ ठि	सै — न
	स स	स स	प़ प़ प़	नि़ —	नि़ —	सा — स
	अ ब	प्र भु	ल ट कि	आ —	ई —	चाँ — द
	गा —	ग ग	म प म	ग रे	स नि़	सा — स
	नी —	प्र भु	ब हु त	बी —	ती —	रै — न

अन्तरा

	प प	म ग	प पा —	पा —	नि नि	सां — सां
१.	अ ब	प्र भु	उ ठे —	रा —	ज स	मा — ज
२.	अ ब	प्र भु	प्रा न —	ना —	थ प्र	वी — न

	सां	—	सं	सं	सं	नि	ध	पा	—	नि	ध	सां	नि	ध
१.	ते	—	प्र	भु	सु	नि	स	खी	—	के	—	बै	—	न
२.	हैं	—	अ	ति	जा	—	न	की	—	सु	ख	दे	—	न

स्वर-लिपि के संकेत

(स्वर)

१. जिन स्वरों के नीचे बिंदु हो, वे मंद्र सप्तक के, जिनमें कोई बिंदु न हो, वे मध्य-सप्तक के, तथा जिनके शीर्ष में बिंदु हो, वे तार-सप्तक के समझे जायँ। जैसे—सा, सा, सां।

२. जिन स्वरों के नीचे लकीर हो, उन्हें कोमल समझिए। जैसे—रे, गा, धा, नि। जिनमें कोई चिह्न न हो, वे तीव्र हैं। जैसे—रे, गा, धा, नि।

३. मध्यम-कोमल का चिह्न 'मा' और मध्यम-तीव्र का चिह्न 'मा' है।

४. ⌒ यह चिह्न किस स्वर से किस स्वर-पर्यंत मींड है, इसका प्रदर्शक है।

(ताल)

१. सम का चिह्न × है, ताल के लिये अंक समझिए, और ख़ाली का द्योतक ० है।

२. ‿ इस चिह्न में जितने स्वर रहें, वे एक मात्रा में गाए या बजाए जायँगे। जैसे—सारे।

३.—यह दीर्घ मात्रा का चिह्न है। जिस स्वर या वर्ण के आगे यह चिह्न हो, उसे एक मात्रा-काल तक अधिक गाइए या बजाइए।

पैसे का उपयोग

१. रामायण-वर्णित चित्रकूट

धुरी की गत आषाढ़ की संख्या में पंडित लोचनप्रसादजी ने रामायण-वर्णित चित्रकूट के विषय में पाश्चात्य पंडित बेगलर का मत उद्धृत किया है। आपके मत से रामायण-वर्णित चित्रकूट बुंदेलखंड का (वर्तमान) चित्रकूट नहीं, किंतु छत्तीसगढ़ (सरगुजा-राज्य) का रामगढ़ पर्वत होना चाहिए। इसके ११ कारण आपने दिखाए हैं। हम भी उसी क्रम से इस विषय में अपना मत प्रकट करते हैं। (बेगलर का मत जानने के लिये उक्त संख्या देखनी चाहिए।)

१—यद्यपि वाल्मीकि रामायण में चित्रकूट की उच्च-समभूमि नहीं, किंतु समभूमि का ही वर्णन है; परंतु बुंदेलखंडी चित्रकूट के हनुमानधारा-पर्वत पर मीलों लंबी-चौड़ी उच्च-समभूमि भी है, गुप्त गोदावरी-नामक झरना एक बड़ी गिरि-गुहा से निकलता है, और मंदाचल पर्वत से चित्रकूट की प्रसिद्ध मंदाकिनी-नदी निकलती है।

२—प्रयाग से चित्रकूट के मार्ग में दावाग्निवाले पर्वत हैं, और रामगढ़ के मार्ग में नहीं है, इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं। प्रयाग से रामगढ़ का मार्ग रीवा-राज्य कहीं से अवश्य पार करेगा, और हम देखते हैं कि ग्रीष्म-ऋतु में राज्य के सभी पर्वत दावाग्नि से प्रज्वलित हो उठते हैं। इस अवस्था में हम कैसे मान लें कि रीवा के पड़ोसी राज्य (सरगुजा) में दावाग्निवाले पर्वत न होंगे। यदि मान भी लिया जाय कि प्रयाग से वर्तमान चित्रकूट के मार्ग में पार्वतीय तरु-पुंज नहीं हैं, तो क्या इससे यह सिद्ध होता है कि वाल्मीकि के समय में भी वे न थे? देखिए, वाल्मीकि का प्रयाग-वर्णन। क्या अब भी वहाँ वैसा ही वन है? वह तो आबादी बढ़ने से घटता आता है।

३—वर्तमान चित्रकूट के पर्वत अत्यंत ऊँचे नहीं हैं, तो रामायण के अनुसार उनकी आवश्यकता भी क्या है? क्या केवल अत्युच्च पर्वतों ही में शृंग हो सकते हैं? शृंग का अभिप्राय तो सींग की भाँति ऊपर की ओर पतले होने से है, और इस प्रकार के अनेक शृंग प्रयाग की ओर से चित्रकूट जाते समय दिखाई देते हैं।

४—(प्रथम नंबर देखना चाहिए)

५—स्मरण रहे, पयस्विनी नदी नहीं, वर्तमान चित्रकूट का एक नाला है। नदी वहाँ की मंदाकिनी है; किंतु उसमें द्वीप होने की आवश्यकता क्या है? हमारी समझ में तो रामायण में द्वीप का वर्णन नहीं है।

६—वर्तमान चित्रकूट में गुप्त-गोदावरी आदि कई गुहाएँ हैं।

७—पयस्विनी एवं धनुषा आदि कई नाले भी हैं; किंतु नालों का वर्णन तो कदाचित् रामायण में नहीं है।

८—अवश्य ही बुंदेलखंडी चित्रकूट के आसपास भी

बहुत दिनों से हाथियों के होने का पता नहीं चलता। परंतु इससे क्या यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि के समय में भी वहाँ हाथी न थे? ध्यान देने की बात है कि हाथी उन प्राचीन जीवों में है, जो धीरे-धीरे पृथ्वीतल से लुप्त होते जा रहे हैं। दक्षिणी रीवा-राज्य में भी, जो सरगुजा-राज्य से लगा हुआ है, अभी थोड़े दिन हुए, हाथी पाए जाते थे; परंतु अब नहीं पाए जाते। वाल्मीकि के यमुना-वन-वर्णन से मालूम होता है कि उस समय वहाँ गहन वन था; पर अब साधारण वन भी नहीं है। तो क्या रामायण-वर्णित यमुना कोई दूसरी ही यमुना है?

९—रामायण में प्रयाग से चित्रकूट की दिशा ही नहीं निश्चित की गई; नहीं तो संदिग्ध ही क्यों रहता?

१०—अवश्य ही वर्तमान चित्रकूट विंध्य-पर्वत का ही एक भाग है। पर क्या मेघदूत का रामगिरि चित्रकूट के सिवा अन्य कोई छत्तीसगढ़ी पर्वत नहीं हो सकता? हमारी समझ में तो रामायण का चित्रकूट और मेघदूत का रामगिरि, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। कदाचित् रामगिरि रामगढ़ ही हो; क्योंकि कालिदास "चित्रकूटाश्रमेषु" का भी तो प्रयोग कर सकते थे।

११—रामायण में रामचंद्रजी ने सीताजी को चित्रकूट प्रत्यक्ष दिखलाया है, न कि यह कहा है कि वह अमुक दिशा में है।

इस पर भी आप लिखते हैं कि "रामगढ़-पर्वत की स्थिति रामायण-वर्णित चित्रकूट से ठीक-ठीक मिलती है, और जनश्रुति के अनुसार लोग उसे अब भी चित्रकूट मानते हैं!" जनश्रुति का आधार तो बुंदेलखंडी चित्रकूट के पक्ष में ही अधिक पड़ेगा; क्योंकि प्रतिवर्ष इसी आधार पर लाखों यात्री यहाँ चित्रकूट की यात्रा करने आते हैं। अस्तु। निम्न-लिखित कारणों से रामगढ़ के चित्रकूट होने में संदेह और वर्तमान चित्रकूट के रामायण-वर्णित चित्रकूट होने में विश्वास होता है—

१—रामायण में चित्रकूट प्रयाग से १० कोस और १४ कोस (३½ योजन) कहा गया है*। इससे यद्यपि प्रयाग से चित्रकूट की दूरी निश्चित नहीं होती, परंतु यह अवश्य स्पष्ट होता है कि रामायण का चित्रकूट प्रयाग से अधिक-से-अधिक १४ कोस के भीतर ही होना चाहिए, न कि २४० मील पर।

२—भरद्वाज ने रामचंद्रजी को प्रयाग से चित्रकूट का मार्ग बताते हुए थोड़ी दूर गंगा-यमुना के बीचोबीच यमुना के तीर-तीर चलकर यमुना पार करने को कहा है, और प्रयाग से वर्तमान चित्रकूट के लिये ऐसा ही मार्ग होना चाहिए।

गङ्गायमुनयोः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभ ;
कालिन्दीमनुगच्छेता नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम्।
(वा० रा०, अयो . ५५ सर्ग)

३—प्रयाग से चलकर रामचंद्रजी दूसरे ही दिन चित्रकूट पहुँच गए हैं (अयोध्याकांड, ५५-५६ सर्ग), जो २४० मील रामगढ़ (सरगुजा) के लिये असंभव है।

४—भरतजी ने चित्रकूट से प्रयाग-अयोध्या के लिये पहले पूर्व की ओर गमन किया है, और वर्तमान चित्रकूट से प्रयाग होते अयोध्या आने के लिये ऐसा ही चलना पड़ेगा।

मन्दाकिनीं नदीं रम्यां प्राङ्मुखास्ते ययुस्तदा।
(वा० रा०, अयो०, ११३ सर्ग)

५—रामायण के अनुसार चित्रकूट से चलकर रामचंद्रजी क्रमशः अत्र्याश्रम होते हुए विराध-वध करके शरभंगाश्रम पहुँचे हैं, और वर्तमान चित्रकूट से दक्षिणापथ की राह पर विराध-कुंड एवं दोनों आश्रमों के चिह्न अब भी पाए जाते हैं।

६—प्रयाग से रामगढ़ (सरगुजा) जाने के लिये रीवा-राज्य की सबसे बड़ी नदी शोणभद्र अवश्य पार करनी पड़ेगी; परंतु रामायण के इस स्थल पर उसकी कुछ भी चर्चा नहीं है।

७—रामायण के अनुसार चित्रकूट में मंदाकिनी-नदी का होना आवश्यक है, और वह वर्तमान चित्रकूट में है।

८—रामायण का चित्रकूट-वर्णन (हाथियों के सिवा) अब भी वर्तमान चित्रकूट से बहुत सादृश्य रखता है। अब भी यहाँ के वन एवं पर्वत मयूरनादाभिरत, पक्षिसंघानुनादित, नानापक्षिगणायुत, नानाद्रुमलतायुत, संपन्नसरसोदक एवं बहुमूल-फलवाले हैं, तथा अब भी यहाँ अनेक सरित्प्रस्रवणप्रस्थदरीकंदरनिर्झर पाए जाते हैं।

९—कालिदास के समय में भी यही चित्रकूट रामायण का चित्रकूट माना जाता था; क्योंकि रघुवंश में उन्होंने मंदा-

* प्राचीन कोषों में कोस ४ हजार और ८ हजार हाथ का लिखा है, और योजन ४ कोस का।—लेखक

किनी नदी के वर्णन में लिखा है कि "उसके पानी के भीतर की वस्तु भी दिखाई देती है", और यह गुण वर्तमान चित्रकूट की मंदाकिनी नदी में आज भी देखा जाता है—

एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी ।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः ।

(रघुवंश, १४वाँ सर्ग)

सचमुच ऐसा स्वच्छ एवं इतना पारदर्शक जल हमने किसी नदी का नहीं देखा !

१०—यदि रामगढ़ ही प्रकृत चित्रकूट एवं रेउर-नदी ही प्रकृत मंदाकिनी-नदी है, तो इनका चित्रकूट एवं मंदाकिनी नाम कैसे उड़ गया ? संभव होते हुए भी रामायण में चित्रकूट को रामगिरि नहीं कहा गया।

मि० बेगलर के नोट देखने से मालूम होता है कि आपने बुंदेलखंडी चित्रकूट का भली भाँति निरीक्षण नहीं किया था, और उसके कामदगिरि-पर्वत को ही पूरा चित्रकूट मान लिया था ; क्योंकि उसी की परिक्रमा की जाती है। अवश्य ही उसमें रामायण-वर्णित कोई चिह्न नहीं है। पर चित्रकूट की सीमा तो मीलों विस्तृत है, उसमें विंध्याचल की कई चोटियाँ एवं श्रेणियाँ सम्मिलित हैं, और उनमें रामायण-वर्णित प्रायः सभी चिह्न पाए जाते हैं। पांडेयजी से हमारा अनुरोध है कि वह इसे अवश्य देखें ; क्योंकि अब भी वह (आबादी हो जाने पर भी) भारत के रम्य स्थानों में से एक है।

भानुसिंह बाघेल

× × ×

२. तुम्हारी झाँकी

तुम्हारी है अद्भुत झाँकी ।
विषम-विश्व में युग-अनादि से,
काम, क्रोध, कलि-कलुष आदि से—
जीवन, रोग-मुक्त करने में—
महिमा, रूप-सुधा की ;
निर्मल है बाँकी झाँकी ।

विमल तुम्हारी है झाँकी ।
संतत संसृति के विकार में,
महा-मोहमय-अंधकार में—
जीवन-पथ पाने की आशा—
है तव कांति-कला की ;
निर्मल है बाँकी झाँकी ।

"सहिष्णु"

× × ×

३. राह की रोशनी

(क)

दरिद्र मथुराप्रसाद का छोटा-सा परिवार कभी का चल बसा होता। धन का अभाव एक दारुण अशांति के साथ इस मुंशी के छोटे-से मकान को घेरकर इसकी शांति हर लेना चाहता था। आज आटे का अभाव, तो कल दाल का ; तीसरे दिन स्त्री की धोती का अभाव, तो चौथे दिन बच्चे के कुर्ते का ; ऐसे ही प्रतिदिन एक-न-एक अभाव बेचारे मथुराप्रसाद के हृदय को बेचैन कर देता था। क्लांत देह को संध्या के समय खुली हुई छत पर एक टूटी चटाई पर डालकर वह अपने महान् कष्टमय जीवन के इतिहास को आरंभ से लेकर अंत तक दोहराया करता। विफलता की एक दीन छवि उस इतिहास के प्रत्येक पन्ने पर अंकित प्रतीत होती।

उसकी आँखें आँसुओं से डबडबाकर चंद्रमा की किरणों में चमकती रहतीं। उसका जन्म ही व्यर्थ हुआ था। उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और वह उच्च कुल का भी था ; परंतु आज एक दीन मुंशी होने के कारण उसका मूल्यवान जीवन व्यर्थ हो गया। कितनी आशा, कितने सुखों की कल्पना उसके नवीन जीवन-समुद्र में आनंद की लहरें उठाती थीं ; भविष्य सफलता का उज्ज्वल चित्र उसके हृदय और मन को संजीवित करता था। किंतु कार्य-क्षेत्र में वह सब मृग-तृष्णा की भाँति अंतर्हित हो जाता था। सामान्य मुंशीगिरी ही उसका एक-मात्र सहारा हुई।

उसकी पत्नी 'दुलारी' इस नित्य अभाव के संसार में केवल थोड़ी-सी हँसी-भरी शांति ले आती। सबेरे से शाम तक परिश्रम करके यह सुशीला उसके दारिद्र्य-निपीड़ित परिवार में यथासंभव स्वच्छंदता ले आने की चेष्टा करती। फटी कुर्ती को रफ़ू करके, मैली धोती को साबुन से साफ़ करके, सब स्थानों पर वह लक्ष्मी की मुहर लगा रखती। सारे दिन की कड़ी मेहनत के बाद संध्या के समय दुलारी का साहचर्य मथुराप्रसाद के सारे दुःख-कष्ट पर निपुण हस्त का मरहम लगा देता। उसके मुंशी-जीवन के

दुःसह क्लेश पर इस लक्ष्मी-स्वरूपिणी का कोमल स्पर्श पानी फेर देता। क्षण-मात्र के लिये वह अपने दारिद्र्य-दुःख को भूल जाता।

घर में यदि यह शांति न होती, यह मृत-संजीवनी सुधा न मिलती, तो मथुराप्रसाद कदाचित् अब तक पागल हो गया होता।

(ख)

नौ बजे तक भोजन समाप्त करके मथुराप्रसाद दफ़्तर जाने के लिये तैयार हुआ। दुलारी पान देते समय बोली—"अगर हो सके, तो मुनिया के लिये तिजहरिया को कुछ बिस्कुट ख़रीद ले आना। बुख़ार तो जाता रहा; अब भूख से परेशान है—"

"अच्छा, देखा जायगा," कहकर मथुराप्रसाद चट निकल पड़ा। ग़रीब मुंशी की लड़की को बिस्कुट क्यों? दो बूँद आँसू फटे कुर्ते पर गिरे। आहा, बीमार लड़की बिस्कुट ऐसी तुच्छ चीज़ माँगती है! कितने संकोच से उसको मा ने प्रार्थना की। परंतु कितना कष्ट उठाकर उसको सूखी रोटी मिलती है! ख़ैर, जाते समय बीमार लड़की के मुँह की ओर ताककर मथुराप्रसाद की मर्म-वेदना अत्यंत तीव्र हो उठी। हा हतभागिनी, इस संसार में इतनी जगह रहने पर भी इस हतभाग्य के घर में क्यों पैदा हुई?

"जूता तो बिलकुल मरम्मत-तलब है। ख़ैर, अगले महीने में मरम्मत कराने से काम चल जायगा। एक जोड़े धोती की तो सख़्त ज़रूरत है। वह भी इस महीने में नहीं ख़रीदी जा सकती। सब रहने दूँ; जिस तरह हो सके मुनिया के लिये आज बिस्कुट ज़रूर ख़रीदूँगा!..."

एक मोटर भों-भों आवाज़ करती हुई उसकी साफ़-सुथरी धोती पर सड़क की कीचड़ की छिट्टियाँ छिटकाती उसके पास से निकल गई। उसकी ओर तीव्र दृष्टि डालकर, एक छोटी साँस लेकर मथुराप्रसाद ने एकदम पगडंडी के एक किनारे से चलना आरंभ किया। थोड़ी दूर जाते ही एक भिखमंगे ने उसकी ओर देखकर कहा—"महाराज, एक पैसा मिल जाय।" इस वाक्य ने उसके मर्म-स्थल पर मज़ाक़ की-सी चोट पहुँचाई। उसको यह मालूम हुआ कि सारा संसार उसके विकल जीवन का, उसकी खुली हुई हीन दीनता का, उपहास करने के लिये उसके पीछे पड़ा हुआ है।

(ग)

सूरज बिलकुल डूब गया था। पसीने से तर होकर मथुराप्रसाद चटपट घर को लौट रहा था। बीमार लड़की बिस्कुट के लिये राह देखती होगी! सोना-चाँदी नहीं, मोती-पन्ना नहीं, तुच्छ दो बिस्कुट! हाय हतभाग्य पिता!

गली के मोड़ पर मथुराप्रसाद ने देखा, उसके मकान के बग़लवाले दोमंज़िले आलीशान मकान के सामने एक मोटर खड़ी है। कई दिन से इस मकान में माल-असबाब आ रहा था—आज शायद इस मकान के मालिक आए हैं। उसी के दरिद्र मकान के बग़ल में धनवान् की विलास-लीला होगी, इस सोच से विवश होकर उसका दिल घबराता तथा संकुचित होता जाता था।

झटपट बग़ल से निकलते ही किसी ने पुकारा—"अरे कौन? मथुराप्रसाद?"

मथुराप्रसाद ने घूमकर देखा, एक हृष्ट-पुष्ट सज्जन, महीन धोती और रेशमी पंजाबी कुर्ता पहने हुए कुछ आदमियों को आज्ञा दे रहे हैं। मथुराप्रसाद ने आँखें गड़ाकर देखा, यह आगंतुक युवा उसी का बाल्य मित्र जगन्नाथ था। स्कूल में वह सहपाठी था; दो-तीन बार लीविंग में फ़ेल होकर पढ़ने-लिखने को तिलांजली दे चुका था।

उसी का इतना ऐश्वर्य देखकर मथुराप्रसाद आश्चर्य-युक्त हो बोला—"वाह! जगन्नाथ, एकाएक इतने धनवान् कैसे हुए?"

मुसकिराकर जगन्नाथ ने उत्तर दिया—

"अरे भाई, एक मालदार ज़मींदार की लड़की से विवाह करके तक़दीर बिलकुल पलट गई है। यह मकान मिला है। इतने दिन से इसमें किरायेदार था, इसलिये नहीं आ सका। तुम बग़ल ही में रहते हो क्या? बहुत अच्छा, बहुत अच्छा; तुम्हारा पड़ोसी मैं हुआ। क्या सोच रहे हो यार? तक़दीर है दोस्त तक़दीर, सब तक़दीर ही से होता है—" इतना कहकर जगन्नाथ एकदम उच्च हास्य से उच्छ्वसित हो उठा।

"हाँ, यह तो ठीक है"—कहकर मथुराप्रसाद फर-फर उड़ता-सा चलकर मकान के अंदर घुस गया। दुलारी ने पूछा—"क्यों, बिस्कुट लाए?"

तीव्र कर्कश-कंठ से मथुराप्रसाद ने कहा—"हाँ जी, हाँ! मेरा ऐसा बुरा नसीब है कि ससुर से एक पैसा भी न मिला। और, कितने ही आदमियों ने ससुर की संपत्ति

पाकर अपनी तक़दीर बदल डाली है !" इतना कहकर बिस्कुट का बक्स दुलारी की ओर फेंककर झपटा हुआ कमरे के अंदर चला गया।

मथुराप्रसाद की बातों से दुलारी के दिल पर गहरी चोट लगी। उसे अपने माता-पिता की याद आई। वे क्या करेंगे ? उनके पास तो कुछ भी नहीं है ! बीमार लड़की को छाती से लगाकर वह सीलन से भरे अंधकारमय छोटे-से रसोईघर में चुपचाप बैठी रही। रुद्ध अश्रु आँखें फोड़कर निकल आना चाहते थे या नहीं, कौन कह सकता है ?

(घ)

संध्या का समय हो गया था। अमावस्या का घना अंधकार पृथ्वी पर विस्तृत था। परंतु मथुराप्रसाद के हृदय में उससे अधिक घना अंधकार छाया हुआ था ; क्योंकि उसके हृदय के अंदर जगन्नाथ के साथ आज की बातचीत ने एक भयंकर हलचल मचा रक्खी थी। इसलिये उसको आज कुछ भी अच्छा नहीं मालूम होता था। एक फटी दरी बिछाकर वह छत पर लेट रहा। बग़ल के मकान के सब कमरे बिजली की रोशनी से जगमगा रहे थे। उसके मन में जगन्नाथ की उल्लास भरी बात रह-रहकर याद आती थी—"तक़दीर है दोस्त, तक़दीर।"

कुछ दिनों से जगन्नाथ की रोबीली आवाज़ धीमी हो गई थी। परंतु मथुराप्रसाद लेटे-लेटे यही सोच रहा था कि जगन्नाथ कितना सुखी है ! अगर मेरी भी उसकी तरह एक मालदार आदमी की कन्या के साथ शादी होती !" इस सोच का परिणाम यह हुआ कि उसका जीवन फिर से नीम पर के करेले की भाँति पग-पग पर कड़ुआ प्रतीत होने लगा।

इतने में बग़लवाले मकान के ऊपर के कमरे से एक स्त्री तीक्ष्ण स्वर से चिल्लाकर किसी से कह उठी—"जाओ, जाओ, मैं यह सब कुछ नहीं देख सकती। मैं साफ़-साफ़ कहे देता हूँ। जाओ, ख़ुद सब सजाकर रक्खो। किसी ग़रीब लड़की के साथ शादी क्यों नहीं की ? वह मजूरिन की तरह तुम्हारा काम करती। याद रक्खो, मैं तुम्हारी मजूरिन होकर नहीं आई हूँ। मैं कुछ नहीं करूँगी।"

इतने में दुलारी ने आकर पुकारा—"ब्यालू कर लो, थाली लाई हूँ।" मथुराप्रसाद का चित्त उस समय स्निग्ध आनंद से भर गया। उसको ख़याल हुआ, जिसका ऐश्वर्य देखकर मारे डाह के मैं भस्म होता था, उसका यह हाल ! जगन्नाथ से वह सहस्रगुना अधिक सुखी है—उसके घर में दुलारी उसकी गृहलक्ष्मी, उसकी अंकलक्ष्मी उसकी प्रेममयी सहधर्मिणी, सहकर्मिणी सब कुछ है ! धनी का ऐश्वर्य वह नहीं चाहता ; उसका दांपत्य प्रेम उबल पड़ा—"मेरी दुल्ली !" वह आवेग से दुलारी के दोनों हाथ दबाकर बोला—"दुल्ली ! ग़ुस्सा न करना। बिना समझे तुम्हारा दिल दुखाया है। मेरे ससुर ने जो धन मुझे दिया है, वह धन कुबेर के भंडार में भी नहीं है !" यह कहकर मथुराप्रसाद ने आनंद की उमंग में दुलारी को छाती से लगा लिया।

दुलारी की आँखों से दो बूँद प्रीति के आँसू मोतियों को मात करते हुए मथुराप्रसाद के हाथ पर टपक पड़े।*

कालीचरण चटर्जी

× × ×

४. आशा

वृद्ध पुरुषों का सहवास करती हो कभी,
रमती कभी हो तुम भोले बालपन में ;
रोगियों के उर में उमंग भरती हो कभी,
मौज मारती हो कभी भोगियों के मन में ;
विषम वियोग में भी देख पड़ती हो कभी,
'कौशलेंद्र' प्रेमियों की प्रणय-लगन में ;
करती निवास युवकों के लोचनों में कभी,
क्वाँरी सुकुमारियों की चारु चितवन में ।
इंदिरा की कीर्ति, भारती की भव्य भावना हो,
शोभा स्वर्गधाम की, विभूति त्रिभुवन की ;
कवि के मधुर स्वप्न की-सी माधुरी हो कभी,
मंजुल अमल आभा हीरक-रतन की ।
'कौशलेंद्र' प्रतिभा-प्रभा की हो अनादि शक्ति,
मंजु मलयानिल हो नंदन-विपिन की ;
ममता हो मा की और जीविका ग़रीब की हो,
रति भक्त-जन की हो, प्यारी प्राणधन की ।
गाते हैं गुणानुवाद योगी-जन, देवि, तव,
नित-प्रति मंजु भाव-भरे भक्ति-रागों में ;
कोविद कवीश कांत-कोमल पदों में सदा,
मंजुल मलिंद कंज-पूरित तड़ागों में ।

* एक बँगला-कहानी का रूपांतर ।

कोकिल वसंत में, चकोर चाँदनी में तथा,
नीरव-निशीथ समै विरही विहागों में;
बाँधते हैं मंजु स्वर-लहरी गुणावली की,
होकर विभोर अनुरागी अनुरागों में।

कौशलेंद्र राठौर

× × ×

५. दक्षिण-कोसल का राजा सद्वाह

समुद्रगुप्त ने जब ईस्वी सन् की चौथी सदी में दक्षिण-भारत के दिग्विजय-क्रम से कोसल-देश में प्रवेश किया, उस समय "महेंद्र"-नामक एक राजा यहाँ राज्य करते थे। प्रयाग के क़िले की लाट पर समुद्रगुप्त का जो लेख है, उसमें "कौसल्यक महेंद्र" लिखा हुआ है।

ईस्वी सन् की तीसरी सदी का हाल मालूम नहीं हो सका कि उस समय दक्षिण-कोसल में किस राजा का राज्य था। सकनी-राज्य के गुंजी के चट्टान के लेख में "कुमार-वासंत"-नामक किसी राजा का नामोल्लेख है। इसमें समय दिया नहीं गया; पर लिपि पर से अनुमान किया जाता है कि वह लेख ईस्वी सन् की पहली सदी का है।

हुएनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन दक्षिण-कोसल के राजा सद्वाह के मित्र थे, और उनके द्वारा निर्माण कराई हुई एक गुफा में वह निवास करते थे।

नागार्जुन ईस्वी सन् की दूसरी सदी के अंत में हुए हैं, और यही समय सद्वाह राजा का भी मानना पड़ेगा। नागार्जुन संसार के चार सूर्य के तुल्य तेजस्वी और प्रभा-पुंज विद्वानों में से सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। उनकी ख्याति देश-देशांतरों में छाई हुई थी। उनसे विद्या और ज्ञान प्राप्त करने के लिये चीन-सरीखे सुदूर देश से ज्ञानपिपासु पंडित आया करते थे। ऐसे विख्यात दार्शनिक और बहु-विद्या-विशारद साधु की कृपा प्राप्तकर सद्वाह निःसंदेह धन्य हुआ था। राजा सद्वाह में वे सब सद्गुण और प्रतिभा पूजन की उत्कट इच्छा तथा दर्शन-शास्त्र पर अतुल अनुराग अवश्य रहे होंगे, जिनसे महात्मा लोग राजों के वशीभूत हो जाया करते हैं।

हुएनसांग ने सद्वाह * का नाम So-to-po-ho "सो-तो-पो-हो", लिखा है, और उसके Shing-tu ('शिंगतु')-देश पर राज्य करने की बात लिखी है। 'शिंगतु' का अर्थ केवल 'भारतवर्ष' होता है। सद्वाह का उपनाम सिंधुक (Shi-yeu-to Kia) भी लिखा मिलता है। संभव है, सद्वाह के पूर्वज सिंधु नदी के तीरवर्ती देश में रहे हों, और कालांतर में उन्होंने "दक्षिण-कोसल" का राज्य प्राप्त कर लिया हो, या वे उदयन के पूर्व-पुरुषों में रहे हों, और 'पांडुवंशीय' क्षत्रिय हों, अथवा 'श्रीसूर्यघोष' के पूर्वजों में रहे हों। जो हो—

"Be that as it may, we know that Nagarjun was so closely acquainted with the King that he sent him a friendly letter exhorting him to morality of life and religious conduct. The King in return prepared the cave-dwelling for him of which we have the history in the *tenth* book of the "*Records*." This cave-dwelling was hewn in a mountain called Po-lo-mo-lo-ki-li, (*i. e.* Bhramaragiri भ्रमर-गिरि) the mountain of the Black bee (Durga).

पुरातत्त्वज्ञों का मत है कि यह भ्रमर-गिरि कृष्णा-नदी के तटवर्ती श्रीशैल-पर्वत का नाम था। फ़ाहियान ने अपने यात्रा-विवरण के ३५वें अध्याय में इसका उल्लेख किया है। फ़ाहियान के समय में उसका नाम Po-lo-yue monastery था, और हुएनसांग के समय में Durga Monastery जब कृष्णा-नदी पर्यंत दक्षिण-कोसल के अधिपति का राज्य विस्तृत था, तब सद्वाह एक बड़े भारी भूखंड का स्वामी था, इसमें संदेह नहीं। प्रांत के पुरातत्त्वज्ञों को अनुसंधान कर सद्वाह और उसके राज्य के विषय में नूतन प्रकाश डालने की चेष्टा करनी चाहिए। श्रीशैल-पर्वत महाकोसल की प्राचीन राजधानी 'श्रीपुर' के निकट का कोई पर्वत तो न था? 'श्रीपुर' में एक सुरंग थी। उससे और नागार्जुनीय गुफा से संबंध तो नहीं है? महाकोसलांतर्गत 'भ्रमर-कूट'-नामक देश था, जो अब बस्तर कहलाता है। राजिम के जगपाल-शिला-लेख में 'भ्रमरभद्र' देश के जीते जाने का उल्लेख है।

लोचनप्रसाद

× × ×

६. प्रकृति-पुजारिन

मगन गगन है तुम्हारी भजनावली में,
कोकिल-कपोत-कीर के समान कूजा को;

* किसी-किसी ने सद्वाह का नाम "शंकर" लिखा है।

'माधव' बजे हैं घने घंट घनराज के ये,
सुमिषत साखी न तिलोक में चहूँ आको।
ठाढ़ी निसि-बासर से आज धूप-दीप लैके,
चाँदनी की आरती लै भोग कंद-कूआ को।
लाइए न बार नैक खोलिए दया के द्वार,
प्रकृति-पुजारिन खड़ी है नाथ पूजा को।
माधवचरण द्विवेदी "माधव"

× × ×

७. बंबई की कपड़े की मिलें

बंबई की मिलों के बने हुए कपड़ों की खपत देश में काफ़ी बढ़ गई है। इसके मुख्य दो कारण हैं—एक तो जनता की देसी माल की ओर अभिरुचि, और दूसरे मिलों के माल का सस्ता और टिकाऊ होना। भारत ग़रीब देश है; ग़रीबों को सस्ता और मोटा माल ही पसंद आता है। पर यह बात ब्रिटिश-गवर्नमेंट की आँखों में बेतरह खटकती रही है। देसी माल की देश में खपत होने से विलायती कपड़े को धक्का पहुँचना स्वाभाविक है। विलायतवाले अपनी मिलों के बने हुए कपड़ों के लाभजनक व्यापार के लिये बहुत कुछ भारतवर्ष पर अवलंबित हैं। अँगरेज़ों के मुँह से प्रायः यह सुना गया है कि भारत का व्यापार ही हमारे लिये रोटी और पनीर है। तब ऐसे व्यापार की रक्षा के लिये अँगरेज़-जाति का लालायित रहना बहुत ही स्वाभाविक है।

इस समय बंबई के कपड़े के व्यापार पर दैवी कोप आ पड़ा है। मिलवालों के पास प्रायः अट्ठारह करोड़ रुपयों का माल गत वर्ष स्टाक में मौजूद था। बड़े घाटे से माल बिक रहा है। मिलवाले अब तक अधिक-से-अधिक मौक़ा पड़ने पर तीन-चार सप्ताहों की बनत स्टाक में रख लेते रहे हैं। पर १८ करोड़ का थोक स्टाक दूने से भी अधिक बढ़ गया है। रुपए का काम रुपए ही से चलता है, बातों से नहीं। परिणामतः कई एक मिलें बंद हो चुकी हैं, और कइयों के शीघ्र ही बंद हो जाने की ख़बर है। मिलवालों ने सरकार से इस विषय में सहायता चाही थी। कोई दस-बीस करोड़ रुपया उधार नहीं माँगा था। कहा था कि २$\frac{1}{2}$ प्रति सैकड़ा की देसी माल पर की ड्यूटी हटा दी जाय। इससे माल की कुछ खपत बढ़ जायगी, और स्टाक भी कुछ कम हो सकेगा। पर भारत-सरकार के कर्णधार सर्वथा हितैषी लॉर्ड रीडिंग महोदय को यह प्रस्ताव स्वीकार करने में आपत्ति रही। कारण, २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत की ड्यूटी हटाने से आय में बहुत घाटा होगा, जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती। यह घाटा सैनिक विभाग का शाही ख़र्च कम करके क्या पूरा नहीं हो सकता था? हाँ, यह बचत और खपत का होना किसी भी भारतीय कार्य की उन्नति में रोड़े अटकाने के लिये तो हुआ करता है। मिलवालों को समझना था, समझ से काम लेना था कि वे गुलाम काले भारतीय हैं। विलायती एक्सचेंज का यह भाव भी विलायती माल की अधिकाधिक खपत के लिये ही सरकार ने बना रक्खा है। कहने को तो विलायती माल पर सरकारी ड्यूटी ११ प्रति सैकड़े लगती है; पर दूसरी दिशाओं से स्वदेशी उद्योग पर ऐसा छिपा प्रहार होता है।

ऐसा सुना जाता है कि विलायती मिलवालों का एक सिंडीकेट बंबई की बीस प्रसिद्ध-प्रसिद्ध मिलों को, इन बुरे दिनों का लाभ उठाकर, आधे-तिहाई दामों पर ख़रीदने की बातचीत कर रहा है। ईश्वर न करे, इँगलैंड के कारख़ानेवाले यहाँ भी अपने पैर पसारें, और बंबई तथा अहमदाबाद की मिलों को ख़रीद लें। नहीं तो भारतीय कारख़ानों के अँगरेज़ी रूप में परिवर्तित होते ही, मुनाफ़े का अंश अँगरेज़ों की पाकेटों में जाते ही, किस आसानी के साथ देसी व्यवसाय-रक्षा की दुहाई देकर २$\frac{1}{2}$ प्रति सैकड़ा की चुंगी हटा दी जाती है, यह हम सभी देखेंगे।

शिवनारायण टंडन

× × ×

८. कालिदास की शकुंतला

छुओ न इसको, अति कोमल है यह सुरभित सुर-सुमन अनूप;
रस-परिप्लावित पंखड़ियाँ नव, हो जाएगा मलिन स्वरूप।
करने दो विहार इस वन में, फूल-फूल मुसकाने दो;
पास न जाओ— हृदय खोल, अलि! इसे सुगंध लुटाने दो।
किंतु छुओ यदि सरल, शुद्ध बन, हाथ लगाना—निश्चल शांत
उड़े पराग, न हिले कलेवर, दल न दलित हो, हृदय न भ्रांत।

सुमंगलप्रकाश गुप्त

× × ×

९. "अतीत स्मृति"

अए कौन तुम हृदय विलोड़ित
करने आई माया-सी,
मंगलमय-सी, मंजुलता-सी,
सुख-सरिता-सी, छाया-सी?

अए कौन क्यों आ-आ करके
करती हो झंकृत मानस।
अए बहा देती हो उसमें
कैसा मंजुल मधुमय रस।
अए कर रही मन-मंदिर को
किसकी स्मृति से आज अधीर।
अए अचानक हृदय-स्थल में
रह-रहकर क्यों उठती पीर?
अए आज क्यों बज उठते हैं
मेरी हृत्तंत्री के तार?
अए निकलते किस स्मृति के
करुण व्यस्त विह्वल उद्गार?
अए नाचते हृदय-मंच पर
धर-धरकर स्वरूप सुकुमार।
अए खोल देते ये कितनी
विस्मृत-स्मृतियों के सब द्वार?
अए हृदय का किसकी स्मृति में
कैसा आकुल यह नर्तन?
अए विवशता-वश यह देवी
क्रीड़ा-युत उत्थान-पतन।
अए हृदय की विरस धरा पर
कैसा यह रसमय संचार?
बीती बातों का यह कैसा
स्वर्ग-स्वप्न-सम कोमल भार।
अए उमंगों की कल्पित काया
का कैसा करुणोच्छ्वास?
किस अतीत स्मृति का हो
आया मंजु मौन आभास।

चंद्रनाथ मालवीय "वारीश"

× × ×

१०. रामायण में जंगली नाम

बड़े हर्ष की बात है कि जिस उद्देश्य से 'रावण की लंका'-विषयक लेख हिंदी में लिखा गया था, वह अब किसी अंश में उस विषय की छानबीन करने के लिये हिंदी-लेखकों को उत्तेजित कर रहा है।

इंदौर के सरदार कीबे साहब ने पहलेपहल पूने की प्रथम ओरियंटल कानफ़्रेंस में इसकी चर्चा अँगरेज़ी में की थी। द्वितीय कानफ़्रेंस कलकत्ते में हुई; उस समय यह विषय भुला दिया गया। परंतु जब हिंदी में इसकी चर्चा आरंभ की गई, तब कीबे साहब ने तृतीय कानफ़्रेंस में, मदरास में, पुनः आंदोलन उठाया। चौथी कानफ़्रेंस प्रयाग में, हाल ही में, ता० ५-७ नवंबर, सन् १९२६ को हुई। उसमें वकील बढेर साहब ने अपना एक नया मत प्रकाशित किया कि लंका न अमरकंटक में थी, न सीलोन में, न आसाम में। यह कन्याकुमारी से ७०० मील विषुवत्-रेखा पर, समुद्र के बीच राक्षस-द्वीप में थी। इस पर वाद-विवाद भी हुआ, जिसमें सीलोन से आए हुए प्रतिनिधि माननीय जयतिलक बैरिस्टर भी शामिल थे। इनका विवरण हम किसी अन्य लेख में कुछ ब्योरे-वार देंगे।

इस लेख में हम श्रीयुत किशनलाल सरसोंदे के लेख के विषय की कुछ चर्चा करेंगे, जिन्होंने बाबू रामदास की बतलाई हुई कई नामों की व्युत्पत्ति पर अपने विचार प्रकट किए हैं। खेद की बात है कि मेरे लेख की नक़ल करने या छापनेवाले की एक भूल ने बाबू किशनलाल को बड़े भ्रम में डाल दिया। एक जगह 'अनार्यों' की जगह 'आर्यों' के छाप देने से यथार्थ में अर्थ भ्रष्ट हो गया; परंतु उस वाक्य के आगे का वाक्य ध्यान-पूर्वक पढ़ा जाय, तो छापे की ग़लती स्वयं प्रकट हो जाती है। माधुरी में जो वाक्य छपा है, वह यों है—"रामायण में अनेक आर्यों के नाम संस्कृत रूप में बतलाए गए हैं, और उनके मनमाने अर्थ लगा लिए गए हैं, परंतु यथार्थ में वे अनार्य-भाषा से लिए गए थे। वाल्मीकि स्वयं अनार्य थे, और अनार्य-नामों के अर्थ भली भाँति समझते थे।" प्रथम वाक्य में 'आर्यों' की जगह 'अनार्यों' के पढ़ने ही से द्वितीय वाक्य सार्थक होता है। इस ग़लती से श्रीकिशनलालजी ने अनुमान किया है कि जिन नामों की व्युत्पत्ति रामदासजी ने जंगली भाषा से बतलाई है, वे सब आर्यों के नाम थे। उन सब व्यक्तियों का मनन करने से स्पष्ट जान पड़ेगा कि वे आर्य नहीं थे। अपनी भाषा का गर्व सबको रहता ही है, अन्य लोग उसे कैसा ही समझें। इसलिये यह स्वाभाविक ही है कि वे अपनी संतान का नाम उसी भाषा में रक्खें। और यह भी स्वाभाविक है कि अन्य भाषा में उन नामों का ज़िक्र होते समय वे उस रूप में दिखलाए जायँ, जो उस भाषा की धारा के अनुकूल हों, और पढ़नेवालों को न खटकें। ग्रीक लोगों ने चंद्रगुप्त का नाम ग्रीक-भाषा के प्रवाह के अनुकूल

सैंड्राकोटस लिखा है। इसी प्रकार ग्रीक-जातीय अलेक्ज़ेंडर को इस देश की भाषा के अनुकूल सिकंदर कहा जाता है। अनार्यों की भाषा बड़ी अटपट है। निदान वह संस्कृत से मिलान नहीं खाती। रामायण-रचयिता को उनके नामों का समावेश, उनके असल नाम से मिलता-जुलता, इस प्रकार का करना पड़ा, जो संस्कृत पढ़नेवाले को न खटके। रामदास बाबू ने उन्हीं संस्कृत-वेषधारी नामों के असल रूप दिखलाने का प्रयत्न किया है। वह इस प्रयत्न में कहाँ तक कृतकृत्य हुए हैं, यह पाठकों की जाँच पर निर्भर है।

बाबू किशनलाल ने किसी शब्द की व्युत्पत्ति का श्रेय मुझे दिया है, और किसी का रामदासजी को। मैं समझता हूँ, मैंने अपने लेख में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया था कि मैं बाबू रामदास के लेख का ही हिंदी में आशय प्रकट करता हूँ, न कि अपना। यदि किसी कारण से किसी को भ्रम हो गया हो, तो मैं पुनः यह बतला देना उचित समझता हूँ कि व्युत्पत्ति ढूँढ़ निकालने का पूर्ण श्रेय बाबू रामदास को है, जिन्होंने सावरी व अन्य जंगली-भाषाओं का अध्ययन किया, और अनेक जंगली-जातियों के बीच रहकर उनकी भाषा बोलना भी सीख लिया है।

यदि बाबू किशनलाल मेरे लेख को ध्यान-पूर्वक पढ़ेंगे, तो उनको विदित हो जायगा कि किसी-किसी स्थल में मुझे भी बाबू रामदास की बतलाई हुई व्युत्पत्ति पर शंका है। यथा किष्किंधा की रामदासीय व्युत्पत्ति दिखलाकर मैंने लिखा है—"इस व्युत्पत्ति पर कल्पना को कदाचित् अधिक ज़ोर दिया गया है। परंतु किष्किंधा निस्संदेह जंगली-भाषा का शब्द है, अर्थ उसका चाहे जो कुछ रहा हो।" इस शब्द में ऊपर ही से अनार्य-भाषा की झलक है। परंतु कुछ शब्द अन्य भाषा में ऐसे मिल जाते हैं, जैसे दूध में शक्कर। कौन कहेगा कि अँगरेज़ी-शब्द टीक (Teak), जिसका अर्थ सागौन होता है, एक भारतवर्षीय अनार्य-भाषा अर्थात् गोंडी-भाषा से लिया गया है। सागौन को गोंडी में 'टेका' कहते हैं। उसी शब्द से 'टीक' बना। वही लैटिन-भाषा में टेक्टोना (Tectona) हो गया।

मुझे ज्ञात नहीं कि अनार्यों के विषय में बाबू किशनलाल की क्या धारणा है; परंतु अनार्य भी मानव-जाति ही के थे। वे इस देश के मूल-निवासी थे; आर्य बाहर से आए हुए थे। आर्य अपनी भिन्नता बतलाने के लिये मूल-निवासियों को अनार्य कहने लगे, जैसे मुसलमान लोग हिंदू और अन्य जातियों को काफ़िर कहने लगे। चुनाव की भाषा में आज भी मोहम्मडन और नान-मोहम्मडन अर्थात् मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान का उपयोग किया जाता है। पिछले शब्द में हिंदू भी शामिल हैं। तो क्या उन्हें 'ग़ैर-मुसलमान' कहने से उनकी किसी प्रकार की हीनता का आभास होता है? मुस्लिमों में कई बड़े-बड़े मौलवी-फ़ाज़िल पाए जाते हैं। क्या उन्हीं के समान ग़ैर-मुस्लिमों में उसी प्रकार के विद्वान् होना असंभव है? ईश्वर ने क्या आर्यों ही को मानसिक शक्ति का ठेका दे रक्खा था, और अनार्यों को पशु-बुद्धि दी थी?

मेरी समझ में यह नहीं कहा जा सकता कि वाल्मीकि यदि अनार्य थे, तो वह कदापि रामायण के समान संस्कृत-ग्रंथ नहीं लिख सकते थे। वाल्मीकि की जो जाति बतलाई जाती है, वह अनार्यों में शामिल है। यदि परंपरा की वार्ता ठीक है, तो उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वह आर्यों के संसर्ग से संस्कृत-भाषा सीख गए, और उन्होंने अपनी तीव्र बुद्धि के कारण उसमें श्रेष्ठता प्राप्त कर ली। गुण की पूजा आर्य सदा से करते आए हैं। रामायण ही में अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि स्वयं राम ने कई अनार्यों के गुण की पूजा की। फिर यह कैसे संभव था कि इतने बड़े गुणी वाल्मीकि का सम्मान आर्य न करते? प्राचीन समय को जाने दीजिए, चार-पाँच सौ वर्ष के बीच की ही बात लीजिए। इस समय में रैदास, नामदेव, पीपा, कबीर आदि हो गए हैं। इन चमार, दरज़ी, धुनिए, जुलाहे आदि का लेखा लगाइए कि कितने आर्य श्रद्धा-पूर्वक उन्हें मान देते या पूजते हैं।

अभी सौ वर्ष के भीतर की बात है, एक कंध-जाति का अनार्य, जिसको अँगरेज़ी में 'खोंड' लिखते हैं, महिमा-धर्म का संस्थापक हो गया है, जिसके चेले ब्राह्मण तक हो गए। भीमभोई को मरे अभी केवल ३० ही वर्ष हुए हैं; परंतु इस अपढ़ अनार्य ने अपने नवीन धर्म-विषयक छंदोबद्ध ग्रंथ-के-ग्रंथ लिखवा दिए। भीमभोई अशिक्षित ही नहीं, जन्म का अंधा भी था। किंतु अनार्य होने के कारण ईश्वर ने उसे आर्यों के गुणों से वंचित नहीं किया। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इसलिये मूल-निवासियों में, आर्य न होने पर भी, उच्च मानव-शक्तियों का होना असंभव नहीं।

बाबू किशनलाल के शेष लेख में व्यक्तिगत विश्वास का विवरण है। वह अपनी-अपनी समझ की बात है। यथा आप लिखते हैं—'यदि जैन-ग्रंथों में पर्वत की उँचाई ६ योजन लिखी है, तो उसको इतनी ही मानना चाहिए, चाहे सत्य हो या असत्य।" मैं समझता हूँ, वह कुंभकर्ण के शरीर का प्रमाण उतना ही मानेंगे, जितना रामायण में लिखा है, चाहे वह घर में, नगर में या लंका में समा सकता रहा हो, या नहीं।

आगे चलकर आप प्रश्न करते हैं कि जैतान का जनस्थान कैसे हो गया? इसका उत्तर यही है कि जंगली-नामों का जब संस्कृत-रूप में परिवर्तन किया गया, तो उसके लिये मिलता-जुलता संस्कृत का ऐसा शब्द रक्खा गया, जो सार्थक हो। यदि यह ठीक नहीं जँचता, तो आपने क्यों नहीं बतलाया कि अमुक शब्द होना चाहिए था।

फिर आप पूछते हैं—"यह निश्चयपूर्वक कैसे कहा जा सकता है कि खर अमरकंटक के निकटस्थ स्थान ही में रावण की सेना लेकर रहा करता था?" निश्चयपूर्वक की बात दूसरी है।

निश्चयपूर्वक तो राम या रावण का अस्तित्व सिद्ध करना भी कठिन है। कई विद्वान् इस विषय पर शंका कर ही चुके हैं। राम के समय से अब तक इतना समय हो चुका है कि उस समय के प्रामाणिक चिह्नों का मिलना बड़ा कठिन है। तो भी छत्तीसगढ़ की खलौटी में रावण-वंशी गोंड़ और खर का स्थान खरौद, और वहाँ पर खर-दूषण के युद्ध की आख्यायिका अभी तक मौजूद है। पुनः दंडक-शब्द की व्युत्पत्ति पर टीका करते हुए आप लिखते हैं—"यह एक आश्चर्य की बात है कि एक भाषा के शब्द में दूसरी भाषा का शब्द कैसे मिल गया!" इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार माधुरी के उसी अंक में, जिसमें किशनलालजी का नोट छपा है, पृष्ठ १६० में दिए हुए सरदार-मारकेट, फ़तह-सागर या मेड़तिया-दरवाज़ा या पृ० १६२ में तख़्तविलास अथवा पृ० १६३ में दरबार-स्कूल आदि शब्दों में भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों का मेल हो गया, उसी प्रकार यहाँ भी एक जंगली और उसी से निकली हुई बोली के शब्दों का मिश्रण हो गया है।

पुनः आप लिखते हैं—"पक्षियों की अधिकता सभी सरोवरों में हुआ करती है, फिर (हंस) पक्षियों की अधिकता के कारण केवल इसी सरोवर का नाम पंपा पड़ना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।" केवल पंपा ही का नाम पक्षियों के नाम पर से नहीं पड़ा; आपको सारस-ताल अथवा गीध-तलाई कई नाम बतलाए जा सकते हैं।

आगे आप पूछते हैं—"क्या रामायण के रचनाकाल में संस्कृत-साहित्य इतना संकीर्ण था कि महर्षि वाल्मीकि को अपनी रचना पूर्ण करने के लिये ज़बरदस्ती खींचतान कर शावरी-भाषा के शब्द को संस्कृत-भाषा में परिणत करना पड़ा?" जी नहीं, शब्दों की संकीर्णता नहीं थी। महर्षि व्यक्तिवाचक शब्दों को बदल नहीं सकते थे, इसलिये उन्होंने अड़बड़ नामों को, जहाँ तक हो सका, आर्य-विचार के अनुसार, सुंदर रूप दे दिया। आगे चलकर उन्होंने इसी बात को दुहराया है, और लिखा है कि "संस्कृत-साहित्य कभी भी जंगली-भाषा के साहित्य से पिछड़ा हुआ न था, जिससे महर्षि वाल्मीकि को रामायण-महाकाव्य के लिखने के लिये किसी दूसरी भाषा का आश्रय लेना पड़ा हो।" इससे स्पष्ट है कि आप रामदास बाबू के अभिप्राय को बिलकुल भूल गए। वाल्मीकि ने जंगली-भाषा-साहित्य का आश्रय नहीं लिया। उन्होंने, जैसा ऊपर बता चुके हैं, अनार्यों के नामों को संस्कृत-भाषा की धारा के अनुकूल रूप दे दिया। फिर आप पूछते हैं—"वाल्मीकि ने अपनी मातृभाषा में रामायण क्यों नहीं लिखी?" इसका वही कारण है, जिससे प्रेरित होकर भीमभोंड ने चालीस-पचास वर्ष पूर्व अपनी मातृभाषा 'कुइयाँ' में रचना न करके आर्य-भाषा उड़िया में की, अथवा डॉक्टर राजेंद्रलाल ने बँगला-भाषा में रचना न करके अँगरेज़ी-भाषा में की।

अंत में यह बतलाना अभीष्ट जान पड़ता है कि प्रश्नों की झड़ी लगा देना कोई कठिन बात नहीं है; परंतु यथार्थ उपयोगी बात की चर्चा करना विरले ही के भाग्य में पड़ता है। लंका की स्थिति व्यक्तिगत मत से निर्धारित नहीं होती। खंडन और मंडन, दोनों की सामग्री एकत्रित करने की आवश्यकता है, तभी कोई बात निर्धारित की जा सकती है। फिर भी मैं बाबू किशनलाल को धन्यवाद दिए बिना नहीं रह सकता कि उन्होंने जंगली-भाषा न जानकर भी कुछ मनोरंजक चर्चा तो छेड़ी।

हीरालाल

× × ×

१. कुंभकर्ण-चूहा

ई मुल्कों के जंगलों में एक प्रकार का चूहा होता है, जो 'डार माउस' कहलाता है। जाड़े के दिनों में जब ज़मीन बर्फ़ से ढक जाती है और खाने को कुछ नहीं मिलता, तब यह बिल में पड़कर सो रहता है और जब तक जाड़ा रहता है, पड़ा सोया करता है। इस प्रकार साल भर में यह लगभग छः-सात महीने सोता है; और जब उठता है, तो पहले की अपेक्षा बहुत मोटा-ताज़ा हो जाता है।

× × ×

कुंभकर्ण-चूहा

२. आलसी कोयल

कोयल बड़ी आलसी चिड़िया है। यह कभी अपने लिये घोंसला नहीं बनाती। यही नहीं, अंडों का सेना और बच्चों का पालन-पोषण करना भी इससे नहीं बन पड़ता। यह अपना काम दूसरों के सिर मढ़ती है। अंडे देते ही उन्हें किसी दूसरी चिड़िया के घोंसले में छोड़ आती है। वह चिड़िया उन्हें अपने अंडे समझ कर सेती है, और जब उनसे बच्चे पैदा होते हैं, तो उनका पालन-पोषण करती है। दूसरे से पाले जाने के ही कारण तो कोयल को 'परभृत' कहते हैं।

कोयल में एक खूबी और है। स्वतंत्रता इसे

आलसी कोयल

बहुत प्रिय है। यदि संयोग से कभी पिंजड़े में बंद कर ली जाती है, तो कुछ ही दिनों मे मर जाती है।

भूपनारायण दीक्षित

× + ×

३. बूट और ब्रह्मा

बूट ब्रह्मा के पास गया और रो-कलप के कहने लगा—"हे जगत्पिता, मैं बड़े दुख में हूँ। मेरे साथ लोग बड़ा अन्याय कर रहे हैं। संसार मे चावल, गेहूँ, अरहर आदि बहुत-से अन्न है : पर किसी के साथ ऐसा अन्याय नहीं किया जाता। जनमते ही मेरे पत्तों को लोग साग कहके खाना शुरू कर देते हैं। फल लगते ही हरा बूट कहके मुझे लोग बड़े चाव से खाते हैं। फिर फ़सल कटने पर खलिहान में जब मेरी रास तैयार होती है, तब तो कहना ही क्या है! पानी में फुलाकर, आग मे भूनकर, घी-तेल में तलकर, जैसे बना तैसे, सफ़ा-चट कर जाते हैं। फिर बेसन की बड़ी, कढ़ी, फुलौरी, पूरी, लड्डू, पकौड़ी, न-जाने कितने ही तरह के पदार्थ बनाकर बड़े शौक़ से खा जाते हैं। सत्तू की तो बात ही न्यारी है। ग़रीबों की सहायता करने में सबसे अधिक उसी की तैयारी है। सबसे हारे, तो यों ही खड़े-खड़े कच्चा चबा जाते हैं। मैं क्या करूँ? हैरान हूँ। कोई बस नहीं। सब बेकार है। किसको-किसको रोकूँ? आप विधाता हैं। आपसे अपना दुखड़ा न रोऊँ, तो किससे रोऊँ?"

ब्रह्मा ने कहा—"बेटा बूट, रोने या चिंता करने की कोई बात नहीं। यह तो तुम्हारे बड़े भाग्य की बात है कि तुम और अन्नों से बढ़कर लोगो के प्रिय बने हो, उपकार करके पुण्य कमा रहे हो। उपकारी की बड़ी महिमा है। तुम धन्य हो! धन्य हो!!"

बूट ने कहा—"महाराज, मैं ऐसे भाग्य को लेकर क्या करूँ? धन्य-धन्य और वाह-वाह से तो मेरा दुख कम नहीं होता। पुण्य का न जाने कब फल मिलेगा? हाल में तो अनेक प्रकार के दुख उठा रहा हूँ।"

ब्रह्मा बोले—"बस करो, अधिक न बोलो। तुम्हारा रूप और स्वाद बड़ा लुभावना है। इसीलिये लोग तुम्हें बहुत चाहते हैं। सामने से हटो, नहीं तो मेरा भी मन चल रहा है।"

ब्रह्मा की बात सुनकर बूट बेतहाशा भागा, और ठोकर खाकर गिर पड़ा, जिससे उसकी गर्दन टेढ़ी हो गई, और आज तक टेढ़ी रहकर ब्रह्मा की शान दिखा रही है।

दामोदरसहायसिंह

× × ×

४. दादाजी

दादा—बच्चो मुझको राह बताओ।
एक—दादाजी, सीधे ही जाओ।
दूसरा—दादा, नहीं, इधर ही आओ।
दादा—भाई, एक राह बतलाओ।

दादाजी राह बताओ

पहला—मैं जा रहा वहीं पर भाई।
दूसरा—मैं तो रहता वहीं सदा ही।
दादा—दोनों जाते दो तरफ़, मानूँ किसकी बात ?
हुई रतौंधी है मुझे, होती आती रात।
पहला—गठरी दो, तो मैं बतलाऊँ।
दूसरा—लकड़ी दे दो, तो सँग आऊँ।
दादा—बेटा, क्यों मुझको तँग करते।
नहीं भला ईश्वर को डरते।
बूढ़े को जो कभी सताता।
नहीं कभी वह है सुख पाता।
दोनों—अच्छा, आप इधर से जावें।
दादा—तुम सबके अच्छे दिन आवें।
पहला—कैसा मज़ा मिला, क्यों भाई ?
दूसरा—तुमने जल्दी राह बताई।

गुरुराम "भक्त"

× × ×

५. न्याय का नमूना

[१]

प्रतिदिन की भाँति, उस दिन भी शहर की सब दूकानें खुली हुई थीं। 'लगन' हलवाई अपनी मिठाई की दूकान पर बैठा अपने गाँहकों से लेन-देन कर रहा था। उसकी दूकान के सामने एक पल्टनिया-रंगरूट-खड़ा था। रंगरूट हिंदुस्तानी आदमी था। उसकी अवस्था ३० वर्ष के लगभग थी, और सात-आठ वर्ष से वह पल्टन में नौकरी करता आ रहा था। उस समय वह बड़े ग़ौर से हलवाई की दूकान की ओर ताक रहा था। परंतु हलवाई लेन-देन में डूबा था। उसका ध्यान पल्टनिए की ओर ज़रा भी न था।

दोपहर का समय था। लगन की दूकान पर अब गाँहकों का वैसा जमाव न था। धीरे-धीरे एक भी गाँहक नहीं रहा। हलवाई ने फ़ुरसत पाकर बिक्री के रुपयों का हिसाब किया, और उन्हें एक थैली में रखने लगा। इसी समय वह पल्टनिया लगन की दूकान पर आकर खड़ा हो गया, और बोला—"कहो सेठ, आज अच्छी बिक्री रही ?"

लगन ने कहा—"जी हाँ, आज अच्छा बिका। आपको कुछ चाहिए क्या ?"

पल्टनिया—"एक सेर मगद दे दो।"

लगन मगद तौलने लगा। पल्टनिए ने कहा—"क्या यह रक़म आज की ही है ?"

लगन—"हाँ साहब !"

पल्टनिया—"कितने रुपए हैं ?"

लगन—"अड़तालीस रुपए हैं, साहब !"

पल्टनिया—"यह थैली नई है क्या ?"

लगन—"जी हाँ, आज ही बनवाई है। लीजिए, मगद रखिए।"

पल्टनिए ने अपना रूमाल बिछा दिया। लगन ने उसपर मिठाई डाल दी। पल्टनिए ने उसे समेटकर बाँध लिया, और जेब से रुपया निकालने का स्वाँग करने लगा। तब तक लगन थैली में रुपए रखने लगा। जब उसने फिर रुपए थैली में रख लिए, तब पल्टनिए ने झपटकर लगन के हाथ से रुपयोंवाली थैली छीन लेनी चाही। लगन ने पल्टनिए की नियत ताड़ ली थी। पल्टनिया लगन से वह थैली छुड़ाने लगा। लगन ने अपने हाथ की थैली पल्टनिए के हाथ में नहीं जाने दी, उसे अपनी ताक़त-भर पकड़े ही रहा। जब पल्टनिए ने देखा, इस खींचातानी का कुछ भी फल नहीं होता दिखता, तब उसने और भी ज़ोर लगाकर थैली छीन लेनी चाही। इसी समय लगन ने बड़े ज़ोर से चिल्लाना शुरू किया। लगन का चिल्लाना सुनकर तुरंत ही पुलीस का एक सिपाही उसकी दूकान पर आ पहुँचा।

लगन कुछ कहने ही नहीं पाया था कि बीच ही में पल्टनिए ने कहा—"अँगरेज़ी राज्य है कि अंधेर? दिन-दहाड़े सरे-बाज़ार लूटता है! बनिया है या डाकू? सरकारी आदमियों के साथ ऐसी चालबाज़ी करता है नालायक़!"

कांस्टेबिल ने लगन से पूछा—"क्या बात है हलवाई?"

लगन ने कहा—"साहब, मैं रुपए गिनकर इस थैली में रख रहा था, इसी बीच में यह साहब, आ गए। इन्होंने अभी मेरी ही दूकान से मगद ख़रीदा है, और बस, लगे एकाएक मुझसे मेरी थैली छीनने। अभी मगद के दाम भी इन्होंने नहीं चुकाए हैं! ऐसा ग़ज़ब हो रहा है हुज़ूर!"

पल्टनिए ने पैंतरा बदलकर कहा—"हरामज़ादा कहीं का! हमारी थैली को अपनी थैली बतलाता है! भैया सिपाही, इस मामले को आगे बढ़ाओ। मैं इस बेईमान को इसकी करनी का मज़ा चखाऊँगा।

[२]

लगन हलवाई और पल्टनिए का मुक़दमा अदालत में पेश हुआ; पर गवाह न होने से हाकिम कुछ भी निर्णय न कर सके। पेशी-पर-पेशी बढ़ चली। पर फ़ैसले की कोई चर्चा ही नहीं!

हाकिम सोचते कि न तो इस मामले के कोई गवाह हैं, न कोई ऐसी सबूत ही है, जिससे ये रुपए किसी एक ख़ास आदमी के समझ लिए जायँ। दोनों आदमी इन्हें अपने रुपए बतलाते हैं। साथ ही रुपयों की ठीक-ठीक तादाद भी दोनों बतलाते हैं। तब फिर इन रुपयों के पाने का हक़दार असल में है कौन? हाकिम ने इस मामले पर बहुत कुछ विचार किया; पर कोई बात उन्हें न जँची। एक दिन एकाएक उन्हें एक नई बात सूझ पड़ी! वह खुशी से उछल पड़े। उन्होंने लगन और पल्टनिए को अदालत में बुलवाया, और कहा—"जाओ, बारह बजे कल तुम लोगों का फ़ैसला होगा।"

[३]

आज लगन और पल्टनिए के मामले के फ़ैसले का दिन है। अदालत में दर्शकों की भीड़ लगी हुई है। ठीक बारह बजे उन दोनों की पुकार हुई। दोनों हाकिम के सामने जाकर अपनी-अपनी जगह पर खड़े हो गए। लोग उत्सुकता से फ़ैसले की राह देखने लगे।

हाकिम ने पहले ही से दो साफ़ कटोरे मँगाकर मेज़ पर रख लिए थे। एक बाल्टी-भर साफ़ पानी अलग रक्खा हुआ था। हाकिम ने वही झगड़ेवाली रुपयों की थैली मँगवाई। नाज़िर ने थैली

मैजिस्ट्रेट के सामने लाकर रख दी। मैजिस्ट्रेट ने उन दोनों कटोरों में से हरएक को साफ़ पानी से तीन-तीन चौथाई भर दिया। कचहरी की सभी खिड़कियाँ खुलवा दी गईं, जिससे प्रकाश काफ़ी पहुँचता रहे।

हाकिम ने कहा—"लगन हलवाई और शेख़ रहीम पल्टनिया! आज तुम्हारे मामले का फ़ैसला होता है।"

दोनों ने कहा—"जी हुज़ूर!"

हाकिम ने अपनी जेब से पाँच रुपए निकाले, और उन्हें मेज़ पर रक्खे हुए पानी-भरे एक कटोरे में डाल दिया। फिर उन्होंने थैली में से पाँच रुपए निकाले, और उन्हें एक दूसरे पानी-भरे कटोरे में छोड़ दिया। एक मिनट तक ठहरने के बाद कहा—"फ़ैसला हो गया!"

दर्शक बड़े उत्सुक हो रहे थे। वे हाकिम के इस करतब को एकाएक नहीं समझ सके। हाकिम ने खड़े होकर कहा—"जिन रुपयों को हमने अपनी जेब से निकालकर इस कटोरे में डाला है, उन रुपयों का कोई असर इस कटोरे के पानी पर हम नहीं देखते। परंतु इस थैली के जो रुपए दूसरे कटोरे के पानी में छोड़े गए हैं, उनका असर हमें प्रत्यक्ष और स्पष्ट दिखाई पड़ रहा है। देखो, थैली के रुपयों से घी-सरीखा चिकना पदार्थ छूटकर पानी पर तैरने लगा है; परंतु हमारी जेब के रुपयों से वैसा नहीं हुआ। बस, यही एक बात सिद्ध करती है कि थैली के ये रुपए लगन हलवाई के ही हैं। शेख़ रहीम पल्टनिया अपराधी है। घी-जैसे चिकने पदार्थ का होना हलवाई के रुपयों पर ही संभव है, पल्टनिए के रुपयों पर नहीं।"

दर्शकों ने एक स्वर से कहा—"बेशक!"

पल्टनिए ने सिर नीचा कर लिया। लगन संतोष और प्रसन्नता के साथ कभी हाकिम को, कभी पल्टनिए को और कभी दर्शकों को देखने लगा। हाकिम ने फिर कहा—"इसी सबूत के बल पर हम शेख़ रहीम पल्टनिए को तीन महीने की क़ैद की सादी सज़ा देते हैं। इन रुपयों के पाने का अधिकारी लगन हलवाई ही है, ये उसे दिए जायँगे।"

दर्शकों ने कहा—"धन्यवाद!"

"स्वर्ग-सहोदर"

---

१. हाथ-विहीन को हाथ-दान

ज्ञान के प्रभाव से मनुष्य सभी संभव और असंभव काम कर सकता है। केवल एक ही काम मनुष्य द्वारा न हो सका है, और न हो ही सकता है। वह है, जीवन-दान देना। हाल में, विज्ञान-संसार में कितने ही अद्भुत और अपूर्व कार्य होते देखे जाते हैं। हेनरी वेमैन नाम के एक अमेरिकन बालक ने जिस समय जन्म-ग्रहण किया, उस समय देखा गया कि उसके दोनों हाथ नदारद हैं। एक्स-रे द्वारा परीक्षा करके देखा गया, तो मालूम हुआ कि उसके दाहने हाथ के स्थान पर ४ इंच की हड्डी-मात्र है। तदनंतर १९२० ई० में चिकागो के डॉक्टर हेनरी ई० मॉक ने अस्त्र द्वारा उसके दोनों हाथों के चमड़े को हड्डी से अलग कर दिया। थोड़े ही दिनों के बाद देखा गया कि उसके हाथ की हड्डी खूब तेज़ी से बढ़ने लगी। आजकल वही बालक अनायास टाइपराइटर का काम बड़ी शीघ्रता से करने लगा है।

× × ×

२. रेडियो का अद्भुत काम

साम्राज्य-भर का गान सुनने के उद्देश्य से ब्रिटेन में इंपायर रेडियो के लिये प्रबंध किया जा रहा है, और उपनिवेशों से उसके ख़र्च में भाग लेने को कहा गया है। इसमें ५० लाख पौंड अर्थात् ७½ करोड़ रुपए लगेंगे। साम्राज्य के किसी भी भाग में इसके द्वारा गान भेजा जायगा, और साम्राज्य-भर के लोग उसे सुनेंगे। भारतवर्ष, आस्ट्रेलिया और कनाडा से प्रतिसप्ताह उसका प्रोग्राम निकलेगा। ब्रिटिश ब्रोड कास्टिंग के ऑफ़िसर मेजर ग्लैडस्टोन मरे का कहना है कि इसमें पृथ्वी के आधे हिस्से में दिन और आधे में रात रहने से अड़चन पड़ सकती है। पर कहा जाता है, इसके लिये आसानी से प्रोग्राम बनाया जा सकता है।

× × ×

३. शरीर बदलनेवाला जंतु

पेंसेलवेनिया-विश्वविद्यालय की जुलोजिकल-लेबोरेटरी में दो वर्ष लगातार अनुसंधान करने के बाद डॉ० मार्था-वाटिंग ने एक ऐसे कोशीय जंतु का पता लगाया है, जिसमें दूसरा जंतु बन जाने तथा पुनः अपने रूप में आ जाने की क्षमता है। यह जंतु देखने में किसी लुआबदार वस्तु की तरह एक छोटी-सी बूँद-जैसा मालूम होता है। एक इंच का १,५००वाँ भाग इस जंतु के शरीर की लंबाई है, जिसके कारण यह केवल ख़ुर्दबीन से ही देखा जा सकता है।

× × ×

४. जलज और स्थलज प्राणी की अनुभव-शक्ति

एक प्राणि-वृत्तांत विषय में प्रवीण वैज्ञानिक ने बहुत खोज के बाद पता लगाया है कि जलज जीवों में अनुभव करने की शक्ति स्थलज जीवों से बहुत कम होती है।

स्थलज जीवों में जैसी गंध और स्वाद ग्रहण करने की शक्ति है, जलज जीवों में उस प्रकार की नहीं।

× × ×

५. एक अद्भुत काँटा

न्यूयार्क-पर्वत पर एक प्रकार के पेड़ का पता लगा है। इस पेड़ में एक तरह के काँटे निकलते हैं। इन काँटों से आजकल ग्रामोफ़ोन बजाने की सुई का काम लिया जाने लगा है। इन काँटों की सुई से प्रायः ३० रेकर्ड बजाए जाते हैं।

× × ×

६. बर्फ़ की तरह एक वस्तु

एक वैज्ञानिक ने पेपियर मेकी (Papier-mache) नाम के एक प्रकार के पदार्थ का आविष्कार किया है। यह पदार्थ बर्फ़ की तरह ठंडा है। हाल में प्रशांत महासागर से अटलांटिक महासागर तक जो चीज़ें जहाज़ द्वारा भेजी और मँगाई जाती हैं—यथा मछली आदि, और ऐसी ही चीज़ें—उन्हें सुरक्षित रूप में रखने के लिये बर्फ़ के स्थान पर इसी वस्तु का व्यवहार किया जाने लगा है। इसके व्यवहार से वे चीज़ें बिलकुल ख़राब नहीं होने पातीं।

× × ×

७. ओक-वृक्ष का तख़्ता

ओक-वृक्ष का तख़्ता बहुत मज़बूत होता है। लंदन-शहर में ५०० वर्ष पहले इसी ओक-वृक्ष के तख़्ते देकर घर की छतें बनाई गई थीं। अभी अनेक बड़े-बड़े इंजिनियरों ने इन छतों की जाँच करके कहा है, तख़्ते आज दिन भी वैसे ही मज़बूत हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि ये तख़्ते लोहे से बहुत अधिक मज़बूत हैं।

× × ×

८. सालमन मछली की उम्र

सालमन मछली की उम्र जानने का एक नया उपाय खोज निकाला गया है। इस मछली की पीठ पर प्रतिवर्ष १६ चिह्न उग आते हैं। अणुवीक्षण-यंत्र के द्वारा इन चिह्नों को साफ़ देख सकते हैं। जितने सोलह चिह्न उसकी पीठ पर दिखलाई दें, उतने ही वर्ष की उसकी उम्र समझनी चाहिए।

गोपीनाथ वर्मा

× × ×

९. वायुयान पर टेनिस

वायुयानों पर अब आमोद-प्रमोद की भी व्यवस्था होने लगी है। घर के बाहर जितने खेल खेले जाते हैं, उनमें सबसे कम स्थान टेनिस घेरता है। इसलिये सबसे पहले
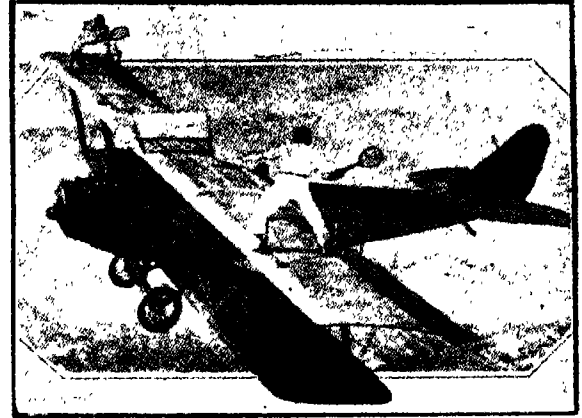
वायुयान पर टेनिस का खेल

टेनिस खेलने ही का प्रबंध वायुयानों पर किया गया है। चित्र में देखिए, तीन हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर, वायुयान के ऊपरी हिस्से पर, किस प्रकार दो खेलाड़ी टेनिस खेल रहे हैं। खेलाड़ियों को वायुयान से गिरने से बचाने के लिये खेल का स्थान तारों से घेर दिया गया है। तो भी इतनी ऊँचाई पर उड़ते हुए वायुयान में टेनिस खेलना साहस का काम है।

× × ×

१०. गोंद रखने का नया पात्र

तरल गोंद को किसी बर्तन में साधारणतः रख दिया जाता है, और आवश्यकता पड़ने पर उसे ब्रश या उँगली से काम में लाते हैं। जो लोग ब्रश से गोंद व्यवहार करने के अभ्यस्त नहीं हैं, उनका बिना उँगली के प्रयोग के काम ही नहीं चलता। गोंद का पात्र लुढ़क जाने से वह गिर कर टेबुल, काग़ज़, किताब आदि को नष्ट कर डालता है। इन असुविधाओं को दूर करने के लिये एक गोंद का आधार बना है, जिसमें गोंद रक्खा रहता है। जहाँ गोंद लगाना होता है, वहाँ इस पात्र का रबरवाला मुँह रख देते हैं, और जहाँ तक उसे लगाना होता है, वहाँ तक उसे हटाते जाते हैं। काफ़ी गोंद आप ही पात्र में से निकलता आता है। रबर का मुँह ऐसा बना है कि वह गोंद को फैला भी
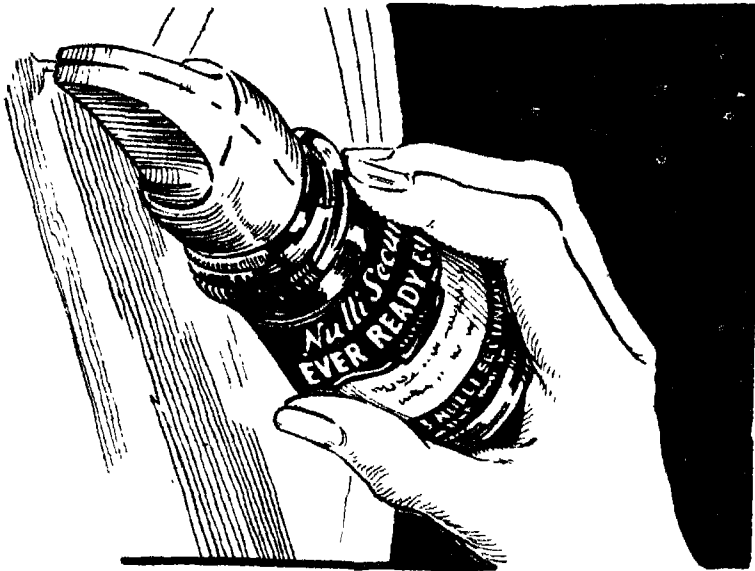
नए ढंग की गोंददानी

देता है, जैसा हम उँगली से करते हैं। इससे न गोंद बरबाद होता है, और न उँगलियों में ही गोंद लगता है।

× × ×

११. रेडियो या बेतार-का-तार

मेरे पास कई महाशयों ने इस आशय के पत्र भेजे हैं कि मैं बेतार-के-तार पर कुछ लिखूँ। बेतार-का-तार आजकल पाश्चात्य देशों में ग़ज़ब ढा रहा है। वहाँ के बच्चे-बच्चे इस विषय की जानकारी रखते हैं। किंतु शोक की बात है कि इस देश के पढ़े-लिखे लोग भी उसके विषय में बहुत थोड़ा ज्ञान रखते हैं। मैं इस विषय की मोटी-मोटी बातें माधुरी के पाठकों के सामने रखता हूँ, और आशा करता हूँ कि वे उनसे लाभ उठावेंगे।

किसी स्थिर तालाब में यदि हम एक पत्थर डाल दें, तो देखेंगे कि जिस स्थान पर वह पत्थर गिरा, उस स्थान को केंद्र मानकर उसके चारों ओर जल की अनेक तरंगे उठेंगी, और चारों ओर फैल जायँगी। ठीक ऐसी ही बात बेतार-के-तार में भी होती है। सारा संसार एक सूक्ष्म पदार्थ से आच्छादित है, जिसे ईथर या 'आकाश' कहते हैं। पृथ्वी ही नहीं, मंगल, बुध आदि ग्रहों तक यह फैला हुआ है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं, जहाँ यह न हो। यह सर्वव्यापी है। इसी ईथर में तरंगें उठाकर बेतार द्वारा समाचार भेजे जाते हैं। तरंगोत्पादक यंत्र जितना ही मज़बूत होगा, उतनी ही बड़ी लहरों को वह पैदा कर सकेगा, और वे दूर-दूर तक जा सकेंगी। अभी तक कोई इतना बड़ा यंत्र नहीं बन सका है, जिसके द्वारा सारी पृथ्वी पर ख़बर भेजी जा सके। किंतु आधी पृथ्वी से अधिक दूर तक तरंगें इस समय भी भेजी जा रही हैं। अन्य ग्रहों तक तरंगों को भेजने के लिये बहुत बड़ी शक्ति की आवश्यकता होगी। उतनी शक्ति पैदा करनेवाले यंत्र बनने में अभी देर है।
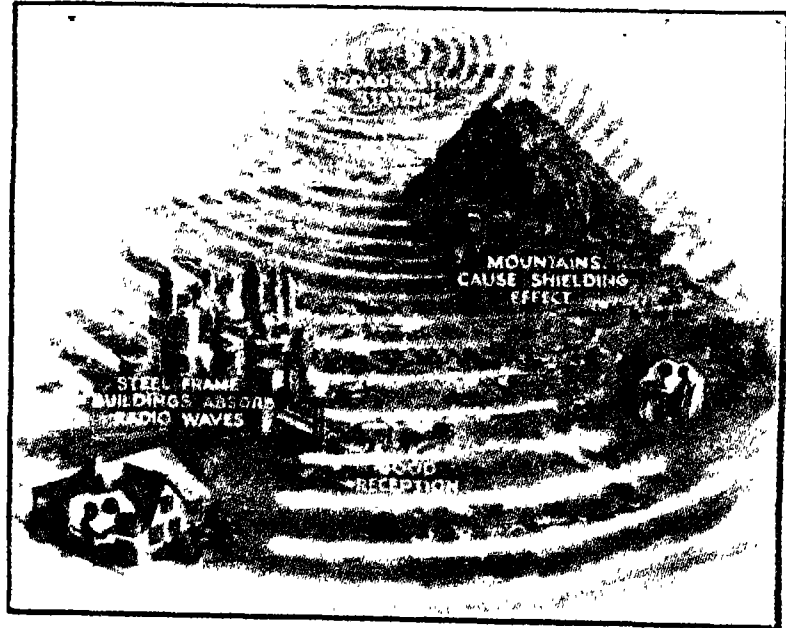
रेडियो द्वारा ख़बर भेजने के समय ईथर या आकाश में ऐसी ही तरंगें उठती हैं

ऊँचे पहाड़, मकान आदि इन तरंगों को रोक लेते हैं, और तरंगें आगे नहीं आ सकतीं। इसलिये पहाड़ों, बड़े-बड़े मकानों—विशेषतः लौह-निर्मित मकानों—के पास रेडियो सेट अच्छा काम नहीं करता। बेतार द्वारा ख़बर भेजने में अभी एक त्रुटि रह गई है। इन तरंगों को पकड़ने के लिये जहाँ-जहाँ यंत्र बैठाए जायँगे, वहाँ-वहाँ वह ख़बर पहुँच जायगी। पर इसके द्वारा हम कोई भी गुप्त समाचार नहीं भेज सकते।

× × ×

१२. क्या दिल कभी आराम नहीं करता?

जीवन-संबंधी बहुत-से ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तर देने में विज्ञान सर्वथा असमर्थ है। बहुत-सी बातें देखने में मामूली-सी जान पड़ती हैं, किंतु उनका उत्तर देना या 'ऐसा क्यों होता है', यह बतलाना बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के लिये भी संभव नहीं। एक साधारण-सा प्रश्न है—दिल क्यों धड़कता है? किंतु इस प्रश्न का संतोष-जनक उत्तर सारी वैज्ञानिक पुस्तकों, प्रयोगशालाओं या विज्ञान के महारथियों के मस्तिष्क में भी नहीं पाया जायगा। यदि हमें इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता, तो आज हम जीवन के रहस्य को समझ जाते। किंतु अब तक ऐसा नहीं होता, हम जीवन को एक आश्चर्य-जनक वस्तु ही समझते रहेंगे।

दिल में निरंतर धड़कते रहने की एक विशेष शक्ति है। धड़कने का अर्थ यदि दूसरे शब्दों में किया जाय, तो यह होगा कि हृदय सिकुड़कर कुछ रक्त को बाहर निकालता है, इसके थोड़ी ही देर बाद फैलता और कुछ रक्त अपने अंदर खींच लेता है। यह क्रिया तबतक जारी रहती है, जबतक मनुष्य या प्राणी जीता रहता है। कुछ लोग यह प्रश्न करने लगे हैं कि दिल बिना आराम किए किस प्रकार हमेशा काम करता जाता है? क्या उसे आराम करने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती, या आराम भी करता है? यह प्रश्न हम-जैसे आम लोगों का नहीं, किंतु बड़े-बड़े जीव-विशारदों का है, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि प्राणियों के सारे शरीर तथा उसके भिन्न-भिन्न अवयवों को विश्राम करने की आवश्यकता पड़ती है। हृदय इस नियम का अपवाद नहीं हो सकता।

दिल की क्रियाएँ तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं—(१) सिकुड़ना, (२) फैलना, और (३) पुनः सिकुड़ने के पहले तक फैला रहना, अर्थात् आराम करना। इन तीनों क्रियाओं में साधारणतः एक सेकिंड से भी कम समय लगता है, किंतु तीसरी क्रिया पहली दो क्रियाओं की अपेक्षा अधिक-काल-व्यापिनी होती है। इससे जान पड़ता है कि दिल २४ घंटों में जितनी देर काम करता है, उससे कहीं अधिक वह विश्राम करता है। हिसाब लगाकर वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि हृदय २४ घंटों में सिर्फ़ १० घंटे काम और बाक़ी १४ घंटे आराम करता है। यही कारण है कि जबतक हम जीते रहते हैं, तबतक हमारा हृदय रात-दिन निरंतर काम करता रहता है, तो भी नहीं थकता। दर-असल हृदय निरंतर काम नहीं करता; वह आराम करने के बाद थोड़ा-सा काम करता है। उसके काम करने के समय से ज़्यादा आराम करने का समय होता है।

हृदय की चाल से हमें एक शिक्षा मिलती है। हम अपने बाहरी जीवन में केवल ८ घंटे सोते और प्रायः १६ घंटे या इससे भी ज़्यादा काम करते हैं; किंतु हृदय, जिसकी चाल प्राकृतिक है, हमें बतलाता है कि हम जितना समय काम करने में बिताते हैं, उससे कहीं अधिक समय आराम करने में लगाना चाहिए। अनुभव से भी देखा गया है कि जो लोग काम करते समय हर आधे घंटे पीछे पाँच मिनट या हर घंटे पीछे दस मिनट आराम कर लेते हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा ज़्यादा काम करते हैं, जो एक बैठक में लगातार तीन-चार घंटे या इससे भी ज़्यादा समय काम करने में लगाते हैं। इसके अलावा सोने के लिये भी काफ़ी समय देना चाहिए। इस समय में मस्तिष्क (Brain) और मन (Mind), दोनों आराम करते हैं। हफ़्ते में एक दिन विश्राम के लिये अवश्य निकाल लेना चाहिए। जो लोग यह सोचकर कि रविवार को काम करने से वे अधिक काम करेंगे, हफ़्ते में एक दिन भी विश्राम नहीं लेते, वे बड़ी भारी भूल करते हैं। पाश्चात्य देशों के लोगों में एक विचित्रता यह भी है कि वे साधारणतः रविवार को अपने मुख्य पेशे का कोई भी काम नहीं करते, और अपने मन-बहलाव के लिये किसी दूसरे ही पेशे को उस दिन अख़्तियार कर लेते हैं। भारतवासियों को इन अनुभवों से लाभ उठाना चाहिए।

× × ×

१३. गऊ के दूध की बनी वस्तुएँ

गो-भक्त हिंदुओं के देश में गउओं की इतनी कमी हो गई है कि यहाँ के प्रति-मनुष्य पीछे औसत एक-आध

छटाँक गो-दुग्ध भी मुश्किल से पड़ता है। दुग्ध-जात वस्तुएँ यहाँ दिन-दिन दुर्लभ होती जा रही हैं। इस देश में कितने ही ऐसे आदमी हैं, जिनको भोजन के समय घी नहीं नसीब होता। इसी से यहाँ की असली अवस्था का कुछ-कुछ पता लगता है। गो-मांस-भक्षक योरपियन जातियाँ गो-दुग्ध इतना इफ़रात से पैदा करती हैं कि वे इसे सिर्फ़ खाती, मक्खन निकालती या उसे घना बनाकर दूसरे-दूसरे देशों को भेजती ही नहीं, बल्कि उससे बहुत प्रकार के उपयोगी पदार्थ भी तैयार करती हैं। यदि आज गउओं का दूध एकाएक बंद हो जाय, तो वहाँ के लाखों मज़दूरों को भोजन के लाले पड़ जायँ।

खाद्य-सामग्रियों में दूध अपना विशेष स्थान रखता है। एक सेर दूध में हमें जितने शरीर-संगठन के उपादान प्राप्त होते हैं, उतने अन्य किसी पदार्थ में नहीं मिलते। दूध से मक्खन निकाल लेने के बाद यदि उसे खट्टा होने के लिये छोड़ दें, तो वह दही बन जायगा, और यह पदार्थ प्रायः ठोस देख पड़ेगा। इससे बहुत-से उपयोगी रासायनिक पदार्थ बनाए जा सकते हैं। इसी से 'केसिन' निकलता है, जिसे मनुष्योपयोगी कार्य में लगाने की परीक्षा वैज्ञानिक लोग बहुत वर्षों से कर रहे हैं। प्रथमतः यह पदार्थ जल-रोधक (water proof) होता है। लसीला होने के कारण गोंद (Glues) साटने का मसाला आदि बनाने के काम में अधिकता से इसका व्यवहार करते हैं। आयल-क्लाथ, एनामेल और रंगों (Paints) में भी दूध की ज़रूरत पड़ती है। आपके पाकेट में जो 'फ़ाउंटेन-पेन' रक्खा हुआ है, उसमें भी संभवतः दूध का कुछ अंश विद्यमान है।

दूध ही से बटन, गहने, चश्मे के फ्रेम, कंघी आदि हज़ारों प्रकार की चीज़ें बनती हैं। पेड़ या पौधों पर, हानि-कारक कीड़ों को मारने के लिये जो दवाएँ छिड़की जाती हैं, उनमें 'केसिन' का रहना आवश्यक है, जिसमें पानी पड़कर उन दवाओं को धो न डाले। कई प्रकार के चिकने काग़ज़ों के बनाने में भी 'केसिन' व्यवहृत होता है। लाखों टन केसिन दक्षिण-अमेरिका से इँगलैंड आदि देशों को हर साल भेजा जाता है। वैज्ञानिक उसे नए-नए व्यापारिक कामों में लगाने की चेष्टा में रात-दिन लगे रहते हैं। दूध आज इतने कामों में व्यवहृत होने लगा है कि उसे देख-कर एक वैज्ञानिक ने एक बार कहा था—"Now we can hardly lay our hands on any article which does not contain—in some form—milk."

अर्थात् "आज शायद ही हम किसी ऐसे पदार्थ को छूते हों, जिसमें दूध, किसी-न-किसी रूप में, न हो।"

इनके अलावा दूध गाढ़ा (Condensed) करके और उसका सफ़ूफ़ (malt) बनाकर दूर-दूर देशों को भेजा जाता है। यह व्यापार आजकल पाश्चात्यों के ही हाथ में है। किंतु हम भारतवासी गो-भक्ति के रँग में इतने रँगे हुए हैं कि गउओं की नस्ल, शारीरिक अवस्था और उनकी दूध देने की शक्ति की उन्नति करने के बदले बातें बनाने में ही अधिक समय लगा देते हैं। क्या इसी से गो-रक्षा होगी? यदि आपमें सच्ची गो-भक्ति है, यदि आप गऊ को माता कहकर पुकारते हैं, और यदि आप गउओं की सचमुच रक्षा करना चाहते हैं, तो अपने घर में गउएँ पालिए, उनको भरपेट भोजन दीजिए, उन्हें अच्छे साँड़ों से मिलाइए, और सबसे बढ़कर यह है कि उनसे अच्छा व्यवहार कीजिए, जिसमें वे नहीं, तो कम-से-कम उनकी संतानें तो अच्छी हों। संसार चाहे जो कुछ करे, उस पर तर्क-वितर्क करने से काम नहीं चलेगा। जब तक आप स्वयं गोरक्षा के सिद्धांत को व्यावहारिक नहीं बनावेंगे, तब तक गो-वंश की वृद्धि की कुछ भी आशा नहीं है। पाश्चात्यों का हम सभी बातों में अनुकरण करते हैं। क्या गो-रक्षा-जैसे उपयोगी विषय में उनका अनुकरण न करेंगे?

रमेशप्रसाद

१. मेरा गर्व

जब मैं नई-नई ब्याह कर आई, तो अपनी शान में ही डूबी रहती। किसी से सीधे मुँह न बोलती। मुझे कितना गुमान था, उठकर आए-गए का आदर भी करना मेरे लिये कठिन था। यदि कभी कोई आ पहुँचता, और आदर करना ज़रूरी होता, तो बड़े गरूर से ही उनका आदर भी करती। मैं संसार को गर्व-मय ही देख सकती थी। बस, मैं समझती कि जो कुछ हूँ, वह मैं ही हूँ, मेरे समान संसार में दूसरा कोई है ही नहीं।

संसार तो मुझे फूलों की सेज दिखाई देता था। मुझे प्रेम मिला था अपने प्राणेश के रूप में। मैं मंत्रमुग्धा-सी होकर संसार में आई थी। नए संसार में उनके बिना मेरा जीवन शून्य था। मुझे वह हृदय से चाहते। मैं मूर्ख थी, मैं संसार में, या यों कहो कि उनके प्रेम में, ऐसा भूली कि मुझे संसार का और कुछ दिखाई ही न दिया। मैं दीवानी हो गई। ओहो! अभिमानिनी हो गई।

जब मेरे प्यारे मुझे ब्याह कर लाए, तो मेरे हृदय की अर्द्धविकसित कली खिल उठी, मेरे आनंद का वारापार न रहा। एक तो प्रेम था, दूसरे धन। धन-वैभव ने मुझे गर्विता बना दिया, मेरे मायकेवाले संपत्तिशाली थे। मेरे पिता थे ही नहीं; परंतु मैं अपने नाना के धन पर अभिमान करती। मुझे जिस घर में ब्याह कर लाए थे, वह एक छोटा-सा सुंदर सजा-सजाया बँगला था। मेरे प्राणाधार ने उसके बाग़ को स्वयं पास खड़े हो-होकर बनवाया था। उद्यान में आते ही मैं ख़ूब ऐंठ और टेढ़ी गर्दन करके चलती। मुझे ऐसा प्रतीत होता, मैंने स्वर्ग लूट लिया है। इस सुंदर बँगले में, सिवा मेरे और जीवन-धन के, अपने परिवार का कोई भी व्यक्ति न था। नौकर-चाकर बहुत थे। वे मुझे मेम साहबा कहकर बुलाते। उस समय तो बजाय सामने झुकने के मैं दूना पीछे को झुक जाती, और बहुत अकड़ के बोलती। मैं घमंड में, ऐंठ में आकर उस परम-पिता को भी भूल गई, जिसकी असीम कृपा से यह सब कुछ मुझे मिला था। मैं अंधी हो गई। बड़े आनंद से दिन गुज़रने लगे। परंतु मुझे मालूम न था कि अदृश्य में मेरे लिये क्या हो रहा है। मैं जानती न थी कि वह बड़ा न्यायकारी है, वह महान् है, वह सबको एक दृष्टि से देखता है। ओहो! मैं झुकना जानती ही न थी। मुझे नम्रता छू तक न गई थी। मुझे मालूम न था कि मुझे झुकना पड़ेगा। उस महान्, उस शक्तिशाली पिता के आगे झुकना पड़ेगा। नाम को तो मैंने कई दफ़े पूज्य पुस्तक के आगे माथा नवाया, परंतु वह मेरे मस्तक का नत होना एक प्रतिदिन का स्वभाव-सा था। मेरा हृदय एक दिन भी कहीं नहीं झुका। मेरे उस अभिमान का बदला मुझे मिल गया। मेरी इस मूर्खता का ज्ञान मुझे हो गया। हे पिता, तुम

महान् हो। मेरे इस ख़याल का दंड मुझे उपयुक्त मिला कि मेरे समान संसार में कोई नहीं। मैं, मैं, अहंकार ने मेरा सर्वनाश कर दिया। हे परमदेव, मैं आज जान गई कि संसार में नीच-से-नीच प्राणी भी तेरे दरबार में समदृष्टि से देखा जाता है।

मेरे उमड़ते हुए आनंद के सागर में तूफ़ान आ गया। मेरे नाना इस लोक को छोड़ गए! मैं अधीर हो उठी, और मेरा गर्व कुछ दिनों के लिये धूल हो गया।

ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया, मैं दुःख को भूल गई, और फिर मेरा स्वभाव वैसा-का-वैसा हो गया। एक दिन की बात है, कुछ अतिथि मेरे यहाँ आए। उनके आने पर मैंने उठकर उनका स्वागत नहीं किया। मुझे मालूम था कि वे बड़ी दूर से आए हैं, और मेरे शहर में एक-दो दिन ही ठहरेंगे, तथा मेरे प्राणेश्वर से उनकी घनिष्ठता है। पर मैं तो समझती, वे ग़रीब हैं, वे मेरे दर्जे के नहीं हैं। जब मैंने उनका स्वागत भी न किया, तो मैं जानती हूँ, उनके हृदय में कितनी चोट लगी। परंतु वे सभ्य थे। चुपचाप एक ओर को बैठ गए। मैं तो यह जानती थी कि जो लोग सरकार से बड़ी-बड़ी तनख़्वाहें पाते हैं, उनका ही आदर करना चाहिए। ओहो! मैं कितनी भूल में थी। प्रथम तो वह बड़े कुलीन, विद्वान् और संपत्तिशाली थे। उनकी घरवाली मुझसे अधिक विदुषी, डिग्री-प्राप्त तथा रूप-लावण्य में हज़ारगुना बढ़कर थीं। दूसरे उनके घर की बड़ी जायदाद थी। पर वह दिखावा नहीं जानते थे।

और, यदि वह ग़रीब या मध्यम स्थिति के ही होते, तो क्या मुझे उनका आदर न करना चाहिए था? यह मैं उस समय न जानती थी, मैं तो इसी शान में दीवानी थी कि मेरे प्राणेश सरकार से बड़ी तनख़्वाह पाते हैं, और उनका बड़ा ओहदा है।

मैं बार-बार ग़लती करती हूँ; परंतु वह क्षमाशील पिता मुझे फिर-फिर क्षमा करता है। न मालूम क्यों? शायद मेरे गर्व को बढ़ाने के लिये, नहीं, नहीं, मुझे धूल में मिलाने के लिये, मेरे गर्व को चूर करने के लिये! उस परमपिता ने मेरी गोद को एक अति सुंदर बालक से भर दिया। अब तो मैं सातवें आसमान पर चढ़ गई। मेरा तो वही हाल था कि—

"फ़लक पर है दिमाग़ उनका, ज़मीं के रहनेवाले हैं।"

बच्चा दिन-दिन चंद्रमा की कला के समान बढ़ने लगा। मैं उसके भोले-भाले मोहन-स्वरूप को देखकर पागल हो जाती। चूम-चूमकर उसके गाल लाल कर देती। यहाँ तक कि वह रोने लगता। फिर उसे बड़े प्यार से अपने हृदय से लगा लेती, दुलार करती, तथा पुचकार के उसे शांत करती। मुझे हरएक बात में अँगरेज़ी ढंग पसंद था। मैंने अपने 'पुतले' के लिये एक अच्छी आया और एक बैरा रक्खा था। उसके श्वेत सुडौल, सुंदर शरीर को देख मेरा मन बल्लियों उछलने लगता। मेरे आनंद की सीमा को बढ़ाने के लिये ईश्वर ने उसे आँखें भी नीली ही दी थीं। आया उसे बाग़ ले जाती, तो लोग उससे पूछते—"क्या यह किसी योरपियन का बच्चा है?" आया जब मुझसे यह आकर कहती, तो फिर मेरे गर्व का ठिकाना ही न रहता। मैं और वह, दोनों ही उसके पीछे पागल थे। अक्सर उसे मैं अपने साथ मोटर में ले जाती। जिस समय उसे गोद में लेकर मोटर पर पाँव रखती, तो मैं समझती कि दुनिया की शाहनशाह मैं ही हूँ। किसी से बात भी करनी होती, तो टेढ़ी गर्दन करके ही करती। हाँ, यदि उनका कोई मित्र, जो उच्च पदाधिकारी होता या उसकी घरवाली आ जाती, तो मैं काफ़ी शिष्टता के साथ उनसे बर्ताव करती।

समय ने पलटा खाया, और मेरा सुख मिट्टी में मिल गया। मेरा हृदय टूट गया, मेरा गर्व चकनाचूर हो गया, मेरी सुध-बुध बिसर गई, मुझे मालूम हो गया कि एक दिन वह होता है, जब राजा और रंक, सब समान हो जाते हैं। मेरे लहलहाते समुद्र में अचानक तूफ़ान आ गया। अब तो मेरे आँसू नहीं रुकते। मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जाता है। मेरा सिर घूम रहा है। संसार में अंधकार-ही-अंधकार दिखाई देता है। चारों ओर वही (बेटा) नज़र आता है। हाय! थोड़ी देर हुई, वह भागता फिरता था, कलोलें करता था। मेरी गोद में आकर बैठ जाता था। हाय! आज मेरी गोद शून्य हो गई! ओफ़! वह कहाँ चला गया? आज मेरा सिर झुक गया! हाँ, आज, आज मैं जान गई, अहंकार का स्वरूप कैसा भीषण है।

"कुमारी"

× × ×

२. हंस-युक्त खानेदार चतुष्कोण

आवश्यक वस्तुएँ—यदि किसी कपड़े के कोनों पर लगाने हों, तो महीन धागे से और अकेला रखना हो या केवल

बीच में ही टाँकना हो, तो ८ या १० नं० के सूत या रेशमी गोखों से बनाओ।

आरंभ में १२९ फंदे चढ़ाओ।

१ पंक्ति—१ तेहरा ८वीं चेन में, ४१ और ख़ाने (२ चे०, २ छोड़ो, १ है)

२ पंक्ति—२० ख़ा०, (पहले ख़ाने के लिये ५ चे० हर पंक्ति में)

३ पंक्ति—४ ख़ा०, १० तें०, ३६ ख़ा०, १० तें०, ४ ख़ा०।

४ पंक्ति—३ ख़ा०, १६ तें०, ३४ ख़ा०, १६ तें०, ३ ख़ा०।

५ पंक्ति—२ ख़ा०, ७ तें०, १ ख़ा०, ४ तें०, १ ख़ा०, ७ तें०, ६ ख़ा०, ४ तें०, १२ ख़ा० से पीछे फिरो।

६ पंक्ति—२ ख़ा०, ४३ तें०, (१ ख़ा०, ४ तें०) दो दफ़ा, १ ख़ा०, २५ तें०, पीछे फिरो।

७ पंक्ति—२ ख़ा०, ७ तें०, १ ख़ा०, ४ तें०, १२ ख़ा०, ७ तें०, १२ ख़ा०, पीछे फिरो।

८ पंक्ति—३ ख़ा०, १० तें०, ३८ ख़ा०, १० तें०, ३ ख़ा०।

९ पंक्ति—४ ख़ा०, ७ तें०, ३८ ख़ा०, ७ तें०, ४ ख़ा०।

हंसयुक्त ख़ानेदार चतुष्कोण

१० पंक्ति—किनारा (५ ख़ा०, ४ तें०, का), ४ ख़ा०, ४ तें०, ३३ ख़ा०, किनारा (४ तें०, ५ ख़ा०, का)

११ पंक्ति—१० वीं की तरह उलटकर पीछे फिरते हुए।

१२ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ४ तें०, १ ख़ा०, ७ तें०, ३१ ख़ा०, किनारा।

१३ पंक्ति—किनारा, २० ख़ा०, १६ तें०, ५ ख़ा०, ७ तें०, ५ ख़ा०, किनारा।

१४ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, ७ तें०, ४ ख़ा०, ३१ तें०, ८ ख़ा०, ४ तें०, ८ ख़ा०, किनारा।

१५ पंक्ति—किनारा, ७ ख़ा०, ७ तें०, ६ ख़ा०, ४० तें०, ४ ख़ा०, ४ तें०, ५ ख़ा०, किनारा।

१६ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, ४ तें०, ३ ख़ा०, ४६ तें०, ६ ख़ा०, १० तें०, ५ ख़ा०, किनारा।

१७ पंक्ति—१० ख़ा०, १६ तें०, ४ ख़ा०, ५२ तें०, १ ख़ा०, ४ तें०, १२ ख़ा०।

१८ पंक्ति—किनारा, ६ ख़ा०, ४ तें०, १ ख़ा०, २८ तें०, ३ ख़ा०, १६ तें०, ३ ख़ा०, १० तें०, १ ख़ा०, ४ तें०, ४ ख़ा०, किनारा।

१९ पंक्ति—४ ख़ा०, ४ तें०, १ ख़ा०, ४ तें०, ३ ख़ा०, १३ तें०, २ ख़ा०, १६ तें०, ४ ख़ा०, ३१ तें०, (१ ख़ा०, ४ तें०,) दो बार, ३ ख़ा०, ४ तें०, १ ख़ा०, ४ तें०, ४ ख़ा०।

२० पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, (४ तें०, १ ख़ा०,) दो बार, ४० तें०, ३ ख़ा०, ३१ तें०, ४ ख़ा०, किनारा।

२१ पंक्ति—११ ख़ा०, २५ तें०, २ ख़ा०, ४६ तें०, (१ ख़ा०, ४ तें०,) २ बार, १० ख़ा०।

२२ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ४ तें०, ३ ख़ा०, ४१ तें०, ३ ख़ा०, १६ तें०, ६ ख़ा०, किनारा।

२३ पंक्ति—किनारा, १३ ख़ा०, ३४ तें०, १ ख़ा०, १६ तें०, २ ख़ा०, ७ तें०, ४ ख़ा०, किनारा।

२४ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, ७ तें०, १ ख़ा०, १३ तें०, १ ख़ा०, ४० तें०, १२ ख़ा०, किनारा।

२५ पंक्ति—किनारा, ११ ख़ा०, ५८ तें०, १ ख़ा०, ७ तें०, २ ख़ा०, किनारा।

२६ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, ७ तें०, १ ख़ा०, १३ तें०, १ ख़ा०, ४६ तें०, १० ख़ा० किनारा

२७ पंक्ति—किनारा, १० ख़ा०, ६१ तें०, १ ख़ा०, १० तें०, ४ ख़ा०, किनारा।

२८ पंक्ति—किनारा, ७ ख़ा०, (४ ते०, १ ख़ा०,) दो बार, १६ ते०, १ ख़ा०, ४६ ते०, ८ ख़ा०, किनारा।

२९ पंक्ति—किनारा, ९ ख़ा०, ४६ ते०, १ ख़ा०, १६ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ६ ख़ा०, किनारा।

३० पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ४ ते०, ३ ख़ा०, १९ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, २५ ते०, ८ ख़ा०, किनारा।

३१ पंक्ति—किनारा, ८ ख़ा०, ४३ ते०, १ ख़ा०, २२ ते०, (१ ख़ा०, ४ ते०,) दो बार, ४ ख़ा०, किनारा।

३२ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, (४ ते०, १ ख़ा०,) दो बार, ३७ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, १६ ते०, ८ ख़ा०, किनारा।

३३ पंक्ति—किनारा, ८ ख़ा०, १३ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, १३ ते०, १ ख़ा०, २५ ते०, (१ ख़ा०, ४ ते०,) दो बार, ४ ख़ा०, किनारा।

३४ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ७ ते०, ३ ख़ा०, २२ ते०, (१ ख़ा० ७ ते०,) दो बार, १ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, १३ ते०, ७ ख़ा०, किनारा।

३५ पंक्ति—१३ ख़ा०, (१० ते०, १ ख़ा०,) दो बार, ४ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, २ ख़ा०, २५ ते०, २ ख़ा०, ७ ते०, ११ ख़ा०।

३६ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, ७ ते०, ३ ख़ा०, २५ ते०, २ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, २८ ते०, ७ ख़ा०, किनारा।

३७ पंक्ति—४ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ६ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, २ ख़ा०, ४ ते०, ३ ख़ा०, २२ ते०, ३ ख़ा०, ७ ते०, ४ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ४ ख़ा०।

३८ पंक्ति—किनारा, (४ ख़ा०, १० ते०,) दो बार, १ ख़ा०, ७ ते०, ९ ख़ा०, (४ ते०, १ ख़ा०,) दो बार, १३ ते०, ७ ख़ा०, किनारा।

३९ पंक्ति—१३ ख़ा०, १३ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ८ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, ४ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, १० ख़ा०।

४० पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ६ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, ७ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, १३ ते०, ७ ख़ा०, किनारा।

४१ पंक्ति—किनारा, ७ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ७ ख़ा०, १० ते०, २ ख़ा०, ७ ते०, ८ ख़ा०, ४ ते०, ४ ख़ा०, किनारा।

४२ पंक्ति—किनारा, ६ ख़ा०, ४ ते०, ६ ख़ा०, ७ ते०, १२ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ८ ख़ा०, किनारा।

४३ पंक्ति—किनारा, ८ ख़ा०, ४ ते०, १४ ख़ा०, ४ ते०, ७ ख़ा०, ४ ते०, १४ ख़ा०, ४ ते०, ८ ख़ा०, किनारा।

४४ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ७ ख़ा०, ४ ते०, १४ ख़ा०, ४ ते०, ८ ख़ा०, किनारा।

४५ पंक्ति—४४वीं की तरह उलट कर पीछे फिरो।

४६-५५ पंक्ति—१०वीं से १ पंक्ति तक।

यदि लंबा नमूना, जिसमें एक से अधिक हंस हों, बनाना हो, तो ४५ पंक्ति तक बनाकर, किनारे की लकीर को उसी प्रकार बनाते हुए हंसों के बीच में दो-तीन ख़ानों की लकीरें डालकर फिर दसवीं पंक्ति से बुनना आरंभ कर दो। जब समाप्त करना हो, तब किनारे के लिये १०वीं पंक्ति से १ पंक्ति तक बुन दो। यदि इच्छा हो, तो हंस इस प्रकार भी बुने जा सकते हैं कि उनके मुँह एक दूसरे के सामने रहें।

श्रीमूवती देवी

१. भक्त शिवनारायण का समय और ग्रंथ

थुवा बिहार के 'मित्र-पुस्तकालय' की ओर से मुझे पुस्तकालय के लिये प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों के संग्रह करने का आदेश हुआ। यह मेरा प्रथम प्रयास था। मुझे काशी की नागरीप्रचारिणी सभा में रहने का शुभावसर हाथ आया है। वहीं इस संबंध में मुझे जो कुछ जानकारी हुई थी, उसी के सहारे मैंने इस कार्य में हाथ लगाया।

मुझे जितनी पुस्तकें मिलीं, उनमें अधिकतर संस्कृत की थीं। हिंदी-रामायणों की संख्या अधिक थी। प्राप्त ग्रंथों में 'गुरु-अन्वास' (?)-नामक ग्रंथ नवीन था। यह ग्रंथ ११२ पृष्ठों में फ़ुलस्केप साइज़ के चौपेजी आकार पर लिखा हुआ है। काग़ज़ पुराना है, जिसे आजकल लोग 'बादशाही' कहते हैं, और ताज़िए में पहले उसे ही लगाते हैं। ग्रंथ का प्रथम पृष्ठ फट गया है। शेष सुरक्षित रूप में है। यह ग्रंथ ६ अध्यायों में विभक्त है— (१) परिचय और रचना-काल, (२) गुरु-शिष्य-प्रसंग, (३) कामिनी-खंड, (४) अम्बु-खंड, (५) भक्ति-खंड, (६) दश-अवतार, (७) चार युग-प्रसंग, (८) चौदह भक्ति-प्रसंग, (९) उपसंहार।

परिचय और रचना-काल

गुरु अन्वास कहत जब आनी ; तब गति मुक्ति होत है प्रानी।
गुरु के सबद पा होवे संता : बिनु गुरु सबद न पावत अंता।

× × ×

कृपा कीन्ह तब आदि-कुमारी : कंठ बैठ ग्यान देत भारी।
ज्ञान होत तब अगम अपारा ; तब अन्वास कथा अनुसारा।
संमत सतरह सौ इकानबे होई : ग्यारह से सन पैतालिस सोई।
अगहन मास पक्ष उजियारा ; तिथि तिरोदशी सुकरबारा।
तेहि दिन नीरमे* कथा पुनीता ; गुरु अन्वास कथा सब हीता।
साह मेहमद दिल्ली सुलताना : काशी छत्र अगरेहे थाना।
दो०—तेहि समय में शिवनारायन, बंग देश चलि आयो :
कंठ बसे सरसती, कथा अन्वास बनायो।

पुस्तक का रचना-काल सं० १७९१ है, जो आज से १९२ वर्ष पूर्व होता है। पर फ़सली सन् ११४५ है, जिसे आज १८९ वर्ष होते हैं। इस प्रकार तीन वर्ष का अंतर पड़ता है। इसका कारण चांद्रतिथि की घट-बढ़ है।

---

१. सरस्वती। २. स० १७९१। ३. ११४५ सन् फ़सली। ४. अगहन शु० १३, शुकवार। ५. मुहम्मदशाह बादशाह, जिसने सन् १७१९ से ४८ तक राज्य किया। ६. (आगरेहे-थाना) मुसलमानी राज्यकाल में आगरे में फ़ौज रहा करती थी। कदाचित् लेखक का भाव थाना शब्द से फ़ौज की छावनी है।

* निर्माण (रचना)।

अपना परिचय वह इस प्रकार देते हैं—

जन्मभुमी हे (भूमि है) कनउज (कन्नौज) देसा ;
करम बसीते बंग प्रवेसा ।
तीरथ प्रयाग सुबा जे होई ; तेहिके अमल ग़ाज़ीपुर सोई ।
ग़ाज़ीपुर सरकार कहावे ; सुबे प्रयाग अमल से पावे ।
जहीराबाद प्रगना आँही ; आस-करन तपा (तप्पा) तेहि माँही ।
से असथान (स्थान) चंदबार कहावे ; शिवनारायन जन्म तहँ पावे ।
जन्म पाए भव गुरु के माया । तब अन्वास अस कथा बनाया ।
दो०—आस-पास चँदवार महँ, ग़ाज़ीपुर सरकार ;
कुंदन स्वर्नी कहत सब, बाघराए के बार ।

चौपाई

दुःख-हरन नाम से गुरु कहावे ; बड़े भाग मे दरसन पावे ।

इससे मालूम होता है कि शिवनारायण का जन्म ग़ाज़ीपुर-ज़िले के चंदवार-नामक गाँव में हुआ था । इनके गुरु का नाम दुःखहरणदास था । शिवनारायण ने उन्हीं के उपदेश को दोहे और चौपाइयों में लिखा है । पर अपनी जाति और पिता का नाम स्पष्ट नहीं लिखा । कवि ने अपनी जाति और पिता का नाम किस उद्देश्य से छिपाया, यह कुछ नहीं कहा जा सकता । मालूम होता है, वह उच्च जाति के नहीं थे, और पिता उनके छोटी हैसियत के होंगे ।

ऊपर के दोहे में जो "कुंदन स्वर्नी" और "बाघराए के बार" शब्द आए हैं, उनसे कुछ अनुमान किया जा सकता है कि इनके पिता का नाम "बाघराय" था, और "राय" भाटों की भी पदवी है । हो सकता है कि यह जाति के भाट हों ।

इनके जन्म की तिथि भी नहीं दी गई । पर अनुमान किया जा सकता है कि ४०-४५ वर्ष की अवस्था में इस पुस्तक की रचना हुई है ; क्योंकि बंगाल जाना, दीक्षा ग्रहण करना, और ग्रंथ के अन्य विषय बतला रहे हैं कि उस समय इनकी अवस्था ४०-४५ वर्ष से कम न होगी । अतः इनका जन्म-काल सं० १७५०-५१ के लगभग मान लिया जाय, तो कोई विशेष हानि नहीं होगी ।

इनके संबंध में न तो सरोजकार ने, न मिश्रबंधुओं ने और न काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने ही अपनी रिपोर्टों में कुछ लिखा है । अतः इनकी जन्म-तिथि और इनके अन्य ग्रंथों का पता नहीं लगता ।

"गुरु-शिष्य-प्रसंग"

इन बातन सुनि संशय भयेउ ; गुरु के सुरति आनि उर गहेउ ।
शिवनारायन कहत पुकारी ; दरशन दे गुरु कहहु बिचारी ।

× × ×

संशय एक भइल मन मोरा ; कैसे के ध्यान करों मैं तोरा ।

× × ×

सब विधि कही समुझावों तोही ; तोहि पर प्रीत भइल अति मोही ।

× × ×

काम-कला जिन्ह जान न पाई ; बिनु जाने से फिर पछताही ।

× × ×

चतुर होय सो पुरुष कहावे ; चलता रथ के सूरज चलावे ।

× × ×

"कामिनी-खंड"

कामिनी रूप से ताहि सुभाउ ; परे मोह बसि ग्यान न आउ ।
जन्म भयउ कछु कारज नाहीं ; अस बिचार करत मन माहीं ।

× × ×

अब सुन कामिनी करत सिंगारा ; जेहि बिधि ते लागत प्यारा ।
कामिनी के मन कंत पियारा ; रोम-रोम सभे सुख सारा ।

× × ×

बना सिंगार घटा जनु आई ; मानों मेघ चला दल छाई ।
दो०—तुम तो आपु सेयानी अस, मैं बाला दिन थोरि ;
पिया के मिलन बसि आतुरी, मोहि लघुता मति थोरि ।

× × ×

चौ०—व्याधा रूप रहे समटाई ; मारत दया न तोहि गोसाई ।
रहत लागि सदा सम दवारा ; कटु मा माता कर व्यवहारा ।
दो०—तोहि स्वामि जग बंदौं, जग बंदन कहो तोहि
यहाँ के त्रास बहुत भौ, कहि समुझावहु मोहि ।

× × ×

"जन्मखंड"

चौ०—जो पुछहु शिवनारायन मोहीं ; एकर अरथ सुनावहु तोहीं ।
यह संसार जन्म के त्रासा ; घर सम जानि के लेत निवासा ।
चौदह जमु सब बसत शरीरा ; संग भया रहत तेहि तीरा ।
एकर अरथ सुनहु चितलाई तोहि पर दया बहुत मोहि आई ।

× × ×

अठवें जन्म का इनहु बखाना ; शिवनारायन ते सम जाना ।
संत विमुख प्रानी जे होई ; संत के निंदा सभ दिन करई ।

× × ×

दो०—चौदह जम्बु मृतलोक बसे, तेकर कहेऊ बिचार ;
हुंकारी बड़ भक्त मोर, तेहि तिलक सौंसार (संसार)।

× × ×

"भक्ति-खंड"

चौ०—भगती हेतु जो पूछहु मोही।; भली बिधि समझावों तोही ;
एक-एक कहि के सब भाखों ; तोहि ते कछु अंतर नहिं राखों।

× × ×

एक पंथ सो तबहीं पावे ; निरंकार कह देखत आवे।
देखत तहाँ रूप नहिं रेखा ; जीवन जन्म सुफल के लेखा।

× × ×

तेहि महँ मगन रहे दिन राती ; तेहि के सोच जाति नहिं पाती।
सब स्नान करे सो प्रानी ; से इसलोक* इनु कहौं बखानी।

× × ×

तीन गुन ते सृष्टि सँवारा ; बिनु गुरु से नहिं हो भवपारा।
बेद पढ़त जो जन्म सिरावे ; मोहिं बिनु पार नहिं भव पावे।

× × ×

"दश-अवतार"

दश अवतार जो पुछहु मोही ; बहुत जतन समुझावहु तोही।
प्रथम ही भौ मीन अवतारा ; शिवनारायन सुन ब्यवहारा।

× × ×

कृष्ण रूप सो कहौं बखानी ; से तोहि अरथ सुनावों आनी।
गोपी रूप जग सबहीं बनाई ; यही बिधि रंग किन्ह तहँ आई।

× × ×

"चार युग-प्रसंग"

जुग के अरथ पुछहु जे मोही ; कहौं प्रगट अवतार से तोही।
प्रथमे सतयुग सत निवासा ; शिवनारायण सुन प्रकासा।

× × ×

कलयुग कया प्रवेश जब भयऊ ; तब अवतार कलयुग का भयऊ।

× × ×

जइसन करे ते तइसन पावे ; यही ते कलयुग नाम कहावे।

× × ×

"नायिका-नायक-प्रसंग"

सब घट से नायिका प्रवीना ; एक-एक का करो बखाना।
मुग्धा परसीधा † धीर-अधीरा ; चारि नायिका अगम गँभीरा।
प्रथम हीं सुनहु मुग्धा ब्यवहारा ; चारिहु ते गुन ताहि अपारा।

× × ×

* श्लोक। † परकीया।

बोलत चलत प्रान लेत काढ़ी ; सीतल बचन प्रीति अति बाढ़ी।

× × ×

हरखवंत से लोचन आही ; धीरा नाम कहत सब ताही।
दो०—चारि नायिका जगत महँ, कहि समुझावों तोहि ;
बहुत दया मैं तोहि पर, शिवनारायन मोहि।
सब रस लेत रसिक सलोना ; सब घट बसे से सुघर सलोना।
गुरु रूप अस पुरुष बिचारी ; चारि नायक ताहि बिहारी।

"चौदह भक्ति-प्रसंग"

चौ०—भगति करे सो पावे मोही ; से प्रसंग सुनावो तोही।
ध्रुव प्रह्लाद बिभीषण धीरा ; पाँचो पांडव धरे शरीरा।
भौ हनुमान अंगद जानी; यही बिधि प्रीति करत मनआनी।
रामानंद कबीर गोसाईं* ; नानक नाम जासु एक साईं।

× × ×

"उपसंहार"

दो०—जे पाए गुरु शब्द ते, से कुछ लिखा बनाऊ ;
पंडित जन बिनती, भुला माफ़† कर पाऊ।

× × ×

रंग रूप रेखा नहिं, करत जगत उजियार ;
सत गुरु मिले तो पाइए, बिनु गुरु मिले न पार।
नौ नाम भए एक ते, दशो नाम के हाथ ;
शिवनारायन तो हरे, सदा रहौ मैं माथ।

दोहा=१६७
चौपाई=२८४२

सबद गुरु अन्वास संपूर्ण भैल सही, ग्रंथ संपूर्ण बार,
गुरुनाम पार, पार

यहाँ जो कुछ उदाहरण-स्वरूप दिया गया है, वह प्रत्येक प्रसंग के आदि, मध्य और अंत का है। इस पुस्तक को बने ११२ वर्ष हो गए। इसके पहले दोहे-चौपाइयों में गो० तुलसीदासजी का रामायण-ग्रंथ बना है, जो इसके १२५ वर्ष पूर्व का है। यद्यपि इस पुस्तक के रचनाकाल में उर्दू-बीबी परकीया-नायिका की तरह सब जगह अठखेलियाँ कर रही थीं, सबके हृदय पर उर्दू का आधिपत्य जम चुका था, प्रत्येक के मुँह पर उर्दू-बीबी की छाप पड़ चुकी थी, और फ़ारसी-भाषा में बैतबाज़ी ज़ोरों पर हो रही थी, उर्दू और फ़ारसी के अच्छे-अच्छे ग्रंथ लिखे जा चुके थे ; पर तो भी ऐसी अवस्था में कदाचित् ही इसमें दो-चार उर्दू के शब्द निकल

* गोस्वामी तुलसीदासजी।
† हमें यही एक उर्दू का शब्द मिला है।

आवें। इस पुस्तक की भाषा प्रांतीयता के दोष से मुक्त नहीं। छंदों में मात्रा की कमी-बेशी अधिकतर पदों में है।

यह ग्रंथ भक्ति-युग का है, और गुरु-भक्ति में शराबोर है। जिस युग में यह ग्रंथ बना है, उस समय भक्त-कवियों का बोलबाला था, और प्रायः इसी विषय की अधिक चर्चा थी। मुसलमानी दरबारों तक में धार्मिक चर्चा और वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) हुआ करते थे। इस पुस्तक में भी इसी तत्त्व को अनेकों प्रकार से समझाया गया है। पुस्तक के प्रत्येक खंड की समाप्ति के बाद "गुरु-शिख (शिष्य)-प्रसंग" है, जिसमें जिज्ञासु शिवनारायण* ने प्रथम तो गुरु की प्रशंसा की और अपनी दीनता दिखलाई है, फिर नवीन शंका के निवारणार्थ निवेदन किया है। इस प्रकार नवीन खंड का आरंभ हुआ है। पुस्तक के अंत में कॉपी करनेवाले अथवा अन्य किसी लेखक का नाम नहीं है। इससे यह भी सिद्ध हो सकता है कि यह ग्रंथ स्वयं कवि का लिखा हुआ है। ग्रंथ की लिखावट कहीं देवनागरी और कहीं मुड़िया (कैथी) लिपि में है।

आशा है, मिश्रबंधु महोदय अपने 'विनोद' में इसकी भी चर्चा करने की कृपा करेंगे।

शिवप्रसाद गुप्त

* गुरु अन्यास के रचयिता।

१. टीका व भाष्य

बिहारी-रत्नाकर—टीकाकार, बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए०; संपादक, श्रीदुलारेलाल भार्गव (माधुरी-संपादक); प्रकाशक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, लखनऊ; मूल्य ५) रु०

यह पुस्तक सुकवि-माधुरीमाला का प्रथम पुष्प है, और बड़ी सजधज से निकली है। काग़ज़, छपाई, जिल्द तथा संपादन सभी, उच्च कोटि का है। पुस्तक के प्रारंभ में संपादकीय निवेदन है, जिसमें सुकवि-माधुरीमाला के प्रकाशन का विवरण, बिहारी-सतसई की साहित्यिक महत्ता का उल्लेख और टीकाकार बाबू जगन्नाथदासजी का परिचय दिया है। इसके पश्चात् रत्नाकरजी का प्राक्कथन है, जिसमें रत्नाकरी टीका के लिखे जाने की आवश्यकता और इस टीका की विशेषता का कथन है। श्रीमहाराज जयसिंहजी, आमेर और महाकवि श्रीबिहारीदासजी के सुंदर रंगीन चित्र भी दिए गए हैं। तदनंतर बिहारी-सतसई के ७१३ दोहे इस भाँति छपे हैं कि पहले दोहा है, उसके नीचे दोहे में आए हुए कठिन शब्द और पदों का स्पष्टीकरण, फिर अवतरण, तत्पश्चात् अर्थ और अंत में आवश्यकतानुसार स्पष्ट और सुबोध हिंदी में दोहे का भावार्थ। उदाहरण-स्वरूप देखिए—

दोहा

डारी सारी नील की ओट अचूक, चुकैं न।
मो मन-मृग करबर गहैं अहे! अहेरी नैन ॥ ५० ॥

डारी=वृक्ष की पतली शाखा, टहनी। नील की=नीली॥ करबर (कर्वर)=चीते। इस शब्द में सारोपा लक्षणा है। यहाँ वर्ण्यमान नयन की अप्रकृत कर्वर के साथ तादात्म्य प्रतीति है। अहे—इस शब्द का प्रयोग किसी को संबोधित करने में होता है, विशेषतः आश्चर्य से संबोधित करने में।

(अवतरण) नायक-वचन नायिका से—

(अर्थ)—हे [प्यारी, तेरे] कर्वर (चीते) [अर्थात्] अहेरी नयन नीली साड़ी-रूपी डारी (डाल-पत्तों) की अचूक (कभी व्यर्थ न होनेवाली) ओट में मेरे मनरूपी मृग को पकड़ लेते हैं, चूकते नहीं॥

चीता जब मृग को पकड़ना चाहता है, तो डाल-पत्तों तथा झाड़ियों की ओट में छिप-छिपकर उसके अत्यंत समीप पहुँच जाता है, और फिर एकाएकी झपटकर उसको छोप लेता है॥

सतसई के दोहों की समाप्ति पर दो उपस्करण हैं। पहले उपस्करण में बिहारी-रत्नाकर-स्वीकृत दोहों की अकारादि-क्रम से सूची है। इस सूची में ९ ख़ाने हैं। पहले ख़ाने में दोहों की अकारादि सूची है, दूसरे ख़ाने में उस दोहे की संख्या, जो मानसिंह की टीका में है, दी है। इसी प्रकार बाक़ी के सात ख़ानों में उसी दोहे की संख्याएँ, जो बिहारी-रत्नाकर, कृष्ण कवि की टीका, हरिप्रकाश-टीका, लाल-चंद्रिका, शृंगार सप्तशती, प्रभुदयालु पाँड़े की टीका और रस-कौमुदी में दी हुई हैं, अंकित हैं। यह उपस्करण बड़े काम का है। दूसरे उपस्करण में १४३ दोहे ऐसे हैं, जो

बिहारी-सतसई की भिन्न-भिन्न प्रतियों में मिलते हैं ; पर बिहारी-रत्नाकर में नहीं ग्रहण किए गए हैं ; क्योंकि इनके विषय में शंका है कि ये महाकवि बिहारी के रचे हुए हैं या नहीं । पुस्तक के अंत में इन अधिक दोहों की अकारादि सूची है । फलतः पुस्तक के विषय को पूर्ण रीति से स्पष्ट करने और समझाने में कोई चेष्टा उठा नहीं रक्खी गई है।

बिहारी-सतसई पर ४२ टीकाएँ हैं । एक संस्कृत-टीका भी है। लेकिन अब तक केवल १४ टीकाएँ छपी हैं। प्रत्येक टीका अपने ढंग की है। पर बिहारी-रत्नाकर में कुछ विशेषता ही और है। जो कमी इन सब टीकाओं में रह गई है, उसकी पूर्ति रत्नाकरी में है ।

बाबू जगन्नाथदासजी ने अपनी टीका लिखने के पहले बिहारी-सतसई की प्राचीन प्रतियों की खूब खोज की है। खोज करने के पश्चात् अपनी पुस्तक का आधार पाँच प्राचीन प्रतियों पर रक्खा है—इनमें भी मानसिंहजी की टीका और रत्नकुँअरिवाली प्रतियों पर। इन्हीं दो के आधार पर दोहों की संख्या ७१३ रक्खी है। अन्य प्रतियों में संख्याएँ भिन्न-भिन्न हैं।

रत्नाकरी में दोहों के शुद्ध पाठ पर बड़ा ज़ोर दिया है। पाठ शुद्ध करने में नितांत परिश्रम उठाना पड़ा है ; क्योंकि शुद्ध पाठ ही पुस्तक की अमूल्य संपत्ति है। प्रत्येक प्रति में अधिकांश पाठ भिन्न-भिन्न हैं। रत्नाकरजी ने बड़ी खोज और देख-भाल करके बहुत-से शब्दों के रूपों को निश्चित किया है, और दिखा दिया है कि महाकवि बिहारीलालजी ने इन्हीं निश्चित शब्द-रूपों का प्रयोग किया था। उदाहरणतः कुछ शब्द नीचे दिए हैं—

नैक, नेक, नैंक, नेकु, नैन शब्दों में नैंक शब्द शुद्ध है, और सब अशुद्ध हैं।

ऐसे ही दगन, दगनि, दगनु शब्दों में दगनु प्रयोग ठीक है। स्यामु, रूपु, रहतु, बेधतु, आवतु, चलैं, परैं, कीनैं, लखैं इत्यादि शुद्ध प्रयोग हैं। इनके दूसरे रूप अशुद्ध हैं।

महाकवि बिहारीलालजी ने दस-दस अथवा बीस-बीस दोहों के बाद एक-एक भगवत-संबंधी तथा नीति-विषयक दोहा लिखा था ; पर जो प्रतियाँ मिलती हैं, उनमें यह क्रम पूर्ण रीति से नहीं मिलता। रत्नाकरजी ने इस क्रम को बड़े परिश्रम और बुद्धिमत्ता से फिर कर दिखाया है। आपने अधिकांश दोहों का अर्थ अन्य टीकाओं से भिन्न लिखा है, और यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है।

प्राक्कथन से ज्ञात होता है कि रत्नाकरजी अपनी टीका में दोहांतर्गत साहित्यिक अंग—जैसे अलंकार, लक्षणा, व्यंजना, ध्वनि इत्यादि—पूर्णरीत्या दिखाना चाहते थे ; पर पर्याप्त समय न मिलने से वह उद्देश पूरा न कर सके। लेकिन उन्होंने आशा दिलाई है कि पुस्तक के दूसरे संस्करण में इन बातों को लिखा जायगा। फिर तो पुस्तक का गौरव दूना हो जायगा। इस समय तो आपने पाठ-शुद्धि और यथार्थ भाव समझाने की भरसक चेष्टा की है।

बिहारी-सतसई पर ग्रियर्सन साहब तथा पंडित पद्मसिंहजी की महत्त्व-पूर्ण भूमिकाएँ हैं। रत्नाकरजी भी ऐसी भूमिका लिख रहे हैं ; क्योंकि भूमिका बिना पुस्तक अधूरी है। आशा है, यह भूमिका, जिसकी टीकाकार ने सूचना दी है, बड़े मार्के की होगी, और शीघ्र ही प्रकाशित होगी। माधुरी के पिछले अंकों में आपके कुछ लेख इस विषय के निकल चुके हैं। उन लेखों ने सतसई-पारंगत विद्वानों को चकित कर दिया था। यों तो लगभग सभी राजपूताने की रियासतों में बिहारी-सतसई की हस्त-लिखित प्रतियाँ मिलती हैं, लेकिन बुंदेलखंड की दतिया-रियासत में जो हस्त-लिखित प्रति है, वह एक अद्भुत, अनोखी और अद्वितीय वस्तु है। सतसई के सभी दोहों पर सुंदर रँगीले चित्र हैं, और चित्र भी पुराने नामी चित्रकारों के हाथ के बने।

इस पुस्तक के देखने का अवसर मुझे दो बार, वहाँ के दीवान साहब की कृपा से, प्राप्त हुआ है। पुस्तक सुरक्षित है, और दतिया-नरेश के निजी पुस्तकालय में रक्खी है। वहाँ पुराने चित्रकारों के बनाए हज़ारों चित्र रक्खे हैं। कुछ चित्र उड़ भी गए हैं, और कुछ चित्रों के फ़ोटो बनारस के कलेक्टर मेहता साहब ने अपनी नई पुस्तक में छपवाए हैं।

श्रीदुलारेलाल भार्गव हिंदी-साहित्य की सेवा दत्तचित्त हो कर रहे हैं। पुराने कवियों के ग्रंथों को नए ढंग से प्रकाशित करना उन्हें फिर जीवित करना है। सुकवि-माधुरी-माला के पहले पुष्प ने ही हिंदी-संसार को अपनी दिव्य सौरभ से आमोदित कर दिया है। अब पूरी माला गुँथ जायगी, तब की तो बात ही क्या है। हम दुलारेलालजी को इस पुस्तक के प्रकाशन पर बधाई दिए बिना नहीं रह सकते।

कन्नोमल

× × ×

२. उपन्यास, कहानियाँ और नाटक

कायाकल्प—लेखक, प्रेमचंदजी बी० ए०; प्रकाशक, भार्गव-पुस्तकालय, बनारस; आकार २०×३०=१६; पृष्ठ-संख्या ६२२; मूल्य ३॥); कागज़-छपाई साधारण; जिल्द अच्छी।

प्रेमचंदजी के कायाकल्प को आदि से अंत तक पढ़ा। सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि सभी उपन्यास पढ़े थे। सबका प्रयोजन समझ में आया; परंतु इसका क्या प्रयोजन है, समझ में नहीं आया। एक नए विषय, एक जटिल आध्यात्मिक प्रश्न की, उपन्यास के बहाने, व्याख्या की गई है। बाक़ी चरित्र वही हैं, जिनका हमें पहले से परिचय था। हैं वे केवल नए रूप-रंग में।

प्रेमचंदजी का कोई भी उपन्यास ऐसा नहीं है, जिसमें भारतवर्ष के राष्ट्रीय जीवन के दैनिक रूप-रंग के परिवर्तन का प्रतिबिंब न पड़ा हो। सेवासदन और प्रेमाश्रम में नवयुवकों और सेवा-समितियों के आदर्श और कठिनाइयों का परिचय तो रंगभूमि में देहाती जीवन के विप्लव की झलक है, और कायाकल्प में इस जीवन की हिंदू-मुसलिम विरोध की कठिन समस्या पर प्रकाश डाला गया है। इसके परे अन्य विषय पुराने हैं। राजा विशालसिंह के कारिंदे गाँवों पर, देहातियों पर अत्याचार करते हैं, तो रंगभूमि में भी उदयपुर-राज्य के अंतर्गत अत्याचारियों का प्रबल प्रकोप था। वहाँ विनय पद-दलित प्रजा की तरफ़ से हिमायत करते थे, यहाँ चक्रधर उनकी ओर से कष्ट-सहन करते हैं। विनय जेल गए, तो चक्रधर भी जेल जाते हैं। सेवा-मार्ग में जो कठिनाइयाँ विनय की थीं, वही चक्रधर की हैं। वहाँ सोफ़ी का चरित्र प्रेम और आदर्श के संयोग से दिव्य हो गया था, यहाँ मनोरमा का चरित्र आदर्श और विलास-प्रेम की प्रतिद्वंद्विता में रँगीला हो रहा है। दोनों को सेवा-मार्ग पर चलनेवाले युवकों से प्रेम है। दोनों उस प्रेम के लिये धन और ऐश्वर्य के द्वार पर अपने शरीर का बलिदान करती हैं।

देवप्रिया के जीवन-चरित्र में, कायाकल्प के नए रंग के कारण, चित्र नया-सा मालूम पड़ता है; परंतु ध्यान से देखिए, तो उसमें हमें प्रेमाश्रम की गायत्री की झलक दिखाई देती है—वही वैधव्य, वही विलास-लालसा। भेद यही है कि गायत्री का पतन हो गया, और देवप्रिया की विलास-लालसा अतृप्त रही।

कायाकल्प की कहानी संगठित नहीं है। सच पूछिए, तो प्रेमचंदजी के उपन्यासों में से किसी में भी यह, गुण मानिए या अवगुण, नहीं है। पर कायाकल्प की कहानी का संगठन रंगभूमि से अच्छा है। उपन्यास का चित्र-पट कायाकल्प के चित्र के चारों ओर बना हुआ है। मध्य में देवप्रिया, जिसका सदेह कायाकल्प होता है, और उसका पति है, जो हर्षपुर में जन्म लेकर, और फिर अहल्या की कोख से पुनर्जन्म द्वारा अपना कायाकल्प करता है। एक ओर विशालसिंह और उनकी रानियाँ हैं, दूसरी ओर चक्रधर, उनके पिता मुंशी वज्रधर, मनोरमा उसके पिता हरिसेवकसिंह और उनकी रखेली लौंगी है। तीसरी ओर अहल्या, यशोदानंदन और उसका पुत्र शंखधर है। चौथी ओर एक कोने में ख़्वाजा महमूद और आगरे का हिंदू-मुसलिम विरोध है।

इस उपन्यास में इतने चित्र हैं, पर मनोरमा और चक्रधर ही के चरित्र-चित्रण में उपन्यासकार ने विशेष कौशल दिखाया है। मालूम होता है, त्याग और प्रेम की पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता के तमाशे दिखाने में प्रेमचंदजी को विशेष आनंद आता है। उनके प्रत्येक उपन्यास में इसकी बहार है। वही इसमें भी है। परंतु इनके अलावा छोटे पात्रों पर भी उपन्यासकार ने कृपा की है। मुंशी वज्रधर पिछले उपन्यासों में अपना कोई सानी नहीं रखते। उनके दो चित्र यथेष्ट हैं, एक तो उनके फ़ैशन का "अल्पकालीन तहसीलदारी के समय का अलपाके का चुग़ा, उसी ज़माने की सिर पर मंदील, आँखों में सुरमा और बालों में तेल", दूसरा उनकी कचहरी जानेवाली पोशाक का "देह पर पुरानी अचकन, जिसका मैल उसके असली रंग को छिपाए हुए था, नीचे एक पतलून, जो कमरबंद न होने के कारण खिसककर इतना नीचा हो गया था कि घुटनों के नीचे एक झोल-सा पड़ गया था।" ठाकुर हरिसेवकसिंह की रखेली लौंगी भी एक नई पात्री है। लौंगी के दर्शन हमें उसके पाप का नहीं, उसके मातृत्व स्नेह, उसकी असीम करुणा और त्याग की याद दिलाते हैं। तभी तो उपन्यासकार ने मनोरमा के सामने आजीवन शिक्षा देने के लिये 'लौंगी को देखो" वाक्य टाँग दिए।

परंतु अभी उन दो प्रश्नों का केवल उल्लेख ही किया गया है, जिनके कारण इस उपन्यास की सृष्टि हुई है। इनमें एक प्रश्न है राजनीतिक, और दूसरा आध्यात्मिक।

इनके अंतर्गत पात्रों के चरित्र-विवरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इन सबका एक ही काम है—इन प्रश्नों पर प्रकाश डालना।

हिंदू-मुसलिम-कलह का राजनीतिक प्रश्न इस समय सारे देश को हिला रहा है। उपन्यास मे यह प्रश्न आगरे में गऊ की क़ुरबानीवाले झगड़े को लेकर उपस्थित किया गया है। परंतु अब गऊ की क़ुरबानी पीछे रही। उसमें मुसलमानों ने हिंदुओं को चिढ़ाने का यह ढंग निकाला था। अब दूसरी ही बात है। अब मुसलमानों ही ने अपने चिढ़ाने के लिये यह झगड़ा करना शुरू कर दिया है कि मसजिद के सामने से होकर बाजा बजाते हुए न निकलो। बहस से कोई मतलब नहीं। नज़ीरें कोई कारगर नहीं। बस, ज़िद पूरी होनी चाहिए। इधर हिंदुओं ने भी अड़ना शुरू कर दिया। फिर क्या था, जगह-जगह दंगे-फ़साद होने लगे, मार-पीट ख़ून-ख़च्चर तक नौबत पहुँची। जो देश-नेता समझते थे कि हम स्वराज्य प्राप्त कर लेंगे, वे अब शांत हैं। अब तो हिंदुओं को अपने अधिकार की और मुसलमानों को अपनी ज़िद की फ़िक्र है। स्वराज्य और समाज-सुधार का प्रश्न स्थगित है, और उन्हीं नेताओं की क़दर है, जो अपने-अपने धर्मावलंबियों की निराधार विद्वेषाग्नि प्रचंड करने में योग दे रहे हैं।

यह प्रश्न क्योंकर हल हो? क्या समय पर छोड़ देने ही से यह आप-ही-आप हल हो जायगा? हिंदू और मुसलमान, दोनों समझने लगेंगे कि झगड़ा करने में हम दोनों की हानि है, और तब झगड़े की सब सूरतें ख़तम हो जायँगी। क्या यह तो न होगा कि समय पर छोड़ देने से यह बीमारी असाध्य हो जायगी? जब तक फ़ैसला कराने के लिये तीसरा दल मौजूद है, तब तक हम आपस में समझौता ही क्यों करेंगे? यदि यह सत्य है, तो क्या करना चाहिए? क्या हिंदुओं का मुसलमानों की ज़िद को मान लेना ठीक होगा? या मुसलमानों को अपने व्यक्तित्व से तिलांजलि दे देनी होगी? कहानी के बहाने उपन्यास-कार ने इस उलझन को सुलझाने का प्रयत्न किया है। यशोदानंदन और ख़्वाजा महमूद, जो सेवा-समिति में एक दूसरे का साथ देते थे, धार्मिक प्रश्न पर एक दूसरे के दुश्मन हो गए। दोनों के पारस्परिक झगड़े को किसने मिटाया? चक्रधर ने, एक नवयुवक त्यागी ने अपने प्राण हथेली पर रखकर। यही इस प्रश्न को सुलझाने का एक ढंग दिखाई देता है। इस हिंदू-मुसलिम-मनोमालिन्य का इलाज देश के नवयुवकों के हाथ में है। यौवन में सहानुभूति है, उसमें आत्मत्याग का बल है, वह जाति-पाँति के भेद को नहीं समझता। हम देश के यौवन ही से इस मनोमालिन्य को मिटाने की याचना कर सकते हैं। कायस्थ-पाठशाला, इलाहाबाद के प्रिंसिपल पियर्स ने इस संबंध में जो प्रस्ताव किया था, वह विचारणीय है। उनका कथन था कि हिंदू और मुसलमान नवयुवकों का एक सेवा-दल हो। जहाँ-कहीं झगड़े की संभावना हो, वहाँ यह सेवा-दल ही आगे बढ़कर काम करे, और हिंदू-मुसलमान पक्षपातियों को अपने पारस्परिक भ्रातृभाव से शर्मिंदा करे। अध्यापक-समाज का इस संबंध में बड़ा भारी उत्तरदायित्व है। वे ही इस पुनीत कार्य में सबसे अधिक योग दे सकते हैं। वे ही दिन-प्रति-दिन देश की दोनों जातियों के बीच समानता तथा मैत्री के भावों की पुष्टि कर सकते हैं। इनके बाहर बड़े आदमियों में तो इस समय घोर अनर्थ हो रहा है। जिस समय यह लेख लिखा जा रहा है, हिंदुओं के धर्म और मुसलमानों के दीन की आवाज़ बुलंद है, और पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति के पाठ पढ़ानेवाले एक कोने में मुँह छिपाए बैठे हैं।

दूसरा प्रश्न, जिस पर प्रकाश डाला गया है, और जिसके कारण उपन्यास का नामकरण हुआ, आध्यात्मिक है। क्या पूर्वजन्म की स्मृति हमें रह सकती है? क्या अतृप्त वासनाओं ही के कारण पुनर्जन्म होता है? क्या पुनर्जन्म प्राप्त होने पर फिर हम उन्हीं वासनाओं को तृप्त करने का प्रयत्न करते हैं? क्या धीवर-कन्या सत्यवती का अनंत यौवन कवि की कल्पना-मात्र है? क्या देव-प्रिया का सदेह कायाकल्प विज्ञान और योग के समागम से किसी सुदूर भविष्य में संभव न हो सकेगा? प्रश्न बड़े जटिल हैं, और जो कुछ प्रकाश उपन्यासकार इस पर डाल सके हैं, यथेष्ट नहीं है। उन्होंने महेंद्रकुमार द्वारा तिब्बती साधु की जो आश्चर्यमय कहानी सुनाई है, उसमें सत्य का अंश अवश्य है। भारतवर्ष में जिस विषय की चर्चा उसके शास्त्रों में है, उस पर अब पाश्चात्य देशों में विज्ञान का प्रकाश डाला जा रहा है। मृत देहधारियों की आत्माओं को बुलाना, उनसे बातें करना, उनकी बातें सुनना, उनकी छाया को कैमरे के फ़ोटोग्राफ़िक प्लेट पर लाना, सब कुछ संभव हो चुका है। पूर्वजन्म की स्मृति के भी उदा-

वियोगिनी

[श्रीदुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला से]

भरि-भरि तारक महँ सलिल, कुच पर ढरि-ढरि आत ;
टुटि-टुटि तारक गगन, गिरि पर गिरि-गिरि जात ।

दुलारेलाल भार्गव

हरण अक्सर मिला करते हैं। थैराइड ग्लैंड को बदल-कर पश्चिमी वैद्य पुनर्यौवन प्राप्त कराने का बीड़ा उठा रहे हैं। इधर योग-साधना तथा प्राणायाम के बल पर अनेक चमत्कार प्राप्त करने की बातें सुनाई दे रही हैं।

एक हमारे जाने हुए शिक्षित महाशय योग-साधना करते हैं। वह, कुछ दिन हुए, भरतपुर में आए हुए एक साधु के दर्शन करने गए थे। उनकी ज़बानी मालूम हुआ कि तिब्बत में वह एक क्रिया करते हैं, जिसके द्वारा मनुष्य पुनर्यौवन प्राप्त कर सकता है। मनुष्य प्राणायाम और योग द्वारा अपने जीवन-काल को बहुत कुछ बढ़ा सकता है। महेंद्र-कुमार ने चंद्रलोक की यात्रा करने का विवरण दिया है। यह साधु मंगल-लोक की यात्रा करने का विचार कर रहे हैं। जिस क्रिया द्वारा वह यह यात्रा कर सकेंगे, वह तिब्बत तथा हिमालय के अनंत हिम ही में हो सकती है। समाधि लेने पर उनकी आत्मा स्वतंत्र हो जायगी, और उनका निर्जीव शरीर हिम-सुरक्षित दबा पड़ा रहेगा। तब तक उनकी आत्मा मंगल-लोक की यात्रा कर और वहाँ किसी प्राणी के शरीर द्वारा अनुभव प्राप्त कर लौट आवेगी, और तब वह अपनी समाधि से जागकर अपना अनुभव सुनावेंगे। कायाकल्प की कथा से मालूम होता है कि योग-साधना के लिये ब्रह्मचर्य और संयम की आव-श्यकता है। संयम के एक बार टूटने पर उनका अंत हुआ। फिर पुनर्जन्म होने पर भी उनका संयम के टूटने पर ही अंत हुआ। यही उन साधु का भी कहना था कि अनंत ब्रह्मचर्य और कठिन संयम योग-साधना की प्रथम सीढ़ियाँ हैं। परंतु इतना ब्रह्मचर्य-पालन करके भी कहाँ तक ऐसे आश्चर्यमय कार्य हो सकेंगे, हम नहीं कह सकते। परंतु अक्सर साधुओं को कुछ दिन के लिये समाधि लगाते हुए तो हमने भी सुना है। क्या आश्चर्य है कि प्राचीन योग-शास्त्र और आधुनिक विज्ञान के सहारे वही भविष्य में संभव हो सके, जो अभी हमें अगम्य, असंभव मालूम होता है।

प्रेमचंदजी के उपन्यास उनके अवस्था-परिवर्तन की सूचना दे रहे हैं। सेवासदन में दालमंडी का अनुभव प्राप्त कर आपने प्रेमाश्रम और रंगभूमि में सेवा-मार्ग की कठिनाइयाँ झेलीं। अब आप कायाकल्प और आगामी जीवन की फ़िक्र में आध्यात्मिक विषयों की ओर झुक रहे हैं। अब हमें आपके उपन्यासों में उस आध्यात्मिक रहस्य का परिचय प्राप्त करना है, जो राइडर हैगर्ड और कॉनन डायल के उपन्यासों से हमें इस समय अँगरेज़ी में प्राप्त है। अब शब्दाडंबरों की भरमार नहीं है। अब वर्तमान के गहन प्रश्नों की ओर आप केवल एक दृष्टि से देख लेते हैं, उनकी व्याख्या नहीं करते—भविष्य के अंधकार के अंदर घुसकर उसमें से कुछ आध्यात्मिक रस ढूँढ़ निकालना चाहते हैं। यह हमारा अनुमान है; होगा क्या, सो ईश्वर जानें, या स्वयं प्रेमचंदजी।

कालिदास कपूर

× × ×

विजयी धर्म—लेखक, गोविंद; प्रकाशक, गोविंद-पुस्त-कालय सिरोंज; पृष्ठ-संख्या ३२; मूल्य ।); कागज़ और छपाई साधारण।

यह धर्म और अधर्म के संग्राम का नाटक है। आदि से अंत तक गद्य और पद्य की तुकबंदियों के सिवा और कुछ नहीं है। अधर्म की पत्नी 'मिथ्या' पति से धर्म को जीतने का आग्रह करती है। अधर्म अपनी सेना के वैर, क्रोध, मोह आदि वीरों को यह मुहिम सर करने को भेजता है। ये वीर जाते हैं, और धर्म की स्त्री 'सुगति' को बाँध लाते हैं। अधर्म क्रोध को सुगति के मार डालने का हुक्म देता है। क्रोध तलवार लेकर झपटता है। सहसा धर्म आ पहुँ-चता है। उसे देखकर अधर्म उस पर झपटता है। इतने ही में शंख-ध्वनि होती है, और भक्ति अपने प्रेम, ज्ञान और बोध नामी शूर-वीरों को लिये आ पहुँचती है। अधर्म परास्त हो जाता है, और धर्म की विजय होती है। रूपक की कल्पना तो सुंदर पर उसका प्रतिपादन बिलकुल बाज़ारी ढंग पर ही हुआ है। अधर्म और मिथ्या की बातें सुनिए। कितनी मज़ेदार हैं—

मिथ्या—बस! बस! ख़ामोश रहो, कुछ न कहो, ताप सहो!

अधर्म—प्रिये, यह क्या कहा, रहा-सहा होश भी न रहा, इस जहान में तुम्हीं जान हो, तुम्हीं मान हो, तुम्हीं शान हो, तुम्हीं अभिमान हो, और कहाँ तक कहूँ (पाँव छूकर) "और को न जानों सौं चरणन तिहारे की।"

मिथ्या—यह अटपटी, लटपटी, चटपटी, बनावटी, नट-खटी है।

अधर्म—अच्छी खटपटी है, तो लो (पाँव को सिर पर

रखके) ये सिख और ये बटी है, कहो ? अब तो नाराज़ी घटी है, या बिलकुल हटी है, या फिर वही जलो-कटी है।

बस, आदि से अंत तक यही चटपटी है।

× × ×

दिलचस्प कहानियाँ—लेखक, प्रोफ़ ० पं० रामस्वरूप कौशल बी० ए०, विद्याभूषण; प्रकाशक, शिरोमणि-पुस्तकालय, लाहौर; पृष्ठ-संख्या ७४; मूल्य ।=)

बालकों के लिये छोटी-छोटी कहानियों का सुंदर संग्रह है। हरएक कहानी के अंत में उससे मिलनेवाली शिक्षा भी दी गई है। भाषा सरल और रोचक है। पर हमारी समझ में शिक्षा को प्रकट करने की ज़रूरत न थी। लड़के स्वयं कहानियों से शिक्षा ग्रहण कर सकते। कम-से-कम उन्हें कुछ सोचना तो पड़ता ही।

× × ×

चलता पुरज़ा—लेखक, श्रीकनकाप्रसाद चौधरी; प्रकाशक, सरोज-पुस्तकालय, १५१ चितपुररोड, कलकत्ता; पृष्ठ-संख्या १४८; मूल्य १); कागज़ और छपाई सुंदर।

यह चौधरी महोदय की उन १४ कहानियों का संग्रह है, जो उन्होंने समय-समय पर लिखी और प्रकाशित कराई हैं। कहानियाँ प्रायः सब मज़ेदार हैं। चलता-पुर्ज़ा, मायाविनी मोहिनी आदि बहुत ही सुंदर हुई हैं। हास्य-रस की गहरी चाशनी का मज़ा सब कहानियों में मौजूद है। भाषा मुहावरेदार, बोलचाल की है। पंडिताऊ भाषा कहानियों के लिये अनुकूल नहीं होती। चौधरी महाशय ने इस गुर को ख़ूब समझा है। कहानियों में लेखक की प्रतिभा झलक रही है। हमें आशा है, आप और भी अच्छा लिखेंगे। कहीं-कहीं एकआध शब्द बेमुहावरा आ गए हैं। 'खुलासगी' अब टकसाल-बाहर है। यह मारवाड़ी गढ़त-सा मालूम होती है। आशा है, लेखक महाशय इसका ध्यान रक्खेंगे। कहीं-कहीं तो आपका वर्णन बहुत ही रोचक और सजीव है। बहुत अच्छी चीज़ है। मुबारकबादी के लायक़।

× × ×

तपस्वी भरत—लेखक, श्रीयुत चुन्नीलाल खन्ना; प्रकाशक, शिरोमणि-पुस्तकालय, लाहौर; पृष्ठ-संख्या ५३; मूल्य ।-); विषय नाम से ही ज़ाहिर है।

भरतजी का संक्षिप्त वृत्तांत सरल भाषा में लिखा गया है। पुस्तक वर्णनात्मक है, आलोचनात्मक नहीं। लड़के इसे बड़े शौक़ से पढ़ेंगे।

प्रेमचंद

× × ×

३. आयुर्वेद व डॉक्टरी

संपूर्ण मटीरिया मेडिका (पहला भाग)—लेखक तथा प्रकाशक, डॉ० रामप्रसाद वर्मा, प्रिंसिपल हेनिमेनियन कॉलेज, आरा; साँचा डबल क्राउन १६ पेजी; पृष्ठ-संख्या लगभग ३००; कागज़ साधारण अच्छा; छपाई साफ़; परंतु परा काष्ठा की अशुद्ध; मूल्य ३)

इस पुस्तक की समालोचना करने में मुझे दो प्रकार का संकोच होता है। एक तो यह कि एक प्रतिष्ठित डॉक्टर—विशेषतः होमियोपैथिक कॉलेज के प्रिंसिपल—की लिखी पुस्तक की समालोचना करना मुझ-जैसे व्यक्ति के लिये सुशोभित नहीं, और दूसरे यह कि पुस्तक की जिन त्रुटियों पर मैं पाठकों का ध्यान विशेषतः दिलाना चाहता हूँ, उनके लिये डॉक्टर साहब ने भूमिका ही में क्षमा माँग ली है। तथापि पुस्तक को आद्योपांत पढ़ जाने पर उसके विषय में मुझे जो धारणा हुई, वही लिखने की चेष्टा करता हूँ।

जिल्द के ऊपर अँगरेज़ी में छपा है—Lectures on Materia Medica, part I (लेक्चर्स ऑन मटीरिया मेडिका, पार्ट १)। भीतर पुस्तक का हिंदी-नाम रक्खा गया है "संपूर्ण मटीरिया मेडिका, पहला भाग।" अँगरेज़ी तथा हिंदी के नामों में यह अंतर करने की क्या आवश्यकता थी ? 'लेक्चर्स' का अनुवाद "संपूर्ण" नहीं हो सकता। अच्छा, चूँकि पुस्तक की भाषा हिंदी है, इसलिये मैं इसका हिंदी नाम "संपूर्ण मेटेरिया मेडिका" ही प्रामाणिक समझता हूँ। इस प्रथम भाग में केवल २० दवाओं का वर्णन है, और भूमिका में लिखा है कि दूसरे भाग में ३५ तथा तीसरे भाग में ५३ दवाओं का वर्णन होगा। बस, तीन ही भागों में पुस्तक समाप्त होगी। इस प्रकार पूरी पुस्तक में केवल १०८ दवाओं का वर्णन होगा। फिर पुस्तक के नाम के साथ "संपूर्ण"-शब्द का क्या अभिप्राय है ? १०८ दानों से एक माला की पूर्णता होती है; परंतु १०८ दवाओं से होमियोपैथिक मटीरिया मेडिका की संपूर्णता नहीं होती। मेरा अनुमान है कि अब तक कोई १,५०० दवाएँ इस चिकित्सा-प्रणाली में बन चुकी हैं।

पहले भाग के लिये २० दवाओं का चुनाव जो डॉक्टर साहब ने किया है, वह अच्छा है। उसमें अत्यंत उपयोगी दवाएँ आई हैं। हर दवा का विशद वर्णन भी अच्छा

है। विषय प्रायः स्पष्ट हो जाता है। आवश्यकतानुसार दवाओं का पारस्परिक संबंध तथा अंतर भी दिखलाया गया है, तथा पुस्तक के अंतिम भाग में कुछ केस भी दे दिए गए हैं। हरएक दवा के विवरण में उसका प्रभाव भिन्न-भिन्न अंगों-प्रत्यंगों तथा विविध रोगों पर दिखलाया गया है। इससे पढ़नेवाले को विषय के समझने में सहायता मिलती है। डॉक्टर साहब ने स्वीकार किया है कि यह पुस्तक "आरगैनन"-नामक प्राचीन तथा उपयोगी पुस्तक के आधार पर लिखी गई है।

होमियोपैथिक-प्रणाली में हरएक दवा के, उसकी शक्ति के अनुसार, अनेक भेद होते हैं, जो प्रकट करते हैं कि उसमें मूल-ओषधि के दस लाख भेद हो सकते हैं। अंतिम भेद को M. M. कहते हैं। M. का अर्थ एक सहस्र है, इसलिये M. M. का अर्थ हुआ १०००×१००० अर्थात् दस लाख। इससे आगे भी शायद भेद होते हों। परंतु उनका वर्णन अभी तक मेरे देखने में नहीं आया। यह सब होते हुए भी कोई भी डॉक्टर सैकड़ों-हज़ारों दवाओं के दस-दस लाख भेद अपने पास नहीं रख सकता, और न उनका प्रयोग ही कर सकता है। कुछ चुने हुए नंबर ही प्रायः रक्खे जाते हैं, जैसे मूल-ओषधि, १×,३×, ६×,१२×,१२, ३०, २००, १०००। यद्यपि इन भिन्न-भिन्न नंबरों या भेदों की तैयारी उसी मूल-ओषधि से होती है, तथापि उनके गुणों में प्रायः विभिन्नता होती है; और मटीरिया मेडिका में उनका पूर्ण विवरण होना चाहिए। डॉक्टर साहब ने कहीं-कहीं पर तो प्रसंग-वश दवा का नंबर बतला दिया है, परंतु मेरी समझ में वह यथेष्ट नहीं है। नक्सवोमिका, इपीकाक, अकोनाइट आदि दवाओं में शक्ति-सूचक नंबर का महत्त्व बहुत बड़ा है। यदि दूसरे संस्करण में इसका भी प्रबंध हो जाय, तो पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ जाय।

सब बातों पर विचार करके पुस्तक के विषय पर मुझे प्रशंसा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कहना है। ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन होमियोपैथिक-प्रणाली के विस्तार के लिये लाभदायक है। परंतु बहुत कुछ कहना है, पुस्तक की तैयारी की लापरवाही तथा भाषा और छपाई की अत्यंत भ्रष्टता पर।

अपने दो संकोचों में से एक का कारण मैंने ऊपर बतलाया था कि लेखक महाशय ने भूमिका में क्षमा माँग ली है। उसे भी सुनिए—"यह पुस्तक जो मैं आपके आगे रख रहा हूँ, इसको मुझे पुस्तक के रूप में रखने का विचार नहीं था। और न मैं इसको पुस्तक की शैली में लिखी है। यह तो हमारा ज़ुबानी लेक्चर है जिसको हमारे शिष्यों ने अपनी कॉपियों में नोट किया है। मुझे यह आशा नहीं थी कि यह लेक्चर किताब के रूप में की जावेगी इसलिये मैंने शैली का कुछ विचार नहीं किया है। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ के आप इसकी भाषा की ओर ध्यान न देंगे।......चूँके एक हज़ार कॉपी लेक्चर भेजने की ग़रज़ से छापी गई थी, और उसमें ५००-६०० कॉपी बच गई जिसको हमारे शिष्य सर्व साधारन के लाभार्थ पुस्तक के रूप में बना देने को सहमत हुये।......अगर आपको यह पुस्तक कुछ उपयोगी मालूम होगी तो दूसरी भाग इससे अच्छी शैली में और विशेष रोचक तथा सरल आपकी सेवा मैं पेश करूँगा।"

इन अंशों से कई रहस्यों का उद्घाटन होता है। किसी देवता की स्तुति में अशुद्धियाँ हो सकती हैं, जिनके क्षमापन के लिये अंत में "यदक्षरपदभ्रष्टम्......" श्लोक पढ़ा जाता है; परंतु यदि यह श्लोक भी अक्षर-पद-भ्रष्ट हो, तो बेचारा पूजक क्या करे? डॉक्टर साहब ने अपने शिष्यों के लिये पुस्तक-भर तो ज़बानी लेक्चर में कह डाली; परंतु पुस्तक की भूमिका तो अवश्य ही अपनी लेखनी से लिखी होगी। फिर उसमें "शैली" का कुछ विचार क्यों नहीं किया, और "भाषा की ओर ध्यान" क्यों नहीं दिया? यह भी मान लेना अनुचित है कि डॉक्टर साहब अच्छी शैली में या अच्छी भाषा में लिख नहीं सकते; क्योंकि आगे चलकर आपने 'दूसरे भाग' में अच्छी शैली बरतने का वादा किया है। आश्चर्य तो यह होता है कि डॉक्टर साहब के इतने शिष्यों में से किसी की दृष्टि पुस्तक की भाषा-संबंधी भ्रष्टता पर न पड़ी। शायद 'गुरूणां वचनं पथ्यम्' को शिष्यों ने चरितार्थ किया हो।

जैसी क्षमा डॉक्टर साहब ने भूमिका में माँगी है, उसका अभिप्राय यदि कोई हो सकता है, तो इतना ही कि पुस्तक साहित्य-विषय की नहीं है, आवश्यकतानुसार हिंदी, उर्दू, अँगरेज़ी, फ़ारसी, संस्कृत, गँवारू शब्द, सभी का प्रयोग किया गया है; विषय के स्पष्टीकरण के लिये

पुनरुक्ति भी की गई है। इत्यादि। यह तात्पर्य नहीं हो सकता कि पुस्तक एकदम भ्रष्ट हो। ज़बानी लेक्चर सही; परंतु वह लेक्चर भी तो एक कॉलेज के प्रिंसिपल का है, उसमें इतनी भ्रष्टता शोभा नहीं देती। दो-एक छोटे-छोटे उदाहरण लीजिए—

सफ़ा ६५ पर—"ऐसे रोगी के मांस-पेशियाँ भोला ही होती हैं, और मोटे होते हैं। परंतु उनको ताक़त नहीं मिलता है।" सफ़ा १८० पर—"हरपिस ऐसा फुंसी होंठ, अनेंद्रये और मुँह में होता है दिनाये होता है जिसमें विशेष कर मुँह और अक्सर तमाम बदन ही आक्रांत होता है। यानी द्वार पर फुंसी होने पर, केहुनी के उपर फुंसी और चक्का जैसा दाना होने पर खराटा जम जाने पर सिपिया बहुत लाभदायक है।"

यह तो मेरी शक्ति के बाहर है कि भाषा-संबंधी सभी त्रुटियों का वर्णन मैं इस छोटी-सी समालोचना में कर सकूँ। हाँ, कुछ शब्द लिखता हूँ, जिनसे भाषा की त्रुटि का कुछ पता लग जायगा। निम्न-लिखित शब्दों का प्रयोग पुंलिंग में हुआ है।—कमी-बेशी, वजह, चिंता, बनावट, मुक्ति, कमज़ोरी, ज़िंदगी, धड़कन, पीड़ा, जलन, शिकायत, हड्डी, जगह, आँख, तकलीफ़, नाक, जड़, हालत, चाल, डकार, प्यास, भूख, संभावना, सहायता, कोष्ठबद्धता, क्रिया, अँगुली, पूर्ति, बीमारी, पहुँच, नफ़रत, असाधारणता, नली, अवस्था, पीठ, करवट, समझ, खुजलाहट, छींक, खबर, घृणा, वेदना, देर, खुजली, मदद, सर्दी, चमक, ज़बान, पलक, दवा, मौत, माँ इत्यादि सैकड़ों शब्द। क्या डॉक्टर लोग औरत को मर्द भी बना सकते हैं? निम्न-लिखित शब्दों का प्रयोग स्त्रीलिंग में हुआ है—घाव, रोग, चक्कर, दर्द, व्यवहार, बोझ, प्रदाह, तनाव, होंठ आदि। मर्दों को औरत बनना कम पसंद है।

निम्न-लिखित विचित्रताएँ भी देखने योग्य हैं—ये कैफ़ियत, ज़्यादे हो जाता है, समान (सामान्य) जुकाम ठंढा से, ज़री-ज़री बातों में, कमरा में, हवा से, अलावे, ज़रा सा हवा, आव, चेहरा पर, स्मरण, अमुक (विशेष) लाभदायक, ठंढा पसीना का चेहरा पर होना, धैर्यता, असमर्थ, पीड़ों से मुक्त, असहनीय, एगारह (ग्यारह) उन्होंने मासिक के समय नहीं लिये, मासिक असहता (मानसिक असहनता) सिध्यान्त, अस्थान (स्थान), मर्त्य (मर्त्य) उद्रामय आदि।

छापे की त्रुटियों की तो इतनी भरमार है कि पुस्तक को छापे के भूतों की पूरी जमात समझना चाहिए। पाठक बेचारा कहाँ तक धैर्य रक्खे।

एक बात और भी महत्त्व की है, उसे भी कह देना चाहिए। डॉक्टर साहब ने यह पुस्तक लिखी है अपने शिष्यों के लिये, जिन्हें उन्होंने रोग तथा चिकित्सा-संबंधी अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्द पहले से बतला दिए होंगे। परंतु शिष्यों ने 'सर्वसाधारन के लाभार्थ' इसे प्रकाशित करा दिया। सर्व-साधारण की दो श्रेणियाँ हो सकती हैं—एक तो वे लोग, जो अँगरेज़ी जानते हैं, और विशेषतः कठिन पारिभाषिक शब्दों के ज्ञाता हैं; दूसरे वे, जो केवल हिंदी जानते हैं। प्रथम श्रेणीवाले जो लोग अँगरेज़ी के सुविस्तृत तथा शुद्ध ग्रंथ पढ़ेंगे; उन्हें हिंदी-पुस्तकों की आवश्यकता ही नहीं। दूसरी श्रेणी के लोग इस पुस्तक से लाभ उठा ही नहीं सकते; क्योंकि इसमें तो अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्दों की भरमार है। माधुरी के पाठकों में जो सज्जन द्वितीय श्रेणी के हों, वे निम्न-लिखित कुछ शब्दों के अर्थ तथा भाव समझने की चेष्टा करें। इन शब्दों का अनुवाद पुस्तक में नहीं दिया—पैरोटिड ग्लैंड, सब-मैक्सिलरी ग्लैंड, सबलिंगुअल ग्लैंड, पौलोक्रीस्ट, टॉंसलाइटीज़, युभिलाइटिज़, रिउमैटिक ज्वर, इन्फ्लेंज़ा, डीज़ीज, हीपाकॅंड्रियम, सेरिब्रोस्पाइनल मनिंजाइटिस, फिस्चुला, नेक्रोसिस, गलकौलिक, पेरीटोनिटीस, वेरी कोस भेन्स, रॉटनिस्ट आदि।

मेरी इस आलोचना का सारांश यह है—(१) भाषा के लिहाज़ से पुस्तक अत्यंत भ्रष्ट है; (२) विषय के लिहाज़ से यह पुस्तक केवल उन लोगों के लिये उपयोगी हो सकती है, जिनके लिये लिखी गई है, अर्थात् डॉक्टर साहब के शिष्यों के लिये। यदि इसे सर्वसाधारण के लिये लाभदायक बनाना है, तो इसके दूसरे संस्करण में तमाम त्रुटियों को दूर कर देना चाहिए, और मूल्य भी ३) से कम कर देना चाहिए। आशा है, डॉक्टर साहब मेरी इस आलोचना से रुष्ट न होंगे; किंतु थोड़ा-सा और परिश्रम करके पुस्तक को यथार्थ लाभदायक कर देंगे। इस विषय की अच्छी पुस्तकों की अभी बड़ी आवश्यकता है।

चंद्रमौलि सुकुल

× × ×

४. कविता

रसिक गोविंद और उनकी कविता—लेखक, पं० बटुकनाथ शर्मा एम्० ए०, तथा पं० बलदेव उपाध्याय एम्० ए० ; प्रकाशक, हिंदी-प्रचारिणी-सभा, बलिया ; पृष्ठ-संख्या ८० ; मूल्य ।–)

यह छोटी-सी, परंतु उपादेय पुस्तक हिंदी-प्रचारिणी ग्रंथ-माला की प्रथम पुस्तक है। इसमें जयपुर-निवासी कविरसिकगोविंद का आलोचनात्मक परिचय है। इनके तीन छोटे-छोटे काव्य-ग्रंथ भी परिशिष्ट-रूप में प्रकाशित किए गए हैं। आलोचनात्मक परिचय विद्वत्ता-पूर्ण है। प्राचीन कवियों पर इस प्रकार की छोटी-छोटी आलोचनात्मक पुस्तकों से हिंदी में समालोचना के अंग की पूर्ति हो सकेगी। आशा है, बलिया की हिंदी-प्रचारिणी सभा इस उत्तम कार्य को समुचित रूप से करने का प्रयत्न करेगा।

×　　　×　　　×

वाल्मीकीय सुंदरकांड का पद्यानुवाद—अनुवादक, काशी-निवासी कृष्णचंद्रजी ; पृष्ठ-संख्या २०५ ; मूल्य (??)

इस ग्रंथ-रत्न में वाल्मीकीय रामायण के सुंदरकांड का छंदोबद्ध अनुवाद है। रोला, दोहा छंदों की ही विशेषता है। पुस्तक मेडिकलहाल-प्रेस (काशी) में सन् १९०७ में छपी है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र को समर्पित की गई है। इसमें विशुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। रस-पीयूष-निधि के कर्ता कविवर सोमनाथजी ने भी 'रामचरित्र-रत्नाकर' नाम से ब्रजभाषा में इस कांड का अनुवाद किया है। दोनों की तुलना करने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत अनुवाद भी बहुत अच्छा हुआ है। मूल की रक्षा बड़ी सावधानी से की गई है, और अनुवाद बहुत ही सरस एवं सरल है। उदाहरणार्थ कुछ छंद मूल-संस्कृत के साथ दिए जाते हैं—

तस्मिन्नेव ततः काले राजपुत्री त्वनिन्दिता ;
रूपयौवनसम्पन्नं भूषणोत्तमभूषितम् ।

　　निद्रारहित राजपुत्री ने तब ताही छन ;
　　वर भूषन धर रजनीचरपति लख्यो दसानन ।

ततो दृष्ट्वैव वैदेही रावणं राक्षसाधिपम् ;
प्रावेपत वरारोहा प्रवाते कदली यथा ।

　　निरखि जानकी निसिचरपति रावनहिं तहाँ पै ;
　　काँपी सुंदरि जिमि कदली मारुत लगि काँपै ।

ऊरुभ्यामुदरं छाद्य बाहुभ्यां च पयोधरौ ।
उपविष्टा विशालाक्षी रुदती वरवर्णिनी ।

　　जंघनि सों ढँकि उदर बाहु सों ढाँकि पयोधर ;
　　बैठी दीरघनैनि लगी रोवन ता थल पर ।

दशग्रीवस्तु वैदेहीं रक्षितां राक्षसीगणैः
ददर्श दीनां दुःखार्तां नावं सन्नामिवार्णवे ।

　　निसिचरीन सों रच्छित सीता इमि लखाति है ;
　　दीन दुखित जिमि नाव उदधि में डगमगाति है ।

असंवृतायामासीनां धरण्यां संशितव्रताम् ;
छिन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः ।

　　बिना बिछावन भूमि बैठि व्रत कठिन धरे चित ;
　　जिमि तरु की साखा कटि कै धरनी पै निपतित ।

मलमण्डनदिग्धाङ्गीं मण्डनार्हाममण्डनाम् ;
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ।

　　जमी मैल जा तन पै मंडन-जोग न मंडित ;
　　पङ्कदिग्ध कमलिनि सम सोभित और न सोभित ।

समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः ;
सङ्कल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः ।

　　जोरे बहु संकल्प हयन मनरथ पै गामिन ;
　　राजसिंह राघव के ढिग पहुँचत जनु भामिन ।

शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम् ;
दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम् ।

　　रोवत सूखत अकेली ध्यान सोक में तत्पर ;
　　राघव में मन दिए अंत नाहिं लखत दुःखकर ।

भवानीशंकर याज्ञिक

×　　　×　　　×

५. संगीत

मृदंग और तबलावादन सुबोध (प्रथम भाग)—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत गोविंदराव गुरुजी, मृदंगाचार्य, माहाजनी पेठ, बुरहानपुर, सी० पी० ; आकार डबल क्राउन सोलहपेजी ; पृष्ठ-संख्या ६७ ; मूल्य १) ; डाक-खर्च अलग ; छपाई-सफ़ाई सुंदर ; एक चित्र ।

गीत के दूसरे अति आवश्यक भाग का नाम ताल है। उसके विद्यार्थियों को ताल और लय का विशुद्ध शास्त्रोक्त ज्ञान देने के लिये ही इस पुस्तक की सृष्टि हुई है। पुस्तक में मृदंग और तबले के संबंध में कई ज्ञातव्य विषयों के सिवा उनके बोल, ठेके, मोहरे, गत, मुखड़ा, साथ और परन इत्यादि लिखे गए हैं, जिनकी संख्या सब मिलाकर

१५२ है। प्रायः सभी प्रचलित ताल इस पुस्तक में हैं। प्रमुख संगीताचार्यों ने पुस्तक का उपयोगिता स्वीकार की है। ताल के ज्ञान के लिये पुस्तक अति उत्तम है। लेखन-पद्धति श्रीमान् पंडित विष्णुदिगंबर पलुस्कर संगीताचार्य की उपयुक्त हुई है।

गोविंदवल्लभ पंत

× × ×

६. फुटकल

मोदक—लेखक, हिंदी-भूषण श्रीरामलोचन शर्मा, "कटक"; प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, शीतलपुर (सारन); मूल्य ≈)

प्रस्तुत पुस्तक में छोटे बालकों के मनोविनोदार्थ कुछ कहानियाँ अत्यंत सरल भाषा में, पद्य में, लिखी गई हैं। इनसे बालकों का मनोरंजन भी होगा, साथ ही ज्ञानवर्धन भी। हिंदू-विश्वविद्यालय के प्रो-वाइस चैंसलर, ज्ञानवयो-वृद्ध सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीयुत ध्रुव महाशय को यह 'मोदक' समर्पण किया है।

श्रीमोहनपंचाध्यायी—प्रणेता, वेदरत्न, निरुक्त-भूषण, व्याकरणशिरोमणि, साहित्यालंकार, ब्रह्मचारी श्रीभगवद्दासजी।

इसमें महात्मा गांधीजी के कारागार-गमन का वर्णन अत्यंत सरल और मनोरम संस्कृत पद्यों में है। यह काव्य पाँच अध्यायों में विभक्त है, और इसी से इसका नाम मोहन-पंचाध्यायी रक्खा गया है। पद्यों के पढ़ने से पता लगता है कि श्रीयुत ब्रह्मचारी भगवद्दासजी अच्छे कवि हैं। संस्कृत जाननेवालों को अवश्य इस सुंदर काव्य का आनंद लेना चाहिए।

× × ×

मेघमहोदय-वर्षप्रबोध—लेखक, श्रीमहामहोपाध्याय श्रीमेघविजयगणि; अनुवादक व प्रकाशक, पंडित भगवानदास जैन, सेठियाजैनप्रिंटिंग-प्रेस, बीकानेर; मूल्य ४)

जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इस ग्रंथ में वर्षा के संबंध में विशेष ज्ञान कराने का यत्न किया गया है। वृष्टि कैसे होती है, कब गर्भ रहता है और तदनुसार वृष्टि पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस विषय का इसमें अच्छा विवेचन है। लौकिक आभाणकों का आश्रय लिया गया है। इसके लक्षणों को ध्यानपूर्वक मिलाकर वर्ष में अतिवृष्टि होगी, अथवा अनावृष्टि होगी, इसका ज्ञान सरलतया प्राप्त किया जा सकता है। ज्यौतिषी लोग इससे विशेष लाभ उठा सकते हैं। भाषानुवाद भी अच्छा है। पुस्तक काम की है।

वर्तमान-काल में इस विज्ञान का प्रायः लोप हो रहा है। ऐसे समय में इस विद्या का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

× × ×

वस्त्रवर्णसिद्धि—सम्राहक व लेखक, सेठ चंदनमलजी नागोरी; प्रकाशक, श्रीसद्‌गुणप्रसारक मित्रमंडल, पो० छोटी सादड़ी (मेवाड़); मूल्य ॥)

जैन-संप्रदाय में वस्त्र के वर्णों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इसी विषय को लेकर शास्त्रार्थ छिड़ जाता है, और वह कभी-कभी विरस हो जाता है। कुछ समय पूर्व रतलाम में इसी विषय पर चर्चा हुई थी। उसी से उत्साहित होकर लेखक महाशय ने अनेक विशिष्ट जैन-पंडितों से ज्ञातव्य प्रमाण संग्रह करके इस पुस्तक की रचना की है। जैन-मतावलंबी इससे विशेष लाभ उठा सकेंगे।

× × ×

तत्त्वावतार—लेखक, मुनिदेवचंद्रजी; प्रकाशक, सेठ मेघजी थोमण; संशोधक, न्यायतीर्थ पंडित श्रीहंचरदास जीवराज।

पुस्तक में जैन-संप्रदाय के अनुसार तत्त्वों का विवेचन है। परंतु स्थावर में, प्रमाण आदि के प्रकरण में, केवल प्राचीन परिपाटी ही का अवलंबन न करके युक्ति का भी अनुसरण किया है। लिखने की शैली भी अच्छी है। आक्षेप और परिहार पृथक्-पृथक् स्पष्ट लिखे गए हैं। पुस्तक सरल संस्कृत में है, और इससे थोड़ी संस्कृत जाननेवाले विद्यार्थी भी लाभ उठा सकते हैं।

× × ×

अंतर्नाद—प्रणेता, वियोगी हरिजी; प्रकाशक, गांधी हिंदी-पुस्तक-भंडार, प्रयाग; विक्रेता, साहित्य-भवन लिमिटेड, प्रयाग; मूल्य ॥।)

श्रीयुत वियोगी हरिजी हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक के अधिकांश निबंध 'सरस्वती' में और कुछ 'सम्मेलन-पत्रिका' तथा 'प्रभा' में प्रकाशित हो चुके हैं। सात-आठ नए जोड़ दिए गए हैं। ये निबंध अत्यंत हृदयग्राही और सरस हैं। पाठकगण इनकी शैली से पूर्णतया परिचित हैं, अतः यहाँ एतत्संबंध में अधिक लिखना व्यर्थ है। काव्य की दृष्टि से यथार्थ ही ये निबंध बड़े महत्त्व के हैं। अनेक भाव नवीन एवं चमत्कार-पूर्ण हैं।

× × ×

श्रीविश्वभास्कर पंचांग—विरचयिता, कन्यालोप-

नामक पं० श्रीलक्ष्मीकांत शर्मा ज्योतिषाचार्य; प्रकाशक भी वही हैं; नवलकिशोर-प्रेस के स्वामी श्रीयुत मुंशी विष्णुनारायणजी भार्गव की सहायता से छापा गया है; मूल्य ॥ है। मिलने का पता—पं० लक्ष्मीकांत कन्याल ज्योतिषाचार्य ज्योतिष-कार्यालय-गंगापुर-बरेली।

यह विक्रम संवत् १९८४ का पंचांग है। इससे पूर्व १९८३ संवत् का पंचांग भी हमें मिला था। हमने उसे अन्य पंचांगों से मिलाया। इसमें गणित भाग अन्य पंचांगों के समान ही मिले। धर्म-शास्त्रीय विषय भी इसमें शास्त्रोक्त विधि के अनुसार लिखे गए हैं। अन्यान्य आवश्यक विषय भी इसमें सन्निविष्ट हैं। पंचांग बड़े काम का है।

× × ×

आश्चर्यजनक स्मरण-शक्ति और उसके कर्तव—अनुवादक, संपादक, कोषकार श्रीयुत मास्टर बिहारीलालजी जैन, 'चैतन्य' (बुलंदशहरी); प्रकाशक, शांतिचंद्र जैन बुलंदशहरी वीर-प्रेस, बिजनौर; मूल्य ।)

इसमें महाशय रायचंद्रजी भाई कवि की अद्भुत स्मरण-शक्ति के परिचय करानेवाले, भिन्न-भिन्न पत्रादिकों में प्रकाशित, निबंधों का संग्रह है। इनके पढ़ने से ज्ञात होता है कि यथार्थ में रायचंद्रजी महाशय विलक्षण स्मृति-संपन्न व्यक्ति थे। खेद है, अत्यंत अल्पवय में ही उनका शरीरपात हो गया, नहीं तो वह और भी चमत्कार दिखाते।

× × ×

७. प्राप्ति-स्वीकार

१. **अमृतधारा की सिलवर जुबली का स्मारक**—प्रकाशक, मैनेजर अमृतधारा कार्यालय, अमृत-प्रेस, लाहौर।

२. **अमृतधारा की सिलवर जुबली (२५ वर्षीय रजतजयंती) की रिपोर्ट**—प्र०, अमृत प्रेस, लाहौर।

३. **शिशुपालनोपदेश (कविता)**—लेखक, श्री-सूर्यनारायण शर्मा आचार्य; प्रकाशक, बालचंद्र-यंत्रालय जयपुर; मूल्य १ पैसा।

४. **रिपोर्ट सालाना जलसा भार्गव-सभा, अजमेर**—प्रकाशक, बाबू राधारमण भार्गव, रामनारायण-प्रेस, मथुरा।

५. **सुख-संचारक-कंपनी, मथुरा का सूचीपत्र**—प्रकाश, मैनेजर सुख-संचारक-कंपनी, मथुरा।

६. **कार्यवाही अखिल भारतवर्षीय राजगोंड-क्षत्रिय-महासभा**—लेखक और प्रकाशक, ठा० चंद्रभानसिंहजू देवलाल साहब, पिखरा-स्टेट, सरगुजा; मूल्य जाति-सेवा।

७. **म्युनिसिपिल हाईस्कूल, कटनी की सन् १९२५ की वार्षिक रिपोर्ट।**

इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रतिमास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई—

(१) "सर्वस्व-समर्पण या नारी-जीवन" (बँगला उपन्यास का हिंदी-अनुवाद)। लेखिका, श्रीमती निरुपमादेवी तथा अनुवादक, पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा ; मूल्य सादा ४), सजिल्द ४॥)

(२) "शैतान का शैतान" (जासूसी उपन्यास)। लेखिका, मेरी कारेली तथा अनुवादक, श्रीवेद्यसहाय बी० ए०, बी० एल्० ; मूल्य सादा ३), सजिल्द ३॥)

(३) "परिवर्तन" (सामाजिक नाटक) लेखक, पं० राधेश्याम कथावाचक ; मूल्य १)

(४) "हिंदी गद्य-काव्य मीमांसा"। लेखक, श्रीरमाकांत त्रिपाठी ; मूल्य ३॥)

(५) "छत्रपाल" (तृतीयावृत्ति), एक मराठी-भाषा के ऐतिहासिक उपन्यास का अनुवाद ; अनुवादक, बाबू रामचंद्र वर्मा ; मूल्य १॥।), सजिल्द २॥)

(६) "स्वावलंबन" (तृतीयावृत्ति)। डा० सेमुएल स्माइल्स एल्-एल्० डी० के सेल्फ़ हेल्प-नामक अँगरेज़ी-ग्रंथ का हिंदी-रूपांतर। लेखक, मोतीलाल जैन एम्० ए०; मूल्य सादी १॥), सजिल्द २)

(७) "सती-दाह" (सती-प्रथा का रक्त-रंजित सचित्र इतिहास)। लेखक, श्रीशिवसहाय चतुर्वेदी; मूल्य २॥)

(८) "सती सुभद्रा" (सचित्र पौराणिक उपन्यास)। लेखक, पं० कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय ; मूल्य २)

(९) "नवीन शिल्पमाला" (कपड़ों के काटने इत्यादि की सचित्र पुस्तक)। ग्रंथकर्त्री, श्रीहेमंतकुमारी चौधुरानी ; मूल्य २॥), रे० जि० ३)

(१०) "सत्यार्थ-प्रकाश" (बीसवीं बार)। श्रीस्वामी दयानंदजी-विरचित ; मूल्य ॥=)

(११) "चक्रदत्त" (वैद्यक ग्रंथ)। हिंदीभाषानुवाद सहित ; अनुवादक, पं० सदानंद शास्त्री ; मूल्य ६)

१. एक आवश्यक कार्य

प्रवासी भारतवासियों के अनन्य सहायक, हिंदी के सुलेखक, पं० बनारसीदास चतुर्वेदीजी से माधुरी के पाठक अच्छी तरह परिचित होंगे। आपने अपने कुछ विचार माधुरी में प्रकाशनार्थ हमारे पास भेजे हैं। हम आपके वक्तव्य का सारांश, प्रायः उन्हीं के शब्दों में, अपने पाठकों की सेवा में उपस्थित करते हैं—

हिंदी ही भारत की राष्ट्र-भाषा है, इसे तो सब समझदार आदमी मानने लगे हैं। ऐसा न माननेवाले या तो पागल हैं, अथवा प्रांतीयता के रोग से पीड़ित। इन दोनों बीमारियों का इलाज हम हिंदीवालों के पास नहीं है, इसलिये ऐसे आदमियों की उपेक्षा करना ही उचित होगा। राष्ट्र-भाषा के प्रचार के लिये यदि तामिल, आंध्र तथा आसाम आदि प्रांतों के सज्जन तैयार नहीं, और उसका भार स्वयं नहीं उठा सकते, तो ग़रीब हिंदीवालों के पास भी इतना धन नहीं कि वे प्रतिवर्ष इसके लिये साधन जुटा सकें। इंदौर के हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से प्रचार का कार्य प्रारंभ हुआ था। अब भरतपुर के साहित्य-सम्मेलन से साहित्यिक कार्य का सूत्रपात होना चाहिए। हम लोगों का कर्तव्य है कि अब अपनी सारी शक्तियों को केंद्रित करके उन्हें साहित्यिक कार्य की ओर लगा दें। हमें अपने काम को दो भागों में बाँट लेना चाहिए। एक तो यह कि प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य का पता लगाया जाय, और दूसरा यह कि भविष्य के लिये उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखाए जायँ। इस कार्य को प्रांतों के अनुसार बाँट लेना चाहिए। अकेले संयुक्त-प्रांत में ही कई विभाग किए जा सकते हैं। ब्रज-भूमि को ही लीजिए। यदि कोई समझदार अन्वेषक ब्रज-भाषा के साहित्य का पता लगाकर उसके उद्धार का कार्य अपने ऊपर ले ले, तो उसके जीवन-भर के लिये काफ़ी काम पड़ा हुआ है। ब्रज-भाषा के उद्धार के कार्य को हम लोग भावी आगरा-विश्वविद्यालय के द्वारा करा सकते हैं। छः महीने बाद आगरा-विश्वविद्यालय का काम चल निकलेगा। यदि हम लोग अभी से हिंदी को इस विश्वविद्यालय में उचित स्थान दिलाने के लिये सुसंगठित आंदोलन करें, तो आगे चलकर हमें अपने उद्देश्यों में बहुत कुछ सफलता मिल सकती है। पर जो महानुभाव इस काम को हाथ में लें, उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यह काम दो-चार महीने का नहीं है। अगर दो-चार योग्य हिंदी-सेवक अभी से इसमें लग जायँ, तो कहीं १०-१२ वर्ष में पूरी सफलता मिल सकेगी।

संयुक्त-प्रांत में विश्वविद्यालयों की भरमार है। हिंदू-विश्वविद्यालय, मुसलिम-विश्वविद्यालय, लखनऊ-युनिवर्सिटी,

इलाहाबाद-युनिवर्सिटी, ये चार तो पहले से ह मौजूद हैं, अब पाँचवाँ आगरा-विश्वविद्यालय शीघ्र ही स्थापित होगा। पर इन चारों विश्वविद्यालयों मे हिंदो को उचित स्थान प्राप्त नहीं। हम लोगों का कर्तव्य है कि आगरा-विश्वविद्यालय की प्रबंधकारिणी समिति में ऐसे आदमियों को भेजें, जो हिंदी के अनन्य प्रेमी हों। हम हिंदी-प्रेमी अभी अपनी शक्ति का भूले । यदि हम लोग मिलकर अपने आदमियों को युनिवर्सिटी-बोर्ड में भेजना चाहें, तो यह कोई कठिन बात नहीं है।

पहला काम तो यह है कि आगरा-युनिवर्सिटी-ऐक्ट मँगाकर उसका अच्छो तरह अध्ययन किया जाय। उसमें यह देखना चाहिए कि चुनाव से कितने आदमी युनिवर्सिटी-बोर्ड में आयँगे। उन सब जगहों के लिये हमें अपने उम्मेदवार खड़े करने चाहिए। यदि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी और आगरा) तथा प्रांत की अन्य हिंदी-संस्थाएँ मिलकर इस आंदोलन को उठावें, और हिंदी-पत्र इसका समर्थन करें, तो हिंदी को आगरा-विश्वविद्यालय में उचित स्थान दिलाना कोई असंभव कार्य नहीं है।

इस आंदोलन के लिये अवश्य धन की आवश्यकता पड़ेगी। इसका प्रबंध करना भी कठिन नहीं। मान लीजिए, हम लोग अपनी ओर से २० उम्मेदवार खड़े करते हैं। उन २० उम्मेदवारों से, उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार, चंदा करके हज़ार-डेढ़ हज़ार रुपए इकट्ठा करना आसान होगा। यही रुपया इस आंदोलन में व्यय किया जाय।

आगरा-विश्वविद्यालय के अधिकारी आस-पास की जनता से धन एकत्रित करेंगे। हम लोगों का कर्तव्य है कि इन दानी सज्जनों के पास जाकर प्रार्थना करें कि आप अपनी रक़म ख़ास करके हिंदी के कार्य के लिये दें। इसी तरह व्रज-भाषा के प्राचीन ग्रंथों की खोज तथा छपाई इत्यादि के लिये तीन-चार हज़ार रुपए सुरक्षित करा देना कोई मुश्किल बात न होगी।

अभी तो आगरा-विश्वविद्यालय सिर्फ़ परीक्षा लेने ही का काम करेगा; पर यदि हम लोग आंदोलन करें, तो उसमें हिंदी-पुस्तक-प्रकाशन-विभाग भी खुलवा सकेंगे। इस समय पहला आवश्यक प्रश्न हमारे सामने है आगरा-कॉलेज में हिंदी के एक अच्छे प्रोफ़ेसर की नियुक्ति। हमने सुना है, कॉलेज इस पद के लिये १००) मासिक से अधिक खर्च नहीं करना चाहता। हमारा कर्तव्य है कि हिंदी-अध्यापक के पद का वेतन उतना ही रखवावें, जितना अँगरेज़ी-अध्यापकों का है।

यदि हम लोग यह काम अभी अपने हाथ में उठा लें, और पंद्रह वर्ष तक निरंतर उद्योग करते रहें, तो हिंदी का भविष्य उज्ज्वल होगा। प्रांत के अन्य विश्वविद्यालयों पर भी इस आंदोलन का अच्छा असर पड़ेगा। भारतीय शिक्षा-विशेषज्ञों में शिरोमणि आचार्य गिडवानीजी ने अभी उस दिन नागरी-प्रचारिणी सभा (आगरा) में व्याख्यान देते हुए कहा था—

"संयुक्त-प्रांत के विश्वविद्यालयों का कर्तव्य है कि वे हिंदी-भाषा और साहित्य के प्रति अधिकाधिक ध्यान दें, और अपना यह उद्देश्य निश्चित कर लें कि निकट भविष्य में अपना कार्य मुख्यतया हिंदुस्तानी में करेंगे। इस प्रकार संयुक्त-प्रांत के विश्वविद्यालय देश के मार्ग-प्रदर्शक बन सकते हैं। इसके साथ-ही-साथ मैं इस बात पर भी ज़ोर दूँगा कि योरपियन भाषाओं की ओर कम नहीं, वरन् अधिक ध्यान दिया जाय, जिससे भारतवर्ष आधुनिक उन्नति के युग में बराबर आगे बढ़ा रहे। मेरी यह दृढ़ सम्मति है कि पहले इन विश्वविद्यालयों में, हिंदी पढ़ाने के लिये, खोज के काम के लिये, पुराने ग्रंथों के छपाने तथा योरप व भारत के मुख्य-मुख्य ग्रंथों के अनुवाद के लिये प्रबंध होना चाहिए। आगरा-विश्वविद्यालय का कर्तव्य है कि वह हिंदी के मौलिक लेखकों को प्रोत्साहन दे। इसके लिये हिंदी के योग्य अध्यापकों व अन्वेषकों की नियुक्ति आवश्यक है।"

आचार्य गिडवानी की दूरदर्शिता पर हम उन्हें बधाई देते हैं। हमारे सौभाग्य से वह आजकल व्रज-भूमि में ही विद्यमान हैं *। हमें दृढ़ विश्वास है कि वह हमारे इस आंदोलन में भरपूर मदद देंगे। उनकी विलक्षण वक्तृत्व-शक्ति, अद्भुत तर्क-शैली और उनका प्रभावशाली व्यक्तित्व हमारे इस आंदोलन के लिये बहुत लाभदायक सिद्ध होगा।

चूहे और बिल्लीवाले पुराने क़िस्से की तरह अब सवाल यह होता है कि बिल्ली का मुँह कौन पकड़े? इस आंदोलन का संचालक कौन बने?

* आचार्य गिडवानीजी आजकल प्रेम-महाविद्यालय, वृंदावन के प्रिंसिपल हैं।

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन व नागरी-प्रचारिणी सभाएँ ही इसका उत्तर दे सकती हैं। क्या उनका ध्यान इस आवश्यक प्रश्न की ओर आकर्षित होगा ?

हम इस विषय में अधिक टीका-टिप्पणी न करके इतना ही कह देना काफ़ी समझते हैं कि चतुर्वेदीजी के कथन के अक्षर-अक्षर से हम सहमत हैं। चतुर्वेदीजी ने जो कार्य जनता और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं के सामने रक्खा है, उसकी पूर्ति शीघ्र होनी चाहिए।

× × ×

२. हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिये भरतपुर आने का समय सिर पर आ गया है। २६ मार्च से ४ एप्रिल तक सम्मेलन-सप्ताह रहेगा। यह समय असेंबली के प्रतिनिधियों की सुविधा का लक्ष्य में रखकर बढ़ा दिया गया है। सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष पं० मयाशंकरजी याज्ञिक तथा अन्य कार्यकर्ता बड़े उत्साह और फुर्ती के साथ सम्मेलन की सफलता के लिये उद्योग कर रहे हैं। हि० सा० स० के साथ ही, उसी समय और स्थान में, भरतपुर में, ८-६ सम्मेलन होनेवाले हैं, जिनमें सनातनधर्म-सम्मेलन भी है। महाराज ने इन सबकी सुव्यवस्था और राज्य की ओर से प्रतिनिधियों का स्वागत करने के लिये एक सेंट्रल रिसेप्शन कमेटी बना दी है। कैंप बहुत सुंदर बन रहा है। कैंप में सब सम्मेलनों को मिलाकर कोई १०,००० प्रतिनिधियों के ठहरने की व्यवस्था की गई है। कैंप और पंडाल में टेलीफ़ोन और बिजली की रोशनी का प्रबंध रहेगा। डाकख़ाने और तारघर के लिये भी लिखा-पढ़ी हो रही है। मतलब यह कि सब तरह की सुविधा और आराम का प्रबंध किया जा रहा है। भरतपुर-नरेश ने विश्व-कवि श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर, असेंबली के प्रेसीडेंट श्रीयुत वी० जे० पटेल तथा असेंबली के कई अन्य सदस्यों को निमंत्रण भेजा था। हर्ष है, इन सज्जनों ने निमंत्रण स्वीकार कर सम्मेलन में सम्मिलित होने का वादा कर लिया है। इन लोगों के अतिरिक्त प्रो० यदुनाथ सरकार एम्० ए० (वाइस चांसलर कलकत्ता-युनिवर्सिटी), म० म० डॉ० गंगानाथ झा एम्० ए० (वाइस चांसलर इलाहाबाद-युनिवर्सिटी), पूज्य मालवीयजी (वाइस चांसलर हिंदू-युनिवर्सिटी), राय साहब बा० श्यामसुंदरदास बी० ए०, बाबू जगन्नाथदासजी "रत्नाकर" बी० ए०, पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय आदि कई गण्य-मान्य पुरुषों ने भी आने की स्वीकृति दे दी है। सम्मेलन के साथ एक प्रदर्शिनी होगी। उसमें प्राचीन हिंदी-पत्रों की फ़ाइलें भी रक्खी जायँगी। जिन सज्जनों के पास ऐसी फ़ाइलें हों, वे कुछ समय के लिये प्रदर्शिनी के कार्यकर्ताओं के पास उन्हें भेज दें। अखिल भारतीय चर्खा-संघ के उद्योग से एक खादी-प्रदर्शिनी भी करने का विचार हो रहा है। मतलब यह कि सम्मेलन का कार्य बड़ी तत्परता से हो रहा है। अब हिंदी-भाषा-भाषी जनता को भी प्रतिनिधि अथवा दर्शक-रूप से यथेष्ट संख्या में उपस्थित होकर कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ाना चाहिए। सम्मेलन के सभापति का चुनाव अभी तक नहीं हुआ है, और इसकी शिकायत हमने अक्सर लोगों से सुनी है। पर हमको विश्वस्त रूप से मालूम हुआ है कि सभापति का निर्वाचन एक प्रकार से कर लिया गया है। उनकी स्वीकृति मिलते ही उनका नाम प्रकट कर दिया जायगा।

× × ×

३. हिं० सा० सम्मेलन के लिये कार्य-क्रम

हम विगत संख्याओं में यह लिख चुके हैं कि हमारी सम्मति से हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को अपना कार्य-क्रम बदलकर अब कुछ ठोस साहित्यिक काम करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कोई संस्था चिरकाल तक किसी एक पार्टी (या कम-से-कम जिस दल में पार्टीबंदी का भाव काम कर रहा हो, उस दल) के हाथ में न रहनी चाहिए। हम यह भी प्रकट कर चुके हैं कि सम्मेलन ने अबतक जो काम किए हैं, या अब जो कर रहा है, वे ग़नीमत कहे जा सकते हैं, पर यथेष्ट नहीं। हम यह भी बतला चुके हैं कि नए प्रस्ताव पास करने की अपेक्षा इस बार संग्रहालय तथा इतिहास-निर्माण के प्रस्तावों की ही पुष्टि और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का उद्योग होना चाहिए। हर्ष की बात है कि इन बातों की ओर अन्य सज्जनों का भी ध्यान गया है। पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के लिये एक कार्य-क्रम भी हमारे पास प्रकाशनार्थ भेजा है। हम उसे यहाँ प्रकाशित करते हैं। आशा है, सम्मेलन के वर्तमान कर्णधार तथा हिंदी-भाषी जनता इस कार्य-क्रम पर विचार करने की कृपा करेगी।

चतुर्वेदीजी लिखते हैं—

मेरी तुच्छ सम्मति में इस समय हमारे लिये निम्न-लिखित कार्य-क्रम उपयुक्त होगा—

प्रचार-कार्य—इसको अब गौण स्थान देना चाहिए, और साहित्यिक कार्य को मुख्य। आंध्र, तामिल-प्रांत तथा आसाम इत्यादि में प्रचार का जो काम हो रहा है, उसका व्यय-भार मुख्यतया अब वहाँ के निवासियों को उठाना चाहिए। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन एक कमेटी टंडन-जी प्रभृति ऐसे सज्जनों की नियुक्त कर दे, जिनका अन्य प्रांतों में भी प्रभाव है। यह कमेटी प्रचार-कार्य के लिये उपर्युक्त प्रांतों के कार्यकर्ताओं को परामर्श दे, तथा आर्थिक सहायता की यदि आवश्यकता पड़े, तो कुछ चंदा भी इकट्ठा कर दे।

साहित्यिक कार्य—(१) संग्रहालय का काम, जो बिलकुल अधूरा पड़ा हुआ है, उत्साह-पूर्वक हाथ में लिया जाय। प्रभावशाली व्यक्तियों का एक डेपुटेशन, भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करके, इस कार्य के लिये अर्थ-संग्रह करे। इस प्रकार जो रुपया आवे, उसमें से १२५) मासिक पर एक योग्य सज्जन की नियुक्ति की जाय, जो अपना सारा समय संग्रहालय के कार्य में ही लगावे। खोज का कार्य इसी विभाग के अधीन रहे। यह विभाग ही अलग कर दिया जाय, और एक मंत्री इसी विभाग का रहे।

(२) हिंदी-लेखकों व कवियों के जीवन-चरित्र के लिये मसाला इकट्ठा करना और उन्हें लिखाना संग्रहालय-विभाग का काम हो। ग्राम्य कविता-संग्रह भी यही विभाग अपनी देख-रेख में करावे।

(३) हिंदी-संपादन-कला का इतिहास लिखाया जाय, और इस बात की कोशिश की जाय कि स्वर्गीय राधा-चरणजी गोस्वामी के यहाँ जो मसाला इकट्ठा है, वह सम्मेलन-कार्यालय को मिल जाय। यदि अभी न मिल सके, तो उपयोगी काग़ज़-पत्रों की नक़ल करा लेनी चाहिए।

(४) सम्मेलन-पत्रिका को द्वैमासिक कर दिया जाय, और उसमें अधिक उपयोगी लेख छपाए जायँ। सम्मेलन के मामूली समाचार बुलैटिन निकालकर हिंदी-पत्रों द्वारा जनता तक पहुँचाना चाहिए। पत्रिका में उनके छपाने की आवश्यकता नहीं।

(५) हिंदी-विद्यापीठ में क्या पढ़ाई होनी चाहिए, और विद्यार्थियों को क्या-क्या काम सिखाया जाना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की जाय, जो देश के ख़ास-ख़ास शिक्षा-विशेषज्ञों से परामर्श लेकर विद्यापीठ का पाठ्य-क्रम निश्चित करे। उदाहरणार्थ यदि विद्यापीठ एक प्रेस खोल दे, और कुछ विद्यार्थियों को प्रेस का काम भी सिखावे, तो अच्छा होगा। कोई औद्योगिक विषय भी रक्खे जा सकते हैं या नहीं, इस प्रश्न का भी निर्णय कराना चाहिए।

(६) अपना प्रेस हो जाने पर अच्छे बाल-साहित्य की रचना कराने, विशेषज्ञों से अपने-अपने विषय पर पुस्तक लिखाकर एक साराश निकालने और भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने के लिये पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने का काम हाथ में लिया जा सकता है।

(७) हिंदी के प्राचीन कवियों की कीर्ति-रक्षा के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमेटी नियुक्त कर दी जाय, जो महीने-भर के भीतर ही अपनी रिपोर्ट सम्मेलन के अधिकारियों के सम्मुख उपस्थित करे।

(८) संयुक्त-प्रांत के विश्वविद्यालयों में हिंदी को उचित स्थान दिलाने के लिये आंदोलन प्रारंभ किया जाय।

(९) साहित्य-मंत्री और परीक्षा-मंत्री का पद मिला दिया जाय, और वह वैतनिक हो। कम-से-कम १२५) मासिक उसे मिलें। वही सम्मेलन-पत्रिका का संपादन करे। परीक्षाओं का अधिकाधिक प्रचार करने के लिये प्रांत की अन्य हिंदी संस्थाओं से सहायता ली जाय।

(१०) वर्तमान हिंदी-लेखकों की दुर्दशा दूर करने के प्रश्न पर विचार किया जाय।

(११) संपादक-समिति का कार्य सुचारु रूप से चलाने के हिंदी-सम्मेलन यथाशक्ति प्रबंध करे, और ऐसे उपाय सोचे, जिनसे हिंदी-पत्र-संपादन-कला की उन्नति हो और योग्य युवक इस क्षेत्र में आवें।

(१२) हिंदी-पुस्तक-प्रकाशकों से उत्तमोत्तम ग्रंथ छपाने के लिये अनुरोध किया जाय, और ऐसी पुस्तकों की सूची तैयार करके उनको दे दी जाय, जिनकी इसी समय हमारे साहित्य के लिये अत्यंत आवश्यकता है।

इनके अतिरिक्त अन्य कार्य भी इस प्रोग्राम में जोड़े जा सकते हैं। यह सवाल हो सकता है कि प्रोग्राम को पूरा करने के लिये धन कहाँ से आवेगा? सम्मेलन के जो दो मंत्री वैतनिक हों, वे डेपुटेशन के साथ घूम-घूमकर चंदा

जमा करें, और सम्मेलन की ओर से प्रांतीय सरकार की सेवा में भी एक डेपुटेशन संग्रहालय के लिये आर्थिक सहायता की याचना करने के लिये जाय। जब दो मंत्री अपना पूरा-पूरा समय सम्मेलन के लिये लगावेंगे, तब अवश्य ही बहुत कुछ काम हो सकेगा। अपने-अपने धंधों से बचाकर किसी काम में दो-तीन घंटे लगाने तथा दिन-रात उसी की चिंता में लगे रहने में बड़ा अंतर है।

हिंदी-जनता ठोस साहित्यिक काम चाहती है, चाहे उसे टंडनजी करें, या रामजीलालजी, या दोनों मिलकर, अथवा अन्य कोई। वह व्यक्तियों की पुजारी नहीं, असली काम चाहती है। वह नियमावली को वेद-वाक्य नहीं समझती। यदि वर्तमान नियम कार्य में बाधक होते हैं, तो उन्हें बदल दीजिए। हिंदी-जनता दलबंदी का वायु-मंडल कदापि नहीं चाहती। व्यक्तिगत आक्षेप तथा पीठ-पीछे बुराई की नीति से उसे घृणा है। हिंदी-जनता नहीं चाहती कि राजनीतिक दलबंदी की कीचड़ उसके पवित्र आँगन में आवे। सरस्वतीदेवी के मंदिर में जीहुज़ूर से लेकर विप्लववादी तक के लिये स्थान है। सबको यहाँ पूजा का समान अधिकार है। हम लोगों में यदि कोई मतभेद हो सकता है, तो वह प्रचार-संबंधी या साहित्यिक कार्य-क्रम पर ही हो सकता है। एक कार्य-क्रम का ढाँचा ऊपर खींचा गया है। हम जानना चाहते हैं कि वर्तमान मंत्रि-मंडल, उसके विरोधियों तथा अन्य हिंदी-लेखकों की इस पर क्या सम्मति है।

× × ×

४. भारत-कला-परिषद्, काशी

प्राचीन चित्र, प्राचीन मूर्तियाँ तथा अन्य ललित-कला की सामग्रियाँ प्रत्येक देश और जाति की अमूल्य संपत्ति होती हैं। अन्य स्वाधीन और उन्नत देशों में ये चीज़ें यथेष्ट धन ख़र्च करके एकत्र की जाती हैं। जनता भी इनका संग्रह करती है, और सार्वजनिक प्रदर्शन के लिये सरकारी तौर पर भी इन चीज़ों का संग्रह किया जाता है। पर हमारे ग़रीब पराधीन देश में ऐसी चीज़ें विदेशियों के हाथ में चली जाती हैं। यहाँ के संपन्न लोगों का ध्यान इधर नहीं जाता, चाहे वे आवारगी के कामों में लाखों रुपए ख़र्च कर डालें। संतोष की बात है कि देश के कुछ उत्साही सज्जनों के उद्योग से भारत-कला-परिषद् की स्थापना हुई है, और अब—गत दिसंबर में—"भारत-कला-परिषद्", काशी की चित्रशाला और संग्रहालय सेंट्रल हिंदू-स्कूल (कमच्छा, काशी) के एक विस्तृत भवन में स्थायी रूप से आ गया है। इस परिषद् का उद्देश्य भारत की प्राचीन एवं अर्वाचीन कलाओं का संरक्षण, प्रचार और उन्नति करना है। विश्वकवि रवींद्रनाथ ठाकुर-जैसे महामना भी इस संस्था से पूर्ण सहानुभूति रखते हैं, और वही इसके सभापति भी हैं। इस समय परिषद् के संग्रहालय में कोई ४०० प्राचीन चित्र और सैकड़ों पुरातन मूर्तियाँ मौजूद हैं, जोकि ललित-कला की दृष्टि से बहुत ही सुंदर हैं। उन्हें देखकर वास्तविक सौंदर्य का अनुभव और परिज्ञान प्राप्त होता है। इसके सिवा उनमें तत्कालीन भारतीय समाज के आचार-विचार एवं नीति-निष्ठा का ज्वलंत आभास पाया जाता है। जिन लोगों ने लखनऊ की प्रथम अखिल भारतीय चित्र-प्रदर्शिनी अथवा कानपुर-कांग्रेस में उन चित्रों को देखा है, वे हमारी इस सम्मति से पूर्णतया सहमत होंगे। परिषद् शीघ्र ही इन चित्रों के सादे एवं रंगीन ब्लाक तैयार कराना चाहता है। परिषद् के अंतर्गत चित्र-कला, मूर्ति-कला और संगीत-कला के अध्ययन तथा मनन की संपूर्ण सुव्यवस्था की जा रही है। प्रयत्न यह है कि विदेशों में भी जहाँ कहीं भारत के प्राचीन चित्रादि मौजूद हों, उनके फ़ोटो लेकर परिषद् के संग्रहालय में रक्खे जायँ, जिसमें उनके अवलोकन और अध्ययन की भी यहीं सुविधा हो जाय। परिषद् में कला-संबंधी एक लाइब्रेरी भी है, जिसमें भारतीय एवं विदेशी कलाओं का ज्ञान करानेवाली सभी उत्कृष्ट पुस्तकों का बृहत् संग्रह किया जायगा। समय-समय पर परिषद् स्वयं कला-संबंधी पुस्तकों का प्रकाशन करेगा। प्रायः १,००० स्वर-लिपि-बद्ध प्राचीन उत्कृष्ट गान संगृहीत किए जा चुके हैं। वे क्रमशः प्रकाशित किए जायँगे। "संगीत-समुच्चय" नाम से इनका एक अंश निकल भी चुका है। समय-समय पर परिषद् कला-विषयक सुबोध, सचित्र व्याख्यान तथा "संगीत-सम्मेलन" का आयोजन भी करेगा। संगीत-कला और चित्र-कला का विशेष रूप से अध्ययन कराने के लिये परिषद् एक विद्यालय खोलेगा। उद्देश्य कैसे स्तुत्य हैं, यहाँ कहने की आवश्यकता नहीं; किंतु इनकी सफलता कला-प्रेमियों के हाथ है। हमें पूर्ण आशा है कि वे इसके सदस्य बनकर अपने उत्साह और सहानुभूति का परिचय दिए बिना न रहेंगे। विशेष बातें जानने के लिये मंत्री,

भारत-कला-परिषद्, बनारस सिटी से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

× × ×

५. हिंदू-भाइयों से निवेदन

कुर्री-सुदौली के महाराज आनरेबुल राजा रामपालसिंह-जी ने हमारे पास एक अपील प्रकाशनार्थ भेजी है। अपील सामयिक, आवश्यक और देश तथा जाति के लिये लाभ-दायक है। अतएव उसका सारांश प्रकाशित कर हम पाठकों से अनुरोध करते हैं कि वे इस अपील पर अवश्य ध्यान देने की कृपा करें। पहले स्वामी श्रद्धानंदजी की हत्या के कारण क्रोध में आकर कुछ अनुचित कार्य न कर बैठने की, शांत रहने की, हिंदू-जाति से प्रार्थना करके राजा साहब लिखते हैं—

"किंतु मेरी आपसे इतनी प्रार्थना अवश्य है कि आपको इस दुःखद घटना से इतनी शिक्षा, यद्यपि यह शिक्षा बड़ी महँगी है, अवश्य लेनी चाहिए कि जिन धर्मों या मतों के अंदर हमारे अपढ़ और निर्धन भाइयों को नाना प्रकार की ज़्यादतियों और प्रलोभनों द्वारा खींचा जा रहा है, वे मनुष्य-जाति के लिये किसी प्रकार हितकर नहीं हो सकते। ऐसे धर्मों के यदि अधिकसंख्यक अनुयायी हो जायँ, तो संसार में शांति कभी नहीं रह सकती। माना कि हिंदू-धर्म सबसे अच्छा और शांति देनेवाला है; किंतु यदि इसी प्रकार हिंदुओं की संख्या बराबर घटती गई, तो इस सर्व-श्रेष्ठ धर्म का प्रचार ही कौन करेगा? अभी तो इक्कीस करोड़ भाइयों के होते हुए भी उनके नेताओं के साथ यह दुर्व्यवहार हो रहा है, अब उनकी संख्या और भी घट जायगी, जैसा कि हमारी ग़लतियों और संकीर्ण विचारों के कारण बराबर हो रहा है, तो हिंदू-नामधारियों की क्या दुर्गति होगी? ऐसी अवस्था में देश, जाति और सारे संसार की शांति एवं सुख के लिये हमारा यह परम कर्तव्य है कि सबसे प्रथम हम हिंदुओं का संगठन कर हिंदू-धर्मावलंबियों की रक्षा, उन्नति और उद्धार के लिये उनमें एक अमोघ शक्ति पैदा कर दें, ताकि बाहर के किसी आततायी का साहस न हो सके कि वह उसके अंदर से किसी को खींच सके। दूसरे हमको अपने संकीर्ण विचार दूर कर शुद्धि का द्वार खोल देना चाहिए, ताकि हमारे अंदर से जिन भाइयों को गुमराह करके दूसरे धर्मों के अंदर ले जाकर उनकी छीछालेदर की जा रही है, उनको हम अपने में फिर मिला सकें, और अपनी शक्ति को बढ़ा सकें। तीसरे जो हमारी जाति का सबसे निर्बल अंग हो गया है, और जिसे कुछ लोग अछूत कहने लगे हैं, उसकी हम सुध लें, उसके अंदर शिक्षा और धार्मिक भावों का प्रचार करें, और अपने दुर्व्यवहारों और संकीर्ण विचारों के कारण उसको दूसरी जातियों में लीन होने के लिये विवश न करें। हिंदू-संगठन, शुद्धि और अछूतोद्धार के काम ही ऐसे हैं, जिनको पूर्ण रूप से हाथ में लेकर स्वामी श्रद्धानंद के प्रति हमारी जो प्रगाढ़ भक्ति है, उसे हम दिखला सकते हैं। ये ही तीनों काम उनको सबसे अधिक प्रिय थे, और इन्हीं को लेकर वह इस वृद्धावस्था में भी अपना एक मिनट भी व्यर्थ नहीं खोना चाहते थे। उन्होंने यहाँ तक किया कि शरीर की शक्ति क्षीण होने पर भी उस दीन के पागल अब्दुलरशीद को, अन्य लोगों के रोकने पर भी, उसकी इस्लाम-धर्म-संबंधी जिज्ञासा को पूर्ण करने के विचार से, अपने पास बुला लिया। कहने का तात्पर्य यह कि मरते समय भी उनके अंदर शुद्धि के प्रचार का ही भाव विद्यमान था। इसके सिवा मेरे (राजा साहब के) पत्र के उत्तर में उनका ता० २० या २१ का जो पत्र स्वामी चिदानंदजी की ओर से आया था, उसमें उन्होंने लिखा था कि मेरा स्वास्थ्य तो साथ छोड़ता जा रहा है, किंतु भगवान् से मेरी इस रोग-शय्या पर भी यही प्रार्थना है कि वह मुझे फिर इसी पवित्र भारत-भूमि में जन्म दें, ताकि मैं शुद्धि और संगठन के कार्य को और भी सुचारु रूप से चलाने में समर्थ हो सकूँ। इन दो बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे लिये उनकी वसीयत क्या है, और कौन-सा कार्य उनको सबसे प्रिय था। जो कार्य जिसको सबसे अधिक प्रिय हो, वही करना उसकी आत्मा को सुखी और शांत बनाने का सच्चा मार्ग है। इसके सिवा उसी कार्य की पूर्ति उस व्यक्ति को इस संसार में मरने पर भी जीवित रख सकती है।

अतः समस्त हिंदुओं से यही प्रार्थना है कि हिंदू-महा-सभा ने जो श्रद्धानंद-कोष स्थापित करने का प्रस्ताव उठाया है, उसे हमें तुरंत कार्य-रूप में परिणत करना चाहिए, और शीघ्रातिशीघ्र दस लाख रुपए श्रद्धेय स्वामी श्रद्धानंद के स्मारक में तुरंत इकट्ठा करने में अपने पास से यथाशक्ति धन देना और दूसरे भाइयों को भी यथाशक्ति दान करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिए। धन पंजाब-नैशनल-बैंक, दिल्ली

के पते से भेजना चाहिए। उसमें लिख देना चाहिए कि श्रीस्वामी श्रद्धानंद-फ़ंड के लिये यह धन भेजा जाता है।"

आशा है, माधुरी के पाठक इस जाति-हित के कार्य में धन देकर हिंदू-जाति की सजीवता का परिचय देने में पश्चात्पद न होंगे।

× × ×

६. बायस्कोप का क्रम-विकास

भारत में भी अब बायस्कोप का चलन बहुत बढ़ गया है। मदन-कंपनी की कृपा से कई शहरों में स्थायी बायस्कोप-भवन बन गए हैं। इनमें दर्शकों की काफ़ी भीड़ रहती है। इन सब स्थानों में प्रायः विलायती फ़िल्म ही दिखाए जाते हैं। जो कुछ थोड़े-से देसी फ़िल्म बने भी हैं, वे उतने साफ़ और सुंदर नहीं हैं, जितने विलायती। देखें, इस देश में यह कला कब उन्नति करती है। अमेरिका में तो इस कला को चरम उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया गया है। वहाँ चलते हुए चित्रों के साथ उनके बोलने का भी कौशल आविष्कृत हो गया है। अमेरिका की फ़िल्म बनानेवाली कंपनियाँ एक-एक फ़िल्म की तैयारी में लाखों रुपए ख़र्च कर डालती हैं, और उन्हें उनसे लाखों—बल्कि करोड़ों—की आमदनी होती है। भारत में भी नाटकों की अपेक्षा बायस्कोप के देखनेवाले अब अधिक देख पड़ते हैं। बँगला के नवयुग-नामक पत्र में बायस्कोप के क्रम-विकास का जो ब्योरा छपा है, वह हम अपने पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ पर उद्धृत करते हैं। उससे पाठकों को मालूम होगा कि इस कला का आविष्कार सबसे पहले एशियाखंड में ही हुआ था। पाँच हज़ार वर्ष के लगभग हुए, चीन में एक तरह का बायस्कोप प्रचलित था, और इस बात का पता हाल ही में लगा है। चीन के लोग उस समय भैंसे के चमड़े पर तरह-तरह के चित्र अंकित करके उन्हें काट-काटकर तेल के चिराग़ के सामने भिन्न-भिन्न ढंग से रखते थे। चिराग़ के पास ही पार्चमेंट लटका रहता था। उसके ऊपर उन सब हिलते हुए चमड़े के ऊपर अंकित चित्रों की परछाहीं पड़ती थी। उसे देखकर वे लोग छाया-चित्र देखने का मज़ा लूटते थे। उसी समय के लगभग मिसर के निवासी भी एक अँधेरी कोठरी की सफ़ेद पुती हुई दीवाल के ऊपर, बाहर से, शीशे (आईने) की सहायता से, चित्रों की परछाहीं डालकर बायस्कोप देखा करते थे। उस समय से बहुत दिनों तक इस तमाशे में कुछ विशेष उन्नति नहीं हुई। उसके बाद सन् १६४० में रोम-नगर के Jesuit College में Walgenstenius ने Optical lantern का आविष्कार किया। फिर उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही Oxy-Calcium Light का आविष्कार हुआ। सन् १८३१ में Michael Faraday ने Wheel of life तैयार किया। इसी को वर्तमान बायस्कोप की पहली सीढ़ी कहना चाहिए। सन् १८६१ में फ़िलाडेलफ़िया के डॉक्टर सेलर्स ने चलते हुए चित्रों का फ़ोटो लेकर बायस्कोप की उन्नति की थी, और अपने Kinematoscope-नामक चलचित्र के यंत्र का आविष्कार किया था। सन् १८७७ में Edward Muybridge ने केलीफ़ोर्निया (अमेरिका) के Palo Alto-नामक स्थान में बहुत वर्षों तक परीक्षा करने के बाद आधुनिक युग के परिवर्द्धित और सुसंस्कृत चलचित्र के यंत्र का आविष्कार किया। उन्होंने ही पहलेपहल Oxy-Acetylene प्रकाश को Condensing लेन्स की सहायता से पर्दे पर डालकर छाया-चित्र दिखलाया। यह Edward Muybridge ही आधुनिक बायस्कोप के जन्मदाता थे। Michael Faraday का Wheel of life असल में एक खिलौना ही था। उसमें एक छेद के ज़रिए पेंसिल से खींचे गए चित्र दिखाए जाते थे। Muybridge के उक्त आविष्कार के १५ वर्ष उपरांत प्रकाश के लिये बहुत तेज़ और साफ़ Electric Arc का व्यवहार किया गया। सन् १८९३ में Flexible Celluloid फ़िल्म के साथ एडीसन के Kinetoscope का आविष्कार हुआ, जिससे बायस्कोप की बहुत कुछ उन्नति हुई। यह फ़िल्म Sensitised Celluloid से बना था, और इसमें प्रत्येक सेकिंड में १६ से २० तक चित्र उठते थे। बहुत ही तेज़ और उज्ज्वल Arc light में फ़िल्म के जल जाने की आशंका रहने से चलचित्र दिखाने में अब भी एक विषम समस्या बनी रह गई। अमेरिका के टामस ए० एडिसन और सी० फ़्रांसिस जेंकिंस एवं योरप के रॉबर्ट पाल और ल्यूमियर्स-बंधुओं में इस समस्या के समाधान के लिये प्रतिद्वंद्विता चलने लगी। लायंस-नगर के ल्यूमियर्स-बंधुओं ने ही सन् १८९५ में सिनामेटोग्राफ़ का प्रचलन किया। इन्होंने इस संबंध में पानी से भरी बोतल में कुछ बूँद Acetic acid मिलाकर उसका उपयोग

किया । इससे बोतल का पानी फदकने लगा, और पानी के बुल्लों में छायाचित्र विकृत होने लगा । ६ जून, सन् १८९४ में इंडियाना-प्रदेश के रिचमंड-नगर में फ्रांसिस जेंकिंस ने Arc और फ़िल्म के बीच वाटर-सेल का व्यवहार किया, और उनको सफलता मिली । तब उन्होंने Stenography (रेखांकन कार्य) छोड़कर चलचित्र की उन्नति करने में मन लगाया । उनके यंत्र के पीछे Electric Arc लगा हुआ था । उसमें उन्होंने Condensing lens, कुछ पहिए और एक बाइसिकिल की चेन लगा रक्खी थी । आधुनिक बायस्कोप का यही ढाँचा था ।

× × ×

७. स्वर्गीया कलावतीदेवी

हमें यह सुनकर बड़ा खेद हुआ कि हिंदी के वयोवृद्ध पुराने लेखक और धौलपुर-स्टेट के जज श्रीमान् कन्नोमलजी एम्० ए० की धर्मपत्नी कलावतीदेवी का हाल में ही देहांत हो गया । आपकी मृत्यु का कारण दाहने पैर की पीड़ा हुई । पैर में नश्तर दिया गया था; पर अंत में टिटेनस-रोग होने से अकस्मात् मृत्यु हो गई । मृत्यु के समय आपकी अवस्था ४१ वर्ष की थी । श्रीमतीजी को हिंदी-साहित्य से बड़ा प्रेम था । आप माधुरी को बड़े चाव से पढ़ती थीं । आपने हिंदी में एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा था; पर एक प्रकाशक के यहाँ से उसकी हस्त-लिखित प्रति खो गई । आप सब प्रकार की घरेलू कलाओं में कुशल थीं । चरख़े पर बहुत महीन सूत कातकर आपने कई धोतियाँ बनाई थीं, उनमें से एक धोती पूज्य मालवीयजी को भी भेंट की थी । अपने काते हुए सूत से निवाड़ बनाना, दरी बुनना तथा अन्य घरेलू व्यवहार की चीज़ें तैयार करना उनका नित्य छुट्टी के समय का काम था । पाककला में भी आप सुदक्ष थीं । सुई के काम में आपका मुक़ाबला मुशकिल ही से कोई स्त्री कर सकती । मतलब यह कि आप अनेक शिल्प जानती थीं, विदुषी थीं । पति-भक्ति भी आपमें अपार थी । आप एक आदर्श-रमणी थीं । हाथ के कते सूत के वस्त्र ही पहनती थीं । अभाव में देसी मिलों के कपड़े भी पहन लेती थीं । श्रीकन्नोमलजी ने अपनी विदुषी स्त्री की स्मृति बनाए रखने के उद्देश्य से कलावती-विद्याप्रेम-नामक पुरस्कार की योजना की है । यह पुरस्कार रजतपदकों के रूप में है । यह पदक आगरे की कन्या-पाठशाला में तीन उच्च कक्षाओं की उन बालिकाओं को दिया जायगा, जो अपने दर्जे में सबसे प्रथम होंगी । कुछ पदक हिंदी के लेखकों और संपादकों की भी सेवा में भेजे गए हैं । हम इस सुकार्य के लिये बाबू साहब को साधुवाद देते और स्वर्गीया की आत्मा को शांति मिलने की प्रार्थना करते हैं । हाल में एक दैनिक पत्र में हमने यह पढ़ा है कि श्रीकन्नोमलजी ५५ वर्ष की अवस्था में फिर विवाह करनेवाले हैं । पर हमें इस पर विश्वास नहीं । बाबू साहब स्वयं विज्ञ, विद्वान् और अनुभवी हैं । वह कभी इस वृद्धावस्था में किसी बालिका का पाणिग्रहण न करेंगे—ख़ासकर ऐसी सुयोग्य सहधर्मिणी की स्मृति ताज़ी रहते हुए ।

× × ×

८. प्रतिभाशालियों के ख़याल

प्रायः देखा गया है कि प्रतिभाशाली लोगों में एक-न-एक ख़ास ख़याल या प्रवृत्ति होती है, जिसे लोग प्रायः उनकी सनक या पागलपन कहने में भी नहीं हिचकते । इस विषय पर नवयुग में कुछ प्रकाश डाला गया है । उसी से कुछ ख़ास आदमियों के ख़ास ख़यालों का विवरण यहाँ दिया जाता है । ग्रीस के महान् ज्ञानी दार्शनिक पंडित साक्रेटिस (सुकरात) अक्सर कलबों में जाकर पान-भोजन करने में विशेष आनंद पाते थे । ऑरिस्टाटल (अरस्तू) मिट्टी के पुतलों (Terracotta Animals) के साथ खेलकर समय बिताना पसंद करते थे । रोम के सम्राट् Diocletian बाग़ में रहकर वृक्ष लगाने-सींचने आदि के काम में लगे रहने में बहुत आनंद पाते थे । सिंहासन पर बैठने की बात सुनकर उन्होंने कहा था—"मैंने बाग़ में जैसी सुंदर ककड़ियाँ पैदा की हैं, उन्हें अगर देखते, तो तुम मुझसे राजसिंहासन पर बैठने का अनुरोध न करते ।" रोम-सम्राट् Domitian अवसर-काल में मक्खियाँ पकड़ा करते थे । मेसिडन के एक राजा लालटेन और फ़्रांस के एक राजा ताले बनाकर अपना अवकाश-काल व्यतीत करते थे । जूलियस सीज़र और आगस्टस को फ़ुटबाल खेलने का बड़ा शौक़ था । चार्ल्स चतुर्थ को छोटी-बड़ी सब तरह की घड़ियाँ जमा करने का व्यसन था । वह घड़ियों की तेज़ और धीमी चाल देखने में ही विशेष आनंद प्राप्त करते थे । प्रसिद्ध नीतिशास्त्रकार स्पिनोज़ा फ़ुरसत के वक़्त बैठे-बैठे मकड़े का जाला बुनना देखा करते थे । दार्शनिक-श्रेष्ठ कैंट और हाब्स (रूसो,

वर्ड्स्वर्थ, स्कॉट, बर्न्स आदि की तरह) प्रकृति के सौंदर्य को देखने के शौक़ीन थे। बेकन, पोप, स्कॉट, वार्डलिंग, टेनिसन आदि कवीश्वरों को भी बाग़-बग़ीचे के काम में समय बिताने का व्यसन था। जॉर्ज स्टिफ़ेंसन को भी रेलगाड़ी का आविष्कार करने के बाद से बाग़ का शौक़ बढ़ गया था, और बाग़ में अच्छी फ़सलें पैदा करने के उद्योग में ही वह प्रायः अपना सारा समय लगाते थे। डा० जॉन्सन छुट्टी के समय चाय पीना बहुत पसंद करते थे। बासवेल और पेपीस को बात-चीत करने या गपशप लड़ाने का मर्ज़ था। बायरन को जीव-जंतुओं के सहवास में प्रसन्नता होती थी। एक समय उनके घर में १० घोड़े, ८ कुत्ते, ४ बिल्लियाँ, ३ बंदर, १ ईगल और १ बाज़-पक्षी पला देखा गया था। महारानी विक्टोरिया के ज़माने के प्रतिभाशाली कवि Dante Gabriel Rosetti को यह शौक़ था कि वह अपने उद्यान में तरह-तरह के अद्भुत जीव पालकर रखते थे। ग्लैडस्टन के संबंध में प्रसिद्ध है कि वह फ़ुरसत का समय वृक्ष काटने में बिताते थे। डिज़रेली फ़ुरसत के समय उपन्यास लिखते थे। लॉर्ड ब्रहम को भी यही शौक़ था। लार्ड बालफ़ोर को टेनिस खेलने का, लार्ड आक्सफ़र्ड को गल्फ़ खेलने का, लॉर्ड ग्रे को नाव चलाने का और मिस्टर चर्चहिल को पोलो खेलने का व्यसन है। वैज्ञानिक-शिरोमणि एडीसन को और कोई शौक़ नहीं है; उन्हें यही व्यसन है कि एक काम ख़तम होते ही दूसरा काम शुरू कर दिया जाय। यदि कोई हमारे पाठक भारत के भी बड़े आदमियों, प्रतिभाशालियों की ऐसी विशेष प्रवृत्तियों का पता लगाकर, उनका संग्रह कर, प्रकाशित करें, तो उससे अवश्य ही प्रकृति-वैचित्र्य का परिचय प्राप्त होगा।

× × ×

९. गौहाटी-कांग्रेस

कांग्रेस का इस बार का अधिवेशन गौहाटी में सानंद समाप्त हो गया। देश की राजनीतिक परिस्थिति इधर बड़ी डावाँडोल रही, इसीलिये लोगों की उत्कट इच्छा हो रही थी कि कांग्रेस कार्य-क्रम में कुछ ऐसा परिवर्तन करे कि देश में एकता स्थापित हो, भिन्न-भिन्न दल एक होकर कार्य करें। साथ ही स्वामी श्रद्धानंदजी की अचानक हत्या ने देश की दो प्रधान जातियों के हार्दिक भावों का इतना स्पष्ट चित्रण कर दिया कि हमें यह निश्चय होने लगा कि गौहाटी-कांग्रेस अब अवश्य कार्य और मनोवृत्तियों की दशा को बदल देगी। लेकिन परिणाम में कहीं कुछ न हुआ। भाषणों की धूम रही, स्वामीजी की पाशविक मृत्यु पर खेद प्रकट किया गया, और उपसमितियाँ बना दी गईं। पर नतीजा अंत में कुछ नहीं निकला। देश की कार्य-प्रगति को बदलनेवाला कोई भी ऐसा प्रोग्राम सामने न आया, जिससे यह आशा की जाय कि हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य की खाईं पट जायगी, देश पर विदेशी नियंत्रण ढीला होगा, ग़रीबों को भर-पेट भोजन मिलने का मार्ग परिष्कृत होगा।

गौहाटी-कांग्रेस की स्वागत-समिति के सभापति श्रीयुत फूकन

सभापति श्रीआयंगर महोदय ने वही बातें अपने भाषण में दुहराईं, जिन्हें श्रीमती सरोजिनी नायडू कानपुर कह चुकी थीं। कोई नवीनता उनमें न थी। हम तो यहाँ तक कह सकते हैं कि उनके भाषण से कोई ख़ास प्रश्रय देते हों से देश के भिन्न-भिन्न संप्रदायों में वैमनस्य बढ़ता जा रहा है। फिर क्या कांग्रेस के स्वराजी कर्णधार इस नाज़ुक पहेली को नहीं समझ सकते थे? इस बात और अन्य पासशुदा प्रस्तावों तथा कार्रवाइयों से हमें तो यही जान पड़ता है कि कांग्रेस में सिद्धांतों की अपेक्षा व्यक्तियों का प्राधान्य रहा, जिसे हम राष्ट्रीय दृष्टि से देश के लिये घातक समझते हैं।

गौहाटी-कांग्रेस के सभापति श्रीयुत एस्० श्रीनिवास आयंगर

प्रसंग-वश थोड़ा-सा विधायक कार्य-क्रम के संबंध में भी लिख देना अनुचित न होगा। विधायक कार्य-क्रम की मुख्य ४ बातें हैं—(१) हिंदू-मुस्लिम-एकता, (२) खद्दर-प्रचार, (३) अस्पृश्यता-निवारण और (४) मादक वस्तु-निषेध। वास्तव में यह कोई राजनीतिक प्रोग्राम नहीं है, और चूँकि कांग्रेस में इन्हीं की ओर थोड़ा-बहुत दृष्टिपात किया गया है, इसलिये हमारी समझ में यह कुछ भी नहीं हुआ। हिंदू-मुस्लिम-एकता के संबंध में तो स्वयं एकता के अनन्य उपासक महात्माजी को अपने यंग-इंडिया में अभी १३ जनवरी को लिखना पड़ा है कि हिंदू-मुसलमानों में भगवान् ही मेल पैदा करा सकता है। इसलिये

बात मालूम होने के बजाय देश की गति और मंद पड़ जाती है। स्वागत-समिति के सभापति मि० फूकन का भाषण भी इसी श्रेणी का था।

एक ख़ास बात गौहाटी-कांग्रेस के लिये यह तय करने की थी कि सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व हटा दिया जाय। सांप्रदायिकता का इतना कड़वा परिणाम कांग्रेस की नज़रों से गुज़र गया; फिर भी इस ओर उसका ध्यान न जाना एक आश्चर्य की बात कही जा सकती है। हमारा ख़याल है—और यह बहुत अंशों में सत्य भी है—कि कौंसिलों के निर्वाचन में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को

अच्छा होगा कि विधायक कार्य-क्रम से यह प्रश्न अलग ही कर दिया जाय। हिंदू-मुसलमानों पर इस प्रश्न को छोड़ देना ठीक होगा। अस्पृश्यता-निवारण का प्रश्न बहुत व्यापक है। परिस्थिति ने हिंदुओं को इस का महत्त्व अब और अधिक बतला दिया है। मादक द्रव्य-निषेध भी एक चलता हुआ कार्य है। रहा खद्दर, सो इसी के आधार पर स्वराज्य नहीं लिया जा सकता। इसीलिये आवश्यकता थी कि कार्य-क्रम में ऐसा परिवर्तन होता, जो भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों को एक करता। किंतु हम देखते यह हैं कि पं० मोतीलालजी नेहरू के नेतृत्व में

भिन्नता और वैमनस्य की खाईं और गहरी होती जा रही है। हमारी समझ में गौहाटी-कांग्रेस ने और सब कुछ करके भी वही नहीं किया, जिसकी आशा की गई थी, और इसलिये अधिवेशन सफल नहीं कहा जा सकता। देखें, भिन्न-भिन्न उपसमितियाँ क्या करती हैं।

× × ×

१०. हिंदुओं का ह्रास

हिंदू-जाति को मुसलमानों और ईसाइयों ने नरम चारा समझ लिया है। प्रतिदिन कम-से-कम १०-२० हिंदू-जाति के बच्चे—नर-नारी—विधर्मियों के चंगुल में फँसकर अपने धर्म को छोड़ बैठते हैं। यह क्रम आज से नहीं, बरसों से जारी है। हाँ, अब विधर्मी लोग बड़े ज़ोर-शोर से, बड़े उत्साह के साथ, इस कार्य को कर रहे हैं। समझ-बूझकर, श्रद्धा से, धर्म-परिवर्तन अगर किया जाय, तो उसमें किसी को कुछ आपत्ति नहीं हो सकती। किंतु यहाँ तो बात ही दूसरी है। श्रद्धा से हिंदू-धर्म को छोड़कर अन्य धर्म को ग्रहण करनेवालों की संख्या तो फ़ी-सदी २-३ भी मुश्किल से होगी। छल-बल-कौशल से ही अधिकांश हिंदू नर-नारी मुसलमान या ईसाई बनाए जाते हैं। किंतु सबसे बढ़कर दोष तो हिंदू-जाति का ही है। इसी की लापरवाही या अत्याचार से अधिकांश हिंदू नर-नारी अपना धर्म छोड़ने के लिये विवश होते हैं। फिर भी बेख़बर सो रही हिंदू-जाति को होश नहीं आता। हम यहाँ पर सहयोगी अर्जुन से कुछ अंक उद्धृत करके यह दिखावेंगे कि हिंदुओं की कुल ८४ जातियों में ५२ जातियों की संख्या, सन् १९११ से १९२१ के बीच में, कितनी घट गई है। कहना न होगा, जितने हिंदू कम होते हैं, उतने ही मुसलमान और ईसाई बढ़ते जाते हैं।

जाति	घटने की संख्या
१ ब्राह्मण	३,४०,७१७
२ अहीर	४.१५,६२५
३ बाँभन (महापात्र)	९८,६०९
४ बागदी	१,४६,४२५
५ बाउरी	४,३३,०२८
६ भूमिहार	२,११,२२७
७ बारुई	४,१५,१६६
८ चमार	२,३०,०८५
९ चाषा	९४,५५२
१० चूहड़	२२,४७१
११ धानुक	१,०६,५७४
१२ धोबा	५३,८७४
१३ डोम	५,००,८७०
१४ दुसाध	१,४८,७०२
१५ फ़क़ीर	१ ८८,५७९
१६ गड़रिया	६९,२२०
१७ गौर	४३,६५६
१८ गोल्ला	१,२१,२६१
१९ गोंड़	१५,३५८
२० गूजर	१९,१७३
२१ हज्जाम	१,०७,६७५
२२ जोगी	१,५२,९०५
२३ जुलाहा	२,००,२६७
२४ काछी	७९,३०६
२५ कहार	१,३१,४७५
२६ करन	६०,५६४
२७ क़साई	६,७६,३६५
२८ केवट	६५,१८९
२९ कोरो	८६,१८१
३० कोली	६,७२,७८४
३१ कुँभार	७१,७८६
३२ कुनबी	१२,८३,७०९
३३ कुरुमबान	९२,३४०
३४ लिंगायत	२,३८,७१६
३५ लोध	१,१५,५६८
३६ लुहार	५,२४,०६४
३७ मादिगा	२,४३,१६४
३८ महार	३,४०,१६४
३९ माल	१,४८,९१५
४० माली	१,६०,२४३
४१ मोची	९४,६५२
४२ पल्ला	१८,८२३
४३ परिया	४०,९४६
४४ पासी	११,२४३
४५ पाटन	२,४८,९४८
४६ राजवंसी	२,३०,७८०
४७ साहूजिद	५४,२०८

४८ साहा	१,४४,०६६
४६ मिड्डी	८,४३,१०४
५० सुनार	१,२५,३६७
५१ तेली	७३,७६२
५२ बक्कालोपी	२,०४,५४१

इस प्रकार ५२ जातियों से १० वर्ष के बीच १ करोड़ १२ लाख से अधिक आदमी निकल गए, और उन्होंने उतनी ही विधर्मियों की संख्या बढ़ाई। इतना ही नहीं, वे अपने पूर्व-धर्म के घोर शत्रु बन गए। क्या अब भी हिंदू-जाति की आँखें न खुलेंगी? क्या अब भी शुद्धि और संगठन का काम ज़ोरों से चलाने की आवश्यकता न समझी जायगी? क्या अब भी शुद्धि का काम अच्छी तरह चलाने के लिये धन की कमी रहेगी? हिंदू-जाति और उसके कर्णधारों को याद रखना चाहिए कि यदि इस समय भी ढिलाई से काम लिया गया, तो अब की मर्दुमशुमारी में इससे दूनी-तिगनी संख्या में हिंदुओं का ह्रास हुआ देख पड़ेगा! इसलिये हिंदू-जाति के ज्ञानी और धनी लोगों को जाति की रक्षा के लिये आगे बढ़ना चाहिए। हमें आशा है, हिंदू-जाति अब जाग उठी है, और एक संन्यासी के बलिदान ने उसमें आत्मरक्षा की प्रवृत्ति जाग्रत कर दी है। अब हिंदू-जाति अपना ह्रास होते न देख सकेगी। तथास्तु।

× × ×

११. तुलसीकृत रामायण का कनाड़ी-भाषा में अनुवाद

गो० तुलसीदासजी की रामायण का जितना प्रचार है, उतना शायद ही किसी भाषा की किसी पुस्तक का हो। तुलसीकृत के अनुवाद भी जितनी भाषाओं में हुए हैं, उतनी भाषाओं में अनुवाद होने का सौभाग्य भी बिरले ही किसी कवि की कृति को प्राप्त हुआ होगा। भारत की ही नहीं, योरप की भी भाषाओं तक में तुलसीकृत का अनुवाद किया जा चुका है। भारत के सुदूर दक्षिण-प्रांत की द्राविड़-भाषाओं में भी अब तुलसीकृत का अनुवाद होना आरंभ हो गया है। अभी तक उधर के लोग हिंदी से अपरिचित होने के कारण तुलसीकृत का अनुवाद अपनी भाषाओं में न कर सके थे। पर हिं० सा० सम्मेलन के उद्योग से मदरास में हिंदी का अच्छा प्रचार हो गया है, और उसी के कारण उधर के लोग इस ग्रंथरत्न के पठन-पाठन के अधिकारी हो पाए हैं। हमें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि श्रीयुत द० कृ० भारद्वाज महाशय ने तुलसीकृत का कनाड़ी-भाषा में अनुवाद करना शुरू कर दिया है। आप बँगलोर (मैसूर-राज्य) के रहनेवाले हैं। आप कनाड़ी-भाषा के पुराने लेखक हैं। साथ ही आप मराठी, बँगला और हिंदी के भी ज्ञाता हैं—मर्मज्ञ हैं। अतः आपके किए अनुवाद की विशुद्धता के बारे में संदेह नहीं। अब तक आपने बालकांड के दो अंक छपाकर प्रकाशित किए हैं। आप हिंदी के अन्यान्य धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रंथों का भी कनाड़ी-अनुवाद करना चाहते हैं। आपका प्रयत्न प्रशंसनीय है। परंतु आपको आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। तुलसीकृत का संपूर्ण कनाड़ी-अनुवाद छपाने के लिये आपको ३-४ हज़ार रुपयों की सहायता चाहिए। कनाड़ी-भाषी जनता में अभी, तुलसीकृत का महत्त्व न जानने के कारण, इस अनुवाद के काफ़ी ग्राहक नहीं मिल रहे हैं। हमारी राय में कर्नाटक-प्रांत में तुलसीकृत के महत्त्व का प्रचार करने के लिये यदि कुछ सज्जन भारद्वाजजी को आर्थिक सहायता करें, तो अच्छा होगा।

× × ×

१२. आर्मेनिया में हिंदू-उपनिवेश

हम पिछली किसी संख्या में भारतीय ऐतिहासिक अनुसंधान समिति के विषय में लिख चुके हैं। उक्त समिति का नवम वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में, गत १६-१७ दिसंबर को, हुआ था। इसमें १५ गवेषणा-पूर्ण प्रबंध पढ़े गए थे। कुछ पुराने काग़ज़ात और चित्र भी दिखलाए गए थे। सन् १८५७ में सिपाही-विद्रोह के समय नाना साहब ने भारतीय सिपाहियों के नाम जो इश्तिहार निकाला था, उसकी असल और उसका अनुवाद भी दिखाया गया था। ईस्ट-इंडिया-कंपनी और ईस्ट-इंडिया-रेलवे के बीच दिल्ली तक रेल लाइन बनाने के लिये जो इक़रारनामा लिखा गया था, वह भी दिखलाया गया था। अवध के नवाबों और बेगमों की हाथी-दाँत की बनी पुतलियाँ जो दिखलाई गई थीं, वे बड़ी सुंदर थीं। इस अधिवेशन में जो १५ प्रबंध पढ़े गए थे, उनमें कलकत्ते के प्रसिद्ध ऐतिहासिक एम्० जे० सेठ महाशय का भी एक प्रबंध था। आप "भारत में आर्मेनियन" नाम की एक महत्त्व-पूर्ण पुस्तक भी लिख चुके हैं। आपके लिखे और पढ़े गए प्रबंध का सारांश हम यहाँ पर देते हैं। सेठजी ने यह पता लगाया है कि ईसाई-धर्म प्रचलित होने के लिये पहले—ईसा के

जन्म से १४९ वर्ष पहले से सन् ३०१ ईसवी तक—आर्मेनिया में एक भारी हिंदू उपनिवेश मौजूद था। आर्मेनियन लोगों के साथ भारत के उस बहुत पुराने संपर्क के संबंध में खोज करते समय सेठजी को सीरिया-निवासी जेनोर-नामक व्यक्ति का लिखा एक इतिहास-ग्रंथ देखने को मिला। यह ग्रंथ प्राचीन आर्मेनिया के तरोन-नामक एक प्रदेश का इतिहास था। इसी ग्रंथ में खी० पू० प्रथम-द्वितीय शतक में आर्मेनिया में एक हिंदू-उपनिवेश होने की बात लिखी है। इस समय आर्मेनिया में जो राजा राज्य करता था उसने खी० पू० १४९वें वर्ष में अपने भाई की सहायता से आर्मेनिया का राजसिंहासन प्राप्त किया था। यह भी लिखा है कि उसी समय क़न्नौज के दो राजकुमारों ने (गिसंच और दिनेत्तार) भारत के तत्कालीन राजा के विरुद्ध षड्यंत्र रचा था, और वे पकड़ भी लिए गए थे। उन्हें मृत्यु-दंड की आज्ञा हुई। पर वे किसी तरह भाग निकले, और आर्मेनिया पहुँच गए। आर्मेनिया के राजा ने उनको पद-मर्यादा के अनुसार उनकी अभ्यर्थना की, और अपने यहाँ आश्रय दिया। राजा ने दोनों राजकुमारों को नगर बसाकर रहने की अनुमति दी, और यह भी कह दिया कि वे अपने धर्म-विश्वास के अनुसार जिन देवतों की पूजा-उपासना करते हों, उनके मंदिर भी अपने नगर में बनवा लें। तब से साढ़े चार सौ वर्ष तक हिंदू-उपनिवेश स्थापित करके हिंदू-लोग वहाँ बड़े सुख और शांति से निवास करते रहे। उस ज़माने में आर्मेनियन लोग भी मूर्ति-पूजक थे, और इसीलिये हिंदुओं के साथ उनका विरोध नहीं हुआ। उन्होंने हिंदुओं की मूर्ति-पूजा के संबंध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की। किंतु उसके बाद सन् ३०१ ई० में, आर्मेनिया में, ईसाई-धर्म का प्रचार शुरू हुआ, और उसके साथ ही हिंदुओं की विशेषता भी नष्ट हो चली। इस समय हिंदुओं की संख्या कई हज़ार तक पहुँच गई थी। वहाँ के राज-परिवार ने भी ईसाई-धर्म स्वीकार कर लिया, और इस प्रकार उक्त धर्म का बल बढ़ गया। तब हिंदुओं में से कुछ ने लाचार होकर ईसाई-धर्म स्वीकार कर लिया। जिन हिंदुओं ने अपना धर्म नहीं छोड़ा, उन्हें ईसाइयों के हाथों प्राण गँवाने पड़े। बाइबिल में लिखा है कि ईसा ने १२ "प्रेरित पुरुषों" को अपने मत का प्रचार करने के लिये भिन्न-भिन्न देशों को भेजा था। उन १२ में एक सेंट ग्रेगरी भी थे, और यही आर्मेनिया को भेजे गए थे। क्रिस्तानों के इतिहास में इन्हें 'दीपक' कहा गया है। कारण, इन्होंने आर्मेनिया में ईसाई-मत का दीपक जलाया था। इन्हीं सेंट के हाथों आर्मेनिया के हिंदू-उपनिवेश के देव-मंदिर नष्ट हुए, प्रतिमाएँ भ्रष्ट हुईं, और बाधा देनेवाले पुजारियों की हत्या हुई। ईसाइयों और हिंदुओं में भयंकर युद्ध छिड़ गया। उसमें एक हज़ार अड़तीस हिंदू जान से मारे गए थे। इसके बाद आर्मेनिया में हिंदू-जाति का अस्तित्व नहीं रह गया। जिन हिंदुओं ने जान बचाने के लिये ईसाई-मत ग्रहण कर लिया, वे आर्मेनियन लोगों में ही मिल गए। यही कारण है कि जेनोर के बाद जिन ऐतिहासिकों ने आर्मेनिया का इतिहास लिखा है, उनके ग्रंथों में हिंदुओं का, या उनके उपनिवेश का, कुछ ज़िक्र नहीं है। जेनोर के इतिहास से पता चलता है कि आर्मेनिया के हिंदुओं के नाम उस समय तक भारतीय ही होते थे। यथा—गिसंच (कृष्ण), आर्तजान (अर्जुन), कुरास (कैलास), हुरेन (हरेंद्र)। इसमें संदेह नहीं कि सेठ महोदय की यह खोज बड़ा महत्त्व रखती है।

× × ×

१३. रोम्याँ रोलाँ और हिंदू-दर्शन

फ्रांस के सुप्रसिद्ध विद्वान् और लेखक रोम्याँ रोलाँ का नाम हिंदी के पाठकों से छिपा नहीं है। आप अपने समय के इने-गिने विश्व-वरेण्य लेखकों में अन्यतम हैं। आप भारत और भारतीयों को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। आपने हिंदू-धर्म और हिंदू-दर्शनों का गहरा अध्ययन किया है। आपके लेख और ग्रंथ योरप में बड़े आदर से पढ़े जाते हैं। अभी कुछ दिन हुए, आपका एक लेख उर्दू के तेज-पत्र में प्रकाशित हुआ था। उसमें आपने हिंदू-दर्शनों के गौरव पर अच्छा प्रकाश डाला है। हम उस लेख का कुछ अंश यहाँ पर उद्धृत करते हैं। इससे हमारे पाठकों को यह मालूम हो जायगा कि हम अपने जिन अमूल्य रत्नों की उपेक्षा कर रहे हैं, वे कितने बहुमूल्य हैं, और विदेशी विद्वान् उन्हें किस गौरव की दृष्टि से देखते हैं। रोम्याँ रोलाँ उस लेख में एक जगह लिखते हैं कि योरप तथा एशिया में जितने धर्म-मत प्रचलित हैं, उनमें, मेरी समझ में, भारतवर्ष के ब्राह्मण्य धर्म ने ही सबकी अपेक्षा अधिकसंख्यक लोगों को एकता के सूत्र में

बाँध रक्खा है। अवश्य ही मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं अन्यान्य धर्मों को छोटा समझता हूँ। आदिम बौद्ध धर्म की पाण्डित्य-पूर्ण मंत्रों की ध्वनि अथवा लेऑत्से का वह नीरव गांभीर्य का प्रशांत हास्य—सभी मेरे निकट एक अमूल्य संपत्ति हैं। कभी-कभी मुझे इनके भीतर असाधारण भावों की राशि का पता मिलता है, आध्यात्मिक जीवन का बहुत ऊँचा शिखर देख पड़ता है। किंतु ब्राह्मण्य-धर्म की चिंता-धारा—ख़ासकर एशिया की चिंता-धारा—को जो मैं अधिक पसंद करता हूँ, उसका कारण यही है कि यह चिंता-धारा सब प्रकार से परिपूर्ण है। वर्तमान वैज्ञानिक जगत् की चिंता-धारा के साथ योरप की चिंता-धारा की अपेक्षा भारतीय चिंता-धारा का अधिक सामंजस्य है—अधिक मेल है। विज्ञान की प्रगति के विरुद्ध खड़े न हो सकने के कारण ईसाई-धर्म आदि उसके प्रवाह में बह गए हैं—बचपन से वे हिपारकस और टालेमी के निकट जिस स्वर्ग का बात सुनते आ रहे हैं, उस स्वर्ग से अपने को जैसे वे अलग नहीं कर पाते। जीवन-धारा की गति-रेखा के एक स्तर से अन्य स्तर में पहुँचकर मैं देख पा रहा हूँ कि ब्राह्मण्य-धर्म ने मुझे वर्तमान युग में पहुँचाया है। इसी चिंता-धारा के बीच में आइनस्टाइन के मतवाद का भारी भविष्य देख पाता हूँ। उस समय मैं अपनेको विश्व से विच्छिन्न या अलग नहीं देख पाता। नक्षत्र-तारामंडित असीम आकाश-मंडल होकर ग्रह-उपग्रह भेदकर, सैकड़ों-हज़ारों टेढ़े-मेढ़े मार्गों द्वारा, अगणित असंख्य छायापथ नाँघकर, युग-युगांतर से घूम रहे लाखों विशाल जगतों में घूम-फिरकर मैं अपने मानसिक विचरण के बीच विश्व-संगीत का एक ऐक्यतान सुन पाता हूँ। उस संगीत का स्वर-लहरी एक दूसरी का अनुसरण करती है, चढ़ती है—उतरती है, कभी लीन हो जाती है और कभी पूर्ण नाद से प्रकट होती है। ये स्वर-समूह मनुष्यों और देवतों के हृदय की बात कहते हुए वेग से चारों ओर फैलते हैं, अनन्य भविष्य के विधान के अनुसार अनंत गति से चल रहे हैं। यही ब्रह्म का जगत् है—यही वेदांत है। मैं इस संगीत-धारा को सुनते-सुनते अपने हृदय में शिव के तांडव-नृत्य का अनुभव कर पाता हूँ। वास्तव में रोम्याँ रोलाँ दर्शन-शास्त्र के अध्ययन और अनुशीलन के अधिकारी हैं। उनमें अंतर्दृष्टि है, और उन्होंने हिंदू-दर्शन का रहस्य समझा है। देखें, हमारे देश के अँगरेज़ी-शिक्षित विद्वान् अपने यहाँ की इस अमूल्य संपत्ति का आदर करना कब सीखते हैं!

× × ×

१४. आर्यसमाज का शिक्षा-प्रचार

हिंदुओं की जितनी संस्थाएँ हैं, उनमें सबसे बढ़कर उपयोगी और ठोस काम करनेवाली संस्था आर्यसमाज है। बहुत कुछ मतभेद रखते हुए भी हम आर्यसमाजों और उनके कार्य-कर्ताओं की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकते। आर्यसमाज ने जाति और देश के लिये अब तक जो कुछ किया है, वह इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखा जायगा। आर्यसमाज देश में शिक्षा और ज्ञान का प्रचार कर रहा है, स्वावलंब और स्वाभिमान का पाठ पढ़ा रहा है, स्वार्थ-त्याग सिखा रहा है, हिंदी के प्रचार में सहायक हो रहा है। भिन्न-धर्मावलंबियों को ग्रहण करने का द्वार खोलकर तथा किसी कारण से हिंदू-धर्म छोड़ जानेवाले भाइयों को अपनाने की बाधा हटाकर आर्यसमाज ने जो समयानुकूल प्रशंसनीय कार्य कर दिखाया है, उसने उसे हिंदू-मात्र की एकमात्र प्रिय संस्था बना दिया है। आज हम उसके द्वारा देश में होनेवाले शिक्षा-प्रचार का कुछ परिचय—इंडियन रिव्यू के एक लेख के आधार पर—देंगे। सन् १८८६ में लाहौर में दयानंद ऐंग्लो वैदिक हाईस्कूल खोला गया था। लाला हंसराज बी० ए० इसके आनरेरी हेडमास्टर थे। लाला हंसराज ने प्राणपण प्रयत्न से इस स्कूल की उन्नति की। यह स्कूल इतना लोकप्रिय हुआ कि एक ही वर्ष में इसके छात्रों की संख्या ८०० हो गई। सन् १८८६ में यहाँ आई० ए० क्लास, सन् १८९४ में बी० ए० क्लास और सन् १८९५ में, संस्कृत में, एम० ए० क्लास खोली गई। अब तो यहाँ विज्ञान, आयुर्वेद, धर्म, पुरातत्त्व, व्यापार, कारीगरी आदि की शिक्षा देने का भी बहुत सुंदर प्रबंध है। इन विभागों में कुल मिलाकर ३,००० से ऊपर विद्यार्थी हैं। उनके शिक्षकों और अध्यापकों की संख्या भी सौ-सवा सौ के लगभग होगी। दयानंद कॉलेज सोसाइटी का वार्षिक व्यय २,०७,५५६ रुपए है। इसकी स्थावर संपत्ति कोई २० लाख रुपए मूल्य की होगी। इस संस्था के अलावा इस समय ३५० छोटे-बड़े स्कूल आर्यसमाज चला रहा है। इनमें ३६,९६४ विद्यार्थी शिक्षा पा रहे हैं। लखनऊ में भी एक प्रथम श्रेणी का स्कूल स्थापित होनेवाला है। उसकी इमारत में दो लाख

दो लाख रुपए लग जायँगे। आर्यसमाज ८१ हाइस्कूलों का संचालन कर रहा है। विदेशी ईसाई मिशनरी लाखों रुपयों की सहायता स्वदेश से पाकर भी जितना काम नहीं कर सकते, उतना काम ग़रीब आर्यसमाज कर रहा है। यह उसके लिये कम गौरव का बात नहीं। अस्तु, पंजाब के होशियारपुर-ज़िले में ही २३ ऐंग्लो-वर्नाक्युलर स्कूल हैं। इनमें ६ तो हाइस्कूल हैं। सिर्फ़ एक ही ज़िले में आर्य-समाज के ५२ स्कूल हैं। यह तो पंजाब का हाल है। अन्य प्रदेशों का विवरण इस प्रकार है—

स्थान	स्कूलों की संख्या	विद्यार्थियों की संख्या
संयुक्त प्रांत	१२७	८,६६१
सीमांत-प्रदेश	२२	३,४२१
दिल्ली	१४	२,४३३
बिहार-उड़ीसा	१९	४०६
बंबई	६	१,४२६
बर्मा	६	५००
राजपूताना	६	१,०४५
जंबू और काश्मीर	१८	५२५
मदरास (मलाबार)	५	५२५
बंगाल	४	७२५
मध्य-प्रदेश	२	३०
बरोदा	१	१०
भोपाल	१	७०
हैदराबाद (दक्खिन)	२	२००
पंजाब के देशी राज्य	६	२३१
कोल्हापुर	५	१,०७२
	५६२	५८,७२०

इस शिक्षा-प्रचार के कार्य में आर्यसमाज को सालाना २०,०५,५४१) रुपए ख़र्च करने पड़ते हैं। सन् १९२३ और १९२५ में पंजाब-सरकार ने शिक्षा-विभाग में जितनी रक़म ख़र्च की है, उससे यह रक़म कुछ ही कम है। हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह आर्यसमाज को दिन-दिन शक्तिशाली बनावे।

× × ×

१५. भारत में सिक्का

भारत में चाँदी की मुद्रा या रुपए का चलन बहुत प्राचीन काल से है। इस संबंध में टाइम्स ऑफ़् इंडिया पत्र में एक महाशय लिखते हैं—ई० पू० चौथी शताब्दी में उत्तर-भारत से सिकंदर की भेंट के लिये चाँदी के सिक्के भेजे गए थे। इनमें से कुछ अभी तक प्राप्य हैं। ये कई तरह के आकार के हैं। किसी पर बैल की आकृति बनी है, किसी पर हाथी की, किसी पर त्रिशूल आदि धार्मिक चिह्न हैं। ये लगभग ५०० ग्रेन वज़न के हैं। सिकंदर के साथ यूनानी लोग सोने, चाँदी और ताँबे के बने अपने सिक्के भी लाए थे। उन दिनों भारत में इतना द्रव्य था, इतनी अधिक चाँदी थी कि सदियों तक नए सिक्के नहीं ढाले गए। हाँ, पश्चिम-भारत में कुछ राजा स्वतंत्र रूप से अपने सिक्के अवश्य ढालते रहे, जो चाँदी के थे। इन सिक्कों पर यूनानी और संस्कृत, दोनों भाषाएँ थीं। सन् ६०५ ईसवी से १२०० तक कोई सिलसिलेवार इतिहास नहीं मिलता। अफ़ग़ानी पठान भारत पर चढ़ाई करके यहाँ से बहुत-सा सोना और चाँदी लूट ले गए थे। उसके उन्होंने दीनार और दिरम नाम के सिक्के ढाले थे। दिरम लगभग ५) रुपए मूल्य का होता था। रुपए ढालने का विचार सबसे पहले बादशाह शम्सुद्दीन अल्तमश ने किया। जिसका समय सन् १२१० ईसवी से सन् १२३५ ईसवी तक है। ब्रिटिशम्यूज़ियम, लंदन, में इसके समय के तीन रुपए अभी तक रक्खे हैं। इनका वज़न १६३ ग्रेन है। इन पर बादशाह और ख़लीफ़ा का नाम तथा सन् अंकित है। अल्तमश के बाद और बादशाहों ने भी अपने पैसे और रुपए टकसाल में ढलवाए, और यह क्रम जारी रहा। किंतु सोने के सिक्के अधिकता से तब ढाले जाने लगे, जब दिल्ली के बादशाहों का दक्षिण से सोना प्राप्त हुआ। इसके उपरांत चौदहवीं सदी में दिल्ली टकसाल में चाँदी के सिक्के ढलना मुलतवी रहा। केवल ताँबे के पैसे ही ढलते रहे। ये पैसे १४० ग्रेन वज़न के होते थे। इनमें कभी-कभी १५ ग्रेन और कभी १ ही ग्रेन चाँदी होती थी। इसके बाद मुग़ल-बादशाहों ने इसमें तबदीली की। रुपए भी फिर ढाले जाने लगे। मुग़लों के समय का पैसा ३२० ग्रेन वज़न का होता था। एक रुपए में ४० पैसे मिलते थे। बादशाह अकबर ने सोने की मोहरें ढलवाईं। ये ६) रुपए और १२) रुपए की होती थीं। जहाँगीर के समय में रुपए का वज़न २१० ग्रेन कर दिया गया। अक-बर के ही समय से रुपए का वज़न २१० ग्रेन कर दिया गया था। अकबर के ही समय से रुपए, अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी और रुपए के दसवें तथा बीसवें हिस्से के मूल्य के

सिक्के जारी हो गए थे। इनका ढलना जहाँगीर के राजत्व काल में भी बंद नहीं हुआ। हाँ, अकबर के समय में ताँबे के सिक्कों का चलन अधिक हो गया था, और जहाँगीर के समय में वह कम हो गया। इसके बाद अँगरेज़ी राज्य क़ायम होने पर सूरत, कलकत्ता वग़ैरह की टकसालों में सिक्के ढलते रहे। उस समय तक देश के भिन्न-भिन्न स्थानों में भी भिन्न-भिन्न अधिकारियों के सिक्के ढलते थे। इस समय प्रायः २६२ तरह के चाँदी के सिक्के देश में चलते थे। ईस्ट-इंडिया कंपनी ने देश भर में एक ही तरह का अपना सिक्का चलाने का उद्योग किया, और उसका वज़न १८० ग्रेन नियत कर दिया। मूल्य निर्द्धारित करने के लिये इस रुपए का देश में ख़ूब चलन हुआ। पीछे इस रुपए के वज़न में रद्दोबदल किया गया। आजकल जो रुपया देश में चल रहा है, इसका वज़न १८२ ग्रेन है।

× × ×

१६. चरखा मानसिक रोग की दवा भी है

महात्मा गांधी चरख़े से स्वराज्य पाने की बात कह रहे हैं, और बहुत लोग उनके इस विचार को हँसी भी उड़ाते हैं, पर वह उस पर अटल-अचल हैं। इसमें तो संदेह का अवकाश भी नहीं कि चरख़े से हमारे देश के बेकार-ग़रीबों की आर्थिक समस्या बहुत कुछ सुलझ सकती है। चरख़े के चलन से देश के ग़रीबों को तन ढकने के लिये मोटा और टिकाऊ कपड़ा भी सस्ते में मिल जायगा। किंतु हाल में अमेरिका से आई हुई एक महिला ने चरख़े के बारे में जो राय ज़ाहिर की है, उससे जान पड़ता है, चरख़ा मानसिक रोग दूर करने की भी शक्ति रखता है। आशा है, महात्माजी के चरख़े के ख़याल को पागलपन समझनेवाले पागलों का पागलपन भी, अगर वे चरख़ा चलाने लगें तो, सहज ही दूर हो सकता है। अस्तु।

जिन महिला का ऊपर ज़िक्र किया गया है, उनका नाम है आना बर्लिन होम स्लोयेन। आप अमेरिका की रहनेवाली और विदुषी हैं। कारीगरी और शिल्प की शिक्षा के विषय में आप बड़ा उत्साह रखती हैं। इस बारे में आप बहुत प्रसिद्ध और यशस्विनी भी हो चुकी हैं। आपसे एक पत्र के प्रतिनिधि ने मुलाक़ात करके कुछ प्रश्न किए थे। उत्तर में आपने कहा—वर्तमान भारतीय विद्यालयों में जिस शिक्षा-नीति से काम लिया जा रहा है, वह ऐसी है कि छात्रों की मानसिक वृत्तियों का यथेष्ट विकास नहीं होने देती। अतएव कारीगरी और शिल्प की शिक्षा की ओर छात्रों को विशेष रूप से ध्यान देना उचित है। मिसेस स्लोयेन ने यह भी कहा है कि कारीगरी की शिक्षा मस्तिष्क की चिंता-मूलक भाव-धारा को परिवर्तित करके गठनमूलक भावधारा की ओर ले जायगी, और उसके साथ अवश्य ही उपयुक्त रूप से अनुशीलन करना होगा। इसी जगह चरख़ा विशेष उपयोगी साधन है। कातना और वस्त्र बुनना केवल लाभजनक और शिक्षादायक ही नहीं, स्वास्थ्य सुधारनेवाला भी है। अमेरिका के कई प्रसिद्ध डॉक्टरों ने परीक्षा करके देखा है कि चरख़ा चलाने से मानसिक रोगों पर भी बड़ा अच्छा असर पड़ता है। मिसेस स्लोयेन के इस भारत-भ्रमण का उद्देश्य है पाश्चात्य लोगों के हृदय में पूर्वी लोगों के प्रति अधिक सहानुभूति उत्पन्न करना। इसी उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये वह कई सुचिंतित लेख लिखनेवाली हैं, और भारत में घूम-घूम कर उन्हीं लेखों का माल-मसाला इकट्ठा कर रही हैं। बहुत-से अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की प्रवृत्ति ऐसी है कि वे अपने देश की अच्छी-से-अच्छी प्रथा का समर्थन नहीं करते, जबतक कोई पाश्चात्य पंडित उसके गुणों का बखान न करे। आशा है, ऐसे सज्जन अब अवश्य चरख़े के पक्षपाती हो जायँगे।

"माधुरी" के नियम

मूल्य-विवरण

माधुरी का डाक-व्यय-सहित वार्षिक मूल्य ७॥), छ मास का ४) और प्रति संख्या का ॥) है। वी० पी० से मँगाने में ≈) रजिस्ट्री के और देने पड़ेंगे। इसलिये ग्राहकों को मनीऑर्डर से ही चंदा भेज देना चाहिए। भारत के बाहर सर्वत्र वार्षिक मूल्य १०) छ महीने का ५) और प्रति संख्या का ॥≈) है। वर्षारंभ श्रावण से होता है; और प्रति मास शुक्ल-पक्ष की सप्तमी को पत्रिका प्रकाशित हो जाती है। लेकिन ग्राहक बननेवाले सज्जन जिस संख्या से चाहें ग्राहक बन सकते हैं।

अप्राप्त संख्या

अगर कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे, तो अगले महीने के शुक्ल-पक्ष की सप्तमी तक कार्यालय को सूचना मिलनी चाहिए। लेकिन हमें सूचना देने के पहले स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस में उसकी जाँच करके डाकखाने का दिया हुआ उत्तर सूचना के साथ भेजना ज़रूरी है। उनको उस संख्या की दूसरी प्रति भेज दी जायगी। लेकिन उक्त तिथि के बाद सूचना मिलने से उस पर ध्यान नहीं दिया जायगा, और उस संख्या को ग्राहक ॥≈) के टिकट भेजने पर ही पा सकेंगे।

पत्र-व्यवहार

उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिए। अन्यथा पत्र का उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। पत्र के साथ ग्राहक-नंबर ज़रूर लिखना चाहिए। मूल्य या ग्राहक होने की सूचना मैनेजर "माधुरी" नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ के पते से आना चाहिए।

पता

ग्राहक होते समय अपना नाम और पता बहुत साफ़ अक्षरों में लिखना चाहिए। दो-एक महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध सीधे डाकघर से ही कर लेना ठीक होगा। अधिक दिन के लिये बदलवाना हो, तो संख्या निकलने के १५ रोज़ पेश्तर उसकी सूचना माधुरी-ऑफ़िस को दे देनी चाहिए।

लेख आदि

लेख या कविता स्पष्ट अक्षरों में, काग़ज़ के एक ही ओर संशोधन के लिये इधर-उधर जगह छोड़कर, लिखी होनी चाहिए। क्रमशः प्रकाशित होने लायक बड़े लेख संपूर्ण आने चाहिए। किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का, उसे घटाने-बढ़ाने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का सारा अधिकार संपादक को है। जो नापसंद लेख संपादक लौटाना स्वीकार करेंगे, वे टिकट भेजने पर ही वापस किए जा सकते हैं। यदि लेखक लेना स्वीकार करते हैं, तो उपयोगी और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दिया जाता है। सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबंध लेखकों को ही करना चाहिए। हाँ, चित्र प्राप्त करने के लिये आवश्यक ख़र्च प्रकाशक देंगे।

लेख, कविता, चित्र, समालोचना के लिये प्रत्येक पुस्तक की २-२ प्रतियाँ और बदले के पत्र इस पते से भेजने चाहिए—

संपादक "माधुरी"

नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ।

विज्ञापन

किसी महीने में विज्ञापन बंद करना या बदलवाना हो, तो एक महीने पहले सूचना देनी चाहिए।

अश्लील विज्ञापन नहीं छपते। छपाई पेशगी ली जाती है। विज्ञापन की दर नीचे दी जाती है—

१ पृष्ठ या २ कालम की छपाई ... ... ३०) प्रति मास
½ ,, या १ ,, ,, ... १६) ,, ,,
¼ ,, या ½ ,, ,, ... १०) ,, ,,
⅛ ,, या ¼ ,, ,, ... ६) ,, ,,

कम-से-कम चौथाई कालम विज्ञापन छपानेवालों को माधुरी मुफ़्त मिलती है। साल-भर के विज्ञापनों पर उचित कमीशन दिया जाता है।

"माधुरी" में विज्ञापन छपानेवालों को बड़ा लाभ रहता है। कारण, इसका प्रत्येक विज्ञापन कम-से-कम ४,००,००० पढ़े-लिखे, धनी-मानी और सभ्य स्त्री-पुरुषों की नज़रों से गुज़र जाता है। सब बातों में हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका होने के कारण इसका प्रचार ख़ूब हो गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, एवं प्रत्येक ग्राहक से माधुरी ले-लेकर पढ़नेवालों की संख्या ४०-५० तक पहुँच जाती है।

यह सब होने पर भी हमने विज्ञापन-छपाई की दर अन्य अच्छी पत्रिकाओं से कम ही रक्खी है। कृपया शीघ्र अपना विज्ञापन माधुरी में छपाकर लाभ उठाइए। कम-से-कम एक बार परीक्षा तो अवश्य कीजिए।

निवेदक—मैनेजर "माधुरी", न० कि० प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ

क्या आप विज्ञापन छपाकर लाभ उठाना चाहते हैं ?

तो

माधुरी में अपना विज्ञापन छपाइए ।

क्यों

माधुरी लोक-प्रिय पत्रिका है और इसके विज्ञापकों को सबसे अधिक लाभ होता है ।

इसके सबूत के लिये माधुरी के विज्ञापन-पृष्ठ गिनिए

अस्तु, आज ही अपना विज्ञापन भेजिए

विज्ञापन छपाने के नियम

(क) विज्ञापन छपाने के पूर्व कंट्रैक्ट-फ़ार्म भरकर भेजना चाहिए। कितने समय के लिये और किस स्थान पर छपेगा इत्यादि बात साफ़-साफ़ लिखना चाहिए ।

(ख) झूठे विज्ञापन के ज़िम्मेदार विज्ञापनदाता ही समझे जायँगे । किसी तरह की शिकायत साबित होने पर विज्ञापन रोक दिया जायगा ।

(ग) साल-भर का या किसी निश्चित समय का ठेका तभी पक्का समझा जायगा, जब कम-से-कम तीन मास की विज्ञापन-छपाई पेशगी जमा कर दी जायगी और बाक़ी भी निश्चित समय पर अदा कर दी जायगी । अन्यथा कंट्रैक्ट पक्का न समझा जायगा ।

(घ) अश्लील विज्ञापन न छापे जायँगे ।

ख़ास रियायत

साल-भर के कंट्रैक्ट पर तीन मास की पेशगी छपाई देने से ६।) फ़ी सदी ६ मास की देने से १२॥) और साल-भर की पूरी छपाई देने से २५) फ़ी सदी, इस रेट में, कमी कर दी जायगी ।

विज्ञापन-छपाई की रेट

साधारण पूरा	पेज	३०)	प्रति बार
,, ½	,,	१६)	,, ,,
,, ¼	,,	१०)	,, ,,
,, ⅛	,,	६)	,, ,,
कवर का दूसरा	,,	५०)	,, ,,
,, तीसरा	,,	४५)	,, ,,
,, चौथा	,,	६०)	,, ,,
दूसरे कवर के बाद का	,,	४०)	,, ,,
प्रिंटिंग मैटर के पहले का	,,	४०)	,, ,,
,, ,, बाद का	,,	४०)	,, ,,
प्रथम रंगीन चित्र के सामने का	,,	४०)	,, ,,
लेख सूची के नीचे आधा	,,	२४)	,, ,,
,, ,, चौथाई	,,	१५)	,, ,,
प्रिंटिंग मैटर में आधा	,,	२०)	,, ,,

पता—मैनेजर "माधुरी", न० कि० प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यहँ साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ५ खंड २	फाल्गुन-शुक्ल ७, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८३ वि०)— १० मार्च, १९२७ ई०	संख्या २ पूर्ण संख्या ५६

प्रेम

(१)

विफल प्रयास चाहे कोई कितना ही करे,
बचता कदापि नहीं प्रेम के प्रहार से ;
भीतर के भाव कभी छिपते छिपाए नहीं,
ऊपर के निपट निठुर व्यवहार से।
उर की उमंग रुकती है नहीं रोकने से,
अंत में अवश्य हार जाता मन प्यार से।
प्रेम-रस-पूरित दृगों का वह अंगीकार,
होता है सुखद और मुख के 'नकार' से।

(२)

तन, मन, प्राण वश में है कर लेता प्रेम,
करके प्रवेश लोल लोचन के द्वार से ;
आग अनुराग की हिए में लग जाती जब,
बुझती नहीं है तब किसी उपचार से।
मन में समाई हुई मंजु मूर्ति मोदमयी,
होती है प्रसन्न उर के ही उपहार से ;
एक दिन प्यार से अवश्य हार जाती लाज,
किंतु हर्ष होता है अपार इस 'हार' से।

गोपालशरणसिंह

साम्यवादी साहित्यिक जॉर्ज बर्नार्ड शॉ

पूर्व-कथन

र्ज बर्नार्ड शॉ ब्रिटिश-साम्राज्य के भीतर चौथे व्यक्ति हैं, जिन्हें अपनी महती साहित्य-सेवा के उपलक्ष्य में जगत्प्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इस पुरस्कार के संबंध में एक कुतूहल की बात यह है कि इन चारों व्यक्तियों में से किसी एक का भी इँगलिस्तान की स्वतंत्र भूमि में जन्म नहीं हुआ है। साम्राज्यवादी रडयार्ड किप्लिंग की जन्मभूमि होने का सौभाग्य बंबई-नगर को प्राप्त है; रवींद्र बाबू पक्के बंगाली हैं; कवि विलियम बट्लर ईट्स आइरिश हैं, और चौथे इस चरित्र के नायक भी आइरिश ही—इनका जन्म आयर्लैंड की राजधानी डब्लिन में हुआ था। पुरस्कार के निर्णायकों ने सदा की भाँति इस बार भी अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है। ऐसे पुरस्कार न केवल पुरस्कृत व्यक्ति को सम्मानित करते हैं, बरन् स्वयं अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाते हैं। बर्नार्ड शॉ ने इस सम्मान को स्वीकार करते हुए, पुरस्कार की पूरी रक़म, जो हमारे सिक्कों में सवा लाख के लगभग होती है, अधिकारियों को लौटाते हुए, धन्यवाद-पूर्वक यह लिखा था कि यह रक़म, इँगलिस्तान और स्वीडन के बीच के साहित्यिक संसर्ग की वृद्धि के लिये व्यय की जाय। परंतु क़ानूनी अड़चनों के कारण ऐसा करने से पुरस्कार को ही रद करना पड़ता, अतएव आपने यह रक़म धरोहर के रूप में स्वीकार कर ली, और इसे निजी तौर पर उपर्युक्त ध्येय के लिये व्यय करना निश्चित किया है।

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ एक ऐसे कूटमय व्यक्ति हैं, और उनकी समाज-सेवा तथा साहित्य-सेवा इतनी बड़ी एवं भिन्न-मुखी है कि उनका समीक्षण सहज नहीं। एक लेखक ने संक्षेप में उनके विषय में यह बतलाया है कि आप "निबंध-लेखक, समालोचक, औपन्यासिक, नाट्यकार, समाजवादी, दार्शनिक, वक्ता और शाकाहारी" हैं। परंतु इस सूची में आपकी सबसे विशेष बात छूट ही गई है। आप वर्तमान समाज के सबसे बड़े जीवित व्यंग्य हैं। आप एक ऐसे रहस्य-पूर्ण व्यक्ति हैं, जिनके महत्त्व को अपने प्रचलित आदर्शों की तुला में तोलना कठिन ही नहीं, बरन् असंभव है।

सर जॉर्ज बर्नार्ड शॉ

इँगलैंड के प्रसिद्ध लेखक जी० के० चेस्टर्टन ने आपके संबंध में लिखते हुए कहा था—"ऐसे मनुष्य की कृतियों के समझाने का प्रयत्न करना, जिसके जीवन का एकमात्र ध्येय यह हो कि अपने विचारों को स्पष्ट करें, नितांत मूर्खता है।" सच बात भी यही है। बर्नार्ड शॉ के विषय में जानने के लिये हमें स्वयं उनकी रचनाओं को देखना चाहिए। परंतु सौ में पचास बर्नार्ड शॉ के पाठक ऐसे हैं, जो उनके व्यंग्य तथा क्रांतिकारी विचारों से भयभीत होकर उनके विषय में या तो दूसरों द्वारा निर्धारित सम्मति ग्रहण कर लेते हैं, या अपनी ही कल्पित सम्मति का प्रचार करने से नहीं चूकते। परिणाम यह हुआ है कि बर्नार्ड शॉ के संबंध में अनेकों अनुचित वाक्य कहे गए

हैं, और एक भ्रम फैलाया गया है। संतोष यह है कि इधर ही कुछ वर्षों से उनकी प्रतिष्ठा मूर्खों के संदेहों से मुक्त हो सकी है, और उन्हें साहित्य में वह स्थान प्राप्त हुआ है, जिसके वह सर्वथा अधिकारी हैं। इस लौटी हुई सुबुद्धि का श्रेय जनता की सुरुचि को उतना नहीं प्राप्त है, जितना स्वयं बर्नार्ड शॉ की वाग्युद्ध-शक्ति को। हज़ारों तीव्र आलोचकों को अपने तीव्रतर व्यंग्य से परास्त कर देने की सामर्थ्य जॉर्ज बर्नार्ड शॉ में ही है।

बाल्यावस्था तथा शिक्षा

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ का जन्म २६ जुलाई, सन् १८५६ ई० को हुआ था। आपके पिता जॉर्ज कार शॉ एक साधारण स्थिति के आदमी थे। शॉ-घराना एक पुराना और प्रतिष्ठित घराना था। इनके ही वंश के दूर के संबंधी लॉर्ड भी थे। कार शॉ को यद्यपि अपनी कुलीनता का बड़ा घमंड था, पर वह विशेष कामकाजी आदमी न थे। धनाभाव से वह सदा तंग रहा करते थे। पहले तो वह सरकारी नौकर थे, बाद में उन्हें पेंशन मिलने लगी थी, और उन्होंने ग़ल्ले तथा चक्की का रोज़गार कर लिया था। स्वयं उनके पुत्र का कथन है—"मैं अपने बाप की ईमानदारी का हाल तो नहीं कह सकता; क्योंकि इसके विषय में मुझे जानकारी नहीं है। हाँ, यह निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि वह एक नितांत असफल व्यापारी थे।" बर्नार्ड शॉ ने अपने पिता के संबंध में और भी कड़ी बातें लिखी हैं। लिखा है—"मेरे पिता उसूल में तो मदिरा-पान के विरोधी थे, परंतु वास्तव में लुक-छिपकर स्वयं अक्सर पीते हुए देखे गए थे।" पिता से पुत्र ने केवल एक गुण ग्रहण किया, और वह है उनका हास्य-रस। शेष गुण (जो कुछ भी हैं) बर्नार्ड शॉ ने मातृ-पक्ष से प्राप्त किए हैं। जॉर्ज कार शॉ ने चालीस वर्ष की अवस्था में लुसिंडा एलिज़बेथ गर्ली नाम की एक अच्छे कुटुंब की बालिका से ब्याह कर लिया था। दोनों की अवस्था में बीस वर्ष का अंतर था। पर विवाह सुखकर नहीं हुआ। श्रीमती शॉ को संगीत से बड़ा प्रेम था, और इसी व्यसन में उनके असफल वैवाहिक जीवन को सांत्वना मिलती थी। बर्नार्ड शॉ इसी असफल संयोग का फल थे। इन्हें अपनी माता से अनन्य प्रेम था। अपनी माता के निरीक्षण में ही इन्होंने संगीत का बहुत ज्ञान प्राप्त किया, और आगे चलकर इस ज्ञान से इन्होंने लाभ भी ख़ूब उठाया।

सच पूछा जाय तो स्कूली शिक्षा इन्हें कुछ भी नहीं मिली। इन्होंने लिखा है—"शिक्षा का नाम मुझे चार स्कूलों की याद दिलाता है। मेरे माता-पिता मुझे घर से दूर रखने के लिये वहाँ आधे दिन के लिये भेज दिया करते थे। मैं भेड़ की भाँति वहाँ जाता ही क्यों था (जब कि साफ़ इनकार कर देने ही से काम चल जाता), यह बात मुझे आज तक आश्चर्य में डाले हुए है। अस्तु, माता-पिता की इच्छा थी, और मैं भी नादान था; बस, चला जाता था। परंतु वहाँ जाने से मेरा कुछ लाभ नहीं हुआ, वरन् हानि ही हुई।" इनमें से एक स्कूल (जो अब डब्लिन का वेस्ली-कॉलेज हो गया है) के रजिस्टर से पता चलता है कि इनका दाख़िला वहाँ १३ एप्रिल, १८६७ में हुआ था। स्कूल में यह अपना काम अपने सहपाठियों से करा लिया करते थे, और उसके बदले उन्हें कहानियाँ सुनाया करते थे।

अतएव यह स्पष्ट है कि इन्होंने स्कूली शिक्षा से विशेष लाभ नहीं उठाया, प्रत्युत उसका उपहास किया है। हाँ, कला की शिक्षा ने इन पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला। माता के संसर्ग से संगीत का जो ज्ञान इन्हें प्राप्त हुआ, उसका ऊपर वर्णन हो चुका है। आपने लिखा है—"मैंने स्कूल में कुछ भी नहीं सीखा......हाँ, घर पर मैंने बाक् से लेकर वैगनर तक के संगीत-साहित्य का मनन किया, जो ग्रीक तथा लैटिन-व्याकरण और कवियों एवं दार्शनिकों की रचनाओं के अध्ययन की अपेक्षा किसी प्रकार असंतोष-जनक नहीं था।" संगीत के अतिरिक्त इन्होंने चित्रकला से भी पूर्ण परिचय प्राप्त किया। आयर्लैंड की नेशनल गैलरी (जातीय चित्रशाला) डब्लिन में है। आप वहाँ बहुधा जाया करते और चित्रों का मनन किया करते। हाथ में पैसा आता, तो उससे चित्रकला-संबंधी पुस्तकें भी ख़रीद लिया करते। पंद्रह वर्ष की अवस्था में यह इटालियन तथा फ़्लीमिश चित्रकारों के विषय में इतना जान गए थे कि किसी भी चित्रकार की कृति को साधारणतः देखकर ही उसका नाम बता सकते थे। अपने देश के चित्रकारों के इतिहास तथा उनकी कृतियों से भी आपने परिचय प्राप्त कर लिया था। यह बहुधा अकेले ही चित्रों की गैलरी की सैर करते थे। कला ने इनकी बुद्धि को जो विकास दिया, वह कदाचित् इन्हें युनिवर्सिटी की शिक्षा से न प्राप्त होता।

युनिवर्सिटी की शिक्षा दिलाने की इनके पिता की सामर्थ्य भी न थी। एक स्थल पर बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—"चित्र-कला तथा उसके इतिहास द्वारा मुझे जो लाभ हुआ है, वह डब्लिन-नगर के मदिरा के व्यवसाय के द्रव्य से जीर्णोद्धार किए गए दोनों विशाल गिरजाघरों से भी नहीं हुआ है।"

गिरजाघरों का नाम हमारा ध्यान जॉर्ज बर्नार्ड शॉ के बाल्य-काल के धार्मिक प्रभावों की ओर आकर्षित करता है। बर्नार्ड शॉ का कुटुंब प्रोटेस्टेंट ईसाइयों की प्यूरिटन-शाखा का भक्त था। यह वह शाखा है, जो उपासना में तथा जीवन में आडंबरों के परित्याग, सरलता और पवित्रता पर विशेष ज़ोर देती है। प्यूरिटन-विश्वास का बर्नार्ड शॉ पर काफ़ी असर पड़ा है। वह स्वयं कहते हैं कि "कला के विषय में मैं सदा प्यूरिटन-मत के पक्ष में रहा हूँ।" वास्तव में उनकी प्रत्येक कृति में इस मत का प्रभाव प्रदर्शित होता है। परंतु उनके कुटुंब में अकसर धार्मिक विषयों पर स्वतंत्रता-पूर्वक विवाद हुआ करते थे, जिससे यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि उनके कुटुंब के धार्मिक प्रभाव में किसी प्रकार की संकीर्णता थी।

जॉर्ज बर्नार्ड शॉ के लड़कपन की एक घटना विशेष ध्यान देने योग्य है। उस समय उनकी अवस्था १६ वर्ष की थी। अमेरिका के दो प्रसिद्ध पादरी—पादरी मूडी और पादरी सैंकी—इँगलैंड में भ्रमण करने आए थे। ये लोग डब्लिन भी पहुँचे। इनके व्याख्यानों को सुनने के लिये बड़ी भीड़ एकत्रित होती थी। युवक शॉ भी श्रोताओं में थे। परंतु उनके व्याख्यान इन्हें निस्सार प्रतीत हुए, और इन्होंने अपनी स्पष्ट सम्मति को 'पब्लिक ओपीनियन'-नामक पत्र में प्रकाशित करने की धृष्टता की। बर्नार्ड शॉ ने स्वयं इस घटना के विषय में लिखा है—"उनके 'ओजस्वी भाषण' का मुझ पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा, और जनता के प्रति यह प्रकाशित कर देने के लिये मैं विवश हुआ कि मैं नास्तिक हूँ। मेरा पत्र 'पब्लिक ओपीनियन'-नामक पत्र ने छाप भी दिया। इससे मेरे चाचाओं और फूफियों को बड़ा धक्का पहुँचा। उपर्युक्त पत्र ३ एप्रिल, सन् १८७५ में प्रकाशित हुआ था। उस समय बर्नार्ड शॉ एक ठेकेदार के दफ़्तर में नौकर हो चुके थे। सन् १८७१ में, पंद्रह वर्ष की अवस्था में, तंगी के कारण, उन्होंने यह नौकरी कर ली थी। इस बात का भी पता चलता है कि उस अवस्था में ही आप पत्रों में व्यंग्य-पूर्ण रचनाएँ छपवाने का प्रयत्न करने लगे थे। इसके अतिरिक्त दफ़्तर के अन्य क्लर्कों से भी आए दिन इनका तर्क हुआ ही करता था। इस स्थान पर वह मार्च, १८७६ तक रहे। यद्यपि फ़र्म का स्वामी इनकी बुद्धि और प्रवृत्ति से विस्मित तथा हैरान रहता, तथापि वह इनके कार्य से पूर्ण रूप से संतुष्ट था, और जिस समय शॉ ने यह नौकरी छोड़ी, उसे दुःख हुआ। शॉ ने अपने चरित्र-लेखक आर्चिबल्ड हेंडर्सन को बतलाया है—"मैंने केवल आर्थिक विषय में स्वतंत्र रहने के लिये यह नौकरी की थी, यद्यपि इस कार्य में मेरा जी नहीं लगता था।" फ़र्म के स्वामी ने, इनके पिता के अनुरोध से, नौकरी छोड़ने के समय इन्हें एक अच्छा प्रमाण-पत्र भी दिया था। बर्नार्ड शॉ ने यह भी कहा है कि प्रमाण-पत्र के लिये मेरे पिता की यह प्रार्थना मुझे बहुत बुरी मालूम पड़ी।

लंदन

किंतु बर्नार्ड शॉ की लौ दूसरी ओर लगी हुई थी। उनके उचाट का एक और विशेष कारण था। सन् १८७२ में उनका माता उन्हें छोड़कर डब्लिन से लंदन आ गई थीं। तंगी के कारण उन्होंने संगीत की शिक्षिका बनकर लंदन में जीवन-निर्वाह करने का निश्चय किया, और अपनी दो बेटियों को भी संगीत-शिक्षा देने के लिये लंदन ले आईं। बर्नार्ड शॉ की दृष्टि इसी समय लंदन पहुँच चुकी थी; परंतु, फिर भी, चार साल उन्होंने अपनी जन्म-भूमि में ही बिताए। उनकी माता अपना पियानो बाजा डब्लिन ही में छोड़ गई थीं। यद्यपि बर्नार्ड शॉ ने संगीत से बहुत कुछ परिचय प्राप्त कर लिया था तथापि उन्हें पियानो बजाना नहीं आता था। उन्होंने पियानो-शिक्षा की एक पुस्तक ख़रीदी, और बजाने का अभ्यास करने लगे। कई महीने के अनवरत परिश्रम के अनंतर उन्होंने थोड़ा-बहुत बजाना सीख लिया (इस समय तो वह इसमें पूरे गुणी हैं)। जिस समय उन्होंने यह नौकरी छोड़ी, उस समय उन्हें इस जीवन से विराग-सा हो गया था। एक तो क्लर्की के काम में रुचि न थी, दूसरे माता से दूर रहना अखरता था। बीस वर्ष की अवस्था में बर्नार्ड शॉ ने लंदन के लिये प्रस्थान कर दिया। जब वह लंदन पहुँचे, उसके कुछ पूर्व ही उनकी एक बहन मर चुकी थी। वह माता के साथ रहने लगे।

जीवन उनके लिये नया, अद्भुत और बहुत बड़ा नगर था। परंतु बर्नार्ड शॉ के जी में साहस और उत्साह था, और उन्होंने सब प्रकार से इस नगर के जीवन का अनुभव प्राप्त करने का निश्चय किया।

बर्नार्ड शॉ के हृदय में समाजवाद की लौ भी जाग्रत् हो चुकी थी, और अपनी आत्मा को प्रकट करने की उत्कट इच्छा भी उत्पन्न हो गई थी। अपने बल पर खड़े होने की आवश्यकता के कारण वह युवावस्था की निर्द्वंद्वता से बहुत दूर थे। उनमें एक विचार-प्रौढ़ता आ गई थी, जो उनके समवयस्क युवकों में नहीं थी। इस प्रौढ़ता ने उनके हास्य-रस को दबाया नहीं, प्रत्युत उसे और भी तीव्र कर दिया। धन और ख्याति प्राप्त करने के पूर्व उन्हें कई वर्षों तक निरंतर दरिद्रता और अभाव का सामना करना पड़ा। यदि किसी के विषय में यह बात सत्य है, तो इनके विषय में भी कि अकिंचन अवस्था से आरंभ करके इन्होंने इस जगद्विख्यात पद को प्राप्त किया है।

बर्नार्ड शॉ ने डब्लिन की नौकरी का परित्याग तो सहसा कर दिया था, परंतु लंदन में अपने पैरों के बल खड़े होने का क्या उपाय करेंगे, इसका कुछ चिंतन नहीं किया था। सौभाग्य-वश उनकी माता लंदन में मौजूद थीं, और यदि वह न सहायक हुई होतीं, तो जिस दरिद्रता का सामना बर्नार्ड शॉ को करना पड़ा, वह घोरतम प्रतीत होती। युवक शॉ को अपने माता-पिता के आश्रय पर निर्भर होकर रहना बड़ा कष्टकर प्रतीत होता था। ऐसा करने के कारण उन्हें अपने कुछ साथियों तथा संबंधियों के व्यंग्य-वाक्य भी सुनने पड़ते थे। परंतु वह किसी ऐसे धंधे में नहीं लगना चाहते थे, जिसकी ओर उनकी अभिरुचि न हो। बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—"मैं शरीर से हृष्ट-पुष्ट, अच्छा ख़ासा युवक था। मेरा कुटुंब बड़ी तंगी में था, और उसे मेरी सहायता की आवश्यकता थी। मेरा उस पर भार-स्वरूप होना हर तरह से घोर आपद्-जनक था। परंतु मैंने इस घोर आपद्-जनक अवस्था को स्वीकार किया। मैं आप जीवन-संग्राम में सन्नद्ध नहीं हुआ। मैंने अपनी माता को इस संग्राम में सन्नद्ध किया। मैं अपने पिता का सहारा तो क्या होता, उनके ही दामन का बोझ बनकर रहा।......बजाय इसके कि मेरी माता मुझे इस बात की शिक्षा दें कि मेरा कर्तव्य उनकी सहायता करना है, वह स्वयं मेरी जीविका के लिये परिश्रम करतीं। अतएव मेरा मस्तक उनके सामने झुक जाता है और मेरा मुँह लज्जा से लाल हो जाता है।"

बर्नार्ड शॉ के हृदय में ग्लानि थी। यह भी नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने किसी धंधे में लगने का प्रयत्न नहीं किया। उनके उपन्यास 'दि इर्रैशनल नॉट' की भूमिका से पता चलता है कि सन् १८७९ ई० में वह एडिसन-टेलिफ़ोन-कंपनी में नौकर थे। परंतु इस कंपनी में वह कुछ ही महीने रहे। और धंधों में भी लगने का इन्होंने प्रयत्न किया, परंतु झुकाव इनका साहित्य की ही ओर था। इनके आरंभिक प्रयासों की कथा बड़ी रोचक है।

लेखन-कार्य और आरंभिक प्रयास

बर्नार्ड शॉ से एक बार किसी ने पूछा—"लेखन की ओर आपकी प्रवृत्ति पहले-पहल कब हुई?" आपने उत्तर दिया—"जिस प्रकार साँस लेने के लिये मेरी प्रवृत्ति कभी नहीं हुई, उसी प्रकार लिखने की ओर भी कभी नहीं हुई।...... मछली हवा में उड़ने की इच्छा रखती है, चिड़िया तैरना चाहती है—नहीं, मैंने लिखने की कभी इच्छा नहीं की।" यह बात अक्षरशः सत्य नहीं है; क्योंकि बाल्या-वस्था से ही आपके लेखन के प्रयासों का पता चलता है। आपका केवल तात्पर्य यह है कि साहित्य-सेवा के लिये मेरी उत्कट इच्छा न थी। आपने अन्यत्र लिखा है—"मेरी इच्छा चित्रकार और संगीतज्ञ होने की थी।" परंतु इन अभिलाषाओं में सफल न हो सकने के कारण आपने साहित्य-सेवा आरंभ की, जो आपके लिये सहज थी। इसीलिये आपने कहा था—"मछली हवा में उड़ने की इच्छा रखती है, चिड़िया उड़ना चाहती है—नहीं, मैंने लिखने की कभी इच्छा नहीं की।"

परंतु क्या वास्तव में लेखन-कार्य आपके लिये बहुत सहज था? यदि सहज था भी, तो उसने आपको आरंभ में जीविकोपार्जन में कुछ भी सहायता नहीं दी। बर्नार्ड शॉ ने स्वयं इसका ज़िक्र किया है कि सन् १८७६ से १८८५ तक, ९ वर्षों के भीतर, इन्होंने अपनी लेखनी से ६ पौंड—लगभग १०) —कमाए। पहले तो इन्होंने संगीत पर समालोचनाएँ निकालना आरंभ किया। परंतु जिस पत्र में वह आलोचनाएँ निकालते थे, वह शीघ्र ही, और उनके कथनानुसार, "कुछ अंश में उन्हीं के कारण" बंद हो गया। इसके बाद आपने एक अतुकांत नाटक आरंभ किया। परंतु वह भी पूरा न हो सका। 'वन ऐंड ऑल'-नामक एक

अचिरजीवी पत्र में एक लेख के लिये उन्हें १५ शिलिंग मिले। परंतु अब दूसरा लेख आपने उसमें भेजा, तो वह स्वीकृत न हुआ। एक प्रकाशक ने आपसे चित्रों के नीचे छापने के लिये कुछ पद्य माँगे। आपने मज़ाक़ में कुछ पंक्तियाँ लिख भेजीं, इसके लिये इन्हें ५ शिलिंग पारिश्रमिक मिला, जिसकी इन्हें आशा न थी। परंतु अब आपने उसी पर एक दूसरा गंभीर पद्य लिखा, तो वह लौट आया। ये सब घटनाएँ उनकी आरंभिक कठिनाइयों पर प्रकाश डालती हैं। इतने वर्षों के बीच यदि किसी लेख के लिये आपको सबसे अधिक पारिश्रमिक मिला, तो वह था एक विज्ञापन—एक पेटेंट दवा का विज्ञापन—जिसके लिये आपको पाँच पौंड मिले थे।

ऐसी ही दशा में आपको अपनी जीविका के लिये अपनी माता का आश्रय लेना पड़ा, तो इसमें कौन-सी आश्चर्य की बात है। आपका जीवन न केवल कष्ट में, वरन् दरिद्रता में व्यतीत हुआ। वर्षों तक तो आपके पास नए वस्त्र ख़रीदने को भी धन नहीं था। आप निर्धन थे, और निर्धन की भाँति रहने में संकोच न करते थे। अपनी अवस्था को वास्तविक दशा से अच्छी प्रकट करने का आपने कभी प्रयत्न नहीं किया, और यद्यपि आप धन की दरिद्रता का निरंतर अनुभव करते रहे, तथापि आपने हृदय और मन की दरिद्रता का कभी अनुभव नहीं किया। आपके हृदय में केवल अदम्य उत्साह ही नहीं था, वरन् आपको इस बात का पूरा विश्वास था कि मेरे सम्मुख उज्ज्वल भविष्य है। धन के विषय में आपने लिखा है—"मैं यह तो ठीक नहीं कह सकता कि धन का अभाव दरिद्र को अधिक अपंग बनाता है कि धन का बाहुल्य धनवान् को; लेकिन इतना मैं निश्चित-रूप से कह सकता हूँ कि जिनके पास धन तो नहीं है, परंतु जो धनियों के आचरणों की नक़ल करते और अपनी वास्तविक दशा के प्रकट होने में लज्जित होते हैं, उनकी दशा बड़ी बुरी है।......मैं यह न कहूँगा कि मैंने दरिद्रता का विशेष अनुभव किया है; क्योंकि ऐसे विचारों के मैं सदा विरुद्ध रहा हूँ।"

इन नव वर्षों के बीच बर्नार्ड शॉ ने पत्र-संपादकों की सेवा में अनेकों लेख भेजे, जो लौटकर फिर उनके पास वापस आ गए। परंतु संपादकों की कठोरता से वह किसी प्रकार निराश नहीं हुए। वह अपनी शैली तथा अपने विचारों को प्रौढ़ करने में अनवरत रूप से लीन रहे। ब्लूम्सबरी के प्रसिद्ध पुस्तकालय तथा ट्राफ़लगार-स्क्वायर और हैंपटन कोर्ट के अमूल्य चित्र-संग्रहों को वह अपनी संपत्ति समझते थे। इटालियन चित्रकला से आपने विशेष परिचय प्राप्त किया। संगीत-साहित्य से भी पूर्ण परिचय प्राप्त किया। अपने भविष्य के निर्माण के लिये आपने जिस परिश्रम के साथ नींव तैयार की, उस तरह कम लोग अपने कार्य में जुटते हैं। यही नहीं कि आप केवल असफल लेख लिखें तथा अध्ययन करते थे, प्रत्युत आपने उपन्यास लिखना भी आरंभ कर दिया।

उपन्यास

सन् १८७६ से १८८३ तक आपने ५ उपन्यास लिखे। प्रतिवर्ष एक उपन्यास के औसत से आप लिखते रहे। हाँ, आरंभ में इन उपन्यासों को प्रकाशित करा सकने में आप उसी तरह असफल रहे, जिस तरह अपने लेखों के विषय में। इनमें से एक उपन्यास तो प्रकाशित ही नहीं हुआ। यह उपन्यास था 'इम्मैच्योरिटी।' इसे आपने १८७६ ई० में लिखा था। जिस समय आपने इसे 'चैपमन ऐंड हाल' नाम के प्रकाशकों के पास भेजा था, उस समय उन प्रकाशकों के साहित्यिक सलाहकार थे इँगलिस्तान के प्रसिद्ध लेखक जॉर्ज मेरिडिथ। उन्होंने "नहीं" कहकर एक शब्द में अपनी अस्वीकृति दे दी। शेष चार उपन्यास बाद में प्रकाशित हुए, और बहुत प्रचलित भी हुए। परंतु वे जिस समय लिखे गए थे, उस समय जहाँ-जहाँ भेजे गए, वहाँ-वहाँ से बराबर लौट आते रहे। बर्नार्ड शॉ के चरित्र-लेखक श्रीयुत हेंडर्सन ने लिखा है—"यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी कमाई के ६ पौंड में से कितना धन इन पुस्तकों पर डाक-टिकट के रूप में व्यय हो गया।"

कहते हैं, इन पुस्तकों की असफलता का कारण इनकी तीव्रता थी। पाठक-समुदाय ने इनके क्रांतिकारी विचारों का स्वागत करना सीखा नहीं था, अतएव प्रकाशक भी उन्हें प्रकाशित करने में संकोच करते थे।

परिचय

इन्हीं वर्षों के बीच जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने लंदन के कुछ बड़े-बड़े विचारकों और साम्यवादियों से परिचय प्राप्त कर लिया, जिनमें एक प्रसिद्ध विचारक श्रीयुत एडवर्ड कार्पेंटर भी थे। औरों के विषय में भी हम आगे कुछ लिखेंगे। बर्नार्ड शॉ ने इनकी संगति में मांसाहार का परित्याग कर दिया, एक शाकाहारी समाज के सदस्य बन गए, और

आज तक शाकाहारी हैं। शाकाहारी ही नहीं, वरन् शाकाहार के प्रचार में आपने सहायता भी बहुत की है। धीरे-धीरे वह समय भी आ रहा था, जब उनकी रचनाओं की पूछ हुई।

बर्नार्ड शॉ अपने जिन उपन्यासों को प्रकाशित कराने में असफल रहे, उन्हें वह हताश होकर एक कोने में डालते गए। परंतु इनके बंडलों को बहुत काल तक इस दशा में नहीं पड़ा रहना पड़ा। इँगलिस्तान में उन दिनों में साम्यवाद की एक लहर उठ रही थी। उस लहर से बहुतेरे नए-नए साम्यवादी समाचार तथा विचार-पत्रों ने जन्म लिया; लेकिन वे अधिक काल तक जीवित नहीं रहे। उन्हीं में एक पत्र था 'टु-डे'। साम्यवादी-साहित्य की माँग हुई। बर्नार्ड शॉ की प्रवृत्ति साम्यवाद की ओर आ चुकी थी। उन्होंने अपनी रचनाओं के प्रकाशित करने का अवसर देखा। 'एन् अनसोशल सोशियालिस्ट' तथा 'कैशेल बाइरंस प्रोफ़ेशन' इन दो उपन्यासों को आपने 'टु-डे' पत्र में क्रमशः प्रकाशित कराया। इस पत्र के संपादक से आपसे घनिष्ठता हो चुकी थी। अस्तु, पहले उपन्यास ने तो विलियम मॉरिस-जैसे प्रसिद्ध लेखक का ध्यान आकर्षित किया। वह प्रतिमास इस उपन्यास को, ज्यों-ज्यों प्रकाशित होता था, बड़े चाव से पढ़ते थे। मि० मॉरिस की प्रशंसा में बर्नार्ड शॉ ने लिखा है—"छोटे आदमी की बनिस्बत एक बड़े आदमी को प्रसन्न करना कितना सहज है, विशेषतः जब तुम्हारे और उसके राजनीतिक विचार एक-से हों।"

शेष दो उपन्यास—'दि इर्रैशनल नॉट' और 'लव अमंग दि आर्टिस्ट्स'—आपने 'अवर कार्नर'-नामक पत्र में छपवाए। इस अचिरजीवी पत्र का संपादन उस समय श्रीमती एनी बीसेंट किया करती थीं। श्रीमती एनी बीसेंट उस समय भी इँगलिस्तान की एक ख्यातनामा साम्यवादिनी थीं, और बर्नार्ड शॉ को उन्होंने धन से भी बड़ी सहायता की है। शॉ का कहना है कि मेरे ऊपर उनकी बड़ी ही कृपा रहती थी।

बर्नार्ड शॉ के कथनानुसार 'दुर्भाग्य-वश' 'टु-डे' में प्रकाशित उपन्यास 'कैशेल बाइरंस प्रोफ़ेशन' उनके एक प्रेमी को इतना पसंद आया कि उसने उसका एक शिलिंग मूल्य का पुस्तकाकार संस्करण छपा दिया। इस संस्करण से न शॉ को और न इनके प्रेमी को ही कोई आर्थिक लाभ हुआ। परंतु कुछ प्रसिद्ध साहित्यिकों का ध्यान इनकी ओर और आकर्षित हुआ। प्रसिद्ध नाट्य-समालोचक विलियम आर्चर ने पुस्तक की बड़ी प्रशंसा की। 'सटर्डे-रिव्यू'-पत्र ने इसे इस युग का सर्वोच्च उपन्यास बताया। एक और प्रसिद्ध लेखक ने उसे नाटक का रूप देने की आज्ञा माँगी। प्रसिद्ध साहित्यिक स्वर्गीय राबर्ट लुई स्टिवेंसन ने विलियम आर्चर के पास पत्र भेजा—"शॉ से कहो कि शीघ्रता करें, मैं उनकी दूसरी पुस्तक पढ़ना चाहता हूँ।" धीरे-धीरे उनकी पुस्तकों की माँग बढ़ी। इँगलिस्तान में ही नहीं, वरन् अमेरिका में भी प्रकाशक इनकी रचनाएँ छापने लगे, और उनकी धड़ाधड़ बिक्री होने लगी। अपनी रचनाओं को प्रकाशित करनेवालों की खोज का प्रश्न अब बर्नार्ड शॉ के सम्मुख न रहा; परंतु उपन्यास-लेखन की इच्छा अब उनके मन में उतनी प्रबल न रह गई थी। साम्यवादी विचार उन्हें अपनी ओर बड़े वेग से खींच रहे थे।

साम्यवाद

यह पहले बता चुके हैं कि इन्हीं वर्षों में जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने कुछ बड़े-बड़े विचारकों तथा साम्यवादी नेताओं से परिचय प्राप्त कर लिया था। एडवर्ड कार्पेंटर-जैसे समाज-शास्त्रज्ञ के प्रभाव में आकर मांसाहार का परित्याग वह कर ही बैठे थे। कुछ अन्य मित्रों के संसर्ग का परिणाम यह हुआ कि सन् १८७९ में यह एक साम्यवादी सभा के सदस्य बन गए। इसी सभा में आपका परिचय युवक सिडनी वेब से हुआ, जो आगे चलकर इँगलिस्तान के एक प्रधान अर्थ-शास्त्रज्ञों तथा साम्यवादियों में हुए। एक ओर तो बर्नार्ड शॉ अपनी रचनाओं के सुधारने तथा प्रकाशित करने के लिये उद्योगशील रहते, दूसरी ओर कला तथा देश और समाज के आर्थिक प्रश्नों का भी परिचय प्राप्त करते। साम्यवादियों के संपर्क ने आपकी जिज्ञासा को और भी तीव्र कर दिया था। इस साम्यवादी सभा में आप केवल बराबर जाते ही न थे, वरन् उसकी कार्यवाहियों में पूर्ण रूप से भाग लेते और वक्तृता-विवाद आदि में भी सम्मिलित होते थे। वह समाज की संकीर्णताओं तथा उसके अन्यायों का अध्ययन तथा उसके विषय में आँकड़े तथा सामग्री एकत्रित करते थे। वास्तव में आपकी जितनी इच्छा समाज-सेवा करने की थी, उतनी साहित्य-सेवा की नहीं। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो उनकी संपूर्ण साहित्य-सेवा प्रत्यक्ष रूप

से समाज के उत्थान और उसमें परिवर्तन उपस्थित करने के ही ध्येय को आगे रखकर हुई है।

जिस समय आपने इस सभा से संबंध स्थापित किया, उस समय देश में साम्यवाद की लहर फैली हुई थी। इस सभा में स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं, और उनके अधिकारों की चर्चा भी होती थी। व्यक्तिवाद, नास्तिकता और क्रांति इस सभा के मुख्य ध्येय थे। माल्थस, स्पेंसर, डार्विन और मिल— इन महापुरुषों के आदर्श इस सभा के आदर्श थे। बर्नार्ड शॉ ने और चाहे जो कुछ इस सभा से लाभ उठाया हो, उनका सबसे बड़ा लाभ था सिडनी वेब से मैत्री हो जाना। स्वयं उन्होंने कहा है—"मैंने अपने जीवन में सबसे बुद्धिमानी का काम जो किया, वह था वेब से दोस्ती पैदा करना और उसे क़ायम रखना।" शॉ के जीवन पर सिडनी वेब का बड़ा प्रभाव पड़ा। यद्यपि सिडनी वेब उस समय स्वयं युवक थे, परंतु बड़े विचारशील, बड़े अध्ययनशील और क्रांतिकारी विचारवाले थे। यह भी नहीं कहा जा सकता कि स्वयं उन पर शॉ का बहुत बड़ा असर नहीं पड़ा। वेब ने स्वयं इस प्रभाव को कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार किया है। शॉ ने धीरे-धीरे और सभाओं में सम्मिलित होना भी शुरू कर दिया, और वाद-विवाद में भाग लेने तथा वक्तृता का अभ्यास करने लगे। आपके मित्रों का दायरा भी बढ़ता गया; परंतु आपके अधिकांश मित्र साम्यवादी दल के लोग थे। थोड़े ही समय के बाद शॉ ने साम्यवादी समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया।

आपने साम्यवाद के साहित्य का ख़ूब अध्ययन और मनन किया। वह पुस्तक, जिसने कि आप पर उस समय सबसे अधिक असर डाला, कार्ल मार्क्स की प्रसिद्ध रचना 'डास केपिटल' थी। कदाचित् बाइबिल ने भी आप पर उतना असर नहीं डाला, जितना इस "मज़दूर दल की बाइबिल" ने। आपने इस पुस्तक के प्रभाव के विषय में संक्षेप में यह कहा है—"जिस समय से मैंने यह पुस्तक पढ़ी, उसी समय से मुझे ऐसा आभास हो गया कि संसार में मेरे लिये भी कार्य का क्षेत्र है।"

सन् १८८३ और १८८४ में साम्यवाद के प्रचार-कार्य में शॉ ने अपने को लगा दिया। दिन-भर तो वह पत्रों के लिये पुस्तकों तथा चित्रों की समालोचना करने में लगे रहते, और संध्या समय नियमपूर्वक प्रचार-कार्य करते। इस प्रकार आपने बोलने का अच्छा अभ्यास कर लिया था। यह भी कहा जा सकता है कि आप एक प्रभावशाली वक्ता हो गए थे। चाहे जहाँ से वक्तृता देने के लिये निमंत्रण आ जाय, उसे स्वीकार कर लेते। अकसर ठेलागाड़ियों पर सवार होकर व्याख्यान देने निकलते। आप कभी-कभी अपने हास्य रस-पूर्ण ढंग से कहा करते हैं— "ब्रिटिश जनता का ध्यान मैंने पहले-पहल हाइड-पार्क में एक ठेलागाड़ी पर सवार होकर आकर्षित किया था।"

फ़ेबियन-समाज

सन् १८८४ के जनवरी में लंदन में 'फ़ेबियन सोसाइटी' नाम की एक साम्यवादियों की सभा स्थापित हुई। आप इस सभा के नाम से आकर्षित हुए। सितंबर में आप इस सभा के सदस्य बन गए। इस सभा द्वारा आपने साम्यवाद की बड़ी सेवा की है। इस सभा का इँगलिस्तान के साम्यवाद के इतिहास में एक विशेष स्थान है। आप आरंभ से ही—सिडनी वेब के साथ—इस सभा के प्रधान कार्य-कर्ताओं में रहे हैं। आज भी आप इस सभा के सबसे प्रतिष्ठित सदस्य हैं। यह केवल इनके तथा सिडनी वेब के निरंतर अध्यवसाय तथा परिश्रम का फल है कि 'फ़ेबियन सोसाइटी' ने इतिहास में एक स्थान प्राप्त कर लिया है। इस सभा में सिडनी वेब के सम्मिलित होने का कारण भी आप ही थे।

फ़ेबियन-समाज उस समय इँगलिस्तान का गरम-दल था। लोग गवर्नमेंट को नष्ट कर देने और मज़दूर-दल को गवर्नमेंट के स्थान पर स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। इस समाज का आदर्श था—"शिक्षा का प्रचार करो; आंदोलन करो; संगठन करो।" सन् १८८५ में फ़ेबियन-समाजवाले ऐसा ख़याल करते थे कि वे अपने कार्य में शीघ्र ही सफल हो जायँगे। शॉ ने एक स्थान पर लिखा है—"मुझसे एक मनुष्य ने ताना देते हुए पूछा कि 'यदि तुम्हारा ही कहा चल जाय, तो तुम साम्यवाद कितने दिनों में स्थापित कर दोगे?' मैंने नम्रता-पूर्ण आवेश से उत्तर दिया कि इस कार्य के लिये पंद्रह दिन काफ़ी होने चाहिए।" शॉ उन लोगों में थे, जिन्हें लोग विचारशील साम्यवादी समझते थे। फिर अन्य उतावले लोगों के क्या विचार रहे होंगे, इसका अनुमान किया जा सकता है।

वे दिन इँगलिस्तान के एक बड़े आंदोलन और उथल-पुथल के दिन थे। साम्यवाद के युद्ध में शॉ ने अपनी शक्ति-भर भाग लिया। उनकी साम्यवाद के लिये की गई सेवाओं

के वर्णन में एक खासी बड़ी पुस्तक लिखी जा सकती है। वह कितने बड़े युद्ध में सम्मिलित थे, इसका अनुमान उनके समर्थकों तथा साथ कार्य करनेवालों की नामावली से हो जायगा। हेनरी जॉर्ज, जेम्स जॉयन्स, ह्यूबर्ट ब्लांड, ग्रैहम वैलस, सिडनी ओलीवियर, सिडनी वेब, विलियम मारिस, विलियम स्टेट, एनी बीसेंट, चार्ल्स ब्रैडला, हिंडमैन—ये सभी बर्नार्ड शॉ के साथ कार्य करनेवालों में थे। स्वयं बर्नार्ड शॉ जेल में भेजे जाने से कई बार बाल-बाल बच गए। कुछ समय के बाद फ़ेबियन-समाजवालों को इस बात का अनुभव होने लगा कि हमें अपने कार्य-क्रम को बदल देना चाहिए। इसमें शॉ पूर्ण रीति से सहमत थे। उन्हीं आदर्शों पर स्थित रहते हुए यह निश्चित हुआ कि अन्य दलों को अपनाने तथा उनमें प्रवेश करके उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न हो। यह परिवर्तित क्रम पीछे से फ़ेबियन-सभावालों ने स्वीकार कर लिया।

फ़ेबियन-समाज के अन्य कार्यों के साथ उनका एक कार्य बड़े महत्त्व का यह भी हुआ कि उन्होंने साम्यवाद पर पैंफ़लेट के रूप में बहुत-सा साहित्य प्रकाशित किया। जार्ज बर्नार्ड शॉ ने आरंभ ही से इस कार्य में सहायता दी थी। उन्होंने इस समाज द्वारा प्रकाशित अनेकों पैंफ़लेट आप ही लिखे हैं। व्याख्यानों और विवादों द्वारा साम्यवादी विचारों के प्रचार में भी आपने बड़ी सहायता दी थी। वास्तव में फ़ेबियन-समाज के आरंभ के कुछ वर्ष शॉ के जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व रखते हैं। इन वर्षों ने शॉ के शेष संपूर्ण जीवन पर असर डाला है। आगे के नाटकों पर—जो कि इनकी विश्व विदित ख्याति का मुख्य कारण हैं—इस समय के विचारों की स्पष्ट छाप है।

इन वर्षों में, संक्षेप में, आपने तीन बातें कीं। एक तो आपने समाज की दरिद्रता और अर्थ-शास्त्रीय आधार का खूब मनन किया। दूसरे समाज की त्रुटियों का मनन किया, और उनके दूर करने के उपाय सोचे। तीसरे साम्यवाद का प्रचार किया, और वक्तृत्व-कला में सफलता प्राप्त की।

वक्ता

आज दिन बर्नार्ड शॉ को इँग्लिस्तान के प्रभावशाली वक्ताओं में एक ऊँचा स्थान प्राप्त है। आपने बड़ी-से-बड़ी और विचित्र सभाओं में व्याख्यान दिए हैं, और आपको आक्षेपों और व्यंग्यों का उत्तर देने में तो बड़ी ही कुशलता प्राप्त है। शॉ ने अच्छा वक्ता बनने के लिये बड़ा परिश्रम किया है। इसके विषय में आपने एक बार कहा था—"मैंने वक्तृता का अभ्यास उस भाँति किया, जिस भाँति लोग पैर-गाड़ी पर चढ़ने का अभ्यास करते हैं—अर्थात् बराबर लगे रहकर। मैं मैदानों में अभ्यास करता था। गलियों के नुक्कड़ों पर व्याख्यान दिया करता था। और पार्कों में जाकर बोलता था। यही सबसे अच्छा स्कूल है। मुझे कोई विशेष चमत्कार नहीं प्राप्त है। मैं जैसा वक्ता हूँ, वैसे इसका सभी लोग अभ्यास करके बन सकते हैं। हाँ, मैं आइरिश हूँ और मुझमें कुछ थोड़ा-सा हास्य-रस अवश्य स्वाभाविक रूप से है। इँगलिस्तान में इससे बड़ी क़दर हो जाती है।'

आपने एक स्थल पर यह भी लिखा है—"एकांतवास तो शरीफ़ आदमियों को मुबारक रहे। मेरे लिये तो ठेला-गाड़ी और तुरही बनाई गई हैं!"

परिवर्तन अथवा विकास

आपकी समाज-सेवा और साहित्य-सेवा, जैसा बता चुके हैं, इतनी भिन्न-मुखी है कि उसका वर्णन समुचित रूप से करना बहुत विस्तार चाहता है। उनकी अन्य कृतियों का वर्णन करने के पूर्व उनके साम्यवाद के विषय में कुछ अंतिम शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। शॉ की अन्य कृतियों के साथ उनका साम्यवाद भी अपना एक ख़ास ढंग रखता है। शॉ उन लोगों में हैं, जो आवश्यकता उपस्थित होने पर अपने विचारों में परिवर्तन स्वीकार करने से डरते नहीं। हम कार्ल मार्क्स के प्रति उनकी श्रद्धा का वर्णन कर चुके हैं। कुछ काल के अनंतर कार्ल मार्क्स पर इँगलिस्तान में आक्षेप हुए। बर्नार्ड शॉ ने फिर से उन आक्षेपों और कार्ल मार्क्स की पुस्तक का अध्ययन किया, और कार्ल मार्क्स की त्रुटियों को स्वीकार कर लिया। कार्ल मार्क्स पर आपके कुछ लेख बड़ा महत्त्व रखते हैं। और वे आपके अर्थ-शास्त्र के मनन तथा आपकी सच्ची जिज्ञासा के प्रमाण हैं। धर्म और समाज-सेवा के भावों से प्रेरित होकर आपने साम्यवाद स्वीकार किया था, यद्यपि आप अब भी कट्टर साम्यवादी हैं। बहुत लोगों का ख़याल हो गया है कि आप अपने आदर्श से च्युत हो गए हैं। यह बात सत्य है कि फ़ेबियन-समाजवाले आज भी उतने ही अराजक और क्रांतिवादी हैं, जितने कि आरंभ में थे। हाँ, उन्होंने अपने कार्य-क्रम में समयानुकूल परिवर्तन अवश्य कर लिया है। भाव उनका वही है;

परंतु वे अब धैर्य के साथ और क्रोध का परित्याग करके युद्ध करते हैं। वे खुले शब्दों में कहते हैं कि हम अवसर देख रहे हैं। जहाँ जैसे अवसर मिलेगा, उसे हाथ से न जाने देंगे। उनका प्रयास अब वैज्ञानिक ढंग का प्रयास है। वे नहीं चाहते कि दूसरे लोग हमसे भड़ककर अलग हो जायँ। वे कहते हैं कि विपक्षियों से मिलकर हम अपना काम निकालेंगे। जिस किसी दल में हम मित्रों को देखेंगे, अपनावेंगे, और ईश्वरेच्छा से अपने कार्य में सफल होंगे। हमें उनके इस परिवर्तन में विकास दिखाई देता है।

वर्तमान फ़ेबियन विचारों का परिचय प्राप्त करने के लिये जॉर्ज बर्नार्ड शॉ द्वारा संपादित 'सोशलिज़्म'-शीर्षक पुस्तक देखनी चाहिए। इसमें जॉर्ज बर्नार्ड शॉ, सिडनी ओलिवियर, विं० क्लार्क, ह्यूबर्ट ब्लांड, सिडनी वेब, एनी बीसेंट, और जॉर्ज वैलेस आदि प्रसिद्ध फ़ेबियन-समाजियों के निबंध हैं। यह पुस्तक १८६० में प्रकाशित हुई थी। इससे पता चलेगा कि फ़ेबियन-समाज पर कार्ल मार्क्स का प्रभाव बाक़ी नहीं रह गया है; परंतु अपने आदर्शों से भी यह समाज किसी प्रकार च्युत नहीं हुआ है। साम्यवाद के साथ बहुत-सी भ्रमात्मक बातें (जॉर्ज बर्नार्ड शॉ के कथनानुसार) प्रचलित हो गई थीं, जिनका खंडन आवश्यक था। उसे देखने के लिये बर्नार्ड शॉ की रचना 'दि इल्यूज़ंस ऑफ़् सोशलिज़्म' देखनी चाहिए। जॉर्ज बर्नार्ड शॉ की विशेषता—जैसा एक प्रसिद्ध अँगरेज़ी साहित्यिक ने बतलाया है—यह है कि वह क्रांतिकारी होते हुए भी जोश के भावों को पूर्णतया अपने वश में कर सके हैं, वरन् उन पर अपने व्यंग्य का आवरण डाल सके हैं। आपने कहा है—"लोग मुझे व्यर्थ ही अराजक, आदर्शवादी और सनकी कहते हैं। मैं इनमें से एक भी नहीं हूँ। वरन् इनका उलटा हूँ। मैं तो केवल कुछ थोड़े-से व्यावहारिक सुधार चाहता हूँ, जिनके द्वारा साधारण मनुष्यों के जीवन-निर्वाह का साधारणतः अच्छा प्रबंध हो जाय।" यह शॉ का ख़ास ढंग है। एक बार लोगों को फुसलाकर जब आकर्षित कर लेते हैं, तो उसके बाद अखंड परिश्रम और प्रमाणों के ढेर से आप उन्हें अपने ज्वलंत भावों का उपासक बनाने का प्रयत्न करते हैं। उनकी यह सेवा नाट्यकार के रूप में अधिकतर हुई है, जिसका वर्णन करने के पूर्व उनकी एक और सेवा का वर्णन हो जाना चाहिए। यह वह सेवा है, जो आपने चित्र-कला, संगीत और नाटक के समालोचक की हैसियत से की है।

चित्र-समालोचक

सन् १८८५ में, 'कैशल बाइरंस प्रोफ़ेशन'-नामक उपन्यास के प्रकाशन के बाद ही बर्नार्ड शॉ का परिचय एक विख्यात साहित्य-सेवी मिस्टर विलियम आर्चर से हो गया था। यह उस समय भी इँगलिस्तान के एक प्रसिद्ध नाट्य-समालोचक थे। इन्हीं की कृपा से बर्नार्ड शॉ समालोचना के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। उस समय बर्नार्ड शॉ बड़ी ग़रीबी की हालत में थे। विलियम आर्चर उस समय 'वर्ल्ड'-नामक पत्र के नाट्य-समालोचक थे। उन्होंने उस पत्र में चित्रों की आलोचना का कार्य भी ग्रहण किया था। पर यह आलोचना वास्तव में बर्नार्ड शॉ किया करते थे। जब उनके मित्र विलियम आर्चर ने देख लिया कि अब यह अपने बल पर खड़े हो सकते हैं, तब उन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। बर्नार्ड शॉ उस स्थान पर नियुक्त हो गए। इस प्रकार बर्नार्ड शॉ को एक नए क्षेत्र पर आक्रमण करने का अवसर मिला। उनको आर्थिक सहायता भी मिली। बर्नार्ड शॉ ने अपने अवकाश के समय, जैसा ऊपर कह चुके हैं, अपने विषय का मनन कर लिया था, और १८८५ से १८८६ तक आप बड़े उत्साह के साथ चित्र-कला की—विशेषकर सामयिक अँगरेज़ी चित्र-कला की—आलोचना करते रहे। इन वर्षों में, बर्नार्ड शॉ ने लंदन में प्रतिवर्ष अनेकों की संख्या में होनेवाली प्रत्येक कला-प्रदर्शिनी की आलोचना की है। इन आलोचनाओं के अतिरिक्त आपने और भी प्रसिद्ध पत्रों में कला-संबंधी तथा साहित्यिक निबंध प्रकाशित कराए। श्रीमती एनी बीसेंट के 'अवर कार्नर'-नामक पत्र में भी आप प्रायः लिखा करते थे।

जैसा आगे बतला चुके हैं, ये ही वर्ष बर्नार्ड शॉ के साम्यवाद के उत्साहपूर्वक प्रचार के वर्ष भी थे, और यद्यपि आप कला की आलोचना के लिये पूर्ण अवसर न दे सकते थे, और यद्यपि वास्तव में इस कला की आलोचना की अपेक्षा कहीं अधिक आपकी दिलचस्पी साम्यवादी प्रचार के कार्य में ही था, तथापि कला की आलोचना के क्षेत्र में भी आप, सम-सामयिक इँगलिस्तान की चित्र-कला की आलोचना के संबंध में, एक नए विचार-प्रवाह के प्रवर्तक रहे। आप इस क्षेत्र में भी एक महत्त्व-पूर्ण स्थान

रखते हैं। आपकी चित्र-कला की आलोचना-संबंधी सेवा का विशेष वर्णन हिंदी-पाठकों के लिये मनोरंजक न होगा। परंतु आपने इस अवसर पर जो प्रवृत्तियाँ दिखाई हैं, उनका ही विकास आपकी साहित्य-सेवा के और क्षेत्रों में भी लक्षित होता है। अतएव स्थूल रूप से दो-एक बातें कही जा सकती हैं। एक तो आपने कला-विषय पर प्रचलित विचारों का विरोध किया। प्रत्येक सुधारक को ऐसा ही करना पड़ता है। ऐसा करने में आपने व्यंग्य और हास्य का आश्रय लिया। दूसरे आपने यथार्थवाद पर विशेष ज़ोर दिया। आपको 'रोमंस'-शब्द से चिढ़ थी। परंतु सबसे विशेष बात तो यह थी कि आपने अपनी आलोचना को एक विशेष रूप में उपस्थित करने का अपना नया ढंग निकाला। आपने अपनी शैली के विषय में, अपने एक पत्र में, एक मित्र को लिखा था—"तुमने मेरी शैली के विषय में यह बात देखी होगी कि मैं पहले तो यथार्थ बात की खोज के लिये अधिक-से-अधिक प्रयत्न करता हूँ। परंतु उसे खोज लेने के बाद मैं उसे अधिक-से-अधिक लट्ठमार तरीक़े पर कह डालता हूँ। और, मज़ाक़ तो यह है कि लोग समझते हैं, मैं केवल हँसी कर रहा हूँ, यद्यपि वास्तव में मैं ज़रा भी हँसी नहीं करता।"

बर्नार्ड शॉ की यही शैली उनकी अन्य रचनाओं में भी देख पड़ती है।

आपके कला की आलोचना छोड़ देने के कई कारण हुए। सबसे मुख्य कारण यह जान पड़ता है कि इसमें आर्थिक लाभ कम था। आपने १८८८ में अपने 'वर्ल्ड'-पत्र में प्रकाशित निबंधों की आय का पाँच पेंस (पाँच आने) प्रति पंक्ति के हिसाब से पड़ता लगाया, तो आपकी आय चालीस पाउंड प्रतिवर्ष से कम निकली। यद्यपि अन्य लेखों से भी आपको आय हो जाती थी, और आपकी आर्थिक स्थिति ऐसी हो गई थी कि आप अपने ऊपर अवलंबन कर सकते थे, तथापि इनकी-सी ख्याति के लेखक के लिये यह आय बहुत कम थी। इस पर केवल इन्हें ही आश्चर्य नहीं हुआ, 'वर्ल्ड' के संपादक को स्वयं आश्चर्य था। संपादक ने इनकी कुछ और सहायता करनी चाही; परंतु आपने अपने पद का त्याग करना ही चाहा। अन्य संपादकों ने इनके साथ जो व्यवहार किया, उससे भी खिन्न होकर आपने कला की समालोचना का कार्य छोड़ दिया। लंदन के अन्य पत्रों के संपादक यह चाहते थे कि बर्नार्ड शॉ उनके निजी मित्रों की प्रशंसा करें। वे लोग बर्नार्ड शॉ के लेखों की काट-छाँट भी कर देते थे। यह व्यवहार बर्नार्ड शॉ-जैसे स्वतंत्र विचार रखनेवाले और स्वाभिमानी साहित्यिक को असह्य हुआ। उन्होंने उन अन्य पत्रों से भी संबंध छोड़ दिया। परंतु सबसे अधिक महत्त्व का कारण कदाचित् यह है कि आपको एक दूसरा विषय विशेष आकर्षित कर रहा था। वह विषय था संगीत। इसके अतिरिक्त वह साहित्य-सेवा का विस्तृत क्षेत्र अपनाना चाहते थे।

संगीत-समालोचक

सन् १८८८ ई० में इँगलिस्तान के प्रसिद्ध अख़बार-नवीस और राजनीतिक कार्यकर्ता—जो स्वयं आइरिश थे—मिस्टर टी० पी० ओ'कानर ने 'स्टार'-नामक दैनिक पत्र निकालना शुरू किया। यह पत्र नरम दल का था। एक प्रतिष्ठित मित्र की सिफ़ारिश पर बर्नार्ड शॉ उसके अग्र-लेख लिखने के लिये नियुक्त किए गए। यद्यपि इनके तथा अन्य फ़ेबियन-समाजवालों के प्रभाव से इस पत्र की नीति में बड़ा परिवर्तन हुआ (जिससे कि लिबरल राजनीतिक इस पत्र से सशंकित होने लगे), और लंदन में इसका प्रचार भी बढ़ा, तथापि बर्नार्ड शॉ अधिक समय तक इस पद पर न रहे। बर्नार्ड शॉ का भीतरी उद्देश्य था नरम दलवालों के भेष में साम्यवादी विचारों का प्रचार करना। अंत को इसी पत्र में आपको 'संगीत' की आलोचना के लिये एक स्तंभ मिल गया। आपने उसे कृतज्ञता-पूर्वक स्वीकार कर लिया। आप 'कार्नो दि बसेतो' यह उपनाम रखकर, इसी उपनाम से अपनी संगीत की आलोचनाएँ प्रकाशित कराने लगे। बर्नार्ड शॉ ने एक स्थान पर लिखा है—"लोग अब 'कार्नो दि बसेतो' को भूल गए हैं। लेकिन मुझे इस बात का गर्व है कि कुछ वर्षों तक यह आदमी 'स्टार'-पत्र का एक प्रसिद्ध लेखक था।"

इस उपनाम के व्यक्ति की दो विशेषताएँ थीं। एक तो अपने विषय का पूर्ण ज्ञान, और दूसरी उसकी हास्य-रस और व्यंग्य में डूबी हुई शैली। वास्तव में ये दोनों विशेषताएँ बर्नार्ड शॉ के नाम के साथ ही संबद्ध हैं। बर्नार्ड शॉ का संगीत का अनुशीलन इस समय फल लाया। उनकी आलोचनाओं की उन समाजों में प्रतिष्ठा होने लगी, जहाँ इस विद्या के विद्वान् विद्यमान थे। कुछ समय के बाद 'वर्ल्ड'-पत्र के संगीत-समालोचक का स्थान रिक्त हुआ, और यह पद शॉ को मिल गया। शॉ इस पत्र में

"जी० बी० एस्०"— अपने नाम के अग्राक्षरों—के साथ आलोचनाएँ किया करते थे।

बर्नार्ड शॉ के साथ-साथ विवाद के वायु-मंडल का उपस्थित रहना स्वाभाविक-सा हो गया था। अतएव यह बताना कोई आश्चर्य-जनक बात न होगी कि यहाँ भी आपको अपने मत के प्रचार के लिये लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। आप थे वैगनर के उपासक, और वैगनर के पक्ष में आपने युद्ध ठान दिया। आप अपनी आलोचनाओं में इतने तीव्र हो जाया करते कि आपको अकसर इस बात की धमकी दी गई कि "तुम्हारे ऊपर मान-हानि का दावा करना पड़ेगा"। परंतु बर्नार्ड शॉ धमकी से डरनेवाले व्यक्ति नहीं थे। जो अपनी आलोचना का आधार सत्य की भीत पर समझता हो, वह इस प्रकार की धमकियों की कब परवा करेगा? आपने १८९३ में 'वर्ल्ड'-पत्र में ये गर्व-पूर्ण शब्द लिखे—"जी० बी० एस्० का विरोध उतावली में न कर बैठा करो। वह संगीत के किसी अंग पर अपने विचारों को उस वक़्त तक नहीं प्रकाशित करता, जब तक उस पर तुमसे छःगुना ज्ञान नहीं प्राप्त कर लेता।" यही विशेष ज्ञान बर्नार्ड शॉ को निर्भय रखता रहा है। संगीत के समालोचक की हैसियत से आपका मुख्य काम रहा है वैगनर की प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाना। आपके कला-विषयक विचारों को जानने के लिये आपकी 'सैनिटी ऑफ़् आर्ट' नाम की रचना और 'लव अमंग दि आर्टिस्ट्स' नाटक देखना चाहिए। छः वर्षों तक संगीत की समालोचना का कार्य करने के अनंतर आपने यह कार्य छोड़ दिया। फिर समाज-सुधार का कार्य आपने उठा लिया। इस कार्य के निमित्त आपको नाटक-रचना का कार्य बहुत उपयुक्त जान पड़ा। आपने नाटकों की रचना आरंभ भी कर दी था। परंतु अपने विशेष ढंग के नाटकों के प्रचार में आपने कठिनता का अनुभव किया। अतएव जनता के नाटक-संबंधी विचारों में क्रांति उपस्थित करने के उद्देश्य से आपने संगीत-समालोचक की भूषा छोड़कर नाट्य-समालोचक की भूषा धारण कर ली। उन्हें आलोचना के एक और क्षेत्र पर विजय प्राप्त करना बाक़ी था।

नाट्य-समालोचक

बर्नार्ड शॉ ने 'सटर्डे-रिव्यू'-नामक पत्र में नाट्य-समालोचक का पद स्वीकार कर लिया। जिस समय 'सटर्डे-रिव्यू' के संपादकीय विभाग में सम्मिलित हुए, उस समय आप चार नाटकों के अतिरिक्त अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'क्विन्टेसेंस ऑफ़् इब्सनिज़्म' लिख चुके थे। प्रसिद्ध नार्वेजियन नाट्यकार इब्सेन के आप कट्टर भक्त थे। आप इँगलिस्तान में बराबर इस नाट्यकार की कृतियों का प्रचार करते रहे हैं। इस पुस्तक में आपने इब्सेन के विचारों का सार दे दिया है। अपने नाट्य-समालोचना के काल में भी आप निरंतर जनता का ध्यान इब्सेन के गुणों की ओर आकर्षित करते रहे। जिस प्रकार संगीत के क्षेत्र में आप वैगनर के पक्ष में रहे, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में इब्सेन की उपासना करते रहे। बर्नार्ड शॉ इब्सेन को शेक्सपियर के मुक़ाबले में कहीं बड़ा नाट्यकार समझते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अँगरेज़ लोग शेक्सपियर को केवल इँगलिस्तान ही नहीं, संसार-भर का सबसे बड़ा नाट्यकार समझते और उसकी देव-तुल्य प्रतिष्ठा करते हैं। परंतु शेक्सपियर के बड़प्पन पर आशंकाएँ भी होने लगी हैं। ऋषि टालस्टाय ने शेक्सपियर का खंडन किया था। बर्नार्ड शॉ ने भी शेक्सपियर का अपने ढंग से खंडन किया है। वह शेक्सपियर को उतनी प्रतिष्ठा देने के लिये तैयार नहीं, जितनी कि उसके देशवासी उसे देते हैं। आपका कहना है—"शेक्सपियर की प्रतिष्ठा का कारण मुख्य यह है कि अँगरेज़ लोग उसकी तारीफ़, समझे-बेसमझे आँख मूँदकर, केवल परंपरा क़ायम रखने के लिये, करते हैं।" वह इस बात को स्वीकार करते हैं कि शेक्सपियर का किसी कथा को—विशेषकर जब कि वह कथा कोई व्यक्ति एक बार पहले कह चुका हो—कहने का ढंग अच्छा है, और उसके शब्दों में माधुर्य भी है, पर शेक्सपियर विचारक नहीं है। उसमें मन को परिष्कृत करनेवाले, समाज को उन्नत करनेवाले विचारों की कमी है। बर्नार्ड शॉ मुख्यतः विचारक और सुधारक हैं। इस तराज़ू में तौलने पर शेक्सपियर निस्संदेह उतना महत्त्व-पूर्ण न जँचेगा। बर्नार्ड शॉ का कहना है कि शेक्सपियर ने नीति-संबंधी विचारों की विवेचना नहीं की है। उसने केवल प्रचलित नैतिक विचारों को ही अपनाया है, और ऐसा करने में तर्क तक से काम नहीं लिया। शेक्सपियर के दोषों को दिखलाते हुए भी शॉ उसके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। वह केवल शेक्सपियर की अत्यधिक पूजा के विरोधी हैं। वास्तव में उनका यह मत यथार्थ भी है। बर्नार्ड शॉ बिना अपने विषय का पूर्ण मनन किए हुए अपना मत

नहीं प्रकट करते । शेक्सपियर के ज्ञान के विषय में भी यह उक्ति सत्य है । जिस समय शॉ २० वर्ष की अवस्था के थे, उस समय ही उन्होंने संपूर्ण शेक्सपियर पढ़ डाला था, और आज दिन बहुत कम लोग इँगलिस्तान में ऐसे हैं, जिन्होंने शेक्सपियर का इनसे अधिक अध्ययन किया हो । परंतु शॉ नाटक के क्षेत्र में, इँगलिस्तान में, इब्सेन के मत के प्रचारक हैं । वह इँगलिस्तान को "शेक्सपियर के दासत्व" से मुक्त करना चाहते हैं, और अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल भी हुए हैं । यह तो निर्विवाद है कि शेक्सपियर के मुक़ाबले में इब्सेन कहीं अधिक महत्त्व का विचारक और सुधारक है, और समाज की प्रचलित नीति का विरोधी भी । शॉ ने इब्सेन का पक्ष लेकर 'सटर्डे-रिव्यू' द्वारा न-जाने कितने विवादों में भाग लिया है । साथ-ही-साथ शेक्सपियर के विषय में जनता के विचारों के परिवर्तन में सहायता भी पहुँचाई है । आप अपने समय के इँगलिस्तान के एक बड़े प्रसिद्ध नाट्य-समालोचक रह चुके हैं । परंतु सन् १८९२ में आपने अपना ध्यान पूर्ण रूप से नाट्य-रचना की ओर लगा दिया ।

नाट्यकार

एक तो नाट्य-रचना द्वारा की गई साहित्य-सेवा विशेष स्थायी थी, दूसरे बर्नार्ड शॉ ने अब तक जो नाटक लिखे थे, उनका प्रचार और उनसे आमदनी भी होने लगा था । उन्होंने लिखा है डेविल्स डिसाइपिल-नामक नाटक की आय ही जो आपको एक वर्ष के भीतर हो गई, उसके लिये 'सटर्डे-रिव्यू' में कम-से-कम छः वर्ष तक क़लम घिसना पड़ता । साहित्य के क्षेत्र में बर्नार्ड शॉ अब पूर्णतया विख्यात हो चुके थे, यद्यपि उनकी विशेष मूल्यवान् रचनाएँ आगे प्रकाशित होनेवाली थीं । बर्नार्ड शॉ ने जिस समय समालोचक का कार्य आरंभ किया था, उस समय, सन् १८८५ में, उनकी आय एक वर्ष में ११७ पौंड ३ पेंस हुई था । यही दस वर्ष बाद २०० पौंड हो गई थी । बर्नार्ड शॉ समाचार पत्रों में लिखने का कार्य नव-वयस्कों पर छोड़कर पूर्णतया नाट्य-रचना में लग गए । यह सर्वमान्य है कि इनकी प्रतिभा इस क्षेत्र में अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुई, और इनकी संसारव्यापी ख्याति भी आज इनकी नाट्य-रचना पर ही आश्रित है । इनके नाटकों का प्रचार केवल इँगलिस्तान में ही नहीं, सारे संसार में है । प्रायः सभी नाटक अमेरिका और योरप के भिन्न-भिन्न देशों में अभिनीत हो चुके हैं ।

आपके पहले नाटक 'विडोअर्स हाउसेज़' का कुछ अंश १८८५ में लिखा जा चुका था ; परंतु आपने इसे १८९२ में पूरा करके प्रकाशित किया । उसी साल यह नाटक खेला भी गया ; परंतु इसमें विशेष सफलता न रही । साम्यवादी दलवालों को छोड़कर दूसरों ने इसे पसंद न किया । इस पर तीव्र आलोचनाएँ भी निकलीं ; अपने को ठीक समझनेवाली जनता ने इसका बड़ा विरोध किया । परंतु इँगलिस्तान में यह नाटक एक नए मार्ग का प्रवर्तक था । इसमें शॉ के साम्यवादी विचारों की स्पष्ट छाप है । आगे चलकर शॉ इस रंग में और गहरे रँगते गए ।

अगले साल आप ने 'दि फ़िलांडरर'-नामक एक दूसरा नाटक लिखा । यह रचना भी अप्रौढ़ है, और बहुत अंश में अस्वाभाविक भी । परंतु इसमें तत्कालीन समाज के एक दूसरे अंग पर कटाक्ष है । इस नाटक में शॉ ने नवीन स्वतंत्रता-प्राप्त स्त्रियों की ख़ूब ख़बर ली है । उस समय जिस नाटक-कंपनी के लिये यह लिखा गया था, उसने दर्शक-समाज की अप्रसन्नता के भय से इसे अभिनय के उपयुक्त न समझा । अतएव आपने उसे एक दूसरा नाटक—'मिसेज़ वारेंस प्रोफ़ेशन'—लिखकर दिया । परंतु सरकार ने इसे खेलने की मनाही कर दी । इसमें वेश्या-समाज का चित्रण है, वेश्याओं की विवशता दिखाई गई है, और शॉ ने इस समाज को आधुनिक समाज के अत्याचारों का परिणाम बताया है । सरकार द्वारा इसका अभिनय रोके जाने पर शॉ ने संपूर्ण देश में एक तूफ़ान बर्पा कर दिया । इस नाटक का एकमात्र दोष यह है कि यह समाज की बीभत्सता पर से परदा उठाने का प्रयत्न करता है । यह खेल गुप्त रूप से १९०२ में खेला गया । अमरिका में तो इस नाटक के खेलने के अपराध में अभिनेताओं पर मुक़दमा भी चलाया गया । शॉ ने इन तीनों नाटकों को एकत्र करके—'प्लेज़ अनप्लेज़ंट' के नाम से—प्रकाशित कराया ।

यद्यपि सरकार के विरोध ने इनकी ख्याति को सुलभ कर दिया था, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि तत्क्षण यह उससे प्रभावित नहीं हुए । इनका अगला नाटक 'आर्म्स एंड दि मैन' था । इसमें आपने युद्ध और सैनिकों की वीरता पर व्यंग्य लिखा और युद्ध के आदर्शों का खंडन किया है । इसके बाद 'कैंडिडा' (१८९४),

'मैन ऑफ़् डेस्टिनी' (१८९५), और 'यू नेवर कैन टेल' (१८९६)-नामक नाटक प्रकाशित हुए। इनमें से पहले में वैवाहिक जीवन का ख़ाका खींचा है, जिससे कि शॉ के विवाह-संबंधी विचारों का पता चलता है। दूसरे का विषय ऐतिहासिक है। इसमें नेपोलियन के चरित्र की आलोचना की गई है, और अंतिम में पुनः नई रोशनी की औरतों पर आक्षेप है। इन चारों नाटकों का 'प्लेज़ अनप्लेज़ेंट' नाम से संग्रह किया गया। 'प्लेज़ प्लेज़ेंट ऐंड अनप्लेज़ेंट' १८९८ में एकसाथ प्रकाशित हुए।

बर्नार्ड शॉ के संपूर्ण नाटकों की संख्या तीस के लगभग है। उन सबके विषय में संक्षेप में भी यहाँ पर कुछ लिखना असंभव है। उनमें से कुछ अन्य मुख्य नाटकों के नाम-मात्र का परिचय कराया जा सकता है।

(१) 'सीज़र ऐंड क्लियोपैट्रा' (१८९८)। इसका विषय भी ऐतिहासिक है, और ऐसा विषय है, जिस पर स्वयं शेक्सपियर एक नाटक लिख चुके थे। परंतु ऐतिहासिक यथार्थता लाने में जितना शॉ सफल हुए हैं, उतना शेक्सपियर भी नहीं। शॉ का अपना अलग ही रंग है।

(२) 'दि डेविल्स डिसाइपिल' (१८९९)। यह एक सामाजिक व्यंग्य है।

(३) 'मैन ऐंड सुपरमैन' (१९०३)। अनेकों साहित्यिकों की सम्मति में यह शॉ का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसके प्रकाशन के साथ शॉ की गणना युग के प्रधान विचारकों में होने लगी।

(४) 'जान बुल्स अदर आइलैंड' (१९०४)। यह एक राजनीतिक रंग लिए हुए नाटक है। विषय है आयलैंड तथा इँगलैंड का संबंध। राजनीतिक दायरों में किसी समय इसने बड़ी हलचल पैदा कर दी थी। स्वर्गीय सम्राट् एडवर्ड सेविंथ ने अपने देखने के लिये इसका एक विशेष अभिनय कराया था। हम भारतीयों के लिये यह नाटक एक ख़ास शिक्षा रखता है।

(५) 'मेजर बार्बरा' (१९०५)। यह भी सामाजिक व्यंग्य है। नाटक का मुख्य ध्येय है दरिद्रता को समाज के पाप का मूल बतलाना।

(६) 'डॉक्टर्स डाइलेमा' (१९०६)। इसमें आधुनिक युग के चिकित्सकों पर बड़ा तीखा व्यंग्य है।

(७) 'गेटिंग मैरिड' (१९०८)। इसमें शॉ ने अपने विवाह-संबंधी विचारों को पुनः विस्तार के साथ जनता के सम्मुख उपस्थित किया है।

(८) 'ब्लैंको पॉस्नेट' (१९०८)। इसमें प्रचलित ईसाई-धर्म पर कटाक्ष है। इस नाटक के खेलने की मनाही सरकार ने कर दी थी। इसीलिये यह पहले डब्लिन में खेला गया। ऋषि टाल्सटाय ने इस नाटक की प्रशंसा की है।

(९) 'प्रेस कटिंग्स' (१९०९)। इसमें इँगलैंड के कुछ समकालीन बड़े व्यक्तियों का ख़ाका खींचा गया है। इस नाटक का एक ऐतिहासिक महत्त्व भी है। सरकार ने इसे खेलने की मनाही कर दी थी। शॉ के दो नाटकों की लगातार मनाही के कारण लंदन में बड़ी हलचल मची था। पार्लियामेंट की एक कमिटी इस बात को सिफ़ारिश करने के लिये बैठाई गई थी कि 'सेंसरशिप'-संबंधी क़ानून को कहाँ तक नियमित किया जाय। इँगलैंड के अनेकों विख्यात साहित्यिकों ने (जिनमें शॉ स्वयं भी थे) इस कमिटी के सम्मुख गवाहियाँ दी थीं। इस नाटक में कोई आपत्तिजनक बात नहीं है।

(१०) 'एंड्राक्लीज़ ऐंड दि लॉयन' (१९१२)। इसका भी विषय ऐतिहासिक है, यद्यपि यह भी आधुनिक समाज पर व्यंग्य से शून्य नहीं है।

(११) 'बैक टु मेथ्यूसिला' (१९२१)। इसमें शॉ भविष्यवादी के रूप में प्रकट होते हैं। शॉ ने इस नाटक में समाज के विकास की प्रवृत्ति की कल्पना की है। एक विज्ञ समालोचक ने यथार्थ लिखा है कि इसमें बर्नार्ड शॉ के संपूर्ण नाटकों तथा विचारों का सार मौजूद है।

(१२) 'सेंट जोन ऑफ़् आर्क' (१९२३)। अनेकों साहित्यिकों ने फ़्रांस की इस वीर रमणी के चित्रण का प्रयत्न किया है। परंतु कदाचित् अनातोले फ़्रांस और बर्नार्ड शॉ, ये ही दो व्यक्ति हैं, जिन्होंने इस उद्देश्य में भिन्न-भिन्न प्रकारों से सफलता पाई है। और कोई दूसरा वह भाव उपस्थित नहीं कर सका, जो शॉ ने किया है।

विचारक

आपके नाटक तो महत्त्व रखते ही हैं। परंतु हम विदेशियों की दृष्टि में इन नाटकों से कहीं अधिक महत्त्व

इन नाटकों की भूमिकाएँ रखनी हैं ; क्योंकि इनमें शॉ विचारक के रूप में प्रकट होते हैं। यह कहा जाता है, और ठीक भी है, कि विदेशियों को शॉ विचारक और दार्शनिक के रूप में जितने मान्य हैं, उतने नाट्यकार के रूप में नहीं। शॉ अपने नाटकों की बड़ी लंबी-चौड़ी भूमिकाएँ लिखते हैं, और इन्हीं में उनके सिद्धांतों का प्रकटीकरण होता है। कुछ भूमिकाएँ तो नाटकों से छ: गुनी तक बड़ी हो गई हैं।

शॉ क्रांतिकारी विचारक हैं। वह प्रचलित प्रथाओं और संस्थाओं से आडंबरों और पिष्ट-पेषणों को निकालकर यथार्थवाद का साम्राज्य लाना चाहते हैं। वह दरिद्रता को घोर पाप समझते हैं, और समाज की आय को शासन द्वारा समाज के प्रत्येक प्राणी में सम-भाग से बँटवाना चाहते हैं। विवाह तथा कौटुंबिक प्रश्नों पर भी आपके विचार क्रांतिकारी हैं। वह विवाह के बंधन को तोड़ने और जोड़ने के विषय में प्रत्येक पक्ष को प्रत्येक समय पूर्ण स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं। वह केवल स्त्रियों की स्वतंत्रता का ही समर्थन नहीं करते, वरन् बच्चों की स्वतंत्रता भी चाहते हैं। आपका कहना है कि प्रत्येक बालक को अपनी प्रवृत्ति पर आने देना चाहिए। पिता को पुत्र पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है।

निजी बातें

आश्चर्य यहाँ होता है कि इन अराजक विचारों का समर्थक तथा प्रचारक समाज का एक बड़ा भला व्यक्ति है। शॉ के तीव्रतम आलोचक ने भी उनके निजी जीवन को बड़ा पवित्र माना है। जैसा कि एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है—"शॉ चाहे जैसी अराजक और क्रांतिकारी बातें कहें, धर्म पर चाहे जैसे आक्षेप करें, उनमें एक ऐसी बात है, जो हमें बताती है कि किसी दूसरी और अच्छी सभ्यता में वह संत करके पूजित होते। ऐसा व्यक्ति अपने विचारों के प्रकट करने में निर्भीक इसलिये है कि उसके विचार पवित्र हैं।"

आपका हृदय बड़ा कोमल है। आप निरामिष-भोजी हैं, यह कहा जा चुका है। परंतु लोगों पर आप यह प्रकट नहीं होने देना चाहते कि आपका निरामिष-भोजी होना आपकी कोमलता के कारण है। आपने निरामिषभोजन के विषय में बहुत कुछ लिखा है ; परंतु जानवरों पर दया के नाम से नहीं।

धार्मिक विचार

आप धार्मिक भी बड़े हैं। जैसा कह चुके हैं, आप अपने को प्यूरिटन कहते हैं। प्रसिद्ध प्यूरिटन जॉन बेनियन की पुस्तक 'पिलग्रिम्स प्रॉग्रेस' आपकी प्रिय पुस्तक है। आप उपासना को बहुत उच्च स्थान देते हैं ; परंतु आडंबर-पूर्ण उपासना के बड़े विरोधी हैं। आप गिरजाघरों में बराबर जाते हैं ; परंतु आपके गिरजाघरों में जाने का वह समय है, जब वहाँ पर पादरी अथवा अन्य उपासक उपस्थित नहीं रहते। आप अपनी रचनाओं में ईश्वर का उपहास करेंगे ; परंतु हैं आप ईश्वरवादी। आपने एक स्थल पर अपने ख़ास रंग में लिखा है—"खलियान में बैठकर उपासना करना गिरजाघर में उपासना करने से अच्छा है। कारण, गिरजाघर एक सुंदर स्थान है।" वास्तव में वह ऐसे सच्चे उपासक हैं कि ईश्वर के और अपने बीच सौंदर्य का परदा भी नहीं देख सकते।

उपसंहार

मोटर चलाना, बाइसिकिल चलाना, तैरना और फ़ोटो-ग्राफ़ी आपके विशेष आमोद हैं। आप शार्टहैंड के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आपका पता है—१० एडेल्फ़ी टेरेस, लंदन। आपकी अधिकांश रचनाएँ लंदन की प्रसिद्ध कांस्टेबिल-कंपनी ने प्रकाशित की हैं। उनके नाटकों का संग्रह १२ जिल्दों में वहीं से प्राप्य है। आर्चिबल्ड हेंडर्सन द्वारा लिखित इनकी जीवनी सबसे अधिक प्रामाणिक है ; क्योंकि स्वयं बर्नार्ड शॉ की सहायता से यह लिखी गई थी। मैंने इस लेख के लिखने में उक्त पुस्तक से जो सहायता पाई है, उसके लिये उसके लेखक का बहुत कृतज्ञ हूँ। शॉ के अन्य चरित्रकारों में ये प्रसिद्ध हैं (प्रत्येक के नाम के आगे उनकी पुस्तक का प्रकाशन-स्थान तथा उसकी प्रकाशन-तिथि दी हुई है)—

जी० के० चेस्टर्टन (लंदन, १९१०)
जूलियस बेब (बर्लिन, १९१०)
एच्० सी० डफ़िन (लंदन, १९२०)
एडवर्ड शैंक्स (लंदन, १९२४)
जे० एस्० कॉलिंस (लंदन, १९२५)

यों तो उनकी जीवनी पर पचीस से कम पुस्तकें न होंगी।

रामचंद्र टंडन

धन-हीन का कुटुंब

कौन-कौन प्राणी धन-हीन के कुटुंब में हैं ?
 पिता है अभाग्य और माता अधोगति है ।
दुख-शोक भाई, जो हैं जन्म से श्रवण-हीन,
 आँख में न दृष्टि है, न पाँव में ही गति है ।
भूख-प्यास बहनें, सहोदर को छोड़ जिन्हें
 दूसरा ठिकाना नहीं, पुत्र है न पति है ।
चिंता नाम कन्या, जो विवाह से विरक्त-सी है,
 मोह पुत्र, जिसमें पिता की भक्ति अति है ।

हैट के गुण

दृग को, दिमाग को, ललाट को, श्रवण को भी
 धूप से बचाती, अति सुख पहुँचाती है ;
चोट से बचाती, मार-पीट से बचाती,
 यह अपढ़ देहातियों में भय उपजाती है ।
पर इसमें है उपयोगिता विचित्र एक
 योरप-निवासियों की बुद्धि में जो आती है ;
सिर पर हैट रख चाहे जो अनर्थ करो,
 हैट यह ईश्वर की दृष्टि से बचाती है ।

रामनरेश त्रिपाठी

सती

(१)

शताब्दियों से अधिक बीत गए हैं, पर चिंतादेवी का नाम चला आता है । बुंदेलखंड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चिंतादेवी की पूजा करने आते हैं । उस दिन वह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टोकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं । देवी का मंदिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है । उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है । मंदिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एकसाथ दो आदमी समा सकते हैं । भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी-सी वेदी बनी हुई है । नीचे से मंदिर तक पत्थर का ज़ीना है । भीड़-भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिये ज़ीने के दोनों तरफ़ दीवार बनी हुई है । यहीं चिंतादेवी सती हुई थीं ; पर लोक-रीति के अनुसार वह अपने मृत पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं । उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था, पर वह उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखती थीं ; वह पति के शरीर के साथ नहीं, उसकी आत्मा के साथ सती हुई । उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी ।

(२)

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा-सा नगर है । चिंता उसी नगर के एक वीर बुंदेले की कन्या थी । उसकी माता उसको बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं । उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा । वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फ़ुर्सत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और ज़ीन ही पर झपकियाँ ले लेते थे । चिंता का बाल्यकाल पिता के साथ समर-भूमि में कटा । बाप उसे किसी खोह या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता । चिंता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के क़िले बनाती और बिगाड़ती । उसके घरौंदे क़िले होते थे, उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं । वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रण-क्षेत्र में खड़ा करती थी । कभी-कभी उसका पिता संध्या समय भी न लौटता । पर चिंता को भय छू तक न गया था । निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती । उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं । वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ, और वह भी योद्धाओं के मुँह से, सुन-सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी ।

एक बार तीन दिन तक चिंता को अपने पिता की ख़बर न मिली । वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन-ही-मन एक ऐसा क़िला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जीत न सके । दिन-भर वह उसी क़िले का नक़शा सोचती और रात को उसी क़िले का स्वप्न देखती । तीसरे दिन संध्या समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया । चिंता ने विस्मित होकर पूछा— "दादाजी कहाँ हैं ? तुम लोग क्यों रोते हो ?"

किसी ने इसका उत्तर न दिया। वे ज़ोर से धाड़ें मार-मारकर रोने लगे। चिंता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख ज़रा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—"अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिये इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है, इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनंद मनाने का अवसर है।"

एक सिपाही ने चिंतित स्वर में कहा—"हमें तुम्हारी चिंता है। तुम अब कहाँ रहोगी?"

चिंता ने गंभीरता से कहा—"इसकी तुम कुछ चिंता न करो दादा। मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृ-भूमि को शत्रुओं के पंजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिए। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिए। मेरे लिये एक घोड़े और हथियारों का प्रबंध कर दीजिए। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पावेंगे। लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अंत कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइए, अब विलंब न कीजिए।"

सिपाहियों को चिंता के ये वीर-वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह संदेह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

(३)

पाँच वर्ष बीत गए। समस्त प्रांत में चिंतादेवी की धाक बैठ गई। शत्रुओं के क़दम उखड़ गए। वह विजय की सजीव मूर्ति थी; उसे तीरों और गोलियों के सामने निश्शंक खड़े देखकर सिपाहियों को उत्तेजना मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे क़दम पीछे हटाते? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष क़दम पीछे हटावेगा? सुंदरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिये आत्म-समर्पण के गुप्त संदेश हैं, उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिंता की छवि और कीर्ति ने मनचले सूरमों को चारों ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया; जान पर खेलनेवाले भौंरे चारों ओर से आ-आकर इस फूल पर मँडलाने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का एक युवक राजपूत भी था।

यों तो चिंता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे; बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते। किंतु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिंता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमंडी न था। और लोग अपनी-अपनी कीर्ति को ख़ूब बढ़ा-बढ़ाकर बयान करते; आत्म-प्रशंसा करते हुए उनकी ज़बान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिंता को दिखाने के लिये। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिंता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शांत-भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आवे, उसकी चर्चा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता संकोच की सीमा से भी बढ़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था; पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे; पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सभी अपने दिल में समझते थे कि चिंता मेरी होगी, केवल रत्नसिंह निराश था, और इसीलिये उसे किसी से न द्वेष था, न राग। औरों को चिंता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्-पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशांधकार और भी घना होता जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रक्खा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं? उसे कौन पूछेगा? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिंता अपने ख़ेमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंज़िल मारने के बाद कुछ खा-पीकर ग़ाफ़िल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिंता उसके आने की ख़बर पाकर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की ख़बर न होगी। किंतु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी

शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की ख़बरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिंता से निश्चिंत होने के लिये एक षड्यंत्र रच रक्खा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिये तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र पशुओं की भाँति दबे-पाँव जंगल को पार करके आए, और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिंता का ख़ीमा कौन-सा है। सारी सेना बेख़बर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र संदेह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और ज़मीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिंता के ख़ीमे की ओर चले।

सारी सेना बेख़बर सोती थी, पहरे के सिपाही थककर चूर हो जाने के कारण निद्रा में मग्न हो गए थे। केवल एक प्राणी ख़ीमे के पीछे मारे ठंड के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नई बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिंता के ख़ीमे के पीछे बैठे-बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली, और चौंककर उठ खड़ा हुआ। देखा, तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं। अब क्या करे? अगर शोर मचाता है, तो सेना में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौक़ा न था। उसमें योद्धाओं की अविलंब निश्चय कर लेने की शक्ति थी। तुरंत तलवार खींच ली, और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा हो गया। उधर वे तीनों आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी ज़ख़्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिंता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक-से हो गया। समीप आकर देखा, तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे; पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू की एक बूँद भी न गिरी थी, उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाला डाल दी।

(४)

महीने-भर न रत्नसिंह की आँखें खुलीं, और न चिंता की

उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाला डाल दी।

आँखें बंद हुईं। चिंता उसके पास से एक क्षण के लिये भी कहीं न जाती। न अपने इलाक़े की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फ़िक्र। रत्नसिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँख खुली। देखा, चारपाई पर पड़ा हुआ है, और चिंता सामने पंखा लिए खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—"चिंता, पंखा मुझे दे दो। तुम्हें कष्ट हो रहा है।"

चिंता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखंड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद का वारापार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—"प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती।" "प्राणनाथ" इस संबोधन में विलक्षण मंत्र की-सी शक्ति थी। रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं, जीर्ण मुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नए जीवन का संचार हो गया, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था, उसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी! रत्नसिंह के अंग-अंग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे संसार को सर कर सकता है; उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है; पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिये उसे ऐसी तृप्ति हुई, मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, मानो वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता; शायद शिव को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेगा, कोई वरदान न माँगेगा। उसे अब किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की, इच्छा न थी। उसे ऐसा गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा?

चिंता अभी अपना वाक्य पूरा न कर पाई थी। उसी प्रसंग में बोली—"हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी!"

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—"बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती।"

चिंता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—"इस सिद्धि के लिये तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था; लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है: मेरा हृदय उसी पुरुष-सिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाज़ी खेल सकता हो। रसिकों के हास विलास, गुंडों के रूप-रंग और फेंकैतों के दाँव घात का मेरी दृष्टि में रत्ती-भर भी मूल्य नहीं। उनकी नट-विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गई—आज से नहीं, बहुत दिनों से।"

(४)

प्रणय की पहली रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनों प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारों ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्यमयी छटा में वर और वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा ख़बर आई कि शत्रुओं की एक सेना क़िले की ओर बढ़ी चली आती है। चिंता चौंक पड़ी: रत्नसिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिंता ने उसकी ओर कातर स्नेह की दृष्टि से देखकर कहा—"कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है?"

रत्नसिंह ने बंदूक़ कंधे पर रखते हुए कहा—"मुझे भय है कि अबकी वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।"

चिंता—"तो मैं भी चलूँगी।"

"नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे! मैं एक ही धावे में उनके क़दम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय रात्रि विजय-रात्रि हो।"

"न-जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता!"

रत्नसिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल होकर चिंता को गले लगा लिया, और बोले—"मैं सबेरे तक लौट आऊँगा प्रिये!"

चिंता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—"मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में

लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। आओ, पर रोज़ ख़बर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु को देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, उसी तरह मुँह दिखाओ।"

चिंता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था, अब भोग-लालसा की प्रधानता थी। वही वीर-बाला, जो सिंहिनी की तरह गरजकर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन-ही-मन देवी की मनौतियाँ कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही फिर वह क़िले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गई, और घंटों उसी तरफ़ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्नसिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था; पर चिंता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छवि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह-विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारों ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

(६)

रत्नसिंह के साथ मुश्किल से सौ आदमी थे; किंतु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन। वे वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढ़ाए चले जाते थे—

बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग़-तबर कुछ काम न आवे,
बख़तर, ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग,
सिपाही बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रही थीं, घोड़ों की टाप ताल दे रही थीं। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं, और इन वीरों पर अपनी स्वर्ण-छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नज़र आई।

रत्नसिंह सिर झुकाए, वियोग-व्यथित हृदय को दबाए, मंद गति से पीछे-पीछे चला आता था। क़दम आगे बढ़ता था, पर मन पीछे हटता था। आज जीवन में पहली बार दुश्चिंताओं ने उसे आशंकित कर रक्खा था। कौन जानता है, लड़ाई का अंत क्या होगा! जिस स्वर्ग-सुख को छोड़कर वह आया था, उसकी स्मृतियाँ रह-रहकर उसके हृदय को मसोस रही थीं। चिंता की सजल आँखें याद आती थीं, और जी चाहता था, घोड़े की रास पीछे मोड़ दे। प्रतिक्षण रणोत्साह क्षीण होता जाता था। सहसा एक सरदार ने समीप आकर कहा—"भैया, वह देखो ऊँची पहाड़ी पर शत्रु डेरे डाले पड़ा है। तुम्हारी अब क्या राय है? हमारी तो यह इच्छा है कि तुरंत उन पर धावा कर दें। ग़ाफ़िल पड़े हुए हैं, भाग खड़े होंगे। देर करने से वे भी सँभल जायँगे, और तब मामला नाज़ुक हो जायगा। एक हज़ार से कम न होंगे।"

रत्नसिंह ने चिंतित नेत्रों से शत्रु-दल की ओर देखकर कहा—"हाँ, मालूम तो होता है।"

सिपाही—"तो धावा कर दिया जाय न?"

रत्न०—"जैसी तुम्हारी इच्छा। संख्या अधिक है, यह सोच लो।"

सिपाही—"इसकी परवा नहीं। हम इससे बड़ी सेनाओं को परास्त कर चुके हैं।"

रत्न०—"यह सच है, पर आग में कूदना ठीक नहीं।"

सिपाही—"भैया, तुम कहते क्या हो? सिपाही का तो जीवन ही आग में कूदने के लिये है। तुम्हारे हुक्म की देर है, फिर हमारा जीवट देखना।"

रत्न०—"अभी हम लोग बहुत थके हुए हैं। ज़रा विश्राम कर लेना अच्छा है।"

सिपाही—"नहीं भैया, उन सभों को हमारी आहट मिल गई, तो ग़ज़ब हो जायगा।"

रत्न०—"तो फिर धावा ही कर दो।"

एक क्षण में योद्धाओं ने घोड़ों की बागें उठा दीं, और भाले सँभाले हुए शत्रु-सेना पर लपके। किंतु पहाड़ी पर पहुँचते ही इन लोगों को मालूम हो गया कि शत्रु-दल ग़ाफ़िल नहीं है। इन लोगों ने उनके विषय में जो अनुमान किया था, वह मिथ्या था। वे सजग ही नहीं थे,

स्वयं क़िले पर धावा करने की तैयारियाँ कर रहे थे। इन लोगों ने जब उन्हें सामने आते देखा, तो समझ गए, भूल हुई; लेकिन अब सामना करने के सिवा चारा ही क्या था। फिर भी वे निराश न थे। रत्नसिंह-जैसे कुशल योद्धा के साथ उन्हें कोई शंका न थी। वह इससे भी कठिन अवसरों पर अपने रण-कौशल से विजय-लाभ कर चुका था। क्या आज वह अपना जौहर न दिखायेगा? सारी आँखें रत्नसिंह को खोज रही थीं। पर उसका वहाँ कहीं पता न था। कहाँ चला गया, यह कोई न जानता था।

पर वह कहीं नहीं जा सकता। अपने साथियों को इस कठिन अवस्था में छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता। संभव नहीं, अवश्य ही वह यहीं है, और हारी हुई बाज़ी को जीतने की कोई युक्ति सोच रहा है।

एक क्षण में शत्रु इनके सामने आ पहुँचे। इतनी बहुसंख्यक सेना के सामने ये मुट्ठी-भर आदमी क्या कर सकते थे! चारों ओर से रत्नसिंह की पुकार होने लगी—"भैया, तुम कहाँ हो? हमें क्या हुक्म देते हो? देखते हो, वे लोग सामने आ पहुँचे; पर तुम अभी तक मौन खड़े हो। सामने आकर हमें मार्ग दिखाओ, हमारा उत्साह बढ़ाओ।"

पर अब भी रत्नसिंह न दिखाई दिया। यहाँ तक कि शत्रु-दल सिर पर आ पहुँचा, और दोनों दलों में तलवारें चलने लगीं। बुंदेलों ने प्राण हथेली पर लेकर लड़ना शुरू किया, पर एक को एक बहुत होता है; एक और दस का मुक़ाबला ही क्या? यह लड़ाई न थी, प्राणों का जुआ था। बुंदेलों में निराशा का अलौकिक बल था। ख़ूब लड़े, पर क्या मजाल कि क़दम पीछे हटे। उनमें अब ज़रा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे बढ़ते बना, बढ़ा। अंत क्या होगा, इसकी किसी को चिंता न थी। कोई तो शत्रुओं की सफ़ें चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उसके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया। उनका अमानुषिक साहस देखकर शत्रुओं के मुँह से भी वाह-वाह निकलती थी। लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया है, विजय नहीं पाई। एक घंटे में रंगमंच का परदा गिर गया, तमाशा ख़तम हो गया। एक आँधी थी, जो आई और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गई। संगठित रहकर ये ही मुट्ठी-भर आदमी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देते। पर जिस पर संगठन का भार था, उसका कहीं पता न था। विजयी मरहठों ने एक-एक लाश ध्यान से देखी। रत्नसिंह उनकी आँखों में खटकता था। उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्नसिंह के जीते-जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक-एक चट्टान का मंथन कर डाला; पर रत्न न हाथ आया। विजय हुई, पर अधूरी।

(७)

चिंता के हृदय में आज न-जाने क्यों, भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुंदेलों की हार ही क्यों होगी, इसका कोई कारण तो वह न बता सकती थी, पर यह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। उस अभागिन के भाग्य में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में मा मर जाती, पिता के साथ वन-वन घूमना पड़ता, खोहों और कंदरों में रहना पड़ता! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन न रहा। पिता भी मुँह मोड़कर चल दिए। तब से उसे एक दिन भी तो आराम से बैठना नसीब न हुआ। विधना क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा? आह! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई—ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लावे, तो वह उसे लेकर किसी दूर के गाँव में जा बसेगी, पति-देव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी; इस संग्राम से सदा के लिये मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत् हुआ।

संध्या हो गई थी सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाए कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर, नंगे पाँव, निश्शस्त्र, उसके सामने आकर खड़ा हो गया। चिंता पर वज्रपात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत-सी बैठी रही। फिर उठकर घबराई हुई सैनिक के पास आई, और आतुर स्वर में पूछा—"कौन-कौन बचा?"

सैनिक ने कहा—"कोई नहीं।"

"कोई नहीं!, कोई नहीं!!"

चिंता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—"मरहठे समीप आ पहुँचे।"

"समीप आ पहुँचे!!"

"बहुत समीप!"

"तो तुरत चिता तैयार करो। समय नहीं है।"

"अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाज़िर ही हैं।"

"तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यहीं अंत है।"

"क़िला बंद करके हम महीनों लड़ सकते हैं।"

"तो जाकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।"

एक ओर अंधकार प्रकाश को पैरों तले कुचलता चला आता था, दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को। और, क़िले में चिता बन रही थी। ज्यों ही दीपक जले, चिता में भी आग लगी। सती चिंता, सोलहों शृंगार किए, अनुपम छवि दिखाती हुई, प्रसन्न-मुख अग्नि-मार्ग से पति-लोक की यात्रा करने जा रही थी।

(८)

चिता के चारों ओर स्त्री और पुरुष जमा थे। शत्रुओं ने क़िले को घेर लिया है, इसकी किसी को फ़िक्र न थी। शोक और संताप से सबके चेहरे उदास और सिर झुके थे। अभी कल इसी आँगन में विवाह का मंडप सजाया गया था। जहाँ इस समय चिता सुलग रही है, वहीं कल हवनकुंड था। कल भी इसी भाँति अग्नि की लपटें उठ रही थीं, इसी भाँति लोग जमा थे; पर आज और कल के दृश्यों में कितना अंतर है! हाँ, स्थूल नेत्रों के लिये अंतर हो सकता है; पर वास्तव में यह उसी यज्ञ की पूर्णाहुति है, उसी प्रतिज्ञा का पालन है।

सहसा घोड़े की टापों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। मालूम होता था, कोई सिपाही घोड़े को सरपट भगाता चला आ रहा है। एक क्षण में टापों की आवाज़ बंद हो गई, और एक सैनिक आँगन में दौड़ा हुआ आ पहुँचा। लोगों ने चकित होकर देखा—यह रत्नसिंह था!

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—"प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला!"

चिता में आग लग चुकी थी! चिंता की साड़ी से अग्नि की ज्वाला निकल रही थी। रत्नसिंह उन्मत्त की भाँति चिता में घुस गया, और चिंता का हाथ पकड़कर उठाने लगा। लोगों ने चारों ओर से लपक-लपककर चिता की लकड़ियाँ हटानी शुरू कीं। पर चिंता ने पति की ओर आँख उठाकर भी न देखा, केवल हाथों से उसे हट जाने का संकेत किया।

रत्नसिंह चिता के पास जाकर हाँफता हुआ बोला—"प्रिये, मैं तो अभी जीवित हूँ, यह तुमने क्या कर डाला!"

रत्नसिंह सिर पीटकर बोला—"हाय प्रिये! तुम्हें क्या हो गया है, मेरी ओर देखती क्यों नहीं, मैं तो जीवित हूँ।"

चिता से आवाज़ आई—"तुम्हारा नाम रत्नसिंह है; पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो।"

"तुम मेरी तरफ़ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ।"

"मेरे पति ने वीर-गति पाई।"

"हाय, कैसे समझाऊँ! अरे लोगों, किसी भाँति अग्नि को शांत करो। मैं रत्नसिंह ही हूँ प्रिये! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो?"

अग्नि-शिखा चिता के मुख तक पहुँच गई। अग्नि में कमल खिल गया। चिता स्पष्ट स्वर में बोली—"ख़ूब पहचानती हूँ। तुम मेरे रत्नसिंह नहीं। मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था। वह आत्म-रक्षा के लिये, इस तुच्छ देह को बचाने के लिये, अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था। मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है। रत्नसिंह को बदनाम मत करो। वह वीर राजपूत था, रण-क्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं।"

अंतिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिता के सिर के ऊपर जा पहुँची। फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गई।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा। फिर अचानक एक ठंडी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा।

प्रेमचंद

गुरुकुल-विश्वविद्यालय, कांगड़ी रजत-जयंती

वर्तमान शिक्षा

भारतवर्ष में वर्तमान शिक्षा प्रारंभ करने के लिये जो कमेटी बनाई गई थी, उसके अध्यक्ष लॉर्ड मेकाले थे। भारत में वर्तमान शिक्षा की नींव डालने में आप ही का सबसे बड़ा हाथ है। आप ब्रिटिश-राज्य को तत्कालीन आवश्यकता को समझते थे। आपका विचार था कि जब तक भारतवासी अँगरेज़ी रंग-ढंग में नहीं ढल जाते, तब तक ब्रिटिश-साम्राज्य की नींव भारतवर्ष में बालू के टीले पर रहेगी। आपने संस्कृत को न जानते हुए भी यहाँ तक लिखने का साहस किया कि हम संस्कृत की पुस्तकें छपवाकर कोरे काग़ज़ों को भी बिगाड़ डालते हैं। सफ़ेद काग़ज़ का कुछ तो उपयोग किया जा सकता है, पर उन्हीं काग़ज़ों पर संस्कृत की पुस्तकें छप जाने के बाद वे काग़ज़ बिलकुल निकम्मे हो जाते हैं। आपका कथन था कि संस्कृत की सब पुस्तकों का संग्रह एक तरफ़ रख दिया जाय, और उसकी अँगरेज़ी-साहित्य की केवल एक आलमारी में रक्खी हुई पुस्तकों से तुलना की जाय, तो इस तुलना में संस्कृत का संपूर्ण साहित्य निरुपयोगी सिद्ध होगा। मेकाले के ये उद्गार सर्वथा निरपेक्ष दृष्टि से लिखे हुए नहीं थे। आपके दिल की बात तब प्रकट हो जाती है, जब भारत की शिक्षा पर लिखते हुए आप कह उठते हैं—"इस समय हमें ऐसे लोगों को उत्पन्न करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए, जो हमारे और उन करोड़ों व्यक्तियों के बीच में, जिन पर हम शासन कर रहे हैं, दुभाषिए का काम कर सकें। हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है, जिनकी नसों में भारतीय रुधिर बहता हो, जिनका चमड़ा हिंदुस्तानी हो। परंतु जो मनोभावों में, मानसिक विचारों में, नीति-रीति में अँगरेज़ हों।" ऐसे ही काले चमड़ेवाले अँगरेज़ों की अधिकाधिक संख्या को उत्पन्न करना लॉर्ड मेकाले का प्रधान उद्देश्य था। उनकी दृष्टि में ऐसे ही लोगों की सहायता से, जिनकी अपनी भाषा न हो, अपना साहित्य न हो, अपना धर्म न हो, अपनी सभ्यता तथा संस्कृति न हो, अँगरेज़ों के पाँव भारत की भूमि में दृढ़रूप से जम सकते थे। लॉर्ड मेकाले के उक्त शब्द सन् १८३५ में लिखे गए थे, और ये विचार उनके दिमाग़ में ऐसे चक्कर लगा रहे थे कि सन् १८३६ में उन्होंने अपने पिता को जो पत्र लिखा, उसमें अपने हृदय के छिपे भावों को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया। आप अपने पिता को लिखते हैं—"हमारी चलाई हुई शिक्षा का प्रभाव हिंदुओं पर आश्चर्यजनक है। जिस किसी हिंदू को यह शिक्षा मिली है, वह फिर हार्दिक भाव से अपने धर्म का उपासक नहीं रहा। कुछ लोग नीति की दृष्टि से हिंदू बने रहते हैं, और कुछ तो सीधे ईसाईपन को स्वीकार कर लेते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि मेरे निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार शिक्षा चलती रही तो तीस साल के भीतर-ही-भीतर बंगाल में कोई मूर्तिपूजक नहीं रहेगा।"

गुरुकुल के संस्थापक स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजी

वास्तव में लॉर्ड मेकाले भारत को मूर्ति-पूजा से बचाने के लिये इतने उत्सुक न थे, जितने ब्रिटिश-साम्राज्य की नींव को भारत में दृढ़ करने के लिये। लॉर्ड मेकाले चाहते थे कि किसी तरह भारतवासी अपने ऊँचे-ऊँचे आदर्शोंवाली सभ्यता और धर्म को भूल जायँ। जो लोग अपनेपन को भूल जायँगे, उनके लिये 'स्वराज्य' का कुछ अर्थ ही न होगा। इस दृष्टि-कोण से ही भारत वर्तमान शिक्षा-पद्धति की नींव डाली गई, और स्कूलों तथा कॉलेजों में वेदों को भुलाकर बाइबिल का पाठ कराया गया, तथा कालिदास और भवभूति को अर्द्ध चंद्र देकर शेक्सपियर तथा मिल्टन को प्रतिष्ठित किया गया। सर फ्रेडरिक हेलिडे ने 'हाउस ऑफ़ कामस' में बड़े ज़ोरदार शब्दों में कहा था—"अँगरेज़ी शिक्षा में ईसाईपन और बाइबिल का ज्ञान आवश्यक है। कलकत्ते के हिंदू-कॉलेज में इँगलैंड के किसी भी पब्लिक स्कूल की अपेक्षा बाइबिल का ज्ञान अधिक पाया जाता है।" इसी प्रकरण में देशभक्त लाला हरदयाल ने सर चार्ल्स ट्रे विलियन का एक उद्धरण दिया है, जिसमें आप कहते हैं—"हमारी तरह शिक्षा प्राप्त कर, हमारी प्रवृत्तियों को ग्रहण कर, हमारे-से ही कामों में लगे रहकर हिंदू हिंदू नहीं रहते भीतर से अँगरेज़ बन जाते हैं। हम भी अँगरेज़ इसीलिये तो हैं कि हम अँगरेज़ों में रहते हैं, उन्हीं से बातचीत करते हैं और अँगरेज़ी विचार तथा चाल-चलन के अनुसार अपने जीवन को बनाते हैं। हिंदू भी अब ऐसा ही करने लगे हैं। वे अच्छे-से-अच्छे अँगरेज़ों के साथ उनकी लिखी पुस्तकों आदि द्वारा प्रतिदिन परिचित होते हैं और इस प्रकार 'अपनेपन' को छोड़कर हमारे अधिकाधिक निकट आते जाते हैं।" आगे चलकर यही साहब कहते हैं—"अँगरेज़ी-साहित्य के द्वारा ज्यों-ज्यों अँगरेज़ों से भारतीयों का परिचय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों वे उनको विदेशी समझना छोड़ उनसे सहयोग करने के लिये उत्सुक बनते जाते हैं; उन्हें तिरस्कार की दृष्टि से देखने के स्थान में अपना रक्षक समझने लगते हैं उनके हृदय की ऊँची-से-ऊँची अभिलाषा सब प्रकार से अँगरेज़ों की नक़ल करने की रह जाती है।" सर हंटर ने भी सन् १८७२ में ये ही भाव प्रकट किए थे। आपने लिखा है—"हमारे ऐंग्लो-इंडियन स्कूलों से जो लड़के गुज़रते हैं, वे चाहे हिंदू हों चाहे मुसलमान, अपने बाप दादों के धर्म को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। पाश्चात्य विज्ञान के साथ जब पूर्व के धर्मों की टक्कर लगती है, तो वे पतली लकड़ी के समान टूट जाते हैं।"

गुरुकुल के ब्रह्मचारी प्रायः बाहर बैठकर ही पढ़ते हैं

स्कूलों-कॉलेजों में जहाँ 'भारतीयता' के भाव को नष्ट किया जा रहा है, वहाँ ईसाइयत फैलाने के लिये, हमें हमारा अपना धर्म विस्मृत कराने के लिये, सरकार की ओर से सिर-तोड़ प्रयत्न हो रहा है। कलकत्ता, बंबई और मदरास के बिशपों को सरकारी बजट से तनख्वाह दी जाती है। यह अनुभव किया जाता है कि ज्यों-ज्यों भारतीय अपनी राष्ट्रीयता को भूलेंगे, त्यों-त्यों अँगरेज़ी सरकार की नींव भी भारत में जमती जायगी। ग़दर के समय विलियम एडवर्ड्स नाम के एक साहब भारत में थे, जो पीछे आगरा-हाईकोर्ट के जज बने। आपने लिखा "हम भारतवर्ष में विदेशी आक्रमणकारी तथा विजेता हैं। यहाँ के लोग जितने सुशिक्षित तथा सभ्य होते जायँगे, उतना ही वे हमारे चंगुल से निकलने की कोशिश करेंगे। हमारे भारत में पाँव जमाने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि किसी प्रकार देश में ईसाइयत का ज़ोर-शोर से प्रचार किया जाय; क्योंकि इस तरह भारत में सब जगह बिखरी हुई बस्तियाँ ही हमारे बल बढ़ाने का मुख्य साधन हो सकती हैं।" इसी उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए लॉर्ड बेंटिक ने यह नियम बनाया था कि हिंदू के ईसाई हो जाने पर भी उसे पैतृक संपत्ति पाने के सब अधिकार होंगे। इन्हीं बेंटिक साहब ने लॉर्ड मेकाले को शिक्षा-कमेटी का अध्यक्ष बनाकर यहाँ बुलाया था, जिसका हाल हम ऊपर पाठकों को सुना चुके हैं।

लॉर्ड मेकाले की चलाई शिक्षा के इन दुष्परिणामों का अनुभव आज भारतवर्ष अच्छी तरह कर रहा है। परंतु उन्हें दूर करने का यत्न अभी तक कुछ नहीं किया जा रहा है। इन परिणामों को तभी दूर किया जा सकता है, जब भारतीयता की, राष्ट्रीयता की, शिक्षा द्वारा रक्षा की जाय। बाइबिल की शिक्षा बेशक दी जाय; परंतु उससे पहले हमारे बालकों के हाथ में वेद दिए जायँ। शेक्सपियर और मिल्टन अवश्य पढ़ाए जायँ। परंतु उससे पहले हमारे बालक कालिदास और भवभूति के ग्रंथों का अनुशीलन कर लें। ऐसा उद्योग और कहीं नहीं, केवल हिमालय के अंचल में, गंगा के किनारे, पुण्यस्मृति, स्वनामधन्य, पूज्य

गुरुकुल कांगड़ी महाविद्यालय (कॉलेज) का भवन

श्रद्धानंदजी के करकमलों से स्थापित गुरुकुल में २५ सालों से किया जा रहा है। इस संस्था का अवलोकन कर भूतपूर्व प्रधान मंत्री रैमज़े मैकडॉनल्ड ने लिखा था—"मैकाले के भारतीय शिक्षा पर क़लम उठाने के बाद से अब तक यदि भारतवर्ष में कोई नवीन महत्त्व-पूर्ण संस्था खुली है, तो वह 'गुरुकुल' है। इस देश में मैकाले की जारी की हुई शिक्षा के परिणामों से सर्वथा असंतोष फैल रहा है। परंतु इस असंतोष को दूर करने के लिये गुरुकुल के संस्थापकों के सिवा अन्य किसी ने कोई उद्योग नहीं किया।"

गुरुकुल की शिक्षा

मैकाले की प्रचलित की हुई शिक्षा के दुष्परिणाम स्पष्ट हैं। इस समय हमारे विद्यालयों में सब विषयों की शिक्षा विदेशी भाषा द्वारा दी जाती है। संस्कृत-भाषा तक का अध्ययन अँगरेज़ी-भाषा द्वारा होता है। क्या यह उपहासास्पद बात नहीं? इसके विपरीत गुरुकुल में उच्च से-उच्च विषय हिंदी-भाषा द्वारा पढ़ाए जाते हैं। महाविद्यालय तक शिक्षा का माध्यम हिंदी ही है। पाठविधि में रसायन, अर्थ-शास्त्र, पाश्चात्य दर्शन, संसार-भर के धर्म, अँगरेज़ी, डॉक्टरी, सब कुछ है, और इन सभी विषयों की उच्च शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा दी जाती है। कुछ साल हुए, श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री महोदय गुरुकुल पधारे थे। आपका विचार था कि हिंदी द्वारा उच्च शिक्षा नहीं दी जा सकती। परंतु दो दिन तक गुरुकुल की सब कक्षाओं का निरीक्षण कर आपने अपने भाषण में कहा कि गुरुकुल को देखकर आपका विचार बदल गया है। गुरुकुल ने जो हिंदी-साहित्य की सेवा की है, वह हिंदी-प्रेमियों से छिपी नहीं। आज हमारे स्कूलों-कॉलेजों के छात्र मातृ-भाषा द्वारा अपने विचारों को प्रकट नहीं कर सकते। परंतु गुरुकुल का प्रत्येक स्नातक हिंदी का अच्छा लेखक होता
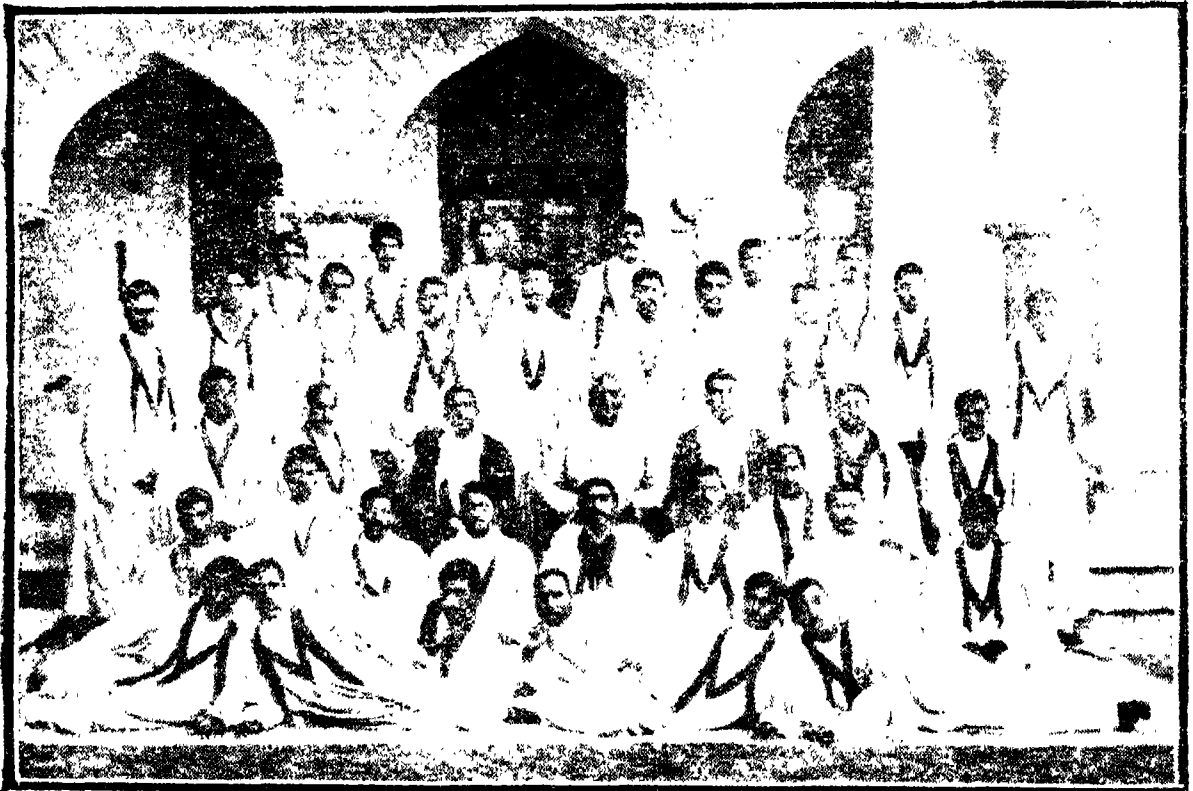
गुरुकुल के स्नातक विश्वविद्यालय के नियत वेष में

(बीच में स्वामी श्रद्धानंदजी बैठे हैं)

है, और कुछ अभ्यास करने पर पुस्तक-लेखन तथा पत्र-संपादन कर सकता है।

हिंदी के अतिरिक्त संस्कृत पर भी गुरुकुल में विशेष ध्यान दिया जाता है। संस्कृत-भाषा भारत की संस्कृति की खान है। इस कोष से अमूल्य रत्न निकाल ले जाकर पाश्चात्य विद्वान् विचारों के धनी हो गए हैं। संस्कृत के अपूर्व विद्वान् मैक्समूलर का कथन था कि भारतीय साहित्य-सरोवर से ही अखिल संसार की सभ्यता का स्रोत प्रवाहित हुआ है। जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान शोपनहार ने घोषणा की थी कि उपनिषदों से ही उसने जन्म-मरण की गुत्थियों को सुलझाया था। टेनीसन के पुस्तकालय में डॉ० रवींद्रनाथ ठाकुर की गीता की एक प्रति उपलब्ध हुई थी, जिसके विषय में उसके पुत्र का कथन था कि टेनीसन प्रतिदिन प्रातःकाल इस दैवी संदेश का पाठ किया करते थे। जेम्स एलन अपने मकान की छत पर बैठकर रोज़ उपनिषदों का अध्ययन किया करते थे। वेदों, उपनिषदों तथा दर्शनों का संदेश सुनाकर ही स्वामी विवेकानंद और स्वामी रामतीर्थजी ने योरप तथा अमेरिका को आश्चर्य-चकित कर दिया था। शोक यही है कि हमारे जिस साहित्य के गौरव के सम्मुख पाश्चात्य विद्वान् सिर झुका चुके हैं, उसकी जड़ पर कुल्हाड़ा चलाने में लॉर्ड मैकाले को अपूर्व सफलता मिली। आज हमारे अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त नवयुवक वेदों को गड़रियों के गीत मानते और अपने दिल में 'जंगली' पूर्वजों की संतान होने के कारण शरमाते हैं। वे नहीं जानते कि वेदों, उपनिषदों और दर्शनों में क्या लिखा है। आर० सी० दत्त-जैसे प्रतिभा-संपन्न विद्वान् पाश्चात्यों के कथन-मात्र पर पूरा विश्वास कर अपने साहित्य की निंदा करने को तैयार हो जाते हैं। गुरुकुल में संस्कृत-भाषा तथा उसके साहित्य के पुनरुज्जीवन के लिये पूरा यत्न हो रहा है। इस संस्था के वायु-मंडल में ब्रह्मचारियों के लिये संस्कृत-भाषा में परस्पर बातचीत करना कुछ कठिन काम नहीं है। गुरुकुल की
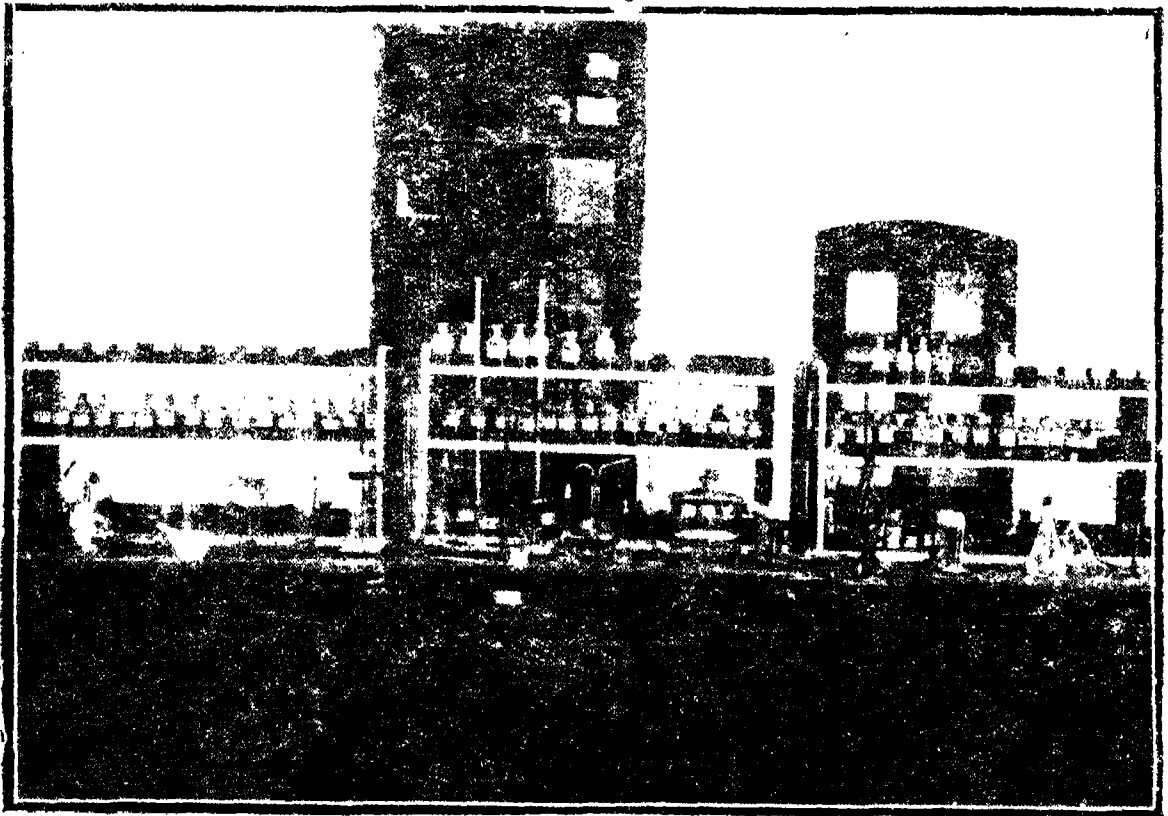
रस-क्रिया-भवन (Laboratory)

सभाओं में संस्कृत में वाद-विवाद होते हैं। ब्रह्मचारी संस्कृत में श्लोक बनाते, कविताएँ करते, व्याख्यान देते और निबंध लिखते हैं। चारो वेद, दसों उपनिषद्, छहों दर्शन, निरुक्त, अष्टाध्यायी और महाभाष्य के साथ-साथ संस्कृत-साहित्य की संपूर्ण पुस्तकों का अध्ययन प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिये आवश्यक है। गुरुकुल में १० वर्ष तक अध्ययन करने पर ब्रह्मचारी की योग्यता 'शास्त्री' से किसी प्रकार कम नहीं रहती। जो लोग कुछ दिन भी गुरुकुल में रह चुके हैं, वे जानते हैं कि किस प्रकार ब्रह्मचारी संस्कृत में धारा-प्रवाह लिखते तथा उसमें संभाषण करते हैं।

आजकल यह समझा जाता है कि जो संस्कृत पढ़ेगा, वह बुद्धू रह जायगा। गुरुकुल इस विचार का जीता-जागता खंडन है। गुरुकुल के ब्रह्मचारी संस्कृत में अपूर्व पांडित्य रखकर अन्य विषयों के भी पंडित होते हैं। अँगरेज़ी में बी० ए० तक की योग्यता प्रत्येक स्नातक की होती है। और, जो विशेष प्रयत्न करते हैं, वे एम्० ए० तक की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इतिहास, अर्थ-शास्त्र, पाश्चात्य दर्शन, रसायन आदि विषयों में गुरुकुल के स्नातकों की एम्० ए० से कम योग्यता नहीं होती। इनके अतिरिक्त गुरुकुल की पाठ-विधि में एक और अत्यंत आवश्यक विषय का समावेश है। वह विषय है 'आर्य-सिद्धांत'। आर्य-सिद्धांत में संसार-भर के धर्मों पर तुलनात्मक दृष्टि से व्याख्यान दिए जाते हैं, और इस विषय की पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। पाठ-विधि में इस विषय का समावेश अमरिका आदि समुन्नत देशों में अभी किया गया है, परंतु भारतवर्ष में अभी तक इस विषय के महत्त्व को नहीं समझा गया। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन से ही विद्यार्थी को अपने धर्म की उत्कृष्टता का ज्ञान हो सकता है। कुछ व्यक्ति अपने धर्म की उत्कृष्टता के ज्ञान को निरर्थक समझते हैं। इन पर मेकाले का असर ख़ूब पड़ा हुआ है। गुरुकुल वैदिक धर्म की उत्कृष्टता के प्रतिपादन को देश की भलाई के

यह गुरुकुल का हॉकी दल मेरठ के आल इंडिया हॉकी-टूर्नामेंट में विजयी रहा।

लिये भी आवश्यक समझता है। जो विद्यार्थी आयुर्वेद का अध्ययन करना चाहें, उनके लिये आयुर्वेद और एलोपैथी, दोनों के तुलनात्मक अध्ययन का भी प्रबंध है।

इन सब विषयों की पढ़ाई को नियंत्रित करने के लिये गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने एक 'शिक्षा-पटल' की आयोजना की है, जिसका काम गुरुकुल की पाठ-विधि में समय-समय पर आवश्यक परिवर्तन करना है। इस समय गुरुकुल एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय का रूप धारण कर चुका

महाविद्यालय की छत पर से बोर्डिंग और निकटवर्ती पहाड़ियों का दृश्य

है। उक्त पाठ-विधि का तीन महाविद्यालयों द्वारा सुचारु रूप से संचालन हो रहा है। वे तीन हैं वेद-महाविद्यालय, साधारण-महाविद्यालय तथा आयुर्वेद-महाविद्यालय।

इस प्रकार मेकाले की चलाई हुई पाठ्य-प्रणाली से जहाँ भारतीय सभ्यता, संस्कृति, भाषा, साहित्य तथा धर्म को नष्ट करने का प्रयत्न हो रहा है, वहाँ गुरुकुल की पाठ-विधि से भारत की प्राणभूत इन दुर्लभ वस्तुओं की रक्षा करने के लिये पिछले २५ वर्ष से दिन-रात परिश्रम हो रहा है।

आजीविका का प्रश्न

ऐसे अवसर पर, जब कि गुरुकुल-कांगड़ी विश्वविद्यालय अपनी सफलता के २५ वर्ष समाप्त कर उन्नति-पथ पर आगे क़दम रखनेवाला है, जनता को यह सोचने और गुरुकुल के संचालकों से पूछने का पूरा अधिकार है कि गुरुकुल की पढ़ाई समाप्त कर यहाँ के ब्रह्मचारी क्या करेंगे? वैसे तो यह प्रश्न आज से १० वर्ष पहले किया जाता था, अब नहीं किया जाता। उस समय गुरुकुल से स्नातक निकलने शुरू ही हुए थे, और सर्वसाधारण को उनके भविष्य में सदा शंका बनी रहती थी। पर अब, जब कि गुरुकुल से १५० के लगभग स्नातक निकल चुके हैं, और जीवन-यात्रा को सफलता से निभा रहे हैं, यह प्रश्न कुछ असंगत-सा जान पड़ता है। फिर भी कभी-कभी यह आवाज़ किसी-न-किसी कोने से उठती हुई सुनाई पड़ ही जाती है।

इसलिये इस प्रश्न के विषय में भी दो-चार शब्द जनता के सम्मुख रख देना उचित ही प्रतीत होता है।

जब गुरुकुल के स्नातकों की जीविका के विषय में प्रश्न किया जाता है, उस समय इस बात को सर्वथा भुला दिया जाता है कि यह प्रश्न गुरुकुल के स्नातकों के लिये ही नहीं, भारत के संपूर्ण शिक्षा प्राप्त कर रहे विद्यार्थियों के विषय में एक-समान है। आज सरकारी कमीशन भी कह रहे हैं कि हमारे स्कूल और कॉलेज जितने विद्यार्थियों को हर साल निकालते हैं, उन्हें काम पर लगाने के लिये सरकार के पास काफ़ी नौकरियाँ नहीं हैं।

सन् १९२१ की 'मनुष्य-गणना' के अनुसार भारत की जन-संख्या ३४ करोड़ से ऊपर है, जिसमें १४ लाख ६६ हज़ार ९३१ को सरकारी नौकरी मिल सकती है; क्योंकि सरकार के पास कुल इतनी ही नौकरियाँ हैं। इनमें चपरासी तक की नौकरी शामिल है। इस हिसाब के अनुसार सौ में साढ़े निन्नानबे आदमी सरकारी नौकरियों की कोई आशा नहीं कर सकते। सौ में से कुल आधे आदमी को सरकारी नौकरी मिल सकती है। इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि ये सब नौकरियाँ भरी हुई हैं, ख़ाली नहीं। इसी का यह परिणाम है कि पिछले दिनों आसाम-सरकार की रिपोर्ट में छपा था कि वहाँ एक प्रामीण पाठशाला में एक अध्यापक के छुट्टी जाने पर उसके स्थान में कुछ देर तक काम करने के लिये एक 'ग्रेजुएट' ने १५) मासिक पर काम करना स्वीकार कर लिया।

जितने विद्यार्थी आज सरकारी विद्यालयों में उच्च शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं, सबके सम्मुख रोटी का विकट प्रश्न उपस्थित है। काशी विद्या-पीठ में समावर्तन-संभाषण देते हुए श्रीयुत भगवानदासजी ने कहा था कि स्वदेशी शिक्षालयों के विद्यार्थियों की आजीविका के विषय में उन्होंने एक बार गुरुकुल, कांगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानंदजी महाराज से प्रश्न किया। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि सरकारी डिगरियाँ हासिल कर १०० में १ को भी कठिनता से नौकरी मिलती है—९९ विद्यार्थी आजीविका के प्रश्न को किस प्रकार हल करते हैं? स्वामीजी ने फिर कहा कि सरकारी कॉलेजों के ९९ छात्रों के सम्मुख जो प्रश्न है, वह हमारे यहाँ १०० के सम्मुख है—बस, इतना ही अंतर है! भाई परमानंदजी ने गुरुकुल पर लिखते हुए एक बार लिखा था कि गुरुकुल के सामने आजीविका का प्रश्न रखना बिलकुल ढकोसला है।

स्कूलों और कॉलेजों के विद्यार्थी तथा उनके माता-पिता १४ साल इस भ्रम में गुज़ार देते हैं कि लड़का बी० ए० होगा, और उनके आर्थिक संकट दूर हो जायँगे। अर्ज़ी ले-लेकर बी० ए०, एम्० ए० दौड़ते हैं। फिर नौकरी ढूँढने में ४-५ साल तक भटकना पड़ता है। तब कहीं जाकर हमारे लोगों का भ्रम टूटता है, और उनकी समझ में आता है कि वे दिन, जब बी० ए० बनकर रोटी का सवाल हल हो जाता था, चले गए। अब रोटी का सवाल हल करने के लिये दूसरा कोई काम करना चाहिए। गुरुकुल के स्नातकों और उनके माता-पिताओं को यह भ्रम नहीं होता। वे अपनी शिक्षा प्रारंभ करने के दिन से ही जानते हैं कि हमारी आजीविका का प्रश्न सरकारी नौकरी से नहीं हल हो सकता। हमें विद्याभ्यास समाप्त करते ही कोई स्वतंत्र पेशा अख़्तियार करना चाहिए। आज-कल तो इस प्रकार का 'भ्रम' न होना नफ़े में गिना जाना चाहिए; क्योंकि यह भ्रम बहुत महँगा पड़ता है, और इसमें लेने-के-देने पड़ जाते हैं। इसके साथ ही गुरुकुल की शिक्षा से लाभ कितना है! विद्यार्थी को अपनी भाषा, अपनी सभ्यता, अपनी संस्कृति, अपनी राष्ट्रीयता अपने धर्म का परिज्ञान हो जाता है; वह ब्रह्मचर्य-पूर्वक अपने जीवन को बिताना सीख जाता है; परतंत्रता तथा दासता के भावों को घृणा करना उसके जीवन का मुख्य कर्तव्य हो जाता है। क्या जीवन के अमूल्य धन इन रत्नों को ठुकराकर सौ में से एक को नौकरी दिलाने के लिये गुरुकुल-जैसी राष्ट्रीय संस्था के सम्मुख जीविका का प्रश्न कोई प्रश्न रहता है? हमारे नवयुवकों को यह सीखने की आवश्यकता है कि वे दासता से मिलनेवाले मोहन-भोग को ठुकराकर आज़ादी से मिलनेवाली सूखी रोटी पर गुज़ारा करें।

आजीविका के प्रश्न पर विचार करते हुए एक और बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। आजकल आजीविका के प्रश्न की विकटता का मुख्य कारण हमारी आवश्यकताओं का बढ़ जाना है। हम लोग खाने-पीने तथा शरीर की अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने में उतना ख़र्च नहीं करते, जितना फ़िज़ूल-ख़र्ची में उड़ा देते हैं। गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते हुए विद्यार्थी आवश्यकताओं को नियमित करना सीख जाते हैं। इस कारण उनका जीवन संग्राम उतना विकट नहीं रहता। वे थोड़े में भी

मज़े से गुज़ारा कर सकते हैं। क्योंकि वे वहाँ ब्रह्मचर्य के जीवन को तपस्या और ग़रीबी में गुज़ारते हैं। जो विद्यार्थी सौ रुपए मासिक व्यय करके आज बी० ए० पास होता है, उसके लिये ५० रुपए की नौकरी करते हुए परिवार का बोझ उठाना असंभव-सा है। परंतु २०-२५ रुपए मासिक व्यय से शिक्षा प्राप्त करने के अनंतर गुरुकुल के स्नातक के लिये ५० रु० से अपनी आजीविका चलाना उतना कठिन नहीं रहता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आवश्यकताएँ कम करके कमाने की शक्ति को भी घटा दिया जाय। कमाने की शक्ति पूरी रखते हुए आवश्यकताओं को कम करने का परिणाम जीवन के लिये अवश्य सुखप्रद होगा। गुरुकुल के स्नातकों की कमाने की शक्ति सरकारी नौकरियों को छोड़कर अन्य सब दिशाओं में विकसित हो सकती है, और होती है; परंतु उनकी आवश्यकताएँ कम रहती हैं।

केवल रोटी कमा लेना ही जीवन का उद्देश्य नहीं। खाने के लिये जीना गुरुकुल नहीं सिखाता। हाँ, जीने के लिये खाना आवश्यक है। जीना किसी आदर्श, किसी ध्येय के लिये है। गुरुकुल के स्नातक भी इस ध्येय को सम्मुख रखते हुए अपनी जीवन-यात्रा निबाहते हैं। यदि वे लखपती नहीं, तो उसे वे शर्म की बात नहीं समझते। हाँ, वे तब शर्माते हैं, जब कोई उन पर उँगली उठाकर कह सके कि ये देश या जाति की सेवा नहीं कर रहे हैं। यही तो उनके जीवन का लक्ष्य है। पिछले साल गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर व्याख्यान देते हुए आचार्य रामदेवजी ने कहा था—"लोग पूछते हैं, गुरुकुल के स्नातकों ने क्या किया? सुनिए, गुरुकुल से गतवर्ष तक १३४ स्नातक निकल चुके हैं, जिनमें, शोक है, चार का स्वर्गवास हो चुका है। इस समय १३० स्नातक हैं, जिनमें ५ अभी तक शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं। शेष १२५ में १५ स्नातक उपदेशक हैं। ३२ स्नातक गुरुकुल तथा उससे संबंध रखनेवाली उसकी शाखाओं में शिक्षक हैं। ८ देश सेवा के काम में लगे हुए हैं। ३४ स्नातक सामाजिक और सार्वजनिक कार्यों के द्वारा जनता की सेवा कर रहे हैं। अर्थात् १२५ में से ९० स्नातक धर्म, देश तथा जाति की उन्नति के कार्यों में लगे हुए हैं। क्या कोई अन्य ऐसी शिक्षा-

गुरुकुल का पुस्तकालय

संस्था है, जो इस दिशा में गुरुकुल का मुक़ाबला कर सके ? हिंदी-साहित्य में भी स्नातकों ने प्रशंसनीय कार्य किया है ? गुरुकुल के स्नातकों में से २१ ने हिंदी, संस्कृत में पुस्तकें लिखी हैं। इस गणना के अनुसार ६ में १ स्नातक ग्रंथ-लेखक है। गुरुकुल के २० स्नातक समाचार-पत्रों के संपादक हैं, या रह चुके हैं।" हम प्रकरण-वश कह देना चाहते हैं कि उक्त गणना पिछले साल की है। इस साल की गणना के अनुसार ५ में १ स्नातक ग्रंथ-लेखक सिद्ध होता है। गुरुकुल के हर १२ स्नातकों में से १ स्नातक विदेश-यात्रा कर चुका है। यह बात गुरुकुल के वायु-मंडल में स्वाभाविक तौर पर उत्पन्न होनेवाले साहस को सूचित करती है। इन विचारों को सम्मुख रखते हुए क्या गुरुकुल के स्नातकों से प्रश्न किया जा सकता है कि इस संस्था में शिक्षा प्राप्त कर वे क्या करेंगे ?

फिर भी गुरुकुल ने आजीविका के व्यावहारिक प्रश्न को दृष्टि से सर्वथा ओझल नहीं किया। इस समय गुरु-कुल में एक 'आयुर्वेद-महाविद्यालय' (Medical College) खुला हुआ है। इसमें आयुर्वेद के साथ-साथ एलोपैथी और सर्जरी का पूरा-पूरा अध्ययन होता है। हिमालय की घाटी निकट होने के कारण, गुरुकुल के औषध-निर्माण कार्य में सुविधा भी प्राप्त है। जो विद्यार्थी इस महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करना चाहें, वे अपने माता-पिता की सलाह से इस महाविद्यालय में भरती हो सकते हैं। इस समय तक गुरुकुल के स्नातकों में २५ आयुर्वेद का कार्य कर रहे हैं इस महाविद्यालय के अति-रिक्त 'रजत-जयंती' के शुभ अवसर पर स्वर्गवासी पूज्य स्वामी श्रद्धानंदजी महाराज ने एक शिल्प-महाविद्यालय (Industrial College) खोलने की सवा लाख की अपील की थी। यदि इस महाविद्यालय के लिये पर्याप्त धन आ गया तो आजीविका के प्रश्न को हल करने में गुरुकुल एक और क़दम आगे रक्खेगा। हमें आशा है, इस प्रश्न पर हम पर्याप्त प्रकाश डाल चुके।

उपसंहार

गुरुकुल, कांगड़ी का २४वाँ वार्षिकोत्सव २, ३, ४, ५ एप्रिल को धूमधाम के साथ मनाया गया। आर्य-जनता ने हज़ारों की संख्या में जमा होकर गुरुकुल के प्रति

अध्यापकों के रहने के मकान

अपने प्रेम का परिचय दिया। देश तथा आर्य-समाज के अनेक प्रसिद्ध नेताओं ने उत्सव को सफल बनाने में पूरा भाग लिया। चार दिन के मेले ने आर्य-जनता में नवीन जीवन का संचार कर दिया, और सभी लोग, आगामी वर्ष के लिये, प्राचीन आर्य-सभ्यता का पुनरुज्जीवन करनेवाले गुरुकुल-आश्रम से कोई-न-कोई नया संदेश लेकर ही घरों को लौटे।

गुरुकुल के उत्सव के समय उसके स्नातकों ने अपने मंडल में यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि अगले साल गुरुकुल को स्थापित हुए २५ वर्ष व्यतीत होते हैं, इसलिये अगले साल गुरुकुल की सिलवर-जुबली (रजत-जयंती) मनाई जाय, और उसके लिये अभी से प्रयत्न किया जाय। यह प्रस्ताव गुरुकुल की स्वामिनी अंतरंग सभा में पेश हुआ, और सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया। अगले दिन हज़ारों नर-नारियों की उपस्थिति में म० कृष्णजी ('प्रताप' तथा 'प्रकाश' के संपादक) और इन पंक्तियों के लेखक (प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धांतालंकार, अलंकार-संपादक) ने रजत-जयंती मनाए जाने की घोषणा की, जिसका जनता ने उत्सुक हृदयों से स्वागत किया। जो महानुभाव गुरुकुल के इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे, वे अगले साल के लिये आशाओं के समुद्र को हृदयों में भरकर लौटे, और अपने-अपने ग्रामों, नगरों और ज़िलों में गुरुकुल की रजत-जयंती मनाने के संदेश को पहुँचा देने की प्रतिज्ञा कर गए।

गुरुकुल की रजत-जयंती मनाने का काम केवल आर्य-समाज का ही नहीं, संपूर्ण भारतवर्ष का है। आर्य-समाज ने गुरुकुल की स्थापना की, उसे पाला-पोसा, और यौवन तक पहुँचा दिया; परंतु उसने गुरुकुल के जातीय स्वरूप में अणु-मात्र भी परिवर्तन नहीं किया। गुरुकुल पर जितना स्वत्व आर्य-समाज का है, उतना ही आर्य-जाति-मात्र का। गुरुकुल ने अपनी गोद के लाल देश-सेवा के लिये बखेर-बखेरकर फेंके हैं। इसीलिये गुरुकुल की रजत-जयंती मनाने को हम भारत की संपूर्ण जनता को निमंत्रित करते हैं। गुरुकुल के ब्रह्मचारी केवल पंजाब से ही नहीं
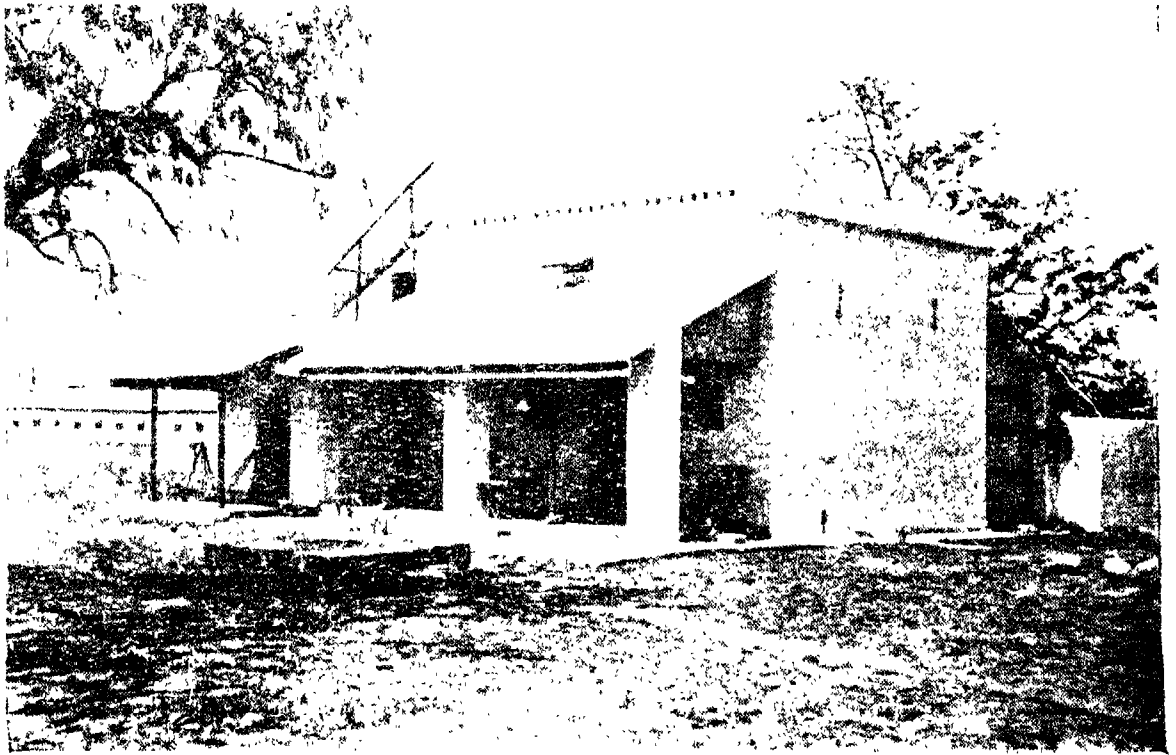
कांगड़ी की संपत्ति गुरुकुल को समर्पण करनेवाले महाशय अमरसिंहजी का मकान

आते। पंजाब के अतिरिक्त युक्तप्रांत, गुजरात, बंबई, बिहार, बंगाल, हैदराबाद तथा कुछ अंश तक मदरास आदि सभी प्रांतों के विद्यार्थियों का वहाँ प्रवेश दिखाई देता है। इसी से गुरुकुल की रजत-जयंती मनाने के लिये सब प्रांतों के नर-नारियों में विशेष अनुरोध है। भारत में जितने जातीय शिक्षालय हैं, उनमें गुरुकुल का एक ख़ास स्थान है। जातीय शिक्षालय की सफलता दिखाने का जीता-जागता नमूना गुरुकुल है। गुरुकुल ने २५ साल पहले शिक्षा के जिन सिद्धांतों को आदर्श के रूप में रक्खा था, उन्हें सर्वत्र स्वीकार किया जा रहा है। सरकारी स्कूलों तथा कॉलेजों तक में गुरुकुल की आधार-शिला में पड़े हुए बमूल स्थान पाते चले जा रहे हैं। भारत की जनता के लिये यह गौरव की बात है कि उसने २५ साल तक अपनी चलाई हुई परीक्षा को सफल बनाकर दिखा दिया है। इस सफलता की ख़ुशी मनाने के लिये ही गुरुकुल की रजत-जयंती मनाई जायगी।

गुरुकुल की रजत-जयंती की सफलता के लिये जहाँ अन्य बहुत-से प्रोग्राम जनता के सम्मुख रक्खे गए हैं, वहाँ, उनमें सबसे महत्त्व-पूर्ण प्रोग्राम यह है कि इस अवसर पर गुरुकुल के लिये स्थिर-कोष एकत्रित किया जाय। जनता को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि गुरुकुल कितनी उपयोगी संस्था है, और न जनता से गुरुकुल की आवश्यकताएँ छिपी हुई हैं। गुरुकुल के लिये स्थिर-कोष जमा कर देना कोई कठिन काम नहीं। अभी तक देश-भाइयों ने इस कार्य के लिये गंभीरता पूर्वक उद्योग ही नहीं किया है। गुरुकुल-रजत-जयंती का समय ऐसा है, जब जनता अपनी इस प्रिय संस्था को सदा के लिये स्थिर करने का विचार कर सकती है, और पूरा-पूरा उद्योग किया जाय, तो उसमें सफलता भी हो सकती है। इस महान् कार्य को उस थोड़े से समय में पूर्ण कर सकना, जो हमारे सम्मुख है, कठिन मालूम पड़ता है। परंतु कठिन कामों को साहस से सफल बना देना राष्ट्रीयता का जन्म-सिद्ध गुण है, और हमें पूरी आशा है कि इस साल के उद्योग से, 'गुरुकुल-सिलवर-जुबली' के उपलक्ष्य में, गुरुकुल का स्थिर-कोष अवश्य जमा हो जायगा।

इस समय तक गुरुकुल का कोष ५ लाख रुपए के लगभग है। यदि १० लाख रुपए स्थिर-कोष में और जमा हो जायँ, तो गुरुकुल की नींव सदा के लिये जम जाय, और जनता थोड़े ही परिश्रम से इस संस्था को चलाती रहे। गुरुकुल में उच्च-से-उच्च शिक्षा मुफ़्त दी जाती है। इस समय तीन महाविद्यालय बड़ी सफलता के साथ चल रहे हैं। वेद-महाविद्यालय, साधारण महाविद्यालय तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों में योग्य उपाध्यायों द्वारा बड़ी सफल शिक्षा दी जा रही है। वेद, दर्शन, इतिहास, अर्थ-शास्त्र, विज्ञान, अँगरेज़ी, पाश्चात्य दर्शन, साहित्य, आर्य-सिद्धांत, एलोपैथी और आयुर्वेद—सभी विषयों में ब्रह्मचारियों का गहराई तक प्रवेश कराया जाता है। इतने संपूर्ण अध्यापन के ख़र्च का बोझ जनता को हरसाल उठाना पड़ता है। यदि १० लाख रुपए स्थिर-कोष में और जमा हो जायँ, तो जहाँ यह आदर्श धार्मिक तथा जातीय शिक्षालय पूज्य स्वामी श्रद्धानंदजी की सदा यादगार बन जाय, वहाँ जनता के कंधों पर से हर-साल के ख़र्च का बोझ भी उतर जाय।

सत्यव्रत

कवि-कलरव

अँगड़ाते तम में

अलसित पलकों से स्वर्ण-स्वप्न नित

सजनि, देखती हो तुम विस्मित,

नव, अलभ्य, अज्ञात !

आओ, सुकुमारि विहग-बाले !

अपने कलरव ही-से कोमल

मेरे मधुर गान से अविकल

सुमुखि, देख लो उसी स्वप्न-सा

जग का नव्य-प्रभात !

है स्वर्ण-नीड़ मेरा भी जग-उपवन में,

मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में,

उड़ मृदुल कल्पना-पंखों में, निर्जन में,

चुगता हूँ गाने बिखरे तृण में, कन में।

कल कंठिनि, निज कलरव में भर

अपने कवि के गीत मनोहर

फैला आओ वन-वन, घर-घर,

नाचे तृण, तरु, पात !

सुमित्रानंदन पंत

कवि

(१)

कौन तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल ?
तुम्हारा सुधा-पूर्ण गायन—
मधुर, कोमल शिशु का-सा हास—
कल्पना के सुख का सागर।
तुम्हारा है अनुपम उल्लास!
तुम्हारे निर्मल भाव!
और प्रमुदित तरंग की ताल!
शांति के मंडल में है व्याप्त
तुम्हारा यह अशांत संसार,
और अनिमेष दृगों की ज्योति
क्षितिज को कर जाती है पार।
अरे ये पल दो-चार—
विश्व का वसुधा का यह जाल!
जिसे हम कहते हैं यौवन,
निराला जिसका आकर्षण:
एक पल रंग, राग, नर्तन,
स्वप्न के सुख का छोटा क्षण!—
विश्व का व्यापक कल्प
तुम्हारा कल्प, शून्य की चाल!

(२)

अरे तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल!
विश्व के तुम मतवालेपन,
वासनाओं के मुक्त प्रवाह:
वास्तविकता का करुण रुदन
तुम्हारा है विद्रोह अथाह!
तुम्हारे ये उद्गार!
क्रांति का यह कर्कश भूचाल!
एक अज्ञात विकल हलचल,
विकृत सौरभ-मय है जीवन।
खोल दो चमकीले शोले
नाश का करते हैं नर्तन।
भ्रांति के थोड़े दिवस—
और दीवानेपन का काल—
उठे, हो गए लुप्त पल में
बुलबुले ये जल के दो-चार:
चमकते हो राका का अंक
निगल ले—यह सुंदर उपहार!
विश्व का व्यापक स्वप्न,
तुम्हारा स्वप्न, शांति का काल!

(३)

कौन तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल?
कल्पना के मंडल के शून्य!
उमंगों के कंपित संगीत!
तुम्हारा युग—आदर्श भविष्य।
'आज' है बीता हुआ अतीत!
तुम्हारा शुभ संदेश!
तुम्हारा निर्मल हृदय विशाल!
विश्व को देकर जीवन-दान
कर रहा आशा का संचार
और उस विस्मृति का साम्राज्य
तुम्हारा है जग को उपहार!
जिसे कहते हैं भ्रांति
और आशा का सुंदर जाल—
कि जिसमें पापों के अंबार,
अपरिमित कलुषित अत्याचार,
स्वप्न-से हो जाते हैं क्षणिक।
वास्तविक है सुख का संसार!
एक दैवी आलोक,
अरे तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल!

भगवतीचरण वर्मा

देशभक्त और मज़ूर

[चित्रकार—श्रीमोहनलाल महतो]

देशभक्त—तुम ये दोनों गठरियाँ ले लो, मेरे ऊपर प्रस्तावों का बड़ा बोझ है।

मज़ूर—क्षमा कीजिए, मैं पहले ही से काफ़ी लदा हुआ हूँ

अँगरेज़ी नाटकों का इतिहास

प्राचीन (Classical) नाटकों का अंत होने के बहुत पीछे आधुनिक नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ। ईसाई पादरियों के प्रहारों ही से प्राचीन नाटक पंचत्व को प्राप्त हुए थे, और विचित्रता ही क्यों न कहिए, उन्हीं के द्वारा आधुनिक नाटकों का सूत्रपात भी हुआ। आधुनिक नाटकों की रंग-भूमि पहलेपहल गिरजाघर (Church) ही हुए, और पादरी लोग ही इनके पहले उपासक। संभवतः पादरियों के इधर प्रवृत्त होने का कारण यही था कि वे अभिनय द्वारा 'लैटिन' में होनेवाले पूजा-विधि-विधान को अधिक रुचिकर और प्रभावोत्पादक बना सकते थे। महात्मा ईसा के जीवन में वर्णित बहुतेरी घटनाएँ ऐसी हैं, जिनका अभिनय बड़ी ही सरलता से हो सकता है, और उनके अभिनय द्वारा लोगों के हृदय पर प्रभाव भी अच्छा पड़ सकता है। अतः इसका परिणाम यह हुआ कि ईसाइयों के कर्मकांड में ईसा के जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के अभिनय का समावेश हो गया। उदाहरणार्थ, ईसा के जन्म-अवसर पर पूर्व से कतिपय विद्वान् लोग बालक ईसा को देखने तथा उपहार देने आए थे, इस घटना का प्रदर्शन बिना किसी झंझट के हो सकता है। आधुनिक योरपियन नाटकों का जन्म धार्मिक अवसर पर और धार्मिक तत्त्वों के प्रतिपादन के लिये ही हुआ था। यद्यपि यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि कब इनका बीजा-रोपण हुआ, पर स्थूल रूप से ९वीं सदी में इन नाटकों का आविर्भाव माना जा सकता है।

प्रथम-प्रथम अभिनय में बोलने की न आवश्यकता ही प्रतीत हुई, और न ऐसा करना उचित ही समझा गया। पर धीरे-धीरे मूक अभिनय के साथ-साथ संवाद भी मिला दिया गया। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि बहुत-सी ऐसी भी घटनाएँ हैं, जिनमें Dramatic action काफ़ी है। मसलन 'ईस्टर' में अभिनय को और अधिक रुचिकर बनाने का अवसर मिलता था। Ressurection (ईसा का मृत्यु के तीसरे दिन जीवित हो जाना) में Dramatic action के लिये काफ़ी मसाला है; थोड़ी भी अभिनेता की पटुता से यह अधिक प्रभावशाली बन सकता है। 'क्रिस्टमस' में ईसा का जन्म एक दूसरी विशेष घटना है, जिसका अभिनय करने में पादरी लोग अपनी बुद्धि तथा प्रदर्शन-शक्ति का उचित उपयोग कर सकते थे।

बस, यहीं पर नाटक अपनी शैशवावस्था में है। धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न घटनाएँ एक ही शृंखला में बाँधी जाने लगीं, और इस प्रकार नाटक में क्रमशः विषमता आने लगी। हम यह कह चुके हैं कि पहलेपहल ईसा के जीवन की घटनाओं का ही अभिनय आरंभ हुआ था; पर पीछे से बाइबिल में वर्णित अन्य विषयों का भी अभिनय किया जाने लगा। ऐसे नाटकों को Mystery कहते हैं। इनमें विशेष ध्यान देने योग्य निम्न-लिखित बातें हैं—(१) भाषा सदैव लैटिन, (२) विषय बाइबिल में वर्णित कोई घटना या उपाख्यान, (३) यथा-संभव नाटक की भाषा तथा धर्म-ग्रंथ की भाषा में सादृश्य, (४) और अभिनय का देवालय ही में होना।

योरप में १२वीं शताब्दी में St. Nicholas नाम के एक नाटक की रचना हुई। यह पहला ही नाटक था, जिसमें कुछ नवीन विशेषताएँ थीं। संक्षेप में इसमें निम्न-लिखित भिन्नता ध्यान देने योग्य है—प्रथम तो इसका विषय बाइबिल का नहीं है; दूसरे यद्यपि भाषा 'लैटिन' ही है, तथापि बोलचाल की भाषा का भी सम्मिश्रण है; तीसरे बाइबिल का विषय न होने के कारण भाषा लेखक ही की है। इस प्रकार के नाटकों को (जिनमें संत-महात्माओं की कथा वर्णित हो) miracles कहते हैं। 'St. Nicholas' का अभिनय यद्यपि गिरजे में ही होना निश्चित है, तथापि एक अन्य तत्कालीन नाटक—Adam—से प्रकट होता है कि नाटक में एक अति ही महत्त्वशाली परिवर्तन हो रहा था। नाटक देवालय से निकल-कर बाहर की भूमि में प्रदर्शित होने लगा। इस परि-वर्तन का परिणाम विशेष महत्त्वशाली हुआ। गिरजाघर के अंदर का वायु-मंडल ही धार्मिक होता है; वहाँ पर पात्र पूरी तौर से अपने अभिनय की विशेषता नहीं प्रद-र्शित कर सकते। पर जब देवालय से बदलकर उसके बाहर का स्थान रंगशाला हो गया, तो धार्मिक नियंत्रण भी शिथिल पड़ गया। इसका फल यह हुआ कि 'संवाद' में ओज आने लगा। बाइबिल के दुष्ट (Villains) केन, हिरोड, शैतान (Devil) गिरजे के बाहर पूरी

तौर से अपनी शैतानी को प्रकट कर सकते थे। उनके काम में गिरजाघर की पवित्रता अब बाधक न रह गई। पर, फिर भी, गिरजे के भीतरी भाग और बाहरी आँगन में कोई अत्यधिक अंतर नहीं है, अतः नाटक पर से धार्मिक नियंत्रण पूर्णरूप से हटाने के लिये यह आवश्यक था कि नाटक के अभिनय-स्थान का गिरजाघर से कुछ भी सान्निध्य न रह जाय। धीरे-धीरे यह भी हो गया। कालांतर में अभिनय-स्थान गिरजे से हटकर सड़क पर आ गया। इसके साथ-ही-साथ पादरियों का संपर्क भी नाटक से नहीं रहा। उनके लिये यह आज्ञा न थी कि वे सड़क पर, या गिरजे घर के बाहर अन्य स्थान में, अभिनय करें। अतः जो होना उचित था, वही हुआ—साधारण लोगों के हाथों में नाटक आ गया। अब नाटक की भाषा भी बोलचाल की होने लगी, और प्लॉट की रचना के लिये केवल बाइबिल के विषय ही नहीं रह गए।

इँगलैंड में सबसे पहले St. Katherine (१११० ख्री०पू०)-नामक एक नाटक १२वीं सदी में लिखा गया। इसका लेखक अध्यापक जाफ़्रे नाम का व्यक्ति था। इसके नाम के सिवा इसके बारे में और कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। पर १४वीं सदी में इँगलैंड में चार मुख्य नाटक-मालाओं का ख़ूब दौरदौरा था। वे क्रमशः Chester, Wakefield, York और Coventry के नाम से प्रख्यात हैं। इनकी विशेषता यह है कि बहुत-सी बाइबिल-वर्णित घटनाएँ एक ही में शृंखलित कर दी गई हैं, और इस प्रकार सृष्टि के आरंभ से लेकर प्रलय तक की मुख्य-मुख्य घटनाएँ एक ही में ग्रंथित कर दी गई हैं। १४वीं और १५वीं सदी में इँगलैंड में इनकी ही धूम थी, और यद्यपि ये धार्मिक नाटक थे, तथापि इनमें Comic (हास्य-रस) का प्रचुर समावेश था।

पर धीरे-धीरे मनुष्य अपनी कल्पना से काम लेने लगा। नाटक के लिये विषय बाइबिल से लेते-लेते सदियाँ बीत गई थीं। एक प्रकार से जितने भी विषय उसमें हैं, सभी पुराने हो चले थे। अतः दूसरे प्रकार के विषयों की आवश्यकता हुई। बाइबिल से विषय लेने का मुख्य उद्देश्य लोगों को धार्मिक बनाना था। नाटक केवल विनोद के लिये है, यह पुराने लोगों का विचार न था। वे इसे शिक्षा का, धर्म के प्रतिपादन का ज़रिया बनाना चाहते थे। अतः इस समय भी वे शिक्षा देने का विचार पूरी तौर से नहीं छोड़ सके। पर शिक्षा देने के लिये उन्हें अपने मस्तिष्क से काम लेने की ज़रूरत पड़ी। इसका नतीजा यह हुआ कि एक दूसरे प्रकार के नाटकों की उत्पत्ति हुई, जिन्हें Moralities कहते हैं। इनके द्वारा नैतिक शिक्षा दी जाने लगी। गुण और अवगुण का, पाप और पुण्य का, अच्छाई और बुराई का चित्रण किया जाने लगा। अंत में पुण्य की विजय दिखाकर मनुष्य को उसी ओर प्रवृत्त करने की चेष्टा की गई। उदाहरणार्थ, The Castle of Indolence-नामक नाटक में नायक Mankind (मनुष्य) है। इसके दो सहचर अच्छाई और बुराई हैं। दूसरे नाटक, Everyman, में मनुष्य-जीवन की निःसारता दिखाई गई है। इस प्रकार नाटक Mystery से miracle और Miracle से Morality में परिणत होने लगा। पर अब भी नाटक का मुख्य लक्ष्य—विनोद—इससे दूर ही था। राज-परिवार और बड़े-बड़े लोगों का इस प्रकार के नाटकों से संतोष न हो सकता था। अतः उनके यहाँ विशेष अवसरों पर एक अन्य प्रकार का अभिनय होता था, जिसे Interlude कहते थे। इसमें बाजे, नाच और सीनरी का भी सम्मिश्रण था। प्रधानतः विनोदार्थ होने के कारण इसमें हास्य-रस ही मुख्य होता था। Moralities के समान इसके पात्र गुण या अवगुण के शुष्क चित्रण ही न होते थे। इसमें साधारण स्त्री-पुरुषों का चित्रण रहता था। १५००-१५६५ तक हेवुड अष्टम हेनरी के दरबार का एक मुख्य Interlude लेखक हो गया है।

महारानी एलिज़ाबेथ के समय से इँगलैंड में एक नए युग का आरंभ होता है। इस समय इँगलैंड में एक नई हलचल चल रही थी, एक नई लहर हिलोरें मार रही थी, राष्ट्र के जीवन में एक नए परिच्छेद का प्रारंभ हो रहा था। साहित्य में, धर्म में, राजनीति में, अर्थात् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, एक क्रांति उत्पन्न हो गई थी। इसके अन्य कारणों में से एक प्रधान कारण Renaissance था। Renaissance शब्द दो फ्रेंच शब्दों के योग से बना है, और इसका अर्थ है नवीन जीवन या पुनर्जन्म। योरप में १४वीं सदी में कुछ विशेष कारणों से लोगों की रुचि प्राचीन ग्रीक-साहित्य की ओर झुकी। इटली में सबसे पहले यह बात हुई। एक अलौकिक रत्न-भांडार पाकर कैसी अवस्था होती है, इसका अनुमान सहज में पाठक

कर सकते हैं। ठीक ऐसी ही इटलीवालों की दशा हुई। धीरे-धीरे यह लहर फ्रांस होती हुई इँगलैंड पहुँची। इँगलैंड के लोग विद्यालयों से निकलकर इटली और अन्य देशों की यात्रा करने लगे। ये विदेश गए हुए लोग विदेशियों ही का अनुकरण करने लगे, और यही स्वाभाविक भी था। तत्कालीन साहित्य में ऐसे लोगों का उपहास भी किया गया है।

ऊपर कहा जा चुका है कि इटली-देश अँगरेज़ों के लिये आदर्श बना हुआ था। नाटक में भी उसी का अनुकरण किया गया। प्राचीन ग्रीक और लैटिन-नाटकों के आधार पर वहाँ नाटक-रचना बहुत पहले ही शुरू हो गई थी। इँगलैंड में भी पुराने नाटकों के आधार पर नाटक-रचना होने लगी। १५५० ई० में निकोलस उडाल (Nicholas Udall) ने Ralph Roister Doister-नामक एक सुखांत नाटक लिखा। इसकी रचना Plautus के ग्रंथों के आधार पर थी। Seneca के दुःखांत नाटक भी प्रसिद्ध थे। उनके आधार पर Gorboduc-नाटक की रचना हुई। ये दोनों ऐसे प्रथम नाटक थे, जिनमें नाटक के मुख्य-मुख्य तत्त्व पाए जाते हैं।

यहाँ पर एक बात उल्लेखनीय है। योरप में बहुत समय तक नाटककार प्राचीन शैली ही पर चलते रहे। उन्हें लकीर के फ़क़ीर बने रहना ही श्रेय मालूम पड़ता था। इँगलैंड में प्राचीन शैली का शब्दशः अनुकरण नहीं किया गया। संसार-प्रसिद्ध शेक्सपियर ने कभी प्राचीन शैली का अनुकरण नहीं किया। उसके नाटक Romantic-(रोमांटिक) के नाम से प्रख्यात हैं। प्राचीन ढंग के नाटकों को Classical कहते हैं। इँगलैंड में शेक्सपियर के कुछ ही पहले नाटक को थोड़ी-बहुत उन्नति हो चुकी थी। उस समय के सब मुख्य-मुख्य नाटककार विद्यालय के शिक्षित नवयुवक थे। उन्हें University wits कहते हैं। उनमें मुख्य Marlowe, Kyd, Lyly, Peele, Greene हैं। इनके दुर्भाग्य से शेक्सपियर इनके कुछ ही समय बाद कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ। उसकी अतुल प्रतिभा ने इन्हें निस्तेज तथा निष्प्रभ कर दिया। पर नाटक के इतिहास में इन लोगों का महत्त्व कुछ कम नहीं है। इनमें Marlowe का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। उसकी रचना-शक्ति का अच्छी तरह से विकास भी न होने पाया था कि वह मर गया। फिर भी कुछ बातों में वह शेक्सपियर का केवल पथ-प्रदर्शक ही नहीं, गुरु भी कहा जा सकता है। अतुकांत पद्य-रचना को उसकी लेखनी ने उच्च कोटि तक पहुँचा दिया था। जीवन की गहनताओं की ओर उसकी विशेष रुचि थी, और ऐसे भावों को प्रकट करने की उसमें अच्छी शक्ति थी। Lyly ने अपनी रचनाओं में गद्य संवाद का शिलान्यास ही किया। उसने Comedy को शुष्क प्रहसन से ऊपर उठाकर वस्तुतः शुद्ध Comedy का रूप दिया। इसी प्रकार आधुनिक नाटक के निर्माण में अन्य नाटककारों का भी कुछ-न-कुछ भाग है।

अँगरेज़ी नाटक की रचना शेक्सपियर के हाथों परा काष्ठा को पहुँच गई। उसने लगभग ३२ नाटकों की रचना की है। इनमें Comedy (सुखांत), Tragedy (दुःखांत), Historical (ऐतिहासिक), सभी हैं। शेक्सपियर की लेखन-कला के वर्णन के लिये एक स्वतंत्र लेख की आवश्यकता है। शेक्सपियर के काव्य की आलोचनात्मक पुस्तकें यदि एकत्र की जायँ, तो एक छोटा-सा पुस्तकालय तैयार हो जाय। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि अँगरेज़ी-साहित्य में उसका क्या स्थान है। यहाँ पर उसका केवल दिग्दर्शन-मात्र हो सकता है। उसके पात्र हमारे और आपके समान ही हाड़-मांस के पुतले हैं। वे निर्जीव पुतले नहीं जीते-जागते पुरुष हैं। मानवी विकारों का चित्रण, स्त्री-स्वभाव का ज्ञान, साधारण मनुष्यों की अवस्था, वृद्धों का चरित्र, सभी के चित्रण में वह सिद्धहस्त है। उसके स्त्री-पात्र हृदयग्राही होते हैं। Juliet (जूलिएट), Portia (पोरशिया), Hermoine, (हरमोइन), Beatrice (बिएट्राइस), Helena (हेलेना), Olivia (ओलिविआ) तथा और भी बहुतेरी पात्रियाँ स्त्री-सुलभ सौंदर्य से विभूषित हैं। उनके प्रत्येक कार्य स्त्री-स्वभावानुकूल होते हैं। उनमें एक विशेषता भी है, और वह स्वाभाविक है। अच्छे या बुरे कामों में वे पुरुषों की केवल सहचरी ही नहीं, पथ-प्रदर्शक भी हैं। उनका त्याग, धैर्य, साहस, प्रेम, बुद्धि, सभी सराहनीय हैं। यदि Romeo (रोमियो) में Juliet (जूलियट) के समान ही धैर्य होता, तो उसका जीवन दुःखांत न होता। प्रायः शेक्सपियर के नायक प्रेम में अधकच्चे और अस्थिर होते हैं। Twelfth Night-नामक नाटक में भी Duke का प्रेम कितना परिवर्तनशील है, और साथ ही

Viola का कितना गंभीर ! उसी प्रकार Much Ado About Nothing में Hero (हीरो) का प्रेम स्थिर और Cluadio (क्लाडियो) का विवेक-शून्य है। Lear (लियर) और Macbeth (मैक्बेथ) में Goneril (गोनेरिल) Regan (रीगन) और Lady Macbeth (लेडीमैक्बेथ) दुष्टता की मूर्ति हैं। स्त्रियों की शत्रुता परा काष्ठा ही पर पहुँचती है; वे माध्यम नियम की पक्षपातिनी नहीं। अतः जब शैतानी पर ही उतारू हुईं, तो उसे पूरी करने में क्यों कसर की जाय। शेक्सपियर की स्त्रियों की यही मानसिक अवस्था है। मैक्बेथ तो अपने स्वामी के मारने में घबराता है, पर उसकी स्त्री उसे इसके लिये कितना उपालंभ देती है। उसके वाक्य द्वारा सुनिए—

"I have given sucks, and know How tender 'tis to love the babe that milks me? I would, while it was smiling in my face, Have pluck'd my nipple from his boneless gum And dash the brains out, had I sworn as you."

इसका भावार्थ यह है—"मैंने अपने बालक को दूध पिलाया है, अतः मैं जानती हूँ कि दुधमुँहे बालक को प्यार करना कैसा होता है। फिर भी यदि मैंने तुम्हारे समान प्रण किया होता, तो मैं ऐसे बालक की हत्या करने में नहीं हिचकती।"

कितना कठोर हृदय है। Regan (रीगन) और Goneril (गोनेरिल) की पाशविकता तो और भी बढ़ी-चढ़ी है। पर इनको छोड़कर अन्य सभी स्त्रियाँ प्रायः साधुता की प्रतिमा हैं।

मानवी विकारों के चित्रण में कवि की कुशलता परा काष्ठा को पहुँच गई है। Hamlet (हैम्लेट) का चरित्र साधारण नहीं है। नाटक का हैम्लेट पहले के हैम्लेट से भिन्न व्यक्ति है। जो उसकी किशोरावस्था से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वह कैसा कार्य-पटु, व्यवहार-कुशल और नीति-प्रवीण है; पर नाटक में उसके ये सब गुण प्रायः लुप्त हो गए हैं। इस द्विधा व्यक्तित्व का चित्रण सरल नहीं। यद्यपि हैम्लेट अकर्मण्य प्रतीत होता है, तथापि यह कभी नहीं कहा जा सकता कि वह कार्य करने की क्षमता नहीं रखता। इन दोनों धारणाओं को एक ही समय पैदा करना रचना-कला की परा काष्ठा है। Julius Caesar (जूलियस सीज़र) में जनता की अस्थिरता की कैसी विशद मीमांसा है! वे अपने विचारों को कैसी जल्दी बदलते हैं! Coriolanus (कोरिओलैनस) में भी 'जनता' का यही हाल है। केवल हास्य में शेक्सपियर के मसखरे किसी से कम नहीं उतरते। यदि वे सब इकट्ठे किए जायँ, तो एक अच्छी पल्टन हो जाय। शेक्सपियर के पात्र प्रत्येक क्षेत्र से लिए गए हैं, और वह सभी के चित्रण में पटु है।

शेक्सपियर ने नाट्य-शास्त्र को जिस उच्च शिखर पर आरूढ़ कर दिया था, वह हमेशा उस पर स्थिर न रह सका। उसके बाद ही उसका ह्रास आरंभ हो गया। Beaumont (ब्यूमौंट), Fletcher (फ़्लेचर), Middleton (मिडिलटन), Dekker (डिक्कर), Shirley (शरले), Ben Jonson (बेन जॉनसन), सभी समसामयिक नाटककार हैं। इनमें अंतिम व्यक्ति एक नवीन शैली का प्रवर्तक है। शैली में उसने प्राचीन नियमों का ही पालन किया है। भावों में भी वह स्वभाव-चित्रण पर अधिक ज़ोर देता था। उसके सुखांत नाटक को Comedy of Humours कहते हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के स्वभाव में कुछ विशेषता होती है। इन्हीं विशेषताओं का प्रदर्शन बेन जॉनसन का काम था। सारांश यह कि वह मनुष्य की किसी एक बात पर अधिक ज़ोर देता था। इसका फल यह हुआ कि उसके पात्र शुष्क और निर्जीव हैं। उनका उठना-बैठना, बोलना, लिखना इत्यादि सभी किसी नियम से परिचालित है, और यही उसके पात्रों की सुंदरता को नष्ट कर देता है। Beaumont, (ब्यूमौंट) और Fletcher (फ़्लेचर) की रचनाओं में फिर भी कुछ गुण मौजूद हैं। उनके गायन अपने ढंग के हैं। पर अन्य लोगों की रचना में क्रमशः शेक्सपियर के कला-विशेष का ह्रास होता जाता है। यहाँ तक कि Shirley (शरले) की रचनाओं में उस कला का अंतिम निःश्वास सुनाई देता है।

सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय पाद में इँगलैंड में प्युरिटन (Puritan)-नामधारी संप्रदाय-विशेष का ज़ोर बढ़ने लगा। उन्हें अपने समय के बहुत-से आचार-विचार, यम-नियम, रीति और विश्वास अच्छे न लगते थे। वे प्रचलित सिद्धांतों में से कई को बदलकर अपने विश्वासानुरूप

धार्मिक क्रांति करना चाहते थे। सामयिक राजनीतिक दशा भी अच्छी न थी, और उन्हें अपने विचारों के अनुसार कार्य करने की सुविधा भी मिलती गई। वे नाट्यशालाओं से, नृत्य-गीत-नाटकादि से तीव्र विरोध रखते थे; क्योंकि उनके विचारों के अनुसार ये सब दुराचार की वृद्धि के सहायक थे। इसका परिणाम यह हुआ कि जब उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई, तब नाट्यशालाएँ बंद कर दी गईं। अतः बेन जॉनसन (Ben Jonson) की मृत्यु के पश्चात् (१६३७) और द्वितीय चार्ल्स के सिंहासनारूढ़ होने तक नाटकों का लिखा जाना एक प्रकार से बंद ही रहा।

पीछे बेन जॉनसन की विशिष्ट शैली का कुछ वर्णन हो चुका है। उसके मतानुसार Comedy का मुख्य अर्थ समाज को प्रचलित बुराइयों से मुक्त करना ही था। अतः उसका ध्येय यही था कि व्यंग्य के साथ-साथ विनोद भी हो, जिसमें दर्शक अपनी कमज़ोरी पर आप हँसे, और उससे निवृत्त होने की चेष्टा करे। इसमें उसे कहाँ तक सफलता मिली, इसका निर्णय यहाँ पर विषयांतर हो जायगा। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि नाट्य-साहित्य में उस निशा का आरंभ हो चुका था, जो १८वीं सदी तक बनी रही, और जिसका मध्यकालीन भाग द्वितीय चार्ल्स का राज्य-काल था।

चार्ल्स द्वितीय के समय साहित्य में सबसे प्रतिभाशाली व्यक्ति ड्राइडन था। गद्य में, पद्य में, नाटक में साहित्य के सभी अंगों में—उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व की छाप है। यहाँ हमें केवल उसके नाटकों से ही प्रयोजन है। ड्राइडन की यह विशेषता है कि उसने लेखन-कला को वित्तोपार्जन का एक साधन बनाया। लेखक जब अपनी लेखनी से धन पैदा करना चाहता है, तब उसकी प्रतिभा भी कठिन होने से नहीं बचती; क्योंकि उसे बाज़ार में चलनेवाले विचारों को ही प्रकट करना पड़ता है। ड्राइडन यदि अन्य समय में पैदा होता, तो उसके नाटक किस प्रकार के होते, यह कहना कठिन है; पर द्वितीय चार्ल्स के नीति-भ्रष्ट गंदे वायुमंडल में रहते हुए यह संभव न था कि उसके नाटक अनाचार और दुराचार की गंदगी से बचे रह सकें। ड्राइडन ने एक स्थान पर स्वयं कहा है—"I confess my chief endeavours are to delight the age in which I live". अर्थात् मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरा प्रधान प्रयत्न यही रहा कि जिस समय पैदा हुआ हूँ, उस समय के लोगों को प्रसन्न करूँ।

जब नाटककार की यह मनोवृत्ति है, तब सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उसके नाटक किस कोटि के होंगे।

अन्य लेखकों की भी यही दशा है। Thomas Orway (टामस आर्वे), Lee (ली), Wycherley (वाइकर्ले), Congreve (कौन्ग्रीव), Vanbrugh (वैनब्रा), Forquhar (फ़रकुहर), सभी सामयिक नीति-भ्रष्टता से अछूते नहीं रह सके। इनमें Congreve का नाम विशेष उल्लेख-योग्य है। उसमें ड्राइडन के समान ही प्रतिभा थी; पर वह उसका सदुपयोग न कर सका। यह समय नाटक के अधःपतन का काल है। १८वीं सदी के दूसरे चरण तक यही अवस्था रही। उस समय न कोई प्रथम श्रेणी का नाटककार ही हुआ, और न कोई प्रथम श्रेणी का नाटक ही रचा गया।

१८वीं सदी में गोल्डस्मिथ और शेरिडन ने Comedy को फिर ऊपर उठाया। वस्तुतः शेक्सपियर की Comedy में शुद्ध परिहास और विनोद की मात्रा नहीं है। हिंदी में जिसे सुखांत नाटक कहते हैं, शेक्सपियर की Comedies को वही समझना चाहिए। उनके अंत ही से उनका नामकरण है। मोलियर की रचनाओं की-सी विशेषता उनमें नहीं है। आप उन्हें पढ़ते-पढ़ते लोट-पोट नहीं होते। आप आनंद अवश्य लेते हैं; पर आपके आनंद में चिंता, भय, दुःख, सभी का मिश्रण रहता है। The Merchant of Venice में किसे सौदागर के लिये चिंता नहीं रहती? पर मोलियर के "मार-मार कर हकीम", या किसी अन्य नाटक में आप आदि से अंत तक हँसी में ही तैरते जाइएगा, कभी विषाद की रेखा आपके माथे में न पड़ेगी। १८वीं सदी में शेरिडन इसी पंथ का अनुयायी हुआ, और उसे इसमें अच्छी सफलता भी मिली। अँगरेज़ी-साहित्य में विनोदात्मक नाटक लिखने में उसका स्थान सर्वप्रथम है। उसके The Rivals; The School of Scandal या The Critic का महत्त्व किसी अन्य नाटक से कम नहीं। ऐसे नाटकों की प्रधान शक्ति घटना-संपादन में ही रहती है। एक के बाद एक घटना-चक्र इस प्रकार चलता है कि वस्तु-स्थिति एक ओर से उलझती और दूसरी ओर से साफ़ होती जाती है। दर्शक इस उथल-पुथल का आनंद लेता है; क्योंकि उसे

ऐसी बहुत-सी बातें मालूम रहती हैं, जोकि पात्रों से भी छिपी रहती हैं। पात्रों का चित्रण भी दूसरी तरह से होता है। ऐसे नाटकों में ऊपरी बातों का वर्णन ख़ूब बढ़ा-चढ़ा कर होता है। उनमें चरित्र पर पूरा प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं। अतः विनोद की मात्रा ख़ूब बढ़ जाती है।

शेरिडन की कला का यही महत्त्व है। उसके नाटकों का अभिनय बड़ी ख़ूबी के साथ हो सकता है। उसके नाटक भाव-प्रधान ही होते हैं। जानसन के नाटकों की विशेषता यह है कि उनमें पात्र किसी एक सनक के शिकार होते हैं। यहाँ पात्रों की विशेषता यह है कि वे अपने भावों के अधीन रहते हैं। पर शेरिडन इसका पक्षपाती न था। उसने यदि इसका चित्रण किया है, तो केवल इस उद्देश्य से कि यह प्रथा दूर हो। शेरिडन के साथ ही नाटक का पुनः अंत होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि नाटक का लिखना ही बंद हो गया। मतलब यह कि नाटक नाटक में भेद होता है। आधुनिक समय में ही नाटक का पुनरुत्थान हुआ है। इस समय भी अँगरेज़ी-नाटकों में विदेशी प्रभाव पड़ा है, और सदा की भाँति निज की शक्ति क्षीण होने पर अँगरेज़ी के साहित्य को बाहर से ख़ुराक मिली है। इब्सेन की रचनाओं का प्रचार इँगलैंड में गत शताब्दी के अंतिम दस वर्षों में ही हुआ है। उसने देश के सामने एक नया ही आदर्श, एक नई ही प्रणाली उपस्थित कर दी। इब्सेन ने नाटक को प्रचलित प्रश्नों के ऊपर विचार करने का माध्यम बनाया—अपने नाटकों द्वारा साम्यवाद के सिद्धांतों का प्रचार किया। इँगलैंड में भी लेखकों ने इसका प्रयत्न किया, और इस प्रयत्न में बर्नार्ड शॉ ने उच्च कोटि की सफलता प्राप्त की है। प्रचलित अंध-विश्वासों के ऊपर उन्होंने कुठाराघात शुरू कर दिया। The Arms & the Man में उन्होंने इस विचार की धज्जी उड़ा दी कि सिपाही साधारण पुरुष से अधिक साहसी होता है। The Warren's Profession में उन्होंने खुल्लमखुल्ला वेश्याओं के प्रश्न को छेड़ा। Widower's Houses में पूँजीवाद किस प्रकार निर्धनों के रक्त को चूसता है, इसका दिग्दर्शन है। शॉ के नाटकों का महत्त्व यह है कि उनमें उन्होंने आधुनिक विचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाई है। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें आप और हम अनुचित समझते हैं; पर सामाजिक शिष्टाचार उनके प्रतिकूल न होने के कारण उनके विरुद्ध हम कुछ नहीं कहते। शॉ इस मत के क़ायल नहीं। वह ऐसी बातों का पर्दा फ़ाश कर देते हैं। अतः इसका परिणाम पहले-पहल यह हुआ कि उनके नाटक न चले। उन्हें अपने नाटकों को चलाने के लिये निरंतर लड़ना पड़ा। उन्होंने प्रस्तावनाएँ लिख-लिखकर अपना उद्देश्य समझाया, और यह तो मशहूर है कि उनकी भूमिका उनके किसी भी नाटक से बड़ी होती है।

शॉ के बाद आस्कर वाइल्ड का नंबर है। उसके नाटकों में विशुद्ध आनंद प्राप्त होता है। उसकी शैली पुराने, १७वीं सदी के, Congreve और उसके साथियों की शैली से मिलती है। उसे आधुनिक जगत् से कुछ भी प्रयोजन न था। इस समय के और भी कई अन्य नाट्यकार प्रतिभाशाली हैं। Galsworthy (गॅल्सवर्दी), Synge (सिञ्ज), Yeats (ईट्स), इन सभी के नाटकों में प्रतिभा का प्रस्फुटन, कला की छाप और चरित्रों का ख़ासा चित्रण है। वर्तमान युग की विशेषता यही प्रतीत होती है कि नाटक पुनः उन्नति को प्राप्त करेगा। वैज्ञानिक साधनों ने नाट्य-गृह को चरम उन्नति पर पहुँचा दिया है, और समय की गति भी ऐसी है कि एक कला-प्रवीण, सुचतुर नाटक-लेखकों की कमी आगे न होगी, और न अभी है।

गणेशदत्त शास्त्री

अजयगढ़

बुंदेलखंड के अंतर्गत, पन्ना से २२ मील उत्तर, अजयगढ़ है। यह अजयगढ़-राज्य की राजधानी है, और अजयगढ़ नामक क़िले की तलहटी में बसा है। क़िला एक ऊँचे पर्वत पर बना हुआ है। इस क़िले के भीतर अनेक मंदिर और मूर्तियों के ध्वंसावशेष और कई शिलाओं पर छोटे-बड़े अनेक लेख हैं, जिनसे इस स्थान का प्राचीनता प्रकट होती है। वर्तमान राजवंश सुप्रख्यात छत्रसाल बुंदेला की संतति है। छत्रसाल ने अपने राज्य

के तीन विभाग करके, दो भाग अपने औरस पुत्रों को और एक भाग बाजीराव पेशवा को, तृतीय पुत्र ठहराकर, दे दिया था ; क्योंकि पेशवा ने बंगश-विपत्ति के समय छत्रसाल की विशेष सहायता की थी । छत्रसाल के छोटे पुत्र जगतराज को बुंदेलखंड का उत्तरी भाग मिला था, जिसमें अजयगढ़ सम्मिलित था । जगतराज ने अपनी राजधानी जैतपुर में स्थापित की थी । सन् १७५८ ई० में जगतराज का देहांत हुआ । उस समय उसने अपने स्वर्गवासी ज्येष्ठ पुत्र कीर्तिसिंह के बड़े पुत्र गुमानसिंह को गद्दी दी ; परंतु गुमान के चाचा ने उससे गद्दी छीन ली । थोड़े ही दिनों में वह अस्वस्थ हुआ । तब सन् १७६१ में उसने राज्य के दो विभाग करके, गुमानसिंह को बाँदे का और उसके भाई खुमानसिंह को चरखारी का राजा बना दिया । इसका एक तीसरा भाई दुर्गसिंह था, जिसे कुछ नहीं मिला था । परंतु जब गुमानसिंह सन् १७९२ में मरा, तब दुर्गसिंह का लड़का बखतसिंह गद्दी पर बैठ गया । हिम्मतबहादुर और अलीबहादुर ने, सन् १७८९ से ही, बुंदेलखंड पर चढ़ाई करना प्रारंभ कर दिया था । बखतसिंह के गद्दी पर बैठते ही अलीबहादुर ने उसे बाँदे से निकाल बाहर किया । परंतु सन् १८०३ में बुंदेलखंड अँगरेज़ों के हाथ आ गया । तब बखतसिंह ने अपना दावा पेश किया । उस समय अजयगढ़ का क़िला और आसपास का देश एक लुटेरे—लछमन दीवा—के हाथ में था । उसने बिना लड़ाई किए अपना अधिकार नहीं उठाया । निदान १८०९ ई० में अँगरेज़ों ने उसे हराकर अजयगढ़ को बखतसिंह के हवाले कर दिया । तब से अजयगढ़ का राज्य और राजधानी अलग नियुक्त हुई । बखतसिंह की मृत्यु के पश्चात् उसके दोनों लड़के, माधवसिंह और महिपतिसिंह, क्रमशः राजा हुए । महिपति के पश्चात् उसका लड़का विजयसिंह, और तत्पश्चात् उसका लड़का रणजोरसिंह राजा हुआ । अब रणजोरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र महाराज भोपालसिंह गद्दी पर हैं । इस प्रकार अजयगढ़ को बुंदेलों की राजधानी हुए ११६ वर्ष हुए ; परंतु अजयगढ़ की प्राचीनता इससे नवगुनी बताई जाती है ।

नामोत्पत्ति

इसमें संदेह नहीं कि अजयगढ़ का क़िला चंदेलों के समय में बना था, और चिरकाल तक उनके अधिकार में रहा । परंतु वह इतना पुराना नहीं कहा जा सकता, जितना बुंदेलखंड गैज़िटियर का ग्रंथकार बतलाता है । उसके अनुसार निर्माण-काल निस्संदेह नवीं शताब्दी* है । यह अनुमान शिला-लेखों के आधार पर किया गया है । इनमें सबसे पुरानी तिथि संवत् १२०८, अर्थात् सन् ११५१ ईसवी, की है । इसी लेख में क़िले का नाम जयपुर-दुर्ग लिखा है । कहीं-कहीं जय-दुर्ग भी लिखा है । क़िले की दीवालों में कई जगह खुदाव के पत्थर लगे हुए हैं, जो प्राचीन मंदिरों के हैं । स्पष्टतः इनसे यही विदित होता है कि क़िला मंदिरों के पीछे बना । जयपुर-दुर्ग नाम से ही अनुमान किया जा सकता है कि पहिले वहाँ 'जयपुर' नाम की बस्ती थी, पश्चात् क़िला बनने पर उसका नाम जयपुर-दुर्ग हो गया । मुसलमानों अमल में, क़िलों को गढ़ कहने की विशेष प्रथा होने के कारण, जयपुर-दुर्ग का जयपुरगढ़ हो जाना युक्तियुक्त है । फिर उसी से सरलता के लिये जयगढ़ हो जाना असंगत नहीं है । प्रश्न यह है कि जयगढ़ का अजयगढ़ कैसे हुआ ?

इसके दो कारण हो सकते हैं । एक तो यह कि पूर्व-नाम में 'अ' प्रत्यय भ्रम से जुड़ गया है ; दूसरा यह कि क़िले के निर्माता का नाम आदि-नाम से मिलता-जुलता होने के कारण, लोग उसे सार्थक समझकर नवीन नाम का उपयोग करने लगे । लेखक ने अजयगढ़ से लौटते ही एक बुंदेलखंडी को झूठ के लिये 'मिथ्या' की जगह 'अमिथ्या'-शब्द का उपयोग करते पाया । अस्नान, असनेह आदि को जाने दीजिए ; क्योंकि आदिस्थ संयुक्त स के आगे सभी अपढ़ अ जोड़ दिया करते हैं । दंत-कथा के अनुसार अजयपाल-नामक जादूगर अजमेर के राजा तारासिंह का छोटा भाई था । एक बार ख्वाजा मीनाहीन अजमेर आए । वह सिद्धहस्त जादूगर थे ; परंतु अजयपाल ने उन्हें हरा दिया । इस पर तारासिंह अप्रसन्न हो गया, और कहने लगा—तुमने मेरे मेहमान को क्यों लज्जित किया ? अजयपाल को यह बात सहन न हुई । वह घर से चल दिया, और केदार-पर्वत में जाकर तपस्या करने लगा । इस पर्वत पर जब क़िला बनाया गया, तो उसका नाम इस तपस्वी के नाम पर रक्खा गया । पहाड़ पर एक पक्का बँधा हुआ तालाब है, जिसको अजयसागर कहते हैं । इसमें सदैव पानी भरा रहता है । इसके किनारे एक ओर शैव और दूसरी ओर जैन-मंदिर बहुत-से थे । वे

* बुधार्ड का बुंदेलखंड गैज़िटियर, १९०७। पृ० २६।

सब टूट-फूट गए। परंतु एक बड़े भारी पीपल के पेड़ के नीचे बहुत-सी मूर्तियाँ रक्खी हैं। उनमें एक अजयपाल के नाम से पूजी जाती है। यह मूर्ति यथार्थ में सूर्य की है। जान पड़ता है, लोगों ने उसको विचित्र मूर्ति समझकर अजयपाल को ठहरा लिया है। जिस पीपल के नीचे गौतमबुद्ध सेनग्राम में ठहरे थे, उसे भी लोग अजयपाल कहते थे। तब प्रश्न हो सकता है कि किसी मौनी या अज्ञात मुनि के, इस बुंदेलखंडी अजयपाल के नीचे तपस्या करने से, उसका नाम अजपाल या अजयपाल-देव अर्थात् पिपरहा तपस्वी तो न रख लिया गया हो? यदि वस्तुतः क़िले का नाम किसी व्यक्ति के नाम पर रक्खा गया है, तो वह सिवा चंदेल राजा विजयपाल के दूसरा नहीं हो सकता। विजयपाल का इजयपाल (जैसे बिटोबा का इटोबा) और इजय का अजय हो जाना संभव ही नहीं, युक्तियुक्त है। ऐतिहासिक दृष्टि से क़िले का निर्माण-काल इस राजा के राजत्व-काल में पड़ता है। यह राजा सन् १०४० में राज्य करता था। चंदेलों का उदय यथार्थ में, सन् ८३१ ई० के लगभग, नन्नुक के समय से हुआ; परंतु राज्य की वृद्धि उसकी छठी पीढ़ी में, यशोवर्मन् के समय में, प्रायः ९३० ई० के लगभग, हुई। यशोवर्मन् ही ने कालंजर का क़िला सर किया, जो अजयगढ़ से २० मील ईशान कोण की ओर है। उसी के लड़के राजा धंग ने खजुराहे का अनुपम मंदिर बनवाया। इसी धंग का नाती विजयपाल था। इसके संबंध में यह शंका की जा सकती है कि यदि विजयपाल ने क़िला बनवाया, तो सन् ११४१ ई० के लेख में विजयपाल-दुर्ग, विजय-दुर्ग या अजय-दुर्ग होना चाहिए था, न कि जयपुर-दुर्ग। ठीक है, परंतु यदि राजा ने नाम ही न रखने दिया हो, तो क़िले का नाम स्वभावतः बस्ती ही के नाम पर चल सकता था, और लेखों में वही नाम दर्ज किया जा सकता था। जनता की जीभ का कोई ठेका नहीं ले सकता। लोगों की दृष्टि में अपूर्व काम करनेवाले का नाम आगे दौड़ता है; और यदि वे उसके कृत्य को उसके नाम के साथ कहने लगें, तो रोकनेवाला कौन है? जनता सदैव सरल और सारगर्भित बात चाहती है। जयपुर दुर्ग पंडिताऊ नाम जान पड़ता है, तथा विजयगढ़ या अजयगढ़ सरल और लौकिक। इसलिये विना विजयपाल के यह इच्छा प्रकट किए कि मेरा नाम क़िले के साथ चले, जनता ने अपने मन के अनुसार सारगर्भित नाम रख लिया हो, तो क्या इसे असंगत समझना चाहिए? जब से दिल्ली में बड़े लाट रहने लगे हैं, और वहाँ चीफ़ कमिश्नर नियुक्त हुए हैं, लोगों ने पिछले व्यक्ति के लिये बड़ी उपयुक्त उपाधि ढूँढ ली है, उन्हें 'कच्चे लाट' कहते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि 'छोटे लाट' गवर्नर की उपाधि है। इसी प्रकार सेशन्स जज कहने से बहुत-से लोगों को कुछ बोध नहीं होता; वे उसका नाम 'फाँसी-कमिश्नर' रखते हैं। जबलपुर में एक मुहल्ले का नाम जॉर्ज-टाउन रक्खा गया है; लेकिन उसे सब लोग 'गोलबाज़ार' कहते हैं। वहाँ बाज़ार-वाज़ार कुछ नहीं है; परंतु स्थान गोलाकार अवश्य है।

दंतकथा का सारांश केवल इतना ही जान पड़ता है कि अजयगढ़ का नाम किसी बाहर से आए हुए व्यक्ति के नाम पर रक्खा गया है। अजमेर का अजयपाल चौहान कालंजर के विजयपाल चंदेल का समकालीन था। कदाचित् इसी कारण इनके नामों में धोका होने से अजयपाल का संबंध अजयगढ़ से जोड़ दिया गया हो। जान पड़ता है, अजयपाल चौहान विजयपाल चंदेल से अधिक प्रख्यात था। उसी का बसाया अजमेर है, जिसका मेरु अर्थात् पहाड़ से संबंध है। अपने जीवन के अंतिम काल वह अजमेर से दस मील पर पहाड़ों में जाकर, साधु होकर, रहने लगा था, और वहीं उसकी मृत्यु हुई। इन सब बातों का ब्योरा अजयगढ़ की दंतकथा में मिलता है। इससे यही प्रकट होता है कि अजमेरी क़िस्सा अजयगढ़ से परिणत कर दिया गया है।

शिला-लेख

अजयगढ़ के क़िले में २० से अधिक शिला-लेख हैं, उनमें सबसे बड़ा तरहौनी-दरवाज़े पर है। वह सात फ़ीट लंबा और सवा दो फ़ीट ऊँचा है। उसमें संवत्-तिथि आदि तो नहीं दी है, परंतु वह चंदेल राजा भोजवर्मन् के समय का है। ज्ञात होता है कि तेरहवीं शताब्दी के अंत में उसके कोषाध्यक्ष सुभट-नामक वास्तव्य कायस्थ ने एक मंदिर बनवाया, और चट्टान पर यह लेख खुदवा दिया *। इस लेख से विदित

* डाक्टर कीलहार्न ने एपीग्राफ़िया इंडिका की प्रथम जिल्द में इसे पढ़कर पहलेपहल छपवाया था। तब से प्रायः ३५ वर्ष हो चुके इस लेख की हूबहू नक़ल न तो कीलहार्न ने छापी, न उनके पश्चात् और किसी ने छापने का प्रयत्न किया। इस
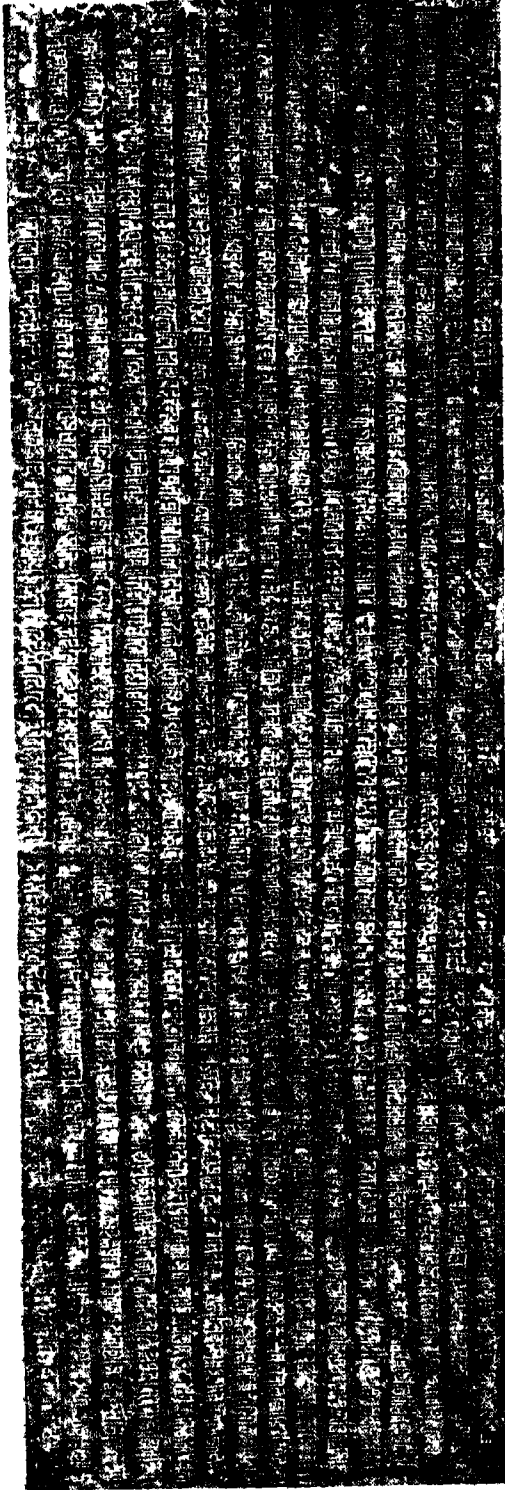
अजयगढ़-क़िले में भोजवर्मन् के समय का शिला-लेख

होता है कि पर्वत का नाम केदार था, और बस्ती का जयपुर। सुभट के पूर्वज वंश-परंपरा से चंदेल-राजों के सचिव या दुर्ग के अध्यक्ष रहते आए थे। अनेक राजों ने उन्हें गाँव पुरस्कार में दिए, उनका भी उल्लेख है। यथा गंड ने आजूक को दुगौड़ा-नामक गाँव दिया। कीर्तिवर्मन् ने माहेश्वर को 'पिपलाही' और त्रैलोक्यवर्मन् ने वाले को 'वरभवरी' दिया। वास्तव्य कायस्थ का मूल-पुरुष वास्तु बतलाया गया है। वह टकारी नाम की बस्ती में रहता था, जो उन छत्तीस बस्तियों में श्रेष्ठ थी, जिनमें कायस्थों का विशेष निवास था। अजयगढ़ और कालंजर में कई शिला-लेख मिले हैं, जिनमें इस कायस्थ-वंश का ज़िक्र पाया जाता है। यथा मुख्य दरवाज़े पर जहाँ चंडिका की मूर्ति खुदी है, वहाँ एक ३ फ़ुट ४½ इंच लंबाई को चार लकीरों का लेख है। उसमें आजूक, माहेश्वर और कीर्तिवर्मन् के नाम आते हैं। इस लेख में वास्तव्यों की उत्पत्ति कश्यप-ऋषि से बतलाई है, और दुगौड़ा, पिपलाही पाने का भी ज़िक्र है। इस लेख में दरवाज़े का नाम कालंजर-द्वार लिखा है; क्योंकि वह कालंजराभिमुख है। एक और बड़ा लेख निर्जर कूप पर है, जिसको अब गंगा-यमुना कहते हैं। वह एक दरार खाई हुई चट्टान पर खुदा है। दरार की दाहनी ओर २ फ़ीट ३½ इंच लंबी ७ लकीरें हैं; और बाईं ओर ३ फ़ीट लंबी ८ लकीरें। ऐसी

शिला-लेख के अक्षर विचित्र ही हैं, इसलिये अलग सेट नंबर १ में शिला पर से ली हुई छाप से हूबहू नकल पाठकों के विनोदार्थ और लिपि-तत्त्वज्ञों के उपकारार्थ दी जाती है। प्रथम पंक्ति का पाठ बतौर कुंजी के नीचे दिया जाता है—

ओं नमः केदाराय

गंगातरंगतरलीकृतसर्प्पराजवेष्टाय चारुशसि (शि) खण्डविभूषणाय। कंदर्प्पदर्प्पशमनाय सुरार्चिताय केदाररूपविधृताय नमः शिवाय ॥ १ ॥ षट्त्रिंशतिः करणकर्म्मनिवासपूता आसन्पुरः परमसौख्यगुणातिरिक्ताः। तन्मध्यगा विबु-(बु)ध लोकमतावरिष्ठा टक्कारिकासमजनिस्पृहणीयकल्पा ॥ २ ॥ सर्व्वोपकारकरणै [कनिधेः स्वकीयवंशस्य पात्रसुभगस्य द्विजाश्रयस्य। कल्पावसानसमयास्थितये पुरीं यां वास्तुः स्वयं समधिगम्य समाससाद ॥ ३ ॥]

अंतिम कोष्ठक के भीतर का भाग दूसरी पंक्ति में आता है; परंतु श्लोक पूरा करने के लिये यहाँ पर लिख दिया गया है।
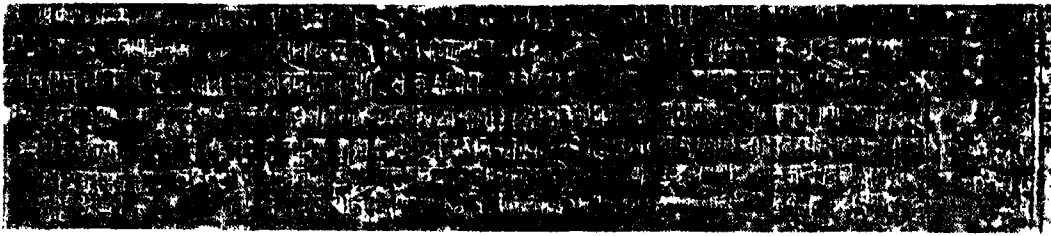
गंगा-यमुना लेख का अर्द्ध-भाग
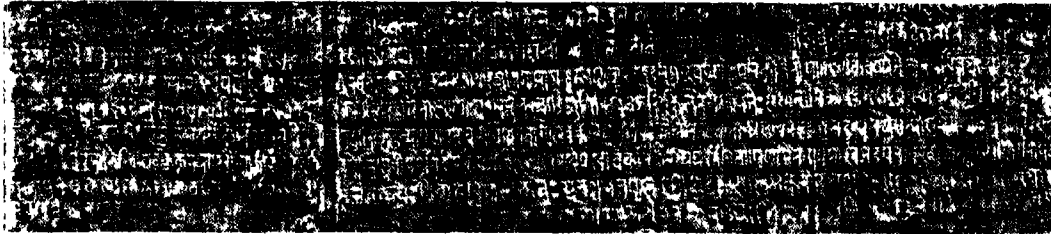
गंगा-यमुना लेख का अर्द्ध-भाग

कुल १५ लकीरें हैं, जिनमें २२ श्लोकों का समावेश है*। अंत में संवत् १३१७ वैशाख-सुदि १३ गुरौ † लिखा है। गंगा-यमुना-क़िले की दीवाल के कुछ नीचे, पर्वत ही पर, यथार्थ में निर्जर (अट्ट) झिरने हैं। इनको राजा वीरवर्मन् की रानी कल्याणदेवी ने बनवाया था। इसमें चंदेल वंशावली, कीर्तिवर्मन् से लेकर वीरवर्मन् तक, लिखी है। कलचुरी-वंशज कर्णदेव के कीर्तिवर्मन् द्वारा हराए जाने का भी उल्लेख है। तत्पश्चात् सल्लक्षण हुआ, जिसने मालव और चेदि के राजों को लूट लिया। उसका लड़का जयवर्मन्देव, जिसका पुत्र पृथ्वीवर्मन्, पृथ्वीवर्मन् का मदनवर्मन्, मदनवर्मन् का परमर्दिवमन, परमर्दिवर्मन् का त्रैलोक्यवर्मन्, और त्रैलोक्यवर्मन् का पुत्र वीरवर्मन् हुआ। इसी वीरवर्मन् का लड़का भोजवर्मन् है, जिसके समय में उसके कोषाध्यक्ष सुभट ने सिन्होन्हा द्वारवाला लेख चट्टान पर खुदवाया था।

* इसके छाप की हूबहू प्रति-लिपि भी लेट के दूसरी ओर दी गई है, जिसके नीचे नं० २ अंकित किया गया है। नं० १ और नं० २ के अक्षरों का मिलान करने योग्य है। नं० २ के अक्षर वर्तमान अक्षरों से खूब मिलते हैं। नं० १ के, जो पीछे के हैं, बिरले ही सरलता से पढ़ पावेंगे।

† यह मिति १४ एप्रिल, बृहस्पतिवार को, सन् १२६१ ई० में पड़ती है।

भोजवर्मन् के नान-नामक सचिव ने भी जयपुर-दुर्ग में, संवत् १३४५ में, हरि की प्रतिमा स्थापित की थी। यह भी बड़ा लंबा लेख है, और अब कलकत्ते के अजायबघर में पहुँच गया है। उसी ज़माने का, संवत् १३४६ का, एक सतीचौरा ऊपरवाले दरवाज़े के निकट है, जिसमें भोजवर्मन् का नाम लिखा है। इसमें छः-सात इंच लंबी ११ लकीरें हैं। गणेश की मूर्ति के पास एक १५ इंच लंबा और १४ इंच चौड़ा लेख २१ सतरों का है। उसमें भी कीर्तिवर्मन् से लेकर वीरवर्मन् तक की वंशावली लिखी है। उसकी तिथि संवत् १३३७ माघ-सुदि १३ सोम * अंत में लिखी है। एक जैन-मंदिर में २० इंच लंबा और ४ इंच ऊँचा ४ लकीरों का शिला-लेख है, जिसपर जनरल कनिंघम या अन्य पुरातत्व-विभाग के अफ़सरों की नज़र नहीं पड़ी। उसमें "श्री मद्वीरवर्मदेव-विजय-राज्ये संवत् १३३५ समये चैत्र-सुदी १३ सोमे जयपुरदुर्गे" लिखा हुआ है। चार-पाँच छोटे-मोटे अन्य लेख हैं, जिनमें वीरवर्म्मन्, कीर्तिवर्म्मन् या त्रैलोक्यवर्म्मन् के नाम आते हैं। परंतु इनके नाम कई लेखों में आने से कोई नई बात नहीं प्रकट होती। इन सब लेखों की सहायता से चंदेल-राजावली तैयार की गई है, जिसमें

*यह मिति सन् १२८१ ई० में ३ फ़रवरी सोमवार को पड़ती है।
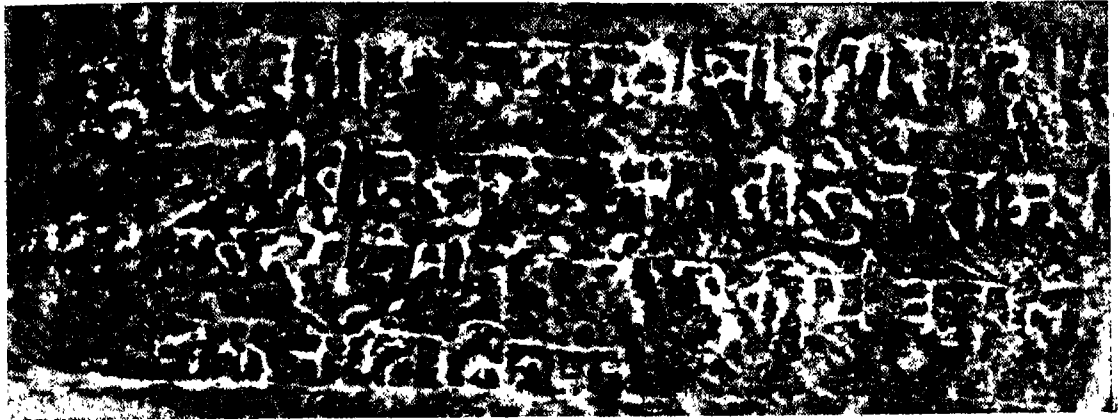
हमीरवर्मन् के समय का सती-लेख

अंतिम स्थान भोजवर्मन् को दिया गया है। उसका २१ वाँ नंबर बैठता है। परंतु यदि खोज करने में थोड़ा अधिक परिश्रम किया जाता, तो अजयगढ़ ही में बाईसवें चंदेल-राजा का पता लग जाता। २८ दिसंबर, सन् १९१६ को जब लेखक वहाँ गया, तो उसे एक सती-लेख मिला, जिसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है —

पंक्ति १ संवत् १३६६ समये श्रावण सुदी ६ बुधे
,, २ सतो आल्हसुभट्टमेनेपा सुभं श्री महा
,, ३ राज श्री हमीरवर्म्मदेव राज्ये सुभो मंग
,, ४ लं करोति।*

इस लेख की तिथि बुधवार, २१ जुलाई, सन् १३११ ईसवी में पड़ती है। मध्यप्रदेश के दमोह ज़िले के बग्हनी-गाँव में एक सती-लेख है, जिसकी तिथि सन् १३०८ ई० में पड़ती है, और जिसमें महाराजाधिराज हमीरवर्मदेव के विजय-राज्य का उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि भोजवर्मन् के पश्चात् हमीरवर्मन राजा हुआ।

अजयगढ़ के सबसे प्राचीन लेख क़िले के ऊपरी फाटक पर हैं, ये तीन अलग-अलग अन्य तिथियों के हैं। लिखे तो हैं ये बड़े-बड़े अक्षरों में; परंतु अशुद्धता और लीपापोती के कारण साफ़ पढ़े नहीं जाते। दरवाज़े पर होने के कारण, क़िले में प्रवेश करते ही सभी लोगों की दृष्टि इन पर पड़ती है। इसलिये इनका मर्म जानने के लिये सभी प्रयत्न करते हैं। परंतु कोई इनका ठीक अर्थ
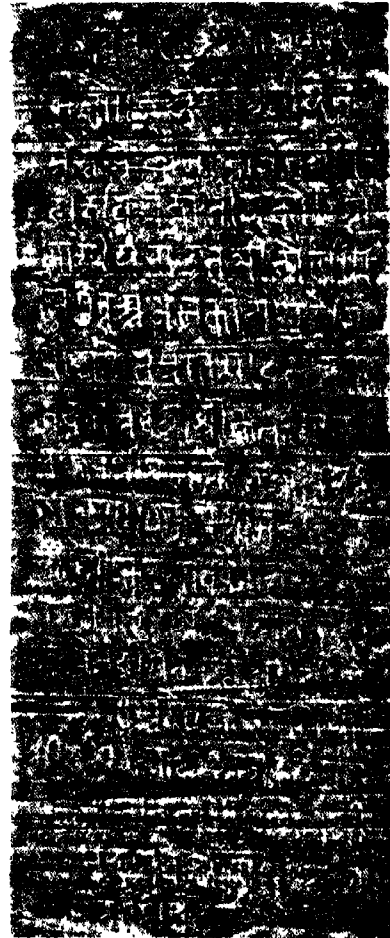
फाटक-लेख

* इस लेख की हूबहू नक़ल के लिये प्लेट में नंबर ३ देखो।

नहीं लगा पाया। जैसा लेखक के पढ़ने में आया, उसकी प्रतिलिपि नीचे दी जाती है—

प्रथम

पंक्ति १ श्रों संवत् १२०८ मार्ग्ग बदि १२
,, २ सभौ (नौ) ॥ जयपुर दुर्ग्गीय स-
,, ३ मस्त लोकानां राउत श्री मे-
,, ४ द । क्षत्रिय जातीय कोटिश्रा
,, ५ ग्रामीय राउत श्री जौणापा-
,, ६ ल पुत्र अनेन क्रीड़ा युद्धे सि-
,, ७ रो ज (?) येन प्रतिपादनं कृतं
,, ८ तदनंतरं श्री श्री करणिक
,, ९ ठकुर श्री महीश्वर (?) । ठकुर श्री
,, १० आल्हण । ठकुर श्री महीधर ठ-

क़िले-फाटक के लेख
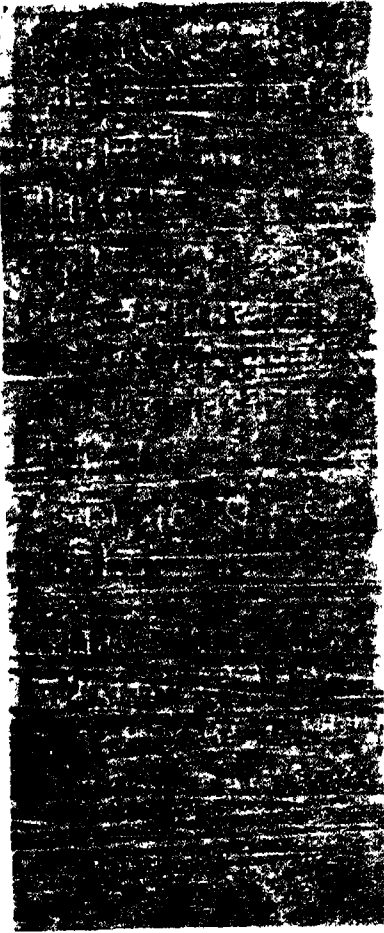
पंक्ति ११ कुर श्री पासला वरेठा लाहुड प्रभृ-
,, १२ तिकेन १३ संकलिश्राजन ५२
,, १३ एतैरेरंडीय वेट्टकन ॥ श्री सो-
,, १४ म राजय ग्रामे । श्राहिरुधि प्रा-
,, १५ मीय सगपाथा वुधाद्धाः शम
,, १६ रक्षे च उपद्रवाः ॥ राज्ये च श्री
,, १७ मन्मदनवर्म्मणः ॥ ठ । श्री
,, १८ सूत्रधार सुभट

द्वितीय

पंक्ति १ संवत् १२२७ आसाढ़
,, २ सुदि २ सोमे जयपुर दुर्ग्गी-
,, ३ य समस्त लोकानां राउत
,, ४ श्री धोरेन ॥ लेजल पुत्र क्षत्रि-
,, ५ य कोटिश्रा ग्रामीय अनेक
,, ६ भूमि सेत्री व्यापादन मार्ग्ग
,, ७ सुविधान डेणवासुत प्रभृति प्र-
,, ८ तिपादनं कृतं । तदनंतरं च
,, ९ श्री श्री करण वरेठा १३
,, १० संकलिश्रा ५२ एतैरस्य
,, ११ नौलि चो

तृतीय

पंक्ति १ संवत् १२४३ ज्येष्ठ सुदि १२ बुधे
,, २ जयपुर दुर्ग्गीय समस्त लोका-
,, ३ नां राउत मोहड़ा राउत सां
,, ४ तन पुत्र क्षत्रिय जातीय को-
,, ५ टिश्रा ग्रामीय अनेन चउतरि नि-
,, ६ वारणं श्री प्रतिपादनं कृतं त-
,, ७ दनंतरं श्री श्री कर्ण वरे-
,, ८ ठा १३ संकलिश्रा ५२ स्वस्ति

प्रथम लेख की तिथि शनिवार, १० नवंबर, सन् ११५१ ई० को, दूसरे को सोमवार, ७ जून, सन् ११७१ ई० को और तीसरे की बुधवार, २० मई, सन् ११८७ ई० को पड़ती है। डॉ० विंसेंट स्मिथ के अनुसार प्रथम लेख में किसी को समर्पण, द्वितीय में बावली बनाने का उल्लेख और तीसरे में अज्ञात विषय है। लेखक को तो सभी का विषय अस्पष्ट जान पड़ता है। तीनों में कोटिश्रा-ग्राम के क्षत्रिय राउतों का ज़िक्र है, जिन्होंने तीन बार कुछ प्रतिपादन किया, जिसका स्मारक रखने योग्य था। वह

क्या था, इस पर कदाचित् कोई पाठक लेखों को जाँचकर कुछ प्रकाश डाल सके। यहाँ पर इतनी बात बतला देना आवश्यक है कि इस क़िले पर चंडिकादेवी का विशेष माहात्म्य रहा जान पड़ता है। कई जगह चट्टानों पर चंडिका और नवदुर्गा की प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। क़िले के फाटक पर एक नव लकीर के लेख में चण्डिका को कई लोगों के प्रणाम लिखे हैं। यथा—

१. द्विवेद कूकेकस्य
२. भाग्नेय पंडितश्री
३. जैते चण्डिकायाः
४. प्रणामति सदा
५. श्रीधर्मादित्य चण्डिकायाः
६. प्रणाम त सूत्रधार धांधसं
७. कार्त्तिक वदि ६ बुधे
८. राउत श्रीहरीचंद
९. चण्डिकायां प्रणामति

फाटक के निकट चंडिका की मूर्ति के पास वास्तव्य-घराने के एक व्यक्ति का जो श्लोकबद्ध लेख है, उसका भी आरंभ "ओं नमः चण्डिकायै" से होता है। तो क्या यह असंभव है कि फाटक के तीन लेख, जो ऊपर उद्धृत किए गए हैं, चंडिका के महाबलिदानों के स्मारक हों? प्राचीन काल में किसी-किसी वंश को जागीरें लगी थीं, इसलिये कि जब नरबलि की आवश्यकता हो, तो वे अपने वंश से एक जन दें। क्या कोटिया-गाँव का क्षत्रिय-जातीय राउत-वंश इस प्रकार का जागीरदार था, और क्या "संकलिग्रा ५२" "५२ बलि-सकलित" का संकेत करता है?

अजयगढ़ चंदेलों क़िला है, इसलिये चंदेलों ज़माने के ही यहाँ विशेष ध्वंसावशेष और लेख पाए जाते हैं। मुख्य-मुख्य चंदेलों लेखों का वर्णन ऊपर हो चुका है। दो-एक लेख बुंदेली ज़माने और ऐसे ही अँगरेज़ी ज़माने के क़ब्रस्तानी लेख हैं। ये किसी काम के नहीं हैं। एक दोहा एक लोहे की तोप पर बुंदेल राजा माधवसिंह ने खुदवा दिया था। वह इस प्रकार है—

> दाहन गढ़ गाढ़े गढ़िन दाहन पर पुर धाम;
> माधव नृप की तोप यह अरिदलगंजन नाम।

इस दोहे की नक़ल करते समय लोगों ने इसका क़िस्सा कुछ और ही बतलाया। तब लेखक ने उसी के सिलसिले में जो नोट कर लिया, वह यह है—

> बखतसिंह महराज ने बनवाई यह तोप।
> माधव ने कीरति लई बाप नाम कर लोप।
> बैर भँजायो बाप सो अरिदलगंजन कीन्ह।
> बेटा भए सपूत जस नाम आपनो दीन्ह।

वर्तमान बुंदेलखंड का प्राचीन नाम जझौती था।

कभी चंदेली राजधानी थी

डॉक्टर विंसेंट स्मिथ का कहना है कि चीनी यात्री हुएनसांग ने जिस ची-ची-टो-नामक देश का वर्णन लिखा है, वह जझौती ही है, जिसका रूप चीनी-भाषा में वैसा हो गया है। परंतु यह बात युक्तियुक्त नहीं जँचती। जझौती संस्कृत 'जेजाभुक्ति' का अपभ्रंश है। यह नाम चंदेल-राजा जेजा या जयशक्ति के नाम पर रक्खा गया था। जयशक्ति सन् ८६० ई० के लगभग गद्दी पर बैठा था; परंतु चीनी यात्री ची-ची-टो की राजधानी को सन् ६४१ ई० में गया था। यदि ची-ची-टो जझौती का अपभ्रंश समझा जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि जयशक्ति के जन्म के २०० वर्ष पूर्व ही देश का नाम उसके नाम पर रख लिया गया था। स्पष्टतः डॉ० विंसेंट स्मिथ का यह भ्रम है कि उन्होंने मिलते-जुलते नामों को देखकर साम्य स्थापित कर दिया, और समय का विचार ही नहीं किया। जझौती का विस्तार चंदेलों ही ने बढ़ाया, और सन् ८३१ से १३०६ ई० तक जमकर राज्य करते रहे, यद्यपि मुसलमानों ने चढ़ाई-पर-चढ़ाई करके तेरहवीं सदी के आदि से उन्हें कमज़ोर कर दिया। चंदेलों की आदि-राजधानी मनियागढ़ में थी; उसके निकट खजुराहो में उन्होंने अनुपम मंदिर बनवाए, और उसे अपनी धार्मिक राजधानी बना लिया। सेना का निवास-स्थान कालंजर-क़िले में था। दसवीं शताब्दी में चंदेल-राजा अपना निवास महोबे को ले गए, और बारहवीं शताब्दी के अंत तक वहीं रहते आए। परंतु अंत में मुसलमानों की पीड़ा से त्रैलोक्यवर्मन् ने अजयगढ़ के क़िले में रहना पसंद किया। तब से यह चंदेलों का विश्राम-स्थान हो गया। अजयगढ़ पहले ही से बुंदेलखंड के आठ कोटों में शामिल था। ये दुर्गम क़िले समझे जाते थे। इसी से—

> जयपुर-पति जयदुर्ग यह भीषण और अजेय;
> निज पति को जय अरिन को अजय अजयगढ़ देय।

हीरालाल

कविवर रहीम-संबंधी कतिपय किंवदंतियाँ

प्रसिद्ध पुरुषों के विषय में जो जनश्रुतियाँ साधारण जन-समाज में प्रचलित हो जाती हैं, वे सर्वथा निराधार नहीं होतीं। यद्यपि उनमें कल्पना की मात्रा अधिक होती है, तथापि उनका ऐतिहासिक मूल्य भी कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। किंवदंतियों में मनोरंजन की सामग्री भी होती है, इस कारण वे मौखिक रूप में ही अनेकों शताब्दियों तक जीवित रहती हैं। भोज और कालिदास अथवा अकबर और बीरबल के नाम से अनेक मनोरंजक दंतकथाएँ प्रचलित हैं, और उनमें सभी इतिहास-सिद्ध नहीं हैं। परंतु उनमें वर्णित विषय से उन पुरुषों के जीवन तथा रहन-सहन-संबंधी अनेक बातों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। अनेक छोटी-छोटी बातों से ही उन महापुरुषों के चरित्र, स्वभाव आदि का भली भाँति ज्ञान हो जाता है। इस कारण किंवदंतियों को सर्वथा कपोल-कल्पना समझकर त्याग करना ऐतिहासिक सामग्री का नाश करना है। हिंदी-साहित्य के इतिहास में तो विशेष स्थान किंवदंतियों को प्राप्त है, और जो इतिहास-प्रेमी सभी किंवदंतियों को भ्रममूलक समझकर कल्पित इतिहास गढ़ते हैं, वे श्रृंखलाबद्ध इतिहास का निर्माण करने में विघ्न उपस्थित करते हैं।

अन्य प्रसिद्ध कवियों के समान नवाब ख़ानख़ाना अब्दुर्रहीम (उपनाम रहीम) के विषय में भी अनेक दंत-कथाएँ प्रचलित हैं। हिंदी-संसार में इन रहीम-विषयक किंवदंतियों का आदर भी प्रत्येक हिंदी-प्रेमी करता है। गो० तुलसीदासजी, रीवाँ-नरेश राना अमरसिंह आदि अनेक समकालीन पुरुषों से संबंधित रहीम-विषयक जनश्रुतियाँ तो सभी को भली-भाँति विदित ही हैं। इन प्रचलित जनश्रुतियों के अतिरिक्त हमें कुछ और भी मालूम हैं। उन्हें माधुरी के प्रेमी पाठकों के विनोदार्थ हम यहाँ देते हैं। हमें ये कथाएँ 'चकत्ता-वंश-परंपरा'-नामक एक अज्ञात लेखक की पुस्तक से प्राप्त हुई हैं। इस पुस्तक का पूरा वर्णन फिर कभी किया जायगा। यहाँ पर केवल इतना ही कह जाता है कि यह पुस्तक संभवतः जयपुर-नरेश सवाई माधोसिंह के समय में, सं० १८२ वि० के लगभग, रची गई है। इस ग्रंथ में इन महाराज की प्रशंसा भी की गई है, और मुग़ल-राज्य (चकत्ता-वंश)-संबंधी मनोरंजक बातों का वर्णन भी इसी समय तक है। संवत् १८१५ वि० में हिंदी-गद्य की क्या अवस्था थी, यह प्रकट करने के हेतु इन दंतकथाओं को यथावत् उद्धृत करते हैं। कोष्ठक में दिए हुए शब्द सुगमता-पूर्वक भाव-प्रदर्शन करने के हेतु हमारी ओर से दिए गए हैं।

(१)

ख़ानख़ाना की पालकी में काहू[1] ने पचसेरी[2] डाली। ता प्रमान[3] ख़ानख़ाना ने (उलटा उसे) सोना दिवाय दिया और सीख दई। तब काहू ने अरज करी जो याने (तो) गरदन मारने के काम किए, (उसे) सोना क्यों दिवाय दिया ? नवाब (ने) कही--याने हम कूँ पारस जानि परीक्षा निमित्त पचसेरी पालकी में राखी है।

(२)

एक दरिद्री (ने) ख़ानख़ानाजू की ड्योढ़ी[4] (पर) आय कही--मैं नवाब का साढ़ू हूँ। तब चोबदार (ने) नवाब सूँ ख़बरि करी। सो नवाब (ने) दरिद्री कूँ बुलाया, (और) सिष्टाचार करि बहौत स्वागत करो। तब काहू ने (नवाब से) पूँछी--यह दरिद्री आपका साढ़ू किस तरह है ? नवाब (ने) कही--संपत्ति-बिपत्ति दो भैन[5] हैं। सो संपत्ति हमारे घर में है और बिपत्ति याके घर में है तासूँ हमारा साढ़ू है।

(३)

ख़ानख़ाना (ने) चोबदार सूँ कही--रसायनी ज्ञानी ब्राह्मण होयगा जिनोकूँ आने मति देऊ। जो रसायनी ज्ञानी ब्राह्मण होयगा सो हमारे घर (ही) क्यों आवेगा। और (जो) आवता है सो (ब्राह्मण) दग़ाबाज़ है।

(४)

एक सिद्ध मुख में गोली ले आकास (मार्ग से) जाते हुते। सो (सिद्ध) ख़ानख़ाना के बाग़ में उतरि सोय गया। सो (नींद में) गोली मुख में ते गिर परी। तब

---

१. किसी। २. पाँच सेर का लोहे का बाँट, पसेरी। ३. उसके बोझ के बराबर। ४. दरवाज़ा, पौरी। ५. बहन, भगिनी।

ख़ानख़ाना (ने) उठाय लई । अतीत[1] जागि (कर) हैरन[2] लागा । तब ख़ानख़ाना (ने) गोली सौंपि दई । तब उह गुजराति (लौट) गया और गुरु सों मिलि (कर) कह — येक गोली जाती रही (और फिर) ताके सर्व समाचार कहे । सो गुरु ने चेला पठाय दिल्ली कूँ अर रस कूप का (?) की सीसी ख़ानख़ानाजी (के) पास भेजी । ताकी एक बूँद ते लाखन मण ताम्रा[4] सोना हो जाय । सो ख़ानख़ानाजू दरयाव[5] (के) पासि चेला सहत गए । सो सीसी जमुना में डारि दई और कही—मोकूँ (तो) ऐसा मारग बतावो जाते संसार ते छूट जावों । दौलत तो पहले ही बहुत है ।

(४)

ख़ानख़ाना कहता—आदमी बिना दग़ाबाज़ी काम का नहीं । पर दग़ाबाज़ी की ढाल करना जोग्य, तरवार करना नहीं[7] ।

भक्तमाल के आधार पर रहीम-विषयक जो कथा आज कल की प्रकाशित पुस्तकों में मिलती है, उसमें भी थोड़ा-बहुत अंतर पाया जाता है । इस कारण सं० १८१४ के लगभग[8] रचित वैष्णवदास कृत 'भक्तमाल' की प्राचीन प्रति से यह कथा भी यहाँ उद्धृत की जाती है । भक्तमाल को नाभादासजी ने लिखा था, और उनके शिष्य प्रियादासजी ने उस पर टीका की थी । वैष्णवदासजी इन्हीं प्रियादासजी के पुत्र थे, और उन्होंने 'भक्तमाल-प्रसंग' नाम से भक्तमाल की प्रियादासी टीका पर टीका रची है ।

एक रहीम नाम पठान विलायति में रहे । ताने सुनी (कि) नाथजी[9] बहुत खबसूरति हैं । तब वाने (मन में) कही—सूखी बिना मिठाई कोन काम की । यह विचारि फेरि (दर्शन की) चाहि भई । रात दिना चल्योई आयो । जब (रहीम) दरवाजे पै आयो तब (चोबदार ने) रोक्यो (और कहा) भीतर मत जाय । तब (रहीम) बगदि[1] के बोल्यो—यह साहब[2] अरु यह बेगुरी[3] । "वाह क्यों दई (और जो) चाह दई तो जामा[5] मैलो क्यों दयो ? (और यह दोहा कहा)—

हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर ।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर ।

तब ऐसे कहि के (रहीम) पर्वत[6] के नीचे जाय बैठे । तब गुसाईंजी[7] ने (यह सब) सुनि के थार को प्रसाद लै के रहीम पै गए । तब वाने (रहीम ने) कही—बाबा तुम यहाँ क्यों आवते हो । तुम सों हमारा क्या काम है । मैं तो जिसन बुलाया हूँ[8] तिसे ही कहता हूँ । तब नाथजी (स्वयं) थार लाये । (परंतु) तब वाने (रहीम ने) पीठ फेरि लई । तापे (यह) दोहा (कह्यो)—

खिंचे चढ़त ढीले ढरत, अहो कौन यह प्रीति ।
आजिकालि मोहन गही, बंस दिए की रीति ।

यह विचारि के (रहीम ने) पीठ दई । तब (श्रीनाथजी) थारि धरि के चले गए । तब यह पीछे पछतायो "मैंने बुरी करी । वाकों (श्रीनाथजी को) तो मोसे बहुत आसिक है मोको ऐसो मासूक कहाँ । फेरि कहा हूँ है ।" तब विचार (किया कि) अब (तो) दिन कटई करे (केवल) वाकी बातन सों ।

तापे (केवल बातों से कैसे दिन कटे) दृष्टांत—

एक बैरागी जैं[9] आयो । दूसरे (बैरागी) पूछें—तैने कहा खायो न्योते में । वाने सब बताय दियो परी, बूरो, लडुवा अरु दही । तब वह बोल्यो फेरि कहो (उसने) फेरि पाठ कीनो । तब वह (फिर) बोल्यो—'फेरि कहो' । (बैरागी ने) कही रे बातन सूँ तो पेट नाहिं भरे । तब वह बोल्यो—दिन तो कटे है[10] ।

सो अब वह दिन कटई करे है—

(श्रीनाथजी के) आइबे[11] की छवि कहे हैं—

छबि आवन मोहन लाल की ।
काछे काछनि कलित मुरलि कर पीत पिछौरी साल की ।

---

१. अतिथि, यात्री । २. खोजना । ३. मन । ४. ताँबा, ताम्र । ५. नदी, यमुना । ६. सहित, साथ । ७. विश्वासघात से अपनी रक्षा करनी चाहिए, न कि दूसरे का अहित । ८. यह संवत् 'हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों का विवरण' के आधार पर दिया गया है । ९. वल्लभकुल-संप्रदाय के आराध्य देव, जिनका मंदिर अब उदयपुर-राज्य में है, पहले गोवर्धन में था ।

१. उलटकर । २. साहिबी, बड़प्पन । ३. बेशहूरी, गँवारपन । ४. इच्छा, दर्शन, लालसा । ५. देह, नीच जाति में क्यों जन्म दिया । ६. गोवर्धन पर्वत । ७. गो० श्रीविट्ठलनाथजी । ८. जिसने मुझे बुलाया है । ९. भोजन करना । १०. बातों से दिन किस तरह कट सकता है, इसको व्यक्त करने के हेतु प्रसंगवश यह दृष्टांत दिया है । भक्तमाल-प्रसंग में इसी प्रकार की टीका है । ११. प्रकट होकर दर्शन देने की छवि का वर्णन रहीम ने निम्न-लिखित पदों में किया है ।

बंक तिलक केसर को कीने, दुति मानो बिधु बाल की।
बिसरत नाहिं सखी मो मन ते, चितवनि नैन बिसाल की।
नीकी हँसनि अधर सधरनि, छबि लीनी सुमन गुलाल की।
जल सो डारि दियो पुरइनि पै, डोलनि मुकता माल की।
यह सरूप निरखै सोई जानै, या रहीम के हाल की।

कमल दल नैननि की उनमानि ;

बिसरत नाहिं मदनमोहन की, मंद-मंद मुसकानि।
दसननि की दुति चपला हू तें, चारु चपल चमकानि ;
बसुधा की बस करी मधुरता, सुधा-पगी बतरानि।
चढ़ी रहै चित उर बिसाल की, मुक्तमाल लहरानि ;
नृत्य समय पीतांबर की वह, फहरि-फहरि फहरानि।
अनुदिन श्रीबृंदाबन ब्रज में, आवन जावन जानि ;
छबि रहीम चित तें न टरति है, सकल स्याम की बानि।

जिहिं रहीम तन मन दियो, कियो हिये बिच भौन ;
तासों दुख-सुख कहन की, रही कथा अब कौन।
मोहन-छबि नैननि बसी, पर छबि कहाँ समाय ;
भरी सहाय रहीम लखि, पथिक आपु फिरि जाय।

याज्ञिकत्रय

ईसाई-तिथि-पद्धति में युगांतरकारी संशोधन

१३ महीने का वर्ष और २८ दिन के महीने
एक नए महीने और दो स्वतंत्र वारों की उत्पत्ति

यह तो सबको विदित है कि ईसाई महीने—जनवरी, फ़रवरी इत्यादि—समान दिनों के नहीं होते। कोई २८ दिन का होता है, कोई २९ दिन का, और कोई ३० या ३१ दिन का। इस प्रकार वर्ष के १२ महीने ३६५ दिन के होते हैं, और चौथा वर्ष ३६६ दिन का। इसका संशोधन एक बार, संवत् १३ विक्रमी में, अर्थात् ईसवी सन् के आरंभ से ४४ वर्ष पूर्व, आज से लगभग २००० वर्ष पहले, रोम के बादशाह जूलियस सीज़र ने, सिकंदरिया के ज्योतिषी सोसीजेनिस (Sosigenes) की सहायता से, किया था। इसी समय से इसके नाम पर जुलाई का महीना चला। इसके अनुसार प्रत्येक सामान्य वर्ष ३६५ दिन का माना जाता था, और चौथा वर्ष लीप इयर कहलाता था, जो ३६६ दिन का माना जाता था। इस तिथि-पद्धति का प्रचार संवत् १६३९ वि० या सन् १५८२ ईसवी तक रहा।

उपर्युक्त जूलियन तिथि-पद्धति के अनुसार प्रत्येक वर्ष का मध्यम मान ३६५ दिन ६ घंटे का होता था। परंतु वर्ष का यथार्थ मान ३६५ दिन ५ घंटे ४८ मिनट ४६ सेकिंड का है, अर्थात् ऋतुओं का क्रम इतने ही समय पर बार-बार फेरा करता है। इसलिये, प्रतिवर्ष इन दोनों का अंतर ११ मिनट के लगभग बढ़ते जाने से, १३० वर्ष में १ दिन का अथवा ४०० वर्षों में ३ दिन का अंतर पड़ने लगा। इस प्रकार ईसाइयों का ईस्टर-नामक त्योहार वसंत की जगह गरमी की ऋतु में पड़ने लगा।

यह गड़बड़ मिटाने के लिये संवत् १६३९ वि० में, ईसाई-जगत् के धर्मगुरु पोप १३वें ग्रेगरी के उद्योग से, यह नया संशोधन किया गया कि सामान्य वर्ष ३६५ दिन का और लीप इयर ३६६ दिन का हो ; परंतु शताब्दियों के वर्ष वही ३६६ दिन के माने जायँ, जो ४०० से पूरे-पूरे कट जायँ। इस नियम के अनुसार १६०० ई० का वर्ष तो ३६६ दिन का माना गया, परंतु १७००, १८०० और १९०० ई० के वर्ष ३६५ दिन के ही माने गए। इसके सिवा जो १६०० वर्षों में ११-१२ दिन का अंतर बढ़ गया था, उसके लिये उतनी ही तारीख़ें छोड़ दी गईं। परंतु इसका प्रचार रूस में नहीं माना गया। इँगलैंड में भी इसका प्रचार उस समय नहीं हुआ, वरन् १७५२ ईसवी में, पार्लियामेंट के क़ानून के अनुसार, हुआ। पुरानी गड़बड़ दूर करने के लिये इस वर्ष के सितंबर के महीने की ११ तारीख़ें छोड़ दी गईं, जिससे सितंबर की २री तारीख़ के बाद १४वीं तारीख़ मानी गई। इस पद्धति को ग्रेगोरियन-तिथि-पद्धति कहते हैं।

यह तो हुई महीने के दिनों की कथा। अब सनों की कथा सुनिए। ईसामसीह के जन्म के पहले योरप में रोम-साम्राज्य का प्रभुत्व चारों ओर फैला था। इसलिये सारे योरप में उस सन् का प्रचार था, जो रोम की स्थापना के दिन से आरंभ हुआ था। यह घटना ईसा के जन्म से ७५३ वर्ष पूर्व हुई थी।

रोम के स्थापना-काल का सन् योरप में कोई १३०० वर्षों तक चला। ५३२ ईसवी में एक सीदियन महंत ने यह उद्योग किया कि सारे ईसाई-जगत् में ईसा के जन्म-काल से सन् का आरंभ माना जाय। उसने खोज करके स्थिर किया कि ईसा का जन्म रोम के स्थापना-काल से ७५३ वर्ष उपरांत, २५ दिसंबर को, हुआ था। इसलिये यह विचार किया गया कि २५ दिसंबर से ही ईसाई वर्ष और सन् का आरंभ माना जाय। परंतु रोमन वर्ष का आरंभ १ली जनवरी को होता था, इसलिये यह निश्चय किया गया कि वर्ष का आरंभ १ली जनवरी से ही माना जाय। इस प्रकार ईसवी सन् का आरंभ ईसा के जन्म-काल से चल पड़ा।

अब तीसरा संशोधन राष्ट्रों के संघ (League of Nations) के सम्मुख उपस्थित किया गया है, जो बहुत ही विचित्र है। संभव है, इसका प्रचार सन् १९२८ से हो जाय।

इसके अनुसार प्रत्येक वर्ष में १२ महीने की जगह १३ महीने माने जायँगे, और प्रत्येक महीना २८ दिन का होगा। नए महीने का नाम सोलरीज़ या हाली डे मंथ (छुट्टी का मास) रक्खा जायगा, और इसका स्थान जून और जुलाई के बीच होगा। प्रत्येक मास की पहली तारीख़ सोमवार को और २८वीं तारीख़ रविवार को पड़ेगी। परंतु इस प्रकार वर्ष में केवल ५२ सप्ताह या ३६४ दिन होते हैं, जब कि यथार्थ वर्ष ३६५ दिन ५ घंटे ४८ मिनट ४६ सेकिंड का होता है। इसलिये ३६५वाँ दिन इतवार, सोमवार न रहकर न्यू इयर्स डे (वर्षारंभ का दिन) कहलावेगा, और सप्ताह तथा महीने के बंधन में न रहकर केवल वर्ष के अधीन रहेगा। अर्थात् इस दिन की गणना किसी महीने या सप्ताह में न की जायगी। ग्रगरी की तिथि-पद्धति के अनुसार जिस वर्ष में लीप इयर होगा, उस वर्ष का ३६६वाँ दिन लीप इयर डे के नाम से प्रसिद्ध होगा, और यह भी सप्ताह या महीने के बंधन से मुक्त रहेगा।

सोचा गया है कि इससे मज़दूरी करनेवालों को बड़ी सुविधा होगी, और आय-व्यय की मासिक या दैनिक गणना एक प्रकार की हो जायगी। प्रतिवर्ष तिथि-पत्र (कैलेंडर) बनाने की आवश्यकता ही न रह जायगी। जिसका मासिक वेतन स्थिर है, उसको वर्तमान पद्धति के अनुसार फ़रवरी में केवल २४ दिन काम करने पड़ते हैं; परंतु अन्य मासों में २५ या २६ दिन। नवीन प्रथा से काम करनेवालों को प्रत्येक मास में एक-सा काम करना पड़ेगा, और एक-सी मज़दूरी मिलेगी। वार्षिक मज़दूरी कम न पड़ेगी, क्योंकि उसको १२ महीने की जगह १३ महीने की मज़दूरी मिलेगी।

ईसाई धार्मिक उत्सवों और पर्वों के विचार से भी नवीन पद्धति से लाभ होगा। प्रचलित प्रथा के अनुसार ईस्टर का त्योहार २३ मार्च से २५ एप्रिल के बीच में कभी पड़ता है। नवीन पद्धति के अनुसार इसकी तारीख़ भी स्थिर हो जायगी। क्रिस्मस का दिन भी स्थिर हो जायगा।

लीग ऑफ़् नेशंस की जिस समिति में इस संशोधन का विचार हो रहा है, उसमें ईसाई-संसार के धार्मिक, वैज्ञानिक और व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित हैं। यदि प्रस्ताव स्वीकृत हो गया, तो इसका चलन प्रत्येक देश की व्यवस्थापिका सभाओं के क़ानून द्वारा तुरंत करा दिया जायगा।

यह निश्चय है कि यह प्रस्ताव अवश्य स्वीकृत हो जायगा; क्योंकि सुना गया है, ईसाई-जगत् के धर्म-गुरु पोप महाशय भी इसमें कोई धार्मिक आपत्ति नहीं समझते। अब यह देखना है कि इसके प्रचार से भारत-वर्ष में क्या गड़बड़ फैलेगी। अभी तक लोग यह समझते रहे हैं कि संडे इतवार को और मंडे सोमवार को कहते हैं। यथार्थ में संडे, मंडे इत्यादि के नामों की उत्पत्ति उसी सिद्धांत पर है, जिस सिद्धांत पर रविवार, सोमवार इत्यादि के नाम पड़े हैं। इसी कारण तारीख़ और सनों में भिन्नता होते हुए भी भारतवर्षीय और ईसाई वारों में एक-रूपता थी। परंतु इस नवीन संशोधन से संडे, मंडे इत्यादि का अर्थ इतवार, सोमवार न रह सकेगा; क्योंकि हमारे इतवार, सोमवार से इनका मेल न मिलेगा। कारण स्पष्ट है।

मान लीजिए, १९२८ ईसवी से इस पद्धति का चलन हो जाय, तो प्रचलित प्रथा के अनुसार जनवरी की १ली तारीख़ रविवार को पड़ेगी। परंतु नवीन प्रथा से इस को १९२८ ई० का न्यू इयर्स डे कहेंगे। इसलिये जनवरी की १ली तारीख़ मंडे अर्थात् हमारे सोमवार से आरंभ होगी। इस प्रकार १३वें मास दिसंबर की अंतिम तारीख़

हमारे रविवार के दिन पड़ेगी । इस वर्ष लीप इयर पड़ेगा । इसलिये दिसंबर की अंतिम तारीख़ के बाद हमारे सोमवार के दिन लीप इयर डे और मंगल के दिन सन् १९२१ ईसवी का न्यू इयर्स डे होगा । इसके बाद १९२१ की १ली जनवरी हमारे बुधवार के दिन पड़ेगी, जिसको नवीन संशोधन के अनुसार संडे कहना पड़ेगा । इस प्रकार सिद्ध है कि हमारे सोमवार, मंगलवार इत्यादि अँगरेज़ी संडे, ट्यूज़डे आदि से भिन्न हो जायँगे ।

इसका परिणाम यह होगा कि जहाँ ईसाई-जगत् को दिनों और तारीख़ों की गणना सरल हो जायगी, वहाँ हमको यह भी याद करना पड़ेगा कि हमारे सोमवार के दिन ईसाई-पद्धति से कौन वार पड़ता है, इत्यादि । जैसे कचहरियों के कारण ग्रामवासियों को अपनी तिथियों के साथ ईसाई तारीख़ों को याद करना भी आवश्यक हो गया है, वैसे ही अपने वारों के साथ ईसाई वारों को भी याद रखना आवश्यक पड़ जायगा, जो सरल नहीं है । इसकी आवश्यकता तार भेजने और पानेवालों को अधिक पड़ेगी ; क्योंकि तार में वारों का नाम लिखने में सुविधा होती है, जो स्पष्ट है कि ईसाई-पद्धति के अनुसार ही व्यवहार किए जायँगे ।

भारतवर्ष में इसके प्रचार के साथ यह भी प्रश्न उपस्थित होगा कि जिन लोगों को वेतन मासिक दिया जाता है, उनका हिसाब किस प्रकार किया जाय ; क्योंकि यह तो संभव नहीं कि इस समय जो वेतन दिया जाता है, उसी हिसाब से वर्ष में १३ महीने का वेतन दिया जाय । इसलिये यह आवश्यक होगा कि अब तक जो वेतन बारह महीने के लिये दिया जाता है, वही तेरह महीने में बाँट दिया जायगा, जिसका परिणाम यह होगा कि मासिक वेतन का परिमाण उसी अनुपात से कम पड़ जायगा ।

हमारे यहाँ तीसरे वर्ष एक बार लौंद का महीना पड़ता है, जिससे वह वर्ष १३ महीने का हो जाता है । पहले इस महीने का वेतन या ब्याज नहीं लगाया जाता था ; परंतु कहीं-कहीं गड़बड़ होने के कारण लोग वेतन या ब्याज इत्यादि का हिसाब किताब ईसाई महीने के अनुसार ही रखने लगे । मासिक पत्र तो अवश्य लौंद के महीने में नहीं निकाले जाते थे ।

जो मासिक पत्र ईसाई महीने के अनुसार प्रकाशित होते हैं, उनको प्रति वर्ष १३ अंक निकालने पड़ेंगे । इसलिये या तो उनको वार्षिक चंदा बढ़ाना पड़ेगा, अथवा उसका आकार कम करना पड़ेगा ।

यह कथा भी बड़ी रोचक है कि अब तक सारे संसार में (कुछ देशों को छोड़कर) १२ महीने का ही वर्ष और सात दिन का सप्ताह क्यों माने गए । परंतु यह किसी अन्य लेख में कही जायगी ।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव

"प्यार है"

(१)

क्यों तबीयत इस क़दर बेज़ार है ;
मुझको कैसा हो गया आज़ार है ।
हैं तड़पते सीम-तन की याद में ;
चश्मे-गिरियाँ अब्रे-गौहर बार है ।
जलवागर का है कहाँ जलवा नहीं ;
किसलिये फिर हसरते-दीदार है ।
सब जगह वह है, कहीं भी है नहीं ;
साहबो, यह कौन-सा इसरार है ।
बंद तो कैसे दरे-उलफ़त न हो ;
रंज की दिल में खड़ी दीवार है ।
कोई रहता ख़्वाबे-ग़फ़लत में न क्यों ;
वक़्त अब होता नहीं बेदार है ।
तंग करती है उसे भी इहतियाज ;
दरहक़ीक़त दार भी नादार है ।
पास उसके आ नहीं सकती ख़ुदी ;
बेख़ुदी के मै से जो सरशार है ।
बह रहा है तो बहे आँसू, मगर—
आबरू बचना बहुत दुशवार है ।
दर्दे-दिल की है यही बनता दवा ;
तीर जो होता जिगर के पार है ।

(२)

बीन में तेरी भरी झनकार है ;
बज रहा मेरी रगों का तार है ।
यों भवें क्यों हैं नचाई जा रहीं ;
आज किस पर चल रही तलवार है ?
जायगी मेरी ख़बर उन तक पहुँच ;
लग गया अब आँसुओं का तार है ।

फूल मुँह से किसलिये झड़ते नहीं ;
वह बना मेरे गले का हार है।
किस तरह वह आँख भर तब देखता ;
आँख जब होती नहीं दो-चार है।
वह लगाता है किसी से आँख क्यों ;
आँख में जिसका कि बसता प्यार है।
लड़ गईं आँखें, बला से लड़ गईं ;
दो दिलों में क्यों मची तकरार है ?
आँख में घर कर रहे हो, तो करो ;
क्यों हमारा लुट रहा घर-बार है ?
या बरस पड़ना, बरस पड़ते न क्यों ;
बेतरह क्यों हो रही बौछार है।
पार तूने है नहीं किसको किया ;
क्यों हुआ मेरा न बेड़ा पार है ?

अयोध्यासिंह उपाध्याय

जाट और अँगरेज़
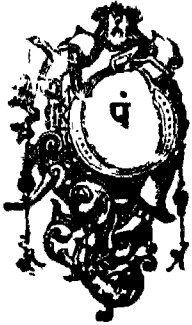
पंजाब प्रांत के एक अख़बार में किसी व्यक्ति ने यह प्रश्न उठाया था कि अँगरेज़ी-राज्य में हिंदू-जाटों की संख्या घट रही है। वास्तव में विचार-पूर्वक देखा जाय, तो जाट ही क्यों, अँगरेज़ी-राज्य में सभी वीर और लड़ाकू-जातियों की—विशेषकर हिंदुओं की वीर और लड़ाकू-जातियों की – संख्या घट रही है। कितनी ही जातियाँ तो नेस्तनाबूद तक हो गई हैं। उनका नाम-निशान तक मिट गया है। जाटों को ही लीजिए। मुग़ल-साम्राज्य के पतन-काल में इन्होंने अत्यंत वीरता प्रकट की थी, मुग़ल साम्राज्य के उखाड़ने-पछाड़ने में विशेष भाग लिया था। जिस समय अँगरेज़ लोग साधारण वणिक् की हैसियत से हिंदुस्तान में अपने भाग्य की परीक्षा कर रहे थे, उससे कहीं पूर्व जाट-जाति का नाम इतिहास में चमक चुका था। जब मुग़ल-साम्राज्य के पतन-काल का इतिहास पढ़ते हैं, तब तो उत्तर भारत में जाटों की प्रधानता देखते हैं। भारत के इतिहास में जाटों का कौन-सा स्थान है, आज इस विषय पर न लिखकर अँगरेज़ी शासन-काल के आरंभ में जाटों ने अँगरेज़ों से किस प्रकार मोर्चा लिया था, वही पाठकों को सुनाते हैं।

इतिहास-रसिक पाठकों से यह छिपा नहीं कि अँगरेज़ों के भाग्य का सूर्योदय पलासी के युद्ध के पीछे ही हुआ है। उस समय भारत की रंगभूमि पर हिंदुओं की दो प्रधान शक्तियाँ मौजूद थीं। एक महाराष्ट्र और दूसरे सिख। सिखों में जाट भी थे। पंजाब के अत्यंत तेजस्वी, सिख-महाराज रणजीतसिंह जाट ही थे। पर नहीं, इतिहास से ऐसे हिंदू-जाटों का भी पता लगता है जो सिख-मतावलंबी नहीं थे, पर उन्होंने अँगरेज़ों के नाकों चने चबवा दिए थे। यद्यपि हम सिखों को भी हिंदू ही समझते हैं, सिख-मत हिंदू-धर्म की रक्षा करने के लिये ही पैदा हुआ था, पर ऐसे भी हिंदू-जाट थे, जिन्होंने रण-क्षेत्र में वीरता प्रकट करने में कसर नहीं की।

पहले-ही-पहल अँगरेज़ों को जाटों से उस समय संधि करने की आवश्यकता पड़ी, जिस समय ईस्ट इंडिया कंपनी का संधिया और मैसूर के हैदरअली से युद्ध ठना था। यह संधि सब जाटों से नहीं, केवल गोंहद के राना लोकेंद्रसिंह से, सन् १७७९ में, हुई थी। राना लोकेंद्रसिंह वर्तमान धौलपुर-नरेश के पूर्वज थे। वह मराठों के बड़े दुश्मन थे। मराठों की राजपूताने के संबंध में कोई अच्छी नीति नहीं थी। अतएव राना लोकेंद्रसिंह ने भी महाराज युधिष्ठिर के इन वाक्यों—

"वयं पंच वयं पंच वयं पंच शतं च ते ;
अन्यैः सहविवादे तु वयं पंच शतं च वै।"

को भूलकर संधि कर ली। पर यह संधि सलबाई के युद्ध के पीछे टूट गई। ईस्ट इंडिया कंपनी के तत्कालीन कर्मचारियों ने अपना मतलब निकल जाने के पीछे राना की रक्षा का ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। सन् १७८३ में संधिया महादजी ने गोंहद और ग्वालियर राना लोकेंद्र-सिंह से पुनः छीन लिए। सन् १८०६ ई० में राना लोकेंद्रसिंह ने ईस्ट इंडिया कंपनी के अनुरोध से गोंहद का धौलपुर से परिवर्तन कर लिया, और सदैव के लिये ब्रिटिश-गवर्नमेंट की छत्रछाया में रहना स्वीकार किया। धौलपुर के जाट-राजों के अतिरिक्त भरतपुर के जाट-राजा रणजीतसिंह ने भी सन् १८०४ ई० में, लसवारी के युद्ध के अवसर पर, ईस्ट इंडिया कंपनी से संधि की थी, और लसवारी के युद्ध के समय मराठों के विरुद्ध अँगरेज़ों को अच्छी

सहायता दी। पर पीछे यह संधि टूट गई, और भरतपुर के जाट-वीरों और अँगरेज़ों में घोर युद्ध हुआ, जिसके अनेक कारण होने पर भी निम्न-लिखित मुख्य कारण था—

इंदौर के तत्कालीन नरेश जसवंतराय होलकर अत्यंत स्वाधीन विचार के थे। वह अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहते थे। अँगरेज़ अपनी कूट-नीति के बल से मराठा-संघ में फूट डालकर भारत को ग़ुलाम बनाने की चेष्टा कर रहे थे। हिंदोस्तानियों की हिए और कपार की फूट गई थीं। वे अँगरेज़ों की दूरदर्शिता और राजनीतिक बुद्धि को समझ न सके। एक दूसरे की सहायता करना तो दूर रहा, एक दूसरे का विरोध करने और विरोधियों की सहायता पर तुले हुए थे। जसवंतराय होलकर और अँगरेज़ों की अनेकों लड़ाइयाँ हुई थीं। एक युद्ध में जसवंतराव होलकर ने दिल्ली से भागकर डीग में शरण ली—याद रखना चाहिए, डीग भरतपुर-राज्य में ही है। शरणागतवत्सल हिंदू-नरेश, भरतपुर के महाराजा रणजीतसिंह ने, प्राचीन शुद्ध सनातन प्रथा के अनुसार, होलकर को अँगरेज़ों के हाथ में देना उचित नहीं समझा। बस, अँगरेज़ों का भी भरतपुर के जाटों से युद्ध ठन गया। मिल और विलसन (Mill and Wilson's History of British India) ने अपनी पुस्तक के छठे भाग के पृष्ठ ४२६ में इस युद्ध के और भी जो कारण लिखे हैं, उनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है—

(१) मथुरा में (जो भरतपुर के पास ही है) ब्रिटिश-रेज़ीडेंट के नमक के मुक़दमों के संबंध में कुछ निर्णय।

(२) भरतपुर-राज्य में अँगरेज़ अँगरेज़ी न्यायालय स्थापित करनेवाले हैं, इस रिपोर्ट से डरकर।

(३) अँगरेज़ों की गो-वध करने की इच्छा।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि जिस समय अँगरेज़ों ने मथुरा ली थी, उस समय यह आज्ञा प्रचारित की थी कि मथुरा पवित्र भूमि है, भगवान् कृष्ण का जन्म-स्थान है, अतएव कोई फ़ौजी गोरा गऊ, मोर आदि पवित्र जानवरों का वध न करे। लॉर्ड लेक की यह आज्ञा ब्रजभूमि के कई पत्थरों पर आज तक खुदी हुई है; पर उसके अनुसार काम नहीं होता। संभव है, लॉर्ड लेक की यह आज्ञा उनके सामने ही तोड़ी गई हो, और उससे भरतपुराधिप रणजीतसिंह उत्तेजित हुए हों। अस्तु, जो कुछ हो, ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारी भी भरतपुर के जाट-नरेश रणजीतसिंह की ओर से संदेह-जनक विचार में थे; क्योंकि हम अगस्त, सन् १८०४ ई० में, लॉर्ड लेक की चिट्ठियों में, इस संदेह-जनक विचार की गंध पाते हैं, जो उन्होंने भारतवर्ष के तत्कालीन गवर्नर जनरल, मारक्विस वेलेस्ली को भेजी थी। १३ अगस्त, सन् १८०४ ई० की चिट्ठी में जनरल लेक उक्त गवर्नर जनरल को लिखते हैं—"भरतपुर के राजा रणजीतसिंह और जसवंतराय होलकर में अँगरेज़ों के स्वार्थ के विरुद्ध कुछ दिनों से पत्र-व्यवहार हो रहा है, जिस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।"

यहाँ एक प्रश्न स्वभावतः उठता है कि जनरल लेक को जसवंतराय होलकर और भरतपुर-नरेश की चिट्ठी-पत्री का कैसे पता लगा। ख़ैर, कुछ भी हो, जनरल लेक ने जसवंतराय होलकर के पीछे भरतपुर-राज्य पर चढ़ाई करना उचित समझा। सन् १८०४ ई० की २३ दिसंबर को डीग पर अँगरेज़ी-सेना ने आक्रमण किया, और विजय प्राप्त की। डीग का पतन होने पर अँगरेज़ी-सेना समझने लगी कि भरतपुर दुर्ग का पतन सहज में हो जायगा। जसवंतराय होलकर भी डीग से भागकर भरतपुर की ओर बढ़े। डीग के पतन के साथ भरतपुर-नरेश महाराज रणजीतसिंह के पास केवल भरतपुर-नगर ही बचा था। बाक़ी समस्त राज्य से वह हाथ धो बैठे थे। वह अँगरेज़ी-सेना की गीदड़भबकी से नहीं डरे। उन्होंने सच्चे क्षत्रिय के समान रणक्षेत्र की चुनौती स्वीकार की। उन्होंने अँगरेज़ों को युद्ध के लिये ललकारा। ७ जनवरी, सन् १८०५ ई० को लॉर्ड लेक* ने भरतपुर-नगर पर आक्रमण किया। ९ जनवरी को बड़ी कठिनता से अँगरेज़ी-सेना भरतपुर-दुर्ग की एक दीवाल में छेद करने पाई थी। अँगरेज़ी-सेना मारे ख़ुशी के दुर्ग में घुसने की चेष्टा करने लगी। पर भरतपुर-दुर्ग में प्रवेश करना हँसी-खेल न था। जब खाई के किनारे पहुँचे, तो उन्हें प्रतीत हुआ कि पानी छाती-भर गहरा है। अँगरेज़ी सेना के बहुत-से वीर काम आए; पर वे भरतपुर-दुर्ग में

* उन दिनों लॉर्ड लेक जनरल लेक कहलाते थे। पीछे उन्हें लॉर्ड का टाइटिल मिला। इसलिये उन्हें इस लेख में कहीं लॉर्ड और कहीं जनरल लिखा है।—लेखक

प्रवेश न कर सके। भरतपुरी जाट-वीरों के सामने उन्हें सफलता प्राप्त न हुई। १० जनवरी को लॉर्ड लेक ने भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल, मारक्विस वेलेस्ली को जो चिट्ठी भेजी थी, वह भी सुनने लायक़ है। उन्होंने लिखा—"मैं श्रीमान् को लिख चुका हूँ कि नगर की दीवाल में छेद हो चुका है। मैं कल संध्या को उक्त स्थान उड़ाना चाहता था। मैंने यह समय इसलिये अधिक पसंद किया कि शत्रु रात्रि के समय उस छेद को रोक न दे। पर मुझे अफ़सोस है कि प्रकृति की ओर से ही इस काम में रुकावट डाली गई। हम लोगों के पहुँचने पर मालूम हुआ कि खाई में पानी गहरा है। यद्यपि अफ़सर तथा दूसरे मनुष्यों ने भरसक प्रयत्न किया, पर सफल-मनोरथ न हो सके। हम लोग बहुत कुछ हानि सहकर लौट आए।" यों पहले आक्रमण में लॉर्ड लेक को भरतपुर-दुर्ग के उड़ाने में सफलता नहीं प्राप्त हुई। पर उन्होंने मायाविनी आशा का परित्याग नहीं किया। उन्होंने समय-समय पर गवर्नर जनरल को जो चिट्ठियाँ भेजी थीं, उनमें वह यही आशा प्रकट करते रहे कि अब भरतपुर-दुर्ग लिया, तब लिया। पर कुछ न हो सका। थार्न साहब ने लिखा है कि इस प्रथम आक्रमण ही में चालीस गोरे, और बयालीस भारतीय सिपाही मारे गए; और दो सौ साठ गोरे, एक सौ पैंसठ देसी सिपाही घायल हुए। इस प्रथम आक्रमण के समय विजय-लक्ष्मी जाट-वीरों की ओर ढली।

भरतपुरी जाट इस विजय से निश्चिंत नहीं हुए। वे पहले से भी अधिक वीरता से युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। वे ६ जनवरी के प्रातःकाल से ही टूटे हुए छेद की मरम्मत करने लगे। इधर अँगरेज़ भी पहले से दुगने ज़ोर के साथ युद्ध की तैयारी करने लगे। उन्होंने प्रथम जाटों के मरम्मत के कार्य में बाधा डालनी चाही। पर जाटों की अनुपम वीरता के सामने अँगरेज़ी-सेना की सब युक्तियाँ व्यर्थ हुईं। दूसरे आक्रमण में भी अँगरेज़ी-सेना को सफलता नहीं प्राप्त हुई। यह दूसरा आक्रमण लॉर्ड लेक ने २१ जनवरी, सन् १८०५ ई० को किया था। परंतु खाई इतनी चौड़ी निकली कि अँगरेज़ी-सेना के आदमी जो पुल खंदक पार करने के लिये बनाकर लाए थे, वह छोटा पड़ा। जब पुल में सीढ़ी जोड़कर बढ़ाना चाहा, तब वह पानी में गिर गया, और डूब गया। इससे अँगरेज़ी-सेना की अपरिमित क्षति हुई। गोरे और देसी सिपाही मिलाकर अँगरेज़ी-सेना के ५१७ आदमी मारे गए।

मैं इस आक्रमण के संबंध की एक बात लिखना भूल गया। वह यह कि इस हिंदुस्तान को हिंदुस्तानियों ने ग़ुलाम बनाने में बहुत सहायता दी है। यदि हिंदुस्तानी लोग पराधीनता की बेड़ी आप न पहनते, तो भारत का जो स्वरूप आज दिखलाई पड़ता है, वह होता या नहीं, इसमें संदेह है। जब क्लाइव ने अरकाट पर विजय प्राप्त की थी, तब हिंदुस्तानी सिपाहियों ने कहा कि साहब, हम लोग चावल का माड़ पीकर ही रह जायँगे, भात गोरों को दे दीजिएगा। वही दशा भरतपुर-युद्ध के समय हिंदुस्तानियों की हुई। "Memoir of Lord Lake"-नामक पुस्तक के पृष्ठ ४२१ से ४२२ तक लिखा हुआ है कि "जब यह पता न लग सका, तब तीसरी रेजीमेंट के एक हवलदार तथा घुड़सवारों ने भरतपुरियों के-से कपड़े पहने, और दोपहर के तीन बजे घोड़े पर सवार होकर भरतपुर-दुर्ग की ओर भागे। उनके पीछे अँगरेज़ी-सेना के सिपाही ख़ाली कारतूस चलाते हुए चले, जिससे प्रतीत हो कि अँगरेज़ी-सेना के सिपाही इन बेचारों (देश के शत्रुओं) को मारना चाहते हैं। जब ये लोग खंदक के किनारे पहुँचे, तब दोनों सिपाही घोड़े पर से बनावटी तौर पर गिर पड़े। हवलदार ने उस समय भरतपुरियों से शरणागत को शरण में लेने, और नगर में घुसने का मार्ग बतलाने की प्रार्थना की, जिससे "बदज़ात फिरंगियों" * से उनकी रक्षा हो सके। हवलदार का यह जादू चल गया। भरतपुरियों ने उन्हें शरणागत समझकर दुर्ग के एक द्वार से राह बतला दी। उन बेचारों ने हवलदार तथा उसके साथियों की चालाकी नहीं समझी। भीतर दुर्ग में पहुँचकर वे अपने मतलब की बात जानकर उलटे अँगरेज़ी-सेना में अपने घोड़े दौड़ाकर भाग आए। तब भरतपुरियों ने हवलदार और उसके साथियों की चालाकी और दग़ाबाज़ी को समझा।" इस भाँति गुप्तचर भेजने पर भी लॉर्ड लेक विफल-मनोरथ हुए। इस घटना से यह भली भाँति प्रतीत होता है कि भारतवासियों का दृष्टिकोण सदैव छोटा रहा है। उन दोनों दुष्टों में स्वदेश-भक्ति और स्वदेशाभिमान कुछ भी न था। इतिहास पुकारकर कह रहा है कि

* मूल-ग्रंथ में 'बदज़ात फिरंगी'-शब्द लिखा है। —लेखक

उन्होंने सोने-चाँदी के लालच में अपने देश को पराधीनता को ज़ंजीर में जकड़वा दिया।

दूसरे आक्रमण में सफलता प्राप्त न होने पर लॉर्ड लेक ने २१ जनवरी, सन् १८०५ को भारतवर्ष के तत्कालीन गवर्नर जनरल मारकिस वेलेस्ली को लिखा—"श्रीमान् को विदित हो कि आज दोपहर के समय मैंने विशेष चालाकी से छेद के सामने पहुँचने की चेष्टा की। जिस दल पर क़िला उड़ाने का भार था, उस दल के मनुष्य सुरंग से तीन बजे से पहले निकले। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ख़ंदक़ बहुत चौड़ी और गहरी निकली, जिससे सब प्रकार की चेष्टाएँ निष्फल हुईं, और उक्त दल को बिना अपना उद्देश्य पूरा किए ही अपने स्थान पर लौटना पड़ा। सैन्य दल के मनुष्यों ने सदैव की भाँति वीरता प्रकट की; पर मुझे डर है कि वे भयानक अग्नि-वर्षा से बच नहीं सके। हमारी क्षति विशेष हुई है।"

दूसरे आक्रमण में विजय प्राप्त न होने पर लॉर्ड लेक विशेष चिंतित और व्याकुल हुए। चिंता की बात ही थी। अँगरेज़ी-सेना के मनुष्यों की संख्या घट गई। रसद का भी अभाव था। वह फ़रवरी के प्रारंभ तक कुछ भी न कर सके। ख़ैर, जैसे-तैसे २० फ़रवरी को लॉर्ड लेक ने पुनः भरतपुर पर आक्रमण किया। इस बार भी विजय-लक्ष्मी ने भरतपुरियों को वर-माला पिन्हाई। पर इस बार लॉर्ड लेक की असफलता का कारण गोरे सिपाहियों की बुज़दिली थी। हिंदुस्तानी सिपाही खाईं पार करके क़िले की दीवाल पर चढ़ गए। किंतु गोरों ने उस समय हिंदुस्तानियों का साथ देना स्वीकार न किया। यदि उस समय गोरे साथ देते, तो संभवतः भरतपुर-दुर्ग का पतन हो जाता। पर कंपनी के लाड़ले, प्यारे गोरे "वीरों" ने साथ न दिया। मिलकृत भारतवर्ष के इतिहास (Mill's History of India) के छठे भाग के पृष्ठ ४२६ में इस आक्रमण के संबंध में जो टिप्पणी दी हुई है, उसका भी सारांश सुनिए—"लगातार दो आक्रमणों के असफल होने पर तीसरा भिन्न रीति से हुआ, और खाईं के किनारे तक पहुँचने की चेष्टा की गई। रसद और युद्ध का सामान आगरे तथा और दूसरे स्थानों से मँगाया गया। अस्त्र-शस्त्र भी इस काम के योग्य न थे; पर थे दृढ़। दीवाल के टूटे हुए स्थान के विरुद्ध काम में आए गए।" इत्यादि वर्णन करता हुआ उक्त लेखक आगे लिखता है—"The Europeans however, of His Majesty's 75th and 76th, who were at the head of the column, refused to advance......... The entreaties and expostulations of their officers failing to produce any effect, two regiments of Native infantry, the 12th and 15th were summoned to the front and gallantly advanced to the storm." इसका भावार्थ यह है कि बादशाह की ७५वीं और ७६वीं सेना के जो योरपियन सेना के आगे थे, उन्होंने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। उनके अफ़सरों की बार-बार प्रार्थना और डर-धमकी भी उनके हृदय पर कुछ असर न कर सकी। तब तो १२वीं और १५वीं हिंदुस्तानी पैदल सैन्य-दल के आदमी आगे बुलाए गए। वे वीरता-पूर्वक क़िला उड़ाने के लिए आगे बढ़े।

तीसरी बार असफल होने पर भी लॉर्ड लेक हताश नहीं हुए। उन्होंने एक बार क़िले को उड़ाने की फिर चेष्टा की। बार-बार की असफलता उन्हें अपने विचार से हटा न सकी। उन्होंने उन गोरों को, जिन्होंने पहले दिन "उदूल हुक्मी" की थी, बहुत बुरी तरह से लज्जित किया। लॉर्ड लेक की ललकार पर गोरों ने क़िले लेने की प्रतिज्ञा की। चौथी बार भरतपुर-दुर्ग पर अँगरेज़ी-सेना ने आक्रमण किया। इस बार रणचंडी का विकट तांडव हुआ। विजय-लक्ष्मी भरतपुरी जाटों पर ही प्रसन्न हुई। अँगरेज़ लोग हारे, और बुरी तरह से हारे। इस बार अँगरेज़ी-सेना के ६१ गोरे और ५६ देसी सिपाही मारे गए, ४१० गोरे और ४५२ देसी सिपाही घायल हुए। इसके अतिरिक्त अँगरेज़ी-सेना के और भी कई अफ़सर मारे गए। इन चारों आक्रमणों में लगभग तीन हज़ार अँगरेज़ी-सेना के आदमी मारे गए। इस बार की असफलता ने लॉर्ड लेक की भी हिम्मत हरा दी। वह हताश हुए। अँगरेज़ी-सेना की रसद और अस्त्र-शस्त्र भी ख़तम हो चुके थे। इससे केवल सेना हटाने के अतिरिक्त लॉर्ड लेक के लिये और कोई उपाय न था। अंत में हारकर लॉर्ड लेक को वही करना पड़ा। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि इस युद्ध के पीछे अँगरेज़ और भरतपुर के जाटों की संधि हो गई। पर इस संधि के विषय की एक बात समझ में न आई। चार बार अँगरेज़ी-सेना को हटा देने पर भी भरतपुर के जाट-राजा रणजीतसिंह ने बीस लाख रुपए युद्ध-ख़र्च देने का वादा क्यों किया!

भरतपुर-युद्ध के संबंध में अँगरेज़ी-इतिहासकारों ने लॉर्ड लेक को बदनामी से बचाने के लिये बड़ी लीपा-पोती की है। किसी-किसी लेखक ने लिखा है लॉर्ड लेक घुड़सवार सेना का संचालन करना अच्छा जानते थे। उनके साथ कोई अच्छा इंजिनियर न था, इसलिये वह पराजित हुए। पर लीपापोती होने पर भी "भूत वही, जो सिर पर चढ़कर बोले"। अंत को इन अँगरेज़ी इतिहास-वेत्ताओं के मुख से सच्ची बात निकल पड़ी—

कर्नल मैलेसन अपनी "Native States of India"-नामक पुस्तक में लिखते हैं—"His Capital was the only fortress in India, from whose walls British troops had been repulsed, and this fact alone exalted him in the opinion of princes and people of India".

इसका भावार्थ यह है कि उसी (भरतपुर-नरेश) की राजधानी का दुर्ग हिंदुस्तान में ऐसा था, जिसकी दीवालों के सामने ब्रिटिश सैन्य-दल को हटना पड़ा। भारतवर्ष के सर्वसाधारण और राजों की सम्मति में इसके कारण उसकी प्रतिष्ठा बढ़ गई है।

मिल ने भी अपनी पुस्तक के छठे भाग, पृष्ठ ४२५ में लिखा है—"One of the most remarkable, perhaps of all the events in the history of the British Nation in India, is the difficulty, found by this victorious army, of subduing the Capital of a petty Raja of Hindustan. The circumstances have not been sufficiently disclosed, for, on the subject of these unsuccessful attacks, the reports of the Commander-in-Chief are laconic".

इसका भावार्थ यह है कि भारत में ब्रिटिश-जाति के इतिहास की समस्त घटनाओं में शायद यही सबसे अधिक विख्यात है, जिसमें विजेता सैन्य-दल को छोटे-से राजा की राजधानी को अपने अधीन करने में कठिनता आई थी। अभी तक इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश नहीं डाला गया। मुख्य सेनापति की इन आक्रमणों के विषय में संक्षिप्त रिपोर्ट है।

इसी भाँति और भी कई इतिहासकारों ने लिखा है, जिसके विषय में लिखना व्यर्थ है। भरतपुर-दुर्ग पर आक्रमण हुए इतने दिन बीत गए हैं; पर आगरा, मथुरा की ओर लोग आज भी बड़े चाव से इस युद्ध की चर्चा करते हैं। मैं इस युद्ध के सत्तासी वर्ष पीछे, सन् १८९२ ई० में, जब दस वर्ष का था, भरतपुर एक बारात में गया था। उस समय कुछ व्यक्ति ऐसे भी जीवित थे, जिन्होंने अपने लड़कपन में इस युद्ध को देखा था। वे इस युद्ध के संबंध में बड़ी विचित्र बातें सुनाते थे। ब्रजभूमि में होली के अवसर पर इस युद्ध के संबंध में बहुत-से लोग रसिया (एक प्रकार के गीत) गाते हैं। जो कुछ हो, यह युद्ध ऐसा हुआ, जिसमें अँगरेज़ी-सेना बुरी तरह से पराजित हुई। थार्नटन साहब ने भारतवर्ष के गज़ेटियर में इस युद्ध के संबंध में लिखा है—

"In 1805, during the first siege some of the native soldiers in the British service declared that they distinctly saw the town defended by that Divinity, dressed in yellow garments, and armed with his peculiar weapons, the bow, mace, conch and pipe".

अर्थात् सन् १८०५ में प्रथम घिराव के अवसर पर ब्रिटिश-सेना के हिंदुस्तानी सिपाही यह कहते थे कि हमने शंख-चक्र-गदा-पद्म-पीतांबरधारी वंशीवाले पवित्रात्मा (भगवान् श्रीकृष्ण) को भरतपुर-नगर की रक्षा करते देखा था।

भरतपुर के जाटों के अतिरिक्त, प्रारंभ-काल में हाथरस, मुरसान आदि छोटे-छोटे राज्यों के अधीश्वरों से भी अँगरेज़ों का संग्राम हुआ था। सन् १८०८ ई० में अलीगढ़ के तत्कालीन स्थानापन्न कलेक्टर ने कुछ परगनों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इन परगनों पर हाथरस के ठाकुर दयाराम और उसके बंधु राजा भगवंतसिंह का पूर्ण अधिकार है। इसके आगे रिपोर्ट में जो कुछ कहा है, उससे विलायती नीति का अच्छा पता लगता है। हाथरस और मुरसाने के ठाकुरों को कुछ परगने इसलिये देने पड़े थे कि जिन दिनों लॉर्ड लेक ने अलीगढ़, मथुरा आदि पर अपनी विजय का डंका बजाया था, उन दिनों उधर उन (मुरसान और हाथरस के ठाकुरों) का प्रभाव अधिक था। अतएव लॉर्ड लेक ने कुछ परगने देकर ही इन ठाकुरों को अपनी ओर मिलाया था। पीछे वह नीति बदल गई। इन ठाकुरों को अँगरेज़ों को अपने गढ़ से निकाल देने को

सूझी। प्रिंसेप साहब ने लिखा है कि हाथरस का क़िला भी भरतपुर के ढंग का ही बना हुआ था। भरतपुर के राजा के रिश्तेदार होने के कारण * राजा दयाराम को प्रतिष्ठा कुछ कम नहीं थी। हाथरस-दुर्ग की मरम्मत की गई थी। सन् १८१६ ई० में यह आवश्यक समझा गया कि मुरसान और हाथरस के राजों को साधारण प्रजा के पद पर पहुँचाया जाय। 'Private Journal of Marquess of Hastings' में लिखा हुआ है कि हाथरस के राजा दयाराम ने, चाहे सैनिक अपराधी हों, चाहे नागरिक (Civil), उन्हें, हाथरस-दुर्ग में पहुँचने पर, देना अस्वीकार किया। कुछ हो, हाथरस अँगरेज़ों के हाथ में सहज में नहीं आया। कई दिन तक रणचंडी का विकट तांडव नृत्य हुआ। अँगरेज़ों के विशेष बलिदान करने के बाद उन पर रणचंडी प्रसन्न हुई। हाथरस और मुरसाने के ठाकुरों का पतन हुआ। इस भाँति अँगरेज़ी-राज्य में जाटों की शक्ति का दमन किया गया। सन् १८२६ ई० में भरतपुर के घरेलू झगड़े के कारण एक बार अँगरेज़ भरतपुर-दुर्ग पर फिर चढ़ आए थे। इस बार भरतपुर-दुर्ग का पतन हुआ। पर इसमें संदेह है कि इस दुर्ग का पतन वीरता से हुआ, अथवा और किसी कारण से; क्योंकि वेलस-कृत Military Reminiscences नामक पुस्तक के दूसरे भाग, पृष्ठ २४०-२४१, में लिखा हुआ है—"...Even after it (Bharatpoor) was taken, no Native would believe, it was captured by storm; and to the last hour of my residence in India, they persisted in asserting that it was bought, not conquered".

इसका भावार्थ यह है कि भरतपुर-दुर्ग पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी कोई हिंदुस्तानी इसका विश्वास नहीं करता कि भरतपुर-दुर्ग जीता गया है। वे हिंदुस्तान में मेरे रहने के अंतिम समय तक ऐसा ही कहते रहे कि भरतपुर-दुर्ग जीता नहीं गया, मोल ले लिया गया है, अर्थात् कुछ भरतपुरियों को अपनी ओर रिश्वत देकर मिला लिया है। हाय! जाट-जाति की वह शक्ति अब कहाँ है, जो हाल में पानीपत के दंगे में अपनी रक्षा भी न कर सके। * जिन जाटों के विषय में राजपूताने में आज तक यह कहा जाता है कि—

"आठ फिरंगी नौ गोरा,
लड़ें जाट का दो छोरा"
"फिरंगी रे, जाट मिल गया जंगी रे।"

वे ही जाट आज शक्तिहीन हैं! कितना भारी परिवर्तन है!

(२४०) नंदकुमारदेव शर्मा

* स्वनामधन्य, देशभक्त राजा महेंद्रप्रताप इन्हीं राजा दयाराम के प्रपौत्र हैं।—लेखक

* जो लोग सिख-जाटों की शक्ति का विशेष वृत्तांत जानना चाहते हों, वे इन स्वर्गीय लेखक की लिखी हुई पुस्तक "पंजाब-हरण और महाराज दिलीपसिंह" पढ़ें।—माधुरी-संपादक

आगरे का क़िला

आगरे का क़िला

गाइड † ठीक समय पर आ गया। हम लोग तैयार थे, उसके साथ हो लिए। थोड़ी दूर चलने पर एक विशाल द्वार दिखाई दिया। उसे सिर से पैर तक देखने के लिये दृष्टि दौड़ाई। ऊपर 'युनियन जैक' फहराता हुआ दिखाई दिया। स्वभावतः ये पंक्तियाँ मुँह से निकल गईं—

कस्यैकान्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।

मैं समझा, यही द्वार है। उसी ओर बढ़ा। गाइड बोला—"यह दरवाज़ा आम लोगों के लिये नहीं।" मैं रुक गया। गाइड के निर्देशानुसार आगे बढ़ा। इस मार्ग से न सही, उस मार्ग से सही। यह द्वार 'हाथीपोल' के नाम से प्रसिद्ध है। क़िले के इस विभाग में कोई सरकारी गुप्त कार्यवाही होती होगी! इस द्वार का क्या आँखों-देखा वर्णन लिखा जा सकता है? पर हाँ, पाठकों की जानकारी के लिये आगे इसका वर्णन पुस्तकों के आधार पर लिखा जायगा।

† गाइड 'मार्ग-प्रदर्शक' लोगों को कहते हैं। ये लोग सरकार से प्रमाण-पत्र प्राप्त करके यह काम करते हैं। इनकी फ़ीस निश्चित रहती है।—लेखक
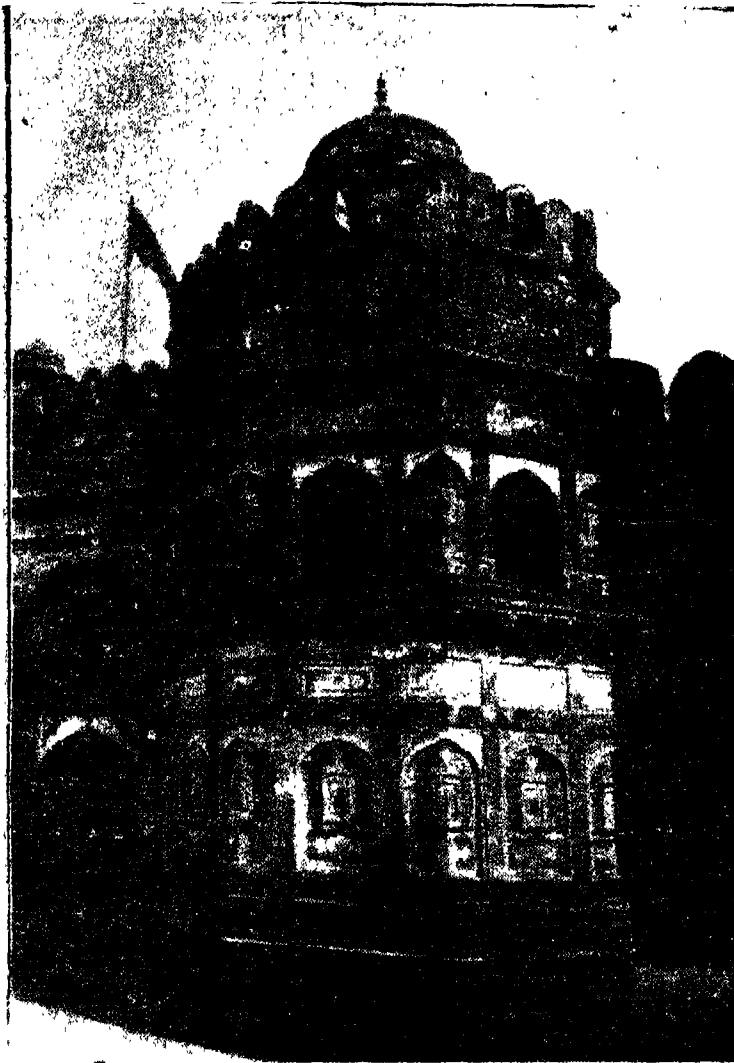
हाथीपाल (देहली-दरवाज़ा)

अमरसिंह-फाटक आम लोगों के लिये खुला है। हम लोग उसके आगे पहुँच गए। हमारे बाईं ओर एक पत्थर का घोड़ा कुछ दूरी पर बना हुआ था। मालूम हुआ, यह घोड़ा अमरसिंह की स्मृति में बना हुआ है। वह एक बार गढ़ की दीवाल को लाँघकर इस तरफ़ कूदे थे। उन्हीं के नाम पर इस द्वार का यह नामकरण-संस्कार हुआ था। द्वार के आगे का दृश्य बिलकुल प्राचीन समय का है। गढ़ के परकोटे के चारों तरफ़ ३० फ़ीट चौड़ी और ३५ फ़ीट गहरी खाई है। यह खाई केवल यमुना-नदी की ओर नहीं, अमरसिंह-फाटक की ओर है। द्वार के आगे खाई पर पुल बना हुआ है। आगे थोड़ी दूर पर अस्थायी पुल है, जो इच्छानुसार रस्सों की सहायता से ऊपर उठाया जा सकता है, ताकि वह मार्ग अवरुद्ध हो जाय। इसी फाटक में दर्शकों के टिकट मिलते हैं।

सबसे पहला भवन जो हमें देखने को मिला, वह जहाँगीरी-महल था। दाहने हाथ की ओर घूमकर हम लोग महल के बाहरी मैदान में पहुँचे। आजकल वहाँ सुंदर दूब लगी हुई है। इसी मैदान में अशोक के समय की कुछ पुरातत्त्व-संबंधी चीज़ें प्राप्त हुई हैं। बीच में पत्थर का एक बड़ा भारी हौज़ है। यह "हौज़ जहाँगीरी" के नाम से प्रसिद्ध है। एक ही पत्थर का बना हुआ होने के कारण इसका मूल्य अधिक है। इसके बाहर-भीतर, दोनों तरफ़ सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इसकी ऊँचाई ५ फ़ीट, मध्य रेखा ८ फ़ीट और गोलाई २५ फ़ीट है। इस पर खुदे हुए शिला-लेख से यह १६११ ई० का बना हुआ मालूम होता है।

जहाँगीरी-महल २६०"x २८८" धरातल पर बना हुआ है। भीतर का चौक ७६ वर्गफ़ीट है। इसके चारों ओर दो-मंज़िली इमारत है, जो अत्यंत सुंदर है। इसी में पूर्व की ओर पुस्तकालय का भवन है। उसी के पास एक और कमरा तथा एक सुंदर पोली है। पश्चिम की ओर जोधा-बाई का मंदिर है। उत्तर की ओर जोधाबाई का रनवास और दक्षिण में बैठने-उठने का कमरा है। इसके अतिरिक्त इधर-उधर और कई छोटे-छोटे आँगन भी हैं। 'महल' में भारतीय और मंगोल, दोनों प्रकार की कारीगरी का सम्मि-श्रण है। जहाँगीर के मन में ऐसी कारीगरी से प्रेम होना स्वाभाविक था। महल का प्रायः सारा भाग सुनहले और रंग के काम से सुसज्जित है। इसकी कारीगरी और गज़ेब, जाट और मरहठों के हाथ से बहुत क्षति को प्राप्त हुई है।
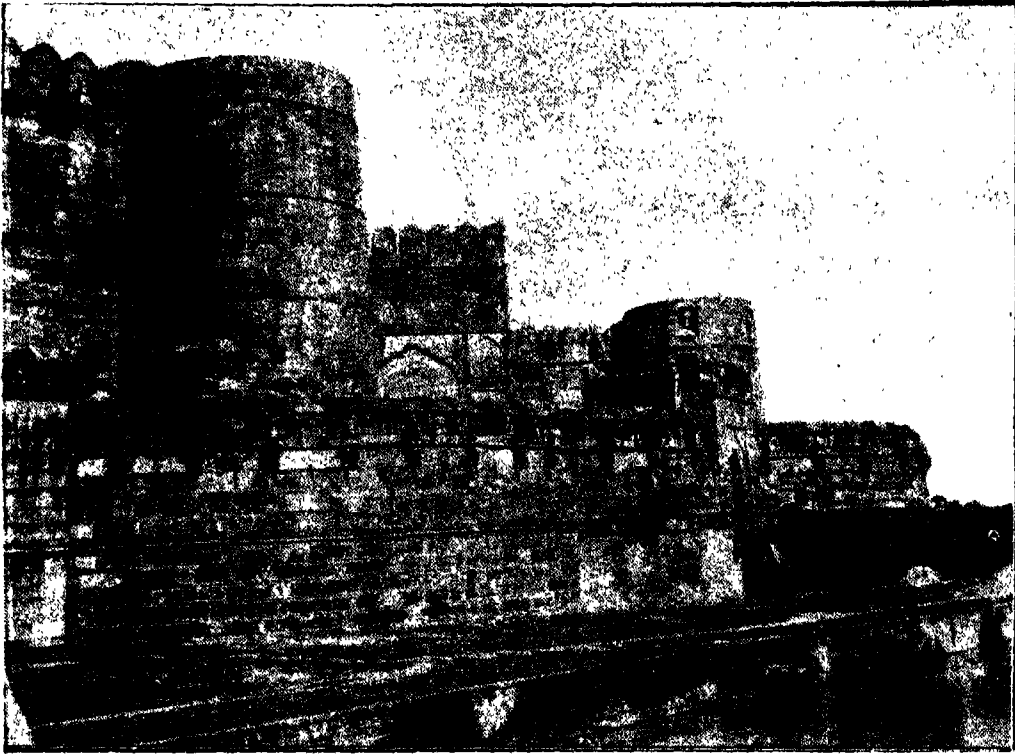
क़िले का दूसरा बाहरी दृश्य (चित्र के बाईं ओर अमरसिंह-दरवाज़ा है)
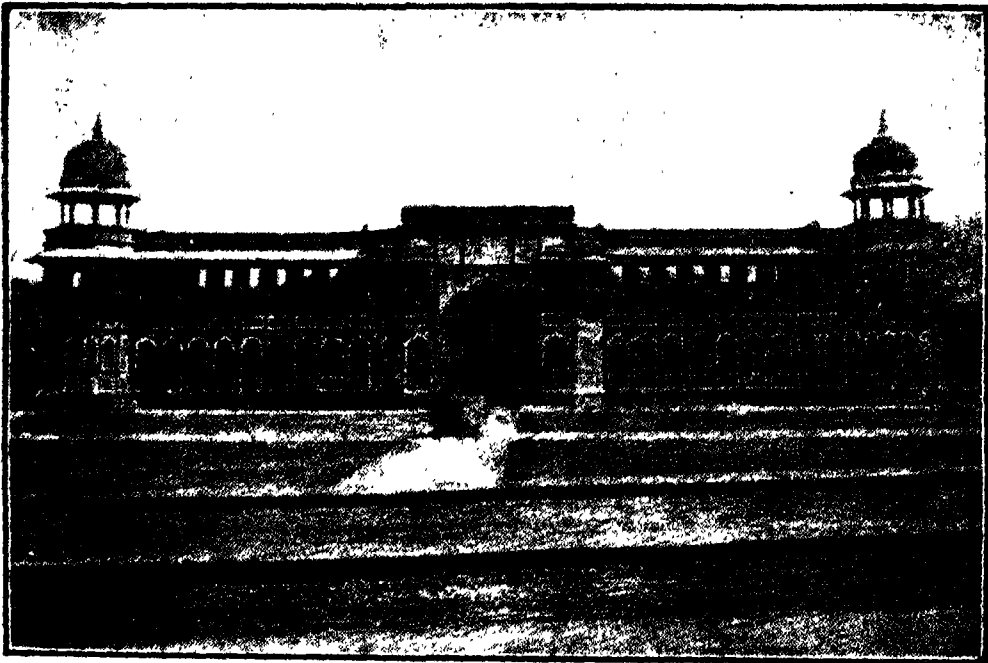
जहाँगीरी-महल

आब-हवा के प्रतिकूल पत्थर काम में आने के कारण भी हानि हुई है।

जहाँगीरी-महल के पश्चात् 'ख़ास-महल' देखने-लायक़ इमारत है। यह इमारत शाहजहाँ की बनवाई हुई है। मालूम होता है, इसी स्थान पर पहले, अकबर के समय की कोई इमारत थी। उसी इमारत को तोड़कर यह 'ख़ास-महल' बनाया गया मालूम होता है। इस भवन के उपयोग के बारे में दो मत हैं। कोई कहते हैं, यहाँ शाहजहाँ अपनी पुत्रियों और ज़नाने की मुख्य-मुख्य स्त्रियों से मिला करता था, और यही शाहजहाँ के बैठने-उठने का कमरा था। परंतु कोई कहते हैं कि यह आराम-गाह अर्थात् शयनागार था। भवन का भीतरी भाग तैमूर से लेकर उस समय तक के मुग़ल-बादशाहों के चित्रों से चित्रित था। परंतु भारत की वह बहुमूल्य संपत्ति कहाँ है? शायद विलायत के किसी अजायबघर में हो! ठीक-ठीक तो याद नहीं; पर शायद उनमें से एक चित्र उन चित्रों की याद दिलाने के लिये अब भी वहाँ वर्तमान है!

यह ख़ास-महल श्वेत संगमरमर का बना हुआ है। इसके सौंदर्य का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि यह भारत के सम्राट् का निजी कमरा था, सोने का हो या बैठने-उठने का!

ख़ास-महल के सामने २२०"×१७०" धरातल पर अंगूरीबाग़-नामक एक सुंदर बग़ीचा है। इस बाग़ के बीच से संगमरमर-जटित चार मार्ग गए हैं। कहा जाता है, इस बग़ीचे की मिट्टी काश्मीर से लाई गई थी। यदि यह बात सत्य है, तो सचमुच यह अंगूरी-बाग़ रहा होगा। जिस काश्मीर की भूमि पर अंगूरों का बाहुल्य स्वाभाविक है, उसी भूमि की मिट्टी आगरे में आकर भी थोड़ी-बहुत अधिक उपादेय सिद्ध हुई होगी।

इस बग़ीचे के बीच में एक छोटा-सा टाँका है जिसमें पाँच फ़ौवारे लगे हुए हैं। इस बग़ीचे के चारों ओर के भवन, जहाँ तक अनुमान किया जाता है, अकबर के बनवाए हुए हैं। परंतु पूर्व की इमारत के जोड़ की बनाने के लिये शाहजहाँ ने उनमें कुछ परिवर्तन किया था।

नीचे सीढ़ियाँ उतरकर एक सर्दख़ाना है। इसमें बादशाह बेगमों के साथ गरमी के दिनों में समय व्यतीत किया करते थे। इसी सर्दख़ाने के समीप एक काल-कोठरी है, जहाँ दंडित दासियों की मृत देह डाल दी जाया करती
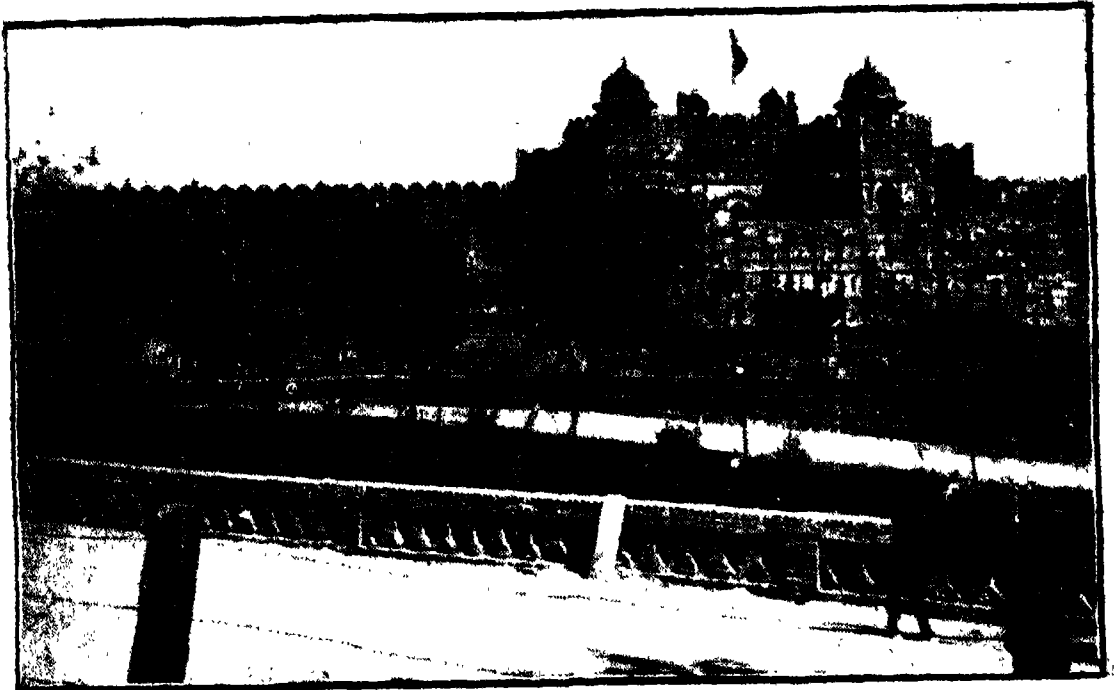
क़िले का बाहरी दृश्य

थी। यमुना का पानी उन लाशों को चिर शांति प्रदान करने के लिये वहाँ से बहा ले जाता था। उस समय के राजमहलों का यह भी एक दृश्य था! क्रोधित हो जाने पर बादशाह बेगमों तक को ऐसी काल-कोठरियों में क़ैद कर दिया करते थे। गाइड ने हमें ऐसी एक काल-कोठरी दिखलाई भी थी। कहाँ तो सुनहले चित्रों से चित्रित सुंदर-सुंदर भवन, और कहाँ ये काल-कोठरियाँ!

इसके बाद सुनहला गुंबज तथा शीश-महल दर्शनीय हैं। गुंबज संगमरमर का बना हुआ है। अनुमान किया जाता है कि इसमें शाहजहाँ की सबसे छोटी पुत्री रोशनआरा रहा करती थी। इसकी छत का अधोभाग ताँबे से मढ़ा हुआ है। ताँबे पर सुनहला गिलट की हुई है, इसी से इसका यह नाम प्रसिद्ध है। शीश-महल की विशेषता तो इसके नाम से ही जानी जा सकती है। भारत के प्राचीन राज-भवनों में प्रायः ऐसे महल पाए जाते हैं। उस समय यह एक बहुमूल्य कारीगरी समझी जाती थी। बहुमूल्य तो अब भी है; पर अब आजकल के फ़ैंसी फ़रनीचर से सजे हुए कमरों के आगे ऐसे भवन बाबू लोगों को पसंद नहीं आते। शीश महल में, छत में, दीवालों में, सर्वत्र छोटे-छोटे काँच जड़े हुए हैं। इसमें दो कमरे हैं। बीच में एक संगमरमर का फ़ौवारा भी है।

यों तो सारा ही क़िला ऐतिहासिक घटनाओं का चित्रपट है, पर अब जो इमारत हमने देखी, वह अधिक चित्ताकर्षक थी। यहाँ खड़े होने पर मुग़ल-इतिहास के मनन करने को मन चाहने लगा। यहीं विलासी सम्राट् जहाँगीर ने श्रेष्ठ सुंदरी नूरजहाँ के साथ आनंद-केलियों में काल-यापन किया था। उसी में पीछे शाहजहाँ ने अपनी प्रेममयी धर्म-पत्नी के साथ समय बिताया। उसी में वही सम्राट् अपने पुत्र के हाथ बंदी-अवस्था में अपनी पुत्री जहानारा के साथ दुःख के दिन काटते हुए पड़ा रहा, और अंत में उसी अष्टकोण-भवन में अपनी स्नेहमयी भार्या की समाधि पर बने हुए 'ताज' पर दृष्टिपात करता हुआ इस संसार से बिदा हो गया! वर्षों का इतिहास उस छोटे-से कमरे में भरा हुआ है। यह सम्मन-बुर्ज केवल कला-कौशल की दृष्टि से ही सबसे अधिक चित्ताकर्षक नहीं है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी है। कला-कौशल के विषय में कहा ही क्या जाय? इसकी दीवालें, खंभे, सभी बहुमूल्य खुदाई-जड़ाई
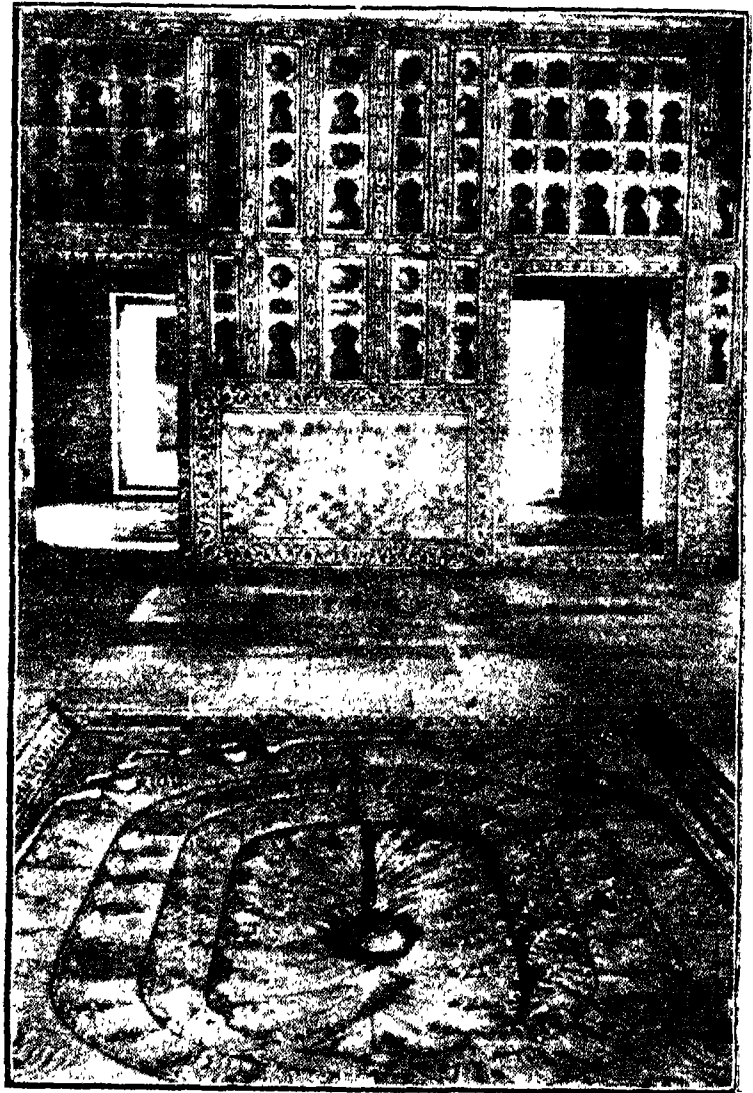
महलों में फ़ौवारे का दृश्य

के काम से सुसज्जित हैं, यहाँ तक कि एक अंगुल भी ऐसी जगह नहीं, जहाँ कारीगरी का कौशल न दिखाई पड़े।

कमरे के बीच में एक बहुत ही सुंदर फ़ौवारा है। फ़ौवारे के चारों तरफ़ नाचे खुदाई का इतना सुंदर काम है कि देखते ही सहसा चकित होना पड़ता है। यहाँ जो चित्र दिए गए हैं, उनसे ही इन फ़ौवारों की विशेषता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। इन्हीं फ़ौवारों के पास किसी समय भारतीय सम्राटों की हृदय-साम्राज्ञियाँ बैठकर मनोरंजन करती रही होंगी? जहाँ हम लोग बड़ी शान से जूते खटखटाते हुए जा रहे थे, वहाँ कभी बाहरी पक्षी तक को पहुँच न होती रही होगी! संसार की परिवर्तनशीलता अपार है।

कमरे के बाहर एक चौक है, जो ४४"×३३" लंबा-चौड़ा है। इस चौक पर शतरंज का मानचित्र बना हुआ है। कहते हैं, इस जगह जीवित घोड़ों आदि से खेल खेला जाता था। इस चौक के उत्तर में ४६५ चौकोर संगमरमर के टुकड़ों से जड़ा हुआ चबूतरा बना हुआ है। इसके पश्चिम में दो द्वार हैं: जिनमें एक शीश-महल की ओर जाता है, तथा एक सीढ़ी उतरकर एक कमरे में। कहते हैं, इस कमरे में सुनहला प्रकाश रहता है। इसका कारण यह कि पहले संगमरमर से होकर प्रकाश कमरे में प्रवेश करता है। आजकल ये द्वार प्रायः बंद रहते हैं।

इसी के पास शाहजहाँ का बनवाया हुआ एक पाख़ाना भी है। उसकी छत पर एक तरफ़ ऐसा पत्थर लगा हुआ है, जिसमें से प्रकाश भली भाँति प्रवेश कर सकता है। उन पत्थरों में से कुछ पत्थर हटाकर विलायत भेज दिए गए हैं। गाइड का कहना था कि ये पत्थर स्वयं-प्रकाशक हैं, और रात को काफ़ी रोशनी देते हैं। इसकी परीक्षा का हमारे पास कोई साधन नहीं था। कुछ-न-कुछ विशेषता होने से ही तो वह विलायत में भेजा गया होगा।

सम्मन बुर्ज को देखकर हम लोग आगे बढ़े। एक विशाल कमरा दिखाई दिया। उसके आगे एक ख़ूब लंबी-चौड़ी छत थी। यही कमरा दीवान ख़ास है। यहीं किसी ज़माने में बड़े ठाट से शाही इजलास बैठता था, चारों तरफ़ राज-कर्म
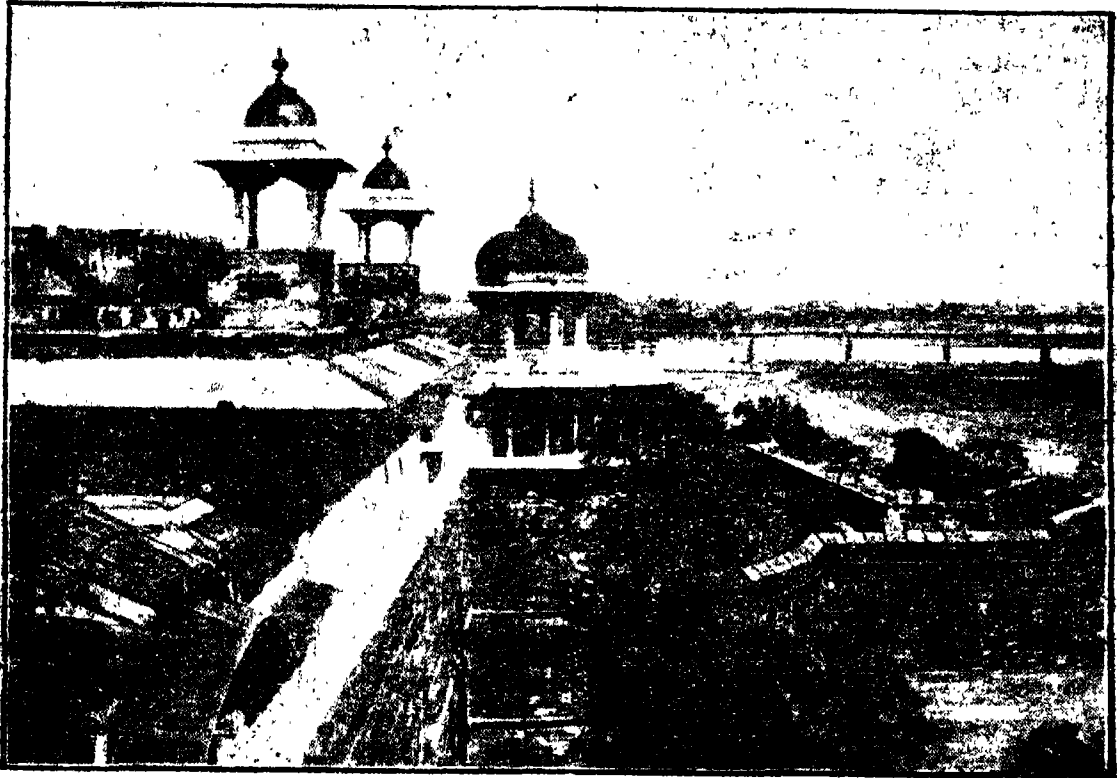
क़िले का यमुना-तट का दृश्य
(सम्मन-बुर्ज आगे निकला हुआ दिखाई देता है)

चारियों से दीवान-ख़ास भरा रहता था, शाहो शान के दृश्य दिखाई देते थे। अब तो वहाँ क्या है? केवल प्राचीन स्मृति! हरे-भरे प्राचीन वट-वृक्ष के पत्ते झड़ गए, केवल ठूँठ खड़ा है!

यहाँ फ़ारसी में एक शिला-लेख लगा हुआ है, जिससे पता लगता है कि इसे भी भवन-निर्माण के प्रेमी सम्राट् शाहजहाँ ने ही, ईसवी सन् १६३७ में, बनवाया था। इन इमारतों को देखने से मालूम होता है कि भारत के प्राचीन सम्राट् किस प्रकार भारत के धन से वैभवशाली बनते थे; पर उसी धन को इस रास्ते से या उस रास्ते से देश को ही दे डालते थे। करोड़ों रुपयों की इमारतें बनीं; पर वह सारा धन भारत के ही कारीगरों, श्रमजीवियों के घरों में आया।

इस जगह एक विशेष बात की ओर ध्यान आकर्षित हुआ। कमरे के बाहर, खंभों के आस-पास, बेलें खुदी हुई हैं, जिनमें भाँति-भाँति के पत्थर जड़े हुए हैं। क़िले में स्थान-स्थान पर बहुतायत से यह काम है। पर ध्यान यहीं विशेष रूप से आकर्षित हुआ। बेलों में फूल भी बने हुए हैं। फूल खुदे हुए तो हैं, पर उनमें जड़ा हुआ कुछ भी नहीं! इसमें क्या रहस्य है, यह ईश्वर जाने! इतना ही बाक़ी रह गया, यह भारतवासियों का अहोभाग्य है!

दीवान-ख़ास तो ७३"×२३" धरातल पर बना हुआ है, और उसके आगे की छत ११६"×८२" लंबी-चौड़ी है। इस पर दो सिंहासन रक्खे हुए हैं। एक स्लेटवाले पत्थर का है, दूसरा सफ़ेद संगमरमर का। सफ़ेद पर तो शाही विदूषक बैठा करता था, और काले पर बादशाह स्वयं। इसी छत के दक्षिण ओर नीचे की तरफ़ एक बाड़ा है, जिसमें हाथियों का युद्ध हुआ करता था। बादशाह इसी सिंहासन पर बैठकर वह युद्ध देखा करते थे। शिला-लेख से जाना जाता है कि यह जहाँगीर के लिये, सन् १६०३ में, तैयार किया गया था। यह सिंहासन काफ़ी बड़ा है और केवल एक पत्थर का बना हुआ है। पर अब दुर्भाग्य से इसके बीच में दराज़ पड़ गई है। गाइड से इसका कारण मालूम हुआ। उसने बतलाया, एक युद्ध में अँगरेज़ों ने बाहर से गोला चलाया। वही गोला इस सिंहासन पर आकर गिरा, जिससे इसमें यह दराज़ पड़ गई। उसने सामने दिखलाया। दीवान-ख़ास की दीवाल में वही गोला वहाँ से उड़कर लगा हुआ था। दीवाल में उसका चिह्न स्पष्ट दिखाई देता है।

इस सिंहासन में एक जगह कुछ लाल चिह्न हैं। इनके बारे में एक किंवदंती उसी गाइड से मालूम हुई। कहा जाता है भरतपुर के राजा जसवंतसिंह जब इन महलों में रहते थे, तो उन्होंने घमंड से इस सिंहासन पर बैठने का दुस्साहस किया था इसी दुःख से सिंहासन ने ख़ून के आँसू बहाए, जो अब भी दिखाई देते हैं। पर यह किंवदंती सत्य नहीं। मालूम होता है, किसी मुसलमान ने हिंदुओं को लज्जित करने के लिये यह किंवदंती प्रचलित कर दी है। वास्तव में ये रक्त-वर्ण चिह्न प्रायः स्लेट के पत्थर में पाए जाते हैं। यह तो लोहे का लाल पेरोक्साइड है। किसी-किसी का कहना है कि यह पत्थर कसौटी का है। पर उसकी परीक्षा हमने नहीं की।

इसके बाद एक मच्छी-महल है। यहाँ शाही परिवार के मनोरंजन के लिये रंग-बिरंगी मछलियाँ एकत्र रहती थीं, इसी से इसका यह नाम पड़ गया था। इस महल में पहले संगमरमर की सजावट की कई वस्तुएँ थीं, पर विजया जाट उन्हें उठा ले गए। इसके उत्तरीय द्वार में चित्तौर के फाटक लगे हैं।

आगे थोड़ा नीचे उतरकर दीवान-आम है। इसकी लंबाई-चौड़ाई १९२'×६४" है। यह लाल पत्थर का बना हुआ है। परंतु इस पर अस्तरकारी की हुई है, अर्थात् लाल पत्थर के ऊपर संगमरमर की चूनाकारी है, जिससे यह दूर से संगमरमर का बना हुआ-सा प्रतीत होता है। यह, जहाँ तक अनुमान है, अकबर ने बनवाया था, और उस पर अस्तरकारी का काम शाहजहाँ ने करवाया था। मकानात के शौक़ीन शाहजहाँ को दीवान-ख़ास के लिये साधारण लाल पत्थर की इमारत कैसे पसंद आ सकती थी।

भवन में एक ऊँची बैठक संगमरमर की बनी हुई है, जिसके चारों ओर पहले चाँदी के छड़ लगे हुए थे। इसी बैठक के ऊपर से वज़ीर, बादशाह की सेवा में उपस्थित किए जानेवाले, प्रार्थना-पत्र ग्रहण करता था। बादशाह के सिंहासन का स्थान ऊँचा है। सिंहासन-स्थान के दोनों ओर कमरे हैं, जिनके आगे जालीदार पत्थर लगे हुए हैं। यहाँ से बेगमें राज्य की कार्यवाहियाँ देखा करती थीं।

दीवान-आम के आगे एक ख़ूब लंबा-चौड़ा मैदान है। इसी मैदान में आनरेबिल जे० आर० कॉल्विन की क़ब्र है। आप उस समय संयुक्तप्रांत के लेफ़्टिनेंट गवर्नर थे, और झगड़े के समय मारे गए थे।

दीवान-आम और उसके आगे का चित्र
(चित्र में मोती-मसजिद भी दिखाई देती है)
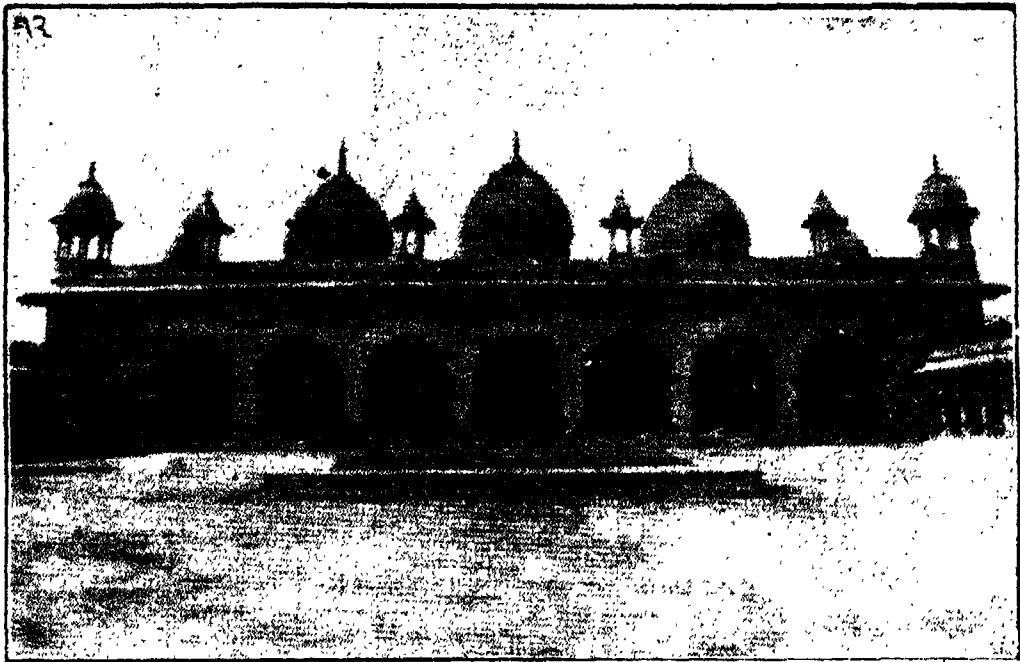
मोती-मसजिद

दीवान-आम देखकर हम लोग मोती-मसजिद देखने को बढ़े। थोड़ी दूर पूर्व की ओर चलने पर श्वेत संगमरमर की बनी हुई सुविशाल मसजिद मिली। जहाँ पहले प्रार्थना करनेवालों की भीड़ लगी रहती थी, वहाँ अब

केवल एक क़ाज़ी निराश भाव से बैठे थे। हम लोगों को देखकर प्राचीन गौरव की कुछ गाथा गाने के लिये हमारे पास आए बड़े निराश भाव से आपने उस मसजिद का संक्षिप्त इतिहास बतलाया। उस समय का दृश्य सचमुच चिंता-जनक था। जिन भवनों को भारत के सम्राटों ने अपनी इच्छा के अनुसार लाखों रुपए व्यय करके कुशल कारीगरों से तैयार करवाया था, उनकी यह दशा! ईश्वरेच्छा बलीयसी!!

मसजिद बाहर से २३४"×१८७"तथा अंदर से १२१"×५६" लंबी-चौड़ी है। मसजिद के आगे १५८"×१५४" लंबा-चौड़ा चौक है। चौक के बीच में एक ३७½ वर्गफ़ीट की टंकी है, जिसमें संगमरमर का सुंदर फ़ौवारा लगा हुआ है। चौक के दक्षिण-पूर्व कोण में एक चार फ़ीट ऊँचा अष्टकोण संगमरमर का खंभा है, जिस पर एक धूप-घड़ी लगी हुई है।

मोती-मसजिद के एक ओर ज़नानख़ाने की स्त्रियों के लिये भी अलग स्थान बना हुआ है। यह स्थान संगमरमर के जालीदार पत्थर से, मसजिद से, अलग किया गया है, जिससे बेगमें भी परदे में बिना किसी अड़चन के धार्मिक कार्यों में भाग ले सकें। ज़नाने की स्त्रियों के लिये 'नगीना-मसजिद'-नामक एक अलग मसजिद भी है। पर इस जगह भी उनके लिये उपयुक्त स्थान रक्खा गया है।

मसजिद में एक शिला-लेख है। यह ख़ूब विस्तीर्ण है, और फ़ारसी में लिखा हुआ है। उससे मालूम होता है कि इसे शाहजहाँ ने १०६३ हिजरी अर्थात् १६५४ ईसवी में बनवाया था। इसके बनाने में तीन लाख रुपए ख़र्च हुए थे, और यह सात वर्ष में तैयार हुई थी। मसजिद की इमारत बहुत ही सुंदर है। पहले इस स्थान पर कोई दूसरी इमारत थी, उसे तोड़कर ही यह बनाई गई थी। अपनी सुंदरता के कारण ही यह प्रसिद्ध इमारतों में गिनी जाती है।

उस ज़माने के उस धार्मिक स्थान के दर्शन कर हम लोगों ने ठीक उसके विपरीत स्थान देखा! मोती-मसजिद मुसलमानों के धार्मिक प्रेम के प्रति श्रद्धा-उत्पादक थी, तो मीना-बाज़ार, ज़नाना मीना-बाज़ार एक प्रकार की ग्लानि पैदा करनेवाला। मसजिद के आगे एक छज्जे के ऊपर
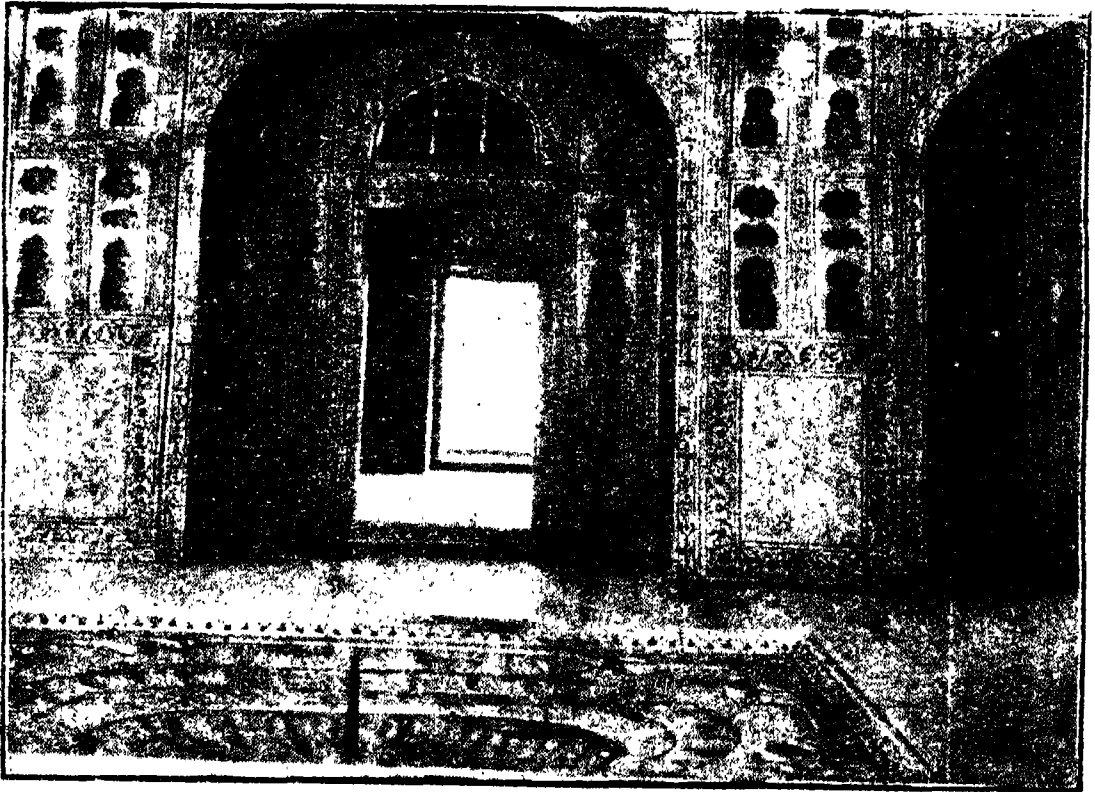
कारीगरी का एक उत्कृष्ट नमूना

से ही हमने यह बाज़ार देखा। शाहद का इस स्थान का वर्णन बड़ा मनोरंजक था। हमने सोचा, यहीं से कामी सम्राट् अकबर कुल-ललनाओं पर कुदृष्टि डाला करते थे, यहीं वह अपना जाल बिछाया करते थे, यहीं पृथ्वीराज की वीरपत्नी ने अपनी सतीत्व-रक्षा के लिये अकबर से तोबा करवाई थी। यह भी एक विचित्र ऐतिहासिक घटना का स्मृति-चिह्न था। रंगमंच पर प्रत्यक्ष पृथ्वीराजजी की वीर रानी अकबर की छाती पर छुरा लेकर बैठी देखकर मन उतना प्रभावान्वित नहीं होता, जितना इस स्थान को देखकर!

हमने दक्षिण-द्वार से प्रवेश किया था। अब हम क़िले के उत्तर-ओर पहुँच गए। क़िले के कुल चार दरवाज़े हैं। उत्तर ओर देहली-दरवाज़ा (हाथीपोल), दक्षिण ओर अमरसिंह-दरवाज़ा, पूर्व ओर सम्मन-बुर्ज के पास यमुना-तट पर, और पूर्वोत्तर में शाह-बुर्ज के पास। ऊपर लिखा जा चुका है कि केवल दूसरा दरवाज़ा आम लोगों के लिये खुला है। हम क़िले के देखने का काम पूरा कर चुके थे, अतएव हमें वापस लौटना था। पर इसके पहले थोड़ा-सा वर्णन और लिख देना आवश्यक है।

क़िला अर्द्ध-चंद्राकार बना हुआ है। यमुना के पश्चिम-तट पर यह स्थित है। यहाँ पहले सलीमशाह सूर का बनाया हुआ एक पुराना क़िला था, उसी को देखकर अकबर ने, १५६६ ई० में, यह नया क़िला बनवाना आरम्भ किया। क़िला आठ वर्ष में तैयार हुआ। भिन्न-भिन्न प्रकार की इमारतें धीरे-धीरे बढ़ती गईं। क़िले के चारों ओर दुहरी दीवाल है। बाहर की दीवाल ४०" और अंदर की ७०" ऊँची है। जगह-जगह झाँकने और तोपों के लिये बुर्ज बने हुए हैं। बंदूक, तोप आदि छोड़ने के लिये तो सर्वत्र छेद हैं ही। क़िले के बाहर नहर है, जिसका उल्लेख आरंभ में किया ही जा चुका है।

अमरसिंह-द्वार के बारे में थोड़ा-बहुत ऊपर लिखा ही जा चुका है। अन्य द्वार विशेष उल्लेखनीय नहीं। हाँ, देहली-दरवाज़े के बारे में कुछ लिख देना आवश्यक है। इस दरवाज़े का नाम 'हाथीपोल' पड़ने का एक कारण था। अकबर ने अपनी चित्तौर की विजय की स्मृति के लिये इस द्वार पर दो बड़े-बड़े हाथी खड़े किए थे, जिन पर चित्तौर के वीर जयमल और फत्तो की बड़ी मूर्तियाँ चढ़ी

सम्मन-बुर्ज के आगे का दृश्य

हुई थीं। परंतु शाहजहाँ की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही औरंगज़ेब ने इन्हें वहाँ से हटाकर दीवान-आम के पास मैदान में गाड़ दिया। इसमें भी उसे मूर्ति-पूजा का अंश प्रतीत हुआ। ये मूर्तियाँ सन् १८६३ में वहाँ से खोदकर निकाल ली गई हैं। यह द्वार लाल पत्थर का बना हुआ है। स्थान-स्थान पर सौंदर्य-वृद्धि के लिये संगमरमर भी लगा हुआ है।

आजकल तो इसमें बहुत कुछ वृद्धि हो गई है। अँगरेज़ों के रहने के लायक़ स्थान बना दिए गए हैं। दो चर्च भी बन गए हैं। पहले जहाँ बादशाह के आदर के लिये नौबत बजती थी, मुग़लों का झंडा फहराता था, वहाँ अब यूनियन जैक फहरा रहा है। समय की गति है!

मोती-मसजिद के देखने का काम समाप्त कर हम लोग लौटे। लौटते समय क़िले में ही एक दूकानदार से कुछ खिलौने ख़रीदे। आगरा अपनी इस कारीगरी के लिये प्रसिद्ध है ही! जो कारीगर इतनी सुंदर-सुंदर इमारतें बना सकते थे, उनकी संतान क्या उस कला की आंशिक अधिकारिणी भी न होती! आगरे के संबंध के कुछ चित्र ख़रीदे, जिनमें से कुछ इस लेख में दिए जाते हैं। एक वर्णन-पुस्तिका भी मोल ली, जो इमारतों के संबंध का वर्णन याद दिलाने में बहुत आवश्यक थी, और इस लेख मे भी सहायक रही है।

क़िले के देखने का काम समाप्त कर लौटे। गाइड की फ़ीस और ऊपर से इनाम भी चुकाकर हम लोग वापस आ गए। अभी समय बाक़ी था। उस समय को ताज के अवलोकन में व्यय करना उचित समझकर उसी ओर चलने को इक्केवाले से कहा।

श्रीगोपाल नेवटिया

चयन

उपजावति मन मोद, कोकनद, पद लजावति।
छिटकावति छवि-छोरि छमकि बिछियानि बजावति।
सुमन चुनति, आँचर भरति, गुहति मनोहर माल;
बिलसति बनदेवी-सरिस बन-बिच बिचरति बाल।
छबीली अति छटा।

दामोदरदास चतुर्वेदी "दामोदर"

भारतवर्ष के लिये नया रिज़र्व बैंक

शाही करेंसी कमीशन ने भारतीय चलन और आर्थिक व्यवस्था के लिये नए बैंक का प्रस्ताव कर बड़ा ही साहस दिखाया है। कारण, जिस कमीशन ने बिना सिक्के के सोने का चलन और वैदेशिक विनिमय की दर १८ पेंस नियत की है उसका केवल एक यही महत्त्व-पूर्ण कार्य है। आज कल भारत-सरकार ही भारतीय चलन का सारा कार-बार करती है। इंपीरियल बैंक को केवल नाज़ुक परिस्थिति के समय व्यापारिक हुंडियों के लिये—बारह करोड़ रुपए तक—काग़ज़ी चलन के कोष से ऋण लेने का अधिकार दिया गया है। पर भारतवर्ष में लंदन के बैंक ऑफ़् इँगलैंड की तरह कोई बैंक नहीं है। इंपीरियल बैंक ने, जो अभी कुछ वर्षों से स्थापित हुआ है, बड़ा काम कर दिखाया है। यद्यपि उसके बड़े-बड़े अधिकारी विदेशी हैं, जो भारतीय अधिकारियों को पक्ष में कर सकते हैं, तथापि भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति में उसने वही काम कर दिखाया है, जो इस देश में स्थापित होनेवाला नया बैंक अथवा बैंक ऑफ़् इँगलैंड इँगलैंड के लिये कर सकता है। पर इस बैंक का कार्य आज तक महाजनी रहा। उसके अधिकारियों ने नोट निकालने के कार्य से चुप्पी-सी साध ली। इसीलिये इस देश में एक नए बैंक की आवश्यकता हुई, जो बैंक ऑफ़् इँगलैंड की तरह कार्य करे।

इस बैंक को नोट निकालने के अधिकार के अलावा सरकारी और विदेशी हुंडियों आदि के अन्य कार बार करने का भी अधिकार होगा। बैंक के दोनों विभाग अलग-अलग होंगे। यह बैंक अपने निजी नोट निकालेगा, और सरकारी नोट इन नोटों के निकलने पर पाँच वर्ष के उपरांत बंद हो जायँगे। नोट निकालने के लिये बैंक को रक्षित कोष में ४० प्रति सैकड़ा सोना और सोने की ज़मानतें रखनी होंगी, शेष रक़म में व्यापारिक हुंडियाँ, भारत-सरकार की ज़मानतें और चाँदी होगी। कमीशन ने यह सिफ़ारिश की है कि कार्य करने पर बैंक ५० से ६० सैकड़े तक रक़म रक्षित कोष में रखने का प्रयत्न करेगा। पर साथ में यह भी लिख दिया गया है कि सरकार की सलाह से कर देने पर रक्षित कोष की रक़म चालीस प्रति सैकड़ा से भी कम की जा सकती है। यह बताया गया है कि रक्षित कोष में सोना और उसकी ज़मानतें २० प्रति सैकड़ा तक होंगी, और दस वर्ष के अंदर २५ प्रति सैकड़ा तक हो जायगी।

सरकार नोटों के लिये अपनी गारंटी देगी।

भारतवर्ष में एक स्टेट-बैंक की आवश्यकता है। भारतवासियों की बड़ी चीख़-पुकार पर इंपीरियल बैंक की स्थापना हुई है। पर जब फिर आर्थिक क्षेत्र में आंदोलन होने लगा कि इंपीरियल बैंक स्टेट-बैंक नहीं है, तब इस नए बैंक की योजना सामने रक्खी गई है। पर क्या यह नया बैंक स्टेट-बैंक है? वस्तुतः यह स्टेट-बैंक नहीं है, यद्यपि इसका संबंध सरकार से बहुत घनिष्ठ होगा। इस बैंक के पाँच करोड़ के हिस्से निकाले जायँगे, और इंपीरियल बैंक के हिस्सेदारों को हिस्से पाने का सबसे पहले अधिकार होगा। कई शाखाओं सहित तीन स्थानों पर लोकल बोर्ड के दफ़्तर होंगे, जो अपना कार्य इंपीरियल बैंक के बोर्डों की तरह करेंगे। सेंट्रल बोर्ड में १४ सदस्य होंगे। सभापति, उपसभापति लोकल बोर्डों के होंगे, और बाक़ी ६ सदस्यों का चुनाव हिस्सेदार करेंगे। मैनेजिंग गवर्नर और डिप्टी मैनेजिंग गवर्नरों की नियुक्ति भारत-सरकार करेगी। सरकार तीन सदस्यों को भी मनोनीत करेगी। इस प्रकार सेंट्रल बोर्ड में सरकार के पाँच सदस्य होंगे, जिनमें दोनों गवर्नर भी शामिल होंगे। इसके अतिरिक्त भारत-सरकार का प्रतिनिधि भी बोर्ड में होगा। पर उसे वोट देने का कोई अधिकार न होगा। चाहे किसी हिस्सेदार की कितनी भी रक़म बैंक में हो, उसे १० से अधिक वोट देने का अधिकार न होगा। राजनीतिक मसलहत से बैंक को बचाने के लिये एक यह भी नियम बनाया गया है कि एक्ज़ीक्यूटिव सरकार का कोई भी सदस्य या परिषद् आदि का कोई व्यक्ति सेंट्रल बोर्ड का सदस्य नहीं हो सकेगा, और लोकल बोर्डों का सभापति और उपसभापति भी नहीं हो सकेगा। दक्षिण आफ़्रिका के रिज़र्व बैंक और आस्ट्रेलिया के कामनवेल्थ बैंक की तरह व्यापारिक बैंकों के भी प्रतिनिधि नहीं रक्खे गए हैं। ये प्रतिनिधि संभवतः इसीलिये नहीं रक्खे गए कि डिसकाउंट के काग़ज़ों की कार्यवाही में कोई बाधा न पड़े।

मुनाफ़ा बाँटने के विषय में प्रलोभनकारी स्कीम रक्खी गई है। क्यूमूलेटिव हिस्सेदारों के हिस्सों का पाँच प्रतिसैकड़ा डिवीडेंड देने के उपरांत बाक़ी की ७५ प्रतिसैकड़ा रक़म तब तक रक्षित कोष में रक्खी जायगी, जब तक इस कोष की रक़म जमा हुई पूँजी के बराबर पच्चीस प्रति-सैकड़ा तक न हो जाय। जब जमा हुई पूँजी का रक्षित कोष २५ प्रति सैकड़ा हो जायगा, तब

पाँच प्रतिसैकड़ा-डिवीडेंड देने के बाद नफ़े की आधी रक़म रक्षित कोष में रक्खी जायगी, और बाक़ी की सरकार को दे दी जायगी। जब रक्षित कोष जमा हुई पूँजी के बिलकुल बराबर हो जायगा, तब पाँच प्रतिसैकड़ा डिवीडेंड देने के बाद नफ़े का एक अष्टमांश हिस्सा—जिसका औसत जमा-पूँजी का तीन प्रतिसैकड़े तक होगा—हिस्सेदारों को दिया जायगा, और बाक़ी रक़म सरकार को दे दी जायगी। इस प्रकार जब तक रक्षित कोष जमा-पूँजी के बराबर नहीं हो जायगा, तब तक डिवीडेंड पाँच प्रतिसैकड़े तक होगा, और बाद में आठ प्रतिसैकड़ा। पर व्यापारियों को फिर भी यह स्कीम प्रलोभनकारी न हो सकी।

यह रिज़र्व बैंक सरकार के बैंकर की तरह काम करेगा। सरकार के ख़ज़ाने की रक़म अपने पास रक्खेगा, और सार्वजनिक ऋण का भी प्रबंध करेगा। अन्य कार्यों के लिये बैंक की सीमा संकुचित कर दी गई है। निश्चित समय के लिये रक़म जमा रखने और क्रेडिट पर ब्याज देने से बैंक को अलग रक्खा गया है। दर्शनी हुंडियों के अलावा अन्य हुंडियों का व्यवहार वह न कर सकेगा, और न उन्हें सकार सकेगा। अपनी पूँजी और रक्षित कोष से अधिक सरकार की ज़मानतें भी नहीं रख सकेगा। इन ज़मानतों के रखने की अवधि पाँच वर्ष की कर दी गई है। ज़मानतों पर ९० दिन की अवधि पर ऋण दे सकेगा। ज़मानतें ट्रस्टी स्टॉक, बुलियन, विदेशी हुंडियों और क़ीमती काग़ज़ों के रूप में होंगी। व्यापारिक, कृषि और म्युनिसिपल बिलों की ज़मानतें मानी जायँगी। पर स्थायी रूप से महाजनी व्यापार, उद्योग और किसी भी धंधे में धन-विनियोग करने से बैंक को मना किया गया है।

बैंक ही अपने डिस्काउंट की दर नियत कर प्रकाशित करेगा। अन्यान्य बैंक, जो भारतवर्ष में अपना कार-बार करते हैं, दस और तीन प्रतिसैकड़े के हिसाब से इस बैंक में अपनी रक़म रख सकेंगे।

बैंक का नोट निकालना और रक्षित कोष के नियम लोगों में अनेक प्रकार के विचार पैदा करते हैं। पर यह तो स्वीकार करना होगा कि जो पद्धति सामने रक्खी गई है, उसके अनुसार सचाई से काम किया गया, तो फ़सल के मौसम में सिक्के की वृद्धि होगी। नोटों के प्रकाशन से बैंक अधिक मुनाफ़ा न उठा सकेगा। यह बात ठीक भी है। इस बैंक का जिन नियमों से संगठन होगा, उनसे यह विदित होता है कि सर्वसाधारण और हिस्सेदारों का अनुराग समान रूप से रखकर पूँजी की व्यवस्था की गई है।

राजनीतिक दबाव की बात अत्यंत आश्चर्यजनक है। यदि भारतीय महत्त्वाकांक्षा के विरुद्ध बैंक का उद्योग हुआ, तो अनेक नियम बनाने पर भी बैंक उससे बच न सकेगा। व्यावहारिक, व्यापारी राजनीतिज्ञों की बातें माने बिना काम नहीं चलेगा। फिर राजनीतिज्ञों के विषय में तो इतना बड़ा पहरा लगाया है। किंतु क्या बैंक सरकारी दबाव से भी अलग रहेगा? इसकी भी कोई संभावना है? इस विषय में भी कोई नियम क्यों नहीं बनाया गया?

बैंक के कार्यकर्ताओं के संगठन को देखते हुए तो यही कहना पड़ता है कि इस बैंक के सहारे भारत-सरकार की और भी बन आवेगी। जो सिफ़ारिशें की गई हैं, उनमें सरकार के मनोनीत सदस्यों और उसके प्रतिनिधियों का कार्य-संचालन में पूर्ण रूप से एकाधिपत्य है। हम सरकार के

प्रतिनिधियों के ज़रा भी खिलाफ़ नहीं हैं। वे हों। पर इतनी संख्या में नहीं, जिससे ग़ैरसरकारी सदस्यों की आवाज़ दब जाय। कारण, भारत-सरकार की मनोवृत्ति अनेक शासन-सुधार प्राप्त होने पर सुधरेगी। फिर उसकी वर्तमान चाल-बाज़ियाँ इतनी ज़बर्दस्त हैं कि जिसका कोई ठिकाना नहीं! क्या हाल के ज़माने का अनुभव इस बात का साक्षी नहीं है कि संकट के समय में किसी भी नियम से सरकार के दबाव को रोकना असंभव है? व्यापारिक संस्थाओं के प्रतिनिधि तो जाने दीजिए, कमीशन ने व्यापारिक बैंकों तक के प्रतिनिधि नहीं रक्खे हैं। व्यापारिक बैंक के प्रतिनिधि, सेंट्रल बैंक और लोकल बोर्डों के सदस्य, सभापति और उपसभापति होकर न-जाने क्या ग़ज़ब ढा देंगे। व्यापारिक बैंकों के प्रतिनिधि होने से बैंक के व्यापारिक बात जानने के अलावा उनके सहयोग से सरकार पर भी बराबर का दबाव पड़ेगा। इस प्रकार के दोहरे दबाव की अत्यंत आवश्यकता है। कमीशन आस्ट्रेलिया की बात कहता है। पर यदि आस्ट्रेलिया के ही कामनवेल्थ बैंक के ओल्ड नोट्स बोर्ड का अंत तक का अनुभव देखा जाय, तो बिना महाजनों और व्यापारियों के सहयोग के कभी सफलता-पूर्वक काम नहीं चल सकता। आस्ट्रेलिया की आधी बात लेकर आधी को छोड़ देना दूसरी बात है। नहीं तो ऐसा कोई कारण नहीं है कि व्यापारिक प्रतिनिधि न रक्खे जायँ।

बैंक इस दृष्टि से काम करेगा, जिससे कोष की रक़म न घटे। इसलिये वह रुपए के बाज़ार को नीचे रखने का प्रयत्न करेगा। पर क्या वह महाजनों की सहायता के बिना ऐसा कर सकेगा? राष्ट्रीय दृष्टि से इस बैंक में भारतीय व्यापारिक प्रतिनिधियों का काफ़ी तादाद में होना अत्यंत आवश्यक है। इन प्रतिनिधियों के होने से बैंक को जिन बातों का भय है, उन ज़मानतों के सौदों के विषय में बैंक ने नियम बना ही रक्खे हैं, और अवस्था के अनुसार आगे भी बनाए जा सकते हैं।

इस बैंक के विधान में सराफ़े के बाज़ार को अपने हाथ में रखने की बात कही गई है; किंतु उसका महाजनी का व्यवसाय सीमाबद्ध रक्खा गया है। डिसकाउंट के सौदों की भारतवर्ष-जैसे देश में कमी नहीं है। व्यापारिक बैंक अपनी आर्थिक अवस्था के कारण फिरती दस्तूरी के सौदे पूर्ण रूप से नहीं कर पाते। उन्हें यह बैंक अच्छी तरह से कर सकता है। अभी डिसकाउंट हुंडियों का भारतवर्ष में कोई उन्नत-जनक बाज़ार नहीं है, जो उसका पूर्ण रूप से नियंत्रण करता हो। ऐसी अवस्था में बैंक का आरंभिक कार्य इन हुंडियों का प्रचार करना होगा। पर इन हुंडियों का प्रचार होगा कैसे? इन हुंडियों का प्रचार भारत-भर में शाखाएँ खोलकर हो सकता है। पर ये शाखाएँ ज़िंदा कैसे रहेंगी? कारण, धन कमाने के सभी साधनों से बैंक को अलग रक्खा गया है। यह कहा गया है कि यह बैंक व्यापारिक बैंकों से डिपाज़िट डिसकाउंट, ऋण और धन-विनियोग करने में कोई प्रतिद्वंद्विता नहीं करेगा। केवल सरकारी रक़म वसूल करने का कार्य अत्यंत संकुचित है। इससे बैंक की श्रीवृद्धि न हो सकेगी। व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में आकर भी बैंक अपने को महत्त्व-पूर्ण बातों से अलग रखकर अपने लिये ही असुविधा पैदा करता है। लंदन के स्टेट बैंक ऑफ़् इँगलैंड का तो ऐसा कोई विधान नहीं है। उसे तो व्यापार करने से नहीं रोका गया है। बैंक ऑफ़् इँगलैंड क्रेडिट कंट्रोल के लिये डिसकाउंट बढ़ा सकता है, जिससे बैंक के डिपाज़िट की दर बढ़

आती है। इसका नतीजा यह होता है कि वह हुंडी और ज़मानतों के वादे के सौदे और ऋण आदि देकर अच्छी रक़म कमाता है। बाज़ार को पकड़ने के ये ही साधन हैं। इन साधनों के बिना रिज़र्व बैंक अव्यावहारिक उपायों से भले ही बाज़ार को दबा सके, अन्यथा और तो कोई मार्ग नहीं है। आज सरकार भले ही इस बात को स्वीकार न करे; पर अंत को उसे दक्षिण आफ़्रिका और आस्ट्रेलिया के बैंकों के पथ पर ही चलना पड़ेगा।

इसके साथ एक बात और भी है। यह बात हमें आरंभ में ही कहनी थी। बैंक के कमीशनों ने यह भय प्रकट किया है कि वर्तमान इंपीरियल बैंक को नोट निकालने का अधिकार नहीं दिया जा सकता, जिसका बहुत मज़बूत संगठन है, और जो सराफ़े का अच्छी तरह से नियंत्रण करता है। वास्तविक दृष्टि से इंपीरियल बैंक अभी सट्रल बैंक का ही काम कर रहा है। इसलिये इस इंपीरियल बैंक को ही रिज़र्व बैंक बनाने की आवश्यकता है। रिज़र्व बैंक नया न खोलकर उसके सारे विधान, महाजनी के अतिरिक्त, इंपीरियल बैंक में सम्मिलित कर देने चाहिए। इंपीरियल बैंक का महाजनी का विभाग अत्यंत उन्नति कर रहा है, और भारतवर्ष में सौ के लगभग उसकी शाखाएँ हैं। इसलिये इंपीरियल बैंक के महाजनी-विभाग को जैसा-का-तैसा बनाए रखकर उसमें केवल नोट-प्रकाशन-विभाग और सम्मिलित कर देना चाहिए। इंपीरियल बैंक के वर्तमान रूप को नष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यापारिक कामों के बिना बैंक से सराफ़े का नियंत्रण नहीं हो सकता। फिर आवश्यकता तो इसी बात की है कि इंपीरियल बैंक का ही भारतीयकरण हो। महाजनी विद्या में अनेक भारतीय पटु हैं, जो बैंक के व्यवसाय को सफलता-पूर्वक चला सकते हैं। जितनी जल्दी हो, ऊँचे-से-ऊँचे पद से लेकर नीचे-से-नीचे पदों पर भारतीय काम करें। जो लोग निपुण न हों, उन्हें सीखने का अवसर दिया जाय।

बड़े पदों पर विदेशियों को रखने से काम नहीं चलेगा। इस बात को हम स्वीकार नहीं कर सकते कि भारतीय इस विषय में कम दक्ष हैं। जहाँ इंपीरियल बैंक को नए रिज़र्व बैंक की सलाह दी जाती है, वहाँ दूसरा कारण एक और भी है। कोई नया बंक नए सिरे से खोलने पर अनेक विदेशियों की नियुक्ति से ख़र्च का और भी भार पड़ेगा, जो सर्वथा अवांछनीय है। यह निर्धन देश पर एक और भार होगा। यद्यपि नए बैंक के खुलने पर भी इंपीरियल बैंक को कोई धक्का नहीं लगेगा, तथापि साधारण जनता तो गड़बड़ में पड़ ही जायगी। इससे इंपीरियल बैंक को धक्का लगना स्वाभाविक ही है। साधारण लोगों में इस बैंक से ही कुछ श्रद्धा हुई है। अन्यथा कई बैंकों के फ़ेल हो जाने से वे बराबर डरते आए हैं। इसलिये इंपीरियल बैंक को ही नया सेंट्रल बैंक बनाने की आवश्यकता है।

जी० एस्० पथिक

बड़े दिन का उत्सव

कई दिन हुए, मेरे एक अँगरेज़ मित्र ने मुझे लिखा कि लंदन से कुछ दूर, एनफ़ील्ड के निकट, बुशहिल-पार्क के श्रीयुत ब्राउन कुछ नवयुवकों को क्रिस्मस की दावत दे रहे हैं, और यदि मैं भी आ सकूँ, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता

होगी। यह सोचकर कि इन लोगों के त्योहार मनाने का ढंग देखने का यह अच्छा मौक़ा है मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। मेरे मित्र विलफ्रिड-पोल ने मुझे लिखा कि कुल मंडली ठीक तीन बजे लिवरपूल-स्ट्रीट-स्टेशन पर ट्रेन-इंडिकेटर के नीचे मेरा इंतिज़ार करेगी। यदि मैं उस समय न पहुँच सकूँ, तो वे लोग चले जायँगे, और मैं अकेला श्रीयुत ब्राउन के मकान पर चला आऊँ। हुआ भी यही, मेरे यहाँ जिनेवा से एक मित्र आ गए थे। उनके कारण मैं तीन बजे लिवरपूल स्ट्रीट नहीं पहुँच सका। ठीक सवा तीन बजे अपने घर से निकला। आज चूँकि एक पारिवारिक निमंत्रण में जा रहा था, मैंने हैट के बजाय साफ़ा बाँधा।

लिवरपूल-स्ट्रीट तक तो अंडर ग्राउंड रेल से गया। वहाँ पहुँचकर L. N. E. R. की एन-फ़ील्ड की गाड़ी पकड़ी। कोई आध घंटे में बुशाइल-पार्क पहुँच गया। श्रीयुत ब्राउन का मकान रेल के इसी पार था, किंतु मैं दूसरी ओर निकल गया। आगे चलकर एक स्थान पर दर्यात्रत किया, तब भूल मालूम हुई। इस मामले में अँगरेज़ बड़े भले होते हैं। अजनबी लोगों की सहायता करने में सदा तत्पर रहते हैं। एक महाशय थोड़ी दूर तक आकर मुझे श्रीयुत ब्राउन के घर का रास्ता बतला गए।

श्रीयुत ब्राउन का मकान-दुमंज़िला है। बिल्कुल सड़क के ऊपर ही है। सामने छोटा-सा बाग़ है। मैंने दरवाज़े पर पहुँचकर कुंडे को एक बार खट-खटाया। कोई आधे मिनट में एक महाशय ने दर्वाज़ा खोला। मैंने कहा—मैं श्रीयुत ब्राउन से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने सिर झुकाकर मेरा स्वागत करते हुए कहा—मैं ही ब्राउन हूं। मैंने हाथ मिलाते हुए कहा कि मैं चतुर्वेदी हूँ। ब्राउन साहब ने मुझे अंदर बुला लिया। एक कोने में खूब आग जल रही थी। बाहर कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। इस आग को देखकर चित्त प्रसन्न हो गया। श्रीयुत ब्राउन ने ओवरकोट उतारने में मेरी सहायता की। ओवरकोट वहीं रखकर वह मुझे ड्राइंगरूम में ले चले।

ड्राइंगरूम में जैसे ही मैं पहुँचा, वैसे ही प्रायः १६-२० कंठों ने ज़ोर से Hail कहकर मेरा स्वागत किया। मैंने सिर झुकाकर सबको एकसाथ अभिवादन किया। इतने ही में श्रीमती ब्राउन आगे बढ़ आईं। श्रीयुत ब्राउन ने यह कहकर कि यह मेरी स्त्री है, उनसे मेरा परिचय कराया। श्रीमती ब्राउन ने हाथ मिलाकर मेरी मिज़ाजपुर्सी की।

श्रीयुत ब्राउन कोई छः फ़ीट लंबे हैं। उनकी अवस्था प्रायः ५० के लगभग होगी। बड़े हँस-मुख और उदार स्वभाव के अँगरेज़ हैं। श्रीमती ब्राउन की अवस्था भी ४५-४६ के लगभग होगी। वह पुराने ढंग की अँगरेज़ महिला हैं। बड़ी विदुषी और स्वभाव की सरल हैं। उनको देखकर सहसा श्रद्धा के भाव उत्पन्न हो उठते हैं। दोनों ही पति-पत्नी बड़े प्रसन्न थे। हम लोग जितना अधिक ऊधम करते, वे उतने ही प्रसन्न होते।

कमरे में जगह कम थी, इसलिये कुछ लोग आग के पास फ़र्श पर बैठे थे। कमरे में प्रायः १६-२० युवक और लड़कियाँ थीं। मेरी भी इच्छा फ़र्श पर ही बैठने की हुई; किंतु सामने ही मेरी एक परिचित युवती बैठी हुई थी। उसके पास एक कुर्सी ख़ाली थी। अतएव मैं वहीं जाकर बैठ गया।

जिस समय मैं पहुँचा लोग चाय पी रहे थे। प्रायः सवा चार बजे थे। किंतु आजकल इँगलैंड में इस समय रात हो जाती है। श्रीयुत ब्राउन ने स्वयं

एक प्याले में चाय लाकर दी। रोटी और मिठाई भी दिखाई दी; किंतु मैंने केवल चाय पर ही संतोष किया। लोग तरह-तरह की गप्पें लड़ा रहे थे। मेरे पास दो नवयुवक और मेरी पूर्व-परिचिता युवती बैठी हुई थी। मैं भी उनसे बातें करता रहा। यह युवती लंदन-विश्वविद्यालय की ग्रेजुएट हैं, और अब इन्होंने अपना समय मादक द्रव्य-निषेधक संस्था के काम में लगा रक्खा है। पक्की शाकाहारी हैं। चाय तक नहीं पीतीं। जिस समय श्रीयुत ब्राउन चाय लाए, तो उन्होंने मुझसे कहा— Oh ! Chaturvedi, don't drink tea." किंतु मुझे और कुछ तो खाना नहीं था, यदि चाय भी न लेता, तो क्या करता ! वह मुझसे चाय छोड़ने के लिये कई बार कह चुकी हैं। किंतु उपर्युक्त कारण से मुझे कभी-कभी चाय पीनी ही पड़ती है। वह स्वयं आग में पका हुआ भोजन बहुत दिनों से नहीं खातीं। गाजर, अखरोट, सलाद, फल, मेवा आदि खा कर रहती हैं। उन्होंने अंडे खाना भी छोड़ रक्खा है। इसीसे मेरा-उनका मत खूब मिल जाता है।

प्रायः पौन घंटे तक गप्प लड़ती रही। लोग धीरे-धीरे एक-एक घूँट चाय पीते, मक्खन रोटी, बिस्कुट आदि के एक-एक कौर को पचासों दफ़े चबलाते हुए गप्प कर रहे थे। यह मालूम होता था कि इन लोगों में धीरे भोजन करने की बाज़ी लगी हुई है। ख़ैर, थोड़ी देर बाद श्रीमती ब्राउन एक कुर्सी पर पर आकर बैठ गईं और उन्होंने कहा— "Now children be attentive". उनके "Children" कहते ही एक बार अट्टहास से कमरा गूँज उठा। कुल युवक और युवतियाँ २४-२५ से लेकर ३० वर्ष की अवस्था तक की होंगी; सभी युनिवर्सिटी-शिक्षा-प्राप्त। किंतु इस समय ये सब सचमुच बच्चे ही होने का उद्योग कर रहे थे। श्रीमती ब्राउन ने कहा—"बच्चो, १५ मिनट बाद तुम्हें ऊपर कमरे में जाना होगा। जिस कमरे में तुम्हें जाना है, उसके दरवाज़े पर लिखा है—"Nursery." यह सुनते ही फिर एक बार हँसी का ठहाका हुआ। प्रश्न होने लगे— वहाँ क्या है ?", "वहाँ क्या होगा ?", "वहाँ नर्स मारेगी तो नहीं ?" किंतु श्रीमती ब्राउन केवल मुसकिराती रहीं। उनके पीछे खड़े हुए ब्राउन साहब भी चुपचाप खड़े मुसकिराते रहे। जब प्रश्न बंद हो गए, तो वह फिर बोलीं—"वहाँ बहुत सोच-समझकर और सावधानी से जाना। वहाँ पहले कौन जायगा; क्योंकि शायद उस कमरे में रोशनी न हो।" यह सुनते ही सब लोगों ने बच्चों का भय-प्रदर्शक 'ऊ-ऊ' शब्द किया। उसी समय ब्राउन साहब ने बत्ती का स्विच घुमा दिया। प्रायः दो सेकिंड के लिये कमरे में अँधेरा हो गया। हम लोगों ने भय-प्रदर्शक शब्द को एक सप्तम और ऊँचा उठा दिया। मुसकिराती हुई श्रीमती ब्राउन हम लोगों का बाल-आचरण देखती रहीं। जब हम लोग शांत हुए, तो फिर बोलीं—"और बच्चो, यदि तुम लोग 'अच्छे सीधे बच्चों' की तरह रहोगे, तो तुम्हें इनाम भी मिलेगा।" यह सुनते ही चारों ओर से "अहा-हा-हा" की आनंद-सूचक ध्वनि आने लगी। श्रीमती ब्राउन उठकर चली गईं। हम लोग फिर गप्प लड़ाने लगे।

थोड़ी देर बाद श्रीमती ब्राउन ने ऊपर जाने के लिये कहा। हम सब लोग उठ खड़े हुए। एक-दूसरे से आगे बढ़ने के लिये कुछ लखनवी तक़ल्लुफ़ होने लगा। अंत में एक ने आगे क़दम रक्खा। हम लोग धीरे-धीरे मानो डरते-डरते ऊपर पहुँचे। एक दर्वाज़े पर " Nursery " लिखा हुआ था।

उसे खोलकर उसमें घुस गए। श्रीयुत और श्रीमती ब्राउन भी साथ थे।

इस कमरे के बीचोबीच में एक क्रिसमस-पेड़ (Christmas tree) रक्खा था। उसकी बगल में लाल पोशाक पहने, लंबी बर्फ के समान श्वेत दाढ़ी-वाली एक मूर्ति बैठी हुई थी। हम लोग उस क्रिसमस-पेड़ के चारों ओर गोलाकार एक दूसरे के हाथ में हाथ देकर खड़े हो गए। कुछ लोग कहने लगे—यह मूर्ति ज़िंदा है या मुर्दा? और इसको जाँचने के लिये कुछ लोगों ने मूर्ति को कोंचना शुरू किया। किंतु थोड़ी ही देर में मूर्ति से आवाज़ आने लगी। यह थे 'फ़ादर क्रिसमस'।

बड़ा दिन ईसाइयों का बड़ा भारी त्योहार है। उसके उपलक्ष में हर घर में एक क्रिसमस-ट्री बनाया जाता है, और फ़ादर क्रिसमस आकर बच्चों को उपहार दिया करते हैं। बाज़-बाज़ 'क्रिसमस-पेड़' बहुत बड़े होते हैं। किंतु यह क्रिसमस-पेड़ कोई छः फ़ीट ही ऊँचा था। मोरपंखी की जाति के किसी वृक्ष की डालियाँ काटकर उसका पेड़ बनाया गया था। उसमें तरह-तरह की चीज़ें—खिलौने आदि लटक रहे थे। उसे सजाने के लिये उसमें काँच के रंग-बिरंगे चमकीले गोले और रबड़ के रंग-बिरंगे गुब्बारे भी लटक रहे थे। कागज़ के फूलों की मालाओं से कमरा सजा हुआ था।

श्रीमती ब्राउन की कुमारी लाल पोशाक पहनकर और दाढ़ीदार चेहरा लगाकर "बाबा क्रिसमस" बनी थीं। यह चेहरा बहुत अच्छा बना था। यहाँ के लोगों की कल्पना में फ़ादर क्रिसमस (जिन्हें Santa Claus भी कहते हैं) ८० वर्ष के हँस-मुख वृद्ध महाशय हैं, जिनके सिर, भौंह और मूछ-दाढ़ी के बाल हिम के समान श्वेत हैं। न मालूम क्यों, बच्चों को उपहार के लिये सारी मनुष्य-जाति में बूढ़े ही व्यक्ति की कल्पना की जाती है।

अस्तु, फ़ादर क्रिसमस ने धीरे-धीरे हम लोगों को बड़े दिन की बधाई देकर नव वर्ष की शुभ कामना की। इसके बाद हम लोगों को उपहार (presents) देने के लिये नंबर पड़ी हुई चिट्ठियाँ दीं। जब सबको चिट्ठियाँ बाँट दी गईं, तब जिस नंबर की चिट्ठी जिसके पास आई, उसी नंबर की चीज़ 'क्रिसमस-ट्री' से निकालकर उसे दी जाने लगी। प्रायः सभी चीज़ें ऐसी थीं, जिनको देखकर हँसी आ जाती थी। एक कुमारी को एक छोटा-सा 'गुड्डा' मिला, एक युवक को एक दुम उठाए घोड़ा मिला। मेरे टिकट में लड़ाज की हेयर-पिन निकली। उसे देखकर हम सब बेतहाशा हँस पड़े। किंतु उसके बाद ही एक लड़की को मर्दानी कमीज़ के बटन मिले, जिसे देखकर फिर अट्टहास हो उठा।

इसके बाद हम लोग पेड़ के चारों ओर बैठ गए। कुछ गाने गाए गए। तदुपरांत हम लोगों के हाथ में एक प्रकार के पड़ाके (crackers) दे दिए गए। ये पड़ाके किरनीनुमा होते हैं, और जब इनके सिरे दोनों ओर से खींचे जाते हैं, तब ये फूटते हैं। हम लोगों ने अपना दाहना हाथ अपने बाएँ ओर के व्यक्ति के बाएँ हाथ से और बायाँ हाथ दाहनी ओर के व्यक्ति के दाहने हाथ से मिलाया। दोनों हाथों में पड़ाकों के सिरे थे। इस प्रकार हमारे दाहने हाथ के पड़ाके का दूसरा सिरा बाईं ओर के व्यक्ति के बाएँ हाथ में था। इसी प्रकार हम लोगों ने एक प्रकार की जंजीर बना ली। श्रीमती ब्राउन के इशारा देते ही हम लोगों ने पड़ाकों के सिरे खींचे और पट-पट करके पड़ाके

फूट उठे । अब लोगों ने पड़ाकों को खोला । उनके अंदर से छपे हुए कुछ कागज और अत्यंत छोटे कुछ खिलौने निकले। मेरे पड़ाकों में एक बिगुल और एक लाल नग निकला । पड़ाकों में निकले हुए कागज़ों में जो लेख थे, उनके नमूने ये हैं—

Wny is an old maid like an odd boot ? Because she is not much use without a fellow.

Give a Sailor's definition of a kiss ? A pleasure smack.

Why are ladies at the theatre like thier jewels when they get home ? Because they are put in a box.

rackers में निकली हुई कविताओं के भी कुछ नमूने देखिए—

Before the wedding-day She was a dear,
And he was a treasure, but afterwards,
She became dearer and he the treasurer.

दूसरा नमूना देखिए—

I feel so foolish and so shy ;
of course I know the reason why ;
But if I told you, you might go,
And that would bring me greater owe.

एक और—

Peri-wigs and Beauty's patches,
These have past that once had place ;
Cupid never grows old-fashioned,
In my hearts she prints thy face.

प्रत्येक व्यक्ति एक-एक करके अपने क्रेकर से निकली हुई कविता पढ़कर औरों को सुनाता था । इसके बाद मिठाई—अँगरेजी मिठाई—चाकलेट आदि बाँटी गई । इतने ही में श्रीयुत ब्राउन ने एक गुब्बारे का डोरा काट दिया । अब हम लोग उसको 'रबड़ी' की तरह हाथ से कमरे में खेलने लगे । थोड़ी ही देर में वह 'क्रिसमस-ट्री' की शाख से टकराकर पटाखे की तरह आवाज़ करके फट गया । श्रीयुत ब्राउन ने दूसरा गुब्बारा हम लोगों के बीच फेंक दिया । इसी प्रकार थोड़ी देर तक हम लोग यही खेल करते रहे ।

इसके बाद हम लोग नीचे आकर श्रीयुत ब्राउन की 'स्टडी' में बैठे । यहाँ उन्होंने एक बड़ी मेज़ पर अपने चित्रों का संग्रह रख दिया था । हम लोग उन्हें देखते रहे । श्रीयुत ब्राउन की मेज़ पर मदरास की गनेश-कंपनी का प्रकाशित Current Thought. पुस्तक रक्खी थी । मैं उसे देखता रहा ।

प्रायः साढ़े आठ बज चुके थे । भोजन का समय हो चुका था । इतने ही में श्रीमती ब्राउन ने आकर हमसे भोजनालय में चलने के लिये कहा । एक लंबी मेज़ पर हम २०-२२ लोगों के लिये भोजन तैयार था । हम लोगों में अधिकांश शाकाहारी थे । श्रीयुत ब्राउन भी शाकाहारी हैं । अतएव मद्य-मांस का कहीं नाम भी न था । कई तरह की मिठाइयाँ, एक प्रकार की सिंवई, मक्खन-रोटी आदि सभी पदार्थ मौजूद थे । मेरे मित्र ने मुझे फल, आलू, ब्रुसेल्स-स्प्राउट (एक प्रकार की गोभी) आदि दिए । यहाँ मैंने बहुत सुंदर हरे छुहारे (खजूर) खाए। हरे छुहारों को चीरकर उनकी गुठली निकाल ली गई थी ; गुठली की जगह उसमें भीगा और छिला हुआ बादाम रख दिया गया था, और ऊपर से उस पर गरी के बर्क छिड़क दिए गए थे । मुझे तो ये इतने पसंद आए कि मैंने इन्हीं से अपना पेट भरा । पीछे से एक प्याला काफ़ी और दूध पिया ।

भोजन करने के बाद सिगरट लाई गई । किंतु मुझे यह देखकर हर्ष हुआ कि उस समाज में केवल दो व्यक्ति सिगरट पीनेवाले थे । उनमें एक तो स्वयं श्रीयुत ब्राउन ही थे । कुछ देर तक साधारण बातें होती रहीं । कुछ लोगों ने हाथ के कुछ करतब

दिखलाए। इसके बाद हम लोग आकर आग के पास बैठ गए। वहाँ तरह-तरह के गाने होने लगे। कुछ क़िस्से भी कहे गए। एक युवती ने एक साधारण क़िस्सा इस ढंग से कहा कि मैं दंग रह गया। इन लोगों को इन सब बातों की बड़ी अच्छी शिक्षा दी जाती है। मुझसे भी कुछ गाने के लिये कहा गया; किंतु यहाँ तो अपने संगीत से भी 'विहीन' हैं—योरपियन संगीत की बात ही क्या? पर बहुत आग्रह करने पर मैंने श्रीमती सरोजिनी नायडू की एक अँगरेज़ी-कविता recite कर दी।

इसके थोड़ी ही देर बाद एक युवक ने आकर मुझसे कहा—*Well Mr. Chturvedi, it is my great ambition to wear a turban.* मैंने हँसकर अपना साफ़ा उतारकर उसके सिर पर रख दिया। पर उसके सिर पर वह ठीक न आया। इससे मैंने उसे उसी के सिर पर बाँधा। सब लोग कुतूहल के साथ इस 'कृत्य' को देखते रहे। उसके चेहरे पर साफ़ा बहुत अच्छा मालूम पड़ता था। साफ़े के बारे में उसकी लंबाई, उसका बाँधना, कब बाँधा जाता है, एक बार का बँधा हुआ कितने दिन काम देता है, इत्यादि बहुत-से प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा।

हम लोग यह बातचीत कर ही रहे थे कि श्रीमती ब्राउन ने लाकर एक चिट्ठी का काग़ज़ दिया। उनकी एक लड़की इस समय वीयना में है। उसके पास इस 'क्रिस्मस-पार्टी' के हाल के साथ हम लोगों की greetings (अभिवादन) भी जायँगी। अतएव उस पत्र पर हम सब लोगों के हस्ताक्षर कराए गए। मैंने उनसे पूछा कि मैं अँगरेज़ी में दस्तख़त करूँ या हिंदी में। इस पर वह बड़ी प्रसन्न हुईं, और मुझसे दोनों हस्ताक्षर करने को कहा। मैंने दोनों लिपियों में अपना नाम लिख दिया। नागरी अक्षर देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ लोग कह उठे—This script is very artistic.

इस प्रकार साढ़े दस बज गए। अब हम लोग चलने की तैयारी करने लगे। श्रीयुत और श्रीमती ब्राउन दर्वाज़े पर आकर खड़ी हो गईं। हम लोग उन्हें धन्यवाद देकर और उनसे हाथ मिलाकर उनसे बिदा हुए।

बाहर निकलते ही सरदी का ज्ञान हुआ। बर्फ़ पड़ रही थी। थोड़ी ही देर में हमारे कोट पर सफ़ेदी छा गई। स्टेशन पर कोई २० मिनट गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ी। लिवरपूल-स्ट्रीट तक हम सब लोग साथ आए। वहाँ से हमारे साथ केवल एक देवी रह गईं। कुछ स्टेशनों के बाद वह भी उतर गईं। मुझे दो जगह गाड़ी बदलनी पड़ी। इसमें बड़ा समय लगा। घर पहुँचा, तो प्रायः एक बजा था। लैच की से दर्वाज़ा खोलकर अपने कमरे में गया, और कपड़े बदलकर बिस्तर की शरण ली।

इस क्रिस्मस-पार्टी से मुझे अँगरेज़ों के घरेलू जीवन और त्योहार मनाने के ढंग के साथ-ही-साथ उनके चरित्र को भी बहुत ही निकटता से जानने का अवसर मिला। इन लोगों के हृदय की सरलता और इनके जीवन के सौंदर्य का मुझे एक नया अनुभव हुआ। मुझे जो आनंद हुआ, उसका यदि शतांश भी आपको मेरे इस पत्र से अनुभव हो, तो मैं अपने पत्र लिखने के 'घोर' परिश्रम को सफल समझूँगा।

श्रीनारायण चतुर्वेदी

अंधकार

हत्या कर प्रचंड रवि की,
आँखें फोड़ किसी छवि की,
चिता-भूमि पर नग्न नाच तू, लील रहा है किसकी लाश ?
अरे भयंकर सत्यानाश !

चक्र सुदर्शन ! विद्रोही !
निपट निरंकुश ! निर्मोही !
क्षमाहीन दुर्वासा-सा तू टहल रहा है क्यों उस पार ?
विश्व-शक्ति का कर संहार !

रत्नाकर-समान वन में,
लूट बटोही, छल छन में,
खून पी रहा गट्-गट् तू, किस दुर्बल का उदर विदार ?
ओ प्रलयंकर ! भीम विकार !

फैल विकट बादल-दल सा,
खेल-खेल खूनी खल-सा,
मूर्ख ! बना भूकंप भयानक, कँपा रहा क्यों कलियुग-प्राण ?
अरे नीच निशिचर ! पाषाण !

ओ पिशाच ! चुपके-चुपके,
विटप-ओट में छुप-छुप के,
किधर आ रहा तू बर्बर-सा अभिसारिका वधू के साथ ?
अट्टहास कर अरे अनाथ !

बन भूखा भुजंग काला,
ज़हर उगलता मतवाला !
फुफकारता रेंगता है क्यों देश-देश में ओ दिग्भ्रांत ?
काले रूप धारण कर क्लांत !

बीहड़ गुह गुफावासी !
क्रूर, जितेंद्रिय, संन्यासी !
हवन-कुंड में होम रहा है किस विनाश का कर बलिदान ?
निशा कलंकिनि का धर ध्यान !

देख, इधर दीपक-बाला,
जला रही धक्-धक् ज्वाला,
भाग शीघ्र सरपट समेट तू चिरकुट-माया जाल-विराट ;
अरे शूद्र ! पागल सम्राट !!

"गुलाब"

करुणा

एक दृश्य
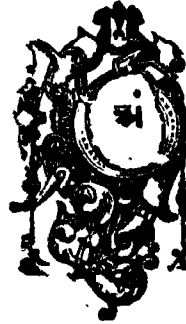
अंधकार का चारों तरफ़ राज्य था। एक पहर रात ढल चुकी थी। आकाश के अंचल में तारे जग-मगा रहे थे। उस पतली-सी गली में कोई किसी को देख नहीं सकता था। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता कि अंधकार के कारण एक दूसरे मनुष्य की टक्कर लड़ जाती।

कूड़ा जगह-जगह पड़ा था। सफ़ाई कुछ भी नहीं थी। उसी गली में एक पुराना मकान था। देखने से यह ज्ञात होता था कि अब की वर्षा-ऋतु में वह मकान खड़ा न रह सकेगा।

उसी मकान की एक कोठरी में एक दीपक टिमटिमा रहा था। उसमें कोई विशेष सामान नहीं दिखाई देता था। केवल मिट्टी के कुछ बर्तन पड़े थे।

एक रोगिणी-रमणी रोग-शय्या पर पड़ी थी। रोग के कारण उसका शरीर पीला हो गया था। शरीर में हड्डियाँ निकल आई थीं। उस दीपक के मंद प्रकाश में कभी-कभी उस रोगिणी की गढ़े में धँसी हुई आँखें डबडबाई हुई दिखाई देती थीं। एक नन्हा-सा बच्चा उसकी छाती से चिपटा हुआ दूध पी रहा था। रोगिणी बार-बार उसकी तरफ़ देखती और सिसकने लगती। उसकी आँखों से आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदें निकलकर बच्चे के कोमल कपोलों पर गिर रही थीं। वह नन्हा-सा बच्चा अपनी मा की तरफ़ देख रहा था, और माता उसकी तरफ़। उसने अपने छोटे-छोटे दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए कहा—"मा—म्मा—आँ—!" माता ने उसे चूम लिया। उसके सिर पर हाथ थपथपाते हुए कहा—"बेटा, अब सो जा।"

रोगिणी अब कुछ अच्छी हो चली थी।

* * *

परिचय

वह पतिता थी, समाज से निकाली हुई थी। वह वेश्या थी। उसने अपने रूप की दूकान खोली थी। दूकान भी ऐसी, जो न चलती हो। कुछ धन जमा न कर सकी।

कविवर वृंद

[श्रीयुत हनूमान शर्मा की कृपा से प्राप्त]

सुंदर भावों से भरी की कविता अभिराम।
व्रजभाषा के सुकवि ए कविवर वृंद ललाम।
"पद्म"

N. K. Press, Lucknow.

रूप नष्ट हो गया, दूकान टूट गई। एक बालक हुआ, तभी से वह बीमार पड़ी। कई मास तक रोग-ग्रस्त रही। पेट के लिये घर का सामान बिक चुका था। ग्राहक अब आते ही न थे। सहायक कोई था नहीं। चारों ओर निराशा और अंधकार था। बेचारी दुखिया रो-रोकर दिन काटती। रोना ही उसके जीवन का सहारा रह गया था। उसे अपनी कोई चिंता न थी, चिंता थी अपने उस प्यारे नवजात शिशु की। बच्चे को दूध तक नहीं मिलता था, न मिलने का कोई उपाय ही था। दरिद्रता ने दुखिया के स्तन का दूध तक सुखा दिया था। बेचारे का पालन कैसे हो, दुखिया बेचारी दिन-रात यही सोचा करती। उस दुखिया का नाम था—करुणा।

* * *

कई दिन बाद

करुणा ने देखा, अब बच्चे की जीवन-रक्षा करना बड़ा कठिन है। इस तरह देखते-देखते उसकी मृत्यु हो जायगी। उसने मोह को अपने हृदय से हटाया, बालक के जीवन पर उसका ध्यान गया। उसने सोचा—यदि इस बालक को मैं किसी दयालु मनुष्य को दे दूँ, तो शायद वह इसका पालन-पोषण कर इसे अपना लेगा। पर हाय, एक वेश्या के बालक को समाज में लेगा कौन? नहीं-नहीं, कोई नहीं लेगा। उसने निश्चय किया, अँधेरे में वह उसे किसी राह में रख आवेगी, कोई भला दाता मिल गया, तो वह दया करके इसे उठा ही ले जायगा; उसका बच्चा बच जायगा।

* * *

मार्ग में

अभी दो घड़ी रात बाक़ी थी। करुणा उठी, बालक को गोद में लिया। फटे वस्त्रों से उसे लपेटकर वह चल पड़ी। बच्चे के हाथ में शीशे का एक खिलौना था। राह चलते-चलते करुणा बार-बार घूमकर देख रही थी कि उसे कोई देख तो नहीं रहा है।

वह रुग्णावस्था के कारण बालक का बोझ सँभाल न सकती थी। चलते-चलते सड़क पर आई। अभी पूर्व दिशा में लाली नहीं छाई थी, फिर भी सवेरा होने ही वाला था। करुणा ने एक स्थान पर बालक को रख दिया। वह अश्रुपात कर रही थी। बार-बार बच्चे की तरफ़ देखती। प्रातः-वसंत का पवन आकर करुणा को स्पर्श करते हुए कहता—"जो कुछ तुम्हारे पास है, उसे मेरे साथ लुटा दो, मैं देख लूँगा।"

करुणा ने अपने हृदय को कठोर किया। धीरे से बच्चे को सड़क पर रख दिया। जाते समय उसने बच्चे को चूमते हुए कहा—"मोहन, आज अंतिम विदाई है। अब

"मोहन, आज अंतिम विदाई है।"

तुम मा से सदा के लिये अलग होते हो। ईश्वर ही तुम्हारी रक्षा करेगा।" यह कहकर वह चल पड़ी।

करुणा अपने घर की ओर न आकर किसी दूसरी ही तरफ़ चली गई। बच्चे का खिलौना अब भी उसके हाथ में था; पर उसे कोई खेलनेवाला न था!

* * *

अनाथ मोहन

मंदिर का घंटा बज रहा था। कनक-किरीटिनी उषा का क्षितिज में आगमन हो चुका था। गंगा-स्नान के लिये लोग घर से निकल रहे थे। एक धर्मात्मा रमणी भी अपनी दासी के साथ गंगा-स्नान के लिये जा रही थी।

"हैं, यह क्या? यह किसका बच्चा रो रहा है, कौन इसे यहाँ छोड़ गया है?"—उस स्त्री ने बड़े आश्चर्य से कहा। दासी ने जाकर देखा, उसे गोद में उठा लिया, और कहा—"बहूजी, बच्चा तो बड़ा सुंदर है। किसी ने इसे यहाँ रख दिया है। हाय, उसे ज़रा भी मोह न आया!"

बहूजी ने कहा—"अच्छा, इसे घर ले चल।" बहूजी की जवानी ढल चुकी थी; पर उनके अभी तक कोई संतान न थी। पति बड़े व्यवसायी थे, घर में लक्ष्मी का निवास था। बालक के आते ही वह सबका खिलौना हो गया। बड़े लाड़-प्यार से उसके दिन बीतने लगे।

बहूजी को ही वह अपनी माता समझने लगा।

* * *

माता की व्यथा

स्मृति काँटों की शय्या है। करुणा मोहन को बार-बार याद कर रोती और हँसती है। रोती है मोहन के विछोह पर, और हँसती है अपने नारकीय जीवन पर। वह दिन-भर पथ-पथ में घूमती-फिरती है। कितनी ही रजनी उसकी सड़कों पर बीतीं। अब न उसका कोई घर का है, और न साथी। सब कुछ छोड़ चुकी थी, और छोड़ चुकी थी अपने जीवन की अमूल्य संपत्ति मोहन को! विकल होकर इधर-उधर फिरा करती। पगली समझकर लोग उसे खाने को दो रोटियाँ दे देते। इसी तरह वह अपना जीवन बिताती रही।

जब वह किसी बालक को खेलते देखती, तो उसे मोहन की याद आ जाती। वह बार-बार उस खिलौने को देखकर रोती। अब मोहन की स्मृति के लिये उसके पास केवल वही एक खिलौना था। करुणा उसे हृदय से लगा लेती। वह समझती, यही मेरा मोहन है।

उसका दिमाग़ ख़राब हो चुका था। उसे न अब अपने भोजन की चिंता थी, और न कपड़े की। यदि कोई दे देता, तो उसे वह ले लेती। मार्ग में चलता हुआ मनुष्य यदि उसके सामने एक पैसा डाल देता, तो वह कभी-कभी घृणा से उसे उठाकर फेंक देती। लोग समझते, पगली है।

* * *

लोगों की दृष्टि

एक दिन करुणा को देखकर एक आदमी ने कहा—"क्या यह वही वेश्या है?" दूसरे ने कहा—"हाँ, जैसा किया, उसी का फल भोग रही है। बुरे कर्म का बुरा परिणाम!"

किंतु करुणा के साथ सहानुभूति प्रकट करनेवाला कोई न था। समाज उसका निरादर करता था।

वह विकल होकर कहती—"अभागे प्राण अब भी नहीं निकलते! हाय, मैं क्या करूँ? मोहन! प्यारे मोहन! आ जा मेरी गोद में।"

* * *

दो वर्ष बाद

वर्षा ऋतु के काले बादल अब पतले और सफ़ेद हो चले थे। सफ़ेद बादलों के पंखों पर सूर्यदेव अपनी सुनहली किरणों से चित्रकारी कर रहे थे।

एक बड़ा ही सुंदर मकान था। मकान के सामने एक वाटिका थी। एक बालक ने कहा—"गिलधाली! ओ गिलधाली! वो तितली मुझे पकल दो।"

"क्या करोगे?"

"उसे लखूँगा।"

"नहीं, वह मर जायगी।"

"मैं उसे जिला दूँगा।"

"नहीं पकड़ सकता; वह उड़ जायगी।"

बालक उसे पकड़ने चला। तितली उड़ गई। वह उसकी तरफ़ देखने लगा। फिर वह रबड़ के गेंद को उछाल-उछालकर खेलने लगा।

एक भिखारिन बड़ी देर से खड़ी यह दृश्य देख रही थी। आज भूले-भटके सहसा वह इधर आ पड़ी थी। देखकर मन-ही-मन कहने लगी—"आह, यह तो मेरे मोहन की ही तरह है, आँखें वैसी ही हैं, रंग भी वैसा ही

साँवला है। गोल मुँह है। एक दिन चारपाई पर से गिरने पर उसके मस्तक में जो चोट आई थी, उसका निशान भी वैसा ही है। अवस्था भी इसकी उतनी ही जान पड़ती है—एक वर्ष का था—दो वर्ष बीते—तीन वर्ष का तो यह बालक भी है। बस, बस, यही है मेरा मोहन।

प्रेम से उसका हृदय भर आया। उसकी आँखों से मोती के हार टूट-टूटकर पृथ्वी पर गिरने लगे।

अचानक गेंद उछलकर भिखारिन के पास जा गिरा। बालक उसे लेने के लिये दौड़ा। भिखारिन उसकी तरफ़ ध्यान से देखने लगी। उसके मुँह से निकल गया—"मोहन, भूल गए ?"

बालक ने कहा—"तुम भीख माँगती हो ? पैसा ला दूँ ?"

"नहीं।"

"तब क्या कहती हो ?"

"अपने बच्चे को खोजती हूँ !"

"वह कहाँ है ? कौन है ?"

"तुम हो !"

बालक ने हँस दिया। उसने कहा—"मैं अपनी अम्मा का बच्चा हूँ, तुम्हारा नहीं।"

भिखारिन ने अपने वक्षस्थल में छिपा हुआ एक खिलौना निकालकर कहा—"लो, यह तुम्हारा खिलौना है।" वह अपने को अब सँभाल न सकी। बालक को गोद में लेकर रोने लगी।

उधर नौकर ने जब देखा कि बालक भिखारिन की गोद में बैठा है, तो वह भिखारिन के पास आकर कहने लगा—"दूर हो यहाँ से !" यों कहते हुए बालक को अपनी गोद में ले लिया। भिखारिन एकटक व्याकुल नेत्रों से बालक की ओर देखने लगी। फिर रोने लगी।

नौकर गिरधारी ने पूछा—"क्यों रोती है ? भूखी है क्या ? कुछ खायगी ?"

ऊपर से बहूजी ने कहा—"अरे, उसको कुछ खाने को दे दो।"

किंतु भिखारिन वहाँ से उठ खड़ी हुई। उसके पास जो खिलौना था, उसे भी वहीं छोड़ दिया। वह दौड़ती हुई किसी तरफ़ चल दी। उसके मुख पर करुणा और संतोष के भाव मूर्तिमान हो रहे थे।

गिरिधारी ने कहा—"बहूजी, वह तो पगली हो गई है !"

इसके बाद फिर कभी वह पगली भिखारिन नहीं दिखलाई पड़ी।

"दूर हो यहाँ से" यों कहते हुए बालक को अपनी गोद में ले लिया

विनोदशंकर व्यास

सुवर्ण

हमारे देश में सुवर्ण का प्रयोग चिरकाल से किया जा रहा है। वैदिक काल से लगाकर आज तक भारतीय सभ्यता ने जितना लाभ इसके उपयोग से पहुँचाया है, उसका शतांश भी वैज्ञानिक युगवाले इसका लाभ उठाने में अभी समर्थ नहीं हैं। शरीर पर इसका रासायनिक प्रभाव अत्यंत विलक्षण होता है। शरीर में किसी कारण से शैथिल्य होने लगे, आप किसी रूप में सुवर्ण का प्रयोग कीजिए, शक्ति का बढ़ना आरंभ हो जायगा। यह शरीर में उपयोग करने का उत्तम रसायन है। इसका प्रतिदिन शरीर में प्रवेश होते रहने के लिये अनेक स्त्री-पुरुष दाँतों में सुवर्ण की मेखें लगा लिया करते हैं। सुवर्ण का लौकिक उपयोग किसे नहीं मालूम? केवल सिक्के के ही उपयोग से इँगलेंड प्रतिवर्ष एक्सचेंज की दर घटा-बढ़ाकर करोड़ों चाँदी के सिक्के हमारे देश के कोष से हड़प जाता है। संसार में एक सभ्य प्राणी दूसरे प्राणी पर, हिंसक पशु की भाँति, केवल इस पार्थिव सुवर्ण के लिये ही अभिघात करने के लिये सदा उद्यत रहता है। एक भाई दूसरे भाई की निर्दयता-पूर्वक इसी देदीप्यमान पदार्थ के निमित्त हत्या करता है, और इसकी रक्षा के लिये संसार के भयंकर-से-भयंकर नवाविष्कृत घातक यंत्रों को कार्य में लाकर सभ्यता का प्रचार किया जाता है। यों मानना चाहिए कि "सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयंति"—इसके सदुपयोग से संसार की विभूति बढ़ती है, और ग्रहण करने की असद् इच्छा से संसार का नाश होता है, जिसके उदाहरण संसार की सभ्यता के इतिहास में भरे पड़े हैं। आयुर्वेद के रस-शास्त्रियों ने इसका बहुत अन्वेषण किया, ऐसा प्राप्त रस-शास्त्रों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है। प्राचीन रस-शास्त्रियों का विचार है कि सुवर्ण पाँच प्रकार का है—१ प्राकृत, २ सहज, ३ वह्निज, ४ खनिज और ५ रसेंद्र वेधज।

"सुवर्णं पञ्चधा ख्यातं, प्राकृतं सहजं परम् ;
वह्निजं खनिजं तद्वद्रसेन्द्रवेधसंभवम्।

इन पाँच भेदों में आजकल हम लोगों को केवल खनिज का साधारण परिचय है, शेष चार का वर्णन जिस औपन्यासिक भाषा में है, उसका तत्त्व समझना सहज नहीं। तथापि पाठकों के विचारार्थ उसे उद्धृत कर आशा की जाती है कि प्राचीन सभ्यता के अन्वेषक इसके प्रकृत अर्थ और भावार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

ब्रह्माण्डं संवृतं येन रजोगुणभुवा खलु ;
तत्प्राकृतमिति प्रोक्तं देवानामपि दुर्लभम्।
ब्रह्मा येनावृतो जातः सुवर्णेन जरायुणा ;
तन्मकरूपता यातं सुवर्णं सहजं हि तत्।
विसृष्टमग्निना शर्वं तेजः पीतं सुदुःसहम् ;
अभूत्सर्वं समुद्दिष्टं सुवर्णं वह्निसंभवम्।
एतत्स्वर्णत्रयं दिव्यं वर्णैः षोडशभिर्युतम् ;
धारणादेव तत्कुर्याच्छरीरमजरामरम्।
रसेन्द्रवेधसम्भूतं तद्वेधजमुदाहृतम् ;
रसायन महाश्रेष्ठं पवित्रं वेधजं हि तत्।
(रसरत्नसमुच्चय)

जो सुवर्ण खानों से मिलता है, उसके विषय में लिखा है—

"तत्रतत्र गिरीणां हि जातं खनिषु यद्भवेत् ;
तच्चतुर्दशवर्णाढ्यं भक्षितं सर्वरोगहृत्।

इस पद्य के लिये भी यह विचारणीय है कि चतुर्दश वर्ण क्या चीज़ है और उसकी अधिकता से लाभ क्यों होते हैं? हमारे आलस्य से प्राचीन शास्त्रकारों के अर्थों का व्यवहार उठ जाने के कारण प्रतिपद शंकाएँ उत्पन्न होती हैं। मेरे विचार में यही एक बड़ा कारण है कि वैद्य लोग आपस में मिलकर विचार करने में अपनी अज्ञता प्रकाशित होने के भय से हिचकते हैं। अब समय है कि वैद्य लोग इस लज्जाशीलता को छोड़कर अपने अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करें। अन्यथा संसार की तरक्की में ऐसे ही पिछड़ते चले जायँगे। पाठकों के लाभार्थ आधुनिक सुवर्ण-विषयक खोज यहाँ पर प्रकाशित की जाती है।

हमारे देश के प्रायः सभी प्रांतों में सुवर्ण पाया जाता है। इस समय संसार के सुवर्ण निकालने के स्थानों में भारत का स्थान ७वाँ गिना जाता है। पर खेद है कि यहाँ इसका व्यापार प्रायः विदेशियों के हाथ में है, और वे अधिक सुवर्ण प्राप्त करने के स्थानों पर करोड़ों की पूँजी लगाकर अधिकार कर बैठे हैं। शेष के स्थान अभी पहले ही की तरह भूगर्भ में छिपे पड़े हैं। इसका फल यह हुआ

है कि संसार में जितना सुवर्ण प्रतिवर्ष निकलता है, उसका केवल साढ़े तीन परसेंट यहाँ से मिलता है, शेष ९६½ फ़ी सदी सुवर्ण कनाडा आदि स्थानों से निकाला जाता है। संसार में सबसे अधिक सोने की खपत चीन और भारतवर्ष में है; पर दुःख है कि यहाँ की स्वर्ण-भूमि विस्तृत क्षेत्र में होते हुए भी व्यापारोपयोगी नहीं बनाई जा सकती। इससे अधिक अकर्मण्यता का द्योतक क्या होगा? सुवर्ण साधारणतः स्फटिक शिला-खंडों के साथ मुक्तावस्था में, छोटे-छोटे कणों के रूप में, फैला हुआ पाया जाता है। नदियों की रेत में भी इसके कण मिलते हैं। इसे निकालने की दो मुख्य विधियाँ प्रचलित हैं—

१. जहाँ सुवर्ण के कण स्फटिक पत्थर के साथ मिलते हैं, वहाँ पर स्फटिक को मशीनों द्वारा खूब बारीक पीसकर जल के साथ पारद-भरे हुए बर्तनों में बहाते हैं। वहाँ स्फटिक-चूर्ण से सुवर्ण निकलकर पारद के साथ मिलकर मिश्रण बन जाता है, और स्फटिक-चूर्ण अलग निकल जाता है। बाद में सुवर्ण-मिश्रित पारद-मिश्रण को डमरू-यंत्र से आँच पर उड़ाते हैं, जिससे पारा ऊपर के बर्तन में शीतलता से एकत्रित कर लिया जाता है, और सुवर्ण नीचे के बर्तन में रह जाता है, जिसे फिर गलाकर यथेच्छ शकलों में ढाल दिया जाता है।

२. इसी प्रकार का योग दूसरी विधि में भी बर्ता जाता है; पर उसमें इतना और अधिक कर दिया जाता है कि सुवर्ण-युक्त स्फटिक-चूर्ण को सोडियम और पोटाशियम साइनाइड के घोल में बड़े कुंडों में मिलाते हैं, जिससे स्फटिक के चूर्ण में मिला स्वर्ण पोटाशियम तथा सोडियम साइनाइड के घोल के साथ मिलकर घुलनशील हो जाता है, और स्फटिक-चूर्ण पृथक् हो जाता है। बाद में उक्त घोल में शुद्ध यशद के दो टुकड़े डाल दिए जाते हैं, जिसमें सुवर्ण अलग हो जाता है, और यशद का दूसरा यौगिक बन जाता है। जहाँ पर विद्युत्-प्रवाह का उत्तम प्रबंध है, वहाँ इस घोल में विद्युत्-धारा का प्रवेश कराकर भी सुवर्ण पृथक् कर लेते हैं।

एक अन्य विधि भी कभी-कभी काम में लाई जाती है। वह यह है कि क्लोरिन् गेस को सुवर्ण-मिश्रित द्रव के साथ मिलाते हैं, जिससे गोल्ड क्लोराइड (सुवर्ण हरिद)-नामक लवण (घुलनशील) तैयार हो जाता है, जो अँगरेज़ी दवा में भी व्यवहार किया जाता है। इसीके घोल में हीराकसीस डाल देने से सुवर्ण अलग हो जाता है।

सुवर्ण के गुण—यह कोमल पीतवर्ण का दीप्यमान धातु है। इस पर वायु या ओषजन की कोई क्रिया नहीं होती, न इस पर जल-वाष्प का प्रभाव पड़ता है। साधारण-अम्लों (एसिड्स) का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं होता। यह केवल जलराज में घुलता है। शोरे का तेज़ाब एक भाग और नमक का तेज़ाब दो भाग मिलाकर यह जलराज बनाया जाता है। इसको जलराज इसलिये कहते हैं कि जितने तीव्र तरल द्रावक द्रव हैं, उनसे जो कार्य नहीं होता, वह यह कर सकता है, अर्थात् धातुओं का राजा सुवर्ण जो अन्य अम्लों में नहीं घुलता, उसे भी यह घुला देता है। सुवर्ण को पीटकर अत्यंत कोमल पत्तर बनाए जा सकते हैं, जिनके द्वारा प्रकाश भली प्रकार गुज़र सकता है। साधारणतः बाज़ारों में सोने के वर्क मिल जाते हैं। इनका ओषधियों और मिठाई पान आदि की शोभा बढ़ाने के लिये व्यवहार किया जाता है। सुवर्ण की भस्म करने के लिये भी उत्तम जाति के पत्तर लेना अधिक उपयुक्त है। बाज़ारों में कुछ पत्तर मिश्रित सुवर्ण के भी बिकते हैं। इसलिये ओषधियों के लिये विशेष सावधानी के साथ ख़रीदना चाहिए। सुवर्ण अनेक धातुओं के साथ मिलकर मिश्रण (Alloy) बनता है। विशेषकर ताँबे, चाँदी और पारे के साथ इसका मिश्रण बनाकर अनेक प्रकार की कारीगरियाँ की जाती हैं। जवाहरात के आभूषणों में रत्नों को जोड़ने में सुवर्ण का कुंदन (ख़ालिस सोना) काम में लाया जाता है। और भी अनेक योग हैं, जो भिन्न प्रकार के व्यवसायों में व्यवहृत होते हैं, जैसे गोल्ड क्लोराइड (सुवर्ण हरिद) फ़ोटोग्राफ़ी में और गोल्ड साइनाइड एलेक्ट्रोप्लेटिंग में व्यवहृत होता है। सुवर्ण की शुद्धता आजकल केरेट (Carat) से प्रकट की जाती है। २४ केरेट का सुवर्ण शुद्ध माना जाता है। जो सोना अठारह केरेट का हो, उसमें १८ भाग सोना और ६ भाग ताँबा समझना चाहिए। प्राचीन काल में वर्णों से सुवर्ण की शुद्धता प्रकाशित करते थे। सोलह वर्ण का सुवर्ण सर्वोत्तम समझा जाता था, और उसे दिव्य सुवर्ण समझते थे। खान से प्राप्त होनेवाला सुवर्ण १४ वर्ण का माना जाता था।

हमारे देश में नीचे-लिखे प्रांतों और ज़िलों में सुवर्ण मिलता है—

बंगाल, मिदनापुर, बाँकुड़ा, बिहार-उड़ीसा और छोटा नागपुर।

आसाम की प्रायः सभी नदियों की रेत में बहुत अल्प-मात्रा में सुवर्ण मिलता है।

संयुक्त-प्रांत में सोने की मात्रा बहुत कम पाई गई है। केवल बिजनौर, नैनीताल, और गढ़वाल में मिलता है। अधिकांश रामगंगा, सुखारसोत, फीका (Phike) और कोह-नदियों की रेत में पाया जाता है।

मध्यप्रांत के नागपुर-ज़िले में भंडारा, बालाघाट और चाँदा आदि स्थानों में पाया जाता है।

पंजाब में बन्नू, पेशावर, हज़ारा, रावलपिंडी, झेलम, काँगड़ा, अंबाला, गुड़गाँव और होशियारपुर-ज़िलों में पाया जाता है।

बंबई-प्रांत में धारवाड़, बेलगाँव-ज़िलों और काठियावाड़ में पाया जाता है।

मद्रास में मदुरा, कोयंबिटूर, सलेम, नीलगिरी, ट्रावन्कोर, मलाबार, कनारा, उत्तर आरकाट, बेल्यारी आदि ज़िलों में पाया जाता है।

देसी राज्यों में मैसूर और हैदराबाद (दक्षिण) मुख्य हैं। विशेषकर मैसूर में ४ अँगरेज़ी कंपनियाँ करोड़ों की पूँजी लगाकर सोना निकालने का कार्य कर रही हैं। उन्होंने ५-६ हज़ार फ़ीट ज़मीन खोदकर सुवर्ण निकालने का व्यवसाय दृढ़ कर रक्खा है। साधारणतः २७ मन सुवर्ण-मिश्रित स्फटिक-पत्थरों के चूर्ण में २½ तोले के लगभग सुवर्ण प्राप्त होता है। आजकल सुवर्ण-प्राप्ति का विस्तृत विवरण न जानने से वैद्यों को बड़ी कठिनाई हो रही है। औषधि में व्यवहार करने के लिये इसके शोधन का विशेष महत्त्व है। यह शोधन केवल खनिज का करना चाहिए, या बाज़ार में जो सुवर्ण मिलता है, इसका ? यह प्रश्न अत्यधिक विचारणीय है। रस-रत्नाकर का मत है कि जिस सुवर्ण में ताम्रादि मिले हुए हों, उसी का शोधन करना चाहिए। मेरी सम्मति में भी ऐसा ही उचित प्रतीत होता है। आशा है, विज्ञ पाठक इस पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

कविराज प्रतापसिंह

स्वराज्य की स्थिति

[चित्रकार—श्रीमोहनलाल महतो]
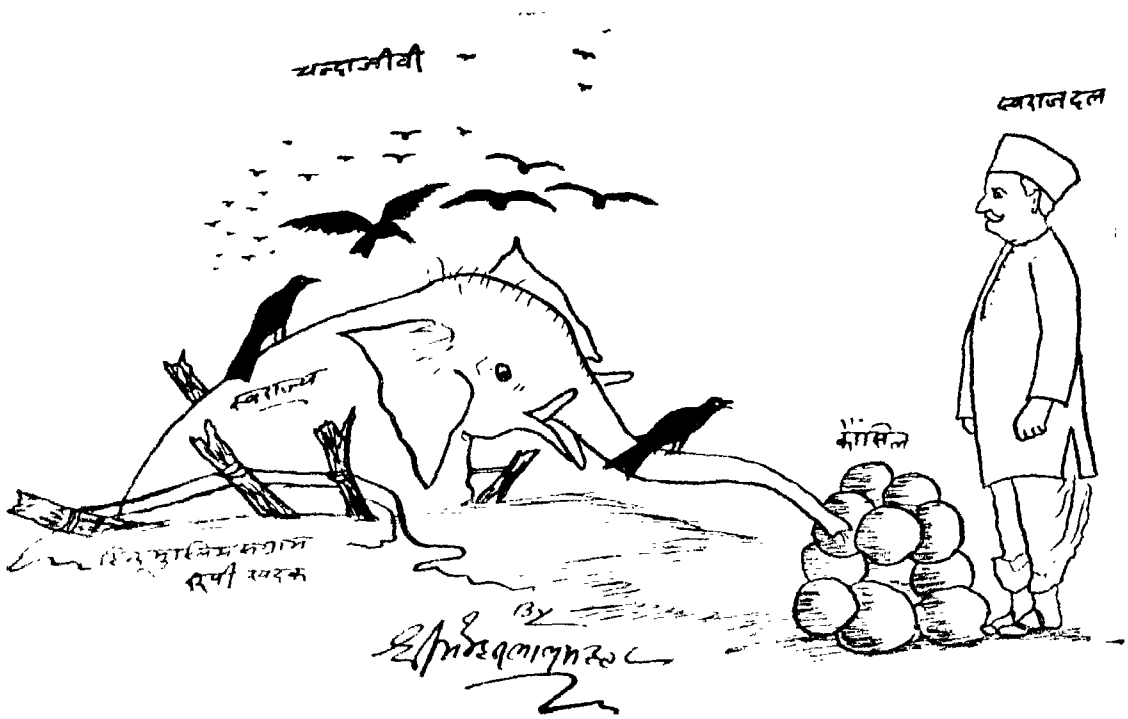
स्वर-लिपिकार—[राजा नवाबअलीखाँ साहब, लखनऊ]

होरी वृंदावनी, सारंग-धमार

गीत

ब्रज में धूम मचाई मोहन;
गावत होरी कृष्ण मुरारी,
तारी दे-दे।
इक गावत, इक मृदँग बजावत,
मुख मींडत है नारी,
तारी दे-दे।

स्थायी

३		०		×			०		२		०		
		म											
नि	सा	रि	म	म	रि	सा	रि	सा	सा	—	नि	प	म
ब्र	ज	में	—	धू	म	म	चा	—	ई	—	मो	ह	न
म													
रि	म	प	प	सां	—	—	नि	सां	सां	—	नि	प	प
गा	—	व	त	हो	—	—	—	—	री	—	कृ	—	ष्ण
नि	मप	म	प	[illegible]	—	नि	प	म	रि	—	सा	—	नि
मु	—	रा	—	री	—	—	ता	री	दे		दे	—	—

अंतरा

—	—	म	प	सां	—	—	सां	—	नि	सां	सां	सां	सां
—	—	इ	क	गा	—	—	व	—	त	—		क	मृ

सां	—	रिं	सां	सां	नि	स	न	प	म	प	सां	रिं	सां
दँ	—	ग	ब	जा	—	—	व	त	मु	ख	मी	ड	त
नि	प	म	प	सां	—	नि	प	म	रि	—	सा	—	नि
हैं	—	ना	—	री	—	—	ता	री	दे	—	दे	—	—

स्वर-लिपि के संकेत

(स्वर)

१. जिन स्वरों के नीचे बिंदु हो, वे मंद्र-सप्तक के, जिनमें कोई बिंदु न हो, वे मध्य-सप्तक के, तथा जिनके शीर्ष में बिंदु हो, वे तार-सप्तक के समझे जायँ। जैसे—सा, सा, सां।

२. जिन स्वरों के नीचे लकीर हो, उन्हें कोमल समझिए। जैसे—रि, ग, ध, नि। जिनमें कोई चिह्न न हो, वे तीव्र हैं। जैसे—रि, ग, ध, नि।

३. मध्यम-कोमल का चिह्न 'म' और मध्यम-तीव्र का चिह्न 'मं' है।

४. ....

५. स्वर के ऊपर बारीक टाइप में छपा हुआ आलंकारिक स्वर अथवा कण है।

(ताल)

१. सम का चिह्न × है, ताल के लिये अंक समझिए, और ख़ाली का द्योतक ० है।

२. ‿ इस चिह्न में जितने स्वर रहें, वे एक मात्रा में गाए या बजाए जायँगे। जैसे—सा रि, मारिग

३.—यह दीर्घ मात्रा का चिह्न है। जिस स्वर या वर्ण के आगे यह चिह्न हो, उसे एक मात्रा-काल तक अधिक गाइए या बजाइए।

---

१. दाराशिकोह

काल की कराल गति है। मनुष्य क्षण-मात्र में क्या से क्या हो जाता है! जिधर देखते हैं, उधर ही काल-चक्र का प्रकोप दिखाई देता है। जो संसार की जातियों में अग्रगण्य थे, वे नत-शिर होकर धूल में मिल गए। जो अत्यंत हीनावस्था में थे, वे उन्नति के शिखर पर पहुँच गए। जातियों की दशा में विचित्र परिवर्तन दिखाई देता है। राष्ट्रों का उथल-पुथल आश्चर्य-जनक है। ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-चरित्र पढ़ने से पता लगता है कि कैसे-कैसे प्रतिभाशाली, तेजस्वी, शूरवीर तथा शासक काल-चक्र के झपेटे में आकर कुछ-से-कुछ हो गए। कहाँ वह नेपोलियन बोनापार्ट, जिसने अपने अपूर्व पराक्रम और शौर्य से संसार को चकित कर दिया था, और कहाँ सेंट हेलेना। प्रारब्ध का लेख अमिट है। मनुष्य का अभ्युत्थान और पतन होने में क्या देर लगती है। सब विधाता के बाएँ हाथ का खेल है। भाग्य विपरीत होने पर विद्या, पांडित्य, शौर्य, सभी कुछ निष्फल हो जाता है। सच है—"भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।" हम इसे अकर्मण्यता का सिद्धांत भले ही कहें, परंतु इसमें सत्य का अंश बहुत कुछ है। इस लेख में उदाहरण-स्वरूप शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार दारा-शिकोह के शोचनीय जीवन का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। जिन्होंने भारतीय इतिहास का अवलोकन किया है, वे दाराशिकोह की रोमांचकारी करुणाजनक दशा अवश्य ही अवगत होंगे।

शाहजहाँ मुग़ल-वंश का पंचम सम्राट् था। वह बड़ा प्रतिभाशाली बादशाह था। उसने अपने राजत्व-काल में अनेकों सुरम्य इमारतें बनवाईं, और विजय प्राप्त की। उसके चार बेटे थे—दारा, शुजा, मुराद और औरंगज़ेब। शाहजहाँ दारा से विशेष प्रेम करता और राज्य का कार्य उसी के परामर्श से करता था। दारा के लिये बादशाह के सिंहासन के पास एक छोटी-सी चौकी रक्खी जाती थी, जिस पर वह बैठता था। बड़े-बड़े अमीर और सरदार उसे प्रसन्न करने की चेष्टा में लगे रहते थे—उसके लिये तन, मन, धन न्योछावर करने को तैयार रहते थे। शूर, सामंत, राजनीतिज्ञ उसके कृपा-पात्र बनने के लिये निरंतर अनेक उपाय करते थे। दारा का यह अभ्युदय उसके भाइयों को कब सह्य हो सकता था! मुग़ल-वंश के इतिहास में यह कोई अद्भुत बात न थी। शाहजहाँ ने स्वयं अपने भाइयों को क़त्ल कर राजसिंहासन प्राप्त किया था। ऐसे दृष्टांत का प्रभाव न पड़ना असंभव था। शाहजहाँ ने दारा ही को युवराज बनाया था, और उसकी अभिलाषा थी कि उसकी मृत्यु के पश्चात् वही उसका उत्तराधिकारी हो। इससे पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष और भी अधिक बढ़ गए थे।

दारा युवराज होने के योग्य था। वह अपने पितामह अकबर की उदार नीति का पक्षपाती था। यदि विधाता उसके अनुकूल होता, और उसे भारत का सम्राट् बनाता, तो मुग़ल-साम्राज्य का इतनी शीघ्रता से अंत न होता। उसमें मज़हबी कट्टरपन तो लेश-मात्र भी न था। अकबर की तरह वह भी धार्मिक अत्याचार का विरोधी था, और भिन्न-भिन्न धर्मों को ईश्वर के पास पहुँचने के भिन्न-भिन्न मार्ग समझता था। औरंगज़ेब ने उसे नास्तिक लिखा है। कट्टर मुसलमान इतिहासकार भी लिखते हैं कि उसकी नास्तिकता ही के लिये उसे ऐसा भीषण दंड मिला था। दारा के रचे हुए ग्रंथों का अवलोकन करने से यह नहीं मालूम होता कि वह नास्तिक था। वह सूफ़ी-सिद्धांत का अनुयायी था, और अन्य सूफ़ियों की तरह हज़रत के नियमों को अविचारशील साधारण मनुष्यों के लिये उपयुक्त तथा हितकर समझता था। वह कहता था कि ज्ञान और विवेकशीलता से मनुष्य साधारण धार्मिक क्रियाओं के बंधन से मुक्त हो सकता है। दारा ने उपनिषदों का अध्ययन किया, और फ़ारसी-भाषा में उनका अनुवाद कराया। उपनिषदों के मनन से उसे ज्ञान प्राप्त हुआ, और उसकी आत्मा को शांति मिली। अपनी पुस्तक—सफ़ीनात-उल-औलिया—में उसने मुसलमान-फ़क़ीरों और महात्माओं के चरित्र का वर्णन किया है। "रिसाला-ए-हक़नुमा" में उसने सूफ़ी-मत के सिद्धांतों की विवेचना की है। पहली पुस्तक में वह अपने को दाराशिकोह हनाफ़ी-ए-क़ादरी लिखता है, जिससे सिद्ध होता है कि वह हनाफ़ी सुन्नी और अब्दुलक़ादिर जिलानी के अनुगामियों में था। इस पुस्तक की एक प्रति, ११५१ हिजरी की लिखी हुई, भारत-सरकार के अधिकार में है। इसमें २१६ पृष्ठ हैं, और इसके अंत में ये शब्द लिखे हैं—"*यदि इस पुस्तक* में कोई अशुद्धि अथवा त्रुटि हो (क्योंकि मनुष्य से भूल होना संभव है), तो विद्वानों से प्रार्थना है कि वे कृपया उसे शुद्ध कर लें। ईश्वर सदैव स्तुति के योग्य है।" इनके अतिरिक्त दारा ने कुछ और पुस्तकें भी लिखीं, जिनके नाम निम्न-लिखित हैं—

(१) सिर्र-ए-अकबर, (२) दीवान-ए-इकसिर-ए-आज़म, (३) रिसाला-ए-मारिफ़।

इन पुस्तकों से दारा की सहिष्णुता, उदारता, सत्यान्वेषण-परायणता प्रकट होती है। अकबर की तरह इस्लाम के महारथियों की उद्दंडता और कट्टरपन से उसे ग्लानि हो गई थी। वह सत्य का उपासक था, और मत-मतांतर के वाद-विवाद को मिथ्या और निरर्थक ही नहीं, बल्कि हानिकर समझता था। उसने किसी स्वार्थ-सिद्धि अथवा व्यक्तिगत लाभ के लिये ऐसा नहीं किया। वह स्वभाव ही से उदार-हृदय और इस्लाम की उग्र नीति का विरोधी था। यदि ऐसे विचारशील, सहृदय मनुष्य को अवसर मिलता, तो वह मुग़ल-साम्राज्य की जड़ को सुदृढ़ कर देता। परंतु कर्म की गति प्रबल है। विधाता वाम होने पर मनुष्य का बल, पौरुष, पराक्रम, पांडित्य, सब कुछ निष्फल हो जाता है।

शाहजहाँ ने वसीयत की थी कि मेरे बाद दारा राज्याधिकारी हो। जब वह बीमार पड़ा, तो यह अफ़वाह फैल गई कि बादशाह मर गया। माध्यमिक काल में व्यक्तिगत शासन होने के कारण ऐसी बातों का राजनीतिक स्थिति पर बुरा प्रभाव पड़ता था। शुजा, मुराद और औरंगज़ेब, इन तीनों ने राज-सिंहासन की प्राप्ति के लिये युद्ध करने की तैयारी कर दी। साम्राज्य में सर्वत्र अशांति छा गई। बड़े-बड़े राजकर्मचारी और सेनाध्यक्ष दलों में विभक्त हो गए। कोई किसी का पक्ष लेने लगा, कोई किसी का। औरंगज़ेब बड़ा चालाक, मक्कार और धूर्त था। उसने मुराद से कहा कि मुझे राज-पाट या ऐश्वर्य की इच्छा नहीं है। तुमको बादशाह बनाकर मैं तो दरवेशों की तरह ईश्वर-भक्ति में अपना जीवन व्यतीत करूँगा। मुराद उसकी झाँसा-पट्टी में आ गया। दोनों भाई मिलकर दारा के साथ युद्ध करने को चल दिए। राजपूत दारा की मदद के लिये तैयार थे। राजा जसवंतसिंह स्वयं सेना लेकर गए; परंतु औरंगज़ेब ने उन्हें परास्त कर दिया। विजयी औरंगज़ेब चंबल को पार कर आगरे आया। फिर आगरे से ९ मील दूर समोगर-नामक गाँव के पास (२८ मई, सन् १६५८ ई० को) दारा से घमासान युद्ध हुआ, जिसमें दारा की पराजय हुई। दारा झटपट रण-क्षेत्र से भागा, और दिल्ली की तरफ़ चल दिया। इधर औरंगज़ेब ने आगरे में बादशाह की उपाधि ले ली, और अपने पिता शाहजहाँ को क़िले में क़ैद कर लिया। शाहजहाँ ने औरंगज़ेब से भेंट करने की चेष्टा की। परंतु उसके साथियों ने उससे कहा कि बादशाह तुम्हारे प्राण लेना चाहता है। जहानारा ने भी समझौता कराने का उद्योग किया।

परंतु विश्वासघाती, कपटी, कुंठितहृदय औरंगज़ेब कब माननेवाला था! दारा ने दिल्ली से कुछ युद्ध की सामग्री लेकर अजमेर के पास फिर युद्ध किया। परंतु उसके बुरे दिन आ गए थे। दुर्भाग्य-वश वहाँ भी (मार्च, सन् १६५६ ई० में) वह पराजित हुआ। निराश होकर अपने पुत्र सिपरशिकोह और एक दर्बारी (फ़ीरोज़ मेवाती) के साथ लड़ाई के मैदान से भागा। उसकी स्त्री और बेटी ख़्वाजा मक़बूल के साथ अजमेर के निकट, अनासागर तालाब के किनारे, बैठी हुई अपनी इस दुर्दशा पर आँसू बहा रही थीं। दारा के सहायक राजपूत भी तितर-बितर हो गए थे, और उनमें से कुछ ने तो उसका धन और सामान भी लूट लिया था। दूसरे दिन उसकी स्त्री उसके पास पहुँची।

बेचारे दारा को विश्राम करने का अवकाश कहाँ था? मृत्यु अथवा राज-सिंहासन, यही मुग़ल-राजकुमारों के भाग्य का निर्णय था। वह अहमदाबाद की तरफ़ गया; परंतु उसे ख़बर मिली कि तुम नगर में प्रवेश न करने पाओगे। इस समय दारा की जो दशा थी, उसका फ़्रांसीसी यात्री बर्नियर ने हृदय-द्रावक शब्दों में वर्णन किया है। उसकी बेगम और बेटी, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी कष्ट का अनुभव नहीं किया था, जिनका जीवन महलों में सुख-पूर्वक क्रीड़ा-कलाप करने में व्यतीत हुआ था, जिन्होंने शीत-घाम को जाना तक न था, वे असह्य वेदनाएँ सहती हुई एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रही थीं। अहमदाबाद में मदद न मिलने पर दारा ने कच्छ की तरफ़ प्रस्थान किया। बर्नियर दारा के साथ था। वह लिखता है कि मेरे पास घोड़ा भी न था, और न मिलने की कोई आशा ही थी। गुलमुहम्मद ने, जिसे दारा ने सूरत का फ़ौजदार नियुक्त करा दिया था, ५० सवार और २०० सिपाही दिए। कच्छ में आश्रय न मिलने पर नैराश्य-ग्रस्त हो फ़ारस जाने की इच्छा से दारा ने भकर की तरफ़ कूच किया। सिंधु-नदी को पारकर वह दादर में पहुँचा, और वहाँ के सर्दार मलिक जीवन के यहाँ शरण ली। मलिक जीवन को एक बार शाहजहाँ ने हाथी के पैरों के नीचे कुचलने की आज्ञा दी थी; परंतु दारा ने उसे बचा दिया था। दारा को इस कठिन समय में महान् आपत्तियों का सामना करना पड़ा। प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार का लेख है कि दादर आते समय मार्ग में उसकी स्त्री का शरीरांत हो गया, और उसे भी संग्रहणी हो गई। बेगम ने मरते समय यह इच्छा प्रकट की कि मेरी लाश भारत की पवित्र भूमि में ही दफ़न की जाय। निदान उसकी लाश लाहौर भेजी गई, और वहाँ मियाँ मीर के घर में दफ़न कर दी गई। इस प्रकार राजकुमार परवेज़ और जहाँआरा बेगम की बेटी नादिरा बेगम ने अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की। भगवान् की विचित्र लीला है। जिन्हें पुष्प-शय्या से नीचे उतरने में असुविधा होती थी, उनके लिये ऐसी कठिनाइयाँ!

मलिक जीवन ने अतिथि-सत्कार करने के बदले दारा के साथ अक्षम्य विश्वासघात किया। उसने राजकुमार को औरंगज़ेब के हवाले कर दिया। औरंगज़ेब तो स्वभाव ही से कपटी और अपने मनोभाव गुप्त रखने में कुशल था। उसने इस समाचार को पाकर कुछ भी हर्ष नहीं प्रकट किया। वह चुपचाप अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने का उपाय करता रहा। उसने दारा को एक मैले-कुचैले हाथी पर बिठलाकर नगर में घुमाया, और उसका घोर अपमान किया। दारा के भाग्य का निपटारा करने के लिये उसने इस्लाम के आचार्यों और अनुभवी राजभक्त अमीरों को एकत्र किया। मुल्ला-मौलवियों की ऐसी सभा में दारा की प्राण-रक्षा की क्या आशा की जा सकती थी? दानिशमंद ने साहस कर कहा कि राजकुमार की प्राण-रक्षा होनी चाहिए। शायस्ताख़ाँ, मुहम्मद अमीनख़ाँ, बहादुरख़ाँ, हकीम दाऊद आदि ने अपनी सम्मति प्रकट की कि धर्म तथा राष्ट्र के हित के लिये दारा को फाँसी का दंड देना आवश्यक है। रोशनआरा बेगम ने भी ख़ूब दारा के विरुद्ध कहा-सुना। फ़्रांसीसी इतिहास-लेखक लेमरटाइन एक प्रसंग में लिखता है कि जब स्त्री के हृदय में दया का लेश न हो, तो सर्वनाश अवश्यंभावी है। इस्लाम के आचार्यों ने फ़तवा दिया कि दारा नास्तिक और इस्लाम का शत्रु है। इस फ़ैसले को सुनकर औरंगज़ेब ने "पवित्र क़ानून और राष्ट्र-हित" के लिये दारा के प्राण लेने का निश्चय कर लिया। सुनते ही दारा का हृदय सहम गया। उसने करुणाजनक शब्दों में औरंगज़ेब को लिखा—"मेरे प्रभु, भ्राता तथा सम्राट्! मुझे राज्य पाने की लेश-मात्र इच्छा नहीं है। यह तुम्हें और तुम्हारी संतान को मुबारक हो। मेरे प्राण लेने का जो तुमने निश्चय किया है, वह अन्याय है। यदि तुम मुझे रहने के लिये एक मकान और अपनी दासियों में से एक युवा दासी काम-काज करने के लिये

रखने की आज्ञा दे दोगे, तो मैं अपना अवशिष्ट जीवन तुम्हारे हितार्थ ईश्वर-प्रार्थना में व्यतीत करूँगा।"

इस पत्र के कोने पर दया-शून्य औरंगज़ेब ने स्वयं अरबी में लिखा—"पहले तो तुमने राज्य छीनने का प्रयत्न किया, और ऐसी दुष्टता का व्यवहार किया।"

यह सुनकर कि दारा को फाँसी होगी, दिल्ली-नगर में सनसनी फैल गई। कौन जानता था कि जिस चाँदनी चौक में अमीरों और सर्दारों द्वारा सम्मानित युवराज दाराशिकोह—जिसके एक शब्द पर, एक निगाह पर मनुष्यों का अभ्युत्थान और पतन निर्भर था—समारोह के साथ निकलता था, उसी में वह तिरस्कृत होकर घुमाया जायगा? दिल्ली-निवासी दारा के दुर्भाग्य पर आँसू बहाते थे; परंतु वे कर क्या सकते थे? उनका हृदय दारा के साथ था। ३० अगस्त को एक बलवा हुआ, और हैबतख़ाँ की प्रेरणा से जनता ने मलिक जीवन और उसके साथियों पर हमला किया। स्त्रियों ने कोठों की छतों पर से कीचड़ से भरे हुए घड़े अफ़ग़ानों पर फेंके। कई अफ़ग़ानों के प्राण भी गए।

जब औरंगज़ेब ने यह सुना, तो उसने निश्चय किया कि अब दारा के प्राण लेने में देर करना अनिष्टकारी होगा। उसने शीघ्र ही दारा के क़तल की आज्ञा दे दी। नज़रबेग नाम का एक गुलाम और उसके कुछ साथी इस काम के लिये नियत किए गए। ३० अगस्त को रात्रि के समय इन नृशंसों ने दारा के बंदीगृह में प्रवेश किया। उन्होंने राजकुमार सिपरशिकोह को वहाँ से अलग करने की चेष्टा की। इन्हें देखते ही चकित राजकुमार अपने घुटनों पर गिरकर चिल्लाया—"तुम मुझे मारने आए हो?" भयभीत बालक अपने पिता से लिपट गया। नज़रबेग ने उससे कहा—"उठो!" परंतु उसने दारा की टाँगें पकड़ लीं, पिता-पुत्र दोनों ज़ोर से चिमट गए, और शोकाकुल होकर रोने लगे। इस पर गुलामों ने विकराल रूप धारणकर दोनों को अलग कर दिया। दारा ने आँसू पोंछकर इन पापिष्ठ हत्यारों से कहा—"मेरा एक संदेशा औरंगज़ेब के पास ले जाओ।" उन्होंने उत्तर दिया—"हम किसी का संदेशा ले जानेवाले नहीं हैं। हमें तो बादशाह की आज्ञा का पालन करना है। सिपरशिकोह को तो उन्होंने एक दूसरी कोठरी में बंद कर दिया, और फिर दारा पर वार किया। दारा की रगों में बाबर का रक्त सूख नहीं गया था। उसने फ़ौरन् गुलामों पर प्रहार किया। परंतु शस्त्रों के सामने घूसों की क्या चलती थी? एक मिनट में दारा का काम तमाम हो गया। औरंगज़ेब ने उसकी लाश को हाथी पर रखवाकर फिर दिल्ली में घुमवाया। औरंगज़ेब ने आज्ञा दी कि बिना धोए और कफ़न डाले वह हुमायूँ के मक़बरे के पास दफ़न कर दी जाय। बर्नियर और मनूची लिखते हैं कि जब दारा का सिर काटकर औरंगज़ेब के पास भेजा गया, तो उसने कहा—"मैंने जिस नास्तिक का मुख जीवित अवस्था में नहीं देखा, उसका मुख मैं अब नहीं देखना चाहता।" प्रोफ़ेसर यदुनाथ सरकार को इसमें संदेह है।

इस प्रकार युवराज दारा का अंत हुआ। इस हत्याकांड की समाप्ति के पश्चात् औरंगज़ेब निर्द्वंद्व होकर राजसिंहासनारूढ़ हुआ। इस रोमांचकारी प्रसंग को पढ़कर यही धारणा होती है कि मनुष्य का भाग्य बड़ा प्रबल है।

प्रो० ईश्वरीप्रसाद

× × ×

२. अक्षय प्यार

कहीं न पाया अक्षय प्यार।
खोजा, अंत थका मैं हार। कहीं न पाया०।
देखा मैंने कुसुम-कली से करते अलि को अतिशय प्यार।
कली कर रही थी मधु-दान, भ्रमर गा रहे थे कल गान;
बनकर किंतु निठुर नादान, फिरे वही करके मधु-पान।
सुख में करते प्यार, दुःख में देते हैं पर सभी बिसार;
कहीं न पाया अक्षय प्यार।
देखा मैंने नवल वधू को चंद्रदेव से करते प्यार।
साज सजाकर सुंदर सब, पूज रही वह उनको अब;
किंतु विदेश गए पति जब, जलकर विरह वह्नि में तब।
करने लगी वियोगिनि बाला बिधु पर व्यंग्यों की बौछार।
कहीं न पाया अक्षय प्यार।
देखा मैंने मेघदेव को शस्य-दलों पर करते प्यार।
वारि विमल बरसाते थे, स्नेह अमित दरसाते थे;
वर्द्धित उन्हें बनाते थे, स्वयं गले पर आते थे।
किंतु निठुर जब हुए, किया तब आहो उन्होंने उपल-प्रहार।
कहीं न पाया अक्षय प्यार।

ज्वालाप्रसाद मिश्र

× × ×

३. "विपत्ति की कसौटी"

श्रावण की 'माधुरी' में "विपत्ति की कसौटी" की समालोचना प्रकाशित हुई है। श्रीमती कमला देवी शर्मा

की कृपा का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ कि आपने मुझ-जैसे नाचीज़ लेखक को हिंदी का धुरंधर स्तंभ बतलाकर मेरे लिये यहाँ तक लिखने का अनुग्रह किया है कि "मेरे लिये हिंदी-भाषा को अभिमान होना चाहिए।"

किंतु प्रत्येक मनुष्य के गुण-दोषों की कसौटी उसका कार्य है, और जिस कार्य को सामने रखकर श्रीमती ने इस लेखक की इतनी प्रशंसा की है, वह इस योग्य नहीं कि जिससे वह इतने गुण-गान का अधिकारी हो सकता हो। श्रीमती के शब्दों में "विपत्ति की कसौटी"—

(१) "थर्ड क्लास की रचना है।"

(२) "उसमें कहीं-कहीं अश्लीलता और भोंडापन आ गया है।"

(३) "लेखक ने प्राचीन संस्कृत-रचनाओं का आदर्श सामने रक्खा है। कालिदास आदि ग्रंथकारों ने संस्कृत-नाटकों में ग्रामीण एवं अपढ़ पात्रों के मुँह में प्राकृत-भाषा रख दी है। शर्माजी ने भी शायद उसी का अनुकरण किया है। पर अनुकरण बहुत बीभत्स है।"

(४) "आज वह न केवल अरुचिकर, अनिष्ट एवं अपठनीय ही है, वरन् घातक भी।"

(५) "कुल ८३ प्रकरणों में १० ही ५ ऐसे होंगे, जिनमें '...साल'-शब्द न आया हो। भाव-प्रकाश का ऐसी बुरी तरह गला घोटा गया है कि गुणसुंदरी और मनोरमा-जैसी सती देवियों के मुख से भी ऐसे अश्लील शब्द कहलाए गए हैं। पुनः ४५वें प्रकरण में भुवनमोहन के घर में निर्लज्जता-पूर्ण दृश्य दिखलाकर मानो शील को शूली दे दी गई है।"

(६) "पूरी पुस्तक पढ़ जाने पर भी यह ज्ञान नहीं पड़ता कि लेखक के इस उपन्यास लिखने का उद्देश्य क्या है? घटनाएँ कुछ ऐसी बाँधी गई हैं कि 'विपत्ति की कसौटी' बन गई। पर कथा का उद्देश्य कहीं न तो प्रकट ही होता है, और न कहीं उसकी सिद्धि ही जान पड़ती है।"

इत्यादि इत्यादि।

इन अवतरणों को पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमती की दृष्टि में, जैसा कि उन्होंने कहा भी है, पुस्तक दूसरे संस्करण के योग्य नहीं है। किंतु मेरा इस अंश में हिंदी-जनता से एक नम्र-निवेदन है। वह यह कि यदि हिंदी-जनता की दृष्टि में श्रीमती की परख सच्ची है, तो क्यों नहीं ऐसी पुस्तक के साथ वैसा सुलूक किया जाय, जैसा पचीस वर्ष पहले 'चित्तौर-चातकी' के साथ किया गया था? अवश्य ही यह ध्रुव सत्य है कि निर्दोष हरि का नाम है, और साथ ही मैं इस बात का दावा नहीं कर सकता कि मुझमें या मेरी रचना में कोई दोष नहीं है। किंतु जो दोष श्रीमतीजी ने दिखलाए हैं, वे या उस तरह के दोष इस पुस्तक में कदापि नहीं हैं। हाँ, हिंदी-जनता यदि ऐसी बातों को दोष मानती हो, तो दो दोष इसमें अवश्य हैं। एक अँगरेज़ी, बँगला या अन्य भाषाओं के उपन्यासों का आधार लेकर इसमें मौलिकता का डंका नहीं पीटा गया है। क्योंकि ऐसी स्थिति में यदि श्रीमती ने भूमिका में इस प्रसंग को देखकर पुस्तक की मौलिकता स्वीकार कर ली है, तब लेखक को श्रीमती से ऐसा सर्टीफ़िकेट पाकर कम संतोष नहीं हुआ। दूसरे ऊपर के अवतरणों में से अवतरण नंबर ३ के पूर्वार्द्ध का लेखक अवश्य दोषी है। उसका अटल सिद्धांत है कि जो कुछ कालिदासादि ने मार्ग बतलाया है, उससे बढ़कर और अच्छा मार्ग हमारे लिये हो ही नहीं सकता। जब श्रीमती का मुझ-जैसे अकिंचन पर असाधारण पूज्य-भाव है, तब मैं उसी के नाते श्रीमती को यह सलाह देने का साहस करता हूँ कि वह एक बार इस पुस्तक को बारीकी से पढ़ने और साथ ही भलाई और बुराई नोट करते जाने का मुझ पर अवश्य अनुग्रह करें।

इस बात को मैं स्वीकार करता हूँ कि पृष्ठ १३४ में "पंडिताइन कुरूपता की चोटी काट ली थी।", इस वाक्य में पंडिताइन-शब्द के आगे "ने" अवश्य रह गया है किंतु इसे छापे की भूल न समझकर भाषा का भोंडापन दिखलाना ठीक नहीं। श्रीमती ने लेख के तीसरे कालम में जिन अवतरणों का पुस्तक से लेकर उल्लेख किया है, वे वास्तव में भोंडे हैं, अथवा जिन पात्रों के लिये व्यवहृत हुए हैं, उनके योग्य ही, यह मानना पाठकों की रुचि पर है; क्योंकि श्रीमती स्वयं इस बात को स्वीकार कर चुकी हैं कि "उच्च आदर्श के विरोधी पात्र भी आवश्यक होते हैं।" फिर जिनका निकृष्ट चरित्र है, उनके मुख से वेद-वाक्य कहलाना बिलकुल अस्वाभाविक है।

अश्लीलता के विषय में श्रीमती का विशेष कटाक्ष है। श्रीमती की लज्जाशीलता की भूरि-भूरि प्रशंसा करना चाहिए कि उन्होंने ऐसे स्थलों पर जिन्हें वह अश्लील

समझती हैं, उदाहरण देने तक से उपेक्षा की है। उन्होंने जहाँ "...नाल"-शब्द लिखा है, वहाँ इस शब्द का पूर्ववर्ती "छि" छोड़ दिया है। किंतु मुझे इस बात के पढ़ने से आश्चर्य का पारावार नहीं रहा कि आपकी दृष्टि में यह शब्द पुस्तक के ८३ प्रकरणों में १०-१ को छोड़कर सर्वत्र आया है। किंतु मेरे ख़याल से २-४ प्रकरणों को छोड़कर जब कहीं ऐसा लिखा जाने का अवसर ही नहीं है, तब लेखक को इसका सहस्रनाम जपने की क्या आवश्यकता थी? यह अथवा ऐसे शब्द इस पुस्तक में अवश्य आए हैं, और उनका प्रयोग उन्हीं कुलटाओं के लिये, उन भ्रष्टा स्त्रियों के लिये, किया गया है, जो इसके योग्य थीं। उनके चरित्र की भ्रष्टता को दिखलाने का उत्तम उद्देश्य श्रीमती ने भी स्वीकार किया है। यह केवल इसलिये ही कि उनको पढ़कर लोगों को घृणा हो, और कम-से-कम इस पोथी के पाठक स्त्री-पुरुष व्यभिचार-दोष से बचें। "अश्लील! अश्लील!!" की चिल्लाहट मचाने से समाज का व्यभिचार दूर नहीं हो सकता। मुझे इस साहस के लिये क्षमा किया जाय। यदि सचमुच शिक्षित स्त्री-पुरुष इस दोष से समाज को बचाना चाहते हैं, तो उसका उपाय यह नहीं है कि कुलटाओं के चरित्रों का नग्न चित्र समाज के सामने खड़ा करने पर अश्लीलता की दुहाई दी जाय। श्रीमती के शब्दों में "पैंतालीसवें प्रकरण में भुवनमोहन के घर के निर्लज्जता-पूर्ण दृश्य ने शील को शूली" नहीं "दी है।" श्रीमती का अनुभव अवश्य ही बहुत परिमित है। देश में एक मत ऐसा भी है, और उसे तलाशकर मैदान में घसीटे बिना यह पाप समाज से निकल नहीं सकता।

उपन्यास लिखने का उद्देश्य आजकल का पठित-समाज चाहे जो माने, उसे अधिकार है। किंतु मैं तो यही मानता हूँ कि उपन्यास समाज का एक कल्पित चित्र है। वह पाठक-पाठिकाओं का केवल मनोरंजन करने के लिये ही नहीं है, उसके द्वारा जनता को शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। रहा उद्देश्य और कला का प्रश्न, सो इस विषय में मैं क्या कहूँ? इसमें उत्कृष्ट पातिव्रत है, उत्कृष्ट परोपकार है, और जो कुछ है, लेखक की लेखन-शक्ति का, उसके विचार का नमूना है।

लज्जाराम शर्मा

× × ×

४. सरल पवन

प्रातःकाल वाटिका में तुम,
अगर न आते कहीं पवन!
फूलों के मधुमय सौरभ को,
अगर उड़ाते नहीं पवन!
तो मिलिंद फिर गंध न पाकर,
उधर न आते सरल पवन!
अपना कृत्रिम प्रेम पुष्प पर,
कभी दिखाते नहीं पवन।

चंद्रनाथ मालवीय "वारीश"

× × ×

५. विधुवदन-कालिमा

"रसाल-मंजरी" से

मंजुल-मयंक-मुख-मंडल की शालिमा में,
कालिमा विलोकि उक्ति कविन उचारी है;
एक कछु कहत तौ, दूसरो कहत कछु,
सब ही विविध विधि कल्पना पसारी है।
भाषत "रसाल" सब ख्याल करि मन माँहि,
बात बस ऐसी तात! हमहूँ विचारी है।
मोद भरि परि गोद चूमत, हँसत मुख,
सुख सों त्रियामा श्यामा चंद की दुलारी है।
मोहन-मदंक-अंक माँहि श्याम-अंक लखि,
कवि कहैं सागर को पंक लग्यो अंग में।
कारन कहत कवि कल्पित अनेक ऐसे,
कहत "रसाल" किंतु और या प्रसंग में।
लाग्यो है कलंक कैधौं विमल-बदन बीच,
बास कीन्हें कुलटा त्रियामा-श्यामा-संग में;
कैधौं चंद्र खोल लीन्हि सारो अँधियारो कारो,
दीसत उदर ताते रँग्यो श्याम रंग में।
देखि बिधु-बिमल-बदन-बीच कालिमहिं,
कवि-कुल-कोविद समाज बहु गाइगो;
भाषत "रसाल" कोऊ ता कहँ मृगांक कहि,
कोऊ-कोऊ ता कहँ ससांक हू बनाइगो।
मंजु-मुख ऊपर लगावत बिभूति, शिव,
ताकी कहुँ कारिख सों ससि मलिनाइगो;
मेरी जान मदन-दहन के समीप आइ,
धूम के धुँधार में मयंक धुमिलाइगो।

रामशंकर शुक्ल "रसाल"

× × ×

६. पं० गोविंदराम-उदयराम फ़ोटोग्राफ़र

जयपुर के पंडित गोविंदराम-उदयराम महाशय, दो भिन्न-भिन्न जातियों में जन्मे हुए व्यक्ति-द्वय होने पर भी, अद्वैत के आदर्श थे। पं० गोविंदराम गौड़ ब्राह्मण और उदयराम घड़ेला अर्थात् शिल्पोपजीवी जाति के कुलदीपक थे।

संवत् १९१२ में शिवबख़्शजी गौड़ के घर गोविंदरामजी का जन्म हुआ था, और संवत् १९१७ में नारायणजी घड़ेला के घर उदयरामजी उत्पन्न हुए थे। इतनी भिन्नता होने पर भी बर्ताव-व्यवहार में उक्त व्यक्तिद्वय

श्रीयुत पं० गोविंदरामजी गौड़

"दो तन एक मन" अथवा एक ही मा-बाप के बेटे प्रतीत होते थे, और वर्तमान समय के विद्वेषी सहोदरों को निर्वैर रहने की शिक्षा देते थे।

दोनों व्यक्तियों का बाल्यकाल सुख-पूर्वक व्यतीत हुआ था। दोनों ने ही जयपुर के आर्ट-स्कूल में शिक्षा पाई थी। शिल्प-कला में दोनों दक्ष हुए, और देश-देशांतर में अपना गुण प्रकट किया।

श्रीयुत पं० उदयरामजी

जिस समय हाथरस-रेलवे का काम चल रहा था, उस समय गोविंदरामजी सौ रुपए मासिक में मथुरा, रेलवे-पुल का फ़ोटो लेने के लिये नियुक्त हुए थे। उदयरामजी जयपुर में थे। बाद में दोनों जोधपुर चले गए। वहाँ कई वर्ष मुलाज़िम रहे। इसके अनंतर आप जयपुर आ गए, और यहाँ अपना स्वतंत्र व्यवसाय आरंभ किया।

यद्यपि आप फ़ोटोग्राफ़ी के कुशल कलाविद् हैं, और आपके यहाँ इसी विषय का व्यवसाय-विशेष होता है, तथापि जिस प्रकार सुदक्ष वैद्य ज्योतिष, कर्म-कांड और आयुर्वेद का ज्ञाता होने की दशा में रोगी को किसी-न-किसी उपाय से नीरोग कर सकता है, उसी प्रकार पं० गोविंदराम-उदयराम-फ़ोटोग्राफ़ी के पंडित होकर भी चित्रांकण-कला, मूर्ति-निर्माण-कला, भवन-निर्माण-कला और क्रीड़ा-कौशल आदि में पूर्ण निपुण होने से स्वदेशी शिल्प को आश्रय दे रहे हैं, और इसका प्रचार बढ़ा रहे हैं।

आरंभ में आपने जयपुर, चाँदपोल-बाज़ार, में एक सुंदर और विशाल भवन बनवाकर उसमें फ़ोटोग्राफ़ी

के उपयोगी सब विभाग स्थापित किए, और इस व्यवसाय को उत्तम रूप से उन्नत किया। फल यह हुआ कि भारत के अनेक स्थानों में, विशेषकर राजपूताना-प्रांत में, आपकी बड़ी प्रसिद्धि हो गई, और कार्य की सुंदरता, प्रबंध की उत्तमता, व्यवहार की शिष्टता, परोपकारादि की उदारता तथा व्यवसाय की सचाई आदि से एतद्देशीय राजा-महाराजा एवं सरदार लोग विदेशियों से काम लेने की अपेक्षा चित्रांकण के सब काम आपसे करवाने लगे। ऐसा होने से आपकी प्रसिद्धि फ़ोटोग्राफ़र अथवा तसवीर-वालों के नाम से अधिक हुई। इस काम के साथ-साथ शिल्प-कला के और-और कारीगर भी आपके यहाँ काम सीखने और आश्रय पाने लगे।

व्यवसाय का बाहुल्य और समय की उपयोगिता सोच-कर आपने शहर के मकानों को दूसरे कामों में लगा दिया, और अजमेरी दरवाज़ा के बाहर, नए बाज़ार में, नवीन मकान बनवाकर, उसमें अपना कारख़ाना खोल दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उस मार्ग से विदेशियों का, विशेषकर अँगरेज़ लोगों का, आवागमन अधिक होता है। अतः इस देश के लोगों के अतिरिक्त विदेशी अँगरेज़ लोग भी आपके व्यवसाय से संतुष्ट हैं, और जयपुर की बनी हुई विविध वस्तुओं को आपके यहाँ देखते, सराहते और ख़रीदते हैं।

यही क्यों, आपके यहाँ फ़ोटो-चित्रों के अतिरिक्त काठ, पत्थर और धातु की मूर्तियाँ, खिलौने और व्यवहार्य वस्तुएँ भी तैयार होती हैं। चंदन, सीसम, हाथीदाँत, संगमरमर, सोने-चाँदी और पीतल आदि के पशु-पक्षी, खेल-तमाशे, जीव-जंतु, थाल-प्याले, देव-देवी, महल-मकान और मृत मनुष्यों की प्रतिमाएँ आदि भी तैयार होती हैं। अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, आभूषण आदि भी बनते हैं, और इन सबमें इसी देश की वस्तुएँ व्यवहार में लाई जाती और इसी देश के कारीगर काम करते हैं।

आपके यहाँ यह व्यवस्था बड़ी लाभदायक है कि शिल्प-कला सीखनेवालों को सब प्रकार की शिक्षा मुफ़्त दी जाती है, और काम सीखने के बाद यदि वे चाहें, तो उनको अपने ही कारख़ाने में योग्यतानुसार जगह भी दे दी जाती है। आपके यहाँ काम सीखे हुए कारीगर कई राजधानियों में सैकड़ों रुपए मासिक पर काम कर रहे हैं, और इस देश की शिल्प-कला के आश्चर्य-जनक दृश्य दिखलाते हैं।

इँगलैंड और अमेरिका आदि के जितने अँगरेज़ यहाँ
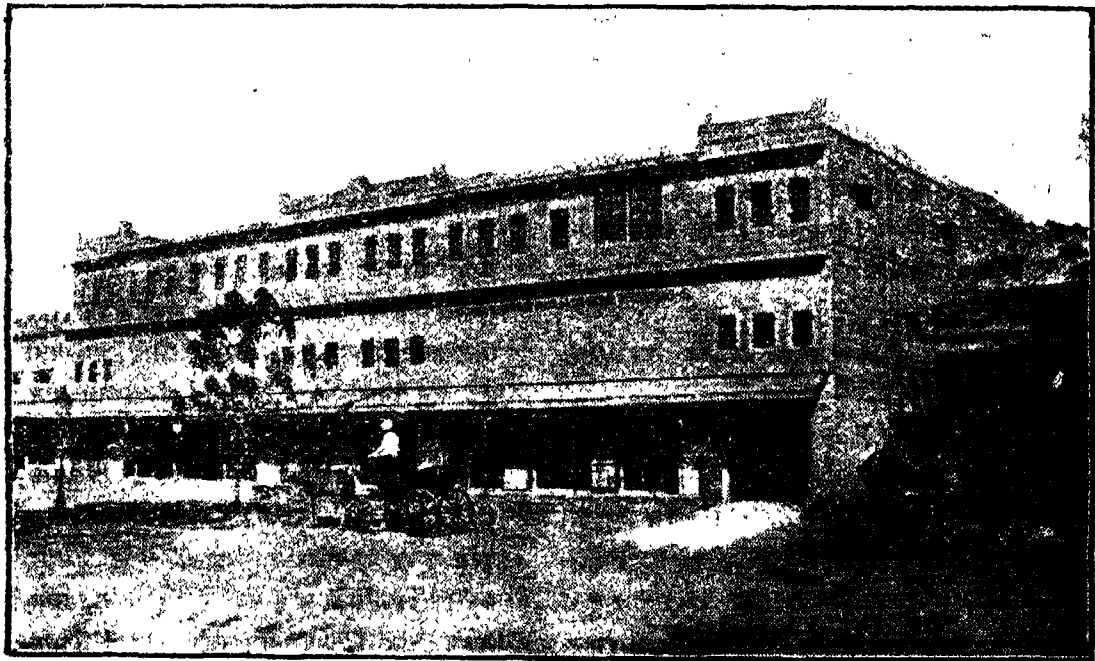
अजमेरीरोड का नया मकान

छात्र तथा कारीगर लोग काम कर रहे और सीख रहे हैं

आते हैं, वे सब आपके कारख़ानों को अवश्य देखते हैं, और स्वयं सुदक्ष होने पर भी आपके यहाँ की शिल्प-कला-संबंधी विविध सामग्री ख़रीदते हैं। सुलभता, सुंदरता और सस्तेपन के कारण कलकत्ते और बंबई आदि नगरों में रहनेवाले लोग भी बहुधा आपके यहाँ से ही काम करवाते हैं। इसी प्रकार जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, बीकानेर, ईडर, ग्वालियर और कोटा-बूँदी आदि के राजा-महाराज तथा सरदार लोग भी ऐसे कामों के लिये आवश्यक अवसरों पर आपको नियमित रूप से निमंत्रण देते और चित्रांकण-कला के सब काम आपही से लेते हैं।

अब तक दोनों व्यक्तियों में चित्रांकण करने आदि के काम उदयरामजी के द्वारा संपन्न होते थे, और व्यवसाय-संबंधी व्यवस्था गोविंदरामजी करते थे। परंतु उदयरामजी अब इस संसार में नहीं रहे। गत भाद्रपद कृष्ण चौथ को फेफड़ा बढ़ जाने की बीमारी से उनकी मृत्यु हो गई।

वह हाथ के चित्र लिखने में बड़े ही अद्वितीय कारीगर थे। आपके चित्रों में यह अधिक विशेषता होती थी कि आप किसी भी वस्तु अथवा किसी भी आदमी को देख-कर तत्तुल्य चित्र तैयार कर देते थे, जिससे लोगों को उनके हस्त-लिखित होने का भ्रम हो जाता था। आपके लिखे रंगीन चित्र गत कई संख्याओं में 'माधुरी' में भी प्रकाशित हुए हैं। पाठक कह सकते हैं कि चित्र कितने उत्तम होते थे।

"प्रेमी महाशय"

× × ×

७. शीत पर सूक्तियाँ

प्रीति करत है एक सों, देत एक को भीति ;
सीत ! गई परतीति तुव, लख अनीति की रीति।
दीन जनन सों जय मिली, बढ्यो तोहिं अभिमान ;
क्यों धनवानन सों रह्यो, सीत ! भीति मन मान ?
निरबल सों बल प्रकट करि, रह्यो कहा कल पाय ?
भूतल में मिलि जायगो, व्याकुल को कलपाय।
सीत ! कहा करि लेयगो, हूँ करि उन पर वाम ;
परम सुखद बर-बाम-उर, जिनको गरम हमाम।
व्यथित वियोगिनि बाम पर, बान रह्यो क्यों तान ?
भसम होयगी आह सों, तेरी सीत ! कमान।
सीत ! तिहारे जुलुम को बेगि होयगो अंत ;
जब पुलिवंत दिगंत लौं प्रगटै संत बसंत।

पर-उपकारी भेंड़ सों सीत ! सीख हित-बात ;
गात बिलोम करायकै, सहत कष्ट दिन-रात ।
मत निकार बिधवान सों सीत ! पाछिलो बैर ;
अंतरतर में बिष बसत, समझ न अपनी ख़ैर ।
पाला 'पाला' सों पर्यो, भए बिटप बेप्रान ;
सीत ! तिहारे सीस पै देत कलंक किसान ।
बार-बार अन्हवाय तू, करत दुखद करतूत ;
तऊ न चेतत, है चढ्यो छुआछूत को भूत ।
अगिनि और रबि सों कहूँ, होतो तेरो मेल ;
इकछत्र करतो राज तौ, सबको दुख में ठेल ।
अंधकार ब्योपार को नाहक रह्यो पसार ;
सीत ! न छिपिहै 'कुहर' में, तुव कलुषित ब्यवहार ।
कौन रीति सों सीत ! है तेरो, मीत 'समीर' ;
बेधत कृसित शरीर को ह्वैकर तीखो तीर ।

'रसिकेंद्र"

× × ×

८. लंदन का पत्र

श्रीयुत 'माधुरी'-संपादक
लखनऊ

आपने मेरा पत्र आश्विन की 'माधुरी' में प्रकाशित कर दिया है, इसके लिये मैं आपका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। उसके फल-स्वरूप मेरे पास बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, संयुक्तप्रदेश तथा राजपूताने से कितने ही पत्र आए हैं। अवकाश के अभाव से मैं इन कृपालु मित्रों को अलग-अलग पत्र लिखने में असमर्थ हूँ। अतएव आपकी पत्रिका के द्वारा मैं उन महाशयों को उनकी अमूल्य सम्मतियों के लिये धन्यवाद देता हूँ, और उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि उनकी सम्मतियों को मैं यथासाध्य कार्य में परिणत करने का उद्योग करूँगा। मुझे यह कहते हुए प्रसन्नता होती है कि मेरे पास जितने पत्र आए हैं, उन सबमें सारगर्भित सम्मतियाँ हैं, उनमें से एक में भी फ़िज़ूल बात नहीं है, ऐसे विचारशील ग्राहकों के लिये मैं आपको बधाई देता हूँ। मुझे भी इस बात का हर्ष है कि मेरे लेख 'माधुरी' के ग्राहक रुचिपूर्वक पढ़ते हैं। भविष्य में जो सम्मतियाँ मेरे पास आवेंगी, उन पर भी मैं पूर्ण ध्यान देने का उद्योग करूँगा।

श्रीनारायण चतुर्वेदी
108, Bridge Lane,
Golders Green,
London, N. W. 11

× × ×

९. अँगरेज़ी-महीनों के नाम

हमारे यहाँ महीनों के नाम ज्योतिष-शास्त्र के नियमों के अनुसार विशेष-विशेष नक्षत्रों के नाम से रक्खे गए हैं। प्रत्येक मास के दिनों की संख्या भी ज्योतिष-शास्त्र के नियम के अनुसार स्थिर हुई है। किंतु अँगरेज़ी-महीनों के नामों का रहस्य कुछ और है। वे सब उस समय के रोमन लोगों के रक्खे हुए हैं। ज्योतिष-शास्त्र के साथ उनका किसी प्रकार का भी संपर्क नहीं है।

अँगरेज़ी के प्रथम मास जनवरी का नाम 'जेनास'-नामक देवता के नाम पर रक्खा गया। इस देवता के सामने और पीछे, दोनों ओर मुख हैं। बाएँ हाथ में एक चाबी है। यह आरंभ और शेष के देवता हैं। वर्ष में जिस प्रकार बारह महीने होते हैं, उसी प्रकार इनके मंदिर के भी बारह द्वार होते हैं। रोमन लोग किसी भी कार्य के आरंभ और अंत में इनकी पूजा करते हैं। यह स्वर्ग के द्वार-रक्षक भी माने जाते हैं। भावुक लोग वर्ष के प्रथम मास में गत वर्ष में जो कुछ नहीं कर सके हैं एवं आगामी वर्ष में जो कुछ करनेवाले हैं, आगे ही से सोच लेते हैं। इसी लिये रोमन लोगों ने दो मुखवाले आरंभ और शेष के देवता के नाम पर वर्ष के प्रथम मास का नाम रक्खा।

दूसरा महीना फ़ेब्रुअरी एक समय वर्ष का अंतिम महीना था। किंतु ईसा के जन्म के ४५० वर्ष पूर्व इसे जनवरी के बाद मानने लगे। इँगलैंड में पहले मार्च से वर्ष का आरंभ होता था। उस समय फ़ेब्रुअरी अंतिम महीना था। किंतु इस समय यह दूसरा महीना गिना जाता है।

उस समय 'लू पारकस'-देवता के सम्मानार्थ रोमन लोग फ़ेब्रुया-नामक एक शुद्धि-उत्सव मनाते थे। इसके मनाने में वे अपने धर्म की शुद्धि समझते थे। हाँ, यह बात अवश्य थी कि इस उत्सव के उपलक्ष्य में आहार आदि जिस प्रकार गुरुतर होते थे, उसके अनुसार मन के शुद्ध होने की किसी प्रकार भी संभावना नहीं थी। इस प्रकार 'फ़ेब्रुया'-उत्सव के आधार पर इस महीने का नामकरण हुआ।

मार्च का नामकरण रोमनों के रण-देवता 'मारस' के नाम पर हुआ। मारस भयंकर योद्धा था। उसकी आकृति में एक हाथ में भयंकर बर्छा की प्रतिकृति, दूसरे में अति उज्ज्वल ढाल एवं माथे के मुकुट पर चारों ओर बिजली खेल रही है। मारस को अतिबलशाली जानकर रोमन लोग सदैव उसकी पूजा करते हैं। उस देश में प्रायः इसी समय

वर्षा की झड़ी लगती है, इसीलिये 'मारस'-नाम के अनुसार इस महीने का नाम पड़ा।

दारुण शीत के कारण समस्त प्रकृति अचेतन अवस्था को प्राप्त हो जाती है। शीत के अंत में मार्च की भयंकर झड़ी के समाप्त होने पर वसंत की रानी 'एप्रिल' आकर पुनः संसार में चेतना का संचार करती है, एवं उसके संपर्क करते ही समस्त प्रकृति पुनः हरी-भरी हो उठती है। इस समय सुप्त प्रकृति जग उठती है; तरुण पत्तों आदि का जन्म होने लगता है। इस सुंदर दृश्य को देखकर रोमन आश्चर्यान्वित होकर कह उठते हैं—"यह सबको हरा-भरा कर देती है।" इसीसे इस महीने का नाम पड़ा एप्रिल अर्थात् उन्मोचनकारी।

मई का नाम 'मइया'-नामक देवी के नाम पर रक्खा गया। रोमन लोगों के मतानुसार 'एटलास'-नामक एक देवता समस्त पृथ्वी को अपने कंधे पर रक्खे हुए हैं। 'मइया' इन्हीं एटलास की सात कन्याओं में से एक है। इनके पुत्र मरकरी देवतों के संवाद-वाहक नाम से विख्यात हैं। इन सात बहनों को देवराज जुपिटर ने आकाश में एक स्थान पर तारका के रूप में रख दिया था। सातों में से एक ने 'शिशिफ्रास'-नामक एक मनुष्य से विवाह कर लिया। किसी कारण-वश देवराज ने शिशिफ्रास को कठोर दंड दिया। इसी दुःख से वह मुँह छिपाकर अदृश्य हो गए।

जून के संबंध में कुछ गड़बड़ है। किसी के मतानुसार यह 'जूनो'-देवी का महीना है, किसी के मत से रोम के विख्यात 'जूनियास'-वंश का नाम है। जूनो जुपिटर की पत्नी अत्यंत गर्विता और ईर्षा-परायणा है। जूनियस प्राचीन रोम का अतिविख्यात व्यक्ति था; किंतु घमंडी, अविनयी, और नितांत जड़ भी था। इन्हीं दोनों के कारण इस महीने के नाम-संबंध में गड़बड़ है।

सातवाँ महीना जुलाई है। जब मार्च-महीने से वर्ष आरंभ होता था, तब इसका नाम 'कुइँटलिस' अर्थात् पाँचवाँ महीना था। रोम-सम्राट् जूलियस सीज़र ने देश में अनेक भूलें देखकर उनका संशोधन किया एवं जनवरी को प्रथम स्थान दे दिया। इसीलिये पाँचवाँ महीना सातवाँ हो गया, और उसके सम्मानार्थ रोमन लोगों ने उसका नाम 'जुलाई' रक्खा।

जिस प्रकार जूलियस सीज़र के नाम पर जुलाई-महीना हुआ, उसी प्रकार उसके प्रपौत्र आगस्टस के नाम पर 'अगस्ट'-नाम के महीने की उत्पत्ति हुई। इसके पूर्व इसका नाम था 'सेक्सट लिस' अर्थात् छठा महीना। अगस्ट-महीने का असल नाम था 'एक्टेवियस'। वह पहले 'मार्कएंटनी' और 'लिपीडास' के साथ रोम-साम्राज्य पर शासन करता था, किंतु अंत में वह रोम-साम्राज्य का एकछत्र अधीश्वर हुआ। अब उसका गौरव और भी बढ़ा। रोमन लोगों ने उसे संतुष्ट करने के लिये उसका नाम आगस्टस रक्खा, और इसी नाम के अनुसार छठे महीने का नाम अगस्ट रक्खा गया। इसी आठवें महीने में उसके जीवन की प्रधान-प्रधान घटनाएँ घटी थीं। उस समय आठवें महीने में ३० दिन गिने जाते थे; किंतु यह सोचकर कि जूलियस सीज़र के महीने से एक दिन कम है, उसने फ़ेब्रुअरी महीने से एक दिन लेकर अपने महीने में एक दिन और बढ़ा दिया, और उसे भी ३१ दिन का कर दिया।

जूलियस सीज़र और आगस्टस, दोनों ही इस प्रकार सम्मानित होने के उपयुक्त हैं। दोनों ही ने रोम-साम्राज्य का गौरव और रोमन-सभ्यता का देश-विदेश में विस्तार किया। सीज़र ने ब्रिटेन को विजय किया, और उसे सभ्यता का पाठ पढ़ाया। वह स्वयं पंडित था। उसके समान न्यायवीर इस संसार में बहुत ही कम पैदा हुए हैं। आगस्टस के समय रोम-साम्राज्य उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। यही युग इस साम्राज्य की चरम उन्नति का युग है। कृषि, वाणिज्य एवं विद्या की चर्चा में रोम इस समय अपने गौरव के शीर्ष-स्थान पर पहुँच चुका था।

इसके बाद के चार महीने, जब प्राचीन प्रथा के अनुसार मार्च से वर्ष आरंभ होता था, उसका स्मरण करा देते हैं। जनवरी-महीने से वर्ष प्रारंभ होने से सातवाँ महीना नवाँ, आठवाँ दसवाँ, नवाँ ग्यारहवाँ तथा दसवाँ बारहवाँ महीना हो गया। किंतु नाम में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। इसी से वे नाम हास्यकर-से हो उठे हैं। सेप्टेंबर का अर्थ है सप्तम, ऑक्टूबर का अष्टम, नवंबर का नवम तथा डिसेंबर का दशम। अथच इस समय क्रमानुसार ये नवम, दशम, एकादश तथा द्वादश मास हैं। उचित तो यह था कि इन महीनों के नाम भी बदल दिए जाते। किंतु रोमन लोगों ने ऐसा नहीं किया। आजकल इन मासों के अर्थ की ओर कोई ध्यान नहीं देता। नाम तो नाम ही हैं, उनका अर्थ चाहे जो कुछ हो।*

सूरजप्रसाद शुक्ल

* अनूदित

१. श्रीविहारीलाल जैन

ह मानी हुई बात है कि परतंत्र जातियाँ धीरे-धीरे अनेक सद्गुणों को गँवा बैठती हैं। भारत के लिये भी यही बात चरितार्थ होती है। पर रात्रि के पश्चात् जैसे दिन होता है, उसी प्रकार अवनति के पीछे उन्नति का प्रादुर्भाव होता है।

जब से भारतवर्ष में जातीय वैमनस्य का विष फूट निकला है, तभी से प्रत्येक भारतीय जाति अपनी संतान को शक्ति-संपन्न और सक्षम बनाने के लिये अत्यंत उतावला हो पड़ी है। हर्ष की बात है कि इस संघर्ष ने जातियों में संगठन की बुद्धि पैदा कर दी है। लोगों को शारीरिक उन्नति की आवश्यकता का अनुभव होने लगा है।

हमारे देशी छात्रों पर यह लांछन आरोपित किया जाता है कि वे पुस्तकों के कीड़े बन स्वास्थ्य-संपत्ति गँवा बैठते हैं। बात सच भी है। स्कूलों के विद्यार्थियों के शुष्क, पांडुवर्ण (पीले) मुख और चश्मों पर चश्मों की कमानी जमाने में उक्त बात की अधिक पुष्टि करती है।

हम माधुरी के पाठकों को एक ऐसे विद्यार्थी के शारीरिक सुधार का दर्शन कराते हैं, जिन्होंने मानसिक उन्नति-विकास के साथ-साथ उतना ही ध्यान शारीरिक उन्नति की ओर भी दिया है। हाँ, यह मानना पड़ेगा कि उनके शारीरिक सुधार का सारा श्रेय उन्हीं को नहीं, उनके पिता को भी है।

विद्यार्थी सज्जन इस समय मध्य-प्रदेशीय जबलपुर के प्रसिद्ध राबर्टसन कॉलेज की एफ़० ए० की सेकिंड ईयर क्लास में उच्च शिक्षा पा रहे हैं। उनकी शारीरिक अवस्था का वर्तमान चित्र माधुरी

में दिया जाता है। चित्र की आलोचना पाठकों पर छोड़ता हूँ। चित्र स्वयं पाठकों को उनकी वास्तविक शारीरिक स्थिति का परिचय देगा।

पाठक जिनका चित्र देख रहे हैं, इनका नाम विहारीलाल जैन है। इनके पिता राजाराम जैन

श्रीविहारीलाल जैन

स्वयं कसरती थे, और आज ८० वर्ष की अवस्था में भी यथेष्ट शक्ति रखते हैं। बुढ़ापा केवल खाल में कुछ सिकुड़न और बाल सफ़ेद कर डालने के अतिरिक्त उनका अधिक कुछ बिगाड़ नहीं सका।

विहारीलालजी का जन्म १ जुलाई, १९०५ को हुआ था। देश भाषा की प्राथमिक शिक्षा पूर्ण होने के पीछे इनका ध्यान अध्ययन और व्यायाम, दोनों की ओर एक-सा दिलाया गया। इनका स्वयं सिद्धांत है कि शारीरिक सुधार का महत्त्व मानसिक विकास से कहीं अधिक आवश्यक है।

व्यायाम भी इन सज्जन का बहुत साधारण है। इन्होंने डंड-बैठकों और डंबिल्स की कसरत के अतिरिक्त कोई विशेष व्यायाम नहीं किया। बड़ी विशेषता यह है कि यह व्यायाम के पश्चात् किसी भी विशेष क्या, साधारण प्रकार का भी खाने-पीने का प्रबंध नहीं करते। नित्य का भोजन भी इनका साधारण दाल, भात, रोटी और घी-दूध है। इनका सिद्धांत है कि विशेष खान-पान के प्रबंध बिना भी मनुष्य यथेष्ट शारीरिक सुधार व्यायाम द्वारा कर सकता है।

१०० तक डंड-बैठकों का अभ्यास हो जाने पर इन्होंने १,५०० तक बैठक और ५०० तक डंडों की संख्या बढ़ा दी। इस समय ये १० से १५ सेर तक के मुगदर १५० बार फेरते हैं। डंबिल्स का अभ्यास भी साथ चलाते हैं।

आशा है, इनके शरीर का सुधार आगे बढ़ता ही जायगा, और यह इने-गिने शारीरिक संपत्ति शालियों में स्थान पावेंगे।

यदि माधुरी के पाठकों को यह शारीरिक सुधार का नमूना रुचिकर हुआ, तो मैं इनके व्यायाम और शारीरिक सुधार के विवरण तथा चित्र समय-समय पर आप लोगों की सेवा में भेजने का यत्न करूँगा।

विद्यार्थी सज्जन की अभिलाषा साधारण व्यायाम और खान-पान से उच्च श्रेणी के शारीरिक सुधार तक पहुँचने की है, जिससे जन-साधारण को दैहिक सुधार में उत्साह और उत्तेजना मिले। यह चाहते हैं कि प्रत्येक भारतवासी ज्ञान के एम्० ए० के साथ-साथ व्यायाम का भी एम्० ए० हो अर्थात् प्रत्येक उपाधि (डिग्री)-धारी को पहलवान होना चाहिए। जगदीश इनकी इच्छा सफल करें।

सूर्यभानु त्रिपाठी

× × ×

२. दुर्गुण

(१)

निरंतर करते रहना खेल,
नहीं रखना आपस में मेल,
सत्य को देना दूर ढकेल,
झूठ को लेना मुख मे झेल,
यही बस बुरा बनाते हैं ;
यही दुर्गुण कहलाते हैं ।

(२)

पढ़ाई में न लगाना ध्यान,
शान से दिखलाना अभिमान,
दूसरों का करना अपमान,
झगड़ने की ही रखना बान,
यही नीचा दिखलाते हैं ;
यही दुर्गुण कहलाते हैं ।

(३)

फेंकना व्यर्थ गाँठ के दाम,
लगाकर चित्त न करना काम,
चाहना जीवन-भर आराम,
परिश्रम का लेना नहिं नाम,
यही बेकाम बनाते हैं ;
यही दुर्गुण कहलाते हैं ।

(४)

खेलना जुआ, गंजफा, ताश,
समय का करना सत्यानाश,
मूर्खता रखना अपने पास,
कुटेवों का बन जाना दास,
यही बस हँसी कराते हैं ;
यही दुर्गुण कहलाते हैं ।

(५)

दया को जाना बिलकुल भूल,
डालना सत्संगति पर धूल,
भलाई को करना निर्मूल,
नीति के हो जाना प्रतिकूल,
यही बदनाम कराते हैं ;
यही दुर्गुण कहलाते हैं ।

(६)

नशे का रखना भूत सवार,
कुशब्दों का करना व्यवहार,
धर्म को देना निरा बिसार,
पाप पर ही रहना तैयार,
यही सुख-शांति मिटाते हैं ;
यही दुर्गुण कहलाते हैं ।

"स्वर्ण-सहोदर"

× × ×

३. शिशु जॉर्ज

सम्राट् पंचम जॉर्ज भी एक दिन छोटे बालक थे। जैसे यहाँ के बच्चे अपने पिता-माता की पीठ पर चढ़ने के लिये मचल पड़ते हैं, वैसे ही आप

मा की पीठ पर सम्राट् जॉर्ज

भी मचल जाया करते थे। इसलिये उनकी मा एलेकज़ैंड्रा उन्हें कभी-कभी अपनी पीठ पर चढ़ा लिया करती थीं। उसी समय का लिया हुआ एक फ़ोटो का चित्र दिया जा रहा है।

× × ×

४. नई ट्राइसाइकेल

अब लड़के भी अपनी ट्राइसाइकेल में 'साइडकार' लगवाकर अपने भाई-बहन-मा, मित्र को चढ़ाकर

नई ट्राइसाइकेल

हवाख़ोरी के लिये निकल सकते हैं। ज़रा चित्र में देखो, बालक अपनी साइकिल पर अपनी बहन को चढ़ाकर किस ख़ूबी के साथ जा रहा है।

× × ×

५. कैडमस और योरोपा

फ़िनिशिया की एक मनोरम उपत्यका में एक स्त्री अपने पुत्र-पुत्री—कैडमस और योरोपा—के साथ रहती थी। ये उस उपत्यका में खेलते-कूदते और अपनी मा के साथ दिन बिताते थे। जब कुछ बड़े हुए, तब मैदान में भी खेलने के लिये जाने लगे। एक दिन, जब कि वे मैदान में खेल रहे थे, उन्होंने एक सफ़ेद साँड़ देखा। कुछ देर के बाद वह साँड़ उस मैदान की कोमल घास पर बैठ गया। ये दोनों साँड़ की ओर बढ़े। साँड़ उन्हें अपनी ओर आते देखकर बोला—"आओ, मेरे साथ खेलो। मैं भी तुम्हारे खेल में साथ दूँगा।" कैडमस और योरोपा अब निर्भय होकर साँड के साथ खेलने लगे। कोई उसके सींग पकड़ता, कोई पूँछ पकड़ता, कभी वे उसकी पीठ सुहलाते और कभी उसके शरीर पर उठँघ कर सो रहते। इस प्रकार खेल करते-करते कैडमस साँड़ की पीठ पर चढ़ गया। साँड़ खड़ा होकर धीरे-धीरे घूमने लगा। इसके बाद जब शाम हुई, तब वे दोनों भाई-बहन घर फिर आए।

घर आकर उन लोगों ने अपनी मा टेलिफ़ासा से दिन की सारी बातें कह सुनाईं। मा ने भी साँड़ के साथ-साथ खेलने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की।

दूसरे दिन फिर साँड़ आया, और ये दोनों बालक उसके साथ खेलने लगे। आज योरोपा साँड़ की पीठ पर सवार हुई। आज साँड़ उठ खड़ा हुआ, और ज़ोर से भाग चला। कैडमस ने समझा, साँड़ खेल कर रहा है, इसलिये वह भी उसके पीछे दौड़ पड़ा। कैडमस जितना ही तेज़ दौड़ता था, साँड़ उससे भी तेज़ दौड़ता था। कैडमस उसे पकड़ नहीं सका। साँड़ मैदान, पहाड़, नदी के किनारे से होता हुआ जंगल में जा घुसा। अब वह दिखलाई नहीं पड़ता था। कैडमस ने अब समझा कि साँड़ उसकी बहन को ले भागा है, और वह लौटकर नहीं आवेगा। कैडमस रोने लगा। उसने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि उसे उसकी बहन से अलग होना पड़ेगा। इस घटना ने उसके कोमल हृदय पर बड़ी चोट पहुँचाई; किंतु वह कर क्या सकता था? हारकर वह सोच करते-करते घर लौटा।

मा दरवाजे पर खड़ी होकर अपने बच्चों का इंतज़ार कर रही थी, क्योंकि शाम हो गई थी, और यह उनके घर लौट आने का समय था। अकेले कैडमस को घर लौटते देख उसे शक हुआ। वह योरोपा का समाचार पूछने के लिये आगे बढ़ी। कैडमस मा को आते हुए देखकर रोने लगा। उसके मुँह से कोई बात न निकली। मा से आश्वासन पाकर उसने सब बात कह सुनाई। यह भी कह दिया कि जिस ओर सूर्य डूबते हैं, उसी ओर वह साँड़ योरोपा को ले भागा है।

टेलिफ़ासा ने रात में खोजना व्यर्थ समझा। उसने निश्चय किया कि दूसरे दिन सूर्योदय होने के पहले ही वे योरोपा की खोज में निकलेंगे। मा-बेटे ने रात जागकर काटी। भोर होने पर वे घर से बाहर निकले, और पश्चिम की ओर चल पड़े। रास्ते में जिस किसी आदमी से भेंट होती, उसीसे वह पूछती—"क्या तुम लोगों ने एक उजले साँड़ को इधर देखा है? उसकी पीठ पर एक बालिका थी।" सभी ने कहा—'नहीं।"

इससे वे हतोत्साह नहीं हुए। आगे बढ़ते ही गए। किंतु योरोपा का कुछ भी पता नहीं लगा। चलते-चलते टेलिफ़ासा बहुत थक गई। पुत्र ने कहा—"मा, यहाँ आराम कर लो, तब फिर हम लोग आगे बढ़ेंगे।" मा ने उत्तर दिया—"नहीं बेटा, आगे बढ़ो। अभी आशा है कि मैं योरोपा को अवश्य पाऊँगी। बैठ रहने से वह नहीं मिलेगी।"

कुछ दूर वे और आगे गए। अब मा एकदम थक गई थी, वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती थी। उसने कैडमस से पुकारकर कहा—"बेटा, अब मैं मर रही हूँ। मेरा अंत समय निकट आ गया है। तुम अपनी बहन का खयाल रखना। उसकी पूरी खोज करना। मुझे विश्वास है, वह ज़रूर मिलेगी। भेंट होने पर उससे कहना, तेरी मा ने तेरी खोज में प्राण गँवाए हैं। उसने तेरे लिये दिन और रात में कोई फ़र्क़ न माना, पथ-कुपथ का विचार नहीं किया; किंतु अंत में उसे तुम्हारे ही लिये प्राण-त्याग करना पड़ा। हम लोग फिर कभी अवश्य मिलेंगे, और ऐसे स्थान पर मिलेंगे जहाँ न रोग है, न शोक, और न दुःख। हम लोग जितना सुखी यहाँ थे, उससे भी अधिक सुखी उस प्रदेश में होंगे।"

कैडमस रात-भर अपनी मर रही माता के पास बैठा रहा। सुबह टेलिफ़ासा की मृत्यु हुई। कैडमस ने जब देखा कि उसकी मा मर गई, तो उसके मन में बड़ा दुःख हुआ। किंतु बुद्धिमान् लोग विपत्ति आने पर धैर्य धरते हैं। कैडमस उठा, और अपनी मा के शरीर को मिट्टी में गाड़ और मा की क़ब्र को प्रणाम कर विदा हुआ।

वह कहाँ जाय, किधर जाय, किस प्रकार उसे योरोपा मिलेगी, आदि चिंताएँ उसे सताने लगीं। इसी समय उसने कुछ दूर पर एक चरवाहे को गाय, बैल, भेड़ा, बकरी आदि को लिए मैदान में खड़ा देखा। उसका रूप बड़ा ही नयनाभिराम था। उसके हाथ में सोने की बंसी, सोने का धनुष था। पीठ पर तीरों से भरा हुआ सोने का तरकस था। यह चरवाहा नहीं, चरवाहे के भेष में अपोलो-नामक देवता थे।

कैडमस उन्हें पहचानता नहीं था। उसने उनके पास जाकर पूछा—"क्या तुमने किसी उजले साँड़ को देखा है? उसकी पीठ पर एक बालिका थी। वह मेरी बहन को चुरा ले गया है। किस रास्ते से जाने से मैं उसे पा सकूँगा, बतला सकते हो?" अपोलो

ने कहा—"इस तरफ़ जाओ। जाते-जाते डेलफ़ाई देश में पहुँचोगे। वहीं खोज करने से तुम्हारी बहन मिलेगी। उसके मिल जाते ही उसे लेकर लौट आना। वहाँ ठहरना मत; क्योंकि मैं तुम्हें शक्ति दूँगा उसी से तुम एक शहर स्थापित करोगे। मैं तुम्हें उस शहर का राजा बनाऊँगा। डेलफ़ाई से जब तुम लौटोगे, तब रास्ते में तुम्हें एक अच्छा-सा बैल देखने को मिलेगा। तुम अपनी बहन के साथ बैल के पीछे हो लेना। जहाँ वह ज़मीन पर पड़ रहे, वहीं तुम्हें शहर बसाना पड़ेगा। डरना नहीं, मैं तुम्हें शक्ति दूँगा। अब तुम जाओ।"

कैडमस डेलफ़ाई देश को चला। वहाँ पहुँचकर उसने उजले पत्थर का एक मंदिर देखा। उस मंदिर में प्रवेश करने पर उसने अपनी खोई हुई बहन योरोपा को देखा। उसे देखकर कैडमस की प्रसन्नता की सीमा न रही। योरोपा भी आनंद के मारे फूली अंग न समाई।

वे दोनों परस्पर को अपनी बीती सुनाने लगे। योरोपा ने, किस प्रकार साँड़ उसे लाकर मंदिर में रख गया, इसका पूरा विवरण एक ही साँस में कह सुनाया। कैडमस ने अपनी मा की मृत्यु का हाल कहा और उसके सँदेसे को कह सुनाया। योरोपा मा की मृत्यु का हाल सुनकर रोने लगी। कैडमस ने उसे धीरज बँधाते हुए कहा—"बहन! मा की बात सोचने से कुछ लाभ नहीं। चलो, अब यहाँ से हम चलें। मैं यहाँ अधिक देर नहीं रह सकता। आने के समय एक चरवाहे से भेंट हुई थी। उसी ने तुम्हारा पता बताया। उसके हाथ में सोने की वीणा थी, और उसकी दीप्ति सूर्य की-सी थी। उसने कहा कि हम लोग एक शहर स्थापित करेंगे। मैं राजा होऊँगा। वह एक बैल भेजेगा। उसी के पीछे-पीछे हम लोगों को जाना पड़ेगा। जहाँ वह लेट जायगा, वहीं हम लोग शहर बसावेंगे।

बैल का नाम सुनकर योरोपा डर गई। क्या मालूम, वह भी साँड़ ही-जैसा कुछ कर बैठे! योरोपा के चेहरे से उसका भाव कैडमस समझ गया। उसने कहा—"बहन, डरो मत, जिसने मुझसे सच्ची बात कही, और मैंने तुम्हें पाया, क्या वह कभी धोका दे सकता है?"

थोड़ी देर बाद डेलफ़ाई छोड़कर दोनों भाई-बहन चले। कुछ दूर जाने पर उन्होंने एक बैल को सोया हुआ देखा। किंतु ज्यों ही वे उसके पास गए, वह उठकर चलने लगा। बहुत दूर जाकर वह एक बड़े मैदान में सो गया। वहीं देवता के प्रताप से थोड़े ही दिन में एक नगर बस गया। उसका नाम पड़ा—थिबिस।

भाई-बहन ने इस नगर में अपनी ज़िंदगी के बाक़ी दिन काटे। इसके बाद उनकी मृत्यु हुई, और वे स्वर्ग में जाकर पुनः अपनी मा से मिले।

रमेशप्रसाद

---

१. सामुद्रिक अनुसंधान

हमारी पृथ्वी का प्रायः तीन भाग समुद्र और एक भाग ज़मीन है। स्थल-भाग में अभी तक ऐसे बहुत-से स्थान हैं, जिनका अनुसंधान करना बाक़ी है। जल-भाग की खोज प्रायः नहीं के बराबर हुई है। यदि सारी पृथ्वी को लें, तो उसका ५/७ भाग ऐसा है, जो सभ्य-संसार को ज्ञात नहीं। इन अज्ञात स्थानों की विशेषताएँ सभ्य मनुष्यों को अपनी ओर आने का इशारा बराबर करती रही हैं, उनके मनोरंजक प्राकृतिक दृश्य सदा से लोगों का मन लुभाने की चेष्टा में हैं, वहाँ के आश्चर्यमय पदार्थ संसार में एक ही कहे जा सकते हैं; किंतु हम सभ्य मनुष्यों के पास न तो इतना समय है, और न इतनी उत्कट इच्छा, जो हम उनके आवाहन की ओर ध्यान दें। पाश्चात्य देश के कुछ स्वार्थ-त्यागी, जान पर खेल जानेवाले सज्जन इस ओर आकृष्ट हुए हैं। किंतु उनकी संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती है। हर्ष की बात है कि कुछ उत्साही सज्जनों का ध्यान सामुद्रिक अनुसंधान की ओर भी गया है। वे केवल उन्हीं पदार्थों को नहीं खोज रहे हैं, जो बड़े-बड़े जहाज़ों के साथ डूब गए हैं, प्रत्युत उन पदार्थों का भी अनुसंधान कर रहे हैं, जिन्हें हम समुद्र से निकालकर मनुष्य-जाति के उपयोग में लगा सकते हैं।

एक वैज्ञानिक का कहना है कि वह समुद्र के खारी जल से सोना निकाल सकता है। बर्लिन-विश्वविद्यालय के प्रो० फ़्रिट्ज हेबर सोने, चाँदी तथा अन्यान्य बहुमूल्य धातुओं के स्तरों (veins) को समुद्र के जल में उसी प्रकार विद्यमान समझते हैं, जिस प्रकार इन धातुओं के स्तर काट्र्ज़ पत्थरों (quartz Hills) में पाए जाते हैं। पता लगा है कि अटलांटिक समुद्र के एक करोड़ भाग जल में ·१५ से २·६७ हिस्से तक सोना वर्तमान है। निम्न-श्रेणी की सोने की खानों में जितना सोना पाया जाता है, उससे प्रायः दूना सोना इस समुद्र के जल में है।

कैप्टेन एफ़० बी० बैसेट का कहना है कि समुद्र-जल में लाखों-करोड़ों टन सोना घुला पड़ा है। उन्होंने हिसाब लगाया है कि एक टन जल में आधे ग्रेन से एक ग्रेन तक सोना पाया जाता है; अर्थात् हर २५० से ५०० टन सामुद्रिक जल से प्रायः ३०)-३५) का सोना निकाला जा सकता है। वह दिन निकट है, जब हम समुद्र से सोना निकालने लगेंगे।

सोने के अतिरिक्त समुद्र-जल में और भी बहुत प्रकार की धातुओं के नमक घुले हैं। पृथ्वी के स्थल-भाग में जितने प्राणी रहते हैं, उससे कहीं अधिक प्राणी समुद्र-गर्भ में। सामुद्रिक पौधों की भी वहाँ कमी नहीं है।

समुद्र में पहाड़ हैं, ज्वालामुखी हैं, समथल ज़मीन और खाइयाँ आदि भी हैं। इनके अलावा हर साल न-मालूम कितनी नावें, जहाज़, मनुष्य और प्राणी डूबते रहते हैं। उनके कंकाल भी समुद्र में जमा हो जाते हैं। समुद्र नमक, पोटाशियम, मैगनीशियम, कैलशियम, आयडिन और ब्रोमिन के नमकों की अनंत खान है। इन सब पदार्थों को निकालने का काम अमेरिका की कई संस्थाओं ने अपने ऊपर लिया है।

पृथ्वी पर के खनिज तेलों की खानें शेष-प्राय हो गई हैं। अब ऐसे तेलों के लिये हमें अन्य साधनों को ढूँढ़ना पड़ेगा। कहा जाता है, समुद्र में ऐसे कुँए हैं, जिनसे खनिज तेल निकाला जा सकता है। ऐसे कुँओं का पता लगाना नितांत आवश्यक है। क्योंकि आज दिन खनिज तेलों द्वारा जितना काम इस संसार का हो रहा है, उतना कोयले या अन्य जलावन द्वारा नहीं हो सकता। तेलों के कुँओं का पता लगाने की चेष्टा भी अमेरिकावाले कर रहे हैं।

सामुद्रिक अनुसंधान-कार्य के लिये एक विशेष प्रकार की पोशाक बनाई गई है, जिसे पहनकर गोतेख़ोर पानी में गोता लगाते और अनुसधान करते हैं। समुद्र-सतह के दो सौ फ़ीट नीचे जल का इतना दबाव है कि साधारण हालत में मनुष्य उससे दबकर पिसान बन जा सकता है। किंतु यह पोशाक इतनी मज़बूत है कि जल-सतह के छः सौ फ़ीट नीचे चले जाने पर भी ग़ोताख़ोर के शरीर पर किसी प्रकार का भार नहीं जान पड़ता। फ़ोटो लेने के ऐसे "कैमरे" बने हैं, जिनसे समुद्र-गर्भ की फ़ोटो आसानी से ली जा सकती है। जल के ऊपर ही से समुद्र की गहराई नापने के भी यंत्र हैं, जो समुद्र की गहराई ठीक-ठीक बतलाते हैं। इनके अलावा रेडियो भी खोजियों को अमूल्य सहायता प्रदान कर रहा है। इन साधनों से खोजियों का बड़ा उपकार हो रहा है, और वे समुद्र के ३,०२० लाख घन मील जल को सुगमता से छान डालने का स्वप्न देख रहे हैं।

विलियम जे० बीच

(आपने एक ऐसा रेडियो का यंत्र बनाया है, जिससे वह समुद्र में पड़े हुए धन का स्थान निश्चित कर सकते हैं)
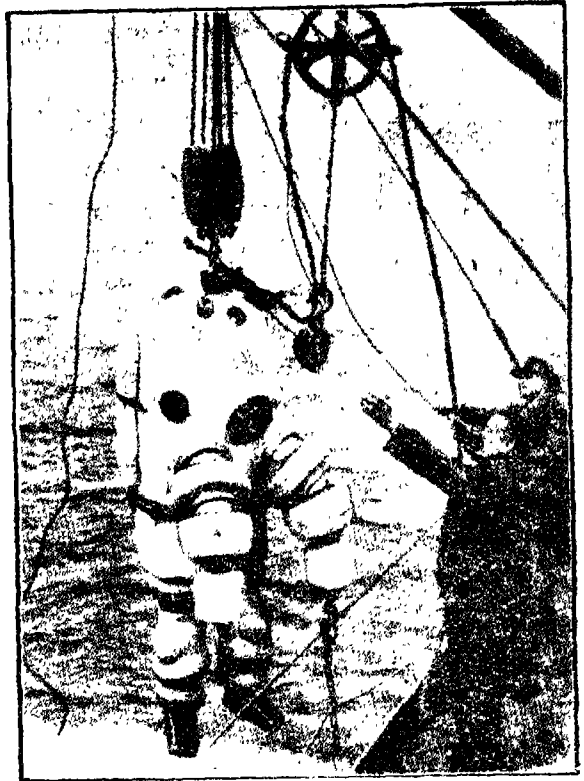
गोताख़ोर जल में उतारा जा रहा है

वैज्ञानिकों ने भविष्य-वाणी की है कि आगामी दस वर्षों में हम समुद्र से इतने धन के पदार्थ निकालने लगेंगे, जितना अब तक पार्थिव कच्चे पदार्थों से नहीं निकाल सके। समुद्र में डूबे हुए धन-रत्नों को तो दो-चार वर्षों ही में

सारा-का-सारा निकाल लें, तो ताज्जुब नहीं। पृथ्वी पर इने-गिने अज्ञात स्थान हैं; किंतु प्रायः सारा समुद्र हमारे लिये एक आश्चर्य-युक्त पदार्थ है। समुद्र गहरा, अँधेरा और धन से भरा पड़ा है। हम अपने अध्यवसाय और परिश्रम ही से उससे धन निकाल सकते हैं। भारतवर्ष के तीन ओर समुद्र है; किंतु समुद्र-तट के कुछ लोगों को छोड़कर, जो नमक निकाला करते हैं, अन्य लोग क्या कर रहे हैं?

× × ×

२. हमारे अदृश्य शत्रु

पृथ्वी मनुष्यों के शत्रुओं से भरी पड़ी है। जिन शत्रुओं को हम देख सकते हैं, उनसे अपनी रक्षा के तरीक़े हमें स्वयं ढूँढने पड़ते हैं; किंतु जो हमारे अदृश्य शत्रु हैं, उनसे प्रकृति हमारी रक्षा करती है। विधना का ऐसा ही विधान है। साँस द्वारा ली हुई वायु के साथ हम लोग बहुत-से पदार्थों को अपने शरीर में पहुँचाते हैं। उनमें अधिकांश भयानक और जीवन तथा स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होते हैं। विशेष कर शहरों की हवा, जो फ़ैक्टरियों के धुएँ, गाड़ी-घोड़े और मोटरों की रेल-पेल तथा मनुष्यों के आवागमन से दूषित होती रहती है, स्वास्थ्य और जीवन के लिये बड़ी ही हानिकर प्रमाणित हुई है। मनुष्य प्रत्येक साँस के साथ प्रायः ३० घन-इंच हवा खींचता है, जिसमें ५,००,००० से १०,००,००० तक धूलि-कण रहते हैं, और उनके साथ मिले हुए निम्न-लिखित पदार्थ भी होते हैं—

(१) बहुत-सी बीमारियों के कीड़े।

(२) फूलों के पराग, पत्तियों के छोटे-छोटे टुकड़े तथा अन्य उद्भिद्-पदार्थों के कण।

(३) लोहे या अन्य धातुओं के कण।

(४) धूल, धुँआ और काजल।

(५) कीड़ों के अंडे तथा कीड़ों के शरीर के छोटे-छोटे टुकड़े।

(६) विषैली गैस।

इन शत्रुओं के आक्रमण से बचने का सिर्फ़ एक ही कारण है। प्रकृति ने हमारे शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में ऐसे साधन बना रक्खे हैं, जो इन आक्रमणों की चोट को विफल कर देते हैं। कुछ रोगाणु हमारे शरीर में प्रवेश कर भी कोई नुक़सान नहीं पहुँचाते; क्योंकि शरीर की गरमी उन्हें मार डालती है। इसके अतिरिक्त भयंकर-से-भयंकर रोग के कीटाणु हमें तब तक हानि नहीं पहुँचा सकते, जब तक वे रक्त के साथ मिल नहीं जाते। ऐसे कीड़ों के रक्त के साथ मिलने में बहुत-सी बाधाएँ हैं। नाक और मुँह में मांस की ऐसी झिल्लियाँ या पर्दे हैं, जो हवा के ठोस पदार्थों—जैसे धातुओं के टुकड़े, धूलि-कण, काजल, बालू आदि—को रोक लेते हैं। श्वास-नली (wind-pipe and bronchial tube) में बहुत-से छोटे-छोटे नाज़ुक बाल हैं। यदि नाक या मुँह के पर्दे को पारकर कोई वस्तु हवा के साथ शरीर में प्रवेश करना चाहती है, तो वे बाधा देते हैं। इनके बाद फेफड़े की जड़ में छले हैं। इन बाधाओं को अतिक्रम कर यदि कीटाणु या किसी पदार्थ के टुकड़े आगे बढ़ते हैं, तो उन्हें रक्त के ३५ खरब लाल कारपस्कलों की सेना का सामना करना पड़ता है। इस सेना के प्रत्येक सैनिक अपने मित्र और शत्रु की भली भाँति जाँच करने की शक्ति रखते हैं। इनके अतिरिक्त फ़ैगोसाइट्स (पोले कोष) हैं, जिनके भक्ष्य पदार्थ माइक्रोब हैं। अंत में ल्युकोसाइट्स (सफ़ेद कोष) का मुक़ाबला करना पड़ता है, जो बैक्टीरिया और अन्य हानिकारक पदार्थों को नष्ट कर देते हैं। कहिए, इतनी हिफ़ाज़त क्या मनुष्य कर सकता है? यह प्रकृति ही का काम है, जो मनुष्यों के जीवन-धारण में इतनी सहायता पहुँचा रही है।

किंतु इनके अतिरिक्त एक प्रबल शत्रु विषैली गैसें भी हैं। इनमें कार्बन मानोक्साइड (Carbon Monoxide) शहर की हवा के साथ अधिकतर मिली हुई पाई जाती है। यह शरीर के रक्त के साथ उतनी ही आसानी से मिल जा सकती है, जितनी आसानी से आक्सिजन गैस। इसके पैदा करने का प्रधान साधन मोटरकारें हैं, जिनकी संख्या दिन-दिन बढ़ रही है। अमेरिका की ब्युरो ऑफ़् माइन्स-नामक संस्था ने पता लगाया है कि प्रत्येक चालू मोटरकार मिनट में इस गैस का प्रायः दो घन-फ़ीट पैदा करती है। यह गैस कितनी विषैली है, इसका अंदाज़ा पाठक इसी बात से लगा सकेंगे कि १०,००० हिस्से हवा में यदि इस गैस का सिर्फ़ ४ भाग रहे, तो मनुष्य उसे किसी प्रकार बर्दाश्त कर सकता है; दस हज़ार में छः भाग सिर-दर्द पैदा कर देता है, और सौ में एक भाग होने से मृत्यु तक हो जाती है। आधुनिक नक़ली सभ्यता के प्रेमी तथा सभ्यता-जात वस्तुओं के हिमायती यह देखें कि वह हमें किस ओर घसीटे लिए जा रही है!

× × ×

३. स्मरण-शक्ति की परीक्षा

माधुरी के पिछले अंक में हमने स्मरण-शक्ति की परीक्षा के लिये कई युक्तियाँ दी थीं। यहाँ कुछ और भी दी जाती हैं, जिनके द्वारा आप अपनी स्मरण-शक्ति की परीक्षा कर सकते हैं। नीचे सौ संख्याएँ दी हुई हैं, उनमें प्रत्येक में १७ जोड़िए, और योगफल को प्रत्येक संख्या की बग़ल में लिखते जाइए। यह काम जितने समय में आप कर सकें, उसे नोट कर लें। फिर अपने उत्तर की जाँच कीजिए। प्रत्येक ग़लती के लिये नोट किए हुए समय में ५-५ सेकिंड जोड़ते जाइए। अब देखिए, आपका पूरा समय कितना लगा—

६४	५२	३२	७०	६०
४९	७०	५९	४१	७१
६२	२६	३१	६२	४८
५७	३४	६०	२५	५३
६८	४५	४८	४०	६१
७४	७२	५४	५७	३६
५३	३५	४६	२६	४२
६७	५१	५५	६८	३४
२५	३०	२७	६६	३९
४०	५६	२९	२७	३३
६१	४४	४७	५१	७३
७१	३६	४३	६९	३८
३३	७३	३५	२९	६३
३८	६३	६४	७४	५८
२८	४७	४९	५०	३२
६५	४३	६७	३०	५९
४१	६६	२८	५६	५२
५०	४९	४६	४४	४५
४२	३७	५५	३१	७२
५८	३९	६५	३७	५४

(पूरा समय ७ मिनट १५ सेकिंड से ज़्यादा न लगाना चाहिए।)

नीचे दिए हुए चित्र को डेढ़ मिनट तक ग़ौर से देखिए। इसके बाद उसे किसी वस्तु से ढक दीजिए, और निम्न-लिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए—
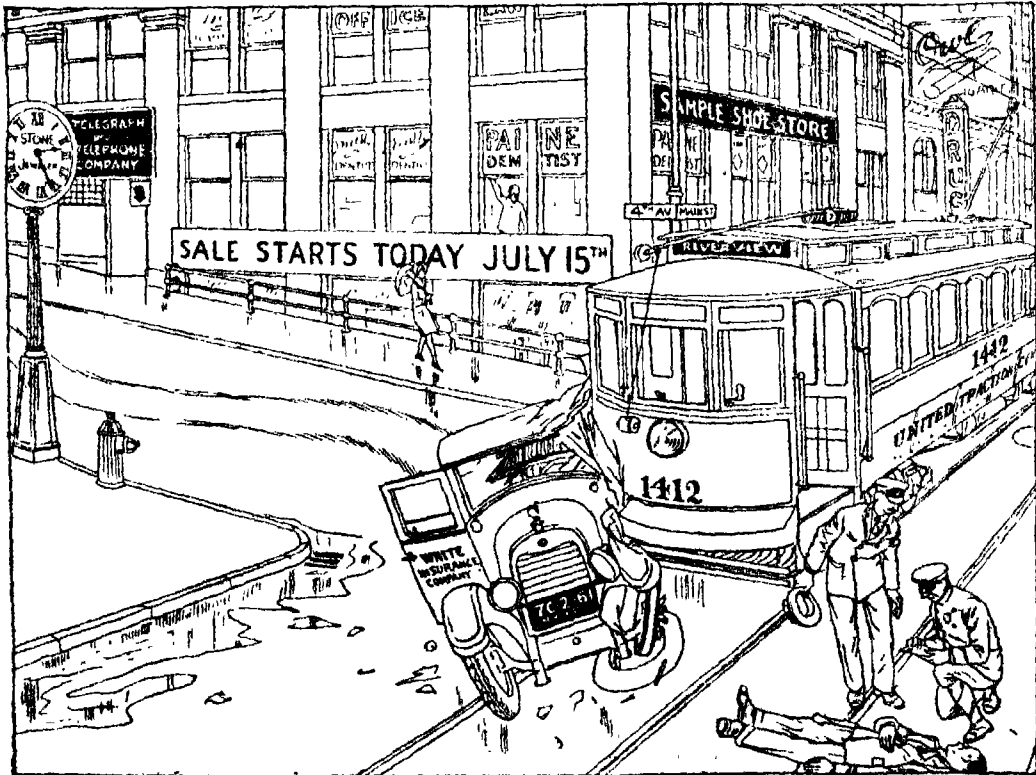
१. किस सड़क के पास घटना हुई ?

२. मौसिम कैसी है ?

३. मोटर के किस ओर धक्का लगा ?

४. किस प्रांत का मोटर है ?

५. कितने बजे घटना हुई ?

६. मोटर को नुक़सान पहुँचने के तीन तरीक़े लिखिए।

७. ट्रांबे का क्या नंबर है ?

८. मोटर किसकी है ?

९. क्या कोई ऐसी बात मालूम होती है, जिससे पता लगे कि मोटर-ड्राइवर घबरा गया था ?

१०. ट्रांबे कहाँ-को जा रही है ?

११. ट्रांबे-ड्राइवर का क्या नंबर है ?

१२. किस तारीख़ को घटना हुई ?

१३. दो ऐसी बातों का नाम लो, जिनसे जान पड़ता हो कि मोटर-ड्राइवर मर गया।

१४. घटना की गवाही देने के लिये किस व्यक्ति का बुलावा हो सकता है ?

१५. ड्राइवर को पहचानने के लिये पुलीस कौन-सी चेष्टा कर रही है ?

अब चित्र को खोलकर अपने उत्तर को मिलाइए। जिनकी निगाह तेज़ है, वे कम-से-कम दस प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकते हैं।

इनके अलावा, अभी और भी अनेक परीक्षाएँ हैं, जिन्हें धीरे-धीरे मैं माधुरी के पाठकों के सामने पेश करूँगा। अब प्रश्न यह होता है कि इन परीक्षाओं द्वारा परीक्षा कर लेने पर यदि कोई मनुष्य अपनी स्मरण-शक्ति को बुरी पावे, तो उसे दुरुस्त करने का कौन-सा उपाय है ? यह बात पाठकों को जान लेनी चाहिए कि यदि वे साधारण स्मरण-शक्ति को बढ़ाना चाहें, तो यह हो नहीं सकता। विशेष-विशेष कामों या दिशाओं में यदि हम अपनी स्मरण-शक्ति को लगावें, तो उस विशेष पदार्थ को अच्छी तरह याद रख सकेंगे। मनोवैज्ञानिकों ने कई मनुष्यों की परीक्षा कर इस बात का पता लगाया है कि मस्तिष्क को शिक्षित करने से स्मरण-शक्ति की साधारण अवस्था नहीं बदलती। किसी ख़ास काम के करने में जितनी स्मरण-शक्ति की ज़रूरत होती है, सिर्फ़ उतनी ही बढ़ती है। यदि आप मनुष्यों का नाम याद रखना चाहते हैं, तो उसी का अभ्यास कीजिए। आप हज़ारों व्यक्तियों के नाम अपनी जीभ की नोक पर रक्खेंगे। डॉ० गणेशप्रसादजी एक बार जिस व्यक्ति को देख लेते और उसका नाम सुन लेते हैं, उसे कभी नहीं भूलते। चेहरा देखते ही वह उस मनुष्य का नाम बता देते हैं। कितने ही लोगों को देखा जाता है, वे ऐतिहासिक तारीख़ें बड़ी जल्दी याद कर लेते हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने तारीख़ें याद रखने का अभ्यास कर लिया है। बहुत-से लोगों को संस्कृत के धातु-रूप जल्दी याद नहीं होते ; क्योंकि इसकी ओर उनकी स्मरण-शक्ति झुकी नहीं रहती। इसलिये आप पहले उस विषय को ठीक कर लें, जिसे याद रखना चाहते हैं, फिर उसी विषय को याद रखने का अभ्यास करें। आप थोड़े ही दिनों में अपनी उन्नति देखकर चकित हो जायँगे।

यदि आप कविता याद रखना चाहते हैं, तो इस काम को आरंभ कीजिए। पहली चार लाइनों को याद करने में आपको दस मिनट तक समय लग सकता है ; किंतु ५०-६० लाइन याद कर लेने पर आपको चार लाइनें याद करने के लिये दो-तीन मिनट से ज़्यादा समय नहीं लगेगा। यही बात गणित के 'फ़ारमूला' आदि के विषय में भी लागू है। इसीलिये, जान पड़ता है, जो लोग एक ही समय में कई विषयों को स्मरण रखना चाहते हैं, वे बहुत कम सफल होते हैं।

× × ×

४. जागने की अवधि

माधुरी के किसी पिछले अंक में मैंने उपवास की अवधि पर एक नोट लिखा था। उसमें यह दिखलाया था कि मनुष्य सिर्फ़ बारह दिन बिना भोजन के रह सकता है। आज मनुष्यों के जागने की अवधि पर कुछ लिखना चाहता हूँ। चिकागो-विश्वविद्यालय के दो डॉक्टरों—डॉ० क्लिटमैन और डॉ० एन्० एफ़्० फ़िशर—ने जागने की अपने ही ऊपर परीक्षा करके बतलाया है कि मनुष्य पाँच दिन और पाँच रात—११५ घंटे—जाग सकता है। इस काल में मनुष्य की शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं, इसे डॉ० फ़िशर ने अपने अनुभव से यों बतलाया है—"मैंने अपने को जगाने के लिये दो मनुष्यों को नियत किया। ये मुझे बराबर जगाने का काम करते थे। पहली रात जागने में किसी प्रकार की तकलीफ़ नहीं हुई। उस समय को मैंने अपनी प्रयोग-शाला में काम करते हुए बिताया। ऐसे बहुत-से आदमी हैं, जो

२४ घंटे जाग सकते हैं। दूसरे दिन मैं थोड़ा-सा थक गया था, तो भी मैंने अन्य दिनों का-सा काम किया। दूसरी रात को जगना—विशेषतः २ और ४ बजे के बीच, जब चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था—सबसे मुश्किल था। तीसरे दिन मैं काम में लग गया, इसलिये जागने में विशेष कष्ट नहीं हुआ। तीसरी रात को जागते रहने के लिये बड़ी मानसिक चेष्टा की आवश्यकता होती है। चौथी रात को यदि मेरे दोनों नौकरों ने मुझे एक मिनट के लिये भी छोड़ दिया होता, तो मैं सो जाता। वे मुझे बराबर जगाते रहे। इस काम में उन्हें मेरे शरीर को निरंतर हिलाना पड़ता था। मैं उनसे बड़ा चिढ़ गया, और मारने पर उतारू हो गया।

प्रयोगशाला के कामों में अब मुझे दिलचस्पी नहीं रही। दूसरे दिन के बाद ही लिखना कठिन हो गया था। इस समय वह असंभव हो गया। पाँचवीं रात को मैं बड़ा पस्त हो गया। इस समय सोने के अतिरिक्त और कोई भी काम करना नहीं चाहता था। मुझे सोने न देने का एक उपाय मेरे नौकरों ने सोच निकाला। वे मुझे एक 'आनंद-भवन' में ले गए। जब तक वहाँ नाच-गाना होता रहा, मैं जागता रहा; किंतु इस समय तक इतना थक गया था कि खड़े-खड़े सोने लगा। किंतु इस समय भी मेरे साथियों ने मुझे पलक न झपकाने दी। इस समय मेरी आँखें जल रही थीं, और भूख तो इतनी लगी रहती थी, जिसे मैं संतुष्ट न कर सकता था। जगे रहने में जो शक्ति ख़र्च हो रही थी, उसे पूरा करने का एक साधन भोजन ही था। मैं पाँचवें दिन बड़ा ही सुस्त हो गया था; सोने के अतिरिक्त और किसी काम में मेरा मन ही न लगता था। इस समय जगाए रखने के लिये लोग मुझे टहलाने लगे; किंतु पैर उठाना मेरे लिये बड़ा कष्टकर था। परीक्षा अब मेरे लिये असह्य हो उठी। दस बजे रात को मैं चारपाई पर लिटा दिया गया। तुरंत निद्रा के वशीभूत हो गया, और दस घंटे तक मुर्दा-सा पड़ा रहा। उठने के बाद मैं अपना काम अवश्य करने लगा; किंतु साधारण अवस्था में पहुँचने में मुझे दो दिन और लगे।"

इस परीक्षा-काल में रक्त का दबाव, श्वास-प्रश्वास-क्रिया और शारीरिक तापमान (Temperature) पर भी लक्ष्य रक्खा गया था। परीक्षा-काल में रक्त का दबाव और श्वास-प्रश्वास-क्रिया घटती गई; किंतु परीक्षित व्यक्ति के रक्त में कोई रासायनिक परिवर्तन नहीं हुआ, शरीर का तापमान प्रायः एक-सा रहा। किंतु इस प्रकार जागने का अंतिम परिणाम मृत्यु है।

× × ×

५. चालक-रहित वायुयान

वैज्ञानिक भविष्यद्वक्ताओं का कहना है कि जो लड़ाइयाँ भविष्य में लड़ी जायँगी, उनका युद्ध-क्षेत्र आकाश ही होगा। इसलिये जिन जातियों के पास अच्छे, मज़बूत और कार्य-कुशल वायुयान होंगे, उनका अधिकार सारे संसार पर नहीं, तो संसार के अधिक हिस्से पर अवश्य होगा। फ़्रांस इस दिशा में बहुत अग्रसर हो रहा है। वहाँ एक ऐसा वायुयान बना है, जो बिना चालक के चलता है। वह रेडियो द्वारा संचालित होता है, और उसका उपयोग लड़ाई में शत्रुओं पर गोलाबारी करने में होगा। ऐसे वायुयान की परीक्षाएँ भी हो चुकी हैं। ज़मीन में स्थित रेडियो-स्टेशन में बैठा हुआ एक 'चालक' इस वायुयान को आकाश में उड़ाता है। वायुयान उसकी आज्ञा के अनुसार चलता, उड़ता और ज़मीन पर उतरता या गोलाबारी करता है। परीक्षा के लिये एक नक़ली शहर बनाया गया था, जिस पर उक्त वायुयान ने छोटे-छोटे बम के गोले गिराकर उसे तहस-नहस कर डाला। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का वायुयान या 'टारपीडो'-वायुयान बना है। इस वायुयान में बहुत-से छोटे-छोटे वायुयान रहते हैं। 'टारपीडो'-वायुयान में बैठा हुआ एक चालक इन छोटे वायुयानों को इच्छानुसार जहाँ तहाँ भेजता है, रेडियो द्वारा चलाता है, शत्रुओं की सेना पर बम बरसाता और उन्हें पुनः 'टारपीडो' की गोद में छिपा लेता है। देखने से ऐसा जान पड़ता है कि दरबे से पक्षी निकलकर उड़ते हैं, और पुनः वहीं आकर छिप
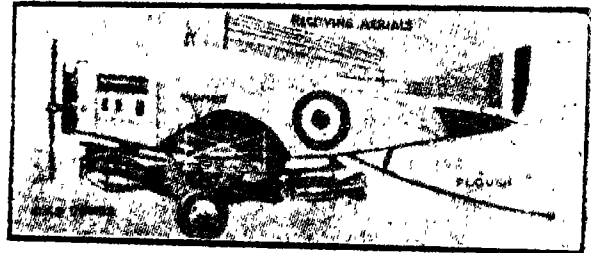
चालक-रहित वायुयान। रेडियो के तार लगे हुए हैं

जाते हैं। ऐसे वायुयानों के आक्रमण के सामने संसार की बस्तियाँ निस्सहाय हो गई हैं।

× × ×

६. सहारा का यात्री

अफ़्रिका में सहारा-नामक संसार की सबसे बड़ी मरुभूमि

कैप्टेन बुकानन

है। इसके भीतरी भाग का हाल अभी तक किसी को ज्ञात नहीं। जो क़िस्से-कहानियाँ प्रचारित की गई हैं, वे अधिकतर इस मरुभूमि के किनारे के स्थानों की हैं। इस संबंध में कैप्टेन एंगस बुकानन और उनके एक साथी के विवरण मनोरंजक हैं। ये दो पहले योरपियन हैं, जिन्होंने इस मरुभूमि को पार किया है। नाइजिरिया से ये लोग १६ आदिम-निवासियों और ३२ ऊँटों के साथ उत्तर की ओर रवाना हुए। इन्हें सहारा पार करने में, अर्थात् ३२०० मील की यात्रा समाप्त करने में, १६ महीने लगे। यात्रा के अंत में केवल दो आदिम-निवासी सकुशल बुकानन के साथ बचे थे। बाक़ी या तो मर गए, या डाकुओं के डर से भाग गए। ऊँट भी एक के बाद दूसरे मरने लगे; सिर्फ़ एक बचा रह गया। किंतु वह भी अंतिम स्थान पर पहुँचने के दो घंटे पहले चल बसा। इस यात्रा में अनुसंधानकारी ने एक विचित्र शहर देखा। शायद यह संसार का सबसे अद्भुत शहर है। सारा-का सारा शहर नमक का बना हुआ है। यह शहर फ्रेंची के 'वेसिस' (Vesis) में है। यहाँ जो मनुष्य रहते हैं, वे अपने चेहरे पर काला कपड़ा बाँधे रहते हैं, और उनकी जीविका लूट-खसोट है। सहारा में कई अद्भुत जाति के पशु और पक्षी रहते हैं, जिन्हें सभ्य-संसार के लोगों ने अब तक नहीं देखा। अनुसंधान-कारी अपने साथ कई विचित्र पशुओं को पकड़ लाया है, जिनमें एक बिल्ली और लोमड़ी का बच्चा भी है।

कहने की आवश्यकता नहीं, सहारा-मरुभूमि में, गरमी के दिनों में, आग बरसती होगी; किंतु उस प्रदेश के रहनेवालों ने अपने घरों को ठंडा बनाए रखने का उपाय ढूँढ निकाला है। वे ज़मीन के नीचे अपना घर बनाकर रहते हैं। एक स्विस अनुसंधानकारी ने ऐसे लोगों का एक शहर देखा है, जहाँ प्रायः ३०,००० आदमी ज़मीन के नीचे रहते हैं। वे बकरी, मुर्ग़ी और दूसरे पशुओं को पालते हैं। उनके अँधेरे मकानों में गरमी का नाम भी नहीं है। तेल के चिराग़ अँधेरे में दिन-रात टिमटिमाते रहते हैं।

× × ×

७. उँगली की छाप की जालसाज़ी

लोगों को अब तक विश्वास था कि मनुष्यों के पह-

मिस्टर कार्लसन
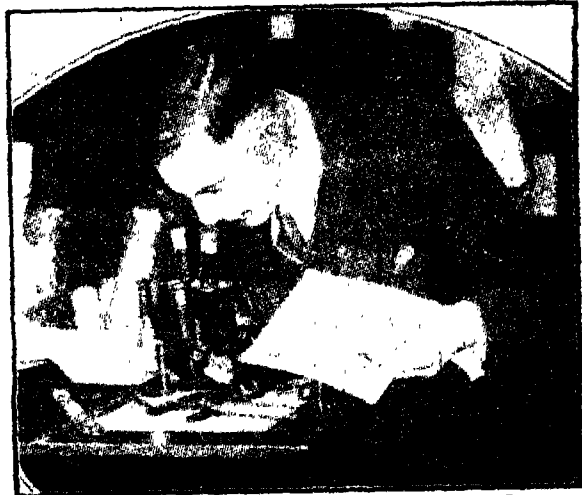
चानने का सबसे अचूक तरीक़ा उसके अँगूठे की छाप है।

चोर, डाकू या गिरहकाट आदि के अँगूठों के निशान पुलीसवाले अपने पास रखते हैं, और उन्हीं के ज़रिए बहुत-से अपराधियों का पता लगाते हैं। पाश्चात्य देशों में अँगूठे की छाप चोरों की धर-पकड़ में बड़ी सहायता देती है। लास-एंजिलस के एक मुक़दमे के संबंध में परीक्षा करते समय मि० मिल्टन कार्लसन (प्रसिद्ध Handwriting and Fingerprint Expert) को पता लगा कि अँगूठे की छापों में भी जालसाज़ी हो सकती है। चित्र में वह एक चाक़ू की परीक्षा कर रहे हैं। इस पर जो उँगली के निशान पड़े हैं, वे पुलीस को धोके में डाल देंगे ; क्योंकि वे असली अपराधी के नहीं हैं।

× × ×

८. स्त्री का अद्भुत कार्य

स्त्रियाँ ऐसे साहस-पूर्ण और चमत्कार के काम करने
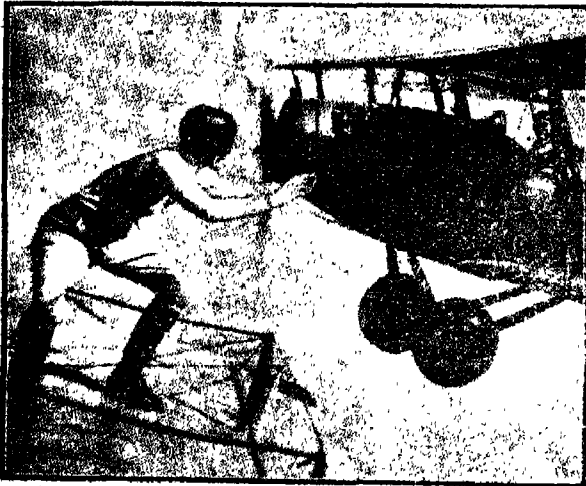
मिस एंजिल का साहस-पूर्ण कार्य

लगी हैं, जिन्हें देख और सुनकर दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। मिस ग्लेडिस एंजिल ने हाल में एक ऐसा साहस-पूर्ण कार्य किया है, जिसे देखकर सारे लास-एंजिलस-निवासी चकित हो गए, और सुनकर अन्य लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं। यह कुमारी उड़ते हुए एक वायुयान से कूदकर दूसरे उड़ते हुए वायुयान पर जा चढ़ी थी। चित्र में दो उड़ते हुए वायुयान और कुमारी एंजिल वायुयान-परिवर्तन के लिये उद्यत दिखलाई गई है।

× × ×

९. मुड़नेवाला छाता

पाश्चात्य देशों में छाता ले चलने का फ़ैशन धीरे-धीरे उठता जा रहा है। इस देश में भी जिन लोगों को छाता ख़रीदने की हैसियत होती है, वे भी उसे ख़रीदना नहीं चाहते। किंतु बरसात और धूप के लिये यह एक आव-

मुड़नेवाला छाता

श्यक पदार्थ है। जो लोग हाथ में अनावश्यक छाता ढोने को हिक़ारत की नज़र से देखते हैं, उनके लिये फ़्रैंक जे० पुगेल ने एक छाता ईजाद किया है, जो मोड़ देने पर सिर्फ़ दस इंच लंबा और २½ इंच मोटा रह जाता है। इसे आप पाकेट में रखकर जहाँ चाहें, ले जा सकते हैं। यह छाता एक स्क्रू द्वारा खोला या बंद किया जाता है।

रमेशप्रसाद

१. रूस की राजकुमारी आनास्टासिया

शिया के सम्राट् 'ज़ार' के अमानुषिक तथा पाशविक अत्याचार ने रशिया के इतिहास को कलंकित कर दिया है। इसी अत्याचार के फलस्वरूप १६वीं शताब्दी में 'निहिलिज़्म' का जन्म हुआ, और प्रायः एक शताब्दी तक राजतन्त्र तथा निहिलिष्ट-तंत्र में लड़ाई चलती रही। उस समय कितनी गुप्त हत्याएँ हुईं, तथा कितने निरीह मनुष्यों ने साइबेरिया में निर्वासित होकर अपने प्राण गँवाए—इसकी गणना नहीं हो सकती। टुर्गेनिव, डास्टवेस्की, टाल्सटाय, प्रभृति की रचनाओं में उस समय के अमानुषिक अत्याचारों की कहानी लिपिबद्ध है। विगत महायुद्ध के अंतिम काल में 'निहिलिष्ट'-दल ने वर्तमान 'रेड'-आंदोलन को प्रवर्तित कर समस्त साम्राज्य में अशांति की महामारी पैदा कर दी थी। अत्याचार से पीड़ित प्रजावृंद के दल-का-दल 'रेड'-दल में नाम लिखाकर राजतंत्र के विरुद्ध अस्त्र धारण करता था। सन् १६१८ के प्रारंभ में ही रशिया के प्रत्येक शहर की सड़कों और गलियों में जो लोमहर्षक शोणित-तर्पण हुआ था, उसे स्मरण करते ही हृदय काँपने लगता है। सम्राट्, सम्राज्ञी, सम्राट्-परिवार के प्रत्येक मनुष्य तथा राज-तंत्राभिलाषी संप्रदाय के लोगों की नृशंस भाव से एक एक करके हत्या की गई।

रूस की राजकुमारी आनास्टासिया

अब तक लोगों की धारणा थी कि 'ज़ार' वंश का कोई प्राणी जीवित नहीं है, सोवियट रशिया ने प्रत्येक काँटे को जड़ से उखाड़ डाला है। किंतु बर्लिन के एक स्वास्थ्यागार की एक रोगिनी ने ज़ार-कन्या आनास्टासिया के नाम से अपना परिचय दिया है। राजवंशीय स्त्री-पुरुष तथा अन्य विख्यात व्यक्ति बर्लिन में आकर इसका अनुसंधान कर रहे हैं। बहुत विचार तथा परीक्षा करने के बाद लोगों का

विश्वास अब दृढ़तर हो रहा है कि यह रोगिनी ही 'ज़ार' की चतुर्थ तथा छोटी कन्या आनास्टासिया है।

इस बालिका के सारे अंग में संगीन तथा गोली के आघात-चिह्न वर्तमान हैं। इसके आठ दाँत भी तोड़ दिए गए थे। इसका पूर्व सौंदर्य अब बिलकुल नहीं रहा। किंतु फिर भी इस दुःखिनी को संभ्रांत-वंशीया कहकर पहचानने में कष्ट नहीं होता। भूतपूर्व ज़ार की भगिनी 'ग्रांड डचेज़ ओल्गा' ने इस बालिका की अनेक परीक्षा करने के बाद इसे अपनी 'भ्रातृ पुत्री' कहकर घोषित किया है। शैशव-काल की जो सब बातें यह कहती है उसे राज-परिवार के व्यक्ति को छोड़कर और कोई नहीं जान सकता। उस समय की सभी रीति-नीति की बातों से यह अवगत है। विशेषकर इस बालिका की धाय तथा पारिवारिक डॉक्टर ने इसके शरीर की परीक्षा कर ऐसे चिह्न तथा विशेषताओं को देखा है, जिनसे निस्संदेह यह विश्वास किया जा सकता है कि यही राजवंश का अंतिम कुल-प्रदीप है। जर्मनी के युवराज तथा उनकी सहधर्मिणी ने इस बालिका को देखकर और अपने ही गोत्र का समझकर एक ही साथ खाना खाया था।

ज़ार 'रोमनफ़' के वंश के हत्याकांड को योरप के राज-कुल के व्यक्ति आत्मीय-हनन के समान ही समझते हैं। १९१८ साल से लेकर आजतक वे लोग यह जानने की चेष्टा में थे कि ज़ार वंश का कोई प्राणी जीवित है या नहीं। वे लोग इस बात की जाँच कर रहे हैं, और ठीक प्रमाण पाते ही इस दुर्भागिनी को अपनी गोष्ठी में स्थान देंगे।

उस हत्याकांड के बाद कौन-कौन-सी घटनाएँ घटी थीं, यह जिज्ञासा करने पर इस बालिका ने जो कहा, वह नीचे लिखा जाता है—

१९१८ साल की १७ जुलाई की रात को 'रेड'-सेनाओं का एक दल आकर उन लोगों पर अत्याचार करने लगा। गोली के आघातों तथा संगीन के घावों से वह ज्ञान-शून्य होकर पड़ गई थी। ज्ञान होने पर उसे मालूम हुआ कि कोई उसे बैल-गाड़ी पर कहीं लिए जा रहा है। उस गाड़ी में 'रेड'-सेना दल के दो युवक थे। उन लोगों में से एक युवक के द्वारा उसे ज्ञान हुआ कि राजवंश के और सब लोग मार डाले गए, और क़ब्र देने के लिये उनके मृतक शरीरों को मोटरलारी में लादकर पास के जंगल में भेजा गया है। उसको उस समय भी जीवितावस्था में पाकर उन दोनों युवकों ने वहाँ से हटा दिया है। राज-सैन्य-दल के आगमन के कारण भयभीत होकर भागने के समय किसी ने इसे लक्ष्य नहीं किया था। राजा की सेना ने आकर देखा कि मृतक मनुष्यों को क़ब्र में न देकर जलाया जा रहा है, और इसलिये उनमें कौन जीवित है, यह जानना उनके लिये कठिन हो गया। सेना के दो युवकों ने कुछ चिकित्सा करने के बाद इस बालिका की जीवन-रक्षा की थी। तीन महीने के बाद वे लोग रूमानिया पहुँच गए। बुख़ारेस्ट के एक माली की कुटिया में उन लोगों ने आश्रय लिया। वहाँ पर इस बालिका की अवस्था और भी ख़राब हो गई। युवकों ने उसे मृत समझकर बर्फ़ के टीलों में फेंक दिया। किंतु उसकी मृत्यु नहीं हुई, और वह पुनः उसी माली की कुटिया में किसी तरह आ गई। वहीं पर उनमें से एक युवक के साथ उसका विवाह-संस्कार संपन्न हुआ। उसके फल-स्वरूप उन्हें एक पुत्र संतान भी प्राप्त हुआ था। कुछ काल के उपरांत इस बालिका का स्वामी बुख़ारेस्ट की सड़क पर बोलशेविकों की गोली का शिकार हो गया।

इसके बाद वह पुनः रोगिणी हो गई, और अपने देवर की सहायता से बर्लिन के अस्पताल में लाई गई। उसकी संतान कहाँ है, इसका उसे स्वयं पता नहीं। उसकी खोज हो रही है।

योरप के समस्त राज-वंशों द्वारा नियुक्त एक समिति इस महिला का तत्त्वावधान करती है। बाहर के किसी भी पुरुष को इस महिला के पास जाने की आज्ञा नहीं है। बोलशेविकों के षड्यंत्र के डर से इसका प्रत्येक खाद्य-द्रव्य परीक्षा करके दिया जाता है।

राजकुमारी की अवस्था इस समय २५ वर्ष की है। इसकी १६ वर्ष की अवस्था की एक फ़ोटो दी गई है।

श्रीउमेशप्रसादसिंह बख़्शी

× × ×

२. गुलाबफूल-तकिया

आवश्यक वस्तुएँ—७० नंबर का अथवा इतना मोटा धागा कि एक इंच में सात ख़ाने बनें और उसी के अनुसार क्रोशिया आरंभ में २४२ चेन करो।

१ पंक्ति—१ तेहरा आठवीं चेन में, ७८ ख़ाने (२ चेन, २ छोड़ो १ तेहरा)।

२ पंक्ति—१ ख़ा० (पहले ख़ाने के लिये सदा ५ चेन बनाओ। (४ ते० १ ख़ा०) ११ बार।

३ और ४ पंक्ति—७६ ख़ा०।

५ पंक्ति—किनारा (१ ख़ा०, ४ तै०), १६ ख़ा०, ४ तै०, ३५ ख़ा०, ४ तै०, १६ ख़ा०, किनारा (१ ख़ा०, ४ तै०)।

६ पंक्ति—किनारा ; १२ ख़ा०, ४ तै०, ६ ख़ा०, ४ तै०, * ३५ ख़ा०, (* से आरंभ कर उलटते हुए किनारे तक बनाओ अथवा इस प्रकार ४ तै०, ६ ख़ा०, ४ तै०, १२ ख़ा०, किनारा। आगे इस प्रकार उलटकर बनाने * से पीछे फिरो शब्दों से बतायेंगे)।

७ पंक्ति—६ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, ७ तै०, * १८ ख़ा०, ४ तै०, ७ ख़ा०, १० तै०, २२ ख़ा०, * से पीछे फिरो।
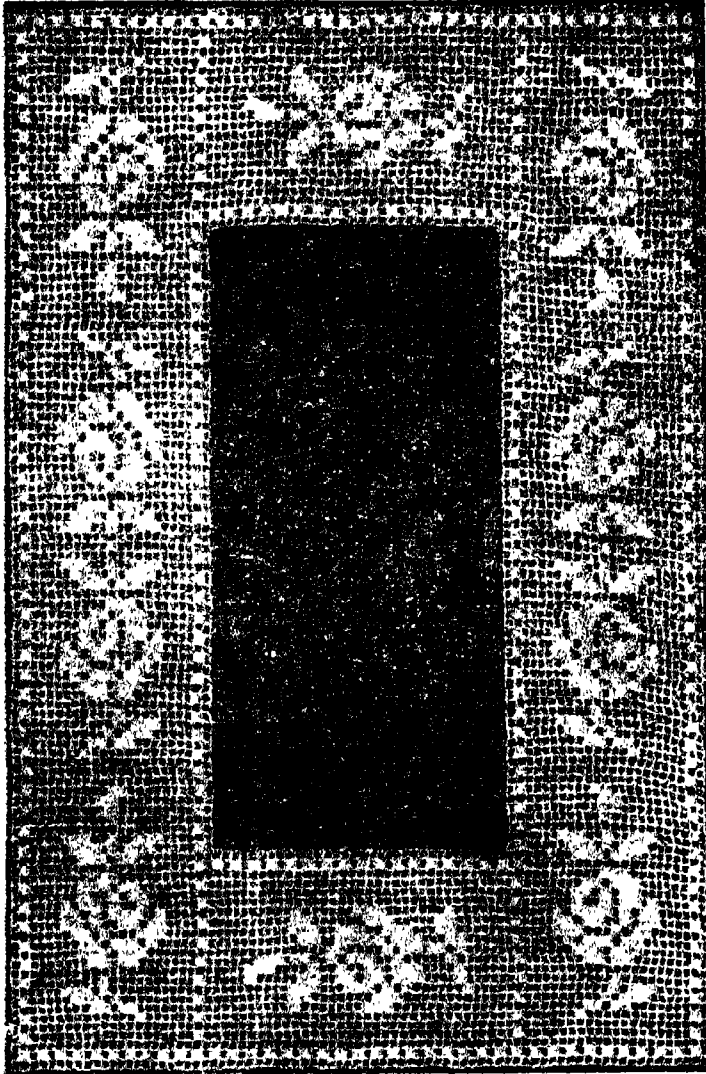
८ पंक्ति—किनारा ५ ख़ा०, १० तै०, १ ख़ा०, ४ तै०, ६ ख़ा०, ४ तै०, * १३ ख़ा०, १० तै०, ७ ख़ा०, ७ तै०, १० ख़ा० ; पीछे फिरो।

९ पंक्ति—६ ख़ा०, १० तै०, १ ख़ा०, ४ तै०, * २१ ख़ा०, १० तै०, ३ ख़ा०, १० तै०, (१ ख़ा०, ४ तै०) दो बार, ६ ख़ा०, ४ तै०, १६ ख़ा० ; पीछे फिरो।

१० पंक्ति—किनारा ; ८ ख़ा०, ४ तै०, १० ख़ा, ४ तै०, * ६ ख़ा०, ४ तै०, ४ ख़ा०, १० तै०, (१ ख़ा०, ७ तै०) दो बार, २ ख़ा०, ७ तै०, ५ ख़ा०, ४ तै०, ५ ख़ा० ; पीछे फिरो।

११ पंक्ति—२७ ख़ा०, १० तै०, ४ ख़ा०, (४ तै०, २ ख़ा०) दो दफ़ा, ७ तै०, १ ख़ा०, १० तै०, ४ ख़ा०, ४ तै०, २८ ख़ा०।

१२ पंक्ति—किनारा, ७ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, ७ तै०, ७ ख़ा०, ४ तै०, * ७ ख़ा०, ४ तै०, ५ ख़ा०, ४ तै०, २ ख़ा०, १० तै०, १ ख़ा०, ४ तै०, २ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, १० तै०, ६ ख़ा० ; पीछे फिरो।

१३ पंक्ति—८ ख़ा०, १० तै०, १ ख़ा०, १० तै०, * १६ ख़ा०, ४ तै०, १ ख़ा०, ७ तै०, ४ ख़ा०, ४ तै०, (१ ख़ा०, ७ तै०) दो दफ़ा, १ ख़ा०, ४ तै०, १३ ख़ा० ; पीछे फिरो।

१४ पंक्ति—किनारा, ६ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, १० तै०, १ ख़ा०, ४ तै०, ५ ख़ा०, ४ तै०, * ६ ख़ा०, ७ तै०, ३ ख़ा०, १० तै०, १ ख़ा०, १६ तै०, २ ख़ा०, ७ तै०, ११ ख़ा० ; पीछे फिरो।

१५ पंक्ति—७ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, ४ तै०, ३ ख़ा०, १० तै०, * १५ ख़ा०, १० तै०, (२ ख़ा०, १० तै० दो दफ़ा, ३ ख़ा०, ७ तै०, १२ ख़ा० ; पीछे फिरो।

१६ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, ४ तै०, २ ख़ा०, ७ तै०, १ ख़ा०, ७ तै०, ४ ख़ा०, ४ तै०, * १ ख़ा०, ७ तै०, ५ ख़ा०, १० तै०, ६ ख़ा०, ७ तै०, १० ख़ा० ; पीछे फिरो।

१७ पंक्ति—६ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, १३ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, * १५ ख़ा०, ४ ते०, ६ ख़ा०, १० ते०, ७ ख़ा०, ४ ते०, १२ ख़ा० ; पीछे फिरो ।

१८ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, २ ख़ा०, ४ ते०, ६ ख़ा०, ४ ते०, * ३५ ख़ा० ; पीछे फिरो ।

१९ पंक्ति—८ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, * ४९ ख़ा० ; पीछे फिरो ।

२० पंक्ति—किनारा, १६ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, ७ ख़ा०, ४ ते०, * ३५ ख़ा० ; पीछे फिरो ।

२१ पंक्ति—९ ख़ा०, १० ते०, ५५ ख़ा०, १० ते०, ९ ख़ा० ।

२२ पंक्ति—किनारा, १९ ख़ा०, (४ ते०, १ ख़ा०) १८ दफ़ा, ४ ते०, १९ ख़ा०, किनारा ।

२३ पंक्ति—१३वीं की तरह * तक, ४९ ख़ा० ; पीछे फिरो ।

अब तकिए की चौड़ाई का फ़ीता पूरा हो गया ।

२४ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, ५ ख़ा०, किनारा ।

२५ पंक्ति—६ ख़ा०, १० ते०, २ ख़ा०, ४ ते०, २ ख़ा०, १० ते०, ६ ख़ा० ।

२६ पंक्ति—किनारा, १९ ख़ा०, किनारा ।

२७ पंक्ति—११ ख़ा०, ४ ते०, ११ ख़ा० ।

२८ पंक्ति—किनारा, ८ ख़ा०, ७ ते०, ९ ख़ा०, किनारा ।

२९ पंक्ति—११ ख़ा०, ७ ते०, १० ख़ा० ।

३० पंक्ति—किनारा, ९ ख़ा०, ७ ते०, ८ ख़ा०, किनारा ।

३१, ३३ पंक्ति—२३ ख़ा० ।

३२ पंक्ति—२६ पंक्ति की तरह ।

३४ पंक्ति—किनारा, ६ ख़ा०, ४ ते०, १२ ख़ा०, किनारा ।

३५ पंक्ति—९ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, ९ ख़ा० ।

३६ पंक्ति—किनारा, ९ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, ५ ख़ा०, किनारा ।

३७ पंक्ति—६ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, १२ ख़ा० ।

३८ पंक्ति—किनारा, १० ख़ा०, ४ ते०, ८ ख़ा०, किनारा ।

३९ पंक्ति—३१ पंक्ति की तरह ।

४० पंक्ति—किनारा, ७ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, ७ ख़ा०, किनारा ।

४१ पंक्ति—९ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, १० ते०, ८ ख़ा० ।

४२ पंक्ति—किनारा, ५ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, ६ ख़ा०, किनारा ।

४३ पंक्ति—१५ पंक्ति की तरह * तक, ६ ख़ा० ।

४४ पंक्ति—किनारा, ४ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, २ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, ४ ख़ा०, किनारा ।

४५ पंक्ति—१७ पंक्ति की तरह * तक, ६ ख़ा० ।

४६ पंक्ति—किनारा, ६ ख़ा०, ४ ते०, २ ख़ा०, ४ ते०, १ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, ४ ते०, ४ ख़ा०, किनारा ।

४७ पंक्ति—१९ पंक्ति की तरह * तक, ८ ख़ा० ।

४८ पंक्ति—७ ख़ा०, ७ ते०, १ ख़ा०, १० ते०, ६ ख़ा०, किनारा ।

४९ पंक्ति—९ ख़ा०, १० ते०, ११ ख़ा० ।

५० पंक्ति—२६ पंक्ति की तरह ।

५१ पंक्ति—४१ पंक्ति की तरह ।

५२, ५३, ५४, ५५ पंक्ति—क्रमशः २४, २५, २६, २७ पंक्ति की तरह ।

अब कार्य ५६ पंक्ति ५४ की तरह, ५७ पंक्ति ५३ की तरह, ५८ पंक्ति ५२ की तरह......इसी तरह पिछली (८६) पंक्ति २४वीं पंक्ति की तरह होगी । धागे को कसकर तोड़ दो । धागे को फ़ीते के दूसरी ओर जोड़कर २४वीं पंक्ति से ८६ पंक्ति तक वैसे ही बनाओ । ११ चेन से दोनों सिरों को जोड़ दो, और सारी चौड़ाई पर पहली की भाँति २३वीं पंक्ति से १ पंक्ति तक पीछे फिरो ।

ओमवती देवी

---

१. गीति-काव्य

हित्यिक पत्रिका माधुरी द्वारा मैं हिंदी-संसार का ध्यान एक अत्यंत आवश्यक विषय की ओर दिलाना चाहता हूँ। आल्हा-जैसा वीर-रस पूर्ण काव्य कुछ ही वर्ष पूर्व गाँव के लोगों की ज़बान पर रहता था। इसी प्रकार और भी अनेक कवियों के उत्तम छंद और कवित्त तथा स्थान-स्थान की घटनाओं से भरी हुई छोटी-छोटी, पर ओजस्विनी, गीति-कविताएँ भी देहातों में प्रायः लोगों को कंठ ही रहती हैं। साहित्य-निर्माण के लिये इनका संगृहीत हो जाना अत्यंत आवश्यक है। अवध-क्षेत्र और आस-पास के ज़िलों के गाँव कविता की भूमि रहे हैं। हर गाँव में कुछ-न-कुछ सामग्री एकत्रित की जा सकती है। ब्रज-भूमि और बुंदेलखंड तथा राजस्थान के विषय में भी यह बात चरितार्थ है कि वहाँ भी अधिकांश उत्तम कविता गाँवों में लोगों को कंठ है। संगठित रूप से इनके संग्रह का कार्य कराना चाहिए। अवध के गाँव-गाँव में बरवै गाए जाते हैं। बारहमासे, आल्हा, गीत, होली, चाँचरि के राग, इन सबके संग्रह से गीति-काव्य (lyrical poetry) के उत्थान के लिये एक आवश्यक अंग की पूर्ति हो जायगी। सच पूछिए, तो गीति-काव्य के लिये उपयुक्त छंद ये ही हैं। सवैयों और कवित्तों में गीति-कविता नहीं हो सकती। यदि कोई व्यक्ति हिंदी में गीति काव्य का संग्रह करे, तो उसे इस अलिखित सामग्री के बिना, प्रस्तुत सामग्री के आधार पर अत्यंत दरिद्र रहना पड़ेगा। अँगरेज़ी-साहित्य में भी समय-समय पर ऐसे संग्रह प्रकाशित हुए हैं, जिनमें गाँवों की कविताओं का संग्रह किया गया था। चौपई-छंद की कविता लिखी हुई शायद ही कहीं मिले ; पर मेरठ की ओर एक-से एक उत्तम हज़ारों चौपई बच्चों को कंठस्थ रहती हैं। कवियों की दबी हुई आत्मा जब सहसा विकास पाना चाहती है, तब गीति-कविता के रूप में फूट पड़ती है। जिस प्रकार अँगरेज़ी-साहित्य में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में गीति-कविता का प्रचुर जन्म हुआ, वैसे ही इस सदी के आरंभ में हिंदी-कविता में भी हो रहा है। सच है, हमारे यहाँ अभी शेली, कीट्स और वर्ड्सवर्थ-जैसे प्रतिभाशाली गीति-काव्य-लेखक नहीं जनमे हैं, या होते हुए भी उस प्रकार अपनी प्रतिभा का उपयोग नहीं करते। इसका कारण जानकर प्रत्येक सहृदय को बड़ा मार्मिक दुःख हुए बिना न रहेगा, जैसा कि मुझे हुआ है। हिंदी की कविता इतने अधिक बंधनों और रूढ़ियों से जकड़ी हुई है कि वह उस मार्ग पर चलकर स्वच्छंद रीति से साँस नहीं ले पाती। नायिका-भेद, भाव, विभाव-अनुभाव और अलंकारों तथा शृंगार के भेदोपभेदों को जानकर, उन्हीं के आश्रित रहकर, कविता करिए, आप नई सूझ के नए भावों को लाने में असमर्थ रहेंगे। पावस-ऋतु पर परंपरागत
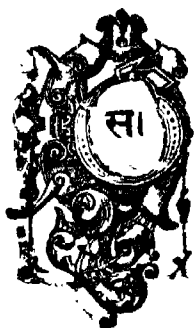
परिपाटी से हिंदी-काव्य में आप परिश्रम करें, तो दस सहस्र पद्यों का संग्रह कर सकते हैं। कितने दुःख की बात है कि अब भी हिंदी-कवियों की घनाक्षरी घन-वर्णन से ही गुँथी रहती है। नए-नए प्रसंगों पर कविता पढ़ने को हिंदी-भाषा में कभी-कभी बड़ी निराशा होती है। गीति-काव्य की यत्किंचित् सेवा इस समय खड़ी बोली से ही हो रही है। व्रज भाषा और अवधी, जोकि कविता के लिये मधुरतम भाषाएँ हैं, पुरानी ही लीक को पीट रही हैं। गाँवों के गीतों के संग्रह से भी गीति-कविता का बड़ा कल्याण होगा। गीति-काव्य में उन्नति करने के लिये पुराने छंदों को भी अपने आप ही छोड़ देना पड़ेगा। गीति काव्य के विषय में नए प्रसंग और नए चलते हुए छंदों के अतिरिक्त एक बात यह भी है कि वह सदा सूक्ष्म हुआ करता है। उत्तम गीति की अंतःप्रेरणा शब्द-विस्तार की ओर न होकर शब्द-संकोच की ओर होती है, अर्थात् उत्तम गीति अधिक भावों को थोड़े स्थान में रखने का प्रयत्न करती है। दुर्भाग्य से हमारे कवियों का प्रयत्न यह रहता है कि उसी अनूठे भाव को अधिक आडंबर और विस्तार में कहा जाय। गीति में वर्णनात्मक विस्तार का बिलकुल स्थान नहीं रहता, कवि संकेत करके ही बहुत-से भावों को अनकहा छोड़ आगे बढ़ जाता है। आधुनिक कवियों की बहुत-सी गीतियों को पढ़कर मेरा यह अनुभव हुआ कि हमारे कवियों में विस्तार की प्रवृत्ति बड़ी प्रबल है। एक ओर तो सवैया और घनाक्षरी में बँधकर भाव का पूरा विस्तार नहीं हो पाता, दूसरी ओर नए छंदों में वे बहुत फैलाकर कह जाते हैं। अँगरेज़ी-साहित्य की गीतियों का गठन देखकर मन मुग्ध हो जाता है। उत्तम गीति में शिथिलता का आभास भी न होना चाहिए।

हिंदी-कवियों में उपदेश देने का बड़ा चाव है। वर्णनात्मक विस्तार तो केवल गीति-काव्य में ही अनुपयुक्त है, श्रव्य-काव्य तथा प्रबंध काव्य में उसका उचित सन्निवेश होता है; पर उपदेशक का काम तो कवि के लिये सर्वत्र ही हेय है। कांतासंमिततया उपदेश का महत्त्व कवि को तो ख़ूब ही समझना चाहिए। नीति-शास्त्र और कविता-संबंध इन दो शब्दों में बहुत अच्छी तरह आ गया है। हिंदी की गीतियों में बहुत जगह साफ़-साफ़ उपदेशक के मंच की ध्वनि सुनाई पड़ेगी। बस, इसी से भावों की विरसता आ जाती है। कविता स्वयं भावों को जगाने का काम करेगी। इसके लिये पाठक को स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए। स्वयं कवि भी नहीं कह सकता कि उत्तम गीति भिन्न-भिन्न पाठकों को किस प्रकार रुचेगी। कवि के लिये अपनी रुचि कह डालना बड़ा हलकापन है। पंडित रूपनारायण पांडेय की वन-विहंगम कविता के अंतिम तीन पद्य कटे हुए पर की तरह असंबद्ध हैं।* उनमें कवि ने उपदेशक का काम किया है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण मुझे स्वयं मिल चुके हैं; पर यहाँ एक ही निदर्शन के लिये दिया गया है।

गीति-काव्य यद्यपि कवि के व्यक्तिगत मनोभावों का ही परिचायक माना जाता है, तो भी अपना नाम डालना नितांत अनुचित और अप्रासंगिक है। आधुनिक कवियों को नाम डालने की पुरानी प्रथा का अब अंत कर देना चाहिए। कोई भाषा बिना गीति-काव्य के अधूरी ही रहती है। मनोभावों का असली क्रीडास्थल गीति-काव्य का क्षेत्र ही है। हर्ष है, हिंदी में इस समय गीति-कविताओं की समुन्नति हो रही है।

वासुदेवशरण अग्रवाल

× × ×

२. कवियों की आत्म-प्रशंसा

महाकवि कालिदास रघुवंश महाकाव्य के प्रारंभ में जिन श्लोकों को लिखकर साहित्य-संसार में अमर हो गए हैं, वे विनय तथा निज-क्षुद्रता प्रकाश की दृष्टि से अद्वितीय हैं। यद्यपि उनके द्वारा उन्होंने अपनी अक्षमता ही द्योतित की है, किंतु उनसे कवि की गौरव-चंद्रिका और भी उज्ज्वलतर हो गई है—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।
मंदः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ।

अर्थात् मैं अल्प-बुद्धि होते हुए भी कवि-यशःप्रार्थी हूँ। अतएव मेरा उपहास क्षुद्र नौका से अनंत समुद्र पार करनेवाले, एवं उच्चस्थित फल तोड़ने की इच्छावाले वामन के समान अवश्यंभावी है।

इसी प्रकार के अनेक वाक्यों से उन्होंने अपनी क्षुद्रता प्रकट की है। श्रेष्ठ कवियों में ऐसा विनय-भाव सामान्य वस्तु नहीं है; क्योंकि अनेक बड़े-बड़े कवियों ने अनेक

* पर वह गीति-कविता नहीं है। यों तो सभी पद्य गाए जा सकते हैं।—संपादक

स्थलों पर आत्मश्लाघा तथा आत्मविश्वास के द्योतक वाक्य लिखे हैं। पर उनमें कालिदास की-सी नम्रता नहीं है, यद्यपि उन कवियों की महत्ता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता।

संस्कृत-साहित्य के अहंमन्य कवियों में प्रथम स्थान 'नैषधचरित' के रचयिता श्रीश्रीहर्ष का है। वह नैषध-काव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में एक श्लोक लिखते थे, जिसका भाव यह होता है कि जो कान्यकुब्ज-महाराज के यहाँ समान स्थान, इतने वस्त्र और इतना धन पाते हैं, ऐसे श्रीहर्ष-कृत काव्य का यह अमुक सर्ग समाप्त हुआ। उन्होंने अपने 'द्विरूपकोश'-नामक ग्रंथ की समाप्ति पर भी एक श्लोक इसी प्रकार का लिखा है—

इत्थं श्रीकविराजराजमुकुटालंकारहीरार्पित-
श्रीहीरात्मभवेन नैषधमहाकाव्ये ज्वलत्कीर्तिना ;
श्रौद्धत्यप्रतिवादिमस्तकतटीविन्यस्तवामांघ्रिणा
श्रीहर्षेण कृतो द्विरूपविलसत्कोशस्ततां श्रेयसे ।

इसमें वह यह घोषणा कर रहे हैं कि उन्होंने बड़े बड़े उद्धत प्रतिवादियों के भी मस्तकों पर पैर—सो भी दाहना नहीं, बायाँ—रख दिया है !

महाकवि भवभूति अपने नाटकों की उत्कृष्टता के विषय में विश्वास-युक्त धारणा रखते थे। वह उसे प्रकट किए बिना नहीं रह सके। जब उन्होंने अपने नाटक-विशेष का जन-समाज में उचित आदर होते नहीं देखा, तो 'मालती-माधव'-नाटक में अपनी कृतियों के विषय में निज विश्वास-पूर्ण यह घोषणा की—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ;
उत्पत्स्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

अर्थात् जो लोग मेरी कृतियों का अनादर करते हैं, उनके लिये मैंने यह यत्न नहीं किया। मुझे विश्वास है कि इस पृथ्वीतल पर किसी-न-किसी समय मेरे समान धर्मवाला मनुष्य अवश्य जन्म लेगा। कारण, समय अनंत है, और पृथ्वी असीम।

उपर्युक्त शब्दों में कवि का यह विश्वास स्पष्ट झलक रहा है कि यदि उसकी जीवित दशा में नहीं, तो उसके पीछे उसकी कृतियाँ अवश्य प्रसिद्धि प्राप्त करेंगी।

यद्यपि प्राचीन काल में कविजन अपना विशेष परिचय तो क्या, नाम भी नहीं देते थे, किंतु पीछे से यह बात नहीं रही। परिचय दिया जाने लगा, और उसके साथ-ही-साथ आत्मश्लाघा का भी मिश्रण होने लगा। यह गुण 'गीतगो-विंद' में पूर्ण रीति से पल्लवित हुआ है। काव्य के प्रारंभ ही में जयदेवजी का आत्मश्लाघात्मक परिचय मिलता है—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम् ;
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।

केवल इतना ही कहकर वह शांत नहीं हुए। आगे चलकर अन्यान्य प्रसिद्ध कवियों से अपनी तुलना करते हुए स्वयं कहते हैं—

वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः ;
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतिधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ।

उमापति, शरण एवं गोवर्धन इत्यादि यद्यपि भिन्न-भिन्न विभागों में निपुण थे, किंतु जयदेव शुद्ध सरस्वती के ज्ञान में सबसे बढ़े-चढ़े थे। इससे ज्ञात होता है कि जयदेव को अपनी योग्यता का बड़ा गर्व था, यद्यपि इस गर्व की तथ्यता प्रत्यक्ष ही है।

कविवर विद्यापति भी आत्मप्रशंसा के लोभ को संवरण न कर सके। 'कीर्तिलता' नामक ग्रंथ के प्रथम पल्लव में इस प्रकार लिखा है—

बालचंद विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जनहासा ;
ओ परमेश्वर हरसिर सोहइ, ए निश्चय नाअर मन मोहइ ।

बालचंद्र एवं विद्यापति की भाषा, दोनो दुर्जनों के हँसने योग्य वस्तु नहीं हैं। प्रथम तो शिव के मस्तक पर स्थित होने के कारण शोभा पाता है, और विद्यापति निश्चय ही सहृदयजनों को मुग्ध करते हैं।

रामायण-प्रणेता बंगाली कवि कृत्तिवास अपने लंबे-चौड़े आत्म-परिचय के प्रसंग में लिखते हैं—

यत यत महापंडित आछये संसारे ;
आमार कविता केह निंदिते ना पारे ।
मुनि मध्ये जखनि बाल्मीकि महामुनि ;
पंडितेर मध्ये कृत्तिवास गुणी ।

अंतिम उक्ति में यदि कोई मनुष्य अहंकार तथा आत्म-प्रशंसा की गंध पाता है, तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

जो लोग प्रारंभ ही में अपनी कृतियों का आदर न होते देख हताश हो जाते हैं, उनकी उन्नति स्थगित हो

जाती है। इसके विपरीत आत्म-विश्वास रखनेवाले सफल होते हैं। अँगरेज़ कवि वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उनकी कविता तत्कालीन साहित्य में एक क्रांति उत्पन्न करनेवाली थी। उनका नियम था कि वह साधारण विषय पर असाधारण भाषा में कविता करते थे। लोगों को उनकी कविता के गुण पहचानने में देर लगी। किंतु कवि कभी हताश नहीं हुआ। बात ठीक निकली। उनकी कविता का कुछ दिनों पश्चात् ऐसा आदर हुआ कि उन्हें Poet-lawreate की उपाधि दी गई। विशेषतः उनको यह विश्वास था कि मेरी कवित्व-शक्ति एक ईश्वर-प्रदत्त, स्वाभाविक वस्तु है। इसका निरादर करना वह पाप समझते थे।

ठीक यही बात वर्ड्सवर्थ के पूर्ववर्ती महाकवि मिल्टन के विषय में भी घटित होती है। यद्यपि उनकी कविता का कभी निरादर नहीं हुआ, किंतु उनका भी यह पूर्ण विश्वास था कि उनकी कवित्व-शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है। यह विश्वास उन्होंने अपनी On His Blindness-नामक कविता में उस समय प्रकट किया है, जब वह अंधे हो गए थे। यथा—

"And that one talent which is death to hide
Lodge with me useless though my soul more bent
To serve therewith my Maker, and present
My true account, lest he returning chide."

वह इस शक्ति को छिपाना मृत्यु-तुल्य समझते थे; क्योंकि उन्हें उसका सच्चा हिसाब ईश्वर के सामने देना पड़ेगा; अन्यथा वह अप्रसन्न हो जायगा।

जीवन के प्रथम भाग ही में उन्होंने निश्चय कर लिया था कि मैं महाकवि हूँगा, और अपने पीछे संसार के लिये एक ऐसी वस्तु छोड़ जाऊँगा, जिसे वह यथाशक्ति जीवित रखने का प्रयत्न करेगा। यह विचार उन्होंने अपने एक डियोडाटी (Diodati)-नामक मित्र को पत्र में लिखा था—

"I only whisper it in your ear. Yes ! I am plumming my wings for a flight which the world will not willingly let it die."

कविवर शेली की मृत्यु युवावस्था ही में हो गई थी। उन्होंने मृत्यु के पूर्व किसी स्थल पर लिखा है—

"If I die now I shall be older than my grandfather."

अर्थात् यदि मेरी मृत्यु इस समय हो जाय, तो भी मैं अपने पितामह से ज्ञान और अनुभव-बाहुल्य की दृष्टि से अधिक आयु पाकर मर रहा हूँ।

टेनीसन ने अपनी कविता की कड़ी समालोचना किए जाने पर उक्त समालोचक को ये शब्द लिखे थे—

"Vest not thou the poet's mind
With thy shallow wit
Vest not thou the poet's mind
For thou canst not fathom it."

अर्थात् हे समालोचक ! अपनी क्षुद्र बुद्धि के द्वारा तुम कवि के मस्तिष्क की शांति-भंग मत करो; क्योंकि तुम उसकी गंभीरता का नहीं अनुभव कर सकते।

यदि समालोचकगण समालोचना करते समय इस पर ध्यान दिया करें, तो बहुत अच्छा हो।

हमारे हिंदी-साहित्य में भी ऐसे अहंमन्य कवियों का अभाव नहीं है। हिंदी-कविता के मध्यकालवर्ती महाकवि बिहारी भी अपने दोहों की चुभनेवाली शक्ति पर बड़ा विश्वास रखते थे। इस आशय को उन्होंने जिस दोहे में व्यक्त किया है, वह प्रसिद्ध है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर;
देखत के छोटे लगें, घाव करें गंभीर।

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने अपने गृह-द्वार के सम्मुख एक साइनबोर्ड लगा रक्खा था। उस पर एक दोहे का चरण लिखा हुआ था—

"करि गुलाब को आचमन लीजत वाको नाम।"

पहले गुलाब का आचमन किए बिना अपना नाम लेना भी उन्हें असह्य था।

श्रीमान् नाथूरामशंकर शर्मा का नाम भी इस प्रसंग में अवश्य बड़े अक्षरों में अंकित करने योग्य है। वह अपने को कविता-रूपी स्त्री का पति समझते हैं, और इसी लिये उनके नाम के आगे 'कविताकामिनिकांत' शब्द लिखे रहते हैं। उन्होंने एक स्थल पर कविता-कामिनी को संबोधन करते हुए कहा है—

"...कविता-कामिनी, भज शंकर भर्तार को।"

विश्वनाथ शर्मा

१. कर्मकांड

कर्म-कलाप—प्रणेता, श्रीदंडीस्वामी सहजानंद सरस्वती; प्रकाशक, मैनेजर ब्रह्मर्षि-पुस्तकालय, समस्तीपुर (बिहार); आकार डिमाई अठपेजी; पृष्ठ-संख्या १२०० और मूल्य ४।); प्रणेता का एक चित्र भी है।

आस्तिक हिंदुओं के यहाँ जन्म से लेकर मरण-पर्यंत यावत् कृत्य वेद-स्मृति-शास्त्रोक्त-विधि से, ऋषि-प्रणीत पद्धतियों के अनुसार, किए जाते थे। अब भी लीक पीटने के तौर पर उनमें से कुछ होते हैं, और कुछ लुप्तप्राय हो गए हैं। पहले पुरोहित या आचार्य वेद-पाठी और कर्म-कांड के प्रकांड पंडित होते थे। वे यथावत् सांगोपांग सभी कृत्य कराते थे, जिससे यजमान का कोई अनुष्ठान निष्फल या विफल न होने पाता था। एक समय था, जब गुरुकुल में अध्ययन करते समय नित्य-नैमित्तिक कृत्यों को स्वयं संपन्न करने की योग्यता प्राप्त कर लेना द्विजाति-मात्र के लिये अतीव आवश्यक होता था, और वे बिना किसी की सहायता के सब गृहस्थाश्रम के कर्तव्य-कर्म कर लिया करते थे। कालांतर में ब्राह्मणेतर यजमानों में गुरुकुल-वास और वेदाध्ययन की प्रवृत्ति कम हो गई, और विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित बना लिए गए। धीरे-धीरे यजमानों की मूर्खता बढ़ने लगी, और उसका परिणाम यह हुआ कि पुरोहित भी कर्मकांड से अनभिज्ञ निरक्षर होने लगे। यजमान पढ़ा-लिखा हो, तो पुरोहित को झख मारकर पंडित बनने की चेष्टा करनी पड़ेगी। कारण, उसे यजमान के आगे अपदस्थ होने की आशंका होगी। वह सोचेगा, यदि मैं मूर्ख बना रहा, तो यजमान अन्य पढ़े-लिखे विद्वान् ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियुक्त कर लेगा। आजकल का तो हाल ही कुछ न पूछिए। सौ में निन्नानबे यजमान और इतने ही पुरोहित लंठाधिराज हैं। न यजमान को शास्त्र-विहित कर्मों का स्वरूप तथा उद्देश्य का ज्ञान है और न पुरोहितों को उनका विधि-विधान। हमने खुद एक जगह मूर्ख पुरोहित को दुर्गा की पुस्तक आगे रखकर यजमान को श्राद्ध कराते देखा है। इस दुर्दशा को देखकर स्वामी सहजानंदजी ने, यजमान और पुरोहित दोनों के लाभार्थ, यह बृहत् पुस्तक तैयार कर दी है। इसमें सामवेदी और यजुर्वेदी द्विजों के सब संस्कार, शांति-कर्म, प्रतिष्ठा, जलाशय-वाटिका आदि के उत्सर्ग तथा पंचयज्ञ, संध्या, तर्पण आदि नित्य-कर्मों की विधि विशुद्ध हिंदी में लिखी हुई है। मंत्र-मात्र संस्कृत में हैं। मंडप, वेदी, कुंड आदि के बनाने की प्रक्रिया भी है। गृह-कर्मोपयोगी ज्योतिष की बातें भी पीछे जोड़ दी गई हैं। मतलब यह कि गृहस्थ के लिये आवश्यक कर्मकांड की कोई बात नहीं छोड़ी गई है, और हरएक बात इस खूबी से सहज करके समझा दी गई है कि पढ़नेवाला बिना किसी की सहायता से उसे हृदयंगम कर ले सकता है। यह पुस्तक आस्तिक हिंदुओं के लिये इतनी उपयोगी है कि हर घर में इसकी एक प्रति रहनी चाहिए। इस पुस्तक की सहायता से थोड़े पढ़े-लिखे यजमान तथा पुरोहित लोग कर्मकांड में दक्ष हो सकते हैं। हम स्वामी

सहजानंदजी को इस पुस्तक के लिखने और छपाने के उपलक्ष्य में आस्तिक हिंदू-समाज की ओर से हार्दिक धन्यवाद देते हुए अन्य संन्यासियों तथा साधु-महंतों को आपका अनुकरण करने की—अपनी विद्या अथवा धन आदि के द्वारा देश, जाति तथा समाज की सेवा और उपकार करने की—प्रार्थना करते हैं। स्वामी सहजानंदजी बहुत बड़े विद्वान् हैं, दर्शन-शास्त्रों, उपनिषदों और स्मृतियों का आपने अच्छा अनुशीलन किया है। सबसे बड़ी ख़ूबी तो आपमें यह है कि आप संस्कृत के समान ही परिमार्जित और सरस हिंदी में भी लिख सकते हैं। आशा है, आपका यह कर्म-कलाप हिंदी जाननेवाले आस्तिक हिंदुओं में अधिक आदर प्राप्त करेगा, और इसका यथेष्ट प्रचार होने में बहुत समय नहीं लगेगा।

× × ×

२. जीवनी

स्व० कविरत्न सत्यनारायणजी की जीवनी—लेखक, पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी "भारतीय हृदय"; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; आकार डबल क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ ३०० के लगभग; ३ चित्र भी हैं; मूल्य १) मात्र; छपाई-काग़ज़ अच्छा; जिल्द बँधी हुई।

चतुर्वेदीजी ने पं० सत्यनारायणजी के यशःकाय को हिंदी-जगत् में जीवनी की सञ्जीवनी से अविनश्वर कर दिया है, यह बड़े ही संतोष की बात है। सत्यनारायणजी का जीवन एक अपूर्ण आकांक्षा है, असमाप्त संगीत है, अधूरी आख्यायिका है, अधबनी कविता है। सत्यनारायणजी जैसे सज्जन, सुशील, सहृदय, सीधे-सादे, सच्चे और सदाचारी थे; वैसे ही हिंदी, हिंदू, हिंद के पूर्ण पुजारी भी। वह व्रज-भाषा के अनन्य आराधक थे। उनकी कविताओं में स्वाभाविकता के साथ-साथ सरलता एवं सरसता का सुंदर समावेश होता था। हमको दो बार उनके दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। दोनों बार लखनऊ में ही। पहली बार जब शायद वह पढ़ते ही थे, एडवोकेट के संपादक स्व० बा० गंगाप्रसादजी वर्मा के मकान पर मिले थे। साधारण परिचय में हमें यह मालूम हो गया कि उन्हें कविता करने का शौक़ है। उन्होंने कुछ रचना सुनाई भी थी। हमने भी उन्हें निज-कृत मेघदूत का पद्यानुवाद थोड़ा-सा सुनाया था। इस स्वल्प समय के सत्संग से ही हम दोनों परस्पर बहुत पहले के परिचित-से हो गए। दुबारा लखनऊवाले हिंदी-साहित्य-सम्मेलन में मिले थे। घंटों बातें करते रहे। उनकी सादगी, सात्त्विक प्रकृति, सौम्य आकृति, हँसमुख चेहरा उनके मित्रों को कभी भूल नहीं सकता। चतुर्वेदीजी ने अपने स्वर्गीय मित्र का यह जीवन-चरित बड़े परिश्रम और लगन के साथ सामग्री एकत्र करके लिखा है। लिखने का ढंग, क्रम, विषय-विन्यास और निष्पक्ष निरूपण की दृष्टि से यह जीवनी लेखकों के लिये आदर्श होने की योग्यता रखती है। चतुर्वेदीजी का यह हिंदी-माता के सेवकों की कीर्ति-रक्षा का प्रयत्न प्रशंसनीय एवं आदरणीय है। आप और कई प्राचीन हिंदी-लेखकों की जीवनियाँ लिखने का संकल्प कर चुके हैं। ईश्वर आपको इस सदुद्योग में सफलता दें। आशा है, स्व० सत्यनारायणजी की जीवनी का उचित आदर होगा। पुस्तक सस्ती पुस्तक-माला से निकली है और सचमुच सस्ती है।

× × ×

३. काव्य

सरस-सुमन—लेखक, ठाकुर गुरुभक्तसिंहजी "भक्त", बी० ए० एल्-एल्० बी०, बलिया; प्रकाशक बलिया-हिंदी-प्रचारिणी सभा; पृष्ठ ५० के लगभग; मूल्य ।); छपाई व काग़ज़ बढ़िया।

यह भक्तजी की कविताओं का संग्रह है। कविताएँ सब अच्छी और पुर-असर हैं। नवीन कवियों में भक्तजी का आसन अच्छे स्थान पर होना चाहिए। आपने जो वक्तव्य इसमें लिखा है, वह भी काम की चीज़ है। हम भक्तजी से किसी अच्छे काव्य की रचना की आशा रखते हैं।

× × ×

४. इतिहास

बंदी-जीवन (दूसरा भाग)—मूल-लेखक, श्रीशचींद्रनाथ सान्याल; अनुवादक का नाम नहीं दिया गया; प्रकाशक, हिंदी-भवन, हॉस्पिटल रोड, लाहौर; पृष्ठ २०० के लगभग; मूल्य १।=)

पथ-भ्रष्ट और राज-द्रोही के नाम से बदनाम देश के कुछ जोशीले युवकों ने सन् १६०४-०५ के स्वदेशी-आंदोलन के समय से लेकर अब तक, अपनी समझ और बुद्धि के अनुसार, "देश को स्वतंत्र बनाने और अत्याचारों से बचाने के लिये," जो कुछ काम किए हैं, उनका यथार्थ विवरण कदाचित् सरकार के जासूसी-विभाग को भी न

मालूम हो पाया था। उनकी कार्यावली के संबंध में सरकार की नियुक्त की हुई एक कमीशन की रिपोर्ट में बहुत कुछ लिखा गया है। पर वह सब सही नहीं है। इस पुस्तक के लेखक सान्याल बाबू ऐसे ही विप्लव-पंथी दल के एक आदमी हैं, और आपका ऐसे दलों के युवकों तथा उनके कार्यों से घनिष्ठ संबंध रह चुका है। इस समय भी आप काकोरी-डकैती केस में अभियुक्त हैं, और एक अन्य मामले में दंड भी पा चुके हैं। आपने बंदी-जीवन पुस्तक का पहला भाग पहले प्रकाशित किया था। उसका हिंदी-अनुवाद भी हुआ और बिका। अब उसी का यह दूसरा भाग हिंदी में अनुवादित होकर निकला है। बँगला के पत्रों में आपने धारा—वाहिक रूप से, इस विषय पर प्रकाश डालने तथा सच्ची बातें सबके आगे रखने के लिये, कुछ लेख लिखे थे। उन्हीं को परिवर्तित, परिमार्जित करके पुस्तक का रूप दे दिया गया है। यह पुस्तक पढ़ने से बहुत-सी बातों का ज्ञान होता है। देश के एक अंश-विशेष के मनोभावों का परिचय प्राप्त होता है। पुस्तक रोचक ढंग से लिखी गई है। हाथ से रखने को जी नहीं चाहता। इसकी व्यापक दृष्टि से समालोचना करने का समय अभी नहीं आया; क्योंकि यह इतिहास की दृष्टि से लिखी गई है, और इतिहास की आलोचना सम-कालीन समालोचक नहीं कर सकते। हम इतना ही कहेंगे कि पुस्तक पढ़ने योग्य है। ज्ञान बढ़ाने के लिये पुस्तक पाठ करनेवालों को इसकी एक प्रति अवश्य ख़रीदना चाहिए।

× × ×

५. जैन-धर्म के ग्रंथ

जैन-दर्शन और जैन तत्त्वज्ञान—ये दोनों निबंध श्रीमद्विजयेंद्रसूरिजी प्रणीत जैन-धर्म का संक्षेप परिचय प्राप्त कराने में उपयोगी हैं। दोनों ही को श्रीआत्मानंद जैन-ट्रैक्ट सोसायटी, अंबाला ने प्रकाशित किया है। पहला निबंध ट्रैक्ट नं० ८४ श्रीमद्दयानंद-शताब्दी पर मथुरा में, और दूसरा दी इंडियन फ़िलॉसफ़िकल कांग्रेस, कलकत्ता के प्रथम अधिवेशन में ता० २२-१२-२५ को पढ़ा गया था।

× × ×

यतींद्रमुखचपेटिका—जैन श्वेतांबर साधु को सफ़ेद वस्त्र धारण करना चाहिए या पीला, यह विवाद कुछ काल से चल रहा है। पब्लिक-प्रेस में ऐसा विवाद चलाने से धर्म को हानि पहुँचती है और समाज का गौरव कम होता है। और फिर "झूठ", "समस्तसंघ-बाह्य", "पिशाच पंडित", "मृषावादी", "मूर्ख", "विचारे" आदि असभ्य शब्दों का बारंबार अनावश्यक प्रयोग करने से पाठक के मन में पुस्तक से अरुचि हो जाती है।

× × ×

मूल्यवान मोती—वृद्धावस्था के पुरुषों का बालिकाओं के साथ विवाह होने से समाज में जो हानियाँ पहुँचती हैं, उनको दिखलाने के लिये बहुत-से प्रहसन, नाटक, और नाविल लिखे गए हैं। उन सबमें प्रायः यह दोष है कि बात को इतना बढ़ाकर लिखा गया है कि उसका प्रभाव ही उड़ जाता है। और लेखक के परिश्रम से समाज-सुधार में सहायता नहीं मिलती। ऐसी पुस्तकें केवल हँसने-हँसाने, दिल बहलाने के वास्ते पढ़ी जाती हैं। दिल पर चोट नहीं लगती। वही दोष इस पुस्तक में है। इस कल्पित-कथा के नायक नगीनलाल का चित्र ही वास्तविकता से कोसों दूर है, और इस विषय में लेखक के विचार, और शब्दों तथा वाक्यों के प्रयोग से खींचातानी स्पष्ट प्रकट है। "मोती-गौरी" का पत्र भी सच्चा फ़ोटो नहीं मालूम होता। मोती-गौरी की प्रार्थना और पद्यात्मक आर्तनाद साफ़ झूठी कल्पना है। ज़हर का प्याला आदि घटना भी ऐसी ही है। ऐसी पुस्तकें समाज-सुधार में सहायक नहीं हो सकतीं। साहित्यिक दृष्टि से भी हम पुस्तक की प्रशंसा नहीं कर सकते।

× × ×

जैन-धर्म के विषय में अजैन विद्वानों की सम्मतियाँ—यह एक अच्छा सम्मति-संग्रह है। यदि यह लिख दिया जाता कि जो वाक्य उद्धृत किए गए हैं, वह उल्लिखित पुस्तकों के किस पृष्ठ पर मिलेंगे? और वह पुस्तकें कब, और कहाँ की छपी हुई हैं, और कहाँ से मिल सकती हैं, या कहाँ देखी जा सकती हैं? तो विशेष लाभदायक होता।

× × ×

जैन-धर्म-प्रवेशिका—प्रथम भाग; लेखक श्रीसूरजभान वकील।

जैन-धर्म के सिद्धांत को, जीव, अजीव, कषाय, ज्ञान, श्रद्धान, आचरण, तत्त्व, सम्यक्त्व, ध्यान, तप, दश लक्षण-

धर्म, गुणस्थान, कर्मबंध आदि कठिन विषयों को सरल-भाषा में, व्यवहरित दृष्टांत दे-देकर जिस प्रकार लेखक ने समझाया है, वह परिश्रम अत्यंत सराहनीय और अनुकरणीय है।

अनेक दृष्टांत देकर लेखक कहते हैं कि "अगर यह संसारी जीव अपनी इच्छाओं और कषायों को लाचारियों से मन मसोसकर दबाने के स्थान में इनको एक प्रकार की बीमारी समझकर उनको दबावे, तो उसको आनंद आने लगे।" (पृष्ठ २१) "जिस प्रकार होशियार चाबुक-सवार दंगाई घोड़े को क़ाबू में लाता है, उसी तरह धर्मात्मा जीव धीरज के साथ कषायों से छुटकारा पाकर सदा के लिये अपना सच्चिदानंद और परमानंद-पद प्राप्त कर लेते हैं।"

पानीपत जैन-हाई-स्कूल में तो यह पुस्तक पठन-क्रम में रख ही दी गई है; किंतु समस्त प्राथमिक जैन-पाठशालाओं को यह पुस्तक अपने पठन क्रम में रखनी चाहिए, जैन-धर्म की जानकारी के वास्ते अजैनों को भी लाभप्रद है।

× × ×

श्राद्ध-गुण-विवरण—नवाँ भाग; रचयिता, श्रीजिन-मंडन गणि; अनुवादक, बाबू कृष्णलाल वर्मा।

इस नवें भाग में "अभिनिवेश त्याग" अर्थात् मिथ्या आग्रह छोड़ने, "गुणपक्षपात", "अदेश-अकाल-चर्या-त्याग", "स्वपर-बलाबल-विवेक", "व्रती ज्ञानवृद्ध-पूजा", "पोष्य-पोषण", "दूरदर्शिता", "विशेष ज्ञान", "कृतज्ञता" गुणों का विवरण कथा दे देकर सरल-भाषा में किया है। प्राथमिक शिक्षा रूप यह पुस्तक सबको लाभकारी हितोपदेशी है।

अजितप्रसाद

× × ×

६. फुटकल

रावणा-राजपूत-दर्शन—लेखक व प्रकाशक ठा० नारायणसिंह पँवार, किशनगढ़; मूल्य ||); "केवल स्वजाति-बंधुओं के लिये"। पृष्ठ-संख्या ५६

लेखक महाशय आल इंडिया रावणा राजपूत-महासभा के महामंत्री हैं। इसलिये आपकी पुस्तक से रावणा-राजपूतों के विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करने आशा थी। परंतु लेखक महाशय ने इधर-उधर से स्वजाति-बंधुओं पर किए गए आक्षेपों के उद्धृत करने तथा उन आक्षेपों के उत्तर देने के लिये २०००) की अपील करने के अलावा और कुछ कृपा नहीं की है। शोक है कि राजपूतों में अब भी दास प्रथा प्रचलित है, और रावणा-राजपूत, जिन्हें साधारणतः गोला कहते हैं, दासी-कर्म करते हैं। आक्षेपों के उत्तर देने से ही यदि इस जाति का उद्धार हो सके, तो शौक़ से उत्तर दीजिए। यदि मर्दुमशुमारी की अगली रिपोर्ट में इस जाति के प्रति अपमान-सूचक विचारों के प्रकट न किए जाने से ही उद्धार होता हो, तो प्रयत्न कीजिए। परंतु हमारी समझ में तो उद्धार तभी हो सकता है, जब इस जाति में शिक्षा-प्रचार हो। और जब अधिकतर रावणा-राजपूत भाई अपनी मान-मर्यादा की रक्षा स्वयं कर सकें। कुलीन राजपूतों को भी इस ज्ञान की आवश्यकता है कि उनके समाज में रावणा-राजपूतों की दासवृत्ति उनके आत्मिक बल को हानि पहुँचाती है; परंतु रावणा-राजपूतों का उनसे आशा रखना व्यर्थ है। अपने पैरों के बल खड़े होने से ही उनका उद्धार है।

× × ×

मारवाड़ का संक्षेप वृत्तांत—लेखक, श्रीयुत जगदीशसिंह गहलोत; प्रकाशक व मुद्रक, पं० जीवालाल द्विवेदी, संपादक "कृषी-सुधार", मैनपुरी; पृष्ठ-संख्या ८७; मूल्य ||=)

पुस्तक का विषय तो बहुत मनोरंजक होना चाहिए था, परंतु छपाई साधारण है, और शैली भी। कई जगह भूलें हैं। यथा "संक्षेप वृत्तांत", "कृषी", "स्कूलें", "लिपी", जहाँ मारवाड़ का इतना वृत्तांत लिखा था, वहाँ एक नक़्शे की भी आवश्यकता थी। परंतु लेखक महाशय नक़्शा देना भूल गए हैं। मारवाड़ की सैर करनेवालों के काम की पुस्तक है।

× × ×

भारतीय नरेश—लेखक, श्रीजगदीशसिंह गहलोत; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-मंदिर, घंटाघर, जोधपुर; पृष्ठ-संख्या १३८; मूल्य १|)

भूमिका-लेखक देहली के आयुर्वेदाचार्य श्रीचतरसेन शास्त्री हैं। आपने देशी-राजाओं की विलायत-यात्राओं पर टीका-टिप्पणी की है, और उन्हें अपना धर्म पालन करने के लिये आदेश दिया है। हम समझे कि भारतीय नरेशों की शासन-प्रणालियों पर आलोचना मिलेगी। परंतु लेखक महाशय ने इसी मेल की दो-चार बातें लिखकर शासकों की

एक लंबी तालिका दी है। उनके नाम, जाति, जन्म-काल, राज-तिलक, विस्तार-राज्य, जन-संख्या, आमदनी और तोपों की सलामी। फिर स्वाधीन राज्यों का विवरण है, वैदेशिक राज्यों की तालिका है, संधियों की सूची है, और शाही घोषणाओं से देशी-राज्यों के प्रति वाक्य उद्धृत किए गए हैं।

इस मेल की पुस्तकें बड़े काम की हों यदि वे प्रतिवर्ष छपा करें। प्रस्तुत पुस्तक सं० १६८० में छपी। तब से अब तक बहुत कुछ परिवर्तन हो चुका है। इस विचार से इस पुस्तक में दी हुई सूचनाओं से धोखा खाने की संभावना है।

एक बात और खटकती है। लेखक महाशय ने किसी अँगरेज़ी पुस्तक से अपनी तालिकाएँ उद्धृत की हैं। इस ऋण का स्वीकार करना भी आवश्यक था।

× × ×

पृथ्वीराज रासो (प्रथम और द्वितीय भाग)—टीकाकार साहित्योपाध्याय पं० मथुराप्रसाद दीक्षित; प्रकाशक, साहित्य-प्रकाशक-मंडल, लाहौर; पृष्ठ-संख्या ११०; मूल्य ॥)

जहाँ तक याद आता है हिंदी के आदिकवि चंदबरदाई-कृत पृथ्वीराजरासो का प्रथम शोधित संस्करण स्वर्गीय श्रीमोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के उद्योग से काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है। तब से टीका-सहित हमारे सामने एक यही पुस्तक आई है। इसमें रासो के प्रथम दो भागों की ही मूल-सहित टीका की गई है। डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के अध्यापक राजाराम ने विशेष सूचना लिखकर टीकाकार की योग्यता की प्रशंसा तो अवश्य की है; परंतु न भूमिका-लेखक ने और न टीकाकार महाशय ने यह कहीं बताने की कृपा की है कि वे उपर्युक्त पृथ्वीराजरासो के कहाँ तक ऋणी हैं। एक बात और है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है। इसलिये यह भी आवश्यक था कि चंदबरदाई का परिचय तथा उसकी शैली और भाषा की आलोचना-सहित एक ब्योप भूमिका देते। परंतु ऐसा न करने से पुस्तक की उपयोगिता बहुत-कुछ घट गई है। आशा है, अगले संस्करण में आप इस बात पर विचार रक्खेंगे।

कालिदास कपूर

× × ×

मिथिला-गीतांजलि अर्थात् 'मिथिला-भाषा में जातीय गीत-संग्रह'—भागलपुर जिलांतगत मुरहो ग्राम-निवासी श्रीयदुनाथ झा 'यदुवर' द्वारा संगृहीत, संपादित तथा प्रकाशित; मूल्य ।≶); पुस्तक मिलने के पते—श्रीयदुनाथ झा 'यदुवर' मुरहो, पो० मधेपुरा, जिला भागलपुर तथा पं० श्रीछेदी झा, बनगाँव, पो० बारयाही, जिला भागलपुर।

मैथिली-भाषा अत्यंत प्राचीन भाषा है और हिंदी-भाषा के विकास में उसका भाग भी कम नहीं है। अभी तक हिंदी-संसार प्रायः इस भाषा के रसास्वाद से वंचित ही रहता था। परंतु हर्ष का विषय है कि अब शनैः-शनैः विद्यापति-पदावली आदि के प्रकाशित हो जाने के कारण हिंदीवाले भी मैथिली की महत्ता से परिचित होते जाते हैं। मैथिली-भाषा में प्राचीन साहित्य भी प्रचुर परिमाण में मिलता है। परंतु जो लोग धनी हैं उनका ध्यान इस साहित्य के प्रकाशन की ओर जाता नहीं। साहित्य-सेवियों के पास इतनी सामग्री नहीं कि आर्थिक कष्ट सहकर प्रकाशन-कार्य का भार भी अपने ऊपर लें। यही कारण है कि मैथिली-साहित्य का प्रचार पर्याप्त रूप से नहीं हो रहा है। यत्र तत्र कुछ उत्साही जन अवश्य मिलते हैं जो अपना सर्वस्व साहित्य-सेवा के अर्पण कर रहे हैं और इसीलिये अब कुछ-कुछ मैथिली-साहित्य की चर्चा भी बाहर सुन पड़ने लगी है। कविवर 'यदुवर' इसी प्रकार के साहित्यानुरागी हैं। साहित्य-सेवा के लिये ही इन्होंने अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया है। आप कवि तो उच्च कोटि के हैं ही, आप लेखक भी अच्छे हैं। अब आपने उक्त पुस्तक का प्रकाशन भी अपने व्यय से कर डाला है। क्या पाठकों के लिये यह कोई कठिन बात होगी कि इतने अल्प मूल्य की पुस्तक पर्याप्त संख्या में खरीदकर मैथिली-साहित्य के प्रसार में सहायक हों जिससे अन्यान्य सज्जन भी उपयोगी पुस्तकों के प्रकाशन करने में उत्साहित हों। पुस्तक में प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों की स्फुट कविताओं का संग्रह है। संपादक महाशय स्वयं सुकवि हैं, अतः स्वभावतः इस संग्रह में इनकी भी चुनी हुई कविताएँ संगृहीत हैं। इन्हें पढ़ने से बालकों के हृदय में देश-प्रेम, जाति-प्रेम और भाषा-प्रेम अवश्य जाग्रत् होगा। हम हृदय से चाहते हैं कि इस प्रकार की पुस्तकों का प्रचुर प्रचार हो। 'यदुवरजी' के दो गीत पाठकों के विनोदार्थ हम उद्धृत करते हैं, इससे पाठकों को पता चल सकेगा कि इनके पद कितने ललित और भाव कितने

च्च कोटि के होते हैं। रामायण आदि अनेक काव्यों के रचयिता कविवर चंदा झा के गीतों में से भी कुछ संग्रह किए हैं। अन्यान्य प्रतिभा-संपन्न कवियों के गीत भी संगृहीत हैं। परंतु स्थानाभाव के कारण उनकी बानगी देना संभव नहीं। पाठकगण पुस्तक में ही देखें—

(१)

देश अथवा बिहाग

जय जय जन्मभूमि शुचि धाम। ध्रु०।
जय स्वर्गहु सँ परम रम्य छवि, अतिप्रिय सुखद ललाम।
मन मोहिनि मनमोद प्रदायिनि मंगलमयि अभिराम ॥१॥
सुधा समान अन्न ओ जल फल पय देनिहारि अकाम।
कामधेनु सुरतरु जननी मम, लेथि विदेहिहुँ नाम ॥२॥
मलय समीर त्रिविध बह नितदिन आनँद कर अनुयाम।
हृष्ट पुष्ट नरनारि मगन मन देखि पदथि सब ठाम ॥३॥
निज निज धर्म निरत सब जन जत, पंडित प्रेमिनि बाम।
सरल हृदय ज्ञानी उदार पुनि ईशभक्त निःकाम ॥४॥
जप तप मख आचार विप्र रत ध्वनि कर चहु यजु साम।
कतहु पुराण कतहु हरिचर्चा शास्त्रमनन अविराम ॥५॥
शुभ दुर्गा कमला विमला ओ, वाणी मिथिलाधाम।
'यदुवर' शांतिसदन भारत में, के कहि सक गुणग्राम ॥६॥

(२)

मोहन ! पुनि मुख मुरली बजाऊ।
पुनि झट लै अवतार अपन सब लीला ललित दिखाऊ॥
अनाचार ओ फूट आदि कैं प्रभु अतिवेगि नसाऊ।
अरु गीता क सुधारस सँ पुनि देश सजीव बनाऊ॥
पुनि एहि दीन भूमि गो द्विज कैं, दुख हरि, हरि अपनाऊ।
विनसि दुष्टदल 'यदुवर' कृपया, शांति समृद्धि बढ़ाऊ॥

तिरहुत-प्रांत में तो कम-से-कम, यह पुस्तक पाठ्य-पुस्तकों में नियत होनी चाहिए। आशा है, बिहार-प्रांत के शिक्षा-विभाग के अधिकारी लोग ऐसी-ऐसी सुंदर पुस्तकों का प्रचार कर छात्रवर्ग को लाभान्वित करने की उदारता अवश्य दिखावेंगे। इसका यह भी फल होगा कि अन्यान्य प्रकाशकगण भी प्रोत्साहित होकर, मिथिला-भाषा के छिपे हुए रत्नों को प्रकाश में लाने के लिये बद्धपरिकर होंगे।

× × ×

ईशावास्योपनिषद्—मंत्र, अन्वय, मंत्रार्थ, शांकर-भाष्य, भाष्यानुवाद और उपनिषद्-बोधिनी टीका-सहित ; भारत-धर्म सिंडिकेट लिमिटेड के शास्त्र-प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित ; मिलने का पता—निगमागम बुकडिपो, भारत-धर्म सिंडिकेट लिमिटेड, स्टेशन रोड, बनारस सिटी ; मूल्य ॥=)

उपनिषदों में आध्यात्मिक ज्ञान ओतप्रोत भरा हुआ है। यथार्थ में उपनिषद् भारत की परम गौरवान्वित निधि है। परंतु संस्कृत में होने कारण वह सर्व-साधारण के लिये सुलभ नहीं है। इसलिये योग्य पंडितों के द्वारा उसका सरल भाषानुवाद सर्वथा अपेक्षणीय है। भारत-धर्म-महामंडल का यह प्रयत्न सर्वथा स्तुत्य है। जो लोग संस्कृत कम जानते हैं अथवा बिलकुल नहीं जानते, वे भी इस पुस्तक के द्वारा इस उपनिषद् का मर्म हृदयंगम कर सकेंगे। पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय है।

× × ×

अन्नपूर्णाजी की सवारी—लेखक तथा प्रकाशक, गो० शिवनाथपुरीजी, महंत श्रीअन्नपूर्णा-मंदिर, काशी ; केवल वितरणार्थ।

काशी के 'आज' पत्र में किसी सज्जन ने श्रीअन्नपूर्णाजी की सवारी के संबंध में कुछ आक्षेप किए थे, उन्हीं आक्षेपों का समाधान इस पुस्तक में किया गया है। साथ ही सनातन-धर्म के अनेक ज्ञातव्य अंगों पर इसमें प्रकाश डाला गया है। पुस्तक परिश्रम के साथ लिखी गई है और पढ़ने योग्य है।

× × ×

श्रीजपुजी साहिब (सटीक)—टीकाकार, श्रीमान् प्रोफ़ेसर तेजासिंहजी एम्० ए० ; अनुवादक, गुरांदित्ता खन्ना ; प्रकाशक, मंत्री स्थानिक कमेटी श्रीदरबार साहिब, अमृतसर ; मूल्य ।॥)

श्रीगुरुनानकदेवजी की दिव्यवाणी 'श्रीजपुजी साहिब' अत्यंत दिव्य भावों का संग्रह है। ये भाव न केवल सिख-संप्रदाय ही के लिये हितकर तथा मान्य हैं प्रत्युत हिंदु-मात्र के लिये सम्मान और गौरव की सामग्री हैं। इनका प्रचार जितना अधिक हो, उतना ही कल्याण होगा। प्रस्तुत पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय, मनन योग्य एवं आदरणीय है। आशा है, इस पुस्तक का अवश्य प्रचार होगा। इसके द्वारा हिंदुओं का विशेष कल्याण होना संभव है।

× × ×

सुंदरी
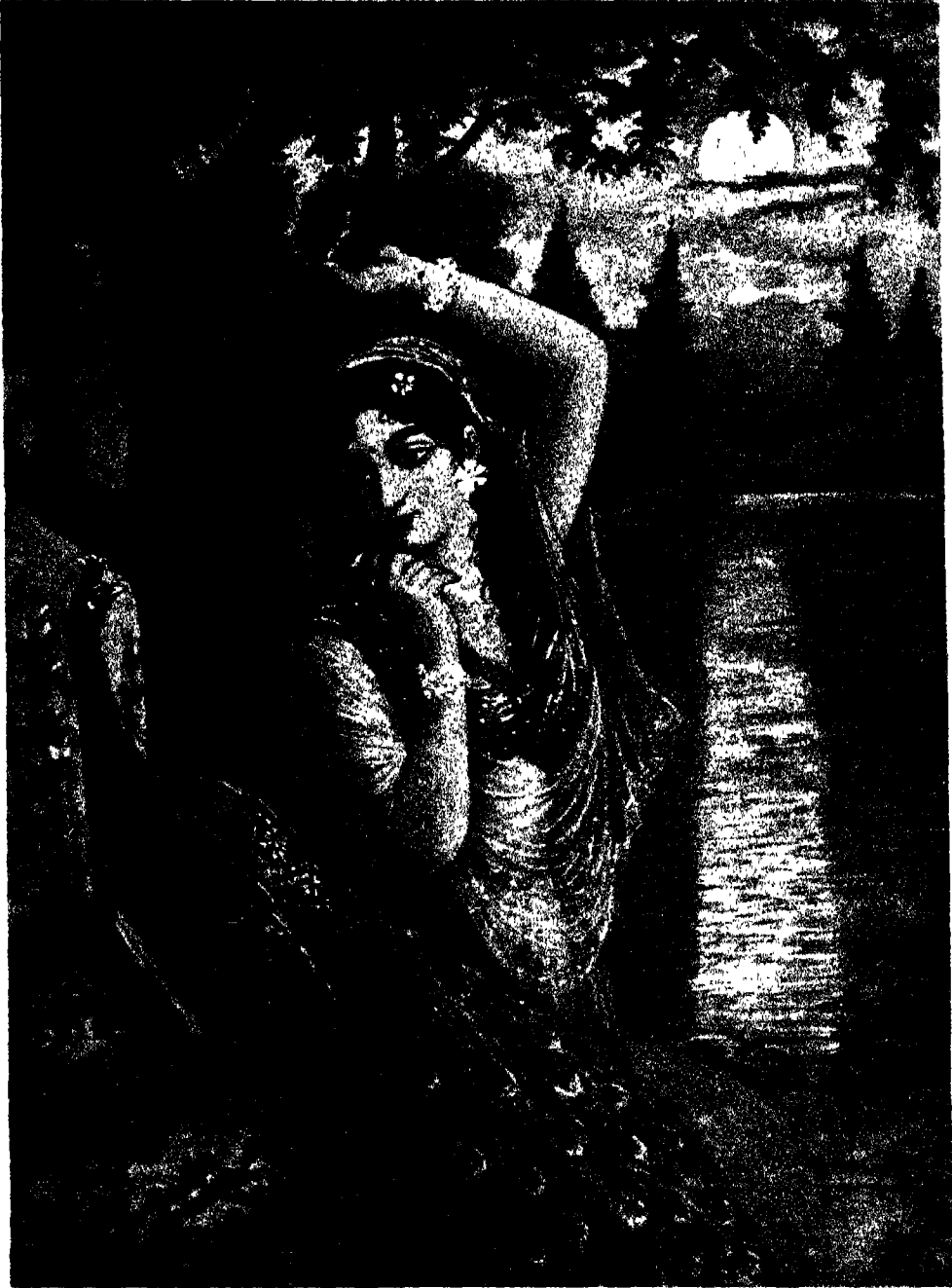
[श्रीयुत दुलारेलाल भार्गव की चित्रशाला से]

सोभित तरु-साखा गहे, प्रेम-भाव संलग्न ;
बाट बिलोकति सुंदरी, पिय की चिंता-मग्न ।

" पद्म "

N. K. Press, Lucknow.

७. प्राप्ति-स्वीकार

श्रद्धानंद-कैलेंडर, १९२७—मूल्य ।|) और डाकव्यय ||)

कैलेंडर बहुत सुंदर है। बीच में स्वामी श्रद्धानंदजी का रंगीन भव्य चित्र है। नीचे स्वामीजी के जीवन की घटनाओं से संबंध रखनेवाले तथा अंतिम समय की घटनाओं के १०-११ चित्र और भी हैं।

डॉक्टर एस० के० बर्मन का कैलेंडर—यह भी सुंदर है। वीणा-वादिनी का रंगीन चित्र दर्शनीय है।

डा० एस० पाल नी का डायरी—यह डायरी बहुत वर्षों से निकलती है, और बहुत प्रसिद्ध है। जानने योग्य ज़रूरी बातें प्रायः सभी दे दी गई हैं। प्रति पृष्ठ में किसी-न-किसी रोग की दवा का नुस्ख़ा छपा है। काग़ज़ बढ़िया है।

बंबई के वेंकटेश्वर-प्रेस की डायरी—दाम ||)

यह भी उपयोगी और सुंदर है।

इन सब वस्तुओं के प्रेषकों को धन्यवाद।

इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुभीते के लिये प्रतिमास नई-नई उत्तमोत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे-लिखी अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुईं—

(१) 'पवित्र-पापी' (एक रूसी उपन्यास का अनुवाद)। अनुवादक, पं० ब्रजकृष्ण गुर्टू बी० ए० एल्-एल्० बी० और कविराज विद्याधर विद्यालंकार : संपादक, पं० दुलारेलालजी भार्गव : मूल्य २॥) स० ३)

(२) 'भारतीय अर्थशास्त्र' (द्वितीय भाग)। लेखक, भूत-पूर्व 'प्रेम'-संपादक बाबू भगवानदासजी केला : मूल्य १), १॥)

(३) 'मिस्टर व्यास की कथा' (हास्य-रस की अपूर्व पुस्तक)। लेखक, 'आनंद'-संपादक पं० शिवनाथ शर्मा : मूल्य ३)

(४) 'शिवाजी' (जीवन-चरित्र)। लेखक, देश-भक्त लाला लाजपतराय : मूल्य १)

(५) 'भारतवर्ष का इतिहास।' लेखक, पंडित रामावतार शर्मा बी० ए० (ऑनर्स), विशारद ; मूल्य १॥।)

(६) 'दुमदार आदमी' (द्वितीयावृत्ति)। प्रहसनों का संग्रह; लेखक, जी० पी० श्रीवास्तव ; मूल्य १॥)

(७) 'पश्चिमी योरप' (अँगरेज़ी पुस्तक हिस्ट्री आफ़ वेस्टर्न योरप का अनुवाद)। अनुवादक, पं० छविनाथजी पांडेय बी० ए० एल्-एल्० बी०: मूल्य २॥।)

(८) 'प्रेमिका' (मिस मेरी करेली के थेल्मा ग्रंथ का मर्मानुवाद)। अनुवादक, पं० ईश्वरीप्रसादजी शर्मा, संपादक हिंदू-पंच ; मूल्य २॥)

(९) 'सुमनोंजलि', प्रथम खंड (धर्मालोचना कुसुमावली)। लेखक, पं० श्यामविहारी मिश्र तथा शुकदेव विहारी मिश्र : मूल्य २)

(१०) 'सचित्र बाल शिक्षा' (दो भाग)। संपादक, ज्योतिप्रसादजी 'निर्मल' : मूल्य प्र० भा० ।) द्वि० भा० ।-)

(११) 'धर्म-शिक्षा' (धर्मनीति का अपूर्व ग्रंथ)। लेखक, लक्ष्मीधरजी वाजपेयी ; मूल्य १)

(१२) 'गार्हस्थ्य शास्त्र' (Domestic Ecomy)। लेखक, लक्ष्मीधरजी वाजपेयी ; मूल्य १)

१. परिवर्तन

सार परिवर्तनशील है। प्रकृति में, जगत् में, कण-कण में, प्रत्येक क्षण परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन ही से विकास होता है। इसी नियम के अनुसार आज 'माधुरी' के संपादकीय विभाग में भी परिवर्तन हो रहा है। जिन लोगों ने उसे जन्म दिया, पाला-पोसा, उनकी आज आवश्यकता नहीं रही। उनकी जगह अन्य सज्जन आकर माधुरी की उन्नति और विकास का प्रयत्न करेंगे। हम उनका सहर्ष और सादर इस क्षेत्र में स्वागत करते हैं। हमारा लक्ष्य केवल यही रहा है, और अब भी है कि माधुरी की दिन-दिन उन्नति हो। ऐसा होने ही में हमें संतोष होगा। अब माधुरी जिनके हाथों से सुसंपादित होकर निकलेगी, वह भी सुयोग्य और विद्वान् पुरुष हैं। अब तक वे अपनी कहानियों और समालोचनाओं से माधुरी के पाठकों का मनोरंजन करते रहे हैं। हमारी ईश्वर से यही प्रार्थना है कि माधुरी की दिन-दिन उन्नति होती रहे। अंत में हम पत्र के स्वामी श्रीयुत विष्णुनारायण भार्गवजी के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं, जिनके उत्साह के कारण हमें इतने दिनों तक माधुरी के द्वारा हिंदी-प्रेमियों की सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। तदनंतर हम अपने कृपालु लेखकों और सुकवियों की सेवा में भी कृतज्ञता प्रकट करना अपना प्रधान कर्तव्य समझते हैं। उन्हीं की कृपा और परिश्रम का यह फल है कि माधुरी इस गौरव को प्राप्त कर सकी। इसी सिलसिले में अपने सहयोगी संपादकों की कृपा भी हम नहीं भूल सकते। उन्होंने आरंभ से ही हमें जैसे करावलंब दिया, उसके लिये हम उनके चिर-ऋणी रहेंगे। हम अपने कृपालु पाठकों, अनुग्राहक-ग्राहकों और अनुकूल या प्रतिकूल समालोचकों के भी कृतज्ञ हैं, और अब तक जाने या बिना जाने हमसे जो कुछ त्रुटि बन पड़ी हो, उसके लिये उनके निकट क्षमा-प्रार्थी हैं। इस समय तो हम समस्त लेखकों, कवियों, सहयोगियों, पाठकों, ग्राहकों और समालोचकों से बिदा होते हैं; पर हमें आशा है, हम फिर शीघ्र ही उनकी सेवा में और भी अधिक उत्साह लेकर उपस्थित होंगे। तथास्तु।

× × ×

२. सर्वनाम शब्दों में विभक्तियाँ मिलाकर लिखने में एक आपत्ति

भरतपुर के श्रीयुत भानुसिंहजी बाघेल लिखते हैं—

यद्यपि विभक्तियों को अलग और मिलाकर लिखने का झगड़ा हिंदी में अभी बना ही है—कोई एक बात सर्व-मान्य नहीं हो पाई—पर प्रायः दोनों प्रकार की लेखन-प्रणाली वर्तमान समय में चल पड़ी है। कलकत्ता, बंबई एवं मध्यप्रदेशवाले प्रायः प्रकृति और विभक्ति मिलाकर ही

लिखते हैं, और संयुक्तप्रांत एवं विहारवाले अलग ही लिखते हैं ; किंतु पिछले लेखक भी सर्वनाम शब्दों में विभक्ति मिलाकर ही लिखते हैं। इससे अधिकांश सम्मति प्रकृति और विभक्ति मिलाकर ही लिखने की ओर निश्चित होती है। किंतु आजकल, जब लेखन-प्रणाली में सुस्पष्टता के लिये अनेक प्रकार के संकेतों की सृष्टि हो रही है, प्रकृति और विभक्ति अलग-अलग लिखने में ही हमें स्पष्टता देख पड़ती है। उदाहरणार्थ मिलाकर लिखनेवालों के लेख में 'भूमिका' जैसे शब्द अस्पष्ट ही लिखे जाते हैं; क्योंकि "भूमिका (दीबाचह)" और "भूमिका (पृथ्वी का)" वे एक ही प्रकार लिखेंगे। इसी प्रकार सर्वनाम शब्दों में भी एक आपत्ति आती है। यदि कभी 'उन्हों' और 'उस' आदि सर्वनाम शब्दों के आगे स्पष्टता के लिये ब्रैकट के भीतर मूल (संज्ञा शब्दों को भी लिखकर 'ने' आदि विभक्ति लगाने की आवश्यकता पड़े, तो विभक्ति को अलग ही करना पड़ेगा। जैसे "उन्हों (यज्ञदत्त) ने" और "उस (रामदत्त) का" इत्यादि। इसलिये हमारी समझ में सर्वनाम शब्दों से भी विभक्तियाँ अलग ही लिखना इस समय की लेखन-प्रणाली के लिये उपयुक्त है।

हम इस विषय में अपनी सम्मति प्रकट करने के लिये हिंदी के आचार्य लेखकों से प्रार्थना करते हैं।

× × ×

३. रायबहादुर बटुकप्रसादजी खत्री

काशी के रईस स्वनामधन्य रायबहादुर बटुकप्रसादजी खत्री उन सज्जनों में हैं, जिन्होंने अपने बाहुबल से ही अपनी उन्नति करने का श्रेय प्राप्त किया है। आप जैसे लक्ष्मी के कृपा-पात्र हैं, वैसे ही सरस्वती के भी वर-पुत्र। आप बड़े ही मिलनसार और सज्जन हैं। आप हिंदी के अनन्य भक्त और काव्य-मोदी हैं। आपका मान राज-दरबार में जितना है, उससे कहीं अधिक आप प्रजा के प्रेम-पात्र हैं। आप अपने धन का सदुपयोग सदा लोकोपकारी कार्यों में करते रहते हैं। आपके लोकोपयोगी कार्यों में से कुछ का उल्लेख यहाँ पर किया जाता है। आप काशी में संस्कृत पढ़नेवाले निर्धन छात्रों के लिये २५ वर्ष से अन्न-सत्र खोले हुए हैं। दो घर धर्मशाला के तौर पर छात्रों के रहने के लिये उसमें अलग कर रक्खे हैं। यहाँ ८ लड़कों को मुफ़्त भोजन दिया जाता है। २० वर्ष हुए, आपने काशी के मणिकर्णिका-घाट के एक अंश की मरम्मत कराई थी, जिसमें २०,००० रुपए ख़र्च हुए थे। यह काम आपने अपने पिता श्रीयुत गोकुलचंद्र के स्मारक रूप में किया। पुराने और पवित्र पिशाचमोचन तालाब के मरम्मत और सुधार के लिये जो कमेटी बनी थी, उसके आप प्रेसीडेंट थे। आपने इस काम के लिये

राय बटुकप्रसाद बहादुर खत्री

जनता से ४०,००० रुपए चंदा इकट्ठा कर उक्त स्थान की पूरी मरम्मत करा दी। आप बनारस म्युनिसिपल बोर्ड के २० वर्ष तक बराबर सरकार के चुने हुए मेंबर रहे। मच्छोदरी में जनता के लिये आपने एक बाग़ बनवाया, और अपने पिता का स्मारक बनाकर उसका नाम गोकुलचंद्र मेमोरियल पार्क रक्खा। महायुद्ध के समय आपने सरकार की धन-जन से सहायता की। बनारस में यात्रियों के सुभीते के लिये आपने डार्विन पिलग्रिम ट्रस्ट क़ायम किया। इसके लिये ४०००) के सरकारी प्रामिसरी नोट भी अर्पण किए। इस समय जनता का चंदा मिलाकर इस ट्रस्ट के पास ३४०००) रुपए की रक़म है। आपने हिंदी में सर्वश्रेष्ठ नाटक-लेखक को २००) रुपए नक़द और एक स्वर्ण-पदक देने का प्रबंध कर दिया है, जो हर तीसरे वर्ष काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा की देख-रेख में दिए जाते हैं। आपने अपने नाम से काशी में एक इंडस्ट्रियल ट्रस्ट भी क़ायम किया है, और उसमें एक लाख रुपए दिए हैं। महल्ला मुँड़िया (काशी) में स्वर्गा-सारस्वत-विद्यालय के लिये एक बहुत बड़ा मकान देकर उसमें उक्त विद्यालय स्थापित किया है। आपने बनारस डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को समाईपुर और नटियाँ नाम के गाँवों में प्राइमरी स्कूल खोलने के लिये मुफ़्त ज़मीन, रुपए और ज़रूरी सामान भी दिए हैं। कहाँ तक गिनावें, आप इसी तरह लोकोपयोगी कामों में बराबर अपने धन का सदुपयोग करते रहते हैं। आपके पास जाकर कोई भी प्रार्थी विमुख नहीं होता। योग्य का सम्मान करना भी आप ख़ूब जानते हैं। आप काशी के प्रसिद्ध रईस हैं। ईश्वर आपको चिरायु करे। आपकी दानशीलता वास्तव में धनाढ्यों के लिये अनुकरणीय है।

× × ×

८. कवि-विनोद पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्यभूषण

देश के उत्थान तथा राष्ट्र की समुन्नति के लिये जहाँ बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों, प्रकांड साहित्य-महारथियों और धुरंधर दर्शनाचार्यों की अपेक्षा होती है, वहाँ आदर्श-धन-कुबेरों, और लक्ष्मी के वर-पुत्रों की कुछ कम ज़रूरत नहीं होती। बल्कि यह कहना अयथार्थ न होगा कि इस युग में सरस्वती की अपेक्षा लक्ष्मी का ही आदर अधिक है। विद्या तथा कला-कौशल की उन्नति भी तो बिना धन के नहीं हो सकती। केवल दर्शनाचार्यों और साहित्याचार्यों के बल-बूते पर किसी देश का समुत्थान नहीं हो सकता। यही कारण है कि सुसभ्य व सुशिक्षित पाश्चात्य देशवासी जहाँ अपने देश के धुरंधर विद्वानों पर गर्व करते हैं, वहाँ लक्ष्मी के वर-पुत्रों के लिये उनके हृदय में कुछ कम आदर-बुद्धि नहीं होती। योरप और अमेरिका में तो ऐसे लोगों के जीवन-वृत्तांत, जो अपने बाहु-बल से धनोपार्जन कर साधारण स्थिति से उठकर अच्छे प्रतिष्ठित पद पर पहुँच गए हैं, समाचार-पत्रों तथा मासिक-पुस्तकों में बड़े गौरव के साथ प्रकाशित किए जाते हैं, और पाठक भी उन्हें बड़े चाव से पढ़ते और उनसे शिक्षा ग्रहण करते हैं। अतः आज हम भी एतद्देशीय एक ऐसे पुरुष-रत्न का जीवन-वृत्तांत पाठकों को भेंट करते हैं, जो एक साधारण स्थिति से उठकर अपने बाहु-बल से इतना प्रतिष्ठित बन गया कि देश भर में उसकी ख्याति फैल रही है। आप लाहौर के प्रसिद्ध वैद्य, अमृत-धारा के आविष्कारकर्ता पंडित ठाकुरदत्तजी शर्मा वैद्य हैं।

पंडित ठाकुरदत्तजी का जन्म सन् १८८० ई० में ज़िला अमृतसर के ग्राम फ़तेहवाला में, ब्राह्मण-कुल में, हुआ। पहले आपका कुल बहुत संपन्न था; किंतु भाग्य के फेर से उसकी पहली-सी उन्नतावस्था न रह गई, और आपके प्रपितामह के समय से आपके कुल की आर्थिक दृष्टि से बड़ी हीनावस्था हो गई। आपके पितामह पं० संतरामजी ने अपने परिश्रम और उद्योग से एक बार फिर इस कुल को सँभाल लिया। आप बड़े ही धर्मनिष्ठ और ईमानदार थे।

ठाकुरदत्तजी की अवस्था जब पढ़ने-योग्य हुई, तो आपको गाँव के पास बलड़वाल के एक प्राइमरी स्कूल में भर्ती किया गया। वहाँ इन्होंने चौथी श्रेणी तक शिक्षा पाई। माता-पिता की इच्छा अब आगे पढ़ाने की न थी, किंतु बालक ठाकुरदत्त की विद्या-पिपासा अभी शांत नहीं हुई थी। उनकी इच्छा अधिक विद्योपार्जन करने की थी। एक दिन चुपके से घर से निकलकर अमृतसर पहुँचकर आप ख़ालसा स्कूल में प्रविष्ट हो गए। कुछ ही दिनों बाद, पता लगने पर, घर के लोग आकर फिर इन्हें घर वापस ले गए, लेकिन ठाकुरदत्त इससे हताश न हुए। आप पढ़ने का अवसर फिर ढूँढ़ने लगे, और एक दिन वह सुयोग हाथ आ ही गया। एक दिन इनके पिताजी ने उन्हें अपनी बड़ी बहन को लाने के लिये जंडयाला भेजा। वहाँ से फिर कौन लौटता है? वहीं एक

कविविनोद पं० ठाकुरदत्त शर्मा

अँगरेज़ी स्कूल में आप भर्ती हो गए। लेकिन दुर्भाग्य से वह स्कूल शीघ्र ही टूट गया, और आपको फिर अमृतसर लौटकर हिंदू-सभा हाई स्कूल में भर्ती होना पड़ा। आपके इस विद्यानुराग को देखकर अब पिताजी ने भी ख़र्च भेजना आरंभ कर दिया, और अंत में वहाँ से इंट्रेंस की परीक्षा अच्छे नम्बरों से पास करके १०) मासिक की सरकारी छात्र-वृत्ति प्राप्त की। फिर लाहौर में आकर एक वर्ष तक एफ़० ए० क्लास में पढ़ते रहे। लेकिन आरंभ से ही चिकित्सा-शास्त्र की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने से शिक्षा का क्रम अधिक न चल सका। स्कूल में पढ़ते समय बोर्डिंग के सामने एक हकीम साहब के पास जाकर आप बैठते और उनसे सीखते। बोर्डिंग के पीछेवाले मैदान में भस्म बनाते। स्कूल में जब छुट्टियाँ होतीं, तो सब विद्यार्थी घर आकर आनंद मनाते; लेकिन ठाकुरदत्त उपले ढूँढते फिरते, और भस्म बनाते। यद्यपि माता-पिता उनके इस कार्य से अप्रसन्न होते, किंतु उनकी सुनता ही कौन है? आपने कॉलेज की पढ़ाई छोड़कर पहले बाबा विष्णुदास से वैद्यक-शास्त्र पढ़ा, और फिर ऊ राजवैद्य पं० जगतरामजी से वैद्यक के गूढ़ तत्त्वों को समझा, और रात-दिन घोर परिश्रम करके, वैद्यक-ग्रंथों के स्वाध्याय द्वारा अपनी योग्यता ख़ूब बढ़ा ली।

कॉलेज छोड़ने के बाद आपने अपने पिता के सम्मुख वैद्यक का प्रस्ताव रक्खा, और उनसे लाहौर में दूकान खोलने के लिये धन माँगा; परंतु पिताजी ने साफ़ जवाब दे दिया। कहा, सैकड़ों वैद्य-हकीम मारे-मारे फिर रहे हैं, इसलिये हम इस कार्य में धन बहाने के लिये तैयार नहीं हैं। उन्होंने ठाकुरदत्तजी को नौकरी करने का परामर्श दिया। कहा, पहले तुम नहर के पटवारी हो जाओ, फिर धीरे-धीरे कोशिश करके ज़िलेदार बनवा देंगे। लेकिन पंडितजी इसमें सहमत न हुए। जब पिताजी से कोई सहायता पाने की आशा न रही, तो आपने अपने पैरों खड़े होने का दृढ़ निश्चय कर लिया, और लाहौर चल दिए।

लाहौर में आकर निर्वाह के लिये कोई साधन ढूँढना आवश्यक था। अतः पहले आपने १५) मासिक पर रेलवे के दफ़्तर में नौकरी कर ली, और साथ ही एक छोटा-सा मकान किराए पर लेकर वैद्यक का कार्य भी आरंभ कर दिया। दिन को नौकरी करते और सुबह-शाम स्वयं ही अपने हाथों दवाई कूटते, छानते, और औषधालय का काम देखते। धीरे-धीरे इस कार्य में इतनी उन्नति हुई कि एक ही वर्ष के भीतर नौकरी छोड़ देनी पड़ी। सन् १९०४ में आपने "देशोपकारक"-नामक एक वैद्यक-पत्र भी जारी कर दिया। दिन-दिन आपकी ख्याति बढ़ने लगी। आपकी इस उद्योगशीलता और योग्यता को देखकर दिल्ली के प्रसिद्ध हकीम अजमलख़ाँ ने भी मुक्त-कंठ

से प्रशंसा की। पंडितजी औषधालय ही खोलकर संतुष्ट न हुए। रात-दिन उन्हें यह धुन सवार थी कि संसार के सम्मुख कोई विचित्र औषधि रक्खी जाय। अतः बहुत छान-बीन और सोच-विचार के बाद आपने १९०१ ई० में 'अमृतधारा' का आविष्कार किया, जिसको जनता ने इतना अपनाया कि सारे भारतवर्ष में आपका नाम प्रसिद्ध हो गया। इसी 'अमृतधारा' की बदौलत लाखों रुपए का अमृतधारा-भवन खड़ा है, जिसके कार्यालय में सैकड़ों कर्मचारी काम करते हैं, और डाक-विभाग ने केवल इस कारखाने

आपसे जब सफलता का रहस्य पूछा गया, तो आपने कहा कि मैं परमात्मा को कर्मों का फलदाता मानता हूँ। इसलिये सबसे बड़ा भेद तो कर्मों का फल है, और उस दयालु परमात्मा की दया मैं हृदय से अनुभव करता हूँ। घोर संकटों से उसीने मुझे बचाया, और मेरी अनेक कामनाओं को उस जगदीश्वर ने पूर्ण किया है। मेरी सफलता का दूसरा रहस्य परिश्रम-शीलता है। मेरी स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी नहीं है, किंतु बातों के समझने की शक्ति मुझमें अच्छी है।
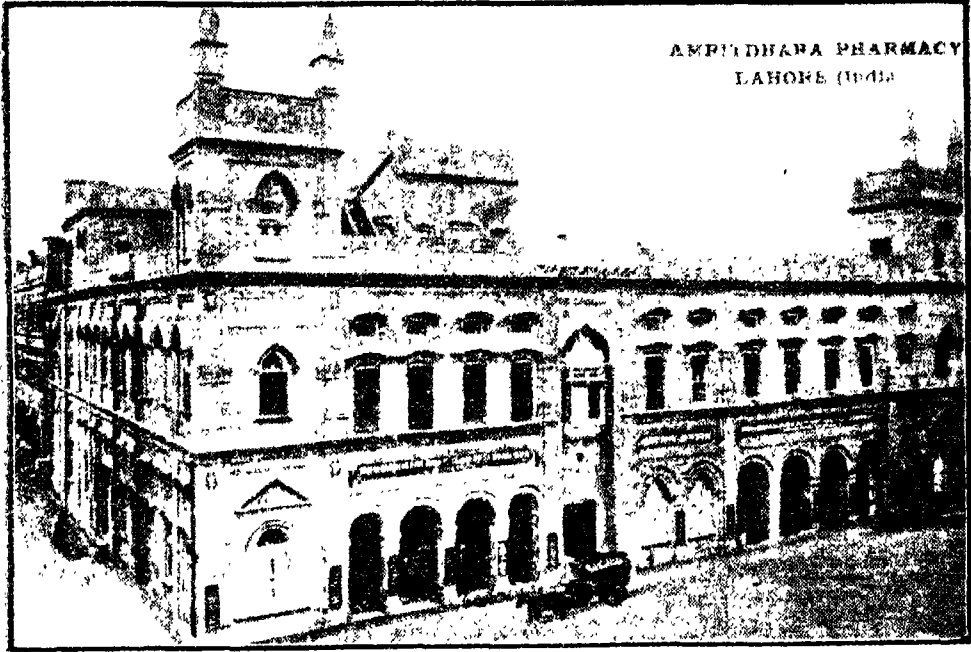
अमृतधारा-भवन, लाहौर

के लिये 'अमृतधारा' के नाम से एक डाकखाना अलग खोल रक्खा है। सुना गया है, आजकल फिर पंडितजी अमृतधारा की तरह की एक नूतन औषधि के आविष्कार में प्रवृत्त हो रहे हैं। ईश्वर चाहेंगे, तो वह भी संसार में अमृतधारा की तरह प्रसिद्ध हो जायगी।

पंडित ठाकुरदत्तजी का स्वभाव बहुत ही सीधा-सादा और मिलनसार है। आपका जीवन इतना सादा है कि देखकर आश्चर्य होता है। भोजन की सादगी का तो यह हाल है कि तरकारियों में नमक के अलावा नाम-मात्र को मसाला होता है।

पंडितजी को ईश्वर ने जैसा मुक्त-हस्त होकर धन दिया है, वैसा ही विशाल और उदार हृदय भी दिया है। शहर की कितनी ही विधवाएँ और अनाथ बालक आपसे सहायता पाकर अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं। कई सफ़ेदपोशों को गुप्त रीति से आप सहायता देते हैं। चतुर्थ पंजाब-ब्राह्मण-सम्मेलन के अवसर पर जब ब्राह्मण अनाथों के लिये वज़ीफ़ा फ़ंड स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया, तो सबसे बड़ी रक़म २५) मासिक की आपने लिखाई है। और आवश्यकता पड़ने पर उसे ३५) कर दिया। आप सेवक-मंडल में १००) मासिक देते हैं। धार्मिक संस्थाओं

से आपका पूरा अनुराग है। सार्वजनिक सेवा का भाव आपके अंदर कूट-कूटकर भरा है। पिछले दिनों जब लाहौर में इनफ़्लुएंज़ा फैला, तो आपने समस्त सेवा-समितियों आदि को लिख दिया था कि यदि किसी परिवार में कमानेवाले व्यक्ति के रोगाक्रांत हो जाने से धन और अन्नादि की आवश्यकता हो, तो आप उसको पूरा करेंगे। गत वर्ष जब अन्न महँगा हुआ, तो आपने निधनों के वास्ते एक दूकान खोल दी, जिसमें सस्ते भावों पर अन्न बेचा जाता था।

जातीय और धार्मिक कार्यों में भाग लेने के अतिरिक्त आप ग़रीबों की हर तरह से सहायता करने को समुद्यत रहते हैं। हज़ारों रुपए आप धर्म-प्रचारार्थ और ग़रीबों की मदद के लिये दान करते हैं। अपने ज्येष्ठ पुत्र प० बलदेव शास्त्री बी० ए० के विवाह के अवसर पर तीस हज़ार रुपए आपने दान किए थे। आयुर्वेद की उन्नति के वास्ते भी आप पूरा उद्योग करते हैं। अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेदिक तथा तिब्बी कान्फ्रेंस दिल्ली के आप ही प्रमुख कार्यकर्ता हैं। आपही ने प्रथम दिल्ली आकर वैद्यों और हकीमों का एक अधिवेशन करके उसकी नींव डाली। इसी प्रकार कई अन्य संस्थाओं में आप योग देते रहते हैं। सचमुच पंडित ठाकुरदत्तजी का जीवन आदर्श और अनुकरणीय है। हमारे देश के नवयुवकों को आपके जीवन से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए।

× × ×

५. बृहत्तर भारत-परिषद्

इस परिषद् के संबंध में हम पिछली किसी संख्या में एक नोट दे चुके हैं। इस परिषद् के संस्थापकों का कहना यह है कि भारत की अमूल्य और प्राचीन संपत्ति ज्ञान ही है। ज्ञान और सभ्यता में भारतवर्ष पृथ्वी के सभी देशों का आदि गुरु है। ज्ञानी भारत अपने ज्ञान के अनुशीलन में ही सदा मग्न रहा, उसने अन्य देशों की समृद्धि पर कभी लुब्धदृष्टि नहीं डाली! उसने अपनी दिव्य-दृष्टि और प्रखर-प्रतिभा से जो ज्ञान प्राप्त किया, उसे अन्य देशों को देने में उसने कभी कृपणता नहीं की। उसके ज्ञान-प्रचार का परिचय चीन, जापान, जावा, कंबोडिया, चंपा आदि देशों की सभ्यता के इतिहास में मौजूद है। भारत ने अस्त्र-शस्त्र लेकर राज्य जीतने के लिये दिग्विजय-यात्रा न करके ज्ञान व सभ्यता का संदेश लेकर हृदय-जय के लिये अभियान किया था। उसने मनुष्य जाति के कल्याण की चिंता करने के वास्ते—मानव-हृदय को उद्बुद्ध और उन्नत करने के इरादे से—अपनी सीमा को बढ़ाया था। वही महत्तर और बृहत्तर भारत है। उसके स्वरूप का अनुभव करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है। इसी कर्तव्य-बोध से बृहत्तर भारत-परिषद् की स्थापना हुई है। गत १० ऑक्टोबर, १९२६ को कलकत्ते में प्रसिद्ध विद्वान् और ऐतिहासिक लेखक श्रीयुत यदुनाथ सरकार महोदय के सभापतित्व में इस परिषद् की स्थापना के लिये एक विराट् सभा हुई थी। इस परिषद् की स्थापना के प्रधान उद्योगी हैं श्रीयुत कालिदास नाग, श्रीयुत विनयकुमार सरकार, श्रीयुत सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय, श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान इत्यादि। परिषद् के सभापति श्रीयुत यदुनाथ सरकार चुने गए हैं। मंत्री कालिदास नाग महाशय हैं। इसके प्रधान पृष्ठ-पोषक हैं पंडित मदनमोहनजी मालवीय, श्रीयुगलकिशोर बिड़ला, म० म० श्रीहरप्रसाद शास्त्री, श्रीविधुशेखर शास्त्री, श्रीहृषीकेश लाहा (राजा) इत्यादि। सभा में श्रीयुत नाग महाशय ने कहा —भगवान् बुद्धदेव के मैत्री-मंत्र को ग्रहण करनेवाले महाराज अशोक ने भारत में, और भारत के बाहर के दूर-दूर के देशों में धर्म-राज्य स्थापित करने की चेष्टा की थी। बृहत्तर भारत की उपलब्धि उन्होंने ही पहले-पहल की थी। उसी भाव को अब फिर हमें देश-भर में जगाना होगा। वर्तमान काल में भी भारतीयों को भारत की सभ्यता का संदेश लेकर देश-देशांतर में जाना होगा। हमें भारत के पूर्व गौरव को ऐतिहासिक साधना की वस्तु बनाना होगा, और पृथ्वी पर जिस-जिस जगह भारतवासी बिछुड़े पड़े हैं, वहाँ-वहाँ उनसे संबंध स्थापित करना होगा। इसके ऐतिहासिक श्रीयुत रमाचंद्रचंद्र ने कहा—प्राचीन काल में भारतीय लोग वाणिज्य के लिये भारत के बाहर दूर-दूर तक जाया करते थे। भारत की नौ-शक्ति उस समय खूब ज़बरदस्त थी। भारत के जहाज़ खूब चलते थे। यह परिषद् इन उद्देश्यों को लेकर कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होगी है—विदेशी भाषाओं में भारत के संबंध में जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनका हिंदी, बँगला आदि प्रचलित भाषाओं में अनुवाद कराकर प्रकाशित करना; पाश्चात्य विद्वानों के निकट ज्ञान के अनुशीलन के लिये भारतीय छात्रों को भेजना; और जिन देशों में भारतीय सभ्यता

बिखरी पड़ी है, वहाँ रहनेवालों के आचार-व्यवहार, रीति-नीति आदि के विषय में खोज करके उनके साथ भारत का संबंध फिर स्थापित करना। इसके बाद फ़ीजी-टापू से आए हुए और फ़ीजी के भारतीयों को शिक्षा देने के कार्य में लगे हुए, श्रीयुत निशिकुमार घोष ने फ़ीजी-टापू का प्राचीन और अर्वाचीन इतिहास बतलाने के उपरांत कहा कि फ़ीजी के प्रवासी भारतीयों के लिये शिक्षा और शालाओं की बहुत कमी है। वहाँ ६००० भारतीय रहते हैं। ये सब बृहत्तर भारत के अधिवासी हैं। इनकी उन्नति में विशेष रूप से मन लगाना होगा। श्रीयुत देवीप्रसाद खेतान ने कहा—भारत ने तलवार के ज़ोर से अपनी सभ्यता नहीं फैलाई, उसने ज्ञान-प्रचार द्वारा यह कार्य किया है। डॉ० कालिदास नाग बाहर से हिंदू-सभ्यता के जो कुछ बचे-खुचे निदर्शन इकट्ठे करके लाए हैं, उन्हें फ़ोटो आदि के द्वारा सर्वसाधारण को दिखलाकर उन्हें होश में लाना होगा। श्रीयुत पद्मराज जैन ने कहा—हमें यह ज्ञान प्राप्त करना होगा कि हमारा भारत कितना विस्तृत है, और बृहत्तर भारत की साधना में तन, मन, धन सब लगाना होगा। श्रीयुत विनयकुमार सरकार ने कहा— सारी दुनिया छोटी और बड़ी, अच्छी और बुरी, दो भागों या श्रेणियों में बटी हुई है। अपनी सर्वांगीण उन्नति के लिये एक देश दूसरे देश पर निर्भर करता है। हमारा बृहत्तर भारत प्रतिष्ठित है, और उसकी उपलब्धि या अनुभव करने के लिये यह करना होगा—(१) चीन, जापान, स्याम आदि देशों की और योरप की सब भाषाएँ सीखनी पड़ेंगी। इन सब भाषाओं में शिक्षित लड़के देश के भिन्न-भिन्न ज़िलों में इन सब देशों की स्थिति और अवस्था का वर्णन तथा प्रचार करेंगे। वे ही उक्त भाषाओं के साहित्य-भांडार से बहुत-से रत्न लेकर अपने जातीय साहित्य का भांडार भरेंगे। जापान और योरप के भिन्न-भिन्न देशों की भाषाएँ सीखकर उन सब देशों के व्यापारिक-क्षेत्र में भारत को पहुँचाना होगा। केवल ज्ञान के विस्तार से ही नहीं, वाणिज्य के विस्तार से भी भारत को बृहत्तर बनाना होगा। (२) भारत की चौहद्दी पहले ज़माने में जैसे और जितनी बड़ी थी, इस समय भी उसी के अनुरूप उसे बढ़ाने की चेष्टा करनी होगी। (३) बृहत्तर भारत के बारे में अभिज्ञता प्राप्त करने के लिये छात्रों को देश-देशांतर में भेजना होगा। इसके उपरांत श्रीयुत यदुनाथ सरकार ने कहा—पृथ्वी पर के सभी देश आज आगे बढ़ रहे हैं; केवल भारत ही पीछे जहाँ-का-तहाँ पड़ा है। देश-देशांतर में छात्रों को भेजकर जैसे वहाँ से ज्ञान मँगाना होगा, वैसे ही भारत की साधना और शाश्वत सत्य का संदेश भी विश्व को मनुष्यों को देना होगा। चीन की सभ्यता बहुत प्राचीन सभ्यता है; पर वह सभ्यता भी भारत की सभ्यता के निकट ऋणी है। यही बृहत्तर भारत के विस्तार का एक प्रमाण है। हम लोग विदेशों में जैसे अपने छात्र भेजेंगे, वैसे ही विदेशी छात्रों के लिये भी यहाँ आकर भारत की सभ्यता सीखने की व्यवस्था भी हमें करनी होगी। रोमन बालक जैसे रोम के गर्व से गर्वित होना सीखता है, अँगरेज़ बालक जैसे अँगरेज़ों के कृतित्व के लिये गर्व का अनुभव करता है, वैसे ही भारत का बालक भी जिसमें भारत के सत्य-धर्म और ज्ञान की गरिमा से गर्वित होना सीखे, यही होना चाहिए। श्रीयुत सुनीतिकुमार चटर्जी ने कहा— इस परिषद् का उद्देश्य है "आत्मानं विद्धि"। हमें अपने अतीत की नींव पर अपने भविष्य की इमारत बनानी होगी। चीन में भारतीय सभ्यता की जो सामग्री है, उसके बारे में श्रीप्रबोधचंद्र बागची खोज कर आए हैं। श्रीनिरंजन चक्रवर्ती मध्य एशिया में भारतीय भाषा के निदर्शन के बारे में गवेषणा कर आए हैं। हाल में काबुल में बौद्ध-सभ्यता के कुछ भग्नावशेष पाए गए हैं। इस बृहत्तर भारत के परस्पर संयोग और समझने-समझाने की परम आवश्यकता है। इस कार्य में सारे देश के ज्ञानी और धनी लोगों के सहयोग की आवश्यकता है, और हमें विश्वास है कि देश की ओर से इस परिषद् के कार्यकर्ताओं को संतोष-जनक सहयोग प्राप्त होगा। इस परिषद् का कार्यालय ६१, अपर सर्कुलर रोड, कलकत्ता में है। जिन सज्जनों को इसके बारे में कुछ विशेष जानना हो, वे इसी पते पर पत्र-व्यवहार करें।

× × ×

६. संसार में सब से मोटी स्त्री

अति हरएक बात की बुरी होती है। जैसे एकदम दुर्बल होना देखने में बुरा लगता है, वैसे ही एकदम मोटा होना भी भद्दा और कष्ट का कारण होना है। इस समय मिस मेरी हाल्ड नाम की स्त्री, जो सरकस की रानी कहकर प्रसिद्ध है, कम-से-कम स्त्री-जाति में सबसे अधिक मोटी कही जा सकती है। उसके शरीर का वज़न ४६८

पौंड (४ मन ३४ सेर) है। वह ७ फ़ुट ऊँची और ३२ इंच चौड़ी है। उसका विश्वास है कि मोटा होना आनंद का नहीं, कष्ट ही का कारण है। उसे अपने मोटापे के कारण अनेक कष्ट उठाने पड़े हैं। उसका कहना है कि जब वह कभी किसी से मिलने आती है, तो उसे खड़े ही रहना पड़ता है। कारण, अब तक बैठकर उसने इतनी कुर्सियाँ नष्ट कर डाली हैं कि वे एक होटल के लिये काफ़ी होतीं। जन्म के समय उसका वज़न १२ पौंड था। आठ साल की अवस्था में वह तोल में ११० पौंड थी। वह एक समय एक सड़क पर खड़ी थी। पीछे से एक मोटर आती देख पड़ी। उसने फुर्ती से अपनी आँखें मूँद लीं। कारण, उसमें वहाँ से तेज़ी से हटने या भागने की शक्ति न थी। मोटर ने आकर उसके शरीर को छुआ, और खड़ी हो गई, अर्थात् मिस मेरी हाव्ड को ऐसा ही अनुभव हुआ। मिस साहबा का कहना है कि मोटर के ड्राइवर ने मेरे कहाँ चोट लगी, यह पूछने के बदले यह कहा कि मेरे धक्के से मोटर को बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचता, अगर वह उसे रोक न लेता। यह औरत मोटापे के देखते बहुत उद्योग करने-वाली है। अपनी जवानी में, जब इसका वज़न दो मन था, यह नाचने का पेशा अख़्तियार किए हुए थी। अब भी यह ख़ूब पानी में तैरती है। उसका कहना है कि एकबार उसने हवाई जहाज़ पर बैठकर आकाश की सैर करनी चाही थी। पर कमबख़्त मशीन उसको लेकर उड़ ही नहीं सकी, और ड्राइवर ने लाचार होकर उसे उतार दिया।

× × ×

७. शिल्प-वाणिज्य-महासभा

कलकत्ते में इधर जो शिल्प-वाणिज्य-महासभा हुई थी, उसके सभापति सर दीनशा पेटेट थे और स्वागताध्यक्ष श्रीयुत घनश्यामदासजी बिड़ला। इन दोनों सज्जनों ने अपने भाषणों में बहुत-सी तथ्य की बातें प्रकट की थीं। इन्होंने बतलाया कि ब्रिटिश-शासन का इतिहास अर्थ नैतिक शोषण का प्रबल प्रमाण है। इस पर वसुमती के संपादक महाशय लिखते हैं—और ठीक ही लिखते हैं—कि इस महासभा की उपयोगिता और प्रयोजनीयता किसी भी राजनैतिक महासभा की उपयोगिता और प्रयोजनीयता से कम नहीं है। हमारी वर्तमान दुर्दशा का मूल कारण केवल राजनैतिक पराधीनता ही नहीं है, अर्थनीति की पराधीनता ने भी हमें इस गिरी हुई दशा में पहुँचाने में बहुत कुछ काम किया है। हाँ, ये दोनों पराधीनताएँ परस्पर सापेक्ष रहकर हमारी इस अधोगति का कारण बनी हैं। और यह भी सच है कि एक का प्रतिकार हुए बिना दूसरी के हाथ से हमारा छुटकारा नहीं हो सकता। शासन और शोषण, इन दोनों नीतियों में परिवर्तन होने का प्रयोजन है। शिल्प-वाणिज्य-महासभा के संचालकों ने हमारी दृष्टि इस ओर आकृष्ट की है। शोषण-नीति का इतिहास बड़ा मज़ेदार है। इँगलैंड के व्यापारियों के स्वार्थ के लिये भारत के शिल्प-वाणिज्य का कैसा और कितना सर्वनाश किया गया है, यह सभापति सर दीनशा महोदय ने अपने भाषण में बहुत अच्छी तरह दिखला दिया है। इस नीति का फल यह हुआ है कि इस देश का वस्त्र-शिल्प (कारीगरी), नौ-शिल्प एवं अन्यान्य बहुत-से शिल्प विदेशी शिल्प की अनुचित प्रतियोगिता के चक्र में पड़कर विध्वंस को प्राप्त हो गए हैं, और यही हमारे दारिद्र्य का मूल-कारण है। अब भी विदेशी सरकार देशी कारीगरी और व्यापार के पुनरुद्धार के लिये स्वयं कुछ नहीं करती, और न हमें ही इस मामले में उचित सहायता पहुँचाती है। सभी सभ्य और स्वाधीन देशों की सरकारें देश के विद्यार्थियों को अर्थकरी शिक्षा देने का प्रबंध करती हैं, जिससे उन देशों के शिल्प-वाणिज्य की उन्नति, विस्तार, प्रचार एवं नई-नई कारीगरियों तथा व्यापारों का आविष्कार होता रहता है। किंतु इस देश का हाल ही और है। यहाँ की विदेशी सरकार ने पौने दो सौ वर्ष के अपने शासन में जिस शिक्षा का प्रचार किया है, वह केवल क्लार्क, डॉक्टर, वकील और बैरिस्टर ढालने की मशीन ही साबित हुई है। देश में नित्य नए-नए तरीक़ों से धन आने का कोई तरीक़ा यहाँ के छात्रों को नहीं सिखलाया जाता। इस देश में शिल्प-वाणिज्य सिखलाने के स्कूल, टेक्निकल कॉलेज या स्कूल नहीं के बराबर ही स्थापित हुए हैं। जिस कार्य की शिल्प-शिक्षा के द्वारा देश को अन्न-वस्त्र की समस्या का समाधान हो सकता है, उसकी ओर विदेशी सरकार ने यथोचित ध्यान नहीं दिया, यह ज़ोर देकर कहा जा सकता है। इसी का फल यह है कि हरसाल देश के प्रयोजन के लिये शिल्प-वाणिज्य की सामग्री विदेशों से यहाँ मँगाई जाती है, और उसके बदले में देश का धन विदेशों में खिंचा चला जाता है। विदेशी सरकार इस देश के लोगों का विश्वास नहीं करती, इसी कारण, बाहर से आक्रमण की

कोई आशंका न रहने पर भी, हरसाल देश की आमदनी का बहुत बड़ा हिस्सा विदेशी फ़ौज के ख़र्च में ही लग जाता है। फल-स्वरूप देश में शिक्षा-प्रचार, स्वास्थ्य-सुधार, कारीगरी और वाणिज्य के उद्धार आदि आवश्यक कार्मों के लिये सरकारी ख़ज़ाने में अर्थाभाव ही बना रहता है। आज अगर इस देश के लोग स्वाधीन होते, यहाँ स्वराज्य होता, सरकारी आय-व्यय पर देश के प्रतिनिधियों का नियंत्रण होता, तो ऐसे अनावश्यक कार्यों में न तो व्यय ही होता और न ऐसे आवश्यक कार्यों के लिये अर्थाभाव ही नज़र आता। जंगी जहाज़ों की बात जाने दीजिए, इस देश के अपने सौदागरी जहाज़ भी नहीं हैं। अँगरेज़ी अमलदारी के पहले तक यहाँ सुंदर मज़बूत जहाज़ बनते थे, और उन जहाज़ों पर सवारियों तथा माल-असबाब का गमनागमन भी बराबर होता था। इतिहास इस बात की गवाही देता है कि यहाँ का वाणिज्य यहीं के जहाज़ों की सहायता से दूर-दूर तक फैला हुआ था। अपने सौदागरी जहाज़ हुए बिना किसी देश को माल के चलान (Transportation) की सुविधा नहीं होती। इस समय इस माल-चालान का अधिकार विदेशी कंपनियों के जहाज़ों द्वारा ही होता है। वे कंपनियाँ जहाज़ों का किराया मनमाना वसूल करती हैं। बहुधा किराए के कारण बाहर माल भेजने में बड़ी लागत पड़ जाती है, जिसके कारण यहाँ का माल बाहर नहीं बिकता, क्योंकि वह महँगा पड़ता है। रेल-कंपनियाँ भी विदेशी हैं, और रेल के द्वारा माल भेजने में भी ऐसी ही असुविधा का सामना करना पड़ता है। सर दीनशा ने अपने भाषण में इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश डाला है। प्रो० मनू ने शिल्प-वाणिज्य कमीशन के सामने गवाही देते समय यह दिखा दिया था कि कहीं-कहीं ऐसा देखा गया है कि विलायत से भारत को माल भेजने में जितना ख़र्च पड़ता है, भारत में ही एक स्थान से दूसरे स्थान में माल भेजने में उससे अधिक ख़र्च पड़ जाता है। यह व्यवस्था विदेशी व्यापारियों के लिये जितनी सुविधा-जनक है, देशी व्यापारियों के लिये उतनी ही असुविधा-जनक। सर दीनशा ने यह भी बतलाया कि मेरीन कमेटी ने भारतीय नौ-शिल्प की उन्नति और भारत उपकूल-वाणिज्य की रक्षा के लिये जो कई प्रस्ताव सरकार के सामने रक्खे थे, उन प्रस्तावों के अनुसार अभी तक सरकार ने कोई काम नहीं किया, और न शीघ्र उसके ऐसा करने की कोई संभावना ही है। इस तरह जिस जगह विलायती व्यापारियों के स्वा[र्थ] के साथ देशी शिल्प-वाणिज्य के स्वार्थ का संघर्ष होने [की] संभावना नज़र आती है, उसी जगह भारत के स्वार्थ [पर] ध्यान नहीं दिया जाता। शोषण-नीति बिना किसी बा[धा] के बराबर जारी है, और देश भी दिन-दिन दरिद्र हो[ता] चला जा रहा है। देश-वासी इस समय सर्वत्र भीषण [अभा]व की भयंकर भृकुटी देखकर त्रस्त हो रहे हैं। रोज़गा[र] कोई न रह जाने के कारण लोग नौकरी के लिये लालाय[ित] हो रहे हैं — देश में बेकारी बढ़ती ही जा रही है। इसक[ा] प्रतिकार शीघ्र ही होने की बड़ी आवश्यकता है। इसी [से] शिल्प-वाणिज्य-महासभा ने इसबार प्रस्ताव किया है [कि] समग्र भारत की वाणिज्य-समितियाँ एक में संघबद्ध ह[ो]कर एक विराट् वाणिज्य-संघ का संगठन करें, और उसक[ा] उद्देश्य देश के शिल्प-वाणिज्य की रक्षा करना हो। ईश्वर इ[स] महासभा के संचालकों को इस शुभ कार्य में सफलता दें।

× × ×

८. एशिया में जाति-संघ

एशिया की जातियों की भी आँखें, ठोकर खाकर, खु[ली] हैं; उनमें भी एकता की—संघबद्ध होने की—आकां[क्षा] दिखाई दी है। एशिया की जातियों में अब तक भीत[री] कलह रहती आई है, और इसी सुयोग को लेकर योरप [के] साम्राज्य-लोलुप राष्ट्र एशिया के विभिन्न खंडों में अप[ना] आधिपत्य बढ़ाने की चेष्टा कर रहे थे—अब भी करते [जा] रहे हैं। किंतु योरप की सर्वग्रासी क्षुधा की लपलपाती हु[ई] जीभ से अपनी रक्षा करने के लिये एशिया की निर्ब[ल] एवं फूट के विष से जर्जरित जातियों का अब कल्या[ण] इसी में है कि वे शीघ्र-से-शीघ्र एकता के सूत्र में बँधक[र] अपनी शक्ति को सुदृढ़ बना लें। योरप की जन-संख्[या] जिस तेज़ी के साथ बढ़ रही है, उसके देखते उन लोग[ों] के लिये एशिया के अधिकांश स्थान को हस्तगत कर उसमें उपनिवेश स्थापित करने के सिवा और कोई उपा[य] नहीं नज़र आता। किंतु यदि यह कार्य निर्विघ्न संपन्न [हो] गया, तो एशिया-वासियों के कष्टों की सीमा नहीं रहेगी। एशियाई जातियों का यह कर्तव्य है कि वे अभी से सचेत [हो] जायँ। योरप की शांति और शृंखला की रक्षा के लिये [ही] विश्व-राष्ट्र-संघ का संगठन किया गया है। योरप के लो[ग] अपनी क्षति करके एशिया के लोगों की उन्नति की चे[ष्टा] कभी नहीं कर सकते। विश्व-राष्ट्र-संघ में दो-चार एशिया

प्रतिनिधि रहने पर भी कुछ नहीं हो सकता। उनकी बात पर—उनकी सलाह पर – कोई कुछ ध्यान न देगा। इसलिये भी एशियाई जातियों के एक स्वतंत्र संघ की आवश्यकता है। किंतु योरप में जैसे फ्रांस और इँगलैंड विश्व-राष्ट्र संघ के द्वारा अपने आधिपत्य की रक्षा और विस्तार की सुविधा कर ले रहे हैं, वैसे ही एशिया में भी अगर जापान ने करना चाहा, तो उसका फल अच्छा न होगा। विश्व-राष्ट्र-संघ की तरह एशिया का यह जाति-संघ भी पृथ्वी पर शांति और मैत्री स्थापित करने की इच्छा प्रकट करके कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हो रहा है। इस एशियाई जाति-संघ का पहला अधिवेशन गत वर्ष १ से ३ अगस्त तक हुआ था। इसमें जापान के प्रतिनिधि श्रीयुत जुनतारो इमास्ततो ने कहा कि पृथ्वी की गोरी जातियों के भार और दबाव से एशियावासी पिसे जा रहे हैं। ऐसी दशा में संसार में साम्य, स्वाधीनता, न्यायविचार और विश्व-प्रेम की आशा नहीं की जा सकती। उन्होंने यह भी कहा कि बाहरी बंधन, कड़ाई या आंतर्जातिक नियमों की रचना द्वारा पृथ्वी पर शांति का शुभागमन नहीं हो सकता। यदि यथार्थ प्रेम और सच्चे साम्य का साम्राज्य स्थापित करना है, तो मनुष्य-जाति की आध्यात्मिक उन्नति की व्यवस्था की जानी चाहिए। आपका यह कथन अक्षरशः सत्य है। जब तक हृदय शुद्ध न होंगे, तब तक बाहरी शिष्टाचार या शुभ-कामना के दिखावे से कुछ नहीं हो सकता। देखें, इस एशियाई जाति-संघ से एशिया का कुछ उपकार होता है या नहीं।

× × ×

१. प्रोफ़ेसर राधाकृष्ण झा

अँगरेज़ी में एक कहावत है कि "देवताओं के प्रिय-पात्र शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।" श्रीराधाकृष्ण झा का शरीर-पात इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। युगल होनहार सुपुत्र कृष्णनंदन एवं रघुनंदन के अनंत विरह के कारण बिहार-भूमि के शोकाश्रु शुष्क भी नहीं होने पाए थे कि निघृण यम ने पुत्र-रत्न राधाकृष्ण का अपहरण कर मातृ-देवी के मस्तक पर कठोर कुठाराघात किया। ब्राह्मण-वंश-वल्लभ, वि[illegible]रोपवनविहारी, सरस्वती-सर-सरोज, रमावतार श्रीराधाकृष्ण झा ने अपनी स्वल्प जीवन-लीला में अपने अपूर्व गुणों से जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था। विशेषतः हिंदी-भाषा एवं गौरवमयी बिहार-भूमि को आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं।

स्व० प्रोफ़ेसर राधाकृष्ण झा एम० ए०

बिहार-प्रांत के अंतर्गत भागलपुर-ज़िले में, कहलगाँव-नामक एक प्रसिद्ध स्थान है। श्रीराधाकृष्ण झा का शुभ-जन्म आश्विन, सं० १९८८ में यहीं हुआ था। आपने पवित्र ब्राह्मण मैथिल-कुल में जन्म ग्रहण किया था। आपके पूज्यपिता का नाम पंडित रामलोचन झा था। आप एक विख्यात Accountant थे, और अपनी योग्यता एवं पवित्रता से सभी के मान्य थे। आपके दो पुत्र हुए। श्रीरामकृष्ण झा तथा श्रीराधाकृष्ण झा। युगल पुत्रों की उत्पत्ति के कारण आपके यहाँ "कुलं पवित्रं जननी कृतार्था" यह उक्ति सत्य हुई।

बाल्यावस्था में श्रीराधाकृष्ण झा की शिक्षा विधिवत् घर पर प्रारंभ हुई। फिर आप गाँव की पाठशाला में भर्ती करा दिए गए। आपने अध्ययन की ओर शीघ्र ही विशेष रुचि प्रकट की। अपनी तीक्ष्ण-बुद्धि एवं अपूर्व स्मरण-शक्ति के प्रभाव से आपने शिक्षकों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। सन् १९०२ में मि० ई० परीक्षा उत्तीर्ण होने पर आपको ४) मासिक की छात्रवृत्ति मिली। तत्पश्चात् आपका नाम भागलपुर के T. N. G. Collegiate लिखाया गया। वहाँ से आपने १९०६ में प्रवेशिका परीक्षा पास की, और एक छात्रवृत्ति भी पाई।

चार वर्षों के उपरांत १६१० ई० में T. N. G. College से आपने बी० ए० की उपाधि प्राप्त की। तब आपने उच्च-शिक्षा के लिये उत्कट अभिलाषा प्रदर्शित की। घर से अनुमति प्राप्त कर आप पोस्ट-ग्रेजुएट-शिक्षा के लिये कलकत्ते गए, और वहाँ कठिन परिश्रम कर आपने १६१२ में अर्थ-शास्त्र एकोनमी में एम्० ए० की उच्च परीक्षा पास की। आपको Second Class में प्रथम-स्थान प्राप्त हुआ। इसी समय आपको उपहार-स्वरूप में एक स्वर्ण-पदक मिला। स्थानीय ज़मींदार श्रीहरिचरण गंगोपाध्याय ने एक सोने की घड़ी एवं अभिनंदन-पत्र से आपका सम्मान किया था। आपका छात्र-जीवन बड़ा ही उज्ज्वल एवं निष्कलंक था। शिक्षक एवं अध्यापक आपके कर्तव्य-पालन एवं अध्यवसाय से विशेष मुग्ध रहते थे। आपके विषय मे एक वृद्ध अध्यापक का कथन है—"झा अपने विद्यार्थि-जीवन में बड़ा परिश्रमी, विद्या-प्रेमी एवं सदैव विषाद-नाशक प्रफुल्ल-वदन दीख पड़ता था।"

शिक्षा समाप्त होने के अनंतर आप घर लौट आए। आपको १६१३ ई० में पटना-कॉलेज में लेक्चरर का उच्च-पद प्राप्त हुआ। शनैः-शनैः आप अपनी योग्यता के साहाय्य से अध्यापक हो गए, और अपने विषय के एक उत्तम विशेषज्ञ माने जाने लगे। प्रतिभा-संपन्न होने के कारण उन्नति ने आपको अपना लिया। आपकी योग्यता सरकार को भी विदित हो गई। १६१८ ई० में सरकार ने इन्हें Director of Industries का Personal Assistant नियुक्त किया। आपने इस हैसियत से भी अच्छा यश प्राप्त किया। कुछ समय तक आपको राँची में रहना पड़ा। पर स्वास्थ्य की कुछ निर्बलता के कारण आपको इस पद से अलग हो जाना पड़ा। तत्पश्चात् १६२३ से आप पटने में अध्यापक के गौरवान्वित-पद पर पुनः शोभायमान हुए थे।

वास्तव में आप एक उत्तम शिक्षक थे। नवीन विद्यार्थी आप ही के सुस्पष्ट व्याख्यान से अर्थ-शास्त्र के गूढ़ भावों को समझता था, और आपकी शिक्षण-कला भी सर्वथा अनुकरणीय था। आपके हृदय में विद्यार्थियों के प्रति बड़ा प्रेम था। आप इनकी उन्नति एवं उपकार के लिये सदैव दत्तचित्त रहते थे। आपमें देश-भक्ति एवं आत्म-मर्यादा के भाव कूट-कूटकर भरे हुए थे। एक समय Economics Class में कितने ही विद्यार्थियों ने कहा कि अर्थ-शास्त्र जनता की वृद्धि का अनुमोदन नहीं करता। अतएव भारत में इसकी बढ़ती जन-संख्या को किसी तरह कम करना उचित है।" यह सुनकर कुछ देर तक चुप रहकर आपने कहा—"मुझे शोक है कि तुम 'मेरी कॉरेली' एवं अन्य लेखकों के ग्रंथ-पाठ से अपने मस्तिष्क को विकृत कर रहे हो, तथा हमारे शास्त्र के नियमों की हत्या करते हो। पाश्चात्य लेखक हमारी संख्या-वृद्धि से भयातुर हो चतुर्थ से हमें कम होने का उपदेश देते हैं। हम अपना वृद्धि को कम कर नाश का आवाहन न करेंगे। खाद्य पदार्थ की रक्षा के लिये हम क्यों कम हों? कठिनाई और दुःख का सामना कर हम इसे बढ़ावेंगे, न कि मूर्ख की तरह जूतों की मरम्मत के भय से पैर ही काट डालेंगे!" ये वचन उनके जातीय आदर्श एवं उच्चभाव के ज्वलंत उदाहरण हैं। यद्यपि आपने सेवा-वृत्ति स्वीकृत की थी, तो भी आपके भाव एवं विचार सर्वथा स्वतंत्र एवं उच्च थे। आपको अपने देश की अवस्था पर बड़ा क्लेश होता था।

श्रीमान् झा जी कर्मयोगी एवं विद्या-व्यसनी थे। आपका अध्ययन बड़ा ही विस्तृत एवं गाढ़ था। आपका अधिक समय पठन-पाठन ही में व्यतीत होता था। आपका पारिवारिक जीवन अतिशय शांत एवं सुखमय था। सौभाग्य-वश आपका विवाह एक सुशिक्षिता एवं विदुषी नारी से हुआ था, अतएव इन दंपति को साहित्यिक आलोचना एवं विवेचना का अच्छा अवकाश मिलता था। हिंदी-साहित्य के दारिद्र्य पर द्रवीभूत हो झा जी ने अपने विषय के द्वारा इसकी श्रीवृद्धि का भार लिया था, और इसके फल-स्वरूप आपकी लेखनी से क्रमशः "भारत की सांपत्तिक अवस्था", "भारत-शासन-पद्धति", "भारत में अँगरेज़" इत्यादि रत्न निकले थे। आपकी कुछ पुस्तकें अभी प्रकाशित नहीं हुई हैं। आप एक राजनीति का ग्रंथ तैयार कर रहे थे। इनके अतिरिक्त आप प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में लेख देते थे। यदि उनका संग्रह हो, तो बड़ा काम हो जाय।

झाजी बड़े ही मिलनसार तथा प्रेमी पुरुष थे। इनके संग में न हँसना सर्वथा असंभव था। आपकी मिष्ट वाणी एवं मधुर मुसकान में एक ऐसा अपूर्व माधुर्य था कि वह बलात् हृदय को चुंबक की तरह आकृष्ट कर लेती थी। आप बड़े ही रसिक व्यक्ति थे, और आपको विनोद एवं सभ्य परिहास विशेष रुचिकर थे। आपका व्यक्तित्व विश-

क्षण था। आपका कर्मक्षेत्र बड़ा विस्तृत था, और पटने के सभी सार्वजनिक कार्यों में आपका हाथ रहता था। झाजी अपने प्रांत के विद्यार्थियों की शिक्षा एवं उन्नति के लिये विशेष सचेष्ट रहते थे।

झाजी के ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकृष्ण झा स्कूल के हेड-मास्टर थे। आपके चार संतानें हुईं; पर एक कन्या के अतिरिक्त सबकी मृत्यु हो गई। आपके भ्राता श्रीरामकृष्ण झा ने १९१८ में देह-त्याग किया। तब से आप ही उनके परिवार के अवलंबन-स्वरूप थे। भावज तथा भतीजी का आप यथोचित आदर करते थे। आपके पूज्य पिता का स्वर्गवास १९२३ ई० में हुआ था।

झाजी का साधारणतः स्वास्थ्य अच्छा था। पर इधर लगभग आठ मास से आप अस्वस्थ रहने लगे थे। डॉक्टरों ने राजयक्ष्मा के चिह्न देखे, अतएव सबके परामर्श से आप शुद्ध-वायु-सेवन के निमित्त धर्मपुर पर्वत पर चले गए थे। वहाँ कुछ स्वास्थ्योन्नति तो हुई, पर यह क्षणिक लाभ अंत में भयंकर सिद्ध हुआ। इस प्राण-नाशक रोग ने आपको सर्वथा निर्बल बना डाला, और अंत में इसी रोग से धर्मपुर में गत ३ दिसंबर, १९२६ को आपका स्वर्गवास हुआ। आप कोई संतान नहीं छोड़ गए। तो भी आपकी रचनाएँ आपकी कीर्ति-कौमुदी को स्थायी बनाए रक्खेंगी। हम इस शोक-सागर-निमग्न परिवार के अनंत दुःख से परितप्त हैं, तथा उस कठिन-दुःख-विपन्ना अबला के प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट कर आदरणीय झाजी की आत्मा की सद्गति के लिये परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं। *

× × ×

१०. रायबहादुर पंडित खड्गजीत मिश्र

आप मैनपुरी के निवासी और ब्राह्मण (मथुरिया चौबे) हैं। मैनपुरी में जो कुल 'ख़ज़ानची' के नाम से प्रसिद्ध है, उसमें आपका जन्म सन् १८७४ के लगभग हुआ। यह वंश 'ख़ज़ानची' के नाम से इस कारण प्रसिद्ध है कि इनके पूर्वज मैनपुरी, एटा, नौगाँव, आदि कई ज़िलों में

* यह नोट लिखने में हमको शादमपुर (भागलपुर)-निवासी श्रीमान् भोलानाथजी मिश्र तथा श्रीयुत राजेश्वरी-प्रसादजी से बड़ी सहायता मिली है। हम दोनों महाशयों के कृतज्ञ हैं। मा० सं०

ख़ज़ाना लिए हुए थे। आपके प्रपितामह राधारमणजी स्वयं ख़ज़ाने का काम करते थे और पीछे से मैनपुरी में फिर अपनी ज़मींदारी की सँभाल करने लगे। कहा जाता है, ग़दर के दिनों में इनके पूर्वजों ने मैनपुरी का ख़ज़ाना बाग़ियों से बचाने में विशेष प्रयत्न किया था। आपके पिता नारायणदास अँगरेज़ी-हिंदी-साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं। अपनी ज़मींदारी तथा मैनपुरी और मुरादाबाद-ज़िलों के ख़ज़ानों का काम स्वयं करते हैं। इनके प्रपिता-

श्रीयुत पं० खड्गजीत मिश्र

मह जगत्मणिजी भी ख़ज़ाने का काम करते थे, और बहुत दिनों तक शिकोहाबाद में रहे। इनके पास जो धन था, वह इनके पिता-पितामह ने स्वयं अपने परिश्रम से उपार्जन किया था। ईमानदारी और मिहनत इस वंश का मुख्य सिद्धांत रहा है, और है।

पं० खड्गजीत मिश्र की शिक्षा पहले हिंदी तथा संस्कृत में हुई। फिर मैनपुरी के स्कूलों से मिडिल पास करके सहारनपुर से सन् १८९० में प्रथम डिवीज़न में एंट्रेंस पास किया, और आगरा-कॉलेज में शिक्षा पाई। एफ़० ए० (१८९२) बी० ए० (१८९४) संस्कृत और फ़िलासफ़ी में पास किया। फिर (१८९६ में) एम्० ए० में उत्तीर्ण हुए। उसी साल आप एल्-एल्० बी० में भी अव्वल दरजे में पास हुए, और कुल युनिवर्सिटी में दूसरा नंबर पाया। जब तक आगरा-कॉलेज में रहे, बराबर स्कालरशिप पाते रहे। संस्कृत का सबसे बड़ा स्कालरशिप कई साल

तक इनको मिला। कॉलेज के प्रिंसिपल आपसे बहुत प्रसन्न थे। डिप्टी कलेक्टरी के लिये भी आप नामज़द हुए थे। पीछे आप इलाहाबाद के हाईकोर्ट से मुंसिफ़ी के लिये भी मंज़ूर हो गए थे; परंतु आपने स्वतंत्र पेशे ही में अपना भाग्य जगाना पसंद किया। सन् १८९७ में वकालत प्रारंभ की, और थोड़े ही दिन में अपनी योग्यता का परिचय दिया। सन् १८९८ में आप बिना विरोध चुंगी के मेंबर चुने गए, और १९०० में गवर्नमेंट प्लीडर (सरकारी वकील) नियत हो गए। १२ वर्ष के क़रीब आप सरकारी वकील रहे। सरकारी वकालत में आपके काम तथा बर्ताव से ज़िला मजिस्ट्रेट तथा जज हमेशा संतुष्ट तथा प्रसन्न रहे। आप स्वतंत्रता से काम करते थे। इटावे में एक मुसलमान ने बड़े-बड़े हिंदू पदाधिकारी वकील और रईसों पर राजद्रोह का झूठा इलज़ाम लगाने के विचार से उनके झूठे दस्तख़त बनाए थे। उस मुक़दमे की पैरवी के वास्ते आप ख़ास तौर पर नियत हुए थे। आपने यह सिद्ध कर दिखाया कि दस्तख़त उन लोगों के झूठे बनाए गए हैं। उस मुसलमान को १४ साल का कालापानी हुआ। आपने १९१३ के क़रीब सरकारी वकालत से त्याग-पत्र दे दिया। १९१९ में हाई-कोर्ट ने आपको एडवोकेट चुन लिया। सन् १९१५ में जब मैनपुरी-ज़िले में मैजिस्ट्रेटी बेंच स्थापित करने का गवर्नमेंट ने निश्चय किया, तो आप सबसे पहले मैजिस्ट्रेट बनाए गए। फिर आप आनरेरी, असिस्टेंट कलक्टर (अव्वल दरजे के) नियत किए गए।

सन् १९२१ में आपको सरकार गवर्नर-जेनरल ने 'रायबहादुर' की उपाधि दी और १९२१ में ही सूबे के गवर्नर ने Sword of honor उपहार स्वरूप दी। मैनपुरी-ज़िले में आपका पब्लिक काम सराहनीय रहा है। आप अपनी वकालत और निज के काम से बचाकर अपना बहुत-सा बहुमूल्य समय पब्लिक-काम में लगाते हैं। आप सर्वसाधारण से सरल स्वभाव से मिलते हैं, और सुख-दुःख में उनका साथ देते हैं। सन् १९१६ में जब सरकार ने म्युनिसपल बोर्ड को अपना चेयरमैन स्वयं चुनने की आज्ञा दी, तब सबसे पहले आप ही चुने गए थे। इसी भाँति सन् १९२३ में नया डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का क़ानून बना, और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को अपना चेयरमैन चुनने का अधिकार मिला, तो पहली दफ़ा आपका ही चुनाव हुआ। और संस्थाओं में भी आप सदैव बड़ा काम करते रहे हैं। स्कूल-कमेटी तथा स्त्री-शिक्षा-कमेटी के मंत्री रह चुके हैं। को-आपरेटिव बैंक के डाइरेक्टर, कोर्ट ऑफ़् वार्ड्स एडवाइज़री कमेटी के मेंबर, आगरा-कॉलेज के ट्रस्टी तथा कार्यकारिणी समिति के मेंबर, जेल-कमेटी के मेंबर, ज़मींदार एसोसिएशन के मंत्री आदि आप हैं। यू० पी० लेजिस्लेटिव कौंसिल के डिप्टी प्रेसी-डेंट १९२४-१९२५-१९२६ में रहे।

आप साहित्य-सेवा में भी सदा तत्पर रहते हैं। बहुधा हिंदी-पत्रों में अच्छे लेख लिखते रहते हैं। मिश्रबंधुओं ने आपका उल्लेख अपने मिश्रबंधु-विनोद में भी किया है। आपके लिखे हुए हिंदी-लेखों में मुख्य ये हैं—

(१) कवि केशवदास का जीवन व काव्य (सरस्वती)

(२) सीता और पोर्शिया (तुलसी और शेक्सपियर तुलनात्मक)

(३) कविवर बिहारीलाल

(४) २,००० वर्ष पहले की पुलीस

(५) जासूसी विद्या

(६) भारतवर्ष की चित्र-कला

(७) रुक्मिणी-हरण का स्थान

(८) यू० पी० व्यवस्थापक समिति (मनोरमा)

(९) वेदों में गौ-मांस का निषेध (माधुरी)

आपके छोटे भाई पंडित चपारामजी बी० ए० एशियाटिक सोसाइटी के मेंबर हैं। आप इस प्रांत में डिप्टी कलक्टर हैं, और आजकल इंडस्ट्रीज़ (उद्योग-विभाग) के डिप्टी डाइरेक्टर हैं। इनको गणित से बहुत प्रेम है। एक पुस्तक लीलावती लिखकर छपवाई है, जो पंजाब आदि प्रांतों के स्कूल-पुस्तकों में है। एक ग्रंथ "रघुनाथ-शिकार" छपवाया है, और तुलसीदास तथा अन्य विषयों पर भी कई लेख प्रकाशित कर चुके हैं।

रायबहादुर मिश्रजी के दो पुत्र हैं। ज्येष्ठ पुत्र पं० हेमचंद्रजी ने संस्कृत और Economics में बी० ए० (१९२२ में) पास किया, और अर्थ-शास्त्र में कुल विश्व-विद्यालय में प्रथम होने के कारण हरि-प्रभा स्वर्णपदक पाया। सन् १९२४ में एम्० ए० (अर्थ-शास्त्र) पास किया। उसी साल एल्-एल्० बी० प्रथम श्रेणी में पास किया। फ़ौजी-शिक्षा में श्रेष्ठ होने के कारण आपको बाद-शाह का कमीशन प्राप्त हुआ। अब आप Second

Leiutenant हैं। छोटा लड़का नरेंद्रचंद्र तथा भतीजा शरच्चंद्र साथ-साथ एफ़्० ए० में पढ़ते हैं।

हम मिश्रजी के दीर्घजीवन की कामना करते हैं।

× × ×

११. हवाई गाड़ी

एक भारतीय ने दुनिया को हिला देनेवाला आविष्कार किया है, जिसके विषय में तंजोर के वकील आर० आत्मानाथ ऐयर लिखते हैं—

मैंने हाल में वायुयान-विभाग (Air ministry) को हवाई गाड़ी बनाने की अपनी नवाविष्कृत विधि लिखकर भेजी है। यह गाड़ी साधारण मोटरकार की तरह सड़क पर चलाई जा सकेगी; किंतु जब चाहें तब साधारण एरोप्लेन (हवाई जहाज़) के समान पृथ्वी से दो या तीन मील की ऊँचाई पर उठ सकेगी और घंटे में ५०० मील की गति से उड़ेगी। यह तेज़ चलनेवाली नौका के तौर पर भी काम में आ सकेगी। यह विधि वायुयान-विभाग को भेजने से पहले मैंने एक प्रसिद्ध इंजिनियर और एक बड़े गणितज्ञ को दिखला ली है। उन दोनों ने उसपर ध्यान से विचार करके यह सम्मति दी कि यह क्रियात्मक है और इसमें सफलता होगी।

ये गाड़ियाँ केवल योरप या अमेरिका में ही बनाई जा सकेंगी, क्योंकि उनके बनाने की सुविधा वहीं पर है। संभवतः १५ हज़ार रुपए से मैं काम शुरू कर सकूँगा, किंतु यह रक़म पूँजी के वास्ते नहीं है, उसके लिए वह बहुत थोड़ी है। किंतु उसके द्वारा मैं किसी फ़र्म या रियासत को इन गाड़ियों के बनाने के लिए आवश्यक सहायता देने को प्रेरित कर सकूँगा। मेरा इरादा पहले इँगलैंड जाकर वायुयान-विभाग के विशेषज्ञों को अपना आविष्कार समझाने का है।

मुझको जो सज्जन सहायता देंगे उनके या उनके किसी प्रीतिपात्र के नाम पर पहली गाड़ी का नाम रक्खा जायगा। "हरक्यूलीज़" जिसका नाम वाइसराय लॉर्ड हार्डिंग ने बदलकर "दिल्ली नगर" (The City of Delhi) रख दिया था, इस हवाई गाड़ी के सामने खिलौना-सा जँचेगा। आशा है, हवाई गाड़ी शीघ्र ही आजकल के हवाई जहाज़ों से बढ़ जायगी। और उन सबको लुप्त कर देगी।

हिन्दुस्तान और विदेशों की रिपोर्ट से साबित

सरकार से रजिस्टर्ड

पीयूष सिन्धु

कफ, खांसी हैज़ा, दमा पेचिश, पेटदर्द, नज़ला बुखार, बालकों के हरे पीले दस्त, आदि रोगों की स्वादिष्ट और बिना अनोपान की अचूक दवा है। कीमत फी शीशी ॥) आठ आ. वी. पी. खरच एक से ३ तक ।≠) आना १२ शीशी का दाम सिर्फ ४≡) चार रु. तीन आना डाक खरच माफ

हाय ! खुजाते खुजाते मर चले

तो हम क्या करें हमने तो पहिले ही कहा था कि दादपर 'दादका काल' लगाओ वरना रोओगे।

दाद का काल

पुरानेसे पुराने व कठिनसे कठिन दादको बिना किसी कष्ट व जलन के २४ घंटे में जड़से खोने वाली मशहूर दवा है। की. फीशी. ।) खर्च १से३ तक ।≠) १२ शी.का मू. २।।।–) खर्च माफ

पता — सुन्दर शृङ्गार महौषधालय मथुरा।

सफ़ेद बाल १५ दिन में जड़ से काले

हज़ारों का बाल काला कर दिया। आपका जो बाल पकने लगा है, वह यदि मेरा 'बीर बूटी और बीरना' तेल से काला न निकले, तो दूना दाम वापस दूंगे विश्वास न हो, तो शर्त लिखा लें। दाम बड़ा बक्स ७) ; छोटा ४) १०२

पता — मैनेजर

बीरबीरना स्टोर,

न०४०, पो० कमतौल, जिला दरभंगा।

श्वेतकुष्ठ की असली जड़ी

इस जड़ी के एक ही रोज़ के तीन ही बार के लेप से सफ़ेदी जड़ से नष्ट न हो, तो दूना दाम वापस दूंगा। जो चाहें, प्रतिज्ञा पत्र लिखवा लें। दाम ३) गरीबों के लिये आधा दाम

पता — वैद्यराज

पं० मथुरा पाठक,

प्रोप्राइटर मिथिला मेडिकल हाल, ना० ..., दरभंगा।

पेटेंट वायुमुक्ता

हिस्टीरिया, मिर्गी और पागलों के लिये — कलकत्ता आदि स्थान के कई दवाखाने तीन साल से उपयोग कर रहे हैं, २ नं० १६५— १४ दाम ४) पोस्टेज अलग।

२४ घंटे में हिस्टीरिया का दौरा

दौरा रोकना, प्रायः मूर्च्छादि उपाधि भी हटाती है। पागल को जल्दी सावधान करती है। बच्चों, स्त्रियों और प्रसूता स्त्रियों की रक्षा करने के साथ-साथ फ़ायदा पहुँचाती है। ... नहीं रहती। सैकड़ों प्रमाणपत्र आ रहे हैं। हर जगह एजेंट चाहिए।

मा० एल० देशी नामावाल पैलेस रोड, बड़ौदा

"माधुरी" के नियम

मूल्य-विवरण

माधुरी का डाक-व्यय-सहित वार्षिक मूल्य ७॥), छ मास का ४) और प्रति संख्या का ।॥) है। वी० पी० से मँगाने में ≈) रजिस्ट्री के और देने पड़ेंगे। इसलिये ग्राहकों को मनीऑर्डर से ही चंदा भेज देना चाहिए। भारत के बाहर सर्वत्र वार्षिक मूल्य १०) छ महीने का ६) और प्रति संख्या का ।॥≈) है। वर्षारंभ श्रावण से होता है; और प्रति मास शुक्ल-पक्ष की सप्तमी को पत्रिका प्रकाशित हो जाती है। लेकिन ग्राहक बननेवाले सज्जन जिस संख्या से चाहें ग्राहक बन सकते हैं।

अप्राप्त संख्या

अगर कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे, तो अगले महीने के शुक्ल-पक्ष की सप्तमी तक कार्यालय को सूचना मिलनी चाहिए। लेकिन हमें सूचना देने के पहले स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस में उसकी जाँच करके डाकख़ाने का दिया हुआ उत्तर सूचना के साथ भेजना ज़रूरी है। उनको उस संख्या की दूसरा प्रति भेज दी जायगी। लेकिन उक्त तिथि के बाद सूचना मिलने से उस पर ध्यान नहीं दिया जायगा, और उस संख्या को ग्राहक ।॥−) के टिकट भेजने पर ही पा सकेंगे।

पत्र-व्यवहार

उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिए। अन्यथा पत्र का उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। पत्र के साथ ग्राहक-नंबर ज़रूर लिखना चाहिए। मूल्य या ग्राहक होने की सूचना मैनेजर "माधुरी" नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ के पते से आना चाहिए।

पता

ग्राहक होते समय अपना नाम और पता बहुत साफ़ अक्षरों में लिखना चाहिए। दो-एक महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध सीधे डाक-घर से ही कर लेना ठीक होगा। अधिक दिन के लिये बदलवाना हो, तो संख्या निकलने के १५ रोज़ पेश्तर उसकी सूचना माधुरी-ऑफ़िस को दे देनी चाहिए।

लेख आदि

लेख या कविता स्पष्ट अक्षरों में, काग़ज़ के एक ही ओर संशोधन के लिये इधर-उधर जगह छोड़कर, लिखी होनी चाहिए। क्रमशः प्रकाशित होने लायक बड़े लेख संपूर्ण आने चाहिए। किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का, उसे घटाने-बढ़ाने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का सारा अधिकार संपादक को है। जो नापसंद लेख संपादक लौटाना स्वीकार करेंगे, वे टिकट भेजने पर ही वापस किए जा सकते हैं। यदि लेखक लेना स्वीकार करते हैं, तो उपयोगी और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दिया जाता है। सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबंध लेखकों को ही करना चाहिए। हाँ, चित्र प्राप्त करने के लिये आवश्यक ख़र्च प्रकाशक देंगे।

लेख, कविता, चित्र, समालोचना के लिये प्रत्येक पुस्तक की २-२ प्रतियाँ और बदले के पत्र इस पते से भेजने चाहिए—

संपादक "माधुरी"
नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ।

विज्ञापन

किसी महीने में विज्ञापन बंद करना या बदलवाना हो, तो एक महीने पहले सूचना देनी चाहिए।

अश्लील विज्ञापन नहीं छपते। छपाई पेशगी ली जाती है। विज्ञापन की दर नीचे दी जाती है—

१ पृष्ठ या २ कालम की छपाई ... ... ३०) प्रति मास
१/२ ,, या १ ,, ,, ... १६) ,, ,,
१/४ ,, या १/२ ,, ,, ... १०) ,, ,,
१/८ ,, या १/४ ,, ,, ... ६) ,, ,,

कम-से-कम चौथाई कालम विज्ञापन छपानेवालों को माधुरी मुफ़्त मिलती है। साल-भर के विज्ञापनों पर उचित कमीशन दिया जाता है।

"माधुरी" में विज्ञापन छपानेवालों को बड़ा लाभ रहता है। कारण, इसका प्रत्येक विज्ञापन कम-से-कम ४,००,००० पढ़े लिखे धनी-मानी और सभ्य स्त्री-पुरुषों की नज़रों से गुज़र जाता है। सब बातों में हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ पत्रिका होने के कारण इसका प्रचार ख़ूब हो गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, एवं प्रत्येक ग्राहक से माधुरी ले-लेकर पढ़नेवालों की संख्या ४०-५० तक पहुँच जाती है।

यह सब होने पर भी हमने विज्ञापन-छपाई की दर अन्य अच्छी पत्रिकाओं से कम ही रक्खी है। कृपया शीघ्र अपना विज्ञापन माधुरी में छपाकर लाभ उठाइए। कम-से-कम एक बार परीक्षा तो अवश्य कीजिए।

निवेदक—मैनेजर "माधुरी", न० कि० प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ

क्या आप विज्ञापन छपाकर लाभ उठाना चाहते हैं ?

तो

माधुरी में अपना विज्ञापन छपाइए।

क्यों ?

इस लिए कि, माधुरी लोक-प्रिय पत्रिका है और इसके विज्ञापकों को सबसे अधिक लाभ होता है।

इसका सबूत के लिये माधुरी के विज्ञापन-पृष्ठ गिनिए

अस्तु, आज ही अपना विज्ञापन भेजिए

विज्ञापन छपाने के नियम

(क) विज्ञापन छपाने के पूर्व कंट्रेक्ट फ़ार्म भरकर भेजना चाहिए। कितने समय के लिये और किस स्थान पर छपेगा इत्यादि बातें साफ़-साफ़ लिखना चाहिए।

(ख) कुल विज्ञापन के ज़िम्मेदार विज्ञापनदाता ही समझे जायँगे। किसी तरह की शिकायत साबित होने पर विज्ञापन रोक दिया जायगा।

(ग) साल भर का या किसी निश्चित समय का ठेका तभी पक्का समझा जायगा, जब कम-से-कम तीन मास की विज्ञापन-छपाई पेशगी जमा कर दी जायगी और बाक़ी छपाई भी निश्चित समय पर अदा कर दी जायगी। अन्यथा कंट्रेक्ट पक्का न समझा जायगा।

(घ) अश्लील विज्ञापन न छापे जायँगे।

ख़ास रियायत

साल-भर के कंट्रेक्ट पर तीन मास की पेशगी छपाई देने से ६।) फ़ी सदी, ६ मास की देने से १२॥) और साल-भर की पूरी छपाई देने से २५) फ़ी सदी, इस रेट में, कमी कर दी जायगी।

विज्ञापन-छपाई का रेट

साधारण पूरा	पेज	३०)	प्रति	बार
,, १/२	,,	१६)	,,	,,
,, १/४	,,	१०)	,,	,,
,, १/८	,,	६)	,,	,,
कवर का दूसरा	,,	५०)	,,	,,
,, तीसरा	,,	४५)	,,	,,
,, चौथा	,,	६०)	,,	,,
दूसरे कवर के बाद का	,,	४०)	,,	,,
प्रिंटिंग मैटर के पहले का	,,	४०)	,,	,,
,, ,, बाद का	,,	४०)	,,	,,
प्रथम रंगीन चित्र के सामने का	,,	४०)	,,	,,
लेख-सूची के नीचे आधा	,,	२५)	,,	,,
,, ,, चौथाई	,,	१५)	,,	,,
प्रिंटिंग मैटर में आधा	,,	२०)	,,	,,

पता—मैनेजर "माधुरी", न० कि० प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ५ { चैत्र-शुक्ल ७, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०) —
खंड २ { ८ अप्रिल, १९२७ ई० } संख्या ३
} पूर्ण संख्या ५७

बिसारे बिसरत नाँहि

आँखिन न भावै, सुनै मीठी अति लागती है
  मीठी बात ह्याँ की जोग समुझि परत नाँहि :
जानो है 'बिसारद' गँवाओ निज हम अनि
  नेह पगे चित्त ये रुखाई पकरत नाँहि।
ऊधो ! इन अँगनि हमारे प्रति रोमु-रोमु
  व्यापि रह्यो रस सो निसारे निसरत नाँहि।
भसम रमाय कैसे ज्योति को धरैंगी ध्यान
  प्रानप्यारे कान्ह तौ बिसारे बिसरत नाँहि।

बलदेवप्रसाद टंडन (विशारद)

अंतिम विनय

कितनी अविरल धार बहाकर, हुए नयन मम ज्योति-विहीन।
सूख गया यह कंठ निरंतर करते-करते क्रंदन दीन।
कितनी अभिलाषाएँ अपनी, तुझ पर कर दीं बलिदान;
किंतु न अब तक हुआ निठुर ! हा ! तव निष्ठुरता का अवसान।
  सुननी ही होगी, पर, प्रियतम !
    मेरी अंतिम विनय विनीत--
  "मेरा हृदय बना दे पत्थर,
    या अपना कर दे नवनीत।"

सुमंगलप्रकाश गुप्त

इतिहास का प्रयोजन

स्वतंत्र राष्ट्र ही, वस्तुतः, इतिहास-शास्त्र के उच्च महत्त्व को समझते हैं। वे ही अपनी जाति के भविष्य-निर्माण में इसका स्थान जानते हैं। इससे तो किसी गंभीर विचारक की असहमति न होगी कि इतिहास केवल तिथि-घटना के उल्लेख-मात्र का नाम नहीं है। इतिहास वह व्यापक विज्ञान है जो अतीत, वर्तमान तथा भविष्य को एकसूत्रित किए रहता है। हम इतिहास का अनुशीलन केवल इसलिये नहीं करते कि अपने देश की या संसार की अतीत-कालीन घटनाओं का ज्ञान-मात्र प्राप्त करें, अपितु इसलिये कि उन घटनाओं के प्रकाश में अपने वर्तमान तथा भविष्य के कार्य-क्रम को निश्चित करें। यद्यपि मनुष्य इतिहास-निर्माण में केवल अकेला तत्त्व नहीं, जल-वायु, परिस्थिति, वातावरण आदि प्राकृतिक अवस्थाओं का भी इतिहास-रचना में पर्याप्त हाथ है; तथापि मनुष्य सबसे मुख्य तथा प्रधान प्रयोजक हेतु अवश्य है। इतिहास जातीय, सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक सब क्रियाओं की विवेचना का नामांतर है। उसका मुख्य प्रयोजन मनुष्य-जाति की सभ्यता के विकास का क्रमिक चित्र प्रस्तुत करना तथा उन उपायों तथा साधनों का उपस्थित करना है जिससे वह आगामी समय में अपनी सर्वतोमुखी उन्नति में सफल हो सके।

हम भिन्न-भिन्न विचारकों की इतिहास लिखने की भिन्न-भिन्न शैली का पर्यालोचन कर निम्न पाँच प्रकारों में इतिहास को विभक्त कर सकते हैं—

१. तिथि-घटना का इतिहास,

२. वीर-नायकों का इतिहास,

३. जाति का इतिहास,

४. प्राकृतिक अवस्थाओं का इतिहास, और

५. आदर्शों का इतिहास।

१. प्रथम तिथि-घटना के इतिहास के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। प्रारंभिक ज्ञान-मात्र के लिये इसकी उपयोगिता स्वीकार करने में किसी को संकोच नहीं हो सकता। एक छोटे बालक को केवल घटनाएँ बता देना ही पर्याप्त होता है। थोड़ा-थोड़ा तिथि-ज्ञान भी उसके लिये आवश्यक समझा जा सकता है। परंतु उच्च शिक्षा में तिथि-घटना के इतिहास का कोई मूल्य नहीं। इतिहास का अभिप्राय मस्तिष्क को उदार तथा विवेक-पूर्ण बनाना है। जिस व्यक्ति को इतिहास के अध्ययन से अपने ज्ञान तथा अनुभव में वृद्धि होती प्रतीत नहीं होती, वह वास्तव में इतिहास नहीं पढ़ता। एक विशेष अभिलाषा या कौतुकता (Curiosity) से पढ़ा गया इतिहास एक गंभीर विद्यार्थी के लिये बड़े महत्त्व का हो सकता है। जो केवल 'जानने' के लिये इतिहास पढ़ता है, वह भी अपना समय व्यर्थ गँवाता है। इतिहास पढ़नेवाले को यह तत्त्व अपने हृदय में रख लेना चाहिए कि अतीत और भविष्य का एक अविच्छेद्य अटूट संबंध है। भविष्य की सब क्रियाएँ अतीत पर आश्रित हैं। History repeats itself की उक्ति का यही मर्म है। तिथि-घटना के इतिहास में तो घटनाएँ केवल एक बार घटित होकर फिर अपने आपको कभी नहीं दोहरातीं, परंतु असंकीर्ण इतिहास में उनका बार-बार होना अप्राकृतिक नहीं।

२. वीर-नायकों का इतिहास, अथवा किसी जाति के महान् पुरुषों का इतिहास, कार्लाइल के कथनानुसार, उस जाति का इतिहास होता है। इस कथन में अवश्य अत्युक्ति है। यह ठीक है कि महान् पुरुषों की जीवनियाँ बहुत दूर तक उनके देशों के जातीय जीवन पर बड़ा असर डालती हैं, परंतु फिर भी उस जाति के सब पार्श्वों का दिग्दर्शन भी महान् पुरुषों के चरितों में उपलब्ध नहीं होता। ठीक है, वाशिंगटन का चरित अमेरिका के स्वतंत्रता-संग्राम (१७६३-८३) का इतिहास है। लिंकन का जीवन उस देश की गृह-युद्ध की अवस्था का चित्र है। परंतु क्या वास्तव में वाशिंगटन तथा लिंकन के चरित्रों के अध्ययन-मात्र से हम तत्कालीन सब अवस्थाओं का ज्ञान कर सकते हैं। कितनी ऐसी घटनाएँ हुई जिनका वाशिंगटन के जीवन के साथ कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं, परंतु उन्होंने अमेरिका की जनतंत्र-शासन-प्रणाली की आधार-शिलाओं के रखने में बड़ा हिस्सा लिया। जॉर्ज तृतीय तथा लॉर्ड नॉर्थ की संकुचित-चित्तता ने अमेरिका को स्वतंत्र होने में बहुत सहायता दी है। परंतु इनका उल्लेख भी वाशिंगटन के चरित में अप्रासंगिक हुए बिना नहीं रह सकता।

हम अपने देश के ही प्राचीन इतिहास की थोड़ी-सी मीमांसा कर देते हैं। क्या कोई भारतीय इतिहास-विज्ञान

का गंभीर विद्यार्थी श्रीराम के जीवनचरित से रामायण-कालीन इतिहास का पूरा चित्रण कर सकता है। लेखक के अनुशीलन में सबसे बड़ी कठिनाई यही है कि वह प्राचीन भारतीय ग्रंथों में व्यक्तियों के पीछे इतिहास को विलुप्त हुआ पाता है। महर्षि वाल्मीकि इतिहासकार नहीं कहे जा सकते संभवतः वे स्वयं भी इतिहास लिखने की अभिलाषा से श्रीरामचरित के निर्माण में प्रवृत्त नहीं हुए थे। वाल्मीकि-रामायण तो आदि-कवि की कविता है, जिसमें अतिशयोक्ति, कवि-समय-सिद्ध कल्पनाओं का अंश कम नहीं है। उसके वर्णन के आधार पर हम रामायण-कालीन सभ्यता, आचार विचार की मर्यादा, स्थापित नहीं कर सकते। जिस प्रकार किसी उपन्यासकार के तिलस्म के वर्णन से उपन्यासकार के समय की सभ्यता की जाँच भी नहीं कर सकते, उसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण की आख्यायिका से—जब कभी भी वह बनी—हम किसी विशेष समय का चित्रण नहीं कर सकते। यद्यपि महाभारत अवश्य कुछ अधिक ऐतिहासिक शैली पर लिखा गया, तो भी उसे महाभारत-कालीन सच्चा तथा पूरा इतिहास नहीं माना जा सकता। महाभारत के संबंध में हम आगे फिर कुछ कहेंगे। परंतु श्रीराम के चरित में तो हमारा यह तुच्छ-सा विचार है कि वह तत्कालीन-इतिहास के निदर्शन में सर्वथा असमर्थ है।

३. जाति या जनता का इतिहास महान् पुरुषों के चरितों की अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक इतिहास कहा जा सकता है। केवल राजवंशों का इतिहास इतिहास नहीं। केवल किसी देश के राज्य की संस्थाओं का वर्णन भी पूर्ण इतिहास नहीं कहला सकता। सच्चा इतिहास तो जाति के शारीरी (Organic) जीवन का इतिहास है। मुसलमान-विजेताओं के, बाप-बेटों के क़त्ल का अभिनय, यदि वास्तव में इतिहास हो सके, तो हिंदुस्तान में आज तक हिंदुओं का स्थान नहीं हो सकता। किसी पीड़ित, व्यथित, अत्याचार-दलित जाति की विरोध-शक्तियों, निर्बलताओं के प्रकाश के बिना कदापि उस जाति का इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता। हम केवल वायसरायों के नाम याद कर लेने से ब्रिटिश-राज्य के, हिंदुस्तान के इतिहासज्ञ नहीं बन सकते। लॉर्ड कर्ज़न के समय की राजकीय घटनाओं के साथ यदि जातीय राष्ट्र-महासभा के जन्म के ज्ञान को नहीं प्राप्त करते, तो वास्तव में हम अपने देश को नहीं जानते। क्या इंग्लैंड के इतिहास में चार्ल्स द्वितीय के समय किए गए जनता के आंदोलनों को, या जेम्स के समय व्यवहार में लाए गए गुप्त उपायों को छिपाया गया है? यदि १६८९ में अधिकार-बिल पास हुआ और अत्याचारी राजा को राजगद्दी से पदच्युत करना पड़ा, तो उसका समस्त विशद वर्णन हम इंग्लैंड के इतिहास में पाते हैं। क्या हमारे देश के इतिहास में दादाभाई, गोखले आदि राजनीतिक नेताओं, रामतीर्थ, विवेकानंद, राजा राममोहनराय, केशवचंद्र सेन, ऋषि दयानंद आदि समाज-सुधारकों का वर्णन तक भी नहीं आता? वह कदापि भारतवर्ष का इतिहास नहीं है, जिसमें शिवाजी के देशानुराग से प्रेरित प्रयत्नों का विस्तार में विवेचन नहीं होता। वह कदापि भारतवर्ष का इतिहास नहीं है जिसमें बाजीराव प्रभृति पेशवाओं के स्वदेश-स्वातंत्र्य के लिये किए गए उद्गारों का निर्देश-मात्र नहीं होता!

केवल कालकोठरी की घटनाओं, सन् सत्तावन के ग़दर, महारानी विक्टोरिया की घोषणाओं से भरा हुआ हमारा इतिहास नहीं कहा जा सकता। कभी ग़दर के संबंध में जनता के आंतरिक भावों और प्रेरणाओं का भी चित्रण हमारे किसी भारतीय इतिहास में किया गया है? हमारे देश के बालकों तथा नवयुवकों को भी उन्हीं पक्षपात-पूर्ण इतिहासों का अध्यापन कराया जाता है। इससे जहाँ अपने देश के भविष्य की हानि होती है, वहाँ वर्तमान में भी देश की कितनी साहित्यिक क्षति होती है।

यदि जाति या जनता का इतिहास ही वास्तविक इतिहास है, तो हिंदुस्तान में ऐसे उदार विचारकों की बड़ी आवश्यकता है जो कि ऐसे इतिहासों का, गंभीर गवेषणा के बाद निर्माण करें। जाति के इतिहास में केवल इतना लिखना पर्याप्त नहीं कि मनुष्यों ने क्या किया, और क्या नहीं किया, परंतु उनकी सर्वांगीण सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक तथा आचार-विचार-संबंधी उन्नति तथा अवनति का पूरा विवेचन सर्वथा आवश्यक है। इसमें यह बताना भी नितांत आवश्यक है कि किन बाह्य या आंतरिक परिस्थितियों ने उनके तत्कालीन विकास में प्रभाव डाला।

४. प्राकृतिक अवस्थाओं का इतिहास—कई विचारकों ने प्राकृतिक अवस्थाओं का इतिहास अलग कोटि में परिगणित किया है। परंतु लेखक इसको जाति

के इतिहास के अंतर्गत रखना अधिक तर्क-युक्त समझता है।

जाति किसी जन-संख्या-मात्र का नाम नहीं। जाति की सत्ता देश, धर्म, भाषा, इतिहास तथा राजनीतिक एकता, इन पाँच तत्त्वों से स्थापित होती है। घूमने-फिरने-वाले जन-समूह (Tribes) कभी जाति नहीं कहे जा सकते, चाहे वे एक धर्म, भाषा, इतिहास आदि के भी क्यों न हों। देश एक बड़ा तत्त्व है जो किसी जाति का निर्माण करता है। उसकी जल-वायु आदि प्राकृतिक अवस्थाएँ जाति की सभ्यता की रचना में बड़ा हिस्सा लेती हैं। यदि हिंदुस्तान में भागीरथी, ब्रह्मपुत्र आदि नदियाँ तथा हिमालय-सदृश पर्वत न होते, तो कदापि यहाँ आध्यात्मिक उन्नति की पराकाष्ठा न होती। जाह्नवी के पुण्य-सलिलों के अकलुष-स्वच्छ वातावरण में कितने ही भारतीय कवियों ने अपनी अमर कृतियों का निर्माण किया। काश्मीर की सौंदर्य-छटा से घिरी गिरि-कदराओं में न-मालूम कितने ऋषियों तथा तपस्वियों ने अपनी तथा अपने देश की उन्नति की।

इसी प्रकार प्रकृति से ही प्रेरित होकर, भारतवर्ष की नैसर्गिक सुरक्षित स्थिति से ही उत्साह पाकर, चंद्रगुप्त, समुद्रगुप्त प्रभृति सम्राटों ने इस देश में बड़े-बड़े वैभव-शाली साम्राज्यों का निर्माण किया।

परंतु यह स्पष्ट है कि इतिहास केवल भौगोलिक अवस्थाओं या प्राकृतिक परिस्थितियों के अध्ययन-मात्र तक समाप्त नहीं हो जाता। इतिहास तो एक अत्यंत विस्तृत विषय है।

५. आदर्शों का इतिहास—आदर्शों का व्यवहार-जगत् में काफ़ी बड़ा स्थान है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। आदर्श जहाँ महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों को जीवित रखते तथा उन्नत करते हैं, वहाँ जातियों को भी आदर्श, चेतन तथा उन्नतिशील बनाते हैं। इँगलैंड के राजनीतिज्ञ आदर्श-वादी कहे जा सकते हैं। वे कभी कोई कार्य शीघ्रता में नहीं करते। वे जानते हैं कि जाति के इतिहास में शताब्दियाँ या सहस्राब्दियाँ एक वर्ष के समान हैं। कभी किसी राजनीतिज्ञ ने इँगलैंड में यह महत्त्वा-कांक्षा नहीं की, वह अपने जीते-जीते अपने समाज या देश को अत्यंत समृद्ध अथवा पूर्ण देख जाय। इँगलैंड की प्रकृति ही अनुदारता-प्रिय है। वह सब काम धीरे-धीरे पसंद करती है। देश के कर्णधार लोग आदर्शों को अपने ही सम्मुख नहीं रखते, वरन्, उत्तराधिकारी संततियों के सम्मुख भी रखते हैं। यदि इस शताब्दि में वे उस आदर्श तक नहीं पहुँचे, तो आगामी सहस्राब्दि में ही सही। आदर्श रखना आवश्यक है।

इतिहास का इस प्रकाश में अध्ययन करना—कि हमारे पूर्वज क्या-क्या उन्नति की आशाएँ रखते थे, किनको वे फलीभूत कर सके, और किनको नहीं—भी जाति के इतिहास में सहायक हो सकता है। आदर्शों के इतिहास की अपनी सत्ता भी है, परंतु वस्तुतः वह जाति के इतिहास के अंतर्गत हो सकती है। निस्संदेह आदर्शों के इतिहास का अध्ययन आवश्यक तथा उपयोगी है, इसके बिना भी कोई इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता।

लेखक जाति या जनता के इतिहास की व्यापक सत्ता में उपर्युक्त सब प्रकारों को स्थान दे सकता है। जाति एक समवेत, राजनीतिक एकता, धर्म, भाषा से एकसूत्रित प्रकृति का नाम है। जाति के अंग उसकी प्राकृतिक अवस्थाओं, उसके महान् पुरुषों, उसके आदर्शों तथा सामयिक घट-नाओं से मिलकर बनते हैं। अतः उसका इतिहास इन सबका इतिहास है। जाति का सर्वांगीण इतिहास ही पूर्ण इतिहास है। इसी के अध्ययन से इतिहास का वास्तविक प्रयोजन सिद्ध हो सकता है।

इतिहास पढ़ाने का यह उद्देश्य कदापि नहीं कि तिथियों और घटनाओं से विद्यार्थी के दिमाग़ को भर दिया जाय, बल्कि उसमें मौलिक, स्वाभाविक, कार्य-कारण शृंखला-युक्त विचार करने की शक्ति को जागृत तथा उत्तेजित करना ही वास्तव में इतिहास पढ़ाने का प्रयोजन है। एक इतिहास का विद्यार्थी अतीत की सत्यताओं के आधार पर—अपनी दूर दृष्टि द्वारा—वर्तमान में घटित होती हुई घटनाओं के सच्चे अभिप्रायों को समझ लेता है, और उनका भविष्य के ऊपर पैदा होनेवाले प्रभावों को कल्पित कर लेता है। एक लेखक का कथन है कि "History is philosophy teaching by examples" अर्थात् इतिहास वह दर्शन-शास्त्र है जिसमें उदाहरणों तथा दृष्टांतों द्वारा शिक्षा दी जाती है। इस कथन में अवश्य बहुत तथ्य है। एक विचारक जो अपने विचारों को दुर्बोध सिद्धांत-शरीर में अभिव्यक्त करता है, वह कदापि मनुष्यों का उपकार नहीं कर सकता। केवल सिद्धांत

stract) में छिपा हुआ महान् सत्य भी तब तक हता है, जब तक उसे दृष्टांत (Concrete) रूप वर्णित नहीं किया जाता । इसीलिये उपनिषद् ताओं ने आध्यात्मिक तत्त्वों को सरल कहानियों मझाने का प्रयत्न किया है । बड़े-बड़े संसार के कथा-आख्यायिकाओं के प्रकार पर ही अपने उपदेश दिया करते हैं । एक ऐतिहासिक की शीघ्र हो किसी के दिमाग़ में घर कर सकती एक फ़िलोसोफ़र या विचारक के सूखे विचार

Truth embodied in a tale
Shall enter in at lowly doors.

: अरस्तू, सुक़रात आदि प्राचीन विचारकों ने सी प्रकार अपनी शिक्षाएँ दीं । इतिहास की ों द्वारा, उसके वीर नायकों के चरित्रों द्वारा कितने ों पर ऐसा अमिट असर पड़ा, जिसने उन्हें भी कांक्षी तथा वास्तव में योग्य नागरिक बना दिया । हास पढ़ते समय केवल 'जानना' कदापि यह उद्देश्य ना चाहिए । जिस महान् पुरुष का चरित पढ़ते हों, को उसी के स्थान में समझकर, फिर अन्य घटनाओं नुशीलन करना चाहिए । उदाहरणार्थ महाराना शिवाजी या लोकमान्य तिलक का इतिहास मे ढ़ते हुए, अपने को उसी स्थिति में अनुभव करना , जिनमें उपर्युक्त वीर थे, पुनः उनके जीवन का करना चाहिए । पढ़ते पढ़ते यह सदैव ध्यान में रखना कि वर्तमान समय में, किन उपायों से वही ाप्त किए जा सकते हैं जिनके लिये ये महान् पुरुष थे । इतिहास में, वस्तुतः, काल एक है । भूत, न, भविष्य तो केवल व्यावहारिक निर्देश हैं । आज मय एक दशाब्दि के बाद अतीत हो जायगा । द का समय एक शताब्दि के बाद अतीत हो जायगा । स इन तीनों व्यावहारिक कालों में व्याप्त है । न, जहाँ अतीत से अविच्छिन्न है, वहाँ भविष्य से विच्छिन्न है । प्रो० सीले ने बड़े भाव-पूर्ण शब्द लिखे "History should not merely gratify the r's curiosity about the past but modify his of the present."

हास वह महान् शिक्षणालय है जिसमें सत्य, तर्क तथा विचार का उदार पाठ पढ़ाया जाता है । इस शिक्षणालय का विद्यार्थी अपनी कल्पना-दृष्टि से जहाँ अतीत की सुदूर ज्योति को देखता है, वहाँ भविष्य के दुर्भेद्य अंधकार को भी चीरता है । उसे अपने पूर्वजों की उन्नति और अवनति का अभिमान या खेद वर्तमान तथा भविष्य में जागृत तथा कटिबद्ध होना सिखाता है । वह ठीक तरह से जानता है कि इसमें अध्ययन करते हुए उसे केवल 'जानना' ही नहीं, परंतु 'जानकर बताना' भी है । इतिहास-ज्ञान केवल ज्ञान-कोटि तक सीमित रह-कर हानि ही पहुँचाता है, लाभ नहीं । इतिहास-ज्ञान का असली क्षेत्र वर्तमान है, जहाँ पर पढ़े हुए पाठों द्वारा क्रियात्मक कार्य करना है और अपने देश में या किसी अन्य देश में किए गए परीक्षणों को ठीक तरह समझ-कर, उनको आगे सफल बनाना है । इस परीक्षण-शाला में परीक्षण कभी समाप्त नहीं होते । नई-नई वैज्ञानिक खोजों के साथ परीक्षणों के परिणामों में परिवर्तन आने स्वाभाविक हैं । बदली हुई सामाजिक अवस्थाओं तथा परिस्थितियों के अनुसार नई-नई संस्थाओं का आविष्कार करना इन्हीं परीक्षणों का काम है । यदि जन-तंत्र-शासन-प्रणाली (Democracy) नवीन सामाजिक विचारों के अनुसार अनुपयुक्त संस्था है, तो किसी और उपयोगी संस्था को ढूँढ़ निकालना इन्हीं परीक्षणों का कर्तव्य है । बड़े-बड़े इतिहासज्ञ, अतीत-काल के राजनीतिज्ञ हैं । वर्तमान के तथा अतीत-काल के राजनीतिज्ञ ही मिलकर इन परीक्षणों को कर सकते हैं और क्रमशः मनुष्य-जाति के विशाल शरीर में नए रुधिर आदि के संचार द्वारा आवश्यक परिवर्तन कर सकते हैं । "History is past politics and politics are present history." के कथन के अनुकूल इतिहास का यह महान् उद्देश्य है कि वह वर्तमान समाज में समयोचित विकास करे । इतिहास के विद्यार्थी का कर्तव्य नहीं कि वह वर्तमान संस्थाओं की उपेक्षा करे और अपने को अतीत के गर्भ में ही अंतर्लीन किए रक्खे । उसे वर्तमान की घटनाओं में भी उतनी ही रुचि होनी चाहिए, जितनी अतीत की घटनाओं में । ग्लेडस्टन के समय के इँगलैंड का अध्यापन करनेवाले के लिये आवश्यक है कि वह तत्कालीन शासन-प्रणाली के तत्त्वों को समझता हुआ, वर्तमान की प्रचलित शासन-पद्धति में गुण और दोष प्रकट करे जिनमें वृद्धि या

कमी करने की ज़रूरत है। वर्तमान की घटनाओं को अनुशीलन करते हुए उसे यह अपना कर्तव्य समझना चाहिए कि वह इतिहास के प्रकाश में नवीनताओं को बनाए और उनके संभव परिणामों का भी विवेचन करे। तभी इतिहास पढ़ना वास्तव में कोई अर्थ रखता है। अन्यथा इस विज्ञान को अध्ययन करने का कोई प्रयोजन नहीं। यह विज्ञान तो सजीव, क्रियाशील विद्यार्थी के लिये है, केवल विचार-प्रिय के लिये नहीं। 'कोई नृप होय हमें का हानि' की उपेक्षा-वृत्तिवाले के लिये यह इतिहास-शास्त्र नहीं।

For forms of government let fools contenst;
Whatever is best administered is best;

अथवा

How small of all that human hearts endure
That part which Kings or laws can cause or cure.

इन पंक्तियों के उपासकों के लिये इतिहास पढ़ने का कोई अभिप्राय नहीं। इतिहास का सच्चा विद्यार्थी तो वह है जो अपने को राष्ट्र का एक जीवित, चेतना-युक्त अंग समझे और उसकी उन्नति या अवनति में अपनी उन्नति या अवनति समझे।

इतिहास वह ख़ज़ाना है जिसमें मानुषीय अनंत अनुभवों के रत्न पड़े हैं। इनकी ज्योत्स्ना में ही ऐतिहासिक को वर्तमान तथा भविष्य का निर्माण करना होता है। कार्लाइल के शब्दों में, जितना हम अतीत के अंधकार में अपनी गवेषणा अधिकाधिक दृढ़ता से करते हैं, उतना ही हम ज्ञान के स्रोत के समीप पहुँचते हैं, जिसके पवित्र जल के द्वारा ही निष्णात होकर हम वर्तमान की घटनाओं को ठीक तरह समझ सकते और भविष्य में उनके परिणामों को देख सकते हैं। अतः इतिहास-ज्ञान किसी राष्ट्र के अभ्युदय के लिये नितांत आवश्यक है।

देश-भक्ति के संबंध को विशद करने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक गंभीर विचारक की इस विषय में सहमति होगी कि उपर्युक्त इतिहास के प्रयोजनों के सिवाय देश-भक्ति का भाव भरना भी इतिहास का एक मुख्य प्रयोजन है। यदि भारतवर्ष में स्वाधीनता-संग्राम में सबसे बड़ा सहायक तत्त्व कोई है, तो हमारे देश की प्राचीन वृद्धता, वैभवशालिता, विज्ञान-विज्ञता आदि। हम कितनी बार अपने अशिक्षित भाइयों को उनके उन्नत अतीत-काल का स्मरण कराकर ही वर्तमान स्वतंत्रता-संघर्ष के लिये उत्तेजित तथा कटिबद्ध करते हैं।

इतिहास के परिज्ञान-संबंधी मूल्य पर तो सभी एकमत हैं। उसके पथ-प्रदर्शकता-संबंधी मूल्य पर कुछ विचार-भेद है। हमने पहले की कुछ पंक्तियों में यह स्पष्ट करने का यत्न किया है कि किस प्रकार इतिहास हमें अपने कर्तव्यों के प्रति अधिक समझदार बनाता है। हम किस प्रकार इसके अध्ययन से अपने भविष्य के निर्माण में सहायता लेते हैं, इत्यादि। सिसरो ने इतिहास का स्वरूप बड़े सुंदर शब्दों में प्रदर्शित किया है—

"The witness of times, the light of truth, and the mistress of life."

इसी प्रकार डिओडरस् ने भी

"A handmaid of Providence, a priestess of truth and a mother of life."

इन भाव-पूर्ण शब्दों में इतिहास के महत्त्व को चित्रित किया है। निस्संदेह इतिहास हमारे सब कर्मों का साक्षी है, उसी के विशाल पट्ट पर लिखे गए अनुभवों के आधार पर हम भावी उन्नति के मार्ग का अन्वेषण कर सकते हैं। यदि मनुष्य-जाति की स्मृति से सब इतिहास को नष्ट कर दिया जाय, तो वह आगे आत्म-विकास करने के लिये सर्वथा निस्सहाय हो जायगी।

इतिहास को जीवित रखना, मनुष्य-जाति को जीवित रखना है। इतिहास को नष्ट करना मनुष्य-जाति को नष्ट करना है। अतः इतिहास की रक्षा सर्वथा आवश्यक है। इसके प्रयोजनों और उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, इसके निर्माण में, कदापि कोई शिथिलता नहीं होनी चाहिए।

इस संबंध में लेखक एक प्रचलित भ्रम को मिटा देना ज़रूरी समझता है। यह कहना कि समाचार-पत्र ही इतिहास की रक्षा करते हैं, ठीक नहीं। केवल समाचार-पत्रों के आधार पर लिखा गया इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता। वह अधूरा है। क्यों? इसलिये कि समाचार-पत्र आपवादिक घटनाओं को प्रायः उद्धृत करते हैं, आवश्यक घटनाओं को नहीं। यदि किसी पत्र में चोरी, डाके, लूट की घटनाओं का वर्णन रहता है, तो क्या कोई ऐतिहासिक यही परिणाम निकाले कि पत्र प्रकाशित होने के काल में केवल चोरी डाके आदि ही होते थे? क्या उस समय

कोई सामाजिक या राजनीतिक उन्नति नहीं हुई थी ? हमने कहा है कि समाचार-पत्र ज़रूरी, आवश्यक घटनाओं का उल्लेख नहीं करते, केवल उनका उल्लेख करते हैं जो अपवाद-रूप में घटित होती हैं। चोरी, डाके सदा नहीं होते। कभी-कभी होते हैं। अतः समाचार-पत्र, जनता के परिज्ञान के लिये, उनका प्रकाशन करते हैं। इसी प्रकार एक महायुद्ध का वर्णन बहुत विस्तार में किया जाता है, और एक शांतिमय, पारस्परिक निर्णय का थोड़े में। एक ऐतिहासिक को समाचार-पत्रों के बड़े-बड़े काले शीर्षकों से शीघ्रता से कभी परिणाम न निकालने चाहिए। उसे अपने खोज के काल के पूर्ण-साहित्य (गवर्नमेंट गज़ट, पुस्तक, पत्रिका, पत्र आदि) का अध्ययन करना चाहिए, तदनंतर निष्पक्ष-भाव से इतिहास लिखना चाहिए।

इतिहास लिखने की कठिनता कम नहीं। सभी इस महत्त्व-पूर्ण विज्ञान पर अपनी क़लम नहीं उठा सकते। कितने ही अविवेकी, पक्षपाती लेखकों के कारण भारतवर्ष के सच्चे इतिहास-निर्माण में बड़ी कठिनाई हो रही है।

अंत में हमें फिर इतिहास के उदार प्रयोजन पर एक शब्द लिखना है। इसके अध्ययन के प्रकारों पर हम पर्याप्त लिख चुके हैं। यदि हमारे देश को पुनरुत्थान करना है, तो अपनी विलुप्त ऐतिहासिक राज्य-संस्थाओं शासन-पद्धतियों का हमें पुनर्निर्माण करना होगा। अपने उज्ज्वल अतीत के आश्रय पर ही हम जातीय आत्म-सम्मान को पुनः स्थापित कर सकते हैं। इतिहास का प्रयोजन इतना ही है कि यह हमें उत्साहित करे, और आगे बढ़ने के लिये प्रेरणा दे। इसका यही अभिप्राय है कि यह हमारी क्रमिक उन्नति में सहायक हो और हमें कदापि निष्क्रिय न होने दे।

इंद्र विद्यालंकार

महाकाल

आज प्रलय की महारात्रि में,
गौरव के घमंड में चूर;
कड़क-कड़क कड़-कड़ बिजली-सा,
ओ प्रचंड-विद्रोही-क्रूर !
लेकर लाल मसाल चिता की,
किसी क्रोध का बनकर शाप;
किसे खोजना है विप्लव-सा,
रणचंडी रण में चुपचाप।
नग्न कृपाणों पर चमकाकर,
सूर्य-विजय उन्माद-प्रताप;
सेनापति के रौद्र वेष में,
दौड़-दौड़ प्रलयंकर-पाप !
पटक-पटककर विस्फोटक बम,
दुष्ट ! ग्राम-के-ग्राम उजाड़;
रक्त-धूम्र आँखें कर क्रोधी !
खेल रहा कैसे खिलवाड़ ?
दाँत पीस दुर्भिक्ष देश में,
प्लेग महामारी के साथ;
थर्राकर मेदिनी बदन तू,
हिला जटिल जीवन आकाश !
आशा की सुकुमार लता पर,
तू तुषार के पत्थर डाल,
पढ़ता है किस अंत-शक्ति का
मंत्र, मौन-खूनी चंडाल !
फैलाकर विद्रोह जटाएँ,
नाच-नाचकर नंग धड़ंग;
झलका रक्त-त्रिपुंड भाल पर,
कोटि-कोटि फन काढ़ भुजंग;
झंझाहत-सागर-तरंग-सा,
उमड़-उमड़कर चारों ओर;
चुनता है क्यों प्राण-जवाहिर,
चुपके-चुपके चलकर चोर !
बीस कोटि का काढ़ कलेजा,
श्रद्धानंद-व्रती को मार,
ले प्रचंड यम-दंड हाथ में,
पाप पिशाचों को ललकार;
लील लहू की लथपथ लाशें,
गिन कनिष्ठिका पर दिन मास;
अरे भयंकर ! सोच रहा है,
किस हिंसा की भीषण-साँस ?

"गुलाब"

बंगाली सरजेंट बोस की परीक्षा

तीन हज़ार फ़ुट ऊपर से कूदना

बीस बरस की बात है, जापान में एक दिन एक दुखी दुर्बल बंगाली युवक आया। उसने हिंदोस्तान में कोई ऊँची शिक्षा नहीं पाई थी, न घर का धनी था। परंतु देश-सेवा की लहर उसमें बह रही थी जो सन् १६०७ के पहले से प्रवाहित हो रही थी। वह देश के लिये जीवन-त्याग करने को तैयार था और फ़ौजी काम सीखने आया था; परंतु उसका शरीर सैनिक सेवा के योग्य न था और न वह फ़ौजी स्कूल में बिना सरकार अँगरेज़ की आज्ञा के भरती हो सकता था। जापान में भी उसकी यह आशा पूरी नहीं हुई। तब उसने कला-कौशल सीखना चाहा, पर इसमें कृतकार्य न हुआ। तब विद्याध्ययन के लिये अमेरिका पहुँचा, परंतु शरीर का निर्बल था, मेहनत-मज़ूरी उससे न हो सकी, पढ़ना कैसा। अंत में तमाशेवाले मदारियों और सरकसवालों के साथ होकर किसी प्रकार निर्वाह करने लगा। यहाँ तक कि जीवन से हताश होकर उसने तमाशों में ऐसे काम करना शुरू किया जिसमें जान-जोखम हो। मेरे साथ कुछ दिन वह कारवैलिस ओरेगन में मेहमान रहा और कुछ दिन कॉलेज में भी रहा; परंतु आख़िर यह कहकर चला गया कि मैं इसी देश में जान दूँगा, अब घर न लौटूँगा, या तो सैनिक शिक्षा प्राप्त करूँगा या मर जाऊँगा। बरसों गुज़र गए, बोस का कुछ पता न लगा। उसके साथी समझे, वह मर मिटा। परंतु अब ख़बर मिली है कि बोस, वही बोस, अभी ज़िंदा है और वह फ़्लैग सरजेंट रैंडल बोस के नाम से मशहूर है। अमेरिका में उसने वायुयान-विभाग में नाम पाया है और पत्रों में उसकी बहादुरी की तारीफ़ छपी है।

बोस सरकस-कंपनियों और जादूगरों के साथ रहता, कूदता-फाँदता, खेलों में तलवार-बंदूक़ का निशाना बनता, हमेशा ऐसी नौकरी या काम लेता जिसमें जान जाने का भय हो, क्योंकि सहज काम अमेरिका में बोस को कौन देता। होते-होते वह अमेरिका-निवासी बनकर फ़ौजी जहाज़ पर नौकर हो गया। महासमर के दिनों हवाई जहाज़ पर तजुरबे के लिये बैठनेवालों की ज़रूरत थी, क्योंकि हज़ारों ही आदमी हवाई सफ़र में मर चुके थे और तजुरबे के लिये जान देनेवाले कम मिलते थे। बोस, जो जान हथेली पर रक्खे फिरता था, एक ईसाई पादरी की सहायता से ईसाई बनकर हवाई-विभाग में दाख़िल हो गया, और जब हवाई जहाज़ पर उड़ने में अभ्यस्त हो गया, तो उसने हवाई जहाज़ पर से नीचे कूदने का अभ्यास करना शुरू किया। पहले तो वह थोड़ी ऊँचाई से छतरी के सहारे गुब्बारे से फाँदता रहा, फिर धीरे-धीरे छतरी ही के सहारे हवाई जहाज़ पर से फाँदने लगा। बात यह है कि जहाँ हवाई जहाज़ ऊपर से गोले बरसाते हैं, वहाँ ऐसी आस्मानी तोपें भी हैं जो वायुयान को एकदम नाश करके उड़नेवाले सिपाहियों को ज़मीन पर गिरा देती हैं। अतएव ज़रूरत है कि ऐसे साधन बनाए जायँ जिनसे आदमी छतरी के ज़रिए धीरे-धीरे पृथ्वी पर गिरे। इसीलिये पैराशूट नामी छतुरियाँ बनाई गईं, जिनसे सफलतापूर्वक काम लेने के लिये वैज्ञानिक लोग परीक्षा कर रहे थे, परंतु इस परीक्षा में साहसवाले मनुष्यों की आवश्यकता थी जो जल्दी नहीं मिलते। बोस तो सदैव हथेली पर जान रक्खे फिरते ही थे, इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और ३००० फ़ुट की ऊँचाई से पैराशूट के द्वारा, फाँदने में सफल हो गए। बिना किसी सहारे के अधिक ऊँचाई से फाँदना मृत्यु के मुँह में जाना है, क्योंकि गिरते ही लोग बेहोश हो जाते हैं। आख़िर सरजेंट बोस से कहा गया कि वह एक रोज़ १००० फ़ुट की ऊँचाई से बिना सहारे के कूदकर देखें कि आदमी बेहोश कैसे होता है। बोस ने अपने हवाई कप्तान का हुक्म मान लिया और परीक्षा करने को तैयार हो गए। परंतु इस परीक्षण में मरना अवश्यंभावी था, क्योंकि पैराशूट खोलकर तब तक सहायता लेने की इजाज़त न थी जब तक कि गिरते-गिरते बेहोशी न आवे। बोस सोचने लगा, यदि वह गिरते-गिरते पहले ही से बेहोश हो गया, तो पैराशूट कौन खोलेगा? फिर संभव है पैराशूट की गाँठ जल्दी में न खुली या पैराशूट की फ़ौलादी तीलियाँ एकदम उछलकर खुल न सकीं, तो इस परीक्षा में प्राणों का वारा-न्यारा है। परंतु अब तो परीक्षा का दिन निश्चित हो चुका, पत्रों में सूचना दी जा चुकी, हवाई-विभाग के बड़े-बड़े अधिकारियों को न्योता जा चुका था। आख़िर बोस बाबू वायु-

बोस बाबू वायुयान से कूदने को तैयार हो गए

यान से कूदने को तैयार हो गए। निर्दिष्ट समय पर हवाई स्टेशन पर हज़ारों आदमी जमा हुए, हवाई और फ़ौजी आफ़िसर भी आए और बोस बाबू को हवाई जहाज़ पर बिठाकर कप्तान ने जहाज़ को उड़ाया। वायुयान ३००० फ़ुट तक ऊँचा उड़ गया, फिर चक्कर मारकर एकबारगी हवाई दफ़्तर की चोटी पर ठहर गया। बोस बाबू ने एक बार उस सूराख़ पर आकर झाँका जहाँ से बम छोड़े जाते हैं। उसने अंतिम बार पृथ्वी-माता के दर्शन किए और उन आदमियों को देखा जो सर उठाए वायुयान की ओर देख रहे थे। उसने समझा कि यह अंतिम समय है। सबको नमस्कार कर उसने कप्तान को आज्ञा ली, वायुयान के बीचों-बीच लगी हुई एक लोहे की सलाख़ को पकड़कर लटक गया और एक, दो, तीन के इशारे पर सलाख़ छोड़ नीचे आ रहा। अभी तक बोस को कोई नई बात मालूम नहीं हुई, क्योंकि वह इस कूद-फाँद में अभ्यस्त था। परंतु उसके कूदते ही पहले तो वायुयान के वेग से घूमते हुए मोटर की हवा ने उसको अपनी सीध से हटा दिया और उसका थप्पड़ इस ज़ोर से पड़ा कि उसे चक्कर आ गया। उससे सँभलते ही तोप के चलने की आवाज़ हुई जो वायुयान से सूचनार्थ छोड़ी गई थी। बोस कहता है कि इस की आवाज़ और धक्के से उसको ऐसा मालूम हुआ कि उसकी सारी हड्डियाँ टूट गईं और वह सीधा न रह सका। उसका सर नीचे की तरफ़ झुकने लगा। अभी सँभलने न पाया था कि ज़मीन की ओर से आनेवाले एक ओर के झोंके ने उसे अपने घेरे में ले लिया। उसकी गति इतनी प्रचंड थी कि बोस का सिर नीचे और टाँगें ऊपर होने लगीं।

बोस का सिर नीचे और टाँगें ऊपर होने लगीं

अब बोस बहुत चिंतित हुआ। उसने बहुत कुछ प्रयत्न किया कि वह सीधा हो जाय, परंतु न हो सका। तब उसने चाहा कि पैराशूट को खोल दे। परंतु उलटे लटकने की अवस्था में पैराशूट खोलने से कंधे पर झटका लगने और हँसली उतर जाने का भय था। पैराशूट का धक्का भी गोली लगने के बराबर ही दुखदाई होता है। बोस ये धक्के खा चुका था, इसलिये वह इस दशा में पैराशूट खोलना नहीं चाहता था। इसी सोच-विचार में उसे जान पड़ा कि वह बेहोश हो रहा है और उसके हाथ-पैर की हरकत बंद हो रही है। तब उसने सोचा कि बेहोश होकर गिरने से मृत्यु तो निश्चय है हो, इसलिये पैराशूट का धक्का बरदाश्त करो। क्योंकि यदि उँगली बेक़ाबू हो गई, तो पैराशूट की घुंडी कौन खोलेगा। यह सोचकर उसने छतुरी की डोरी खींच ली और फंदा खुलते ही छतुरी पड़ाक से खुल गई। परंतु उसके धक्के से बोस को ऐसी पीड़ा हुई कि वह समझा, कंधा उड़ गया। इसके बाद उसे कुछ होश न रहा, वह अचेत हो गया। परंतु छतुरी के खुलते ही बोस सीधा हो गया और उसे होश आ गया। अब क्या था, वह धीरे-धीरे ज़मीन पर आ पहुँचा। लोगों ने दौड़कर उसका स्वागत किया।

छतुरी के खुलते ही बोस सीधा हो गया

परंतु बोस के कंधे में बड़ी चोट लगी थी । अभी तक वह अचेत था । तीन दिन बोखार में पड़े रहने के बाद चौथे दिन उसे होश आया । चौथे दिन फिर उसी वायुयान पर बैठकर ३००० फ़ुट की ऊँचाई से वह फिर कूदा और सही-सलामत गिरकर साइनेमा का तमाशा देखने गया । हिंदुस्तान में बोस के लिये कोई स्थान न था ; परंतु आज वही बोस अमेरिका में हवाई सरजेंट और मशहूर पेराशूटर है ।

महेशचरणसिंह

गुजरात का हिंदी-साहित्य

(१)

हिंदी-भाषा को भारत की राष्ट्र-भाषा होने का सम्मान, आज हो नहीं, शताब्दियों से प्राप्त हो चुका है। संस्कृत-भाषा की ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और अधिक लाड़ली कन्या हिंदी क्यों है ? और उसके इतने अधिक सम्मानित होने का क्या कारण है? यह बात उस भाषा के इतिहास से अच्छी तरह ज्ञात हो सकती है, पर अभी उसका इतिहास अधूरा है । हिंदी-भाषा की आरंभिक अवस्था की खोज के विषय में, हिंदी-संसार. स्व० गुलेरीजी का चिर उपकृत रहेगा । साहित्य के इतिहास को खोज का हो जहाँ आरंभ है, वहाँ सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखे जाने के लिये तो समय चाहिए । हिंदी-भाषा का गुण-गान बंगाल के विद्यापति चंडीदास से लेकर देहली, आगरा और लखनऊ के उर्दू-शायरों ने : पंजाब के बाबा नानकादि गुरुओं ने : राजपूताना और गुजरात के भाट-चारणों से लेकर साधु-संत और राजा-रानियों ने : महाराष्ट्र के अखिल संतों तथा मदरास के प्राचीन-अर्वाचीन उदारचेताओं तक ने किया है: पर भाषा-भाषियों ने भी हिंदी-साहित्य को प्रेम-वारि से खूब सींचा है । प्राचीन शिला-लेख, ताम्र-पत्र, ग्रंथ, असली ऐतिहासिक काग़ज़ात, सिक्के, प्राचीन और अर्वाचीन स्वदेशी और विदेशीय ग्रंथ आदि में जहाँ हिंदी-साहित्य का एक धागा उलझा हुआ है, वहाँ उसका दूसरा धागा भाट-चारणों के गीत, दंत-कथाओं आदि में भी है, और हर्ष की बात है कि साहित्य के इन प्रत्येक अंगों में हिंदी-भाषा का उज्ज्वल भाग बना हुआ है । भाषा-प्रचार और साहित्य रचना की दृष्टि से अन्य भाषा-भाषी प्रांतों पर भी हिंदी का सिक्का जमा हुआ है, और, वे हिंदी-भाषा के इतिहास के उज्ज्वल भाग हैं । इन पंक्तियों का लेखक महाराष्ट्र के प्राचीन हिंदी-साहित्य की चर्चा पहले कई बार कर चुका है * पर, आज इसे हिंदी-साहित्य के इतिहास के एक और प्रधान भाग की चर्चा करनी है । अस्तु ।

लिपि-सौंदर्य, भाव-सौंदर्य, उज्ज्वल इतिहास, साहित्य-विस्तार और सुगम-रचना के लिहाज़ से, हम दावे के साथ यह कहने के लिये तैयार हैं कि अन्य भारतीय भाषा ही क्या ; संसार की कोई भी भाषा इस भारतीय राष्ट्र-भाषा हिंदी का मुक़ाबला नहीं कर सकेगी । ऐसी दशा में यदि गुजरात-जैसा प्रांत भी हिंदी को सम्मानित करे, तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं । तिस पर भी गुजराती का तो हिंदी से मा-बेटी का-सा संबंध है । डॉ० गुणे या 'इतिहास तत्त्वमहोदधि' सम्माननीय विजेंद्र सूरिजी जैसे विद्वान् भले ही गुजराती की प्राचीनता को छठवीं शताब्दी तक ले जावें, पर हम, प्राकृत-भाषा से ही अन्य भारतीय देशी भाषाएँ उत्पन्न होने की बात स्वीकृत करते हुए भी यह कहने के लिये तैयार हैं कि गुजराती-साहित्य को तो हिंदी ने ही बनाया है । गुजरात में वल्लभीय संप्रदाय का अधिक प्रचार और प्रभाव, सूर, मीरा के वैष्णव-गान नाथ पंथियों के कबीरी लटके और उत्तरीय भारत के भक्ति-भाजन तीर्थ-स्थानों के कारण हिंदी ने गुजरात पर भी अपना आधिपत्य जमाया । गुजरात और राजपूताने पर राजपूतों का एक-छत्र राज होना भी उसका कारण कहा जा सकता है । गुजरात में हिंदी के प्रचार के कारण और वहाँ के हिंदी-साहित्य के इतिहास की बात तो दूर रही : स्वयं गुजराती-भाषा ही हिंदी से निकली है अर्थात् वह पश्चिमी हिंदी का ही रूप है । इस बात के कई साक्षी हैं, प्रसिद्ध विद्वान्, गुजराती-भाषा के इतिहास-लेखक, श्रीयुत व्रजलालजी का कथन है कि गुजराती पर हिंदी का पूरा प्रभाव पड़ा है और गुजराती विशेषतः उत्तरीय भाषा से ही अधिकतर समानता रखती है । गुजरात के इतिहास-लेखक फार्बस आदि

* देखिए हिंदी-साहित्य-सम्मेलन लेख-माला, बंबई 'मराठों का हिंदी से प्राचीन और नवीन संबंध', "चित्र-मय जगत्"

का भी कथन है कि गुजरात के लोग उत्तरीय भारत से ही उधर गए; अतः गुजराती-भाषा भी हिंदी का ही रूप मानी जावे, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसके लिये एक और बाहरी प्रमाण भी मौजूद है और वह यह है कि गुजरात के आदिकवि नरसी मेहता से लगाकर प्रायः सभी प्राचीन और कुछ आधुनिक गुजराती-लेखक और कवियों ने हिंदी को अपनाकर उसकी सेवा भी की है। अभी तक १४वीं शताब्दी के पूर्व का कोई गुजराती-ग्रंथ या लेख प्राप्त नहीं हुआ है, पर हिंदी में तो उसके पूर्व ही पृथ्वीराज-रासो-जैसे बृहत् और असाधारण ग्रंथों का आविर्भाव हो चुका था। ऐसी दशा में राजपूताना और गुजरात के राजपूतों के सम्मुख भाट-चारणों के द्वारा तथा अन्यान्य उपायों से गुजराती पर हिंदी का प्रभाव पड़ना संभव और स्वाभाविक ही है। श्रीयुत प्राणशंकरजी उपाध्याय-नामक एक हिंदी-प्रेमी गुजराती सज्जन लिखते हैं कि 'एमां कशो शक न थी के गुजराती-भाषा पर बृज-भाषा नो प्रभाव पड्यो न होत, तो आजे गुजराती भाषानुं कांई बीजूं ज स्वरूप बधायो होत।' अस्तु।

बरार में श्रीगुलाबराव महाराज नाम के एक प्रसिद्ध साधु, अभी हाल ही में, हो गए हैं। इतिहास से उनको बड़ी अभिरुचि थी और हिंदी-गुजराती-भाषा पर उनको उतना ही प्रेम था, जितना कि अपनी मातृ-भाषा मराठी पर। उन्हें गुजरात से एक ग्रंथ की उपलब्धि हुई थी, जिसमें हिंदी के आदिम रूप के साथ-ही-साथ गुजराती का भी कुछ रूप देख पड़ता था। दुर्भाग्य से गुलाबरावजी का स्वर्गवास हो जाने के कारण अब इस समय उक्त ग्रंथ का पता नहीं चल सकता। अन्यथा स्वर्गीय गुलेरीजी की लेख-माला 'हिंदी का क्रम-विकास' तथा मिश्रबंधु-विनोद के लिये वह ग्रंथ बड़ा सहायक होता। उसी के आधार पर गुलाबरावजी इस बात का प्रतिपादन करते थे कि हिंदी-भाषा का उत्पत्ति-काल कम-से-कम ९वीं शताब्दी के अनंतर का तो हो ही नहीं सकता। अस्तु। परलोकगत मुंशी देवीप्रसादजी का कथन था कि प्रसिद्ध गुर्जर-नरेश सिद्धराज जयसिंह के पहले से ही भाट-चारण गुजरात में हिंदी-भाषा का प्रचार करते थे और एक मुसलमान ने तो अपने मुक़द्दमे का हाल हिंदी कविता में पेश किया था और राजा ने उसके साथ खंभात में जाकर इंसाफ़ भी किया था। इस घटना का हाल सुलतान शमसुद्दीन के राज-काल में रचे हुए "जामे उल-हिकायत" में लिखा है। गुजरात और मारवाड़ की सीमाएँ मिली हुई हैं और प्रायः गुजरात के राजपूत राजाओं का संबंध राजपूताने के राजाओं से ही हुआ करता था। इस कारण से भी गुजरात में हिंदी का अधिकरूपेण प्रचार हुआ था। फिर जब अहमदाबाद के मुसलमानी राज्य की नींव जमी, उस समय से तो राज-दरबार में विशेषरूपेण हिंदी का ही उपयोग किया जाने लगा था। अस्तु।

अब हम गुजरात के आदि कवि से लगाकर आज तक के गुजराती-हिंदी-सेवियों का परिचय कराते हैं—

१. नरसी मेहता

इनका समय संवत् १४७० से १५३० विक्रमी है। ये जूनागढ़-निवासी नागर-ब्राह्मण आद्य गुजराती कवि माने जाते हैं। यद्यपि वे शैव थे, पर वल्लभ-पूर्व कालीन वैष्णव-धर्म का उन पर पूरा प्रभाव पड़ा था। उनके भक्ति-पूर्ण जीवन की कई दंत-कथाएँ प्रचलित हैं और उन्हीं के आधार पर रचा हुआ 'नरसी मेता को ब्याह', नरसी मेता को मायरो आदि साहित्य हमारी जन्म-भूमि मालवे की ग्रामीण हिंदी-भाषा में भी प्रकाशित और अप्रकाशित उपलब्ध हैं। इनके हारमाला, रासमाला आदि कई गुजराती तथा शामलदास का विवाह और कुछ पद्य हिंदी में भी हैं। ७४ वर्ष पूर्व के कृष्णानंद व्यासदेव रचित रागसागरोद्भव, रागकल्पद्रुम-ग्रंथ में अन्यान्य हिंदी-कवियों के साथ ही नरसी के भी पद दिए हैं, पर गुजराती विद्वानों को उनके हिंदी कवि होने में तथा उन पदों के उन्हीं की रचना होने में संदेह है। तिस पर भी यह बात तो सभी एकस्वर से स्वीकार करते हैं कि उनकी कविता में मराठी-भाषा के प्रयोग या संप्रदाय पाए जाने पर भी हिंदी का भी उस पर स्पष्ट रूप से पूरा प्रभाव पड़ा हुआ दिखाई देता है। उनके हिंदी-पद का नमूना यह है—

पद

कुंजभवन में खोजती, खोजत मदनगुपाल
प्राणनाथ पावे नहीं, ताते व्याकुल भई बृजबाल
चलत-चलत व्याकुल भई बृजबाला।
ढूंढ़ती फिरे आप ताल तमाल
जाइ बूझती चंपक जाइ-काहू देख्यो नंदजी को लाड़
पिया-संग एकांत रस-विलसत राधा नार
कंध चढ़ावन को कह्यो-ताते तज गए जु मुरारि
तहाँ और सखी सब आइ काहु देख्यो मोनराइ
मैं तो मान कियो मोरी बाई ताते तज गए जु कोहाइ

२. मीनाबाई

यद्यपि ये राजपूत-रमणी हिंदी में कविता करनेवाली हैं, तथापि उनके जीवन के अधिकांश दिवस द्वारका (गुजरात) में बीतने और उनके द्वारा उनकी मातृ-भाषा हिंदी और तत्प्रांतीय गुजराती में भी काव्य-रचना होने के कारण गुजराती-भाई उन्हें गुजराती ही मानते हैं। और वास्तव में उनके द्वारा हिंदी का जितना अधिक प्रचार उस प्रांत में हुआ, उतना चारण-भाटों को छोड़कर अन्य किसी के भी द्वारा नहीं हुआ होगा। हिंदी-माता की एक लाड़िली कन्या को यदि गुजराती-भाई अपनी ही कहें, तो उसमें गुजरात के हिंदी-प्रेम का परिचय ही मिलता है। ये नरसी मेहता की समकालीन थीं।

३. सामल भट्ट

डॉ० ग्रियर्सन के मतानुसार यह कवि नरसी मेता का ही अनुयायी था। यह रविदास पटेल का आश्रित था। और, नामकरण से संभवतः भाट-जाति का था, जिसके कारण गुजरात में हिंदी का गुण-गान होता था। इसने श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी के रामायण के ढँग पर गुजराती में भी दोहा, चौपाई, छप्पै आदि व्रज-छंदों की रचना की। विशेषकर उनके छप्पै के कारण तो 'चौपाई तुलसीदास की, छप्पय सामलदास' इतनी अधिक ख्याति है। इनकी रचना पर हिंदी का पूरा प्रभाव पड़ा हुआ है। इनके कुछ हिंदी-पद्य भी मिलते हैं। इनके अंकद्दिष्ट ग्रंथ में कवित्त, कुंडलिया और छप्पय हिंदी में रचे हुए भी पाए जाते हैं। इनका समय सं० १६८४-१७४४ निश्चित है।

४. प्रेमानंद

यह गुजरात के महान् कवियों में गिने जाते हैं और इनकी प्रेम-रस से सनी हुई कविताएँ बड़ी मनोहर हैं। व्रज की गोपिकाओं से भी बढ़कर प्रेमी-वृत्ति होने के कारण यह प्रेमसखी के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके गुरु का नाम सहजानंद स्वामी था। सौभाग्य का विषय है कि इनकी रची हुई हिंदी-कविता भी उपलब्ध है। आरंभ में तो इन्होंने हिंदी में ही रचना की। किंतु बाद को इन्होंने केवल गुजराती ही में कविता लिखने की प्रतिज्ञा कर ली थी। अभिमन्यु-आख्यान-नामक ग्रंथ में इनका एक हिंदी-पद्य पाया जाता है। यह कवि साँवला भट्ट का सम-कालीन था।

५. वेदांती कवि अक्खा

इस कवि की कविता 'अक्खानी वाणी'-शीर्षक में सस्तु साहित्य-वर्धक-मंडल से पुस्तकाकार छपी है। इनका संक्षिप्त चरित्र इन पंक्तियों के लेखक ने कई वर्ष पूर्व एक मराठी-पत्र में प्रकाशित किया था, जो अब 'संत-चरित-माला' के रूप में पुस्तकाकार भी छप गया है। यह कवि सुनार-जाति का अहमदाबाद के निकटस्थ जेतलपुर ग्राम का निवासी था। इनका 'अक्षय गीता' ग्रंथ चैत्र शुक्ला ६ सं० १७०५ को पूर्ण हुआ। अपने कई कुटुंबियों के काल-ग्रसित हो जाने पर 'संसार ए जन्म मृत्युनी घटना छे'-वाली कहावत के अनुसार गृह का त्याग करके वे जयपुर की ओर चल दिए। वहीं पर उन्होंने 'गुरु कींधा मैं गोकुलनाथ' अर्थात् गुरु-दीक्षा ली। अनंतर काशी में जाकर उन्होंने जीवनमुक्त महात्मा ब्रह्मानंदजी से उपनिषद् और वेद-शास्त्रों का अध्ययन किया। गुजरात में इनकी कविता बहुत प्रसिद्ध है। इन्हीं की श्रेणी के प्रीतम-नामक कवि गुजरात में हो गए हैं, पर जहाँ प्रीतम ने वेदांत का शृंगार से संबंध किया, वहाँ इनकी कविता शुद्ध सात्त्विक है। इनके अक्खेगीता, पंचीकरण, ब्रह्मलीला, अनुभवबिंदु, चित्तविचारसंवाद आदि छोटे ग्रंथ और कुछ हिंदी-कविता भी प्राप्त है। यथा—

> जावत हैं सब लोक यहाँ से,
> आवत नहिं जन कोऊ फिरी।
> राम राना से बड़े भट पंडित,
> कोऊ न दे पट की पतरी॥
> धन दारा सुतादिक रहत परे,
> मानीनता देह संग वरी।
> इनकी तो अपने नयन ने देखि
> और 'अखा' मन ने पकरी॥

यह कवि प्रेमानंद का समकालीन था।

६. दादू दयाल

दादू-पंथ के प्रवर्तक महात्मा दादूजी अहमदाबाद के निवासी नागर ब्राह्मण थे। इनकी

'दादू दुनिया बावरी फिर-फिर मांगे सोन'

आदि कविता "दादूजी की वाणी"-नामक ग्रंथ में संगृहीत है। इनके संप्रदाय के अन्य कई कवियों ने भी हिंदी की रचना की है, जिनमें सुंदरदासजी का नाम मुख्य है। दादूजी का मृत्यु-काल सं० १६०४ निश्चित है।

७. मालदेव

ये जैन कवि थे। विक्रम सं० १६५२ ई० में इन्होंने "पुरंदर कुमर चौपई"-नामक ग्रंथ की रचना की। उसका एक उदाहरण लिखा जाता है—

दोहा

बरदाई श्रुति देवता, गुरुप्रसाद आधार।
कुँवर पुरंदर गाय स्यूं, शीलवंत शुभचार।

'भोजपुर'-नामक इनका एक और ग्रंथ पाया जाता है और वह भी हिंदी में है।

८. मेहेराज केशव लुआणा

'सौराष्ट्र' के इतिहास-लेखक श्रीयुत मोदक ने लिखा है कि ये कवि १६वीं शताब्दी में थे। ये नवा नगर के रहनेवाले थे। इनकी बहुत-सी ब्रज-कविता पाई जाती है।

९. दूधा हाडानी वेयाखरो

इस कविता का रचयिता बादशाह अकबर का समकालीन था। इसमें चारणी भाषा का प्रयोग किया गया है जिसे हम डिंगल-भाषा कह सकते हैं। इसमें रणथंभोर और बूँदी के राजा हाड़ादूदल का अकबर के साथ जो युद्ध हुआ था, उसका वर्णन है। उदाहरण—

चासंद्र माल चहु आण।
एकाण मं वरतावण आण॥
पूरण नक्षत्र तेजस प्रमाण।
कुंवर जनमं मुहित कैलाण॥

इसके रचयिता का नाम नहीं पाया जाता।

१०. हरिनाथ *

यह कवि गुजरात का निवासी नरहरि बारोठ का पुत्र था। इसने जयपुर के महाराज अकबर के सेनापति महाराजा मानसिंह की सभा को सुशोभित किया था। इसने—

बलि बोई कीरतिलता, करन करी द्वै पात।
सींची मान महीप ने, दीखि जबै कुम्हलात॥

तथा—

सूर्यवंश बिन को करे, ऐसो दान महान।
रामलंक अरु मानदिय, कावुल जीति प्रदान॥

दान पाइ दोनों बढ़े, केहरि के हरनाथ।
उन बढ़ि ऊँचो पद कियो, इन बढ़ि ऊँचो हाथ॥

एक बार राजा मान ने लंका पर चढ़ाई करने का निश्चय किया, तब—

मान महीपति मान, लंक गौन कीजे नहीं।
दीन्हो रघुपति दान, बिप्र बिभीषण जानके॥

यह सोरठा कहकर उन्हें चढ़ाई से रोका था।

११. राजकुली

रचना-संवत् १६६६। इस लेख में गुजरात के तथा राजपूताने के कई राजाओं के राज्याभिषेक का समय, उनके बसाए हुए नगर तथा उनकी और पूर्ववर्ती बनाए हुए जैन-देवालयों की स्थापना का उल्लेख है, किंतु वर्णन में क्रम नहीं रक्खा गया है। इसमें मारवाड़ी, गुजराती, हिंदी के प्रयोग हैं। इसमें अंतिम घटना १६६६ की वर्णित है और स्वर्गीय अलेक्ज़ेंडर फ़ार्ब्स के संग्रह में यह लेख मौजूद है।

१२. रुद्रमालनु कवित्त

ये कवित्त किसी राजा को संबोधन करके लिखे गए हैं, जिसमें सिद्धराज जयसिंह के बनाए हुए रुद्रमाल तथा सहस्रलिंग तालाब का वर्णन किया है। इसके रचयिता का नाम अज्ञात है। यह रचना सत्रहवीं सदी की है।

१३. धोन कवि

यह विक्रम-संवत् के १७वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हो गया है। इसकी कुछ स्फुट हिंदी कविता पाई जाती है।

१४. राठोड़ वचनिका

रचना-काल १७१५। यह डिंगल भाषा का काव्य है। इसमें औरंगज़ेब का जोधपुर के राठौर रतनसिंह से संवत् १७१२ में जो युद्ध हुआ था, उसका वर्णन किया है। इस रासे में हिंदी-कवित्त, छंद, दोहे के अतिरिक्त कुछ गुजराती पद्य भी हैं।

१५. हरगोविंद

इस कवि ने साबरमती के किनारे बसे हुए आशापल्ली ग्राम के आशा भील की लड़की तेजाबाई के साथ पाटण के बादशाह अहमदख़ाँ का विवाह होने तथा उसी स्थान पर अहमदाबाद नगर बसने का वर्णन किया है। यह भी हिंदी-गुजराती का मिश्र काव्य है। इसका समय संवत् १७२० है।

---

* हरिनाथ गुजराती काशीवासी का वर्णन शिवसिंह-सरोज में है। उन्होंने अलंकार-दर्पण-नामक ग्रंथ बनाया है। नरहरि महापात्र का पुत्र, हरिनाथ जिसका यह वर्णन है, असनी का निवासी था। संपादक

१६. सोलंकी-वंशावली

इसके रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। यह काव्य भी अपूर्ण मिला है। इसमें सूर्यवंशीय अंबरीष राजा के वंशज घट टोडरमल वंशीय सोलंकियों का वर्णन है वर्णन गद्य-पद्य-मिश्रित है। यथा—

सरमायो आयो सरण, तब पायो आनंद।
समझायो नृप चक्र को, प्रबल छुड़ायो फंद॥
दुर्वासा से प्रबल को, दंड आप प्रभु दीन।
भक्तराज अंबरीष से, को महाराज प्रवीन॥

१७. गोप भाट

इस कवि ने जाट-राजा छाड़ के सात पुत्रों का वर्णन किया है और वीणराजा के ५ पुत्र और उसकी लड़की के चौदह पुत्रों का भी वर्णन किया है। यथा—

त्री मार छत्री किया, जदू सो पलट्यो पाट।
उया मोई आंगड़ा, जीबा सोहे जाट॥
अलावदीन पातसाह ने, वारे जाट हुवा।

× × ×

नीडो राजा राव, छत्र संघासन सोहे।
तोमर सांडा दाव, एक लंखा को जो है॥
चानर वरे सुगाल, लखसी माल समप्पे।
रुद्रमाल सीमसी, तासु भय अरिगण कंपे॥
कान्हड़देव कवि गोप कहि, तरस चरण तके घणा।
एक-एक नीहि आगला, सात पूनि छाड़े तना॥

१८. राठौड़ कुल कवित्त

इसके कर्ता का पता नहीं चलता। इसमें राठौड़-वंश की उत्पत्ति, उसके गुरु, वेद, प्रवर, कुल-देवी, पुरोहित, भाट, चारण इत्यादि का उल्लेख किया है। यथा—

प्रथम जाति कमधज, देश कनवज सू आया।
सारवा नेर मंर, कुलहि राठौड़ कहाया॥
गौतम गुरु शुक्र वेद, अथ वरण तीनों प्रवर।
नागनेस कुवराय, वहिवट गुरु स्वर नर॥
प्रोहित सविड़ वारोठ, रोहड़ भाट चंडेल दुमेददड़ा।
राठोड़ पहिले पेनला, हरीय ज्याली पथिकड़ा॥

(असमाप्त)

भास्कर रामचंद्र भालेराव

हृदय का मधुर भार

झलक (२)

(१)

कर ले कराल निज काननों को काटकर,
शैलों को सपाट कर, सृष्टि को सहार ले।
नाना रूप रंग धरे, जीवन-उमंग-भरे
जीव जहाँ तक बने मारत, तू मार ले।
माता धरती की भरी गोद यह सूनी कर,
प्रेत-सा अकेला पाँव अपने पसार ले।
विश्व बीच नर के विकास हेतु नरता ही
होगी किंतु अलम् न, मानव! विचार ले।

(२)

खेत बन बंजर कछार लगते हैं हमें
माता धरती की खुली गोद के प्रसार से।
देते हैं दिखाई हाथ माय के प्रत्यक्ष जहाँ
लालते औ पालते सभी को अति प्यार से;
विटप विहंग नर पशु जहाँ एकसंग
मिले-जुले पलते हैं एक परिवार से;
जहाँ विश्व-जीवन की धारा से न छिन्न अभी
हुआ है मनुष्य निज दृष्टि के विकार से।

(३)

ए हो बन बंजर कछार हरे-भरे खेत!
विटप विहग! सुनो अपनी सुनावें हम।
छूते तुम, तो भी चाहते चित्त से न छूटे यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम।
सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच;
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम?
मूल रस स्रोत हो हमारे वही; छोड़ तुम्हें
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम?

(४)

रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे ही
मंगल की योग-विधि पूरी पाल पावेंगे।
जोड़ के चराचर की सुख-सुषमा के साथ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे।
वे ही इस महँगे हमारे नर-जीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे।
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खग-
मृग के विलास-बीच भेद को घटावेंगे।

(५)

नर में नारायण की कला भासमान कर,
  जीवन को वे ही दिव्य ज्योति-सा जगावेंगे।
कूप से निकाल हमें छोड़ रूप-सागर में,
  भव की विभूतियों में भाव-सा रमावेंगे।
वैसे तो न-जाने कितने ही कुछ काल कला
  अपनी दिखाते अस्त होते चले आवेंगे।
जीने के उपाय तो बतावेंगे अनेक, पर
  जिया किस हेतु जाय वे ही बतलावेंगे।

(६)

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं
  जिन्हें वे ही मानसी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आछन्न उसे
  करके पाषंड-कला अपनी दिखाते हैं।
अपने कलेवर को मैली औ कुचैली वृत्ति
  छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं।
अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन, नृत्य
  देख अपना ही तंत्रा-तार वे बजाते हैं।

(७)

नर ! भव-शक्ति की अनंत-रूपता है बिछी
  तुझे अंध-कूपता से बाहर बढ़ाने को।
चारों ओर फैले महा-मानस की ओर देख !
  गर्त में न गड़ा गड़ा, हंस ! कुछ पाने को।
अपनी क्षुद्र छाया के पीछे दौड़ मारने से
  सच्चा भाव विश्व का न एक हाथ आने को।
रूप जो अभास तुझे सत्य-सत्य देंगे, बस
  उन्हीं का समर्थ ज्ञान अंतस् जगाने को।

(८)

ऐसे एक भाव पर झूठे-झूठे सैकड़ों ही
  स्वाँग 'आह ओह' के निछावर हैं नर के।
सारा विश्व जिसका चलाया हुआ चलता है
  वह भाव-धारा ढूँढ़ आँखें खोल करके।
आदिम ज्वलंत अनुराग कभी नाचता था
  रूप बाँध-बाँध नई-नई गति भर के।
रूप और भाव की अभिन्नता मिलेगी वह
  सृष्टि के प्रसार में ; न मध्य घट-घर के।

(९)

जिस सूक्ष्म सूत्र को पसारकर बँधा हुआ,
  एक है अनेक होता गया वही भाव है।
खोज अनुबंध में अनेकता के उसे यदि
  निभृत निसर्ग-गति देखने का चाव है।
किंतु खंड दृष्टि से न शृंखला मिलेगी वह,
  वहाँ तक-झाँक से छिपाव-ही-छिपाव है।
संगत संबंध बिना होती नहीं व्यंजना है ;
  शब्द न बिखेर जहाँ उसी का अभाव है।

(१०)

वासना अज्ञान की उपासना बनेगी जहाँ
  और-और भंडता भी साथ लिए आवेगी।
हाथ मटकाती, हाव-भाव दिखलाती हुई
  आँख मूँद-मूँद सिर ऊपर उठावेगी।
पलकों को प्याला कह झूमती जँभाती हुई
  हाला से, हलाहल से मातना दिखावेगी।
देश के पड़ोस ही के पीछे रंग पोत-पोत
  रूप वह अपना नवीन बतलावेगी।

(११)

भौतिक उन्माद-ग्रस्त योरप पड़ा है जहाँ
  वहीं तेरे चोंचले ये मन बहलावेंगे।
आज अति श्रम से शिथिल जो विराम हेतु
  आकुल है उसको ये टोटके भुलावेंगे।
हम अब उठना हैं चाहते जगत्-बीच ;
  भारत की भारती की शक्ति को जगावेंगे।
दैंडक ये दंड के प्रहार से लगेंगे तुझे,
  भाग-भाग भंडता ! न तुझको टिकावेंगे।

(१२)

धर्म कर्म व्यवहार, राष्ट्रनीति के प्रचार,
  सबमें पाषंड देख इतने न हारे हम।
काव्य की पुनीत भूमि बीच भी प्रवेश किंतु
  उसका विलोक रहे कैसे धीर धारे हम ?
सच्चे भाव मन के न कवि भी कहेंगे यदि,
  कहाँ फिर आयँगे असत्यता के मारे हम ?
खलेगा 'प्रकाशवाद' जिनको हमारा यह,
  कहेंगे कुवाद वे जो लेंगे सह सारे हम ?

(१३)

आज चली मंडली हमारी एक घूमे हुए
  नाले का कछार धरे और ही उमंग में।
धुँधली-सी धूप धूल-सने वात-मंडल से
  झलकती है मृदुता की आभा हर रंग में।

अंजित दृगंचल की कोर से किसी की खुल—
रंजित रसा में रसी झूमती तरंग में—
मानों मदभरी ढीली दृष्टि है किसी की खिली
मन को रमाती रम जाती अंग-अंग में ।

(१४)

धौले कंकरीले कटे विकट कगार जहाँ
जड़ों की जटा के जाल खचित दिखाते हैं ।
निकल वहीं से पेड़ आड़े बढ़े हुए कई
अधर में लेटे हुए अंग लपकाते हैं ।
भूमि की सलिल-सिक्त श्यामता में गुच्छी हरी
दूब के पटल पट शीतल बिछाते हैं ।
सारी हरियाली छींट लाल-लाल छींटे बने
छिटके पलाश चित्त बीच छपे जाते हैं ।

(१५)

बातें भी हमारे साथ उठी चली चलती हैं :
मोद-पूर्ण मानस के मुक्त हैं अनेक द्वार ।
चारों ओर छोटे बड़े शब्द-स्रोत छूट-छूट,
मिलते बढ़ाते चले जाते हैं अखंड धार ।
उठती हैं बीच-बीच हास की तरंगें ऊँची,
झोंक में झुलाती टकराती हमें बार-बार ।
झाड़ियाँ कटीली कर बैठती हैं छेड़छाड़ ;
उलझ सुलझ कोई पाता है किसी प्रकार ।

(१६)

ढाल धरे ऊपर को ढुरियाँ गई हैं कई
फैले हुए गर्त-जाल बीच से निकलती ।
चाव-भरे चढ़े चले जाते हैं चपल गति ;
चित्त छोड़ अभी कहीं किसी की न चलती ।
गंजिका के गुंफित अरुण हास और झाड़
झापस झपेट छड़ी हाथ से फिसलती ।
नीचे पड़ी पैर की धमाक ; उड़ी ऊपर को
पक्षियों की टोली फड़कीले पंख झलती ।

(१७)

शिशुओं की पीवर गँठीली पेड़ियों से फूटी
सरल लचीली टूटी डालियाँ कहीं-कहीं
नील-श्याम-दल-मढ़े छोर छितराए हुए
शीर्ण मुरझाए फूल-झौंर हैं झुला रहीं ।
कोरे धुंध-धूमले गगन-पट बीच खुले
सेमलों के शाखा-जाल खचित खड़े वहीं ।
लसे हैं विशाल लाल संपुट से फूल चोखे ;
बसे हैं विहंग अंग जिनके छिपे नहीं ।

(१८)

आए अब ऊपर तो देखते हैं चारो ओर
रूप के प्रसार चित्त-रुचि के प्रचार से ।
उछल उमड़ और झूम-सी रही है सृष्टि
गुंफित हमारे साथ किसी गुप्त तार से,
तोड़ा था न जिसे अभी खींच अपने को दूर ;
मोड़ा था न मुँह को पुराने परिवार से ।
उत्सव में, विप्लव में, शांति में प्रकृति सदा
हमें थी बुलाती उसी प्यार की पुकार से ।

(१९)

धुँधले दिगंत में विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की-सी झलक दिखाती है,
जहाँ स्वर्ग भूतल का अंतर मिटा है, चिर
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है ।
भूत औ भविष्यत् की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना-सी वहीं भासती भुलाती है ।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है ।

(२०)

निखरी सपाट कोरी चिकनी कठोर भूमि
सामने हमारे श्वेत झलक दिखाती है,
जिसके किनारे एक ओर सूखी पत्तियों की
पांडु-रक्त मेखला रचित हिल जाती है ।
आस-पास धूल की उमंग कुछ दूर दौड़
दूब में दमक हरियाली की दबाती है,
कंटकित नीलपत्र मोड़ती घमोइयों के,
रक्तगर्भ-पीतपुट-दल छितराती है ।

(२१)

ग्राम के सीमांत का सुहावना स्वरूप अब
भासता है ; भूमि कुछ और रंग लाती है ।
कहीं-कहीं किंचित् हेमाभ हरे खेतों पर
रह-रह श्वेत शुक्र-आभा लहराती है ।
उमड़ी-सी पीली भूरी हरी द्रुमपुंज-घटा
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती जो जाती है ।
उसी में विलीन एक ओर धरती ही मानो
घरों के स्वरूप में उठी-सी दृष्टि आती है ।

(२२)

देखते हैं जिधर उधर ही रसालपुंज
　　मंजु मंजरी से मढ़े फूले न समाते हैं—
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग-प्रभा
　　उमड़ रही है ; मन मग्न हुए जाते हैं।
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी जहाँ,
　　नीचे बालवृंद उसी बोल से चिढ़ाते हैं।
छलक रही है रस-माधुरी छकाती हुई ;
　　सौरभ से पवन झकोरे भरे आते हैं।

(२३)

देख देवमंदिर पुराना एक बैठे हम
　　वाटिका की ओर जहाँ छाया कुछ आती है।
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई
　　घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है।
क्यारियाँ पटी हैं, लुप्त पथ में उगे हैं झाड़,
　　झाड़ की न थाह कहीं दृष्टि बाँध पाती है।
नर ने जो रूप यहाँ भूमि को दिया था कभी,
　　उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है।

(२४)

मानव के हाथ से निकाले जो गए थे कभी
　　धीरे-धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है।
फूलों के पड़ोस में धमाय, बेर औ बबूल
　　बसे हैं ; न रोक-टोक कुछ भी की जाती है।
सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही
　　होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।
देती है पवन, जल, धूप सबको समान ;
　　दाख औ बबूल में न भेद-भाव लाती है।

(२५)

मेंड़ पर बासक की छिन्न पंक्ति मक्खियों की
　　भीड़ को बुला के मधु-बिंदु है पिला रही।
कुंद की धवल हास-माधुरी उसी के पास
　　श्वास की सुवास है समीर में मिला रही।
कोमल लचक लिए डालियाँ कनेर की जो
　　अरुण प्रसून-गुच्छ मोद से खिला रही,
चल चटकीली चटकाली चहकार भरी
　　बार-बार बैठ उन्हें हाव से हिला रही।

(२६)

कोने पर कई कोविदार पास-पास खड़े ;
　　वर्तुल विभक्त दलरांश बनी छाई है।
बीच-बीच श्वेत अरुणाभ झलराए फूल
　　झाँकते हैं सुन "ऋतुराज की अवाई है।"
पत्तियों की कोर के कटाक्ष पर फूली हुई
　　आँखों में हमारी जपा झाँकती लखाई है।
भौंरे मदमाते मँडराते गूँज-गूँज जहाँ,
　　मधुर सुमन-गीत दे रहा सुनाई है—

(२७)

सुमन-संगीत

आओ, आओ, हे भ्रमर ! कमनीय कृष्ण-कांति-धर !!
देखो, जिस रूप, जिस रंग में खिले हैं हम
　　आकुल किसी के अनुराग में अवनि पर,
इसी रूप-रंग में खिला है कोई और कहीं ;
　　जाओ वहीं, मधुप ! सुनाओ गुंज पल भर।
रंग में उसी के चूर धूल हो हृदय यह
　　धीरे-धीरे उड़ा चला जाता है बिखर कर !
जाओ पहुँचाओ पास प्रिय के हमारे अब
　　अधिक नहीं तो एक कण मित्र मधुकर !

(२८)

गर्भ में धरित्री अपने ही कुछ काल जिन्हें
　　धरकर, गोद में उठाती फिर चाव से,
औरस सगे हैं वे ही उसके जो हरे-हरे
　　खड़े लहराते पले मृदु क्षीर-स्राव से।
भरती है जननी प्रथम इनको ही निज
　　भरे हुए पालन औ रंजन के भाव से।
पालते यही हैं, बहलाते भी यही हैं फिर
　　सारी सृष्टि उसी प्राप्त शक्ति के प्रभाव से।

(२९)

तप्त अनुराग जब उर में वसुंधरा का
　　उठता है लहरें सकंप लहकारता,
देखता है उसे ध्वंसज्वाला के स्वरूप में तू,
　　प्यार की ललक नहीं उसको विचारता।
निज खंड-अनुराग से न मेल खाता देख,
　　नर ! तू विभीषिका है उसको पुकारता।
दूर कर पालन की शक्ति की शिथिलता को
　　वही नव जीवन में भरी फूँक मारता।

(३०)

उसी अनुराग के हैं शीतल विभाव सब।
　　कोमल अरुण किशलय तथा कुसुम-दल।

नीरव संदेश कहो, प्रेम कहो, रूप कहो ;
सब कुछ कहो इन्हें सबे रंग ही में दल।
रंग कैसे रंग पर उड़-उड़ झुकते हैं
पवन में पंख बने तितली के चोले दल !
यों ही जब रूप मिलें बाहर के भीतर की
भावना से, जानो तब कविता का सत्यफल।

(३१)

गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेत धारियों में कई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे
गोरज से धूमले जो खड़े हैं किनारे पर,
उन्हें कई गायें पैर अगले चढ़ाए हुए
कंठ को उठाए चुपचाप हो रही हैं चर।
जा रही हैं घाट ओर ग्राम वनिताएँ कई ;
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर।

(३२)

इतने में बकते औ झकते से बूढ़े-बूढ़े
भगतजी एक इसी ओर बढ़े आते हैं।
पीछे-पीछे लगे कुछ बालक चपल उन्हें
'सीताराम-सीताराम' कहके चिढ़ाते हैं।
चिढ़ने से उनके चिढ़ाने की चहक और
दूना को वे अपने बढ़ते चले जाते हैं।
कई एक कुक्कुर भी मुँह को उठाए साथ
लगे-लगे कंठ-स्वर अपना मिलाते हैं।

(३३)

कई ललनाएँ औ कुमारियाँ कुतूहल से
ठमक गई हैं उसी पथ के किनारे पर।
मंदिर के सुथरे चबूतरे के पास बढ़
सिर से उतार घट कलश हैं देती धर।
हावमयी लीला यह देख के भगतजी की
भीतर-ही-भीतर विनोद से रही हैं भर।
मुख से तो कहती हैं "कैसे दुष्ट बालक हैं";
लोचनों से और ही संकेत वे रही हैं कर।

(३४)

मुँदे वास बीच में है फूटती गोराई कहीं ;
पीतपट बीच लुकी साँवली लुनाई है।
भोले भले मुख में कपोल बिकसाती हुई
मंद मृदुहास-रेखा दे रही दिखाई है।
चंचल दृगों की यह चटक निराली ऐसे
जनपद छोड़ और जाती कहाँ पाई है !
विविध-विकास भरी लहलही मही बीच
घटित प्रफुल्ल द्युति यह सुघराई है।

(३५)

सामने हमारे जब आया वह दल तब
भगत के पास आके एक बोला "राधेश्याम"।
कृपादृष्टि अभी पूरी होने भी न पाई थी कि
चट फिर बोल उठा "सीताराम-सीताराम"।
साथी तान सिर को झुलाते हुए झुक पड़े
गालियों के साथ झोंक दादा औ पिता के नाम।
कंधे से दुपट्टा छूट पड़ा लहराता ; बढ़े
कुत्ते जो लपक, लिया लोगों ने झपट थाम।

(३६)

अंत में 'अरुणजी' की बढ़ती उतावली को
देख उठ खड़े हुए हम लोग जाने को।
इतने में भद्र जन एक उसी ग्राम के यों
बोल उठे "आप लोग फिर कहाँ आने को ?
होगा न विलंब, चलिए हमारे द्वार,
आधी घड़ी बैठिए न श्रम ही मिटाने को"।
सब लोग साथ चले ; केवल 'अरुण' लगे
मुँह को बनाने, किंतु वह भी दिखाने को।

(३७)

घुसते हैं वीथियों में ग्राम के तो कहीं-कहीं
गोमय के बीच बँधे गाय-बैल पाते हैं।
नोक-झोंक बातों की भिड़ाते हुए 'नंदनजी'
गड़े हुए खूँटे से आ एक टकराते हैं।
भड़क के बैल एक बंधन तुड़ाता हुआ
भागता है ; पीछे कुछ लोग दौड़ आते हैं।
धीरे-धीरे यों ही एक द्वार के समक्ष हम
बिछी चौकोर स्वच्छ भूमि पर आते हैं।

(३८)

कोल्हू एक बीच में गड़ा है ; जाट घूम-घूम
बोलती है मड़-मड़ लाट-सी उठी वहीं।
पड़ गई खाटें, जमी मंडली हमारी चट ;
चर-चर गायें लौट थानों पर आ रहीं।
धीरे-धीरे लाए गए घड़े इक्षु-रस-भरे ;
धरे गए मटके भी दूध के कहीं-कहीं।

पीने को बिठाके हमें देने लगे डाल-डाल ;
मानते हमारी कही एक भी 'नहीं' नहीं ।

(३९)

ग्राम-ग्राम द्वार पर अतिथि-समागम का
गौरव सदा से इसी भाँति चला आता है ।
नगरों के ऐसा यहाँ देख कोई आया गया
दूर ही से कहीं कोई मुँह न चुराता है ।
बैठे हुए मुदित 'प्रमोदजी' को बार-बार
देख-देख एक कुछ सोचता-सा जाता है ।
नाम धाम पूछ फिर धीरे से खिसक गया ;
बोले हम "देखा! यह कौन रंग लाता है" ।

(४०)

कानाफूसी करती नवेली कई देख पड़ीं
मंद-मंद हँसी न दबाई दब पाती है ।
ज्यों ही बातचीत में हमारा ध्यान बँटा
त्यों ही पास ही हमारे झनकार कुछ आती है ।
साथ ही उसी के चट ऊपर हमारे छूट
झोंक-भरी पीत-रंग-धारा ढल आती है ।
उठ पड़े रंजित वसन झटकार हम ;
हास की तरंग उठ रस में डुबाती है ।

(४१)

पास ही श्वसुर-ग्राम 'भंडशर' नाम यहीं
कहीं है प्रमोदजी का, जानते थे हम यह ।
पूछने से एक ने उठा के हाथ चट उन
पर्वतों के अंचल की ओर कहा "देखो वह" ।
नाता एक ग्राम से जो होता है किसी का उसे।
आस पास मानते हैं ममता के साथ कह ।
देश के पुराने उस जीवन की धारा अभी
सूखी नहीं यहाँ, क्षीण होकर रही है वह ।

(४२)

पश्चिम दिशा में घने द्रुमदल-जाल मध्य ;
देख पड़े अवकाश लोहित प्रदीप्त अति ।
और ओर पत्रराशि-गह्वरों की श्यामता को
बढ़ गहराई चली; मंद हुई वायु-गति ।
खुला रंग धरती का दबता दिखाई दिया
होने लगी अब तो प्रकाश की प्रकट क्षति ।
आकुल विहंग चले वेग से बसेरों पर;
घर फिर चलने की हमने भी ठानी मति ।

(४३)

लीन अभी श्यामता में पेड़ हो न पाए थे कि
जहाँ तहाँ गए स्वर्ण-आभा से झलक छोर ।
टेढ़ी-मेढ़ी धूम्र-कृष्ण शैल-शीर्ष-रेखा पर,
देख पड़ी झाँकती-सी उठी चंद्रबिंब-कोर ।
धीरे-धीरे टीले, खपरैल, खेत, मेंड़, पथ
धारा में धवल चोखी चाँदनी की उठे बोर ।
उठ पड़ी मंडली हमारी एक-एक कर ;
बढ़े पाँव साथ-साथ सबके घरों की ओर ।

(४४)

खिली हुई चाँदनी में खेत खात पार कर
धाम के समीप निज ज्यों ही हम आते हैं ।
देखते हैं दल बाँध बालक अनेक घूम
माता होलिका की जय धूम से मनाते हैं ।
काँटे और झाड़ लिए कई एक पास आके
बोले "हम आज कहीं कुछ भी न पाते हैं" ।
पूरी समवेदना दिखाते हुए सब लोग
बोले, "देखो, हम अभी तुमको बताते हैं" ।

(४५)

वयस में दूर नहीं बहुत बढ़े थे हम;
क्षण भर मिल गए साथ बाल-दल के ।
परम विनोदशील 'ग्रामपति' इसी बीच
देख पड़े, मिले मानो सखा प्रति पल के ।
चिड़चिड़े बूढ़े एक 'वंशी महराज' के थी
द्वार पर खाट पड़ी थोड़ी दूर चल के ।
उँगली हमारी उठी ज्योंही उस ओर उसे
बालकों ने लाद लिया; हम हुए हलके ।

(४६)

फागुन की चाँदनी की चहल-पहल यह
चूक से हमारी अब छुटी चली जाती है ।
प्रकृति के साथ मिले मन की उमंग वह
झोंके झंझटों के झेल आज ढली जाती है ।
गौरव की ग्लानि से स्वरूप की हमारी सब
चारुता भी रुचि को समेट गली जाती है ।
जीवन की सारी जो प्रफुल्लता हमारी रही,
देखते-ही-देखते हमारे टली जाती है ।

(४७)

पर्व और उत्सव-प्रवाह में प्रमोद-कांति
सारी मिली-जुली साथ में थी खुली खेलती ।

आज वह छिन्न-भिन्न होके कुछ लोगों की ही
कोठरी में लुकी-छिपी कारागार झेलती।
भद्रता हमारी कोरी भिन्नता का बाना धर,
खिन्नता से बहुतों से दूर हमें ठेलती।
हिलमिल एक में करोड़ों की उमंगें अब
जीवन में सुख की तरंगें नहीं खेलती।

(४८)

चढ़ी चली आती देख पच्छिमी सनक सब
हृदय हमारे आज और भी हैं हारते।
जीवन-विधायिनी विभूति जीती-जागती जो
भूमि के दुलारे निज श्रम से पसारते।
उसे धातु-निगड़ से जकड़ बना के जड़,
पालन-प्रसार की समस्त गति मारते।
सोखते हैं रक्त भर पेट कुछ लोग बैठ
उनका जो तन के पसीने नित्य गारते।

(४९)

ऐसे क्रूर कठिन विधान में कहाँ से यह
मंगल की आभा की झलक रह पावेगी?
नगरों की धातुखंड-राशि जिस घड़ी सब
ग्राम-गत भूमि झनकार से जुनावेगी,
खोके पति पत्नी, हार अपनी स्वतंत्रता को
जनता वहाँ की मज़दूर बन जावेगी।
लुब्ध औ लफंगे नई काट के मिलेंगे, फिर
वहाँ भी पुनीतता न मुँह दिखलावेगी।

(५०)

जीने हेतु हाथ-पाँव मारना ही जीवन का
एक-मात्र रूप हम चारो ओर पावेंगे।
अवसर आयु में से क्रीड़ा के कटेंगे सब;
बालक भी खेलते न देखने में आवेंगे।
सारी वृत्ति अर्थ से बँधेगी इस भाँति, लोग
कहीं आँख-कान तक व्यर्थ न लगावेंगे।
ऐसे इस अर्थ के अनर्थ से विभीत होके
मन के पुनीत भाव सारे भाग जावेंगे।

रामचंद्र शुक्ल

सुपति

वैवाहिक जीवन को सुखी बनाना केवल पत्नी का ही कर्तव्य नहीं। यह केवल उसके ही वश की बात भी नहीं। जब तक पति और पत्नी दोनों ही उसके लिये यत्न न करें, दोनों ही अपने आचार-विचार का ध्यान न रक्खें, तब तक उनको इसमें सफलता नहीं हो सकती। परंतु आजकल देखने में क्या आता है। सब ओर स्त्रियों के सुधार पर ही ज़ोर दिया जाता है। चाँद, गृह-लक्ष्मी, स्त्री-दर्पण और स्त्री-धर्म-शिक्षक इत्यादि बीसियों पत्रिकाएँ स्त्रियों को उपदेश की ओषधि पिलाने के लिये ही प्रकाशित होती हैं, परंतु आज तक मेरी दृष्टि एक भी ऐसी पत्रिका पर नहीं पड़ी जिसका काम पुरुषों को अच्छे पति और अच्छे पिता बनने का उपदेश करना तथा उपाय बताना हो। पुरुष तो इस संबंध में कोई उपदेश सुनना ही अपना अपमान समझते हैं। परंतु सच्ची बात यह है कि सौ पीछे कदाचित् पाँच पुरुष भी मुश्किल से ऐसे नहीं मिलेंगे जो अच्छे पति और अच्छे पिता कहलाने के पात्र हों—जिन्हें गार्हस्थ्य विज्ञान का यथोचित ज्ञान हो। मूर्ख-से-मूर्ख पुरुष भी अपने को स्त्री को उपदेश देने का अधिकारी समझता है।

पत्नी का अच्छा या बुरा होना बहुत कुछ पति पर निर्भर करता है। एक उत्तम स्त्री को भी एक दुर्बलेंद्रिय, कठोर, फ़िज़ूल-ख़र्च, निरादर करनेवाला और दुश्चरित्र पति एक सचमुच बुरी भार्या और बुरी माता बना सकता है। उसकी स्वाभाविक प्रकृति और विद्या को छोड़कर, शेष जो कुछ हम स्त्री में देखते हैं वह दस में से नौ भाग उसके पति का बनाया हुआ होता है। कुमारी कन्या पिघले हुए सीसे के समान है। उसे पति रूपी जैसे भी साँचे में ढाल दिया जाय, वह वैसी ही बन जाती है। पति के लिये सबसे पहली बात यह है कि चाहे वह कोई भी काम करता हो, चाहे उसकी कितनी भी आय हो, वह पत्नी को ख़र्च में किफ़ायत करने की आवश्यकता का अनुभव कराए। वह उसे समझाए कि होनेवाले बच्चों के लिये भी हमें अभी से कुछ-न-कुछ बचाते रहना चाहिए।

यह ठीक है कि मनुष्य को अपनी कमाई को ख़र्च करने का पूर्ण अधिकार है, परंतु नैतिक दृष्टि से विवाह के समय मनुष्य भावी संतान के साथ न्याय का ठेका करता है। इसलिये विवाहित जीवन के आरंभ से ही ख़र्च इतना कम रखना चाहिए जितना कि जीवन में अपने पद और कुलीनता के विचार से रक्खा जा सकता है।

आजकल नौकर रखना एक फ़ैशन-सा हो रहा है। जिसके नौकर नहीं उसकी स्त्री अपनी सखियों की दृष्टि में अपने को अपमानित समझने लगती है। जो मनुष्य धनाढ्य है, या जहाँ काम इतना अधिक है कि गृहस्थी के कार्य को चलाने के लिये बाहरी सहायता की आवश्यकता है, वहाँ एक या अनेक नौकर अवश्य रखने चाहिएँ; परंतु जिस घर का काम केवल दो हाथ कर सकते हैं, वहाँ चार की क्या आवश्यकता है? बच्चे हो जाने पर बेशक बाहरी सहायता का प्रयोजन होता है; परंतु उससे पहले अकेले पति-पत्नी के लिये नौकर की क्या आवश्यकता है? स्त्री युवती है, फिर पति-पत्नी दोनों क्या घर का काम नहीं चला सकते? इसमें कोई संदेह नहीं कि नौकर का रखना अमीरी का चिह्न और फ़ैशन है, और इस प्रथा का विरोध सुनकर कई दंपति क्रुद्ध होंगे, परंतु दीर्घ अनुभव बताता है कि यह वैवाहिक जीवन के लिये विष के समान है, और उस दरिद्रता और उन असंख्य दुःखदायक व्यामोहों तथा चिंताओं का मूल कारण है जो वैवाहिक आनंद को शीघ्र ही नष्ट कर डालती हैं। हमने अनेक ऐसे युवक देखे हैं जो पहले तो नई दुलहिन के चाव में नौकर रख लेते हैं। परंतु कुछ काल उपरांत जब गृहस्थी के दूसरे आवश्यक ख़र्चों से कचूमर निकलने लगता है तो तंग होकर नौकर को हटा देने पर विवश होते हैं। परंतु एक बार आलस्य के जीवन का स्वभाव हो जाने पर फिर पत्नी को अपने हाथ से काम करना मुश्किल जान पड़ता है। बस घर में कलह और अशांति रहने लगती है।

प्रश्न हो सकता है कि भला, यदि स्त्री घर का सारा काम न कर सकती हो? न कर सकती हो! स्त्री जवान हो और घर का चौका-भाँड़ा न कर सके, मैले कपड़ों को धो और फटे हुओं की मरम्मत न कर सके, घर में झाड़ू न लगा सके, अपना तथा पति का बिछौना न बिछा सके! यह कैसी बात है! तो फिर यदि पति बहुत धनाढ्य नहीं, और वह आप भी दहेज़ में बहुत धन नहीं ला सकी, तो अच्छा यही था कि उससे विवाह ही न किया जाता। स्मरण रखिए, थोड़े-से धन से नौकर रखनेवाली पत्नी उस पत्नी की बराबरी नहीं कर सकती जो नौकर की मुहताज ही नहीं।

यदि घर का काम सचमुच इतना कड़ा हो कि एक युवती बिना कष्ट के उसे पूरा न कर सके, या उससे वह बहुत अधिक थक जाती हो; या इससे उसके स्वास्थ्य को हानि पहुँचने का डर हो; या सौंदर्य के बिगड़ने का भय हो, तब बेशक चिंता की बात है; परंतु प्रायः घर का काम बहुत कड़ा नहीं होता; वरन् इससे स्वास्थ्य सुधरता, चित्त प्रसन्न होता, और सौंदर्य चिरकाल तक बना रहता है। आपने बहुधा चक्की पीसते, कपड़े धोते, चरखा कातते समय लड़कियों को गाते सुना होगा, परंतु सुई का काम करते समय वे कभी नहीं गातीं। आज से कुछ वर्ष पहले हिंदू घरानों में स्त्रियों के लिये काम करना कोई ताने या उलाहने की बात न समझी जाती थी। बड़े-बड़े अमीर घरों में भी गृह-देवियाँ स्वयं भोजन बनाया करती थीं। परंतु अँगरेज़ी फ़ैशन और सभ्यता के आने से अब हाथ से काम करना अपमानजनक समझा जाने लगा है। यही कारण है कि नाम-मात्र उच्च जातियों की स्त्रियों में सौंदर्य का ह्रास हो रहा है और जिन्हें नीच कहा जाता है उनमें शारीरिक परिश्रम के प्रताप से रूप-लावण्य दिन-दिन अधिक निखर रहा है। अँगरेज़ों के पास साम्राज्य और धन दौलत अधिक होने से उनकी स्त्रियों में हाथ से काम करने को अपमानजनक समझने का मिथ्या गर्व उत्पन्न हो गया है, और उसी की नक़ल भारत की नव-शिक्षिता स्त्रियाँ भी करती हैं, परंतु अमेरिकन पत्नियाँ किसी भी ऐसे काम को करने में अपना अपमान नहीं समझतीं, जिसमें उनकी रुचि और प्रकृति हो और जो साथ ही युक्तिसंगत भी हो। वे किसी ज़रूरत या मजबूरी के कारण नहीं काम करतीं, क्योंकि उनके पति बड़े ही सदय और सदा उनके अनुकूल रहनेवाले हैं। नगरों में वे बाज़ार जाकर सब चीज़ें ख़रीदती और आप उठाकर घर लाती हैं। देहात में, वे न केवल घर का ही काम करती हैं, प्रत्युत वाटिका और खेत में जाकर निराई करती, फल इकट्ठे करती, और पानी देती हैं। इससे उनके पतियों को ख़ूब

बचत होती है और वे भी मुक्तहस्त से पत्नियों को धन देकर उन्हें सदा प्रसन्न रखते हैं।

पति यदि घर के काम में पत्नी को थोड़ी-सी सहायता दे दे—उसके लिये पानी ला दे, भाजी छील दे, आग जला दे, बच्चा उठा ले—तो उसके लिये कौन-सी अपमान की बात है? आख़िर वह भी तो गृहस्थी रूपी गाड़ी का एक पहिया ही है। और यदि स्त्री बीमार हो, तब तो पति उसकी जितनी भी सेवा-शुश्रूषा करे, उसको सुखी, निश्चिंत और नीरोग करने का जितना भी उद्योग करे, थोड़ा है। यह पति का परम कर्तव्य है। उसको रोगमुक्त करने के लिये धन व्यय करने में पति को तनिक भी संकोच न होना चाहिए। नीरोग हो जाने पर उसका पति के प्रति प्रेम तथा कृतज्ञता का भाव बहुत बढ़ जायगा।

इस महत्त्वपूर्ण विषय में आरंभ ही सब कुछ है, आपको उसे इस बात का विश्वास दिलाने में बहुत कुछ करना पड़ेगा कि जिस बात की आप सिफ़ारिश करते हैं वह न केवल लाभदायक ही है, न केवल उचित ही है, बरन् उसके करने से स्त्री की सामाजिक स्थिति भी नहीं गिरती। तब वह उसे प्रसन्नता-पूर्वक करने लगेगी। अब उसे पड़ोसिनों की दृष्टि में गिर जाने का भय है। वे सब बातों में उसके समान हैं, परंतु घर का काम नहीं करतीं। उनको वह कैसे मुँह दिखाए। यहाँ आपको आलस्य के साथ नहीं, बरन् अनिष्टकर फ़ैशन के साथ लड़ाई लड़नी है। परंतु इस युद्ध की नौबत ही क्यों आए! इस महत्त्वपूर्ण विषय का निर्णय और पूरा-पूरा समझौता पहले ही हो जाना चाहिए। यदि स्त्री का आप पर सच्चा प्रेम है और उसमें व्यवहार-बुद्धि है, तो वह एक मिनट के लिये भी संकोच न करेगी। और यदि उसमें इन दोनों बातों की कमी है, और तुम उन्मत्त होकर उस पर इतने लट्टू हो रहे हो कि उसके बिना तुम्हारा जीना कठिन है, तो एक धन लुटानेवाली सेविका के दास बनकर कष्ट तथा चिंता में दिन काटने के सिवा तुम्हारे लिये दूसरा उपाय नहीं है।

सबसे विचारणीय प्रश्न मुग्धा पत्नी के प्रति तुम्हारा आचरण है। अनेक प्रौढ़ा और विधवा स्त्रियों का हृदय काल और जीवन के कटु अनुभवों से अपेक्षाकृत कठोर हो जाता है। पति के कड़े और रूखे व्यवहार से उनका हृदय विदीर्ण नहीं होता। परंतु बाला और अनुभव-शून्य पत्नी की दशा इससे सर्वथा विपरीत है। तुम्हें यह बात कभी न भूलनी चाहिए कि तुम्हारी पहली घुड़की उसके कोमल हृदय में कटार का काम करती है। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम है कि विवाह के बाद पुरुषों की लालसा कम तीव्र हो जाती है, परंतु इसके विपरीत स्त्रियों का अनुराग बढ़ने लगता है। इस संबंध में संतान हो जाने पर उनका अनुराग बालक और पति में बँट जाता है। परंतु तब तक उनका सारा प्रेम तुम्हीं पर है, और यदि तुम सुखी होना चाहते हो तो प्राणपण से उस प्रेम का बदला दो। दूसरे लोगों के साथ तुम भले ही नाराज़ हो जाओ, परंतु स्त्री के नाराज़ होने का कोई अवसर न आने दो। तुम्हारी वाणी, तुम्हारी दृष्टि और तुम्हारे आचरण पर सदा प्रसन्नता की छाप रहनी चाहिए।

परंतु पत्नी के प्रति प्रेम तथा प्रसन्नता का भाव दर्शाने का ढँग वह नहीं जो योरपीय समाज की देखा-देखी कुछ काले साहब लोग करने लगे हैं। पत्नी का रूमाल या दस्ताना गिर जाने पर चटपट उठाने दौड़ना, स्त्री पर छतरी लगाए चलना, व्यर्थ झूठी श्लाघा करना, उसके शरीर पर गहने लटकाकर उनकी झनकार पर मुग्ध होना और उसके मुखचंद्र को चकोर की तरह टकटकी लगाए देखते रहना, सभा-समाज में आते समय हाथ में हाथ देकर चलना और उसके बूट के तसमे खोलना, ऐसी सब बातें बनावट मात्र और हास्यजनक हैं। इन छिछोरेपन की बातों के बदले स्त्री के साथ सचमुच के भलाई के काम करके अपना प्रेम तथा सम्मान-भाव प्रकट करो। तुम्हारे मन में उसके स्वास्थ्य, उसके जीवन और उसकी मानसिक शांति का जो हर समय ध्यान रहता है उसको अपने स्पष्ट कार्यों में प्रकट करो। तुम्हारे मुख से निकली हुई प्रशंसा उसको प्रसन्नता से भर दे, परंतु वह सचाई और बुद्धि के अनुकूल और उसको तुम्हारी निष्कपटता का विश्वास दिलानेवाली हो। जो पुरुष अपनी पत्नी की झूठी ख़ुशामद करता है वह उसके कानों को दूसरों के मुख से अतिशयोक्ति-पूर्ण बातें सुनने के लिये तैयार करता है। तुम्हारे शब्द नहीं, बरन् तुम्हारे कर्म उसे प्रति दिन और प्रति घड़ी इस बात का विश्वास दिलाएँ कि तुम्हारे हृदय में उसके स्वास्थ्य और जीवन और सुख का मूल्य संसार के अन्य सब पदार्थों से बढ़कर है; और

यह बात उस पर विशेषरूप से ऐसे समयों में अभिव्यक्त हो जब उसे इसकी अनिवार्यतः आवश्यकता होती है।

एक समय की बात है मेरी स्वर्गीय धर्मपत्नी अपने मायके में थीं। वह गाँव मेरे गाँव से कोई पंद्रह कोस के अंतर पर है। जिन दिनों की यह बात है उन दिनों वहाँ इक्का-मोटर कुछ न जाता था। एक दिन मुझे एकाएक उनके बहुत बीमार हो जाने का समाचार मिला, मैं तुरंत घोड़े पर सवार होकर वहाँ जा पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उनको होशियारपुर अस्पताल में ले आना ही उचित जान पड़ा, क्योंकि दशा बहुत शोचनीय थी। उस गाँव में कोई बहली भी न थी जिसमें बैठाकर उन्हें लाया जाता। मैं उसी दिन फिर अपने गाँव वापस आया और घर से अपनी बहली लेकर उसी रात ससुराल जा पहुँचा। सवेरे रोगी को बहली में बैठाकर सायंकाल घर आ गया। फिर दूसरे दिन उसे ले जाकर अस्पताल में दाखिल करा दिया। अस्पताल में भी मेरा उनके पास रहना आवश्यक था। मैं उन दिनों अपने घर से कोई एक मील के अंतर पर स्कूल में काम करता था। होशियारपुर हमारे गाँव से कोई ढाई मील की दूरी पर है। मैं रात अस्पताल में सोता, तड़के उठकर घर आता, वहाँ नहा-धोकर स्कूल जाता, और स्कूल से बारह बजे लौटकर घर भोजन करता, और फिर रोगी के लिये भोजन लेकर दोपहर को ही होशियारपुर पहुँचता। इस प्रकार मुझे कोई डेढ़ मास दौड़-धूप करनी पड़ी। ईश्वर की कृपा से मेरी धर्मपत्नी नीरोग हो गईं। इसके बाद मैंने उन्हें अनेक बार अपनी सखियों और संबंधियों के पास मेरी इस सेवा और प्रेम-भाव के लिये कृतज्ञता प्रकट करते देखा। मैंने यह भी अनुभव किया कि उस दिन से मेरे प्रति उनका अनुराग तथा विश्वास भी बहुत बढ़ गया। मेरी इस तुच्छ सेवा के असाधारण मालूम होने का एक कारण और भी था। उन दिनों हमारे देहात में, लोक-लाज के कारण, कोई नवयुवक पति अपनी पत्नी की इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से सेवा करने का साहस न कर सकता था। पत्नी की उपेक्षा करने में ही पति का महत्त्व माना जाता था। तब तक हमारे गाँव का कोई भी युवक अपनी बीमार पत्नी को चिकित्सा के लिये अस्पताल न ले जा सका था यद्यपि कई एक के प्राण भी जाते रहे थे। मुझ पर भी पहले बहुत-सी फबतियाँ कसी गईं, मुझे स्त्री-दास कहा गया। परंतु मेरे उदाहरण ने बाद को दूसरों के लिये मार्ग खोल दिया। इस झूठी लोक-लाज की परवा न करने के कारण ही मेरी धर्मपत्नी पर मेरी निष्कपटता का अत्युत्तम प्रभाव पड़ा और यह प्रभाव भविष्य में, उनको अपने अनुकूल बनाने में, मेरे बहुत काम आया।

मैं समझता हूँ, जो पुरुष गरमी की रात में जागकर बीमार पत्नी को पंखा झलता है, उसे नींद आ जाय, इसलिये जो कुत्तों को उसके आस पास भौंकने नहीं देता, जो सिर-दर्द होने पर उसका सिर दबाता है, वह लाहौर की ठंडी सड़क पर बाँह में बाँह डालकर चलनेवाले या उसे गहनों से लाद देने वाले पति की अपेक्षा उस पर अधिक प्रेम और उसका अधिक सम्मान करता है। लाहौर के सरकारी कॉलेज में एक हिंदू प्रोफ़ेसर थे। आप विलायत भी हो आए थे। यद्यपि घर में पति-पत्नी की पटती न थी, परंतु एक आर्य-समाज के उत्सव पर उन्होंने अपनी संस्कृतज्ञा भार्या के बूट के तसमे खोलकर अपने पत्नी-सम्मान का स्वांग भर ही दिया। किंतु दुनिया उनके पारिवारिक जीवन को जानती थी। इसलिये उनके इस अनोखे कृत्य से कीर्ति के स्थान में उनकी निंदा ही हुई। इसलिये पत्नी के प्रति अपने प्रेम को दिखलाने की सच्ची रीति यह है कि जिस समय उसका जीवन संकट में हो उस समय सब काम छोड़कर उसकी चिंता से चिंतातुर हो जाओ। सच्चे प्रेम के लिये उसे गोटे-किनारी से मढ़े हुए बहुमूल्य वस्त्रों में लपेटने और मणि-मुक्ता-जटित आभूषणों से अलंकृत करने की उतनी आवश्यकता नहीं।

स्मरण रहे कि पत्नी के प्रति अपने सच्चे और हार्दिक प्रेम का जो यथासंभव सबसे बड़ा प्रमाण आप दे सकते हैं वह उसे अपना समय देना है। दफ़्तर के काम से, वाणिज्य-व्यापार के काम से, सरकारी और ग़ैर सरकारी लोगों को मिलने से जो भी समय बचे, वह पत्नी ही के अर्पण हो। इस काम में मित्रों से मिलना-मिलाना भी आ जाता है। परंतु उस पुरुष को हम क्या कहें जो समय बिताने के लिये अपना घर छोड़कर दूसरों के यहाँ भटकता फिरता है; जो आधी-आधी रात तक दूसरों के घर बैठकर गप-शप किया करता है; जो केवल भोजन के लिये ही घर में कुछ मिनट बैठता है। जिन लोगों को आनंद के लिये नित सिनेमा, नाटक या सर्कस देखने, या दूसरों के यहाँ रात को जाकर हुक्का-तमाकू पीते रहने

का दुर्व्यसन पड़ जाता है उनका गृह-सुख सर्वथा नष्ट हो जाता है।

हमारे एक मित्र के घर जब कोई ऐसा ही गप-शप का व्यसनी मित्र काल-यापन के लिये रात का भोजन करके आता और देर तक उठने का नाम न लेता, तो उनकी धर्मपत्नी मन-ही-मन उसको कोसती हुई कहा करतीं कि 'घर-द्वार से निकाले हुए निगोड़े यहाँ आ मरते हैं। अपने घर में इनको बैठना ही नहीं आता।' श्रीमतीजी का क्रोध उचित ही था। कारण, वह समय उनका अपने पति के साथ बैठकर बातचीत करने का होता था, और उसे वह बिन बुलाए मेहमान छीन लेते थे। जिन लोगों को अपने घर में आनंद नहीं मिलता वही इस प्रकार दूसरे दंपतियों के रंग में भंग डालते फिरा करते हैं। यदि इन महाशयों की पत्नियाँ भी अपने पतियों का अनुकरण करती हुई, दूसरों के घरों में आनंद की तलाश में घूमने लगें तो सारा घर चौपट हो जाय।

जब हम अकेले हों तो हमारा मन उसी प्राणी से मिलने को चाहता है जिसकी संगति में हमें सबसे अधिक प्रसन्नता होती है। इसलिये जो पति, चाहे उसके जीवन की अवस्था कुछ ही हो, अपने अवकाश का समय अपनी पत्नी और संतान को छोड़कर किसी दूसरे की संगति में बिताता है, या जिसको कम-से-कम ऐसा करने की लत है, वह स्त्री तथा बच्चों से अपने आचरण द्वारा उतने ही साफ़ तौर पर कहता है जितना कि वह अपनी वाणी से कह सकता है कि "मुझे तुम्हारी संगति की अपेक्षा दूसरों की संगति में अधिक प्रसन्नता होती है।" बच्चे इसका बदला पिता के प्रति अनादर के रूप में देते हैं। और थोड़ा-सा भी मान रखनेवाली स्त्री के लिये तो यह कलेजे में कटार है, या फिर प्रतिकार की उत्तेजना। और यह बदला भी इस प्रकार का होता है जिसके लिये साधन ढूँढ़ने में तरुणी नारी को देर नहीं लगती। घर से ग़ैर-हाज़िर रहनेवाले पतियों की पत्नियों के सतीत्व का ईश्वर ही रक्षक है! ऐसे पति को अपनी पत्नी से सती रहने की आशा करने का कोई अधिकार नहीं। जो लोग मदिरा-पान करके रात-भर वेश्या के यहाँ पड़े रहते हैं और तड़का होते ही, नशे में मद-मत्त, मुँह और नाक से दुर्गंध के फ़व्वारे छोड़ते, और अंड-बंड बकते, बेचारी घरवाली को दुःख देने के लिये घर में आ लुढ़कते हैं वे किस मुँह से स्त्री से व्रतधारिणी होने की आशा करते हैं। विवाह के समय उनकी स्त्री समझती है कि कोई मनुष्य मेरा पाणि-ग्रहण कर रहा है, परंतु बाद को उसे यह जानकर दुःख होता है कि वह मनुष्य नहीं, पिशाच है। इसलिये घर से बाहर वक़्त काटने की बुरी बान को पहले से ही रोकना चाहिए। पति को पहले से ही ध्रुव निश्चय कर लेना चाहिए कि जब तक कोई आवश्यक काम न हो, वह अपने अवकाश का एक घंटा भी घर से बाहर नहीं बितावेगा। तभी वह पति कहलाने का सच्चा अधिकारी है। कविवर मतिराम ने भी पति का ऐसा ही लक्षण लिखा है—

पाँव धरै दुलहा जिहिं ठौर, रहै 'मतिराम' तहाँ दृग दीने ;
छोड़ि सखान के साथ को खेलिबो, बैठ रहै घर ही रस भीने।
साँझहि तै लजके मन-ही-मन, लालन यौं रस के बस लीने ;
लौनी सलौनी के अंगनि नाह सु, गौने की चूनरी ठौने-से कीने।

जिन पतियों को घर से बाहर गप-शप लगाते फिरने की लत है वे यदि पत्नी और परिवार के साथ घर पर अपने अवकाश का समय बिताने का यत्न-पूर्वक अभ्यास करेंगे, तो कुछ दिन बाद यह उनका एक स्वभाव ही बन जायगा और उन्हें इसमें बड़ा आनंद आवेगा। संसार का ऐसा कोई भी विषय नहीं जिस पर तुम पत्नी के साथ बातचीत करके आनंद न ले सको। धर्म, विज्ञान, राजनीति, समाज-शास्त्र, इतिहास आदि सभी विषयों में, यदि तुम थोड़ा-सा उद्योग करो, तो उसमें पूरी पूरी रुचि उत्पन्न कर सकते हो, और अल्पकाल में ही वह तुम्हारे वार्तालाप में वैसे ही भाग लेने और उसे आनंद-दायक बनाने लगेगी जैसा कि तुम्हारे दूसरे मित्र जिनके आकर्षण से खिंचकर तुम घर से बाहर रहते हो। इससे एक बड़ा लाभ यह भी होगा कि तुम्हारी संतान की शिक्षा में बड़ी सहायता मिलेगी, क्योंकि माता-पिता की वार्तालाप का अज्ञानतः संतान पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यदि तुम अपने घर में संवाद-पत्र, उपन्यास या नाटक पढ़कर सुनाओगे तो धीरे-धीरे सभी को इसमें रुचि हो जायगी।

पुरुषों के लिये दिन-रात का बहुत-सा हिस्सा घर से बाहर रहना आवश्यक है। क्लार्क, दुकानदार, सिपाही, किसान और मज़दूर सबको अपनी अवस्था तथा काम के कारण घर से बाहर रहना पड़ता है। हम इस अनुपस्थिति का विरोध नहीं करते। हम जिसका प्रति-

याद करते हैं वह है अवकाश के घंटों को विना ज़रूरत और जान-बूझकर, घर से बाहर बिताने का स्वभाव ; अपने घर की अपेक्षा पड़ोसी के, या उसी गली में किसी भी दूसरे घर को अधिक पसंद करना । किसी आवश्यकता-वश पुरुष के घर से अनुपस्थित होने से स्त्री के हृदय को दुःख नहीं होता ; वह समझती है कि यदि तुम्हारे वश की बात होती तो तुम अवश्य उसके पास होते, और इतने से ही उसको संतोष रहता है ; उसे यह अनुपस्थिति बुरी तो लगती है, परंतु विना शिकायत किए वह उसे सहन कर लेती है । इन अवस्थाओं में भी यथासंभव उसके भावों का ध्यान रखना चाहिए, उसे इस बात का पूरा-पूरा ज्ञान रहना चाहिए कि अनुमानतः तुम कितनी देर तक बाहर रहोगे और संभवतः किस समय तक लौटोगे । और यदि यह बात अवस्था पर निर्भर हो, तो वे अवस्थाएँ पूरी तरह से उसे बता दी जानी चाहिए ; क्योंकि जब तुम उसके मन को शांत रख सकते हो, तो तुम्हें उसे अशांत रखने का कोई अधिकार नहीं । मैं इतने बजे लौट आऊँगा, ऐसा वचन दे आने पर उसी समय लौटने का पूरा यत्न करो । यदि न लौट सको, तो अपने रुक जाने की सूचना भेजवा दो । उसे व्यर्थ प्रतीक्षा में बैठाए मत रक्खो । पति के आने का निश्चित समय मालूम रहने पर, प्रायः देखा जाता है, सुभार्या, घर के नौकरों तथा बच्चों को सुलाकर, स्वयं रात के दो-दो बजे तक अकेली प्रतीक्षा में बैठी रहती है । परंतु जो पुरुष अपने वचन का ध्यान न रखकर निश्चित समय पर लौटने की परवा नहीं करते, वे पत्नी की इस भक्ति को शीघ्र ही खो बैठते हैं ।

यदि नवयुवकों को मालूम हो कि स्त्रियाँ इस प्रकार की पत्नीभक्ति को कितना अच्छा समझती हैं, तो दुःखी दंपतियों की संख्या वर्तमान की अपेक्षा बहुत कम हो जाय । यदि पुरुष किसी अफ़सर या बड़े आदमी से मिलने का समय नियत कर ले तो वह ठीक समय पर उसके पास पहुँचने से कभी नहीं चूकता, और विश्वास रखिए कि स्त्रियाँ भी इसमें चूक होने को किसी अफ़सर से कम बुरा नहीं मानतीं । मैं कहाँ चला और किस समय घर लौटूँगा, इस बात की निश्चित सूचना पत्नी को देने में असावधानी करने से हमने अनेक परिवारों का गार्हस्थ्य सुख नष्ट होते देखा है । बुद्धिमान् पति आरंभ से ही इस विषय में सावधान रहते हैं । किसी भी मनुष्य को किसी भी निरपराध व्यक्ति के भावों की, विशेषतः उस व्यक्ति के जिसने अपने सुख को उसके हाथ समर्पण कर रक्खा है, अवहेला करने का अधिकार नहीं । सच तो यह है कि प्रायः पुरुष यही समझे हुए हैं कि हमारे और स्त्रियों के भावों में कुछ भी भेद नहीं, परंतु यह बड़ी भूल है । यह बात पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक चुभती है । उनका अनुराग अधिक तीव्र, अधिक पवित्र, अधिक स्थायी होता है, और वे अपने मन के भावों को कह देने में अधिक सरल और अधिक निष्कपट होती हैं । उनके सुप्रिय गुणों और समस्त निर्बलताओं का ध्यान रखकर उनके साथ कोमल बर्ताव होना चाहिए, और उनके हृदय पर चोट करनेवाली किसी भी बात को तुच्छ नहीं समझना चाहिए ।

आओ तनिक सोचें कि विवाह करके स्त्री कैसा अपूर्व त्याग करती है । वह दंपति के सम्मिलित आनंद के लिये अपनी स्वतंत्रता का समर्पण करती है । वह पति को इस बात का पूर्ण अधिकार देती है कि वह उसे जिस जगह, जिस ढंग से, और जिस समाज में चाहे रख सकता है । वह उसे अधिकार देती है कि वह पत्नी के धन और संपत्ति को आप ले ले और स्वेच्छानुसार उपभोग करे । और इन सबसे बढ़कर वह उसके हाथ आत्म-समर्पण करती है—अपने शरीर तथा आत्मा पर उसको अधिकार दे देती है । फिर सोचिए, वह पति के लिये कितना कष्ट सहन करती है । बच्चे पालने का प्रायः सारा कष्ट उसी को उठाना पड़ता है । पति के रुग्ण होने पर वह किस प्रेम और भक्ति से उसकी टहल करती है—उसकी सेवा में दिन-रात एक करती और प्रसन्नता से उसका मल-मूत्र तक उठाती है । वह गृहस्थी में ऐसे-ऐसे काम करती है जिनको यदि पति को अकेले ही करना पड़े, तो उसका कचूमर निकल जाय । वह अपनी संतान का कैसा हित करती है । कई अवस्थाओं में तो वह उन पर अपने प्राणों से भी बढ़कर प्रेम करती है । इन बातों का विचार करके कौन न्यायप्रिय पुरुष उसके सुख पर आघात करनेवाली किसी बात को तुच्छ समझने का ख़याल तक मन में ला सकता है ?

एक समय की बात है, एक स्त्री नहर पर कपड़े धो रही थी । उसकी दो बरस की नन्हीं बच्ची खिसककर सड़क

पर आ गई और धूप में लेट गई। उधर से तीन-चार गाड़ियाँ आ निकलीं। प्रत्येक गाड़ी में चार-चार मज़बूत घोड़े लगे हुए थे। वे सरपट दौड़े आ रहे थे। सबसे अगली गाड़ी के कोचवान की दृष्टि बच्ची पर नहीं पड़ी। वह बराबर घोड़ों को बढ़ाता चला आया। क़रीब था कि अगले घोड़ों के सुम बच्ची को कुचल डालें कि निकट की दूकान पर से एक युवक एकदम झपटा। उसने कुरते से पकड़कर बच्ची को सड़क के एक ओर फेंक दिया। इतने में घोड़े के सुमों की ठोकर उसे लगी। उसे चोट तो आई परंतु अपनी होशियारी के कारण वह बच गया। घोड़ा-गाड़ियों का शब्द सुन इधर लड़की की माता भी चौंककर बे-तहाशा सड़क की ओर दौड़ी। इस बीच में युवक लड़की को उठाकर एक ओर फेंक चुका था। माता ने पहले तो उठाकर उसे ज़ोर से छाती के साथ लगाया, फिर एक ऐसी चीख़ मारी जैसी पहले कभी न सुन पड़ी थी, और धड़ाम से पृथ्वी पर गिर पड़ी। मानो उसमें प्राण बिलकुल नहीं रहे। कुछ देर बाद उसे होश में लाया गया। एक सज्जन यह सब देख रहे थे। उन्होंने बच्ची को बचानेवाले युवक से पूछा कि क्या आप विवाहित हैं और क्या आपका इस बच्ची के माता-पिता के साथ कोई संबंध है? उसने उत्तर दिया—न मैं विवाहित हूँ, और न मेरा उनके साथ कोई संबंध है। तब वह सज्जन बोला—"तब आप संसार के सभी माता-पिताओं की कृतज्ञता के पात्र हैं।" फिर उसने जेब में से एक पाँच रुपए का नोट निकालकर उसे देना चाहा और कहा कि मैं अपनी कृतज्ञता के रूप में यह तुच्छ भेंट आपको देता हूँ। परंतु युवक ने लेने से इनकार करते हुए कहा—"महाशय, मैंने केवल अपना कर्तव्य पालन किया है। मैं आपकी भेंट लेने में असमर्थ हूँ।"

इससे बढ़कर वीरता, निस्स्वार्थता, और मातृ-स्नेह की कल्पना असंभव है। माता इन बलवान और भयानक घोड़ों के पैरों और गाड़ियों के पहियों के ठीक नीचे घुसने के लिये दौड़ी जा रही थी। उसे अपना कुछ भी विचार न था; अपने जीवन का कुछ भी भय न था; उसकी चीख़ एक ऐसे हर्ष की ध्वनि थी जो व्यक्त नहीं किया जा सकता, जो इतना अपार था कि उसे प्राप्त कर वह अपने को सँभाल नहीं सकती थी। ऐसी अवस्थाओं में कदाचित् सौ में से निन्यानबे माताएँ ऐसा ही करें। अपेक्षाकृत बहुत थोड़ी ऐसी माताएँ हैं जो मातृ-स्नेह से परिपूर्ण न हों। जो लड़की बच्चों से प्यार नहीं करती वह इस योग्य ही नहीं कि उससे कोई पुरुष विवाह करे। जिस पुरुष को छोटे बच्चों से घृणा है, उसे विवाह करने का अधिकार ही नहीं।

यह एक पुरानी कहावत है कि माता को प्रसन्न करना हो तो उसके बच्चे से प्रेम करो। स्नेहमयी माता को प्रसन्न करने का उसके बच्चे की प्रशंसा करने से बढ़कर और कोई उपाय नहीं। बच्चा जितना छोटा होगा, उसकी प्रशंसा में कहे गए शब्दों को उतना ही अधिक वह पसंद करेगी। माता के साथ कितनी ही अच्छी-अच्छी बातें कीजिए, किंतु उसके बच्चे का ध्यान न कीजिए, तो वह आपसे घृणा करेगी। किसी भी पति को इस बात को न भूलना चाहिए; क्योंकि यदि पत्नी दूसरों से अपने बच्चे की प्रशंसा कराना चाहती है, तो आप अनुमान कर सकते हैं कि पति से प्रशंसा सुनने की उसकी कितनी प्रबल इच्छा होती होगी! एक मद्यप कहा करता था कि यदि मैं अपने कुरूप बालक को चूम लूँ और कहूँ कि यह कैसा सुंदर है, तो फिर चाहे मैं अपना सारा वेतन बाहर ही ख़र्च कर डालूँ, मेरी स्त्री मुझे क्षमा कर देती है। यद्यपि यह व्यक्ति बड़ा दुश्चरित्र तथा लंपट था, तो भी वह आसन को समझता था। यह बात निश्चित है कि तब तक कोई वैवाहिक सुख संभव नहीं जब तक पति स्पष्टरूप से संतान के प्रति, और वह भी उसके जन्म-दिन से ही, प्रेम का व्यवहार न करे।

यद्यपि उपर्युक्त कारणों से पति को पत्नी के साथ यथा-संभव बहुत ही दया-पूर्ण व्यवहार करना चाहिए, तो भी वह उससे धर्मानुकूल आचरण की आशा करे। वह उसका दास न हो; वह अपने विवेक और तर्क की आज्ञाओं के विरुद्ध पत्नी के सामने सिर न झुकाए; पति के सभी धर्म संगत आदेशों को मानना पत्नी का कर्तव्य है, और यदि उसमें कुछ भी बुद्धि है तो वह झट समझ जायगी कि एक ऐसी वस्तु को अपना पति स्वीकार करना जो पूर्णरूप से उसकी मुट्ठी में है, अपमान-जनक है। यदि आवश्यकता हो तो पति को भार्या की जिह्वा को भी क़ाबू में रखने का अधिकार है, क्योंकि यदि वह उसका अनुचित और अशोभनीय रीति से प्रयोग करती है तो उसकी निंदा और कुत्सा से दुःखित होने-

वाले व्यक्ति को पति के विरुद्ध शिकायत करने का अधिकार है। पत्नी के दूसरों को गालियाँ देने या चुग़ली करने से पति का बड़ा भारी अपयश होता है।

(असमाप्त)

संतराम

परलोक-विद्या-विषयक आक्षेपों का उत्तर

कुछ लोग इस विद्या की सत्यता के संबंध में विविध प्रकार के आक्षेप करते हैं। उन पर विचार करना और अनुचित बातों का खंडन करना आवश्यक है। इसी विचार से खंडनात्मक आलोचना-पद्धति द्वारा कुछ बातों के खंडन करने का इस लेख में यत्न किया गया है।

साधारणतः आक्षेप करनेवाले दो प्रकार के होते हैं। एक तो अनुभवी और दूसरे अनुभव-शून्य। स्वयं अनुभव प्राप्त किए बिना ही इस शास्त्र को सत्य अथवा असत्य ठहराना, अथवा इसके संबंध में किसी प्रकार की भली तथा बुरी सम्मति प्रकट करना केवल अनधिकार-चर्चा-मात्र होगी। इस बात को लक्ष्य में न रखने ही से कई लोग मनमाने आक्षेप करते रहते हैं। आधुनिक परलोक-विद्या द्वारा प्रचारित साधनों से परलोक-गत मनुष्यों से वार्तालाप करना सर्वथैव असंभव है, इस प्रकार के विचारों को प्रथम से ही मनः-स्थित कर, बिना प्रयोग देखे अथवा किए ही कुछ लोग अपना मंतव्य निर्धारित कर लेते हैं। सम-सामयिक वस्तु-स्थिति की सानुकूलता नहीं, वरन् अननुकूलता की दशा में थोड़े दिन तक प्रयोगों द्वारा कृतविद्य न होने से मनेप्सित सफलता की अप्राप्ति से, अथवा देखे हुए प्रयोगों में कुछ न्यूनता प्रतीत होने से कुछ लोगों का मन प्रतिकूल हो जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण को भी असत्य माननेवाले कुछ हठी और दुराग्रही लोग हैं। इस शास्त्र के भौतिक दृश्यों को सत्य समझकर उनके द्वारा भी कुछ लोग अन्यान्य प्रकार के प्रतिकूल अनुमान निकाला करते हैं। इस प्रकार के विविध भाँति के पृथक्-पृथक् आक्षेपों का यथेच्छ समाधान करना अत्यंत ही कठिन है, तथापि इस विवेचन से पाठकों का समाधान होगा, ऐसी आशा है।

कुछ लोग इन कर्ताओं पर भाँति-भाँति के कपट का आरोप करते हैं। वे समझते हैं कि यह सब केवल धोखेबाज़ी का खेल है। मेज़ अथवा स्वयं लेखन द्वारा परलोक-गत मनुष्यों से वार्तालाप करना-कराना सर्वथा असंभव है। कदाचित् यह आक्षेप यदि परलोक विद्या के उच्च श्रेणी-स्थित भौतिक दृश्यों के संबंध में होता, तो भी यह आक्षेप आंशिक रूप से कुछ समर्थनीय होता। वास्तव में सच तो यों है कि उन दृश्यों के संबंध में सशंक रहना निरे अज्ञान का परिणाम है। किंतु दोष-दृष्टि से शंकितों में से कई लोगों को इन सामान्य दृश्यों में भी कापट्य दिखता है। एक बार मेरे देखने में एक ऐसी पुस्तक आई थी जिसमें उसके विद्वान् लेखक ने टेबल टिल्टिंग अर्थात् मेज़ द्वारा संदेश ग्रहण के संबंध में भी शंका प्रदर्शित की थी। किंतु यह बात तो इतनी साधारण तथा स्वयंसिद्ध है कि इसकी सत्यता अथवा असत्यता निश्चित करने के लिये किसी भी विद्वान् की सम्मति की आवश्यकता नहीं। जिस बात का स्वयं अनुभव प्राप्त होता है, उस बात के लिये प्रमाण की आवश्यकता ही क्या ? यदि उसे किसी पंडित ने असत्य भी माना तथा कहा, तो भी उसकी क्या हानि है ? अथवा कई विद्वानों ने दुराग्रह-पूर्वक बिना ही किसी अनुभव के कोई बात कही, तो उसे बिना ही किसी निर्णय के सत्यासत्य मान बैठना कहाँ तक न्याय-संगत होगा ? 'न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते' की लोकोक्ति के अनुसार केवल दुराग्रह-पूर्वक कहने-मात्र ही में क्या परिणाम होगा ? स्वल्पावकाश में अनुभव पाने पर विद्वानों के थोथे वचनों पर कौन विश्वास रक्खेगा ? इन लोगों की समझ से मानो संसार की संपूर्ण बुद्धिमत्ता का ठेका इन्हीं के हिस्से आया है, क्योंकि वे कहते हैं कि प्रयोगकर्ता लोग इन प्रयोगों से दर्शकों को अज्ञान में डाल देते हैं। पर-पक्ष-खंडनार्थ और स्वपक्ष-मंडनार्थ वे शब्दाडंबर और वितंडावाद द्वारा तर्कवाद का तीर चलाते हैं। इन प्रयोगों पर इतना आग्रह और दावे के साथ लिखने का एक-मात्र यही कारण है कि यह

प्रयोग सुसाध्य हैं। इनकी अनुभव-प्राप्ति में किसी भी स्वार्थ-लोलुप मीडियम की सहायता की आवश्यकता नहीं है। प्रस्तुत लेखक ने इन प्रयोगों का प्रत्यक्ष अनुभव कई बरसों तक प्राप्त कर पश्चात् तद्विषयक अपना मत निश्चित किया है। इतने पर भी यदि किसी को इस विषय में, किसी भी प्रकार की शंका हो, तो उसे प्रस्तुत लेखक यह दृश्य प्रत्यक्ष दिखलाकर समुचित रूप से उसका मन-स्तोष कर सकता है।

अब जिन्हें इनकी सत्यता मान्य हो चुकी है, उन्हें यह शंका होती है कि यह संदेश परलोक-आत्माओं के द्वारा प्राप्त न होकर प्रयोगकर्ताओं की अतींद्रिय संवेदना (Subconscious mind) अथवा विचार-संक्रमण (thought transfer) से ही प्राप्त होते होंगे। इस प्रकार के आक्षेप प्रायः सदा सर्वदा सुनने में आते हैं। इस कारण अब पहले उन्हीं का विवेचन विस्तार-पूर्वक करना आवश्यक है। जिन्होंने स्वयं लेखन की क्रिया देखी है, वे भली भाँति जानते होंगे कि उचित स्थिति की सानुकूलता के अनुरूप स्वल्पावकाश में ही संदेश आना आरंभ हो जाता है और प्रयोगकर्ता कई अज्ञात बातें लिख देता है। यदि उस पर लौकिक स्थिति की सानुकूलता न हो, तो प्रयोगकर्ता की अतीव अथवा असीम उत्कंठा होने पर भी कुछ भी अनुभव प्राप्त नहीं होते। यह बात मानना आवश्यक होगा कि प्रयोगकर्ता का मन सदा समवस्थित रूप में रहता है। अतएव भिन्न-भिन्न प्रकार के संदेशों के आने के, तथा जो बातें प्रयोगकर्ता को भी अज्ञात हैं उनके मालूम होने के कारणों को ढूँढ़ना चाहिए। अज्ञात बातें लिखी जाती हैं अथवा विदित होती हैं, इसे बहुत लोग अमान्य नहीं कहते। कोई-कोई यह भी कहते हैं कि कदाचित् ये बातें प्रयोगकर्ताओं को कभी-न-कभी अवश्य मालूम हुई होंगी, और उनके अतींद्रिय प्रदेश में छिपकर रही होंगी, किंतु यह भी कथन प्रत्यक्ष अनुभव से विसंगत है। कभी-कभी अपरिचित भाषा में भी संदेश आते हैं, फिर क्या यह भी समझना चाहिए कि मीडियम ने कभी उस भाषा की शिक्षा भी ग्रहण की थी? सुप्रसिद्ध शास्त्रज्ञ सर ऑलिव्हर लॉज के 'मरणोत्तर मानवी अस्तित्व'-ग्रंथ में एक स्थान पर एक अल्पवयस्क बालिका के हाथ से परलोक-गत सोनियर रैंग्लर-लिखित गणित-शास्त्र के सिद्धांत का दृश्य छपा है। क्या इससे यह बात भी माननी चाहिए कि वह बालिका गणित-शास्त्र की ज्ञाता थी? क्या उसने कभी इस दृश्य को देखा होगा? यदि नहीं तो इस दृश्य की अथवा इसी के समान स्वयं लेखन द्वारा प्राप्त अन्यान्य दृश्यों की उत्पत्ति किस रीति से सार्थक की जा सकेगी? सर कोनन डॉयल ने 'न्यू रेव्हेलेशन'-नामक ग्रंथ में एक स्थान पर एक लेखक के अनुभवों का वर्णन किया है। उस लेखक के पिता ने स्वयं लेखन द्वारा जो संदेश दिए थे इतने अधिक सूक्ष्म थे कि बिना सूक्ष्म-यंत्र के उनका पढ़ा जाना तक असंभव था। उन संदेशों के भाव से भी लेखक अपरिचित था, तथा संदेशों और लेखक की भाषा और विचारों में तो ज़मीन-आसमान का अंतर था। इसी प्रकार से प्रस्तुत लेखक को भी समय समय पर कई आश्चर्यजनक अनुभवों की प्राप्ति हुई है। कुछ दिनों के पूर्व छपरा में एक मीडियम द्वारा हिब्रो भाषा में संदेश आए जिससे मीडियम बिलकुल अपरिचित था। कभी-कभी प्रयोग-कर्ताओं की अभिलाषा होते हुए भी इच्छित आत्माएँ पदार्पण नहीं करतीं और उनके बदले में अनिच्छित आत्माएँ आ जाती हैं। कभी-कभी दृढ़ प्रयत्नों के करने पर भी प्रयोगों की सफलता में विफल-मनोरथ होना पड़ता है। अब यदि अतींद्रिय संवेदना का ही यह परिणाम होता, तो अनुभवों की प्राप्ति में सदा समानता ही रहती। यदि यह भी मान लिया जाय कि अज्ञात मन की शक्तियाँ अमर्यादित हैं, तो भी इस भेद-भाव का स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। क्या अज्ञात मन की शक्ति स्वयं लेखन के समय ही जागरूक होती है और फिर उसका अमर्यादित शक्तियुक्त मन सुप्तावस्थ हो जाता है? इसके संबंध में केवल इतना ही कहना यथार्थ होगा कि प्रयोगकर्ता पर अकारण ही पर वंचना अथवा स्वयं वंचना का तथा उसके मन पर अमर्यादित शक्तिमत्ता का दोषारोपण करने आदि का मूल कारण केवल प्रयोग की अयथार्थ उपपत्ति लगाना ही है। अमर्यादित मनःशक्ति से ये अनुभव प्राप्त होते हैं, ऐसा मानने पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि वह शक्ति अनियमित है और परलोक विद्या-विषयक प्रयोगों के समय ही जागृत होती है। अन्यान्य समय पर कई लोगों को विचित्र प्रकार के अनुभव होते हैं; उनका विचार स्थानाभाव और विस्तार-भय से यहाँ

नहीं किया गया। यहाँ तो केवल उन्हीं अनुभवों का विवेचन किया गया है, जो प्रयोगों द्वारा प्राप्त हुए हैं। इसलिये वे संदेश परलोक-गत आत्माओं से आते हैं कि अज्ञात मन के द्वारा प्राप्त होते हैं, इन दोनों में से कौन-सा अनुमान बुद्धि-ग्राह्य है, इसकी मीमांसा का निर्णय पाठक ही करें। यह विवेचन क्लेअरव्हायन्स, ध्वनिश्रवण अथवा अन्यान्य परलोक-विद्या के भौतिक दृश्यों के संबंध में नहीं है, क्योंकि उनमें अधिक प्रमाण मिलते हैं।

विचार-संक्रमण से भी कई लोग इस दृश्य की उपपत्ति लगाना चाहते हैं। अँगरेज़ी-भाषा में इसको टेलीपैथी अथवा थॉट ट्रान्सफरंस कहते हैं जिसका अर्थ यह है कि किसी भी भौतिक साधन के बिना ही एक मनुष्य के हृदय-गत भाव दूसरे मनुष्य के मन में प्रवेश किए जा सकते हैं। इस तत्त्व को प्रायः समस्त सभ्य और सुशिक्षित संसार मान्य करता है। केवल दुराग्रही लोग ही इसके विषय में अविश्वास प्रदर्शित करते हैं। उनमें से एक ने कहा है कि गूढ़-शक्ति, संशोधक मंडल के समस्त संशोधक इस बात को मान्य करें अथवा निजी इंद्रियों से मुझे इस बात का अनुभव हो जाय, तो भी मैं तो इस बात को अमान्य ही करूँगा क्योंकि ऐसा होना सर्वथा असंभव है। इस प्रकार के दुराग्रही लोगों का किस से मनस्तोष हो सकेगा, यह अभी तक ज्ञात न हो सका। 'ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति' यह उक्ति उन महामना-दुराग्रही पुरुषों के विषय में चरितार्थ होती है, परंतु आक्षेपकों की यह शंका है कि प्रयोग के समय जो पृच्छक, प्रेक्षक अथवा प्रयोगकर्ता रहते हैं उनमें से किसी एक के भी विचार उस समय लिखित रूप में प्राप्त होते हैं और यदि विचार-संक्रमण की सहायता मान्य की, तो इस विषय में परलोक-गत आत्माओं के अस्तित्व लाने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। वस्तुस्थिति से यह विधान सर्वथा विसंगत है। यदि यह भी मान लिया जाय कि कोई-कोई संदेश उपरिनिर्दिष्ट त्रयी के विचार-संक्रमण से प्राप्त होते होंगे, तो भी संपूर्ण संदेश इसी सहायता से प्राप्त होते हैं यह मत सर्वतोभावेन भ्रामक तथा अयथार्थ है। फिर प्रयोगस्थान स्थित त्रयी को जो विचार सर्वथा अज्ञात हैं वे लिखित रूप में आते हैं अथवा अन्य रीति से मालूम होते हैं। उनका खुलासा किस रीति के आधार पर किया जायगा, इसी प्रकार प्रयोगकर्ता अथवा प्रेक्षक-गण जो बातें न चाहें वे भी बतला दी जाती हैं इसका खुलासा टेलिपैथी द्वारा मान्य करने से न होगा, परलोक-विद्या-विषयक ग्रंथों में लिखित संदेश तथा स्वयं कृत प्रयोगों से आए हुए अनुभव विचार-संक्रमण के अनुमान को सर्वथा बाधित करते हैं। योरपीय महायुद्ध के समय पर 'लुसिटेनीया' जहाज़ समरतल गत हो जाने पर उसके दो घंटे के पश्चात् उसी जहाज़ के साथ डूबे हुए सर ह्यू लेन-नामक एक प्रसिद्ध पुरुष ने मिसेस स्मिथ-नामक मीडियम के द्वारा यह वृत्तांत संपूर्ण रूप में लिख दिया। इस वार्ता का ज्ञान वॉर ऑफ़िस अथवा इँगलैंड में किसी को भी ज्ञात नहीं था। फिर एक ही दो दिन के पश्चात् ख़बर आई और मिसेस स्मिथ का संदेश सत्य निकला। यह वृत्तांत 'व्हॉइस फ़्रॉम दि व्हॉइड' (Vice from the Void)-नामक ग्रंथ में एक स्थान पर आया है। पाठक स्वयं ही इसका अनुमान करें कि यह संदेश किसके विचार-संक्रमण से प्राप्त हुआ होगा। इसी प्रकार की और भी कई सत्य-पूर्ण घटनाओं का वर्णन अन्यान्य ग्रंथों में भी मिलता है, उन पर से टेलिपैथी का उपरि-लिखित आक्षेप निस्संदेह खंडित हो जाता है। कभी-कभी परलोक-गत मनुष्य यदा-कदा असत्य संदेश भी देते रहते हैं। क्या प्रयोगकर्ता के अथवा पृच्छक के मन में इस प्रकार की वंचना करने की इच्छा भी रहती है। यदि परलोक-गत मनुष्य न चाहे अथवा इहलोक और परलोक-स्थिति में सानुकूलता न रहे, उस समय प्रयोगकर्ता को जो बातें ज्ञात भी रहती हैं वे भी लिखित रूप में प्राप्त नहीं हो सकतीं, क्या यह भी विचार-संक्रमण से होता होगा?

बी० डी० ऋषि बी० ए० एल्-एल्० बी०

अतीत का गीत!

सघन वन वल्लरियों के नीचे।
उषा और सध्या किरनों ने तार बीन के खींचे।
हरे हुए वे गान जिन्हें मैंने आँसू से सींचे,
स्फुट हो उठी मूक-कविता फिर कितनों ने दृग मींचे।
स्मृति-सागर में पलक चुलुक से बनता नहीं उलीचे,
मानस-तरी-भरी करुना-जल होता ऊपर नीचे।

जयशंकर 'प्रसाद'

उपन्यास के विषय और चरित्र कहाँ मिलते हैं ?

यह बहुत ही साधारण और स्वाभाविक प्रश्न है जो बहुधा लोगों के मन में उठा करता है। अक्सर लोग उपन्यास लिखनेवालों से यह प्रश्न पूछ भी बैठते हैं। हमसे भी कितने ही सज्जनों ने यह प्रश्न किया है। उनके लाभार्थ हम यहाँ कुछ अपने और कुछ अन्य प्रसिद्ध औपन्यासिकों के अनुभव संक्षिप्त रूप से लिखते हैं। हमें आशा है, माधुरी के पाठकों का भी इससे मनोरंजन होगा।

उपन्यासकारों में कुछ तो प्राकृतिक रूप से और कुछ अभ्यास से एक ऐसी शक्ति आविर्भूत हो जाती है जो अज्ञात रूप से भावों और विचारों का संग्रह कर लेती है, जिस तरह बिजली से भरा हुआ शीशा काग़ज़, तिनके आदि को खींच लेता है। यहाँ तक कि मनुष्यों के रूप, नाम और लोगों के मुँह से निकले हुए शब्द भी उसके मस्तिष्क में यथास्थान पहुँच जाते हैं। डिकेंस इँगलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो गुज़रा है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर, हास्य रस-प्रधान रचना है। "पिकविक" का नाम एक शिकरम गाड़ी के मुसाफ़िरों की ज़बान से डिकेंस के कान में आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष सबकी रचना हो गई। 'साइलस मारिनर" भी अँगरेज़ी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका है, लिखा है अपने बचपन में उन्होंने एक फेरी लगानेवाले जुलाहे को पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप में प्रकट हुई। 'स्कारलेट लेटर" भी हथार्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजांकुर उन्हें एक पुराने मुक़दमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष में अभी उपन्यासकारों के जीवन-चरित्र नहीं हैं, इसलिये भारतीय उपन्यास साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रंगभूमि' का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गाँव में रहता था। एक ज़रा-सा इशारा, ज़रा-सा बीज लेखक के मस्तिष्क में पहुँचकर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते हैं। "एम्० ऐंड्रू ज़ हिम" रुडयार्ड किपलिंग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट में लिखा है कि एक दिन एक इंजिनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासों के चरित्र अपने पड़ोसियों में मिले। वह घंटों अपनी खिड़की के सामने बैठे लोगों को आते-जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातों को ध्यान से सुनते थे। "जेन आयर" भी अँगरेज़ी उपन्यास के प्रेमियों ने अवश्य पढ़ी होगी। दो लेखिकाओं में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नहीं। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, मैं ऐसा उपन्यास लिखूँगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी। इसका फल था "जेन आयर"।

बहुधा लेखकों को पुस्तकों से अपनी रचनाओं के लिये अंकुर मिल जाते हैं। हालकेन का नाम पाठकों ने सुना है। आप अभी जीवित हैं। आपकी एक उत्तम रचना का अनुवाद हाल ही में "अमरपुरी" के नाम से हुआ है। आप लिखते हैं कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। "मेटरलिंक" बेलजियम के जगद्विख्यात नाटककार हैं। उन्हें बेलजियम का शेक्सपियर कहते हैं। उनका "मोनावोन"-नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और "मेरी मैगडालेन" एक जर्मन-ड्रामा से। शेक्सपियर के नाटकों का स्रोत-स्थान खोज-खोजकर कितने ही विद्वानों ने 'डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान उपन्यासिकों और नाटककारों ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग "डाक्टर" बन सकते हैं। "तिलिस्म होशरुबा" फ़ारसी का एक बृहद् पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबारवाले फ़ैज़ी कहे जाते हैं, हालाँकि हमें यह मानने में संदेह है। इस पोथे का उर्दू में भी अनुवाद हो गया है। साँपेजी छिपाई आकार के कम-से-कम २०००० पन्ने होंगे। स्व० बाबू देवकीनंदन खत्री ने

चंद्रकांता और चंद्रकांता-संतति का बीजांकुर "तिलिस्म होशरुबा" से ही लिया होगा, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में तिलिस्म का ज़िक्र ही नहीं है।

संसार-साहित्य में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जिन पर हज़ारों बरसों से लेखकगण आख्यायिकाएं लिखते आए हैं और शायद हज़ारों वर्षों तक लिखते जायँगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई हैं, कौन नहीं जानता। योरप में भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिये एक अशेष आगार है। "दो भाइयों की कथा" जिसका पता पहले पहल मिस्र देश के तीन हज़ार वर्ष पुराने लेखों से मिला था, फ्रांस से भारतवर्ष तक एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओं के साहित्य में समाविष्ट हो गई है। यहाँ तक कि बाइबिल में उस कथा की एक घटना ज्यों की त्यों मिलती है। किंतु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पना-शक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओं का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक में वह रस, वह आकर्षण नहीं होता जो पुरानों में पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की ज़रूरत नहीं। रचना-शक्ति थोड़ी बहुत सभी प्राणियों में रहती है। जो रचना में अभ्यस्त हो चुके हैं, उन्हें तो फिर झिझक नहीं रहती, क़लम उठाया और लिखने लगे, लेकिन नए लेखकों को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया में कूदने जा रहे हों। बहुधा एक तुच्छ-सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है, किसी का नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर उनकी कल्पना जाग उठती है। किस व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयों से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से, किसी को नए, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय में यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से, बहुधा नई-नई कल्पनाएँ जाग्रत् होती जाती हैं। ईश्वर-दत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रकट कैसे हो कि किसमें यह शक्ति है, किसमें नहीं। कभी इसका सबूत मिलने में बरसों गुज़र जाते हैं और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-संपादक ने इसकी परीक्षा करने का एक नया ढंग निकाला है। दल-के-दल युवकों में से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक काग़ज़ के टुकड़े पर कोई नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकड़ा देकर उस नाम के संबंध में ताबड़तोड़ प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालों का क्या रंग है? उसके कपड़े कैसे हैं? कहाँ रहती है, उसका बाप क्या काम करता है? जीवन में उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नों के संतोषजनक उत्तर न दिए, तो वह उन्हें अयोग्य समझकर बिदा कर देता है। जिसकी कल्पना इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार में उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग में नवीनता तो अवश्य है, पर आमकता की मात्रा अधिक है।

लेखकों के लिये एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रक्खा, पर इसकी ज़रूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज़, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक में दर्ज कर लेने से बड़ा काम निकलता है। युरोप में लेखकों के पास उस वक़्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नहीं बनता कि हरएक प्रकार की चीज़ों को अलग-अलग ख़ानों में संगृहीत कर ले। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमें संदेह नहीं, लेकिन प्रारंभ-काल में तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हों, तो उसे अनिवार्यतः अवलोकन-शक्ति से काम लेना पड़ेगा। देखिए, एक उपन्यासकार का नोटबुक का नमूना—

अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी, श्याम वर्ण, सुफ़ेद बाल, आँखें तिरछी, पलकें भारी, ओंठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूँछें ऐंठी हुई। सितंबर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और श्वेत, पानी में सूर्य का प्रतिबिंब काला, हरा, चमकीला, लहरें फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरों का शोर, लहरों के छींटों से झाग उड़ती हुई।

इन्हीं महाशय से जब पूछा गया कि आपको कहानियों के प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो आपने कहा—चारों

तरफ़। अगर लेखक अपनी आँखें खुली रक्खे, तो उसे हवा में से भी कहानियाँ मिल सकती हैं। रेलगाड़ी में, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों में, मनुष्यों के वार्तालाप में, और हज़ारों जगहों से सुंदर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालों के अभ्यास के बाद देख-भाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाँट लेती है। दो साल हुए, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातों ही बातों में यह चरचा छिड़ गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जायँ तो क्या हो? इस अंकुर से मैंने कई सुंदर कहानियाँ सोच निकालीं।

इस विषय में तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिये पुस्तकों से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर बेसेंट अपनी 'उपन्यास कला'-नामक पुस्तक में लिखते हैं—

'उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रक्खी हुई पुस्तकों से नहीं, उन मनुष्यों के जीवन से लेना चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ़ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकांश लोग अपनी आँखों से काम नहीं लेते। कुछ लोगों को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों में जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखकों ने लिख डाले, अब हमारे लिये क्या बाक़ी रहा। यह सत्य है, लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कंजूस, उड़ाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रंगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नहीं मिल सकते? पुस्तकों में नए चरित्र न मिलें, पर जीवन में नवीनता का अभाव कभी नहीं रहा।'

हेनरी जेम्स ने इस विषय में जो विचार प्रकट किए हैं, वह भी देखिए—

अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पंदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिये कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नहीं देखीं उससे यह कहने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है कि आप सैनिक जीवन में हाथ न डालें। मैं एक अँगरेज़ उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी में फ्रांस के प्रोटेस्टेंट युवकों के जीवन का अच्छा चित्र खींचा था। उस पर साहित्यिक संसार में बड़ी चर्चा रही। उससे लोगों ने पूछा, आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहाँ मिला (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहाँ साधारणतः नहीं दिखाई देते) मालूम हुआ कि उसने एकबार, केवल एकबार, कई प्रोटेस्टेंट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एकबार का देखना उसके लिये पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमें वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इंच से एक योजन की ख़बर लाती है और जो शिल्पी के लिये बड़े महत्त्व की वस्तु है।

मि० जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने में बड़े प्रवीण हैं। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षाप्रद है—हम उसका आशय लिखते हैं।

'बात यह है कि कहानी में जो रहस्य हो उसे कई भागों में बाँटना चाहिए, पहले छोटी-सी बात खुले, फिर उससे कुछ बड़ी और अंत में मुख्य रहस्य खुल जाय। लेकिन हरेक भाग में कुछ-न-कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए जिसमें पाठक की इच्छा सब कुछ जानने के लिये बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियों में इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत में रहस्य खोलने के लिये कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों में यही सबसे बड़ा दोष है। रहस्य के खुलने में तभी मज़ा है कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी संदेह न कर सकता था।'

उपन्यास-कला में यह बात भी बड़े महत्त्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड़ दे। पाठक भी कल्पनाशील होता है इसलिये वह ऐसी बातें पढ़ना पसंद नहीं करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। इसलिये वह यह नहीं चाहता कि लेखक सब कुछ ख़ुद ही कह डाले और पाठक की कल्पना के लिये कुछ भी बाक़ी न छोड़े। वह कहानी का ख़ाका-मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन-सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन-सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास में पाठक की कल्पना के लिये जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही

द्रौपदी-स्वयंवर

N. K. Press Lucknow.

यह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज़्यादा बतलाता है तो कहानी में मज़ा नहीं आता। किसी चरित्र की रूप-रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलियानवीसी करने की ज़रूरत नहीं। दो-चार वाक्यों में मुख्य-मुख्य बातें कह देनी चाहिए। किसी दृश्य को तुरत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत-सी अनावश्यक बातों के आ जाने की संभावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बातें आप-ही-आप मस्तिष्क से निकल जाती हैं, केवल मुख्य बातें स्मृति पर अंकित रह जाती हैं। तब उस दृश्य के वर्णन करने में अनावश्यक बातें न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते हैं—

दो मित्र संध्या समय मिलते हैं। सुविधा के लिये हम उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम—गुड ईवनिंग श्याम, कहो आनंद तो है?

श्याम—हलो राम! तुम आज किधर भूल पड़े?

राम—कहो क्या रंग ढंग है? तुम तो भले ईद के चाँद हो गए।

श्याम—मैं तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले हो हो गए।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ़?

श्याम—हाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिये कहानी नहीं लिख रहा है जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बातें बतानी ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

'अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।' सांकेत उपन्यास-कला का प्रधान अंग है और बाबू शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय की रचनाएँ इसका बहुत ही सुंदर उदाहरण हैं।

प्रेमचंद

शूल और प्रसून

लेकर प्रसून और तुम्हें देखते हैं तब,
　　इन सुमनों में रमा रंचक न, पाते हैं।
देखते जो कभी धूल-धूसर-बदन तो भी—
　　तुम मुसकाते और यह मुरझाते हैं।
यदि तुम रोते हो तो मोती ही पिरोते और,
　　यह धूलि-खोते धूल ही में मिल जाते हैं।
देके किलकारी बनवारी हँसते हो, तब—
　　यह बिंध जाते और हार बन जाते हैं॥ १॥
सौरभ-समीर यदि यह सरसाते—तुम,
　　सबमें समान प्रेम-भाव दरसाते हो।
होकर प्रसून, ये न, पाते उपहार कहीं;
　　तुम सूनु होकर समान-प्यार पाते हो।
भूल है जो फूलते हैं अंगराग ही में यह
　　किंतु राग में विराग तुम ही दिखाते हो।
भाव-मुग्धकारी बनवारी दिखला के तुम,
　　अंक-बसते हो—इन्हें काँटों में बसाते हो॥ २॥

बनवारीलाल, विशारद

मारवाड़ का प्राचीन इतिहास*

यह देश राजपूताने के पश्चिमी भाग में है और इसका विस्तार यहाँ के सब राज्यों से अधिक है। इसकी लंबाई ईशानकोण से नैर्ऋत्यकोण तक ३२० मील और चौड़ाई उत्तर से दक्षिण तक १७० मील है।

इसके पूर्व में जयपुर, किशनगढ़ और अजमेर; अग्निकोण में मेरवाड़ा और उदयपुर (मेवाड़); दक्षिण में सिरोही और पालनपुर; नैर्ऋत्य-कोण में कच्छकारण; पश्चिम में थरपारकर और सिंध; वायव्यकोण में जैसलमेर तथा उत्तर में बीकानेर और ईशानकोण में शेखावाटी है।

यद्यपि आजकल यह देश २४ अंश ३६ कला उत्तर अक्षांश से लेकर २७ अंश ४२ कला उत्तर अक्षांश तक; तथा ७० अंश ६ कला पूर्व देशांतर से लेकर ७५ अंश

* इसको माधुरी में प्रकाशित करवाने से हमारा इतना ही तात्पर्य है कि विद्वान् लोग इस विषय में माधुरी द्वारा या हमें लिखकर अपने विचार प्रकट करें।—लेखक

२४ कला पूर्व देशांतर तक फैला हुआ है, और इसका क्षेत्रफल ३५०१६ वर्गमील है, तथापि कर्नल टॉड के मतानुसार किसी समय मरुदेश का विस्तार समुद्र से सतलज तक माना जाता था। अबुलफ़ज़ल ने इसकी लंबाई १०० कोस और चौड़ाई ६० कोस लिखी है और अजमेर, जोधपुर, नागौर, सिरोही और बीकानेर को इसके अंतर्गत माना है।

इसकी उत्पत्ति के विषय में वाल्मीकीय रामायण में इस प्रकार लिखा है—

"लंका पर चढ़ाई करने की इच्छा से जब श्रीरामचंद्र समुद्र के किनारे पहुँचे तब जल में मार्ग पाने की इच्छा से उन्होंने उसकी अभ्यर्थना प्रारंभ की। परंतु समुद्र ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इससे क्रुद्ध हो राम ने समुद्र जल को सुखा देने के लिये आग्नेयास्त्र का अनुसंधान किया। यह देख समुद्र क्षुब्ध हो उठा और उसने प्रकट होकर रामचंद्रजी से उस अस्त्र को अपने द्रुमकुल्य-नामक उत्तरी भाग पर चलाने की प्रार्थना की। उन्होंने भी उसके विनीत वचन सुन उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। राम के आग्नेयास्त्र के प्रभाव से द्रुमकुल्य का जल सूख गया और वहाँ पर मरु देश की उत्पत्ति हुई।"[1]

रामायण की कथा से यह भी प्रकट होता है कि पहले उक्त स्थान पर आभीर आदि जंगली (अनार्य) जातियाँ रहती थीं। परंतु इस घटना के बाद से वहाँ का मार्ग निष्कंटक हो गया और आर्य लोग उधर आने-जाने और बसने लगे।

अब तक भी मारवाड़ के अन्य प्रदेशों से इस प्रदेश में गायों आदि दूध देनेवाले पशु अधिकता से होते हैं और यहाँ से आगे जैसलमेर की तरफ़ पनड़ी और कुकछबीला आदि सुगंधित द्रव्य भी उत्पन्न होते हैं।

मारवाड़ के पश्चिमी प्रदेश में अर्ध पाषाणरूप में परिवर्तित शंख सीप आदि के मिलने से भी पूर्वकाल में वहाँ पर समुद्र का होना सिद्ध होता है और प्राकृतिक कारणों से उसके हट जाने से ही वहाँ पर रेतीली पृथ्वी निकल आई है।

यह भी अनुमान होता है कि यहाँ पर किसी समय सतलज की एक धारा बहती थी। लोग उसे हाकड़ा नदी के नाम से पुकारते थे और उसके किनारों पर गन्ने की खेती भी करते थे। परंतु इधर की पृथ्वी के कुछ ऊँची हो जाने के कारण उस धारा का पानी मुलतान की तरफ़ मुड़कर सिंधु में जा मिला है।

मारवाड़-राज्य का एक प्रांत अब तक हाकड़ा के नाम से प्रसिद्ध है और इसी प्रकार 'वह पानी मुलतान गया' की कहावत भी यहाँ पर प्रचलित है।

भागवत[1] से ज्ञात होता है कि "कंस का वैर लेने को उसके श्वशुर मगध के राजा जरासंध ने सत्रह बार मथुरा पर विफल चढ़ाइयाँ की थीं। इसके बाद उक्त नगरी पर कालयवन का हमला हुआ। यह देख श्रीकृष्ण ने सोचा कि यदि इस मौक़े पर कहीं फिर जरासंध चढ़ आया तो यदु लोग निरर्थक ही मारे जायँगे। इसी से उन्होंने यदु लोगों को द्वारकापुरी की तरफ़ भेज दिया।"

इससे अनुमान होता है कि संभवतः इसी समय (अर्थात् महाभारत के समय के पूर्व ही) से मारवाड़ का गुजरात की तरफ़ का दक्षिणी भाग भी आबाद होने लगा होगा।

महाभारत[2] से पता चलता है कि जांगल देश कौरवों

---

१. उत्तरेणावकाशोऽस्ति कश्चित्पुण्यतरो मम।
द्रुमकुल्य इति ख्यातो लोके ख्यातो यथा भवान्॥२९॥
उग्रदर्शनकर्माणो बहवस्तत्र दस्यवः।
आभीरप्रमुखाः पापाः पिबन्ति सलिलं मम॥ ३०॥
तैर्न तत्स्पर्शनं पापं सहेयं पापकर्मभिः।
अमोघः क्रियतां राम! अयं तत्र शरोत्तमः॥ ३१॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सागरस्य महात्मनः।
मुमोच तं शरं दीप्तं परं सागरदर्शनात्॥ ३२॥
तेन तन्मरुकान्तारं पृथिव्यां किल विश्रुतम्।
निपातितः शरो यत्र वज्राशनिसमप्रभः॥ ३३॥
..................रामो दशरथात्मजः।
वरं तस्मै ददौ विद्वान्मरवेऽमरविक्रमः॥ ३७॥
पशव्यश्चाल्परोगश्च फलमूलरसायुतः।
बहुस्नेहो बहुक्षीरः सुगन्धिर्विविधौषधः॥ ३८॥
राममेतैश्च संयुक्तो बहुभिः संयुतो मरुः।
रामस्य वरदानाच्च शिवः पन्था बभूव ह॥ ३९॥
(युद्धकाण्ड, सर्ग २२)

१. श्रीमद्भागवत, दशमस्कंध, अध्याय ५०।

२. पथ्यं राज्यं महाराज! कुरवस्ते स जाङ्गलाः। (उद्योगपर्व, अध्याय ५४, श्लोक ७) (एक स्थान पर सिंधु से अरवली तक के भूभाग को शाल्वदेश के नाम से लिखा है।)

के अधिकार में था। यह जांगल देश इस समय मारवाड़ के उत्तर बीकानेर-राज्य में है।

इसके बाद से मौर्यवंशी प्रतापी चंद्रगुप्त के पूर्व तक का इस देश का विशेष वृत्तांत नहीं मिलता। परंतु इस राजा के अंतिम समय मौर्य राज्य का विस्तार नर्मदा से अफ़ग़ानिस्तान तक हो गया था।

इसका पौत्र अशोक भी बड़ा प्रतापी राजा हुआ। सुदूर दक्षिण को छोड़ क़रीब-क़रीब सारा हिंदुस्तान अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान इसके अधिकार में था। जयपुर-राज्य के वैराट (विराट) गाँव से इसका एक स्तंभलेख भी मिला है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मौर्य-सम्राट् चंद्रगुप्त और उसके पौत्र अशोक के समय मारवाड़ भी मौर्य साम्राज्य का ही एक भाग था[१]।

विक्रम सं० ६७ से वि० सं० २८३ (ईसवी सं० ४० से २२६ तक) भारत के पश्चिमी प्रदेशों पर कुशानवंशी राजाओं का अधिकार रहा था। बलख से आगे बढ़कर धीरे-धीरे इन्होंने काबुल, कंदहार, फ़ारस, सिंध और राजपूताने का बहुत-सा भाग भी दबा लिया था। इनमें कनिष्क बड़ा प्रतापी हुआ। समग्र उत्तर पश्चिमी भारत और दक्षिण में विंध्य तक का प्रदेश इसके राज्य में था। अतः मारवाड़ के कुछ भाग पर इनका भी अधिकार अवश्य रहा होगा।

वि० सं० १७६ (ई० स० ११९) के क़रीब गुजरात, काठियावाड़, कच्छ आदि पर पश्चिमी क्षत्रप नहपान का राज्य था। अतः मारवाड़ के दक्षिणी भाग का इसके अधिकार में होना पाया जाता है। इसके जामाता ऋषभदत्त (उषवदात) ने पुष्कर में जाकर बहुत-सा दान दिया था। वि० सं० १८१ के कुछ ही काल पश्चात् नहपान का राज्य आंध्रवंशी गौतमी पुत्र शातकर्णी ने छीन लिया था। इससे मारवाड़ का दक्षिणी भाग इसके अधिकार में चला गया होगा?

शक संवत् ७२ (वि० सं० २०७) के जूनागढ़ से मिले पश्चिमी क्षत्रप रुद्रदामा प्रथम के लेख[१] से पता चलता है कि श्वभ्र (उत्तरी गुजरात), मरु (मारवाड़), कच्छ और सिंधु (सिंध) प्रदेशों पर उसका अधिकार हो गया था।

बाँकुड़ा ज़िले की सुसुनिया पहाड़ी से पुष्करण के राजा चंद्रवर्मा का एक लेख[२] मिला है। इसके अक्षरों से इसका विक्रम की पाँचवीं शताब्दी का होना सिद्ध होता है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय पोकरण (मारवाड़) पर वर्मांत नामवाले मालव-नरेशों का राज्य था।

प्रयाग के क़िलेवाले अशोक के स्तंभ लेख पर गुप्तवंशी सम्राट् समुद्रगुप्त का एक लेख खुदा है। उससे ज्ञात होता है कि इस राजा ने चंद्रवर्मा को जीता था।

समुद्रगुप्त का पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय था। इसको विक्रमादित्य भी कहते थे। इसने वि० सं० ४४५ के क़रीब पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य की समाप्ति कर अपने राज्य का और भी विस्तार किया। गुप्त संवत् २८८ (वि० सं० ६६४) का एक शिलालेख मारवाड़ के गोठ और मांगलोद की सीमा पर के दधिमती देवी के मंदिर से मिला है। यह गाँव नागोर से २४ मील उत्तर-पश्चिम में है। मारवाड़ की प्राचीन राजधानी मंडोर के विशीर्ण दुर्ग में एक तोरण के दो स्तंभ खड़े हैं। उन पर श्रीकृष्ण की बाललीलाएँ खुदी हैं। इनमें के एक स्तंभ पर गुप्त लिपि का लेख था जो अब क़रीब-क़रीब सारा ही नष्ट हो गया है। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि इस देश के कुछ भागों पर गुप्त राजाओं का अधिकार भी रहा था।

वि० सं० ५२७ (ई० स० ४७०) के क़रीब हूणों ने स्कंदगुप्त के राज्य पर (दुबारा) चढ़ाई की। इससे गुप्त राज्य की नींव हिल गई और उसके पश्चिमी प्रांत पर हूणों का अधिकार हो गया[३]। अतः मारवाड़ का कुछ भाग भी अवश्य ही उनके अधिकार में रहा होगा।

इसी प्रकार वि० सं० ४४५ के आसपास पश्चिमी क्षत्रपों के राज्य के नष्ट होने पर मारवाड़ के कुछ भाग

१. मौर्यों के बाद उनका राज्य शुंगवंशी राजाओं के अधिकार में चला गया था। इस वंश के संस्थापक पुष्यमित्र के समय वि० सं० से ८८ (ई० स० से १४६) वर्ष पूर्व ग्रीक मिनेंडर ने राजपूताने पर चढ़ाई की थी और उसकी सेना का नगरी (चित्तौड़ से ६ मील उत्तर) तक पहुँचना पाया जाता है। नहीं कह सकते कि मारवाड़ में भी उसका प्रवेश हुआ या नहीं।

१. एपिग्राफ़िया इंडिका, भाग ८ पृ० ३६

२. एपिग्राफ़िया इंडिका, भाग १३ पृ० १३३

३. वि० सं० ५४१ (ई० स० ४८४) में हूणों ने पर्शिया (ईरान) के राजा फ़ीरोज़ को मारकर वहाँ का खज़ाना लूट लिया था। इसी से वहाँ के ससेनियन सिक्कों का भारत में प्रवेश हुआ। ये सिक्के अठन्नी के बराबर के होते थे और इन पर

पर गुर्जरों ने भी अधिकार कर लिया था और धीरे-धीरे मारवाड़ के पूर्व की तरफ़ का दक्षिण से उत्तर तक का सारा भाग गुर्जर राज्य के अंतर्गत हो गया था।

चीनी यात्री हुएन्तसंग जो वि० सं० ६८६ में चीन से रवाना होकर भारत में आया था भीनमाल को गुजरात की राजधानी लिखता है। वि० सं० ९०० के सिवा गाँव (डीडवाना प्रांत) से मिले प्रतिहार भोजदेव प्रथम के दानपत्र से उस प्रदेश का भी एक समय गुर्जर प्रांत में रहना सिद्ध होता[1] है।

यही बात कालिंजर से मिले विक्रम की नवीं शताब्दी के लेख से भी प्रकट होती[2] है।

वि० सं० ५८९ (ई० स० ५३२) के मौंदसौर से मिले यशोधर्मा के लेख में उसके राज्य का विस्तार पूर्व में ब्रह्मपुत्र से पश्चिम में समुद्र तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में महेंद्र पर्वत तक लिखा है। परंतु न तो इसके पूर्वजों का ही पता चलता है न उत्तराधिकारियों का ही। संभव है उस समय गुर्जर लोग इसके सामंत हो गए हों[3]।

सीधी तरफ़ राजा का मस्तक और उलटी तरफ़ अग्निकुंड बना होता था, जिसके दोनों तरफ़ आदमी खड़े होते थे। ये आज-कल के सिक्कों से बहुत पतले होते थे। ये सिक्के हूणों का राज्य नष्ट हो जाने पर भी गुजरात, मालवा और राजपूताने में विक्रम संवत् की बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक प्रचलित थे। परंतु क्रमशः इनका आकार छोटा होने के साथ-ही-साथ इनकी मुटाई बढ़ती गई और धीरे-धीरे इसमें का राजा का चेहरा भी ऐसा भद्दा हो गया कि वह गधे के खुर के समान दिखाई देने लगा। इसी से इसका नाम गधिया (गधैया) हो गया। इस प्रकार के सिक्के मारवाड़ के अनेक प्रदेशों से मिले हैं।

१. एपिग्राफ़िया इंडिका भाग ५, पृ० २११ (गुर्जर-त्राभूमीडेगभ्रानकविषग)

२. एपिग्राफ़िया इंडिका भाग ५, पृ० २१० नोट ३ (श्रीमद्गुर्जरत्रामंडलानः पातिभगलानक)

३. विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के क़रीब बैस-वंशी प्रभाकरवर्धन ने सिंध और गुजरातवालों से युद्ध कर उन्हें हैरान कर दिया था, ऐसा श्रीहर्षचरित से पाया जाता है। इसका छोटा पुत्र हर्षवर्धन भी बड़ा प्रतापी था। उसने उत्तरा-पथ के राजाओं पर चढ़ाई कर उधर के देशों को जीत लिया था। यह बात विजय भट्टारिका के दानपत्र और हुएन्त्संग के लेखों से प्रकट होती है।

वि० सं० ६८५ में भीनमाल के रहनेवाले ब्रह्मगुप्त ने ब्रह्मस्फुट सिद्धांत की रचना की थी। उस समय वहाँ पर चावड़ा-वंश के व्याघ्रमुख-नामक राजा का राज्य था।

भीनमाल के प्रसिद्ध कवि माघ ने अपने शिशुपाल-वध काव्य के कवि-वंश-वर्णन में, अपने दादा को राजा वर्मलात का मंत्री लिखा है। वसंतगढ़ (सीरोही-राज्य) से वि० सं० ६८२ का इस वर्मलात का एक शिला-लेख मिला है। इसके और ब्रह्मगुप्त-रचित ब्रह्मस्फुट-सिद्धांत के रचना-काल के बीच केवल तीन वर्ष का अंतर होने से विद्वान् लोग वर्मलात को व्याघ्रमुख का पिता या उपनाम अनुमान करते हैं।

इससे ज्ञात होता है कि गुर्जरों के बाद मारवाड़ का दक्षिणी भाग चावड़ों के अधिकार में रहा था। कलचुरी संवत् ४९० (वि० सं० ७९६) के (लाटदेश के) सोलंकी पुलकेशी के दानपत्र से प्रकट होता है कि इस समय के पूर्व ही अरब लोगों की चढ़ाई से चावड़ों का राज्य नष्ट हो गया था[1]। फ़ारसी के फ़तूहुल् बुलदान-नामक इतिहास से ज्ञात होता है कि ख़लीफ़ा हशाम के समय सिंध के शासक जुनैद की सेना ने मारवाड़ और भीनमाल पर चढ़ाई की थी। इस चढ़ाई से चावड़े कमज़ोर हो गए और कुछ ही काल बाद उनका राज्य पड़िहारों ने दबा लिया।

जोधपुर नगर की शहरपनाह से वि० सं० ८९४ का एक लेख मंडोर के राजा बाउक का मिला[2] है। यह शायद मंडोर के किसी वैष्णव-मंदिर के लिये खुदवाया गया था। इसी प्रकार वि० सं० ९१८ के दो शिला-लेख बाउक के भाई कक्कुक के घटियाला (जोधपुर से २० मील उत्तर) से मिले हैं। इनमें का एक प्राकृत का और दूसरा संस्कृत का है[3]। इनसे प्रकट होता है कि हरिश्चंद्र के पुत्रों ने वि० सं० ६७० के क़रीब मंडोर के क़िले पर अधिकार कर वहाँ पर कोट बनवाया था। इसके बाद इसके प्रपौत्र

१. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० २११, नोट २३

२. जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी (१८९४) पृ० ४-९

३. जर्नल-रायल एशियाटिक सोसाइटी (१८९५), पृ० ५१७-१८

नागभट ने मेड़ता नगर में, अपनी राजधानी क़ायम की, और मंडोर में अपने नाम पर नाहड़स्वामिदेव का एक मंदिर बनवाया[1]। नाहड़ के बड़े पुत्र तात ने अपने छोटे भाई भोज को राज्य देकर मांडव्य के आश्रम (मंडोर) में तपस्या की। इसी भोज की छठी पीढ़ी में कक्क हुआ। जिस समय कन्नौज और भीनमाल के पड़िहार राजा वत्सराज[2] ने मुंगेर के गौड़ राजा पर चढ़ाई की, उस समय यह कक्क भी सामंत की हैसियत से वत्सराज के साथ था। परंतु जिस समय इसी वत्सराज ने मालवे पर चढ़ाई की, उस समय मान्यखेट का राष्ट्रकूट राजा ध्रुवराज भी मालवेवालों की सहायता को आ पहुँचा। इससे वत्सराज को भागकर मारवाड़ में आना पड़ा। श० सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) में, जिनसेन ने हरिवंश-पुराण लिखा था। उसमें वत्सराज को पश्चिम (मारवाड़) का राजा लिखा[3] है।

इसका पुत्र नागभट द्वितीय था। पुष्कर का घाट बनानेवाला प्रसिद्ध नाहड़ यही होगा। इसके समय का वि० सं० ८७२ का एक लेख बुचकला (बीलाड़ा परगने) में मिला[4] है।

इसी ने अपनी राजधानी भीनमाल से हटाकर क़न्नौज में क़ायम की। उपर्युक्त कक्क का पुत्र बाउक हुआ। इसके बाद इसके भाई कक्कुक ने मारवाड़ और गुजरात के लोगों से मित्रता की, घटियाला (रोहिंसकूप) में बाज़ार बनवाया और मंडोर तथा घटियाला में जयस्तंभ खड़े किए। वि० सं० ९१३ का एक लेख प्रतिहार (पड़िहार) जसकरण का भी चेराई (जोधपुर-राज्य) से मिला है।

वि० सं० १२०० के क़रीब तक तो मंडोर पर पड़िहारों का ही राज्य रहा।

परंतु इसके क़रीब नाडोल के चौहान रायपाल ने वहाँ पर अपना अधिकार कर लिया। और पड़िहार लोग छोटे-छोटे जागीरदारों की हैसियत से रहने लगे। वि० सं० १४५२ के क़रीब मुसलमानों से तंग आकर ईंदा शाखा के पड़िहारों ने फिर एक बार मंडोर पर अधिकार कर लिया। परंतु उसकी रक्षा करना कठिन जान उन्होंने उसे राठौड़ राव चूड़ाजी को दहेज में दे दिया, जो अब तक उन्हीं के वंशजों के अधिकार में है।

वि० सं० ७४३ के क़रीब चौहान वासुदेव ने अहिच्छत्रपुर से आकर शाकंभरी (साँभर में अपना राज्य क़ायम कर लिया था। इसी से ये शाकंभरीश्वर (सांभरीराज) कहलाए। वि० सं० १०३० का सांभर के चौहान राजा विग्रहराज के समय का एक लेख शेखावाटी (जयपुर-राज्य) के हर्षनाथ के मंदिर से मिला है। उससे ज्ञात होता है कि उस समय तक तो चौहान लोग क़न्नौज के पड़िहारों के सामंत थे। परंतु इसके बाद धीरे-धीरे स्वतंत्र हो गए। पृथ्वीराज-विजय-काव्य के लेखानुसार वि० सं० ११६५ (ई० सं० ११०८) के क़रीब चौहान अजयदेव ने अजमेर बसाकर उसे इस वंश की राजधानी बनाया। वि० सं० १२५१ तक तो वहाँ पर इसी वंश का अधिकार रहा। परंतु इसके बाद प्रसिद्ध पृथ्वीराज[1] चौहान के भाई हरिराज की मृत्यु के बाद उस पर मुसलमानों का पूरी तौर से अधिकार हो गया।

इसी वंश की एक शाखा ने वि० सं० १०१७ (ई० सं० ९६०) के क़रीब नाडोल का राज्य क़ायम किया। परंतु वि० सं० १०७८ के बाद ही इस शाखा के चौहानों को सोलंकियों की आधीनता स्वीकार करनी पड़ी।

वि० सं० १२५९ (ई० सं० १२०२) के क़रीब कुतुबुद्दीन ने इनके राज्य पर हमला कर उसे नष्ट कर दिया।

वि० सं० १२१८ के क़रीब से चौहानों की इसी शाखा

१. पृथ्वीराजरासे के आधार पर जो लोगों ने मंडोर के नाहड़राव पड़िहार और पृथ्वीराज चौहान के युद्ध की कथा लिखी है, वह कपोल कल्पित ही है।

२. हांसोट (भड़ौंच ज़िले) से चौहान भर्तृवड्ढ द्वितीय का वि० सं० ८१३ का एक दानपत्र मिला है। उसमें उसे पड़िहार नागावलोक का सामंत लिखा है। यह नागावलोक इस वत्सराज का पितामह था। इसके राज्य का उत्तरी भाग मारवाड़ और दक्षिणी भाग भड़ौंच तक फैला हुआ था। इसके वंशज भोजदेव की ग्वालियर की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसने अपने राज्य पर सिंध की तरफ़ से हमला करनेवाले बल्लोचों को हराकर भगा दिया था। (आर्कियालाजिकल सर्वे आफ़ इंडिया १९०३-४) पृ० २८०

३. वत्सादिराजे परां (बांबे गज़ेटियर जि० १, भा० २, पृ० १९७, नोट २

४. एपिग्राफ़िया इंडिका भा० ९, पृ० १९९-२००

१. वि० सं० १२४९ में, पृथ्वीराज-शहाबुद्दीन गोरी द्वारा मारा गया था।

के केल्हण के छोटे भाई कीर्तिपाल ने पवारों से जालोर[1] छीनकर सोनगरा[2] नाम की प्रशाखा चलाई थी। इस शाखा की राजधानी जालोर थी। वि० सं० १४८२ के क़रीब राव रणमल्लजी ने राजधर को मार, इसकी समाप्ति कर दी[3]। इसी प्रकार वि० सं० १४४४ में, नाडोल से निकली साचोर के चौहानों की भी एक शाखा का पता चलता है।

वि० सं० १२०२ के क़रीब का चौहान रायपाल के पुत्र सहजपाल का एक टूटा हुआ लेख मंडोर से मिला है[4]। इससे उस समय मंडोर का भी चौहानों के अधिकार में होना सिद्ध होता है।

वि० सं० ८०७ का एक लेख पोकरण से मिला है। इससे उस समय वहाँ पर परमारों (पँवारों) का अधिकार होना पाया जाता[5] है।

वि० सं० १२१८ का परमार सोमेश्वर के समय का एक लेख[6] किराड़ू से मिला है। उसमें परमार सिंधुराज को मारवाड़ का राजा लिखा है। यह राजा वि० सं० ६५६ के क़रीब हुआ होगा। जालोर का सिंधुराजेश्वर का मंदिर भी इसी ने बनाया था। इसकी चौथी पीढ़ी में, धरणीवराह हुआ। वि० सं० १०५३ के हथूँडी (गोडवाड़ परगने) के राठोड़ राजा धवल के लेख से ज्ञात होता है कि जिस समय मूलराज सोलंकी ने इस धरणीवराह पर चढ़ाई की थी। उस समय उसने उक्त राठोड़ धवल का आश्रय लिया था। मारवाड़ में किसी कवि का बनाया एक छप्पय प्रचलित है। उससे प्रकट होता है कि धरणीवराह ने, अपने नौ भाइयों में अपना राज्य बाँट दिया था और इसी से यह देश नौ कोटी मारवाड़ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। परंतु अजमेर तो चौहान अजयदेव के समय बसा था, जिसका समय वि० सं० ११६१ के क़रीब आता है। ऐसी हालत में उक्त छप्पय के अनुसार धरणीवराह का अपने भाई को अजमेर देना सिद्ध नहीं हो सकता।

धरणीवराह की पाँचवीं पीढ़ी में कृष्णराज द्वितीय हुआ। भीनमाल से इसके समय के दो लेख मिले हैं। एक वि० सं० १११७ का[1] और दूसरा वि० सं० ११२३ का[2]। इस कृष्ण से दो शाखाएँ चलीं। एक आबू की और दूसरी किराड़ू की। इस कृष्णराज को गुजरात के सोलंकी भीमदेव प्रथम ने क़ैद कर लिया था। परंतु नाडोल के शासक चौहान बालप्रसाद ने इसे छुड़वा दिया।

वि० सं० १२८७ में गुजरात के सोलंकी भीमदेव का सामंत परमार सोमसिंह आबू का राजा था। इसने अपने पुत्र कृष्ण तृतीय (कान्हड़देव) को (गोडवाड़ परगने का) नाणा गाँव दिया था।

वि० सं० १३६८ के क़रीब तक तो परमार ही आबू के शासक रहे। परंतु इसी के आसपास वहाँ पर चौहानों का अधिकार हो गया।

किराड़ू में मिले वि० सं० १२१८ के लेख में किराड़ू की शाखा के पवाँर नरेशों के तीन नाम दिए हुए हैं। ये गुजरात के सोलंकी नरेशों के सामंत थे।

बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के कुछ लेख (नागोर परगने के) रोल-नामक गाँव से मिले हैं। इससे उस समय वहाँ पर भी परमारों का अधिकार रहना सिद्ध होता है।

१. यह बात वि० सं० ११७४ के जालोर के तोपख़ाने के द्वार पर के लेख से भी सिद्ध होती है। उस लेख में परमारों की ७ पीढ़ी दी हुई है।

२. लेखों में जालोर के पर्वत का नाम काञ्चन-गिरि (सुवर्ण-गिरि) लिखा है। अतः इसी पर्वत के नाम से ही इस शाखा का नाम सोनगरा होना पाया जाता है।

३. सूंधा पहाड़ी के मंदिर के लेख में सोनगरा शाखा के उदयसिंह को नाडोल, जालोर, मंडोर, बाड़मेर, साचोर, गूड़ा, खेड़, रामसेन, भीनमाल और रतनपुर का स्वामी लिखा है। इसीके समय रामचंद्र ने निर्भय भीम व्यायोग और जिनदत्त ने विवेकविलास बनाया था। इस उदयसिंह का पौत्र कान्हड़देव बड़ा ही वीर था। फ़रिश्ता लिखता है कि इसने बादशाह अलाउद्दीन को अपने किले पर चढ़ाई करने का न्यूड़ हो निमंत्रण दिया था। और इसी युद्ध में वि० सं० १३६६ (हि० स० ७०९) में वह मारा गया। इसी से कुछ दिन के लिये जालोर और सिवाना चौहानों से छूट गया।

४. आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया (१९०९-१०), पृ० १०२-०३

५. वहीं पर इसी समय का एक लेख और भी है। यद्यपि वह अभी पूरा नहीं पढ़ा गया है। परंतु उसमें गुहिल-वंश का उल्लेख है।

६. सिंधुराजो महाराजः समभून्मरुमण्डले।

१. बांबे गजेटियर, जि० १, भा० १, पृ० ४७२-४७३

२. बांबे गजेटियर, जि० १, भा० १, पृ० ४७३-४७४

विक्रम की नवीं शताब्दी का एक लेख पौकरण से मिला है। उसमें गुहिलवंश का उल्लेख है। आबू के अचलेश्वर के लेख से गुहिलराजा जैत्रसिंह[1] का नाडोल को नष्ट कर तुरकों को भगाना लिखा है।

वि० सं० १०५१ के सोलंकी मूलराज के ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने साँचोर के पवाँरों को हराकर उक्त प्रदेश पर अधिकार कर लिया था और वे इसके सामंत हो[2] गए थे। इसी प्रकार वि० सं० १०७८ के क़रीब नाडोल के चौहानों ने भी सोलंकी भीमदेव की सामंती स्वीकार कर ली थी। साँभर से सोलंकी जयसिंह के समय का एक लेख मिला है। इससे वि० सं० ११५० से ११९९ के बीच वहाँ पर उसका अधिकार होना पाया जाता है।

वि० सं० १२०७ के क़रीब सोलंकी कुमारपाल ने साँभर पर चढ़ाई कर वहाँ के चौहान राजा अर्णोराज को हराया और नाडोल पर भी अपना हाकिम नियत कर दिया। इस कुमारपाल का वि० सं० १२०९ का एक लेख पाली के सोमेश्वर के मंदिर में भी लगा है।

वि० सं० १२१८ के किराडू के लेख से ज्ञात होता है कि किराडू के परमार शासक सोलंकियों के सामंत थे।

वि० सं० १२८७ के आबू के परमार सोमसिंह के लेख से पता चलता है कि वह गुजरात के सोलंकी भीम का सामंत था। उस समय गोड़वाड़ की तरफ़ का प्रदेश भी इसी सोमसिंह के अधिकार में था।

इसी प्रकार कुछ काल के लिये देसूरी पर भी सोलंकियों का अधिकार रहा था।

ख्यातों में लिखा है कि मारवाड़ में एक समय नाग-वंशियों का भी राज्य रहा था। नागोर, नागादरी, नागाणा आदि नामों में पहले नाग शब्द लगा होने से लोग इनका नामकरण उसी वंश के पीछे हुआ मानते हैं।

१. जैत्रसिंह वि० सं० १२७० से १३०९ तक विद्यमान था और वि० सं० १२५९ के बाद नाडोल पर कुतुबुद्दीन का अधिकार हो गया था। अतः जैत्रसिंह ने इसके बाद चढ़ाई की होगी।

२. इसके बाद साँभर के चौहान राजा वीसलदेव (विग्रहराज द्वितीय) ने सोलंकी मूलराज पर चढ़ाई कर उसे कच्छ की तरफ़ भगा दिया था।

इसी प्रकार जोहिया (यौधेय), दहिया और गौड़वंशी राजपूत भी इस देश के अधिकारी रह चुके हैं। इनमें से जोहिया लोग बीकानेर की तरफ़ थे। दहियाओं के दो लेख तो किनसरिया (पर्वतसर से ४ मील उत्तर) के केवाय माता के मंदिर से मिले हैं। इनमें का एक वि० सं० १०५६ का और दूसरा वि० सं० १३०० का है। तीसरा लेख मंगलाणा (मारोठ परगने) से मिला है। यह वि० सं० १२७२ का है। ये लोग चौहानों के सामंत थे। गौड़-वंशियों का अधिकार गोड़वाड़ में था। लोग इस प्रदेश का नामकरण इसी वंश के पीछे होना अनुमान करते हैं। इसी प्रकार मारोठ के आसपास का प्रदेश भी इन्हीं के अधिकार में रहने के कारण गौडावाटी कहाता था। वि० सं० १६८६ में मेड़तिया रघुनाथसिंह ने इन से यह प्रदेश छीन लिया।

(क्रमशः)

चैत्र-शुक्ल-पक्ष

सीतल सुगंध मंद पौन को परस पाय
रूखन में नेह के बिकास अनहोने से;
मकरंद-बुंदन की माधुरी रसायनि मैं
पावत सवाद भृंग अजब सलोने से।
सुखमा समूह की अवधि अधिकानी मंजु
जगत पै ऋतुपति डारि राखे टोने से;
चैत को उजेरो पाख पूजै अभिलाख लाख
रूपा सी रजनि राजै दिन भये सोने से।

सूर्य-प्रतिबिंब

अरुन बरन के कमल अनगन फूले
नभ सों उतर निनहीं में भले पिलिगे;
सीतलता सोभा अरु सौरभ सँजोग पाय
बिरमि रहे हैं मनमाने मोद मिलिगे;
अब तौ चलन को न तित ते चहत चित
चलिबो जरूर मजबूर हारि हिलिगे;
सूर सुता-सलिल में सहज सनेह सने
सूर सूर आजु भोरे सिसु से मचलिगे।

कृष्णबिहारी मिश्र

जेंटिलमैनों का धावा तीसरे दरजे पर

सय्यद अमीरअली 'मीर'

दी-संसार के आधुनिक कवियों में श्रीयुत सय्यद अमीरअली 'मीर कवि' का नाम आदर के साथ लिया जाता है। आपही भारत के वर्तमान सर्वश्रेष्ठ मुसलमान हिंदी-कवि हैं। मिश्रबंधुओं ने भी आपको 'सुकवि' माना है।

जन्म—इनका जन्म मध्य-प्रदेश के अंतर्गत सागर नगर में कार्तिक बदि २ संवत् १९३० को हुआ। इनके पिता का नाम मीर रुस्तमअली था। इनकी आयु लगभग दो वर्ष की हुई थी कि इनके पिता का स्वर्ग-वास हो गया। तब से इनका पालन-पोषण इनके सुयोग्य चाचा मीर रहमत-अली ने किया।

मीर रहमतअली पुलिस-विभागके कर्मचारी थे। नौकरी की हालत में वे सागर ज़िले के अंतर्गत देवरी क़स्बे में बहुत समय तक रहे थे। इनके सज्जनोचित-व्यवहार के कारण देवरी के लोगों से इनका बहुत मेल-जोल तथा प्रेम हो गया था। इस कारण पेंशन लेनेपर वे देवरी ही में आकर रहने लगे। यहां इन्होंने अपनी जीविका चलाने के लिये एक दूकान खोली जो थोड़े ही दिनों में अच्छी चलने लगी। इनका स्वभाव बहुत शांत तथा मिलनसार था। देवरी में इनकी गणना प्रतिष्ठित पुरुषों में की जाती थी।

शिक्षा—हमारे चरित्र-नायक ने इन्हीं के पास रहकर टँड़ा ग्राम में प्राथमरी-शिक्षा पाई थी। देवरी आने पर यहाँ के वर्नाक्युलर मिडिल स्कूल में इनका नाम लिखा गया। सभी कक्षाओं में आप प्रथम रहा करते थे। संवत् १९४९ में, आप टीचर्स परीक्षा पास करने के लिये जबलपूर नार्मल स्कूल को भेजे गए और संवत् १९४७ में, १७ वर्ष की आयु में आपने उक्त परीक्षा पास की। परीक्षा पास करने पर आपको जबलपुर के अंजुमन इस्लामियाँ हाईस्कूल में ड्राइंग मास्टरी की जगह मिली। लगभग

सैय्यद अमीर अली 'मीर'

एक वर्ष काम करने के बाद आपको बाँबे स्कूल ऑफ़ आर्ट के लिये ब्रौनिंग टीचर्स स्कालरशिप मिली। मध्यप्रदेश के आपही पहले विद्यार्थी थे जिनको यह छात्र-वृत्ति मिली थी। छात्र-वृत्ति पाकर आप बंबई गए, परंतु, आँखों की बीमारी के कारण वहाँ अधिक दिन तक नहीं रह सके—तीन-चार मास रहने के बाद देवरी लौट आए और फिर यहाँ अपनी दूकान का काम करने लगे। इसी समय आपने अपने ससुर हाफ़िज़ बदरुद्दीन के पास उर्दू और धार्मिक शिक्षा ग्रहण करना आरंभ किया और थोड़े ही समय में आपने इन दोनों में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। पैसे की कमी के कारण आपको अँगरेज़ी पढ़ने का अवसर न मिला।

काव्य-प्रेम—आपका काव्य-विषय से प्रथम संबंध उत्पन्न होने का प्रसंग बहुत कौतूहल-जनक है।

एक दिन (संवत् १९४१) यह दूकान पर बैठे थे, इतने में रमज़ान खाँ-नामक एक पुलिस कांस्टेबिल श्रीवेंकटेश्वर-समाचार की एक प्रति हाथ में लिए हुए आया और कहने लगा—"मीर साहब, इस पत्र में भानु-कवि-समाज, सागर की दी हुई एक समस्या छपी है। सब से उत्तम पूर्ति करनेवाले को छंदःप्रभाकर नामक ग्रंथ पुरस्कार में दिया जायगा। क्या आप इसकी पूर्ति करेंगे?" यह उस समय पाठक परीक्षा पासकर लेने पर भी छंद-शास्त्र से बिलकुल अनभिज्ञ थे। 'समस्या' क्या कहलाती है और उसकी पूर्ति कैसे की जाती है, यह कुछ नहीं समझ सके। तो भी पत्र को हाथ में लेकर इन्होंने उसे देखा, समस्या थी—"लोभ तें अमी के अहि चढ्यो जात चंद पर"—इनकी समझ में कुछ भी नहीं आया कि यह क्या बला है, धरती पर का रहनेवाला सर्प चंद्र पर कैसे चढ़ सकता है?

एक रोज़ एक दर्ज़ी इनकी दूकान पर सौदा ख़रीदने आया, तो उससे इस समस्या का प्रसंग छिड़ा। उस दर्ज़ी ने इन्हें समस्या-पूर्ति की रीति भी बताई और एक भाव भी। तब इन्होंने समस्या-पूर्ति कर डाली। उक्त रचना यह है—

कवित्त

सीताराम-ब्याह को उछाह अवलोक सब,
जनक-समाज बलि जात सुख कंद पै;
बेद कुलरीति जैसी आज्ञा बसिष्ठ दीनी,
भाँवरों के सुंदर सुभ समै निरद्वंद पै।
ता समै दुलही माँग भरबे चलायो हाथ,
दूल्हा ने सिंदूर ले अंगुठा अमंद पै;
उपमा तहँ ऐसी मन आई कवि मीर मानों,
लोभ तें अमी के अहि चढ़ो जात चंद पै।

इस प्रकार हमारे चरित्रनायक को काव्य-कला में सफल होते देखकर देवरी के अनेक उत्साही युवक कविता सीखने के लिये आने लगे। मीर महोदय के प्रयत्न से थोड़े ही समय में काव्य-प्रेम की चर्चा प्रबल हो उठी। मीर साहब के शिष्य-वर्ग में श्रीयुत बाबू गोरेलालजी एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी कविता अधिक मनोहारिणी और भावपूर्ण हुआ करती थी। उनके प्रयत्न से सन् १८९५ ई० में देवरी में मीरमंडल कवि-समाज की स्थापना हुई।

आपके दिये उत्साह और श्रीलक्ष्मीनारायण वकील औरंगाबाद की अधिक सहायता से श्रीयुत मंजु सुशील ने लक्ष्मी मासिक पत्रिका का संपादन उसकी प्रारंभिक दशा में योग्यता-पूर्वक किया था, उसमें मीर साहब का विशेष हाथ रहा करता था। यह पत्रिका आज भी साहित्य-गगन में एक देदीप्यमान नक्षत्र के समान अपना प्रकाश फैला रही है। इसी समय श्रीयुत नाथूराम जी प्रेमी से जैन-मित्र में लेख लिखाना प्रारंभ कराया। परिणाम यह हुआ कि वे आगे चलकर उसी पत्र के संपादक हो गए।

देवरी में सन् १९०७ ई० में जिस समय पहली बार प्लेग का आक्रमण हुआ। उस समय यहाँ के मालगुज़ार-स्वनामधन्य स्वर्गीय लाला भवानीप्रसादजी के अर्थ-साहाय्य से मीर महोदय ने जनता की प्रशंसनीय सेवा की थी। आपके हाथ से लगभग ४७८ आदमियों की चिकित्सा हुई थी; जिसमें से सैकड़े पीछे ८३ रोगियों को आरोग्य प्राप्त हुआ था।

आपके उद्योग से उस समय देवरी में राजनैतिक विचारों की सृष्टि हुई थी, जिस समय बड़े-बड़े शहरों में भी लोग स्वदेशी और वंदेमातरम् शब्द का उच्चारण मात्र करने से डरते थे। आपके शांत प्रयत्न से देवरी में स्वदेशी कपड़े तथा शक्कर का खूब प्रचार हुआ था। आपके राजनैतिक सिद्धांत भी कुछ कम मूल्य नहीं रखते हैं। लेखक को यह बात भली भाँति स्मरण है कि मीर महोदय आज से २० वर्ष पहले राजनैतिक सिद्धांतों की जो बातें कहा

करते थे उनमें से अधिकांश आज सत्य सिद्ध हो रही हैं। देवरी में पहिले जो कुछ राजनैतिक चहल-पहल हुई थी तथा आज भी जो राजनैतिक जीवन शेष है वह सब आपकी शिक्षा का प्रभाव है। आपका हिंदी-प्रेम सराहनीय है। आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनाने के पक्षपाती हैं। आपकी प्रतिभा हिंदू-शास्त्र, पुराणों के कथा-प्रसंग जानने में बहुत बढ़ी चढ़ी है। गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण पर आपको अतुल अनुराग है। आप उसे गृह-क़ानून का आदर्श-ग्रंथ बतलाते हैं। साथ ही उसकी उत्तम सरल टीका के अभाव का वर्णन करते हुए यह भी कहा करते हैं कि रामायण के आधार पर एक ऐसे ग्रंथ के लिखे जाने की आवश्यकता है जो वर्त्तमान समाज और राजनीति के आकाश में निर्मल चंद्र का काम देवे। आपकी भाषा अत्यंत परिमार्जित हिंदी है। आपसे बातचीत करते समय कोई यह नहीं कह सकता है कि मैं एक मुसलमान सज्जन से बातचीत कर रहा हूँ। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि आप उर्दू नहीं बोल सकते, वह तो आपकी मातृ-भाषा है।

आरंभ से ही आपको स्वदेशी कपड़ों से विशेष प्रेम था। आप समय-समय पर स्थानीय कोरी तथा कोष्टों को इस कार्य में उन्नति करने के लिये उत्तेजना दिया करते थे।

बंबई से लौटते समय खंडवा में श्रीयुत जगन्नाथ-प्रसादजी भानु कवि ने, जो उस समय वहाँ के असि० सेटलमेंट आफ़िसर थे, काव्यप्रभाकर के संपादन कार्य में सहायता देने के लिये, मीर महोदय से आग्रह किया। केवल आग्रह ही नहीं, चलते समय उन्होंने आपसे वचन भी ले लिया। तदनुसार जून सन् १९०८ ई० में उनको खंडवा आना पड़ा और लगभग ९-१० माह सतत परिश्रम करके आपने काव्य प्रभाकर का संपादन कार्य समाप्त किया। परन्तु खेद की बात है कि भानु कवि ने उक्त ग्रंथ में आपको धन्यवाद देने की बात तो दूर रही—नामोल्लेख करने की भी कृपा नहीं की।

कुछ समय तक बंबई तथा खंडवा में रहने के कारण आपकी देवरी की दूकान टूट गई; जिससे आपको नौकरी पर जाने के लिये विवश होना पड़ा।

काव्य प्रभाकर के संपादन करने के समय में एक बार इंदौर जाते समय रायपुर स्टेट्स स्कूलों के एजेंसी इंस्पेक्टर श्रीगणपतिलालजी चौबे खंडवा पधारे थे, और मीर साहब की काव्य-संपादन-कला को देखकर प्रसन्न हुए थे। कह गये थे कि आवश्यकता पड़ने पर मुझे स्मरण करना। तदनुसार मीर साहब रायपुर में आकर चौबेजी से मिले व उन्होंने अपने वचनानुसार पहलेपहल आपको उदयपुर स्टेट के अंतर्गत छाल नामक ग्राम में १२) माहवार की प्रायमरी स्कूल की हेडमास्टरी की जगह दी। यहाँ से आप उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए क्रमशः मिडिल स्कूल की हेड मास्टरी, कोर्ट ऑफ़् वार्ड के आफ़िस की रीडरी, डिपुटी इंस्पेक्टरी, पुलिस की इंस्पेक्टरी, तहसीलदारी और दूसरे दर्जे की मजिस्ट्रेटी के पद पर पहुँचे।

इसके बाद आपकी स्टेट सर्विस छूट गई। स्टेट सर्विस से पृथक् होते ही आपको छत्तीसगढ़ के अंतर्गत तरेंगा ताल्लुक़ेदारी के दाऊ गोविंदप्रसाद-अयोध्याप्रसादजी ने अपने स्वदेशी वस्त्र के कारख़ाने में मैनेजर नियुक्त कर लिया। संवत् १९८३ विक्रमीय में यह कारख़ाना टूट गया। कारख़ाने के मालिकों ने आपको छोड़ते समय बहुत दुख प्रकट किया।

आपका स्वभाव बहुत शांत, गंभीर और मिलनसार है। सादगी आपको बहुत पसंद है। आपके कोई संतान नहीं है; दो भतीजे हैं। ये बहुत सुशील हैं।

मीर महोदय को निज धर्म पर बहुत निष्ठा है। वे गौ-रक्षा के भी बहुत पक्षपाती हैं। आपके मत से भारत में कृषि-कार्य के लिये गोवंश की रक्षा करना नितांत आवश्यक है। वे कहा करते हैं कि, यदि गोवंश का विनाश जारी रहा तो निकट भविष्य में यहाँ के किसानों को विलायती बाज़ारों का मुहताज होना पड़ेगा। बहुत दिन पहले कलकत्ते के हामानंद वर्मा ने गौ-रक्षा के लिये चंदे की अपील की थी। उस समय आपने देवरी में बड़े परिश्रम से चंदा करके भिजवाया था। आज से लगभग २० वर्ष पहिले जब कि आप देवरी में थे बारेलाल मनहार नामक एक व्यक्ति मिशन के प्रयत्न से ईसाई बना लिया गया था। उस समय आपने प्रबल प्रयत्न करके उसकी शुद्धि कराई और उसे जाति में सम्मिलित करा दिया। आप के ऐसे सरल व्यवहार के कारण यहाँ की हिंदू जनता आपको बहुत चाहती है। आप की यह लोकप्रियता देवरी ही तक में परिमित नहीं है, आप जहाँ गये वहीं आपका आदर हुआ। देखिए आपके छत्तीसगढ़ छोड़ने पर

वहाँ के प्रसिद्ध साहित्यिज्ञ पं० लोचनप्रसादजी पांडेय खेद प्रकट करते हैं—"छत्तीसगढ़ का अभाग्य है कि वह मीर महोदय-जैसे रत्न से विभूषित रहने की पात्रता और समर्थता नहीं रखता ! हा कष्ट !!"

आपको साहित्य-रत्न, काव्य-रसाल आदि की उपाधियाँ अनेक प्रसिद्ध संस्थाओं से मिली हैं। परंतु न तो कभी अपने नाम के साथ उनका उल्लेख करते देखा और न मुख से कहते सुना। गद्य लेख पर आपको कलकत्ता बड़ा बाज़ार लायब्रेरी की ओर से प्रथम श्रेणी का रौप्य पदक तथा व्यंग्य काव्य पर मदनमोहन वर्मा स्वतंत्र कार्यालय कलकत्ता द्वारा एक स्वर्ण पदक मिला है। पदमा राज्य की ओर से तो आप कई बार पुरस्कृत हो चुके हैं।

आपके रचे हुए कुछ ग्रंथों के नाम ये हैं—

१ बूढ़े का ब्याह, २ नीति-दर्पण की भाषा टीका और ३ सदाचारी बालक। बूढ़े का ब्याह एक खंड-काव्य है। वृद्ध-विवाह की दुर्दशा तथा दुष्परिणाम का इसमें अच्छा चित्र खींचा गया है। यह पुस्तक लोगों को बहुत पसंद आई है। सदाचारी बालक में आपने स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार की आवश्यकता तथा उसकी विधि बताई है। प्रयाग में होनेवाले प्रथम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के लिये लिखित आपके हिंदी और मुसलमान-शीर्षक लेख की बड़ी प्रशंसा हुई थी। आपका 'मुहर मीमांसा' नामक पुरातत्त्व-संबंधी लेख भी इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया कि एक प्रख्यात सभा द्वारा उसका अँगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित कराया गया था।

नीचे आपकी कविताओं के कुछ नमूने पाठकों के अवलोकनार्थ दिये जाते हैं।

जब आप उदयपुर स्टेट की राजधानी धर्मजयगढ़ में भेजे गये थे, उस समय आपके रहने के लिये जो मकान मिला था, उसकी प्रशंसा में आपने एक सवैया लिखकर तत्कालीन नाबालिग़ राजा साहब की सेवा में पेश किया था। वह यह है।

'मीर' अवास को हाल कहा कहें ? जाके किवार नहीं सकरी लौं।
भूमि समान न आप दिवार में, मूंदे बने बलिकी नगरी लौं॥
छप्पर पै न बराबर छावना, आवत हैं मुम धाम तरी लौं।
जो बरसे घन एक घरी यदि, तो बरसे घर चार घरी लौं॥

राजा साहब ने आज्ञा देकर मकान की मरम्मत करा दी थी, इतनी गुणग्राहकता ही आजकल राज-दरबार में बहुत समझी जाती है। स्टेट-अधिकारियों से शाला-संबंधी प्रबंध में सहायता पाते न देख, तथा स्वयं को विवश देख आपने स्कूल एजेंसी इंस्पेक्शन के आगमन के समय, आरायशी नैतिक-वाक्यों के साथ साथ नीचे लिखे पद्य सुंदर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर ऐसे स्थान में चस्पाँ किये थे, जहाँ अधिकारियों की दृष्टि बलात् पड़ती थी, वे पद्य ये हैं।

दोहा

जो रक्षक भक्षक बनै, मीर कहा उपचार।
'बारी खावे खेत' तो, का करिहैं रखवार ?
मीर भाग वश मानसर, जो पै तजे मराल।
तो न तलैयन में कभू, काट सके निज काल॥

कुंडलिया

जानि कान्हो दमन हैं, मरा मतंगन मान।
हाय दैव बश सिंह सो, परो पींजरे आन॥
परो पींजरे आन, श्वान के गने-ढिंग भूँके।
बिहंसे ससा, सियार कान पै आके कूके॥
मीर बात है सत्य, लोक में कहिंगे स्याने।
कापै कैसो समय, कब परिहै को जाने ?

उल्लिखित पंक्तियों से आपके क्षुब्ध किंतु निर्भीक हृदय का तथा अधिकारियों की शिक्षा-खाते की ओर से उदासीनता और अवहेलना का पता चलता है।

हिमगिरि

गर नहीं जाने के काबिल हम रहे,
तो रहा कर मृग, हिम-गिरि, दे दबा।
अन्यथा जो अरि हमारे हों यहाँ,
पेट में अपने उन्हें तू ले दबा।

हिंद-सागर

हिंद-सागर ! तुम हमारे गार्ड थे,
हाय ! की तुमने मगर कैसी दगा,
जब घुसा था शत्रु छाती चीर कर,
टांग धर पाताल को देते भगा।

सूर्य

भूमि पर जो था अँधेरा, दूर किसने कर दिया ?
छिप गये तारे कहाँ ? क्यों चंद्रमा का मुख किया ?
क्यों किये ठंडे किरासिन, गैस बिजली के दिये ?
देखि प्राची ने वसन पहिना अरुण है किसलिये ? ॥१॥
खिलखिलाकर हँस पड़ी कलिया कमल क्यों ताल में ?
दे रहे चटकारियाँ हैं बाग-बन किस ख़्याल में ?

चहाचहा चिड़ियें रही हैं, क्यों द्रुमों की गोद में ?
कर रहे गुणगान किस का भौंरगन हैं मोद में ?॥ २ ॥
हाँ हुआ है क्या पवन को क्यों फिरे बन बन भगी ?
जो मिला गल बाँह देके उसके उर से जा लगी ?
नीरनिधि, सरिता सरोवर किस लिये लहरा रहे ?
पेड़ क्यों प्रति पत्र अपने देखिए फहरा रहे ? ॥ ३ ॥
मछलियाँ हैं क्यों उछलतीं दौड़तीं फिरतीं अहा ?
हरिणियों में हरिण कैसा मौज से है फिर रहा ?
चक्रवाकों को खुशी है कौनसी जो चहचहे ?
कर रहे हैं, फूल कैसे खिल रहे हैं महमहे ? ॥ ४ ॥
आसरा किस का मिला पंथी लगे जो पंथ से ?
क्यों जुदी होने लगी अब कामिनी निज कंत से ?
क्यों नवल दुलही सरीखी, कुमुदनी सकुचा गई ?
जुगनुओं की पाँति भी है, किसलिये शरमा गई ? ॥ ५ ॥
किस लिये उल्लू अँधेरा खोजते हैं रोष में ?
चीखती चमगादड़ें क्यों, क्या नहीं है होश में ?
क्यों चकोरों में अभी है, खलबली सी पड़ गई ? ।
तस्करों में किसलिये है, सनसनी सी पड़ गई ? ॥ ६ ॥
कौन से रंगरेज ने है गिरि सुनहले रँग दिये ?
दूर की भी चीज़ दिखने लग गई है किस लिये ?
लोग जो सोते थे उन को है दिया किसने जगा ?
है दिया हर काम में हर आदमी किसने लगा ? ॥ ७ ॥
यों मिला उत्तर हुआ अब, भानु का आलोक है ।
अब उदय होगा क्षितिज में कुछ समय की रोक है ॥
देखते ही देखते जल-थल उठे सब रगमगा ।
जब निकल आया गगन में, एक गोला जगमगा ॥ ८ ॥
है इसी का नाम सूरज, यह हितैषी कोक है ।
सब ग्रहों को यह प्रभाकर दे रहा आलोक है ॥
पर स्वयं यह है प्रकाशित, पिंड बृहदाकार का ।
है इसी से जान पड़ता, तेज जगदाधार का ॥ ९ ॥
प्रात फिर मध्यान सायं रात आदिक काल का ।
है यही द्योतक निमिष-दिन, पक्ष महिना-साल का ॥
सूखते जो हैं जलाशय, सो इसी के योग से ।
मानवों को यह बचा देता अनेकों रोग से ॥ १० ॥
मेघ बन कर जल इसी से है बरसता जानिये ।
शीत-गर्मी आदि ऋतु होतीं इसी से मानिये ॥
बर्फ़ गल कर बारि बहता है इसी के ताप से ।
बारि का अस्तित्व रहता है इसी के ताप से ॥ ११ ॥
शीत-गर्मी की बना कर, मेखला इसने अचल ।
बाँध दी है आश्रिता निज, हो न अचला चल बिचल ॥
है वहीं कटिबंध पाँचों, जाँच कर तुम देख लो ।
शीत के दो, उष्ण का है एक, समशीतोष्ण दो ॥ १२ ॥
है वनस्पति की इसी से, वृद्धि मिलती जान लो ।
काँप कर भय से इसी के, वायु चलती मान लो ॥
देख पड़ता वह ज़रा सा, और अंबर में जड़ा ।
है अधर लेकिन धरा से, लाख पंद्रह गुण बड़ा ॥ १३ ॥
देख पड़ता है निकलते, छू रहा वह भूमि छोर ।
दूर है अति दूर हमसे, मील साढ़े नव करोर ॥
जान पड़ता वह हमें है, सर्वदा चलता हुआ ।
चल रही है भूमि सचमुच, वह वहीं ठहरा हुआ ॥ १४ ॥
हाँ मगर निज कील पर, वह घूमता कुछ काल में ।
और छिप कर यह दिखा देता ग्रहण शशि, साल में ॥
छोड़ कर इस को नवों ग्रह, दूर जाते हैं नहीं ।
देखते रहते नजूमी भेद पाते पर नहीं ॥ १५ ॥
दाग है इस में कहीं पर ठोस है कुछ भी नहीं ।
द्रव्य है द्रव तप्त कोई और है कुछ भी नहीं ॥
बुद्धि का घोड़ा जहाँ तक जा सका दी है खबर ।
मीर सच जो पूछिये तो, है अभी सब बेखबर ॥ १६ ॥

'बूढ़े का ब्याह'-नामक पुस्तक में कुछेक अवतरण देने के पूर्व यह बतलाने की आवश्यकता है कि मीर साहब ने पुस्तक का नाम भड़कीला रख दिया, जिससे विवाह के लिये लालायित बूढ़े, पढ़ने से पहले, नाम सुनते ही ऐसे भड़क उठते हैं, जैसे बंदूक़ की आवाज़ से जंगली जानवर । एक बार एक बूढ़े छोटे साहब (E. A. C.) को उनके मित्र ने 'बूढ़े का ब्याह' भेंट में दिया । मित्र की भेंट लेते तो ले ली, परंतु सूर्यास्त के पहले पुस्तक का निर्वासन कर दिया गया । उन्हें ऐसा उद्भासित हुआ, मानों पुस्तक उन्हें ही लक्ष्य करके लिखी गई हो, तो भी पुस्तक का सर्व-साधारण ने विशेष आदर किया है । संवत् ७८ तक उसकी तीन आवृत्तियाँ निकल चुकी थीं ।

मीर साहब ने पुस्तक का समर्पण अत्यंत हृदय-ग्राही तथा मर्मस्पर्शी लिखा है । वह यह है—

जो यौवन का लूट चुके सुख, अब मलते रहते हैं हाथ ।
'बाबा' कहलाने पर रहती, विषय-वासना जिनके साथ ॥
देख किशोरी को हो जाते, जिनके आनन कूप सनीर ।
उन बूढ़ों के कंपित कर में, करें समर्पण सादर मीर ॥

वहाँ के प्रसिद्ध साहित्यिज्ञ पं० लोचनप्रसादजी पांडेय खेद प्रकट करते हैं—"छुत्तोसगढ़ का असौभाग्य है कि वह मीर महोदय-जैसे रत्न से विभूषित रहने की पात्रता और समर्थता नहीं रखता ! हा कष्ट !!"

आपको साहित्य-रत्न, काव्य-रसाल आदि की उपाधियाँ अनेक प्रसिद्ध संस्थाओं से मिली हैं। परंतु न तो कभी अपने नाम के साथ उनका उल्लेख करते देखा और न मुख से कहते सुना। गद्य लेख पर आपको कलकत्ता बड़ा बाज़ार लायब्रेरी की ओर से प्रथम श्रेणी का रौप्य पदक तथा व्यंग्य काव्य पर मदनमोहन वर्मा स्वतंत्र कार्यालय कलकत्ता द्वारा एक स्वर्ण पदक मिला है। पद्मा राज्य की ओर से तो आप कई बार पुरस्कृत हो चुके हैं।

आपके रचे हुए कुछ ग्रंथों के नाम ये हैं—

१ बूढ़े का ब्याह, २ नीति-दर्पण की भाषा टीका और ३ सदाचारी बालक। बूढ़े का ब्याह एक खंड-काव्य है। वृद्ध-विवाह की दुर्दशा तथा दुष्परिणाम का इसमें अच्छा चित्र खींचा गया है। यह पुस्तक लोगों को बहुत पसंद आई है। सदाचारी बालक में आपने स्वदेशी वस्तुओं के प्रचार की आवश्यकता तथा उसकी विधि बताई है। प्रयाग में होनेवाले प्रथम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के लिये लिखित आपके हिंदी और मुसलमान-शीर्षक लेख की बड़ी प्रशंसा हुई थी। आपका 'मुहर मीमांसा' नामक पुरातत्त्व-संबंधी लेख भी इतना महत्वपूर्ण समझा गया कि एक प्रख्यात सभा द्वारा उसका अँगरेज़ी अनुवाद प्रकाशित कराया गया था।

नीचे आपकी कविताओं के कुछ नमूने पाठकों के अवलोकनार्थ दिये जाते हैं।

जब आप उदयपुर स्टेट की राजधानी धर्मजयगढ़ में भेजे गये थे, उस समय आपके रहने के लिये जो मकान मिला था, उसकी प्रशंसा में आपने एक सवैया लिखकर तत्कालीन नाबालिग़ राजा साहब की सेवा में पेश किया था। वह यह है।

'मीर अवास की हाल कहा कहूँ? जाके किवार नहीं मकरी लौं।
भूमि समान न छाप दिवार में, चूहे बसे बलिकी नगरी लौं॥
छप्पर पै न बराबर छावनी, आवत है गृम घाम नरी लौं।
जो बरसै घन एक घरी यदि, तो बरसै घर चार घरी लौं॥

राजा साहब ने आज्ञा देकर मकान की मरम्मत करा दी थी, इतनी गुणग्राहकता ही आजकल राज-दरबार में बहुत समझी जाती है। स्टेट-अधिकारियों से शाला-संबंधी प्रबंध में सहायता पाते न देख, तथा स्वयं को विवश देख आपने स्कूल एजेंसी इंस्पेक्शन के आगमन के समय, आरायशी नैतिक-वाक्यों के साथ साथ नीचे लिखे पद्य सुंदर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर ऐसे स्थान में चस्पाँ किये थे, जहाँ अधिकारियों की दृष्टि तत्काल पड़ती थी, वे पद्य ये हैं।

दोहा

जो रक्षक भक्षक बनै, मीर कहा उपचार।
'बारी खावै खेत' तो, का करिहैं रखवार ?
मीर भाग वश मानसर, जो पै तजै मराल।
तो न तलैयन में कभू, काट सकै निज काल॥

कुंडलिया

जाने कीन्हों दमन है, मत्त मतंगन मान।
हाय दैव बश सिंह सो, परो पींजरे आन॥
परो पींजरे आन, श्वान के गने-ढिंग भूँकैं।
विहँसैं ससा, सियार कान पै आके कूकैं॥
मीर बात है सत्य, लोक में कहिंगे स्याने।
कोप कैसो समय, कब परिहै को जाने ?

उल्लिखित पंक्तियों से आपके क्षुब्ध किंतु निर्भीक हृदय का तथा अधिकारियों की शिक्षा-खाते की ओर से उदासीनता और अवहेलना का पता चलता है।

हिम-गिरि

गर नहीं जीने के काबिल हम रहे,
तो ढहा कर शृंग, हिम-गिरि, दे दबा।
अन्यथा जो अरि हमारे हों यहाँ,
पेट में अपने उन्हें तू ले दबा।

हिंद-सागर

हिंद-सागर ! तुम हमारे गार्ड थे,
हाय ! की तुमने मगर कैसी दगा,
जब घुसा था शत्रु छाती चीर कर,
टाँग धर पाताल को देते भगा।

सूर्य

भूमि पर जो था अँधेरा, दूर किसने कर दिया ?
छिप गये तारे कहाँ ? क्यों चंद फीका मुख किया ?
क्यों किये ठंडे किरोसिन, गैस बिजली के दिये ?
देवि प्राची ने वसन पहिना अरुण है किसलिये ? ॥१॥
खिलखिलाकर हँस पड़ीं कलियाँ कमल क्यों ताल में ?
दे रहे चटकारियाँ हैं बाग-बन किस ख़्याल में ?

चहाचहा चिड़ियें रहीं हैं, क्यों द्रुमों की गोद में ?
कर रहे गुणगान किस का भौंरगन हैं मोद में ?॥ २ ॥
हाँ हुआ है क्या पवन को क्यों फिरे बन बन भगी ?
जो मिला गल बाँह देके उसके उर से जा लगी ?
नीरनिधि, सरिता सरोवर किस लिये लहरा रहे ?
पेड़ क्यों प्रति पत्र अपने देखिए फहरा रहे ? ॥ ३ ॥
मछलियाँ हैं क्यों उछलतीं दौड़तीं फिरतीं अहा ?
हरिणियों में हरिण कैसा मौज से है फिर रहा ?
चक्रवाकों को खुशी है कौनसी जो चहचहे ?
कर रहे हैं, फूल कैसे खिल रहे हैं महमहे ? ॥ ४ ॥
आसरा किस का मिला पंथी लगे जो पंथ से ?
क्यों जुदी होने लगी अब कामिनी निज कंत से ?
क्यों नवल दुलही सरीखी, कुमुदनी सकुचा गई ?
जुगनुओं की पाँति भी है, किसलिये शरमा गई ? ॥ ५ ॥
किस लिये उल्लू अँधेरा खोजते हैं रोष में ?
चीखतीं चमगीदड़ें क्यों, क्या नहीं हैं होश में ?
क्या चकोरों में अभी है, खलबली सी पड़ गई ? ।
तस्करों में किसलिये है, सनसनी सी पड़ गई ? ॥ ६ ॥
कौन से रँगरेज़ ने हैं गिरि सुनहले रँग दिये ?
दूर की भी चीज़ दिखने लग गई है किस लिये ?
लोग जो सोते थे उन को है दिया किसने जगा ?
है दिया हर काम में हर आदमी किसने लगा ? ॥ ७ ॥
यों मिला उत्तर हुआ अब, भानु का आलोक है ।
अब उदय होगा क्षितिज से कुछ समय की रोक है ॥
देखते ही देखते जल-थल उठे सब रगमगा ।
जब निकल आया गगन में, एक गोला जगमगा ॥ ८ ॥
है इसी का नाम सूरज, यह हितैषी कोक है ।
सब ग्रहों को यह प्रभाकर दे रहा आलोक है ॥
पर स्वयं यह है प्रकाशित, पिंड वृहदाकार का ।
है इसी से जान पड़ता, तेज जगदाधार का ॥ ९ ॥
प्रात फिर मध्यान सायं रात आदिक काल का ।
है यही द्योतक निमिष-दिन, पक्ष महिना-साल का ॥
सूखते जो है जलाशय, सो इसी के योग से ।
मानवों को यह बचा देता अनेकों रोग से ॥ १० ॥
मेघ बन कर जल इसी से है बरसता जानिये ।
शीत-गर्मी आदि ऋतु होतीं इसी से मानिये ॥
बर्फ़ गल कर बारि बहता है इसी के ताप से ।
बारि का अस्तित्व रहता है इसी के ताप से ॥ ११ ॥
शीत-गर्मी की बना कर, मेखला इसने अचल ।
बाँध दी हैं आश्रिता निज, हो न अचला चल बिचल ॥
है वहीं कटिबंध पाँचों, जाँच कर तुम देख लो ।
शीत के दो, उष्ण का है एक, समशीतोष्ण दो ॥ १२ ॥
है वनस्पति को इसी से, वृद्धि मिलती जान लो ।
काँप कर भय से इसी के, वायु चलती मान लो ॥
देख पड़ता वह ज़रा सा, और अंबर में जड़ा ।
है अधर लेकिन धरा से, लाख पंद्रह गुण बड़ा ॥ १३ ॥
देख पड़ता है निकलते, छू रहा वह भूमि छोर ।
दूर है अति दूर हमसे, मील साढ़े नव करोर ॥
जान पड़ता वह हमें है, सर्वदा चलता हुआ ।
चल रही है भूमि सचमुच, वह वहीं ठहरा हुआ ॥ १४ ॥
हाँ मगर निज कील पर, वह घूमता कुछ काल में ।
और छिप कर यह दिखा देता ग्रहण शशि, साल में ॥
छोड़ कर इस को नवों ग्रह, दूर जाते हैं नहीं ।
देखते रहते नजूमी भेद पाते पर नहीं ॥ १५ ॥
दाग है इस में कहीं पर ठोस है कुछ भी नहीं ।
द्रव्य है द्रव तप्त कोई और है कुछ भी नहीं ॥
बुद्धि का घोड़ा जहाँ तक जा सका दी है खबर ।
मीर सच जो पूछिये तो, है अभी सब बेख़बर ॥ १६ ॥

'बूढ़े का ब्याह'-नामक पुस्तक में कुछेक अवतरण देने के पूर्व यह बतलाने की आवश्यकता है कि मीर साहब ने पुस्तक का नाम भड़कीला रख दिया, जिससे विवाह के लिये लालायित बूढ़े, पढ़ने से पहले, नाम सुनते ही ऐसे भड़क उठते हैं, जैसे बंदूक़ की आवाज़ से जंगली जानवर । एक बार एक बूढ़े छोटे साहब (E. A. C.) को उनके मित्र ने 'बूढ़े का ब्याह' भेंट में दिया । मित्र की भेंट लेते तो ले ली, परंतु सूर्यास्त के पहले पुस्तक का निर्वासन कर दिया गया । उन्हें ऐसा उद्भासित हुआ, मानों पुस्तक उन्हें ही लक्ष्य करके लिखी गई हो, तो भी पुस्तक का सर्व-साधारण ने विशेष आदर किया है । सवत् ७८ तक उसकी तीन आवृत्तियाँ निकल चुकी थीं ।

मीर साहब ने पुस्तक का समर्पण अत्यंत हृदय-ग्राही तथा मर्मस्पर्शी लिखा है । वह यह है—

जो यौवन का लूट चुके सुख, अब मलते रहते हैं हाथ ।
'बाबा' कहलाते पर रहती, विषय-वासना जिनके साथ ॥
देख किशोरी को हो जाते, जिनके आनन कूप सनीर ।
उन बूढ़ों के कंपित कर में, करें समर्पण सादर मीर ॥

उक्त पुस्तक के लिखने का उद्देश आपने यह बताया है—

ऊसर धरती में है होता, जैसे पुष्ट बीज का नाश।
वैसे ही उर्वरा भूमि में, घुने बीज का सत्यानाश ॥
धरती और बीज को चुनकर लाभ उठाते चतुर किसान।
इसी तरह से वर-कन्या का उचित मेल करते धीमान ॥

विषय-वर्णन के साथ-साथ आपने जो आलोचनात्मक उपदेश दिए हैं, वह विशेष ध्यान देने योग्य हैं। जब ब्राह्मण देवता बूढ़े सेठजी के अनुकूल हो गए, तब मीर साहब कहते हैं—

यह संसार हिंडोला-जैसा क्रम से चक्कर खाता है।
नीचा चढ़ ऊपर को जाता, ऊँचा नीचे आता है ॥
जिस ब्राह्मण को चतुर्वर्ण में, बड़ा और सिरताज कहा।
है अफसोस नहीं अब उसमें, वह पहला अभिमान रहा ॥
जिनके पूर्व पुरुष औरों को, धर्म पंथ बतलाते थे।
जिनके चरण-कमल पर मस्तक, राजा-रंक झुकाते थे ॥
उनके ही वंशज अब देखो, ऐसे कुछ बरबाद हुए।
गुण से खाली हुए मगर हाँ, अवगुण से आबाद हुए ॥
जिस समाज के अगुओं से जब, अनाचार अत्यंत हुआ।
तब निस्संशय गौरव-गिरि से गिरकर उसका अंत हुआ ॥
लेकिन जिसका नेतादल जब, सच्चरित्र गुणवान हुआ।
तब अवश्य वह पूर्ण समुन्नत, कीर्तिवान श्रीमान हुआ ॥

पूरा आनंद तो पुस्तक पढ़ने से प्राप्त हो सकता है। पुस्तक के उपसंहार में आपने जो कुछ लिखा है, उससे आपके स्पर्द्धारहित शुद्ध-स्वभाव का पता चलता है। नीचे के केवल दो पद्यों में आपने शिक्षा की आवश्यकता, देश-धर्म की स्थिरता और उचित विवाह की उत्तमता का जो विशद वर्णन किया है, वह व्यवहार में लाने योग्य है—

इसीलिये कहता हूँ भाई, शिक्षा का विस्तार करो।
देश-धर्म के साथ-साथ ही, देख-भाल व्यवहार करो ॥
जिससे कोई कभी नहीं यों, तिरस्कार उपहास करे।
धर्म बचे, यश फैले, बढ़े धन, घर-घर सौख्य निवास करे ॥
पति-पत्नी में पूर्ण प्रेम से, जिसमें उत्तम हों सन्तान।
करें देश का जो मुख उज्ज्वल, रक्खें अपने कुल का मान ॥
अब सलाम करता हूँ पाठक, खूब हुआ बूढ़े का ब्याह।
'मीर' कभी फिर हाजिर होगा, अगर आप देंगे उत्साह ॥

शिवसहाय चतुर्वेदी

विशेषण

चक्रवर्ति-कुल-बालक देश,
निखिललोक-प्रतिपालक देश।
साधु-असाधु-परीक्षक देश,
खल-पाखंड-समीक्षक देश ॥

*　*　*

गुणसागर, नयनागर देश,
धारा-धरा-धराधर देश।
पालित-सकल-चराचर देश,
लालित-स्वर्ग-बराबर देश ॥

*　*　*

समर-मरण के ग्राहक देश,
दुर्जन-दुर्दैव-दाहक देश।
अतिदायक, वरदायक देश,
अरि-उर के खर-शायक देश ॥

*　*　*

विद्या-विभव-विभूषित देश,
प्रण के प्रणव-विभूषित देश।
विहित-विवेक-विचारक देश,
प्रज्ञा-प्रबल-प्रचारक देश ॥

*　*　*

शस्त्र-शास्त्र के स्रष्टा देश,
दया-दान के द्रष्टा देश।
वेद-वाक्य-उत्थापित देश,
स्मृति-संस्था-संस्थापित देश ॥

*　*　*

लोक लोक-आलोकित देश,
शोक शोक निरशोकित देश।
साहस-शक्ति-सुशोभी देश,
निष्कपटी, निर्लोभी देश ॥

*　*　*

कनक-कलश-कल-कीलित देश,
निंदा-नयन-निमीलित देश।
पर-पीड़ा-परिपीड़ित देश,
ईश-इंद्र-इन ईड़ित देश ॥

*　*　*

सकल-सुरासुर-शासक देश,
विमुख-विमोह-विनाशक देश।

अमित-आय के इच्छुक देश,
भक्ति-भाव के भिक्षुक देश ॥

*　　*　　*

सृष्टि-सुधा-संप्लावित देश,
स्वत्व-सत्त्व-संभावित देश।
साहित्यिक-श्रम-शिक्षित देश,
दस्यु-दमन-दृढ़ दीक्षित देश॥

*　　*　　*

पावन-परम-परिष्कृत देश,
अवनि-अवन-आविष्कृत देश।
परित्यक्त-परिदूषित देश,
भाषा-भूषा-भूषित देश॥

*　　*　　*

चल करवाल-करान्वित देश,
स्मरहर-वर-समरान्वित देश।
काल-गाल-विस्फारित देश,
प्रखर-प्रताप-प्रसारित देश॥

*　　*　　*

दुष्ट-दनुज-दल दर्पित देश,
रण-प्रांगण-प्राणार्पित देश।
सुजन-समूह-समादृत देश,
श्यामल-शस्य-समावृत देश॥

*　　*　　*

खंडित-अखिल-खलाचल देश,
मणि-मंडित-महिमंडल देश।
शोधित सर-सरि-सागर देश,
बोधित-बर्बर-बनचर देश॥

*　　*　　*

धनद धान्य-धन-धारक देश,
सुखद-स्वराज्य-सुधारक देश।
वैरि-व्यूह-विध्वंसक देश,
सतत-सनातन-शंसक देश॥

*　　*　　*

फूल-फलों के मेला देश,
अल्ल-अवलि-अलबेला देश।
शूर-सैन्य-सेनानी देश,
महामहिम-महि-मानी देश॥

*　　*　　*

विपुल-विधान-विधाता देश,
त्रस्त-त्रिजगके त्राता देश।
गहन-ज्ञान के ज्ञाता देश,
दुग्ध-द्रविण के दाता देश॥

*　　*　　*

काव्य-कला के कविवर देश,
प्रलय-प्रहारी-पविवर देश।
परम पूज्य-पद, पंडित देश,
अजित, अदम्य अखंडित देश॥

*　　*　　*

चारु-चरित, चंद्रानन देश,
पामर-पशु-पंचानन देश।
व्रत-विश्वास-विधायक देश,
विनय-विवेक-विनायक देश॥

*　　*　　*

परिधि-पयोधि-पुरातन देश,
अकथ अलौकिक-आसन देश।
भरित-भर्ग-भर-भार्गव देश,
अतिशय-अर्जित-आर्जव देश॥

*　　*　　*

ऋद्धि-राशि, रत्नाकर देश,
प्रचुर-प्रभाव-प्रभाकर देश।
धृत-धृति-धर्म धुरंधर देश,
प्रीति-प्रतीति-पुरंदर देश॥

*　　*　　*

विक्रम-विधि-क्रम-विलसित देश,
भूरि भाग्य, भव-भासित देश।
धैर्य-धाम-ध्रुव-धारक देश,
दुर्जन-दुर्मद-दारक देश॥

*　　*　　*

भावुक-भव-भय-भंजक देश,
राज-राजि-रद-रंजक देश।
स्वर्ण-सरोज-सरोवर देश,
मणिमय-मुकुर-मनोहर देश॥

*　　*　　*

विविध-विबुध-बुध-वंदित देश,
नृपति-निकर-नय-नंदित देश।
कोटि-क्रूर-कुल-कर्तक देश,
परिजन-प्रेम-प्रवर्तक देश॥

रामचरित उपाध्याय

तुम निर्भय रहो

युद्ध—प्रभो ! अब मैं मरा मेरी रक्षा करो ।

युद्ध देवता—(हँसते हुए) जब तक इस भूमंडल पर अर्थ समस्या है, तब तक तुम्हारा कौन बाल बाँका कर सकता है । तुम निर्भय रहो ।

मध्य योरप का प्राकृतिक सौंदर्य

एशिया, योरप और अमेरिका के मध्य-भाग में कुछ ऐसे सुंदर स्थान हैं जहाँ विकल, पीड़ित और क्षुब्ध मनुष्य को ज़रा-सी शांति मिलती है। हिमालय की ऊँची चोटियों, तिब्बत और मानसरोवर के समीपस्थ मैदानों, काश्मीर के जंगलों, ईरान के फल-फूल से लदे हुए प्राकृतिक उद्यानों को एकबार देख-

'दि होली सिटी' (पवित्र नगर)

[बदली में रोम का दृश्य ! किंग विक्टर इम्मैनुएल के 'नेशनल मोनूमेंट' से लिया गया चित्र]

कर जीवन से निराश व्यक्ति में भी अधिक-से-अधिक समय तक जीने की इच्छा जागृत हो जाती है। इसी प्रकार मध्य अमेरिका की पर्वतीय अधित्यकाएँ, प्रकृत संगीत-पूर्ण झरने और झीलें हमें जीवन के गुप्त स्वाद का अनुभव करने को विवश कर देती हैं। मध्य योरप का प्राकृतिक सौंदर्य तो अनूठा ही है। यहाँ के प्राकृतिक दृश्यों के साथ ही प्राचीन वैभव-पूर्ण रोमन-साम्राज्य की कलाएँ, उन्नत विज्ञान के चमत्कार-पूर्ण करिश्मे और जीवन की परिष्कृत प्रणालियाँ भी स्थान-स्थान पर दिखाई देती हैं। मध्य एशिया के कतिपय दुरूह और अगम भागों को छोड़कर मध्य योरप-जैसा प्राकृतिक सौंदर्य संसार में और कहीं देखने को नहीं मिल सकता।

मध्य योरप के यात्री को प्राकृतिक सौंदर्य के अतिरिक्त और भी अनेक चीज़ें देखने को मिलती हैं। इटली की अनेक सुंदर इमारतें देखकर मनुष्य आश्चर्य-मय और विमुग्ध हो जाता है। योरप के मध्य-भाग में इटली, आल्प्स की पर्वत-मालाएँ और स्वीज़रलैंड के मनोरम प्राकृतिक दृश्य देखने ही योग्य हैं। इन देशों में प्रकृति और मनुष्य दोनों की कारीगरी देखने को मिलती है। इटली में रोम और मिलन ख़ास तौर से देखने योग्य नगर हैं। मिलन का गिर्जाघर संसार की अद्भुत इमारतों में से एक है। इसके जोड़ की दूसरी इमारत दुनिया में शायद ही मिलेगी। यह समस्त गिर्जाघर बढ़िया संगमरमर का बना हुआ है। इसमें ६८ चोटियाँ हैं और मूर्तियों की संख्या तो दो हज़ार से भी अधिक होगी। उषा-काल में जब इन चोटियों पर बाल-सूर्य की कुमारी किरणें पड़ती हैं, तो इस विचित्र गिर्जाघर की शोभा देखने ही योग्य होती है। चोटियों के सिर पर क़तार से खड़ी हुई मूर्तियाँ प्रकाश से मानो नाच उठती हैं। वेरोना का गिर्जा भी देखने ही योग्य है और बारहवीं शताब्दी की इटैलियन भवन-निर्माण-कला का एक अच्छा नमूना है।
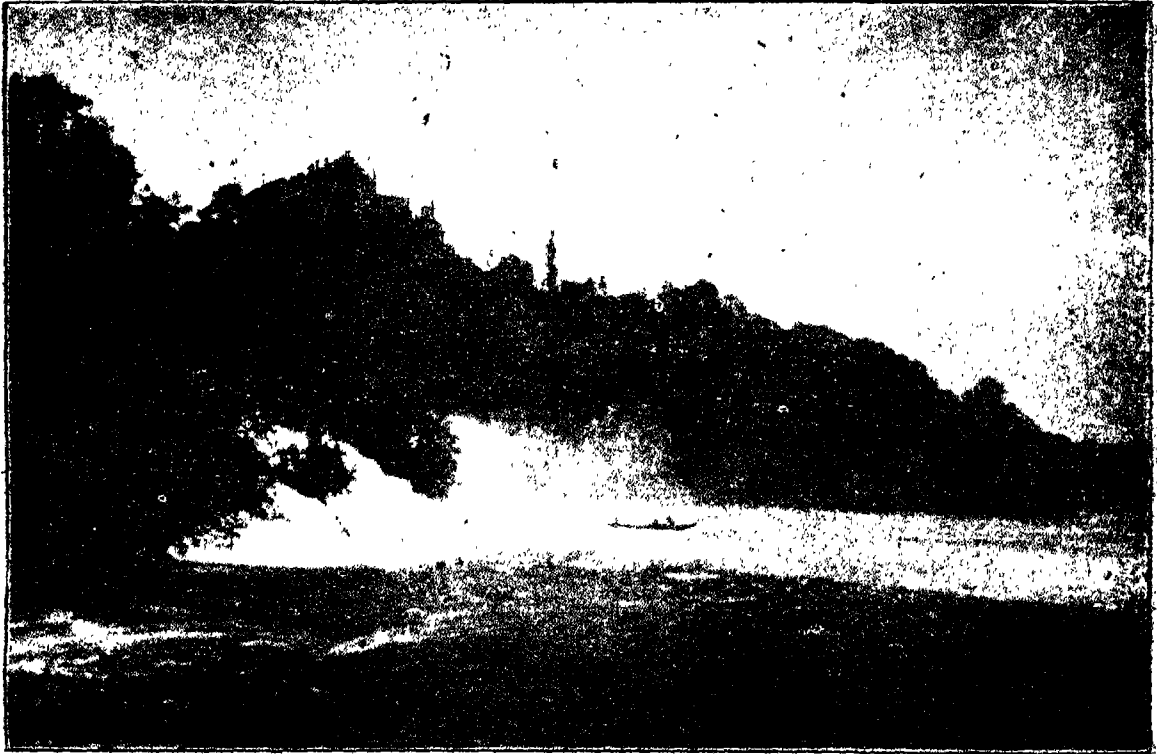
इटली के चप्पे-चप्पे में मूर्ति-कला, संगीत और चित्र-

जेफोरेन के समीप राइन-प्रपात का दृश्य

कला के भाव प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। इस भूमि ने न-जाने किसने महान् पुरुषों को जन्म और प्राण दिया है। रोमियो जूलियट-जैसे प्रेमियों का घर वेरोना इटली में ही है, फ्लोरेंस के चरणों को धोनेवाली आर्नो के तट के वे सुंदर दृश्य इटली में ही हैं जहाँ दान्ते ने बिटिश को मुग्ध होकर देखा था ; वेनिस के ग्रैंड कनाल का वह सौंदर्य इटली में ही है जहाँ छोटी और सौंदर्य के नशे में ऊपर-नीचे करनेवाली तरणियों (गंडोलाओं) में बैठकर ब्राउनिंग और बायरन-जैसे कवियों के हृदय में अभिनव भाव जाग्रत् हुए थे। माइकेलेंजेलो, असीसी के सेंट फ्रांसिस और सेन्टकैथेरीन की जन्मभूमि इटली कला का एक ऐसा देश है जिसे उन्नत विज्ञान की कलाएँ अभी तक नष्ट नहीं कर सकी हैं।

बेल नगर

आल्प्स की पर्वत-श्रेणियों में स्थान-स्थान पर हर-हर शब्द से गिरते हुए प्रपातों, झरनों और पर्वत-खंड को काट-कर बहनेवाली नदियों के दृश्य इतने मनोरम हैं कि उन्हें देखकर एक अनिर्वचनीय आनंद, एक आंदोलनकारी पुलक का अनुभव प्रत्येक प्राणी को हुए बिना नहीं रह सकता। 'राइन-प्रपात' को देखकर हमारे एक मित्र ने हाल ही में स्वीज़रलैंड की राजधानी बर्न से लिखा था—

"The masses of water, come roaring down over a ridge of chalk-cliffs, 262 ft. broad and 91 ft. high, which crosses the bed of the river. The huge Volume of falling water is completely changed into dazzling white foam in which ever varying effect of light and shade forming in numerable rainbows, may be observed, which throw an additional charm on the beauty of the falls, such is the tremendous power and weight of cataract, that part of the Volume of water is completely dashed into spray and rises up again as clouds of foam, which are seen floating up high into the air, especially on clear
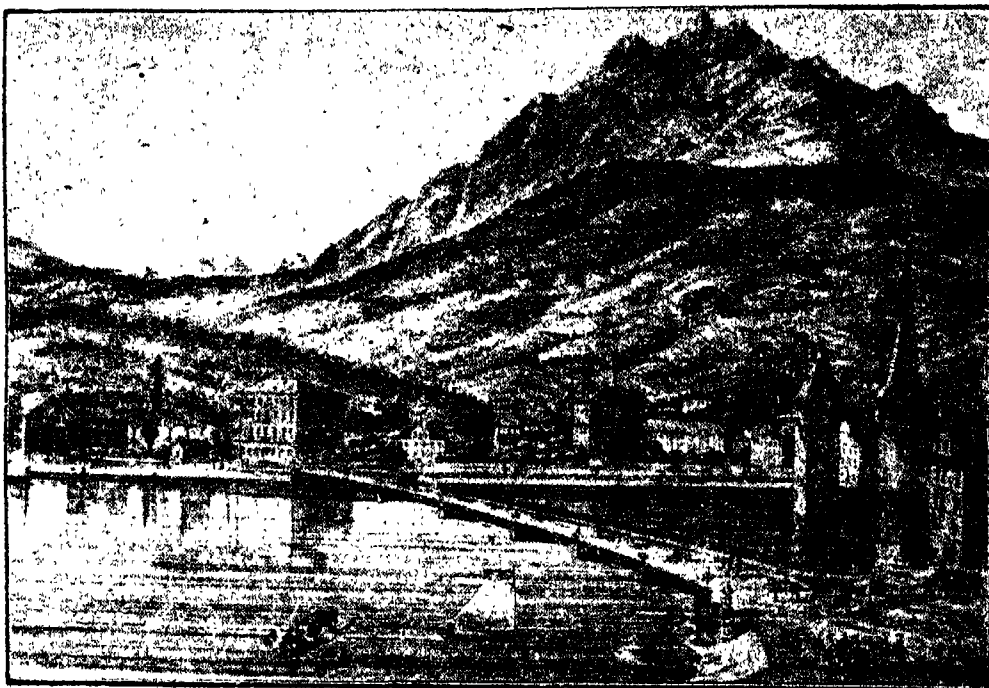
स्त्रीजगोफ़ से आल्प्स ऑव दफ़ोर कौंटन्स का दृश्य

जनेवा

के मरों से न जाने कितने जर्मन-कवियों को उस संगीत में ओतप्रोत होने को बाध्य किया था जिसे पढ़कर आज भी हम सुंदरतम जगत् की कल्पना करने लगते हैं। केवल जेनेवा-झील का दृश्य ही यात्री का हृदय हर लेने के लिये काफ़ी है। * हज़ारों प्रकार की घाटियाँ, सैकड़ों प्रकार के सोते और झरने, प्राचीन रोमन कालीन क़िले और भयानक चोटियाँ, एक-से-एक बढ़कर दृश्य देखकर ही एक लेखक ने लिखा है—

"Whenever the tourist ventures, the Vista will hold him the whole time. It is impossible to say which is the most magnificent. There is something for all tastes."

अर्थात् "जहाँ भी यात्री जाता है, वहाँ का दृश्य उसे आश्चर्य-विमुग्ध कर देता है। संपूर्ण समय आँखों को दृश्य-जन्य सुषमाराशि लुभाती रहती है। यह कहना असंभव है कि कौन यहाँ का सर्वोत्तम दृश्य है। प्रत्येक दृश्य हृदय में नई भावनाएँ जाग्रत् करता है, सबों में भिन्नता है। सभी प्रकार के मनुष्यों के योग्य कुछ-न-कुछ यहाँ मौजूद है।"

मध्य योरप और विशेषतः स्वीज़रलैंड एवं दक्षिण जर्मिनी का प्राकृतिक सौंदर्य देखने ही योग्य है। लेखनी उस सौंदर्य का चित्र कभी नहीं खींच सकी जो योरप के प्राकृतिक यौवन की शान है।

—श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

* इस झील के सौंदर्य पर मुग्ध होकर ही एक फ्रेंच लेखक ने लिखा है—*The ocean has once United the Valley of the Rhone, and as he fell in love with it, he left it his Portrait in miniature behind* अर्थात् समुद्र एकबार रोन घाटी को देखने आया था और चूँकि उसके प्रेम में पड़ गया अतएव जाते समय अपना सूक्ष्म चित्र छोड़ गया।—(लेखक)

इस लेख के कई चित्र कुमारी वायलेट ग्राहम की कृपा से प्राप्त हुए हैं अतएव उन्हें धन्यवाद है।—(लेखक)

कामना तरु

(१)

राजा इंद्रनाथ का देहांत हो जाने के बाद कुँअर राजनाथ को शत्रुओं ने चारों ओर से ऐसा दबाया कि उन्हें अपने प्राण लेकर एक पुराने सेवक की शरण आना पड़ा जो एक छोटे-से गाँव का जागिरदार था। कुँअर स्वभाव ही से शांति-प्रिय, रसिक, हँस-खेलकर समय काटनेवाले युवक थे। रण-क्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाना उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकजनों के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, कवित्व चरचा करने में उन्हें जो आनंद मिलता था वह शिकार या राज दर्बार में नहीं। इस पर्वत-मालाओं से घिरे हुए गाँव में आकर उन्हें जिस शांति और आनंद का अनुभव हुआ उसके बदले में वह ऐसे ऐसे कई राज त्याग कर सकते थे। यह पर्वत-मालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्र रंजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँगें, यह बछड़ों की कुलेलें, यह ग्राम-निवासियों की बालोचित सरलता, यह रमणियों की संकोचमय चपलता, ये सभी बातें उनके लिये नई थीं। पर इन सभों से बढ़कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीरदार की युवती कन्या चंदा थी।

चंदा घर का सारा काम-काज आप ही करती थी। उसको माता की गोद में खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही में रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था कि इसी बीच में कुँअरजी ने आकर उसके जीवन में नवीन भावनाओं और नवीन आशाओं को अंकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन में खींच रक्खा था, वही मानों रूप धारण करके उस के सम्मुख आ गया। कुँअर की आदर्श रमणी भी चंदा ही के रूप में अवतरित हो गई। लेकिन कुँअर समझते थे मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? चंदा भी समझती थी कहाँ वह और कहाँ मैं!

(२)

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्ठी की भाँति तपने लगा। ख़स की टट्टियों और तहख़ानों में रहनेवाले राजकुमार का चित्त गरमी से इतना बेचैन हुआ कि वह बाहर निकल आए और सामने के बाग़ में आकर एक घने वृक्ष की छाँह में बैठ गए। सहसा उन्होंने देखा चंदा नदी से जल की गागर लिए चली आ रही है। नीचे जलती हुई रेत थी, ऊपर जलता हुआ सूर्य। लू से देह झुलसी जाती थी। कदाचित् इस समय प्यास से तड़पते हुए आदमी की भी नदी तक जाने की हिम्मत न पड़ती। चंदा क्यों जल लेने गई थी? घर में पानी भरा हुआ है। फिर इस समय वह क्यों पानी लेने निकली?

कुँअर दौड़कर उसके पास जा पहुँचे और उसके हाथ से गागर छीन लेने की चेष्टा करते हुए बोले—मुझे दे दो और भागकर छाँह में चली जाव। इस समय पानी का क्या काम था?

चंदा ने गागर न छोड़ी। सिर से खिसका हुआ अंचल सँभालकर बोली—तुम इस समय कैसे आ गए? शायद मारे गरमी के अंदर न रह सके।

कुँअर—मुझे दे दो, नहीं मैं छीन लूँगा।

चंदा ने मुसकिराकर कहा—राजकुमारों को गागर लेकर चलना शोभा नहीं देता।

कुँअर ने गागर का मुँह पकड़कर कहा—इस अपराध का बहुत दंड सह चुका हूँ। चंदा, अब तो अपने को राजकुमार कहने में भी लज्जा आती है।

चंदा—देखो धूप में ख़ुद हैरान होते हो और मुझे भी हैरान करते हो। गागर छोड़ दो। सच कहती हूँ, पूजा का जल है।

कुँअर—क्या मेरे ले जाने से पूजा का जल अपवित्र हो जायगा?

चंदा—अच्छा भाई नहीं मानते, तो तुम्हीं ले चलो। हाँ नहीं तो।

कुँअर गागर लेकर आगे-आगे चले। चंदा पीछे हो ली। बग़ीचे में पहुँचे, तो चंदा एक छोटे-से पौधे के पास रुककर बोली—इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो। कुँअर ने आश्चर्य से पूछा—यहाँ कौन देवता है चंदा? मुझे तो नहीं नज़र आता।

इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो

चंदा ने पौधे को सींचते हुए कहा—यही तो मेरा देवता है।

पानी पाकर पौधे की मुरझाई हुई पत्तियाँ हरी हो गईं मानो उनकी आँखें खुल गई हों।

कुँअर ने पूछा—यह पौधा क्या तुमने लगाया है चंदा?

चंदा ने पौधे को एक सीधी लकड़ी से बाँधते हुए कहा—हाँ, उसी दिन तो जब तुम यहाँ आए। यहाँ पहले मेरी गुड़ियों का घरौंदा था। मैंने गुड़ियों पर छाँह करने के लिये एक अमोला लगा दिया था। फिर मुझे इसकी याद नहीं रही। घर के काम-धंधे में भूल गई। जिस दिन तुम यहाँ आए मुझे न-जाने क्यों इस पौधे की याद आ गई। मैंने आकर देखा, तो यह सूख गया था। मैंने तुरंत पानी लाकर इसे सींचा, तो कुछ-कुछ ताज़ा होने लगा। तब से रोज़ इसे सींचती हूँ। देखो कितना हरा-भरा हो गया है!

यह कहते-कहते उसने सिर उठाकर कुँअर की ओर ताकते हुए कहा—और सब काम भूल जाऊँ, पर इस पौधे को पानी देना नहीं भूलती। तुम्हीं इसके प्राण-दाता हो।

तुम्हीं ने आकर इसे जिला दिया, नहीं तो बेचारा सूख गया होता। यह तुम्हारे शुभागमन का स्मृति-चिह्न है। ज़रा इसे देखो। मालूम होता है, हँस रहा है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह मुझसे बोलता है। सच कहती हूँ, कभी यह रोता है, कभी हँसता है, कभी रूठता है। आज तुम्हारा लाया हुआ पानी पाकर यह फूला नहीं समाता। एक-एक पत्ता तुम्हें धन्यवाद दे रहा है।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा मानों वह पौधा कोई नन्हा-सा क्रीड़ाशील बालक है। जैसे चुंबन से प्रसन्न होकर बालक गोद में चढ़ने के लिये दोनों हाथ फैला देता है, उसी भाँति यह पौधा भी हाथ फैलाए जान पड़ा। उसके एक एक अणु में चंदा का प्रेम झलक रहा था।

चंदा के घर में खेती के सभी औज़ार थे। कुँअर एक फावड़ा उठा लाए और पौधे का एक थाला बनाकर चारों ओर ऊँची मेंड़ उठा दी। फिर खुरपी लेकर अंदर की मिट्टी को गोड़ दिया। पौधा और भी लहलहा उठा।

चंदा बोली—कुछ सुनते हो, क्या कह रहा है?

कुँअर ने मुसकिराकर कहा—हाँ! कहता है अम्माँ की गोद में बैठूँगा।

चंदा—नहीं, कह रहा है, इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना।

(३)

मगर कुँअर को अभी राजपुत्र होने का दंड भोगना बाक़ी था। शत्रुओं को न-जाने कैसे उनकी टोह मिल गई। इधर तो हितचिंतकों के आग्रह से विवश होकर बूढ़ा कुबेरसिंह चंदा और कुँअर के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था, उधर शत्रुओं का एक दल सिर पर आ पहुँचा। कुँअर ने उस पौधे के आसपास फूल-पत्ते लगाकर एक फुलवाड़ी-सी बना दी थी। पौधे को सींचना अब उनका काम था। प्रातःकाल वह कंधे पर काँवर रक्खे नदी से पानी ला रहे थे कि दस-बारह आदमियों ने उन्हें रास्ते में घेर लिया। कुबेरसिंह तलवार लेकर दौड़ा, लेकिन शत्रुओं ने उसे मार गिराया। अकेला, शस्त्रहीन कुँअर क्या करता। कंधे पर काँवर रक्खे हुए बोला—अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो भाई? मैंने तो सब कुछ छोड़ दिया।

सरदार बोला—हमें आपको पकड़ ले आने का हुक्म है।

"तुम्हारा स्वामी मुझे इस दशा में भी नहीं देख सकता? ख़ैर, अगर धर्म समझो, तो कुबेरसिंह की तलवार मुझे दे दो। अपनी स्वाधीनता के लिये लड़कर प्राण दूँ।"

इसका उत्तर यही मिला कि सिपाहियों ने कुँअर को पकड़कर मुश्कें कस दीं और उन्हें एक घोड़े पर बिठाकर घोड़े को भगा दिया। काँवर वहीं पड़ी रह गई।

उसी समय चंदा घर में से निकली। देखा, काँवर पड़ी हुई है और कुँअर को लोग घोड़े पर बिठाए लिए जा रहे हैं। चोट खाए हुए पक्षी की भाँति वह कई क़दम दौड़ी, फिर गिर पड़ी। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया।

सहसा उसकी दृष्टि पिता की लाश पर पड़ी। वह घबड़ाकर उठी और लाश के पास जा पहुँची। कुबेर अभी मरा न था। प्राण आँखों में अटके हुए थे।

चंदा को देखते ही क्षीण स्वर में बोला—बेटी—कुँअर! इसके आगे वह कुछ न कह सका। प्राण निकल गए, पर इस एक शब्द—"कुँअर"—ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

(४)

बीस वर्ष बीत गए! कुँअर क़ैद से न छूट सके।

यह एक पहाड़ी क़िला था। जहाँ तक निगाह जाती पहाड़ियाँ ही नज़र आतीं। क़िले में उन्हें कोई कष्ट नहीं था। नौकर-चाकर, भोजन-वस्त्र, सैर-शिकार, किसी बात की कमी न थी। पर उस वियोगाग्नि को कौन शांत करता, जो नित्य कुँअर के हृदय में जला करती थी। जीवन में अब उनके लिये कोई आशा न थी, कोई प्रकाश न था। अगर कोई इच्छा थी, तो यही कि एक बार उस प्रेम-तीर्थ की यात्रा कर लें, जहाँ उन्हें वह सब कुछ मिला जो मनुष्य को मिल सकता है। हाँ, उनके मन में एक-मात्र यही अभिलाषा थी कि उस पवित्र-स्मृतियों से रंजित भूमि के दर्शन करके जीवन का उसी नदी के तट पर अंत कर दें। वही नदी का किनारा, वही वृक्षों का कुंज, वही चंदा का छोटा-सा सुंदर घर, उसकी आँखों में फिरा करता, और वह पौधा जिसे उन दोनों ने मिलकर सींचा था, उसमें तो मानों उसके प्राण ही बसते थे। क्या वह दिन भी आएगा जब वह उस पौधे को हरी-हरी पत्तियों से लदा हुआ देखेगा! कौन जाने वह अब है भी या सूख गया। कौन अब उसको सींचता होगा। चंदा इतने दिनों अविवाहिता थोड़े ही बैठी होगी। ऐसा संभव भी तो नहीं। उसे अब मेरी सुधि भी न होगी। हाँ शायद

कभी अपने घर की याद खींच लाती हो, तो पौधे को देख-कर उसे मेरी याद आ जाती हो। मुझ-जैसे अभागे के लिये इससे अधिक वह और कर ही क्या सकती है। उस भूमि को एक बार देखने के लिये वह अपना जीवन दे सकता था, पर यह अभिलाषा न पूरी होती थी।

आह! एक युग बीत गया, शोक और नैराश्य ने उठती जवानी को कुचल दिया। न आँखों में ज्योति रही, न पैरों में शक्ति। जीवन क्या था, एक दुखदाई स्वप्न था। उस सघन अंधकार में उसे कुछ न सूझता था, बस जीवन का आधार एक अभिलाषा थी, एक सुखद स्वप्न, जो जीवन में न-जाने कब उसने देखा था। एक बार फिर वही स्वप्न देखना चाहता था। फिर, उसकी अभिलाषाओं का अंत हो जायगा, उसे कोई इच्छा न रहेगी। सारा अनंत भविष्य, सारी अनंत चिंताएँ इसी एक स्वप्न में लीन हो जाती थीं।

उसके रक्षकों को अब उसकी ओर से कोई शंका न थी। उन्हें उस पर दया आती थी। रात को पहरे पर केवल कोई एक आदमी रह जाता था। और लोग मीठी नींद सोते थे। कुँअर भाग जा सकता है, इसकी कोई संभावना, कोई शंका न थी। यहाँ तक कि एक दिन वह एक सिपाही भी निश्शंक होकर बंदूक लिए लेट रहा। निद्रा किसी हिंसा पशु की भाँति ताक लगाए बैठी थी। लेटते ही टूट पड़ी। कुँअर ने सिपाही की नाक की आवाज़ सुनी। उनका हृदय बड़े वेग से उछलने लगा। यह अवसर आज कितने दिनों के बाद मिला था। वह उठे, मगर पाँव थर-थर काँप रहे थे। बरामदे के नीचे उतरने का साहस न हो सका। कहीं इसकी नींद खुल गई तो? हिंसा उनकी सहायता कर सकती थी। सिपाही की बग़ल में उसकी तलवार पड़ी थी। पर प्रेम को हिंसा से वैर है। कुँअर ने सिपाही को जगा दिया। वह चौंककर उठ बैठा। रहा-सहा संशय भी उसके दिल से निकल गया। दूसरी बार जो सोया तो ख़र्राटे लेने लगा।

प्रातःकाल जब उसकी निद्रा टूटी, तो उसने लपककर कुँअर के कमरे में झाँका। कुँअर का पता न था।

कुँअर इस समय हवा के घोड़ों पर सवार, कल्पना की द्रुतगति से, भागा जा रहा था—उस स्थान को जहाँ उसने सुख-स्वप्न देखा था।

क़िले में चारों ओर तलाश हुई, नायक ने सवार दौड़ाए। पर कहीं पता न चला।

(५)

पहाड़ी रास्तों का काटना कठिन, उस पर अज्ञातवास की क़ैद, मृत्यु के दूत पीछे लगे हुए जिनसे बचना मुशकिल। कुँअर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गए। जब यात्रा पूरी हुई तो कुँअर में एक कामना के सिवा और कुछ शेष न था। दिन-भर की कठिन यात्रा के बाद जब वह उस स्थान पर पहुँचे, तो संध्या हो गई थी। वहाँ बस्ती का नाम भी न था। दो-चार टूटे-फूटे झोंपड़े उस बस्ती के चिह्न स्वरूप शेष रह गए थे। वह झोंपड़ा जिसमें कभी प्रेम का प्रकाश था, जिसके नीचे उन्होंने जीवन के सुखमय दिन काटे थे, जो उनकी कामनाओं का आगार और उनकी उपासना का मंदिर था, अब उनकी अभिलाषाओं की भाँति भग्न हो गया था। झोंपड़े की भग्नावस्था मूक भाषा में अपनी करुण-कथा सुना रही थी। कुँअर उसे देखते ही "चंदा-चंदा!" पुकारता हुआ दौड़ा। उसने उस रज को माथे पर मला, मानो किसी देवता की विभूति हो, और उसकी टूटी हुई दीवारों से चिमटकर बड़ी देर तक रोता रहा। हाय रे अभिलाषा! वह रोने ही के लिये इतनी दूर से आया था? रोने ही की अभिलाषा इतने दिनों से उसे विकल कर रही थी? पर इस रोदन में कितना स्वर्गीय आनंद था। क्या समस्त संसार का सुख इन आँसुओं की तुलना कर सकता था?

तब वह झोंपड़े से निकला। सामने मैदान में एक वृक्ष हरी-हरी नवीन पल्लवों को गोद में लिए, मानो उसका स्वागत करने को खड़ा था। यह वही पौधा है, जिसे आज से बीस वर्ष पहले दोनों ने आरोपित किया था। कुँअर उन्मत्त की भाँति दौड़ा और आकर उस वृक्ष से लिपट गया, मानो कोई पिता अपने मातृहीन पुत्र को छाती से लगाए हुए हो। यह उसी प्रेम की निशानी है, उसी अक्षय, अमर प्रेम की जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँअर का हृदय ऐसा फूल उठा मानो इस वृक्ष को अपने अंदर रख लेगा, जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक-एक पल्लव पर चंदा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उसने सुना था। उसके हाथों में दम न था, सारी देह भूख और प्यास और थकन से शिथिल हो रही थी।

पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गया, इतनी फुरती से चढ़ा कि बंदर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उसने चारों ओर गर्व-पूर्ण दृष्टि डाली। यही उसकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चंदामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत-श्रेणियों पर चंदा बैठी गा रही थी, आकाश में तैरनेवाली लालिमामयी नौकाओं पर चंदा ही उड़ी जाती थी, सूर्य की श्वेत, पीत प्रकाश की रेखाओं पर चंदा ही बैठी हँस रही थी। कुँअर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँअर नीचे उतरा और उसी वृक्ष के नीचे थोड़ी-सी भूमि झाड़कर, पत्तियों की शय्या बनाई और लेटा। यही उसके जीवन का स्वर्ण-स्वप्न था, आह यही वैराग्य! अब वह इस वृक्ष की शरण छोड़कर कहीं न जायगा। दिल्ली के तख़्त के लिये भी वह इस आश्रम को न छोड़ेगा।

(६)

उसी स्निग्ध, अमल चाँदनी में सहसा एक पक्षी आकर उस वृक्ष पर बैठा और दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पड़ा मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है। वह नीरव रात्रि उस वेदनामय संगीत से हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा मानो वह फट जायगा। उस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़ गया है, नहीं तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता। कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म-विस्मृति की दशा में दौड़े हुए झोपड़े में गए, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आए। उस पक्षी को कैसे पाएँ? कहीं दिखाई नहीं देता।

पक्षी का गाना बंद हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा तो वह पक्षी न था, चंदा थी, हाँ प्रत्यक्ष चंदा थी।

कुँअर ने पूछा—चंदा यह पक्षी यहाँ कहाँ ? १।८।

चंदा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँअर—तुम पक्षी हो! क्या तुम्हीं गा रही थीं?

चंदा—हाँ प्रियतम, मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते एक युग बीत गया।

कुँअर—तुम्हारा घोंसला कहाँ है?

चंदा—उसी झोपड़े में जहाँ तुम्हारी खाट थी। उसी खाट के बान से मैंने अपना घोंसला बनाया है।

कुँअर—और तुम्हारा जोड़ा कहाँ है?

चंदा—मैं अकेली हूँ। चंदा को अपने प्रियतम के स्मरण करने में, उसके लिये रोने में, जो सुख है वह जोड़े में नहीं, मैं इसी तरह अकेली रहूँगी और अकेली मरूँगी।

कुँअर—मैं क्या पक्षी नहीं हो सकता?

चंदा चली गई। कुँअर की नींद खुल गई। ऊषा की लालिमा आकाश पर छाई हुई थी और वह चिड़िया, कुँअर की शय्या के समीप एक डाल पर बैठी चहक रही थी। अब उस संगीत में करुणा न थी, विलाप न था, उसमें आनंद था, चापल्य था, सारल्य था। वह वियोग का करुण-क्रंदन नहीं, मिलन का मधुर संगीत था।

कुँअर सोचने लगे, इस स्वप्न का क्या रहस्य है?

(७)

कुँअर ने शय्या से उठते ही एक झाड़ू बनाया और उस झोपड़े को साफ़ करने लगे। उनके जीते जी इसकी यह भग्न दशा नहीं रह सकती। वह इसकी दीवारें उठाएँगे, इस पर छप्पर डालेंगे, इसे लीपेंगे। इसमें उनकी चंदा की स्मृति वास करती है। झोपड़े के एक कोने में वह काँवर रक्खी हुई थी जिस पर पानी ला-लाकर वह इस वृक्ष को सींचते थे। उन्होंने काँवर उठा ली और पानी लाने चले। दो दिन से कुछ भोजन न किया था। रात को भूख लगी हुई थी, पर इस समय भोजन की बिलकुल इच्छा न थी। देह में एक अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव होता था। उन्होंने नदी से पानी ला-ला मिट्टी भिगोना शुरू किया। दौड़े जाते थे और दौड़े आते थे। इतनी शक्ति उन्हें कभी न थी।

एक ही दिन में इतनी दीवार उठ गई, जितनी चार मज़दूर भी न उठा सकते थे। और कितनी सीधी, चिकनी दीवार थी कि कारीगर भी देखकर लज्जित हो जाता। प्रेम की शक्ति अपार है।

संध्या हो गई। चिड़ियों ने बसेरा लिया। वृक्षों ने भी आँखें बंद कीं। मगर कुँअर को आराम कहाँ। तारों के

मलिन प्रकाश में मिट्टी के रहे रक्खे जा रहे थे। हाय रे कामना ! क्या तू इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ेगी ?

वृक्ष पर पक्षी का मधुर स्वर सुनाई दिया। कुँअर के हाथ से घड़ा छूट पड़ा। हाथ और पैरों में मिट्टी लपेटे वह वृक्ष के नीचे आकर बैठ गए। उस स्वर में कितना लालित्य था। कितना उल्लास, कितनी ज्योति। मानव-संगीत इसके सामने बेसुरा आलाप था। उसमें यह जागृति, यह अमृत, यह जीवन कहाँ। संगीत के आनंद में विस्मृति है, पर वह विस्मृति कितनी स्मृतिमय होती है, अतीत को जीवन और प्रकाश से रंजित करके प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति, संगीत के सिवा और कहाँ है ? कुँअर के हृदय-नेत्रों के सामने वह दृश्य आ खड़ा हुआ, जब चंदा इसी पौधे को नदी से जल ला-लाकर सींचती थी। हाय, क्या वे दिन फिर आ सकते हैं।

सहसा एक बटोही आकर खड़ा हो गया और कुँअर को देखकर वह प्रश्न करने लगा, जो साधारणतः दो अपरिचित प्राणियों में हुआ करते हैं—कौन हो, कहाँ से आते हो, कहाँ जाओगे। पहले वह भी इसी गाँव में रहता था, पर जब गाँव उजड़ गया, तो समीप के एक दूसरे गाँव में जा बसा था। अब भी उसके खेत यहाँ थे। रात को जंगली पशुओं से अपने खेतों की रक्षा करने के लिये वह यहाँ आकर सोता था।

कुँअर ने पूछा—तुम्हें मालूम है, इस गाँव में एक कुबेरसिंह ठाकुर रहते थे ?

किसान ने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ-हाँ भाई, जानता क्यों नहीं। बेचारे यहीं तो मारे गए। तुमसे क्या उनकी जान-पहचान थी ?

कुँअर—हाँ उन दिनों कभी-कभी आया करता था। मैं भी राजा की सेना में नौकर था। उनके घर में और कोई न था ?

किसान—अरे भाई कुछ न पूछो, बड़ी करुण कथा है। उसकी स्त्री तो पहले ही मर चुकी थी। केवल लड़की बच रही थी। आह ! कैसी सुशीला, कैसी सुघड़ वह लड़की थी। उसे देखकर आँखों में ज्योति आ जाती थी। बिलकुल स्वर्ग की देवी जान पड़ती थी। जब कुबेरसिंह जीता था, तभी कुँअर इंद्रनाथ यहाँ भागकर आए थे और उसके यहाँ रहे थे। उस लड़की की कुँअर से कहीं बातचीत हो गई। जब कुँअर को शत्रुओं ने पकड़ लिया, तो चंदा घर में अकेली रह गई। गाँववालों ने बहुत चाहा कि उसका विवाह हो जाय। उसके लिये वरों का तोड़ा न था भाई। ऐसा कौन था जो उसे पाकर अपने को धन्य न मानता। पर वह किसी से विवाह करने पर राज़ी न हुई। यह पेड़ जो तुम देख रहे हो, तब छोटा-सा पौधा था। इसके आसपास फूलों की कई और क्यारियाँ थीं। इन्हीं को गोड़ने, निराने, सींचने में उसका दिन कटता था। बस यही कहती कि हमारे कुँअर साहब आते होंगे।

कुँअर की आँखों से आँसू की वर्षा होने लगी। मुसाफ़िर ने ज़रा दम लेकर कहा—दिन-दिन घुलती जाती थी। तुम्हें विश्वास न आएगा भाई, उसने दस साल इसी तरह काट दिए। इतनी दुर्बल हो गई थी कि पहचानी न जाती थी। पर अब भी उसे कुँअर साहब के आने की आशा बनी हुई थी। आख़िर एक दिन इसी वृक्ष के नीचे उसकी लाश मिली। ऐसा प्रेम कौन करेगा भाई। कुँअर न-जाने मरे कि जिए, कभी उन्हें इस विरहिणी की याद भी आती है कि नहीं, पर इसने तो प्रेम को ऐसा निभाया जैसा चाहिए।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा मानों हृदय फटा जा रहा है। वह कलेजा थामकर बैठ गए। मुसाफ़िर के हाथ में एक सुलगता हुआ उपला था। उसने चिलम भरी और दो-चार दम लगाकर बोला—

उसके मरने के बाद यह घर गिर गया। गाँव पहले ही उजाड़ था। अब तो और भी सुनसान हो गया ! दो-चार असामी यहाँ आ बैठते थे। अब तो चिड़िए का पूत भी यहाँ नहीं आता। उसके मरने के कई महीने के बाद यही चिड़िया इस पेड़ पर बोलती हुई सुनाई दी। तब से बराबर इसे यहाँ बोलते सुनता हूँ। रात को सभी चिड़ियाँ सो जाती हैं, पर यह रात-भर बोलती रहती है। उसका जोड़ा कभी नहीं दिखाई दिया। बस, फुट्टैल है। दिन-भर उसी झोंपड़े में पड़ी रहती है। रात को इस पेड़ पर आ बैठती है। मगर इस समय इसके गाने में कुछ और ही बात है, नहीं तो सुनकर रोना आता है। ऐसा जान पड़ता है मानों कोई कलेजे को मसोस रहा हो। मैं तो कभी-कभी पड़े-पड़े रो दिया करता हूँ। सब लोग कहते हैं कि यह वही चंदा है। अब भी कुँअर के वियोग

में विलाप कर रही है । मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है । आज न-जाने क्यों मगन है ।

किसान तंबाकू पीकर सो गया । कुँअर कुछ देर तक खोया हुआ-सा खड़ा रहा । फिर धीरे से बोला—चंदा, क्या सचमुच तुम्हीं हो ? मेरे पास क्यों नहीं आतीं ?

एक क्षण में चिड़िया आकर उसके हाथ पर बैठ गई

एक क्षण में चिड़िया आकर उसके हाथ पर बैठ गई । चंद्रमा के प्रकाश में कुँअर ने चिड़िया को देखा। ऐसा जान पड़ा मानो उनकी आँखें खुल गई हों, मानों आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चंदा की मुखाकृति अंकित थी ।

दूसरे दिन किसान सोकर उठा, तो कुँअर की लाश पड़ी हुई थी ।

(८)

कुँअर अब नहीं हैं, किंतु उनके झोपड़े की दीवारें बन गई हैं, ऊपर फूस का नया छप्पर पड़ गया है और झोपड़े के द्वार पर फूलों की कई क्यारियाँ लगी हुई हैं। गाँव के किसान इससे अधिक और क्या कर सकते थे।

उस झोपड़े में अब पक्षियों के एक जोड़े ने अपना घोंसला बनाया है। दोनों साथ-साथ दाने-चारे की खोज में जाते हैं, साथ-साथ आते हैं । रात को दोनों उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं। उनका सुरम्य संगीत रात की नीरवता में दूर तक सुनाई देता है। वन के जीव-जंतु वह स्वर्गीय गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं ।

यह पक्षियों का जोड़ा कुँअर और चंदा का जोड़ा है, इसमें किसी को संदेह नहीं है ।

एक बार एक व्याध ने इन पक्षियों को फँसाना चाहा, पर गाँववालों ने उसे मारकर भगा दिया ।

प्रेमचंद

नव वर्ष की बधाई !

(छप्पय)

ऋतु बसंत सम नव उमंग के सुमन खिलावै ;
ग्रीष्म-समान प्रताप-चंडकर अरिन तपावै ।
पावस-सम रस-राशि बरषि सुख-शस्य बढ़ावै ;
शरद समय-सम कीर्ति-कौमुदी जग फैलावै ।
सब दुःख-दंश दबि हिम सरिस, शिशिर सरित संतापहर ;
यह नवल वर्ष आनंद-मय, होवै तुमहिं समृद्धिकर ।

लाला भगवानदीन 'दीन'

छत्रपति शिवाजी महाराज

(सभासद् बखर का अनुवाद)*

१. बखर रचना का कारण

श्रीमान् महाराज राजश्री राजाराम साहब छत्रपति की सेवा में—

मान के दास कृष्णाजी अनंत सभासद् का यह विनम्र निवेदन है—श्रीमान् ने दास से यह पूछने की कृपा की थी—"हमारे पिता, महाराज (अर्थात् बड़े महाराज) ने इतने बड़े-बड़े वीरता के काम किए और चार भिन्न-भिन्न राज्यों (बादशाहतों) को विजय किया । उनके इतने बड़े-बड़े आश्चर्य से चकित कर देनेवाले और साहस-पूर्ण वीरोचित कामों के होते भी,

* छत्रपति महाराज शिवाजी का जन्म सन् १६२७ ई० में हुआ था । इस वर्ष (१९२७ में) उनकी त्रिशत-वार्षिक जयंती पड़ती है । हिंदी-संसार ने छत्रपति की जयंती मनाने का निश्चय किया है । 'माधुरी' भी इस निश्चय को कार्यान्वित करना चाहती है । इसी विचार से प्रेरित होकर

औरंगज़ेब ने आकर बहुत-से दुर्ग जीत लिए। इसका कारण क्या था? तुमको पुराने राज्य की बातों के संबंध में अच्छा ज्ञान है। इसलिये तुम आरंभ से लेकर अब तक का वृत्तांत (जीवन-चरित्र) लिखो" महाराज ने मुझे ऐसी आज्ञा दी थी। अतएव मैं निम्न-लिखित सारा वृत्तांत श्रीमान् को सुनाता हूँ—

२. शिवाजी के पूर्वज

राजा साहब के पिता अर्थात् बड़े महाराज राजश्री साहाजी राजे थे; उनके पिता, अर्थात् राजा साहब के पितामह (दादा) मालोजी राजे और विठोजी राजे भोंसले निज़ामशाही राज्य में उच्च अधिकारियों की हैसियत से जागीर पाए हुए थे और वहाँ पर उनका बहुत बड़ा आदर, सम्मान और आतंक था। वह श्रीशंभु महादेव के परम भक्त थे। उस पहाड़ी के ऊपर चैत्र मास में

'माधुरी' में श्रीकृष्णाजी अनंत सभासद्-लिखित बखर का अनुवाद प्रारंभ किया जाता है। मूल पुस्तक मराठी में है। इसके लेखक श्रीकृष्णाजी अनंत सभासद् छत्रपति महाराज शिवाजी के पुत्र छत्रपति राजाराम के यहाँ नौकर थे और उन्हीं की आज्ञा से जिंजी में इस ग्रंथ की रचना हुई थी। उस समय महाराज शिवाजी को स्वर्गवासी हुए केवल १६ वर्ष हुए थे। मराठी में जिन बखरों में महाराज शिवाजी का चरित्र दिया हुआ है, उनकी संख्या ६ है। ऐतिहासिक महत्त्व और प्राचीनता की दृष्टि से इन सबमें 'सभासद्' बखर की ही प्रधानता है। संभवतः हिंदी में अभी इस बखर का अनुवाद नहीं हुआ है। चैत्र मास की 'माधुरी' में इस बखर के अनुवाद का प्रकाशित होना एक और विशेषता रखता है। महाराज शिवाजी का जन्म संभवतः इसी मास में हुआ था और मृत्यु भी चैत्र में ही हुई थी। सभासद् बखर भी चैत्र मास में ही संपूर्ण हुआ था और अब उसके हिंदी-अनुवाद का प्रकाशन भी चैत्र मास से प्रारंभ किया जाता है। संपूर्ण बखर का अनुवाद हमारे पास आ गया है और हमारा विश्वास है कि हम उसे ३ या ४ संख्याओं में पूरा प्रकाशित कर देंगे। आशा है, माधुरी के प्रेमी पाठक महाराज शिवाजी की त्रिशतवार्षिक जयंती मनाने के हमारे इस ढंग को पसंद करेंगे।—संपादक

छत्रपति शिवाजी महाराज

एक मेला लगता है, जिसमें लगभग पाँच-सात लाख आदमी जमा होते हैं। वहाँ लोगों को पीने के लिये पानी का बड़ा कष्ट था। पानी वहाँ पर बिलकुल ही नहीं था। वह प्रायः तीन कोस की दूरी से लाना पड़ता था। इससे लोगों को बड़ा कष्ट था। इस कारण मालोजी राजे ने वहाँ पर एक जगह निश्चित की और उसके चारों ओर सुदृढ़ बाँध बाँधकर एक बड़ा भारी तालाब बनवा दिया, जिससे तमाम लोगों की आवश्यकता भर को पर्याप्त पानी मिल सके। इसमें बहुत-सा धन व्यय हुआ। पूरा तालाब पानी से भर दिया गया। ज्यों ही यह काम समाप्त हुआ कि श्रीशंभु महादेव ने रात्रि के समय मालोजी महाराज को स्वप्न में दर्शन दिए और प्रसन्न होकर कहा—"मैं तुम्हारे घर में जन्म लूँगा—देवताओं और ब्राह्मणों की मैं रक्षा करूँगा और म्लेच्छों का नाश करूँगा। दक्षिण देश का राज्य मैं तुम्हारे कुटुंब (पुत्र कलत्रादि) को देता हूँ।" ये

शब्द वरदान के रूप में तीन बार दोहराए गए। इससे राजेजी बहुत प्रसन्न हुए और बहुत कुछ दान-पुण्य किया।

तत्पश्चात् राजश्री मालोजी राजे के राजश्री साहाजी राजे और राजश्री सरफ़जी राजे-नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। दोनों को बादशाह से जागीरें मिलीं। उनके सेवा-काल में ही निज़ामशाही का अंत हो गया। इसके बाद साहाजी राजे आदिलशाही राज्य के एक प्रतिष्ठित राज-कर्मचारी हुए। उनको महाराज की उपाधि दी गई। उनके अधीन दस हज़ार से लेकर बारह हज़ार तक सैनिकों की सेना रहती थी। श्रीसाहाजी राजे के दो स्त्रियाँ थीं। पहिली स्त्री का नाम जिजाई आऊ, और दूसरी का सुकाई आऊ था। इस दूसरी स्त्री से यकोजी राजे-नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ।

३. शिवाजी का जन्म और बाल्यकाल

जब जिजाई आऊ के एक पुत्र, राजश्री शिवाजी राजे, उत्पन्न हुआ उस समय श्रीशंभु महादेव ने आकर स्वप्न दिया और कहा—"मैंने पृथ्वी पर अवतार ले लिया है। मैं भविष्य में बड़े-बड़े वीरता और पराक्रम के काम करूँगा। तुम इस बालक को बारह वर्ष तक अपने पास रखना। इसके बाद उसे अपने पास न रखना। जहाँ उसकी इच्छा हो जाने देना। उसको रोकना मत।" शंभुजी ने ऐसा आदेश दिया। इसके बाद से साहाजी राजे बेंगरूल (बंगलौर) में, जो करनाटक में है, रहने लगे।

नारो पंत दीक्षित उनके कार-बारी (कारिंदा) थे। उनके रघुनाथ पंत और जनार्दन पंत नाम के दो बड़े ही बुद्धिमान् और मेधावी पुत्र उत्पन्न हुए। पूना का परगना साहाजी राजे की जागीर में था। वहाँ पर बुद्धिमान् और सुचतुर दादाजी कोंडदेव काम करते थे। वह महाराजा से मिलने के लिये बेंगरूल गए, राजश्री शिवाजी राजे और जिजाई आऊ भी उनके साथ गए। उस समय राजे साहब की अवस्था १२ वर्ष की थी। दादाजी पंत और राजे साहब पूना को भेज दिए गए। उनके साथ में शामराव नीलकंठ-नामक एक व्यक्ति बतौर 'पेशवा' के, बाल कृष्ण पंत, जो नारो पंत दीक्षित के भतीजे थे बतौर 'मजूमदार' के, सोनापंत बतौर 'दबीर' के और रघुनाथ बल्लाल बतौर 'सबनीस' के भेजे गए। वे सब लोग पूना आए।

४. युद्ध और जावली-विजय

वहाँ आने पर दादाजी कोंडदेव ने बारहों मावलों को अपने क़ब्ज़े में कर लिया। मावले देशमुख लोग पकड़ लिए गए और अपने हाथ में कर लिए गए, उनमें से जो लोग वश में नहीं आए वे मार डाले गए। इसके पश्चात् थोड़े समय के बाद दादाजी कोंडदेव का देहांत हो गया। इसके बाद से शिवाजी स्वयं अपने हाथ से अपने काम-काज की देख-भाल करने लगे। सूबे के महाल में एक स्थान पर उनके मामा, जिनका नाम संभाजी मोहित था और जो उनकी सौतेली माँ के भाई थे, काम करते थे। महाराजा ने उनको महाल का इंचार्ज मुक़र्रर किया था। शिमगा पर्व के दिन पोस्त माँगने के बहाने से शिवाजी उनसे मिलने के लिये गए। उन्होंने मामा को क़ैद कर लिया। उनके पास अपने अस्तबल के तीन सौ घोड़े और बहुत-सा धन था। उनकी सारी संपत्ति और कपड़े इत्यादि सब ले लिए गए, और सूपे का महाल छीन लिया गया। एक व्यक्ति तुकोजी चोर मरहटा उस सेना का सारनौबत (सेनापति) बनाया गया, शामराव नीलकंठ पेशवा, बालकृष्ण पंत मजूमदार, नारो पंत, सोनाजी पंत और रघुनाथ बल्लाल 'सबनीस' ये सब लोग कारभारी नियत किए गए और इनकी सहायता से वह बड़ी निपुणता और बुद्धिमत्ता के साथ अपना कार्य-संचालन करते रहे।

इसके बाद उन्होंने जुनार नगर को छीना। इससे दो सौ घोड़े हाथ लगे। कपड़े और जवाहिरात को छोड़ लगभग ३ लाख हूण का माल लेकर वह पूना लौटे। इसके बाद उन्होंने अहमदनगर का शहर लूटा, मुग़लों के साथ एक बहुत बड़ा युद्ध किया और सात सौ घोड़े जीत लिए। उन्होंने बहुत-सा धन और हाथी भी जीते। उस समय पागा की संख्या बारह सौ और शिलेदारों की दो हज़ार थी। इस प्रकार कुल मिलाकर तीन हज़ार घुड़सवार हो गए। मानकोजी दाहाटोंडे उस समय इन सेनाओं के सारनौबत (सेनापति) बनाए गए। इसके बाद कोंडवाना का क़िला, जो आदिलशाही राज्य की संपत्ति थी, धावा करके छीन लिया गया। उसको उन्होंने स्वयं अपना थाना (सैनिक अड्डा) बनाया। उस समय नीलकंठ राव-नामक एक ब्राह्मण का, जो पुरंदर के आदिलशाही क़िले का अध्यक्ष था, देहांत हो गया। उसके दो लड़कों में उत्तराधिकार के संबंध में आपस में झगड़ा होने लगा। राजेजी उन दोनों के बीच मध्यस्थ

होकर पुरंदर गए और इन दोनों भाइयों को क़ैद करके स्वयं उस क़िले पर क़ब्ज़ा कर लिया। वहाँ पर भी उन्होंने अपने सैनिक (दुर्ग-रक्षक) नियुक्त कर दिए।

इसके पश्चात् उन्होंने कंकण में कल्यान और भिवंडी पर धावा किया और माहुली का आदिलशाही क़िला ले लिया। वह मावले लोगों को भर्ती करते ही गए। मूरबंद-नामक एक पहाड़ी की क़िलेबंदी की गई। उसका दूसरा नाम राजगढ़ रक्खा गया। पहाड़ी की सीमा पर भी ज़मीन ऊँची करके दुर्ग निर्माण किया गया। चंद्रराव मोर-नामक एक व्यक्ति उस समय कंकण में और सुर्वे शृंगारपुर में राज्य करता था। शिरके उसका प्रधान (वज़ीर) था। इस प्रकार वे लोग राज्य करते थे और उनके क़िले बड़े मज़बूत और पहाड़ियों पर स्थित थे, तथा दस-बारह हज़ार के लगभग उनकी घुड़सवार और पैदल सेना थी। रघुनाथ बल्लाल सबनीस को बुलाया गया और वह उसके पास भेजा गया। प्रश्न करने पर शिवाजी ने उससे कहा—"यह प्रदेश उस समय तक नहीं जीता जा सकता, जब तक चंद्रराव मार न डाला जाय, और सिवाय तुम्हारे और कोई इस काम को पूरा कर नहीं सकता। तुम उसके पास दूत के रूप में जाओ।" उसके साथ में लगभग सौ-सवा सौ छटे हुए असिवाहक (खड्गधर) सिपाही किए गए। वे जावली के निकट एक स्थान तक गए और फिर वहाँ से चंद्रराव के पास यह मौखिक संदेश भेजा—"हम लोग राजेजी के यहाँ से आए हुए हैं, हम लोगों को आपसे कुछ संधि आदि के संबंध में बातचीत करनी है।" इस प्रकार उन्होंने उसके पास कहला भेजा। तत्पश्चात् उसने इन लोगों को बुलाया और भेंट की। कुछ थोड़ी बहुत इधर-उधर की सच-झूठ नाम-मात्र की संधि हुई। इसके बाद रघुनाथ उठकर अपने स्थान पर, जो उसके ठहरने के लिये नियत किया गया था, चला गया और वहीं पर ठहरा रहा। दूसरे दिन वह फिर दर्बार (राज-सभा) को गया, राजा (चंद्रराव) से एकांत में भेंट हुई, वह बातचीत करता रहा, और ज्यों ही मौक़ा हाथ आया, उन दोनों भाइयों—चंद्रराव और सूर्यजीराव—को तलवार भोंककर मार डाला। इसके बाद उसने बाहर निकलकर अपने सेना-दल की राह ली। जिन लोगों ने उसका पीछा किया, वे मारे गए और वह निकलकर भाग गया। जब अधिपति ही खेत आ गया, तो फिर बाक़ी आदमियों की क्या ताक़त कि वे कुछ चूँ-चरा कर सकें? यह काम ख़तम हो जाने पर, वह राजे से मिलने के लिये वापस आया। राजा ने सैनिकों के साथ आकर स्वयं धावा किया और जावली को अपने अधिकार में कर लिया। मावले लोगों को विश्वास दिलाया गया कि उनकी सब प्रकार से रक्षा की जायगी और वे सेना में भर्ती किए गए। प्रतापगढ़ नाम का एक नया क़िला बनाया गया। हनमंतराव ने, जो चंद्रराव का एक भाई था, चतुरबेट-नामक स्थान पर, जो जावली के ही अधिकार में था, सेना एकत्रित की। बिना उसे मारे जावली के विजय के मार्ग का कंटक दूर होना कठिन था। यह बात जानकर राजे ने संभाजी-कावजी-नामक अपने एक महालदार को दूत-रूप में हनमंतराव के पास भेजा। संभाजी कावजी के यह कहने पर कि वह एक वैवाहिक संबंध के ऊपर बातचीत करने आया है, उसे एकांत में मिलने का अवसर दिया गया, और इस अवसर से लाभ उठाकर उसने अपनी तलवार से भोंककर हनमंतराव को मार डाला। जावली पर विजय मिल गई। शिवतर की घाटी में बाबाजीराव नाम का एक बाग़ी (राज-विद्रोही) रहता था। वह क़ैद कर लिया गया और उसकी आँखें निकाल ली गईं।

इसके बाद राजा सुर्वे के ऊपर चढ़ाई की गई। शृंगारपुर जीत लिया गया। सुर्वे दूसरे प्रांत को भाग गया। उसके कारभारी शिरके को अपनी ओर मिला लिया गया और उस प्रांत पर क़ब्ज़ा कर लिया गया। कुछ गाँव (महाल) उसको (शिरके को) दे दिए गए और राजा ने उसकी लड़की अपने पुत्र शंभाजी से ब्याह ली। इस प्रकार जावली और शृंगारपुर के दोनों प्रदेश (राज्य) जीत लिए गए। इस संबंध में मोरो त्र्यंबक पिंगले ब्राह्मण ने बहुत बड़ा परिश्रम किया था, इसलिये पेशवा का अधिकार शामराव नीलकंठ से लेकर मोरो पंत को दे दिया गया। नीलो सोनदेव ने भी बड़ा परिश्रम किया था और इसलिये वह सुरनीस नियुक्त किया गया। गंगाजी मंगाजी-नामक एक व्यक्ति वाक़नीस नियुक्त हुआ, प्रभाकर भट्ट-नामक एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण उपाध्याय (गृह-पुरोहित) नियुक्त हुआ। यह पद उसके लड़के बालम भट्ट और गोविंद भट्ट के हाथ में भी बना रहा। नेताजी पालकर सैन्य दलों के सारनौबत

मर्यम और शिशु मसीह

N. K. Press, Lucknow.

(सेनापति) नियुक्त हुए। नेताजी के सेनापतित्व में पागा की संख्या सात हज़ार और शिलेदारों की संख्या तीन हज़ार हो गई थी। इस प्रकार सेना की संख्या दस हज़ार हो गई, १० हज़ार मावले भर्ती किए गए। पेसाजी कंक उनके सारनौबत बनाए गए। इस प्रकार राज्य के लिये बड़ी सावधानी के साथ प्रबंध किया गया। राजा साहब की स्त्री के—उन्होंने निंबालकर की कन्या सई बाई के साथ अपना विवाह कर लिया था—एक बालक उत्पन्न हुआ। उसका नाम शंभाजी राजे रक्खा गया। बड़ा आनंद और उत्सव मनाया गया। बहुत-सा दान-पुण्य किया गया। राजा साहब राजगढ़ में ही बने रहे।

५. बीजापुर में आतंक

इसके बाद यह सब समाचार दिल्ली के बादशाह के पास पहुँचा। बीजापुर में अली आदिलशाह राज्य करता था, और बाक़ी सारी सल्तनत सुलतान मुहम्मद की बेगम, बड़ी साहबिन, के हाथ में थी। जिस समय उसको यह समाचार मिला, वह बहुत दुःखी हुई। बादशाही क़िले छिन गए थे, एक-दो को छोड़ बाक़ी सभी प्रांत जीत लिए गए थे और कुछ एक प्रदेश बिलकुल ध्वस्त कर दिए गए थे। शिवाजी बाग़ी हो गए थे। वह शिवाजी को विध्वंस करने और उन्हें मार डालने के उपाय सोचने लगी, और इसके लिये उसने राजश्री साहाजी राजे के पास, जो उस समय बेंगरूल (बंगलौर) में थे, एक पत्र लिखा। एक महालदार यह पत्र लेकर भेजा गया। पत्र इस प्रकार है:—

"हालाँकि तुम इस सरकार के नौकर हो, तुमने अपने लड़के शिवाजी को पूना भेजकर और वहाँ पर बादशाह की हुकूमत को उलट-पुलटकर बहुत बड़ी बे-वफ़ादारी (दग़ाबाज़ी) की है। उसने बादशाह के कुछ क़िले अपने क़ब्ज़े में कर लिए हैं, बहुत-से ज़िले और सूबे जीत और लूट लिए हैं, एक-दो ख़ास-ख़ास रियासतों को तहस-नहस कर दिया है और बादशाह के कुछ एक आज्ञाकारी उमरावों को मार डाला है। अब तुम अपने लड़के को मुनासिब तौर पर ख़ूब सँभालकर रक्खो, वरना तुम्हारी जागीरें [वे सूबे जिनमें साहाजी सूबेदार (गवर्नर) मुक़र्रर हुए थे] ज़ब्त कर ली जायँगी।" इसके ऊपर महाराजा साहब ने उत्तर दिया—"यद्यपि शिवाजी मेरा लड़का है, फिर भी वह मेरे पास से भाग गया है। वह अब बिलकुल मेरे क़ब्ज़े में नहीं है। मैं बादशाह का एक वफ़ादार नौकर हूँ। यद्यपि शिवाजी मेरा लड़का है, फिर भी बादशाह सलामत को अख़्त्यार है कि उस पर हमला करें, या और जिस तरह से मुनासिब समझें उसके साथ बर्ताव करें। मैं इसमें किसी प्रकार का कोई हस्तक्षेप न करूँगा।" इस प्रकार उन्होंने जवाब दे दिया।

६. अफ़ज़लख़ाँ की चढ़ाई

इसके ऊपर बेग़ा मल्का (बड़ी साहबिन) ने तमाम आदिलशाही अमीर-उमरा और वज़ीरों को बुलाया और उनसे शिवाजी के ऊपर चढ़ाई करने को कहा, लेकिन कोई राज़ी न हुआ। अफ़ज़लख़ाँ-नामक एक वज़ीर यह कहकर राज़ी हुआ कि "शिवाजी क्या है ? मैं एकबार भी अपने घोड़े से उतरे बिना ही उसे ज़िंदा क़ैद करके ले आऊँगा।" जिस समय उसने यह बात कही शाहज़ादी (बादशाहज़ादी) बहुत प्रसन्न हुई और उसे बहुत-से कपड़े, आभूषण, हाथी, घोड़े, धन-दौलत, तरक़्क़ी और इज़्ज़त देकर बड़े-बड़े नामी उमरावों के साथ बारह हज़ार घुड़-सवारों और बहुत-से पैदलों का सेना-नायक बनाकर रवाना किया।

तदनंतर वह सारी सेना एकत्र होकर और श्रेणी-बद्ध होकर तुमुल हाहाकार करती हुई चल दी। इसके बाद वे लोग तुलजापुर पहुँचे। वहाँ आकर उन्होंने डेरा डाल दिया। श्रीभवानी को, जो महाराजा की आराध्या कुल-देवी थीं, तोड़कर चूर-चूर कर दिया, और एक चक्की में डालकर उसे बिलकुल पीस डाला। ज्यों ही भवानी की यह मूर्ति तोड़ी गई, त्यों ही यह आकाश-वाणी सुनाई दी—"अफ़ज़लख़ाँ ! रे नीच पामर ! आज के इक्कीसवें दिन मैं तेरा शीश काटूँगी। तेरी सारी सेना को मैं नष्ट कर नौ करोड़ चामुंडों (शोणितपायी देवताओं) को परितृप्त करूँगी।" इस प्रकार की यह आकाश-वाणी हुई। इसके बाद सेना वहाँ से कूच होकर पुरंदर पहुँची। वह भीमानदी (मान नदी) की घाटी में उतरी। मार्ग में देवताओं और देवालयों को नष्ट-भ्रष्ट और अपवित्र करते हुए ये लोग सई पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने यह तय किया कि कोई व्यक्ति राजा के पास दूत-रूप में भेजा जाय और अब क्षणिक संधि करके अपने ऊपर उनका विश्वास प्राप्त कर लिया जाय, उस समय वह जीवित ही गिरफ़्तार कर लिए जावें। कृष्णाजी भास्कर दूत बुलाया गया और उसको हुक्म दिया गया कि जाकर राजा (शिवाजी) से कहो

कि— 'आपके पिता, महाराजा साहब और मेरे बीच की पुरानी दोस्ती (मैत्री) भाई-चारे के रिश्ते के तौर पर अब तक चली आई है। इस कारण आप मेरे लिये कोई ग़ैर नहीं हैं। आप आकर मुझसे मिल लीजिए। मैं आपके लिये बादशाह से एक जागीर और तालकंकण का सूबा हासिल कर लूँगा। आपने जो-जो क़िले और पहाड़ी क़िले जीते और फ़तह किए हैं, मैं उनको आपके ही अधिकार में बनाए रखने की मंज़ूरी दिला दूँगा। मैं आपके लिये और भी बहुत-से बड़े-बड़े दर्जे और मरतबे हासिल कर लूँगा। आप जितना बड़ा चाहेंगे उतना बड़ा सरंजाम मैं आपको दिला दूँगा। अगर आप चाहें तो बादशाह से मिलें अगर न चाहें तो दरबार की नित्य-प्रति की हाज़िरी से मैं आपको मुक्त करा सकता हूँ। तुम ऐसी ही बातें करके राजा को शांति के साथ मुलाक़ात के लिये ले आओ। नहीं तो फिर हम आवेंगे।" इस प्रकार की शिक्षा देकर कृष्णाजी पंत के भेजने का प्रबंध किया गया।

इसी बीच में राजा को यह समाचार मिला कि बारह हज़ार घुड़-सवारों के साथ अफ़ज़लख़ाँ बीजापुर से उनके ऊपर चढ़ाई करने के लिये भेजा जा रहा है। जिस समय राजा को यह समाचार मिला उन्होंने यह निश्चय किया कि अपने समस्त सैन्य-दलों को एकत्र करके आवली में युद्ध करें और स्वयं प्रतापगढ़ को जायँ। उस समय सब लोगों ने उन्हें ऐसा करने से मना किया। उन्होंने अपनी सलाह दी, "आप लड़ाई न करें, सुलह कर लेनी चाहिए।" राजा ने इसका उत्तर दिया—"जिस प्रकार उसने शंभाजी को मार डाला है, उसी प्रकार वह मुझे भी मार डालेगा। मार डाले जाने के पहिले जो कुछ भी संभव होगा मैं करूँगा। सुलह मैं हर्गिज़ न करूँगा।" यही बात निश्चित हुई। उसी रात को तुलजापुर की भवानी ने साक्षात् आकर दर्शन दिए और कहा—"मैं प्रसन्न हूँ। मैं हर बात में तुम्हारी सहायता करूँगी। तुम्हारे हाथों से मैं अफ़ज़लख़ाँ का वध कराऊँगी। मैं विजय-श्री तुम्हें लिखे देती हूँ। तुम्हें किसी तरह की कोई चिंता न करनी चाहिए।" इस प्रकार देवी ने उनमें दृढ़ता और विश्वास (श्रद्धा) उत्पन्न कर उन्हें प्रोत्साहित किया और रक्षा का पूर्ण आश्वासन दिलाया। राजेजी सबेरे उठे, जिजाबाई आऊ को बुलाया और उनसे स्वप्न का संपूर्ण वृत्तांत कह सुनाया। और गोमाजी नायक पान्‌संबल जमादार, कृष्णाजी नायक, सुभानजी नायक-जैसे प्रतिष्ठित व्यक्तियों तथा मोरो पंत और नीलो पंत और अनाजी पंत तथा सोनाजी पंत और गंगाजी मंगाजी-सरीखे सरदारों और सरकारकुनों एवं नेताजी पालकर सारनौबत और रघुनाथजी बल्लाल सबनीस और पुरोहित भी बुलाए गए, और उन सबको उस स्वप्न का वृत्तांत सुना दिया गया। "देवीजी (हम पर) कृपालु हैं, इसलिये अब मैं अफ़ज़लख़ाँ को मार डालूँगा और उसकी फ़ौज को मार भगाऊँगा।" ऐसी बात राजा ने उन लोगों से कही। उन सब लोगों की राय में यह एक संशयपूर्ण (संदिग्ध) कार्य था, क्योंकि यदि विजय हुई तब तो अच्छा है, परंतु यदि विजय न हुई, तो फिर परिणाम क्या होगा?—इसी विषय पर उन सब लोगों में वाद-विवाद होता रहा। तब राजा ने कहा—"संधि (सुलह) कर लेने से भी प्राण से हाथ धोना पड़ेगा। यदि हम लड़ें और जीत जायँ, तब तो बड़ा ही अच्छा होगा; यदि प्राण न रहेंगे तो कीर्ति (यश) तो बनी रहेगी।" इसके विषय में नीचे लिखे-अनुसार कहा गया है—

"विजय से लक्ष्मी की प्राप्ति होती है, मृत्यु से स्वर्ग की। यह शरीर क्षण-भंगुर है, तो फिर युद्ध में मृत्यु से क्या भय है?"

राजनीति-शास्त्रों में ऐसे ही मार्ग का वर्णन किया गया है। अतएव यह उचित है कि हम युद्ध करें। अब, हमें केवल एक बात का प्रबंध कर लेना चाहिए। यहाँ पर मेरा पुत्र शंभाजी और मेरी माताजी हैं। वे राजगढ़ में रख दिए जायँ। यदि मैं अफ़ज़लख़ाँ को मारकर विजय पा जाऊँ, तो मैं जैसा हूँ वैसा ही बना रहूँगा। यदि कहीं दैव-योग से युद्ध में मेरे प्राण न रहे, तो यह शंभाजी राजे हैं, राज्य उसको सौंप देना और तुम सब लोग उसकी आज्ञा से काम करना। युद्ध का परिणाम अपने प्रतिकूल होने की दशा के लिये ऐसी बातें बतलाकर और प्रत्येक मनुष्य को प्रोत्साहन देकर, उन्होंने अपना शीश अपनी माता के चरणों पर रक्खा और उनसे बिदा माँगी। माता ने यह कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया "शिवाजी, तू अवश्य विजयी होगा।"

तदनंतर ऐसे आशीर्वचन पाकर राजेजी चल दिए और प्रतापगढ़ गए। उन्होंने नेताजी पालकर सारनौबत को आज्ञा दी कि अपनी सेना लेकर घाट के ऊपर आओ। और उन्होंने कहा—"मैं अफ़ज़लख़ाँ को आवली में बुलाऊँगा, संधि करने के बहाने से उससे मिलूँगा, और उसमें विश्वास उत्पन्न कर उसे अपने पास बुला लूँगा। उस

समय तुम घाट मठ के पास आ जाना और रास्ता घेर लेना।" उसके साथ रघुनाथ बल्लाल सबनीस भी भेजा गया। और यह निश्चित हुआ कि मोरो पंत पेशवा अपने साथ में शामराव नीलकंठ और त्र्यंबक भास्कर को लेते आयँ और कंकणकन से होकर आवें।

इसी बीच में कृष्णाजो पत दूत की हैसियत से ख़ाँ के यहाँ आकर उपस्थित हुआ। लोग उसे प्रतापगढ़ तक ले गए। राजा साहब ने उससे भेंट की। उसने ख़ाँ (अफ़-ज़लख़ाँ) का सारा संदेशा जो उन्होंने कहला भेजा था कह सुनाया। कुछ व्यावहारिक वार्तालाप हो जाने के बाद राजा साहब ने कहा—"जिस प्रकार मेरे महाराजा बुज़ुर्ग हैं उसी प्रकार ख़ाँ साहब भी मेरे बुज़ुर्ग हैं। मैं ज़रूर उनसे मिलूँगा।" ऐसा कहकर उन्होंने कृष्णाजी पंत को ठहरने के लिये एक मकान दिया। उन्होंने उसे जाने की इजाज़त भी दे दी। दूसरे दिन राजा साहब अपने दर्बार में बैठे और सरकारकुनों तथा सभी सरदारों को—सारांश कि ऐसे सभी पदाधिकारियों को—बुलाया। राजा साहब के यहाँ पंताजी गोपीनाथ-नामक एक आदमी भी नौकर था; जो बड़ा ही विश्वास-पात्र और प्रतिष्ठित व्यक्ति था। उसे भी राजा ने बुलाया और महल में बैठकर उससे एकांत में सलाह-मशविरा किया। इसके बाद राजा ने पंताजी पंत से कहा—"ख़ाँ का दूत कृष्णाजी पंत एक संदेश लेकर आया है। मैं उसे आज्ञा देकर बिदा कर दूँगा। मैं तुमको भी अफ़ज़लख़ाँ के पास भेजूँगा—तुम वहाँ जाओ, ख़ाँ से जाकर मिलो और उसके साथ सुलह कर लो। ख़ाँ से इस बात की शपथ (क़सम) ले लेना कि वह कोई विश्वासघात की बात तो नहीं करेंगे और जो कुछ कहते हैं वह सच्चे और शुद्ध हृदय से कहते हैं। अगर वह तुमसे शपथ लेना चाहें तो दे देना, इसमें किसी तरह का कोई संकोच न करना। जिस तरह से भी हो सके ख़ाँ को आवली लाओ। इसके अलावा, जिस तरह से भी मुमकिन हो तुम उसकी फ़ौज में हर बात की ख़ूब छान-बीन कर लेना और जिस प्रकार हो सके ख़बर ले आना। इस बात को जान लेना कि ख़ाँ के मन में हमारी तरफ़ से बुराई है या भलाई।" यह उपदेश देकर राजा अपने दर्बार को चले गए। वहाँ उन्होंने कृष्णाजी पंत को बुलाया। उससे उन्होंने इस प्रकार बात की—"ख़ाँ साहब से निष्कपट शपथ का मिल जाना ज़रूरी है। इसके लिये हमारी तरफ़ से ख़ाँ साहब से मिलने के लिये पंताजी पंत को लिए जाओ। ख़ाँ साहब से उन्हें एक लिखित प्रतिज्ञा (शपथ-पत्र) दिलवा देना जिस पर ख़ाँ साहब के हाथ का निशान हो। ख़ाँ साहब को आवली ले आओ। मैं चलूँगा और चलकर चाचाजी (ख़ाँ से) मुलाक़ात करूँगा। मेरे मन में कुछ भी पाप नहीं है।" इस प्रकार राजा ने उससे सारी बातें कह दीं। यह तजवीज़ उसे (कृष्णाजी पंत को) ख़ूब पसंद आई और वह राज़ी हो गया। इसके बाद राजा ने वस्त्र आदि से उसे सम्मानित किया और वह लौट गया। उसी प्रकार पंताजी को भी वस्त्र आदि के पुरस्कार से सम्मानित किया गया और वह अफ़ज़लख़ाँ के पास भेज दिया गया।

उसने जाकर ख़ाँ से मुलाक़ात की। ख़ाँ ने उसका उचित आदर सम्मान किया। कृष्णाजी भास्कर ने कहा—"शिवाजी ने पंताजी पंत को अपना दूत बनाकर भेजा है। उसे एकांत में मिलने का मौक़ा देना चाहिए।" उसके यह कहने पर ख़ाँ एक अलग स्थान (कमरे) में बैठ गए, कृष्णाजी पंत और पंताजी पंत को बुलाया, और उनसे हाल पूछा। कृष्णाजी पंत ने कहा—"राजा साहब आपके मत के विरुद्ध नहीं हैं। जैसे कि उनके लिये महाराजा साहाजी राजे हैं वैसे ही आप भी हैं, ऐसा उन्होंने शपथ लेकर कहा है। राजे साहब बिना किसी भय के आवली आवेंगे। ख़ाँ साहब को भी बिना किसी प्रकार का संदेह किए हुए आवली आना चाहिए। उनके और आपके बीच में मुलाक़ात हो जायगी। आप जो कुछ भी कहेंगे उसे वह सुनेंगे।" जब ख़ाँ को इस बात का समर्थन करता हुआ राजा का संदेश मालूम हुआ, तो उसने शपथ ली। लेकिन उसके मन में पाप बना ही रहा। ख़ाँ ने कहा—"राजा एक हरामज़ादा काफ़िर है, आवली एक ऐसी जगह है जहाँ पहुँचना बहुत कठिन है, वह मुझसे वहाँ आने के लिये कहता है। इसलिये अगर तुम ब्राह्मण होकर मध्यस्थ की हैसियत से इस बात की शपथ लो कि मैं सही-सलामत वापस आऊँगा, तो मैं शिवाजी से मिलने जाऊँगा।" इस पर पंताजी पंत ने शपथ लेकर उसे इस बात का विश्वास दिला दिया—"राजा साहब आपको किसी तरह का नुक़सान पहुँचाना नहीं चाहते। आप

(असमाप्त)

अनुवादक—माधव

बुँदेलखंड और खजराहो

(१)

१. भूगोल और इतिहास

बुँदेलखंड देश भारत का मानों केंद्र है। इस समय इसकी सीमाएँ बहुत संकुचित हैं, किंतु किसी समय यमुना और नर्मदा के बीच का सारा देश बुँदेलखंड कहलाता था। इस समय बुँदेलखंड में १० कुछ बड़ी तथा १२ बहुत छोटी रियासतें हैं, जिन्हें जागीरें कहते हैं। १० कुछ बड़ी रियासतों के नाम हैं ओड़छा, दतिया, समथर, पन्ना, चरखारी, छतरपुर, बिजावर, अजैगढ़, बावनी और सरीला। इनके अतिरिक्त बुँदेलखंड में युक्तप्रांत के बाँदा, उरई, झाँसी, हमीरपुर, ललितपुर के ज़िले तथा इलाहाबाद की कुछ तहसीलें संयुक्त हैं। मध्यप्रदेश के ज़िले सागर, दमोह और जबलपुर भी बुँदेलखंड ही के अंतर्गत हैं। रियासतों में बावनी के शासक मुसलमान हैं, तथा छतरपुर-रियासत और बेरी जागीरदार के पँवार एवं अलीपुरा जागीर के परिहार ठाकुर। शेष रियासतों तथा जागीरों के स्वामी बुँदेले राजपूत हैं। बुँदेलों ही के कारण देश अब बुँदेलखंड कहलाता है। समय-समय पर इसके नाम दशार्ण, वत्र, जेजाकभुक्ति, जुझौती, जुझारखंड तथा विंध्येलखंड भी रहे हैं। दशार्ण अथवा धासन नदी के कारण यह दशार्ण देश कहलाया। यज्ञ में दान दिए जाने से यह जेजाकभुक्ति कहा गया। यह भी कहा जाता है कि चंदेल-नरेश जयशक्ति के नाम पर लोगों ने इसे जेजाकभुक्ति या जुझौती कहा। यहाँ जुझौतिया ब्राह्मण बहुत हैं। संभव है कि उन्हीं के कारण यह जुझौती अथवा जुझारखंड कहलाया हो। यह विंध्याचल की इला (भूमि) होने से विंध्येलखंड कहा गया।

बुँदेलखंड में चित्रकूट एक परम पवित्र स्थान है। अत्रि-नामक प्राचीन ऋषि यहीं रहते थे। उनकी स्त्री अनसूया का स्थान अब भी चित्रकूट में दिखलाया जाता है। वनवास के आरंभ में दश मास पर्यंत भगवान् रामचंद्र यहीं रहे थे। महाराजा पांडु ने अपनी विजय-यात्रा बुँदेलखंड से ही प्रारंभ की थी। युधिष्ठिर के राजसूय-यज्ञ के संबंध में भीम ने भी इसे जीता था। पांचाल-नरेश द्रुपद के पुत्र शिखंडी को दशार्ण-राज हिरण्यवर्म की कन्या ब्याही थी। महाभारत के युद्ध में भगदत्त ने दशार्णाधिप को मारा था। गौतम बुद्ध के समय जो उत्तरी भारत में १६ प्राचीन रियासतें थीं, उनमें से पांचालों का शासन बुँदेलखंड की केन नदी के पश्चिम तथा कौशांबी के वत्सों का केन के पूर्व था। इन दोनों पर कोसल के श्रावस्ती-नरेश का आतंक था। ऐसा समझ पड़ता है कि मौर्य-शुंगों तथा काण्वों का शासन बुँदेलखंड पर भी था। फिर यहाँ गुप्तों का साम्राज्य फैला और तब हर्षवर्द्धन का। इन्हीं महाराज के समय सं० ६९८ में प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्युएनसांग खजराहो में आया था। इसने यहाँ बहुत-से मंदिरों का होना लिखा है। इस देश के कुछ अंश पर सं० ३०६ में कलचुरि कृष्णराज ने शासन जमाकर कालिंजर पुरवराधीश्वर की उपाधि धारण की। कालिंजर का क़िला बुँदेलखंड की मानों कुंजी रहता आया है। यह बाँदा ज़िले में है। सं० ४९० में बुँदेलखंड के कुछ भाग पर गहरवारों का राज्य जमा और सं० ६७७ में इनको पराजित करके प्रतिहार उपनाम परिहार ठाकुरों ने यहाँ शासन जमाया। इनकी राजधानी मऊ थी, जो छतरपुर रियासत में शहर छतरपुर से १० मील पर है। इनके अधिकार में बेतवै से सोनभद्र तथा यमुना से बिलहारी पर्यंत सारा देश था। परिहारों का राजत्व-काल सं० ८८७ तक चला। इनके पीछे चँदेलों का राज्य-काल आया जो सं० १२६० या १२७० पर्यंत प्रायः ४०० वर्ष रहा। इस वंश के २० राजाओं के नाम मिलते हैं। खजराहो के मंदिरों में तीन बड़े-बड़े पाषाण-लेख हैं जिनसे तत्कालीन भारतीय इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। ये बहुत करके चंदेल-नरेश यशोवर्मन् (सं० ९८२ से १००७ तक), धंग (सं० १००७—१०५६) तथा गंड (सं० १०५६—१०८२) के समय के हैं। इनमें २२ चंदेल-नरेशों के नाम हैं। चंदेलों की राजधानी समय-समय पर खजराहो, महोबा और कालिंजर में रही। इनके अठकोट (अष्टकोट) प्रसिद्ध हैं जो कालिंजर, अजैगढ़, सैरागढ़, मनिया, मौध, मारफा, मैहर और गढ़ा में थे। मनियागढ़ रियासत

छतरपूर में खजराहो से १२ मील पर है। यह एक पहाड़ पर है। अब इसकी एक पुरानी प्रायः ७ मील लंबी पत्थर की दीवार-मात्र शेष है। इस पहाड़ पर दौरा करते समय हमने भी एक पड़ाव डाला था। यह बहुत अच्छा रमणीय स्थान है। आल्हखंड के प्रसिद्ध आल्हा, ऊदल और मलखान अंतिम चंदेल-नरेश परमाल उपनाम परमार्दिदेव के सामंत थे। इतिहास का कथन है कि कुतुबुद्दीन ऐबक से युद्ध करके सं० १२६० में अंतिम चंदेल-नरेश परमाल मृत्यु को प्राप्त हुआ, किंतु ओड़छा गज़ेटियर में लिखा है कि यह झूठा मृत्यु-समाचार जान-बूझकर उड़ाया गया था और वास्तव में परमाल सं० १२७० तक जीवित रहे थे। छतरपुर में हमको दो प्राचीन ताम्र-पत्र पृथ्वी खोदवाते समय मिले जो हमने लखनऊ के अजायबघर में भेजवा दिए। वहाँ उनको पढ़कर यह निष्कर्ष निकाला गया कि परमाल का पुत्र त्रैलोक्यवर्मन् उनके पीछे प्रायः पूरे बुँदेलखंड का स्वामी हुआ। सोलहवीं शताब्दी पर्यंत छोटे-मोटे चंदेल शासक बुँदेलखंड में रहे। वर्तमान चंदेलों में गिद्धौर-नरेश सर्वप्रधान पुरुष हैं। चंदेलों के पीछे बुंदेल ठाकुरों का अधिकार इस देश में फैला जो अब तक प्रस्तुत है, केवल आधे के लगभग देश अब अँगरेज़ों के अधिकार में है। बुँदेलों में महाराजा छत्रसाल सर्वप्रधान पुरुष हुए हैं। कई वर्तमान रियासतों तथा जागीरों के शासक इन्हीं महाराज के वंशधर हैं। चंदेलों ने बहुत-से पाषाण-जलाशय तथा पाषाण-मंदिर बनवाए जिनके कारण उनका नाम संसार के इतिहास में अमर रहेगा। चंदेल-नरेश कीर्तिवर्मन् की आज्ञा से प्रसिद्ध नाटक प्रबोधचंद्रोदय बनकर इनके आगे सं० ११२२ में खेला गया। सरोवर बुँदेलखंड की जान हैं। इस देश में जलाभाव का बड़ा कष्ट है। जहाँ-जहाँ जल प्राप्त है वहीं गाँव पाए जाते हैं और खेती बहुतायत से वहीं होती है। सैकड़ों पाषाणमय सरोवर बनवाकर चंदेलों ने इस देश का अगाध उपकार किया है।

२. खजराहो

अब हम खजराहो का हाल उठाते हैं।

रियासत छतरपूर बुँदेलखंड के प्रायः मध्यभाग में है और खजराहो इस रियासत का मध्य भाग है। इसी स्थान पर बैठकर हम यह लेख लिख रहे हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह बहुत काल तक चंदेलों की राजधानी रहा। उस समय में यहाँ बहुत-से परमोत्कृष्ट पाषाण-मंदिर बने जिनमें से २५ अब भी प्रस्तुत हैं। यह बड़ा अच्छा स्थान है और इसमें रहकर जी कभी नहीं ऊबता। समझ पड़ता है कि इसके पुण्यस्थल होने के कारण ही ऐसा है। खजराहो के इधर-उधर राजनगर, जटारी, बमनौरा, जटकरा आदि स्थान हैं। समझ पड़ता है कि ये सब स्थान किसी समय खजराहो के ही अंग थे। राजनगर में राजा रहते होंगे। जटारी शब्द ज्वर से संबंध रखने से वैद्यों का स्थान समझ पड़ता है। बमनौरा ब्राह्मणों का स्थान होगा और जटकरा यतिकरा का अपभ्रंश होने से यतियों के रहने का स्थान हो सकता है। खजराहो के सात मील के अंदर टूटे-फूटे मंदिरों के अंश पाए जाते हैं जिससे समझ पड़ता है कि यह शहर कभी सात मील का होगा। इब्नबतूता-नामक प्राचीन यात्री ने भी इसे सात मील का शहर माना है और यह भी लिखा है कि इसमें एक मील का एक हौज़ था। उसने इसका नाम खजराउ लिखा है। खजराहो शब्द किस प्रकार बना इसका पता नहीं लगता। शायद यहाँ खजूर के पेड़ बहुत हों और इसी से इसका नाम खजराहो पड़ा हो। वर्तमान छतरपूर राजवंश के राजचिह्न में खजूर का भी एक पेड़ अंकित रहता है। यह स्थान अब एक छोटा-सा गाँव है। गाँव से एक मील के अंदर मंदिर बने हुए हैं। वर्तमान शासक के पितामह का स्तूप भी यहीं है और दर्शकों के आराम के विचार से रियासत ने यहाँ एक छोटा-सा बँगला भी बना रक्खा है। हरपालपूर नाम का एक रेलवे स्टेशन झाँसी मानिकपूर लाइन पर है : वहाँ से छतरपूर का शहर ३३ मील है और छतरपूर से २७ मील आगे खजराहो है। हरपालपूर तथा छतरपूर में खजराहो के लिये किराए पर लारी तथा मोटर मिल सकते हैं। प्रायः १) प्रति मील का किराया देना पड़ता है। खजराहो में प्रतिवर्ष शिवरात्र के दिन से लगाकर एक मास पर्यंत एक मेला लगता है जिसमें स्वयं महाराजा साहब बहादुर अपने राज्याधिकारियों सहित विराजते हैं और एक मास के लिये खजराहो रियासत की राजधानी हो जाता है। यह स्थान राजनगर से ३ मील पर है। वहाँ राज्य की एक तहसील स्थापित है और एक अस्पताल भी है।

३. मंदिर और मूर्तियाँ

खजराहो में बहुत-से मंदिर थे जो भग्न होकर गिर गए,

गौतमबुद्ध

केवल २५ मुख्य पाषाण-मंदिर इस समय वर्तमान हैं। भारतवर्ष-भर में इनके बराबर सुंदर मंदिर नहीं हैं। कहते हैं कि खजराहो तथा उड़ीसा के भुवनेश्वरवाले मंदिर भारत में सर्वप्रधान हैं। जिन लोगों ने भुवनेश्वर को देखा है उनमें से कई का मत है कि वहाँ के मंदिर खजराहोवालों से कुछ घटकर ही ठहरेंगे और इस समय बे-मरम्मत होने से और भी खराब दिखते हैं। अतएव खजराहो केवल बुँदेलखंड का नहीं वरन् सारे भारत का गौरव है। छतरपुर के वर्तमान शासक ६० साल से गद्दी पर हैं। इनके पितामह महाराजा प्रतापसिंह ने प्रायः १०० वर्ष हुए खजराहो के पाषाण-मंदिरों की मरम्मत ईंट-चूने द्वारा प्रचुर व्यय से कराई थी। यदि उस समय इनकी इतनी रक्षा न हुई होती, तो इनमें से बहुतेरे मंदिर अब तक भग्न हो गए होते। वर्तमान महाराजा साहब के समय में पहली बार सं० १९६१ से १९६७ तक और दूसरी बार १९७८ से वर्तमान सं० १९८३ तक इन प्रकृष्ट मंदिरों की मरम्मत पत्थर से प्रचुर धन-व्यय द्वारा कराई गई। पहली मरम्मत में ९२०००) का व्यय हुआ और दूसरी में ४८०००) का। इसमें से आधा धन भारत-सरकार ने दिया और आधा रियासत ने। इस प्रकार अब ये सुविशाल मंदिर बहुत ही अच्छी दशा में हो गए हैं। इस रियासत में प्रायः ५० और प्राचीन पाषाण-मंदिर यत्र-तत्र फैले हुए हैं। उनकी मरम्मत का भी विचार सरकार तथा रियासत की ओर से हो रहा है।

खजराहो के मंदिरों के विषय में सरकारी पुरातत्त्व-विभागवाले बड़े-बड़े अफ़सरों ने छान-बीन करके बहुत कुछ अपने ग्रंथों में लिखा है। अतएव इनके विषय में जो कुछ प्रशंसा की जाती है वह इस लेख के लेखकों की केवल ढोंग न समझी जानी चाहिए, वरन वह पुरातत्त्व-विभाग के पंडितों द्वारा दृढ़तापूर्वक निर्धारित हो चुकी है। इन २५ मंदिरों के अतिरिक्त और भी बहुत-से प्राचीन मंदिर यहाँ थे जिनके भग्न भाग तथा बहुत-सी प्राचीन प्रतिमाएँ इस स्थान पर इधर-उधर पड़ी हुई थीं। उनमें से अच्छी-अच्छी मूर्तियों को एकत्रित करके यहाँ पर एक अजायबघर भी बनवाया गया है, जिसमें बहुत ही दर्शनीय मूर्तियों का संग्रह है। उन मूर्तियों में १ वाराह, २ वामन, ३ गौतमबुद्ध, ४ विष्णु, ५ गणेश (२ मूर्तियाँ), ६ नागकन्या, ७ महिषासुर-मर्दिनी, ८ कुबेर, ९ षडानन, १० श्रीकृष्ण-चरित्र आदि की मूर्तियाँ बहुत उत्कृष्ट हैं। छतरपुर में इसी समय की एक विष्णु-मूर्ति, एक शेषशायी विष्णु की मूर्ति तथा एक भैरव की मूर्ति बहुत अच्छी है। इनमें से शेषशायी विष्णु, विष्णु तथा गौतम बुद्ध की मूर्तियों के चित्र इस लेख में दिए जाते हैं। बुद्ध भगवान् की मूर्ति में मुख

के ऊपर का भाग कुछ बिगड़ा हुआ है, किंतु यह मूर्ति सबसे बड़ी तथा दर्शनीय है। विष्णु भगवान् की मूर्ति बहुत ही सुंदर है। यह फ़ोटो से भी प्रकट होता है।

कृष्णमुद्रितलोचनः स्वहृदये ध्यायन् जपन् जाह्नवी-
कालिन्द्योः सलिले कलेवरपरित्यागादगान्निर्वृतिम्।

इन पचीस मंदिरों में से तीन सबसे अधिक प्राचीन
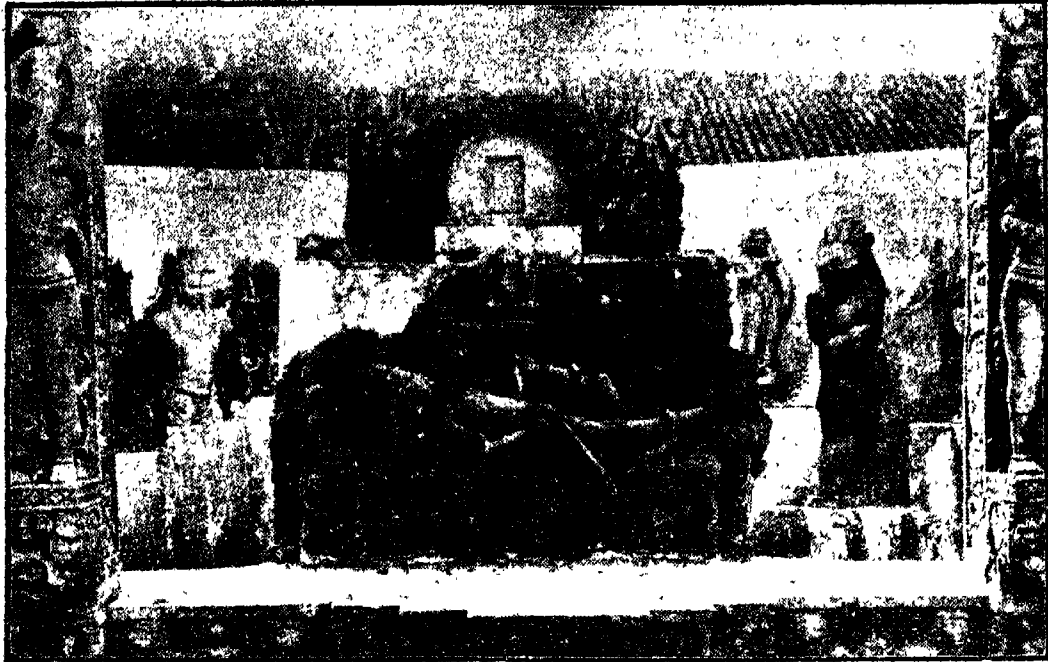
शेषशायी विष्णु

अजायबघर के अतिरिक्त खजराहो में पाँच भाग मंदिरों के हैं अर्थात् पश्चिमी, पूर्वी, उत्तरी, दक्षिणी और मध्य। ये भाग हमने अपनी सुविधा से कर लिए हैं किंतु पुरातत्त्व ज्ञाताओं ने दूसरे भाग लिखे हैं। पाश्चात्य भाग में बहुत-से मंदिर हैं और वही सर्वोत्कृष्ट हैं। इन्हीं में से दो मंदिरों में तीन पाषाण-लेख हैं जिनसे प्रकट है कि ये मंदिर बहुत करके महाराजा यशोवर्मन तत्पुत्र धंग और धंगात्मज गंड के समय में बने। अतः ये मंदिर दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के हैं। जब भारत पर महमूद ग़ज़नवी के आक्रमण हुए थे तब एक आक्रमण में महाराजा गंड से भी उसकी लड़ाई हुई थी। इन महाराजाओं के समय हम ऊपर लिख आए हैं। पाषाण-लेखों में महाराजा गंड की सबसे अधिक प्रशंसा है। उनके विषय में एक श्लोक इस प्रकार है—

शासित्वा भुवमम्बुराशिरशनामेकामनन्यां सतीम्।
जीवित्वा शारदःशतं समधिकं श्रीधंगपृथ्वीपतिः।

हैं। सबसे पुराना मंदिर चौंसठ-योगिनी का है। वह बिलकुल गिर गया है, केवल चबूतरा व दीवारें शेष हैं। इन्हीं दीवारों में चौंसठ मंदिर थे, जिनमें से प्रायः २० अब भी हैं जिनमें देवीजी की मूर्तियाँ थीं और कुछ अब भी हैं। यह मंदिर सबसे पुराना प्रायः सातवीं शताब्दी का है। इससे पीछे का ब्रह्माजी का मंदिर खजराहो गाँव के किनारे तालाब पर है। यह कहलाता तो ब्रह्मा का है किंतु है पंचमुखी महादेव का, जिनमें चार मुख चारों ओर हैं और पाँचवाँ उनके बीच में शिवलिंग के रूप में है। खजराहो में जो मंदिर जिस देवता का है, उसी की मूर्ति दरवाज़े के ऊपरी भाग में बीच में रहती है और अन्य देवताओं की इधर-उधर। इस मंदिर में बीच में महादेव की मूर्ति है और इधर-उधर ब्रह्मा और विष्णु की। इसी से यह शिव-मंदिर समझ पड़ता है। मूर्ति भी शिव ही की है। ऐसी दो और मूर्तियाँ खजराहो में हैं। यह मंदिर छोटा-सा सातवीं-आठवीं शताब्दी का समझा गया है। हाल

में इसकी मरम्मत हो गई है। तीसरा प्राचीन मंदिर प्रायः इसी समय का है जिसे घंटाई कहते हैं। इसके खंभों में ज़ंजीरों से लटके हुए घंटे खुदे हैं। इसी से इसे घंटाई कहते हैं। यह मंदिर बिलकुल गिर पड़ा था। इसके जितने भाग मिले वे एकत्रित करके फिर से खड़े कर दिए गए हैं। खजराहो के सब मंदिरों में सबसे महीन काम इसी में है। इसकी शोभा देखने ही योग्य है। यही तीन सबसे पुराने मंदिर यहाँ हैं, जिन्हें *शायद ह्यु युंत्सांग* ने देखा हो। इनके अतिरिक्त शेष मंदिर दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों के हैं।

अब हम अपने पूर्व-कथित विभागों के अनुसार इन मंदिरों का वर्णन करते हैं। पाश्चात्य विभाग ही सर्वश्रेष्ठ है और इसी में सबसे अधिक तथा सर्वोत्कृष्ट मंदिर हैं। इनमें मुख्य दो श्रेणियाँ हैं। पहली श्रेणी में अजायबघर के साथ मतंगेश्वर तथा लक्ष्मणजी के मंदिर एक ही चबूतरे पर हैं। इनके पीछे खंधारिया तथा कालीजी के मंदिर एक चबूतरे पर हैं जिनके बीच में सिंह का एक छोटा-सा फाटक भर का मंदिर है। इस श्रेणी का तीसरा मंदिर भरतजी का कहलाता है। ये तीनों तथा मतंगेश्वर और लक्ष्मणजीवाले बड़े मंदिर हैं। फिर भी खजराहो में कुल पाँच मंदिर ही बहुत बड़े हैं। लक्ष्मणजी के सामने वामन तथा लक्ष्मीजी के छोटे-छोटे मंदिर हैं और एक चबूतरा है जिस पर कई मूर्तियाँ स्थापित हैं। इन मंदिरों के उत्तर ओर बग़ल में विश्वनाथजी का बड़ा मंदिर है जिसके सामने नंदीगण का छोटा मंदिर है और दो कोनों में दो छोटे-छोटे मंदिर इसी के अंग हैं। इसके बग़ल में गंगाजी का अच्छा मंदिर है। इसी भाँति लक्ष्मण-मंदिर के चारों कोनों में चबूतरे पर चार छोटे-छोटे मंदिर उसी के अंग हैं। इन मंदिरों के अतिरिक्त यहाँ दो नवीन मंदिर तथा महाराजा प्रतापसिंह का स्मारक-स्तूप एवं कई अन्य मूर्तियाँ हैं। यही सब मिलाकर पाश्चात्य विभाग है। पूर्वी विभाग में एक ही घेरे के अंदर १६ जैन-मंदिर हैं जिनमें दो प्राचीन हैं और शेष नए ईंट-चूने के मंदिर हैं। ये प्राचीन मंदिरों के पाषाण-भागों को लगाकर बने हैं। इनमें एक पारसनाथ का

विष्णु

मंदिर बहुत बड़ा और सुंदर है जिसकी गणना खजराहो के पाँच सर्वोत्कृष्ट मंदिरों में है। यहाँ का दूसरा मंदिर हमको हिंदू देवियों का समझ पड़ता है किंतु अब तक माना जैनों का ही जाता है। इसके विषय में पुरातत्त्व-वेत्ताओं से हमने अब तक बहस नहीं कर पाई है। इसी से इस मत का कथन निश्चित शब्दों में नहीं हो सकता। मंदिर बहुत मनोहर है। एक और जैन-मंदिर में निमिनाथ तीर्थंकर की भारी नग्न प्रतिमा है जो क़रीब ८

मंदिर विश्वनाथ
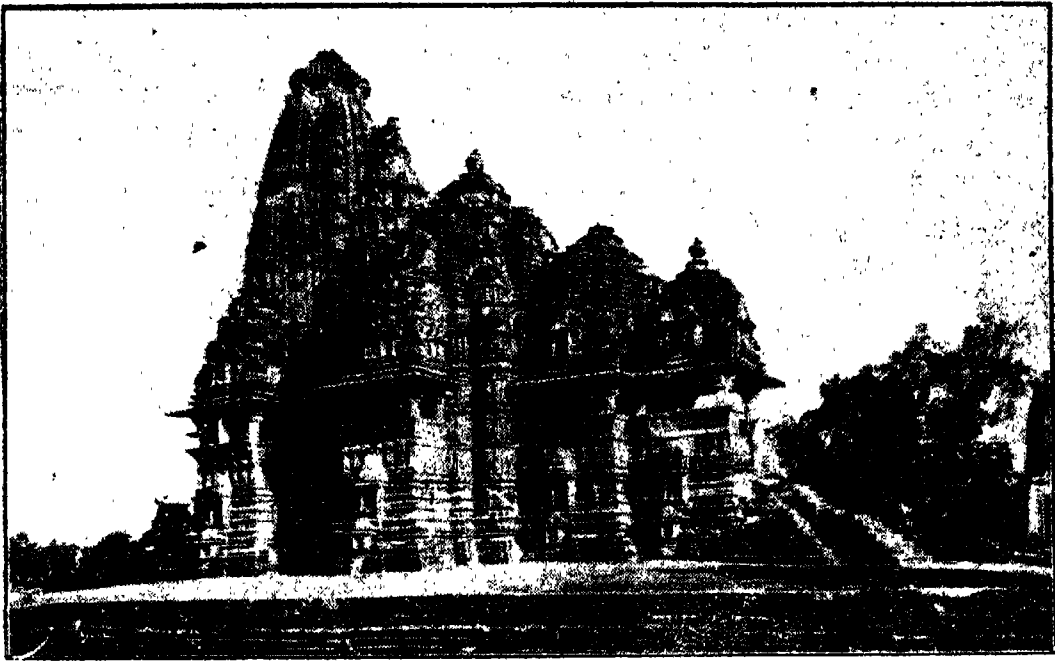
फ़ीट का होगा। वह अब तक पुजती है तथा अन्य जैन-मंदिर भी पुजते हैं। इसी स्थान पर अन्य विभागों का भी वर्णन करके हम पाश्चात्य विभाग का कुछ विस्तार-पूर्वक कथन करेंगे। उत्तरी भाग में वामन तथा जवारे के दो मंदिर हैं। वामनजी का मंदिर कुछ बड़ा और बहुत उत्कृष्ट है। इसकी मरम्मत में क़रीब १८०००) लगे थे। जवारे का मंदिर है तो छोटा किंतु बहुत ही सुंदर है। इसमें भग्न विष्णु-मूर्ति स्थापित है। वामन का मंदिर अब भी पुजता है। मध्य के मंदिरों में ब्रह्माजी तथा घंटाई की गणना है। इनका कथन ऊपर हो चुका है। ब्रह्माजी पुजते हैं। घंटाई का मंदिर जैनियों का समझा जाता है। इसी के निकट वह विशाल बुद्ध-मूर्ति मिली थी जो अजायबघर में है और जिसका चित्र इस लेख में है। उसकी कारीगरी बहुत ही सुघर है। पत्थर में कपड़ों की धारियाँ ख़ूब ही दिखलाई गई हैं। जान पड़ता है मानो मूर्ति साक्षात् ऊपर से कपड़ा ओढ़े है। दक्षिणी विभाग में नीलकंठ उपनाम दूलादेव तथा चतुर्भुज के दो मंदिर हैं। पहला खूडर नदी के निकट है और दूसरा उसके दूसरी ओर प्रायः एक मील पर। नीलकंठ की मरम्मत में २००००) व्यय हुए हैं। यह भी पाँच मुख्य मंदिरों में से एक है। इसमें जो शिवलिंग स्थापित हैं उसमें प्रायः ११०० शिवलिंग और खुदे हैं। चतुर्भुज की मूर्ति मनुष्य से कुछ बड़ी और अत्यंत मनोहर है। ये दोनों मंदिर भी पुजते हैं। खजराहो-ग्राम के एक नवीन मंदिर में प्रायः ३० या ३१ प्राचीन मूर्तियाँ एकत्रित हैं। चतुर्भुज की मरम्मत में प्रायः ७०००) लगे हैं। यदि ७०००) और लगें, तो इसका शिखर बनकर तैयार हो। इस स्थान पर पाश्चात्य से इतर विभागों का कथन समाप्त होता है। एक-एक स्थान पर कहीं-कहीं कई मंदिरों के कथन हैं जिन सबको जोड़ने से २५ से अधिक की संख्या आवेगी। किंतु मुख्य मंदिर २५ ही हैं, शेष उन्हीं के अंग-प्रत्यंग हैं।

पश्चिमी विभाग में मतंगेश्वर-मंदिर है। इसकी मूर्ति अरघा के ऊपर मनुष्य से दो-तीन फ़ीट ऊँची है और यदि दो आदमी मिलकर हाथ लगावें तो यह उनके घेरे में आ सकती है। अरघा इतना बड़ा है कि मंदिर के अंदर उससे इतर स्थान प्रायः है ही नहीं। उसी पर खड़े होकर शिवलिंग की पूजा हो सकती है। इस पर स्याही से कुछ लेख भी लिखे हैं जिनमें कुछ अरबी के भी हैं। यह ऐसी स्याही है जो पानी डालने से देख पड़ती है अन्यथा नहीं और पानी से धुलती

भी नहीं। इस रियासत के सब शासक मतंगेश्वर के भक्त होते आए हैं। वर्तमान शासक वैष्णव होकर भी इस मूर्ति के भक्त अवश्य हैं। यह मंदिर बड़े मंदिरों से कुछ ही छोटा है। पाषाण-लेख से कुछ यह आशय भी झलकता है कि मतंगेश्वर की मूर्ति के भीतर मरकत-मणि की एक और मूर्ति है किंतु इस बात का निश्चय ऊपर से देखकर हो ही क्या सकता है? इस मंदिर का चित्र यहाँ दिया जाता है। लक्ष्मणजी का मंदिर बहुत ही उत्कृष्ट है। जैसा कि ऊपर कहा गया है इसके चबूतरे के चारों कोनों पर चार छोटे मंदिर और हैं। जिनमें मूर्तियाँ स्थापित हैं इसमें अर्द्ध-मंडप, मंडप, महा-मंडप, अंतराल, और गर्भ-गृह-नामक पाँचों खंड वर्तमान हैं और प्रदक्षिणा भी है। पाषाण के एक चित्र में लिखा है कि इसकी चोटी से सूर्य के रथ के घोड़ों के पैर उरझते हैं। इसके सामने सूर्य भगवान् की एक अच्छी मूर्ति दरवाज़े के ऊपर है। वे दोनों हाथों में दो कमल लिए हुए हैं तथा उनकी स्त्री छाया उनके पैरों के बीच सामने खड़ी है। मूर्ति बहुत अच्छी है। इसके तथा कई अन्य मंदिरों के तोरण बहुत अच्छे बने हैं। इसके मंडप की छत बहुत ही सुंदर देखने ही योग्य है। अन्य छतें यहाँ तथा अन्यत्र भी दर्शनीय हैं। भीतर और बाहर की प्रायः डेढ़-डेढ़ फीट की डेढ़-दो सौ प्रतिमाएँ खुदी हैं। इन मंदिरों में जो चित्रों के अतिरिक्त बहुत-सी कारीगरी है, उसमें भी हाथी, घोड़े, मनुष्यों आदि के सैकड़ों चित्र हैं जिनसे उस काल का भारतीय जीवन प्रकट होता है। उस काल में कैसी सवारियाँ निकलती थीं तथा उनके साथ कैसे साज-सामान रहते थे, वह सब प्रकट है। छै-सात प्रकार से बाल काढ़ने के चित्र बने हैं। अनेकानेक भाँति के वस्त्रालंकार मौजूद हैं। काँटे निकालने, झुककर इधर-उधर ताकने तथा अनेकानेक प्रकार के अन्य भाव सफलता-पूर्वक व्यक्त किए गए हैं। मंदिर क्या हैं, उस काल की सभ्यता के सजीव चित्र हैं। पत्थर ज़ंजीरों से बाँधकर जैसे तब ढोए जाते थे, वैसे ही अब भी ढुलते हैं।

मुख्य मंदिर के तीनों ओर ऊपर-नीचे दो-दो ताक़ हैं जिनमें वाराह, नृसिंह तथा हयग्रीव की अच्छी मूर्तियाँ
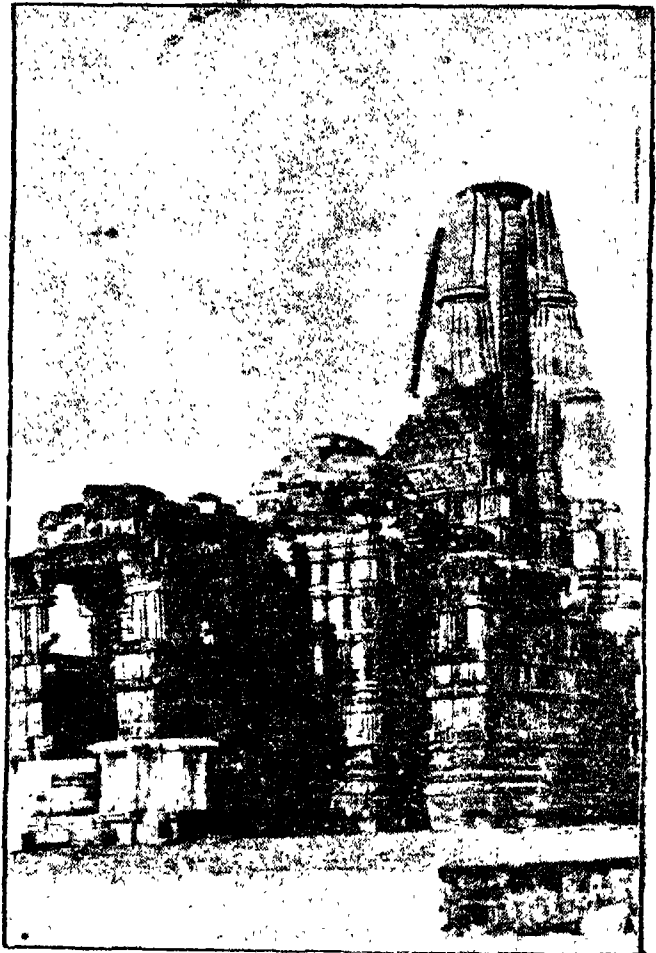
नीलकंठ (दूलादेव)

हैं तथा उनके ऊपर के दो ताक़ों में विष्णु-मूर्तियाँ हैं और तृतीय में यज्ञ का चित्रण बहुत मनोहारी है। उसी यज्ञ के निकट लोग तपस्या कर रहे हैं। उन ताक़ों के ऊपर एक-एक फुट गहरी खोदाई करके पत्थर में बाहर-भीतर काम बना है और बीच में कोल कर पोला कर दिया गया है। इनमें अच्छी कारीगरी है। महिषासुर-मर्दिनी की एक मूर्ति बहुत ही अच्छी है। एक स्थान पर भगवान् पूतना का स्तन पान कर रहे हैं। उसके प्राण खिंचते जाते हैं

और हड्डियाँ निकलती जाती हैं। प्रदक्षिणा में तीनों ओर प्रायः पाँच-पाँच फ़ीट ऊँचे झरोखे बने हैं जिनमें प्रायः दस-दस आदमी आराम से बैठ सकते हैं। उन्हीं में बैठकर सामने के ताक़ोंवाली मूर्तियों की कारीगरी देख पड़ती है। मंदिर को देखते-देखते चलने फिरने से थकने पर मनुष्य उन पर दम ले सकता है तथा कारीगरी का निरीक्षण भी कर सकता है। उनमें बाहर की अच्छी ठंडी हवा आया करती है और उनसे बाहर का प्राकृतिक दृश्य भी अच्छा दिखता है। गर्भ-गृह के सामने दरवाज़े पर बीच में लक्ष्मी की तथा उस पर विष्णु भगवान् की मूर्ति है और किनारे ब्रह्मा-विष्णु की और उन पर सरस्वती तथा दुर्गा की मूर्तियाँ हैं। देवतों की मूर्तियाँ उनके चिह्नों से पहिचानी जाती हैं। बीच में विष्णु-मूर्ति होने से प्रकट है कि यह वैष्णव-मंदिर है। दरवाज़े पर दोनों किनारे गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं जो उनके चिह्न मगर तथा कूर्म से जानी जाती हैं। गंगा-यमुना के दरवाज़े के दोनों ओर होने से प्रकट किया गया है कि गर्भ-गृह स्वयं प्रयाग के समान पवित्र है। इस प्रकार गंगा-यमुना की मूर्तियाँ प्रायः सभी खजराहो के मंदिरों में हैं। सब मंदिर सब जगह पर पाषाण के हैं। दरवाज़े के दोनों बाजुओं पर तीन-तीन अवतार खुदे हैं, अर्थात् मत्स्य वेदों का उद्धार करते हुए, कूर्म (समुद्र-मंथन में सहायता देते हुए), वाराह, नृसिंह, वामन और परशुराम। अंतिम मूर्ति खंडित है जिससे संदेह रह जाता है कि वह शायद किसी अन्य अवतार की हो। गर्भ-गृह में विष्णु भगवान् की तिमुही मूर्ति है। बीच का मुख मनुष्य का है और इधर-उधर के सिंह तथा वाराह के। अतएव यह मूर्ति वाराह, नृसिंह और वामन का मिश्रण समझ पड़ती है। यह मंदिर कहलाता तो लक्ष्मण का है किंतु है अवतारों का। यह मूर्ति इतिहास-प्रसिद्ध है। कहते हैं कि काश्मीर-नरेश इसे कैलास पर्वत से लाए। उन्हें जीतकर कन्नौज-पति इसे अपने यहाँ ले गए तथा उनसे यशोवर्मन् या धंग इसे खजराहो लाए। यह मूर्ति अब खंडित हो जाने से पुजती नहीं है। काश्मीर में हमने अजायबघर में ऐसी दो और छोटी-छोटी मूर्तियाँ देखीं, किंतु उनके पीछे राक्षस का एक चौथा मुख भी न-जाने क्यों खुदा था जो खजराहोवाली मूर्ति में नहीं है। मूर्ति मनुष्य से कुछ ही छोटी बहुत ही सुंदर है। वह एक भारी पाषाण-चौखटे के अंदर खड़ी है। उस चौखटे के बाजुओं में विष्णु की दस मूर्तियाँ खुदी हैं। उसमें और भी बहुत कारीगरी है। भीतर की कारीगरी में यह मंदिर खजराहो-भर में सर्वोत्कृष्ट है, तथा बाहर की कारीगरी में खंधारिया सर्वश्रेष्ठ है। इसका कथन आगे आवेगा। लक्ष्मण-मंदिर का चबूतरा भी बहुत अच्छा है। उसके कोनेवाले एक मंदिर में नवग्रह अच्छे खुदे हैं और एक अन्य में अग्नि की अच्छी मूर्ति है। पाँच भाग मंदिर के जो मुख्य होते हैं उन्हीं के अनुसार खजराहो के भारी मंदिरों में पाँच-पाँच शिखर छत पर बने हैं, मानो पाँच मंदिर मिलाकर एक मंदिर बना है। जिन मंदिरों में पूरे पाँचों भाग नहीं बने हैं, उनमें भी प्रायः चार भाग पाए जाते हैं, अर्थात् मंडप, महामंडप, अंतराल और गर्भ-गृह। लक्ष्मण-मंदिर के एक ओर मतंगेश्वर का मंदिर भी है और दूसरी ओर कोने का एक मंदिर।

लक्ष्मणजी और मतंगेश्वरवाले चबूतरे के सामने वाराह तथा लक्ष्मीजी के दो छोटे-छोटे मंदिर हैं। वाराहजी की मूर्ति खजराहो में अद्वितीय है और हमने ऐसी अच्छी कोई मूर्ति कहीं नहीं देखी है। मूर्ति प्रायः ४ फ़ीट ऊँची और ६ फ़ीट लंबी होगी। इसके शरीर भर पर देवताओं की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जो गणना में प्रायः पाँच सौ के होंगी। पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने एक बार इसकी मूर्तियों का हाल हमें सुनाया, तो चित्त बहुत ही प्रसन्न हुआ। इसमें बहुत-सी अच्छी-अच्छी मूर्तियाँ दिक्पालों आदि की हैं। नीचे एक बड़ा सर्प पड़ा है। सामने दो पैर-मात्र बने हैं जो पृथ्वी के पैर समझाए गए हैं। थूथन पर पृथ्वी माता बैठी हैं जिससे यह प्रकट किया गया है कि पहले वे इतनी नीची थीं जहाँ उनके पैर हैं और वाराह भगवान् ने इतना ऊँचा उठा दिया जहाँ कि वे अब स्थित हैं। यह मूर्ति बड़ी भारी है और सारा शरीर बहुत तना हुआ अति पुष्ट दिखता है। मूर्ति देखकर चित्त प्रसन्न हो जाता है। कुल मूर्ति पत्थर के एक ही टुकड़े की है जो बहुत उत्कृष्ट है जिस पर चमकदार चिकना पालिश है। इस पत्थर की और कोई मूर्ति खजराहो में नहीं है। इसी प्रकार की किंतु इसकी प्रायः चौथाई ऐसी ही एक टूटी हुई मूर्ति हमने झालावार के अजायबघर में देखी है। ढँग दोनों का बिलकुल एक ही है किंतु आकार में बहुत बड़ी होने से खजराहोवाली मूर्ति बहुत ही उत्कृष्ट

दिखती है। यहाँ तक कि दोनों मूर्तियों में कोई भी समानता उत्तमता की मात्रा में नहीं है। लक्ष्मी का मंदिर तथा मूर्ति दोनों साधारण हैं। गंगाजी का मंदिर लक्ष्मी-मंदिर से कुछ बड़ा है। मूर्ति प्रायः ४ फ़ीट की होगी और सुंदरता में बहुत अच्छी है। विश्वनाथ का मंदिर पाँचों भागों से पूर्ण है। इसमें महादेवजी की मूर्ति है जो अब खंधारिया क्यों कहलाता है सो पता नहीं है। इसके हर ओर से मंदिर के पाँचों पूर्ण भागों के चिह्न मिलते हैं। इसमें भी डेढ़-दोसौ मूर्तियाँ प्रायः डेढ़-डेढ़ फ़ीट की खुदी हैं। जैसे लक्ष्मणजी के अंतरंग भाग की सुंदरता खजराहो में अद्वितीय है वैसी ही दशा खंधारिया के बाहरी भाग की है जिसकी सुंदरता देखते ही बनती है। कारी-

खंधारिया का मंदिर
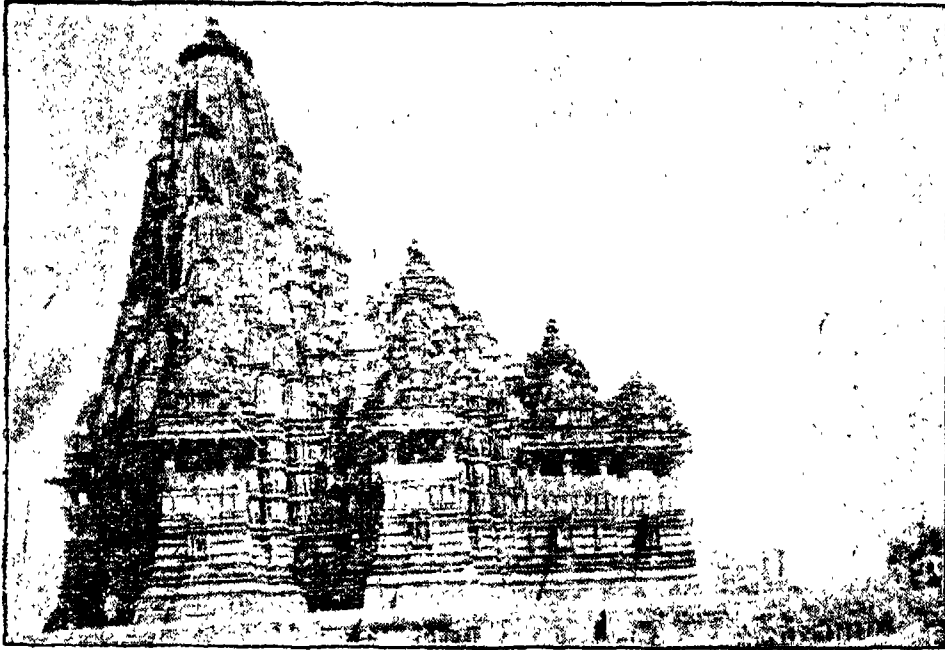
भी पुजती है। यह लक्ष्मणजी के मंदिर से कुछ ऊँचा तथा खंधारिया से कुछ नीचा है। इसके सामने फाटक के ऊपर महादेव-पार्वती की एक बहुत अच्छी मूर्ति है। उत्तमता में यह मंदिर लक्ष्मण तथा खंधारिया के समान है। इसके सामने नंदीगण का एक छोटा-सा मंदिर है जिसमें नंदी की विशाल मूर्ति वाराहजी वाली से कुछ बड़ी एक ही पत्थर की है, किंतु सौंदर्य में वाराह-मूर्ति से बहुत कम है। मूर्ति का भारीपन एक विशेष गुण है।

पीछेवाली श्रेणी में खंधारिया और कालीजी के मंदिर एक चबूतरे पर हैं। खंधारिया एक शैव मंदिर है जो खजराहो में सब प्राचीन मंदिरों से ऊँचा है। इसकी ऊँचाई चबूतरा मिलाकर प्रायः १०० फ़ीट की होगी। इसमें शिव-मूर्ति साधारण है और पुजती भी है। यह गरी की महत्ता और गांभीर्य देखकर अवाक् रह जाना पड़ता है और यही ध्यान में आता है कि जिस कारीगर ने निर्माण के पूर्व ऐसे-ऐसे मंदिरों का भाव-चित्र अपने चित्त में बनाया होगा उसका चित्त भी बहुत ही महत्ता युक्त होगा। खंधारिया के पीछे के दोनों कोनों को यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो नीचे से शिखर तक प्रायः ६५ फ़ीट की ऊँचाई में प्रत्येक स्थान पर कारीगरी का काम देख पड़ता है। ये दोनों कोने खजराहो में अद्वितीय हैं। कालीजी का मंदिर-मंडप, महामंडप अंतराल और गर्भ-गृह युक्त हैं। यद्यपि इसमें तथा भरत-मंदिर में चार-ही-चार भाग हैं, तथापि छतों पर पाँचों पूर्ण भागों के चिह्न प्रस्तुत हैं और वास्तविक मंडप को अर्द्ध-मंडप मानकर उसके और महामंडप के बीच में छोटा-सा मंडप का

[illegible]जी का मंदिर

मैथुनप्रतिमा
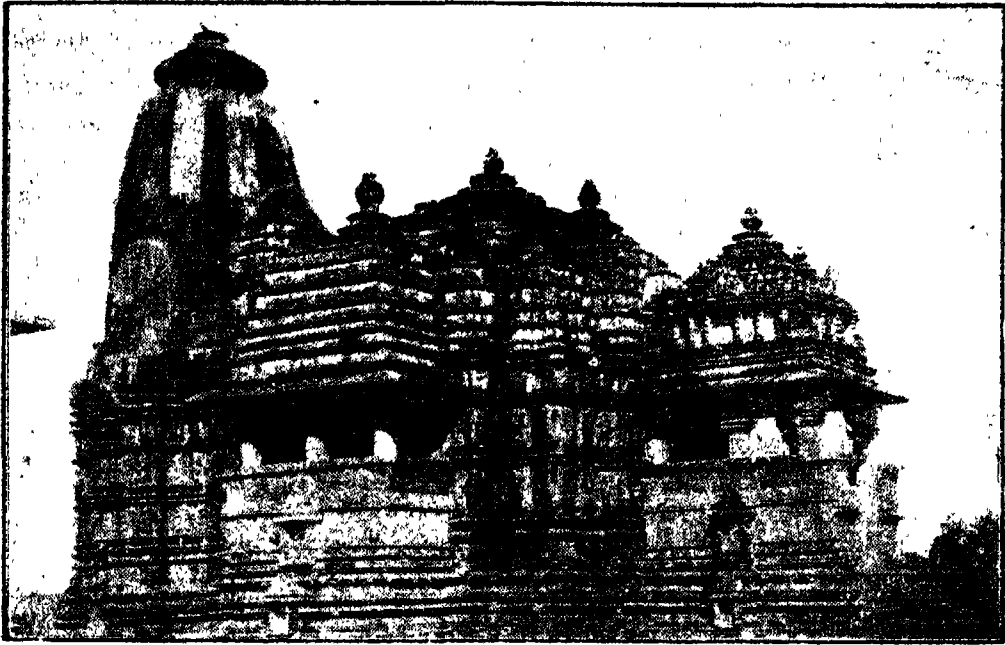
चिह्न प्रस्तुत है। अतः इन दोनों में भी पाँचों पूर्ण भाग हैं। इसका मंडप बिल्कुल ही नया सं० १९६१-६७ की मरम्मत में बनाया गया था। इस मंदिर का वाम पार्श्व खंधारिया की ओर से खिड़की के पास खड़े होकर देखा जाय, तो उसमें दूर तक ऊपर-नीचे तेहरी पंक्ति प्रतिमाओं की देख पड़ती है। जैसे खंधारिया के कोने खजराहो

में अद्वितीय हैं, वैसा ही यह पार्श्व भी है। जगमणजी, खंधारिया, विश्वनाथ, पारसनाथ और नीलकंठ के जो पाँच बड़े मंदिर खजराहों में हैं उनके बाहरी मध्य भागों में कई कोक-प्रतिमाएँ खुदी हैं जिनमें का एक उदाहरण का सजीव उदाहरण दिखलाते हैं। अतएव जिन-जिन बातों में संसार संलग्न है उन सबका यथावत् चित्र उनमें भी दिखलाया गया है। इसी से कोकशास्त्र भी छूट नहीं रहा है। ये सब बातें कही अवश्य जाती हैं किंतु
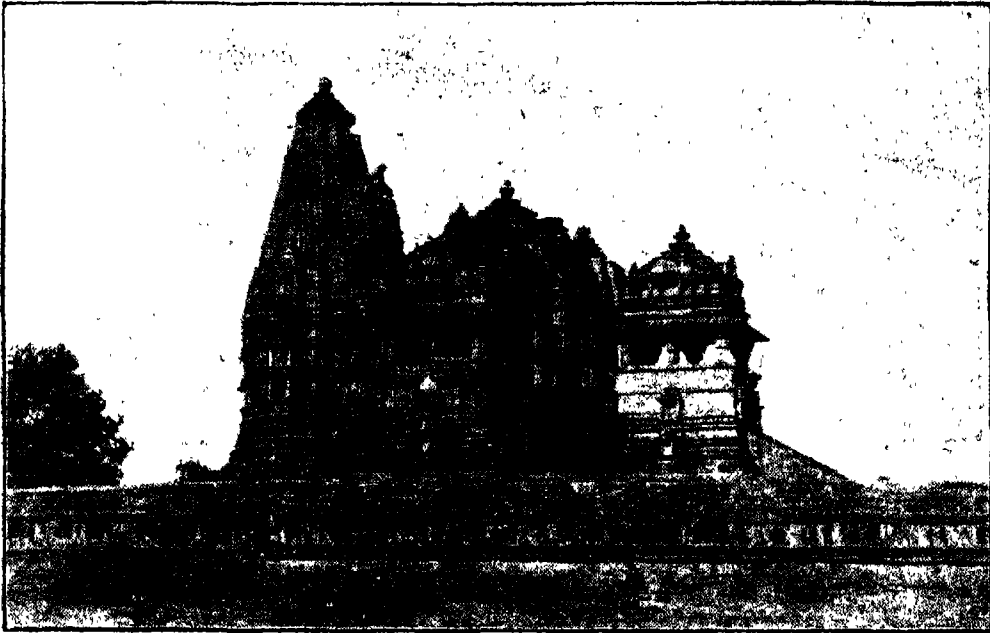
चित्रगुप्त का मंदिर

इस लेख के चित्रों में भी दिया जाता है। ये सुरति का प्रदर्शन करानेवाली प्रतिमाएँ ऐसे पुनीत मंदिरों में क्यों बनाई गई हैं, इसका कोई अच्छा कारण अब तक ध्यान में नहीं आया है। यह बात केवल खजराहो में नहीं है, वरन् भुवनेश्वर में तथा साक्षात् जगन्नाथपुरी में भी पाई जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि जब ऐसे दृश्यों के होते हुएभी भगवान् में ध्यान लगावे तब सच्चा ध्यान है। किसी-किसी का कथन है कि जैसे शरीर के मध्य में कामेंद्रिय रहती है वैसे ही मंदिरों के मध्य में ऐसे दृश्य हैं। मध्य से अन्यत्र भी ऐसे चित्र यहाँ प्रचुरता से यत्र-तत्र पाए जाते हैं। किंतु मुख्यतया वे मध्य भागों ही में अवश्य हैं। किसी का कथन है कि प्राचीन काल में चक्र-पूजन की अधिकता थी जिससे ऐसे दृश्य मंदिरों के भी अंग समझे जाते थे। हमारा विचार है कि मंदिर सच्चे हैं; वे संसार किसीसे इनका संतोषप्रदायक उत्तर नहीं मिलता। भरतजी का मंदिर भी चार ही भागों से सुशोभित है। इसका भी मंडप नया बनाया गया है। इसके और कालीजी के नवीन मंडपों में प्रायः दस-दस हज़ार रुपए लगे थे। इस लेख के साथ विश्वनाथ, खंधारिया, कालीजी तथा भरतजी वाले मंदिरों के भी चित्र दिए गए हैं। भरतजी का मंदिर वास्तव में सूर्य-मंदिर है, यद्यपि यह भरतजी का या चित्रगुप्त का मंदिर कहलाता है।

यदि खजराहो के सब मंदिर देखे जावें, तो देखनेवाले को प्रायः पाँच मील चलना पड़े। ऐसे-ऐसे मंदिर देखकर उस काल के हिंदुओं की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करने को जी चाहता है। किंतु जब स्मरण आता है कि उन्हीं लोगों की संयुक्त शक्ति से भी महमूद-सा क्षुद्र शत्रु पराजित न हो सका, तब यह संदेह दृढ़ होता है कि शांति के अंगों में

उचित से अधिक उन्नति करके वे बेचारे युद्ध-संबंधी उन्नति से वंचित रह गए थे। जो हो, खजराहो के मंदिरों तथा असंख्य पाषाणमय सरोवरों के कारण चंदेलों की कीर्ति इस देश में अमर है। ये लोग बड़े ही लोकोपकारी शासक थे और सौंदर्योपासना का भी उचित प्रयोग जानते थे।

श्यामविहारी मिश्र
शुकदेवविहारी मिश्र

चीन की समस्या

चेंबरलेन सुनत कछू चीन कहत कछु और ।
स्वारथ को यह खेल है करहु गुनी जन गौर ।

१. कामना

रूप नटवर का नहीं हम चाहते ;
और वह चातुर्य भी न सराहते ।
हो बड़े नागर, हमें यह ज्ञात है ;
सादगी ही किंतु अपनी बात है ।
हो वही कंबल अनोखा हाथ पर ;
मोर-पंख विराजता हो माथ पर ।
हो गले बनमाल, इतनी बात पर;
तो भले क़ुरबान हों उस गात पर ।
शुभ्र जमुना का किनारा, कुंज हो ;
मधुकरों का भी न गहरा गुंज हो ।
हम भटकते हों तुम्हारी खोज में ;
तुम खड़े हो आ निकट उस मौज में ।
पीत पट की कोर फहराती रहे ;
लोचनों की लोच लहराती रहे ।
कान में कुंडल-झलक छाती रहे ;
देखकर सब ज्ञान-गति जाती रहे ।
ढूँढ़ते-ही-ढूँढ़ते हम हारकर,
एक क्षण बैठें तुम्हें न बिसारकर,
तब बजा दो बाँसुरी उस टेर से,
और मिल आओ—मगर, कुछ देर से ।
देखते ही नाथ ! अंतर्द्धान हो ;
फिर प्रकट हो यों कि ज्यों पहचान हो—
रूप का जिससे मुझे कुछ ज्ञान हो;
अधर-बिंबों पर मधुर मुसकान हो ।

राममनोहर बिचपुरिया 'सम्राट्'

× × ×

२. पाश्चात्य देशों में गत ४० वर्षों का परिवर्तन

प्रायः सभी योरपीय देशों तथा अमेरिका में जब लोगों के हृदय में स्वाधीनता के भाव जागृत हुये तब उनको स्वतंत्रता प्राणों से भी प्रिय लगने लगी । अतएव उन्होंने स्वतंत्रता के घातक निर्दय अत्याचारियों से उसके संरक्षणार्थ युद्ध ठाना । उनकी इच्छा यह थी कि देश से अत्याचारियों का राज्य उठ जाय, और जनता अपने प्रतिनिधियों को स्वयं चुन सके । परंपरा गत मान (hereditary rank) और असामान्य अधिकार न रहें, और प्रत्येक मनुष्य को उन्नत होने के लिये समान अवकाश मिले । कुछ देशों में लोग यह भी चाहते थे कि व्यय में कमी हो, शिक्षा का प्रबंध सरकार अपने हाथ में ले, व्यापार में पूर्ण स्वतंत्रता हो, और अन्य राष्ट्रों से शांति का व्यवहार हो । यह सब बातें यदि उनको प्राप्त हो जायँ, तो लोग यह समझे बैठे थे कि झगड़ा समाप्त हो जायगा, और फिर जिधर दृष्टि डालेंगे, शांति और सुख के ही चिह्न दिखाई देंगे ।

परंतु जब यह राजनीतिक समानता और स्वाधीनता प्राप्त हो गई, तो लोग जिस चैन की आशा किए बैठे थे, वह पूर्ण नहीं हुई । मज़दूरों में अशांति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे, उनके हृदय में यह संशय उत्पन्न हुआ कि इस राजनीतिक समानता से उन्हें क्या लाभ हुआ । उन्होंने विचार किया कि अब हमें अपने लाभ की सोचना चाहिए । वे चाहते थे कि उन्हें काम कम करना पड़े, और वेतन अधिक मिले । इसके लिये उन्होंने प्रथम तो हड़ताल-रूपी अस्त्र का प्रयोग किया । फिर

क़ानून बनानेवाली सभाओं द्वारा अपनी माँग पूरी करने का निश्चय किया। वे अब यह भी चाहने लगे कि सरकार उन्हें शिक्षा दे, उन्हें पेंशन दे, उनके रहने के लिये घरों का प्रबंध करे। और जब उन्हें कोई काम न मिले, तो काम भी दे। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे कि सरकार का कर्तव्य है कि यदि कोई कुछ कार्य चाहे, तो उसे दिया जाय।

मज़दूर-संघ उन्नति कर गए, ज्यों ही पूँजी-पतियों ने उनका सामना करने का प्रयत्न किया, उनकी शक्ति और भी बढ़ी। अमेरिका में बड़े-बड़े कार्यालयों के विरुद्ध जिन्हें वहाँ ट्रस्ट (Trusts) कहते हैं, लोगों ने लड़ना आरंभ कर दिया। वे कहने लगे कि इस प्रकार तो केवल एक अथवा दो-चार व्यक्तियों हो का, जिन्होंने विशेष कार्यालय में दान दिया है, उस पर एकाधिकार प्राप्त होता है; और वह अपने माल का मनमाना मूल्य माँग सकते हैं। अतएव सरकार को ये ट्रस्ट अपने हाथ में लेने चाहिए।

इस प्रकार राजनीतिक समानता के झगड़े का अंत होते ही यह आर्थिक समानता के आधार पर एक नया झगड़ा खड़ा हो गया। लोगों ने विचार किया कि आर्थिक समानता तभी प्राप्त हो सकती है, जब संपूर्ण कार्यालयों पर सरकार का अधिकार हो। अधिकांश में तो ये विचार मज़दूरों ही में थे; परंतु कुछ धनवानों के हृदय में भी इन्हीं विचारों के अंकुर उत्पन्न हो गए, वास्तव में उनका लक्ष्य आर्थिक समानता था। परंतु अब प्रश्न यह उठा कि इस लक्ष्य का भेदन कैसे हो। क्या धनवानों का धन लेकर निर्धनों को बाँट दिया जाय? नहीं, यह असंभव प्रतीत होता था। इससे पुनः आर्थिक असमानता उत्पन्न हो जाती। अस्तु कुछ लोगों ने यह विचार किया कि समाज का पुनः संगठन हो, शनैः-शनैः सभी कार्यालय सरकार के अधिकार में हो जायँ, और जो लाभ उनसे हो, वह संपूर्ण जनता के कोष में (Treasury) में जाय। परंतु वे निजी प्रयत्नों (private effort) को भी नहीं तोड़ना चाहते थे; और जो संपत्ति जिसने उपार्जन की थी, उसे उससे छीनना भी नहीं चाहते थे।

परंतु कुछ लोग इनसे भी आगे बढ़ गए। वे संपत्ति को बिलकुल ही निकाल देना चाहते थे, पूँजी के परम शत्रु थे, और सभी श्रेणियों को तोड़कर केवल एक रखना चाहते थे।

इन सब बातों का फल यह हुआ कि वर्तमान संस्थाओं को तोड़ने के लिये कई देशों में लहर उठी। इटली, फ्रांस, स्पेन और जर्मनी में इन विचारों की हवा बह चली। वे रूस में अपना अड्डा जमाने की सोचने लगे। आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के मज़दूरों ने अपना संघ सुदृढ़ता-पूर्वक स्थापित कर लिया। मज़दूर-दल शनैः-शनैः कौंसिलों में प्रवेश करने लगा; यहाँ तक कि आस्ट्रेलिया में, १९११ में, देश-शासन की बागडोर मज़दूरों के हाथ में आ गई।

आस्ट्रेलिया की देखादेखी ब्रिटेन में भी मज़दूर-दल दृढ़ होने लगा। लेकिन वहाँ का मज़दूर-दल विप्लव से काम नहीं लेना चाहता। संयुक्त-राज्य अमेरिका में यद्यपि पूर्ण प्रजातंत्र था, फिर भी मज़दूर-दल सबसे पीछे बना।

फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल, रूस और इटली में तो साम्यवाद धर्म-विरुद्ध है। वहाँ के लोगों का विचार है कि उनका धर्म उनकी उन्नति में बाधक है। परंतु जर्मन और अँगरेज़ी-भाषा-भाषियों का यह मत नहीं है।

इन सब देशों में विचारशील मनुष्यों के सम्मुख इस समय दो विकट समस्याएँ उपस्थित हैं। एक तो यह कि मज़दूरों ने अपने सुदृढ़ संघ बना लिए हैं। फ्रांस, आस्ट्रेलिया और अमेरिका में मज़दूरों के बड़े-बड़े संघ हैं। ब्रिटेन में, खानों में तथा रेलवे में काम करनेवाले, खोदनेवाले, तथा माल ढोनेवाले एकता के सुदृढ़ सूत्र में बँधकर एक हो गए हैं। उनके हाथ में दो अचूक अस्त्र हैं, एक तो यह लोग वोटिंग द्वारा कौंसिलों में अपना इच्छानुसार लोगों को भेज सकते हैं; और दूसरे हड़ताल द्वारा अन्न-वस्त्र रोककर देश-भर में खलबली मचा सकते हैं। इस लिये इनका सामना करना किसी एक बाग़ी सेना का सामना करने से भी अधिक कठिन हो गया है।

दूसरी समस्या यह है कि कुछ लोग संपत्ति को तोड़ने के लिये उतारू हो गए हैं। वे चाहते हैं कि उपार्जन और विभाजन करने का सब साधन और अधिकार सरकार के हाथ रहे। ये विप्लव-रूपी अस्त्र का प्रयोग करना चाहते हैं।

इन सब बातों का फल यह हो गया है कि वहाँ धनवानों और निर्धनों में भारी वैमनस्य फैल रहा है। संतोष का कहीं नाम भी नहीं। हो भी कैसे सभी को स्वार्थ ने अंधा बना दिया है। भोग-विलास में सबकी अधिक रति है, आत्मिक सुख का किसी को ध्यान तक नहीं। यही

कारण है कि इतनी अशांति और उद्विग्नता की अग्नि से तप्त होकर वे लाल लोहे से निकले आ रहे हैं।

लक्ष्मीदत्त तिवारी

× × ×

३. मनोवांछा

हो जाऊँ मणि परम मनोहर,
रहूँ मुकुट में तेरे पास ;
अथवा चंदन बनूँ —तिलक हो,
करूँ भाल में सदा निवास।
पाटंबर होकर तेरा, या,
बनूँ प्रभो, सुंदर परिधान ;
अथवा होकर फूल-हार मैं,
फूल हृदय पर करूँ गुमान।
रहने दे ! दे बना मुझे तू,
अपने गम्य मार्ग की धूल ;
चूमूँ चरण, पड़ें फीके सब,
मणि, चंदन, पाटंबर, फूल।

सुमंगलप्रकाश गुप्त

× × ×

४. भारत और जापान

आजकल भारत और जापान, इन दो देशों में उतना ही अंतर है, जितना पृथ्वी और आकाश में। एक अवनति का ठेकेदार है, और दूसरा सुख-संपत्ति का भंडारी और स्वतन्त्रता का परम कट्टर उपासक। पर इस भिन्नता का क्या कारण है ? दोनों एक ही महादेश के अंतर्गत हैं, और हमारा भारत तो जापान-जैसे कई देशों को अपनी सुविस्तृत गोद में छिपा ले सकता है। किंतु तब भी हम जापान से इतने पीछे क्यों हैं ? इन प्रश्नों का उचित और पक्षपातहीन उत्तर मिस्टर जे० टी० संडरलैंड ने "मॉडर्न रिव्यू" में दिया है। उनके लेख में भारत और जापान की आधुनिक अवस्था और उसके कारणों पर विचार किया गया है। उसका सारांश हम यहाँ देते हैं।

मिस एलेन एन्० ला० मौटे ने अपनी "Ethics of Opium"-नामक पुस्तक में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि जापान, भारत और चीन की वर्तमान अवस्था का क्या कारण है। उनका कहना है कि जापान की उन्नति का मूल-कारण उसकी स्वाधीनता है, और शेष दो देशों के साथ यह बात नहीं है। भारत में विदेशियों का आधिपत्य है, और शासन-पद्धति भी उन्हीं विदेशियों के इच्छानुकूल है। चीन की दशा तो और भी विचित्र है। पहली बात तो यह कि वह अफ़ीम का पुराना सेवक है, और दूसरी बात यह कि बेचारा न-जाने कितनी विदेशी शक्तियों का शिकार बन चुका है। मौटे ने लिखा है कि 'जापान ने आज सिद्ध कर दिया कि पूर्वीय जातियाँ स्वराज्य के अयोग्य नहीं हैं, और यह भी दिखला दिया कि वे अफ़ीम या मदिरा को भोजन की तरह अनिवार्य नहीं समझतीं। जिस समय अँगरेज़ लोग पूर्वीय देशों को अपने आधीन करने के लिये सिरतोड़ परिश्रम कर रहे थे, उस समय उन लोगों ने जापान को बेकार और तुच्छ समझकर छोड़ दिया था। उसी भूल का फल है कि जापान वाणिज्य और बल में आज योरप की प्रसिद्ध शक्तियों का मुक़ाबला कर रहा है। महात्मा गोखले ने १६०६ ई० को बेकार बजट पर भाषण देते हुए कहा था—"जापान में पाश्चात्य विचारों का प्रचार आज से केवल ४० वर्ष पहले हुआ था, किंतु अपने उत्तम राज्य-प्रबंध के कारण वह इतनी उन्नतावस्था में है। भारत लगभग १२० वर्षों से इँगलैंड के आधीन है, परंतु संसार के मुख्य राष्ट्रों में इसकी उचित गणना नहीं है।"

यह छोटा-सा जापान क्यों धूम मचा रहा है ? भारतवर्ष, जो विस्तार में उससे बहुत बड़ा है, और जिसकी सभ्यता भी उससे बहुत प्राचीन है, आज क्यों इस बुरी दशा में पड़ा है ? क्या जापान की जनता हमसे बुद्धि या बल में श्रेष्ठ है ? आज वे भले ही श्रेष्ठ बन बैठे हों, किंतु जिस समय अँगरेज़ों ने हमें पराधीनता की बेड़ी में बाँधा था, उस समय जापान की क्या दशा थी ? क्या उस समय भी वह स्वर्ग-भूमि भारत से श्रेष्ठ कहलाने का दावा कर सकता था ? इतनी दूर की बात जाने दीजिए। आज से ७० वर्ष पूर्व का भी जापान हमारी बराबरी नहीं कर सकता था। यदि उस समय पाश्चात्य जगत् से यह प्रश्न किया जाता कि सभ्यता, मानसिक और शारीरिक योग्यता तथा सुजनता में भारत बड़ा है, या जापान, तो मुझे विश्वास है कि वह परम ललाम ऋषि-भूमि भारत ही की ओर इशारा करता।

जापान की सभ्यता बहुत आधुनिक है। बहुत थोड़े ही दिनों में इसने ऐसी आश्चर्य-जनक उन्नति कर ली है कि अब यहाँ की सभ्यता वर्तमान काल के किसी भी उन्नत

देश से कम नहीं है। जापानवासी आज उन्नति के समस्त सद्‌गुणों के आगार हैं। कुछ वर्ष पहले तो एशिया की अन्य जातियाँ भी इसे नहीं जानती थीं। भारत की चर्चा योरप, अफ्रीका और संपूर्ण एशिया में बहुत प्राचीन समय से फैली हुई है। हमारी ख्याति ने ही महावीर सिकंदर को इस देश पर आक्रमण करने के लिये उत्साहित किया था। वह एशिया के इस अमूल्य हीरे पर अधिकार पाने के लिये लालायित हो रहा था। वह एक भारी सेना के साथ यहाँ आया : किंतु हमारी वीरता और सभ्यता ने उसे चकित कर दिया। वह एक ही लड़ाई के बाद लौट गया, आगे बढ़ने का साहस न हुआ। बौद्ध धर्म के प्रचारक ईसा के दो या तीन सौ वर्ष पहले ही से योरप और सारी एशिया में अपना काम कर रहे थे। भारतीय विचारों का प्रचार रोम देश में अधिक था, और वाणिज्य के कारण इन देशों में घनिष्ठ संबंध हो गया था। भारत आने के लिये एक सुगम समुद्र-पथ का पता लगाकर उसके अथाह धन को लूटने की प्रबल इच्छा से ही कोलंबस ऐटलांटिक महासागर में गया था। जब वासकोडिगामा ने कोलंबस का काम पूरा किया, तो पुर्तगाल, स्पेन, फ्रांस, हालैंड, और ग्रेटब्रिटन, सभी इस देश में वाणिज्य करने के लिये आपस में लड़ने लगे। अंत में ग्रेटब्रिटेन की जय हुई, और विजय के आनंद में इसने हमें गुलामी का तमग़ा पहना दिया। जिस भारत के कारण संसार के सभी देश ग्रेटब्रिटेन को ईर्षा की दृष्टि से देखते थे, उसी प्रसिद्ध धन-धान्य-पूर्ण भारत की आज यह दशा !

अब जापान का पुराना इतिहास देखिए। कुछ वर्ष पहले जापान केवल संन्यासियों का स्थान समझा जाता था, अन्य देशों से उसका संबंध नहीं था। एशिया के अन्य देशों में भी इसकी चर्चा न थी। आज से ७० वर्ष पहले । स्टर कमोडोर पेरी ने पहले-पहल इसकी निस्तब्धता भंग की थी, और पाश्चात्य जातियों को इसकी ओर आकर्षित किया था। यहीं से जापान की उन्नति का श्रीगणेश है। इसके पहले सभ्य संसार में इसे कोई भी स्थान प्राप्त न था। इसके मुख्य धर्म का जन्म भी भारत ही में हुआ था। इसके कला-कौशल की दशा भी अच्छी न थी। यह एक कृषि प्रधान देश था, और इसकी शिल्प-शालाओं की संख्या भी बहुत कम थी। इन सब विषयों में वह भारत से कहीं पीछे पड़ा था। जापान में खनिज-पदार्थों का भी एक तरह से अभाव ही था। किंतु भारत में कोयला, लोहा, तथा अन्य धातुओं की भरमार थी। पर तब भी इन थोड़े दिनों में जापान ने दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति की है। आजकल संसार के उन्नत और समृद्धिशाली देशों में इसकी गणना है। वह एशिया का मुखिया बन गया है। जापान ने एशिया का नेतृत्व भारत से छीन लिया। भारत आज शव तुल्य पड़ा है। कितने ही भारतवासी भूखों मर रहे हैं, और इँगलैंडवाले उनका माल लूटकर अपनी उदर पूर्ति कर रहे हैं। किंतु तब भी अपनी वास्तविक दुःखद स्थिति की ओर भारत का ध्यान पूर्णरूप से नहीं गया है। यह क्यों ? इस दुर्दशा का क्या कारण है।

कारण स्वयं सिद्ध और स्पष्ट है। कारण यह है कि जापान सदा स्वतंत्र रहा है, और भारत लगभग दो सौ वर्षों से एक विदेशी राज्य के आधीन है। यह बात विवाद-रहित है कि उन्नति का मूल कारण शिक्षा है। अब हमें यह देखना है कि क्या शिक्षा की उन्नति दोनों देशों में एक ही प्रकार से हुई है ? क्या इन दोनों देशों की सरकारों ने प्रजा की शिक्षा के लिये एक ही प्रकार से परिश्रम किया है ?

जब जापान ने अपनी आँखें खोलीं, और प्रसिद्ध राष्ट्रों की दशा देखी, तो उसे विश्वास हो गया कि देशोन्नति के लिये शिक्षा सर्वथा अनिवार्य है, विद्या ही सभी उन्नतियों की जननी है, और सब दोषों को दूर करती है। सन् १८६९ ई० में जापान-सरकार ने यह घोषणा की कि शिक्षा के विना उच्च पदवी पाना तो कठिन ही है वरन् सब जापानियों के लिये शिक्षा आवश्यक है। किसी गाँव या घर में कोई व्यक्ति अशिक्षित न रहने पावेगा। हरएक बच्चा पढ़ने के लिये बाध्य है। जापान की उन्नति में उसके महाराजों के अलौकिक गुणों से भी बड़ी सहायता मिली है। अब क्या था, सब विषयों के लिये भिन्न-भिन्न स्कूल, कॉलेज और युनिवर्सिटियाँ स्थापित होने लगीं। कृषि, वाणिज्य और विज्ञान संबंधी शिक्षा पाने के लिये जापानी विद्यार्थी योरप और अमेरिका के मुख्य-मुख्य विद्यालयों में जाने लगे। किंतु हमारी सरकार ने क्या किया ? उन लोगों ने यह विचारा कि भारतवासियों के शिक्षा प्रबंध को अपने हाथों में लिये बिना मनमाना शासन न कर सकेंगे। उन लोगों ने समझा कि यदि भारतवासी

विदेशों में विद्याध्ययन करने जायँगे, तो संभव है, उनके हृदय में स्वतंत्रता का भाव पुनः उत्पन्न हो जाय। सचमुच यह उनके लिये बड़ी भयानक बात होती। कुछ दिनों के बाद भारत-सरकार ने अपनी इच्छा के अनुसार एक शिक्षा-प्रणाली क़ायम की, लेकिन यह सर्वसाधारण की पहुँच के बाहर थी। बहुत कम लोग इससे लाभ उठा सके। जो कुछ शिक्षा भी दी जाती थी, उसका मुख्य उद्देश्य भारत-जनता को कायर और ग़ुलाम बनाना ही था। हम लोग पढ़कर इस योग्य अवश्य हो जाते थे कि अपने प्रभुओं की ग़ुलामी कर सकें।

ऐसी दशा में सभी को मानना पड़ेगा कि यदि भारत में भी जापान की भाँति स्वराज्य बना रहता, तो भारत जापान से कहीं उन्नतावस्था में रहता। हम जापानियों से बुद्धि में कम नहीं हैं; किंतु हमें पथ-पथ पर अँग्रेज़ों ने बाधा पहुँचाई है। हमें उन्नति का मौक़ा ही नहीं मिला। वैज्ञानिक शिक्षा से तो सरकार ने हमें पूर्णतः अनभिज्ञ ही रखा। वह नहीं चाहती थी कि भारतवासी विज्ञान-वाटिका में जाकर प्रकृति के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करें। हमें निर्बल और अशिक्षित रखने ही में उनका भला था। रवींद्रनाथ ठाकुर ने बहुत ठीक लिखा है—"जब एक देशभक्त पारसी सज्जन ने ताताबर्क्स का निर्माण किया, तब हम लोगों ने समझा था कि भारत के अच्छे दिन आ गए। अब वैज्ञानिक शिक्षाओं का प्रचार होगा। देशीय खनिज पदार्थों की तरक्क़ी होगी। किंतु सरकार ऐसा सुअवसर क्यों आने देती। उसने शीघ्र ही इसका प्रबंध अपने हाथों में लेकर हमारी आशाओं पर पानी फेर दिया। किंतु जब इँगलैंड और जर्मनी से युद्ध आरंभ हुआ, तो सरकार ने हम लोगों से कहा—"उद्यमी हो, व्यवसायी बनो, हमारी ज़रूरत की चीज़ें तैयार करो।"

अब हम यह देखें कि जापान और भारत की सरकारों ने अपनी प्रजा के लिये क्या-क्या किया है?

१—जापान ने आरंभ ही से शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया। इसी का फल यह है कि वह इँगलैंड और अमेरिका की भाँति शिक्षित कहलाने का दावा करता है, और इस समय प्रायः ६५ फ़ी सैकड़े नर-नारी विद्या-संपन्न हैं। १९०६ ई० में वहाँ ६ से १४ वर्ष की अवस्था-वाले ७७,५५,६९० बच्चे पढ़ते थे। वहाँ पढ़ने-लिखने तथा खेलने-कूदने का ऐसा उत्तम नियमबद्ध और वैज्ञानिक प्रबंध है कि लोग इस देश को बालकों का स्वर्गलोक कहते हैं। जापान की शिक्षा भी वहाँ की अलौकिक उन्नति में विशेषतया सहायक हुई है। भारत-सरकार ने आरंभ ही से हमें मूर्ख और अशिक्षित बनाने का प्रयत्न किया। उसी के कुप्रबंध का परिणाम यह है कि फ़ी सैकड़े निन्नानवे भारतवासी निरक्षर हैं।

२—जापान ने बड़े-बड़े कारख़ाने बनवाए और शिल्प एवं वाणिज्य-संबंधी शिक्षा बड़ी उत्तम रीति से दी जाने लगी। हर प्रकार की वस्तुएँ देश में तैयार होने लगीं। अँगरेज़ों ने अपनी शुल्क-पत्रिकाओं तथा अन्यान्य उपायों से हमारे उद्योग-धंधों का नाश कर दिया। यदि वे ऐसा न करते, तो उनके मंचेस्टर और लंकाशायर का नाम आज कौन जानता?

३—जापान शुरू ही से अपना माल दूर देशों में भेजने लगा, और जहाज़ बनाने के बड़े-बड़े कारख़ाने भी खुलने लगे। भारत-सरकार ने अँगरेज़ व्यापारियों के साथ बड़ी सहानुभूति दिखलाई, और इस देश के व्यापार को नष्ट करने के लिये उन्हें बड़ी सहायता दी। उन्हीं की धूर्तता से हमारे देश में जहाज़ बनाने के कारख़ाने बिलकुल बरबाद हो गए। एक समय था, जब भारत के जहाज़ संसार के सभी समुद्रों पर तैरते पाए जाते थे; पर आज एक भी जहाज़ नज़र नहीं आता।

४—जापानवालों को यह बराबर ध्यान रहा कि विदेशी घर का माल लूटने न पावें। देश का धन देश-वासियों के हित में ख़र्च हो। भला, हमारी सरकार को ऐसा ख़्याल क्यों होता? उनका अभिप्राय तो भारत का ख़ज़ाना साफ़ करना ही था। हमारा धन जहाज़ों पर लाद-लादकर इँगलैंड चला जाय, और हम मुँह ताकें। हाय रे दुर्दैव! धन लूटने के लिये सरकार ने हज़ारों उपाय किए। जो वस्तुएँ भारत में ख़रीदी जानी चाहिए थीं, वे इँगलैंड ही में ख़रीदी गईं। इँगलैंड और अन्य देशों से संग्राम हो, और ख़र्च के लिये रुपया जाय भारत से। ऊँचे-ऊँचे पदों पर विदेशी बहाल हुए, और नवाबी वेतन पाने लगे। यदि उनके बदले भारतवासी बहाल होते, तो देश का भला भी होता, और धन की भी बचत होती। इस प्रकार के अन्य हज़ारों इंतज़ामों से भारत निर्धन किया गया।

हम लोगों को यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि पाश्चात्य संसर्ग और विचार-प्रभाव से एशिया में जो नई

रोशनी फैली थी, वह भारतवर्ष ही से आरंभ हुई थी, जापान से नहीं। जापान की अपेक्षा भारत ही से पश्चिमीय देशों का अधिक हेलमेल था। एशिया का पुनरुत्थान बंगदेशीय राममोहन राय और ईश्वरचंद्र विद्यासागर के द्वारा ही हुआ था। साहित्य-उपवन में पश्चिम की हवा पहले-पहल उसी काल में बही थी। उस समय जापान इन बातों से बिलकुल अनभिज्ञ रह स्थिर महासागर की लहरों का आनंद ले रहा था। हमें चाहिए था कि एशिया के नेता बने रहते, और अपने अपूर्व ज्ञानभंडार से समस्त मानव जाति को लाभ पहुँचाते। यदि हम जापान की भाँति स्वतंत्र रहते, यदि देश का प्रबंध हमारे योग्य धुरंधर नेताओं के हाथों में होता, तो हम अपनी पूर्व प्रतिष्ठा को निश्चय ही सुरक्षित रखते। पाश्चात्य विचारों से हमारी हानि नहीं हुई, अँगरेज़ों के आने से हमारा सिर्फ़ नुक़सान नहीं हुआ, उनकी धूर्त चालों ने हमें बरबाद कर दिया। अमेरिका भी इँगलैंड की तरह स्वाधीन है; किंतु वह स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ समझता है। वहाँ के निवासी नीच प्रकृति के या लालची नहीं हैं। वे सच्चे वीर हैं, और अन्य देशों की स्वतंत्रता तथा प्रतिष्ठा की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते हैं। कमोडोर पेरी इसी अमेरिका का एक आदर्श पुत्र था। वह दूसरों की इज़्ज़त को अपनी इज़्ज़त समझता था। जब उसने जापान में पहले-पहल आकर वहाँ के रहनेवालों को शिक्षित, उद्यमशील और वाणिज्य-प्रिय होने का सदुपदेश दिया था, उस समय उसने उन लोगों पर विजय प्राप्त करने का प्रयास नहीं किया, वहाँ अमेरिका का राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया, भोले-भाले जापानियों का धन लूटने की कोशिश नहीं की। उसने उनका उचित सम्मान किया, और संसार के सब प्रसिद्ध राष्ट्रों से उसका परिचय कराया। वर्तमान जापान के इतिहास का पन्ना-पन्ना और जापानियों के शरीर का रग रग इस महामना पेरी का कृतज्ञ है।

इस उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होगा कि जापान उन्नति प्राय सभी बातों में पाताल से एकाएक आसमान तक उड़ गया है। जापान में कभी किसी विदेशी का राज्य नहीं हुआ, और किसी विदेशी से जापान ने कोई भारी पराजय नहीं पाई। जापान स्वयं अपनी उत्कट अभिलाषा, प्रबल उदारता, वैज्ञानिक कुशलता, प्रशंसनीय विद्या संपन्नता, पारस्परिक प्रेम और वीरता से उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान है, और हम लोगों के हृदय में अनुपम उत्साह प्रदान कर रहा है। आशा है हम लोग इस प्रोत्साहन से यथोचित लाभ उठाकर अपने पूर्व पुरुषों की सर्वव्यापी ख्याति को पुनः प्राप्त करने का यथासाध्य परिश्रम करेंगे।

लक्ष्मीप्रसाद द्विवेदी

× × ×

५. उन्माद

कहेंगे, समझेंगे क्या लोग?
यही आता है पीछे ध्यान।
सबों के ही सम्मुख 'हा नाथ!'
निकल ही तो पड़ता अनजान।
कौन बैठे हैं मेरे पास?
नहीं रहता इतना भी ज्ञान।
न जाने कैसे-कैसे हाय!
विरह के गाने लगती गान।

कभी बैठी भरती हूँ आह!
हृदय को लेती कर से थाम।
सबों के सम्मुख अपने आप
अश्रु बहने लगते अविराम।
कभी लेती हूँ मैं कर जोड़;
बैठ जाती हूँ घुटने टेक।
समझकर सुनते होंगे नाथ;
विनय करती हूँ भाँति अनेक।

नाथ ने फूँका कैसा मंत्र?
बदल-सा गया सकल संसार।
किया कैसा उनने व्यवहार?
उग्रता थी, या यह था प्यार!
पवन से, पुष्पों से, बहु बार—
प्रकृति से करती हूँ मैं बात।
फूल में पाकर उनका रूप;
चूम लेती हूँ कोमल गात।

बनाती, और तोड़ती नित्य
सरस सुमनों का सुंदर हार।
फूल-सी खिल, मुरझाती हाय!
हृदय की आशा बारंबार।
नहीं छोड़ेगी पीछा हाय!
घड़ी भर को भी उनकी याद।

यही कहता होगा संसार
इसी को कहते हैं उन्माद ।
हरिकृष्ण विजय वर्गीय "प्रेमी"

× × ×

६. कवि का स्वरूप

नामरूपात्मकं विश्वं यदिदं दृश्यते द्विधा ;
तत्राद्यस्य कविर्वेधा द्वितीयस्य प्रजापतिः ।

कवि की सृष्टि कविता है । जिस प्रकार मानव देह की परिपुष्टि और स्थिरता के निमित्त भोजन अनिवार्य है, उसी प्रकार अंतरात्मा की तृप्ति के लिये भी कुछ आहार अपेक्षित है, और यह आहार है कविता । अंतरात्मा में परब्रह्म की ज्योति का प्रकाश है । उसी आदित्य की किरण की वह वासस्थली है । ऐसी पवित्र और महती वस्तु भी जिसके आह्वान से प्रफुल्लित हो उठती है, उसकी और उसके विधाता की महनीयता का कहना ही क्या ? कवि केवल स्रष्टा ही नहीं, द्रष्टा भी है । वह देखता है, सुनता है, और सृष्टि करता है । सभी देखते हैं, सुनते हैं, किंतु उनके और कवि के देखने-सुनने में अंतर—महदंतर है । साधारण लोगों की दृष्टि में जो महत्त्वहीन होता है, उसके लिये वही महत्त्व-पूर्ण है । उसकी वीणा की स्वर-लहरी में विश्व-प्रेम और विश्व-वेदना का स्वर अंतर्हित होता है । वह अपनी कोठरी में रहते हुए अथवा सरिता के तट पर हरी-हरी घास में भ्रमण करते हुए भी समस्त संसार में विचरण करता है । कोई बात उसकी तीव्र दृष्टि से छिप नहीं सकती । कवि चाहे, तो निमेष-मात्र में पत्थर को पिघला दे, जड़ को चेतन कर दे, भूत को वर्तमान और वर्तमान को भविष्य कर दे । कवि चित्रकार भी है । किंतु उसका चित्र हृदय-पटल पर अंकित होता है । चित्रकार लेखनी द्वारा जिन वस्तुओं का चित्र अंकित करने में असमर्थ है, कवि वाणी द्वारा उनकी सृष्टि करता है । और, ये चित्र ऐसे चिरस्थायी होते हैं कि अनेक शक्तिशाली साम्राज्यों के नष्ट हो जाने पर भी मौजूद रहते हैं । हँसते हुओं को रुलाना और रोतों को हँसाना कवि का ही खिलवाड़ है । रात्रि के भीषण सन्नाटे में जब सभी निद्रा में निमग्न रहते हैं, पृथ्वी पर नीरवता का तांडव होता है, तब कवि अपने सृष्टि-निर्माण के कार्य में लगता है । उस समय उसके हृदय में भाव-प्रबलता और कल्पना की कल्लोलिनी प्रवाहित होती है । उसकी प्रतिभा से समुज्ज्वल विचार-धारा और वाणी से गंभीर शांतिदायिनी, प्रसन्न पदावली का निस्सरण होता है—

"The light which never
was on land or sea
The Consecration and
the poet's dream."

कवि की हृदयस्थली उसी अलौकिक प्रकाश से प्रकाशित रहती है, जिसका सर्वत्र अभाव है । कवि केवल अपनी अपूर्व सृष्टि से ही संतुष्ट नहीं होता, वरन् उसकी कृति में भविष्य के संदेश और भावी नवयुग के आगमन की घोषणा अंतर्हित होती है ।

ब्रह्मचारी भद्रजित् "भद्र"

× × ×

७. प्रेम-पुहुप

हृदय-सरोवर के मंजुल सु नीर छीर,
मेरे कर-कंकन रतन जोति धारे हो ;
जीवनेश ! जीवन-निशा के शुभ चारुचंद,
भावना-भवन के प्रदीप उजियारे हो ।
आसा-लता-कुंजन के श्याम छवि वारे तुम,
नैन-राधिका के राधिकेश ! नैन-तारे हो ;
कंठ बाँसुरी के स्वर, मृदुल सुधा के फल,
प्रेम के पुहुप, मेरे पीत पटवारे हो ।

देवीदीन दीक्षित 'दिवाकर'

× × ×

८. फूल

मैंने पूछा फूल से कैसे पाया रूप ?
सुंदरता की शांति यह और सुगंधि अनूप ।
उत्तर में उस फूल के मुख में थी मुसकान ;
वायु झकोरे में उड़ी प्रेम सुगंध महान ।
मैंने चाहा तोड़ लूँ, बढ़ा आप ही हाथ ;
टूट पड़ा मानो वही अभिलाषा के साथ ।
मैंने सोचा ठीक है, भरकर भक्ति महान ;
कर देता है फूल ही अपना जीवन-दान ।
मानो आशिर्वाद दे उसने पाया त्राण ;
प्राण-समर्पण कर दिया, "हो जग का कल्याण ।"
धीरे-धीरे उड़ गई सब सुगंध की शांति ;
रह सकती कैसे भला प्राणहीन में कांति ?

फेंक दिया मैंने उसे मन को समझ विनोद ;
पर आकर वह पड़ गया माता की सुख गोद।
कहा किसी ने तब वहाँ—था यह मेरा फूल ;
जीवन के आदर्श का शांति हृदय का मूल।
पर-हित-रत के रूप में थी सुगंध निष्काम ;
फूलों का जीवन बना देखा यह अभिराम।

प्यारेलाल टहनगुरिया

× × ×

९. अँगरेज़ी

नवंबर ८, सन् १९२४ ई० के दिवीकली सीज़ डेली मेल में लिखित 'English as the world language'-शीर्षक लेख के देखने से पता चलता है कि अँगरेज़ी-भाषा बोलनेवालों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती आ रही है। सन् १८०१ ई० में अँगरेज़ी बोलनेवालों की संख्या २ करोड़ ४ लाख ३ सौ थी। सन् १८९० ई० में वह बढ़कर ११ करोड़ १० लाख १० हज़ार होगई, एवं आजकल प्रायः १७ करोड़ है, और लगातार बढ़ती जा रही है। समस्त संसार की जन-संख्या का दसवाँ भाग वर्तमान काल में, अँगरेज़ी में बातचीत करनेवाला अनुमान किया जाता है, जो प्रायः सत्य ही है। बहुतों का ख़याल है कि यदि कोई नई घटना घटित न हुई, तो सन् १९६० ई० में किसी भी भाषा के बोलनेवालों की अपेक्षा कम-से-कम इसके बोलने वालों की संख्या दुगनी हो जायगी, और सन् २००० ई० तक भूमंडल का चतुर्थांश इसी भाषा का उपयोग करने लगेगा। देश-भाषा के प्रेमियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

नंदकिशोर अग्रवाल चौधरी

× × ×

१०. तेरे प्रति

(१)

लिये जाती तुमको सुकुमार,
नले नग तारक-जटित अकाम ;
सुभग कोई बाला उस पार,
छिपाकर निज अंचल में पास।

(२)

अरे बाला के अक्षय प्रकाश !
कहाँ थे देखा जब इस पार ?
मौन जगती के उर में वास,
समाये थे बन प्राणाधार—

(३)

फूल नव पल्लव में अम्लान,
लता तरु से खिलते दिन-रात ;
कंठ में कवि के पाते मान,
याद कर मुरझाते सुख बात।

(४)

प्रात के कहते मोती आज,
नैश नभ के भी चंचल साज ;
यही दुहराते दुख की काल,
तुम्हारा जग का कभी न साथ।

पयोदत्त त्रिपाठी

× × ×

११. कवि सम्राट राजा रामसिंहजी, के० सी०, आई० ई० सीतामऊ-नरेश

परिचय

राजपूताना क्षत्रिय महासभा के सभापति सीतामऊ राज्य के वर्तमान नरेश कवि सम्राट् राजा रामसिंहजी के संबंध में क्षत्रिय पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी विशेषरूप से उल्लेख हुआ करता है। आपके भाषण भी बहुधा उन्हीं में प्रकाशित हुआ करते हैं यद्यपि आप साहित्य-संसार के सुपरिचित-विद्वान हैं, तथापि इधर साहित्य के कतिपय भावुक-रसिकों में आपका परिचय बहुत कम है।

यहाँ मैं उक्त राजा साहब के जीवन-संबंधी कुछ प्रसंगों का वर्णन करूँगा और साथ ही कुछ छंद जो मुझे वहाँ के युवराज महोदय श्रीरघुबीरसिंहजी द्वारा प्राप्त हुए हैं, उनका रसास्वादन 'माधुरी' के पाठकों को कराऊँगा।

राठौर-कुल-भूषण राजा साहब का जन्म ता० २ जनवरी, सन् १८८० ई० को धार-राज्य के अंतर्गत काछी बड़ोदा-नामक ग्राम में हुआ था। आपके पूज्यपिता श्री०दलेलसिंह-जी थे। प्रारंभिक शिक्षा के बाद बारह वर्ष की अवस्था में आप डेली-कॉलेज इंदौर में विद्याध्ययन के लिये भेज दिए गए थे। वहाँ की शिक्षा समाप्त हो जाने पर, सन् १८८८ ई० में पैमाइश व जमाबंदी का काम सीखने के लिये आप भरतपुर आए। यहाँ का काम सीखकर आप लौटे ही थे कि तत्कालीन सीतामऊ नरेश श्री०शार्दूलसिंहजी का देहावसान हो गया। इन परलोकवासी राजा साहब के कोई
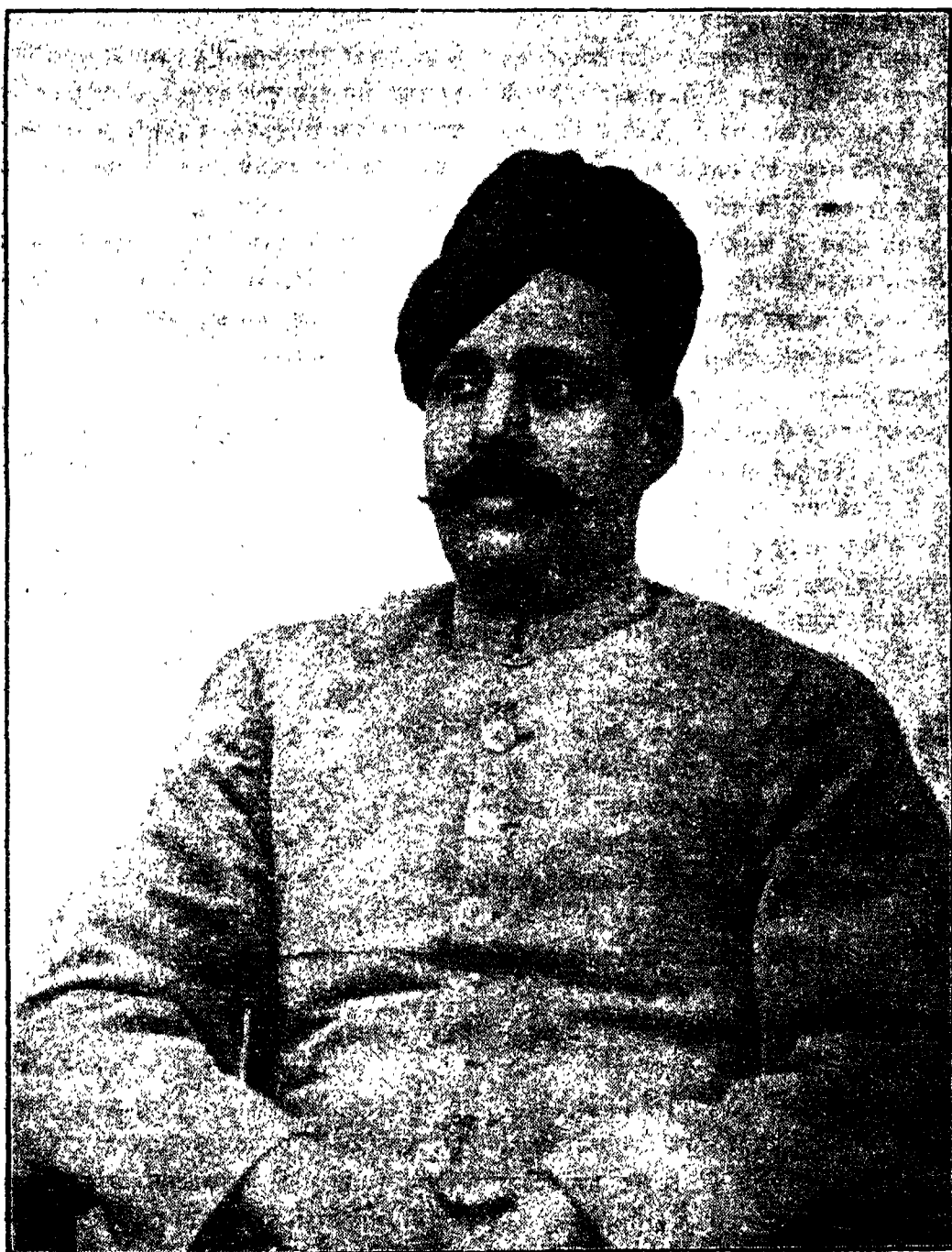
राजा रामसिंह

संतान न थी, अतः भारत-सरकार ने आपकी बहुज्ञता से मुग्ध होकर तथा आपको यहाँ का निकट संबंधी समझकर आपको सीतामऊ-नरेश निर्वाचित कर दिया। तदनुसार ता० २१ नवंबर, सन् १९०० ई० को आपका राज्यारोहण सीतामऊ-राज्य में, बड़े समारोह के साथ संपन्न हुआ।

वैसे तो आप अँगरेज़ी और संस्कृत-साहित्य से भी

अधिक अनुराग रखते हैं; पर मातृ-भाषा के आप अनन्य-प्रेमी हैं। साथ ही आप संगीत-शास्त्र के मर्मज्ञ तथा ज्योतिष और विज्ञान के अच्छे विद्वान् हैं। आपकी बहुज्ञता के विषय में, मैं कुछ नहीं कह सकता, केवल आपके बनाए कुछ पद्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ, जिनसे इतना अवश्य ज्ञात हो जाता है कि आज भारत के अनेक नरेशों को भी आपके चरित्र के अनुकरण की आवश्यकता है। यदि 'नीरक्षीर न्यायेन' आपके चरित्र की आलोचना की जाय, तो सचमुच आपका आसन बहुत ऊँचा है। इस संबंध में आपके प्रति साहित्याचार्य कविराजा मुरारीदानजी के यह उद्गार हैं—

कृपण कपूत परदार पर-द्रव्य-हारी,
जाए जिहिं-तिहिं ठाँ कहाँ लौं गुन गाऊँ मैं ;
धर्म की न भावै गाथ चलत अनीत साथ,
सीतामऊ-नाथ दुख कौन को सुनाऊँ मैं।
क्षत्रिन उतार दसा आई होनहार बस,
भनत मुरार देखि-देखि पछिताऊँ मैं ;
जब सुधि तेरी है अलेष दोष रामराजा,
तब सब कलि को कलेस भूलि जाऊँ मैं।

इस समय आपकी अवस्था ४७ वर्ष की है; किंतु आपका विद्याध्ययन अभी तक उसी विद्यार्थी-दशा की प्रचलित शैली पर परिमित और परिवर्धित है। राज-नैतिक दृष्टि से आपकी शासन-प्रणाली बहुत उन्नत है। आपके शासन-काल में प्रजा को शिक्षा का अपूर्व लाभ पहुँचा है।

साहित्य-सेवा

राम-विलास, वायु-विज्ञान और मोहन-विनोद-नामक इन तीन ग्रंथ-रत्नों की आपने रचना की है; जिनमें पहले दो ग्रंथ प्रकाशित हैं और मोहन-विनोद (नायिका-भेद) अभी अप्रकाशित है। वायु-विज्ञान मैंने देखा है, इसकी रचना बहुत ही सरल और सुबोध हुई है। इसमें आवश्यक चित्रों के साथ वायु-संबंधी अनेक वैज्ञानिक विषयों का समावेश है। इस ग्रंथ की विशिष्ट समालोचना जनवरी सन् १९०६ की सरस्वती अंक में मातृ-भाषा के मर्मज्ञ श्री० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के संपादकत्व में उन्हीं की लेखनी द्वारा हो चुकी है। वास्तव में यह ग्रंथ बहुत उपयोगी है और विज्ञान के एक अंग का पोषक है। मेरी सम्मति से तो इस ग्रंथ से हिंदी-साहित्य-सम्मेलन को लाभ उठाना चाहिए।

आपके सभी पद्य प्रायः व्रजभाषा में हैं और व्रजभाषा से ही आपको बड़ा अनुराग है। आपकी पद्य-रचना बहुत ही सरल और सरस हुआ करती है। भाव गांभीर्य के साथ आपकी कविता में क्लिष्टता न होने से उसमें एक अलौकिक चमत्कार आ गया है। आप कविता में अपना उप-नाम—'मोहन' रखते हैं।

राम विलास के भूमिका-पृष्ठ पर 'हेतु'-शीर्षक पद्य से आपने एक सांगरूपक बाँधा है; जिसने आपके विलास की रचना का लोकोत्तर चमत्कार प्रतीत हो जाता है। ज़रा उसे भी देख लीजिए—

कवित्त

दिघ लघु काष्ठ सोई छंद है अनेक जामें,
कलिन कलाप शब्द जटित अपार को ;
नाना भांति रंग राजे भूषन विचित्र रस,
नाविक निपुन नाम रावन बिदार को।
कामबिधि क्रोध-मोहयुक्त भवसिंधु प्रसो,
गावें नर कोऊ चढ़ि पावे तट पार को ;
मोहन बनायो सत्र राघव विलास रूप,
निज के उधार और पर उपकार को।

रघुनाथजी की बाललीला के संबंध में एक छंद और लीजिए—

कबै बीच अंगन में खेलन में दौरि-दौरि,
मातु अंक मध्य कबौ लोटत लमकि-लमकि ;
दुरि-दुरि देहली में कबै तिहूं भ्रात संग,
भाँति अन्य बस्तु देखि धावत चमकि-चमकि।
नाद घुंघरूनयुत मोहन महो पे गिरि,
उठि-उठि बार-बार नाचत ठमकि-ठमकि ;
ऐसे रघुनाथ बाल-लीला के करनहार,
कीजिए प्रकास नित्त मो उर दमकि-दमकि।

यह स्वभावोक्ति अलंकार का कैसा अच्छा नमूना है। इसके पढ़ने से वात्सल्य भाव का उद्रेक हो उठता है। और कवियों ने भी राम की बाललीला का वर्णन किया है; पर यह भी अपने ढंग में बहुत अच्छा है। अब कुछ शृंगार रस के पद्यों का रसास्वादन कीजिए—

पिय के ढिग आवन धावन को, सुनि पाती नहीं लिखबो अकुलाने ;
उमड़्यो उर में दुख भारी तबै, लिख नाहीं सकी अँसुवा अधिकाने।
करते फिर लेखनी मोहन डारि के, आलि सों बैन कहे यह ताने ;
सखि नूतन कौन सो हाल लिखूँ, पति अंतरयामी सबै कुछ जाने।

सखियों के कहने से कालिदास की शकुंतला ने भी अपने पति को पत्र लिखा है ; पर उस समय यह बात मालूम न थी कि पति अंतर्यामी होता है । वास्तव में इस पद्य का भाव बहुत ही ललित और गंभीर है, इस प्रेमास्युक्ति को बार-बार पढ़ने को जो चाहता है । और देखिए, यहाँ कंत के पत्र की प्रतीक्षा क्या मज़ेदार है—

ना उत बौरत अंब कहा, वहँ मंजुल गान बिहंग न गावत ;
मोहन सीतल मद सुगंधित पौन कहा न तहाँ सरसावत ।
का मधुमाते मिलिंद उतै बन बागन में नहिं गुंज सुनावत ;
आयो न कंत सँदेस अजौं सखि, का उहि देस बसंत न आवत ।

कोई विरहिणी सर्वत्र ऋतुराज का साम्राज्य देखकर सखियों से पूँछ रही है कि वहाँ—उस देश में जहाँ पति निवास करते हैं—क्या वसंत का शासन नहीं है कि जो अभी तक कंत का संदेशा मेरे पास नहीं आया ।

सेवती सों बहु प्रीति करी, अलि ताको भयो रस चाखनहारो ;
नेह पै ना फिर ध्यान धस्यो, थल और गयो तजि ताहि ठगारो ।
मोहन याहि तै वा उर माहि उठ्यो दुखरूप दवानल भारो ;
तामें मनो जरि अंग यहै तब रे खल भृंग, भयो अति कारो ।

यह सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा का कितना ललित दृष्टांत है । भ्रमर के लिये यह कितना अच्छा उपलक्ष्य है—सेवती की उपेक्षा के कारण उसके विरहानल से जलकर दुष्ट भृंग का अंग काला पड़ गया है ।

एहो मन भावन जू सावन सुहावन में ,
मोहिं तरसावन को हा हा जिय धारो क्यों ;
कारेकारे बादर ये गाजत करारे भारे ,
उर में दरारें करें नाहिन निहारो क्यों ।
झिल्ली झनकारें अरु दादुर दुकारें अति ,
चातक पुकारें प्रीति मोहन बिसारो क्यों ;
सांवरे परम प्यारे नैनन के तारे होय ,
न्यारे होयबे की बात हिय में बिचारो क्यों ।

अनुप्रास बाहुल्य के साथ कितना सरस वर्णन है । नायक के प्रति नायिका की यह मिलन-आरज़ू कितनी हृदय-हारिणी है । वास्तव में सावन सुहावन तो प्रिय-समागम का अलभ्य अवसर है—सौभाग्य से ही प्राप्त होता है; इसमें 'बिछोहे' की बात उठाना कौन-सी सहृदयता है ।

कोकिल मयूर कीर आदिक बिहंगन को ,
करना मधुर गान जो पे ये उचारि हैं ;
फूलै-फूले कुंजन में भृंगन की गुंज अरु ,
त्रिविध समीर मेरो कछु ना बिगारि हैं ।
पापी या मयंक की न रंचक चलेगी अब ,
मोहन सकल कला जो पे यह धारि हैं ;
तुमहू अनंग अब मोद सों उमंग भरो ,
आज सुखकंद नँद-नंदन पधारिहैं ।

प्रोषित-पतिका के लिये पहिले येही कामोद्दीपक सामग्रियाँ जी को जलानेवाली थीं ; किंतु अब इनसे कोई डर न रहा क्योंकि आज नंदनंदन पधारते हैं । इस छंद का पद लालित्य कितना सरस और ज़ोरदार है, विशेष कर अंतिम चरण बड़ा रोचक है । इसी प्रकार का एक छंद और लीजिये—

बाला को न्हवाय बहुबारन सुधारें कोऊ ;
जानि आज ऐहैं नाह रानी के महल को ।
भूषन विचित्र चारु बसन सँवारे कोऊ ;
सेज पै बिठाय कोऊ लखै परिमल को ।
कोऊ हँसे मंद-मंद धीरज बँधावे कोऊ ;
कोऊ लाय बीरो देत राधिकानवल को ।
मोहन नरावे चख लज्जित ह्वै चंदमुखी ;
आलिन समाज बीच हेरि हलचल को ।

कितनी हलचल है । इस ख़ुशी का भी कुछ ठिकाना है । आज राधा के बाधाहरण कृष्ण का आगमन है । राधिका की सजावट कुछ कही नहीं जाती है - कोई सखी नहला रही है—कोई बाल सँवार रही है—कोई गहने कपड़े पहना रही है—कोई सेज पर बैठा रही है—कोई परिमल भेंट करती है—कोई मंद-मंद हँसी करती है—कोई धीरज बँधाती है—कोई पान का बीड़ा देती है । पर इस सहृदयता की भी कोई सीमा है ?

देखिये चंद्रमुखी राधा सखियों के समाज में इस हल-चल को देखकर लज्जित वदन, आँखें नीची किये सेज पर बैठी हैं ! कितना अच्छा भाव है ! पद-लालित्य कितना हृदयहारी है ! वास्तव में यह उदात्त का नमूना देखते ही बन आता है ।

मीन कंज खंजन के भए मद भंग सबै ;
मोहन निहारें नेकु नैनन लुनाई को ।
पूरन शरद चंद छीन छबि होत बेगि ;
पेखि जाके आनन की शोभा सुघराई को ।
चाप चारु बिंबाफल देखि के लजात हिय ;
भौंह की बँकाई अरु अधर ललाई को ।
रसिक सुजान कान रीझे क्यों न ऐसी लखि;
राधा गुन-खानकी स्वरूप अधिकाई को ।

यह व्यतिरेक अलंकार का कितना स्पष्ट उदाहरण है। राधा के अंग अवयव की सुघराई के सामने बिचारे उपमान पनाह माँगते हैं। रसिक-सुजान-कान्ह राधा की इस स्वरूप-अधिकाई को देखकर भला क्यों न रीझेंगे। आपने राधा की स्वरूप-सुघराई को तो देख लिया अब ज़रा हरि की छवि भी देख लीजिये—

भौंह समान कमान नहीं अरु नैनन से नहीं मीन लखावे ;
लाल प्रवाल न ओठन से लखि दंतन कुंद कली सरमावे।
मोहन कंठ सो कंबु नहीं अरु पंकज ना पद की द्युति पावे ;
काम लजावनि पावनि या हरि की छबि देखत ही बनिआवे।

यह प्रतीप अलंकार, कितना सुंदर है। राजा साहिब ने राधाकृष्ण के नख-शिख का वर्णन बहुत ही सुंदर किया है। इस संबंध में आपके अनेक छंद हैं, किंतु विस्तार-भय से हमने एक दो पद्य ही बतौर नमूने के पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए हैं।

कोकिल को नहिं शब्द मनोहर है मधुरी अति बानी सुभीनी ;
भौंरन ये भुनभान नहीं पद भाँझरियाँ धुनि मंजुल कीनी।
पुष्प मजी फुलवारी नहीं पर सोहत सारी सुरंग रँगीनी ;
मोहन जू भ्रम भूलिये ना ऋतुराज नहीं यह नारी प्रवीनी।

यह शुद्धापन्हुति का कितना शुद्ध दृष्टांत है—यह कोकिल का मनोहर शब्द नहीं है, यह सुधा-रस-भीनी बानी है—यह भौंरों की झंकार नहीं है यह पद-नूपुर—पाज़ेबों—की झीनी झंकार है—यह पुष्पों से सुसज्जित फुलवारी नहीं है यह सुंदर रंगों की रँगीली साड़ी है। भ्रम से न भूलिये यह ऋतुराज नहीं है यह प्रवीन नारी अर्थात् प्रौढ़ा स्त्री है।

अब ज़रा राजा साहिब की उन सूक्तियों को और सुन लीजिये कि जिनमें जातीयता और राष्ट्रीयता का ख़ासा प्रस्फुटन हुआ है; देखिए—

ब्राह्मण वैश्यरु शूद्र दिनों दिन शिक्षण पाय प्रभाव बढ़ावें ;
ढेर-चमार-सी नीचहू जाति सुधारि दशा निज उन्नति पावें।
पामर भिल्ल महापशु मे मदिरा तजिके मिलि संघ बनावें ;
कौन से पाप से ईश दयानिधि क्षत्रिय जाति अधोगति पावें।

इस पद्य से आपका जातीय अनुराग पाया जाता है। और देखिए—

आस धरे सबही तुमरी क्षितिपाल खरे कहा और कहीजे ;
हौ गय असीम उदार पयोद प्रजाजन को न वृथा दुख दीजे।
सूखत हा! बरखा बिन धान्य, दयाकरि बेग बिथा हरलीजे;
पौन ते प्रेरित है जगजीवन, कीरति नाहिं कलंकित कीजे।

उक्त छंद की रचना कितनी सुंदर और समयानुकूल हुई है। इसके द्वारा राजा साहिब के उच्च आदर्श का पता चल जाता है। अब कुछ दोहों के नमूने भी देख लीजिए—

प्रियतम को पेख्यो चहे प्रेम पियासे नैन।
आँसु निगोरे चहत हैं औसर पै दुख दैन॥
मोर पिया मुख को नहीं तूने लख्यो चकोर।
याते तू इकटक लखे चंद कलंकी ओर॥
नाह दोष सुनि मानतें मन को करौं कठोर।
चद्रकांत सो होत पै लखि मुखचंद बहोर॥
करत निछावर ए सखी! आवत लाज अपार।
प्रान निछावर करि चुकी करिबो और असार॥
कर लाघव विधिने लख्यो रचिके प्रथम निशेष।
याते तब यह बदन-विधु विधुते बन्यो बिशेष॥
नहीं सुमन नहिं रुचिर फल काठहु निपटनिकाम।
शरन देत पर अमित को याही ते बर नाम॥
ओछे नर को उच्चपद किमि करि सके महान।
कहा असुर-गुरु मीनगत होवत शशी समान॥
असित बरन अति निज निरखि सोच न कर घनश्याम।
सरस हृदयता करत लव श्यामलता छबिधाम॥
सरल सरस रसनारुचिर रसिक मधुप जेहि लीन।
काव्य-कुसुम काको न मन, बरबस करत अधीन॥
सुमनदोष अरु गुननको जो न करहि निरधार।
तो तोको कैसे मधुप रसिक गिनहि संसार॥
ए उलूक इन काग को क्यों चाहत दुख देन।
तूहुँ न रहि है चैन में बीते पै यह रैन॥

उपर्युक्त कुछ दोहे मैंने आपकी दोहावली से चुन लिये हैं। इनमें अलंकारों का चमत्कार और भावों की गंभीरता कहाँ तक है इसका निर्णय मैं पाठकों ही पर छोड़ता हूँ। यदि हो सका तो फिर कभी राजा साहिब के और पद्य भी पाठकों की सेवा में उपस्थित करूँगा। मैं आशा करता हूँ कि मिश्रबंधुओं ने अपने 'विनोद' में राजा साहिब का उल्लेख अवश्य किया होगा क्योंकि आजकल इन गिरे दिनों में हमारा साहित्य आप जैसे विद्वानों से ही गौरव पा सका है। अंत में मैं राजकुमार श्रीरघुबीरसिंहजी को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि, आपने मेरी प्रार्थना को मानकर इस संग्रह के लिये परिश्रम कर मुझे कृतार्थ किया।

बनवारीलाल 'विशारद'।

बाल-विनोद

१. जादू की खूँटी

स्टेशन से घर पहुँचकर नंदों ने देखा कि बाबूजी अभी कॉलेज से नहीं लौटे। नंदो अपने पिता को बाबूजी कहता है, उसके पिता डी० ए० वी० कॉलेज कानपुर में प्रोफ़ेसर हैं। नंदो ने सोचा कि चलें, तब तक रज्जन से मिल आवें।

'तसवीर किसने फाड़ी'—जैसे ही रज्जन ने बिगड़कर कहा, वैसे ही नंदो वहाँ पहुँचा। नंदो ने देखा कि श्याम, पुत्ती, गया, गोपी, बनारसी और भैरव—कई लड़के बैठे हैं। रज्जन ने कहा—

"नंदो, देहली से कब आए?"

नंदो—अभी-अभी घर आकर सीधे तुम्हारे पास आ रहे हैं। हाँ, बताओ, क्या बात है? किस पर बिगड़ रहे हो?

रज्जन—(फटी तसवीर दिखलाकर) किसी ने तसवीर फाड़ डाली है, पर बतलाता कोई नहीं।

किसी ने तसवीर फाड़ डाली पर बतलाता कोई नहीं

और (बालकों की ओर हाथ उठाकर) इन्हीं में से किसी ने फाड़ा है, पता नहीं लगता।

हम अभी पता लगाए देते हैं—कहकर नंदो अपने घर लौट गया। घर पास ही था। जब वह लौटा, उसके हाथ में लकड़ी की एक खूँटी थी।

नंदो ने कहा—यह जादू की खूँटी है, हम इस को कोठरी में, दीवाल पर गाड़ देते हैं। जितने लड़के यहाँ बैठे हैं, बारी-बारी से कोठरी के भीतर जायँ और दोनों हाथ से खूँटी को एक बार पकड़ लें। जिसने तसवीर फाड़ी होगी, उसके हाथ खूँटी से चिपक जायँगे। जिन्होंने नहीं फाड़ी, उनके हाथ छूट जायँगे। वे लौटकर जगह पर आ बैठें।

लड़कों को इस पर विश्वास न हुआ। रज्जन ने अनमने होकर कहा—"हमारी तो तसवीर फट गई और नंदो, तुमको खेलवाड़ सूझा है!"

नंदो ने मुसकराहट रोकते हुए कहा—नहीं रज्जन, खेलवाड़ नहीं। तुम जरा देखो तो।

नंदो ने कमरे से लगी हुई कोठरी में जाकर खूँटी गाड़ दी। लड़के एक-एक करके कोठरी में जाने लगे। सबसे पहले पुत्ती गया। वह लौटकर अपनी जगह पर बैठने लगा, तो नंदो ने उसके दोनों हाथ, ऊँचे उठाकर, हथेलियों को ध्यान से देखा। इसी प्रकार सब लड़कों के हाथ, लौटने पर नंदो ने देखे। यहाँ तक कि अंतिम लड़का भी कोठरी से लौटकर अपनी जगह पर आ बैठा। रज्जन ने हँसी उड़ानेवाले कंठस्वर से कहा,—

"नंदो, यही तुम्हारी जादू की खूँटी है!"

नंदो ने कहा—क्यों, पता तो लग गया, श्याम......

नंदो की बात काटकर, तुरंत श्याम ने भभककर कहा—

"हाँ-हाँ, हमने तसवीर फाड़ी है। रज्जन ने हमारा होल्डर क्यों तोड़ डाला था?"

रज्जन ने कहा—अच्छा श्याम, आने दो बाबूजी को, आज तुम्हारी शिकायत करेंगे।

बनारसी ने नंदो से कहा—नंदो, खूँटी ने तो श्याम के हाथ पकड़े नहीं, फिर तुमने कैसे जान लिया कि श्याम ने तसवीर फाड़ी थी?

और लड़के भी बोल उठे—हाँ, नंदो बताओ, तुमने कैसे जान लिया?

नंदो ने कहा—यह न पूछो भाई, नहीं तो फिर दुबारा हम ऐसी बातों का पता न लगा सकेंगे?

नंदो ने बहुतेरा चाहा कि खूँटी का भेद न बतलाना पड़े, पर उसके साथियों ने किसी प्रकार न माना। अंत में नंदो ने कहा—

"अच्छा, बनारसी अपने हाथ सूँघो।"
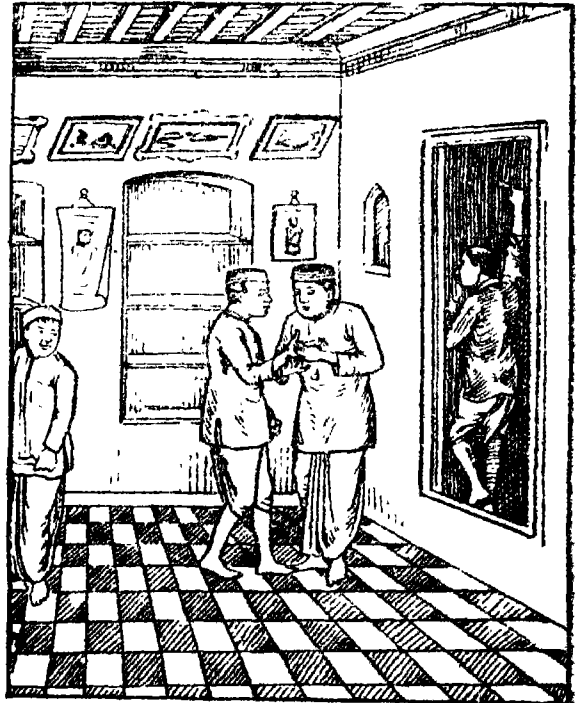
अच्छा, बनारसी अपने हाथ सूँघो

बनारसी ने अपनी हथेलियाँ सूँघकर कहा—
"अरे, यह क्या, हाथों में, यह हलकी-हलकी कपूर की-सी सुगंध कहाँ से आ गई?"

दूसरे लड़कों ने भी अपने-अपने हाथ सूँघे। सब ने अपने हाथों में कपूर की सुगंध पाई। नंदो ने कोठरी से खूँटी उखाड़ लाकर दिखाया और कहा—

"देखो, खूँटी में ये बहुत-से नन्हें-नन्हें छेद हैं। इन छेदों में कपूर भरा है। जिन्होंने तसवीर नहीं फाड़ी थी, उन्होंने कोठरी में जाकर बेधड़क इसे पकड़ लिया। हम, लौटने पर सबके हाथ देखते थे, हाथ क्या देखते थे, हाथ ऊँचे उठाकर ऐसे रखते थे कि हाथ की सुगंध का हमें पता लग जाय। श्याम के हाथ में कपूर की सुगंध न थी। श्याम ने इस डर के मारे, कोठरी में जाकर खूँटी को नहीं छुआ कि कहीं खूँटी में सचमुच जादू न हो।"

इतने ही में सड़क पर से किसी ने पुकारा—

"नंदो, तुम आ गए? आओ, घर चलें।"

पुकारनेवाला और कोई नहीं था, नंदो के पिता थे। रज्जन ने उनकी ओर देखकर कहा—

"खन्ना दाऊ, नंदो एक जादू की खूँटी लाए हैं।"

"नंदो तो शैतान है, क्यों नंदो, आते ही एक नया स्वाँग फैला दिया!"—कहकर वे आगे-आगे चलते हुए और नंदो पीछे-पीछे।

जगमोहन 'विकसित'

× × ×

२. बालक की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुकवि आज बन कविता करने लग जाऊँ,
चाह नहीं, लेखक-प्रकांड बन ललित लेख लिखता जाऊँ।
चाह नहीं, 'तुलसी' 'भूषण' बन कवियों में देखा जाऊँ;
चाह नहीं, 'शंकर शर्मा,' बन 'कविता-कांत' कहा जाऊँ।
मेरा मन-मानस सदा रस से ओत प्रोत हो;
हिंदी-भाषा के लिये बहता निर्मल स्रोत हो।

श्रीशारदाप्रसाद 'भंडारी'

× × ×

३. भ्रातृ-स्नेह का आदर्श 'हेनरी आफ़ नेमूर्स'

ग्यारहवें लुई (Louis XI) जब फ़्रांस-देश के बादशाह थे, तब ज़ाकड़े आर्मनक (Jacques d'Armagnac) फ़ौज के सेनापति थे। इन्होंने ब्रिटेनी और बर्गंडी के सरदारों से मिलकर गुप्त सलाह की कि अँगरेज़ों को फ़्रांस पर अधिकार दिला दिया जाय। फ़्रांस के बादशाह के विरुद्ध तो यह बड़ा भारी विश्वास-घात था, परंतु अपने योग्य जासूसों के द्वारा लुई को इस षड्यंत्र का पता ठीक समय पर लग गया। इस अपराध के लिये लुई ने यह दंडाज्ञा दी कि सेनापति का सिर काट लिया जाय, और उसके रक्त से उनके दोनों पुत्रों के सफ़ेद वस्त्र रंग दिए जायँ। बड़े पुत्र का नाम 'हेनरी आफ़ नेमूर्स' और छोटे का नाम "फ़्रांसिस ऑफ़ नेमूर्स" था। इस समय हेनरी की आयु केवल ८ वर्ष और फ़्रांसिस की उससे कुछ कम ७ वर्ष की थी।

परंतु इतना कर चुकने पर भी लुई को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने अपने बदले को पूरा करने के लिये इन दोनों अनाथ बालकों को फ़्रांस की भयानक जेल में क़ैद कर दिया, और वहाँ इन पर, लुई की आज्ञा से, भयंकर अत्याचार हुए। यह जेल फ़्रांस की राजधानी पेरिस-नगर में बनी हुई थी, और जब सन् १७८९ ई० में फ़्रांस की प्रजा बाग़ी हो गई, तब बाग़ियों ने इस जेल को तोड़-ताड़कर बराबर कर दिया था, जब यह जेल, जिसका नाम

"बास्टील" था, तोड़ी जाने लगी, उस समय इसके भीतर दंड देने और शरीर को कष्ट पहुँचानेवाले बहुत-से विचित्र-विचित्र यंत्र निकले थे। ऐसे यंत्रों में एक छोटा लोहे का पिंजड़ा था, जो ऊपर तो चौड़ा था, परंतु नीचे घटते-घटते केवल एक नोक-मात्र रह गया था। यह पिंजड़ा इस प्रकार का बना हुआ था, कि इसके भीतर न तो कोई सीधे खड़ा हो सकता था, न बैठ सकता था और न लेट सकता था। इसी प्रकार के दो पिंजड़ों में लुई ने अलग-अलग हेनरी और फ्रांसिस को बंद करवा दिया था। इस मरणांत कष्ट में इन बेचारों को केवल इसी से कुछ शांति मिलती थी कि पिंजड़ों की दराजों से एक दूसरे के हाथ दिन-रात पकड़े रहते थे। छोटे फ्रांसिस की हालत बहुत ही खराब थी। "मैं यहाँ बड़े ही कष्ट में हूँ। इस प्रकार हम लोग अधिक जीवित नहीं रह सकते" ऐसा कहकर वह बेचारा रोने लगा था। हेनरी को भी कुछ कम कष्ट नहीं था, परंतु वह धैर्य धरकर अपने भाई को समझाया करता "कि अरे, तुम इतने बड़े होकर छोकरों की तरह रोते हो। और देखो, पिता को हम लोगों के रोने से दुःख होगा। यह लोग हम लोगों को आदमी की तरह समझकर हमसे डरते हैं, इसलिये इनको यह न मालूम होने देना चाहिए कि हम लोग निरे बच्चे ही हैं। बस, अब रोना छोड़ दो। आओ, माता की बातें करें।" रोना छोड़कर फ्रांसिस हेनरी की बातें करने लगा। उन दोनों ने अपने बचपन के सब खेलों और अपने-अपने कुत्ते और बिल्लियों की याद की। अपने पिता के महल की बातें कर दूसरे और महल के बाग की सुंदरता का वर्णन किया। फिर जिन-जिन जगहों पर वे जो-जो खेल खेले थे, या जिस जगह की जो बात याद आई, सबकी कथा कह सुनाई। इस प्रकार बातचीत करके ये निरपराध क़ैदी अपनी व्यथा को भुलाया करते थे।

इन दोनों बालकों के दिल बहलाने का एक और सामान उसी क़ैद की कोठरी में पैदा हो गया। एक दिन एक छोटी चुहिया ने अपने बिल से सिर निकाला, और ज्यों ही उस पर हेनरी और फ्रांसिस की निगाह पड़ी, त्यों ही वह बिल के भीतर घुस गई। इन दोनों बालकों ने उसको बहुत कुछ पुटियाया, लालच दिलाया, धीमी-धीमी सीटी बजाई, और उसको प्यारे! नाम लेकर पुकारा, परंतु उस दिन फिर उसने अपनी झलक भी नहीं दिखाई। अंत में इनको एक तरकीब सूझी। अपने पिंजड़ों में से रोटी का चूर बीन बनाकर इन्होंने उसके बिल के पास फेंका। धीरे-धीरे इसी युक्ति से वह चुहिया इनसे इतनी हिल गई कि पिंजड़ों में आकर वह दोनों के हाथ से रोटी खाने लगी। उसको भी विश्वास हो गया कि इन लोगों से मुझको कोई भी भय नहीं है।

सेनापति को मारकर, पिता के रक्त से दोनों पुत्रों के सफ़ेद कपड़ों को रँगकर तथा फ्रांसिस और हेनरी को इतनी वेदना पहुँचाकर भी लुई का बदला नहीं चुका। उन्होंने जब यह समाचार पाया कि ये लड़के अब आदत हो जाने के कारण अपने कठिन कष्ट को गंभीरता से सह लेते हैं, और छोटे लोहे के पिंजड़ों में भी उनको नींद आ जाती है, तो उन्होंने बड़ा भयंकर दंड देना निश्चय किया। जल्लाद को आज्ञा हुई कि प्रति सप्ताह में एक-एक दाँत इन दोनों का उखाड़कर बादशाह के सामने पेश किया करे। जल्लादों का काम उनके हृदय को कठोर कर देता है। परंतु जब इस जल्लाद ने क़ैदखाने में आकर देखा कि हेनरी और फ्रांसिस कैसे भोले-भाले और कम उमर के बालक हैं, अपने कठोर दंड को किस धैर्य के साथ सह रहे हैं, तो उसका हृदय भी जवाब दे गया। परंतु वह परवश था। उसने क़ैदियों को बादशाह की भयंकर आज्ञा सुनाई। तब तो फ्रांसिस बड़ा आर्तनाद करने लगा। परंतु हेनरी ने अपने को सँभालकर उस जल्लाद के हृदय में करुणा पैदा करने के विचार से कहा—"हमारी मा शोक के मारे प्राण त्याग देंगी? जब उनके कानों तक मेरे छोटे भाई के

कष्टों का समाचार पहुँचेगा, देखिए, यह बेचारा कैसा निर्बल हो रहा है। कृपा करके इसको छोड़ दीजिए। जल्लाद का हृदय तो पहिले ही से काँप रहा था। हेनरी की ऐसी बातें सुनकर उसके आँसू रोके न रुके परंतु वह परवश था। उसकी जान संकट में पड़ गई। उसने गद्गद स्वर से कहा, "हाय! मैं क्या करूँ। "बास्टील" के गवर्नर के पास मुझको दो दाँत अवश्य पहुँचाने हैं, जिन्हें वह ले जाकर बादशाह को दिखला आवे।" हेनरी ने बड़े उत्साह के साथ जल्लाद से कहा—"यदि आपको दो दाँत गवनर के पास अवश्य पहुँचाने हैं, तो आप कृपा करके मेरे ही दो दाँत उखाड़ लीजिए, अभी भाई की अपेक्षा मुझमें अधिक बल है। मेरा छोटा भाई अब जरा भी अधिक कष्ट नहीं सह सकता। परंतु मैं इस व्यथा को सह लूँगा।"

जब फ्रांसिस ने यह बात सुनी, तब तो उसने अपना रोना-चिल्लाना छोड़ दिया, और दृढ़ता से जल्लाद से कहा—"नहीं-नहीं, मैं निर्बल नहीं हूँ। मैं इस पीड़ा को भली प्रकार सह सकता हूँ। आप दया करके मेरे ही दो दाँत उखाड़ लीजिए। मैं जरा भी न रोऊँगा। आप चाहे कोई भी दो दाँत उखाड़ लीजिए। परंतु मेरे बड़े भाई को पीड़ा न पहुँचाइए।" इस प्रकार बड़ी देर तक दोनों भाइयों में इस बात का झगड़ा होता रहा कि किसके दो दाँत उखाड़े जायँ। अभी तक तो जल्लाद को केवल करुणा ही ने घेरा था; परंतु अब भ्रातृ-स्नेह का यह प्रत्यक्ष नमूना देखकर उसके विस्मय की सीमा न रही। वह कुछ भी निश्चय न कर सका। अंत में उसने यही विचार किया कि यह निर्दय-कर्म मुझसे न होगा। वह लौटने ही पर था कि इतने में गवर्नर ने कहला भेजा कि जल्लाद ने बादशाह की आज्ञा पालन करने में इतना विलंब क्यों किया? यह सुनकर जल्लाद बहुत घबराया, और अपने प्राणों की रक्षा के लिये वह पहले हेनरी के पिंजड़े की ओर बढ़ा। उसका सारा शरीर काँप रहा था। जैसे-तैसे उसने हेनरी का एक दाँत उखाड़ा। धीर-वीर बालक ने इस व्यथा को बिलकुल चुपचाप सह लिया, और जब उसने जल्लाद को अपने भाई के पिंजड़े की ओर जाते देखा तब टूटी आवाज में कहा—"उधर नहीं। मैं तो कह चुका कि दोनों के बदले मैं अपने दाँत देता हूँ।" जल्लाद ने भी हेनरी की दृढ़ता देखकर यही अच्छा समझा। गवर्नर के पास दो दाँत पहुँचे, और उसी समय दोनों दाँत लुई के सामने पेश किए गए।

बादशाह लुई अब भी संतुष्ट नहीं हुए। उनकी आज्ञा से प्रति सप्ताह जल्लाद इन बालकों के क़ैद-खाने में जाता और दो दाँत लाकर 'बास्टील' के गवर्नर के सामने रख देता। गवर्नर और बादशाह यही समझते कि दोनों बालकों का एक-एक दाँत उखाड़ा जाता है। परंतु वास्तव में दाँत बड़े भाई हेनरी ही के होते। एक तो काल-कोठरी की बिगड़ी हुई हवा और सड़न, दूसरे लोहे के पिंजड़े में दिन-रात सीकचे पकड़े-पकड़े लटके रहने का कष्ट और उस पर भी हर हफ़्ते दो दाँतों के उखाड़े जाने की असह्य वेदना भला सर्वदा राज-सुख भोगनेवाला ८ वर्ष का बालक कब तक सहन करता। थोड़े ही काल में हेनरी को कठिन रोग ने आ घेरा। उसकी नसें ज्वर के वेग से टूटने लगीं और वह इतना निर्बल हो गया कि अपने पिंजड़े के सींकचों का सहारा लेकर भी सीधा नहीं रह सकता था। तब उसने मजबूरन् अपने घुटनों पर झुककर कुछ समय काटा। जब हेनरी ने देखा कि मेरा अंत-काल आ पहुँचा, तब बड़े कष्ट के साथ पिंजड़े के बाहर निकलकर काँपते हुए अपने छोटे भाई के हाथों को पकड़ा। उसकी लड़खड़ाती जीभ से यही निकला—"प्यारे फ्रांसिस! मैं तो अब मामा को न देख पाऊँगा। परंतु तुमको शायद वह लोग छोड़ देंगे। प्राणप्यारी मामा से कह देना कि हेनरी तुम्हारी बहुत याद किया करता था। सच-मुच, भाई! जितना प्रेम मामा से मुझको इस समय है, उतना कभी नहीं था। पर अब तो मेरे प्राण निकल रहे हैं।" थोड़ी देर बाद हेनरी ने फिर

बड़े धीमे स्वर में कहा—"प्यारे फ्रांसिस मैं तुमसे विदा होता हूँ। देखो हम लोगों की छोटी सफ़ेद चुहिया को कुछ न-कुछ अवश्य खाने को देते रहना। मैं उसको तुम्हें सौंप जाता हूँ। वह भूखी न रहने पावे।" इतना कहते-कहते हेनरी का शरीर छूट गया और उसका प्राण उस लोक को पहुँचा, जहाँ बड़े-बड़े महात्मा मर कर जाते हैं। अंत को शायद लुई को बेचारे फ्रांसिस पर कुछ दया हो आई। हेनरी के देहांत के बाद फ्रांसिस पिंजड़े से निकालकर मामली काल कोठरी में क़ैद किया गया।

फ्रांसिस "बास्टील" में क़ैद रहा। जब महा-निर्दई लुई की बारी आई, और उसको संसार छोड़ना पड़ा, तब फ्रांस के बादशाह आठवें हेनरी हुए। इनके राज्य में अन्याय और अत्याचार बंद हो गए। "बास्टील" से बहुत-से क़ैदी छोड़े गए। फ्रांसिस भी स्वाधीन कर दिया गया और वह अपनी माता के साथ रहने लगा। पिंजड़े में रहने के कारण उसकी देह जन्म भर के लिये टेढ़ी-मेढ़ी हो गई। उसके प्राण हेनरी ने अपने प्राण देकर बचाए। हेनरी का भ्रातृ-स्नेह ऐसा अलौकिक था कि उसकी कीर्ति अमर है।

× × ×

४. शिशु-शोभा

मगन परे निज सेज पै मधुर-मधुर मुसकात।
सुंदर मूरति प्रेम की माता बलि-बलि जात।

× × ×

५. लड़कपन

सूखा ठूँठ देख कर एक।
कील गाड़ सहित विवेक।
खट-खटकर ऊपर चढ़ बैठे।
अपनी चतुराई पर ऐंठे।
लगी आँख जो दूरबीन है।
बालकपन का अजब सीन है।

---

१. मानव-ज्योति

प्रत्येक मनुष्य के शरीर से एक प्रकार की ज्योति निकलती रहती है जिसे हम मानव-ज्योति कह सकते हैं। यह ज्योति एक प्रकार की रोशनी कुहासा (Haze) या वाष्पमय पदार्थ है। साधारणतः यह शरीर के चारों ओर एक फुट तक फैली रहती है, किंतु कुछ असाधारण मनुष्य के शरीर से निर्गत हो यह तीन चार फ़ीट तक फैल सकती है। उत्तेजना की हालत में यह ज्योति विशेष प्रकार से अभिव्यक्त होने लगती है। साधारण अवस्था में यदि हम देखने की चेष्टा करें, तो इन आँखों से मनुष्य के शरीर के २ से ४ इंच की दूरी पर भी इसे देख सकते हैं। शरीर से बहुत सटा हुआ केवल $\frac{1}{8}$ इंच तक शारीरिक ज्योति का भूरा बैंगनी रंग दिखाई पड़ता है। यह ठोस गैस-सा दीख पड़ता है। अँगरेज़ी में इसे (Etheric Body) कहते हैं। वास्तव में यह शरीर के ऊपरी चमड़े के ऊपर एक अर्द्ध-ठोस-पदार्थ का आवरण-सा है, किंतु यह इतना सूक्ष्म होता है कि आसानी से शरीर के भीतर प्रवेश कर सकता है, इसलिए यह शरीर से अलग नहीं जान पड़ता।

इस सूक्ष्म पदार्थ के बाद जिस ज्योति है, इसे स्वास्थ्य ज्योति (Health Aura) कहते हैं। यह ज्योति स्वस्थ मनुष्यों में अधिक प्रकाश-युक्त होती है, किंतु दुबले-पतले मनुष्यों के शरीर से निर्गत यह ज्योति उतनी

मानव-ज्योति

तीक्ष्ण नहीं होती। जिस प्रकार गरम पदार्थों से गरमी की किरणें निकला करती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के शरीर से यह प्रकाश निकला करता है। स्वास्थ्य-ज्योति के बाद बाह्य ज्योति (Outer Aura) होती है। बीच की ज्योति एक से दो इंच तक और किसी-किसी हालत में

शरीर से ६ से १२ इंच तक फैली रहती है, किंतु बाह्य-ज्योति एक से तीन फ़ीट तक फैली हुई होती है। पहली को साधारण मनुष्य भी ज़रा ग़ौर करने से देख सकता है, किंतु पिछली को देखना कठिन है।

पाठक पूछेंगे, यह ज्योति कैसे देखी जा सकती है, मनुष्य के शरीर से निकलनेवाले प्रकाश को देखना बड़ा आसान है। एक काले काग़ज़, दीवाल या कपड़े के सामने किसी मनुष्य को खड़ा कराइए। ये वस्तुएँ चिकनी या चमकीली न हों और न उन पर किसी प्रकार की चित्रकारी ही हो। हाँ, सफ़ेद पीले, नीले आदि रंग के पदार्थों से भी काम लिया जा सकता है, किंतु लाल या भूरे रंग के पदार्थ इसके लिये उपयोगी नहीं होते। चित्रकारियाँ ध्यान को बाँट देती हैं, इसलिये शरीर के पास की ज्योति पर पूरा ध्यान नहीं दिया जा सकता। काले को छोड़ यदि और रंग के पदार्थों को पर्दा जैसा व्यवहार करना हो, तो फ़ीका रंग चुनना चाहिए। अस्तु, इस पर्दे के सामने किसी मनुष्य को कपड़े उतरवाकर, हाथ फैलाकर खड़ा कराइए। आपको उसके शरीर के चारों ओर ज्योति दिखलाई पड़ेगी। कुछ लोगों की दृष्टि-शक्ति तेज़ नहीं होती; इसलिये वे यदि प्रथम प्रयास में सफल न हों, तो दो-तीन बार चेष्टा करनी चाहिए। यह ज्योति समभाव से शरीर के चारों ओर फैली हुई दीख पड़ेगी। जो लोग अपनी चेष्टा में असफल हों, उन्हें मनुष्य के सिर, कंधे या हाथ के पास वायु को देखने की कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि इन्हीं स्थानों में ज्योति ज़्यादा रहती है और आसानी से देखी जा सकती है। एक बार इस ज्योति को देख लेने पर मनुष्य को चकित हो जाना पड़ता है।

देवताओं के चेहरे के चारों ओर चित्रकार ज्योति की छटा अंकित कर देते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के शरीर के चारों ओर ज्योति दिखलाई पड़ती है। आश्चर्य तो इस बात में है कि मनुष्यों की अपेक्षा स्त्रियों की ज्योति अधिक चमकीली और बड़ी होती है। योगियों या ध्यानियों के सिर के चारों ओर ज्योति की यदि दो रेखाएँ दिखाई दें, तो बड़ी बात नहीं समझनी चाहिए। ज्योति क्रोध, उत्तेजना और मानसिक आंदोलन के समय में भी असाधारण रूप धारण कर लेती है। एक बार इस ज्योति के देखने का अभ्यास हो जाने पर, बड़े विचित्र-विचित्र चित्र आपको दिखलाई पड़ेंगे।

किंतु यह ज्योति है क्या? शरीर से निरंतर पदार्थ के छोटे-छोटे टुकड़े निर्गत होते रहते हैं, जिन पर तीव्र बैंगनी (Ultra Violet) प्रकाश पड़कर उन्हें दृश्यमान बना देता है। जिन पर्दों के विषय में ऊपर लिखा गया है उनका काम है, ज्योति के रंग को छोड़ कर, अन्य रंगों को सोख लेना और ज्योति को दृश्यमान बना देना। अभी तक मानव-ज्योति का फ़ोटो नहीं लिया जा सकता है किंतु वैज्ञानिक इसकी चेष्टा में हैं। फ़ोटो देखने से कहीं अधिक मनोरंजक है—असली ज्योति का देखना। पाठक ही इसकी परीक्षा करें।

× × ×

२. सूर्यप्रकाश से विद्युत्

डॉ० विलियम डब्ल्यू० कोबलेंज ने सूर्य-प्रकाश से विद्युत् पैदा करने का एक बड़ा सरल तरीक़ा निकाला है। यह महाशय भिन्न-भिन्न पदार्थों पर सूर्य, चंद्रमा और ताराओं का क्या असर पड़ता है—इस विषय की गवेषणा कर रहे थे, अचानक उन्हें एक ऐसी धातु मिली, जो सूर्य-प्रकाश को विद्युत में परिणत कर देती है। जादूगर-सा काम करनेवाले इस धातु का नाम मॉलिबडे-नाइट है। अभाग्य-वश इसके प्रत्येक टुकड़े में सिर्फ़ एक पिन की नोक ही के बराबर कण होता है, जिसमें सूर्य-प्रकाश को विद्युत् में परिवर्तन करने की शक्ति होती है। इस धातु के नमूने रक्षित रखे जाते हैं। एक-एक नमूने के साथ तार द्वारा विद्युत्-मापक यंत्र के साथ संयोग करा देने से और उसे सूर्य प्रकाश में ले आने से मापक-यंत्र में विद्युत्-धारा प्रवाहित होने लगती है। इस धातु के यदि बड़े और अधिक गुण-संपन्न टुकड़े मिल सकें, तो सीधे सूर्य-प्रकाश से विद्युत् उत्पन्न करने का साधन निकल आवे। इस तरीक़े की सफलता पर बहुत बड़ी आशा लगाई जा सकती है। कहना चाहिए कि इससे सिर्फ़ विद्युत्-संसार ही में नहीं, किंतु सारे संसार में युगांतर उपस्थित हो जायगा।

× × ×

३. मुक्के की खेती

आपानी मुक्के की खेती करने में अपना सानी नहीं रखते। सबसे बड़े आपानी कारख़ाने के मालिक का नाम कोकिची मिकिमोटो है। इस कारख़ाने में समुद्र से मुक्का निकाल और साफ़ करके हज़ारों की संख्या में विदेशों को चालान किया जाता है। स्वयं आपानी बहुत ही थोड़े मुक्कों का

व्यवहार करते हैं। वे तो इन्हें विदेशियों के हाथ बेचकर पैसा पैदा करना जानते हैं। मिकिमोतो बहुत दिनों से यह व्यवसाय कर रहे हैं। एक बार टोकियो विश्व-विद्यालय के अध्यापक कोकिचा मित्सुकिरी ने मिकिमोतो से कहा था कि चेष्टा करने से इच्छानुसार मुक्ता उत्पन्न किया जा सकता है। सन् १८८० में, मिकिमोतो ने बहुत-सा धन खर्च कर मुक्ता की खेती आरंभ कर दी। इसके आठ साल बाद वहाँ से मुक्ता विदेशों को भेजे जाने लगे। मिकिमोतो ने इस कार-बार के लिये एक द्वीप का इजारा लिया। इस द्वीप के चारों ओर ४० मील तक समुद्र इनके अधिकार में है। समुद्र में चारों ओर पत्थर के छोटे छोटे टुकड़े बिछाए हुए हैं। इन पत्थरों पर घोंघे और उनके बच्चे पड़े रहते हैं। तीन साल तक बच्चे इन्हीं पत्थरों पर पड़े-पड़े बढ़ते रहते हैं। इस समय के बाद इन घोंघों में घोंघे के खोपड़े का एक-एक छोटा टुकड़ा डालकर समुद्र के दूसरे हिस्से में भेज दिया जाता है। पाँच वर्ष के बाद डुब्बियों की सहायता से वे निकाले जाते हैं और उनसे मुक्ता निकालकर चालान किया जाता है। एक एक मुक्ता का दाम आठ सौ रुपए तक होता है।

मुक्ता निकालनेवाले गोताखोर, प्रायः सभी औरतें ही होती हैं। ये स्त्रियाँ बलवती और देर तक दम साधनेवाली होती हैं। जो स्त्रियाँ यह काम करती हैं, साधारणतया वे १८ से ३५ वर्ष की अवस्था की होती हैं। कहा जाता है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ इस काम को अच्छे प्रकार से कर सकती हैं, क्योंकि उनमें दम साधने की शक्ति अधिक होती है। मुक्ता का काम करनेवाले स्त्री-पुरुषों ने अपना एक उपनिवेश बसा लिया है। स्त्रियाँ गोताखोरी का काम करती हैं और पुरुष इस व्यवसाय के अन्यान्य कामों में लगे रहते हैं। मुक्ता निकालने के लिये सबसे अच्छा समय दिसंबर का महीना है। किंतु यह काम और समय भी हो सकता है। आजकल प्रायः दो करोड़ रुपए का मुक्ता, प्रतिवर्ष जापान उत्पन्न करता है। समुद्र-तट के भूखे या अर्ध-भूखे भारतवासी क्या इस व्यवसाय को हाथ में नहीं ले सकते?

× × ×

४. गोरिला की बुद्धि-परीक्षा

बंदर मनुष्यों के पूर्वज हैं; उनमें गोरिला मनुष्यों के बड़े नज़दीकी पूर्वज हैं। गोरिलों के विषय का अध्ययन कर, वैज्ञानिक आत्म-विकास-संबंधी बहुत-सी खोज करना चाहते हैं। किंतु गोरिला को जीवनावस्था में पकड़ना कठिन है। अफ्रीका के जंगलों से अब तक प्रायः एक दर्जन गोरिले पकड़कर योरप, अमेरिका को भिन्न-भिन्न सोसाइटियों द्वारा भेजे गए हैं। इनमें प्रायः सभी बच्चे थे, किंतु दो को छोड़, बाक़ी कुछ दिनों के बाद मर गए। इनमें एक छः साल की मादा गोरिला, मिस कांगो है, जो अब तक जीवित है। इसकी बुद्धि की परीक्षा हुई थी और पता लगा था कि समय पड़ने पर यह अपनी बुद्धि से काम लेती है। अन्य पशु जैसे अपनी प्रकृति से कोई काम करते हैं, वैसा गोरिला नहीं करते। उनमें सोचने और तर्क करने की भी शक्ति होती है।

डॉ० राबर्ट एम० यर्कस द्वारा की हुई तीन परीक्षाएँ यहाँ दी जाती हैं। गोरिले नारंगी बहुत पसंद करते हैं। एक बार एक नारंगी एक रस्सी में बाँधकर कुछ ऊँचाई पर लटका दी गई। नारंगी इतनी ऊँचाई पर थी कि मिस कांगो उस तक पहुँच नहीं सकती थी, किंतु इसके पास ही इधर-उधर चार-पाँच टीन के बाक्स पड़े थे, जिनको एक पर एक रखकर नारंगी तक पहुँचाया जा सकता था। उसने नारंगी को देखा और उसे पता लग गया कि उस तक पहुँचना उसके लिये कठिन है। थोड़ी देर बैठकर वह सोचती रही, फिर टीन के एक बाक्स को अच्छी तरह देखा और आज़माया कि वह उसका भार सह सकता है या, नहीं। उसने बाक्स को उठाकर नारंगी के नीचे ला रखा और उस पर चढ़कर नारंगी की ओर हाथ बढ़ाया, किंतु हाथ वहाँ तक न पहुँचा। फिर बैठकर सोचने लगी; तब उठकर पहले बाक्स पर दूसरा बाक्स रखा और नारंगी तक पहुँचने का एक बार और व्यर्थ प्रयास किया। अंतिम बार उसने सब बाक्सों को एक पर एक रखकर नारंगी पकड़ ली।

दूसरी परीक्षा यों की गई—कुछ दूर एक नारंगी रख दी गई और मिस कांगो के पिंजड़े में, एक इतनी बड़ी छड़ी रख दी गई, जिससे नारंगी को खींच लेना मुश्किल नहीं था। पहले तो वह हाथ ही से फल पकड़ने की चेष्टा करने लगी, किंतु असफल होने पर उसे तरीक़ा सोच निकालने में कुछ भी समय नहीं लगा। उसने छड़ी उठाकर नारंगी खींच ली।

एक बार उसकी याददाश्त की भी परीक्षा हुई थी।

कांगो को दिखाकर एक शीशे के बर्तन में कुछ फल रखा गया और उसे बालू में गाड़ दिया गया। कांगो पिंजड़े में थी, इसलिये फल पाने की चेष्टा करना व्यर्थ था। दो दिन के बाद उसे पिंजड़े से निकाला गया। उसे गड़े हुए फल की बात याद थी। उसने बालू हटाकर फलों को निकाल लिया।

मिस कांगो नारंगी उतार रही है

× × ×

५. शरीर के अवयव और बुद्धि

शरीर के अंगों को देखकर मनुष्य की बुद्धि का पता लगाया जा सकता है। ज्योतिषियों का कहना है कि आजानु विलंबित बाहु बड़े लोगों की निशानी है, या यों कहिए कि जिन लोगों की बाहु घुटनों तक फैली रहती है, वे राजा होते हैं। यह बात कहाँ तक ठीक है, कहना मुश्किल है, किंतु अब वैज्ञानिक तरीक़े पर शरीर के अवयवों और बुद्धि का संबंध जोड़ा जा रहा है। मनुष्यों के पैर उनकी बुद्धि के परिचायक होते हैं। हाथ-पैर लंबे और शरीर छोटा होने से मनुष्य बुद्धिमान् होता है। उसका प्रधान काम दिमाग़ी होता है। दिमाग़ी काम करने का अर्थ किताब पढ़ना, कविता याद रखना, या हिसाब लगाना नहीं है। किंतु नए-नए आविष्कार करना और मौलिक बातों का पता लगाना है। हेनरी फ़ोर्ड इसके उदाहरण हैं। शरीर बड़ा और हाथ-पैर छोटे होने से मनुष्य शारीरिक कार्य अच्छा कर सकता है। मशीन चलाना, रेल, मोटर, जहाज़, वायु-यान चलाना, ऐसे लोगों का प्रधान काम है। जिन कामों में विशेष बुद्धि की ज़रूरत नहीं होती, किंतु धैर्य से काम लेना पड़ता है, वे काम ऐसे लोगों द्वारा अच्छे प्रकार से हो सकते हैं। जिन लोगों के हाथ-पैर शरीर की तुलना में छोटे बड़े नहीं होते, उनके विषय में ज़ोर देकर कुछ नहीं कहा जा सकता। वे बुद्धिमान् और

हेनरी फ़ोर्ड

दिमाग़ी कामों में तेज़ हो सकते हैं। यदि वे बुद्धिमान् न हुए, तो शारीरिक कार्यों में पटु होंगे। उदाहरणतः टामस एडिसन हैं।

इन बातों को पढ़कर कोई यह न समझले कि लंबा हाथ-पैर होने ही से मनुष्य बुद्धिमान् होगा, अन्यथा वह साधारण बुद्धिवाला होगा। ऐसा देखा जाता है कि बहुत से मज़दूर या किसान लंबे हाथ-पैरवाले तो होते हैं, किंतु मामूली दैनिक मज़दूरी से उन्हें ज़्यादा नहीं मिलता और वे अपनी बुद्धि की सहायता से, अपनी उन्नति भी नहीं कर सकते। इसलिये ऊपर लिखी हुई बातों को ध्रुव सत्य

टामस ऐडिसन

नहींमान लेना चाहिए। कोलंबिया विश्व-विद्यालय के तीन-सौ विद्यार्थियों के शरीर की परीक्षा करके देखा गया है कि जिन लोगों के हाथ-पैर बड़े-बड़े थे, उनमें औरों की अपेक्षा कुछ अधिक बुद्धि थी। मज़दूरों और किसानों में भी देखा जाता है कि जिनके हाथ पैर बड़े हैं, वे साधारण मज़दूरों से अधिक बुद्धि-संपन्न होते हैं।

साधारणतया लंबे हाथ-पैरवाले मनुष्यों में, फ़ी सैकड़े ७६ मनुष्य बुद्धिमान् होते हैं। सामान्य शरीरवाले लोगों में फ़ी सैकड़े ४०, बड़े शरीर और छोटे हाथ-पैरवालों में फ़ी सैकड़े सिर्फ़ १५ आदमी बुद्धिमान् होते हैं।

× × ×

६. भूचाल-संबंधी भविष्यद्वाणी

इफ़ेली बेनडानी नामक एक आस्ट्रेलियन ने भविष्यद्वाणी की है कि इस साल अन्य वर्षों की अपेक्षा अधिक भूचाल होंगे। इस वर्ष के मध्य-भाग में जापान, मेक्सिको और प्रशांत महासागर के किनारे के स्थानों में भूकंप होगा। साल के दूसरे आधे हिस्से में ऐंटिलिस, फिलिपाइन और ऐल्युशियन द्वीपों में भूकंप होगा। उनका विश्वास है कि मध्य-एशिया और मध्य-अमेरिका में ज्वालामुखी पर्वत फट पड़ेंगे।

× × ×

७. मोटर-गाड़ी में रक्षा के साधन

संसार में मोटरों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। केवल अमेरिका के ही मोटर के एक-एक कारख़ाने से प्रतिवर्ष लाखों गाड़ियाँ बनकर निकलती हैं और संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भेजी जाती हैं। किसी-किसी शहर में मोटरों की संख्या हद से ज़्यादा बढ़ गई है और वे पैदल चलनेवालों के लिये भयावह सिद्ध हो रही हैं। बड़े शहरों में ऐसा एक दिन भी नहीं जाता, जिस दिन मोटर से दबकर कुछ लोगों की जान न जाती हो। इसलिये मोटर के सामने "बंपर"-नामक एक यंत्र लगाने की व्यवस्था की गई है। इसमें विशेषता यह है कि किसी
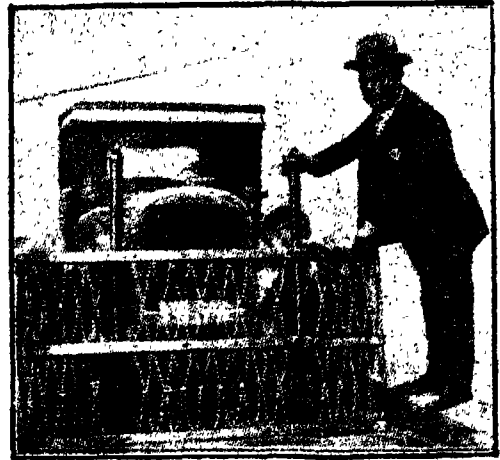
मोटरमें खुला हुआ 'बंपर'

मनुष्य के साथ मोटर के टक्कर लगते ही जाल-सा यह जंतु नीचे ज़मीन से सिर्फ़ एक इंच पर आ पहुँचता है और मनुष्य को उठा लेता है। इस यंत्र का सबसे निचला हिस्सा रबर का होता है इसलिये मनुष्य के कपड़े फटने या बदन छिलने का डर नहीं रहता। पाश्चात्य देशों में जहाँ मोटरों की संख्या बहुत ज़्यादा है, जहाँ मोटरों का ताँता टूटता ही नहीं, जहाँ उनसे पैदल चलनेवालों के दबने का सर्वदा डर बना रहता है, वहाँ क़ानूनन् प्रत्येक मोटर में 'बंपर' लगाना पड़ता है। यहाँ के भी कलकत्ता, बंबई जैसे शहरों में, जहाँ मोटरों की भरमार है, प्रत्येक मोटर में इसका व्यवहार अनिवार्य कर देना चाहिए।

× × ×

८. दम भरने की प्रतियोगिता

"माधुरी" के कई पिछले अंकों में हमने कई विचित्र प्रकार की प्रतियोगिताओं के विषय में लिखा है। आज

एक और विचित्र प्रकार की प्रतियोगिता के विषय में लिखा जाता है। यह प्रतियोगिता श्वासों की शक्ति या दम भरने की थी। एक बड़ा-सा रबर का "बैलून" फूँककर फुलाना था; जो उसे सबसे बड़ा और मोटा बना सकेगा उसे ही पुरस्कार मिलने की बात थी। नेबरस्का के एक किसान ने चालीस

साँस से भरा जानेवाला बेलून

मिनटों तक फूँककर उसे बीस फ़ीट लंबा और ४ फ़ीट ८ इंच मोटा बना दिया। इस पर भी वह फूँकने को तैयार था, किंतु बेचारा 'बेलून' ही फट गया। कहने की आवश्यकता नहीं कि उसे ही पुरस्कार मिला।

× × ×

९. निद्रा का प्रभाव

अपने सोने के समय से आप प्रतिदिन दो घंटा कम कर दीजिए, आपका मस्तिष्क अधिक कार्यक्षम हो जायगा, किंतु शरीर पर बुरा असर पड़ेगा। कालगेट विश्व-विद्यालय की एक परीक्षा से ऐसा प्रमाणित हुआ है। तीन नव-युवकों पर यह परीक्षा हुई थी। परीक्षा के लिये एक घड़ी और परीक्षार्थियों द्वारा व्यवहृत ऑक्सिजन नापने का एक यंत्र काम में लाया गया था। प्रत्येक विद्यार्थी को प्रतिदिन गणित के १२ गुने एक बैठक में करना पड़ते थे। इसके लिये जो समय वे लेते थे और भूलें दर्ज कर ली जाती थीं। कई दिनों तक ऐसा करने से प्रत्येक परीक्षार्थी की योग्यता का अंदाज़ा लग जाता था। इसके बाद परीक्षार्थियों को कुछ दिनों तक आठ घंटे सुलाकर उपर्युक्त प्रकार से पुनः उनकी योग्यता या कार्य-क्षमता की जाँच होती थी। इसके बाद वे छः घंटे की निद्रा के बाद पुनः उपरि-लिखित विधि से जाँचे गए और पता लगा कि उनकी मानसिक शक्ति कुछ बढ़ गई है, किंतु हिसाबों को बनाने में अधिक शक्ति लगाने की ज़रूरत पड़ी थी। इस परीक्षा ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानसिक और शारीरिक शक्ति को दुरुस्त रखने के लिये यथेष्ट निद्रा आवश्यक है।

× × ×

१०. कलाई की घड़ी

मामूली-से-मामूली वस्तु में भी उन्नति की गुंजाइश है। कलाई में घड़ी बाँधना आजकल का फ़ैशन हो गया है। कुछ लोग
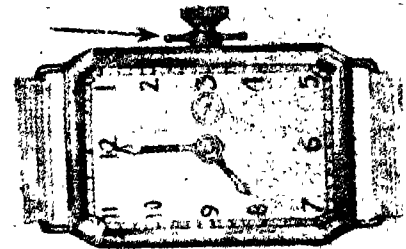
एलार्म लगी हुई रिस्ट घड़ी

सोच रहे थे कि ऐसी घड़ी में जो कुछ होना था हो चुका, अब अधिक उन्नति के लिये स्थान नहीं है. किंतु खोजियों ने इसमें भी एक अभाव का अनुभव किया और उसे दूर करने में लग गए। अब ऐसी रिस्ट घड़ियाँ बनने लगीं, जिनमें 'एलार्म' भी लगा दिया गया है। ये घड़ियाँ आवाज़ करके लोगों का ध्यान उनके विशेष कार्यों की ओर आकृष्ट करती हैं। इनसे निकली हुई आवाज़ इतनी तेज़ होती है कि वह सोते हुए मनुष्य को भी जगा देती है।

× × ×

११. शक्कर और शारीरिक शक्ति

मनुष्य के भोजन में शक्कर एक मुख्य उपादान है। पहाड़ पर चढ़नेवालों को शक्कर खाने की इच्छा बढ़ जाती है। जो लोग यों मीठे पदार्थ छूते तक नहीं, वे पहाड़ पर चढ़ते समय, शक्कर के लिये लालायित हो उठते हैं। एक परीक्षा द्वारा यह जाँचने की चेष्टा की गई थी कि पहाड़ पर चढ़नेवालों के शरीर पर शक्कर का क्या प्रभाव पड़ता है। एक दिन एक मनुष्य को शक्कर मिला हुआ शरबत दिया गया और दूसरे दिन 'सैकेरिन' मिला हुआ। पता चला कि इन दिनों उसने अधिक कार्य किया। एक

अनुसंधानकारी ने पता लगाया है कि प्रति दिन पौने दो आउंस शक्कर खाने से मनुष्य की कार्यकारी शक्ति सैकड़े २२ से ३१ तक बढ़ जाती है।

× × ×

१२. घोंसले में रहनेवाली मछली

दुनिया विचित्रता की खान है। संसार में ऐसी मछलियाँ भी पाई जाती हैं जो पेड़ों पर चढ़ जाती हैं और उसी पर रहती हैं। भोजन की खोज में वे अवश्य जल में जाती हैं। किंतु जिस प्रकार की मछली के विषय में

घोंसले में रहनेवाली मछली

लिखा जा रहा है वह जल ही में रहती है किंतु घोंसला बनाकर। सामुद्रिक लता-पौधों से घोंसला बना उसी में ये अंडा देती हैं और उनकी रक्षा करती हैं। इस प्रकार की मछलियों में 'गिरगिट-सा रंग बदलने की शक्ति होती है। शत्रुओं से रक्षा पाने के लिये ही वे ऐसा करती हैं।

× × ×

१३. पुराने अख़बारों का उपयोग

पुराने दैनिक या साप्ताहिक अख़बार साधारणतया फेंक दिए जाते हैं, किंतु पाश्चात्य देश का एक कला-प्रेमी इन्हीं से तरह-तरह की वस्तुएँ बनाकर नाम कमा रहा है। अख़बारों को वह पानी में डुबो देता है उनके नरम हो जाने पर उन्हीं की ईंट बना भिन्न-भिन्न तर्ज़ के मकान बनाया करता है। चित्र में ऐसा ही एक मकान दिखाया
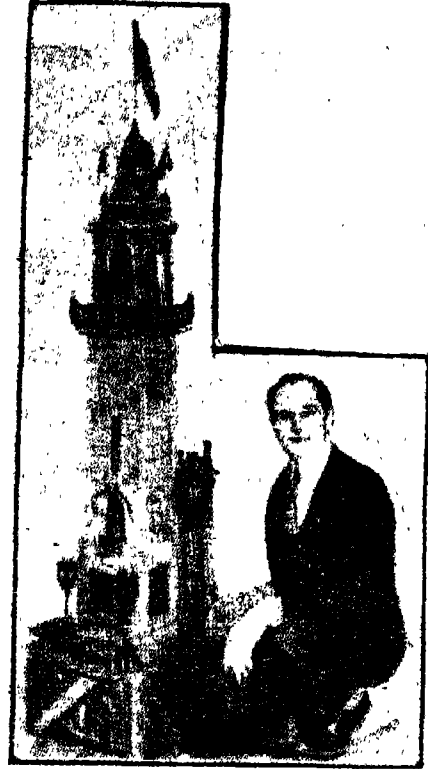
पुराने अख़बारों से बनाया हुआ मकान

गया है। यह छ फ़ीट ऊँचा है। इसके बनाने में दैनिक अख़बारों की ३०० प्रतियों के अतिरिक्त सिगार और सिगरेट के ख़ाली डब्बे व्यवहृत हुए हैं।

× × ×

१४. लकड़ी को अग्नि-रोधक बनाना

बिजली के कामों में लकड़ी का व्यवहार अपरिहार्य है। कभी-कभी इस काम में लगी हुई लकड़ी आग पकड़ लेती है और बहुत बड़ा नुक़सान कर देती है। इसलिये लकड़ी को अग्नि-रोधक बनाने की आवश्यकता पड़ी। ऐसा करने का एक आसान तरीक़ा है। गरम पानी में 'वाटर-ग्लास'-नामक पदार्थ को घुलाकर उसे ठंडा करना और इस घोल की लकड़ी पर वार्निश चढ़ाना। एक बार की चढ़ाई हुई वार्निश जब सूख जाय तब उसका दूसरा लेप चढ़ाना चाहिए। इस प्रकार कई लेप चढ़ाने से लकड़ी अग्नि-रोधक बन जाती है। कारण यह है कि 'वाटर-ग्लास' लकड़ी के छिद्रों में प्रवेश कर जाता है और लकड़ी को अग्नि के आक्रमण से बचाता है।

रमेशप्रसाद

१. विवाह क्यों किया ?

कुछ दिन हुए एक पत्रिका के संपादक ने अपने पाठकों से यह प्रश्न किया था—आपने विवाह क्यों किया ? इसके जवाब में उसके पास हज़ारों पत्र आए, जिनसे पुरुषों की मनोवृत्ति का कुछ पता चलता है। उनमें के कुछ चुने हुए जवाब हम माधुरी की पाठिकाओं के मनोरंजन के लिये नीचे लिखते हैं—

१—विवाह परंपरा से होता चला आया है। कोई यह नहीं सोचता कि हम क्यों विवाह करते हैं, उसी भाँति जैसे कोई यह नहीं सोचता कि हम भोजन क्यों करते या कपड़े क्यों पहनते हैं ? इसीलिये मैंने भी प्रथानुसार विवाह कर लिया।

२—मेरी इच्छा तो विवाह करने की न थी; पर मैं मारे संकोच के अपनी अनिच्छा प्रकट न कर सका।

३—नौकर अच्छे नहीं मिलते थे और अगर मिलते भी थे, तो ठहरते नहीं थे, विशेषकर रसोइया अच्छा न मिलता था। विवाह के बाद वह विपत्ति सिर से टल गई।

४—मैं विवाहित तो अवश्य हूँ, पर मैंने अपना विवाह नहीं किया। मेरी बाल्यावस्था ही में माता-पिता ने विवाह कर दिया और इसकी ज़िम्मेदारी उन पर है।

५—मेरे पास जायदाद बड़ी थी और पुत्र कोई नहीं। इसलिये मैंने विवाह कर लिया, हालाँकि यह लालसा पूर्ण नहीं हुई। पुत्र से अभी तक वंचित हूँ, हाँ, सात कन्याएँ आ गई हैं, जो जायदाद को ठिकाने लगा देंगी।

६—मेरी अपार संपत्ति का कोई भोगनेवाला न था। स्त्री ने आकर मुझे इस भार से मुक्त कर दिया।

७—मेरे कुटुंबजन और संबंधी मुझे नित्य घेरे रहते थे। इसलिये मैंने विवाह कर लिया, अब मुझे शांति मिल गई है, कोई नहीं फटकने पाता।

८—मित्रों और संबंधियों पर मेरे रंग के इतने कर्ज़ आ गए थे कि वसूली के लिये मुझे विवाह करना पड़ा। जेब से कौड़ी नहीं लगी।

९—माताजी का देहावसान हो जाने के बाद कोई मेरी निगरानी करनेवाला न था। इसलिये मजबूर होकर विवाह कर लिया।

१०—मैं अकेला था। दफ़्तर जाते समय घर में ताला डालना पड़ता था। इसलिये शादी कर ली।

११—माताजी ने क़सम रखा दी थी। इसलिये विवाह करना पड़ा।

१२—मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं है। अकसर बीमार रहा करता हूँ। सेवा-शुश्रूषा के लिये कोई न था। इसलिये विवाह करना पड़ा।

१३—लोग समझते थे, मेरे ख़ानदान में ऐब है, इसलिये शादी करनी पड़ी।

१४—डॉक्टरों की सलाह थी कि विवाह कर लो।

१५—मैं सेना-विभाग में हूँ। विवाहे आदमियों का वेतन बढ़ जाता है, इसलिये विवाह करना पड़ा।

१६—मैं बड़ा क्रोधी हूँ, कोई मेरी घुड़की-धमकी न सहता था। इसलिये विवाह कर लिया।

प्रभाकर से संकलित

× × ×

२. मोटर रोकनेवाली महिला

श्रीमती ताराबाई के आश्चर्य-जनक बल और पौरुष को तो हम देख ही चुके हैं, अब मद्रास-प्रांत में एक दूसरी महिला ने अपनी अमानुषीय शक्ति का परिचय देना शुरू किया है। इनका नाम है रुक्मा बाई। यह चलते हुए मोटर को रोक लेती हैं। इनकी अवस्था ३० वर्ष की है।

× × ×

३. महिला-स्वत्व आंदोलन

अभी बहुत दिनों की बात नहीं है, जब भारतवर्ष-जैसे अंधकार-मग्न देश में ही नहीं, योरोप जैसी दिव्य देव भूमि में भी नारी-जीवन का आदर्श परिवार के सुख में सुखी रहना था। स्त्री का मुख्य कर्तव्य बाल-बच्चों का पालन और पति की सहायता करना था। कुछ उन्नत विचार के पुरुष और स्त्रियाँ उस समय भी स्त्री-समाज की दीनता और दुर्भाग्य पर आलोचनाएँ किया करते थे। स्त्री-स्वातंत्र्य का अंकुर तो फ्रांस की महाक्रांति के बाद ही जमने लगा था। उस क्रांति ने अधिकार और प्रभुत्व की जड़ हिला दी और परिवार भी उसके धक्के से न बच सका। आख़िर वहाँ भी तो पुरुष का अधिकार और प्रभुत्व था। रूसो के बाद हर्बर्ट स्पेंसर, एडवार्ड कारपेंटर आदि विद्वानों ने महिला स्वत्वों का निरूपण करना शुरू किया; उपन्यासकारों ने उपन्यासों में, नाटककारों ने नाटकों में, स्त्री-समाज की दशा दिखाकर जनता को आकर्षित किया। पुरुषों ने कभी ऐसी हार न खाई थी। जिन अधिकारों के लिये पुरुषों को लड़ते शताब्दियाँ बीत गई थीं, वही अधिकार स्त्रियों को दिनों में प्राप्त हो गए। स्त्रियों की पराधीनता का मुख्य कारण आर्थिक पराधीनता बताया गया। पुरुष द्रव्योपार्जन करते हैं, इसलिये वे स्त्रियों पर हुकूमत जताते हैं। स्त्री-समाज ने द्रव्योपार्जन करने की ठानी, कचहरी, दफ़्तर, कारख़ाने सब के द्वार खुल गए। पार्लियामेंट ने भी उनका स्वागत किया, अदालत की कुर-सियों और बार दोनों ने उनका अभिवादन किया, यहाँ तक कि वे सूबों की गवर्नर भी हो रही हैं, साहित्य, समा-चार पत्र, विद्यालय, व्यवसाय, कोई ऐसा विभाग नहीं है, जहाँ स्त्रियों ने अपना हिस्सा न बटाया हो। इसका परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियों को मातृत्व से अरुचि हो गई है, वे अब अपनी संतानों के पालन और शिक्षण को अपना कर्तव्य नहीं समझतीं। महिला-स्वातंत्र्य के राज्य में शिशुओं को स्थान नहीं है, या है तो बहुत कम। ऐसी माता का शिशु अनाथ से कम नहीं, वह खाता है या नहीं, देर में उठता है या सबेरे, किसके साथ खेलता है, कहाँ घूमता है, माता को इसकी चिंता नहीं। ऐसे लड़के आवारा हो जायँ, तो क्या आश्चर्य है। जिस घर में शिशु का स्थान भोग-विलास, यशोच्छा और आत्मस्वातंत्र्य के पीछे हो, उसकी कुशल नहीं। इँगलैंड में आवारा लड़कों का एक दफ़्तर है। शायद ही कोई ऐसा लड़का उस अदालत में आता हो, जिसे अपने घर में सच्चा स्नेह और आदर प्राप्त हो।

यद्यपि इस आंदोलन ने भारत में इतना उग्र रूप धारण नहीं किया, पर ऐसा विरला ही कोई शिक्षित परिवार होगा, जिस पर उसका कुछ-न-कुछ असर न पड़ा हो। हमें उसके लिये अभी से तैयार रहना चाहिए। योरोप में सामर्थ्य है, वहाँ स्त्री और पुरुष दोनों ही के लिये धनोपार्जन के द्वार खुले हुए हैं। भारत में पुरुष ही मारे-मारे फिर रहे हैं, तो अब स्त्रियाँ भी मैदान में आ जायँगी, तो अवस्था कितनी शोचनीय होगी। उसकी कल्पना ही से रोएँ खड़े होते हैं। अब आपको महिलाओं से दबकर रहना पड़ेगा। आप जो अब तक अपने घर का बादशाह बने फिरते थे, सारे घर को अपने इशारे का गुलाम समझते थे, आपके किसी काम पर आलोचना करने का आपकी गृहिणी को अधिकार न था, उसे आप अपनी वासना की एक वस्तु-मात्र समझते थे, वह राग अब नहीं चल सकता। समय बदल गया और इसके साथ आपको भी बदलना पड़ेगा। अब भी अगर आप एक बजे रात को सैर सपाटा करके आने पर अपनी स्त्री को रसोई में बैठे देखना चाहें, तो आप इस युग में रहने के योग्य नहीं। अब भी यदि आप स्त्री से पैसे-पैसे का हिसाब पूछते हैं, ज़रा-ज़रा सी बात पर घुड़क बैठते हैं, अपने को

उसका स्वामी समझकर दम की लेते हैं, तो यह आपकी नादानी है। आप उसके स्वामी तभी हो सकते हैं जब वह भी आपकी स्वामिनी हो। जब तक आप उसे यह पद नहीं देते, तब तक उसके स्वामी बनने का दावा न कीजिए। यह न समझिए कि आप बाहर से रुपए कमाकर लाते हैं, इसलिये आपको उस पर रोब जमाने का अधिकार है। स्त्री का पारिवारिक कर्तव्य आपके व्यवसाय से जौ-भर भी कम महत्त्व नहीं रखता। नाम की लालसा मनुष्य-मात्र में होती है। सच पूछो तो यश-लिप्सा ही इस महिला-स्वातंत्र्य का मुख्य कारण है। सहस्रों शताब्दियों से हमने स्त्रियों की इस सर्वव्यापी तृष्णा को दबा रक्खा है। हमने उनके जीवन के क्षेत्र को अत्यंत संकुचित कर दिया है। वे आजीवन घर के काम-धंधे करती रहें, कोई यश नहीं, कोई नाम नहीं, उन्हें धन्यवाद भी नहीं मिलता। इधर हम एक भुनगा भी मार लें तो शिकारी कहलाने लगते हैं। जिन माताओं के स्तन से मनुष्य जाति का पालन होता है, जिन माताओं की गोद में बैठकर हमें जीवन की प्रारंभिक शिक्षा मिलती है, उनका निरादर करना ऐसी कृतघ्नता है, जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है।

× × ×

४. साड़ी और फ्राक

योरोपियन लेडियों के वेष-भूषा में जो विचित्र परिवर्तन हो रहा है, उसे देखकर यदि हम यह अनुमान करें कि थोड़े दिनों में हम अपने प्राकृतिक आवरण में ही तुष्ट होने लगेंगे, तो कोई अत्युक्ति नहीं। दो ही चार साल पहले लेडियों का गाउन ज़मीन पर घसीटता हुआ चलता था। जूते की एड़ियाँ मुश्किल से दिखाई देती थीं। अब फ्राक घुटने के ऊपर ही रहता है, दोनों बाहें कंधे तक खुली रहती हैं और वक्ष का बड़ा भाग भी अपनी रजत शोभा दिखाता रहता है। फ्राक क्या, हम तो उसे एक सपाट थैली कहेंगे। न-जाने यह कौन सौंदर्य-सिद्धांत है, जिसने यह भयंकर रूप धारण कर लिया है। यदि यह भी महिला-स्वतंत्रता का एक चिह्न है, तो ईश्वर हमें उस से बचावें। हम तो इसी में प्रसन्न हैं कि हमारी महिलाओं के योरोपियन फ़ैशन अख़्तियार करने का भय उस समय तक के लिये अवश्य दूर हो जाता रहा, जब तक फ्राक का राज्य रहेगा। हम यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि भारतीय रमणी इस हद तक लज्जा और संकोच को तिलांजलि दे सकती है। वाह री साड़ी! धन्य है वह जिसने तुझे बनाया! हमारी अन्य वस्तुओं की भाँति तुझ पर भी पूर्वत्व की छाप लगी हुई है। कभी तेरा सानी पैदा होगा, हम इसकी कल्पना नहीं कर सकते। तेरा सदैव अखंड राज्य रहेगा। पुरुषों को अँगरेज़ों का मुँह चिढ़ाना मुबारक! वे अचकन और साफ़े को छोड़कर कोट और हैट के गुलाम हो जायँ, लेकिन साड़ी पर फ्राक को कभी विजय प्राप्त होगी, यह असंभवनीय है।

× × ×

५. क्या स्त्रियाँ अबला हैं?

चिरकाल से हम स्त्रियों को अबला नाम से पुकारते आते हैं। किंतु क्या सचमुच स्त्रियाँ अबला हैं? क्या सभी युगों में स्त्रियों ने इस उक्ति को सत्य प्रमाणित नहीं किया है कि "The hand that rocks the cradle, rules the world"—जो सुकुमार हाथ बच्चे को पालने में झुलाता है, उसीमें संसार के शासन करने की शक्ति भी मौजूद है? सृष्टि के प्रारंभ से आज तक संसार के गर्भ में जो-जो जातियाँ सिर ऊँचा कर खड़ी हुई हैं, उन सबों को स्त्रियों ने ही शक्ति दी है, 'उनकी भुजाओं में बल-प्रदान किया है' नारी-शक्ति को पंगु बना कर दुनिया की कोई जाति कभी उन्नति नहीं कर सकती, इसमें किंचिन्मात्र भी संदेह नहीं। किंतु अफ़सोस तो यह है कि उनका अबला नाम कभी नहीं मिटा। उन्नति-पथ में, कर्म-पथ में, सत्य और निश्चय-पथ में पुरुष बराबर उन्हें पीछे रखने की कोशिश करते रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के इस सभ्य युग में जो लोग सभ्यता की डींग हाँकते हैं, वे भी आज तक स्त्रियों के उचित अधिकार देने में आना-कानी करते हैं।

किंतु आज स्त्री-समाज में सब जगह जागृति के लक्षण देख पड़ रहे हैं। वे अपना स्वत्व और अधिकार प्राप्त करने के लिये व्यग्र हो उठी हैं। संसार की कोई भी शक्ति अब उनके उन्नति-पथ में रोड़ नहीं अटका सकती। महिलाएँ अपना हक पाने के लिये जी जान से लग गई हैं। अब उनका अबला नाम अधिक दिनों तक टिक नहीं सकता।

× × ×

६. तैरने में महिलाओं की स्फूर्ति

केवल राजनीति में ही नहीं, शारीरिक-शक्ति प्रदर्शन में

भी महिलाओं ने अपनी योग्यता का परिचय देने में कम भाग नहीं लिया है। पाश्चात्य महिलाएँ इस समय तैरने में जो अद्भुत निपुणता दिखला रही हैं, वह सचमुच ही आश्चर्य-जनक है। संसार की अद्भुत तैराक मिसण्डार्ड का नाम समाचार-पत्रों के पाठक अवश्य ही जानते होंगे। फ्रांस के केप-गिर्जे से लेकर विलायन के किंग्स टाउन तक २२ मील विस्तृत इँगलिश चैनेल को उन्होंने केवल १४ घंटे में तैर कर पार किया है। इस अभूतपूर्व साहसिक कार्य को देखकर उस देश के महिला-मंडल में एक विचित्र स्फूर्ति आ गई है।

हाल ही में पता लगा है कि अमेरिका में मिसेज़ क्लेमिंगटन नाम की एक महिला ने १९½ घंटे में उक्त चैनेल को पार किया है। पाठिकाओं को यह सुन कर आश्चर्य होगा कि यह दो संतानों की माता हैं। मिस मोना मेसिलन नाम की एक दूसरी महिला केप ओरिसनेज (Cape oris Nez) से डोवर (Dover) तक तैर कर जाने के विचार से रवाना हुई। किंतु दुःख की बात है कि २१ घंटे तक अनवरत चेष्टा करने पर भी इन्हें सफलता नहीं मिली। फिर भी हम इनकी अद्भुत शक्ति की सराहना किए बिना नहीं रह सकते।

यह तो योरप और अमेरिका की बात हुई। हमारे देश की स्त्रियाँ अभी जल को देखते ही काँप उठती हैं। क्या हम आशा करें कि हमारे देशकी स्त्रियाँ भी ऐसे-ऐसे साहसिक कार्यों से अपनी साहसिकता का परिचय दे सकेंगी?

× × ×

७. पृथ्वी-परिक्रमा में महिलाओं की प्रगति

मिस रोज़िटा फ़रबस नाम की एक अँगरेज़-कुमारी महिला संसार-भ्रमण करने के अभिप्राय से पैदल चल निकली हैं। वह आफ्रिका, अमेरिका, अरब, तुर्किस्तान प्रभृति अनेक देशों का भ्रमण अब तक कर चुकी हैं। इस भ्रमण में उन्हें अनेक दुर्गम पहाड़, गुफा, कंदरा आदि को पार करना पड़ा है, अनेक हिंसक जीवों का सामना करना पड़ा है, और कितने ही भयंकर और दुर्दांत दस्युओं के हाथ से जीवन-रक्षा करनी पड़ी है। अनेक देश-विदेश घूमते-फिरते भिन्न-भिन्न विचित्र प्रकार के आचार-व्यवहारों और भाषाओं को उन्होंने सीख लिया है। उनके विचित्र भ्रमण-वृत्तांत की कथा पढ़ कर हमारे आश्चर्य की हद नहीं रहती।

अभी तक हमारे सुनने में यही आता था कि अमुक व्यक्ति गौरीशंकर की चढ़ाई करने को गया है और कोई उत्तर मेरु की सीमा तय करने की खोज में निकल पड़ा है ऐसे लोगों की बात याद आते ही श्रद्धा से हमारा मस्तक उनके आगे नत हो जाता है, आश्चर्य और विस्मय से हमारे हृदय में एक कौतूहल पैदा हो जाता है। अब इन कामों में पुरुषों का ही एकाधिपत्य नहीं रहा, स्त्रियाँ भी पुरुषों की नाईं ऐसे-ऐसे दुर्गम पथ का अवलंबन कर अपूर्व साहस का परिचय देने लगी हैं।

× × ×

८. तलवार खेलने में महिला

विगत ५ सितंबर को कलकत्ता युनिवर्सिटी-इंस्टीट्युट-भवन में, श्रद्धेया सरलादेवी के नेतृत्व में, स्त्रियों की एक व्यायाम प्रतियोगिता हुई थी। कलकत्ते के कितने ही बालिका-विद्यालयों की अनेक छात्राएँ इस प्रतियोगिता में सम्मिलित हुई थीं। अनेक मारवाड़ी और बंगाली बालिकाओं ने लाठी और तलवार भाँजने में अद्भुत निपुणता का परिचय दिया था। छुरे के खेल में तो उन्होंने कमाल कर दिखाया।

कलकत्ते की महिला-व्यायाम-समिति के उद्योग से करंथियन (Corinthe n heatre) में शीघ्र ही एक और प्रतियोगिता होनेवाली है। इसमें भी बालिकाएँ पिछली बार की नाईं, तलवार भाँजना, लाठी भाँजना, छूरा खेलना, मुष्टि-युद्ध, स्किपिंग, ड्रिल आदि अनेक प्रकार की कसरतें दिखलावेंगी।

वीरता तथा पौरुष की उज्ज्वल महिमा में इस देश की महिलाएँ किसी समय संसार में अपना सानी नहीं रखती थीं; किंतु आज एक ओर समाज का अत्याचार और दूसरी ओर सरकार के दबाव में पड़कर वे अपना सर्वस्व खो बैठी हैं। वे आज असहाया, अबला, आत्म-रक्षा के लिये पुरुष-मुखापेक्षी हो रही हैं। संतोष का विषय है कि अब उनमें भी जागृति के लक्षण देख पड़ रहे हैं, अपने पैर पर ज़ोर देकर उठने का प्रयत्न वे सचेष्ट होकर कर रही हैं। वह शुभ दिन कब आवेगा, जब घर-घर में दुर्गावती, रानी भवानी, पद्मिनी, नूरजहाँ, चाँद बीबी, कर्मदेवी सरीखी देवियाँ भारत में जन्म लेंगी।

× × ×

११. विवाह में अपूर्व यौतुक

बंगाल के बगुड़ा-नामक एक नगर में श्रीयुत खीरोदनाथ खाँ* के द्विजेन्द्र के विवाह में वधू को किसी आत्मीय ने उपहार में एक छुरा दिया है। यह बिलकुल नई बात है। अभी तक बंगाल की महिलाओं को दो-चार शीशी सेंट काम के हेतु दान उपहार में दिया जाता था। अब यदि उनके कोमल और सुकुमार हाथों में लोहे के अस्त्र दिए जाया करें, और यदि वे तुच्छ विलास-सामग्री का मोह छोड़कर उनके सद्व्यवहार करने लगें, तो निस्संदेह इस देश में एक नवीन युग का आविर्भाव हो जाय।

गोपीनाथ वर्मा

× × ×

१०. पति-भक्ति

इतिहास से मालूम होता है कि फ्रेंच महाविप्लव से कुछ वर्ष पहले एक १७ वर्ष की अनाथ, परंतु सुंदर एवं धनी कन्या का एक निर्धन युवक से विवाह हुआ था। कुछ समय तक तो ये दोनों प्रेम-पूर्वक रहते-सहते रहे, परंतु उनके मित्रों और पड़ोसियों को अत्यंत आश्चर्य हुआ, जब उन्होंने यह सुना कि ये दोनों परस्पर सम्मति से विवाह विच्छेद (Divorce) कर रहे हैं। जब विवाह विच्छेद हो गया, तो इसके तीन-चार दिन के पश्चात् ही मित्रों और पड़ोसियों को और भी आश्चर्य हुआ। उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही, जब उन्होंने यह सुना कि दोनों ने अपना विवाह फिर कर लिया है। इन सब बातों का कारण यह था कि अनाथ कन्या के संरक्षकों ने उसके प्रथम विवाह में इस शर्त पर सम्मति दी थी कि कन्या की संपत्ति उसके ही पास रहनी चाहिए, ताकि उसका पति इस धन का कोई प्रयोग न कर सके। महिला को इस बात का बड़ा दुःख था, और वह अपना सर्वस्व अपने पति को अर्पण करना चाहती थी। अब तरुणावस्था प्राप्त होने पर उसको अपनी संपत्ति पर सर्वाधिकार मिल गया था। इस प्रकार उसने सर्वस्व अपने पति को अर्पण कर दिया।

× × ×

९. श्रीमती ग्रे

इँगलैंड के प्रसिद्ध कवि ग्रे की माता बड़ी योग्य और गुणी महिला थीं, और उनका चरित्र भी सराहनीय था। इन्होंने अपने पुत्र ग्रे का अपने ही पुरुषार्थ से पालन-पोषण किया था, और शिक्षा भी दी थी। पिता कुछ सहायता नहीं करते थे।

श्रीमती ग्रे के पति बड़े दुराचारी थे। उन्होंने श्रीमती पर न्यायालय में एक मुक़द्दमा भी चलाया था। इस मुक़द्दमे के संबंध में श्रीमती ने अपने वकील को जो वृत्तान्त लिखकर दिया था वह हम यहाँ पाठिकाओं के मनोरंजन के लिये देते हैं—

"मैं अपने पति पर अपनी किसी भी आवश्यकता के लिये भार नहीं हुई हूँ। मैंने अपना ही नहीं, वरन् अपने बारह बालक-बालिकाओं का भी पालन-पोषण किया है। घर का बहुत सा सामान स्वयं मेरा ही लिया हुआ है। कुछ सौ रुपए वार्षिक उनकी (पति की) दूकान के संबंध में व्यय करती रही हूँ। अपने पुत्र की प्रायः हर एक आवश्यकता की पूर्ति की है, जब कि वह ईटन-विद्यालय में पढ़ता था, और अब भी जब कि वह कॅम्ब्रिज में पढ़ रहा है। इसके अतिरिक्त जब से मेरा विवाह हुआ है, उन्होंने सदा मुझसे अत्यंत अमानुषिक बर्ताव किया है। उन्होंने मेरी बुरी से बुरी दुर्दशा भी की है। लकड़ियों से मारा है। जूतों से मारा है। कौन सी गंदी गाली है, जो उन्होंने मेरे लिये अपने मुख से नहीं निकाली। यह सब कुछ मैंने अपने पुत्र के लिये सहा है कि जब इसका पिता इसकी कोई सहायता नहीं करता, तो मेरे ही पुरुषार्थ से किसी योग्य बन जाय।"

माता के इस स्नेह और प्रेम के कारण ही कवि ग्रे का पालन-पोषण हुआ था, और उन्होंने उच्चशिक्षा भी प्राप्त की। माता की मृत्यु के पश्चात् ग्रे जब कभी किसी के सम्मुख अपनी माता के संबंध में बातें करने लगते, तो तुरंत ही उनके नेत्रों से जल-धारा बहने लगती थी।

श्यामाचरण

---

* बंगाल में कितने ही हिंदू घरानों में भी खाँ की उपाधि अभी तक चली आ रही है। मुसलमान नवाबों ने इन्हें यह उपाधि दी थी। —लेखक

१. चंदन कवि

विनोद में मिश्रबंधु लिखते हैं—"चंदन बंदीजन माहिल, पुवायाँ जिला शाहजहाँपुर के रहनेवाले थे, और गौरराज केसरीसिंह के यहाँ रहते थे। संवत् १८३० के लगभग यह वर्तमान थे। ग्रंथकार ने केसरीप्रकाश, शृङ्गार-सार, कल्लोल तरंगिनी, काव्याभरण, चंदन-सतसई, और पथिकबोध-नामक इनके छः ग्रंथों के नाम लिखे हैं।" खोज में नामकोष और तत्व-संग्रह-नामक ग्रंथों का पता चला। इनके अन्य ग्रंथ भी पाए जाते हैं, जिनमें सीत-बसंत, कृष्ण काव्य, केसरी-प्रकाश, प्राज्ञ-विलास और रस-कल्लोलिनी हैं।

मुझे अपने पुस्तकालय में चंदन के तीन ग्रंथ हस्त-लिपि में मिले हैं, जो ये हैं—

(१) केसरी प्रकाश

(२) काव्याभरण

(३) रस-कल्लोलिनी

इनकी प्रतिलिपि पुवायाँ निवासी बिहारी आनंद कायस्थ ने जनवरी सन् १८२४ में की है। आपने प्रत्येक ग्रंथ के अंत में पूर्ण होने की तिथि अपने हस्ताक्षर-सहित दी है। प्रति के अत्यंत जीर्ण होने के कारण अनेक स्थानों पर पढ़ने में कठिनाई होती है। परंतु जो कुछ उन्हें देखने से मुझे ज्ञात हुआ, वह संक्षेप में पाठकों के सम्मुख रखता हूँ।

केसरीप्रकाश

केसरीप्रकाश में कवि ने निर्माण-काल यों लिखा है—

प्रगट अठारह सै जहाँ सतह संवत चारु;
क्वार-सुदी दसमी सुतिथि भई हुती रविवार।

अर्थात् १८१७ संवत, क्वाँर सुदी दशमी रविवार को ग्रंथ बना। इस ग्रंथ का नामकरण कवि ने अपने संरक्षक के नाम पर किया है। उनके विषय में कवि लिखता है—

प्रथम मलिंद खेदी भए गौर-बंस-उत्तंस;
पुत्र लियो पै तेज दिव छाप्यो जैसे हंस।
तिनके चार तनय भए जिमि चारो दिगपाल;
अरि-खंडन मंडन-अवनि पूरो भाग-बिसाल।
रामसिंह, धनसिंह अरु भूपसिंह उदार;
हिम्मतसिंह महाबली जानत सब संसार।
जीत जगत पड़रा नगर करो राज भू देष;
रहिय न और अरात पौ तिन रन के दोष।
लियउ दूर पच्छिम बहुर गौरा देस सुदेस;
रची राजधानी तहाँ रहे मनो अखिलेस।

कवित्त

खेदी नरेस के पुत्र बहुसुत मे दस चार के रक्षक चारू;
दानन के कलपद्रुम-से जनु जाचक दारिद के कुल दारू।
सत्रुन घाल के पाल सुमित्रन 'चंदन' तेज प्रताप पसारू;
जूझ के जोधा गए सुरलोक बिसुद्ध जगी जस चंद उजारू।
भूपसिंह उदार के भये पाँच सुत धीर;
बली, बिक्रमी, साहसी अति समरथ रन बीर।

नृप अनूप पहले भए ऊदलसिंह पुन जान ;
 खानसिंह रनसिंह सम जग जेहि करत बखान ।
बाघराय पालक अवनि अरि घालक गुनवंत ;
 महिमा जेहि महिमा चहै अमत जंतु अनसंत ।
पुनि तिनके लहुरे भए हरजूमल समरथ्थ ;
 जाको जस जग में विदित जगमगात जिमि पृथ्थ ।
अति समरथ्थ भूपति तनय बाघराय रन सूर ;
 भूतल को सिरजंतु सो 'चंदन' सील समुद्र ।
अपने सर सुन प्रगट कर मूरत मैन असोक ;
 मे रन रंग अभंग बल, आपु गए सुरलोक ।
ता सुत राजत अवनि अब कुँअरकेसरी नाम ;
 दान, कृपान, बुधान मति लीन रहैं निसि मान ।
रच्यो ग्रंथ चंदन सुकवि यह केसरीप्रकास ;
 जा में नव रस रीति सों बाढ़ै बुद्धि-बिलास ।

इससे प्रगट होता है कि खेड़ीमलिह जो गौरदेश के थे, चार पुत्र थे । रामसिंह, धनसिंह, भूपसिंह और हिम्मतसिंह । इनकी राजधानी गौरा-देश में थी, जो पश्चिम में थी । भूपसिंह के पाँच पुत्र हुए । अनूपसिंह, ऊदलसिंह, कान्हसिंह, बाघराय और हरजूमल । बाघराय के पुत्र केसरीकुँअर उनकी मृत्यु के पश्चात् राजा हुए ।
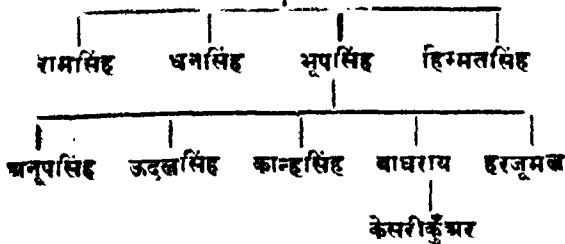
इस ग्रंथ में छः प्रकाश हैं, जिनमें छंद, नायिकाभेद और इस पर कवि ने अनेक छंद लिखे हैं । इसकी भाषा अच्छी जान पड़ती है, और कहीं-कहीं भाव भी उत्तम हैं । ग्रंथ की हिंदी प्रतिलिपि होने पर विशद रूप से लिखना संभव होगा । लिपिकार ने अंत में लिखा है—

گزشتہ کیسری پرکاش من تصنیف چندن داس کب
ساکن پوانوہ خاص واقعہ بتاریخ ششم ماہ جنوری سنہ
۱۸۲۴ع مطابق روز سہ شنبہ سدی پنچمی ماہ پوکھ
سنہ ۱۲۳۱ فصلی دستخط بہوانی لال ساکن پوانوہ

सारांश यह कि ग्रंथ ६ जनवरी, सन् १८२४ को समाप्त हुआ ।

काव्याभरण

काव्याभरण का निर्माण-काल चंदन कवि यों देते हैं—

 नमस्कार गुरुदेव कूँ कर चंदन बहु बार ;
 काव्याभरण कियो प्रगट भाषा कवि-आधार ।
 संवत अठारह सै जहाँ पैंतालीस विचार ;
 चंद्रवार, तिथि दूज सुदि मार्ग ग्रंथ बिस्तार ।

अतः इस ग्रंथ का निर्माण अगहन सुदी द्वितीया, संवत् १८४५ में हुआ । इस ग्रंथ में १६४ दोहे हैं, जिनमें कवि ने संक्षेप में अलंकार लिखे हैं । इसकी प्रतिलिपि जनवरी, सन् १८२४ में हुई है ।

रस-कल्लोलिनी

रस-कल्लोलिनी में चंदन ने निर्माण काल यों दिया है—

 क्वार सुदी दसमी सुतिथि भए चंद्र सुभवार ;
 संवत अठारह से जहाँ चालिस ग्रंथऽवतार ।
 नाना रसकल्लोलिनी सुख रस लह इय पंथ ;
 याते रसकल्लोलिनी नाम धरयो यह ग्रंथ ।

संवत् १८४६, कुँआर सुदी दसमी दिन सोमवार को इसकी रचना हुई । इस ग्रंथ में ८ कल्लोल कवि ने रक्खे हैं, जिनमें निम्न-लिखित विषयों पर लिखा है—

कल्लोलसंख्या	विषय	छंद संख्या
प्रथम कल्लोल	स्थाईभाव	९५
द्वितीय ,,	भाव	३९
तृतीय ,,	अनुभाव	३२
चतुर्थ ,,	सहायक भाव	४०
पंचम ,,	व्यभिचारी भाव	१७१
षष्टम ,,	शृंगार	६७
सप्तम ,,	रस वर्णन	८१
अष्ठ ,,	मिश्रित रस	७६

'रस-कल्लोलिनी' में कवि ने रस का भली भाँति विवेचन किया है । इस में अनेक प्रकार के छंद दोहे कवित्त आदि हैं ।

सब से प्राचीन इनका 'केसरी प्रकाश' है, जिसका निर्माण संवत् १८१७ में हुआ है । इन तीनों ग्रंथों की यह संभवतः सबसे प्राचीन प्रतिलिपियाँ हैं, जो प्राप्त हैं । ये चंदन के अंतिम ग्रंथ रसकल्लोल (१८४६) के ३५ वर्ष बाद के हैं । चंदन ने और भी कई ग्रंथ लिखे हैं,

पंचवटी में शूर्पनखा

N. K. Press, Lucknow

जिसका निर्माण संभवतः इस ग्रंथ के पीछे हुआ हो । अतः चंदन का १८४६ के बहुत बाद तक जीवित रहना मिलेगा । इस अवस्था में संभव है, इन तीनों ग्रंथों की प्रतिलिपि चंदन कवि के समय में ही हुई हो । ये बातें अन्वेषणीय हैं ।

सत्यजीवन वर्मा

× × ×

२. रस-पीयूष-निधि

परिचय

सोमनाथ के पिता का नाम नीलकंठ, बाबा का देवकीनंदन और परबाबा का नरोत्तम था । ये माथुर ब्राह्मण थे और फ़िरोज़ा के मिश्र प्रसिद्ध थे । नरोत्तमजी जयपुर-नरेश महाराज रामसिंह के मंत्र-गुरु थे । स्मरण रहे कि इन्हीं महाराज रामसिंह के आश्रित जगन्नाथ पंडितराज के शिष्य कुलपति मिश्र भी थे । सोमनाथ एक अच्छे आचार्य और सुकवि थे । अब तक इनके बनाए जिन ग्रंथों का पता लगा है उनके नाम इस प्रकार से हैं—

१. रस-पीयूष-निधि (सं० १७९४) राजा प्रताप-सिंह के लिये
२. रामचरित्र-रत्नाकर अयोध्याकांड (सं० १७९९)
३. रामपचध्याई (सं० १८००)
४. सुजान विलास अथवा सिंहासन-बत्तीसी (सं० १८०७) महाराज का अनुवाद सूरजमल के लिये
५. माधव-विनोद (सं० १८०७) कुँअर बहादुर-सिंह के लिये
६. ध्रुव-चरित्र (सं० १८१२)
७. महादेवजी का ब्याउलो (सं० १८१३)
८. राम-कलाधर
९. प्रेम पचासा आनंदकिशोर के लिये
१०. ब्रजेंद्र-विनोद (श्रीमद्भागवत दशम-स्कंध का अनुवाद)

इन ग्रंथों के रचना-काल को देखते हुए सोमनाथजी का कविता-काल १७९० और १८१५ के बीच में पड़ता है । यदि इन्होंने २० वर्ष की अवस्था में कविता करना आरंभ किया हो, तो इनका जन्म-काल संवत् १७६० के लगभग पड़ता है । सम्भवतः संवत् १८२० के इधर-उधर इनकी मृत्यु हुई होगी । कविता में सोमनाथ नाम के अलावा ये अपना नाम "ससिनाथ" और "नाथ" भी र भरतपुर-राज्य से ही इनका विशेष संबंध समझ पड़ता है । इन्होंने भरतपुर के राजा बदनसिंह, राजा सूरजमल, राजा प्रतापसिंह और कुँअर बहादुरसिंह की ख़ूब प्रशंसा की है । महाराज जयपुर के आश्रित "कृष्ण-कला-निधि" कवि से इनका बड़ा मेल था और "रामचरित्र-रत्नाकर" ग्रंथ की रचना इन दोनों कवियों ने मिलकर की है ।

महाकवि "देव" का संबंध भी भरतपुर-दरबार से पाया जाता है । 'देव' जी का जन्म संवत् १७३० में हुआ था । इस प्रकार वे सोमनाथजी से अवस्था में ३० वर्ष के लगभग बड़े थे । सूदन कवि भी सोमनाथजी के समकालीन और भरतपुर-नरेश के आश्रित कवि थे । खेद है कि सोमनाथजी-जैसे सुकवि के इस ग्रंथों के वर्तमान होते हुए भी अब तक उनके किसी संपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ है ।

क्या वर्तमान भरतपुर-नरेश, जो हिंदी के सच्चे शुभ-चिंतक हैं, और जिनके पूर्वजों के आश्रय में सोमनाथजी ने अपनी आयु बिताई थी, इस ओर ध्यान देंगे और एक सच्चे कवि के काव्य के प्रकाशन का प्रबंध करेंगे ? अंतरात्मा कहती है कि अवश्य करेंगे ।

जो हो, आज हम सोमनाथजी के 'रस-पीयूष-निधि' ग्रंथ का कुछ परिचय पाठकों की भेंट करते हैं । यदि इस संक्षिप्त परिचय से सोमनाथजी की कविता के प्रति पाठकों का अनुराग बढ़ा, तो उनके अन्य ग्रंथों पर भी यथावकाश प्रकाश डाला जायगा ।

रस-पीयूष-निधि

'रस-पीयूष-निधि' ग्रंथ इक्कीस तरंगों में विभक्त है । प्रथम दो तरंगों में गणेश, राम, हनुमान, बटुकनाथ, पार्वती और कृष्ण की मंगलाचरण-रूप में वंदना है । फिर भरतपुर-नरेश का वंश-वृक्ष भी दिया है । यह वंश-वृक्ष इतिहास के सर्वथा अनुकूल है । भरतपुर-नरेश बदनसिंहजी के दो पुत्र थे । बड़े का नाम सूरजमल अथवा सुजान-सिंह था और छोटे का प्रतापसिंह । बदनसिंहजी ने वैरिगढ़-नामक दुर्ग प्रतापसिंह के आधीन कर दिया था । इतिहास में लिखा है कि प्रतापसिंह ललित कलाओं के प्रेमी थे । 'रस-पीयूष-निधि' ग्रंथ इन्हीं प्रतापसिंहजी के आश्रय में बना है । सोमनाथजी ने प्रथम अध्याय में राजा बदनसिंह,

महाराज सूरजमल और प्रतापसिंहजी की प्रशंसा बहुत अच्छे ढंग से की है। इस तरंग में व्रज का वर्णन और भरतपुर-नरेश की सभा का विवरण बड़ा ही सुंदर हुआ है। दूसरी तरंग में सोमनाथजी ने अपना वंश वृक्ष दिया है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। तीसरी, चौथी और पाँचवीं तरंग में पिंगल का विषय वर्णित है। इन तरंगों में यथार्थ कवित्व-पूर्ण छंद बहुत कम हैं। छठी और सातवीं तरंगों में काव्य-सामग्री, लक्षणा और ध्वनि का निरूपण विद्वत्ता-पूर्ण हुआ है। इन तरंगों के देखने से जान पड़ता है कि सोमनाथजी का काव्य-शास्त्र पर पूर्ण अधिकार था। उन्होंने बहुत स्पष्ट लक्षण देकर फिर उन्हें सरल उदाहरणों द्वारा समझाया है। और कहीं-कहीं उदाहरणों मे पाई जानेवाली कठिनता को गद्यात्मक टिप्पणी लगाकर दूर कर दिया है। आठवीं तरंग से लगाकर पंद्रहवीं तरंग तक शृंगार-रस का विशद विवेचन है। इसमें नायिका-भेद का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। सोलहवीं तरंग में शृंगारातिरिक्त अन्य आठ रसों का वर्णन बहुत थोड़े में किया है। यह वर्णन संतोषप्रदायक भी नहीं है। सत्रहवें तरंग में भाव-ध्वनि का वर्णन अच्छा है। अठारहवीं तरंग में मध्यम काव्य का वर्णन साधारण है। उन्नीसवीं और बीसवीं तरंगों में दोष, गुण, चित्र, काव्य तथा शब्दालंकारों का वर्णन हुआ है। इसमें दोषों का वर्णन पांडित्य-पूर्ण है। इक्कीसवीं तरंग सबसे बड़ी है और इसमें अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है। इस तरंग की कविता में कोई विशेष चमत्कार नहीं है। हमारी राय में 'रस-पीयूष-निधि' में शृंगार-रस का वर्णन ही सबसे अच्छा हुआ है। ग्रंथ का संक्षेप में यही सार है।

कविता-चमत्कार

अब हम पाठकों का परिचय सोमनाथजी की कविता से कराते हैं। एतदर्थ हम 'रस-पीयूष-निधि' से कुछ उत्तम छंदों का संकलन करके, उन्हें आलोचना के साथ पाठकों की भेंट करते हैं।

वर्षा-ऋतु की बात है। ठंढी-ठंढी पुरवाई चल रही है। बेलें हिल-हिलकर वृक्षों में लग रही हैं। सुंदर बिजली चमक रही है। मोर कूक रहे हैं। कामदेव पूरी उमंग पर है। ऐसे ही समय में नायक और नायिका का एक कुंज-गृह में सम्मिलन हुआ है। इस अवसर पर शरीर में जो थरथराहट उठी थी, स्नेह की जिस सरसता का प्रादुर्भाव हुआ था, मेघों ने बरस-बरसकर जो प्रभाव उत्पन्न किया था, वह नायिका को एक क्षण के लिये भी नहीं भूलता है। कितना सुंदर छंद है—

(१)

सीतल पवन पुरवाई के परस नव,
बेलिन की उमन मों लगनि अछेह की;
तैसी चारु चंचला चमकि चहुँ ओरनि ते,
मोरनि को सोर सुनि उमँग अदेह की।
सोमनाथ सुकवि निहारि हरषनि डरि,
कान्हर सुजान सों मिलनि कुंज-गेह की;
बिसरै अजौं न छिन देह-थहरनि आली,
नेह सरसनि और बरसनि मेह की।

वर्षा-ऋतु का प्राकृतिक दृश्य, संयोग शृंगार का पूर्ण चमत्कार और सुंदर भाषा का मनोरम प्रवाह इस छंद में ऐसे अच्छे ढंग से आया है कि कवि की प्रतिभा की मुक्त-कंठ से सराहना करनी पड़ती है।

गुप्ता नायिका के उरोजों पर नख-क्षत मौजूद हैं। उसका नायक से मिलना सूचित होता है। पर वह इस सम्मिलन की बात छिपाना चाहती है। अपनी पड़ोसिनों से वह चतुरता के साथ कहती है कि भई, कपड़े और गहने पहनने का रहस्य तो मैं समझ गई हूँ। पर सखियों के बहुत तरह से सिखलाने पर भी बालों का ऐंछना मुझे नहीं आया है। बाल ऐंछते समय कंघी बिछलकर उरोजों पर आ पड़ती है और क्षत उत्पन्न कर देती है। देखो मेरी छाती में जो दाग़ मौजूद हैं, वे इसी कंघी की बदौलत हैं। आप लोगों को मदद करके मुझे बालों का ऐंछना सिखला देना चाहिए, नहीं तो औरों से सीखना पड़ेगा। कैसी चतुराई से भरी उक्ति है—

(२)

आई सब अंगनि दुकूल सजिबे की बानि,
भनि द्रु न भूषन बनाए अलसानि हैं;
तुम ही बताओ जू पर्गासिनि हो प्यारी न तो,
औरनि के बूझिबे को बानी ललचाति है।
बेर-बेर सुघर सहेलिन पै सीखी तऊ,
कहा करों तोसों कंगही सों न बराति है;
कबहुँक भूलि निज कर सों उरोजनि पै,
बारन के ऐंछत खरोंट लगि जाति है।

ऊपर वर्षा-ऋतु में संयोग शृंगार का वर्णन किया जा

चुका है। अब उसी मनमोहिनी वर्षा का वर्णन वियोग शृंगार के साथ देखिए। वर्षा की वह सारी सामग्री जो संयोगावस्था में सुखद थी, वियोगावस्था में दुःखद प्रमाणित हो रही है। शीतल समीर असि-धारा के समान तीक्ष्ण लगता है। बेलों का लहकना शूल उत्पन्न करता है। मेघ-गर्जन सुनकर छाती धड़कने लगती है। चंचला की चमक देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो दावानल प्रज्वलित हो उठा है। ऐसे अवसर पर काम की कमनैती बहुत ही अखरती है। विपत्ति का ऐसा कुछ स्पर्श हुआ है कि प्राण बचाने का कोई उपाय ही नहीं सूझ पड़ता है। संयोगावस्था में जिन मेघ-धाराओं में अमृत-वर्षण का अनुमान होता था, अब उन्हीं में विष-धाराओं का प्रवाह समझ पड़ता है। वियोग-शृंगारांतर्गत उद्वेग दशा का वर्णन सोमनाथजी ने अपूर्व किया है। भाषा, भाव और कला इन तीनों का बड़ा ही चमत्कार-पूर्ण सामंजस्य इस छंद में मौजूद है। सोमनाथजी के जो छंद चोटी के माने जाते हैं, उनमें इस छंद की भी गणना है।

(३)

सीतल बयारि तरवारि-सी बहति तैसी,
लहकनि बेलिन की सूल सरसन लागी;
धरकत छाती घोर घन की गरज सुनि,
दामिनि की दमक दवा-सी दरसन लागी।
सोमनाथ इते पै करतु कमनैती काम,
कौन भाँति जीवौं री बिपति परसन लागी;
जेई पिय-संग बरसत ही पियूष-धार,
तेई अब घटा बिष-धार बरसन लागी।

नायिका के सौंदर्य का वर्णन भी सोमनाथजी ने अपूर्व किया है। मदन-मल्लाह की सलाह से नायिका रूप-सागर की थाह ले रही है, यह सूझ बड़े मार्के की है। बड़ा सुंदर छंद बन पड़ा है, यद्यपि प्रथम दो पदों में देव कवि के एक छंद से शब्दावली भी ली गई है।

(४)

कुंदन के रंग अंग जोबन तरंग राजै,
उरज उतंग छीन लंक छबि देत है;
बादले की सारी मुलचंद उजियारी तामैं,
न्यारी दुति दसन की हँसन समेत है।
सोमनाथ निरखि सुजान अँगिरानी प्यारी,
ऊँचे भुज जोरि ग्रीवा मोरि हित चेत है;
मदन-मलाह की सलाह सौं उछाह भरी,
ठाढ़ी रूप-सागर की मानो थाह लेत है।

सोमनाथजी की निम्न-लिखित अन्योक्ति बहुत प्रसिद्ध है। इसमें अप्रस्तुत-प्रशंसा की अच्छी बहार है। चारो ओर से सघन मेघ-मालाएँ उमड़ चली हैं। धुरवाएँ भी छटकने लगी हैं। जवासा जल गया है। शीतल वायु के स्पर्श से वृक्ष लहलहे हो गए हैं। मयूरगण भी कुहू-कुहू प्रसन्नता के साथ मधुर शब्दों से बोल रहे हैं। वर्षा होने के सब लक्षण थे पर चातक बेचारे देखते ही रह गए। भूमि पर दो-चार बूँदियाँ भी न पड़ीं। महि-मंडल में चारों ओर यह शोर हुआ कि मेघ आए, मेघ आए और आ करके निकल भी गए। पाठकों ने अनेक बार वर्षा-ऋतु में इस दृश्य का अनुभव किया होगा। अनेक बार बादल बरसने को होकर फिर निकल गए हैं। पृथ्वी-तल तक एक बूँद भी नहीं आई है। वर्षा-ऋतु का यह एक नितांत स्वाभाविक दृश्य है; पर इस दृश्य में केवल प्रकृति-चमत्कार ही सीमाबद्ध नहीं है। इससे उन अवसरों की भी याद आती है, जब हम समझते थे कि अब बड़ी-बड़ी आशाएँ पूर्ण होंगी, पर होता कुछ भी नहीं है। शासन-सुधारों को लक्ष्य करके या महात्मा गांधी के असहयोग-आंदोलन के प्रति यदि सोमनाथजी की इस अन्योक्ति का प्रयोग किया जाय, तो वह ख़ूब चस्पाँ होती है। विशेष व्याख्या व्यर्थ है।

(५)

दिसि बिदिसान तें उमड़ि मढ़ि लीन्हो नभ,
छोड़ि दीन्हे धुरवा जवासे-जूथ जरिगे;
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कुहू-कुहू मुरवा पुकारि मोद भरिगे।
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदाबूँदी हू न करिगे;
सोर भयो घोर चहूँ ओर महि-मंडल मैं,
आए घन आए घन आय कै उघरिगे।

कृष्णबिहारी मिश्र

१. राजनीति और इतिहास

कम्यूनिज़्म क्या है?—लेखक और प्रकाशक, श्रीराधामोहन गोकुलजी, पृष्ठ-संख्या २६०; मूल्य ॥=)॥ पुस्तक मिलने का पता नैशनलिस्ट बुक-शाप' पटकापुर, कानपुर; काग़ज़ और छपाई साधारण।

कम्यूनिज़्म के विषय में इस समय बहुत भ्रम फैला हुआ है। अँगरेज़ी-लेखकों और समाचार-पत्रों ने संसार के सामने इसका काले-से-काला रूप दिखाने की निरंतर चेष्टा की है। इस पुस्तक से बहुत कुछ भ्रम दूर हो जायगा। "कम्यूनिज़्म" का अर्थ है 'कुटुंबता'। संसार-भर को अपना भाई समझना। मगर जब तक यह संसार—स्वार्थी संसार—है, तब तक सबको भाई समझना मुश्किल है। इसलिये कम्यूनिस्ट वर्तमान समाज सभ्यता और संस्थाओं का शत्रु है। वह एक नई इमारत बनाना चाहता है, वर्तमान समाज-भवन को ढा देना चाहता है। वर्तमान समाज उसका रुख़ देखता है और आत्मरक्षा के लिये उसे दबाने का प्रयत्न करता है।

कम्यूनिज़्म ने संसार को दो भागों में विभक्त कर दिया है—एक मज़दूर, दूसरे अभिजात—अर्थात् अधिकार-प्राप्त धनवानों का मंडली। किंतु यह विभक्ति भ्रममूलक प्रतीत होती है। समाज में अधिकार-प्राप्त प्राणियों का कभी अंत न होगा, नियम कितने ही सुंदर बनाए जायँ, पर कालांतर में उसका रूपांतर हो ही जायगा। हज़रत मुहम्मद ने एक ऐसे समाज का संगठन करना चाहा था, जिसमें सबका भाग, सबका अधिकार समान हो। भ्रातृता ही उनके मत का मूल तत्त्व था। बादशाही का वह अंत कर देना चाहते थे। प्रजा जिसे ख़लीफ़ा चुन ले, वही बादशाही के काम संपादित करता था। ख़लीफ़ा को वेतन कुछ नहीं मिलता था। ख़ज़ाने में उसका एक साधारण व्यक्ति से अधिक कोई भाग न था। लेकिन हज़रत मुहम्मद के देहावसान के थोड़े ही दिनों बाद राज-सत्ता का उदय हो गया। संपन्नों और विपन्नों में इतनी श्रेणियाँ हैं कि एक जिसे संपन्न समझता है, वह दूसरे को संपन्न और अपने को विपन्न समझता है और यह सिलसिला नीचे से ऊपर तक फैला हुआ है। लेकिन हमें कम्यूनिज़्म के सिद्धांतों से बहस नहीं। पुस्तक जिस उद्देश्य से लिखी गई है, वह उसके द्वारा अवश्य पूरा हुआ है। लेखक महोदय ने वर्तमान सत्तात्मक संस्थाओं का खंडन करने तक ही अपने को सीमाबद्ध नहीं कर लिया है। विधानात्मक प्रस्तावों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। कम्यूनिज़्म कारख़ाने कैसे चलाएगा? शासन कैसे करेगा? शिक्षा का प्रबंध कैसा करेगा? सेना-रक्षा आदि का क्या विधान होगा? इन सभी विषयों की संक्षिप्त रूप से विवेचना की गई है। वर्तमान राजनीति और सामाजिक रूढ़ियों की आपने बड़ी तीव्र और मार्मिक आलोचना की है। आजकल बड़े-बड़े व्यवसायी प्रति-स्पर्द्धा और स्पर्द्धा-जनित हानि से बचने के लिये आपस में संधि-सी कर लेते हैं। उन्हें सिंडिकेट कहते हैं। देश की राजनीति की बागडोर इन्हीं सिंडिकेटों के हाथों में होती है। आपके शब्दों में सुनिए—

राज्य-शक्ति इन्हीं के अभीष्टों के पूरा करने में लगी रहती है। इसलिये देश के प्रधान शासक और स्वामी मुट्ठी-भर पूँजीपति होते हैं, शेष जनता इनके ही लिए रात-दिन कोल्हू के बैल की तरह पिसा करती है। अमेरिका, ब्रिटानियाँ, फ्रांस और जर्मनी प्रभृति सभी देश राजकीय पूँजीपतियों के ट्रस्ट मात्र हैं। ट्रस्ट, मुखियों, सराफ़ों का बलशाली संगठन अपने स्वार्थ के लिये कोटि-कोटि श्रम-जीवियों को खसोटता है और उन पर शासन करता है। यह कम्युनिस्टों का कथन है। पाठक सोचें, कहाँ तक ठीक है।

साम्राज्यवाद व्यवसायप्रधान शासनपद्धति का नैयायिक फल है। कच्चे माल पैदा करने और तैयार चीज़ें खपाने के लिये कोई-न-कोई क्षेत्र होना परमावश्यक है और व्यवसाय की उन्नति के साथ इसमें भी विस्तार होना रहना चाहिए। लेखक महोदय कहते हैं—

लेकिन यही नहीं, कच्चे माल की प्राप्ति और अपने तैयार माल की खपत के लिये बाज़ार की तलाश में भी बड़ी-बड़ी कोशिशें होती हैं और राजनीतिक समर की नौबत आ जाती है......शांति-काल में ही इस खींचा-तानी के कारण अस्त्र-शस्त्र और अन्य लड़ाई के सामानों की वृद्धि भी होती रहती है। ज़रा-सा बहाना मिलते ही भयानक संग्राम छिड़ जाता है। गत १०-१५ वर्षों से लगातार कच्चे माल की दर चढ़ती चली जाती है......कच्चा माल ज़्यादा मिलता है, भारत-जैसे पीछे पड़े हुए रही देश में इन्हीं देशों की ओर विदेशी लुटेरों का धावा हुआ करता है—

साम्राज्यवाद और अस्त्र-नीति (Militarism) का चोली-दामन का साथ है। लेखक महोदय का विचार इस विषय में विचारणीय है—

प्राचीन काल में किसी भी अत्याचारी ने समस्त संसार पर हुकूमत करने का स्वप्न नहीं देखा। आजकल प्रभुत्व के प्यासों का ध्यान इस ओर बहुत बुरी तरह से लगा हुआ है। इस नवीन परिस्थिति का ही फल है कि राज्य एड़ी से चोटी तक हथियारबंद होते जाते हैं। किसी को भी दूसरे पर विश्वास नहीं है। एक राज्य दूसरे की ओर आँख लगाये रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरा पड़ोसी मुझ पर अचानक आक्रमण कर बैठे। हरएक राज्य इतनी सेना हरदम तैयार रखता है कि कोई उससे लड़ पड़े, तो वह उसका सामना कर सके। आजकल सेना केवल उपनिवेशों को मदद और मज़दूरों को दबाने के लिये नहीं रहती; यद्यपि आत्मरक्षा की दुहाई दी जाती है। कम्युनिज़्म न्याय का क्या विधान करता है, उस पर भी एक नज़र डालिए—

श्रमिक शासन मुक़द्दमा चलने से ख़तम होने तक में न्यूनतम समय लगने देता है, ख़र्च एक प्रकार से होता ही नहीं...ग़रीब-से-ग़रीब अनपढ़ गँवार सीधा अदालत में जाकर अपनी शिकायत कर सकता है, न कहीं कुत्ता भूँकने-वाला, न बिल्ली राह काटनेवाली, ख़ून का प्यासा सिपाही कहीं खोजने से भी नहीं मिलेगा।

इसी भाँति शिक्षा, धर्म, खेती, शासन के सभी अंगों पर इस नए दृष्टि-कोण से नज़र डाली गई है। मिसालें सोवियट रूप के नए शासन से ली गई हैं। कम्युनिज़्म वर्तमान काल का सबसे प्रधान और क्रांतिकारी आंदोलन है। इस-लिए इसके विषय में एक-आध बातें जानने की सभी की इच्छा होती है। वह इच्छा किसी हद तक इस पुस्तक से पूरी हो जायगी।

× × ×

इँगलैंड का इतिहास (प्रथम और द्वितीय भाग)—लेखक, पं० ब्रजमोहन शर्मा बी० ए०, एम० एस-सी०। प्रकाशक, नवलकिशोर-बुकडिपो, लखनऊ, मूल्य प्रति भाग १)

अब शिक्षा-विभाग ने अँगरेज़ी के अतिरिक्त और सभी विषयों में विद्यार्थियों को अपनी मातृभाषा में उत्तर देने की स्वाधीनता दे दी है, तो ऐसी पुस्तकों का प्रकाशित होना परमावश्यक था, जिनके द्वारा परीक्षार्थीगण इस अधिकार से लाभ उठा सकें। प्रस्तुत पुस्तक इसी विचार से लिखी गई है। इसमें लेखक ने सरल और सुबोध भाषा में उस जाति का इतिहास लिखा है, जो अल्पसंख्यक होने पर भी आज भूमंडल के एक बड़े भाग पर अधिकार जमाये हुए है। यह किसी अँगरेज़ द्वारा लिखित इतिहास का अनुवाद नहीं, प्रत्युत मौलिक पुस्तक है। इँगलैंड के कई नक़्शे, लगभग सभी राजाओं के चित्र और मुख्य वंशावलियाँ दी गई हैं। प्रत्येक राजा के सम-कालीन अन्य देशों के राजाओं के नाम भी लिख दिए गए हैं, जिससे विद्यार्थियों को योरप के ऐतिहासिक चरित्रों का कुछ परिचय हो जायगा। चित्र लेथो की जगह अगर हाफ़टोन होते, तो पुस्तक और भी सुंदर हो जाती।

× × ×

भारतवर्ष का इतिहास (प्रथम भाग)—लेखक, पं० व्रजमोहन शर्मा एम० ए०, बी० एस-सी० ; प्रकाशक, नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ; मूल्य १॥)

यह पुस्तक मैट्रिक्युलेशन के परीक्षार्थियों के लिये लिखी गई है । इस भाग में वैदिक काल से लेकर मुग़ल-राज्य के अंत तक का वृत्तांत लिखा गया है । पहले चार अध्यायों में लेखक ने भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति, जल-वायु, भाषा, रहन-सहन आदि की चर्चा की है । छठवें में वैदिक काल का वृत्तांत लिखा गया है जिसका साधारणतः स्कूली पुस्तकों में अभाव रहता है । रामायण और महा-भारत-काल का वर्णन भी विस्तार के साथ किया गया है । एक स्कूली किताब में ऐतिहासिक खोज की आशा करना तो न्यायसंगत नहीं है, पर अन्य पाठ्य पुस्तकों की तुलना में यह पुस्तक भाषा, क्रम और शैली के एतबार से किसी तरह घटकर नहीं है । चित्रों और सिक्कों के नमूनों से किताब की उपयोगिता और भी बढ़ गई है । कई रंगीन चित्र भी दिए गए हैं । बौद्धकालीन स्तूपों और मूर्तियों के भी कई चित्र हैं । प्राचीन काल में कैसे शस्त्रास्त्र प्रयुक्त होते थे, इसका अब तक हम अनुमान ही करते थे । इस पुस्तक में दो चित्रों में उन सभी अस्त्रों के रूप दिखा दिए गए हैं । हमने किसी ऐतिहासिक पाठ्य पुस्तक में ऐसे चित्र नहीं देखे । छपाई उत्तम और जिल्द मज़बूत है । हमें आशा है कि शिक्षा-विभाग इस पुस्तक का आदर करेगा ।

× × ×

साम्यतत्त्व—लेखक, स्व० बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, अनुवादक, श्रीचंद्रिकाप्रसाद बायस ; प्रकाशक, सरस्वती-साहित्य-मंदिर कार्यालय, मक़बूलगंज रोड, लखनऊ ; मूल्य ॥=) पृष्ठ-संख्या ११८

'साम्यवाद' एक ऐसा विषय है, जिस पर सहृदय जन आदिकाल से उपदेश देते आए हैं । महात्मा बुद्ध, महात्मा ईसा, हज़रत मुहम्मद ये सभी साम्यवाद के प्रचारक थे । वर्तमान युग में साम्यवाद ने जो शक्ति प्राप्त की है, वह शताब्दियों के प्रयत्न का फल है । बंकिम बाबू ने इस पुस्तक में साम्य तत्त्वों का अपनी जादू-भरी, चुभनेवाली भाषा में बहुत ही मार्मिक विवेचन किया है । अनुवाद बहुत सरल और मुहाविरेदार है । पुस्तक में पाँच परिच्छेद हैं । पहले और दूसरे परिच्छेदों में साम्यतत्त्व की परिभाषा उसकी उत्पत्ति और संक्षिप्त इतिहास है । तीसरे परिच्छेद में किसानों की दयनीय दुर्गति का बहुत ही दिल हिला देने-वाला चित्र खींचा गया है । चौथे परिच्छेद में इस बात का विवेचन किया गया है कि भारतवर्ष में सबसे पहले सभ्यता का क्यों विकास हुआ और अंत को उसकी इतनी दुर्गति क्यों हुई । पाँचवें परिच्छेद में भारतीय नर-नारियों में जो घोर वैषम्य है, उसका वर्णन करके पुस्तक समाप्त कर दी गई है । भारतवर्षीय साम्य योरपीय साम्य से कुछ भिन्न है । वहाँ सारा वैषम्य धन पर आधारित है, यहाँ वर्ण-वैषम्य पर । किंतु अब यहाँ भी योरपीय धन-जनित वैषम्य का प्रकोप हो रहा है । बंकिम बाबू ने वर्ण-वैषम्य को लक्षित किया है और उसका ख़ूब ख़ाका उड़ाया है । ज़रा उसके दो-एक नमूने देखिए—

इस संसार में एक आवाज़ हमेशा सुनी जाती है—'वह बड़ा आदमी है और वह छोटा आदमी है ।' वह बड़े आदमी हैं इसलिये इस पृथ्वी पर जितने कुछ दूध, मक्खन, रस आदि उत्तम सुखकर पदार्थ हैं सब उनकी भेंट करो । भाषा के सागर से शब्द-रूपी रत्नों को चुन-चुनकर उनका हार गूँथकर उन्हें पहनाओ, क्योंकि वह बड़े आदमी हैं । रास्ते में अगर छोटी-से-छोटी, दिखाई भी न पड़ने-वाली कंकड़ी हो, तो उसे होशियारी से उठाकर दूर कर दो, वह देखो बड़े आदमी आ रहे हैं, ऐसा न हो उनके चुभ जाय ।

"जिस समय ज़मींदार बाबू साढ़े सात महल की पुरी के भीतर वास करके रंगीन शीशेदार झिलमिलों के भीतर से आती हुई ठंडी रोशनी में अपने घर की ललनाओं के गोरे गोरे बदनों पर हीरे-मोतियों के हारों की शोभा निरखकर ख़ुश होते हैं, ठीक उसी समय परान-नामक किसान, अपने बेटों के साथ चिल-चिलाती हुई दुपहरी की कड़ी धूप में, नंगे सिर, नंगे पैर, घुटने-घुटने-भर कीचड़ में, अथवा आग-सी जलती हुई सूखी ज़मीन पर, सिर्फ़ दो अस्थि-चर्मावशिष्ट सूखे बैलों को हल की मुठिया पर हाथ रखकर हँकाता हुआ उनके भोग के लिये जुताई का काम करता है ।"

पुस्तक में आदि से अंत तक बंकिम बाबू का रचना-कौशल झलक रहा है ।

× × ×

२. धर्म

श्रीवेदानुवचन—मूल-पुस्तक के रचयिता हैं—बाबा नगीनासिंह; प्रकाशक, श्रीरामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; साइज़ क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या ४६०; मूल्य सजिल्द २) अजिल्द १॥) रु० । सफ़ाई, छपाई तथा बाइंडिंग उत्तम ।

जैसा कि पुस्तक की भूमिका से प्रकट है बाबा नगीनासिंहजी उर्दू, फ़ारसी, अरबी और संस्कृत के विद्वान थे । वैदिक, ईसाई तथा इस्लाम धर्म के संबंध में, उन्होंने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था । अंत में इस अनवरत अनुशीलन तथा अनुभव ने उन्हें इस तत्त्व पर पहुँचाया कि वैदिक-धर्म ही पूर्ण और श्रेष्ठ धर्म है । आप गुरु नानकजी की तेरहवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे । आपके धार्मिक तत्त्व की खोज ने आपको आत्मदर्शन की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचा दिया । श्रीवेदानुवचन बाबाजी ने क्लिष्ट उर्दू-भाषा में लिखा था । अपने एक मित्र से पुस्तक की प्रशंसा सुनकर स्वामी रामतीर्थजी ने इसका अध्ययन किया और मुक्तकंठ से प्रशंसा की । सर्वसाधारण के लाभार्थ 'लीग' ने यह संशोधित, सरल हिंदी-अनुवाद तीसरे संस्करण के रूप में प्रकाशित किया है ।

बाबा नगीनासिंहजी वेदांत-शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता और उपनिषदों के मर्मज्ञ थे । प्रस्तुत पुस्तक तीन खंडों में विभक्त की गई है । १. कर्मकांड, २. ज्ञानकांड, ३. बंध और मोक्ष । आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता होती है, वही इन खंडों में सविस्तर वर्णित हैं । चलतू भाषा में प्रतिदिन व्यवहृत होनेवाले उदाहरणों द्वारा आत्मज्ञान-जैसे गूढ़ तत्त्वों को समझा देना कमाल की बात है । मनुष्य-शरीर की उत्पत्ति से लेकर आत्मदर्शी-अवस्था तक पहुँच जानेवाली युक्तियों का वर्णन प्रशंसनीय है । धार्मिक मनोवृत्तिवाला साधारण पढ़ा-लिखा मनुष्य भी इस पुस्तक से पूर्ण लाभ उठा सकता है । शंकाओं का निवारण भी ख़ूब बन पड़ा है । पुस्तक पढ़ने योग्य है और प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है ।

× × ×

मियारुल मुकाशफ़ह (अर्थात् साक्षात्कार की कसौटी)—लेखक, बाबा नगीनासिंहजी; प्रकाशक, रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग, लखनऊ; साइज़-क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या १६६; मू० सजिल्द ॥।), सादी ॥)

इस पुस्तक में यह दिखाया गया है कि एक साधारण मनुष्य भी वेद-विहित कर्मकांड आग से जप, तप और उपासना द्वारा अपना अंतःकरण शुद्ध तथा एकाग्र करते हुए, धीरे-धीरे आत्मदर्शन के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है । लेखक ने आत्मदर्शन के लिये संसारी भ्रमभावनाओं को दूर करके इंद्रियदमन, तपश्चर्या साधना की कसौटी पर ठीक उतरने का आदेश दिया है । प्रस्तुत पुस्तक साम-वेद के छांदोग्योपनिषद् का सार है । यह मूल पुस्तक भी उर्दू में ही थी । हिंदी-भाषा-भाषियों के लाभार्थ चलतू हिंदी भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया गया है । स्वामी रामतीर्थजी ने उपर्युक्त श्रीवेदानुवचन पुस्तक की भाँति इस "कसौटी" को आत्मदर्शन संबंध में अपना सहायक माना है । इस विषय के जिज्ञासुओं के लिये पुस्तक उपादेय है । 'लीग' के उत्साही कार्यकर्ता इस परिश्रम के लिए बधाई के पात्र हैं ।

× × ×

योगासन—लेखक, श्रीरामनंद संन्यासी; प्रकाशक, श्री-धर्मचंद विद्यालंकार नं० २ प्रयाग स्ट्रीट, प्रयाग । मूल्य ।)

पुस्तक के प्रारंभ में स्वामी श्रद्धानंदजी का एक-रंगा चित्र दिया गया है । और यह पुस्तक भी लेखक महाशय ने स्वामीजी को ही समर्पित की है । योगसिद्धि में आसनों का साधन एक मुख्य अंग माना गया है । उसी संबंध में आसन-चित्रों के सहित क्रिया का संक्षेप वर्णन है । इस पुस्तक में यह भी दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि इन आसनों से योगसिद्धि में ही सहायता नहीं मिलती, बल्कि शारीरिक सुधार भी पर्याप्त परिमाण में होता है । पुस्तक प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है ।

× × ×

३. जीवन-चरित्र

श्रीस्वामी श्रद्धानंदजी की जीवनी—लेखक, एक भक्त; मुद्रक, अर्जुन-प्रेस, दिल्ली; मू० ।) पृष्ठ-संख्या ४८ ।

प्रातः स्मरणीय स्वामी श्रद्धानंदजी के नाम से कौन परि-चित नहीं है । उन्हीं महापुरुष की संक्षिप्त जीवनी छोटी-सी पुस्तिका के रूप में प्रकाशित की गई है । स्वामीजी के जन्म-काल से लेकर मरणपर्यंत तक की कुछ मुख्य-मुख्य बातें सांकेतिक नोटों की भाँति लिखी गई हैं । किंतु वह अपूर्ण और अपर्याप्त है । स्वामीजी सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र में अगणित स्तुत्य कार्य कर गये हैं । उनका आदर्श-जीवन राष्ट्र के लिये स्वयं प्रकाशमान अंशुमाली

की भाँति देदीप्यमान है। ससार-समरस्थल में उन्होंने मरणपर्यंत अपना पग वीर योद्धा की भाँति पीछे नहीं हटाया। ऐसे स्वनामधन्य देश के सच्चे सपूत की विस्तृत जीवनी, उनके अतुलनीय कार्यों के विवरण-सहित कोई योग्य सज्जन लिखने का कष्ट उठावें, तो राष्ट्र की निधि नवयुवकों के लिए, हिंदू-धर्म त्राण के लिए तथा समाज के उत्थान के अर्थ चिरकाल तक स्फूर्तिमय सच्चे पथ-प्रदर्शक का स्थान प्राप्त कर सकेगी। आशा है, हमारी प्रार्थना विफल न जायगी।

× × ×

४. फुटकर

स्वास्थ्य-संदेश—लेखक, श्री० शिवसहाय चतुर्वेदी। प्रकाशक, हिंदी-हितैषी-कार्यालय, देवरी जि० सागर। साइज़ क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ८४, मूल्य आठ आना।

जीवन में तंदुरुस्ती मुख्य वस्तु है। इसी के ठीक रहने पर अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की साधना हो सकती है। अस्तु, दैनिक कार्यों में स्वास्थ्य-सुधार की ओर दृष्टि रखना प्रत्येक पुरुष का मुख्य कर्तव्य है। 'स्वास्थ्य-संदेश' में चतुर्वेदीजी ने बातचीत के रूप में ही स्वास्थ्य-सुधार के आवश्यकीय अंगों पर प्रकाश डाला है। प्रातःकाल चारपाई से उठकर रात्रि को सोने के समय तक की दिनचर्या दे दी है। अंत में व्यायाम की आवश्यकता छोटे-छोटे बच्चों की तंदुरुस्ती की देख-रेख, मलेरिया, हैजा, और प्लेग आदि बीमारियों के फैलने के कारण और उनके दूर करने के उपाय दिए गए हैं। पुस्तक साधारण जन-समाज की जानकारी के लिये लाभकारी है।

× × ×

ऊषा सुंदरी—एक सामाजिक नाटक। लेखक, श्रीयुत लालरुद्रनाथसिंहजी; प्रकाशक, श्रीयुत मुं० शिवशंकरलालजी, दमोह; मूल्य ≈) पृष्ठ संख्या १५४।

इस नाटक का प्लाट ऊषा और अनिरुद्ध की पौराणिक कथा के आधार पर है, पर इस पौराणिक कथा के साथ वर्तमान हिंदू-समाज के वैवाहिक अत्याचार और सामाजिक कुरीतियों का सम्मिश्रण बेजोड़-सा मालूम होता है। मुसलमान पात्रों की रचना भी की गई है, हालाँकि हज़रत मुहम्मद उसके हज़ारों साल बाद संसार में अवतरित हुए। बेजोड़ विवाह, अनमेल विवाह ये सभी समकालीन कुरीतियाँ हैं। महाभारतयुग में उनका ज़िक्र भी न था। 'रुद्र'-जी सुकवि अवश्य हैं। आपके रचे हुए गायन सुंदर और रसीले हैं। मुहावरे की ग़लतियाँ जगह-जगह मिलती हैं और प्रूफ़ की ग़लतियों को तो कोई गिनती ही नहीं।

× × ×

महिला-हितैषिणी—लेखक, चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा; प्रकाशक, नवलकिशोर बुकडिपो, लखनऊ; मूल्य ≈) पृष्ठ-संख्या २१७, छपाई और काग़ज़ साधारण।

यह स्त्री-शिक्षा-संबंधी पुस्तक है और लेखक ने इस बात का प्रयत्न किया है कि हमारी महिलाओं के रहन-सहन, चाल-ढाल, रीति-नीति में जो पाश्चात्य देशों की झलक आती जाती है उसका सुधार किया जाय। "स्त्रियों में विद्या-संबंधी बारीकियों की ज़रूरत नहीं है। लिखने-पढ़ने का थोड़ा ज्ञान होते ही उनको स्त्रियोपयोगी कार्यों की शिक्षा देनी आरंभ कर देना चाहिए। जिस शिक्षा से वे गृहस्थी के काम-काज भली भाँति समझकर कर सकें, उनको ऐसी ही शिक्षा देनी चाहिए।" पुस्तक में कुल २३ प्रकरण हैं और उनमें स्त्रियोपयोगी प्रायः सभी महत्त्व-पूर्ण विषयों का समावेश कर दिया गया है। एक प्रकरण में स्त्रियों के गुण-दोष लिखे गए हैं। गुण हैं—सौंदर्य, लज्जा, विनय, सरलता, संतोष, क्षमशीलता, अतिथि-सेवा, सौजन्य, सतीत्व आदि; दोष हैं—विलासिता, स्वेच्छचारिता, कलह, द्वेष, अपव्यय और अमितव्यय। ४ से २२ प्रकरण तक विवाह, पति-पत्नी में परस्पर अनुराग, सफ़ाई, स्वास्थ्य-रक्षा, परिजनों के साथ व्यवहार, समय का सदुपयोग-व्यवहार, पहनावा, माता का कर्तव्य, गृहिणी के कर्तव्य आदि बातों को सरल रीति से विवेचना की गई है। अंतिम प्रकरण में कुछ आवश्यक उपदेश दिए गये हैं। पुस्तक इस लायक़ है कि महिला-पाठशालाओं में पढ़ाई जाय।

× × ×

निबंधादर्श—लेखक, श्री० गोकुलचंद शर्मा बी० ए०। प्रकाशक, साहित्यसदन, अलीगढ़। साइज़ क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १६०, मू० ॥) आना। काग़ज़, छपाई साधारण—

लेखक महाशय ने तीस विभिन्न विषयों पर छोटे-छोटे निबंध इस दृष्टि से लिखे हैं कि विद्यार्थी-समाज उन निबंधों से लेखन-शैली का ज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रत्येक निबंध के प्रारंभ करने से प्रथम तत्संबंधी

विचार-सूची भी दी है जिसके द्वारा विषय-विवेचन की रीति का अच्छा पथप्रदर्शन हो जाता है। लेखक महाशय ने यह स्वयं ही लिख दिया है कि यह तो हमारा संकेत-मात्र है। अपनी-अपनी दृष्टि और अभिरुचि के अनुकूल निबंध को सजाया जा सकता है। कुछ लेख लंबे अवश्य हो गए हैं। यदि मुहाविरा और चिन्हों का प्रयोग तथा भाषा-रचना के कुछ चलतू नियम भी दे दिए जाते तो पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती। ज्ञात होता है कि प्रेस कर्मचारियों की असावधानी से बहुत-से शब्द भी अशुद्ध छप गए हैं। कुछ मुहाविरे भी अच्छे नहीं बन पड़े। भाषा में भी थोड़ा हेर-फेर करने की आवश्यकता है। लेखक महाशय का परिश्रम सराहनीय है। आशा है, अगले संस्करण में इन त्रुटियों को सुधारकर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ाने का प्रयत्न किया जावेगा। विद्यार्थियों को इस पुस्तक से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

× 　　× 　　×

गोसाईं-चरित—इन दिनों काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित वेणीमाधवदास-कृत गोस्वामी तुलसीदास का चरित्र, जिसे "मूल गोसाईं-चरित" कहा गया है देखने में आया। ग्रंथ छंदों में है और सं० १६८७ का बना हुआ कहा जाता है। इस कारण से गोस्वामीजी के विषय में बिना मुख्य कारणों की प्रतिकूलता हुए इसका प्रमाण मानना उचित ही था, किंतु इसकी साक्षी अनेकानेक अंशों में इतनी असंभव और भ्रष्ट है कि इसके किसी अंश पर भी विश्वास करना बड़े ही श्रद्धालु पुरुष का काम है। न्यायालयों में अनेकानेक गवाह सामने आते हैं और न्यायाध्यक्ष को बिना असली मामला जाने हुए भी उन्हीं के बयानों पर निर्णय करना पड़ता है। यही हाल प्राचीन विषयों पर भी लागू रहता है। जो गवाह जितनी ही असंभव घटनाओं को सत्य कहकर अपने कथनों में मिलाता है, उसके कथनों में उतना ही प्रमाणाभाव मिलकर उसकी साक्षी को उतना ही अग्राह्य बनाता जाता है। वेणीमाधव के मूल गोसाईं-चरित्र में ओर से छोर तक असंभव घटनाओं ही की भरमार है। कुछ उदाहरण लीजिए—

(१) गोस्वामीजी जन्म के समय ही पाँच वर्ष के थे। वह रोए नहीं और पृथ्वी पर गिरते ही उन्हों ने राम कहा। उनके उसी समय बत्तीसों दाँत मौजूद थे।

(२) जन्म समय में पाँच वर्ष के होते हुए भी गोस्वामीजी ६५ महीनों में बोलने और डोलने के योग्य हुए। क्या दश वर्षों के समान होकर बेचारे डोल सके? राम नाम तो जन्म के समय ही लिया था, फिर बोलने के योग्य होने के लिये ६५ महीनों की क्या आवश्यकता पड़ी?

(३) बोलने डोलने के योग्य तो ६५ महीनों में हुए, किंतु यज्ञोपवीत ६० महीनों की ही अवस्था में हो गया।

(४) उनकी स्त्री उन्हें पहले तो कुवाच्य कहकर उनके वैराग्य का कारण हुई, किंतु पीछे से जब मनाने से वे वापस न हुए, तब तुरंत मर ही गई। इस प्रकार लोग मरकर गिर नहीं पड़ा करते हैं। अन्य साक्षियों ने इसी स्त्री का बहुत पीछे गोस्वामीजी से साक्षात्कार लिखा है जिसमें कई दोहों में बातचीत लिखी है। वे कुछ दोहे भी तुलसी-कृत हैं।

(५) मीराबाई सं० १६०३ ही में मर चुकी थीं, किंतु उनका पत्र सं० १६१६ में गोस्वामीजी के पास आना लिखा है। काल-विरुद्ध दूषण है।

(६) सं० १६२८ में पहलेपहल ७४ वर्ष की अवस्था में गोस्वामीजी का ग्रंथ निर्माणारंभ लिखा है। इतना बड़ा पंडित तथा सुकवि इतनी बड़ी अवस्था तक एक भी ग्रंथ न बनावे और फिर बड़े-बड़े चार-छः ग्रंथ बुढ़ापे में रच डाले, ऐसा मानना बड़े ही भोले आदमी का काम है।

(७) भगवान् की मूर्ति ने भोजन कर लिया तथा पत्थर के नंदीगण ने घास खा ली। अब उससे भी ज़्यादा घास खावे तब कोई समालोचक बीसवीं शताब्दी में ऐसे अनर्गलवादी को सच्चा साक्षी समझे।

(८) केशवदास ने रामचंद्रिका एक ही रात में बना डाली। ग्रंथ में प्रायः ४० अध्याय हैं और पूरा ग्रंथ अच्छे पद्यों में है। इतना बड़ा ग्रंथ एक ही रात में बन गया। यह बड़ा ही असंभव कथन है।

(९) ब्राह्मणों ने संडीले के मार्ग में गोस्वामीजी का अपमान किया जिससे वे निर्धन हो गए, ठाकुर क्षितिपाल प्रणाम न करने से तुरंत कंगाल हो गया, तथा जुलाहे भेंट देने से विपुल धनधान्य पा गए। बादशाह जहाँगीर करामात देखने का उत्सुक होने से बानरों द्वारा पीड़ित हुआ।

(१०) गोस्वामीजी ने एक दरिद्रमोचक शिला उत्पन्न कर दी तथा एक स्त्री को पुरुष बना दिया। वास्तव

में वेणीमाधवजी की जिह्वा के आगे कोई भी खाँई खंदक नहीं। ऐसे ही लोग असंभव के कथन में दश हाथ की हड्वाला उदाहरण देनेवाले कवि को भी मात करते हैं।

(११) एक मरा हुआ मुर्दा आपने उसकी स्त्री के कारण जिला दिया। तीन लड़के आपका एक दिन दर्शन न पाकर मर ही गए और आपने उन्हें तुरत जिला भी दिया।

इस असंभव एकादशी का वर्णन केवल तीस पृष्ठ के छोटे-से ग्रंथ में प्रस्तुत है। हनुमानजी तो गोस्वामीजी के पीछे-ही-पीछे फिरा करते थे, और रामचंद्र तथा महादेवजी ने भी इन्हें दर्शन दिए। ऐसे अनर्गलभाषी का एक भी कथन एक मिनट के लिये विचारने योग्य भी नहीं है। कहते ही हैं कि "वेश्या वर्ष घटावई योगी वर्ष बढ़ाव"। लोग मिथ्या माहात्म्य बढ़ाने के लिये महात्माओं की अवस्था बढ़ाकर कहा ही करते हैं। जिस न्याय से भगवान् रामचंद्र ने दश हज़ार वर्ष राज्य किया, और कुंभकर्ण की मुच्छ एक योजन की थी उसी न्याय से गोस्वामीजी की अवस्था भी १२६ वर्ष की थी। केवल तिथि संवतादि लिखने से किसी अनर्गल एवं असंभवभावों के कथन प्रमाण कोटि में नहीं आ सकते। इस ग्रंथ का कोई भी भाग मान्य नहीं है। १२६ वर्ष की अवस्था असंभव नहीं है किंतु साक्षी के प्रमाण योग्य न होने से इस ग्रंथ के कथन अग्राह्य हैं और वे पुराने विचार ठीक हैं जिनमें ६१ वर्ष की अवस्था कथित है।

इस लेख के संबंध में यह प्रश्न भी उठ सकता है कि धार्मिक ग्रंथों, पुराणों आदि में ऐसे कथन हुआ ही करते हैं, सो इसी ग्रंथ के विषय में इस प्रकार के विचार क्यों उठते या उठाए जाते हैं ? उत्तर यह है कि पंडितों ने गोस्वामीजी की अवस्था, आर्थिक दशा तथा जीवन-संबंधिनी अनेकानेक घटनाओं के विषय में उन्हीं महात्मा की रचनाओं तथा अन्य समकालीन या उनसे कुछ ही पीछे होनेवाले लोगों के कथनों के आधार पर विचार करके उनका ऐसा जीवन-चरित्र दृढ़ कर रक्खा है जो पंडित-समाज के अद्य पर्यंत के ज्ञान तथा समालोचना शक्ति का फल है। वेणीमाधवदासजी का उपर्युक्त ग्रंथ उनके एक अन्य भारी ग्रंथ का सारांश है और प्रश्न यह उठता है कि क्या इसके कथन ऐसे दृढ़ हैं कि पंडितसमाज को स्वयं गोस्वामीजी की रचनाओं तथा अन्य दृढ़ आधारों से प्राप्त ज्ञान को इस ग्रंथ के कथनों के कारण छोड़ देना चाहिए? इसीलिये इस ग्रंथ के कथनों की जाँच आवश्यक है। माहात्म्य-वर्द्धन एक बात है और असल इतिहास दूसरी। यदि कोई महाशय वेणीमाधवजी के समान विश्वासी हों तो इन कथनों के कारण गोस्वामी तुलसीदास को बहुत बड़ा महात्मा समझ सकते हैं। ऐसे लोगों से वर्त्तमान लेखकों का कोई विशेष झगड़ा नहीं है। यहाँ तो प्रश्न यह है कि ऐसा माहात्म्य-कथन इतिहास है या नहीं और इसका उत्तर एक ही हो सकता है। मिथ्या माहात्म्य कथन ने हमारी जनता में भोलेपन की उचित से बहुत अधिक वृद्धि करके भारत का कितना प्रचंड अधःपतन किया है। यह दूसरा प्रश्न है जो गोस्वामीजी के जीवन-चरित्र-संबंधी विचारों से मुख्यतया असंबद्ध है किंतु उस पर भी ध्यान रखने से मिथ्या माहात्म्य वर्णन करनेवालों की जितनी निंदा की जावे वह थोड़ी है, क्योंकि उनके प्रयत्नों का फल हिंदुओं को मिथ्या विश्वासी बनाकर देश को असमर्थ बनाने ही का है।

मिश्रबंधु

× × ×

पद्म-पराग—इस पुस्तक के रचयिता पं० पद्मधरजी अवस्थी 'पद्म' कवि हैं। पुस्तक में ८६ विषयों पर पद्यात्मक रचना है। पुस्तक के प्रारंभ में तिलोई-नरेश का एक चित्र है। पुस्तक समर्पित भी इन्हीं को है। इस पुस्तक के प्रारंभ में, पं० रूपनारायणजी पांडेय ने 'दो शब्द' भी लिखे हैं। हर्ष की बात है कि पं० पद्मधरजी की रचनाओं में वर्तमान समाज के अनुकूल नए भाव भी पाए जाते हैं। पं० पद्मधरजी के पिता पं० बलदेव-प्रसादजी द्विज बलदेवजी एक प्रतिष्ठित कवि थे। पं० रूप-नारायणजी पांडेय के इस कथन का हम समर्थन करते हैं कि पद्मपराग के "छंद प्रायः अच्छे हैं", और हमें भी पूर्ण आशा है कि "हिंदी-संसार में इस होनहार नवयुवक कवि को यथेष्ट प्रोत्साहन मिलेगा।" पुस्तक का मूल्य ॥) है और वह 'संचालक पद्मपुस्तकालय बलदेव नगर सीतापुर' के पते से मिल सकती है। पुस्तक अच्छे काग़ज़ पर सुंदर छपी है।

× × ×

छत्रसाल-ग्रंथावली—पृष्ठ-संख्या १५+६५। आका

बड़ा ; कागज और छपाई परमोत्कृष्ट ; मूल्य १) ; प्रकाशक, श्रीछत्रसाल-स्मारक-समिति राज्य पन्ना ।

इस पुस्तक में बुँदेलखंड के प्रातःस्मरणीय महाराज छत्रसाल के ग्रंथों का समुच्चय है । ग्रंथावली का संपादन श्रीवियोगी हरिजी ने किया है । आरंभ में महाराज छत्रसाल का एक चित्र है तथा १५ पृष्ठ की एक अच्छी भूमिका भी । महाराज के जिन ग्रंथों का इस ग्रंथावली में संग्रह है, उनके नाम (१) श्रीकृष्ण-कीर्तन, (२) श्रीराम-यश-चंद्रिका, (३) हनुमद्विनय, (४) अक्षर अनन्य के प्रश्न और तिनकौ उत्तर, (५) नीतिमंजरी तथा (६) फुटकर छंद हैं । फुटकर छंदों की संख्या ३६ है तथा पहले पाँच ग्रंथों में क्रम से ७२, ६१, ३७,५ और ३४ छंद हैं । कुल छंद-संख्या २४३ है । नीतिमंजरी ग्रंथ अपूर्ण है । सुनते हैं, महाराज के बनाए कुछ और भी ग्रंथ हैं ।

श्रीछत्रसाल-स्मारक-समिति ने इस ग्रंथावली को निकालकर हिंदी-साहित्य का अत्यंत उपकार किया है । श्रीवियोगी हरिजी भी महाराज छत्रसाल के ग्रंथों को इस सुंदर रूप में हिंदी-संसार के सामने रखने के उपलक्ष्य में परम प्रशंसा के पात्र हैं । महाराज छत्रसाल सच्चे शूर, आदरणीय हिंदू और अच्छे कवि थे । हिंदी के साहित्य-संसार को इस बात का गर्व होना चाहिए कि हिंदी की सेवा महाराज छत्रसाल-सरीखे व्यक्तियों ने की है । यह और भी सौभाग्य की बात है कि महाराज कोरे पद्य-रचयिता न थे, वरन् उनके छंदों को देखने से साफ़ जान पड़ता है कि वे सुकवि थे और उनका परिचय भी साहित्य-संसार से था । हम चाहते हैं कि हिंदी कविता-प्रेमियों में इस पुस्तक का ख़ूब प्रचार हो । तथास्तु ।

× × ×

५. पत्र-पत्रिकाएँ

बालक—यह पत्र हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहेरिया सराय से प्रकाशित होता है । इसका वार्षिक मूल्य ३) है । इसके संपादक, श्रीरामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी हैं । समालोच्य अंक माघ का है और विशेषांक है । इसका मूल्य १) है । यह दूसरे वर्ष की प्रथम संख्या है । इस अंक में १०४ पृष्ठ की पाठ्य सामग्री है । आवरण पृष्ठ पर बालक का चित्र सुंदर है । भीतर 'प्रकृति की गोद में' नामक जो एक शिशु का चित्र दिया गया है, वह दिव्य है । इस अंक में सब मिलाकर कोई ३१ लेख और कविताएँ हैं । चित्रों की संख्या ८० के ऊपर है । इस अंक के लेखकों में हिंदी के बड़े-बड़े विद्वान् और कवि हैं । बालक का 'विशेषांक' बहुत सुंदर और प्रशंसनीय बन पड़ा है । हमारे ख़याल से बालकों के लिये जितने पत्र निकलते हैं, उनमें 'बालक' सबसे अच्छा है । हम उक्त पत्र के प्रकाशक और संपादक दोनों को ऐसा सुंदर विशेषांक निकालने के उपलक्ष्य में बधाई देते हैं ।

× × ×

धन्वंतरि—यह पत्र श्रीवैद्य बाँकेलाल गुप्त के संपादकत्व में धन्वंतरि-प्रेस, विजयगढ़ (अलीगढ़) से प्रकाशित होता है । समालोच्य अंक जनवरी और फ़रवरी की युग्म संख्याओं के संयोग से 'श्रीधन्वंतरि-महोत्सवांक' के रूप में निकला है । इसमें १७२ पृष्ठ हैं । अधिकतर लेख, कविताएँ और चित्र कोष्ठबद्धता या मलावरोध से संबंध रखनेवाले हैं । जान पड़ता है, श्रीवैद्य बाँकेलाल-जी मलावरोध रोग के विशेषज्ञ हैं । विशेषांक सुंदर है और संग्रह करने योग्य है । मलावरोध दृश्य को दिखानेवाले दो-एक चित्र बीभत्स हैं ।

× × ×

मनोरमा—प्रयाग की 'मनोरमा' का फ़रवरी का 'सम्मेलनांक' २०० पृष्ठ का है । लेखों और कविताओं की संख्या ४३ है और चित्रों की ६५ । ४ चित्र रंगीन हैं । पत्रिका के संपादक श्रीज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' ने, इस अंक के निकालने में बड़ा परिश्रम किया है । कई लेख सुंदर और पठनीय हैं । यदि सम्मेलन का समय न बढ़ जाता, तो मनोरमा का यह अंक बहुत सामयिक होता ; पर तिथि हट जाने से इसकी सामयिकता में कुछ कमी पड़ गई । फिर भी ऐसा सुंदर अंक निकालने के उपलक्ष्य में हम मनोरमा के संपादकों को बधाई देते हैं ।

× × ×

नारायण—यह पत्र पं० नरोत्तम व्यास के संपादकत्व में 'नारायण' मासिक पत्र श्रीनारायण प्रिंटिंग वर्क्स, १२५ हरिसन रोड, कलकत्ता के पते से निकलता है । इसका वार्षिक मूल्य १) है । समालोच्य संख्या अग्रहायण की है । इसमें लेख और कविता मिलाकर २२ विषय हैं, जो ४८ पृष्ठों में साधारण काग़ज़ पर छपे हैं । पत्र में

अभी उन्नति की बहुत गुंजाइश है। हम पत्र की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

इंदु—पुराने इंदु का प्रकाशन काशी के हिंदी-ग्रंथ-भंडार ने फिर प्रारंभ किया है। इसके संपादक श्री-अंबिकाप्रसादजी गुप्त हैं। इसका वार्षिक मूल्य ४॥) है। समालोच्य संख्या ८वीं कला की दूसरी किरण है। इसमें ४० पृष्ठों में २२ विषय—कविता, लेख आदि—हैं। यह पत्र सचित्र नहीं है। पत्र अच्छा है, पर मूल्य कुछ अधिक जान पड़ता है।

× × ×

अमर—यह पत्र श्रीपतीशकुमार बी० ए० के संपादकत्व में श्रीराधेश्याम-प्रेस, बरेली से छपकर प्रकाशित होता है। इसका वार्षिक मूल्य ३) है। इस होलिकांक में ३८ पृष्ठ का मैटर है। आवरण पृष्ठ पर श्रीराधाकृष्ण का सुंदर रंगीन चित्र है। भीतर भी एक श्रीराधाकृष्ण का अच्छा चित्र है। पत्र अच्छा है और हिंदी-प्रेमियों द्वारा अपनाने योग्य है।

× × ×

हिंदी-मनोरंजन—यह पत्र काफ़ी समय से हिंदी-साहित्य की सेवा कर रहा है। समालोच्य संख्या होली का अंक है। इस पत्र के संपादक पंडित विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक हैं। इसका वार्षिक मूल्य ३) है। यह चंद्रा फ़ैंसी प्रेस, कानपुर के पते से मिलता है। छपाई और मैटर तथा चित्र सभी के लिहाज़ से यह पत्र अच्छा है। इसमें 'मनोरंजन' नाम को सार्थक करनेवाली सामग्री रहती है। इस होली के अंक में भी कई रँगीले लेख हैं। हर्ष है कि पत्र फूहड़पन को अपने स्तंभों में नहीं पनपने देता है। हम इस पत्र की हृदय से उन्नति चाहते हैं।

× × ×

हिंदू-पंच—हिंदू-पंच कलकत्ते से पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा के संपादकत्व में निकलता है। जन्म-काल से लेकर अब तक यह कई विशेषांक निकाल चुका है। समालोच्य संख्या इस पत्र का 'होलिकांक' है। महात्मा गांधी का कहना है कि बात-बात पर हड़ताल करने से उसका महत्त्व जाता रहता है। इसी प्रकार हमारा कहना है कि बार-बार विशेषांक निकालने से विशेषांकों का महत्त्व भी जाता रहता है। हिंदू-पंच इतने अधिक 'विशेषांक' निकालता है कि अब उसे विशेषांकों में विशेषता उत्पन्न करने में कठिनता हो रही है। होली के पहले के 'हिंदू-पंच' के कई विशेषांक बहुत अच्छे थे पर यह तो साधारण से कुछ ही अच्छा है। हम हिंदू-पंच की हृदय से उन्नति चाहते हैं।

× × ×

हिंदी-लॉ जरनल—हिंदी में यही एक मासिक पत्र है जिसमें सरकारी अदालतों द्वारा फ़ैसल हुए मुक़दमों के फ़ैसले और व्यवस्थापिका सभाओं में बननेवाले क़ानून का उल्लेख रहता है। जो लोग अँगरेज़ी नहीं जानते और जिन्हें प्रायः सरकारी अदालतों की शरण लेनी पड़ती है उनके यह बड़े काम की चीज़ है। इस पत्र का वार्षिक मूल्य ६) है। इसके संपादक बाबू गिरिजाशंकर बी० ए० एल-एल० बी० वकील और पंडित चंद्रशेखर शुक्ल हैं। छपाई और काग़ज़ साधारण है। हम पत्र की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

अलंकार—यह मासिक पत्र गुरुकुल की ओर से निकलता है। इसके संपादक प्रोफ़ेसर सत्यव्रत सिद्धांतालंकार हैं। 'अलंकार' के फाल्गुन और चैत्र के अंक एक साथ 'गुरुकुल-रजत-जयंती' अंक के रूप में निकाले गए हैं। अंक बहुत सुंदर बन पड़ा है। इसमें २८ लेख और कविताएँ छपी हैं जो प्रतिष्ठित विद्वानों की लेखनी से निकली हैं। अधिकतर लेख गुरुकुल से संबंध रखनेवाले हैं। कई चित्र हैं पर उनका भी संबंध गुरुकुल से है। अलंकार के इस अंक को पढ़कर चित्त प्रसन्न होता है और गुरुकुल के संबंध की उपयोगी बातों से जानकारी होती है। हम प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धांतालंकार को इस विशेषांक के निकालने के उपलक्ष्य में बधाई देते हैं।

× × ×

आयुर्वेद-विज्ञान—यह मासिक पत्र दफ़्तर आयुर्वेद विज्ञान कटड़ा हरीसिंह, अमृतसर से प्रकाशित होता है। इसके संपादक स्वामी हरिशरणानंद वैद्य आयुर्वेदाचार्य और मायाधारीजी शास्त्री हैं। इसका वार्षिक मूल्य ४) है। इसमें 'माधुरी' के आकार के ४० पृष्ठों की पाठ्य सामग्री रहती है। जैसा इसके नाम से प्रकट है। इसके अधिकांश लेखों का संबंध आयुर्वेद शास्त्र से है। समालोच्य संख्या में शृंगिक विष पर एक अच्छा लेख प्रारंभ किया गया है। शृंगिक का रंगीन चित्र देकर लेख की उपयोगिता बढ़ाई गई है। इसमें कोई संदेह नहीं

कि यदि इस प्रकार से आयुर्वेद में व्यवहृत होनेवाली वनस्पतियों का परिचय दिया जाय, तो आयुर्वेद शास्त्र का बड़ा उपकार हो। क्या संपादक महोदय सामलता और ब्राह्मी का चित्र और परिचय किसी अगली संख्या में देंगे? हम इस पत्र की उन्नति चाहते हैं। आयुर्वेद-विज्ञान का आवरण पृष्ठ सुंदर है।

× × ×

खिलौना—यह मासिक पत्र जनवरी से पं० रामजीलाल शर्मा के संपादकत्व में हिंदी प्रेस, प्रयाग से निकलने लगा है। इसका वार्षिक मूल्य २) और पृष्ठ-संख्या ३२ है। आवरण पृष्ठ मनोहर है। समालोच्य संख्या (फ़रवरी का अंक) २३ लेख और कविताएँ आदि हैं जो बालकों के मन बहलाने के सर्वथा उपयुक्त हैं। इस संख्या में १७ चित्र भी हैं जिनमें से एक रंगीन है। बाल-साहित्य प्रकाशित करनेवाले मासिक पत्रों में 'खिलौना' प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

× × ×

६. प्राप्ति स्वीकार

[निम्नांकित वस्तुओं के प्रेषकों को धन्यवाद]

कसौटी (नाटक)—लेखक, [illegible] प्रकाशक, [illegible], हिंदी-मंदिर, शीतलपुर, पो० एकमा, जि० सारन, मूल्य ।=)

श्रीनामदेव-वंशावली तथा श्रीनामदेव चरितावली (प्रथम भाग)—वंशावली के लेखक तथा प्रकाशक श्रीनन्हेलाल वर्मा, आयुर्वेदभूषण, लठियाकुवा, जबलपुर मू० ।=)। 'चरितावली' के लेखक बा० बलदेवप्रसादजी त्रेक। मू० ॥=)। दोनों पुस्तकें बा० बलदेवप्रसाद नन्हेमल वर्मा गणेश औषधालय, लार्डगंज, जबलपुर से प्राप्त हो सकती हैं।

श्रीकृष्णापन—रचयिता, श्रीबसंतरामजी हैदराबाद-निवासी, मुद्रक, जमुना प्रिंटिंग वर्क्स, मथुरा, मू० १)। दोहा, चौपाई तथा छंदों में श्रीकृष्ण महाराज के गुणानुवाद वर्णित हैं।

मंडला-जल-प्रलय—बारहपेजी छंदोबद्ध पुस्तिका मूल्य =) लेखक तथा प्रकाशक, श्रीसभामोहन अवधिया, शहपुरा (मंडला)।

सुरेंद्र सौरभ—कुछ साधारण कविताओं का संग्रह। पृष्ठ १६, मू० =) प्रकाशक, काकसुमनमाला, हरदा (सी० पी०)

श्रीमहामंडल डाइरेक्टरी—मू ॥=) आना। प्रकाशक, भारतधर्म सिंडीकेट लिमि०, स्टेशनरोड, बनारस। संवत् १९८४ के विस्तृत पंचांग के अतिरिक्त बहुत-सी अन्य उपयोगी बातें भी दी गई हैं। डाइरेक्टरी अच्छी है—प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है।

पंचांग संवत् १९८४—प्रकाशक, डा० एम्० के० बर्मन, ४, ताराचंददत्त स्ट्रीट, कलकत्ता।

सरल भगवद्गीता—(गुटका मू० ।)) प्रकाशक के० बे० जोशी एंड ब्रादर्स ८४-९२ कांदावाड़ी, बंबई नं० ४।

१. निवेदन

न्म काल से लेकर फाल्गुन संवत् १९८३ तक 'माधुरी' का संपादन-कार्य श्रीदुलारेलालजी भार्गव और श्रीरूपनारायणजी पांडेय के हाथों में रहा। इन दोनों सज्जनों ने अपने संपादन-काल में जिस उत्साह, अध्यवसाय और परिश्रम से माधुरी की उन्नति की, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। 'माधुरी' अपने इन दोनों भूतपूर्व संपादकों के प्रति हृदय से आदर और कृतज्ञता के भाव प्रकट करती है। इन चार-पाँच बरसों में 'माधुरी' को श्रीदुलारेलालजी और श्रीरूपनारायणजी की जो सेवा प्राप्त रही है, उसे वह कभी न भूलेगी। क्या ही अच्छा होता कि भविष्य में भी माधुरी को इन दोनों कुशल संपादकों का सहयोग प्राप्त रहता, पर खेद है ऐसा न हो सका। गंगा फ़ाइन आर्ट प्रिंटिंग वर्क्स और 'सुधा' के प्रबंध और संपादन भार के बढ़ जाने के कारण अब 'माधुरी' इन युगल संपादकों की सेवाओं से वंचित होती है फिर भी उसका विश्वास है कि समय-समय पर उसे उक्त दोनों सज्जनों की साहित्यिक कृतियाँ प्राप्त होती रहेंगी। यह तो निश्चित सा है कि 'माधुरी' पर श्रीदुलारेलालजी और श्रीरूपनारायणजी का प्रेमभाव सदा बना रहेगा और वे किसी-न-किसी रूप में पत्रिका की सहायता करते रहेंगे। अंत में अत्यंत विनय, प्रेम, नम्रता और कृतज्ञता के साथ 'माधुरी' अपने शैशव काल के संपादकों से अलग होती है।

इस मास से 'माधुरी' का संपादन भार हम लोगों को सौंपा गया है। भूतपूर्व संपादकों की समता हम लोग किसी भी बात में नहीं कर सकते। वह उत्साह, वह अध्यवसाय और वह श्रमसहिष्णुता हम लोगों में कहाँ? फिर भी हिंदी-साहित्य की सेवा करने का प्रबल चाव हम लोगों को भी है। माधुरी के अध्यक्ष का सफल सहयोग, हिंदी-साहित्य-सेवियों की शुभ कामना और भूतपूर्व संपादकों की निर्धारित संपादकीय कार्य-प्रणाली के बल पर हम लोग इस महान् उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य को अपने हाथों में लेते हैं। सबसे बढ़कर भरोसा है हमें उस दयामय जगदीश्वर का जिसके प्रताप से—

मूक होहिं बाचाल पंगु चढ़हिं गिरिवर गहन

भविष्य में माधुरी की नीति क्या होगा, यह जानने की भी लोगों को इच्छा होगी। भूतपूर्व संपादकों ने इसकी जो नीति निर्धारित की है, उसमें विशेष परिवर्तन करने की हमारी इच्छा नहीं है, फिर भी कुछ-न-कुछ नए परिवर्तन तो होंगे ही। पर जो कुछ भी परिवर्तन होंगे, वह धीरे-धीरे और अधिकतर नवीन वर्ष के प्रारंभ से। हम 'माधुरी' में कई नए स्तंभ खोलना चाहते हैं, जो पाठकों को बहुत

रोचक होंगे और उनसे ज्ञानवृद्धि भी होगी, पर उनके विषय में अभी से कुछ कहना ठीक नहीं है। समय आने पर पाठकगण स्वयं उन्हें माधुरी में पढ़ लेंगे। अंत में हम अपने प्रेमी पाठकों, मनीषी संपादकों, सहृदय कवियों और उदार लेखकों से प्रार्थना करते हैं कि आप लोग अपने स्नेह-संपुटित सहयोग से हमें कृतार्थ कीजिए, जिसमें हम माधुरी पत्रिका द्वारा आप लोगों की सेवा सफलता-पूर्वक कर सकें। तथास्तु।

× × ×

२. बसंत

प्रकृति के प्यारे सखा बसंत, आओ तुम्हारा स्वागत है! पृथ्वी शस्य लेकर तुम्हारा स्वागत कर रही है, तुमको भरपेट खिलाने का आयोजन हो रहा है। चारों ओर फूल तुम्हारे ही स्वागत में विकसित हैं। वृक्षों की डालियाँ तुम्हीं को उपहार देने के लिये फलों से लदी लजाई-सी झुकी खड़ी हैं। वे बड़े-बड़े रूखे रूख जिनकी रुखाई आँखों में खटकती थी, आज अपना चोला बदल रहे हैं। अपने पुराने परिच्छद को दूर करके नए कोमल हरे पत्तों की पोशाक में झुक-झुककर तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं। यह द्विजगण का कलरव, यह पशुओं की प्रसन्नता-पूर्ण उछल-कूद और यह मनुष्यों के अंतस्तल की प्रेम कल्लोल, यह सब तुम्हारे स्वागत के पूर्व रूप हैं। शिशिर के संताप से छुटकारा पाकर तुम्हारे स्वागत में तैयार सभी अपने को धन्य मान रहे हैं। प्यारे बसंत, तुम प्रकृति के तो सखा हो, पर माया के कौन हो, यह समझ में नहीं आता। हाँ, यह तो बतलाओ कि पुरुष से तुम्हारा क्या संबंध है? क्षण-क्षण में सुंदर परिवर्तन उपस्थित करनेवाले बसंत, सच बतलाओ क्या उस परमपुरुष, सब प्रकार से पूर्ण विश्व-सम्राट् पर भी तुम्हारा ज़ोर चलता है? अगर चलता है तो आओ हमारी ओर से परमपिता के चरणों में अपना सारा वैभव भेंट कर दो और हमारे पापों को क्षमा करा दो। बड़ा उपकार मानेंगे। तुम्हारा कुछ न जायगा, पर हमारा काम बन जायगा। हम तर जायँगे। तुम्हारी विभूति तो तुमको फिर वापस मिलेगी और परोपकार का पदक घाते में। पर यदि यह नहीं कर सकते, तो दूसरी प्रार्थना है। तुम्हारे दो रूप हैं। दोनों में आकर्षण है। एक के आश्रय से हम ऊपर उठते हैं और दूसरे को छूकर नीचे गिरते हैं। एक से प्रेम के साम्राज्य में हमारा प्रवेश होता है और दूसरे से विषय-वासना की वैतरणी में डुबकियाँ लगानी पड़ती हैं। प्यारे बसंत, हमें अपना वही रूप दिखलाओ, जिससे प्रेम-साम्राज्य के एक कोने में हम भी अपनी कुटिया बना सकें। बसंत, तुम्हारे आगमन से सचमुच हमारा स्थूल शरीर बहुत प्रसन्न हो रहा है, पर क्या इतना ही अलम् है? हमारी आत्मा पर तो अब तक तुम्हारी छाया भी नहीं पड़ी है। वहाँ तो अब भी घोर शिशिर है। तुषारपात से वहाँ तो सभी कुछ मुरझाया पड़ा है। वहाँ तो रवि के हथकंडे अब भी कुछ नहीं कर पाते हैं। क्या वहाँ तुम्हारा प्रवेश न होगा? क्या वहाँ का घनीभूत तुषार न गलेगा? क्या वहाँ हरियाली न लहकेगी? बसंत! ऊपर से तो तुमने विजय प्राप्त की है, पर भीतर अभी तुम्हारी सत्ता कुछ भी नहीं है। यदि अंतर विजय की ओर तुमने ध्यान न दिया, तो थोड़े ही समय के बाद ग्रीष्म तुम्हारे साम्राज्य को भी छीन लेगा, हहर-हहर करके तुम्हारे सारे वैभव को नष्ट कर देगा। बस, सारे संसार में धूल उड़ेगी, तुम्हारा मद नष्ट हो जायगा। इसलिये सावधान, हमारी आत्मा को विजय करो, वहाँ अपनी राज्यश्री फैलाओ, तभी तुम्हारा कल्याण होगा, तभी तुम्हारी विजय स्थायी होगी।

× × ×

३. वायुयान

थोड़े ही समय में वायुयानों की इतनी उन्नति हो गई है कि अब इस बात पर गंभीरता-पूर्वक विचार हो रहा है कि ऐसे वायुयान क्यों न बनाए जायँ जिन पर सौ-सौ दो-दो सौ यात्री एक साथ बैठकर संसार के एक भाग से दूसरे भाग तक सहज ही में आ सकें। अब तक जो काम रेल और जल में चलनेवाले जहाज़ों से लिया जाता था, वही अब हवाई जहाज़ों से लिया जानेवाला है। रेल स्थल पर ही चल सकती है, जल पर नहीं। नावें भी स्थल पर बेकाम हैं, परंतु जल और स्थल दोनों ही के ऊपर जो विशाल वायुमंडल व्याप्त है, उस पर वायुयान सहज में चल सकते हैं। भविष्य में रेल और नाव दोनों का काम हवाई जहाज़ पूरा करेंगे। हाल ही में इँगलैंड की वायुयान मंत्रि-सभा ने एक सरकारी रिपोर्ट निकालकर सूचित किया है कि स्थानांतरित होने के लिये नियमित वायुयान यात्रा से बढ़कर और शीघ्रगामी उपाय नहीं है। वायुयानों के मामले में फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका को बहुत बड़ी सफलता मिली है। बड़े वायुयानों द्वारा बहुत दूर की

यात्रा में अभी सफलता नहीं मिली है। पर छोटे वायुयानों पर काफ़ी बोझ लादकर भी सफलता-पूर्वक यात्रा की जा सकती है। आजकल पाँच हज़ार फ़ीट की ऊँचाई पर प्रतिघंटा ७० मील के हिसाब से हवाई जहाज़ मज़े में उड़ सकते हैं। पर यदि नियमित उड़ान प्रतिघंटा ५० मील भी रहे, तो भी इँगलैंड से मिस्र की यात्रा में ३$\frac{1}{2}$ दिन की, बंबई की यात्रा में १० दिन की, पर्थ में १७ दिन की, दक्षिण अफ़्रीका में १३$\frac{1}{2}$ दिन की और कनाडा में ३$\frac{1}{2}$ दिन की बचत होती है। वायुयानों के उड़ान से ऋतु परिवर्तन-संबंधी कई नई खोजें हुई हैं जिससे बहुत लाभ की संभावना है। लोगों का विश्वास है कि सन् १९२७ या १९२८ तक वायुयानों में इतना सुधार हो जायगा कि लोग उन पर उसी प्रकार निरापद यात्रा कर सकेंगे जैसी आजकल रेल और समुद्री जहाज़ों द्वारा करते हैं। नीचे दिए चित्र में वायुयान मार्ग दर्शित हैं। इनमें से कुछ मार्गों से तो अबभी वायुयान आते हैं। तथा चाय पीने और भोजन करने का कमरा इतना बड़ा होगा कि उसमें ५० आदमी एक साथ बैठकर भोजन कर सकें। कहा जाता है कि यदि ऐसे वायुयान सफलता-पूर्वक बन गए, तो संसार-यात्रा का प्रश्न नितांत सरल और संपूर्णनिरापद हो जायगा। इसके अतिरिक्त रेल और समुद्री जहाज़ों का महत्त्व कुछ भी न रह जायगा।

× × ×

४. साम्राज्य का नशा

कलकत्ता विश्वविद्यालय के विज्ञानाचार्य महाशय सी० वी० रामन अभी हाल ही में संसार-यात्रा करने गए थे। इस यात्रा में उन्हें बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके कार्यक्रम को देखकर वह इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि विश्वविद्यालय का आदर्श ऐसे युवकों की सृष्टि करना है, जो संसार के कार्य-क्षेत्र में पुरुषों की भाँति भाग ले सकें, केवल किताबों के कीड़े न हों। कितने ही विद्यालयों में उन्होंने युवकों को नियमित
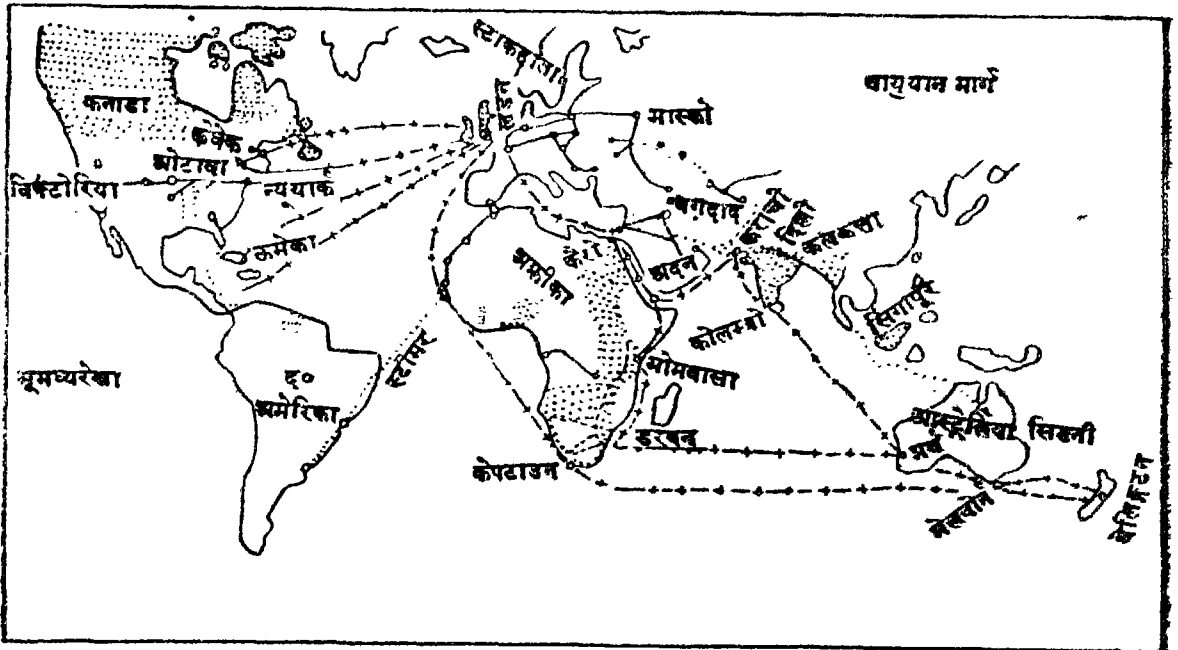
संसार में हवाई जहाज़ों के मार्ग

इँगरेज़ सरकार दो ऐसे वायुयान तैयार करा रही है, जिनमें २७० मन डाक के बोझ के अलावा १०० यात्री मज़े में यात्रा कर सकेंगे। इन वायुयानों में सोने के लिये अलग कमरे होंगे, डेक होंगे, लाइब्रेरी होंगे और सिगरेट रूप से सैनिक शिक्षा पाते हुए देखा। उनकी क़वायद और निशानबाज़ी पर ऐसा ध्यान दिया जा रहा था, मानो वे सैनिक हों। उन्हें उन विद्यार्थियों के कमरे से यह बात मालूम हुई कि युवकों के सामरिक आंदोलन,

संयम और जीवन के मूल-तत्त्व प्राप्त करने में सैनिक शिक्षा से बढ़कर और कोई साधन नहीं है। अध्यापक महोदय विद्यालयों की सैर करते हुए केम्ब्रिज पहुँचे और वहाँ के जगद्विख्यात विज्ञानवेत्ता सर अरनेस्ट रदरफ़ोर्ड से मिलने गए। उस दिन धूप निकली हुई थी और युवक-वृंद खेल के मैदान में खेल-कूद रहे थे। आपने सर अरनेस्ट से मज़ाक़ करके कहा—'मुझे ऐसा मालूम होता है कि केम्ब्रिज पढ़ने की जगह नहीं, खेलने की जगह है।' सर अरनेस्ट ने घूमकर कहा—'हम यहाँ किताब के कीड़े नहीं पैदा करते, हम ऐसे मनुष्य पैदा करते हैं, जो साम्राज्य का शासन कर सकें।' अध्यापक रामन ने यह जवाब सुनकर अवश्य ही लज्जा से सिर झुका लिया होगा। तो सर अरनेस्ट के कथनानुसार विद्यालयों का आदर्श ज्ञान का संपादन और वृद्धि नहीं, केवल साम्राज्य के शासकों का निर्माण करना है। मगर संसार की सभी जातियों के अधिकार में तो साम्राज्य नहीं है। जर्मनी, आस्ट्रिया, बेलजियम, स्वेडेन, स्विटज़रलैंड आदि देश साम्राज्य-हीन हैं। क्या वहाँ के विद्यालय भी यही आदर्श अपने सामने रखते हैं? हम तो ऐसा नहीं समझते। तो क्या भिन्न-भिन्न विद्यालयों के आदर्श भी भिन्न-भिन्न हैं? हमें तो सर अरनेस्ट के जवाब में अनुचित जाति-गर्व के सिवा और कोई भाव नहीं दीखता। वह जानते थे कि अध्यापक रामन एक पराधीन जाति के व्यक्ति हैं। इसी-लिये उन्हें ऐसा अपमान-जनक जवाब देने का साहस हुआ। किसी स्वाधीन जाति के व्यक्ति को वह ऐसा जवाब कभी न दे सकते। बात कुछ नहीं है, पर इससे अँगरेज़ों की साम्राज्य-प्रियता का अनुमान हो सकता है। नम्रता, उदारता और शिष्टता ही विद्वानों के लक्षण हैं। पर इँगलैंड के विद्वानों में अभिमान ने इन सारे सद्‌गुणों को ढक लिया है। प्रो० रामन ने केवल दिल्लगी की थी। उस ज़रा-सी चुटकी का जवाब तलवार का भरपूर वार न था। जब ऐसे-ऐसे विज्ञान के धुरंधर पंडितों के सिर पर साम्राज्य का भूत सवार है, तो फिर निम्न-श्रेणी के मनुष्यों का कहना ही क्या? सर अरनेस्ट यह जवाब देकर चाहे मन में फूले न समाए हों, पर हम तो यही कहेंगे कि उन्होंने शिक्षा का अत्यंत भ्रामक आदर्श अपने सामने रखा है। विद्यालय का आदर्श है, सेवकों को संसार के कर्म-क्षेत्र में लाना, युवकों को ऐसी शिक्षा देना कि वे जागृति और उद्धार के भावों को लेकर कर्म-क्षेत्र में पदार्पण करें, वे ज्ञान और विवेक की मूर्ति हों, संसार को अपना दास न समझकर, अपने को संसार का दास समझें, शासन करने के लिये नहीं, सेवा करने के लिये संसार में आवें, ज्ञान के प्रकाश से भूमंडल को आलोकित कर दें, दरिद्रों के झोंपड़ों में सहानुभूति और विश्वास का संदेशा पहुँचावें, दलितों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करें और अवसर पड़े, तो उस कर्तव्य पर अपने को बलि-दान कर दें, अपने को जगत्-गुरु न समझकर आजीवन जिज्ञासु बने रहें, नए-नए आविष्कार करें, किंतु विध्वंस करने के लिये नहीं, सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित करने के लिये; संसार को हिंस्र-जंतुओं की दृष्टि से नहीं, कर्म-योगियों की दृष्टि से देखें, हमें ऐसे ही युवकों की ज़रूरत है और ऐसे ही युवकों से हमारा और संसार का कल्याण होगा। जब तक हमारे युवकों के हृदयों में शासक और शासित, भोक्ता और भोग्य के भाव बने रहेंगे, हम कभी उस महान् लक्ष्य को प्राप्त न कर सकेंगे, जिसका नाम "संसार-व्यापी भ्रातृभाव" है। कतिपय जातियाँ विध्वंसक विज्ञान से रचे हुए यंत्रों और भ्रामक भावों से भरे हुए व्यक्तियों द्वारा चाहे कुछ दिन और संसार पर अपना प्रभुत्व जमाए रक्खें, पर एक दिन इस युग का अंत अवश्य होगा।

× × ×

५. संसार में भ्रातृभाव

संसार की सभी वस्तुएँ सभी के लिये समान रूप से उपयोगी नहीं होतीं। परिस्थिति और काल के भेद से वही वस्तु जो एक के लिये अमृत है, दूसरे के लिये विष-तुल्य है। ठंडे पानी से स्नान करना एक स्वस्थ पुरुष के लिये अत्यंत गुणकारी है, लेकिन रोगी के लिये वह घातक ही होगा। रेल, तार, टेलीफ़ोन आदि से संसार का बहुत उपकार हुआ है, इसमें संदेह नहीं। संसार एक नगर के समान हो गया है, हज़ारों मील पर पड़े हुए प्रायद्वीप अब उस नगर के मुहल्ले हैं, बड़े-बड़े अनंत सागर अब केवल उन मुहल्लों के बीच गलियाँ हैं, और बड़े-बड़े जहाज़ और वायुयान इक्के और ताँगे हैं। जिस तरह नगर के किसी मुहल्ले में होनेवाली बात एक क्षण में सारे नगर में फैल जाती है, उसी भाँति अब एक द्वीप की बात दूसरे द्वीप में पहुँचते देर नहीं लगती।

यहाँ तक कि अब हम हज़ारों कोस पर बैठे हुए, उसी तरह एक दूसरे से बातें कर सकते हैं, मानो एक ही कमरे में हों। विज्ञान ने काल और देश पर अश्रुतपूर्व विजय प्राप्त कर ली है। मनुष्य-मात्र के विचार, आदर्श जीवन और उद्योग में अद्भुत समानता दिखाई देती है. संसार की वस्तुओं का उपयोग करने का मनुष्य-मात्र को समान अवसर प्राप्त हो गया है, अंतरराष्ट्रीय सहयोग दिन-दिन बढ़ता जाता है और कहा जाता है कि संसार अब 'वसुधैव कुटुंबकम्'' के आदर्श के निकट होता जाता है। लेकिन क्या इस विज्ञान-विकास से समस्त संसार को लाभ-ही-लाभ हुआ है, किसी को हानि नहीं हुई? हमारा अनुभव तो इसके विपरीत ही है। बलवान् राष्ट्रों को इस विकास से चाहे जितने लाभ हुए हों, निर्बल, उद्योग-रहित राष्ट्रों को तो हानि-ही-हानि हुई है। हम आज अमेरिका, जापान और योरप के बने हुए मोटरों, रेशमी कपड़ों और नाना प्रकार के विलास-वर्धक पदार्थों का उपयोग करने में समर्थ हो गए हैं, लेकिन किन दामों? अन्य राष्ट्र हमें वे चीज़ें देते हैं, जिनका उनके यहाँ बाहुल्य है, हम अन्य राष्ट्रों को वे चीज़ें देते हैं, जिनका हमारे यहाँ अभाव है। हम स्वेच्छा से नहीं देते, वे चीज़ें हमसे छीन ली जाती हैं। हमें मिट्टी के खिलौने देकर हमसे वे पदार्थ ले लिए जाते हैं, जिन पर जीवन का आधार है। हमें किसी तरफ़ से करावलंब नहीं मिलता, कोई हमें सान्त्वना के दो शब्द नहीं सुनाता। ये विशाल विद्यालय, ये मोटरों से भरी हुई सड़कें, ये नाना भाँति की वस्तुओं से सजी हुई दूकानें, ये बिजली से जगमगाते हुए भवन, ये टेलीफ़ोन और बेतार-के-तार उस ह्रास की लेश-मात्र भी पूर्ति कर सकते हैं, जो जनता को बल-हीन, आयु-हीन, और धन-हीन बनाता जा रहा है? 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यह आज भी उसी भाँति सर्वव्यापी सत्य है जैसा पहले था, न्याय आज भी उन्हीं के आगे सिर झुकाता है, जिनके हाथ में अस्त्र है, आज भी अपने स्वत्वों के लिये उसी भाँति आत्म-समर्पण की आवश्यकता है, जैसी पहले थी। इसमें तो संसार की गति अधोमुखी ही दिखाई देती है। हमारा तो यही कटु अनुभव है कि विज्ञान ने बलशाली राष्ट्रों को और भी स्वार्थांध बना दिया है, क्योंकि अब उन्हें किसी ओर से भी किसी बात का संशय नहीं रहा। पूर्व काल में राजा की शक्ति सीमाबद्ध होती थी, वह कोई अन्याय करने के पहले यह सोचने पर विवश होता था कि प्रजा की ओर से इसका क्या प्रतीकार होगा और बहुधा उसके अन्याय का फल क्रांति का रूप धारण किया करता था। आज शासकों को कोई भय नहीं है, वे अजेय हैं। विज्ञान ने उन्हें प्रजा की संख्या-शक्ति की ओर से निर्द्वंद्व बना दिया है। प्रजा से संगीन के नोक पर कर वसूल किया जा सकता है, उसके रोने और चिल्लाने की सफलता-पूर्वक उपेक्षा की जा सकती है। इस बिरादरी के बंधन को हम निर्बल राष्ट्रों के लिये बेड़ियाँ ही समझते हैं। इससे तो हमारी पृथक्ता हज़ार दरजे अच्छी थी। संसार के इस भ्रातृ-मंडल में हम जैसी दुर्बल जातियों को यदि कोई स्थान प्राप्त है, तो वह दासता का है, जिसका ध्येय अपने स्वामियों के लिये परिश्रम करना और उनके प्रदान किए हुए टुकड़ों पर जीवन का निर्वाह करना है। क्या कोई आश्चर्य है कि हमारे विद्यालयों का युवक अध्यापक अन्य देशों में जाकर जब अभिनंदन-पत्रों और निमंत्रणों का अपने सामने ढेर लगा हुआ देखता है, तो वह आत्म-गौरव से फूलकर समझने लगता है कि मैं भी इस बिरादरी का एक अंग हूँ।

× × ×

६. उर्दू की पत्रिकाएँ और पत्र

किसी भाषा की उन्नति बड़ी हद तक उसके पत्रों और पत्रिकाओं के ऊपर निर्भर होती है। पत्रिकाओं का संपादन विद्वान्, उदारचेता, देश-देशांतरों में घूमे हुए व्यक्तियों द्वारा जितनी अधिक संख्या में होगा, उतना ही भाषा का विकास होगा, उसमें नवीन भावों, नवीन विचारों और नवीन आदेशों के प्रकट करने की शक्ति आवेगी। बंग-भाषा ने यह उन्नत पद इसलिये प्राप्त किया है कि सर जे० सी० बोस डॉक्टर पी० सी० राय०, डा० सर रवींद्र-नाथ ठाकुर, रामेंद्रसुंदर त्रिवेदी, डॉक्टर सील आदि विद्वान् पुरुषों ने उसे अपनाया है। उर्दू-पत्रों की ओर जब हम निगाह डालते हैं, तो वहाँ भी विद्वानों का उर्दू से वही अनुराग देखते हैं। आगरे से 'शमा'-नामक एक मासिक-पत्रिका निकलती है। उसके युगल संपादकों के नाम हैं—मो० मुहम्मद हबीब आक्सन, बार-एट्-ला और मो० हसनआबिद जाफ़री आक्सन बार-एट्-ला। एक दूसरी पत्रिका है 'अलमुअल्लिम'। यह हैदराबाद से निकलती है। इसके युगल संपादकों के नाम हैं—मो० सज्जाद

मिर्ज़ा साहब एम्० ए० कैंटब और मो० मुहम्मद अज़मत-ख़ाँ बी० ए०। एक तीसरी पत्रिका का नाम है 'जामेआ' उसके युगल संपादकों के नाम हैं—मौलाना असलम और डॉक्टर सैयद आबिद हुसेन एम्० ए० पी० एच्० डी०। हिंदी में ऐसी कितनी पत्रिकाएँ हैं, जिन्हें ऐसे सुयोग्य पुरुषों द्वारा संपादित होने का गौरव प्राप्त हो। यही कारण है कि हमारी पत्रिकाएँ अधिकांश बँगला का रूपांतर होती हैं। हमारे संपादक महोदय अपनी इसी कृत्य पर फूले नहीं समाते और केवल चित्रों से पत्रिका को सजाकर अपने को संपादन-कला में अद्वितीय समझने लगते हैं। जिसने भिन्न-भिन्न भाषाओं का साहित्य नहीं पढ़ा, वर्तमान विद्या और विज्ञान के केंद्रों के दर्शन नहीं किए, उसके हाथों भाषा का विकास यदि हो, तो आश्चर्य ही समझना चाहिए। बात यह है कि हिंदी-भाषी जनता में अभी उस त्याग और उस भाषानुराग का उदय नहीं हुआ, जो पत्र-संपादन जैसे रूखे-सूखे कार्य के लिये अनिवार्य है। जिस युवक ने कोई योरोपियन डिग्री प्राप्त की, वह उसे महँगे-से-महँगे बाज़ार में बेचना चाहता है, किसी यूनिवर्सिटी की रीडरशिप से लेकर मुंसिफ़ी, डिप्टी कलक्टरी, आदि पदों ही तक उसकी निगाह दौड़ती है। जब तक अच्छा वेतन न मिलेगा, वह बेचारा अपने जीवन का निर्वाह कैसे करेगा, उसकी अभिलाषाएँ कैसे पूरी होंगी, आख़िर उसने जो यह ख़र्च और कष्ट उठाया है, इसका कुछ तो पुरस्कार उसे मिलना चाहिए। सुशिक्षित वर्ग तो यों मुँह मोड़कर अलग हुआ। अब पत्रों का संपादन हमा-शुमा जैसे अयोग्य व्यक्तियों के सिवा और कौन करे? मौलाना मुहम्मदअली बी० ए० आकसन जैसा पुरुष एक उर्दू-पत्र का संपादन कर सकता है, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद जैसे उच्च कोटि के विद्वान्, जो कांग्रेस के एक विशेष अधिवेशन के सभापति हो चुके हैं, उर्दू-पत्र का संपादन कर सकते हैं, पर हिंदी-पत्रों के लिये कोई शर्मा या वर्मा काफ़ी हैं। आख़िर इधर-उधर से लेख मँगवाकर छाप ही तो देना है। बहुत हुआ तो लेखों की भाषा ज़रा चुस्त-दुरुस्त कर दी। इस ज़रा से काम के लिये बहुत योग्य मनुष्य की ज़रूरत ही क्या है? उस पर दावा यह है कि हम हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाएँगे। हिंदी पुस्तकें चाहे बँगला से अनुवादित ही हों, हिंदी-पत्र चाहे बँगला और मराठी को अपना आधार माने बैठे रहें, पर हिंदी किसी छूमंतर के ज़ोर से राष्ट्र-भाषा हो जायगी, यह अनहोनी बात है। जब तक योग्य पुरुष-रत्न हिंदी पुस्तकें न लिखेंगे, हिंदी-पत्रों का संपादन न करेंगे, भाषा का आदर्श ऊँचा न होगा, हिंदी राष्ट्र-भाषा का पद न प्राप्त कर सकेगी।

× × ×

७. हमारे देशी राज्यों की व्यवस्था

भारतवर्ष की कुल जन-संख्या की एक तिहाई देशी रियासतों में रहती है। ब्रिटिश इंडिया के कुल क्षेत्रफल का ⅖ देशी रियासतों के अंतर्गत है। इसलिये भारत की भावी व्यवस्था की कल्पना करते हुए यह स्वाभाविक है कि हम रियासतों की प्रजा का भी ध्यान रक्खें। यह कैसे हो सकता है कि भारत का एक भाग तो जनसत्ता के मार्ग पर चलता हुआ और जन-सत्तात्मक संस्थाओं के अधीन रहकर साम्राज्य में बराबर का हिस्सेदार बने, और शेष भाग एकाधिपत्य की ज़ंजीरों में जकड़ा रह जाय। यह अनुमान ही भारतीय राष्ट्रीयता के विरुद्ध है। हम राजनैतिक भारत को प्राकृतिक भारत के अनुरूप ही देखने की अभिलाषा रखते हैं। इसका एक-मात्र कारण यही है कि हम देशी रियासतों की प्रजा को अभी तक उन स्वत्वों से वंचित पाते हैं, जो कम-से-कम काग़ज़ पर हम लोगों को मिल गए हैं। हमारा यह भी अनुमान है कि हमारे राजे-महाराजे भारतीय राष्ट्रीयता के मार्ग के काँटे हैं। पर क्या वास्तव में ब्रिटिश भारत की प्रजा की दशा रियासतों की प्रजा से अच्छी है। हमारी सारी राष्ट्र-कल्पना इसी अनुमान पर अवलंबित है। दोनों प्रजाओं की राजनैतिक दशा की तुलना करना तो कठिन है, क्योंकि केवल सिद्धांतों का प्रतिपादन और अनु-मोदन ही स्वतंत्रता नहीं है। काग़ज़ी स्वतंत्रता और वास्तविक स्वतंत्रता में बड़ा अंतर है। कम-से-कम केवल नियमों की तुलना से वास्तविक राजनैतिक स्थिति की कल्पना नहीं हो सकती। कितने ही ऐसे राज्य योरप में भी हैं, जहाँ प्रजातंत्र में उतनी स्वतंत्रता नहीं है, जितनी अन्य देशों को एकाधिपत्य में प्राप्त है। प्रजातंत्रों में भी स्वाधीनता की मात्रा समान नहीं है। इसलिये हम इसका कोई प्रमाण नहीं दे सकते कि देसी रियासतों की प्रजा ब्रिटिश प्रजा से राजनैतिक दशा में हीन है। हाँ, आर्थिक दशा किसकी अच्छी है, इसका हम अंकों द्वारा प्रमाण दे सकते हैं, और देशों की राजनैतिक और आर्थिक दशा में

बहुत घनिष्ठ संबंध है, इससे किसी को इन्कार न होगा। बल्कि यों कहना चाहिए कि हमारी आर्थिक दशा ही, हमारी राजनैतिक दशा की द्योतक होती है। इस दृष्टि से देखिए तो विदित होता है, पिछले पचास वर्षों में, अर्थात् सन् १८७१ ई० से सन् १९२१ तक, देशी रियासतों की जन-संख्या में ब्रिटिश इंडिया की जन-संख्या की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि हुई। १८७१ में ब्रिटिश इंडिया की आबादी १,८५,०००,००० थी और देशी रियासतों की २१,०००,०००। १९२१ में ये संख्याएँ क्रम से २४७,०००,००० और ७,००,००,००० हो गईं। इससे स्पष्ट है कि देशी रियासतों की आबादी ब्रिटिश इंडिया से सातगुनी अधिक बढ़ी। इस असाधारण वृद्धि का कारण क्या है? यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि रियासतों में लोग पैदा अधिक होते हैं, मरते कम हैं। इसका यही कारण हो सकता है कि अँगरेज़ी प्रजा देशी रियासतों में आबाद होती जा रही है। जब तक हमें यह न मालूम हो जाय कि नए स्थान में हमारी आर्थिक दशा वर्तमान दशा से अच्छी हो जायगी और हम ज़्यादा आराम से रहेंगे, हम अपना जन्म-स्थान नहीं छोड़ते। ऐसी दशा में हम यह कैसे कह सकते हैं कि ब्रिटिश प्रजा देशी प्रजा से अधिक सुखी है? घर छोड़कर कोई वन में तो नहीं जा बसता।

मगर सभी रियासतें भी तो राजनैतिक उन्नति की दृष्टि से नगण्य नहीं हैं। कई रियासतें ऐसी हैं, जो सिद्धांतों में चाहे ब्रिटिश इंडिया की बराबरी न कर सकें, पर व्यवहार में उनकी राजनैतिक उन्नति हमसे किसी तरह कम नहीं है। बाज़ छोटी रियासतें भी, जैसे गोंडाल, उन्नति के मार्ग पर इतनी तेज़ी से चल रही हैं कि कदाचित् ब्रिटिश इंडिया उनसे पीछे पड़ गया है। कौन यह कहने का दावा कर सकता है कि गोंडाल की प्रजा ब्रिटिश प्रजा बनने में अपना सौभाग्य समझेगी। हम समझते हैं कि देशी रियासतों की भावी व्यवस्था के विषय में उन रियासतों की प्रजा की सम्मति ही निश्चयात्मक समझी जा सकती है। हमें एक बलवान संयुक्त भारत की कल्पना में देशी रियासतों की प्रजा की सम्मति को न भूलना चाहिए।

इधर दो-एक अँगरेज़ी पत्रों में देशी रियासतों के विषय में चर्चा हो रही है। कदाचित् वे लोग किसी भावी कार्यक्रम के लिये ज़मीन तैयार करना चाहते हैं, और इस विषय में ब्रिटिश इंडिया की प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के इच्छुक हैं। पर हमें यह न भूलना चाहिए कि नरम दस्ताने में कभी-कभी कठोर पंजा छिपा रहता है।

यहाँ पाठकों के मनोरंजन के लिये हम यह भी बताए देते हैं कि रियासतों की कुल संख्या ५६२ है, जिनमें दस रियासतों की आय एक करोड़ से अधिक है। ५३ की दस लाख से अधिक। ३७२ की एक लाख से भी कम। यहाँ तक कि दो "रियासतों के खिलौने" भी हैं। एक तो राजा नायक गंगाराम हैं, जिनकी संपूर्ण आय १६०) वार्षिक है और जन-संख्या ५४। दूसरे राजा बावजी, बिलबारी-'नरेश' जिनकी आय ८०) वार्षिक है और जन-संख्या ३२।

× × ×

८. जातीय भाषाओं की उन्नति

बहुत दिनों के बाद हमारी सरकार ने जातीय भाषाओं के साथ अपना कर्तव्य पालन करने का निश्चय किया है। कम-से-कम लक्षणों से तो ऐसा ही विदित होता है कि प्रायः सभी विद्यालयों में जातीय भाषाओं का प्रवेश हो गया है। हिंदी और उर्दू, मराठी और बँगला के शिक्षक और शिष्य नज़र आने लगे हैं। भाषाओं में अब ऊँची-से-ऊँची डिग्रियाँ ली जा सकती हैं। अब सरकार ने हिंदुस्तानी एकाडमी स्थापित करके इस मार्ग पर एक क़दम और आगे बढ़ाया है। एकाडमी के सभासद्, मंत्री, सभापति चुन लिए गए हैं। आशा है, शीघ्र ही उसका कार्य-क्रम भी निर्दिष्ट हो जायगा। वह केवल मैट्रिक्युलेशन और इंटरमीडिएट परीक्षाओं के लिये भाषाओं में पुस्तकें अनुवाद करनेवाली संस्था होगी या, उसका आदर्श इससे ऊँचा और कार्य-क्षेत्र इससे विस्तृत होगा, अभी कुछ नहीं कहा जा सकता। बिहार की गवर्नमेंट ने भी कुछ इसी प्रकार की आयोजना करने का विचार किया है। यह सब राष्ट्रीय भाषाओं के हितैषियों के लिये शुभ लक्षण हैं।

लेकिन इधर तो भाषाओं की उन्नति का प्रयत्न हो रहा है, उधर विद्यालयों में भाषाओं के लेक्चर भी अँगरेज़ी में दिए जाते हैं। विद्यालयों में अँगरेज़ी भाषा का प्राधान्य है, अँगरेज़ी बोलने और लिखने में अभ्यस्त होना ही उनका आदर्श है। यदि प्रोफ़ेसर हिंदी में शिक्षा देता है, तो वह अयोग्य समझा जाता है, अध्यापक-समाज में उसकी गणना नहीं हो सकती। विद्यालय ही क्यों, जीवन के किसी विभाग में भी अँगरेज़ी की अच्छी योग्यता प्राप्त किए बिना सफलता नहीं मिल सकती। किसी पेशे, किसी विभाग,

में आइए ; वकील बनिए चाहे डॉक्टर; एजेंट बनिए चाहे सौदागर ; यदि आपको अँगरेज़ी का अच्छा अभ्यास नहीं है, तो आप सफल नहीं हो सकते । तो जब तक अँगरेज़ी को जीवन के सभी विभागों में, वह महत्व प्राप्त है, तब आप इतिहास, भूगोल या प्रारंभिक विज्ञान की पुस्तकों का अनुवाद करके भाषा की क्या उन्नति कर सकते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता । सबसे बड़ी ज़रूरत हमारे विधाताओं के दृष्टि-कोण बदलने की है । जब तक वह राज्य के विभागों में भाषाओं को कुछ स्थान देने पर राज़ी न होंगे, जब तक वे अँगरेज़ी के प्रति अपना प्रेम कम न करेंगे, राष्ट्रीय भाषाओं में सुधार की बहुत कम आशा है। नीचे से ऊपर तक अँगरेज़ी का राज्य है । पाठशाले में आइए या, विद्यालय में, वेश-भूषा, भाषा सब कुछ आपको अँगरेज़ी ही मिलेगा और ऐसा होना स्वाभाविक भी है । जब अँगरेज़ी वेश और भाषा की सभी जगह क़दर है, जातीय भाषाओं का कोई पुरसां हाल नहीं, तो विद्यालय जातीय भाषाओं का प्रचार करके अपने विद्यार्थियों का जीवन कैसे नष्ट कर सकते । अच्छी भाषा जाननेवाला आदमी कहीं नहीं पूछा जाता । अगर उसने भाषा लेकर डिग्री ली है, तब तो ख़ैर. लेकिन यदि वह कोरा विशारद है, तो उसके लिये किसी लोअर प्राइमरी पाठशाला में अध्यापक बन जाने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं है । यही उसकी सारी भाषा-विज्ञता का पुरस्कार है । यदि हमारे बालकों ने मैट्रिक्युलेशन तक सारे पाठ्य-विषय भाषा में पढ़े, तो वे इंटरमीडिएट में कैसे सारे विषय अँगरेज़ी में पढ़ सकेंगे और उन्हें कैसे वह अँगरेज़ी लिखने और बोलने की योग्यता प्राप्त होगी, जो जीवन के सभी विभागों के लिये मानो पासपोर्ट है । इसका नतीजा शायद यह हो कि रईस लोग अपने बालकों के लिये अलग स्कूल खोलें । ऐसे एक स्कूल का प्रस्ताव हो चुका है और बड़े लाट साहब ने उसका अनुमोदन भी कर दिया है— और हमा-शुमा के लड़के जातीय भाषा में निपुण और अँगरेज़ी में कच्चे रहकर छोटे-मोटे पदों के लिये ही उपयुक्त समझे जावें ।

× × ×

६. राजा और प्रजा क़ानून की निगाह में एक हैं

काबुल के वर्तमान अमीर हिज़ मैजेस्टी अमीर अमानुल्लाह प्रजा की रक्षा में कितने दत्तचित्त हैं, इसका एक उदाहरण अँगरेज़ी-पत्र "न्यू स्टेट्समैन" के एक संवाददाता ने हाल ही में प्रकाशित किया है । यह महाशय काबुल नगर में १० बजे रात के बाद घूम रहे थे कि पुलीस ने उन्हें पकड़ लिया । पूछने पर मालूम हुआ कि काबुल में दस बजे रात के बाद घूमना रात-भर की क़ैद के लिये काफ़ी है । आप हवालात में बंद कर दिए गए । हवालात में आराम के सामान मौजूद थे । आपने सोचा कि रात तो यहाँ काटनी ही है, अब आराम करना चाहिए । इतने में आपकी दृष्टि एक अफ़ग़ान पर पड़ी, जो दूसरे कोने में बैठा हुआ था । उसकी चाल-ढाल सिपाहियों की-सी थी और उसके तीव्र नेत्र संवाददाता महाशय के हृदय में चुभे जा रहे थे । आपने समझा, यह भी मेरा साथी है । उसका चेहरा भी आपको कुछ परिचित-सा जान पड़ा । अतएव आपको उससे बातचीत करके समय काटने की इच्छा हुई । आपने उसकी ओर ऐसे भाव से देखा कि उससे कुछ बातें करना चाहते हैं, पर उसने आँखें फेर लीं, मानो वह इस समय कुछ बात नहीं करना चाहता; लेकिन आप तो बातें करने पर तुले हुए थे । छेड़कर बोले—क्यों भाई जान, आप यहाँ देर से हैं ? उसने कठोरता से मुस्किराकर देखा, पर कुछ उत्तर न दिया ।

जब एक घंटा गुज़र गया, तो संवाददाता महाशय से चुप न रहा गया । आपने साहस करके फिर कहा—हम लोगों को घर पहुँचने में तो अब बहुत देर हो रही है । तब उसने उत्तर दिया—हाँ, देर तो हो रही है और मुझे तो बहुत दूर जाना है और बहुत काम करना है ।

संवाददाता—जब आपका मकान इतनी दूर है, तो आप इतनी रात तक क्यों घूमते रहे ?

अफ़ग़ान—मैं यही प्रश्न आपसे करता हूँ ।

संवाददाता—मैं पुराने काबुल में अपने एक मित्र से मिलने जा रहा था, रात बहुत न गई थी इसलिये मैंने सोचा, सवारी से पैदल चलना ही अच्छा है और फिर इसमें हानि ही क्या है ? अफ़ग़ानिस्तान-जैसे उन्नतोन्मुखी देश के लिये यह हास्यास्पद है कि वह प्रजा को १० बजे के बाद रास्ता न चलने दे । यह तो सैनिक दासता है । इस समय तो इस देश की किसी से लड़ाई भी नहीं है ।

अफ़ग़ान—शायद आप योरप में बहुत घूमे हैं ।

संवादद‌ाता—हाँ ।

अफ़ग़ान ने गंभीर भाव से कहा—अभी आपको यह क़ैद बुरी मालूम हो रही है। लेकिन यहाँ और वहाँ की परिस्थिति में बड़ा अंतर है। मैं योरप तो नहीं गया हूँ; लेकिन इतना कह सकता हूँ कि दोनो जगहों में आसमान और ज़मीन का फ़र्क़ है। काबुल में आपको हमेशा बंदूक़ का कुंदा कंधे से लगाए सजग रहना पड़ता है। यहाँ अभी लड़ाई नहीं है, लेकिन इसकी शंका है, भीतर भी और बाहर भी। यद्यपि यहाँ कई घंटे व्यर्थ बैठे रहना मुझे बहुत ही बुरा लग रहा है, किंतु प्रजा की रक्षा के लिये यह विधान परम आवश्यक है। इसके सिवा अफ़ग़ानियों को सबेरे सोना चाहिए, जिसमें वह दूसरे दिन सबेरे उठें और अपने देश की उन्नति में सहायक हों। पश्चिमी देशों की उच्छृंखल स्वतंत्रता की हमें ज़रूरत नहीं।

मैं पश्चिम की यह निंदा सुनकर चुप न रहना चाहता था। कुछ जवाब देने ही जा रहा था कि सहसा शहर कोतवाल और उनके पीछे अमीर के प्राइवेट सेक्रेटरी ने कमरे में क़दम रक्खा। पहरे के सिपाही चुस्त होकर खड़े हो गए।

कोतवाल ने अफ़ग़ान से बड़ी दीनता के साथ कहा—

जहाँपनाह! मैं हुज़ूर से बड़ी आजिज़ी के साथ क्षमा माँगता हूँ। तेज़ हवा के कारण टेलीफ़ोन का तार कुछ बिगड़ गया था और मुझे आपके यहाँ पकड़े जाने की सूचना इससे पहले न मिल सकी।

जहाँपनाह! संवाददाता को अपने कानों पर विश्वास न आया। क्या वह आदमी जिससे उसने अब तक बातें की थीं, अमीर अमानुल्लाह हैं?

अमीर ने कोतवाल से कहा—इसकी कोई परवा नहीं। राजा और प्रजा दोनो क़ानून की निगाह में एक हैं। मुझे बड़ी ख़ुशी है कि मेरी पुलीस इतनी मुस्तैदी से मेरी आज्ञा का पालन करती है।

इसके बाद अमीर ने संवाददाता महोदय को अपनी मोटर में बैठा लिया और उनके डेरे पर पहुँचा दिया।

१०. इंटरमीडिएट कॉलेज

डॉ० जी० एन्० चक्रवर्ती और प्रो० एस्० जी० उन दोनों ही महाशयों ने अपने Convocation Speech में इंटरमीडिएट कॉलेजों की वर्तमान स्थिति और दशा से असंतोष प्रकट किया। उनका कहना है कि इंटरमीडिएट कॉलेजों और हाईस्कूलों में बहुत थोड़ा अंतर है। इंटर-मीडिएट पास करके जो युवक युनिवर्सिटी में आते हैं, उनका मानसिक विकास अब भी इतना नहीं होता कि युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसरों के लेक्चरों का मतलब समझ सकें। अब आप लोगों को सूझा है कि इससे तो पहली ही दशा अच्छी थी, जब लड़के मैट्रिक्युलेशन पास करके युनिवर्सिटी में इंटरमीडिएट शिक्षा उससे कहीं अच्छी हो जाती थी, जितनी इंटरमीडिएट कॉलेजों में होती है, जो वस्तुतः हाईस्कूल ही हैं। युनिवर्सिटी में इंटरमीडिएट कक्षाओं के लड़कों को बी० ए०, एम्० ए० के विद्यार्थियों से मिलने-जुलने और विचार विनिमय के अवसर मिलते थे, जो स्वयं उच्च-कोटि की शिक्षा होती थी, क्योंकि यह सच है कि युनिवर्सिटी में विद्यार्थी एक दूसरे से शिक्षा पाते हैं। इंटरमीडिएट कॉलेजों में न ऐसे परीक्षालय हैं, न ऐसे योग्य प्रोफ़ेसर, न ऐसे अच्छे होस्टल। ठीक यही शंका उस समय की गई थी, जब युनिवर्सिटी सुधारों की धूम थी। शिक्षा कमीशन ने इंटरमीडिएट कॉलेज खोलने के लिये जो कड़ी शर्तें लगा दी थीं, उनकी ओर से आँखें बंद करके धड़ाधड़ इंटरमीडिएट कॉलेज खुलने लगे और आज लाखों रुपए ख़र्च करने के बाद अब मालूम हुआ है कि वह शंका निर्मूल न थी। वह पुरानी शिकायत अब भी दूर नहीं हुई। और हमारा अनुमान है कि जब तक युनिवर्सिटी उत्तरदायित्व से गला बचाती रहेगी, उस वक़्त तक यह शिकायत दूर न होगी। हमारी युनिवर्सिटियों ने अपने सामने ज़रूरत से ज़्यादा ऊँचा आदर्श रख लिया है। हम मानते हैं कि विद्या की वृद्धि और विज्ञान की खोज ही युनिवर्सिटी का आदर्श होना चाहिए, लेकिन हिंदुस्तान-जैसे देश के लिए नए खोज की इतनी ज़रूरत नहीं है, जितनी शिक्षा के प्रचार की। जहाँ ६५ प्रतिशत जनता मूर्ख हो, वहाँ विद्यालयों के लिए इतने ऊँचे आदर्श की ज़रूरत नहीं।

कहा जाता है कि युनिवर्सिटी की आलंकारिक शिक्षा की सबको ज़रूरत नहीं। लेकिन यहाँ युनिवर्सिटी की शिक्षा अलंकार-मात्र नहीं, वह व्यवसाय है। यह तो न्याय-संगत नहीं कि कुछ लोगों को क्लर्क बनने के लिये मजबूर किया जाय। जब तक ऊँचे पद युनिवर्सिटी की डिग्रियाँ पानेवालों को मिलते रहेंगे, तब तक यह आशा करनी कि वही लोग युनिवर्सिटी में आवें, जो इसके योग्य हों, अन्याय है। अपने भविष्य का निर्माण करने की अभि-लाषा सभी को होती है। युनिवर्सिटियों को तो उद्योग

करना चाहिए कि उनकी सेवा का क्षेत्र विस्तीर्ण हो, यह नहीं कि उसे और भी संकुचित कर दिया जाय। नई संतान का भाग्य-निर्माण युनिवर्सिटियों के हाथ में है। भारतवर्ष का भविष्य बहुत कुछ युनिवर्सिटियों पर ही है। उनसे हमारी यही प्रार्थना है कि वे अपनी उपयोगिता को घटाने के बदले बढ़ाएँ, विद्यार्थियों की अधिक-से-अधिक संख्या पर अपने विद्या-व्यसन, विचार-स्वातंत्र्य और सेवा-भाव की छाप लगावें। विदित ही है कि युनिवर्सिटी-जैसे योग्य अध्यापकों का आयोजन कर सकती है, साधारण स्कूल या, इंटरमीडिएट कॉलेज नहीं कर सकते। इसलिये हमारी आशापूर्ण आँखें, युनिवर्सिटी की ही ओर उठती हैं। भारत भविष्य में किस रास्ते पर चलेगा, इसका निर्णय इन्हीं के हाथों में है। वह पाश्चात्य के रहन-सहन, रीति-नीति का नक़ल करेगा या, भारतीय सभ्यता और भारतीय आदर्शों का पुनरुत्थान करेगा, इसका निर्णय वही कर सकती हैं। वर्तमान गति तो योरप ही की ओर झुकती हुई मालूम हो रही है।

× × ×

११. सांप्रदायिक शिक्षालय

देश में जो द्वेष फैला हुआ है, इसका उत्तरदायित्व बहुत कुछ सांप्रदायिक शिक्षालयों पर है, इसमें लेश-मात्र भी संदेह नहीं। मुसलिम संस्थाएँ अपनी परंपरा की रक्षा करती हैं, हिंदू संस्थाएँ अपनी रूढ़ियों की, ईसाई संस्थाएँ अपने सिद्धांतों की। कहा जाता है, सरकार की राजनीति ही ऐसी है कि देश में एकता का विकास नहीं हो सकता। लेकिन सांप्रदायिक विद्यालय और शिक्षालय तो हमारे ही खोले हुए हैं। मुसलिम और नान-मुसलिम निर्वाचन इन्हीं संस्थाओं का नैयायिक परिणाम है। जब तक आपकी यह संस्थाएँ जीवित रहेंगी, उस वक़्त तक निर्वाचन-नीति में सुधार की आशा नहीं। हिंदू-विद्यालयों में बहुधा मुसलिम उत्सवों में छुट्टियाँ नहीं होतीं। चूँकि वहाँ किसी के बुरा मानने का भय नहीं होता, इसलिए अन्य मतों का या तो ज़िक्र ही नहीं होता या, होता है, तो निंदा से भरा हुआ। विदित ही है कि ऐसे शिक्षालयों से निकले हुए युवक धार्मिक विचारों में उदार नहीं हो सकते। सभी सांप्रदायिक संस्थाओं के विषय में यही कहा जा सकता है। अभी हाल में पंजाब के गवर्नर सर मालकम हेली ने इन संस्थाओं की तीव्र आलोचना करते हुए यहाँ तक कह डाला कि ऐसी संस्थाओं को सरकारी सहायता पाने का कोई अधिकार नहीं है। और राज-परिषद् को ताकीद की कि वह इन्हें सहायता देना स्वीकार न करे। गवर्नमेंट इस वक़्त इन संस्थाओं को जितना कठोर दंड देना चाहे, दे सकती है, लेकिन इनकी सृष्टि का उत्तरदायित्व बहुत कुछ सरकार ही के ऊपर है। इन विद्यालयों के संस्थापकों ने यदि सुबुद्धि और राष्ट्रीयता के भावों से काम लिया होता, तो ऐसी संस्थाओं का जन्म ही न होता। लेकिन हमारे नेताओं में सबसे बड़ा गुण यही है कि वे सरकार का रुख़ देखकर काम करते हैं। इशारा पाया, और ले दौड़े। लेकिन यदि गवर्नमेंट धार्मिक पक्षपात को दिल से निकाल डाले, तो हमें विश्वास है कि संस्थाएँ ही नहीं, समस्त देश की हवा बदल जायगी, और एक नए राष्ट्र का उदय हो जायगा।

× × ×

१२. दो नई संस्थाएँ

जिस भाँति आँधी और तूफ़ान में किसी पथिक को कोई टूटा-फूटा झोंपड़ा देखकर तस्कीन हो जाती है, उसी भाँति इस विद्वेष और सांप्रदायिक रगड़-झगड़ में जब हम किसी ऐसी संस्था को स्थापित होते देखते हैं, जिससे इस भयंकर स्थिति के सुधार की कुछ आशा हो सकती है, तो हम आशा और हर्ष से फूल उठते हैं। हाल में ऐसी दो संस्थाओं की दाग़-बेल डाली गई है। एक तो बंगाल में है, जिसका नाम है "Fellow-ship"। इसका उद्देश्य पारस्परिक कलह और विद्वेष को शांत करना है। इसके संस्थापकों में डॉक्टर सर रवींद्रनाथ ठाकुर, लार्ड सिन्हा, मौलाना अबुलकलाम आज़ाद, बाबू विपिनचंद्र-पाल, बाबू रामानंद चटरजी प्रभृति सज्जन हैं। संस्थापकों ने अपने नीति-पत्र में लिखा है—समय आ गया है कि बढ़ते हुए धार्मिक विरोध का दमन करने के लिये दृढ़ता के साथ कुछ करना चाहिए, जो भारतीय एकता के मार्ग में एक शिला की भाँति खड़ा हो गया है—"हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि यह प्रयत्न सफल हो।"

दूसरी संस्था का नाम है 'Indian youth movement' इसके प्रवर्तक हैं—श्री साधु० टी० एल् वस्वानी। इसका उद्देश्य युवकों का धार्मिक और नैतिक सुधार है। किसी देश के युवक ही उसके भविष्य होते हैं और संसार के जिस देश में निगाह दौड़ाइए, आपको न्याय और

सत्य की रक्षा करनेवाले युवक ही दिखाई देंगे। पर भारत में उनकी दशा शोचनीय है। वे असंगठित, पथ-भ्रष्ट और इसीलिए उत्साहहीन हैं। मैट्रिक्युलेशन तक तो वह बड़े मज़े से बढ़ते चले जाते हैं, किंतु इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद उनके सामने एक कठिन समस्या आ खड़ी होती है—क्या करें? आगे पढ़ना चाहते हैं; पर उसका साधन नहीं, जीविका की चिंता अलग। ऐसी परिस्थिति में पड़कर उन्हें जीवन और संसार से घृणा हो जाती है, उनमें उत्साह और उमंग नाम को नहीं रहती, वह उदरपूर्ति के लिये सभी प्रकार के कर्म-अकर्म करने को तैयार हो जाते हैं। कितने ही दुर्व्यसनों में पड़कर सदैव के लिए अपने जीवन को दुर्निवार रोगों के मुख में डाल देते हैं। यही समय है जब युवकों को सद्मार्ग पर लाने की ज़रूरत होती है। Indian youth Movement का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है, पर इस भय से कि "सब साधे सब जाय" इस समय यही आयोजना की गई है कि एक ऐसा आश्रम बनाया जाय, जिसमें मैट्रिक्युलेशन पास किए हुए युवक दो-तीन महीने तक ठहरें और योग्य शिक्षकों की निगरानी में ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शारीरिक उन्नति और चरित्र-निर्माण की नींव डालें। वे हमारी भावी आशा बनें, जाति के भार नहीं, संतोषमय जीवन व्यतीत करें, उसके आनंद का अनुभव करें। कॉलेजों के विद्यार्थी भी छुट्टियों में इस आश्रम में आकर लाभ उठावेंगे। आश्रम में एक पुस्तकालय होगा, जिसमें भारत संबंधी पुस्तकों का अच्छा संग्रह किया जायगा।

× × ×

१३. सिनेमा और सुरुचि

सिनेमा का प्रचार दिन-दिन बढ़ रहा है। ऐसा कोई बड़ा शहर नहीं है, जहाँ सिनेमा के दो-दो तीन-तीन थिएटर न हों। यह भी जीवन की आवश्यकताओं में दाख़िल हो गया है। योरप और अमेरिका-जैसे देशों में जहाँ मज़दूरों की आमदनी भी भारत के वकीलों से अच्छी है, सिनेमा मनोरंजन का विषय है; पर भारत-जैसे दरिद्र देश में तो उसकी वृद्धि आपत्ति-जनक है। जिन लोगों को उसका चसका पड़ जाता है, वे घर की ज़रूरतों की चाहे चिंता न करें, पर सिनेमा के लिये उन्हें पैसे अवश्य चाहिए। मगर सिनेमा में केवल धन की क्षति ही नहीं होती, इससे जनता की रुचि और मनोवृत्तियाँ भी बिगड़ती हैं। सिनेमा में जब तक हलचल, खून-ख़राबा न हो, जब तक सनसनी पैदा करनेवाले दृश्य न हों, दर्शकों को आनंद नहीं आता। पिस्तौल का छूटना, लुटेरों का मोटरों पर से हमले करना, किसी डाकू का पुलीस से भागकर नदी में कूदना, यही बातें साधारणतः दिखाई जाती हैं। प्राचीन संस्कृत ड्रामा में मंच पर ऐसे दृश्य दिखाना वर्जित था। आज उन्हीं दृश्यों की गर्मबाज़ारी है। क्या इन दृश्यों से पाशविक वृत्तियाँ जाग्रत नहीं होतीं? आदर्श मंच वह है, जो हमारी भावनाओं और कल्पनाओं को सुसंस्कृत करे, हमारी सद्वृत्तियों को जगाए, सुरुचि पैदा करे। पर इस व्यवसाय प्रधान युग में रुचि की कौन परवा करता है, धनोपार्जन ही जिस सभ्यता का ध्येय हो वह यदि मानवहृदय को खिलवाड़ बनाए तो आश्चर्य ही क्या है!

× × ×

१४. सम्मिलित निर्वाचन

मसल मशहूर है कभी-कभी बुराइयों से भलाई पैदा हो जाती है। हिंदू-मुसलिम विरोध और वैमनस्य बढ़ते बढ़ते इस हद तक पहुँच गया कि अब सरकार को भी चिंता होने लगी, और उसी का नतीजा है कि मुसलिम और हिंदू नेता सम्मिलित निर्वाचन मंडल पर विचार करने को तैयार हुए हैं। मुसलिम नेताओं ने तो आपस में परामर्श करके कुछ शर्तें पेश कर दी हैं, हिंदू नेता उन शर्तों पर विचार कर रहे हैं। यदि सरकार की हार्दिक इच्छा है कि दोनों पक्षों में एकता उत्पन्न हो जाय तो वह चुटकी बजाते हो सकती है। केवल सरकार के इशारे की ज़रूरत है। सम्मिलित निर्वाचन भारतीय एकता का एक प्रधान साधन है, और मुसलमानों ने उस पर विचार करके इस बात का प्रमाण दे दिया है कि वे वैमनस्य को मिटाने के लिये हिंदुओं से कम प्रयत्नशील नहीं हैं। इसमें संदेह नहीं कि मुसलिम नेताओं ने सम्मिलित निर्वाचन को स्वीकार करने के लिये कई शर्तें लगा दी हैं और उन शर्तों को मानने में हिंदुओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। मुसलमानों को वर्तमान परिस्थिति में हिंदुओं की ओर से अविश्वास होना स्वाभाविक ही है। हिंदुओं को भी ऐसी ही शंकाएँ हो सकती हैं, और उस दशा में इस प्रशंसनीय कार्य का अंत हो

जायगा। मुसलिम नेता अगर हिंदुओं के बहुमत को स्वीकार करते हैं, तो वह अपने हाथ में एक ऐसा शस्त्र भी रखना चाहते हैं, जिससे अवसर पड़ने पर वे काम ले सकें। यह हिंदू जनता को अपने हृदय की उदारता और स्वदेश-प्रेम के प्रमाणित करने का अवसर मिला है और यदि मुसलमानों के फैले हुए हाथ से हमने अपना हाथ खींच लिया, तो इसका कलंक हमारे माथे पर रहेगा। संदेह और अविश्वास के वातावरण में बहुधा हम रस्सी को साँप समझने लगते हैं और कल्पित बाधाओं का भूत सामने खड़ा कर लेते हैं। यह कहा जा सकता है कि सिंध और बलूचिस्तान और सीमाप्रांत के हिंदुओं की गरदन मुसलमानों के पंजे में हो जायगी। यह रस्सी को भूत बनाना है। हमें आशा है कि हिंदू नेतागण इस स्वर्णावसर को हाथ से न जाने देंगे। यह आशा करना कि मुसलमान लोग बिना कोई शर्त लगाए, बिना अपने हाथ में कोई शस्त्र रखे, एक ऐसी नीति को स्वीकार कर लेंगे, जिसमें उनके मेंबरों की संख्या कम होने की संभावना हो सकती है, वर्तमान परिस्थिति में असंगत है।

× × ×

१५. हिंदुस्तानी एकेडेमी का उद्घाटन

२९ मार्च, सन् १९२७ संयुक्तप्रांत के साहित्यिक इतिहास में एक शुभ तिथि समझी जायगी। इसी शुभ तिथि में हिंदुस्तानी एकेडेमी का हिज़ एक्सेलेंसी गवर्नर द्वारा उद्घाटन हुआ। हिंदी और उर्दू के साहित्य-सेवियों का ऐसा सुंदर समागम शायद पहले कभी न हुआ हो। हमारे शिक्षा-मंत्री राय राजेश्वरबली साहब ने हिंदुस्तानी चित्रशाला और भारतीय संगीत विद्यालय का स्थापन करके अपनी कलाप्रियता का पहले ही परिचय दे दिया है। अब आपने साहित्य-कला प्रेम का परिचय भी दे दिया। आपने इस अवसर पर जो वक्तृता दी, वह एकेडेमी के प्रति शुभ कामनाओं से परिपूर्ण थी। यह सत्य है कि हमारी भाषाओं में अभी विज्ञान, शिल्प, दर्शन, इतिहास के उच्चकोटि के ग्रंथ नहीं हैं लेकिन हम आपके इस विचार से सहमत नहीं हैं कि एकेडेमी को यह कमी सुंदर पुस्तकों के अनुवाद से पूरी करनी चाहिए। जैसा हिज़ एक्सेलेंसी ने इसी अवसर पर अपनी स्पीच में कहा, हमें अनुवादों के पीछे न पड़ना चाहिए। "एकेडेमी का मुख्य कार्य मौलिक पुस्तकों का निर्माण होना चाहिए, जो केवल भाषा ही में नहीं, विचारों में भी भारतीय हों। अनुवाद बहुत उत्कृष्ट होने पर निंदनीय ही है"। हिंदुस्तानी एकेडेमी यदि केवल अनुवाद का विभाग होकर रह जाय, तो उसके लिये कुछ गौरव की बात न होगी। लेकिन हमारे मार्ग में जो सबसे बड़ी बाधा है, वह भाषाओं की ओर से शिक्षित समाज की उदासीनता है। हिज़ एक्सेलेंसी ने बहुत ही यथार्थ कहा कि "देश में चोटी के मस्तिष्क परिस्थितियों के कारण अपनी शक्ति अँगरेज़ी का अभ्यास करने में ख़र्च कर देते हैं और भाषाओं से उन्हें कोई प्रेम नहीं होता।" अगर हमारा शिक्षित समुदाय इतना भाषानुराग विहीन न होता, तो एकेडेमी की ज़रूरत ही क्यों पड़ती? भाषा स्वाभाविक गति से उन्नति करती चली जाती। मौलिक पुस्तकों का निर्माण कराना आसान नहीं है। "चोटी के मस्तिष्क" उसी हालत में अपना समय और शक्ति भाषा को संपन्न बनाने में लगावेंगे यदि उन्हें इच्छानुकूल इसका पुरस्कार मिलेगा। एकेडेमी की थोड़ी-सी रक़म इस काम के लिये किसी तरह काफ़ी नहीं है।

दूसरे दिन एकेडेमी की पहली बैठक हुई। सर तेज-बहादुर सप्रू ने मेंबरों को सहानुभूति, सहकारिता और प्रेम के साथ मिलकर काम करने का अनुरोध किया। यह बहुत ही समयानुकूल आदेश था। यदि एक ही साहित्यिक कार्य में भी राजनैतिक विद्वेष की छाया पड़ गई, तो एकेडेमी निर्जीव होकर रह जायगी। जिन मेंबरों को एकेडेमी ने कोआप्ट किया है, उन्हें हम बधाई देते हैं।

एकेडेमी अपने कार्य में कहाँ तक सफल होगी, यह कोई नहीं कह सकता। लेकिन यदि ऐसे अनुभवी पंडितों, विज्ञानियों, विद्वानों से संयुक्त संस्था जिसमें न उच्चकोटि के शिक्षा प्राप्त युवकजनों की कमी है, न ज़माना देखे हुए अनुभवी गुरुजनों की, असफल मनोरथ हो जाय, तो हम इसे जाति का दुर्भाग्य ही समझेंगे। यह निश्चय किया गया है कि एकेडेमी को कई विभागों में विभक्त कर दिया जाय। जैसे—साहित्य, गणित, इतिहास, दर्शन आदि। फिर विद्वानों से पुस्तकें लिखने का अनुरोध किया जाय। जिस विषय की पुस्तक होगी, उसका उसी विषय की सब कमेटी द्वारा निरीक्षण होगा। हमारी ईश्वर से प्रार्थना कि वह इस नवजात बालक को चिरंजीवी करे!

× × ×

१६. व्यापारी और ग्राहक

व्यापार दिन-दिन संगठित और उद्धत होता जा रहा है। वह ग्राहकों को जाल, फ़रेब, प्रलोभन, धोखा किसी भाँति अपने फंदे में फँसा लेना चाहता है। ग्राहक बेचारा किसी तरह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। घर से निकलते ही भाँति-भाँति के पोस्टर दीवारों पर लगे हुए नज़र आते हैं। ज़रा और आगे बढ़े, तो विज्ञापन बाँटनेवाले ने आक्रमण किया। उससे किसी तरह जान बचाकर ज़रा और आगे बढ़े, तो चारों ओर से साबुन और तेल और आयुर्वेद की गोलियों के व्यापारी "लेना, लेना! जाने न पावे" का गुल मचाते हुए दौड़े। यहाँ जान बचना मुश्किल हो गई। अगर ज़िंदगी के बेहया हुए और यहाँ से भी किसी तरह दबक-दबककर निकल भागे, तो वह देखिए एक बड़ा शत्रु बैंड बजाता, अस्त्रों से सुसज्जित मोटर पर सवार, गोले बरसाता और क़त्लआम करता चला आ रहा है। यह सिनेमा कंपनी की विश्व-विजयी सेना है। बतलाइए अब कहाँ बचकर भागिएगा? सारांश यह कि चारों ओर ग्राहकों के लिये जाल बिछा हुआ है। व्यापारी, उसे लूट लेना चाहता है। ग्राहक इस लूट से अपनी जान बचाने के लिये ग़रीब गृहस्थों की प्राण-रक्षा के लिये, कुछ नहीं करते और दिन-दिन व्यापारियों के गुलाम होते जाते हैं। क्यों वे भी अपना संगठन करके अपनी रक्षा नहीं करते? अगर दीवार पर चाय को संसार की समस्त बाधाओं का अचूक औषधि लिखा जा सकता है, तो क्या दूसरे पोस्टर में ग्राहकों की ओर से यह चेतावनी नहीं दी जा सकती कि चाय ज़हरे क़ातिल है, उसे मुँह से लगाया और परलोक सिधारे। हमलोग तो आजकल घर से निकलते हुए बहुत डरते हैं। घंटों द्वार पर चिक की आड़ में खड़े देखते रहते हैं कि कब इन खोंचेवालों, ख़िमा-तियों, कुल्फ़ीवालों का ताँता टूटे और कब घर से भागें। इन लुटेरों के मारे घर में बैठना भी मुशकिल। बाज़ार जायँ तो तो घर लौटकर आना मुशकिल। सीधे परेट या किसी सन्नाटे मैदान की तरफ़ जाते हैं कि कुछ देर वहाँ शांति से बैठना नसीब होगा। लेकिन वहाँ भी कोई-न-कोई बीमा कंपनी का एजेंट या और कोई महाशय सिर पर सवार हो जाते हैं। अगर ग्राहक जनता संगठित होकर अपनी आत्म-रक्षा न करेगी, तो फिर तो उसका ईश्वर ही मालिक है। जहाँ व्यापारियों की ओर से हज़ारों पैमफ़्लेट, पोस्टर, नोटिस, विज्ञापन प्रकाशित होते हैं, वहाँ क्या ग्राहकों को सावधान रहने के लिये एक नोटिस भी नहीं प्रकाशित की जा सकती। पिछले दिनों मुसलमानों ने आतशबाज़ियों का इतना विरोध किया कि सुनते हैं, शबेरात में जहाँ लाखों रुपए की आतशबाज़ी बिक जाती थी, वहाँ ख़ासी बचत हो गई। ईद के दिन समीप आ रहे हैं। कई मुसलमान पत्रों ने अभी से जनता को सावधान करना शुरू कर दिया है कि नए कपड़े बनवाने की ज़रूरत नहीं, पुराने कपड़े धुला कर ईद मना लो। ईद के बाद टर हुई, तो उसमें क्या बात रह गई। मज़ा तो अब है कि ईद भी हो जाय और बजाज़ों के तक़ाज़े भी न सहने पड़ें। इस तरह का निरंतर उद्योग होना चाहिए। ज़्यादा नहीं तो समाचार पत्रों में तो इस बात की चेष्टा करनी चाहिए कि जनता व्यापारियों की चिकनी-चुपड़ी बातों और फड़कते हुए विज्ञापनों से बचती रहे।

× × ×

१७. पुरुष-पुंगव वीरवर खड्गबहादुरसिंह

समाज की रक्षा के लिये, मर्यादा की सत्ता के लिये और न्याय की गंभीरता के लिये, जब मनुष्य अपने ओज को—अपने क्षत्रियोचित गुण को—कार्यान्वित करता है तो हम उसे वीर कहते हैं। बल प्रयोग में और वीरता में भेद है। बल प्रयोग अनुचित भी होता है; पर वीरता के पास अनौचित्य की परछाईं भी नहीं फटकने पाती है। बल प्रयोग करनेवाला कायर भी हो सकता है, पर वीरता और कायरता एक साथ नहीं ठहर सकती है। जो समाज जितना ही उन्नत होता है, वीरों की संख्या भी उसमें उतनी ही अधिक होती है। किसी समय भारतीय समाज में भी वीरों का जमघट था। कहना नहीं होगा कि उस समय संसार में भारतीय समाज का मस्तक ऊँचा था। उसे लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। पर समय के प्रभाव से भारतीय वीरता कादरता में परिणत हो गई। इस देश में वीरों की कमी पड़ गई। समाज पतित हो गया और भारत के पैरों में परतंत्रता की बेड़ी पड़ गई। अब भारत में कहीं ढूँढ़ने से दो-चार वीर दिखलाई पड़ते हैं। पर अब तक वीरों का सर्वथा लोप नहीं हुआ है। यही एक ऐसी बात है, जिससे भारत के पुनरुत्थान की आशा है, नहीं तो चारों ओर कादरता की घनघोर घटाएँ छाई हैं, जिससे भविष्य का मार्ग ही नहीं सूझता है। ऐसी विकट

परिस्थिति में जब कभी किसी वीर के दर्शन होते हैं, तो चित्त गद्गद हो जाता है। आत्मा विकसित हो उठती है और एक बार सच्चे ओजस् का प्रादुर्भाव हमारे रक्त को तीव्र गति से संचालित करने लगता है। कुछ समय के लिए हमें भी जीवन का महत्त्व समझ पड़ता है। हम भी जानते हैं कि जीना इसे कहते हैं।

अभी थोड़े समय की बात है जब हमें एक ऐसे ही यथार्थ क्षत्री और सच्चे वीर के शौर्य का पता कलकत्ते में मिला है। मनुष्यता, न्याय, मर्यादा और ओजस् की इस देदीप्यमान मूर्ति का दर्शन करके भारत धन्य हुआ है, समाज पवित्र हुआ है और वर्तमान कादरता के विशाल शरीर पर एक प्रबल प्रहार हुआ है। एक बहिन

राजकुमारी मैय्याँ

को एक नरपशु धन देकर मोल लेता है। उसके शरीर पर अपना पूरा अधिकार समझता है। उसके यौवन को अपनी विषय-वासना की आखेट भूमि बनाता है। जघन्यता, पशुता और कुत्सित प्रवृत्तियाँ नंगा नाच प्रारंभ करती हैं। सदाचार और सतीत्व को व्यभिचार पैरों के तले रौंदता है। यदि कहीं से क्षीण प्रतिवाद की ध्वनि उठती भी है, तो वह धनोन्माद और पशुता के अट्टहास में दबा दी जाती है। आख़िर यह क्षीणतम आर्त्तनाद किसी-न-किसी प्रकार एक वीर के कानों तक पहुँचता है। उसकी आत्मा तिलमिला उठती है, उसका रक्त खौलने लगता है। न्याय, सदाचार और सतीत्व की करुण पुकार वीरात्मा को बैठने नहीं देती है। समाज की रक्षा के लिये, मर्यादा की प्रतिष्ठा के लिये और न्याय की विजय के लिये, वीरात्मा का ओजस् क्रियाशील होता है। द्रौपदी की पुकार पर भीम ने कीचक की जो दशा की थी, वही दशा इस नर-पशु की होती है। देश में एक बार सदाचार की जयध्वनि का आतंक छा जाता है। सभी श्रेणी के लोग एक मन से वीरात्मा के चरणों में अपना मस्तक नवाते हैं और सतयुग की एक बाँकी झाँकी दिखलाई पड़ती है, पर इसके बाद क्या होता है? देश का कठोर क़ानून वीर खड्गबहादुर को आठ बरस के लिये जेल भिजवाता है। यह ठीक है कि क़ानून की दृष्टि में सभी बराबर हैं। इसलिए विशेष अपराधों के लिये जो दंड निर्धारित हैं, उनसे अपराध करनेवाला बच नहीं सकता, फिर वह चाहे राजा हो या रंक, चाहे साधु हो या डाकू। पर क़ानून का मुख्य उद्देश्य भी तो समाज की व्यवस्था करना ही है। उसका लक्ष्य भी तो यही है कि समाज का कोई ख़ास आदमी असहाय या निर्बल पर अत्याचार न करे, समाज में गंदे भावों का प्रचार न करे और उसे कलुषित न बनावे। क़ानून के नियम इतने जटिल हैं, प्रमाण के लिये इतनी बातों की आवश्यकता है कि आजकल घोर-से-घोर अपराध करनेवाला नरपिशाच भी मनमाना रुपया ख़र्च करके अच्छे वकील और बैरिस्टर की सहायता से क़ानून की बारीकियों और जटिलताओं से लाभ उठाकर साफ़ बच जाता है। क्या इन्हीं बारीकियों और जटिलताओं के भय से, काफ़ी प्रमाण न जुटा सकने के डर से बंगाल के बहुत-से नज़र-बंद नेताओं का न्याय खुली अदालत में करने से सरकार सकुचती नहीं है। जब उन बेचारे नज़रबंदों को प्रचलित क़ानून के बल पर छुटकारा मिलने नहीं दिया जाता है, तब यह स्पष्ट है कि सरकार विशेष अवसरों पर प्रचलित क़ानून के होते हुए भी बहुत कुछ कर सकती है। क्या खड्ग-बहादुर के मामले में वही बात लागू नहीं है? क्या

खड्गबहादुर का उद्देश्य समाज की रक्षा नहीं है ! क्या उसका उद्देश्य समाज की गंदगी दूर करना नहीं ? क्या यह अपवाद ऐसा नहीं है कि इसमें क़ानून के केवल भाव का ही पालन किया जाय, ऊपरी शब्दार्थ का नहीं। वीर खड्गबहादुर के महुद्देश्य को देखते हुए यथार्थ न्याय यही है कि वह छोड़ दिया जाय। वह समाज के लिये ख़तरनाक नहीं है। वरन् उसका रक्षक है। ख़ैर चाहे जो हो, पर यह बात स्पष्ट है कि वीर की आत्मा कभी बंधन में नहीं रह सकती है। शरीर भले ही निर्दिष्ट समय तक जेल की किसी तंग कोठरी में बंद रहे। भारत के लिए, भारत सरकार के लिए और मनुष्यता के लिए यह बात गौरव की नहीं है कि समाज का एक सच्चा सुधारक चोर डाकुओं के साथ जेल में सड़े। हम तो खड्ग-बहादुर को सच्चा मनुष्य, प्रशंसनीय वीर और उत्कृष्ट समाज सुधारक मानते हैं और हमारी भक्ति पुष्पांजलि सदा उसके पवित्र चरणों पर चढ़ेगी। भारत के उद्धार के लिए, सामाजिक पापों को दूर करने के लिए खड्गबहादुर जैसे पुरुष-पुंगवों की आवश्यकता है। वीर खड्गबहादुर की जय हो !

× × ×

१८. स्वर्गीय स्वामी स्वरूपानंदजी

बड़े शोक की बात है कि २० फ़रवरी, सन् १९२७ को लखनऊ नगर के परम प्रतिष्ठित पुरुष पं० सूर्यनारायण कौल, रिटायर्ड सबजज का देहांत हो गया। पंडितजी बड़े ही धर्मनिष्ठ पुरुष थे और इधर पाँच छः बरस से संन्यासी के रूप में रहते थे। संन्यासाश्रम में इनका नाम श्री १०८ स्वामी स्वरूपानंदजी सरस्वती था। पं० सूर्य-नारायणजी का जन्म संवत् १९१० में हुआ था। आप काश्मीरी ब्राह्मण थे। आप सुयोग्य ग्रैजुएट और बी. एल. परीक्षा पास क़ानून के विशेष ज्ञाता थे। आपने प्रोफ़ेसरी, मुंसफ़ी और सबजजी के पदों को अलंकृत किया। आपका रहन-सहन भी सादा था। आप सदा अचकन तथा पाय-जामा धारण करते थे। अँगरेज़ी के तो आप पंडित थे ही, पर संस्कृत में भी आपकी बहुत अच्छी गति थी। आयुर्वेद आपका प्रिय विषय था। इस शास्त्र का अध्ययन आपने बड़ी गंभीरता के साथ किया था। अध्ययन ही क्यों इसी शास्त्र के अनुकूल ज्वर-चिकित्सा, चक्षुचिकित्सा, सरल शारीरिक एवं रसायन-शांति नामक पुस्तकों की आपने रचना भी की थी। विद्या के प्रोत्साहन के लिये आपने छात्र-वृत्तियों

स्वामी स्वरूपानंदजी

की व्यवस्था की थी। कैनिंग कॉलेज लखनऊ, मेडिकल कॉलेज लखनऊ, श्रीप्रताप कॉलेज काश्मीर में आपकी ओर से छात्रों को वृत्तियाँ, पदक तथा पुरस्कार मिलने की सुंदर व्यवस्था है। आपकी ओर से स्थानीय बड़ी काली-जी में एक पुस्तकालय भी खुला है। जिसमें आपने अपनी सभी पुस्तकें दे डाली हैं। मृतक की अन्त्येष्टिक्रिया के लिए तथा लड़की के ब्याह या लड़के के यज्ञोपवीत के लिए आप निर्धनों को मुक्तहस्त होकर दान देते थे। जाड़े में आप ग़रीबों को कंबल भी बाँटते थे। आप कट्टर सनातनी हिंदू थे। आपने श्रीगोपालजी का मंदिर भी बनवाया है। शास्त्र में जिस प्रकार से दान करने की विधि है, उस प्रकार के दान आप प्रायः किया करते थे। गुप्तदान करने में भी पंडितजी को बड़ी प्रसन्नता होती थी। आपने अपनी सब संपत्ति एक ट्रस्ट के सिपुर्द कर दी है। संपत्ति से जो आय होती है, वह लोकहित के कामों में ही लगाई जायगी। खेद है कि आपके कोई संतान नहीं है।

इधर पं० सूर्यनारायणजी ने जब से संन्यास ले लिया था, तब से वे सदा भगवद्भजन में ही लीन रहते थे। इनको प्रसिद्धि की ज़रा भी परवा न थी, पर लखनऊ में जब किसी पर विपत्ति पड़ती थी और आर्थिक संकट से मुक्ति पाने का मार्ग न सूझता था, उस समय वह व्यक्ति

किसी बड़े प्रसिद्ध स्वयं-सिद्ध नेता की शरण में जाने की अपेक्षा पंडितजी की शरण को कल्याणप्रद समझता था और वहाँ उसको त्राण भी मिलता था। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पं० सूर्यनारायणजी कौल सदृश धर्मनिष्ट परोपकारी सज्जन के शरीर-त्याग से लखनऊ के नागरिक जीवन को भारी हानि पहुँची है। पंडितजी के कुटुंबियों, संबंधियों और शिष्यों के साथ हमारी सहानुभूति है और हम ईश्वर से पंडितजी की परलोक-गत आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना करते हैं। पंडितजी का एक छोटा-सा सचित्र जीवन-चरित्र पं० राधेनारायणजी वाजपेयी प्रजावैद्य ने लिखा है, जो पढ़ने योग्य है।

× × ×

१६. रायबहादुर पं० गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा का भाषण

भरतपुर में होनेवाले सप्तदश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति की हैसियत से रायबहादुर पंडित गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा ने, जो भाषण दिया है वह समाचार पत्रों में प्रकाशित हो गया है। काशी के 'आज' पत्र के प्रायः ८ कालमों में वह छपा है। इसलिये यह स्पष्ट है कि भाषण संक्षिप्त है और जब सभापति महोदय सम्मेलन होने के केवल पाँच दिन पहले चुने गए थे, तब ऐसा होना स्वाभाविक भी था। यद्यपि भाषण संक्षिप्त है और उसमें कोरे पांडित्य का प्रदर्शन बहुत कम है, तो भी उसमें अमल में आ सकनेवाली बातों का उल्लेख है। संक्षेप में ओझाजी ने (१) प्रचार और साहित्य-निर्माण, (२) प्रकाशक और लेखक एवं पाठक, (३) एक लिपि, (४) संग्रहालय, (५) राजस्थान में हिंदी का कार्य-शीर्षक इन पाँच विषयों पर ही अधिक प्रकाश डाला है। ओझाजी की राय है कि सम्मेलन ने अपने "अधिवेशनों का अधिकांश श्रम प्रस्ताव पास करने में व्यय किया है"। आप कहते हैं—

"मुझे प्रसन्नता होगी, यदि सम्मेलन क्रियाशील व्यवहारिकता को अपना लक्ष्य मानकर उसकी ओर क़दम बढ़ाएगा" हिंदी प्रचार के संबंध में सभापति महोदय का यह कहना बिलकुल ठीक है कि—"भारत के अन्य प्रांतों में भी हिंदी का प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है, पर हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में, हिंदी प्रचार की जितनी प्रगति होनी चाहिए, उतनी शायद हो नहीं रही है।" हमारे संयुक्तप्रदेश में हिंदी का प्रचार बढ़ा ज़रूर है, पर वैसा नहीं जैसा कि बढ़ना चाहिए। साहित्य-निर्माण के संबंध में सुंदर आलंकारिक भाषा में ओझाजी ने जो कुछ कहा है, वह बहुत ठीक है, मनन करने योग्य है और उसके अभाव को दूर करना भी परमावश्यक है। ओझाजी कहते हैं "घोर तिमिराच्छन्न रात्रि में, दीपक की टिमटिमाती हुई ज्योति

रायबहादुर पं० गौरीशंकर-हीराचंदजी ओझा

जैसे अंधकार की सघनता को प्रकट करती है, वैसे ही हमारे साहित्य की वर्तमान प्रगति हमारे अभाव की ओर सुस्पष्ट रूप से प्रकट करती है। हमारे साहित्य के अनेकानेक आवश्यक अंग अभी बड़ी ही हेय अवस्था में पड़े हुए हैं। गंभीर तथा उपयोगी विषयों के साहित्य का तो बड़ा ही अभाव है। विज्ञान पर अभी बहुत ही थोड़ी पुस्तकें निकली हैं।" **ओझाजी भारत के प्राचीन इतिहास के विशेषज्ञ हैं। शोध और खोज उनका प्रिय विषय है। वे एक प्रतिष्ठित इतिहासकार हैं। इतिहास के संबंध में उनकी निम्न-लिखित पंक्तियों में कितनी सचाई भरी हुई है** "इतिहास को अंधकार के हाथ से छीनकर प्रकाश में लाने के लिये अपनी जान खपा देनेवाले दीवानों के एक दल की जरूरत होगी, जो मरजीवा की भाँति बराबर व्यर्थ डुबकी लगाने पर कभी कोई मोती प्राप्त कर अपने को धन्य मानें।" **नवीन लेखकों के लिये ओझाजी के हृदयोद्‌गार बड़े ही समीचीन हैं**—"हमें जिस विषय से प्रेम हो, उस विषय पर भिन्न-भिन्न भाषाओं तथा विभिन्न कालीन महात्माओं तथा विद्वानों द्वारा जो विचार प्रकट हुए हैं, उनसे पर्याप्त परिचय प्राप्त कर हम स्वयं मनन और निर्माण करें, और तब अधिकारी बनकर हृदय को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेनेवाली सुंदर भाषा में अपने विचारों को प्रकट करें।" **प्रकाशकों के संबंध में ओझाजी ने जो कुछ कहा है उस पर यदि दो-चार बड़े प्रकाशक आंशिक रूप में भी ध्यान दें, तो आजकल के वर्धमान लेखक-प्रकाशक-संघर्ष में कमी पड़े और साहित्य-निर्माण भी अच्छा हो जाय। ओझाजी के कथन में कितनी मार्मिकता है** "प्रकाशकों को चाहिए कि वह देश और समाज के प्रति अपने कर्तव्य को समझें। केवल व्यापारी दृष्टि को ही मन में रखकर जनता की किसी ऐसी रुचि का अनुसरण न करें, जो इन्हें हीनता की ओर ले जानेवाली हो। प्रत्येक प्रकाशक के हृदय में यह भाव होना चाहिए कि वह युग परिवर्तन के लिये कर्म-क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। गंदे और हानिकारी साहित्य को रोककर अच्छे और सच्चे लेखक की प्राण-पण से सेवा करना, एक सच्चे प्रकाशक का कर्तव्य होना चाहिए।"

पुस्तकों के पढ़नेवालों का प्रकाशकों के साथ कैसा सहयोग होना चाहिए यह बात भी ओझाजी ने मार्के की कही है। कम-से-कम समर्थ पाठकों को तो इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। ओझाजी कहते हैं—"यह ठीक है कि सभी पुस्तकें नहीं खरीद सकते हैं, पर प्रत्येक समर्थ पुरुष की यह लालसा होनी चाहिए कि उसके घर में अच्छी पुस्तकों का संग्रह हो और जिन पुस्तकों की उसे जरूरत है, वह तो अवश्य ही खरीदकर घर में रखनी चाहिए। जिस तरह गरीब-से-गरीब आदमी अपने घर में भोजन-सामग्री, बर्तन, कपड़े आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके रखता है उसी तरह प्रत्येक पढ़े-लिखे आदमी का यह लक्ष्य होना चाहिए कि मन और आत्मा की भोजन-सामग्री भी उसके घर में थोड़ी-बहुत अवश्य रहे।" **एक लिपि एवं संग्रहालयों के संबंध में भी ओझाजी के विचार सुंदर हैं। ओझाजी का भाषण महत्त्व-पूर्ण होते हुए भी उसमें शीघ्रता की छाप स्पष्ट लगी दिखती है। ओझाजी को पाँच दिन पहले सभापति चुनकर अधिकारियों ने हमारी दुहरी हानि की है। इस साल भी हम ओझाजी का विस्तृत भाषण नहीं प्राप्त कर सके और आगे भी दो-चार साल तक उससे वंचित रहेंगे। फिर भी थोड़े में भी ओझाजीने हिंदी-साहित्य संसार को जो उपदेशामृत पिलाया है, उससे हमें लाभान्वित होना चाहिये।**

× × ×

२०. चीन

चीन अपने देश में राष्ट्रीय सरकार स्थापित करना चाहता है। लोकमत इसी पक्ष में है, पर कुछ स्वार्थी सेनापतियों के कारण चीन की यह इच्छा अब तक पूरी नहीं हो पाई है। राष्ट्रीय सरकार के पक्षपातियों और स्वार्थांध सेनापतियों के बीच में, इधर प्रायः १० वर्ष से गृह युद्ध चल रहा है। इस गृह युद्ध के कारण चीन की बहुत बड़ी हानि हुई है, पर एक लाभ भी हुआ है। चीनियों में वीरता और कष्टसहिष्णुता का प्रादुर्भाव हुआ है। कायरता बहुत कुछ नष्ट हो गई है। चीन के राष्ट्रीय आंदोलन के अनेक सनयात सेन हैं। राष्ट्रवादी चीनियों में उनकी पूजा होती है। चीन के राष्ट्रीय अधिकारों को सबसे पहले रूस ने स्वीकार किया है, एवं सामरिक शिक्षा दिलाने में भी रूस ने चीन की सहायता की है। इस कारण इस समय रूस में और चीन में मैत्री है। चीन के प्रति अमेरिका का भाव बुरा नहीं है। उसने बार-बार राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की है, पर इधर अन्य राष्ट्रों के गुट में पड़कर जान पड़ता है, वह भी चीन पर दबाव डालने का प्रयत्न करेगा। चीन के शासन परिवर्तन में जापान और ब्रिटेन के हितों में संघर्ष है। ब्रिटेन का बहुत-सा रुपया चीन में लगा है। उसे ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिये स्वतंत्र न्यायालय और स्वतंत्र प्रदेश प्राप्त

हैं। चुंगी के मामले में भी उसके विशेषाधिकार हैं। ब्रिटेन चाहता है कि चीन में जो कोई भी सरकार हो, वह मेरी इन रिआयतों में गड़बड़ी न करे, पर राष्ट्रीय सरकार इन रिआयतों में रद्दोबदल न करने का वचन नहीं देती है। इसी से ब्रिटेन चीन की राष्ट्रीय सरकार से असंतुष्ट है और अपने सैनिक बल के भरोसे उनकी रक्षा करना चाहता है। इसीलिए भारतीयों की इच्छा के विरुद्ध भारत से चीन को सेना भेजी गई है। ब्रिटेन के समान जापान को भी चीन में रिआयतें प्राप्त हैं और वह भी हृदय का इतना उदार नहीं है कि अपनी रिआयतों को सहज ही छोड़ दे, पर संसार की अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने उसको विवश किया है कि वह चीन से मैत्री करे। इँगलैंड और जापान के बीच जो मैत्री-संबंध था, वह टूट चुका है। इँगलैंड के उपनिवेश जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन करने में असमर्थ हैं। संघर्ष होने पर इँगलैंड अपने उपनिवेशों का साथ अवश्य देगा, ऐसी दशा में जापान को ब्रिटेन से आशा तो कुछ नहीं, पर भय है। अमेरिका तो जापान का साथ कभी न देगा। ऐसी दशा में जापान के लिये यह आवश्यक है कि चीन उसका मित्र भी हो और बलवान भी हो। इसीलिए जापान चीन में अपने विशेष अधिकार भी छोड़ने को तैयार है, पर चीन की मैत्री नहीं छोड़ना चाहता है। चीन का हित भी इसी में है कि जापान उसका सहायक रहे। नागासाकी में जापान ने इसी उद्देश्य से एक एशिया संघ की बैठक की थी जिसमें एशिया के सभी राष्ट्र निमंत्रित किए गए थे। योरोपीय और अमेरिकन राष्ट्र जापान की इस चाल से बहुत चौंकते हैं। इन्हीं सब अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों में उलझा हुआ चीन का गृह युद्ध चल रहा है। अब तक के लक्षणों से तो जान पड़ता है कि राष्ट्रीय सरकार की ही विजय होगी, पर यदि ब्रिटेन और अमेरिका ने कोई झगड़ा पैदा कर दिया, तो परिस्थिति बदल जायगी। चीन में राष्ट्रीय सरकार की विजय होने से भारत की राजनीति पर भी इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ेगा। प्रत्येक स्वदेश भक्त चीन के इस गृह कलह में राष्ट्रीय पक्ष का समर्थक है। ईश्वर करे चीन अपनी राष्ट्रीयता की रक्षा करने में समर्थ हो और एशिया के दिन फिर से फिरें। तथास्तु।

"माधुरी" के नियम

मूल्य-विवरण

माधुरी का डाक-व्यय-सहित वार्षिक मूल्य ७॥), छ मास का ४) और प्रति संख्या का ॥) है। वी० पी० से मँगाने में ≈) रजिस्ट्री के और देने पड़ेंगे। इसलिये ग्राहकों को मनीआर्डर से ही चंदा भेज देना चाहिए। भारत के बाहर सर्वत्र वार्षिक मूल्य १०) छ महीने का ६) और प्रति संख्या का ॥≈) है। वर्षारंभ श्रावण से होता है; और प्रति मास शुक्ल-पक्ष की सप्तमी को पत्रिका प्रकाशित हो जाती है। लेकिन ग्राहक बननेवाले सज्जन जिस संख्या से चाहें ग्राहक बन सकते हैं।

अप्राप्त संख्या

अगर कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे, तो अगले महीने के शुक्ल-पक्ष की सप्तमी तक कार्यालय को सूचना मिलनी चाहिए। लेकिन हमें सूचना देने के पहले स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस में उसकी जाँच करके डाकख़ाने का दिया हुआ उत्तर सूचना के साथ भेजना ज़रूरी है। तभी उस संख्या की दूसरी प्रति भेज दी जायगी। लेकिन उक्त तिथि के बाद सूचना मिलने से उस पर ध्यान नहीं दिया जायगा, और उस संख्या को ग्राहक ॥~) के टिकट भेजने पर ही पा सकेंगे।

पत्र-व्यवहार

उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिए। अन्यथा पत्र का उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। पत्र के साथ ग्राहक-नंबर ज़रूर लिखना चाहिए। मूल्य या ग्राहक होने की सूचना मैनेजर "माधुरी" नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ के पते से आना चाहिए।

पता

ग्राहक होते समय अपना नाम और पता बहुत साफ़ अक्षरों में लिखना चाहिए। दो-एक महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध सीधे डाक-घर से ही कर लेना ठीक होगा। अधिक दिन के लिये बदलवाना हो, तो संख्या निकलने के १५ रोज़ पेश्तर उसकी सूचना माधुरी-ऑफ़िस को दे देना चाहिए।

लेख आदि

लेख या कविता स्पष्ट अक्षरों में, काग़ज़ के एक ही ओर संशोधन के लिये इधर-उधर जगह छोड़कर, लिखी होनी चाहिए। क्रमशः प्रकाशित होने लायक बड़े लेख संपूर्ण आने चाहिए। किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का, उसे घटाने-बढ़ाने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का सारा अधिकार संपादक को है। जो नापसंद लेख संपादक लौटाना स्वीकार करेंगे, वे टिकट भेजने पर ही वापस किए जा सकते हैं। यदि लेखक लेना स्वीकार करते हैं, तो उपयोगी और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दिया जाता है। सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबंध लेखकों को ही करना चाहिए। हाँ, चित्र प्राप्त करने के लिये आवश्यक ख़र्च प्रकाशक देंगे।

लेख, कविता, चित्र, समालोचना के लिये प्रत्येक पुस्तक की २-२ प्रतियाँ और बदले के पत्र इस पते से भेजने चाहिए—

संपादक "माधुरी"

नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ।

विज्ञापन

किसी महीने में विज्ञापन बंद करना या बदलवाना हो, तो एक महीने पहले सूचना देनी चाहिए।

अश्लील विज्ञापन नहीं छपते। छपाई पेशगी ली जाती है। विज्ञापन की दर नीचे दी जाती है—

१ पृष्ठ या २ कालम की छपाई ... ... ३०) प्रति मास
½ ,, या १ ,, ,, ... १६) ,, ,,
¼ ,, या ½ ,, ,, ... १०) ,, ,,
⅛ ,, या ¼ ,, ,, ... ६) ,, ,,

कम-से-कम चौथाई कालम विज्ञापन छपानेवालों को माधुरी मुफ़्त मिलती है। साल-भर के विज्ञापनों पर उचित कमीशन दिया जाता है।

"माधुरी" में विज्ञापन छपानेवालों को बड़ा लाभ रहता है। कारण, इसका प्रत्येक विज्ञापन कम-से-कम ४,००,००० पढ़े-लिखे, धनी-मानी और सभ्य स्त्री-पुरुषों की नज़रों से गुज़र जाता है। सब बातों में हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका होने के कारण इसका प्रचार ख़ूब हो गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, एवं प्रत्येक ग्राहक से माधुरी ले-लेकर पढ़नेवालों की संख्या ४०-५० तक पहुँच जाती है।

यह सब होने पर भी हमने विज्ञापन-छपाई की दर अन्य अच्छी पत्रिकाओं से कम ही रक्खी है। कृपया शीघ्र अपना विज्ञापन माधुरी में छपाकर लाभ उठाइए। कम-से-कम एक बार परीक्षा तो अवश्य कीजिए।

निवेदक—मैनेजर "माधुरी", न० कि० प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य :
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ५ खंड २	वैशाख-शुक्ल ७, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)— ८ मई, १९२७ ई०	संख्या ४ पूर्ण संख्या ५८

वसंत-विदा

शून्य कर कुसुमित कुंज-कुटीर,
कपोलों पर ढुलका दृग-नीर।
झिझकते, अति चंचल चित-चोर !
चले किस नंदन-वन की ओर ?
धरणि के आँगन पर कर केलि,
तोड़ तुम अतुल विभव की बेलि।
चयन कर सुंदर सुमन, सुजान !
चले तुम कहाँ पीत पट तान ?

"गुलाब"

रहस्य

वह कौन-सी है छवि खोजता जिसे है रवि,
प्रति दिन भेज दल अमित किरन का।
वह कौन-सा है गान जिससे लगाए कान,
गिरि चुपचाप खड़े ज्ञान भूल तन का।
कौन-सा सँदेशा पौन कहता प्रसून से है,
खिल उठता है मुख जिससे सुमन का।
कौन-से रसिक को रिझाती है सुना के गान,
कौन जानता है भेद कोयल के मन का।

रामनरेश त्रिपाठी

हिंदुस्तानी विद्वत्सभा की प्राण-प्रतिष्ठा

हिंदी और उर्दू के साहित्य की उन्नति के लिये गवर्नमेंट ने जिस "हिंदुस्तानी अकाडमी" के संगठन की योजना की थी उसको अस्तित्व में लाने का जलसा, लखनऊ में, २९ मार्च १९२७ को, हो गया। इस घटना की सूचना अख़बारों में यह कहकर निकाली गई कि अकाडमी का उद्‌घाटन-संस्कार अमुक स्थान में अमुक समय समाप्ति को पहुँचा। परंतु उद्‌घाटन उस स्थान, घर, मंदिर, पाठशाला या इमारत आदि का किया जाता है जिसका फाटक या दरवाज़ा, बन चुकने के बाद, बंद किया जा सकता हो और जिसके ताले को खोलने की आवश्यकता होती हो। ऐसी बात तो कोई लखनऊ में हुई नहीं। अतएव हमने इस उद्‌घाटन को हिंदुस्तानी विद्वत्सभा या आलिमों की मजलिस की प्राण-प्रतिष्ठा-मात्र समझा। यह जलसा और कुछ नहीं, इस सभा को बाक़ायदा अस्तित्व में लाना-मात्र था। यह काम या संस्कार सरकार के शिक्षा-सचिव, राय राजेश्वरबली, ने इन प्रांतों के गवर्नर सर विलियम मारिस के कर-कमलों से कराया। यह उचित ही हुआ। क्योंकि गवर्नर साहब इन प्रांतों के शासक होने के सिवा साहित्य-प्रेमी भी हैं। सुनते हैं, आप अपनी भाषा में पुस्तक-रचनाएँ तक कर चुके हैं। आप गद्य और पद्य दोनों के सिद्धहस्त लेखक हैं।

आमंत्रित जनों के आसनासीन हो चुकने पर शिक्षा-सचिव ने अपना लिखा हुआ भाषण पढ़ सुनाया। आपने कहा—चिरकाल से मेरी इच्छा थी कि इस तरह की किसी सभा की संस्थापना की जाय। अपनी उस अभिलाषा को फलीभूत होते देख मेरा हृदय आज आनंद से उत्फुल्लित हो रहा है। आप लोग मेरे इस आयोजन को एक प्रकार का बच्चा या शिशु समझिए। अतएव जिन लोगों ने इस शिशु के पोषक पिता होने की स्वीकृति दी है उनका मैं अत्यंत कृतज्ञ हूँ। क्योंकि बिना अभिभावक या पालक के दुधमुँहे बच्चे जी ही नहीं सकते, बढ़कर बड़े होना तो दूर की बात है। बड़ी बात तो यह हुई कि सर तेजबहादुर सप्रू ने इसका मीर-मजलिस होना मंज़ूर कर लिया। आपको अपना ही काम बहुत अधिक रहता है और बहुत ही कम समय ऐसे कामों के लिये बचता है। फिर भी जो उन्होंने मेरे प्रणयानुरोध की रक्षा की है, इसे उनकी उदारता और कृपा ही समझना चाहिए। आप उर्दू-साहित्य के उत्तम ज्ञाता हैं अथवा यह कहना चाहिए कि आप हार्दिक उत्साह से उसके साहित्य के अध्ययन में निरत रहा करते हैं। आपका सिद्धांत है कि जातीय जीवन की उन्नति के लिये साहित्य की उन्नति परमावश्यक होती है। अतएव इस सभा के सभापति होने के लिये आपसे अधिक योग्य व्यक्ति भला और कहाँ मिल सकता था? इस सभा के काम को सुचारुरूप से चलाने के लिये हमें मंत्री भी बड़े योग्य मिल गए हैं। डॉक्टर ताराचंदजी ने इस पद का कार्य-भार अपने ऊपर लेना मंज़ूर कर लिया है। अतएव इस नियुक्ति के संबंध में भी हमें अपने को सौभाग्यशाली ही समझना चाहिए।

इस सभा के सभासदों के नाम तो पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं। अब इसकी कार्यकर्त्री कमिटी के मेंबरों के भी नाम सुन लीजिए। शिक्षा-सचिव ने, अपने भाषण में, इन महाशयों के शुभ नामों का कीर्तन इस प्रकार किया—

(१) डॉक्टर एम्० एम्० सुलैमान, जज, हाई-कोर्ट, इलाहाबाद

(२) ख़ानबहादुर हाफ़िज़ हिदायतहुसैन साहब, कानपुर

(३) मिस्टर सज्जादहैदर, रजिस्ट्रार, मुसलिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़

(४) पंडित श्यामबिहारी मिश्र

(५) राय साहब लाला सीताराम, पेंशनयाफ़्ता डिप्टी कलेक्टर, इलाहाबाद

(६) राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास, प्रोफ़ेसर, हिंदू-विश्वविद्यालय, बनारस

(७) राय साहब मुंशी दयानारायन निगम, कानपुर।

सो इस तरह इस कमिटी के मेंबरों में ३ मुसलमान और ४ हिंदू रक्खे गए हैं। पिछले ४ मेंबरों में से नंबर (७) हिंदू होकर भी उर्दू-साहित्य ही के ज्ञाता और शायद पोषक या उन्नति के इच्छुक हैं। अतएव उर्दू के

उद्धारक ४ और हिंदी के केवल ३ रक्खे गए हैं। स्थिति को देखते जैसा होना चाहिए था वैसा ही हुआ भी है। इन प्रांतों में हिंदी बोलनेवालों की संख्या यद्यपि $\frac{३}{४}$ और उर्दूवालों की केवल $\frac{१}{४}$ है, तथापि हिंदी ठहरी देहक़ानी बोली या भाषा। अतएव उसके पक्षपातियों या पोषकों की संख्या जो तीन या चार हो गई उसी को ग़नीमत समझना चाहिए। सभापति महोदय को तो शिक्षा-सचिव साहब ने ख़ुद ही उर्दू-साहित्य-सेवी बताया है। उधर डॉक्टर ताराचंद साहब के भी हिंदी-प्रेम और हिंदी-ज्ञान की ख़बर बहुत कम लोगों को है। इस दशा में नहीं कहा जा सकता कि यह सभा हिंदी के साहित्य की कितनी और किस तरह उन्नति करेगी या कर सकेगी। जिस सज्जन ने शासन-व्यवस्था का ककहरा भी नहीं पढ़ा वह यदि गवर्नमेंट की शासन-सभा का अधिष्ठाता बना दिया जाय अथवा जिसने किसी छोटी अदालत में रेवेन्यू-एजंटी भी नहीं की वह यदि हाई-कोर्ट का जज या ऐडवोकेट नियत कर दिया जाय, तो प्रकृत उदाहरण को ध्यान में रखते हुए, किसी को नुक़्ताचीनी करने के लिये जगह न रहनी चाहिए। हाँ, हिंदी के हितैषियों को शिक्षा-सचिव महाशय की एक बात से कुछ संतोष हो, तो हो सकता है। आपका कहना है कि कार्यकर्त्री कमिटी के मेंबर नियत करने में गवर्नमेंट ने मेंबरों की अन्यान्य योग्यताओं के साथ उनकी साहित्य-विषयक योग्यता को भी ध्यान में रक्खा है। अर्थात् साहित्य-ज्ञान में भी वे उसे बढ़े-चढ़े मालूम हुए हैं। अतएव साहित्य-संबंधिनी ग्रंथियाँ सुलझाने और कठिनाइयों को हल करने में वे ख़ूब समर्थ हो सकेंगे। तथास्तु। भगवान् करे, ऐसा ही हो और इस कमिटी के वे मेंबर जो हिंदी-साहित्य ही की उन्नति के ख़याल से चुने गए हैं अपने कर्तव्य का समुचित पालन करें।

शिक्षा-सचिव ने अपने भाषण में इस बात पर ज़ोर दिया है कि गवर्नमेंट इस कमिटी के काम के संबंध में मेंबरों के हाथ-पैर नियम-शृंखलाओं से जकड़ना नहीं चाहती। उन्हें उसने काफ़ी स्वाधीनता इस बात की दे दी है कि जिस तरह वे चाहें हिंदी-उर्दू के साहित्य की अभिवृद्धि करें। हाँ, सभा के संबंध में कुछ उपलेख, जिन्हें आर्टिकिल्स आव् असोसिएशन कहते हैं, तथा कार्य-निर्वाह-विषयक कुछ साधारण नियम ज़रूर निर्दिष्ट कर दिए गए हैं, क्योंकि बिना उनके काम-काज में सुभीता न होता। बस, और कोई बंधन नहीं रक्खे गए। पर ये नियमोपनियम कैसे हैं, इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लेखक को उन्हें देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हो सका। संभव है, किसी हद तक वे कार्य-कर्ताओं की स्वाधीनता के बाधक हों और संभव है, न भी हों।

राय राजेश्वरबली साहब की राय है कि उर्दू और हिंदी-साहित्य की प्रत्येक शाखा में उन्नति के लिये बहुत काफ़ी जगह है। इस अकाडमी अर्थात् विद्वत्सभा को चाहिए वह भाषा की शैली का निर्धारण करे। वह इस बात का निश्चय कर दे कि किस तरह की भाषा आदरणीय होती है। विशेषता यह होनी चाहिए कि उसमें जो कुछ लिखा जाय अधिक-से-अधिक मनुष्यों की समझ में आ सके। आपकी यह राय बहुत ठीक है। देखिए, सभा महारानी की आज्ञा कौन-कौन मानता है और गवर्नमेंट की आज्ञा का पालन कैसे किया जाता है। क्या शिक्षा-सचिव महाशय ने इसका निश्चय कर लिया है कि इस सभा की कार्य-कारिणी कमिटी के मेंबर उसी तरह की भाषा लिखते, या उसी तरह की भाषा के पक्षपाती, हैं जिस तरह की भाषा से वे साहित्य को उन्नत करना चाहते हैं? कुछ भी हो, आपकी शुभ-चिंतना और साहित्योन्नति के शुभाभिलाष में संदेह नहीं। आशा है, आपके उद्देश को सिद्ध करने के लिये मेंबर महाशय जी-जान से चेष्टा करेंगे। साहित्य-वृद्धि के लिये शिक्षा-सचिव ने, इस साल, २५ हज़ार रुपए सभा के हवाले कर दिए हैं। ईश्वर करे, इन रुपयों का सदुपयोग किया जाय और साहित्य की उन्नति के लिये कम-से-कम पथ निर्देश करने में तो किसी तरह की त्रुटि न हो। सभा चाहे मौलिक पुस्तकें लिखावे, चाहे अनुवाद करावे, चाहे औरों की लिखी पुस्तकें और अनुवाद प्रकाशित करावे, उसे इस विषय में पूरी स्वतंत्रता दे दी गई है।

शिक्षा-सचिव के अभिभाषण का सार थोड़े में ऊपर दे दिया गया। उसे सुनकर गवर्नर साहब उठे और अपना वक्तव्य सुनाया। उसकी भी मुख्य-मुख्य बातों का उल्लेख नीचे किया जाता है—

आपने फ़रमाया कि यदि सरकारी हिसाब सही है, तो इन प्रांतों में, हर साल, कोई २००० पुस्तकें निकलती हैं, जिनमें सामयिक पुस्तकें अर्थात् रिसाले भी शामिल हैं। इनमें से आधी को ही पुस्तकें कहना चाहिए। इस आधी में भी विशेष करके धर्म, कविता, कथा-कहानी, उपन्यास

और राजनीति-विषयक रद्दी पुस्तकें ही अधिक रहती हैं। कला-कौशल, दर्शन-शास्त्र, इतिहास, विज्ञान, जीवन-चरित्र और पर्यटन से संबंध रखनेवाली मौलिक पुस्तकें बहुत ही कम निकलती हैं। धर्म और सदाचार-विषयक पुस्तकें सबसे अधिक बिकती हैं। उनके बाद स्कूली किताबें, फिर कविता और उपन्यास आदि। अतएव हमें चाहिए कि देशी भाषाओं की शिक्षा में उन्नति करें, लोगों में पुस्तकें पढ़ने की रुचि उत्पन्न करें और पुस्तकावलोकन के संबंध में सर्व-साधारण जनों की उत्साह-वृद्धि करके उन्हें समझा दें कि पठन-पाठन से उन्हीं का लाभ है। तथापि इसके साथ ही पुस्तक लिखनेवालों को उत्साहित करने के लिये भी हमें कुछ-न-कुछ ज़रूर करना चाहिए।

इस विद्वत्परिषद् को चाहिए कि वह पुस्तक-रचना और पुस्तक-प्रकाशन को एक व्यवसाय समझकर उसे बढ़ाने की चेष्टा करे। उसे वह दबावे नहीं, उन्नत करे; उसमें काट-छाँट न करे, जिस भूमि का उसे सहारा है उसमें खाद-सी डालकर उसकी उर्वरा-शक्ति को अधिक कर दे। उसे किसी एक दिशा की ओर न झुकाकर, भिन्न-भिन्न दिशाओं की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करे। परिषद् के मेंबरों को चाहिए कि वे अपने को साहित्य-वाटिका का माली समझें। उन्हें फूल पैदा करना चाहिए। फूलों को उठाकर भिन्न-भिन्न क्यारियों में तरतीबवार लगाने की फ़िक्र वे न करें। अतएव परिषद् के मेंबरों से यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यह करो, वह करो; यह न करो, वह न करो। इन बातों को उन्हीं पर छोड़ देना चाहिए। उन्हें जैसा मुनासिब समझ पड़े करें; जिस उपाय से साहित्य की वृद्धि हो उसी उपाय का आश्रय लें।

गवर्नर साहब मुझ नाचीज़ को माफ़ करें, उन्होंने सभा के मेंबरों की उपमा माली से देकर उनका कार्य-निर्देश ठीक-ठीक नहीं किया। या तो वे माली न बनें और यदि बनें, तो माली का काम ठीक-ठीक करें। क्या माली का यह काम नहीं कि व्यर्थ बढ़े हुए पौधों को वह छाँटे, घास-फूस को उखाड़ फेंके और बिना क़लम किए जो पौधे अच्छे फल-फूल नहीं देते उन्हें समय पर क़लम करता रहे। साहित्योद्यान के माली पुस्तक-रूप अच्छे-अच्छे फूल पैदा करें। पर काटने-छाँटने और भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्पों को भिन्न-भिन्न क्यारियों में रखने की ओर भी ध्यान रक्खें। उसे भी वे अपना ही काम समझें। कम-से-कम वे यह तो बतावें कि किस मौसम में किस प्रकार के फूल पैदा करना चाहिए, कहाँ पैदा करना चाहिए, किस प्रकार पैदा करना चाहिए, और किस प्रकार की घास और झाड़-झंखाड़ को उनकी क्यारियों से उखाड़ फेंकना चाहिए। जो माली ये सब काम न करेगा उसका उद्यान यदि उजड़ न जायगा, तो शोभा-संपन्न तो कदापि न होगा।

गवर्नर महोदय की राय है कि परिषद् के मेंबरों को उत्साहशील और क्रियावान् होना चाहिए। उन्हें ख़ुद ही कुछ काम कर दिखाना चाहिए। जो काम उन्होंने अपने ऊपर लिया है वह सर्वोपयोगी अतएव पुण्य का है। यदि वे अपने उदाहरण से काम करने का ढंग लोगों को बता देंगे, तो कामयाबी की विशेष आशा है। कुछ मेंबरों को चाहिए कि साहित्य-संबंधी विषयों पर व्याख्यान देकर लोगों की रुचि उस ओर उत्पन्न करें। कुछ यदि चाहें, तो शहरों और बड़े-बड़े क़स्बों में "रीडिंग रूम" संस्थापित कर सकते हैं। कुछ को चाहिए कि देहात में पुस्तकालय खुलवाकर देहातियों की ज्ञान-वृद्धि करें। मतलब यह कि प्रत्येक मेंबर अलग-अलग और कई मेंबर सम्मिलित रूप से भी यदि काम करेंगे, तो साहित्य की उन्नति होने में बहुत देर न लगेगी।

यदि हिंदी और उर्दू में प्रकाशित प्रत्येक पुस्तक की एक-एक कापी इस परिषद् को भेजी जाय, तो इसके पास एक उत्तम पुस्तकालय हो जाय, ऐसे पुस्तकालय की बड़ी ज़रूरत है। साल में निकली हुई पुस्तकों में जो उत्तम हों उन पर यदि यह परिषद् समालोचनाएँ निकालकर उनकी तरफ़ सर्व-साधारण का ध्यान आकृष्ट कर सके, तो इससे भी बहुत लाभ होने की संभावना है। इस उपाय से अच्छे और उपयोगी साहित्य की प्रचार-वृद्धि में बहुत सहायता पहुँच सकती है।

श्रीमान् गवर्नर महाशय को इस बात का डर है कि कहीं यह परिषद् स्कूलों की "टेक्स्ट बुक कमिटी" की मंज़ूरी के लिये भेजी जानेवाली पुस्तकें तैयार करने या कराने की मशीन या कारख़ाना न बन बैठे। ईश्वर करे, उनका यह डर निराधार निकले। वे चाहते हैं कि उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद भी विदेशी या भिन्न प्रांतवर्तिनी भाषाओं से हिंदी-उर्दू में किया जाय, परंतु परिषद् इसी को अपना प्रधान कर्तव्य न समझ बैठे। उसे चाहिए कि

इसके साथ ही वह मौलिक पुस्तकें तैयार करने और कराने की भी चेष्टा करे और इस पिछले काम को वह विशेष दत्तचित्त होकर करे।

देहात में पुस्तकालय खोलने की बड़ी ज़रूरत है। वहाँ ऐसे भी पुस्तकालयों का प्रबंध होना चाहिए जो आज यहाँ, कल वहाँ, परसों और कहीं जा सकें। बात यह है कि आबादी की अधिक संख्या देहातों ही में है और वहीं के निवासियों में ज्ञान की बहुत कमी भी है। पुस्तकालयों की बदौलत लोगों में पुस्तकावलोकन की रुचि उत्पन्न करना और इस उपाय से उनकी अल्पज्ञता को दूर करना चाहिए। परिषद् को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि देहातियों के लिये उनकी रुचि के अनुरूप पुस्तकें तैयार हों। सैकड़ों सांसारिक विषय ऐसे हैं जिन पर लिखी गई कहानियाँ, उपन्यास तथा अन्य पुस्तकें देहातवाले बड़े प्रेम से पढ़ेंगे। उन्हें पढ़ने में उनका मन लगेगा। इस तरह मनोरंजन के साथ-ही-साथ उनके ज्ञान की सीमा भी, दिन-पर-दिन, बढ़ती जायगी।

अपने भाषण के अंत में सर विलियम मारिस ने जो बातें कहीं वे विशेष महत्त्व की हैं। उनका कथन है कि इस अकाडमी की सृष्टि कहीं हिंदी-उर्दू के विवादाग्नि की बुझती हुई चिनगारियों को फिर से प्रज्वलित न कर दे। पर चूँकि अकाडमी के मेंबर विद्वान् और समझदार हैं, इसलिये इस भय की संभावना उन्हें निराधार भी मालूम हुई। आपका कहना है कि गवर्नमेंट ने स्कूलों को नीचे की कुछ कक्षाओं में पढ़ाने के लिये हिंदुस्तानी भाषा की जिन पुस्तकों का प्रचार किया है वह किसी तरह काम चलाने के लिये हैं। इस प्रचार का यह मतलब नहीं कि ये दोनों भाषाएँ एक हो जायँ या ज़बरदस्ती एक कर दी जायँ। एक करने की चेष्टा से सिवा हानि के लाभ नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी भाषा में अस्वाभाविक रीति से फेर-फार करने से उसकी उन्नति में रुकावट हुए बिना नहीं रह सकती। दोग़लेपन को कोई नहीं पसंद करता।

परंतु गवर्नर साहब की यह भी राय है कि पूर्व-निर्दिष्ट तथ्य को ध्यान में रखते हुए भी इन प्रांतों की दोनों भाषाओं को जान-बूझकर एक को दूसरी से दूर फेंकने—उनकी भिन्नता को और भी बढ़ाने—से किसी की भी हित-सिद्धि नहीं हो सकती। परमेश्वर ने मनुष्य को भाषा इसलिये दी है कि वह उसकी सहायता से अपने मन की बात दूसरों पर प्रकट कर सके। इस प्रकटीकरण से जितने ही अधिक आदमी लाभ उठा सकेंगे, अर्थात् एक दूसरे के मनोभावों को जितने ही अधिक आदमी समझ सकेंगे, उतना ही अधिक लाभान्वित भी वे हो सकेंगे। मुसलमानों की उर्दू जितने ही अधिक हिंदुओं की और हिंदुओं की हिंदी जितने ही अधिक मुसलमानों की समझ में आवेगी उतना ही अधिक वे एक दूसरे के पास होते जायँगे—उतना ही अधिक उनमें हेल-मेल भी बढ़ेगा और उतना ही अधिक उनका पारस्परिक भेद-भाव भी दूर होता जायगा। यदि भाषा के प्रयोग का उद्देश मानवी विचारों का विकास और उनका दूरव्यापी प्रचार हो, तो यह बात तभी हो सकेगी जब मनुष्यों की अधिक-से-अधिक संख्या उन विचारों को हृदयंगम कर सकेगी। भाषा सरल और सुबोध होने से साहित्य की अवश्य ही वृद्धि होती है, क्योंकि उससे बहुत लोग लाभ उठा सकते हैं। अतएव हिंदुओं को चाहिए कि वे अपनी हिंदी में क्लिष्ट और अनावश्यक संस्कृत-शब्दों की भरमार न करें। इसी तरह मुसलमानों को भी चाहिए कि वे अपनी उर्दू को अरबी और फ़ारसी के अप्रचलित तथा कम प्रचलित शब्दों के बोझ से दुर्बोध न करें। इसी का अवलंब करने से इन दोनों भाषाओं के साहित्य की वृद्धि होगी और अधिक-से-अधिक मनुष्य उससे लाभ उठा सकेंगे।

भाषा में समता होने और एक दूसरे की बात समझ में आने ही से पारस्परिक हेल-मेल और सहानुभूति उत्पन्न हो सकती है। इन प्रांतों के हिंदू-मुसलमानों में भाषा-भेद होने के कारण यों ही भिन्नता के भाव ज़ोर पकड़ रहे हैं। इस दशा में राजनीति या राजशासन के संबंध में बाज़ी मार ले जाने के इरादे से जो लोग इस भिन्नता को और भी अधिक करने की चेष्टा करेंगे उनको एक प्रकार का देशद्रोही समझना चाहिए। क्योंकि इस प्रकार की भिन्नता के कारण शासन-संबंधी अधिकारों की अधिकाधिक प्राप्ति में सुभीता तो होगा नहीं, उलटी रुकावट अवश्य पैदा होगी।

गवर्नर महोदय के इस सदुपदेश पर हिंदी और उर्दू के लेखकों को शांत-चित्त होकर विचार करना चाहिए। हमारी तुच्छ सम्मति में तो उनका यह परामर्श सर्वथा हित-विधायक अतएव ग्रहणीय है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

फ्रेंच-भाषा का उद्भव और विकास

आज संसार में जिन साहित्यों का बोलबाला है, और जिनमें प्रत्येक प्रकार की बहुमूल्य मणियाँ जगमगा रही हैं, उनमें फ्रेंच का स्थान बहुत ऊँचा और महत्त्व-पूर्ण है। अपनी मधुरता, अपनी अपरिमित शब्द-शक्ति और अपनी गंभीर आलोचनात्मक प्रकृति के कारण इस समुन्नत योरपीय भाषा का जो आदर है, वह अनेक अवसरों पर अँगरेज़ी को भी प्राप्त नहीं हो सका। योरप में शायद ही कोई ऐसा देश हो जहाँ फ्रेंच का प्रभाव न दिखाई पड़ता हो, उसे समझने और बोलनेवाले न हों। भारत के समस्त प्रांतों और भागों में जैसे हिंदी बोली और समझी जाती है, उसी तरह योरप के विभिन्न देशों में फ्रेंच। एक प्रकार से हम उसे योरप की राष्ट्रभाषा कह सकते हैं।

वर्तमान समय में तो योरपीय राजनीतिक क्षेत्र में भी इसकी प्रधानता बढ़ती जा रही है। 'लीग ऑफ़् नेशंस' (राष्ट्र-संघ) की बैठकों में सम्मिलित होनेवाले विभिन्न स्वतंत्र राष्ट्रों के प्रतिनिधि प्रायः फ्रेंच ही में भाषण करते एवं अपने विचार प्रकट करते हैं। इँगलैंड के स्कूलों में—चाहे वे लड़कों के हों या लड़कियों के—फ्रेंच की पढ़ाई अनिवार्य-सी है। जिस भाषा ने आज योरप की अनेक उन्नत भाषाओं को दबाकर अपनी सर्वतोमुखी विशेषताओं के कारण अपना इतना विस्तार कर लिया है और जिसके समुन्नत गद्य साहित्य की 'मैथ्यू आर्नल्ड' और 'वाल्टर बेसेंट'-जैसे विद्वान् अँगरेज़ी-लेखकों और साहित्य-मर्मज्ञों ने मुग्ध होकर प्रशंसा की है, * उसके संबंध में भारतीय साहित्य-प्रेमी-समुदाय को कुछ ज्ञान न हो, यह दुःख की बात है। बँगला-लेखकों में से तो दो-एक अध्यापकों ने इधर कुछ ध्यान दिया भी है, पर राष्ट्र-भाषा हिंदी के लेखकों का ज्ञान-ध्यान इससे बिलकुल शून्य है। जहाँ तक मैं जानता हूँ हिंदी के दो ही चार लेखकों को फ्रेंच-साहित्य की कुछ-कुछ जानकारी है। फिर भी ये सज्जन इस ओर से उदासीन हैं। हिंदी में एक भी अच्छे और शक्तिमान लेखक न होने का यह भी एक कारण कहा जा सकता है।

फ्रेंच-भाषा का प्रारंभिक इतिहास अनेक योरपीय घटनाओं और फ्रांस के समीपवर्ती देशों के निवासियों के प्रकृति परिवर्तन में इस तरह छिपा हुआ है कि उसका ठीक-ठीक निर्णय अब तक भी नहीं हो सका है। फ्रेंच-भाषा के उद्गम और उद्भव के संबंध में खोज करने पर परस्पर विरोधी अनेक प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं, फिर भी जितनी बातों का निर्णय फ्रेंच-साहित्य के आचार्यों ने कर दिया है, उनका आधार लेकर इस विषय पर कुछ अन्वेषण किया जा सकता है।

योरप की प्रायः सभी प्रचलित भाषाओं का उद्गम लैटिन भाषा है, इस संबंध में प्रायः सभी आचार्यों के एक मत हैं। इस विषय में मतभेद और विवाद की गुंजाइश बहुत कम है। * किंतु उस लैटिन के रूप के संबंध में अवश्य ही मतभेद हो सकता है। 'फ्रेंच एकेडेमी' के अनेक प्रतिष्ठित आचार्यों के इस मत का समर्थन मेरे अपने अध्ययन से भी होता है कि लैटिन-भाषा के विशुद्ध रूप से फ्रेंच वा अन्य किसी योरपीय भाषा का जन्म नहीं हुआ। जब हम लैटिन को फ्रेंच आदि वर्तमान भाषाओं की जननी कहते हैं, तो उससे हमारा तात्पर्य उस व्याकरण-हीन, अशुद्ध और बिगड़ी हुई लैटिन से है जो

---

* आर्नल्ड के मत से फ्रेंच का गद्य-साहित्य अँगरेज़ी के गद्य-साहित्य से कहीं ऊँचा है। और वाल्टर बेसेंट के शब्द तो मुझे ज्यों-के-त्यों याद हैं—

"In no country have writers found so much appreciation; in no country are there more careful editions, more elaborate biographies and more loving criticism."

* 'The institute of France'-नामक सुप्रसिद्ध साहित्यिक संस्था के वैदेशिक सदस्य तथा योरपीय साहित्यों के प्रामाणिक लेखक भाषा-विज्ञान-वेत्ता श्रीहेनरी हालम एल्-एल्० डी०, एफ्० आर्० एल० एस्० ने ठीक ही लिखा है—

"No one requires to be informed that the Italian, Spanish and French languages are the principal of many dialects deviating from each other in the gradual corruption of the Latin once universally spoken by the subjects of Rome in her western provinces."

साधारण अशिक्षित जनता, सैनिकों और विजित फ़िरक़ों की बिगड़ी हुई बोलियों के मेल से बनी थी।

फ्रेंचभाषा के विकास का इतिहास फ्रेंच-जाति के उद्भव और विकास का ही इतिहास है। जिस देश के रहनेवाले लोगों का समुदाय फ्रेंच-राष्ट्र के नाम से आज प्रसिद्ध है, उस देश के पूर्व-निवासी सेल्टिक-भाषा * बोला करते थे। बहुत दिनों के बाद रोमन-शक्ति † के अभ्युदय और विस्तार के साथ रोमनों की लैटिन-भाषा ने आसपास के अनेक देशों पर प्रभाव डालना शुरू किया। समय की गति और राजनीतिक कारणों ने सेल्टिक बोलनेवाले फ़रासीसियों को भी रोमन-भाषा (लैटिन) ग्रहण करने पर बाध्य किया किंतु यह क्रम अधिक दिनों तक चल न सका। योरप में जो राजनीतिक उथल-पुथल हो रहे थे उनका प्रभाव उस ज़माने की भाषाओं पर—जिनका कोई निश्चित और सर्व-मान्य व्याकरण उस समय तक नहीं बना था—भी पड़ना अनिवार्य था। इसीलिये लैटिन का प्रभाव भी थोड़े ही दिनों के बाद घट गया और उसके स्थान पर एक नई भाषा का निर्माण होना आरंभ हुआ जो स्पेन, इटली, इँगलैंड और जर्मनी में बोली जानेवाली भाषा से भिन्न थी। इस परिवर्तन का समय नवीं शताब्दी है।

वस्तुतः इस समय के बहुत पहले ही परिवर्तन के ये बीज बोए जा चुके थे और भीतर-ही-भीतर उनका उद्भव और विकास भी हो रहा था। बर्बरों ‡ के पहले हमले के समय से ही 'गाल' § भूखंड में बोली जानेवाली भाषा लैटिन से भिन्न होने लगी। इस प्रकार लैटिन से बिगड़कर स्वतंत्र रूप धारण करती हुई इस भाषा ने धीरे-धीरे राष्ट्र-भाषा के रूप में विकसित होना आरंभ किया। उसके इस विकास-काल से ही फ्रेंच-साहित्य का बीजारोपण होता है।

सन् ४०० ई० तक कुछ को छोड़कर प्रायः सभी गाल-वासी लैटिन ही बोलते थे। न केवल भाषा के संबंध में वरन् और बातों में भी वे रोमन-सभ्यता और संस्कृति द्वारा प्रभावान्वित हुए थे। समस्त देश में लैटिन-भाषा और साहित्य प्रचलित हो गया था। लियों आदें और रीमां के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक इस रंग में रँग गए थे। इसका प्रबल समर्थन इस बात से भी होता है कि ईसवी सन् की प्रथम चार शताब्दियों में लैटिन के जितने अच्छे लेखक हुए हैं उनमें कुछ बहुत अच्छे लेखक गाल ही थे। इनमें आसोनियस, सीडोनियस अपोलो नेरी तथा सेंत-पालिन द नोल तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

पीछे चलकर 'गाल' में बोली जानेवाली लैटिन से प्राकृत लैटिन का उद्भव हुआ। यह प्राकृत लैटिन बिगड़ी हुई लैटिन नहीं थी वरन् प्रचलित लैटिन में रोमन श्रमिकों, सैनिकों एवं चरवाहों की लैटिन के मिलने से बनी थी। इसमें 'गाल'-प्रदेश की पहली भाषा के अनेक शब्द एवं प्राचीन जातीय लोकोक्तियाँ तथा मुहाविरे भी मिल गए।

जब इस प्रदेश पर जर्मनों ने आक्रमण किया तब भी यह भाषा नष्ट न की जा सकी क्योंकि फ़रासीसी आम तौर से लैटिन को अपनाने के लिये सदैव उत्कंठित रहे। उत्तरीय सीमा-प्रांत के अधिवासी टोटन फ़रासीसी यद्यपि इस मनोवृत्ति के विरोधी थे पर उनकी संख्या बहुत कम थी। बहुत बड़ी संख्यावाले निस्ट्रन फ़रासीसियों ने इस मनोवृत्ति से लाभ उठाने की भरपूर चेष्टा की। उनकी चेष्टा के फलस्वरूप (गालाधिवासी फ़रासीसियों की) इस भाषा में जर्मनों के लगभग ७५० शब्द मिल गए। पीछे नार्मंडी-नामक प्रांत के नार्मनों ने इस भाषा में लगभग ५०० शब्द और मिला लिए।

निम्न-कोटि की यह लैटिन नष्ट तो नहीं हुई, पर धीरे-धीरे उसका ह्रास होता गया। इसका एक-मात्र कारण यह था कि जिस सभ्यता के कारण वह फूली-फली थी, उसका प्रभाव बिलकुल घट गया था। पाँचवीं और छठी शताब्दी में ही सुंदर लैटिन-भाषा के ह्रास के प्रमाण मिलते हैं। क्लैडियस ने पाँचवीं तथा सेंट ग्रेगरी ने छठी शताब्दी में इस प्राचीन भाषा के पतन पर दुःख प्रकट किया है। छठी शताब्दी के अंत में तो लोगों के हृदय में

* सेल्टिक-भाषा—सेल्ट गालिया-नामक प्रदेश की रहनेवाली पश्चिमीय योरप की एक प्राचीन जाति थी जो पीछे योरप के अनेक भागों में—इँगलैंड में भी—फैल गई। इसी की भाषा का नाम सेल्टिक है।

† पोप-प्रधान इटालियन साम्राज्य जिसका केंद्र रोम था।

‡ बर्बर—एक प्राचीन तथा उन्नत योरोपियन जाति। १३०२ ईसवी के पूर्व ही इन लोगों की टकसाल थी और उस समय 'रिचर्ड ला बर्बर' "व्यापाराधिकारी" था। एडवर्ड चतुर्थ के समय में बर्बर लोग चिकित्सा में बड़े निपुण थे।

§ वर्तमान फ्रांस, बेलजियम, स्वीजरलैंड, जर्मनी और नेदरलैंड के कुछ भाग इस प्रदेश में थे।

इस भाषा के प्रति उपेक्षा के भाव फैलने लगे थे। यह उपेक्षा कहीं-कहीं कितनी तीव्र हो गई थी इसका अनुमान केवल इसी बात से किया जा सकता है कि (छठी शताब्दी के अंत में) ग्रेगरी महान्* शुद्ध लैटिन न बोल सकने पर अत्यधिक गौरव का अनुभव करता था। इस समय इस भाषा के व्याकरण के नियम टूट रहे थे, कोई उन्हें मानने के लिये किसी प्रकार का उत्साह नहीं प्रकट करता था। सातवीं शताब्दी में लैटिन-भाषा और उसके साहित्य की थोड़ी बहुत जानकारी यदि किसी को थी, तो वह स्कूलों के अध्यापकों का समुदाय था। विश्वविद्यालयों तक में लैटिन 'भूलती कहानी' हो रही थी।

लैटिन के इस ह्रास का ही आश्रय लेकर एक नई भाषा का आरंभ बहुत पहले से हो रहा था। घटना-क्रम से इस भाषा का स्थान उस नई भाषा ने ले लिया। यह नई भाषा इटैलियन, स्पेनिश, बरगंडियन इत्यादि अनेक प्रादेशिक बोलियों के संयोग और सम्मिश्रण से बनी थी। इस मिश्रित भाषा को 'रोमे सॉं' या रोमन (इटैलियन रोमना भी) कहते हैं। यद्यपि इस भाषा में सभी बोलियों का संमिश्रण था पर यह कहना असंगत न होगा कि 'रोमेसॉं' का मूल आधार पिछली लैटिन ही थी। इस नई भाषा में लैटिन के न केवल शब्द बहुत अधिक थे बरन् वाक्य-संगठन-प्रणाली के अनेक रूप भी ज्यों के त्यों रह गये थे। इसीलिये 'हेनरी वॉं लॉं'(Henery VanLaun)-जैसे फ्रेंच-साहित्य के इतिहास के प्रामाणिक लेखक ने भी इसे एक प्रकार की बिगड़ी हुई और मिश्रित लैटिन ही माना है और इसके लिये 'रोमेसॉं' शब्द का प्रयोग न करके पूर्ण प्रचार हो जाने पर 'नवीं शताब्दी की लैटिन' कहकर ही उसका हवाला दिया है। पर मेरी समझ से इन दोनों भाषाओं के रूप में नवीं शताब्दी तक इतना अंतर आ गया था जितना संस्कृत और बुद्ध-कालीन पाली-मिश्रित प्राकृत में था। अतएव हम अनेक फ्रेंच और इटालियन-लेखकों की भाँति इसे 'रोमेसॉं' नाम से ही पुकारना उचित समझते हैं।

इस प्रकार छठी शताब्दी में 'रोमेसॉं' का आदि उद्भव-काल माना जा सकता है।* पर इसके साथ ही यह याद रखना चाहिए कि इस समय की प्रचलित बोली की कोई साहित्यिक रचना इस समय प्राप्त नहीं है।† अतएव यह भी मानना पड़ेगा कि छठी शताब्दी में इस भाषा का बीजारोपण-मात्र हुआ था।

'रोमेसॉं' के सबसे पुराने उदाहरण 'ग्लास द रिचेने' (रिचेन का शब्द-कोश), 'जर्मन लुई की शपथ', 'चार्ल-वाल्ड की शपथ' ‡ तथा 'सेंत पुलेलिया' का 'कांतिलेन' §

---

* ग्रेगरी महान् (५४०-६०४) इस नाम के १६ पोपों में सर्वप्रथम। रोम के प्राचीन बिशपों में सबसे बड़े 'लीयो प्रथम' के बाद इसी का दर्जा था। ५६० से ६०४ तक यह पोप रहा। इसने योरपीय संगीत में ग्रेगेरियन-नामक स्वतंत्र प्रणाली चलाई।

* 'हिस्ताय लिटेरे द ला फ्रांसे (Histoire Litteraire de la France) भाग २ पृष्ठ ३३ देखिए।

† खोज करने से मालूम हुआ है कि 'ग्लास द रिचेने' छठी शताब्दी की ही रचना है, जिसका पता पहली बार १८६३ ई० में लगा था। यह 'शार्लेमेन' के ज़माने की रचना है किंतु इसके शब्दों पर तुलनात्मक विचार करने के उपरांत इसमें लैटिन से बहुत कम अंतर मालूम होता है। ब्राचेट ने अपने 'Histoire de La langue Francaise' में इस बात को प्रमाणित किया है कि इसमें और लैटिन में इतना कम अंतर है कि इसे दूसरी भाषा कहने में संकोच-सा होता है। हां, इसे देखकर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि लैटिन का रूप बिगड़ रहा था और एक दूसरी भाषा के उद्भव के चिह्न प्रकट हो रहे थे। जो हो, मेरी समझ से तो दोनों में पर्याप्त अंतर है और यह नीचे के उदाहरण से भली भांति जाना जा सकता है—

बाइबिल की लैटिन 'ग्लास द रिचेने' की लैटिन वर्तमान फ्रेंच

Minas (मीनास) Manatces (मेनासे) Menaces (मेनिसे)

‡ चार्ल वाल्ड के फ्रांसीसी सेनाधिकारियों की शपथ यह है—

'Si Lodhuwigs sagrament, que son fradre karla Jurat conservat, at Karlus meos sendra, de seirs partnon lo stanit sis retarnar non L' int pais, ne is ne neuls enieo returnar inle pais in rimka adjudha centraLodhuwig non li iver."

§ 'सेंट पुलेलिया का कांतिलेन'। उच्च कोटि के फ्रेंच विद्वान् इसका 'कांतिलेन' उच्चारण करेंगे। एक प्रकार का गीत है। हम यहाँ इस गीत के प्रथम चार चरण देते हैं और तुलना की सुविधा के ख़याल से उनके सामने ही आधुनिक फ्रेंच-पद्य में क्या रूप होगा, यह भी दे देते हैं—

(Cantilene) हैं। 'जर्मन लुई की शपथ' तथा 'सेंत पूलेलिया के कांतिलेन' का समय क्रमशः ८४२ ई० और ८८० ई० है। 'जर्मन-लुई की शपथ' और 'चार्ल्स बाल्ड की शपथ' शर्लमेन के भतीजे निथार्ड द्वारा लिखित 'फ्रांक जाति का इतिहास' में मिलती हैं। 'पूलेलिया का कांतिलेन' (जो फ्रेंच की तत्कालीन लोकप्रिय कविता का सबसे प्राचीन प्राप्त नमूना है) विटेंले की पुस्तक में सुरक्षित मिलता है। इन प्राप्त रचनाओं की भाषा से पिछली लैटिन की तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि नवीं शताब्दी तक 'रोमँसाँ' की जड़ मज़बूत हो चली थी।

जिस समय की बात हम लिख रहे हैं उस समय न केवल प्रत्येक फ़िरक़े की एक भाषा थी वरन् प्रत्येक गाँव के प्रयोग एवं मुहाविरों की भिन्नता के कारण एक भाषा के अनेक रूप हो गए थे और अनेक शाखा-प्रशाखाएँ प्रचलित हो गई थीं। पीछे जब नगरों में परस्पर संबंध बढ़ने लगा और गायक एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने एवं घूमने लगे, तो इन भिन्न-भिन्न बोलियों में परस्पर मिश्रण के बाहुल्य से उपशाखाओं का ह्रास होने लगा और उनकी संख्या में कमी होती गई। कई भाषाओं के संयोग से नगरों में कुछ नई भाषाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार के मिश्रण से उत्पन्न हुई कतिपय प्रांतीय भाषाओं में से दो ने विशेष प्रधानता प्राप्त की। इनमें एक मध्य-फ्रांस से होकर बहनेवाली 'लायर' (Loire) नदी के उत्तर में बोली जाती थी और दूसरी दक्षिण में। उत्तरवाली भाषा में 'हाँ' (yes) के लिये आजकल के 'ओय' (oui) का 'आयल' (कुछ लोग 'आय' भी कहते थे) और दक्षिणवाली में 'ओ' (oi) उच्चारण होता था। इसी कारण धीरे-धीरे इन भाषाओं को क्रमशः 'लॅंग द आयल' (आयल की बोली) और 'लॅंग द ओ' (ओ की बोली) कहने लगे। *

'कांतिलेन' के प्रथम चार चरण—

Buona Pulcella fat Eulalia ;
Bel overt corps, belle zour anima,
Vold neut lo veindre li Deo inimi ,
Vold rent la faire diaule servir,

इन्हीं चरणों का आधुनिक फ्रेंच-रूप—

Bonore Puelle fut Eulalie,
Beau avait le corps plus belle l'amo,
Voulu rent la vaincre les enemis di Dien
Vouturent la fairela diabla servir.

उपर्युक्त अवतरण से प्रकट है कि प्रायः ११ सौ वर्षों में कितना कम परिवर्तन हुआ है।

विचारपूर्वक देखने पर इन दोनों भाषाओं के मूल उपकरणों में स्पष्ट ही भेद दिखाई पड़ता है। इसका कारण दोनों प्रदेशों के अधिवासियों की प्रकृति की भिन्नता है। उत्तरस्थ प्रदेश के फ़रासीसी वीर, युद्ध-प्रिय पर जंगली थे और दक्षिण के नम्र एवं बुद्धिमान् थे। इनकी भिन्न प्रकृति से ही दोनों जातियों में परस्पर प्रतिद्वंद्विता और ईर्ष्या के भाव फैलने आरंभ हुए। ये भाव अपने चिह्न फ्रांस के मध्य-कालीन सामाजिक इतिहास और साहित्य में छोड़ गए हैं।

दक्षिणी फ़रासीसियों की प्रकृति में बुद्धि की प्रखरता और स्वभाव की कोमलता के आधिक्य के कारण साहित्यिक उपकरणों की अधिकता थी, इसीलिये उनकी "लॅंग द ओ' (Langue d'oc) का अभ्युदय भी शीघ्रता के

* मास्ये गर्जे (M. Gerevez) ने अपनी 'हिस्ताय द ला लितेरेर फ्रांसे, (फ्रेंच-साहित्य का इतिहास) के प्रथम भाग (पृष्ठ ५) में लिखा है—"ओ (oc)-शब्द वस्तुतः लैटिन के 'हो' (hoc) का रूपांतर है। 'आयल' (oil) जिससे हमारा 'ओय' (oui)-शब्द निकला है—यद्यपि बहुतेरे सज्जन गलती से 'ओय' (oui) को 'ओयेर' (ouir) क्रिया का भूतकालात्मक रूप मानते हैं—'हो' (hoc) एवं 'इला' (Illud) के संयुक्त शब्द का संक्षिप्त एवं बदला हुआ रूप है।" हमारी एक फ़रासीसी स्त्री-मित्र का कहना है कि प्राचीन काल में 'हो' (hoc) 'ओ' की भाँति ही उच्चरित होता था जैसा कि अब तक दक्षिण फ्रांस में होता है। 'हो' का 'ओ' तथा 'इला' (Illud) का 'इल'वाला अंश लेकर 'ओय' का 'आयल' (oil) बन गया। इटेलियन का 'सी' (Si) भी इसी प्रकार 'सिक' (Sic) का संक्षिप्त संस्करण है। इस प्रकार नामाभाव के कारण 'लॅंग द ओ' और 'लॅंग द ओय' (या 'आयल') नाम रख लेते हैं अन्यथा इन्हें इन नामों से पुकारना वैसा ही है जैसे इटेलियन को 'लिंगासिया' (सी की भाषा) कहना।

दांते ने भी 'द वल्गरी इलोकियो (De Vulgari Eloquio) में यही मत प्रकट किया है।

साथ हुआ । ग्यारहवीं शताब्दी में ही यह भाषा बहुत कुछ उन्नत हो चली थी । संगीत-काव्य (Lyric poetry) की इस भाषा में इतनी अधिकता है और उसके ऐसे सुंदर उदाहरण मिलते हैं कि कितने ही विद्वानों को इसे 'संसार का एक श्रेष्ठ साहित्य' मानना पड़ा है । इस मृत भाषा का महत्त्व एक और कारण से भी बहुत अधिक है । ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दी में इसकी चार प्रधान शाखाएँ थीं जो 'प्रोवेंक,' 'गैसकनी,' 'कैटोलोनिया' और 'पाइमोंट' प्रांतों में बोली जाती थीं । इनमें 'पाइमोंट' की बोली से वर्तमान इटैलियन और कैटलन से वर्तमान स्पेनिश का जन्म हुआ । 'लैंग द ओ' का ज़माना तेरहवीं शताब्दी तक रहा ।

'लैंग द ओ' के अभ्युदय के साथ-साथ 'रोमांस' (जिसे रोमाना तथा रोमैंसाँ इत्यादि नामों से भी पुकारते हैं) का अभ्युदय तो हुआ, पर इसकी ये दोनों उपशाखाएँ ('लैंग द ओ' और 'लैंग द आयल') धीरे-धीरे उसे छोड़कर एक स्वतंत्र भाषा बन बैठीं और आधुनिक फ्रेंच के उद्भव तथा 'रोमांस' के ह्रास का कारण हुईं ।

जितनी शीघ्रता से 'लैंग द ओ' की उन्नति हुई थी उतनी ही शीघ्रता से उसका पतन भी हुआ । जिस समय दक्षिण-फ्रांस की यह भाषा यौवन के पूरे उभार में थी, उस समय उत्तर-फ्रांस की 'लैंग द आय' (या आयल) का धीरे-धीरे विकास हो रहा था । उत्तरीय फ्रांस की इस भाषा के प्रारंभिक इतिहास की खोज करते समय हमें समान महत्त्व की तीन बोलियों का पता चलता है जिन्हें इस भाषा की तीन बिखरी हुई स्वतंत्र शाखाएँ कह सकते हैं । इन्हें हम नार्मन, पिकर्ड और बरगंडियन-भाषाओं के नाम से पुकारेंगे । नार्मन बोली, नार्मंडी-नामक प्रांत में (जिसमें कुछ भाग 'पेन' का और कुछ ब्रिटनी, पर्क, आन्यू और अंजो का शामिल था) । पिकर्ड, पिकार्डी, लोरेन फ़्लैंडर और शैंपेन के कुछ भागों में तथा बरगंडियन, बरगंडी, बेरो, आइल द फ्रांस इत्यादि में बोली जाती थी ।* धीरे-धीरे ये तीनों बोलियाँ आपस में मिल गईं और अपनी विशेषताएँ तथा भिन्नता खो बैठीं । उधर 'लैंग द ओ' के पतन और विनाश के कारण 'लैंग द आय' (या आयल) की इस नई, मिश्रित भाषा को और प्रोत्साहन मिला । उसने 'लैंग द ओ' के आवश्यक उपकरण ले लिए । उसके कितने ही शब्द भी इसमें आ गए और इस प्रकार एक सम्मिलित नई और ज़बरदस्त भाषा का जन्म हुआ । 'लैंग द आय' (या आयल) की 'आइल द फ्रांस' (फ्रांस द्वीप) में बोली जानेवाली उपशाखा 'फ़िलिप अगस्टस' और 'सेंट लुई' के समय से ही और सब उपशाखाओं में प्रधान हो रही थी और यही कारण है कि इस द्वीप की भाषा (फ्रेंच) के बढ़ जाने पर संपूर्ण देश का नाम फ्रांस और उसमें बोली जानेवाली भाषा का नाम फ्रेंच पड़ गया । फ्रेंच-नामधारी इस भाषा का पौधा चौदहवीं शताब्दी में भली भाँति लहलहाने लगा था ।

इसके बाद फ्राज़र्ट, अलेन चार्टर, चार्ल्स ओलियन, विलाँ और सोनी द्वारा परिमार्जित और विकसित होकर पंद्रहवीं शताब्दी में पुरानी फ्रेंच आधुनिक फ्रेंच के रूप में बदल गई और तब से आज तक अपने सुलेखकों, समालोचकों और कवियों के परिश्रम से निर्मित बहुमूल्य आभूषणों को पहनकर संसार की समस्त जीवित भाषाओं में पूर्ण चंद्र की भाँति जगमगा रही है ।

श्रीअवधेशपति वर्मा

अपूर्व रेखा

ज्योत्स्ना-रेखा रजत-तार-सी क्षितिज में
फूट उठी जब तम-निशीथ को चीरकर,
विमल हास्य-रेखा-स्मृति ने तब उदित हो
मानस-चिंतन की प्रवाह गति मोड़ दी ।

स्वप्न-जगत् का, फिर अतीतकालीन वह
दृश्य सामने आया, फिर यह हृद-गगन
ओत-प्रोत हो गया दिव्यालोक से ;
चाहा इसे चित्र में चिर बंदी करूँ ;

नील पीत हरितादि रंग की कूचिका
एक एक करके कर में आने लगीं
और खेलने लगीं परस्पर होड़ से
बना चित्रपट को अपनी रंग-स्थली ।

---

* बर्गी (Burguy) ने भी अपने Grammaire De La-Langue d'oil) लैंग द आयल का व्याकरण में इन विभागों को ठीक माना है ।

काया संपालित होकर आलोक से
मनोभावना को विकसित करने लगी।
एतादृश अंतस्तल की गोपित कथा
क्रमशः होने लगी प्रस्फुटित चित्र पर।

सितासिता ये रेखाएँ दिन रात की,
संख्यातीत बार बन-बनकर मिट गईं,
किंतु, न होने दिया प्रकट जिसको, उसे
आज जगत् देखेगा, पर, दे सकेगा—

क्या प्रेमोपहार वह, जो मैं दे सका?
देखा नभ पर विहँस रहा विधु, सामने
दीपक-दीप्ति-कनक-रेखाएँ हँस रहीं,
अहंभावना पर मैं लज्जित हो गया!

क्या जाने सीमित रेखाएँ किस समय
किस अज्ञात मार्ग की बन अनुगामिनी
चुपके से प्रकोष्ठ अंतस्तल में गईं
और उठा लाईं वह प्रतिमा मानसी।

चित्र पूर्ण होने में अब न विलंब है,
किंतु, आह! आनन में अब तक वह नहीं;
रेखा सुस्मित जगमोहन विकसित हुई!
शंकित हुआ, प्रयास और आगे बढ़ा।

अति सतर्क हो चित्रण-कला-प्रदेश का
कोना-कोना छाना किंतु विफल हुआ!
थककर ही निश्चेष्ट कल्पना सो गई
और झलझला उठे स्वेद-कण अंग में!

आनन पर न हास्य-रेखा वह आ सकी!
सोचा, शब्दों में ही प्रतिकृति खींच लूँ,
किंतु, शब्द-सागर में ऐसी एक भी
मिली तरंग न, जो उद्भासित कर सके,

वह अनुपम माधुर्य! अतुल वह विमलता!
वह अतृप्तकर भाव! भरा जो हास्य में।
शब्दों की ये रेखावलियाँ जहाँ हैं
अपर्याप्त, वह रेखा कैसे व्यक्त हो।

'विकसित'

आधुनिक तुर्की में पूर्वी तथा पश्चिमी आदर्शों का संघर्ष

इस वर्ष तुर्की-भाषा में 'कमाल-पाशा' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। लेखक अब्दुल आदम नाम के एक सज्जन हैं। आधुनिक तुर्की के बनाने में किन व्यावहारिक सिद्धांतों से काम लिया जा रहा है, वह इस पुस्तक के पढ़ने से भली प्रकार ज्ञात हो सकता है। विषय बड़ा मनोरंजक तथा जानने-योग्य है। इसी लिये मैंने उसके कुछ नमूने माधुरी के पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। समस्त एशिया-खंड गहरी नींद से जागे हुए मनुष्य की भाँति दिखलाई पड़ रहा है। तुर्की भी एशिया का एक भाग है। इसलिये वहाँ की हलचल से भारतवासियों को भी अनेकों कारणों से पूरी दिलचस्पी है। हमारे देखते-देखते तुर्की स्वतंत्र हो चुका है। चीन भी उसी पथ पर अग्रसर हो रहा है। भारत भी स्वतंत्रता के लिये फड़फड़ा रहा है। इसलिये आशा है कि हमारे भाई इस लेख को ध्यान से पढ़ेंगे और इस पर मनन भी करेंगे।

इस पुस्तक का मुख्य विषय पूर्वी तथा पश्चिमी विचार-शैली की तुलनात्मक आलोचना करके पश्चिमी विचार-पद्धति की श्रेष्ठता तथा आवश्यकता दिखलाना है।

लेखक महाशय का कहना है कि योरप की विचार-शैली आधुनिक संसार की विचार-शैली है। जब तक हमें इस संसार में रहना है, तब तक इसी को चाल के साथ-साथ चलना होगा। एशिया की विचार-शैली पारलौकिक है। जब हम परलोक जायँगे, तब वहाँ की रीति के अनुसार कार्य करेंगे। सब जीती-जागती जातियाँ हमारे पश्चिम में बसती हैं। जो जातियाँ हमारे पूर्व में हैं, उनके तो जीवित रहने का अधिकार अभी माना ही नहीं गया है।

उत्कृष्ट जीवन के नमूने भी पश्चिम ही में मिलते हैं। वहाँ सच्चा जीवन तथा सुदृढ़ संगठन पाया जाता है। हमें भी इन जातियों तथा देशों से जीवन-कला सीखनी चाहिए।

हमारे विद्यालयों में केवल एक ही तर्क से सारे नतीजे निकाले जाते हैं। अर्थात् हम लोग धर्म-प्राण हैं। इससे आगे हम बुद्धि दौड़ाते ही नहीं। इसके विरुद्ध पश्चिमी जगत् जीवन को मनुष्यत्व की दृष्टि से देखता है और तदनुसार उसे संगठित करने का प्रयत्न करता है। हमें यह बात जान लेनी आवश्यक है कि इन दोनों विचार-दृष्टियों में कभी मेल हो नहीं सकता। हम लोगों ने इन दोनों के बीच समझौता करने की पूर्ण चेष्टा की, किंतु फल उलटा ही हुआ। इस सत्य को बहुत कम लोगों ने समझा है और तुर्की के प्रजा-सत्तात्मक राज्य के लिये यही बड़ा ख़तरा है।

इसी तर्क के आधार पर लेखक कहते हैं कि तुर्की में किए गए सुधारों का अभी सफल न होने का कारण भी इन्हीं असंबद्ध विचारों के बीच मेल कराने का प्रयत्न है। इन सुधारों के द्वारा प्राचीन तथा अर्वाचीन विचारों के बीच समझौता करने की कोशिश की गई, किंतु इसके फल-स्वरूप उलटी गड़बड़ ही फैली है। यथा—

"पूर्वी अथवा एशियाई विचार-पद्धति के संबंध में लेखक कहता है कि दैविक विधानों से निष्कर्ष निकाल कर एशियाई लोग दुख तथा दरिद्रता से मुक्त न हो सके। हम यह बात देखते हैं कि धार्मिक आज्ञाएँ मनुष्य के निजी-से-निजी काम में तो बाधा डालती ही हैं किंतु सामाजिक, आर्थिक, व्यापारिक, वैज्ञानिक तथा शासन-संबंधी कार्यों को भी इनके आधीन रहना पड़ता है। चूँकि ये आज्ञाएँ दैवी समझी जाती हैं, इसलिये उनमें कोई फेरफार या सुधार नहीं हो सकता। ज्यों ही ये आज्ञाएँ अप्रचलित हो जाती हैं, त्यों ही कोई ईश्वर का दूत नई आज्ञाएँ लेकर आता है।"

"इस संबंध में एक सबसे अधिक दिलचस्पी की बात यह है कि प्रत्येक अवतार ने मनुष्य-जीवन की निःसारता पर ज़ोर दिया है तथा पारलौकिक सुख के प्रेम से अपने हृदय को जलाया है। यही बुद्ध का निर्वाण है और यही इसलाम का स्वर्ग है। इस विचार-शैली ने आलोचनात्मक विचारों का ख़ून किया है तथा बुद्धि को कुंठित कर दिया है।"

"इसलाम ने अपने धर्म के अतिरिक्त सब जगह अरब-देश के सामाजिक जीवन को सर्वमान्य बनाया है और लोगों को अपने ईश्वर तथा धर्म ही को मानने के लिये मजबूर नहीं किया; किंतु अरबी गार्हस्थ्य तथा सामाजिक जीवन, अरबी सदाचार, अरबी रीति-नीति तथा अरबी-भाषा को भी मानने के लिये बाध्य किया है।"

जिन इसलामी सिद्धांतों पर यह विचार-शैली क़ायम है, वे निम्न-लिखित हैं—

"(१) सत्य की खोज तर्क से नहीं हो सकती; किंतु हदीसों (मुसलमानी धर्म-शास्त्रों) के द्वारा ही हो सकती है।

(२) मनुष्य द्वारा निर्धारित सिद्धांतों पर चलकर जीवन व्यतीत करना हेय है। दैवी नियमों पर चलकर ही जीवन सफल बनाया जा सकता है। ये नियम अटल हैं। इनमें कोई फेरफार नहीं हो सकता।

(३) यह संसार अनित्य है। किंतु स्वर्ग-सुख नित्य है।

(४) प्रत्येक बात को भाग्य के सर मढ़ना।

(५) राष्ट्रीय जीवन की अवहेलना करना तथा धार्मिक कथा-कहानियों से चिमटे रहना।

(६) धर्माचारियों की आज्ञाओं का पूर्ण-रूप से पालन करना तथा उनके विरुद्ध तर्क-वितर्क न करना।"

लेखक महाशय कहते हैं कि इस जाल में फँसने के कारण एशिया के लोगों के उद्धार की कोई संभावना नहीं रही है। इस विचार-धारा ने जीवन तथा मनुष्य-जाति के लिये विनाशकारी रूप धारण कर लिया है। आगे चलकर आप कहते हैं कि आज तक कोई अवतार ऐसा नहीं हुआ, जो कल, बिजली, धुँआ से चलनेवाले जहाज़, वायुयान, बेतार का तार तथा बीमारियों से बचने के सिद्धांतों का संदेशा लेकर आया हो। किंतु पश्चिमी विज्ञान के द्वारा अदृश्य जगत् की शक्तियों को हम दृश्य जगत् में लाकर उनसे मनमाना काम ले रहे हैं। एशिया के इतिहास में इस प्रकार का एक भी महात्मा अथवा पागल कभी उत्पन्न नहीं हुआ।

आगे चलकर ग्रंथकर्ता महाशय कहते हैं कि इस विचार-पद्धति पर क़ायम हुए समाज को जब हम देखते हैं, तो क्या पाते हैं कि एक दुश्चरित्र तथा स्वेच्छाचारी राजा, जो ईश्वर का प्रतिनिधि होने की पदवी धारण किए हुए है, ग़ुलामों से भरा एक बड़ा राज-प्रासाद और जीवन के समस्त सुखों से वंचित एक बड़ा मनुष्य-समुदाय। यथा—

"जिस बात को योरप विज्ञान की सहायता से करने की चेष्टा करता है उसी बात को एशिया भजन-प्रार्थना,

जादू-टोना तथा भूत-प्रेतों की सहायता से करना चाहता है। लेखक कहता है कि एशिया के धर्म कुछ नहीं हैं। वे केवल भिन्न-भिन्न अवतारों के आपस के द्वेष के परिणाम हैं, जिनमें प्रत्येक नव-अवतरित पुरुष ने अपना सिक्का जमाने के लिये पहले की पद्धति को नष्ट करने की कोशिश को है। एक प्रकार से सब अवतारों के सिद्धांत मूल में एक ही हैं। बुद्ध, कन्फूसियस, ब्रह्मा, मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि की शिक्षा एक-सो ही है। केवल छोटी-छोटी बातों में कुछ अंतर है। एशिया पर इसी विचार-पद्धति का सिक्का जमा हुआ है। उसमें (एशिया में) अब परिवर्तन करने की शक्ति भी नहीं रह गई है। हाँ, योरप की विचार-शैली का घोरा लगने से इस महारोग से उद्धार हो सकता है। कुछ लोगों का विचार है कि केवल कला-संबंधी बातें ही ले लेने से काम चल सकता है, यह असंभव है। एशियाई विचार-शैली का पूर्ण बहिष्कार करना होगा तथा योरप के रास्ते पर सोलह आना चलना होगा। इसके सिवाय उद्धार का कोई उपाय ही नहीं है।"

क़ुरान के संबंध में उक्त पुस्तक में लिखा है कि "यह एक काली किताब है। इसने ६०० वर्ष से तुर्क-जाति के लोगों पर अपना क़ब्ज़ा कर रक्खा है। तुर्की को समस्त बौद्धिक, साहित्यिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, नागरिक तथा शासन-संबंधी प्रगति पर इसका पूरा-पूरा प्रभाव है। तुर्की अरबी-मकतबों पर अपना बहुत-सा धन व्यय करती रही है, किंतु उनमें तुर्की-भाषा का कोई स्थान नहीं है। इसके बराबर लज्जाजनक बात और क्या हो सकती है।"

"क़ुरान के अर्थों का अनर्थ करके स्त्री-जाति को सामाजिक जीवन से बिलकुल अलग रक्खा गया है। बिना स्त्री-जाति के सहयोग के किसी प्रकार की सामूहिक उन्नति होना असंभव है। धीरे-धीरे ये सब भूलें हमारी समझ में आती गईं और अंत में क्रांति के द्वारा ही उनका संशोधन करना निश्चय हुआ।"

यहाँ पाठकों को यह बतला देना उचित होगा कि तुर्की में जो सुधार किए गए हैं, वे क़ानून के द्वारा हुए हैं। एक प्रकार से लोगों पर लादे गए हैं। वहाँ के लोगों की विचार-शैली में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है। बनावटी तौर पर योरपीय विचारों का तुर्की में समावेश किया गया है। एक प्रकार से फ्रेंच-विप्लव की नक़ल की गई है। इसलिये उलटी धारा (Re-action) बहने की संभावना बनी हुई है। फ्रांस का सामाजिक जीवन तुर्की से बिलकुल भिन्न था। वहाँ गार्हस्थ्य जीवन में फेरफार करने की आवश्यकता नहीं थी; किंतु तुर्की में यह बात नहीं है। जब तक वहाँ के गार्हस्थ्य जीवन में परिवर्तन न हो जाय, तब तक नए सुधारों का सफल होना असंभव है। आरंभ में पुराने तथा नए विचारों में एकता करने के लिये तथा तुर्की को आधुनिक बनाने और नवीन विचारों को इसलामी बनाने की दृष्टि से पुराने मदरसों के साथ-साथ नवीन प्रणाली से शिक्षा देने के लिये स्कूल खोले गए। नए कोर्ट स्थापित किए गए। और भी बहुत-से उपाय सोचे गए, किंतु फल कुछ भी न हुआ। इसलिये तुर्की के विधाताओं ने अब दूसरे ही मार्ग का अवलंबन किया है। वे लोग वहाँ के सामाजिक जीवन में भी क़ानून द्वारा क्रांति कर रहे हैं। पर्दा तथा बहु-विवाह की कुरीतियाँ क़ानूनन उठा दी गई हैं। मनुष्यों के स्वाभाविक रहन-सहन खान-पान में भी परिवर्तन करने के लिये क़ानून से ही काम लिया जा रहा है। धर्म को राज्य से पृथक् कर दिया गया है। उसका संबंध केवल समाज से रहने दिया गया है। इन कारणों से तुर्की में एक नवीन राष्ट्रीयता की उत्पत्ति हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कोई भी क्रांतिकारी दल अपने शत्रुओं को स्वतंत्रता नहीं देता। व्यक्तिगत स्वतंत्रता क्रांति के बाद आती है। तुर्क भी इसी नीति का अनुसरण करके विरोधी हलचलों को मज़बूती के साथ दबा रहे हैं। यदि ऐसा न किया जाय, तो क्रांति सफल नहीं हो सकती।

तुर्क-जाति राष्ट्रीयता की दृष्टि से अपने राज्य-प्रबंध के ढाँचे में जो कुछ सुधार कर रही है या अब तक जो कुछ किए हैं, वे सब सराहनीय हैं। व्यावहारिक सभ्यता में पश्चिमी राष्ट्र बहुत कुछ बढ़े-चढ़े हैं। उनका व्यावहारिक ज्ञान पूर्व को बहुत कुछ ग्रहण कर लेना होगा। किंतु उक्त लेखक की भाँति कोई भी स्वाभिमानी एशियावासी अंधेपन से पश्चिम की नक़ल नहीं करेगा। पश्चिम की सभी बातें अच्छी तथा पूर्व की सभी बातें बुरी हैं, यह दलील बिलकुल कमज़ोर तथा बे-बुनियाद है। कोई समझदार आदमी ऐसी बात नहीं कह सकता। योरप के बड़े-बड़े विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि मनुष्य-

सभ्यता का विकास एशिया-खंड से ही हुआ है। संसार के सब बड़े-बड़े धर्म यहीं से निकले हैं। योरप ने आज तक किसी धर्म को जन्म नहीं दिया। मनुष्य-जाति के विकास में उसकी धार्मिक प्रवृत्ति का बहुत कुछ हाथ रहा है। बहुत-सी विद्याओं तथा कलाओं का जन्म धार्मिक रीतियों के पूरा करने की ग़रज़ से ही हुआ है। भारत का इतिहास तो इसका प्रत्यक्ष साक्षी है। काव्य, व्याकरण, ज्योतिष, ज्यामिति, गणित, वैद्यक, रसायन आदि विद्याएँ धार्मिक भावों के साथ-साथ विकसित होती गईं। छापाख़ाना, काग़ज़ बनाने की विधि, बारूद का प्रयोग आदि कलाएँ सर्व-प्रथम चीन देश से जारी हुईं और शनैः-शनैः और-और देशों में फैलती गईं। चित्र-कला में आजकल संसार का कोई भी देश चीन का मुक़ाबला नहीं कर सकता। फिर भारत तो हमेशा से संसार का आध्यात्मिक गुरु रहा है, और है। इस समय में भी महात्मा गांधी तथा कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ टागोर का आदर योरप तथा अमेरिका के बड़े-बड़े विद्वान् तथा विचार-शील पुरुष श्रद्धा-पूर्वक करते हैं।

इस अवस्था में एक झाड़ू लेकर एशिया-खंड की समस्त कीर्ति को साफ़ कर देना महान् कृतघ्नता नहीं तो और क्या हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पूर्व को पश्चिम से बहुत कुछ सीखना है, किंतु पश्चिम को भी पूर्व से कुछ कम नहीं सीखना है। यदि हम अपनी सभ्यता को तिलांजलि देकर अंधेपन से दूसरों की नक़ल करते हैं, तो इसका साफ़ अर्थ यह होता है कि हमें अपनी वास्तविक सभ्यता का न तो पूरा ज्ञान ही है, और न हममें आत्म-गौरव तथा आत्म-ज्ञान की कुछ मात्रा ही रह गई है। बल्कि हम दूसरों की रीति-नीति की नक़ल करके अपने लिये स्वतंत्र बनाने की कोशिश करते हुए उलटे मानसिक भावों तथा विचारों में उनके ग़ुलाम बन रहे हैं। यह दासत्व-भाव नहीं तो और क्या है।

जिन सिद्धांतों पर योरप की सभ्यता क़ायम है, वह संक्षेप में नीचे दिए जाते हैं—

(१) मनुष्य के अधिकार। प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुआ है, और स्वतंत्र है।

(अ) इस वैयक्तिक स्वतंत्रता की यह मर्यादा रक्खी है कि एक व्यक्ति उसी हद तक स्वतंत्र है जिस हद तक वह दूसरे लोगों से यह आशा रखता है कि वे उसकी स्वतंत्रता में बाधा न डालें। स्वयं स्वतंत्र रहने के लिये किसी भी व्यक्ति को दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा नहीं डालनी चाहिए।

(ब) तन, मन तथा धन की स्वतंत्रता के बिना कोई व्यक्ति उन्नति नहीं कर सकता। विचार-स्वातंत्र्य तथा प्रेस की आज़ादी समाज के लिये अत्यंत आवश्यक है।

(स) गार्हस्थ्य जीवन। जीवन न तो पुरुष-जाति को अधिक अधिकार देता है और न स्त्री-जाति के लिये कम। व्यक्तिगत रूप से स्त्री तथा पुरुष पूर्ण स्वतंत्र हैं। उन दोनों के स्वत्वों के एकीकरण को विवाह कहते हैं, जो दोनों पार्टियों की रज़ामंदी से होता है। इस नाते को तोड़ने का नाम विवाह-विच्छेद है। यह विचार स्वाभाविक ही बहु-विवाह को नामंज़ूर करता है।

(द) राजनीतिक स्वतंत्रता। व्यष्टि का स्वार्थ समष्टि के विरुद्ध न हो और समष्टि के विधान किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक न हों। इसी को प्रजा-सत्तात्मक राज्य (Democracy) कहते हैं।

(२) राष्ट्रीयता। योरप की सभ्यता का आधार राष्ट्रीयता पर है। कोई जाति दूसरी जाति के स्वत्व को नहीं मानती। न किसी के साथ दया दिखाती है और न किसी की सहायता को बिना मतलब के दौड़ी जाती है। अँगरेज़ी जाति का ही नमूना ले लीजिए। वे लोग अपना सिगार सुलगाने के लिये सारी दुनिया में आग लगाने को तैयार रहते हैं। उनकी तरफ़ से भारत या चीन या अन्य किसी देश की सभी प्रजा क्यों न नष्ट हो जाय, वे इसकी परवाह नहीं करेंगे। हाँ, यदि उनके हित को किसी प्रकार की हानि पहुँचती दिखलाई पड़ेगी, तो वे ज़मीन और आसमान को एक कर देंगे तथा सभ्यता और मनुष्यत्व के नाम पर लंबी-लंबी अपीलें निकाल-कर अमेरिका-जैसे राष्ट्रों की बुद्धि पर पर्दा डाल देंगे और उन्हें भी उसी आग में कुदा देंगे।

योरप की सभ्यता न ईसाई है और न अंतर्राष्ट्रीय। इस प्रकार के नामों से जो संस्थाएँ चलाई जा रही हैं, वे सब धोखे की टट्टी हैं, जिनकी आड़ में बैठकर बड़े-बड़े राष्ट्र कमज़ोर जातियों का शिकार करते हैं। 'वसुधैव कुटुंबकम्' के लिये इस सभ्यता में कोई स्थान नहीं है।

(३) तीसरा नंबर है राष्ट्रीय संपत्ति का। आधुनिक सभ्यता का आधार राष्ट्रीय संपत्ति पर है। इसका मुख्य

उद्गम इंजिनियरिंग तथा खानों से संबंध रखनेवाले व्यवसाय हैं।

विवाद-ग्रस्त विषयों को छोड़कर हमें यहाँ यह देखना है कि इस सभ्यता से क्या-क्या बातें हम ले सकते हैं। मनुष्य-स्वत्व से संबंध रखनेवाले पहले सिद्धांत को, केवल (divorce) विवाह-विच्छेदवाले अंश को छोड़कर, हमें पूर्ण-रूप से ग्रहण कर लेना होगा। क्योंकि विवाह-विच्छेद-संबंधी क़ानून के दुष्परिणाम योरप तथा अमेरिका को देखने से साफ़ ज़ाहिर हो रहे हैं। वहाँ विवाह-विच्छेदों (divorces) की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है और गार्हस्थ्य जीवन में अशांति फैल रही है। हिंदू-जाति का विवाह-संबंधी आदर्श बहुत ऊँचा है। हमें अपने आदर्श से नहीं गिरना चाहिए। किंतु स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार देने होंगे। बहु-विवाह, बाल-विवाह तथा वृद्ध-विवाह को क़ानूनन् रोक देना होगा। पति-भक्ति के साथ-साथ पुरुषों को पत्नी-भक्ति भी सिखानी पड़ेगी। दोनों पार्टियों को ही संयम सीखना होगा। एक हाथ से ताली बज नहीं सकती। सब बातों में विधि-निषेध दोनों वर्गों के लिये समान रीति से ही रक्खे जायँगे, तभी सामाजिक उन्नति तथा गार्हस्थ्य जीवन सुखमय हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

दूसरी बात है राष्ट्रीयता की। हमारी राष्ट्रीयता दूसरी जातियों के राज्य हड़पने या उनका ख़ून चूसनेवाली न होगी। हमें पश्चिमी देशों की स्वार्थमयी राष्ट्रीयता को दूर से ही प्रणाम कर देना होगा। एक समय था, जब देश-भक्ति का भाव बहुत उच्च समझा जाता था। किंतु अब यह सिद्धांत संकुचित समझा जाता है। यह समय अंतर्राष्ट्रीय सभ्यता का है। मनुष्य-समुदाय के विचारों में क्षण-क्षण परिवर्तन हो रहे हैं। विज्ञान के द्वारा समय तथा दूरी कम की जा रही है। अब कोई एक जाति अधिक काल तक न तो मौजूदा संसार से पृथक् हो रह सकती है, और न एक जाति दूसरी जाति को सदा ग़ुलामी में रख सकती है।

तीसरी बात संगठित उद्योग-धंधे (Organised industries), संगठित पूंजी (Organised finances) तथा बड़े पैमाने पर माल तैयार करने (Large scale production) से संबंध रखती है। इस संबंध में भी पिछले ५० वर्षों में लोगों के विचारों में बहुत क्रांति हुई है। उपर्युक्त प्रचलित प्रणालियों के गुण-दोषों का मनुष्य-जाति को काफ़ी अनुभव हुआ है। साम्यवाद ने बहुत-से पुराने सिद्धांतों की जड़ खोखली कर दी है। व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकारों के संबंध में पूरा आंदोलन उठ खड़ा हुआ है। जिन देशों में संगठित उद्योग-धंधे चल रहे हैं, उनमें पूंजीपतियों तथा मज़दूरों में ख़ूब वैमनस्य फैल रहा है। व्यावहारिक रीति से इसका किस प्रकार से निपटारा हो सकता है, इस समस्या को अभी कोई राष्ट्र हल नहीं कर सका है। इसके निपटारे के बिना संसार में शांति होना असंभव प्रतीत हो रहा है। भारतवर्ष में यह समस्या ऐसी जटिल नहीं है, जैसी कि योरप आदि पश्चिमी देशों में है। भारत भारत ही है और योरप योरप ही। इसलिये इस देश की आर्थिक समस्या यहाँ के देश-काल पर दृष्टि रखते हुए ही हल होनी चाहिए। इस देश में न तो बड़े पैमाने पर खेती होती है और न माल ही तैयार किया जाता है। अधिकांश किसानों के पास छोटे-छोटे ज़मीन के टुकड़े (Small holdings) हैं और उद्योग-धंधे भी यहाँ अभी प्रारंभिक अवस्था में हैं। धन का असमान विभाग नहीं है। इस बारे में जो कुछ थोड़ी बहुत ख़राबी है, वे क़ानून के द्वारा ठीक की जा सकती हैं।

यह युग पूर्वी तथा पश्चिमी सभ्यताओं के संघर्ष का युग है। इस प्रकार के संघर्ष संसार के इतिहास में पहले भी हो चुके हैं। उनसे मनुष्य-जाति को लाभ ही हुआ है। सिकंदर की चढ़ाई से संसार की दो महान् जातियों हिंदू तथा यूनानियों को एक दूसरे की सभ्यता देखने का लाभ हुआ और फल-स्वरूप दोनों जातियों ने परस्पर एक दूसरे से बहुत-सी बातें सीखीं। किंतु हरएक समय की समस्याएँ अलग-अलग हुआ करती हैं। इस समय पश्चिमी विज्ञान की कृपा से जाने-आने के मार्ग अत्यंत सरल तथा सुगम हो गए हैं। प्रचारादि के साधन भी बढ़ते जाते हैं। एक समय था जब छापेख़ाने के आविष्कार ने मनुष्य-जाति के ज्ञान की अभूतपूर्व वृद्धि की। भाप के प्रयोग ने मार्ग की कठिनाई एकदम कम कर दी तथा उद्योग-धंधों की काया पलट दी। पुराने ढंग की दस्तकारी बहुत अंश में संसार से उठ गई। संसार के व्यापारिक क्षेत्र में स्पर्धा बढ़ गई। बिजली के आविष्कार ने भाप से चलनेवाली कलों की क़द्र घटा दी। अब रेडियो का समय आया है। थोड़े दिनों में संसार के बड़े-बड़े राजनीतिक पुरुषों के भाषण संसार-भर के ग्राम-ग्राम में सुनाई पड़ सकेंगे। समाचार-पत्रों का महत्त्व घट

जायगा। शिक्षा-प्रणाली का ढंग एकदम बदल जायगा, (Television) टेलीविज़न की चर्चा चल रही है। न मालूम और क्या-क्या बातें भविष्य के गर्भ में हैं।

यह सब कुछ मनुष्य की सुख-सामग्री बढ़ाने के लिये हो रहा है। आधुनिक प्रगति में कई दोष बड़े भारी हैं। आवश्यकता से अधिक पार्थिव पदार्थों की वृद्धि करने पर ज़ोर दिया जा रहा है। जाति, रंग और देश-विशेष का ध्यान रखकर, वैज्ञानिक लोग समर-भूमि में विजय प्राप्त करने के लिये विनाशकारी अस्त्र-शस्त्र तथा गैस आदि के आविष्कार में लगे हुए हैं। क्या ही अच्छा हो, यदि उनका ध्यान इस ओर से हटकर मनुष्य-जाति के शत्रु, जरा, मृत्यु और रोग के निवारण करने की ओर लग जाय। विज्ञान की उन्नति बुरी नहीं है, किंतु वह मनुष्य-जाति को जिस ओर ले जा रही है, वह बहुत हानिकर है।

दूसरी बात यह है कि विज्ञान की चमक-दमक के सामने आत्म-ज्ञान की ज्योति कुछ मलिन-सी दिखाई देती है। अधिकांश विज्ञान-वेत्ता इस बात की कुछ परवाह नहीं करते कि आत्मा नाम का कोई तत्त्व है भी या नहीं। इसी कारण धार्मिक भावों का ह्रास हो रहा है और वास्तविक सुख घट रहा है। वास्तविक सुख क्या है? इसकी खोज हमारे पूर्वजों ने खूब की थी। उसका पता भी उन्होंने लगा लिया। आधुनिक विज्ञान पदार्थों के बाह्य रूप-रंग, परमाणु आदि की खोज करता है। वह इससे आगे नहीं बढ़ता, किंतु हमारे ऋषियों का ढंग दूसरा था। वे समझते थे कि ज्ञान अनंत है। यदि एक मनुष्य किसी एक साधारण पदार्थ के बाह्य रूप, गुण आदि की परीक्षा आरंभ करे, तो उसी में उसकी सब आयु समाप्त हो जायगी। फिर संसार के पदार्थ तथा उनके गुणों का क्या ठिकाना है। अभी हमारी पृथ्वी पर ही अनेकों ऐसे पदार्थ पड़े हुए हैं, जिनके विषय में मनुष्य को बहुत कम ज्ञान है। फिर अगणित सूर्य, चंद्र, तारा-गण तथा नक्षत्रों का तो कहना ही क्या है। अनंत ब्रह्मांडों का बाह्य दृष्टि से ज्ञान प्राप्त करना किसी भी मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। इसलिये उन्होंने शाखा-प्रशाखाओं के बाह्य रूप-रंग की ओर विशेष ध्यान न देकर, उसके मूल में कौन तत्त्व है, इसी की खोज की थी। इसी ज्ञान को वास्तविक ज्ञान ठहराया और इसी ज्ञान को मनुष्य का अंतिम ध्येय भी निश्चित किया।

आधुनिक विज्ञान की खोज कहाँ समाप्त होगी, यह कोई नहीं बतला सकता। संभव है, आधुनिक विज्ञानाचार्यों को भी लौटकर, इसी रास्ते पर आना पड़े। आरंभ में लगभग सभी पश्चिमी विज्ञानाचार्य नास्तिक हुआ करते थे, किंतु अब यह बात नहीं है। आत्म-संबंधी ज्ञान की ओर संसार के बड़े-बड़े विज्ञान-वेत्ताओं का ध्यान जाने लगा है।

हमारी तुच्छ बुद्धि में जहाँ तक शरीर-रक्षा तथा सांसारिक उन्नति से संबंध है, वहाँ तक वैज्ञानिक साधनों को अपनाना चाहिए। समाज-हित की दृष्टि से जितना संभव हो, उनका उपयोग भी करना चाहिए। किंतु उक्त ग्रंथ-कर्ता की भाँति संसार की महान् आत्माओं के निर्दिष्ट मार्ग का एकदम तिरस्कार करके 'खाओ, पियो तथा मौज करो' वाले मार्ग का अवलंबन करना, अपने हाथों अपने विनाश की तैयारी करना है।

यह संघर्ष आदर्शों का है। खरी चीज़ के सामने खोटी चीज़ टिक नहीं सकती। पश्चिमी सभ्यता के प्रगाढ़ भक्तों को यह बात भूलनी नहीं चाहिए कि एशिया-खंड ने ही समस्त संसार को ज्ञान दिया तथा सभ्य बनाया है। संसार के बड़े-बड़े धर्मों का जन्म भी इसी खंड में हुआ था। जिन बातों पर मनुष्य-जाति की सभ्यता क़ायम है, उनका उद्गम यहाँ ही है। एशिया में अब भी अपनी पैतृक-संपत्ति की रक्षा करने की काफ़ी शक्ति है। उसकी प्राचीन जातियाँ जाग रही हैं। वे फिर से संसार की मार्ग-दर्शक बनेंगी। चीन तथा भारत ने बड़े-बड़े तूफ़ानों का सामना करके भी अपनी सभ्यता की रक्षा की है। हमें पूर्ण विश्वास है कि पश्चिमी सभ्यता का बेड़ा गंगा के दहाने में आकर डूब जायगा।

भारत-माता के सुपुत्र महात्मा गांधी, रवींद्रनाथ टागोर तथा जगदीशचंद्र वसु-जैसे महापुरुषों ने पश्चिमी जगत् का ध्यान भारत की ओर खींचा है। पश्चिमी देशों में भी अनेकों विद्वान् ऐसे हैं, जो आधुनिक सभ्यता की बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान खींच रहे हैं। इनमें श्रीरोमन रोलाँ, श्रीबर्नार्ड शा तथा एस० जी० वेल्स के नाम उल्लेखनीय हैं। हमें पूर्ण आशा है कि भारत, आधुनिक तुर्की की भाँति, सभी बातों में पागलपने से योरप की नक़ल नहीं करेगा, किंतु चतुर हंस की भाँति वारि-विकार को छोड़, केवल पय का ही पान करेगा।

त्रिलोकचंद्र माथुर

प्रबोध

हाय रे, अभागे कवि !
रुद्ध हुआ है क्यों तेरी
कविता का कल-स्रोत ?
कविता की वाणी तेरी
इस वसंत-काल में
मलिन और मूक है !
भर रहा ठंडी साँसें
किस लिये बोल तो रे ?
किस लिये तू म्लान है
दुखित और उद्भ्रांत ? १०
कैसी तेरी साधना है
दुःखांत, उच्छ्वास-पूर्ण !
कठोर तपश्चर्या में,
तेरा यह भव्य रूप ;
मलिनता से पूर्ण है ?
हे अविचल साधक !
निर्विकार गांभीर्य को
कर रहा है प्रस्तुत
तेरा कठिन मार्ग भी !
अविचल मौन व्रत, २०
कष्ट-साध्य सिद्धि का भी
कर रहा है संकेत !
अभागे उन्मत्त कवि !
करता है अनुसरण
इस पवित्र मार्ग का ;
और भरता है साँसें,
ठंडी, हृदय-बेधक —
दुख के आवेग से तू
करता है अश्रु-पात —
कपोलों पै अश्रु-विंदु ३०
ढुलकते हैं धीरे से ;
और फिर लेता है तू
दीर्घश्वास, उच्छ्वास भी —
किस प्रेयसी के लिये
गूँथता है मुक्ता-हार ?
आज तेरा मुक्त मार्ग
किस अदम्य बाधा ने
कर दिया अवरुद्ध ?
जिसकी गुरु मार से
बेतस के पत्र का-सा ४०
काँपता है तेरा हिया ?
किसका संकेत मात्र
करता है तुझे बोझ
निराशा से परिपूर्ण ?
सुना तो मुझे, किसके
बंकिम कटाक्ष से रे,
नष्ट हुआ : तेरी आज
कविता कोमलांगी का
कमनीय वैभव भी !
कल्पना की निर्झरिणी ५०
कौन-से ज्वालामुखी की
भयंकर ज्वालाओं में
समा गई, दुखी कवि !
भावों का विहंग-दल
सोता था सुख की नींद
घने पत्तों की छाया में,
अपने निज नीड़ में
तब क्यों एक दिशा से
उठा छोटा-सा बादल ?
तब क्यों हुआ बादल ६०
एक विकराल मेघ !
तब क्यों पवन के
भीषण झकोरे चले ?
तब क्यों बरसा हुई
अमित, मूसलधार ?
भयावनी रजनी के
अगाध अंधकार में
वृष्टि का प्रभात-काल
क्योंकर आया अभागा
दिखाने को सर्वनाश : ७०
भोले विहंग-दल का,
अपनी प्रभा लेकर ?
समाधि-गत भावों को
मत जगाओ, हे कवि !
अपनी व्यथा से तुम ।

वेदना जगेगी, देखो,
सांत्वना का सार सभी
होगा अभिशाप प्यारे!
आँखें पसार करके
देखो तुम दृष्टि भर ८०
प्रेम-विह्वल ऊषा में
नव वसंत का नव्य
कंपित चरण-भंग—
आज उद्भ्रांत होकर
उद्भ्रांति के प्रभाव में
नृत्य कर झूमता है
देखो, वह चहुँ ओर—
जिस ओर डोलती है
विह्वल वासंती वायु,
वहीं कूक उठती है ९०
कोमल नवेली सखी;
वहीं सुन पड़ता है
वसंत-चरण-भंग ;
वहीं फेंकती है रति
गूँथा हुआ पुष्प-हार।
वहीं हाय, मारता है
काम विष-बुझा तीर—
डोलते हैं तरु, पात,
डोलता है प्रतिपल
प्रस्फुटित वसंत का १००
प्रेम-पिपासित हिया!
काम का विषाक्त तीर
भेदता है वसंत के
कोमलतर हृदय को,
चूमता है विह्वल हो:
प्रस्फुट कुसुम-हार—
माँगता है दीन होके
प्रेम की अमूल्य भिक्षा—
मिलती है भिक्षा वह
तो भी नहीं मिटती है, ११०
प्रेम की पिपासा हाय!
उसका अरुण राग
बिखरता है भूमि पै
संपूर्ण विकास ले के;
हाय, संपूर्णता में
अपूर्णता की वेदना
छिपी हुई रहती है
कुसुम में कीटाणु-सी।
सारा माधुर्य जिसका
चूसता है प्रतिपल १२०
नारकी कीटाणु हाय!
मध्याह्न में वसंत, हा,
भरता है तप्त श्वास;
उसी समय कोकिला
कुहू-कुहू कूकती है
उसका सँदेशा ले के
विटपों को डाल-डाल—
हाय रे प्रणय! तू है,
माया-मरीचिका का-सा—
प्यासा हरिण, रे तुझे; १३०
पाने की अनंत चेष्टा
करता है, थकता है
और देता है प्राण भी;
पर, निष्ठुर, निर्मम,
कसकता नहीं तेरा,
पल को न हृदय क्यों?
छलकता हुआ देखकर
सौंदर्य-सुधा का सार,
तेरे सुवर्ण पात्र में;
घूँट भर पीने के लिये १४०
बढ़ाता है वसंत हा,
अतृप्त ओष्ठाधरों को,
पर, तेरी भावना से
होता नहीं रस-सिक्त
ओष्ठों का भी अल्प कोण—
प्रणय! हाय प्रणय!!
अपने हृदय में ले
वंचना का विष-रूप
धारण किया है तूने
सौंदर्य का छद्म वेश— १५०
छलता है प्रतिपल
सरल, विमल और

उद्भ्रांत प्रेमिकों को तू !
हाय रे, अभागे कवि !
किस लिये गूँथता है
अश्रुओं का मुक्ता-हार ?
श्रेयसी जो प्रेयसी है,
तेरे कवित्व-कृति की
उसके चरण दिव्य
पड़ेंगे न यहाँ कभी ! १६०
छोड़ दे अकाज निज
आज आकर छिप जा
वेदना से परिपूर्ण
वसंत के हृदय में !
और छिपा ले उसमें
वेदना से कंटकित
अपनी प्रणय वाणी !
वेदना के उभय स्रोत
बहेंगे उन्मत्त होके
पड़ेगी विमल छाया १७०
किसी समय आकर
पूर्णता की उस पर—
भावना पुनीत तेरी
पल में सफल होगी,
प्रकटित होगी, तेरी
कामना का साम्राज्य !
प्राप्त होगी प्रेमिका की
वांछित चरण-रेणु— १७८

मंगलप्रसाद विश्वकर्मा

विरहिणी

बरति जरति-सी जु परसत गात काहू
झरसति अंग-अंग बढ़ति बिहाली है ;
पाय कै सुऔसर दबोचत दवारि-सम
वारि विरहाग नेह सींचनि उताली है ।
कैसो सीतकर ? चंड करते प्रचंड अति
रवि कै सरोज-जाल आई जनु काली है ;
लालो-लाली आँखें काढ़ि आली यह साँझही ते
बेधति करेजहिं सलाखें करि लाली है ।

त्रिभुवननाथसिंह 'सरोज'

संस्कारों का महत्त्व और उपयोग

कभी-कभी कुछ लोग यह प्रश्न किया करते हैं कि पाठशालाओं और कॉलेजों में जो अनेक बातें पढ़ाई जाती हैं, उनमें क्या लाभ है ? यदि केवल वे ही बातें पढ़ाई जायँ, जिनका जीवन में प्रत्यक्ष उपयोग है, तो क्या काम न चले ? अनेक बातें पढ़ने में श्रम, समय और धन ख़र्च करने से क्या लाभ है ? इनमें से कई बातें ऐसी होती हैं, जिनका हमें कभी उपयोग नहीं करना पड़ता । इनको पढ़ने में व्यर्थ सिर खपाने से क्या लाभ ? इनके बदले यदि हम आगे चलकर जिस उद्योग में पड़ेंगे, रोटी-पानी के लिये जो काम हमें करने होंगे, उनका ज्ञान प्राप्त किया जाय, तो क्या लाभ न होगा ? इस प्रकार के प्रश्न हमारे देश में नित्य ही कहीं-न-कहीं लोगों के मन में उठा करते हैं और कभी-कभी अच्छे पढ़े-लिखे पुरुष भी इसी प्रकार कहा और लिखा करते हैं ! विचार करने की बात है कि इस विचार-पद्धति में कोई दोष है या नहीं । निम्न-लिखित विवेचन से यह देख पड़ेगा कि उपर्युक्त विचार-पद्धति अधिकांश में सदोष है । इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि पाठ्य विषयों के जो-जो क्रम पाठशालाओं और कॉलेजों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के लिये निर्धारित किए गए हैं, वे संपूर्णतः निर्दोष हैं । यह लेखक कई बार लिख चुका है कि पाठ्य-विषयों के क्रम में बहुतेरे सुधार करना आवश्यक है । तथापि यह हमें मानना चाहिए कि पाठशालाओं और कॉलेजों के पाठ्य-विषयों को उपर्युक्त विचार-पद्धति के अनुसार कुछ लोग जितना संकुचित करना चाहते हैं, उतने संकुचित वे तत्त्वतः नहीं बनाए जा सकते । साथ ही, हमें यह भी जान लेना चाहिए कि वे कौन-कौन-सी बातें हैं, जिनको एक बार जान लेने पर अथवा जिनके प्रभाव एक बार मन या शरीर पर होने से हमारे जीवन में बुरे या भले परिणाम हुआ करते हैं ।

वास्तविक बात यह है कि हमारे जीवन की भलाई

और बुराई हमारे 'संस्कारों' पर अवलंबित होती है। यह स्पष्ट बता देना आवश्यक है कि 'संस्कार' से हमारा मतलब हिंदुओं के केवल 'सोलह संस्कारों' से नहीं है। हमारी मानसिक वृत्ति, ज्ञान, आचरण और कला पर हमारी शिक्षा और कार्यों के जो कोई परिणाम होते हैं, वे सब 'संस्कार' शब्द के अंतर्गत हैं। इससे यह मालूम हो सकता है कि इस शब्द का हमारा अर्थ बहुत विस्तृत है। हम इस लेख में इस शब्द का इसी विस्तृत अर्थ में उपयोग करेंगे।

परिणाम-भेद की दृष्टि से समस्त संस्कारों के तीन विभाग किए जा सकते हैं। प्रथम भेद में वे संस्कार आते हैं, जो साधारणतया 'ज्ञान' को बढ़ाते हैं। दूसरे वर्ग में वे सब संस्कार सम्मिलित हैं, जिनके कारण हम संसार में विशिष्ट प्रकार का आचरण करते हैं। इसमें हमारी मनोवृत्तियाँ भी शामिल हैं, क्योंकि मनोवृत्तियों का दृष्ट-रूप आचरण ही होता है। यह भी हमें यहाँ बता देना चाहिए कि लोग 'आचरण'-शब्द का जो संकुचित अर्थ करते हैं, उससे हमारा इस शब्द का अर्थ अधिक विस्तृत है। वास्तव में बोलने, बताने और प्रत्यक्ष कार्य करने में हम संसार में जो कोई व्यवहार करते हैं, वह सब इस शब्द से ध्वनित होता है। संस्कारों के तीसरे भेद में हमारी कला, हुनर, कौशल और नैपुण्य आते हैं। सारांश यह कि इन सबको 'कला' ही कहना चाहिए। इस वर्ग-भेद से हम जान सकेंगे कि संस्कारों का हमारे जीवन में कितना महत्त्व और उपयोग है।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, लोग अधिक तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान की उपयोगिता के विषय में ही प्रश्न किया करते हैं। इसलिये ज्ञान के संस्कारों के उपयोग का विचार ही प्रथम करना चाहिए।

बहुतेरे शिक्षा-शास्त्रज्ञों का यह मत है कि मनुष्य के ज्ञान का कोई भाग ऐसा नहीं है, जिसका जीवन में व्यवहारोपयोगी मूल्य नहीं है—ज्ञान के प्रत्येक अंश का जीवन में उपयोग होता है। कुछ लोग ऐसे होंगे, जो इस तत्त्व को नहीं मानते। तथापि उन्हें भी यह मानना होगा कि (१) कुछ ज्ञान का जीवन में प्रतिदिन प्रत्यक्ष उपयोग है, (२) कुछ ज्ञान का उपयोग, उच्च वर्ग का ज्ञान प्राप्त करने के लिये होता है, (३) कला और उद्योग-धंधों की उन्नति के लिये कुछ ज्ञान का उपयोग है, (४) कुछ ज्ञान से मनुष्य की जिज्ञासा-प्रवृत्ति का संतोष होता है, (५) कुछ ज्ञान से हम आवश्यकतानुसार उचित विचार कर सकते हैं, (६) कुछ ज्ञान से हम अपने समाज के उचित अंग बन सकते हैं, और (७) कुछ ज्ञान से हम उच्च आनंद प्राप्त कर सकते हैं। लिखना-पढ़ना या प्रत्यक्ष जीवन या आवश्यक गणित पहले वर्ग के सर्वमान्य और स्पष्ट उदाहरण हैं। इसी कारण इनके विरुद्ध बहुत कम आक्षेप होते हैं। तथापि जब इनका स्वरूप उच्च और सिद्धांतात्मक होने लगता है, तब उनके भी विरुद्ध लोग आक्षेप करने लगते हैं। जिस ज्ञान का उपयोग उच्च ज्ञान की प्राप्ति के लिये होता है उसके विरुद्ध आक्षेप न होने चाहिए। पर जिस समाज में उच्च ज्ञान का मूल्य ही नहीं, वहाँ "मूले कुठारः" के न्याय से पहले यही प्रश्न होगा कि उच्च ज्ञान से हमें यदि अधिक धन नहीं मिल सकता, तो उच्च ज्ञान का साधक ज्ञान प्राप्त करके करना ही क्या है? कला और उद्योग-धंधों के ज्ञान की दशा हमारे देश में बहुत बुरी है। इनके लिये अब तक उचित प्रबंध है ही नहीं। फिर लोग यह क्योंकर जान सकते कि कला और उद्योग-धंधों का अच्छा ज्ञान और प्रावीण्य प्राप्त करने के लिये कुछ मूल-भूत ज्ञान की आवश्यकता है।

जिज्ञासा का मूल्य हमारे देश में कुछ है ही नहीं। लोग यह जानते ही नहीं कि आत्म-संतोष और मानसिक आनंद का भी जीवन में कुछ उपयोग है। ऐसी दशा में वे यह कैसे समझ सकते हैं कि जिज्ञासा की प्रवृत्ति ने कई बार ऐसे ज्ञान की उत्पत्ति की है, जिसका मनुष्य के जीवन की भौतिक उन्नति के लिये उपयोग हुआ है। पाँचवें प्रकार के ज्ञान का उपयोग लोगों को तब ही कुछ-कुछ जँचता है, जब वे किसी कठिन अवस्था में पड़ते हैं और उन्हें खूब सोचना-विचारना और पूछना-ताछना होता है। अन्यथा वे समझते हैं कि इसके लिये जो ज्ञान आवश्यक है वह वास्तव में निरर्थक है। छठे प्रकार के ज्ञान की तो हमारे भारतवासियों के पास कुछ भी क़ीमत नहीं है। हम तो रात-दिन दाल-रोटी के प्रश्न को हल करने में लगे हुए हैं। हम कब सोच सकते हैं कि ज्ञान से जीवन कुछ

सुखी हो सकता है, कुछ क्षण के लिये हम इस कष्टमय संसार के कटु वायु-मंडल से ऊँचे उठकर उच्च विचारों में लीन हो सकते हैं ? हमारी आर्थिक परिस्थिति का तो इस दिशा में बुरा परिणाम हुआ ही है, पर पाश्चात्य संपर्क के अधूरे प्रभाव का भी भाग इसमें देख पड़ता है। उनकी भौतिकता हममें अब इतना समा गई है कि 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' को हम अपने जीवन में खूब चरितार्थ करने लगे हैं और हम भूल-से गए हैं कि केवल यथेष्ट अनेक भौतिक वस्तुओं से वास्तविक सुख नहीं मिलता, वास्तविक सुख के ये केवल साधन हैं, वास्तविक सुख अंत में मन की बात है।

हमने ज्ञान के उपयोगों का जो वर्गीकरण ऊपर दिया है वह पूर्ण शास्त्रोक्त नहीं है, पर साधारण लोगों की समझ में आने लायक और काम-चलाऊ है। पर उससे यह स्पष्ट हो सकता है कि कोई भी ज्ञान निरर्थक नहीं है। जिस ज्ञान का सबको प्रति दिन उपयोग होता है, उसकी प्राप्ति के विरुद्ध कोई भी पुरुष कुछ भी आक्षेप नहीं कर सकता। बहुधा सब कोई उसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध मानते हैं। तथापि कुछ लोग संसार में ऐसे अवश्य होते हैं, जिन्हें इस प्रकार के भी ज्ञान की आवश्यकता मान्य नहीं होती। वे तो सीधा यही कहते हैं कि जिस काम से दाल-रोटी कमाने का प्रश्न हल हो सके, उसे ही सीधा सिखा दो। देहातियों की ओर उँगली दिखलाकर वे कहते हैं कि क्या पढ़े-लिखे बिना इनका काम कभी अड़ा है ? इसका सरल उत्तर पहले तो यह है कि भारत के देहातियों की दशा और शिक्षित देशों के देहातियों की दशा में आकाश-पाताल का अंतर है। इसके भले ही कई कारण होंगे, पर एक कारण यह भी है और बहुतेरे विचारशील लोग इसे मानते हैं कि हमारे ग्रामीण लोग अपढ़ हैं, संसार ने जो उन्नति की है उससे वे लाभ नहीं उठा सकते। इसी प्रश्न का जो दूसरा उत्तर दिया जा सकता है (और यह हमारे विवेचन का मुख्य अंग है) वह यह है कि ज्ञान के जो अन्य परिणाम होते हैं, और उनके हमारे मन पर जो संस्कार बहुत काल तक बने रहते हैं, उनका भी जीवन में बड़ा भारी मूल्य है। व्यक्तिगत सुख और उन्नति के लिये व्यक्तिगत सुख और समृद्धि से राष्ट्रीय सुख और समृद्धि का जो संबंध है, उसे सिद्ध करने के लिये, व्यक्ति और राष्ट्र को कठिन अवसरों का सफलता-पूर्वक सामना करने के लिये, ज्ञान की आवश्यकता होती है। सार्वजनिक शिक्षा का यह मूल-मंत्र है। इसलिये जितना ज्ञान व्यक्ति के दैनिक जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है, और जितना ज्ञान उसे अपने समाज का उचित अंग बनाने में समर्थ हो सकता है, उसको प्राप्त करना प्रत्येक के लिये आवश्यकीय है। नीति, धर्म और इतिहास, समाज-समाज में भिन्न-भिन्न होते हैं और उनको जाने बिना हम अपने समाज के उचित अंग नहीं बन सकते। भले ही हम पढ़ी हुई सब बातों को आगे चलकर याद न रख सकें, पर उनके जो परिणाम, जो संस्कार, हमारे मन पर स्थिर रहते हैं, वे बहुधा चिरस्थायी होते हैं, और उन्हीं के कारण हम दूसरे समाजों से भिन्न रीति और विचार के मनुष्य देख पड़ते हैं। ज्ञान के संस्कारों का महत्त्व यहाँ पर बड़ा स्पष्ट है।

हमने ज्ञान का जो दूसरा उपयोग बताया है उसके विरुद्ध जो आक्षेप होते हैं उनमें से एक आक्षेप का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। दूसरा आक्षेप यह किया जाता है कि सभी तो उच्च ज्ञान प्राप्त नहीं करते, फिर सबको क्यों एक ही चक्की में पीसा जाय, सभी क्यों एक ही बोझ से लादे जायँ ? पहला आक्षेप तो बिलकुल व्यर्थ है। संसार के इतिहास से यह स्पष्ट है कि उच्च ज्ञान का उपयोग हमारी भौतिक उन्नति के लिये भी है। कई लोग भूगोल-शास्त्र की पढ़ाई पर बहुत आक्षेप किया करते हैं। अनेक नामों के रटने से लाभ ही क्या ? इस पर हमारा यह उत्तर है कि जो भूगोल शास्त्र के ज्ञान से नामों के रटने का ही अर्थ करते हैं, उन्हें भूगोल-शास्त्र का वास्तविक स्वरूप ज्ञात नहीं। जो भूगोल-शास्त्र का वास्तविक स्वरूप जानते हैं, वे यह भी समझते हैं कि आज जब हम समस्त पृथ्वी भर में लेन-देन करने लग गए हैं, तब भूगोल-शास्त्र का शास्त्रीय ज्ञान हमारे लिये भौतिक समृद्धि ही की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है। यह बात भिन्न है कि किस कक्षा में भूगोल-शास्त्र के किस अंग का और किस रीति से ज्ञान कराया जाय। यह शिक्षा-शास्त्र का विषय है और उससे हमें यहाँ पर कुछ करना नहीं है। हाँ हम मानते हैं कि साहित्य जैसे कुछ विषय ऐसे हैं जिनका भौतिक समृद्धि के लिये कोई उपयोग नहीं है। पर हमारी शिक्षा में इनका कुछ अन्य उपयोग है और आगे चलकर हम इसका विवेचन करेंगे। उच्च

ज्ञान के साधक या मूल-भूत ज्ञान पर जो दूसरा आक्षेप किया जाता है, और जिसका हम अभी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं, उसमें कुछ सार अवश्य है। पर स्मरण रखना चाहिए कि 'कुछ ही सार' है, यह पूर्णतया सत्य है। उसके सत्यांश की दृष्टि से हमें यह तत्त्व ग्रहण करना चाहिए कि उच्च ज्ञान के साधक ज्ञान का उतना ही न्यूनतम भाग सबको सिखाया जाय जितना अत्यंत आवश्यक है, इससे अधिक नहीं। पर यह भी सबको मानना होगा कि यह न्यूनतम भाग सबको अवश्य सिखाया जाय। क्योंकि बालपन में ही यह कोई नहीं कह सकता कि किस बालक में आगे चलकर किस बात की योग्यता का विकास होगा। बालक में सभी प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ होती हैं, उनमें से कुछ का विनाश और कुछ का विकास होगा। यदि हम उस समय नहीं कह सकते कि किसमें आगे चलकर किस गुण का विकास होगा, तो हमें यही उचित है कि हम अत्यंत बालपन में उसके सभी गुणों का परिबोधक ज्ञान और शिक्षा उसे दें, फिर वह भले ही कितनी ही न्यूनतम क्यों न हो। इस संबंध में और एक बात ख़याल में रखनी चाहिए। शिक्षा-शास्त्रज्ञ हमें बताते हैं कि हम यह निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि आज जिस प्रकार की प्रवृत्ति बालक में देख पड़ती है, वह कुछ काल के पश्चात् वैसी ही बनी रहेगी, कई कारणों से वह कई बालकों में विनष्ट हो जाती है। आज एक प्रवृत्ति की कुछ छाया देख पड़ती है, कल दूसरी की। इसलिये जब तक बालक यथेष्ट बड़ा न हो जाय अथवा उसकी विशिष्ट प्रवृत्ति ख़ूब दृढ़ और स्पष्ट न देख पड़े, तब तक सामान्य शिक्षा ही उसके लिये आवश्यक है। इसी के संस्कारों से हम जान सकेंगे कि बालक आगे चलकर किस कार्य के योग्य होगा।

कला और उद्योग-धंधों की शिक्षा के लिये कुछ ज्ञान की आवश्यकता को समझदार लोग मानते हैं, पर साथ ही यह भी कहते रहते हैं कि वह अत्यल्प रहे, जिन बातों की बहुत अधिक आवश्यकता हो, वे ही सिखाई जायँ, अधिक नहीं। इस संबंध में यह जान लेना आवश्यक है कि आवश्यकीय अत्यल्प ज्ञान से किसी कला या उद्योग-धंधे का कुछ ज्ञान भले ही हो सकेगा, पर यदि उसका उच्च ज्ञान प्राप्त करना हो और उसमें नित्य-प्रति उन्नति चाहनी हो, तो 'आवश्यकीय अत्यल्प' से कुछ अधिक ही ज्ञान प्राप्त करना होगा। बिना सिद्धांतात्मक ज्ञान के मौलिक-विचार नहीं हो सकते, और उन्नति के लिये मौलिक विचारों की अत्यंत आवश्यकता है। हाँ, यह बात माननी ही होगी कि इस प्रकार का ज्ञान कुछ ऊँची कक्षाओं में ही दिया जा सकता है। परंतु एक बात स्पष्ट कह देनी चाहिए। किसी कला का सिद्धांतात्मक ज्ञान प्राप्त करने से ही वह कला हस्तामलक नहीं हो जाती। इसके लिये उसके सिद्धांतों का अपने कार्य में अमल करना होगा, परिस्थिति और आवश्यकता के अनुसार नए सिद्धांत बनाने होंगे या सर्वमान्य सिद्धांतों का नए ढंग से प्रयोग करना होगा। सिद्धांत स्वयं कुछ नहीं कर सकते—उनका प्रयोग करने से ही वे उपयोगी हो सकते हैं। कला में निपुणता पाने पर भले ही कोई सिद्धांतों को भूल जाय, पर वह अपना कार्य बहुत कुछ कौशल-पूर्वक करता रहेगा। और जब कभी कोई नए विकट प्रश्न उपस्थित होंगे, तो सिद्धांतों के अपने ज्ञान को दुहराकर उन्हें हल करने में वह समर्थ होगा। यह स्पष्ट ही है कि कला और उद्योग-धंधों के मूल-भूत ज्ञान की प्राप्ति की आवश्यकता उन्हें ही रहती है, जो किसी कला या उद्योग-धंधे की शिक्षा पाना चाहते हैं, दूसरों को नहीं।

जिज्ञासा की तृप्ति का प्रश्न कुछ टेढ़ा है। यह तो प्रत्येक को मानना ही होगा कि केवल जिज्ञासा की तृप्ति से जीवन का निर्वाह नहीं होता। तथापि हमें यह न भूलना चाहिए कि जीवन में जिज्ञासा की तृप्ति का भी कुछ मूल्य है, और कुछ अंश में इसकी तृप्ति होना आवश्यक है। हम पहले ही कह चुके हैं कि मनुष्य की बहुत-सी भौतिक उन्नति जिज्ञासा-मूलक रही है। किसी बात को मनुष्य ने केवल आत्म-संतोष के लिये पहले पहल जानने का प्रयत्न किया, पर उसे जानने पर, उसका अपनी समृद्धि के लिये भी उसने उपयोग किया। संसार में इस वर्ग की कई बातें हैं।

पाँचवें वर्ग का ज्ञान सबके लिये उपयोगी है। समयानुसार विचार करते जाना इस संसार में हमारे जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है। इसकी क्षमता अनुभवों से प्राप्त होती है और एक दृष्टि से देखा जाय, तो ज्ञान संसार का सुसंबद्ध अनुभव ही है। ज्ञान की प्राप्ति संसार के अनुभवों की प्राप्ति ही है। निजी अनुभव अवश्य लाभदायक होते हैं, पर वे बहुत मँहगे पड़ते हैं और

जन्म-भर में बहुत थोड़े अनुभवों की इस प्रकार हमें प्राप्ति हो सकती है। इतना ही नहीं, वरन् यह डर भी रहता है कि यदि संसार के अनुभवों से लाभ न उठाया जाय, तो हम सदैव के लिये अंधे, लूले, बधिर या पंगु हो जायँ या जीवन से ही वंचित हो जायँ। सब बातों में और सब दशाओं में निज अनुभव का आश्रय नहीं रख सकते, और न रखना ही बुद्धिमानी है। यह स्पष्ट ही है कि बिना ज्ञान के, बिना संसार के अनुभवों के, हम अपने जीवन की असाधारण समस्याओं को हल नहीं कर सकते।

नीति, धर्म और इतिहास के ज्ञान की आवश्यकता बताने में हमने छठे वर्ग के ज्ञान की आवश्यकता बता दी है। हाँ, सातवें वर्ग के ज्ञान के विषय में इतना सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह तो नहीं कहा जा सकता कि जिन्हें दाल-रोटी की विकट समस्या रात-दिन घेरे रहती है, उन्हें उच्चानंद-प्रद ज्ञान दिया जाय। ऐसा ज्ञान अकिंचनों की पहुँच के बहुत कुछ परे है। फिर, यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि ऐसे ज्ञान से लाभ उठाने के लिये कुछ मूल-भूत ज्ञान की आवश्यकता रहती है। सभी लोग साहित्य से लाभ नहीं उठा सकते। इसके लिये मनुष्य की बुद्धि और ज्ञान का कुछ विकास हो जाना चाहिए। तथापि हमें यह न भूलना चाहिए कि संसार के कुछ अनुभव और संसर्ग-जन्य ज्ञान प्राप्त होने पर हम साहित्य को कुछ अंश तक समझ सकते हैं, चाहे हम उसे भले ही समझा न सकें। समझना एक बात है और समझा सकना दूसरी। समझ सकें, तो हम साहित्य से लाभ उठा सकते हैं। एक दृष्टि से साहित्य हमारे मानवी जीवन का कुछ अंश में वास्तविक और कुछ अंश में आदर्श-मूलक दर्पण है। साहित्य को पढ़ते समय हम संसार में पाए, देखे और सुने अनुभवों को ही अपने सामने से गुज़रते देखते हैं और उन्हें देखकर हमें आनन्द होता है। जो साहित्य के नाम से अत्यंत चिढ़ा करते हैं, वे भी बिना जाने ही उससे लाभ उठाया करते हैं, और थोड़े प्रयत्न से उनका उससे अच्छा मनोरंजन हो सकता है। परंतु यदि साहित्य से हमें यथासंभव शीघ्र और भरपूर आनंद लाभ करना है, तो उस काल में अभ्यास करना ही होगा—हमें संसार के वास्तविक और आदर्श-मूलक जीवन के बहुत-से चित्र देखने होंगे, और उनका बारीकी से मनन करना होगा। तदनंतर जब कभी हम साहित्य की कोई पुस्तक उठावेंगे, तब हमें उससे लाभ उठाने के लिये विशेष श्रम न करना होगा।

अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि ज्ञान का मनुष्य-जीवन में बहुत कुछ प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष उपयोग है। इतने पर भी कुछ लोग एक प्रश्न कर सकते हैं, और यही प्रश्न बहुधा किया भी जाता है। जिस समय हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय तो वह हमारे सिर में स्पष्ट रहता है, और इस कारण उसका उपयोग हमें स्पष्ट जँचता है, पर आपको यह बात माननी होगी कि कुछ काल के पश्चात् हमारा सारा ज्ञान अस्पष्ट हो जाता है। बात ठीक है। यह बात सभी जानते हैं कि परीक्षा-भवन से निकलने पर विद्यार्थी कई बातों को भूल जाते हैं और एक साल के बाद कई बातें बहुत ही अस्पष्ट हो जाती हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारे सारे श्रम व्यर्थ हुए। यदि ऐसा ही होता, तो कोई भी बुद्धिमान् पुरुष जीवन के लिये जितना ज्ञान प्रत्यक्ष उपयोगी है, उससे तिल भर भी अधिक प्राप्त करने को न कहता। फिर हमारी पढ़ाई का, पाठशालाओं, कॉलेजों और विश्व-विद्यालयों का, कोई महत्त्व न रह जाता। फिर पढ़े और बे-पढ़े में कौन-सा अंतर रहता? पर यह तो कोई न कहेगा कि पढ़ा और बे-पढ़ा दोनों एक-से होते हैं। यदि वे एक-से नहीं होते, तो उनमें भेद क्या रहता है? भेद वही है, जिस पर हम अब तक ज़ोर देते आ रहे हैं। एक की बुद्धि और मन विद्या से 'संस्कृत' हो चुके हैं, उसकी बुद्धि और मन पर विद्या के संस्कार हो चुके हैं, उसकी सोचने की शक्ति बढ़ चुकी है, कुछ मानसिक प्रवृत्तियाँ बन चुकी हैं तो कुछ विनष्ट हो चुकी हैं, उसकी कुछ मानसिक दृष्टि बन गई है, यदि प्रयत्न किया गया हो तो आचरण भी बन चुका होगा, अब उसके सामने कुछ आदर्श हैं, जिनके अनुसार वह काम किया करता है, और सबसे बड़ी बात यह है कि ज्ञान की कुंजी उसे हासिल हो चुकी है, जिसके द्वारा वह ज्ञान का भंडार खोजकर निकाल सकता है। शिक्षा के ये परिणाम बहुत ही महत्त्व-पूर्ण हैं। ज्ञान कभी वृथा नहीं जाता। वह अपने परिणाम मानसिक संस्कारों के रूप में छोड़ जाता है। हम यहाँ उसका कुछ चिर-परिचित उदाहरण दिए देते हैं। सब उच्च शिक्षित लोग सीखी हुई भाषाओं का व्याकरण ध्यान-पूर्वक पढ़े

रहते हैं। पर पाठशालाओं से दूर होने पर, हममें से सौ-के-सौ उसे अधिकांश में भूल जाते हैं, पर सीखी हुई भाषा को साधारणतया पूर्ववत् योग्यता से लिख लेते हैं। यह कैसे संभव होता है? हमें अब यही मालूम है कि अमुक प्रयोग शुद्ध है और अमुक प्रयोग अशुद्ध, उनके नियम हम भूल गए हैं, पर उनके संस्कार बने हुए हैं। बस, उन्हीं के सहारे हम अपना काम चलाया करते हैं। इतिहास के कितने ही शिक्षक भारतवर्ष के इतिहास की घटनाओं को उतनी उत्तमता से न बता सकेंगे जितनी उत्तमता से उनके विद्यार्थी कह सुनाएँगे। तथापि शिक्षक और विद्यार्थी के इतिहास के ज्ञान में एक बड़ा भारी भेद है। एक के मन पर इतिहास के अध्ययन के इतने परिणाम हुए हैं कि वह इतिहास की घटनाओं का अच्छा विवेचन कर सकता है, पर दूसरा सब घटनाओं को मुखाग्र जानने पर भी उनका परस्पर संबंध नहीं समझ सकता। इसी महत्त्व-पूर्ण भेद के कारण शिक्षक अपने विद्यार्थियों को अपने विषय पढ़ाने में क्षम होता है। परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर किसी एल्-एल्० बी० से पूछिए कि आपने परीक्षा के लिये जिस ज्ञान की प्राप्ति की थी, क्या वह अब पूर्ववत् आपके सिर में बना है। उसे स्वीकार करना होगा कि परीक्षा के समय का ज्ञान अब सिर में नहीं है। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जिसने क़ानून का कुछ भी अभ्यास नहीं किया है, और जिसने किया है, उन दोनों में कोई भेद नहीं है। पढ़ा हुआ पुरुष बहुत काल बीत जाने पर भी, और उसका कुछ भी उपयोग न करने पर भी, बेपढ़े से हज़ार दर्जे ज्ञानवान् देख पड़ेगा। उसके मस्तिष्क पर उसके पढ़े ज्ञान के जो संस्कार हो चुके हैं, उनसे उस उस वर्ग के प्रश्नों को हल करने में थोड़ी बहुत सहायता अवश्य मिलती है। आवश्यकतानुसार वह पुस्तकें उठाकर आवश्यक ज्ञान को ढूँढ़ सकता है। क्या कोई कह सकता है कि यह योग्यता किसी काम की नहीं है?

संस्कारों के दूसरे भेद का महत्त्व सब कोई मानते हैं। कोई भी मानेगा कि 'आचरण' पर सब अच्छे संस्कारों का परिणाम होकर उसका 'संस्कृत' हो जाना इस संसार के जीवन के लिये अत्यंत आवश्यक है। इन्हीं संस्कारों के कारण एक का 'आचरण' या शील एक प्रकार का बन जाता है, और दूसरे का दूसरे प्रकार का। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि आदतों का समय पर बनना अत्यंत आवश्यक है। हम कह ही चुके हैं कि किसी विशिष्ट अवसर पर एक विशिष्ट प्रकार से काम करना, बोलना, सोचना आदि सब आचरण के अंतर्गत हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और नैतिक आदतों का समूह ही हमारा आचरण या शील है, और उन्हीं के कारण व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्नता देख पड़ती है। आदतों के बनने से श्रम और समय की बचत होती है, और हम अपना काम अधिक कौशल-पूर्वक कर सकते हैं। इसलिये सब समझदार लोग आदतों के महत्त्व को मानते हैं।

इसी से संबंध रखनेवाला संस्कारों का वह तीसरा वर्ग-भेद है, जिनसे किसी प्रकार की कला या हुनर में प्रावीण्य प्राप्त होता है। आचरण या शील के विषय में संस्कारों का जो महत्त्व है, वही कला या हुनर के विषय में है। इसलिये इस संबंध में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। बाइसिकल पर चढ़ने का उदाहरण सबके सामने है। एक बार बाइसिकल पर चढ़ना सीख लेने पर उसे सर्वथा भूल जाना शक्य नहीं है। अधिक समय बीत गया, तो इस प्रावीण्य के पुनरुद्धार के लिये कुछ अधिक समय लगेगा, पर पूरे नवसिख से कम ही। पहले के कुछ-न-कुछ संस्कार बने ही रहेंगे।

अब हम बहुत शीघ्र समझ सकते हैं कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से क्यों भिन्न होता है। आनुवंशिक संस्कार, धर्म, नीति, इतिहास के संस्कार, रीति-भाँति के संस्कार, परंपरागत आचरण के संस्कार लोगों के जीवन में इतने बद्ध-मूल हो जाते हैं कि वे अपने आस-पास के लोगों के सदृश और दूर के लोगों के विदृश बन जाते हैं। इसी प्रकार कुल की, समाज की, गाँव की, प्रांत की, और राष्ट्र की परंपरा चलती है, और हम दूसरे कुल से, दूसरे समाज से, दूसरे गाँव के लोगों से, दूसरे प्रांत के निवासियों से और दूसरे राष्ट्र के मनुष्यों से भिन्न देख पड़ते हैं। बहुधा हमें यह कहने का मौक़ा आता है कि भाई, तुम तो पढ़े-लिखे पुरुष हो, फिर तुम ऐसा क्यों सोचा या किया करते हो? इसका एक ही और सरल उत्तर है। वह है पूर्व-संस्कार। पूर्व-संस्कारों के कारण ही हम एक विशिष्ट रीति से काम करते, सोचते या इस संसार में चलते हैं। उनके बिना हमारा जीवन कष्टमय हो जावेगा। न तो हम पग-पग पर सोचने के लिये समय निकाल सकते हैं, और न इसके लिये सदैव क्षम हो सकते

हैं। यदि हमारी आदतें न बनी रहीं, तो हमें अपने जीवन में बहुत श्रम उठाने पड़ेंगे, अधिक समय लगने के कारण थोड़ा ही काम कर सकेंगे और जो कुछ करेंगे, उसमें भी भरपूर सफल न होंगे। इसलिये संस्कारों के महत्त्व को जान लेना आवश्यक है।

उपर्युक्त विवेचन से हम क्या बोध ले सकते हैं? पहले तो हमें यह न भूलना चाहिए कि कुछ सामान्य शिक्षा सबके लिये आवश्यकीय है। इस शिक्षा में कौन-कौन-से विषय रहें, उनके कौन-कौन-से भाग रहें, वे किस रीति से पढ़ाए जायँ, इत्यादि बातें शिक्षा-शास्त्र के विवेचकों पर छोड़नी होंगी। शिक्षा-क्रम के विषयों के किसी भाग-विशेष पर, पाठन-पद्धति पर या ऐसी ही बातों पर भले ही कुछ आक्षेप हो सकें, पर कुछ सर्व सामान्य शिक्षा मनुष्य के नाते मनुष्य के लिये आवश्यक है। इसपर बिना समझे-बूझे आक्षेप करना वृथा है। दूसरे, हम संस्कारों से जितना अधिक लाभ जीवन में उठाना चाहते हैं, उतने ही दृढ़ उनके परिणाम हमारे मस्तिष्क और आचरण पर होने चाहिए। इससे स्पष्ट है कि जो माता-पिता प्यार के वश होकर, अपने बच्चों में उचित समय पर अच्छे ज्ञान और आचरण का बीजारोपण कर उन्हें यथोचित रूप से संवर्धित नहीं करते, वे उनके माता-पिता नहीं, वरन् शत्रु हैं। बड़े होने पर स्वयं लड़के अपने माता-पिता को इस भूल के लिये दोष देते हैं।

संस्कारों का महत्त्व जान लेने पर हमें संस्कारों के कारणों की ओर भी दृष्टि-पात करना चाहिए। संस्कारों के कारणों के दो वर्ग-भेद किए जा सकते हैं। एक वर्ग में इस संसार की समस्त इंद्रिय-ग्राह्य वस्तुएँ आती हैं। दूसरे वर्ग में मनुष्य, उसकी समस्त संस्थाएँ और उसका संचित ज्ञान है। बालक प्रथमतः केवल कुछ अन्तः प्रवृत्तियों को लेकर इस संसार में जन्म लेता है। बाहरी वस्तुओं के संस्कार उसके मन पर होते-होते उसके मस्तिष्क में ज्ञानांकुर जमते हैं, तब कहीं वह मनुष्य के संचित ज्ञान से लाभ उठा सकता है। इससे दो बातों का बोध लेना चाहिए। पहले तो बालक में जितने अधिक ज्ञानांकुर बोए जा सकें, उसे जितने अधिक मौखिक अनुभव दिए जा सकें, उतने अधिक दिए जायँ। केवल रटंत-विद्या में और शिक्षा के आधुनिक तत्त्वों में यदि कोई महत्त्व-पूर्ण भेद है, तो वह यह है कि रटंत-विद्या में बालक को प्रत्यक्ष अनुभव कम दिए जाते हैं। आधुनिक शिक्षा-शास्त्र के अनुसार इस प्रकार के प्रत्यक्ष या मौखिक अनुभव यथाशक्ति अधिक देने के लिये कहा जाता है। हमारे शिक्षक इस प्रकार चलते हैं या नहीं, यह बात भिन्न है। पर यह तत्त्व केवल शिक्षकों के लिये ही नहीं है, उसका उपयोग समस्त माता-पिता और पालकों के लिये भी है। हमें चाहिए कि अपनी शक्ति के अनुसार इस संसार की वस्तुओं के जितने प्रत्यक्ष अर्थात् मौखिक अनुभव उन्हें दे सकें, उतने अवश्य दें। परिस्थिति का और कोई मतलब नहीं है, वह इस संसार की समस्त इंद्रिय-ग्राह्य वस्तुएँ ही हैं। भिन्न-भिन्न इंद्रियों द्वारा जितने अधिक प्रत्यक्ष अनुभव हम बालकों को देंगे, उतना ही परिपूर्ण, विशद और परिणाम-कारक उनका ज्ञान होगा और उतनी ही सरलता से वे दूसरों के ज्ञान और अनुभव से लाभ उठा सकेंगे। हमें यह कभी न भूलना चाहिए कि सारे ज्ञान का मंदिर कुछ प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर ही रचा जाता है। परिस्थिति का परिणाम यदि स्पष्टतया देखना हो, तो संसार के लोगों की धार्मिक कल्पनाओं की ओर थोड़ी दृष्टि फेर दीजिए। फिर आपको उनके परिणामों का महत्त्व जँचे बिना न रहेगा। कुछ लोगों ने पढ़ा होगा कि एस्किमो लोग अत्यंत शीत-प्रधान देश में रहते हैं। उन्हें वहाँ बड़े कष्ट के बाद कुछ मांस खाने को मिलता है। उनके देश में वनस्पतियाँ होती ही नहीं। ठंड के मारे सदैव मरे जाते हैं। इसका परिणाम उनकी धार्मिक कल्पनाओं पर हुआ है। उनके स्वर्ग की कल्पना यह है कि वहाँ खूब खाने-पीने को मिलता है और वहाँ ठंड का कष्ट नाम को नहीं है। ऐसी ही बात कम अधिक अंश में अन्य लोगों के ऐहिक और पारलौकिक विचारों में देख पड़ेगी। भौतिक परिस्थिति के परिणामों का विषय अत्यंत विस्तृत, गहन और जटिल है, और वह अधिकांश में भूगोल-शास्त्र से संबंध रखता है, इसलिये उसके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं। हमने जो उदाहरण दिया है, वह हमारे काम के लिये पर्याप्त है।

परिस्थिति के परिणामों के दूसरे वर्ग-भेद में मनुष्य, उसकी संस्थाएँ और उसका संचित ज्ञान है। इनके भी संस्कार बहुत गहरे होते हैं। विशेष कर इन्हीं के कारण एक मनुष्य, एक कुल, एक गाँव, एक समाज, एक प्रांत, एक राष्ट्र, दूसरे मनुष्य, दूसरे कुल,

दूसरे गाँव, दूसरे समाज और दूसरे राष्ट्र से भिन्न देख पड़ता है। यही 'संगति' का परिणाम है। 'संगति' के परिणामों के विषय में किसी भी समझदार पुरुष को कुछ बतलाने की आवश्यकता नहीं है। उसके परिणामों को वे जानते ही हैं। 'संगति' के परिणाम वास्तव में 'संस्कारों' के परिणामों के अंतर्गत ही हैं।

अब पाठक देख चुके होंगे कि कुछ लोग जो कभी-कभी केवल दाल-रोटी की विद्या सिखाने पर बहुत अधिक ज़ोर देते हैं, वह नितांत एक-देशीय और भ्रामक विचार है। हमारा यह मतलब नहीं है कि सामान्य शिक्षा के साथ दाल-रोटी की विद्या बिलकुल नहीं जोड़ी जा सकती या बिलकुल न जोड़ना चाहिए। कुछ अंश में ऐसा संयोग हो सकता है, और हम सदैव से कहते आए हैं कि हमारे इस भारतवर्ष में इसकी इस समय बहुत आवश्यकता है। तथापि हमें यह न भूलना चाहिए कि पहले-पहल अधिकांश में सामान्य शिक्षा ही मनुष्य-मात्र के लिये अधिक लाभकारी है। उसके संस्कार हमें इस संसार में सदैव काम देते रहेंगे, फिर भले ही हम पृथ्वी की पीठ पर कहीं भी क्यों न हों, और कोई भी काम क्यों न करते हों।

गोपाल दामोदर तामसकर

अनुसंधान

पड़ा हृदय के किस कोने में वह अव्यक्त प्रमाण-विषाद ?
कहाँ, जगत के परिवर्तन-सा पड़ा हुआ वह नीरव स्वाद ?
कहाँ अतल अंतस्तल-स्पर्शी भूतल में समतल व्यवसाय ?
कहाँ, पक्ष से हीन विहग-सा, पड़ा हुआ दुखिया निरुपाय ?
कहाँ तिरस्कृत पतित भिक्षु-सा माँग रहा है बारंबार—
एक बार बस मुझे सुना दो "तुमहूँ किया करना मैं प्यार—"?
कहाँ पथिक है चक्षु-हीन बन चलता पथ पर हो बल हीन,
कहाँ, बुभुक्षित-सा बलशाली रोता बिलख-बिलख बन दीन?
कहाँ किसी के जीवन का है अश्रुकणों से होता मोल ?
कहाँ प्रकृति की रम्यस्थली-सा हृदय दिया जाता है खोल ?
कहाँ जीव के जीवन का है हो जाना उद्देश महान—
'उस असीमता का हो जावे तेरी ही सीमा में ज्ञान—" ?
कहाँ स्नेह से दीप-शिखा को मिल जाता है जीवन-दान ?
कहाँ चरण पर, अपराधी-सा, पड़ता है नर तज अभिमान ?
कहाँ हृदय के व्यथित ताप से जल हो जाता है मरुदेश—
पतित अश्रु-कण वा निधि उनकी हो जाते हैं सब निःशेष ?
कहाँ कठोर हृदय-अनुवर्ती जल-सम-द्रवित-हृदय-विपरीत ?
कहाँ प्रकृति की "भिन्न" दशा पर इस "अभिन्न" की हो है जीत ?
कहाँ वियोग-योग-मृगतृष्णा में सुख-दुख का है आभास ?
कहाँ 'नाथ' के पास वास की स्पृहा किया करता है 'दास' ?

कैलासपति त्रिपाठी

एक वीरात्मा का वृत्तांत

(१)

सो बरस साल गुज़रे, सिसली में रोमन कैथोलिक लोगों का राज्य था। ईसाई होना उस समय का सबसे बड़ा अपराध था। चोरों, डाकुओं, और हत्यारों के लिये क्षमा थी, किंतु ईसाइयों के लिये क्षमा न थी। राज्य-कर्मचारियों के अधिकार इतने अधिक थे कि जिसे चाहते, इस अपराध में पकड़ कर गोली मार देते, कोई पूछनेवाला न था। ईसाई, अपनी जान बचाते फिरते थे। उनको खुल्लम-खुल्ला यह कहने का साहस न था कि हम ईसाई हैं, पर वे छिप-छिपकर सभाएँ करते थे। दिलों में श्रद्धा थी, वचन में साहस न था। हाँ पकड़े जाते, तो झूठ न बोलते थे, न मृत्यु से डरते थे। उस समय उनकी धर्म-शक्ति को देखकर लोग दंग रह जाते थे। कर्मचारी कहते, तुम केवल इतना कह दो कि हम ईसाई नहीं हैं, छूट जाओगे। प्राण-रक्षा की कितनी सरल विधि थी, मगर वे सूरमा थे, प्राण छोड़ देते थे, प्रण न छोड़ते थे। जब उनको लोहे के भयंकर शिकंजों में कसा जाता था, जब उनके सिर हथौड़े मार-मारकर चूर-चूर किए जाते थे, जब उनकी आधी देह भूमि में गाड़कर उन पर ख़ूनी कुत्ते छोड़े जाते थे, तो दुश्मनों की आँखें भी सजल हो जाती थीं, परंतु उन धर्म-वीरों का उत्साह भंग न होता था, न मुँह पर मलाल आता था। हँसते-हँसते मरते थे। यह शरीर की शक्ति न थी, मन की महत्ता थी, यह दुनिया की दिलेरी न थी, धर्म की निष्ठा थी।

इस अंधेर और अन्याय का राज्य यों तो सिसली के सारे इलाक़े पर था, मगर सिसली की राजधानी अकतानिया की दशा अकथनीय थी। उसका अनुमान करना भी आसान नहीं। उस समय वहाँ का गवर्नर कैंतयानस था। सिसली के आसमान ने ऐसा अन्यायी, ऐसा पाषाण-हृदय, ऐसा विलासी गवर्नर कम देखा होगा। वह खड़े-खड़े आदमियों की खाल उतरवा लेता था, जीते-जागते आदमियों को ज़मीन में दबवा देता था। लोग तड़पते थे, और वह मुस्कराता था। मानों वे मनुष्य न थे, मिट्टी के लोंदे थे। और ईसाइयों के लिये तो वह जमदूत था। उसने अकतानिया में आते ही एक घोषणा की, जिसमें साफ़-साफ़ कह दिया कि मैं इस शहर के ईसाइयों को चुन-चुनकर मौत के घाट उतारूँगा। मुझसे पहला गवर्नर बहुत दयावान् था, उसके राज्य में तुमने बड़े ऐश किए हैं। मगर अब वह ज़माना नहीं है, कैंतयानस की हुकूमत है। इस हुकूमत में साँपों और बिच्छुओं के लिये स्थान है, ईसाइयों के लिये नहीं। मैं अकतानिया की पुण्य-भूमि से इस पाप-कालिमा का चिह्न मिटा दूँगा। यह केवल धमकी नहीं थी, अकतानिया की भविष्य-नीति की घोषणा थी। ईसाई-प्रजा सहम गई। अब पुलीस जहाँ-तहाँ छापे मारने लगी। पहले आग कहीं-कहीं सुलगती थी, अब उसकी ज्वाला चारों ओर फैलने लगी।

(२)

कैंतयानस में सबसे बड़ा ऐब यह था कि वह विषयासक्त भी था, नित्य सौंदर्य और यौवन को ढूँढ़ा करता। उसके राज्य में किसी सुंदरी का सतीत्व सुरक्षित न था, जिसे चाहता, महल में पकड़ मँगवाता। उसके सामने सिर उठाने की किसी में हिम्मत न थी। वह गवर्नर था, उसके पास सेना, घोड़े, शस्त्र और धन सब कुछ था।

रात्रि का समय था, अकतानिया के गली-कूचों में अँधेरा छाया हुआ था। परंतु कैंतयानस का राज-भवन चंद्रमुखी युवतियों की ज्योति से जगमगा रहा था। कैंतयानस राज्य और मदिरा के मद में मस्त था, सौंदर्य और प्रकाश से चमकते हुए कमरे में बैठा हुआ अपने रसिक मित्रों से डींग मार रहा था—सच कहना! क्या मैंने अपनी इस आधी रात को नृत्य-सभा में अकतानिया की सबसे सुंदर कामिनियों को एकत्रित नहीं कर लिया

सब दोस्तों ने गर्दन झुका दी और कहा ठीक है, मगर सैलोनियस चुप रहा। यह चुप्पी न थी, कैंतयानस के अभिमान का खंडन था। कैंतयानस की देह क्रोध की आग में जलने लगी। बोला—क्यों सैलोनियस! तू चुप क्यों है। क्या तुझे मेरे कथन में संदेह है? सैलोनियस बोला—महाराज! मुझे आपके कथन में संदेह नहीं, न मुझमें यह साहस है। मैं स्वीकार करता हूँ कि आपके सामने इस सुंदर शहर की सबसे सुंदर युवतियाँ उपस्थित हैं। परंतु अभी यह चुनाव अधूरा है। तारे हैं, पर चाँद नहीं है।

"तो क्या अकतानिया में कोई ऐसी सुंदरी है, जो चंद्रमा की इन बेटियों से ख़ूबसूरत हो।"

'हाँ, सरकार है।'

"कौन?"

"अगशा।'

कैंतयानस चौंक पड़ा। उसे इस पर विश्वास न आया कि अगशा उन स्त्रियों से सुंदर होगी। उसने अपने माथे पर हाथ फेरा और कहा—मगर मैंने यह नाम आज से पहले कभी नहीं सुना। साफ़-साफ़ कहो, क्या वह सचमुच ऐसी परी है?

सैलोनियस—बस, कुछ न पूछिए, अकतानिया का चाँद है।

कैंतयानस—मुझे मालूम ही न था।

सैलोनियस—ये युवतियाँ उसके सामने कोई चीज़ ही नहीं। यहाँ आ जाय, तो कमरा जगमगाने लगे।

कैंतयानस—तो उसे कल यहाँ बुलवाओ।

सैलोनियस—आप देखकर दंग रह जायँगे। स्त्री नहीं, परी है। आपका हृदय खिल उठेगा। पर आसानी से बस में न आएगी। उच्च-कुल की कन्या है, माता-पिता मर चुके हैं, अब अकेली रहती है। मगर धन को तुच्छ समझती है।

विषय-वासना की आग पर तेल पड़ गया। कैंतयानस कुछ देर चुप रहा, फिर बोला—मैं ख़ुद उसके पास जाऊँगा।

(३)

यह कहकर कैंतयानस ने मित्र-मंडली को उठने का संकेत किया, और जाकर पलंग पर लेट गया, परंतु उसे नींद न आई। सारी रात अगशा की कल्पित मूर्ति, आँखों में

फिरती रही। सोचता था, कब दिन चढ़े और कब जाकर उसे देखूँ। आज उसका राजसी विस्तर अंगारों की भाँति गरम हो रहा था। उस पर लोटता था और तड़पता था। बार-बार उठता था और आकाश के तारों को देखकर झुँझलाता था। अगर उसके बस की बात होती, तो वह इस चिंता की रात और रात की चिंता, दोनों को क्षण भर में समाप्त कर देता। परंतु प्रकृति अपने नियमों को किसी भी अवस्था में नहीं बदलती।

आख़िर दिन निकला। कैंतयानस ने अपने राजसी वस्त्र पहने और अपने अस्तबल के सबसे ख़ूबसूरत घोड़े पर सवार होकर राज-महल से बाहर निकला। थोड़ी देर बाद वह अगशा के शांति-भवन के सामने खड़ा दिल में सोच रहा था, उसे कैसे देखूँ। वह गवर्नर था, अगशा उसकी प्रजा थी, वह उसके मकान के अंदर जा सकता था, वह उसे बाहर बुला सकता था, यह सब कुछ उसके लिये मुश्किल न था। मगर वह फिर भी सोच रहा था।

सहसा दरवाज़ा खुला और एक भोली-भाली लड़की फूल चुनने की टोकरी लिए हुए बाहर निकली। उसके मुँह पर चाँद की चाँदनी, फूलों की आभा, और प्रभात की छटा थी, और उसके साथ वसंत की बहार। कैंतयानस ने उसे देखा और सब कुछ समझ गया। यही अगशा थी, कितनी रूपवती, कैसी लज्जाशील, कितनी जल्दी मन को मोह लेनेवाली। कैंतयानस ने हज़ारों सुंदरियाँ देखी थीं, मगर उसके मन की जो दशा अगशा को देखकर आज हुई, वह इससे पहले कभी न हुई थी। यह स्त्री नहीं थी, देवी थी। उसके यौवन में बदल जानेवाली, मर जानेवाली, नष्ट हो जानेवाली पार्थिव शोभा न थी, स्वर्गीय आभा थी, जो कभी नाश नहीं होती। यह मोहिनी मूर्ति उन पाप-लिप्सित वासना की बेटियों से कितनी ऊँची थी, कैसी पवित्र। उनके साथ इसकी तुलना नहीं की जा सकती थी, जैसे नाली के बदबूदार कीचड़ का वर्षा के निर्मल और स्वच्छ जल से मुक़ाबिला नहीं किया जा सकता। कैंतयानस हत-बुद्धि-सा हो गया। वह आगे न बढ़ सका। उसने बोलना चाहा, मगर उसके शब्द उसके ओठों पर जम गए। जीतने आया था, हारकर लौट गया।

इसके बाद ६ महीने तक कैंतयानस वह सब कुछ करता रहा, जो प्रेमी कर सकता है। पत्र लिखे, सँदेशे भेजे, प्रलोभन दिया, दीनता प्रकट की, आत्म-हत्या की धमकी दी। पर अगशा पर कुछ असर न हुआ। उसने कह दिया कि मैं अविवाहित रहना चाहती हूँ, और इस निश्चय से अणु-मात्र भी विचलित न हुई। आख़िर प्रेम ने शत्रुता का रूप धारण कर लिया। कैंतयानस हाकिम था। एक स्त्री की इतनी मजाल कि वह इस भाँति उसकी उपेक्षा कर सके! और वह भी ईसाई स्त्री। हाँ, वह ईसाई थी और अब उसे नीचा दिखाना बहुत आसान था।

वह अबला इस समय उस दीपक के समान थी जिसके आस-पास कोई दीवार या कोई ओट न थी। ऐसा दीपक वायु के तेज़ झोंकों से कब तक बच सकता है?

(४)

आख़िर एक दिन अगशा गिरफ़्तार हो गई। अकता‑निया के लोग चकित रह गए। किसी को ज्ञात न हुआ कि अगशा का अपराध क्या है। बहुत-से लोग कचहरी में टूट पड़े। उनके दिल में सहानुभूति थी, पर साहस न था। क्या करते, क्या न करते। अगशा उनके शहर की शोभा थी। उसने कभी किसी से दुर्व्यवहार न किया था, किसी का दिल न दुखाया था। ग़रीब-अमीर सब उसके शुभचिंतक थे, वैरी कोई भी न था। उसे इस संकट में देखकर, लोग लोहू के आँसू रोते थे, पर कुछ कर न सकते थे। अगशा कचहरी में पहुँची। कैंतयानस ने पूछा—तू कौन है? तेरे माता-पिता कौन हैं? तेरा धर्म क्या है?

दर्शकों के दम रुक गए, वे सोचते थे, कहीं यह महिला ईसाई तो नहीं, अगर ऐसा हुआ, तो बड़ा ग़ज़ब होगा। कैंतयानस क़साई है, वह कभी दया न करेगा। सब आँखें उस निर्दोष बालिका के चेहरे पर थीं, मगर वहाँ कोई चिंता, आत्मिक वेदना की कोई रेखा न थी। उसने गरदन उठाकर उत्तर दिया—मेरा नाम अगशा है। मेरे माता-पिता अकतानिया के निवासी थे। मैं ईसा मसीह की चेरी हूँ।

कैंतयानस के दिल की मुराद पूरी हो गई। अब जाती कहाँ है। प्रकट में बोला—क्या तुझे ज्ञात है कि हमारे देश में इस अपराध के लिये मौत का दंड दिया जाता है?

अगशा ने निःसंकोच-भाव से उत्तर दिया—मुझे मालूम है।

कैंतयानस—और तू फिर भी कहती है, मैं ईसाई हूँ । जानती है, इसका परिणाम क्या होगा ?

अगशा—सब समझती हूँ, नादान नहीं हूँ । मगर क्या करूँ, धर्म छोड़ना मुश्किल है । जान दूँगी, धर्म न दूँगी ।

कैंतयानस—यह निर्भयता मृत्यु को सामने देखकर स्थिर न रहेगी ।

अगशा—इसकी भी परीक्षा हो जायगी । यदि मैं मरने को तैयार नहीं, तो मैं ईसाई होने के योग्य नहीं ।

कैंतयानस—ज़रा समझ-सोचकर उत्तर दे, यह जीवन और मृत्यु का प्रश्न है ।

अगशा—सब सोच चुकी, वीरात्माओं के लिये जीवन और मृत्यु दोनों समान हैं ।

कैंतयानस को क्रोध चढ़ गया । अगशा के वाक्य वाक्-बाण थे । उनमें गवर्नर के लिये कितनी घृणा थी, कैसी अवहेलना, जैसे वह उच्चपदाधिकारी न हो, कोई तुच्छ दास हो । कैंतयानस के दिल में भाले चुभ गए । उसने क्रोध से होंठ काटे, और सिपाहियों से कहा—कैदख़ाने में ले जाओ, कल फ़ैसला करूँगा ।

सारे शहर में हाहाकार मच गया । लोग कहते थे, यह न्याय नहीं, अंधेर है । कितनी धर्मात्मा लड़की है, कैसी रूपवती । उसे देखकर, आँखें ख़ुश हो जाती हैं । बोलती है, तो मुँह से फूल झड़ते हैं । क्या अब इसे भी मृत्यु-दंड दिया जायगा ?

रात को जब सब लोग सो गए, और कतानिया के गली-कूचे सुनसान हो गए, तो कैंतयानस अपने राज-महल से निकला और बंदी-गृह को चला, जहाँ उसका जीवन, उसका आत्मा, उसका भावी सुख बंद था । उसे देखकर, कैदख़ाने के पहरेदारों ने दरवाज़ा खोल दिया, और एक ओर खड़े हो गए । कैंतयानस अंदर चला गया, और कैदख़ाने के दारोग़ा से बोला—मैं अगशा से मिलना चाहता हूँ ।

थोड़ी देर बाद, वह उसकी कोठरी में था । उस समय कोमलांगी अगशा कैदख़ाने की वज्र-भूमि पर बेसुध पड़ी सो रही थी, पर उसके चेहरे पर चिंता और व्याकुलता का कोई चिह्न न था । वस्त्र क़ैदियों के थे, शक्ल-सूरत राजकुमारियों से भी बढ़कर थी । सुंदरता को बुरे कपड़े भी नहीं छिपा सकते, जैसे चाँद काली

उसके कंधे पर हाथ रखकर धीरे से बोला—अगशा !

बदलियों में भी चमकता है। कैंतयानस ने कुछ क्षणों तक लोभी आँखों से उसके मुख-कमल की ओर देखा, और तब आगे बढ़कर और उसके कंधे पर हाथ रखकर धीरे से बोला—अगशा।

(५)

अगशा चौंककर उठ बैठी। उसने घबराकर इधर-उधर देखा, और समझ न सकी कि मैं कहाँ हूँ। सहसा उसे उस दिन की सकल घटनाएँ याद आ गईं। उसने अपने बिखरे हुए बालों को बाँधा, अव्यवस्थित वस्त्रों को सँभाला, और खड़ी होकर बोली—तुमको क्या अधिकार है कि अकतानिया की किसी क्वाँरी युवती के पास रात के इस समय आओ।

शब्द कठोर थे, पर कैंतयानस को बुरे मालूम न हुए। धीरे से बोला—मैं तुम्हारी सौम्य-मूर्ति का पुजारी हूँ, और पुजारी अपनी उपास्य-देवी के मंदिर में जब चाहे, आ सकता है।

अगशा यह शब्द सुनकर सहम गई। उसका मुँह पीला पड़ गया। उसकी आँखें निस्तेज हो गईं। वह कोई उत्तर न दे सकी।

कैंतयानस ने फिर कहा—अगशा! मैंने तुमसे कितनी बार विनती की, मुझसे ब्याह कर लो, परंतु तुमने हरबार जवाब दे दिया। मैं अकतानिया का गवर्नर हूँ। सिसली का सम्राट् मुझ पर मेहरबान है। मेरे पास धन है। मैं बीमार नहीं हूँ, बदसूरत नहीं हूँ, फिर तुम क्यों नहीं मान जातीं। अगशा, मैं झूठ नहीं कहता, मैं अपने आपको बहुत कुछ समझता था, मगर जिस दिन से तुम्हें देखा है, उस दिन से अपने आपको बहुत साधारण, बल्कि तुच्छ समझने लगा हूँ। मैं समझता था, मैं गवर्नर हूँ, मेरे हाथ में शक्ति है, जो चाहूँ, कर सकता हूँ। मगर तुम्हारे सामने आता हूँ, तो सारी सत्ता नष्ट हो जाती है। अब मुझ पर दया करो, और मुझसे ब्याह कर लो। मैं आकाश के अमर देवताओं की सौगंध खाकर कहता हूँ कि मुझसे कोई ऐसा कर्म न होगा, जिससे तुम्हारा मन दुखने की संभावना हो—मैं तुम्हारी पूजा करूँगा, तुम्हारी हर एक आज्ञा का अक्षरशः पालन करूँगा।

अगशा ने इस वक्तृता को सुना, और उत्तर दिया—मैं इसका उत्तर बहुत देर पहले दे चुकी हूँ, और आज भी जब कि मेरी स्थिति बदल गई है, और मेरी स्वाधीनता पर तुम्हारे हाथों वज्राघात हो रहा है, मेरा जवाब वही है। तुम्हें जो कुछ कहना था, कह चुके, अब मेरा मंतव्य सुन लो। मुझे मौत मंज़ूर है, पर तुम्हारे साथ ब्याह मंज़ूर नहीं। तुम जो कुछ कर सकते हो, कर लो, और तुम देखोगे, मैं किसी भी दशा में तुम्हारे खूनी हाथों को चूमने के लिये तैयार नहीं। रात का समय ख़ुदा ने विश्राम के लिये बनाया है। जाओ, आराम करो, और आराम करने दो। राज्य के अपराधी से इस समय तुम्हारा क्या काम है?

कैंतयानस का सिर चकराने लगा। उसकी आँखों से आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। वह आत्माभिमानी था, वह हाकिम था, उसने शासन किया था। वह आज्ञा देने के लिये उत्पन्न हुआ था। उसकी आज्ञाओं का पालन होता था—और आज उसने अपना सिर एक साधारण लड़की के पाँव पर झुकाया, और उसने उसे घृणा से ठोकर मारकर परे हटा दिया। यह कैसा अनादर था? वह इसे सहन न कर सका। उसने अपना पाँव ज़ोर से ज़मीन पर मारा, और कड़ककर कहा—"तू अपनी मौत बुला रही है। तेरी सुंदरता को मेरी आँखें देखती हैं, जल्लाद की तलवार न देखेगी।"

यह कहकर कैंतयानस बाहर निकल गया, और अपने पीछे उस काल-कोठरी का दरवाज़ा बंद कर गया। यह एक झूठे पुरुष का झूठा प्रेम था, जो परीक्षा-अग्नि की एक आँच भी नहीं सह सकता, और क्रोध का विकराल रूप धारण कर लेता है। विशुद्ध प्रेम कभी क्रोध नहीं करता, न प्रतीकार चाहता है। वह स्वयं कष्ट उठाता है, मगर अपनी प्रेमिका की आँख में आँसू नहीं देख सकता। कैंतयानस ने दूसरे दिन हुक्म दिया—अगशा को प्राणांतक पीड़ा दी जाय।

(६)

लोगों के होश उड़ गए, सारे शहर में कोलाहल मच गया। अब तक पुरुष मरते थे, अब स्त्रियों की बारी थी। कचहरी के बाहर विस्तृत मैदान में अकतानिया के निवासी इकट्ठे थे कि देखें क्या होता है? चारों ओर पुलीस के आदमी थे कि कहीं बलवा न हो जाय। बीच में अगशा खड़ी थी, और लोगों से कह रही थी—मैं भाग्यवती हूँ, जो मुझे यह मौत नसीब हो रही है। हरएक को यह सुअवसर प्राप्त नहीं होता। यह साधारण

मौत नहीं, शहीदों की मौत है, जो जीवन से भी बढ़कर है। इससे जातियाँ उन्नत होती हैं, धर्म अमर-पथ पर चलते हैं। आदमी अपनी मौत नित्य मरते हैं, शहीदों की मौत कोई भाग्यवान् ही मरता है। क्या तुम जानते हो, मैंने कोई पाप किया है ?

लोगों ने एक स्वर से चिल्लाकर कहा—तू निर्दोष है।

"तो इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है कि मैं अपने धर्म की वेदी पर निछावर हो रही हूँ और मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी मृत्यु मेरे धर्म के भाइयों में कभी भी न मरनेवाला जीवन छिड़क देगी।"

एकाएक जन-समूह में हलचल मच गई। यह कैंतयानस का आगमन था। लोगों के दिल दहल गए। कैंतयानस ने अगशा के निकट आकर कहा—यदि तू अब भी ईसाई-धर्म का त्याग कर दे, और हमारे ज़िंदा देवताओं के सामने चलकर प्रायश्चित्त करे, तो मैं तुझे बरी कर दूँगा।

लोग डर गए, मगर अगशा उसी प्रकार अभय खड़ी थी, जैसे गरजते हुए समुद्र की भयानक लहरों में चट्टान अचल खड़ी हो। उसने उच्च स्वर में कहा—मैं अकतानिया के इस महान् जन-समूह में ऊँचे स्वर से कहती हूँ कि मैं ईसाई हूँ, और चाहे तुम मेरे एक हाथ पर चाँद और दूसरे पर सूरज रख दो, मैं तब भी अपना धर्म बदलने को तैयार नहीं।

जो ईसाई थे, वे ख़ुश हुए; जो ईसाई नहीं थे, वह हैरान हुए; मगर कैंतयानस क्रोध से पागल हो गया। उसने अपने सिर को ज़ोर से हिलाया, और हुक्म दिया—शिकंजा लाओ।

शिकंजा लाया गया। यह लोहे का नहीं, मौत का शिकंजा था। उसे देखकर, दर्शकों के दिल धड़कने लगे, मगर अगशा बेपरवा खड़ी हुई उस यंत्र की ओर देखती रही। फिर वह हँसती हुई आगे बढ़ी, और अपने हाथ-पाँव मौत के मुँह में डाल दिए। कैसा साहस था, कैसा हृदय, जो मौत के सामने भी भय-भीत नहीं हुआ। उसे यंत्रणा की चिंता न थी, मरने की चिंता न थी। उसे केवल अपनी धर्म-रक्षा की चिंता थी। यह एक अबला की परीक्षा न थी, यह अगशा की परीक्षा न थी, यह धर्म की परीक्षा थी, जिसकी कसौटी मृत्यु की आग के सिवाय और कोई नहीं है। शिकंजा कसा गया, उसके अगणित कील अगशा के कोमल शरीर में चुभ गए। हड्डियाँ टूट रहीं थीं, रुधिर बह रहा था, लोग रो रहे थे, मगर अगशा की आँख में पानी न था, न जीभ पर आह का शब्द था। वह उसी तरह सतेज, उसी तरह प्रफुल्लित थी।

कैंतयानस ने यह अभूत-पूर्व धैर्य देखा, तो उसे और भी आग लग गई। उसने हुक्म दिया—शिकंजा खोल दो, और इसे ज़िंदा आग में जला दो, यह जादूगरनी है।

आग जलाई गई, और इसके साथ ही अकतानिया के हज़ारों दिलों में आग की ज्वाला उठने लगी। कैंतयानस बाहर की आग देखता था, और ख़ुश होता था, मगर उसकी अंधी आँखें दिलों की उस आग को न देखती थीं, जो विधाता ने उसकी आग के मुक़ाबिले में जलाई थी। अग्नि प्रचंड हुई, तो अगशा के सफ़ेद कबूतर-जैसे सुंदर हाथ-पाँव को लोहे की ज़ंजीरों से बाँधा। अब दर्शकों के दिल की आग उनकी आँखों में आ गई थी, परंतु कैंतयानस की आँखें इस ओर से बंद थीं। वह दुनिया को दिखाना चाहता था कि आदमी अंधा होकर कितना नीचे आ सकता है ? उसने कुछ सोचा, और फिर कहा—इस पापिनी को इस आग के ऊपर से घसीटो।

कितना भयानक दंड था, जिसकी कल्पना से ही देह का ख़ून सर्द हो जाता है, परंतु अगशा अब भी शांत थी। मानो इस हुक्म का उससे कोई संबंध ही न था। एकाएक जल्लादों ने उसे आग के ऊपर से घसीटना शुरू कर दिया। आग की ज्वाला उठी, जैसे कोई किसी का स्वागत करने को खड़ा हो जाय। उसके कपड़े देखते-देखते जल गए। अब वह नंगी थी। अकतानिया की सबसे ख़ूबसूरत, सबसे लज्जावती क्वाँरी कन्या की यह बेपरदगी देखकर लोग सहन न कर सके। उनका ख़ून खौलने लगा, वे होंठ काटने लगे। अगशा जल रही थी, शीशे के घातक टुकड़े उसके सुकोमल शरीर में चुभ रहे थे, ख़ून के क़तरे आग पर गिरकर जल रहे थे, और परमात्मा का न्याय यह सब कुछ चुपचाप देख रहा था।

सहसा एक आदमी ने आगे बढ़कर कहा—अकतानिया-निवासियो ! तुमको लज्जा से डूब मरना चाहिए। यह राक्षस कैंतयानस, यह नर-पिशाच कैंतयानस, तुम्हारे शहर के गौरव को पाँव तले मसलता है, तुम्हारी युवती क्वाँरी कन्या को भरे मैदान में नंगा करता है, उसे बिना किसी अपराध के ज़िंदा आग में जलाता है, और तुम सामने खड़े मुँह तकते हो। अगर तुम पुरुष हो, अगर तुम्हारी

नसों में लहू, और लहू में जीवन की अग्नि है, अगर तुम्हारे सीनों में दिल, और दिल में जातीयप्रेम है, अगर तुम सभ्य हो, और सभ्यता का लेश-मात्र भी तुममें मौजूद है, तो इस खूनी भेड़िए को ज़िंदा न जाने दो।

यह वक्तृता नहीं थी, बारूद के ढेर पर आग की चिनगारी थी। दर्शक आगे बढ़े। कैंतयानस ने हुक्म दिया—पकड़ लो, यह विद्रोही है।

मगर समय पूरा हो चुका था, सिपाही भी बाग़ी हो गए। उन्होंने हथियार फेंक दिए और कहा—हमसे यह न होगा।

लोगों का उत्साह बढ़ गया। अब पुलीस भी उनके साथ थी। उन्होंने पुलीस के फेंके हुए हथियार उठा लिए, और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे—कैंतयानस को जला दो। अगाथा को आग से निकाल लो। ईसाई होना पाप नहीं है।

कैंतयानस यह देखता था, और ठंडी साँस भरता था। वह जान छिपाता फिरता था। कहाँ जाय, किधर भागे, उसे कोई आश्रय का स्थान नज़र न आता था। समय कितनी जल्दी बदलता है। अभी हाकिम था, अभी मुजरिम बन गया। वह डरता था कि अगर पकड़ा गया, तो लोग बोटियाँ नोच लेंगे। वह दया-हीन था, उसे किसी से दया की आशा न थी। वह अपने महल की ओर नहीं गया, किसी यार-दोस्त के पास नहीं गया। वह नदी की ओर भागा और एक मल्लाह की नाव में बैठकर उससे बोला—मुझे पार उतार दे, मैं तुझे मालामाल कर दूँगा।

मल्लाह ने उसे पहचान लिया और डर गया। उसे शहर का हाल मालूम न था। उसने नाव पानी में डाल दी, और खेने लगा। कैंतयानस ने शांति की साँस ली, और समझा कि प्राण बच गए। लोग किनारे पर खड़े देखते थे कि उनका शिकार हाथ से निकला जाता है, और मल्लाह को गालियाँ देते थे। मल्लाह समझता न था कि मामला क्या है, और कैंतयानस खुश हो रहा था। लोग किनारे से निराश होकर लौट गए, मगर कर्म-फल ने उसका पीछा न छोड़ा। उसकी राह में कोई नदी न थी।

घोड़ा दुलतियाँ झाड़ने लगा

संध्या-समय था, चारों ओर सन्नाटा था। कोई शब्द सुनाई न देता था, कोई शक्ल-सूरत दिखाई न देती थी। ऊपर नीला आसमान था नीचे नदी का मैला पानी, और इन दोनों के बीच में एक नाव पाप का भार लिए धीरे-धीरे उस पार आ रही थी। मगर पाप के लिये जीवन का तीर कहाँ है? उस नाव पर एक घोड़ा भी था, वह दुलत्तियाँ झाड़ने लगा। देखते-देखते नाव उलट गई, और कैंतयानस उसकी मृत्यु-तुल्य लहरों में समा गया। मल्लाह और घोड़ा बच गया। नाव भी पानी पर तैर रही थी, केवल कैंतयानस की लाश का पता न था। वह सोचता था, नदी पार उतरकर घोड़े पर सवार हो जाऊँगा। मगर उसे क्या पता था कि यह घोड़ा ही मेरा काल बन जायगा। वह अकतानिया का आग की ज्वाला से निकल आया था, परंतु परमात्मा के पानी के प्रवाह से न बच सका। कितना बड़ा आदमी था, और कैसी शोचनीय मृत्यु, जिस पर कोई शोक मनानेवाला भी न था।

उधर अकतानिया के लोग अगशा के गिर्द जमा थे, श्रद्धा के आँसू बहा रहे थे। परंतु अगशा कहाँ थी? उसे लोगों ने आग के मुँह से बचा लिया था, मगर मृत्यु के मुँह से न बचा सके। बहुत देर बेसुध रहने के बाद, उसने आँखें खोलीं और एक बार अपने चारों ओर इस तरह देखा, जैसे कोई देवी अपने भक्तों को देखती है, और फिर सदा के लिये आँखें बंद कर लीं।

सुदर्शन

मन-मिलिंद *

एक पुष्प-वाटिका को मृदु मकरंद त्यागि,
डोलै दिन द्वैहु मैं रसालन के बौर-बौर;
एक पुष्प-पाँखुरी को नेह त्यागि, नेह त्यागि,
खोजत फिरत है रसीले दल और-और।
एक को पराग अनुराग रस छोड़ि अप-
नावत फिरत है कँटीलो पथ दौर-दौर;
पान करिबे को रस आन इक ओर धरि,
डोलत फिरत है मिलिंद मन ठौर-ठौर।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

---

* कलकत्ता के कवि-सम्मेलन में पठित और प्रशंसित।

सुपति

(शेषांश)
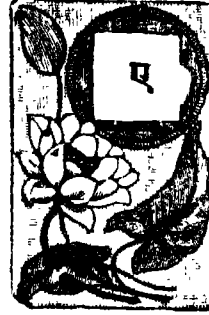
एक समय की बात है, एक मनुष्य एक दूसरे मनुष्य की निंदा कर रहा था। एक सज्जन ने उससे कहा कि जिसकी आप निंदा कर रहे हैं, क्या आप कभी उससे मिले भी हैं? आप जैसा उसे समझ रहे हैं, वह वैसा बुरा नहीं। आप पहले उससे मिलकर तो देखिए। यदि सचमुच आपको उसमें दोष जान पड़ें, तो बेशक निंदा कीजिए। बिना जाने व्यर्थ ही किसी को बुरा कहना ठीक नहीं। निंदक महाशय की स्त्री भी पास बैठी थी। वह पुरुषोचित कठोर स्वर में बोल उठी, इनको उससे मिलने की कोई ज़रूरत नहीं। मैं तो इन्हें उसके पास कभी न जाने दूँगी। उस सज्जन ने कहा कि आप इनको उसके पास जाने नहीं देंगी, यह दूसरी बात है। परंतु यदि ये उसके पास नहीं जायँगे; यदि ये ठीक-ठीक बात मालूम किए बिना ही उसकी निंदा करेंगे, तो कम-से-कम मैं तो इनको न्याय-प्रिय नहीं समझ सकता। और न मैं यही मान सकता हूँ कि इनकी कोई अपनी सम्मति है। ये सब बातें स्त्री-दास दब्बू पति चुपचाप सुनता रहा। उसके मुख से एक भी शब्द न निकला।

ऐसा दब्बू पति बड़ा ही जघन्य जीव है। उस पर किसी बात के लिये भी भरोसा नहीं किया जा सकता। क्या मालिक और क्या नौकर के रूप में वह विश्वस्त नहीं हो सकता। ऐसा मनुष्य किसी भी मामले पर और किसी भी वचन पर पक्का नहीं रहता। जिस प्रकार वायु के प्रबल झोंके के सामने सरकंडे का पेड़ झुक जाता है, उसी प्रकार गर्जती हुई चंडिका-रूपिणी स्त्री सामने वह सिर नहीं उठा सकता। पड़ोसियों की दृष्टि में (क्योंकि मित्र तो ऐसे पुरुष के हो ही नहीं सकते), नौकरों की दृष्टि में, यहाँ तक कि भिखारियों की दृष्टि में भी ऐसा मनुष्य एक नीच और घृणित प्राणी होता है, चाहे वह लाखों का मालिक और बड़ा भारी सेठ ही क्यों न हो। वास्तव में, ऐसे मनुष्य की कोई संपत्ति नहीं होती; उसके पास कोई भी ऐसी वस्तु नहीं जिसे यथार्थतः वह अपनी कह सके; वह अपने ही घर में भिखारी के सदृश पराधीन है; और यदि उसमें मनुष्यत्व

का कुछ भी अंश शेष रह गया है, और उसके निकट कोई रस्सी अथवा नदी है, तो जितनी शीघ्र वह उनमें से एक का आश्रय ले, उतना ही अच्छा है। पति के स्त्री का दास बन जाने, सदा उससे भयभीत रहने, उससे दबने से, कितने ही मनुष्य और कितने ही परिवार नष्ट हो गए हैं! फिर यदि ऐसे प्रचंड स्वभाव की स्त्री आचार-हीना भी हो, तब तो उस दब्बू पति का ईश्वर ही रक्षक है!

स्त्रियाँ सब बहनें-बहनें बन जाती हैं। क़ानून ने पुरुष को स्त्री पर बहुत बड़ा अधिकार दे रक्खा है, इसलिये उनका पुरुषों के विरुद्ध मिल जाना स्वाभाविक है। हाल में रूस के एक गाँव में एक पुरुष ने अपनी स्त्री को पीटा था। इस पर गाँव की सब स्त्रियों ने मिलकर हड़ताल कर दी। वे घर का काम-काज और बच्चे छोड़कर एक गिरजे में जा बैठीं। उनके पतियों ने उनको बलात् ले जाने का उद्योग किया। आपस में ख़ूब युद्ध हुआ और पुरुष हार गए। फिर आपस में संधि हो गई। उसमें एक शर्त यह भी थी कि कोई पति अपनी पत्नी को नहीं पीटेगा। तब वे स्त्रियाँ अपने घरों को लौटीं। यह प्रशंसनीय भी है। परंतु जहाँ "मैं कभी न जाने दूँगी" तक की नौबत पहुँच जाय, वहाँ यह एक ओर स्वेच्छाचारिता और दूसरी ओर दासता हो जाती है। इसलिये स्त्री को अनुचित दबाव डालने का स्वभाव कभी न पड़ने देना चाहिए। ज्यों ही इसके चिह्न प्रकट हों, चटपट उसे रोक देना चाहिए। कुछ परवा नहीं, चाहे तुम्हें उस काम में कितना ही कष्ट क्यों न हो। इस समय एक दिन का कष्ट भविष्य में वर्षों के कष्ट को रोक देगा। एक दिन का कष्ट भोगने का दृढ़ निश्चय न कर सकने के कारण ही अनेक पुरुषों ने अपने तथा अपनी स्त्री के जीवन को बीस-बीस और चालीस-चालीस वर्ष के लिये दुःखमय बना लिया है। जिस पर तुम इतना प्यार करते हो, जिसके सद्गुण दिन-पर-दिन तुम्हारे लिये उसे अधिक-और-अधिक प्रिय बनाते रहते हैं, उसकी इच्छाओं का विरोध करना कोई साधारण काम नहीं। इसके लिये तुम्हें बहुत कुछ सहना पड़ेगा। परंतु जब स्नेहमयी माता अपनी आँखों में आँसू भरकर भी रोते हुए बीमार बच्चे को कड़वी ओषधि पिला देती है, बच्चे को कष्ट होता है, यह जानकर भी वह बच्चे के हित से प्रेरित होकर, उसे दवाई पिलाने से नहीं झिझकती, तब तुम्हें उसके प्रति, तुम्हारे अपने प्रति तथा तुम्हारे बच्चों के प्रति उससे भी कहीं अधिक महत्त्व-पूर्ण और अधिक पवित्र कर्तव्य का पालन करने में क्यों संकोच होना चाहिए?

क्या हम अत्याचार की सिफ़ारिश कर रहे हैं? क्या हम भार्या की सम्मतियों और इच्छाओं के निरादर की सिफ़ारिश कर रहे हैं? क्या हम उसके प्रति एक ऐसी विरक्ति की सिफ़ारिश कर रहे हैं, जिससे यह ध्वनि निकलती है कि वह विश्वास्य नहीं या उसे अपने पति के कामों में रुचि नहीं? नहीं, यह बात बिलकुल नहीं; इसके विपरीत, हम यह तो पसंद करते हैं कि अप्रिय बात को उससे दूर रक्खा जाय, परंतु हम किसी शुभ और प्रसन्नता की बात का, उसे सम्मिलित किए बिना, अकेले आनंद लेने के घोर विरोधी हैं। तर्क कहता है, और ईश्वर की भी आज्ञा है, कि भार्या अपने पति की आज्ञाकारिणी हो। और सुप्रबंध की दृष्टि से भी, घर का एक मुखिया और सर्वाधिकारी होना परमावश्यक है। फिर यह बात भी स्पष्ट-रूप से न्याय-संगत है कि यह अधिकार उसीके हाथ में हो, जिसके सिर पर सारा उत्तरदायित्व है।

पति पर हुक्म चलानेवाली स्त्रियाँ प्रायः बूढ़े और दुर्बलेंद्रिय पुरुषों की युवती पत्नियाँ हुआ करती हैं। वे प्रायः निःसंतान भी होती हैं। इन्हें बाल-बच्चों के पालन की चिंता तो होती नहीं, सारा दिन स्त्रियों के साथ अपनी डींग हाँकने में बिताती हैं। अपनी संतानवाली बहनों से द्वेष रखने के कारण वे यह कहकर उन्हें नीचा दिखाना चाहती हैं कि तुम अपने पति की लौंडी हो और मैं अपने पति पर शासन करती हूँ। यह स्वाँग रचकर वे उनपर अपनी श्रेष्ठता का भाव अंकित करना चाहती हैं।

जब स्त्री अपनी बात मनवाना चाहती है और देखती है कि मेरी कुछ चलती नहीं, तो वह पति के मित्रों को अपने पक्ष में करने का यत्न करती है। "सुधा के पिता, मेरा पति कहता है कि यह बात इस प्रकार है, और मैं कहती हूँ कि यह उस प्रकार है। क्या आप नहीं समझते कि मैं सच्ची हूँ?" कहना न होगा कि सुधा का पिता, प्राण की माता, ज्ञान का चचा और रामेश्वर का बाबू, सब श्रीमतीजी को सच्ची समझते हैं, और पति को ऐसा जान पड़ता है कि वे सब उसकी पत्नी के निकट-संबंधी हैं। परंतु यह बड़ी मूर्खता की बात है। इन सुशील सज्जनों में से कोई भी अपने घर में ऐसी अवस्था को कभी पसंद नहीं करेगा। स्त्री जो कुछ भी कहे, विशेषतः अपने पति के विरुद्ध, उसकी हाँ में हाँ मिलाना

एक फ़ैशन-सा हो रहा है। और यह बड़ा ही अनिष्टकर फ़ैशन है। यह उस स्त्री की प्रशंसा करना नहीं, वरन् अनुचित प्रशंसा करके एक स्त्री के मिज़ाज को बिगाड़ना है। कोई भी समझदार स्त्री, सिवा केवल प्रमाद के, अपने पति के मित्रों से इस प्रकार की अपील नहीं करेगी। यह फ़ैशन अत्यंत घृणित होने के कारण प्रायः बड़े ही शोचनीय परिणाम पैदा कर देता है। पति के मित्रों की सम्मति से पुष्टि पाकर पत्नी दुगुनी शक्ति और दुराग्रह के साथ पति पर आक्रमण करती है, और यदि पति सिर न झुका दे, तो दस में से नौ बिस्वे तो एक झगड़ा, या कम-से-कम झगड़े के क़रीब-क़रीब ही कोई बात खड़ी हो जायगी। एक समय की बात है, एक सज्जन अपने अठारह वर्ष के पुत्र को दूकान के काम में लगाना चाहते थे। लड़के की माता, जो बड़ी समझदार और पवित्र आचरण की स्त्री थी, पुत्र से नौकरी कराना चाहती थी। एक दिन उनके घर में सात-आठ मित्र आ बैठे थे। वे सब-के-सब माता के साथ सहमत हो गए और कहने लगे कि हरिश्चंद्र को इतना पढ़ाकर दूकान कराना अच्छा नहीं लगता। उनके साथ एक स्वतंत्र विचार का अनुभवी गृहस्थ भी बैठा था। लड़के की माता ने उससे भी कहा, क्या आपकी यही सम्मति नहीं? उसने उत्तर दिया—"श्रीमतीजी, मेरे लिये ऐसे विचारणीय विषय में किसी प्रकार की सम्मति देना अनधिकार-चेष्टा है, विशेषतः पिता के निर्णय के विरुद्ध, जो ऐसी दशा में सबसे अच्छा और न्याय-संगत निर्णेता है।" वह बड़ी ही समझदार और सुशीला स्त्री थी; परंतु फिर भी उस गृहस्थ ने देखा कि वह उसकी दृष्टि में एकदम गिर गया। किंतु उसे इतनी प्रसन्नता ज़रूर हुई कि अंत को हरिश्चंद्र दूकान में ही लगाया गया।

जिस परिवार में आपस में मत-भेद हो, वह सफल कभी नहीं हो सकता। पत्नी की बात सुनी जानी चाहिए और बड़े धैर्य-पूर्वक सुनी जानी चाहिए। उसके साथ युक्ति और प्रमाण से काम लेना चाहिए और यदि संभव हो, तो उसे संतुष्ट कर देना चाहिए। परंतु इस विषय में सब प्रयत्न करने पर भी यदि वह पति की सम्मति के विरुद्ध ही रहे, तो पति की इच्छा मानी जानी चाहिए, नहीं तो वह कोई चीज़ नहीं रह जाता। वास्तव में, वह शासक हो जाती है और पति घर में रहनेवाला एक तुच्छ-सा जीव रह जाता है।

अपेक्षा-कृत कम महत्त्व के विषयों में, जैसा कि भोजन के लिये क्या-क्या चीज़ें पकाई जायँ, घर के और घरेलू नौकरों के प्रबंध, और ऐसी ही दूसरी बातों में पत्नी जैसा चाहे कर सकती है; इसमें कुछ भी डर नहीं। परंतु जब यह प्रश्न हो कि कौन-सा व्यवसाय किया जाय, किस जगह को निवास-स्थान बनाया जाय, किस ढंग से रहा जाय और कितना ख़र्च किया जाय, संपत्ति को क्या किया जाय, बच्चों को कैसे और किस जगह शिक्षा दिलाई जाय, उनका व्यवसाय और जीवन की स्थिति क्या हो, पति किनको नौकर रक्खे और किन पर विश्वास करे, सार्वजनिक बातों में वह किन सिद्धांतों पर चले, किनको अपना सहकारी या मित्र बनावे, ये सब बातें पति के लिये छोड़ देनी चाहिएँ। इन सब में वह जैसा चाहे कर सके, नहीं तो परिवार में एकता कभी नहीं हो सकती।

इस पर भी, इनमें से कुछ कामों में, विशेषतः अपने मित्र तथा साथी चुनने में, स्त्रियों की बातों को बड़े ध्यान से सुनना चाहिए। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक शीघ्र बात को ताड़ जाती हैं। किसी व्यक्ति से पहली बार मिलने पर जितनी जल्दी पुरुष उस पर विश्वास करने लग जाता है, उतनी जल्दी स्त्रियाँ नहीं करतीं। वे मित्रों पर अधिक संदेह करती हैं, प्रतिज्ञाओं और दृढोक्तियों द्वारा ठगे जाने की उनकी कम संभावना होती है। वे दूसरों के शब्दों की ख़ूब छानबीन करतीं और उनकी सूरतों को अधिक गहरी दृष्टि से देखती हैं और विशेष अवस्थाओं में उनके पक्षपातों को जानते हुए भी, इस प्रकार के विषयों में उनकी सम्मतियों और प्रतिवादों को, बिना सोचे-विचारे, तुच्छ नहीं समझना चाहिए।

एक फ़्रांसीसी लिखता है कि "मैं शत्रु-सेना से भागता हुआ लँगड़ा होकर रात को एक गाँव में एक किसान के घर जा टिका। मेरे पास राहदारी का कोई नियमित परवाना नहीं था। किसान ने मुझसे पूछा कि तुम कौन हो, कहाँ से और किस लिये आए हो? मैंने उसे उत्तर दिए। वह उनसे संतुष्ट हो गया। परंतु किसान की स्त्री ने आते ही मुझे एक निगाह में छान डाला। उसने चटपट एक लड़के के हाथ चुपके से नंबरदार को बुला भेजा। नंबरदार आ गया। मैं फ़ौरन् समझ गया कि नंबरदार से मुझे कोई डर नहीं, क्योंकि वह मेरे राहदारी के झूठे परवाने को समझ नहीं सकता था। उसको मैंने ख़ूब मदिरा पिलाई और

नशे में मस्त होकर उसने परवाने की बात सुनने से ही इन्कार कर दिया। यह देखकर घरवाली चुपके से बाहर आकर दो चौधरियों को बुला लाई। उन्होंने आकर राह-दारी का परवाना (पासपोर्ट) माँगा।

"मैंने कहा, बहुत अच्छा। पहले मदिरा पान कीजिए। तब नशे में बदमस्त नंबरदार की प्रार्थना पर मैंने एक हँसानेवाली कहानी सुनानी शुरू कर दी, खूब हँसी हुई और मदिरा पी गई। राहदारी का परवाना मेरे हाथ में रहा, परंतु इसे खोलने की नौबत नहीं आई। अब वे सब दुबारा मदिरा पीने लगे, तो मैंने परवाने को चुपके से जेब में डाल लिया। इस बीच में वह स्त्री बड़ी क्रुद्ध देख पड़ती थी। अंत को नंबरदार, चौधरी और किसान ने, जो सबके सब मदिरा में बदमस्त थे, मेरे साथ हाथ मिलाया और कहा कि तुम बहुत अच्छे आदमी हो, परंतु वह तीक्ष्ण दृष्टिवाली स्त्री, मेरी कहानियों और प्रतिज्ञाओं से धोखे में नहीं आई, और मेरे इस प्रकार से बचकर निकल जाने पर, उसे बड़ी निराशा और संताप हुआ।" जिस गुण के कारण स्त्रियाँ कठिनाई की अवस्थाओं में चटपट उपाय ढूँढ़ लेती हैं, उसी के कारण वे निमित्तों और चरित्रों की तह तक पहुँचतीं और संदेह करती हैं।

अब हम यथासंभव सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण विषय को लेते हैं। यह एक ऐसा विषय है, जिससे विवाहित जीवन दुःखमय हो जाता है, और परिवारों की शांति नष्ट हो जाती है। इसका नाम है डाह या शंका-शीलता। हम पहले पत्नी में डाह का वर्णन करते हैं। यह सदा बड़े ही दुर्भाग्य की बात होती है और प्रायः घातक सिद्ध होती है। यदि इसकी ओर स्त्री का अधिक झुकाव हो, तो इसका रोकना बड़ा कठिन होता है। परंतु इसको रोकने के लिये एक बात तो प्रत्येक पति कर सकता है, और वह यह है कि वह पत्नी को शंका के लिये कोई अवसर ही न दे। इसके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं कि वह पर-स्त्री-गामी न हो। इसके अतिरिक्त उसे प्रत्येक ऐसी चेष्टा से भी बचना चाहिए, चाहे वह कितनी ही निष्पाप क्यों न हो, जो उसके मन में थोड़ा-सा भी संदेह उत्पन्न कर सकती है, जिसकी शांति को भंग न करने के लिये वह न्याय और मनुष्यता के प्रत्येक बंधन से आबद्ध है। न वह किसी दूसरे को इसे भंग करने दे। जो स्त्री अपने पति पर मुग्ध है, और सौ में निन्नानबे स्त्रियाँ ऐसी ही होती हैं, वे नहीं चाहतीं कि कोई दूसरी स्त्री उसके पति के, न केवल प्रेम वरन् मनोनिवेश और प्रशंसा का भी कुछ अंश उससे छीन ले। इस प्रकार दूसरी स्त्री पर प्रेम प्रकट करने और उसकी प्रशंसा करने से अपने वृथा गर्व की परितुष्टि के सिवा और कुछ फल नहीं होता, इसलिये इन बातों से बचना ही चाहिए, विशेषतः जब कि इस परितुष्टि से उसके हृदय में अशांति पैदा होने की संभावना है, जिसको सुखी रखना तुम्हारा परम धर्म है।

हमारे जाने हुए लोगों में से एक युवक वकील हैं। आपका हाल में विवाह हुआ है। आप बड़े रसिक और हँसमुख हैं। आपको स्त्री भी अच्छी, रूपवती और पंडिता मिली है। परंतु आपका अपनी बड़ी भाभी से बड़ा प्रेम है। वे आपस में खूब हँसी-मज़ाक़ किया करते हैं। हम जानते हैं, उन दोनों के मन पवित्र और उनकी दिल्लगी सर्वथा निष्पाप है। परंतु उनकी नव-विवाहिता धर्म-पत्नी को पति की यह हँसी-दिल्लगी पसंद नहीं। कुछ दिन तो वह चुपचाप देखा की, परंतु अंत में, उसका धैर्य जाता रहा। स्त्री-सुलभ डाह ने उस पर अधिकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि घर में खटपट हो गई। और बढ़ते-बढ़ते उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। पति कहता था कि भाभी के साथ मेरा पवित्र प्रेम है। स्त्री के झूठे संदेह के कारण मैं भाभी से जुदा होने को तैयार नहीं। मामला यहाँ तक बिगड़ा कि वकील महाशय अपनी स्त्री का परित्याग करने पर उतारू हो गए। घर में आठों याम अशांति की अग्नि धधकने लगी। वकील महाशय का सबसे बड़ा दोष यही था कि वे नारी-प्रकृति का ज्ञान न रखते हुए अज्ञानतः ऐसी चेष्टाएँ करते थे, जिनसे उनकी धर्म-पत्नी के हृदय में संदेह और डाह का उत्पन्न होना स्वाभाविक था।

एक अनुभवी अँगरेज़ लिखता है कि मैं जिन दिनों सेना में नौकर था, मैं फ्रांस और अमेरिका में, जो भी लड़की मार्ग में मिल जाय, उसके साथ छेड़ छाड़ किया करता था। जब मेरा विवाह हो गया, तब भी मुझमें चंचलता करने का यह स्वभाव बना रहा। एक दिन मेरी स्त्री ने मुझसे बड़ी गंभीरता-पूर्वक कहा—"ऐसा मत किया करो, मैं इसे पसंद नहीं करती।" मेरे लिये इतना ही पर्याप्त था। मैंने कभी पहले इस विषय पर विचार ही न

किया था। उसके सिर का एक बाल मेरे लिये संसार की शेष सभी स्त्रियों से अधिक मूल्यवान् था, और मैं जानता हूँ, यह बात उसे भी मालूम थी। परंतु मुझे अब पता लगा कि मुझसे वह केवल इतना ही प्रेम पाने की अधिकारिणी नहीं, वह मुझसे यह भी मुतालबा कर सकती है कि मैं कोई ऐसी भी चेष्टा न करूँ, जिससे दूसरों को इस बात का विश्वास करने का अवसर मिले कि कोई दूसरी स्त्री ऐसी है, जिसके साथ मेरा अनुराग है।

विवाहित युवकों को यह बात कभी न भूलनी चाहिए; क्योंकि इसी प्रकार की किसी तुच्छ-सी बात से ही विवाहित जीवन सदा के लिये दुःखमय हो जाता है। यदि पत्नी का मन इस कारण अशांत हो, तो जहाँ तक भी संभव हो, प्रत्येक उपाय से उसे शांत करने का यत्न करना चाहिए। चाहे उसके संदेह सर्वथा निराधार हों, चाहे वे पागल के स्वप्नों के सदृश उच्छृंखल हों, चाहे वे प्रचंडता और उपहास का संमिश्रण मालूम होते हों, तो भी उन पर बड़ी सौम्यता तथा कोमलता के साथ ध्यान देना चाहिए। यदि, सब यत्न करने पर भी, तुम्हें सफलता न हो, तो इसको दुर्भाग्य समझना चाहिए, न कि दोष समझकर दंड देना चाहिए, क्योंकि तुम जानते हो कि इस डाह का मूल तुम्हारे प्रति उसका अनन्य प्रेम है और उस प्रेम का बदला किसी प्रकार की कठोरता के रूप में देना, परले दर्जे की निर्दयता और नीचतम कृतघ्नता होगी।

जो पति अपनी पत्नियों के अनुचित संदेहों को उचित संदेह बनाने की युक्ति बना लेते हैं, जो इन संदेहों को एक खेल समझकर उनमें आनंद लेते हैं, जो इन पर शेखी बघारते हैं, और इनको शांत करने के बदले इनको बढ़ाते हैं, उनके प्रति हमें कुछ नहीं कहना, क्योंकि वे हमारे परामर्श के क्षेत्र से परे हैं। परंतु जो पति इस प्रकार के नहीं, उनसे इस स्त्री-डाह को रोकने के संबंध में हमें दो-एक बातें कहनी हैं।

पहली बात तो यह है कि पत्नी का किसी दूसरे पुरुष के साथ अकेले जाना या बैठना, न तो सभ्यता के अनुकूल है और न कुलीनता का ही चिह्न है। जब पति साथ हो, तो किसी दूसरे पुरुष का स्त्री की टहल-सेवा करना और उसके आगे-पीछे फिरना शिष्टाचार के नितांत विरुद्ध है। जो लोग अँगरेज़ों की नक़ल करते हुए ऐसी बेहूदा बातें स्वयं करते या दूसरों को करने देते हैं, वे अपनी तथा समाज की भारी हानि करते हैं। ऐसी नक़ल से समाज का चरित्र सुधरने के स्थान में गिरता ही है। यह झूठी सभ्यता है। वे लोग बाहर से दिखलाते यह हैं कि पति और पत्नी को, एक दूसरे पर इतना विश्वास है और उनके चरित्र उतने पवित्र हैं कि एक पुरुष अपनी स्त्री को दूसरे के विश्वास पर, और एक स्त्री अपने पति को दूसरी के विश्वास पर छोड़ सकती है। परंतु नक़ली शुद्धता का यह ढोंग उलटा परिणाम पैदा करता है, क्योंकि यह कहता है कि पति-पत्नी, दोनों के मन में लंपट विचार भरे हुए हैं।

सच तो यह है कि पत्नी में डाह न पैदा होने देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि तुम अपने आचरण से (अपने शब्दों से भी, परंतु विशेषतः अपने आचरण से) यह दिखलाओ और प्रमाणित करो कि तुम उसे सारे संसार से अच्छी समझते हो; और, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इसके लिये सबसे उपयुक्त काम यह है कि अपने अवकाश का प्रत्येक मुहूर्त उसकी संगति में व्यतीत करो। सब कोई जानता है, और तरुणी पत्नियाँ इस बात को सबसे अधिक जानती हैं कि यदि मनुष्य के वश की बात हो, तो वह वहीं बैठना पसंद करता है, जहाँ उसे सबसे अधिक आनंद आता है, और वे उन्हीं के साथ होंगे जिनकी संगति को वे सबसे अधिक पसंद करते हैं। यह बात बिलकुल साफ़ है और इसे कभी भूल न जाना चाहिए। एक युवा पति और युवती पत्नी को एक दूसरे को छोड़कर और किसकी संगति की आवश्यकता है? और यदि उनके बच्चे हों, फिर तो कहना ही क्या है। दूसरों के साथ बैठकर गप हाँकने की जिनको लत पड़ जाती है, उन्हें ताश, शतरंज, मदिरा आदि का भी धीरे-धीरे चस्का पड़ जाता है। परंतु संगति की तलाश में मारे-मारे फिरना, यह प्रकट करता है कि तुम पत्नी के सहवास से भी बढ़कर किसी और चीज़ के लिये तड़प रहे हो, यह बात उसे अवश्य चुभेगी। यह उस पर बड़ा भारी दोषारोप है। इससे डाह की नींव पड़ना अवश्यंभावी है।

यों तो प्रत्येक अवस्था में तुम्हें पत्नी के साथ दया का व्यवहार करना चाहिए, परंतु उसकी बीमारी में तो यह विशेष रूप से आवश्यक है। हमें आशा है कि हमारे पाठकों में कोई भी ऐसा पति नहीं, जो रोग के कारण पत्नी के जीवन को संकट में देखकर, उसके लिये चिंतित न

हो, यद्यपि कभी-कभी इस प्रकार के नर-पिशाच दृष्टिगोचर हो जाते हैं। परंतु इस नृशंसता से बहुत दर्जे कम, एक और प्रकार का अपराध प्रायः पुरुष किया करते हैं। जब पुरुष बीमार होता है, तो उसके प्रति स्त्री की थोड़ी-सी भी उपेक्षा से वह बहुत दुःख अनुभव करता है। फिर पुरुषों की अपेक्षा, स्त्रियों का हृदय बहुत अधिक सूक्ष्म और शीघ्रग्राही होता है। अतएव अपनी बीमारी में स्त्रियों को, उपेक्षा से, विशेषतः जब उपेक्षा करनेवाला पति हो, कितना भारी मनस्ताप होता होगा? इसका उत्तर पाठक अपने हृदय से पूछें। हम इसके लिये निष्फल यत्न नहीं करना चाहते। अब यदि आपका हृदय कहता है कि आपके उपेक्षा करने से स्त्री के हृदय पर भारी चोट लगती है, तो हमें यह परामर्श देने की कोई आवश्यकता नहीं रहती कि पत्नी की बीमारी में पति जितनी उसकी सेवा-शुश्रूषा और वचन तथा कर्म से दया का व्यवहार करे, थोड़ा है। यही तुम्हारी परीक्षा का समय है; और निश्चय रक्खो कि उसके मन पर इस समय का संस्कार सच्चा और स्थायी संस्कार होगा; और यदि तुम अपने विषय में इस समय उस पर अच्छा संस्कार डालने में सफल हो गए, तो फिर उसे तुम्हारे संबंध में कभी डाह या पर-स्त्री-गामी होने का संदेह करने की बहुत कम संभावना है। पत्नी की बीमारी की दशा में जितना भी खर्च उसकी चिकित्सा पर तुम कर सकते हो, निःसंकोच होकर करो। अपनी शक्ति-भर जो कुछ भी तुम उसके लिये कर सकते हो, उसके करने में उपेक्षा मत करो; क्योंकि यदि इस दशा में भी धन व्यय न किया, तो फिर ऐसे धन से लाभ ही क्या? परंतु शेष सब बातों से बढ़कर, तुम्हारा स्वयं उसके रोग तथा आराम पर ध्यान देना है। यह बहुमूल्य चीज़ है; यह दुखिया के घावों पर शांति-दायक मर्हम है; जितना अधिक यह निर्व्याज प्रमाणित होगा, उतना ही अधिक इसका असर होगा। जो काम तुम स्वयं कर सकते हो, उसे दूसरे को मत करने दो; शरीर की सारी व्याधियों में मन का बड़ा संबंध रहता है; और इस बात को याद रक्खो कि चाहे कोई भी घटना हो, तुम्हें काफ़ी से अधिक बदला मिल जायगा। इस बात पर जितना भी ज़ोर दिया जाय, थोड़ा है; रोगी की शय्या में कोई प्रलोभन, कोई चारुता नहीं होती और स्त्रियाँ, इस बात को ख़ूब जानती हैं; ऐसी अवस्था में, वे तुम्हारे प्रत्येक शब्द और प्रत्येक दृष्टि को ध्यान-पूर्वक देखती हैं; यही समय है, जब या तो आयु-भर के लिये उनको विश्वास प्राप्त हो जाता है या उनका संदेह भड़क उठता है।

इस प्रसंग में, हम उन पतियों के प्रति घृणा प्रकट किए बिना नहीं रह सकते, जो स्त्रियों के इस डाह को उपहास का विषय समझते हैं। यह बात निश्चित है कि पुरुष का व्यभिचारी होना, पत्नी के व्यभिचारिणी होने की अपेक्षा कम गर्ह्य है। परंतु फिर भी क्या विवाह के समय में की हुई प्रतिज्ञाएँ कुछ भी नहीं? क्या अग्नि-रूप परमेश्वर तथा जनता के सामने गंभीरता-पूर्वक दिए हुए वचन कुछ नहीं? जिसको धर्म-पत्नी बनाया है, क्या उस अबला के साथ वचन-भंग करने में कुछ लज्जा नहीं? परंतु इन सब बातों को छोड़कर भी, इसमें क्रूरता है। पति के पर-स्त्री-गामी होने से स्त्री के हृदय में कटार चल जाती है। यद्यपि क़ानून की दृष्टि में पति का व्यभिचार नर-हत्या के बराबर अपराध नहीं, तो भी तर्क और नैतिक न्याय की दृष्टि में बहुत थोड़े अपराध, इस अपराध से अधिक कठोर हैं। कहा जा सकता है कि पुरुष, काम-वासना के वशीभूत होकर, यह पाप करता है, इसलिये क्षंतव्य है। परंतु इस प्रकार मनुष्य का प्रत्येक अपराध किसी-न-किसी मनोविकार के वशीभूत होने से किया जाता है। यह ठीक है कि प्रलोभन बहुत भारी होता है, परंतु जब मनुष्य चोरी करता या ठगता है तब क्या प्रलोभन प्रबल नहीं होता? सारांश यह कि ऐसे अन्याय-युक्त और ऐसे क्रूर कर्म के लिये कोई बहाना नहीं हो सकता। इस कुकर्म से चरित्र पर कलंक का टीका लग जाने से अनेक मनुष्यों का रोज़गार नष्ट हो जाता है। इसका बहुत ही छोटा परिणाम यह होता है कि समस्त परिवार दुखी और झगड़ालू बन जाता है; बच्चे पिता से घृणा करने लगते हैं; और यह उनके सामने एक ऐसा उदाहरण उपस्थित करता है, जिसके अंतिम परिणामों के विचार से ही पिता को काँप उठना चाहिए। ऐसी दशा में बच्चे, माता के साथ मिल जायँगे और उन्हें मिलना भी उसी के साथ चाहिए। उसी के साथ अत्याचार हुआ है; जो अप्रतिष्ठा उसकी हुई है, उसका कुछ अंश उन पर भी लागू होता है; वे अपने साथ होनेवाले अन्याय का अनुभव करते हैं; और यदि ऐसे पुरुष को जब उसके बाल पक गए हैं, टाँगें लड़खड़ा रही हैं

और वाली के साथ सीटी का-सा सायँ-सायँ शब्द निकलता है, कोई आश्रय देनेवाला दिखाई नहीं देता, तो उसे न्याय करते हुए यह स्वीकार करना चाहिए कि मुझे अब विलासिता के वशीभूत होकर, उस देवी के साथ दुष्टता करने का उचित फल मिल रहा है, जिसके साथ आजीवन प्रेम में सच्चा रहने की प्रतिज्ञा मैंने विवाह-मंडप में की थी। व्यभिचार यद्यपि पति में बुरा है, परंतु पत्नी में तो वह उससे भी कई गुना अधिक हानिकारक है। कई लोग, विशेषतः आजकल के पढ़े-लिखे, कहा करते हैं कि व्यभिचार, व्यभिचार ही है, चाहे वह पुरुष में हो, चाहे स्त्री में। इसलिये व्यभिचारिणी स्त्री व्यभिचारी पुरुष से अधिक अपराधिनी नहीं। परंतु युक्ति कहती है कि स्त्री के व्यभिचारिणी हो जाने से समाज की कहीं अधिक हानि होती है। सिद्धांत रूप से यह ठीक है कि दोनों का अपराध बराबर है, परंतु उनके परिणामों की दृष्टि से उनमें भारी भेद है। दोनों पवित्र प्रतिज्ञा का भंग करते हैं। परंतु बड़ा अंतर यह है कि उस प्रतिज्ञा को भंग करके पति केवल अपनी पत्नी तथा परिवार के लिये अप्रतिष्ठा का कारण बनता है; परंतु पत्नी उस प्रतिज्ञा को तोड़ने से हराम के बच्चे पैदा करती है; और ये बनावटी बच्चे उसके असली बच्चों की संपत्ति में से हिस्सा बँटाकर उनको उनके धन से वंचित करते हैं। इसलिये घोर अप्रतिष्ठा के अतिरिक्त इस दशा में अन्याय भी बहुत अधिक लोगों के साथ होता है।

अच्छा, तो स्त्री के व्यभिचारिणी होने से लज्जा अधिक क्यों होती है? क्योंकि इसमें पवित्रता का पूर्ण अभाव होता है; वहाँ मन की मलिनता और स्थूलता होती है। वहाँ प्रत्येक बात चरित्र की नीचता को प्रकट करती है। बहुत थोड़े अपवादों को छोड़कर स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा प्रायः अधिक लज्जाशील और सभ्य होती हैं, और उनको होना भी चाहिए; प्रकृति उनको ऐसा बनने का आदेश करती है। संसार के स्वभाव और रीति-रिवाज प्रकृति की इस आज्ञा को पुष्ट करते हैं; इसलिये जब वे यह पाप करती हैं, तो उनके प्रति विरक्ति और घृणा उत्पन्न होती है। जिन लोगों में एकसाथ कई स्त्रियाँ कर लेने की आज्ञा है, उनमें भी एक स्त्री को अनेक पति रखने की आज्ञा नहीं। वहाँ पुरुष के लिये कई स्त्रियाँ रखना असभ्यता नहीं समझी जाती, परंतु एक स्त्री के दो पति होने की कल्पना ही भय-भीत कर देती है। पुराने समय में हिंदू-विधवाएँ पति के शव के साथ जल मरती थीं, परंतु रँडुवों को अपनी स्त्री की लोथ के साथ जलकर मरने की रीति कभी भी प्रचलित नहीं थी। विधवाएँ इसलिये अपने को जला डालती थीं कि कहीं पति की मृत्यु के बाद उन्हें किसी दूसरे पुरुष के साथ सहवास करने का प्रलोभन वशीभूत न कर ले। यद्यपि यह पातिव्रत्य-धर्म को उचित सीमा से भी अधिक बढ़ा देना है, फिर भी अपने माता-पिता, अपनी संतान और उन सबके मुख पर, जो उन्हें अपना समझते हैं, व्यभिचार के कारण कलंक का टीका लगाने की अपेक्षा तो स्त्रियों के लिये जलकर राख का ढेर हो जाना ही अच्छा है।

इन स्पष्ट और प्रबल कारणों से इस प्रकार का पाप, पति की अपेक्षा पत्नी में बहुत अधिक भयानक है। एवं सभी सभ्य देशों के लोग इस निश्चित भेद को मानते हैं। व्यभिचार करनेवाले पुरुष को समाज से बहिष्कृत नहीं किया जाता, परंतु स्वैरिणी बहिष्कृत की जाती है। इसलिये कोई भी शुद्धाचारिणी स्त्री, चाहे वह विवाहित हो और चाहे अविवाहित, किसी ऐसी स्त्री के साथ फिरकर अपने नाम को कलंकित करने का साहस नहीं करेगी, जो व्यभिचार आदि के कारण बदनाम है।

यदि पति का धर्म है कि वह दूसरी स्त्रियों को माता, बहन और बेटी समझकर पर-स्त्री-गमन न करे, यदि पत्नी-व्रत का त्याग करने से उसे ऊपर कहे भयानक कुफल भोगने पड़ेंगे, तो आप समझ सकते हैं कि पत्नी के लिये तो व्यभिचार के नाम से ही डरते रहने की कितनी अधिक आवश्यकता है! यदि इस संबंध में पुरुष के दुराचार से इतने निरपराध व्यक्तियों को लज्जित होना पड़ता है, तो पत्नी के दुराचारिणी होने से कितनी लज्जा, कितनी अप्रतिष्ठा और कितना दुःख उत्पन्न होता होगा! उसके मायकेवालों, ससुरालवालों, सारे संबंधियों और सखी-सहेलियों को उसकी अप्रतिष्ठा का भागी बनना पड़ता है। रहे उसके बच्चे! वह उनके सामने कैसे प्रायश्चित्त कर सकती है? उनको अपने माता-पिता का सम्मान करने की आज्ञा है। परंतु ऐसी माता का नहीं, जो इसके विपरीत उनसे घृणा और शाप के सिवा और कुछ भी पाने की अधिकारिणी नहीं। इसी ने प्रकृति के संबंधों को तोड़ा है; इसी ने अपनी संतान को अनादृत

किया है। उसी ने उन पर कलंक का टीका लगाया है, जो कभी उनके शरीर के अंश थे। प्रकृति उसे अपने प्रभाव-क्षेत्र से बाहर निकाल देती है और जिनको उसने पहले अपने प्राणों के समान प्यार करने का आदेश दे रक्खा था, उन्हीं का उसे न्याय-संगत रीति से घृणा-पात्र बना देती है।

परंतु पति की अपेक्षा पत्नी में व्यभिचार का दोष बहुत अधिक भयानक समझा जाता है और इसका दंड भी अपेक्षा-कृत बहुत कठोर है। इसलिये स्त्री में इसका संदेह करने या दोषारोपण करने में बहुत अधिक सावधानी से काम लेने की आवश्यकता है। पुरुषों को ऐसा संदेह करने में शीघ्रता कभी नहीं करनी चाहिए; संदेह करने से पूर्व उनके पास कोई स्पष्ट प्रमाण ज़रूर होना चाहिए; व्यर्थ ही संदेह करने का स्वभाव भारी विपत्ति का कारण हो जाता है। ऐसे शक्की तबियतवाले पति से बढ़कर कुत्सित जीव और दूसरा नहीं। ऐसे पुरुष के साथ विवाह-बंधन में जकड़ी जाने की अपेक्षा तो स्त्री मज़दूरी करके पेट भर लेना या राँड़ रहना ही अधिक पसंद करेगी। ऐसे पति के साथ कभी शांति नहीं रह सकती, और बच्चे तो झूठे दोष को भी सच्चा ही समझने लगते हैं। जब पत्नी पति पर संदेह करती है, तो वह उस पर पत्नी-व्रत और विवाह-समय की पवित्र प्रतिज्ञा को भंग करने का दोषारोपण करती है; परंतु पति के पत्नी पर शंका करने का अर्थ यह है कि वह हराम के बच्चे पैदा करके, उसकी औरस संतान के जन्म-सिद्ध अधिकार को छीननेवाले डाकू पैदा करना चाहती है; और इसके अतिरिक्त इसमें मलिनता, स्थूलता और वेश्या-वृत्ति का भी आरोप होता है। वह उस पर अन्याय और निर्दयता का ही दोष लगाती है; परंतु वह उस पर ऐसी तुहमत लगाता है, जो उसे समाज से बहिष्कृत कर देती है, जो जीवन-भर के लिये उसका संबंध स्त्रियों की पवित्रता से तोड़ देती है; जो उसके मरते दम तक उस पर कलंक का टीका लगाए रखती है।

इसलिये पति को अपनी स्त्री में इस दोष का विचार तक लाने के लिये भी कभी जल्दी से काम नहीं लेना चाहिए। दोष लगाने की ओर थोड़ा-सा भी पग उठाने के पहले, उसे इस संबंध में अपना पूरा-पूरा निश्चय कर लेना चाहिए; परंतु यदि दुर्भाग्य से उसे इसका निश्चित प्रमाण मिल जाय, तो फिर उसे किसी भी विचार से एक मुहूर्त के लिये भी उस स्त्री का सहवास नहीं करना चाहिए। शंका-शील पति इसलिये बुरे नहीं कि उनके पास शंका के लिये कारण होते हैं, वरन् इसलिये कि उनके पास हेतु नहीं होते; और प्रायः अवस्था ऐसी ही होती है। जब उनके पास हेतु हों, तब उनकी अपनी प्रतिष्ठा ही यह चाहती है कि वे स्त्री को इस प्रकार अलग कर दें, जिस प्रकार घट्टे को या नासूर को काटकर शरीर से अलग कर दिया जाता है। शंका-शीलता स्वयं निंदनीय नहीं, वरन् सदा शंका की अवस्था में रहना कुत्सित है। उदाहरणार्थ, शत्रु के पंजे में फँसकर दास रहना अपमान की बात नहीं; अप्रतिष्ठा वहीं आरंभ होती है, जहाँ तुम स्वेच्छा-पूर्वक दास रहते हो; यह उस मुहूर्त से आरंभ होती है, जब तुम दासता से बच सकते हो, पर बचते नहीं। अपनी स्त्री पर अन्याय-पूर्वक शंका करना निंद्य है; परंतु यह जानते हुए भी कि वह पतिव्रता नहीं, उसका सहवास करना कलंक है।

कहा जायगा कि जब तक मनुष्य इस क़दर अमीर न हो कि स्त्री को गुज़ारा देकर अलग कर सके, क़ानून उसको उसके साथ रहने के लिये विवश करता है; परंतु क़ानून तुमको उस स्त्री के साथ उसी देश में रहने के लिये मजबूर नहीं करता; और यदि पुरुष के पास ऐसी बला से छूटने का और कोई साधन न हो, तो पर्वतों और समुद्रों को पार करना क्या है? शारीरिक सुख के जीवन को छोड़कर श्रम के जीवन को ग्रहण करना क्या है? ये और ऐसी ही दूसरी विपत्तियाँ क्या हैं? एक व्यभिचारिणी स्त्री के साथ एक ही घर में रहने और उसे अपनी पत्नी कहने की सदा मौजूद लज्जा, निंदा, नीचता और कलंक के सामने स्वयं मृत्यु भी क्या है? परंतु बच्चों का क्या बनेगा? निश्चय ही उन्हें उस वेश्या से अलग कर लेना चाहिए; उनके प्रति तुम्हारा यह कर्तव्य है; जितनी जल्दी वे उसे भूल जायँ, उतना ही अच्छा है, और जितना अधिक वे उससे दूर होंगे उतनी ही जल्दी वे उसे भूलेंगे। एक पुंश्चली के साथ रहने के लिये कोई भी बहाना नहीं हो सकता; ऐसे गंदे कलंक की दशा में से अपना छुटकारा कराने से पुरुष को कोई भी असुविधा, कोई भी हानि, कोई भी कष्ट रोकने न पावे; और बच्चों को ऐसी दशा में

रहने देना एक ऐसा अपराध है, जिसका वर्णन नहीं हो सकता ; ऐसे जीवन के सामने जेल स्वर्ग है, और जो कष्टों से डरकर इस दशा में पड़ा रह सकता है, वह निगोड़ा पुरुष नाम का अधिकारी नहीं ।

परंतु उपर्युक्त बातों की तभी आशा हो सकती है, जब पति अपने कर्तव्य में पूरा और सच्चा हो । इतना ही नहीं कि वह पर-स्त्री-गामी न हो, परंतु वह कोई भी ऐसी चेष्टा न करे, जिससे पत्नी को असती बनने का प्रलोभन मिलता हो । बाल-विवाह, ज़ात-पाँत के बंधनों के कारण अनमेल विवाह, वृद्ध-विवाह, धन के लालच से किए हुए विवाह, स्त्री के पतिव्रता रहने में घोर रूप से बाधक हैं। ऐसे विवाहों के रहते पत्नी के सत्पथ से भ्रष्ट हो जाने पर उसे कठोर दंड देना घोर अन्याय है । यदि पति पत्नी के साथ रूखा बर्ताव करता है, उसकी उपेक्षा करता है, अपने जीवन में किसी नियम पर स्थिर नहीं रहता, यदि उसने स्त्री पर यह सिद्ध कर दिया है कि मुझे घर में आनंद नहीं मिलता, यदि वह घर में गिरे हुए चरित्र के साथियों को लाता है, यदि वह नाटक, सिनेमा और राग-रंग की महफ़िलों में समय व्यतीत करता है, यदि उसे यारबाज़ी में आनंद लेने की लत पड़ गई है ; यदि उसने पर-स्त्रियों के साथ हँसी-मज़ाक़ करने का स्वभाव डाल लिया है, तो सारा दोष उसका अपना है, उसे इनके कुफल अवश्य भोगने चाहिए। उसे स्त्री को दंड देने का कोई अधिकार नहीं ; वास्तव में उसी ने स्त्री को पाप-पंक में ढकेला है । इस संबंध में ईश्वर के और मनुष्य के क़ानूनों ने उसे पूर्ण अधिकार दे रक्खा है ; उस अधिकार को अपनी तथा अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा के लिये उपयोग में लाना उसका अपना काम है । यदि वह उसके उपयोग में उपेक्षा करता है, तो इसका फल उसे भोगना चाहिए । जहाँ तक हमारा अनुभव है, बीस में से उन्नीस दशाओं में, स्त्री के व्यभिचारिणी होने का मूल कारण पति ही होता है । पति की मूर्खता या दुश्चरित्रता पत्नी के लिये व्यभिचारिणी हो जाने का कोई बहाना नहीं हो सकता । पत्नी को तो स्वभाव से ही ऐसे पाप से काँपना चाहिए । परंतु इतनी बात अवश्य है कि पति पत्नी को दंडित करने के अधिकार से वंचित हो जाता है । स्त्री के संबंधी, उसकी संतान, और सारा संसार न्याय-पूर्वक उससे घृणा करेगा ; परंतु दुराचारी पति को बोलने का कोई अधिकार नहीं ।

पर-पुरुष के साथ किसी स्त्री का हँसना-खेलना अथवा क्रीड़ा करना किसी भी दशा में अच्छा नहीं । कुछ लोग इसे निष्पाप दिल्लगी भले ही समझें ; परंतु इसका परिणाम कभी अच्छा नहीं होता । इस दिल्लगी का अर्थ स्त्री की स्वाभाविक लज्जा के कड़े नियमों का उल्लंघन या उपेक्षा के सिवा और क्या हो सकता है । हम नहीं समझते, यह निष्पाप कैसे हो सकता है । यह अपराध भले ही न हो ; फिर भी यह निष्पाप नहीं । जो पुरुष अपनी स्त्री को ऐसी दिल्लगी से नहीं रोक सकता, वह उसका पति बनने के योग्य नहीं । प्रश्न हो सकता है कि भला यदि कोई मित्र घर आकर पत्नी के साथ मीठी-मीठी बातें और उसकी चापलूसी करे, तो क्या पति उसी समय पत्नी को उसके साथ बात करने से रोक दे ? इसका उत्तर यही है कि पत्नी को ऐसी शिक्षा मिली होनी चाहिए कि वह अपने बर्ताव से उस पर-पुरुष को यह दिखला दे कि तुम्हारी चापलूसी का यहाँ कुछ असर नहीं । फिर वह अपने आप झख मारकर पीछे हट जायगा ।*

पुरुष अपने जीवन में सुखी और सफल तभी हो सकता है, जब उसका मन इस प्रकार की सभी चिंताओं से सर्वथा मुक्त होगा । अतएव इन चिंताओं को रोकने के लिये जितना भी उपाय किया जाय, थोड़ा है । इसलिये हम फिर कहते हैं कि इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि पति-पत्नी यथासंभव अपने घर पर ही अपना अवकाश का समय बिताया करें ; दूसरों की संगति में आनंद पाने की लालसा से भटकते न फिरा करें । पति का अपने घर में बहुत-से मित्रों को लेकर बैठे रहना भी अच्छा नहीं । उसका समय पत्नी के सहवास में बीतना चाहिए । यदि वे बाक़ी लोगों की अपेक्षा एक दूसरे की संगति को अधिक पसंद नहीं करते ; यदि उनमें से कोई एक दूसरे की संगति से ऊब रहा है ; यदि वे किसी आवश्यक कार्य के कारण एक दूसरे से जुदा हो जाने पर दुबारा मिलने के समय का प्रसन्नता-पूर्वक विचार नहीं करते, तो यह बुरा शकुन है । जो पति पहले से ही इन बातों का ध्यान रक्खेगा, उसकी पत्नी कभी व्यभिचार के पंक में लिप्त न

* अपनी स्त्री को दुष्ट मित्रों से बचाने के उपाय के लिये देखो मेरी पुस्तक रति-विज्ञान (साहित्य-सदन, लाहौर) का 'स्वदार-रक्षा'-नामक प्रकरण । लेखक

होगी। वह उसे सदा सबसे अधिक बुद्धिमान् मनुष्य समझेगी, और जो कोई उसके पति की बुद्धिमत्ता या योग्यता पर संदेह प्रकट करेगा, उसे वह कभी क्षमा नहीं करेगी।

आप कहेंगे कि यदि गृहस्थ में सुखी रहने, नहीं-नहीं, विपत्ति और विनाश से बचे रहने के लिये इतने पूर्वोपायों और इतनी चिंताओं का प्रयोजन है, जिनमें से किसी एक में भी तनिक-सी त्रुटि रह जाने से मनुष्य को इतना दुःख उठाना पड़ता है, तो इससे अविवाहित रहना ही अच्छा है। परंतु यह बात ठीक नहीं। बच्चे तो अवश्य उत्पन्न होंगे, क्योंकि मनुष्य अपनी काम-वासना को रोक नहीं सकते। इसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री-पुरुष स्वेच्छानुसार संभोग करेंगे या वे किसी विशेष काल के लिये इकट्ठे रहेंगे, और जब उनका आनंद आता रहेगा, तो वे एक दूसरे को छोड़ देंगे। इसलिये उनका यह सहवास अल्प-कालिक और प्रेम-शून्य होगा, क्योंकि इसका समय अनिश्चित होगा। इसलिये पिता शब्द के साथ जो चिरस्थायी और सुखद बंधन लगे हुए हैं, उनका विचार करके, यह आवश्यक जान पड़ता है कि पिता बनने के लिये पहले तुम पति बनो। संसार में बहुत थोड़े ऐसे मनुष्य हैं, जो पहले या पीछे पिता बनने की लालसा नहीं रखते। यदि यह कहा जाय कि विवाह सारी आयु के लिये नहीं होना चाहिए, बरन् इसका काल पति और पत्नी दोनों की पारस्परिक इच्छा के अनुसार होना चाहिए, तो इसका उत्तर यह है कि यह वैवाहिक काल कदाचित् ही लंबा होगा। प्रत्येक छोटे-से झगड़े का परिणाम जुदाई होगा; ज़रा-सी बात पर पति-पत्नी अलग-अलग हो जायँगे। यह जानकर कि विवाह-बंधन जीवन-भर के लिये है, वे अनेक झगड़ों से बचते हैं; इससे क्रोध भी आरंभ में ही दब जाता है। एक घोड़े को रस्सा डालकर, एक ऐसे कमज़ोर बाड़वाले खेत में चरने के लिये छोड़ दीजिए, जिसके साथ ही दूसरे खेत में लुभावनी सुंदर घास लहलहा रही हो, वह सदा उस खेत से बाहर निकलने का यत्न करता रहेगा। परंतु खेत के गिर्द पक्की दीवार बना दीजिए, तो वह उसी घास पर संतुष्ट रहकर, अपना समय चरने और सोने में व्यतीत करेगा। इसके अतिरिक्त, नियम-पूर्वक विवाह-बंधन न होने से 'परिवार' नाम की कोई वस्तु नहीं हो सकती; सब कुछ गड़बड़ और अवर्णनीय मिश्रण होगा। भाई और बहन के नामों का कुछ भी अर्थ न होगा। इसलिये विवाह का होना आवश्यक है।

इसमें संदेह नहीं कि गृहस्थ बनने में बहुत-सी ज़िम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेनी पड़ती हैं; बहुत-सी चिंताएँ दबाए रहती हैं, परंतु यह नहीं कहा जा सकता कि अविवाहित पुरुष को विवाहित से कम चिंताएँ होती हैं। बरन् अनुभव से पता लगता है कि अविवाहितों की अपेक्षा विवाहित अधिक लंबी आयु भोगते हैं। रोगी होने पर जिस प्रकार पत्नी सेवा करती है वैसी सैकड़ों नौकर और नर्सें मिलकर नहीं कर सकतीं। वह किसी लोभ से नहीं, बरन् प्रेम के कारण सेवा करती, और रातों जागती है। उसकी देख-रेख से रोगी चंगा भी अपेक्षाकृत जल्दी होता है। इसीलिये कहा भी है—बिन घरनी घर भूत का डेरा। नौकर रखकर जितना अकेले अविवाहित पुरुष का ख़र्च होता है, उससे भी कम में पत्नी सारे परिवार का निर्वाह कर देती है।

फिर अकेले पुरुष का जीवन ही क्या है। जब तक वह घर से बाहर न निकले या बाहर से कोई घर में न आए, उसके साथ कोई बात करनेवाला ही नहीं; कोई मित्र नहीं, जिसके साथ बैठकर रात को दिन की थकावट दूर हो जाय। कोई भी ऐसा नहीं, जो तुम्हारे दुःख और सुख में भाग ले; कोई भी ऐसी आत्मा नहीं, जिसे तुम्हारे कल्याण की चिंता हो; तुम्हारे इर्द-गिर्द जितने हैं, सब अपनी-अपनी चिंता में हैं, तुम्हारी चिंता किसी को नहीं; उदासी और विषाद के समय में कोई तुम्हें धीरज बँधाने और प्रसन्न करनेवाला नहीं; सारांश यह कि कोई तुम्हें प्रेम करनेवाला नहीं, और जीवन के अंत तक किसी ऐसे व्यक्ति के मिलने की आशा भी नहीं, माता-पिता और भाइयों का संबंध इससे बिलकुल भिन्न प्रकार का है। जीवन-संगिनी भार्या के शुद्ध प्रेम की उपमा संसार में नहीं।

इसके अतिरिक्त स्त्री जीवन के सुधारने में बड़ी सहायक होती है। संतान और पत्नी के लिये कमाने की चिंता से अनेक आलसी पुरुष उद्यमी और चुस्त हो गए हैं; अनेक मूढ़ और अरसिक पुरुष पत्नी के प्रेम के अंकुश से यदि कुशाग्र-बुद्धि नहीं, तो कम-से-कम दौड़-धूप करनेवाले अवश्य बन गए हैं। विवाहित पुरुष को घर की कुछ चिंता नहीं रहती। घर का सारा काम उसकी सुभार्या सँभालकर उसे इस संबंध में चिंता-रहित कर देती है। इसलिये

वह अपने कार-बार में अधिक अच्छी तरह से ध्यान दे सकता है। मैंने अपने ही संबंध में देखा है कि विधुर होने से पहले जितना अधिक काम मैं कर लेता था, उतना अब नहीं कर सकता। उस समय मैं रोगी भी बहुत कम होता था। मैं तो समझता हूँ कि स्त्री न केवल पुरुष के धर्म की वरन् उसके स्वास्थ्य की भी रक्षिका है।

पति का यह धर्म है कि स्त्री के लिये अपनी संपत्ति का कुछ नक़द भाग अवश्य वसीयत कर जाय, ताकि पति की मृत्यु के बाद उसे दूसरों के हाथों की ओर न ताकना पड़े। कुछ लोग कहेंगे कि ऐसा करने से डर है कि विधवा धन लेकर किसी दूसरी जगह न चली जाय। मरते हुए के मन में इस प्रकार के भय होना बड़े दुर्भाग्य की बात है। जो माता विधवा हो जाने पर पुनर्विवाह करके अपनी संतान के सुख को भय में डाल देती है, उसके इस कुकर्म के लिये कोई भी क्षमा-याचना नहीं हो सकती। इसमें संदेह नहीं कि क़ानून इसकी आज्ञा देता है, परंतु क़ानून के शब्दों से परे भी कोई चीज़ है। यद्यपि विधवा के लिये दूसरा पति करना, क़ानून की दृष्टि से, वैसा ही धर्म-संगत है, जैसा कि रँडुवे के लिये दूसरी स्त्री कर लेना, तो भी नीति और विवेक की दृष्टि में दोनों की अवस्थाओं में भारी अंतर है; जिस प्रकार पत्नी का जारिणी होना पति के व्यभिचारी होने से अधिक पाप है, उसी प्रकार स्त्री का पुनर्विवाह करना पुरुष के पुनर्विवाह से अधिक भद्दा और निकृष्ट कर्म है। इससे उसमें उस पवित्रता, उस सहज लज्जा की भारी कमी प्रकट होती है, जो स्त्री-जाति की सबसे बड़ी चारुता और मोहिनी शक्ति है। हमें पुरुष के मुख से 'मेरी पहली स्त्री' यह शब्द सुनना, विशेषतः दूसरी की विद्यमानता में, अच्छा नहीं लगता; परंतु किसी स्त्री के मुख से, चाहे वह कितनी ही सुंदरी और अच्छी क्यों न हो, 'मेरा पहला पति' यह शब्द निकलते ही सुननेवाले की दृष्टि में उसे एकदम गिरा देता है, क्योंकि अंत को इसका अर्थ यही निकलता है कि उसने दूसरी बार वह आत्म-समर्पण किया है, जो अतीव तीव्र अनुराग ही किसी पवित्र और शुद्ध चारिणी स्त्री से करा सकता है।

इस विधवा का कोई रक्षक नहीं था, वह भूखी मरती थी, वह बच्चों का भरण-पोषण न कर सकती थी, इस प्रकार के सब हेतुओं का कुछ भी मूल्य नहीं। क्या वह इन चीज़ों की प्राप्ति के लिये अपना शरीर दूसरे को समर्पण करती है! यदि हम इन हेतुओं को प्रबल समझ लें, तो फिर हमें वेश्याओं और रखेलियों को बुरा क्यों कहना चाहिए? वे भी कह सकती हैं कि भूख और दरिद्रता से तंग आकर ही हम यह कुकर्म करने पर विवश हैं। परंतु इन दुखियाओं के हेतुओं को कोई नहीं सुनता; चाहे वे भीख माँगने पर ही विवश क्यों न हों, कोई उन की क्षमा-याचना को स्वीकार नहीं करता। उनके लिये सबकी राय यही है कि "तुम भले ही भूखी मरो, नंगी फिरो, कष्ट उठाओ, रास्ते में पड़ी-पड़ी मर जाओ, परंतु स्त्री-जाति की अप्रतिष्ठा के लिये अपने शरीर को दूसरे पुरुष के अर्पण मत करो।" परंतु क्या हम अन्याय किए बिना उनके लिये यह व्यवस्था दे सकते हैं; और साथ ही इस बात को उचित, युक्ति-युक्त और विनीत कह सकते हैं कि विधवाएँ अपने सांसारिक लाभ के लिये, सुख-भोग के लिये या किसी दूसरे विचार से अपने शरीरों को अर्पण करें?

हमारी यह टिप्पणी दस-दस, बारह-बारह वर्ष की बच्चियों के लिये नहीं; जिनको यह भी मालूम नहीं कि सुहाग किस चिड़िया का नाम है। जिनको तुम बचपन में अपनी इच्छा से ब्याह देते हो, उनको आयु-पर्यंत बलात् विधवा रहने पर विवश करना घोर हानि का कारण है। या तो बचपन के विवाह बंद होने चाहिएँ या फिर इन निरपराध बच्चियों के भी पुनर्विवाह का प्रबंध करके समाज को घोर पतन से बचाना चाहिए।

हमें आशा है कि इस लेख के पाठक ऐसी बुराइयों से सदा अपने को बचाते रहेंगे; वे उन दुर्व्यसनों से सदा दूर भागेंगे जिनके परिणाम ऐसे घातक होते हैं; वे किसी देवी का पाणि-ग्रहण करने के पहले गृहस्थी के कर्तव्यों पर भली भाँति विचार कर लेंगे; वे आरंभ से ही इस बात का ध्यान रक्खेंगे कि उनसे अज्ञान में भी कोई ऐसी बात न होने पाए जिससे उस अबला को दुःख हो जिसने प्रेम के कारण उनको अपने शरीर पर पूर्ण अधिकार दे दिया है; और वे इस सचाई को कभी न भूलेंगे कि आज तक बुरा पति कभी भी गुणी मनुष्य नहीं हुआ।

संतराम

मनुष्य कुत्ते से भी गया-बीता है

अपूर्व-मिलन

(१)

राधा चंद्रावलि दोनों ही,
　　स्नेह-सुधा-रस बोरीं ;
थीं नँदनंद-इंदु की प्यारी,
　　वे दो सौम्य चकोरी।

(२)

ऐसा संयोग हुआ,
　　वे अपने चिर प्रियतम से ;
साथ-साथ हो गईं वियोगिन,
　　कुटिल काल के क्रम से।

(३)

बन बन में बनवारी को दे,
　　खोज-खोजकर हारीं ;
तब दोनों आ मिलीं परस्पर,
　　दैव-योग की मारीं।

(४)

दो के चार नैन होते ही,
　　मुरली अधर लगाए ;
एक दूसरी के नैनों में,
　　श्याम ससंभ्रम पाए।

(५)

रहित-निमेष-दृष्टि से दोनों,
　　ध्यानावस्थित होकर ;
प्रिय-दर्शन-सुख लगीं लूटने,
　　तन-मन की सुधि खोकर।

(६)

राधा के इतने में दोनों,
　　नैन सजल हो आए ;
इस प्रकार चंद्रावलि ने तब,
　　बचन विनीत सुनाए।

(७)

"अरी वीर! नयनों को अपने,
　　नेक सँभाले तो रहना ;
बसते हैं उनमें हृदयेश्वर,
　　सजनी सच मानो कहना।

(८)

उनका पीतांबर मत होवे,
　　जल से कहीं सजल प्यारी !
स्वर-लहरी अवरुद्ध न हो वह,
　　मधुर मंजु मुरली वारी।

(९)

अनुक्षण रहें दृष्टि में मेरे,
　　श्याम सलोने, मनभाए ;
सदा कृतज्ञ रहूँगी प्यारी !
　　इसी भाँति यदि दिखलाए।"

(१०)

"सच कहती हो सजनी तुम,
　　या मैं ही स्वप्न रही हूँ देख ?
या उद्भ्रांत प्रीति के वश हो,
　　दोनों पगली हैं सविशेष ?

(११)

मैं अब तक तेरे नयनों में,
　　लखती थी प्रिय को अनिमेष ;
तुझे न बतलाने का कारण,
　　कुछ-कुछ था मेरा विद्वेष।

(१२)

भय था मुझे कि मैं यदि तुझसे,
　　कुछ भी कह दूँगी स्पष्ट ;
मूँद प्राण-धन को तू लेगी,
　　देगा जो कि विरह का कष्ट।"

(१३)

दोनों ने चित-चोर श्याम का,
　　छल होना अनुमान किया ;
निकल न आवें इसीलिये बस,
　　निज नयनों को मूँद लिया।

(१४)

अनायास आ गए कृष्ण भी,
　　मंद-मंद करते मुसक्यान ;
कहने लगे—"अहो ब्रजबाले !
　　बहुत हो चुका जप-तप-ध्यान।"

(१५)

"ना-ना तुम छलिया हो प्यारे !
　　होता है न हमें विश्वास ;

एक समय दो-दो को छलते,
रहते पर न किसी के पास।

(१६)

आँख खुलाने के मिस अद हो,
धोखा देने को आए।
होगा सो न —बड़े प्रयास से,
नाथ! आज तो मिल पाए।"

(१७)

कृष्ण बजाने लगे बाँसुरी,
मानों प्रत्युत्तर में।
फिर क्या था, —दोनों के लोचन,
उघर गए पल-भर में।

(१८)

दूर हुआ उनका वियोग-दुख,
वे दोनों ब्रज-बाला।
साथ ले गईं जीवितेश को,
छकीं प्रेम को हाला।

शंभूदयाल सक्सेना 'साहित्यरत्न'

काश्मीर

काश्मीर की शोभा इतिहासों में, कविताओं में, पर्यटन-पुस्तकों में, पत्रिकाओं में, सभी जगह गाई गई है। परंतु तिस पर भी लोग लिखते ही चले आते हैं। काश्मीर-शोभा-सागर से नए-नए रत्न ढूँढ़कर निकालते ही रहते हैं। हमने भी काश्मीर की एक बार झलक पाकर ही लेखनी उठाने का दुःसाहस किया है। इसलिये नहीं कि हम उसकी अकथनीय शोभा का पूर्णतया वर्णन कर सकें। सिर्फ़ इसलिये कि जिस नवयुवक-दल के साथ हम गए थे, उसकी क्रीड़ाओं का हाल लिख सकें, और काश्मीर के आगामी यात्रियों को उसके दर्शन करने के लिये उत्साहित कर सकें।

बहुत दिनों से काश्मीर के दर्शन की आकांक्षा लगाए बैठे थे। प्रत्येक ग्रीष्म-अवकाश के महीनों पहले, काश्मीर के मंसूबे बँधना शुरू होते थे। पर यंग हस्बैंड की रंगीन तस्वीरें ही देखकर, मन-समझौता होता था, और सैर मंसूरी या नैनीताल ही की होती थी। अस्तु, बहुत मनौतियों के पश्चात् यह सुअवसर प्राप्त हुआ। सेवा-समिति स्काउट्स-एसोसिएशन की ओर से पं० श्रीरामजी

पंडित श्रीराम वाजपेयी

वाजपेयी ने काश्मीर के भ्रमण का प्रस्ताव किया। वाजपेयीजी अपने कुछ स्काउटों को लेकर, लखनऊ में, उनके खेल दिखाने के लिये आए। वहीं हमसे [illegible] भेंट हुई। यात्रा की तिथि निश्चित हुई और [illegible] मई की डाक से हमने जम्मू के लिये कूच कर दिया।

शिक्षित और सभ्य रहम तीसरे दर्जे में बैठना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। यह अवश्य है कि तीसरे दर्जे में शारीरिक कष्ट मिलता है, [illegible] जिन्हें रेल पर चढ़कर किसी काम के लिये जाना हो [illegible] लिये तीसरे दर्जे की सवारी ठीक नहीं है। पर जिन्हें सैर करना

और भारतीय जनता की यथार्थ दशा और विचारों का अनुभव करना हो वे तीसरे दर्जे में ही बैठें। गाड़ी जिस समय स्टेशन से चली थी, कम भीड़ थी। पर आगे चलकर एक स्टेशन से बदरिकाश्रम के यात्री गाड़ी पर चढ़े। फिर क्या था, धक्का-मुक्की शुरू हुई, और लोगों को अपने [illegible]िक स्वार्थ के परिचय देने का अवसर मिला। [illegible] दुबक-सिकुड़कर [illegible] ही गए या [illegible]यों [illegible]

इ [illegible] उ [illegible] की [illegible] था, [illegible] पी रहे [illegible] फसल [illegible] है : पुलि[illegible] है। और रही-सही [illegible] और [illegible] रही है। [illegible]

योंही [illegible] पहुँचकर पंजाब के [illegible] की रंगत बदल[illegible] और पंजाब के [illegible] अमृतसर में पहुँच गए [illegible] की सेवक-मंडलि[illegible] ने हमारा दि[illegible] भविष्य में ज[illegible] होगा, तब देश की [illegible] इसके ही कंधों पर [illegible] यहाँ से अधिक [illegible] दिए और [illegible]

गाँवों से अच्छे थे। ईश्वर पंजाब को धन-धान्य-पूर्ण रक्खे, और पंजाबियों को पारस्परिक भ्रातृ-भाव रखने की सुबुद्धि दे। इस समय तो इस संबंध में संयुक्त-प्रांत की बुरी दशा है।

वज़ीराबाद स्टेशन पर हमारा वाजपेयीजी के प्रधान दल से सम्मिलन हुआ, और हम लोग साथ ही जम्मू पहुँचे।

जम्मू रियासत काश्मीर और जम्मू की राजधानी है। गर्मियों में महाराज श्रीनगर में रहते हैं, और जाड़ों में जम्मू। परंतु जिस समय हम जम्मू पहुँचे महाराज शहर ही में थे, और यह ख़बर थी कि महाराज ने यह आज्ञा दी है कि रियासत के सब दफ़्तर जम्मू ही में रहें, [illegible] महाराज और उनके मुसाहिब ही श्रीनगर निवास [illegible]। जम्मू में दरबार की इस आज्ञा पर लोग बहुत [illegible]श थे, परंतु श्रीनगर में लोगों के और ही विचार थे। महाराज नए हैं, नीति में भी कुछ नवीनता होनी चाहिए। परंतु हम दृश्य-वर्णन छोड़कर, देश के इतिहास और सामाजिक तथा आर्थिक दशा की ओर आ रहे हैं, इस लिये यह यहीं तक।

जम्मू पीर पंजाल के एक शेषांग पर स्थित है। रावी-नामक एक छोटी-सी नदी उसके नीचे बहती है। बस, इस नदी को ही पीर पंजाल की दक्षिणी सीमा समझ ली-

जम्मू का राज-महल
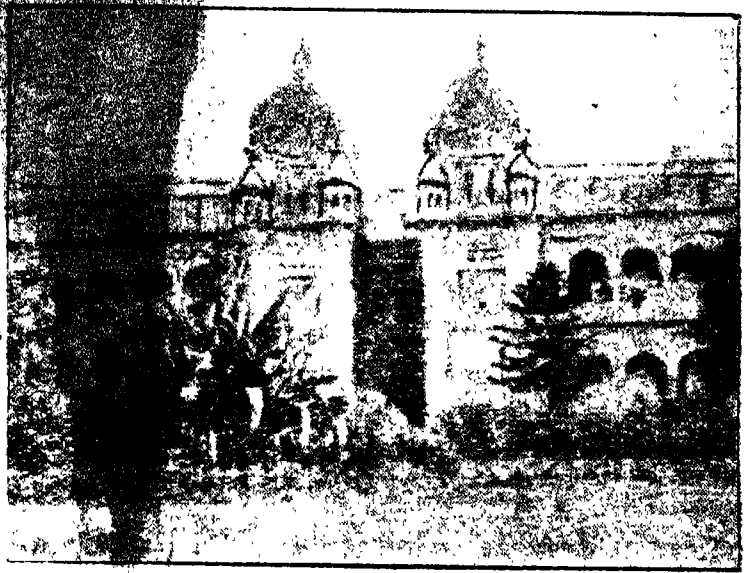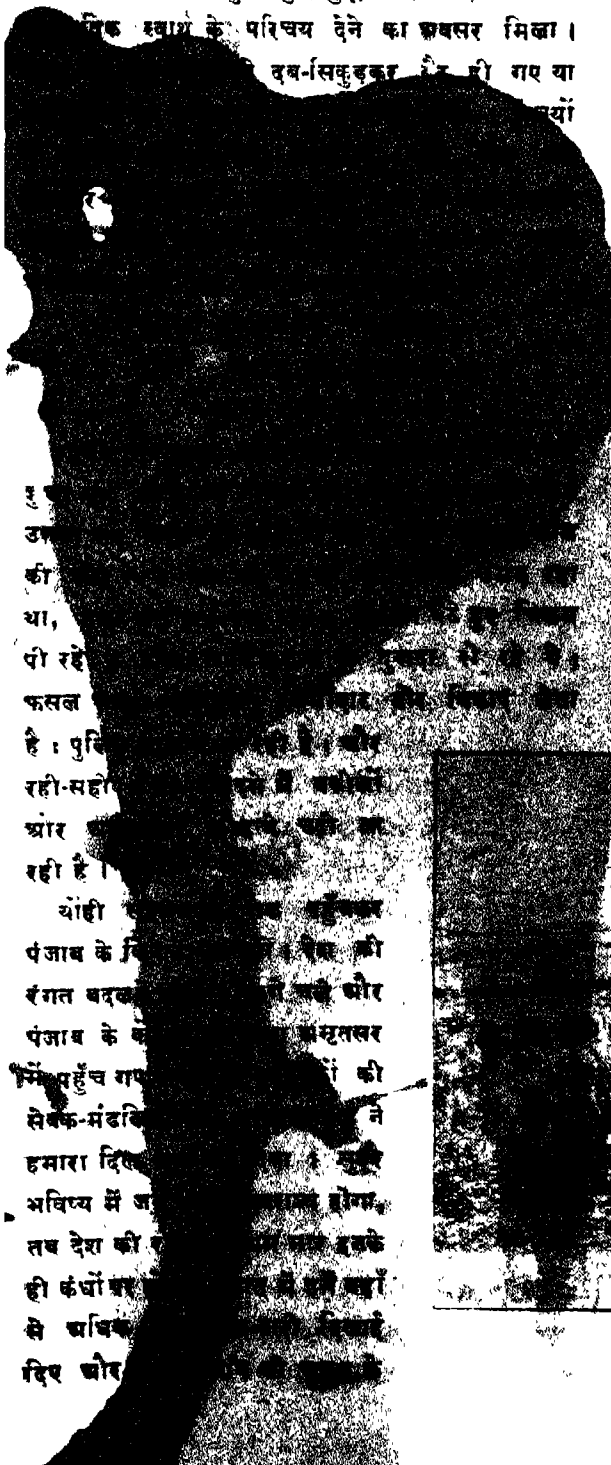
लिए। नदी को पार कर हम शहर में पहुँचते हैं। शहर नया है। सबसे पुरानी इमारत जो हमें दिखाई गई, वह लाल रंग की एक कोठी थी। जिसके विषय में कहा जाता है कि यहीं महाराज गुलाबसिंह का महल था। उस समय उस महल के पड़ोस, जहाँ अब आलीशान महल और स्वर्ण-मंदिर हैं, रात्रि के समय सियार पहरा देते थे। इस प्राचीन इमारत के पास ही एक कोट है, जिसके चारों ओर महल और रियासत के दफ़्तर हैं। पहले महाराज यहीं रहते थे। परंतु महाराज सर हरीसिंहजी ने शहर के बाहर एक नवीन कोठी बनवाई है, उसी में रहते हैं।

जम्मू में हमारी ख़ूब आव-भगत हुई। दोनों समय स्वादिष्ट भोजन और संध्या के समय सैर या स्काउटों के तमाशे।
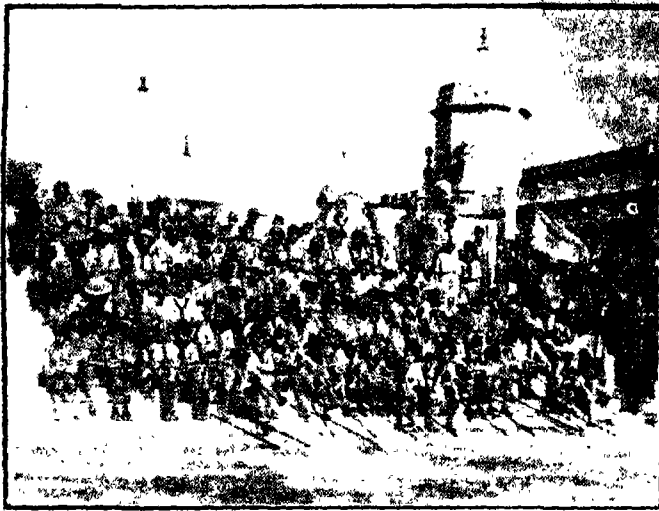
जम्मू में स्काउट-दल

जम्मू के स्काउट-दल बड़े उत्साही थे। हमारे बालकों और उनमें बड़ा मेल हो गया। दोनों दलों ने अपने-अपने पते, एक दूसरे को लिखाए, और पत्र-व्यवहार के लिये मोटर पर चढ़ते-चढ़ते दोनों तरफ़ से वादे हुए। मालूम नहीं इनमें से किसी ने अपने वादों की फ़िक्र भी की। परंतु उस समय उनके पारस्परिक प्रेम से यह सिद्ध हो रहा था कि बालकों के संसार में दलबंदी और द्वेष नहीं है। बालक ही सर्वव्यापी निःस्वार्थ प्रेमी साकार ईश्वर का रूप हैं। वे ही सच्चे स्काउट हो सकते हैं।

जम्मू से मोटरों पर चले, और तीस मील तय करके ऊधमपुर पहुँचे। यहाँ तक थोड़ी-बहुत सूखी पहाड़ियाँ मिलीं पर अधिकतर रास्ता समतल था। ऊधमपुर पहाड़ पर बसा हुआ छोटा-सा क़स्बा है। यहाँ भी हमारा ख़ूब स्वागत हुआ। रियासत की ओर से एक मिडिल-स्कूल है। हम इस स्कूल के ही एक कमरे में ठहराए गए थे। इसलिये प्रातःकाल वहाँ के पठन-पाठन-विधि के निरीक्षण का भी अवसर मिला। काश्मीर रियासत में धर्म, शिक्षा, और व्यायाम के प्रश्न को यों हल किया है कि प्रातःकाल नियत समय तक हिंदू एक कमरे में और मुसलमान दूसरे में अपने-अपने धर्म के भजन गाते और प्रार्थनाएँ करते हैं। पाठ्य समय के मध्य में एक घंटे का पृथक् [illegible] रहता है, जिसमें बालकों से ड्रिल कराई जाती है, और प्रत्येक बालक को किसी-न-किसी खेल में शरीक होना पड़ता है।

ऊधमपुर से हम सब एक साथ थे। [illegible] दो दल हो गए। एक दल में वे थे, जिन्होंने पूर्व निश्चित प्रोग्राम के अनुसार, ऊधमपुर से श्रीनगर तक, पैदल-यात्रा करने की ठानी। दूसरे वे थे, जिनको इतनी दूर तक पैदल चलने की हिम्मत नहीं पड़ी। इन्होंने मोटर द्वारा ही श्रीनगर तक यात्रा की। जिन लोगों ने मोटर द्वारा यात्रा की, उन्हें यात्रा का पूर्ण अनुभव नहीं हो सका, परंतु जो कुछ हुआ, उसका ही हमें वर्णन करना है, क्योंकि इस लेख का लेखक मोटर-यात्रियों के ही साथ था।

काश्मीर की घाटी तक पहुँचने के बहुत-से रास्ते हैं। परंतु उनमें [illegible] मुख्य हैं। एक तो रावलपिंडी से मरी के पर्वत-शृंग लाँघता हुआ बड़ामूला के झेलम-खचित कगारे की बग़ल से झेलम के [illegible] श्रीनगर तक। दूसरा जम्मू से पीरपंजाल [illegible] शृंगों को पार करता हुआ, वेरीनाग की [illegible] अनंतनाग होता हुआ श्रीनगर तक। पहले जम्मू [illegible] महाराज तथा राज-कर्मचारियों के लिये ही थी। [illegible] के लिये आम सड़क रावलपिंडी-मरी की ही थी। [illegible] कुछ समय से, जम्मू का रास्ता भी खुल गया है। [illegible] इस रास्ते भी अब लोग आने-जाने लगे हैं। परंतु [illegible] अधिक आमद-रफ़्त नहीं है। सड़क के सकरी होने [illegible] मोटरों के आने-जाने के समय नियत हैं। इसलिये [illegible] अगर अवद

यथेष्ट कपड़ा नहीं था। खाने की सामग्री का ठहरने के स्थानों पर एक तो मिलना ही कठिन था। फिर यदि मिली तो उसका पकाना और भी कठिन था। यात्रियों को खाना स्वयं पकाना पड़ता था। इस कारण यात्रा से इन यात्रियों को जो शारीरिक या मानसिक लाभ होना चाहिए था, नहीं हुआ। चलने की तकलीफ़ के पश्चात् भोजन की तकलीफ़ और फिर सोने की तकलीफ़। हर एक पड़ाव पर डाक-बँगले हैं, दूकानें हैं, परंतु कहीं इतनी बड़ी दूकानें नहीं हैं कि वे ६० यात्रियों का पेट भर सकें। यह कहिए कि ऊधमपुर के सरकारी अफ़सरों ने बनिहाल तक रसद के प्रबंध के लिये आज्ञा दे रक्खी थी, नहीं तो यथेष्ट रसद तक न मिलती।

बनिहाल तक देश का पहनावा, दृश्य तथा रहन-सहन, पंजाब से मिलता-जुलता है। स्त्रियाँ चूड़ीदार सुथना पहने, मर्दों के कुर्ते और उसके नीचे ढीले पैजामे, पंजाबियों की याद दिलाते हैं। मकानों की छतें सीधी पटी हुई मिलती हैं। मालूम होता है कि इस प्रांत में अधिक बर्फ़ नहीं गिरती। हरियाली काफ़ी है, पर फूलों की कमी है, जलाशय भी साधारण ही हैं। पेड़ों में देवदारु तथा चीड़ के जंगल ही मिलते हैं। अभी काश्मीर के पेड़ों ही के दर्शन होते हैं, पर बनिहाल के आगे घाटी में उतरते ही दृश्य बदलने लगता है। सड़क के मज़दूर फूलों के गुच्छे हाथों में लेकर काश्मीर की याद दिलाते हैं और फेरन पहने हुए मर्दों तथा स्त्रियों के दर्शन मिलने लगते हैं।

बनिहाल के नीचे ही वेरीनाग है। पैदल यात्रियों का दल संध्या को यहाँ पहुँचा था। बहुत ठंढक थी। यथेष्ट ओढ़ने तथा खाने-पीने के प्रबंध न होने के कारण बहुत-से यात्री तो भूखे रात-भर जड़ाते रहे। हमने बनिहाल के नीचे मोटर से उतरकर पैदल वेरीनाग का रास्ता पकड़ा और एक घंटा चलकर वेरीनाग पहुँच गए। जिन्हें किसी पूर्व-निश्चित नियम ही का पालन न करना हो, पर काश्मीर की घाटी की सैर करना हो, उन्हें चाहिए कि वे वेरीनाग में ही उतर पड़ें। 'नाग' काश्मीरी-भाषा में चश्मे को कहते हैं। चीड़ से लदे हुए पहाड़ की जड़ को तोड़कर एक जल-धारा निकलती है। जहाँगीर को यह स्थान बहुत प्रिय मालूम हुआ। इसकी शोभा का बादशाह ने 'जहाँगीर-नामा' में ज़िक्र किया है। यहीं पर उसने इस धारा को एक अठपहलू कुंड में बाँधकर उसके चारों ओर बारहदरी बनवा दी, और जल का निकास एक पक्की नहर द्वारा कर दिया, जिसके दोनों ओर उसने अख़रोट, सफ़ेदा और चिनार के पेड़ों का बाग़ लगवा दिया। नहर के मध्य में एक झरोखा भी बना दिया है जिसमें बैठकर आप झेलम के प्राकृतिक उद्गम को मनुष्य ने क्योंकर गढ़ा है, देख सकते हैं।

वेरीनाग की शोभा उसके बाग़ के अंदर ही नहीं है। छोटी-सी एक बाज़ार है, जिसमें आटा, दाल, आलू और अंडे के अलावा पकाने के लिये आपको कुछ नहीं मिल सकता। तैयार चीज़ों में आपको कुलचे ही मिल सकते हैं। यदि इनसे संतोष कर सकिए तो बहुत अच्छा, नहीं तो चूल्हे की फ़िक्र कीजिए। यहाँ दो-चार पंडे रहते हैं। हमने इनमें से एक की शरण ली। उसकी साफ़-सुथरी झोपड़ी में ठहरे और चूल्हे का काम उसके सुपुर्द कर सैर की ठानी। काश्मीर के दृश्य तथा निवासियों के आचार-विचार और रहन-सहन का पता लगना यहीं से शुरू हो गया।

काश्मीर के दृश्य में विशेषता यह है कि घाटी का कोई भी ऐसा भाग नहीं जहाँ से क्षितिज पर हिम, उसके

वेरीनाग
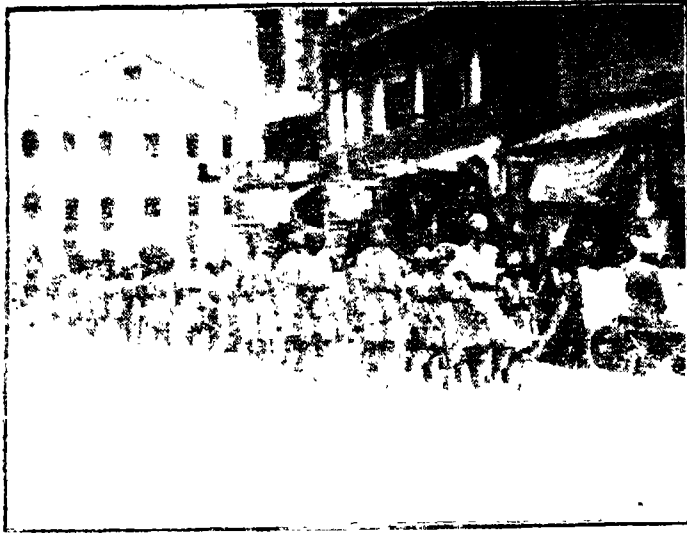
स्काउटों का मार्च

नीचे वनों की हरियाली और घाटी में चारों ओर जलाशय, सीढ़ीनुमा खेत, धानी घास के मैदान या फल-फूलमय वृक्ष और बेलें न दिखलाई देते हों। वर्षा-ऋतु में हमारे भारतीय मैदानों में भी हरियाली दिखाई देती है, परंतु उसमें वह सुगंधि, वह ताज़गी नहीं मालूम होती जो काश्मीर की प्राकृतिक हरियाली में दिखाई देती है। इसका कारण है: घाटी की शीतलता, क्योंकि उसका कोई भी भाग ५,००० फ़ीट उँचाई से कम नहीं है; बादल की कमी जिससे सूर्य का अधिकतर प्रकाश रहता है, क्योंकि घाटी के चारों ओर पहाड़ों से घिरे रहने के कारण वाष्प-मिश्रित वायु का वहाँ तक पहुँचना कठिन रहता है; जल की अधिकता जो चारों ओर के पहाड़ों से गलकर घाटी में जमा होता है; और पृथ्वी की उपज-शक्ति जिसे पहाड़ से कटे कण नित बढ़ाते रहते हैं।

वेरीनाग में हम एक ही दिन ठहरे। बाग़ में हमें माली ने अख़रोट की भेंट देकर इस देश के फलों की याद दिलाई। प्रातःकाल कुली पर असबाब लादकर हम अछबल की ओर चल पड़े।

काश्मीर की इतनी उर्वरा-भूमि होते हुए भी देश बहुत निर्धन है। आठ आने में कुली वेरीनाग से अछबल तक, जो वहाँ से चौदह मील के फ़ासले पर है, असबाब लादकर पहुँचा देने को राज़ी हो गया। हम नैनीताल और मंसूरी के ही कुलियों को बहुत सस्ता समझते थे, यहाँ के कुली उनसे भी सस्ते निकले। परंतु हमारा अनुमान है कि जितने मज़बूत पहाड़ी कुली होते हैं उतने ये काश्मीर-निवासी नहीं। काफ़ी लंबा रास्ता था, परंतु हवा में अधिक गर्मी नहीं थी। इसलिये हमें चलने में अधिक तकलीफ़ नहीं हुई। जगह-जगह देहातियों से दो-चार टूटी-फूटी बातें करने का भी अवसर मिला। रास्ते में बहुत-से नर-नारियाँ अपने गाँवों से खेतों की ओर जाते हुए मिले। स्त्रियाँ साधारणतः शिर पर एक प्याला रक्खे मिलीं, जिससे मालूम हुआ कि वे अपने पति तथा बाल-बच्चों के लिये भत्ते का दोपहरी नाश्ता लिये जा रही थीं। साधारणतः काश्मीरी चावल और साग पर बसर करते हैं। उनके आहार के यही मुख्य पदार्थ हैं। वहाँ के निवासी अधिकतर मुसलमान हैं, इसलिये इन्हें गोश्त या मछली से परहेज़ नहीं है। पर शायद ईद या बक़रीद के मौक़ों पर ही इन्हें यह नियामतें नसीब होती हों। इतना साधारण और नीरस भोजन खाते हुए भी यहाँ मर्दों के पुष्ट पुट्ठों और स्त्रियों के गालों पर गुलाबी रंग के दर्शन हो जाया करते थे। यह देश के जल-वायु की ही महिमा है।

काश्मीर के स्त्री-पुरुष इतने हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी भीरु होते हैं। देश का जल-वायु इसका कारण कदापि नहीं हो सकता। ये मेहनती होते ही हैं। मुझे इनके मस्तिष्क-बल का कालेजों के अध्यापकों से पता लगा है, इनकी मेहनत और इनके शिल्प-कौशल का पता इनकी नाना प्रकार की कारीगरियों के नमूनों से मिला है। शहरों में तो यह चालाकी या झूठ के लिये बदनाम हैं, पर देहातों में इनके सरल और शुद्ध हृदय से मिलकर बड़ा आनंद मिलता है। तो फिर यह इतने भीरु क्यों हैं? काश्मीरी हिंदू हों या मुसलमान, फ़ौज में भरती नहीं होते। पुलिस का काम भी ठीक तौर पर नहीं कर पाते। क्या कारण है?

कुछ लोगों का कहना है कि इनकी भीरुता का संबंध इनके इतिहास से है। बड़े शोक की बात है कि इतने सुरम्य देश पर शताब्दियों तक अत्याचार का राज्य रहा। चारों ओर से सुरक्षित होने के कारण, न तो राज्याधिपतियों

पहुँचना हो, उनके लिये जम्मू का रास्ता ठीक नहीं है। आराम और सुविधा के लिहाज़ से तो रावलपिंडी का रास्ता ही अच्छा है। परंतु जिन्हें पीरपंजाल के दृश्यों, उसकी गहरी घाटियों, और उसके हरे-भरे पर्वत-शृंगों के दर्शन करना हो, जिन्हें पहली बार एकदम काश्मीर की अनुपम छटा और हिमाच्छादित पर्वत-शृंगों को देखना हो, वे जम्मू के ही रास्ते से आयँ। यदि मई में डेढ़ या दो महीने का अवकाश मिले और जून या जुलाई में लौटना हो, तो आइए जम्मू के रास्ते से और लौटिए रावलपिंडी के रास्ते से। क्योंकि जम्मू का रास्ता लौटते समय बहुत गरम हो जाता है और फिर उस वक़्त आराम और समय की बचत की फ़िक्र अधिक रहती है, और सैर की कम; क्योंकि काश्मीर की सैर बहुत कुछ हो चुकी होती है, और काम तथा घरबार की फ़िक्र यह कहती है कि जितनी जल्द हो सके घर पहुँचो।

रावलपिंडी-मरी सड़क का वर्णन बहुत-सी पुस्तकों में मिलेगा। परंतु जम्मू का रास्ता तो अभी ही खुला है, इसका विवरण कहीं नहीं मिलता। इसलिये हमारा इसके विषय में ही लिखना आवश्यक है।

जम्मू से ऊधमपुर—४१ मील—नीची सूखी पहाड़ियों को तय करते हुए, समतल सड़क, जिसके दोनों ओर कहीं-कहीं खेत, बाक़ी ऊजड़ ज़मीन।

ऊधमपुर से चनेनी—१६ मील—सड़क अब हमारी पूर्व-परिचित नदी के दाहिने किनारे से चढ़ना शुरू होती है। सामने के पहाड़ों की वैसी ही शान समझिए जैसी कि काठगोदाम से नैनीताल की चढ़ाई पर। चनेनी-ग्राम सड़क से कुछ नीचे पहाड़ों से घिरे हुए एक समतल मैदान पर है। यह इलाक़ा एक राजा के अधीन है, जो जम्मू राज्य को कर देते हैं।

चनेनी से बटोत—१३ मील—चनेनी से आगे बढ़कर दृश्य मनोहर होने लगता है। कुछ दूर आगे बढ़कर पीरपंजाल की हिम के हमें प्रथम दर्शन होते हैं। सड़क चढ़ने लगती है। ७,००० फ़ीट ऊँचे पट्टी-टाप नामक दर्रे से उतराई शुरू हो जाती है। कहा जाता है कि पहले महाराज जम्मू से श्रीनगर जाते वक़्त इस दर्रे पर ठहरकर जल-पान करते थे। दर्रे से बटोत तक सघन चीड़ के वन हैं और जल की धाराएँ भी बढ़ने लगती हैं। बटोत के जल-वायु की बड़ी तारीफ़ है और राजयक्ष्मा-रोगियों के लिये तो उसके चीड़-वन और खुले हुए पर्वत विशेष हितकर हैं।

बटोत से राम-वन—१६ मील—यहाँ से हम चिनाब-नदी के बाएँ किनारे पहाड़ों से उतरना शुरू करते हैं और राम-वन पहुँचकर, जो समुद्री सतह से ३,००० फ़ीट ऊँचा ही रह जाता है, चिनाब-नदी को तारों से बँधे हुए पुल से पार करते हैं।

राम-वन से रामसू—८ मील—हम चिनाब को बाईं ओर छोड़ देते हैं और बनिहाल-नामक सहायक नदी की ओर बढ़ते हैं। यहाँ से एक रास्ता चिनाब के दाहिने पर्वत-शृंगों पर से किश्तवार की ओर जाता है, जिसका फिर कभी विवरण किया जायगा।

रामसू से बनिहाल—१२मील—यहाँ से चढ़ाई शुरू हो जाती है और बनिहाल-नदी के बाएँ किनारे के पर्वत-शृंग पर हम चढ़ना शुरू कर देते हैं। बनिहाल-ग्राम हिमाच्छादित बनिहाल-पर्वत के नीचे है। जिन्होंने कभी हिम के दर्शन न किए हों उन्हें हिम और देवदारु के सफ़ेद और गहरे हरे रंग के संमिश्रण की शोभा देखते ही बनती है। बनिहाल काश्मीर के कोट की अंतिम दीवार

चिनाब का पुल

बनिहाल का दर्रा

है। बड़ी कठिन चढ़ाई है । ९,००० फ़ीट की उँचाई तक पहुँचकर ही हम दम ले सकते हैं। यहाँ पहाड़ को काट-कर एक गुफा बनाई गई है, जिसके एक ओर पीर पंजाल के पर्वत-शृंग हैं और दूसरी ओर काश्मीर का अनुपम दृश्य। जिन्होंने काश्मीर के दर्शन कभी न किए हों उनके सामने एक विस्तृत चित्र-पट के समान काश्मीर की अनुपम शोभा सामने आ जाती है। चारों ओर गगन-चुंबी हिम और नीचे हरे-भरे सूर्य-पोषित जलाशय, वन और उपवन।

बनिहाल से श्रीनगर—मोटर की सड़क बनिहाल के दर्रे से उतरती हुई वेरीनाग को दाहिने तरफ़ छोड़ती हुई, बिजबहरा को काटती हुई, कनबल से झेलम के किनारे-किनारे, अवंतिपुर के प्राचीन खँडहरों की झलक दिखाती हुई, पाम्पुर में केसर के खेतों को पार करती हुई, श्रीनगर पहुँचा देती है। कुल फ़ासला मोटर द्वारा जम्मू से श्रीनगर तक २०६ मील है। मोटर द्वारा क़रीब २०) एक आदमी का देना पड़ता है। लारी द्वारा क़रीब १०)। सड़क के नियमों के कारण दोनों को रात रामबन में बितानी पड़ती है या बनिहाल में। अधिक अच्छा रामबन ही में रात बिताना है, क्योंकि यहाँ नीचा होने के कारण ठंड नहीं है। बनिहाल में यथेष्ट ठंडक होती है, दर्रे पर तो मई के आख़ीर तक बर्फ़ जमी रहती है।

जो दल मोटर से गया उसे तो कठिनाइयों का कोई मौक़ा ही नहीं था। जब कहीं अपनी या किसी दूसरे की मोटर बिगड़ जाती थी तब इन ड्राइवरों का पारस्परिक भ्रातृ-भाव देखकर आश्चर्य होता था। एक दूसरे की ख़ूब जी तोड़कर सहायता करते और मोटर को चला-कर ही छोड़ते थे। जिन्हें पैदल यात्रा करनी पड़ी उन्हें कहीं-कहीं विशेष कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। पहले तो ऊधमपुर में ख़च्चरों का प्रबंध करना पड़ा। हाइक का नियम अवश्य था कि हरएक हाइकर अपना बोझ अपने ही कंधे पर रक्खे, न कि ख़च्चर की पीठ पर। पर इस नियम का निबाहना कठिन था। हमारे Lionel Airec-नामक एक अँगरेज़-मित्र ने तो अवश्य इसका पालन किया। बाक़ी सबको अपना थोड़ा-बहुत असबाब ख़च्चरों पर ही रखना पड़ा। यात्रा २१ मई के प्रातःकाल ऊधमपुर से प्रारंभ हुई। हमारे ऐसे मोटर के लद्दू लिहाफ़ों में मुँह छिपाए पड़े थे। वाजपेयीजी अपने बालक यात्रियों को लिए स्काउट-गीत गाते हुए हमारे डेरे की तरफ़ से निकले—

> भारतवर्ष हमारा प्यारा भारतवर्ष हमारा है।
> दुनिया-भर की प्रकृति-देवि की आँखों का यह तारा है।

आकाश में घटाएँ छाई हुई थीं। कुछ अच्छे लक्षण नहीं थे। हमें इन बालकों के साहस पर आनंद और अपनी कमज़ोरी पर शर्म मालूम हुई। परंतु थोड़ी ही देर बाद घोर वर्षा होने लगी और हमें यात्रियों की कठिन दशा पर शोक होने लगा। क़रीब नौ बजे वाजपेयीजी जल से शराबोर बालकों-सहित दिखाई दिए। कानपुर के डॉक्टर जवाहरलाल के पुत्र महेंद्र का अब भी पता नहीं था। कुछ साहसी हाइकर दौड़ाए गए और वह भी लौट-कर पहुँचा। लोगों की जान में जान आई। वाजपेयीजी ने भयंकर वर्षा में पहाड़ी-यात्रा के अनुभव सुनाना शुरू किए और उस समय तो पैदल यात्रा के लिये सभी कच्चे पड़ गए; पर जब भोजन कर चुके और शरीर में गरमी आ गई, तब फिर उनके साहस ने ज़ोर पकड़ा और पैदल यात्रा करने का निश्चय ही कर दिया।

इस बार उन्हें कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ी, परंतु ५० से ऊपर यात्री थे। ओढ़ने के लिये कुछ के पास

मार्तंड नाम सूर्य का है। पर जहाँ तक खोज से मालूम हुआ यह मंदिर सूर्य की पूजा करने के लिये नहीं बना। काश्मीर के महाराजे शैव थे और काश्मीर में शैव-संप्रदाय के ही माननेवाले बसते थे। मंदिर के भंसरत्व के देखने से भी यही ज्ञात होता है कि उसके मध्य किसी समय शिव-लिंग ही स्थापित थे। बावन के पंडों में तो यही मशहूर है कि यह मंदिर पांडवों ने बनवाया, पर ऐतिहासिक खोज से मालूम होता है कि मंदिर अब से क़रीब डेढ़ सहस्र वर्ष हुए, काश्मीर के राजा रामादित्य और उसकी रानी अमृतप्रभा ने बनवाया था। और उसकी दाहिनी और बाईं ओर के स्तंभ, जिनके ऊपर किसी समय छत रही होगी, रामादित्य से प्रायः डेढ़ शताब्दी पश्चात् काश्मीर के प्रसिद्ध चक्रवर्ती राजा ललितादित्य ने बनवाए थे। भवन-निर्माण-विशारदों का विचार है कि काश्मीर के प्राचीन मंदिरों में ही हमें यावनी कारीगरी के सबसे बढ़िया भारतीय नमूने मिलते हैं। भारतीय कारीगरी के अन्य नमूने भी हमने देखे हैं, इसलिये इतना निश्चय के साथ कह सकते हैं कि मूर्तियों में तो कोई विशेष बात नहीं है, पर मंदिरों की बनावट में अवश्य सादगी की विलक्षणता है। संभव है कि सिकंदर के पश्चात् भारत के उत्तर-पश्चिम प्रांतों में यवन-राज्यों के बहुत काल तक स्थापित रहने के कारण काश्मीर में बहुत यवन बस गए हों और अपने आदर्शों के अनुसार ही उन्होंने मंदिर निर्माण किए हों। काश्मीर में हमें इनके दो ही सबसे बढ़िया नमूने मिलते हैं। एक तो मार्तंड में और दूसरा अवंतिपुर में, जिसे अवंतिवर्मन ने (राज्य-काल संवत् ८०० से ८२५ तक) बनवाया था।

(असमाप्त)

काशिदास कपूर

गुप्त भेद

प्यारे ! मन का मूक मर्म
　कैसे तुम पर प्रगटाऊँ ?
अंतस्थल की छुपी प्यास
　मुँह से कैसे बतलाऊँ ?
और बात कुछ हो, तो कह दूँ,
　यह किस भाँति जनाऊँ ?
कहने में जो आ न सके,
　वह कैसे हाय ! सुनाऊँ ?
छिपा कहीं का गुप्तभेद
　तुमको कैसे दिखलाऊँ ?
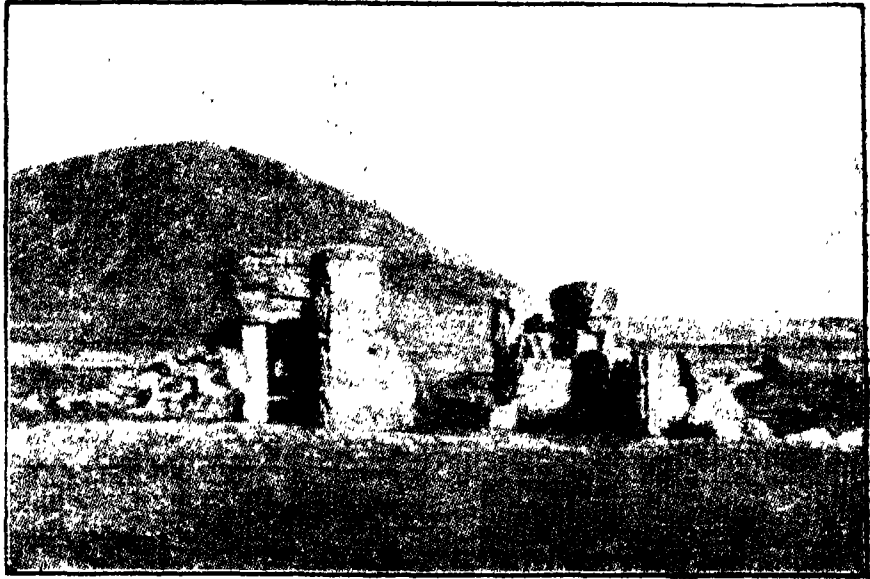
अवंतिपुर के खँडहर

ख़ुद ही समझ न पाया है जो,
　वह कैसे समझाऊँ ?
मेरे वश की बात नहीं
　वह कैसे वश में लाऊँ ?
आह ! समझ जाते तुम ख़ुद ही
　यह कैसे कर पाऊँ ?

लतीफ़हुसैन 'नटवर'

गुजरात का हिंदी-साहित्य

(२)

१९. अज्ञात कवि

गुजरात के राज्य-कर्ताओं की वंशावली। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। लेख गद्य गुजराती में है, किंतु बीच-बीच में चारणी- भाषा भी दी गई है। "औरंगज़ेब-राज्य में" इस उल्लेख से रचना-काल सं० १७५० के लगभग स्पष्ट है। उदाहरण लीजिए—

तोरण गथ्यो चपरोट को, जामा साहितो पाग ;
एतो दीजे चारणा, कुंभा रारो लाग।

२०. देवीदास

इस कवि का बनाया हुआ, राजनीति-नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है, जिसमें ख़ासकर राजा और मुत्सद्दियों के राज-व्यवहारादिक निपुणता-पूर्वक व्यवहार रखने का वर्णन किया गया है। कविता का उदाहरण लीजिए—

कौन यह देस कौन काल कौन बैरी मेरो ,
कौन मेरो हितू मोहिं किन ते न टारिबो ;
कैति आमद केतो खरच किनो कितो वसूत ,
उनमान मोहिं.........मुख ते कारिबो।
संपति के आनन को कौन मेरे अवरोधि ,
ताहु कोऊ पाइ यह दाव उर धारिबो ;
राज-नीति राजान को दिन प्रति देवीदास ,
चार घरी राति रहे, इतनी विचारिबो।

इसका समय सं० १७५० है।

२१. किशनदास

रचना-काल १७६७। इस कवि का नीति पर किशन-बावनी-नामक बावन कवित्त-युक्त ग्रंथ है। यह जैन साधु था। उदाहरण—

ज्ञान की न सूझी शुभ ध्यान की न सूझी,
खान-पान की हो सूझी अब एक सूझ सूही है ;
तुझसों कठोर गुनचोर न हरामखोर,
तुझसो न और ठौर और दौर यू ही है।
अपनी-सी कीजे मेरे फैल पै न दिल दीजे,
किशन निबाह कीजे जोपै ज्यूं ही क्यूं ही है।

२२. रत्नजीत

रचना-काल १७७०। इस कवि के भाषा-शब्द-सिंधु, भाषा-व्याकरण, भाषा-धातु-माला, रत्न-माला और रत्न-मालिका-नामक हिंदी-ग्रंथ पाए जाते हैं। भाषा-व्याकरण में कवि ने हिंदी-भाषा के व्याकरण के मूल तत्वों का सारांश लिखा है, जिसमें मुख्यतः विभक्ति का विचार किया गया है—

देव गिरा अति कठिन है, बहु दिन सों समझात ;
ताते कवि नर-बानि सों, बहु विधि ग्रंथ बनात।

और यह ग्रंथ—

पूरन मुनि धातु शशी, संवत्सर शक केहि ;
मकर में कवि रत्नजित, रच्यो व्याकरण येहि।
तुलसी केशव कृष्णसुर, सुंदर कवि-कृत ग्रंथ ;
तिनकी वाणि विचार के, रच्यो शब्द को पंथ।

दूसरा ग्रंथ भाषा-शब्द-सिंधु है। इस ग्रंथ में व्यंजनांत शब्दों का उपयोग किया है। कवि व्रज-भाषा की तारीफ़ में लिखता है—

रचन अगम पढ़िबो सुगम, व्रज-भाषा को ग्रंथ ;
ताते नृप बहु अनुसरत, यह भाषा को पंथ।
जो पंडित विज्ञान-विद, तो पुनि भाषा चाहि ;
निंदित है व्रज-भाष को, पहुंचत बुद्धि न जाहि।
भाषा को रस जानही, भाषा जाननहार ;
जो केशव गिरवान को, जाको बुद्धि अपार।

तीसरे ग्रंथ भाषा-धातु-माला में कवि ने लिखा है—

जाको मित्र कवि मिले, अमर रहे माहपाल ;
नाहिं मिले जाको कवि, ताको भख गए-काल।

इस कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार था—

तरकि खरकि भकि झिरकि कहूकि ,
अटकि पटकि अवलोकि ;
चमक-दमक चक चौकि सक ,
हूलकि त्रिलो के रोकि।

कवि का महत्त्व-पूर्ण ऐतिहासिक काव्य रत्न-मालिका है, जिसमें सिद्धराज जयसिंह का यश वर्णन किया है। किंतु शोक की बात है कि उसके इस समय के नव रत्न अर्थात् अध्याय ही उपलब्ध हुए हैं। कवि ने—

"अष्टोत्तर शत रत्न की, रचिहु सु मंजुल माल ;
एक रत्न को मोल पुनि, जानहिं बुद्धि विशाल।"

यह पद्य प्रथम रत्न के अंत में लिखा है, जिससे पता

को अपने अत्याचार के परिणाम की परवाह रही और न प्रजा को ही अन्य प्रदेशों से सहायता पाने का अवसर

बेरीनाग से अछबल का मार्ग

मिला। सैर का वह शौक़ जिसने अँगरेज़-जाति के मस्तक पर संसार-विजय का सेहरा बाँधा, जो हमारे ही देश के पंजाबी भाइयों को व्यवसाय का नेता बना रहा है, काश्मीरी नवयुवकों में नहीं है। अपना देश छोड़कर उन्हें कहीं जाना नहीं भाता। काश्मीर की शाली और शाक के सामने विदेश के षट् व्यंजन उनकी दृष्टि में तुच्छ हैं।

इन्हीं विषयों पर विचार करते हुए बेरीनाग से ३ मील चलकर 'दारू' ग्राम में पहुँचे। यहाँ से एक और रास्ता अनंतनाग (इस्लामाबाद) की ओर मुड़ गया है, और दूसरा रास्ता अछबल की ओर। हमें अछबल ही जाना था। एक नीची पहाड़ी पर चढ़कर उसे पार करना पड़ा। फिर एक लंबे मैदान से होते हुए, बिरंगी-नामक एक पहाड़ी नदी को पारकर दोपहर तक अछबल पहुँचे।

बेरीनाग की तरह अछबल भी पहाड़ के नीचे है। परंतु यह पहाड़ हिमालय-श्रेणी का है। इसलिये हिमाच्छादित पहाड़ यहाँ से बहुत निकट मालूम होते हैं। बेरीनाग के ऊपर चीड़ और देवदारु का घना वन है। पहाड़ चूने के पत्थर का है। इसकी जड़ से अनेक धाराएँ निकलती हैं, जिनका जल गुणकारी समझा जाता है। कहते हैं कि बिरंगी नदी, जिसका हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं, इस पहाड़ के अंदर पहुँचकर इन धाराओं में फूट निकलती है। इन्हीं धाराओं में से एक को जमाकर जहाँगीर ने यहाँ एक बाग़ बनवाया जो अब भी बहुत अच्छी हालत में है। ढंग वही है जिसके बढ़िया नमूने हमें श्रीनगर पहुँचकर उसके किनारे मिलेंगे। पास एक डाक-बँगला है जिसमें यात्री बारह आने प्रतिदिन देकर ठहर सकते हैं। गाँव छोटा ही है। बेरीनाग की तरह खाना बनाने की साधारण चीज़ें मिल सकती हैं, पर बना-बनाया भोजन नहीं मिलता। बँगले के पास ही चिनारों से घिरा हुआ एक छोटा-सा मैदान है, जिसमें यात्री डेरा डालकर रह सकते हैं और अछबल के जल-वायु का सेवन कर सकते हैं।

अछबल से दो रास्ते घाटी की ओर जाते हैं, एक
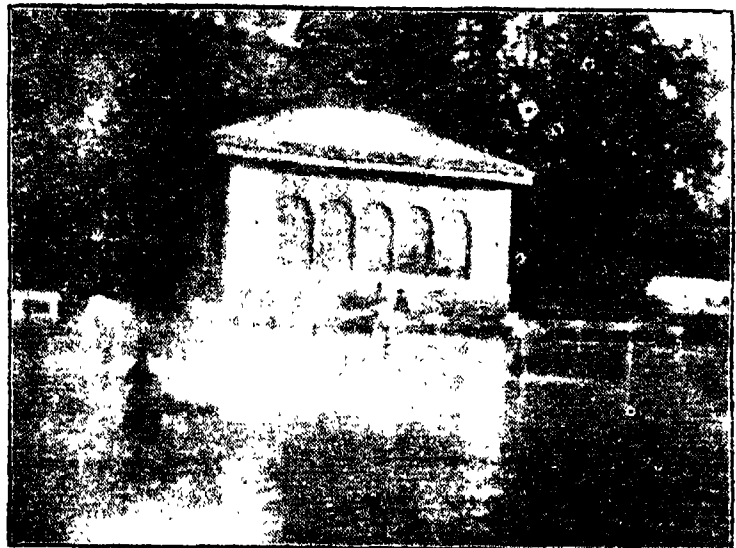
अछबल

इस्लामाबाद की ओर पक्की सड़क से जो सात मील है, और दूसरा कच्ची सड़क से मार्तंड की ओर जो वहाँ से पाँच मील है। हमने पहले मार्तंड की ही सैर करना निश्चय किया। कच्ची सड़क का रास्ता है, बाईं ओर घाटी का विस्तृत मैदान था, और दाहनी तरफ़ आगे बढ़कर पहाड़ थे, जिनके नीचे कनक के खेत शोभा दे रहे थे।

मार्तंड लंबोदरी (लिदर) नदी के बाएँ किनारे, जहाँ वह पहाड़ काटकर घाटी में पहुँचती है, बसा है। मार्तंड से लिदर के कनारे-किनारे पहाड़ों पर घूमती हुई पहलगाम तक सड़क आती है, जो मार्तंड से क़रीब २२ मील लिदर के किनारे देवदारु और चीड़ से घिरा हुआ ७,२०० फ़ीट की उँचाई पर बसा है। अब पहलगाम पर गुलमर्ग की तरह अँगरेज़ों ने रीझना शुरू किया है। गुलमर्ग से तो पीरपंजाल ही के दृश्य मिलते हैं। परंतु पहलगाम से हिमालय

अमरनाथ की गुफा

के हिम की ख़ूब सैर हो सकती है। एक रास्ता अमरनाथ की ओर जाता है, जो १२,००० फ़ीट की ऊँचाई पर शेषनाग-नामक हिममय ताल के दर्शन कराता, और १४,००० फ़ीट की ऊँचाई पर पंचतरनी मार्ग को लँघाता, यात्रियों को श्रावणी के दिन अमरनाथ-गुफा में हिम से बने हुए शिव-लिंग के दर्शन कराता है। जिन्हें अधिक सैर

अमरनाथ का मार्ग

करना हो, वे १७,००० फ़ीट ऊँचे की लाहाई हिम-धारा की यात्रा कर सकते हैं।

मार्तंड का दूसरा नाम बावन है। यहाँ अधिकतर अमरनाथ के पंडों की ही बस्ती है। हमारे बावन पहुँचते ही ये पंडे अपनी-अपनी बहियाँ लेकर दौड़े, और लगे नाम-धाम पूछने। नई रोशनी के लोग इन पंडों से चिढ़ते हैं और इन्हें अपने पास फटकने नहीं देते। पर हमें उनकी बहियों और बातों में असीम आनंद और कौतूहल प्राप्त होता था। जब भारतवर्ष में रेल और समाचार-पत्र नहीं थे तब हमें भारतीयता का ज्ञान देनेवाली कौन संस्थाएँ थीं, और हिंदुओं को एक सूत्र में बाँधने के कौन ढंग थे? इसीलिये शायद तीर्थों की सृष्टि हुई और साथ ही पंडा-समाज के खाते खुले।

यदि ठगाने के लिये आप तैयार हो हों, तो बात दूसरी है। यों इन पंडों से बड़ा आराम मिलता है। हमें एक पंडा मिल गया, जिसने पारिवारिक हस्ताक्षर दिखाए, बस अब दूसरे पंडे अलग हो गए। और उस पंडे ने ही हमें सूर्य-कुंड में स्नान कराया। आगे बढ़कर लिदर के किनारे बुमजू गुफा दिखाई और फिर प्रसिद्ध भग्नावशेष मार्तंड-मंदिर के दर्शन कराए, जो क़स्बे से कुछ दूर एक पठार पर हैं।

अचल विंध्य के अनुज किधौं ऐरावति उद्धत ,
विकट वीर वैताल कनक संघट जब क्रुद्धत ;
अरि-गढ़-गंजन अतुल सदल शृंखल बल तोरत ,
झरर गल्ल मद झरत सजल सुंडनि झकझोरत ।
ऐसे प्रचंड सिंधुर अभंग, महाराज जिय मान अनि ;
पठए दिलीप लखपति कों, कहे जगत् धनि कच्छपति ।

२६. उम्मड़जी

ये कच्छ के राजा थे और उक्त लखपतिजी के पुत्र विशालजी के पुत्र थे । इन्होंने भगवत पिंगल-ग्रंथ के अतिरिक्त अन्य रचना भी की है । इनका निम्न-लिखित दोहा अधिक प्रसिद्ध है । यथा—

देखो मरबो एक है, सब जन कहत सुभाय ;
शूरा सों सन्मुख भिरे, कायर शीस नवाय ।

३०. रत्नसेन

रचना-काल १८१६ । यह जैन-साधु था । इसने अपने यात्रा-पत्र में अपने संघ-सहित तीर्थ-यात्रा करने का वर्णन हिंदी-गद्य में किया है, जो स्वर्गीय अलेक्जेंडर कवि ने अपने संग्रह में संगृहीत किया था । उदाहरण—

ता पाछे हम वाहन चढ़िकर फिरते घर आए । हमारी वांची पर भावजा गपूर, कुटम्ब, सब सग छत्तीस हजार मनुष्य दर्शन कर संवत् १८०० के कार्तिक-मास में चले थे । यो संवत् १८२१ की आषाढ़े घर आए । हो तुम बांची अनुमोदना रावज्यो । घरे सबहिं को श्रीजिनाय नमः कहिजो ।

३१. किशोरदास

संवत् १८२७ । इसने अहमदाबाद के धनासुतार की पोर की महालक्ष्मी देवीजी का वर्णन किया है—

'बैकुंठ मे बलवन्त भवानी, खेलन को निकली ;
आसोमास दिवाली देखन, गुजरात आप चली ।"

× × ×

प्रेमानंद गुरु का चेला कहे किशोरदास ।"

संभवतः इसी कवि का रचा हुआ अहमदाबाद का वर्णन भी पाया जाता है । यथा—

धन-धन कहे दलीपहि, अहमदशाह पादशाहा ,
गर्गा का रंगमहल बनावे, साजा ना बाजा ;
सवा लाख घोड़े की राजी का सरभाव दिया ,
आप खुश हुए देख के तब, बादशाही बाग किया ।

ऐसी इसकी रचना पाई जाती है ।

३२. मानसिंह

जन्म सं० १८३७ । यह कवि संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी और गुजराती का अच्छा ज्ञाता था । इसने हिंदी-भाषा में "रस-कविता-संग्रह" तथा ज्ञान-सागर और उर्दू में भी एक काव्य-ग्रंथ लिखा है । इसकी कविता में सरलता की मात्रा विशेष है । यथा—

ब्रह्म से भूल रहा तू आतम ,
अचेत गाफ़िल अब तक सोवत ;
नैन में नींद रही रे सब निशि ,
प्रात हुए नर जाग सया है ;
बिना मोल का मनुष्य-तन यह ,
बिन कारण जान बह्या ।
अद्वैत आश्रय करन पूरण, अहं ब्रह्म है आदि अनादि ;
मान सुमन मन मोहि रही, हिनु बिधि प्रेमी कहा ।

३३. नागजी ओदीच्य

'सौराष्ट्र' के इतिहास में इनका समय संवत् १८०६ लिखा है । इन्होंने हिंदी में कुँडलिया-बद्ध एक ग्रंथ लिखा है, जिसमें भविष्य की कई बातें लिखी हैं । ये गाधड़ के निवासी थे ।

३४. दिल्ली राजनुं वित्तनवार्ग

इसमें सं० ४२८ से लगाकर मुग़ल-राज के अंत तक का वर्णन दिया है—

"पूना ताजे दक्खिनीए राज्य लीधु"

इस वाक्य से पता चलता है कि संवत् १८४८ में महादजी सिंधिया के दिल्ली पर आधिपत्य होने का इसमें उल्लेख है । यह गद्य गुजराती में है । इसके हिंदी-कवित्त का नमूना यह है—

अनगपाल गढ़ रच्यो, नाम स्थिर थप्यो दिल्ली ;
रे तुंवर मति-हीण, करी ढीली कयों ढीली ।
भणे जगम जग-जोति, अगम आगम इ जाणूं ;
तुंवर थी चहुआन, पिछे फिरे तुरकाणूं ।
तुरकाकंध चीतोड़पति, बड़ो राण बदसी वेर ;
नव सत्ता अंत मेवाड़पति, दिल्ली छत्र समं धेर ।

३५. स्वामी मुक्तानंद

ये शांत-रस के कवि-सम्राट् कहे जाते हैं । काठियावाड़ के अमरेली-ग्राम में इनका जन्म हुआ था । ये जाति के सरवरिया ब्राह्मण थे । इनकी माता राधाबाई तथा नाना प्रसिद्ध भक्त-कवि मूलदास भी हिंदी-काव्य के बड़े प्रेमी थे । इनके पूर्वाश्रम का नाम मुकुंददास था और इन्होंने श्रीनारायण उर्फ़ उद्धव-संप्रदाय के रामानंदस्वामी से

दीक्षा ली थी। इनके बनाए हुए लगभग ८,००० के कीर्तन हैं जिनमें अधिकांश हिंदी-भाषा की रचना है। यथा—

(१) मुकुंदबावनी—इसमें हिंदी-छंदों में वेदांत और भक्ति का वर्णन किया है—

मन-मतंग बशकरन, हरन मद-मोह उजागर ;
शरणागत सुख-खान, बिरद सद्‌गुण के सागर।

ऐसी सरल, शुद्ध हिंदी में इनकी रचना पाई जाती है।

(२) विवेक-चिंतामणि—इसमें सुंदर-विलास की तरह ११४० साखियों में वेदांत का वर्णन किया गया है। ग्रंथ-रचना के विषय में कवि ने लिखा—

दुरग नाम पत्तन विशे, उनमत गंगा-नीर ;
रचि विवेकचिंतामणि, मुक्ति हरण भवपीर।
संवत् अाठर ब्यासीए, कृष्णपक्ष गुरुवार ;
अगहन बदि एकादशी, ग्रंथ सपूरन सार।

(३) पंच-रत्न—यह ग्रंथ हिंदी दोहा-चौपाइयों में लिखा है, जिसमें वैराग्य, विवेक, ज्ञान और ध्यान का वर्णन है।

(४) शिक्षा-पत्री—इसमें अपने सम्प्रदाय के द्रव्य-विनियोग करने की प्रथा बतलाई है।

(५) श्रीकृष्ण-महिमाष्टक—इसका एक पद यह है—
कर्ण से दानि धनाढ्य कुबेर से सुभ्रांति चोज बिधी सम भीना,
वेद पुराण रु नीति नरेश की ताहीं में देव गुरू से प्रवीना ;
तेज प्रताप दिवाकर से जग में दृढ़ दिग्ग विजय कर लीना,
ऐसे भए तो कहा मुक्तानद श्रीव्रजचंद से नेह न कीना।

(६) रुक्मिणी विवाह, (७) दशम-स्कंध और (८) विदुर-नीति आदि ग्रंथों में भी स्वामीजी की हिंदी-कविता पाई जाती है। इनका परलोक-वास संवत् १८८६ की आषाढ़ बदी ११ को गढ़ा-नामक स्थान पर हुआ था।

३६. महासिंह

इस कवि ने संवत् १८४३ में छंद-शृंगार-पिंगल-नामक ग्रंथ बनाया, इसमें मात्रिक छंदों के आठ प्रकार, गण-विचार, छंदों के भेदों का वर्णन तथा विविध छंदों के दृष्टांत और नायिका-भेद का वर्णन किया है। ग्रंथ के विषय में कवि ने लिखा है—

छंद-बोध यातें लहै, रसिकन को रस-सार ;
नाम धर्‌यो इस ग्रंथ को, ताते छंद-शृंगार।
"भारद्वाज गोत्र पाथ करण, सेवक ज्ञाति कहावे ;
महासिंह कवि नगर मेरते बसे परम सुख पावे।"
संवत् लोक पांडव, नग चंद नभ मास ;
धवल पंचमी कुंज बार ठानियो !
या छंद शृंगार नाम ग्रंथ समापत भयो ;
नवे नगर सेहर नीज मन मानियो।

३७. रानी बावड़ीजी

संवत् १८६०। ये जोधपुर के महाराजा मानसिंह की दूसरी रानी गुजरात के माणसा के ठाकुर की कन्या थीं। इनकी रची हुई "सालूड़ो मँगा दे सांगानेर को" और "बेगानी पधारो महाराज आजो जी जू" जैसी स्फुट कविताएँ पाई जाती हैं।

३८. रानी राइधड़ीजी

ये बावड़ीजी की समकालीन मारवाड़ के अंतर्गत राड़-धड़ा के राना की पुत्री थीं और सिरोही के राव से इनका विवाह हुआ था। इनकी बहुत-सी हिंदी-रचनाएँ पाई जाती हैं। यथा—

टूके-टूके केतकी, भिरने भिरने जाय ;
अर्बुद की छवि देखता, और न आवे दाय।

३९. लल्लूजीलाल

संवत् १८६०। हिंदी-साहित्य के इतिहास के आधुनिक काल की सीमा पर नेतृत्व का पद ग्रहण करके माता सरस्वती के चरण-कमलों में हिंदी-ग्रंथ-रूपी पुष्प भेंट करने में लल्लूजीलाल को देखकर हमारा विश्वास है कि हिंदी-साहित्य के इतिहास की तरह इस गुर्जर-गिरा के पुत्र का नाम गुजराती साहित्य में भी स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा और वे उन महाभागों की श्रेणी में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करेंगे जिन्होंने पर-भाषा-भाषी होकर भी राष्ट्रीयता के नाते हिंदी को राष्ट्र-भाषा के मंच पर आसीन किया। लल्लूजीलाल जाति के औदीच्य गुजराती ब्राह्मण थे, पर जीविकार्थ मुर्शिदाबाद और कलकत्ते में भी रहे थे। आधुनिक गद्य हिंदी के ये जन्म-दाता कहलाते हैं। तेली-तँबोलियों से लगाकर मध्यम स्थिति के लोगों तक हिंदी का अध्ययन अध्यापन किसी ने सिखलाया है, तो वह केवल आपके बनाए हुए 'प्रेम सागर' ग्रंथ ही ने। भाषा उसकी बड़ी मीठी और मनोहारिणी है। इनके हितोपदेश, सभा-विलास, सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी आदि ग्रंथों के नामों ही से इनका हिंदी से अगाध प्रेम होना पाया जाता है। इनका मृत्यु-काल ठीक तौर पर उपलब्ध नहीं है।

चलता है कि उसने पूरे १०८ रत्नों की माला बनाई थी। इसका आरंभिक पद्य कमल-प्रबंध यों है—

सरस सकल रस दायिनी, सरस्वति शब्द विलास ;
होहु प्रसन्न मोकों सदा, पूरि सबै मोंय आस।

तथा—

नाम मेरो रच्छनि, रचेउ रत्नमालिका।

जैसा उल्लेख किया है।

२३. कर्णदान

इसने चारणी अर्थात् डिंगल-भाषा में "अभयसिंह नो गढबृंद संगार"-नामक ग्रंथ रचा है। जिसमें औरंगज़ेब के अनंतर दिल्ली के दरबार में जो कुछ क्रांतियाँ हुईं, उनका तथा मराठों का गुजरात पर की चढ़ाइयों का वर्णन है और महाराजा अभयसिंह के यश का भी वर्णन है। राजा अभयसिंह का समय सन् १७११ निश्चित है।

२४. चारणी पिंगल

इसका लेखक पाटडी के राणा चंद्रसेन का आश्रित था। चारणगण चाँदण शासन ने यह ग्रंथ संवत् १८०२ में लिखा था। यह चारणी-भाषा का पिंगल अर्थात् छंद-शास्त्र है, जिसमें छंदों की मात्रा के वर्णन के साथ ही भुजंगी, डोमल, नाराच मेधा, मोतीदाम आदि २१ छंदों के लक्षण बताए हैं, जिनमें पाटडी के राणा हरपाल मकवाणा के बड़वान राज्य स्थापन करनेवाली शाखा के अजमाल तथा चंद्रसेन राजा का नामोल्लेख किया है। उदाहरण—

मुंडाला श्रीदनमाला, उर अरणं दे श्रीणं ;
बहुमनम्ब सउलास पर्वाणम् ।
आननहारी त नमो सत् ईशः

इसी कवि का 'केसररास'-नाम का एक और ऐतिहासिक काव्य उपलब्ध हुआ है, जिसमें वीरमगाँव के निकटस्थ पाटडी-राज्य के झाला-वंशीय राजाओं के युद्धों तथा पाटडी-राज्य के स्थापन करने का वर्णन है। झाला-वंश की उत्पत्ति श्रीनारायण के नाभि-कमल से ब्रह्माजी के उत्पन्न होने की घटना से हुई। उसी वंश के राजा केशरसिंह ने सुमरा राजा से युद्ध किया था और केशर के पुत्र हरपाल ने गुजरात के कर्णवाघेला की रानी का भूत निकालकर पाटडी के राज्य की स्थापना की। कर्ण का राज्य नष्ट होते ही उसके पुत्र सूरजमल और अन्य वंशजों ने गुजरात के सूबा, सुलतान तथा सलावतखाँ आदि बाबी-वंशीय सरदारों से युद्ध करके पाटडी-राज्य को बढ़ाया और बड़वाम-राज्य की नींव डालकर अंत में अजमल के पुत्र चंद्रसेन के बड़भान के पास दमाजी गायकवाड़ से युद्ध करने का वर्णन दिया है। इस कवि ने चंद्रसेन के साथ युद्ध में भाग भी लिया था। डिंगल-भाषा में कवि ने वीर-रस का अच्छा वर्णन किया है। इसकी रचना संवत् १८०२ में हुई। उदाहरण—

सजि दले दमणी, सकेजे नजदीगा निशाण ;
बड़भादस बड़भानथी, खड़े आप रिसाण।
दामजी सरदार दले, पुलरू मांहि चाले ;
सुबादार माखे सेन जे, डमु झखराले।

२५. केवलराम

इनका समय संवत् १७२६-१८३६ है। ये अहमदाबाद के निवासी थे, पर पीछे से जूनागढ़ के बाबी नवाब के आश्रय में रहने लगे, जिसकी प्रशंसा में इन्होंने 'बाबी-विलास'-ग्रंथ बनाया है। कवि ने अपना परिचय यों दिया है—

अहमदगढ़ में राजपर, तुलसी की यह पोल ;
केशव-सुत केवल बसत, नागर विप्र अमोल।

दिल्ली के नवाब फ़ख़रुद्दीन को परास्त करनेवाले बाबी नवाब जवाँमर्दख़ाँ की प्रशंसा में कवि लिखता है—

गजबी गरूर साज दिल्ली तें दलनि साज,
लूटिबे के काज पंथ गुर्जर को लीनो है ;
बूंदी को बिहारी मारो, हाडा गाढ़ा जोरन के,
और राव राजा ताके बाहु-बल छीनो है।
प्रबल पठानन सों भिरयो रन जीतिबे को,
भारत से कीन्हों जुद्ध बीर-रस-भीनो है ;
सबल नवाब जवाँमर्दखाँ बहादर ने,
फ़करु नवाब को फकीर कर दीनो है।

२६. जसराम

इसका मुख्य ग्रंथ राजनीति है, जिसमें राजा, रानी, राजकुमार, मंत्री, मुसाहब, रावत, रैयत और कवि इन आठ अंगों का वर्णन किया है और दोहा, सवैया, छप्पय आदि छंदों का प्रयोग किया है—

जगधारन माता मुहि, दीजे बुद्धि अपार ;
करि प्रारंभ प्रणाम करि, राजनीति प्रसार।
जिन बखतन में पातशाह, राजत आलमगीर ;
तिन बखत पैदा कियो, गुनगनियन गंभीर।

संवत् नाम अठारसे, बरस चो दिन माहिं ;
आसो सुदि नवमी शुक्र, गुन बरने चित-चाह।
मोलको जगमाल-सुत, उदयसिंह अनेक ;
गुन दीनों ताते गुनो, बाँधो ग्रंथ विशेक।
राय यदूकुल जोति सुद, नगर अमीपुर नाम ;
महि रेवा राजन महि, वर्ण-वर्ण विश्राम।
जैसे वेद विरंचि को, अपरम दियो उपाय ;
राजनीति राजान को, ऐसेहि दई बनाय।

और भी—

पढ़िबे ते मालुम परत, आछी नीति अनीति ;
जसुराम चारण कही, राजनीति की रीति।

यह कवि भड़ौंच-ज़िला के आमोद-ग्राम का निवासी और जामनगर के राजा का आश्रित था—

जसुन जाँचे जामसू बब भाटन कोटेक ;
तेरे मागन बहुत हैं, मेरे भूप अनेक।

इससे मालूम होता है कि इसने अपने आश्रय-दाता की भी भर्त्सना की थी। उक्त राजनीति-ग्रंथ संवत् १८१४ में रचा गया।

जसुराम चारन कही, राजनीति की रीति।

इसमें आठ परिच्छेद हैं, जिनमें राजा, राजकुमार, रानी, मंत्री, प्रजा, राज-कवि, पदाधिकारी और सरदार मुसाहिब का वर्णन किया गया है और उनके कर्तव्य तथा नियम, पौराणिक आख्यान तथा लोकोक्तियों के उदाहरणों-सहित उदाहरण लिखे हैं। कवि की भाषा भी सराहनीय है। यथा—

राज के वजीरन को सबै लोक जसुराम,
तमोली के पान ज्यों मबारवोई चाहिए ;
राजनीति राज के वजीरन कू जसुराम,
गुड़ हो ते मरे ताको विष ते न मारिए।
चातक दादुर मोर छिति, सदा निबाहत नेह ;
नृप ऐसे जस चाहिए, जैसे चाहिए मेह।

२७. महाराव श्रीलखपतजी

ये कच्छ के महाराज थे और संवत् १८०८-१८१७ तक राजगद्दी पर थे। इनका बनाया हुआ 'लखपति-शृंगार'-नामक शृंगार-रस का अपूर्व ग्रंथ है। ये महाराज शिक्षा-प्रचार के बड़े प्रेमी थे, साथ ही गुण-ग्राहक भी, जिसके कारण उन्होंने कई हिंदी, मारवाड़ी तथा कच्छी कवि, भाट और चारणों को आश्रय दिया था। इनके रचे हुए उक्त ग्रंथ में १४४ दोहे, ३ छप्पै, ८१ कवित्त, ११५ सवैया, ४ त्रिभंगी छंद और १८ हरिपद नामक छंद अर्थात् कुल ४४७ छंद हैं। जो मुख्यतः मुग़ल-सम्राट् शाहजहाँ के आश्रित, ग्वालियर-निवासी महाकवि सुंदरजी के 'सुंदर-शृंगार'-ग्रंथ के ढंग पर लिखा गया है और उसमें रस-विषयक सहायता संस्कृत-ग्रंथ रस-मंजरी से लिए जाने की बात स्वयं कवि ने भी लिखी है। इनके बनाए हुए व्रज तथा गुजराती के स्फुट पद्य भी प्राप्त हैं और इनके यश-वर्णन पर इन्हीं के आश्रित कवियों के बनाए हुए 'लखपति-यश-सिंधु', 'लखपति-पिंगल' आदि ग्रंथ भी विद्यमान हैं। ग्रंथ के आरंभ में गणपति, रामचंद्रजी, श्रीकृष्ण, महादेव और महामाया देवी के स्तुति-विषयक छंद लिखे गए हैं और उसके अंत में लिखा है कि—

कीनो लखपति कच्छ-पति, भले सुनो कवि-भूप ;
सुंदर-कृत अनुरूप यह, रस-तरंग रस रूप।
महाराउ लखपति कियो, शुभ लखपति-शृंगार ;
रच्यो देखि रस-मंजरी, सकल रसन को सार।

कवि का व्रज-भाषा पर कितना अधिकार था, यह बात निम्न-लिखित कवित्तों से भलीभाँति जानी जा सकती है—

विश्रब्ध नवोढा के रति-केलि का स्वरूप

सीस सों सीस मुखै मुख सों,
छतिया अपनी छतिया बरजोरी ;
बाहु सों बाहु लपेटि लई,
कटि सों कटि गाढ़ करी है किशोरी।
जाघ सों जघनि पिंडिसे पिंडियें,
बाँधे पगै पग प्रेम डोरी ;
राति की रीझ लखी मैं सखी,
तब ते मेरे चित्त में चित्र वहोरी।

और भी—

जहाँ-तहाँ मिटि गयो अंग-राग, बिदा भयो
बंदन, बिदारि दयो बेंदी को बनाउ है ;
टूटि गए हार बार छूटि कै बिथुर गए,
जहाँ-जहाँ गिरि तहाँ त्योंही हाथ-पाउ है ;
बुलाई न बोले दृग मूँदे उर प्रीतम के,
नेरे आप जानि परे यामें प्रान पाउ है ;
दूरी ते तो प्यारी ऐसी लागी है उजारी मोको,
शेष के बिछौना मानि सोने को निपाऊ है।

२८. भट्टार्क कनक कुशल

इस कवि का राजा लखपतिजी के यश-वर्णन पर 'लखपति-यश-सिंधु'-काव्य उपलब्ध है। उदाहरण—

पदार्थ मिल गए। जो काम गाँव में किसी ने न किया था, वह बाप-दादा के पुण्य-प्रताप से सुजान ने कर दिखाया।

एक दिन गाँव में गया के यात्री आकर ठहरे। सुजान ही के द्वार पर उनका भोजन बना। सुजान के मन में भी गया करने की बहुत दिनों से इच्छा थी। यह अच्छा अवसर देखकर वह भी चलने को तैयार हो गया।

उसकी स्त्री बुलाकी ने कहा—अभी रहने दो, अगले साल चलेंगे।

सुजान ने गंभीर भाव से कहा—अगले साल क्या होगा, कौन जानता है। धर्म के काम में मीन-मेख निकालना अच्छा नहीं। जिंदगानी का क्या भरोसा!

बुलाकी—हाथ ख़ाली हो जायगा।

सुजान—भगवान् की इच्छा होगी, तो फिर रुपए हो जायँगे। उनके यहाँ किस बात की कमी है।

बुलाकी इसका क्या जवाब देती। सत्कार्य में बाधा डालकर अपनी मुक्ति क्यों बिगाड़ती? प्रातःकाल स्त्री और पुरुष गया करने चले। वहाँ से लौटे, तो यज्ञ और ब्रह्मभोज की ठहरी। सारी बिरादरी निमंत्रित हुई, ग्यारह गाँवों में सुपारी बटी। इस धूम-धाम से कार्य हुआ कि चारों ओर वाह-वाह मच गई। सब यही कहते थे कि भगवान् धन दे तो दिल भी ऐसा ही दे, घमंड तो छू नहीं गया, अपने हाथ से पत्तल उठाता फिरता था, कुल का नाम जगा दिया। बेटा हो तो ऐसा हो। बाप मरा तो घर में भूनी भाँग भी नहीं थी। अब लच्छमी घुटने तोड़कर आ बैठी हैं।

एक द्वेषी ने कहा—कहीं गड़ा हुआ धन पा गया है। इस पर चारों ओर से उस पर बौछारें पड़ने लगीं—हाँ तुम्हारे बाप-दादा जो ख़ज़ाना छोड़ गए थे वही उसके हाथ लग गया है। अरे भैया, यह धर्म की कमाई है। तुम भी तो छाती फाड़कर काम करते हो, क्यों ऐसी ऊख नहीं लगती, क्यों ऐसी फ़सल नहीं होती? भगवान् आदमी का दिल देखते हैं, जो ख़रच करना जानता है, उसी को देते हैं।

(२)

सुजान महतो सुजान-भगत हो गए। भगतों के आचार-विचार कुछ और ही होते हैं। वह बिना स्नान किए कुछ नहीं खाता। गंगाजी अगर घर से दूर हों और वह रोज़ स्नान करके दोपहर तक घर न लौट सकता हो, तो पर्वों के दिन तो उसे अवश्य ही नहाना चाहिए। भजन-भाव उसके घर अवश्य होना चाहिए। पूजा-अर्चा उसके लिये अनिवार्य है। खान-पान में भी उसे बहुत विचार रखना पड़ता है। सब से बड़ी बात यह है कि झूठ का त्याग करना पड़ता है। भगत झूठ नहीं बोल सकता। साधारण मनुष्य को अगर झूठ का दंड एक मिले, तो भगत को एक लाख से कम नहीं मिल सकता। अज्ञान की अवस्था में कितने ही अपराध क्षम्य हो जाते हैं। ज्ञानी के लिये क्षमा नहीं है, प्रायश्चित्त नहीं है, या है तो बहुत ही कठिन। सुजान को भी अब भगतों की मर्यादा को निभाना पड़ा। अब तक उसका जीवन मजूर का जीवन था। उसका कोई आदर्श, कोई मर्यादा उसके सामने न थी। अब उसके जीवन में विचार का उदय हुआ, जहाँ का मार्ग काँटों से भरा हुआ है। स्वार्थ-सेवा ही पहले उसके जीवन का लक्ष्य था। इसी काँटे से वह परिस्थितियों को तौलता था। वह अब उन्हें औचित्य के काँटों पर तौलने लगा। यों कहो कि जड़-जगत् से निकलकर उसने चेतन-जगत् में प्रवेश किया। उसने कुछ लेन-देन करना शुरू किया था, पर अब उसे ब्याज लेते हुए आत्म-ग्लानि-सी होती थी। यहाँ तक कि गउओं को दुहाते समय उसे बछड़ों का ध्यान बना रहता था—कहीं बछड़ा भूखा न रह जाय, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। वह गाँव का मुखिया था, कितने ही मुक़दमों में उसने झूठी शहादतें बनवाई थीं, कितनों से डाँड़ लेकर मामले को रफ़ा-दफ़ा करा दिया था। अब इन व्यापारों से उसे घृणा होती थी। झूठ और प्रपंच से कोसों भागता था। पहले उसकी यह चेष्टा होती थी कि मजूरों से जितना काम लिया जा सके लो और मजूरी जितनी कम दी जा सके दो, पर अब उसे मजूरों के काम की कम, मजूरी की अधिक चिंता रहती थी—कहीं बिचारे मजूर का रोयाँ न दुखी हो जाय। यह उसका सखुनतकिया-सा हो गया—किसी का रोयाँ न दुखी हो जाय। उसके दोनों जवान बेटे बात-बात में उस पर फब्तियाँ कसते, यहाँ तक कि बुलाकी भी अब उसे कोरा भगत समझने लगी, जिसे घर के भले-बुरे से कोई प्रयोजन न था। चेतन-जगत् में आकर सुजान-भगत कोरे भगत रह गए।

सुजान के हाथों से धीरे-धीरे अधिकार छीने जाने लगे। किस खेत में क्या बोना है, किसको क्या देना है,

किससे क्या लेना है, किस भाव क्या चीज़ बिकी, ऐसी-ऐसी महत्त्व-पूर्ण बातों में भी भगतजी की सलाह न ली जाती। भगत के पास कोई आने ही न पाता। दोनो लड़के या स्वयं बुलाकी दूर ही से मामला कर लिया करती। गाँव-भर में सुजान का मान-सम्मान बढ़ता था, अपने घर में घटता था। लड़के उनका सत्कार अब बहुत करते। उसे हाथ से चारपाई उठाते देख लपककर ख़ुद उठा लाते, उसे चिलम न भरने देते, यहाँ तक कि उसकी धोती छाँटने के लिये भी आग्रह करते थे। मगर अधिकार उसके हाथ में न था। वह अब घर का स्वामी नहीं, मंदिर का देवता था।

(३)

एक दिन बुलाकी ओखली में दाल छाँट रही थी। एक भिखमँगा द्वार पर आकर चिल्लाने लगा। बुलाकी ने सोचा दाल छाँट लूँ, तो उसे कुछ दे दूँ। इतने में बड़ा लड़का भोला आकर बोला—अम्माँ, एक महात्मा द्वार पर खड़े गला फाड़ रहे हैं। कुछ दे दो, नहीं उनका रोयाँ दुखी हो जायगा।

बुलाकी ने उपेक्षा-भाव से कहा—भगत के पाँव में क्या मेंहदी लगी है, क्यों कुछ ले जाकर नहीं दे देते। क्या मेरे चार हाथ हैं? किस-किस का रोयाँ सुखी करूँ, दिन-भर तो ताँता लगा रहता है।

भोला—चौपट-नाश करने पर लगे हुए हैं और क्या। अभी महँगू बेंग देने आया था। हिसाब से ७ मन हुए। तौला तो पौने सात मन ही निकले। मैंने कहा दस सेर और ला, तो आप बैठे-बैठे कहते हैं, अब इतनी दूर कहाँ लेने जायगा। भरपाई लिख दो, नहीं उसका रोयाँ दुखी होगा। मैंने भरपाई नहीं लिखी। दस सेर बाक़ी लिख दी।

बुलाकी—बहुत अच्छा किया तुमने, बकने दिया करो, दस-पाँच दफ़े मुँह की खायँगे, तो आप ही बोलना छोड़ देंगे।

भोला—दिन-भर एक-न-एक खुचड़ निकालते रहते हैं। सौ दफ़े कह दिया कि तुम घर-गृहस्थी के मामले में न बोला करो, पर इनसे बिना बोले रहा ही नहीं जाता।

बुलाकी—मैं जानती कि इनका यह हाल होगा, तो गुरु-मंत्र न लेने देती।

भोला—भगत क्या हुए कि दीन-दुनिया दोनो से गए। सारा दिन पूजा-पाठ में ही उड़ जाता है। अभी ऐसे बूढ़े नहीं हो गए कि कोई काम ही न कर सकें।

बुलाकी ने आपत्ति की—भोला, यह तो तुम्हारा कुन्याय है। फावड़ा-कुदाल अब उनसे नहीं हो सकता, लेकिन कुछ-न-कुछ तो करते ही रहते हैं। बैलों को सानी-पानी देते हैं, गाय दुहाते हैं, और भी जो कुछ हो सकता है करते हैं।

भिक्षुक अभी तक खड़ा चिल्ला रहा था। सुजान ने जब घर में से किसी को कुछ लाते न देखा, तो उठकर अंदर गया और कठोर स्वर से बोला—तुम लोगों को कुछ सुनाई नहीं देता कि द्वार पर कौन घंटे-भर से खड़ा भीख माँग रहा है। अपना काम तो दिन-भर करना ही है, एक छन भगवान् का काम भी तो किया करो।

बुलाकी—तुम तो भगवान् का काम करने को बैठे ही हो, क्या घर-भर भगवान् ही का काम करेगा?

सुजान—कहाँ आटा रक्खा है, लाओ मैं ही निकालकर दे आऊँ। तुम रानी बनकर बैठो।

बुलाकी—आटा मैंने मर-मरकर पीसा है, अनाज दे दो। ऐसे मुड़चिरों के लिये पहर रात से उठकर चक्की नहीं चलाती हूँ।

सुजान भंडारघर में गए और एक छोटी-सी छबड़ी को जौ से भरे हुए निकले। जौ सेर-भर से कम न था। सुजान ने जान-बूझकर, केवल बुलाकी और भोला के चिढ़ाने के लिये, भिक्षा-परंपरा का उल्लंघन किया था। तिसपर भी यह दिखाने के लिये कि छबड़ी में बहुत ज़्यादा जौ नहीं हैं, वह उसे चुटकी से पकड़े हुए थे। चुटकी इतना बोझ न सँभाल सकती थी। हाथ काँप रहा था। एक क्षण का विलंब होने से छबड़ी के हाथ से छूटकर गिर पड़ने की संभावना थी। इसलिये वह जल्दी से बाहर निकल जाना चाहते थे। सहसा भोला ने छबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदलकर बोला—सेंत का माल नहीं है जो लुटाने चले हो। छाती फाड़-फाड़कर काम करते हैं, तब दाना घर में आता है।

सुजान ने खिसियाकर कहा—मैं भी तो बैठा नहीं रहता।

भोला—भीख भीख की तरह दी जाती है, लुटाई नहीं जाती। हम तो एक बेला खाकर दिन काटते हैं कि

४०. गब्बू कवि

इस कवि ने बड़ौदा के महाराजा फतेसिंह गायकवाड़ के वर्णन पर लावनी रची है। इनका समय संवत् १८६८ है।

"बड़ौदा गायकवाड़ का, राज वो करते गुर्जर खंड का ;
हाथी ऊपर उड़े जर्री पटका, बाजता नौबत पर डंका।
भ्रबुका होते तोपों का, कलेजा धड़के दुश्मन का ;
वीर नरसिंह बड़ा बाँका, तखत तुम सुनो बड़ौदे का ;
मला धन माम रंग आला, सदा रंग नहीं रहनेवाला।
छत्रपती महाराज पुनम का, चंद छत्र सबका ;
गया खाक में टूट, बिखरकर दाना मोती का।

४१. ब्रह्मानंद

यह कवि स्वामी नारायण-संप्रदाय के आचार्य स्वामी सहजानंद का शिष्य था। यथा—

मगार-बंधन मेटि के, सब पार किये बहु पद से ;
कहे ब्रह्मानंद मायातरे, सद्गुरु सहजानंद से।

इनके धर्म-प्रकाश, विदुरनीति, सुमति-प्रकाश तथा ब्रह्मविलास ग्रंथ उपलब्ध हैं। इनका कविता-काल १८७९ से १८८० है। इन्होंने वैष्णव-धर्म के माला, कंठी आदि का धिक्कार करके कबीर के ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन किया है। यथा—

मिलहि भूमि को राज, साज सुख संपति नाना ;
मिलहि स्वर्ग सुर-लोक, सकल अमृत को पाना।
मिलत उड्ड-अधिकार, मिलत क्रम हरिपद बिध को ;
अष्टसिद्धि पुनि मिलत, मिलत संग्रह नवमी को।
सुत मात तात वनिता मिले, सब खजाना संग है ;
कहे ब्रह्म मुनि सबही मिले, इक दुर्लभ सतसंग है।

४२. स्वामी नित्यानंद

ये उत्तर-भारत के निवासी थे और उनका श्रीहरि-दिग्विजय-नामक ग्रंथ, जिसमें विशिष्टाद्वैत और भक्ति-मत का समर्थन किया गया है, उपलब्ध है। यह भी सहजानंद के शिष्यों में से थे।

४३. वसुदेवानंद

इनके विषय में कवीश्वर दलपतराम ने कहा है—

वासुदेव वरनांस के, पुनि मैं करूं प्रणाम ;
काव्य कला-वेदार्थविद, क्षमा-दया के धाम।
सो नैष्ठिक व्रत वद, मूर्ति मानु वैराग की ;
धर्म-तनुज श्रीमंत, जिनकी उतारी आरती।

इनका "सत्संग-भूषण" ग्रंथ उपलब्ध है।

४४. स्वामी निष्कुलानंद

ये भी स्वामी सहजानंदजी के शिष्य थे और बड़े वैराग्य-संपन्न थे। इनकी स्फुट कविता पाई जाती है। कवि दलपतराम ने इनका गुण-गान यों किया है—

"मानहु है वैराग्य की मूर्ती ;
रखत सदा प्रभु-पद में सुरती।"

४५. स्वामी श्रीमंजुकेशानंद

ये काशी के निवासी सहजानंदजी के शिष्य थे। इनकी बहुत-सी स्फुट रचनाएँ हिंदी में पाई जाती हैं।

४६. फाजिलखाँ

इसने पेशवाओं के ज़माने में, जब कि उनका राज्य गुजरात पर था, एक चुगलखोर (चाड़िया) की लीलाओं का वर्णन किया है। जो संवत् १८७२ में रचा गया।

४७. दीनदर्वेश

काठियावाड़ के आस-पास भ्रमण करनेवाले इस उदासी कवि की कविता का काल सं० १८८८ के लग-भग है। मिश्रबंधु-विनोद में भी दीनदर्वेश-नामक एक बुंदेलखंडी कवि का वर्णन पाया जाता है। संभवतः ये दोनों एक हों या अलग भी हो सकते हैं। यह जाति का लोहार था और बालसाधु का शिष्य था। यह हिंदू और मुसलमान में भेद नहीं मानता था। इसकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा नहीं, किंतु उसमें गुजराती का भी मिश्रण है। छंदोभंग भी बहुत हैं तथा धार्मिक और अध्यात्म-भाव युक्ति-पूर्वक व्यक्त किए हैं। यथा—

हिंदू कहे हम बड़े, मुसलमान कहे हम ;
इक मूँग की दो फाड़ है, कुण जादा कुण कम।
कुण जादा कुण कम, कभी करना नहिं कजिया ;
एक भगत हो राम, दूसरो मानो रजिया।
कहे दीन दर्वेश दोइ, सरिता मुलसिंधू ;
सबका साहिब एक, एक मुसलमाँ अरु हिंदू!

४८. मनोहरदास स्वामी

इस कवि के विषय में विशेष हाल ज्ञात नहीं है, किंतु इसकी हिंदी-कविता पाई जाती है। यह जाति का रामानंदी साधु उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम समय में हो गया है।

(असमाप्त)

भास्कर रामचंद्र भालेराव

सूक्ति-सुधा

१. भोले-भाले हृदयेश

उनको वृथा ही अभिमानी लोग मानते हैं,
सीधे हैं इसी से वह कुछ न बखानते ;
कह सकता है कौन उनको हठीला भला,
वह तो कदापि नेक हठ हैं न ठानते ।
देखकर उनकी सलोनी भव्य भोली मूर्ति,
जान पड़ता है वह कुछ भी न जानते ;
कैसे निज मुख से कहूँ मैं यह बात भला,
मेरे हृदयेश मुझे हैं न पहचानते ।

२. घनश्याम

श्यामल है नभ, श्याम महीतल,
श्याम महीरुह भी अभिराम हैं ;
श्यामल नीरधि-नीर मनोहर,
नीरद नीरज श्याम ललाम हैं ।
श्यामल हैं बन-बाग-सरोवर,
श्यामल शैल महा छवि-धाम हैं ;
कौन भला कह है सकता,
इसमें उसमें किसमें घनश्याम हैं ।

३. लोचन की मार

काम क्रोध लोभ कभी जिनको सताते नहीं,
जो हैं कर्म-वीर धरि धर्म-अवतार-से ;
विचलित नेक भी कदापि जो हैं होते नहीं
जगत-जलधि की अपार तीव्र धार से ;
डरते ज़रा भी जो कराल काल से भी नहीं,
करते न नीचा सिर दुख-गिरि-भार से ;
वे भी अपने को कभी सकते सँभाल नहीं,
प्यार से बिलोकते विलोचन की मार से !
गिरकर गिरि से भले ही बच जाय कोई,
चाहे बच जाय घोर वज्र के प्रहार से ;
करके उपाय कोई चाहे बच जाय कोई
परम अशांत महा-सागर की धार से ।
चाहे वक्र चालों से खलों की बच जाय कोई
कूट-नीतिवालों के कपट-व्यवहार से ;
किंतु किसी भाँति कोई बचता कदापि नहीं,
प्रेम-रस-पूर्ण लोल लोचन की मार से ।

गोपालशरणसिंह

सुजान-भगत

(१)

सीधे-सादे किसान धन हाथ आते ही धर्म और कीर्ति की ओर झुकते हैं। दिव्य समाज की भाँति वे पहले अपने भोग-विलास की ओर नहीं दौड़ते। सुजान की खेती में कई साल से कंचन बरस रहा था। मेहनत तो गाँव के सभी किसान करते थे, पर सुजान के चंद्रमा बली थे, ऊसर में भी दाना छींट आता, तो कुछ-न-कुछ पैदा हो जाता था। तीन वर्ष लगातार ऊख लगती गई। उधर गुड़ का भाव तेज़ था। कोई दो-ढाई हज़ार हाथ में आ गए। बस चित्त की वृत्ति धर्म की ओर झुक पड़ी। साधु-संतों का आदर-सत्कार होने लगा, द्वारा पर धूनी जलने लगी, क़ानूनगो इलाक़े में आते, तो सुजान महतो के चौपाल में ठहरते, हलक़े के हेड कान्स्टेबिल, थानेदार, शिक्षा-विभाग के अफ़सर, एक-न-एक उस चौपाल में पड़ा ही रहता। महतो मारे ख़ुशी के फूले न समाते। धन्य भाग ! उनके द्वार पर अब इतने बड़े-बड़े हाकिम आकर ठहरते हैं। जिन हाकिमों के सामने उनका मुँह न खुलता था, उन्हीं की अब महतो-महतो कहते ज़बान सूखती थी। कभी-कभी भजन-भाव हो जाता। एक महात्मा ने डौल अच्छा देखा, तो गाँव में आसन जमा दिया। गाँजे और चरस की बहार उड़ने लगी। एक ढोलक आई, मँजीरे मँगवाए गए, सत्संग होने लगा। यह सब सुजान के दम का जलूस था। घर में सेरों दूध होता, मगर सुजान के कंठ तले एक बूँद जाने की भी क़सम थी। कभी हाकिम लोग चखते, कभी महात्मा लोग। किसान को दूध-घी से क्या मतलब, उसे तो रोटी और साग चाहिए। सुजान की नम्रता का अब वारापार न था। सबके सामने सिर झुकाए रहता, कहीं लोग यह न कहने लगें कि धन पाकर इसे घमंड हो गया है। गाँव में कुल तीन ही कुएँ थे, बहुत-से खेतों में पानी न पहुँचता था, खेती मारी जाती थी, सुजान ने एक पक्का कुआँ बनवा दिया। कुएँ का विवाह हुआ, यज्ञ हुआ, ब्रह्मभोज हुआ। जिस दिन कुएँ पर पहली बार पुर चला, सुजान को मानों चारों

सहसा भोला ने छबड़ी उनके हाथ से छीन ली और त्योरियाँ बदलकर बोला—सेंत का माल नहीं है जो लुटाने चले हो

भर लिया करे ! ऐसे जीवन को धिक्कार है। सुजान ऐसे घर में नहीं रह सकता।

संध्या हो गई थी। भोला का छोटा भाई शंकर नारियल भरकर लाया। सुजान ने नारियल दीवार से टिकाकर रख दिया। धरे-धरे तंबाकू जल गया। ज़रा देर में भोला ने द्वार पर चारपाई डाल दी। सुजान पेड़ के नीचे से न उठा।

कुछ देर और गुज़री। भोजन तैयार हुआ। भोला बुलाने आया। सुजान ने कहा—भूख नहीं है। बहुत मनावन करने पर भी न उठा। तब बुलाकी ने आकर कहा—खाना खाने क्यों नहीं चलते ? जी तो अच्छा है ?

सुजान को सब से अधिक क्रोध बुलाकी ही पर था। यह भी लड़कों के साथ है ! यह बैठी देखती रही और भोला ने मेरे हाथ से अनाज छीन लिया। इसके मुँह से इतना भी न निकला कि ले जाते हैं ले जाने दो। लड़कों को न मालूम हो कि मैंने कितने श्रम से यह गृहस्थी जोड़ी है, पर यह तो जानती है। दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा, भादों की अँधेरी रातों में मँड़ैया लगाए जुआर की रखवाली करता था, जेठ-बैसाख की दोपहरी में भी दम न लेता था। और अब मेरा घर पर इतना अधिकार भी नहीं है कि भीख तक दे सकूँ। माना कि भीख

पति-पानी बना रहे और तुम्हें लुटाने की सूझती है। तुम्हें क्या मालूम कि घर में क्या हो रहा है।

सुजान ने इसका कोई जवाब न दिया। बाहर आकर भिखारी से कह दिया—बाबा इस समय जाओ, किसी का हाथ ख़ाली नहीं है, और पेड़ के नीचे बैठकर विचारों में मग्न हो गया। अपने ही घर में उसका यह अनादर ! अभी वह अपाहिज नहीं है, हाथ-पाँव थके नहीं हैं, घर का कुछ-न-कुछ काम करता ही रहता है। उस पर यह अनादर ! उसी ने यह घर बनाया, यह सारी विभूति उसी के श्रम का फल है, पर अब इस घर पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा। अब वह द्वार का कुत्ता है, पड़ा रहे और घरवाले जो रूखा-सूखा दे दें, वह खाकर पेट

इतनी नहीं दी जाती, लेकिन इनको तो चुप रहना चाहिए था, चाहे मैं घर में आग ही क्यों न लगा देता। क़ानून से भी तो मेरा कुछ होता है। मैं अपना हिस्सा नहीं खाता, दूसरों को खिला देता हूँ; इसमें किसी के बाप का क्या साझा। अब इस वक़्त मनाने आई है ! इसे मैंने फूल की छड़ी से भी नहीं छुआ, नहीं तो गाँव में ऐसी कौन औरत है जिसने खसम की लातें न खाई हों, कभी कड़ी निगाह से देखा तक नहीं। रुपए-पैसे, लेना-देना, सब इसी के हाथ में दे रक्खा था। अब रुपए जमा कर लिए हैं, तो मुझी से घमंड करती है। अब इसे बेटे प्यारे हैं, मैं तो निखट्टू, लुटाऊ, घर-फूँकू, घोंघा हूँ। मेरी इसे क्या परवा। तब लड़के न थे जब बीमार पड़ी थी और मैं गोद में उठाकर

बैद के घर ले गया था। आज इसके बेटे हैं और यह उनकी माँ है। मैं तो बाहर का आदमी हूँ, मुझसे घर से मतलब ही क्या। बोला - मैं अब खा-पीकर क्या करूँगा, हल जोतने से रहा, फावड़ा चलाने से रहा। मुझे खिलाकर दाने को क्यों ख़राब करोगी। रख दो, बेटे दूसरी बार खायँगे।

बुलाकी—तुम तो ज़रा-सी बात पर तिनक जाते हो। सच कहा है, बुढ़ापे में आदमी की बुद्धि मारी जाती है। भोला ने इतना ही तो कहा था कि इतनी भीख मत ले जाओ, या और कुछ?

सुजान—हाँ, इतना ही कहकर रह गया। तुम्हें तो मज़ा आता जब वह ऊपर से दो-चार डंडे लगा देता। क्यों? अगर यही अभिलाषा है, तो पूरी कर लो। भोला खा चुका होगा, बुला लाओ। नहीं, भोला को क्यों बुलाती हो, तुम्हीं न जमा दो दो-चार हाथ। इतनी कसर है, वह भी पूरी हो जाय।

बुलाकी—हाँ और क्या, यही तो नारी का धरम ही है। अपने भाग सराहो कि मुझ-ऐसी सीधी औरत पा ली। जिस बल चाहते थे, बिठाते थे। ऐसी मुँहज़ोर होती, तो तुम्हारे घर में एक दिन निबाह न होता।

सुजान—हाँ भाई, वह तो मैं हो कह रहा हूँ कि तुम देवी थीं और हो। मैं तब भी राक्षस था और अब तो दैत्य हो गया हूँ। बेटे कमाऊ हैं, उनकी सी न कहोगी, तो क्या मेरी सी कहोगी, मुझसे अब क्या लेना देना है।

बुलाकी—तुम झगड़ा करने पर तुले बैठे हो और मैं झगड़ा बचाती हूँ कि चार आदमी हँसेंगे। चलकर खाना खा लो सीधे से, नहीं तो मैं भी जाकर सो रहूँगी।

सुजान—तुम भूखी क्यों सो रहोगी, तुम्हारे बेटों की तो कमाई है, हाँ मैं बाहरी आदमी हूँ।

बुलाकी—बेटे तुम्हारे भी तो हैं।

सुजान—नहीं, मैं ऐसे बेटों से बाज़ आया। किसी और के बेटे होंगे। मेरे बेटे होते तो क्या मेरी यह दुर्गति होती।

बुलाकी—गालियाँ दोगे तो मैं भी कुछ कह बैठूँगी। सुनती थी मर्द बड़े समझदार होते हैं, पर तुम सबसे न्यारे हो। आदमी को चाहिए कि जैसा समय देखे, वैसा काम करे। अब हमारा और तुम्हारा निबाह इसी में है कि नाम के मालिक बने रहें और वही करें जो लड़कों को अच्छा लगे। मैं यह बात समझ गई, तुम क्यों नहीं समझ पाते। जो कमाता है उसी का घर में राज होता है, यही दुनिया का दस्तूर है। मैं बिना लड़कों से पूछे कोई काम नहीं करती, तुम क्यों अपने मन की करते हो। इतने दिनों तो राज कर लिया, अब क्यों इस माया में पड़े हो। आधी रोटी खाओ, भगवान् का भजन करो और पड़े रहो। चलो, खाना खा लो।

सुजान—तो अब मैं द्वार का कुत्ता हूँ?

बुलाकी—बात जो थी वह मैंने कह दी, अब अपने को जो चाहे समझो।

सुजान न उठे। बुलाकी हारकर चली गई।

(४)

सुजान के सामने अब एक नई समस्या खड़ी हो गई थी। वह बहुत दिनों से घर का स्वामी था और अब भी ऐसा ही समझता था। परिस्थिति में कितना उलट-फेर हो गया था, इसकी उसे ख़बर न थी। लड़के उसकी सेवा-सम्मान करते हैं, यह बात उसे भ्रम में डाले हुए थी। लड़के उसके सामने चिलम नहीं पीते खाट पर नहीं बैठते, क्या यह सब उसके गृह-स्वामी होने का प्रमाण न था? पर आज उसे ज्ञात हुआ कि यह केवल श्रद्धा थी, उसके स्वामित्व का प्रमाण नहीं। क्या इस श्रद्धा के बदले वह अपना अधिकार छोड़ सकता था? कदापि नहीं। अब तक जिस घर में राज्य किया उसी घर में पराधीन बनकर वह नहीं रह सकता। उसको श्रद्धा की चाह नहीं, सेवा की भूख नहीं। उसे अधिकार चाहिए। वह इस घर पर दूसरों का अधिकार नहीं देख सकता। मंदिर का पुजारी बनकर वह नहीं रह सकता।

न-जाने कितनी रात बाक़ी थी। सुजान ने उठकर गँड़ासे से बैलों का चारा काटना शुरू किया। सारा गाँव सोता था, पर सुजान करबी काट रहे थे। इतना श्रम उन्होंने अपने जीवन में कभी न किया था। जब से उन्होंने काम करना छोड़ा था, बराबर चारे के लिये हाय-हाय पड़ी रहती थी। शंकर भी काटता था, भोला भी काटता था, पर चारा पूरा न पड़ता था। आज वह इन लौंडों को दिखा देंगे चारा कैसे काटना चाहिए। उनके सामने कटिया का पहाड़ खड़ा हो गया। और टुकड़े कितने महीन और सुडौल थे, मानों साँचे में ढाले गए हों।

मुँह अँधेरे बुलाकी उठी तो कटिया का ढेर देखकर दंग रह गई। बोली—क्या भोला आज रात-भर कटिया ही काटता रह गया ? कितना कहा कि बेटा जी से जहान है, पर मानता ही नहीं। रात को सोया ही नहीं।

सुजान भगत ने ताने से कहा—वह सोता ही कब है। जब देखता हूँ काम ही करता रहता है। ऐसा कमाऊ संसार में और कौन होगा !

इतने में भोला आँखें मलता हुआ बाहर निकला। उसे भी यह ढेर देखकर आश्चर्य हुआ। माँ से बोला—क्या शंकर आज बड़ी रात को उठा था, अम्माँ ?

बुलाकी—वह तो पड़ा सो रहा है। मैंने तो समझा, तुमने काटी होगी।

भोला—मैं तो सबेरे उठ ही नहीं पाता। दिन-भर चाहे जितना काम कर लूँ, पर रात को मुझसे नहीं उठा जाता।

बुलाकी—तो क्या तुम्हारे दादा ने काटी है ?

भोला—हाँ मालूम तो होता है। रात-भर सोए नहीं। मुझसे कल बड़ी भूल हुई। अरे ! वह तो हल लेकर जा रहे हैं ? जान देने पर उतारू हो गए हैं क्या ?

बुलाकी—क्रोधी तो सदा के हैं। अब किसी की सुनेंगे थोड़े ही।

भोला—शंकर को जगा दो, मैं भी जल्दी से मुँह-हाथ धोकर हल ले जाऊँ।

जब और किसानों के साथ भोला हल लेकर खेत में पहुँचा, तो सुजान आधा खेत जोत चुके थे। भोला ने चुपके से काम करना शुरू किया। सुजान से कुछ बोलने की उसको हिम्मत न पड़ी।

दोपहर हुआ। सभी किसानों ने हल छोड़ दिए। पर सुजान-भगत अपने काम में मग्न हैं। भोला थक गया है। उसकी बार-बार इच्छा होती है कि बैलों को खोल दे। मगर डर के मारे कुछ कह नहीं सकता। उसको आश्चर्य हो रहा है कि दादा कैसे इतनी मेहनत कर रहे हैं।

आखिर डरते-डरते बोला—दादा अब तो दोपहर हो गया। हल खोल दें न ?

सुजान—हाँ खोल दो। तुम बैलों को लेकर चलो, मैं डाँड़ फेंककर आता हूँ।

भोला—मैं संझा को डाँड़ फेंक दूँगा।

सुजान—तुम क्या फेंक दोगे। देखते नहीं हो खेत कटोरे की तरह गहरा हो गया है। तभी तो बीच में पानी जम जाता है। इसी गोंइड़ के खेत में २० मन का बीघा होता था। तुम लोगों ने इसका सत्यानास कर दिया।

बैल खोल दिए गए। भोला बैलों को लेकर घर चला, पर सुजान डाँड़ फेंकते रहे। आध घंटे के बाद डाँड़ फेंक-कर वह घर आए। मगर थकन का नाम न था। नहा-खाकर आराम करने के बदले उन्होंने बैलों को सुहलाना शुरू किया। उनकी पीठ पर हाथ फेरा, उनके पैर मले, पूँछ सुहलाई। बैलों की पूँछें खड़ी थीं, सुजान की गोद में सिर रक्खे उन्हें अकथनीय सुख मिल रहा था। बहुत दिनों के बाद आज उन्हें यह आनंद प्राप्त हुआ था। उनकी आँखों में कृतज्ञता भरी हुई थी। मानों वे कह रहे थे, हम तुम्हारे साथ रात-दिन काम करने को तैयार हैं।

अन्य कृषकों की भाँति भोला अभी कमर सीधी कर रहा था कि सुजान ने फिर हल उठाया और खेत की ओर चले। दोनों बैल उमंग से भरे दौड़े चले जाते थे, मानों उन्हें स्वयं खेत में पहुँचने की जल्दी थी।

भोला ने मँड़ैया में लेटे-लेटे पिता को हल लिए जाते देखा, पर उठ न सका। उसकी हिम्मत छूट गई। उसने कभी इतना परिश्रम न किया था। उसे बनी-बनाई गिरिस्ती मिल गई थी। उसे ज्यों-त्यों चला रहा था। इन दामों वह घर का स्वामी बनने का इच्छुक न था। जवान आदमी को बीस धंधे होते हैं। हँसने-बोलने के लिये, गाने-बजाने के लिये उसे कुछ समय चाहिए। पड़ोस के गाँव में दंगल हो रहा है। जवान आदमी कैसे अपने को वहाँ जाने से रोकेगा ? किसी गाँव में बरात आई है, नाच-गाना हो रहा है, जवान आदमी क्यों उसके आनंद से वंचित रह सकता है ? वृद्धजनों के लिये ये बाधाएँ नहीं। उन्हें न नाच-गाने से मतलब, न खेल-तमाशे से ग़रज़, केवल अपने काम से काम है।

बुलाकी ने कहा—भोला, तुम्हारे दादा हल लेकर गए।

भोला—जाने दो अम्माँ, मुझसे तो यह नहीं हो सकता।

(५)

सुजान-भगत के इस नवीन उत्साह पर गाँव में टीकाएँ हुईं। निकल गई सारी भगती। बना हुआ था। माया में फँसा हुआ है। आदमी काहे को भूत है।

मगर भगतजी के द्वार पर अब फिर साधु-संत आसन जमाए देखे जाते हैं। उनका आदर-सम्मान होता है। अबकी उसकी खेती ने सोना उगल दिया है। बखारी में अनाज रखने को जगह नहीं मिलती। जिस खेत में पाँच मन मुश्किल से होता था उसी खेत में अबकी दस मन की उपज हुई है।

चैत का महीना था। खलिहानों में सतजुग का राज था। जगह-जगह अनाज के ढेर लगे हुए थे। यही समय है जब कृषकों को भी थोड़ी देर के लिये अपना जीवन सफल मालूम होता है, जब गर्व से उनका हृदय उल्लसित हो जाता है। सुजान-भगत टोकरों में अनाज भर-भर देते थे और दोनों लड़के टोकरे लेकर घर में अनाज रख आते थे। कितने ही भाट और भिक्षुक भगतजी को घेरे हुए थे। उनमें वह भिक्षुक भी था जो आज से ८ महीने पहले भगत के द्वार से निराश होकर लौट गया था।

सहसा भगत ने उस भिक्षुक से पूछा—क्यों बाबा, आज कहाँ-कहाँ चक्कर लगा आए ?

भिक्षुक—अभी तो कहीं नहीं गया भगतजी, पहले तुम्हारे ही पास आया हूँ।

भगत—अच्छा, तुम्हारे सामने यह ढेर है। इसमें से जितना अनाज उठाकर ले जा सको, ले जाओ।

भिक्षुक ने लुब्ध नेत्रों से ढेर को देखकर कहा—जितना अपने हाथ से उठाकर दे दोगे, उतना ही लूँगा।

भगत—नहीं, तुमसे जितना उठ सके, उठा लो।

भिक्षुक के पास एक चादर थी। उसने कोई दस सेर अनाज उसमें भरा और उठाने लगा। संकोच के मारे और अधिक भरने का उसे साहस न हुआ।

भगत उसके मन का भाव समझकर आश्वासन देते हुए बोले—बस ! इतना तो एक बच्चा उठा ले जायगा।

भिक्षुक ने भोला की ओर संदिग्ध नेत्रों से देखकर कहा—मेरे लिये इतना बहुत है।

भगत—नहीं तुम सकुचाते हो। अभी और भरो।

भिक्षुक ने एक पंसेरी अनाज और भरा और फिर भोला की ओर सशंक दृष्टि से देखने लगा।

भगत—उसकी ओर क्या देखते हो बाबाजी, मैं जो कहता हूँ, वह करो। तुमसे जितना उठाया जा सके, उठा लो।

भिक्षुक डर रहा था कि कहीं उसने अनाज भर लिया और भोला ने गठरी न उठाने दी, तो कितनी भद्द होगी। और भिक्षुकों को हँसने का अवसर मिल जायगा। सब यही कहेंगे कि भिक्षुक कितना लोभी है। उसे और अनाज भरने की हिम्मत न पड़ी।

तब सुजान भगत ने चादर लेकर उसमें अनाज भरा और गठरी बाँधकर बोले—इसे उठा ले जाओ।

भिक्षुक—बाबा इतना तो मुझसे उठ न सकेगा।

यह कहकर भगत ने जोर लगाकर गठरी उठाई और सिर पर रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिए

भगत—अरे ! इतना भी न उठ सकेगा ! बहुत होगा, तो मन-भर । भला ज़ोर तो लगाओ, देखूँ उठा सकते हो या नहीं ।

भिक्षुक ने गठरी को आज़माया । भारी थी । जगह से हिली भी नहीं । बोला—भगतजी, यह मुझसे न उठेगी ।

भगत—अच्छा बताओ, किस गाँव में रहते हो ?

भिक्षुक—बड़ी दूर है भगतजी, अमोला का नाम तो सुना होगा ।

भगत—अच्छा आगे-आगे चलो, मैं पहुँचा दूँगा ।

यह कहकर भगत ने ज़ोर लगाकर गठरी उठाई और सिर पर रखकर भिक्षुक के पीछे हो लिए । देखनेवाले भगत का यह पौरुष देखकर चकित हो गए । उन्हें क्या मालूम था कि भगत पर इस समय कौन-सा नशा था । ८ महीने के निरंतर अविरल परिश्रम का आज उन्हें फल मिला था । आज उन्होंने अपना खोया हुआ अधिकार फिर पाया था । वही तलवार जो केले को भी नहीं काट सकती, सान पर चढ़कर लोहे को काट देती है । मानव-जीवन में लाग बड़े महत्त्व की वस्तु है । जिसमें लाग है वह बूढ़ा भी हो तो जवान है; जिसमें लाग नहीं, ग़ैरत नहीं, वह जवान भी हो तो मृतक है । सुजान-भगत में लाग थी और उसीने उन्हें अमानुषीय बल प्रदान कर दिया था । चलते समय उन्होंने भोला की ओर सगर्व नेत्रों से देखा और बोले—ये भाट और भिक्षुक खड़े हैं, कोई ख़ाली-हाथ न लौटने पावे ।

भोला सिर झुकाए खड़ा था । उसे कुछ बोलने का हौसला न हुआ । वृद्ध पिता ने उसे परास्त कर दिया था ।

प्रेमचंद

मुरलिया

मनि मरकत मोर चंद के सरिस स्याम
तन पै लसति चारु चित्रित अँगुलिया ।
झूमत झँडूले केश कुंडल कपोलन पै
चौतनी तिलक माथे मसि की बिंदुलिया ।
अंजन दगन नथ आजि रही नासिका मैं
राजि रहीं नान्हीं-नान्हीं मुख मैं दँतुलिया ।
भौंर चक डोरि है बिराजि रही एक कर
छाजि रही दूजे माँहि मंजुल मुरलिया ।

उमाशंकर वाजपेयी

मारवाड़ का इतिहास

आगे मुसलमानों के मारवाड़ पर के आक्रमणादि का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है ।

हि० स० १०५ से १२५ (वि० सं० ७८१ से ८००=ई० स० ७२४ से ७४३) तक । हशाम अरब का ख़लीफ़ा था । पहले लिखे अनुसार इसके समय इसके भारतीय प्रदेशों के शासक जुनैद की सेना ने मारवाड़, भीनमाल, अजमेर, गुजरात आदि पर चढ़ाई की । यह बात कलचुरी संवत् ४९० (वि० सं० ७९६=ई० स० ७३९) के चालुक्य पुलकेशी के दान-पत्र से भी प्रकट होती है ।

हांसोट (भड़ोच ज़िले) से चौहान भर्तृवड्ढ द्वितीय का एक दान-पत्र मिला है । यह वि० सं० ८१३ (ई० स० ७५६) का है । इससे ज्ञात होता है कि पड़िहार नागभट्ट (प्रथम) के समय उसके राज्य (मारवाड़ के दक्षिणी भाग) पर बलोचों ने चढ़ाई की थी । परंतु उन्हें सफलता नहीं मिली ।

सिंध और मारवाड़ की सीमा मिली हुई होने से समय-समय पर मुसलमानों के ऐसे अनेक आक्रमण यहाँ पर होते रहते थे ।

हि० स० ५१२ (वि० सं० ११७६=ई० स० ११११) में मुहम्मद बाहलीम बाग़ी हो गया और उसने नागोर का क़िला बनवाया । इस पर बहरामशाह ने उसपर चढ़ाई* की । परंतु इसी बीच मुहम्मद बाहलीम के मर जाने से वह लौट गया ।

वि० सं० १०८२ (हि० स० ४१६=ई० स० १०२५) में महमूद ग़ज़नवी ने सोमनाथ पर चढ़ाई की थी । उस समय वह लाडाणू की तरफ़ से होता हुआ ही उधर गया था । इसके बाद भी मौक़ा पाकर ग़ज़नवी-वंश के हाकिमों की सेनाएँ लाहौर से आगे बढ़ मारवाड़ के भिन्न भिन्न प्रदेशों पर हमला करती रहती थीं । इन्हीं के हमले में

---

* तबक़ाते-नासिरी—इलियटस् हिस्ट्री ऑफ़ इंडिया भा० २, पृ० २७९

साँभर का चौहान दुर्लभराज* मारा गया था, इसी का वंशज अजयदेव और उसका पुत्र अर्णोराज इन आक्रमण-कारियों को मार भगाने में समर्थ हुए। अर्णोराज का छोटा पुत्र विग्रहराज (वीसलदेव) चतुर्थ था। देहली के अशोक के स्तंभ पर (जिसको फ़ीरोज़शाह की लाट कहते हैं) इसका वि० सं० १२२० (ई० स० ११६३) का एक लेख खुदा है। उससे ज्ञात होता है कि इसने आर्यावर्त से मुसलमानों को भगा दिया था। यहाँ तक तो इधर की तरफ़ मुसलमानों के पैर नहीं जमे और ये लूट-मारकर ही चले जाते थे। परंतु इसके बाद सुलतान शहाबुद्दीन के आक्रमण शुरू हुए। पहले पहल मारवाड़ में नाडोल पर इसका हमला हुआ। परंतु उसमें इसे सफलता नहीं हुई। वि० सं० १२४७ (ई० स० ११९१) में इसका और अजमेर के चौहान पृथ्वीराज का पहला युद्ध हुआ। इसमें इसे बुरी तरह से घायल होकर भागना पड़ा। इस पर वि० सं० १२४६ (ई० स० ११९२) में शहाबुद्दीन ने पहली हार का बदला लेने के लिये दूसरी बार पृथ्वीराज पर चढ़ाई की। इस समय आपस की फूट के कारण पृथ्वीराज मारा गया और अजमेर, सवालक आदि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। तथा वहाँवाले इनको कर देने लगे। वि० सं० १२५२ (ई० स० ११९५) में कुतुबुद्दीन ने पृथ्वीराज के भाई हरिराज से अजमेर छीनकर वहाँ पर पूरी तौर से अधिकार कर लिया। इसी वर्ष गुजरात के सोलंकी भीमदेव ने मेरों की सहायता से कई महीनों तक कुतुबुद्दीन को अजमेर में घेरे रक्खा। अंत में ग़ज़नी से नई सेना के आ जाने पर घिराव उठाना पड़ा। इसके बाद शहाबुद्दीन ने गुजरात पर चढ़ाई की। परंतु इसमें वह घायल होकर लौट गया। इसीके दूसरे वर्ष वि० सं० १२५३ में इस हार का बदला लेने के लिये कुतुबुद्दीन ने दुबारा चढ़ाई कर गुजरात को लूटा। इस बार विजय उसके हाथ रही। ये दोनों युद्ध कायद्रां में (आबू के पास) हुए थे। इस पिछली चढ़ाई में इसकी सेना अजमेर से नाडोल और पाली (बाली ?) की तरफ़ होती हुई गई थी। और वहाँ के लोग इसके डर से क़िले ख़ाली कर भाग खड़े हुए थे।

वि० सं० १२६७ (ई० स० १२१०) में दिल्ली के बादशाह शम्सुद्दीन अलतमश ने जालोर विजय किया और वि० सं० १२७४ (ई० स० १२१७) में लाहौर के सूबेदार नासिरुद्दीन महमूद ने मंडोर पर अधिकार कर लिया। परंतु कुछ ही दिनों में वह उसके हाथ से निकल गया। अतः वि० सं० १२८४ (ई० स० १२२७) में उसके पिता शम्सुद्दीन अलतमश ने दुबारा उसे विजय किया। इसके अलावा सवालक और साँभर पर भी उसका अधिकार हो गया था।

वि० सं० १२९९ (ई० स० १२४२) में अलाउद्दीन की गद्दीनशीनी के समय मंडोर, नागोर और अजमेर मल्लिक-इज़्ज़ुद्दीन के अधिकार में आया।

इसके बाद वि० सं० १३५१ (ई० स० १२९३) में मंडोर पर फ़ीरोज़शाह द्वितीय का आक्रमण हुआ। उस समय की बनी मसजिद इस समय भी वहाँ पर विद्यमान है। और इसमें उसका एक खंडित शिला-लेख भी लगा है।

वि० सं० १३६५ (ई० स० १३०८) में अलाउद्दीन ख़िलजी ने चौहान शीतलदेव (सातल) से सिवाना और वि० सं० १३६८ (ई० स० १३११) में चौहान कान्हड़देव से जालोर छीन लिया।

वि० सं० १४६४* में ज़फ़रख़ाँ गुजरात का स्वतंत्र बादशाह बन बैठा और उसने अपने भाई शम्सख़ाँ को नागोर की हुकूमत दी। यद्यपि यह हुकूमत राव चूंडाजी, राणा-मलजी आदि की चढ़ाइयों के कारण बीच-बीच में छूटती रही, तथापि वि० सं० १५१५ तक समय-समय पर वहाँ पर इस वंश के शासकों का अधिकार होता रहा।

वि० सं० १५९० में जालोर पर बिहारी पठानों का अधिकार हो गया था।

इनके अलावा मारवाड़ के प्रदेशों पर इधर-उधर के मुसलमान-शासकों के और भी अनेक साधारण हमले हुए थे।

* यदि दुर्लभराज को दुर्लभराज प्रथम मानें, तो यह जुनैद का समकालीन होता है और यदि इसे दुर्लभ तृतीय मानें तो इस घटना का ग़ज़नी के ख़ुसरो या उसके पुत्र ख़ुसरो मल्लिक के समय होना पाया जाता है।

* तबक़ाते-अकबरी, पृ० ४४८ में इस घटना का समय हिजरी सन् ८०८ के बाद लिखा है। अतः इस हिसाब से वि० सं० १४६४ ही होना ठीक प्रतीत होता है।

नागोर

ख्यातों से ज्ञात होता है कि पहले नागोर पर नाग-वंशियों का राज्य रहा था और उसके बाद परमारों का अधिकार हुआ। यह बात इस दोहे के अर्ध-भाग से भी प्रकट होती है—

परमारां रुंधाविया नाग गया पाताल।

इसके बाद यहाँ पर चौहानों का अधिकार हुआ होगा। उस समय यह प्रदेश सपादलक्ष (सवालख) के नाम से प्रसिद्ध था।

फ़ारसी तवारीख़ों से कुछ समय के लिये यहाँ पर लाहोर के तुर्क-शासकों का शासन रहना भी पाया जाता है। यह नगर सिंध और देहली के मार्ग पर होने के कारण उस समय राजपूताने का सदर समझा जाता था और यहाँ पर सूबेदार लोग रहा करते थे। स्वयं ग़यासुद्दीन बलबन, जो बाद में देहली का बादशाह बना, कई वर्षों तक यहाँ रहा था।

बादशाह अकबर के समय यह अजमेर सूबे की सात सरकारों में से एक था और इसका दरजा दूसरे नंबर का समझा जाता था। मेंड़ता, डीडवाना और जयपुर-राज्य का शेखावाटी प्रांत इसी में शामिल थे।

तबक़ाते-नासिरी से ज्ञात होता है कि हिजरी सन् ५१२ (वि० सं० ११७५) के बाद ही महमूद ग़ज़नवी के वंशज बहरामशाह के समय मोहम्मद बाहलोम ने सवालक में नागोर का क़िला बनाया था। इसके बाद ग़ज़नवी-वंशी शासकों की निर्बलता के कारण फिर यह प्रदेश अजमेर के चौहानों के हाथ लगा। उस समय पृथ्वीराज के मंत्री दाहिमा राजपूत कैमास ने यहाँ के क़िले का जीर्णोद्धार किया होगा। इसके बाद पृथ्वीराज के मारे जाने पर यहाँ फिर तुर्कों का अधिकार हुआ। परंतु ख्यातों के अनुसार वि० सं० १३४० से नौ वर्ष के लिये खीची गींदराव यहाँ का शासक रहा था और उसी समय उसने गींदराणी-नामक तालाब बनवाया। इसके बाद फिर यह प्रदेश तुर्कों के हाथ में चला गया। परंतु वि० सं० १४६४ में गुजरात के बादशाह मुज़फ़्फ़र का भाई शम्सख़ाँ यहाँ का अधिकारी हुआ। यद्यपि बीच-बीच में इसके वंशजों के हाथ से राज्य निकलता रहा, तथापि वि० सं० १५९५ के आस-पास तक ये लोग यहाँ के शासक होते रहे।

विश्वेश्वरनाथ रेऊ

बंदी-जीवन

(१)

हँसा—किंतु किसके कूचे में, वह हँसना भी पाप हुआ,
सुख के अंचल में छिपकर ही, वह मुझको संताप हुआ।
व्यथित-हृदय की करुण कहानी किसी से न कह सकता हूँ,
जो असह्य प्रतिदिन का मेरा, उसको भी सह सकता हूँ।

(२)

जो मेरा अजस्र प्यारा है, उसे सुलभ सौदा वह जान
ठुकराया नित ही करता है, जिस पर मैं होता क़ुरबान।
हा ! आँखों-भर उसे देखने का मुझको अधिकार नहीं,
भूनल के उछालनेवाले को कोई आधार नहीं।

(३)

जीवन का जो तत्त्वाधार था, उसे देखता हूँ—जलता,
करने का अधिकार 'नहीं कुछ', खड़ा हाथ को हूँ मलता।
जीकर उन लपटों में मिल मर जाने का अधिकार नहीं,
आता—किंतु न आ पाता हूँ, कठिन व्यथा का पार नहीं।

श्रीश्यामापति पांडेय

उत्तररामचरित-चर्चा

अवतरणिका

सी लेखक के कथनानुसार समालोचना ही साहित्य की श्रीवृद्धि का प्रधान साधन है। उसके बिना साहित्य के अभावनीय सौंदर्य का पर्याप्त रूप में विकास नहीं होता। जैसे दीपक के बिना मंदिर में अनेकों सुंदर सामानों के रहने पर भी उनके अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार समालोचना के बिना साहित्य-मंदिर में भरे अनेकों भाव-रत्नों का स्फुट आभास प्रतीत नहीं होता। यही सोचकर आज महाकवि भवभूति के हृदय-सर्वस्व उत्तररामचरित पर दो-चार शब्द लिखता हूँ। इसमें संदेह नहीं कि कवि होना एक कठिन काम है परंतु समालोचक होना शायद उससे भी कठिन है। समालोचना का विषय गंभीर हो या न हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इसका उत्तरदायित्व उसकी गंभीरता से

भी अधिक भारी है और ख़ासकर ऐसी अवस्था में जब कि उसका विषय उत्तररामचरित है। महाकवि भवभूति का स्थान संस्कृत-साहित्य के बृहत् क्षेत्र में बहुत ऊँचा है। हमारी समझ में अगर उन्हें कवियों की पंक्ति में कालिदास के बराबर में स्थान न दिया गया, तो यह न केवल भवभूति के साथ अपितु समस्त संस्कृत-साहित्य के साथ अन्याय करना है। किन्हीं-किन्हीं लोगों का तो विचार है कि "उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते" उत्तररामचरित में भवभूति संस्कृत-साहित्य के सब कवियों से बढ़ गए हैं। यद्यपि हम इस बात का समर्थन कर सकने में असमर्थ हैं परंतु फिर भी हम इसी श्लोक को इस रूप में दोहराने को बड़ी ख़ुशी से तैयार हैं कि उत्तररामचरित में पहुँचकर भवभूति बहुत ऊपर उठ गए हैं। अपने अन्य नाटकों में वे उतने उज्ज्वल स्वरूप में प्रकट नहीं हुए हैं किंतु 'उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते'। अस्तु। इस लेख में हमने आलोचना-संबंधी साधारण स्थलों को न लेकर केवल कतिपय विशेष-विशेष स्थल ही लिए हैं, सो भी केवल समय की उपयोगिता की दृष्टि से।

उत्तरचरित की रचना का रहस्य

कवि प्रजापति का वह अंश है जो षड्रसमयी नहीं बल्कि नवरसमयी सृष्टि का विधाता है, और जिसकी सृष्टि में रस का आश्रय जल नहीं, पृथ्वी नहीं बल्कि शब्द है और जिसके यहाँ गुणों के आश्रय के लिये द्रव्य की आवश्यकता नहीं बल्कि गुण की ; गुण के आश्रय रह सकते हैं और रहते हैं।

कवि रोगाक्रांत विश्व का वह सिद्धहस्त चिकित्सक है जो रोगी को कुनैन का कड़वा डोज़ पिलाकर नहीं वरन् शहद चटाकर नीरोग करता है। जो फोड़ा चीरने के लिये नश्तर से काम लेने की आवश्यकता नहीं समझता और जिसके यहाँ 'कंटकेनैव' का सिद्धांत मान्य नहीं, जो काँटा काँटे से नहीं निकालता बल्कि उसके निकालने के लिये फूल से काम लेता है।

कवि संसार का वह उपदेष्टा और शिक्षक है जिसका अस्त्र तर्क नहीं अनुभव है, जिसका लक्ष्य मस्तिष्क नहीं हृदय है, और जो तलवार के ज़ोर पर विजय प्राप्त नहीं करता बल्कि प्रेम के पवित्र मन्त्र के सहारे हृदय का अधीश्वर बन बैठता है। यही कवि संसार का पथ-प्रदर्शक है, जो उसको 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अंधकार से प्रकाश में लाता है, जो गिरते को बचाता है, भटकते को राह दिखाता है और अंधे की लकड़ी बन जाता है।

पृथ्वीराज की कविता ने राणा प्रताप के सम्मान और उनकी स्वाधीनता की रक्षा की। बिहारी के एक दोहे ने—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल ;
अली ! कली ही तें बंध्यो, आगे कौन हवाल।

एक बिगड़ते राष्ट्र को बचाया।

फलतः कवि का उद्देश्य है संसार को शिक्षा देना, और दूसरे शब्दों में अगर उसकी जाति और उसके देश में धार्मिक अहो-अहद का दौरदौरा हो रहा है, तो अपने धर्म और अपने सिद्धांतों का प्रचार करना। हम महाकवि भवभूति के नाटकों में इन दोनों उद्देश्यों का एक ही जगह और अद्भुत कौशल के साथ समन्वय पाते हैं। भवभूति अपने नाटकों में अगर कभी शिक्षक और आचार्य का रूप धारण करके आते हैं, तो दूसरी बार वे हमें धर्मोपदेशक और मज़हबी प्रचारक का भेष में दिखाई पड़ते हैं। पार्ट दो हैं और ऐक्टर केवल एक—भवभूति। और उस पर भी विशेषता यह कि दो-दो पार्टों को लेकर भी वे प्रकट एक को भी नहीं करना चाहते। स्टेज पर जब आते हैं छिपकर। खुल्लमखुल्ला नहीं, नक़ाब डालकर। और सारे शरीर पर कविता का—कवि का—लबादा ओढ़कर। आते हैं प्रचारक बनकर परंतु कवि की आड़ में। कहीं ऐसा न हो कि प्रचार का पारितोषिक—ईंट-पत्थर और लाठियों की पुष्प-वृष्टि न होने लगे जोकि सच्चे प्रचारकों का रिज़र्व उपहार है। प्रचारक भी बनना चाहते हैं और विपक्षियों से मोर्चा लिए बिना। इसीलिये आपने अपने इस कार्य पर भी कविता का मुलम्मा चढ़ा दिया है।

प्रचार के दो पहलू होते हैं, और हो सकते हैं, एक खंडनात्मक और दूसरा मंडनात्मक। आज इस बीसवीं सदी में व्यापक दृष्टि से खंडनात्मक प्रचार सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। यह दूसरी बात है कि किसी विशेष सिद्धांत के और विशेष संप्रदाय के लोग इस प्रकार की प्रचार-शैली का अवलंबन और उसकी प्रशंसा करें परंतु अब खंडनात्मक प्रचार का ज़माना नहीं रहा। आज पाश्चात्य देशों में और उन देशों में जो सभ्य कहलाते हैं खंडनात्मक प्रचार घृणा और उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता है। अब इस वर्तमान युग में आवश्यकता इस

बात की है कि अगर तुम्हारे पास कुछ है तो दिखलाओ। माल अच्छा होगा, पसंद आएगा, तो ले लेंगे; मगर दूसरे के माल की निंदा करते फिरने से क्या फ़ायदा? परंतु यह विचार इस बीसवीं सदी के हैं; भवभूति के समय के नहीं। भवभूति ने अपने नाटकों में प्रचार के दोनों ढंगों से काम लिया है। उनके खंडनात्मक प्रचार का नमूना देखना हो तो 'मालती-माधव' उठाकर देख लीजिए। और मंडनात्मक प्रचार की शैली के आधार पर ही उनके शेष दोनों नाटकों—उत्तररामचरित और महावीरचरित—की सृष्टि हुई है। अपने विषय को स्पष्ट करने से पहले हम उसकी अवतरणिका रूप में दो शब्द और जोड़ देना चाहते हैं।

निर्माण-काल

भवभूति के काल के संबंध में विस्तृत वाद-विवाद उठाना और उस पर पूर्ण रूप से विचार कर सकना इस समय हमारी शक्ति और विषय, दोनों से बाहर है। परंतु संक्षेप में इस विचार के बिना हमारे इस विषय का स्पष्ट हो सकना एक दुष्कर कार्य है। इसलिये बिना किसी तर्क-वितर्क या वाद-विवाद के संक्षेप में भवभूति के काल के संबंध में हम अपने सिद्धांत को रख देना चाहते हैं। योरप के अनेक विद्वानों ने और भारतीय विद्वानों ने, जिन्होंने इस विषय का विवेचन किया है, भवभूति का समय वह समय ठहराया है जहाँ से कि भारतवर्ष में बौद्धों की अवनति का प्रारंभ होता है। इस सिद्धांत के पोषण के लिये इंदौर में मिली 'मालती-माधव' की हस्तलिपि का उपसंहार जिसमें लिखा है "इति कुमारिलभट्टशिष्यकृते मालतीमाधवे" एक पक्का प्रमाण है। हम इस विषय पर विशेष आलोचना करना नहीं चाहते, फिर भी यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि हम स्वयं भी इसी निर्णय को माननेवाले हैं। अस्तु।

जिस समय भवभूति के नाटकों की सृष्टि हुई उस समय भारतवर्ष के धार्मिक क्षेत्र में बौद्धों और वैदिकों के बीच घोर धार्मिक संग्राम चल रहा था। और भवभूति स्वयं वैदिक मतानुयायी थे। ऐसी अवस्था में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, भवभूति का कर्तव्य था अपने सिद्धांतों का प्रचार करना। हम देखते हैं कि वे इस विषय में फ़ेल नहीं हुए हैं। उनके खंडनात्मक प्रचार को स्पष्ट करना इस समय हमारे विषय के बाहर हो जायगा, परंतु हाँ उत्तरचरित के चतुर्थ अंक में हमें उनकी मंडनात्मक प्रचार-शैली का परिचय बड़े उत्तम रूप में मिलता है।

अभी ऊपर लिखा जा चुका है कि भवभूति वैदिक मतानुयायी थे और उनके विरोध में बौद्धों ने मोर्चा ले रक्खा था। बौद्धों का प्रधान सिद्धांत है अहिंसा। वे सब कुछ सह सकते हैं परंतु एक चीज़ है जो उनके लिये असह्य है और वह है हिंसा। साथ ही मध्य-कालीन वैदिक मतानुयायियों की दृष्टि में 'समांसो मधुपर्कः', 'वैदिकी हिंसा अहिंसा' के सिद्धांत बिलकुल साधारण सिद्धांत थे। इसी लिये वैदिकों और बौद्धों का विवाद प्रायः इसी विषय पर हुआ करता था। और इस 'समांसो मधुपर्कः' आदि के सिद्धांत का पोषण करना ही वैदिकों का प्रधान उद्देश्य था। इसीलिये भवभूति ने भी उत्तरचरित के चतुर्थांक में इस विषय को उठाया है। और बड़ी ख़ूबसूरती एवं होशियारी से अपने सिद्धांत का मंडन किया है। इसी लिये हमने कहा था कि भवभूति धार्मिक विवाद के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं परंतु कविता की आड़ में, प्रत्यक्ष में नहीं।

चतुर्थ अंक में महर्षि वशिष्ठ अरुंधती और कौशल्या आदि के साथ विश्वामित्र के आश्रम में आए हैं। भवभूति ने अपने काल की प्रथा एवं अपने विश्वास के अनुसार उनके स्वागत और मधुपर्क के लिये एक वत्सतरी (बछिया) की हत्या करवाई है। महर्षि वसिष्ठ के स्वागत के लिये एक बछिया काटी गई और उसका मांस वशिष्ठजी के मधुपर्क के लिये काम में आया। जिस समय यह घटना आश्रम के एक विद्यार्थी 'सौधातकि' के सामने आई, उसकी आँखें लाल हो गईं। वशिष्ठ के प्रति घृणा के भावों ने उसके मनुष्योचित और सभ्यजनोचित भावों को दबा दिया। इस अमानुषीय अत्याचार और इस भयानक पाप को देखकर वशिष्ठ के प्रति उसकी उमड़ी हुई श्रद्धा का स्थान घृणा और तिरस्कार ने ले लिया। उसने वशिष्ठ को आड़े हाथों लिया, और इस विषय में अपने एक सहपाठी दांडायन से पूछा। किंतु दांडायन के प्रतिकूल उत्तर देने पर उसने एक और ताना मारा।

इस पर वैदिक धर्म के अनुयायी दांडायन ने इस हत्या का जो समर्थन किया है वह देखने लायक़ है। उसने कहा—

"समांसो मधुपर्कः इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रोत्रियायाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा पचन्ति गृहमेधिनः, तं च धर्मसूत्रकाराः धर्म इति आमनन्ति"

अर्थात् इस प्रकार की हत्या का समर्थन स्वयं वेद-भगवान् करते हैं और धर्म-सूत्रकारों ने भी उसे धर्म-शब्द से व्यवहृत किया है। इसलिये यह प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य हो जाता है।

यद्यपि भवभूति ने कहीं नहीं लिखा परंतु हमारी समझ में इस जगह पर भवभूति ने जिसे सौधातकि का पार्ट दिया है, वह कोई बौद्ध या बौद्ध-धर्म से सहानुभूति रखनेवाला व्यक्ति होना चाहिए, और दांडायन तो स्पष्ट ही वैदिक-धर्मी है।

इस विषय पर विशेष विचार फिर कभी प्रकट करने का यत्न करेंगे, परंतु हाँ इसमें संदेह नहीं कि यहाँ पर यह विवाद उठाने का उद्देश्य केवल धार्मिक सिद्धांत का प्रचार करना था।

फलतः भवभूति के नाटकों की सृष्टि में धार्मिक प्रचार के भाव भी विशेष महत्त्व रखते हैं।

नाटकीय उपाख्यान

वर्तमान वाल्मीकि-रामायण के उत्तर-कांड के कथांश के आधार पर ही भवभूति ने अपने इस अंतिम और सर्वोत्तम नाटक की सृष्टि की है, इसमें किसी प्रकार का मतभेद नहीं। परंतु उत्तरचरित में रामायण के उपाख्यान के साथ-साथ भवभूति के मस्तिष्क से निकली हुई कुछ कल्पनाएँ भी मिल गई हैं। हम यहाँ उन्हीं अंशों पर यथासंभव कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

वाल्मीकि-रामायण में कथा का वह भाग जिसे लेकर भवभूति ने अपने नाटक की सृष्टि की है इस रूप में दिया है—

लंका-विजय के बाद रामचंद्र सुख और शांति-पूर्वक अयोध्या में राज्य कर रहे थे। प्रजा ने सीता के चरित्र के संबंध में कुछ भला-बुरा कहना शुरू किया। राम ने अपनी वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये तपोवन दिखाने के बहाने सीता को निकाल दिया। सीता के वाल्मीकि-आश्रम में दो यमज पुत्र उत्पन्न हुए। उसके बाद राम ने अश्वमेध-यज्ञ किया। उन्होंने तपस्या-रत शंबूकराज को मार डाला। उसके बाद वाल्मीकि दोनों बालकों-सहित अश्वमेध-यज्ञ में सम्मिलित हुए। वहाँ दोनों बालकों ने रामायण का गान किया। राम ने किसी तरह अपने दोनों पुत्रों को पहचान लिया और सीता को फिर ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। परंतु साथ ही प्रजा के सामने अपने सतीत्व को प्रमाणित करने के लिये सीता के सामने अग्नि-परीक्षा का प्रश्न उपस्थित किया। राम के मुख से इस कुत्सित प्रस्ताव को सुनकर सती-अनोचित अभिमान और क्षोभ के कारण सीता पृथ्वी में समा गई।

यही कथांश उत्तरचरित में इस रूप में दिखाई देता है—

प्रथमांक—सीता और राम अंतःपुर में बैठे हैं। अष्टावक्र मुनि का प्रवेश होता है। रामचंद्र उनके सामने प्रजा-रंजन के लिये जानकी तक के परित्याग करने की प्रतिज्ञा करते हैं। इसके बाद लक्ष्मण रामचंद्र के चरित्र की अतीत घटनाओं के चित्र दिखलाने ले आते हैं। चित्र देखते-देखते सीता एकबार फिर उन तपोवनों के देखने की इच्छा प्रकट करती हैं। राम लक्ष्मण को रथ सजवाने की आज्ञा दे सीता-समेत झरोखे के पास आ बैठते हैं। वहाँ सीता सो जाती हैं। इसी बीच में दुर्मुख-नामक दूत का प्रवेश होता है और सीता-चरित्र-संबंधी लोकापवाद की सूचना राम को मिलती है। कुछ संकल्प-विकल्प के बाद राम सीता-परित्याग का संकल्प कर लेते हैं। इतने में नेपथ्य में राम की दुहाई सुनाई पड़ती है और राम रोते हुए निकल जाते हैं। इसके बाद फिर दुर्मुख का प्रवेश होता है और उसके साथ सीता भी तपोवन जाने के लिये निकल जाती हैं।

द्वितीयांक—राम का पंचवटी-प्रवेश। शंबूक का सिर काटना। शंबूक का दिव्य पुरुष बनकर राम को तपोवन की सैर कराना।

तृतीयांक—वासंती, तमसा और छाया, सीता के सामने राम का विलाप।

चतुर्थांक—जनक, अरुंधती और कौशल्या का विलाप और लव के साथ उनकी मुलाक़ात।

पंचमांक—लव और चंद्रकेतु के युद्ध का उपक्रम।

षष्ठांक—विष्कंभक के विद्याधर-विद्याधरी का बातचीत द्वारा उस युद्ध का वर्णन। पुष्पक पर राम का प्रवेश। लव और चंद्रकेतु से बातचीत। कुश का प्रवेश। कुश के मुख से रामायण की कथा सुनना। नेपथ्य में अरुंधती जनकादि का आगमन और राम का उनकी अगवानी के लिये जाना।

सप्तमांक—वाल्मीकि-रचित सीता-निर्वासन का अभिनय देखना। सीता और राम का पुनर्मिलन।

इस प्रकार रामायण के कथांश और उत्तरचरित के नाटकीय उपाख्यान दोनों आपके सामने हैं। हमें अब उस पर केवल तुलनात्मक दृष्टि से विवेचना करनी है। सब से पहले हम वाल्मीकि के राम को एक धर्मभीरु के रूप में देखते हैं। उन्होंने अपनी वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये निरपराधिनी, पति-प्राणा सीता को निर्वासन-दंड दिया; परंतु भवभूति के राम ने प्रजा की प्रसन्नता के लिये बिना किसी प्रकार के छल-कपट के सीता को त्याग दिया है। दूसरे अंक में शंबूक का दिव्य रूप धारण कर लेना भी भवभूति की कल्पना-मात्र है। रामायण में इस घटना का उल्लेख नहीं। तीसरे अंक में छाया-सीता से भेंट, पाँचवें में लव-चंद्रकेतु का युद्ध, इन सब की सृष्टि भी भवभूति के मस्तिष्क से ही हुई है। और इन सबसे बढ़कर भी एक और वैषम्य है, वह है राम-सीता का मिलन।

अवश्य ही इन परिवर्तनों में, और मूल-उपाख्यान को इस तरह विकृत करने में, कवि का कोई भारी उद्देश्य है जिसे लक्ष्य में रखकर उसने इनकी नवीन-नवीन कल्पनाओं की अवतरणा की।

संस्कृत-साहित्य में कवि-कल्पना की बागडोर को नियंत्रण में रखने की लिये—उनको उच्छृङ्खलता से बचाने के लिये—एक शास्त्र है और उस शास्त्र का नाम है नाट्य-शास्त्र। चाहे कोई कैसा भी कवि क्यों न हो, उसका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसीलिये हम देखते हैं कि कालिदास को भी बहुत-सी बे-सिर-पैर की बातों की कल्पना करनी पड़ी। उन्होंने उस नियम की रक्षा के लिये ही अभिज्ञान की कल्पना की। दुर्वासा का शाप भी एक ऐसी ही निराधार कल्पना है और अंत में सर्वदमन के द्वारा शकुंतला और दुष्यंत का पुनर्मिलन भी इसके सिवा और कुछ नहीं। उसी नाट्य-शास्त्र के अनुरोध से हमारे भवभूति को भी कथांश को इस तरह विकृत करना पड़ा। उस शास्त्र का एक नियम है कि चाहे कुछ भी हो जिसको अपने नाटक का नायक बनाओगे उसे सर्व-गुण-संपन्न बनाना ही होगा चाहे वह कितना ही नीच प्रकृति क्यों न हो। इसीलिये कालिदास को दुष्यंत-जैसे नीच पुरुष को भी इस तरह सजाना पड़ा। उन्होंने जिसे अपनी विश्व-विख्यात शकुंतला का नायक चुना है, वह महाभारत के मूल-उपाख्यान में एक लंपट राजा है। उसके पास बहुत-सी रानियाँ हैं और वह मधुमत्त भ्रमर की तरह एक फूल से दूसरे फूल पर रस लेता फिरता है। वह यदि एक सुंदर कुसुम-कली को देखते ही उड़कर उसके पास पहुँच गया, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। परंतु कालिदास ने उसे भी कर्तव्य-परायण और धार्मिक राजा के रूप में चित्रित किया है और उन्हें केवल इसी लिये गंधर्व-विवाह, अभिज्ञान और अभिशाप की कल्पना करनी पड़ी। फलतः हमारे भवभूति भी किसी प्रकार उस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। यह ठीक है कि राम एक आदर्श राजा थे। इसमें भी किसी प्रकार का संदेह नहीं कि वे स्वयं आदर्श-चरित्र और मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। परंतु उनके साथ सीता-परित्याग की घटना एक ऐसी घटना थी जैसे पर्वत के साथ घाटी। वाल्मीकि के राम ने केवल वंश-मर्यादा की रक्षा के लिये सीता को निकाल दिया। परंतु हमारे भवभूति की दृष्टि में यह एक ऐसी दुर्बलता थी जिससे राम का सारा जीवन कलुषित हुआ जाता था और उनके सारे किए-धरे पर चौका फिरा जाता था। राम राजा थे और एक आदर्श राजा थे, न्याय-विचार उनका प्रधान और सर्वोच्च कर्तव्य था। उनके लिये एक ओर समग्र ब्रह्मांड था और दूसरी ओर केवल ढाई अक्षर का न्याय-शब्द। वंश रसातल को चला जाय या सातवें आसमान पर पहुँच जाय, संसार सच्चरित्र कहे या दुश्चरित्र, परंतु उन्हें तो न्याय करना था। एक निरपराधिनी स्त्री सती-साध्वी सीता को जान-बूझकर निकाल देना कहाँ का न्याय था? इसलिये जब भवभूति ने देखा कि इस राम से काम न चलेगा तब अष्टावक्र को बुलाकर उनके सामने राम से प्रतिज्ञा कराई—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

इस प्रकार अब भवभूति के राम राजा नहीं हैं, वे केवल प्रजा को संतुष्ट रखने के लिये हैं। उनका उद्देश्य और प्रधान व्रत है लोकाराधन। उसी एक-मात्र प्रजा-रंजन के लिये उन्होंने अपनी हृदयेश्वरी सीता को सर्वदा के लिये त्याग दिया। राम ने लोकापवाद को सुना और उनका हृदय फट गया। वह समाचार नहीं था, अपवाद नहीं था, बल्कि वह तो "अतितीव्रोऽयं वाग्वज्रः", था जिसके लगते

हो राम मूर्च्छित हो गए। क्यों? इसलिये कि सीता उनके सौहृदादपृथगाश्रया थी। वे सीता के सुहृद् थे अर्थात् सीता उनके साथ विवाह-बंधन से बँध चुकी थीं। वे उसे वैसे नहीं छोड़ सकते थे जैसे पहले राज-पाट छोड़कर चले गए थे। राज-पाट तो थी जड़ और हृदय-हीन संपत्ति; परंतु अब तो जड़ नहीं चेतन साक्षात् सीता के त्याग की समस्या आ गई। अब क्या करें, कुछ समझ में नहीं आता। राम कहते हैं—

> हा हा धिक् परगृहवासदूषणं यद्
> वैदेह्याः प्रशमितमद्भुतैरुपायैः ।
> एतत्तत् पुनरपि दैवदुर्विपाकाद्
> आलर्कं विषमिव सर्वतः प्रसृतम् ।

तत् किमद्य मदभाग्यः करोमि?

राम के सामने दो ही समस्याएँ थीं, या तो प्रजा की उपेक्षा करें और या सीता को निकाल दें। परंतु धन्य हो राम के अमर आत्मा। तू ने वही काम कर दिखाया जिसकी एक आर्य-जननी के जाये से आशा की जा सकती थी। हम तेरी बड़ाई और तेरा सम्मान इसलिये नहीं करते कि तूने सती-साध्वी सीता को—निरपराधिनी सीता को—निकाल बाहर किया बल्कि इसलिये कि उस अवस्था में भी तूने अपने को और अपने कर्तव्य को नहीं भुलाया। तेरे शब्द हैं—

अथवा किं तेन—

> सता केनापि कार्येण लोकस्याराधनं परम् ।
> तत्पूर्णं हि तातेन मां प्राणांश्च विमुञ्चता ।

इस स्थान पर कवि ने अपने नाटक के नायक को हद दर्जे तक ऊपर उठा दिया है। इन शब्दों ने उनके शोक, धर्म-ज्ञान, स्नेह और कर्तव्य और उनके वर्तमान और अतीत ने मिलकर एक अपूर्व इंद्र-धनुष की रचना कर दी है।

शंबूक-वध की घटना भी ऐसी है जिससे वाल्मीकि के राम का सारा जीवन कलुषित हो गया। उनकी विमल यशोराशि में सदा के लिये कलंक का गहरा धब्बा लग गया। परंतु भवभूति अपने राम को इससे बचा ले गए और बिलकुल बे-दाग़ बचा ले गए। वाल्मीकि के राम ने शंबूक को इसलिये मारा कि वह शूद्र होकर तपस्या करता है। उनकी दृष्टि में एक शूद्र को तपस्या करने का अधिकार नहीं है, इसीलिये शंबूक दंडनीय था। परंतु भवभूति के राम ने दया कर उसका सिर काट उसे शाप से मुक्त किया और वह भी एक दैवी-शक्ति की प्रेरणा थी—अशरीरिणी वाग् की आज्ञा थी। इसीलिये उन्हें दूसरे अंक के विष्कंभक में लिखना पड़ा—

> सह सैवाशरीरिणी वागुदचरत्—
> शम्बूको नाम वृषलः पृथिव्यां तप्यते तपः ;
> शीर्षच्छेद्यः स ते राम तं हत्वा जीवय द्विजम् ।

आगे उसी अंक में उन्होंने इस अशरीरिणी वाग् की यथार्थता शंबूक के मुख से दिखा दी है। इस प्रकार भवभूति चालाकी से अपने राम को इस अपवाद से बाल बाल बचा ले गए।

कुछ भी हो, भवभूति हज़ार कल्पना करें, राम को प्रजा-रंजक बनाएँ या कुछ और; परंतु हृदय को नहीं छिपा सकते। वे महाकवि ठहरे। उस समय उनके हृदय की जो अवस्था रही होगी वह उन्हें दिखानी ही पड़ेगी। यह नहीं हो सकता कि भावना के अवतार और भावुकता की मूर्ति भवभूति सीता के करुण-क्रंदन को सुनकर भी चुपचाप बैठे रहें। फलतः हुआ भी ऐसा ही। राम—कठोर-हृदय राम—के प्रति भवभूति के हृदय का सारा गुबार तीसरे अंक में निकल पड़ा है। इस अंक में उन्होंने राम को बुरी तरह लताड़ा है।

अंतिम परिवर्तन—राम और सीता के पुनर्मिलन की कल्पना केवल उत्तरचरित को महानाटक का स्वरूप देने के लिये की गई है और शेष परिवर्तन, जैसा कि हम आगे चलकर लिखेंगे, केवल कवित्व की दृष्टि से किए गए हैं।

अनौचित्य

उत्तररामचरित और अनौचित्य! बात अवश्य कुछ बेढंगी-सी मालूम देती है। संभव है, बहुत-से समालोचक इसे 'छोटे-मुँह बड़ी बात' कह बैठें; परंतु मैं न तो ऐसे समालोचकों की पर्वाह करता हूँ और न उनकी समालोचना की। अगर इस 'विपुला च पृथ्वी' पर एक भी विद्वान् इस विचार का मिल गया, तो बस काफ़ी है और अगर नहीं तो—

> ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः ;
> उत्पत्स्यते तु मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

भवभूति की यह उक्ति तो हमें भी अपनी गोद में स्थान देगी ही, यही सोचकर इस विषय पर दो-चार शब्द आपके सामने रखने का साहस कर रहा हूँ। परंतु इस परिच्छेद को लिखकर भवभूति के प्रति उमड़ी हुई आपकी श्रद्धा और भक्ति को कम करने का मेरा अभिप्राय नहीं और न इन समालोचनाओं से कभी किसी की कीर्ति क्षीण हो सकती है। समालोचना तो वह भट्ठी है जिसमें पड़कर सोने की कांति चौगुनी चमक जाती है।

मैं कह रहा था कि उत्तरचरित के साथ 'अनौचित्य' शब्द देखकर संभव है कि आपमें से बहुत-से लोग आपे से बाहर हो जायँगे। हाँ, किसी अंश में यह है भी ठीक कि महाकवि भवभूति संस्कृत-साहित्य के उन इने-गिने कवियों में से हैं जिन्हें इस साहित्य के अध्यक्ष कहलाने का गौरव प्राप्त है। उनके लिये तो लिखा है "भवभूतेः संबंधाद् भूधर भूरेव भारती भाति।" हम भी कहते हैं भवभूति कवि ही नहीं महाकवि थे। हमारे हृदय में भी उनके लिये वही प्रतिष्ठा है जो किसी और के हृदय में हो सकती है। उनका हरएक वर्णन सुंदर और सजीव है। प्रेम की आलोचना अपूर्व है और वीर-रस का वर्णन अद्भुत है। परंतु इससे क्या? परमात्मा की सृष्टि में तो गुलाब में भी काँटे हैं, आह्लाद देनेवाले चंद्र में भी कलंक की कुत्सित कालिमा दिखाई देती है और अनंत रत्नों का आकर रत्नाकर भी खारी पानी से भरा है, फलतः गुण-दोषों से सर्वथा अलग नहीं। इसीलिये तो लिखा है 'मुनीनाञ्च मतिभ्रमः'। फिर अगर भवभूति के भी कुछ अनौचित्य पाए जायँ, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? असल में बात तो यह है—

सूक्तौ शुचावेव परं कवीनां सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ;
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः।

भवभूति की कविता अगर मैली चादर होती, तो संभव था कि उस पर यह काले धब्बे इतने न खटकते, परंतु वह तो कार्तिक की कौमुदी की भाँति उज्ज्वल है, समुद्र-फेन की नाईं शुभ्र है और दुग्धकुल्येव मनोरम है। उस पर तो ज़रा-से धब्बे का भी खटकना सर्वथा उचित और स्वाभाविक ही है, फिर इस कालौंच का तो कहना ही क्या! ख़ैर, अगर यह उच्छृंखलता 'महावीर-चरित' और 'मालती-माधव' में ही समाप्त हो जाती, तो भी कुशल थी। मगर उनके हृदयसर्वस्व उत्तररामचरित में पहुँच-कर तो वह असह्य हो उठती है। इसीलिये हम उसे वर्तमान स्वरूप देने को विवश हो रहे हैं।

भवभूति कवि ही नहीं महाकवि थे। कविता उनका राज्य था। वे उसके अधीश्वर थे। वे उसमें अद्वितीय थे, अनुपम थे और अपूर्व थे। अगर वे अपने नाटकों के बजाय कोई श्रव्य काव्य लिख जाते, तो शायद संसार का कोई कवि उनके मुक़ाबले में खड़ा न हो सकता, परंतु नाट्य-शास्त्र पर उनका अधिकार न था। उन्होंने अपने हृदय-सर्वस्व उत्तररामचरित में सात अंक रखकर और अंत में राम और सीता का मिलन कराकर उसे महानाटक का रूप देने की कोशिश अवश्य की है परंतु उसमें वे कहाँ तक सफल हो सके हैं, यही विचारणीय है।

उत्तररामचरित हरएक समालोचक और टीकाकार की दृष्टि में करुण-रस-प्रधान नाटक है, इसमें तो शायद किसी को भी आपत्ति न होगी। शायद भवभूति ने भी ख़ूब सोच-समझकर इस नाटक में करुण-रस को प्रधान स्थान दिया है। इसीलिये उन्होंने तीसरे अंक में लिखा है—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात् ,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।

परंतु ज़रा देखना कि नाट्य-शास्त्र की दृष्टि से यह कहाँ तक उचित है। नाट्याचार्यों ने जहाँ नाटक के अन्यान्य गुणों का उल्लेख किया है वहाँ एक कारिका यह भी लिखी है—

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ;
अङ्गमन्येरसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः।

अर्थात् नाटक का प्रधान रस शृंगार होना चाहिए या वीर। अन्य करुणादिक की गौण-रूप में कहीं-कहीं छाया दिखाई जा सकती है। वह प्रधान रूप में नहीं रह सकते। यह है नाट्य-शास्त्र का नियम और नाटक की कसौटी। अब ज़रा विचारिए और निष्पक्ष-भाव से निर्णय कीजिए कि भवभूति का उत्तररामचरित कहाँ तक इस कसौटी पर ठीक उतरता है।

दो बातें और हैं जिनकी नाटक के लिये बड़ी आवश्यकता है और जिनके बिना नाटक एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ सकता। (१) घटनाओं की सार्थकता और (२) स्वाभाविकता। नाटक में सबसे मुख्य बात होती है घटनाओं का ऐक्य अर्थात् कथांश का एक होना।

जिस बात को लेकर नाटक का प्रारंभ हुआ है उसी के परिणाम में उसका अंत होना है, अगर तुम वैर को लेकर नाटक की रचना करने बैठे हो, तो वैर के परिणाम में ही उसका अंत भी दिखाना होगा। अगर किसी के विवाद को लेकर क़लम उठाई है, तो परिणाम में भी संपन्न या असंपन्न वही होगा। उदाहरण के लिये मुद्रा-राक्षस को उठा लो। राक्षस के मंत्रित्व से लेकर नाटक का प्रारंभ होता है, तो अंत में भी राक्षस के मुँह से 'एष ब्रह्मोऽस्मि' सुनाई देता है। वेणीसंहार का प्रारंभ जिसको लेकर होता है, यवनिका-पात भी उसीके परिणाम में होता है। शकुंतला का प्रारंभ और अंत भी इसी नियम पर है। फलतः हमारे भवभूति को भी उसी नियम का पालन करना पड़ा। परंतु जहाँ यह नियम है वहाँ घटनाओं की सार्थकता भी अनिवार्य है। उसमें अवांतर और अप्रासंगिक घटनाओं को लाकर नहीं घुसेड़ा जा सकता। जिन घटनाओं की अवतारणा की है उनकी दृष्टि असल घटना की ओर अवश्य होनी चाहिए। यह नहीं हो सकता कि सीता और राम के मिलन के नाटक का प्रारंभ कर महाभारत और कथासरित्सागर के क़िस्सों का दृश्य दिखाया जाय। ज़रा कल्पना करना कि अगर शकुंतला का पहला अंक लिखने के बाद फिर २,३,४,५,६ ठे अंक में क्रमशः द्रौपदी-स्वयंवर, अज-विलाप, अलिफ़लैला का क़िस्सा, सहस्रार्जुन का युद्ध, औरंगज़ेब के अत्याचारों का दृश्य दिखाया जाय और अंत में फिर ७ वाँ अंक ज्यों-का-त्यों उठाकर रख दिया जाय, तो कैसा हो? क्या आप उसे नाटक कहने को तैयार होंगे? अगर नहीं, तो बस भवभूति के उत्तररामचरित भी नाटक नहीं, उसकी भी ठीक यही दशा है। नाटक में चाहिए था कि सारी घटनाओं की दृष्टि मुख्य घटना की ओर होती अर्थात् सारी घटनाएँ, जिनकी कि नाटक में अवतारणा की है, किसी-न-किसी रूप में मुख्य घटना को सहायक या बाधक होतीं। अर्थात् कोई भी दृश्य ऐसा नहीं जिसे बिना दिखाए भी नाटक का परिणाम उसी रूप में दिखाया जा सकता जिसमें कि अब। परंतु उत्तररामचरित के बीच के पाँच अंक बिलकुल ऐसे ही हैं। प्रथमांक के अंत में सीता लक्ष्मण के साथ वन को चली गईं, फिर सातवें अंक में राम वाल्मीकि-रचित नाटक का अभिनय देख रहे हैं और उसी अंक में राम और सीता का मिलन हो जाता है। बस कथांश इतना ही है, अगर बीच का भाग न दिखाया जाता तो भी राम सीता को निकालकर फिर उसी रूप में प्राप्त कर सकते थे। उसमें न तो शंबूक-वध के बहाने राम को पंचवटी में ले जाकर रुलाने की आवश्यकता थी और न लव और चंद्रकेतु के युद्ध से प्रयोजन था, उसके लिये अरुंधती जन्म और कौशल्या का वन में बुलाना भी निरर्थक है। उन सब बातों का नाटक के असली रूप पर ज़रा भी प्रभाव नहीं पड़ता। अब प्रश्न यह है कि अगर ऐसा ही है, तो कवि ने इतना बखेड़ा क्यों किया? इसका उत्तर हम पहले ही दे चुके हैं। भवभूति महाकवि थे और केवल कवित्व की दृष्टि से ही उन्होंने इन अंकों की सृष्टि की। प्रेम पात्र के वियोग में प्रेमी की जो दशा होती है वे उसका वर्णन करना चाहते थे। वे वीर-रस के वर्णन में अपना गौरव दिखाना चाहते थे। उनको प्राकृतिक वर्णन करने का मौक़ा न मिला था। इन सब कामों के लिये इन बातों का घुसेड़ना आवश्यक था। बिना इसके उनके दिल की हवस पूरी न हो सकती थी। परंतु हम तो पहले ही कह चुके हैं, भवभूति कवि थे, नाटककार नहीं। उन्हें अपने इन सब वर्णनों के लिये कोई श्रव्य-काव्य लिखना था न कि इस तरह नाट्य-कला के कोमल कलेजे पर ज़हरीली छुरी फेरना।

हम मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं कि उन्होंने अपने वर्णनों में कमाल कर दिया है। उनका तीसरा अंक हमारी दृष्टि में अपूर्व है और पाँचवाँ अंक द्विजेंद्र बाबू की दृष्टि में संसार के साहित्य में अतुलनीय है। उनका—

इद समद शकुन्ता ... ... सुंदर है,
दधति उदरभाजां ... ... सरस है, और
पुरा यत्र स्रोतः ... ... अपूर्व है।

परंतु इन सबसे क्या, नाटक के लिये तो यह उतना ही अनुपयोगी है जितनी कि ऊसर में वृष्टि। इसीलिये तो हम कहते हैं कि भवभूति अगर कोई श्रव्य-काव्य लिखते, तो अच्छा होता। परंतु नाट्य-कला के ऊपर उनका इस तरह अत्याचार करना खटकता अवश्य है।

इस नाटक में हम भवभूति को एक और बुरी आदत का परिचय पाते हैं जो नाटक के सारे रस को बिगाड़ देती है। वे काव्य की तरह यहाँ भी अपनी उच्छृंखल कल्पना की बागडोर बिलकुल ढीली छोड़ बैठे हैं। वर्णन करना प्रारंभ तो कर देते हैं परंतु फिर रुकना नहीं जानते। श्लोक-पर-श्लोक लिखते चले जाते हैं। छठे अंक में लव का वर्णन प्रारंभ करते समय लिखा है—

किरति कलितकिंचिद् ...... चंद्रकेतु फिर कहते हैं

मुनिजनशिशुरेकः .... सुमंत्र की उक्ति है —

अयं हि शिशुरेकः......... और भी

आगर्जद्गिरिकुंजकुंजर ...... सुमंत्र फिर कहते हैं—

विनिवर्तित एष वीरपोतः... परंतु अब भी लव का वर्णन समाप्त नहीं होता। चंद्रकेतु फिर कहते हैं—

दर्पेण कौतुकवतामपि बद्धलक्ष्यः... ... .. ।

कुछ ठिकाना है इस वर्णन का ! इस प्रकार श्लोक-पर-श्लोक लिखे जाना काव्य में तो शायद खप भी जाता, परंतु नाटक के लिये यह सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है। इसीलिये हम क्या बड़े-बड़े समालोचक उत्तररामचरित को नाटक कहने में सकुचाते हैं।

नाटक में एक गुण और चाहिए और वह है स्वाभाविकता। नाटककार को अधिकार है कि वह प्रकृति को सजावे या न सजावे, परंतु उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। उसको प्रकृति का अनुगामी बनना पड़ेगा। परंतु हमारे भवभूति या तो कवित्व के जोश में आकर इस नियम को भूल गए हैं या अपनी पहली बातों को भूलकर इस नियम का उल्लंघन कर बैठे हैं। यद्यपि सारा उत्तररामचरित स्वाभाविकता में सराबोर हो रहा है, परंतु फिर भी मनुष्यमात्रेण प्रथमा विभक्ति के अनुसार भवभूति अधिक-से-अधिक अस्वाभाविकता का वर्णन कर बैठे हैं। तीसरे अंक में वासंती कहती है—

इतोऽपि देवः पश्यतु—

अनुदिवसमवर्धयत् प्रिया ते
यमचिरनिर्गतमुग्धलोलबर्हं ।
मणिमुकुट इवोच्छिखः कदम्बे
नदति स एष वधूसखः शिखण्डी ।

भवभूति के इस 'नदति स एष वधूसखः शिखण्डी' और कतिपय 'कुसुमोद्गमः कदंबः' (अं० ३ श्लो० २०) को देखकर हम एकदम सावन और भादों की घनघोर घटाओं का अनुभव करने लगते हैं। सीता के—'वधूसखः शिखंडी'—मोर का नाद और कदंब का कुसुमोद्गम सर्वथा वर्षा-ऋतु के योग्य है और बिलकुल स्वाभाविक है। परंतु दूसरे अंक में, उसी प्रकरण में, शंबूक कहता है—

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः
स्वेच्छासुप्तगभीरभोगभुजगश्वासप्रदीप्ताग्नयः ।
सीमानः प्रदरोदरेषु विरलस्वल्पाम्भसो यास्वयं
तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरस्वेदद्रवः पीयते ।

यह श्वास-प्रदीप्ताग्नि और स्वल्पाम्भः वह तृष्णा और स्वेद-द्रवः जेठ और वैशाख की गर्मी के लिये सर्वथा स्वाभाविक हैं।

भवभूति इस स्वेदद्रव का वर्णन करके ज़रा दूर आगे बढ़ते ही कदंब के फूलों और मयूर के नादों का वर्णन करने लगते हैं। ज़रा बताना कि जेठ-वैशाख की लूओं में इन कदंब-कुसुमों का क्या काम ? ज़रा विचारना और निष्पक्ष-भाव से बताना कि "ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैर्दिनकृतः दग्धे पृथिव्यास्तले" इन कदंब-कुसुमों का वर्णन कहाँ तक स्वाभाविक और संगत है। शायद भवभूति के समय में जेठ और वैशाख में भी कदंब फूलते रहे होंगे, परंतु अब तो नहीं। ऐसे ही अभी दो-चार उदाहरण और दिए जा सकते हैं। अच्छा, अब एक मानवी प्रकृति की अस्वाभाविकता का उदाहरण और देख लीजिए। चौथे अंक में जनक कहते हैं—

अपत्ये यत्तादृग् दुरितमभवत्तेन महता
विषक्तस्तीव्रेण व्रणितहृदयेन व्यथयता ;
पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे
निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ।

अनेकसंवत्सरातिक्रान्तेऽपि प्रतिक्षणपरिभावनास्पष्टनिर्भासः प्रत्यग्र इव न मे दारुणो दुःखसंवेगः प्रशाम्यति।

ठीक ! बिलकुल स्वाभाविक है। पिता अपनी सीता-जैसी पुत्री के इस प्रकार के विनाश को कैसे देख सकता है। इस समय जनक के मुँह से जो कुछ निकला है वह बिलकुल स्वाभाविक और सर्वथा उचित है। आगे चलकर अरुंधती कहती है —

"समाश्वसिहि राजर्षे ! बाष्पविश्रामोऽप्यन्तरेण कर्तव्य एव अन्यच्च किन्न स्मरसि यदवोचद् ऋष्यशृङ्गाश्रमे गुणपाक कुलगुरुणा भवितव्यं, तथेत्युपजातमेव किंतु कल्याणोदर्कं भविष्यतीति।"

परंतु इस कल्याणोदर्कता की ओर से जनक बिलकुल उदासीन मालूम देते हैं। वे वहीं बैठे-बैठे सुन रहे हैं कि कुलगुरु वसिष्ठ ने योग-बल से पहले ही बता दिया था। वही होकर रहा। परंतु साथ ही उन्होंने इसका परिणाम भी बड़ा अच्छा बताया था, यह जान और सुनकर भी जनक के मन में फल जानने की बिलकुल उत्सुकता

दिखाई नहीं देती। वे ऐसे चुपचाप बैठे हैं मानो कुछ सुन ही नहीं रहे। बताइए क्या आप ऐसी अवस्था में इस तरह चुप्पी साधे बैठे रह सकते थे? अगर नहीं तो भवभूति के जनक में ऐसी निष्ठुरता क्यों? अवश्य ही यह भवभूति की भारी भूल है। पिता अपनी सीता-जैसी पुत्री के संबंध में ऐसी बात सुनकर इस प्रकार चुपचाप बैठा रह सकता है? शायद कोई भी सहृदय पुरुष इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता; परंतु भवभूति सहृदयता के अवतार होकर भी ऐसी निरंकुशता न-जाने क्यों कर बैठे?

एक बात और है, पाश्चात्य-साहित्य में हम हरएक बात स्टेज पर दिखा सकते हैं। उनके यहाँ आर्लैंडो की कुश्ती स्टेज पर हो सकती है, हैमलेट का युद्ध और वध भी स्टेज पर हो सकता है, असीलिया और आलीवर का विवाह भी दिखाया जा सकता है और आलीवर स्टेज पर सो भी सकता है; परंतु प्राच्य-साहित्य में इसकी सख़्त मनाई है। वहाँ तो हम कोई भी भयानक और उद्वेग-जनक दृश्य स्टेज पर नहीं दिखा सकते, कोई लज्जा-जनक या असभ्यता-युक्त व्यवहार स्टेज पर नहीं दिखाया जा सकता। न हम विवाह या मृत्यु स्टेज पर दिखा सकते हैं और न भोजन या शयन। हमारे यहाँ तो नाट्याचार्य लिख गए हैं—

> दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
> विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यूरतं तथा।
> दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्।
> शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम्।
> स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो ... ...

उपर्युक्त बातों में से कोई भी बात किसी भी अवस्था में स्टेज पर नहीं दिखाई जा सकती। परंतु भवभूति कवित्व के जोश में जान-बूझकर भारी उच्छृंखलता कर बैठे हैं। हम नहीं कह सकते कि वे इस नियम से अनभिज्ञ थे। लव और चंद्रकेतु के युद्ध का विद्याधर और विद्याधरी के मुख से वर्णन कराना इस बात का पक्का प्रमाण है। परंतु फिर भी दूसरे अंक में भवभूति के राम कथंचित् प्रहृत्य शूद्रक का गला काट देते हैं। बताइए भवभूति ने इस तरह उच्छृंखलता से वध कराकर कहाँ तक नाट्य-शास्त्र का अनुसरण किया है और कहाँ तक उसकी रक्षा की है? यही नहीं, पहले अंक में आप इससे भी एक क़दम आगे बढ़ गए हैं। शास्त्र कहता है—'शयनाधरपानादि', तुम शयन को रंगमंच पर नहीं दिखा सकते; परंतु पहले ही अंक में आप अपनी सीता को सुला बैठे हैं। सो भी साधारण तौर से नहीं, राम की छाती पर और वह भी कहाँ! नेपथ्य में नहीं, स्टेज पर। सैकड़ों और हज़ारों आदमियों के बीच लेटना क्या आपकी आत्मा इस बात को स्वीकार करेगी? और फिर कोई असभ्य, जंगली या साधारण आदमी होता तो भी ख़ैर थी, परंतु वहाँ तो आदमी भी नहीं स्त्री, और स्त्री भी कौन? सीता। बस, हद हो गई इस उच्छृंखलता की!

अभी दो-चार नहीं बल्कि ऐसे ही दस-बीस उदाहरण और दिए जा सकते हैं। परंतु "वृद्धास्ते न विचारणीय चरिताः। तदलमुपजीव्यानां प्रबंधेषु कटाक्षनिक्षेपेण।"

विश्वेश्वर ब्रह्मचारी

लेखक की आत्म-कथा

(ठलुआ-क्लब में पढ़ी हुई एक गाथा)
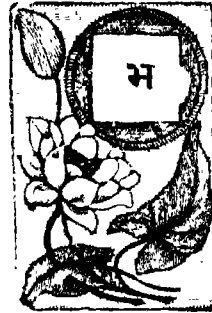
भला हो इन कंबख़्त संपादकों का जिन्होंने बढ़ावे दे-देकर मेरी लेखनी का कचूमर निकाल लिया। जितना कॉलेज में पढ़ा था, उस्तादों से सुना था और अँगरेज़ी अख़बारों से चुराया था, सब दो-चार चमत्कार-पूर्ण लेखों में ख़र्च हो गया। अभाग्य-वश बहुत यत्न करने पर भी कॉलेज में अध्यापकी न मिल सकी जो नए विचारों के संपर्क में रखती। "भाग्य फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।" भाग्य भी बिचारा क्या करे जब व्यावहारिक सिद्धांतों के विरुद्ध काम किया जाय।

भूल यह की थी कि जिस कॉलेज में पढ़ा था उसी में अध्यापक बनना चाहा। किंतु गाँव का जोगी कब पुजता है।

अस्तु, जिस प्रकार बदसूरत लड़कियाँ भी बिना ब्याही नहीं रहतीं उसी प्रकार मुझे भी जैसे-तैसे नौकरी मिल गई। इधर तो नौकरी के काम की भरमार, उधर संपादकों की विकट पुकार। इसके साथ-साथ थोड़ी यशोलिप्सा भी थी कि यदि नौकरी द्वारा आदर-सम्मान न मिला तो ख़ैर, लेखनी ही द्वारा यश के भाजन बन जायँ। शायद कभी मंगलाप्रसाद-पुरस्कार ही हाथ लग जाय, इसी लालच से

अधिकतर परिश्रम करना शुरू कर दिया। चार दिन पढ़ूँ और एक दिन लिखूँ।

चोरी छिपाने के लिये भी बड़ा कौशल चाहिए, विशेष करके आजकल के साहित्य-संसार में जब कि समालोचक-कीट लेखक के हृदय के अंतस्तल में प्रवेश करके उसकी अनजान में भी की हुई चोरी का पता लगा लेते हैं। कहाँ रंग-भूमि और कहाँ वेनटी फ़ेयर !

महात्मा केशवदासजी के मत से श्रीरामचंद्रजी के राज्य में सुवर्ण को चोरी लोप हो गई थी, वर्णों (अक्षरों) की चोरी बच रही थी, किंतु आजकल वर्णों की चोरी भी बहुत कठिन हो गई है। इस कारण सुलेखक बनने के लिये घोर परिश्रम करना पड़ा। यदि धन और यश का उपार्जन साथ-ही-साथ होता जाता, तो शरीर उस परिश्रम को सहन कर लेता; किंतु इधर दिन में नौकरी का नाच नाचना और उधर रात्रि के ग्रंथावलोकन में आँखों और मस्तिष्क को ख़राब करना। इस डबल परिश्रम के कारण शरीर की शक्तियों ने जवाब दे दिया। और रोगों ने शरीर में अड्डा जमा लिया। डॉक्टरों ने मूत्र-परीक्षा का परामर्श दिया। परीक्षा कर मेरे शरीर को शरकरा का कारख़ाना बता दिया। अब क्या था, मैं डॉक्टरों के शासन में आ गया। डॉक्टर के वाक्यों को वेद के विधि-वाक्यों की भाँति बिना अक़्ल का दख़ल दिए मानने लगा।

मेरा उदर रसायन-शास्त्र का प्रयोग-भवन मान लिया गया। काँटे की तौल तुले हुए पदार्थ मुझे खाने को मिलने लगे। मेरे रसोइया महाराज डॉक्टर साहब के छोटे भाई बन बैठे।

कभी-कभी मेरे अधिक भोजन माँगने पर जब रसोइया महाराज नाक सिकोड़ने लगते, तो मुझे क्रोध आ जाता, किंतु गिरिधर कविराय की कुँडलिया का स्मरण हो आता और उनका नाम तरह दिए जानेवाले तेरह सज्जनों की नामावली में देख क्षमा करना पड़ता। शकर तो मेरे घर से ऐसी उड़ी जैसे दरिद्र के घर से चूहे। यदि दुर्भाग्य से कभी बुख़ार आ जाता, तो डॉक्टर महोदय की कृपा से शकर में पगी हुई कुनैन की गोली भी नसीब न होती। लेमोनेड और लाइमजूस तो दूर रहा, मीठा मिक्सचर भी न मिलता।

आजकल वैसे ही कलियुग में धर्म-कर्म विदा हो गए हैं, कभी-कभी गुरुजनों की प्रेरणा से सत्यनारायण की कथा होती है, तो फीकी पँजीरी से भोग लगाया जाता है। क्योंकि प्रसाद न लिया जाय, तो देवता की अवज्ञा होती है और पुण्य के बदले पाप मिलता है। यह गौरव तो पूर्वकाल के ब्राह्मणों को ही प्राप्त था कि अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते हुए भी मधुरप्रिय बने रहते थे। इस शरकरा के संन्यास से और तो कुछ फल नहीं निकला, शायद उसका भाव कुछ मंदा हो जाय। और श्रमजीवी लोग, जो हमसे उसका अच्छा उपयोग कर सकते हैं, उसे सुभीते के साथ खा सकें।

अस्तु, डॉक्टर महोदय का संतोष यदि शरकरा के संन्यास से ही हो जाता, तो भी मैं अपने को भाग्यवान् समझता ; किंतु डॉक्टरों के चंगुल में आकर उससे निकलना कठिन है। शरकरा के संन्यास के साथ वे पुस्तकों का भी संन्यास कराना चाहते हैं।

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दोनों ही के साथ अपना पूर्ण शत्रुत्व निभाते हैं। मूर्ख जीवन व्यतीत करने के लिये उपदेश देते हैं। बात यह है कि डॉक्टरों का दिल मुर्दे चीरते-चीरते मुर्दा हो जाता है, उन्हें साहित्य और संगीत से क्या काम ?

रोगी को भी अपना-सा "निरक्षर-भट्टाचार्य" बनाकर छोड़ते हैं। ख़ैर, क्या किया जाय, जीवन-निर्वाह तो किसी प्रकार करना ही है ! यदि उनका कहना नहीं करते, तो पत्नी के वैधव्य का भय दिखलाया जाता है। अपना जीवन तो स्वाहा कर देना कोई कठिन बात नहीं, पर पत्नी के अकाल वैधव्य और बच्चों के अनाथत्व का विचार भी तो करना ही पड़ता है।

इस भय से डॉक्टरों के वाक्यों को भी पाँचवाँ वेद मानना पड़ता है। जैसे-तैसे मूर्ख बना, लेकिन मूर्ख बनकर क्या करूँ ? क्या घास काटूँ ? मैंने सोचा कुछ ऐसा करूँ कि डॉक्टर का वचन भी पूरा हो जाय और कुछ साहित्य-संगीत भी चलता जाय, क्योंकि साहित्य को तिलांजलि देना डारविन के विकास का क्रम पलटना है। कहा है:—

"साहित्यसंगीतकलाविहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"

ऐसा सोचकर मैंने मूर्खता-मंजरी नाम का एक छोटा-सा ग्रंथ लिखना आरंभ कर दिया। उसके कुछ उदाहरण आप लोगों को सुनाता हूँ—

अक्ल—जो अपने सिवा और कहीं मुश्किल से मिले।

आंदोलन—बिना गोली-बारूद का युद्ध।

इजलास—जिस पर बैठकर मनुष्य न्यायाधीश बन जाता है।

ईमानदार—वह जो दूसरों को बेईमान बतलावे।

उम्मीदवार—धक्के सहन करने की मशीन।

कमल—मनुष्य के अधिकांश अंगों की जिससे उपमा दी जाती है।

किवाड़—जिसको देने में सूम बड़ी उदारता दिखाते हैं।

खद्दर—देश-भक्ति की मुहर।

घड़ी—बेकार लोगों के दिल बहलाने की चीज़।

घी—एक पदार्थ है जो कलियुग में बिनौला और नारियल के पेड़ से निकलता है।

छींक—सायन के सेवकों के कर्यारंभ करने में जो ब्रेक का काम दे।

जानवर—पक्षहीन द्विपदों को छोड़कर सब जीव-धारियों का जाति-वाचक शब्द।

तंबाकू—जिसके कारण मनुष्य स्वर्ग में जाना नहीं पसंद करते।

तोता—कुछ विद्यार्थियों का आदर्श-गुरु।

थाली—अन्नपूर्णा देवी।

धोबी—कपड़े का मूल्य बढ़ानेवाला, किंतु भाग्यहीन होने के कारण कपड़े का शत्रु बतलाया जानेवाला।

पागल—सबसे अधिक स्वतंत्र।

फ़िज़ूलखर्ची—ऐसे काम में ख़र्च करना जिसको दूसरे लोग पसंद न करें।

बंदर—मनुष्य का परदादा।

बीमा—जिसका व्यापार करनेवाले मरे हुए मनुष्य का जीवित मनुष्य से अधिक मूल्य देते हैं।

भारतवर्ष—जो देवताओं और विदेशियों को अधिक प्यारा है।

मान—निर्धनों का धन।

आप ऊपर के नमूनों से जान सकते हैं कि यह कोष कालांतर में अमर-कोष से कम ख्याति न पाता। शायद गुण-ग्राहिणी भारत-सरकार मुझे रायबहादुरी भी दे देती और मैं तो यह समझता हूँ कि सरकार की कृपा का स्रोत केवल रायबहादुरी पर ही न रुक जाता, वरन् मुझको डॉक्टर जॉन्सन की भाँति कुछ छात्रवृत्ति भी मिल जाती, लेकिन संसार के दुर्भाग्य से डॉक्टर को ख़बर लग गई। डॉक्टर लोग रोगी के यश को कब सहन कर सकते हैं, वह तो केवल भौतिक शरीर के रक्षक हैं। उनके पेट में चूहे कूदने लगे और मुझे आड़े हाथों लिया।

राजद्रोह-संबंधिनी पुस्तकों की भाँति वह पुस्तक भी डॉक्टर साहिब की कोर्ट में, जिसको अपील परमेश्वर के यहाँ भी नहीं हो सकती है, हज़म हो गई। अब सिवा इसके कोई चारा नहीं कि ठलुवा-क्लब का मेम्बर बनूँ और कोई आशा है कि आप लोग मेरा हृदय से स्वागत करेंगे।

गुलाबराय

हिंदी में हास्य-रस

हास्य-रस का स्थान तो रस-निर्णय के समय से ही साहित्य में है, परंतु इसे प्रधानता नहीं दी गई। भारतीय साहित्य में करुणा-रस की ही प्रधानता रही है। आदि कवि महर्षि वाल्मीकिजी के आदि-काव्य रामायण में करुणा की ही ध्वनि अधिक सुनाई पड़ती है। भगवती सीतादेवी की वंदना करते हुए किसी ने कहा भी है—

"कारुण्यामृतवल्लिका हरिहरब्रह्मादिभिर्वन्दिताम्।"

इस तरह करुणा, वीर और शृंगार की सृष्टि ही भारतीय साहित्य में अधिकता से हुई है। कवियों के अनुकूल भी यही रस है। हास्य रस हलका है, इसलिये गहन कल्पना-कुंज के विहंगम कविगण इस रस को नहीं अपनाते। इससे वज़न घट जाता है। परंतु अब ज़माना कुछ और आ गया है। अब क्लेशदायक कर्मों के बोझ से जीवन इस तरह दब गया है कि उसे उभाड़ने, हृदय के बोझ को उतारने, हँसाने, उत्फुल्ल करने, मुरझाये हुए हृदय-कमल को विकसित करने की आवश्यकता आ पड़ी है। अब यदि दिन-भर के थके किसी कर्मी मनुष्य के सामने करुणा-रस की कोई पुस्तक लेकर रख दी जाय, तो सोचिए कि उसे कितनी घबराहट होगी। वह शायद ही उस पुस्तक के दो

पड़े पड़े। पड़ता है तो उस अवस्था में उसके हृदय को कष्ट होता है, वह कल्पना और भावों के बोझ से और दबकर ऊबने लगता है। इस तरह के कर्म-तत्पर मनुष्यों का ख़्याल रखकर आजकल उनके लिये निर्दोष हल्के साहित्य की सृष्टि की जाती है। और यह साहित्य हास्य-रस-प्रधान ही हुआ करता है। इसकी धारा पश्चिमी देशों में ज़ोरों से बह रही है। वे मस्तिष्क लड़ाते हैं विज्ञान को लेकर और हँसते हैं साहित्य के अध्ययन से। इसलिये वहाँ का साहित्य क्रमशः हल्का होता आ रहा है। यह धारा वहाँ से बहकर हिंदुस्थान में भी पहुँची है। यहाँ भी जीवन-संग्राम की वही हालत है बल्कि उससे और गई बीती। मरते हुए को एक चुल्लू पानी जिस तरह क्षण-भर के लिये सुख देता है और वह उस पानी के लिये पिक-कंठ से पुकारता रहता है, यहाँवालों की हास्य-रस की माँग के संबंध में भी ऐसी ही बात है। ये हास्य-रस के द्वारा अपने वासना-जर्जर हृदय-विकार की बीभत्स अवतारणा से साहित्य को हल्का तो क्या उसे दूषित करते हैं। हमें यह दृश्य अख़बारी दुनिया में दिखाई पड़ता है—इसके अतिरिक्त इस रस-हास्य की अपूर्व छटा कवि-सम्मेलन के अवसर पर भी दिखाई पड़ती है। अभी हाल ही में कलकत्ते में एक विराट् कवि-सम्मेलन, मारवाड़-निवासियों की आतीय सभा के वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर, हुआ था। उसमें प्रायः इसी रस की प्रधानता रही। इसके बाद और को। शायद इन्हीं दो रसों में दी गई समस्याओं की पूर्ति के लिये कवि-सम्मेलन के संयोजक का आग्रह भी था। साहित्याचार्य, अलंकाराचार्य और दूसरे-दूसरे कवियों द्वारा पठित कविताओं में सामयिक समाज का चित्र भी ख़ूब साफ़ खींचा गया। शुरू में हास्य की अवतारणा एक विद्वान् कवि द्वारा हुई। यहाँ उनके मार्जन का, जनता की रुचि-झुकाव का, हास्य की दुर्दशा का, उनकी उक्ति-वैचित्र्य की अनूठी तूलिका से खिंचकर, वर्तमान से अलग रहकर, भूत के जर्जर-चौखटे में सजकर, विश्व-प्रदर्शिनी में रखकर प्रतियोगिता-पुरस्कार पाने योग्य व्यंग चित्र का—वर्तमान की दुर्दशा का—अंकुर हुआ।

ख़ैर! इस तरह यहाँ भी पश्चिम की नक़ल के साथ-साथ हास्य-रस की आवश्यकता बढ़ती आ रही है। नहीं तो पराधीन जाति को कब हास्य-रस की आवश्यकता हो सकती है? उसका तो तमाम जीवन ही दुर्दैव-भार-व्याकुल हो रहा है। हँसे वह जो स्वाधीन है, जिसके पौ बारह हैं। परंतु चूँकि कवि सब रसों की कविता करते हैं, जब जिस रस के अनुकूल उनके हृदय की परिस्थिति हुई, तब उसी रस पर वे कुछ-न-कुछ लिख डालते हैं। इसलिये हिंदी-साहित्य में भी हास्य-रस की कविताएँ पाई जाती हैं। परंतु संख्या में इस रस की कविताएँ बहुत थोड़ी हैं और आजकल की जानेवाली हास्य-रस की कविताओं का दिग्दर्शन तो ऊपर हो ही चुका है।

हिंदी में हास्य-रस का परिपाक कई कारणों से अभी नहीं हो पाया। इसका पहला कारण यह है, जो हिंदी आजकल लिखने और बोलने के उपयोग में आती है वह किसी प्रांत के रहनेवालों की मातृ-भाषा नहीं, और चूँकि हम अपनी माताओं के मुख से सीखकर यह भाषा नहीं बोलते, इसलिये अबतक के लेखकों द्वारा कितने ही प्रयत्न होते रहने पर भी हिंदी सहृदय-संवेद्य नहीं हो सकी, उसकी कर्णकटुता दूर नहीं हुई। उसकी वर्तमान कविता में अन्य भाषाओं की तरह जान नहीं आई। जब तक स्त्रियाँ किसी भाषा को नहीं बोलतीं तब तक, यह मानी हुई बात है कि उसमें लालित्य नहीं आता जो हरएक रस के परिस्फुट करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है। हिंदी तो अभी तक गढ़ी ही जा रही है, उसका साँचा अभी तैयार ही हुआ है। परंतु उस साँचे में सर्व-साधारण अन्यान्य प्रांतों के रहनेवाले अभी ढल नहीं गए। जब तक सब लोग हिंदी में बोलते हुए अपने सब प्रकार के रस-विकारों को ज़ाहिर न करेंगे तबतक साहित्य में रसों का परिपाक होना मुश्किल है। पहले बँगला में भी यही कठिनता थी। वह लिखी और ढंग से जाती थी और बोली एक दूसरे ही ढंग से। परंतु इधर पचास वर्षों के परिश्रम से उसके धुरंधर साहित्यिकों ने उसके लिखने और बोलने के भेदात्मक रूप को मिटा दिया है। जिस तरह बंगाली बोलते हैं अब संवाद-पत्रों, मासिक-पत्रों, कविता और नाटक-उपन्यासों में वैसी ही भाषा लिखी भी जाने लगी है। कुछ ही लोग बंगाल में पुरानी लकीर के फ़क़ीर रह गए हैं। यही हालत अँगरेज़ी-साहित्य की है। अँगरेज़ जो भाषा बोलते हैं वही लिखते भी हैं। (यह मुझे प्रकाशित समालोचनाओं से मालूम हुआ है)। अँगरेज़ी में भी, बँगला की तरह, दो शैलियाँ हैं, एक नाटक-उपन्यासों की

बोल-चालवाली भाषा की शैली, दूसरी विचारात्मक शैली जिसमें शुद्ध अँगरेज़ी लिखी जाती है। इस तरह का परिवर्तन केवल रसों के परिस्फुट करने के लिये ही किया गया है। विचारात्मक भाषा में रस नहीं रहता, उसमें विचार ही रहता है। हिंदी के दो रूप इस तरह भले हो न हों परंतु अबतक वह स्त्रियों के मुख से न निकलेगी, जैसी कि वह लिखी जाती है, तब तक न तो उसके मँजने की कोई गुंजाइश है और न स्वच्छंदता-पूर्वक उसमें पूर्णता तक रसों के पहुँचने की नौबत ही आवेगी। यही कारण है कि अत्यंत तरल हास्य-रस हिंदी में परिस्फुट नहीं होता।

दूसरा कारण एक और है, जाति जितनी ही मार्जित होती है, उतनी ही सूक्ष्म-से-सूक्ष्म इंगितों और मनोभावों के ग्रहण करने की शक्ति उसमें आती है। साहित्य की दृष्टि से हमारी जाति उतनी उन्नत नहीं है जितनी पश्चिमी जातियाँ या बंगाली इस समय हैं। इस कमज़ोरी के कारण निर्दोष हास्य का अवतरण करते समय हिंदी के पठित संपादकगण भी कभी-कभी हास्य की आड़ लेकर ऐसे भद्दे साहित्य की सृष्टि कर डालते हैं कि उससे हास्य-विवर्जित हमारी एक बहुत बड़ी कमज़ोरी का पर्दा फ़ाश होता है। हास्य-रस की अवतारणा न कर सकने का यह सप्रमाण परिचय है। इन कमज़ोरियों के दूर हो जाने पर ही हिंदी में तरल-हास्य-रस की स्वच्छ-सृष्टि हो सकेगी।

शिवशेखर द्विवेदी

गंध-विज्ञान

मनुष्य नासिका के द्वारा पदार्थों के जिस गुण को ग्रहण करता है, उसे गंध कहते हैं।

मनुष्येतर प्राणी ऐसी कितनी ही वस्तुओं की गंध पा जाते हैं, जिनकी कुछ भी गंध मनुष्य को नहीं मिलती, अतः इस प्रबंध में उन सब वस्तुओं का गंध-द्रव्य नाम न दिया जायगा। सब वस्तुओं में गंध नहीं होती, इसलिये यह कहना ठीक नहीं हो सकता कि जड़ पदार्थ-मात्र गंधवाले हैं। घन, तरल और वायवीय सब प्रकार की वस्तुओं में कितनी ही ऐसी हैं जिनमें गंध है और कितनी में नहीं भी। यदि घन पदार्थों का पृथ्वी, तरल पदार्थों का जल और गैस का वायु नाम दे दिया जाय, तो फिर यह बात ठीक न रहेगी कि गंध केवल पृथ्वी का ही गुण है, जल और वायु का नहीं। अति प्राचीन काल में पंडित लोग आकाश का गुण शब्द; वायु का गुण स्पर्श और शब्द; तेज का गुण रूप, स्पर्श और शब्द; जल का गुण रस, रूप, स्पर्श और शब्द; तथा पृथ्वी का गुण गंध, रूप, रस, स्पर्श और शब्द बतला गए हैं।

सन् १६५० ई० में आटो-फ़ान-गेरिक (Auto Von Gaerik) नाम के वायु-निष्कासन यंत्र का आविष्कार होने पर परीक्षा करके जाना गया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं है; आकाश में कोई वायवीय, तरल या घन पदार्थ मौजूद न रहने से केवल-मात्र आकाश में शब्द का परिचालन करने की शक्ति नहीं है। किसी एक काँच के ढकने के भीतर काँच का एक घंटा लटकाकर उस ढकने को मेज़ पर रक्खो, अब अगर उसके भीतर की वायु यंत्र के द्वारा निकाल ली जाय, तो उस घंटे को थपेड़ देकर या और किसी तरकीब से बजाने पर कुछ शब्द न सुन पड़ेगा, विज्ञान के दर्जे में इसको सभी पढ़नेवालों ने देखा होगा। विशुद्ध वायु वा विशुद्ध जल में किसी तरह की गंध नहीं है। पृथ्वी में गंध है, इसलिये यदि किसी तरल वा वायवीय पदार्थ में कुछ गंध मिलता है, तो वह पृथ्वी का मेल होने से। ऐसी ही धारणा के कारण शायद अति प्राचीन समय से इस तरह का विभाग चला आ रहा है।

इस प्रबंध में आजकल की विज्ञान-चर्चा में गंध-वस्तु और गंध के बारे में जो जाना गया है, उसे ही अति संक्षेप में वर्णन करने की चेष्टा की जायगी। पहले हम यह बतावेंगे कि गंध-द्रव्य क्या है, फिर वह फैलती किस तरह है, और फैलने पर ग्रहण क्योंकर की जाती है।

१. गंध-द्रव्य

उद्भिज पदार्थों के गंध-तेल आदि के मूल-उपादान के संबंध में सब से पहले जर्मन-देश-वासी हेडरिक-अगस्ट-केकुले (Hedric August Kekule) ने १८६६ में योरपीय पंडित-मंडली का ध्यान खींचा। उसने १८२९ ई० में जन्म लेकर समस्त जीवन जर्मनी, पैरिस और लंदन के मुख्य-मुख्य रासायनिक पंडितों के पास शिक्षा ग्रहण करके, उन लोगों के साथ द्रव्यों के विश्लेषण और

परीक्षा में लगे रहकर, अंत में फिर जर्मनी आकर गंध-द्रव्यों के बारे में अपने नए आविष्कार किए हुए तथ्यों का प्रचार किया। उसने बहुत प्रकार के गंध-तैलों का विश्लेषण करके देखा कि जितने उद्भिज गंध-तैल हैं, उन सब के मूल-उपादान में अंगार के छः परमाणु (Atom) मौजूद हैं, और एक अँगूठी की तरह सजे हुए हैं। इन अंगार-परमाणुओं में का हरएक एक-एक monovalent-परमाणु अर्थात् एकमात्रा-विशिष्ट परमाणु के साथ संयुक्त होकर गंध-द्रव्य उत्पन्न कर रहा है। एकमात्रा-विशिष्ट radical अर्थात् परमाणु-समष्टि वा अणु के साथ युक्त होने पर भी तरह-तरह के गंध-तैल उत्पन्न होते रहते हैं। उसकी परीक्षा में स्थिर हुआ कि अंगार-परमाणु की योगमात्रा ४ है, अर्थात् सब से हल्के हाइड्रोजन-गैस के परमाणु की योगमात्रा को अगर १ रख लो तो एक-एक अंगार-परमाणु ४ हाइड्रोजन-परमाणुओं के साथ युक्त हो सकता है। इससे अंगार परमाणु हाइड्रोजन-परमाणु से चौगुना भारी नहीं कहा जायगा, वस्तुतः अंगार-परमाणु हाइड्रोजन-परमाणु से १२ गुना भारी है। अंगार को अँगरेज़ी में कार्बन (Carbon) कहते हैं, इसलिये उसके पहले अक्षर 'क' से पाठक अंगार-परमाणु का इशारा समझें। इसी तरह से हाइड्रोजन का पहला अक्षर 'ह' है, उससे हाइड्रोजन का संकेत समझें। एक कार्बन-परमाणु के साथ चार हाइड्रोजन-परमाणुओं के संयुक्त होने से ऐसा अवयव बनता है—

इस तरह से संयुक्त परमाणुओं को molecule वा अणु कहते हैं। एक कार्बन-परमाणु के साथ चार हाइड्रोजन-परमाणुओं के मिलने से जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसे मार्श-गैस (Marsh Gas) अर्थात् छाया कहते हैं। इस देश में सायंकाल को दलदल में से बहुतों ने इस छाया की चमक देखी होगी। साधारण लोगों का संस्कार है कि वह अगिया बैताल का काम है। लेकिन रासायनिक विज्ञान के तीव्र विश्लेषण से पाया गया है कि इस अगिया बैताल का शरीर एक भाग कार्बन और चार भाग हाइड्रोजन (क+$ह_४$) से निर्मित है। यह गैस दुर्गंधमय होती है। बड़े-बड़े शहरों की सड़कों में जिस गैस की रोशनी उठा करती है, उसमें यह बहुत बड़ी मिक़दार में मौजूद रहती है।

इस जाति के अणु आपस में मिलकर और भी नए-नए अंग धारण किया करते हैं। जैसे—

ह—क≡क—ह
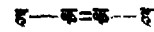
इस आकृति में दो कार्बन-परमाणु दो हाइड्रोजन-परमाणुओं के साथ मिले हैं। इससे जो गैस उत्पन्न होती है, उसे acetylene (ऐसिटीलीन) गैस कहते हैं। आजकल घर-घर में कार्बाइड-गैस जला करती है। एक बत्ती या दीपक बुझाने से जो धुआँ पैदा होता है, उसमें यह गैस रहती है, इसी कारण उसमें बड़ी दुर्गंध होती है। इससे यह मालूम होता है कि हम लोग आमतौर से जिस तैल वा बत्ती की रोशनी किया करते हैं, उसका तेल का अंश अग्नि के उत्ताप से छिन्न-भिन्न होकर ऐसिटीलीन-गैस के रूप में परिणत हो जाता है, बाद को फिर उत्ताप के विच्छिन्न होने से उसके ज्वलंत अंगार हमारे आगे ज्योति के रूप में प्रकाशित होते रहते हैं। कलकत्ते के रास्तों में यह ऐसिटीलीन-गैस बड़ी मिक़दार में मौजूद है।

अंगार बिलकुल काला होता है, "अंगारं शतधौतेन मलिनत्वं न मुंचति" अर्थात् "अंगार (कोयले) को सौ बार धोओ, मगर उसकी कालिमा न मिटेगी"। किंतु यह संपूर्ण प्राणि-जगत् इसी अंगार की सृष्टि है। अंगार न रहे, तो इनमें से किसी का भी अस्तित्व नहीं रह सकता। उद्भिज और जीव-मात्र का मूल-उपादान अंगार है। यह अंगार फिर अन्यान्य चीज़ों के साथ मिलकर अजीब-अजीब तरह के आकार धारण कर सकता है। संसार में सबसे अधिक मूल्यवान् और सुंदर हीरा भी विशुद्ध अंगार है और हम लोग काग़ज़ पर जिस पेंसिल से लिखते हैं, उस पेंसिल की स्याही के मेल की जितनी चीज़ें हैं वे सब विशुद्ध अंगार हैं। इसको Graphite कहते हैं। अंगार, हीरा और पेंसिल की मजा एक ही चीज़ है, यह बात समझ में नहीं बैठती है, मगर परीक्षा से सत्य सिद्ध हुई है। ऐसिटीलीन-ग्रेस के साथ दो परमाणु हाइड्रोजन मिलने से Ethylene-गैस बनती है। इस तरह के अणु क्रमानुसार युक्त होकर नए-नए दुर्गंधमय और ज्योतिवाले गैसों को बनाया करते हैं। जैसे—
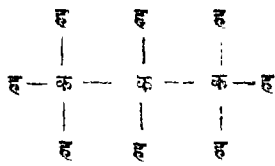
अब यदि क. ह२+२ कर दिया जाय, अर्थात् जितना अंगार-परमाणु है उसका दुगना हाइड्रोजन-परमाणु कर दिया जाय, तो इस जाति के बने हुए पदार्थ बड़े ही दुर्गंध-मय और एकदम जल उठनेवाले होंगे। आजकल घर-घर में जो केरोसिन (मिट्टी का) तेल जला करता है, वह इसी श्रेणी के भीतर है। इसका उपादान क८+ह१० है। पेराफिन की बत्ती के नाम से बाज़ारों में जो एक तरह की बत्ती बिका करती है, वह भी इसी श्रेणी के अंतर्गत है। डॉक्टर लोग जिस वेसलीन (Vaseline) का व्यवहार करते हैं, वह भी इसी श्रेणी के भीतर है। इन सब चीज़ों में आग का संयोग होते ही ये हवा के ऑक्सीजन के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड-गैस और जलीय वाष्प के रूप में परिणत हो जाती हैं और उत्ताप तथा रोशनी छितराती हैं। कार्बन और हाइड्रोजन के साथ ऑक्सीजन थोड़ी मात्रा में मिलने से घी, चर्बी, वसा-जाति की चीज़ें उत्पन्न करता है। इस श्रेणी की चीज़ें जल उठने योग्य तो होती हैं मगर ये पहले कही हुई चीज़ों की तरह ताप-उत्पादक नहीं हैं। इसका सबब यह है कि इनके शरीर में कितने ही परिमाण में ऑक्सीजन मौजूद रहने से पहले कही हुई चीज़ों की तरह ये वायु में से अधिक मात्रा में ऑक्सीजन नहीं ले सकती हैं। उद्भिज गंध-द्रव्यों में कार्बन के परमाणुओं की ६ संख्या कम होने से वे तरल पदार्थों की तरह स्थायी नहीं रहते।

छः कार्बन-परमाणुओं के साथ छः हाइड्रोजन-परमाणुओं को जोड़ देने से जो माला तैयार होती है, वह रासायनिक पंडितों की गंध-माल्य बेंज़ीन (Benzene) है। इसकी शकल इस तरह होती है—

```
|                                          |
क = क — क = क — क =                        क
|     |     |     |     |                  |
ह     ह     ह     ह     ह                  ह
```
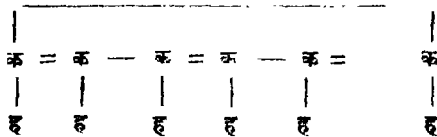
पंडित केकुले ने अनेक प्रकार के उद्भिज गंध-तैलों का विश्लेषण करके देखा है कि उनका सर्वांश इसी गंध-मालिका का रूपांतर मात्र है। इस माला में प्रत्येक हाइड्रोजन-परमाणु की जगह और एकमात्रावाला अणु है, अर्थात् परमाणुओं के फेर-बदल से नाना प्रकार के उद्भिज गंध-तैलों की उत्पत्ति होती है। लेकिन इससे माला के मूल गठन की प्रकृति में गड़बड़ी नहीं होती।

इसी तरह से वायोलेट, वैनिला, विंटरग्रीन, दारुचीनी, मौरी आदि गंध-द्रव्य रासायनिक उपायों से बनाए गए हैं।

ऑक्सीजन की योजक मात्रा २ है, इसलिये एक ऑक्सीजन-परमाणु इस माला में चाहे जिस जगह दो कार्बन परमाणुओं के बीच में बसा दिया जा सकता है। जैसे—

```
ह    ह    ह          ह    ह    ह
|    |    |          |    |    |
क    क    क ---०--- क    क    क
|    |    |          |    |    |
ह    ह    ह          ह    ह    ह
```
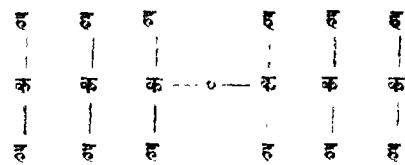
इस तरह से जो चीज़ बनती है वह डॉक्टर लोगों की कार्बोलिक एसिड या फ़िनोल है। इसकी गंध बड़ी ही तेज़ होती है और यह कीड़ों का नाश करनेवाला तेज़ विष है। काठ से अगर यह बनाया जाय, तो इसको क्रियोज़ोट (Creosote) कहेंगे। सड़े दुर्गंधमय मूत्र में एक बूँद कार्बोलिक एसिड डाल देने से फ़ौरन् उसकी सब दुर्गंध दूर हो जाती है, और क्रियोज़ोट में अगर एक टुकड़ा मांस भिगोकर रख दो, तो छः महीने में भी न सड़ेगा। कार्बोलिक एसिड में जो प्रबल कीट-नाशक शक्ति है, उसको मालूम करके सुप्रसिद्ध डॉक्टर महामति लिस्टर साहब ने अस्त्र-चिकित्सा (नश्तर) के ज़ख़्मों को कीड़ों से बचाने के लिये उसके व्यवहार करने की जो तर्कीब बताई है, वह संपूर्ण पृथ्वी में फैल गई और उससे मानव-जाति, तथा अन्यान्य प्राणियों का भी, बहुत बड़ा उपकार हुआ है। केकुले की गंध-मालिका की सहायता से गंध-द्रव्य की खोज करने का फल यह हुआ कि कितने ही तरह के गंध-तैलों को तैयार करने का रास्ता मालूम हो गया, और रासायनिक ढंग से सब कहीं उनकी बिक्री होती है तथा इन सबके व्यवसाय से योरप और अमेरिका में सख्यातीत संपत्ति पहुँच गई। कर्पूर का पेड़ जापान में पैदा होता है। कर्पूर का व्यवसाय जापानियों के लिये एकचेटिया (Monopolize) था। संसार में कर्पूर की खपत बढ़ जाने से जापानवालों ने

कर्पूर का निर्ख तीनगुना कर लिया और असंख्य रुपया पैदा किया। महामति केकुले के दिखाए हुए रास्ते से रासायनिक ढंग से पहले तारपीन का तेल बनाने की तर्कीब निकली, जो यों थी—

```
ह   ह   ह                              ह   ह   ह
|   |   |                              |   |   |
क — क — क = क — क = क — क = क — क — क — क
|   |   |       |   |   |   |   |   |
ह   ह   ह       ह   ह   ह   ह   ह   ह
```
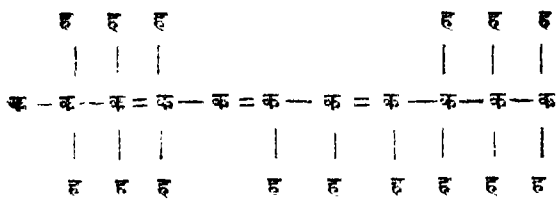
इसमें फिर एक परमाणु ऑक्सीजन रासायनिक उपाय से संयुक्त कर देने से कर्पूर बन गया। जैसे—

```
ह   ह   ह                          ह   ह   ह
|   |   |                          |   |   |
क — क — क = क — क = क — क — क — क
|   |   |   |   |   |   |   |   |
ह   ह   ह   ह   ह   ह   ह   ह   ह
```

यह तर्कीब निकलते ही कर्पूर का निर्ख गिर गया।
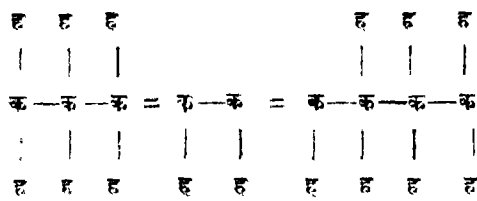
नील इस देश में पैदा होता है और नील का व्यवसाय योरपीय वणिकों के लिये एकचेटिया था। उसका भी मूल्य बढ़ जाने से जर्मनी में रासायनिक उपाय से नील बनाया गया। उसी दिन से नील की खेती और नील के कर के अत्याचार मिट गए। इस बात को शायद बहुतेरे पाठक जानते होंगे।

गुलाब, नारंगी, लेवेंडर, निबू, जिरेनियम, निरोल आदि जगत् के श्रेष्ठ गंध-पुष्पों की गंध का सार भी इन्हीं उपायों से बन जाने के कारण, ये चीज़ें प्रचुरता से और सस्ते मूल्य में बिकने लगीं। इनमें भेद यह है कि इनके परमाणुओं का समावेश माला की तरह वृत्ताकार में नहीं है, वह चेन की तरह एक रेखा में निबद्ध होता है। पहले कहे हुए गंध-द्रव्यों के परमाणु माला की तरह वृत्ताकार सजे रहते हैं, और बाद में बतलाए हुए जो चेन की तरह एक रेखा में निबद्ध रहते हैं वे Polarisation of light अर्थात् आलोक-रश्मि की क्रिया के द्वारा भी लैडेनबर्ग बेयर और पार्किन की परीक्षा में ठीक उतरे हैं। इसी तरह मृगनाभि (मुश्क) की तरह की गंधवाली चीज़ भी रासायनिक उपाय से बन गई है सही, पर ठीक मृगनाभि अब तक तैयार नहीं हुई है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि ये सब महा-सुगंधवाले पदार्थ गंध-हीन काले-कलूटे कोयले के अंश से बनते हैं। जगत् में जितने तरह के खुशबूदार फूल हैं, उन सभी के मूल में कोयला है। पेड़ का परिणाम पुष्प भी उसी से उत्पन्न होता है, यह बात सोचने से किसी अंश में समझ में तो आ जाती है, मगर विस्मय की मात्रा में कमी नहीं पड़ती। रासायनिक उपाय से आजकल जो गंध-द्रव्यों के तैयार करने का रास्ता निकला है, उसपर गौर करने से और भी विस्मित होना पड़ता है। अंगार अर्थात् कार्बन जब इन सब चीज़ों का मूल-उपादान है, तो इन सब चीज़ों के तैयार करने में किस चीज़ की ज़रूरत पड़ती होगी, यह बात भी बहुत ही आसानी से समझ में आ जायगी। हम पहले ही कह आए हैं कि शहरों के रास्तों में जिस गैस की रोशनी होती है, उसका उपादान कार्बन या अंगार होता है। यह गैस पत्थर के कोयले से तैयार होती है। पत्थर का कोयला वायु-रहित बर्तन में भरकर—अर्थात् इस तरह से भरकर कि उसके भीतर वायु न रह जाय—जलाने से उससे जो धुआँ निकलता है, उसको साफ़ करके ले लेने से रास्ते की रोशनीवाली गैस बन जाती है। इस धुएँ को साफ़ करने के लिये जिन बर्तनों के भीतर चलाकर धुएँ को साफ़ किया जाता है, उसके पहले बर्तन में जो मैल नीचे रह जाता है, उसका नाम अलकातरा है। अलकातरा अत्यंत निविड़ काला होता है, और कितने ही लोग उसे देखकर घृणा कर सकते हैं। मगर इस अलकातरा से ही रासायनिक विश्लेषण और नए-नए संयोगों के द्वारा ये सब खुशबूदार चीज़ें तैयार होती हैं। इसी अलकातरा से शकर से भी अत्यंत मीठी Saccharin (सैकरीन) तैयार होती है, और इसी से बसती, नारंगी, गुलाबी, गुलेनारी, सब्ज़, नीले, उन्नाबी, बैंजनी आदि बहुत तरह के नयन-रंजन रंग तैयार होते हैं, और उन्हें तैयार करके अपने और दुनिया-भर के देशों में बेचकर जर्मन-देशवासी प्रभूत धन कमाते हैं। महायुद्ध से पहले १८ करोड़ ७४ लाख रुपए का रंग हरसाल इसी अलकातरा से रासायनिक उपायों द्वारा बनकर बिकता था। रासायनिक परीक्षा और रासायनिक खोज के लिये बहुमूल्यवान् यंत्र आदिकों की आवश्यकता नहीं होती। भारतवासी जैसे तीक्ष्ण-बुद्धि हैं, वैसे ही उनमें यदि एकाग्रता, कर्तव्य-निष्ठा और अध्यवसाय भी हो, तो बहुत सहज में अधिकांश भारतवासी रसायन-शास्त्र में सुपटु और रासायनिक अनु-

संधान में सिद्धहस्त हो सकते हैं। बंगाल के सपूत डॉक्टर प्रफुल्लचंद्रराय महोदय ने इसका रास्ता दिखा दिया है। भारतवासी और कब तक कोरी पंडिताई, नितांत बाबूपने, भाँग-तमाकू, सिगरेट शराब, टीका-चंदन, ताश-गंजीफ़ा प्रभृति में अपने जीवन बर्बाद करेंगे ?

२. गंध का विस्तार

उद्भिज्ज द्रव्य के भीतर जो तैल-पदार्थ रहने से उसकी गंध मिलती है, वह गंध-तैल प्रायः सब समय थोड़े बहुत परिमाण में वायवीय आकार धारण करता रहता है। इस कारण, कितने ही उद्भिज्ज गंध-तैलों को वायवीय तैल या Volatile oil कहा जाता है। पहले यह धारणा थी कि हम जिन सब चीज़ों की सुगंध वा दुर्गंध ग्रहण किया करते हैं, उन-उन पदार्थों के घन-कण वा Solid particle वायु के संयोग से संचालित और नासिका के रंध्रों में प्रविष्ट होकर गंध उत्पन्न करते हैं। लेकिन बहुत परीक्षा करके जाना गया है कि गंध के फैलने में Solid particle (घन-कण) ही वायु के द्वारा फैला करें, इसकी आवश्यकता नहीं है। गंध उत्पन्न करनेवाली वस्तु वाष्प-जातीय अर्थात् वायवीय होती है। डॉक्टर जॉन ऐटकिन (John Aitkin) ने बहुत परीक्षा करके यह स्थिर किया है कि गंध के विकीर्ण होने में घन-कण वायु के साथ नहीं उड़ते हैं। इस विषय की ऐटकिन साहब की परीक्षा बड़ी ही विस्मयकर है। उनकी परीक्षा की प्रणाली समझने के लिये पहले नीचे-लिखी बातों को अपने हृदय में अच्छी तरह जमा लेना चाहिए। एक ग्लास पानी में जितना नमक घोला जा सके उतना घोल दो, बाद को फिर उसके अलावा और नमक उसमें डालो। वह फ़ालतू नमक उसमें न घुलकर ग्लास के भीतर पानी के नीचे बैठ रहेगा। इसको Point of Saturation अर्थात् पूर्ण-मात्रा कहते हैं। एक ग्लास जल में शकर भी इसी तरह पूर्ण-मात्रा में घोलो, और फिर ऊपर से भी शकर डालो, तो वह शकर नीचे बैठ रहेगी। किंतु पूर्ण-मात्रा के नमक-मिले पानी में अगर शकर डालो, तो वह उसमें घुलकर मिल जायगी—नमक और शकर नीचे न बैठेगी। एक ग्लास में ऊपर तक पानी भरो, और उसमें फिर पानी डालो, तो वह पानी बह जायगा ; मगर पानी की जगह अगर उसमें नमक या शकर डालो, तो उनके लिये उसमें जगह रहती है। इसका क्या कारण है ? सुनिए, एक बाल्टी में खूब ऊपर तक नारंगियाँ भरो और फिर ऊपर से एक नारंगी रक्खो, तो वह नारंगी बाहर गिर पड़ेगी। मगर उसी नारंगी से भरी हुई बाल्टी में बहुत-से सरसों डालो, तो उनके लिये उसमें जगह है और सरसों उसमें भर जायँगे। अच्छा, इस तरह सरसों और नारंगियों से जब वह बाल्टी भर जायगी, तब उसमें सरसों और नारंगी भी न रक्खे जा सकेंगे ; लेकिन उसमें अगर पानी डाला जाय, तो पानी के लिये अब भी जगह मौजूद है और बहुत-सा पानी उसमें आ सकेगा। वायु के बीच में वाष्प की भी यही कैफ़ियत है। वायु के सूक्ष्म-कण एक दूसरे को ठीक स्पर्श नहीं करते, उनके बीच में काफ़ी फ़र्क़ रहता है जिसमें दूसरी तरह के वाष्प-कणों के प्रवेश करने के लिये पर्याप्त स्थान रहता है। फिर कोई स्थान वाष्प के द्वारा परिपूर्ण होने पर यदि उसमें उसी जाति की वाष्प और डाली जाय, तो वह फ़ालतू वाष्प तरल आकार में होकर नीचे गिर जायगी। मगर वायु एकजातीय वाष्प से परिपूर्ण—अर्थात् Saturated—होने पर भी, उसमें अन्य जाति की वाष्प के प्रवेश करने का अधिकार और जगह दोनों रहती हैं। किंतु वायु अगर किसी वाष्प के द्वारा परिपूर्ण—अर्थात् Saturated—हो, तो उस वाष्प से परिपूर्ण स्थान में किसी प्रकार का कोई घन-कण अर्थात् Solid particle धूलि के रूप में मामूली-मात्रा में प्रवेश तो कर जाता है, पर कितना ही वाष्प जगह के न होने से जमकर तरल अवस्था के पूर्णभाव मेघ वा कोहरे का आकार धारण करता है और पात्र में की वायु की स्वच्छता को हानि पहुँचाता है। इस क्षुद्र कोहरे की उत्पत्ति के द्वारा बर्तन में घन-पदार्थ का संचार बहुत ही अल्प रूप में सिद्ध होता है। बिलकुल मामूली मात्रा में किसी घन-पदार्थ के धूलि-कण वाष्प से भरे—अर्थात् Vapour Saturated—बर्तन में डालने से ही इस तरह का कोहरा उत्पन्न हुआ करता है। डॉक्टर ऐटकिन ने कस्तूरी और अन्यान्य २३ गंध-द्रव्यों को इसी तरह किसी वाष्प-पूर्ण अर्थात् Vapour Saturated बर्तन में रखकर विशेष परीक्षा करके देख लिया है कि किसी परीक्षा से बर्तन में की वाष्प मामूली कोहरे से भी आवृत नहीं होती। इससे यह सिद्धांत हुआ कि ये सब गंध-द्रव्य जिस गंध को विकीर्ण करते या फैलाते हैं, उसमें कोई घन-पदार्थ अर्थात् Solid particle नहीं है, कारण अगर उसमें घन-पदार्थ होता, तो भिन्न-भिन्न

वाष्पों का कितना ही अंश कोहरे में परिणत हो जाता, और वाष्प-पूर्ण अर्थात् Vapour saturated घर में गंध-द्रव्य की गंध फैलने की रोक न होती। अतः इसके द्वारा यह भली भाँति प्रमाणित हो गया कि गंध-द्रव्यों की गंध जो वाष्प-जातीय पदार्थ है, वे Solid particle वा घन-पदार्थ नहीं हैं। डॉक्टर ऐटकिन साहब ने शहरों के सड़े हुए नालों का तरल पदार्थ (Sewer) नाली के द्वारा परीक्षा करके देखा है कि उसकी दुर्गंध में कोई घन-पदार्थ विकीर्ण नहीं होता, वाष्प-जातीय पदार्थ ही विकीर्ण होते रहते हैं।

इस संबंध में प्रोफ़ेसर टिंडल का निर्धारित किया हुआ सत्य भी विशेष उल्लेख-योग्य है। मनुष्य की कितनी ही व्याधियाँ बीजाणुओं द्वारा उत्पन्न होती हैं। प्रोफ़ेसर टिंडल ने बहुत परीक्षा करके यह दिखाया है कि रोग के बीजाणु वायु के साथ मिले हुए धूलि के कणों के साथ चला करते हैं, और घाव, मुख या नासिका-रंध्रों द्वारा शरीर के भीतर प्रवेश करके शरीर में रोग उत्पन्न करते हैं। धूलि-कणों से शून्य वायु में दुर्गंध अवश्य विकीर्ण होती है, किंतु रोग के बीजाणु विकीर्ण नहीं होते। अतः दुर्गंध रोगों का मूल कारण नहीं है। जो स्थान दुर्गंधमय है, वहाँ पर, सामान्य रीति से, धूलि के कणों के साथ रोग के बीजाणु भी काफ़ी तौर से रहते हैं, इसी कारण दुर्गंधमय स्थान को रोग-बीजों से पूर्ण समझ लेना एक तरह से ठीक भी है; लेकिन दुर्गंधमय वायु रोग के बीजाणुओं का आश्रय नहीं है; रोग के बीजाणु वायु द्वारा विकीर्ण होनेवाले एकमात्र धूलि-कण ही हैं। प्रोफ़ेसर टिंडल ने टीन के एक बड़े बक्स की वायु धूलि-शून्य करके उसमें एक बर्तन में सड़ा हुआ मांस का शोरबा और दूसरे बर्तन में इसी बक्स में अलग होशियारी के साथ ताज़े मांस का शोरबा रखकर देखा है कि इस सड़े हुए मांस के शोरबे की गंध सारे बक्स में भर जाने पर भी ताज़े मांस का शोरबा धूलि के संपर्क से रहित होने के कारण बहुत काल में भी नहीं सड़ा जब कि मामूली धूलि-कण इस ताज़े मांस के शोरबे में मिल जाने पर सिर्फ़ १२ घंटे में वह सड़ उठता है। सड़ने का काम कीटाणुओं द्वारा होता है। सड़ा हुआ मांस का शोरबा अणुवीक्षण के द्वारा परीक्षा करके देखा गया है कि उसके सड़ानेवाले असंख्य कीटाणु हैं। वायु के धूलि-कणों की परीक्षा करने से कभी उसमें सड़ानेवाले कीटाणु नहीं पाए गए। इसके द्वारा धूलि-कणों में सड़ानेवाले कीटाणुओं के बीजाणु अर्थात् Spores होने का अनुमान होता है। ये बीजाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे २००० डायामेटर अर्थात् ८ अरब गुणा बड़ा दिखानेवाले अणुवीक्षण से भी दिखाई नहीं पड़ते।

बहुत-सी धातुओं में ख़ास-ख़ास मेल की गंध पाई जाती है। जैसे लोहे की गंध, ताँबे का गंध, पीतल की गंध, इत्यादि। प्रोफ़ेसर आयर्टन (Ayrton) साहब ने बहुत परीक्षा के बाद निर्धारित किया है कि विशुद्ध धातु में कोई गंध नहीं होती। रासायनिक उपाय से धातु साफ़ करने और उसे शुद्ध वायु में रखकर हाथों से न छूने से उसमें कोई गंध नहीं पाई जाती। घाम खाए हुए हाथ से भिन्न-भिन्न प्रकार की धातु को छूने से बिजली-जैसी क्रिया और रासायनिक क्रिया होकर शरीर से निकले हुए कार्बोनिक एसिड के साथ जलीय वाष्प के संमिश्रण से जो तरह-तरह का Hydro-carbon अर्थात् हाइड्रोजन और कार्बन-घटित ज्ञान पैदा होता है, उसी की गंध धातु की गंध कहकर ग्रहण की जाती है। उनकी परीक्षा में स्थिर हुआ है कि जहाँ पर धातु की गंध पाई जाय, उसी जगह रासायनिक क्रिया मौजूद है, और सब रासायनिक क्रियाओं से गंध का उदय नहीं होता। जिस रासायनिक क्रिया से Hydro-carbon पैदा होकर विकीर्ण होता है, उसी से गंध की सत्ता की प्राप्ति होती है। प्रोफ़ेसर आयर्टन किसी धातु का व्यवहार न करके कृत्रिम प्रणाली से भी तरह-तरह की धातु-गंध उत्पन्न करने में कृतकार्य हुए हैं। आलमुनियम, टिन और जस्ता के स्पर्श से जो गंध पाई जाती है, वह एक दूसरी से अधिक भिन्न नहीं है; मगर वह पीतल, काँसा और जर्मन-सिलवर की गंध से भिन्न है, और ये सब धातु-गंधें लोहे वा ईस्पात से उत्पन्न होनेवाली गंध से भिन्न हैं। इसमें कहीं पर भी धातु की गंध नहीं पाई जाती। जो Hydro-carbon रासायनिक क्रिया से उत्पन्न होकर नासिका-रंध्रों में प्रवेश करता है, उसकी गंध और धातु की गंध पहचानने में भ्रम हो जाता है। तरह-तरह की धातु से बनी हुई वार्निश वा रंगों में जो दुर्गंध पाई जाती है, उसका उपादान भी धातु नहीं है। रंगों के उपादान तारपीन के तेल से मिलकर एलिडिलाइड-नामक जो हाइड्रो-कार्बन उत्पन्न होता है, उसी की यह तीव्र गंध है।

सर विलियम रामसे ने परीक्षा द्वारा दिखाया है कि अगर किसी वस्तु में गंध विकीर्ण करने की शक्ति पाई जाय, तो उसके अणु हाइड्रोजन के परमाणुओं से कम-से-कम १५ गुने भारी होने चाहिए। एमोनिया के अणु हाइड्रोजन से सिर्फ़ ८½ गुने भारी होते हैं। एमोनिया-गैस संभवतः कार्बोनेट ऑफ़ एमोनिया के रूप में हमारे नासिका-रंध्रों में गंध का ज्ञान उत्पन्न करती है।

इन सब परीक्षाओं के फलों की पर्यालोचना करने से यह सिद्धांत निकलता है कि नासा-रंध्रों में घन-पदार्थ के अणुओं के संघात से गंध की उत्पत्ति नहीं होती। वायवीय पदार्थ, विशेषतः Hydro-carban जातीय पदार्थ, नासा-रंध्रों में प्रविष्ट होने से गंध का ज्ञान उत्पन्न होता है। कांस्टेंटीनोपल-नगर के सेंट-सोफ़िया गिर्जे में कितने ही स्तूपों के बनते समय Mortar अर्थात् सुरख़ी के साथ कस्तूरी भी मिला दी गई थी। कई सौ वर्ष बीत गए हैं, मगर अब भी उन स्तूपों से कस्तूरी की गंध आती है। इससे विस्मित होकर फ़्रांसीसी पंडित वार्थेलट ने यह जानने के लिये कि गंध के विकीर्ण होने में किस परिमाण में अणुओं का क्षय होता है, एक ग्रेन कस्तूरी को २० वर्ष तक बाहर खुली जगह रखकर फिर उसका वज़न किया, तो कस्तूरी ठीक एक ही ग्रेन निकली, कुछ भी कमोबेश नहीं हुई। इस विषय में अब भी अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

३. गंध-ग्रहण

गंध विकीर्ण होते ही नासिका उसे सहज में ग्रहण कर लेती है, यह बात भी नहीं है। नासिका के द्वारा गंध ग्रहण करते समय गंध को फुफ्फुस द्वारा वायु के स्रोत से नासा-रंध्र में प्रविष्ट करना आवश्यक है। केवल मात्र diffusion अर्थात् वायवीय पदार्थ के विकीर्ण द्वारा सहज में ही गंध ग्रहण नहीं होता। प्रोफ़ेसर आयर्टन और उनकी सहधर्मिणी ने यह विषय परीक्षा और लक्ष्य करके प्रचार किया है। तीव्र गंधवाले पदार्थ भी यदि नासिका के निकट ले जाकर सूँघे न जायँ, तो उनकी गंध न मालूम होगी। मिर्च वा एमोनिया भी नाक के पास रखने से श्वास अगर न खींचा जाय, तो गंध न मालूम होगी। एक नली के भीतर एक टुकड़ा कर्पूर रखकर यदि उसे नासा-रंध्र के भीतर पहुँचा दिया जाय, तो भी श्वास न खींचने से गंध न पहुँचेगी।

हम जिह्वा से आम, लीची, अमृती आदि का स्वाद लेने में जो विशेषता प्राप्त करते हैं, वह गंध के कारण से। अधिकांश खानेवाली चीज़ों की सुस्वादुता का मुख्य उपकरण उसकी सुगंध हुआ करती है। कंठ के छिद्र द्वारा खाद्य वस्तु की सुगंध निःश्वास की वायु के साथ नासा-रंध्र से बाहर होते समय जो गंध मिलती है, उसीसे स्वाद की मधुरता का पता लगता है। सुस्वादु वस्तु खाते समय ओष्ठ और जिह्वा के द्वारा एक तरह का शब्द होता रहता है, इसको अँगरेज़ी में Smacking the lips कहते हैं। इस क्रिया से मुँह के भीतर की सुगंधित वायु नासा-रंध्र में प्रविष्ट होकर सुगंध द्वारा हमारे माधुर्य की वृद्धि करती है। सभी कोई जानते हैं कि सर्दी लगते समय स्वाद नहीं मिलता। इसका एक कारण यह है कि गंध के मालूम करने का अभाव होने से चीज़ों का स्वाद बहुत अंश में कम हो जाता है। जिन लोगों की नासिका में कोई रोग है, वे लोग भी खाने की चीज़ों का ठीक स्वाद नहीं ले पाते। गंध का ज्ञान न होने से भिन्न-भिन्न प्रकार के सुस्वादु व्यंजनों के स्वाद को पहचानने की बात तो दूर रही, जिह्वा के द्वारा दालचीनी और लवंग का पार्थक्य भी समझना कठिन है।

घ्राण-शक्ति आस्वादन-शक्ति से कई गुना ज़बर्दस्त है। इथाइल अलकोहल बहुत ही अल्प मात्रा में होने पर उसका मीठा स्वाद मालूम हो जाता है। लेकिन स्वाद पाते हुए एक ग्राम (Gramme) में कम से कम दो Molecular unit अलकोहल का रहना आवश्यक है। और, एक ग्राम में एक Molecular unit के दो लाख भागों का एक भाग Elthyl alcohal रहने पर भी उसकी गंध मालूम हो सकती है। यहाँ पर घ्राण-शक्ति आस्वादन-शक्ति से चार लाख गुना अधिक है। हेड्रिक साहब कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की गंध अलग-अलग है, और कुत्ते गंध के द्वारा आदमी को पहचान लेते हैं। हम लोगों की घ्राण शक्ति यदि शिक्षा के द्वारा बढ़ जाय, तो हम लोग भी शायद किसी समय प्रत्येक मनुष्य की पृथक् गंध मालूम करने में समर्थ हो जायँ। Terrier कुत्ता गंध द्वारा बहुत दूर गए हुए भगेड़ू व्यक्ति पर झपटकर आक्रमण कर सकता है। आजकल सभ्य देशों में सब कहीं हत्या करके भागे हुए मनुष्य को पकड़ने के लिये Terrier कुत्ते की इस अद्भुत घ्राण-शक्ति की सहायता ली जाती है। A Conan Doyle-रचित

"Sign of Four"-नामक जासूसी उपन्यास में इसकी एक बड़ी सुंदर कल्पना की अवतारणा हुई है। पेरिस नगर में चोरों को पकड़ने के लिये कुत्ते का प्रयोग बायस्कोप में बहुतों ने देखा होगा, उससे भी इसका बहुत कुछ आभास पाया जाता है। वर्तमान समय में बंगाल के सुपरिचित बंगीय पुलीस-विभाग के भूतपूर्व इंस्पेक्टर जनरल मिस्टर ह्यूज़-बूलर साहब ने बंगाल की खुफ़िया पुलीस-विभाग में Terrier कुत्ते रक्खे जाने की व्यवस्था की थी।

भिन्न-भिन्न मानसिक क्रिया से शरीर के भीतर भिन्न-भिन्न रासायनिक विश्लेषण होकर शरीर की गंध का विभिन्न होना स्वाभाविक है। इस तरह से कामातुर पुरुष की गंध, क्रोधी मनुष्य की गंध, लोभी मनुष्य की गंध, मूढ़ मनुष्य की गंध, या चुग़लखोर आदमी की गंध अलग-अलग हो सकती हैं; और किसी समय में अगर नासिका द्वारा न सही, तो किसी यंत्र विशेष द्वारा यह गंध पहचानने के लिये अवश्य Micro-olfactoscope अथवा Micro-olfactometer-नामक यंत्र बनाए जायँगे, इसमें संदेह नहीं। दृष्टि-शक्ति में कमी होने से जिस प्रकार चश्मे आदि का व्यवहार किया जाता है, श्रवण-शक्ति में कमी होने पर जिस प्रकार Ear-drum का व्यवहार किया जाता है, उसी तरह घ्राण-शक्ति की कमी होने से नव मनुष्यों को अवश्य ही नव-आविष्कृत Patent Nose Tube पहनने के लिये बाध्य होना पड़ेगा।

गंध-विषयक वैज्ञानिक अनुसंधान बिलकुल नई बात है। गंध के बारे के बहुत-से सत्य निर्णय अब तक किसी पुस्तक विशेष के आकार में निबद्ध नहीं हुए हैं। अब भी बहुतेरे तथ्य समय-समय पर छपे हुए मासिक-पत्रों और संवाद-पत्रों में इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

महेशचरणसिंह

मस्तिए-शराब !

तन की नहीं ख़बर है, न इज़्ज़त का कुछ ख़याल ;
क्या करके दिखाती नहीं, दुनिया में तू कमाल !

१. हिंदू-जाति और वर्ण-व्यवस्था

अनेकों घोरतम आघात और आक्रमण होने पर भी हिंदू-जाति का अस्तित्व अब तक नहीं मिट सका। विदेशियों की चढ़ाई और उनके अमानुषिक अत्याचार इस महती जाति के नष्ट करने में सफल-प्रयत्न न हो सके। बार-बार लूटे-खसोटे जाने पर भी रत्न-पूर्ण भारत-वसुंधरा निर्बीज नहीं हुई। यद्यपि वृद्धावस्था के शैथिल्य और चिंता की करुण-वेदनाओं ने शरीर को कृश तथा आत्मा को क्लेशित कर दिया है, परंतु सौम्य-मूर्ति का मुखमंडल धार्मिक गर्व और अतुलनीय त्याग से अब भी उसी प्रकार उद्दीप्त है। न-जाने कितनी जातियाँ और कितने मत जन्म लेकर अनंत काल के लिये इसी भूतल में अंतर्हित हो गए, उनका नाम-लेवा भी शेष नहीं। किंतु सहिष्णुता की मूर्ति हिंदू-जाति इस गए-बीते समय में भी अपनी सत्ता स्थापित किए हुए है। तब हृदय में सहसा यह प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी उत्तमताएँ, कौन-सी विशेषताएँ हैं, जिनके साहाय्य द्वारा आगंतुक बाधाओं के अजेय दुर्ग को जीतने में सफलता सदा इसका साथ देती रही? इसकी विवेचना बहुत ही विस्तृत है। इस समय तो हम उसके एक मुख्य अंग ही पर प्रकाश डालेंगे। आशा है, हमारे पाठक महोदय उसपर शांतिपूर्वक विचार करेंगे।

हिंदू-जाति (आर्य-जाति) को सबल, सुदृढ़ और सुसंगठित बनाने के लिये हमारे दूरदर्शी ऋषि-मुनियों ने 'वर्ण-व्यवस्था' की आयोजना की थी। संसार की समस्त जातियों की ओर देख लीजिए, परंतु संगठन का ऐसा अमोघ सूत्र आपको कहीं मिलना असंभव है। आज जो लोग अपने को संसार को सभ्यता का ठेकेदार बतलाते हैं, उनमें भी ऐसी नियम-बद्धता का आदर्श प्राप्त होना दुस्तर है। महर्षियों की जगत्-कार्य-संचालन की सुव्यवस्था वास्तव में पराकाष्ठा को पहुँच गई और उनके कर्तव्य (Duties) निश्चित कर दिए गए। वर्णाश्रम-धर्म चार भागों में विभक्त किया गया—१. ब्राह्मण, २. क्षत्री, ३. वैश्य, ४. शूद्र। ब्राह्मण विद्या-ज्ञान-उपार्जन करते हुए देश में शिक्षा का प्रचार करें, क्षत्रिय देश और धर्म की रक्षा करें, वैश्य व्यावसायिक बुद्धि द्वारा धनाभाव की पूर्ति करें, तथा शूद्र तीनों वर्णों की सेवा-सुश्रूषा करें। श्रीकृष्ण भगवान् ने अर्जुन को उपदेश करते हुए वर्ण-व्यवस्था की महत्ता का वर्णन किया है और विस्तार-रूप से उसके स्वभाव-जन्य कार्यों की महत्त्व-पूर्ण आलोचना की है। अंत में यहाँ तक कह दिया कि मनुष्य अपने स्वभावज-कर्म द्वारा ईश्वर को पूजता हुआ मोक्ष-पद को प्राप्त कर सकता है।

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'

सच पूछिए तो श्रीमद्भगवद्गीता में योगेश्वर कृष्ण स्पष्ट-रूप से यही शिक्षा देते हैं कि "अपने धर्म पर सदा आरूढ़ रहो और वर्णाश्रम-धर्म के निश्चित कर्तव्य

का पालन करो, इसी से मोक्ष को पाओगे और ईश्वर को भी। इसके विपरीत चलकर संसार में अनेक क्लेशों को भोगते हुए ईश्वर के समक्ष पातकी सिद्ध होगे।" आगे चलकर हमें यह भी आज्ञा मिलती है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।

अर्थात् दूसरे के उत्तम धर्म से आपका गुण-हीन धर्म भी कल्याण-प्रद है। और अपने जाति-विहित कर्म करता हुआ मनुष्य पाप का भागी नहीं होता।

हमारे श्रद्धास्पद धार्मिक ग्रंथ भी वर्ण-व्यवस्था की एक अनंत काल से स्वीकृति दे रहे हैं, उसका प्रतिपादन कर रहे हैं। संभव है, किसी समय हिंदू-जाति में यह व्यवस्था न रही हो और आजकल की दूसरी जातियों की भाँति उस समय हमारे महर्षियों को व्यवस्थित रूप से जगत्-कार्य-संचालन में अस्थिरता तथा कठिनाइयाँ उपस्थित हुई हों, जिनसे प्रेरित होकर वे इस मार्ग के अवलंबन करने पर बाध्य हुए हों। परंतु, अब यह निश्चित हो चुका है कि हिंदू-जाति के दीर्घ-जीवन एवं स्थिरता का कारण हमारी पूर्वजों-कृत वर्ण-व्यवस्था ही है। यदि ऐसा न होता, तो दूसरी जातियों की भाँति इस जाति का भी कहीं पता न लगता। प्रहारों की प्रबल थपेड़ें इसे मिटा चुकी होतीं, अत्याचारों की अग्नि भस्मीभूत कर चुकी होती।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र और योगेश्वर कृष्ण-जैसे त्रिकालज्ञ-सर्वज्ञ यदि व्यवस्था को आवश्यक न समझते, तो ईश-अवतार होते हुए इसे कदापि कार्य में परिणत कर दूसरों के लिये आदर्श उपस्थित न करते। इतने अकाट्य प्रमाणों और आदर्शों के रहते हुए भी वर्तमान समय उन महापुरुषों से शून्य नहीं है जो इन व्यवस्थाओं को ताक में रखकर अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पका रहे हैं, जो उन ऋषियों से अधिक अपने को स्वयंभू-सर्वज्ञ मानते हैं। वे वर्ण-व्यवस्था को ढकोसला कहकर हिंदू-जाति के प्रति अक्षम्य विश्वास-घात कर रहे हैं। अपने हाथों अपने पैर में कुठाराघात करते हैं। इस बात पर किंचित् ध्यान देने का कष्ट नहीं उठाते कि व्यवस्था के अंतस्तल में न-जाने कैसी-कैसी गूढ़-गंभीर तत्त्व की बातें छिपी हुई हैं। हमारे जिन महर्षियों की शिक्षा के आगे आज तक सारा संसार नत-मस्तक है, उन्हीं की संतान होते हुए हम उनके आदर्शों के प्रति अवहेलना प्रकट करते हैं। यह हमारा अभाग्य नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? हमने नियमों को भुला दिया—व्यवस्था की उपेक्षा की और इसीलिये हम आज पद-दलित हैं, बिना दाम के गुलाम हैं, असहाय हैं, दीन हैं, दुखी हैं तथा कौड़ी-कौड़ी के लिये मोहताज हैं। अपने धर्म-कर्म को भूल रहे हैं, झूठे मान-मद में फूल रहे हैं। भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महाराज ने उत्तरकांड में कलिकाल की अवस्था का जो चित्र अंकित किया है वह वर्तमान समय में सर्वथा चरितार्थ हो रहा है। गोस्वामीजी कहते हैं—

दोहा

कलिमल ग्रसेउ धर्म सब, गुप्त भये सद्ग्रंथ;
दम्भिन निजमति कल्प कर, प्रकट कीन्ह बहु पंथ।

चौपाई

वर्ण धर्म नहिं आश्रम चारी, श्रुति विरोध रत सब नरनारी
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन, कोउ नहिं मान निगम अनुशासन
मारग सोइ जा कहँ जो भावा, पंडित सोइ जो गाल बजावा
मिथ्यारम्भ दम्भ रत जोई, ता कहँ संत कहैं सब कोई
सोइ सयान जो परधन हारी, जो कर दंभ सो बड़ आचारी
जो कह झूठ मसखरी जाना, कलियुग सोइ गुणवन्त बखाना
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी, कलियुग सोइ ज्ञानी वैरागी
जाके नख और जटा बिशाला, सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला

सोरठा

जे अपकारी चार, तिनकर गौरव मान्य तेइ;
मन क्रम वचन लबार, ते बकता कलिकाल महँ।

गोस्वामीजी के कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने-अपने वर्णाश्रम-धर्म द्वारा निश्चित कर्म-पथ को छोड़कर भ्रष्ट और स्व-इच्छित मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। सत्य-निष्ठा और धर्म की भावनाओं को कुचलकर पाखंड तथा मिथ्याचार का प्रचार कर रहे हैं। एक दूसरे पर दोषारोपण करने का बाना पहने बैठे हैं। आगे चलकर स्वामीजी लिखते हैं—

चौपाई

शूद्र द्विजन उपदेशहिं ज्ञाना, मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना।
सब नर काम लोभरत क्रोधी, देव विप्र श्रुति संत विरोधी।
आपु गये अरु आनहिं घालहिं, जे कोउ सतमारग प्रतिपालहिं
जे वर्णाधम तेलि कुम्हारा, श्वपच किरात कोल कलवारा
नारि मुई गृह संपति नासी, मूड़ मुड़ाय भये संन्यासी।

ते बिप्रन सन पांव पुजावहिं, उभय लोक निज हाथ नशावहिं
सब नर कल्पित करहिं अचारा ; जाय न बरणि अनीति अपारा

दोहा

बाद शूद्र कर द्विजन सन, हम तुमतें कछु घाटि :
जानै ब्रह्म सो विप्रवर, आँख दिखावहिं डाटि।
भये वर्णसंकर कलिहिं, भिन्न सेतु सब लोग :
करहिं पाप दुख पावहीं, भय रुज शोक वियोग।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट प्रकट है कि वर्ण-धर्म की अंत्येष्टि करने का प्रयत्न हो रहा है। आजकल देखने में भी आ रहा है कि शूद्र-जाति के लोग यज्ञोपवीत धारण कर द्विजातीय (विशेषकर ब्राह्मण-क्षत्री) बनने की कोशिश कर रहे हैं। वर्णसंकर सृष्टि-रचना का उद्योग कर रहे हैं, अपने को मिटा रहे हैं, हिंदू-जाति को डुबा रहे हैं और वेद-शास्त्रों की निश्चित पथ प्रणाली को मानने से साफ़ इनकार कर रहे हैं। वे लोग भले ही थोड़ी देर के लिये अपने जी में आनंद मना लें, गौरवता का अमेय अनुभव कर लें, परंतु उन्हें भले प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वरीय वाक्यों के प्रतिकूल चलकर, वर्ण-व्यवस्था को मिटाकर, न तो वे उच्च जाति के बन जावेंगे और न अपनी वास्तविक उन्नति कर सकेंगे। प्रत्युत हिंदू-जाति, हिंदू-धर्म और हिंदू-संस्कारों को सदा के लिये नष्टकर स्वयं भी विनष्ट होने की सामग्री उपस्थित कर रहे हैं। कुछ ऐसे ही स्वयंभू पंडितों ने धर्म-ग्रंथों में भी नमक मिर्च लगाकर उन्हें अपनी सुविधाओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया है, जिनका अब संशोधन हो रहा है। स्वामी दयानंदजी-सरीखे कट्टर सुधारक ने भी वर्ण-व्यवस्था की महत्ता को स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि हमें शूद्रों से प्रेम नहीं, वे हमारे भाई नहीं, उनके दुख-दर्द में सम्मिलित होना हमारा धर्म नहीं। परंतु जब किसी भाई को हम अपने निश्चित कर्तव्य-पथ से गिरते हुए देखते हैं, जब हम सुनते हैं कि मृगतृष्णा के झूठे मोह में फँसकर हमारा कोई बंधु पथ-भ्रष्ट हो गया, तो हमारे हृदय को असह्य आघात पहुँचता है। वेदना की ठोकरें हमारे हृदय को तिलमिला देती हैं। हमारी नसों में उष्ण-रक्त का संचार होने लगता है और सहसा यह हृदय से निकला पड़ता है कि हाय अभागी हिंदू-जाति ! तेरी क्या दशा होनेवाली है !

एक समय था, जब चारों वर्ण अपने-अपने निश्चित कर्तव्य-मार्ग पर डटे हुए एक-दूसरे के प्रति श्रद्धा और प्रेम की विशुद्ध भावनाएँ रखते थे। संसार के समस्त कार्य सुचारु-रूप से संचालित हो रहे थे। ब्राह्मण यदि सर्व-श्रेष्ठ समझे जाते थे, तो यहाँ तक कि शेषशायी भगवान् भी अपने सुकोमल वक्षस्थल पर भृगु महाराज का पद-प्रहार सहन करते हैं, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रजी एक साधारण-से-साधारण ब्राह्मण को भी अपनी आँखों की पलकों पर आसन देते हैं, ब्राह्मण लोग उनकी समृद्धि के लिये जगदीश्वर से प्रार्थना करते हैं। वैश्य-जाति अपनी बुद्धि द्वारा धनोपार्जन करके देश की अर्थ-समस्या की गुत्थियों को सुलझाती हैं, ग़रीबों को अन्न-वस्त्र देती है तथा शूद्र-जाति अगर्तातल का सर्वश्रेष्ठ सेवा-धर्म पालन करने में अपने को सौभाग्यशाली समझती है। चारों ओर प्रेम का अखंड साम्राज्य दिखाई पड़ता है। उस विश्व-विजयी राज्य में कलह, द्वेष और झूठे मोह-मद के लिये स्थान नहीं है। हिंदू-जाति की दिग्-दिगंत-व्यापिनी कीर्ति की धर्मध्वजा लहराती हुई आकाशमंडल को चुंबन करती है। सर्वत्र शांति है। विश्वमंडल के सर्व-कार्य सुव्यवस्थित-रूप से संचालित हो रहे हैं। सच्चे सैनिक की भाँति प्रत्येक जाति अपने कर्तव्य-मार्ग से एक रत्ती-भर भी टस-से-मस नहीं होती—ऋषियों ने जिसे जो काम सौंप दिया—उसे पालन करना उनका कर्तव्य हो गया। जब तक यह दशा रही हम फले-फूले रहे, किंतु ज्योंही हमने अपना निश्चित मार्ग छोड़ दिया, हमारा अधःपतन प्रारंभ हो गया।

आज जैसी हिंदू-जाति की अव्यवस्थित दशा दिखाई देती है वैसी कदाचित् ही संसार में किसी जाति की हो ! पाश्चात्य सभ्यता के प्रसार ने अनीश्वर-वाद का प्रचार भी हमारे अंदर बहुत अंशों में कर दिया। हम में एक दूसरे पर से श्रद्धा-प्रेम की भावनाएँ उठ गईं और उसका परिणाम हमारे सामने है।

संगठन प्रत्येक जाति के लिये जीवन-मंत्र है। परंतु हिंदू-जाति का संगठन यदि वर्ण-व्यवस्था को भुलाकर किया जायगा, तो यह निश्चित है कि कुछ काल तक भले ही वह फूलता-फलता दिखाई दे परंतु स्थायी कदापि नहीं हो सकता। महामना पं० मदनमोहन मालवीय ने अनेकों बार कहा है—हिंदू-जाति का अस्तित्व उसकी वर्ण-व्यवस्था पर ही निर्भर है। जिस दिन इसका सर्वथा लोप हो

आयगा, उस दिन इस भूमंडल पर आर्य-जाति का नाम भी सुनने को न मिलेगा। उनका यह भी कहना है कि हिंदू-जाति के अंदर यही एक ऐसी विशेषता पाई जाती है जो संसार-भर की किसी जाति में नहीं है और जिसके कारण ही आज भी भारतवर्ष गर्व से अपना मस्तक उन्नत किए हुए है। हाँ, इतना अवश्य होना चाहिए कि समय की प्रगति के अनुसार कोरी कट्टरता तथा धार्मिक ढकोसलों को परित्याग कर, वर्णाश्रम-धर्म को क़ायम रखते हुए, हम हिंदू कहलाने का अधिकार रखनेवालों को अपना भाई समझें और उनके सुख में सुखी एवं दुख में दुखी हों।

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

२. निर्णय

शीर्ण के सुमन-सा है मृदुल-हृदय किंतु
करता कठोर इसे सुषमा का क्षाम है।
मेरे हँसने से यदि तेरा परिहास है तो
व्यर्थ 'चंद्रकांत' और व्यर्थ 'चंद्र-भाग' है।
यदि शुद्ध-प्यार से है वेदना अपार फिर
'शूल' में रमा है इस 'फूल' में विनास है;
श्लेष हो प्रणय का है विनिमय-वाद, क्योंकि
इस मुसुकान में न अब वो मिठास है।

बनवारीलाल विशारद

× × ×

३. अमेरिका की आर्थिक उन्नति

(१)

अभी बहुत ज़माना नहीं गुज़रा जब कि पर-राष्ट्रों को ऋण देने की बात कल्पना-मात्र समझी जाती थी। अब तो हम देखते हैं कि हर साल यह बात साकार होकर अधिकाधिक प्रत्यक्ष रीति से हमारे सामने आती है। लेकिन अमेरिका की इतनी बढ़ी चढ़ी साहूकारी कि वह संसार में आज सबसे बड़ा महाजन है, सिर्फ़ इसी बात से प्रकट नहीं होती कि वह दूसरी क़ौमों को रुपया उधार देता है। और भी बातें हैं और उनके जानने के लिये यह ज़रूरी है कि हम उस देश के भूत-काल की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करते हुए उसके ऐतिहासिक विकास का मनन करें। शुरू-शुरू में संयुक्त-राज्य (अमेरिका) एक निर्धन औपनिवेशिक देश था, और उसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि उन दिनों जब कि रेल इत्यादि का इतना अधिक प्रचार न था, उसको व्यापार-संबंधी सभी हितों के लिये योरप पर ही निर्भर रहना पड़ता था। भीतरी भाग की धरती पथरीली और दुर्बल होने के कारण वहाँ के निवासी समुद्र के किनारे आ बसते थे। पुतलीघरों के बनने के पहले जहाज़ों का बनाना ही उस देश का मुख्य उद्योग था। और अमेरिकन व्यापारी अपने-अपने जहाज़ लिए सातों समुद्रों में दिखाई पड़ते थे। संख्या में कम और व्यापार-कला में कम कुशल होते हुए भी समुद्रों पर उनकी धाक जमी हुई थी। जब उत्तरी आफ़्रिकावाले लुटेरे भूमध्य-सागर के आस-पास हमले करने लगे, तब उसको जल-सेना बढ़ाने की फ़िक्र हुई।

लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में समुद्र की ओर से अमेरिकन लोगों का ध्यान पश्चिमी वन-खंड की ओर फिरा। फलतः जहाज़ों का व्यापार क़रीब-क़रीब बंद-सा हो गया और पूर्वीय किनारेवाले शहर उजड़ गए। क्योंकि रेल की मदद से अपालेशियन-पर्वत को पार करके सीधे पश्चिमी किनारों तक पहुँच जाना सुगम हो गया। और यह पश्चिमी भाग अत्यंत उपजाऊ और क़ीमती खानों से भरा हुआ था। इसलिये पूर्व के बजाय लोगों का रुख़ पश्चिम को हो गया और देश के इस अंतर्भाग को, जो कि २,००० मील लंबा था, साफ़ करने और बसाने का उद्योग होने लगा। इतना ही नहीं, लगभग २,००० मील ही लंबा हिस्सा उत्तरी झीलों से लेकर मेक्सिको की खाड़ी तक नीचे की ओर फैला हुआ है और यह भी अत्यंत उपजाऊ है। अमेरिकन लोगों की अब यह चेष्टा हुई कि इस समस्त भाग को बसाना और उसे एक-शासन-तंत्र में बाँधना चाहिए। शायद रूस को छोड़कर संसार के किसी भी देश के सामने इतनी विस्तृत पृथ्वी की समस्या आजतक उपस्थित नहीं हुई। और रूस को अपने समस्त फैलाव का शासन करने में सफलता नहीं मिल पाई। ख़ैर, पश्चिम की ओर बढ़ने पर अमेरिकनों के हाथ मिसिसिपी-नदी का महा-उपजाऊ मैदान आया, और इसी की बदौलत वे अमीर हुए।

इस काम में अमेरिकन लोग इतने तल्लीन थे कि उन्हें योरप के महा-गंभीर प्रश्नों और महत्त्व-पूर्ण युद्धों पर ग़ौर करने की फ़ुर्सत न थी, यहाँ तक कि जो गृह-युद्ध उन्हें अपने भाइयों (अँगरेज़ों) से करना पड़ा, उसके लिये

ओ वे तैयार न थे, क्योंकि इससे उनकी इस नई बेड़ा में बहुत बाधा पड़ी और यह काम रुक गया। अस्तु, अँगरेज़ों का बहुत-सा धन अमेरिका में रेल इत्यादि के काम में सन् १८७०-८० तक लग चुका था, अमेरिकन जहाज़ी-विभाग में निपुण थे और रेल इत्यादि बढ़ाना चाहते थे; अँगरेज़ों के यहाँ रेलें खूब फैल चुकी थीं, वे जहाज़ी बेड़ा बढ़ाना चाहते थे। रेलों के बनाए बग़ैर अमेरिकन लोग इतने बड़े देश को एकसूत्र में नहीं बाँध सकते थे। वाशिंग्टन तक के सामने यह समस्या विकट रूप धारण किए हुए थी। रेलों का आविष्कार होना और समस्त देश में रेलों का प्रचार करने के लिये अमित धन का लगाया जाना, साथ-ही-साथ लंदन और न्यूयार्क में इस लगाई हुई पूँजी के हिस्सों का धड़ाधड़ बिकना — इन तीन बातों की बदौलत अमेरिकन बाहर से मँगवाया गया था, कुछ अमेरिकन लोगों ने योरप की कंपनियों के शेयर इत्यादि में भी रुपया लगा रक्खा था तथा अन्य कई कारणों के फल-स्वरूप अमेरिका की आर्थिक दशा में स्थायी रूप से बाढ़ आई। लेकिन इस वक़्त तक अमेरिका अपने रेलों इत्यादि की मद में लिए हुए ऋण से मुक्त नहीं हो पाया था।

इतना ही नहीं, रेलों की वृद्धि के लिये अभी वह योरप का ही मुँह ताक रहा था। सन् १९०७ ई० के अर्थ-संकट के समय यह बात पूर्णतया सिद्ध हो गई। तदुपरांत यह अनुभव हुआ कि अब तो रुपए के लेन-देन की एक सुदृढ़ एवं संपन्न व्यवस्था स्थापित किए बिना काम न चलेगा।

सन् १९१० ई० तक अमेरिका में रेलों का जाल पूरी तौर पर बिछ गया और इधर गेहूँ की उपज भी ख़ूब होने

अमेरिका के महाजन

लगी। योरपीय महायुद्ध के छिड़ते समय तक अमेरिका अपने पैरों खड़ा होने में समर्थ हो गया और उसे यह आशा बँध गई कि कुछ ही वर्षों में हम दूसरे राष्ट्रों को ऋण दे सकेंगे। अगर कहीं यह महायुद्ध दस या बीस वर्ष पूर्व छिड़ जाता, तो अमेरिका की ये आशाएँ निष्फल होतीं—वह हरगिज़ उसमें आर्थिक-रूप से इतना महत्त्व-पूर्ण भाग न ले सकता। लड़ाई के उन पाँच-छः वर्षों में उसे इतनी औद्योगिक उन्नति करनी पड़ी जितनी साधारणतया ५० वर्ष से कम में न हो पाती। अमेरिका में इस कायापलट के लिये न तो काफ़ी तैयारी थी, न व्यापारिक कौशल और न

उन्नति की बढ़ती हुई। रेलों को जगह-जगह फैलाना ही उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक अमेरिकन लोगों का मुख्य काम रहा। सन् १९०० ई० के लगभग अमेरिकन लोगों को यह आभास हुआ कि हम अब आर्थिक उन्नति के नए युग में पदार्पण करने जा रहे हैं, तब वे ऋणदाता बनने की संभावना प्रतीत करने लगे और स्पेन-युद्ध के बाद उनके हाथ नया माल लगा, यानी पूर्व और पश्चिम दोनों ओर के महासागरों में कुछ टापू उनके क़ब्ज़े में आए। अब उनकी दृष्टि भीतरी शासन की ओर से उपनिवेशों की ओर फिरी। इसी ज़माने में बहुत-सा सोना

अनुभव । इस लड़ाई के पहले तक तो अधिकांश अमेरिका-वाले योरप के बारे में बहुत ही कम जानकारी रखते थे। उन्होंने स्कूलों में इतना ही पढ़ा था कि इँगलैंड एक छोटा-सा टापू है और इटली बूट के आकार का प्रायद्वीप। उसको विशेष ज्ञान न था।

लड़ाई के दिनों में लाखों अमेरिकनों ने योरप पहले-पहल देखा और उन्होंने लौटकर योरप तथा अन्य देशों के बारे में आँख-देखी बातें गाँव-गाँव में फैला दीं। इससे भविष्य के लिये आर्थिक उन्नति का रास्ता खुला। आज अमेरिका में देशाटन कोई असाधारण बात नहीं समझी जाती, वह तो एक मामूली-सी बात हो गई है। और फिर साइंस के दिन-दिन तरक़्क़ी करने के कारण संसार की यात्रा उतनी लंबी भी तो नहीं रह गई है। हवाई जहाज़ों, रेडियो इत्यादि के आविष्कारों से आमद-रफ़्त और माल मँगाने-भेजने में बहुत ही ज़्यादा सुविधा हो गई है। इसलिये वर्तमान काल अमेरिका में ही नहीं वरन् योरप के लिये भी युगांतर होने का समय है। अमेरिका का वह भीतरी काम अभी समाप्त नहीं हुआ है और न पुश्तों तक ख़त्म होनेवाला है। लेकिन तिस पर भी अमेरिका आज एक बार फिर अपनी आँखें बाहर की ओर लगाए हुए है। वह इस पर विचार कर रहा है कि संसार की प्रगति में उसका यह भीतरी संगठन, प्रस्तार तथा एकीकरण, जो गत १०० वर्षों से चल रहा है, क्या भाग ले सकता है। यह दृष्टि-बिंदु योरप के लिये तो स्वाभाविक एवं परंपरागत है, लेकिन अमेरिका के लिये एक नई चीज़। उसके वास्ते तो यह दृष्टि-बिंदु उसकी १०० वर्ष की सारी व्यवस्था में उलट-फेर पैदा करनेवाला है। ठीक-ठीक तौर पर यह कहना कठिन है कि अमेरिका का संसार के भविष्य में क्या भाग होगा, पर उसका महासमर-संबंधी बोझ बड़े वेग से हलका होता जा रहा है और टैक्स भी दिन-पर-दिन कम होते जा रहे हैं। इसका श्रेय राष्ट्रपति कूलिज तथा मि० मेलन को है। अगर युद्ध के बाद इतनी सुदृढ़ और साहस-युक्त आर्थिक नीति न अख़्तियार की जाती, तो आज अमेरिका ऐसी सुरक्षित आर्थिक स्थिति में न होता।

लेकिन अमेरिका को ऋण-दान का अनुभव अभी नया ही है, उसने पिछले १० वर्षों में काम की भरमार होने की वजह से इस विषय में अधिक अनुभव नहीं कर पाया है। अमेरिकन साहूकार अब सिर्फ़ अपनी ही सरकार और अमेरिकन व्यापार के ही स्तंभ नहीं रहे, वे दूसरों के भी साहूकार हो गए हैं। अगर इन लोगों की संरक्षा समुचित रीति से की जायगी और इनको ठीक-ठीक रास्ता बतलाया जाता रहेगा, तो प्रदेशों की आर्थिक उन्नति में भी वे बड़ा भारी विधानात्मक प्रभाव डाल सकेंगे।

(२)

गत योरपीय महायुद्ध से एक सामान्य अनुभव हुआ है। वह यह कि उधार रुपया देने का एक स्थायी रूप हो गया है और हक़ीक़त में बात तो यह है कि आजकल की व्यक्तिगत रूप से रुपया सूद पर लगाने की समस्त प्रणाली इसी महासमर के बाद ही से चली है। सन् १९१४ई० के पहले सुनने में आया करता था कि संसार की वर्तमान परिस्थिति में युद्ध का छिड़ना असंभव है, क्योंकि उससे आधुनिक जगत में ऋण को भयंकर धक्का पहुँचेगा। इन थोथी बातों में सत्य का अंश कितना था, सो हम गत १० वर्षों में देख ही चुके हैं। और आज भी साहूकार-राष्ट्रों से ऋण फिर ज़ोरों से माँगा जा रहा है ताकि वह युद्ध-जनित आघातों से मुक्त हो जाय, और साहूकार राष्ट्र इस ओर अग्रसर भी हो रहे हैं।

जब कि योरप और अमेरिका का आधुनिक पूँजीवाद गत महासमर-जैसे युद्ध के पश्चात् भी टिक सकता है, तो छोटी-छोटी लड़ाइयों की बात ही क्या। इस लड़ाई के पहले और बाद तक भी State Socialism का गुन-गान बहुत किया जाता था और उसकी निःसारता को प्रामाणिक रूप से सिद्ध करना कठिन था, क्योंकि किसी भी राष्ट्र ने उसकी आज़माइश कर देखने की मूर्खता नहीं की थी। लड़ाई की वजह से यह आवश्यक हो पड़ा कि प्रत्येक विभाग में सरकार का क़ब्ज़ा रहे और इस बात को अनुभव करने का ख़ूब मौक़ा मिला कि सामान्य व्यक्ति को उससे उतना लाभ होता है या नहीं, जितना कि उसके गुन-गान करनेवाले बतलाते हैं। तो भी योरप और अमेरिका ही की नहीं, बल्कि शुरू ही से स्वतंत्रता की ओर कम अग्रसर राष्ट्रों की भी अब यह कोशिश है कि जो स्थिति थी वही फिर लाई जाय।

जो लोग व्यक्तिगत पूँजीवाद की नुक़्ताचीनी बिना जानकारी रक्खे हुए ही किया करते हैं, उनके सामने खास

का दृष्टांत मौजूद है। वास्तव में वर्तमान संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र रूस के इस बात में बड़े ऋणी हैं कि उसने संसार के सामने सामूहिक साम्यवाद तथा उद्योग-व्यापार में सरकारी आधिपत्य का स्थायी उदाहरण रक्खा है ।

इस प्रकार गत महासमर के मौक़े पर व्यक्तिगत पूँजीवाद की बहुत कड़ी जाँच की जा चुकी है और तिस पर भी वह आज मौजूद है और काम दे रही है। यह उसकी महान् विजय कही जा सकती है।

अब अमेरिका के सामने असली काम यह है कि वह आधुनिक पूँजीवाद और आधुनिक आविष्कारों के फलों के बीच अधिक घनिष्ठ संबंध स्थापित करे, ताकि कालांतर में ज़्यादह अच्छी दुनिया तैयार हो जाय।

इसमें शक नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति को आधुनिक ऋण-सिद्धांत से लाभ पहुँचाने के वास्ते अभी बहुत कुछ करना बाक़ी है। तो भी पिछले चंद सालों में अमेरिका में वारलोन की बदौलत सिक्योरिटी में रुपया लगानेवाले लोगों की संख्या बहुत बढ़ी है और बड़े-बड़े व्यापार-संघों को मिल-कियतें बहुत अंश तक केंद्रीभूत न होकर सर्वत्र फैल गई हैं।

इसके फल-स्वरूप शासक-वर्ग और व्यापारी-मंडल के पारस्परिक संबंध के बारे में जनता के भावों में संतोष-जनक उन्नति हुई है । इसलिये यह एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा सिक्योरिटियों के बाज़ार पर अच्छा ख़ासा जन-सत्तात्मक प्रभुत्व हो सकता है, यहाँ तक कि आर्थिक संसार पर भी । और इन दोनों की रक्षा एवं वृद्धि पूँजीपतियों द्वारा की जानी चाहिए।

योरप और अमेरिका की अर्थ-संबंधी प्रणालियों ने, जो ऊपर से देखने में तो एक-दूसरे से इतनी भिन्न मालूम होती हैं और जो असली बातों में बिलकुल एकसाँ हैं, गत १० वर्षों में महायुद्ध की क्षतियों और फ़िज़ूल जाने-वाले अंशों को उपयोगी बनाने का प्रशंसनीय काम कर ही डाला है। और अधिक घनिष्ठ सहयोग से भविष्य की संततियों के वास्ते वह सुरक्षित वायु-मंडल तैयार कर सकती हैं जिसकी बदौलत लोग अपना रुपया घर में तथा बाहर बेखटके लगाकर पुनर्निर्माण का नवीन कार्य संपादित कर सकेंगे। *

परशुराम मेहरोत्रा

× × ×

३. "विदा"

पूछो ! चंद्रवदन से जिसने अमृत-रस बरसाया था ,
घूँट घूँट ले आसों ने जिन सौ-सौ बार पिलाया था ।
प्रेम-हार जिन कर-कमलों ने गूँथ-गूँथ पहनाया था ,
क्या कहता है हृदय आज वह जिसने यहाँ बुलाया था ?
कहना हो तो शीघ्र कहें, अब जाने की घड़ियाँ आईं ;
अंत समय मिलने को तुमसे आँसू की लड़ियाँ आईं ।
आशा थी करुणा-देवी को करुणा-शब्द सुनावेंगे ,
व्यथित दशा में व्यथित हृदय की अंतिम व्यथा दिखावेंगे ;
रो-रो रो-रो समझावेंगे, रूठेंगे, उन्हें मनावेंगे ,
जो पूछेंगे बतला देंगे, जो मागेंगे दे डालेंगे।
किंतु और कुछ कहती है यह शांति-घटा जो छाई है :
घूम-घूम जो घेर-घेर मुख-मंडल पर चढ़ आई है।
हृदय-तार की वीणा हो, तो मधुर तान सुनने देना ,
निज प्रेम-पूर्ण झंकारों पर सर्वस्व लुटा लेने देना ;
निष्ठुर होकर रूठ न जाना भीख एक तो दे देना ,
यदा-कदा निज मन-मंदिर की पूजा तो करने देना ।
इन अमूल्य अधिकारों के बदले तुमको क्या दे जाऊँ ;
अश्रु-बिंदु-मुक्ताओं से क्या गोद तुम्हारी भर जाऊँ।

शिवबदनलाल

× × ×

४. श्रीरामानुजाचार्य

संसार के प्रायः जितने भी प्रचलित धर्म हैं अपनी-अपनी दृष्टि से सभी अनादि काल से चले आ रहे हैं। नवीन वे केवल विद्यार्थियों को दीखते हैं। विराट् हिंदू धर्म के अनेक संप्रदायों में इसका प्रचुर प्रमाण मिलता है। अद्वैतवादियों का सर्वथा प्रामाणिक धर्म-ग्रंथ वेद है। वेदों पर शाक्तों का अधिकार और श्रद्धा है। वैसे ही वैष्णव अपने को वैदिक बतलाते हैं। वेद के वाक्य वैष्णवों के निमित्त अपौरुषेय वाक्य हैं।

यह होते हुए भी प्रत्येक के पीछे हमारे लिये एक-न-एक प्रचारक का नाम लगा हुआ है । रामानुजाचार्य वैष्णव-धर्म अथवा विशिष्टाद्वैत मत के ऐसे ही प्रवर्तक हैं।

श्रीरंगम् इस मत का प्रधान मठ है । यह रामानुज के काल के बहुत पूर्व से विद्यमान है। तामिल-पुराणों में इनके पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों के नाम मिलते हैं। उनमें से सबसे प्राचीन बारह आचार्यों को 'अलवर' विशेष नाम से, तथा बाद के गुरुओं को केवल 'आचार्य' की उपाधि

* एक अँगरेज़ी लेख के आधार पर।

से संबोधित किया जाता है। रामानुजाचार्य के शीघ्र पूर्व श्रीरंगम्-मठ के अधिकारी यमुनाचार्य थे। यमुनाचार्य के अनेक शिष्य थे। किंतु उनमें से कोई उनकी दृष्टि में उनका योग्य अधिकारी नहीं था। उन्हीं चेलों में से श्रीशैलजी ने तिरुपति को अपना निवास-स्थान बना लिया था। कांतिमती नाम की उनकी एक पुण्यचरित्र बहन थी। वह केशव सोमपजी को व्याही गई। १०१७ ई० के लगभग इस दंपति को एक अत्यंत तेजस्वी पुत्र हुआ। आगे चलकर यही पुत्र हमारा चरितनायक हुआ।

यह बालक माता-पिता का प्यारा तो था ही, किंतु अपने मामा श्रीशैल का भी बड़ा प्यारा था। शैलजी विद्यानुरागी और भक्त थे। आपने इस बालक को अपने दूसरे भांजे शैल के साथ यादवप्रकाश की पाठशाला में शिक्षा ग्रहण करने के लिये भेज दिया। गुरु यादवप्रकाश उस समय के विख्यात विद्वान् थे। इस बालक ने उनसे व्याकरण और साहित्य पढ़ने के बाद उत्तरमीमांसा का पाठ आरंभ किया। उन दिनों प्रचार अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत दोनों मतों का था। श्रीरंगम् के आचार्य विशिष्टाद्वैत-वादी थे। वे व्यास-सूत्रों को उसी मत का पोषक मानते-जानते थे। किंतु उनमें से किसी ने भी अब तक उस पर कोई भाष्य नहीं किया था। संतगोप नाम के एक पूर्व आचार्य की विशिष्टाद्वैत-मत पर एक रचना अवश्य थी जिसे लोग बड़ी श्रद्धा से पढ़ते थे। किंतु अद्वैत-मत की बात भिन्न थी। उस मत के सबसे बड़े पोषक और व्यावहारिक प्रवर्तक श्रीशंकराचार्य प्रायः तीन शताब्दी पूर्व हो चुके थे। आपका भाष्य गीता, उपनिषद् और व्यास-सूत्रों पर ग्यारहवीं शताब्दी में विद्वानों को पूर्णतया उपलब्ध था। अनेक ज्योति-प्राप्त हृदयों पर उनका पूर्ण अधिकार था। यादवप्रकाश की गणना उन्हीं में थी। आप अद्वैतवादी थे। भावी रामानुज को आपने व्यास सूत्रों का अपना अर्थ पढ़ाना आरंभ किया। परंतु रामानुज को वह अर्थ संगत नहीं मालूम होता था। गुरु और शिष्य में कभी-कभी संवाद हो जाता। शिष्य के तर्क से गुरुजी के विचार भी कभी-कभी डगमगा जाते थे।

ऐसी स्थिति में शिष्य पर पूर्ववत् अनुराग और स्नेह स्थिर रखना इने-गिने गुरुओं का कार्य है। दुर्भाग्य-वश यादवप्रकाशजी उस कोटि में नहीं थे। आप रामानुज पर बेतरह क्रोधित हुए। द्वेषप्रिय अन्य शिष्यों के कहने अथवा अपने ही मन से आपने रामानुज के प्राण लेने की ठानी। काशी-यात्रा के मिस गुरुजी अपनी शिष्य-मंडली के साथ, जिसमें रामानुज और शैल भी सम्मिलित थे, पूर्वोत्तर की ओर पहाड़ी और जंगलों से होकर चले। निश्चय यह हुआ था कि स्थान पाकर रामानुज का प्राणांत कर दिया जायगा। शैल को यह बात किसी प्रकार मालूम हो गई थी। बहन-बहन के बालकों में स्वभावतः बड़ी प्रीति होती है। अवसर पाकर शैल ने भाई को यात्रा का उद्देश बतला दिया और परामर्श भी दिया कि भग जाओ। रामानुज ने वैसा ही किया। कुछ दूर जाने पर जब मंडली कहीं विधिवत् विश्राम के लिये बैठी, तब रामानुज का पता ही नहीं। गुरुजी बहुत चकराए। किंतु अब करते क्या। कांजीवरम् लौटना निश्चित किया। उधर रामानुज पहले ही चपत हो चुके थे। मालूम होता है, घटना-स्थल से गुरुकुल सामान्यतः दो दिनों का मार्ग था। रामानुज भगेड़ों की गति से जा रहे होंगे। परंतु चलते-चलते रात हो गई। मार्ग परिचित न था। तिसपर पहाड़ों और जंगलों से होकर जाना था। जिन्हें ऐसे मार्ग का अनुभव होगा वे ही उसकी कठिनाई की सच्ची कल्पना कर सकते हैं। पहाड़ पर दो-एक बार की देखी राह भी पहचान में नहीं आती, नवयुवक बड़ी कठिनाई में पड़ा। रात को अकेले भयंकर पहाड़ी में कहाँ जायँ, क्या खायँ, कहाँ रहें। श्रेष्ठ-बुद्धि का विषम फल! चिंता में बैठे ही थे कि सामने अचानक एक वृद्ध भील एक वृद्धा भीलनी के साथ दिखाई दिया। उसने पूछा, आप कौन हैं और इस भयंकर निर्जन स्थान में अकेले क्यों बैठे हैं? डूबते को तिनके का सहारा बहुत होता है। रामानुज की जान में जान आई। कहा, भाई मैं तो कांची जा रहा हूँ, रात होने से राह भूल गया हूँ, कुछ समझ में नहीं आता, क्या करूँ। रामानुज के हर्ष की सीमा न रही जब उन्होंने सुना कि भील-दंपति भी उधर ही जायगी। तीनों साथ-साथ चले। दंपति ने एक जगह ठहरकर कहा, बच्चा अब तो थोड़ा पानी मिलता तो हाथ-मुँह धोया जाता। रामानुज पर एक तो उनके उपकार का महान् ऋण था और दूसरे वे वृद्ध थे। वह एक तरफ़ पानी की खोज में चटपट चल दिए। थोड़ी देर में जब पानी लेकर पहुँचे तब वे ग़ायब। बड़ा विस्मय हुआ। उचित काल तक उन्हें इधर-उधर देखा पर उनका पता

न चला। क्या करते? बहुत कुछ तर्क-वितर्क करते अनुमान से घर की ओर चले। कुछ दूर भी न जा पाए थे कि कांची-नगरी का किनारा दिखाई दिया। हर्ष और भक्ति-मिश्रित भावों से गद्गद हो गए। यथासमय कांजीवरम् पहुँच गए। दूसरे दिन वह मंडली भी आ पहुँची। इस विषय में गुरु और शिष्य दोनों ने मौन रहना ही उचित समझा। पूर्ववत् पठन-पाठन होने लगा। किंतु अब भी कभी-कभी संवाद हो ही जाता था। इसी बीच में स्थानीय राजा की राजकुमारी बीमार पड़ी। यादवजी की राज-महल में बड़ी मान-जान थी। मंत्र-हवन के लिये बुलाए गए। किंतु सफलता न हुई। योग्यता छिपाने से छिपती नहीं है। समीपवर्ती लोग न-मालूम कैसे जान जाते हैं। रामानुज को छिपे-छिपे कुछ लोग बड़ा पुण्यशील भक्त जान चुके थे। यह संवाद किसी प्रकार महल में पहुँचा। वह बुलाए गए। कहते हैं, उनके सामने आते ही राजकुमारी पूर्णतः स्वस्थ और प्रसन्न हो गई। तभी से रामानुज राजकीय सम्मान के भाजन हो गए। यादवजी से शिष्य का यह उत्कर्ष न देखा गया। प्रतीत होता है "सर्वत्र जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्" लोकोक्ति आपके श्रुतिगोचर नहीं हुई थी। आपने रामानुज का वहाँ अधिक दिनों ठहरना प्रायः असंभव कर दिया। रामानुज वहाँ से कांची चले गए और एक विद्वान् भक्त के साथ, जिनका नाम कांचीपूर्ण था, रहने लगे।

उधर श्रीरंगम् के यमुनाचार्य भी रामानुज को जान चुके थे और उन्हीं को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहते थे। अंतकाल समीप आया जानकर आपने महापूर्ण-नामक शिष्य को रामानुज को बुलाने के लिये भेजा। बड़े आग्रह के अनंतर उन्होंने वहाँ आना स्वीकार किया। दोनों विद्वान् भक्त श्रीरंगम् की ओर चले। किंतु वहाँ पहुँचने पर देखते क्या हैं कि बहुत-से वैष्णव एक जीव-विहीन देह की दाह-क्रिया के आयोजन में लगे हैं। शीघ्र ही ज्ञात हुआ कि वह श्रीयमुनाचार्य का शरीर है। दोनों को, और रामानुज को विशेष रूप से, बड़ा खेद हुआ। धैर्य से शरीर के समीप आकर दंडवत् किया। रामानुज को अचानक मृतक के हाथ की मुड़ी हुई तीन अँगुलियाँ दिखाई दीं। उत्सुकता-वश पूछा, क्या ये सदा से ऐसी थीं? साधुओं ने कहा, सदा से तो ऐसी नहीं थीं। शरीर छोड़ते समय गुरु ने इन्हीं अँगुलियों पर अपनी तीन अभिलाषाएँ प्रकट की थीं और बीच ही में प्राण-पखेरू के उड़ जाने से ये वैसी ही रह गई। एक इच्छा तो यह थी कि व्यास-सूत्रों पर विशिष्टा-द्वैत-मत का प्रामाणिक भाष्य लिखा जाना चाहिए और दूसरी और तीसरी ये कि पराशर और संतगोर के नाम बने रहने चाहिए। रामानुज ने विनय-पूर्वक तीनों अभि-लाषाओं को पूर्ण करने की प्रतिज्ञा की। विधिवत् अंत्येष्टि-क्रिया समाप्त हो जाने पर रामानुज कांची लौट आए।

रामानुज ने अब विवाह कर लिया था। कांचीपूर्ण का नाम ऊपर लिया जा चुका है। वह यमुनाचार्य के शिष्य थे। बड़े पवित्र चरित्र के भक्त थे। रामानुज की उनमें बड़ी श्रद्धा हो गई। एक दिन उन्होंने कांचीपूर्ण को अपने यहाँ प्रीति-भोज दिया। कुछ आवश्यक कार्य-वश जिमाने के समय उन्हें बाहर चला जाना पड़ा। वह भार अकेली स्त्री के ऊपर था। इधर कांचीपूर्ण को भी भोजनो-परांत शीघ्र ही कहीं जाना था। वह चल दिए। दौड़े-दौड़े रामानुज जो घर आए, तो स्त्री को झटपट पात्रों को साफ़ कर नहाते हुए पाया। यह स्नान ब्राह्मणेतर के स्पर्श-दोष से मुक्त होने के निमित्त था, ऐसा सुनकर रामानुज मर्माहत हो गए। इसमें उन्होंने अपने मित्र-भक्त की बड़ी अवज्ञा समझी, क्योंकि वे तो "जाति-पाँति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" के उपासक थे। स्त्री को बहुत कुछ समझाकर शांत हुए।

उधर श्रीरंगम् के रिक्त आसन के लिये सब भक्त रामानुज की राह देखते थे। महापूर्ण फिर बुलाने के लिये भेजे गए। महापूर्ण के पहले मिलाप से रामानुज उनके गुण-शील पर मोहित हो गए थे। उनका सत्संग करने के लिये स्वयं स्त्री सहित श्रीरंगम् की ओर चल चुके थे। राह में दोनों की भेंट हुई। आनंद का क्या कहना है! पहले रामानुज ने अपना आशय प्रकट किया और महापूर्ण को अपने घर लाकर कुछ दिनों रहने के निमित्त बाधित किया। उस समय उनकी अर्द्धांगिनी भी साथ थी। दोनों परिवार कांची आकर साथ-साथ रहने लगे। ऐसे कुछ दिन बीत गए। एक दिन रामानुज कार्य-वश अकेले बाहर गए। शाम को लौटे तो ज्ञात हुआ कि पति-पत्नी दोनों श्रीरंगम् लौट गए। आकस्मिक घटना का कारण रामानुज ने बड़ी सावधानी से पूछा। मालूम हुआ कि दोनों स्त्रियों में कुछ क्रोध-युक्त कहा-सुनी हो गई थी। दोष अधिक आपकी ही पत्नी का था। महापूर्ण ने चुपके चला जाना ही अच्छा

समझा। पत्नी के इस क्षुद्र व्यवहार से रामानुज दूसरी बार आहत हुए। अभी यह खेद बना ही था कि एक धक्का और लगा। एक दिन जब आप घर से कुछ दूर स्नान कर रहे थे, एक ब्राह्मण भिक्षुक आया। उससे आपने अपनी स्त्री के पास जाकर भोजन माँग लेने के लिये कहा। ब्राह्मण विमुख गया। पूछने पर पता चला कि केवल दंपति-भर के एक काल के लिये भोजन-सामग्री थी, उसे स्त्री ने ब्राह्मण को दे देना उचित न समझा। अब तो रामानुज को अपने पाणिग्रहण पर बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। इसी बीच गृहिणी के लिये मायके से बुलावा आया। रामानुज ने प्रसन्न होकर उसे वहाँ भेजकर सन्यास ले लिया।

संन्यासी होकर आप कहीं बाहर नहीं गए, कांची में ही रहकर अपने धर्म का निर्वाह करने लगे। प्रसिद्धि तो आपकी बहुत पहले ही से हो गई थी, अब अनेक भक्त आपसे दीक्षा लेने लगे। सबसे पहले चेले का नाम कुरेश है। यह वहाँ के एक बड़े अमीर थे। सब धन-धान्य दान कर सपत्नीक साधु हो गए। प्रथम गुरु यादवप्रकाश भी नए संन्यासी के पास आए। वह अपने विचारों में डगमग पहले ही से थे, रामानुज से विशिष्टाद्वैत-मत की दीक्षा ली और गोविंद यति के नाम से गुरुजी के साथ-साथ रहने लगे। यह यादवप्रकाश रामानुज के शिक्षक यादव-प्रकाश ही थे, यह सर्वथा निर्विवाद नहीं है। यदि थे, तो स्वीकार करना पड़ेगा कि अंत में आकर आपने अतुलनीय आत्मिक वीरता दिखाई।

उधर श्रीरंगम्वाले आपके बिना व्याकुल हो रहे थे। फिर बुलावा आया। इस बार रामानुज सदर्प यमुनाचार्य के उत्तराधिकारी होने एवं अपने मत का प्रचार करने के लिये श्रीरंगम् गए। नियम से आप मठाधीश बनाए गए।

इतनी ख्याति होते हुए भी विनयशील और श्रद्धायुक्त आप इतने बने रहे कि सदा स्वयं नई-नई बातें सीखने के लिये गुरुओं की खोज किया करते थे। पता चला कि गोष्ठीपूर्ण को यमुनाचार्य ने बड़े बहुमूल्य उपदेश दिए थे, जिन्हें वह किसी को सिखाते न थे। उनकी पात्रता की कसौटी बड़ी कड़ी थी। इस पर कोई भाग्यशील उतरता ही न था। कहते हैं, स्वयं रामानुजाचार्य अठारह बार कसे गए, तब कहीं उनकी दृष्टि में योग्य निकले। आचार्य के उपदेश-रत्न प्राप्त हो गए। किंतु उन्हें आपने प्रकाशित कर दिया। गोष्ठीजी बेतरह बिगड़े। परंतु आचार्य ने कहा, योगीजी, इसके लिये मुझे आप जैसा कठोर शाप चाहें दीजिए, जग का उपकार तो हुआ। योगीजी विवेकशील थे। क्रोधित होने में अपनी भूल स्वीकार कर ली। फिर दोनों का संबंध पूर्ववत् मृदुल हो गया।

ऊपर कहा जा चुका है कि उस समय तक विशिष्टाद्वैत-मत पर पर्याप्त साहित्य नहीं था। रामानुजाचार्य को यह कमी बेतरह खटकती थी। आपने उसे पूरी करने की सोची। आपकी पहली रचना वेदार्थ-संग्रह है। उसमें उपनिषत्संबंधी अद्वैत-भाष्यों का खंडन किया गया है। दूसरी रचना है, व्यास-सूत्रों पर महाभाष्य। इसे लिखकर आपने अपनी पहली प्रतिज्ञा पूरी की। कहते हैं, भाष्य लिखने के पहले आपने अनेक ग्रंथों के अतिरिक्त बोधायन-वृत्ति का भी अध्ययन करना चाहा। पुस्तकें उन दिनों आजकल जैसी सुलभ नहीं थीं। उनकी प्राप्ति के लिये बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़तीं। बोधायन-वृत्ति की कोई प्रति वहाँ न मिली। कुछ लोगों ने कहा, काश्मीर के पुस्तकालय में उसकी एक प्रति है। आचार्य कुरेश को साथ लेकर रामानुजजी काश्मीर चले। वहाँ पुस्तक तो थी पर उसे केवल एक बार पढ़ लेने की आज्ञा मिली। कुरेश की स्मृति बड़ी तीव्र थी। उन्हें एक बार पढ़ने से ही बहुत कुछ (कुछ लोग कहते हैं कि सब) स्मरण हो गया। इस प्रकार भाष्य के निर्माण में कुरेश से बहुत सहायता मिली। इसके बाद साधारण पंडितों के लिये सूत्रों पर ही वेदांत-सार और वेदांत-दीप नाम के दो दूसरे भाष्य लिखे। पाँचवाँ ग्रंथ है आपका महाप्रसिद्ध गीता-भाष्य। इसमें आपने दिखाया है कि "ज्ञान से कर्म और भक्ति का आवश्यक और घनिष्ठ संबंध है।" धर्म की व्यावहारिक शिक्षा के निमित्त गद्य-त्रय तथा नित्य की रचना कर आचार्य ने अपनी लेखनी को विश्राम दिया।

लेखन-कार्य कर लेने के बाद विशिष्टाद्वैत-मत के प्रवर्तक ने भारत का भ्रमण किया। उसमें आप कुंभकोनम, मदुरा, रामेश्वर, गिरनार, द्वारका, मथुरा, बदरीनाथ, श्रीनगर, काशी तथा पुरी आदि गए। प्रायः प्रत्येक स्थान में कुछ-न-कुछ चेले होते गए। श्रीनगर में बहुत बड़ा शास्त्रार्थ भी करना पड़ा जिसमें आपकी विजय हुई। पुरी में एक मठ की स्थापना की। वहाँ से कांजीवरम् होते श्रीरंगम् आए।

आचार्य की तीन महा-प्रतिज्ञाओं में से एक पूरी हो चुकी

थी, शेष दो को आपने इस समय पूरा किया। श्रीशैलजी के एक बड़ा होनहार पुत्र हुआ। उसको आशीर्वाद दिया और संतगोपजी के नाम पर उसका नाम कुरुकेश रक्खा। कुरुकेश ने आगे चलकर संतगोप के श्लोकों पर एक बृहद् भाष्य लिखा। कुरेश के भी एक तेजस्वी पुत्र था। उसे आशीष दे आपने पराशर-नाम से विभूषित किया। पराशर ने आगे चलकर सहस्रनामा पर भगवद्-गुण-दर्पण नाम की टीका की। इस प्रकार आचार्य भी प्रतिज्ञा-ऋणों से उऋण हुए।

अब रामानुजाचार्य प्रायः सत्तर वर्ष के हो चुके थे। परंतु कार्य आप युवकों की ही भाँति करते जाते थे। उस समय चोल देश में कुलोथुंग राजा राज करते थे। वह कट्टर शैव थे। उन्होंने रामानुजाचार्य को दरबार में शैवाचार्यों से शास्त्रार्थ करने के निमित्त बुलवा भेजा। लोगों को भली भाँति विदित था कि विधर्मियों के साथ शैव शासक बड़ी क्रूरता का व्यवहार करता था। लोगों को रामानुजाचार्य के वहाँ जाने देने में बड़ा भय लगा। अतः सब की राय से कुरेश आचार्य के प्रतिनिधि होकर वृद्ध महापूर्ण के साथ राजभवन में गए। जैसा भय था, वैसा ही हुआ। राजा ने उनकी आँखें निकलवा लीं और वापिस कर दिया। बुढ़ापे में महापूर्ण से कष्ट न सहा गया। मार्ग में ही उनका देहांत हो गया। बेचारे कुरेश लड़खड़ाते हुए किसी तरह श्रीरंगम् पहुँचे। रामानुजाचार्य अब वहाँ नहीं थे। वह मैसूर चले गए थे, जहाँ तत्कालीन राजा भित्तिदेव डेरा डाले हुए थे। भित्तिदेव होसल-वंश के राजा थे। स्वयं जैनी थे, परंतु बड़े उदार-हृदय थे। प्रत्येक पंथ को आदर की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने रामानुजाचार्य का बड़ा आदर किया और उनको वहाँ बस जाने की अनुमति दी। आचार्य ने यह राजानुमति मान ली। थोड़े दिनों में वह आचार्य से दीक्षा लेकर वैष्णव हो गए। अब रामानुज के सम्मान का क्या कहना है। आपके मत की बड़ी धूम मची। आस-पास के बहुत-से जैनी आपके शिष्य हो गए। तोनूर में वैष्णव-मंदिर बना। तदुपरांत आचार्य की इच्छा पर मंदिर के निकट एक बहुत बड़ा सुंदर तालाब बना, जिसे मोती-तालाब कहते थे। वह कदाचित् अब तक है। इस प्रकार अपने मत का प्रचार करते हुए मैसूर में रामानुजाचार्य प्रायः बीस वर्ष रह गए। कहते हैं, पंचमों से आपको धर्म-प्रचार में वहाँ बड़ी सहायता मिली। पहले वे देव-मंदिरों में प्रवेश नहीं कर पाते थे। आचार्य ने उनके लिये मंदिरों में जाने के कुछ दिन निश्चित कर दिए। वह परिपाटी वहाँ अब तक चली आती है। मैसूर में यत्र-तत्र भ्रमण करके कुछ वैष्णव-मठ भी स्थापित किए। पद्मगिरि में बौद्धों का स्थान था। वहाँ जाकर उनसे शास्त्रार्थ किया, जिसमें पूरी सफलता मिली।

चोल-देश के शैव-राजा कुलोथुंग की १११८ ई० में मृत्यु हो गई। राजकुमार विक्रम चोल-राज्य के उत्तराधिकारी हुए। आप वैष्णव-मत के माननेवाले उदाराशय शासक थे। अतः श्रीरंगम् में अब पूरी शांति थी। वहाँ से बहुत-से भक्त रामानुजाचार्य को बुलाने के लिये गए। वह अंतिम काल वहाँ बिताना भी चाहते थे। इसलिये लौटना स्वीकार कर लिया सन् ११३७ में १२० वर्ष की अवस्था में स्वर्गलोक की यात्रा की।

रामप्रसाद पांडेय

× × ×

५. चलो!

(१)

यमुना-पार चलो!
चलो—आज ही चलें!
यमुना, मन-वन, अगम अगोचर;
मन के बाद, तुम्हारा निज घर;
परे शब्द से, अनुभव-निर्भर;
अपाहज हाथ मलें!
चलो—आज ही चलें!

(२)

ज्ञान-नगर जाते हैं योगी;
निज प्रारब्ध - चक्र - संयोगी;
पाते पथ वह, नर - उद्योगी;
न उनको क्रूर छलें!
चलो—आज ही चलें!

(३)

अवगुण तीन त्याग दो भाई;
गुणवर तीन गहो मन लाई;
स्वयं जायगा मग दिखलाई;
न भ्रम के भूत पलें!
चलो—आज ही चलें!

(४)

त्यागो कोप, क्रोध मत कीजे ;
त्यागो चाह, प्रेम तज दीजे ;
त्यागो डर, निर्भय हो लीजे ;
प्याले तभी ढलें !
चलो—आज ही चलें !

(५)

क्षमा करो, सीखो वह क्षमता :
सत्य गहो, पाओगे प्रभुता ;
शांति लीजिए, सुंदर समता ;
साधक, फूलें-फलें !
चलो—आज ही चलें !

(६)

क्रोध पलट दो, क्षमा मिलेगी ;
निर्भय मति बन सत्य तनेगी ;
वही प्रेम, अब शांति बनेगी :
ज्ञान के दीप जलें !
चलो—आज ही चलें !

(७)

जब गंभीर-प्रकृति पाओगे ;
धीरे-धीरे पद आओगे ;
निज घर हित तब अकुलाओगे ;
साथी, मोह न लें !
चलो—आज ही चलें !

"नयन"

× × ×

६. 'सुख'

"विष भी यदि सामने आए कभी ,
हँस कि सुधा जान के पीते रहो ;
'हृदयेश,' हिए बिच पूरे रहो ,
चहै संपति सों सदा रीते रहो ;
समुझौ निज आस निरास ही में ,
जनि आस किए अवनीते रहो ;
सुख जीवन में कुछ है तो यही ,
दुख को सुख मान के जीते रहो ।"

हृदयनारायण पांडेय

बाल-विनोद

१. चीन की चर्चा

भवतः पेकिंग संसार के समस्त नगरों में अपनी पुरानी ऐति-हासिक घटनाओं, लंबी-चौड़ी दीवालों और आश्चर्य-जनक नवीन तथा प्राचीन वस्तुओं के लिये अधिक प्रसिद्ध है। ईसा के ११०० वर्ष पहले इस नगर के अनेकों नाम-संस्करण हुए, किंतु चीन-देश का यह शहर लगभग सदा ही मुख्य नगर रहा है।

वर्तमान पेकिंग के संस्थापक सम्राट् याँग लो थे, जिन्होंने १४०३ से १४२५ तक राज्य किया। यद्यपि दक्खिन का हंकाव-नगर अब बहुत उन्नति कर रहा है पर प्राचीन चिन्हों के कारण पेकिंग ही अब भी इस देश का प्रधान नगर है।

नगर में अनेक आश्चर्य-जनक विशाल भवन हैं, उनमें सब से लोक-प्रिय 'स्वर्गीय मंदिर' है, जहाँ सम्राट् स्वयं ईश-प्रार्थना के लिये जाते थे। यह मंदिर पेकिंग-नगर के बाहर बना हुआ है। यह सन् १४२० ई० में बना था। तिमंजिली छत आसमानी खपरेलों से पटी हुई है, और उसकी सीढ़ियाँ सफ़ेद संगमरमर की बनी हुई हैं। पृष्ठ ५३८ पर दिए हुए चित्र नं० १ में इसकी सुंदरता देखिए।

भारतवर्ष की तरह चीन में भी गाड़ियाँ होती हैं, परंतु वे बहुत ही धीमी चलती हैं। उनमें बैठने के लिये बैठक (Seats) नहीं होतीं, जैसी कि यहाँ पर तांगा और बग्घी आदि में होती हैं। धूप के बचाव के लिये छतरी का अच्छा प्रबंध रहता है। पृष्ठ ५३९ पर दिए हुए चित्र नं० २ में पेकिंग की एक गाड़ी का दृश्य देखिए।

यह बड़े दुख का विषय है कि चीन में छोटे-छोटे बच्चे भी मजदूरी करने जाते हैं। कभी-कभी

चित्र नं० १, पेकिंग का स्वर्गीय मंदिर

रक्षा के लिये पुलिस का दिन और रात-संबंधी अलग-अलग विभाग नियुक्त है । चीन में पुलिस को हफ़्तेवार अपने वार्डों में मकान-मालिक और दूकानदारों से एक निश्चित रक़म वसूल करने का काम सुपुर्द है । यह रक़म बराबर अदा होती रहती है, क्योंकि ऐसा न करने पर पुलिस को जैसे बने वैसे लेने का अधिकार है । यह सब कुछ होते हुए भी भारत की तरह वहाँ भिखमंगों का नाम-निशान भी नहीं है । उनके गिरोह बना दिए गए हैं और सरकार की ओर से नियुक्त पुरुष उनकी देख-रेख करता रहता है । दूकानदार और मकान-मालिक उनको कुछ देते रहते हैं, इसीलिये वहाँ ऐसे बेकार पुरुषों को डकैती और चोरी की आवश्यकता नहीं रहती । यहाँ लोगों को थिएटर देखने का बड़ा ही चाव है । सड़क के किनारे खुले मैदान में थिएटर देखने को मिलेंगे । वहाँ अधिकतर ऐतिहासिक दृश्य दिखाए जाते हैं ।

भारत में खोंचा बेचनेवालों की भाँति यहाँ भी खाने-पीने की सारी वस्तुएँ मिलती हैं । बाजीगरी के खेल-तमाशे भी यहाँ की भाँति बहुत-से देखने को मिलते हैं । चित्र नं० ४ में बाजीगर एक तलवार को निगल रहा है, और दूसरा बाजीगर आते-जाते मुसाफ़िरों का ध्यान यह आश्चर्य-जनक खेल देखने के लिये आकर्षित कर रहा है ।

उन्हें कारखानों में सोलह-सोलह घंटे तक काम करना पड़ता है । इससे उनकी स्वास्थ्य-उन्नति में बहुत बड़ी बाधा पहुँचती है । गाड़ियों की बनावट अनेकों प्रकार की होती है । पृष्ठ ५३९ के चित्र नं० ३ में गाड़ी की बनावट चित्र नं० २ से बिलकुल ही भिन्न है । प्रातःकाल इस गाड़ी पर सवार छः छोटी लड़कियाँ काम करने जा रही हैं ।

पेकिंग-नगर में मोटर, बिजली की रोशनी, पुलिस और सवारियाँ जापान की आधारित प्रणाली पर हैं । नगर वार्डों के हिसाब से बँटा हुआ है ।
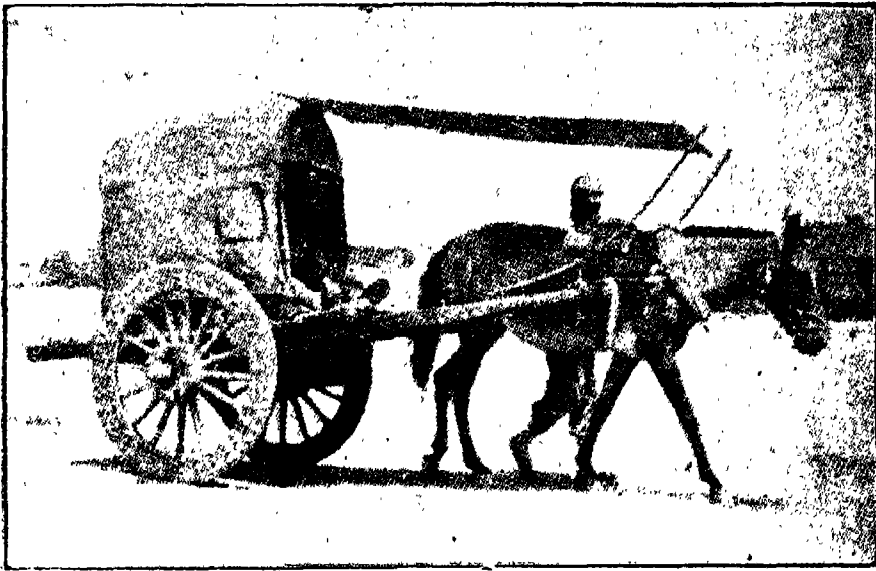
चित्र नं० २, पेकिंग की एक गाड़ी

चित्र नं० ३, गाड़ी पर सवार छः छोटी लड़कियाँ काम करने जा रही हैं

चीन-देश में छोटे-छोटे लड़के भी इस कला में बड़े चतुर होते हैं। एक छोटा-सा लड़का चित्र नं० ५ में अपनी कला दिखा रहा है, यह बाजी-गर-खानदान का चतुर खिलाड़ी है। लोग बड़े ध्यान से उसकी ओर देख रहे हैं।

ग्रीष्म-ऋतु के लिये भी यहाँ बहुत-सी प्रसिद्ध

चित्र नं० ४, बाज़ीगर एक तलवार को निगल रहा है

चित्र नं० ५, एक छोटा-सा लड़का अपनी कला दिखा रहा है

इमारतें थीं, जोकि पेकिंग के उत्तर-पश्चिम ११ मील तक फैली हुई थीं। सन् १८६० ई० में यह सब नष्ट हो गईं। चित्र नं० ६ में जो इमारतें

दिखाई देती हैं वे नई बनवाई गई हैं। ये एक झील के सन्निकट हैं। एक सफ़ेद बोट झील में तैरता हुआ कैसा सुहावना जान पड़ता है।
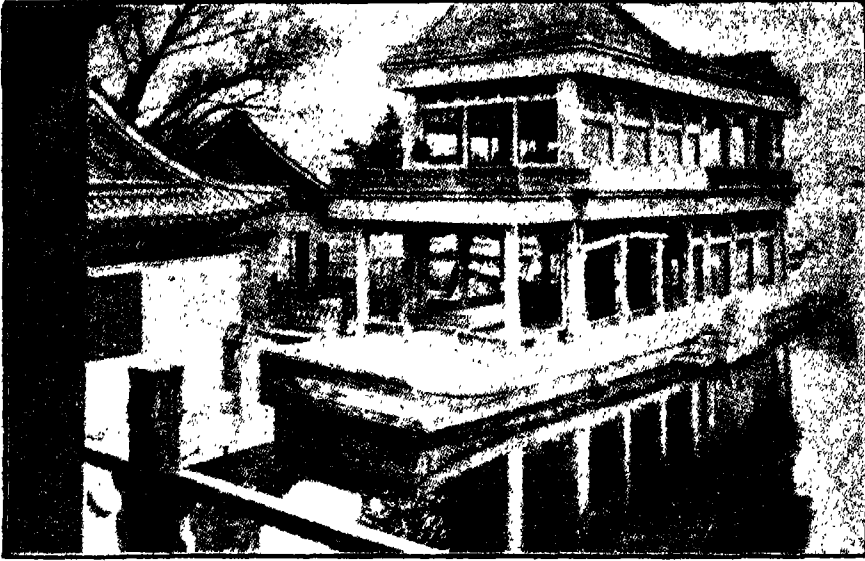
चित्र नं० ६, ग्रीष्म-ऋतु के लिये बनवाई गई नई इमारतें

चित्र नं० ७, एक नाई पेड़ की छाया में बाल बना रहा है

चीन-देश की बहुत-सी बातें भारत से बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। क्योंकि बौद्ध-काल में भारत की सभ्यता और धर्म का वहाँ बहुत प्रचार किया गया। उनकी धार्मिक वृत्तियाँ, रहन-सहन, दैनिक धंधे भारतवर्ष के प्राचीन ढंग पर प्रायः समानता का स्थान पाए हुए हैं। चित्र नं० ७ में

...य में बाल बना रहा है। अधि-
...ह में ही ये लोग बाल बनाते हैं।
...में लकड़ी चीरने का एक दृश्य
दिखाया ... दो आदमी आरे को इधर-उधर से
खींच रहे हैं। यह ढंग भी यहाँ से मिलता-जुलता है।

चित्र नं० ८, दो आदमी आरे से लकड़ी चीर रहे हैं

यद्यपि चीन-देश अब तक बहुत पिछड़ा हुआ था परंतु इधर कुछ समय से आशातीत उन्नति हो चली है। विद्या का प्रचार भी अच्छा हुआ है। आलस्य और तंद्रा का लोप हो चला है। वहाँ का विद्यार्थी-समाज देश की दशा पर गंभीरता से विचार कर रहा है। इस समय चीन में जो कुछ भी जागृति के चिह्न दिखाई पड़ते हैं, उनमें बहुत बड़ा हिस्सा विद्यार्थियों के परिश्रम का है।

हमारे देश की भाँति चीन-निवासी भी अपनी पुरानी रीति-रिवाजों का बड़ा ध्यान रखते हैं। पुराना साहित्य स्नेह से अपनाया जा रहा है। दूसरे देशों में भी चीन के बहुत-से उत्साही युवक कला-कौशल सीखने जाते हैं। यदि कुछ समय तक यह उत्साह और उमंग इसी उन्नत-प्रगति से चलता रहा, तो चीन भी एक समृद्धिशाली स्वतंत्र-साम्राज्य हो जायगा।

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

२. क्या माँगूँ?

नाथ! मैं क्या माँगूँ वरदान?
भला, तुम्हारे महत् जगत् में है न कौन सामान
कर, पग जीभ, बुद्धि, मन, मस्तक, आँख नाक, मुख, कान;
अंगों-सहित अहह! जीवन तक, तुमने किया प्रदान।
अन्न, वस्त्र, जल, अग्नि, समीरण, धन-जन-युक्त मकान;
दिया तुम्हारा प्रभो! यहाँ सब प्रस्तुत है सामान।
जग में कूट-कूटकर तुमने है सुख भरा महान्;
तब फिर और अधिक क्या मुँह ले माँगूँ मैं अनजान?
तो भी तुम हो परम पिता, हूँ मैं अबोध संतान;
इससे नित दुलार का भूखा रहता हूँ भगवान!

"स्वर्ण-सहोदर"

वायुयानों का भविष्य

संसार में आशावादियों के साथ ही निराशावादी भी रहते हैं। बहुत-से लोगों को वायुयानों का भविष्य ऊषा-प्रकाश-सा उज्ज्वल प्रतीत होता है किंतु कुछ थोड़े-से लोगों को इसका भविष्य तिमिराच्छन्न जान पड़ता है। पिछले प्रकार के लोगों में Gr at Delusion-नामक पुस्तक के रचयिता भी हैं। यह पुस्तक ब्रिटेन की हवाई-नीति को असफल बतलाते हुए यह बतलाने की चेष्टा करती है कि भविष्य में वायु-मार्ग से यातायात का प्रबंध करना वृथा है। इसकी युक्तियों से ब्रिटेन-भर में हलचल मच गई है।

पुस्तक में वर्णित बातों का सारांश यों है—

सभी वायुयान बेकार हैं। वे कभी विश्वास योग्य, निरापद और व्यावहारिक नहीं हो सकते। न वे युद्ध के काम में लाए जा सकते हैं और न व्यापारिक कार्यों ही में। सफ़र के लिये जो वायुयान व्यवहृत होते हैं या होंगे, उनसे नफ़ा उठाना असंभव है। अन्य किसी प्रकार के यान से वायुयान के सफ़र में बेचैनी, डर और अविश्वास अधिक रहता है। सफ़र-ख़र्च की तो बात ही न पूछिए; आजकल की मँहगी-से-मँहगी यात्राओं से इनके द्वारा यात्रा मँहगी पड़ती है। वायु-शक्ति की बात उठाना मृग-तृष्णा के पीछे दौड़ना है। लड़ाई के लिये वायुयान बनाने या रण-साज से सज्जित करने का अर्थ धन और जन दोनों खोना है। लड़ाई का अनुभव हमें वायुयानों की बेकारी और अव्यावहारिकता प्रमाणित करता है।

पुस्तक में दिए हुए अनेकों उदाहरणों से हम यहाँ थोड़े-से देते हैं—गत महायुद्ध में जर्मनी ने ६१ ज़ेपलिनों से काम लिया था जिनमें १७ शत्रुओं द्वारा चालक के साथ नष्ट कर दिए गए; २८ ख़तरे में पड़कर नष्ट हो गए; ६ बेकार प्रमाणित हुए। इतना होने पर भी संसार के बड़े-बड़े राष्ट्र वायुयानों के बनाने में पानी की तरह धन बहा रहे हैं। ब्रिटेन के बड़े बड़े वायुयानों का क्या हाल हुआ, वह भी सुन लीजिए। R ३३ का मस्तूल टूट गया, R ३४ एकदम नष्ट-भ्रष्ट हो गया, R ३८ अमेरिका के हाथ बेंच दिया गया था जो ४४ मनुष्यों के साथ नष्ट हो गया।

इँगलैंड की "एयर मिनिस्ट्री" दो राक्षसाकार वायुयान बना रही है। कहा जाता है कि इनमें कई छोटे-छोटे वायुयानों को रखने और आश्रय देने का स्थान रहेगा और इसके अलावा, वे दो सौ मनुष्यों को लेकर उड़ेंगे। भला इस बेवक़ूफ़ी का भी कोई ठिकाना है।

इँगलैंड का प्रत्येक मनुष्य सरकारी वायुयानों के पालन-पोषण के लिये काफ़ी कर दिया करता है। वायुयानों से माल ले जाने का किराया बहुत ज़्यादा है। रेल से जितने

ख़र्च में आप एक टन माल एक मील ले जायँगे, उतने ख़र्च में वायुयान सिर्फ़ एक पौंड वज़न का माल एक मील पहुँचा सकेगा। कुछ दिन हुए एक वायुयान कैरो से केप और वहाँ से लंदन उड़कर आया। इसमें १,८०० घोड़ों की शक्ति थी। आठ मनुष्यों ने सवार होकर ११४ दिनों में १४,००० मील की यात्रा ते की अर्थात् औसत ५ मील प्रति घंटा। इतनी ही अश्व-शक्ति में दो स्टीमर ४५,००० टन बोझ लादकर उसी दूरी को केवल आधे समय में पूरा करते। जब हमें थोड़ी दूर की यात्रा करनी होती है तभी वायुयान रेल या स्टीमर से तेज़ जाते हैं। अधिक दूर की यात्रा में उन्हें हार खानी पड़ती है।

लड़ाई के मैदान में उनसे गोलाबारी करना रुपया बर्बाद करना है, क्योंकि वायुयान से निशाना जमाना असंभव है। मित्र और शत्रु-पक्ष का पहचानना भी कभी-कभी कठिन हो जाता है और इसलिये नुक़सान उठाना पड़ता है। १९१७ के एप्रिल में एक ब्रिटिश-वायुयान-चालक ने ग़लती से एक डच-शहर पर गोला बरसा दिया। इसके जुर्माने में ब्रिटेन को १,५०,००० रु० देना पड़ा।

लड़ाई के काम में लगे हुए हर वायुयान के लिये ज़मीन पर ६४ मनुष्यों को उस पर लक्ष्य रखना पड़ता था। १९१८ में जब जर्मनों ने मित्र-सेनाओं को बे-तरह दबाया था उस समय इँगलैंड के वायुयान मौसिम ख़राब होने के कारण कुछ भी मदद नहीं दे सके। लड़ाई के समय में एक वायुयान का जीवन-काल सिर्फ़ एक ही महीना था।

जर्मनी के लेफ़्टिनेंट जे० जी० उलरिच केसलर का कहना है कि ८वीं अगस्त १९१८ को हम लोगों ने शत्रु के ८३ वायुयानों को नष्ट किया था। जून, १९१५ और जून, १९१६ के बीच जर्मनीवालों के २६२ वायुयान नष्ट हुए। ये सिर्फ़ गिरकर नष्ट हुए—शत्रुओं द्वारा नहीं गिराए गए।

ये एक निराशावादी के विचार हैं। उनकी राय है कि वायुयानों का बनाना और उन पर ख़र्च होनेवाले धन का अपव्यय तुरंत रोक देना चाहिए। वायुयानों का भविष्य अंधकार-पूर्ण है। "माधुरी" के पिछले अंकों में उज्ज्वल-दर्शी लोगों के विचार समय-समय पर दिए गए हैं। पाठक ही निर्णय करें, वायुयान का भविष्य कैसा है?

× × ×

२. कृत्रिम सूर्य

पेरिस के प्रो० जीन पेरिन ने एक युगांतरकारी आविष्कार किया है। आपके आविष्कार का अभी आरंभ ही है। भविष्य में आप १,००,००,००० वोल्ट की शक्ति-वाली बिजली पैदा कर पृथ्वी पर कृत्रिम सूर्य का आविर्भाव कराना चाहते हैं। इतनी शक्ति की बिजली पैदा हो जाने पर हम पृथ्वी पर उस अवस्था को ला सकते हैं जिस अवस्था में सूर्य और उसी के समान अन्य नक्षत्र हैं। इस शक्ति की बिजली तैयार होने पर पदार्थों के आणविक गठन का टुकड़ा किया जा सकेगा और हरएक अणु अलग-अलग किए जा सकेंगे। शायद एक अणु के निहारिका (Nucleus) को दूसरे अणु में प्रवेश कराकर एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में परिवर्तित भी कर सकेंगे। कहा जाता है कि सूर्य के धरातल में हलके पदार्थों के अणु निरंतर भारी पदार्थों के अणुओं का रूप ग्रहण कर रहे हैं। आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धांतानुसार संसार के सभी पदार्थ हवा, ज़मीन, चट्टान, मनुष्य आदि, सूर्य तारे ग्रह नक्षत्र आदि एक समय हाइड्रोजन के अणुओं से बने हुए थे। प्रो० पेरिन का भी यही मत है। प्रायः सभी वैज्ञानिकों का कहना है कि अणु धन (Positive) और ऋण (Negative) विद्युत् का समष्टिकरण है। धन निहारिकाएँ और ऋण इलेक्ट्रोन सौर-जगत् की भाँति बराबर चक्कर लगाया करते हैं और ये इतने छोटे होते हैं कि ऐसे-ऐसे दस खरब सौर-जगतों को यदि मिला दिया जाय, तो वे हमारे दृष्टिगोचर हो सकते हैं। तब वे एक पिन की नोक के बराबर हो सकेंगे।

अणु स्वयं इतने छोटे होते हैं कि उनकी कल्पना करना हमारे लिये असंभव है। एक घड़े जल में ऑक्सिजन और हाइड्रोजन के इतने अणु विद्यमान हैं जितने बालू के कण योरप के चारों ओर के ५० फ़ीट चौड़े भूभाग में। अणुओं का गठन भी कल्पनातीत है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि यदि एक अणु को पेरिस के बराबर मान लें तो निहारिका एक घर के बराबर और इलेक्ट्रोन दो हज़ार से १३,००० मील प्रति सेकेंड के हिसाब से चलते हुए एक मोटर के बराबर होगा। दो पदार्थों—जैसे लकड़ी या लोहे—में फ़रक़ केवल इतना ही है कि ये दोनों पदार्थ यद्यपि निहारिका और इलेक्ट्रोन के बने हुए हैं किंतु निहारिका के चारों ओर दौड़ लगानेवाले इलेक्ट्रोन की संख्या दोनों में भिन्न-भिन्न है।

प्रो० पेरिन का कहना है कि पदार्थ एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में बदलते समय पहले हाइड्रोजन में परिवर्तित होता है और हाइड्रोजन हिलियम में। ऐसा करते समय कुछ वज़न कम हो जाता है जिसे हम शक्ति (energy) के रूप में देख पाते हैं। यह मुक्त शक्ति प्रकाश और गरमी के रूप में सूर्य से पृथ्वी तक आती है और पृथ्वी पर हम लोगों का जीवन संभव बनाती है।

परिवर्तन का यह कार्य कैसे आरंभ हुआ ? संभवतः दो या अधिक हाइड्रोजन के अणुओं के टक्कर लगने से पहली शक्ति पैदा हुई होगी। जिस प्रकार दियासलाई की एक बत्ती सारे जंगल को जला डालती है उसी प्रकार उपर्युक्त टक्कर ने सूर्य-स्थित भारी-भारी अणुओं को तोड़ना आरंभ कर दिया और फल-स्वरूप सूर्य में अभी तक यह क्रिया जारी है।

"एक करोड़ शक्ति की बिजली पैदा कर पृथ्वी पर मैं भी पदार्थों के भारी अणुओं को तोड़कर हलके अणुओं में परिवर्तित करूँगा और इस प्रकार पृथ्वी पर ही कृत्रिम सूर्य पैदा कर दूँगा।" प्रो० पेरिन की ऐसी धारणा है।

कृत्रिम सूर्य पैदा करने की चेष्टा अमेरिका में भी हो रही है। इस कार्य का आरंभ स्वर्गवासी डॉ० स्टिनमेज़ ने किया था, अब उनके चेले इस काम में लगे हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि संसार में कई ऐसे व्यक्ति हैं जो पृथ्वी पर कृत्रिम सूर्य को लाना चाहते हैं किंतु इसका अंतिम परिणाम क्या होगा ? पृथ्वी पर भी सूर्य-सी दावानल भड़क उठेगी। यहाँ के प्रत्येक पदार्थ टुकड़े-टुकड़े होने लगेंगे और सभी पदार्थ प्रकाशमय और भीषण ताप-युक्त हो जायँगे। यहाँ न तो मनुष्य रहेंगे, न कोई जानवर और न कोई पेड़-पौधे। देखते-देखते सारी पृथ्वी जल-कर ख़ाक हो जायगी और यह ग्रह एक जलता हुआ चमकीला पदार्थ बन जायगा। ये बातें जब प्रो० पेरिन से कही गईं, तब उन्होंने जो उत्तर दिया, वह बड़ा मज़ेदार है—"अणुओं के टूटने से प्रलय उपस्थित होना अवश्यंभावी है किंतु सब वैज्ञानिकों को प्रत्येक पहलू का अनुसंधान करना चाहिए। इसी प्रकार हम लोग सोच सकते हैं। हमें डरना नहीं चाहिए।"

अणुओं से शक्ति पैदा करने से हमें क्या-क्या लाभ होगा, इसकी चर्चा 'माधुरी' के किसी पिछले अंक में हो चुकी है, इसलिये उस पर कुछ नहीं लिखा जाता। कृत्रिम सूर्य को पैदा कर हम लोग गरमी, प्रकाश और शक्ति को अपने वश में कर लेंगे। हमारी सभ्यता मेशीनों पर अवलंबित है; इन्हें चलाने के लिये शक्ति की आवश्यकता होती है। शक्ति पैदा करनेवाले पदार्थ कोयला और तेल हैं, किंतु उनका अंत नज़दीक है। अणुओं के टूटने से जो शक्ति पैदा होगी, वही हमारी सभ्यता को बचाए रख सकती है। अभी से यह नहीं कहा जा सकता कि पेरिन द्वारा पैदा होनेवाली शक्ति इस पृथ्वी को नष्ट कर देगी या उसके लिये न्यामत होगी।
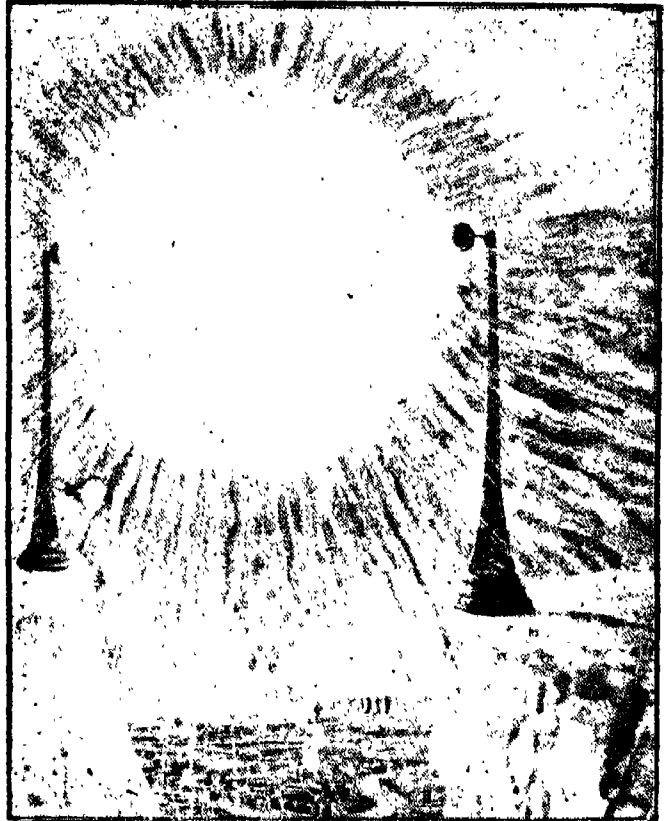
प्रो० पेरिन द्वारा उद्भावित कृत्रिम सूर्य

× × ×

३. पौन घंटा बजनेवाला फ़ोनोग्राफ़

फ़ोनोग्राफ़ के जन्मदाता अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिसन साहब हैं। आप बज्र बहरे हैं किंतु आपको

संगीत से बड़ा प्रेम है । आपके बहरे होने का एक बड़ा विचित्र क़िस्सा है। एक बार एक परीक्षा करते समय आपने एक गाड़ी में आग लगा दी । उन दिनों आप इस गाड़ी में अख़बार बेचा करते थे। आग लगने से गाड़ी के कान-डक्टर को इतना क्रोध आया कि उसने इनके कान को इतने ज़ोरों से मल दिया कि ये सदा के लिये बहरे हो गए । तब से आप आज तक बहरे हैं; कई बार नश्तर लगवाकर बहरापन दूर करने का काम आपने सोची किंतु न-मालूम क्या समझकर उसे अमल में लाते-लाते रह गए।

४० मिनट तक बजनेवाले फ़ोनोग्राफ़ को एडिसन के लड़के (बाईं ओर) सुन रहे हैं

अस्तु, आपने अपने अस्सीवें वर्षगाँठ के दिन संसार को एक फ़ोनोग्राफ़ उपहार दिया है । इसमें विशेषता यह है कि वह एक बार में ४० मिनट तक बजता रहता है। इस पर बजनेवाले रेकार्ड व्यास में एक फ़ुट होते हैं । उस पर जो रेखाएँ खिंची होती हैं, जिन पर सुई चलती है, उनकी लंबाई सवा मील होती है । एक ही रेकार्ड पर कई गाने गाए जा सकते हैं । न-मालूम अभी एडिसन और कौन-कौन-से आविष्कार इस बुढ़ौती में हमारे समक्ष रक्खेंगे ?

× × ×

४. विचित्र खनिज

यू० एस० ब्यूरो ऑफ़ स्टैंडर्ड के डॉ० विलियम डब्ल्यू० कावलेंज ने एक ऐसे खनिज का पता लगाया है जो सूर्य-रश्मि को बिजली में परिवर्तित कर देता है । इस खनिज का नाम मॉलि-बडेनाइट है। इसके प्रत्येक टुकड़े में एक स्थान पिन की नोक के बराबर होता है जिसमें उपरि-लिखित गुण होता है । इस स्थान को सूर्य के प्रकाश में लाने से उसमें इतनी विद्युत् पैदा हो जाती है जो विद्युत्-मापक यंत्र की सुई को प्रभावान्वित कर सकती है। इस खनिज को एक छोटे संदूक में, जिसमें एक पिन की नोक के बराबर सूराख़ रहता है, रखकर उसका संबंध

मॉलि-बडेनाइट पर सूर्य प्रकाश पड़ने से विद्युत् धारा प्रवाहित होती है

दो पतले तारों से करा दिया जाता है और तारों को विद्युत् मापक यंत्र (Galvanometer) से मिला दिया जाता है । बॉक्स को सूर्य-प्रकाश में लाते ही गैलवेनोमिटर की सुई झुक जाती है जिससे पता चलता है कि खनिज में विद्युत् पैदा हो गई है। मॉलि बडेनाइट के दो तीन टुकड़ों को मिला देने से विद्युत् की मात्रा अधिक हो जाती है। कुछ लोग अब इस खनिज की खोज के पीछे पड़े हुए हैं क्योंकि इससे भविष्य का एक आश्चर्यजनक काम सधता दीख पड़ता है।

× × ×

५. पतला और मोटा

फ़्रांस के दो डॉक्टर—पी० कार्नोट और ई० टैरिस—ने ऐसा 'इंजेक्शन' निकाला है जिसके द्वारा वे इच्छानुसार मनुष्य को पतला या मोटा बना सकते हैं। उनका कहना है कि दुबले और नष्ट होते हुए पशुओं के शरीर से एक प्रकार की दवा तैयार की जाती है जो मोटे-से-मोटे मनुष्य को कुछ ही हफ़्तों में दुबला बना सकती है । ठीक इसके विपरीत मोटे-ताज़े, स्वस्थ तथा बढ़ते हुए पशुओं के शरीर से बनी हुई दवा के व्यवहार

से दुबले-पतले मनुष्य मोटे हो जा सकते हैं। इन प्रथाओं से भोजन का कोई संबंध नहीं है। इस प्रथा की परीक्षा पहले पशुओं पर हुई थी और जब यह सफल हो गई तब वहां परीक्षा दो मनुष्यों पर हुई। पहली स्त्री थी, जिसकी उम्र ६१ साल की थी, जिसे २६ 'इंजेक्शन' सुअर के शरीर के 'सेरम' (Serum) के दिए गए। सिर्फ़ ३८ दिनों में उसके शरीर का वज़न चार सेर बढ़ गया। ४२ साल की एक स्त्री का वज़न १६ दिनों में एक सेर बढ़ा। जिन मोटे लोगों की चिकित्सा दुबले-पतले जानवरों के 'सेरम' से हुई, उनकी मुटाई घट गई। क्षय-रोग के लिये यह राम-बाण औषध है। मोटे लोगों के लिये तो यह न्यामत ही है।

× × ×

६. नए प्रकार का जल-यान

मनुष्य को पशु-पक्षियों, कीड़े-मकोड़ों से बहुत कुछ सीखना है। इस समय तक उन लोगों ने बहुत कुछ सीखा भी है। चिड़ियों से आकाश में उड़ने का विचार 'राइट' भाइयों (Wright Brothers) ने सीखा। मछलियाँ 'सबमेरिनों' के आविष्कार की जन्मदात्री हैं। एक फ्रेंच-इंजिनीयर ने कीड़ों के तर्ज़ पर एक अद्भुत जल-यान तैयार किया है। यह जल-यान Pond skaler-नामक कीड़े के आकार का बना है। इसके पिछले पैर इसके शरीर के अनुपात से बहुत बड़े होते हैं। इन्हीं पैरों द्वारा यह आगे बढ़ता जाता है। फ्रेंच-इंजिनीयर डी० गैंको ने इस यान में फ्रांस से अमेरिका के बीच के ऐटलैंटिक समुद्र को तीन दिनों में पार करने का विचार किया है। साधारण नाव या जहाज़ का कुछ हिस्सा जल में डूबा रहता है किंतु इस यान का कुछ हिस्सा जल से सर्वथा ऊपर रहता है। यान के साथ दो दानवाकार पैर लगे हुए हैं जिनके सहारे यह यान चलता है।

इसकी व्यावहारिकता पर लोगों को शक है। देखना है कि संसार इस यान का आदर वायुयान हो-जैसा करता है या नहीं। क्रिस्टोफ़र कोलंबस ने ऐटलैंटिक समुद्र को ३७ दिनों में पार किया था। आज के बड़े-बड़े जहाज़ सिर्फ़ पाँच दिन में इसे पार कर सकते हैं। हवा के मार्ग से केवल २१ घंटे में एक महा-देश से दूसरे महा-देश को पहुँचा जा सकता है। ऐसी हालत में इस यान का कौन स्वागत करेगा। हाँ यदि इसने उन्नति की और लोगों का ध्यान इसकी ओर गया, तो यह जहाज़ों के ऊपर स्थान ले सकता है।

× × ×

७. हृदय की धड़कन

प्राणी का शरीर जितना ही बड़ा होगा उतने ही धीमे-धीमे हृदय धड़केगा। हाथी का हृदय मिनट में सिर्फ़ २५ बार धड़कता है और गधे का ५० बार। मनुष्यों का हृदय साधारणतः ७० बार, स्त्रियों का ८० बार युवकों का ६० बार, और तुरत के पैदा हुए बालकों का हृदय १४० बार, धड़कता है। खरगोश का हृदय मिनट में १२० बार और चूहे का १७५ बार धड़कता है। कार्य करने से हृदय की धड़कन अधिक हो जाती है। यदि आप दिन-भर चारपाई पर पड़े रहें, तो आपका हृदय २०,००० बार कम धड़केगा। जन्म-ग्रहण करने के ४ मास पूर्व से मृत्यु समय तक हृदय निरंतर
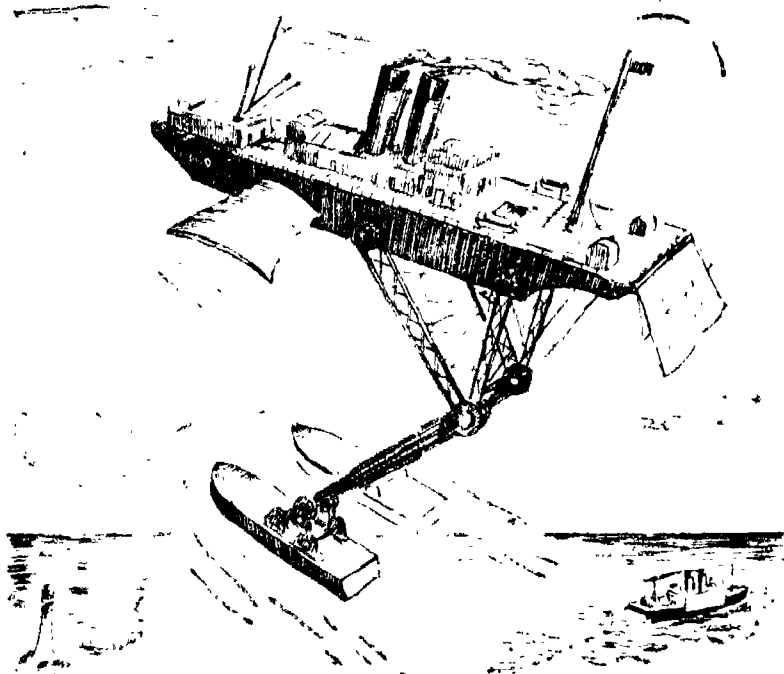
नए प्रकार का जल-यान

साल-भर में ४०,००,००,००० बार के हिसाब से धड़का करता है। यदि शरीर से निकालकर हृदय को नमक-मिले हुए जल में, जिसमें समय-समय पर थोड़ी शक्कर डाली जाती रहे, रख दिया जाय, तो वह कुछ दिनों तक धड़कता रहेगा। मुमूर्षु मनुष्यों के हृदय को कुछ अधिक देर तक धड़कते रहने की व्यवस्था कर वैज्ञानिकों ने अमरत्व प्राप्त करने की योजना की प्रथम चेष्टा में सफलता प्राप्त की है किंतु यह देखना है कि हम सचमुच अमर हो सकते हैं या नहीं।

× × ×

८. साबुन का विज्ञापन

विज्ञापन देने की विचित्र-विचित्र प्रथाओं की समय-समय पर इन पृष्ठों में चर्चा होती रही है। आज एक साबुन बेचनेवाले दूकानदार का विज्ञापन देखिए। उसने
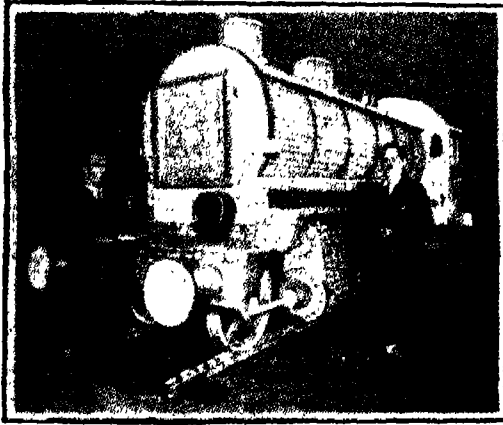
साबुन का बना हुआ इंजिन

अपनी दूकान के सामने साबुन की बनी हुई एक बड़ी-सी रेलगाड़ी खड़ी कर दी है। इसके बनाने में भिन्न-भिन्न रंग की बट्टियाँ व्यवहृत हुई हैं। रेलगाड़ी के रेल भी साबुन के ही बने हुए हैं। इंजिन के सामने दूकानवाले का विज्ञापन लगाया गया है जिसमें साबुन-व्यवहार की उपयोगिता बतलाई गई है। कहिए कैसी अनोखी प्रथा है!

× × ×

९. शरीरत्राण

पुलिसवालों को चोर-डाकुओं का पीछा करते समय बड़ा डर रहता है कि कहीं दूर ही से वे उन पर गोली चलाकर मार न डालें। इस लिये जर्मनी के पुलिसवालों को एक प्रकार का बख़्तर दिया जाता है जो उनके शरीर के नाज़ुक हिस्सों को बचाता है। यह बख़्तर इतना

पुलिस का बख़्तर

हल्का होता है कि उसके व्यवहार करनेवाले आसानी से अपना अंग संचालन कर सकते हैं। छाती और सिर का थोड़ा-सा हिस्सा छिपा रहने के कारण चोर के पीछे दौड़नेवाली पुलिस को अपना प्राण गँवाने का भय एकदम नहीं रहता। ऐसे बख़्तरों का जितना ही प्रचार हो उतना ही लाभदायक है।

× × ×

१०. परिवर्तनशील प्राणी

आपने सुना होगा कि पारस पत्थर एक धातु को दूसरे धातु में परिवर्तित कर देता है, किंतु शायद आपको यह नहीं ज्ञात होगा कि एक ही प्राणी दूसरे प्राणी का आकार ग्रहण करता है और पुनः अपने असली रूप में आ जाता है। पेनसिलवेनिया-विश्वविद्यालय के डॉ०

माथो बंटिंग ने उपरि-लिखित आविष्कार कर संसार को चकित कर दिया है । यह 'प्राणी' एक-कोषीय (One-celled) लुआब की एक छोटी बूंद-जैसा होता है । शरीर बदलकर यह दूसरे श्रेणी का प्राणी बन जाता है और पुनः अपना आरंभिक शरीर ग्रहण कर लेता है । अपनी प्राकृत अवस्था में यह प्राणी अपने शरीर को एक लुआबदार पदार्थ में छिपा लेता है । इस आविष्कार से यह पता चलता है कि प्राणी भी अपना शरीर बदला करते हैं ।

× × ×

११. विचित्र घड़ी

पाश्चात्य देशों में स्त्रियाँ अपने कार्य-भार को हलका बनाने के लिये नई-नई प्रथाओं से काम लिया करती हैं । हमारे देश में जैसे रसोई पकाने के समय स्त्रियों को आग के सामने बैठकर पकनेवाली वस्तु पर लक्ष्य रखना पड़ता है, उसी प्रकार पाश्चात्य देश की स्त्रियों को भी करना पड़ता था । इसमें केवल समय की बरबादी है । इस लिये एक ऐसी घड़ी बनाई गई है, जो खाना पक जाने पर टुनटुनाने लगती है और पाचिका को उसकी ख़बर दे देती है । खाना पकाने के समय पाचिका को चूल्हे के पास बैठे रहने की ज़रूरत नहीं ।

खाना पकने की सूचना देनेवाली घड़ी

रमेशप्रसाद

१. शिशु-शिक्षा में सुधार

हमारे घरों में कन्या और पुत्र की शिक्षा भिन्न-भिन्न प्रकार की है। लड़कों का काम है पाठशाला जाना, हाकी खेलना, पतंग उड़ाना और बार-बार खाने के लिये ज़िद करना। लड़कियों का काम है घर का काम करना, भोजन बनाने में माता की सहायता करना, अवसर मिले तो गुड़ियाँ खेलना। लड़कों से घर के काम-धंधे में कोई सहायता नहीं ली जाती। अगर वह घर का कोई काम अपनी इच्छा से भी करे, तो उसे फ़ौरन् डाट पड़ती है। उसका कमरा गंदा है तो या तो महरी उसे साफ़ करे या उसकी बहन। उसे पानी पीना है तो उसकी बहन ग्लास धोकर दे, वह खुद अपने हाथ से नहीं धो सकता। यह प्रथा के विरुद्ध है। इस शिक्षा का यह परिणाम होता है कि आगे चलकर लड़के घर की सफ़ाई, अपना बिस्तर बिछाना, या मेज़ और कुरसियों को साफ़ करना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझने लगते हैं। विवाह होने पर यदि उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है तब तो किसी तरह काम चल जाता है, लेकिन आमदनी अच्छी न हुई तो घर में अशांति का राज्य हो जाता है। अकेली पत्नी बच्चों के पालन के साथ-साथ घर का सारा काम नहीं कर सकती, घर की दशा अस्त-व्यस्त हो जाती है। न घर में सफ़ाई है, न कोई व्यवस्था। इस फूहड़पन का असर चित्त पर होना अनिवार्य है। पुरुष बात-बात पर स्त्री पर झुँझलाता है। स्त्री अपने भाग्य को कोसती है और दोनों का जीवन दुखमय हो जाता है। अब तक तो ख़ैर किसी भाँति नौकर मिलते जाते हैं, लेकिन यह पदार्थ दिन-दिन दुर्लभ होता जा रहा है। उधर जिस वेग से हमारी ज़रूरतें बढ़ रही हैं, उस वेग से आय-वृद्धि नहीं हो रही है। इसलिये यदि हमें अपने पुत्रों का भविष्य दुराशामय नहीं बनाना है, तो हमें चाहिए कि बचपन ही में उन्हें घर के साधारण काम करना सिखाएँ। जब ये काम करने की उनकी आदत पड़ जायगी, तो उनका दाम्पत्य जीवन निःसंदेह सुखी होगा और पत्नी और पुरुष के कार्य-क्षेत्र अभिन्न हो जाने से उनमें घनिष्ठ आत्मीयता के भाव उदय होंगे। अमेरिका में अब किसी कॉलेज के प्रोफ़ेसर या किसी डॉक्टर या वकील को, कम-से-कम आरंभ-काल में, घर में झाड़ू लगाते, बर्तन धोते, बच्चों को नहलाते या उनके जूते साफ़ करते देखना कोई असाधारण बात नहीं। आख़िर गृहस्थी का सारा बोझ क्यों स्त्री पर डाल दिया जाय। पुरुष का काम दस से पाँच तक ख़त्म हो जाता है। पत्नी का काम तो प्रातःकाल से आधी रात तक जारी रहता है, और यदि कोई बालक बीमार पड़ गया, तो रात की नींद भी हराम हो जाती है। क्या पुरुष का कर्तव्य नहीं कि पत्नी का यह बोझ यथासाध्य हलका करे। यह उसकी घोर अनुदारता है अगर वह अपनी पाँच-छः घंटों की मेहनत का मूल्य स्त्री के १५-२० घंटों के मूल्य के बराबर समझे। फिर अब तो वह ज़माना आ रहा है, जब जीवन-

संग्राम की भीषणता स्त्री-पुरुष दोनों ही को द्रव्योपार्जन के लिये मजबूर कर देगी। योरप और अमेरिका में मध्यम श्रेणी के जीवन में यह कोई असाधारण बात नहीं है। भारत में भी वह दिन अब दूर नहीं है और उसके लिये हमें तैयार रहना होगा। तब तो कमाऊपन का गौरवान्वित पद आपके हाथ से छिन जायगा। स्त्री दिन-भर नौकरी करने के बाद बाल-बच्चों की सेवा करेगी, तो निश्चय ही गृहस्थी का सारा बोझ पुरुष पर पड़ेगा। इसलिये हमें अभी से चेत जाना चाहिए।

× × ×

२. भारत में स्त्रियों की हीन-दशा!

वर्तमान काल में भारतवर्ष में स्त्रियों की दशा बड़ी ही दयनीय हो रही है। चारों ओर से आपत्ति और क्लेश के बवंडर घेरे हुए हैं। चीत्कार और आत्मवेदना की करुण पुकार जहाँ देखो वहीं से सुनाई पड़ रही है। सब ओर से सुधार-सुधार की पुकार मची हुई है परंतु, कोई सहृदय इस ओर ध्यान देने की कृपा नहीं करते कि इस सुधार की जड़ कहाँ है। पत्ते सींचे जा रहे हैं, जड़ की परवा नहीं। मेरा जन्म भी उसी समाज में हुआ है, मैंने भी उसकी कठिनाइयाँ अनुभव की हैं, मैंने देखा कि सुधार के इस युग में सभ्यता का ढिंढोरा पीटनेवाला सभ्य-समाज नारियों पर कैसे-कैसे ज़ुल्म ढा रहा है। चहारदीवारी के भीतर अपनी मनोवृत्तियों को दबाए हुए आर्य-ललनाएँ कैसे-कैसे भीषण प्रहार सहती हुई अपनी जीवन-लीलाएँ समाप्त कर रही हैं! उस पर भी पुरुष-समाज अपनी कृपा की बागडोर ज़रा ढीली नहीं करना चाहता। तब फिर इसका अर्थ क्या समझना चाहिए?

मैं कोई लेखिका नहीं, विदुषी नहीं। परंतु मैंने अनुभूत वस्तु-स्थिति को अपनी बहनों और रक्षक-समाज के सम्मुख रखकर केवल अपने हृदय के बोझ को हल्का किया है। जिनके हृदय हैं, जो नारी-जाति की दुखद स्थिति से परिचित हैं उन्हें हमारे प्रति सहानुभूति होगी, उनके सन्निकट हमारी बातों का कोई मूल्य होगा; परंतु जो अपने सम्मुख दूसरों के कष्टों को कोई स्थान न देने की क़सम खाए बैठे हैं, उपेक्षा ही जिनका ध्येय है, उनके प्रति हमारा कुछ भी कथन अरण्य-रोदन होगा। अस्तु।

इधर कुछ समय से नारी-समाज की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों का लोप-सा हो गया है, वे घर की टहलनी समझी जाती हैं। उन्हें स्वतंत्र-विचार-प्रकाशन तक की आज्ञा नहीं। गुलामी का मेडल उनके गले में पहना दिया गया है। हाथ में हथकड़ी और पाँव में ऐसी बेड़ियाँ जकड़ दी गई हैं कि इधर-उधर झुकने की मजाल नहीं। उनका संसार उस गृह-कारागार की चहारदीवारी है, जिसके बाहर पैर धरना भी पाप में सम्मिलित है। शुद्ध वायु उन्हें स्पर्श करके कहीं अपवित्र न कर दे, पढ़ने-लिखने की बातें कहीं उन्हें दुश्चरित्रा न बना दें, भगवत्-भजन की शुभाभिलाषा पर उनका कोई अधिकार नहीं। उन्हें तो परमात्मा ने इसीलिये जन्म दिया है कि मानव-समाज की बिना दाम की दासी बनकर अपनी सारी वासनाओं तथा इच्छाओं की अन्त्येष्टि करके इह-लौकिक-लीला समाप्त कर दें। फिर इसकी कोई परवा नहीं कि उनका रचयिता भी वही परम पिता परमात्मा है जिसने मानव-समाज की सृष्टि की है। शोक!

जब कभी पत्र-पत्रिकाओं में यह उदाहरण दिया जाता है कि पाश्चात्य तथा अन्य देशों में स्त्रियों की उन्नति करने के अर्थ पुरुषों ने अपनी सहृदयता का पर्याप्त परिचय दिया है, तो बहुत-से लोग यह लांछन देने लगते हैं कि भारतवर्ष में थोड़े-से जेंटिलमैन अपनी सभ्यता को भूलकर अँगरेज़ियत के रँग में रँगे जाते हैं और यहाँ की मान-मर्यादा को नष्ट किए देते हैं। हमें उनके इस प्रतिवाद के संबंध में बड़े ही विनीत भाव से यह प्रार्थना करनी है कि आप उन प्रश्नों पर ज़रा शांत-चित्त से विचार तो करिए। यदि उन देशों में स्त्रियों को समानता, स्वतंत्रता और आत्म-विकासोन्नति देने में पुरुषों ने कोई भूल की है, तो हमें अपने यहाँ के संबंध में यह भी कहने का अधिकार है कि पुरुषों की इस थोथी हृदय-संकीर्णता ने नारियों के प्रति विश्वासघात और पाप किया है। इसका प्रतिफल इस हद तक पहुँच चुका है कि पुरुष-समाज दुर्बल, असहाय, घोर चिंता-ग्रस्त और रोगी हो गया है। न वह अपनी रक्षा कर सकता है और न अपने आश्रित अबला-समाज की। योरप आदि देशों में स्त्रियों के सहयोग से, उनको सुशिक्षित और दक्ष बनाने से, जो-जो लाभ देश, समाज तथा धर्म के लिये उठाए जा रहे हैं, वह आदर्श एवं गौरव की सामग्री हो रहे हैं।

मैं यह नहीं कहती कि हमारे देश में स्त्रियाँ मेमों की तरह ठठ-बठकर पुरुषों के साथ घूमें, थिएटरों या बाइसकोपों की पूजा करें, गृहस्थी का धंधा न देखें, बालकों तथा पुरुषों की सेवा न करें, या इतनी आलसी हो जायँ कि पानी पीने के लिये भी एक चाकरनी को आवाज़ देने की आवश्यकता पड़े। मेरी प्रार्थना तो यह है कि बीसवीं सदी के इस उन्नत युग में, जबकि प्रत्येक देश अपने विकास और समृद्धि के लिये प्राण-पण से प्रयत्न कर रहा है, भारत की यह लकीर-की-फ़क़ीरवाली चाल अवनति के गड्ढे में गिराने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकती। अपने पुराने इतिहास पर दृष्टि डालिए और उसके पश्चात् इस विषय पर विचार कीजिए कि क्या उस युग में स्त्रियों का यही स्थान था जो आजकल है? यदि ऐसा होता तो दमयंती, द्रौपदी, कुंती, सावित्री-सरीखी सती-शिरोमणि नारियों का आज कोई नाम भी न सुन पाता। यह बात तो बहुत दिनों की है, अभी मुग़ल-साम्राज्य के समय में ही राजपूताने के अंदर एक-से-एक प्रतिभाशाली वीर-रमणियों का वृत्तांत हम देख सकती हैं। पुरुषों की भाँति वीरता, धीरता, बुद्धि, विवेक, शासन-योग्यता सभी बातें पूर्ण मात्रा में पाई जाती हैं। इस समय भी भारत-भूमि ऐसी देवियों से शून्य नहीं। तब फिर हक़ों को दबाकर हमारे साथ कहाँ तक न्याय और मनुष्योचित व्यवहार किया जाता है, यही प्रश्न हम अपने रक्षकों से करती हैं?

मैं यह भी यहाँ कह देना चाहती हूँ कि इसमें हमारा भी थोड़ा-सा अपराध है। हमने भी बहुत-सी भूलें की हैं। हमारी ढील, हमारी लापरवाही और हमारे अंध-विश्वास ने हमारी इस प्रकार से दुर्गति कराने में यथेष्ट सहायता की है। हम अपने को भूल गईं। अपना पद अपने आप हमने छोड़ना प्रारंभ कर दिया। विद्या से हमने अपना मुँह मोड़ लिया, बाहरी बातों की जानकारी से अपना नाता तोड़ लिया, हमने धीरे-धीरे अपना यह अटल सिद्धांत बना लिया कि हमारा काम चौका-चूल्हा, बच्चों का पालन-पोषण और पुरुषों की उचित-अनुचित आज्ञाओं का पालन करना है। पुरुष-जाति ने इस सुअवसर से अनुचित लाभ उठाकर अपना सिक्का हमारे ऊपर जमा लिया। अपने स्वार्थ के आगे दूसरे के स्वार्थों की रक्षा करने का विचार काफ़ूर हो जाता है। और उसी का यह फल है कि गृहस्थी की गाड़ी का एक पहिया सबल तथा दूसरा जीर्ण हो गया। जीवन-यात्रा में जिस यथेष्ट परिमाण के साथ दोनों पहियों का सहयोग आवश्यक था, न मिल सका एवं आज उसका थोड़ी दूर भी चलना दुस्तर हो रहा है।

आपत्तियाँ जब आती हैं तो चारों ओर से जुट-बटुरकर एक साथ आती हैं। आँख उठाकर देखिए, आपको अबला-समाज की त्राहि-त्राहि की पुकार चतुर्दिश सुनाई देगी। पतियों के अत्याचार, सास-ससुर के क्रूर व्यवहार, विधर्मियों के नित-नए प्रहार, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, बेमेल-विवाह, कन्या-विक्रय आदि अगणित घुन इस सुकोमल पौधे को पनपने नहीं देते। हम अबला तो हैं ही, अब निर्बला और भेड़ से भी गई-बीती हो गईं। जो चाहता है, अत्याचार करता है। हम में न आत्म-रक्षा की शक्ति है, न मुँह से उफ़ निकालने की इजाज़त। भगवान् कृष्ण भी हमसे रूठ गए। बार-बार पुकारने पर भी नहीं सुनते। राधिका के चितरंजन! यदि तुमने स्त्री-जाति को इतना असहाय बनाया, तो पुरुष-जाति को उतना ही सहृदय क्यों न किया? तुम्हीं सोचो प्रभो! तुम्हारे सिवा हमारा सच्चा हितू कौन होगा?

समय बाध्य कर रहा है कि हमारा रक्षक-समाज हमारी हीन-दशाओं पर उदारता-पूर्वक ध्यान दे। हमारी बहनें और माताएँ अपनी गिरती हुई मान-मर्यादा को सँभालें। हृदय में साहस, आत्मा में परमात्मा का विश्वास स्थापित करें। चारों ओर आँख फैलाकर देखें कि संसार किस द्रुत-गति से आगे क़दम बढ़ा रहा है। वह समय गया जब हाथ-पर-हाथ रक्खे हुए शांति-पूर्वक चलकर सारे काम हो जाते थे। यह युग क्रांति का युग है। परिवर्तन-चक्र बड़ी तेज़ी से घूम रहा है। क्षण-क्षण में, कण-कण में, परिवर्तन हो रहा है। जो उत्साही हैं, जो उद्योगी हैं, वे बाज़ी मारे लिए जा रहे हैं। जो धर्म और समाज के थोथे ढकोसलों में ही अपनी विद्या-बुद्धि, मान-मर्यादा की इतिश्री समझते हैं वे निकट भविष्य में देखेंगे कि उनका कोई मूल्य नहीं रह जाता। समय-प्रवाह के प्रतिकूल चलकर संसार-यात्रा को कोई सफलीभूत नहीं बना सकता। इस बात को न भुला देना चाहिए। बिना सहयोग के कोई काम नहीं बन पड़ता। जब तक हमारी बहनें इधर ध्यान न देंगी और पुरुष-जाति अपनी उदारता का परिचय न देगी, तब तक सृष्टि

की सर्वोत्तम कारीगरी के ये दोनों नमूने न फूल सकेंगे न फल सकेंगे। यदि अब भी हृदय की संकीर्णता और कमज़ोरी हमारा पीछा नहीं छोड़ती, तो हम इसे भी अपना अभाग्य ही समझती हैं।

पुरुषों को चाहिए कि वह स्त्रियों को आदर की दृष्टि से देखें, उनका सम्मान करें, उनको सुशिक्षित और गृह-कार्य में दक्ष बनाने का प्रयत्न करें। क्योंकि बड़े-बड़े विद्वानों और नेताओं का मत है कि किसी भी जाति की उन्नति-अवनति का बहुत बड़ा दार-मदार स्त्रियों की योग्यता पर निर्भर है। बड़े-बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, विद्वान्, संन्यासी, समृद्धिशाली तथा ऐश्वर्यवान् पुरुषों को जननेवाली स्त्रियाँ ही हैं। पुरुष से कईगुना अधिक स्त्री अपनी संतान को सुशिक्षित और योग्य बना सकती है।

यह भी तै है कि बालक की सब से बड़ी और उपयुक्त अध्यापिका उसकी माता ही हो सकती है। माता उसे बैठते-उठते, सोते-जागते अनेकों प्रकार की शिक्षा देकर जैसा चाहे बना सकती है। इसके लिये अनेकों प्रमाण हैं। मैं उनकी यहाँ पर विस्तृत विवेचना नहीं करूँगी।

राष्ट्र की सर्वोत्तम निधि यह बालक ही होते हैं। उन्हीं की ओर देश की सारी आशाएँ लगी रहती हैं। वे प्रौढ़ होंगे और देश का दर्द हृदय में लेकर जीवन-संग्राम में एक सच्चे सिपाही की भाँति समर करेंगे। जब स्त्री-समाज की उन्नति सुदूर भविष्य तक में हमारा साथ देती है, तब क्या यह सब जानते हुए भी हमारे रक्षक पुरुषगण अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी नहीं मार रहे हैं।

जीवन के इस युग में यदि थोड़े-से उत्साही पुरुष और हमारी बहनें साहस तथा आत्म-त्याग का जामा पहनकर कर्मक्षेत्र में पदार्पण करें, तो बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। मैं यह बतला देना चाहती हूँ कि इस मार्ग में बहुत-सी कठिनाइयाँ आईं और आगे आवेंगी, पर वह दिन भी दूर नहीं जब उनकी इस पुकार की बहुत बड़ी क़ीमत अंदाज़ी जायगी, एवं सहयोग का एक भारी अंश उनके इस कार्य-संचालन में सहायता देगा। स्त्री-सुधार और उन्नति के लिये शिक्षा की महती आवश्यकता है। प्रत्येक पुरुष को बालकों की भाँति अपनी बालिकाओं को पढ़ाना भी अनिवार्य कर्तव्य समझना चाहिए। उनकी स्वास्थ्य-उन्नति के लिये परदे की बढ़ती हुई बीमारी को कम करना चाहिए। मेरा यह मतलब नहीं कि परदा बुरी प्रथा है, परंतु परदे ने जो भीषण रूप अब धारण कर लिया है वह सर्वथा हानिकारक है, उन्नति के मार्ग में बाधक है, संसार के ज्ञानार्जन में एक बुरी तरह खटकनेवाली बात है। इसके दूर तक के फलाफल पर विचार करके सुधार होना चाहिए। गृहस्थी के झगड़ों के अतिरिक्त स्त्रियों का कुछ कर्तव्य देश और समाज के निकट भी है। एक सच्ची संगिनी की भाँति पुरुषों का हाथ बँटाना उनका धर्म है। उत्तम शिक्षा और स्वास्थ्य-उन्नति के साथ-साथ जब हमारी बहनों को बाहरी कामों में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त होगा, तो उपस्थित कठिनाइयों के हल करने में अनेकों सुविधाएँ प्राप्त होंगी, पुरुषों का बोझ भी हलका होगा और देश के लिये भी कोई वास्तविक कार्य हो सकेगा।

मैंने इन टूटे-फूटे शब्दों में गौण-रूप से ही कुछ लिखा है, जो संकेत-मात्र ही कहा जा सकता है। आगे, यदि अवसर मिल सका तो, कुछ विस्तार से लिखने का प्रयत्न करूँगी। मेरा अपना तो यह तुच्छ विचार है कि लिखने-पढ़ने, लेक्चर झाड़ने और सुधार-सुधार की पुकार मचाने का समय चला गया। यह तो 'कर-युग' है। काम करो, उसका फल पाओ। चुप बैठे रहो, तो जो कुछ पास है उसे भी खो दो। माँगने-जाँचने का समय भी जाता रहा। जो अपनी विद्या, बुद्धि, कार्य-पटुता द्वारा अपना अधिकार प्राप्त कर लेता है, वही कुछ पा जाता है। माँगने पर निर्बलों की आवाज़ कौन सुनता है, कौन ध्यान देता है। यदि हमारी बहनें अपनी अवस्था सुधारना चाहती हैं, यदि उन्हें अपनी दशा पर तरस आता है, यदि वे रोज़-रोज़ के अत्याचारों से बचना चाहती हैं, तो अपने कार्यों द्वारा, त्याग द्वारा, साहस द्वारा सिद्ध कर दें कि उनका भी संसार में कोई पद है, वह भी किसी योग्य हैं और उनको भी कोई अधिकार माँगने का हक़ है। फिर कोई शक्ति नहीं जो उनकी इस प्रकार की अवहेलना कर सके। तथास्तु!

लीलावती देवी

१. सुकवि गणेश

ल्लावाँ ज़िला हरदोई में एक गणेश नाम के कवि हो गए हैं। इन्होंने संवत् १८१८ में 'रसवल्ली'-नाम की एक छोटी-सी पुस्तक बरवै-छंदों में बनाई है। यह पुस्तक अभी तक कहीं नहीं छपी। गणेशजी सुकवि थे। 'रसवल्ली' में अधिकतर शृंगार-रस की कविता है और वह अच्छी भी है। कवि ने मल्लावाँ-नगर का परिचय इस प्रकार से दिया है—

सहर मलामै दीसी पूरन जोति।
सुरसरि चारि कोस दुति दूना होति।
सुकुल राज मनि राजै गाजे राज।
पंडित कवि कुल मंडित गुन गन साज।
षट सहस्र परिपूरन षटकुल बृंद।
करम धरम जस बाढ़ मन्द ज्यों चंद।

ग्रंथ-निर्माण का संवत् निम्न-लिखित बरवै में इस प्रकार से दिया है—

बसु भू करि पुनि बसु भू फागुन मास।
संबत सुकुल द्वैज गुरु ग्रंथ उजास।

गणेशजी को सुकवि कह सकते हैं, पर वे ऊँचे दर्जे के कवि न थे। इनके और किसी ग्रंथ का पता नहीं चलता है। ये शायद कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। हमारे पास 'रसवल्ली' की जो प्रति है उसमें २११ बरवै हैं। नीचे उनकी कविता के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

बसंत-वर्णन

पवन दले दल रज उड़ि गवन अनूप।
अरुन सेत भ्रमरावलि बेनी रूप।
नूतन नूतन मधु मधु मधुपान लीय।
झंझा करत सु झुकि झुकि झपकै हीय।
घन बन फूलनि किंसुक कुसुमनि जाल।
बाढ़ी जनु बिरहानल लसनि कराल।
बन उपबन बन कुसुम चहूँ दिसि दीस।
पचबान इन बाननि कीन्ह बिसेखि।
कीन्हे कुसुम निराकुल आकुल भौंर।
रस लोभी लोभी मन रहत न ठौर।
अली अली अलिन कि अलिनी साथ।
ये अनद मकरंदहि गावत गाथ।
यहु रितुराज समाज समाजहि फूल।
गंध निवारि गंधवह बह प्रतिकूल।

पावस-वर्णन

उठी धुंधि धुरवानि दिसि धुर ते धीर।
बरही बोलत बरही बाढ़ी पीर।
आए गरजि गरजि नव नीरज स्याम।
बधी लाज बांधि बिरही बिरही काम।
घेरत घन नभमंडल मंडि सरूप।
छनदा छपत न छनभरि अधिक अनूप।

साखि आई रितु कैसी आइ न पीउ ।
केकी रिक भेकी सत लै है जीउ ।

× × ×

२. केशव का सदोष काव्य

कविवर श्रीपतिजी का 'काव्य-सरोज'-ग्रंथ संवत् १७७७ में समाप्त हुआ है। इसमें कविता की रीति का विशद विवेचन है। इसके चौथे अध्याय में दोषों का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। श्रीपतिजी ने सदोष कविता के जो उदाहरण दिए हैं उनमें महाकवि केशवदास के भी कई छंद हैं। यहाँ पर हम उन छंदों को उद्धृत करते हैं और इस बात का भी उल्लेख करते हैं कि श्रीपतिजी ने उनमें किन-किन दोषों का होना माना है। विवेकी और विद्वान् पाठकों को चाहिए कि इस संबंध में वे अपना मत भी स्थिर करें कि वास्तव में केशव के वे छंद सदोष हैं या नहीं।

१—श्रुति-कटु

कानन के रंग रंग नैनन के डोलौं संग
　　नागर अम्र रमना के रमहि रसाने हौ ;
और एढ़ कहा कहौं मूढ़ हौं जू जाने जाहु
　　औंढ़ एढ़ केसौदास परि पहिचाने हौ ।
तन आन मन आन कपट निधान कान्ह
　　मानौ कहौ मेरी आन काहू को डराने हौ ।
वे तौ हैं बिकानी हाथ मेरे मैं निहारे हाथ
　　तुम ब्रजनाथ हाथ कौन के बिकाने हौ ।

श्रीपतिजी उपर्युक्त छंद में 'श्रुति-कटु'-दोष की स्थापना करते हैं। स्वयं उनके शब्द ये हैं—

"यामैं अम्र पद श्रुति-कटु है"

२—यति-भंग

ब्रज की कुमारिका वे लीन्हें सुकसारिका प-
　　ढ़ावैं कोक कारिकान केसव सबै निबाहि ;
गोरी-गोरी भोरी-भोरी थोरी-थोरी बैस फिर
　　देवतासी दौरी-दौरी आई चोरी-चोरी चाहि ।
बिन गुन तेरी आन भृकुटी कमान तान
　　नयन कटाक्ष बान यह अचरज आहि ;
याते मान ईठ दीठ मेरे को अदीठि करि
　　पीठि दै दै मारती पै चूकती न काहू ताहि ।

इस छंद में 'यति-भंग'-दोष माना गया है और वह प्रथम पद में है। पिंगल-मतानुसार यह छंद रूप-घनाक्षरी है। श्रीपतिजी ने इसका लक्षण यह दिया है—

वसु वसु वसु वसु वरनिये करन अंत लघु होय ;
सोई रूप-घनाक्षरी कहैं महाकवि लोय ।

इसी लक्षण की कसौटी पर कसके श्रीपतिजी उपर्युक्त छंद के प्रथम चरण में यति-भंग मानते हैं।

३—असमर्थ

रुचि पंकज वंदन चंदन कंजन रंजन रोचन हू की बची ;
कहिये केहि कारन कोप लगा यक कायर कामिनि मोह नची ।
अनुमानत हौं अँखियाँ लखि लाल पै नाहिन राति के रोस रची ;
तन तेरे बियोग तपो तरुनी तेहि कारन मो हिय माहि तची ।

इस छंद में 'चंदन' शब्द का प्रयोग लाल चंदन के अर्थ में किया गया है, पर चंदन से प्रायः श्वेत चंदन का ही अर्थ लिया जाता है, ऐसी दशा में 'रक्त-चंदन' के लिये 'चंदन' का प्रयोग श्रीपतिजी की राय में असमर्थ है। वे उपर्युक्त छंद में असमर्थ-दोष मानते हैं।

४—शिथिल-बंध

नगर-नगर पर घन हौं तो गाजै घोर,
　　ईत की न भीत भीत अघन अधीर की ;
अरि नगरीन प्रति करत अगम्य गौन,
　　भावै बिभिचारी जहाँ चोरी पर पीर की ।
सासन को नासन करत एक गधासन,
　　केसोदास दुर्गन हौं दुर्गति सरीर की ;
दिसि-दिसि जीत पै अजीत द्विज-दीनन सों,
　　ऐसी रीति राजनीति राजै रघुबीर की ।

इस छंद में 'अगम्य गौन' और 'गधासन' आदि पदों को लक्ष्य में रखकर छंद में 'शिथिल-बंध'-दोष की स्थापना की गई है। ऊपर हमने केशवदास के जो छंद दिए हैं उनका पाठ वही रहने दिया है जो हमको 'काव्य-सरोज' में मिला है। हमने उसे शुद्ध करने का उद्योग नहीं किया है।

× × ×

३. रावराजा बुधसिंह के तीन छंद

(१)

बूँदी के रावराजा बुधसिंह बड़े वीर पुरुष थे। बूँदी के नरेश दिल्ली के बादशाहों के मित्र थे और संकट के समय पर भी बादशाह का साथ देते थे। रावराजा बुधसिंह ने तो दिल्ली के बादशाहों के लिये बड़े-बड़े कठिन काम पूरे किए। ये कवि भी थे। जब बादशाह फ़र्रुख़सियर को सैयद अब्दुल्ला और हुसेनअली ने मार डाला, तो

इनको बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने उस समय निम्न-लिखित छंद की रचना की। ये सैयदों से युद्ध में लड़े भी थे, पर सफलता प्राप्त न हो सकी।

ऐसी ना करी है काहू आज लौं अनैसी
जैसी सैयद करी है ये कलंक काहि नढ़ैगे ;
दूजे को नगारो बाजे दिल्ली में दिलीस आगे
हम सुनि भागें तो कबिंद कहा पढ़ैंगे।
कहै राव बुद्ध हम करत है युद्ध स्वामि
धर्म में प्रसिद्ध है जहान जस मढ़ैंगे ;
हाड़ा कहवाय कहा हारि करि कढ़े नाते
भारि समसेर आज रारि करि कढ़ैंगे ;

(२)

औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह ने बड़ा पराक्रम दिखलाया। दिल्ली की शाही सेना को पराजित करके उन्होंने मारवाड़ को एक बार फिर स्वाधीन कर दिया। रावराजा बुधसिंह ने राजपूताने के एक बड़े नरेश के इस वीरोचित काम को बहुत पसंद किया। मारवाड़ की स्वाधीनता का समाचार उन्हें बड़ा सुखद जान पड़ा। जल-प्रलय के बाद जैसे बाराहावतार ने पृथ्वी का उद्धार किया था, मानों उसी प्रकार से अजीत ने मारवाड़ का उद्धार किया। रावराजा ने इस आशय का एक बड़ा सुंदर छंद बनाया है जो नीचे दिया जाता है—

दैत दिलीपति मीर महाजल सेद हिलोरन ते अति बाढ़ी ,
हिंदुन की हद दाबि दसों दिसि तेज तुरक्क तरंगन चाढ़ी ;
मारु महीप प्रभु अवतार है धीरज धार गही खग गाढ़ी ,
यों कहि बुद्ध अजीत बराह है बूड़ी धरा कमधज्ज ने काढ़ी।

(३)

मोहम्मदशाह बादशाह के राजत्व-काल में इन्हीं महाराज अजीतसिंह ने साँभर और अजमेर से भी बादशाही शासन उठा दिया था। बादशाह की ओर से महराबख़ाँ और हुसैनख़ाँ-नामक दो सरदार लड़े थे, पर दोनों को ही हारना पड़ा था। हुसैनख़ाँ तो मार भी डाला गया। अजमेर शरीफ़ के पीरों से भी कुछ न बन पड़ा और महाराज अजीत संपूर्ण विजयी होकर वहाँ से किसी के टाले न टले। रावराजा बुधसिंह ने इस घटना का वर्णन भी निम्न-लिखित सवैया में बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। देखिए—

बात कराहि कराहि कहै जु मुहम्मदसाहि अमीरन सों ,
सरजोर भयो है मरुद्धर राज अजीत सबै रन वीरन सों ;
महराब निकारि खराब कियो जिन मारे हुसैन को तीरन सों ,
साँभर छीनि लई सु लई न टरयो अजमेर के पीरन सों।

रावराजा बुधसिंह संवत् १८०० के उत्तरार्ध में थे। उनके समय में बूँदी-राज्य की बड़ी दुर्दशा हुई। बूँदी पर और लोगों का आधिपत्य हो गया और रावराजा निर्वासित-से होकर इधर-उधर भटकते रहे। रावराजा बुधसिंह ने हिंदी के बड़े-बड़े कवियों का सम्मान किया था। इनकी प्रशंसा में महाकवि भूषण का भी एक छंद पाया जाता है। ये स्वयं कवि थे और ऊपर के तीनों छंदों के देखने से उनकी कवित्व-शक्ति का पता चलता है।

× × ×

४. कवि हनुमानसिंह

माधुरी के एक अंक में मैंने एक छोटे-से लेख में छोटा नागपुर के कुछ कवियों के संबंध में कुछ उल्लेख किया था। उसमें मैंने अपने निवेदन द्वारा उन लोगों का ध्यान आकर्षित किया था जिन्हें उन कवियों का कुछ ज्ञान हो, या जिनके पास उस भाग के किसी कवि की कोई कविता हो या जिसे उन रचनाओं के प्रकाशित होने की बात ज्ञात हो। लगभग तीन मास के हुए किंतु किसी पत्र या पत्रिका में उस संबंध में कोई बात नहीं निकली। हाल में बिहार के कुछ हिंदी-सेवकों ने बिहार के लेखकों और कवियों के संबंध में पुस्तक प्रकाशित करने की सूचना निकाली है। लहरियासराय, पुस्तक-भंडार ने छपाने का कार्य अपने हाथ में लिया है। क्याही अच्छा होगा, यदि श्रीबेनीपुरी-जी और श्रीगंगाशरणसिंहजी का ध्यान इस ओर हो जाय और उस पुस्तक में मेरे लेख के प्रतिभा-संपन्न स्वाभाविक कवियों को भी थोड़ा स्थान दिया जाय।

पहले लेख में मैंने लिखा था कि अभी तक जितनी रचनाएँ मुझे मिली हैं, उनमें कवि हनुमानसिंह की रचनाएँ अधिक विद्वत्ता-पूर्ण हैं। संभव है, अधिक जाँच पर इस विचार में परिवर्तन करना पड़े।

कवि हनुमानसिंह के जन्म-काल का ठीक पता नहीं चलता। उनकी और भी कविताओं के मिलने पर यह अवश्य मालूम हो जायगा, क्योंकि सभी कवियों ने हिंदी के अन्य कवियों की भाँति जीवन की घटनाओं के समय का निरूपण अपनी-अपनी रचनाओं में किया है। हनुमानसिंह का जन्म संवत् १८०६ के पूर्व हुआ था। इस संवत् के कुछ ही वर्षों के परचात् उनको मृत्यु हुई, क्योंकि

कहा जाता है कि जरावस्था में वह पुरी गए थे और जगन्नाथ-दर्शन का समय हनुमानसिंह ने अपनी एक कविता में '१८०६ संवत् माघ पूर्णमासी' लिखा है। वह रचना इस प्रकार है—

"संवत् शिशु वसु शशि सरै माघ पूनी
हनुमान दर्शन के आए शरण
करु दया मोपर देहु दर्शण।"

हनुमानसिंह जाति के क्षत्रिय थे। उनकी प्रतिभा को देखकर लोगों को विश्वास था कि इन्हें सरस्वती इष्ट है। दंतकथा है कि द्विज बरजू की विद्या ने एक बार हनुमानसिंह को न बोलने पर बाध्य कर दिया। हनुमानसिंह को इस पराजय से बहुत ग्लानि हुई। अतएव द्विजवरजू को अपनी विद्वत्ता से मुग्ध कर लेने का उन्होंने उसी समय निश्चय कर लिया। वह तुरंत घर से बाहर हो गए और विद्या के केंद्र काशी चले गए। कठिनपरिश्रम से वह शास्त्र और साहित्य का अध्ययन करने लगे। वह काशी में असीघाट पर त्यागी साधु के सदृश रहते थे। ३२ वर्ष उनके वहीं बीते। लिख-पढ़ लेने पर वह वहीं भाँति-भाँति की रचना में लगे और अपनी रचनाओं को कंठाग्र करने लगे। फिर वह अपनी जन्मभूमि को लौटे। वहाँ वह एक साधु के रूप में पहुँचे थे। लोग उन्हें पहचान नहीं सके। सायंकाल में वह भोजन बना रहे थे और नाच-गान की तैयारी हो रही थी। वरजूजी अपनी रचना का स्वाद लोगों को चखा रहे थे, लोग मस्त हो नाच-गा रहे थे कि देखते-देखते हनुमानसिंह के हृदय में गान-प्रेम की धारा उमड़ पड़ी। वह अपने को अधिक रोक नहीं सके और हाथ में कलछी लिए ही नाचने लगे। पीछे अपनी रचना के पांडित्य से लोगों को चकित कर दिया। वरजूजी ने तुरंत उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले कि "तुम अवश्य हनुमानसिंह हो। होनहार के जो लक्षण तुममें थे, तुमने उन्हें सत्य कर दिखाया। अब तुम ही अपने पांडित्य से लोगों का उपकार करो। मैं अब शांतिमय जीवन चाहता हूँ।" हनुमानसिंह का जन्म घाघरा-ज़िले के हप्यामुनि-नामक स्थान में हुआ था।

अब मैं उनकी कुछ रचनाएँ पाठकों के विनोदार्थ नीचे रखता हूँ। संभव है कुछ लोगों को इनसे प्रेम न हो और वे उसमें किसी रस के भाव का अनुभव न करें। किंतु जो दो-चार बार पढ़कर उन्हें गाने के रूप में पढ़ सकेंगे, उन्हें अवश्य आनंद आवेगा।

ईश-बंदना

बंदौं प्रथमहिं प्रभु के, हो जेही रूप न रेख।
अलख अनादिक अद्भुद, हो करणी अनलेख ;
जाके चरित्र नहीं पावत, श्रुति शारद शेष ॥ बंदौं०॥
अबिरल भक्ति हैं तिन कर, हो माया मोह न पेख ;
अजहुँ बैराग महेश्वर, धरे जटिल कुभेष ॥ बंदौं० ॥
राग निगम सुधा सब हो, मिलि होव न सचेत।
जड़ हनुमान कहत मन, हरि-बंदना करेष ॥ बंदौं० ॥

चेतावनी

आखिर एक दिन है मरना ;
तेही कारण काहे सजन डरना (टेक)
मात पिता परिवार चलत खन, कोई नहीं राखि सकै शरणा ;
यह मन मानी तजो सब संशय, राम सिया के भजन करना।
जो जगन्नाथ अनाथ के साथी, माया औ मोह संकट हरना।
जड़ हनुमान भेंखे कब देखब, श्यामल अंग कमल चरना

× × ×

बीते संवत् कत सुनहु खगेश ऋषि देव प्रवेश,
पगु पगु नापत आमहीं,
सुधि पाए लंकेश, मुनि कहं बोलि पठाए।
काहे नित नापत रहेउ ऋषेश दशशीश पूछेश,
प्रभु-दल अटहीं कि नाहीं,
मुहिं होत अँदेश, मुनि कहँ बोलि पठाए।
ऐसो कटक करी अइहें रमेश मोही होवत अंदेश,
तब गए मंत्री से रावण,
निज हेतु बूझेस, मुनि कहँ बोलि पठाए।
कारण तव प्रभु जग प्रकटेस हम सहत कलेश,
मर्म बिचार मनुराज लखेस,
हनुमान कहेस, मुनि कहँ बोलि पठाए।

× × ×

मनुराज कहे दिन ते बचना, आजु नेहाल भए लोचना (टेक)
माँगहु अस्तुत तुमहीं समान सुत तात त्यजहुँ अब मम सोचना ;
एवमस्तु भाषत सहित रमापति बारंबार जे पद बंदना ;
जड़ हनुमान चले अब भवन महँ संशय दूर सबै करना ;

राम-जन्म

अनमति भाषत शिव यती, सुनु
पार्वती, किन्ह रामायण रघुपति—
मास चैत नवमी बुधवार हीं,
जनम लिन्ह जो अभिगती सुनु पार्वती। कि०

पच जुगुल कर एक दिवस भए,
रजनी प्रभात न जान यती सुनु पार्वती । कि०
रथ सहित रवि थकित गगन भए,
आनंद मंगल अवध निर्ता सुनु पार्वती । कि०
जड़ हनुमान चरण चित चाहन,
जाई देखौं बहुत दिन बातां सुनु पार्वती । कि०

सीता की बिदाई

बिदा करत जा बैदेही के, सब रानिवास के होर दरके (टेक)
सीता को सँवराय के, लायउ राम के पास;
गंठ-बंधन कर दीन्हेउ, चित में भए उदास ।
सखी रे नारी के जनम अकारथ परके स्वारथ हो—
ललना निज गृह त्यजि चलीं जात बहुरी नहीं आवत है।
कंदिए कंदिए अस भाषत जननी जश,
सून करी जात भवन मोहिं के—
लगीं पालकी द्वार तब, लगे बतीस कहार;
बिदा देहु नृप जनकजी, जाइब घर महराज ।
सखी रे लिखी पत्र मोहीं भजन मा बिसराइब हे;
ललना अवसर जानी के लानव दया मत छाड़ब हे।

कहीं यहीं भाँति जननी समुभावति मिलत सखी सब अंक भरके।
शिविका गई जनवास तब, हर्ष सहित पगु द्वार;
पुत्री पहँ गए जनकजी, समुभावन के बार।
सखी रे शाशुरशशुर-पद बदन मति कदराइब हे;
ललना जेहीं में सुयश जग होए अपयश मति लावब हे।
जड़ हनुमान जनक समुभावत रघुबर चले अवधपुर के।

× × ×

भरती से कंच चकराई, पंडित ताहीं कागा लें जाई (टेक)
लेन चंगुल मँह वाहीं उठाई, कौन बिरिछ तरे खाई;
अचंभित भए मन पूछत सब जन, यहीं कहु समुभाई;
जड़ हनुमान चकित चित कथत, पंडित से अरज लगाई।

× × ×

श्रवण भए ताका हो, कहुँ काँवर कहां लें राखा (टेक)
कौन महिना कहे कौन सुदिन तिथि, कौन अवसर चंला हो;
नहीं दशरथ लिए नहीं तरुतर देखो, जरत कोई नहीं देखा हो;
जड़ हनुमान भ्रमित मन पूछत कहु पंडित यही लेखा।

रामावतार शर्मा

---

१. इतिहास

पश्चिमी योरप—प्रथम भाग ; अनुवादक श्रीछविनाथ पांडेय बी० ए०, एल्-एल्० बी० ; प्रकाशक ज्ञान-मंडल, काशी ; पृष्ठ-संख्या ५३५ ; मूल्य २।।।) । खद्दर की सुंदर जिल्द ।

ज्ञान-मंडल के प्रकाशन-कार्य में कुछ दिनों से बड़ी शिथिलता नज़र आ रही है । पृथ्वी प्रदक्षिणा के दो साल बाद यह पुस्तक प्रकाशित हुई है । जिस समय ज्ञान-मंडल की स्थापना हुई थी, हमने इससे बड़ी-बड़ी आशाएँ बाँधी थीं । और इसमें संदेह नहीं कि मंडल ने दो-तीन साल तक बड़े उत्साह से काम किया । उसके द्वारा हिंदी-साहित्य को कई बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुए । लेकिन रत्नों का मूल्य जौहरी ही दे सकता है, जनता उनकी क्या क़द्र कर सकती है । नतीजा यह हुआ कि मंडल के संचालकों को प्रकाशन से अरुचि होती गई । मगर जान पड़ता है, अब फिर उनका उत्साह जाग्रत हुआ है । यह हिंदी के लिये सौभाग्य की बात है । अब ऐसी संपन्न संस्थाएँ उच्च कोटि के वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन से मुँह मोड़ लेंगी, तो उस अंग की पूर्ति क्या वे प्रकाशक करेंगे जिनका जीवन पुस्तकों की खपत पर ही निर्भर है ? ख़ैर, प्रस्तुत ग्रंथ श्रीजेम्स हार्वी रॉबिंसन-कृत 'हिस्ट्री ऑफ़ वेस्टर्न योरप' का अनुवाद है । अनुवाद ६ साल पहले तैयार हो गया था । पुस्तक के छपने की नौबत अब आई है । देर आयद दुरुस्त आयद । मि० रॉबिंसन की पुस्तक प्रामाणिक है और शायद युनिवर्सिटी के कोर्स में भी है । अनुवाद भी सुंदर और सरल हुआ है । इँगलैंड के तो कई साधारण इतिहास-ग्रंथ हिंदी में उपलब्ध थे, पर पश्चिमी योरप का कोई इतिहास न था । इस ग्रंथ ने इस अभाव को किसी अंश तक पूरा कर दिया । यदि इंटरमीडिएट क्लासों में योरप का इतिहास पढ़ाने की ज़रूरत समझी जाय, तो इस पुस्तक से काम चल सकता है । अंत में ३४ पृष्ठों की एक अनुक्रमणिका और ६ पृष्ठों का एक शुद्धि-पत्र भी है । पुस्तक का आरंभ रोम-साम्राज्य के अंतिम काल और ईसाई धर्म के जन्म-काल से होता है, और अंत वर्तमान समय की वैज्ञानिक उन्नति से । आजकल के ज़माने में योरपीय इतिहास से अनभिज्ञ रहकर कोई आदमी अपने को सुशिक्षित नहीं कहा सकता । भारतीय इतिहास राजाओं की जीवन-कथा-मात्र है, या फिर प्राचीन साहित्य से उसका कुछ आंशिक ज्ञान हो सकता है । पश्चिमीय इतिहास जनता की उन्नति और विकास की कथा है । पूर्वी इतिहास में राजे आते हैं, विजय-नाद सुनाते हैं, कोई प्रजा की रक्षा करता है, कोई उसको कुचलता है, लड़ाई-दंगे होते हैं और राजा का अंत हो जाता है, प्रजा के हृदय का हमें कुछ भी ज्ञान नहीं होता । साधु-संतों के चरित्रों से कुछ धार्मिक जागृति का पता चल जाय, किंतु प्रजा ने अपनी राजनैतिक दशा सुधारने के लिये क्या किया, इस विषय में हमारा इतिहास मौन है—कहने के लिये कोई बात ही नहीं । पश्चिम का इतिहास राजा और प्रजा में होनेवाले निरंतर संग्राम की स्फूर्ति-

दायिनी कविता है। यह वही संग्राम है जिसके फल-स्वरूप आज योरप में प्रजावाद की प्रधानता है। राजे जो दो-एक बचे हुए हैं वह अपंग, शक्ति-हीन हैं। हमें आशा है कि इस पुस्तक का हिंदी-संसार में आदर होगा। अनुवाद हो सही, पर इससे एक बड़े अभाव की पूर्ति होती है।

× × ×

२. कविता

आँसू—रचयिता बाबू जयशंकरप्रसाद 'प्रसाद'; पृष्ठ-संख्या ३२; आकार छोटा; काग़ज़ और छपाई उत्कृष्ट; मूल्य।); साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी के पते से प्राप्य।

यह पुस्तक छोटी होने पर भी बड़ी महत्त्व-पूर्ण है। यदि 'आँसू'-सदृश रचनाएँ खड़ी बोली में निकलने लगें, तो खड़ी बोली की कविता का महान् उपकार हो। बाबू जयशंकरप्रसादजी सुकवि ने 'आँसू'-पुस्तक लिखकर बड़ा काम किया। इसकी अधिकांश पंक्तियाँ कवित्व-गुण से मंडित हैं। बड़ी ही सुंदर पुस्तक है। हमारा प्रत्येक कविता-प्रेमी सज्जन से अनुरोध है कि वे 'आँसू' को एक बार अवश्य पढ़ें। निम्न-लिखित पंक्तियाँ कितनी सुंदर हैं—

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई;
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

और भी देखिए—

परिचय! राका में निधि का
जैसा होता हिमकर से;
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।
कामना - सिंधु लहराता
छवि पूरनिमा थी छाई;
रत्नाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाई।

ऊपर की पंक्ति में 'निधि'-शब्द समुद्र के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। संभव है, कुछ लोग कहें कि इस अर्थ को प्रकट करने में यह शब्द असमर्थ है।

× × ×

परिचय—संकलयिता पं० शांतिप्रिय द्विवेदी; प्रकाशक साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी; पृष्ठ-संख्या १८४; छपाई और काग़ज़ अच्छा; मूल्य १); प्रकाशक से प्राप्य।

इस पुस्तक में बाबू जयशंकरप्रसाद, पं० रामनरेश त्रिपाठी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० मुकुटधर पांडेय, बाबू सियारामशरण गुप्त, ठा० लक्ष्मणसिंह, पं० बालकृष्ण शर्मा, पं० सूर्यकांत त्रिपाठी, पं० गोविंदवल्लभ पंत, पं० सुमित्रानंदन पंत, पं० मोहनलाल महतो, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, बाबू भगवतीचरण वर्मा और पं० जनार्दनप्रसाद झा की ५८ कविताओं का संग्रह है। कविताएँ खड़ी बोली की हैं। द्विवेदीजी ने प्रत्येक कवि का संक्षिप्त परिचय भी दिया है। संग्रह उपयोगी है। नए ढंग की खड़ी बोली की अच्छी कविताओं के एक बड़े संग्रह की आवश्यकता जान पड़ती है। जब तक कोई ऐसा बड़ा संग्रह नहीं तैयार होता, तब तक इस संग्रह से भी सहायता मिल सकेगी। हम पं० शांतिप्रिय द्विवेदी को 'परिचय' संग्रह संकलन करने के उपलक्ष्य में बधाई देते हैं और खड़ी बोली की कविता के पढ़नेवालों से 'परिचय' पुस्तक पढ़ने का अनुरोध करते हैं।

× × ×

३. उपन्यास और कहानी

सदा गुलाब—लेखक सरदार मोहनसिंह दीवाना एम० ए०; प्रकाशक भारत पब्लिशिंग सोसाइटी, माल रोड, कानपुर; पृष्ठ-संख्या करीब ८०; मूल्य १॥)

इस पुस्तक में सरदार साहब के पाँच गल्प संग्रह किए गए हैं: (१) डॉक्टर की स्त्रियाँ, (२) मेरे मास्टर साहब, (३) निराली बहू, (४) निर्धन की स्त्री, (५) कर्नो की लड़की। पहली कहानी में एक डॉक्टर साहब अपनी पत्नी की परवा न करके एक ईसाई लड़की से विवाह कर लेते हैं। जो ज़हर खाकर मर जाती है। दूसरी कहानी में एक पारसी लड़की अपने गाना सिखानेवाले मास्टर से प्रेम करने लगती है। अंत को वह प्रेमी के साथ भाग जाती है। उसका पिता उसे पकड़वाकर दूसरे आदमी से विवाह कर देता है और मास्टर को क़ैद की सज़ा दिला देता है। लेकिन जब मास्टर साहब छूटते हैं, तो लड़की पति को छोड़कर उनके पास चली जाती है। तीसरी कहानी में एक वैवाहिक कुचक्र का रहस्य खोला गया है। चौथी कहानी में एक ग़रीब आदमी ने अपनी स्त्री की रक्षा करते हुए एक बदमाश को ज़ख़्मी कर दिया है, और पाँचवीं में एक कोकीन बेचनेवाले बदमाश की कारस्तानी दिखाई गई है। इन कहानियों की वर्णन-शैली स्फूर्ति-पूर्ण

है और बीच-बीच में जीवन की दशाओं पर अनुभव-पूर्ण कटाक्ष किए गए हैं। संकेत-कला में भी लेखक महोदय सिद्ध हस्त मालूम होते हैं—

"कल्लो नाई को कौन नहीं जानता ? आर न जानते हों, हो सकता है। कारण यह है कि आप कोकीन नहीं खाते, भंग नहीं पीते, चरस का दम नहीं लगाते, मुसलमान गुडों की तंग प्यारी गलियों में नहीं जाते, फूलवाली से छेड़-छाड़ करने का मज़ा नहीं लेते।

संकेत-कला द्वारा चरित्र का कितना सुंदर चित्र खींचा गया है।

"पाठक समझते होंगे कि चोर-डाकू अमीर होते हैं, बदमाशों की जेबें सदा भरी रहती हैं। मगर नहीं, जो तुम्हारे व्यवसाय में होता है, वही दशा यहाँ भी है। काम थोड़ा है, पर काम करनेवाले बहुत।"

लेखक महोदय Realism के भक्त मालूम होते हैं। और इसीलिये उनकी रचना एकांगी है। वह हृदय के कोमल भावों को जाग्रत् नहीं करता, जीवन को रसमय, आनंद-पूर्ण नहीं बनाती, उनमें एक जले हृदय का हाहाकार है, एक व्यग्र आत्मा की उन्माद-पूर्ण चीत्कार। पश्चिम के साहित्यकारों में एक दल पैदा है जो जीवन की अपूर्णता को अपनी रचनाओं में भी अंकित करता है। वह कहता है, जब जीवन का अंत चमत्कार-शून्य है, तो कहानी, जो जीवन ही का प्रतिबिंब है क्यों चमत्कार-पूर्ण हो। वह समाज के बनाए हुए बंधनों की परवा नहीं करता। कुत्सित प्रेम का अंत भी भयकर हो, इसकी क्या ज़रूरत, जीवन में बहुधा इसके विपरीत भी होता है। लेखक भी उसी दल के अनुगामी जान पड़ते हैं। हमारा उनसे यही निवेदन है कि योरप की और हमारी दशाओं में बड़ा अंतर है। जो चीज़ उनके लिये हितकर है, वह हमारे लिये घातक सिद्ध हो सकती है। जिस शराब को पीकर वे चुहल करते हैं, वही शराब पीकर हम बदमस्त हो जाते हैं। अतएव, हमें इतनी सामाजिक स्वच्छंदता की ज़रूरत नहीं, जो हमारे मन में नई-नई भावनाएँ उत्पन्न करके हमारे जीवन को और भी कुत्सित बना दे। विवाह का आधार धर्म है। विवाह करने के पहले हमको अधिकार है जो चाहे करें, किंतु विवाह हो जाने पर उसका मन और वचन से सम्मान करना ही हमारा ध्येय होना चाहिए। उत्तम साहित्य वही है जिसमें स्फूर्ति और आनंद प्रदान करने की शक्ति हो, जो हमारे जीवन में हरियाली और प्रकाश का संचार करे। विध्वंसात्मक साहित्य की हमें ज़रूरत नहीं।

× × ×

४. फुटकल

A manual of Physiography for High Schools Volume I. लेखक, एम्० पी० वर्मा बी० ए०, एल्०टी० ; प्रकाशक नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ ; मूल्य २) ; पृष्ठ-संख्या २४० ; सुंदर मज़बूत जिल्द।

भूगोल-विद्या के कई भाग होते हैं। साधारण भूगोल, व्यावसायिक भूगोल, प्राकृतिक भूगोल, खगोल। प्राकृतिक भूगोल में पृथ्वी का आकार, उसकी गति, ऋतु-परिवर्तन, वायुमंडल के रहस्य आदि विषयों की विवेचना की जाती है। यह पुस्तक इसी प्रकार की है। इस विषय पर इतने विस्तार से अब तक हिंदी में कोई पुस्तक नहीं लिखी गई। विषय जटिल है पर लेखक ने उसे बोधगम्य बनाने में सराहनीय प्रयत्न किया है। प्रत्येक बात को नक़्शों और चित्रों से समझाया गया है। हमें आशा है कि अब मैट्रिक्युलेशन कक्षाओं में इस विषय को हिंदी में पढ़ाने में बड़ी सहूलियत हो जावेगी।

× × ×

प्रारंभिक अनिवार्य शिक्षा—लेखक मुं० मेवाराम साहब बी० ए० ; प्रकाशक मुं० शांतिकुमारजी "शांति-निवास", हीवेट रोड, लखनऊ ; मूल्य ।=) ; पृष्ठ-संख्या ८६

यह समस्या बहुत दिनों से देश के सामने उपस्थित है कि वर्तमान निरक्षरता को क्यों कर मिटाया जाय। योरप ने इस समस्या को कितने ही साल पहले शिक्षा को अनिवार्य रूप देकर हल किया है। अतएव भारत में भी उसी नीति का पालन करने के लिये हमारे नेता बहुत दिनों से ज़ोर दे रहे हैं। विषय के महत्त्व को तो गवर्नमेंट ने स्वीकार कर लिया है, और कई प्रांतों में तो बोर्डों को उसका प्रचार करने की अनुमति भी मिल गई है। अब प्रश्न केवल रुपए का है। गवर्नमेंट के पास काफ़ी रुपया नहीं है। हम यह मानते हैं कि निरक्षरता दूर कर देने और प्रारंभिक शिक्षा का अनिवार्य प्रचार होने से देश को बहुत कुछ लाभ हो सकता है, पर उतना नहीं जितना लेखक महोदय बतला रहे हैं। शिल्प और कला की उन्नति के लिये केवल प्रारंभिक शिक्षा काफ़ी नहीं। प्रारंभिक शिक्षा का ज़िक्र

हो क्या, हम तो अच्छे-अच्छे शिक्षित युवकों को इस मामले में कोरा पाते हैं। प्रारंभिक शिक्षा से जिन बातों की आशा की जाती है उनको पूरा करने के लिये इनमें कहीं अच्छे अध्यापकों की ज़रूरत है। मगर हमें तो देश की वर्तमान आर्थिक और अधिकारियों की नैतिक दशा देखते हुए अनिवार्य शिक्षा से लाभ के बदले हानि होने की संभावना दिखाई देती है। प्रजा पुलीस, ज़मींदार, साहूकार, पटवारी, क़ानूनगो, बेगार और इसी तरह की और कितनी ही विपत्तियों में इतनी पिसी हुई है कि इस नई धौंस सहने का सामर्थ्य नहीं रखती। इसमें संदेह नहीं कि हमारे कृषक स्वयं विद्या के महत्त्व को समझते हैं और अपने बच्चे को मूर्ख नहीं रखना चाहते। कोई साधारण रूप से संपन्न कृषक अपने लड़के को स्कूल भेजने में हीला-हवाला नहीं करता। लेकिन जब यह बात उसे क़ानून के भय से करनी पड़ेगी, तो वह शिक्षा को सुधा समझने के बदले विष समझने लगेगा। मरखनी गाय के पास दूध के लिये जाते हुए भी शंका होती है। थाने में लोग फ़रियाद लेकर नहीं जाते। हमारे अधिकांश किसान बहुत ही ग़रीब हैं। उन्हें रोज़ आधा पेट भोजन तक नहीं मिलता। उनके पास थोड़ी-सी ज़मीन होती है, उसी में बीबी-बच्चों के साथ लिपटकर वे किसी-न-किसी तरह जीवन का निर्वाह करते हैं। ६-७ साल के बच्चे भी कुछ-न-कुछ उनका हाथ बटाने के लायक़ हो जाते हैं। जब ये बच्चे पढ़ने चले जायँगे तो उनका काम करने के लिये या तो निर्धन पिता को मजूर रखने पड़ेंगे या काम के ही मत्थे जायगी। इसी की अधिक संभावना है। वर्तमान राजनीति में कितने ही ढकोसले (Shibboleths) हैं। अनिवार्य शिक्षा भी उन्हीं में एक है। हम ग़रीब किसान के सिर पर अनिवार्य शिक्षा का भार डालकर उसके साथ बड़ा अन्याय कर रहे हैं। आख़िर शिक्षा-प्रचार के और तरीक़े भी तो हैं। दौरा करनेवाला लेक्चरार लालटेनों की मदद से जितनी शिक्षा एक व्याख्यान में दे सकता है, उतना देहात का मुदर्रिस पाँच वर्ष में भी नहीं दे सकता। हमें भय है कि इस शिक्षा के पीछे बेचारा भोला-भाला किसान और भी पीसा जायगा और पाठशाला भी पुलीस की चौकी की भाँति नज़र-नयाज़ का अड्डा बन जायगा। जो लोग कुछ दे-दिलाकर मुदर्रिस को ख़ुश कर लेंगे, उनके लड़के अपने घर का काम करेंगे, जो देवता को प्रसन्न न कर सकेगा उस पर रिपोर्ट होगी, जुर्माने होंगे। क्यों शिक्षा का रूप ऐसा नहीं बनाया जाता कि किसान के लिये अपने लड़के को पाठशाला भेजना आवश्यक हो जाय? यह हमारे सामर्थ्य से बाहर की बात है। फिर इसमें माथा-पच्ची कौन करे। ज़बरदस्ती ग़रीबों के लड़कों को मदरसे में खींच लाना कितना आसान लटका है। जिन्हें देहाती जीवन का कुछ भी अनुभव है वे कभी अनिवार्य शिक्षा के समर्थक नहीं हो सकते।

× × ×

५. प्राप्ति-स्वीकार

[निम्नांकित वस्तुओं के प्रेषकों को धन्यवाद]

१. **सुधासिंधु**—मू० प्रति शीशी ।); मिलने का पता—सुख संचारक कंपनी, मथुरा; कै, दस्त और अजीर्ण के लिये मैंने इसे लाभप्रद पाया।

श्रीकृष्णजी के सुंदर चित्रवाला एक कैलेंडर भी मिला।

२. **डोंगरे का बालामृत**—मू० प्रति शीशी ।।।=); छोटे बच्चों के लिये यह मीठा सिरप गुणकारी है। लोगों ने इसे ख़ूब अपनाया है। के० टी० डोंगरे कंपनी, गिरगाँव, बंबई से मिल सकता है।

३. **अर्क कपूर**—डा० एस्० के० बर्मन, ४ ताराचंद दत्त स्ट्रीट, कलकत्ता से प्राप्य। बहुत-से रोगों पर लाभदायक है। बच्चों के हरे-पीले दस्त, सिरदर्द, जी मिचलाने और उदर-विकार के लिये अक्सीर है।

श्रीशारदा के सुंदर चित्रयुक्त कैलेंडर भी प्राप्त हुआ।

४. **ओटो दिलबहार**—मिलने का पता—दी ऐंग्लो-इंडियन ड्रग ऐंड केमिकल कं०, १५५, जुम्मा मसजिद, बंबई। हमारे पास इसके नमूने की एक शीशी आई। इसकी सुगंध भीनी साथ ही तेज़ भी है। कपड़े पर डालने से धब्बा नहीं पड़ता। इसी कंपनी का एक तेल भी है जो 'कामिनिया आइल' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे तेलों की तरह यह सफ़ेद मिट्टी के तेल पर नहीं बनता। इसकी ख़ुशबू मंद, परंतु टिकाऊ है। देश में इसका अच्छा प्रचार है। उपर्युक्त पते से दोनों वस्तुएँ मिल सकती हैं।

१. सूरसागर

ज भाषा-काव्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ सूरसागर है। खेद है कि इस महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ का अब तक कोई भी सुसंपादित संस्करण नहीं प्रकाशित हो सका है। इस बात की बहुत बड़ी ज़रूरत है कि अब शीघ्र ही 'सूरसागर' का कोई सुंदर संस्करण निकाला जाय। पर सलाह देना जितना सहल है, उसे कर दिखाना उतना ही कठिन। सूरसागर के संपादन के लिये जब कई विद्वान् मिलकर और सहयोग के साथ काम करेंगे तब, कहीं सालों में, संपादन-कार्य संपन्न हो सकेगा। सूरसागर के संपादकों में एक पुरुष ऐसा अवश्य होना चाहिए जो स्वयं वैष्णव हो, श्रीमद्भागवत में पारंगत हो और ब्रज-भूमि में रहकर वहाँ की बोली से भली भाँति परिचित हो। पाठांतरों को एकत्रित करने, शब्द-कोष को बनाने और पदों को श्रीमद्भागवत से मिलाने में बहुत समय लगेगा। पर यह सब करना आवश्यक है। सूरसागर के संपादित संस्करण के आदि में एक वृहत् और महत्त्व-पूर्ण विवेचना रहनी चाहिए। इसमें महात्मा सूरदास और सूरसागर के संबंध की तो सब बातें रहेंगी ही पर साथ ही ब्रज-भाषा के व्याकरण और इतिहास पर भी प्रकाश पड़ना चाहिए। यह जानकर कुछ हर्ष हुआ है कि महाराजा भरतपुर सूरसागर का एक अच्छा संस्करण निकालना चाहते हैं और इसके लिये उन्होंने पाँच सहस्र रुपया भी देने का वचन दिया है। पर हमारी राय में इतने रुपए से काम न चलेगा। अच्छा तो यह होगा कि युक्त-प्रांत में स्थापित 'हिंदुस्तानी अकाडमी' इस काम को हाथ में ले और ब्रज-भाषा के विशेषज्ञों के सहयोग से इस काम को चलावे। यदि अकाडमी के द्वारा सूरसागर का उद्धार हो जाय, तो हम उसके अस्तित्व को सार्थक समझेंगे। हर्ष की बात है कि 'सूरसागर' को सुसंपादित रूप में निकलवाने का आंदोलन प्रारंभ हो गया है और विद्वान् लेखक संपादन-योग्य सामग्री एकत्रित करने में लगे हैं। हाल ही में हमें प्रयाग विश्वविद्यालय में हिंदी के लेक्चरार श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा एम्० ए० की लिखी १७ पृष्ठ की एक पुस्तिका मिली है। इसमें सूरसागर की प्राप्त हस्त-लिखित प्रतियों का पता है। वर्माजी का यह लेख शायद प्रयाग विश्वविद्यालय के The Allahabad University studies में छपा है। उसी को अलग करके वर्माजी ने लोगों के पास भेजा है। इस लेख में वर्माजी ने सूरसागर की ६ हस्त-लिखित प्रतियों पर प्रकाश डाला है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—रामनगरवाली प्रति, महाराजा बनारस के पुस्तकालय में।

२—सभा की प्रति, काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में।

३—लखनऊवाली प्रति, ज़र्द कोठी, मुर्ग़ख़ाना, लखनऊ के निवासी लाला श्यामसुंदरदासजी अग्रवाल के पास।

४—वृंदावनवाली प्रति, श्रीराधाचरण गोस्वामी के निजी पुस्तकालय में।

५—बनारसवाली प्रति, पन्ना गली, बनारस के लाला गिरिधारी लाल के पास।

६—भरतपुरवाली प्रति, बरौली ढाहर गाँव के ठाकुर देवीसिंह के पास।

वर्माजी के लेखानुसार ज्ञात पड़ता है कि सबसे अधिक पद (५००० के लगभग) रामनगरवाली प्रति में हैं पर सब से सुंदर लिपि और सुरक्षित रूप में लखनऊ-वाली प्रति है। यह प्रति सचित्र भी है और चित्र-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट भी। भरतपुरवाली प्रति में पद तो सवा दो हज़ार के ही लगभग हैं पर प्राप्त प्रतियों में सब से पुराना यही है। इसका लिपि-काल सवत् १७१८ है और इस प्रकार से यह १८५ वर्ष से अधिक पुरानी है। वर्माजी ने प्रत्येक प्रति से एक-एक पद भी उद्धृत किया है, जिससे पाठांतर भी देखने को मिल जाता है। यह बात ध्यान देने की है कि सबसे पुरानी प्रति में 'चरण' रूप है 'चरन' नहीं है। वर्माजी का लेख और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातों से भरा हुआ है। सूरसागर के संपादन का प्रारंभ होने के पहले ऐसे बहुत-से लेखों की आवश्यकता है जो संपादन के लिये अपेक्षित सामग्री की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने में समर्थ हों। इस दृष्टि से वर्माजी का लेख और भी अभिनंदनीय है।

अंत में हम हिंदी-साहित्य-सम्मेलन और काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के कर्णधारों से भी अनुरोध करते हैं कि वे कृपा करके भारत-साहित्य के अलभ्य रत्न सूरसागर का एक विद्वत्ता-पूर्ण संस्करण निकलवाने का अवश्य उद्योग करें।

× × ×

२. नेता और जनता

भारतवर्ष में ही नहीं, समस्त संसार में इस समय यह प्रश्न उपस्थित है कि हमारे नेता कौन हों और उनके क्या अधिकार हों। सौ वर्षों तक जनता-वाद की परीक्षा करने के बाद संसार को अब यह मालूम हो रहा है कि इससे जो आशाएँ की गई थीं उन्हें यह पूरा नहीं कर सकता। इतने दिनों के बाद भी राष्ट्रों में परस्पर वैमनस्य और द्वेष लेश-मात्र भी कम नहीं हुआ, धन का अब भी प्रभुत्व है और जनता को अब भी कोई अधिकार नहीं। यही नहीं कि इसने संसार का यथेष्ट उपकार नहीं किया। उसने शक्ति को एक व्यक्ति के हाथ से छीनकर एक समूह के हाथ में दे दिया। और चूँकि जनता आदि से धन, बल, ऐश्वर्य और तेज की उपासना करती चली आई है, इसलिये उसने इन्हीं को फिर अपना भाग्य-विधाता बना लिया। अतएव जनता-वाद की असफलता का यह कारण नहीं है कि उसके सिद्धांतों में दोष हैं बल्कि इसलिये कि हम उन सिद्धांतों की सुचारु रीति से रक्षा नहीं कर सकते। हम साधारणतः इसकी बिलकुल परवा नहीं करते कि जिसे हम अपना नेता बनाने जा रहे हैं, उसका चरित्र और स्वभाव उसे इस पद के योग्य बनाता है या नहीं। हम केवल उसकी मधुर अथवा प्रचंड वाणी के वशीभूत होकर उसके चरणों पर अपनी आत्मा समर्पण कर देते हैं। ज़बान का आज जितना ज़ोर है उतना और कभी न था। जिसमें वक्तृत्व-शक्ति है, वह हमारा नेता, हमारे भाग्य का विधाता, हमारा उपास्य है। और यदि कहीं उसमें जनता के मनावेशों को संचालित करने की शक्ति है, तब तो उसका नेतृत्व सवमान्य ही हो जाता है। अनुभव ने दिखा दिया है कि सफल नेता बनने के लिये और किसी क्षमता की आवश्यकता नहीं। उसका चरित्र कितना ही दुर्बल हो, उसने परिस्थितियों का चाहे कुछ भी अध्ययन न किया हो, उसे मानवी हृदय और इतिहास का, जो मानवी हृदय का क्रियात्मक स्वरूप है, चाहे कुछ भी ज्ञान न हो, नवीन विचारों और नवीन सिद्धांतों से चाहे वह बिलकुल शून्य हो, पर यदि वह भावों को जाग्रत् कर सकता है तो उसके नेता बनने में कोई बाधा नहीं। नहीं, इन क्षमताओं का न होना ही उसके लिये अनुकूल ज्ञात पड़ता है। उसकी मौलिकता अहंकार समझी जाती है, उसके परिस्थिति-ज्ञान पर दुर्बलता का आक्षेप किया जाता है और उसके संयम को स्वार्थ-भक्ति कहकर बदनाम किया जाता है। सफल चरवाहा वही है जो भेड़ों ही के-से विचार रखता हो। वह अपने गल्ले की रक्षा नहीं कर सकता, अगर वह उससे बहुत आगे निकल जाय। मनुष्य-समाज का भी यही हाल है। हमारा नेता यदि

छोटी-मोटी बातों में साहस से काम ले, तो बहुत आपत्ति नहीं की जाती; लेकिन धर्म और नीति के विषय में यदि वह जनता के विरुद्ध आचरण करता है, तो वह टाट बाहर हो जाता है। आज मुसलमानों में वही सफल नेता है जो हिंदुओं से घृणा करने में सब से बढ़ा हुआ हो। हिंदू-नेता भी वही सफल है जो मुसलमानों को एक आँख न देख सकता हो। यदि कोई हिंदू या मुसलिम नेता इसके विरुद्ध आचरण करता है, तो समझ लो कि उसके नेतृत्व के दिन गिने हुए हैं। उस पर बहुत जल्द म्लेच्छ या काफ़िर का फ़तवा लगनेवाला है। सारांश यह कि समाज उसी के सामने सिर झुकाता है जो उसकी संकीर्णताओं का बृहदाकार हो। नेता बनने का यह खटका बहुत ही सरल और सुलभ है और दुर्भाग्य-वश ऐसे ही नेता आज हमारे भाग्य-विधाता बने हुए हैं।

लेकिन यह किसका दोष है? यह उस व्यक्ति का कदापि दोष नहीं जो अवसर देखकर उससे लाभ उठाता है और जाति का नेता बन बैठता है। यह जाति का दोष है, जो ऐसे व्यक्ति को अपना नेता बनाती है। समाज में किसी शक्ति का इतना महत्त्व नहीं जितना आलोचना-शक्ति का। हम किसी की चिकनी-चुपड़ी बातें सुनकर क्यों उसके फंदे में फँस जाते हैं? इसीलिये कि हम में आलोचना-शक्ति का अभाव है। हम उसके विचार और व्यवहार की आलोचना नहीं कर सकते। अंध-भक्ति मानव-समाज का परंपरागत स्वभाव है। फ्रांस-जैसे स्वाधीन देश में भी अभी तक अंध-भक्ति का प्राधान्य है। तो फिर हमारा कहना ही क्या जिसके इतिहास में स्वाधीनता का शब्द ही मिट गया है। साम, दाम, दंड, भेद, किसी नीति से जो व्यक्ति उच्च-स्थान प्राप्त कर लेता है, हम आँखें बंद करके उसके दास बन जाते हैं। यही कारण है कि यश-लोलुप, स्वार्थी, बलशाली और वाक्य-चतुर प्राणियों का हम पर आधिपत्य हो जाता है। यह समाज की ही दुर्बलता है जो ऐसों को अपना नेता मान बैठती है। इस विषय में व्यक्ति का इतना बड़ा दोष नहीं है, जितना समाज का। मनुष्य अपनी आदिम अवस्था ही से सहायता, सहानुभूति और रक्षा के लिये समाज का मुखापेक्षी रहता आया है। विशेष व्यक्तियों को छोड़कर साधारण जनता ने अपने सहवर्गियों के अनुकूल ही आचरण करना सीखा। यद्यपि यही मनोवृत्ति हमारे समाज का आधार है, तथापि इसने एक बुराई भी पैदा कर दी—इसने मनुष्य के विचार-स्वातंत्र्य का गला घोंट दिया। इसलिये जहाँ उसमें इच्छा-शक्ति, आत्म-विश्वास और व्यक्तित्व का यथोचित विकास न हो सका, वहाँ उसने अनुकरण, अंध-विश्वास, कायरता और तर्क-शून्यता को दृढ़ कर दिया। धर्म, राजनीति, शिक्षा, व्यवसाय-नीति, जिधर देखिए उधर ही मनुष्य पर अनुरूपता की मोहर लगी हुई है। लकीर का फ़क़ीर बनने के सिवाय उसके ध्यान में और कोई बात ही नहीं आती। उसका रहन-सहन, वेष-भूषा, आचार-नीति प्रथानुसार ही होनी चाहिए। इसमें ज़रा भी अंतर पड़ा और उसकी शामत आई। अगर और लोग पाजामा पहनते हैं, तो आप भी अवश्य ही पाजामा पहनिए, नहीं आप असभ्य समझे जायँगे। और लोग चौके में भोजन करते हैं, तो आप भी चौके में बैठिए, नहीं आप विधर्मी हो जायँगे; और जहाँ सब मेज़-कुरसी पर खानेवाले हैं वहाँ चौके में बैठना आपको गँवार बना देगा। ऐसी दशा में यदि हम में विवेचना और निर्णय-शक्ति का अभाव है, तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी का परिणाम है कि हम उन्हीं महानुभावों को अपना नेता बनाते हैं, जो इस अनुरूपता के विषय में हम से भी चार क़दम आगे बढ़ने का दावा रखते हैं। हम लोग साधारणतः पक्के फ़र्श पर बैठकर भोजन कर लेते हैं, कहारों के हाथ का पानी पीते हैं, लेकिन जो महाशय अपने हाथ ही का पानी पीते हैं, पक्के फ़र्श पर भोजन न करके, कच्ची भूमि पर भोजन करते हैं, वह हमारे धर्म-नेता बन जायँ, तो कोई आश्चर्य नहीं। अब भी हमारे कितने ही लीडर ऐसे हैं जो कई महत्त्व-पूर्ण सामाजिक प्रश्नों पर अपनी ज़बान खोलने का साहस नहीं रखते, क्योंकि वे वास्तव में लीडर नहीं, बल्कि जनता की रुचि के अनुगामी हैं। उनका अस्तित्व जनता की अंधभक्ति, दुर्बलता और मूर्खता पर निर्भर है, और वे कोई ऐसी बात नहीं कह सकते जिससे जनता उन्हें अपने से भिन्न समझने लगे। मनुष्य के देवता भी मनुष्य ही होते हैं, चाहे उनके चार हाथ, पाँच सिर और तीन आँखें ही क्यों न हों। हमारे महामना शर्माजी दिल में चाहे विधवा-विवाह को वर्तमान सामाजिक परिस्थिति में आवश्यक समझें, पर ज़बान से नहीं कह सकते, क्योंकि उनपर से जनता का विश्वास उठ जायगा। जनता उन्हें अपने से पृथक् समझने लगेगी। बदक़िस्मती से हमारे अधिकांश नेताओं में यह दुर्बलता

बद्धमूल हो गई है। ऐसे नेताओं से किसी कठिन अवसर पर भलाई की आशा नहीं की जा सकती।

बहुधा हमारे वही नेता सफल हैं जो मंच पर आकर प्रचंड ध्वनि से गरजने लगते हैं। मेज़ को पीटना, हाथों को उछालना, उनके लिये उतना ही ज़रूरी है, जितना लँगड़े को लाठी। बात यह है कि वे तर्क, युक्ति और शांत, गंभीर विचार से तो काम लेते नहीं, केवल जनता के आवेशों में भ्रांति पैदा करना जानते हैं। गरजने से उनका सभा पर कुछ रोब भी अवश्य ही जम जाता है। व्यक्तिगत रूप से हम कितने ही सहिष्णु और नम्र क्यों न हों, लेकिन समूह में हमारी पशु-वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं। उस दशा में हमारा गर्जनशील नेता बड़ी आसानी से हमें दंगे-फ़साद पर आमादा करा सकता है। यही कारण है कि इन दिनों किसी हिंदू-मुसलिम प्रश्न पर व्याख्यान होना दंगे का पूर्व चिह्न सा हो गया है। शायद कोई नेता इन समूहों में क्षमा और उदारता का राग अलापे, तो जनता तालियाँ बजाकर उसे निकाल बाहर करे। ऐसे समूहों में विचारशील सज्जन भी आपे से बाहर होते देखे गए हैं। आप किसी ऐसे नेता की वक्तृता सुनने जाइए जिसके विचारों से आप सहमत नहीं हैं। लेकिन सभामंडप में आपको प्रत्येक मनुष्य नेता के जादू-भरे शब्दों से मतवाला नज़र आता है। इस आवेश-प्रवाह का आपके ऊपर असर पड़ना ज़रूरी है। आपका विरोध तुरंत ग़ायब हो जाता है, आप बिना जाने हुए तालियाँ बजाने लगते हैं। उतनी देर के लिये आप अपने हवास खो बैठते हैं। आवेश आपके विचारों को पराभूत कर देता है। बस आपकी ठीक वही दशा हो जाती है जो मेस्मेरिज़्म में प्रयुक्त की होती है। उसी वक़्त नेता आप-से चंदे वसूल करता है। वह इसी अवसर की प्रतीक्षा करता रहता है। बड़े-बड़े गंभीर पुरुष भी इस बहाव में आ जाते हैं। इस हिंदू-मुसलिम झगड़े में कितने ही ऐसे प्राणियों के मुँह से उद्दंडता-पूर्ण बातें सुनी गई हैं जो नम्रता और विनय की मूर्ति हैं। उनके विचार में ऐसा परिवर्तन कैसे हो गया, पहले तो इसका विश्वास भी न आता था। वास्तव में उनकी विचार शक्ति पर किसी नेता की अग्निमय वक्तृता का असर पड़ा हुआ था। क्या यूकेन और हेकल जैसे उच्चकोटि के पुरुष योरपीय महा-समर के दिनों में जर्मनी के अपकृत्यों की प्रशंसा नहीं कर रहे थे? क्या मार्टरलिंक-जैसा दया और सत्य का देवता जर्मनी के प्रति क्रूरतम अन्याय करने की प्रेरणा नहीं कर रहा था?

मगर क्या सभी लीडर इसी ढंग के हैं? नहीं, कदापि नहीं। अगर सभी लीडर ऐसे होते, तो संसार अब तक रसातल को पहुँच चुका होता। जिन नेताओं का हमने ऊपर उल्लेख किया इनका जनता पर प्रभाव थोड़े ही दिन रहता है। कभी-न-कभी वे अपने असली रंग में नज़र आ जाते हैं और फिर उन्हें आजीवन मुँह दिखाने का साहस नहीं होता। स्थायी प्रभाव उन्हीं नेताओं का होता है जो जनता के विचार और विवेचन से काम लेते हैं, केवल आवेशों से नहीं। सब से बड़ा नेता वही है जो विचार में भी हमारा नेता हो। हाँ, ऐसे नेता राष्ट्र में दो ही एक होते हैं। यह प्रश्न हो सकता है कि साधारण जनता की भेड़ियाधसान बुद्धि तो अंत तक रहेगी, तो क्या समय-सेवी नेताओं का कभी अंत न होगा? हाँ, जब तक जनता में आलोचना-शक्ति का विकास न होगा, तब तक उसके अंध-विश्वास से लाभ उठानेवाले अवश्य पैदा होते रहेंगे। सुसंगठित समाज में ऐसे नेताओं को अपने ताश खेलने का बहुत कम अवसर मिलता है। जब तक समाज संगठित नहीं होता, उसका सामूहिक व्यवहार उसके व्यक्तिगत व्यवहार से कहीं अधिक दुर्जनता-पूर्ण होता है। लेकिन जब समाज सुसंगठित हो जाता है, तो यह क्रिया उलटी हो जाती है, अर्थात् समाज व्यक्ति से उत्तमतर हो जाता है। इस-लिये हमें समाज को संगठित करने की आवश्यकता है। हमारे समाज की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक उत्थान में सहयोग दे, अपना कर्तव्य समझे, अपने उत्तर-दायित्व का मूल्य समझे। इस भाँति अवलंबित हो जाने से हमारी सामूहिक विचार-शक्ति परिष्कृत हो जायगी और स्वार्थी नेताओं को हमारे ऊपर जाल फेंकने का अवसर न हाथ आयगा।

× × ×

३. समाज-सेवा-मंडल

पूना के भारतीय सेवा-मंडल की भाँति पंजाब में भी एक समाज-सेवा-मंडल है। इसके संस्थापक लाला लाजपतराय हैं। सन् १९२० में इस मंडल और तिलक स्कूल ऑफ़ पालिटिक्स का एकसाथ जन्म हुआ। मंडल का उद्देश्य ऐसे सज्जनों को जीविका की ओर से निश्चित कर देना

था जो आजीवन सेवा-व्रत का पालन करना चाहें। और तिलक स्कूल का उद्देश्य तो प्रकट है। यहाँ भी छात्रों को १५) से ३०) तक वृत्ति मिलती थी। असहयोग-आंदोलन के दिनों में तिलक स्कूल ने एक राष्ट्रीय विद्यालय का रूप धारण किया। विद्यार्थियों ने कांग्रेस के प्रचार-कार्य में भाग लिया। असहयोग-आंदोलन के साथ राष्ट्रीय विद्यालय भी बैठ गया और अब तिलक स्कूल ऑफ़ पालिटिक्स की इतनी यादगार बाक़ी है कि काशी-विद्यापीठ के एक छात्र को २०) मासिक उसकी ओर से सहायता मिलती है।

समाज-सेवा-मंडल का आरंभ ३ मेंबरों से हुआ और उसकी संख्या में प्रतिवर्ष वृद्धि होती गई। अब उसमें ६ मेंबर हैं, और पाँच मेंबरों को शिक्षा दी जा रही है। असहयोग-काल में मंडल के सदस्यों ने सराहनीय कार्य किया और नौकरशाही की कठोर नीति के भाजन बने, जिससे लालाजी भी न बच सके। मंडल का सेवा-कार्य पीड़ितों की सहायता, सामाजिक सुधार, अछूतोद्धार, खद्दर-प्रचार आदि भागों में बँटा हुआ है। १९२५ में जब उड़ीसा में बाढ़ आई और उसके बाद अनावृष्टि के कारण प्रजा पर घोर विपत्ति पड़ी, तो मंडल के एक मेंबर बाबू गोपबंधुदास ने वहाँ सहायता का काम खोला और २० हज़ार रुपए से अधिक वितरण किया गया। अब भी ५५० पीड़ितों को वहाँ भोजन दिया जा रहा है। बहुत प्राणियों को दान लेते संकोच होता था, इसलिये कई जगह धान कुटवाने का प्रबंध किया गया है। १½ मन धान कूटने के लिये ४ सेर चावल हरएक मजूर को दिया जाता है। इसके उपरांत कन, चूरा आदि भी दे दिया जाता है। कटक, पुरी और बालासोर में स्थायी सहायता के लिये प्रबंध किया जा रहा है। उड़ीसा में खद्दर-प्रचार का कार्य भी हो रहा है। ३५० कातनेवाले हैं और ४२ बुननेवाले। १०००) का कपड़ा प्रतिमास तैयार होता है। इस विभाग में १२ कार्य-कर्ता हैं। काम को और बढ़ाने का प्रबंध किया जा रहा है।

सेवा-मंडल का सब से महत्व-पूर्ण काम अछूतोद्धार है। एक विभाग पंजाब में काम कर रहा है, दूसरा संयुक्त-प्रदेश में। अछूतों में पंचायतें स्थापित की गई हैं। इन पंचायतों द्वारा उन सभी कुरीतियों के सुधार का प्रयत्न किया जा रहा है जो अछूतों को अछूत बनाए हुए हैं। पुस्तकों और मैजिक लालटेनों से भी इस विषय में सहायता ली जाती है। अछूत बालकों के लिये कई जगह पाठशाले खोले गए हैं और सरकारी मदरसों में उन्हें भरती कराने का सफल उद्योग किया जा रहा है। कई स्थानों में तो अछूतों को कुओं पर पानी भरने का अधिकार मिल गया है।

मंडल की आर्थिक दशा संतोषजनक है। उसके कोष में इमारत के अतिरिक्त २ लाख नक़द मौजूद है। उसकी सब से बड़ी आवश्यकता एक व्याख्यान-भवन है। इसके बिना मंडल को अपने प्रचार-कार्य में बड़ी असुविधा होती है। बहुधा माँगने पर अन्य संस्थाएँ अपने भवन देने से इनकार करती हैं। पुस्तकालय के लिये भी यथेष्ट स्थान नहीं है। मंडल के पास इस समय ६००० से अधिक पुस्तकें हैं। ये सारी पुस्तकें अलमारियों में भरी हुई हैं। जनता वहाँ बैठकर स्थानाभाव के कारण उन पुस्तकों का उपयोग नहीं कर सकती। इन दोनों कामों के लिये मंडल को ५० हज़ार रुपए की बड़ी ज़रूरत है। मंडल के स्थायी फ़ंड में अब तक सवा दो लाख रुपए मिल चुके हैं। कोहाट-फ़ंड में २० हज़ार मिले, और उड़ीसा फ़ंड में १० हज़ार। ऐसे सार्वदेशिक सेवा-मंडल की सहायता करना हमारा कर्तव्य है। हम जनता से अनुरोध करते हैं कि वह यथाशक्ति मंडल की सहायता करे।

मंडल ने मेंबरों के लिये जो नियम बनाए हैं, वे बड़े उदार हैं। पहले साल उन्हें ५०) और फिर दो वर्ष तक ६०) मासिक वृत्ति मिलती है। अध्ययन-काल समाप्त हो जाने पर अविवाहितों को ५ वर्ष तक ७५) मासिक मिलता है, उसके बाद पाँच वर्ष तक ९०) और शेष वर्षों में १००)। विवाहितों को अध्ययन-काल के बाद १००) मासिक और फिर प्रति संतान पीछे १०) की वृद्धि होती है। पर चार संतानों के बाद यह रिआयत नहीं की जाती। इसके उपरांत प्रत्येक मेंबर का जीवन ४०००) पर बीमा कर दिया जाता है। ऐसे उपकारी मंडल को पब्लिक से सहायता माँगने और पाने का पूरा अधिकार है। जो लोग स्वयं जनता की कुछ सेवा नहीं कर सकते, वे देश के प्रति अपने कर्तव्य का पालन इस संस्था की सहायता द्वारा कर सकते हैं। ५०,०००) तो बड़ी चीज़ नहीं।

× × ×

४. साहित्य-सेवियों का जीवन

योरप और अमेरिका में लेखकों और कवियों का जनता जिस प्रकार से सत्कार करती है, वैसा अभी भारतवर्ष में नहीं है। यहाँ तो लेखक और कवि निरुद्यमी और आलसी समझे जाते हैं। यह विश्वास समाज में जड़ जमाए हुए है कि जो लोग किसी उद्योग-धंधे या व्यवसाय में सफलता नहीं प्राप्त कर पाते हैं, वही लेखक और कवि बन बैठते हैं। समाज अब भी लेखकों और कवियों को उस आदर और सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता जिस दृष्टि से वह बहुत-सा रुपया पैदा करनेवाले अन्य पेशे के लोगों को। यहाँ पर यह कह देना भी अनुचित न होगा कि योरप और अमेरिका में लेखन-व्यवसाय बहुत उन्नति कर गया है और वहाँ कवि और लेखक लाखों रुपया पैदा करने में समर्थ होते हैं। भारत में अभी यह बात नहीं है। यहाँ के अधिकांश साहित्य-सेवी निर्धन और ग़रीब हैं और किसी कवि का यह वाक्य उन पर बिलकुल चरितार्थ होता है कि

दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी

बस जब उन बेचारों पर लक्ष्मी की कृपा नहीं है, तो समाज उनका आदर क्यों करे। समाज तो धनवानों को ही सर्वस्व समझता है।

योरप और अमेरिका में तो लेखकों का बड़ा सम्मान होता है। उनके हरएक काम पर लोगों का ध्यान रहता है। उनके रहन-सहन, बातचीत और कार्य-प्रणाली को लेकर लेख निकला करते हैं। उनका कौटुंबिक जीवन कैसा है, वे समाज में कैसे रहते हैं, उनका चरित्र कैसा है, इन सभी बातों पर बराबर प्रकाश पड़ता रहता है। सचमुच पाश्चात्य देश अपने सरस्वती-पुत्रों का वैसा ही सम्मान करते हैं जैसा उचित है।

इसी फ़रवरी सन् १९२७ की पियर्सन मैगज़ीन में श्रीयुत जज हेनरी नील ने एक बड़ा ही मनोरंजक लेख लिखा है। उनको इँगलैंड के विश्व-विख्यात साहित्य-सेवी श्रीबर्नार्ड शा और श्रीहालकेन के साथ भोजन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस अवसर पर इन प्रसिद्ध साहित्य-सेवियों में जो परस्पर वार्तालाप हुआ था, उसका जज नील ने बड़ा ही सुंदर चित्र खींचा है।

इस वर्णन में दोनों साहित्य-सेवियों के वेश-भूषा का वर्णन तो है ही, साथ ही उनके खाने का ढंग, बात करते समय की भाव-भंगी, किस प्रकार का भोजन पसंद है,
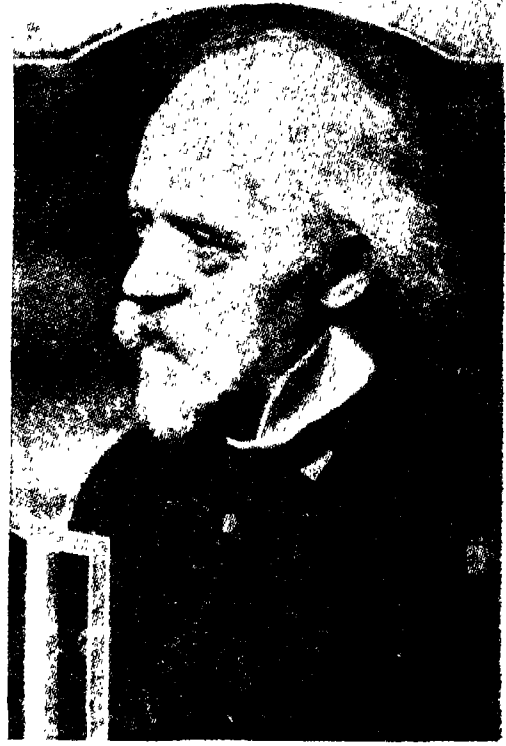
श्रीहालकेन

संसार की बड़ी-बड़ी समस्याओं पर उनके निजी विचार क्या हैं, अपने मुख से अपनी दिनचर्या और बाल्य तथा यौवन-काल का वर्णन वे किस प्रकार से करते हैं, आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। इस छोटे-से नोट में हम उन सब बातों पर विस्तार के साथ विचार नहीं कर सकते हैं पर अँगरेज़ी जाननेवाले पाठकों से हमारा अनुरोध है कि वे उस वर्णन को स्वयं पढ़ लें। 'माधुरी' के पाठक जॉर्ज बर्नार्ड शा का चित्र तो देख ही चुके हैं, यहाँ पर हम श्रीहालकेन का भी चित्र देते हैं। जज नील का कहना है कि शेक्सपियर का एक चित्र ले लो और समझ लो कि हमने हालकेन को देख लिया। सचमुच हालकेन की सूरत शेक्सपियर से बहुत मिलती-जुलती है। क्या ही अच्छा हो कि भारत के प्रसिद्ध लेखकों और कवियों के इस प्रकार के जीवन पर प्रकाश डालनेवाले लेख लिखे जायँ। हम अपने कवियों और लेखकों को पूर्ण रूप से समझने में तभी समर्थ होंगे जब हम उनके जीवन के सभी पहलुओं को जान सकें। यदि हो सका, तो 'माधुरी' में ऐसे सचित्र चरित्र समय-समय पर प्रकाशित किए जायँगे।

× × ×

५. संवत् १९८३

संवत् १९८३ विदा हो गया और सदा के लिये विदा हो गया। अब उसके लौटने की संभावना नहीं है। आइए पाठकगण, आज इस बात पर विचार करें कि इस संवत् में जगत् के कल्याण की बातें कितनी हुईं और उसका अनिष्ट कितना हुआ। पहले कल्याणकारी बातों पर ही दृष्टिपात करने की आवश्यकता है।

योरपीय राष्ट्रों में जो प्रकट वैमनस्य था, उसका इस संवत में बहुत कुछ अभाव हुआ। लोकार्नो की संधियों को योरप की शक्तियों ने अंतिम बार स्वीकृत कर लिया तथा जर्मनी राष्ट्र-संघ में मिला लिया गया। इस वर्ष में योरप के कई राष्ट्रों की गिरती साख सँभली और उनके यहाँ के चलन-मुद्रा की स्थिति में सुधार हुआ। अमेरिका की समृद्धि तो इस वर्ष बहुत बढ़ गई, यहाँ तक कि ख़र्च निकालकर उसके ख़ज़ाने में २१ करोड़ डालर की बचत हुई। ब्रिटिश साम्राज्य से संबंध रखनेवाली भी एक बात अभूतपूर्व हुई। इसी वर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य-परिषद् ने यह घोषणा की कि साम्राज्य के अंग होते हुए भी डोमीनियंस बिलकुल स्वतंत्र रहेंगी। भारत और आफ़्रिका के बीच में जो विरोध-भाव चल रहा था, उसमें भी उक्त दोनों देशों की सरकारों के उद्योग से कुछ कमी हुई है। टर्की में सुधार वेग से हो रहे हैं। इसी वर्ष में उत्तरी ध्रुव के ऊपर वायुयान-मार्ग से यात्रा की गई। विज्ञान में भी यह प्रमाणित हुआ कि अब तक विद्युत्-गति के संबंध में हमारा जो अनुमान था, वह ग़लत है। जर्मनी के एक विज्ञानवेत्ता ने ऐसे बैक्टीरिया का पता लगाया है, जो पहले सूक्ष्मदर्शक यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता था। पर अब सोने में लपेटकर उसे देख सकते हैं। भारत में पंजाब-प्रांत में कुछ ऐसी ऐतिहासिक सामग्री मिली है, जिससे भारतीय सभ्यता की प्राचीनता का पुष्ट प्रमाण मिलता है।

अब कुछ अनिष्टकारी बातें भी सुनिए—

इस वर्ष में संसार भूकंप, तूफ़ान और जल-प्लावन से पीड़ित रहा। जापान और अन्य देशों में इससे धन और जन की बहुत हानि हुई। इस वर्ष में संसार के बहुत बड़े-बड़े आदमियों की मृत्यु हुई। नवीन फलों के निर्माता लूथर बरबैंक तथा जापान के सम्राट् की मृत्यु इसी वर्ष हुई। बेलजियम के कार्डिनल मर्सियर, तुरकी के सुल्तान मुहम्मद और भारत के स्वामी श्रद्धानंद की मृत्यु भी इसी संवत् में हुई। इँगलैंड की कोयले की विशाल हड़ताल भी इस वर्ष की बहुत बड़ी घटना है। इटली में मुसोलिनी के निरंकुश प्रभाव का बढ़ना भी कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। पीरू, चिली और निकाँरागुआ के झगड़ों से भी शांति का वातावरण क्षुब्ध रहा। भारत में हिंदू-मुसलमानों के झगड़ों ने राष्ट्रीयता को मटियामेट करने में कोई कसर नहीं रक्खी, पर सबसे बड़ी अशांतिमय घटना चीन का गृह-कलह है। अब तो इसका रूप इतना उग्र होता जाता है कि लोगों को संसार की शांति के भंग होने का डर लगा है। संसार के सभी राष्ट्रों ने 'जेनेवा परिषद्' में निश्चय किया था कि सेना का निरस्त्रीकरण अवश्य किया जाय, पर इस मामले में बाद को राष्ट्रों ने विशेष दिलचस्पी नहीं ली।

कुल मिलाकर विशेषज्ञों का कहना है कि संवत् १९८३ संसार के लिये अच्छा नहीं रहा। सो संसार के लिये वह अच्छा रहा हो या नहीं, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि भारत की इस वर्ष हर प्रकार से बुरी दशा रही। देखें, संवत् १९८४ हमारे लिये क्या करता है?

× × ×

६. अमेरिका में धार्मिक जागृति

भारत में धर्म के प्रति लोगों के भाव क्या हैं, इसका पता लगाना बड़ा कठिन है। पर इतना तो स्पष्ट दीखता है कि अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त हमारा नवयुवक-समाज धर्म के बाह्य अंग आचार आदि पर बहुत कम श्रद्धालु है। ऐसा जान पड़ता है कि हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों में धर्म-प्रेम अधिक है। कुछ भी हो, यह हमारा अनुमान-ही-अनुमान है और कोई बात निश्चय-पूर्वक नहीं कही जा सकती। हमारे देश में धर्म-प्रचार के लिये प्रतिवर्ष लाखों रुपया व्यय किया जाता है, पर ऐसे अव्यवस्थित और उच्छृंखल ढंग से कि कुछ उपदेशकों के भरण-पोषण के अतिरिक्त सच्चा धर्म-प्रचार बहुत थोड़ा हो पाता है। यदि भारत के धर्म-प्रचारक लोग अमेरिका और योरप के पादड़ियों से इस मामले में शिक्षा लें, तो वे भी बहुत कुछ कर सकते हैं। यहाँ पर हम दिसंबर से लगाकर मार्च में ईस्टर के अवसर तक धर्म-प्रचार करने के लिये तैयार की गई एक अमेरिकन योजना का उल्लेख करते हैं। इससे पाठकों को पता चलेगा कि पाश्चात्य देश के लोग धर्म-प्रचार के कार्य को भी कैसे वैज्ञानिक और सुव्यवस्थित ढंग से करते हैं।

अमेरिका में पिछले दिसंबर के महीने में १०० पादड़ियों ने मिलकर एक प्रश्नावली तैयार की है, जो इस प्रकार है—

(१) क्या आपका ईश्वर में विश्वास है ? (२) क्या आप अमरता में विश्वास करते हैं ? (३) क्या आपका विश्वास है कि ईश-वंदना से आपके और ईश्वर के संबंध में किसी प्रकार का प्रभाव पड़ेगा ? (४) क्या आपका विश्वास है कि ईश्वर में वैसी स्वर्गीयता है जैसी और किसी मनुष्य में नहीं है ? (५) क्या आपका विश्वास है कि बाइबिल में वैसा ईश्वरीय ज्ञान है, जैसा और किसी पुस्तक में नहीं है ? (६) क्या आपका किसी धर्म-मंदिर से संबंध है ? (७) क्या आप धार्मिक पूजाओं में नियमित रूप से उपस्थित होते हैं ? (८) क्या आप यह पसंद करेंगे कि आपके बाल-बच्चों का पालन-पोषण ऐसे लोगों में हो, जिनके पास पूजा के लिये कोई धर्म-मंदिर नहीं है ? (९) क्या आपके घर में नियम से कौटुंबिक पूजा होती है ? (१०) क्या आपकी शिक्षा-दीक्षा किसी धार्मिक गृह में हुई थी ? (११) क्या आप अपने बच्चों को किसी पाठशाले में धार्मिक शिक्षा के लिये भेजते हैं ? (१२) क्या आप समझते हैं कि व्यक्ति अथवा समाज के लिये धर्म जीवन का एक आवश्यक अंग है ?

यह प्रश्नावली २०० समाचार-पत्रों में प्रकाशित कराई गई और १६ बड़े नगरों के उक्त पत्रों के पाठकों से प्रार्थना की गई कि वे कृपा करके इन प्रश्नों का उत्तर दें। इस प्रार्थना को स्वीकार करके प्रायः सवा लाख आदमियों ने उत्तर दिए। इन उत्तरों से अमेरिका की धर्म-भावना किस ओर है, इसका पता चलता है। सवा लाख उत्तर-दाताओं में से ९१ प्रति-शतक का विश्वास ईश्वर में है, पर धर्म-मंदिरों में केवल ७७ प्रति-शतक जाते हैं। ८५ प्रतिशतक उत्तर-दाता इंजील को ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक मानते हैं। डॉक्टर चार्ल्स स्टेल्ज़ले इस धार्मिक मर्दुमशुमारी के डाइरेक्टर हैं। डॉक्टर साहब का कहना है कि अमेरिका में धर्म-भाव उन्नति पर है। उन्होंने इस बात को अंकों से प्रमाणित किया है। उनका कहना है कि जहाँ सन् १८८० में प्रोटेस्टैंट गिरिजाघरों के सदस्यों की संख्या ७ प्रतिशत थी, वहाँ अब २६ प्रतिशत है। ईसाई धर्म के अन्य संप्रदायों की संख्या मिलाने से यह संख्या ४३ से ५१ प्रति-शतक तक पहुँचती है। प्रश्नावली के उत्तरों और अंकों को देखते हुए अमेरिका के समाचार-पत्रों की निश्चित राय है कि ईसाई-धर्म दृढ़ता के साथ काम कर रहा है। अमेरिका का ईश्वर में विश्वास है और ईश्वर की विजय हो रही है।

क्या भारत के धर्म-प्रचारकों को भी कभी ऐसी बातें सूझेंगी कि वे भी अपने देश के लोगों के धार्मिक भावों की थाह लगाने का उद्योग कर सकें ? पर यहाँ जब गाली-गलौज और चंदा-याचन से समय मिले, तब तो और कुछ किया जाय।

× × ×

७. देहातों के सुधार की एक आयोजना

श्री एस्० वी० राममूर्ति आई० सी० एस्० ने जनवरी, १९२७ के हिंदुस्तान-रिविउ में "भारतवर्ष की ग्रामीण पंचायतें"-नामक एक लेख लिखा है। उसमें आपने देहाती पंचायतों के सुधार के लिये एक बहुत ही अनुमोदनीय प्रस्ताव किया है। हमें विश्वास है कि यदि इस प्रस्ताव को कार्य-रूप में लाया जाय, तो देश को बहुत लाभ होगा और देहाती पंचायतों और देहाती जीवन का तो मानों पुनरुद्धार ही हो जायगा। आपका कहना है कि सहस्रों भारतीय युवक यहाँ के विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। डिग्री लेकर वह अपने-अपने काम-धंधे में लग जायँगे। देहात में उनकी जीविका का प्रश्न नहीं हल हो सकता। उन्हें शहरों में रहना पड़ेगा। उनकी शिक्षा से देहातों को क्या लाभ ? मगर हमारे विश्वविद्यालय केवल शहरवालों के धन से तो चलते नहीं, उनके संचालन का भार तो अधिकांश देहातों ही पर है। देहातों ही से तो सरकारी ख़ज़ाने में कर का बड़ा भाग आता है, तो जब इस देहात से लिए हुए धन पर हमारे विद्यालयों की नींव बनी हुई है, इसी देहात के रुपए से उनका संचालन किया जाता है, तो क्यों इन विद्यालयों के ग्रेजुएटों को, जो उपाधि लेना चाहते हों, देहातों में घूम-घूमकर अपने संचित ज्ञान को वितरण करने के लिये उत्साहित न किया जाय ? इस भाँति देहातों को भी उस धन का कुछ फल होगा, जो उनकी जेब से लिया जाता है। प्रत्येक विद्यालय यदि यह नियम बना दे कि उपाधि के इच्छुक युवकों को बी० ए० या एम्० ए० की सनद इसी दशा में मिल सकती है कि वह किसी निश्चित क्षेत्र में कम-से-कम ६ महीने देहातों में घूम-घूमकर विद्या का प्रचार करें। इस भाँति देहातों में सफ़ाई, स्वच्छता और स्वास्थ्य के नियमों का ज्ञान फैलेगा, देहातियों का स्वास्थ्य सुधरेगा और

उनकी परिश्रम करने की शक्ति बढ़ेगी, जिससे देश के धन में भी अवश्य ही वृद्धि होगी। देहातों की दशा अत्यंत शोचनीय हो रही है। एक तो कच्चे मकान, उस पर घर के आस-पास गंदगी का ढेर। दो घरों के बीच में जो दो-चार हाथ ज़मीन होती है, वही गंदे पानी के बहने का मार्ग, बालकों और स्त्रियों का शौच-स्थान और जानवरों की चरनी का काम देती है। गाँव के निकट पहुँचते ही रास्ते के दोनों ओर मल, घूर और गोबर दृष्टिगोचर होता है और ऐसी दुर्गंध से भरी हुई वायु नाक में आती है कि बेअख़्तियार नाक बंद कर लेना पड़ती है। इस दूषित जल-वायु में रहकर स्वास्थ्य का सर्वनाश न हो तो और क्या हो। और इसका कारण केवल दरिद्रता ही नहीं, इसका मुख्य कारण अज्ञान है। मकान कच्चे हों या पक्के, लेकिन सफ़ाई रखने के लिये धन की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी इच्छा और सफ़ाई से उत्पन्न होनेवाले लाभ की। कुछ धन की भी आवश्यकता अवश्य है। निर्धन देहातियों के लिये पक्की नालियाँ बनवाना आसान नहीं है और इस विषय में ज़िला-बोर्डों को देहातों की सहायता करनी चाहिए। प्रत्येक गाँव से जितना कर लिया जाय, उसका एक अल्पांश तो उस गाँव के प्रत्यक्ष हित के निमित्त अवश्य ही ख़र्च होना चाहिए। सड़कें, मवेशीख़ाने, पशु-चिकित्सालय और शिक्षालय बहुत ही उपयोगी संस्थाएँ हैं; लेकिन गाँव की सफ़ाई का प्रश्न इन संस्थाओं से कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है, बल्कि हम तो यह कहेंगे कि प्रत्यक्ष रूप से जितना उपकार सफ़ाई से हो सकता है उतना इन संस्थाओं से नहीं हो सकता। यदि हमारे राष्ट्रीय विद्यालय देहातियों के प्रति अपने कर्तव्य को स्वीकार कर लें और उपर्युक्त रीति से उसका पालन करें, तो देहातों का अवश्य ही थोड़े ही दिनों में जीर्णोद्धार हो जाय। किसी-किसी गाँव के दो-एक युवक भी विद्यालयों में पढ़ते हैं, पर व्यक्तिगत रूप से उनके परामर्श का देहातियों पर इतना प्रभाव नहीं पड़ सकता जितना सामूहिक रूप से। इसमें संदेह नहीं कि नागरिक युवकों के लिये गाँव-गाँव घूमना बहुत ही कष्टदायक होगा, लेकिन इससे उनमें जो नैतिक विकास होगा, उसका महत्त्व कुछ कम नहीं। फिर यह देहातों पर कोई एहसान नहीं है। यह तो शिक्षित समाज का देहातियों के प्रति कर्तव्य है जिसकी ओर से अब तक हम आँखें बंद किए हुए हैं।

× × ×

५. संसार की सब से ऊँची इमारत

संसार में बड़ी ऊँची-ऊँची इमारतें हैं। भारतवर्ष भी कुछ ऊँची इमारतों का गर्व कर सकता है। पर अब अमेरिका इन सब ऊँची इमारतों का गर्व खर्व करने जा रहा है। जगत्प्रसिद्ध न्यूयार्क नगर में, फ़ार्टी सेकंड स्ट्रीट में, एक इमारत बन रही है। शायद अब से संसार में इसके समान ऊँची कोई दूसरी इमारत न रहेगी। अभी तक ऊलवर्थ बिल्डिंग और एफ़ेल टावर को संसार में बड़ी महिमा थी, पर अब यह इमारत पहली से ४१६ फ़ीट और दूसरी से २२६ फ़ीट अधिक ऊँची हो जायगी।
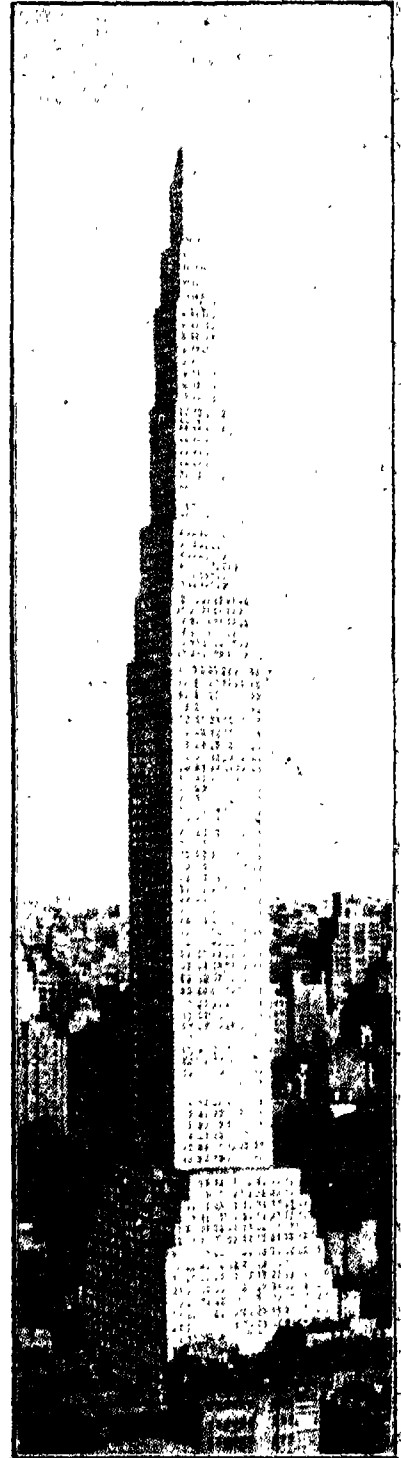
जॉन लार्किन टावर

इस इमारत की ऊँचाई १२०८ फ़ीट होगी और यह ११० मंज़िल की होगी। इस प्रकार से इसमें ऊलवर्थ बिल्डिंग से ४० मंज़िल अधिक होंगी। इस विशालाकार इमारत के बनानेवाले कारीगर स्वनाम-धन्य मिस्टर जॉन ए० और मिस्टर एडवर्ड एल० लार्किन हैं। कहना नहीं होगा कि इन्हीं दोनों महानुभावों के नाम से इस इमारत का नामकरण भी किया जायगा। संभवतः इसका नाम 'जॉन लार्किन टावर' रक्खा जायगा। जब यह इमारत बनकर तैयार होगी, तो यह कहना सार्थक होगा कि यह भवन आकाश से बातें कर रहा है और नक्षत्रों से अपना सर टकराने को तैयार है। इसका जो चित्र दिया जाता है उससे पाठकगण अनुमान कर सकते हैं कि संसार का यह कैसा भव्य भवन होगा। 'जॉन लार्किन टावर' का निर्माण अमेरिकन स्थापत्य-शैली के अनुसार होगा।

× × ×

८. जीवन में 'त्याग' का स्थान

'त्याग' का शब्द ध्यान में आया और भारत के ४० लाख त्याग-मूर्तियों का समूह आँखों के सामने खड़ा हो गया। कैसी-कैसी विचित्र मूर्तियाँ हैं, किसी की कमर में एक रस्सी लिपटी हुई है तो कोई मादरज़ाद नंगा है, किसी ने जटाओं की एक गठरी सिर पर ले रक्खी है तो किसी ने सिर, दाढ़ी, मूछ सब का सफ़ाया करा दिया है। ये त्याग और वैराग पर मिटनेवाले प्राणी हैं, इनके सामने सिर झुकाओ, इनके चरणों की रज माथे पर चढ़ाओ। तुम सांसारिक जीवों का यह अहोभाग्य है कि इन देवताओं के दर्शन हुए। त्याग की महिमा कौन नहीं जानता। किसी धर्म-ग्रंथ को उठा लीजिए, त्याग और आत्म-दमन के उपदेशों से उसे भरा हुआ पाइएगा। बुद्ध, ईसा, शंकर सभी ने इच्छाओं को दमन करने की शिक्षा दी। इससे बड़ा, इससे महत्त्व-पूर्ण कोई धर्म नहीं। आत्म-शुद्धि के लिये त्याग ही एक-मात्र उपाय है। यही हमारे सामने जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। हम इस आदर्श से जितना ही दूर या समीप अपने को पाते हैं, उतना ही अपनी दृष्टि में गिरते या उठते हैं। अमुक प्राणी ने अंत को संन्यास ले लिया!—यह हाल सुनते ही उस व्यक्ति के लिये हमारे हृदय में श्रद्धा का स्रोत उमड़ आता है। मन में यह आकांक्षा उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती कि क्या कभी हमें भी वह सौभाग्य प्राप्त होगा? हम भी कभी संसार की बेड़ियों को तोड़ फेंकने में समर्थ होंगे? हमारे ऐसे भाग्य कहाँ! यह सुबुद्धि बड़ी तपस्या से प्राप्त होती है, यह पूर्व-संस्कार का चमत्कार है!

त्याग को यह महिमा कैसे प्राप्त हुई, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन नहीं। हमारा सामाजिक अनुभव ही त्याग का जन्म-दाता है। हमारा जीवन सामाजिक जीवन से इतना संबद्ध है कि समाज से अलग उसका कोई मूल्य ही नहीं, समाज ही उसका कर्मक्षेत्र है। इससे विदित है कि समाज मुख्य है और व्यक्ति गौण। अतएव पहले 'पर' का ध्यान रखना हमारा कर्तव्य है, इसके बाद 'स्व' का। लेकिन 'स्व' की ओर लुढ़क जाना मनुष्य के लिये इतना स्वाभाविक प्रतीत हुआ, और इसके इतने कटु अनुभव हुए कि 'स्व' या मन को दबाए रखने के लिये साधनों की आवश्यकता पड़ी। चाहिए तो यह था कि समाज में रहते हुए इन साधनों को ग्रहण किया जाता, लेकिन समाज में रहते हुए त्याग-सिद्धांत का पालन करना कठिन था। अतएव वैराग्य और संन्यास का प्रचार हुआ। यह उस सिद्धांत की विजय नहीं, पराजय थी। बहादुर सिपाही वह है जो सेना के सामने अपनी वीरता दिखाए। जंगल में जाकर तलवार चमकाना वीरों का काम नहीं। त्याग आत्म-शुद्धि का एक साधन-मात्र है जिससे हम समाज के एक उपयोगी अंग बन सकें। मगर हमने यहाँ भी साधन को साध्य समझ लिया। परिणाम यह हुआ कि हम में अच्छे और बुरे का एक नया विभाग उत्पन्न हुआ। जिन्होंने 'स्व' को लात मार दिया था और समाज से मुँह मोड़ लिया था, वे 'स्व' के भक्तों और सामाजिक जीवन यापन करनेवालों को तुच्छ समझने लगे। मनुष्य पापी हो गया, पाप-वृत्ति उसके लिये स्वाभाविक समझी जाने लगी। उसे स्वयं अपने ऊपर घृणा आने लगी, उसमें आत्मविश्वास की क्षति हो गई, पराधीनता का उस पर आधिपत्य हो गया। मन के तत्त्व को समझकर उस पर शासन करने के बदले हमने उसके भय से बिल खोदना शुरू कर दिया। कोई जंगल को भागा, किसी ने खोह में शरण ली, किसी ने आँखें फोड़ लीं, किसी ने पवन का आहार करना आरंभ कर दिया। यह न आत्म-संग्रह है न वैराग्य, इसे कुछ और ही कहना चाहिए।

आइए, अब यह विचार करें कि आत्म-दमन से अपने ऊपर क्या असर पड़ता है। पहली बात यह है कि जिन

बातों को मनुष्य भूल जाना चाहता है, वही नित्य उसके सम्मुख खड़ी रहती हैं। यों चाहे आपके मन में कभी कुवासना जाग्रत् न हो, लेकिन जिस दिन आप व्रत ले लेंगे, उसी दिन से आप अपने चित्त को विशेष रूप से चंचल पावेंगे। संसार से नित्य काँपते और इच्छाओं के भूत को नित्य सामने खड़े देखते रहने से मानसिक शक्तियों के दुर्बल हो जाने की संभावना रहती है। ऐसे कितने ही महात्माओं का बुरी तरह पतन होते देखा गया है। गृहस्थ तो सभी शहरों में रहते हैं, लेकिन तीर्थ-स्थानों में जितना व्यभिचार होता है उतना दूसरे नगरों में नहीं होता। इसका कारण स्पष्ट है।

दूसरी बात यह है कि त्याग-व्रतधारी मनुष्यों में अहंकार की प्रवृत्ति अज्ञात-रूप से जाग उठती है। हृदय उदार और विशाल होने के बदले और भी संकीर्ण हो जाता है। अपने बाल-बच्चों के पालन-पोषण की धुनि में लहू और पसीना एक करनेवाले वीर जनों को भी हम घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। राजाओं में भी अहंकार की ऐसी मिसालें नहीं मिलतीं, जैसी साधुओं में देखी गई हैं। डॉक्टर बोस भी एक साधु की दृष्टि में सांसारिक जीव हैं और इसलिये अधम हैं, चाहे उनके आविष्कारों से समस्त भूमंडल का कितना ही बड़ा उपकार क्यों न हो। भक्तों की एक मंडली को अपने चारों ओर बैठे देखकर वह अपने को ऊँचा समझने लगता है। उसे इन भक्तों से किसी प्रकार की सेवा कराते हुए संकोच नहीं होता। उसकी समझ में तो सेवा करवाना उसका उतना ही बड़ा अधिकार है जितना भक्तों का उसकी सेवा करना। इस भाँति साधारण जनता में इन त्यागियों द्वारा दास-वृत्ति का पोषण होता रहता है। संसार की सारी वस्तुएँ तुच्छ हैं, निःसार हैं, इसलिये उनका मूल्य ही क्या? इस सिद्धांत के भक्त अधिकतर वे ही होते हैं जिन्हें संसार में नैराश्य ही का अनुभव हुआ है। इस कहावत की सत्यता में कदाचित् किसी को संदेह न होगा—

नारि मुई गृह-संपति नासी;
मूँड़ मुड़ाय भए संन्यासी।

अधिकांश जीवन से निराश प्राणी ही त्याग के प्रलोभन में आते हैं। यह स्वाभाविक भी है। मान-तृष्णा जो प्रत्येक मनुष्य में छिपी रहती है, तुष्टि का मार्ग ढूँढ़ती रहती है। यही साधन उसके लिये सुलभ है। जब कि संसार में सभी चीज़ें निःसार हैं और स्वर्ग में हमें इनसे कहीं उत्तम पदार्थ भोगने को मिलेंगे, तो हम इन वस्तुओं के पीछे क्यों पड़ें। हमें तो चुटकी-भर आटा चाहिए। जिसे राज करना हो राज करे, एक दिन वह भी तो दाँत निकालकर मर ही जायगा। इस उदासीनता से लाभ उठानेवालों की कभी न कमी थी और न रहेगी। त्याग और वैराग्य से पराधीनता के भाव को बड़ा आश्रय मिलता है। किसी अंश तक स्वार्थभक्त बन जाना इससे कहीं अच्छा है कि हम संसार से उदासीन हो जायँ। अतएव वैराग्य ने हमें केवल धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, राजनीति और समाज के क्षेत्र में भी पराधीन और कायर बना दिया है। जिसने त्याग का भेष धारण किया, उसे जनता से भक्ति-कर वसूल करने का अधिकार मिल गया, दस-पाँच मनुष्यों को गुलाम बनाकर ही छोड़ा। भारतवर्ष पर इस वैराग्य का जो सब से बड़ा असर पड़ा है वह यह है कि इसने जनता में आत्मविश्वास और सदुद्योग को मिटाकर उसकी जगह पराश्रय और पराधीनता को स्थापित कर दिया। धन के लिये, संतान के लिये, यहाँ तक कि मोक्ष के लिये भी हम दूसरों का मुख ताकते हैं। कपट, काँइयाँ-पन और चापलूसी, जो पराधीन जातियों की मिलकियत है, हमारे घर में इस तरह अड्डा जमा बैठी है कि उठने का नाम ही नहीं लेती।

हमें आत्म-त्याग की इतनी ज़रूरत नहीं जितनी आत्म-संस्कार की। हमारी आत्मा समाज में अंकुरित होकर बढ़ती, फूलती और फलती है। वह समाज-रूपी खेत का ही पौदा है। समाज में, परिवार में, रहकर ही उसे प्रस्फुटित होने का अवसर मिल सकता है। त्याग के ऊसर में पड़कर वह कुंठित हो जायगी। हम यह नहीं कहते कि जिन महात्माओं को अपने जीवन में कोई मिशन पूरा करना था उनको भी सामाजिक बंधनों में पड़ना चाहिए। वे समाज के बाहर हैं ही कब। वे हमें संसार में उन्नति करके मार्ग दिखाते हैं, साधन बताते हैं। हमारा विरोध तो केवल उस Mentality (मनोवृत्ति) से है जिसने ५० लाख से अधिक आदमियों को बेकार बना रक्खा है, जिसने हमें जीवन में निरुत्साही, उदासीन, परमुखापेक्षी और स्वार्थी बना दिया है। हमें यह याद रखने की ज़रूरत है कि धार्मिक उन्नति भी बिना सांसारिक उन्नति के प्राप्त नहीं होती।

× × ×

१०. कंपनी के ज़माने में डाक का महसूल

बादशाहों के ज़माने में डाक का कोई सरकारी प्रबंध न था। सरकारी डाक तो हरकारे ले जाते थे, निजी चिट्ठियाँ नौकरों या नाइयों द्वारा भेजी जाती थीं। कंपनी ने सूरत में डाकख़ाना खोला और अच्छे महसूल पर निजी चिट्ठियाँ भी पहुँचाने लगे। १७१२ में मदरास में डाकघर खुल गया। पहले मदरास से बंगाल तक तीन महीने में आदमी पहुँचता था। अब ३० दिन में आने लगा। १७७४ में कलकत्ते में एक पोस्ट मास्टर जनरल नियुक्त हुआ और डाक का महसूल प्रत्येक १०० मील पर =) रक्खा गया। मदरास से बंबई तक एक ख़त का महसूल २) हो जाता था। पारसल ४) आउंस के हिसाब से लिया जाता था। ढाई तोले से साढ़े तीन तोले तक चिट्ठियों का महसूल दुगना था। साढ़े तीन तोले से साढ़े चार तोले तक तिगुना। साढ़े चार तोले से साढ़े पाँच तोले तक चौगुना। १७६१ में महसूल कुछ घट गया। ढाई तोले या उससे कुछ कम की चिट्ठियाँ कलकत्ते से पटने तक ।~) में आती थीं, बनारस तक ।≡) में, बंबई तक १॥~) में और मदरास तक १=)॥ में। यही कारण है कि उन दिनों पत्र बहुत विस्तार से लिखे जाते थे, जिसमें घर का कोई समाचार रह न जाय। पत्रों को आधी मुलाक़ात भी इसीलिये कहा जाता था। आज दो पैसे में सिमला से बंबई तक ख़त पहुँच जाते हैं। कई साल पहले एक ही पैसा महसूल था।

× × ×

११. संप्रदाय या स्वदेश ?

योरप ने तो इस प्रश्न का उत्तर बहुत पहले ही दे दिया है, यहाँ तक कि तुर्की ने भी योरप के ही पद-चिह्नों पर चलना शुरू किया है। अब हमारे पड़ोसी, कुंभकर्णी नींद में सोए हुए, चीन ने भी इस प्रश्न का उत्तर दे दिया। संस्थाओं के सांप्रदायिक नामों की जगह अब राजनैतिक नाम रक्खे जा रहे हैं। चीन में ईसाई, बुद्ध, मुसलमान सभी हैं। मंचू, मुग़ल, तातार, सभी नसलों के मनुष्य आबाद हैं। पर उनमें सांप्रदायिक कलह नहीं होते, कभी सुनने ही में नहीं आए। वे अपनी स्थिति को समझते हैं। वे पहले चीनी हैं, फिर बौद्ध या मुसलमान, विदेशियों को देश से निकाल देना उन सभी का ध्येय है। भारतवर्ष अभी सांप्रदायिकता के चंगुल में फँसा हुआ है। यहाँ आर्यन-कलचर और मुसलिम-कलचर में संग्राम हो रहा है। चीन में कौन-सा कलचर है? बुद्ध-कलचर या ईसाई-कलचर या मुसलिम-कलचर या कंफ़्यूशन-कलचर? मगर नहीं, भारत भारत है। इसकी अन्य देशों से क्या बराबरी। चीन, जापान और समस्त पृथ्वी भ्रष्ट होती जा रही है। वह थोड़े दिनों में रसातल पहुँचनेवाली है। भारत ने करोड़ों वर्षों से अपना अस्तित्व बनाए रक्खा है। कोई राजा आवे, कोई विजेता आवे, भारतवर्ष ने कभी अपने ध्यान से सिर नहीं उठाया। यह जीवन तो चार दिन का मेहमान है। इसके लिये कौन झगड़े में पड़े। परलोक का जीवन तो अनंत और स्थायी है। निःसार के लिये अनंत को बाधा में डालना भला कोई समझदारी की बात है। हम चाहे अनंतकाल तक दासता की बेड़ियाँ पहने रहें, पर आर्यन-कलचर की रक्षा अवश्य करते रहेंगे।

× × ×

१२. सन् १८४८ में बंगाल में पतितोद्धार-सभा

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब बंगाल में एक ओर ईसाई-धर्म ने शिक्षित समाज के धार्मिक विश्वास की जड़ें हिलानी शुरू कीं और दूसरी ओर ब्राह्म-समाज ने, तो सनातन हिंदू-धर्म के नेताओं को बड़ी चिंता हुई। उस वक़्त तक यह क़ानून था कि दूसरे मत में जानेवाले मौरूसी जायदाद से वंचित हो जाते थे। १८४८ में यह क़ैद भी उठा गई। अब हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने का समय न था। समस्या कठिन आ पड़ी थी। पंडित-समाज में भी हलचल पड़ी। आख़िर एक 'पतितोद्धार-सभा' स्थापित की गई और बंगाल के १०० सर्वमान्य पंडितों ने अपने हस्ताक्षर से एक घोषणा प्रकाशित की जिसमें शास्त्रोक्त प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध किया गया कि हिंदू-धर्म में धर्मभ्रष्ट प्राणियों को उचित प्रायश्चित्त के बाद समाज में फिर ले लेने की व्यवस्था है। कितने ही मनुष्य जो अपने ईसाई प्रोफ़ेसरों के प्रभाव में आकर ईसाई हो गए थे, प्रायश्चित्त करके आ मिले। कहीं दंगे-फ़साद की नौबत नहीं आई। पतितोद्धार-सभा ने ढोल मँजीरे ले लेकर ईसाई-मंदिरों के सामने बजाना नहीं शुरू किया, न प्रायश्चित्त करनेवालों का जुलूस निकालकर ईसाइयों का गर्व-मर्दन करने की चेष्टा की। वर्तमान शुद्धि-आंदोलन में यही बुराई है कि वह जितनी शुद्धियाँ करता है, उस

से कहीं ज़्यादा शोर मचाता है। हम मानते हैं कि उसे शोर मचाने का, बाजे बजाने का, जुलूस निकालने का पूरा अधिकार है, लेकिन ऐसे भी तो अवसर होते हैं जब हम सहर्ष अपने माने हुए अधिकारों का त्याग कर देते हैं। आपको सिर पर टेढ़ी टोपी लगाकर निकलने का अधिकार है, पर आप ऐसा नहीं करते। आप डरते हैं कि लोग हँसेंगे। आप स्वेच्छा से अपने अधिकार त्याग कर देते हैं। हिंदू-मत में शुद्धि नई चीज़ न होते हुए भी एक भूली हुई चीज़ अवश्य है। जीवित स्मृति में तो यह नई बात है ही। इसलिये स्वभावतः अन्य धर्मवालों को शंका होनी चाहिए। उन्हें शंका हो सकती है कि इसमें कोई भयंकर षड्-यंत्र है। कुछ दिन शांति से शुद्धियाँ कीजिए, फिर यह भी एक साधारण बात हो जायगी। धर्म की विजय उसके अनुयायियों के आचरण से होती है। किसी धर्म के महान् होने की यही पहचान है। उद्दंडता से धर्म की विजय नहीं होती। यह बड़े-बड़े प्रांत जो मुसलमानों से भरे हुए हैं, क्या तलवार के ज़ोर से इसलाम में आए? शायद ऐसा हो। अवश्य ही स्वार्थी, दुलमुल, अंधभक्त हिंदुओं ने किसी मुसलमान औलिया की करामात के वशीभूत होकर उनके चरणों पर सिर झुकाया होगा और उनकी शरण आ गए होंगे।

× × ×

१३. कथा-सरितसागर का अँगरेजी संस्करण

हिंदी में अभी तक कथा-सरित-सागर का एक भी अच्छा संस्करण नहीं है। अँगरेज़ी में Ocean of the Story के नाम से एक प्रकाशक ने उसका एक बहुत ही प्रामाणिक, सटिप्पण अनुवाद प्रकाशित किया है। अब तक सात भाग प्रकाशित हो चुके हैं, आठवें भाग में पुस्तक समाप्त हो जायगी। एक विद्वान् ने 'जनश्रुति' पर मार्मिक विवेचन किया है। जनश्रुति कितने ऐतिहासिक मूल्य की वस्तु है, यह सभी लोग जानते हैं। एक ही कथा भिन्न-भिन्न रूपांतरों के साथ किन-किन देशों में पहुँची, वहाँ उसमें क्या परिवर्तन हुए और उसका वर्तमान साहित्य पर कितना प्रभाव पड़ा है, ये महत्त्व-पूर्ण विषय बहुत अंशों तक जन-श्रुतियों द्वारा निर्धारित किए जा सकते हैं। भिन्न-भिन्न रूपांतरों से भिन्न-भिन्न देशों के आचार-व्यवहार पर प्रकाश पड़ना अनिवार्य ही है। प्रत्येक राष्ट्र या देश के साहित्य पर उसकी अपनी छाप तो होती ही है। यह अध्ययन बड़ा ही मनोरंजक और उसके साथ ही ज्ञान-वर्धक भी है। हिंदी में एक तो विद्वान् हैं ही कम, जो हैं भी वे हिंदी लिखना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं। और यह भी मान लो कि वे लिखने पर तैयार हो जायँ, तो पुस्तक पढ़े कौन? प्रकाशक उन पुस्तकों को किसके गले मँढ़े। हमारा शिक्षित समाज हिंदी-पुस्तकें नहीं पढ़ता। अँगरेज़ी-पुस्तकों से उसका पुस्तकालय चमचमा रहा है, पर क्या मजाल कि उसमें कोई हिंदी-पुस्तक नज़र आ जाय। अँगरेज़ी-भाषा कितनी सुंदर, मँजी हुई, प्रौढ़ है, उसमें मनोभावों को व्यक्त करने का कितनी शक्ति है, कैसे-कैसे विशेषण हैं कि एक शब्द में आँखों के सामने तस्वीर खींच देते हैं। हिंदी में ये गुण कहाँ? फिर हमारा हैटधारी बाबू-समाज उन पुस्तकों को कैसे पढ़ सकता है। उसके पास न इतना समय है, न इतना धन, न इतना धैर्य। इसी त्रिदोष में पड़ी हुई हिंदी-भाषा सिसक रही है। हिंदी में दो हज़ार का एडीशन भी बड़ी मुश्किलों से निकलता है। यदि किसी प्रसिद्ध लेखक की एक हज़ार पुस्तकें साल-भर में निकल जायँ, तो समझ लो कि वह लेखक बड़ा भाग्यशाली है। पुस्तक मोल लेना धन का अपव्यय समझा जाता है। हमें ग़रीबों से शिकायत नहीं, लेकिन जिन लोगों की आय हज़ारों तक पहुँचती है वे भी माँगकर पुस्तकें पढ़ने में संकोच नहीं मानते। वे महीने में १०-२०) रुपए का पान खा सकते हैं, इतनी ही रक़म सिगरेट में उड़ा सकते हैं, पर १-२) भी हिंदी-पुस्तकों पर ख़र्च नहीं कर सकते। यह तो हिंदी की उन्नति के शुभ लक्षण नहीं हैं।

× × ×

१४. स्कीन कमेटी की सिफ़ारिशें

पाठकों ने समाचार-पत्रों में स्कीन कमेटी की रिपोर्ट और उसकी सिफ़ारिशें पढ़ी होंगी। न्यूनाधिक १० साल के उद्योग के बाद यह कमेटी नियुक्त हुई थी और इसकी सिफ़ारिशें यदि आज से दस साल पहले व्यवहार में लाई गई होतीं, तो उस वक़्त हमने उनका स्वागत किया होता। पर आज हमारी आकांक्षाएँ बहुत आगे बढ़ गई हैं। कमेटी १० हिंदुस्तानियों को प्रति वर्ष सेना-विभाग में अफ़सरों के पद पर लेने की सिफ़ारिश करती है। इस समय छोटे-बड़े अफ़सरों की संख्या ३६०० के क़रीब है। यदि प्रति वर्ष १० आदमी लिए जायँ, तो संपूर्ण सेना को

भारतीय बनाने में ३६० वर्ष लगेंगे। ३६० ही वर्ष तो!

मगर अँगरेज़ अधिकार-भोगियों को इतना भी असह्य है। उन लोगों ने अभी से हाय-तौबा मचानी शुरू की है। अभी से धमकियाँ दी जा रही हैं कि स्कीन-कमेटी की यह सिफ़ारिश मानी गई, तो इँगलैंड के युवक भारतीय सेना में भरती होना छोड़ देंगे। वे इतना बड़ा अपमान नहीं सह सकते कि भारतीयों के अधीन रह सकें।

लेकिन यह छोटी-सी रिआयत भी कमेटी ने १९२३ से मंज़ूर की है। सोच-विचार करने में क्या ४ साल भी न लग जायँगे। उस पर अभी गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया को सोचना-विचारना बाक़ी ही है। क्या इसमें उसे १० वर्ष से कम लगेंगे। इतने महत्त्व की बात क्या उतावली में तय हो सकती है! कभी नहीं। भली प्रकार से सोच लेना चाहिए। देखना यह है कि भारत-सरकार देश के साथ अपने कर्तव्य का पालन करती है या इँगलैंड के पत्र-संपादकों की धमकियों में आकर उनके आगे सिर झुका देती है।

× × ×

१५. डॉक्टर बी० एस्० मुंजे की वक्तृता

डॉक्टर बी० एस्० मुंजे ने सार्वदेशिक हिंदू-सभा के वार्षिक अधिवेशन में सभापति की हैसियत से एक बहुत ही ओजस्विनी और विचार-पूर्ण वक्तृता दी। आपने अछूतोद्धार के जटिल प्रश्न का बड़ी निर्भीकता से विवेचन किया और हिंदू-समाज के सामने कई ऐसे प्रस्ताव उपस्थित किए जिन्हें व्यवहार में लाने से अस्पृश्यता का प्रश्न बहुत कुछ हल हो सकता है। हम इस विषय में सभापति महोदय से पूर्णतया सहमत हैं कि अछूतों को कुओं पर पानी भरने, मंदिरों में पूजा करने और पाठशालाओं में अपने बालकों को भेजने की पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिए। इन बंधनों को आज से १०० वर्ष पहले टूट जाना चाहिए था और अब तो उनका पालन करने में हिंदू-समाज को नरकू बनने के सिवा और कोई श्रेय नहीं है। सब से बड़े कलंक की बात तो यह है कि हमें संसार में सभ्य समूहों के सामने मुँह खोलने का साहस नहीं होता। जो लोग अपने देश के निवासियों को वे अधिकार भी नहीं दे सकते जो अधिकार नहीं, जीवन के तत्त्व हैं, उन्हें किसी के सामने अपना दुखड़ा रोने का कोई अधिकार नहीं। हमारे विचार में हिंदू-सभा को अपनी संपूर्ण शक्ति इसी प्रश्न के हल करने में लगानी चाहिए थी। हमारी असफलता का एक मुख्य कारण यह भी है कि हम अपने कार्य-क्षेत्र को इतना विस्तृत कर लेते हैं कि वह शीघ्र ही हमारे क़ाबू के बाहर हो जाता है। हमें कदाचित् संकुचित क्षेत्र में काम करते लज्जा आती है। अभी हम अपने घर में तो सुधार कर ही नहीं सके और शुद्धि को भी अपने प्रोग्राम में समेट लिया! हम यह नहीं कहते कि हमें शुद्धि करने का अधिकार नहीं है। अगर अन्य संप्रदायों को अपने मत-प्रचार का अधिकार है, तो हमें भी निःसंदेह वह अधिकार है। पर अन्य मतों के लिये यह कोई नई समस्या नहीं। एक हिंदू के ईसाई या मुसलमान हो जाने से कोई व्यतिक्रम नहीं उपस्थित होता, लेकिन एक मुसलमान या ईसाई की शुद्धि से हिंदू-समाज में एक विकट समस्या खड़ी हो जाती है। अगर आप उन नव हिंदुओं के साथ पूर्णतया समानता का व्यवहार नहीं कर सकते, आपमें उनके प्रति ज़रा भी घृणा का भाव है। तो वास्तव में इन शुद्धियों से आप अपने शत्रुओं की संख्या बढ़ा रहे हैं। डॉक्टर मुंजे ने भी कदाचित् इसी विचार की पुष्टि करते हुए कहा—"मुसलमानों को अलग छोड़ दो, वह जो चाहें करें, तुम अपने अंदर संगठन करो।" हम भी यही चाहते हैं। कार्यकर्ताओं की संख्या प्रत्येक समाज में कम होती है। हिंदू-समाज में तो और भी कम है। इन थोड़े-से आदमियों को अपने समाज-सुधार के काम में ही लगाना हितकर होगा। मत डरिए कि हिंदू-जनता आपकी शत्रु हो जायगी। यदि आपमें अपने विचारों पर दृढ़ रहने का साहस नहीं है, तो आप कोई सुधार नहीं कर सकते। आपको उस मनुष्य की बुद्धिमत्ता पर अवश्य संदेह होगा जो अपनी मेड़ों को न बाँधकर उन आदमियों से लड़ाई-झगड़ा करता फिरे जिनके खेतों में उसका पानी आप-ही-आप पहुँच जाता है। रहा यह वाक्य कि हिंदू संगठित होकर मुसलमानों के विरोध करने पर भी स्वराज्य ले सकते हैं, यह उत्तरदायित्व-हीन वाक्य है। इस भ्रम को जितना जल्द दूर कर दिया जाय, उतना ही अच्छा। अगर यह भाव दिलों में जम गया, तो समझ लीजिए कि अनंतकाल तक के लिये दासता आपकी तक़दीर में लिख गई!

उपवन
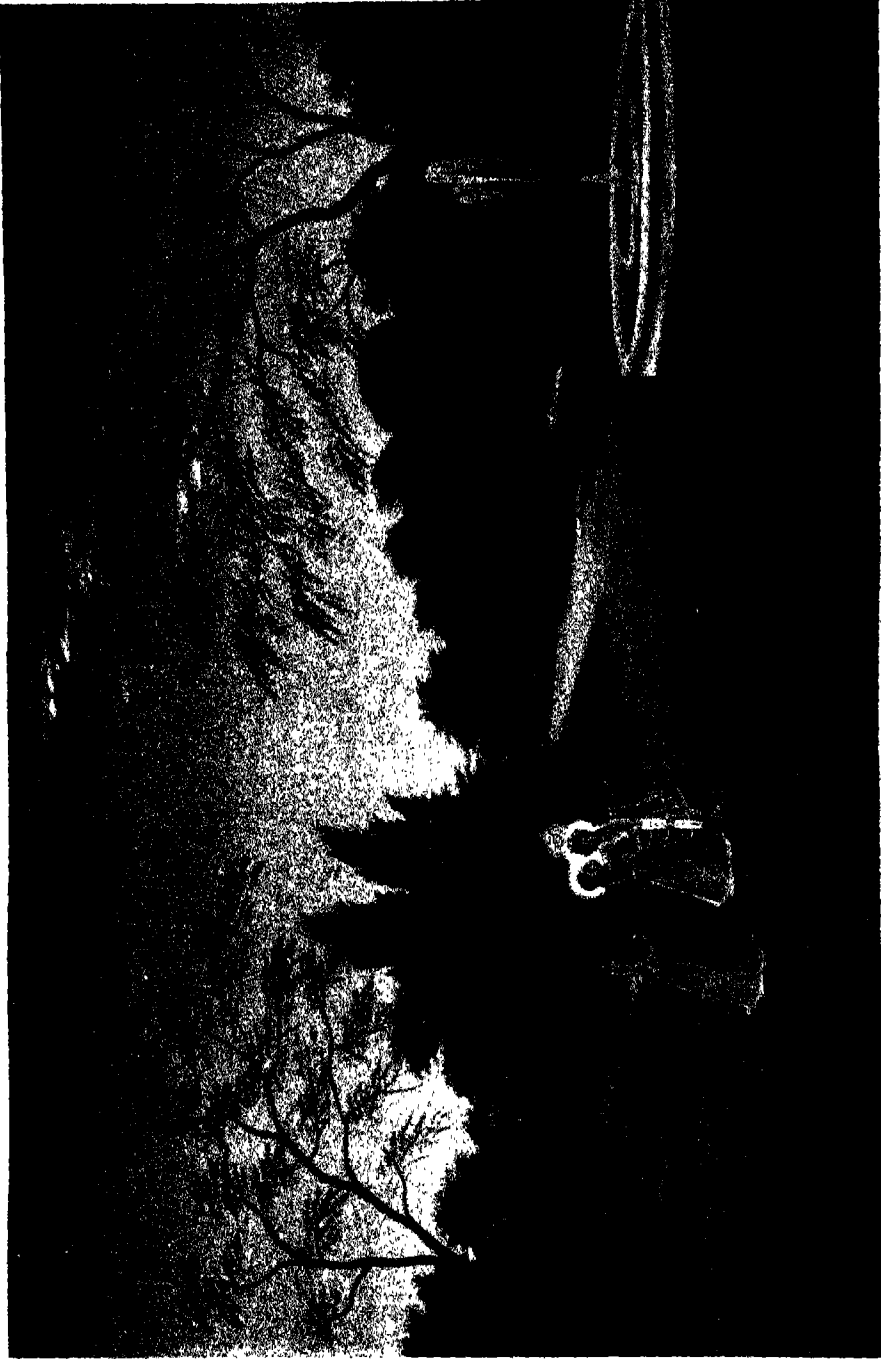
[श्रीविष्णुनारायण भार्गव की चित्रशाला से]

N. K. Press, Lucknow.

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ५ खंड २ { ज्येष्ठ-शुक्ल ७, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)— ९ जून, १९२७ ई० } संख्या ५ पूर्ण संख्या ५९

लहर

कलेजा कब चिचोरती नहीं,
बन चुड़ैलों-जैसी बद बहू ;
दूध जिस मा का पीकर पली,
चूस लेती है उसका लहू ।
हाथ से जिसके पल-जी सकी,
गोद में जिसकी फूली-फली ;
बे-तरह लुटता है वह बाप,
छुरी गरदन पर उसकी चली ।
'सगा' भाई-जैसा है कौन,
दबाती है उसका भी गला ;
सदा जो अपने माने गए,
सिरों पर उनके आरा चला ।
देख आँसू न पसीजी कभी,
लाख हा ! आँखें फोड़ी गईं ;
फूल-सी खिलती कितनी आस,
चुटकियों में उसकी मिस गईं ।
छिन गए लाखों मुख के कौर,
पेट कितने ही काटे कटे ;
हो गए वे कौड़ी के तीन,
जो न तीनों लोकों में अँटे ।
बन गए कितने 'हीरे' कनी,
कलेजे पत्थर-जैसे हिले ;
लगाए उसके लागें लगीं,
लाख हा ! लोग धूल में मिले ।
है सितम, साँसत, पैनी छुरी,
काल-साँपिनी, फूटती लहर,
जब मिली मिली लहू से भरी,
किसी लोभी के मन की लहर ।

"हरिऔध"

जीवात्मा-वाद

सात-आठ महीने हुए, हमने जीवाणु-वाद नामक एक लेख माधुरी में छपवाया था। यद्यपि उसमें जीवाणुओं का कथन था, तथापि वास्तव में वह शरीर-वाद था। उसमें यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था कि प्रत्येक शरीर में एक अथवा अनेक या असंख्य जीवाणु भले ही हों, किंतु मनुष्य-शरीर तक में एक जीवात्मा का होना असिद्ध प्रतीत होता है। हमने उसमें लिखा था कि हम स्वयं जीवात्मा पर विश्वास रखते हैं, किंतु तार्किक सिद्धांतों पर विचार करने से जीवात्मा की सत्ता के संबंध में निराशा आ घेरती है। तो भी हम स्वीकार करने को तैयार हैं कि उक्त लेख में यह निराशा-संबंधी कथन उचित से अधिक दृढ़ता-पूर्ण शब्दों में हो गया था। वास्तव में हमारा विचार केवल इतना है कि हम जीवात्मा-वादी हैं, किंतु तार्किक सिद्धांतों पर विचार करने से प्रत्येक शरीर-वादी जीवात्मा-वादी नहीं बनाया जा सकता है। तर्क दोनों ओर बहुत कुछ कहता है और यह बात प्रत्येक पुरुष के मानसिक झुकाव अथवा तार्किक बल पर निर्भर रह जाती है कि वह जीवात्मा-वादी बने अथवा शरीर-वादी। वास्तव में हम जीवात्मा को ही दृढ़ मानते हैं, ऐसा उस लेख में हम कह आए हैं और अब भी कहते हैं। आज इसी गूढ़ विषय पर कुछ सुगम तार्किक विचारों का कथन किया जायगा।

जीवात्मा क्या वस्तु है, इसका व्यक्त करना बहुत सुगम नहीं। पंडितों ने इसका कथन कई प्रकार से किया है। अंतःकरण, सत्ता, स्थिर अविनाशी सत्ता, आत्मन्, पुरुष, जीव आदि शब्द इसी के नामांतर हैं। प्रयोजन यह है कि पार्थिव शरीर से संबद्ध और मरणानंतर उससे पृथक् कोई अपार्थिव वस्तु है। उसी के उपर्युक्त नामांतर हैं। उसी को मनुष्य का अवशिष्टांश (Survival of man) भी कहते हैं। बौद्ध-मत इसे नहीं मानता और न्याय निर्गुण-चेतना-हीन सत्ता-मात्र कहता है, सांख्य इसे शुद्ध चैतन्य-रूप समझता है और वेदांत सच्चिदानंद का ऐक्य-रूप मानता है। यूनानी दार्शनिक सुकरात ने यह भी शंका उठाई है कि संभवतः जीवात्मा कई शरीर धारण करता हो, किंतु अंतिम शरीर के साथ उसका भी विनाश हो जाता हो। उन्होंने इस शंका का निराकरण भी किया है। वेदांत में मुक्ति का जो विचार है, वह बहुत करके इस शंका का प्रतिरूप है और एक प्रकार से स्वामी शंकराचार्य की गणना जीवात्मा के विरोधियों में की जा सकती है, यद्यपि वे प्रकट रूप से इसका विरोध नहीं करते और आत्मा की व्यावहारिक सत्ता मानकर अपने को जीवात्मा-वादियों में ही रखना चाहते हैं। अद्वैत-वादी अंतःकरण के रूप में इसी सत्ता को अज्ञान का अंग मानते हैं। इसे अज्ञान का अंग एवं व्यावहारिक सत्ता-मात्र मानने के कारण अद्वैत-वादी वास्तव में जीवात्मा-वादी नहीं रहते और केवल ईश्वर-वादी रह जाते हैं, जैसा कि 'अद्वैत'-शब्द से भी प्रकट है।

जीवात्मा के विविध धर्मों के अनुसार वही जीवात्मा मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार इन चार नामों से पुकारा जाता है। ये चारों भाव वास्तव में एक ही जीवात्मा के साक्षी हैं। क्योंकि इनकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है। पंडितों ने इन्हीं को अंतःकरण-चतुष्टय के नाम से पुकारा है। मनस् की मुख्यता संदेह में है तथा बुद्धि की निश्चित ज्ञानोत्पादन में। आत्म-विचार का बोध प्रकट करने में वही जीवात्मा अहंकार है और स्मरण-शक्ति के संबंध में चित्त। चेतना आदि शब्द इसी विचार से संबद्ध हैं। अहंकार की मुख्यता आत्म-सत्ता तथा उसके इतरों से पार्थक्य में है। ये चारों उसी सत्ता की विविध वृत्तियाँ हैं। जीवात्मा-वादियों का विचार है कि ये चारों वृत्तियाँ केवल शरीर-वाद से सिद्ध नहीं होतीं और यही चारों जीवात्मा की मुख्य साक्षी हैं। स्मरण-शक्ति को ही ले लीजिए। शरीर-वादी कहेंगे कि प्रत्येक अनुभव के अनुसार मस्तिष्क के उचित भाग में रेखाएँ अथवा अंक बनते जाते हैं। अनुभव जितना दृढ़ होता है, वे रेखाएँ भी उतनी ही गहरी होती हैं। जितनी बार उस अनुभव की पुनरावृत्ति होती जाती है, उतनी ही उन रेखाओं में दृढ़ता आती जाती है। जीवात्मा-वादी का कथन है कि इन बातों से प्रकट है कि मस्तिष्क एक प्रकार की पुस्तक हुई, जो स्वयं तो ज्ञान नहीं रखती, पर उसमें ज्ञान का चिह्न-मात्र है। जैसे किसी पुस्तक को पढ़कर कोई पाठक पुस्तक में प्रतिपादित ज्ञान प्राप्त कर सकता है, पर इससे वह पुस्तक

को ज्ञानी नहीं कह सकते हैं, इसी भाँति मस्तिष्क स्वयं ज्ञानी नहीं है, वरन् उसकी सहायता से कोई पृथक् सत्ता स्मरण-शक्ति का चमत्कार दिखलाती है। इसी भाँति मस्तिष्क आत्माभिमानी नहीं हो सकता, वरन् शारीरिक अवयवों से संबद्ध कोई इतर सत्ता आत्माभिमानी है। घड़ी का कोई पुरज़ा अपने अस्तित्व का ज्ञानी नहीं होता, वरन् कोई द्रष्टा उसे देखकर घड़ी का अस्तित्व जानता है। मस्तिष्क में पड़ी हुई अनुभवों की रेखाएँ कोई संदेह नहीं उत्पन्न करतीं, वरन् उन पर विचार करके मनस्-रूप में आत्मा संदेह उत्पन्न करता है। वे रेखाएँ निश्चित ज्ञान नहीं बनातीं, वरन् अनुभवों पर स्मरण और मनस् द्वारा विचार करके बुद्धि के रूप में आत्मा ही निश्चित ज्ञानोत्पादन करता है। संसार के लिये जैसा परमात्मा है, शरीर के लिये वैसा ही जीवात्मा है। संसार में मनीषा, कारीगरी, शक्ति-समुदाय के एकीकरण आदि के जो गुण ईश्वर के साक्षी हैं, वही शरीर-संबंधी अनेकानेक गुण जीवात्मा का बोध कराते हैं। जब एक घटक पृथक् जीवधारी है, तब असंख्य घटक एक शरीर में मिलने से उसी एक को असंख्य जीवधारी क्यों नहीं बना देते? जीवात्मा-वादियों का विचार है कि शरीर-वादियों अथवा जीवाणु-वादियों के पास इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं है। सब जीवाणुओं का एकीकरण कौन करता है? इसे केवल प्राकृतिक धर्म मानना, एक टेढ़े प्रश्न पर आँख बंद करके विश्वास कर लेना है। प्रकृति (Nature) एक ऐसा शब्द है, जो हर मौक़े पर अनीश्वर-वादियों, शरीर-वादियों आदि के लिये बहुत अच्छी ढाल का काम करता है। किंतु जब सब बातों में वे लोग तर्क-तर्क चिल्लाते हैं, तब इसी मौक़े पर क्यों आँख बंद कर लेते हैं, सो समझ में नहीं आता।

जीवात्मा-संबंधी तीसरी बहस यह है कि जब ईश्वर न्यायी है और जब हम संसार में सब शरीरियों के साथ बहुत विचार करने पर भी न्याय नहीं देख पाते हैं, तब जन्म के पूर्व और मरण के पीछे भी फलाफल की अप्राप्ति से ईश्वर को न्यायी न मान सकेंगे। पर एक जीवात्मा के मानने से सारी गड़बड़ी मिट जाती है। जो ईश्वर इतना बड़ा संसार बनाने में समर्थ हो गया, वही उसमें भारी अक्रम और कार्य-कारण का विरोध, जो जीवात्मा के न मानने से आ पड़ते हैं, क्यों नहीं मेट सका? ईश्वर के अस्तित्व-संबंधी विचारों का कथन यहाँ पर नहीं किया जाता है, क्योंकि हम उस विषय पर अन्यत्र विचार कर चुके हैं। यहाँ पर हम ईश्वर की सत्ता को मानकर विचार कर रहे हैं। अपने जीवाणु-वाद, लेख में भी ऐसा ही किया गया था।

चौथी दलील यह है कि जब विचारों का शरीर से पृथक् अस्तित्व सिद्ध हो ही चुका है, जैसा कि जीवाणु-वाद में भी माना गया है, तब जीवात्मा के न मानने से काम नहीं चल सकता। विचारों के पृथक् अस्तित्व से शरीर-वादियों का मत बहुत कुछ शिथिल पड़ जाता है, क्योंकि उनका शरीर से पृथक् अस्तित्व शरीर से इतर सत्ता को भी प्रकट करता है। विचार जीवात्मा नहीं है, किंतु मनस् और बुद्धि-भव होने से जीवात्मा की ही संतान है। जब संतान को मानना पड़ा, तब पिता का अस्तित्व आ ही गया। मस्तिष्क-वादी विचारों के पृथक् अस्तित्व का कोई समुचित कारण नहीं बतला सकते। जब किसी विचार के अनुसार कोई कार्य नहीं किया गया, वरन् वह मन-ही-मन में रहा अर्थात् उसके द्वारा मस्तिष्क की कुछ रेखाओं का ही उलट-फेर हुआ, तब मस्तिष्क के बाहर उसका अस्तित्व कैसे हुआ और किसी दूसरे ने उसे कैसे जान लिया या भाव-चित्र को कैसे पढ़ लिया? इन प्रश्नों का उत्तर शरीर-वादियों के पास नहीं है। अपार्थिव सत्ता मानने से इन सबमें कोई भ्रम ही नहीं रह जाता। मेस्मरेज़म के द्वारा बहुतेरे लोग अपने से निर्बल मानसिक शक्तिवालों को संज्ञा-शून्य तक कर देते हैं या बिना कुछ कहे-सुने उनमें अपने विचार भर देते हैं, जिससे वे तदनुसार कार्य करने लगते हैं। यहाँ तक देखा गया है कि जिसमें मेस्मरेज़म द्वारा विचार भरे गए हैं, उसने विचार भरने-वाले के शत्रुओं को बिना किसी व्यक्तिगत कारण के मार तक डाला है। लखनऊ में हज़ारों आदमियों के बीच में सन् १९०४ के लगभग एक अँगरेज़ ने यह तमाशा किया था कि जो बात उसे बतला दी गई, उसे उससे बहुत दूर बैठी हुई आँख में पट्टी बाँधे हुए, उसकी स्त्री ने सैकड़ों बार बतला दिया, और एक बार भी ग़लती नहीं की। स्वयं हमारे पूज्य स्वर्गीय बड़े भाई (पंडित शिवबिहारीजी मिश्र) ने यह खेल देखा था। इससे भी विचारों का पृथक् अस्तित्व प्रकट होता है। सर ऑलिवर लाज ने अपने ग्रंथ (The Survival of man) में इस विषय के

बहुत-से अन्य कारण भी दिए हैं। इसी प्रकार प्रेत-संबंधी कथन बहुत-से लोग करते हैं, किंतु इनके विषय में दृढ़ता पूर्वक कोई विचार स्थिर नहीं होता। वर्तमान जीवात्मा-वादी मेज़ और प्लैंचेट द्वारा भी बहुत कुछ बातें जीवात्मा-संबंधी बतलाते हैं, किंतु इसमें भी दृढ़ता नहीं आती और चालाकी का भय चित्त में रह जाता है। योग-बल से भी बहुत-से अलौकिक काम दिखलाए जाते हैं। जो उनमें विश्वास कर सके उसके लिये जीवात्मा-संबंधी और भी प्रमाण मिलते हैं। किंतु जो लेखक अपने पाठकों से इस बीसवीं शताब्दी में ऐसी शक्तियों पर विश्वास रखने की आशा रखता है, वह अपने कथनों की अप्रामाणिकता मानो स्वयं ही सिद्ध कर रहा है। थियोसोफ़ीवाले भी बहुतेरी करामातें दिखलाते हैं, किंतु उनमें भी उचित संदेह के लिये ठौर रह जाता है। पूर्व-जन्म के संबंध में हाल में बहुत कुछ छान-बीन की गई है, जिसमें कुछ तथ्यांश भी हो सकता है, किंतु हम अपने जीवात्मा-संबंधी प्रमाणों को ऐसे निर्बल आधारों पर नहीं अवलंबित करना चाहते।

यहाँ तक जीवात्मा के अस्तित्व को दृढ़ करनेवाले प्रमाणों पर विचार किया गया है, किंतु अब उसके खंडन करनेवाली तर्कावली पर ध्यान दिया जाता है। जीवात्मा के संबंध में सबसे बड़ी शंका जो उपस्थित की गई है, वह यह है कि छोटे-से-छोटा वह कौन सा शरीर है, जिसमें जीवात्मा की कल्पना आरोपित होनी चाहिए? सबसे छोटा जीवधारी घटक है। जिसे जीवन-संसार का परमाणु समझना चाहिए। एक घटक बढ़कर दो खंड हो जाता है, और वे दोनों खंड पृथक्-पृथक् घटक होकर बढ़ने लगते हैं। कहा जाता है कि दो घटक विभक्त होने के पूर्व दो जीवित जीवाणु हैं, किंतु उनमें तीसरा जीवात्मा कहाँ से आया? बड़े शरीरों के सब जीवाणु जीवित हैं और उसके जीवन-काल में भी अवयवों के जीवाणु जिया-मरा करते हैं। जब इनका पृथक् अस्तित्व बना ही रहता है, तब वे एक जीवात्मा के अंग कैसे माने जा सकते हैं? इसका उत्तर स्पष्ट ही है। जैसे अवयव शरीर के अंग तो हैं, किंतु प्रत्येक अंग के भंग होने से शरीर नष्ट नहीं होता, उसी भाँति जीवाणुओं के जन्म-मरण से भी जीवात्मा बनता और मिटता नहीं है। कहा जाता है कि घटक, वनस्पति-वर्ग, केंचुआ, मछली, पक्षी, चौपाए, द्विपद आदि की जो श्रृंखला है, उसमें उसी जीवन-धारा की ज्योत्स्ना प्रकट है, किंतु जीवात्मा नहीं, क्योंकि जिस वर्ग से जीवात्मा को दृढ़ मानिए, उसके नीचे में उसके न मानने का अच्छा कारण नहीं मिलता और कहीं-न-कहीं श्रृंखला टूट ही जाती है। कहा जाता है कि जब एक प्रकार के देहों का काम बिना देही (जीवात्मा) के चल जाता है, तब मनुष्य ही के लिये जीवात्मा की क्या आवश्यकता पड़ती है? इसका उत्तर यह है कि जैसे विविध वर्ग के शरीरों की शक्तियों में बहुत बड़ा अंतर पाया जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा की विविध उन्नतियों में अंतर मानने में कोई उचित आपत्ति नहीं पड़ती, और यह बात बुद्धिग्राह्य भी समझ पड़ती है। शरीर के साथ शरीरी में भी उन्नति मानने में कोई गड़बड़ नहीं देख पड़ती और न कहीं श्रृंखला टूटती है। प्रत्येक स्वतंत्र शरीर में उसकी अवनति अथवा उन्नति के अनुसार अवनत अथवा उन्नत जीवात्मा न केवल माना जा सकता है, वरन् स्वाभाविक भी समझ पड़ता है। इस पर यह प्रश्न अवश्य उठ पड़ता है कि बीजों, गाठों तथा मनुष्य के वीर्य-कीटों में जीवात्मा है या नहीं? उत्तर यह है कि जीवात्मा प्रत्येक स्वतंत्र शरीर में माना जा सकता है, उसके अंगों या साधनों में नहीं। अंडों के कलल-रस और केंद्र-रस की अदला-बदली तथा कटहलों पर आमों की कलमों आदि में कोई गड़बड़ी नहीं पड़ती। स्वतंत्र शरीर कैसे भी बने, उसी में जीवात्मा कहा गया है, उसके अंगों या साधनों में नहीं। केंचुए को स्थान-विशेष पर काटने से जो दो जीवित रहनेवाले केंचुए बन जाते हैं, उसमें भी कोई गड़बड़ न समझना चाहिए। जैसे बहुतेरे वृक्षों की डाली काटकर अलग आरोपित करने से वृक्ष बन जाता है, वैसे केंचुए के खंडों का हाल है। स्वतंत्र अस्तित्व-मात्र जीवात्मा का साक्षी समझना चाहिए। वह किसी शरीर में किस प्रकार प्रवेश करता है, यह जानने के लिये हमारे पास कोई साधन नहीं, किंतु इस अक्षमता-मात्र से वे सब बातें नहीं कट जातीं, जो जीवात्मा की सत्ता की साक्षी-स्वरूप हैं। जब हम प्रत्येक शरीर में जीवात्मा को अवगत करते हैं, तब यही मानना पड़ेगा कि शरीर से जीवात्मा का संबंध शरीर की स्वतंत्र सत्ता के प्रारंभ से ही जुड़ता है। यदि हम रेल बनाना न जानें या उसके कल-पुर्ज़ों का हाल न बतला सकें, तो इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि जिस रेल को हम दिन-रात

चलती-फिरती पाते हैं, इसकी कोई सत्ता नहीं है। इन कारणों से जीवात्मा के प्रतिकूल प्रमाण असिद्ध ठहरते हैं और उसका अस्तित्व दृढ़ समझ पड़ता है। *

श्यामविहारी मिश्र
शुकदेवविहारी मिश्र
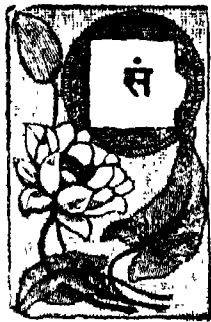
संतों का प्रेम

संतों के प्रेम का मर्म अवगत करना उतना ही कठिन है जितना प्रेम करना। अनुभूत प्रेमियों की 'अविगत गति' कुछ कही नहीं जा सकती। 'गूँगे के गुड़' की भाँति अंतर ही में 'तोष' उपजा सकती है। जितना ही इस प्रेम के परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है, उतना ही मृग-तृष्णा की भाँति यह बुद्धि को उद्भ्रमित कर देता है। हाँ, यदि अत्यंत प्रेम-कातरता से अधीर हृदय की मूक-कंपन में आश्वासन का उल्लास शब्द प्रदान करे, तो संभवतः प्रियतम के चरणों की खुरुक में संलग्न कर्ण उनमें प्रेम का राग सुन सकें। प्रेम का महत्त्व प्रेमी ही अनुभव कर सकता है—

लुत्फ़-मय तुझसे क्या कहूँ जाहिद ;
अरे कमबख़्त तूने पी ही नहीं।

'ग़ालिब'

प्रेम मर्त्य-समाज की अमर्त्य संपत्ति है। इसमें प्रलय और विकास का अलौकिक सामंजस्य है। पूर्ण प्रलय में पूर्ण विकसित स्वरूप प्रत्यक्ष होता है। प्रेमी को लय में ही अभीष्ट का पूर्ण साक्षात् होता है। प्रेम की अतिरेक-जनित आंतरिक क्रांति की उथल-पुथल में हमारे पार्थिव विग्रह के सारे परमाणु थिरक-थिरककर सूक्ष्मता की परिधि का उल्लंघन कर दैवत्व का अनुक्रमण करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्येक परमाणु जड़त्व से जीवत्व के विनिमय का प्रयत्न करता है। महात्मा कबीरदासजी कहते हैं—

मूये पीछे मत मिलो, कहै कबीरा राम ;
लोहा माटी मिल गया, तब पारस केहि काम।

कितनी सुंदर और पवित्र विनय है। कबीरदासजी अपने पार्थिव शरीर का प्रत्येक परमाणु चेतन-ब्रह्म बनाना चाहते हैं। कविता में कैसा सुंदर दार्शनिक समावेश है।

प्रेम ही प्रलय का मुख्य कारण और सृष्टि का मुख्य हेतु है। प्रेम ही जीवन-मरण का प्रधान व्यवधान है। प्रेम ही जीवन का आनंद है।

अगर दर्दे-मोहब्बत से, न इंसाँ आशनाँ होता ;
न मरने का सितम होता, न जीने का मज़ा होता।

'ग़ालिब'

प्रेम उत्सर्ग की सर्वोत्कृष्ट दीक्षा और तितिक्षा का अंतिम सोपान है। कल्पना-क्रीड़ा के लिये प्रेम-साम्राज्य एक विस्तृत क्षेत्र है। उसमें सजीव को निर्जीव तथा अजीव को सजीव करने की शक्ति है। प्रेमी प्रियतम के लिंग-भेद, वय तथा काल की अपेक्षा नहीं करता। फ़ारसीवाले चाहे उसे आशना बनावें, संस्कृतवाले चाहे प्रियतम कहें, कोई भेद नहीं। जिस भाव से जो अधिक प्रेम कर सके वही उसके लिये ठीक है। प्रेम की वेदना में विश्व-कंपन करने का बल है।

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

'भवभूति'

वज्र का हृदय भी विदीर्ण हो जाता है और पत्थर भी फूट फूटकर रोने लगता है। प्रेमी का संस्पर्श प्रेमी के लिये प्राण है। उसे वह प्रत्येक दशा में, प्रत्येक काल में, तुरंत पहचान लेता है। जंगल में एकाकी विचरण करते हुए सीता-वियोग-व्यथित मूर्च्छा-प्राप्त श्रीरामचंद्र अदृश्य-रूप-धारिणी सीता द्वारा संस्पर्शित होकर तुरंत ही संज्ञा प्राप्त करके कहने लगते हैं—

स्पर्शः पुरा परिचितो नियतं स एव
संजीवनस्य मनसः परिमोहनश्च ;
संतापजां सपदि यः प्रतिहृत्य मूर्च्छा-
मानन्दनेन जडतां पुनरातनोति।

'भवभूति'

अवश्य ही यह पूर्व-परिचित स्पर्श है। यह मन को जीवन प्रदान करनेवाला और मोहनेवाला है। वियोग-संताप से उत्पन्न मूर्च्छा को तो इसने दूर कर दिया, परंतु आनंद-जनित जड़ता मस्तिष्क पर साम्राज्य कर रही है।

---

* यदि पाठक महाशय इस लेख को हमारे जीवाणुवाद-वाले लेख के साथ पढ़ें, तो कदाचित् विचार-धारा का कुछ विशेष स्पष्टीकरण हो जाय। लेखक.

वास्तव में इस स्पर्श को क्यों न इतनी शीघ्रता से अनुभव किया जाय। यह तो उनका स्पर्श है जिनके वचन-मात्र से उनका जीव-कुसुम विकसित हो जाता है—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकासनानि
सन्तर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि ;
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि ,
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि ।

'भवभूति'

कैसी अद्भुत तल्लीनता है। संतापोत्पन्न मूर्च्छा और आनंद-अनिल जड़ता का कैसा सुंदर विश्लेषण है। भला ऐसे प्रियतम के स्पर्श-परिचय का विद्युत्-प्रभाव क्यों न हो? यदि प्रेम में इतनी शक्ति न होती, तो नेत्र-हीन सूरदासजी श्रीकृष्णजी का सुंदर स्वरूप कैसे देखते? यह तो बात ही कुछ और है। स्पर्श तो दूर रहा, देखिए राधाजी केश की ब्योरनि ही देखकर अनायास कह उठती हैं—

वेई कर ब्योरनि वही, ब्योरो कौन विचार ।

और उसी समय हृदय का मूक-स्वर शब्दायमान हो उठता है—

जिनहीं उरझ्यो मो हियो, तिनहीं सुरझ्यो बार ।

'विहारी'

प्रियतम चाहे जैसा रूप बनाकर आवे, चाहे बहुरुपिए का स्वाँग रचे, परंतु प्रेमी के नेत्रों को धोखा नहीं दे सकता, उससे कोई भेद नहीं छिपा सकता। प्रेम के अलौकिक और दिव्य चक्षु हैं। उनमें अचूकता है। देखिए न, अपने अभीष्ट का परिवर्तित रूप देखकर एक कवि कह उठता है—

अजब रूप धरकर आए हो, छवि कह दूँ या नाम कहूँ?
रमण कहूँ या रमणी कह दूँ, रमा कहूँ या राम कहूँ?
तीर बने तम चीर रहे हो, सौदामिनि अभिराम कहूँ?
मोर नचाते, ग्वाल हँसाते, या जलधर घनश्याम कहूँ?
हृदय प्रदेश उजाला-सा है, उन्हें चंद्रिका कह दूँ क्या?
चमको नील नभोमंडल में, बाल चंद्र प्यारे आहा!

'माखनलाल चतुर्वेदी'

प्रेमी की दृष्टि में स्त्री-वेश में पुरुष और पुरुष-वेश में स्त्री छिप नहीं सकती। वे तो लिंग-भेद के परे की कोई वस्तु देखते हैं। सच्चे प्रेमी को स्त्री, पुरुष, बालक और बूढ़े से क्या काम? संसार का रूप-सौंदर्य उनके सामने क्या मूल्य रखता है? लैला के बाह्य सौंदर्य को संभवतः मजनूँ ने कभी ध्यान में न रक्खा होगा। वहाँ तो बात ही दूसरी है—

अति अगाध अति औथरे, नदी कूप सर बाय ;
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ।

'बिहारी'

जब ऐसी तन्मयता है, तो पहचानने में विलंब कैसा? चुंबक का लोहे से कौन परिचय कराता है। प्यासे को जल कौन दिखलाता है। भला, जो तीर बनकर तम चीर सकता है और जिसमें हृदय-प्रदेश को उजाला करने का सामर्थ्य है, उसके पहचानने में विलंब कैसे हो सकता है? परंतु बात साधारण नहीं है।

या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोय ;
ज्यों-ज्यों बूड़ै श्याम रँग, त्यों-त्यों उज्ज्वल होय ।

'बिहारी'

चित्त की इस अनुरागी गति को वास्तव में कोई प्रेमी ही समझ सकता है। परंतु किस कोटि का प्रेमी? कोई साधारण प्रेमी नहीं, परंतु अपने को नाश किए हुए कोई मतवाला पागल, जिसने आत्म-विनाश में ही आत्म-विकाश देखा है।

वीराँ किया जब आपको बस्ती नजर पड़ी ;
जब आप नेस्त हम हुए, हस्ती नजर पड़ी ।

'ग़ालिब'

इसीलिये तो कबीरदासजी कहते हैं—

सीस उतारै, भुइँ धरै, तापर राखै पाँव ।

तब कहीं प्रेम-गली में विचरण करने का अधिकारी हो सकता है।

प्रेम न बाड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय ;
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देहि लै जाय ।

'कबीर'

प्रेम का प्रमाद जीवन-भर रहता है। मलूकदासजी मृत्यु-पर्यंत मतवाले फिरते रहे और अंत में उन्हें कहना ही पड़ा—

कठिन पियाला प्रेम का, पिये जो प्रेमी हाथ ;
जीवन-भर माता फिरै, उतरै जिय के साथ ।

परंतु ऐसे प्रेमी कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। ये तो अलमस्त हैं—

उनकी नजर न आवते, कोई राजा रंक ;
बंधन तोड़े मोह का, फिरते हैं निःशंक ।

'मलूकदास'

ऐसे ही प्रेमियों के संबंध में कबीरदासजी कहते हैं कि

उनकी मृत्यु नहीं होती। मृत्यु कैसे हो ? वे तो जीवन-मृत हो जाते हैं। देहावसान के पश्चात् की तो बात ही और है, देह में भी वे सांसारिक व्यक्तियों से इतर हैं। उन्हें किसी की हँसी का भय नहीं है। उन्होंने तो 'संतन ढिग बैठि-बैठि लोक-लाज खो दी है।' इन प्रेमियों को जाति-पाँति का कुछ विचार नहीं होता। सुंदरता और कुरूपता का उनकी दृष्टि में कुछ मूल्य नहीं होता। वे तो अपने हृदय में प्रेमी का एक काल्पनिक प्रतिबिंब पाते हैं। उसी की जुस्तजू में दीवाने घूमते हैं। उन्हें पागल कहाने ही में आनंद आता है। कवि देवजी की प्रेम-बिकानी सखी कहती है—

काहू की कोऊ कहावति हौं नहिं, जाति न पाँति न तासों सगोती,
मोरिये हाँसी करो कित लोग, हौं को 'कवि देवजू' काहू दगोती ;
गोकुलचंद की चेरी चकोरी हौं, मंद हँसी मृदु फंद फँसोगी,
मेरी न बान बकौ बलि कोउ, हौं बौरिये ह्वै व्रज-बीच बसोगी।
बोल्यो बंस बिरुद मैं बौरी भई बरजत,
मेरे बार बार बार कोऊ पास बैठो जनि ।
बिगरी अकेली हौं ही, सिगरी सयानी तुम,
गोहन मे छाड़वो, मोसों भौहन अमैठो जनि ।
कुलटा, कलंकिनी हौं, कायर कुमति कूर,
काहू के न काम की, निकाम याहीं ऐंठो जनि ।
'देव' तहाँ बैठियत, जहाँ बुद्धि बढ़ै, हौं तो,
बैठो हौं बिकल, कोऊ मोहिं मिलि बैठो जनि ।

वास्तव में यदि 'बौरी' ही कहाकर गोकुलचंद्र के दर्शन होते हों, तो 'बौरी' ही कहाना सुंदर है। संसार में बहुत ऐसे स्थान हैं, जहाँ बुद्धि बढ़ सकती है। उसे तो कुल-कलंकिनी, कायर, क्रूर, कुछ भी समझो, वह अपनी बान नहीं छोड़ती। वह न किसी के काम की है और न कोई उसके काम का। वह तो विकल कलेजा हाथ में लिए बैठी है, फिर उससे मिलने से क्या लाभ ?

क्या निराला प्रेम है। कैसा अलौकिक विराग है। प्रेमी के लिये अभीष्ट जन के अतिरिक्त है ही कौन ? वह क्यों किसी की वाचालता की परवाह करे। सांसारिक आलोचनाएँ समय-गति पर निर्भर हैं। उनका उद्भव-स्थान मानवी निर्बलता है। उनकी आधार-शिला भय पर न्यस्त है। वह शीघ्रता से मानवी-विचार-बाहुल्य के झोंके से कंपायमान हो जाती है। उसकी स्थिति अस्थिर और क्षण-भंगुर है। परंतु सच्चे प्रेम का आधार बहुत सुदृढ़ है। काल, अवस्था, व्यक्ति भेद के अन्तर से उसका निरूपण नहीं होता। संस्कृत-कवि भवभूति प्रेम की कुछ मर्यादा तक पहुँचते हैं। वे कहते हैं—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ;
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते ।

यह प्रेम सर्वावस्था में अपने गुण को नहीं छोड़ता। वह सुख-दुख में सम रहता है। उसमें हृदय को विश्राम मिलता है। वृद्धावस्था के कारण उसका रस क्षीण नहीं होता। कालांतर में भी, उसकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तव में ऐसा प्रेम धन्य है। धन्य हैं वे, जिनमें इस प्रेम का बीज वपन हुआ है। मान-गर्वादि से रहित, सुख-भोग की लालसा से पृथक्, अत्यंत नम्र, शीतल, विशुद्ध प्रेम की झलक का विवरण मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत में नागमती के शब्दों में कहलाया है—

मोहिं भोग सो काज न बारी, सौंह दीठि कर चाहन हारी।

आगे भी कहा है—

ना मैं सरग क चाहौं राजू, ना मोहिं नरक सेति कछु काजू ;
चाहौं ओहि कर दरशन पावा, जेहि मोहिं आनि प्रेम-पथ लावा।

प्रेम और वासना का इतना सुंदर विश्लेषण बहुत कम दृष्टि-गत होता है। प्रेम बिना सब सूना है। एक भक्त का कथन है—

तीन लोक चौदह भुवन, सबै परै मोहिं सूझि ;
प्रेम छोड़ नहिं लोन कछु, जो देखा मन बूझि।
'जायसी'

प्रतापनारायणजी कहते हैं—

"जहाँ तक सहृदयता से विचारिएगा वहाँ तक यही सिद्ध होगा कि प्रेम के बिना वेद झगड़े की जड़, धर्म बे-सिर-पैर के काम, स्वर्ग शेखचिल्ली का महल और मुक्ति प्रेत की बहन है।"

अगर इतनी खूबी प्रेम में न हो, तो क्यों कोई उसमें चिपटा रहे। प्रेम में विरह है। विरह में मिठास है। कड़वे-पन में माधुर्य है। प्रेम के शरीर में विरह जीवन है। प्रेम की वृद्धि में विरह साधन है। प्रेम के ध्येय का विरह मार्ग है। प्रेम युक्ति और विरह मंत्र है। प्रेम पिता और विरह पुत्र है। विरह की तड़पन में प्रेमी का अर्थ साक्षात् होता

है। विरह की वेदना में प्रेमी की आत्मा का स्फुरण होता है। विरह की अंतिम सीमा विरह की औषध है।

दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।

विरह की गाथा में विश्व का इतिहास है। विरह के कथानकों में विश्व का माधुर्य है—

"Our sincerest laughters are,
with pain wrowght,
Our sweetest songs are those,
that tell of saddest thoughts."

Shelley.

प्रेमी को दर्द-दिल लिए-लिए घूमने ही में आनंद आता है। दर्द ही उसका जीवन है। दर्द का आना मृत्यु का आमंत्रण करना है। दर्द शरीर-कृंतन करता है, परंतु उसका नाश नहीं करता। अत्यंत विरह में उसे अत्यंत आनंद आता है। वह मृत्यु में जीवन अनुभव करता है। सीता-विरह-व्यथित राम कहते हैं—

दलति हृदय गाढोद्वेगः द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहो न मुञ्चति चेतनाम्;
ज्वलयति अन्तर्दाहः करोति न तु भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।

'भवभूति'

गाढोद्वेग हृदय का दहन करता है, परंतु उसे विदीर्ण नहीं करता। विकल शरीर मूर्च्छित हो जाता है, परंतु सर्वदा के लिये निःसंज्ञ नहीं हो जाता। तन को अंतर-ज्वाल जलाती है, परंतु भस्म नहीं करती। मर्मच्छेदन होता है, किंतु जीव का उच्छेद नहीं होता।

जीव का उच्छेद हो कैसे वहाँ तो प्रियतम की मूर्ति साक्षात् विद्यमान है। रामचंद्रजी अपना विनाश भले हो चाहें, परंतु प्रियतमा का बाल बाँका न होना चाहिए। तुलसी-दासजी 'राम-चरित-मानस' में इस प्रेम की सूक्ष्मता तक पहुँच जाते हैं। जब रावण के वध के संबंध में स्वयं राम-चंद्रजी कहते हैं—

याके हृदय बस जानकी, मम जानकी उर बास है;
मम उदर भुवन अनेक लागत, बाण सब को नास है।

केवल स्मरण-मूर्ति के विनाश से साक्षात् का विनाश सोचना कितना सूक्ष्म विचार है। उसे कौन समझे? अच्छा हो, उसे कवि की नैसर्गिक कल्पना कहकर ही टाल दिया जाय। यदि प्रेम के समझने में कोई ऐसी निहित बात न होती, तो श्रीरामचंद्रजी उसे श्रीहनु-मानजी को समझाकर सीता के पास भेजते। परंतु वे तो सीताजी के लिये केवल इतनी ही बात कहते हैं—

तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा;
जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन रहत सदा तोहि पाहीं;
जानि लेहु बस इतने हि माहीं।

'तुलसीदास'

'इतने हि माहीं' संसार की कौन-कौन-सी बातें छिपी हैं, यह तो ईश्वर ही जाने, परंतु प्रतीत ऐसा होता है कि ऐसा कहते-कहते श्रीरामचन्द्रजी का गला भर आया, नेत्र डबडबा आए और वे आगे कुछ न कह सके।

परंतु उधर यह सारा तत्त्व मूक-भाषा से ही श्रीसीता-जी के हृदय में अंकित हो गया। किसी टीका की आवश्य-कता नहीं, किसी के समझाने की ज़रूरत नहीं। प्रियतम सदा उनके पास है। वह सबसे बड़ा भाष्यकार है। जब कोई दूसरा नहीं होता, तभी वह अपनी टीका आरंभ करता है।

तुम मेरे पास होते हो गोया, जब कोई दूसरा नहीं होता।

'मोमिन'

मनभावन का मन, मनभावन से भी अधिक मूल्यवान् है। सीता के हृदय में उनके मनभावन का चित्र है। वही मनभावन जिसके लिये मतिराम कहते हैं—

सपने हू मनभावनो करत नहीं अपराध।

इसी से मान करने का साध मन ही में रह जाती है। परंतु वह अपराध करे कैसे? वह तो अपराध कर ही नहीं सकता। उसमें तो सब गुण-ही-गुण हैं। उसने अपना स्थान प्रेमी के हृदय में सुदृढ़ बना लिया है। वे मूर्ख हैं, जो उसे इधर-उधर ढूँढ़ते हैं। कविवर रवींद्र उन्हें संदेश देते हैं—

"Who are you to seek him like a
Beggar, from door to door:
Come to my heart and see
His face in tears of my eyes."

आप क्यों एक भिखारी की भाँति उसे दरवाज़े-दरवाज़े ढूँढ़ रहे हैं। मेरे हृदय के निकट आइए और उसका दर्शन मेरे अश्रुओं में कीजिए।

परंतु आँसुओं की धार चौबीसों घंटे तो नहीं चलती। फिर प्रियतम का हमेशा दर्शन कैसे किया जा सकता है? इसका भी उत्तर कविवर मतिरामजी बड़े सुंदर शब्दों में देते हैं—

बिन देखे दुख के चलहिं, देखे सुख के जाहिं ;
कहो लाल इन दृगन के, अँसुवा किमि ठहराहिं ।

बस, अब तो चौबीसों घंटे दर्शन हो सकते हैं । केवल लगन की आवश्यकता है । इस लगन में अभीष्ट का स्वरूप हृदय के प्रत्येक जीर्ण खंड में आरसी के टुकड़ों की भाँति प्रतिबिंबित करने की शक्ति होती है । और इन्हीं प्रतिबिंबों में आरसी के टुकड़ों को फिर एक कर देने का बल है । प्रियतम के दृष्टि-पात से प्रेमी का दुख आधा हो जाता है ।

सियहिं बिलोकि तक्यो धनु कैसे ;
चितव गरुड़ लघु ब्यालहि जैसे ।

'तुलसी'

बस, इतने इशारे से ही सीताजी के ऊपर अमृत-वर्षा हो गई । जायसी की धारणा है—

सूखि बेलि पुनि पलुहई, जो पिउ सींचै आय ।

सूखी बेलि की तो बात ही क्या ? यदि मृत-बेलि भी हो, तो प्रियतम की दृष्टि-विक्षेप से हरी हो सकती है ।

प्रेमी को सारी प्रकृति में अपना ही रंग देख पड़ता है । उसे जान पड़ता है कि पलाश में उसी के विरह की अग्नि है । संध्या-सूर्य में उसी के विरहानल की लपट है । मंजीठ और टेसू भी उसी के रक्त-अश्रुओं से धौत हैं । मेघ भी उसी के विरहानल में रंजित बीरबहूटी की वर्षा करता है । वसन्त की लालिमा उसी के हृदय का प्रतिबिंब है । योगी-यती के गेरुए वस्त्रों में उसी का प्रभाव है । कोयल की कूक में उसी के प्रेम की फ़रयाद है । कौए और भौंरों की कालिमा में उसी के विरहाग्नि की लपट लग गई है । क्योंकि—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै बिरह की बात ;
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात ।

'जायसी'

इसीलिये काग और भौंरे से प्रियतम के पास संदेश भेजते हुए प्रेयसी कहती है—

पिय सों कहेउ सँदेसवा, हे भौंरा हे काग ;
सो धनि बिरहे जरि मुई, जेहिक धुँआ हम लाग ।

'जायसी'

कितनी विश्वव्यापिनी विरहाग्नि है । कितना अधिक इसका प्रभाव है । सारा विश्व इससे धर्राता है । मुहम्मद साहब कहते हैं—

मुहमद चिनगी प्रेम की, सुनि महि गगन डराय ;
धनि बिरही अरु धनि हिया, जहँ यह अगिन समाय ।

यह विरह की चिनगी वास्तव में बड़ी प्रबल है । प्रेमी को बड़ा आश्चर्य होता है, यदि प्रकृति उससे अतिक्रांत हुई न दीख पड़े । भक्त-शिरोमणि सूरदासजी की सखियाँ मधुवन को हरा देखकर कह उठती हैं—

मधुवन, तुम कित रहत हरे ?
बिरह-बियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?

वास्तव में इन विरहदग्धा सखियों को मधुवन को हरा देखकर बड़ा आश्चर्य होता है । वे अपनी हृदय-दाहक पीर को प्रकृति में सन्निवेश करना चाहती हैं । वे अपने हृदय का दग्ध प्रतिबिंब बाहर देखने की चेष्टा करती हैं । प्रकृति की सहानुभूति से इन्हें बल मिलता है । उसकी प्रतिकूलता से उनको व्यथा और बढ़ती है ।

नूतन किसलय मनहुँ कृसानू, काल निशा सम निशि शशि भानू ।
कुवलय बिपिन कुंत-बन सरिसा, बारिद तपत तेल जनु बरिसा ।
जेहि तरु रहौं करइ सोइ पीरा, उरग स्वास सम त्रिविध समीरा ।

'तुलसी'

सूरदासजी की विरहिणी सखियों की दशा देखिए । वे चाँदनी रात्रि की वेदना वर्णन करती हैं—

अब मोहिं निसि देखत डर लागै ।
बार-बार अकुलाइ, देह से निकसि-निकसि मन भागै ।

वास्तव में यदि जीव-तंतु शरीर को मन से बाँधे न रहे, तो न मालूम यह कभी का उड़कर विरह-ताप की अधीरता के वाष्प-यान पर चढ़कर प्रियतम के निकट पहुँच जाय । इसी बंधन की खींच के कारण निकसि-निकसि कर भागने पर भी वह कहीं नहीं जा सकता । परंतु बार-बार अनवरत रूप से 'निकसि-निकसि' कर भागने का प्रयत्न प्रकट करता है कि लगन बड़ी ज़बरदस्त है । प्रियतम के बिना कैसे शांति से रहा जाय ।

प्रियतम नहीं बजार में, वहै बजार उजार ;
प्रियतम मिलै उजार में, वहै उजार बजार ।
कहा करौं बैकुंठ लै, कल्पवृक्ष की छाँह ;
अहमद ढाँख सुहावने, जहँ प्रीतम गलबाँह ।

'अहमद'

भक्त-शिरोमणि कबीरदासजी भी वैकुंठ जाने तक को प्रस्तुत नहीं—

राम बुलावा भेजिया, कबिरा दीन्हा रोय ;
जो सुख प्रेमी-संग में, सो बैकुंठ न होय ।

'कबीर'

यह सुख बैकुंठ में कैसे हो । वहाँ तो बिलकुल सुख-ही-सुख है । विरह-वेदना कहाँ है ? प्रियतम के लिये तड़पन का अवकाश कहाँ है ? प्रेम के परिचय देने का विधान कहाँ है ? फिर कबीर उसे क्यों चाहें ? यही नहीं, कुछ लोगों ने तो स्वर्ग की कल्पना भी प्रेममय की है—

'All that we know of Heaven above
Is, that they live and that they love.

'Scott.'

एक अँगरेज़ की धारणा है कि स्वर्ग के विषय में जो कुछ हम जानते हैं, वह यह कि लोग वहाँ निवास करते हैं और प्रेम करते हैं । परंतु प्रेमी का स्वर्ग तो प्रियतम है । वह उसी की चिंता में मस्त रहता है । वहीं उसे स्वर्ग का आनंद है । वह गुरु और गोविंद में गुरु को ही पसंद करता है । वह तो अपना सब कुछ विनाश करके प्रियतम के ही स्वार्थ लगाना चाहता है ।

रात दिवस बस यह जिउ मोरे ; लगौं निहोर कंत अब तोरे ।
या तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव ;
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरैं जहँ पाँव ।

'जायसी'

इसी भाव को एक संस्कृत-कवि ने व्यक्त किया है । उसकी याचना है कि मृत्यु-पर्यंत उसके शरीर के जल का अंश उस नीर में मिले जहाँ उसका प्रियतम स्नान करता है । उसके शरीर की ज्योति का अंश उस मुकुर में मिल जाय, जिसमें उसका अभीष्ट मुँह देखता है, जिससे वह सदैव उसके समक्ष रहे । आकाश का अंश उस आकाश में लीन हो, जो कि प्रियतम के गृह के ऊपर है ; जिसमें ज्योंही वह ऊपर मुँह करे, प्रियतम का दर्शन मिल जाय । पृथ्वी का भाग उस पृथ्वी में मिले जहाँ उसका प्रियतम विहार करता है, जिसमें प्रेमी को उसके पाद-स्पर्श का लाभ मिल जाया करे, और वायु का भाग उस व्यजन की वायु में मिले, जिसे प्रियतम प्रयोग करता है, जिसमें निरंतर उसका स्पर्श होता रहे । कितना प्रगाढ़ प्रेम है ! कितनी प्रेममयी निष्कलंक याचना है !! कितना बलिदान है !!!

इधर देखिए, कृष्ण-रँग-राती 'ताज' 'श्यामला-सलोने' के मृदुल फंद में फँसकर हिंदुआनी होकर रहने में भी तैयार हैं—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम ,
इस्म ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं ;
देव-पूजा ठानी, मैं निवाज हू भुलानी ,
तजे कलमा कुरान, सारे गुनन गहूँगी मैं ।
श्यामला सलोना, सिरताज सिर कुल्लेदार ,
थारे नेहदाग में, निदाघ ह्वै दहूँगी मैं ;
नंद को कुमार कुरबान तागी सूरत पै ,
ताग नाज़ प्यारे हिंदुआनी ह्वै रहूँगी मैं ।

'ताज'

आगे देखिए, भक्तप्रवरा मीराबाई अपना शरीर विनाश कराने को प्रस्तुत है—

कागा सब तन खाइयो, चुनि-चुनि खैयो माँस ;
द्वै नैना मत खाइयो, प्रिय-दर्शन की आस !

कितनी बलवती दर्शन की आशा है ! क्या है यदि इन नेत्रों को भी कौए खा जायँ । प्रेम-चक्षु तो हैं ही और फिर—

दिल के आइने में है तसवीरे-यार ;
जब ज़रा गर्दन झुकाई देख ली ।

परंतु यह तसवीर सबके आइने में नहीं होती । सबका आइना इतना स्वच्छ भी नहीं होता । किसी का आइना धुँधला और किसी का बेकार होता है । किसी-किसी के आइने में प्रतिदिन प्रियतम उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं और हृदय-पट पर चलित-चित्र-कला की भाँति अनेक प्रतिबिंबों के निरंतर चलने का दृश्य दिखलाई देता है । वासना का टिमटिमाता हुआ खद्योत-प्रकाश ही उनका जीवन-आधार है । परंतु इन निर्बल हृदयों की यहाँ बात नहीं । इन बहु-मनस्कों को कभी संतोष नहीं मिल सकता ।

कबीर या जग आइके, कीया बहुतक मित ;
जिन दिल बाँधा एक तें, ते सोवैं निहचिंत ।

'कबीर'

और उस एक के प्रति भी—

छिनहि चढ़ै छिन ऊतरै, सो तो प्रेम न होय ;
अघट प्रेम-पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ।

'कबीर'

यहाँ तो उस प्रेम की चर्चा है, जिसकी टेप बड़े-बड़े अनुभव करते हैं । योगी, यती, विरागी, संन्यासी, सभी

को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है। शकुंतला को प्रस्थान करते देख महर्षि कण्व अपनी व्यथा कहते हैं। यह केवल मानवी दुर्बलता का ही एक झोंका था। परंतु इसमें कितनी अधिक सत्यता है—

यास्यत्यद्य शकुंतलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कंठया,
कंठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्;
वैक्लैव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः,
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः।
'कालिदास'

आज शकुंतला प्रयाण करेगी, इस बात से हृदय उत्कंठा से पूर्ण है। गला रुँध गया है, चिंता से दर्शन जड़ हो गए हैं। अपनी यह अवस्था देखकर कण्व भी कहते हैं कि जब वेदाभ्यास-जड़ अरण्य-निवासियों का यह हाल है, तो कन्या को भेजते समय गृहस्थियों के दुःख का क्या हाल होता होगा।

सीता के प्रयाण-काल के समय राजर्षि जनक का हाल सुनिए—

सींग विलोकि धीरता भागी, रहे कहावत परम विरागी;
लीन्ह राय उर लाय जानकी, मिटी सकल मर्याद ज्ञान की।

जनक-ऐसे राजर्षियों का यह हाल है। कितनी शीघ्रता के साथ ज्ञान की मर्यादा मिट जाती है। जो मर्यादा इस प्रेम के प्रस्रोत को रोके, उसका मिट ही जाना अच्छा है। प्रेम का प्रभाव जब ऐसे महान् व्यक्तियों पर ऐसा पड़ता है, तो साधारण व्यक्तियों की कौन चलावे। उनकी कौन कहे जिनका प्रेम वात्सल्य-प्रेम ही नहीं है। जो प्रियतम के मार्ग में नयन बिछाए हैं और यही रटते हैं 'तुम्हारे आने-भर की देर, किया है हृदयासन तैयार'— उनका धर्म भी प्रेम ही है। ये भक्त लोग प्रेम ही के उपासक हैं।

धर्म के भक्त, न अर्थ के दास, न मुक्ति के इच्छुक प्रेम के चेरे।
'शंभुदयालु श्रीवास्तव्य'

यही बात है, तभी तो उनके प्रेम में शक्ति है और माँग में बल। उनकी आह में विश्व-कंपन करने की क्षमता है। इसीलिये तो उन्हें वाष्प के कण सहानुभूति के अश्रु-बिंदु प्रतीत होते हैं। उन्हें अपने विरह का चिस्का लग जाता है—

जुरअत साहब का कहना है—

लगती नहीं पलक से पलक, वस्ल में भी आह!
आँखों को पड़ गया है, मज़ा इंतज़ार का।

वियोग को ही वे बड़ा भारी तप समझते हैं। भक्त-प्रवर मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं—

यह बड़ जोगु वियोग को करना, पिय जस राखै तब तस रहना।

योग की कितनी सुंदर परिभाषा है। यदि कृष्ण-वियोगिनी सखियों को यह मूल-मंत्र ज्ञात होता, तो वे काहे को रोया करतीं। ऊधो तो इसी मंत्र की दीक्षा दे रहे थे। परंतु वे तो अपने विरह-वीचि में ऊधो को उसकी ज्ञान-गाथा समेत बहाए दे रही हैं—

माति अति आपकी अबल अबला सी लगै
सागर सनेह कहो कैसे पार पावैगी;
खोलिए न जोह अरु लीजिए न नाम इत
बलदेव ब्रजराजजू की सुधि आवैगी।
सुनतहिं प्रलय-पयोधि माहिं एक ऐसी
कहर करनहारी लहर मिधावैगी;
राधे-दृग-सलिल-प्रवाह माहिं आजु ऊधो!
रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैगी।
'बलदेव'

इसी श्रेणी के अन्य भक्तों के भी व्यंग देखिए। ये भी इसी मनोभाव के परिचारक हैं। उन्हें तो कुछ और ही अच्छा मालूम होता था। उनके चुपके बैठे रहने में संतोष नहीं, वे तो फ़रियाद करने के आदी हैं। कभी वे प्रियतम को मनाते हैं, कभी बिगड़ जाते हैं, कभी बड़ा गहरा व्यंग कर बैठते हैं। सौदा साहब कहते हैं—

मेरी आँखों में तू रहता है, मुझको क्यों रुलाता है?
समझकर देख लो, अपना भी कोई घर डुबाता है;

दूसरे सज्जन फ़रमाते हैं—

तुम बिन एती को करै, कृपा जु मेरे नाथ;
मोहि अकेली जानि कै, दुख राख्यो है साथ।

एक दूसरे उर्दू-कवि की तानाज़नी सुनिए—

भेज देता है ख़याल अपना, एवज़ अपने मुदाम;
किस क़दर यार को ग़म है मेरी तनहाई का!

यही नहीं, लोग-बाग तो बड़ी ढिठाई से युद्ध करने तक को तैयार हो जाते हैं। सूरदासजी को देखिए—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं,
कै हमहीं कै तुमहीं माधौ, अपुन भरोसे लरिहौं।

एक ओर तो कृष्ण-मूर्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर उन पर ऐसे बिगड़ जाते हैं कि उनके कारेपन पर अवाज़े-तवाज़े कसने लगते हैं—

ऊधो, कारे सबै बुरे,
कारे की परतीत न कीजे, विष के बुते छुरे।

परंतु क्या यह कोरा व्यंग्य है ? यह तो प्रेम के उद्गार का संबोधन है। हृदय में उमड़ते हुए प्रेम के समुद्र का एक उफान है। यदि एक स्थान पर वे विनोद में आकर व्यंग्य कह बैठते हैं, तो चौबीसों घंटे क्या उनकी फ़ुरक़त में अज़ा नहीं करते ? कबीरदास की दशा देखिए—

माँस गया पिंजर रहा, ताकन लागे काग ;
साहब अबहुँ न आइयाँ, मंद हमारे भाग।

परंतु चाहे कोई अपने भाग्य को मंद कहे, चाहे करम ठोके, वे तो ख़ूब इंतज़ार कराते हैं। विरह-घुन मांस अवश्य ही धीरे-धीरे क्षय कर देगा। परंतु शरीर का पात होना नहीं है। लौ यदि लगी है, तो कोई चिंता न करनी चाहिए। कागों का ताकना व्यर्थ है। यदि शरीर का पात हो जायगा, तो 'पिया मिलन की आस' कहाँ निवास करेगी। प्रेमी तो तभी नष्ट हो सकता है जब विरह छूट जाय, आशा नष्ट होजाय। विरही की दशा एक प्रेमी इस प्रकार लिखते हैं—

विरहिन ओदी लाकड़ी, सपचै औ धुंधुआय ;
छूट परे या विरह से, जो सगरी जरि जाय।
'कबीर'

यह आश्चर्य की बात है कि विरह की चिनगारी प्रेमी को तो भस्मीभूत नहीं करती, परंतु—

विरह-जलती मैं फिरौं, बड़ विरहिन को दुक्ख :
छाँह न बैठौं डरपती, मति जरि उट्ठे रुक्ख।

बात यह है कि वह अपने विरह की तीक्ष्णता इतनी अनुभव करती है कि उसे नाना प्रकार के भय उत्पन्न होते हैं। परंतु प्रश्न यह है कि विरही इस विरहाग्नि से क्यों इतना चिपटता है ? उसमें क्या धरा है ? क्यों इस कष्ट को सुख-पूर्वक अनुभव करता है ? कबीरदासजी ने इसे समझाने की चेष्टा की है। उनका कथन है—

लागी लगन छूटे नहीं, जीभ चोंच जरि जाय ;
मीठि कहा अंगार में, जाहि चकोर चबाय।

जब चकोर की लगन की यह हालत है, तो मानवीय लगन क्यों न इससे अधिक बलवती हो। फिर विरह तो प्रेमी के लिये एक संदेश रखता है। स्वयं कबीरदासजी बतलाते हैं कि वे विरह से क्यों चिपटे—

विरहा मोसों यों कहे, गाढ़ा पकड़ो मोहि ;
प्रेमी केरी गोद में, मैं पहुँचाऊँ तोहि।

यही रहस्य है। इसी से संत इसमें चिपटे रहते हैं। वे तो वास्तव में 'सत्य सनेह' निबाहते हैं। फिर प्रियतम के मिलने में क्या संदेह ? उन्हें तो दर्द की दवा की जुस्तजू है। उर्दू के कवि ग़ालिब का कहना है—

इश्क़ से तबीअत ने ज़ीस्त का मज़ा पाया ;
दर्द की दवा पायी, दर्द-बे-दवा पाया।

परंतु इश्क़ की इस ज़ीस्त को समझना सहज नहीं है। यह अनुरागी-चित्त की गति बहुत ही कम व्यक्ति समझते हैं। यह तो वही समझता है जो दर्द रखता है—

वही समझेगा मेरे ज़ख़्मे-दिल को ;
जिगर में जिसके एक नासूर होगा।
'नज़ीर'

वैद्य बुलाना व्यर्थ है। 'कलेजे की करक' वह क्या समझेगा ! वह क्या दर्द का इलाज करेगा ! उसकी तो औषधि करनेवाला कोई भिन्न ही व्यक्ति है, और वह अपरिचित नहीं है। वह तो सबसे अधिक परिचित है और वह है प्रियतम !

'जिन या वेदन निर्मयी, भला करेगा सोय।'
'मीरा'

ग़ालिब भी ऐसी ही बात कहते हैं—

मुहब्बत में नहीं है फ़रक़ जीने और मरने का ;
उसीको देखकर जीते हैं, जिस पर दम निकलता है।

परंतु कब तक वेदना जायगी, यह कौन जाने ? कब उस दर्द की दवा मिलेगी, यह कौन जाने ? कब तक 'अँखियाँ हरि-दर्शन की प्यासी' रहेंगी' यह कौन जाने ? सूरदासजी को देखिए, गद्गद-हृदय से अपनी व्याकुलता वर्णन करते हैं—

अँखियाँ हरि-दर्शन की प्यासी।
देख्यो चहत कमल-नयनन को निस दिन रहत उदासी।
काहू के मन की को जानत, लोगन के मन हाँसी ;
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिन, लैहौं करवत कासी।

सूरदासजी के नेत्र तो हैं ही नहीं, 'अँखियाँ' कहाँ से आईं ? प्यासी रहकर क्या करेंगी, यदि उन्हें दिखता ही नहीं ? परंतु यह कौन कहे कि सूरदासजी सूर हैं। उनके नेत्र हम सबसे तीव्र हैं। उनके दिव्य-दृष्टि है, वे तो अपने प्रियतम

का रूप धारण किए हैं, बाहरी नेत्रों की उन्हें परवाह नहीं। वह शारीरिक दुर्बलताओं को अच्छी तरह समझते हैं। उनको अपनी आत्मिक-दृढ़ता पर भरोसा है, तभी तो झट से कह उठते हैं—

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानिकै मोहि ;
हिरदै से जब जाइहो, सबल कहौंगो तोहि।

वे तो अपने प्रियतम की बागडोर हमेशा अपने हाथ में रखते हैं—

कहा भयो जो बीछुरे, तो मन मो मन साथ ;
उड़ी जाय कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक हाथ।

'बिहारी'

उन्हें तो प्रियतम का सान्निध्य प्राप्त हो चुका है, परंतु यह भाग्य सबके थोड़े ही हैं। बहुतों को तो स्वप्न के सान्निध्य का विचार कर रोना पड़ता है। 'आलम' की निराशा देखिए—

जा थल कीन्हे बिहार अनेकन,
ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
नैनन में जो सदा रहते,
उनकी अब कान कहानी सुनो करैं।

इसी प्रकार एक प्रेमिका ज्योतिषी को बुलाकर संदेह से पूछती है—

मेरो मन मोहन ते लागत है बार-बार,
मोहन को मोसों मन लागिहै बिचारी तो।

'रामसेवक'

बहुत प्रेमी तो वियोग के दुख से काँप जाते हैं। वे अपना शरीर विनाश करने तक को प्रस्तुत हो जाते हैं। वे कायरता से उस स्थान पर पहुँचना चाहते हैं जहाँ वियोग की कोई आशंका न हो। दिन-प्रति-दिन वियोग की ज्वाला का ताप वे सहन नहीं कर सकते।

साँझ भई दिन अथवा, चकई दीन्हा रोय ;
चल चकवा वा देश को, जहाँ रैन नहिं होय।

'जायसी'

उन्हें न हँसना आता है और न रोना।

हँसै तो दुख ना बीसरै, रोवै बल घटि जाय ;
मनहीं माहि बिसूरना, ज्यों घुन काठहि खाय।

'कबीर'

बात यह है कि चाहे काशी में करवत लीजिए, चाहे खाल खिचवाकर प्रियतम के लिये जूती बनवा रखिए। वह शीघ्रता से रीझता नहीं है। उसे मनवाने की आदत है। इसीसे साधारण प्रेमी ऊबकर थक जाते हैं। परंतु क्या प्रियतम के इस अवगुण का सच्चे प्रेमी ध्यान करते हैं? क्या उसकी यह बेवफ़ाई उन्हें प्रेम-पथ से भ्रष्ट करती है? कदापि नहीं।

मनि बिनु फनि जल-हीन मीन तनु त्यागइ ;
सोकि दोष गुनगनहिं, जो जेहि अनुरागइ।

'तुलसी-पार्वती-मंगल'

प्रेमी तो प्रियतम की उपेक्षा की ओर ध्यान ही नहीं देगा। वह तो दर्शनों के लिये रोया करेगा। उसी में उसे आनंद है। यदि उसे रोना न आवे, तो शायद वह अपनी आँखें भी फोड़ ले। भारतेंदुजी की विनय है—

फूट जायँ वे आँखें,
जिनमें बँधा अश्क का तार न हो।

और—

बावरी वे अँखियाँ जरि जाहिं जो,
साँवरे छाँड़ि निहारत औरहि।

जब प्रेमी अपने नेत्रों को ही बे-वफ़ाई के कारण विनाश कराने को प्रस्तुत है, तो शेष ही क्या रहा। प्रेमी के लिये नेत्र बहुत ही उपयोगी हैं। वह सारे शरीर का विनाश देख सकता है, परंतु नेत्रों का नहीं। उसे उनमें दर्शन होता है।

बिरद कमंडल कर लिए, बैरागी दो नैन ;
माँगे दरस मधूकरी, छके रहै दिन रैन।

'कबीर'

इसीलिये तो एक प्रेमिका काग से विनय करती है—

कागा नैन निकास दूँ, पिया पास लै जाय ;
पहले दरस दिखाय कै, पाछे लीजे खाय।

'मीरा'

दर्शन की लालसा ऐसी ही है। दर्शन न मिलने से शरीर का ह्रास अवश्य ही है। 'बरवै-रामायण' में तुलसीदासजी सीता के ह्रास के संबंध में कहते हैं कि उनकी 'कँगुरिया' की मुँदरी 'कंकन' हो गई है। वह क्यों न सीताजी के लिये तुलसीदास लिखें? जब वह स्वयं रामचंद्रजी को भी जंगल में धूप में चलते देखना पसंद नहीं करते, और मेघों को अपनी सहायता के लिये बुलाकर लिखते हैं—

जहँ-जहँ राम लखन सिय जाहीं, करैं मेघ तहँ-तहँ परछाहीं।

और रामचंद्रजी का रूप देखने के लिये सीताजी को इतना विह्वल कर देते हैं कि—

कुछ भी हो प्रियतम के बसने के कारण नेत्रों में काजल और नींद नहीं प्रवेश कर सकते। और वास्तव में काजल और नींद कहाँ बसे।

नैना माँहीं तू बसै, नींद को ठौर न होय।
'सहजोबाई'

कबीर रेख सिंदूर अरु, काजर दिया न जाय;
नैनन प्रीतम बसि रह्यो, दूजो कहाँ समाय।

प्रियतम को ऐसी दृढ़ता से बिठाया है कि वह उस से मस नहीं हो सकता। उसको प्रेमी क़ैद में रखना चाहता है और यही कहता भी है—

नैनों अंतर आव तू, नैन झाँपि तोहि लेउँ;
ना मैं देखौं और को, ना तोहिं देखन देउँ।
'कबीर'

परंतु इस बंधन में पड़ने का उन्हें भी शौक़ है। इसीलिये वे इस बंधन को स्वीकार करते हैं। वे स्वयं कहते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च;
यत्र गायन्ति मद्भक्तास्तत्र तिष्ठामि नारद।

अतएव एक बार मिल-भर जायँ, फिर प्रतापनारायण-जी के अनुसार—

किसी की पर्वा नहीं रही, सबसे छूटा नाता।

फिर किसकी परवाह रहे। फिर किसके नाते की आवश्यकता है। जब बड़ा नाता स्थापित हो गया, तो किस नाते की आवश्यकता रही। यहाँ तक कि प्रियतम को भी पत्र लिखने की आवश्यकता नहीं रही। चारों ओर प्रियतम-ही-प्रियतम दिखलाई पड़ रहा है।

प्रियतम को पतियाँ लिखूँ, जो कहुँ होय बिदेस;
तन में मन में नैन में, ताको कहाँ संदेश।
'दरिया साहब'

यहाँ तो 'देखत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' की बात है। कबीरदासजी का कहना है—

'तू तू' करता तू भया, तुम में रहा समाय;
तुम माहीं मन मिल गया, अब कहुँ अनत न जाय।

इस अनवरत रटन से क्यों न एकीकरण हो, एक साधारण कीट को निष्प्राण कर प्रतिदिन रटन बाँध-कर भृंग उसे सजातीय कर लेता है। इसीलिये तो यह आश्चर्य है—

बुंद समुद्र समान, यह अचरज कासों कहों?
हेरनहार हेरान, अहमद आपुहि आपु में।

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय;
समुद समाना बुंद में, सो कत हेरा जाय।
बुंद समानो समुद में, यह जानै सब कोय;
समुद समानो बुंद में, बूझै बिरला कोय।

क्योंकि—

अंक भरी भर भेंटिये, मन नहि बाँधे धीर;
कह कबीर ते क्या मिले, जब लग दोय शरीर।

इस शरीर के द्वितीयत्व के विनाश के लिये हेरनहार को हेराना पड़ता है। प्रत्यक्ष में यह आश्चर्य की बात अवश्य है कि इस छोटे-से बूँद में समुद्र विलीन हो गया। परंतु प्रेम-तत्त्व के पंडितों के सामने कोई आश्चर्य की बात नहीं। बुंद ने तो प्रेम ही की बदौलत अपना इतना बृहद् विकाश कर लिया था कि समुद्र में और उसमें कोई अंतर ही न रहता था। फिर आश्चर्य की क्या बात? प्रेम भी एक बड़ा भारी योग है। तभी यह दशा प्राप्त हो सकती है! इसीलिये एक संत ने कहा है—

प्रेम बराबर जोग नहिं, प्रेम बराबर ज्ञान।
'चरणदास'

जिस प्रेम से अभीष्ट का साक्षात् हो, उसके सदृश और कौन वस्तु हो सकती है। ज्ञान उसकी तुलना कैसे कर सकता है। प्रेमी के लिये नेम कैसे लागू हो सकता है।

प्रेमी से नेमी कहै, तू नहिं साधे नेम;
शंभू सो नेमी नहीं, जाके नेमन प्रेम।

क्योंकि—

प्रेम-दिवाने जो भये, जाति बरन गइ छूट;
सहजो जग बौरा कहै, लोग गए सब फूट।
प्रेम-दिवाने जो भये, नेम-धरम गए खोय;
सहजो नर बौरा कहै, वा मन आनँद होय।
'सहजो बाई'

एक दूसरे संत भी इसी प्रकार की भाव-मंदाकिनी में विहार करते हैं—

जहाँ प्रेम तहँ नेम नहिं, तहाँ न जग-व्यवहार;
प्रेम-मगन सब जग भया, कौन गने तिथि वार।
'कबीर'

वास्तव में प्रेम करने के लिये साहस विचारने की आवश्यकता नहीं है। प्रेम किन्हीं बाह्यभौतिक आश्रयों पर आश्रित नहीं है। इच्छा की पूर्ति के साथ उसका अंत नहीं होता।

With dead desire it does not die.

'Scott'.

जो प्रेमी रूप में मग्न है, उसे प्रेम जानने की फ़ुर्सत कहाँ? जो प्रेम के नशे में चूर है, उसे बाहर आँख खोलकर देखने की सावधानी कहाँ?

मन मस्त हुआ तो क्यों बोले।
घर में ही दिलदार मिला, तो बाहर अँखियाँ क्यों खोले?

'शंभु'

कहूँ धरत पग परत कहूँ, डगमगात सब देह;
भए मगन हरि-रूप में, दिन-दिन अधिक सनेह।

'पलटूदास'

विलक्षण दशा है! आनंद-ही-आनंद है, परंतु किसको यह विचारणीय है। कबीरदासजी कहते हैं—

जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं हम नाहिं;
प्रेम-गली अति साँकरी, जामें दुइ न समाहिं।

वास्तव में जब तक अहत्व रहता है तब तक दूसरे की गुज़र नहीं। अपना विनाश करने पर ही गुरु के दर्शन होते हैं। स्वामी रामतीर्थजी कहते हैं—

वे अपनी हस्ती मिटा चुके हैं;
ख़ुदा को ख़ुद ही में पा चुके हैं।

यह भी इसी भाव का परिचायक है। इसीलिये उन्हें परियों और हूरों या कवि और मंदिर से कोई प्रयोजन नहीं, वे तो प्रेम-पथ के सच्चे पथिक हैं। वे उन व्यक्तियों की भाँति नहीं हैं, जिनके प्रेम से भरे हुए करुण-आलाप का प्रियतम पर कोई प्रभाव नहीं होता। अतएव उनका प्रतिघात प्रेमी के हृदय पर वज्राघात होता है। उन्नति रुक जाती है। उसकी वही आत्मा जो आह्लाद के ज्वार से बढ़कर विश्व को व्याप्त कर लेना चाहती थी, निराशा के प्रतिघात से पंगु हो जाती है। कुछ ऐसे भी अर्ध-भाग्यशाली व्यक्ति हैं, जिनके प्रियतम वक्षःस्थल में या पीठ पर प्रेम-वार अवश्य स्वीकार करते हैं। परंतु यदि प्रेम में बल है, तो कभी-न-कभी उसे अपना वक्षःस्थल समक्ष करना ही पड़ेगा। यदि वह आत्म-विनाश करने का वास्तविक रहस्य समझता है, तो उसका कार्य अवश्य पूरा होगा। आत्म-विनाशी प्रेमी के इश्क़ में इतना बल होता है कि वह माशूक़ को भी आशिक़ बना लेता है। दादूजी की वाणी इस संबंध में कितनी सुंदर है—

आसिक मासुक ह्वै गया,
इसक कहावै सोय।

वास्तव में इश्क़ यही है और सब ढोंग है। वह इश्क़ इश्क़ ही नहीं, जो माशूक़ के हृदय में इश्क़ पैदा न कर दे। यही कारण है कि प्रत्येक साहित्य में जितनी सुंदर कथाएँ हैं, उनमें दोनों ओर के प्रेम का सादृश्य है।

सद्गुरुशरण अवस्थी

नृत्य!

नाचती है भूमि, नाचते हैं रवि राकापति,
नाचते हैं तारागण धूमकेतु धाराधर;
नाचता है मन, नाचते हैं अणु परमाणु,
नाचता है काल बन ब्रह्मा, विष्णु और हर।
नाचता है नित्य अविराम गति से समीर,
नाचती हैं ऋतुएँ सदा नवीन वेष कर;
नाचता है जीव नाना देह धर बार-बार,
देखता है नृत्य वह कौन है रसिकवर?

रामनरेश त्रिपाठी

काश्मीर

(शेषांश)

मार्तंड में हम अधिक नहीं ठहरे। पंडों की ख़ातिर ने हमें लुभा अवश्य लिया था, परंतु मार्तंड-मंदिर के रास्ते में हमारा एक आंग्लजातीय श्रीमती कैथराइन लटियस से परिचय हो गया। उनसे भारतीय राजनीति और काश्मीरी सुदर्शन पर बातचीत करते हुए, उन्हीं के मोटर पर उसी दिन हम अनंतनाग पहुँचे।

'अनंतनाग' झेलम के दाहिने किनारे एक पहाड़ी के नीचे बसा है। क़स्बा बहुत बड़ा नहीं है, परंतु आबादी के

ख़याल से इसका स्थान घाटी में श्रीनगर ही के बाद है। क़स्बे में अनेक धाराएँ हैं। शायद इसीलिये ही इसका नाम अनंतनाग पड़ा। यह जिस पहाड़ी के नीचे है उस पर अब भी लहरों से कटे हुए पत्थरों के चिन्ह पाए जाते हैं, जो भूगर्भ-विद्या-विशारदों के इस मत की पुष्टि करते हैं कि काश्मीर-घाटी में किसी समय जलमय भील थी और किसी कारण जल बहकर निकल जाने ही से घाटी निकल आई, जो कि किसी प्राचीन समय में ताल की सतह रही होगी। काश्मीर के अनंत जलाशय इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। ऐतिहासिक-काल में भी अवंतिवर्मन् के समय तक देश में जलाशय की बहुतायत रही।

अनंतनाग को अब अधिकतर इसलामाबाद ही के नाम से पुकारते हैं। शहर में एक मसजिद है, जो वहाँ की सबसे प्राचीन इमारत समझी जाती है। यहाँ पुरानी ऊनी लोइयों को रँग उन पर कढ़ाई का काम करते हैं और इन बने हुए ऊनी ग़लीचों को गब्बा कहते हैं।

इसलामाबाद में भी हम अधिक नहीं ठहरे। प्रधान चालिन-दल अवश्य ठहरा था, क्योंकि उन्हें इस शहर में भी स्काउटों के खेल-तमाशे दिखाने थे। झेलम के किनारे-किनारे अवंतिपुर और पाम्पुर होते हुए सफ़दों की क़तार के नीचे-नीचे श्रीनगर पहुँचे।

काश्मीर के पर्वतों पर तो उसी मेल के वृक्ष हैं जो साधारणतः तमाम हिमालय-श्रेणी में पाए जाते हैं। परंतु घाटी में पापलर, चिनार और विलो के ही पेड़ अधिकतर पाए जाते हैं। पापलर एक यूकेलिप्टस की तरह ऊँचा चलनेवाला, सफ़ेद तने का पेड़ होता है जिसकी पत्ती हमारे यहाँ के पीपल से मिलती-जुलती है, परंतु उससे छोटी होती है। यह पेड़ सड़कों के दोनों ओर क़तार बनाने के काम में लाया गया है। घाटी की शोभा इन क़तारों से विचित्र ही हो गई है। हमने कहीं एक ही पेड़ की इतनी लंबी क़तार नहीं देखी जितनी कि इस घाटी में पापलर की। श्रीनगर के चारों ओर बीस-पचीस मील तक बराबर इस पापलर की क़तारें बँधी हुई हैं।

चिनार की क़तारें बहुत कम हैं। यह बढ़ता भी धीरे-धीरे ही है। इसीलिये शायद यह नियम है कि बिना राजाज्ञा के कोई चिनार के पेड़ को जड़ से नहीं काट सकता। यह पेड़ हमारे देश के पीपल या बरगद की तरह

अनंतनाग से चिनार के वृक्षों की क़तार

फैलता हुआ बढ़ता है, परंतु इन पेड़ों से कहीं ऊँचा जाता है। हमने कई ऐसे पुराने चिनार देखे हैं जिनकी ऊँचाई ८० फ़ीट से कम न होगी और जिसके तने को घेरने के लिये चार आदमियों को हाथ फैलाकर उसे हृदय लगाने की ज़रूरत पड़ी और छाया इतनी विस्तृत थी कि उसके नीचे सौ यात्री तक आराम कर सकते थे। इस पेड़ की पत्ती हमारे यहाँ के अंड-वृक्ष की पत्ती से मिलती-जुलती है, परंतु उससे कुछ छोटी होती है। इस पेड़ को, सुना जाता है कि मुग़ल-बादशाहों ने फ़ारस से मँगाकर घाटी में लगवाया था। परंतु इस घाटी में आकर तो इसने अपना घर ही कर लिया है। चिनार की कहीं और यह शोभा नहीं है जो इस देश में है।

विलो-वृक्ष शोभामय नहीं है। यह अधिकतर जलाशयों के किनारे पाया जाता है। इसकी डालें नीचे झुककर जल चूमने का प्रयत्न करती हुई मालूम होती हैं। विहंगम तने और पतली नोकीली पत्तियों के कारण यह पेड़ सुहावना नहीं लगता, परंतु है बड़े काम का। इसकी लकड़ी बहुत

लिमड़ी होती है। इसलिये इसके मोटे हिस्से को क्रिकेट की थापियों के बनाने और इसकी पतली डालों से कुर्सियाँ, टोकरियाँ इत्यादि बिनने का काम लेते हैं। काश्मीर में अब विलो-वर्क का प्रचार बढ़ रहा है और यह काम अब अल्लाका के बेत का मुक़ाबला करने की फ़िक्र कर रहा है।

फल-वृक्षों की भी बहुतायत है। अख़रोट, बादाम, सेब, अंगूर, नाशपाती और ग्लास, इन सभी फलों के बाग़ श्रीनगर के चारों ओर हैं।

काश्मीर के ग्लास और नाश्पाती बहुत मशहूर हैं। परंतु हम ग्लास के अलावा किसी फल का मज़ा नहीं चख सके। बरसात के बाद अगस्त और सितंबर तक इनके फल पकते हैं। इसलिये हमने इन पेड़ों में कच्चे फलों को देखकर ही पके फलों के स्वाद का अनुमान कर लिया।

ये सब फल होते हैं, परंतु हमारे देश के मशहूर फल आम, केला, ख़रबूज़ा और नारंगी के वहाँ दर्शन नहीं मिलते। काश्मीर को फल-भूमि कहते हैं। परंतु सच पूछिए तो जितने मेल के फल हमें नसीब होते हैं, उतने काश्मीरियों को नहीं।

'श्रीनगर' घाटी का सबसे बड़ा शहर है। यह नगर झेलम के दोनों किनारों पर एक पहाड़ी के नीचे बसा हुआ है। इस पहाड़ी पर चढ़कर श्रीनगर का बहुत अच्छा दृश्य देखने में आता है। शहर का अधिकतर भाग नदी के दाहिने किनारे पर है। परंतु दूसरे किनारे पर भी बस्ती है और इन दोनों भागों में पारस्परिक संबंध रखने के लिये नदी पर सात पुल हैं। पहला पुल 'अमीरा कदल' कहलाता है और फिर हब्बा, फ़तेह, ज़ैना, अली, नवा और सफ़ा नाम से ६ और 'कदल' हैं। इनके बाद नदी पर एक बाँध है, जो

लड़कियाँ धान कूट रही हैं
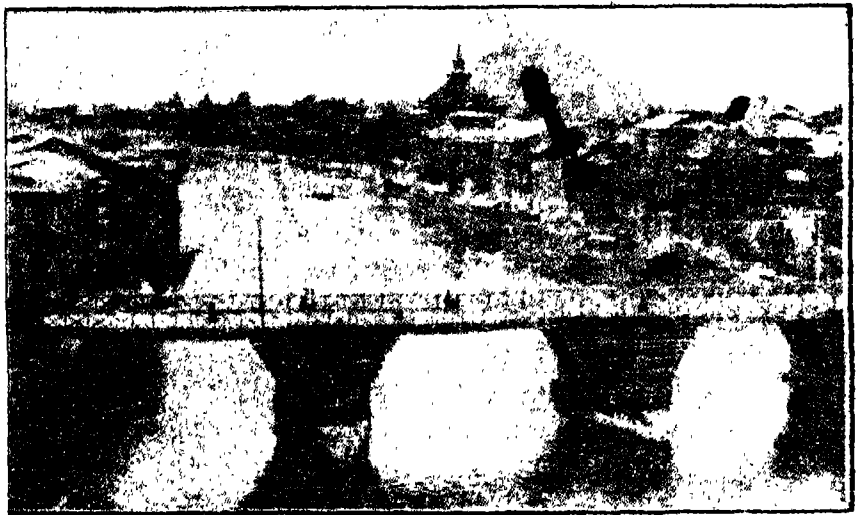
श्रीनगर का एक कदल

नदी में जल की मात्रा ठीक करता रहता है। अमीरा कदल के पास नई बस्ती है और शहर के रईसों तथा रियासत की कोठियाँ भी इसी तरफ़ हैं। आगे बढ़कर पुराना शहर है। अब वाटरवर्क्स द्वारा शुद्ध जल तथा सस्ती बिजली द्वारा रोशनी का प्रबंध होने के कारण शहर की हालत सुधर रही है। परंतु शहर का पुराना भाग परदेशियों के रहने-योग्य नहीं है। तंग गलियाँ, अँधेरे मकान, गंदी और दूषित वायु इस स्वर्ग में भी नरक की याद दिलाते हैं।

श्रीनगर और इर्द-गिर्द की सैर के लिये नदी तथा उससे और डल से मिली हुई नहरों में शिकारे पर बैठकर घूमने ही में आनंद है। अमीरा कदल आप पहुँचे और दर्जनों शिकारे-वाले हाँजी आपको घेरकर "साहब, शिकारा पर आयगा" आवाज़ लगाना शुरू कर देंगे। मोतमिद[1] दरबार की तरफ़ से इन शिकारों के निर्ख़ बँधे हुए हैं। परंतु तय कर लेने से झगड़ा नहीं होता। अमीरा कदल से सफ़ा कदल तक, नदी की सैर करने और वापस होने में बारह आने से डेढ़ रुपए तक देने होते हैं। इसी प्रकार दो रुपए से तीन रुपए तक अमीरा कदल से डल तक। यही साधारण निर्ख़ है।

अमीरा कदल से आगे बढ़ते ही बाईं तरफ़ महाराज के महल हैं जिनमें एक सुवर्ण-मंदिर भी है। इसका मूर्ति पर जो रत्न हैं, उन्हें कहा जाता है कि महाराज गुलाबसिंह ने लद्दाख़ जीतकर मूर्ति पर चढ़ाया था। आगे बढ़कर एक नहर बाईं ओर जाती है और दूसरी दाहिनी तरफ़ से डल का जल नदी में लाती है। दूसरे पुल हबा-कदल के आसपास शाल और पश्मीने की दुकानें हैं, जिनके निकले हुए लकड़ी के छज्जे उस नदी के दृश्य से ही संबंध रखते हैं। आगे बढ़कर नदी के बाएँ किनारे पर मिशन हाईस्कूल है जिसका आगे विवरण करेंगे। इसके आगे दाहिने किनारे पर शाहहमादान मसजिद है। यह काश्मीर में मुसलमानों की कारीगरी का सबसे बढ़िया नमूना है। पूरी मसजिद लकड़ी की है और झरोखों पर बहुत अच्छा नक़्क़ाशी का काम बना हुआ है। बनावट से कोई यह नहीं कह सकता कि यह इमारत मसजिद हो सकती है। अरब की कारीगरी का इसमें लेशमात्र भी नहीं मालूम होता। जिन्होंने काशी के नेपाल-मंदिर या हिमालय के पहाड़ी धाम पशुपतिनाथ या बदरिकाश्रम के दर्शन किए हैं, उन्हें इसमें इन मंदिरों का ही नमूना मिलता है और अरब के अर्धचंद्र डाट तथा गुंबज का कहीं नामो-निशान भी नहीं मिलता। बस, इन्हीं मंदिरों की-सी ढालू छतें, वैसे ही कंगूरे और उसी मेल का चारों ओर सायबान। आगे चलकर शहर का मशहूर बाज़ार महाराजगंज मिलता है, जहाँ काग़ज़ की लुग्दी पर बेल-बूटे बनाने (Papier machi) की बहुत-सी दुकानें हैं। इस नए काम की तरक्क़ी अँगरेज़-यात्रियों के ही कारण हुई है और इन्हीं के मतलब की चीज़ों पर ही पेपियर मेशो की कारीगरी की जाती है। सातवें पुल के पास यारक़ंदीसराय है, जहाँ ख़च्चरों पर मंगोल-जातीय ठिंगने, सुगठित यारक़ंदी रेशम और नमदे लाकर उतारते हैं। सातवें पुल पर शहर ख़तम हो जाता है।

नदी के बाईं ओर देखने-योग्य चार स्थान हैं। महाराज के महलों और सुवर्ण-मंदिर का विवरण हो चुका है। अब इनमें महाराज नहीं रहते। उनकी कोठी शहर से दूर, पहाड़ के नीचे और डल के सामने गुपकार रोड पर बन रही है। इसलिये इन महलों को देखने में विशेष कठिनता नहीं है। अमरसिंह टेक्निकल इंस्टीट्यूट

मिशन-स्कूल में स्काउटों का खेल

१. एक राज्य कर्मचारी।

में काश्मीरी नवयुवकों को कला-कौशल की शिक्षा दी जाती है। काश्मीर-देश का व्यवसाय और हुनर मुसलमानों के ही हाथ में है। काश्मीरी पंडित तो मुंशीगीरी के अलावा दूसरे कामों से घृणा करते हैं। परंतु नवयुवकों की रुचि अब बदल रही है। रियासत में जितने पंडितों की खपत हो सकती थी, हो चुकी। परंतु इनमें विद्याभिरुचि इतनी है कि अँगरेज़ी पढ़े-लिखे युवकों की संख्या बढ़ती ही आ रही है। स्कूलों में इसीलिये हाथ से काम करने का शौक़ पैदा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। इस संबंध में मिशन-हाईस्कूल में, जिसका विवरण ऊपर हो चुका है, बहुत काम हो रहा है। उसके अध्यक्ष रेवरेंड बिस्को ने जिस कठिनता से ब्राह्मण-बालकों को नाव चलाने के लिये बाध्य किया और स्कूल में कसरत और ड्रिल के लिये बालकों को उत्साहित किया, उसका विवरण करने के लिये एक अलग पुस्तक की आवश्यकता है। परंतु जिस उत्साह के साथ उसने अपना काम किया, उसका फल यह हुआ है कि उस स्कूल की बैंड-प्रेरित मध्याह्न-कालीन ड्रिल और कसरतें देखकर हम दंग रह गए। और फिर तीसरे पहर बालकों के नाव और पैराई के खेल देखकर हमारे आश्चर्य की सीमा न रही। ऐसे ही स्कूलों के पंडित नवयुवकों ने इस टेक्निकल इंस्टीट्यूट से भी लाभ उठाना शुरू कर दिया है। इन्हीं के उद्योग से अब इस देश में विलो-वर्क का प्रचार हो रहा है और किसी समय हमें चीनी बरतनों पर की गई कारीगरी के भी नमूने देखने में आवेंगे।

इसके पश्चात् अजायबघर और रेशम की फ़ैक्टरी देखने योग्य हैं। अजायबघर से हमें देश के इतिहास, पैदावार तथा कला-कौशल का पता लगता है, और रेशम के कारख़ाने में एक नए धंधे के प्रचार का प्रयत्न किया जा रहा है।

देश में शहतूत के दरख़्तों की कमी नहीं है। इन्हीं के सहारे यहाँ अंडों को देहात में बाँटकर देहातियों से दरबार की तरफ़ से कोकून की ख़रीदारी होती है और फिर बिजली से संचालित कारख़ानों में इन कोकूनों से रेशमी सूत बनाया जाता है। दरबार की ओर से इतना ही काम होता है। परंतु इस बहाने ही प्रायः चार सहस्र मज़दूरों को रोज़ी मिलती है और देहातियों को जो कुछ लाभ होता है वह घाते में। दरबार ने अभी रेशमी कपड़े तैयार करने का प्रयत्न नहीं किया। परंतु इसमें संदेह नहीं कि रेशम बहुत कम ख़र्च में तैयार होता है और यदि दरबार कपड़ा बिनवाने का प्रयत्न करे, तो इसमें भी लाभ हो।

नदी की दाहिनी तरफ़ सैर करने के लिये अनेक रमणीक स्थान हैं। शंकराचार्य-पर्वत का विवरण हो चुका है। इसे तख़्त-सुलेमान भी कहते हैं। यह श्रीनगर के मैदान से १,००० फ़ीट की ऊँचाई पर है। पर्वत पर एक प्राचीन मंदिर है, जहाँ श्रीनगर के स्थापित होने के समय अशोक-काल में ही किसी मंदिर की नींव पड़ी थी। इस समय जो मंदिर है, वह बहुत पुराना नहीं है। इधर कुछ समय हुआ, मैसूर के महाराज ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराकर इसके चारों ओर बिजली के प्रकाश का प्रबंध कर दिया है। डल और झेलम के बीच एक और पहाड़ी है जिसे हरि-पर्वत कहते हैं। इस पर्वत पर रियासत का क़िला है। इसलिये इसकी चोटी तक पहुँचना कठिन है। हरि-पर्वत से भी श्रीनगर का बहुत अच्छा दृश्य देखने में आता है।

बालकों का नाविक दल

शंकराचार्य का मंदिर

श्रीनगर में सबसे बढ़िया सैर 'डल' की है। कारमीरी-भाषा में डल झील या ताल को कहते हैं। परंतु लोग 'डल लेक' की सैर करने जाते हैं, मानों 'डल' और 'लेक' में कोई भेद भी है।

डल के अंदर पहुँचने के लिये दो नहरें हैं। एक तो नदी के ऊपर शहर के पोस्टऑफ़िस के पास है, और दूसरी वह जिसका विवरण ऊपर हो चुका है। डल-गेट पर दोनों नहरें एक हो जाती हैं। यहीं चिनार-बाग़-नामक चिनार-वृक्षों का सघन कुंज है, जिसमें हाउसबोट-निवासी डेरे डालकर जल-थल दोनों के आनंद लेते हैं। डल-गेट के आगे ही डल के निर्मल जल के दर्शन होते हैं। ताल बहुत विस्तृत है। क़रीब ९ मील उत्तर से दक्षिण तक और इससे आधा पूर्व से पश्चिम तक, परंतु सब कहीं गहरा नहीं है। अधिकतर हिस्से में जल बहुत कम है, और इन्हीं पर घास-फूस के बेड़े बनाकर खेती की जाती है, जिनके चोरी होने की कहानी कारमीर के सैलानी कहा करते हैं। डल के दाहिनी ओर पहाड़ के नीचे चलते हुए पहले चश्मा शाही पहुँचते हैं, फिर निशात बाग़, और अंत में शालामार। ये तीनों बाग़ मुग़ल-बादशाहों के ही बनवाए हुए हैं, इसलिये इनका एक ही नक़्शा है। चश्मे से बाग़ प्रारंभ होता है। यह बाग़ के मध्य से सीढ़ी के ढंग पर एक सतह से बहता हुआ दूसरी सतह पर गिरता है। प्रत्येक सतह पर एक कुंड रहता है जिसमें से फ़व्वारे छूटा करते हैं। धारा को जितनी सतहें मिल सकें, उतनी ही बाग़ की शोभा बढ़ती है। धारा के दोनों ओर, एक दूसरे के जवाब में, फ़ारसी ग़लीचे के ढंग पर फूलों की कटावदार क्यारियाँ रहती हैं। आगरे और देहली में मुग़ल बादशाहों ने जो बाग़ बनाए हैं, इसी ढंग पर हैं। सिर्फ़ कम जल तथा चौरस ज़मीन होने के कारण उन्हें कारमीर के बाग़ों की शोभा नहीं प्राप्त होती। जहाँगीर ने शालामार बनवाया था और उसके वज़ीर आसफ़ख़ाँ ने निशात। ये दोनों बाग़ बहुत बड़े हैं। परंतु निकट होने के कारण निशात में शालामार से अधिक चहल-पहल रहती है। चश्मा शाही की जिसे शाहजहाँ ने बनवाया था, तारीफ़ उसके जल ही के कारण है। उसका बाग़ तो बहुत छोटा है।
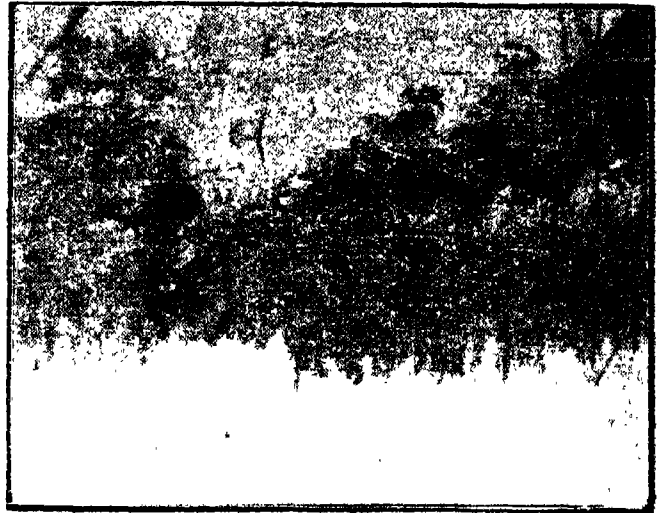
डल में तैरते हुए खेत

डल-गेट की बाईं तरफ़ चलने से हमें झेलम के पीछे और डल के किनारे बसे हुए शहर की सैर मिलती है।
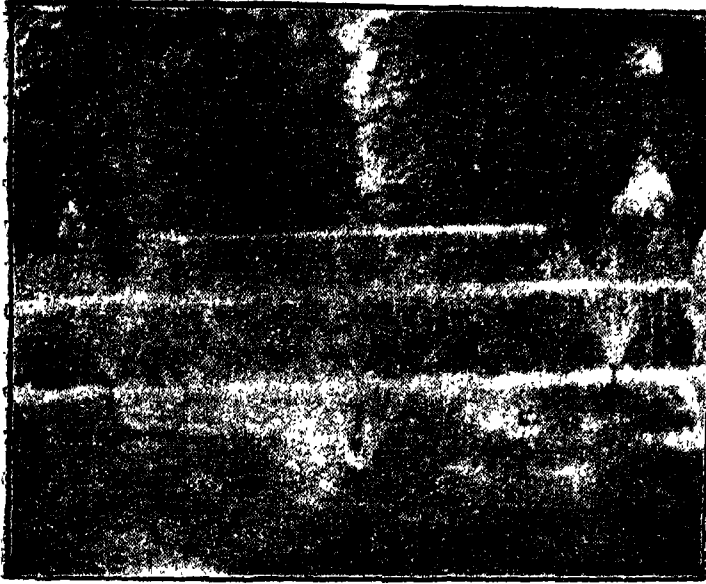
शालामार-बाग़
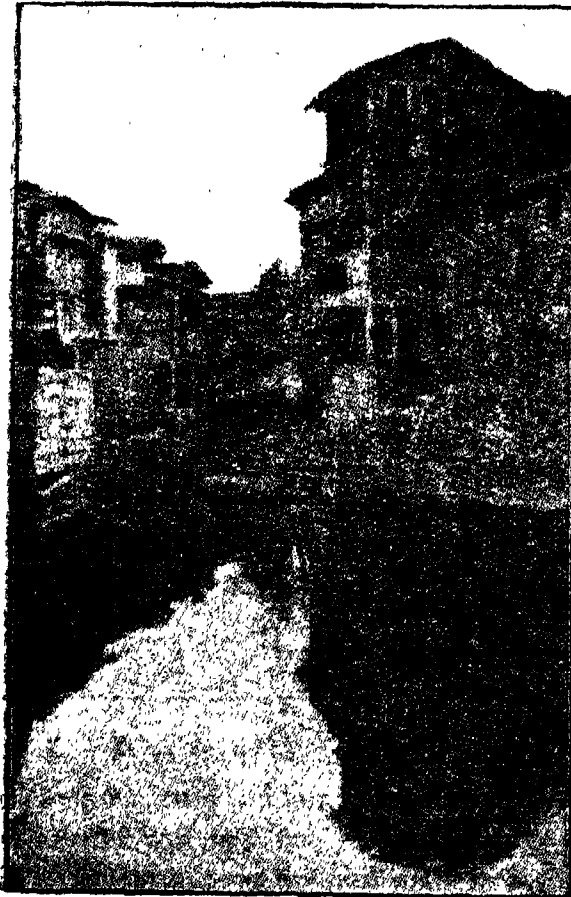
मार नामक एक नहर यहाँ से चलती है, जो अनचर ताल से मिलती हुई दूसरी नहर द्वारा सिंध नदी से मिलती है। यहाँ से जुमा मसजिद, ईदगाह और हरिपर्वत की सैर हो सकती है। यहीं से पैदल चल-कर हज़रतबल और नसीम-बाग़ की सैर हो सकती है, जो डल की दाहिनी तरफ़ है। हज़रतबल में बंदिशें हैं। परंतु नसीम-बाग़ चिनार-वृक्षों से आच्छादित एक हरा-भरा मैदान है। यहाँ डेरा डालने के लिये भी आज्ञा नहीं लेनी पड़ती। इसलिये यह बाग़ मिशन के पादरियों को बहुत पसंद है। बहुत-से अमेरिकन पादरी सपरिवार इस बाग़ में तंबू लगाकर रहते हैं। सामने दृश्य भी सुहावना है। महा-देव का हिम-शिखर प्रातः-कालीन सूर्य की किरणों के दर्शन पाकर जल को सुवर्णमय कर देता है।

हम श्रीनगर में प्रायः दो सप्ताह ठहरे। चौथी जून के दिन महाराज ने राजगद्दी के बाद पहली बार श्रीनगर में पदार्पण किया। प्रजा ने उनका बड़ी धूम-धाम से स्वागत किया। तमाम शहर महाराज के दर्शन करने के लिये झेलम के किनारे आ डटा। हम भी दर्शकों में थे। महा-राज के पीत-वर्ण बजरे में दर्शन करके ही जनता संतुष्ट नहीं हुई। अमीरा कदल से सवारी निकली। वहाँ भी जनता की बहुत भीड़ थी। महाराज ने इतने ही समय में प्रजा का दिल अपने हाथ में ले लिया। महाराज अभी युवक हैं, परंतु प्रदेशों में घूमकर आपने बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया है। वही अब आप प्रजा की हित-साधना के निमित्त अर्पण कर रहे हैं। महाराज बड़े सौभाग्यशाली हैं कि इस सुरम्य देश के अधिपति हुए। ईश्वर से प्रार्थना है कि प्रजा भी यह समझे कि उसका सौभाग्य है कि उसे सर हरिसिंह के समान उसकी अधिपति प्राप्त हुए। इस स्वर्ग का भविष्य अब इन्हीं महाराज के हाथ में है। और हमें आशा है कि जिस कार्य-परायणता से आप इस समय अपना कर्तव्य-पालन कर रहे हैं, यदि यही क़ायम रही, तो देश का दुःख-दरिद्र दूर हो जायगा।

श्रीनगर का एक दृश्य

हमारा अधिकतर समय प्रताप-भवन नामक धर्मशाला

नसीम-बाग में स्काउट

श्रीनगर में ३ जून के दिन हमारे स्काउटों ने अपने आश्चर्यजनक खेल दिखाए, और इसके पश्चात् हम फिर दो दलों में विभक्त हुए। एक ने तो वाजपेयीजी के साथ गुलमर्ग तथा जल-मार्गों द्वारा वूलरलाल, सोदर तथा खीरभवानी की सैर करके गाँदरबल में डेरा डालना निश्चय किया। और दूसरे ने रेवरेंड फरगर के साथ गांदरबल से सिंध नदी के किनारे-किनारे चढ़कर सोन-मर्ग, ज़ोजीला और बालताल होते हुए अमरनाथ के कठिन दर्शन का प्रण किया। हमने इस बार भी सुगम-दल का ही साथ दिया।

या खालसा होटल में रहकर कटा। परंतु काश्मीर का सुख धर्मशाला या होटल में रहकर नहीं है।

जिन्हें श्रीनगर ही में ठहरना हो, उनके लिये हाउस-बोट या डूँगा-बोट बहुत अच्छा है। ६०) महीने से १००) तक परिवार-लायक़ अच्छा हाउस-बोट मिल सकता है। इसमें बैठे-बैठे जल-मार्गों द्वारा अनेक स्थानों की सैर भी हो सकती है। ऊपर खनबल तक और नीचे मानसबल, शादीपुर तथा गांदरबल तक हाउस-बोट में बैठे-बैठे ही सैर हो सकती है। परंतु जिनके शरीर में बल हो, जो काश्मीर की सैर करना चाहते हों, उनके लिये किराए के तंबू ही बहुत अच्छे हैं। १० से लेकर १२ फ़ीट तक का तंबू साधारण सामान के साथ २०) से ३०) महीने तक मिल सकता है। काश्मीर में ऐसे अनगिनत मैदान हैं, जिनमें तंबू लगाए जा सकते हैं या टट्टुओं पर लादकर एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाए जा सकते हैं। और, यदि जल न बरसे, तो इनमें तकलीफ़ भी नहीं होती। जल-मार्ग और पीरपंजाल के हिम-पर्वतों की सैर करना हो, या सोन-मार्ग और हिमालय के भव्य दृश्यों को देखते हुए ज़ोजीला या अमरनाथ की यात्रा करना हो, तो बिना तंबू के काम ही नहीं चल सकता।

श्रीनगर छोड़ने के पहले हमें घाटी के फूलों पर दृष्टि डालना आवश्यक है। यों तो शरद्-ऋतु के सभी फूल वहाँ भी ग्रीष्म में फूलते हैं, परंतु जो शोभा वहाँ सुदर्शन और गुलाब की है, वह हमें कहीं भी देखने में नहीं आई। वेरीनाग से श्रीनगर तक अनेकों क़ब्रिस्तानों पर हमने सुदर्शन को शोभा पाते देखा। हमारे देश में इसका रंग सफ़ेद होता है। परंतु यहाँ इसका रंग

लड़के महाराज सर हरिसिंह को सलाम कर रहे हैं

साधारणतः नीला ही होता है। दूसरा मनोमोहक फूल गुलाब है। गुलाब कहाँ नहीं होता, परंतु जैसी शान इस फूल की श्रीनगर में है, वैसी शायद ही कहीं हो। बेलें

तीन-चार मरातिब तक चढ़ी हुई और सैकड़ों फूलों से लदी हुई हमने श्रीनगर में ही देखीं। एक और फूल है, जिसे इनीलकिल कहते हैं। सुगंध चमेली की तरह होती है। इसकी झाड़ी यहाँ भी लगती है। परंतु जितनी घनी झाड़ी इस बेल की हमने काश्मीर में देखी, वैसी कहीं और देखने में नहीं आई।

कालिदास कपूर

भग्न उसास

किए गीली पलकों में बंद,
लजीली आँखों का अनुरोध :
प्रणय के चरणों पर चुपचाप,
चढ़ा मैं देता शीश अबोध !
तुम्हारी करुणा का विश्वास,
उमता जब अधीर अनुराग :
भभक उठती तब अपने आप,
जले उर में आशा की आग !
पुलक-कंपन की खा मृदु चोट,
सिहर उठते प्राणों के तार !
तरल पीड़ा के गीले गीत,
विकल बन उमड़ाते मधु-धार !
उसीमें लघु जीवन का भार,
मरे तृण-सा तिरता निरुपाय !
'प्रगति' के भीतर 'गति' का 'अंत',
खोजता बन पागल हूँ हाय !
निराशा की वेदी पर फूल,
चढ़ाना ही है जिसका काम :
तुम्हारी गोदी से गिर दूर,
कहाँ वह पावेगा 'विश्राम' ?
आज यह, असफल होकर भी न,
पराभव में करता स्वीकार :
वेदना के आँगन में लोट,
पालता अपना पागल प्यार !
तड़पते भावों की लघु भेंट,
क्यों न कर दोगे अस्वीकार ?
मसलते क्या लगती है देर,
निठुर कर से कलियों का हार ?
तुम्हारी नीरवता है एक,
करुण कोलाहल का अधिवास !
मुझे "नाहीं" के बल से खींच
बुला लेते तुम अपने पास !
विवशता की जीवित छवि देख,
खिसक 'हट' जाता है चुपचाप :
विनय-करुणा के विमुख प्रवाह,
एक हो जाते अपने आप।
प्रणय की इस जगती में पहुँच,
प्राणधन ! तुमको अपना जान :
मचल, कुँभला, रो-रो, रह मौन,
किया करता तुमसे मैं मान !
अबल को रखने दोगे क्या न,
पास इतना-सा भी अधिकार ?
निदारुण पीड़ाओं का और,
कहो, फिर हो कैसे प्रतिकार ?
उपेक्षित हो तुमसे इस भाँति,
कहाँ मैं जाऊँ—किसके पास ?
मान का समझावेगा मर्म,
किसे यह मेरा 'भग्न उसास'?

जनार्दनप्रसाद झा "द्विज"

प्राचीन भारत का मंत्रि-परिषद् *

(१)

भा रतवर्ष सैकड़ों वर्षों से गुलामी के पाश में बँधा हुआ है। इस समय यहाँ शिक्षा, स्वतंत्रता, स्वदेशाभिमान आदि की कमी है और वर्तमान 'सभ्य' जातियाँ इसे देखकर उँगली उठाती हैं, इसे असभ्य समझती हैं और इसे एक आँख देखना भी किसी को नहीं सुहाता। इसकी वर्तमान अधोगति ने इसके अतीत

* इस लेख के लिखने में हमने श्री के० पी० जायसवाल की 'हिंदू-पालिटी' के मंत्रि-परिषद्‌वाले अध्याय से बहुत सहायता ली है, बल्कि क़रीब-क़रीब उसी के आधार पर लिखा है। इसके लिये हम आपके बहुत कृतज्ञ हैं।—लेखक।

गौरव को भी लुप्त-प्राय कर दिया है, और यही कारण है कि संसार की सभ्यता के इतिहास में भारत का स्थान सबसे प्राचीन होते हुए भी, आज इसकी कोई गणना नहीं। बल्कि कुछ मनचले विदेशी विद्वान् तो भारत की प्राचीन सभ्यता के संबंध में बहुत तुच्छ विचार रखते हैं और यहाँ तक कह डालते हैं कि रामायण और महाभारत तो बस, गड़रियों का खेल है। पर संसार के ऐसे विद्वान् और व्यक्ति चाहे वास्तविकता से आँखें मूँद लें, इतिहास पर परदा डाल दें और स्वार्थपरता एवं पक्षपात से अपना नाम भले ही कलंकित कर लें, पर सच्चा इतिहास, वास्तविक रहस्य, सच्ची घटना और गुदड़ी का लाल, एवं हीरे की चमक को भला कोई कब तक छिपा सकता है -- कब तक उस पर परदा डाल सकता है ? प्राचीन भारत की शासन-पद्धति में जो मंत्रि-परिषद् होता था, यहाँ उसके संबंध में कुछ लिखने का यत्न किया जायगा। संसार परिवर्तन-शील है और प्रत्येक वस्तु की उन्नति और अवनति, उत्थान और पतन होना इसका प्राकृतिक गुण है। हिंदोस्तान आज गिरा हुआ है, तो एक दिन बहुत उन्नति के शिखर पर भी रह चुका है और फिर वह समय शीघ्र ही आने-वाला है, जब कि इसकी गणना संसार की उन्नत जातियों में होगी।

वैदिक काल में राजा के आस-पास, उसके चतुर्दिक्, 'राजकर्तृ' (राज-काज करनेवाले ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारी और कर्मचारी गण) होते थे और राजकर्तृ के संयुक्त समुदाय को 'समिति' कहते थे। समय के परिवर्तन के साथ-साथ इस 'समिति' के नाम, कर्तव्य और अधिकार में भी परिवर्तन होता गया, और ब्राह्मण-काल में उक्त 'समिति' का नाम 'रत्नी' पड़ा। साथ ही कर्मचारियों का नाम भी वैसे अब 'राजकर्तृ' नहीं रहा और प्रधान मंत्री, अमात्य, सेनापति, कोषाध्यक्ष आदि कहलाने लगा और इन्हीं का नाम समिति से बदलकर 'रत्नी' पड़ा। बाद को ये 'रत्नी' पौराणिक-काल में अधिक समुन्नतावस्था को प्राप्त हुए और 'मंत्रि-परिषद्' के रूप में दिखलाई पड़े। आठ, दस, बारह, बीस व सैंतीस व्यक्तियों के समुदाय से 'मंत्रि-परिषद्' बनता था। महा-भारत और शुक्र-नीति में मंत्रि-परिषद् के लिये 'गण' शब्द आया है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र[1] में इसके लिये

१. अर्थ-शास्त्र, अधिकरण १, प्रकरण १५

'परिषद्' और जातक,[1] महावस्तु[2] तथा अशोक के लेखों[3] में 'परिसा' शब्द आता है। इसके आगे बहुत दिनों तक इसके लिये कोई दूसरा शब्द नहीं मिलता। बृहदारण्यक उपनिषद् से ज्ञात होता है कि वैदिक काल में राष्ट्रीय सभा को 'परिषद्' कहते थे[4]। इस प्रकार 'मंत्रि-परिषद्' ने वैदिक काल की 'समिति' और 'परिषद्' से विभिन्न होते हुए भी वही नाम धारण किया और साथ ही उसके अनुसार कर्तव्य और उत्तरदायित्व को भी अपनाया और फिर उसी क्रम से राज-चक्र चलता रहा।

प्राचीन भारत के शासन-विधान का यह एक स्वयंसिद्ध नियम था कि राजा बिना मंत्रि-परिषद् के राज्य नहीं कर सकता था। संस्कृत-साहित्य के राजनैतिक एवं साहित्यिक अथवा धर्म-ग्रंथ व नियम-सूत्र सभी ग्रंथों के अनुशीलन से यही ज्ञात होता है कि उक्त सभी प्रकार के ग्रंथों के लेखक इस पर एकमत हैं। मनु ने ऐसे राजा को, जो बिना मंत्रि-परिषद् के राज्य करने की चेष्टा करता है, अयोग्य और मूढ़ बतलाया है[5]। उनका कहना है कि ऐसा व्यक्ति राज्य-भार को सँभाल सकने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। उन्होंने यह भी कहा है कि जो कार्य सुगम, सरल और सुलभ अथवा सुबोध होता है, वह भी एक व्यक्ति से सुचारु-रूपेण संपादित होना कठिन होता है। फिर राज-काज, जो कि सर्वदा उलझनों तथा कठिनाइयों से ही भरा होता है, सहायकों के बिना अकेले राजा कैसे कर सकता है ? राजा को उचित है कि वह नित्य मंत्रियों के साथ सामान्य संधि-विग्रह, आत्म-रक्षण तथा स्वराष्ट्र-विषयक अन्य सभी बातों का विचार करे[6]। महर्षि याज्ञवल्क्य भी इसका समर्थन

१. Vol. VI, pages 405 and 431
२. Vol. II, pages 419, 422
३. Rock series III and VI
४. पञ्चालानां समितिमेयाय, पञ्चालानां परिषदमाजगाम।
५. सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ।
शुचिना सत्यसन्धेन यथा शास्त्रानुसारिणा ।
दण्डः प्रणयितुं शक्तः सुसहायेन धीमता ।
मनु० अ० ७, श्लो० ३०-३१.
६. अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किमु राज्यं महोदयम् ।

करते हैं,[1] और नीति-वाक्यामृत में तो लिखा है कि वह राजा ही नहीं है, जो अपने मंत्रियों से सलाह किए बिना, अथवा उनकी योग्य सम्मति तथा उचित परामर्श के विरुद्ध राज्य करता है[2]। राजनीति-शास्त्र के प्रगाढ़ पंडित शुक्राचार्य एक क़दम और आगे बढ़कर फ़र्माते हैं कि वह राजा, जो अपने मंत्रियों की राय पर ध्यान नहीं देता, वह राजा नहीं, बल्कि राजा के वेष में अपनी प्रजा की संपत्ति का अपहरण करनेवाला चोर है[3]। आगे चल-कर वह और लिखते हैं कि वह राजा भी, जो सर्व-शास्त्रों में पूर्ण पारंगत हो, राजनीति की प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म बातों को सुगमता से समझता हो, उसे भी अपनी इच्छा से कुछ नहीं करना चाहिए। बुद्धिमान राजा सदा अपने मंत्रियों की राय के अनुसार राज्य का काम करता है। राजा का स्वेच्छाचार-पूर्वक शासन करना अपने राज्य से हाथ धोना है[4]। इसके संबंध में बृहस्पति लिखते हैं कि उचित और ठीक बात भी बुद्धिमानों की सम्मति बिना कदापि नहीं करना चाहिए[5]। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और राजतन्त्र के बड़े पक्षपाती कौटिल्य ने भी लिखा है कि राज-संबंधी बातों का विचार मंत्रि-परिषद् में होना चाहिए, और वहाँ जो बहुमत से तय हो, उसे ही पालन करना राजा का कर्तव्य है[1] और यह नियम केवल मंत्रि-परिषद् ही में नहीं, बल्कि शासन-परिषद् में भी लागू होता था। यहाँ पर ख़ास तौर से ध्यान देने की बात एक यह भी है कि राजा को मंत्रि-परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को रद (Veto) करने का क़तई अधिकार नहीं था। इसका ज़िक्र कहीं भी नहीं मिलता। इससे यह सर्वथा स्पष्ट है कि राजा कितना नियंत्रित और नियम-पाशों से आबद्ध होता था और जनता को प्रजा के हित एवं अधिकारों का कहाँ तक अधिक ख़याल रहता था। कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र में लिखा है कि इंद्र को सहस्र नेत्रवाला कहते हैं, यद्यपि वास्तव में उनके दो ही आँखें हैं। परंतु इसका असली मतलब यह है कि इंद्र के मंत्रि-परिषद् में १,००० मंत्री हैं, जिनसे वह देखता है अर्थात् जिनकी सम्मति के अनुसार काम करता है[2]।

मनु ने लिखा है कि राजा मंत्रियों से एकांत स्थान में अलग-अलग राय ले और फिर एक-साथ सबों का अभि-प्राय जाने। इसके बाद इस पर विचारकर जिसमें भलाई हो करे[3]। कौटिल्य ने भी इसीका पूर्णतया समर्थन किया है[4]। मंत्रियों में जो सबसे अधिक दक्ष, निपुण, विद्वान्, योग्य और विश्वासी होता था, उसीके सुपुर्द सब काम किया जाता था[5] और उसे ही

तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं संधिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ।
मनु०, अ० ७, श्लो० ५५-५६

१. समन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान् मौलान् स्थिरान् शुचीन् ।
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम् ।
याज्ञ०, प्रथ०, श्लो० ३१२.

२. न खलु स राजा यो मन्त्रिणोऽतिक्रम्य वर्तते ।
नीति-वा०, अध्याय १०

३. हिताहितं न शृणोति राजा मन्त्रिमुखाच्च यः ।
स दस्यु राजरूपेण प्रजानां धनहारकः ।
शुक्रनीति-सार, अ० २, श्लो० २५७

४. सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमंत्रवित् ।
मंत्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकोऽर्थं चिन्तयेत् क्वचित् ।
सभ्याधिकारी-प्रकृति-सभासत्सुमते स्थितः ;
सर्वदा स्यान्नृपः प्राज्ञः स्वमतेन कदाचन ।
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो ह्यनर्थायैव कल्पते ।
भिन्नराष्ट्रो भवेत्सद्यो भिन्नप्रकृतिरेव च ।
शुक्र०, अ० २, श्लो० २-४

५. धर्ममपि लोकविकृष्टं न कुर्यात् ।
करोति चेदाशास्यैनं बुद्धिमद्भिः ।
बृहस्पति-सूत्र १ । ४-५.

१. आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मंत्रिपरिषदञ्चाहूय ब्रूयात् ।
तत्र यद्भूयिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत् कुर्यात् ।
अर्थशा०, अधि० १, प्रक० १५।११.

२. इन्द्रो यस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रं, तच्चक्षुः । तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः ।
अर्थ-शास्त्र, अधि० १, प्रक० १५-११

३. तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ।
मनु०, अ० ७, श्लो० ५७.

४. तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च ।
अर्थ-शास्त्र, पृष्ठ ८.

५. नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ।
मनु०, अ० ७, श्लो० ५९

प्रधान मंत्री कहते थे। इस प्रकार शासन का सारा प्रबंध और सभी काम राजा, प्रधान मंत्री के विचार, उद्योग और सहायता से आरंभ करता और उसका संचालन एवं संपादन करता था।

इन बातों के सिलसिले में यहाँ पर यह बता देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि राजा को मंत्रि-परिषद् की सम्मति लिये बिना ब्राह्मणों तक को भी दान देने का अधिकार नहीं था[1]। दिव्यावदान से पता चलता है कि एक बार जब महाराज अशोक ने बौद्ध-संन्यासियों को कुछ दान देने की आज्ञा दी, तो सम्राट् अशोक के प्रधान अमात्य राधगुप्त के अधीन मंत्रि-परिषद् ने उक्त दान का दिया जाना रोक दिया था[2]। इस बात की पुष्टि सम्राट् अशोक के उस लेख से और अधिक होती है, जिसमें उन्होंने कहा है कि उनके दान देने की आज्ञा, किसी घोषणा वा अन्य किसी भी ऐसी राजाज्ञा पर, यदि मंत्रि-परिषद् में वाद-विवाद छिड़े, मत-भेद हो वा मंत्रि-परिषद् उसे रोक देना चाहता हो, तो इस बात की सूचना उसे दी जानी चाहिए[3]। इससे यह भी प्रकट होता है कि मंत्रि-परिषद् राजा की आज्ञा वा घोषणा-पत्र का केवल विरोध ही नहीं कर सकता था, बल्कि (देश और प्रजा के हित की दृष्टि से) अनावश्यक, हानिकारक और व्यर्थ के प्रस्तावों को रद भी कर देता था। इसका एक ज़बर्दस्त उदाहरण और भी मिलता है। वह है सुदर्शन-झील के संबंध में। इस झील के (यह झील गुजरात में है) जीर्णोद्धार के लिये रुद्रदमन ने मंत्रि-परिषद् से द्रव्य की स्वीकृति चाही थी, पर मंत्रि-परिषद् ने इसे अस्वीकृत कर दिया, जिससे उक्त झील की मरम्मत उसने अपने निजी कोष से करवाई[4]। रुद्रदमन के इस लेख से बढ़कर अधिक स्पष्ट और मज़बूत सबूत और मिल नहीं सकता। पाठक इससे सहज ही में अनुमान कर सकते हैं कि राज्य-शासन-संबंधी नियम और क़ानून केवल पोथियों में बंद रहने के लिये, प्रजा पर रोब ग़ालिब करने के लिये, गवर्नमेंट का प्रभुत्व जताने के लिये नहीं थे, बल्कि वास्तव में उन क़ानूनों को बर्ता जाता था और उनके उचित उपयोग द्वारा प्रजा को लाभ पहुँचाया जाता था। तथा राजा किसी प्रकार, कोई कार्य बिना मंत्रि-परिषद् की स्वीकृति के, करने में सर्वथा असमर्थ था।

१. आपस्तम्ब, २।१०,२६,१

२. दिव्यावदान, पृष्ठ ४३०

३. Rock Series VI (I. A. 1913, P. 242)

४. Epigraphia Indica VIII, 44 (Inscription Lines 16-17.)

मंत्रि-परिषद् के मंत्रियों की संख्या सदा बदलती रही है और राजनीति-विज्ञान-विशारदों ने अपनी-अपनी इच्छा, आवश्यकता और अनुभव के अनुसार इसके संबंध में अलग-अलग राय दी है। नीति-वाक्यामृत में लिखा है—

'एकोऽन्निरवग्रहश्चरति मुह्यति च कार्यकृच्छ्रेषु।'
द्वावपि मन्त्रिणौ न कर्त्तव्यौ तौ संहतौ चरन्तौ भक्षयन्तौ गृहीतौ।
च विनाशयतः तत्र पञ्च सप्त वा मंत्रिणः कार्याः।'

दशम अध्याय—

भावार्थ यह है कि एक व दो मंत्री नहीं करना चाहिए, एक व दो से राज्य का विनाश होता है। अतएव तीन, पाँच व सात मंत्री होना ही ठीक और लाभदायक है। इसमें विषम संख्या रखने का उद्देश्य यह मालूम होता है कि कोई भी प्रस्ताव बहुमत से तय हो जाया करे और सम-मत के कारण झंझट न बढ़े। कौटिल्य अपने अर्थ-शास्त्र में लिखते हैं कि मनु-श्रेणी के विद्वानों का मत है कि मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या १२ होनी चाहिए। बृहस्पति के पक्षपाती १६, एवं उशनस् के अनुयायी २० अमात्यों का होना आवश्यक समझते हैं तथा मेरा (कौटिल्य का) विचार है कि अपने सामर्थ्य एवं ज़रूरत के अनुसार मंत्रि-परिषद् के सदस्यों की संख्या निर्धारित करनी चाहिए[1]। महाभारत में चार ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय, इक्कीस वैश्य, तीन शूद्र और एक सूत, अर्थात् कुल ३७ व्यक्तियों की मंत्रि-परिषद् होने की बात लिखी है[2]। परंतु, वहीं पर यह भी लिखा है कि चार ब्राह्मण, तीन शूद्र और एक सूत अर्थात् कुल आठ प्रधान पुरुषों को ही अधिक प्रधानता दी जानी चाहिए। इस चुनाव में सब वर्णों के लोगों को उनके हित और संख्या को ध्यान में रखते हुए स्थान दिया गया है। मनु ने सात व आठ मंत्री रखने को कहा है[3] और शुक्राचार्य ने भी

१. अर्थ-शास्त्र, अधिकरण १, प्रक० ११.

२. महाभारत शान्ति-पर्व, अध्याय ८५, श्लो० ७-११.

३. मनु०, अध्याय ७, श्लोक ५४.

मंत्रि-परिषद् में आठ ही मंत्री रखने का पक्ष लिया है[1]। इस ज़माने में भी छत्रपति शिवाजी महाराज ने बहुत सोच-विचार कर भारत की उसी प्राचीन आदर्श-शासन-पद्धति का अनुकरण करते हुए 'अष्ट प्रधान' का मंत्रि-मंडल बनाया था। उपर्युक्त आचार्यों के मतों से यही ज्ञात होता है कि अधिकतर राजनीतिज्ञ आठ मंत्रियों की ही मंत्रि-परिषद् बनाने के पक्षपाती थे। साथ ही शुक्राचार्य जहाँ स्वयं आठ मंत्रियों के पक्ष में हैं वहाँ शुक्र-नीति में निम्न-लिखित दस प्रकार के मंत्रियों का भी उल्लेख करते हैं[2]— :

१—सचिव (युद्ध-मंत्री)

२—पण्डितामात्य (क़ानून-विभाग का मंत्री Law member)

३—मंत्री (स्वराष्ट्र-सचिव Home member)

४—प्रधान (मंत्रि-मंडल का सभापति)

५—सुमन्त्र (अर्थ-सदस्य Finance member)

६—अमात्य (कृषि-मंत्री)

७—प्राड्विवाक (न्याय-मंत्री)

८—प्रतिनिधि (प्रतिनिधि)

९—पुरोहित (धर्माध्यक्ष)

१०—दूत (पर-राष्ट्र-सचिव Foreign minister)

कई ग्रंथकारों ने उपर्युक्त पहले आठ मंत्रियों को ही माना है। इन दस मंत्रियों में एक जो 'प्रतिनिधि' है, उसके विषय में कहीं कुछ साफ़-साफ़ नहीं मालूम होता कि उसके सुपुर्द क्या काम होता था, उसका नाम 'प्रतिनिधि' क्यों था अथवा अगर वह प्रतिनिधि-स्वरूप में वहाँ रहता था तो किसका प्रतिनिधि होकर? परंतु इतना अवश्य मालूम होता है कि मंत्रि-परिषद् में उसका मुख्य स्थान था और राजा पर उसका इतना प्रभाव था कि कोई भी कार्य, चाहे वह राजा के मन के मुवाफ़िक़ हो या न हो, वह राजा से अगर चाहता था, तो करवा लेता था। इससे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि वह राजा का प्रतिनिधि नहीं था, और साथ ही यह अनुमान भी किया जा सकता है कि वह 'प्रतिनिधि' जिसका राजा पर इतना प्रभाव था और जो मंत्रि-परिषद् का सर्वोत्कृष्ट सदस्य समझा जाता था, या तो वैसे ही प्रभावशाली पौर-जनपद का अथवा उसीके जैसा बलशाली मंत्रि-परिषद् का प्रतिनिधि हो सकता है, जो परिषद् के प्रतिनिधि के रूप में राजा से सलाह-मशविरा करता होगा और प्रतिनिधित्व के दायित्व को समुचित रूप से समझने एवं उसे पालन करने के कारण ही संभवतः उस पद का नाम भी 'प्रतिनिधि' रख दिया गया था।

युवराज का भी शासन-सूत्र सँभालने में प्रधान स्थान था। मंत्रि-परिषद् के उपर्युक्त सदस्यों में तो उसकी गणना नहीं होती थी, परन्तु वह भी राजा का सहायक समझा जाता था। राजा अपने पुत्र, पुत्री के पुत्र, अनुज, भतीजे और दत्तक पुत्र को युवराज बनाता था[1]। युवराज की मुहर आदि अलग होती थी और युवराज का अमात्य भी अलग ही होता था, जिसे कुमारामात्य कहते थे। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि अशोक का पुत्र उत्तरापथ की राजधानी तक्षशिला में प्रांतीय शासक था और उसका पौत्र 'संप्रति' युवराज था[2]। बौद्ध-साहित्य से हमें यह भी ज्ञात होता है कि अशोक भी एक बार तक्षशिला और दूसरी बार उज्जैन का प्रांतीय शासक बनाया गया था,[3] जिससे समझा जा सकता है कि युवराज का शासन में कहाँ तक हाथ रहता था। युवराज दरबार में एक शासक के समान सम्मानित होता था। भट्ट-भास्कर ने युवराज को 'कुमाराध्यक्ष' कहते हुए लिखा है कि शासन की लगाम थामनेवाला वही होता था[4]।

मंत्रि-परिषद् के विभिन्न पदाधिकारियों के नाम समय-समय पर बदलते रहे हैं। मानव-धर्म-शास्त्र में मंत्रियों के लिये 'सचिव'[5] और अर्थ-शास्त्र में 'अमात्य' आता है।

---

१. अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः कैश्चित्स्मृतः सदा ।
सुमन्त्रः पण्डितो मन्त्री प्रधानः सचिवस्तथा ।
अमात्यः प्राड्विवाकश्च तथा प्रतिनिधिः स्मृतः ।
शुक्रनी०, अ० २, श्लो० ७१-७२.

२. शुक्र-नीति, अध्याय २, श्लो० ८४-८७.

१. स्वकनिष्ठं पितृव्यं वानुजं वाग्रजसम्भवम् ।
पुत्रं पुत्रीकृतं दत्तं यौवराज्येऽभिषेचयेत् ।
क्रमादभावे दौहित्रं स्वश्रियं वा नियोजयेत् ।
शुक्र०, अध्याय २, श्लो० १४.

२. दिव्यावदान पृष्ठ ४३०

३. दिव्यावदान पृष्ठ ३७२, महावंश-खंड ४, ६.

४. हिंदू-पालिटी, द्वितीय-खंड, पाद-नोट, पृ० १८.
'रश्मिभिर्नियन्ता कुमाराध्यक्ष इत्यन्ते ।'

५. मनु०, अध्याय ७, श्लो० ५४.

रामायण[1] में मंत्रियों के लिये साधारण अर्थ में सचिव ही आया है। अर्थ-शास्त्र में प्रधान मंत्री को मन्त्रिन् (मंत्री) कहा है और उसके बाद क्रमशः पुरोहित, सेनापति और युवराज का स्थान है[2]। मनु ने प्रधान मंत्री को अमात्य कहा है और लिखा है कि प्रधान मंत्री ब्राह्मण ही[3] होना चाहिए। पाली-साहित्य द्वारा ज्ञात होता है कि अजातशत्रु के प्रधान मंत्री को 'अग्रमहामात्र' कहते थे और दिव्यावदान में अशोक के प्रधान मंत्री राधगुप्त को 'अमात्य' कहा गया है। शुक्र-नीति में इसके लिये 'मंत्रिन्' और गुप्त-काल में 'महादण्डनायक' शब्द व्यवहृत होता पाया गया है। मानव-धर्म-शास्त्र में पुरोहित शब्द नहीं आता, परन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि उन आठ मंत्रियों में ही वह भी आ जाता होगा। नाम तो प्रायः सब जगह 'पुरोहित' ही आता है परन्तु अधिकार और कर्तव्यों में अन्तर अवश्य पाया जाता है। मनु ने पर-राष्ट्र-सचिव के लिये 'दूत'[4] (इसी का काम सन्धि करना और लड़ाई छेड़ना भी था) लिखा है। रामायण (२।१००,३५) और शुक्र-नीति में भी यही नाम पाया जाता है, परंतु गुप्त राजाओं के लेखों एवं बृहस्पति-सूत्र में इसके लिये 'सांधिविग्रहिक' शब्द आता है। आश्चर्य के साथ लिखना पड़ता है कि कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में इसका कुछ भी उल्लेख नहीं है। मौर्य-साम्राज्य में यह कार्य विशेष महत्त्व रखता था, क्योंकि यह इतिहास-प्रेमी पाठकों से छिपा नहीं है कि चंद्रगुप्त और बिंदुसार का ग्रीस, सीरिया और मिश्र से खासा संबंध था और वहाँ के राजाओं ने भारत के इन मौर्य राजाओं के यहाँ मेगास्थनीज़, डायमाकोश और डायनिशियस नामक अपने दूतों को भेजा था। पर संभव है कि यह कार्य भी 'मंत्रिन्' (प्रधान-मंत्री) को ही करना पड़ता रहा हो, जिसके कारण कौटिल्य ने इसका अलग उल्लेख नहीं किया है। मनु के द्वारा ज्ञात होता है कि अर्थ-सचिव का काम राजा स्वयं करता था[5]। शुक्र-नीति

१. युद्ध-कांड १३०, श्लो० १७-२०.

२. अर्थ-शास्त्र, अधिकरण ५, अध्याय २, प्रक० ६१.

३. मनु०, अध्याय ७, श्लो० ५८.

४. दूते सन्धिविपर्ययौ।

दूत एव हि सन्धत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।

मनु०, अ० ७, श्लो० ६५-६६.

५. नृपतौ कोशराष्ट्रे च—मनु०, अ० ७, श्लो० ६५.

में इसे 'सुमंत्र' कहा है और इसके लिये कहीं-कहीं 'अर्थ-संचय-कृत' शब्द भी आता है। सेनापति को युद्ध-मंत्री कह सकते हैं। यद्यपि शुक्र-नीति में उसे 'सचिव' कहा गया है। रामायण[1] में सेनापति (युद्ध-क्षेत्र में) और युद्ध-मंत्री (मंत्रि-परिषद् में) एक ही व्यक्ति को माना गया है। परंतु कौटिल्य-काल में दोनों पद अलग-अलग थे और इस पद को अधिक प्रधानता थी। शुक्र-नीति में यह भी पाया जाता है कि आजकल भी सिविल सर्विस के समान उस समय भी उच्च पदाधिकारी प्रायः एक पद से दूसरे पद पर बदले जाते थे[2]। उपर्युक्त पाँच मंत्रियों के साथ युवराज को भी मिलाकर प्रायः मंत्रि-परिषद् व शासन-सभा बना करती थी। वैदिक-काल और उसके कुछ बाद के समय में युवराज का उल्लेख नहीं पाया जाता और दूत का भी मंत्री के रूप में कहीं ज़िक्र नहीं आता है। परंतु यह संभव हो सकता है कि वैदिक-काल के 'सूत' को आगे के 'दूत' का कार्य करना पड़ता रहा हो। शेष मंत्री उस समय 'रत्नी' के रूप में विद्यमान थे।

प्रायः ऐसा भी पाया जाता है कि मंत्रि-परिषद् के अंतर्गत एक 'अंतरंग-सभा' (Inner body) होती थी और इसके सदस्यों की संख्या (अर्थ-शास्त्र के अनुसार) तीन व चार होती थी। महाभारत में तीन व पाँच लिखा है। विशालाक्ष ने एक मंत्री का विरोध किया है और रामायण में भी यही पाया जाता है कि मंत्री न तो एक हो और न अनेक, और इस प्रकार तीन व इससे दो-एक और अधिक संख्या ही इसके लिये निश्चित-सी हो गई तथा अधिकतर विषम संख्या ही रखी जाती थी, जैसा कि पहले 'नीति-वाक्यामृत' से 'एको मंत्री न कर्तव्यः। एको निरवग्रहश्चरति......' उद्धृत करके दिखाया गया है। मित्र मिश्र के 'वीर-मित्रोदय' में भी मंत्रियों की संख्या विषम रखने ही पर ज़ोर दिया गया[3] है। उपर्युक्त अंतरंग-सभा का असली मतलब यह मालूम होता है कि राजा उन्हीं मंत्रियों से विशेष रूप से सलाह-मशविरा किया करता रहा होगा, क्योंकि अधिक आदमियों में प्रायः मत-भेद हो जाया करता है और कोई कार्य शीघ्र

१. रामायण, २।१००, ३१.

२. शुक्र-नीति, अध्याय २, श्लो० १०७-११३.

३. संख्यावैषम्यं तु भूयोऽल्पविरोधे भूयसां स्यात्.

वीर-मित्रोदय पृ० ३५

निश्चित नहीं हो पाता । आजकल भी वैसी अंतरंग-सभाएँ तो नहीं हैं, पर कुछ-कुछ कार्य-कारिणी-समिति से अधिकतर, उपसमितियों से, उक्त अंतरंग-सभा की तुलना कर सकते हैं । उपर्युक्त बातों को विचारने से ऐसा स्पष्ट होता है कि मंत्री वह है जो राज्य की नीति स्थिर करता एवं उसके अनुसार राजा को सदा मंत्र—सम्मति व राय—दिया करता था। अंतरंग-सभा के मंत्रियों को रामायण[1] में 'मंत्रधार' और महाभारत[2] में 'मंत्रग्राह' कहा है। अशोक के 'रजुक-मंत्री' जिन्हें प्रजा पर शासन करने, दंड देने, अनुग्रह तथा अभिहार प्रदान करने का पूरा अधिकार प्राप्त था। वे इन मंत्रधारों व मंत्रग्राहों के समान ही ज्ञात होते हैं[3]।

मंत्रि-परिषद् और अंतरंग-सभा के अतिरिक्त एक और सभा का ज़िक्र भी पाया जाता था, जिसे 'राज्य-परिषद्' (Council of State) कह सकते हैं । इसमें उपर्युक्त अंतरंग-सभा के सदस्य, मंत्रि-परिषद् के सदस्य, दूसरे-दूसरे पदाधिकारी और कुछ ग़ैर-सरकारी सदस्य होते थे। इसके सभासदों को संख्या कैबिनेट (मंत्रि-परिषद्) के सदस्यों से अधिक अर्थात् १६, २० वा ३२ होती थी। संभव है, इसमें जो ग़ैर-सरकारी सदस्य होते थे, वे पौर-जानपद के प्रतिनिधि हों। इसके सिवा प्राचीन पुस्तकों में एक प्रकार के और समुदाय व समिति का उल्लेख पाया जाता है, जिन्हें 'तीर्थ' कहते थे। रामायण में तो इन्हें 'तीर्थ' ही कहा गया है, परंतु कौटिल्य[4] ने 'महा अमात्य' करके लिखा है। इनकी संख्या १८ बतलाई गई है और इनमें से प्रत्येक एक-एक विभाग का अध्यक्ष होता था। इनके नाम निम्न-लिखित हैं—

१—मंत्रिन् (मंत्री)
२—पुरोहित
३—सेनापति (युद्ध-मंत्री)
४—युवराज
५—दौवारिक (राज-महल का रक्षकाध्यक्ष)
६—अंतर्वासिक (अंतःपुर का रक्षक)
७—प्रशास्तृ (जेल-विभाग का अध्यक्ष)
८—समाहर्तृ (कर का अध्यक्ष)
९—सन्निधातृ (कोषाध्यक्ष)
१०—प्रदेष्टृ (कमिश्नर)
११—नायक (समर-क्षेत्र का सेनापति)
१२—पौर (राजधानी का शासक व अध्यक्ष,—मेयर)
१३—व्यावहारिक (जज)
१४—कर्मांतिक (खान तथा टकसाल का अध्यक्ष)
१५—मंत्रिपरिषदाध्यक्ष
१६—दंडपाल (सैनिक सामान का संग्रहकर्ता)
१७—(क)दुर्गपाल } (दुर्गों की तथा सीमा की रक्षा, ये
(ख)अंतपाल } दोनों काम एक ही व्यक्ति करता था)
१८—आटविपाल (जंगल का रक्षक व अध्यक्ष)

ये नाम अर्थ-शास्त्र के अनुसार दिए गए हैं । आधुनिक लेखक गोविंदराज ने इनमें कई नामों का अर्थ दूसरा ही किया है और कई नाम बदल भी दिए हैं । इन्होंने एक नया आफ़िसर धर्माध्यक्ष का भी ज़िक्र किया है । अशोक के लेखों से गोविंदराज के धर्माध्यक्ष-पद की पुष्टि अवश्य होती है ; क्योंकि अशोक ने अपने समय में धर्माध्यक्ष की नियुक्ति की थी । दूसरे लेखकों में भी कुछ ने इन पदाधिकारियों के नामों में परिवर्तन किया है, परंतु उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है । यहाँ पर पाठकों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि ये पदाधिकारी मंत्रि-परिषद् से बाहर थे, अर्थात् मंत्रि-परिषद् की मेम्बरी इन्हें प्राप्त नहीं हो सकती थी। आजकल भी जैसे भारत-वर्ष के शासन-विधान की यह व्यवस्था है कि कोई भी सरकारी नौकर व्यवस्थापक सभा का सदस्य नहीं हो सकता, संभवतः उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी यह नियम था । ये 'तीर्थ' एक एक विभाग के अध्यक्ष (Legal Officers) होते थे और उसी विभाग के कार्य-संपादन-संबंधी पूरी ज़िम्मेदारी उसी की होती थी। नीति-वाक्यामृत के द्वितीय अध्याय में लिखा भी है कि 'धर्मसमवायिनः कार्यसमवायिनश्च पुरुषाः तीर्थम्' अर्थात् धर्म और कार्य-संपादन करानेवाला पुरुष ही 'तीर्थ' है।

---

१. रामायण, अयोध्या-कांड १००,१६.

२. मन्त्रग्राहाहिराजस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः ;
मंत्रसंहननो राजा मंत्राङ्गानीतरे जनाः ।
महाभारत, शान्ति०, अ० ८३, श्लो० ५०

३. Pillar Proclamation IV.

४. अर्थ-शास्त्र अधिक० १, अध्याय १२।८

पाली-ग्रंथों, रामायण और शुक्र-नीति में मंत्रियों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है[1]। इन विभागों को उत्तम, मध्यम और अधम कहा गया है। अर्थ-शास्त्र ने उपर्युक्त १८ तीर्थों को वेतन देने के हिसाब से तीन भागों में बाँटा है और आपस्तंब में लिखा है कि राजा का वेतन गुरुओं (आचार्य, सेनापति और प्र० मंत्री) से अधिक नहीं होना चाहिए और कौटिल्य ने लिखा है कि राजा को अपने समान गुणी आफ़िसरों के वेतन से तिगुना वेतन मिलना चाहिए[3]। ये समान विद्यावाले प्रधान-मंत्री और सेनापति जैसे ही आफ़िसर हो सकते हैं और इस प्रकार दोनों नीतिकारों का मत मिल जाता है; क्योंकि आपस्तंब में वर्णित गुरु का अर्थ आचार्य, सेनापति और प्रधान-मंत्री तीनों ही है। तात्पर्य यह है कि उस समय राजा का वेतन १,४४,००० पण (चाँदी का सिक्का) वार्षिक होता था। गुरु और अमात्यों (प्रथम श्रेणी के मंत्रियों) का वेतन ४८,००० पण था। राजा की माता और राजा की महिषी (अभिषिक्त रानी) को भी यही रकम मिलती थी। द्वितीय श्रेणी के मंत्रियों को २४,००० पण और तृतीय श्रेणी के मंत्रियों को १२,००० पण वार्षिक मिला करते थे।

पाठकप्रवर, आप लोगों के सामने प्राचीन भारत के मंत्रि-परिषद् के संगठन, मंत्रियों के विभिन्न नाम, उसके अवान्तर-विभाग तथा ऐसी और भी जो राजनैतिक संस्थाएँ होती थीं, उनका वर्णन किया गया। इससे आपको प्राचीन भारत की आदर्श शासन-पद्धति का पता लगेगा और आप जानेंगे कि हमारे उस समय के मंत्रि-परिषद् के मंत्री निरे भोंदू और नाममात्र के ही मंत्री नहीं होते थे, बल्कि उन्हें अपने कर्तव्यों एवं अधिकारों का पूरा-पूरा ज्ञान होता था और राजनीति के प्रत्येक पहलू पर, सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों पर, उसकी गहराई तक पहुँच, गंभीरता-पूर्वक विचार करते थे। उनके हृदय में राजा का पक्षपात और चापलूसी करने का भाव भी नहीं उठता था और न उन्हें उनका व्यक्ति-गत स्वार्थ ही उनके कर्तव्य से च्युत कर सकता था और प्रजा-हित तथा उसकी उन्नति एवं रक्षा का ध्यान तो सदा राजा एवं सभी मंत्रियों और राज-कर्मचारियों की आँखों के सामने प्रधान-रूप से रहता ही था। यह थी हमारे प्राचीन भारत की शासन-पद्धति, और ऐसा था हमारे मंत्रि-परिषदों का संगठन। मंत्रि-परिषद्, राज्य-परिषद्, अंतरंग-सभा और तीर्थ-समुदाय, इन सबों का अस्तित्व साफ़ प्रकट करता है कि हमारा प्राचीन शासन-विधान पूर्ण था, आदर्श था और उन्नत एवं श्रेष्ठ था। पाठकों के सामने, हम अगले लेख में गवर्नमेंट में मंत्रियों का कहाँ तक हाथ था, मंत्रि-परिषद् का संचालन कैसे होता था, आदि बातों पर प्रकाश डालने की कोशिश करेंगे।

देवव्रत शास्त्री

---

१. रामा०, अयोध्या-कांड, स० १००, श्लो० २५-२६—मुख्य, मध्यम, जघन्य। शुक्र-नीति, अध्याय २। १०९-११०

२. गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत्। आप० २।९,२५,१०

३. समानविद्येभ्यस्त्रिगुणवेतनो राजा। अर्थ० ५। ३। ९१.

घनश्याम

(१)

श्यामल है नभ श्याम महीतल,
श्याम महीरुह भी अभिराम हैं;
श्यामल नीरधि-नीर मनोहर,
नीरद नीरज श्याम ललाम हैं;
श्यामल हैं वन-बाग सरोवर,
श्यामल शैल महा छवि-धाम है;
कौन भला कह है सकता,
इसमें उसमें किसमें घनश्याम हैं।

(२)

हों अथवा वह हों न कहीं,
पर हाँ सबके मन में घनश्याम हैं;
सुंदर श्याम सरोरुह से,
छवि-धाम विलोचन में घनश्याम हैं।
हैं करते अविराम विहार,
छिपे उर-कानन में घनश्याम हैं;
जीवनदायक हैं घन के सम,
जीवन जीवन में घनश्याम हैं।

गोपालशरणसिंह

ईसा का आशीर्वाद !

ये और वे एक ही बिरादरी के हैं, पर ये आज
'नट' हैं और वे 'साहब लोग' !
ईसा मसीह का आशीर्वाद !

नौकर की तलाश

जरा होश से पढ़िए, यह नौकरी की तलाश नहीं, नौकर की तलाश है। सैकड़ों मिन्नतें मानकर, दो जोड़े जूते तोड़कर, दस अयोग्य पुरुषों की चापलूसी करके कई रुपए बहरों को लुटाकर, कई चपरासी और प्यादों की घुड़कियाँ सहकर कई दर्जन लिफ़ाफ़े ख़र्च करके कई पैसों का काग़ज़ फूँककर साठ रुपए की एक नौकरी मिली है। सो भला 'मैं नौकरी की तलाश'-शीर्षक से कुछ लिखकर क्यों अपशकुन करूँ। कहीं मेरी भार्या सुन ले कि मैं नौकरी की खोज में हूँ, तो आप समर्पित के भाव को पढ़ें। मैं तो दुर्भाग्य के कारण शक्की हो गया हूँ, लेकिन वह तो स्वभाव से, परम्परा से, बचपन की शिक्षा से, पक्की मिथ्यावादिनी है। प्रातःकाल बिल्ली देख पड़े या कंवर नज़र आ जाय, बस फिर क्या, वहीं सिर पीट लेगी और चिल्लाना आरंभ कर देगी। "हाय आज न-जाने क्या विपत्ति आनेवाली है।" दाईं आँख फड़के, तो वह चिंतातुर है, कोई छींक मार दे, तो वह फ़िक्र में डूबी है, ब्राह्मण और धोबी से तो उसको जन्म का वैर है। कौवे को तो घर में फटकने नहीं देती। कहारिन से उसे विशेष घृणा है। हाँ, मेहतरानी को यदि सबेरे-सबेरे देख भी ले, तो कुछ मुज़ायका नहीं। यह तो हमारे क़ाबू से बाहर की चीज़ हुई। क़ाबू की चीज़ है मेरी ज़बान, वह स्वयं चाहे बात-बात पर "हत खसम खाया" कहे, वह अपशकुन नहीं; किंतु मेरे मुँह से ·········मगर यह तो दूसरा क़िस्सा है, यहाँ इसका सरसरी ज़िक्र इसलिये आ गया कि यह जो प्रतिदिन मेरे और मेरी स्त्री के लड़ाई-झगड़े होते हैं, चाहे इनका बाह्य कारण मेरी दुष्टता हो, चाहे देवीजी की सहनशीलता और कोमल-हृदयता। किंतु वास्तविक कारण न मेरा दोष है, न मेरी सहधर्मिणी का। दोष है अपशकुनों का और वे उत्पन्न होते हैं, नौकर के सुबह-सुबह मुँह लगने से, चाहे मैं उसके मुँह लगूँ, चाहे मेरी पत्नी।

अच्छा, यदि यही मूल कारण है, तो हम नौकर को बदल क्यों नहीं देते अथवा एक दूसरे की बातों का सहन क्यों नहीं कर लेते? जी हाँ! सहन क्यों नहीं कर लेते; आप कहे जाइए। आप लोग तो कटाक्ष करने और आलोचना करने में बड़े कुशल हैं; किंतु जब किसी प्रश्न को ठीक-ठीक हल करना पड़े, तो बग़लें झाँकने लगे यह कहना तो बहुत सहल है। अजी, ताली एक हाथ से नहीं बजती, मियाँ बीबी दोनों समान अपराधी हैं। एक पार्टी दब जाय या एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल दे या फ़िलासफ़ी का आश्रय ले या यह कि क़िस्मत को कोस कर रह जाय या समाज की ऐसी-तैसी कहकर तथा नाई या पुरोहित को जिसने विवाह कराया है, उसे गालियाँ देकर अपनी जीभ को पवित्र कर ले, किंतु मुझे यह तो बताइए कि जिसने यह सब कर देखे हों और फिर भी घर में आए दिन नया झगड़ा-रगड़ा उठ खड़ा होता हो, वह क्या करे!

पत्नी को तलाक़ देने का दस्तूर हमारे यहाँ नहीं। यदि डॉक्टर गौड़ की कृपा से यह क़ानून हो जाय, तो क्या कहना। किंतु हमारे धर्म-रक्षक नेता ऐसा क्यों होने देंगे। उन्हें तो अपनी स्त्रियों से चौबीस में से १८ घंटे वास्ता पड़ता नहीं, जो आटे-दाल का भाव मालूम हो। आज देहली में मेहमान हैं, तो कल कलकत्ते के मारवाड़ियों की दावत खा रहे हैं। यदि घर ही पर हैं, तो बीसियों मिलने-जुलनेवालों से घिरे रहते हैं, स्त्री जाने और नौकर। फिर संभव है, उन्हें सभी मंगलमय नौकर मिल जाते होंगे। उन्हें क्या पड़ी कि हमारी समस्याओं को हल करते फिरें। फिर मनु भगवान् नहीं मानते। यह हो सकता है कि पत्नी की ओर से पति विरक्त हो जाय। किंतु यह और भी भयंकर मामला है।

आप कहेंगे यदि नौकर के कारण यह सारी अशांति है, तो नौकर बदल क्यों नहीं देते? हेर-फेरकर वही बात आ गई। अब सुनिए—मेरे पास यह अठारहवाँ नौकर है। नौकरी करते हुए १४ मास गुज़रे हैं। कारण? कारण बतलाता तो हूँ—पर शर्त यह है कि सुनकर आप सहानुभूति प्रकट करें और मेरे संकट को हरने में सहायता दें। कोई नौकर ढंग का न मिला, जितने मिले सभी अमंगल के मूल।

हाँ, एक बात हो सकती है—क्यों न नौकर रखना छोड़ दूँ? पर श्रीमतीजी को यह बात मंज़ूर नहीं। वह फ़रमाती हैं, और है भी ऐसा ही, भला नौकर न रक्खें, तो

गृहस्थ-जीवन ही क्या है ? फिर आज दो-दो कौड़ी के आदमी नौकर रखते हैं और मेरी गृहलक्ष्मी भगवान् की कृपा से अच्छे घराने की है, जहाँ सच जानिए बाप से लेकर माँ तक ने उसकी नौकरी बजाई है। अस्तु, इसकी तो चर्चा ही न कीजिए। जब मुझे यह प्रूफ़ पढ़ने की नौकरी मिली थी, तो मैंने ५ या ६ दिन में ही गृहिणी को कानपुर से लाकर एक नौकर रख लिया था। उसने तीन रुपए और खाना स्वीकार कर लिए थे। जाड़े की ऋतु थी। पहिले ही दिन मेरी स्त्री ने रज़ाई में मुँह लपेटे हुए कहा—"आज मेरी तबियत ठीक नहीं है। नौकर और आप चाय बना लीजिए और उसे चाय बनाना भी सिखा दीजिए, मैं अभी और सोऊँगी।" उस वक़्त कोई ६ बजे होंगे। बाबू लोगों की तो स्कूल के दिनों की पड़ी हुई आदत है कि ज़रा देर से उठते हैं और वर्तमान सभ्यता का यह चिह्न भी है, उस पर आज रविवार होने के कारण मैं और भी देर करके उठा। मैं उठकर सीधा चौके में गया। नौकर से आमना-सामना

जान से ही मार डालूँगा

हुआ। वह आग जला रहा था। बोला—"राम-राम साहब" अब आप जानिए, मैं शैव मत का हूँ। मुझे जय शंकर चाहिए। मैंने उसे ख़ूब डाटा। और, जब मैं चाय बनाने लगा, मेरे हाथ से चायदानी का ढकना गिरकर टूट गया। बस कुछ न पूछिए, श्रीमतीजी नीचे उतर आईं। उन्होंने बहुत कहा और मैंने बहुत सुना। जब नौबत यहाँ तक पहुँची—"देखे हैं तुमसे निखट्टू ६ महीने जूतियाँ चटखाईं तो नौकरी मिली। अब जो चार पैसे आने लगे, तो यह दूने-डेवढ़े का माल फूटे हाथों से तोड़-ताड़ डालो।" मुझसे न रहा गया, आख़िर मर्द था, कहाँ तक सहन करता, ज़ोर से एक चपत जमाई, गला पकड़कर शेर की तरह गरज के कहा—"तू ने एक शब्द भी और मुँह से निकाला और मैंने तेरी गरदन मरोड़ी, जान से ही मार डालूँगा।"

जान से तो क्या मारता, धमकी-ही-धमकी थी। मेरे पास इतना धन कहाँ रक्खा है कि किसी प्रसिद्ध वकील को मोटी भारी थैली पेश करूँ। यहाँ तो सिपाही-प्यादे को चाय-पानी, सिगरेट, तंबाकू के लिये पैसे देने को भी नहीं। पुलिस की वर्दी देखकर दम निकल आता है। जान से क्या मारना, श्रीमती के मैकेवाले मुझे यों ही जीता छोड़ें, तो कृपा है। वह तंबाकू बेचते हैं, तो क्या इसी गयाजी के तंबाकू में से कानपुर में बैठे-बैठे हज़ारों रुपए कमा लिए हैं।

(२)

पहला नौकर उसके ६ या ७ रोज़ बाद मैंने डिसमिस कर दिया। गृहिणी को उसका कारण न बताया। दूसरा नौकर रक्खा। उस अभागे के माथे पर कभी चोट आने के कारण चंद्रमा के रूप का उभरा हुआ मांस था। अब आप जानिए दाग़ा हुआ पुरुष और फिर माथे पर का अमंगलकारी न होगा, तो क्या होगा ? पर करता क्या अपनी प्रिय भार्या से बदला लेना था। मैं जब दूसरी सुबह उठा, तो सीधा नीचे न गया। कमरे के बरामदे में खड़ा होकर इधर-उधर नज़र दौड़ाने लगा कि कोई भला आदमी दीख पड़े। उस दिन मुझे मन्नू सुनार हमारा पड़ोसी लोटा लेकर शौच जाते नज़र आया। किताब पढ़ने के बहाने मैं तो ऊपर बरामदे ही में रहा और मेरी स्त्री, जिसने चायदानी का ढकन टूटने के दिन से मेरा किसी बर्तन को छूना बंद कर दिया था, नीचे गई

और नए नौकर के मुँह लगी। अब करतार के रंग देखिए। उसी शाम को हमको चिट्ठी मिली कि हमारे साले की इकलौती लड़की जो दो वर्ष की थी, सख़्त बीमार है। मैं अपनी स्त्री को शीघ्र कानपुर भेज दूँ। इस पर ख़ूब ले-दे हुई। कई प्रकार के श्लोक और दोहे सुनने पड़े। जो उसके मुँह में आया, उसने बका। प्रश्न था, मैं उसे अकेली कैसे भेज दूँ, क्योंकि मुझे छुट्टी नहीं मिलती। हिंदोस्तानी स्वामियों से भगवान् बचाए। फिर भेजें भी, तो रुपए कहाँ से लाएँ? अभी एक भी तनख़्वाह नहीं पाई, जो कुछ था उसमें से किराया मकान पेशगी दे-दिलाकर कुल ५ या ६ रुपए बचे थे। जाने में कम-से-कम १५ रुपए का ख़र्च था। उसने बहुत कुछ बुरा-भला कहा, पर अब की मैंने मारा नहीं, केवल गाली-गलौज से चित्त को शांत किया। तीसरे दिन सूचना मिली कि वह लड़की मर गई है। अब तो श्रीमती को शक-सा हो गया कि इस दुर्भाग्य का कारण नया नौकर ही है। उसे भी निकाल दिया। कोई बीस दिन के पश्चात् तीसरा नौकर आया, तब तक श्रीमतीजी मैके में थीं और मैं ही चूल्हा फूँकता रहा था। आई तो नौकर भी आया, किंतु वह दुष्ट भेंगा था। हाँ, चतुर अवश्य था। हमने उसे अपने घर में एक सप्ताह तक बिला तनख़्वाह के रक्खा, मगर हमारी आशाओं पर पानी फिर के ही रहा। भला, काने और भेंगे अमंगलकारी न हों, तो कौन हो? सात दिन में कोई १० लड़ाइयाँ हुईं। इनका कारण था, मेरा घर में देर करके आना। दफ़्तर में काम अधिक था, नित्य सूर्य वहीं अस्त हो जाता था। वह कहती थीं कि यहाँ क्या मुझे गुंडों के लिये लाके रक्खा है? क्या मैं नौकर से बातचीत किया करूँ? क्या मुझे काल-कोठरी में बंद करने को लाए हो? राम जाने, इस ब्याह से तो मैं कुँआरी ही भली थी। तुम तो दिन-भर सैरें उड़ाओ और मैं घर में खूँटी-सी बँधी रहूँ। ना, जी, ना, मुझे तो मैके भेज दो, निगोड़ी दो बातों को भी तरस-तरस जाती हूँ। किसी अपने का मुख देखने को नहीं मिलता। क्या मैं रंडी हूँ, जो दिन-भर बरामदे में बैठी हुई लोगों को देखा करूँ। जब मैं यह उत्तर देता—"भाई, नौकरी का मामला ठहरा। नौकर ही तो हैं, जब तक वह मालिक चाहेगा नौकरी बजानी पड़ेगी। हम तो उनके भी नौकर, तेरे भी नौकर, अगर ऐसा ही है, तो नौकरी छोड़ देता हूँ।" इस पर वह भड़क उठती। "छोड़ दो, छोड़ दो, मेरी जूती से छोड़ दो, और साधू बन जाओ माँगो खाओ। फिर मुझ अभागिनी को काहे को परनाया था। मुझे क्यों बदनाम किया है, मेरे गले में क्यों फाँसी डाली है!" मैं कहना तो चाहता था कि 'डाली नहीं डालने का विचार है' पर पी गया। फिर मेरी श्रीमतीजी कहतीं—"वह मुए काम कराते हैं, तो अधिक रुपए क्यों नहीं देते।" मैं उत्तर देता—"उनकी इच्छा।" तब वे फरमातीं—"अजी इच्छा-विच्छा कुछ नहीं, तुम्हारी ज़बान न खुलती होगी।" मैं निरुत्तर हो जाता। नौकर को बदला और एक कहारिन की लड़की को रक्खा। वह आठ बजे आती थी, और रात के आठ बजे चली जाती थी। वह केवल ४) लेती थी। वह कोई ११ वर्ष की थी, १५ रोज़ से अधिक वह न रह सकी। चूँकि वह देर में आती थी, अतएव पति-पत्नी एक दूसरे के मुँह लगते। इन दिनों कहारिन बेचारी की शामत आती रही, रोज़ पिटी जाती। कभी तो इसलिये कि बासन भली प्रकार साफ़ नहीं हुए। कभी इसलिये कि मुई सौदा-सुलफ़ अच्छा नहीं लाती, पैसे खा जाती होगी। कभी इस पर कि कल-मुही खान-पान की वस्तुओं को नज़र लगा देती। तभी तो कई दिनों से गृहलक्ष्मी के सर में दर्द हो रहा था। कभी तो इसलिये कि बड़ी कुटनी है। इधर-उधर की कोई बात ही नहीं बताती। जब पूँछो यही कहती है—"मैं नहीं जानती।" इसी मुहल्ले की रहनेवाली और आसपास के सब घरानों से अपरिचित! इसे कौन माने? ख़ैर, मुझे इस बेचारी को दुःखित देखकर बहुत दया आती। अब मैं बीच बचाव करता, तो श्रीमतीजी मुझ पर टूट पड़तीं। "यह नौकरानी है, या मालिकन? तुम्हीं ने तो इसे सिर चढ़ा रक्खा है। क्यों न हो, छोकरी पर दिल आ गया होगा। लखनऊ ही तो ठहरा। दफ़्तर में कोई मुई मेम-वेम न होगी। लगे घर की कहारिन से दीदे फोड़ने।" अब कहिए, मैं इसका क्या उत्तर देता? क्या यह कहता—"नहीं मेरी जान, मैं तुझ पर वारी किसी और पर आँख डालूँ, तो मेरी आँखें फूटें। किसी और के ऐसे वचन सुनूँ, तो मेरे कान फूटें। और किसी से बारी में आते-जाते छू जाऊँ, तो मेरा बदन फूटे। मैं तो तुम्हीं पर सौ जान से, सौ ईमान से, सौ ख़फ़क़ान से, सौ अरमान से, सौ ध्यान से, फ़िदा हूँ। मुझे तो तुम्हीं से अनंत प्यार है। भला जो सौंदर्य तुममें है, वह इस मुई कहारिन में कहाँ। तुम्हारे अंग-अंग से इस भाँति माधुर्य, लालित्य, लावण्य फूट निकल रहा है, जैसे बढ़

के पेड़ से दूध। भला इस कलमुँही कल की बच्ची में यह बात कहाँ? यह तो सब कहना मैंने उचित न समझा, उस कहारिन को सोलहवें दिन अलग किया। कहारिन गई तो एक पंजाबी नौकर आया। वह हिंदोस्तानी ख़ूब जानता था। मेरे एक मित्र के पास नौकर रह चुका था। १३ या १४ वर्ष का सुंदर बालक था। बड़ा चतुर और बड़ा चापलूस। कभी ऊँची आँख तक न करता था। मैं समझा—चलो, छुट्टी हुई, रात-दिन की कलकल मिटी। क्या मालूम था कि एक नया गुल खिलनेवाला है। लंबा क़िस्सा है, संक्षेप में कहता हूँ। यह लौंडा परले दर्जे का जुआरी था। सूर्योदय से सूर्यास्त तक चवन्नी का तंबाकू फूँक देता था। सोहबत भी अच्छी न थी। उस दुष्ट ने प्रथम तो मेरी स्त्री को ताश खेलना सिखाया,

उस दुष्ट ने प्रथम तो मेरी स्त्री को ताश खेलना सिखाया

फिर एक-एक दो-दो पैसे ताश पर लगाना सिखा ही रहा था कि सारा भंडा फूट गया। तत्पश्चात् दो-चार छः रोज़ जो वह मेरे घर रहा, नाक में दम रहा। रोज़ ताने, रोज़ गालियों की बौछार, रोज़ पत्नी को बुख़ार। "मैं मर जाऊँगी, जो तुमने इस नौकर को निकाला। अब न जिऊँगी। बिचारा लड़का प्रातःकाल से संध्या तक दम नहीं लेता, कितनी मेहनत करता है, क्या सब दुनिया सिगरेट नहीं पीती? क्या घुड़दौड़ के और लाटरियों के टिकट मोल लेना जुआ खेलना नहीं है, इत्यादि, इत्यादि?" वह नौकर भी गया।

कई और आए और गए, किसी में कोई दोष था किसी में कोई। सदैव घर में कलह, क्लेश रहा। इस समय जो नौकर है, उसके ख़िलाफ़ मेरी स्त्री की शिकायतें तो बहुत हैं। खाता बहुत है, अधिकतर बीमार होता है; किंतु जहाँ पहले इन्हीं कारणों से, और मुख्य कारण अमंगल-जनक होने से, दूसरे नौकर निकाल दिए गए, इसको हम रक्खे हुए हैं, क्योंकि यह कुछ कम अनिष्ट-सूचक है। जब से यह आया है, केवल मेरी दादी मरी है और केवल दो ही बरतन टूटे हैं! उधर मैं घुड़दौड़ में कुछ रुपया जीतने लग गया हूँ। हाँ, घर में मेहमान अधिक आने लगे हैं, यही इधर-उधर के नातेदार। मगर मुझे यह शोक से कहना पड़ता है कि यह नौकर दो एक रोज़ में स्वयं जानेवाला है। अब दूसरा नौकर काहे को मिलेगा। हम मुहल्ले भर में, बल्कि दफ़्तर भर में, जहाँ नौकर मेरा खाना दोपहर में लाया करते हैं, बदनाम हो चुके हैं कि हमको नौकरों से काम लेने की तमीज़ नहीं। मैं बहुतेरा समझाता हूँ कि नौकर सब बदमाश होते हैं, उनको कोई-न-कोई ऐब चिपटा रहता है, किंतु लोग नहीं मानते। इसीलिये मैंने आपको यह गाथा सुनाई है। वास्तविक बात यह है—न मेरा दोष है, न मेरी स्त्री का दोष है, केवल इन नीची जाति के तथा अशुभ-जनक नौकरों का। समस्या यह है कि नौकर रखना भी है क्योंकि उसके बिना काम नहीं चलता, और यदि रक्खें तो प्रातःकाल उसके मुँह लगना पड़ता है। जिस रोज़ लगे मेरा और मेरी स्त्री का अवश्यंभावी किसी-न-किसी बात पर तनाज़ा हो जाता है या हमारी आर्थिक हानि हो जाती है या कोई नातेदार रोगग्रस्त हो जाता है या हमें रोता-पीटता छोड़कर स्वर्ग को चल देता है। आप ही बताइए कोई ऐसा नौकर कहाँ से लाऊँ? जिसके आने से हमारा घर बन सके।

सरदार मोहनसिंह "दीवाना"

राजपूताने का इतिहास और मारवाड़ के राठौर-नरेश

बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का ;
जो चीरा तो इक क़तरए ख़ूँ न निकला।

हिंदी-संसार में जिस राजपूताने के इतिहास की बड़ी धूम थी, ईश्वर की कृपा से उसका दूसरा भाग भी प्रकाशित हो गया। इसके लिये हिंदी-प्रेमी श्रद्धेय रायबहादुर पं० गौरीशंकरजी ओझा के चिर कृतज्ञ रहेंगे। हमें भी हाल ही में इसके द्वितीय भाग के देखने का सौभाग्य मिला है। उसमें की कुछ घटनाएँ यहाँ पर विचारार्थ उपस्थित की जाती हैं।

उक्त इतिहास के पृ० ५७७ में लिखा है—

"मंडोवर के राठौर राव चूँडा ने अपनी [1]गोहिल-वंश की रानी पर अधिक प्रेम होने के कारण उसके बेटे कान्हा को, जो उसके छोटे पुत्रों में से एक था, राज्य देना चाहा। इस पर अप्रसन्न होकर उसका ज्येष्ठ पुत्र रणमल्ल ५०० सवारों के साथ महाराणा लाखा की सेवा में आ रहा। महाराणा ने चालीस गाँव देकर उसे अपना सरदार बनाया।"

प्रसिद्ध इतिहास 'वीर-विनोद' में, जिसके आधार पर उक्त इतिहास लिखा गया है, रणमल्ल का जन्म वि० सं० १४४६ में लिखा है और कान्हा को राव चूँडा का सातवाँ पुत्र माना[2] है। मारवाड़ के इतिहास से कान्हा का जन्म वि० सं० १४६५ में सिद्ध है। ऐसी हालत में कान्हा के जन्म के बाद ही राव चूँडा ने उसे राज्य देने का निश्चय किया होगा। अतः रणमल्ल का सोजत की तरफ़ होते हुए जल्दी-से जल्दी वि० सं० १४६६ के क़रीब मेवाड़ में आना प्रतीत होता है।

राजपूताने के इतिहास के उसी (५७७) पृष्ठ में रणमल्ल के मेवाड़ में आने के बाद उसकी बहन 'हंसाबाई' का विवाह वृद्ध 'राणा लाखा' के साथ होना लिखा है। यदि इस घटना का समय जल्दी-से-जल्दी वि० सं० १४६७ मान लिया जाय, तो हंसाबाई के गर्भ से वि० सं० १४६८ में मोकल का जन्म हुआ होगा। आगे इसी इतिहास के पृष्ठ ५८३ की टिप्पणी नं० २ में राणा लाखा की मृत्यु और मोकल का राज्याभिषेक वि० सं० १४७६ के क़रीब लिखा है। अतः उस समय राणा मोकल केवल ८ वर्ष का बालक रहा होगा[1]। उक्त इतिहास के पृष्ठ ५८३ की टिप्पणी नं० १ में राज्याभिषेक के समय मोकल की अवस्था कम-से-कम १२ वर्ष की लिखी है। परंतु उपर्युक्त हिसाब से यह असंभव प्रतीत होती है। इसी से कुछ समय तक तो मेवाड़ राज्य का प्रबंध राणा मोकल के वैमात्रेय ज्येष्ठ भ्राता राव चूँडा[2] के हाथ में रहा। परंतु बाद में गृह-कलह के कारण उसी चूँडा को भाई अज्जा आदि के साथ मांडू के सुलतान की सेवा में जाना पड़ा। वहाँ सुलतान ने उसको जागीर में कई परगने दे दिए।

इस प्रकार राव चूँडा के मेवाड़ से चले जाने के बाद वहाँ का प्रबंध राणा मोकल के मामा रणमल्ल को सौंपा गया। यद्यपि उस समय महाराणा मोकल की अवस्था छोटी ही थी; परंतु रणमल्ल ने राज्य का प्रबंध बड़ी ही ख़ूबी से सँभाला और अनेक युद्धों में महाराणा की विजय-पताका फहराई। इसके प्रमाण में उक्त इतिहास के पृष्ठ ५८५ में, उद्धृत वि० सं० १४८५ के शिलालेख ही पर्याप्त होंगे। उनसे महाराणा मोकल का नागौर के फ़ीरोज़ख़ान को और गुजरात के सुलतान अहमदशाह को जीतना प्रकट होता है। परंतु उक्त घटनाओं के बाद जिस समय यह प्रशस्ति लिखी गई थी, उस समय महाराणा की आयु १७ वर्ष के क़रीब[3] थी। अतः पक्षपात-रहित पुरुष के

१. यह रानी गोहिल-वंश की न होकर मोहिल-वंश की थी।

२. 'वीर-विनोद' में मारवाड़ का इतिहास।

१. टाड साहब ने अपने राजस्थान के इतिहास में, उस समय मोकल की आयु ५ वर्ष की ही लिखी है। तथा श्रद्धेय ओझाजी ने जिस नैणसी की ख्याति का हवाला स्थान-स्थान पर दिया है, उसमें भी उस समय मोकल की आयु ५ वर्ष की ही लिखी है।

२. मेवाड़-राज्य का वास्तविक हक़दार चूँडा ही था। परंतु हंसाबाई के विवाह के कारण उसे राज्याधिकार छोड़ना पड़ा। इसका हाल उक्त इतिहास के पृ० ५७७ में लिखा है।

३. कर्नल टाड और नैणसी के मतानुसार उस समय मोकल की आयु केवल १४ वर्ष की ही थी।

सामने रणमल्ल की नेकनीयती और सुप्रबंध की सराहना करना सूर्य को दीपक दिखाना है।

घटनाओं का सिलसिला क़ायम रखने के लिये यहाँ पर हम यह बतला देना भी आवश्यक समझते हैं कि कान्हा के मर जाने पर अपने दूसरे भाई सत्ता से जो ज़बरदस्ती मंडोर का मालिक बन बैठा था। वि० सं० १४८४ में रणमल्ल ने अपना पैतृक राज्य छीन लिया था[1]। अतः कुछ ही समय बाद वह मेवाड़ से मंडोर चला आया।

वि० सं० १४६० में, जिस समय महाराणा मोकल अहमदाबाद के सुलतान अहमदशाह से लड़ने को चला, उस समय मार्ग में महाराणा खेता के दासी-पुत्र चाचा और मेरा ने महपा परमार आदि कई लोगों को अपने पक्ष में मिलाकर महाराणा के डेरे पर चढ़ाई की। दोनों पक्षों के कुछ आदमी मारे जाने के बाद महाराणा मोकल भी खेत[2] रहे।

इसके बाद महाराणा कुंभकर्ण (कुंभा) मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। उक्त इतिहास के पृष्ठ ५६२ और ५६३ में लिखा है—

"महाराणा कुंभा ने गद्दी पर बैठते ही सबसे पहले अपने पिता के मारनेवालों से बदला लेना निश्चय कर चाचा मेरा आदि के छिपने की जगह का पता लगाते ही उनको मारने के लिये सेना भेजने का प्रबंध किया।"

परंतु नहीं कह सकते, यह कहाँ तक संभव हो सकता है; क्योंकि यदि महाराणा मोकल को १६-१७ वर्ष की अवस्था में ही उनके ज्येष्ठ पुत्र कुंभा का जन्म मान लिया जाय, तो भी मोकल की मृत्यु के समय वह ५-६ वर्ष से अधिक बड़ा नहीं होगा। अस्तु।

आगे उक्त इतिहास के पृष्ठ ५६३-५६४ में लिखे गए वृत्तांत का संक्षिप्त विवरण देते हैं—

जब राव रणमल्ल को अपने भानजे के मारे जाने का समाचार मिला, तब उसने अपने सिर से पगड़ी उतारकर साफ़ा बाँध लिया और यह प्रतिज्ञा की कि जब तक चाचा 'मेरा' मारे न जावेंगे, तब तक सिर पर पगड़ी न बाँधूँगा। इसके बाद वह मेवाड़ में आया और चाचा तथा 'मेरा' को मारने के लिये पाँच सौ सवारों को साथ लेकर पहाड़ों की तरफ़ रवाना हुआ। परंतु पहले रणमल्ल के हाथ से एक भील सरदार मारा गया था। इसी वैर के कारण भील लोग रणमल्ल के विरुद्ध हो गए। इसी से ६ महीने तक उसे सफलता नहीं हुई। अंत में रणमल्ल ने उनसे मित्रता कर चाचा और 'मेरा' को मार डाला। परंतु चाचा का पुत्र राका और महपा[1] परमार भागकर मांडू के सुलतान के पास चले गए।

इसके बाद चाचा मेरा के पक्षवाले राजपूतों की लड़कियों को लाकर रणमल्ल ने अपने सहायक राठौरों के साथ ब्याहने का इरादा किया। परंतु राव चूँडा के भाई (महाराणा कुंभा के चाचा) राघवदेव ने उसकी इच्छा पूर्ण न होने दी।

हम जानना चाहते हैं कि एक तो जिस समय भीलों के व्यक्तिगत विरोध के कारण ६ मास तक राव रणमल्ल मौक़ा ढूँढ रहा था, उस समय महाराणा कुंभा की भेजी हुई सेना कहाँ क्या कर रही थी? दूसरे राजपूतों में आम रिवाज था कि जब एक पक्ष दूसरे पक्ष के किसी व्यक्ति को मार डालता था, तब उसे उस वैर के मिटाने के लिये मृत व्यक्ति के पक्षवालों के साथ अपनी कन्या का विवाह करना पड़ता था। इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं। ऐसी हालत में यदि रणमल्ल ने शत्रु-पक्ष की कन्याओं के साथ, अपने पक्ष के राजपूतों का विवाह करने का प्रबंध किया, तो क्या बुरा किया? नहीं कह सकते कि इस पर महाराणा का चाचा राघवदेव

---

१. यद्यपि 'वीर-विनोद' में मारवाड़ के इतिहास में मुंशी देवीप्रसादजी का हवाला देकर इस घटना का समय वि० सं० १४७४ लिखा है, तथापि रणमल्ल के पिता राव चूँडा की मृत्यु वि० सं० १४८० में होने के कारण उसके पूर्व ही इस घटना का होना बिलकुल असंभव है।

२. राजपूताने का इतिहास पृ० ५६० ।

१. महपा के विषय में उक्त इतिहास में लिखा है—"रणमल्ल स्वयं महपा (पवार) के घर पर पहुँचा और उसे बाहर बुलाया, परंतु वह तो स्त्री के वेष में पहले ही बाहर निकल गया था। जब रणमल्ल ने उसे बाहर आने के लिये फिर कहा, तो भीतर से एक डोमिनी बोली कि वह तो मेरे कपड़े पहनकर बाहर निकल गया है, और मैं भीतर नंगी बैठी हूँ। यह सुनकर रणमल्ल वापस लौट गया।

इससे ज्ञात होता है कि रणमल्ल बड़ा ही धर्मज्ञ था और उसने भीतर शत्रु को ढूँढने जाकर पर-स्त्री को नग्न देखने के बजाय बाहर से ही लौट जाना उचित समझा।

क्यों एकदम क्रुद्ध हो उठा और जब उसके भाई महाराणा मोकल को षड्यंत्र से मारकर शत्रु पास ही के पर्वत में सकुशल जा बैठा, तब उसने क्यों सिर तक न उठाया ?

तीसरे जब चाचा का पुत्र राका और महपा पँवार भागकर मांडू के सुलतान के पास जा रहे, तब मोकल के भ्राता चूँडा ने, जो सुलतान का कृपा-पात्र होकर उसके पास ही रहता था, उनसे या सुलतान से कुछ भी न कहा। उसका धर्म तो यह था कि वह स्वयं उनसे भ्रातृ-हत्या का बदला लेता और यदि यह उसके सामर्थ्य से बाहर था, तो कम-से-कम सुलतान को इतना तो कहता कि यदि आप इनको अपने पास रक्खेंगे, तो संसार में मेरी अपकीर्ति होगी।

इन बातों पर विचार करने से तो यही सार निकलता है कि उस समय किसी भी कारण से हो, महाराणा मोकल और कुंभा के विरुद्ध सुदूर-व्यापी षड्यंत्र चल रहा था और इनके नष्ट होने में जिन जिनका स्वार्थ था, वे सब ही इसमें सम्मिलित थे। ऐसी हालत में यदि रणमल्लजी ने सहायता न दी होती, तो इतिहास के पृष्ठों पर कुछ और ही रंगत नज़र आती। इसी से टाड साहब ने अपने इतिहास में लिखा है—

"The precaution taken by the young prince Kumbha, his successor, would induce a belief that this was but the opening of a deep-laid conspiracy. The traitors returned to the strong hold near Madri and Kumbha trusted to the friendship and goodfeeling of the prince of Marwar in the emergency. His confidence was well repaid"[1]

"The bardic historians do as much honour to the Marwar prince, who had made common cause with their sovereign in revenging the death of his father".[2]

"अर्थात्—मोकल के उत्तराधिकारी बालक कुंभा के किए हुए प्रबंध से इस घटना में सुदूर-व्यापी षड्यंत्र के ख़याल करने का यथेष्ट कारण प्रतीत होता है। स्वामिद्रोही लोग माद्री के नज़दीक के सुरक्षित स्थान में जा बैठे और कुंभा ने इस विपत्ति के समय मारवाड़-नरेश की मित्रता और सदाशयता पर विश्वास किया। उसका फल भी उसको उचित-रूप से प्राप्त हुआ।

मेवाड़ के कवि लोग—"ऐसे समय कुंभा के पिता का बदला लेने में उक्त सहायता के कारण मारवाड़-नरेश का ही आभार मानकर, उनका गुण-गान करते हैं।"

आगे उक्त इतिहास के पृष्ठ ५६५ के लेख से ज्ञात होता है कि राव रणमल्ल ने सरोपाव के बहाने से राघवदेव को राणा कुंभा के सामने बुलाकर मार डाला। परंतु महाराणा ने कुछ भी न कहा। इससे भी हमारे अनुमान की ही पुष्टि होती है।

इसके बाद उक्त इतिहास के पृष्ठ ५९७ पर लिखा है कि जब कुंभा ने रणमल्ल से राका और महपा को, जो मांडू (मालवा) के सुलतान के पास रहते थे, दंड देने की इच्छा प्रकट की। तब पहले सुलतान को राका और महपा को सौंप देने के लिये एक पत्र लिखा गया, परंतु जब उसने उनके देने से इनकार कर दिया, तब उस पर चढ़ाई की गई। इस पर सुलतान ने "चूँडा और अज्जा से, जो हुशंग (अलपख़ाँ) के समय से ही मेवाड़ को छोड़ मांडू में जा रहे थे, कहा कि मेरे साथ तुम भी चलो और रणमल्ल से अपने भाई राघवदेव के मारने का बदला लो; परंतु वे यह कहकर कि "महाराणा से हमें कोई द्वेष नहीं है, इसके बाद अपनी-अपनी जागीर पर चले गए।"

यहाँ पर दो बातें विचारणीय हैं। पहली तो यह कि राव चूँडा का कर्तव्य था कि वे ऐसे मौक़े पर सुलतान को समझाकर कम-से-कम अपने भाई राणा मोकल के हत्यारों को राणा कुंभा के पास भिजवाने का प्रबंध करते। दूसरी जब वे सुलतान की कृपा से ही एक बड़ी जागीर का उपभोग करते थे, तब ऐसे समय युद्ध में सहायता देने से मुँह मोड़ लेने पर भी, सुलतान उनसे अप्रसन्न क्यों नहीं हुए? संभव है, ये गौण बातें होने से विशेष महत्त्व नहीं रखती हों।

आगे पृष्ठ ५९९ से ६०१ तक लिखा है कि उच्च पदों पर राठौरों को देखकर लोग रणमल्ल के विरुद्ध महाराणा के कान भरने लगे। इसी मौक़े पर चाचा का पुत्र राका और महपा पँवार भी महाराणा से क्षमा माँगकर मेवाड़

---

१. कर्नल जेम्स टाड का छपवाया हुआ राजस्थान का इतिहास, पृ० २८५

२. कर्नल जेम्स टाड का छपवाया हुआ राजस्थान का इतिहास, पृ० २८६

में लौट आए। यद्यपि राव रणमल्ल ने इसका विरोध किया, तथापि महाराणा ने उनका क़सूर माफ़ कर दिया। "एक दिन महपा ने अवसर पाकर महाराणा से निवेदन किया कि राठौरों का दिल साफ़ नहीं है, शायद वे मेवाड़ का राज्य दबा बैठें, परंतु महाराणा ने उसके कथन पर ध्यान नहीं दिया। फिर एक दिन राका महाराणा के पैर दबा रहा था, उस समय उसकी आँखों से आँसू टपककर उनके पैरों पर गिर पड़े। जब महाराणा ने उसके रोने का कारण पूछा, तो उसने निवेदन किया कि मेवाड़ का राज्य सीसोदियों के हाथ से राठौरों के हाथ में गया समझिए। इसी दुःख से आँसू टपक रहे हैं।" इस पर महाराणा ने उसे रणमल्ल के मारने की आज्ञा दे दी।

इससे तो यही प्रकट होता है कि एक तो राका के पिता और चाचा को रणमल्ल ने मारा था और उसी के डर से राजघाती महपा भी देश छोड़कर इधर-उधर भटकने को लाचार हुआ था। दूसरे ऐसे नमकहराम सेवकों को माफ़ी देने का भी रणमल्ल ने विरोध किया था। तीसरे राव रणमल्ल के रहते, इन लोगों की राज्य में विशेष दाल भी नहीं गल सकती थी। ऐसी हालत में यदि इन लोगों ने १०-११ वर्ष के बालक[1] महाराणा को झूठ-सच कहकर भड़काने की कोशिश की हो, तो क्या आश्चर्य है। रणमल्ल की नेकनीयती में यदि कुछ भी फ़र्क़ होता, तो वह या तो मोकल के बाल्य-काल में ही या उसकी मृत्यु के बाद ही जब कि देश में अराजकता छाई हुई थी और राणा कुंभा बिलकुल ही बालक होने से असमर्थ हो रहा था, मेवाड़ पर आसानी से अधिकार कर सकता था। उसको इस प्रकार सतत परिश्रम द्वारा मेवाड़-राज्य को उन्नत करने और बालक महाराणा को बड़ा होने का मौक़ा देकर यह आफ़त मोल लेने की क्या आवश्यकता थी।

इस बात की पुष्टि उक्त इतिहास के पृष्ठ ६०३ के लेख से भी होती है। वहाँ पर लिखा है—

"महाराणा की दादी हंसाबाई ने कुंभा को अपने पास बुलाकर कहा कि मेरे चित्तौड़ ब्याहे जाने में राठौरों का सब प्रकार से नुक़सान ही हुआ है। रणमल्ल ने मोकल को मारनेवाले चाचा और मेरा को मारा, मुसलमानों को हराया और मेवाड़ का नाम ऊँचा किया, परंतु अंत में वह भी मारा गया।"

क्या यह लेख हमारे अनुमान का पोषक नहीं है?

आगे वर्तमान उदयपुर-महाराणा साहब के कृपा-पात्र स्वर्गवासी कविराज उज्ज्वल फतेकरणजी[2] के 'पत्र-प्रभाकर' से अवतरण देते हैं—

"उदैपुर पे रणमल्ल अशक कियो हन चाचक मेरक अंक ७४०।"

यह भी हमारे अनुमान को ही पुष्ट करता है।

हमने अब तक जिन-जिन अवतरणों के आधार पर राव रणमल्ल के पक्ष में विचार की पुष्टि की है, वे सब अधिकतर राजपूताने के इतिहास से ही लिए हैं।

यद्यपि मारवाड़ की प्राचीन ख्यातों में इन बातों का स्पष्टतया उल्लेख है, तथापि हमने यहाँ पर उनका सहारा लेना उचित नहीं समझा है; क्योंकि उक्त इतिहास के पृष्ठ ६०४ में उन पर पक्षपात-पूर्ण होने का दोष लगाया जा चुका है।

अब रही राजपूताने के इतिहास के पृष्ठ ६०० पर उद्धृत भारमली के क़िस्से की बात। उसके विषय में हमारा इतना ही निवेदन है कि क्या वह क़िस्सा मेवाड़ के ख्यात लेखकों ने रणमल्ल-जैसे उपकारी के साथ इस प्रकार अपकार किए जाने का कलंक छिपाने के लिये ही पीछे से कल्पित नहीं किया है? यदि नहीं तो फिर उन्हीं ख्यातों के आधार पर लिखी उपर्युक्त बातों की संगति लगाना कैसे संभव होगा।

आगे राजपूताने के इतिहास के पृष्ठ ६०२ से ६०४

---

१. रणमल्ल वि० सं० १४९५ में मारा गया था। अतः उस समय राणा कुंभा की आयु ११ वर्ष से अधिक नहीं थी। ऐसी हालत में उक्त इतिहास के पृष्ठ ६०७-६०८ पर उद्धृत वि० सं० १४९६ का शिलालेख आदि कहाँ तक विश्वास योग्य हो सकते हैं? इस पर आगे स्वतंत्र रूप से विचार करेंगे।

२. ये युवावस्था के प्रारंभ में ही महाराणा साहब की सेवा में जा रहे थे और कविराज सांवलदानजी के बाद क़रीब १० वर्ष तक वहाँ के इतिहास-कार्यालय के सञ्चालक भी रहे थे। वर्तमान महाराणा साहब की इन पर पूर्ण कृपा थी और हर समय इन्हें अपने साथ ही रखते थे। फतेकरणजी की भाषा-कविता निराले ही ढंग की है। इसमें 'बाण' के ग्रंथों का-सा अपूर्व आनंद मिलता है। इनके सुयोग्य पुत्र ने, जो स्वयं भी महाराणा साहब के पास रहते हैं, इनका रचा 'पत्र प्रभाकर' ग्रंथ छपवाया है।

तक, राव जोधा के मंडोर लेने का इतिहास दिया गया है। परंतु हमारी समझ में जो दोष इसी के अंत (पृष्ठ ६०५) में मारवाड़ की पुरानी ख्यातों पर लगाए गए हैं, शायद वे यहाँ भी विद्यमान हैं। इसमें मारवाड़ की ख्यातों से केवल रावत लूँणा से १४० घोड़े लेने का तो उल्लेख है; परंतु और सरदारों की सहायता से जो सेना एकत्रित की गई थी, उसका उल्लेख छोड़ दिया गया है। यह तो साधारण पुरुष भी समझ सकता है कि जब महाराणा ने राठौरों से छीनकर मंडोर पर अधिकार किया था, तब उसकी रक्षा का भी यथेष्ट प्रबंध अवश्य ही किया होगा। ऐसी हालत में यदि उक्त इतिहास में लिखे अनुसार केवल १४० घुड़सवारोंवाली सेना से राव जोधा मंडोर लेने में कामयाब हो गया, तो कहना होगा कि या तो मेवाड़ के सवार मिट्टी के बने थे या राव जोधा के सवार फ़ौलाद के।

इस विषय पर हम अपने विचार मई १९२६ की माधुरी (वर्ष ४, खंड २, संख्या ४) के पृष्ठ ४८६ से ४९२ तक प्रकट कर चुके हैं।

राजपूताने के इतिहास के पृष्ठ ६३६ से ६३९ तक महाराणा उदयसिंह का हाल लिखा है। उसने वि० सं० १५२५ में, अपने पिता महाराणा कुंभा को मारकर गद्दी पर बैठने के बाद राव जोधा को शांत रखने के लिये उसे साँभर और अजमेर भेंट कर दिया था; क्योंकि उदयसिंह को भय था कि जिस प्रकार मोकल के मारे जाने पर राव रणमल्ल ने आकर उसका बदला लिया था, उसी प्रकार कहीं राव जोधा भी कुंभा के मारने के कारण मेरे विरुद्ध गड़बड़ न करे। परंतु न मालूम उक्त इतिहास में इसका उल्लेख क्या समझकर छिपाने की कोशिश की गई है। उदयपुर के बाबू रा० नारायण दूगड़-रचित 'राजस्थान रत्नाकर' के दूसरे भाग के पृष्ठ ८४ में इस विषय में लिखा है—

"साँभर का परगना मदद की उम्मेद में मारवाड़वालों के सिपुर्द किया।"

आगे महाराणा साँगा के बयान में रायमल्ल को गुजरात के सुलतान के विरुद्ध ईडर की गद्दी दिलाने में जोधपुर के राव गाँगा की सहायता का और महाराणा उदयसिंह के इतिहास में उनके बणवीर से चित्तौड़ छीनने में जोधपुर के राव मालदेव की सहायता का उल्लेख न मालूम कैसे छूट गया है? बल्कि पिछली घटना के समय राव मालदेव की आज्ञा से सहायतार्थ आए जैता कूँपा के स्थान में "उधर मारवाड़ की तरफ़ से उसका श्वसुर अखैराज सोनगरा कूँपा महाराजोत आदि राठौर सरदारों को भी अपने साथ ले आया।" यह वाक्य लिखा होने से स्पष्ट तौर से पता नहीं चलता कि कूँपा मारवाड़-नरेश की तरफ़ से सहायतार्थ आया था या अखैराज की तरफ़ से। परंतु उदयपुर के प्रसिद्ध इतिहास 'वीर-विनोद' में दिए गए मारवाड़ के इतिहास में राव गाँगा की सहायता का उल्लेख है, और उसी 'वीर-विनोद' के महाराणा उदयसिंह के इतिहास में राव मालदेव द्वारा दी गई मदद के बारे में भी स्पष्ट तौर से लिखा है—"उसी संवत् में महाराणा उदयसिंह ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। इस समय उनके पास ऊपर लिखे गए सरदारों के सिवाय जोधपुर के राव मालदेव की तरफ़ से बहुत से लोगों-समेत राठौर कूँपा व राठौर जैता इत्यादि थे।"

अस्तु, जो कुछ मारवाड़ से संबंध रखता था, और उसकी बाबत जो कुछ हमारी समझ में आया, इस लेख द्वारा निवेदन किया गया है। संभव है, इसके विपक्ष की दलीलें प्रकाशित होने पर यह भ्रम-मात्र ही सिद्ध हो। आशा है, इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

यहाँ पर हम दो बातों का संदेह और भी दूर करना चाहते हैं। उनमें से एक तो यह है कि राजस्थान के इतिहास के प्रथम भाग की भूमिका के पृष्ठ २२-२३ में मारवाड़ के मुहणोत नैणसी की लिखी ख्यात (तवारीख़) की ख़ासी प्रशंसा की गई है। पृष्ठ २३ में तो यहाँ तक लिखा है—"वि० सं० १३०० के बाद से नैणसी के समय (वि० सं० १७२२) तक के राजपूतों के इतिहास के लिये तो मुसलमानों की लिखी हुई तवारीख़ों से भी नैणसी की ख्यात कहीं-कहीं विशेष महत्त्व की है। सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी ने तो नैणसी को राजपूताने का अबुल फ़ज़ल माना था।"

इसी इतिहास के (द्वितीय भाग) के पृष्ठ ६५१ की टिप्पणी नं० १ में विवादास्पद विषय पर 'वीर-विनोद' और टाड-राजस्थान से भी मारवाड़ के नैणसी की ख्यात को अधिक प्रामाणिक माना है।

फिर क्या कारण है कि पृष्ठ ६०५ में राव जोधा के इतिहास में उसी मारवाड़ की ख्यात के बारे में लिखा गया है कि वह ख्यात वि० सं० १७०० से पीछे की बनी

हुई होने से उसमें पुराना वृत्तांत भाटों की ख्यातों के आधार पर लिखा गया है। अर्थात् वह झूठा है, विश्वास योग्य नहीं है—यह परस्पर विरोधी मत कैसा। फिर यदि वह पिछली उक्ति नैणसी की ख्यात के बारे में नहीं है, तो उसमें का लिखा मारवाड़ के राव रणमल्ल, जोधा, आदि का इतिहास क्यों न मान्य समझा जाय? क्योंकि यह इतिहास तो वि० स० १४५० के बाद का है। इतने पर भी यदि इसके विरुद्ध ही मत दिया जायगा, तो यही समझना होगा कि बड़े आदमी जो न कहें, वही थोड़ा है।

दूसरी बात यह है कि राजस्थान के इतिहास के पृष्ठ ६०७ से ६०६ तक महाराणा कुंभा का वि० सं० १४९६ का शिलालेख उद्धृत कर महाराणा कुंभा के पहले सात वर्षों का वृत्तांत इस प्रकार लिखा है—'अपने कुल-रूपी कानन (वन) के सिंह राणा कुंभकर्ण ने सारंगपुर, नागपुर (नागोर), गागरण (गागरौन), नराणक, अजयमेरु, मंडोर, मंडलकर, बूँदी, खाटू, चाटसू आदि सुदृढ़ और विषम क़िलों को लीला-मात्र से विजय किया, अपने भुज-बल से अनेक उत्तम हाथियों को प्राप्त किया और म्लेच्छ महीपाल (सुलतान)-रूपी सर्पों का गरुड़ के समान दलन किया था। प्रचंड भुजदंड से जीते हुए अनेक राजा उसके चरणों में सिर झुकाते थे। प्रबल पराक्रम के साथ ढिल्ली (दिल्ली) और गूर्जरत्रा (गुजरात) के राज्यों की भूमि पर आक्रमण करने के कारण वहाँ के सुलतानों ने छत्र भेंटकर उसे 'हिंदू-सुरत्राण' का विरुद प्रदान किया था। वह सुवर्ण-सत्र (दान, यज्ञ) का आगार (निवास-स्थान), छः शास्त्रों में कहे हुए धर्म का आधार चतुरंगिणी सेना-रूपी नदियों के लिये समुद्र था और कीर्ति एवं धर्म के साथ प्रजा का पालन करने और सत्य आदि गुणों के साथ कर्म करने में रामचंद्र और युधिष्ठिर का अनुकरण करता था और सब राजाओं का सार्वभौम (सम्राट्) था।

इस लेख से यह पाया जाता है कि वि० सं० १४९६ (ई० सं० १४३९) तक महाराणा कुंभा ने अपने भुज-बल से ऊपर लिखे हुए अनेक क़िले, नगर आदि जीत लिए थे। मुसलमान सुलतानों पर भी उसका आतंक जम गया था और वह धर्मानुसार प्रजा का पालन कर रहा था।"

क्या ये बातें सच्ची समझी जा सकती हैं। उस समय महाराणा कुंभा की आयु केवल १२ वर्ष की होती है और यह उक्त इतिहास के लेखानुसार राणा कुंभा के ७ वर्ष का हाल है। तब क्या ५ वर्ष की आयु से ही उसने उपर्युक्त कार्य करने प्रारंभ कर दिए थे। अतः या तो यह कवि विल्हण की उक्ति के अनुसार—

> लङ्कापतेः संकुचितं यशो यद्यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः ;
> स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीयाः कवयः क्षितीन्द्रैः।

उक्त लेख के रचयिता का ही प्रभाव है या प्रकारांतर से। यह सब रणमल्ल के ही प्रबंध की प्रशंसा है, क्योंकि महाराणा के बालक होने के कारण वि० सं० १४९५ तक वही मेवाड़ का प्रबंधकर्ता था और उसी वर्ष दुष्टों ने बालक महाराणा को बहकाकर धोके से उसे मार डाला था।

लेख के बहुत बढ़ जाने से हम उक्त इतिहास की अन्य बातों को योग्यतर विद्वानों के विचारार्थ छोड़कर और इस लेख में कोई अनुचित शब्द प्रयुक्त हुआ हो, तो उसके लिये क्षमा-याचना-पूर्वक, कवि भवभूति की इस उक्ति के साथ लेख को समाप्त करते हैं—

> ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
> जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः ;
> उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा
> कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।

विश्वेश्वरनाथ रेउ

प्रेम

किस जीवन की मधुर कल्पना,
हो किस प्रेमी की मुसकान?
मिली हुई हो मलयानिल में,
किस वंशी की मीठी तान?
किसे सुनाऊँ सुन सुन करके,
कोमल हृदय धड़कते हैं।
झरते हैं नयनों से मोती,
मधुर मिलन वह रखते हैं।
झलकाते हो कभी झलक तुम,
चंचल नयनों से छबि-छान;
लोल लहर में कभी थिरकते,
अभिनायक होकर अनजान।
तुमसे क्या पहचान पड़ी है,
खग किलोल क्यों करते हैं?

किस सर के बिछुरे मराल हैं,
क्यों कर आँसू भरते हैं ?
सरल हँसी किस शैशव की हो,
किस छलिया के छिपे स्वभाव ?
हृदय चीरकर मुझे बताओ,
देखूँगा मैं गहरे घाव ।
किसे रिझाने आते हो फिर,
किधर कहाँ छिप जाते हो ?
सुख के बदले दुख देते हो,
भला कहो क्या पाते हो ?
लटकाए हो हृदय-वृक्ष में,
किस भोलेपन के हिंडोल ?
रंग अनोखा बरसाते हो,
किस ममता में आकर घोल ?
किस पराग की मादकता में,
मंद हास से हो चुपचाप ;
किस विरही के विकल भाव का,
हाय ! मिटाते हो संताप ?
केकी घन को देख-देखकर,
क्या कलंक नित धोता है ?
किस दुविधा में आकर चातक,
कलप-कलपकर रोता है ?
मधुर राग वीणा का सुनकर,
क्योंकर मृग मारा जाता ?
दीप-शिखा के ऊपर गिरकर,
क्यों पतंग है जल जाता ?
मनोहारिणी किस उपवन के,
मुझे बताओ हो तुम फूल ?
कहो कौन-सी छटा देखने,
खिंच आते हैं अलि मन-भूल ?
तोड़-तोड़कर कोमल कर से,
जनकदुलारी ने ला ला ;
किसे गूँथकर पहनाई थी,
सरस मालती की माला ?
क्या मिठास थी उन बेरों में,
किये प्रेम से थे स्वीकार ?
दीन सुदामा के भी सूखे,
खाते थे वह चावल चार ।
वह कैसा था प्रेम निराला,
खंभ चीर हरि आए थे ?
आर्त्तनाद सुनकर गजेंद्र का,
चौंक पड़े झट धाए थे ।

दाराबख़ाँ 'अभिलाषी' (विशारद)

गुजरात का हिंदी-साहित्य

(३)

४९. काहान

यह कवि दीनदर्वेश का ही समकालिक था । इसकी कुंडलियाँ प्रसिद्ध हैं । यह जाति का प्रज्ञाचक्षु ब्राह्मण था । दीनदर्वेश से एक कुंडलिया पर इसका विवाद होना भी प्रसिद्ध है । उदाहरण —

मिसरी घोरे जूठ की, पीवे हाथ हजार ;
जररूपी आवे मानिका, सो बिरला संसार ।
सो बिरला संसार, परेभर उनका ऐसा ;
मिसरी जहर समान, जहर है मिसरी जैसा ।
कहे सुकवि यो कान, भूल मन जइयो भोरे ;
तिनके सिरपे छार, जूठ की मिसरी घोरे ।

५०. धरमा बामण:

इस कवि की 'भरतपुर नो ख्याल' नाम की कविता में ईस्ट इंडिया कंपनी का भरतपुर के जाट राजा रणजीत-सिंह व उसके सेनापति बलदेवसिंह के साथ जो युद्ध हुआ, उसका वर्णन है । उदाहरण—

भरतपुर का गढ़ बाँका, थाना बलदेव का ;
कर रणजीतसिंह राजबहादर बेटा सूरजमल का ।
हिंद पद की टेक राखी धन त महाराजा ;
डीग ऊपर चढ़ा फिरंगी लेकर सब फौजा ।
निमकहरामी दीवान दयासिंह, नहिं दिल में समझा ;
फितूर करके किला गवाया नहिं रण में जूझा ।
बहुत मिनती की राजा ने लिखा फिरंगी कू ;
लड़ना होय तो और लड़ लो, नहीं कमी किसकी ।
बारूद गोला माल खजिना ले बाकी हमसे ;
फेर लिखा की नहीं लडूँगा कसम बपनी की ।

इसका समय संवत् १८६१ है ।

५१. सती सहुबाई तागणा

इस मिश्र गुजराती तथा हिंदी रचना के रचयिता का

पता नहीं चलता। अहमदाबाद में जब पेशवाओं का राज्य था, उस समय सती सहुबाई पर कुछ अत्याचार किया गया था, किंतु अंत में पेशवाओं की आज्ञा से अत्याचारियों को दंड दिया गया और सहुबाई के सतीत्व की जय हुई। दोहा, पद्धरी, छंद, कवित्त आदि विविध वृत्तों में यह रचना है। संवत् १८७३ में यह रचा गया। संभवतः इसका रचयिता हरिचंद-नामक कवि था।

५२. अमरसिंहजी

झालावंश के ध्रांगध्रा के महाराज, उनके पुत्र तथा पौत्र पर कविता-देवी प्रसन्न थीं। महाराजा अमरसिंहजी अर्द्वैत मतानुयायी थे। उनकी कृति "अमर एकवीसी" को ध्रांगध्रा के वर्तमान महाराजा सर घनश्यामसिंहजी ने प्रकाशित की है। उनका राज्य-काल १८६१ निश्चित है। उनकी कविता का नमूना यह है—

हे कोई शूर ज्ञानी पूरा मनमुख लडे लड़ाई रे।
कायर का तो नाम नहीं है कुड़िया करे चढ़ाई रे।
उलट सुलट परवत मरन वा सूरा करे लड़ाई,
नहीं तीर नहिं तेग बंदुका ज्ञान शब्द लड़ाई रे।
नुरत सुरत का मुजरा करके पल मा निशान उड़ाई रे।

× × ×

प्रेम सरूपी पारख भर लिया हीरा माल मिलाई रे,
राजा अमर की सुरता करती निरखी गगम अमाई रे।

५३. रणछोरजी दीवान

यह जाति के नागर ब्राह्मण शैव-मतानुयायी जूनागढ के नवाब के दीवान थे। इन्होंने सोरठी-तवारीख़, शिव-रहस्य, भाषा-शिव-पुराण, काम-दहन, सदाशिव-विवाह इत्यादि ग्रंथ बनाए हैं। इन्होंने अपनी कविता में विशुद्ध ब्रजभाषा का उपयोग किया है। यथा—

अहि बिनु मणि जैसे मही बिनु धन जैसे,
कही बिनु सुनी जैसे मोती बिनु पानी है,
राज बिनु गाम जैसे लाज बिनु बाम जैसे,
दीप बिनु धाम जैसे सुखमा की हानी है।
बच्छ बिनु छार जैसे बृच्छ बिनु नीर जैसे,
लच्छ बिनु तीर जैसे सत्य बिनु बानी है,
राय रणछोर कथा सरबथा सुनी शिव,
और कथा वृथा जथा बाल की कहानी है।

इनका समय संवत् १८६० है।

५४. अमरजी

ये नागर-जाति के ब्राह्मण जूनागढ-निवासी थे। इनका विशेष हाल उपलब्ध नहीं है। इनकी भी स्फुट हिंदी-रचना पाई जाती है।

५५. हरिदास

यह रामानुज-संप्रदाय का साधु काठियावाड़ के खादडपुर नामक ग्राम का निवासी था। इसने सं० १८८१ में 'हरि-विलास'-नामक ग्रंथ ब्रज-भाषा में बनाया है। जिसमें लोकाचार तथा धार्मिक विषय के साथ ही नीति पर उपदेश भी किया है। आध्यात्मिक विचारों के साथ-ही-साथ कवि का काव्य-चातुर्य भी अच्छा दिखाई देता है। यथा—

चंचल इन्द्रपुरी सुख पाइक,
अंत की बेर महा दुख पाऊँ;
जो सुख में दुख चौगुनो होत है,
सो सुख नेक नजीक न जाऊँ।
दाना चुगाइ के पंख मरोड़त,
ऐसे चुगे पर मैं न रिझाऊँ;
कहै हरिदास सुनो सब सज्जन,
ना गुड़ खाऊ न कान बिंधाऊँ।

इनका समय संवत् १८८१ है।

५६-५७. रविदास और भक्तिदास

ये गुजराती साधु बड़े महात्मा हो गए हैं। इनकी गद्दी अब तक बड़ौदा-राज्य के शेखी-ग्राम में क़ायम है। इन उभय कवियों के अनेक हिंदी-पद उपलब्ध हैं, जो प्रायः मंदिरों में गाए जाते हैं।

५८-५९. वेणीराम और बालाशंकर

ये 'चरोतर' ग्राम के निवासी और साहित्य के अच्छे उपासक थे और हिंदी-भाषा में ही कविता किया करते थे। इन्होंने बालाशंकर उल्लासराय की सहायता से अलंकार का एक ग्रंथ लिखा है, जिसका नाम 'बृहद् बेनीवाग्विलास' है। इस ग्रंथ का उल्लेख बालाशंकर कवि ने अपने 'भारतीय-भूषण'-ग्रंथ में किया है।

६०. मलूकदास

इस कवि की फुटकर हिंदी-कविता पाई जाती है।

६१. कवि हरिपद

ये अहमदाबाद के निवासी थे। इनका 'नागर-बत्तीसी' ग्रंथ उपलब्ध है।

६२. किसनदास

इस कवि की भी स्फुट कविता पाई जाती है। समय अज्ञात है।

६३. जीवराम

ये भी हिंदी में अच्छी श्रेणी की कविता करते थे। इनकी स्फुट रचना उपलब्ध है। ये अजरामर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये कच्छभुज के राजगुरु थे।

६४. नरसिया

ये जूनागढ़ के निवासी थे। इन्होंने हिंदी में भी कविता की है। यद्यपि इनकी कविता ऊँची श्रेणी की नहीं है तथापि भक्ति-रस से पगी रहने के कारण उसका प्रचार गुजरात में अधिक है।

६५. सिपाही-वाणयाणो-किस्सो

इसके रचयिता का पता नहीं चलता। यह हिंदी-गुजराती का मिश्र काव्य है। इसमें सिपाही के मुख से हिंदी के और बनिए के मुख से गुजराती में संभाषण कराया गया है।

६६-६९. पुष्करकर, रत्नवर्जी, रघुराम और दयाल कवि

ये कवि गुजरात के होने पर भी इन्होंने हिंदी में रचना की है। यद्यपि हमें इनके ग्रंथ देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ तथापि श्रीयुत मदनलालजी चौधरी, बंबई-निवासी ने इनका उल्लेख किया है। उन्हीं के आधार पर इनके नामों का उल्लेख किया जाता है।

७०. नाथूरामसुंदरजी

काठियावाड़ के राज्यों में इस कवि की बड़ी प्रसिद्धि है। इन्होंने गुजराती के अतिरिक्त हिंदी में भी बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं।

७१. टोपीवाला

ईस्ट इंडिया कंपनी के आरंभिक दिनों में एक अँगरेज़ के लूट-खसोट करने और एक तँबोलिन की लाज लुटने का वर्णन एक अज्ञात कवि ने किया है—

ताजवाले का ताज लूटा, तँबोली के पाना;
एक तँबोलिन ऐसी लूटी, ते लाख टका सरवाना।
मेरा खासा टोपीवाला।

७२. रामगिर

दिल्ली की बादशाही नष्ट हो जाने पर ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना सिक्का चलाया। जिससे शाही, बुरहानपुरी, चिचोड़ी, नागपुरी, पूनाशाही, गायकवाड़ का बाबाशाही, सखीमशाही, बज़ीरशाही, सूरती, हाली, कोटाशाही, काश्मीरी आदि सिक्कों का प्रचार हो जाने का वर्णन अपनी कविता 'सिक्कानुं ख़्याल' में किया है। कवि कहता है—

'सिक्का पक्का हैं उनका जिनकी हैं तलवारें'

कैसा चोखा ऐतिहासिक सिद्धांत है।

७३. टोपीवालानूं कवित्त

इस कविता के रचयिता का पता नहीं चलता। किंतु गुजरात पर जब अँगरेज़ों का आधिपत्य हुआ, उस समय के अँगरेज़ों के वैभव का इसने वर्णन किया है—

कीरति कहूँ विलात की जहाँ कुंपनि राज करति हैं;
आतिशबाजी अजब देशपति, दलु डरपति हैं।
गढ़पति किए गरकि, थरकि पातशाही थरकै;
चौदेश पड़ी चमक, देख टोपी के डरकै।
बाहार, महलार, बँगला बाँच, काशी कुगढ़ लीजियो;
कंपनी करम की का कहूँ जीने धर गुजर अमल लियो।

७४. मुलुमाणिक

इस कवि ने महाराजा खंडेराव गायकवाड़ का अँगरेज़ों से जो युद्ध हुआ था, उसका वर्णन किया है। यह काव्य गुजराती-हिंदी संयुक्त-भाषा में लिखा गया है। जिसमें अँगरेज़ों के द्वारका लेने का उल्लेख है। कविता का नमूना यह है—

तब अँगरेज तोप का, एक ही किया अवाज;
परमधाम पर खट में, सब नाव शुभ साज।

इसका समय संवत् १९१० के लगभग है।

७५. हमीर

इस कवि ने भावनगर के राजा विजयसिंहजी के दशहरे के दरबार के वर्णन के साथ ही ब्रह्मा से लगाकर विजयसिंह तक के गोहिल-वंशीय राजाओं का वर्णन किया है। बीच-बीच में कई ऐतिहासिक घटनाओं का समय भी दिया है। दोहा, छप्पय, सोरठा, मोतीदाम, कवित्त आदि छंद हिंदी और गुजराती भाषा में लिखे हैं; किंतु कविता का अधिकांश रूप मिश्रचारणी है। इसकी रचना संवत् १९०५ में की गई है। उदाहरण—

वजिया दशम बखाणि, करहु बहु बिधि बरनाकर;
अमरपती सम आज, राज गोहिल धरणी पर।
सोरठ देश उत्तंग, मध्य उत्तंग सहर जम;
भावनगर सुय बाँचि गनत सब इंद्रपुरी सम।

तेहि सहर हुन्ति राजत तखत सोमवंश अवतार है ;
बखतेस नंद राजा बजो आप इंद्र अवतार है।

७६. रणमलसिंह

ये धांगध्रा के महाराज अमरसिंहजी के पुत्र थे और संस्कृत, उर्दू तथा हिंदी के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने कई तीर्थ-यात्राएँ की थीं। ये हरि-हर-भक्त थे और इन्होंने ब्रज में गौवें भी चराई थीं। उदाहरण—

गौर स्याम को सुमिरण कर ले धर ले ध्यान हराहर को ;
आधि व्याधि सबही निवारें कटे पाप जन्मभव व्याधी को।
चार ही चार भुजा हैं वाको शंख चक्र गदा पद्म धरे ;
शृंगी, त्रिशूल माला डमरु सेवक को संकट हरे।

× × ×

कहे रणमल्ल सुनहुँ भाई सबई, प्रेम प्रीति से गाओगे ;
जन्म मरण का संकट कटही अखंड भक्ति पाओगे।
बन में धेनु चरावे बाबा नंद के लाला ;
बंशी नीकी बजावें बाबा नंदराय के लाला।
बेणु बजावें धेनु चरावे गावें तान अनोखी ;
पंगम पंगम

× × ×

साझ समय जब घर कू आवें मोहन जो बलि आगे ;
कर जोडि रणमल्लसिंग के वे ब्रज को वसुओ मांगे।
निशिदिन गौआ चरावे।

इनका समय सं० १६०० के लगभग है।

७७. सरदार कवि *

यह कवि राजा रणमल्लसिंहजी का आश्रित था और काशी-निवासी था। इसने "साहित्य-सरसी"-नामक हिंदी-ग्रंथ रचा है। इसके विषय में अधिक हाल मालूम नहीं होता।

७८. महाराजा विजयसिंह

ये भावनगर के महाराजा बड़े साहित्य-रसिक थे। कर्नल टाड और रासभटला के रचयिता मि० फार्ब्स से आपका प्रगाढ़ परिचय था। पंडितों की वे बड़ी क़द्र करते थे। प्रति बुधवार को कवि-पंडितों की एक सभा किया करते थे, जिसमें कई हिंदी-समस्याओं की पूर्ति भी की जाती थी—

चलनो भलो न पाँव से, विधवा भली न एक ;
माँगो भलो न सूम से, जो प्रभु राखे टेक।

यह पूर्ति—

चलबो भलो न कोस को, दुहिता भली न एक ;
माँगो भलो न बाप से, जो प्रभु राखे टेक।

इस दोहे के संबंध में बनाई गई थी।

चार मिले चौसठ खुले, बीस मिले कर जोर ;
दो मिल आनँद ऊपजै, खुलै सात किरोर।

तथा—

जात बरोबर देवकण, रात बराबर नाहिं ;
तोल बराबर घूँघची, मोल बराबर नाहिं।

इस प्रकार की बहुत-सी कविता का आविर्भाव महाराजा विजयसिंहजी के ही आश्रय से हुआ था।

७९. दयाराम

इनका परिचय हिंदी-संसार को अच्छी तरह से है। इनके विषय में कई लेख हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में निकल चुके हैं। हम भी कभी स्वतंत्र लेख में इनका परिचय विस्तार के साथ देंगे।

८०. गिरिधरदास

ये कवि दयाराम के ही समकालिक थे। इनकी 'रामायण' और 'कृष्णचंद्र-चरित' ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। हिंदी-कवि गिरिधरदास की तरह इन्होंने भी हिंदी में कुंडलियाँ रची हैं, जो अच्छी हैं। कई पद भी हिंदी में लिखे हैं। हिंदी-भाषा से इनका अधिक प्रेम था। इसीसे इनके गुजराती काव्य में भी हिंदी-प्रयोग की मात्रा अधिक पाई जाती है।

८१. स्वामी दयानंद सरस्वती

इन महर्षि का परिचय देना सूर्य को दीपक दिखाना है। हिंदी का सर्वतोरूपेण प्रचार करने में स्वामीजी के सदृश न तो आज तक कोई हुआ, और न भविष्य में ही होने की आशा है।

"दुनियाँ में चारों वेदों का परचार करेंगे"

इन टूटे-फूटे आर्यसामाजिक काव्य-उद्गारों का यथार्थ रूप जो आज दिखलाई पड़ता है, वह सारा ऋषिजी के पुण्य-बल ही के कारण है। स्वामी दयानंदजी ने न केवल हिंदी के प्रचार का पुण्य ही संपादन किया ; किंतु आपके क्रांतिकारी ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश तथा अन्यान्य कृतियों ने हिंदी-भाषा को भली भाँति अलंकृत किया है। ऋषिवर्य की यशोगाथा का वर्णन करना हमारी लेखनी की शक्ति के बाहर है।

८२. कालिदास *

यह कवि काठियावाड़ का निवासी महाराजा यशवंतसिंह

* यह महाराज काशी के आश्रित ब्रह्मभट्ट कवि थे। गुजरात से इनका संबंध न था। ये बड़े अच्छे टीकाकार थे।—संपादक

* ये कालिदास 'कालिदास-हजारा' के रचयिता बनपुर-निवासी कालिदास त्रिवेदी से भिन्न हैं।—संपादक

का आश्रित था। सं० १८२८ तक इसके जीवित होने का पता चलता है। इसने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा वीर-रस-पूर्ण शुद्ध व्रज-भाषा में की है। यथा—

साजे चतुरंग सेन भूप फतेभाल-सुत,
भानु छिपि जात असमान रज अटकै।
धसकि पहार जात योधन के भार अरु,
लचकि फनंद यों कमठि पीठ फटकै।
कहै कवि कालिदास दलहु ते दावादार,
पट्टनि दुपट्टनि घुँघरली रूप पटकै।
भूप यशवंत तेरे सुनत निशान अहो,
भीम गज लोखा के समान रिपु भटकै।

८३. केशरीसिंह

यह ध्रोल-निवासी भूपसिंह का पुत्र और कालिदास का समकालिक था। किंतु पिता की मृत्यु होने पर वह पालीताना में अपने मामा के पास रहता था। इसकी नीति, शृंगार आदि विषयों पर विशुद्ध व्रज-भाषा की कविता पाई जाती है। यथा—

चंपक चमेली अरु केतकी कनेर जुही,
ताके बान साजि के उमंग सरसायो है;
दाउदी के तुरी अरु मुकट हजारा लिए,
हेगल हू मीन इश्कपेचावृत भायो है।
केसरी कहत मन फूलनि सिंगार साजि,
मकर को ध्वज सो तो केवरा बनायो है;
सैल के करन काज साज के समाज ऐसे,
मानो ऋतुराज रतिराज बनि आयो है।

८४. रविराज

यह कवि भी कालिदास के समकालिक था और काठियावाड़ के 'मूली' ग्राम का चारण था। इसने ध्रोय के आड़ेजा ठाकुर केशरीसिंह की प्रशंसा की है। नर्मदा-लहरी नामक इसका ग्रंथ उपलब्ध है। उदाहरण—

सुंदर सरीर होय, महा रणधीर होय,
वीर होय भीम सों, लरैया आठों याम को;
गरमा गुमान होय, बड़ो सावधान होय,
सान होय साहबी, प्रतापी पुंजधाम को।
पढ़त अमान ज्यों पै, मघवा महीप होय,
दीप होय बंस को, जनैया सुख साम को;
सर्वगुन ज्ञाता होय, यद्यपि विधाता होय,
दाता जो न होय, तो हमारे कौन काम को।

८५. युगलकिशोर

यह काठियावाड़ के लीमड़ी राज्य का आश्रित चारण था और अन्यान्य राजाओं के दरबार में भी आया-जाया करता था। संभवतः इसके पूर्वज पंजाब के निवासी थे। यह कवि रविराज का समकालिक था। इसने अपने आश्रयदाता महाराजा जसवंतसिंह के विषय में लिखा है—

गरजन लागीं गूँज नभ-मिरदंगिन की,
बिजुरी तरीन पातुरीन पायमाल की;
झरकै झरन सीयरन पिचकारिन की,
घरन में छाई धूम आनंद रसाल की।
जयसिंह महिपालजू के दरबार बीच,
पावस-सी भई ऋतु फागुन बिसाल की;
घरी-घरी घर में किसोरि घनघोर सम,
धूम-धूम आई घटा गरद गुलाल की।

८६. ज्येष्ठलाल

यह हास्य-रस का कवि बीजापुर का निवासी और युगलकिशोर का ही समकालिक था। उदाहरण—

गोरे-गोरे भुजदंड दीरघ बने हैं नैन,
शोभा के सदन सब ही के मनमाने हैं;
अजब जलेब सु जलेबदार जे बदन,
द्वारे गज-बाजि हैं भरपूरन खजाने हैं।
ऐसे सुत नरनाह सुजस की बाछी चाह,

× × ×

हम मरदाने जानि यस के कवित्त पढ़े;
द्वारे दरबान कहैं साहिब जनाने हैं।

८७. आदित्यराम

इस कवि ने अपना नाम अपनी कविता में रविराम भी लिखा है। यह जामनगर का निवासी नागर-जाति का ब्राह्मण था। यह संगीत तथा वाद्य में प्रवीण था। इसने शुद्ध व्रज-भाषा में कविता की है। इसकी कविता में अनुप्रास का आधिक्य है। यथा—

गान तान मानयुत नाचै नट वेषधारी,
कामिनी बसीकरन देख्यो महाफंद में।
करत बिलासी रास हास सुख संपति सों,
जमुना के तीर धीर धरै ना अनंद में।
कहत अदितराम सूझत न कछू काम,
धाम धनि धरा धन मानै दुख द्वंद में।
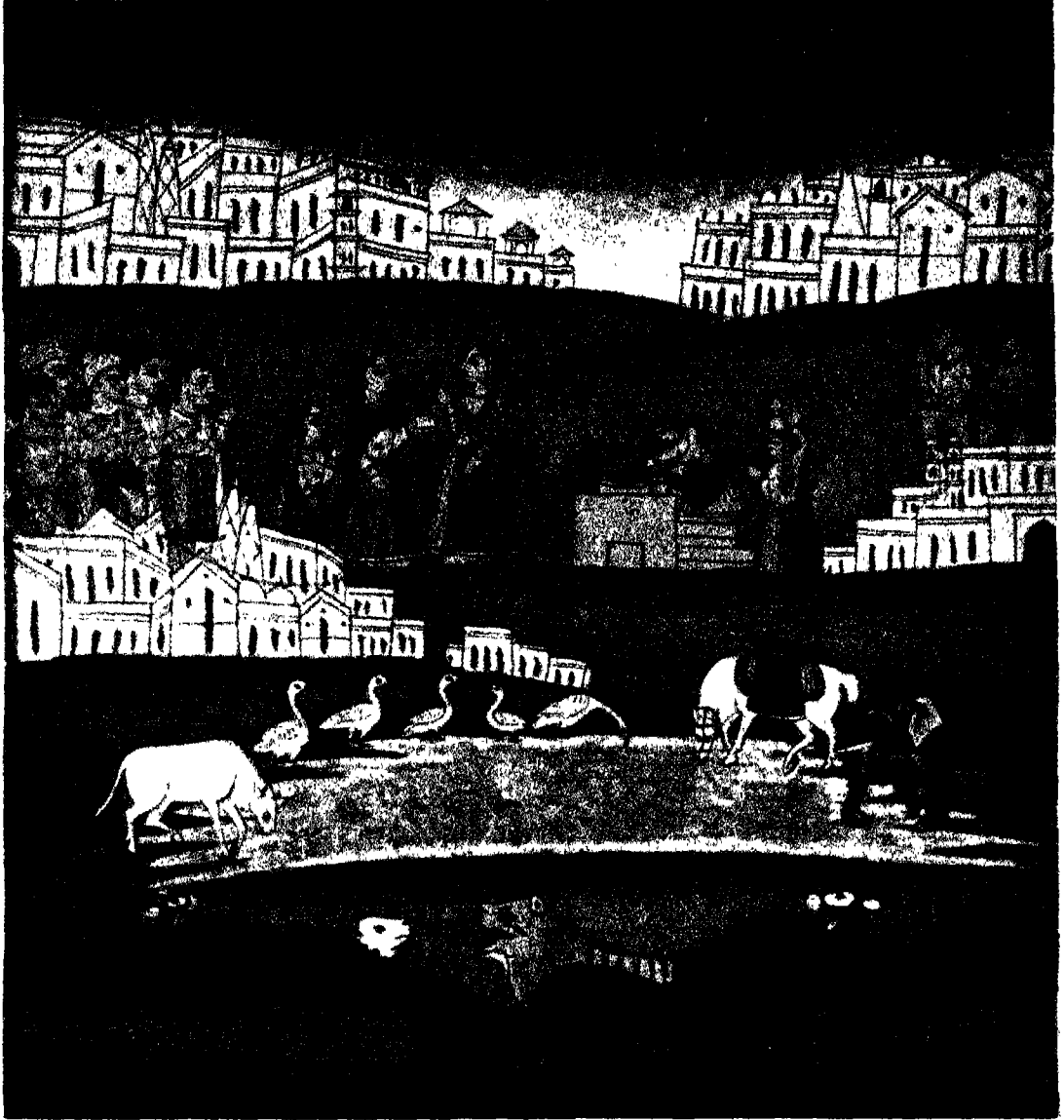
जीवन-प्रभात

[हस्त-लिखित, सचित्र, अप्रकाशित ज्ञान-सागर से]

N. K. Press, Lucknow.

श्रीमदनमोहन की माधुरी सुमूरति पै,
मोह्यो मन मेरो ज्यों मलिंद मकरंद में।
× × ×
तनु तरुनाई छाई जा दिन ते थक्यो माई,
तरुनी तमोलताई ग्रौर तुक तान में।
× × ×
मेरे मन मेरो माहिं मोहिं महीपति आए,
ममता मनाइ मदमातो मेरे मान में।

८८. मेरामणिजी

ये राजकोट के ठाकुर थे। इन्होंने अपने सात मित्रों की सहायता से शृंगार-रस-पूर्ण 'प्रवीण-सागर'-नामक ग्रंथ रचा; किंतु दुर्भाग्य-वश उक्त ग्रंथ पूर्ण होने के पूर्व ही इनका परलोक-वास हो गया। संवत १८३८ में, इस ग्रंथ की रचना प्रारंभ की गई थी। इनकी कविता शुद्ध ब्रज-भाषा में है। उदाहरण—

जैसे निरमल होत है, कनक अनिल को संग।
तैसे प्रेमी बिरह-नल, चढ़े सुरति को संग।
बेदरदी जरदी सगर, ताको लगे न तीर।
दरदी घट पट है नहीं, कैसे बचे सरीर।

'प्रवीण-सागर' ग्रंथ वास्तव में प्रवीणता का सागर है। इसमें काव्य, अलंकार, वैद्यक, ज्योतिष, संगीत, इतिहास, पुराण, वेदांत का कोई ऐसा विषय नहीं जिसका इसमें समावेश न हो। ग्रंथ वार्ता में है, वार्ता की नायिका कला-प्रवीण और नायक रस-सागर पर से ही ग्रंथ का नाम-करण किया गया है। काव्य और अलंकार की अद्भुत खूबियाँ, वर्णन-चातुर्य आदि ग्रंथ की सारी बातें अनूठी हैं। गुजरात में यह ग्रंथ बड़ा लोक-प्रिय है। राजकोट-नरेश महाराजा मेरामणिसिंहजी काव्य-शास्त्र के बड़े अच्छे ज्ञाता थे। नायिका अपने महल के झरोखे में बैठी है और नायक घोड़े पर बैठा हुआ बाज़ार से जा रहा है। उस समय जो दर्शनानुराग पैदा हुआ, उसका वर्णन कवि ने यों किया है—

कटि फेंट छोरन में भृकुटी मरोरन में,
शीस पेच तोरन में अति उरझायके।
मंद-मंद हाँसनि में बरुनी-बिलासनि में,
आनन-उजासन में चकचौंधि जाइके।
मोती मनि मालन में सोसनी दुसालन में,
त्रिकुटी के तालन में चेटक लगायके।
प्रेम-बानि दे गयो न जानिए किते गयो,
सुपंथी मन ले गयो झरोखे दग लायके।

इससे अधिक सुंदर भाषा का माधुर्य और हृदय का भाव अन्यत्र नहीं मिल सकता। प्राकृतिक वर्णन, चमत्कार-पूर्ण उत्प्रेक्षा, विविध रस-पूर्ण उपमा, तर्क-पूर्ण समस्याएँ पढ़कर पाठक मुग्ध हो जाता है। मदारी-बाजीगर जिस प्रकार अपना जादू का खेल रचता है, उसी का रूपक लेकर कवि ने वर्णन किया है—

बद्दर परच बँधे, दद्दरन घोरु डऊँरु,
चद्दर बिछाई, हरी हरताई धर की।
× × ×
बीज मुख ज्वाल साजी, जिनके खद्योत,
अरु सागर बनाय घन बाजी कारीगर की।

कवि के वर्णन में बड़ा सौंदर्य दिखाई देता है। यथा—

सातहरी दिन एक निसाचर
लंक लई दिन ऐसोई आयो;
एक दिना दमयंति तजी नल
एक दिना फिर ही सुख पायो;
एक दिना बन पांडव गे अरु
एक दिना छिति छत्र धरायो;
सोच प्रवीन कछू न करो
करतार यहै बिधि खेल बनायो।

८९. हरिजीवन

ये काठियावाड़ पोरबंदर के निवासी बड़े ब्रह्मनिष्ठ थे। इनकी बहुत-सी ब्रज-संबंधी कविताएँ पाई जाती हैं। ये कवि मेरामणिजी के ही समकालिक थे। उदाहरण—

कोउक राम ही राम रटैं अरु कोउक कृष्ण ही कृष्ण कहावैं।
कोउक योग समाधि करें प्रतिमा कोउ पूजि के पूजा दढ़ावैं।
कोऊ इमान रे मान सों जारत कोउक एक अनंत ठरावैं।
चेतन चाह बन्यो अपनी हरिजीवन भावी निमित्त धरावैं।

९०. दलपतराय वंशीधर

ये अहमदाबाद के निवासी थे। इनका लिखा हुआ 'अलंकार-रत्नाकर'-नामक ग्रंथ बड़ा नाम पा चुका है। उसमें इन्होंने अपनी कविता के अतिरिक्त हिंदी के कितने ही उत्कृष्ट और प्रसिद्ध कवियों की कविता भी संकलित की है।

९१. चौरामल

ये काठियावाड़ के निवासी थे। संवत् १८४५ तक

इनके जीवित रहने का पता चलता है। इनको स्फुट कविता में भारत-दुर्दशा विषयक कविताएँ अच्छी हैं। काठियावाड़ के राजाओं से अपमानित होकर कवि ने उनकी भर्त्सना यों की है—

कोउ घाचन के कोउ मोचिन के
कोउ लाड़क बाप लुआरन के;
कोउ नाइक के कोउ बोलन के
कोउ माई सुतार चमारन के;
कोउ धोबिन के कोउ चोबन के
कोउ मेमन के औ कुँभारन के;
ऐसे मिलै सब राज करैं वहाँ
जोर चलै कहाँ चारन के।

दूसरी कविता यह है—

आया है कली का ठौर भरोसर कागा रोर,
पोल-पोल ठौर-ठौर पाप-बेलि जागी है;
केती-केती रिद्धि-सिद्धि केते-केते सत ऋद्धि,
छोड़ी ही दुवांत·········हद्द लागी है।
झूठन की साँच करें सांच को बनावें झूठ,
पैसे बिन बात नहिं लोभ ज्वाल जागी है;
राजन की रीति गई पंचन प्रतीति गई,
अब तो अनीति से अनीति होन लागी है।

९२. फकीरुद्दीन

यह कवि चौरामल का ही समकालिक था, और सूरत का निवासी था। उदाहरण—

सूरत को सार गयो लोक को ब्योहार गयो,
रोजगार डूब गयो दसा ऐसी आई है;
टूटि गए साहूकार उड़ गई धार धार,
नहिं कोऊ कोऊ यार बैरी सगा भाई है।
खाने कूँ तो बिष नहीं रहने कूँ घर नहीं,
बात कहा कहूँ यार सबी दुखदाई है;
कहत फकीरुद्दीन सुनो हो चतुर जन,
टूटि गए तो भी पक्के सूरती सिपाही हैं।

९३. हीराचंद-काहनजी

ये कच्छ के निवासी थे। इन्होंने हिंदी 'भाषा-भूषण'-नामक ग्रंथ पर स्वतंत्र टीका लिखी है और 'उपमा-विलास' नाम का ग्रंथ भी रचा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने और कई ग्रंथ बनाए हैं और स्फुट रचना भी की है। ये कवि दलपति के समकालिक थे।

९४. रघुजी भाई

इनकी मृत्यु संवत् १९२७ में हुई। ये जैन थे। इनका 'श्रीमद् राजचंद्र'-नामक एक विस्तीर्ण ग्रंथ पाया जाता है। हिंदी-कविता का नमूना यह है—

जबहिं तो चेतन बिबाहु सों उलटि आई,
सचो पाइ अपनो सुभाव गहि लीनो है;
तबहिं तें जो-जो लेन जोग सों सों लीनो अहे,
जो-जो त्याग जोग सो-सो सब छोड़ दीनो है।
लेबे को न रही ठौर त्यागिबे को नहीं चौर,
बाकी कहा उबर्यो जू कारज न बीतो है;
संग त्यागि अंग त्यागि बचन औ रंग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्ध कीनो है।

ये कवि बड़ तत्त्व-ज्ञानी थे।

९५. सविता नारायण

ये कवि हिंदी के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने 'बिहारी-सतसई' पर एक टीका भी लिखी है, और इन्होंने स्वयं भी एक 'सतसैया' ग्रंथ लिखना आरंभ किया था; किंतु दुर्भाग्य-वश वह ग्रंथ अधूरा ही रह गया।

९७. इस्माइल

इसने संवत् १९३८ में साबरमती में रेलवे शुरू होने का वर्णन किया है। उदाहरण—

हुक्म खुदा का ऐसा आया मेघराज के ऊपर।
कि जेठ मास में तयार करिए तू सब अपना लश्कर।
मेघराज ने हुक्म खुदा का जो कहा सो माना;
जब कि आया जेठ महीना तब करने मांडा समाना।
हाथी घोड़ा ऊँट हजारा उनने सो किहु लीन्हे;
तंबू डेरे कनात सरिया जे सब तैयार कीन्हे।

९६. कवि नर्मदाशंकर

इनकी मृत्यु संवत् १९४४ में हुई। ये सूरत के निवासी नागर-जाति के ब्राह्मण थे। ये प्रसिद्ध समाज-सुधारक थे। इनकी बहुत-सी हिंदी-कविता पाई जाती है। इन कवि का गुजरात में वही स्थान है, जो हमारे भारतेंदु हरिश्चंद्रजी का युक्तप्रांत में।

९८. मोड़जी

ये मियागाम के ठाकुर थे। इनने अफ़ीम की निंदा में 'पोस्त-पचीसी'-नामक हिंदी-पुस्तक लिखी है। संवत् १९४३ तक ये जीवित थे। इनकी कविता साधारण है यथा—

होती जो मैं बिधवा तो सांख्य के सिद्धांत ही से,
ध्यान धारे ईश्वर में मन को लगावती ;
होती जो मैं सधवा तो प्रेम के उद्दीपन तैं,
प्रेम लपटाइ अति नाथ को रिझावती ।
होती जो कुमारिका तो पेखती न अन्य बर,
योग तो अनूप महा मोक्ष को मिलावती ;
हाय नहीं बिधवा न सधवा कुमारिका न,
नसंबाज पति सों न एको गति पावती ।

९९. दलपतराम

ये कवि नरमद के ही समकालिक थे। इनकी मृत्यु सन् १८९८ ई० में हुई। अलेक्जेंडर फार्ब्स-जैसे इतिहास-प्रिय सज्जन के पास रहने का इन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनकी हिंदी-रचना प्रशंसनीय है। इनका रचा हुआ 'श्रवणा-ख्यान'-ग्रंथ एक उत्तर भारतीय राजा को समर्पण किया गया है। स्वामी नारायण संप्रदाय के आचार्य का चरित्र 'पुरुषोत्तम-प्रकाश'-नामक हिंदी-ग्रंथ भी इन्होंने लिखा है। इसके अतिरिक्त कई छप्पय, कुंडलिया, कवित्त, सवैया आदि भी इन्होंने लिखे हैं।

१००. जीवन

बीसवीं शताब्दी के उदार और परोपकारी धनिक बंबई के सेठ दामोदर गोवर्धनदास का यह आश्रित था। इसी से इसने 'दामोदरशतक' की रचना की है, जिसका एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

कबिता कदरदानी गई गुजरात हो ते,
याते कबि-कोबिद में दारिद बिसेष्यो है ।
भूमिपति भूमिआदि दानन ते भए भए,
मद मदिरानन मे लुब्धपन लेख्यो है ।
कहाँ लौं बखानों कबि जीवन दमन देखि,
बंबई में एक सनमान थल पेख्यो है ;
कबिन दरिद्र कुंभी कुंभिन बिदारिबे को,
दामोदर गोरधन केसरी उलेख्यो है ।

१०१. नरसिंहाचार्य

गुजरात में 'श्रीश्रेयस्साधक अधिकारी-वर्ग' नाम की संस्था के प्रस्थापक श्रीमान् नरसिंहाचार्य भी हिंदी के बड़े रसिक थे और वे हिंदी में कविता किया करते थे।

१०२. गोविंद गिल्लाभाई

ये चौहानवंशीय क्षत्रिय सीहोर के निवासी थे। हाल ही में इनका स्वर्गवास हो गया। इनके पास हिंदी हस्त-लिखित पुस्तकों का भी अच्छा संग्रह था। इन्होंने हिंदी तथा गुजराती में काव्य-रचना की है। इनके राधा-मुख-षोडशी, नीति-विनोद, षड्-ऋतु, शृंगार-सरोजनी आदि कई ग्रंथ हैं, जिनमें नीति, वैराग्य तथा शृंगार का वर्णन है। उदाहरण—

सुनिए चतुर्बिध अरज हमारी एक,
आपको उमंगधारी चाहत कहन को ;
पूरब जनम के जो पाप पुण्य होय मेरे,
देहु फल ताके दिल चाहे सो सहन को ।
चाहे तो दरिद्री और कीजिए धनेस पुनि,
चाहे बल देहु बैर बपु में बहन को ;
गोबिंद सुकबि पर लिख्यो है ललाट नहीं,
नीरस न रस पास कबिता कहन को ।

यह तो हुआ प्राचीन गुजराती-साहित्य-सेवियों की कृतियों का हाल। अब हम आधुनिक और अद्यावधि जीवित गुजराती पंडितों के हिंदी-प्रेम का वर्णन और कभी करेंगे।

(समाप्त)

भास्कर रामचंद्र भालेराव

ग्रीष्म-गरिमा

(१)

करिकै बिषादित तृषादित उदित भयो,
आयो काल दूसरो जो दूसरो पहर भो ;
चून होत चंदन करत संध्या-बंदन के,
ताप सों निसीथ हू में क्रंदन-कहर भो ।
बरसति बह्नि औ झटिति झरसत छिति,
तापित तपन जीव-जंतु को अहर भो ;
ज्वाला भरी कठिन कराला भूमि-मंडल में,
भारी ब्योम-मंडल धुआँ को धौरहर भो ।

(२)

आवन सों ताप की पलासन के पुंज पेखो,
ह्वै करि प्रचंड चंड अरुन प्रभावा से ;
आरत जगत औ उजारत सघन बन,
चारों दिसि देखो ये लगे हैं दीह दावा से ।
लपटैं लपटि फुफकारतीं फुलिंगन-सी,
देह भई तावा सम गेह भए आवा से ;
पचि-पचि आहन पिघलि जात छाँहन मैं,
तचि-तचि पाहन चटकि जात लावा से ।

(३)

अमित अखंड अरिबंड महि-मंडल पै,
प्रबल प्रचंड मारतंड उमड्यो परै ।
तापित दिगंत परितापित अनंत भूमि,
सापित समुंदर धुआँ ह्वै उमड्यो परै ।
कमठ कठोर घोर क्रंदन-प्रसित कोल,
झटकि हजार भोत सेष झुमड्यो परै ;
मंडलीक मंडित महान घमसान करि,
कालानल कुपित घटा लौं घुमड्यो परै ।

(४)

कैधौं तीजे नैन सों हुतासन बगारि बिस्व,
त्र्यंबक अभंग भंग भ्रुकुटी अमैंठ्यो है ;
कैधौं प्रलयानल हलाहल उगालि आजु,
भूमि भूरि भसम करन काज ऐंठ्यो है ।
कैधौं बड़वाग्नि औ दवाग्नि चापि चंडिका,
—ह्वै के परचंड रेनु-रेनु धँसि पैठ्यो है ;
कैधौं जुग सहस जबानन सों ज्वाला काढ़ि,
उलटि धरातल फनीस चढ़ि बैठ्यो है ।

(५)

पिघलि-पिघलि पान-गौन को प्रकोप पेखा,
एक ओर हाय-हाय, दूजी ओर हा-हा है ;
झरसि-झरसि झारखंड ब्रहमंड चंड,
खंड-खंड खसित बिनास-अवगाहा है ।
मानौं आज संकर भयंकर प्रकोप करि,
बल प्रलयंकर सुकीय थिति थाहा है ;
एक हाथ डमरू त्रिसूल दूजे हाथ धरे,
तीजे हाथ बैस्वानर चौथे हाथ स्वाहा है ।

अनूप

तुलसीदासजी की सुकुमार सूक्तियाँ

देखि सीय सोभा सुख पावा ; हृदय सराहत बचन न आवा ।
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई ; बिरचि बिस्व कहँ प्रगट दिखाई ।
सुंदरता कहँ सुंदर करई ; छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई ।
सब उपमा कबि रहे जुठारी ; केहि पटतरिय बिदेहकुमारी ।
सिय सोभा हिय बरनि प्रभु, आपनि दसा बिचारि ;
बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि ।

जिन पाठकों ने मेरे उन रामायण-विषयक लेखों को देखा होगा, जो कानपुर की 'प्रभा' के गत अंकों में प्रकाशित हुए थे, उन्हें स्मरण होगा कि उपर्युक्त पदों के पूर्ववाले पदों में हमारे कुशल कवि ने पहले किस सुंदरता के साथ प्रेमिक को प्रेम की उस चोटी पर पहुँचाया है, जहाँ प्रेमिक तथा प्रेमिका के अस्तित्व का वैयक्तिक अनुभव भी मिट जाता है । शुद्ध प्रेम के इसी दर्जे को संस्कृत में 'समाधि' कहते हैं, जो वस्तुतः सर्वोच्च पद है । यहाँ मानुषीय काव्य-सौंदर्य में उसी का प्रतिबिंब है । निस्संदेह प्रेम एक ही है, और लौकिकता एवं अलौकिकता उसी एक प्रेम के दो दर्जे हैं ।

तत्पश्चात् कवि उपर्युक्त पदों द्वारा किस सुंदरता से प्रेमिक को धीरे-धीरे निमग्नता के दर्जे से वैयक्तिक अनुभव के दर्जे पर फिर वापस लाता है, ये विविध श्रेणियाँ विचारणीय हैं । निमग्नता से कुछ नीचे आने पर महाराज राम को सर्वप्रथम सुख का अनुभव हुआ ; क्योंकि आँखों ने तो इसी समय सीता को देखा था, अन्यथा इससे पूर्व तो द्रष्टा तथा दृश्य एक ही थे, कौन देखे और किसे देखे ? अस्तु । तत्पश्चात् वैयक्तिक अनुभव से नीचेवाले दूसरे दर्जे पर आकर हृदय-रूपी जिह्वा द्वारा प्रशंसा का प्रारंभ होता है । कवि प्रथम ही स्पष्ट बतलाता है कि अब भी प्राकृतिक जिह्वा में कथन-शक्ति नहीं है । इस विचार-दृष्टि से हृदयोद्गारों का स्पष्टीकरण, जिसे ही संपूर्ण कविता कहनी चाहिए, निमग्नता से उतरकर तीसरे दर्जे पर ही होता है । कविवर शेक्सपियर (Shakespeare) की स्वगत वार्ताएँ (Soliloquies) इसी तीसरे दर्जे की हैं, अन्यथा उपर्युक्त निमग्नता एवं अनुभव की श्रेणियाँ कहाँ और कथन-शक्ति कहाँ ? यह सत्य ही है—"Words but half reveal & half conceal the truth within" अर्थात् शब्दों द्वारा आधा सत्य प्रकट होता है और आधा गुप्त हो रहता है ।

अब आइए, तनिक राम-हृदय-मुख सीता की प्रशंसा सुनें, जिसे तुलसी-जैसा महाकवि ही इस सुंदरता से प्रकट कर सकता है । जब कि अन्य कवि तो यही सोचते रहते हैं—"होती ज़बाने-दिल तो सुनाते पयामे-दिल" । श्रीराम कहते हैं—

"जनु बिरंचि सब निज निपुनाई ;
बिरचि बिश्व कहँ प्रगट दिखाई ।"

(१) "बिरंचि" और "बिरचि" का शब्द-साम्य तथा अनुप्रास अत्यंत रोचक है—विशेषतः 'बिश्व' शब्द के साथ।

'रचना' का शब्द एक ओर तो कारीगरी के बहुत बढ़िया नमूने के लिये उपयुक्त होता है, और दूसरी ओर यही शब्द विश्व की अनुपम रचना के हेतु भी लाया जाता है। विष्णु (राम) के निमित्त ब्रह्माजी ने स्वभावतः अपने समस्त कौशल-नैपुण्य द्वारा यह एक सुंदर भेंट निर्माण की है। स्मरण रहे कि यह दृश्य शृंगार का है, जिसमें विष्णु का व्यक्तित्व बहुत प्रकट नहीं है, प्रत्युत वही 'मनोहर राजकुँवरि' का व्यक्तित्व सामने है। किंतु ऐसे व्यक्तित्व के ख़याल से भी सौंदर्य की एक अनुपम प्रतिमा देखकर किसी मनुष्य के दिल में भी ब्रह्मा की कौशल-पूर्ण रचना का ख़याल आना नितांत स्वाभाविक ही है। मैंने विष्णु के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की ओर इस कारण संकेत किया है कि पाठकों को यह भूल न जाय कि (जैसा मैं पहले कह चुका हूँ) तुलसीजी ज़मीन और आसमान के कुलाबे मिलाते हैं अर्थात् लौकिक तथा अलौकिक प्रेम का साहचर्य निभाते हुए आध्यात्मिकता और मनुष्यता को एक साथ क़ायम रखते हैं। अतः शृंगार में भी ईश-प्रेम का ऐसा सुंदर समावेश होता है कि न तो शृंगारी रंग में ही फ़र्क़ आने पाए और न सदाचार ही हाथ से जाए।

(२) "विश्व कहँ प्रगट दिखाई"—किसी हिंदी कवि की इस उड़ान की बड़ी तारीफ़ होती है—"प्रेमिका-निर्माण के पश्चात् ब्रह्मा ने जिस कुंड में हाथ धोए वह चंद्रमा हो गया और हाथ धोकर झटक देने से हर बूँद तारा बन गया।" पर जिस प्रेमिका को बनाने के बाद हाथ धोने की ज़रूरत पड़े, उसका दोषयुक्त होना भी प्रकट ही है। फिर मूर्ति को एक ओर रखकर फ़ुर्सत से हाथ धोने का ख़याल निमग्नता से कहीं दूर है। कम-से-कम ब्रह्मा की विचार-दृष्टि से मूर्ति साधारण ही रही होगी—यद्यपि हमारे विचार से वह कितनी ही बढ़िया क्यों न हो कि जिसके बचे-खुचे मसाले को हाथों से धो डालने से चंद्रमा तथा तारागण बन गए ; पर सूक्ष्म दृष्टि से यह प्रश्न हो सकता है कि अगर रंग और मसाला ख़राब न होता, तो हाथ धोने की क्या ज़रूरत थी, और अगर तनिक भी निमग्नता होती, तो हाथ धोने का ख़याल ही कब होता ? यहाँ 'बिरचि' शब्द की क्रियारूपी बनावट (जिससे शीघ्रता-पूर्वक एक कार्य से दूसरे कार्य का होना प्रकट है) से यह स्पष्ट ही है कि ब्रह्माजी को रचकर दिखाने के अतिरिक्त दूसरे काम की फ़ुरसत न थी, और न थी हाथ धोने की ज़रूरत।

एक प्रतिमाकार के विषय में यह बात मशहूर है कि जब प्रतिमा बनकर तैयार हो गई, तो स्वयं प्रतिमाकार निमग्नता की दशा में उससे लपटकर अपने आपको ही भूल गया। पर यहाँ प्रतिमाकार के विचारों की निर्बलता तथा उसकी प्रकृति-पूजा की भावना ये दोनों इतनी स्पष्ट हैं कि उसे तुलना के निमित्त रखना नितांत अनुचित है। ब्रह्मा की निमग्नता उस निःस्वार्थ एवं स्वाभाविक आनंद से संबंध रखती है, जिसे ध्यान में रखते हुए मिलटन (Milton) एक जगह लिखता है—"हम ख़ुशी में दूसरों का सम्मिलन और दुःख की दशा में एकांतवास चाहते हैं।" ब्रह्माजी भी अपने कौशल का सर्वोत्कृष्ट नमूना समस्त जगत् को दिखाकर उससे सराहना के इच्छुक हैं, और क्यों न हों ?

प्रगट दिखाई—इसी से स्पष्ट सगर्वता के साथ समस्त संसार को अपनी कौशल-पूर्ण रचना को दिखलाना फूटा पड़ता है। कविता की कितनी अच्छी उड़ान है। वस्तुतः राम का हृदय उदात्त विचारों से परिपूर्ण था, और इसी कारण उनकी जिह्वा से ऐसे अछूते प्रशंसात्मक वाक्य निकले हैं। इस सगर्वता को योग्यता का स्वाभाविक परिणाम ही समझना चाहिए। कविगण भी इससे अछूता नहीं। देखिए 'ग़ालिब' फ़र्माते हैं—

"यह मसायले तसव्वुफ़ यह तेरा बयान 'ग़ालिब' ;
तुझे हम वली समझते जो न वादहख़्वार होता।"

'दाग़' कहते हैं—

"उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं 'दाग़' ;
हिंदोस्ताँ में धूम हमारी ज़बाँ की है।"

अतः कौशल के नमूने की सराहना की इच्छा से दिखलाना नितांत स्वाभाविक है। ज़रा किसी कवि कलाविद् को छेड़ दीजिए, और वह स्वयं ही अपने कमाल के नमूने दिखलाना शुरू करेगा। सत्य ही कहा है—"The impulse of self expression is the origin

of all art." (स्व-प्रकाशन की भावना समस्त कलाओं की मूलाधार है) । स्वयं परमात्मा की सृष्टि का निर्माण करते हैं, उसमें भी यही रहस्य है ।

विश्व कहूँ—एक ब्रह्मांड को नहीं, दो को नहीं, प्रत्युत संपूर्ण विश्व को। यों तो प्रायः प्रत्येक प्रेमिक अपनी प्रेमिका की अद्वितीयता का दावा करता है; परंतु तुलसीजी ने पुष्प-वाटिकावाले दृश्य में स्थान-स्थान पर सीता की प्रशंसा की विविध श्रेणियाँ इस सुंदरता से स्थिर की हैं कि अंत तक पहुँचकर यह दावा अक्षरशः सत्य प्रमाणित हो जाता है। प्रकृत जगत् की क्या सभी सुंदर वस्तुएँ, क्या रूप-लावण्यमयी महिलाएँ, यहाँ तक कि सुर-बालाएँ भी सीता की समकक्ष नहीं ठहरतीं। यही नहीं, अपनी काव्य-कल्पना द्वारा 'छवि-सुधा-पयोनिधि' को मथकर तुलसीदासजी स्वयं जो लक्ष्मी तैयार करते हैं, उससे भी सीता को कहीं अधिक उच्च स्थान देते हुए कहते हैं कि ऐसी लक्ष्मी की उपमा तनिक-तनिक संकोच के साथ ही सीता से की जा सकती है—सीता की लक्ष्मी से नहीं* ।

ऐसी देवी को उत्पन्न कर ब्रह्मा का गर्वान्वित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं, तथा उसे संपूर्ण विश्व को दिखलाना भी कुछ अनुमान-विरुद्ध नहीं ।

बिरचि, बिरंचि और विश्व में अनुप्रास की छटा भी दर्शनीय है । इसमें 'च' की पुनरुक्ति और 'स' की प्रयोग-विधि एक विशेष शाब्दिक-आकर्षण पैदा करती है । सब के प्रयोग-प्राबल्य को ध्यान में लाइए । यह कोई चलती हुई बात नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मा ने अपने कला-नैपुण्य-प्रदर्शन में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी । ठीक ही था । ऐसा न होता, तो रामजी प्रभावित ही क्यों होते? प्राकृतिक तत्त्व भी हैं, तथा आध्यात्मिक भी—रूप भी है, तथा गुण भी ।

संक्षिप्तता भी कितनी है—(१) नख-शिख-वर्णन में पड़कर एक और आचार का अतिक्रमण संभव था (२) अंग की विस्तृत व्याख्या में पूर्ण चित्र का प्रभाव और मुग्धता का मज़ा मिट जाता । (३) अभी तो प्रथम ही दर्शन था, और वह भी मुग्धता की चकाचौंध में ; अतः नख शिखावलोकन का अवकाश ही कहाँ मिला ?

निज-निपुणाई—में 'नि' का अनुप्रास दर्शनीय है । इसके अतिरिक्त 'निज' पर विशेष बल दिया गया है । तात्पर्य यह कि ब्रह्मा ने स्वयं अपने कौशल का कोई भाग उठा नहीं रक्खा—उस कौशल का नहीं, जिसे मनुष्य कौशल कहते और समझते हैं । भला मनुष्य ही क्या और उसका कौशल ही क्या ? यहाँ तो ब्रह्मा का निजी कौशल है, जिससे कुशलतर कर्ता कोई क्योंकर हो सकता है ?

सत्य ही है कि जब तक तनिक पार्थक्य न हो, रुचि का यथार्थ अनुभव नहीं होता । इसी कारण तो भक्त-जन कहते हैं—"पद न चहौं निर्बान ।" राजकुमार की मुग्धता आंतरिक प्रेम की मुग्धता भले ही हो; पर वह अभी उसे सौंदर्य की मुग्धता के अनुरूप ही ख़याल कर रहे हैं, अन्यथा अपनी वस्तु और विशेषतः अपनी प्रेमिका को समस्त संसार के समीप लाने का ख़याल दिल में पैदा ही न होता । अभी वह 'जनकतनया' है, 'विदेहकुमारी' है, पर प्रेमिका नहीं है । 'प्रिया' होने के पश्चात् राम ने प्रशंसा कभी नहीं की । वनवास की दशा में भी सीता की प्रशंसा अलंकारों में ही गुप्त है । कहते हैं कि कमल, खंजन इत्यादि आज तेरे चले आने से इतरा रहे हैं । अभिप्राय यह है कि वे तेरे कपोलों एवं नेत्रों के आगे लजाते थे । शाब्दिक योजना का एक और नयनाभिराम नमूना देखिए । सारे शब्द ऐसे

* मैंने राम को अधिकतर विष्णु का अवतार ही लिखा है, परंतु सैद्धांतिक रूप से तुलसीदासजी राम को परमात्मा का अवतार मानते थे। इसका समर्थन रामायण के विविध विवरण, विशेषतः काकभुशुंडि के उस अनुभव से होता है कि उन्होंने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तो अनेक देखे, पर राम एक ही देखा। मैं अध्यात्म-विद्या का पारंगत नहीं, अतः मुझे कुछ संदेह था; पर वह पं० गिरिधरशर्मा के उस विवेचनात्मक लेख से दूर हो गया, जो श्रीनागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी-ग्रंथावली के तृतीय भाग में "गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार" के शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। पंडितजी की भी यही सम्मति है कि तुलसीजी राम को ईश्वर का अवतार मानते थे। अस्तु। इस विचार-दृष्टि से हम उपर्युक्त विवरण में कि तुलसीजी की काव्य-कल्पना से बनी हुई लक्ष्मी भी सीता के समीप नहीं ठहर सकती, एक नवीन चेतना उत्पन्न हो जाती है, और समस्त काव्य-कल्पना अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं, प्रत्युत वास्तविकता-पूर्ण घटना बन जाती है; क्योंकि जब राम ईश्वर के अवतार हुए, तो सीता भी आदि-शक्ति का अवतार हुईं, जो वस्तुतः लक्ष्मी से महत्तर हैं, और जहाँ तक काव्य-कल्पना भी, जो नाम एवं रूप के अधीन है, नहीं पहुँच सकती। आकाश-वाणी में भी यही वादा था कि 'आदि-शक्ति-समेत अवतरिहौं ।'

हैं, जो रुक-रुक कर पढ़े जाते हैं। वाह, किस प्रकार रुक-रुक कर प्रशंसक की जिह्वा व राम के हृदय से ये शब्द निकलते होंगे, और स्रष्टा ने वैसा ठहर-ठहरकर और रच-रचकर सीता की सृष्टि की होगी! पाठकों से प्रार्थना है कि वे एक-एक शब्द को देखें, परखें और उसके भीतरी रस को भौंरे की भाँति चखें। समूची प्रशंसा-भर में यही क्रम है, जैसा आगे की चौपाइयों से भी प्रकट होगा। कैसी सूक्ष्म उक्ति है, मानो राम का हृदय ठहर-ठहरकर ब्रह्मा के कौशल के एक-एक भाग को तथा सीता के सौंदर्य के एक-एक अंश को परख रहा है।

जनु — (उत्प्रेक्षा) निम्न-लिखित व्याख्या की मनोहरता में कवि के कमाल को देखिए —

इस उपमा में केवल राम के हृदय पर सीता के असाधारण रूप-लावण्य से जो प्रभाव पड़ा है, और उससे उनके अनुभव-पूर्ण हृदय ने जो अनुमान सीता की उत्पत्ति के विषय में किया है, उसी की ओर संकेत है। 'जनु' के प्रयोग द्वारा कवि ने किस संपन्नता से इस अनुमान को घटना की वास्तविकता के नीचे ही रक्खा है, अतः अपनी उस कवि-सुलभ उड़ान के लिये गुंजाइश रख ली है। जिसमें आगे चलकर लक्ष्मी की उत्पत्ति की तमाम त्रुटियाँ बतलाते हुए काव्योपम परिवर्तन के साथ नई रीति पर नई लक्ष्मी बनाने का अवकाश शेष रहे।

फिर सीता को लक्ष्मी का नहीं, प्रत्युत आदि-शक्ति का अवतार माना है। अगर 'जनु' का विभिन्नता-सूचक शब्द उपमा के साथ न होता, तो उन श्रेणियों के लिये जिनका उल्लेख सांकेतिक रीति पर उपर्युक्त व्याख्या में हो चुका है, स्थान ही बाक़ी न रहता। फिर काव्योपम रीति पर ही यदि अधिकतर स्पष्ट शब्द द्वारा विभिन्नता दिखाई जाती, तो शृंगार का मज़ा ही जाता रहता। हृदय की मुग्धता एवं चित्त की एकाग्रता मिट जाती और समय से पूर्व ही समीकरण का प्रादुर्भाव हो जाता।

परंतु, यह शब्द सांकेतिक रीति पर बतलाता है कि आत्मा में (अप्रकट) राम को सीता के असली व्यक्तित्व का वह ज्ञान है, जिसके कारण यह शब्द भी वैसे ही अकस्मात् निकल गया है, जैसे उनके 'सुभग अंगों' में फड़क पैदा हो गई है। बहुधा ऐसा होता ही है कि हम अपने अप्रकट भावों के निमित्त कुछ ऐसे शब्द अकस्मात् ही कह डालते हैं, जिनकी समुचित व्याख्या एवं गुरुता को हम स्वयं ही उस समय नहीं समझते।

दूसरी ओर शृंगार की विचार-दृष्टि से सीता के सौंदर्य की कितनी प्रबल स्वीकृति है कि इतनी प्रशंसा करते हुए भी राम का दिल नहीं भरता और प्रशंसा के साथ 'जनु' शब्द को रखते हुए मानो उसी समय कहता है कि यह भी केवल अनुमान है और अभी कुछ शेष है। द्वितीय अनुमान में भी जो अभी एक श्रेणी आगे है और जिसे आगामी चौपाई में प्रकट किया गया है, पुनः इसी शब्द का प्रयोग मनोहरता को अधिकतर मनोहर बना देता है।

यदि उपर्युक्त आध्यात्मिक श्रेणियों को तनिक देर के लिये विस्मृत कर दिया जावे (तथा प्रारंभ में आध्यात्मिक श्रेणियाँ अप्रकट हैं भी) तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शृंगार की यह विशेषता है कि प्रत्येक प्रेमिक अपनी प्रेमिका को अतुलनीय समझता है और —"एक से जब दो हुए तो लुत्फ़े-यकताई नहीं" के विचार से दूषित होता है।

सुंदरता कहँ सुंदर करई ; छबि-गृह दीप-सिखा जनु बरई।

अभी बतलाया गया है कि 'जनु' शब्द से मानो राम का दिल यह कह रहा है कि जो प्रशंसा है वह केवल अनुमान ही है, और प्रत्यक्ष के हेतु कुछ गुंजाइश अब भी बाक़ी है। अगर गुंजाइश न होती, तो द्वितीय अनुमान तथा इस चौपाई की ज़रूरत भी न बाक़ी रहती : पर सत्य तो यह है कि कहाँ प्रियतमा का सौंदर्य और कहाँ उसकी अनुमानात्मक व्याख्या ? कुछ तो सदा ही शेष रहेगा। इसी कारण इस चौपाई में भी 'जनु' का ही शब्द उपमा के साथ पुनः प्रयुक्त हुआ है।

प्रश्न होता है कि आख़िर प्रथम अनुमान में क्या कमी थी कि द्वितीय काव्योपम उड़ान की आवश्यकता होती ; क्योंकि प्रथम पद की व्याख्या से तो विदित होता था कि यथासंभव शृंगार की दृष्टि से वैसी उड़ान समाप्त हो चुकी। हाँ, कदाचित आध्यात्मिकता की दृष्टि से कुछ शेष रह गया हो।

पाठकगण ! तुलसीजी का यह विचार सूक्ष्मताओं से इतना परिपूर्ण है कि प्रत्येक मनुष्य को उसकी साहित्यिक रुचि एवं प्रौढ़ता के अनुसार एक नवीन सूक्ष्मता दृष्टिगत होगी। वस्तुतः प्रथम पद में सीता के सौंदर्य की सीधे ढंग पर कुछ भी प्रशंसा न थी, प्रत्युत उनके निर्माता के निमित्त से अनुमान का ही उल्लेख हुआ था। केवल उसी

पद के होते, कोई भी यह कह सकता था—"ऐसा तो हर चीज़ के लिये जिस पर हमारा दिल आसक्त हो कहा जा सकता है। कोई सौंदर्य-संबंधी बात भी तो कहिए, जिस पर आप इतनी दून की ले रहे हैं। अन्यथा तुलसीजी पर भी वही अयोग्यता एवं असमर्थता का दोष लगेगा। आख़िर क्या सुबूत है कि सीता का वाह्य एवं आंतरिक सौंदर्य ऐसा था, जिस पर वस्तुतः स्रष्टा का इतना गर्वान्वित होना उचित कहा जा सकता है।"

इस पद से लेकर पुष्प-वाटिकावाले दृश्य के अंत तक स्थान-स्थान पर सीता-संबंधी जिन उपमाओं व तुलनात्मक विचारों का प्रयोग हुआ है, यहाँ तक कि तुलसीजी ने अपनी काव्य-कल्पना द्वारा एक नवीन लक्ष्मी बनाकर भी इसे सीता से कम ही ठहराया है, यह सब इसी कथन की पुष्टि के निमित्त ही है। कुशल कवि ने अनेक तुलनाओं द्वारा हमको काव्य-कल्पना की उस सूक्ष्म उच्चता तक पहुँचा दिया है, जहाँ तक संसार की कविता कम ही पहुँच सकी है। अगर इस विचार से सीता के प्रशंसा-विषयक पदों को संगृहीत किया जाय, तो उनसे जो गुलदस्ता बनेगा, वह इस काव्य-वाटिका के संरक्षक को साहित्य-जगत् में उच्चतम स्थान दिलाने के लिये पर्याप्त ही होगा।

परंतु, जहाँ काव्य की दृष्टि से ये समस्त श्रेणियाँ एक दूसरे से उच्चतर होती हुई हमें कविता की उच्चतम श्रेणी पर पहुँचा देती हैं, वहाँ प्रेम-पूर्ण भाव की व्याख्या की दृष्टि से ये निमग्नावस्था से उतार की श्रेणियाँ हैं। उपर्युक्त पद इस विचार-दृष्टि से उतार की तृतीय श्रेणी है। प्रथम श्रेणी में 'सुख पाना' अर्थात् सुख का अनुभव था, द्वितीय में सर्वांगीण प्रभाव और अब तृतीय में सौंदर्य के विविध भागों के विवाद का प्रारंभ मानो सौंदर्य का सर्वांग है। 'सुंदरता', 'छवि' इत्यादि की पृथक्-पृथक् व्याख्या होगी, मानो सौंदर्य के नख-शिख का वर्णन होगा। उपर्युक्त उभय दृष्टिकोणों से तुलना करने में प्रत्येक साहित्य-प्रेमी को उसकी हार्दिक प्रवृत्ति के अनुसार अनैक्य-पूर्ण आनंद ही प्राप्त होता है।

मेरे एक सुयोग्य मित्र ने एक बार हिंदू-विश्वविद्यालय में मेरे रामायण-संबंधी भाषण के समय यह कहा था—"प्रो० बोल्टन (Prof. Boulton) ने लिखा है कि शेक्सपियर (Shakepeare) का यह असत्य पद्यार्ध—"Frailty thy name is woman." "निर्बलता! तेरा ही नाम स्त्री है", उपमा की दृष्टि से संसार में असाधारण कोटि का है" और उसकी अधिक व्याख्या करते हुए उन महोदय ने यह बतलाया है कि उपमा में उपमान, उपमेय तथा उपमा के कारण इत्यादि के अंतर बराबर देख पड़ते हैं, यह बात नहीं होती कि (Frailty) निर्बलता और (woman) स्त्रीत्व—ये दोनों पर्याय बन जावें। वस्तुतः इससे हमारे हृदय में संसार-प्रसिद्ध कवि शेक्सपियर के प्रति एक विशेष सम्मान का भाव उत्पन्न होता है : परंतु यदि इतना ही काव्य-कौशल इतना सम्मानास्पद है, तो उपर्युक्त चौपाई के दोनों पदों में केवल इतना ही कहना पर्याप्त था—"सुंदरता! तेरा नाम सीता है" अथवा "छवि! तेरा नाम सीता है।" (Beauty! thy name is Sita or Glory, thy name is Sita)

क्या इसी एक साम्य के कारण आप तुलसी और शेक्सपियर को एक ही दर्जा न देंगे? पर सच तो यह है कि तुलसीजी इससे अधिक के अधिकारी हैं और कम-से-कम इस विचार-दृष्टि से वह शेक्सपियर से आगे बढ़ गए हैं। तनिक विचार कीजिए, तुलसीजी कहते हैं—"सीता सुंदरता को सुंदरतर करती है।" सीता स्वयं सुंदरता नहीं है, प्रत्युत सुंदरता को सुंदरतर बनाने वाली है। अगर सुंदरता स्याह मख़मली ज़मीन है, तो सीता उस पर सोने का काम है! अगर सुंदरता एक सौंदर्य की देवी है : तो सीता उसकी शृंगारकर्त्री है! अगर सुंदरता सोना है, तो सीता उसका कुंदन! संक्षेप में सुंदरता का बनाव, सिंगार, निखार जो कुछ आप कहें, वह सीता है।

एक बात जो दोनों कवियों की कविता में समानरूपेण विद्यमान है, वह विचारणीय है। वह यह कि दोनों ने abstract noun (विशेषण का नाम) प्रयुक्त किया है। तात्पर्य यह कि जहाँ तक उस विशेषण का अनुमान किसी काव्योपम उड़ान से हो सके, वह सब-का-सब समाविष्ट रहे। सुंदरता और सुंदर की समानता एवं पुनरुक्ति भी दर्शनीय है।

देखिए एक और है बारीकी। इस पद्यार्ध में "अनु" शब्द नहीं है, यहाँ यह शब्द अवश्य ही बेजोड़ होता; क्योंकि यहाँ जो वर्णन है, उसमें न सुंदरता की कोई हद हो सकती है और न उस दृष्टि से सुंदर करने की कोई हद। ये दोनों प्रत्येक मनुष्य को उसकी योग्यता के अनु-

सार विचार-विषयक उड़ान की आख़ीरी हद तक ले जा सकती है। ऐसी दशा में 'जनु' शब्द की गुंजाइश कहाँ ? पर ज्यों ही द्वितीय पदार्ध में उपमा का ध्यान आया कि 'जनु' शब्द अपने समस्त सौंदर्य-सहित प्रयुक्त हुआ। क्या कमाल है कि ब्रह्मा की कारीगरी का ध्यान दिलानेवाले पद तक में 'जनु' शब्द था, पर यहाँ नहीं है। कारण यही कि सुंदरता एक विशेषण है, जो अपनी परिधि में सीमा-हीन है।

अभी उतार निमग्नता के ख़याली (abstract) दर्जे पर ही है। विशेषण की दुनिया है, विशेष्य की नहीं। हाँ, वर्णन में केवल इतना विस्तार हुआ है कि निर्माता की प्रसन्नता के प्रकटीकरण द्वारा निर्मित वस्तु का विचार होने के स्थान में अब स्वयं वह वस्तु अपनी सुंदरता-सहित समीप आ गई ; परंतु अब भी साधारण मनुष्य की विचार-शक्ति के सहायतार्थ कोई उपमा की सीढ़ी नहीं है। वस्तुतः उपमा से भी यही काव्योद्देश्य हुआ करता है कि अन्यों की विचारशक्ति को साहाय्य देकर कवि के विचार तक पहुँचाए। अन्यथा यदि विचार इतना सरल नहीं है कि उसके लिये उपमा की आवश्यकता हो, तो ख़ाहमख़ाह उपमाओं एवं अलंकारों की भरमार केवल व्यर्थ कृत्रिमता है, कविता नहीं। हमारे हृदय में दो व्यक्तियों का ध्यान होता है—एक व्याख्याता और एक वह जिसके लिये व्याख्या की जावे, और इस कारण हम स्वाभाविकतः अपने हृद्गत विचारों के प्रकटीकरण में भी उपमाओं एवं अलंकारों की खोज करते हैं। संक्षिप्ततः सिद्धांत एक ही है।

अब उपर्युक्त उभय अनुमानों द्वारा वर्णन की पर्याप्त व्याख्या नहीं हो सकी, तो प्राकृतिक दृश्य की उपमा द्वारा 'छबि' और सीता का संबंध दिखलाना आवश्यक हुआ। 'छबि', 'सुंदरता' से कम दर्जे की है। क्योंकि वह सुंदरता का केवल एक अंश है, जिसे सुंदरता का प्रकाश-मात्र कह सकते हैं। यदि 'सुंदरता' एक समुद्र है, तो 'छबि' उसकी एक तरंग। यदि 'सुंदरता' पुष्प है, तो 'छबि' उसकी पंखड़ी। इसी कारण तो 'सुंदरता' के विस्तार-मूलक विचार के लिये कोई उपमा 'जनु' शब्द द्वारा भी न मिल सकती थी। 'छबि' के लिये उसका मिलना संभव हो गया।

कैसी सुंदर उपमा है—"जैसे अँधेरे में दीपक की बत्ती जलती है, उसी प्रकार सौंदर्य-रूपी गृह में सीता का प्रकाश है।" मानो 'छबि' सीता के सौंदर्य-प्रकाश के सामने उतनी ही स्याह है, जैसे अँधेरा घर दीपक के प्रकाश के सामने। जैसे अँधेरे घर का उजाला दीपक है, वैसे ही छबि-रूपी गृह का उजाला सीता है। कुछ इसी प्रकार मित्रवर 'सेहर' जब राजा दुष्यंत का प्रथम-प्रथम शकुंतला के अवलोकन में मुग्ध होना दर्शाते हैं, तो दोनों का प्रभावित होना यों प्रकट करते हैं—

वाँ पर्तवे-ख़ुर से पुरज़िया चाँद ;
याँ सायए-मह से मेह्र था माँद।

अर्थात् वहाँ सूर्य (दुष्यंत) के प्रतिबिंब से चंद्रमा (शकुंतला) प्रकाश-पूर्ण था, और यहाँ चंद्रमा की छाया से सूर्य धुँधला हो रहा था।

पर 'सेहरजी' के यह उपमान तथा उपमेय दोनों प्राकृतिक ही हैं, और यहाँ यह विचित्रता है कि तुलना की एक वस्तु अर्थात् 'छबि' विशेषण के नामवाले रूप में है, जिसमें उस विशेषण का समस्त भंडार गुप्त है, और फिर भी वह सीता के सामने इस तरह प्रभा-हीन नहीं दिखाई गई, जैसी एक रोशन चीज़ दूसरी के सामने, बल्कि 'छबि' सीता के सामने बिलकुल स्याह नज़र आती है। इस अतिशयोक्ति में भी वास्तविक एवं स्वाभाविक बात हाथ से नहीं जाने पाई। ऐसा तो प्रतिदिन देखा जा सकता है कि अधिक प्रकाश-पूर्ण स्थान से कम प्रकाश-पूर्ण स्थान में आने से पहले एकदम अँधेरा ही दिखता है और फिर कहीं धीरे-धीरे वहाँ के प्रकाश का अनुभव होता है। तुलसीजी के अति रंजन में यह स्वाभाविकता की झलक क़रीब-क़रीब हर जगह मौजूद है और वस्तुतः कविता का शृंगार वही अतिशयोक्ति हो सकती है, जो स्वाभाविकता से नितांत रहित न हो। अन्यथा मेरी राय में तो कोरा मुबालग़ा एक दोष ही है। अब आगे चलकर आपको सीता का वास्तविक व्यक्तित्व (आदि-शक्ति) ज्ञात होगा, तो प्राकृतिक छवि से उनकी यह तुलना अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं, प्रत्युत सत्य ही जान पड़ेगी।

करई, बरई—में 'अन्य पुरुष' वाचक शब्दों के प्रयोग से सीताजी के अल्पवयस्कता-संबंधी शृंगारात्मक सरलता को कितना सरस बना दिया है, और राम का उनकी ओर होनेवाले अकृत्रिम आकर्षण को कितना उभार दिया है। विशेषतः बरई शब्द साधारण बोलचाल का ऐसा मज़ा

दे आता है कि शायद व शायद। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अभी कवि सीता के व्यक्तित्व को शृंगार के प्राकृतिक परिधि के अंदर स्थिर रखते हुए नाटक संबंधी प्राकृतिक सौंदर्य के दर्पण दिखानेवाले के दर्जे पर हैं, न कि उस सौंदर्य को सँवारनेवाला बनकर महाकाव्य की उड़ान के दर्जे पर।

परंतु उपर्युक्त व्याख्या से यह भी प्रकट है कि आवश्यकतानुसार सूक्ष्म दृष्टि के लिये इस नाटक में भी महाकाव्य की उड़ान के संकेत विद्यमान हैं; परंतु इतने स्पष्ट नहीं कि शृंगारी नाटक का मज़ा फीका पड़ जाय और केवल शुष्क सदाचार-मूलक प्रेरणा की गरम हवा से झुलसती हुई चट्टान ही रह जावे और न इतनी जड़-वादिता है कि बाह्य सौंदर्य की मुग्धता में वास्तविकता का लोप हो जावे।

यहाँ किसी ऐसी ईर्ष्या का लेश भी नहीं है, जो आगे चंद्रमा इत्यादि की समानता के संबंध से होगा, और इसलिये सुंदरता या छवि के साथ तुलना करने में इन दोनों के सौंदर्य का विकास इस रीति पर हुआ है कि ये दोनों ही सीताजी से उसी प्रकार प्रसन्न रहें, जैसे कोई सुंदरी अपनी शृंगारकर्त्री से या कोई मनुष्य अपने गृह-दीपक के प्रकाश से। मैं प्रथम ही लिख चुका हूँ कि तुलसीजी की शृंगार-व्याख्या में लौकिक प्रेम की उस हलचल का पता भी नहीं है, जिससे पाश्चात्य जगत् आकुल हो रहा है। चंद्रमा इत्यादि के साथ समानता में भी केवल प्रेमिका की अद्वितीयता के निश्चय-रूपी आवेश का सुंदर स्पष्टीकरण ही है, जिसे ईर्षा तो कदापि नहीं कह सकते। हाँ, ईर्षा की उस मनोहर झलक से व्यक्त कर सकते हैं, जिसका किंचित् भाव इस पद्य में है—

> एक से जब दो हुए तो लुत्फ़ यकताई नहीं।
> इसलिये तस्वीरे जानाँ हमने खिंचवाई नहीं।

तुलना का कैसा सुंदर सिद्धांत है कि 'सुंदर' और 'छवि' के सामने सीताजी बढ़ भी जावें और सुंदरता एवं छवि के तिरस्कार के स्थान में उनकी सौंदर्य-वृद्धि भी हो जावे।

सब उपमा कबि रहे जुठारी; केहि पटतरिय बिदेहकुमारी।

(१) कार्लाइल (Carlyle) के कथनानुसार प्रत्येक प्रतिभावान् पुरुष अपने शब्द या कार्य में अवश्य ही काव्यमय होता है। इसीलिये तुलसीजी ने यह चौपाइयाँ (अर्थात् पवित्र भावों के विचित्र नमूने) महाराज राम की हृदय-रूपी जिह्वा से कहलाई हैं, जिसकी हवस ही 'ग़ालिब' के दिल में रह गई; परंतु कितनी सुंदर सूक्ष्मता है कि हमारे कवि को 'पयामे-दिल' (हृद्गत संदेश) के लिये 'ज़बाने-दिल' मिली भी तो उसके लिये समुचित अलंकार व उपमा का मिलना मुश्किल था, क्योंकि एक तो राम प्रभृति पवित्र व्यक्ति के प्रेम से प्रभावित महारानी सीता-जैसी शारीरिक एवं आत्मिक सौंदर्य की देवी की प्रशंसा के निमित्त अलंकार व उपमा का प्रयोग करना और फिर इस प्रकार कि 'ज़बाने-दिल' के लिये उचित हो हो! अगर मामूली ज़बान से कहने की ज़रूरत होती, तो 'फिर भी ज़बान ग़ैर है इसमें कहाँ है सोज़'—इत्यादि का बहाना मिल जाता और साधारण उपमाओं से भी काम चल जाता। अलंकार एवं उपमा की खोज जितनी स्वाभाविक है, काठिन्य-प्रिय स्वभाव के लिये उपयुक्त उपमा और अलंकार का मिल जाना उतना ही मुश्किल है। यद्यपि महाराज राम अलंकार एवं उपमा की खोज में अपनी सूक्ष्म विचार-शक्ति पर ज़ोर दे रहे हैं, परंतु इस पर कभी तैयार नहीं हैं कि भली-बुरी जैसी भी उपमाएँ मिल जावें, उन्हीं को पर्याप्त समझें। ठीक भी है, जब उपमा वास्तविक चित्र न दिखला सकी, तो वह उपमा तथा उसका प्रयोग ही क्या?

(२) क्या कमाल है कि जहाँ कवि-कल्पना का अंत है (अर्थात् उपमा एवं अलंकार द्वारा किसी का सौंदर्य-व्याख्या करना) उस दर्जे को महाराज राम का पवित्र एवं प्रेम-पूर्ण हृदय और तुलसीजी का कला-कौशल तुरंत ही छोड़ देता है। कमल-पुष्प की पंखड़ियाँ जो 'शौक़' के कथनानुसार शताब्दियों तक संस्कृत-कविता की घुड़दौड़ का मैदान बनी हुई थीं, उस प्रेमिका की प्रशंसा के निमित्त पर्याप्त नहीं हैं। गुलाब में भी वह रंग कहाँ? संक्षेप में सभी उपमाएँ त्याज्य ही ठहरती हैं।

(३) परंतु यदि कवि अकारण ही ऐसी धुन की ले, तो भी कविता में अतिशयोक्ति के नाम से वैसा समुचित ही समझा जाता है; पर यहाँ ऐसे कितने ही कारण उपस्थित हैं, जो इस पद्य द्वारा असाधारण सरल शब्दों में प्रकट किए गए हैं। पद्य क्या है, एक दो रुख़ी तस्वीर है। एक ओर कवियों पर किंचित् समालोचनात्मक दृष्टि है, और महाराज राम का दिल कहता है—'सब उपमा कबि रहे जुठारी'—सब उपमाएँ कवियों की जूठी की हुई हैं। प्रेमिक का पवित्र प्रेम-पूर्ण हृदय व्यवसायी प्रशंसकों की प्रयुक्त उपमाओं को नहीं लाना चाहता। कवियों के

प्रशंसा-गान में वह भावों की वास्तविकता कहाँ ? उनके मत में तो प्रत्येक कपोल की गुलाब व कमल से उपमा देनी उपयुक्त है। प्रत्येक प्रेमिका को सरो-सी क़दवाली कह देना उचित है। प्रयोगाधिक्य ने इन उपमाओं को नीरस बना डाला है। एक पवित्र प्रेमिक का नवीन भावनाओं से भरा हुआ हृदय अपनी प्रियतमा की प्रशंसा के लिये उन्हें कब पसंद कर सकता है ?

(४) पर इस ख़याल से कि कहीं यह कवियों की निंदा आचार-संबंधी सीमा का उल्लंघन न कर जावे और महाराज राम की न्यायप्रिय प्रवृत्ति पर किसी को आक्षेप का अवसर न मिले, तुलसीजी उक्त निंदा को केवल उसी सीमा तक प्रकट करते हैं, जहाँ तक समालोचना संबंधी स्वाभाविक प्रवृत्ति के प्रतिकूल न हो सके। देखिए, हमने व्याख्या में "पेशेवर (व्यवसायी) तारीफ़ करनेवाले" शब्द कवियों के लिये लिख तो दिए, पर असल पद में ऐसा कोई अनुचित शब्द नहीं है। फिर द्वितीय पद्यार्ध में, ऐसा अनोखा कारण खोजकर रखते हैं कि क्या कहना। पाठकगण, यदि यहाँ कवियों द्वारा प्रयुक्त उपमाएँ नीरस होने के कारण छोड़ दी गई हैं, तो दूसरा कारण यह भी है कि यहाँ उपमा देनी है 'बिदेहकुमारी' से और कविसुलभ उपमाएँ 'प्राकृत नारि अंग' के लिये ही प्रयुक्त हो सकती हैं और हुई हैं।

इसमें तनिक संदेह नहीं कि प्राकृतिक उपमाएँ चाहे कितनी ही सूक्ष्म एवं सुंदर हों और चाहे वे कमल व गुलाब ही क्यों न हों, फिर भी वे प्राकृतिक वस्तुओं के लिये ही प्रयुक्त हो सकती हैं। और यहाँ शाब्दिक-योजना की दृष्टि से भी 'विदेह' की कन्या और फिर वह भी कुमारी के लिये उपमाओं की खोज अधिकाधिक दुस्तर है। पर तुलसीजी 'नसीम' की तरह केवल शाब्दिक-योजना पर ही निर्भरता नहीं दिखाते [जैसे "है चाह बशर को बावली को" इसमें 'चाह' और 'बावली' केवल शब्द-विन्यास की दृष्टि से रक्खे गए हैं। जिस अर्थ में उनकी शाब्दिक-योजना को रोचकता है, उसका विषय के तथ्य से कोई भी संबंध नहीं है] प्रत्युत अर्थ-संबंधी योजना भी साथ-ही-साथ बराबर देख पड़ती है।

महाराज जनक को तो 'विदेह' इसी कारण कहते ही थे कि महान् योगी होने से उन्हें अपने शरीर की सुध न रहती थी (भगवान् श्रीकृष्ण ने भी अपनी 'गीता' में महाराज जनक की आध्यात्मिकता का आदर्श माना है और प्रत्येक मनुष्य को उनके अनुकरण की शिक्षा दी है)। संसार में निवास करते हुए सांसारिक संबंध (माया) से पृथक् रहना इन्हीं महापुरुष का काम था। यही आध्यात्मिकता आनुवंशिक परंपरा की रीति पर उनकी कन्या सीता को अवश्य ही मिली होगी और इस आध्यात्मिकता का रंग उनके अंग-अंग से प्रस्फुटित होता रहा होगा, क्योंकि आंतरिक भाव का प्रकटीकरण स्वाभाविक ही है। जैसा 'सुरूर' जहानाबादी ही कहते हैं कि यदि स्त्री में लज्जा है तो—

मालूम नहीं शोख़िये-रफ़्तार क़दम से ;
बजते नहीं पाज़ेब के घुँघरू कभी छम से।

अतः ठीक ही है कि अगर कमल व गुलाब की उपमा बाह्य रंग-रूप के लिये लाई भी जावे, तो उसमें आध्यात्मिकता के प्रकटीकरण की शक्ति कहाँ ? अतः यदि कवियों के पास ऐसी उपमाएँ नहीं जिनसे सीता की आध्यात्मिकता स्पष्ट हो सके, तो कोई आश्चर्य नहीं।

(५) आचरण की दृष्टि से भी यह प्रशंसा कितनी अच्छी है। इसके बदले प्रेमिका के नख-शिख-वर्णन द्वारा निकृष्ट भावनाओं को उत्तेजित किया जाता, शृंगारी रंग अत्यंत पवित्र रूप में, अत्यंत सुंदरता के साथ, विद्यमान है। कालिदास क्या, 'सादी' प्रभृति सदाचार-मूलक कवि भी शृंगार-रस की उमंग में आचार-संबंधी सीमा से बढ़ गए हैं। पर हमारा कवि तुलसीदास ही ऐसा है, जो इस कठिन मार्ग से सफ़ाई के साथ निकल गया है। मानो उसका प्रत्येक पद स्वतः कह रहा है—'इस तरह जाते हैं देखा पाक-दामन आब में।' कैसा पवित्र चित्र है, महाराज राम के दिल का ! साधारण हृदय में शृंगार की मुग्धता में कितने कुत्सित विचार उत्पन्न होते, चाहे आचार-संबंधी रुकावट के कारण वे प्रकट न भी होते, परंतु यहाँ बाह्य तथा आंतरिक दृष्टि से पवित्रता ही पवित्रता है। हृदय में जो शृंगारी विचार प्रादुर्भूत हुए, उनमें कितनी सूक्ष्मता है कि व्याख्या नहीं हो सकती। यद्यपि अभी अप्रकट ही सही, पर हैं तो महारानी सीता 'जगत्-जननी'। यदि इस समय आवेश में कुछ कह जाते, तो संभवतः आगे चलकर मुश्किल पड़ती और यदि शृंगार में कुछ न कहते, तो मिल्टन

(Milton) के काव्य की तरह तुलसी का काव्य भी नीरस रह जाता ।

(६) मेरा तो ऐसा विचार है कि 'फुलवारी-लीला' का वर्णन एक प्रकार का 'क़सीदा' है, जो सीता के सौंदर्य की प्रशंसा में लिखा गया है । तुलसीजी के काव्य की प्रथम श्रेणी यह थी कि प्राचीन कविता से खोजने पर जो उपमाएँ प्राप्त हुई थीं, उन्हें पृथक् कर दिया । इसलिये कि उनमें वह सरसता ही नहीं, जिससे सीता की सौंदर्य-श्लाघा हो सके ।

(७) सभी उपर्युक्त श्रेणियों से गुज़र जाने पर ही यह सिद्ध होगा कि वस्तुतः सीताजी ऐसी ही थीं, जिनके लिये "सुंदरता कहँ सुंदर करई" इत्यादि प्रशंसात्मक शब्द समुचित ही प्रतीत हों । अभी तो किंचित् अतिशयोक्ति सी दिखती है । पर यही तो हमारे कवि का कमाल है कि आरंभ में तो कुछ अतिशयोक्ति की पुट देकर शृंगार के सरस वर्णन तथा प्रेमिक-प्रेमिका के पारस्परिक आकर्षण तथा परिचय एवं प्रशंसा का रस उत्पन्न कर दिया और फिर किस कवि-सुलभ सुंदरता से हमें आध्यात्मिकता की श्रेणियों पर पहुँचा दिया, जहाँ अगर केवल दार्शनिकता की सहायता से जाते, तो मार्ग कठिन एवं अरुचिकर ही होता । डॉ० ठाकुर का यह कथन सत्य ही है, जिसे उन्होंने एक दार्शनिक सभा के सभापति की हैसियत से कहा था—"भारत में दर्शन और कविता एक दूसरे के साथ-ही-साथ दो सगी बहनों के समान ही रहती हैं—योरप की तरह नहीं, जहाँ (Plato) प्लेटो ने अपनी ख़याली शासन-व्यवस्था (Republic) में कवियों को कोई स्थान नहीं दिया ।" तुलसीजी में यह एक विशेषता है ।

(८) [अ] तुलसीदासजी की सूक्ष्मता पर विचार कीजिए कि सीताजी की समस्त प्रशंसा 'जनु' इत्यादि शब्दों द्वारा केवल अनुमान की रीति पर की गई है । उपमाओं ने भी मानो अपनी त्रुटियों को स्वीकार करते हुए जवाब दे दिया । ठीक है । कवि चाहे अपनी काव्योपम योग्यता द्वारा कितना ही प्रयत्न करे, और चाहे हृदय भी अपने अंदर ही प्रकटीकरण के हेतु कितनी ही कोशिश करे, फिर भी शब्दों में विषय-तत्त्व का दिखलाना केवल अनुमान ही की रीति पर होगा । शब्द केवल आधी बात प्रकट करते हैं और आधी अप्रकट रखते हैं । स्वयं हृदय भी जब किसी भाषा में प्रकटीकरण करेगा, तो अंतिम निर्णय यही रहेगा—"केहि पटतरिय ।" मानो 'ग़ालिब' का यह विचार भी केवल एक अनुमान ही है—"होती ज़बाने-दिल तो सुनाते पयामे-दिल ।" ग़ालिब भी विषय की त्रुटियों को मानते हुए कहते हैं—

"ग़लती हाय मज़ामीं मत पूछ । लोग नाले को रसा बाँधते हैं ।"

[ब] दूसरी विचार-दृष्टि से यदि 'बचन न आवा' से यह तात्पर्य समझा जाय कि हृदय में भी शाब्दिक प्रकटीकरण उत्पन्न नहीं हुआ, प्रत्युत भावात्मक प्रशंसा ही है, जिसका अनुभव है और वर्णन नहीं, और यह कवि ने केवल उसकी व्याख्या की है, तो विषय की सूक्ष्मता और बढ़ जाती है ।*

(९) परंतु यह ख़याल रहे कि हम महाराज की प्रेम-भावनाओं के श्रेणीबद्ध उतार को देख रहे हैं । इसलिये प्राकृतिक वस्तुओं की ओर ख़याल (उपमाओं की खोज के ख़याल से ही सही) का होना लगभग अंतिम श्रेणी है और उन भावात्मक उच्चताओं से कहीं नीची है, जिनका उल्लेख हो चुका है । अब उड़ान की उतार प्रेम-रूपी आकाश से पृथ्वी की ओर है । चारों ओर की वस्तुओं का ख़याल आया और वह निमग्नता विलुप्त हो गई, जिसमें अपने अस्तित्व और फिर अपनी दशा का भी ज्ञान न था । अतः अब द्वितीय पद में 'आपन दशा' का 'विचार' अत्यंत समयोचित होगा । भावों के व्यक्तीकरण की एक सूक्ष्मता विचारणीय है । जहाँ महाराज प्रेम की एक ही उड़ान में निमग्नता के दर्जे तक पहुँच गए हैं, उसका अनुभव तथा श्रेणी का अनुमान कराने के निमित्त हमें कितनी श्रेणियों की आवश्यकता हुई और होगी । इसी कारण सात्त्विक प्रेम में लोग बहुधा भक्ति को उच्चतर स्थान देते हैं कि असली माशूक़ का जो परिचय उससे मिलता है और जो निमग्नता उससे होती है, उसके लिये ज्ञान को शतशः प्रयत्न करना पड़ता है ।

(अपूर्ण)

---

* मुझे कभी-कभी इस ख़याल में खींचा-तानी का दोष दिखाई देता है । इस कारण इस पर मुझे पूर्ण विश्वास नहीं ; परंतु बहुधा ऐसा भाव हृदय में उत्पन्न होता है । अतः उसे ज्यों-का-त्यों पाठकों के सामने पेश करता हूँ ।

जिज्ञासा

यमुना-तट पर खड़ा शांत हो
निरख रहा था ब्रज-वनिता ;
वृक्षों की मंजुल कलियों को
देख विहँसती थी सरिता ।
नील गगन से झाँक-झाँककर
तारेगण मुसकाते थे ;
थिरक-थिरककर चंद्रदेव
आकर आनंद बढ़ाते थे ।
पुष्पों की माला लेकर
मंथर गति से वह आती थी ;
उस छवि की मंजुल चितवन
रसिकों का चित्त चुराती थी ।
आकर रुकी, हँसी फिर बोली
तुम क्यों यहाँ खड़े हो ?
नंदन-बन-सी छटा देख क्या
तुम पथ भूल पड़े हो ?
अथवा उस घनश्याम-मूर्ति से
तुम भी गए ठगे हो ?
या मुझ-सा निज को विनष्ट
करने पर स्वयं लगे हो ?

श्रीशारदाप्रसाद "भंडारी"

चीन में नवयुग का आरंभ

संसार में नवयुग का आरंभ हो गया है । जीवन के अंग-प्रत्यंग में, समाज की प्रत्येक प्रणाली में परिवर्तन हो रहा है । दुनिया में परिवर्तन की, क्रांति की, धूम है । किसी देश, किसी जाति, किसी राष्ट्र को, जिसका संसर्ग वर्तमान संसार से होगा—और जिसका संबंध होना अनिवार्य है—उसे अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परिवर्तन करना पड़ेगा । वर्तमान संसार की प्रबल लहर को अपनी प्राचीन, जर्जर और वृद्ध सामाजिक बहार दीवारियों द्वारा रोकना नितांत असंभव हो रहा है ।

संसार के प्राचीन इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि अतीत में सभ्यता की ज्योति पूर्व में ही चमकी थी । पूर्व ने ही उस समय सारे संसार को उन्नत-पथ पर लगाने का प्रयत्न किया था । दुनिया के तिमिराच्छन्न वायु-मंडल में पूर्व की ही ज्ञान-ज्योति का प्रवेश हुआ था, जिससे प्राचीन मानव-समाज को प्रकाश मिला और उसने अपने निश्चित स्थान पर अपने को स्थित करने का प्रयत्न किया । इतिहास से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जो सभ्यता की लहर पूर्व से उठी थी उससे सारा संसार आंदोलित हो उठा था और उसने मुक्त-कंठ से पूर्व को प्रथम गुरु माना था ।

परंतु प्रकृति के नियमानुसार प्रकाश के अनंतर अंधकार का आना अनिवार्य था । जागृत पूर्व धीरे-धीरे निद्रा में विलीन हुआ । पश्चिम में अन्य शिशु-राष्ट्रों का अभ्युत्थान आरंभ हुआ । उनका यौवनकाल आया । उनमें नए उत्साह, नए बल, नए भावों का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने एक नई सभ्यता का जन्म दिया जिसे दिगंतव्यापी बनाने के उद्देश्य से वे आगे बढ़े ।

वैज्ञानिक आविष्कारों को साधन बनाकर उनके द्वारा प्राप्त सुविधाओं से लाभ उठाकर अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये युवा पश्चिम वेग से आगे बढ़ा । पूर्व और पश्चिम का संघर्ष आरंभ हुआ और आज यह प्रत्यक्ष हो रहा है कि वृद्ध पूर्व को अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये परिवर्तन की भारी आवश्यकता है ।

पूर्व के अति प्राचीन सभ्य देशों में चीन का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है । संसार की प्राचीन सभ्यताओं के इतिहास के ज्ञाताओं ने चीन की पुरातन सभ्यता पर जो प्रकाश डाला है । उससे ज्ञात होता है कि चीन का अतीत अति सुंदर था उसके भी अपने दिन थे । भारत से उसके व्यापारिक धार्मिक संबंध का इतिहास इस बात का साक्षी है कि चीन किसी काल में सभ्यता के उत्तुंग शिखिरों पर स्थित था ।

परंतु काल की गति के अनुसार चीन का भी पतन आरंभ हुआ । पश्चिमीय सभ्यता को ललकार के सम्मुख चीन ने अपने को अति निर्बल पाया । उसके अपने प्राचीन धार्मिक भाव, अपने आचार-विचार, राष्ट्रीयता, अपने प्राचीन इतिहास का उसका गौरव ही, जो एक दिन उसकी उन्नति में सहायक थे, उसकी जड़ खोदने लगे — उसके हाथ-पाँव के कठोर बंधन बन गए ।

समय-समय पर सर्वत्र ही परिवर्तन की आवश्यकता होती है—परिवर्तन जीवन का चिह्न है । जिस जाति में जीवन जितनी मात्रा में होगा, वह जाति उतनी ही उत्सुकता के साथ अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिये समय-समय पर उचित परिवर्तन देश-कालानुसार करती है । परंतु संसार की प्राचीन सभ्य जातियों में प्रायः ऐसा पाया जाता है कि उनमें परिवर्तन की भावना शीघ्र उत्पन्न नहीं होती । इसका कारण यह है कि उन प्राचीन जातियों के सम्मुख उनका प्राचीन इतिहास, उनका प्राचीन गौरव, उनके प्राचीन संस्कार, उनका प्राचीन साहित्य, उनकी प्राचीन सभ्यता के चिह्न आदि वर्तमान रहते हैं, जिसके कारण उन्हें अपने सभ्य होने का, अपने प्राचीन होने का अभिमान होता है तथा अपनी उन प्राचीन प्रणालियों से घनिष्ठ प्रेम होता है । उनको यह विश्वास होता है कि संसार में हम सबसे श्रेष्ठ हैं। हमीं से सारे जगत् ने ज्ञान प्राप्त किया है। हमीं पूर्ण हैं। हमें किसी से कुछ सीखने की आवश्यकता नहीं । संसार में कहीं नवीनता नहीं है और यदि कहीं कोई नवीनता है, तो वह किसी समय में हमारे यहाँ भी अवश्य थी । उस पुरातन जाति का हृदय इस बात को नहीं मान सकता कि दुनिया में कोई भी जाति किसी बात में कभी उससे श्रेष्ठ भी हो सकती है ।

ये ही मनोभाव हैं, जो किसी प्राचीन जाति में शीघ्रता से कोई परिवर्तन नहीं होने देते । यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि इन्हीं भावनाओं के कारण भारतीय सभ्यता और भारतीय राष्ट्र की जड़ इतनी गहराई तक पहुँच चुकी है कि प्रबल-से-प्रबल आक्रमण और आपदाओं के आने पर भी यह वृद्ध भारत आज तक जीता है । यदि उसे अपनी प्राचीनता का अभिमान न होता, तो योरप की प्राचीन सभ्य जातियों की भाँति यह भी कभी का अनंत में विलीन हो गया होता ।

चीनी राष्ट्र को भी यही विश्वास था कि उसके राजा सूर्य से उत्पन्न हुए हैं और वे ही संसार का राज्य करेंगे । हमीं सबसे श्रेष्ठ हैं—हम किसी के सामने क्यों झुकें । इसी विश्वास के आधार पर चीनी राष्ट्र का व्यवहार अन्य राष्ट्रों से नितांत अवहेलना-पूर्ण तथा अपमान-जनक था ।

जब पाश्चात्यों का आगमन चीन में हुआ, उस समय चीनियों के व्यवहार उन लोगों के साथ ऐसे थे, जिन्हें सहन करना पश्चिमीय स्वतंत्र आत्माभिमानी राष्ट्रों के लिये सर्वथा असंभव था । परंतु महान् चीन राष्ट्र और उसकी भारी जन-संख्या से, सुदूरवर्ती योरपीय राष्ट्र भय-भीत थे । पर जब उन्होंने धीरे-धीरे चीनियों की राष्ट्रीय इमारतों के स्तंभों पर दृष्टि डाली और उन्हें यह ज्ञात हुआ कि इसकी नींव हिल गई है, तो उन्होंने १८४२ ई० में अफ़ीम का कारण उपस्थित करके चीनियों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की । यही प्रथम अफ़ीम का युद्ध कहा जाता है । अँगरेज़ी सरकार भारत से चीन को अफ़ीम निर्यात करती थी । इस व्यापार से अँगरेज़ों को बड़ा लाभ होता था । जब चीनियों ने देखा कि विदेशी इस बुरे रोग को हमारे देश में फैलाकर मनमाना लाभ उठा रहे हैं, तो उन्होंने इसमें रोक-टोक आरंभ की । इस युद्ध में चीनी हार गए ।

एक बार चीनियों के बल का अन्दाज़ा लगा लेने के बाद इन विदेशी व्यापारियों ने अपना मुख और फैलाया तथा और भी ज़ोर-शोर से अफ़ीम का व्यवसाय बढ़ाया । चीनियों ने अफ़ीम के भयानक रोग से बचने के लिये पुनः छेड़-छाड़ आरंभ की । जिससे अँगरेज़ों से उनका मन-मुटाव बढ़ा । परिणाम-स्वरूप १८५८ में दूसरा अफ़ीम-युद्ध हुआ, जिसमें चीनी पुनः पिट गए ।

इसी प्रकार जब-जब विदेशियों से चीनियों का सामना हुआ, तब-तब चीनियों ने उनके सम्मुख नीचा देखा । इस प्रकार पाश्चात्यों के संघर्ष से चीनियों की अपरिवर्तनशील बुद्धि में प्रथम बार एक ठोकर लगी । इसी के अनंतर १८९४ में चीनियों और जापानियों का परस्पर युद्ध हुआ ।

जापान वास्तव में चीन का ही शिष्य है । जापान ने सभ्यता की प्रथम ज्योति चीन से ही प्राप्त की थी । साथ-ही-साथ जापान की जन-संख्या भी चीन के सामने नगण्य है । परंतु उसने अभिमान की बेड़ियों को पहले ही काट दिया था । उसने देखा कि इस समय सारा संसार विज्ञान के तरंगों से आंदोलित हो रहा है अतः उस प्रभाव के सहन करने के लिये उसने अपने को पूर्व से ही तत्पर करना आरंभ किया । जिस-जिस प्रबल झकोरे में संसार बह चला था उसी में उसने अपनी नौका भी डाल दी । इसका परिणाम यह हुआ कि सोते हुए पूर्वीय राष्ट्रों में जापान ही एक ऐसी शक्ति है, जिसकी तरफ़ कुदृष्टि डालने की हिम्मत पश्चिम की किसी भी महाशक्ति

में नहीं है। अतः १८६४ में जब चीनियों का युद्ध जापानियों से हुआ, तो उसमें चीनी बेतरह हारे।

जापानियों का प्रसिद्ध युद्ध रूसियों से भी हुआ, जो 'रशो-जापानीज़' युद्ध के नाम से विख्यात है। इस युद्ध में जापान ने अपने त्याग, अपने स्वातंत्र्य-रक्षा की प्रबल आकांक्षा और अपने उत्साह से रूस को पराजित किया। रूस योरप की महान् शक्तियों में एक प्रबल राष्ट्र तथा योरप का स्तंभ गिना जाता था। रूस को अपनी प्रबल जन-शक्ति का, अपनी बृहद् साम्राज्य-सत्ता का, अपने पाश्चात्य होने का, बड़ा अभिमान था। पर उसने पूर्व के उभड़ते हुए एक छोटे-से राष्ट्र के सामने नीचा देखा।

इस प्रकार जब चीन ने देखा कि उसके शिष्य जापान ने जिसकी जन-संख्या, जिसके देश का विस्तार, उसके सामने कुछ भी नहीं है, उसी से हम बेतरह पराजित हुए, तो उसकी आँखें खुलीं। इतना ही नहीं, चीन ने यह भी स्पष्ट देखा कि उसी जापान ने उस योरपीय-शक्ति को नीचा दिखाया, जिसने समस्त एशिया पर आतंक जमा रक्खा था, तो उसकी भी आँखें खुलीं। उसके हृदय में एक ज़बर्दस्त चोट लगी। उसने अपनी तरफ़ दृष्टि डाली। उसने विचार किया कि इस प्रकार बार-बार अपमानित होने का, जापान तक से नीचा देखने का कोई कारण अवश्य है। उन्होंने यह स्पष्ट देखा कि इसमें कोई रहस्य निहित है और बिना उस रहस्य का उद्घाटन किए उनके देश, उनके राष्ट्र, उनकी सभ्यता, उनकी स्वतंत्रता आदि सभी का लोप हो जाना अवश्यंभावी है।

यही चीन की जागृति के वास्तविक कारण हैं। पश्चिमीय देशों के संघर्ष से ही चीन में परिवर्तन के बीज वपन हुए। विपत्तियों का आना किसी भावी सुख के किसी सुदूर अलक्षित स्थान में स्थित, किंतु अचल सुख के आगमन की शुभ सूचना है। यदि चीन के ऊपर क्रमशः विपत्तियाँ न पड़ी होतीं, तो अपने ही पुराने विचारों में पड़ा हुआ वह और न जाने कितने दिनों तक अंधकार में पड़ा रहता।

धीरे-धीरे राष्ट्र की काया-पलट आरंभ हुई। चीनी लोगों का स्वभाव ऐसा है कि वे किसी कार्य में बिना भली भाँति विचार किए कभी हाथ नहीं डालते; परंतु जब एक बार उस कार्य का आरंभ कर देंगे, तो उसे धीरे-धीरे, किंतु दृढ़ता के साथ करते ही चलेंगे। इसी स्वभाव के कारण चीनी राष्ट्र में सुधार का कार्यारंभ बड़े ही धीरे-धीरे आरंभ हुआ। परंतु यह अवश्य है कि सारा राष्ट्र एक दूसरे ही भाव से, एक दूसरी ही तरंग के द्वारा आंदोलित होने लगा। चीन में जीवन के प्रत्येक अंग में, समाज के प्रत्येक अवयव में, क्रमशः सुधार आरंभ हुआ।

देश के हज़ारों नवयुवक विदेशों में गए और आधुनिक शिक्षा प्राप्त करके देश को लौटने लगे। उनका मस्तिष्क, उनके विचारों का विकास, उनकी भावनाएँ, पश्चिमीय सभ्यता के वायु-मंडल में विकसित होने लगीं। उन्होंने संसार के अन्य देशों की तुलना में अपने राष्ट्र, अपने देश को अति हीन और दुर्बल पाया। युवक-हृदय हिल गया। देश के उद्धार के लिये चीन का नवयुवक-समाज आगे बढ़ा। उसने चीन की मुक्ति, पश्चिमीय-सभ्यता के विचारों द्वारा प्रेरित होने के कारण उन्हीं के साधनों द्वारा देखा। उस नवयुवक-समाज ने चीन के सुधार-आंदोलन के नेतृत्व का पद ग्रहण किया। संसार में किसी देश, किसी समाज, किसी राष्ट्र की जब कभी उन्नति हुई है, तो उसमें देश के नवयुवकों का विशेष भाग रहा है। समाज और राष्ट्र के भावी निर्माण की नींव और उसके दृढ़ आधार सर्वदा से सर्वत्र नवयुवक ही होते आते हैं। अतः चीन के सुधार आंदोलन का भी पहला श्रेय उस देश के शिक्षित नवयुवक-समाज को ही मिलेगा। वर्तमान चीन में उन्हीं नवयुवकों का प्रभाव बढ़ रहा है।

चीन में यह नवयुग-प्रवेश बहुत कुछ ईसाई प्रचार-संस्थाओं का बाधित है। विदेशी धर्म-प्रचारक ईसाइयों ने चीन में अपने धर्म, अपनी सभ्यता, अपनी महत्ता का प्रचार करने के लिये शिक्षालय और अनाथालय आदि खोले थे। आज चीन में ईसाइयों के अनेक औषधालय, अनाथालय और शिक्षालय विद्यमान हैं। इनके यों सहानुभूति-पूर्वक कार्य करने से चीन पर इनका भी बड़ा प्रभाव पड़ा। इनके प्रभाव ही के कारण चीन का सामाजिक जीवन पश्चिमीय सभ्यता के संसर्ग में आया। पाश्चात्य भावनाओं और पाश्चात्य विचारों का प्रभाव बढ़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि नवयुवक-समाज ने जो सुधार-आंदोलन आरंभ किया, उसे चीनी राष्ट्र ने सहानुभूति की दृष्टि से देखा। फलतः उन नवयुवकों को अपने कार्य में बड़ी सहायता मिली। इन नवयुवकों ने अथक परिश्रम तथा अविरल

उत्साह-पूर्ण कार्यों द्वारा समाज के अंदर यह भावना उत्पन्न कर दी है कि दुनिया जिस तरफ़ जा रही है, बिना उसी तरफ़ चले हमारा अस्तित्व नहीं रह सकता। यदि कोई भी शक्ति सारे संसार के उस वेग को विरोधात्मक भावों से प्रेरित होकर रोकने का प्रयत्न करेगी, तो संघर्ष होना आवश्यक है और संभव है कि वह पुरानी, वृद्ध, जर्जर-शक्ति ही लोप हो जाय। अतः आवश्यक है कि संसार की लंबी दौड़ में सम्मिलित होने के लिये अपने अंदर नवीन शक्ति का संचार किया जाय।

चीन के सामाजिक जीवन में सुधार आरंभ हुआ। चीन का पारिवारिक जीवन-समाज का एक मुख्य अंग है। उनके समाज का संग्रंथन पारिवारिक जीवन के ही आधार पर हुआ है। उनके पारिवारिक जीवन का यह नियम है कि माता-पिता का विशेषतः पिता का, पुत्र के ऊपर अक्षुण्ण अधिकार रहता है। पहले तो इस अधिकार की मात्रा यहाँ तक बढ़ी हुई थी कि पिता पुत्र की हत्या तक कर सकता था और क़ानून की दृष्टि में यह कोई अपराध न था; परंतु अब यह भाव धीरे-धीरे हट रहा है। अब परिवार के प्रत्येक प्राणी की स्वतंत्रता का विचार किया जाता है। विवाहादि तक में भी पुत्र तथा कन्या की सलाह ली जाती है और यथाशक्ति उनकी इच्छाओं का आदर भी किया जाता है।

मिश्रित कुटुंब का भी नियम धीरे-धीरे कम हो रहा है, जिसके कारण समाज के अंदर उत्तरदायित्व का, स्वावलंबन का भाव बढ़ रहा है। समाज के प्रत्येक प्राणी को समाज में स्थान प्राप्त करने के लिये परिश्रम करना पड़ता है।

स्त्री-शिक्षा का कार्य भी आरंभ हो चुका है। वर्तमान भारत के विचारों के अनुसार चीन में भी स्त्रियों की शिक्षा के विरुद्ध ही लोगों के भाव हैं—स्त्रियों के व्यक्तित्व का तो मान न होने के समान था। जिस समाज में स्त्रियों की बुद्धि को विकसित होने का अवसर न दिया जायगा, वह समाज अवश्य ही पतनोन्मुख होगा। स्त्रियों का प्रभाव ही भावी संतति के निर्माण का आधार होता है। यदि स्त्रियाँ ही अशिक्षित होंगी, तो देश की शक्ति अवश्य ही क्षीण होती जायगा। इसी कारण चीन के सुधारक-समाज ने स्त्री-शिक्षा के आवश्यक कार्य को भी अपनाकर ज़ोर-शोर से उसे बढ़ाने की चेष्टा की है।

चीनियों की दृष्टि में स्त्रियों के पैरों का अति छोटा होना सुंदरता का चिह्न माना जाता है। इस भाव का यहाँ तक प्राबल्य था कि जिस कन्या के पैर छोटे न हों, उसकी शादी तक न होती थी। परिणाम यह हुआ कि कृत्रिम उपायों का अवलंबन करके उनके पैर छोटे किए जाते थे। छोटी-छोटी कन्याओं को बचपन से ही लौह-पादत्राण प्रयोग करने पड़ते थे। उनके पैरों को कठोर बंधनों से जकड़ देते थे। बेचारी कोमल बालिकाएँ पीड़ा से कराहा करतीं, पर कोई न सुनता। जहाँ उनकी सहज बाल-चपलता के उपभोग करने की प्रबल इच्छा का नाश किया जाता था, वहीं यह नृशंस और अमानुषिक अत्याचार भी होता था। उन बालिकाओं का चलना, घूमना, फिरना भी असंभव होता था—बचपन से ही जेल के दुःखों का भयंकर अनुभव उन्हें ज़बर्दस्ती करना पड़ता था। चीन के सुधारक समाज ने इस प्रथा को रोकने का प्रयत्न किया। ईश्वर की कृपा से अब यह बहुत ही कम हो गया है। चीन का नवयुवक-समाज इस पशुता को रोककर बड़े पुण्य का भागी होगा। स्त्रियों में जागृति फैल रही है—वे शिक्षा पा रही हैं, उनके कर्तव्यों का उन्हें ज्ञान कराया जा रहा है, अब स्त्रियाँ काम भी करने लगी हैं, जिसके द्वारा अपनी रोटी भी प्राप्त कर लेती हैं।

चीन की आर्थिक दशा भी बड़ी ही दारुण है। चीन में ४० करोड़ नर-नारियों का निवास है, परंतु उन्होंने अपने देश में बहुत दिनों तक किसी प्रकार के व्यापार, अथवा वैज्ञानिक आविष्कारों से प्राप्त सुविधाओं से लाभ उठाकर नवीन ढंग से राष्ट्रीय संपत्ति के बढ़ाने की ओर ध्यान ही नहीं दिया। खेती आदि करना ही उनका एक-मात्र कार्य था, जिससे देश में बेकारी और दरिद्रता ने अपना डेरा जमा लिया था। जो राष्ट्र भूखों मरेगा, दरिद्र रहेगा, वह न तो उन्नति ही कर सकता है और न उसका विकास ही हो सकता है। चीनियों का यह विश्वास था कि पृथ्वी आदि खोदकर खनिज पदार्थों से लाभ उठाना पाप है। यदि ऐसा किया जायगा, तो देवता बिगड़ उठेंगे। भूगर्भ-शास्त्र के ज्ञाताओं का कहना है कि सुविस्तृत चीन देश में बहुत-से ऐसे स्थान हैं, जहाँ से कोयला, लोहा आदि अत्यधिक मात्रा में मिल सकता है। परंतु चीन ने अपने उसी पुराने विश्वास के कारण इन खनिज पदार्थों का कोई उपयोग नहीं किया। आज संसार में कोयला

तथा लोहा का ही राज्य है । जो देश जितनी अधिक मात्रा में इन पदार्थों का उपयोग कर पावेगा, वह उतनी ही मात्रा में बलवान् तथा धनवान् होगा । चीन ने इसका बिलकुल ही उपयोग नहीं किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत दिनों तक चीन में कल-कारख़ानों की सृष्टि नहीं हुई ।

परंतु इस सुधारक समाज ने इस देश-विघातक विश्वास को हटाने की चेष्टा की । चीन में धीरे-धीरे कल-कारख़ानों की सृष्टि हुई, खनिजों का भी उपयोग आरंभ हुआ, देश की विकट आर्थिक समस्या भी धीरे-धीरे हल हो चली ।

चीन में वहाँ के प्राचीन कठिन और क्लिष्ट साहित्य में भी सुधार हो रहा है । चीन के साहित्य की यह दशा थी कि इतने बड़े देश में बिरले लोग ही उसे पढ़ पाते थे । जिस देश में शिक्षा की ऐसी हीन दशा होगी, उसे अंधकार में पड़े रहना और दूसरों की ठोकर खाते रहना ही पड़ेगा ।

परंतु अब वहाँ वर्तमान बोलचाल की भाषा में तथा नई सरल लिपि में साहित्य की नवीन सृष्टि की जा रही है । देश का हितेच्छु सुधारक समाज नए-नए शिक्षालयों एवं पत्र-पत्रिकाओं तथा सार्वजनिक व्याख्यानों द्वारा—नई-नई पुस्तकों को सरल लिपि और बोलचाल की भाषा में लिखकर तथा अन्य सभी संभवनीय कार्यों द्वारा चीन के नवीन साहित्य का निर्माण कर रहा है, जिस पर देश की भावी उन्नति निर्भर है । आज इसी साहित्य के द्वारा श्रमशील नवयुवक-समाज चीन को संसार के वर्तमान रूप में ढालने का प्रयत्न कर रहा है ।

चीन में उसके अन्ध विश्वासों, मनहूस पुराने रीति-रिवाजों, असंगत विचारों, एवं बुद्धि तथा विचार-रहित कार्य-प्रणालियों ने, जो अंधेर मचा रक्खा था, जिससे देश का सत्यानाश हो रहा था, वे क्रमशः लोप हो रहे हैं । चीन के प्राचीन गौरव की जो आत्मा थी, उसका विनाश हो चुका था, सारा सुसराष्ट्र केवल अपनी सभ्यता का कंकाल लिए, उसकी जड़ देह को लिए, मोह-वश यही समझ रहा था कि हम आज भी उसी अवस्था में हैं, जिसमें आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व थे । उसने संसार की वर्तमान गति की ओर से आँखें बंद कर ली थीं, परंतु देश के प्रेमियों ने जिनकी दृष्टि देश की हिलती हुई नींव पर पड़ी, उन्होंने यह विचारकर लिया कि बिना नवीन शक्ति का संचार किए, बिना नवीन जीवन का मंत्र फूँके, बिना परिवर्तन किए देश का सत्यानाश और राष्ट्र की हानि होगी तथा एक अति प्राचीन सभ्यता का लोप हो जायगा । इसी विचार-धारा ने चीन देश को परिवर्तित किया, उसे जागृत किया, उसमें नई जान डाल दी ।

चीन में सुधार की प्रबल भावना की तरंगों ने यह भीषण रूप धारण किया कि उसका प्रभाव देश के राजनैतिक जीवन पर पड़ा और शासन में भी सुधार करने के लिये लोक-मत तैयार किया जाने लगा । देश की शासन-प्रणाली, देश के क़ानून इस बात के द्योतक होते हैं कि उस देश की सभ्यता, उसकी संस्कृति किस सीमा तक पहुँची है । किसी देश की सभ्यता तथा उसकी संस्कृति आदि के मापने का यंत्र वर्तमान संसार ने उस देश-विशेष की शासन-प्रणाली तथा उसके क़ानून को माना है । इससे स्पष्ट है कि देश के अंदर सुधार होंगे, जो नवीन विचार उठेंगे उन्हीं के अनुकूल देश की शासन-व्यवस्था में भी सुधार ही होगा ।

चीन में जब विदेशियों के चरण आए, उन्होंने वहाँ व्यापार आरंभ किया, तो उस समय चीन सरकार का व्यवहार उनके प्रति अच्छा नहीं था । चीन में एकतंत्र शासन-व्यवस्था वर्तमान थी । चीनियों का विश्वास था कि उनके राजा संसार में सर्वश्रेष्ठ हैं । उनका संबंध सीधे सूर्य से है । इसी कारण चीनी सरकार का व्यवहार विदेशियों के प्रति असमानता का था । इसका उल्लेख किया जा चुका है कि इसी को सहन न कर सकने के कारण १८४२ ई० में अफ़ीम का कारण उपस्थित हो जाने पर अफ़ीम युद्ध हुआ था । विदेशियों के जान-माल के प्रति उपेक्षा की दृष्टि रक्खी जाती थी । चीनी सरकार के क़ानून भी ऐसे थे, जो विदेशियों को असभ्य तथा बर्बरता-पूर्ण प्रतीत होते थे । योरपियन शक्तियों को यह आदत होती है कि दूसरों के साथ भी अति नीच व्यवहार करने में वे ज़रा नहीं हिचकिचाते ; परंतु जब उनके साथ ज़रा भी उनकी इच्छा के प्रतिकूल व्यवहार होता है, तो वह असभ्य तथा पाशविक हो जाते हैं तथा उनके म्यानों के अंदर के खड्ग संसार में न्याय तथा समानता का राज्य स्थापित करने की आड़ में फड़क उठते हैं । अस्तु, जब चीन पराजित हुआ, तो १८४२ ई० में नानकिंग की संधि हुई ।

निर्बल चीन दबाया गया और अँगरेज़ों को संधि के द्वारा पाँच स्थान (ट्रीटी पोर्ट्स) और हांगकांग दिया

गया । बस, यहीं से चीन में विदेशियों के विशेषाधिकारों का जन्म होता है ।

इसी प्रकार योरप की अन्य शक्तियों ने भी समय-समय पर निर्बल तथा जर्जर चीनी राष्ट्र को दबाकर चीन में विशेष स्थान प्राप्त किए । विदेशियों ने चीन से संधियाँ करके जो स्थान प्राप्त किए हैं, उनके अंदर उन्हें विशेष अधिकार (extra territorial rights) प्राप्त हैं । इन अधिकार की मंशा यह है कि चीनी राज्य में रहकर भी विदेशी सरकारें अपनी प्रजा को चीनी सरकार के क़ानूनों से बचा लेती हैं । इन विदेशियों ने स्वतंत्र चीन देश में रहते हुए चीन के पूर्ण प्रभुत्व को, चीन की स्वतंत्रता को, छीन लिया है ।

यदि किसी चीनी तथा विदेशी से झगड़ा हो जाय, तो चीनियों तथा चीन की सरकार को यह अधिकार नहीं कि वह उस विदेशी पर अपने न्यायालय में मुक़द्दमा चला सके । चीन सरकार को यदि मुक़द्दमा चलाना हो, तो वह उस विदेशी जाति के द्वारा स्थापित उनके न्यायालय में चलावें । इसी प्रकार यदि कोई विदेशी मनुष्य किसी चीनी पर मुक़द्दमा चलाए, तो वह चीन सरकार की अदालत में चलाएगा ; पर यदि मुक़द्दमा झूठा साबित हो जाय और चीनी न्यायालय उस असत्य मुक़द्दमा चलानेवाले विदेशी को दंड देना चाहे, तो वह चीनी न्यायालय इस बात का अधिकारी नहीं है कि उस विदेशी पर मुक़द्दमा चलाकर उसे दंड दे । इन विदेशियों ने चीन को दबाकर उसकी निर्बलता से लाभ उठाकर, यहाँ तक विशेष अधिकार प्राप्त कर लिए हैं कि यदि कोई चीनी ही किसी विदेशी जाति की प्रजा हो गया हो अथवा किसी चीनी द्वीप का रहनेवाला चीनी हो (जो द्वीप किसी विदेशी के अधिकार में हो, चीन में रहे) कोई अपराध करे, तो उस पर चीन सरकार अपने न्यायालय में मुक़द्दमा नहीं चला सकती ।

चीन सरकार किसी विदेशी सरकार से संधि करके उसे कुछ विशेष अधिकार यदि दे दे, तो उसे बाध्य होकर इच्छा से अथवा अनिच्छा-पूर्वक वही अधिकार अन्य विदेशियों को भी देने पड़ेंगे । यदि चीनी सरकार अँगरेज़ों को किसी स्थान में निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार देती है, तो उसे बाध्य होकर अन्य विदेशी सरकारों को भी जिस स्थान विशेष में वे चाहेंगे निःशुल्क व्यापार करने का अधिकार देना पड़ता है ।

पहलेपहल फ़्रांस ने दक्षिण चीन में कुछ विशेष स्थान चीन से प्राप्त किए । इसके अनंतर फ़्रांस ने चीन से इस प्रकार की संधि की कि जो स्थान दक्षिण चीन में फ़्रांस को मिले हैं, यदि उस स्थान के आसपास अगल-बग़ल के स्थानों का पट्टा (leased area) करना हो अथवा वहाँ रेल निकालना हो, वहाँ की व्यापारिक सुविधा के लिये चीन सरकार को क़र्ज़ लेना हो, नहर निकालने आदि का कार्य करना हो, तो उसके ठेके आदि चीन सरकार पहले फ़्रांसीसी सरकार को देगी । यदि फ़्रांसीसी सरकार अस्वीकार करे, तो वह दूसरे को दे दे । इस प्रकार की संधि से फ़्रांस को लाभ था । उसका विचार था कि अपने स्थान के आसपास अपना ही प्रभाव बढ़े । इसी कारण उसने यह अनुचित संधि चीन से की ; परंतु चीन का पिंड इतने ही से नहीं छूटा । ब्रिटिश सरकार ने यांटसी की घाटी (Yangtsi Valley) में तथा रूस सरकार ने मंचूरिया में चीन सरकार की इच्छाओं के विरुद्ध ऐसी ही संधियाँ प्राप्त कीं ।

ये विशेषाधिकार—जिन्हें न्याय और समानता के ढोंगियों ने—योरप के भेड़ियों ने—ज़बर्दस्ती चीन से छीन रक्खा है, संसार में अद्वितीय और अपूर्व हैं । किसी भी पूर्ण स्वतंत्र देश के अंदर यह अंधेर नहीं मचा है । ये अधिकार अंतरराष्ट्रीय नियमों के सर्वथा प्रतिकूल हैं ; परंतु नियम तो उनके अधीन हैं, जिनके बाहुओं में बल है, जिनकी मुट्ठी शक्तिशालिनी है । चीन का देश चीनियों का है, चीनी सरकार वहाँ स्थापित है, उसे अपने देश पर पूर्ण प्रभुत्व है, उसका अपने देश पर अक्षुण्ण अधिकार होना चाहिए । उसे अधिकार होना चाहिए कि वह जिससे चाहे संधि करे, जिससे चाहे उससे न करे, उसे यह अधिकार है कि वह जो अधिकार जिसे उचित समझे उसे दे, जिसे उचित न समझे, न दे । उसे यह अधिकार है कि अपने देश में रहनेवाले स्वदेशी-विदेशी सभी पर अपने न्यायालय में अपने तरीक़े से न्याय करने को बुलाए ; परंतु निर्बल तथा बलहीन होने के कारण, उसे अपने ही देश में अपमानित होना पड़ रहा है ।

चीन सरकार की आर्थिक नीति में इन विदेशियों के अधिकारों का ऐसा निठुर हस्तक्षेप है, जिसे देखने से ज्ञात होता है कि चीन इन विदेशियों के द्वारा कैसा कुचला जा रहा है ।

चीन सरकार संधि द्वारा ऐसी बँधी हुई है कि वह नियमित रकम से अधिक कर किसी विदेशी माल पर नहीं लगा सकती। अपने ही देश के अंदर एक स्थान से दूसरे स्थान पर विदेशी माल के ऊपर वह विदेशियों की इच्छा से अधिक चुंगी लगाने की अधिकारिणी नहीं है। इस कारण चीन का सारा व्यापार, सारे उद्योग-धंधे, विदेशियों की प्रति स्पर्द्धा के सामने न टिकने के कारण नष्ट हो रहे हैं।

इस नीति से चीन सरकार की आर्थिक नीति पर बड़ा धक्का लगा है। इससे स्पष्ट है कि विदेशी चीन सरकार की शक्ति को कुछ न जानकर उसके ऊपर कितना अन्याय पूर्ण दबाव डालते हैं और उसके अक्षुण्ण पूर्ण प्रभुत्व के अधिकारों को कुचलकर अपनी ही सत्ता तथा अपना ही प्रभाव जमा लेना चाहते हैं। प्रत्यक्ष है कि विदेशियों के ये अधिकार, उनकी ये सुविधाएँ, चीन को कहाँ तक अपमानित करती हैं। ये चीन की निर्बलता के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

अपने देश का इस हीन दशा का प्रमाण जब सुधारक समाज को प्राप्त हुआ, जब उसने देखा कि बिना इसका पूर्ण प्रतीकार किए देश का कल्याण नहीं है, तो उसने शासक-मंडल पर दबाव डालना आरंभ किया। परंतु जब एकतंत्र शासन-प्रणालियाँ निर्बल हो जाती हैं—जब राज्यसत्ता के अधिकारियों का चित्त विलासिता में डूब जाता है, तो उन्हें देश की रक्षा का और उसके हित अनहित का ज्ञान नहीं रह जाता। उनका कार्य तो इतना ही रहता है कि उनके विलास में कोई बाधा न पहुँचे। परिणामतः चीन के राजा ने कोई विशेष ध्यान इस पर नहीं दिया।

ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर चीन का देश-प्रेमी नवयुवक-समाज सुधार के प्रबल झकोरों में बहता हुआ पश्चिमीय सभ्यता के वायु-मंडल में विकसित हुई देश-हित की भावना से प्रेरित होकर देश की शासन-व्यवस्था में परिवर्तन करने पर तुल गया। तदनुसार राज्यक्रांति हुई और १९११ ई० में मंचूराज को हराकर प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना हुई। यह प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली की स्थापना इस बात का सबल प्रमाण है कि चीन में सुधार की भावना प्रबल हो रही है।

चीन के नवयुवक समाज-सुधारक तथा क्रांतिवादियों के महान् नेता डॉ० सनयातसेन प्रजातंत्र के प्रधान बनाए गए।

डॉ० सनयातसेन दक्षिणी चीन के थे। इन्होंने योरप में शिक्षा पाई थी और ईसाई थे। चीन में क्रांतिवाद के आचार्य डॉ० सनयातसेन ही थे। अतः दक्षिण में ही प्रजातंत्र की भावना अधिक प्रबल थी; क्योंकि दक्षिणीय चीन में ही योरपीय सभ्यता का प्रभाव अधिक है। जब प्रजातंत्र की स्थापना हुई, तो चीन में दो दल हो गए। चीन बड़ा ही सुविस्तृत देश है। उसे एक सूत्र में इतनी शीघ्रता से बाँध लेना उसके स्वभाव, उसकी शिक्षा तथा उसकी विस्तृति के कारण ही बड़ा कठिन था।

उत्तरी चीन और दक्षिणी चीन के दो दल हो गए। उत्तरी चीन का नेता युकानशिकाई था। जब युकानशिकाई का प्रभाव बढ़ा, आपस में परस्पर संघर्ष की संभावना हुई, देश में फूट के लक्षण दिखलाई पड़े, उस समय देश-हित की इच्छा से, परस्पर की फूट, विद्वेष और गृह-कलह के निवारणार्थ देशभक्त डॉ० सनयात ने अपनी प्रधानता से इस्तीफ़ा दे दिया।

युकानशिकाई प्रजातंत्र के अधिपति चुने गए। युकानशिकाई बड़ा ही मनस्वी तथा उच्चाभिलाषी था। उसने प्रजातंत्र को अपने हाथों की कठपुतली बना रक्खा, जैसा चाहा, राज्य किया। यदि वह कुछ दिनों तक और जीता रह जाता, तो संभव था कि प्रजातंत्र के अंदर से एकतंत्र की उत्पत्ति होती और नेपोलियन की भाँति वह चीन का निरंकुश शासक हो जाता; परंतु वह अधिक दिन जीवित हो नहीं रह सका।

शासन-सूत्र उसके हाथ में आ जाने के कारण कुछ दिनों के लिये चीन में केंद्रस्थ शासन की स्थापना हो गई। उत्तर तथा दक्षिण चीन एक ही राज्य के अधीन कुछ समय तक शासित हुए; परंतु युकानशिकाई की मृत्यु होते ही चीन की राजनैतिक स्थिति और भी डाँवाडोल हो गई। देश में कोई ऐसा बलवान मनुष्य नहीं रह गया, जो मँझधार में पड़ी हुई, ज़ोरों के साथ बहती हुई, देश-नौका की पतवार पकड़कर चतुर कर्णधार की भाँति उसे पार लगाता। उत्तरी चीन के लोग युकानशिकाई के जीवन-काल तक तो केंद्रस्थ शासन के अधीन रहे, पर उसके मरते ही चीन विभक्त हो गया।

गत योरपीय महासमर में भाग लेने के कारण चीन में मतभेद हुआ और प्रजातंत्र के दो विभाग हो गए। इस समय दक्षिण में प्रजातंत्र शासन-प्रणाली स्थापित है,

परंतु उत्तर में कोई भी शासन-व्यवस्था नहीं। प्रत्येक प्रांत को स्वार्थी सेनापतियों ने अपनी शक्ति के अनुसार अपने अधिकार में कर लिया है और स्वतंत्र शासक की भाँति अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगे हुए देश का सर्वनाश कर रहे हैं। प्रजातंत्र इनको अपने हाथ में लाना चाहता है, परंतु उसके हाथ में इतनी शक्ति नहीं है कि वह केंद्रस्थ शासन की स्थापना कर सके। देश में कोई बलवान् आत्मा भी नहीं है, जिसके नेतृत्व में सब मिल-कर चल सकें और देश का कल्याण कर सकें। परिणाम यह हो रहा है कि आज गृह-कलह की भयंकर ज्वाला से स्वार्थी सेनापतियों की भीषण नीचता तथा स्वार्थ-परता से सारा चीन क्षुब्ध है।

प्रजातंत्र के सम्मुख केवल परस्पर के युद्ध की ही समस्या नहीं उपस्थित है ; परंतु विदेशियों की कूटनीति के कारण तथा उनके द्वारा परिचालित आर्थिक नीति के कारण वह भयंकर आर्थिक संकट में भी पड़ा हुआ है।

विदेशी साम्राज्यवादिनी शक्तियाँ चीन के इस जागरण को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का बाधक समझकर अपनी कूटनीति के द्वारा उसे और भी संकट में डालने का प्रयत्न कर रही हैं। इतना ही नहीं आज योरप की लुटेरा शक्तियाँ चीन की उच्चाभिलाषा को, चीन की इस जागृति को, चीन के अपने सुधारों को नष्ट करने के लिये, एक महायुद्ध की योजना भी कर रही हैं। संभव है, पूर्व और पश्चिम का एक भारी संघर्ष इस चीनी और योरपीय शक्तियों के युद्ध में शीघ्र ही प्रकट हो।

प्रजातंत्र के सम्मुख उत्तर-दक्षिण दोनों को मिलाकर एक केंद्रस्थ-शासन की स्थापना करना ही एक बड़ा काम है तथा उन दोनों को एक सूत्र में बाँधना ही चीन को बलशाली बनाना है। परंतु चीन के अंदर जागृति हो चली है। चीनी राष्ट्र ने समझ लिया है कि अब उसे अपना उद्धार करना है। आज चीन अनेक कठिनाइयों, विपत्तियों और अड़चनों के कारण दुःखी है। सारा देश क्षुब्ध है; पर वह इस प्रयत्न में लगा है कि शीघ्रातिशीघ्र देश में शांति स्थापन करके वह इतना बलशाली हो जाय कि संसार की अन्य शक्तियों के सम्मुख उसे अपने अधिकारों के लिये सिर ऊँचा करके लड़ने की शक्ति हो जाय और संसार की अन्य सभ्य जातियों की पंक्ति में वह भी वही स्थान प्राप्त कर सके, जो दूसरों को प्राप्त है।

वर्तमान पूर्व आज उत्सुक दृष्टि से चीन की इस उच्चा-कांक्षा और अपने अस्तित्व के लिये आसन्न संघर्ष की ओर देख रहा है। पूर्व यह जानता है कि आज चीन के उद्धार के साथ-ही-साथ समस्त पूर्व के उत्थान और उसके पतन के साथ-साथ पूर्व का भी पतन है। हम चाहते हैं कि चीन अति शीघ्र अपने संकटों से मुक्त हो और उसके अंदर शुभ तथा सुंदर राष्ट्रवाद की स्थापना हो। हमारी मंगल-कामनाएँ चीन के वीर देशभक्त नवयुवक-समाज के साथ हैं और हम उनकी सफलता की ओर उत्सुक दृष्टि से देख रहे हैं।

श्रीकमलापति शास्त्री

रक्त का मूल्य

(१)

किसी उजड़े हुए उद्यान का वह अकेला फूल था—मीठे सौरभ से भरा हुआ, चित्त को मस्त कर देने-वाला, बड़ा ही सुंदर और आकर्षक। उसके असली घर-द्वार, माँ-बाप का किसी को कुछ पता न था।

शहर के बाहर, सड़क के किनारे, एक सुंदर बग़ीचा था। उसी में एक माली ने दया कर उसके लिये एक छोटी-सी झोपड़ी खड़ी कर दी थी। समय-समय पर वह उसकी देख-रेख भी किया करता था।

वही झोपड़ी उस बालक का स्वर्ग था, जो लोग उधर से जाते, उसका विह्वल संगीत उन्हें क्षण भर के लिये अवश्य रोक रखता। उसके स्वर में हृदय को खींचनेवाली एक सजीव शक्ति थी।

थके-माँदे मुसाफ़िर उसके पास कुछ देर बैठ जाते थे। वह बड़े प्रेम से उन्हें ठंढा पानी पिलाता, नीम के पत्तों से हवा पहुँचाता और अमृत से भरी हुई अपनी मीठी वाणी सुनाकर उनकी सारी थकावट दूर कर देता था। वे लोग भी जाते समय उसे कुछ दे दिया करते थे और उसे स्वीकार करते हुए बालक की आँखें सजल हो जाती थीं। पंद्रह वर्ष के लगभग उमर हो चली थी, पर

बचपन ने अभी साथ नहीं छोड़ा था। चेहरे पर संयम, संतोष और सरलता की ज्योति निखर रही थी। वह उसी तरह अपना समय बिता रहा था।

एक दिन अपने संगीत में वह मस्त था। उसी समय किसी ने पुकारा "अबोध !"

बालक चौंक पड़ा। आँखें खोलकर देखा, सामने वही माली खड़ा था। बोला—"क्या है भैया ?"

"आज मेरे साथ शहर चलोगे ?"

"क्यों न चलूँगा ? कोई काम है क्या ?"

"तुमसे कोई काम नहीं है। बाबू के घर फल पहुँचाने जा रहा हूँ। चाहता हूँ, आज तुम्हें भी अपने संग लिवा चलूँ। चलोगे ?"

"चलूँगा" कहकर वह झोपड़ी से बाहर निकल पड़ा।

(२)

उस बग़ीचे के मालिक दिनेश बाबू शहर के एक नामी रईस थे। साहित्य और संगीत के बड़े प्रेमी, हृदय के धनी और स्वभाव के मीठे थे। अवस्था भी तीस बरस से अधिक नहीं थी। गोद में तीन बरस का एक पुत्र भी था—बड़ा ही सुंदर और लुभावना। लोग उसे 'विधुर' कहकर पुकारते थे।

माली प्रायः प्रतिदिन वहाँ आया-जाया करता था, पर किसी ने कभी विधुर को उसके पास आते नहीं देखा। उस दिन माली के साथवाले बालक ने उसे अपनी ओर खींच लिया। बच्चे भी हृदय के व्यापार में बड़े पटु होते हैं। वह इधर-उधर की बातें बनाता हुआ टोकरी के पास आ पहुँचा और अबोध की ओर देखकर बोला—"तुमाला छब फल लेकल बाग जाऊँ तो ?"

"और मैं इस तरह पकड़ रक्खूँ तो ?" कहकर अबोध ने उसे अपनी बाँहों से जकड़ लिया। कुछ देर तक तो वह छटपटाता रहा, पर लीची का एक गुच्छा पाते ही उसकी गोद में बैठ गया।

इसी समय दिनेश बाबू भी आ गए। बच्चों की सरल क्रीड़ा स्वर्गीय आनंद की स्रोतस्विनी है। वे उसी में बहते हुए बोले—"विधुर ! अपने इस नए दोस्त के साथ जाकर बग़ीचे में रहोगे ?"

"हाँ, बाबूजी, औल अम्मा को भी छाथ ले चलेंगे।"

"और मुझे नहीं ?" कहकर दिनेश बाबू खिलखिलाकर हँस पड़े।
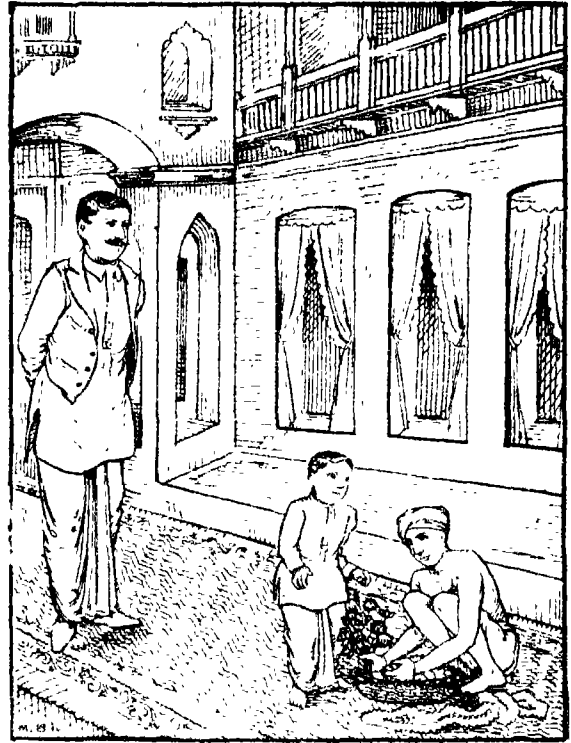
इसी समय दिनेश बाबू भी आ गए

बच्चे दिल्लगी भी समझ जाते हैं। बाप की इस हँसी का अर्थ समझकर वह मचल पड़ा और अबोध की गोद से नीचे उतर आया।

भीतर से टोकरी ख़ाली होकर आ गई। माली ने बाबू को सलाम किया और अपनी राह ली। अबोध भी पीछे-पीछे चल पड़ा। विधुर चुपचाप खड़ा हुआ उसकी ओर देख रहा था।

(३)

अबोध रोज़ वहाँ आने-जाने लगा। दोनों बालकों का हृदय एक हो गया। उनमें गहरी प्रीति हो गई। दिनेश बाबू भी अबोध को स्नेह और ममता की दृष्टि से देखते थे। प्रति दिन वह विधुर के लिये माली से माँगकर एक-न-एक नया फल लाया करता और बड़े प्रेम से उसे खिलाया करता था। जिस दिन उसके आने में थोड़ी-सी भी देर हो जाती, विधुर विकल हो जाता था। उसे किसी तरह चैन नहीं पड़ती थी। दोनों को देखकर और लोग भी एक अपूर्व सुख पा रहे थे।

दिन बीतने लगे। विधुर एक अँगरेज़ी स्कूल में पढ़ रहा था। दिनेश बाबू अबोध को भी पढ़ाना चाहते थे। पर स्कूल-कॉलेज की ओर उसकी रुचि न देखकर कुछ नहीं कर सके। धीरे-धीरे विधुर कॉलेज में पहुँच गया। अबोध अभी तक उसी झोपड़ी में था। फिर भी दोनों के ज्ञान और विवेक में बड़ा अंतर था। अबोध की बुद्धि और गंभीरता पर सभी मुग्ध थे। विधुर को तो उस पर श्रद्धा-सी हो गई थी। कई बार चाहा कि वह उसी के महल में आकर रहे, पर अबोध ने अपनी झोपड़ी नहीं छोड़ी।

सूर्यास्त होने में घड़ी भर की देर थी। अबोध उसी बग़ीचे में घूम-घूमकर कुछ गा रहा था। उसके चेहरे पर विकलता और स्वर में विदग्धता थी। मालूम होता था किसी कारण उसकी चित्त-वृत्ति अस्थिर हो उठी है। वहीं एक शिला-खंड पर बैठकर वह अपने गाने में लीन हो गया। सहसा उसे एक गाड़ी की खड़खड़ाहट सुन पड़ी। देखा, वह गाड़ी दिनेश बाबू की थी। उसका हृदय धड़कने लगा। इसी समय गाड़ी से एक नौकर उतर पड़ा और तेज़ी से पैर बढ़ाता हुआ अबोध के पास जा पहुँचा। घबराए हुए स्वर में वह बोला—"बड़ा बाबू के मुँह से ख़ून"—अभी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि अबोध खड़ा हो गया। पागल की तरह दौड़कर वह गाड़ी में जा बैठा। उस समय उसके ऊपर क्या बीत रही थी, कोई कैसे जान सकता है?

(४)

विधुर आज एक सप्ताह से खाट पर पड़ा है। उसके शरीर का सारा रक्त निकल गया। शक्ति का नाम भी शेष नहीं है। सदैव बेहोशी में कुछ-न-कुछ बड़बड़ाया करता है। होश आने पर कभी-कभी थोड़ी देर के लिये आँखें खुल जाती हैं। बेचारा, अबोध दिन-रात उसी जगह पड़ा रहता है। खाना, पीना, सोना सब भूल गया है। विधुर में ही उसके प्राण बसते हैं। इसीलिये अपने शरीर की उसे तनिक भी सुधि नहीं है। जिसका जीवन ही दूसरे के लिये हो, उसे अपनी चिंता कब होती है?

दिनेश बाबू अपने एकलौते बेटे की दशा देखकर पागल-से हो गए। नामी-नामी डॉक्टर बुलाए गए। अंत में कोई उपाय न देखकर उन्होंने निश्चय किया कि रोगी के शरीर में किसी सबल व्यक्ति का ताज़ा ख़ून पहुँचाया जाय। इसी में जीवन की आशा थी।

सब-के-सब सन्न रह गए। घर में रोना मच गया। कौन अपनी जान जोखिम में डालता। सब एक दूसरे का मुँह ताकते थे, पर कुछ कह न सकते थे। सहसा अबोध जो अब तक मौन बैठा था, आगे बढ़कर बोला—"इस शरीर से बढ़कर शुद्ध रक्त और कहाँ मिलेगा, डॉक्टर साहब! चलिए और अपना काम शुरू कर दीजिए।"

सब-के-सब चकित रह गए। किसी को इस दिल्लगी के समझने की हिम्मत न पड़ी। उसके प्रत्येक शब्द में हृदय का सत्य और बल भरा हुआ था। दिनेश बाबू घबरा उठे। मुझे इसके रक्त पर क्या अधिकार है? अपने पुत्र के लिये दूसरे की जान क्यों ख़तरे में डालूँ? दुनिया क्या कहेगी? उनका पुत्र-स्नेह सजीव हो उठा। बोले—"नहीं, अभी तक मैं जीवित हूँ। जितना रक्त चाहिए, मेरे शरीर से ले लिया जाय, किसी और के रक्त की ज़रूरत नहीं।"

"बाबूजी! आप इस तरह मेरा अपमान क्यों कर रहे हैं?" कहकर वह बच्चों की तरह सिसकने लगा।

"नहीं बेटा! तुम और विधुर दोनों ही मेरे लिये एक से हो। मेरी आँखें तुम्हें रक्त-दान करते न देख सकेंगी।"

"और मेरी आँखें क्या ऐसा कर सकेंगी? आख़िर मेरे शरीर का इतना रक्त किस काम में आवेगा?"

"और मेरा—"

डॉक्टरों ने बीच ही में फ़ैसला कर दिया। दिनेश बाबू की अपेक्षा अबोध का रक्त अधिक हितकर था। सब वहाँ से हटा दिए गए। कमरे का द्वार बंद कर दिया गया। थोड़ी देर में अबोध बाहर निकाला गया। वह निर्जीव-सा हो गया था, परंतु मुख पर एक आभा चमक रही थी। उसी समय वह अस्पताल पहुँचाया गया।

(५)

अब दोनों ख़ूब अच्छे हो गए थे। प्रातःकाल का सुहावना समय था। धीरे-धीरे सौरभ से सनी हुई समीर चल रही थी। विधुर ने काँपते हुए स्वर में पूछा—"अबोध! मैं तुम्हारे ऋण से कभी मुक्त भी हो सकूँगा?"

"किस ऋण से विधुर!"

"जिसके भार से तुम मुझे दबाए हुए हो।"

"क्यों? उसे अब अपने ऊपर रखना नहीं चाहते?" अबोध की वाणी में अगाध वेदना थी।

"नहीं, नहीं, मेरा यह मतलब नहीं था। ऐं! तुम रोने क्यों लगे, अबोध?"

"इसीलिये कि तुम मुझे सूद खानेवाला महाजन समझ रहे हो !"

"अच्छा, फिर कभी ऐसी ग़लती न होगी । मगर मेरा तो—"

"क्या, तुम्हारा दूसरा मतलब क्या था ?"

"यही कि मेरे जीवन पर तुम्हारा एक ख़ास अधिकार है । जिस कार्य के लिये कहो, मैं इसे उत्सर्ग कर दूँ, जिससे तुम्हारे रक्त की मर्यादा बनी रहे, उसमें धब्बा न लगने पावे ।"

अबोध के मुख पर एक स्वर्गीय आभा झलक उठी । बोला—

"काम कोई भी करना, पर अपने कर्त्तव्य-पालन में ख़ूब कठोर बने रहना । उसके लिये यदि तुम्हें मेरी भी लाश देखनी पड़े, तो भी विचलित मत होना । तुम्हारा कर्त्तव्य-पालन ही मेरे रक्त का सच्चा मूल्य होगा ।"

विधुर सिर झुकाकर ये बातें अपने हृदय पट पर लिख रहा था । अबोध भी चुप हो गया । थोड़ी देर के बाद नीरवता भंग हुई । विधुर ने पूछा—"मगर यह तो बताओ अबोध ! तुम मुझे इस तरह छोड़कर जा कहाँ रहे हो ?"

"यह जानने को अगर तुम ज़रा भी अधीर होगे, तो मुझे बड़ा दुःख होगा । जीवन को मोह की ज़ंजीर से जकड़े रहना अच्छा नहीं है ।"

"यह पूछना भी क्या मोह है ?"

"भारी मोह है—इसके सिवा और कुछ है ही नहीं ।"

विधुर फिर कुछ न पूछ सका । उसके हृदय में एक तूफ़ान उठ रहा था ।

अबोध उठकर खड़ा हो गया और बोला—"अच्छा तो अब मैं तुमसे विदा होता हूँ ।"

विधुर पत्थर की प्रतिमा बना खड़ा था । उसकी आँखें उसके हृदय का रस निकाल-निकालकर मिट्टी में मिला रही थीं !

उसने फिर कहा, "आ रहा हूँ ।"

"आओ" कहते हुए विधुर ने अपनी अँगूठी निकालकर उसे पहना दी । इसके आगे वह एक शब्द भी नहीं बोल सका ।

अबोध भी आँखें पोंछता हुआ तेज़ी से निकल गया । पीछे फिरकर एक बार देखा भी नहीं ।

(६)

दोनों मित्रों को बिछुड़े बहुत दिन बीत गए । इतने ही में विधुर कुछ-का-कुछ हो गया । अब वह पटने का दौरा-जज था । सभी उसके न्याय की प्रशंसा करते थे ।

देश में राजनैतिक विप्लव की आँधी बड़े वेग से चल रही थी । उसका दबाना कठिन था । एक ओर सरकार अपनी सारी शक्ति लगाकर तेज़ी से दमन-चक्र चला रही थी । दूसरी ओर देश के बच्चे राष्ट्रीय-यज्ञ में हँस-हँसकर अपने प्राणों की आहुति दे रहे थे । पशुता नंगी होकर नाच रही थी और मनुष्यता रो रही थी ! उसके आँसू पोंछनेवाले बुरी तरह सताए जा रहे थे । न्याय की आँखें फूट गई थीं ! सत्य चेतना-शून्य होकर कहीं पड़ा था ! धर्म के प्राण तड़प रहे थे ! अपराधियों के साथ-साथ कितने ही निरपराध लोग भी जेल की चक्कियों में जोते गए, कोड़ों से पीटे गए और फाँसी पर लटका दिए गए ! अशांति की आग देश को बेतरह जला रही थी ! भीषण हाहाकार मचा हुआ था !

तलाशियों की धूम थी । पुलीस के कर्मचारी प्रज्ञा-चक्षु हो गए थे । उन्हें चारों ओर अस्त्र-शस्त्रों के गुप्त भंडार दिखाई देते थे !

स्वामी अबोधानंद की गिरफ़्तारी भी इसी तरह हुई । वे एक आध्यात्मिक आचार्य थे । शहर से बाहर एक छोटे-से पर्वत पर उनका आश्रम था । उनके पास लोग बहुत आया-जाया करते थे । प्रांत भर में उनका सम्मान था । कितने ही दीन, दुःखी प्राणी उनके यहाँ आश्रय पाते थे । विप्लव के समय ऐसे लोग पुलीस की दृष्टि में बड़े भयानक होते हैं । उनके ऊपर पुलीस की आँखें पड़ीं । वे ही सारे अनर्थों के मूल समझ लिए गए । उसी समय प्रांत में दो-तीन राजनैतिक हत्याएँ हो गईं, कई डकैतियाँ भी हो गईं । स्वामीजी भी इस अपराध में पकड़ लिए गए । तलाशी के समय न जाने उनकी कुटी में दो-तीन तमंचे कैसे मिल गए !

पकड़कर वे अदालत पहुँचाए गए । सम्राट् के विरुद्ध युद्ध छेड़ने, राजनैतिक हत्याएँ और डकैतियाँ करने के अपराध में उन पर मुक़द्दमा चला । कुछ दिनों तक न्याय का नाटक हो लेने पर वे दौरा सिपुर्द कर दिए गए ।

न्यायाधीश का कर्तव्य स्पष्ट था । अभियुक्त के विरुद्ध सभी प्रमाण सबल थे । वह बार-बार पूछे जाने पर भी कुछ नहीं बोलता था । अदालत के सामने कोई उलझन नहीं थी । फ़ैसला सुना दिया गया । उसे फाँसी की सज़ा हो गई !

न्यायपति कुर्सी से उठ ही रहे थे कि सामने टेबुल पर एक अँगूठी आ गिरी। उस पर खुदा था "विधुर।"

वेदना-भरी आँखों से एक बार अभियुक्त की ओर देखते हुए न्यायपति बेहोश होकर नीचे गिर पड़े! उनके मुँह से खून बह रहा था!

(७)

फाँसी का समय आ गया। अभियुक्त से पूछा गया "मरने के पहले क्या चाहते हो?"

"फाँसी की आज्ञा देनेवाले अपने न्यायपति को एक बार देखना चाहता हूँ।"

"वे तो नहीं आ सकते। बहुत बीमार हैं—मुँह से खून गिर रहा है।"

उसका मुख विवर्ण हो गया। अधीर होकर उसने कहा—"जिस तरह हो, उन्हें एक बार मुझे दिखा दीजिए। मेरी प्रार्थना सुनकर वे अवश्य ही आ जायँगे।"

उसके शब्दों में स्नेह की कातरता और विश्वास की दृढ़ता थी। उसी समय जज साहब के पास आदमी भेज दिया गया।

"प्यारे अबोध!" कहकर वह अभियुक्त के पैरों पर गिर पड़े।

वे आ गए। अभियुक्त पागल होकर उनकी ओर दौड़ पड़ा। वे भी आवेग में आकर खड़े हो गए और उसकी ओर दौड़े।

"प्यारे अबोध!" कहकर वे अभियुक्त के पैरों पर गिर पड़े। वही उनकी अंतिम चीख़ थी। मुँह से खून की नदी बहने लगी।

"भैया विधुर! मुझे अपने रक्त का मूल्य मिल गया। उठो, एक बार प्यार से तुम्हें गले लगा लूँ—फाँसी का समय हो गया है।"

विधुर फिर कभी नहीं उठा। अबोध भी अब अपने को न सँभाल सका। धड़ाम से उसी लाश पर गिर पड़ा। उसके मुँह से भी रक्त की धारा फूट पड़ी! वह भी विधुर के साथ ही चल बसा!

दो संतप्त हृदयों के उस मूल्यवान् रक्त-संयोग का रहस्य वहाँ कोई नहीं समझ सका। किसी को क्या मालूम उसका क्या मूल्य था?

जनार्दनप्रसाद झा "द्विज"

पश्चिम की आधुनिक स्त्री
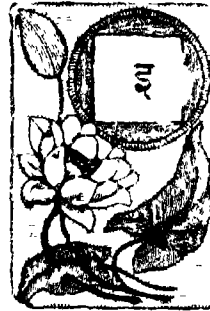
इस परिवर्तनशील संसार में किसी वस्तु की स्थिरता नहीं। प्रत्येक जड़-जंगम पदार्थ में परिवर्तन का चक्र चल रहा है। कहें तो कह सकते हैं कि इस परिवर्तन-शीलता में ही संसार का अस्तित्व है। यह परिवर्तन मनुष्य को उत्कर्ष की ओर ले जा रहा है या अपकर्ष की ओर, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना अवश्य है कि लाख एँड़ी-चोटी का ज़ोर लगाने पर भी कोई इस परिवर्तन को रोक नहीं सकता। यह अनादि-काल से चला आया है और अनंतकाल तक चलता रहेगा। जड़-जगत् को छोड़कर यदि हम अपने ऊपर ही दृष्टि डालते हैं, तो हमें भारी परिवर्तन देख पड़ता है। त्रेता-युग के स्त्री-पुरुषों के रंग-रूप, आकार-प्रकार, रहन-सहन, खान-

पान, वस्त्राभूषण, ज्ञान तथा कर्मेंद्रियों की शक्ति और जीवन की आवश्यकताओं की वर्तमान काल के साथ तुलना कीजिए, आपको भारी अंतर देख पड़ेगा। पुरुष की अपेक्षा स्त्री नए फ़ैशन और नए रीति-रिवाज को शीघ्र ग्रहण करती है। इसलिये उससे संबंध रखनेवाली बातों में परिवर्तन का प्रभाव शीघ्र देखा जा सकता है। गत एक सौ वर्ष के भीतर ही स्त्री कुछ-की-कुछ बन गई है। उसके रंग-रूप, चाल-ढाल, शरीर-संगठन और सामाजिक स्थिति में भारी परिवर्तन हो गया है। इस बात को दार्शनिक लोग ही नहीं, निरक्षर बूढ़ी स्त्रियाँ तक अनुभव कर रही हैं। लाहौर, बंबई और कलकत्ता आदि महानगरों की फ़ैशन की पुतलियों को देखकर 'सभ्यता' से दूर देहात में रहने-वाली अस्सी वर्ष की बुढ़िया त्राहि-त्राहि किए बिना नहीं रह सकती। उस दिन हम सबेरे वायु-सेवन के लिये रावी नदी को जा रहे थे, रास्ते में दो वृद्धा स्त्रियाँ बातचीत करती हुई मिलीं। उनमें से एक कह रही थी—

"बहिन, मेरा रामलाल पाँच बरस का हो गया था, परंतु तेरे जीजा ने उसे एक दिन भी नहीं बुलाया था। वह उसे अपने पास तक नहीं आने देता था। एक दिन बच्चा उससे जाकर लिपट गया। वह झट उसे फेंककर बाहर दौड़ गया। बहिन, आजकल की पति-पत्नियों की तो कुछ न पूछो, बच्चा अभी एक मास का भी नहीं होने पाता कि बाप गोद में लेकर खिलाने लगता है, किसी को शर्म ही नहीं रही।

"दूसरी बोली—बहिन, यदि बहू के हाथ मेंहदी से रँगे हुए हों, तो मेरा ससुर अपने सामने उसे चौके में नहीं आने देता था। परंतु आजकल की युवतियाँ सोलहों सिंगार किए ससुर और जेठ के सामने छन-छन करती हुई इधर से उधर नाचती फिरती हैं। कोई शर्म ही नहीं रही। बुरा समय आ गया है।"

काल-चक्र के इस तीव्र वेग से भारत ही नहीं, सारा पाश्चात्य जगत् भी आश्चर्य चकित हो रहा है। वह इसके परिणाम के संबंध में भयभीत है; परंतु डरने की कोई बात नहीं। विधाता की सृष्टि में जो कुछ हो रहा है, सब-का अंतिम परिणाम अच्छा ही है। हमारी अदूरदर्शी आँखें चाहे उससे होनेवाले लाभ को न देख सकें, परंतु सर्वनियंता का कोई कार्य उसके पुत्रों के लिये अनिष्टकर नहीं हो सकता।

कल्पना कीजिए कि आप सन् २,००० में बैठे हैं। अब यदि आप प्रश्न करें कि बीसवीं शताब्दी के पहले चतुर्थांश में मानुषी घटनाओं में प्रधान घटना कौन-सी थी, तो आपको उत्तर मिलेगा कि विश्व-व्यापी युद्ध या रूस की राज्य-क्रांति नहीं, वरन् स्त्री की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन ही उस काल की प्रधान घटना थी। इतने थोड़े काल में इतना चौंका देनेवाला परिवर्तन इतिहास में और दूसरा नहीं देख पड़ता। जब से खेती को छोड़कर लोग फ़ैक्टरियों और पुतलीघरों में दौड़े आ रहे हैं और बड़े-बड़े नगरों ने देहात की स्वाभाविक और मानुषी आय को सोख लिया है, तब से घर की पवित्रता जो सामाजिक पद्धति की आधार थी, विवाह की प्रणाली जो मानुषी मनोविकार और अस्थिरता के विरुद्ध एक ऊँची ललकार थी और जटिल नीति-शास्त्र जिसने हमें बर्बरता से निकालकर सभ्यता और शिष्टता में पहुँचाया था, सब-के-सब इस दुर्दांत परिवर्तन के चंगुल में फँसे हुए दीख रहे हैं। यह घोर विकार हमारी सभी संस्थाओं, जीवन और विचार की सभी रीतियों में प्रकट हुआ है। इसलिये इस युग में मनुष्यों के मनों का डावाँडोल होना अकारण नहीं।

दूसरी शताब्दियों में भी कुछ लोग ऐसे थे, जिनका विचार था कि स्त्री कोई घरेलू दासी या सामाजिक अलंकार या विषय-भोग की सामग्री नहीं होनी चाहिए; परंतु उनका यह विचार एक विचार-मात्र ही था। यह संसार को अनोखा और आश्चर्यजनक भी मालूम होता था। महात्मा अफ़लातूँ बड़े बल-पूर्वक कहता था कि पुरुषों के सदृश स्त्रियों को भी सभी व्यवसाय करने का अधिकार है। उन्हें भी बराबर अवसर मिलने चाहिए। परंतु अरस्तू अपने समय के पक्षपातों में अधिक फँसा हुआ था। उसका मत था कि स्त्री एक ऐसी रचना है जो अधूरी रह गई है; पुरुष बनाने में प्रकृति को जहाँ विफलता हुई वहीं स्त्री बन गई। उसकी यह भी सम्मति थी कि दासों के सदृश वह भी स्वभावतः अधीन और सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने के सर्वथा अयोग्य है।

यहूदियों के परम देव जेहोवा का भी यही मत था। उसने पत्नियों और माताओं को पशुधन और भूधन मानकर एक ही श्रेणी में रक्खा था। यह बात उसकी मूसा को दी हुई दस आज्ञाओं में से अंतिम में पाई जाती है। जेहोवा यहूदियों की प्रतिमूर्ति बनाया गया

था। यहूदी लोग सभी युद्धप्रिय जातियों के सदृश स्त्री को एक विपत्ति और एक आवश्यक बुराई समझते थे। वे इसे सैनिक देनेवाला यंत्र समझकर ही सहन करते थे। जब किसी यहूदी के यहाँ पुत्री उत्पन्न होती थी, तो रात को दीपक नहीं जलाया जाता था। लड़की की माता को दोहरी शुद्धि करानी होती थी। लड़का सदा यही प्रार्थना करता था—"भगवान् आपको धन्यवाद है, जो आपने मुझे स्त्री नहीं बनाया।" एक यहूदियों की ही यह बात नहीं, दूसरी जातियों में भी स्त्री से तब तक बराबर घृणा की जाती थी, जब तक वह पुत्र की माता न हो जाय और तब तक उसका पूरा सम्मान नहीं होता था, जब तक कि उसके पुत्र किसी युद्ध-क्षेत्र में वीर-गति को न प्राप्त हो जायँ।

उस दिन से लेकर हमारे समय तक स्त्रियों की स्थिति तथा व्यवहार में सहस्रों परिवर्तन और उतार-चढ़ाव हुए हैं। उनको गिनाने की आवश्यकता नहीं। प्राचीन एथेंस-निवासियों के जीवन को सुरम्य बनानेवाली हेटीरी नामक वीरांगनाएँ और राज-सभाओं को प्रसन्न रखनेवाली गणिकाएँ कौन थीं? पुरुष की दासता से छूटने के लिये ही अपनी स्त्री-सुलभ चारुता को विशेष रूप से बढ़ाकर और चमकाकर स्त्री ने इनका रूप धारण किया था। प्राचीन काल की गणिकाएँ और नर्तिकाएँ कोई साधारण वेश्याएँ नहीं होती थीं। वे तत्त्ववेत्ताओं और शिल्पियों की संगति करती थीं और साहित्य और कला का उनको बहुत अच्छा ज्ञान रहता था। इसीलिये बड़े-बड़े विद्वान् और राजमंत्री उनसे मनोविनोद करते थे। फ्रांस की राज्य-क्रांति संसार की एक बहुत बड़ी क्रांति थी। इससे फ्रांस के पुरुषों को तो स्वतंत्रता मिल गई, परंतु स्त्रियाँ वैसी-की-वैसी दासी बनी रहीं।

यही विचार इस समय तक भी बने रहे। ओटो वीनिंगर (Otto Weininger) नाम के एक विद्वान् ने बड़ी निर्दयता-पूर्वक सिद्ध किया कि स्त्रियों के आत्मा नहीं होती। शोपनहार ने अपने "स्त्रियों पर प्रबंध" में उनको "ठिगने क़द की, तंग कंधों, चौड़े नितंबों और छोटी टाँगोंवाली जाति" कहा। नीशे (Nietzsche) जैसा दार्शनिक कहता है—"जब तू स्त्री के पास जाय, तो अपने कोड़े को याद रखना।" हमारे यहाँ कबीर जैसा महात्मा भी स्त्री-निंदा से दूर न रह सका। उन्होंने कह ही डाला—

"नारी नदी अगाध जल, डूब मुआ संसार।"

पुरुष इस स्त्री-निंदा को सुनकर मन-ही-मन अपनी श्रेष्ठता पर प्रसन्न होता है। वह इस बात की परवा नहीं करता कि ये निंदा-वाक्य स्त्री-जाति और पुरुष-जाति के सनातन-युद्ध का एक अंश हैं, घेरे में क़ैद हुए लोगों की सैनिक-संहिता है और पराजित पुरुषों की कातर ध्वनि। हम इस बात का विचार नहीं करते कि ये लोग जो कुछ कह रहे हैं, कहीं पक्षपात से तो नहीं कह रहे। शोपनहार, वीनस की एक सुंदरी को चाहता था, परंतु उस सुंदरी ने उसका परित्याग करके बायरन से संबंध जोड़ लिया। नीशे का लाउसलोमी नाम की एक रमणी पर प्रेम था। वह उसके पीछे-पीछे योरप का आधा भूखंड घूमा और उसने शब्दों और प्रार्थनाओं द्वारा उसकी कृपा प्राप्त करने का यत्न किया, परंतु वह उसे छोड़कर किसी दूसरे से प्रेम करने लगी। इसी प्रकार वीनिंगर भी एक परिचारिका से प्रेम करता था। जब उसने उसकी इच्छा को पूर्ण करने से इनकार कर दिया, तो वीनिंगर को इतनी घोर निराशा हुई कि उसने गोली मारकर आत्महत्या कर ली। इन लोगों की पुस्तकों में नारी-निंदा मिलने का कारण समझना अब कठिन नहीं। हम इनकी पुस्तकों को कृतज्ञता-पूर्वक इसलिये पढ़ते हैं, क्योंकि वे हमारे प्रतिनिधि होकर सुरक्षित रूप से उस जाति के प्रति हमारे गुप्त विद्वेष को प्रकट करते हैं, जिससे हम सदा प्रेम करेंगे।

सन् १८०० तक स्त्री को मुश्किल से कोई ऐसा अधिकार प्राप्त था, जिसको मानने के लिये पुरुष क़ानून से बाध्य हो। वह उसको पीट सकता था और यदि उसमें प्राण बाक़ी रह जायँ, तो क़ानून पति का कुछ नहीं कर सकता था। वह प्रतिदिन रात्रि को घर से बाहर व्यभिचार करके भी क़ानून की गिरफ़्त से बाहर था। यदि वह स्त्री को छोड़कर आप ही कहीं भाग न जाय, तो स्त्री के पास अपने पति के सदृश ही व्यभिचार करने के सिवा उससे बदला लेने का और कोई उपाय न था। यदि स्त्री धन पैदा करे, तो वह पुरुष का हो जाता था; यदि वह मायके से कुछ संपत्ति लाए, तो उसका मालिक भी वही हो जाता था। स्त्री को कारख़ाने (फ़ैक्टरी) में काम करने या वोट देने का भी अधिकार प्राप्त होगा, यह कभी किसी के विचार में भी नहीं आता था।

तब अचानक ही ये मनमोहिनी दासियाँ स्वतंत्रता और समता ऐसी असंभव बातों की चर्चा करने लगीं। उन्होंने खिड़कियाँ चकनाचूर कर डालीं, लेटर बक्स तोड़ डाले, समाप्त न होनेवाले जलूस निकाले और कड़ी-कड़ी बातें सुनाईं। उन्होंने एक बार दृढ़ निश्चय कर लिया और उस पर अटल रहीं। अब पुरुष उनको पीट नहीं सकते। अब वे हमारे लिये रोटी भी नहीं बनाएँगी। वे घर पर बैठी रहने के लिये भी बाध्य नहीं, पतियों के पापों के झंझट में पड़ने की जगह वे अपने काम में लीन रहती हैं। उन्होंने आत्मा और वोट ऐसे समय में प्राप्त किए हैं, जब कि पुरुष आत्मा को खो बैठे और वोट को भूल गए प्रतीत होते हैं। वे तंबाकू पीतीं, सौगंध खातीं, मदिरा-पान करतीं और सोचती हैं। दूसरी ओर अभिमानी पुरुष जिन्होंने कभी इन कलाओं का इजारा-सा ले रक्खा था, घर बैठे बच्चों की देख-रेख कर रहे हैं।

*　　*　　*

इन अतीत, प्राचीन और स्थिर रीतियों तथा संस्थाओं के एकदम उलट-पलट हो जाने का कारण क्या है? इस परिवर्तन का व्यापक कारण मशीनरी की सीमातीत वृद्धि है। स्त्री का उद्धार औद्योगिक क्रांति का एक स्वाभाविक माजरा है। इसका पहला फल यह हुआ कि स्त्रियाँ इतनी बड़ी संख्या में उद्योग-धंधों में लग गईं कि पहले कभी उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी। पुरुषों की अपेक्षा वे सस्ती मज़दूरनी थीं। कारख़ानों के मालिकों ने महँगे और विद्रोही पुरुषों की अपेक्षा उनको काम देना पसंद किया। एक शताब्दी पूर्व इँगलैंड में पुरुषों को काम मिलना कठिन हो रहा था। विज्ञापकों ने उनको अपनी स्त्रियाँ और बच्चे कारख़ानों के दरवाज़ों पर भेजने के लिये कहा। मालिकों को अपने लाभ का ध्यान रहता है। आचार, संस्था या राज्य का विचार उनके मन को विक्षिप्त नहीं करने पाता। जिन लोगों ने योरपीय देशों में (और अब भारत में भी) "घर का नाश" करने का कपट प्रबंध रचा, वे उन्नीसवीं शताब्दी के देश-हितैषी कारख़ानों के मालिक (मैनुफ़ैक्चरर) थे।

स्त्रियों के उद्धार के लिये इँगलैंड में सबसे पहला क़ानूनी क़दम सन् १८८२ में रक्खा गया। उस वर्ष यह क़ानून पास हुआ कि ग्रेट ब्रिटेन की स्त्रियाँ आज से अपना कमाया हुआ धन अपने पास रख सकेंगी। यह क़ानून कारख़ानों के मालिकों ने पास कराया था, ताकि लालच से खिंचकर स्त्रियाँ उनकी मशीनों पर काम करने आने लगें। उस समय से लेकर अब तक पूँजीपतियों की धन-लोलुपता ने स्त्रियों को घर के अविरत आयास से निकालकर दूकान की ग़ुलामी में ला बैठाया है। इँगलैंड में आज प्रत्येक दो स्त्रियों में से एक किसी कार्यालय या फ़ैक्टरी में काम करती है। उद्योग-धंधे में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की अपेक्षा चौगुनी तेज़ी से बढ़ रही है। जिस समय तक वर्तमान पीढ़ी मरकर समाप्त होगी। इँगलैंड, जर्मनी और अमेरिका में पाँच करोड़ रहने के मकान होंगे, परंतु 'घर' मुश्किल से एक होगा।

कारण यह कि स्त्रियों के उद्योग-धंधों में लगने से गार्हस्थ्य जीवन का ह्रास अवश्यंभावी है। जिस प्रकार मशीनरी ने नए-नए यंत्रों की एक बाढ़-सी उत्पन्न कर दी है और बहुत बड़े परिमाण में चीज़ें तैयार करके लागत बहुत सस्ती कर दी है, उसी प्रकार फ़ैक्टरी ने सैकड़ों व्यवसायों में, जो स्त्री के जीवन में वैचित्र्य का कारण हो जाते थे, घर को मात करके पछाड़ दिया है। थोड़ा-थोड़ा करके स्त्री का काम उससे छीन लिया गया है, जो काम उसकी दासता तथा सुख के कारण थे, वे एक-एक करके उसके हाथ से निकाल लिए गए हैं। इससे घर दिलचस्पी से ख़ाली और वह आप निकम्मी और असंतुष्ट रह गई है।

स्त्री के लिये यह प्रशंसा की बात है कि वह घर छोड़कर फ़ैक्टरी में गई है, उसने वह काम ढूँढ लिया है, जो उसके हाथ से निकल गया था। वह जानती थी कि काम के बिना वह निरर्थक मुफ़्त में दूसरे का अन्न खानेवाली बन जायगी। केवल वही पुरुष उसका भोग कर सकेंगे, जो धन की दृष्टि से पुष्ट, परंतु शरीर की दृष्टि से भ्रष्ट होंगे। स्त्री को जब पहले-पहल वेतन मिला, तो उसे वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसे स्कूल से भागकर मज़दूरी से धन कमानेवाले लड़के को। अपनी कमाई से सिगरेट ख़रीदने पर होती है। बड़े उल्लास के साथ स्त्री ने नई दासता को स्वीकार किया। वह अपने लिये कोई काम पाने की इच्छुक थी, अब किसी-न-किसी प्रकार फिर अपने को किसी काम के योग्य पाकर फूली न समाई।

इसलिये जब घर ख़ाली हो गया, वह कोई ऐसा स्थान न रहा, जहाँ कोई चीज़ें बनाई जाती हों या जीवन बिताया जाता हो, तो पुरुषों और स्त्रियों ने उसका परित्याग कर

दिया और वे कबूतरों के दड़बों और मधुमक्खियों के छत्तों-जैसी छोटी-छोटी कोठरियों और लंबी-लंबी डॉर्मिटरियों (शयन-स्थानों) में सोने लगीं, जो उन लोगों के लिये बनाई गई थीं, जिनका जीवन दिन-रात, नगर के शोर और हाय-हाय में घर से बाहर बीतता था। घर-रूपी संस्था, जो लाखों वर्षों से चली आ रही थी, एक ही पीढ़ी में नष्ट कर दी गई। वैज्ञानिक समाज-शास्त्री और सामाजिक मनोविज्ञानी कहा करते थे कि संस्थाएँ, रीति-नीति और आचार-व्यवहार मंद और अगोचर क्रम से ही बदल सकते हैं; किंतु यहाँ सभ्यता के इतिहास में एक घोर परिवर्तन हो गया और इसमें एक मनुष्य को लड़कपन से प्रौढ़ावस्था में पहुँचने तक जितना समय लगता है, उससे अधिक समय नहीं लगा। सम्पादक, उपदेशक और राजनीतिज्ञ लोग जनता को सावधान करते ही रह गए कि देखना कहीं सोशलिस्ट (साम्यवादी) घर का विध्वंस न कर दें। इस बीच में उनकी आँखों के सामने उनके जीवन-काल ही में आर्थिक परिवर्तन की अपौरुषेय क्रियाओं ने दुर्घटना कर डाली और नीति-उपदेशक समझ ही न सके कि इसके कारण क्या थे।

घर कदाचित् बचा रहता, यदि बच्चे इसे कष्ट और हँसी से भरा-पूरा रखते, परंतु औद्योगिक क्रांति उनको भी ले गई, बच्चे जो खुले खेतों में बड़ी सहायता और आनंद का कारण होते थे। जनाकीर्ण नगरों और तंग कोठरियों में खर्चीली रुकावटें बन गए। संसार में मज़दूरों की बहुतायत थी, इसलिये पुराने फ़ैशन से दर्जनों बच्चे पैदा करते जाने का रिवाज बंद करना पड़ा, ताकि कहीं मनुष्य सदा दरिद्र और अशिक्षित न रहें। मशीनों के आविष्कार ने फ़ैक्टरियाँ बनाई थीं, और फ़ैक्टरियों ने बड़े-बड़े नगर बनाए थे और नगरों ने लोक-तंत्र-शासन (डेमोक्रेसी), साम्यवाद (सोशलिज़्म) और गर्भ-निरोध को जन्म दिया। यह काम किसी की इच्छा से नहीं हुआ। स्त्रियों के अधिकारों की विशद व्याख्या और संतान संख्या को सीमित रखने के उपदेशों का इसके साथ बहुत थोड़ा संबंध है। धर्मोपदेशकों और राष्ट्रपतियों के उपदेश इसकी गति को रोक नहीं सके। इन परिणामों को पहले से रोकने के लिये यौरप और अमेरिका के गत एक सौ वर्ष के संपूर्ण इतिहास को बदलने की आवश्यकता थी : परंतु शक्ति के सदृश इतिहास को भी उलटाया नहीं जा सकता। इसमें एक विशेष घातक शक्ति रहती है। इसकी गति को रोकना संभव नहीं।

देहात में खेती करते हुए मनुष्य के लिये बच्चे सुख और आनंद की सामग्री हैं। वे छोटी आयु ही में सहायता भी देने लगते हैं; परंतु नगरों में वे भार बन गए। वहाँ पाँच वर्ष की अवस्था में उनसे काम नहीं लिया जा सकता था और उनको रखने के लिए फ़ालतू कमरा लेने से किराया अधिक देना पड़ता था। इतना ही नहीं, वरन् नागरिक जीवन से माता के लिये बच्चा जनना एक स्वाभाविक घटना नहीं, एक भयावह कार्य हो गया। फ़ैक्टरी में काम करने या घर में कुछ काम न होने से आधुनिक स्त्री का शरीर अपनी पूर्वजाओं से दुर्बल हो गया। आधुनिक पुरुष की भ्रष्ट सौंदर्य-बुद्धि ने दुबले-पतले शरीर पर प्रेम प्रकट करके और भी काम बिगाड़ दिया। हृष्ट-पुष्ट और मोटी-ताज़ी स्त्री हमारे चित्रकारों और नागरिक पुरुषों को नहीं भाती थी। जिस स्त्री से मज़बूत बच्चे पैदा होने की आशा हो सकती है, उसकी अपेक्षा दुबली-पतली, परंतु चटकीली-मटकीली, में ही उन्हें सौंदर्य देख पड़ता था। इसलिये स्त्रियाँ दिन-पर-दिन बच्चा जनने में अधिक असमर्थ होती गईं। जितने भी अधिक काल तक उनसे हो सकता था, वे माता बनने से बचती थीं। उनके पति भी अधिकांश इस बात में उनसे सहमत होते थे और तब उन नए यंत्रों ने, जिन्हें गर्भ-निरोधक कहा जाता है, इस चक्कर को पूरा कर दिया और स्त्रियों के उद्धार में चुपचाप उनको सहयोग दिया। संतान की चिंता से एवं उस अंतिम काम से छुटकारा पाकर, जो शायद उसके लिये घर को एक सहनीय और सार्थक परिस्थिति बना देता, वह दफ़्तर, फ़ैक्टरी और संसार में चली गई। बड़े अभिमान के साथ उसने दूकान में पुरुष के साथ स्थान लिया। वह वही काम करने, वही बातें सोचने और वही शब्द बोलने लगी, जो पुरुष करता, सोचता और बोलता था। उद्धार अधिकांश में नक़ल के मार्ग से हुआ। नवीन स्त्री ने एक-एक करके परंपरागत और पुराने ढर्रे के पुरुष के अच्छे या बुरे स्वभाव भी ग्रहण कर लिए। वह उसके सिगरेट पीने, धर्म की निंदा करने, ईश्वर में संदेह करने, सिर पर टोपी और टाँगों में पैंट पहनने की नक़ल करने लगी। दिन-भर एक दूसरे के समीप रहने से पुरुष ज़नाने और स्त्रियाँ मर्दानी बन गईं।

एक जैसे व्यवसायों, एक जैसी परिस्थितियों और एक जैसे उत्तेजनों ने दोनों जातियों को प्रायः एक ही साँचे में ढाल दिया। एक पीढ़ी के अंदर-अंदर ही स्त्री को पुरुष से पहचानने और अनुशोचनीय सम्मिश्रण से बचने के लिये उन पर निशान लगाने की आवश्यकता हो जायगी। इस समय भी उनमें निश्चित रूप से भेद करना कठिन हो रहा है। प्राचीन काल के स्त्री-पुरुष बाँझपन से कितना भय खाते थे, यदि हम इस पर तनिक विचार करें, तो पिछले समयों की स्त्रियों की तुलना में आजकल की निःसंतान स्त्री या एक बच्चे की माता एक गंभीर परिवर्तन उपस्थित करती है। अभी हमारी शताब्दी के आरंभ तक भी, स्त्री का सम्मान उसकी संतान की संख्या के अनुपात से न्यून या अधिक होता था। स्त्री का काम था कि या तो वह माता हो, या वारांगना! प्रतिदिन सहस्रों देवी-देवताओं से संतान के लिये प्रार्थनाएँ होती थीं। पुत्र-दर्शन के लिये मालाएँ फेरी जातीं, क़ब्रों और समाधों पर माथे रगड़े जाते और मिन्नतें मानी जाती थीं! माया-जाति के लोगों में हताश दंपति उपवास करते, प्रार्थना करते और देवता पर चढ़ावा चढ़ाते थे, ताकि वह प्रसन्न होकर उनको बहुत से बच्चे दे। एक अफ़्रीकन राजा से जब पूछा गया कि तुम्हारी संतान कितनी है, तो उसने बहुत उदास होकर कहा कि बहुत थोड़ी, मुश्किल से सत्तर होंगी। हमारे यहाँ राजा सगर के एक सहस्र और धृतराष्ट्र के सौ पुत्र बताए जाते हैं।

क्या कारण है कि मातृत्व का चित्र हमारे हृदय को स्पर्श करके नेत्रों में आँसू ले आता है? कारण यह कि बड़े बड़े नगरों के प्रादुर्भाव के पूर्व बच्चों की एक बड़ी संख्या में आवश्यकता थी और हमारे भाव उस आवश्यकता का प्रत्यावर्तन थे। अब नगर को संतानोत्पत्ति का प्रयोजन नहीं। वह अपनी चमक-दमक से देहात के मज़बूत रज-वीर्य से उत्पन्न हुए बच्चों को आकर्षित कर सकता है। नगर की चटक-मटक, बिजली के नानावर्ण प्रकाश, व्यवसाय और भोग-विलास के साधनों के प्रलोभन से खिचकर प्रतिवर्ष हज़ारों देहाती बच्चे नगर में आते हैं और अपनी बारी से चतुर और बाँझ बन जाते हैं। नगर का इस बात में विश्वास नहीं कि बच्चों का होना आवश्यक है। इसलिये वह स्त्रियों को सधाकर नायिका बनाता है और मातृत्व के मैल से उनको मैला नहीं करता। मातृत्व की कोमलता जो ईश्वर में संदेह करनेवाली आत्माओं को भी कभी-कभी पिघला दिया करती है, उस देहाती यौवन की उपज है, जिसमें स्त्रियाँ अब तक भी संतान उत्पन्न करती हैं। जिन अवस्थाओं में वे उत्पन्न हुए थे, उनके परिवर्तित और नष्ट हो जाने पर भी हमारे भाव अभी तक बचे हुए हैं। पिछले लोग कहा करते थे—जिनके संतान नहीं, उनको प्रसन्नता भी नहीं। बलवान् पुत्र और सुशील पुत्रियाँ उत्पन्न करने के लिये बड़े चरित्र की आवश्यकता है। यह सुंदर चित्र बनाने, कविता करने, उपन्यास और लेख लिखने से बढ़कर पुण्य कार्य है। यह पितृ-ऋण से उऋण होना है।

* * *

अच्छा, तो फिर मुक्त स्त्री आर्थिक विकास की उपज है। वह अपनी इच्छा से मुक्त नहीं हुई, जो नीति-उपदेशक उस-की वर्तमान स्थिति को लक्ष्य करके उसकी निंदा करते हैं, उनसे बढ़कर बकवादी और कोई नहीं। हमें निष्पक्ष होकर उस पर विचार करना चाहिए।

उद्योग में वह अपने को आश्चर्य-जनक पारदर्शिता और उत्साहमय धैर्य के साथ अवस्थाओं के अनुकूल बना रही है। बहुत-सी चालाकियाँ और बुद्धिमत्ता के स्वभाव, जिनको हाल का मनोविज्ञान पुरुष की ही सहज संपत्ति कहता था, बिलकुल बाह्य रूप से प्राप्त किए सिद्ध हुए हैं। इनको स्त्रियाँ भी वैसी ही सुगमता से प्राप्त कर सकती हैं, जिस सुगमता से वे अलंकार पहनती या पाउडर लगाती हैं। इन दफ़्तरों में काम करनेवाली लड़कियों को सब कहीं तनिक ध्यान-पूर्वक देखिए (काम-कला के सिवा) किसी नई बात को सोच निकालने में शायद वे कुछ पीछे हों; परंतु उनकी शांत कार्यक्षमता, धैर्ययुक्त शिष्टाचार, बिना किसी आडंबर के दफ़्तर के बहुत-से असली काम को हथियाना—जब कि उपरिस्थित पुरुष सिगरेट पीता, कुरसी में सहारा लगाकर आराम करता और बड़े रोब से इधर-उधर देखता है—ललित कला-प्रिय तत्त्ववेत्ता को विस्मय तथा प्रशंसा के भाव से भरे बिना नहीं रह सकता। एक-दो पीढ़ियों में अबलाओं ने उद्योग-धंधे में अपना स्थान जीतने में इतनी उन्नति कर ली है कि जान स्टूअर्ट मिल को भी आज विस्मय होगा कि जिस स्त्री-जाति का उसने पक्ष समर्थन किया था, उसके लिये उसकी बनाई हुई आशाएँ कितनी परिमित थीं। कोई नहीं कह सकता कि स्त्रियाँ उद्योग-धंधे में कहाँ तक घुस

जायँगी । वह समय आ सकता है जब स्त्रियों की कार्य-कुशलता और छोटी-छोटी बातों को भी ठीक-ठीक रीति से करने की दक्षता पुरुषों के बड़े बल और अधिक साहसिक आरंभशूरता को मात कर देगी । जब बिजली की शक्ति से कल-कारखानों से मैल दूर हो जायगा और उनमें शारीरिक आयास की आवश्यकता न रहेगी, तो पुरुष को भी आर्थिक संसार में अपना स्थान बनाए रखने के लिये समझदार बनना पड़ेगा ।

राजनीति में स्त्रियों को उतना लाभ नहीं रहेगा । निस्संदेह उद्योग-धंधे में काम करनेवाली को व्यवस्थाओं और समकालीन भेद से अपनी रक्षा करने के लिये राजनीति के खेल में भाग लेना पड़ा है । क्या दुष्ट पुरुष-जाति ने अपने पुराने विशेषाधिकारों के गिर्द सहस्रों क़ानूनों की बाड़ नहीं लगा रक्खी और अपनी शक्ति को सैकड़ों स्थानों पर पूजनीय क़ानूनों के क़िले में सुरक्षित नहीं कर रक्खा ? इन सब क़िलेबंदियों को हटाना आवश्यक है । घरेलू श्रम और हर दूसरे वर्ष बच्चा जनने के बोझ से मुक्त हुई स्त्री-जाति की संयमित शक्ति के लिये प्रत्येक मार्ग खोलना पड़ेगा । देखिए मताधिकार प्राप्त करने के युद्ध में उन्होंने कैसी प्रचंड योग्यता दिखलाई । आधी दुनिया उनकी विरोधी थी, परंतु उन्होंने कितनी वीरता और कितनी तेज़ी से उसको नीचा दिखाया । युद्ध के मारू बाजे और उन्माद के नशे में मस्त सन्नद्ध पुरुषों की वीरता इन स्त्रियों के साहस का मुक़ाबला न कर सकी । ये स्त्रियाँ वोट देने के स्थानों पर पहुँचीं, इन्होंने अधिकारियों के द्वारों को खटखटाया और तब तक खटखटाना बंद न किया, जब तक कि वे खुल न गए और प्रजातंत्र उनको भीतर ले आने के लिये विवश न हुआ । आज से पचास वर्ष बाद स्त्रियाँ अनुभव करेंगी कि वे कितने पूर्णरूप से भीतर घुस गई हैं ।

उनमें से कुछ अब समझती हैं और अनुभव करती हैं कि नाक को गिनती का नाम उद्धार नहीं और कि स्वतंत्रता राजनैतिक नहीं, वरन् मन की होती है । लाखों सचेत और सुखी बालिकाएँ उन स्कूलों और आश्रमों को अपने रूप और चारुता से भर रही हैं, जिनमें पहले केवल अभिमानी पुरुष ही भरती हो सकते थे । सहस्रों कॉलेजों में आप उनको पाएँगे । उनके मुख-मंडल संसार के साहित्य और कला से, नए सिरे से गंभीर हो रहे हैं, उनके नेत्र ज्ञान-लिप्सा से चमक रहे हैं और उनके कसरती शरीर पूर्ण यौवन की वृद्धि से उछल रहे हैं । कदाचित् उनका सौंदर्य हमें अंधा कर देता है और हम उनके बुद्बुदों के समान उठते हुए उल्लास और प्रवाहमय चपलता में बह जाते हैं । परंतु क्या आपने उनको कभी अपने शिक्षकों से प्रश्न पूछते सुना है ? क्या आपने उनको किसी सिद्धांत की धज्जियाँ उड़ाते और संसार को दुबारा अपने हृदय की अभिलाषा के निकटतर बनाते देखा है ?

इस सारी शिक्षा का क्या परिणाम होगा ? क्या यह आधुनिक स्त्री के विशाल जीवन के साथ उसको दुबारा ढाँचे में ढालनेवाले सहस्रों नवीन अनुभवों के साथ सहयोग देकर उसे इस बदलती हुई दुनिया के साथ बराबरी करने वाली बुद्धि प्रदान करेगी ? क्या मन और रुचि की यह नवीन विभिन्नता उस एकता और सहज ज्ञान की प्रज्ञा को फोड़ डालेगी, जिसने कभी स्त्री को असंशय प्रतिभान्वित पुरुष के साथ अनंत युद्ध में उतना काम दिया था ? क्या स्त्री में इस नवीन ज्ञान का प्रादुर्भाव उससे विवाह की इच्छा रखनेवाले पुरुष को डराकर भगा देगा और सुशिक्षिता नारी के लिये पति मिलना कठिन हो जायगा ? कहते हैं रोमन नागरिक शिक्षिता भार्या की प्रत्याशा से भयभीत हो जाता था, और यही बात प्रत्येक पुरुष की है । वह उस स्त्री के सहवास में सुख का अनुभव नहीं करता, जिसकी बुद्धि उसकी अपनी बुद्धि के तुल्य हो, वह केवल उसी पर प्रेम कर सकता है, जो उसकी अपनी अपेक्षा दुर्बल है; परंतु स्त्री केवल उसी से प्रेम कर सकती है, जो उससे अधिक बलवान हो । इसलिये जिस लड़की ने अपने ज्ञान और विचारों को संस्कृत किया है, वह पति की प्राप्ति में उस लड़की के सामने न ठहर सकेगी, जिसने अपनी स्वाभाविक चारुता और अर्थ-प्रचेत पटुता को उन्नत किया है । वह उन क्षेत्रों में अनधिकार प्रवेश कर रही है, जिनको पुरुषों ने शताब्दियों से पुरुषों ही के लिये रक्षित रक्खा है । इसलिये सुख की अभिलाषिणी कोई भी चतुर लड़की पति के सामने अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता को छिपाएगी । गृहस्थी को सुख-शांति से भरा-पूरा रखने के लिये पुरुष की आरंभशूरता और श्रेष्ठता के भ्रम को बनाए रखना ही आवश्यक है ।

लगभग पचास वर्ष में स्त्रियों ने प्रमाणित कर दिया है कि स्त्री और पुरुष के बीच के मानसिक अंतरों का कारण उतना अपरिवर्तनीय प्रकृति नहीं, जितना कि परिस्थिति और व्यवसाय है । इसका यह अर्थ नहीं कि

स्त्रियाँ शीघ्र ही उन बौद्धिक रुकावटों को हटा सकेंगी, जिनके साथ समय और रीति ने उनको चारों ओर से घेर रक्खा है। उनका संस्कृत-संबंधी उत्कर्ष अभी केवल आरंभ ही हुआ है। उनके पीछे कोई बहुत पुराना ऐतिह्य और प्रोत्साहन नहीं है। उनमें विश्वास भरनेवाले या उनके उत्कर्ष के लिये उन्हें आदर्श का काम देनेवाले कोई बड़े-बड़े दृष्टांत नहीं हैं। अभी हाल ही में सामान्य स्त्री को विद्या-प्राप्ति के ऐसे अवसर मिले हैं, जिनको हम मुश्किल से पुरुष के बराबर कह सकते हैं। अभी अनेक पीढ़ियों तक हमारे विद्यालयों और महाविद्यालयों में स्त्रियों का पुरुषों से अनुपात उस अनुपात से बहुत कम रहेगा, जो जन-संख्या में स्त्रियों का पुरुषों से है। जब तक अनुपात बराबर न हो, कला या विज्ञान के क्षेत्र में स्त्री की उत्पादक क्षमता की तुलना पुरुष की उत्पादक क्षमता के साथ करना व्यर्थ और अन्याय है। पुरुष जाति में जिन प्रतिभाशाली मनुष्यों ने नए-नए आविष्कार किए हैं, वे करोड़ों पठित पुरुषों में से चुने हुए सर्वोत्तम हैं। स्त्रियों में प्रतिभा उनकी संख्या को कैसे पहुँच सकती है, जब तक स्त्री को मनुष्य-जाति के सभी शिक्षा-संबंधी अधिकारों में समान भाग न मिल जाय? और अंततः वर्तमान काल के सदृश चाहे स्त्रियाँ कम-से-कम संख्या में भी बच्चे पैदा करने लगें, मातृत्व स्त्री की शक्तियों का एक बड़ा भाग ज़रूर सोखता रहेगा। हमें आशा करनी चाहिए कि वह संतानोत्पत्ति को अपना एक महान् कार्य समझती रहेंगी, और साहित्य और कला ऐसी नैमित्तिक झालरों को पुरुषत्वहीन पुरुषों के सिपुर्द करने में ही संतुष्ट रहेंगी। वह इस बात का आविष्कार करेगी कि इस संसार में लिखित शब्दों से भी बढ़कर कोई चीज़ें हैं। वह यह भी मालूम करेगी, जिसको अब पुरुष भी समझ सकते हैं कि बौद्धिक और चतुर के बीच कुछ अंतर है।

इस बीच में आधुनिक स्त्री के शरीर की क्या दशा हुई है? क्या उसके घर से निर्वासन और फ़ैक्टरी में स्वागत से उसके शरीर का अपकर्ष हुआ है? बहुत संभव है। वह उतनी स्वस्थ और हृष्ट-पुष्ट नहीं मालूम होती, जितनी कि उसकी खेती का या घर का काम करनेवाली दादी थी। उसके चेहरे पर प्राकृतिक रंग बहुत कम है। बच्चा जनने में उसे इतनी लंबी लाचारी और पीड़ा होती है कि पिछले समय की स्त्री यदि उसे देख पाए, तो उसे बड़ी घृणा हो, परंतु यह बात तो हम सभी पर लागू होती है। जब से पुरुष कृषि-कर्म को छोड़कर फ़ैक्टरियों में काम करने लगे हैं, तब से उनका भी बल क्षीण हो गया है। आधुनिक मन अधिक सचेत है, यह जटिल यंत्रों और वाहनों को स्थिर विश्वास और (अपेक्षाकृत) निर्भयता के साथ पकड़ता है; परंतु आधुनिक शरीर उन आयासों और बोझों के लिये अक्षम है, जिनको कभी यह अपने दैनिक कार्य के रूप में वहन किया करता था।

अपने सब दुःखों के होते हुए भी हमारे समय की स्त्री इतनी सुंदर अवश्य है कि यदि वह किसी तत्त्ववेत्ता के पास से होकर निकल जाय, तो उसका सिर चकराने लगेगा। वह अपनी मोहिनी चारुता को चतुर कलाओं द्वारा उतनी बड़ी अवस्था तक अक्षुण्ण रखती है, जिसमें कि पिछली शताब्दियों की स्त्रियाँ बूढ़ी हो जाया करती थीं। इसके लिये हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिए। यह हर्ष की बात है कि स्त्रियाँ अपने को बूढ़ी नहीं होने देतीं और चालीस वर्ष की आयु में भी अपने काम-बाणों से घायल कर देती हैं। इस दृष्टि से पाउडर और लिप-स्टिक भी कला और सभ्यता के लिये क्षंतव्य अनुबंध हैं; यद्यपि चेहरे की प्राकृतिक लाली इन अंग-रागों और कांति-लेपों से कहीं अधिक अच्छी है।

समकालीन स्त्री की यह थोड़ी-सी भंगुरता, यह शारीरिक दौर्बल्य, कदाचित् एक अस्थायी और ऊपरी अवस्था है। बिजली से सारे काम लेनेवाले जगत् में, फ़ैक्टरियाँ उतनी ही साफ़ होंगी जितने कि कभी घर होते थे। नगर बाहर की ओर फैल जायँगे और मनुष्य एक बार फिर स्वच्छ वायु में साँस लेने लगेंगे। टैनिस, बास्केट-बॉल, और गॉल्फ़ आदि खेलों के प्रताप से आधुनिक लड़की उस गुलाबी रंग को फिर प्राप्त कर लेगी, जो नगर के उद्योग-धंधे ने उसके गालों से छीन लिया है। तंग पोशाक की रुकावट को उसने पहले ही दूर कर दिया है। आधुनिक लड़की का शरीर उन प्रतिबंधों और अभेद्य साज़-सामानों से बड़ी वीरता-पूर्वक छुटकारा पा चुका है, जो कभी उसे जकड़कर पूरी तरह से साँस नहीं लेने देते थे। सन् १९२७ की लड़की जिस चारुता के साथ निकर-बाकर पहनती है, उसे देख आश्चर्य होता है। उसके नंगे घुटनों को देखकर पुरुष की कल्पना-

शक्ति चकित-स्तंभित रह जाती है, और कौन जानता है—कदाचित् स्त्रियों में कोई सौंदर्य ही न होता, यदि पुरुषों में कल्पना-शक्ति न होती ?

स्त्रियों को पुरुषों के सदृश बाल कटाए और सिगरेट पीते देख कदाचित् हममें से कई एक को मानसिक वेदना हो, परंतु आनेवाली पीढ़ी इन ऊपर-ऊपर के विकारों की कुछ परवा नहीं करेगी। जिस किसी बात को सुंदरी स्त्रियाँ एक ही रीति से करती रहेंगी, वही सामान्य पुरुष को मनोहर जान पड़ने लगेगी। रीति-रिवाज आचार नीति बनाया करते हैं और सौंदर्य में भी इनका हाथ रहता है। पिछले समयों की स्त्रियाँ हुक़ा पिया करती थीं, और दुनिया के सब कारबार वैसे ही चलते आए हैं। आधुनिक युग की लड़कियाँ सिगरेट पीकर मुँह से धुएँ के बादल निकालेंगी, तो भी दुनिया वैसे ही चलती रहेगी। तमाकू पीना हानिकारक और रम्य हो सकता है। परंतु स्त्रियाँ और पुरुष छोटे और आमोदमय जीवन को पसंद करें, तो क्या उनको उसे ग्रहण करने का अधिकार न दिया जाय ? हमें इस बात का कैसे निश्चय हो सकता है कि उल्लास प्रज्ञा से अधिक बुद्धिमान् नहीं ?

परंतु हम वर्तमान नाच के विषय में क्या कहें ? क्या इसका आविष्कार किसी स्त्री ने किया था या किसी पुरुष ने ? फिर, लूट-हत्या और राजनीतिरूपी शांत-कलाओं में स्त्रियों की बढ़ती हुई निपुणता के संबंध में क्या कहा जाय ? योरप और अमेरिका में स्त्रियों के डकैती डालने और नर-हत्या तक करने की घटनाएँ दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही हैं। हाल में अमेरिका के एक पत्र में समाचार छपा है। एक पुरुष सड़क पर टहल रहा था। तीन लड़कियाँ एक गाड़ी में बैठी हुई उसके पास से होकर निकलीं। उन्होंने उस पुरुष को गाड़ी में बैठ जाने के लिये कहा। पुरुष गाड़ी में बैठ गया। थोड़ी दूर जाकर लड़कियों ने एक एकांत सड़क पर गाड़ी ठहरा दी। तब आपस में लाड़-प्यार होने लगा। इस बीच में एक लड़की उस पुरुष में अनुराग की कमी देखकर बहुत क्रुद्ध हुई। आपस में धौल-धप्पा होने लगा। दो लड़कियों ने पुरुष को पकड़ लिया और तीसरी ने अपनी टोपी के पिन के साथ उसे घायल कर दिया। तब उसको सड़क पर निःसहाय छोड़कर तीनों लड़कियाँ भाग गईं। क्या अब भी कोई स्त्रियों के उद्धार में संदेह कर सकता है ?

ऐसा जान पड़ता है कि प्रोफ़ेसर हक्सले का कथन ठीक ही है—"स्त्री का सद्गुण पुरुष की अत्यंत काव्यमय कल्पना था।" उनमें ये मनोभाव सदा से हैं, परंतु एक समय वे इनको बड़े यत्न के साथ छिपाए हुए थीं, क्योंकि उनकी धारणा थी कि सभ्य पुरुष लज्जा और मर्यादा को अच्छा समझते हैं। परंतु अब पुरुष अविनय और अमर्यादा के द्वारा अधिक शीघ्र आकर्षित होते प्रतीत होते हैं। इसलिये आधुनिक लड़की अपने मन और शरीर को अधिक उदार और खुला बनाने की ओर झुकी हुई है। उसका यह कृत्य थोड़ी देर के लिये इंद्रियों को अवश्य मोहित कर लेता है, परंतु वह आत्मा को आकर्षित नहीं कर पाता। परिपक्व पुरुष रुकावट में आनंद मानता है, वह स्त्री में सूक्ष्म संकेत पसंद करता है। इसमें संदेह नहीं कि जब पुरुष अप्राप्त काल हो, प्रकीर्णता के किनारे पर चढ़ा हुआ पत्नीव्रत के आनंद को अनुभव करने में असमर्थ और काम-वासना की चारुता के सिवा और किसी प्रलोभन से अनभिज्ञ हो, तो उसको विवाह-बंधन में फँसाने के लिये असाधारण उपायों की परमावश्यकता होती है। परंतु यह अमर्यादा और अविनय आत्मघातिनी है। इससे पुरुष के मन में ऐसी लड़की को विवाह करके पत्नी बनाने की नहीं, वरन केवल कुछ काल के लिये विषय-वासना की तृप्ति की ही इच्छा होती है। यदि काम की आँधी से अंधे होकर किसी प्रकार इनका विवाह हो भी जाय, तो विवाह के व्यापार और अभ्यास से विषय-वासना-रूपी अग्नि-शिखा के बुझते ही उनमें खटपट हो जाती है।

* * *

इस प्रलयंकरी परिवर्तन के भँवर में विवाह की क्या दशा हो गई ! यह प्रायः लुप्त हो गया है। देर तक अविवाहित रहने और तलाक़ ने दोनों तरफ़ से इसको संक्षिप्त कर दिया है। तलाक़ के संबंध में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। विलायती पत्रों को पढ़नेवाले इसकी बढ़ती हुई संख्या को भली भाँति जानते हैं। अब रही विवाह को टालने की बात। आधी शताब्दी में पश्चिमी योरप और उत्तरी अमेरिका के नगरों में पुरुषों के विवाह करने की आयु बीस की समीपता से निकलकर तीस के पड़ोस में पहुँच गई है। पुरुष की आर्थिक अरक्षितता स्त्री की अलंकारिक तथा बहु व्ययव्यापी व्यापारहीनता धन आदि में अपने से ऊँची श्रेणी के पुरुषों के साथ विवाह

करने की स्त्रियों की निर्वाचक लालसा आधुनिक नगरों में पुरुषों के लिये काम-वासना की तृप्ति की सुविधा ये उन कारणों में से कुछ एक हैं, जिन्होंने विवाह की आयु को पीछे हटाकर बुढ़ापे के आरंभ के निकट पहुँचा दिया है। अपनी परिस्थिति से धोखा खाने के कारण आधुनिक पुरुष स्त्री से विवाह नहीं, वरन् काम-वासना की तृप्ति के लिये स्रोपन चाहता है ; क्योंकि यह तृप्ति एक क्षणिक कार्य हो सकती है, जिसमें नवीनतम प्रशंसित विधियों के अधीन पुरुष पर कोई स्थायी कर्तव्यता नहीं लागू होती। विवाह एक सुख-विलास है, हमारी स्वाभाविक स्वाधीनताओं पर एक बंधन है, एक रुकावट है : पुरुष ऐसे कारागार में क्यों प्रवेश करे और क्यों आयु में ही निर्वाण का क्यों अभिलाषी हो, जब तक प्रत्येक नाट्यशाला में उसके लिये बड़े-बड़े प्रलोभन मौजूद हैं और गली का प्रत्येक कोना उत्तरदायित्वहीन-विलासिता को शरण देता है।

सच तो यह है कि पुरुष कायर है। वह उन कठोर बरजोरियों और विशाल कार्यों का सामना करना नहीं चाहता, जिन्होंने उसके पूर्वजों को पुरुष बनाया था। एक समय था, जब लोग केवल इतनी बात के सहारे ही विवाह का साहस कर लेते थे कि हममें काम करने की शक्ति है और हम परिश्रम करने को तैयार हैं ; परंतु अब ऐसा साहस करने के पूर्व अपने पास सहस्रों का होना आवश्यक समझा जाता है और जब अंत को वे विवाह करने का निश्चय करते हैं, तो यौवन की विमल वह्नि शांत हो चुकी होती है। लाखों स्त्रियों को वारांगनाओं के रूप में जिनको कभी मालूम भी नहीं कि अपना घर या अपने बच्चे क्या चीज़ होते हैं, एक ओर हटा देना आवश्यक है, तब ही दूसरी हज़ारों बिना प्रेम के बड़ी अवस्था में पहुँचकर दुर्व्यसनों से पशु बने हुए पुरुषों के साथ विवाह कर सकती हैं। जब तक इन स्त्रियों को अपनी इच्छा के बिना कुमारी रहकर प्रतीक्षा करनी पड़ती है और इस प्रतीक्षा में ही वे सूख जाती हैं, जब कि उनके मौजी मालिक अवकाश के समय में सोचते हैं कि इनको रखेल बनाना अच्छा रहेगा या वेश्या या पत्नी—तब तक स्त्रियों का यह उद्धार कैसा दुःखदायक प्रहसन है !

इस स्थिति में बड़ा अपराध पुरुष का है। इस दुःखद कल्पना के अधिकांश का कारण शारीरिक तथा आर्थिक रूप से श्रेष्ठ पुरुष के प्रकीर्ण अधिकार हैं। परंतु इस कंगाल-श्रेणी के बाहर स्त्री भी वैसी ही अपराधी है, जैसा कि पुरुष मध्यवर्ती तथा ऊपर की श्रेणियों में वह स्वेच्छा से या वैसे ही पराए अन्न पर जीनेवाली सुंदर प्राणी बन गई है। घर से उद्योग-धंधे के निर्वासित हो जाने के कारण घरेलू श्रम से छूट जाने और गर्भ-विरोधक यंत्रों, दाइयों और नर्सों के द्वारा बच्चा जनने के बोझ से छुटकारा पाने के कारण उसके हाथ, हृदय और मस्तिष्क अशांत रूप से निरुद्यम रह गए हैं और अनिष्ट के सहस्रों बीजों के लिये उपजाऊ भूमि बन गए हैं। यह बात स्वाभाविक ही है कि जितना थोड़ा काम उसे करना पड़ता है, उतनी ही अधिक वह आलसी होती जा रही है और उतना ही कम वह उस बचे-खुचे काम को करना पसंद करती है, जिसको करने के कारण वह एक समय एक खिलौने के स्थान में पुरुष की सहायिका थी। इन अवस्थाओं में एक गुण-दोष-विवेचक कुमार को विवाह एक ऐसा लक्ष्य नहीं जान पड़ता, जिस पर पहुँचने से पुरुष परिपक्वता को प्राप्त होता है, वरन् वह उसे कीट-जगत् में प्रकृति की प्रिय प्रतिज्ञा का सभ्य समर्पण मालूम होता है, जहाँ प्रायः मादा मकड़ी सन्तानोत्पत्ति के कार्य में लीन नर का सिर काटकर खा जाती है।

इस सबका परिणाम क्या होगा, यह बताना कठिन है। अधिक संभव यही है कि पुरुष जो कुछ चाहता है, वह नहीं होगा। पश्चिमी समाज परिवर्तन की प्रबल धारा में पड़ गया है। वह उसे किसी अवांछित और भाग्य द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर ले जायगी। रीतियों, स्वभावों और संस्थाओं की इस उमड़ती हुई बाढ़ में किसी भी बात का हो जाना असंभव नहीं। जहाँ बच्चे उत्पन्न करने की इच्छा न होगी, वहाँ कदाचित् अस्थायी विवाहों को क्षमा की दृष्टि से देखा जायगा। स्त्री-पुरुषों के स्वतंत्र संयोगों की संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ेगी। यद्यपि उनकी स्वतंत्रता मुख्यतः पुरुषों के लिये ही होगी, तो भी स्त्रियाँ अकेली और बाँझ रहने की अपेक्षा इन संयोगों में कम बुराई देखकर इनको स्वीकार करेंगी। दूसरी सब बातों में पुरुषों का अनुकरण करती हुई, विवाह के पूर्व ही ब्रह्मचर्य भंगकर डालने में भी वे उनकी बराबरी करेंगी। तलाक दिन-पर-दिन बढ़ेगा, तलाक-हीन विवाह का मिलना एक अक्षतयोनि दुलहन जैसा ही दुर्लभ होगा। विवाह की सारी की संस्था नवीनतर तथा

अधिक ढीले-ढाले रूपों में ढाली जायगी। प्रत्येक चीज़ का अंत हो जायगा!

हमारी इच्छा इस आनेवाले संकुल संसार से सर्वथा भिन्न चित्र बनाना चाहती है। हम चाहते हैं कि पुरुष अधिक स्वाभाविक आयु में विवाह करें। यह सत्य है कि जवानी अंधी होती है और निर्णय नहीं कर सकती; परंतु बुढ़ापा ठंडा होता है और प्रेम नहीं कर सकता। क्या हमें सुरक्षितता का मूल्य इतना अधिक समझना चाहिए कि जीवन के सर्वोत्तम पुरुष को ही खो बैठें? क्या ही अच्छा हो, यदि स्त्रियों की समझ में यह बात आ जाय कि आकाश-बेल की तरह दूसरों के अन्न पर जीने में न स्वास्थ्य है और न स्थायिता और उन व्यवसायों की अपेक्षा जो शरीर को कड़ा और आत्मा को पुरुष बना कर पुरुषत्व-हीन पुरुष की अमनोहर प्रतिमूर्ति बना देते हैं, मातृत्व में अधिक आनंद (यद्यपि अधिक गहरा शोक भी) है। सौंदर्य के सदृश सुख भी कर्तव्य के पूरा करने में है। मनुष्य को वह काम करना चाहिए कि जिसमें उसे अपने लाभ के साथ-साथ जाति का भी हित हो।

यदि स्त्री ने मातृत्व को छोड़कर अपने लिये कोई दूसरा ऐसा व्यापार ढूँढ लिया है, जो उसकी शक्ति को सोखता और उसके जीवन को भर देता है, तो यह मध्यवर्ती अच्छाई है; परंतु यदि वह विचित्र रूप से असंतुष्ट होकर इधर-उधर घूमती फिरती है, एक विनोद से अतृप्त रहकर दूसरे के पास भागती है और अपने खाली घर में उसे कोई दिलचस्पी नहीं मिलती, तो इसका कारण यह है कि उसने प्रेम के सुव्यक्त आदेश को शिरोधार्य नहीं किया। यह सत्य है कि संसार को अब बच्चों की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी कि पहले थी; परंतु यहाँ हमें संसार का कुछ भी विचार नहीं, यह नर और नारी एक दूसरे के साथ सहवास का सुख ही है जिसके लिये दोनों के संयोग से भी बढ़कर किसी चीज़ की आवश्यकता है। उस विवाह को हम सफल नहीं कह सकते जिसमें केवल स्त्री और पुरुष का ही संबंध है, इसमें दंपति का उनके बच्चे के साथ संबंध होने से सुख और रम्यता की मात्रा बहुत बढ़ जाती है।

हमें आशा करनी चाहिए कि ये केवल परिवर्तन की कठिनाइयाँ हैं। हमारे आचार-विचार, रीति-नीति, कला और राजनीति की गड़बड़, मरती हुई व्यवस्था तथा सातत्य की प्रणाली के बीच और उसके बीच जो उत्पन्न हो रही है, अनुज्ज्वल अंतर है। इस नई प्रणाली का प्रादुर्भाव धीरे-धीरे हो रहा है, हमारे सिद्धांतों या युक्तियों में से नहीं, वरन् एक औद्योगिक, नागरिक और ऐहिक युग की अस्वाभाविक दशाओं के साथ मानवी आवेगों के परीक्षा और प्रमाद-मूलक व्यवस्थापन से। यह समझना ठीक नहीं कि पाश्चात्य सभ्यता का अंत होनेवाला है। यह संसार ऐसा ही चलता रहेगा और लोग अपनी भूलों के अनुभव से लाभ उठाकर एक दिन अवश्य किसी अच्छी प्रणाली का आविष्कार करेंगे।

ऊपर के विचार अमेरिका की 'सेंचुरी'-नामक पत्रिका से संकलित हैं। उनका संबंध यद्यपि अधिकतर पाश्चात्य जगत् के साथ है; परंतु देखनेवाले देख रहे हैं कि भारत भी उसी लहर में बेतरह बहता चला आ रहा है। पश्चिम के औद्योगिकवाद से उत्पन्न होनेवाले सभी अनिष्ट यहाँ भी प्रकट हो रहे हैं। इसलिये देश-हितैषियों का यह कर्तव्य है कि पश्चिम के दृष्टांत से लाभ उठाकर अपने देश को उस प्रलयंकरी गड़बड़ से बचाए रखने का भरसक यत्न करें, नहीं तो फिर पछताना पड़ेगा। विचार करने पर इस भयानक आपत्ति को रोकने के लिये महात्मा गांधी का चरखा और खद्दर-प्रचार ही सर्वोत्तम उपाय दीखता है।

संकलन[illegible]

विदा

(सुभद्रा का अभिमन्यु के प्रति)

रुधिर-तरंगिनी तरंगें ले रही हैं जहाँ,
रुंडों के पहाड़ से लगे हैं खेत भर में;
काली लिए प्याला, मुंडमाली मुंडमाला लिए,
भाला लिए सुभट भिड़े हैं भर-भर में;
रक्त से नहाए मृत्यु नृत्य करती है जहाँ,
झूमता है काल करवाल लिए कर में;
जाना वहीं, आना वहीं, मुक्ति का खजाना वहीं,
वीरों का ठिकाना वहीं, सामने समर में।

हितैषी

अछूतोद्धार !
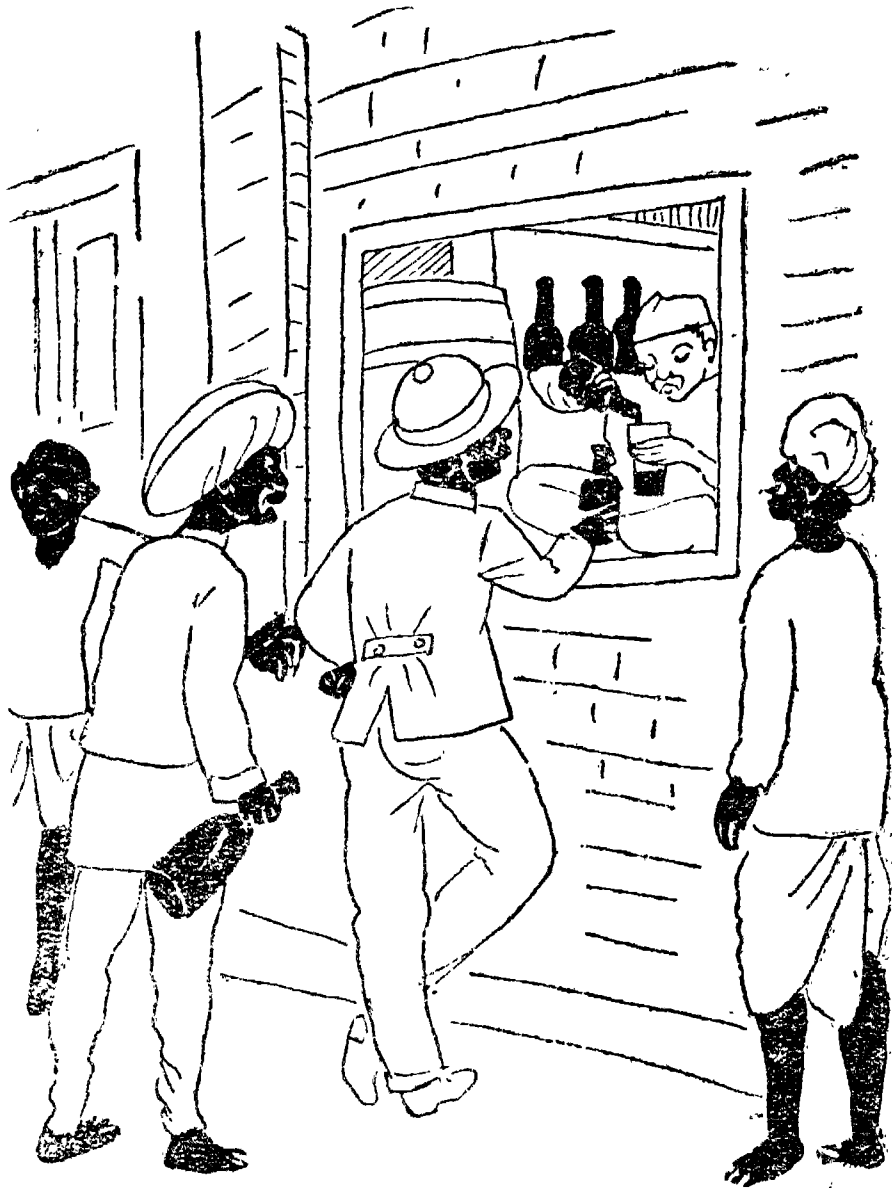
सदारो—(ज़ोर से) हट जाव, हट जाव, साहब को ले लेने दो।
(धीरे से) वही चमार का लौंडा है !

१. कवि

कवि सृष्टि के सौंदर्य का मर्मज्ञ है। वह एक ऐसा यंत्र है जिसके द्वारा सृष्टि का सौंदर्य देखा जाता है। कवि सौंदर्य का उपभोग करता है और जब वह उन्मत्त हो जाता है, तब उसके प्रलाप-रूप में उसकी उन्मत्तता का कुछ प्रसाद सहृदय जनों को मिल जाता है और यही प्रलाप उसकी कविता है। कविता ही सृष्टि का जीवन प्राण है या यों कहिए कि प्रकृति ही कवितामय है और सारा ब्रह्मांड एक अद्‌भुत महाकाव्य है।

ईश्वरीय सौंदर्य को प्राकृतिक कविता की भाषा की छटा द्वारा संसार को दर्शाना केवल एक कवि का ही काम है। संसार के पदार्थों और घटनाओं को सभी देखते हैं, किंतु जिन आँखों से उन्हें कवि देखता है, वह निराली ही होती हैं। साधारण जन के लिये पहाड़ों के भीतर से आती हुई नदी, एक नदी-मात्र है। किंतु कवि के लिये उस श्वेतवसना शोभा-युक्त लाजवती का नाचता हुआ शरीर शृंगार की रंग-भूमि है। आँख वही, पर चितवन में भेद है। पदार्थ-रूपी चित्रों में चितेरे के हाथ की महिमा कवि की ही आँखें पहिचानती हैं। प्राकृतिक दैविक संगीत उसी के कान सुनते हैं। विज्ञानवेत्ता पदार्थों के बाहरी अंगों की छानबीन करता है और उनके अवयवों का संबंध ढूँढता है। नीतिज्ञ उनसे देश और समाज के लिये परिणाम निकालता है, किंतु उनके आंतरिक सौंदर्य की ओर कवि ही का लक्ष्य रहता है। वैज्ञानिक, नीतिज्ञ और धर्मज्ञ भी जैसे-जैसे अपने लक्ष्य की खोज में गहरे डूबते हैं, वैसे-ही-वैसे कवि के समीप पहुँचते जाते हैं। सभी विद्याओं और शास्त्रों का अंत और उनकी सफलता कविता में लीन होने ही में है।

कवि अपनी कविता द्वारा आवश्यकता पड़ने पर वीरों को वीर-रस से उन्मत्त कर देता है। वीर-रस के प्रधान कवि भूषण ही को ले लीजिए। इनके समान अपनी कविता में जातीयता का ध्यान रखनेवाला हिंदी के पुराने कवियों में बिरला ही कोई होगा। हिंदू-जाति की भलाई और उन्नति की इनके मन में उत्कट अभिलाषा थी। इनकी वीर-रस से भरी हुई कविताओं को सुनकर कायर-से-कायर मनुष्य भी रणक्षेत्र की ओर दौड़ पड़ता था।

समय पड़ने पर कवि अपनी ओजस्विनी कविता-द्वारा नीति और धर्म के उपदेश से जन-समाज का उपकार करता है। महान् अँगरेज़ी कवि Keets ने कहा है—'Beauty is truth and truth is beauty', अर्थात् सौंदर्य ही सत्य है और सत्यता ही सौंदर्य है—सत्यं शिवं सुंदरम्। वास्तव में कवि सौंदर्य का जन्मदाता है और Keets के कथनानुसार सौंदर्य ही सत्य है अतः इससे सिद्ध होता है कि कवि सौंदर्य दर्शाता हुआ सत्यता का भी पोषक होता है। जहाँ हमारे धार्मिक सुधारक सत्य की सार्थकता

ही को जन-समाज को दर्शाने के लिये अनेक प्रयत्न करते हैं, नए-नए धर्मों की आयोजना करते हैं और फिर अपनी भिन्न-भिन्न संमतियों द्वारा उनको आलोचनाएँ करते हैं। कुछ धार्मिक सुधारक मनुष्यों को अपनी ओर घसीटते हैं और कुछ अपनी ओर, किंतु वास्तविक सत्यता जो कि एक कवि अपने एक छोटे से पद में दर्शाकर दर्शकगणों के हृदयों पर आधिपत्य जमा लेता है, दर्शाना उनकी शक्ति से बिल्कुल बाहर है। कवि अपनी कविता में क्या नहीं दर्शा देता। ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम तो उसके जीवन का लक्ष्य ही प्रतीत होता है।

कविता के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों की भिन्न-भिन्न संमतियाँ हैं सही, किंतु कविता की व्याख्या चाहे जैसी भी की जाय, उसका उद्देश्य मानव-जाति के लिये, देश के लिये 'धार्मिक सुधारकों की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेयस्कर है।' कविता केवल शृंगार और विलास ही की सामग्री नहीं है। यद्यपि कवियों के विषय में कितने ही धार्मिक विद्वानों का यह विचार है कि मनुष्य के सामाजिक और धार्मिक जीवन में उनकी कविता से कुछ लौकिक लाभ नहीं है तथा कवि के कल्पित राज्य में रहने से किसी प्रकार की व्यावहारिक दक्षता नहीं आ सकती, किंतु सच बात यह है कि मनुष्य समाज से पृथक् कर देने पर कविता का कोई भी मूल्य नहीं। सभी देशों में, सभी कालों में तथा सभी दशाओं में कविता मनुष्य के दैनिक जीवन की सहचरी थी और है। समाज में उच्चादर्श स्थापित कर कविता चरित्र-गठन में सहायता करती है। योरप के मध्य युग में काव्य तथा संगीत द्वारा ही ईसाई-धर्म और क्षात्र-धर्म ने समाज में प्रसार लाभ किया।

भारतवर्ष में—रामायण, महाभारत, भगवद्गीता और वैदिक साहित्य आदि काव्यों के आदर्श हिंदू-समाज के गार्हस्थ्य और धार्मिक जीवन में स्वीकृत हुए। उन्हीं के प्रभाव से आधुनिक हिंदू-समाज संगठित हुआ। पारस्परिक व्यवहार में प्रति-दिन इन्हीं आदर्शों का अनुसरण किया जाता है। कवि भी दो प्रकार के होते हैं—एक प्रकार का कवि केवल अपनी ही कथा कहता है और अपनी प्रतिभा द्वारा केवल अपने हृदय के सुख, दुख, कल्पना और अनुभव को कविता-रूप में प्रकट करता है। वर्तमान-काल में रवींद्रनाथ ठाकुर इसी श्रेणी के कवि हैं। केवल भारतवर्ष ही में नहीं; किंतु इनका नाम देश-देशांतरों में फैला हुआ है। दूसरे प्रकार का कवि समस्त देश, समग्र जाति या एक युग की कथा कहता है। वह कवि केवल निमित्त-मात्र होता है। उसके द्वारा समग्र जाति की सरस्वती बोलती है। उसकी रचना किसी व्यक्ति-विशेष की रचना नहीं रह जाती। उसकी रचना संपूर्ण समाज की संमति हो जाती है और ऐसे दूसरे प्रकार के कवि गोस्वामी तुलसीदासजी थे। जन-समूह की सरस्वती उनके द्वारा प्रकट हुई। जन-समूह उनके कथन को अपनी संपत्ति समझता है, इसी से उनका कथन अजर और अमर हो गया। कितने ही ऐसे अपढ़ और ग्रामीण मनुष्यों के मुख से भी सहानुभूति से मिश्रित शोक-सागर में डूबे हुओं के सान्त्वनार्थ, 'होइ है वही जो राम रचि राखा' आदि सुन पड़ता है, जो कि तुलसीदासजी को जानते तक भी नहीं हैं। तुलसीदासजी अपनी रचना में व्याप्त होकर अदृश्य हो गए। मनुष्य उनके वचन को अपना-सा मान कर बोलते हैं। यही कवि की व्यापकता है और यही उसका अमरत्व है। आज उनकी अमर-वाणी से धार्मिक हिंदुओं के मंदिर, घर और श्रवण गूँज रहे हैं। उनकी कविता का एक-एक पद सहस्रों मुखों से प्रतिध्वनित हो उठता है।

कहीं-कहीं तुलसीदासजी ने साधारण-सी-साधारण घटना में बड़ी-बड़ी बातें तथा उदाहरण दिखा दिए हैं। कीचड़ ऐसे तुच्छ पदार्थ से और उस पर बीती हुई प्रकृति की एक अत्यंत साधारण घटना से उदाहरण देकर सीताजी के राम-वियोग को सौंदर्य से चमत्कृत कर दिया। वह कहते हैं—

> हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतम नीर;
> जानत हौ मोहि दीन्ह बिधि, जस जानना सरीर।

तुलसीदासजी की उक्ति कैसी चमत्कारिणी है। आगे चलकर जब रामचंद्रजी बालि को मारते हैं, तो वह शंका करता है कि नाथ, आपने तो धर्म के हेतु अवतार धारण किया है, फिर सुग्रीव की सहायता करके आपने मुझे क्यों व्याध की तरह मारा है? उसके उत्तर में रामचंद्रजी ने जो उसकी शंका का समाधान अपने धर्म और नीति से भरे शब्दों में किया है, उसे तुलसीदासजी ने केवल दो ही पंक्तियों में दर्शाया है—

> अनुज-बधू, भगिनी, सुत-नारी; सुन सठ ये कन्या सम चारी।
> इनहिं कुदृष्टि बिलोकै जोई; ताहि बधे कछु पाप न होई।

देखिए, यहाँ पर तुलसीदासजी ने धर्म और नीति-सागर

को किस प्रकार एक छोटी-सी गागर में भरकर दिखा दिया। क्या कोई भी धार्मिक-सुधारक उस धर्म-भंडार को इतनी सरलता और सत्यता तथा संक्षेप से ऐसे प्रभावात्मक शब्दों द्वारा दर्शा सकता था? चाहे वह कितनी ही अलंकृत भाषा में इसके समझाने का मनुष्यों को प्रयत्न करता, किंतु इतनी स्वाभाविकता, इतना लालित्य नहीं आता, जितना कि कवि ने इन दो पंक्तियों में भर दिया है।

कवि की वाणी हृदयग्राहिणी होती है, किंतु एक व्याख्यानदाता की वाणी से केवल श्रवण ही तृप्त होते हैं, मन तक उनकी पहुँच नहीं होती। यदि उसके भावों की एक-आध तरंग हृदय तक पहुँच ही गई, तो वह स्थायी भाव-रूपी समुद्र में छोटी-बड़ी लहरों के समान उठते और नष्ट हो जाते हैं। उनका प्रभाव चिरस्थायी नहीं होता और मनुष्यों के हृदयाकाश में उनकी वक्तृता के घोर गर्जन के साथ बिजली की चमक की नाईं उनकी वाणी का प्रकाश भी क्षणिक ही होता है। किंतु कवि की वाणी का प्रकाश उस बिजली की झलक की तरह नहीं होता, न उसकी वाणी में कानों को अप्रिय लगनेवाला घोर गर्जन ही होता है। उसकी वाणी का प्रकाश चंद्रमा की स्निग्ध ज्योति की नाईं फैल जाता है और वह मधुर अलौकिक संगीत से भरी होती है तथा उस चतुर वीणा बजानेवाले मिज़राब के समान होती है, जिसके किंचिन्मात्र स्पर्श से ही मनुष्यों का हृत्तंत्री झंकार के साथ बज उठती है। कवि उसके साथ स्वर मिलाकर अपने उच्चादर्शों का, अपने धार्मिक भावों का, राग अलापता है। क्षण भर में वीणा का और गानेवालों का स्वर एक में मिल जाता है। श्रोता और वक्ता दोनों के हृदयों में एक से ही भावों की धारा फूट पड़ती है और दोनों ही अपने अस्तित्व को भूलकर एक अलौकिक आनंद में मग्न हो जाते हैं। क्या किसी धार्मिक सुधारक की शक्ति मनुष्यों को उनके उच्चादर्शों और धर्म को लक्ष्य में रखती हुई उनके हृदयों में धार्मिक भावों की सुरसरि बहाते हुए उन्हें प्रेम और भक्ति से गद्गद कर देगी? उत्तर है, नहीं। उसका प्रभाव कभी भी उतनी गुरुता को नहीं पहुँच सकता।

यही नहीं कि हमारे भारतवर्ष ही में कवि चूड़ामणि के पद से विभूषित किए गए हैं, किंतु और देशों में भी कवि ही सर्व-प्रधान माने गए हैं। इंगलैंड में महाकवि शेक्सपियर, मिल्टन, कीट्स, होमर इत्यादि बड़े-बड़े कवि देश के मुकुट माने गए हैं। जो कार्य कोई नहीं कर सकता, वह कार्य कवि की शक्ति से बाहर नहीं है।

पृथ्वीराज संयोगिता को जीतकर रात-दिन ऐश्वर्य ही में रत रहते थे और प्रजा का उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं रहा था। यद्यपि मनुष्यों ने उनका ध्यान देश-रक्षा की ओर आकर्षित करने का कितना ही यत्न किया, कितना ही उन्हें वक्तृताओं द्वारा अपने धर्म और कर्तव्य का स्मरण दिलाया, किंतु सब व्यर्थ गया। उनकी आँखें किसी प्रकार भी नहीं खुलीं और दूसरी तरफ़ शहाबुद्दीन गोरी उन पर आक्रमण करने को आँख लगाए बैठा था। तब अंत में उनके प्रधान कवि 'चंद' ने मनुष्यों के बहुत आग्रह करने पर सिर्फ़ एक ही लाइन लिखकर भेजी—

"तूँ पर गोरी रत्तियाँ और ता घर गोरी तक्कियाँ"

और उसकी एक इसी मीठी चुटकी ने पृथ्वीराज की आँखें खोलकर उन्हें सचेत कर दिया। यह तो हुई सज्जन पुरुषों की बात, किंतु कवि अपनी कवित-रूपी बीन बजाकर साँप जैसे दुष्ट प्राणियों के हृदय पर भी अपना अधिकार जमा लेते हैं और उन्हें अपनी इच्छा से जैसे चाहें वैसे पथ का अवलंबी बना देते हैं।

यदि हमारे सारे प्राचीन धार्मिक ग्रंथों की ओर देखा जाय तो इससे पता लगता है कि वह सब हमारे सामने काव्य-स्वरूप ही में रक्खे गए हैं। ईश्वर की स्तुति जिस समय मधुर स्वर से गाई जाती है, उस समय उपस्थित गणों का हृदय प्रेम से और भक्ति से गद्गद हो जाता है और हृदय में न समाकर नयनों में उमड़ पड़ता है। स्वयं भगवान् भी उस समय अपने भक्तों के उस अलौकिक प्रेम और श्रद्धा को देखकर अपने भक्तों पर मोहित हो जाते हैं जैसे कि कृष्ण भगवान् ने नारदजी से कहा है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

फिर जब कवि अपनी मधुर संगीत-युक्त कविता द्वारा स्वयं भगवान् को ही वश में कर लेते हैं, जो कि बड़े-बड़े योगी महात्माओं की शक्ति से भी बाहर है। तो फिर मनुष्यों के हृदयों में तो अपने उच्चादर्शों को धर्म की डोरी में पिरोकर माला-स्वरूप में पहना देना उनके बाएँ हाथ का खेल है।

विद्यावती गोयल

× × ×

२. सूर्य

अरे विद्रोही प्रलयंकर !
　　दहकती किरणें फैलाकर ;
धधक धक्-धक्-धक्-धक् नभ से,
　　फूँकता क्यों वन, ग्राम, नगर ?
क्रोध से खोल तृतिय लोचन,
　　भस्म कर सुंदर काम बदन !
नाचता किस भीषण भय से,
　　जटा फैलाकर शिव मोहन !
डोलता डगमग इंद्रासन,
　　झुलसता नवयौवन जीवन ।
प्रबल ! किस हिंसा के बल से—
　　चलाता खूनी आंदोलन ।
तोड़ विकसित मृदु सुमन सुघर,
　　सोख गंभीर सिंधु सुंदर !
लगाता आग जगत में क्यों ?
　　लूक की लपटों में लुक कर ।
दमकती सुख सौंदर्य कुचल,
　　कौन-सी ईर्ष्या में पागल !
चमकता है मरीचिका-सा,
　　पथिक के दग्ध प्रलय पथ पर ।
युगांतर का प्रचंड उत्सव,
　　बंद है कोकिल का कलरव !
सिखाता है किस चिंता को ?
　　चिता-सा जल-जल रण-तांडव ।
बोल जल्लाद ! अभय देकर,
　　स्वेद का अर्घ्य दान लेकर—
भागता है क्यों पश्चिम को,
　　हृदय के दिव्य कमल दलकर ।

"गुलाब"

× × ×

३. जापान में विवाह-संस्कार

जापान में सोलह से लेकर अठारह वर्ष पर्यंत कन्याओं का विवाह-संस्कार हुआ करता है। वैवाहिक-प्रणाली उनके प्राचीन समाज के नियमानुसार संपादित होती है। पहले कन्या का पिता अपनी इच्छानुसार वर को पसंद करता है, फिर संपूर्ण विवरण से कन्या को अवगत कराता है तथा पात्र के साथ वैवाहिक संबंध के लिये उसके मतामत को लेता है। यदि पिता अथवा अन्य किसी आत्मीय द्वारा निर्वाचित पात्र के साथ विवाह-बंधन से कन्या अपनी अनिच्छा प्रकट करती है, तो इस संबंध में अकारण उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं किया जाता।

जापान में योरपीय सभ्य-समाज की तरह कोर्ट-शिप अर्थात् विवाह के पूर्व 'प्रकाश्य-परिणय' की रीति भी है। विवाहेच्छुक युवक अपनी मनोनीत पात्री का विवरण अपने बंधु-बांधवों से प्रकट करता है, जो कन्या के माता-पिता के साथ उसके संबंध को स्थिर करते हैं। बहुधा ऐसा भी होता है कि उनकी मनोनीत पात्री ही विवाहेच्छुक युवक की पत्नी होती है। कन्या का पिता यदि अपनी कन्या को उक्त युवक को देने के लिये सहमत होता है, तो बंधु-बांधवगण एक स्थान पर एकत्र होकर वर-कन्या की गुणावली के संबंध में उनकी आलोचना करते हैं। यदि वर और कन्या में किसी प्रकार का दोष परिलक्षित नहीं होता, तो उभयपक्ष से उपहारादि का आदान-प्रदान हो जाता है और विवाह-तिथि भी निश्चित कर दी जाती है। मध्यस्थ बंधु और आत्मीय इस विवाह का समस्त आयोजन करते हैं। यदि भविष्य में पति-पत्नी का विवाह-विच्छेद होता है, तो इसके लिये भी उन्हें उत्तरदायी होना पड़ता है।

प्राचीन-काल में मध्याह्न-समय विवाह-संस्कार हुआ करता था, परंतु आजकल संध्या-काल में ही होता है।

विवाह के पूर्व दिन कन्या की माता अपनी कन्या को द्वादश आज्ञाएँ प्रदान करती है जो 'Twelve commandants of the bride' के नाम से प्रचलित हैं। यह आज्ञा-प्रदान-रीति जापान में बहुत शताब्दियों से चली आती है। उपर्युक्त द्वादश आज्ञाएँ निम्न-लिखित होती हैं—

१. हे कल्याणि ! विवाह-क्रिया संपन्न होने के बाद तुम हमारी नहीं रह जाती। अद्यावधि जैसे तुम हमारी आज्ञानुकूल रही हो, वैसे ही इसके बाद तुम अपने सास-ससुर की आज्ञानुवर्तिनी रहोगी।

२. तुम्हारे ऊपर तुम्हारे स्वामी का संपूर्ण अधिकार होगा। वही इसके बाद तुम्हारे मालिक होंगे। उनके साथ तुम्हारा शिष्ट और विनीत व्यवहार होगा। स्वामी की आज्ञानुकूल चलना ही स्त्री का सर्वोच्च धर्म कहा जाता है।

३. सास के प्रति तुम्हारा व्यवहार माता के सदृश होगा।

४. स्वामी के चरित्र पर कभी संदेह न करोगी। ऐसा

करने से स्त्री के प्रति स्वामी के स्नेह का ह्रास होता है। स्वामी से किसी विषय में भूल हो जाने पर भी तुम उससे रोष प्रकट न करोगी; सहिष्णुता का अवलंबन करोगी। जब वह शांत चित्त होगा, तब तुम मृदु भावों से उसकी भूल से उसे अवगत करोगी।

५. स्वल्प-भाषिणी होकर रहोगी। प्रतिवासियों से किसी प्रकार के असंतोष के वचन न कहोगी। झूठ कभी न बोलोगी।

६. नित्य उषाकाल में ही शय्या परित्यक्त करना होगा। रात्रि में सबके शय्यागत हो जाने पर तुम शयन करोगी। दिन में सर्वतोभावेन निद्रा त्याग करनी होगी।

७. पचास वर्ष की अवस्था होने के पूर्व किसी साधारण जन-मंडली में अथवा प्रकाश्य कार्य में योग-दान न करोगी और जनता के बीच में न आओगी।

८. ज्योतिषी को अपना हाथ न दिखाओगी।

९. उत्तम गृह-परिचालिका होगी। गृह-कार्य में विशेषतः मितव्ययकारिणी होगी।

१०. यद्यपि यौवनावस्था में वैवाहिक-कार्य संपन्न होता है, फिर भी युवक-समाज से तुम्हारा अधिक संसर्ग न होगा।

११. तुम्हारी पोशाक बहुत चटकीली भड़कीली न होगी। सर्वदा संयतभाव से वेश-विन्यास करोगी।

१२. पिता के वंश अथवा धन का अहंकार न करोगी। पिता के धनी होते हुए भी ससुराल में उसके ऐश्वर्य के संबंध में गर्व-पूर्ण वाक्य न बोलोगी।

यह आज्ञा-समूह प्रत्येक एक रत्न-विशेष है। जापानी स्त्रियाँ इन सभी उपदेशों को अनेक शताब्दियों से विशेष आदर और यत्न के साथ पालन करती हुई चली आ रही हैं।

वैवाहिक-कार्य वर-गृह में किया जाता है। उसके तृतीय दिवस नवदंपति कन्या-गृह के लिये विदा होते हैं। इसके उपलक्ष्य में अनेक प्रकार का आयोजन किया जाता है। कन्या का पिता अपने बंधु-बांधवों को एक बड़ा भोज देने का प्रबंध करता है। उसके घर आने के समय वर-पक्ष के लोग नवदंपति के साथ नाना प्रकार का उपहार और द्रव्यादि उसके यहाँ लाते हैं। यह उपहार, वर-पक्ष कन्या-पक्ष से जो उपहार पाता है, उसी का प्रत्युपहार-स्वरूप होता है। उस समय कन्या अपने स्वामी के यहाँ से प्राप्त वस्त्र ही धारण किए हुए होती है। इन वस्त्रों पर स्वामी-गृह के वंश-परंपरा-गत चिन्ह विद्यमान होते हैं। इससे यही समझा जाता है कि कन्या का उस समय से पिता के परिवार से कोई संबंध न रहकर पितृ-गृह में अतिथि-स्वरूप है।

इस बारे में जो उत्सव होता है, वह मध्यान्ह-काल से बहुत रात्रि-पर्यंत रहता है। अनेक प्रकार का गाना-बजाना और आमोद-प्रमोद का प्रबंध रहता है। भोज के समय कन्या और उसकी माता निमंत्रित व्यक्तियों से मिलती हैं।

फिर दो-तीन मास के अंदर नव दंपति अपने बंधु-बांधवों को एक भोज देते हैं। अपने ही मकान पर अथवा किसी चाय की दूकान पर सबको निमंत्रित करके ले जाते हैं। कोई-कोई किसी सुंदर उपवन में इसका प्रबंध करते हैं।

जापानी बालिका वैवाहिक वस्त्रों से सुसज्जित होकर स्वामी-गृह में पदार्पण करते समय यह समझती है कि इस समय से उसे सतर्क होकर चलना होगा और उसके सदाचार तथा सद्व्यवहार के ऊपर ही उसके भविष्य जीवन का सुख-दुःख निर्भर है।*

सुरेंद्रनाथ तिवारी

× × ×

४. मनोगाथ

(१)

प्रथम प्रभासित प्रणय-सु—
को मंद-मंद बहने दे;
चिर स्मृति का बलि-वेदी पर,
जीवन को जलने दे।
पट-परिवर्तन के नवीन पट—
पर अंकित होने दे;
नित नवीन रंगों की आभा—
से रंजित होने दे।
उस चिर रजनी के सुअंक में,
सुखद शांति लेने दे;
जीवन-कुटिया की अशांति में,
मुझे भ्रांति खोने दे।

× × ×

* अनूदित।

५. अगवानी

(२)

हे प्रदीप, तू एक बार आकर
　　प्रकाश दिखला जा ;
जीवन के धुँधले पथ को,
　　फिर एक बार चमका जा।
हे पराग, तू इस कलिका में,
　　एक बार फिर आजा ;
आजा रे, मानस मधुकर को,
　　प्रेमी प्रेम पिला जा।
बहता जा हे ! मलय पवन,
　　प्रियतम के पथ में प्यारे।
नयनो ! अब तुम भी अविचल हो,
　　मोती हार सजा रे।

जटाधरप्रसाद शर्मा "विकल"

× × ×

६. संस्कृति अथवा स्वाधीनता

वर्तमान आर्थिक संघटन की विज्ञान-वादियों ने तथा इनका अनुकरण कर धनिक समाज ने भी संस्कृति की उपाधि दी है और इस संस्कृति अर्थात् रेल, तार, टेलीफ़ोन, फ़ोटोग्राफ़ी, रॉटजेन किरणें, अस्पताल, प्रदर्शनियाँ तथा विशेषकर आराम पहुँचानेवाली अन्यान्य वस्तुओं में उन्हें कोई ऐसी उत्तमता दिखलाई पड़ती है कि वे इसमें किसी प्रकार के परिवर्तन का विचार तक भी नहीं करते, जिससे उसके नष्ट हो जाने अथवा उसके किसी अंश के ख़तरे में पड़ जाने का भय हो। इन विज्ञान-वादियों के मतानुसार इस वस्तु को, जिसे वे संस्कृति अथवा उन्नति के नाम से पुकारते हैं, छोड़कर शेष सभी बातों में परिवर्तन हो सकता है। परंतु यह बात दिन-पर-दिन अधिकाधिक स्पष्ट होती जाती है कि इस संस्कृति अथवा उन्नति का अस्तित्व उसी समय तक है, जब तक श्रम-जीवी लोग काम करने के लिये बाध्य किए जा सकते हैं। इस बात के होते हुए भी इन विज्ञान-वादियों को इस संस्कृति के दुनिया की सबसे बड़ी निआमत और बरकत होने का इतना निश्चय है कि वे बड़े साहस के साथ और आवाज़ बलंद करके उस सिद्धांत-वाक्य का विरोध करते हैं, जो किसी समय में न्याय-शास्त्र के बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों और प्रकांड पंडितों की ओर से कहा गया था, अर्थात् न्याय करो, चाहे इससे संसार का नाश क्यों न हो जाय (fiat justitia, pereat mundus)। इसके विरुद्ध उनका कथन है—संस्कृति की रक्षा करो, चाहे न्याय का नाश क्यों न हो जाय (fiat cultura, pereat justitia)। इनके मतानुसार इस संस्कृति को छोड़, उन बातों को छोड़, जो कल-कारख़ानों और प्रयोगशालाओं में हो रही हैं, विशेषकर जो चीज़ें बाज़ारों में और दूकानों पर बेची जाती हैं, प्रत्येक वस्तु में, सिद्धांत-रूप और कार्य-रूप दोनों प्रकार से परिवर्तन हो सकता है।

परंतु मेरा विश्वास है कि जो लोग विश्व-बंधुत्व और अपने पड़ोसियों के प्रति प्रेम प्रदर्शन के सिद्धांत को मानते हैं, वे बिलकुल इसके विपरीत ही अपना मत प्रकट करेंगे।

बिजली की रोशनी तथा टेलीफ़ोन और प्रदर्शनियाँ बड़ी उत्तम वस्तु हैं। उसी प्रकार आनंद-वाटिकाएँ, बड़ी-बड़ी गायन-शालाएँ और नाट्य-शालाएँ तथा बड़े-बड़े जल-यान, वायु-यान, मोटरकार, सिगरेटें, दियासलाई आदि वस्तुएँ बड़ी उत्तम और उत्कृष्ट समझी जाती हैं। परंतु इन सारी उन्नति की वस्तुओं का और उनके साथ ही रेल, तार आदि का भी नाश हो जाय तो अच्छा है। यदि इनके तैयार करने के लिये ९९ प्रतिशत मनुष्यों का ग़ुलामी में बना रहना और उन कारख़ानों में जिनमें ये वस्तुएँ तैयार की जाती हैं, दिन-रात अथक परिश्रम कर उनका नष्ट हो जाना आवश्यक है। यदि लंदन और पीटर्सबर्ग जैसे स्थानों को बिजली के आलोक से आलोकित करने के लिये, प्रदर्शिनी-भवनों का निर्माण करने के लिये, सुंदर चित्र-शालाओं को भाँति-भाँति के चित्रों से विभूषित करने के लिये अथवा शीघ्रता के साथ और अधिक परिमाण में उत्तम वस्त्र बिनने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ लोगों का—चाहे इनकी संख्या कितनी ही अल्प क्यों न हो—जीवन नष्ट हो, बर्बाद हो अथवा उसमें कमी हो, तो लंदन और पीटर्सबर्ग में गैस अथवा तेल की रोशनी का होना अच्छा है। यह अच्छा है कि प्रदर्शनियाँ बंद कर दी जायँ, चित्र-शालाएँ उठा दी जायँ और ये सारी आमोद-प्रमोद तथा शारीरिक सुख-प्रदान करनेवाली वस्तुएँ न रह जायँ; परंतु दासता (ग़ुलामी) का और उसके परिणाम-स्वरूप लाखों की संख्या में मनुष्यों के नष्ट किए जाने की इस प्रथा का नाम-

निशान न रह जावे। जिन मनुष्यों का हृदय वास्तविक संस्कार से संस्कृत हो गया है, जिनके हृदय-मंदिर में सच्चे ज्ञान-दीपक का प्रकाश हो गया है और जो मनुष्य-जीवन के सच्चे सार को समझ गए हैं, वे रेलों के द्वारा जिनसे प्रतिवर्ष लाखों-करोड़ों मनुष्यों की हत्या होती है, जैसा कि शिकागो आदि स्थानों में इस समय हो रहा है, यात्रा करने की अपेक्षा घोड़े और टट्टुओं की सवारी को अथवा लकड़ी या अपने हाथ से ज़मीन जोतने को अधिक अच्छा समझेंगे, केवल इसीलिये कि रेलवे कंपनियों के मालिक अपनी रेलवे-लाइन का इस प्रकार निर्माण करने की अपेक्षा कि उससे किसी मनुष्य के जीवन की हानि न हो, मरे हुए मनुष्यों के परिवारवालों को हर्जाने (मुआविज़े) की रक़म देने में ही अपना अधिक लाभ और सुविधा समझते हैं। सच्ची सभ्यता के आलोक से आलोकित हृदयवाले मनुष्य के लिये सिद्धांत यह नहीं कि 'संस्कृति की रक्षा करो, चाहे न्याय का नाश क्यों न हो जाय' वरन् यह होगा कि 'न्याय की रक्षा करो, चाहे इससे संस्कृति का नाश क्यों न हो जाय।'

परंतु इस संस्कृति का—वह संस्कृति जिससे लाभ होने की संभावना है और जो उपयोगी है—नाश न होने पावेगा। वास्तव में लोगों के लिये फिर से लकड़ियों से ज़मीन जोतने अथवा मशालों के ज़रिये रोशनी करने की (जैसा कि पहले किया जाता था) आवश्यकता न होगी। मनुष्य-समाज ने दासता की अवस्था में रहते हुए भी व्यर्थ के लिये ही इतनी वैज्ञानिक उन्नति नहीं की है। यदि हम केवल इतनी ही बात समझ लें कि हमें अपने ऐशो-आराम के लिये अपने भाइयों के जीवन का बलिदान नहीं करना चाहिए, तो हमारे लिये यह संभव हो सकता है कि हम मनुष्यों के जीवन को नष्ट किए बिना भी कला-संबंधी इस उन्नति का उपयोग कर सकते हैं और अपने जीवन के संबंध में ऐसी व्यवस्था कर सके हैं कि जो बातें हमको प्रकृति के ऊपर अधिकार प्रदान करती हैं, उनसे हम लाभ उठा सकें और अपने दूसरे भाइयों को दासता के बंधन में डाले बिना हम उनका प्रयोग कर सकें।*

माधवप्रसाद मिश्र

× × ×

* काउण्ट टॉलस्टॉय के Social evils and their remedy के Culture or freedom का भाषानुवाद।

७. सेवक का सुख

(१)

राजा मानपुर के अंतःपुर में जगदीश नाम का एक पुराना नौकर है। वह दाढ़ी रखाए हुए है। जिस समय वह नौकर हुआ था उस समय भी वह दाढ़ी रखाए हुए था। उसकी अवस्था अब ५० वर्ष की होगी; पर उसका सुदृढ़ और सुंदर शरीर उसे इस अवस्था में भी कम का सिद्ध करता है। जगदीश अकेला ही है। उसका विवाह नहीं हुआ। वह पढ़ा-लिखा ख़ूब है; पर अपनी शिक्षा के अनुसार किसी ऊँचे पद पर कार्य करने की उसने कभी इच्छा नहीं की। राजा साहब उससे कहा करते—"जगदीश, क्यों तुम अपनी उम्र ख़राब कर रहे हो। मैं तुम्हें दफ़्तर में एक अच्छे पद पर रख लूँगा। अरे, इस संसार का, मनुष्य जीवन का, कुछ तो सुख प्राप्त करो।" राजा साहब की ऐसी बातों का जो उत्तर जगदीश की ओर से मिलता, उसे सुनकर राजा साहब अवाक् रह जाते। जगदीश कहता—संसार में सुख! कल्पना है। सुख, राजा साहब तुम नहीं जानते, मैं जानता हूँ। संतोष में ही सुख है। पर जीवन में सबका अपना-अपना सुख भिन्न-भिन्न प्रकार का है। आपका सुख कुछ और है, मेरा कुछ और। मुझे उच्च पद पर नियुक्त होकर जो कुछ प्राप्त होगा, उसमें वह सुख कहाँ, जो यहाँ मिलता है। राजा साहब, कहने और सुनने में मेरी बातें आपको निःसार प्रतीत होती होंगी, पर कभी अनुभव कीजिएगा, तो जानिएगा—जगदीश क्या कहता था।

(२)

राजा साहब ने तीन विवाह किए हैं। पहली रानी रुग्ण रहती हैं, इसीलिये उन्होंने दूसरा विवाह किया था। पहली रानी से कोई संतान नहीं हुई और दुर्भाग्य से दूसरी से भी नहीं हुई। तीसरा विवाह अभी हाल ही में हुआ है। रानियों का नाम क्रमशः कमला, विमला और सरला है। सब रानियाँ जगदीश पर बड़ा स्नेह रखती हैं, पर कमला रानी ही का जगदीश पर विशेष स्नेह है। जगदीश उन्हीं की परिचर्या में विशेष रूप से तल्लीन रहता है, पर उसकी कार्य-प्रणाली ऐसी उत्तम है कि सभी रानियाँ उसे अपना ही विशेष सेवक समझती हैं।

एक बार राजा साहब के छोटे भ्राता कुँवर विशालसिंह कमला रानी को तीर्थाटन करने के लिये उनके साथ गए, तो जगदीश को भी साथ ले गए। जगदीश की अनु-

परिस्थिति में शेष दो रानियों को परिचर्या संतोष-जनक नहीं रही। अतएव राजा साहब को यह आज्ञा देनी पड़ी कि जगदीश कभी बाहर नहीं जायगा।

(३)

एक बार सब रानियों ने मिलकर जगदीश से आग्रह किया कि वह अपनी दाढ़ी मुड़ा डाले। जगदीश को उनकी इस आज्ञा का पालन करने में जो असमर्थता हुई, उसके कारण उसका जी बहुत दुखी रहा। जगदीश को दुखी देखकर रानियों ने उससे इस प्रकार का आग्रह करना छोड़ दिया।

जगदीश के जीवन की कथा कोई नहीं जानता। कमला रानी ही केवल इतना जानती हैं कि वह कुँवर कृपालुसिंह का अपना ख़ास आदमी था, जैसा कि जगदीश ने कभी उनसे कहा भी था। कमला रानी यह बात भी जानती हैं कि कुँवर साहब से उनका जो सौहार्द्र रहा है, जगदीश उससे अपरिचित नहीं है। विवाह होने के बाद (कोई बीस वर्ष से) कुँवर साहब से उनकी कभी भेंट नहीं हुई। दूर का संबंध था, तब से उन्हें उनका कोई हाल भी नहीं मिला।

(४)

गत शनिवार की रात्रि से कमला रानी बहुत बीमार है। उस रात को नाटक देखकर वापस आने के बाद ही उन्हें विषम-ज्वर आ गया है। नाटक राजा साहब के नवजात-पुत्र उत्पन्न होने की प्रसन्नता में हुआ था।

नाटक में जगदीश का पार्ट अर्जुन का था।

पहले ही पहल ज्योंही कमला रानी ने जगदीश को एक राजा के वेश में देखा त्योंही उन्हें कुँवर कृपालुसिंह का स्मरण हो आया। २०-२५ वर्ष की स्मृतियाँ जागृत हो गईं। नाटक के अंत तक यद्यपि वे वहाँ बैठी रहीं तथापि मनोव्यथा के साथ ही ज्वर-व्यथा भी उसी समय से जागृत हुई। आत्म-ज्वर के साथ विषम-ज्वर का सूत्रपात भी उसी समय से हुआ।

जगदीश ने अपनी नौकरी के २० वर्षों में इस बार ही १० दिन की छुट्टी ली थी। छुट्टी के बाद फिर वह नहीं आया। कमला रानी ने भी एक दिन अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

* * *

इसके बाद ही पत्रों में प्रकाशित हुआ—"कुँवर-कृपालुसिंह (रामनगर के राज्याधिकारी) का पता लग गया। शिखा-सूत्र त्यागे हुए संन्यासी वेष में वे गुरुकुल-रजत-जयंती के अवसर पर लोगों को मिले।"

राजा साहब मानपुर ने देखा—जगदीश की सूरत, उसकी बातचीत का स्वर, इस संन्यासी कुँवर कृपालुसिंह का-सा था। उन्हें अब स्मरण हुआ कि कभी जगदीश ने भी कहा था—"जीवन का सुख एक कल्पना है जो अनुभव से ही समझा जाता है। जीवन की अनेक घटनाओं का स्मरण कर वे मन-ही मन कहने लगे—कमले! तुम देवी थीं। मैंने तुम्हें नहीं पहचाना था।

राजा रानी के जीवन का रहस्य इन्हीं थोड़े से शब्दों में छिपा था, पर राजा साहब की आँखों के आँसू कुछ और अधिक बतला रहे थे।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

× × ×

८. स्वप्न

चारों दिशा में चंद्र की थी चंद्रिका छाई हुई।
ऋतुराज की सुषमामयी वासंतिका आई हुई।
फूले गुलाब कियारियों में थे मनोहर झूमते।
मिलकर परस्पर मोद से थे भूमि को वे चूमते।
सुविशाल द्रुम वापी सरोवर थे सुखद मन-भावने;
शोभा भरे शुभ-धाम थे आराम रम्य सुहावने।
थी शांति से परिपूर्ण रजनी शून्य नीरवता घनी;
नंदन-निकुंज समान थी छबि चारु चित्रित-सी बनी।
बैठा हुआ था मौन मैं उस वाटिका के कुंज में;
सहसा लखा प्राणेश को तब मालती के पुंज में।
बोले, अहो हृदयेश! क्यों इस भाँति दुःख उठा रहे;
हो मग्न किसके ध्यान में ये नैन नीर बहा रहे।
है कौन-सी वह वेदना कैसा हुआ आघात है;
है म्लान मुखकी कांति क्योंकर होरहा कृश गात है।
आते हुए निज नाथ को लख रुद्ध कंठस्थल हुआ;
गद्गद गिरा गंभीरता से पूर्ण हृदयस्थल हुआ।
लोचन युगल युग मीन ज्यों स्नेहाश्रुओं की धार में;
सानंद तिरने त्यों लगे शुभ प्रेम पारावार में।
उठकर लगा लूँ कंठ से क्याही सुखद सौभाग्य था;
हा शोक! पर था स्वप्न वह निज भ्रांति थी दुर्भाग्य था।

रमाशंकर मिश्र, 'पथिक'

× × ×

९. यही है

ग़फ़लत की नींद सोना है मंज़ूर यही है ;
मिट जाओगे दुनिया से तो दस्तूर यही है ।
देखा जो डारविन को कहीं बोला यों आदम ;
बहकाता है दुनिया को जो लंगूर यही है ।
क़ातिल जो रोज़ आता है ख़ंजर को बाँधकर ;
करता है जो जीने को भी मजबूर यही है ।
जिस दर पै पहुँचने को परीज़ाद भी तरसें ;
होवे न फ़रिश्तों का भी मक़दूर यही है ।
जब ग़ैर से मिलने का वो करते थे मशिवरा ;
पूछा तो कहा तुमको तो मज़बूर यही है ।
बेगुनाह हूँ जो कहा सुनके वो बोले ;
सूली पै चढ़ा दो मेरा मंसूर यही है ।
दोज़ख़ को न चाहूँगा न जन्नत को कभी मैं ;
दोनों के मज़े जिसमें हैं, भरपूर यही है ।
'गुलज़ार' ज़रा तन के जो बैठे तो वो बोला ;
उलफ़त पै हमारी है जो मग़रूर यही है ।

देवीप्रसाद गुप्त "गुलज़ार"

× × ×

१०. कवि की उत्पत्ति

दक्षिण में एक कथा प्रचलित है । किसी चारण के घर लड़का पैदा हुआ । उसका नाम शारद रक्खा गया । समय पाकर उसका विवाह हुआ, परंतु स्त्री बड़ी दुष्टा मिली । शारद के दिन रो-रोकर गुज़रने लगे । एक दिन अति दुःखित हो, वह वन को चला गया और वहाँ भगवान् शूलपाणि की आराधना करने लगा । पूरे ग्यारह वर्ष तप करने के बाद शिवजी उस पर प्रसन्न हुए —

'शारद ! वर माँग ।'

"प्रभो ! ऐसा वर दीजिए कि मैं जगत् के लिये तो अमर रहूँ, परंतु अपनी स्त्री के लिये मर-जाऊँ" ।

'शारद ! यह कैसा वर, एक मनुष्य के लिये जीना और दूसरे के लिये मर जाना कैसे संभव हो सकता है !'

'प्रभो ! मैंने तो माँग लिया ।

शारद ! एवमस्तु, तू कविता कर तेरी मनःकामना पूर्ण होगी ।'

भगवान् शंकर ने शारद को एकादश प्रकार के छंद बताए जिससे कि आधुनिक पिंगल उत्पन्न हुआ ।

कहते हैं कि शारद ने थोड़े ही समय में अति उत्कृष्ट कविताएँ रचीं और सुरधाम सिधार गए । उनकी स्त्री विधवा हो गई, परंतु संसार के लिये शारद अमर हो गए ।

जगदंबाप्रसाद गुप्त

× × ×

११. पहुनई और अतिथि-सत्कार में शिष्टाचार

लोगों को अपने ऐसे मित्रों और नातेदारों के यहाँ कभी-कभी जाकर कुछ दिन रहने का काम पड़ता है, जो किसी दूसरे स्थान में रहते हैं । कभी तो पहुनई करने का अवसर ही आ जाता है और कभी यह अवकाश के समय इच्छा से की जाती है । मित्र और नातेदारों के यहाँ से बहुधा पहुनई के लिये निमंत्रण भी आ जाता है । जो कुछ हो, पहुनई में जाने के पूर्व इस बात का विश्वास मन में अवश्य कर लेना चाहिए कि जिनके यहाँ पहुनई में जाना है, उनकी इसके लिये हार्दिक इच्छा है या नहीं ; क्योंकि कभी-कभी पहुनई के लिये केवल शिष्टाचार की ऊपरी दृष्टि से अनुरोध किया जाता है ।

जिसके यहाँ पहुनई में जाना है, उसकी आर्थिक और कौटुंबिक परिस्थिति पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए । यदि उसकी स्थिति साधारण हो अथवा उसके यहाँ कुटुंब की अधिकता के कारण अथवा और किसी कारण से रसोई बनाने की कुछ अड़चन है, तो उसके यहाँ दो-चार दिन से अधिक न ठहरना चाहिए । मित्र के यहाँ पहुँचने पर पाहुने को किसी न किसी तरह यह बात प्रकट कर देनी चाहिए कि वह कितने दिन तक ठहरनेवाला है, जिससे गृह-स्वामी को उसके आदर-सत्कार का प्रबंध करने के लिये अवसर मिल जावे । पाहुने को अपनी प्रस्तावित अवधि से अधिक न ठहरना चाहिए, जब तक इसके लिये गृह-स्वामी की ओर से विशेष आग्रह न हो । आतिथेय के यहाँ रहते हुए पाहुने को भोजन के निश्चित समय पर उपस्थित रहना आवश्यक है, जिसमें घरवालों को उसके लिये अनावश्यक प्रतीक्षा न करनी पड़े । दूसरे के यहाँ जो भोजन बने, उसे संतोष-पूर्वक खाना चाहिए, चाहे वह पाहुने की रुचि के पूर्णतया अनुकूल न हो । यदि तुम्हें किसी वस्तु-विशेष से अरुचि हो अथवा विकार होने की संभावना हो, तो रसोई करनेवाले के पास तुम्हें इस बात की सूचना नम्रता-पूर्वक पहुँचा देनी चाहिए । इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भोजन परिमाण से अधिक न खाया जावे और न कम भी किया जावे ।

जिसके यहाँ पहुनई में जाना हो, उसके लड़के, बच्चों के लिये मिठाई, खिलौने अथवा टोपी, रूमाल आदि ले जाना बहुत आवश्यक है। पहुनई समाप्त कर घर को लौटते समय लड़के-बच्चों को योग्यतानुसार दो-एक रुपए दे देना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। गृह-स्वामी के नौकर-चाकरों और रसोइयों को भी कुछ मामूली रकम पुरस्कार में दी जावे। पहुनई की अवधि में मनुष्य को इस बात की सावधानी रखनी चाहिये कि उसका ऊपरी ख़र्च गृह-स्वामी को न देना पड़े। पाहुने को यह भी उचित नहीं है कि वह किसी बाहरी आदमी को अपने साथ गृह-स्वामी के यहाँ भोजन करने के लिये लावे। यदि पहुनई की अवधि में कोई दूसरा मित्र पाहुने का निमंत्रण करे, तो उसे वह निमंत्रण स्वीकार करने के पूर्व गृह-स्वामी से इस काम के लिये अनुमति ले लेना चाहिए और यदि इससे उसको कुछ खेद हो, तो पाहुने को वह निमंत्रण उस समय स्वीकृत नहीं करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि गृह-स्वामी किसी दूसरी जगह निमंत्रित किया जाता है और उसके साथ शिष्टाचार-वश पाहुने को भी निमंत्रण दिया जाता है। ऐसी अवस्था में विशेष कारण होने पर पाहुने को अधिकार है कि वह उस निमंत्रण को स्वीकार करे अथवा न करे। तो भी अस्वीकृति इस प्रकार की जावे कि निमंत्रण देनेवाले को बुरा न लगे।

कभी-कभी पहुनई कुटुंब-सहित की जाती है। इस अवस्था में पाहुने के घर के लोगों को रसोई के कार्य में गृह-स्वामिनी की पूरी सहायता करनी चाहिए। पाहुने को गृह-स्वामिनी के साथ ऐसी चर्चा चलाना उचित नहीं, जिससे परस्पर मन-मुटाव हो जाने की आशंका हो। गृह-स्वामिनी की अवस्था और संबंध के विचार से पाहुनी को आते और जाते समय उसका भेंट आदि से उचित सत्कार करना चाहिए। यदि गृह-स्वामिनी किसी भले घर की स्त्रियों के यहाँ बैठने जावे और पाहुनी से भी साथ चलने के लिये आग्रह करे, तो कोई विशेष कारण न होने पर उसे गृह-स्वामिनी के साथ जाना चाहिए। इसी प्रकार पाहुना भी गृह-स्वामी के साथ उसके मित्रों के यहाँ बैठने जा सकता है।

जितने समय तक पाहुना अपने मित्र या संबंधी के घर पर रहे, उतने समय तक उसे बहुधा उसी कोठे या स्थान में रहना चाहिए जो उसके लिये नियत कर दिया हो। यदि उसका संबंध ऐसा हो कि वह स्त्रियों के पास भी आ जा सकता हो, तो सूचना देकर वह घर के भीतर भी अपना कुछ समय बिता सकता है। यदि ऐसा न हो, तो उसे आवश्यकता पड़ने पर और सूचना देने पर ही घर के भीतरी भाग में जाना चाहिए। आते-जाते समय सभ्यता-पूर्वक थोड़ा बहुत खाँस देने से स्त्रियों को पुरुषों की उपस्थिति की सूचना मिल सकती है। इस संकेत का उपयोग उस समय भी किया जा सकता है, जब स्त्रियाँ घर के किसी भीतरी भाग में भी बैठी हों। स्त्रियों के बीच में अचानक पहुँच जाना और उनको अपनी मर्यादा का पालन करने के लिये अवसर न देना, असभ्यता के चिन्ह हैं।

यदि आतिथेय को अपने काम-काज के लिये अधिक समय तक बाहर रहने की आवश्यकता पड़ती हो और घर में एक-दो स्त्रियों को छोड़, कोई बड़े लड़के या पुरुष न हों, तो पाहुने को उचित है कि वह गृह-स्वामी के घर लौटने के समय तक बस्ती में किसी दूसरे मित्र के पास अथवा दर्शनीय स्थान देखने में अपना समय बितावे; क्योंकि पर्दा करनेवाली स्त्रियों के पास पुरुषों की अनुपस्थिति में रहना, संदेह की दृष्टि से देखा जाता है। यदि पाहुने के ठहरने का स्थान ऐसा हो कि उसका सब निस्तार बाहरी कोठे में ही हो सकता है, तो वह पुरुषों की अनुपस्थिति में अपने स्थान में ही रह सकता है।

पाहुने का उचित सत्कार करने की ओर गृह-स्वामी को विशेष ध्यान देना चाहिए। यथा-संभव वह पाहुने के साथ बैठकर भोजन करे और यदि पाहुना बाहर गया हो, तो भोजन के लिये उसकी प्रतीक्षा करे। मुख्य भोजनों के पूर्व पाहुने के लिये जल-पान का प्रबंध कराना भी आवश्यक है। भोजन समय-समय पर हेर-फेर के साथ तैयार कराया जावे और जहाँ तक हो, वह पाहुने की स्थिति के अनुरूप हो। भोजन स्वच्छ पात्रों में और उचित परिमाण में परसा जावे। पाहुने के भोजन करते समय कुछ अधिक भोजन के लिये थोड़ा-बहुत अनुरोध करना अनुचित नहीं है; परंतु परिमाण से अधिक परसना अथवा खिलाना निंदनीय है।

पाहुने के आगमन के समय उसका आदर-सहित स्वागत करना चाहिए और यदि उसके आने के निश्चित

समय की सूचना मिल जावे, तो उसे स्टेशन से अथवा घर से बाहर कुछ दूरी पर लेने के लिये जाना चाहिए। इसी प्रकार पाहुने की बिदाई के समय भी उसके साथ कुछ दूर जाकर आदर-सत्कार की त्रुटियों के लिये क्षमा माँगना चाहिए।

पाहुने को उचित है कि वह अपने घर पहुँचने पर आतिथेय को अपनी क्षेम-कुशल का पत्र भेजे और कुछ समय तक पत्र-व्यवहार जारी रक्खे, जिसमें गृह-स्वामी की ओर उसकी कृतज्ञता प्रकट होवे। उसे यह भी उचित है कि आगे चलकर किसी उपयुक्त समय पर वह अपने उस मित्र को अपने घर उसी प्रकार पहुनई करने के लिये निमंत्रण दे, जिस प्रकार उसने उसे दिया था।

कामताप्रसाद गुरु

---

१. उदारता और उसका पुरस्कार

(१)

संध्या का सुहावना समय था। भीनी-भीनी ठंढी हवा अपने हलके झोकों से मनुष्यों के हृदय में गुदगुदी पैदा कर रही थी। चारों ओर शांति का साम्राज्य था। बाबू श्यामकुमार अपने मकान से सटी हुई छोटी-सी, परंतु सुंदर बगिया में एक चारपाई पर बैठे हुक्के की सटक मुँह में दबाए आकाश के नीले रंग में मानो कुछ पढ़ने की चेष्टा कर रहे थे। एकाएक उनके कानों में आवाज़ पड़ी—"बाबू साहब, मैं बहुत भूखा हूँ।" बाबू साहब ने अपनी गर्दन फेरी। सामने एक सोलह वर्ष का बालक खड़ा हुआ था। उसका गुलाब-सा चेहरा कुम्हला गया था, ओठ सूख गए थे, आँखों की ज्योति मलिन पड़ गई थी, सारी देह धूल से सनी हुई थी। बाबू साहब का हृदय करुणा से भर गया। उसको एक बार ऊपर से नीचे तक देखकर वह मकान के अंदर चले गए। दो तीन मिनट के पश्चात् वह दो तश्तरियाँ हाथों में लिए हुए लौटे और उन्हें पास पड़ी हुई दूसरी चारपाई पर रखकर बालक से खाने को कहा। बालक ने ललचाए हुए नेत्रों से उन्हें देखा। उसका चेहरा खिल उठा। उसका हाथ तश्तरी की ओर बढ़ा। हाथ अभी आधी दूर भी न पहुँचा होगा कि वह एक डरावना स्वप्न देखे हुए मनुष्य की तरह चौंक पड़ा। उसने गर्दन ऊपर उठाकर कहा—'बाबू साहब, मैं तो मुसलमान हूँ।' बाबू साहब ने सुना। उनकी आँखें भी आप-से-आप उठ गईं। उन्होंने देखा बालक की आँखों में कितनी करुणा थी, कितना नैराश्य, कितनी याचना!

उन आँखों की शक्ति के आगे उनके हृदय को हार माननी पड़ी। उनको मुसलमानों से बहुत घृणा थी। उनके मत से मुसलमान अन्य सभी जातियों से गए बीते थे। संपर्क की तो बात क्या, उनकी छाया पड़ते ही उनका कहना था कि हिंदू अपवित्र हो जाता है। पर इस बार वे नाहीं न कर सके। उन्होंने कहा—'खा लो, मँज जायगी।'

बालक ने खाना शुरू कर दिया। उसने समझा उसके आगे मनुष्य नहीं देवता बैठा हुआ है। एक हिंदू अपनी तश्तरी में मुसलमान को खिलाए यह मनुष्य का नहीं, देवता का काम है।

(२)

जलपान के पश्चात् युवक ने अपना हाल इस प्रकार कहना आरंभ किया—"मैं एक बड़े जागीरदार का एकलौता लड़का हूँ। जब मेरी उम्र सिर्फ़ दस बरस की थी, मेरी माँ मर गई। मेरे लाड़-प्यार में किसी तरह की कमी नहीं हुई। मेरे अब्बा मुझे पहले से ज़्यादा प्यार करने लगे। इसीलिये मुझे माता के वियोग का कभी ध्यान भी न आया। धीरे-धीरे मेरी उम्र १२ साल की हुई। एक दिन मैंने सुना अब्बा का ब्याह होगा। मेरी ख़ुशी का ठिकाना न रहा, सोचा बड़ा मज़ा आएगा। धीरे-धीरे ब्याह का दिन आ पहुँचा। अब्बा दूल्हा बने, घोड़े पर चढ़े। मैंने भी अच्छे-अच्छे कपड़े पहने। बड़ी धूम धाम से बरात निकली। तीसरे दिन हम लोग एक डोला साथ लिए हुए लौट आए। मैंने समझा, मेरी माँ आ गई। पर जो समझा था उसका उल्टा हुआ। माँ के बजाय मैं अपने साथ एक राक्षसी को ले आया। उसके आते ही मेरी विपत्ति बढ़ने लगी। मेरे अब्बा का वह लाड़-प्यार सब काफ़ूर हो गया। घर में रहना मुश्किल हो गया। आख़िर जो सोच रक्खा था, वही हुआ। मेरी तक़दीर में राजा से फ़क़ीर बनना लिखा था, सो बनना ही पड़ा। कभी एक क़दम पैदल न चला था, सो कोसों चलना पड़ा। कभी मख़मली कपड़ों के सिवाय और कपड़े न पहने थे, सो फटी गुदड़ी भी पहननी पड़ी। यदि मेरी माँ ज़िंदा होती, तो क्या कभी ऐसा होता? कल से बग़ैर खाए पिए चल रहा हूँ। आज जब भूख के मारे बेचैन हो गया, तो आपके पास आ पहुँचा, वरना कब तक चला जाता, कहाँ तक चला जाता, इसका ठिकाना नहीं है। अब मैं आपकी शरण हूँ—मेरा कहीं ठिकाना लगा दीजिए, ताकि यह ज़िंदगी कट जाय।

बाबू साहब मन लगा कर बालक की दुःख भरी कहानी सुन रहे थे। अंतिम भाग सुनते ही उनकी आँखें सजल हो गईं। उन्होंने कहा—"तुम्हें कहीं जाने की ज़रूरत नहीं है, मेरे ही यहाँ रहो। जो कुछ रूखा-सूखा खुद खाऊँगा, तुम्हें भी खिलाऊँगा।"

उसी दिन से वह उनके यहाँ रहने लगा।

(३)

दो बरस बीत गए। बाबू श्यामकुमार के यहाँ कुछ भी परिवर्तन न हुआ। ऐसा मालूम होता था मानो कहीं भी कुछ परिवर्तन न हुआ हो।

एक दिन संध्या के समय उसी बगिया में बाबू श्यामकुमार और वही मुसलमान युवक बैठे हुए खेती के बारे में बातचीत कर रहे थे कि एकाएक आठ-दस सिपाही उनके चारों तरफ़ आकर खड़े हो गए। बाबू श्यामकिशोर ने डरते-डरते पूछा—आप लोगों का यहाँ क्या काम है?

सरदार ने युवक की ओर इशारा कर कहा,

'यह हुसेनगंज के जागीरदार साहब के बेटे हैं। हमें इन्हें अपने साथ ले जाने का हुक्म है।'

दो सिपाहियों ने युवक को उठाकर अपने बीच में कर लिया और चलने के लिये तैयार हुए। युवक ने रोकर कहा—'बाबूजी, मुझे भूल न जाइएगा।'

बाबू साहब ने आँसू पोंछते हुए कहा—'तुम घबराना मत। मैं भी तुम्हारे पीछे आता हूँ।'

(४)

कई दिनों बाद श्यामकुमार दक्खिन को रवाना हुए। हुसेनगंज रियासत में पहुँचे। देखा, चारों ओर जश्न हो रहा है। मकान सजे हुए हैं। रंग-रलियाँ मनाई जा रही हैं। जगह-जगह गाने-बजाने की धूम है। सलामियाँ दागी जा रही हैं। उन्होंने एक आदमी से उत्सव का कारण पूछा। उसने कहा—'हमारे नव्वाब साहब जन्नत-नशीन हो गए और उनके साहबज़ादे की राजगद्दी है।' बाबू साहब का मुँह खिल उठा। उन्होंने दोनों हाथ जोड़कर आकाश की ओर देखा। आँखों में दो बड़े-बड़े जल-बिंदु टपक पड़े। उसी सदुद्‌द् अवस्था में वह महल की ओर चल पड़े। वहाँ जाकर चोबदार से कहा—'इत्तिला कर दो, श्यामकुमार आया है।'

उसने कहा—'हुज़ूर इस वक्त दरबार में हैं। मैं नहीं जा सकता।'

बाबू साहब निराश हो गए। उन्हें इस समय एक-एक मिनट भारी मालूम हो रहा था। एकाएक उन्हें कुछ ख़याल आ गया। उन्होंने जेब से एक अशर्फ़ी निकालकर चोबदार के हाथ में रख दी। वह अंदर चला गया। थोड़ी देर में आकर बोला—'चलिए।' बाबू साहब काँपते-काँपते अंदर चले। धीरे-धीरे सिंहासन के पास पहुँचे। युवक इन्हें देखते ही तख़्त से उतर कर क़दमों पर गिर पड़ा। बाबू साहब उस समय बड़ी तेज़ी से काँप रहे थे। वे हत-बुद्धि से खड़े रहे। युवक उन्हें हाथ पकड़कर तख़्त के पास ले गया और बोला—'मेरे दूसरे अब्बा जान आप हैं। यह तख़्त आपका है, आप इस पर बैठिए।'

बाबू साहब की आँखों से अश्रु-धारा बह चली। यह दुख का रोना नहीं, सुख का रोना था। उन्होंने कहा—'बेटा! गद्दी तुम्हारी है, तुम्हीं उस पर बैठो।' आज उन्होंने पहली बार उसे 'बेटा' कहा था। पिता पुत्र का संबंध दृढ़ हो गया।

युवक ने उन्हें अपने दाहिने हाथवाली कुर्सी पर बैठाकर क़लमदान उनके आगे कर दिया और कहा—'मैं आपके कहने से सिर्फ़ गद्दी पर बैठा रहूँगा—पर राज आपका रहेगा, हुक्म भी आप ही का चलेगा। आज तक आपके सारे हुक्म सिर और आँखों से बजा लाने की कोशिश की है। अभी आप मुझे अपनी ज़बाने मुबारक से 'बेटा' कह चुके हैं, तो मेरी पहली अर्ज़ तो आपको क़बूल करनी ही पड़ेगी।'

अब कुछ कहने सुनने का समय नहीं था। जात पाँत और भेद-भाव के बंधन टूट चुके थे और शुद्ध प्रेम का समुद्र मौजें मार रहा था। पवित्र भावों से भरे हुए हृदय में ऐसे अलौकिक संबंध को चिरस्थायी बनाने के लिये श्यामकुमार को दीवानी का पद स्वीकार करते ही बन पड़ा। डबडबाई हुई नीची आँखों से क़लमदान हाथ में ले लिया और कुर्सी पर बैठ गए।

रामकुमार चौबे

× × ×

२. प्रण-पालन

एक राजा थे। उनका नाम था रुक्मांगद। वे बड़े न्यायी और प्रजापालक थे। प्रजा उनसे संतुष्ट रहा करती थी। उनके समान शूरवीर और धर्मात्मा राजा बहुत कम इस संसार में हुए हैं। वे स्वयं तो धर्मात्मा थे ही उनकी प्रजा भी धर्मात्मा थी। उनके राज्य में पाप नाम के लिये भी नहीं था। पराक्रम और धर्म की ओर उनकी विशेष रुचि देखकर देवताओं ने उनकी परीक्षा लेने की ठानी। एक दिन उन लोगों ने परीक्षा के लिये मोहिनी नामक स्वर्ग की एक अप्सरा को राजा के निकट भेजा। राजा उसे देखकर उसके रूप पर मोहित हो गए। उन्होंने उससे शादी करने का प्रस्ताव किया। मोहिनी ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। अब राजा बड़े फेर में पड़े। उसके रूप-लावण्य को देखकर उनका मन हाथों से निकल गया था।

फिर उन्होंने कहा—'हे सुंदरी, तुम हमारे यहाँ चलो। तुम जो कुछ कहोगी मैं सब कुछ करूँगा। मैं तुम्हारी सब कामनाओं को पूर्ण करूँगा।' ऐसा कहकर उन्होंने उस अप्सरा की ओर देखा। मोहिनी इस शर्त पर तैयार हो गई। राजा उसे घर ले आए और आनंद-पूर्वक उसके साथ दिन बिताने लगे।

एक दिन एकादशी थी। राजा रुक्मांगद ने एकादशी का व्रत रक्खा था। उसी दिन मोहिनी ने उनसे आकर कहा—"महाराज! मैंने अच्छे-अच्छे मिष्टान्न और भोजन तैयार किए हैं; चलिए दोनों आदमी मिलकर प्रीति-पूर्वक भोजन करें।" राजा ने कहा—"प्यारी! आज एकादशी का व्रत है। आज हम भोजन कैसे कर सकते हैं?" मोहिनी बोली—"महाराज! क्या यही आपका प्रण था? आपने तो कहा था कि तुम्हारी सभी मनोकामनाएँ हम पूरी करेंगे। मनोकामनाएँ पूरी करने की बात तो अभी अलग है; आपने मेरी एक साधारण सी प्रार्थना को भी एक मिट्टी के ढेले की भाँति ठुकरा दिया। क्या इसी बल पर आप धर्मात्मा और सत्यवादी बनते हैं? क्या यही आपकी धार्मिकता है? या तो आप अभी चलकर मेरे साथ भोजन करें या अपने प्यारे पुत्र का सिर काट के हमें दे दें।"

राजा बड़े असमंजस में पड़े। क्या करें बेचारे? इधर धर्म का ध्यान और उधर पुत्र का मोह। फिर वह मोहिनी से बोले—"हे देवि! तुम देखने में कोमल हो, परंतु तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है। तुम्हारे हृदय में हलाहल भरा हुआ है। यदि तुम्हें प्राण ही लेना है, तो मेरे प्राण हाज़िर हैं। तुम मेरा ही सीस क्यों नहीं माँग लेतीं? मेरा पुत्र सुकुमार है। वही एक-मात्र राज्याधिकारी है। तुम उस पर इतनी क्रोधित क्योंकर हो गई। मेरा पुत्र अल्पायु होने पर भी आज्ञाकारी है। वह अपना सिर देने में अपना गौरव समझेगा। परंतु हाय! मैं अपने ही हाथों से पुत्र की हत्या कैसे कर सकूँगा। एकादशी के दिन तो स्वजनों का रक्त देखना भी पाप है। परंतु आज मुझे अपने ही हाथों से प्रिय पुत्र का सिर धड़ से जुदा करना पड़ेगा। हाय-हाय! क्या मेरे भाग्य में यही लिखा था? हे भगवन्! मैंने कौन सा अपराध किया है, जो मुझे ऐसा कठिन दंड मिल रहा है? मृत्यु! तू तो प्रतिदिन हज़ारों और लाखों मनुष्यों का कलेवा कर जाती है और आज बुलाने पर भी नहीं आती!"

राजा इसी प्रकार विलाप करते-करते बेहोश हो गए।

बात बढ़ते-बढ़ते फैल गई। सभी इस बात को जान गए। जब कुमार को यह ख़बर मिली, तो उनके आनंद की सीमा न रही। उन्हें यह सोचकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वह सिर आज पूज्य पिताजी के काम आवेगा। आज कितने बालक हैं, जो अपने पिता के प्रति इस प्रकार के भाव रखते हैं? बालको! इससे तुम भी कुछ पितृ-भक्ति का पाठ सीख सकते हो।

अस्तु, राजा खड्ग लेकर तैयार हो गए। उनका पुत्र अपना सिर देने के लिये उनके आगे खड़ा हो गया। बालक की माँ एक ओर यह दृश्य देखकर मूर्च्छित हो रही है; पर चूँ भी नहीं करती। एक तरफ़ निष्ठुरा मोहिनी खड़ी हुई अब भी विष उगल रही है। उसने कहा—"राजन्! अब देर क्यों है? शुभ काम में देर करना अच्छा नहीं। आप फिर भी धर्म से विचलित होना चाहते हैं? यदि आपका हृदय इतना कमज़ोर है, तो फिर आपने ऐसा प्रण ही क्यों किया था?" राजा को विकल देखकर कुमार ने कहा—"पिता! दुखी होने की कौन-सी बात है? इस संसार में कोई भी जीने के लिये नहीं आता—सभी एक-न-एक दिन मर-ही जायँगे। फिर इसके लिये चिंता क्यों? धर्म की रक्षा कीजिए। मेरा सिर काटकर आज आप दिखा दें कि धर्म ही सब कुछ है—धर्म के आगे इस संसार में परिवार, नाता आदि कुछ भी नहीं है।" ऐसा कहकर कुमार ने अपना सिर झुका दिया। राजा रुक्मांगद भी हृदय को कड़ा करके पुत्र-वध करने को तैयार हो गए। ज्यों ही उन्होंने वार करने के लिये तलवार को ऊँचा किया, त्यों-ही भगवान् ने स्वयं प्रकट होकर उनका हाथ थाम लिया। राजा रुक्मांगद परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए।

जगन्नाथप्रसादसिंह

× × ×

३. मोहन की मुरली *

मोहन मुरली बजा रहा है,
नाच रहा है कैसा मोर;
दोनों हैं अपने को भूले,
मानो नहीं पा रहे छोर।
पूत-प्रेम-परिपूरित जननी,
खड़ी देखती उनकी ओर;
लेती मानो कठिन परीक्षा,
कौन चतुर मानस का चोर।

"भक्त"

× × ×

४. श्यामा की गुड़िया

श्यामा लिए हुए है गुड़िया;
मानों है जादू की पुड़िया।
इससे वह खेला करती है;
सब लोगों का मन हरती है।
कभी सेज पर उसे सुलाती;
कभी प्रेम से पास बुलाती।
षट्रस व्यंजन पका खिलाती;
दूध दही घी कभी पिलाती।
'छोटी बहन' उसे कहती है;
सदा पास उसके रहती है।
नए-नए कपड़े पहनाती;
नित्य नए गहने बनवाती।
नहीं किसी को छूने देती;
जीवित-सी है उसको सेती।
माला हाथों में पकड़ाकर;
कहती खोजो मन चाहा वर।
जब श्यामू गुड्डा लाता है;
श्यामा के मन अति भाता है।
कहता श्यामू, सुन लो श्यामा;
गुड्डे की है गुड़िया बामा।

जीवनराम

* मेरे अप्रकाशित "भाग्य-गाथा" से।—लेखक।

१. रेडियो सफ़री टेलीफ़ोन

अमेरिका के सेना-विभाग ने एक सफ़री टेलीफ़ोन का आविष्कार किया है। इस टेलीफ़ोन को किसी मोटर या घोड़ागाड़ी पर रख लेने से चलती गाड़ी पर १०-१५ मील की दूरी से बातचीत कर सकते हैं। इस टेलीफोन में तार नहीं लगे है, केवल वायु द्वारा वार्तालाप किया जाता है। बैटरी और तार आदि मिलाकर इसका वज़न सब १५ सेर होता है। इसमें ६ वोल्ट की संचित बैटरी लगाई जाती है। यह रेडियो अर्थात बेतार का टेलीफ़ोन मोटरगाड़ी, मोटर-साइकिल, वन, पर्वत एवं ग्रामों में रहनेवालों के लिये अति उपयोगी है और जो लोग शहरों से १०-१५ मील की दूरी पर रहते हैं उनके लिये भी विशेष लाभदायक है। मालूम होता है, इस रेडियो टेलीफ़ोन के आविष्कार और प्रचार से नगर और ग्राम एक हो जायँगे!
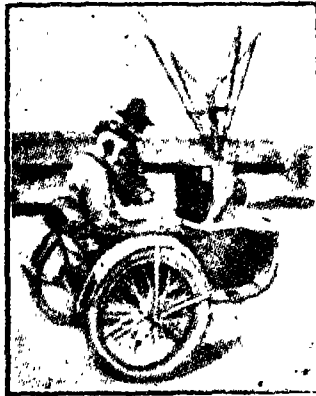
मोटरसाइकिल पर रेडियो टेली-फ़ोन लगा हुआ है

दूसरे चित्र में पाठक देखेंगे कि मोटर साइकिल की बगली गाड़ी पर उपर्युक्त रेडियो टेलीफ़ोन लगा हुआ है और उस पर बैठे हुए एक सज्जन वार्तालाप कर रहे हैं। इस बेतार के टेलीफ़ोन में शब्द पकड़नेवाले तार छतरी की तीली की तरह खड़े रहते हैं और जब काम न लेना हो, इन तारों को समेटकर बंद कर सकते हैं। इस यंत्र के द्वारा ४० मील फ़ी घंटा चलनेवाली मोटर से भी बातचीत की जा सकती है।

× × ×

२. माल ढोनेवाला वायुयान

रेलगाड़ी की तरह वायुयान भी तीन प्रकार के होते हैं। एक वह जो डाकगाड़ी की तरह तेज़ चलते हैं, दूसरे वह जो मुसाफ़िरगाड़ी की तरह मध्यम चाल से चलते हैं। ये दो

माल ढोनेवाला वायुयान

प्रकार के वायुयान तो बहुत दिनों से प्रचलित हैं, पर अब एक तीसरे प्रकार का वायुयान भी तैयार हो गया है, जो माल लादने के काम में आता है। यह मालगाड़ी की तरह चाल में भी सुस्त है। माल ढोनेवाले वायुयानों में सबसे अच्छा पक्षी की आकृति का वायुयान है, जिसका चित्र दिया गया है। यह वायुयान १४६ फ़ीट चौड़ा, ८४ फ़ीट लंबा और २२ फ़ीट ऊँचा है। इसमें ४ टन बोझा लादा जा सकता है, जो अन्य माल ढोनेवाले वायुयानों से ३५ प्रतिशत अधिक है। कुल मशीन २४,००० पौंड भारी है। यह वायुयान एक घंटे में ७२ मील चलता और एक मिनट में ४१० फ़ीट ऊँचा चढ़ सकता है, परंतु साधारणतः ४० फ़ीट प्रति मिनट ऊँचा चढ़ता है।

× × ×

३. इच्छा-शक्ति को प्रबलता

इच्छा व संकल्प-शक्ति की विलक्षणता भारतवासियों के लिये कोई विस्मय-जनक बात नहीं है। भारतवासियों का विश्वास है कि आत्मोन्नति की उच्च अवस्था पर पहुँचने से मनुष्य सत्य-काम और सत्य-संकल्प हो जाता है—जिस वस्तु की कामना करता है, वह उपस्थित हो जाती है और जो संकल्प करता है, वह सत्य हो जाता है। मंत्र-शास्त्र एक प्रकार से संकल्प-शक्ति का ही विस्तार है। योगीजन यहाँ हठयोग के द्वारा भी इस शक्ति को प्राप्त करने की चेष्टा किया करते हैं; परंतु इच्छा-शक्ति को प्रबल करके रुपया किस प्रकार कमाया जा सकता है, इसे एक प्रसिद्ध अमेरिकन पेलटन साहब ने प्रत्यक्ष सिद्ध करके दिखा दिया है। पेलटन साहब ने इच्छा-शक्ति को प्रबल बनाने के लिये कुछ चुटकुले लिखे हैं, जिन्हें एक पुस्तक-रूप में उन्होंने छाप दिया है। इन चुटकुलों के अनुसार कार्य करने से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आमदनी बढ़ा सकता है, ग़रीब अमीर बन सकता है। पेलटन साहब ने विज्ञापन दिया है कि यदि उनकी पुस्तक में लिखे अनुसार कार्य करने से मनुष्य की आय न बढ़े, तो वह ख़रीदार को पुस्तक के दाम वापस कर देंगे।

× × ×

४. सुरंग रेलवे पर मोटर की सड़क

भारतवर्ष में भी अनेक स्थानों पर पहाड़ों को काटकर उनके भीतर से रेल निकाली गई है, परंतु जर्मनी में एक सुरंग रेलवे है, जो पहाड़ और धरती के भीतर ही चलती है। जर्मनीवालों ने इस सुरंग रेलवे की छत पर एक
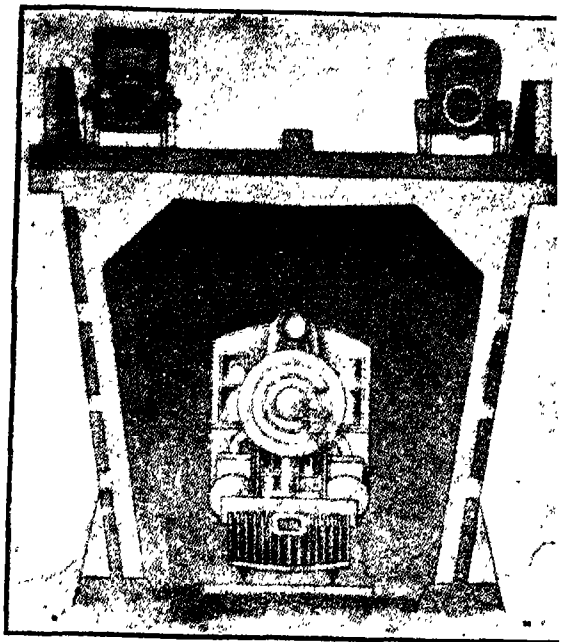
सुरंग के भीतर बिजली की रेल, और सुरंग की छत के ऊपर मोटरें दौड़ रही हैं

ऐसी सड़क बनाई है जिसके नीचे बिजली की रेल चलती और ऊपर छत पर मोटरें। ऊपर की सड़क तारकोल से बनाई गई है, जो ख़ूब चिकनी है और उस पर मोटरें बहुत तेज़ी से दौड़ती हैं। इस सड़क पर चलने से पहाड़ों के ऊँचे-नीचे रास्ते और मोड़ों से मोटर की रक्षा होती है।

× × ×

५. बाइसिकिल में बग़ली गाड़ी

प्रायः बाइसिकिल पर सवार होनेवाले लोग अपने साथ आगे या पीछे कोई बच्चा भी बिठा लिया करते हैं और

बाइसिकिल में बग़ली गाड़ी

मेला-ठेला दिखाने ले आया करते हैं। लेकिन यह बड़ा जोखिम का काम है। इस जोखिम को दूर करने के लिये अमेरिका के एक किसान ने बाइसिकिल की बग़ल में एक पहिया लगाकर छोटा-सा साइडकार बनाया है, जिस पर बच्चा आराम से बैठकर सैर कर सकता है। चित्र में यही साइडकार और बच्चा दिखाया गया है।

× × ×

६. बच्चों और बीमारों की इलेक्ट्रिक ऑटो गाड़ी

उन्नतिशील देशों का क्या कहना है। सांसारिक सुविधाओं और मानव-जीवन को सुखमय बनाने के लिये नित

इलेक्ट्रिक ऑटो गाड़ी

नए आविष्कार हो रहे हैं। हमारा यह लोक दुखमय है और सुख भोगने की कामना से हम लोग इस जीवन के अंत में देवलोक या स्वर्ग में पहुँचने का उपाय करना अपने जीवन का महान् कर्तव्य समझते हैं। किंतु पाश्चात्य देशों के वासी हमारे उस काल्पनिक स्वर्ग-सुख को इस धरतीपर क्षणभंगुर जीवन में ही भोगने की चेष्टा में लगे रहते हैं। उनके भाँति-भाँति के वैज्ञानिक आविष्कार इस बात के पर्याप्त उदाहरण हैं। अभी हाल में उन्होंने एक ऐसी गाड़ी बनाई है, जिस पर बैठकर बच्चे स्त्रियाँ, रोग-दुर्बल, पंगु और अपाहिज लोग भी अपना काम शहर में कर आ सकते हैं। इस गाड़ी में वे दस मील का चक्कर सुगमता से लगा सकते हैं। इस गाड़ी की विशेषता यह है कि इसमें तेल या पेट्रोल की आवश्यकता नहीं, न इसमें घड़घड़-खड़खड़ शब्द है और न मोड़-घुमाव में कोई रुकावट। इसमें अधिक पुर्ज़े भी नहीं हैं, जिससे इसमें टूटने-फूटने और बिगड़ने का भी भय नहीं है। इसके पहियों पर ठोस रबड़ चढ़ा होता है। यह छोटी इतनी है कि घर के किसी भी कोने में रक्खी जा सकती है, इसके लिये गाड़ीख़ाने की ज़रूरत नहीं। इसके पहिए १२ इंच ऊँचे होते हैं। इसकी लंबाई ४ फ़ीट, चौड़ाई २२ इंच और ऊँचाई २० इंच होती है। यह बिजली की बैटरी से चलती है। यह बैटरी घरों में लगे हुए रोशनीवाले तारों में छुआ देने से तैयार हो जाती है और इसकी शक्ति से ४ से १० मील प्रति घंटे की चाल यह चलती है। इस धीमी चाल के कारण रास्ते में किसी से लड़ने या टकराने की भी संभावना नहीं है। पहियों में ठोस रबड़ चढ़ा होने के कारण पंचर भी नहीं होता और मंद-गति होने के कारण सरकार से लाइसेंस लेने की भी आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यह कि यह गाड़ी अत्यंत उपयोगी है।

× × ×

७. पक्षी की आकृति का उड़नखटोला

बहुत काल से मनुष्यों की यह इच्छा रही है कि वे पक्षियों की तरह अपने शरीर में भी कृत्रिम पर लगा लें और जिस तरह चिड़ियाँ अपने डैने हिलाकर उड़ जाती हैं, वैसे ही मनुष्य भी उन कृत्रिम परों को हिलाकर आकाश में यथेच्छ उड़ जाया करें। यद्यपि वैज्ञानिकों के प्रशंसनीय

पक्षी की आकृति का उड़नखटोला

परिश्रम से आज नाना प्रकार के वायुयान बन गए हैं, जो आकाश में पक्षी की तरह उड़ते हैं, किंतु आजतक पर लगाकर कोई मनुष्य आकाश में नहीं उड़ा। हारियस ग्रीन ने यह प्रयत्न किया था, पर सफलता नहीं हुई। उनके बाद मालूम होता था, यह विचार शिथिल हो गया; किंतु ऐसा नहीं हुआ। अब तक लोग पर लगाकर उड़ने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। अभी थोड़े दिन हुए, एक जर्मन-कारीगर ने एक परदार उड़नखटोला बनाया है, जो पक्षी की आकृति का है। इसका चित्र दिया गया है। इस उड़नखटोले के द्वारा मनुष्य प्रति घंटा १५ से २० मील की गति से उड़ सकता है। इसके पंख २३ फ़ीट ६ इंच लंबे हैं, जो पक्षियों के पंखों की तरह नीचे-ऊपर हिलते रहते हैं। इसके पुर्ज़े आलमोनियम धातु के बने हैं और इसका वज़न कुल २३ सेर है।

× × ×

८. सुई तेज़ करने का यंत्र

फ़ोनोग्राफ़ बजानेवाले रेकर्ड बदलने के पहले सुई भी बदलकर नई लगा देते हैं और पुरानी सुई को रद्दी कर देते हैं, क्योंकि उसकी नोक एक बार चलने से घिस जाती है। इसलिये सुई का बड़ा भारी ख़र्च है। इस ख़र्च को कम करने के लिये एक नया पुर्ज़ा बनाया गया है, जो सुई को फ़ोनोग्राफ़ के चक्कर में घूमने के साथ ही पुरानी घिसी नोक को भी तेज़ कर देता है।

सुई तेज़ करने का यंत्र

× × ×

९. रेकर्ड ढालने की मशीन

जो लोग फ़ोनोग्राफ़ बाजा बजाते हैं, उन्हें मालूम है कि फ़ोनोग्राफ़ की गानाभरी काली प्लेटें कुछ काल में घिस-कर बेकार हो जाती हैं। उन प्लेटों को तोड़कर फिर से ढालने के लिये प्रयत्न किया गया। एक यंत्र तैयार हो गया है, जिसका चित्र दिया जाता है। प्लेट को गलाकर इस मशीन में ढालने से फिर नई प्लेट बन आती है, जिसमें नया गाना भर सकते हैं। यह व्यवसाय भी लाभदायक है।
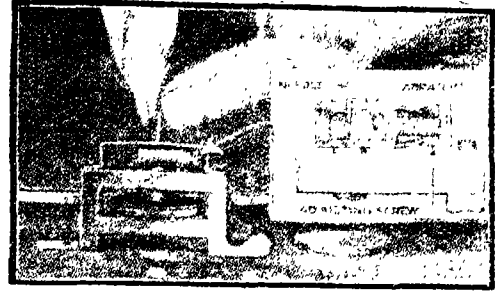
रेकर्ड ढालने की मशीन

× × ×

१०. गैस-पिस्तौल

योरप में जब से पिस्तौल का प्रचार हुआ है, तभी से चोर, बदमाश और लुटेरों ने लोगों को पिस्तौल से धमकाकर माल लूट लेने का एक नया पेशा भी अख़्तियार कर लिया है। ऐसे लोगों को पकड़ने के लिये फ्रांस की पुलीस ने एक ऐसा पिस्तौल बनाया है, जो चोर डाकू को सिर्फ़ बेहोश या कुछ देर के लिये अंधा कर देता है, जिससे उसका तमंचा बेकार हो जाता और वह पकड़ लिया जाता है। महायुद्ध के समय जर्मन ने फ्रांसीसी सिपाहियों की गोली के बदले गैस की पिचकारी मारकर उन्हें अंधा या बेहोश किया था। अब फ्रांस में भी तरह-तरह के गैस
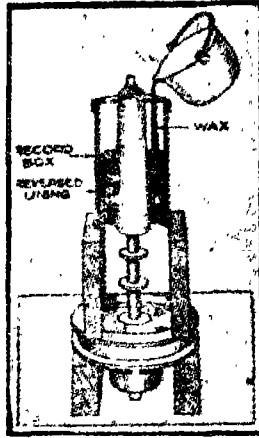
गैस-पिस्तौल

प्रकार का गैस एक लट्टूदार पिचकारी से गैस-पिस्तौल की डंडी में भर दिया जाता है, जो घोड़ा गिराने से एकदम दस फ़ीट तक की दूरी पर गैस की धारा बहा देता है। इस धुएँ के आँख और मुँह में पहुँचते ही मनुष्य कुछ काल के लिये अंधा और बेहोश हो जाता है।

× × ×

११. सुरंग खोदनेवाली मशीन

कुछ लोगों का विचार है कि रेलगाड़ी की सड़क पृथ्वी-तल के एक बड़े भाग को व्यर्थ बना देती है, जिससे खेती की हानि होती है और कहीं-कहीं शहरों का रास्ता ख़राब हो जाता है। इसके सिवा ज़मीन की तंगी के कारण एक ही सड़क पर आगे-पीछे जानेवाली गाड़ियाँ कभी-कभी आपस में टकराकर टूट भी जाती हैं और मनुष्यों की जान जाती है। इसलिये आवश्यकता प्रतीत हुई कि रेलगाड़ियाँ भूमि के नीचे दौड़ाई जायँ। यद्यपि धरती के भीतर हज़ारों कोस तक सुरंग खोदना बहुत कठिन काम था, परंतु वैज्ञानिकों के अनवरत उद्योग से यह कठिनता भी दूर हो गई। आज कल एक ऐसी मशीन बन गई है, जो धरती में
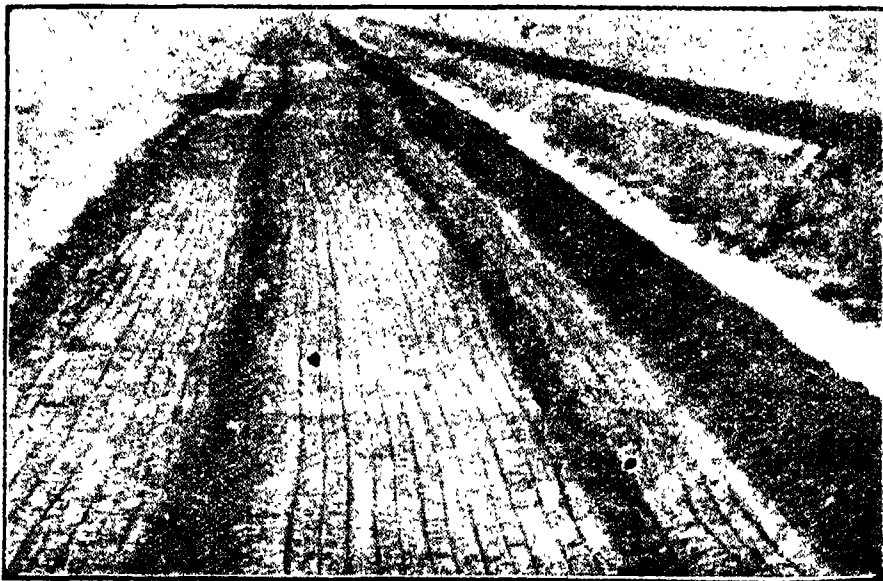
सुरंग खोदनेवाली मशीन का चौरस रास्ता

तैयार हो गए हैं, जो मनुष्य को रुला-रुलाकर या हँसा-हँसाकर या दम घोटकर या आँख पर परदा डालकर हैरान, परेशान, बेहोश या बेकाम कर सकते हैं। इसी

घुसकर चूहे की तरह १० टन मिट्टी एक दिन में काटकर रेलगाड़ी के गुज़रने लायक़ सुरंग खोद डालती है। इस सुरंग में बिजली की रोशनी करके मिट्टी बाहर फेंक दी

जाती है और ज़मीन बराबर करके सड़क बनाई जाती है। सुरंग खोदनेवाली मशीन का जो चित्र ऊपर दिया गया है, उसमें आगे का भाग वह पेंच है, जो घूमकर मिट्टी या पत्थर को चूरा बनाकर फेंक देता है और पीछे का भाग वह गाड़ी है, जो इंजन से चलती है। मिट्टी खोदने का पेंच भी इस गाड़ी में लगा होता है। दूसरे चित्र में वह रास्ता दिखाया गया है, जो इस मशीन के द्वारा बनकर तैयार होता है।

× × ×

१२. चलता-फिरता कारख़ाना

संसार में ज्यों-ज्यों मशीनों का उपयोग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनके टूट-फूट का मरम्मती काम भी बढ़ता जाता है। प्रत्येक घर और कारख़ाने में बहुत-सी ऐसी टूटी-फूटी वस्तुएँ, मशीनें, पुर्ज़े इत्यादि पड़े रहते हैं, जिनके बनाने, सुधारने या मरम्मत करने की आवश्यकता रहती है, परंतु उनको बाज़ार, दूकान या कारख़ाने तक ले जानेवाला कोई नहीं होता। प्रायः मरम्मती काम की दूकान घरों से इतनी दूर होती है कि चीज़ बनवाने की नौबत ही नहीं आती। इन सब आवश्यकताओं का अनुभव करके कैलीफ़ोरनिया (अमेरिका) के मिस्त्री ने एक नया काम जारी किया है। उसने एक मोटर के ढाँचे पर एक कारख़ाना बनाया है, जिस पर आवश्यकता के अनुसार पेंच बनाने, लकड़ी-लोहा छीलने, छेदने, साफ़ करने, लोहा, पीतल आदि गलाने के लिये भट्टी और सब छोटे-बड़े औज़ार सजाकर रख लिए हैं। इस कारख़ाने को लेकर वह शहरों के मोहल्लों और गाँवों में जाकर मरम्मत का काम करता है। शहर से दूर रहनेवाले लोग इस चलते-फिरते कारख़ाने से बहुत प्रसन्न हैं। मिस्त्री के लिये हर जगह काम का ढेर रहता है और उसे काफ़ी आमदनी है। जिस गाड़ी का चित्र ऊपर दिया गया है, उसमें यह कारख़ाना बंद है और इधर-उधर मोटे-मोटे अक्षरों में इस चलते-फिरते कारख़ाने का नाम लिखा है। यह मोटरगाड़ी जगह-जगह घूमती है और जहाँ आवश्यकता होती है, खोलकर काम होने लगता है। जब काम करना होता है, तो उसके परदे उठा दिए जाते हैं और उसके भीतर कारख़ाने के पट्टे और पहिए चलते हुए दिखाई देते हैं। इस तरह के चलते-फिरते कारख़ानों की इस देश में भी आवश्यकता है, जहाँ तमाम मशीनें टूट कर सड़ जाती हैं, परंतु उनका मरम्मत करनेवाला नहीं मिलता। इस कारख़ाने का मशीन मोटर के इंजिन से चलती है, जो कि मोटर चलाता है। इसी प्रकार अमेरिका में एक मनुष्य ठेलागाड़ी पर इंजिन और आरे रखकर घूमता है, और घर-घर जाकर जलाने की लकड़ी चीरकर २० या २५ रुपया रोज़ सुगमता से कमा लेता है। ये औज़ार गाड़ी-सहित मोल भी बिकते हैं। जिस किसी को स्वतंत्र जीवन का शौक़ हो, वह इसी प्रकार के ढंगों से इस देश में भी कार्य कर सकता है।

चलता-फिरता कारख़ाना

चलते-फिरते कारख़ाने पर काम हो रहा है

× × ×

१३. मछली का नया उपयोग

उत्तरी समुद्र के निकटवर्ती देशों में मछली बहुत होती है। वहाँ से जहाज़ों में भरकर मछली योरप और अमेरिका में जाती है। लेकिन इस आने-जाने में मछली में ताज़ापन नहीं रहता। इसलिये बहुत दिनों से प्रयत्न किया जा रहा था कि किसी तरह सूखी मछली को ताज़ी मछली का स्वाद दे दिया जाय। अब विद्युत्-शक्ति के प्रभाव से यह बात भी संभव हो गई है। बिजली के ज़ोर से गरम हवा में जो मछली सुखा ली जाती है, वह बरसों रखने पर भी नहीं बिगड़ती और आश्चर्य तो यह है कि तीन दिन तक पानी में भिगोने से वह मछली

बिलकुल ताज़ी मछली का स्वाद देती है। इस सूखी हुई मछली का आटा भी पीस कर बेचा जाता है। अब मछली खानेवालों को बड़ा आराम हो जायगा!

× × ×

१४. हाथ देखकर मुलज़िम की पहचान

अभी तक अँगूठे के निशान से मुलज़िम पहचाना जाता था और अँगूठे की छाप हस्ताक्षर से भी अधिक प्रामाणिक समझी जाती थी, परंतु अब एक्सरेज़ के द्वारा हाथ के पंजे की उँगलियाँ देखकर हड्डी की बनावट से मुलज़िम का पता लगाया जायगा। क्योंकि अनुभव से सिद्ध हुआ है कि हड्डी की गठन का फ़ोटोग्राफ़ मुलज़िम के असली होने का पूरा सबूत देता है। पाँच हज़ार हाथों के फ़ोटो एक्सरेज़ द्वारा लेकर सिद्ध किया गया है कि हड्डी की रचना की पहचान अँगूठे की छाप से कहीं अधिक प्रामाणिक है।

× × ×

१५. मोटरगाड़ी से जल खींचना

विस्कानसिन के किसानों ने घर के काम के लिये पानी खींचने की एक नई तरकीब निकाली है। वह यह है कि मोटरगाड़ी के पिछले पहिए में क्लैंप (सँगसी) बाँधकर उसको लकड़ी द्वारा कुएँ के पंप से मिलाया गया है, जैसा कि चित्र मे प्रकट है। पहिए के घूमने से पंप द्वारा पानी ऊपर एक चौखूटे कूँडे में भर जाता है। इस तरह थोड़ी देर में घर के कामों के लिये पानी भर लिया जाता है और गाड़ी को कोई नुक़सान नहीं पहुँचता। अब दूसरे किसान
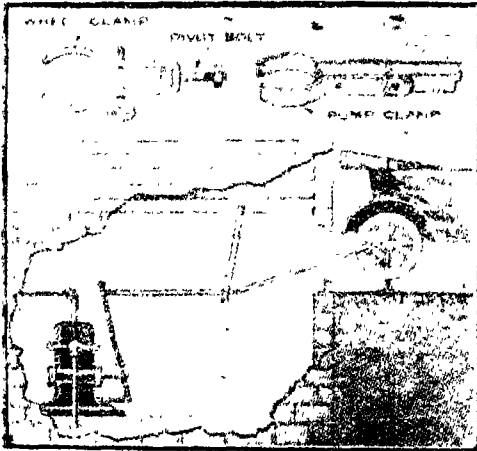
मोटरगाड़ी से जल खींचना

यह सोच रहे हैं कि मोटर के पहिए से वह प्रतिदिन चारा काट लें और आटा भी पीस लिया करें, तो बहुत अच्छा हो।

× × ×

१६. मोटर साइकिल का नया साइडकार

अमेरिका के एक शिकारी ने अपनी मोटर साइकिल में साइडकार की जगह एक किश्ती लगा ली है। जिस पर अपनी स्त्री को बिठाकर वह प्रतिदिन नदी पर जाकर किश्ती द्वारा पानी की सैर करता और फिर लौटकर किश्ती साइकिल पर रख लेता है। चित्र नं० १ में यह किश्ती

मोटर साइकिल पर किश्ती नं० १

साइडकार के स्थान में साइकिल के साथ बँधी है। यह देखकर एक अँगरेज़ ने दूसरी लंबी किश्ती बनाई है, जिसमें वह अपनी स्त्री के सिवा दो अन्य मित्रों को भी बिठा
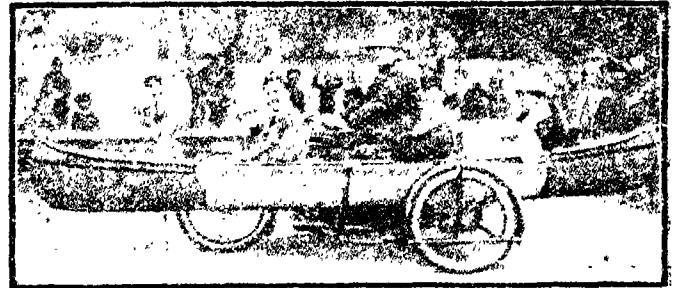
मोटर साइकिल पर किश्ती नं० २

सकता है। इस किश्ती को साइडकार के स्थान पर लगाकर वह नदी या झील तक जाता है और किश्ती अपने साथ नित्य वापस लाता है। चित्र नं० २ में यह दिखाया गया है कि एक मोटर साइकिल में चार आदमी उसी प्रकार बैठ सकते हैं।

महेशचरणसिंह

१- नवयुवतियों को संदेश

जो आज का बच्चा है, वही कल का नागरिक होगा, यह एक प्रसिद्ध कहावत है। जो आजकल के नवयुवक और नवयुवतियाँ हैं, उन्हीं के हाथ में भारतवर्ष की बागडोर है। भारत के राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में इन वर्षों में एक बड़े भीषण विप्लव की संभावना है। उसी काया-पलट और परिवर्तन के लिये हमें एक भूमि तैयार करनी है। यह बात सिद्ध है कि स्त्रियों का भाग इस विषय में विशेष होगा, और इस छोटे-से लेख में मुझे केवल नवयुवतियों के कर्तव्यों का ही विवेचना करना है।

प्रत्येक देशभक्त और सच्चे नागरिक के लिये अपनी मातृभूमि का अगाध प्रेम, अपनी जाति के लिये सेवा का भाव, और अपने भ्रातृ-बांधवों के लिये श्रद्धा और भक्ति होना एक आवश्यक और अमूल्य अंग है। अपने को एक विशाल देश का, जिसने संसार को समय-समय पर ज्ञान दिया, जिसको एक प्राचीन सभ्यता का गर्व है, एक सदस्य समझो। हर समय इस बात का प्रयत्न करो कि तुम्हारा यह प्यारा देश फूले और फले, और जिस प्रकार अन्य देशों ने उन्नति की है, तुम्हारा गौरवान्वित देश भी उसी प्रकार उन्नति के शिखर पर पहुँचकर फिर अपनी प्राचीन योग्यता प्राप्त कर ले।

आजकल की नवयुवतियो! तुम्हारे ऊपर इसका भार सबसे अधिक है। तुम कल की माताएँ हो, और तुम्हारे गर्भ से निकले हुए बालक और बालिकाएँ ही इस पवित्र भूमि का उद्धार करेंगी। इसलिये तुम अभी से ऐसी शिक्षाएँ ग्रहण करो, जिससे तुम अपने होनेवाले बच्चों को ठीक मार्ग पर लाने के योग्य हो सको। बालकपन में बच्चों की जो आदतें पड़ जाती हैं, वह जन्म-भर उनका साथ नहीं छोड़तीं, और यदि तुम यह चाहती हो कि तुम्हारे बच्चे भारतवर्ष ऐसे देश के नाम को ऊँचा करें, तो उन्हें उसके लिये यथोचित रूप से तैयार करो। हरएक पुरुष और स्त्री के सभी कुटुंबों का उत्तरदायित्व उसकी माता और उससे कुछ कम उसके पिता पर है। माता के गर्भ से ही शिशु उसकी सारी आदतों को धीरे-धीरे ग्रहण कर लेता है, और फिर उसकी गोद में खेलते-खेलते उन्हीं आदतों की पुष्टि हो जाती है। शिशु ही उसके जीवन का सार है। पिता और घर के अन्य सदस्यों का प्रभाव पड़ता अवश्य है; पर बहुत कम। माता के आचरण का प्रभाव बालक में सर्वदा देखा गया है।

अपने को त्यागमूर्ति बनाओ। देश और जाति के ऊपर न्यौछावर होने के लिये सदैव तत्पर रहो और अपने बालकों को इसी त्याग का पाठ पढ़ाओ। बालकों की प्रारंभिक शिक्षा एक बड़ी टेढ़ी चीज़ है। उनकी प्रारंभिक शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो उनके आचरण को एक आदर्श बना सके। सबसे पहले उनको अपने देश के वीरों के वृत्तांतों

से परिचित कराओ। उनके हृदय पर यह भाव अंकित कर दो कि उनके पूर्वजों ने संसार को एक ऊँचा आदर्श दिखाया था। उसके साथ-साथ कुछ धार्मिक शिक्षा भी अत्यंत आवश्यक है। आधुनिक काल में, जब भारतवर्ष एक दरिद्र देश रह गया है, वेदांत का प्राचीन धार्मिक आदर्श ही इसका सबसे बड़ा और मूल्यवान् ख़ज़ाना है। हमें इस अवस्था में भी गर्व है कि हममें धार्मिक नीति संसार की समस्त जातियों से अधिक अब भी शेष है, और हमारे वैदिक धर्म ने संसार के सारे बड़े-बड़े धर्म-मतों को ज्ञान दिया। बालकों को उनके प्राचीन धार्मिक गौरव का ज्ञान एक आवश्यक अंग है।

मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा पारिवारिक जीवन एक आदर्श पारिवारिक जीवन हो—ऐसा जीवन, जिसमें परिवार का प्रत्येक प्राणी उस स्नेह और विश्वास से रह सके, जो होना चाहिए। आजकल व्यक्तिगत-स्वतंत्रता का भाव बहुत फैल रहा है, और यह बहुत हानिकारक पद्धति है। संसार में प्रत्येक प्राणी में कुछ-न-कुछ कमी है, और वह उस कमी को पूरी करने के लिये दूसरे का मुँह ताकता है। जिस आज्ञा पालन के भाव से श्रीरामचंद्र ने १४ वर्ष वन में बिताए, जिस कर्तव्य के भाव के कारण सीता वन में राम के साथ रहीं, और जलती चिता में कूद पड़ीं। मीराबाई वनों-वनों गाती फिरीं। खेद है, उसी भाव की आजकल कमी है। तुम्हारा धर्म है कि तुम उन परिवार-बंधनों को जो शिथिल हो गए हैं, फिर उतना ही पुष्ट करने का भरसक प्रयत्न करो। संसार की राजनैतिक काया-पलटों से बिलकुल अनभिज्ञ न रहो। यह मत समझो कि तुम्हारा जीवन केवल बच्चों का उलटा-सीधा पालन-पोषण करने, भोजन बनाने और घर का हिसाब-किताब रखने का है, और राजनीति-जैसे गूढ़ विषय पुरुषों के लिये ही हैं। स्त्री और पुरुषों के मनोभावों में बड़ा अंतर है। दोनों एक दूसरे के सहकारी हैं, और कोई भी एक प्राणी दोनों के कर्मों को भली भाँति संपादन नहीं कर सकता।

राजनैतिक विषयों का पूरा ज्ञान संसार के आधुनिक काल में केवल आवश्यक नहीं, पर अनिवार्य है। हमें देखना है कि संसार के और देशों की अपेक्षा हमारे अपने देश का क्या स्थान है। हमारे देश के लोगों का और देशों में किस प्रकार सम्मान अथवा अपमान होता है। हमारे देश के व्यापार इत्यादि की क्या अवस्था है और अन्य देश किन-किन विषयों में हमसे बढ़ रहे हैं। फिर इन सब बातों को विचार-कर हम निर्णय कर सकेंगे कि उन बातों को, जो हमारी समझ में हमारे देश में कम हैं, किस प्रकार पूरा कर सकें।

मुरारीलाल सिनहा

× × ×

२. भारत के नारी-समाज में वैवाहिक जीवन

भारतवर्ष में स्त्री-पुरुष के बीच वैवाहिक संबंध-स्थापना बड़ा ही मूल्य रखती है। जिन नियमों और सद्विचारों से प्रेरित होकर महर्षियों ने, इस प्रथा का श्रीगणेश किया था, वह जगत्कार्य संचालन, ईश्वरीय सृष्टि रचनात्मक महत् उद्देश्य-पूर्ण करने तथा मानवीय जीवन को सरस, उत्फुल्लित एवं सारगर्भित बनाने में शरीर और जीव का-सा सहयोग देती है। यद्यपि अज्ञान-तिमिराछन्न-रूढ़ियों ने दूसरा ही रूप धारण कर लिया है, तथापि जब किसी आदर्श दंपति का उदाहरण हमारे सामने आ जाता है, तो हम उसकी प्रशंसा करती हुई सिहर उठती हैं। अपने विषैले जीवन के लिये स्त्री-पुरुष को और पुरुष-स्त्री को दोषी ठहराने लगते हैं। परंतु इस ओर ज़रा भी ध्यान देने का कष्ट नहीं उठाते कि वे कौन-से कारण हैं, जिनके द्वारा यह दुःखद समस्या उपस्थित होती है? विवाह इसीलिये किया जाता है कि दो प्राणियों की प्रेम-तंत्रियाँ एक स्वर, एक राग और एक लय के साथ झंकरित हों। एक उद्देश्य की पूर्ति के अर्थ सौरभित, पुष्पित उद्यान के दो सुकोमल पुष्प ईर्षा-द्वेष-रहित अपनी अपनी मनमोहन गंध सबको प्रदान करते हुए संसार के स्वामी के चरणों में समर्पित हो जायँ। कोई यह न कह सके कि ये दोनों पुष्प, यदि एक साथ एक माला में गूँथे जावें, तो वह माला सुंदर न होगी, शोभा न देगी।

आजकल प्रत्यक्ष देखा जाता है कि दंपति-जीवन बड़ा ही क्लेशकर और कलह-पूर्ण हो रहा है। बड़े भाग्य से हमारे देश में कदाचित् ५ सैकड़ा ऐसे घर मिलें, जिनमें स्त्री-पुरुष का सहयोग पाया जावे और गार्हस्थिक जीवन, ज़िंदगी का बोझ न समझ पड़ता हो। हमारी समझ में इसका सबसे बड़ा कारण उन नियमों और आदर्शों का पालन न करना है, जिन्हें हमारे दूरदर्शी ऋषियों ने हमारे लिये बनाए थे। उन्होंने वैवाहिक-कृत्य को केवल लोकाचार की ही बात न रखकर धर्म का एक अंग बना दिया, और उसकी नींव इतनी सुदृढ़ कर दी कि इहलोक तथा परलोक-संबंधी कैसा ही दीर्घकाय विशाल-

भवन उस पर निर्माण किया जा सकता है। उसे कोई बवंडर, कोई जल-प्रलय और कोई भयंकर भूचाल नष्ट नहीं कर सकता। वह जैसा आज है, वैसा ही सदा रहेगा। वह अचल है, अटल है तथा अलौकिक-लौकिक है। हमारे देश के जैसे अन्य नियम संसार से विभिन्न और अद्वितीय हैं, वैसे ही वैवाहिक नियम भी। पाश्चात्य सभ्यता और मुस्लिम विलास-प्रियता का उसमें रंच-मात्र भी संपर्क नहीं। यदि दूसरों की नज़र में विवाह केवल जीवन के आनंद की वस्तु है, तो हमारे यहाँ धार्मिकता का सबसे बड़ा अंग है। स्त्री का समान पद, समान अधिकार है, और वह पुरुष का आधा अंग है। पुराने वस्त्रों की तरह जब चाहा, तब बदल डालनेवाली चीज़ नहीं। वह मनुष्य का खिलौना नहीं, जीवन की संगिनी है। सुख-दुःख, पाप-पुण्य की साझीदार है। जूते उछाल कर, अँगूठी बदलकर या नमाज़गाह में क़ाज़ी साहब के हुक्मनामे को ईश्वर का फ़रमान समझकर लीक पीटने का ममला हमारे यहाँ नहीं है। इसका नाम है 'पाणिग्रहण-संस्कार'। और वह भी इस प्रकार कि शपथ देकर, देवताओं को साक्षी करते हुए, आजन्म आदर-पूर्वक निर्वाह करने का वचन देकर दृढ़ संकल्प करना। यदि हमारी बहनें ऋषि-प्रणीत वैवाहिक नियमों पर ध्यान-पूर्वक विचार करें, तो उनमें ऐसी-ऐसी बातें मिलेंगी, जो विचारशीलता की पराकाष्ठा को पहुँच चुकी हैं।

प्राचीन प्रातःस्मरणीय आदर्श दंपतियों के जीवन-कार्य-काल की ओर दृष्टिपात करने पर, उनके चरित्रों का मनन और विचार करने पर प्रत्येक बात बड़ी सरलता-पूर्वक समझ में आ जाती है। बहुत-सी शंकाएँ, जो हमारी बहनों और पुरुष समाज में उठती हैं, उनका खंडन हो जाता है। इस विषय की विशद विवेचना मेरा अभीष्ट नहीं है। मैं तो थोड़े शब्दों में आजकल की उन चलतू बातों की ओर पाठक-पाठिकाओं का ध्यान आकृष्ट करूँगी, जिनके कारण वैवाहिक जीवन जैसा चाहिए वैसा नहीं होता, प्रत्युत उसके विपरीत दुखदाई होता है।

यह तो मानी हुई बात है कि हमारा देश शिक्षा में सबसे पिछड़ा हुआ है। शिक्षा ही उन्नति, विकाश और स्वावलंब का सहारा है। शिक्षा की हीनता ने ही बुराइयों का भंडार हमारे सिपुर्द कर दिया है। विवेचना बुद्धि हमारा साथ छोड़ गई है। ऐसी दशा में जो परिणाम होना चाहिए, वह हमारे सामने है। चूँकि माताओं में शिक्षा का एकदम अभाव-सा है और पुरुष-समाज उन्हें केवल क्रीड़ा-संभोग की एक सामग्री समझता है। इसलिये आहार-विहार का कोई नियम नहीं, मनमानी-घरजानी वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। बेमेल विवाह, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह की धूम मची हुई है। लड़की यह नहीं जानती कि विवाह क्या चीज़ है, इसका क्या उद्देश्य है। जिसके साथ उसे जन्म-भर बिताना है, वह रूप, गुण, शील में उसके अनुरूप है या विपरीत, इसके जानने का उसे अधिकार नहीं। माता पिता अपना बंधन काटने के लिये उसे जिसके गले चाहें मढ़ दें, भेड़ की तरह लड़की का यह फ़र्ज़ बना दिया गया है कि वह चुपचाप बिना किसी प्रकार चूँचरा किए, उसके साथ हो ले। यही हाल दूसरी ओर बालकों का है। वह यह नहीं जानते कि यह कौन-सी बला हमारे सिपुर्द की जा रही है, और हमारा उसके प्रति क्या कर्तव्य होगा। कहीं रुपए के लोभ से, कहीं भव-बंधन काटने के विचार से, और कहीं माता-पिता की हाजत रफ़ा करने के लिये ब्याह का आडंबर रचा जाता है! यदि लड़की सुशील है, तो लड़का महा उजड्ड है। यदि एक ओर रूप की राशि है, तो दूसरी ओर कुरूपता का प्रलय-पुंज। यदि श्रीवर ५० वर्ष के हैं, तो वधू अभी गोद में खिलाने योग्य श्रीवर की बालिका प्रतीत होती है। कहीं लड़की कर्कशा है, तो लड़का नम्रता की जीती-जागती तसवीर है। आख़िर, यह सब सामान जान-बूझकर विषमता उपस्थित करने के क्यों किए जाते हैं? लोग कहा करते हैं 'कुंडली' मिल गई, पहले विचारो तो कि यह कुंडली है क्या चीज़? किस उद्देश्य-पूर्ति के लिये इसका आविर्भाव हुआ? उसमें रूप, गुण, स्वभाव, समानता मिलाने के क्या अर्थ हैं? हम खुले तौर से यह कह देना चाहती हैं कि इस कुंडली की आड़ में पंडितों द्वारा उसका असहनीय दुरुपयोग किया जा रहा है, और उसकी आड़ लेकर दंपति-जीवन पर सरेआम अत्याचार हो रहा है। यदि कुंडली का उचित उपयोग किया जावे, तो दिनदहाड़े यह लूट नहीं मच सकती। आगे हमारे यहाँ स्वयंवर-प्रथा थी। वर-वधू एक दूसरे के स्वभाव, गुण, योग्यता को जानकर अपना भविष्य-जीवन-पथ निर्धारित करते थे। जीवन-पर्यंत स्नेह-श्रद्धा के पवित्र-पाश में जकड़े हुए सफलता-पूर्वक इस महती यात्रा को समाप्त करते थे। कुछ समय बाद यह प्रथा लोप हो गई

और बालक-बालिकाओं के संरक्षकों ने अपनी इच्छा तथा सुविधाओं के अनुसार वैवाहिक कार्य करने का ढंग निकाला। लड़की-लड़के की सम्मति की कोई ज़रूरत नहीं रही। तभी से दंपति-जीवन दुःखमय हो चला। माता-पिता तो कुछ समय में चल बसे, अब सारे भार-वहन का दायित्व दंपति के गले पड़ा। दोनों के स्वभाव, गुणों में भिन्नता है। बस, तांडव-नृत्य का नाटक गृहस्थी के रंग-मंच पर मचने लगा। पग-पग पर अड़चनें हैं। दोनों एक दूसरे से ऐंठे हुए हैं। फल अधिकतर यही देखा जाता है कि पुरुष किसी दूसरी प्रेमिका की खोज करता है, और स्त्री अन्य प्रेमी की। जवानी का जोश उनके चरित्र को भ्रष्ट कर देता है। चरित्र भ्रष्ट होने पर इस जीवन का क्या मूल्य रह जाता है, इसका अनुमान हमारी बहनें स्वयं लगा लें। ऐसे घर में यदि संतान उत्पन्न भी हुई, तो उसका कितनी उचित रीति पर देख-रेख, लालन-पालन हो सकेगा, इसके लिये कुछ भी कहना व्यर्थ है। उस संतति का भविष्य सर्वथा अंधकारमय है। ऐसे अगणित उदाहरण उपस्थित होते रहते हैं।

इस दुःखद समस्या का प्रतिफल विशेषकर स्त्रियों को ही भोगना पड़ता है। पति के नित नए प्रहार सहते-सहते कोई तो जीवन-लीला को ही समाप्त कर देती हैं, कोई दूसरे धर्म में भटक जाती हैं, और कोई दुराचारिणी होकर कुल-मान को नाश कर बैठती हैं। उधर पुरुष स्वच्छंद होकर अपना नया रास्ता अख़्तियार करता है। व्यभिचार की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती है। देश का कल्याण कैसे हो? एक भले घर की बात मैंने स्वयं आँखों देखी। अमीर घर की एक रूपवती लड़की सामान्य घर के एक अपढ़ के साथ व्याह कर आई। पति का व्यवहार पत्नी के प्रति बड़ा ही शुष्क था। हर समय धौंस और गालियों द्वारा उस लड़की का सत्कार होता था। पतिदेव ५-६ वर्ष में एक बार भी स्त्री से प्रेम-पूर्वक नहीं बोले। पति की अवहेलना देखकर घर भर उसके पीछे पड़ता था। मार-पीट भी की जाती थी। अत्याचार से लड़की आकुल हो गई, उसने प्राण-त्याग करने की ठानी। यह जानने पर घरवालों ने उसे और भी तंग किया। अंत को वह एक दिन घर से निकल गई और कुचक्रियों के फंदे में पड़कर वेश्या-वृत्ति स्वीकार कर बैठी। वह अब तक मौजूद है। पति-देवता समाज से अलग कर दिए गए और आजकल बड़ा ही दुःख-पूर्ण जीवन बिता रहे हैं। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं। प्रसंग-वश मैंने संकेत-मात्र लिख दिया है।

वैवाहिक संबंध बड़ी ही ज़िम्मेदारी का प्रश्न है। समाज, देश और धर्म का बहुत बड़ा दारोमदार इस पर निर्भर है। लड़की-लड़के की सम्मति लेकर, समानता के गुणों का मिलानकर, माता-पिताओं को विवाह-संबंध करना चाहिए। चाहे पुत्र हो, चाहे पुत्री, सब उसी परम-पिता परमात्मा की सृष्टि के अंग हैं। एक-सा प्यार, एक-सी भावनाएँ, दोनों के साथ रखना चाहिए। लड़कपन से लेकर व्याह होने के पूर्व तक शिक्षा द्वारा उन्हें परिपक्व कर देना चाहिए। और जब तक वीर्य पक्का न हो जावे, और व्याह का अर्थ समझने की उनमें समझ न आ जावे, कदापि व्याह न करना चाहिए। व्याह करने के पूर्व लड़का-लड़की की सम्मति लेना, उनमें अनुरूपता देखना, संरक्षकों का मुख्य कर्तव्य होना चाहिए। उनमें समान योग्यता, स्वास्थ्य, सौंदर्य, आर्थिक स्थिति, कुल-मान एक-सा होना चाहिए। लड़की के माता-पिता का यह धर्म है कि जब तक लड़के को इस योग्य न देख लें कि वह अपने पौरुष द्वारा अपनी पत्नी को संतुष्ट रख सकेगा, व्याह न करें। कुंडली का मिलना या पंडितों की स्वीकृति-मात्र पर अंध-विश्वास करना मूर्खता होगी। माता-पिता का यह भी फ़र्ज़ है कि अपनी संतति को गृह-कार्य के अतिरिक्त सदाचार, दांपत्य-स्नेह, कर्तव्य-पालन की भी शिक्षा दें। ऐसे सुशिक्षित दो सुमनों को जब प्रेम-ग्रंथि द्वारा किसी माला में पिरोया जायगा, तो वास्तव में वह पुष्प-हार चतुर्दिक प्रशंसनीय होगा। उसके द्वारा जो संतान होगी, वह भी सुशिक्षा-संस्कार से संस्कृत होकर अपना और अपने देश का कल्याण करेगी। गृहस्थी का कलह-कांड समाप्त हो जावेगा, व्यभिचार की मात्रा कम होगी तथा विधर्मियों का प्रहार हमारे ऊपर कोई प्रभाव न डाल सकेगा।

प्रायः देखा जाता है कि बचपन के खेल-कूद में ही लड़के और लड़कियों में अनेक दुर्गुण आ जाते हैं। माता-पिता लाड़-प्यार में उस पर कोई ध्यान नहीं देते। ज़रा समझ आई नहीं कि गुड्डे-गुड्डी का व्याह होने लगा। आपस में भी बच्चे यह खेल खेलने लगते हैं। इधर छोटी ही उम्र में व्याह हो गया। उनके सारे अंग हृष्ट-पुष्ट-परिपक्व नहीं होने पाए, और लोकाचार प्रारंभ हो गया। थोड़े ही समय में जीवन का ह्रास होने लगा। उनसे एक तो संतान की

आशा नहीं रहती, और यदि हुई भी तो निर्बल और अल्पायु। कुछ लोगों का परिपक्व अवस्था में ब्याह हुआ भी तो समय-कुसमय का विचार छोड़कर ब्रह्मचर्य नष्ट करने में इतने तल्लीन हो जाते हैं कि अपना और अपनी स्त्री का जीवन भार-स्वरूप बना देते हैं। युवावस्था के वेग में नियमों को भूल जाते हैं। यही हाल दूसरी ओर का भी है। ब्याह के समय से लेकर आगे स्त्री-पुरुष के आहार-विहार के कैसे व्यवहार होने चाहिए, इसका अनेकों जगह वर्णन है। बृहदारण्यकोपनिषद् में इस विषय पर बहुत ही विस्तीर्ण विवरण किया गया है। हमारी सुयोग्य माताओं और बहनों को इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए। पुरुष-समाज को अपनी चातुर्य-शिक्षा द्वारा दंपति-जीवन को सुख-मय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस घर में स्त्री-पुरुष का सहयोग है, सचमुच उस घर में, दरिद्रता होने पर भी, दारिद्र्य कष्ट उतना दुःखद प्रतीत नहीं होता। एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता और उदारता के भाव ही सदैव रहने चाहिए। पुरुषों को स्त्रियों को हेच नहीं समझना चाहिए, और स्त्रियों को पुरुषों के प्रति सहृदयता के विचार रखना उचित है। यदि विवाह-बंधन होने के पहले उपरिलिखित बातों की ओर ध्यान देकर समानता का दृष्टिकोण समक्ष रख लिया जावे, तो दुर्दशा उपस्थित होने की नौबत ही न आवेगी।

हमें विश्वास है कि नारी-हितचिंतक मानव समाज और उदार बहनें इस विषमता को मिटाने तथा वैवाहिक जीवन को सारगर्भित एवं सुखद बनाने के अन्य उपयोगी उपाय कार्य में परिणत करने का प्रयत्न करेंगी। मैं मंगलमय जगदीश्वर से भी प्रार्थना करती हूँ कि प्रभो! हमारे अंदर सद्बुद्धि, सद्विद्या और सद्गुण देकर हमारा तथा हमारे देश का बेड़ा पार लगाओ।

लीलावती देवी

× × ×

३. महारानी द्रौपदी

अहल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा;
पञ्चक ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशकम्।

हमारे धर्म-शास्त्रों में द्रौपदी का नाम प्रातःस्मरणीय बतलाया गया है, परंतु हम लोगों के हृदयों में द्रौपदी देवी के चरित्र के विषय में भाँति भाँति के विचार हैं। अब 'पंचकं ना' या 'पंच कन्या' के पाठभेद पर लड़ना उचित नहीं; किंतु द्रौपदी के पावन चरित्र को हमारे धर्म-ग्रंथों में इतना महत्त्व देते हुए उसके नाम को प्रातःस्मरणीय और पापनाशक शब्दों से क्यों स्मरण किया गया है? इसका चित्रण करना ही मेरा ध्येय है। यह दुर्भाग्य की बात थी कि द्रौपदी का जन्म महाभारत के पतित काल में हुआ।

महाभारत का काल एक पतित काल था, यद्यपि उस समय भारत की स्वतंत्रता के कारण यह देश धन धान्य और शूरवीरों से पूर्ण था।

संभव है कि एक मनुष्य ज्ञान और शौर्य-संपन्न होकर भी हृदय शून्य हो। हम लोगों को विश्वास है कि महाभारत काल में धर्म की मर्यादा लुप्त नहीं हुई थी, और लोग धर्मानुयायी थे। परंतु यह सर्वथा असत्य है, क्योंकि धर्मराज युधिष्ठिर, जो कि उस काल के धर्माचार्य होकर भी अपने भाइयों से जुआ खेलने गए, जिस जुए का परिणाम उनका नैतिकपतन और भारतवर्ष का सर्वथा ह्रास हुआ! जिस जुए के विषय में वेद भगवान् ने स्पष्ट आज्ञा दी है—

'अक्षैर्मादीव्यः कृषिं कृषस्व बहुमन्यमान।'

अर्थात्—"जुआ मत खेलो और संतुष्ट हो खेती करो।"

इस बात के मानने से कोई इनकार नहीं कर सकता कि जुए के कारण ही महाभारत का बड़ा युद्ध हुआ था। यदि धर्मराज युधिष्ठिर जुए के व्यसन में पड़कर अपने भाइयों और स्त्री को बाज़ी में रखकर अपनी 'धार्मिकता' का परिचय न देते, तो आज हम गौरव से भारतवर्ष को स्वतंत्र कहने के अधिकारी होते। अस्तु।

युधिष्ठिर ने जो कुछ किया, वह व्यसन में पड़कर; परंतु बेचारी अबला द्रौपदी की जो दशा सहस्रों विद्वानों और वीरों के समक्ष हुई, उसका ज़िम्मेदार कौन है? हम द्रौपदी को बुद्धिमती और विदुषी कह सकते हैं, पर वीर पत्नी, वीर-नारी नहीं। इतिहास के पृष्ठों में आज तक किसी वीर-पत्नी का साधारण अपमान भी नहीं सुना गया—दुर्दशा की बात ही क्या। मुझे लज्जा आती है कि धर्मराज युधिष्ठिर जुए में धर्म को ताक़ पर रख देते हैं, और स्त्री की दुर्दशा होते देखकर धर्म की दुहाई देते हैं!

आजकल के पतित काल में भी कौन ऐसा पति है जो अपने प्राण-त्याग से पूर्व अपनी रजस्वला पत्नी को दाँव में हार जाने के कारण युधिष्ठिर के समान ऐसी आज्ञा देगा—

"एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला;
सभामागत्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव।"

अर्थात्—"हे द्रौपदि! तू रजस्वला होने के कारण

एक कपड़ा, नीवी तगड़ी पहने रोती हुई सभा में आकर ससुर के सामने हो।" अहा! कैसा करुण दृश्य था। पाठक और हमारे दोनों के लिये कैसी कठिन परीक्षा का अवसर है। एक अबला के अपमान के लिये क्या-क्या विधियाँ रची जा रही हैं! सभा में बड़े-बड़े विद्वान् बैठे हैं, परंतु धिक्कार है, उनको विद्या को, जिसके सामने एक देवी पर घोर अत्याचार करने का षड्यंत्र किया जा रहा है!

दुःशासन के वेश में नरपिशाच अपने कठोर शब्दों से संबोधन करता हुआ एक देवी के केशों को पकड़कर सभा में लाना चाहता है। द्रौपदी पुकार रही है, परंतु उसका आर्तस्वर और करुण-क्रंदन उसके हृदय पर थोड़ा भी प्रभाव नहीं डालते! मैं उस करुण-क्रंदन को पाठकों के समक्ष रखना चाहता हूँ—जिस क्रंदन से जन्म के शत्रुओं का हृदय भी द्रवित हो सकता है—उसको सुनकर भाई के हृदय पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता! कैसी अवस्था है!

द्रौपदी कहती है—"सभा में बड़े-बड़े विद्वान्, कार्य-निपुण गुरु के सदृश बड़े तथा इंद्र के समान लोग बैठे हैं, उनके आगे मैं नहीं खड़ी हो सकती। हे क्रूर कर्म करनेवाले, दुष्ट चरित्र! मुझे सभा के बीच में नंगी मत कर, मुझे मत खींच। हे दुष्ट! यदि इंद्र-सहित सारे देवता भी तेरी सहायता करेंगे, तो भी तुझे पांडव तेरे कर्म के लिये कभी क्षमा न करेंगे।

"महात्मा युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, धर्म अत्यंत सूक्ष्म है, और कठिनाई से देखा जाता है। मैं पति के गुणों को ही कह सकती हूँ, परिमाणु सदृश छोटे दोषों को नहीं। यह बुरा कर्म है, जो तू मुझे रजस्वला-दशा में कौरवों के सामने खींच रहा है, पर तेरी कोई नहीं निंदा करता, अवश्य तेरे पक्ष में सभा है। धिक्कार है कि भरतवंशीय क्षत्रियों का धर्म तथा चरित्र नष्ट हो गया है, जिससे आज सारे कौरव बैठे हुए कौरवरूपी समुद्र की वेला को देख रहे हैं। द्रोण, भीष्म, विदुर और धृतराष्ट्र इन सबमें बल नहीं है, क्योंकि वे मेरे धर्म को नहीं देखते।"

ऐसी भयंकर दशा में भी द्रौपदी अपने पति की बड़ी भूल पर ध्यान नहीं देती। उसकी हीन दशा में भी उसका पति धर्मात्मा है। वह युधिष्ठिर की निंदा अपने कानों से नहीं सुनना चाहती। यह पूर्वीय सभ्यता का एक बड़ा चिह्न आजकल भी मूर्ख-से मूर्ख देवी में दृष्टिगोचर होता है। स्त्री का धर्म, पति की सेवा अवश्य है, पर उसकी दासी होना नहीं। उसका अधिकार घर की वस्तुओं पर है, और वह अपने घर की स्वामिनी है। पति का काम बाहर से अर्थोपार्जन करना और स्त्री का काम उसका यथावत् उपयोग करना है। पुरुषों की शिक्षा में जो बातें आवश्यक हैं, वह स्त्री शिक्षा में बिलकुल विपरीत। द्रौपदी जित है, जेता उसकी इज़्ज़त उतारना चाहते हैं, पर वह भीरु स्त्री की तरह चुपचाप नहीं हो जाती। वह रजस्वला-दशा में है, परंतु इस नीचता के लिये कौरवों के वीरों और विद्वानों को धिक्कार सकती है। सचमुच यदि द्रौपदी में इतना बल होता कि वह पांडवों को भी अन्याय के नाम पर धिक्कारती, तो यह कदाचित् संभव नहीं था कि पराजित द्रौपदी के लिये भी पांडव प्रथम अपने को बलिदान न करते।

कविवर भारवि ने वन-पर्व के कुछ भागों को लेकर किरातार्जुनीय नामक काव्य की रचना की है। कवि का काल विवादास्पद है और हमारे लेख के विषय से भिन्न है तथापि यह कहना आवश्यक है कि उस महाकवि का काल पाँचवीं शताब्दी के अंत या छठी के आदि में हुआ। उस समय कवि ने द्रौपदी को उपदेशिका के रूप में अपने काव्य में पेश किया है। कवि की दृष्टि में द्रौपदी ही उपयुक्त-पात्र थी, जिसने युधिष्ठिर को करुणा-जनक शब्दों में इस महा अपमान के प्रतीकार का उपदेश दिया। कवि को अपने पात्रों में ऐसा कोई अन्य पात्र उपयुक्त नहीं मिला, जिसके द्वारा वह पांडवों को जोशीले शब्दों से युद्ध द्वारा बदला लेने को उत्साहित करवाता। ज्ञात होता है कि उस समय स्त्री-जाति की अवस्था गिरी हुई नहीं थी। स्त्रियों में केवल मृदुता ही नहीं थी, वह समय पर क्रोध भी दिखा सकती थीं। कायर पतियों को उत्साहित करने के लिये स्त्री अमोघ-शक्ति है। क्योंकि—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः

"वही क्षत्रिय है, जो कि रक्षा कर सकता है। वही कार्मुक है, जिसमें कर्म करने की शक्ति है। लोग केवल नाम-मात्र के इन दोनों शब्दों को धारणकर वचन को लक्षण-हीन करते हैं।" आजकल की भाषा में "तुम क्षत्रिय और कार्मुक शब्द को कलंकित कर रहे हो, अतएव तुम क्षत्रिय कहना छोड़ दो और धनुष धारण मत करो।"

"तुम शीघ्र पर्वत पर जाकर महर्षि व्यास के वचनों को सफल करो, अर्थात् तपस्या कर युद्ध-शक्ति को प्राप्त कर कौरवों

से इस अपमान का बदला लो। हमारी प्रसन्नता का वही दिन होगा और मैं उसी दिन तुम्हारा आलिंगन करूँगी।"

कैसी उचित धमकी है। अर्थात्, बिना बदला लिए तुम पति कहलाने के योग्य नहीं हो। भारवि के इस वचन से वर्तमान सभी स्त्रियों को शिक्षा लेनी चाहिए। वे उपभोग के लिये नहीं हैं, परंतु यत्नशील पति के आनंद की दायभागिनी हैं।

द्रौपदी जैसी सच्चरित्रा देवी के साथ जो व्यवहार कौरवों ने किया, वह समाज की दृष्टि में कभी क्षम्य नहीं कहला सकता और संसार के इतिहास में यह उनकी पाशविकता काले अक्षरों में सदा खुदी रहेगी। महाभारत के पृष्ठों में कर्ण का वचन कैसा निंद्य है—

"देवताओं ने स्त्री के लिये एक पति निश्चित किया है। हे दुर्योधन! परंतु यह द्रौपदी अनेक पतियों की पत्नी है अतएव कुलटा है।" महाभारत के इतिहास में कर्ण एक वीर है और उसके मुख से यह वचन कैसा खेद-सूचक है। मैं इस लेख में यह विचार करना नहीं चाहता कि द्रौपदी पाँच की स्त्री होने के कारण दोषिणी है या नहीं। चाहे जो कुछ भी हो, कौरवों की यह उक्ति न्याय संगत होने पर भी ईर्ष्या-पूर्ण है। उनकी मंडली में सभी उपजीवी हैं और वे उपजीव्य के लिये धर्म की परवा नहीं करते। कौरवों का नैतिक-पतन होगया था, जैसे समय-समय पर ईसाइयों में पादरियों, मुसलमानों में मुल्लाओं और हिंदुओं में पंडे और पुजारियों का हो गया है। धर्म के ठेकेदार के अधिकार से यह लोग न्याय को अन्याय और अन्याय को न्याय अपने धर्म-ग्रंथों के नाम पर कर दिखाते हैं। कौरवों की सभा में द्रोण, भीष्म और विदुर सभी थे, पर सबकी जीभ खींच ली गई थी और चूँ भी करना उनके सामर्थ्य से बाहर की बात थी।

भीष्म बड़े महात्मा थे, पर इस अवसर पर उनका कथन सुनकर सभी दंग हो जायँगे—

"बलवान् मनुष्य जिसे धर्म कहें, वही धर्म है। धर्म के मार्ग में निर्बल मनुष्य मारा जाता है!" जहाँ ऐसे धर्म के लक्षण किए जावें, वहाँ की क्या मर्यादा? इसी अंध-परम्परा के कारण महाभारत का महायुद्ध भारत के सर्वनाश का कारण हुआ। द्रौपदी का चरित्र कैसा था, यह पाठक विपरीतपक्षीय योद्धाओं के चरित्र से तुलना करें। लेख के उपर्युक्त वाक्य में कहा है—"मनुष्य अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मंदोदरी इन पाँच स्त्रियों को सर्वदा स्मरण करे।" इन पाँचों देवियों का जीवन सुखमय नहीं बीता। प्रायः सभी ने अपने पतियों को समय-समय पर मार्ग बतलाया। अब द्रौपदी का चरित्र सबके सामने है। मरे-से पांडवों में शक्ति का संचार करनेवाली, समय-समय पर अपनी राजसी अवस्था की याद दिलाकर उनको भड़कानेवाली, पति के लिये सर्वस्व अर्पण करनेवाली, कृष्ण की अनन्यभक्ता द्रौपदी का चरित्र प्रत्येक बालिका को आज भी स्मरणीय है।

आज उनसे भी बढ़ी-चढ़ी देवियों की आवश्यकता है। जो शिक्षिता होकर भी युद्ध करना जानती हैं, वे केवल पतियों को धिक्कार से ही न तिरस्कृत करें, पर अपमान के प्रतीकार को स्वयं दूर करने में उद्यत रहें।

जगदीशचंद्र शास्त्री

१. अध्यात्म-रामायण और रामचरित-मानस

संप्रति हिंदी-साहित्य-संसार को अत्युच्च अवस्था में पहुँचाने के निमित्त अनेक विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाएँ एवं परिश्रम किए जा रहे हैं, जो हम लोगों के भविष्य के लिये सौभाग्य का चिह्न है।

यह कहने में किसी को आपत्ति न होगी कि जो साहित्य-ज्ञान संस्कृत-भाषा में है, वह सहस्रशः विद्वद्‌वर्यों द्वारा उद्योग करने पर भी अभी हिंदी भाषा को प्राप्त नहीं हो सका है। संस्कृत का प्रचार काल के विपरीत प्रवाह से न्यूनातिन्यून हो रहा है, जिससे हम साहित्य-ज्ञान ही को नहीं, वरन् धार्मिक-विचार भी जानने के लिये पर-मुखापेक्षी हो रहे हैं। यह शोक का स्थान होते हुए भी इसके सुधार की ओर किसी भी महोदय की दृष्टि न अब तक गई है और न जाने की संभावना है।

अतः हिंदी-साहित्य ही को सर्वांग-पूर्ण बनाना हम लोगों का परम कर्तव्य है। हिंदी-साहित्य में मौलिक ग्रंथ अथवा संस्कृत-ग्रंथों को सरल हिंदी-भाषानुवाद द्वारा सर्व बुद्धि-ग्राह्य विचार भर देना परमावश्यक है।

यद्यपि अब शायद ही कोई ऐसा संस्कृत-ग्रंथ शेष रह गया होगा, जिसका हिंदी-भाषानुवाद न हुआ हो। परंतु यह एक सर्वमान्य बात है कि जो कुछ साहित्य अब तक हिंदी-भाषा को प्राप्त हो सका है, वह सब प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों से ही लाया गया है। इसी प्रकार यह भी मान लेने में कोई प्रतिबंध न होगा कि जितने ग्रंथ इस समय हिंदी-भाषा में प्राचीन कविगणों के प्रचलित हैं, प्रायः इन सबका मूल आधार संस्कृत-ग्रंथ ही हैं।

संभवतः अबतक ऐसे संग्रह-ग्रंथ नहीं तैयार हुए हैं, जिनमें प्रचलित हिंदी-काव्यों का संस्कृत-काव्यों द्वारा बिंब-प्रतिबिंब भाव पूर्णतया दिखलाया गया हो। कारण, इसका यही कहा जा सकता है कि संस्कृत-विद्वद्‌गण स्वभावतः हिंदी-काव्यों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। यदि वे अल्प समय के लिये भी अपनी दृष्टि हिंदी-काव्यों पर डालें और यह कहने की कृपा त्याग दें—"हाँ वह तो भाषा-ग्रंथ है", तो उपर्युक्त प्रकार की पुस्तकें अच्छी संख्या में संगृहीत हो सकती हैं।

आधुनिक काल में जो सम्मान एवं स्थान श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी-कृत रामायण को हिंदी-साहित्य में प्राप्त है, वह अन्य हिंदी-भाषा के ग्रंथों ही को नहीं, वरन संस्कृत-ग्रंथों को भी नहीं प्राप्त है। श्रीतुलसीदास-कृत रामायण की प्रशंसा भारतवर्षीय विद्वानों ने ही नहीं, वरन् अन्य देशीय विद्वानों ने भी मुक्तकंठ से की है। भारतवर्ष में तो कोई ऐसा स्थान ही नहीं, जो उपर्युक्त पुस्तक से समलंकृत न हो।

विचारणीय विषय यह है कि क्या श्रीतुलसीदासजी ने भी किसी संस्कृत-ग्रंथ से सहायता लेकर अपना अमूल्य रामायण-रत्न समुज्ज्वल किया है? क्या भावापहरण के दोष से श्रीतुलसीदासजी भी नहीं वंचित रह सके?

मैं अपनी क्षुद्र बुद्धि से एक महान् कवि को दोषी न ठहराते हुए भी श्रीअध्यात्म-रामायण और रामचरित-मानस के पद्यों की सदृशता दिखलाने का प्रयत्न करूँगा।

अध्यात्म-रामायणकार बहुत अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन के बाद कथा प्रारंभ करते हुए अपने ग्रंथ में लिखते हैं—

"सोऽनपत्यत्वदुःखेन पीडितो गुरुमेकदा ;
वशिष्ठं स्वकुलाचार्यमाहूयेदमभाषत ।"
(अध्यात्म-रामायण)

अर्थात्—पुत्रहीनता से दुःखित महाराज दशरथजी ने एक बार अपने कुल के आचार्य वशिष्ठजी को बुलाकर यह कहा।

श्रीतुलसीदासजी ने भी इसी बात को इस प्रकार कहा है—

"एक बार भूपति मन माहीं ; भइ गलानि मेरे सुत नाहीं।
गुरु-गृह गए तुरत महिपाला ; चरन लागकर बिनय बिसाला।"
(रामचरित-मानस)

अध्यात्म-रामायणकार ने वशिष्ठजी को महाराज दशरथ द्वारा बुलाकर बातचीत कराई है और श्रीतुलसीदासजी महाराज दशरथ को वशिष्ठ के घर ले गए हैं। मेरा अभिप्राय समालोचना करने का नहीं है। अतः पाठक उपर्युक्त दोनों वचनों में अस्वाभाविकता अथवा स्वाभाविकता किस पद्य में है, इस बात को स्वयं विचार सकते हैं। इतने बड़े महाराज को बात-बात में अपने आचार्य (पुरोहित) के यहाँ दौड़ जाना कहाँ तक ठीक है।

"ततोऽब्रवीद्वशिष्ठस्तं भविष्यन्ति सुतास्तव ;
चत्वारः सत्त्वसम्पन्ना लोकपाला इवापरे।"
(अध्यात्म-रामायण)

"घरहु धीर हुइहैं सुत चारी ; त्रिभुवन बिदित भक्त-भय-हारी।"
(रामचरित-मानस)

"गुरुणा जातकर्माणि कर्तव्यानि चकार सः"
(अध्यात्म-रामायण)

"तब नंदीमुख स्राद्ध करि जातकर्म सब कीन्ह"
(रामचरित-मानस)

"तदा ग्रामसहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो मुदा ददौ ;
सुवर्णानि च रत्नानि वासांसि सुरभीः शुभाः।"
(अध्यात्म-रामायण)

"हाटक-धेनु-बसन-मनि नृप बिप्रन कहँ दीन्ह"
(रामचरित-मानस)

"अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः"
(अध्यात्म-रामायण)

"हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा ; सूचित किरन मनोहर हासा।"
(रामचरित-मानस)

श्रीविश्वामित्रजी महाराज दशरथजी के समीप जिस समय आए, श्रीदशरथजी महाराज ने कहा—

"यदर्थमागतोऽसि त्वं ब्रूहि सत्यं करोमि तत्"
(अध्यात्म-रामायण)

"केहि कारन आगमन तुम्हारा ; कहहु सो करत न लावहुँ बारा।"
(रामचरित-मानस)

महाराज दशरथजी से श्रीविश्वामित्रजी ने जब श्रीरामचंद्रजी को यज्ञ-विध्वंसक राक्षसों के नाश करने के हेतु माँगा, तब श्रीदशरथजी ने कहा—

"चत्वारोऽमरतुल्यास्ते तेषां रामोऽतिवल्लभः"
(अध्यात्म-रामायण)

"सब सुत प्रिय मोहिं प्रान कि नाईं ; राम देत नहिं बनै गुसाईं।"
(रामचरित-मानस)

"तामेकेन शरेणाशु ताडयामास वक्षसि"
(अध्यात्म-रामायण)

"एकहि बान प्रान हरि लीन्हा"
(रामचरित-मानस)

"तयोरेकस्तु मारीचं भ्रामयन् शतयोजनम् ;
पातयामास जलधौ......................"
(अध्यात्म-रामायण)

"सत योजन गा सागर-पारा"
(रामचरित-मानस)

"द्वितीयोऽग्निमयो बाणः सुबाहुमजयत् क्षणात् ;
अपरे लक्ष्मणेनाशु हतास्तदनुयायिनः।"
(अध्यात्म-रामायण)

"पावक सर सुबाहु पुनि मारा ; अनुज निसाचर कटक संहारा।"
(रामचरित-मानस)

जयरत्न शुक्ल

१. इतिहास

भारतवर्ष का इतिहास (द्वितीय खंड)—[महाभारत काल से लेकर प्राग्बौद्ध काल तक का राजनैतिक, सामाजिक व सभ्यता का इतिहास] लेखक, श्रीआचार्य रामदेवजी, गुरुकुल विश्वविद्यालय। मूल्य १ रु० १२ आने, पृष्ठ-संख्या ३६२+२२।

इतिहास क्या है ? इस विषय पर विदेशी विद्वानों के (कार्लाइल, बकिल, ग्रीन, बर्क्स आदि) अत्यंत प्रामाणिक मत होते हुए भी हमें आचार्य विष्णुगुप्त का मत ही अत्यंत ग्राह्य प्रतीत होता है। आपके अनुसार इतिहास में छः बातें सम्मिलित हैं—

पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्म-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र। इनमें से प्रत्येक को विभाजित और विस्तृत भी कर सकते हैं और देशों के इतिहास लिखने में किसी भी पद्धति का अनुसरण क्यों न किया जाय। भारतवर्ष का सर्वांगीण इतिहास, चाहे वह आज लिखा जाय, चाहे पचास वर्ष बाद, होगा वही जो चाणक्य की उपर्युक्त परिभाषा को मानकर चलेगा। वस्तुतः उसी अनुपात में भारतवर्ष की ऐतिहासिक सामग्री की वृद्धि होती जाती है, जिस अनुपात में यहाँ के प्राचीन समय की विचार-शैली को लोग अधिकाधिक समझकर उसका उद्धार कर रहे हैं आचार्य रामदेव की प्रस्तुत पुस्तक केवल राजनैतिक अंश तक ही परिमित नहीं है, उसका अधिकांश भाग हमें प्राचीन भारत के विचार-जगत् का अवलोकन कराता है। यह भारतीय सभ्यता का इतिहास है। दुर्भाग्य से स्कूलों में ९वें दर्जे से लेकर बी० ए० तक प्राचीन भारत के इतिहास के अधिपति सर्वत्र श्रीयुत विन्सेंट स्मिथ ही बने हुए हैं। न जाने हम लोग एक-मात्र उन्हीं के दृष्टि-कोण से अपना इतिहास पढ़ने को इतने उत्सुक क्यों हैं ? प्रो० विनयकुमार सरकार का मत है कि स्मिथ-जैसे 'अनैतिहासिक' व्यक्ति (जिनमें इतिहासोचित दृष्टि-कोण का अभाव हो) कदाचित् दो ही चार हों। हमारे मत से श्रीयुत स्मिथ-जैसा पक्षपाती भी अन्यत्र दुर्लभ है। जब इस देश के इतिहास की ऐसी दुर्दशा है, तब रामदेवजी का इतिहास देखकर किसे विशेष प्रसन्नता न होगी।

अभी तक समझा जाता था कि इस देश का राजनैतिक इतिहास बुद्ध के समय से शुरू होता है। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, स्थापत्य और भास्करीय कला, वास्तु-विद्या आदि इन सबको बुद्ध के बाद में ही हमारे ऐतिहासिक खोजा करते हैं। न जाने सर्वत्र विकास-सिद्धांत को मानने-वाले पाश्चात्य विद्वान और तदनुगामी भारतीय पंडित प्राचीन इतिहास के विषय में ही विकास-क्रम की। इस तरह अवहेलना करके हरएक विषय का बुद्ध के समय में अपनी पूर्ण उन्नत अवस्था में ही जन्म होना कैसे मान लेते हैं। सौभाग्य से यह प्रवृत्ति बदल रही है। जब से पार्जीटर महोदय ने 'कलियुग की राजवंशावलियाँ'-नामक ग्रंथ में पौराणिक राजवंशों को अधिकांश में सत्य सिद्ध कर दिया है, तब से भारत का इतिहास

भी शिशुनाग वंश से पीछे हटकर इक्ष्वाकु-वंश से शुरू होने लगा है। किसी समय इन नृपतियों के चरित्र का पूर्ण अन्वेषण हो जाने पर हमारे देश का बड़ा वृहत् इतिहास तैयार होगा। प्रो० रामदेवजी का इतिहास उस प्रयत्न का एक उपक्रम-मात्र है। बस, इसी में इसका क्षेत्र, इसकी सफलता और इसकी त्रुटियाँ सब आ जाती हैं। संपूर्ण ग्रंथ में चार भाग हैं—१. महाभारत कालीन सभ्यता, २. महाभारत-काल से प्राग्बुद्ध-काल तक का राजनैतिक इतिहास, ३. शुक्र-नीति-सार-कालीन भारत, ४. भारतीय सभ्यता का विदेशों में प्रसार। इस सभ्यता के इतिहास को पढ़कर उन मनुष्यों को जिन्हें प्राचीन सभ्यता के उन्नत होने तथा उसका स्वरूप आधुनिक जैसा होने में कुछ संदेह रहा करता है, दाँतों उँगली दबानी पड़ेगी। यह ठीक है कि भारतवासियों की अनेकों बातें आजकल की सभ्यता से भिन्न भी थीं और ऐसा होना उचित भी है; क्योंकि स्वतंत्र कल्पना किसी का अनुकरण नहीं करती. पर तो भी इस मूल-तत्त्व से किसी का मत-भेद नहीं कि उनकी विचार-शैली आज जैसी ही कल्पना से भरी हुई और निश्चित विषयों का प्रतिपादन करनेवाली थी। यों तो समस्त पुस्तक ही नए-नए सिद्धांतों से भरी पड़ी है; पर हम यहाँ उन्हीं का निर्देश करते हैं, जिनका अभाव पाश्चात्य राजनीति में भी पाया जाता है। यदि इतिहास पढ़ने का कोई संबंध आगामी मानुषी जीवन से भी है, तो हमें इनसे शिक्षा लेनी चाहिए।

महाभारत में दिए हुए युद्ध-नियमों में लिखा है—"प्रहार करने से पहले बतलाकर प्रहार करना चाहिए। विश्वास दिलाकर तथा घबराहट में डालकर दूसरे पर प्रहार करना उचित नहीं। किसी के साथ युद्ध में लगे हुए को, युद्ध से विमुख पीठ दिखानेवाले को, निःशस्त्र और निष्कवच को नहीं मारना चाहिए" (पृ० ११) इन नियमों का भाव आज भी प्रत्येक भारतीय के हृदय में विद्यमान है। सभ्यताओं की तुलना उसके आदर्शों से होती है। इन युद्ध-नियमों को पढ़कर जब हम सिकंदर को भारतवासियों के साथ विश्वासघात करने और बीसवीं सदी में बैठकर लिखनेवाले मि० स्मिथ को उसका समर्थन करते हुए देखते हैं, तो हमारा मुख गौरव और क्रोध से लाल हो जाता है।

पृ० ३४ पर लिखा है कि प्राचीन भारत में पशुओं के लिये राज्य की ओर से मुफ़्त चरागाहों की छूट होती थी। यही पशु-संपत्ति की वृद्धि का कारण होता है। क्या हम आधुनिक शासन-प्रबंध में इससे शिक्षा ग्रहण करेंगे? जो लोग निरंतर यह राग अलापते हैं कि भारतवासी सदा से अनियंत्रित शासन के शिकार रहे, उन्हें आचार्य शुक्र के इन वचनों पर ध्यान देना चाहिए—"ईश्वर ने प्रजा के नौकर रूप से राजा को पैदा किया है। इस सेवा के बदले प्रजा राजा को वेतन-रूप में अपनी आय का कुछ भाग (कर) देती है। अतः राजा को सदैव प्रजा का पालन ही करना चाहिए। अगर एक कुत्ते को सजाकर बढ़िया रथ पर बैठा दिया जाय, तो क्या वह राजा के समान शानदार प्रतीत नहीं होता? इसी से तो कर्तव्य पालन न करनेवाले राजा की उपमा कवि लोग कुत्ते से ही देते हैं। राजा को सदैव अपने मंत्रियों, राज-सभा के सदस्यों तथा सहकारियों की सलाह लेकर ही राज्य-कार्य करना चाहिए, स्वयं अपनी सम्मति के अनुसार कोई कार्य नहीं करना चाहिए।" पृ० १२५-१२६ पर 'कर' के प्रकरण में लिखा है कि राजा ग्राम के 'कर' को किसी एक धनी पुरुष से वसूल करता है; पर इस व्यवस्था में ज़मींदार किसानों को बहुत तंग करते और सरकारी लगान से कहीं अधिक वसूल करते हैं। यदि आजकल भी आचार्य शुक्र की इस सम्मति पर ध्यान दिया जाय, तो बड़ी सुव्यवस्था हो—"सरकार को चाहिए कि वह सब किसानों को उन पर लगाए हुए 'कर' की मात्रा आदि अपनी मुद्रा से अंकित करके दे।" यह राज-मुद्रित पत्र हरएक किसान के पास रहना चाहिए और उससे अधिक वसूली का दावेदार ज़मींदार को किसी हालत में न होना चाहिए।

राज्य-कर्मचारियों को तीस वर्ष नौकरी करने पर आधा वेतन पेंशन-स्वरूप में आजकल मिलता है। शुक्र के मत से चालीस वर्ष की सेवा के बाद आधा वेतन पेंशन देना चाहिए। तात्पर्य यह कि शुक्राचार्य मानवी आयुष्य और पुरुषार्थ को चालीस वर्ष पर्यंत कार्यक्षम मानते हैं। परंतु पेंशन के नियमों में शुक्र के समय इतनी बात विशेष थी, जो आजकल नहीं है—"यदि उसकी मृत्यु के बाद उसका कोई बालक, पुत्र या कन्या नाबालिग़ हो अथवा स्त्री जीवित हो, तो उसकी पेंशन का आधा भाग उन्हें देते रहना चाहिए।" (पृ० २१२) अवश्य ही ऐसा सुधार

करने से बड़ी सुविधा होगी और अनाथों और विधवाओं का कष्ट कम हो जायगा।

राज्य-कर्मचारियों पर जनता का कितना नियंत्रण था, यह इस नियम से जाना जाता है—"राजा अपने उस कार्यकर्ता को पदच्युत कर दे, जिसके विरुद्ध सौ नागरिक नालिश करते हों" (पृ० १२६) प्रजातंत्र-प्रणाली में, अत्यंत उन्नत देशों में भी, नागरिकता का इतना समादर नहीं है। संभव है, किसी समय यह सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाय। तीसरे अध्याय में शुक्र-नीति में दी हुई न्याय-प्रणाली का प्रत्यक्ष चित्र-सा दिया गया है। दो-एक बातें ऐसी हैं, जिनकी कमी हमारी आधुनिक अदालतों में भी है। आजकल अदालत में वादी-प्रतिवादी, न्यायाधीश, साक्षी और नियोजित (वकील) केवल इनको ही बोलने का अधिकार है। शुक्र के समय में भी ऐसा ही था; पर शुक्र कहते हैं कि यदि दर्शकों में से भी किसी को बहस सुनते समय किसी नई बात की सूझ हो जाय, जिससे न्याय होने में सहायता मिलने की आशा हो, तो उसे भी बोलने का अधिकार है। अन्यथा वादी को दंड देना चाहिए।

राजा प्राचीन समय से न्याय का अध्यक्ष माना जाता है। मान लीजिए कि राज्य में किसी अनाथ, दीन, अबला या दरिद्र के साथ कोई अन्याय हो और वह सरकार में न्याय की पुकार न कर सके, तो उसके अन्याय का प्रतीकार दीवानी मामलों में आज किस तरह हो सकता है। भारतीय न्याय-विधान में इसकी भी व्यवस्था थी। राजा को चुपके से ऐसे अन्यायों की सूचना देनेवाले दो प्रकार के पुरुष थे, स्तोभक और सूचक। जो अपने आप आकर ऐसे किसी अन्याय के विरुद्ध निवेदन करते थे, वे स्तोभक और जिनको राजा गुप्त प्रत्यवेक्षण के लिये नियुक्त करते, वे सूचक कहलाते थे। भारत-जैसे दरिद्र देश में आज भी ऐसे कर्मचारियों की बहुत आवश्यकता है।

शुक्र-नीति में लिखा है, कि बिना आज्ञा के सैनिक लोग छावनी छोड़कर शहरों में नहीं जा सकते। गोले, तोप, बंदूक, गोलियाँ, बारूद आदि का भी विशद वर्णन है। गोले दो तरह के कहे गए हैं—एक लोहे के ठोस और दूसरे गर्भघुटिक बारूद भरे हुए। इसी तरह बारूद बनाने के कई नुसख़े दिए हुए हैं। शुक्र-नीति में घड़ियों का और चमड़े का काम करनेवाले (टैक्सीडरमिस्ट), काँच के पदार्थ बनानेवाले और नक़ली रत्न और सोना बनानेवालों का वर्णन पढ़कर तो यह ग्रंथ नितांत आधुनिक-सा प्रतीत होने लगता है। हमें यह कहते हुए बड़ा हर्ष होता है कि आचार्य रामदेवजी ने प्रत्येक विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

चौथे भाग में, विदेशों में भारतीय सभ्यता के प्रसार का वर्णन है। मिस्र, यूनान, रूम, चीन, अमेरिका इन सब देशों की सभ्यताओं पर भारत का प्रभाव पड़ा है। उन्नीसवीं सदी में भी मिस्र की नील नदी के स्रोत का आविष्कार पुराणों में दिए हुए वर्णन को पढ़कर ही हुआ था (नंदलाल दे-कृत प्राचीन भारत का भूगोल)। मेक्सिको में भारतीय सभ्यता का प्रसार सालकटंकट द्वारा हुआ था। मेक्सिको की अनुश्रुति में प्रसिद्ध कैटसाल-कटल के साथ उसको एकता ठीक प्रतीत होती है। संसार के प्रागैतिहासिक काल पर भारतीय पौराणिक और वैदिक साहित्य द्वारा ही भविष्य में सबसे अधिक प्रकाश पड़ने की आशा आधुनिक विद्वज्जन कर रहे हैं।

प्रो० रामदेवजी के इतिहास का इतना परिचय देने के बाद उसकी कुछ भूलों और त्रुटियों की ओर भी हम पाठकों और विद्वान् लेखक का ध्यान दिलाना चाहते हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में इन सबका सुधार हो जायगा।

पृ० ३—'यह ग्रंथ (महाभारत) बड़ा विस्तृत है, अष्टादश-पुराण और गीता भी इसी महद् ग्रंथ के भाग हैं।' यहाँ कुछ वाक्य-रचना का दोष है। अवश्य ही लेखक अष्टादश-पुराणों को महाभारत का ही भाग कभी न मानते होंगे।

पृ० १२—१२ गव्यूतों को ४८ मील के बराबर एक कोश को दो मील मान लेने की लोक-प्रचलित धारणा पर ही लिखा गया प्रतीत होता है। वस्तुतः एक कोस २०२२ गज़ के बराबर होता है और एक मील १७६० गज़।

पृ० ३७—"तत्कालीन धर्मशास्त्रवेत्ताओं के अनुसार गुण, कर्म, विद्या और स्वभाव देखकर समान गुण शील कन्या से विवाह करना गांधर्व विवाह है। ब्राह्मणों को इसी प्रकार विवाह करना चाहिए।" यहाँ पर लेखक को उन शास्त्रावतरणों को अवश्य दे देना चाहिए था, क्योंकि मनुस्मृति के अनुसार प्रथम तो गांधर्व-विवाह का यह स्वरूप ही नहीं और दूसरे ब्राह्मण के लिये गांधर्व-विवाह श्रेष्ठ भी नहीं है।

पृ० १०६—अश्मक-राज्य की भौगोलिक स्थिति नहीं लिखी गई। बुद्ध के समकालीन १६ राज्यों का वर्णन अवश्य कुछ विशद होना चाहिए था।

पृ० १४२—अप्रकाश तस्करों के विषय में शब्दार्थ-चिंतामणि का यह प्रमाण है—

"प्रच्छन्नतस्कारास्तेते ये सेनानाटविकादयः।"

इसके अर्थ किए हैं—और अप्रकाश तस्कर वे होते हैं जो दलालों द्वारा कमाते हैं। यहाँ दलाली किस शब्द का भाव है, यह बात स्पष्ट नहीं होती। लेखक को महाभारत के समय का राजनैतिक मान-चित्र अवश्य देना चाहिए था। महाभारत के वर्तमान लक्षाधिकात्मक श्लोक के प्रत्येक श्लोक को महाभारतकालीन मानकर उससे ऐतिहासिक निष्कर्ष निकालने पर पाश्चात्य रीति से इतिहास का मनन करनेवालों को बहुत कुछ सच्ची आपत्ति हो सकती है। जावा, बाली द्वीपों में जो महाभारत का संस्करण प्रचलित है, वह आधुनिक उपलब्ध संस्करण से भिन्न है। हमारे ७४३ श्लोकी गीता के स्थान में उसमें केवल ७० श्लोकी गीता ही है। स्वयं महाभारत में ही उसके तीन संस्करण होने लिखे हैं—जय इतिहास ८,८०० श्लोक, भारत-ग्रंथ २४,००० श्लोक, महाभारत १ लक्ष श्लोक। आचार्य रामदेवजी सारे महाभारत को ही तत्कालीन मान कर चले हैं। पर सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि इससे राजनीति के सिद्धांत स्थिर करने में अधिक क्षति नहीं होती।

आजकल हिंदी में लिखे जानेवाले इतिहास-विषयक या अन्य ग्रंथों में भी एक लंबी सहायक ग्रंथ-सूची (बिबिलियोग्राफ़ी) देने की प्रथा चल पड़ी है। रामदेवजी ने भी उसी का अनुकरण किया है। कहना पड़ता है कि हम इस प्रणाली को सदोष समझते हैं। हमारे मत से ग्रंथ की प्रामाणिकता कहीं अधिक बढ़ जाती है, यदि सिर्फ़ यह न कहकर कि हमने अपनी किताब में अमुक ग्रंथ से काम लिया है, जहाँ-जहाँ उससे कुछ बात ग्रहण की हो, वहाँ-वहाँ उसके निश्चित पृष्ठों का प्रमाण देने की नीति का पालन किया जाय। हिंदी-लेखकों को इस प्रथा में अवश्य सुधार करना चाहिए।

अब हम लेखक का ध्यान एक बड़ी भयंकर भूल की ओर दिलाना चाहते हैं।

भूमिका पृष्ठ २ पर लिखा है—"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि महाभारत का महायुद्ध ईसवी सन् से ३,१०० वर्ष पूर्व हुआ। यही बात स्वीकार करके मैंने प्राग्बौद्धकालीन राजनैतिक इतिहास का वर्णन इस खंड में किया है।" प्रथम तो इस विश्वास के प्रतिपादन के लिये महाभारत के काल-निर्णय पर एक परिशिष्ट अवश्य देना चाहिए था। दूसरे, इस विश्वास के कारण लेखक ने जो बड़ी ज़बर्दस्त ठोकर खाई है, उसका प्रतीकार नहीं हो सकता। पृ० ६४ पर शिशुनाग-वंश का वर्णन करते हुए बिंबसार का समय १८४३ ई० पू० से १८१५ ई० पू० लिखकर 'राजा बिंबसार भगवान् बुद्ध का समकालीन था' ऐसा लिखा गया है। पृ० १४१ पर लिखा है कि महात्मा बुद्ध का जन्म ईसा से कम-से-कम ५०० वर्ष पूर्व हुआ था। एक ओर बिंबसार को ईसा से १९वीं सदी पूर्व में रखकर बुद्ध को उसका समकालीन बना दिया और फिर बुद्ध को ईसा से छठी शताब्दी पूर्व में रख देना—यह अक्षम्य ऐतिहासिक भूल है।

प्रो० जायसवाल ने शिशुनाग और नंद-वंशों के काल-निर्णय-नामक अपने प्रसिद्ध निबंध में लेखक की तीनों भूलों का निराकरण किया है। प्रथम तो उन्होंने पौराणिक, जैन और बौद्ध तीनों प्रमाणों के आधार पर बुद्ध भगवान् का निर्वाण काल ५४३ ई० पू० निश्चित करके सिंहल की अनुश्रुति के साथ उसका मेल कर दिया है। इससे बुद्ध का जन्म ५४३+८०=६२३ ई० पू० में ठहरता है। स्मिथ महोदय ने भी इसे मान लिया है। बुद्ध का समय निश्चित हो जाने से बिंबसार का और समस्त शिशुनाग-राजाओं का समय निर्णीत हो जाता है। यहाँ सब प्रमाण देने के लिये स्थान नहीं है, पर इतना जानना यथेष्ट है कि शिशुनाग-वंश का प्रारंभ लगभग ७२७ ई०पू० में हुआ था और बिंबसार का समय ६०१ से ५५२ तक है। प्रद्योत राजा बिंबसार का समकालीन था। बौद्ध-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि बिंबसार, उदयन, प्रसेनजित् और प्रद्योत ये चारों बुद्ध के समकालीन थे। प्रद्योत-वंश को शिशुनाग-वंश से पूर्व रखना असंगत है। बार्हद्रथ-वंश के १२ राजा महाभारत से पूर्व हो चुके थे और ३२ राजा बाद में हुए हैं। इन्होंने ६६७ वर्ष राज्य किया। बार्हद्रथ-वंश के बाद ही शिशुनाग-वंश का प्रारंभ हुआ। यह सब सप्रमाण श्रीजायसवाल ने स्थापित किया है। महाभारत का काल इस निबंध के अनुसार १४२० ई० पू० है। लगभग इसी समय परीक्षित का अभिषेक हुआ। प्रो० तिलक भी

महाभारत को ईसा से १,५०० वर्ष पूर्व मानते थे। त्रिपुर-राज्य में जो राज्य की वंशावली सुरक्षित है और जिस पर सरदार माधवराव कीबे ने ऐतिहासिकों का ध्यान पहले दिलाया था, उससे भी १५०० ई० पू० का ही समर्थन होता है (दे० 'सरस्वती' जुलाई १६२५)। पृ० ६८ पर रामदेवजी ने स्वयं अर्जुन से उदयन तक २७ पीढ़ियों के नाम लिखे हैं। उदयन का समय तो छठी शताब्दी ई० पू० निश्चित ही है। प्रो० जायसवाल के मत से २७ पीढ़ियों के लिये १४५०—६००=८५० वर्ष होने से एक पीढ़ी का औसत ३१ वर्ष के लगभग आता है। परंतु रामदेवजी के अनुसार महाभारत का समय ३,१०० वर्ष पूर्व मान लेने से २७ पीढ़ियों के हिस्से में २,५०० वर्ष पड़ते हैं और उन्हीं की गणना से एक पीढ़ी का औसत ९२ वर्ष ठहरता है, जो कि असंभव ही है; क्योंकि पुराणों में भी इतना औसत राज्य-काल कहीं नहीं लिखा है। यही बात प्रसेनजित (जो कि महाभारतकालीन बृहद्बल से २८वाँ राजा था) वाले सूर्य-वंश के विषय में भी घटित होती है, उसमें भी एक राजा का औसत राज्य-काल ९० वर्ष आता है। इसलिये गणना करते समय लेखक का ध्यान इस ओर आकृष्ट होना चाहिए था। महाभारत के विषय में प्राचीन लेखक कल्हण को भी भ्रम था। जान पड़ता है, उस समय भी सत्य ऐतिहासिक अनुश्रुति का लोप हो चुका था। कल्हण ने इस बात का खंडन किया है कि महाभारत द्वापर के अंत में हुआ। राजा इक्ष्वाकु सूर्य-वंश के पहले राजा हैं। वे सतयुग में हुए। उनसे लेकर मेगेस्थनीज़ तक १५३ राजा हो चुके थे। इन्हीं १५३ राजाओं में हमें चारों युगों को खपा देना है। यदि हम सतयुग को १७ लाख और त्रेता को १२ लाख वर्ष की अवधि को मानकर इतिहास-संबंधी पुस्तकों में भी अपनी धार्मिक धारणाओं को स्थान देंगे, तो महान् अनर्थ उपस्थित होगा। इन युगों की परिमाण-संख्या का भी दूसरा अर्थ है, जिसके प्रतिपादन का यह स्थान नहीं। हमें मानवी युगों से ही काम लेना है। दैवी युगों की कल्पना सृष्टि-विषय में ठीक घटती है। इस प्रकार अगले संस्करण में अवश्य ही महाभारत का समय निश्चित करके इन समस्त असंगतियों को मिटा देना चाहिए।

ऐतिहासिकों का मत है कि शुक्र-नीति का ऐसा कोई समय नहीं है, जैसा लेखक ने माना है, अर्थात् वह किसी युग-विशेष का इतिहास नहीं है। वह सिद्धांत ग्रंथ है। उसमें वास्तविक राज्य-प्रबंध का भी वर्णन है। उसका उपयोग राजनीति के सिद्धांत (हिंदू-पॉलिटिकल-थ्योरीज़) के लिये ही होना चाहिए।

पृ० ११३ पर सूत्र-ग्रंथों का समय महाभारत से पहले माना है। यहाँ यदि लेखक का तात्पर्य महाभारत-ग्रंथ की रचना से पूर्व का है, तो ठीक हो सकता है; क्योंकि महाभारत का आधुनिक स्वरूप स्मृति-ग्रंथों का समसामयिक प्रतीत होता है। पर यदि उसका तात्पर्य महाभारत-युद्ध से हो, तो यह बात ठीक नहीं; क्योंकि अधिकांश सूत्र-ग्रंथों की रचना महाभारत के बाद ही हुई है।

अंत में, हम इतना कहना चाहते हैं कि यह इतिहास भारतीय इतिहास-विषयक ग्रंथों में एक बड़ी कमी को पूरा करता है। इसे अपने विषय की अपूर्व पुस्तक कह सकते हैं; क्योंकि सामान्य प्रथा बुद्ध के बाद से इतिहास लिखने की है। इस पुस्तक के पढ़ने से हमें अनेक नई बातें ज्ञात हुई हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल

× × ×

२. अर्थ-शास्त्र

व्यापार-दर्पण—लेखक, पंडित अविनाशचंद्र पांडेय बी० ए०, एल्-एल्० बी० ; प्रकाशक, अखिलभारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा, ६०, हॅरिसन रोड, कलकत्ता ; पृष्ठ-संख्या ४७० ; आकार २०×३० सोलहपेजी ; कागज़, छपाई साधारण ; मूल्य सजिल्द २)

इस पुस्तक का आधे से अधिक भाग काटन साहब की Handbook of Commercial Information for India के पाँचवें, सातवें, आठवें भागों के आधार पर लिखा गया है; परंतु केवल एक जगह छोड़कर कहीं पर भी इसे स्वीकार नहीं किया गया। उत्तम अँगरेज़ी पुस्तकों से अनुवाद करना या उनके आधार पर हिंदी में पुस्तक लिखना हम बुरा नहीं समझते; परंतु इस बात को स्वीकार कर लेना आवश्यक है, जिससे कोई यह न समझ बैठे कि पूर्ण पुस्तक मौलिक है।

इस पुस्तक में सात परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में भारत की वर्तमान आर्थिक दशा का दिग्दर्शन किया गया है और दूसरे में बंदरगाह और व्यवसाय-केंद्रों की सूची

दी गई है । तीसरा परिच्छेद सबसे बड़ा है । इसमें भारत के विदेशी व्यापार पर, ख़ासकर निर्यात पर, काफ़ी प्रकाश डाला गया है । चौथे परिच्छेद में व्यापार की मंडियों का हाल है और पाँचवें परिच्छेद में एक्सचेंज-टेबुल दिए गए हैं । शेष दो परिच्छेदों में वज़न-तालिका और रेलवे-संबंधी नियम दिए हुए हैं ।

इस पुस्तक से उन व्यापारियों को विशेष लाभ होगा, जो भारत के निर्यात व्यापार में लगे हुए हैं और अँगरेज़ी नहीं जानते । आंतरिक व्यापार का महत्त्व विदेशी व्यापार से बहुत अधिक है; परंतु इसके संबंध में इस पुस्तक में बहुत कम लिखा गया है । हमारी सरकार भी आंतरिक व्यापार-वृद्धि की तरफ़ यथेष्ट ध्यान नहीं दे रही है । समालोच्य पुस्तक को हम व्यापार-दर्पण न कहकर विदेशी व्यापार-दर्पण कह सकते हैं ।

अखिलभारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा तथा पंडित छविनाथजी पांडेय को इस पुस्तक के प्रकाशित करने और लिखने के लिये हम हार्दिक बधाई देते हैं । भारत के व्यापारियों और अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थियों को इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठाना चाहिए ।

× × ×

तीसी—प्रकाशक, अखिलभारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा का व्यापारिक बोर्ड १६०, हरिसन रोड, कलकत्ता ; पृष्ठ-संख्या १६४ ; बढ़िया चिकना कागज़, सुंदर जिल्द-सहित ; छपाई साधारण, मूल्य ४॥)

अखिलभारतवर्षीय मारवाड़ी अग्रवाल महासभा के व्यापारिक बोर्ड ने व्यापार-संबंधी विषयों पर हिंदी में पुस्तकें लिखवाकर प्रकाशित करने का पवित्र कार्य हाथ में लिया है । बोर्ड का प्रयत्न सराहनीय है । प्रस्तुत पुस्तक इसी बोर्ड द्वारा बढ़िया चिकने काग़ज़ पर क़रीब ५० चित्रों-सहित प्रकाशित की गई है । पुस्तक सुंदर जिल्द से भी सुशोभित है । इसकी सज-धज देखते हुए इसका मूल्य साढ़े चार रुपया बहुत अधिक नहीं है ।

पुस्तक को आदि से अंत तक पढ़ जाने पर भी यह पता नहीं लगता कि इसके लेखक कौन हैं ? मालूम नहीं लेखक का नाम इस पुस्तक में क्यों नहीं दिया गया ? जिस व्यक्ति ने दिन-रात कठिन परिश्रम करके पुस्तक लिखी, उसका नाम पुस्तक में कहीं न देना कहाँ तक उचित है, इस प्रश्न का निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं । हम तो प्रकाशक की इस नीति का किसी प्रकार भी समर्थन नहीं कर सकते ।

हम अनुमान करते हैं कि इस पुस्तक के लेखक हैं, श्रीमान् पंडित गौरीशंकरजी शुक्ल, 'पथिक', बी० कॉम० । हमारे इस अनुमान का आधार 'मनोरमा' के सितंबर और दिसंबर १९२६ के अंकों में प्रकाशित 'अलसी'-शीर्षक दो लेख हैं । इन दोनों लेखों के लेखक पथिकजी हैं । इन दोनों लेखों में जो कुछ लिखा हुआ है, वह इस पुस्तक के प्रथम ३३ पृष्ठों में दिया हुआ है । यह निम्न-लिखित तीन दशाओं में ही संभव हो सकता है : या तो इस पुस्तक के लेखक ने बिना स्वीकार किए पथिकजी के लेखों पर हाथ साफ़ किया है, या प्रकाशित होने के पहले यह पुस्तक किसी प्रकार से पथिकजी के हाथ चढ़ गई और उन्होंने दो लेख मनोरमा में अपने नाम से प्रकाशित करा डाले हैं, अथवा दोनों के लेखक पथिकजी ही हैं । इन सब बातों का रहस्य तो पथिकजी या इस पुस्तक के प्रकाशक ही जानें । यदि हमारा अनुमान ठीक है और इस पुस्तक के लेखक पथिकजी ही हैं, तो हमारी समझ में आपका नाम न देकर प्रकाशक ने बड़ी भूल की । आपका नाम देने से पुस्तक का महत्त्व बढ़ ही जाता ।

यह पुस्तक ६ भागों में विभाजित की गई है । प्रथम भाग में तीसी के पैदावार के संबंध में विचार किया गया है । दूसरे और तीसरे भागों में तीसी का तेल निकालने के तरीके चित्रों-सहित समझाए गए हैं । चौथे भाग में तेल के भिन्न-भिन्न उपयोग बतलाए गए हैं और पाँचवें भाग में तीसी के रेशे से कपड़े तैयार करने के संबंध में विचार किया गया है । छठे भाग में तीसी के देशी और विदेशी व्यापारियों की नामावली दी गई है और अंत में उन फर्मों के पते दे दिए गए हैं, जिनके यहाँ से तीसी के उद्योग में काम आनेवाली मशीनें मँगाई जा सकती हैं ।

इस पुस्तक में प्रूफ़-संबंधी बहुत ग़लतियाँ रह गई हैं । कहीं-कहीं पर भाषा इतनी क्लिष्ट हो गई है कि लेखक के भाव आसानी से समझ में नहीं आते । यदि इस पुस्तक के प्रूफ़ सावधानता-पूर्वक देखे जाते और वह किसी योग्य संपादक द्वारा संपादित की जाती, तो उसके अधिकांश दोष दूर हो जाते । पुस्तक के आरंभ में विषय-सूची का अभाव बहुत खटकता है । पुस्तक का कुछ भाग किसी अमेरिकन पुस्तक के आधार पर लिखा हुआ मालूम होता है,

परंतु लेखक महाशय ने इसके उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं समझी। यदि सहायक पुस्तकों की सूची और पारिभाषिक शब्दों की सूची इस पुस्तक के अंत में जोड़ दी जाती, तो इसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

हिंदी में अपने विषय पर शायद यह पहली ही पुस्तक है। यह बहुत परिश्रम से लिखी गई है और अत्यंत उपयोगी है। भारतीय व्यापारियों को इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिए। प्रत्येक लायब्रेरी में इसकी एक प्रति अवश्य रहना चाहिए।

× × ×

कौटिल्य अर्थ-शास्त्र-मीमांसा (प्रथम खंड)—लेखक, श्रीयुत गोपालदामोदर तामस्कर एम्० ए० एल्-टी०; प्रकाशक, इंडियन-प्रेस लिमिटेड प्रयाग; आकार २०×३० सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या २४५+६; कागज़-छपाई उत्तम; मूल्य केवल १॥)

कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र पर संस्कृत में एक बड़ा ग्रंथ लिखा है। उसमें राज्य-शासन व्यवस्था-संबंधी जो बातें दी गई हैं, उनका आलोचनात्मक पूर्ण विवेचन श्रीमान् तामस्करजी ने इस ग्रंथ में हिंदी में किया है। पुस्तक बहुत ही सरल भाषा में बड़े परिश्रम से और अध्ययन के बाद लिखी हुई मालूम होती है। इस पुस्तक के पढ़ने से कौटिल्य की राज्य-शासन-व्यवस्था बहुत आसानी से समझ में आ जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक के १२ अध्याय और तीन परिशिष्ट हैं। प्रथम दो अध्यायों में कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र के सामान्य स्वरूप का दिग्दर्शन किया गया है। तीसरे अध्याय में राजा, अमात्य और मंत्रियों के संबंध में विचार किया गया है। चौथे और पाँचवें अध्यायों में कौटिल्य के समय की ग्राम-शासन-व्यवस्था तथा नगर-शासन-व्यवस्था संक्षेप में समझाई गई है। छठे अध्याय में राज्य-शासन के भिन्न-भिन्न विभाग तथा उनके अध्यक्षों का कर्तव्य बतलाया गया है। सातवें अध्याय में उन नियमों का दिग्दर्शन किया गया है, जो कि राज्य-कर्मचारियों के संबंध में कौटिल्य ने अपने ग्रंथ में दिए हैं। आठवें अध्याय में उस समय की न्याय-शासन-व्यवस्था समझाई गई है और नवें अध्याय में यह बतलाया है कि उस समय राज्य के आय के साधन क्या थे और राज-व्यय तथा राज्य-व्यय किन मदों पर किया जाता था। दसवें और ग्यारहवें अध्यायों में यह बतलाया गया है कि किस समय किस नीति का उपयोग करना चाहिए। कौटिल्य की कुटिल नीति पर विशेष-रूप से प्रकाश डाला गया है। अंतिम अध्याय में राज्य का स्वरूप दिखलाते हुए ऐसे उदाहरण दिए गए हैं, जिसमें राजा को लोक-हित कार्य करते समय आवश्यकतानुसार व्यक्ति-स्वातंत्र्य भी न मानना चाहिए। अंत के तीन परिशिष्टों का राज्य-शासन-व्यवस्था से विशेष संबंध नहीं है।

पुस्तक में कई स्थानों पर 'कौटिल्य अर्थ-शास्त्र' के श्लोकों का अनुवाद दिया हुआ है या उनके आधार पर विवेचना की गई है। क्या ही अच्छा होता, यदि लेखक महाशय यह भी बतला देते कि वे श्लोक कौटिल्य अर्थ-शास्त्र के किस अधिकरण और अध्याय में दिए हुए हैं? यदि पुस्तक के अंत में पारिभाषिक शब्दों की सूची जोड़ दी जाती, तो उसकी उपयोगिता और भी बढ़ जाती।

पुस्तक उत्तम है। प्रत्येक अर्थ-शास्त्र-प्रेमी को इस ग्रंथ से लाभ उठाना चाहिए। आशा है, हिंदी-संसार इसका उचित आदर करेगा और श्रीमान् तामस्करजी दूसरे संस्करण के समय अपनी समस्त कल्पनाओं को कौटिल्य अर्थ-शास्त्र-मीमांसा को परिपूर्ण रूप में हिंदी-संसार के सामने रक्खेंगे।

दयाशंकर दुबे

× × ×

३. कविता

प्रतिध्वनि—लेखक, बा० जयशंकर 'प्रसाद'; प्रकाशक, साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी; मू० ।≈); छपाई-कागज़ साधारण।

इस पुस्तक में 'प्रसादजी' ने विभिन्न विषयक पंद्रह छोटी-छोटी कहानियाँ दी हैं। 'पाप की पराजय', 'दुखिया' और 'प्रलय'-शीर्षक कहानियाँ चरित्र-चित्रण में अच्छी बन पड़ी हैं। भाषा मुहाविरेदार तथा प्रौढ़ता के रंग में रँगी हुई है। पुस्तक प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है।

× × ×

४. नाटक

शहीद संन्यासी (नाटक)—लेखक, लाला किशनचंद 'ज़ेबा'; प्रकाशक, लाजपतराय ऐंड संस पब्लिशर्स, लाहौर; साइज़ क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या ११९; मू० ॥); टाइटिल पर स्वामी श्रद्धानंदजी का एक तिरंगा चित्र भी है।

प्रस्तुत नाटक के रचयिता 'ज़ेबा' महाशय इसके पूर्व 'ज़ख़्मी पंजाब'-नाटक लिख चुके हैं, जो ज़ब्त हो चुका है। 'शहीद संन्यासी'-नाटक स्टेज पर खेलने-योग्य लिखा गया है। स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानंदजी की गुरुकुल-स्थापना उसके लिये आत्म-त्याग और कठिनाइयों का उठाना, अछूतों के प्रति प्रेम, संगठन के लिये सच्चा अनुराग तथा

जाति-हित के लिये गोलियाँ खाकर जीवनोत्सर्ग करना आदि विषय अच्छे ढंग से प्रदर्शित किए गए हैं। हाल ही में यह पुस्तक पंजाब-सरकार ने ज़ब्त कर ली है। हमें यह देखकर आश्चर्य और खेद दोनों हुए, आश्चर्य इस बात का कि इसमें ऐसी कौन-सी बात है, जो हिंदू-मुसलिम मनोभावों में विद्वेष फैला सकती है, जिसकी रक्षा करने के लिये पंजाब-गवर्नमेंट को यह कष्ट उठाना पड़ा। और खेद इस बात का हिंदू-भावों को अकारण ही कुचलने के लिये, भेद-नीति को सफल बनाने के लिये, हमारी छोटी-से-छोटी बात भी शासकों की नज़रों में खटकने लगती है। गुलामी के बंधन-पाशों से जकड़ी हुई जाति पर जो कुछ न आ पड़े, वह थोड़ा ही है; परंतु न्याय की दुहाई देनेवाली सरकार हमारे साथ कहाँ तक न्याय कर रही है, यह सब पर विदित है। क्या पंजाब सरकार ने ऐसा करके हिंदुओं के साथ वास्तव में कोई न्याय किया है—इस पर विचार करने की कृपा करेगी?

पुस्तक के प्रूफ़-संशोधन में बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। हिंदी-शब्दों के साथ कहीं-कहीं फ़ारसी, उर्दू के क्लिष्ट शब्द प्रयुक्त हुए हैं। भाषा की रोचकता ऐसे स्थानों पर नष्ट हो गई है, तो भी पुस्तक पठनीय है और शांतिमय प्रेम-वारि-सिंचित उपायों से हिंदू-संगठन की शिक्षा देती है।

× × ×

५. फुटकल

संलाप—रचयिता, श्री० रायकृष्णदासजी; प्रकाशक, साहित्य-सदन चिरगाँव, झाँसी, मू० ।≈)

'संलाप' में लेखक महोदय ने, १. समीर और सुमन, २. हीरा और कोयला, ३. सागर और मेघ, ४. शुक और कपोत, ५. उर्वशी और अर्जुन की वार्त्तिक उक्तियाँ दी हैं। प्रश्नोत्तर गंभीर तथा आलंकारिक भाषा में हैं। यह एक प्रकार से गद्य-काव्य के रूप में है। अर्जुन और उर्वशी का संक्षेप संवाद जितना सरस उतना ही युक्ति-युक्त है। मानव-जीवन का आदर्श दैवी संपदा से भी गुरुतर दिखाने में धनंजय ने रूपगर्विता उर्वशी के समक्ष विजय प्राप्त की। पुस्तक पढ़ने-योग्य है।

× × ×

रामानंद औषधी योग-दर्शन—लेखक, श्री० योगिराज रामानंदजी ब्रह्मचारी; प्रकाशक, पुरुषोत्तमनाथ, हठार बाज़ार, शाहआलमी दरवाज़ा, लाहौर; मू० ॥-)

आपने पुस्तक में दवाई के प्रयोग से योगाभ्यास में कैसे सहायता मिलती है, इस विषय पर प्रकाश डाला है। और योग करने की क्रियाएँ दिखाई हैं। योगी की दिव्य दृष्टि का भी कुछ वर्णन किया है। भाषा साधारण चलतू मुहाविरे की है। पुस्तक प्रकाशक से प्राप्त हो सकती है।

× × ×

तुलनात्मक भाषा-शास्त्र—ग्रंथकर्ता, डॉ० मंगलदेव शास्त्री, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्० (पंजाब), डी० फ़िल (ऑक्सफ़ोर्ड), भूतपूर्व गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया स्टेट स्कालर; अध्यक्ष, प्रिंस ऑफ़ वेल्स गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, सरस्वती-भवन, बनारस; प्रकाशक, पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा, एम्० ए०, एल्० एल्० बी०, साहित्योदय-ग्रंथमाला-कार्यालय, ईंगालिशिया लाइन, बनारस कैंट; आकार मँझोला; पृष्ठ-संख्या पौने चार सौ; छपाई-सफ़ाई उत्तम; मूल्य २।|≈)

मैंने श्रीमंगलदेवजी शास्त्री की लिखी हुई 'तुलनात्मक भाषा-शास्त्र' नाम की पुस्तक को आद्योपांत देखा। इसका दूसरा नाम 'भाषा-विज्ञान' भी है। पुस्तक रुचिकर, सुपाठ्य, सुबोध, ज्ञान-वर्धक और बहुत उत्तम है। भाषा-शास्त्र के प्रायः सभी विषयों का सिंहावलोकन इसमें किया गया है। जहाँ तक मुझे विदित है, हिंदी में यह पहला ग्रंथ है। जिसमें इस प्रकार से इस नवीन प्रायः और बड़े रोचक शास्त्र का सर्वांग संग्रह संक्षेप से किया गया हो।

हिंदी के मासिक और दैनिक पत्रों में, किसी-किसी अंग पर कुछ वर्षों से, कभी कदाचित् कुछ लेख देख पड़ने लगे थे और भाषा, वाणी की उत्पत्ति, शब्द की शक्ति, उसका अंतःकरण से और जीव से संबंध, जीव के कारण, सूक्ष्म-स्थूल उपाधियों के अनुसार वाक् का परा अर्थात् अव्यक्त अवस्था से क्रमशः पश्यंती, मध्यमा और वैखरी-रूप से व्यंजन इत्यादि, अर्थात् वाक्-संबंधी आध्यात्मिक दर्शन—इस पर तो संस्कृत के व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि के ग्रंथों में बहुत सूक्ष्म विचार किया है, जितना स्यात् अभी तक योरप के ग्रंथों में नहीं किया गया है और जिसका संकेतन-मात्र 'भाषा का मानसिक आधार' के उल्लेख से इस 'भाषा-विज्ञान' ग्रंथ में किया गया है। कारण—प्रायः इसका यह होगा कि 'साइंस ऑफ़् लैंग्वेज' और 'फ़िलासोफ़ी-ऑफ़् लैंग्वेज' में विवेक किया जा सकता है। यद्यपि दूर जाकर दोनों का बहुत संबंध देख पड़ता है। एक प्रकृति-रूप मूल-भाषा से, दूसरी बहुत-सी विकृति-रूप भाषा क्यों और कैसे उत्पन्न होती है और 'ग्रिम महाशय के नियम' का स्वयं क्या

कारण है ? क्यों उसी के अनुसार वर्ण-परिवर्तन आदि होता है, इस सबका पता स्यात् इस 'वाक्-दर्शन' से ही चलेगा। पर यह सब पता लगाने को अभी पड़ा हुआ है। पथ-प्रदर्शक का काम हिंदी में श्रीमंगलदेवजी की पुस्तक बहुत उत्तम रीति से करती है। आशा है, वे स्वयं और ग्रंथ इस विषय का विस्तार करने को लिखेंगे तथा दूसरे विद्वान् गवेषक भी। कहा भी है—

"वर्त्म कर्षति पुरः पुनरेकस्तस्य विस्तरकरोऽपि महार्हः।"

जिन लोगों ने केवल संस्कृत का 'व्याकरण' देखा है अथवा 'शिक्षा' और 'निरुक्त' पर भी ध्यान दिया है, उनके लिये इस ग्रंथ में बुद्धि-विकाश, उदारता-वृद्धि और संकोच-ह्रास की सामग्री है; क्योंकि इसमें पृथ्वी-मंडल की भूत और वर्तमान सैकड़ों मानव-जातियों की सैकड़ों भाषाओं की उत्पत्ति और लय की चर्चा की है और उनका कई मुख्य परिवारों में राशीकरण दिखाया है, जिनकी चर्चा संस्कृत-ग्रंथों में कुछ भी नहीं मिलती है; "यदा भूत-पृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति" यह अंश 'फ़िलासोफ़ी' का, ज्ञान का, सामान्य के ज्ञान का तो संस्कृत-ग्रंथों में मिलता है, पर "तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा" यह अंश विज्ञान का, विशेषों के ज्ञान का, 'साइंस' का लुप्त-प्राय हो रहा है। इसी की पुनः संपन्नता के लिये, पूर्ति के लिये अंतर्यामी ने भारतवर्ष में पाश्चात्यों को भेजा है। इस देश के निवासियों को तथा पाश्चात्यों को चाहिए कि इस समागम से लाभ उठावें और एक दूसरे के गुणों का, विशिष्ट ज्ञानों का ग्रहण करें। जो घर से बाहर कभी नहीं निकला, वह "कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया" समझा करता है। घर से बाहर निकलकर देशाटन करके अपनी अवस्था की दूसरों की अवस्था के साथ समीक्षा-परीक्षा करके ही, मनुष्य में मनुष्यता संपन्न होती है। अपने भी गुण-दोष ठीक-ठीक जान पड़ते हैं और दूसरों के भी। गुण-ग्रहण और दोष-हरण की शक्ति बढ़ती है।

"विद्या ददाति विनयं......वृद्धेः फलमनाग्रहः।"

मैं आशा करता हूँ कि श्रीमंगलदेवजी की इस 'भाषा-विज्ञान'-पुस्तक का हिंदी पढ़नेवालों में भी तथा संस्कृत के विद्वानों में भी अच्छा प्रचार होगा, और कालेजों के पाठ-क्रम में इसका समावेश किया जावेगा।

भगवानदास

---

१. ईश्वर का स्वरूप

दार्शनिकों ने तो ईश्वर का स्वरूप निराकार माना है—और उस निराकारता के भी अनेक भेद हैं—किंतु मत निर्माताओं ने स्पष्ट रूप से ईश्वर को साकार न कहते हुए भी उसका जो गुण-गान किया है, वह उसकी साकार कल्पना ही पर आधारित है। निराकार की कल्पना तो हो ही नहीं सकती। हाँ, तर्क और बुद्धि से उसे स्वीकार किया जा सकता है। पर जब तक कोई साकार वस्तु हमारे सामने न हो, हमें उसमें श्रद्धा और भक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती। हवा हमारे जीवन के लिये परमावश्यक वस्तु है, जल के भी हम कृतज्ञ हैं, लेकिन इनके प्रति हम उस वक़्त तक कृतज्ञता और भक्ति के भाव नहीं प्रकट कर सकते, जब तक हम उनको ऐसे रूप में न खड़ा कर लें, जो हमारी भक्ति और उपासना को समझ सके। इसलिये हमने वायु, जल और अग्नि को देवताओं के रूप में परिवर्तित कर दिया। मानो मतों के क्षेत्र में क़दम रखते ही हमें अपनी बुद्धि को किसी अपवित्र वस्तु की भाँति बाहर रख देना पड़ता है।

जो मत अपने को एकेश्वरवादी मानते हैं, वे भी साकार कल्पना से न बच सके, है भी तो कठिन। ईश्वर निराकार भी हो और अपने भक्तों की पीठ भी ठोंकता रहे। ऐसे ईश्वर की कल्पना किए बिना उस मत की ओर कोई झाँकता भी नहीं। यहूदियों को लीजिए। वहाँ ईश्वर कुम्हार की भाँति मनुष्य की रचना करता है। वह अदन में बाग़ लगाता है, और संध्या समय किसी शौक़ीन रईस की भाँति बाग़ की सैर करता है। यहाँ तक कि हज़रत आदम उसके क़दमों की आवाज़ भी सुनते हैं। बाबुल का मीनार बनने लगता है, तो वह उसे देखने आता है। जिससे मालूम होता है कि वह अपने सिंहासन पर बैठे हुए यह दृश्य न देख सकता था! फिर ख़ुदा की याक़ूब से कुश्ती होती है और याक़ूब उसे पटकनी भी देते हैं! जिस मत के ग्रंथ में ऐसी कथाएँ लिखी हैं, उसके माननेवाले क्या कुछ न करते! उन्होंने ईश्वर की बड़ी भयंकर मूर्तियाँ बनाईं और उसे प्रसन्न करने के लिये नर-बलिदान भी करने लगे!

ईसाई और इसलाम मतों ने इस साकारिता को दूर करने का प्रयत्न तो किया, पर जनता को समझाने के लिये उन्हें भी रूपकों का आश्रय लेना पड़ा, और जनता ने शीघ्र ही रूपकों को यथार्थ समझकर साकार ईश्वर की कल्पना कर डाली। मनुष्य को ईश्वर ने अपने स्वरूप के अनुसार बनाया। इस कथन का आशय तो शायद ईश्वर और मनुष्य में आध्यात्मिक संबंध का निरूपण था; पर भक्तों ने ईश्वर को एक बूढ़े, लंबी डाढ़ीवाले, दयाशील मनुष्य का

रूप दे दिया, जो मिट्टी का ढेर सामने रखके जीवों की रचना कर रहा था। ईश्वर-दर्शन का आध्यात्मिक तत्त्व न समझकर भक्तों ने ईश्वर को एक सिंहासन पर बिठा दिया, जिसे फ़रिश्ते उठाकर चलते थे। हिंदू-मत ने यहाँ अपनी मौलिकता का परिचय दिया और ईश्वर को क्षीर-सागर में शेषनाग की गोद में बैठा दिया। आश्चर्य है कि वेदों में साकार ईश्वर की कहीं चर्चा न होने पर भी हिंदू-मत ने देवताओं की, जो ईश्वर के भिन्न-भिन्न गुण हैं, इतनी विचित्र कल्पनाएँ कैसे कर लीं और एकेश्वरवादी धर्म को प्रतिमावादी क्योंकर बना दिया!

इससे यह प्रकट होता है कि कोई मत, जब तक संपूर्णतः दर्शनों पर आधारित न हो, अपने को मिथ्यावाद से दूर नहीं रख सकता। अगर यही माना जाय कि पुराण रूपक मात्र हैं, तो उस रूपक से क्या लाभ जो मनुष्य को पथ-भ्रष्ट कर दे। रूपक तो एक जटिल प्रश्न को सरल रीति से समझाने की प्रारंभिक क्रिया है। यदि उसका यह फल निकले कि जनता उसके अंदर छिपे हुए तत्त्वों को न समझकर रूपकों ही को तत्त्व मान बैठे, तो उपदेश की यह प्रणाली दूषित हो जाती है। जिस धर्म में पुराण और कथा का जितना ही बाहुल्य है, वह सत्य से उतना ही दूर है। भिन्न-भिन्न मतों ने मनुष्य को मिथ्या-विश्वास के चक्कर में डालकर उसे ईश्वर के वास्तविक ज्ञान से वंचित कर दिया है।

ईश्वर का यथार्थ रूप न समझने के कारण संसार को जो क्षति पहुँची है, उसका अनुमान करना असंभव है। मानव जाति पृथक्-पृथक् जत्थों में विभक्त हो गई है, और एक जत्था दूसरे को ईश्वर का शत्रु समझता है, एक दूसरे का अस्तित्व मिटा देने में ही संसार का कल्याण समझता है। मत-मतांतरों के कारण संसार में कितना रक्त बहा है, ईर्षा और पशुता की कितनी वृद्धि हुई है, इसकी कौन कल्पना कर सकता है? इन मतों ने कैसे-कैसे भ्रम फैलाए हैं! जन्म-भर की दुष्टता पाँच आने के गऊ-दान से धुल जाती है! केवल एक नबी के शरणागत हो जाना कारण और कार्य के प्राकृतिक नियम को तोड़ने के लिये काफ़ी है! गंगा-स्नान और तीर्थ-यात्रा स्वयं मोक्षदायक समझ ली गई हैं!

प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ईश्वर का अवतार मानकर और नबियों को उनके उपदेशों के विरुद्ध ईश्वरीय रूप देकर हमने उन महात्माओं के जीवन का महत्त्व खो दिया है। ईसा का चरित्र ईश्वर के पुत्र के रूप में उतना महत्त्व-पूर्ण नहीं रहता, जितना मनुष्य ईसा का। इसलाम ने भी दबी ज़बान से मुहम्मद को ईश्वर का अवतार माना है। राम एक राजा के पुत्र होकर तो मर्यादा-पुरुषोत्तम हो जाते हैं; पर ईश्वर के अवतार के रूप में उनकी कीर्ति का मूल्य बहुत न्यून हो जाता है। रावण को मारने के लिये ईश्वर का स्वयं अवतार लेना भक्तों ही के मानने की बात है। अवतारों ने ईश्वर की साकारता को दृढ़ करके हमें निराकार के तत्त्व से कितनी दूर कर दिया है, स्पष्ट ही है। जब ईश्वर हमारा मनोरंजन करने के लिये, हमारे सामने नाचने के लिये, अपनी वीरता दिखाने के लिये स्वयं उपस्थित है, तो निराकार की कल्पना कौन करे? जहाँ शून्य तर्क के सिवा और कुछ नहीं।

सारांश यह कि हमें किसी मत में ईश्वर का वह स्वरूप नहीं मिलता, जो बुद्धि-संगत हो और जिस वेग से दर्शन और विज्ञान के रहस्य खुल रहे हैं, उससे यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि वह दिन आनेवाला है। जब मनुष्य-कृत ईश्वरों का अंत हो जायगा, और हम अपने आत्मा की शुद्धि और हृदय की पवित्रता ही में उसका दर्शन करेंगे। हिंदू, यहूदी, ईसाई, इसलाम, ज़रतश्त, इनमें से कोई भी मनुष्य की बुद्धिगत शंकाओं का समाधान कर सकेगा? ईश्वर के स्वरूप का निर्णय भक्ति और विश्वास से नहीं, बुद्धि और विचार से किया जायगा। तब ईश्वर और मनुष्य के बीच में कोई नबी, कोई रसूल तथा कोई अवतार न होगा। मनुष्य ईश्वर को अपने आत्मा में अनुभव करेगा, आँखों से देखकर नहीं, कानों से उसकी आवाज़ सुनकर नहीं, वरन अपनी आत्मा में सद्प्रेरणा का अनुभव करके। सदाचार और सद्विचार ही ईश्वर का वास्तविक स्वरूप है।

× × ×

२. श्रीसुभासचंद्र बोस की मुक्ति

श्रीसुभासचंद्र बोस को इतने दिनों के बाद छोड़कर सरकार ने फिर भेद-नीति का अनुकरण किया। नज़रबंदों में सुभास बाबू ही सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे। उन्हें छोड़ देने से एक ओर तो सरकार की दयाशीलता जनता को मोहित कर लेगी। दूसरी ओर अन्य नज़रबंदों के विपक्ष

में किसी को अधिक चिंता न होगी। नज़रबंदी का क़ानून ज्यों-का-त्यों है, उसमें ज़रा भी इसलाह नहीं हुई। फिर इतने दिनों के आंदोलन का फल क्या निकला? जिस क़ानून से सुभास बाबू एक बार गिरफ़्तार किए गए थे, क्या स्वस्थ हो जाने पर उसी क़ानून से दुबारा नहीं पकड़े जा सकते? प्रश्न व्यक्ति का नहीं, नीति का है। जो नीति एक के लिये है, वह सब के लिये होनी चाहिए। इस विषय पर महात्मा गाँधी ने 'यंग इंडिया' में जो विचार प्रकट किए हैं, वह उनकी स्वाभाविक गंभीरता और निर्भीकता के अनुकूल ही हैं—

"यह मुक्ति इसलिये नहीं हुई कि जन-मति ने उसके लिये आग्रह किया, न इसलिये कि सरकार सुभास बाबू को निरपराध समझती है, न इसलिये कि सरकार की दृष्टि में सुभास बाबू को बहुत काफ़ी सज़ा मिल चुकी; बल्कि केवल इसके लिये कि डॉक्टरों की राय में उनका जीवन संकट में था।"

मगर साधारणतः मरणासन्न क़ैदी भी नहीं छोड़े जाते, बीमारों का कहना ही क्या। क्या यह समझना चाहिए कि नज़रबंदों के लिये एक नई प्रथा निकाली गई है कि जब वे मरने लगें, तो उन्हें छोड़ दिया जाय, या इसका यह आशय है कि हृदयहीन नौकरशाही को भी एक निरपराध व्यक्ति के प्राणों को आतंक में देखकर पश्चात्ताप हुआ? हमें आशा है कि सरकार की इस नीति से हमारा आंदोलन शिथिल न होगा।

× × ×

३. अखिल-भारतीय कांग्रेस-समिति में सम्मिलित निर्वाचन की स्वीकृति

मुसलमानों की ओर से किए गए सम्मिलित निर्वाचन के प्रस्ताव को स्वीकार करके कांग्रेस-कमेटी ने भारतीय राजनीति की लाज रख ली। इस समिति में श्री० डॉक्टर बी० एस्० मुंजे, श्री० केलकर और श्री० जयकर सभी उपस्थित थे, और राष्ट्रीय हित को सांप्रदायिक हित से उच्चतर मानकर उन महाशयों ने सच्ची राष्ट्रीयता का परिचय दिया है। मुसलमानों का यह विचार परिवर्तन हमारे राजनीति के इतिहास में, कदाचित् सबसे महत्त्व-पूर्ण घटना है। सर सैयद अहमद के ज़माने से अब तक मुसलमानों ने हिंदुओं से पृथक् रहने ही में अपना हित समझा था। पर मुसलिम जगत् के साथ साम्राज्यवादी इँगलैंड के व्यवहारों ने अंत में भारतीय मुसलमानों की आँखें भी खोल दीं, और उन्होंने देखा कि अधिकारियों के इशारों की कठपुतली बनकर वे बड़ी भूल कर रहे हैं। मगर इस प्रस्ताव में अभी तक मुसलिम-संख्या की पूर्ति की क़ैद लगी हुई है, जो संभव है। इस प्रस्ताव के लिये घातक सिद्ध हो। यदि मुसलिम नेता यह भी स्वीकार कर लें कि चुने गए मुसलिम मेंबरों की कमी भी संयुक्त निर्वाचन द्वारा ही पूरी हो। हाँ, उसके उम्मेदवार केवल मुसलमान हों। दोनों ही दलों में ऐसे सज्जन मौजूद हैं, जिन्हें संयुक्त निर्वाचन एक आँख नहीं भाता। दोनों दलों को लड़ाकर उन्हें अब लीडर बनने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने का ऐसा अच्छा अवसर न मिलेगा। जगह-जगह उनकी सभाएँ होंगी, इस प्रस्ताव के विरोधी प्रस्ताव पास किए जायँगे, एसेंबली के मुसलिम नेताओं पर कुफ़्र का फ़तवा सादिर होगा, हिंदू नेताओं को द्रोही और विधर्मी कहा जायगा; लेकिन उन महाशयों को अब संतोष करना चाहिए। उनका ज़माना अब निकल गया, जैसा कि अवश्यंभावी था, संसार ने सांप्रदायिकता का अंत कर दिया। केवल भारत अभी तक उसकी उपासना किए जा रहा है। मगर सुशिक्षा और दार्शनिक विचारों के प्रचार के साथ यहाँ भी शीघ्र ही उसका अंत होगा। दार्शनिक उदारता ही सांप्रदायिक संकीर्णता का प्रतीकार कर सकती है। मुसलमानों की कट्टरता देखकर कभी-कभी हिंदू-मुसलिम ऐक्य के कट्टर पक्षपाती को भी निराशा होने लगती है। उसे संदेह होने लगता है कि भारतीय मुसलमानों में कभी उदारता का प्रवेश होगा भी या नहीं; लेकिन तुर्की का वर्तमान उत्कर्ष देखकर हमें भारतीय मुसलमानों से निराश होने का कोई कारण नहीं। ज़रूरत इस बात की है कि हिंदू और मुसलमान युवक युनिवर्सिटी में दर्शन का अवश्य अध्ययन करें। प्राचीन काल में धर्म ही संगठन का मुख्य साधन था। अब ज़माना बदल गया है। अब संगठन का मुख्य साधन राष्ट्रीयता है। यह ख़याल कि हिंदू या मुसलमान अलग-अलग अपने को संगठित करके स्वराज्य स्थापित कर सकते हैं, उन्माद के सिवाय और कुछ नहीं है। मुसलमान गुंडों के साथ न हिंदुओं को लेश-मात्र भी रियायत करनी चाहिए, न हिंदू गुंडों के साथ मुसलमानों को। कोई शरीफ़ मुसलमान या हिंदू अपने स्वजातियों के गुंडेपन पर गर्व नहीं करता। यदि मुसलिम नेता लाला लाजपत-

राय के उस विचार पर ध्यान देते, जो इँगलैंड जाते समय उन्होंने शुद्धि के विषय में प्रकट किया था, तो इस परस्पर वैमनस्य का सिरे से अंत हो जाता। हिंदू हो या मुसलमान, उसे अपने बंधुओं को शिक्षित और सभ्य बनाने में अपनी धार्मिक सेवाशीलता का उपयोग करना उससे कहीं श्रेयस्कर है कि केवल अपने धर्मानुयायियों की संख्या बढ़ाई जाय और उन्हें पशुवत् जीवन व्यतीत करने दिया जाय, जो पहले ही से संदीक्षित हो चुके हैं।

× × ×

४. राष्ट्रीयता और धर्म

राष्ट्रीयता वर्तमान युग का सबसे अद्भुत आविष्कार है, जिसके सामने हवाई जहाज़ भी हवा हो जाता है। एक देश या प्रांत की संपूर्ण जन-संख्या को इस भाँति संगठित कर देना कि प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिये प्राण तक देने को तैयार रहे, वास्तव में बड़े ही महत्त्व की बात है। राष्ट्र के सामने अब व्यक्ति का कुछ भी मूल्य नहीं। धर्म, समाज और परिवार सब राष्ट्रीय स्वार्थ के अधीन हैं। यद्यपि इस राष्ट्रीयता ने संसार को सैनिक छावनी का रूप दे दिया है, और उस साम्राज्यवादिता को जन्म दिया है, जिसने निर्बल जातियों की निर्बलता से लाभ उठाना अपना मुख्य उद्देश्य बना लिया है, तिस पर भी राष्ट्रवाद का प्रभाव दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। यों कहो कि राष्ट्रवाद ने धर्म का स्थान छीन लिया है। आज तुर्की में मुस्तफ़ा कमाल का जो सम्मान है, वह शायद किसी नबी या औलिया का न होगा। तुर्कों ने जिस तत्परता से धार्मिक भावों और परिपाटियों को राष्ट्रीयता पर बलिदान किया है, वह वास्तव में आश्चर्य-जनक है। इँगलैंड अपने नेलसन और वेलिंगटन की जितनी इज़्ज़त करता है, क्या उतनी ईसाई संतों की करता है? आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड आदि प्रदेशों में नगरों, क़स्बों और बंदरगाहों में एक का नाम भी किसी संत या बिशप के नाम पर नहीं रक्खा गया। अमेरिका ने तो अपने उद्धारक जेनरल वाशिंगटन के नाम पर अपनी राजधानी का नाम रख दिया है। अब चीन के ईसाई भी संतों के नाम पर चलनेवाले शालाओं का नया नामकरण करना चाहते हैं। कोई सन याट सन स्कूल होगा, कोई चेंग स्कूल। इतना ही नहीं, ईसाई पाठशालाओं में दी जानेवाली धर्म-शिक्षा को उठाकर उसकी जगह राष्ट्रीय नियमों और विचारों का प्रचार किया जाय। सोवीट रूस में भी इंजील की जगह अब लेनिन के विचारों और सिद्धांतों की शिक्षा दी जा रही है और गिरजाघरों में सलीब और धार्मिक चित्रों की जगह लेनिन के चित्रों और प्रतिमाओं ने ले ली है।

मगर हमारा प्राचीन भारत उलटी चाल जा रहा है। उसे शायद अभी तक नहीं मालूम हुआ कि यह पंद्रहवीं सदी नहीं, बीसवीं सदी है। हिंदू-मुसलमान दोनों ही संख्याओं की वृद्धि में ही अपना उद्धार समझे हुए हैं; पर राष्ट्रीयता की लहर के सामने यह कच्ची दीवार ठहर नहीं सकती। सभी देशों में उसने मतों पर विजय पाई है और यहाँ भी पायेगी।

× × ×

५. आगे या पीछे

यह निर्णय करना कि संसार आगे जा रहा है या पीछे। कुछ लोगों का मत है कि संसार रसातल को जा रहा है और प्रलय होने में अब थोड़ी ही कसर है। कलंकी अवतार हुआ ही चाहता है। इसके विपरीत अधिकांश विचारकों का मत है कि हम उन्नति की ओर जा रहे हैं और प्रमाण-स्वरूप वे वर्तमान वैज्ञानिक चमत्कारों को पेश करते हैं। मगर आगे जा रहे हों या पीछे, सब-के-सब साथ जाना चाहते हैं, कोई पीछे नहीं रहना चाहता। कम-से-कम हमें यह संतोष तो है कि डूबेंगे तो सब-के-सब डूबेंगे! ऐसा तो न होगा कि आगे जानेवाले तो तर जायँ और पीछे रहनेवाले दलदल में फँसे रह जायँ। समय-समय पर जीवन-सिद्धांतों में संघर्ष होता आया है। कभी किसी देश को नेतृत्व का पद प्राप्त हुआ और कभी किसी को। भारत, सीरिया, मिस्र, चीन, यूनान, रोम, अरब सभी अपने-अपने काल में संसार के पथ-प्रदर्शक रह चुके हैं और सभी के जीवन-सिद्धांतों में कुछ-न-कुछ अंतर था। सबसे पिछला युग प्रवर्तक योरप है और वह अपने साथ जीवन के जो आदर्श लाया है, चाहे वे प्राचीन राष्ट्रों के लिये कोई अनोखी या अछूती वस्तु न हों, तो भी उनमें नवीनता अवश्य है। ये आदर्श क्या हैं, इसका निरूपण करना सहज नहीं है, पर स्थूल रूप से कह सकते हैं कि वे जड़वाद या प्रत्यक्षवाद के अंतर्गत हैं। प्रत्यक्षवाद ही योरपीय सभ्यता का मुख्य सिद्धांत है और प्रत्यक्षवाद तर्क-प्रधान होने के कारण अपने व्यावहारिक रूप में

हिंदुस्तानी एकेडमी

बैठे हुए दाहिनी ओर से बाईं को—पंडित श्रीधर पाठक, पं० रामनारायण मिश्र, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय, बा० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', आनरेबल राय राजेश्वरबली, सर तेजबहादुर सप्रू, लाला सीताराम, बाबू श्यामसुंदर दास, मौ० मसऊदहसन, मौ० इख़्तलाक़ हसन नासिरी, मौ० नियाज़, प्रो० ज़ामिन अली खाँ।

दूसरी क़तार में खड़े—श्री प्रेमचंद, रामबाबू सक्सेना, मौ० नईमुर्रहमान, डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी, पं० बदरीनाथ भट्ट, बा० धीरेंद्र वर्मा, मौ० सज्जाद हैदर, मौ० मुहम्मद असकरी, मौलाना सफ़ी।

तीसरी क़तार में—बा० उमानारायण निगम, डॉ० बेनीप्रसाद, पं० मनोहरलाल ज़ुत्शी, डॉ० ताराचंद।

स्वार्थवाद के अनुरूप हो जाता है। यह सभ्य स्वार्थ-चिंतन का युग है। इस युग में प्रत्येक वस्तु स्वार्थ के काँटे पर तौली जाती है और उसका मूल्य निर्धारित किया जाता है। परंपरा, उपकार, मर्यादा, कर्तव्य, सद्विचार, किसी की भी स्वार्थ के सामने परवा नहीं की जाती। यह हम नहीं कहते कि प्राचीन काल में स्वार्थ त्याज्य वस्तु थी। नहीं, मनुष्य सदैव स्वार्थी रहा है और रहेगा। पर प्राचीन काल में स्वार्थ-चिंतन मनुष्य के लिये कलंक का विषय था, इसे ऐब समझकर लोग छिपाते थे। त्याग, परंपरा या सत्य की रक्षा के लिये लोग अपने को बलिदान कर देते थे। कितने ही बड़े-बड़े राज्य दीनों और शरणागतों की रक्षा करने में तबाह हो गए हैं। सिद्धांतों की रक्षा ही के लिये कितने बड़े-बड़े राजाओं ने सिंहासन छोड़कर कमंडलधारी होना स्वीकार किया है। पाश्चात्य देशों में ऐसी मिसालें खोजने से भी न मिलेंगी। योरप के प्राचीन इतिहास में ऐसी मिसालों की कमी नहीं है; पर उस वक्त तक संसार में पूर्व और पश्चिम का विभाग न हुआ था। दोनों दिशाओं में आत्म-वाद की प्रधानता थी। मगर चौदहवीं शताब्दी से योरप में एक नई स्फूर्ति के चिह्न दिखाई देने लगे और अनेक व्यावसायिक तथा प्राकृतिक कारणों ने मिलकर उसे उस क्षेत्र में अग्रसर होने पर प्रस्तुत किया, जहाँ आज हम उसे आरूढ़ पाते हैं। मगर यही काल, जो योरप के लिये विशेष रूप से स्फूर्तिदायक था, एशिया के लिये अनिष्ट-कर सिद्ध हुआ और जब पाश्चात्य जातियों से उसका संसर्ग हुआ, तो उसने विस्मित होकर देखा कि वे शक्ति, विज्ञान, विद्या आदि सभी बातों में उससे कोसों आगे निकल गई हैं। एशिया परास्त हो गया, योरप ने उस पर विजय पाई। ईरान, अरब, चीन, भारत, स्याम, सभी पुरानी लकीरों के फ़क़ीर बने हुए थे, सभी अपने अज्ञान में आत्म-वाद के उपासक बने हुए थे, हालाँकि वह आत्म-वाद मुद्दत हुई, मर चुका था और अब केवल उसका शव रह गया था। अब उन्हें अपनी पराजय की लज्जा और ग्लानि की दशा में अपनी सारी बातें मिथ्या और योरप की सारी बातें सत्य प्रतीत होने लगीं। जापान ने तो बहुत जल्द अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बना लिया। मगर ईरान, चीन, भारत आदि देशों ने जिनको अपनी प्राचीनता तथा अपनी धार्मिकता का गर्व था, इस नई शक्ति का स्वागत करने में बहुत तत्परता न दिखाई। एक शताब्दी के लगभग वे दुविधे में पड़े रहे। कभी इधर, कभी उधर, यहाँ तक कि आख़िर अरब, चीन और ईरान ने भी नई शक्ति के सामने सिर झुकाने ही में अपना कुशल समझी। अब केवल अकेला बूढ़ा भारत एक अनिश्चित दशा में पड़ा सोच रहा है—किधर जाऊँ? सब जातियों से प्राचीन होने पर भी वह अपने को भूला नहीं है। अतीत का मोह अभी तक उसे घेरे हुए है। जब उसकी हिम्मत टूटने लगती है और योरप के आगे सिर झुका देने को चलता है, त्यों ही उसके कानों में कोई ऐसी आवाज़ आ जाती है—कभी योरप से, कभी अमेरिका से—जो उसे फिर उसी संदेह की दशा में ला खड़ा करती है। कभी विल्सन ने सावधान किया, तो कभी मैक्समूलर ने, कभी स्वामी दयानंद सरस्वती ने, तो कभी विवेकानंद ने। अंतिम ध्वनि जो अभी तक उसके कानों में गूँज रही है, वह महात्मा गाँधी की थी। असहयोग आंदोलन का राजनैतिक स्वरूप कुछ ही हो, उसका धार्मिक और सामाजिक स्वरूप अतीत के गौरव को जागृत करने-वाला था। स्वार्थवाद पर इसने ऐसा आघात किया कि जान पड़ता था, अब उसका अंत ही हो रहा है। कितने ही शराब के धती तोबा कर बैठे, कितने ही लोग जिन्हें नई काट-छाँट के वस्त्रों से तृप्ति हो न होती थी, एक-दो खद्दर के कुरतों पर गुज़र करने लगे। सारांश यह कि हमारे सामने एक बार फिर भारत का वह प्राचीन आदर्श मूर्तिमान् हो गया, जिसने किसी ज़माने में संसार को वशीभूत कर लिया था। समाज में जिन सुधारों के लिये अन्य नेतागण बरसों से प्रस्ताव कर रहे थे, वे आप-ही-आप फलीभूत होने लगे। छूत-छात के बंधन टूटने लगे, यहाँ तक कि विवाहादि संस्कारों में नाच देखना भी घृणित समझा जाने लगा। भारत फिर संसार में नवयुग का प्रवर्तक होगा इस कल्पना से हम भी अपने को कुछ समझने लगे; किंतु असहयोग के शिथिल पड़ते ही भारत फिर उसी संदेह में जा पड़ा है। उस संयम की प्रतिक्रिया बड़े वेग से हो रही है। ठाठ और नुमाइश ने फिर ज़ोर बाँधा है। सरल जीवन के साथ उच्च विचार का पुराना आदर्श फिर बहिष्कृत हो रहा है और हम आँखें बंद करके इच्छाओं के पीछे दौड़े चले जा रहे हैं। संयम और दमन का मज़ाक़ उड़ाया जाने लगा है। सादगी से हमें नफ़रत हो गई है। आवश्यकताओं का बढ़ना ही सभ्यता और उन्नति का चिन्ह है, यह विचार जड़ पकड़ रहा है

इच्छाओं की स्वच्छंद गति में बाधा देने से आत्मा संकुचित होती है, यह कथन अब निर्विवाद माना जा रहा है। जो लोग अब भी पुराने सिद्धांतों पर स्थिर हैं, उन्हें humbug बतलाया जा रहा है। शराब बुरी चीज़ नहीं सारी दुनिया पीती है, किसी का कुछ नहीं बिगड़ता, फिर हम उसे क्यों त्याज्य समझें, यह कूप-मंडूकता है। क्यों साहब, इन ख़ुदा के बंदों ने क्या ख़ता की है कि आप उनकी ओर आँख उठाकर देखना भी ऐब समझते हैं? आप तो जीवन को बिलकुल नीरस और शुष्क बना देना चाहते हैं। स्वाभाविक मनोवृत्तियों को रोककर आप दिल को मुर्दा कर देना चाहते हैं, यह सब ढकोसला है। ऐसी ही दलीलें आज सभ्य-समाज में सुनी जा रही हैं, अपने ऋषियों पर तो हमें श्रद्धा ही नहीं रही। हाँ, कोई योरप का विचारक भारतीय आदर्शों का उल्लेख करता था, तो ज़रा देर के लिये हम सगर्व हो जाते थे; पर अब हमें उन पर भी विश्वास नहीं रहा। उनके विचारों में भी हमें राजनीति की बू आती है। हम समझने लगे हैं कि वे हमें कूप-मंडूक बनाए रखने के लिये ही हमारे आदर्शों का आदर करते हैं। यह विचार कि हमारा उद्धार अपने आदर्शों का पालन करने ही में है, योरप का अनुकरण करने में नहीं, अब दक़ियानूसी समझा जाता है; और ऐसा होना स्वाभाविक है। इन विचारों, सिद्धांतों और आदर्शों के संघर्ष में क्या यह निश्चय करना सहज है कि हम आगे जा रहे हैं या पीछे! हम उत्थान की ओर जा रहे हैं या पतन की ओर!

× × ×

६. उमरख़य्याम की नई रुबाई

ईरानी कवि उमरख़य्याम पर योरप के रसिक-समाज की कितनी श्रद्धा है, यह इसी बात से प्रकट होती है कि हाल में उसकी एक ऐसी रुबाई के मिल जाने से जो फ़िट्ज़जेरल्ड के अनुवाद में नहीं है, वहाँ हलचल मच गई है। अब तक रुबाइयों की तीन प्रतियाँ प्रमाणित मानी जाती हैं। एक बाडलीन लाइब्रेरी आक्सफ़ोर्ड में। इस संग्रह में १५८ रुबाइयाँ हैं। दूसरी प्रति एशियाटिक सोसाइटी लाइब्रेरी कलकत्ता में है। इसमें ५१६ रुबाइयाँ हैं; मगर अनुमान किया जाता है कि इसमें बहुत-सी रुबाइयाँ पीछे से जोड़ी हुई हैं। तीसरा संग्रह केंब्रिज में है। इसमें ८०१ रुबाइयाँ हैं। निःसंदेह इसमें भी बहुत-सी रुबाइयाँ पीछे से जोड़ी हुई होंगी। यह नई रुबाई मैनचेस्टर के एक संग्रह में मिली है। इसका भावार्थ यह है—

"यदि निर्माता अपने कार्य में सफल हुआ है, तो इसमें इतने दोष क्यों हैं? यदि रचना अच्छी नहीं है, तो किसका दोष है? और यदि अच्छी है, तो उसको नष्ट करने का क्या हेतु है?"

कहते हैं, किसी ज़माने में ईरान के एक मकतब में तीन लड़के पढ़ते थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि—उनमें से जो उच्च पद और अधिकार पावेगा, वह शेष दो मित्रों को आश्रय देगा। कई वर्ष के बाद इनमें से एक ने, जिसका नाम निज़ामुलमुल्क था, सुलतान अल्प अरसलाँ का मंत्री हो गया। यह ख़बर पाते ही उसके दोनों मित्र पहुँचे और प्रतिज्ञा की याद दिलाई। मंत्री क़ौल का सच्चा था, उसने मित्रों को आश्रय देना स्वीकार कर लिया। एक मित्र का नाम हसनबिनसबाह था। उसे एक बादशाह के दरबारी का पद मिला; पर वह दुष्प्रकृत था और अंत में दरबार से निकाल दिया गया। तब उसने गुप्त हत्याओं से अपने शत्रुओं का दमन करना शुरू किया। निज़ामुलमुल्क भी अंत में उसके षड्यंत्र का शिकार हो गया। तीसरा मित्र हमारा कवि ख़य्याम था, उसने कोई उच्च पद स्वीकार न करके केवल यही इच्छा प्रकट की कि उसे किसी शांति-कुटीर में बैठकर विज्ञान के प्रचार करने का अवसर दिया जाय। उसकी इच्छा भी पूरी की गई। ख़य्याम को वृत्ति मिल गई और उसने केशापूर के एकांत-वास में गणित और ज्योतिष के साथ उन रुबाइयों की रचना की, जिसने उसे अमर कर दिया है।

× × +

७. कविता में आत्मा की झलक

कविता के स्रोत मानवी-हृदय के भाव हैं। भावोद्गारों को प्रकट करने के लिये ही कविता-देवी ने जन्म लिया। जब हमारा हृदय हर्ष, शोक, क्रोध, निराशा, अभिलाषा आदि के आवेशों से उत्तेजित हो जाता है, तो वाणी भी अपने साधारण स्वरूप का परित्याग करके एक स्फूर्तिमय मर्मस्पर्शी वीणा-ध्वनि के रूप में प्रकट होती है। यही कारण है कि कवि की कीर्ति में उसकी आत्मा का दिव्य प्रकाश होता है। लेकिन जब कविता का नैसर्गिक स्रोत अनेक कारणों से शुष्क हो जाता है और कृत्रिम साधनों से कविता-धारा को प्रवाहित करने की चेष्टा की जाती है,

तो परिणाम यही होता है कि हमें उसमें कवि की आत्मा का प्रकाश नहीं मिलता। दो-चार कवियों को छोड़कर भाषा के किसी कवि को लीजिए। उसकी कविता में आप उसके विचार, उसके दर्शन, उसके आंतरिक भाव का आलोक न पावेंगे, वह कविता नहीं, शब्दों का एक ऐसा जाल और क्रम होता है, जो कानों को प्यारा लगे। उस कविता का उद्देश्य एक अनुभवी संस्कृत हृदय का संदेश दूसरे हृदय तक पहुँचाना नहीं होता, केवल वाह-वाह लूटना होता है। कवि का स्थान इसलिये नहीं ऊँचा है कि वह अपने सुरीले शब्दों द्वारा झंकार पैदा कर देता है, वरन् इसलिये कि वह एक आत्मा के संदेह और भय, आशा और दुराशा, तड़प और दर्द की कहानी है। इसलिये कि वह सत्य के एक खोजी की अविकल कथा है। जिस कविता का उद्गम प्रकृति के रहस्य और आत्मा के अनुभव नहीं, बल्कि समस्याओं की पूर्ति-मात्र है, वह समाज का मनोरंजन भले कर ले, एक क्षण के लिये दिल में गुदगुदी भले पैदा कर दे, किसी "ताज़ा वंदिश" पर तालियाँ भले पिटवा दे, पर हृदय को प्रभावित और जागृत नहीं कर सकती। यह ठीक है कि समस्याओं में भी कवि अपनी आत्मा का प्रकाश डाल सकता है, लेकिन केवल यही बात कि कवि के उद्गार किसी अंतर्रहस्य या प्राकृतिक सौंदर्य से संचालित नहीं हुए हैं; बल्कि समस्या की प्रेरणा से कविता को कृत्रिम और भाव-शून्य बनाने के लिये काफ़ी है। योरप का कवि ओस की एक बूँद को प्रभात के स्निग्ध प्रकाश में घास की एक पत्ती पर चमकते देखकर मस्त हो जाता है या एक छोटे-से अनाथ बालक को भिक्षा माँगते देखकर दया से द्रवीभूत हो उठता है। हमारा हिंदी-कवि एक फड़कती हुई समस्या सुनकर कान खड़े करता है और अपनी सारी कवित्व-शक्ति उस समस्या को अलंकृत करने में लगा देता है। नतीजा यह होता है कि जहाँ पाश्चात्य कविता कोमल भावों को जगाती है, वहाँ हमारी हिंदी समस्या-पूर्ति केवल शब्दाडंबर में विलीन हो जाती है, जहाँ योरप में शब्द और ध्वनि भावों के अधीन है, वहाँ हिंदी में भाव शब्दों के अधीन हैं। समस्या ही कवि को जिधर चाहती है, उधर ले जाती है। कवि उसके हाथ का खिलौना-मात्र है। उर्दू-कविता की दशा हिंदी से भी गई बीती है, वहाँ भी "तरह" का मिसरा होता है और कवि उस मिसरे का ग़ुलाम। उर्दू-कविता ग़ज़ल-प्रधान है और ग़ज़लों में कवि के व्यक्तित्व के लिये कोई स्थान नहीं हो सकता। क़ाफ़िए का बंधन कवि को जिस ओर चाहता है, ले जाता है। यही कारण है कि ग़ज़ल के एक शेर को दूसरे शेर से कोई लगाव नहीं होता। बहुधा तो जिस बात की एक शेर में निंदा की जाती है, उसी बात की दूसरे शेर में प्रशंसा करनी पड़ती है। एक शेर में संसार की असारता का रोना रोया गया है, तो दूसरे शेर में उसकी नित्यता दिखाई जाती है। उर्दू-कवि जब किसी ज़मीन में ग़ज़ल लिखने बैठता है, तो बहुत-से क़ाफ़िए जमा करके एक जगह लिख लेता है। फिर एक-एक क़ाफ़िया पर एक-एक शेर कहता है। वह क़ाफ़िया उसे जिस भाव को व्यक्त करने पर मजबूर करता है, उसी भाव को व्यक्त करता है, चाहे वह भाव पहलेवाले भाव के विरुद्ध ही क्यों न हो। हमारी कविता की यह दशा अत्यंत शोचनीय है। इसके कारण कविता अपने उच्च पद से गिरकर केवल मनोरंजन की एक सामग्री रह गई है। हमारे कवि को न आत्म-विकास की ज़रूरत रह गई है, न मननशीलता की। पिंगल का थोड़ा-सा ज्ञान हमें कवि बनाने के लिये काफ़ी है और हमारे कवि-सम्मेलन तथा मुशाइरे कविता की मिट्टी और भी ख़राब कर रहे हैं; क्योंकि इनके द्वारा समस्या और 'तरह' की परिपाटी को विशेष आश्रय मिलता है।

× × ×

८. शिक्षालयों में व्यायाम

शारीरिक स्वास्थ्य कितने महत्व की वस्तु है, यह सभी जानते हैं। हमारा तो विचार है कि रुग्ण शरीर और स्वस्थ मन एक साथ नहीं रह सकते। बलवान् शरीर संसार में सबसे मूल्यवान् पदार्थ है, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता। उसकी सभी जगह विजय होती है, उसका लोहा सभी मानते हैं। यहाँ तक कि लिखने-पढ़ने के काम में शारीरिक स्वास्थ्य पर पहले नज़र पड़ती है। कितने ही सुयोग्य विद्यार्थी केवल इसलिये अच्छे पद नहीं पाते कि वे शरीर से दुर्बल हैं। लेकिन हमारी शिक्षा का यही अंग है, जिस पर पाठशालाओं में यथेष्ट ध्यान नहीं दिया जाता। वहाँ तो उन्हीं विषयों की क़दर होती है, जिनमें पास होना सर्टिफ़िकेट के लिये आवश्यक है। पास होने के लिये अच्छे स्वास्थ्य की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसीलिये अध्यापकगण, जिनकी सारी कार-गुज़ारी लड़कों की 'पास'-संख्या पर निर्भर है, इस ओर

ध्यान देने की ज़रूरत नहीं समझते। इस प्रश्न पर बहुत दिनों से विचार किया जा रहा है, पर अब तक हम किसी नतीजे पर नहीं पहुँचे। अब एक शिक्षा-शास्त्रवेत्ता ने राय दी है कि स्वास्थ्य को भी 'पास' का एक विषय बना लेना चाहिए, जो विद्यार्थी अस्वस्थ अथवा दुर्बल हो, या जो व्यायाम और खेल-कूद से घृणा करता हो, उसे पास का सर्टिफ़िकेट दिया ही न जाय। जब हमारे विश्वविद्यालय इस विषय को यह महत्त्व देंगे, तभी अध्यापकगण भी उसकी ओर ध्यान देंगे। प्रस्ताव बहुत उपयोगी है, और हम सहर्ष इसका समर्थन करते हैं। इस प्रस्ताव का व्यावहारिक रूप कठिनाइयों से ख़ाली नहीं है। स्वास्थ्य परीक्षा का क्या आधार होगा, क्या बातें देखी जायँगी, कैसे मालूम होगा कि अमुक युवक आलस्य के कारण दुर्बल है या जन्म से? फिर भी प्रस्ताव इतना महत्त्व-पूर्ण है कि बिना परीक्षा किए हमें उसे ठुकरा न देना चाहिए।

× × ×

९. हिंदुस्तानी एकाडेमी

हिंदुस्तानी एकाडेमी का सविस्तर वर्णन गत अंक में किया जा चुका है। यहाँ हम एकाडेमी के सदस्यों का माधुरी के पाठकों से परिचय कराते हैं। एकाडेमी ने ७ सदस्यों की एक कार्य-कारिणी-समिति निर्धारित कर दी है। इस समिति ने कार्य को सुचारु-रूप से चलाने के लिये पहले हिंदी और उर्दू के वर्तमान साहित्य का सिंहावलोकन करने का निश्चय किया है। तभी सभा को यह निश्चय करने में सुविधा होगी कि हमें साहित्य के किस अंग की ओर पहले ध्यान देने की आवश्यकता है। श्रद्धेय लाला सीतारामजी हिंदी-साहित्य का और मौलवी ज़ामिनअली साहब उर्दू-साहित्य का निरीक्षण कर रहे हैं, सितंबर में शायद सभा की दूसरी बैठक होगी।

× × ×

१०. सीतामऊ-नरेश की नम्रता।

चैत्र मास की माधुरी में हिज़ हाइनेस राजा साहब बहादुर सीतामऊ का संक्षिप्त परिचय और उनकी कुछ कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। इस परिचय में लेखक ने राजा साहब बहादुर को 'कवि-सम्राट्' लिख दिया है। इसी लेख के संबंध में राजा साहब बहादुर के प्राइवेट सेक्रेटरी एम० के० गोडबोले महोदय ने हमारे पास एक पत्र भेजा है और यह प्रकट किया है कि सीतामऊ-नरेश को अपने लिये 'कवि-सम्राट्' कहा जाना पसंद नहीं है। राजा साहब बहादुर इस उपाधि के उपयुक्त-पात्र श्रीरवींद्रनाथ टैगोर को ही समझते हैं और किसी को नहीं। श्री० गोडबोलेजी का यह भी लिखना है कि राजा साहब बहादुर के यह भाव माधुरी में प्रकट कर दिए जायँ।

आजकल जब कि हिंदी-साहित्य-संसार में यशो-लिप्सा बहुत बढ़ी हुई है, जब कि साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों के 'सम्राट्', 'शिरोमणि', 'भूषण', 'रत्न' आदि की भरमार हो रही है; जब नम्रता का एक प्रकार से लोप-सा हो गया है, ऐसे समय में एक सत्कवि और यथार्थ साहित्य-मर्मज्ञ नरेश के ऐसे नम्रता-पूर्ण भाव सर्वथा प्रशंसनीय हैं। जिसमें योग्यता है, प्रतिभा है, सच्चा कवित्व है, उसकी प्रशंसा तो होवेगी ही। यदि उसको अपनी सरस्वती-विभूति का गर्व है, तो अनुचित ही क्या है? पर यदि ऐसे ही व्यक्ति में नम्रता का भाव भी हो, तो क्या कहना है। नम्रता योग्यता का शृंगार है। स्वर्ण और सुगंध के संयोग में जो सौंदर्य है, वही शोभा, योग्यता और नम्रता के संयुक्त विकाश में है। किसी महाकवि का यह कहना है—मेरा कविता करने का प्रयास वैसा ही है जैसा कि किसी बौने को चंद्रमा छूने का। उद्योग कितना सुंदर है! उपर्युक्त महाकवि की कविता का आदर ऐसे कथन के बिना भी होता, पर इस विनीत उक्ति से महाकवि ने सभी समझदार पाठकों के हृदय में एक अनिर्वचनीय श्रद्धा का भाव भर दिया है। फलों से लदे हुए वृक्ष जब अपनी डालियाँ झुकाए हुए नम्रता प्रदर्शित करते हैं, तब उनकी शोभा कितनी अधिक बढ़ जाती है। राजा साहब बहादुर की नम्रता भी इसी कोटि की है। 'कवि-सम्राट्' न सही, पर वे सत्कवि तो अवश्य हैं। फिर जब उन में नम्रता भी है, तो वे सब प्रकार से प्रशंसनीय हैं। उनकी आज्ञा का पालन करते हुए हम उनके मनोभावों को इस नोट द्वारा प्रकट करते हैं और उनको नम्रता पर उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं। क्या ही अच्छा हो कि इन साहित्य-सेवी नरेश की नम्रता का अनुकरण और सज्जन भी करें! तथास्तु।

× × ×

११. समरोन्मुख संसार

चीन में चंडी का विकट रण-तांडव ज़ोरों से जारी है। भाई-भाई आपस में कटे-मरे जा रहे हैं। विदेशी शक्तियाँ गिद्धों के समान दूर से घात लगाए बैठी हैं और उस

अवसर की प्रतीक्षा में हैं कि कब चीन का शव गिरे और कब हम उसे नोच-नोचकर खाने लगें ; पर नोचा-घसोटी में, आपस में भी दो-दो चोंचें हो जाने की संभावना है। इसलिये ऊपर से सभी राष्ट्र चीन की राष्ट्रीयता नष्ट न होने देने की अपनी इच्छा शपथ-पूर्वक घोषित कर रहे हैं। जापान, रूस, ब्रिटेन और अमेरिका चीन के मामले में सबसे अधिक दिलचस्पी ले रहे हैं, यह दिलचस्पी एक-मात्र स्वार्थ-साधन के उद्देश्य से है।

रूस और इँगलैंड के बीच में व्यापारिक संधि का भी अंत हो गया। अब इन दोनों राष्ट्रों के बीच में, किसी प्रकार का संधि-बंधन नहीं रह गया है। इँगलैंड का कहना है कि रूस के व्यापारी प्रतिनिधि चुपके-चुपके बोलशेविक आंदोलन का प्रचार करते हैं और इँगलैंड के गुप्त भेदों को रूस तक पहुँचाते हैं। इसी संदेह पर लंदन-स्थित रूसी प्रतिनिधियों के निवास-स्थान आरकस की तलाशी ली गई थी और यद्यपि वह महत्त्व-पूर्ण पत्र तो नहीं प्राप्त हो सका, जिसके मिलने की आशा थी, फिर भी और बहुत से कागज़-पत्र मिले हैं। प्रधान सचिव बाल्डविन ने केवल संबंध-विच्छेद ही नहीं किया है, वरन् कुछ लोग गिरफ़्तार भी किए गए हैं। शीघ्र ही इँगलैंड के व्यापार-प्रतिनिधि रूस से वापस आवेंगे और रूसी प्रतिनिधि १० दिन के भीतर स्वदेश वापस जायँगे। इस बीच में इँगलैंड में रूसी हितों की रक्षा जर्मन राजदूत द्वारा होती रहेगी। इँगलैंड का मज़दूर-दल इस संबंध-विच्छेद से नाराज़ है। वह इसका विरोध कर रहा है। बहुत संभव है कि इसी बात को लेकर इँगलैंड में गृह-कलह उत्पन्न हो, यह भी संभावना है कि इस प्रश्न अथवा ट्रेड यूनियन बिल के आधार पर इँगलैंड में पुनर्निर्वाचन हो। रूस ने इँगलैंड को धमकी दी है कि संबंध-विच्छेद तो करते हो, पर इस विच्छेद का जो परिणाम होगा, उसके उत्तरदायी तुम्हीं होगे। संभव है, इन दोनों राष्ट्रों के मनमुटाव का परिणाम आगे चलकर विकट-रूप धारण करे और इन दोनों राष्ट्रों के संघर्ष से सारे संसार में अशांति की घोषणा हो जाय।

इटली के कर्ता-धर्ता मुसोलिनी आजकल बड़े ज़ोरों पर हैं। उनकी राय है कि अभी इटली-राष्ट्र का निर्माण नहीं हुआ है, इसलिये एक व्यक्ति के शासन की ही ज़रूरत है। मुसोलिनी साहब इस ज़रूरत को पूरा करनेवालों में अपने को सबसे योग्य पाते हैं और इसी योग्यता के आवेश में आपने दो सहस्र देश-भक्तों को कई प्रकार से दंडित किया है। आप इटली और इँगलैंड की तुलना दो पुलिसमैनों से करते हैं। जो हर वक़्त इस बात पर निगाह रखते हैं कि जर्मनी और फ़्रांस कोई गड़बड़ी तो नहीं कर रहे हैं। आपका विचार है कि इटली का सैनिक बल ५० लाख हो जाय और वायुयान तो इतने बनाए जायँ कि जब वे एक साथ उड़ें, तो उनके पंखों से सूर्य छिप जाय। मुसोलिनी का कहना है कि जब इटली अपने इस उद्देश्य की पूर्ति कर लेगा, तब सभ्य संसार उसकी बात बिना रोक-टोक के मानेगा। इटली और इँगलैंड में इस समय गाढ़ी मैत्री है।

मुसोलिनी की सामरिक महत्त्वाकांक्षा, इँगलैंड और रूस की शत्रुता तथा चीन का गृह-युद्ध ये सब ऐसी बातें हैं, तो किसी भी समय संसार को व्यापक समरानल में झुलसा सकती हैं। कौन कहता है, संसार में अब युद्ध न होंगे? मुसोलिनी तो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये १९३९—४० का समय उपयुक्त समझते हैं। हमारा भी ख़याल है कि निकट भविष्य में संसार-व्यापी महाविकराल युद्ध होगा।

× × ×

१२. वायुयान का नया उपयोग

डाक ढोने, सवारी ले जाने और युद्ध में काम आने के अतिरिक्त अब वायुयान का एक नया उपयोग निकला है। पृथ्वी-तल पर अब भी ऐसे स्थान हैं, जो कोसों तक दल-दली और झाड़-झंखाड़-संपन्न भूमि से व्याप्त हैं। ऐसे स्थानों पर मनुष्यों का पहुँचना तो कठिन नहीं है; पर वहाँ पर पहुँचकर जीवित रहना कष्ट-साध्य है। ऐसे स्थानों को रोगों का वासस्थान समझिए। मलेरिया-रोग को फैलानेवाले मच्छड़ तथा कीड़े यहाँ पर भरे पड़े हैं। मनुष्य वहाँ पहुँचा नहीं कि इन कीड़ों ने अपने दंशन द्वारा उसके रक्त में मलेरिया के कीटाणु पहुँचाए; फिर उसकी जान की ख़ैर नहीं है। इन दलदलों और उनके आसपास स्थित झाड़-झंखाड़ को मनुष्य काट भी सकते हैं, पर इसमें व्यय बहुत अधिक पड़ता है और तिस पर भी बहुत-से मनुष्यों को अपने प्राण गँवाने ही पड़ते हैं। अब तक जहाँ कहीं दलदल और जंगल साफ़ कराए गए हैं, वहाँ सर्वत्र बहुत बड़ी संख्या में मनुष्यों को अपने प्राणों का बलिदान देना पड़ा है। वैज्ञानिक लोग बहुत
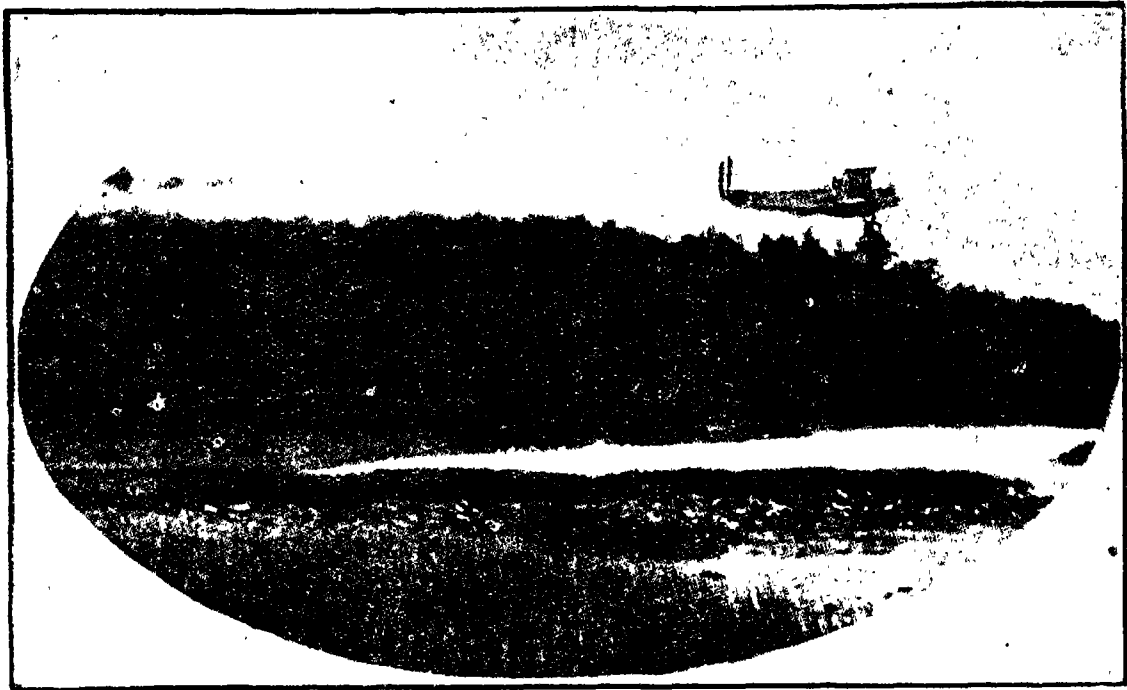
वायुयान का नया उपयोग

दिन से इस विचार में थे कि कोई ऐसी तरकीब निकाली जाय कि दलदलों और जंगलों की सफ़ाई भी हो जाय और मनुष्यों के प्राणों की आहुति भी न देनी पड़े। अब तक जो मज़दूर और कुली इन स्थानों में काम करने जाते थे, उनको रोग-निवारक औषधियाँ खिलाई जाती थीं। इससे वे कुछ निरापद् थे, पर संपूर्ण बचाव की संभावना नहीं थी। अब वायुयानों द्वारा दलदलों, झाड़-झंखाड़ों और जंगलों में व्याप्त रोग-ग्राहक कीटाणुओं के नष्ट करने को उपाय सोचा गया है। जिस जंगल या दलदल की सफ़ाई कराना मंज़ूर है, वायुयान उस पर चक्कर लगावेगा और ऊपर से कीटाणु-नाशक औषधि प्रचुर परिमाण में गिरावेगा। तीन-चार बार इस प्रकार से औषधि गिराने का फल यह होता है कि रोग-वाहक कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और तब कुली और मज़दूर औषधि से सुरक्षित होकर वहाँ पहुँचते हैं और मनमानी सफ़ाई कर डालते हैं। प्राण-नाश का भय कम रहता है। अब तक कई स्थानों पर वायुयानों द्वारा यह काम लिया जा चुका है और इसमें सफलता भी हुई है। आशा है, वायुयान के इस रोग-निवारक उपयोग से सभ्य-संसार पूरा लाभ उठावेगा और भारत में भी मलेरिया-ग्रस्त स्थानों का उद्धार वायुयानों द्वारा होगा। ऊपर एक चित्र दिया गया है, इसमें वायुयान से ऊपर रोग कीटाणु-व्याप्त स्थान पर औषधि गिरा रहा है।

× × ×

१३. भारत के दो प्रसिद्ध वैज्ञानिक

यह विज्ञान का युग है। इस समय जो देश विज्ञान में जितना ही अधिक उन्नत है, संसार में उतना ही अधिक उसका आदर है। भारत पराधीन देश है। विजित-जाति का बुद्धि-वैभव भी नष्ट हो जाता है। किसी समय, भारत की विद्वत्ता का लोहा सारा संसार मानता था, पर आज तो इस देश में स्वाधीनता के साथ-साथ बुद्धि-वैभव का भी दिवाला निकल गया है। ऐसे प्रतिकूल काल में भी जब हम इस अभागे देश में कहीं किसी मनीषी के बुद्धि-चमत्कार की बात सुनते हैं, तो बहुत आनंद होता है। हमारा विश्वास है कि यदि भारतीयों की बुद्धि एक बार फिर चैतन्य हो जाय, यदि संसार के विद्वानों की पंक्ति में भारत के विद्वान् भी स्थान पा जावें, तो भारत के भविष्य के विषय में निराश होने की आवश्यकता नहीं है।
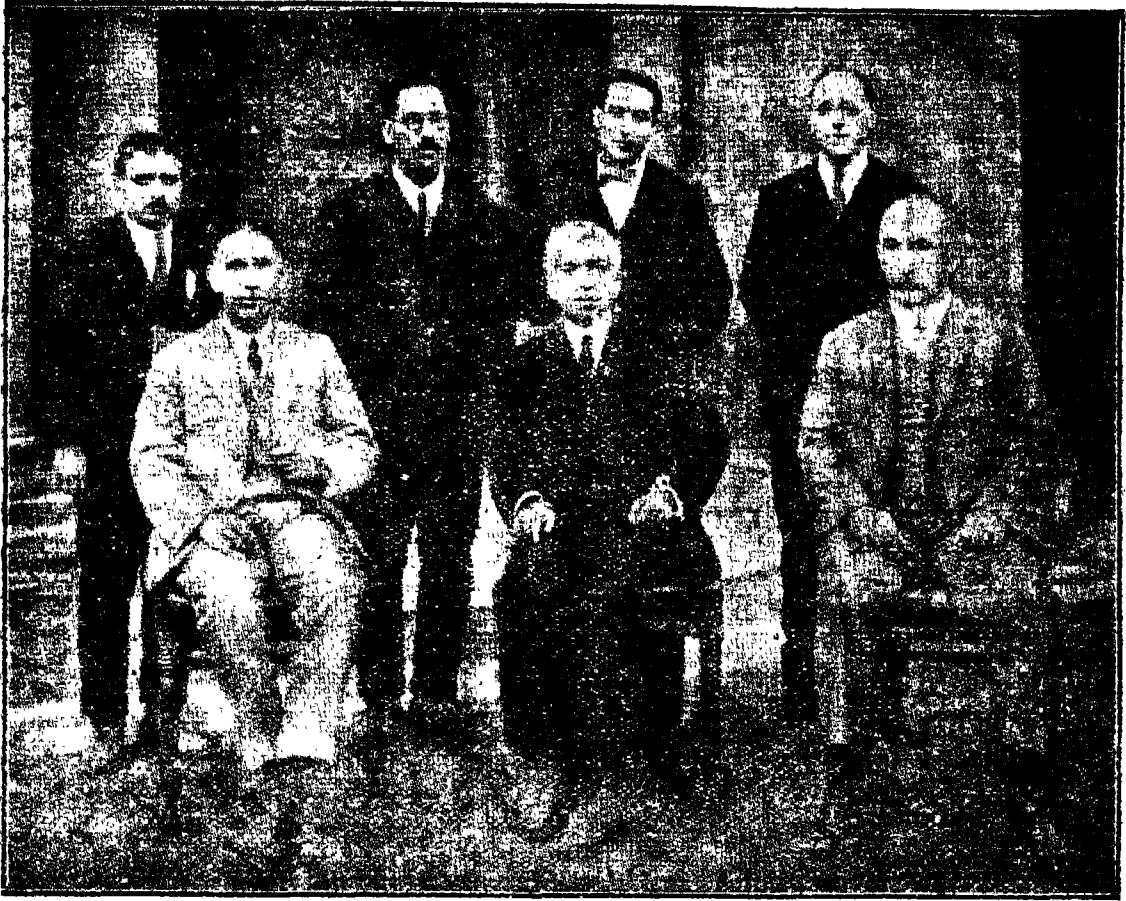
वैज्ञानिक-परिषद्

यह बड़े ही आनंद और संतोष की बात है कि वैज्ञानिक-संसार में श्रीजगदीशचंद्र वसु महोदय ने अच्छा आदर प्राप्त किया है। उन्होंने वृक्षों में चेतना-शक्ति का होना, दुःख-सुख अनुभव करने की शक्ति और जीवित रहने के अन्य प्रमाण वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा प्रत्यक्ष कर दिखलाए हैं। वसु महोदय आजकल योरप और अमेरिका में पर्यटन कर रहे हैं और वहाँ के लोगों को अपने आविष्कार का चमत्कार दिखला रहे हैं। उनके इस आविष्कार से केवल उन्हीं का गौरव नहीं है, वरन् भारत का भी मस्तक सभ्य-जगत् में ऊँचा है।

इधर हाल ही में भारत के एक और दूसरे वैज्ञानिक 'नूतन आविष्कार का समाचार'-समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ है। इनका शुभ नाम प्रोफ़ेसर सी० वी० रामन् है। आपने चुंबक अथवा आकर्षण-शक्ति के संबंध में नई खोज की है। इन्होंने प्रयोग-शाला में एक ऐसा सूक्ष्म यंत्र स्थापित किया है, जिससे वायुमय एवं द्रव पदार्थों में पाए जाने-वाले आकर्षक मूल तत्त्वों का परिमाण लिया जा सकता है। प्रोफ़ेसर रामन महोदय इस परिमाण में न्यूनता और वृद्धि भी कर सकते हैं। इस वैज्ञानिक विषय को उन्होंने अपने गवेषणा-पूर्ण लेखों द्वारा रायल सोसायटी और फ्रेंच एकाडिमी के पत्रों में प्रकाशित किया है। इससे उन्होंने वैज्ञानिक-संसार में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है और भारत का भी गौरव बढ़ाया है। ऊपर हम वैज्ञानिक-परिषद् का एक चित्र देते हैं, जिसमें प्रोफ़ेसर रामन और श्रीवसु के भी चित्र हैं।

× × ×

१४. कर्न इंस्टीट्यूट हालैंड

भारतीय इतिहास तथा संस्कृत-साहित्य के एक प्रसिद्ध

विद्वान् हालैंड के डॉक्टर कर्न महोदय हैं। आप ही के नाम पर उपर्युक्त इंस्टीट्यूट की स्थापना एप्रिल सन् १९२५ में हालैंड के 'लीडन'-नगर में हुई थी। भारतवर्ष के प्रत्न-तत्त्व के सांगोपांग अध्ययन के लिये इस संस्था का जन्म हुआ है। अजंता, सांची, गिरिव्रज, भुवनेश्वर, शत्रुंजय, श्रवण, बेलगोला तथा अंगकोर और बोरूबुदर के निर्माताओं ने स्थापत्य शिल्प, वास्तु और भास्करीय कलाओं में कितनी उन्नति की थी, इसका सम्यक् ज्ञान जिस दिन संसार को होगा, उस दिन भारतीय तक्षकों और मय-विद्या के ज्ञाता विश्वकर्माओं की प्रतिभा के आगे आदर-पूर्वक उसका मस्तक झुक जायगा। भारत, सिंहल, विराट् भारत के बाली, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में, श्याम, इंडोचीन, मेक्सिको तथा अन्यत्र सर्वत्र भारतवर्ष के शिल्प-शास्त्र के, मूर्ति अथवा शिला-लेखों के जहाँ कहीं अवशिष्ट चिह्न पाए जाते हैं, उन सब देशों में इस विषय का अध्ययन करना इस संस्था के सभासदों का कर्तव्य होगा। इसके पास लीडन नगर में अपना एक पुस्तकालय है, एक चित्रागार स्लाइड्स, शिलालेखों की प्लास्टर में अंकित प्रतिच्छाया, प्राचीन सिक्कों की मुद्राएँ तथा इसी प्रकार की अन्य सामग्री प्रस्तुत है। प्रत्न-तत्त्व के उत्साही विद्यार्थियों को यह संस्था सब जगह से बुलाती है। कोई भी वहाँ आकर इस विषय में प्रवीणता प्राप्त कर सकता है। संस्था ने एक "एनुअल बिब्लिओग्राफ़ी ऑव् इंडियन आरकिओलाजी" निकालना शुरू की है। जिसमें इस विषय से संबंध रखनेवाले सब ग्रंथ और लेखों की वार्षिक तालिका दी जायगी तथा उसकी भूमिका में वर्ष के अंदर की गई नई खोजों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा। यदि आर्थिक दशा अच्छी रही, तो कुछ फ़ोटो-चित्र भी दिए जायँगे। यह बिब्लिओग्राफ़ी सब सभासदों को मुफ़्त भेजी जायगी। प्रकाशकों को प्रार्थना है कि प्रत्न-तत्त्व के विद्यार्थी और प्रेमीजन जहाँ कोई इस विषय का नया ग्रंथ या लेख निकले, उसकी सूचना मंत्री को भेज दें। सभासद् होने की वार्षिक फ़ीस पाँच गिल्डर या छः रुपए हैं। पत्र-व्यवहार "मंत्री-कर्न इंस्टीट्यूट लीडन हालैंड" के पते पर करना चाहिए।

× × ×

१५. समालोचना

हिंदी में अभी समालोचना का काम अधिक गंभीरता और उत्तरदायित्व के साथ नहीं प्रारंभ हुआ है। हमारे समालोचक अभी अपने कर्तव्य की ओर पूरा ध्यान नहीं देते हैं। यह हर्ष की बात है कि समालोचना की ओर लोगों की प्रवृत्ति हुई है, लोग उसकी आवश्यकता का अनुभव करते हैं और उसकी अंग-पुष्टि के भी इच्छुक हैं, पर न तो अभी पाठकों को अच्छे समालोचक मिले हैं और न अच्छे समालोचकों को पहुँच ही पाठकों तक हुई है। हिंदी में इस समय कई प्रकार की समालोचनाएँ निकलती हैं। एक लेखक का दूसरे लेखक से किसी बात में मतभेद हो गया। बस, एक ने दूसरे की ख़बर लेनी आरंभ की। ऐसी समालोचना में दोषों का आधिक्य रहता है। द्वेष-पूर्ण होने से ऐसी समालोचना से साहित्य का हित बहुत थोड़ा होता है। दूसरे प्रकार की समालोचना में समालोच्य ग्रंथ अथवा लेख के रचयिता को बनाने का बहुत उद्योग किया जाता है। ऐसी समालोचना में व्यक्ति-गत बातों के आ जाने के कारण कटुता और कलह का प्रादुर्भाव होता है। इससे भी तादृश साहित्य को लाभ नहीं पहुँचता है। कुछ विद्वान् लेखक अपनी समालोचना में अशिष्ट शब्दों का प्रयोग भी कर बैठते हैं। इन प्रयोगों से अच्छी समालोचना में भी भद्दापन आ जाता है और उसका गौरव कम हो जाता है। तीसरे प्रकार की समालोचना चटपटी भाषा में लिखी जाती है। सर्वसाधारण में ऐसी आलोचना चाव के साथ पढ़ी जाती है। यदि भाषा को चटपटी बनाते समय समालोचक व्यक्ति-गत आक्षेपों और अशिष्ट प्रयोगों से अपनी समालोचना को बचा ले जाय, तो वह साहित्य का कुछ हित अवश्य कर सकता है; पर यथार्थ समालोचना तो वही है, जो गंभीर हो, संयत भाषा में लिखी गई हो और व्यक्ति-गत आक्षेपों और अशिष्ट प्रयोगों से रहित हो। समालोचक का पद न्यायाधीश के समान है। यदि न्यायाधीश के फ़ैसले में शिष्टता और गंभीरता नहीं है, तो उसका प्रभाव समाज पर क्या पड़ेगा? खेद है कि अभी इस चौथे प्रकार की समालोचना हिंदी में बहुत कम लिखी गई है; पर आवश्यकता ऐसी ही समालोचना की है।

समालोचना में व्यक्ति-गत आक्षेप नहीं होने चाहिए, इस बात में तो कदाचित् किसी का मत-भेद न होगा; पर शिष्ट और अशिष्ट प्रयोगों के संबंध में मत-भेद हो सकता है। लोग कह सकते हैं कि अमुक प्रयोग जिसको तुम

अशिष्ट समझते हो, वह हमारी राय में शिष्ट है। उदाहरण के लिये यदि एक लेखक दूसरे लेखक पर 'छिछोरता-पूर्ण तर्क' का प्रयोग करने के लिये उसे अशिष्ट समालोचना लिखनेवाला मानता है, तो दूसरा लेखक उत्तर में कह सकता है कि यह प्रयोग अशिष्ट नहीं है; क्योंकि 'छिछोरता' का आरोप लेखक पर न करके उसके तर्क पर किया गया है। लेखक छिछोरा नहीं बनाया गया है, वरन् उसका तर्क या उसकी दलील 'छिछोरता-पूर्ण' कही गई है। अँगरेज़ी में Superficial and shallow logic. जैसे प्रयोग अशिष्ट नहीं माने जाते हैं। उसी प्रकार से उसी भाव का द्योतक 'छिछोरता-पूर्ण तर्क' प्रयोग भी अशिष्ट न माना जाना चाहिए। जो हो, कुछ ऐसे ही प्रयोगों के संबंध में विवाद किया जा सकता है और कुछ लोग उनको शिष्ट और कुछ अशिष्ट मान सकते हैं; पर कुछ प्रयोग ऐसे भी हैं, जिनमें हमारी राय में विवाद की जगह नहीं है। यदि एक लेखक दूसरे लेखक की सलाह की ओर लक्ष्य करके कहता है, तो उसे हम 'जूतियाखाता' समझते हैं, तो हमारी राय में इस 'जूतियाखाता' प्रयोग को सभी लोग अशिष्ट मानेंगे। कम-से-कम इस कोटि के प्रयोगों से यदि हमारे समालोचक अपनी समालोचना को बचा सकें, तो साहित्य का बड़ा उपकार हो। ऐसे प्रयोग जब किसी विद्वान् की आलोचना में देखने को मिलते हैं, तब तो बड़ा ही दुःख होता है। समालोचक, समालोच्य ग्रंथ अथवा उक्त ग्रंथ के लेखक की उचित सीमा के भीतर और शिष्टाचार की रक्षा करते हुए, उग्र-से-उग्र समालोचना कर सकता है; पर उसको गाली देने का अधिकार नहीं है। समालोचना में यदि लेखकों के व्यक्तित्व को भुलाकर केवल उनकी कृतियों की आलोचना की जाय, तो बहुत अच्छा हो। क्या हमारे समालोचक इस नम्र निवेदन पर ध्यान देंगे?

× × ×

१६. जवानी में बुढ़ापा

हम लोगों में प्रायः बहुत-से प्राणी ऐसे हैं, जो ४० वर्ष के उस पार जाते ही समझ बैठते हैं कि बस, हमें जो कुछ अच्छा या बुरा होना था, हो चुके। अगर अब तक धन और कीर्ति नहीं लाभ कर सके, तो अब क्या आशा है? यह विचार हमारे मन में कुछ इस तरह बैठ जाता है कि हम जीवन की जगह मोक्ष की चिंता करने लगते हैं। हरएक काम में हमारा उत्साह क्षीण हो जाता है। जब देखिए मुँह लटकाए, रोनी सूरत बनाए बैठे हैं, मानो जीवन अब बोझ हो रहा है। अब कोई नई विद्या सीखना, किसी नए काम में हाथ डालना, हमारे लिये असूझ हो जाता है। लेकिन सच पूछो, तो सच्ची जवानी ४० के बाद ही शुरू होती है। २५ वर्ष तक तो हम परीक्षाओं के दास बने रहते हैं। हमें उस वक़्त तक आत्म-विकास का कोई अवसर नहीं मिलता। इसके बाद कम-से-कम १० वर्ष हमें जीवन-क्षेत्र में पाँव जमाते लग जाते हैं। यह भूलों से अनुभव प्राप्त करने का समय होता है। हम बार-बार ग़लती करते हैं, न हमें शत्रु की पहचान होती है, न मित्र की। हमारे शील और चरित्र में इसी समय दृढ़ता आती है. इसी ज़माने में हम वास्तविक संसार में प्रवेश करते हैं। इस अवस्था के बाद जीवन-वृक्ष के फलने-फूलने के दिन आते हैं। हमें अपने बालक-बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा, सुधार और संस्कृति का अवसर मिलता है। नए-नए दायित्व का भार हमारे सिर पड़ता है। अब तक हमारा चरित्र बन चुका होता। हम अपनी क्षमताओं की सीमा जान चुके होते। अब हम इस योग्य होते हैं कि हमसे समाज का कुछ काम निकले, हममें स्वाधीन मति स्थिर करने की योग्यता उत्पन्न हो गई है। यों कहो कि अब हमारे काम करने का समय आया है। हम अब जीवन का उद्देश्य समझने लगे हैं। क्या हम अभी से अपने को वृद्ध समझकर कोने में बैठ रहें? विश्वामित्र और वाल्मीकि को जाने दो, भीष्म और द्रोण को भी छोड़ो। वह पुराने ज़माने के लोग थे। महात्मा तिलक ने गीता-रहस्य उस वक़्त लिखा, जब वह ५० वर्ष के ऊपर हो चुके थे। महात्मा गांधी ने जिस समय असहयोग का डंका बजाया, उनकी अवस्था ४० वर्ष से अधिक थी। मिसेज़ एनी बेसेंट को लीजिए, सन् १९०७ ई० में जब वह पहली बार थियासोफ़िकल सोसाइटी की सभापति चुनी गईं, तो उनकी अवस्था ६० वर्ष से अधिक थी। संसार-व्यापी ख्याति तो उन्हें इसके बाद प्राप्त हुई। ७५ वर्ष की अवस्था में चरखा सीखकर उन्होंने बुढ़ापे को ऐसी धुत्कार बताई है, जिसकी मिसाल आसानी से न मिलेगी। डॉक्टर रवींद्रनाथ ठाकुर ही को ४० वर्ष की अवस्था में बंगाल के बाहर और कौन जानता था। जगत्-कवि का पद तो उन्हें ६० वर्ष के बाद प्राप्त हुआ है। मिल्टन ने जब पैरेडाइज़लास्ट लिखा, तो उसकी आयु ५० वर्ष से अधिक थी। एक बड़े विद्वान् का कथन है—"वृद्धता केवल मिथ्या और भ्रम है। हमारी गणित ने हमें जीवन को वर्षों से नापना सिखाया है।"

इसलिये प्रतिभा का प्रकाश यदि ज़रा देर में हो, तो घबराने या निराश होने की ज़रूरत नहीं।

× × ×

१७. कलियुग का सबसे बड़ा पाप

पाठक चौंकेंगे कि कलियुग का सबसे बड़ा पाप क्या हो सकता है? चोरी, दग़ाबाज़ी, व्यभिचार, झूठ ये सभी पाप अन्य युगों में भी होते थे। संभव है, कलियुग में उनकी संख्या कुछ बढ़ गई हो। बस, इतना ही अंतर है। अच्छा तो फिर और कौन-सा पाप हो सकता है? रिशवत, ग़बन, हत्या ये पाप भी सदा से होते आए हैं और यदि मानवी प्रकृति में कोई घोर परिवर्तन नहीं हो जाता, तो सदा होते रहेंगे। जिस पाप का हम ज़िक्र कर रहे हैं, वह इन पापों से कहीं बड़ा हुआ है और मज़ा यह कि हम उस पाप के कर्ता भी नहीं। पाप ईश्वर का है। हम क़सम खाने को तैयार हैं कि वह सर्वशक्तिमान् ईश्वर का पाप है; पर दंड आदमी पाता है। चोरी, डाका, हत्या, रिशवत, ग़बन, व्यभिचार इन पापों का दंड एक नियमित समय तक के लिये ही मिलता है। लेकिन जिस पाप की हम चर्चा करनेवाले हैं, उसका दंड बाप, बेटा, पोता, परपोता सबको भोगना पड़ता है। मौत के सिवा उससे किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता। अब आप समझे, यह पाप क्या है? इसका नाम पराधीनता है। यह ख़याल ग़लत है कि हम अपने काले रंग के कारण नीचे समझे जाते हैं। काले-गोरे का यहाँ प्रश्न नहीं। प्रश्न स्वाधीनता और पराधीनता, सबलता और दुर्बलता का है। आज योरप और अमेरिका संसार की सबसे सबल जातियाँ हैं। एशिया और आफ्रिका उनके अधीन हैं। इसलिये वे सद्गुणों के भंडार हैं, ये दुर्गुणों

के ठीकेदार। वे हमारे घर आवें, तो उनके चरण धोकर माथे पर चढ़ाना हमारा धर्म है। हम उनके घर जायँ, तो हमें द्वार पर ही दुत्कारना उनका धर्म है। अगर चिरौरी-विनती से किसी भाँति अंदर पहुँच भी गए, तो कोई बात नहीं पूछता, यही नई सभ्यता है। संसार के विचार-पति कहते हैं, आपस में भ्रातृभाव बढ़ रहा है। वे उस युग के स्वप्न देख रहे हैं, जब भूमंडल के प्राणी भाइयों की भाँति रहेंगे। हमें यह उन महात्माओं का दार्शनिक भ्रम-सा जान पड़ता है। भारत के युवक अब विद्योपार्जन के लिये भी योरप या अमेरिका नहीं जा सकते। उनके लिये न क्लासों में जगह होती है, न छात्रालयों में। रहें कहाँ? अब तक बिचारे इँगलैंड जाकर किसी निम्न-श्रेणी के परिवार में रहकर अपने दिन काटा करते थे। अब दिन-दिन उन घरों में भी उनका प्रवेश पाना कठिन हो रहा है। अगर कोई ग़रीब अँगरेज़ परिवार स्वार्थ-वश उन्हें अपने घर आश्रय देना चाहता है, तो उस पर चारों ओर से दबाव पड़ता है—ख़बरदार! कहीं यह भूल न करना! तुम जानते नहीं हो, हम हिंदोस्तान के स्वामी हैं। अगर तुम हिंदोस्तानियों को अपने घर ठहराओगे, तो ये हमसे बराबरी का दावा करने लगेंगे और फिर हमारा हिंदोस्तान में रहना मुश्किल हो जायगा। इनको दूर रक्खो, इनके दिल में यह भावना मत उत्पन्न होने दो कि अँगरेज़ भी इन्हीं के समान मिट्टी के बने हुए हैं। नहीं, ये हमें सदैव प्रकाश के पुतले समझते रहें, इसी में हमारा कल्याण है। यह चेतावनी सुनकर अँगरेज़-परिवार सचेत हो जाता है और अपने घर के द्वार बंद कर लेता है। खेल के मैदान में, क्लब में, समाज में, विद्यालय की संगतों में, सब कहीं इन युवकों का बहिष्कार किया जाता है। यह इस प्रकाशमय युग की प्रकाशमय सभ्यता है। इस मनोवृत्ति को देखकर यही कहना पड़ता है कि किसी युग में भी स्वार्थ की इतनी प्रधानता न थी। इसे विज्ञान का युग कहना भ्रम है। यह विज्ञान भी स्वार्थ का वृहद् रूप-मात्र है। धर्म-प्रचार को देखो, तो स्वार्थ; दर्शन और विज्ञान को देखो, तो स्वार्थ; शील और स्वभाव को देखो, तो स्वार्थ। स्वार्थ का अखंड राज्य है। भाई-भाई में, बाप-बेटे में, स्त्री-पुरुष में, प्रेम की जगह स्वार्थ आ बैठा है और इन समस्त स्वार्थों का सामूहिक रूप आज का राष्ट्र है।

× × ×

१८. वेदों के संदेश

गुरुकुल काँगड़ी की रजत-जयंती के अवसर पर जो सरस्वती-सम्मेलन हुआ था, उसके सभापति डॉ० ए० सी० दास एम्० ए०, पी एच्० डी० ने एक विद्वत्ता-पूर्ण व्याख्यान दिया। उसमें वेदों की तत्त्व विवेचना करते हुए आपने कहा कि वेदों में हमें कई महत्त्व-पूर्ण संदेश मिलते हैं, जिन पर मनन और विचार करना हमारा कर्तव्य है। वे संदेश ये हैं—

(१) आर्य-सभ्यता पंजाब में उत्पन्न हुई और संसार की अन्य सभ्यताओं से प्राचीन है। यही भूमि आर्य-जाति की पालना थी, यहीं हमारे पुरुखाओं ने उस सभ्यता का निर्माण किया, जो सर्वांग-पूर्ण और समस्त मानव-जाति के उत्थान के लिये संभावनाओं से परिपूर्ण थी।

(२) हमारे पूर्वज संयुक्त जातिवाले थे। उनमें जाति, वर्ण या खान-पान के भेद की कोई चर्चा नहीं है। ऋग्वेद के दसवें मंडल में केवल एक मंत्र है, जिससे विदित होता है कि चारों वर्णों का भेद शुरू हुआ था; पर विद्वानों का मत है कि स्वार्थी मनुष्यों ने इसे पीछे से बढ़ा दिया है, हालाँकि मैं इस विचार से सहमत नहीं। इस मंत्र से यही सिद्ध होता है कि शनैः शनैः चारों वर्णों का गुण-कर्मानुसार विकाश हो रहा था।

(३) स्त्री और पुरुष दोनों में समता होनी चाहिए। स्त्री के भी वही अधिकार हैं, जो पुरुषों के हैं। यज्ञादि में स्त्री और पुरुष दोनों ही समान रीति से सम्मिलित होते थे। बाल-विवाह का नाम न था। स्त्री सेविका नहीं, गृह-स्वामिनी होती थी।

(४) हमारे पूर्वज स्वाधीनता के उपासक थे। वे स्वयं राज्य की व्यवस्था करते थे, राजाओं को चुनते थे, स्वेच्छा से कर देते थे। यदि राजा और उसका सहकारी जनपद सुचारु-रूप से अपने कर्तव्य का पालन न करते थे, तो प्रजा कर देना बंद कर देती थी।

(५) हमें अपने पूर्वजों की भाँति अपनी सभ्यता और अपने आदर्शों को समस्त संसार में प्रसारित करना चाहिए। ऋग्वेद-काल में आर्य वणिक् संसार के सुदूर देशों में व्यापार करते थे। उनके पास बड़ी-बड़ी नौकाएँ थीं और वे कुशल नाविक थे। बौद्ध-काल में भिक्षुओं ने मिस्र, सुमात्रा, जावा, चीन आदि देशों में ज्ञान-ज्योति फैलाई थी।

(६) हमें पृथ्वी को ही अपने धन का मुख्य स्रोत समझना चाहिए और कृषि-कार्य में उत्साह से लग जाना चाहिए। आर्य-जाति कृषि-प्रधान जाति थी।

(७) हमें आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अपनी आत्मा में ब्रह्म का अनुभव करते हुए मानव-जाति की एकता का अनुभव करना चाहिए। इसी भाँति अज्ञान से हमारी मुक्ति होगी और हम सदादर्शों का पालन कर सकेंगे। यही वेदों का सबसे महत्त्व-पूर्ण संदेश है, और हमें संसार में इनका प्रचार करना है। स्वार्थांध होकर मानव-जाति इस समय अपने को भूली हुई है। राष्ट्रों में शत्रुता और द्वेष के भाव उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। एक दूसरे को निगल जाने की ताक में है। इस स्वार्थ-मंडित संसार में शांति और प्रेम का संचार करना होगा और भारत ही एक बार फिर भू-मंडल पर शांति की पताका उड़ावेगा।

× × ×

१६. सोवियट-काल में रूसी-साहित्य की वृद्धि

बोलशेविकों की बुराई सारी दुनिया करती है, लेकिन जब से रूस पर सोवियट का अधिकार हुआ है, देश में काया-पलट हो गई है। योरप में रूस सबसे असभ्य देश समझा जाता था। साक्षरों की संख्या वहाँ भारतवर्ष से भी कम थी; मगर सोवियट-राज ने थोड़े ही दिनों में निरक्षरता को बहुत कुछ कम कर दिया है। यों महाजन राष्ट्र उसे जितना चाहें, बुरा कहें—दुनिया की ऐसी कोई बुराई नहीं है, जो रूस के गले न मढ़ी जाती हो—लेकिन उसके ज़माने में रूसी-साहित्य की जो उन्नति हुई है, उसकी कोई बड़े-से-बड़ा राज्य भी बराबरी नहीं कर सकता। अकेले 'मास्को' नगर में ४०० से ऊपर प्रकाशन के कार्यालय हैं; लेनिन ग्रेड में ६०० से ऊपर और समस्त राज में १,००० से ऊपर। इनमें से कई कार्यालय ऐसे हैं, जो साल में हज़ारों पुस्तकें प्रकाशित करते हैं। वहाँ की स्टेट पब्लिशिंग कंपनी अर्थात् पुस्तक-प्रकाशन की सरकारी कंपनी संसार में सबसे बड़ा कार्यालय है। उसने केवल सन् १९२४ में, २ करोड़ सत्तर लाख पुस्तकें प्रकाशित कीं। भला कोई ठिकाना है। दो करोड़ सत्तर लाख! इस कंपनी की बाज़ पुस्तकें इतनी कसरत से बिकती हैं कि आश्चर्य होता है। पिछले दो वर्षों में लेनिन के लेख-संग्रह की १० लाख प्रतियाँ बिकीं। बुख़ारन के ग्रंथ जिनमें कार्ल मार्क्स के सिद्धांतों का अनुमोदन किया गया है, एक वर्ष में (१९२४) डेढ़ लाख बिके, और सन् १९२५ के पूर्वार्ध में १ लाख साठ हज़ार। इन बड़े-बड़े लेखकों के विषय में तो कहा जा सकता है कि ये जाति के नेता हैं और जनता उनके नाम पर जान देती है। लेकिन साधारण रीति से भी रूसियों का साहित्य-प्रेम बहुत बढ़ गया है। इस कंपनी के रजिस्टरों से विदित होता है कि सन् १९२४ में प्रत्येक सरल और सार्वजनिक पुस्तक की औसत बिक्री ८ हज़ार तीनसौ थी; मगर अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र की बिक्री सरस साहित्य से कहीं अधिक हुई। अर्थ-शास्त्र की प्रत्येक पुस्तक की औसत बिक्री १३ हज़ार की और सोवियट-राज्य के सिद्धांतों का उल्लेख करनेवाले ग्रंथों की २१ हज़ार। इन संस्थाओं से जनता की अभिरुचि का भी पता चलता है और यह उन्नति उस दशा में हुई है कि सेंसर की आज्ञा के बिना एक पुर्ज़ा भी नहीं छप सकता। इस पर यह हाल है। यह सच्ची देश-भक्ति और स्वराज्य की करामात है। हम १५० वर्ष में भी उतना न कर सके, जो सोवियट रूस ने पाँच-छः साल में कर दिखाया है।

× × ×

२०. एक नया चरसा

भारत-जैसे कृषि-प्रधान देश में कृषि-संबंधी कोई आविष्कार होना, जिसमें समय और धन की कुछ बचत हो, बड़े महत्त्व की बात है। सहयोगी जयाजीप्रताप ने एक नए चरसे की सूचना दी है, जिसका ब्योरा इस सहयोगी के शब्दों में देते हैं। हमें आशा है कि आविष्कारक महाशय अपनी कीर्ति को सुलभ बनाने की यथासाध्य चेष्टा करेंगे। हमारे धनी-मानी रईस और सेठ-साहूकार जो लाखों रुपए ख़ैरात करते रहते हैं, यदि इस विषय में आविष्कारकर्ता को प्रोत्साहित करें, तो देश का बड़ा उपकार हो सकता है—

श्रीरामचंद्र रावजी (एक मदरासी सज्जन) ने, इस नए चरसे का आविष्कार कर सन् १९१४ में, इसको पेटेंट कराया था। इस चरसे में विशेष बात यह है कि पानी खींचने के लिये बैलों को कंधा नहीं लगाना पड़ता, किंतु जानवर के वज़न से पानी खींचा जाता है और जानवर को पानी खींचने में बिलकुल तकलीफ़ नहीं होती और वह ज़ियादा समय तक काम कर सकता है। कुएँ के पास रेल की पटरियाँ बिछाकर उन पर एक ठेला रख दिया जाता

सभापति का भाषण

है। जानवर ठेले पर खड़ा हो जाता है। उसके वज़न से ठेला नीचे को चलने लगता है और पानी ऊपर को खिंचता चला आता है। दो बैलों की ताक़त से अधिक पानी को एक ही बैल अपने वज़न से खींच लेता है। पानी उँडेलने के लिये एक अलग आदमी की ज़रूरत नहीं होती। बैल के साथ चलनेवाला आदमी ही ज़ंजीर के ज़रिए ख़ुद ही पानी को उँडेल लेता है। इस प्रकार इस चरसे के प्रयोग से फ़ी चरस एक बैल एक आदमी और दोनों के रोज़ाना ख़र्चे की बचत हो जाती है। यदि बैलों के बजाय भैंसों से काम लिया जावे, तो ख़र्चे में और भी बचत हो सकता है। ३० फ़ीट गहरे कुएँ के लिये चरस और सामान की क़ीमत १२५) है। १ बैल और १ आदमी की बचत तथा काम की अधिकता को देखते हुए, यह ख़र्चा कुछ भी अधिक नहीं है। जानवर को ठेले पर चलाना दो दिन का काम है। इसमें भी कोई विशेष कष्ट नहीं। अन्य विस्तृत बातें जानने के लिये व्यवस्थापक-रामचंद्र लिफ़्ट वर्क्स सत्याग्रहाश्रम साबरमती, अहमदाबाद के पते से पत्र-व्यवहार करना चाहिए।

यह चरसा उपयोगी मालूम होता है और यदि हमारे यहाँ का एग्रीकलचर-विभाग भी इसका तज़र्बा कर देखे, तो अच्छा हो।

× × ×

२१. भरतपुर-हिंदी-साहित्य-सम्मेलन

भरतपुर सप्तदश हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में उपस्थिति जैसी चाहिए वैसी न थी, पर महाराजा साहब और डॉक्टर सर रवींद्रनाथ ठाकुर के पदार्पण से सभा की रौनक़ बहुत बढ़ गई थी। इस अवसर पर संपादक-सम्मेलन के सभापति श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने जो व्याख्यान दिया, वह बहुत ही अनुमोदनीय है। संपादकों की दशा
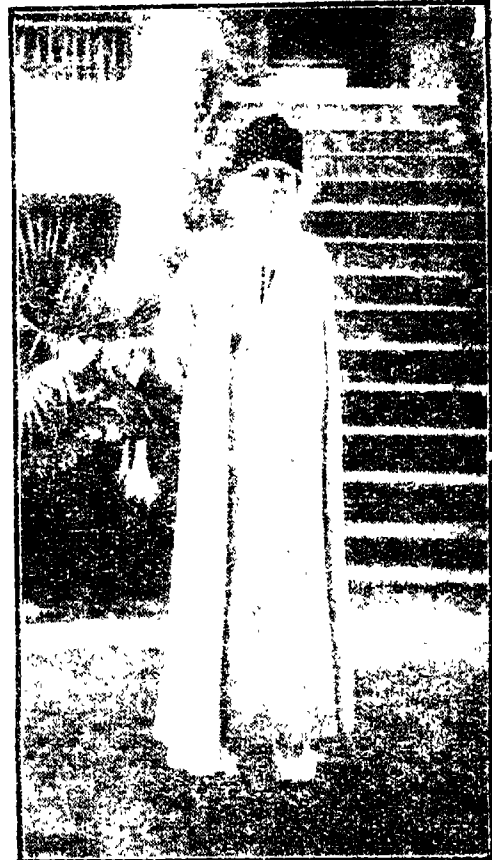
कवि-सम्राट् श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर

भारतवर्ष में जैसी शोचनीय दशा है, वैसी कदाचित् संसार में और कहीं न होगी । संसार में कहीं ऐसी राजनैतिक परिस्थिति भी तो नहीं है । यहाँ संपादक से यह आशा तो सभी रखते हैं कि वह स्पष्ट वक्ता हो, दिलेर हो, घटनाओं की यथार्थ और निर्भीक आलोचना करे ; पर जब वह ग़रीब क़ानून के पंजे में फँस जाता है, तो कोई उसकी दशा पर आँसू बहानेवाला भी नहीं मिलता। अपने लिये तो उसे बहुत चिंता नहीं होती। संपादकीय कुर्सी पर बैठने के पहले ही वह विषम-से-विषम परिस्थितियों के लिये अपने को तैयार कर लेता है। लेकिन अपने बाल-बच्चों और अन्य आश्रितों को कहाँ ले जाय। संपादक-मंडल को इस विषय में अग्रसर होकर उत्साह-पूर्वक कुछ संगठन करना चाहिए।

परस्पर वैमनस्य भी भाषा के पत्रों का एक विशेष दूषण है। संपादक-मंडल ऐसे अवसरों पर आपस में मेल कराने का प्रयास कर सके, तो उसका जीवन बहुत कुछ सार्थक हो सकता है। सभापति महोदय का संपूर्ण लेख शुभाकांक्षाओं और युक्ति-पूर्ण विचारों से परिपूर्ण है और ऐसी प्रभावशाली वक्तृता प्रदान करने के लिये हम आपको बधाई देते हैं।

सम्मेलन कैंप का मुख्य द्वार

श्रीमान् भरतपुर-नरेश का हिंदी ध्वजारोहण करना

× × ×

२२. जेल कमेटी की रिपोर्ट

संसार के अन्य सभ्य देशों में राजनैतिक क़ैदियों के साथ अन्य साधारण क़ैदियों की अपेक्षा कहीं अच्छा व्यवहार किया जाता है। दोनों प्रकार के क़ैदियों में बड़ा अंतर है। साधारण क़ैदी अपने दुष्कर्मों का दंड भोगने के लिये जेल भेजे जाते हैं। उन्हें क़ैद करने का उद्देश्य यह होता है कि जेल के कष्टों को सहकर वे भविष्य में सँभल जावें। राजनैतिक क़ैदी किसी दुष्कर्म का दंड भोगने के लिये जेल में नहीं रक्खा जाता। वह केवल अपने विचारों और सिद्धांतों के लिये जेल जाता है। यदि विदेशियों का राज्य न होता, तो वही राजनैतिक अपराधी जेल की तंग कोठरी

के बदले कौंसिल के भवन में बैठा होता। मगर भारत पराधीन देश है। यहाँ की सारी बातें निराली हैं। यहाँ नौकरशाही से राजनैतिक मत-भेद रखना, चोरी या डाके से कहीं बड़ा पाप है। चोर से सरकार को कोई भय नहीं होता। चोर देशवासियों ही को लूटता है। राजनैतिक अपराधी तो सरकार ही की सत्ता को क्षति पहुँचाने का इच्छुक होता है। इसलिये यदि सरकार की उस पर वक्र-दृष्टि पड़ती है, तो कोई आश्चर्य नहीं।

परंतु दुर्भाग्य-वश राजनैतिक क़ैदियों को जेल का जल-वायु अनुकूल न हुआ। निम्न-श्रेणी के मनुष्य जिस व्यवहार को रो-धोकर सह लेते हैं, वह राजनैतिक क़ैदियों को असह्य होता है, क्योंकि वे बहुधा ऐसे अमानुषिक जीवन से अपरिचित होते हैं। जब एक चीज़ को देखकर ही आदमी का जी मचलाने लगे, तो वह उसे क्योंकर खा सकता है। भारत के जेल पैशाचिकता के अड्डे हैं। राजनैतिक क़ैदी उस घोर अपमान, उस दानवीय निर्दयता को स्वीकार करने के बदले प्राण दे देना अच्छा समझता है। इस प्रकार की शिकायतें जब समाचार-पत्रों में कसरत से छपने लगीं, तो सरकार ने जेल को जाँच करने के लिये एक कमेटी नियुक्त की। उस कमेटी ने राजनैतिक क़ैदियों के विषय में जिन विधानों की सिफ़ारिश की है, यदि उन पर अमल किया गया, तो राजनैतिक क़ैदियों की दशा और भी दुःसह हो जायगी। कमेटी कहती है कि जेलों का अनुशासन राजनैतिक क़ैदियों के कारण बिगड़ गया है। इसलिये इनके साथ किसी विशेष व्यवहार की ज़रूरत नहीं। अन्य क़ैदियों को जब बाहर से कोई वस्तु मँगाने की, वायु-सेवन और व्यायाम की, मनोरंजन या आराधना की, कोई सुविधा नहीं दी जाती, तो राजनैतिक क़ैदियों के साथ क्यों कोई रिआयत की जाय? बल्कि उन्हें एकान्त कोठरी में रखना चाहिए, जहाँ वे किसी क़ैदी से मिल न सकें और उनकी सोहबत का विषाक्त प्रभाव अन्य क़ैदियों पर न पड़ने पाए। उनके साथियों से तो उन्हें किसी दशा में भी न मिलने देना चाहिए। अगर कोई राजनैतिक क़ैदी अनशन करे, तो समझाने के बाद भोजन नलों द्वारा उसके उदर में पहुँचाना चाहिए। यदि इस क्रिया में क़ैदी मर जाय, तो उसका दायित्व स्वयं क़ैदी पर होना चाहिए।

यह है, उस जेल के जाँच-कमेटी की रिपोर्ट। साधारणतः कमेटियों की सिफ़ारिशें कुछ उदारता की ओर झुकी हुई होती हैं। मगर इस कमेटी ने वह भूल नहीं की। राजनैतिक जीवन को कुचल डालने का यह बहुत ही नायाब नुस्ख़ा है। इससे ज़ियादा नायाब नुस्ख़ा यह है कि राजनैतिक कार्य-कर्ताओं को एक सिरे से निर्वासित कर दिया जाय।

× × ×

२३. 'चाँद' का अछूतांक

सहयोगी चाँद के लिये विशेषांकों का निकालना मामूली बात हो गई है। अपने जीवन के ५५ अंकों में वह १० विशेषांक प्रकाशित कर चुका है। मई का अंक अछूतांक है। यह उत्साह हिंदी-पत्रिकाओं में ही नहीं, भारतवर्ष की अन्य भाषाओं में भी नहीं देखने में आता। 'चाँद' ने इसी उत्साह की बदौलत हिंदी-जगत् में वह स्थान प्राप्त कर लिया है, जो हिंदी-भाषा ही के लिये नहीं, किसी भी भारतीय भाषा के लिये गौरव की बात है। ऐसी कोई महिलोपयोगी पत्रिका और भी किसी भाषा में है, इसमें हमें संदेह है। इस अंक में १६२ पृष्ठ हैं, ३ तिरंगे, और ५ एकरंगे चित्र हैं। ब्लाकों की संख्या २५ से अधिक है। लेख प्रायः अछूतोद्धार ही से संबंध रखनेवाले हैं। प्रोफ़ेसर दयाशंकर दुबे का लेख "कुछ अछूत जातियों की दशा" बड़े खोज से लिखा गया है। किशोरीदासजी वाजपेयी का "कुछ अछूत संत और भक्त" तथा "जापान में जातिभेद और अस्पृश्यता" भी विचार-पूर्ण लेख हैं। संपादकीय विविध विषय बड़े परिश्रम से लिखा गया है। मुख-पृष्ठ पर संपादक महोदय एक कोरी कंपोज़िटर के साथ बैठे भोजन करते दिखाए गए हैं। थाली एक ही है। अस्पृश्यता का आशय यदि यह है कि हम सभी के साथ एक ही थाली में खायँ, तो कितने ही अछूतोद्धार के पक्के हिमायती भी उसे स्वीकार न करेंगे। हममें से कितने ही लोग अपने बालकों के साथ भी एक थाली में नहीं खाते। पर इसका यह आशय नहीं हो सकता कि हम उनसे घृणा करते हैं। हम ऐसा सर्वांग सुंदर विशेषांक निकालने के लिये मित्रवर श्रीरामरखसिंह सहगल को हृदय से बधाई देते हैं। इस संख्या का मूल्य २) रक्खा गया है।

"माधुरी" के नियम

मूल्य-विवरण

माधुरी का डाक-व्यय-सहित वार्षिक मूल्य ७॥), छ मास का ४) और प्रति संख्या का ॥) है। वी० पी० से मँगाने में ≈) रजिस्ट्री के और देने पड़ेंगे। इसलिये ग्राहकों को मनीआर्डर से ही चंदा भेज देना चाहिए। भारत के बाहर सर्वत्र वार्षिक मूल्य १०) छ महीने का ५) और प्रति संख्या का ॥≈) है। वर्षारंभ श्रावण से होता है; और प्रति मास शुक्ल-पक्ष की सप्तमी को पत्रिका प्रकाशित हो जाती है। लेकिन ग्राहक बननेवाले सज्जन जिस संख्या से चाहें ग्राहक बन सकते हैं।

अप्राप्त संख्या

अगर कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे, तो अगले महीने के शुक्ल-पक्ष की सप्तमी तक कार्यालय को *सूचना मिलनी चाहिए। लेकिन हमें सूचना देने के* पहले स्थानीय पोस्ट-ऑफ़िस में उसकी जाँच करके डाकख़ाने का दिया हुआ उत्तर सूचना के साथ भेजना ज़रूरी है। उनको उस संख्या की दूसरी प्रति भेज दी जायगी। लेकिन उक्त तिथि के बाद सूचना मिलने से उस पर ध्यान नहीं दिया जायगा, और उस संख्या को ग्राहक ॥‌।–) के टिकट भेजने पर ही पा सकेंगे।

पत्र-व्यवहार

उत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिए। अन्यथा पत्र का उत्तर नहीं दिया जा सकेगा। पत्र के साथ ग्राहक-नंबर ज़रूर लिखना चाहिए। मूल्य या ग्राहक होने की सूचना मैनेजर "माधुरी" नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज लखनऊ के पते से आना चाहिए।

पता

ग्राहक होते समय अपना नाम और पता बहुत साफ़ अक्षरों में लिखना चाहिए। दो-एक महीने के लिये पता बदलवाना हो, तो उसका प्रबंध सीधे डाकघर से ही कर लेना ठीक होगा। अधिक दिन के लिये बदलवाना हो, तो संख्या निकलने के १५ रोज़ पेश्तर उसकी सूचना माधुरी-ऑफ़िस को दे देनी चाहिए।

लेख आदि

लेख या कविता स्पष्ट अक्षरों में, काग़ज़ के एक ही ओर संशोधन के लिये इधर-उधर जगह छोड़कर, लिखी होनी चाहिए। क्रमशः प्रकाशित होने लायक़ बड़े लेख संपूर्ण आने चाहिए। किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने का, उसे घटाने-बढ़ाने का तथा उसे लौटाने या न लौटाने का सारा अधिकार संपादक को है। जो नापसंद लेख संपादक लौटाना स्वीकार करेंगे, वे टिकट भेजने पर ही वापस किए जा सकते हैं। यदि लेखक लेना स्वीकार करते हैं, तो उपयोगी और उत्तम लेखों पर पुरस्कार भी दिया जाता है। सचित्र लेखों के चित्रों का प्रबंध लेखकों को ही करना चाहिए। हाँ, चित्र प्राप्त करने के लिये आवश्यक ख़र्च प्रकाशक देंगे।

लेख, कविता, चित्र, समालोचना के लिये प्रत्येक पुस्तक की २-२ प्रतियाँ और बदले के पत्र इस पते से भेजने चाहिए—

संपादक "माधुरी"

नवलकिशोर-प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ।

विज्ञापन

किसी महीने में विज्ञापन बंद करना या बदलवाना हो, तो एक महीने पहले सूचना देनी चाहिए।

अश्लील विज्ञापन नहीं छपते। छपाई पेशगी ली जाती है। विज्ञापन की दर नीचे दी जाती है—

१ पृष्ठ या २ कालम की छपाई ... ... ३०) प्रति मास
½ ,, या १ ,, ,, ... १६) ,, ,,
¼ ,, या ½ ,, ,, ... १०) ,, ,,
⅛ ,, या ¼ ,, ,, ... ६) ,, ,,

कम-से-कम चौथाई कालम विज्ञापन छपानेवालों को माधुरी मुफ़्त मिलती है। साल-भर के विज्ञापनों पर उचित कमीशन दिया जाता है।

"माधुरी" में विज्ञापन छपानेवालों को बड़ा लाभ रहता है। कारण, इसका प्रत्येक विज्ञापन कम-से-कम ४,००,००० पढ़े लिखे, धनी-मानी और सभ्य स्त्री पुरुषों की नज़रों से गुज़र जाता है। सब बातों में हिंदी की सर्व-श्रेष्ठ पत्रिका होने के कारण इसका प्रचार ख़ूब हो गया है, और उत्तरोत्तर बढ़ रहा है, एवं प्रत्येक ग्राहक से माधुरी ले-लेकर पढ़नेवालों की संख्या ४०-५० तक पहुँच जाती है।

यह सब होने पर भी हमने विज्ञापन-छपाई की दर अन्य अच्छी पत्रिकाओं से कम ही रक्खी है। कृपया शीघ्र अपना विज्ञापन माधुरी में छपाकर लाभ उठाइए। कम-से-कम एक बार परीक्षा तो अवश्य कीजिए।

निवेदक—मैनेजर "माधुरी", न० कि० प्रेस (बुकडिपो), हज़रतगंज, लखनऊ

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ५ खंड २	आषाढ़-शुक्ल ७, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)— ६ जुलाई, १९२७ ई०	संख्या ६ पूर्ण संख्या ६०

पावस-प्रमोद

संयोग

(१)

झूमि-झूमि झुकत उमड़ि नभ-मंडल में,
　　घूमि-घूमि चहुँधा घमंडि घटा घहरैं ।
कहै 'रतनाकर' त्यों दामिनि दमंकि दुरि,
　　दिसि विदिसानि दौरि दिव्य छटा छहरैं ।
सार सुख संपति के दंपति दुहूँ के दुहूँ,
　　अंग-अंग जिनके उमंग भरे थहरैं ।
फूलन के भूलन पै सहित अनंद लेत,
　　सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरैं ।

वियोग

(२)

रहति सदाई हरियाई हिय घायन मैं,
　　ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है ।
लागी रहै नैनन सौं नीर की झरी औ,
　　उठै चित मैं चमक सो चमक चपला की है ।
पीव-पीव गोपी पीर पूरित पुकारैं नित,
　　सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है ।
बिन घनस्याम धाम धाम ब्रज-मंडल मैं,
　　ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है ।

—जगन्नाथदास, "रत्नाकर"

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रसमयी अनन्य !

वर्ष ५ खंड २	आषाढ़-शुक्ल ७, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०)— ६ जुलाई, १९२७ ई०	संख्या ६ पूर्ण संख्या ६०

पावस-प्रमोद

संयोग

(१)

झूमि झूमि झुकत उमड़ि नभ-मंडल मैं,
घूमि-घूमि चहुँघा घमड़ि घटा घहरै ।
कहै 'रतनाकर' त्यौं दामिनि दमंकि दुरै,
छिति छितिमानि छोरि छिप्र छटा छहरै ।
सार सुख संपति के दंपति दुहूँ के दुहूँ,
अंग-अंग जिनके उमंग भरे थहरै ।
फूलन के झूलन पै सोहत अनंद लेत,
सीतल सुगंध मंद मारुत की लहरै ।

वियोग

(२)

रहति सदाई हरियाई हिय घायन मैं,
ऊरध उसास सौ झकोर पुरवा की है ।
लागी रहै नैनन सौं नीर की झरी त्यौं,
उठै चित मैं चमक सौ चमक चपला की है ।
पाव-पाव गोपी पीर पूरित पुकारैं नित,
सोई 'रतनाकर' पुकार पपिहा की है ।
बिन घनस्याम धाम धाम ब्रज-मंडल मैं,
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है ।

—जगन्नाथदास, "रतनाकर"

देव की आत्म-दर्शन-पचीसी

संसार-सागर की कुटिल तरंगों के थपेड़े खाने के बाद मनुष्यों में वैराग्य की भावना का जागृत होना एक प्रकार से अवश्यंभावी-सा हो जाता है। दीर्घ काल तक संसार की मृगतृष्णा में फँसे रहकर स्वभावतः उसकी निःसारता का अनुभव होने लगता है। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं—जहाँ मनुष्यों ने मानव स्वभावोचित कमज़ोरियों के कारण पार्थिव धन-संपत्ति की मृगतृष्णा में पड़कर अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग इधर-उधर लोगों की मिथ्या प्रशंसा करते हुए या अनावश्यक गुण-गाथा गाते हुए बिता दिया और बुढ़ापे में, जीवन के अंतिम दिनों में, सबसे पराङ्मुख होकर उस परम पिता भगवान् में लौ लगाई या यों कहिए कि ऐसा करने के लिये विवश हुए। महाकवि देवजी भी इसी श्रेणी के मनुष्यों में से थे। वे बड़े अच्छे कवि थे इसमें तनिक भी संदेह नहीं, किंतु मालूम यह होता है कि वे धनोपार्जन के लिये अपनी इस कवित्व-शक्ति का उपयोग करने को अधिक उत्सुक थे या उनमें यह उत्सुकता थी कि उनकी कवित्व शक्ति के प्रशंसक मिलें और उसकी उचित प्रशंसा हो। इसी प्रकार के माया-जाल में उनका तमाम जीवन बीता, किंतु वे भाग्य के बड़े हीन थे। उनकी ये कामनाएँ पूर्णतया कभी फलवती नहीं हुईं। उन्होंने अच्छी-से-अच्छी कविता की और वे अच्छे-अच्छे राज-दरबारों में भी पहुँचे, किंतु कहीं भी उनका समुचित सत्कार नहीं हुआ। वे एक योग्य संरक्षक को खोजते ही रहे, किंतु वह, उन्हें कभी मिला ही नहीं। हाँ, जीवन के अंतिम समय में महाराज भोगीलाल एक ऐसे व्यक्ति अवश्य मिले जिन्होंने उन्हें संतोष दिया, शेष जीवन असंतोष और निराशा में ही बीता। असंतोष, निराशा, पराजय, विफलता आदि ही संसार-सागर की कुटिल तरंगें हैं। इनके थपेड़े देवजी को खूब लगे। अंत में उनकी आँखें खुलीं और उन्होंने अपना ध्यान सांसारिक माया-जाल से उठाकर सच्चिदानंद भगवान् की ओर लगाया। जीवन की इसी अवस्था में उन्होंने 'वैराग्य-शतक'-नामक ग्रंथ लिखा। 'वैराग्य-शतक' में उन्होंने चार पचीसियाँ—१. 'जगद्दर्शन-पचीसी', २. 'आत्म-दर्शन-पचीसी', ३. 'तत्त्व-दर्शन-पचीसी' और ४. 'प्रेम-पचीसी'—लिखीं। इन चारों पचीसियों में उन्होंने अपनी उपर्युक्त निराशा और विफलता का उल्लेख किया है।

जगद्दर्शन-पचीसी में—

केसव से गंग से प्रसिद्ध कवि-केहरि से,
कालहि गये जु वृथा कालहि बितावही।
मोहन की सेवा-सुख नाहिं न विचारि देखो,
लोभ के उमाहन पै पीछे पछितावही।
दूजे हँस रही न जो दूजो हौं सराहौं देव,
देव के हिये में देवी देव-सरिता बही।
छाँड्यो खल-संग-बन माँड्यो हरि-रंग-मन,
आँड्यो मोज मन सु खिताब में सिता बही।

आत्म-दर्शन-पचीसी में—

छिन-छिन छीन छिन छीनत छपा की छेम,
छिमा न धरत छुधा छोम सों छयो फिरै।
घर-घर दौरे द्वारकापति को द्वार तजे,
सेवत अदेव देव देव ने गयो फिरै।
स्वारथ न सूझत परारथ न बूझत,
अपारथ ही झूझत मनोरथ मयो फिरै।
होय हरि चाकर तौ चाकर जगत होय,
जगत को चाकर ह्वै कूकर भयो फिरै।

तत्त्व-दर्शन-पचीसी में—

तेरो घर घरो आठों याम रहैं आठों सिद्धि,
नवो निधि तेरे विधि लिखिए ललाट हैं।
देव सुखसाज महाराजन को राज तूहीं,
सुमति सु तौ पै तेरी कीरति के भाट हैं।
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक को सु-
दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट बाट हैं।
तो में जो उठत बोलि ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिये हिये में दिये कपट-कपाट हैं।

और प्रेम-पचीसी में—

ऐसो हौं जो जानतो कि जैहै तू विषै के संग,
ए रे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आजु लगि कत नर-नाहन की नाहीं सुनि,
नेह सौं निहारि हारि बदन निहोरतो।

चलन न देतो देव चंचल अचल करि,
चाबुक चेतावनीन मारि मुँह मोरतो ।
भारो प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर बिरुद के बारिद में बोरतो ।

लिखकर, प्रत्येक पचीसी में वर्णित विषय का संबंध निभाते हुए, अपने मन की उस तुच्छ भावना को जी भर के कोसा है । प्रेम-पचीसी में तो वे बिलकुल खड्ग-हस्त हो गए हैं । देवजी का 'वैराग्य-शतक' ऐसे ही वातावरण में लिखा गया था । इन पंक्तियों में मैं 'वैराग्य-शतक' की 'आत्म-दर्शन-पचीसी' पर विचार करने की चेष्टा करूँगा ।

साधारण परिचय

'आत्म-दर्शन-पचीसी'—'वैराग्य-शतक' की चार पचीसियों में से, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, दूसरी पचीसी है । इस पचीसी के लिये यह स्थान कितना उपयुक्त है, यह प्रेम-पचीसी पर लिखे गए अपने पिछले लेख में, जो माधुरी के माघ मासवाले अंक में प्रकाशित हो चुका है, मैं दिखा चुका हूँ । अतः अब उसके दोहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती । जगत के बाद आत्मा, आत्मा के बाद तत्त्व और तत्त्व को जान लेने के बाद उसके साथ प्रेम—यह स्वाभाविक विकास-क्रम ही इसके स्थान का औचित्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है । पचीसी का विषय कोई निबंध नहीं है और न उसमें किसी प्रकार के कथानकों का ही वर्णन किया गया है । पुस्तक में स्फुट छंदों द्वारा साधारण आत्म-ज्ञान-संबंधी बातों का ही वर्णन किया गया है । आत्म-ज्ञान का भी नितांत वैज्ञानिक विवेचन नहीं है । जो कुछ है, वह यह है कि प्रतिदिन आँखों के सामने घटनेवाली घटनाओं का ही वर्णन किया गया है और इसी वर्णन में आत्म-ज्ञान का रंग चढ़ाया गया है । पुस्तक के २६ छंदों में ही आत्मा की अनिर्वचनीयता, निर्विकारिता, विश्वव्यापकता आदि गुणों का उल्लेख किया गया है । कहीं-कहीं पर आत्मा-संबंधी बातों के अतिरिक्त अन्य विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है । इन विषयों में मूर्ख और सुजान-भेद, उचितानुचित उपदेश आदि का वर्णन है । पुस्तक की वर्णन-शैली में कोई महत्त्व-पूर्ण विशेषता नहीं मालूम होती । देवजी की प्रेम-पचीसी की वर्णन-शैली में जो गुण है उसकी यहाँ न्यूनता है । फिर भी असाधारण प्रतिभाशाली होने के कारण देवजी का वर्णन इस विषय के अन्य कविगण के वर्णनों की अपेक्षा उत्कृष्टता अवश्य रखता है । अन्य कविगण से मेरा अभिप्राय अन्य समस्त कविगण से नहीं है । मेरी धारणा है कि इस विषय में कुछ कवियों ने तो इतना अच्छा लिखा है कि देवजी उनकी बराबरी तक कठिनता से पहुँचेंगे । मेरे उपर्युक्त कथन का एक-मात्र अभिप्राय यह है कि कुछ संत कवियों को छोड़कर जिनका वर्णन विषय केवल यही रहा है और जिन्होंने इसी विषय के पीछे अपना सारा जन्म खपा दिया है, अन्य कविगण जिनका यह प्रधान विषय नहीं रहा, देवजी की वर्णन-शैली की समता नहीं कर सके ।

वर्णन-शैली

ऊपर कहा जा चुका है कि इस पुस्तक की वर्णन-शैली में कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता नहीं है । फिर भी कुछ प्रसंग बहुत सुंदर बन पड़े हैं । उनकी दाद न देना, कवि के प्रति अन्याय होगा । अतः संक्षेप में, वर्णन शैली-निदर्शक कुछ विशेष छंदों का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है । अस्तु !

बेचारे मन की बेबसी का ज़िक्र है । संसार के प्रलोभन दिखाए गए हैं—

फेरत न डीठि जब हेरत हरिन-नैनी,
तोरत तुरत लाज बंधन न पाइए ।
ठौर-ठौर ठटकन हटकत हू न तजैं,
ओट हू न राखें आँखें कैसिक छिपाइए ।
ज्वाकि अचानकहू और चकि चलें देव,
मग न गहत पग-पग ठग लाइए ;
तोपदै पचारि उपचारि चारिऔ उपाय,
कैलौ चुपकारि चित चातो सोच लाइए ।

देवजी बड़े निराश हो गए हैं । वे कहते हैं डंके की चोट पर, चुनौतियाँ दे देकर और साम, दाम आदि चारों उपायों का प्रयोग करके मन को फुसलाकर कहाँ तक और कबतक अभिलषित मार्ग पर चलावें । वहाँ तो निरे प्रलोभन भरे पड़े हैं । हरिन-नैनियाँ ताक ताक कर नैन-सर मार रही हैं । उनके मारे लाज रहने नहीं पाती । स्थान-स्थान पर रोकते हैं, किंतु ढीठ प्रलोभन रुकते नहीं । वे ओट होकर नहीं रहते । अब बताइए आँखें कैसे छिपाई जायँ ? चलते-फिरते अचानक मौक़ा देखकर वे वार कर बैठते हैं,

रास्ते में पग-पग पर ठग लगे हुए हैं। इस विकट परिस्थिति में चित्त कब तक क़ाबू में रहे। प्रलोभनों की उग्रता और मन की दीनता का कितना सुंदर चित्रण किया गया है।

अब ज़रा आवागमन की साँकरी गली की ओर चलिए। यह गली बड़ी संकीर्ण है। इसमें दो के एक साथ चलने की गुंजाइश नहीं। चाहे निकट से निकट संबंधी हो, चाहे घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र हो, कोई भी साथ नहीं चल सकता। रास्ता ही नहीं, दो निकलेंगे कहाँ से? उस रास्ते में तो बस, अकेले आना और अकेले जाना हो सकता है। प्यारे से प्यारे जन, परिजन, धन, वैभव, ऐश्वर्य आदि के सामान सब ज्यों के त्यों रखे रह जायँगे, कोई वहाँ से साथ में होकर नहीं निकल पाते। इसीलिए देवजी उपदेश देते हैं कि--

भीर सों न भूलि बीर, चलत न एक तीर,
तीर तरकस को सो भूठो ठक हेला है।
तेरे हाथ दीपक, समीप तेरे सूधी बाट,
बाट जिन परै तू तो हाट-हाट खेला है।
प्रभुताई पाई, पाँय औरन परत कत,
होहु बलि गुरु क्यों बिलल होत चेला है।
आइ जनि छोड़ि देव दूसरे की राह नहीं,
आवत अकेला जग जात हू अकेला है।

भीर के फेर में न पड़, यह न सोच कि जब और चलेंगे तभी मैं भी चलूँगा, सब लोग एक साथ न जायँगे। ये तो तरकस के तीरों की भाँति एक ही एक करके निकलेंगे। ज्ञान-ज्योति तेरे हाथ में है, सामने सीधा रास्ता पड़ा है। बहुत भ्रम चुका है (चौरासी लाख योनियाँ भ्रम आया) तो अब अधिक न भ्रम। यदि तुझे ज्ञान की प्रभुता प्राप्त हुई है, तो क्यों दूसरों के पैर पड़ता फिरता है। गुरुता धारण कर, निराश न हो और अकेला चल दे। वहाँ दूसरे की राह ही नहीं है। वहाँ से तो समस्त जग-जीव अकेले ही आते-जाते हैं। कितना विशद वर्णन है! संसार के मिथ्या-संबंध को त्याग कर सच्चिदानंद परमात्मा के पवित्र चरणों में श्रद्धा और भक्ति की अंजलि समर्पित करने का कितना ओजस्वी उपदेश है।

एक तीसरा प्रसंग लीजिए--

घर बार छुट्यो परिवार छुट्यो पै छुटी न तऊ तृण-पात-कुटी,
तिय भूषन बास बिलास छुटे पै छुटी नहिं पैबँद की कछुटी।
कहि देव भँडार छुटे धन धार छुटी न पटी ते पिसान पुटी,
तन मान निवास उसास छुटी पै बिसासिनि आस तऊ न छुटी।

मृगतृष्णा में पड़े हुए हैं। आशा लगी हुई है कि आज सुख मिलेगा, कल कल्याण होगा, किंतु वह आज और वह कल क्षितिज की भाँति दूरतर होते जाते हैं। किंतु फिर भी आशा लगी हुई है। धारणा यह है कि जो धन-संपत्ति बची हुई है उसको सँभाले रहो उसी से फिर बढ़ती होगी। इसी मृगतृष्णा में जब घर-बार छूट गया, तो पर्णकुटी रमाए बैठे हैं। तिया, भूषण, वास, विलास की सामग्रियाँ हाथ से निकल गईं, तो चिथड़े की लँगोटी ही लगाए बैठे हैं। अन्न के भंडार ख़ाली हो गए, तो अँगोछे के एक कोने में आटे की एक पोटली बाँधे बैठे हैं। सारांश यह कि सब कुछ छूट गया, किंतु फिर भी--आश लगाए बैठे हैं, यही धारणा किए हुए कि शायद इसी स्थिति से आगे चलकर कभी कल्याण हो! सांसारिक-जीवों की हीनावस्था का कैसा विशद वर्णन है। आस का 'बिसासिनि' विशेषण कितना मार्मिक है।

मन

वर्णन-शैली के उल्लेख की आड़ टूटते ही सबसे पहले पचीसी का मन-वर्णन चुंबक की भाँति मन को बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। देवजी ने मन पर बहुत कुछ लिखा है। इस विषय पर उतना अधिक शायद ही किसी दूसरे कवि ने लिखा हो। प्रशंसा की बात तो यह है कि इतना अधिक लिखने पर भी जो कुछ लिखा है, अद्वितीय लिखा है। इस पचीसी में भी देवजी ने मन पर बहुत कुछ लिखा है। लगातार कई छंद इसी विषय पर लिखते चले गए हैं और वे सब एक से एक सुंदर हैं। पचीसी की परिमित छंद-संख्या के अंदर ही छः-छः सात-सात छंद केवल मन पर ही लिखे गए हैं। किंतु इसमें अनौचित्य का कोई संदेह नहीं किया जा सकता। इस विषय पर यदि अधिक छंद लिखे गए हैं, तो यह पचीसी के विषय से अनुकूलता भी तो अधिक रखता है। मन और आत्मा एक दूसरे के कितने निकट हैं। फिर यदि इतने निकटस्थ विषय पर कुछ अधिक छंद लिखे गए, तो अनौचित्य का संदेह कैसा? अनुचित क्या, इस पर लिखना तो उलटा उचित ही है। संभवतः इसीलिए देवजी ने इस विषय को इतना स्थान दिया है। अस्तु!

मन के संबंध में सबसे पहले देवजी उसकी चंचलता का वर्णन करते हैं। देवजी ने अपने विषय-विश्लेषण में कितनी सूक्ष्मदर्शिता से काम लिया है। इसका उदाहरण यहीं से हमें मिलता है। मन का सबसे प्रधान स्वभाव चंचलता है। देवजी ने इसी नस को ताड़कर पकड़ा है। इस विषय में पदार्पण करते ही वे कहते हैं—

हाय कहा कहौं चंचल या मन की गति मैं मति मेरी भुलानी,
हौं समुझाय कियो रस-भोग न देव तऊ तिसना बिनसानी।
दाड़िम दाख रसाल सिता मधु ऊख पिये औ पियूष से पानी,
पै न तऊ तरुनी तिय के अधरान के पीबे की प्यास बुझानी।

मन की चंचलता का कितना सुंदर वर्णन है। दूसरी ओर उसके हठ, दुराग्रह का कितना मार्मिक व्यंग्य है? अपनी सहज चंचल-वृत्ति के कारण वह लाख समझाने पर भी नहीं मानता। मीठी से मीठी वस्तुएँ इसीलिए पिलाई कि समझ जाय, कुछ इन्हीं से संतुष्ट हो जाय, किंतु वह कब माननेवाला था। उनके होते हुए भी तरुनी-तिय के अधरान के पीबे की तृष्णा न शांत हुई, न शांत हुई! जिस प्रकार एक चंचल बालक जब किसी वस्तु के पीछे मचल जाता है, तब उसे दूसरी वस्तुएँ देकर—वे वस्तुएँ उसकी अभिलषित वस्तु से कितनी ही अधिक अच्छी क्यों न हों—और कितना ही फुसलाइए, किंतु वह नहीं मानता। ठीक उसी प्रकार प्रत्युत कई अंशों में उससे भी अधिक तीव्रता के साथ मन भी मचल जाता है और बिलगाए नहीं बिलगता। फिर भी मन का यह रोग असाध्य नहीं है। जिस प्रकार बालक समझाया जा सकता है, उसी प्रकार मन भी—कठिनता अवश्य पड़ती है—अंततोगत्वा समझाया जा सकता है। इसीलिए देवजी मन को सँभाले रखने और बहुत बुद्धिमानी के साथ कहीं लगाने की शिक्षा देते हैं। पहले तो वे सांसारिक-वातावरण की प्रतिकूलता का वर्णन करते हैं और निराशा का अनुभव करते हुए कहते हैं—

बेचत याहि गँवार घरै घर आव धरै नर लेत बसेरे।
दीजिए जाहि सो देन न फेरि ये देव महा दुख देत घनेरे।
याही के चोर चितौत चहूँ दिसि लेत चुराय करै फिर फेरे।
मानिक सो मन खोलिये काहि कुगाहक नाहक के बहुतेरे।

किसके सामने यह मन-माणिक्य खोलकर दिखाया जाय? संसार में तो सब कुगाहक ही भरे पड़े हैं। चारों ओर इसके चोर खड़े हैं। जिसे एक बार दे दो, वह कभी लौटाता ही नहीं। ऐसे गँवारों के घर इसे क्या दें? वे इसकी क्या क़द्र करेंगे? 'क़द्र गौहर शाह दानद या बिदानद जौहरी।' यह मन-माणिक्य—यह गौहर—तो संसार के परे रहनेवाले परम पिता के, उस जौहरी के या उस शाहन्शाह के—चरणों में ही समर्पित की जाने-योग्य वस्तु है। इसीलिए देवजी कहते हैं—

गाँठिहु से गिरि जात गये यह पैये न फेरि जु पै जग जोवै,
ठौर ही ठौर रहैं ठग ठाढ़ेई पौर जिन्है न हँसै किन रोवै।
दीजिए ताहि जो आपन सो करि देव कलंकनि पंकनि धोवै,
बुद्धि-बधू की बनाइ कै सौंपु तू मानिक सो मन धोखे न खोवै।

यह बड़ी गोपनीय वस्तु है। यदि गाँठ से गिर गई, तो फिर इसका मिलना असंभव ही समझो। स्थान-स्थान पर इसके ठग अपना जाल फैलाए बैठे हैं। इसलिये सोच-समझ कर ऐसे स्थान पर इसका समर्पण कर, जहाँ वह अपना लिया जाय—नहीं, नहीं—'आपन सो' कर लिया जाय—तद्रूप हो जाय। आत्मा के पूर्ण विकास और परमात्मा के ऐक्य का कैसा सुंदर वर्णन किया गया है। पचीसी की छंद-संख्या १२ से लेकर १७ तक केवल मन-विषय पर लिखे गए हैं। ये सभी छंद एक से एक बढ़कर हैं। किंतु विस्तार-भय से उन सबका उल्लेख नहीं किया जा सकता। फिर भी एक छंद और उद्धृत करने की उत्कट इच्छा का संवरण करना भी मेरे लिये असंभव ही है।

देवजी अपने मन-मीत का वर्णन कर रहे हैं। वर्णन मित्रता का है। मैत्री की जननी हैं—वासनाएँ और वासनाओं की जननी हैं—ज्ञानेंद्रियाँ। जहाँ ज्ञानेंद्रिय-जन्य वासनाओं की जितनी अधिक तृप्ति होती है वहाँ मैत्री भी उतनी ही अधिक घनिष्ठ होती है। एक ज्ञानेंद्रिय-जन्य वासनाओं को तृप्त करनेवाले मनुष्य की अपेक्षा दो ज्ञानेंद्रियों द्वारा जनित वासनाओं की तृप्ति करनेवाला मित्र अधिक श्रेष्ठ और अधिक घनिष्ठ होता है। इसी प्रकार जो तीन ज्ञानेंद्रियों द्वारा उद्भूत वासनाओं की तृप्ति करता है वह और भी घनिष्ठ होता है और चार वाला और भी—और, चूँकि ज्ञानेंद्रियाँ पाँच ही मानी गई हैं इसलिये पाँच वाला सबसे अधिक घनिष्ठ होता है। देवजी का मन-मीत सर्व-श्रेष्ठ मित्रता निभानेवाला मित्र है। वह अनूप रूप दिखाकर नेत्रेंद्रिय को, राग सुनाकर कर्णेंद्रिय को, सुगंध सुँघाकर घ्राणेंद्रिय को, रस-भोग कराकर

जिह्वा को और संयोग में रखकर स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) को—इस प्रकार पाँचों ज्ञानेंद्रियों को—तृप्त करता है। अब देवजी के शब्दों में उनके मित्र की बड़ाई सुनिए—

रूप अनूप दिखावत ही जिहि राग सुनावत बैस बिताई,
मूँघे सुगंध, किए रस-भोग सँजोगनि सों न घरीक रिताई।
देवहि राज दियो घर ही में सभा अपनी सब जोरि जिताई,
मोहिं मिल्यो जबते मन-मीत तजी तबतें सबते मैं मिताई।

ऐसा मीत पाकर देवजी क्यों न सबसे मिताई तज देते ? दृष्टि, श्रुति, घ्राण, स्वाद, स्पर्श सभी के सभी सुख जिससे प्राप्त हों, उसको छोड़कर कौन भकुआ होगा जो इधर-उधर मारा-मारा फिरेगा ?

मन-मीत के संबंध में एक बात और जान लेना आवश्यक है। मित्र वही है जिस पर अपना वश हो। मन-मीत के अर्थ हैं—वह मन, जिस पर अपना वश हो। इस प्रकार जब मन वश में आगया, तब कौन सी वस्तु कहाँ दुर्लभ रह गई ? पाँच इंद्रियों की तो बात ही क्या। इस अवस्था में तो, यदि और भी इंद्रियाँ हों, तो उनकी भी परितुष्टि होजायगी।

आत्मा की अनिर्वचनीयता

आत्मा, जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृति, पुरुष, ईश्वर, माया आदि वेदांत के ऐसे विषय हैं जिन पर आजतक कोई वेदांती निश्चित रूप से प्रकाश नहीं डाल सका। अपनी-अपनी बुद्धि, तर्क-शक्ति, विवेचना और ज्ञान के अनुसार इन विषयों पर बड़े-बड़े वेदांतियों ने बहुत कुछ लिखा। किंतु कोई वेदांती निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सका। किसी की बात इतनी पुष्ट होकर आज तक सामने न आई कि जिसको सब लोग मान लेते। अंत में, हार कर यही कहना पड़ा कि यह विषय अनिर्वचनीय है, अगोचर है, वर्णनातीत है। देवजी तर्क-वितर्क में व्यर्थ समय नष्ट किए बिना ही, पहिले ही उसे अनिर्वचनीय कहे देते हैं। तर्क-वितर्क के झंझट में पड़ना तार्किकों का काम है। देवजी कवि ठहरे, वे इन झंझटों में कैसे पड़ते ? उन्होंने पुस्तक प्रारंभ करते ही कह दिया—

देव जियै जब पूछौ तौ पीर को पार कहूँ लहि आवत नाहीं,
सो सब झूठ मतै मन के बकि मौन सोऊ रहि आवत नाहीं।
ह्वै नद संग तरंगनि मैं मन फेन भयो गहि आवत नाहीं,
चाहैं कह्यो बहुतेरो कछू पै कहा कहिए कहि आवत नाहीं।

और इस प्रकार उसकी अनिर्वचनीयता पहले ही स्वीकार कर ली। किंतु यह स्वीकार करते हुए भी उन्होंने कुछ कहा है और पहले ही से उनका अभिप्राय कुछ कहने का था, इसलिये जहाँ वे "कहा कहिए कहि आवत नाहीं" कहकर विषय की अनिर्वचनीयता स्वीकार करते हैं, वहीं कुछ कह सकने की गुंजाइश रखने के विचार से बड़ी चतुरता के साथ यह भी कहते जाते हैं कि—"मौन सोऊ रहि आवत नाहीं" और "ह्वै नद संग तरंगनि मैं मन फेन भयो गहि आवत नाहीं" अर्थात् मौन रहा नहीं जाता, मन बुदबुदे की भाँति प्रवाह में बहा चला जाता है। अभीष्ट विषय पर कुछ कहने के लिये उत्सुक हो रहा है और (यह जानते हुए भी कि विषय अनिर्वचनीय है) रोका नहीं रुकता। इस प्रकार इस एक ही छंद में देवजी ने अनेक बातें कह डालीं। यह एक छंद देवजी की 'आत्म-दर्शन-पचीसी' की विस्तृत भूमिका है। इसमें उन्होंने बता दिया कि आत्मा अनिर्वचनीय है, किंतु मन की चंचलता उस पर भी लिखने के लिये उकसा रही है। बहुत कुछ कहना चाहता हूँ, किंतु कुछ कहा नहीं जाता, (इसीलिये केवल पचीसी लिखी गई) आदि।

आत्मा की निर्विकारिता

इस भूमिका के बाद देवजी आत्मा की निर्विकारिता पर लेखनी उठाते हैं। आत्मा का कौतुक भी बड़ा विचित्र है। वह निर्विकार है। दुःख-सुख, हँसना-रोना, द्वेष-राग आदि कोई द्वंद्व उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं करते। फिर भी हम सुख और दुःख का अनुभव करते हैं। कहीं फूल के समान फूल जाते हैं, कहीं सूख जाते हैं। कभी रूठते हैं, कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी रुष्ट होते हैं, कभी द्वेष करते हैं और कभी प्रेम का राग अलापते हैं। और, अंत में जब सूक्ष्म निरीक्षण करते हैं, तब मालूम होता है कि यह सब वृथा ही किया, मैं तो ज्यों का त्यों बना हुआ हूँ, न कुछ खोया, न पाया। फिर यह विकार क्यों ? देवजी अपने इसी कौतुक में भूले रहते हैं। वे कहते हैं—

मानै को मानि लियो सुख औ दुख सूखि गयो कहूँ फूल ज्यों फूल्यो,
झूठेहू रूठि रह्यो हँसि गयो रिसानो रिसानो खरो अनुकूल्यो।
देख्यो विचारि तौ ज्यों हौं को त्यों कछू आयो गयो न मिट्यो न समूल्यो,
काहू की बात कहा कहौं देव हौं आप ही आपने कौतुक भूल्यो।

आत्मा में वस्तुतः कोई विकार उत्पन्न नहीं होता।

यह तो मन का भ्रम है जो उसे अच्छाई या बुराई — किसी ओर - विकृत देखता है। हम रोज़ नया दिन, नई रात, नई बात देखते हैं, उन्हें नई करके मानते हैं, किंतु हैं वे सब पुरानी ही, उनमें वस्तुतः कोई विकार नहीं उत्पन्न हुआ। देवजी कहते हैं —

वही दिन वही रात वही साँझ वही प्रात,
　　वही मास ऋतु वही रूप उहडह्यो है।
　　•　　•　　•
नयो नित मान्यो सोऊ सुखहू पुरानो भयो,
　　नयो तू पुरानो आप मान्यो लहलह्यो है।
　　•　　•　　•

इस प्रकार हम भ्रमवश या मायावश वस्तु-स्थिति को भूलकर कुछ-का-कुछ समझ बैठते हैं। शाश्वत मूर्ति को क्षणिक और निर्विकार को विकृत देखा करते हैं।

व्यापक-स्वामित्व और विश्वव्यापकता

"अहं ब्रह्मास्मि", "एकोऽहं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" के सिद्धांतों को माननेवालों से आत्मा और परमात्मा के संबंध को बताने की आवश्यकता नहीं। फिर एक बार इस संबंध की घनिष्ठता लक्षित हो जाने पर आत्मा के व्यापक-स्वामित्व और उसकी विश्व-व्यापकता के संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उस जगन्नियन्ता के इशारों पर ही संसार के समस्त व्यापार होते हैं और वही सृष्टि के अणु-अणु में परिव्याप्त पाया जाता है। देवजी ने आत्मा के इन दोनों गुणों का बड़ा सुंदर वर्णन किया है—

तेरे ही बधायो अब धायो धायो फिरै जानि,
　　जग सब धायो सुनि तेरे ही उमाह को।
संपति घनेरी घर चेरी तेरी चेरी सब,
　　करै देव तीनों लोक तेरे चित चाहे को।
सुमति सुहागिनि दुलहिया सों गाँठि जोरि,
　　दूलह ह्वै हुलसि विलसि लेहु लाहे को।
अपने श्रवण सुनि आपनी पुनीत गति,
　　बैठारत चौंक चून चाटत हो काहे को।

और—

मेरे ही सरूप चराचर सब देखियत,
　　भयो मिटि गयो फिर नयो होत हौन है।
मूल निरमूल थूल सूक्षम अचरचर,
　　भरयो रीतो पावक पृथिवि पानी पौन है।
हौं ही खर अक्षर सगुन निरगुन ब्रह्म,
　　मोही में सकल मेरे पाँऊ कछु औ न है।
हौं ही देव सेवक अनेक एक नाहीं आहीं,
　　हौं ही ही जगत जासों तू कहै सो कौन है।

इन दोनों छंदों में क्रमशः आत्मा का व्यापक-स्वामित्व और उसकी विश्व-व्यापकता का सुंदर चित्रण किया गया है। ये छंद ऊपर कहे गए 'एकोऽहं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' सूत्र की मानों वृत्तियाँ हैं। पाठक देखेंगे कि इन छंदों में उक्त वाक्यों का प्रतिपादन कितनी सुंदरता के साथ किया गया है।

कुछ रूपक

रूपकों का समावेश यद्यपि वर्णन-शैली के अन्तर्गत ही होना चाहिए था तथापि उनके अधिक आकर्षक होने के कारण मैं अलग से उनका उल्लेख कर रहा हूँ। पचीसी में सबसे पहला रूपक बाज़ार का है। बाज़ार भी ऐसा-वैसा नहीं। देह-नगर का बढ़िया बाज़ार लगा है। सब सामान जुटा है। जैसा बाज़ार है उसी के अनुरूप उसका सामान भी लगा हुआ है। आयु का दिन है, जीव-रवि उगा हुआ है, गुरु की बिक्री हो रही है, मोह की गोनियाँ भी बेची जा रही हैं, बिके हुए भाव पर छितीस की छाप लगती है, जमराज जगाती निरीक्षण के लिये उपस्थित हैं और बनिए भी मौजूद हैं। शाम को बाज़ार के उठ जाने का भी ज़िक्र है, सभी कुछ तो है, बाज़ार का और सामान ही क्या बाक़ी रहा? यह सामान सजा कर देवजी कहते हैं—

आवत आयु को द्यौस अथ्योतु गये रवि जीव अँध्यारिये ऐहैं,
दाम खरे कै खरीद खरो गुरु मोह की गोनि न फेरि बिकैहैं।
देव छितीस की छाप बिना जमराज जगाती महा दुख दैहैं,
जात उठी पुर देह की पैठ अरे बनिये बनिगे नहि रैहैं।

अर्थात् आयु-रूपी दिन बीतने आया, जीव-रवि अस्ताचल की ओर जा रहा है, अँधेरा हो जाने पर कुछ न हो सकेगा इसलिये खरे दाम लगाकर अच्छा गुरु ख़रीद ले और मोह की गोनियाँ बेच डाल, नहीं तो फिर न बिकेंगी, अपने ख़रीद-फ़रोख़्त में छितीस की छाप लगा ले, नहीं तो चुंगी घर के मालिक जमराज महाराज बहुत सताएँगे। जल्दी कर, देह-नगरी का यह बाज़ार उठा जा रहा है, सदा बना न रहेगा।

दूसरा महत्त्वपूर्ण रूपक सन्निपातावस्था का है। इसमें

देवजी समस्त संसार को सन्निपात-ग्रस्त पाते हैं। वे कहते हैं—

लोभ-कफ, क्रोध-पित, प्रबल मदन वात,
मिल्यो सन्निपात उतपात उलट्यो रहै।
आक बाक बकि बकि औचकि उचकि चाकि,
दौरि दौरि थाकि थाकि मरन पर्‌यो रहै।
सब जग रोगी है, संयोगी औ वियोगी भोगी,
पथ न रहत मनोरथन रर्‌यो रहै।
होय अजरामर महौषधि संतोष सेवै,
पावै सुख मोख जो त्रिदोष ते बच्यो रहै।

त्रिदोष—कफ, वात, पित्त के बिगड़ने से ही सन्निपात होता है। वे तीनों दोष यहाँ मौजूद हैं। सन्निपात में रोगी बकता, झकता, उचकता, भागता है, वह ही यहाँ हो रहा है। इसके बाद त्रिदोष से बचानेवाली—सन्निपात से मुक्ति प्राप्त करानेवाली—औषधि भी प्रस्तुत है। सारांश यह कि सन्निपात पैदा होने से उसके अच्छे होने तक का सब सामान यहाँ पर प्रस्तुत है। लोभ कफ का, क्रोध पित्त का और प्रबल काम वात का काम दे रहे हैं। इन तीनों से ग्रस्त मनुष्यों की चेष्टाएँ सन्निपात-ग्रस्त मनुष्यों की सी होती ही हैं। वह भी है ही और अंत में सन्निपात-निवारण के लिये संतोष की महौषधि भी प्रस्तुत है।

एक छोटा-सा रूपक और भी देखिए—

मोह महीप की बैठि सभा महँ,
लोभ ललाऊ को मोल लचायो।
काम से मंत्री, महा मद मीत से,
क्रोध से बीर सो रंग रचायो।

* * *

इस रूपक में मोह-महीप के दरबार का वर्णन है, उनके राज्य का नहीं। दरबार में भी केवल उपस्थित सदस्यों का, सजावट सामान का नहीं। इसलिये इसमें न तो राज्यांग ही आए हैं और न दरबार का साज-सामान ही। किंतु एक राजा के दरबार के प्रधान अधिकारी इसमें सब आ गए हैं। मोह-महीप का तो दरबार ही है। युवराज लोग भी बैठे हुए हैं। इनके अतिरिक्त प्रधान सचिव काम, मित्र मद, सेनापति क्रोध आदि भी यथास्थान विराजमान हैं। शायद कोई गुप्त-मंत्रणा हो रही है। इसीलिये चुने-चुने अधिकारी निमंत्रित किए गए हैं। अस्तु।

लेख के इस अंश में मेरा अभिप्राय केवल रूपकों का दिखाना था। इसलिये और इसलिये भी कि वैसा करने से विस्तार का भय था, मैंने इन छंदों के अर्थ-गांभीर्य पर विचार नहीं किया। रूपकों के संबंध में मैं पाठकों का ध्यान उपमान और उपमेयों के औचित्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट करना चाहता हूँ। आयु-ओस, जीव-रवि, जमराज-जगाती, पुरदेह-पैठ, लोभ-कफ, क्रोध-पित्त, प्रबल मदन-वात, संतोष-महौषधि, मोह-महीप, लोभ-लला, काम-मंत्री, मद-मीत, क्रोध-सेनापति आदि सब उपमान और उपमेय महत्त्वपूर्ण विशेषता रखते हैं।

उपसंहार

'आत्म-दर्शन-पचीसी' के संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। किंतु देवजी के ही शब्दों में "कहा कहिए कहि आवत नाहीं।" पुस्तक में प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाली साधारण घटनाओं का बड़ा दिलचस्प और प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है—

माया के प्रपंचन सों पंचन के बंचन सों,
कंचन के काज मोह पंचन ठग्यो फिरै।
काम भयो, क्रोध भयो कुटिल कुबोध भयो,
विश्व में विरोध ही के बीजन बयो फिरै।
लाभ ही के लोभ भयो, रंगत अनेक दंभ,
मान बिषै बस्तुन के पुस्तक लये फिरै।
चौदहौं भुवन सातों दीप नवों खंड जाके,
पेट में भरे हैं ताहि पेट में दये फिरै।
सूर बिन बासर मलिन आसपास रहै,
चंद बिन राति भाँति-भाँति भाँति भूत की।
कंदरा सो मंदिर दिपै न देव दीप बिन,
तेल बिन दीप ज्यों दिपै न बाती सूत की।
नेह बिन दंपति ज्यों दान बिन संपति ज्यों,
बिद्या बिन पूत जैसे माता बिन पूत की।
नारी बिन गेह जैसे ज्ञान बिन देह ऐसी,
मैली मलमूत है ते थैली मलमूत की।

आदि, छंद इस बात के प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त अन्य छंदों में भी बहुत लालित्य और अर्थ-गौरव है। किंतु लेख का कलेवर बढ़ जाने के भय से उन सबका उल्लेख किया जाना असंभव है।

यहाँ पर एक बात और कह देने की आवश्यकता प्रतीत होती है, वह यह कि इन पंक्तियों में पुस्तक के

दोषों का कोई उल्लेख नहीं हुआ। इसका कारण यह नहीं है कि मैंने जान बूझकर दोष दिखाने की उपेक्षा की, किंतु वास्तव में उल्लेख-योग्य कोई दोष मुझे मालूम ही नहीं पड़ा। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मैं कविता की भावात्मक विवेचना का ही पक्षपाती हूँ और इसी दृष्टि से उसके गुण-दोषों का अन्वेषण करता हूँ। इस दृष्टि से देखने में मुझे पुस्तक में कोई आकर्षक दोष दृष्टि-गोचर नहीं हुआ।

विष्णुदत्त शुक्ल

बौद्ध-दर्शन में स्थविरवाद और महासंघिकों की सम्प्रदाएँ

ऐसा मालूम होता है कि महात्मा बुद्ध ने जो कुछ उपदेश किया था उसका संग्रह उनकी मृत्यु के कुछ शताब्दियों के पीछे तक न हो पाया। उनके चेलों और चेलों के चेलों के बीच में वर्षों तक बुद्ध के सिद्धान्तों के विषय में झगड़े होते रहे। जब वैसाली की कौंसिल ने वज्जी पुत्रों के विरुद्ध फ़ैसला किया, तो इन्होंने एक दूसरी विराट सभा इकट्ठी की जिसका नाम महासंघ था और भिक्षुकों के नियम अपने मतानुसार बाँध लिए। इस प्रकार ये लोग महासांघिक के नाम से प्रसिद्ध हुए। वसुमित्र के मतानुसार महासांघिक-दल ईसा से ४०० वर्ष पहले बना और इसमें से सौ वर्ष के भीतर तीन फ़िर्क़े और बन गए और इन तीन के पीछे एक फ़िर्क़ा और बना। फिर सौ वर्ष में चार फ़िर्क़े और बन गए। थेरवाद या स्थविरवाद मत जिसने वैसाली की कौंसिल की थी, ईसा से पहले, पहली और दूसरी सदी में छः फ़िर्क़े उत्पन्न किए। छठे फ़िर्क़े में चार शाखाएँ और उत्पन्न हुईं। थेरवाद मत को दूसरी शताब्दी से हेतुवादी अथवा सर्वास्तित्ववादी कहा गया। थेरवाद और विभज्यवाद एक ही मत कहा जाता है।

महासंघिकों का मत यह था कि शरीर चित्त से भरा है और चित्त बैठा हुआ है। प्रज्ञाप्तिवादियों का मत था कि मनुष्य में कोई कर्ता नहीं है और न अकाल मृत्यु है; क्योंकि मनुष्य के पूर्व-जन्म के कर्मों से मृत्यु होती है। सर्वास्तित्ववादियों का विश्वास था कि सब वस्तुएँ सत्य हैं। वैभाषिक और सौत्रांतिक लोग एक दूसरे से मिले-जुले हैं। वसुबंधु वैभाषिक मत का था और उसके ग्रंथ पर सौत्रांतिक संप्रदाय के यशोमित्र पंडित ने टीका लिखी है। वैभाषिकों का विश्वास था कि बाहर के पदार्थ प्रत्यक्ष-प्रमाण से दिखाई देते हैं और सौत्रांतिकों का विश्वास था कि बाहरी पदार्थों की सत्ता हमारे ज्ञान द्वारा अनुमित होती है। गुण-रत्न पंडित के विचार से वैभाषिकों का मत था कि वस्तुएँ चार क्षण तक रहती हैं, यानी उत्पत्ति का क्षण, रहने का क्षण, जीर्णता का क्षण और नाश का क्षण। ये चार प्रकार की शक्तियाँ थीं। जो सत्ता के स्थायी गुण से मिलकर जीवन के अनेक दृश्यों को स्थायी और अस्थायी बनाती थीं जिसको आत्मा कहते हैं, उसके भी यही लक्षण थे कि ज्ञान अमूर्ति है और अपने विषय के साथ उत्पन्न होता है। सौत्रांतिकों का मत था कि आत्मा कोई वस्तु नहीं है जो कुछ है वह पाँच स्कंध हैं। इन स्कंधों का ही आवागमन होता है भूत, भविष्यत, नाश, कारण, आश्रय, आकाश और पुद्गल ये सब संज्ञामात्र यानी नाम, प्रतिज्ञा-मात्र संवृतमात्र और व्यवहारमात्र हैं। पुद्गल

से उनका मतलब अनादि और सर्वव्यापी आत्मा से था। बाहरी पदार्थ प्रत्यक्ष-प्रमाण से नहीं देखे जाते हैं, बल्कि उनका अनुमान ज्ञान द्वारा होता है जो स्पष्ट दिखाई देता है वह ठीक है परंतु जितनी बनी हुई वस्तुएँ हैं वे क्षणिक हैं। वर्ण, स्वाद, गंध, स्पर्श और ज्ञान के परमाणु प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। शब्दों का अर्थ वही है जो उस शब्द से समझा जावे। आत्मा नहीं है इसका निरंतर ध्यान करने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके नाश का नाम मोक्ष है।

स्थविरवाद (थेरवाद) और महासंघिकों की संप्रदाएँ निम्न-लिखित हैं—इनका विवरण हमारी 'बौद्ध-दर्शन'-नामक पुस्तक में है जो छप रही है।

स्थविरवाद (थेरवाद) की संप्रदाएँ—

१ हैमवंतवाद
२ सर्वास्तित्ववाद
३ वात्सीपुत्रीया
४ धर्मोत्तरा
५ भद्रयानिका
६ सम्मतीया
७ शरणागारिका
८ महीषासका
९ धर्मगुप्ता
१० काश्यपीया
११ सौत्रांतिका

महासंघिकों की संप्रदाएँ—

१ मूलमहासंघिका
२ एकव्यवहारिका
३ लोकोत्तरवादी
४ कौरुकुल्लका
५ बहुश्रुतीया
६ प्रज्ञप्तिवादी
७ चैत्यशैला
८ अवरशैला
९ उत्तरशैला

कन्नोमल

काश्मीर

(गतांक से आगे)

गुलमर्ग की चढ़ाई जुलाई से शुरू होती है, परंतु हमने मध्य जून में ही गुलमर्ग की सैर करना निश्चय किया। श्रीनगर से टंगमर्ग तक क़रीब २५ मील की मोटर-सड़क है। मोटर का किराया ३) सवारी और लारी का १॥) से २) सवारी तक है। टंगमर्ग से घने कुंजों से होते हुए क़रीब दो मील की सीधी चढ़ाई है। जो पैदल न चल सकते हों उनके लिये तीन मील का टट्टुओं और डाँडियोंवाला रास्ता भी है। टंगमर्ग क़रीब ६,५०० फ़ीट ऊँचा है। यहाँ भी धारा के निकट चीड़ के वृक्षों के नीचे तंबू डालने की अच्छी जगह है परंतु लोग टंगमर्ग पहुँचकर वहाँ नहीं ठहरते।

गुलमर्ग क़रीब ८,५०० फ़ीट की ऊँचाई पर एक थोड़ा बहुत समतल तीन मील के घेरे में हरा-भरा मैदान है। चारों ओर देवदारु का वन है। दक्षिण में मर्ग के ऊपर ही १५,००० फ़ीट ऊँचे पीरपंजाल के हिम-शृंग हैं। पश्चिम में पीरपंजाल के नीचे पर्वत हैं परंतु उत्तर और पूर्व की ओर काश्मीर की घाटी पहाड़ के एकदम नीचे है। मर्ग के बाहर घाटी की तरफ़ एक चौरस सड़क बनी हुई है जिस पर चलते हुए घाटी और उसके पीछे हिम-शृंगों की अनुपम छटा के पग-पग पर दृश्य बदलते रहते हैं।

मर्ग स्वयं एक बेढंगी तश्तरी के समान है जिसके मध्य पोलो का मैदान और किनारों में गॉल्फ़ लिंक्स, साहबों के बँगले, गिरजाघर इत्यादि हैं। बाज़ार वहीं बना हुआ है जहाँ टंगमर्ग से चढ़ता हुआ रास्ता मर्ग के नीचे उतरता है। हमारे पहुँचने के समय तक बाज़ार की रौनक़ शुरू हो गई थी, अभी तक तो खाने-पीने के पदार्थ महँगे नहीं थे। तीन आने सेर दूध, बारह आने सेर पूरी, फल कुछ अधिक महँगे। परंतु १) रोज़ में आनंद-पूर्वक भोजन मिल सकता था। कुछ रोटी की दुकानें हैं। एक ख़ालसा होटल है। साथ ही एक धर्मशाला भी है। होटल में १) रोज़ पर कमरा मिल सकता है। ठंडे जल का नल क़रीब ही है। परंतु मर्ग पहुँचकर हम ठंडे जल से

युद्ध करने की राय नहीं दे सकते । हम दो दिन ठहरे थे । किसी समय जल नहीं बरसा परंतु रात्रि के समय माघ की ठंड का आनंद आता था ।

गुलमर्ग

मर्ग से सैर करने के लिये बहुत-से स्थान हैं। मर्ग से एक हज़ार फ़ीट उतरकर फ़ीरोज़पुर नाला है जहाँ नदी और हिम के पारस्परिक मेल के भव्य दृश्य हैं । कुछ दूर आगे चलकर तीश मैदान नामक गुलमर्ग से कुछ ऊँचा एक मर्ग है। परंतु सबसे अच्छी और सरल सैर अफरावत नामक हिम-शिखर की है । गुलमर्ग से तीन मील चढ़कर १०,००० फ़ीट की ऊँचाई पर किलनमर्ग है। फिर वहाँ से तीन घंटे की चढ़ाई के पश्चात् आप १४,५०० फ़ीट ऊँचे अफ़रावत हिम-शिखर पर पहुँचते हैं। आगे चलकर एक ताल है जिसमें जुलाई तक बर्फ़ जमी रहती है। हम किलनमर्ग ही तक चढ़े, क्योंकि हमारे पास बर्फ़ पर चढ़ने के योग्य जूते नहीं थे।
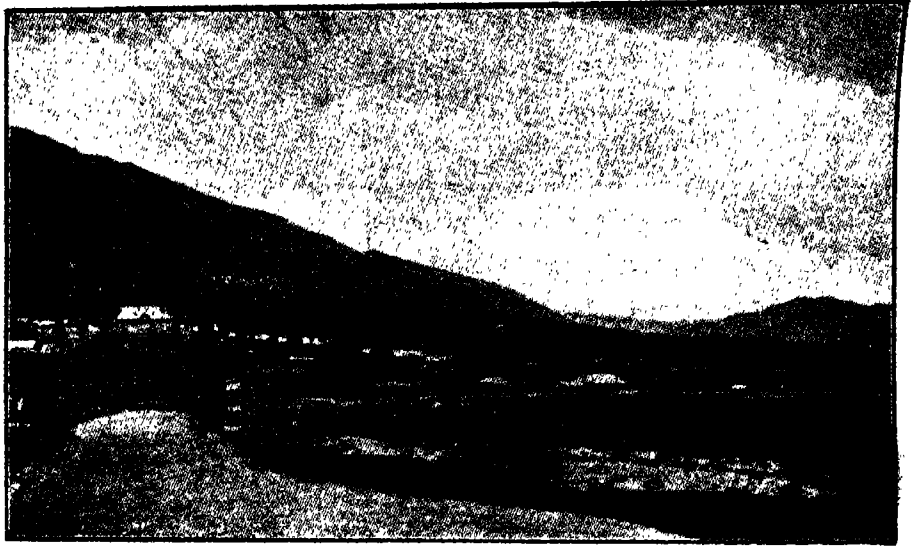
किलनमर्ग गुलमर्ग के दक्षिण ओर पहाड़ों पर चढ़कर बर्फ़ के नीचे ही क़रीब ३०० फ़ीट लंबा और इतना ही चौड़ा एक मैदान है। एक निर्मल जल-धारा बीच से होती हुई जाती है। बिलकुल सुनसान जगह है और कैंप के लिये बहुत अच्छी है । रास्ते में मर्ग तक भी हमें पहाड़ी फूलों के कई तख़्ते मिले । यह उस मेल के फूल थे जो आल्प्स पर स्विट्ज़रलैंड की पहाड़ियों पर मिलते हैं।

इनकी बहुत-सी क़िस्मों से हम अपने बाग़ों में परिचित हैं। परंतु जंगली हालत में जो इनकी शोभा थी, वह वर्णन नहीं करते बनती । मर्ग पर घास में हमने एक पीले वर्ण का फूल देखा । फूल साधारण था, परंतु उसमें एक चमक थी जो उसी मेल के अपने बाग़ों में लगे हुए फूल में हम नहीं पाते ।

किलनमर्ग के एक ओर तो अफ़रावट की चढ़ाई ही
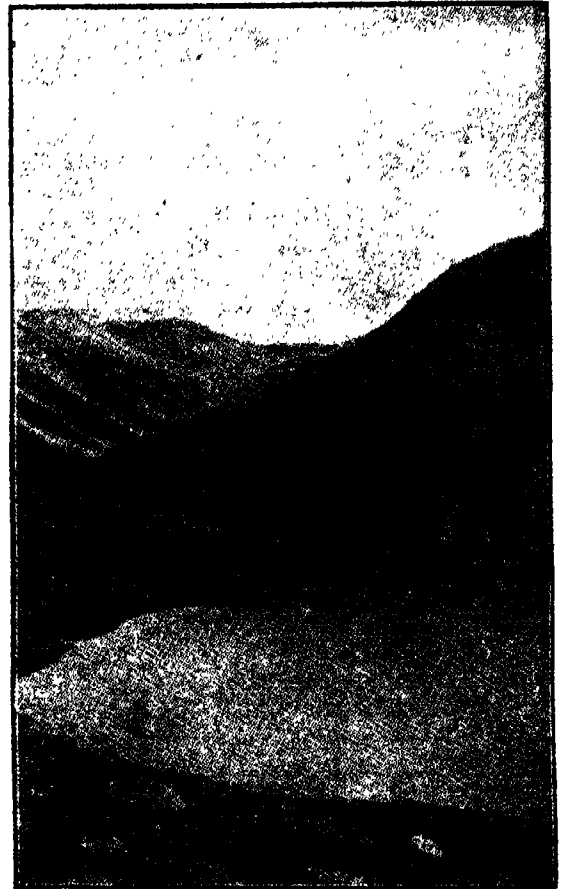
अफरावत शिखर पर एक ताल

है। इसलिये खिलनमर्ग तक हम हिम के किनारे तो पहुँच ही जाते हैं, परंतु इतना ही नहीं। मर्ग के एक कोने पर पहाड़ से ठसी हुई बर्फ़ का एक विस्तृत मैदान मिला। उस पर हम लोग खूब फिसले और बर्फ़ के गोले बना-बनाकर उत्पात किया। हमारे चारों ओर ऊपर-नीचे बर्फ़ थी; परंतु साधारण हवा के कारण हमें कुछ विशेष ठंड नहीं मालूम हुई। बनिहाल में बर्फ़ का हमने पहला अनुभव किया था, यहाँ दूसरा हुआ।

खिलनमर्ग से घाटी और उसके ऊपर हिमालय के पर्वत-शृंगों का गुलमर्ग के सर्कुलर रोड से अधिक स्पष्ट दृश्य दिखाई देता है।

अफ़रवाहोई से लेकर 'नंगा-पर्वत' के सर्वोच्च शिखर पर जाकर दृष्टि रुकती है और नीचे रुपहले फ़र्श के टुकड़े में सुदूर 'वूलर ताल' की झलक मिलती है।

गुलमर्ग में हम अधिक न ठहर सके। सैर करना चाहते, तो बहुत सुविधाएँ थीं। सस्ते टट्टू, सस्ता भोजन और सस्ते कमरे। परंतु वाजपेयीजी को गांदरबल पहुँचकर काश्मीर के अध्यापकों के लिये एक ट्रेनिंग कैंप करना था। इसलिये हमें दो दिन ठहरकर ही तीसरे दिन कूच करना पड़ा।

नंगा-पर्वत का हिम-शिखर

गुलमर्ग से सीपर तक जाने का सीधा रास्ता है। यदि यहाँ से चलते, तो दो पड़ाव करके सीपर पहुँच सकते थे। वहाँ से वूलर ताल की सैर करते। सिंध-नदी पर चढ़कर गांदरबल पहुँच सकते थे। परंतु वाजपेयीजी को श्रीनगर में कुछ सामान लेना था, इसलिये हम श्रीनगर को ही लौटे।

वूलर ताल

श्रीनगर पहुँचकर हमने किराए पर नावें कीं। खाने-पीने का सामान साथ लिया और वूलर की सैर के लिये चल दिए।

श्रीनगर से जल-मार्ग द्वारा सीपर पहुँचने के लिये एक रात रास्ते में रुकना पड़ता है। अकसर तीसरे पहर पहाड़ों पर वायु इकट्ठी होकर आँधी का रूप धारण करती है। फिर उस समय कहीं वूलर के मध्य कोई नौका हुई, तो उसका बचना कठिन है। इसलिये माँझी रात-भर रास्ते में ही कहीं ठहरकर प्रातःकाल चलकर दोपहर के पहले ही सीपर पहुँच जाते हैं।

श्रीनगर से नीचे चलकर शादीपुर में सिंध और झेलम
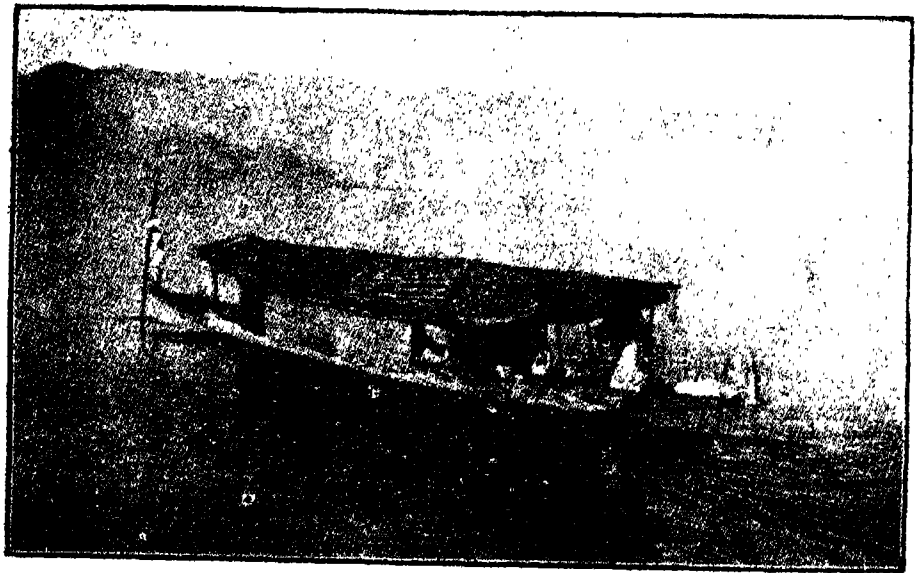
का संगम है। शादीपुर के पीछे एक पठार है जहाँ काश्मीर के प्रसिद्ध राजा ललितादित्य की राजधानी परिहासपुर के खँडहर पाए जाते हैं। इसके पाँच मील आगे सुंबल है। यहाँ से नदी छूट जाती है। बाईं ओर नूरू-नामक एक प्राचीन नहर है। इससे होते हुए, रात्रि इसके किनारे ही बिताकर प्रातःकाल वूलर के लिये बढ़े। चारों ओर जल-ही-जल जिसमें विलो के सघन जंगल—यहीं वूलर का प्रारंभ था। वूलर ताल ग्रीष्म और वर्षा में बहुत बड़ा रहता है। उस समय यह क़रीब १२ मील लंबा और ८ मील चौड़ा रहता है। परंतु शरद् ऋतु में बहुत कुछ घट जाता है। तब उसमें इतना दलदल नहीं रहता और जल सिमटकर पहाड़ के नीचे ही भरा रहता है। आगे बढ़कर हम वूलर के गहरे भाग में आ गए। यहीं पर्वत के चरणों में विस्तृत वूलर की शोभा थी। सीपर का पुल दिखाई दिया और वूलर का अंत हुआ। वूलर के एक ओर से झेलम मिलती है और सीपर में वूलर से निकलकर बड़े भारी कगार की ओर भँवरें काटती हुई बढ़ती है।

सीपर हमें काश्मीर के सूर्य-नामक उस प्राचीन इंजीनियर का स्मरण कराता है जिसने १,१०० वर्ष हुए, अवंतिवर्मन् के समय झेलम (वितस्ता) के मार्ग को साफ़ किया। कहीं उसके पत्थर निकालकर उसे गहरा किया, कहीं नई नहरें बनवाईं और कहीं बंद बाँधे। यों उसने काश्मीर को प्रतिवर्ष के जल-प्रकोप से बचाया। घाटी के बहुत-से भागों को खेती के योग्य बनाया और देश को धन-धान्य पूर्ण किया। उस स्थान पर जहाँ उसका यह महान् कार्य पूर्ण हुआ 'सूर्यपुर'-नामक नगर बसा जो अब सीपर के नाम से प्रसिद्ध है। काश्मीर में अब भी दलदल बहुत हैं। किसी दूसरे सूर्य के जन्म लेने की आवश्यकता है।

सीपर काश्मीर का तीसरा शहर है। हमारा यहाँ भी अध्यापकों तथा उनके स्काउटों द्वारा बहुत अच्छा स्वागत हुआ। शहर क्या क़सबा है। नदी के दोनों किनारों पर बसा हुआ, गंदी गलियाँ, गंदा जल। हाँ, बिजली यहाँ भी है और वह इसलिये कि तेल से सस्ती पड़ती है। पट्टू बनाने का काम होता है। अब विलायती नक़ल पर ट्वीड मेल के कपड़े भी बनने लगे हैं। अच्छे होते हैं और सस्ते भी। निवासी निर्धन और निर्बल हैं। अच्छे जल का प्रबंध न होने के कारण जब कभी बीमारी फैलती है, तो बहुत जानें जाती हैं। यहाँ अधिकतर बच्चों के सिर पर गंज-रोग के लक्षण भी दिखाई दिए। मालूम नहीं क्यों? गंदगी और अल्प भोजन ही शायद इस रोग के कारण हों।

सीपर से हम वूलर और नूरू नहर होते हुए शादीपुर तक झेलम में आए। वहाँ से हम सिंध नदी में कुछ दूर चलकर एक झील में पहुँचे। यहाँ तीसरे पहर आँधी आने के कारण माँझियों ने नाव को विलो से घिरे हुए एक जल-मार्ग में रोक दिया। प्रातःकाल एक नहर से होते हुए तीन घंटे में गांदरबल पहुँचे।

सीपर

श्रीनगर और गांदरबल के बीच कोई १४ मील का सीधा रास्ता है—पहाड़ के नीचे डल के किनारे-किनारे या सिंध नदी और अंचर ताल होकर मार नहर से। जिन्हें श्रीनगर से सीधे गांदरबल आना हो, उनके लिये पूर्वोक्त मार्ग ही बहुत अच्छा है।

जिन्हें सिंध की चढ़ाई चढ़ते हुए सोनमर्ग की सैर करना हो या जो आगे बढ़कर जोजी का दर्रा लाँघकर पश्चिमी तिब्बत की सैर करना चाहते हों, वे गांदरबल में ही भाड़े के टट्टुओं का प्रबंध करते हैं। एक रुपया प्रति पड़ाव टट्टू का किराया देना पड़ता है।

गांदरबल के खुले मैदान में सैर का बड़ा आनंद है। खाने-पीने के लिये दूध, घी, मक्खन इत्यादि सभी चीज़ें सस्ती रहती हैं। देखने-योग्य दो स्थान बहुत निकट हैं। एक तो खीरभवानी और दूसरा मानसबल। हम पहले इन्हीं का हाल लिखेंगे।

हम अठारहवीं जून के दिन गांदरबल पहुँचे। उस दिन ही खीरभवानी का मेला था। बस, पहुँचते ही भवानी के दर्शन करने की ठानी।

गांदरबल के पुल से प्रायः २ मील की दूरी पर खीर-भवानी-नामक एक सूक्ष्म धारा का कुंड है। तारीफ़ यह है कि कभी उसमें से दूध-समान और कभी शुद्ध जल-समान धारा निकलती है। कहा जाता है कि महाराज प्रतापसिंह के समय में किसी ने धारा के मुँह पर हड्डी का एक टुकड़ा छिपाकर रख दिया था और धारा बंद हो गई थी। बस, फिर क्या था, चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। यह खबर महाराज के पास तक पहुँची। वे बिचारे नंगे पैर दौड़ते हुए आए। घंटों प्रार्थना की, तब भवानी ने स्वप्न देकर अपने कोप का कारण बताया। हड्डी ढूँढ़कर निकाली गई। तब जल-धारा फिर बह निकली और महाराज की प्रार्थना सुफल हो गई।

इन्हीं कारणों से काश्मीर के हिंदुओं में खीरभवानी का सबसे अधिक माहात्म्य है। हमारे समय में दो बड़े मेले हुए। विजवहरा में एक मुसलमानी मेला जो मई के आख़िरी सप्ताह में था, वह हम नहीं देख सके। दूसरा हिंदुओं का खीरभवानी-नामक मेला था। इसे हम देख ही नहीं, किंतु इसकी सेवा भी कर सके थे। समय के संयोग से सुदूर प्रयाग के बालकों ने अपरिचित खीर-भवानी के मेले के प्रबंध में योग दिया। खीरभवानी में तसवीर लेने की आज्ञा नहीं है। इसलिये हम काश्मीरी स्त्री-पुरुषों के पहनावे का वर्णन ही करेंगे।

काश्मीर का जातीय वस्त्र फिरन है। इसे स्त्री-पुरुष दोनों पहनते हैं। स्त्रियों का फिरन कुछ लंबा, रंग भड़कीला और उसमें गोट लगी रहती है और पुरुषों का फिरन सादा होता है। मुसलमान स्त्री-पुरुष इसके नीचे सुथना पहनते हैं। हिंदू पुरुष एक लँगोट और स्त्रियाँ कुछ नहीं पहनतीं। काश्मीर में स्त्रियों के बाल अधिक नहीं बढ़ते। इसलिये गुँथी हुई चोटी सिर के पीछे लटका करती है। माथे पर 'बंदीबेना'-नामक आभूषण हिंदू और मुसलमान दोनों में पहना जाता है। पहनावे में कुछ ही भेद होता है। सिर ढकने के लिये मुसलमान स्त्रियाँ एक प्रकार की टोपी पहनती हैं और हिंदू स्त्रियाँ किसी ऊनी या सूती रूमाल को तिकोना ओढ़कर ठोढ़ी के नीचे टाँक लेती हैं। मुसलमान स्त्रियों के कानों के आभूषण दिखाई देते हैं; परंतु हिंदू स्त्रियों का चेहरा ही दिखाई देता है। माथे पर इनके चंदन या सेंदुर की बिंदी रहती है जिसे मुसलमान स्त्रियाँ नहीं लगातीं। काश्मीरी स्त्रियाँ सुंदर अवश्य होती हैं, परंतु चाल में वह सौंदर्य नहीं जो गुजरात या व्रज की स्त्रियों में पाया जाता है। काश्मीर में फिरन और शरद में उसके नीचे काँगड़ी की चाल तथा शाली कूटने की प्रथा के कारण इनमें शरीर की गठन बेढंगी हो जाती है और व्रज तथा गुजरात में सिर पर घड़े तथा कलसे लेकर चलने की प्रथा के ही कारण उनकी ठवनि की सौंदर्य-उपासकों ने प्रशंसा की है।

गांदरबल से मानसबल लगभग पाँच मील दूर है। मानसबल बहुत बड़ा ताल नहीं है, किंतु नैनीताल से कुछ

मानसबल

ही बड़ा होगा । तीन ओर पहाड़ से घिरा हुआ और एक ओर सिंध नदी से मिलता है । इसमें दलदल कहीं नहीं है । जल निर्मल है और डल तथा वूलर दोनों से गरम है । ऊपर सिंध नदी से नहर काटकर लाई गई है जिससे उसके किनारे शैलाराव बाग़ की सिंचाई होती है । ताल में नावें रहती हैं जिनमें बैठकर यात्री सैर कर सकते हैं । एक ओर गाँव है जहाँ दूध, मक्खन इत्यादि साधारण भोजन-सामग्री मिल सकती है ।

गांदरबल में वाजपेयीजी को ट्रेनिंग कैम्प संचालन करने के कारण एक सप्ताह से अधिक ठहरना पड़ा । हमारे पहुँचने के एक ही दिन बाद अमरनाथ के यात्रियों का दल भी लौटकर हमें आ मिला ।

हम कह चुके हैं कि श्रीनगर में दो दल हो गए थे । जिन्हें पैदल चलने का उत्साह तथा सामर्थ्य थी, उन्होंने अमरनाथ-यात्रा करना निश्चय किया था । इस दल में इने-गिने ऐसे वीर भी थे जिन्होंने १८ मील तक निर्जन हिम काटकर पहलगाम तक पहुँचने की ठानी थी ।

दल में उत्साह अवश्य था, परंतु यात्रियों ने यथेष्ट सामान नहीं लिया । हिम पर चलने के लिये वहाँ रास्ता बनाने के लिये जिन चीज़ों की ज़रूरत थी, वे नहीं ली गई । बस, साधारण ओढ़ने-बिछाने का सामान—तंबू और रसद । यात्रियों ने जो कष्ट-कथा सुनाई, उसका विशेष कारण सामान की कमी थी ।

गांदरबल से कंगन तक सिंध नदी के दोनों किनारों पर रास्ता है, पर नदी के बाएँ किनारे का रास्ता अधिक हरा-भरा है और इधर से गंगबल के पर्वत-शृंगों का दृश्य भी बाईं ओर से अपनी रंगत बदलता रहता है । इस पर्वत के पीछे हिम-समूहों से घिरा हुआ १२,००० फीट की ऊँचाई पर गंगबल-नामक हिमताल है । नाम से ही मालूम होता है कि वह भी एक प्रकार का तीर्थ है ।

कंगन, गांदरबल से ११ मील पर है । छोटी-सी बस्ती है । अच्छा घी १) सेर और दूध =) सेर ; परंतु अधिक नहीं मिलता । कंगन से गुंड १३ मील है और गुंड से सोनमर्ग १४½ मील है । चढ़ाई कहीं भी बहुत कड़ी नहीं है । नदी पारकर बाएँ किनारे पर सोनमर्ग है । पुल के पास ही डेरा डालने की अच्छी जगह है ; परंतु हमारे दल ने दो फर्लांग आगे बढ़कर ही डेरा डाला । यहाँ लगभग १५ डेरे और लगे हुए थे जिनमें अधिकतर अमेरिकन स्त्री-पुरुष थे । इन्होंने दल का अच्छा स्वागत किया । यात्री थके हुए थे । उनके चायपानी ने उन पर उस समय अमृत का काम किया ।

सोनमर्ग में कोई डाक-बँगला नहीं है, कोई होटल या रहने-योग्य मकान भी नहीं है । इसलिये तंबू ही लगाना पड़ते हैं, परंतु तंबुओं में शीत से पूर्ण बचत नहीं होती । हमारे कुछ यात्री चाय पीकर भी रात-भर काँपते रहे । सोनमर्ग ९,००० फ़ीट ऊँचा है ; परंतु यात्री इतने कठिन शीत के सहन करने के लिये तैयार न थे ।

सोनमर्ग के ऊपर एक घाटी है उसके तीन ओर से हिम की भीमकाय धाराएँ धीरे-धीरे नीचे की ओर चलती हैं । इनकी चाल कहीं बरसों में एक फुट है । इनके नीचे से हिम-मिश्रित जल-धारा बहा करती है । सैकड़ों वर्षों में वे एक जगह को छोड़ दूसरी जगह हट जाती हैं और छुटी हुई जगह में वैसा ही मर्ग हो जाता है जैसे पर

सोन मर्ग

हमारे यात्री डेरा लगाए बैठे थे। इस ग्लेशियर घाटी की सैर में एक घटना हुई जो दुर्घटना हो गई होती, तो यात्रियों के स्मरणार्थ ही लेख अर्पित होता। श्री० फ़र्गार के साथ यात्री ग्लेशियर पर कुछ दूर तक चढ़ गए। चढ़ने पर दाहिनी तरफ़ नदी थी। उतरते वक़्त रास्ता

सोनमर्ग का एक हिम-क्षेत्र

भूल गए और नदी के बाएँ किनारे आ लगे। पुल का पार करना आवश्यक था। नदी पर एक हिम-पुल बना हुआ था। फ़र्गार ने उसे मज़बूत समझकर उसको पार करने की आज्ञा दी; परंतु आगे बढ़ते ही पुल ने टूटना शुरू किया। उलटे पैर पीछे लौटे। चट्टान पर पैर रखते ही सामने का पूरा पुल टूटकर नदी में गिर पड़ा और बड़ी-बड़ी हिम-शिलाएँ, गरजती हुई तीव्र धारा में बह चलीं। यात्रियों ने लौटकर ईश्वर से प्रार्थना की। ईश्वरीय ऐश्वर्य और दया दोनों का अनुभव हुआ। फिर ऊपर चढ़कर एक लेटे हुए लट्ठे पर धीरे-धीरे पैर रखकर तंबू की तरफ़ पहुँच सके।

सोनमर्ग में खाने-पीने की साधारण सामग्री मिलती है, कुछ दुकानें भी हैं। परंतु ज़रूरी सामान अपने ही पास रहे, तो अच्छा है। सोनमर्ग से बालताल तक ६ मील की चढ़ाई है। यहाँ एक डाक बँगला है; परंतु इसके अलावा कुछ नहीं है। खाने-पीने का सामान साथ चाहिए। सोनमर्ग से आगे बढ़कर पथ भी बहुत निर्जन हो जाता है। लद्दाखी भेड़ों और बकरियों के बड़े-बड़े गोल लिए हुए मिल जाते हैं। इनके अलावा न कहीं कोई गाँव ही दिखाई देता है, न आदमी। यात्रियों के पैरों के नीचे फूलों के तख़्ते अपनी हँसी आपही हँस रहे थे और पर्वत-शिखर मालूम नहीं, किस पर अपनी शान गाँठ रहे थे।

बालताल के आगे दाहिनी ओर से अमरनाथ का रास्ता ढूँढ़ना था और बाईं ओर ज़ोजीला का रास्ता बना ही हुआ था। वह दर्रा जो कि ११,५०० फ़ीट ऊँचा है, बालताल से ३॥ मील है। सिंधु के मोड़ से लेकर ब्रह्मपुत्र के मोड़ तक कहीं भी हिमालय के पार करने के लिये इतना नीचा दर्रा नहीं है। परंतु इतना नीचा होने पर भी यह दशा थी कि दर्रे के दोनों तरफ़ बर्फ़ ही बर्फ़ थी। यहाँ तक कि हिमालय ने यात्रियों को अपना ऐश्वर्य दिखाने के लिये हिम-वर्षा भी कर दी। उस समय यात्री भूल गए थे कि यह जून की लू का समय है।

ज़ोजीला के आगे दृश्य भी अधिक कठोर हो जाता है। फूल और पेड़ भी साथ नहीं देते। पहाड़ और बर्फ़ या उन्हीं से मेल खाते हुए यारक़ंदी और उनकी बकरियाँ।

द्राङ्क दल

बालताल

ज़ोजीला से बालताल लौटे और अमरनाथ की तैयारियाँ कीं। वहाँ टट्टू छोड़ दिए गए। यात्रियों ने मूँज के जूते, स्वेटर और गरम कोट पहने। कंबल, लाठी और कुछ बना-बनाया भोजन बाँधा और हिम-यात्रा प्रारंभ कर दी। तीन मील तक कहीं-कहीं ज़मीन चलने के लिये थी, परंतु आगे बढ़कर बर्फ़-ही-बर्फ़ थी। तीन मील तक इस हिम-सागर पर फिसलते हुए सिंध नदी की आदि धारा तक पहुँचे।

जीजीला

बस, यहीं पहुँचकर यात्रियों की आशा का पुल टूट गया। अनुमान यह था कि नदी के जल के ऊपर अब भी बर्फ़ जमी होगी और नीचे जल बह रहा होगा, तो भी कोई हर्ज नहीं; क्योंकि जल के ऊपर बर्फ़ की इतनी मोटी तह होगी कि उस पर चलकर नदी पार कर लेंगे। परंतु वहाँ पर कुछ ही दिनों की देर करके पहुँचे थे, तो भी जल बड़े वेग से हिम-शिलाओं से टकराता, बड़े-बड़े ढेरों को साथ लेता, गरजता हुआ नीचे जा रहा था। अमरनाथ की प्रसिद्ध गुफ़ा यहाँ से तीन ही मील थी। यात्रियों ने वहीं से गुफ़ा के शुभ्र शिवजी को प्रणाम किया और लौट पड़े।

परंतु अभी कठिनाइयों का अंत नहीं हुआ। नदी के किनारे बर्फ़ के कगारे कट रहे थे। इसलिये पथ बदलकर लौट आना ही निश्चय हुआ। इस दशा में यात्रियों को एक दीवार की-सी ढालू चट्टान पर चढ़ना पड़ा। वहाँ पैर जमाने की भी जगह नहीं थी। लाठी से खोदकर पैर रखने के निशान बनाए, परंतु पीछे चलनेवालों के लिये वे भी मिट गए। एक के पीछे दूसरा यात्री हुआ। यदि ऊपर से एक यात्री भी फिसलता, तो नीचेवालों को लेकर पाताल पहुँचता। किसी प्रकार धैर्य बाँधे खड़े होने की जगह पहुँचे और पुनः सर्वशक्तिमान् परम पिता परमात्मा को हार्दिक प्रणाम किया।

यहीं अमरनाथ-यात्रा समाप्त हुई। गिरते-पड़ते फूलों को चुनते गांदरबल में हम सब सकुशल मिले। ग्रीष्म ऋतु के अवकाश का अंत निकट आ रहा था। घर लौटने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। श्रीनगर पहुँचे, वहाँ आवश्यक और अनावश्यक सौदे पटे। मोटरें ठीक कीं। वापसी किराया कम देना पड़ा। मोटरों में १२) सवारी और लारियों में ८) सवारी से अधिक नहीं था—और रावलपिंडी या जम्मू होते हुए सकुशल अपने-अपने घर पहुँचे।

लेख का कलेवर बहुत बढ़ गया है। काश्मीर के विषय में हमें बहुत कुछ कहना है। हिमालय के इस कोने में प्रकृति ने भारतवर्ष ही का नहीं, किंतु संसार का स्वर्ग बनाया है। शोक है कि प्रकृति के इस भव्य प्रासाद का मनुष्य ने कितना

दुरुपयोग किया है। देश की सामाजिक तथा आर्थिक दशा अत्यंत शोचनीय है। यह देश नवीन महाराज की ओर अतृप्त नेत्रों से सुधार की आशा लगाए बैठा है। काश्मीर-जीवन के हृदयग्राही इतिहास तथा उसकी वर्तमान सामाजिक तथा आर्थिक दशा पर फिर लिखेंगे। तब तक ईश्वर से यही प्रार्थना है कि नवीन महाराज के आधिपतित्व में देश की दशा दिन-प्रतिदिन सुधरे। जो पाठक काश्मीर के विषय में अधिक जानना चाहते हों, वे निम्न-लिखित पुस्तकें पढ़ें:—

कल्हण – राजतरंगिणी – English Translation with Introduction by M. A. Stein.

F. Young Husband—Kashmir (A.&C. Black.)

ज़ीजीला पर हाइक दल

पं० श्रीराम वाजपेयी
(हाइक दल के नेता)

बड़ा मुल्ला

E. F. Neve— Tourist's Guide to Kashmir (Civil & Military Gazette Press, Lahore.)
Molony— History of Kashmir (Christian Literature Society)
Coventry— Wild flowers of Kashmir (Raithby Lawrence & Co, Ltd.)
C. E. Tyndal-Biscoe Kashmir in Sunlight and Shade. (Seely, Service & Co, Ltd.)
Wadia— The Land of Lalla-Rukh. (J. M. Dent & Sons)
Mrs. Starr— Tales of Tirab and lesser Tibet (Hodder & Stoughton)
Mrs. Percy Brown—Chenar Leaves—Poems (Longmans)
श्रीधर पाठक—काश्मीर सुषमा

कालिदास कपूर

सब दर्शनों की एकता
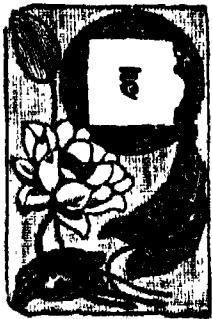
हम जिस समय सांसारिक कार्यों से थोड़ी देर के लिये निश्चिंत होकर बैठते हैं, तो हमारे मन में अनेक प्रकार के प्रश्न उत्पन्न होते हैं। यथा—मैं कौन हूँ ? मैं इस जन्म में कहाँ से आया हूँ ? इस जन्म के पश्चात् मुझे कहाँ जाना होगा ? यह चारों ओर दिखलाई देनेवाला अखिल जगत् क्या है ? तथा मेरा इससे क्या संबंध है ? आदि-आदि। इन प्रश्नों के उत्तर का नाम ही दर्शन-शास्त्र है अर्थात् दर्शन-शास्त्र हमारे सामने इस अखिल जगत् की रचना आदि के प्रश्नों का उत्तर देता हुआ यह बतलाता है कि हमारा इस जगत् से क्या संबंध है।

अनादि काल से जगत् के सभी भागों में बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् और ऋषि लोग इन प्रश्नों के उत्तर देते रहे हैं जिनको आजकल का विद्वन्मण्डल विभिन्न दर्शनों के नाम से पुकारता है। जैसे—बृहस्पति का चार्वाक-दर्शन, कपिल का सांख्य-दर्शन, पतंजलि का योग-दर्शन, कणाद का वैशेषिक दर्शन, गौतम का न्याय-दर्शन, जैमिनि का मीमांसा-दर्शन, बादरायण व्यास का वेदांत-दर्शन, जैन-दर्शन, सौत्रांतिक दर्शन, वैभाषिक दर्शन, शून्यवाद अथवा माध्यमिक दर्शन, विज्ञानाद्वैतवाद अथवा योगाचार दर्शन इत्यादि।

दर्शन-शास्त्र का एक साधारण विद्यार्थी भी जब दर्शनों का अध्ययन करने लगता है, तो उसे यह बात स्पष्टतया प्रतीत हो जाती है कि उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर भिन्न-भिन्न ऋषियों ने भिन्न ही दिए हैं। जैसे—चार्वाक इस दृश्य जगत् के अतिरिक्त किसी भी अन्य सूक्ष्म शरीर अथवा जीवात्मा आदि के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। इसके विरुद्ध वेदांत-जगत् का कारण केवल ब्रह्म को ही मानता है। बौद्धों का योगाचार संप्रदाय इस अखिल जगत् को केवल विज्ञानमय ही मानता है। माध्यमिक इससे भी आगे निकल गया है और उसने इस इतने बड़े भारी विश्व को प्रत्यक्ष देखते हुए भी सबको शून्य ही माना है। इन अतिवादी दर्शनों के अतिरिक्त अन्य दर्शन जगत् का कारण कई-कई पदार्थों को मानते हैं। जैसे—सांख्य जगत् का कारण पुरुष और प्रकृति को मानता है, योग इसी में एक ईश्वर को और मिलाकर जगत् का कारण ईश्वर, पुरुष और प्रकृति को मानता है। वैशेषिक ने इस संख्या को बढ़ाकर सात कर दिया है और उनके नाम यह रक्खे हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। न्याय-दर्शन ने इन सिद्धांतों को और भी फैला कर लिखा है और उसमें इस संख्या को सोलह तक पहुँचा दिया है। न्याय के सोलह पदार्थ यह हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान। सौत्रांतिक

और वैभाषिक बाह्य और आंतरिक जगत् के अस्तित्व के झगड़ों का ही फ़ैसला नहीं कर सके। जैन-दर्शन भी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छः अनादि द्रव्यों को इस अनादि और अनंत संसार का कारण मानता है।

इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप से देखने पर सब दर्शन अपना-अपना मार्ग पृथक् ही बतला रहे हैं।

यदि संसार के कारणभूत इन पदार्थों के विषय में ही दर्शनों का मत-भेद होता, तो कुछ बात न थी; किंतु जीवात्मा के अपने गुणों के विषय में भी ये परस्पर एक-मत दिखलाई नहीं देते। जैसे वेदांत जीवात्मा को सत् और चित् रूप तथा आनंद से उत्पन्न होनेवाला मानता है, तो सांख्य और योग उसको एकदम निर्गुण मानते हैं। भला सोचने की बात है कि यदि जीवात्मा निर्गुण है, तो मोक्ष के पश्चात् भी वह निर्गुण ही रहेगा। फिर भला ऐसी निर्गुण मुक्ति के लिये क्यों प्रयत्न किया जावे। न्याय और वैशेषिक तो इनसे भी आगे निकल गए हैं—उनके मत के अनुसार सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और ज्ञान आत्मा के विशेष गुण हैं और इन गुणों का बिलकुल उच्छेद हो जाना न्याय और वैशेषिक की मुक्ति है।

इस प्रकार दर्शन-शास्त्र के मुख्य-मुख्य सिद्धांतों पर तो इन सब दर्शनों का प्रत्यक्षरूप में मत-भेद ही है। मोक्ष के कारण के विषय में भी इनमें महान् मत-भेद दिखलाई देता है।

कोई केवल ज्ञान से, कोई केवल कर्म से, कोई केवल भक्ति से, कोई ज्ञान और कर्म से, कोई ज्ञान और भक्ति से, कोई कर्म और भक्ति से तथा कोई-कोई इन तीनों से ही मोक्ष का मार्ग मानते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि यह दर्शन एक दूसरे के महान विरोधी हैं।

अब यह विचारने-योग्य बात है कि यदि यह दर्शन एक दूसरे के इस प्रकार विरोधी हैं, तो विरोधियों में सदा ही एक सच्चा और दूसरा झूठा हुआ करता है। अस्तु, इनमें भी किसी-न-किसी दर्शन को असत्य मानना ही पड़ेगा और यदि हम इनमें से किसी भी दर्शन को असत्य मानेंगे, तो हमारे दिव्य ज्ञानवाले प्राचीन ऋषि लोग असत्यभाषी ठहरेंगे। अस्तु, अवश्य ही इन दर्शनों के सिद्धांतों के अंदर कोई-न-कोई भेद है।

हमारी सम्मति है कि इनके सिद्धांतों में अवश्य ही कोई-न-कोई भेद है और वह भेद यही है कि वास्तव में यह सब दर्शन एक हैं।

अब यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि प्रत्यक्ष रूप में एक दूसरे का विरोध करनेवाले यह दर्शन परस्पर एक कैसे हो सकते हैं? हम इस प्रश्न का विस्तृत उत्तर तो देने में असमर्थ हैं; क्योंकि बिना सब दर्शनों की युक्ति दिए, इस विषय का प्रतिपादन किया जाना असंभव है और सब दर्शनों के विषय आगे निबंध-रूप में पृथक्-पृथक् दिए ही जावेंगे; किंतु सारांश में इतना अवश्य बतलाए देते हैं कि इन भिन्न-भिन्न दर्शनों की स्थापना भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में की गई थी। उदाहरणार्थ—चार्वाक की स्थापना ऐसे समय में की गई थी जब समस्त भारतवर्ष ब्रह्म-ज्ञान के नशे में ही चूर था। भारतवासियों का वह नशा यहाँ तक पहुँच गया था कि उनको अपने तन-बदन की भी सुध-बुध न रही थी। उनके शरीर दुर्बल होने लगे थे और अवस्था यहाँ तक बढ़ गई थी कि राष्ट्र के पतन तक की आशंका होने लगी थी। ऐसे समय में देवताओं के सर्व-श्रेष्ठ विद्वान् तथा नीति-कुशल मंत्री बृहस्पतिजी ने सबको उपदेश दिया कि परलोक और जीवात्मा कोई वस्तु नहीं है। यह शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चार भूतों से मिलकर घड़ी के यंत्र के समान बना हुआ है। जिस प्रकार जब तक सब कल-पुर्ज़े ठीक रहते हैं तब तक घड़ी चलती है और जब कोई पुर्ज़ा बिगड़ जाता है, तो उसकी चाल बंद हो जाती है। उसी प्रकार जब तक इस शरीर के सब अवयव ठीक रहते हैं, शरीर चलता-फिरता रहता है और जब इसका कोई भी अवयव बिगड़ जाता है, तो शरीर अपना काम करना बंद कर देता है। शरीर के अंदर जीवात्मा नाम का पदार्थ न तो कोई जन्म होने पर आ ही जाता है और न कोई इसके छूटने पर इसमें से निकल ही जाता है। अतएव जहाँ तक हो सके अपने जीवन को भोगों के द्वारा आनंदित करते हुए अपने शरीर को उत्तम-से-उत्तम बना लेना चाहिए।

बृहस्पतिजी के इस सामयिक उपदेश का प्रभाव उस समय बहुत अच्छा पड़ा, सबको अपने-अपने शरीरों के बनाने की चिंता लग गई और इस प्रकार एक राष्ट्र आपत्ति में पड़ता-पड़ता बच गया। आगे चलकर बृहस्पतिजी का यही उपदेश चार्वाक-मत के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

चार्वाक-दर्शन के समान ही अन्य दर्शनों की स्थापना भी इसी प्रकार की भिन्न परिस्थितियों में हुई थी, जिनका अनुमान करना इस समय हमारे लिये कठिन है।

दर्शन-शास्त्रों के उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर की वस्तु एक बड़ी व्यापक वस्तु है। वह इतनी व्यापक है कि लाख प्रयत्न करने पर भी न तो हम इसको इन मानवी नेत्रों से देख ही सकते हैं और न हम इस मानवी बुद्धि से उसके विषय में विचार ही कर सकते हैं। हमारे प्राचीन दर्शनकारों की बुद्धि मानवी बुद्धि से बहुत अधिक बढ़ी हुई थी। उन्होंने उस तत्त्व को देखा, अध्ययन किया और फिर अपने-अपने समय की परिस्थिति के अनुसार उसको शब्दों में प्रकट कर दिया।

जिन्होंने न्याय का कुछ भी विशेष अध्ययन किया होगा, वे जानते होंगे कि कोई भी शब्द किसी वस्तु को पूर्ण रूप से नहीं बतला सकता। शब्द 'होल्डर' यह नहीं बतला सकता कि होल्डर का क्या रंग है? उसकी निब किस भाषा को अच्छा लिख सकती है? वह किसी व्यक्ति-विशेष के हाथ में पकड़ा जाने-योग्य है अथवा नहीं? इसी प्रकार यद्यपि दर्शनकारों ने दर्शन-शास्त्र के उस मूल तत्त्व को भली प्रकार अनुभव करके ही उसको बतलाने के लिये लेखनी उठाई, किंतु लेखनी तो अपूर्ण होती ही है। अस्तु, वे ऋषि लोग उस मूल तत्त्व के उसी विभाग को बतला सके जो उनके सामने था। ऋषियों ने जो कुछ भी देखा है वह ठीक ही देखा है, और जो कुछ भी लिखा है वह ठीक ही लिखा है, किंतु उनका वह देखना और लिखना ठीक एक बड़े भारी महल के अनेक दिशाओं से लिए हुए अनेक चित्रों के समान है। यद्यपि किसी मकान के अनेक ओर से लिए हुए अनेक चित्रों में से कोई भी एक दूसरे से नहीं मिलता, किंतु वह सभी ठीक होते हैं और मकान के वास्तविक स्वरूप का भान तो तभी होता है जब हम उन सभी चित्रों को मिलाकर पढ़ते हैं, क्योंकि पृथक्-पृथक् होने पर भी वह सभी चित्र ठीक हैं। इसी प्रकार यद्यपि सब दर्शन एक दूसरे से भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, किंतु वह सभी ठीक हैं और दार्शनिक सत्य का वास्तविक पता तभी लग सकता है जब सभी दर्शनों का अध्ययन करके उनकी एकता का अध्ययन किया जावे।

'माधुरी'-संपादकों के अनुरोध से हम इस लेख-माला को आरंभ कर रहे हैं। इस भूमिका के पश्चात् यह आवश्यक है कि पाठकों को प्रत्येक दर्शन के सिद्धांत पृथक्-पृथक् सरल भाषा में बतलाए जावें। अतः आगे के लेखों में हम प्रत्येक दर्शन के लिये एक-एक लेख देकर अंत के कुछ लेखों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि सब दर्शन एक कैसे हैं और सब दर्शनों के सम्मिलित उस मूल दार्शनिक तत्त्व का वास्तविक स्वरूप क्या है?

चंद्रशेखर शास्त्री

चित्त की चाह

बेभर की मधु रोटी करील की,
मेवो दही अरु छीर मिल्यो करै।
कूल कलिंदजा-नीर-समीर त्यों,
कुंज निकुंज कुटीर मिल्यो करै।
का करिबो सुरलोक हमें ब्रज,
राधिका पौरि को तीर मिल्यो करै।
संतत संग अहीर मिल्यो करै,
देखिबे को बलबीर मिल्यो करै।

उमाशंकर वाजपेयी

अभिलाषा

(१)

कविता कमलिनी के कनक प्रदीप पर,
जलता रहूँ उलंग प्रेमिक पतंग-सा।
उड़ता रहूँ पवित्र कल्पना-गगन पर,
मीठे-मीठे बोल बोल कोकिल विहंग-सा।
यमुना नदी के उस पार श्याम बन बीच,
भरता रहूँ चकित चौकड़ी कुरंग-सा।
खींचता रहूँ सुरंग चित्र मधु मानस में,
मोह वितरित कर मोहित अनंग-सा।

(२)

चक्र की तरह चक्रधर कर पर घूम,
डोलता रहूँ सदैव सुंदर पवन-सा।
चाँद-सा चमकता रहूँ सुधा समेट कर,
फैलता रहूँ सुवर्ण सूर्य की किरन-सा।

मंकुल सितार-सा रहूँ निशीथ पथ पर,
संचित रहूँ सरल-सा सुहाग-धन-सा ;
शिशु रामचंद्र-सा सदैव हँसता रहूँ मैं,
फूलता रहूँ लवंग लतिका सुमन-सा ।

(३)

उमड़-घुमड़ घनश्याम मेघ की तरह,
प्रेमिका के आँगन में बरसूँ बसंत-सा ;
विधुरा विदेशिनी के स्वप्न केलि-कानन में,
कोमल कुसुम हार गूँथूँ कवि-कंत-सा ;
रेणु वन मार्ग की, विमल वेणु बन नित्य,
बजता रहूँ भजन में, सुजान-संत-सा ;
झूमता रहूँ नियति नायिका मुकुर मध्य,
मुक्ति-गोद पर चढ़ अंत-सा—अनंत-सा ।

"गुलाब"

माँगे की घड़ी

(१)

मेरी समझ में आज तक यह बात न आई कि लोग ससुराल जाते हैं, तो इतना ठाट-बाट क्यों बनाते हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या होता है? हम अगर लखपती हैं, तो क्या और रोटियों को मुहताज हैं तो क्या, विवाह तो हो ही चुका, अब इस ठाट का हमारे ऊपर क्या असर पड़ सकता है। विवाह के पहले तो उससे कुछ काम निकल सकता है। हमारी संपन्नता बात-चीत पक्की करने में बहुत कुछ सहायक हो सकती है। लेकिन जब विवाह हो गया, देवीजी हमारे घर का सारा रहस्य जान गईं और निस्संदेह अपने माता-पिता से रो-रोकर अपने दुर्भाग्य की कथा भी कह सुनाई, तो हमारा यह ठाट हानि के सिवा, लाभ नहीं पहुँचा सकता। फटे हालों देखकर, संभव है, हमारी सासजी को कुछ दया आ जाती और बिदाई के बहाने कोई माकूल रक़म हमारे हाथ लग जाती। यह ठाट देखकर तो वह अवश्य ही समझेंगी कि अब इसका सितारा चमक उठा है, ज़रूर कहीं-न-कहीं से माल मार लाया है, उधर नाई और कहार इनाम के लिये बड़े-बड़े मुँह फैलाएँगे, वह अलग। देवीजी को भी भ्रम हो सकता है। मगर यह सब जानते और समझते हुए मैंने पारसाल होलियों में ससुराल आने के लिये बड़ी-बड़ी तैयारियाँ कीं। रेशमी अचकन ज़िंदगी में कभी न पहनी थी, फ़्लेक्स के बूटों का भी स्वप्न देखा करता था। अगर नक़द रुपए देने का प्रश्न होता, तो शायद यह स्वप्न स्वप्न ही रहता, पर एक दोस्त की कृपा से दोनों चीज़ें उधार मिल गईं। चमड़े का सूटकेस एक मित्र से माँग लाया। दरी फट गई थी और नई दरी उधार मिल भी सकती थी, लेकिन बिछावन ले जाने की मैंने ज़रूरत न समझी। अब केवल रिस्टवाच की और कमी थी। यों तो दोस्तों में कितनों ही के पास रिस्टवाच थी—मेरे सिवा ऐसे अभागे बहुत कम होंगे, जिनके पास रिस्टवाच न हो—लेकिन मैं सोने की घड़ी चाहता था और वह केवल दानू के पास थी। मगर दानू से मेरी बेतकल्लुफ़ी न थी। दानू रूखा आदमी था। मँगनी की चीज़ों का लेना और देना दोनों ही पाप समझता था। ईश्वर ने माया है, वह इस सिद्धांत का पालन कर सकता है। मैं कैसे कर सकता हूँ। जानता था कि वह साफ़ इनकार करेगा, पर दिल न माना। खुशामद के बल पर मैंने अपने जीवन में बड़े-बड़े काम कर दिखाए हैं, इसी खुशामद की बदौलत आज महीने में ३०) फटकारता हूँ। एक हज़ार ग्रेजुएटों से कम उम्मेदवार न थे; लेकिन सब मुँह ताकते रह गए और बंदा मूछों पर ताव देता हुआ घर आया। जब इतना बड़ा पाला मार लिया, तो दो-चार दिन के लिये घड़ी माँग लाना कौन-सा बड़ा मुश्किल काम था। शाम को जाने की तैयारी थी। प्रातःकाल दानू के पास पहुँचा और उनके छोटे बच्चे को, जो बैठक के सामने सहन में खेल रहा था, गोद में उठाकर लगा भींच-भींच कर प्यार करने। दानू ने पहले तो मुझे आते देखकर ज़रा त्योरियाँ चढ़ाई थीं, लेकिन मेरा यह वात्सल्य देखकर कुछ नरम पड़े, उनके ओठों के किनारे ज़रा फैल गए। बोले—खेलने दो दुष्ट को, तुम्हारा कुरता मैला हुआ जाता है। मैं तो इसे कभी छूता भी नहीं।

मैंने कृत्रिम तिरस्कार का भाव दिखाकर कहा—मेरा कुरता मैला हो रहा है न, आप इसकी क्यों फ़िक्र करते हैं। वाह! ऐसा फूल-सा बालक और उसकी यह क़दर! तुम

जैसों को तो ईश्वर नाहक़ सन्तान देता है। तुम्हें भारी मालूम होता हो, तो लाओ मुझे दे दो।

यह कहकर मैंने बालक को कंधे पर बैठा लिया और सहन में कोई पंद्रह मिनट तक उचकता फिरा। बालक खिलखिलाता था और मुझे दम न लेने देता था, यहाँ तक कि दानू ने उसे मेरे कंधे से उतारकर ज़मीन पर बैठा दिया और बोले—कुछ पान-पत्ता तो लाया नहीं, उलटे सवारी कर बैठा। जा, अम्माँ से पान बनवा ला।

बालक मचल गया। मैंने उसे शांत करने के लिये दानू को हलके हाथों दो-तीन धप जमाए और उनकी रिस्टवाच से सुसज्जित कलाई पकड़कर बोला—ले लो बेटा, इनकी घड़ी ले लो, यह बहुत मारा करते हैं तुम्हें। आप तो घड़ी लगाकर बैठे हैं और हमारे मुन्ने के पास घड़ी नहीं।

मैंने चुपके से रिस्टवाच खोलकर बालक की बाँह में बाँध दी और तब उसे गोद में उठाकर बोला—भैया, अपनी घड़ी हमें दे दो।

सयाने बाप के बेटे भी सयाने होते हैं। बालक ने घड़ी को दूसरे हाथ से छिपाकर कहा—तुमको नईं देंगे!

मगर मैंने अंत में उसे फुसलाकर घड़ी ले ली और अपनी कलाई पर बाँध ली। बालक पान लेने चला गया। दानू बाबू अपनी घड़ी के अलौकिक गुणों की प्रशंसा करने लगे—ऐसी सच्चा समय बतानेवाली घड़ी आज तक कम-से-कम मैंने नहीं देखी।

मैंने अनुमोदन किया—है भी तो स्विस!

दानू—अजी स्विस होने से क्या होता है। लाखों स्विस घड़ियाँ देख चुका हूँ। किसी को सरदी, किसी को ज़ुकाम, किसी को गठिया, किसी को लक़वा। जब देखिए, तब अस्पताल में पड़ी हैं। घड़ी की पहचान चाहिए और यह कोई आसान काम नहीं। कुछ लोग समझते हैं, बहुत दाम ख़र्च कर देने से अच्छी घड़ी मिल जाती है। मैं कहता हूँ तुम गधे हो, दाम ख़र्च करने से ईश्वर नहीं मिला करता। ईश्वर मिलता है ज्ञान से और घड़ी भी मिलती है ज्ञान से। फ़ासेट साहब को तो जानते होगे। बस, बंदा ऐसों ही की खोज में रहता है। एक दिन आकर बैठ गया। शराब की चाट थी। जेब में रुपए नदारद। मैंने २५) में यह घड़ी ले ली। इसको तीन साल होते हैं और आज तक एक मिनट का फ़र्क़ नहीं पड़ा। कोई इसके सौ आँकता है, कोई दो सौ, कोई साढ़े तीन सौ, कोई पौने पाँच सौ; मगर मैं कहता हूँ तुम सब गधे हो, एक हज़ार के नीचे ऐसी घड़ी नहीं मिल सकती। पत्थर पर पटक दो, क्या मजाल कि बाल भी आए।

मैं—तब तो यार एक दिन के लिये मँगनी दे दो। बाहर जाना है। औरों को भी इसकी करामात सुनाऊँगा।

दानू—मँगनी तो, तुम जानते हो, मैं कोई चीज़ नहीं देता। क्यों नहीं देता, इसकी कथा सुनाने बैठूँ, तो अलिफ़लैला की दास्तान हो जाय। उसका सारांश यह है कि मँगनी में चीज़ देना मित्रता की जड़ खोदना, मुरव्वत का गला घोटना और अपने घर में आग लगाना है। आप बहुत उत्सुक मालूम होते हैं इसलिये दो-एक घटनाएँ सुना ही दूँ। आपको फ़ुरसत है न? हाँ, आज तो दफ़्तर बंद है, तो सुनिए। एक साहब लालटेनें मँगनी ले गए। लौटाने आए, तो चिमनियाँ सब टूटी हुईं। पूछा, यह आपने क्या किया, तो बोले—जैसी गई थीं वैसी आईं। यह तो आपने न कहा था कि इनके बदले नई लालटेनें लूँगा। वाह साहब वाह! यह अच्छा रोज़गार निकाला। बताइए क्या करता। एक दूसरे महाशय क़ालीन ले गए। बदले में एक फटी हुई दरी ले आए। पूछा, तो बोले—"साहब, आपको तो यह दरी मिल भी गई, मैं किसके सामने जाकर रोऊँ, मेरी ५ क़ालीनों का पता नहीं, कोई साहब सब समेट ले गए।" बताइए, उनसे क्या कहता? तब से मैंने कान पकड़े कि अब किसी के साथ यह व्यवहार ही न करूँगा। सारा शहर मुझे बेमुरव्वत, मक्खीचूस और जाने क्या-क्या कहता है, पर मैं परवा नहीं करता। लेकिन आप बाहर जा रहे हैं और बहुत-से आदमियों से आपकी मुलाक़ात होगी, संभव है, कोई इस घड़ी का गाहक निकल जाय इसलिये आपके साथ इतनी सख़्ती न करूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहूँगा कि मैं इसे निकालना चाहता हूँ और आपसे मुझे सहायता मिलने की पूरी उम्मेद है। अगर कोई दाम लगावे, तो मुझसे आकर कहिएगा।

मैं वहाँ से कलाई पर घड़ी बाँधकर चला, तो ज़मीन पर पाँव न पड़ते थे। घड़ी मिलने की इतनी ख़ुशी न थी, जितनी एक युद्ध पर विजय पाने की। कैसा फाँसा

मैं यहाँ से कलाई पर घड़ी बाँधकर चला, तो ज़मीन पर पाँव न पड़ते थे।

है बचा को ! वह समझते थे मैं ही बड़ा सयाना हूँ, यह नहीं जानते थे कि यहाँ उनके भी गुरूघंटाल हैं।

(२)

उसी दिन शाम को मैं ससुराल जा पहुँचा। अब यह गुत्थी खुली कि लोग क्यों ससुराल जाते वक़्त इतना ठाट करते हैं। सारे घर में हलचल पड़ गई। मुझ पर किसी की निगाह न थी। सभी मेरा साज़-सामान देख रहे थे। कहार पानी लेकर दौड़ा, एक साला मिठाई की तश्तरी लाया, दूसरा पान की। नाइन झाँककर देख गई और ससुरजी की आँखों में तो ऐसा गर्व झलक रहा था, मानो संसार को उनके निर्वाचन कौशल पर सिर झुकाना चाहिए। मैं ३०) महीने का नौकर इस वक़्त ऐसी शान से बैठा हुआ था, जैसे बड़े बाबू दफ़्तर में बैठते हैं, कहार पंखा झल रहा था, नाइन पाँव धो रही थी, एक साला बिछावन बिछा रहा था, दूसरा धोती लिए खड़ा था कि मैं पाजामा उतारूँ। यह सब इसी ठाट की करामात थी।

रात को देवीजी ने पूछा—"सब रुपए उड़ा आए कि कुछ बचा भी है ?"

मेरा सारा प्रेमोत्साह शिथिल पड़ गया, न क्षेम, न कुशल, न प्रेम की कोई बातचीत, बस हाय रुपए! हाय रुपए! जी में आया इसी वक़्त उठकर चल दूँ। लेकिन ज़ब्त कर गया। बोला—मेरी आमदनी जो कुछ है, वह तो तुम्हें मालूम है।

"मैं क्या जानूँ, तुम्हारी क्या आमदनी है। कमाते होगे अपने लिये, मेरे लिये क्या करते हो? तुम्हें तो भगवान् ने औरत बनाया होता, तो अच्छा होता। रात-दिन कंघी-चोटी किया करते। तुम नाहक मर्द बने। अपने शौक़-सिंगार से बचता ही नहीं, दूसरों की फ़िक्र तुम क्या करोगे ?"

मैंने झुँझलाकर कहा—"क्या तुम्हारी यही इच्छा है कि इसी वक़्त चला जाऊँ ?" देवीजी ने भी त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—"चले क्यों नहीं जाते, मैं तो तुम्हें बुलाने न गई थी। या मेरे लिये कोई रोकड़ लाए हो।"

मैंने चिंतित स्वर में कहा—"तुम्हारी निगाह में प्रेम का कोई मूल्य नहीं, जो कुछ है वह रोकड़ ही है।"

देवीजी ने त्योरियाँ चढ़ाए हुए ही कहा—"प्रेम अपने आपसे करते होगे, मुझसे तो नहीं करते।"

"तुम्हें पहले तो यह शिकायत कभी न थी।"

"इससे यह तो तुमको मालूम ही हो गया कि मैं रोकड़ की परवा नहीं करती, लेकिन देखती हूँ कि ज्यों-ज्यों तुम्हारी दशा सुधर रही है, तुम्हारा हृदय भी बदल रहा है। इससे तो यही अच्छा था कि तुम्हारी वही दशा बनी रहती। तुम्हारे साथ उपवास कर सकती हूँ, फटे चीथड़े पहनकर दिन काट सकती हूँ। लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम चैन करो और मैं मैके में पड़ी भाग्य को रोया करूँ। मेरा प्रेम उतना सहनशील नहीं है।"

सालों और नौकरों ने मेरा जो आदर-सम्मान किया था, उसे देखकर मैं अपने ठाट पर फूला न समाया था। अब यहाँ मेरी जो अवहेलना हो रही थी, उसे देखकर मैं पछता रहा था कि व्यर्थ ही यह स्वाँग भरा। अगर साधारण कपड़े पहने, रोनी सूरत बनाए आता, तो बाहर-वाले चाहे अनादर ही करते, लेकिन देवीजी तो प्रसन्न रहतीं, पर अब तो भूल हो गई थी। देवीजी की बातों पर मैंने ग़ौर किया, तो मुझे उनसे सहानुभूति हो गई।

यदि देवीजी पुरुष होतीं और मैं उनकी स्त्री, तो क्या मुझे यह किसी तरह भी सह्य होता कि वह तो छैला बनी घूमें और मैं पिंजरे में बंद दाने और पानी को तरसूँ। चाहिए तो यह था कि देवीजी से सारा रहस्य कह सुनाता, पर आत्मगौरव ने इसे किसी तरह स्वीकार न किया। स्वांग भरना सर्वथा अनुचित था, लेकिन परदा खोलना तो भीषण पाप था। आख़िर मैंने फिर उसी ख़ुशामद से काम लेने का निश्चय किया, जिसने इतने कठिन अवसरों पर मेरा साथ दिया था। प्रेम-पुलकित कंठ से बोला—"प्रिये! सच कहता हूँ मेरी दशा अब भी वही है, लेकिन तुम्हारे दर्शनों की इच्छा इतनी बलवती हो गई थी कि उधार कपड़े लिए, यहाँ तक कि अभी सिलाई भी नहीं दी। फटे हालों आते संकोच होता था कि सबसे पहले तुमको दुःख होगा और तुम्हारे घरवाले भी दुःखी होंगे। अपनी दशा जो कुछ है, वह तो है ही, उसका ढिंढोरा पीटना, तो और भी लज्जा की बात है।

देवीजी ने कुछ शान्त होकर कहा—तो उधार लिया?

"और नक़द कहाँ धरा था।"

"घड़ी भी उधार ली?"

"हाँ, एक जान-पहचान की दूकान से ले ली।"

"कितने की है?"

बाहर किसी ने पूछा होता, तो मैंने २००) से कौड़ी कम न बताया होता, लेकिन यहाँ मैंने २५) बताया।

"तब तो बड़ी सस्ती मिल गई।"

"और नहीं मैं फँसता ही क्यों?"

"इसे मुझे देते जाना।"

ऐसा जान पड़ा मेरे शरीर में रक्त ही नहीं रहा। सारे अवयव निस्पंद हो गए। इनकार करता हूँ, तो नहीं बचता, स्वीकार करता हूँ तो भी नहीं बचता। आज प्रातःकाल यह घड़ी मँगनी पाकर मैं फूला न समाया था। इस समय वह ऐसी मालूम हुई, मानो कौड़ियाला गेंडली मारे बैठा हो। बोला—"तुम्हारे लिये कोई अच्छी घड़ी ले दूँगा।"

"जी नहीं, माफ़ कीजिए, आप ही अपने लिये दूसरी घड़ी ले लीजिएगा। मुझे तो यही अच्छी लगती है। कलाई पर बाँधे रहूँगी। जब-जब इस पर आँखें पड़ेंगी तुम्हारी याद आवेगी। देखो, तुमने आज तक मुझे फूटी कौड़ी भी कभी नहीं दी। अब इनकार करोगे तो, फिर कोई चीज़ न माँगूँगी।"

देवीजी के कोई चीज़ न माँगने से मुझे किसी विशेष हानि का भय न होना चाहिए था, बल्कि उनके इस विराग का स्वागत करना चाहिए था, पर न जाने क्यों, मैं डर गया। कोई ऐसी युक्ति सोचने लगा कि वह राज़ी भी हो जायँ और घड़ी भी न देनी पड़े। बोला—"घड़ी क्या चीज़ है, तुम्हारे लिये जान हाज़िर है प्रिये! लाओ तुम्हारी कलाई पर बाँध दूँ, लेकिन बात यह है कि वक़्त का ठीक-ठीक अंदाज़ न होने से कभी-कभी दफ़्तर पहुँचने में देर हो जाती है और व्यर्थ की फटकार सुननी पड़ती है। घड़ी तुम्हारी है, किंतु जब तक दूसरी घड़ी न ले लूँ, इसे मेरे पास रहने दो। मैं बहुत जल्द कोई सस्ते दामों की घड़ी अपने लिये ले लूँगा और तुम्हारी घड़ी तुम्हारे पास भेज दूँगा। इसमें तो तुम्हें कोई आपत्ति न होगी।"

देवीजी ने अपनी कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा—"राम जाने, तुम बड़े चकमेबाज़ हो, बातें बनाकर काम निकालना चाहते हो। यहाँ ऐसी कच्ची गोलियाँ नहीं

देवीजी ने अपनी कलाई पर घड़ी बाँधते हुए कहा—

लेती हैं। यहाँ से जाकर दो-चार दिन में दूसरी घड़ी ले लेना। दो-चार दिन ज़रा सबेरे दफ़्तर चले जाना।

अब मुझे और कुछ कहने का साहस नहीं हुआ। कलाई से घड़ी के जाते ही, हृदय पर चिंता का पहाड़-सा बैठ गया। ससुराल में दो दिन रहा, पर उदास और चिंतित। दानू बाबू को क्या जवाब दूँगा, यह प्रश्न किसी गुप्त वेदना की भाँति चित्त को मसोसता रहा।

(३)

घर पहुँचकर जब मैंने सजल नेत्र होकर दानू बाबू से कहा—'घड़ी तो कहीं खो गई' तो खेद या सहानुभूति का एक शब्द भी मुँह से निकालने के बदले उन्होंने बड़ी निर्दयता से कहा—"इसीलिये मैं तुम्हें घड़ी न देता था। आख़िर वही हुआ जिसकी मुझे शंका थी। मेरे पास वह घड़ी तीन साल रही, एक दिन भी इधर-उधर न हुई। तुमने तीन दिन में वारा-न्यारा कर दिया। आख़िर कहाँ गए थे?

मैं तो डर रहा था कि दानू बाबू न जाने कितनी घुड़कियाँ सुनावेंगे। उनकी यह क्षमाशीलता देखकर मेरी जान-में-जान आई। बोला—"ज़रा ससुराल चला गया था।" "तो भाभी को लिवा लाए।" "जी भाभी को लिवा लाता। अपना गुज़र तो होता ही नहीं, भाभी को लिवा लाता।"

"आख़िर तुम इतना कमाते हो वह क्या करते हो?"

"कमाता क्या हूँ अपना सिर। ३०) महीने का नौकर हूँ।"

"तो तीसो ख़र्च कर डालते हो?"

"क्या ३०) मेरे लिये बहुत हैं?"

"जब तुम्हारी कुल आमदनी ३०) है, तो यह सब अपने ऊपर ख़र्च करने का तुम्हें अधिकार नहीं है। बीबी कब तक मैके में पड़ी रहेगी?"

"जब तक और तरक़्क़ी नहीं होती, तब तक मजबूरी है। किस बिरते पर बुलाऊँ?"

"और तरक़्क़ी दो-चार साल न हो तो?"

"यह तो ईश्वर ही ने कहा है। इधर तो ऐसी कोई आशा नहीं है।"

"शाबाश! तब तो तुम्हारी पीठ ठोकनी चाहिए। और कुछ काम क्यों नहीं करते। सुबह को क्या करते हो।"

"सारा वक़्त नहाने-धोने, खाने-पीने में निकल जाता है। फिर दोस्तों से मिलना-जुलना भी तो है।"

"तो भई, तुम्हारा रोग असाध्य है। ऐसे आदमी के साथ मुझे लेशमात्र भी सहानुभूति नहीं हो सकती, आपको मालूम है मेरी घड़ी १००) की थी। सारे रुपए आपको देने होंगे। आप अपने लिये १५) रखकर बाक़ी १५) महीना मेरे हवाले रखते जाइए। ३० महीने या ढाई साल में मेरे रुपए पट जायँ, तो ख़ूब जी खोलकर दोस्तों से मिलिएगा। समझ गए न। मैंने ५०) छोड़ दिए हैं, इससे अधिक रियायत नहीं कर सकता।"

"१५) में मेरा गुज़र कैसे होगा?"

"गुज़र तो लोग ५) में भी करते हैं और ५००) में भी। इसकी न चलाओ। अपनी सामर्थ्य देख लो।"

दानू बाबू ने जिस निष्ठुरता से ये बातें कीं, उससे मुझे विश्वास हो गया कि अब इनके सामने रोना-धोना व्यर्थ है। यह अपनी पूरी रक़म लिए बिना न मानेंगे। घड़ी अधिक-से-अधिक २०) की थी। लेकिन इससे क्या होता है। उन्होंने तो पहले ही उसका दाम बता दिया था। अब उस विषय पर मीन-मेष विचारने का मुझे साहस कैसे हो सकता था। क़िस्मत ठोंककर घर आया। यह विवाह करने का मज़ा है! उस वक़्त कैसे प्रसन्न थे, मानो चारों पदार्थ मिले जा रहे थे। अब नानी के नाम को रोओ। घड़ी का शौक़ चर्राया था, उसका फल भोगो। न घड़ी बाँधकर जाते, तो ऐसी कौन-सी किरकिरी हुई जाती थी। मगर तब तुम किसकी सुनते थे। देखें, १५) में कैसे गुज़र करते हो। ३०) में तो तुम्हारा पूरा ही न पड़ता था, १५) में तुम क्या भुना लोगे।

इन्हीं चिंताओं में पड़ा-पड़ा मैं सो गया। भोजन करने की भी सुधि न रही!

(४)

ज़रा सुन लीजिए कि ३०) में मैं कैसे गुज़र करता था। २०) तो होटल को देता था। ५) नाश्ते का ख़र्च था और बाक़ी ५) में पान, सिगरेट, कपड़े, जूते सब कुछ। मैं कौन राजसी ठाठ से रहता था, ऐसी कौन-सी फ़िज़ूल-ख़र्ची करता था कि अब ख़र्च में कमी करता। मगर दानू बाबू का क़र्ज़ तो चुकाना ही था। रोकर चुकाता या हँसकर। एक बार जी में आया कि ससुराल जाकर घड़ी उठा लाऊँ, लेकिन दानू बाबू से कह चुका था कि घड़ी खो गई। अब घड़ी लेकर जाऊँगा, तो यह मुझे झूठा और लबाड़िया समझेंगे। मगर क्या मैं यह नहीं कह

सकता कि मैंने समझा था कि घड़ी खो गई, ससुराल गया, तो उसका पता चल गया। मेरी बीबी ने उड़ा दिया था। हाँ, यह चाल अच्छी थी। लेकिन देवीजी से क्या बहाना करूँगा। उसे कितना दुःख होगा। घड़ी पाकर कितनी खुश हो गई थी ! अब जाकर घड़ी छीन लाऊँ, तो शायद फिर मेरी सूरत भी न देखे। हाँ, यह हो सकता था कि दानू बाबू के पास जाकर रोता। मुझे विश्वास था कि आज क्रोध में उन्होंने चाहे कितनी ही निठुरता दिखाई हो, लेकिन दो-चार दिन के बाद जब उनका क्रोध शान्त हो जाय और मैं जाकर उनके सामने रोने लगूँ, तो उन्हें अवश्य दया आ जायगी। बचपन की मित्रता हृदय से नहीं निकल सकती। लेकिन मैं इतना आत्म-गौरव-शून्य न था और न हो सकता था।

मैं दूसरे ही दिन एक सस्ते होटल में उठ गया। वहाँ १२) में ही प्रबंध हो गया। सुबह को दूध और चाय से नाश्ता करता था। अब छटाँक-भर चनों पर बसर होने लगी। १२) तो यों बचे। पान, सिगरेट आदि की मद में ३) और कम किए। और महीने के अंत में साफ़ १५) बचा लिए। यह विकट तपस्या थी। इंद्रियों का निर्दय दमन ही नहीं, पूरा संन्यास था। पर जब मैंने ये १५) ले जाकर दानू बाबू के हाथ में रक्खे, तो ऐसा जान पड़ा, मानो मेरा मस्तक ऊँचा हो गया है। ऐसे गौरव-पूर्ण आनंद का अनुभव मुझे जीवन में कभी न हुआ था।

दानू बाबू ने सहृदयता के स्वर में कहा—बचाए या किसी से माँग लाए ?

"बचाया है, भई माँगता किससे ?"

"कोई तकलीफ़ तो नहीं हुई।"

"कुछ नहीं। अगर कुछ तकलीफ़ हुई भी तो इस वक़्त भूल गई ?"

"सुबह को तो अब भी ख़ाली रहते हो ? आमदनी कुछ और बढ़ाने की फ़िक्र क्यों नहीं करते ?"

"चाहता तो हूँ कि कोई काम मिल जाय, तो कर लूँ, पर मिलता ही नहीं।"

वहाँ से लौटा, तो मुझे अपने हृदय में एक नवीन बल, एक विचित्र स्फूर्ति का अनुभव हो रहा था। अब तक जिन इच्छाओं को रोकना कष्टप्रद जान पड़ता था, अब उनकी ओर ध्यान भी न जाता था। जिस पान की दूकान को देखकर चित्त अधीर हो जाता था, उसके सामने से मैं सिर उठाए निकल जाता था, मानो अब मैं उस सतह से कुछ ऊँचा उठ गया हूँ। सिगरेट, चाय और चाट अब इनमें से किसी पर भी चित्त आकर्षित न होता था। प्रातःकाल भीगे हुए चने, दोनों जून रोटी और दाल। बस, इसके सिवा मेरे लिये और सभी चीज़ें त्याज्य थीं, सबसे बड़ी बात तो यह थी कि मुझे जीवन में विशेष रुचि हो गई थी। मैं ज़िंदगी से बेज़ार, मौत के मुँह का शिकार बनने का इच्छुक न था। मुझे ऐसा आभास होता था कि मैं जीवन में कुछ कर सकता हूँ।

एक मित्र ने एक दिन मुझसे पान खाने के लिये बड़ा आग्रह किया, पर मैंने न खाया। तब वह बोले—"तुमने तो यार पान छोड़कर कमाल कर दिया। मैं अनुमान ही न कर सकता था कि तुम पान छोड़ दोगे। हमें भी कोई तरकीब बताओ।"

मैंने मुसकिराकर कहा—"इसकी तरकीब यही है कि पान न खाओ।"

"जी तो नहीं मानता।"

"आप ही मान जायगा।"

"बिना सिगरेट पिए, तो मेरा पेट फूलने लगता है।"

"फूलने दो, आप पिचक जायगा।"

"अच्छा तो लो, आज से मैंने पान और सिगरेट छोड़ा।"

"तुम क्या छोड़ोगे। तुम नहीं छोड़ सकते।"

मैंने उनको उत्तेजित करने के लिये यह शंका की थी। इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा। वह दृढ़ता से बोले—"तुम यदि छोड़ सकते हो, तो मैं भी छोड़ सकता हूँ। मैं तुमसे किसी बात में कम नहीं हूँ।"

"अच्छी बात है, देखूँ।"

"देख लेना।"

मैंने इन्हें आज तक पान या सिगरेट का सेवन करते नहीं देखा था।

पाँचवें महीने में जब मैं रुपए लेकर दानू बाबू के पास गया, तो सच मानो वह टूटकर मेरे गले से लिपट गए। बोले—"हो यार तुम धुन के पक्के। मगर सच कहना मुझे मन में कोसते तो नहीं ?"

मैंने हँसकर कहा—"अब तो नहीं कोसता, मगर पहले ज़रूर कोसता था।"

"अब क्यों इतनी कृपा करने लगे ?"

"इसलिये कि मुझ-जैसी स्थिति के आदमी को जिस तरह रहना चाहिए वह तुमने सिखा दिया। मेरी आमदनी में आधा मेरी स्त्री का है। पर अब तक मैं उसका हिस्सा भी हड़प कर जाता था। अब मैं इस योग्य हो रहा हूँ कि उसका हिस्सा उसे दे दूँ या स्त्री को अपने साथ रक्खूँ। तुमने मुझे बहुत अच्छा पाठ दे दिया।"

"अगर तुम्हारी आमदनी कुछ बढ़ जाय, तो फिर उसी तरह रहने लगोगे ?"

"नहीं, कदापि नहीं। अपनी स्त्री को बुला लूँगा।"

"अच्छा तो खुश हो जाओ, तुम्हारी तरक्क़ी हो गई है।"

मैंने अविश्वास के भाव से कहा—"मेरी तरक्क़ी अभी क्या होगी। अभी मुझसे पहले के लोग पड़े नाक रगड़ रहे हैं।"

"कहता हूँ मान जाव। मुझसे तुम्हारे बड़े बाबू कहते थे।"

मुझे अब भी विश्वास न आया। पर मारे कुतूहल के पेट में चूहे दौड़ रहे थे। उधर दानू बाबू अपने घर गए, इधर मैं बड़े बाबू के घर पहुँचा। बड़े बाबू बैठे अपनी बकरी दुह रहे थे। मुझे देखा, तो झेंपते हुए बोले—"क्या करें, भई आज ग्वाला नहीं आया, इसलिये यह बला गले पड़ी। चलो बैठो।"

मैं कमरे में जा बैठा। बाबूजी भी कोई आध घंटे के बाद हाथ में गुड़गुड़ी लिए निकले और इधर-उधर की बातें करते रहे। आख़िर मुझसे न रहा गया, बोला—"मैंने सुना है मेरी कुछ तरक्क़ी हो गई है।"

बड़े बाबू ने प्रसन्नमुख होकर कहा—"हाँ, भाई हुई तो है। तुमसे दानू बाबू ने कहा होगा।"

"जी हाँ, अभी कहा है। मगर मेरा नंबर तो अभी नहीं आया, तरक्क़ी कैसे हुई।

"यह न पूछो। अफ़सरों की निगाह चाहिए, नंबर-संबर कौन देखता है।"

"लेकिन आख़िर मुझे किसकी जगह मिली। अभी कोई तरक्क़ी का मौक़ा भी तो नहीं।"

"कह दिया, भई, अफ़सर लोग सब कुछ कर सकते हैं। साहब एक दूसरी मद से तुम्हें १५) महीना देना चाहते हैं। दानू बाबू ने शायद साहब से कहा सुना होगा।"

"किसी दूसरे का हक़ मारकर तो मुझे ये रुपए नहीं दिए जा रहे हैं ?"

"नहीं, यह बात नहीं। मैं ख़ुद इसे न मंजूर करता।"

महीना गुज़रा, मुझे १५) मिले। मगर रजिस्टर में मेरे नाम के सामने वही ३०) लिखे थे। बड़े बाबू ने अकेले बुलाकर मुझे रुपए दिए और ताकीद कर दी कि किसी से कहना मत, नहीं तो दफ़्तर में बावेला मच जायगा। साहब का हुक्म है कि यह बात गुप्त रक्खी जाय।

मुझे संतोष हो गया कि किसी सहकारी का गला घोंटकर मुझे रुपए नहीं दिए गए। ख़ुश-ख़ुश रुपए लिए हुए सीधा दानू बाबू के पास पहुँचा। वह मेरी बाछें खिली देखकर बोले—"मार लाए, तरक्क़ी क्यों ?"

"हाँ यार, रुपए तो १५) मिले। लेकिन तरक्क़ी नहीं हुई, किसी और मद से दिए गए हैं।"

"तुम्हें रुपए से मतलब है, चाहे किसी मद से मिलें, तो अब बीबी को लेने जाओगे ?"

"नहीं, अभी नहीं।"

"तुमने तो कहा था, आमदनी बढ़ जायगी, तो बीबी को लाऊँगा, अब क्या हो गया ?"

"मैं सोचता हूँ पहले आपके रुपए पटा दूँ। अब से १०) महीने देता जाऊँगा, साल-भर में पूरे रुपए पट जायँगे। तब मुक्त हो जाऊँगा।"

दानू बाबू की आँखें सजल हो गईं। मुझे आज अनुभव हुआ कि उनकी इस कठोर आकृति के नीचे कितना कोमल हृदय छिपा हुआ था। बोले—"नहीं, अब की मुझे कुछ मत दो। रेल का ख़र्च पड़ेगा, वह कहाँ से दोगे। जाकर अपनी स्त्री को ले आओ।"

मैंने दुविधा में पड़कर कहा—"यार अभी न मजबूर करो। शायद क़िस्त न अदा कर सकूँ तो ?"

दानू बाबू ने मेरा हाथ पकड़कर कहा—"तो कोई हरज नहीं। सच्ची बात यह है कि मैं अपनी घड़ी के दाम पा चुका। मैंने तो उसके २५) ही दिए थे। उस पर ३ साल काम ले चुका था। मुझे तुमसे कुछ न लेना चाहिए था। अपनी स्वार्थपरता पर लज्जित हूँ।"

मेरी आँखें भी भर आईं। जी में तो आया घड़ी का सारा रहस्य कह सुनाऊँ, लेकिन ज़ब्त कर गया। गद्गद कंठ से बोला—"नहीं दानू बाबू, मुझे रुपए अदा कर लेने दो। आख़िर तुम उस घड़ी को ४, ५ सौ में बेच लेते या नहीं। मेरे कारण तुम्हें इतना नुक़सान क्यों हो।"

"भई, अब घड़ी की चर्चा न करो। यह बतलाओ कब आओगे ?"

"अरे, तो पहले रहने का तो ठीक कर लूँ।"

"तुम जाव, मैं मकान का प्रबंध कर रक्खूँगा।"

"मगर मैं ५ से ज़्यादा किराया न दे सकूँगा। शहर से ज़रा हटकर मकान सस्ता मिल जायगा।"

"अच्छी बात है, मैं सब ठीक कर रक्खूँगा। किस गाड़ी से लौटोगे ?"

"यह अभी क्या मालूम। बिदाई का मामला है, साइत बने या न बने या लोग एकाध दिन रोक ही लें। तुम इस झंझट में क्यों पड़ोगे। मैं दो-चार दिन में मकान ठीक करके चला आऊँगा।"

"जी नहीं, आप आज जाइए और कल आइए।"

"तो उतरूँगा कहाँ ?"

"मैं मकान ठीक कर लूँगा। मेरा आदमी तुम्हें स्टेशन पर मिलेगा।"

मैंने बहुत हीले-हवाले किए, पर उस भले आदमी ने एक न सुनी। उसी दिन मुझे ससुराल जाना पड़ा।

(५)

मुझे ससुराल में तीन दिन लग गए। चौथे दिन पत्नी के साथ चला। जी में डर रहा था कि कहीं दानू ने कोई आदमी न भेजा हो, तो कहाँ उतरूँगा, कहाँ को जाऊँगा। आज चौथा दिन है। उन्हें इतनी क्या ग़रज़ पड़ी है कि बार-बार स्टेशन पर अपना आदमी भेजें। गाड़ी में सवार होते समय इरादा हुआ कि दानू को तार से अपने आने की सूचना दे दूँ। लेकिन ॥) का ख़र्च था, इससे हिचक गया।

मगर जब गाड़ी बनारस पहुँची, तो देखता हूँ दानू बाबू स्वयं हैट कैट लगाए, दो कुलियों के साथ खड़े हैं। मुझे देखते ही दौड़े और बोले—"ससुराल की रोटियाँ बड़ी प्यारी लग रही थीं क्या। तीन दिन से रोज़ दौड़ रहा हूँ। जुरमाना देना पड़ेगा।"

देवीजी सिर से पाँव तक चादर ओढ़े, गाड़ी से उतरकर प्लेटफ़ार्म पर खड़ी हो गई थीं। मैं चाहता था, जल्दी से गाड़ी में बैठकर यहाँ से चल दूँ। घड़ी उनकी कलाई पर बँधी हुई थी। मुझे डर लग रहा था कि कहीं उन्होंने हाथ बाहर निकाला और दानू की निगाह घड़ी पर पड़ गई, तो बड़ी झेंप होगी। मगर तक़दीर का लिखा कौन टाल सकता है। मैं देवीजी से दानू बाबू की सज्जनता का ख़ूब बखान कर चुका था। अब जो दानू उनके समीप आकर संदूक़ उठवाने लगे, तो देवीजी ने दोनों हाथों से उन्हें नमस्कार किया। दानू ने उनकी कलाई पर घड़ी देख ली। उस वक़्त तो क्या बोलते, लेकिन ज्यों ही देवीजी को एक ताँगे पर बिठाकर हम दोनों दूसरे ताँगे पर बैठकर चले, दानू ने मुसकिराकर कहा—'क्या घड़ी देवीजी ने छिपा दी थी।"

मैंने शर्माते हुए कहा—"नहीं यार, मैं ही दे आया था, दे क्या आया था, उन्होंने मुझसे छीन ली थी।"

दानू ने मेरा तिरस्कार करके कहा—"तो तुम मुझसे झूठ क्यों बोले ?"

"फिर क्या करता।"

"अगर तुमने साफ़ कह दिया होता, तो शायद मैं इतना कमीना नहीं हूँ कि तुमसे उसका तावान वसूल करता। लेकिन ख़ैर ईश्वर का कोई काम मसलहत से ख़ाली नहीं होता। तुम्हें कुछ दिनों ऐसी तपस्या की ज़रूरत थी।"

"मकान कहाँ ठीक किया है ?"

"वहीं तो चल रहा हूँ।"

"क्या तुम्हारे घर के पास ही है ? तब तो बड़ा मज़ा रहेगा।"

"हाँ मेरे घर से मिला हुआ है, मगर बहुत सस्ता।"

दानू बाबू के द्वार पर दोनों ताँगे रुके। आदमियों ने दौड़कर असबाब उतारना शुरू किया। एक क्षण में दानू बाबू की देवीजी घर में से निकलकर ताँगे के पास आईं और पत्नीजी को साथ ले गईं। मालूम होता था, यह सारी बातें पहले ही से सधी-बधी थीं।

मैंने कहा—"तो यह कहो कि हम तुम्हारे बिन बुलाए मेहमान हैं।"

"अब तुम अपनी मरज़ी का कोई मकान ढूँढ़ लेना। दस-पाँच दिन तो यहाँ रहो।"

लेकिन मुझे यह ज़बरदस्ती की मेहमानी अच्छी न लगी। मैंने तीसरे ही दिन एक मकान तलाश कर लिया। बिदा होते समय दानू ने १००) लाकर मेरे सामने रख दिए और कहा—'यह तुम्हारी अमानत है। लेते जाव।'

मैंने विस्मय से पूछा—'मेरी अमानत कैसी ?' दानू ने कहा—'१५) के हिसाब से ६ महीने के ९०) हुए और १०) सूद।'

मुझे दानू की यह सज्जनता बोझ के समान लगी। बोला—'तो तुम घड़ी ले लेना चाहते हो।'

"फिर घड़ी का ज़िक्र किया तुमने। उसका नाम मत लो।"

"तुम मुझे चारों ओर से दबाना चाहते हो।"

"हाँ, दबाना चाहता हूँ फिर? तुम्हें आदमी बना देना चाहता हूँ। नहीं उम्र-भर तुम वहीं होटल की रोटियाँ तोड़ते और तुम्हारी देवीजी वहाँ बैठी तुम्हारे नाम को रोतीं। कैसी शिक्षा दी है, इसका एहसान तो न मानोगे।"

"यों कहो, तो आप मेरे गुरु बने हुए थे।"

"जी हाँ, ऐसे गुरु की तुम्हें ज़रूरत थी।"

मुझे विवश होकर घड़ी का ज़िक्र करना पड़ा। डरते-डरते बोला—

"तो भई घड़ी... . ..."

"फिर तुमने घड़ी का नाम लिया।"

"तुम ख़ुद मुझे मजबूर कर रहे हो।"

"वह मेरी ओर से भावज को उपहार है।"

"और ये १००) मुझे उपहार मिले हैं।"

"जी हाँ, यह इम्तहान में पास होने का इनाम है।"

"तब तो डबल उपहार मिला।"

"तुम्हारी तक़दीर ही अच्छी है, मैं क्या करूँ।"

मैं रुपए तो न लेता था, पर दानू ने मेरी जेब में डाल दिए। लेने पड़े। इन्हें मैंने सेविंग बैंक में जमा कर दिया। १०) महीने पर मकान लिया था। ३०) महीने ख़र्च करता था। ५) बचने लगे। अब मुझे मालूम हुआ कि दानू बाबू ने मुझसे ६ महीने तक यह तपस्या न कराई होती, तो सचमुच मैं न जाने कितने दिनों तक देवीजी को मैके में पड़ा रहने देता। उसी तपस्या की बरकत थी कि आराम से ज़िंदगी कट रही थी, ऊपर से कुछ-न-कुछ जमा होता जाता था। मगर घड़ी का क़िस्सा मैंने आज तक देवीजी से नहीं कहा। पाँचवें महीने में मेरी तरक़्क़ी का नंबर आया। तरक़्क़ी का परवाना मिला। मैं सोच रहा था कि देखें अब की दूसरी मदवाले १५) मिलते हैं या नहीं। पहली तारीख़ को वेतन मिला, वही ४५), मैं एक क्षण खड़ा रहा कि शायद बड़े बाबू दूसरी मदवाले रुपए भी दें। जब और लोग अपने-अपने वेतन लेकर चले गए, तो बड़े बाबू बोले—"क्या अभी लालच घेरे हुए है। अब और कुछ न मिलेगा।"

मैंने लज्जित होकर कहा—"जी नहीं, इस ख़याल से नहीं खड़ा हूँ। साहब ने इतने दिनों तक परवरिश की, यह क्या थोड़ा है। मगर कम-से-कम इतना तो बता दीजिए कि किस मद से वह रुपया दिया जाता था?"

बड़े बाबू—'पूछकर क्या करोगे?'

"कुछ नहीं, यों ही। जानने को जी चाहता है।"

"जाकर दानू बाबू से पूछो।"

"दफ़्तर का हाल दानू बाबू क्या जान सकते हैं।"

"नहीं, वह हाल वही जानते हैं।"

मैंने बाहर आकर एक ताँगा लिया और दानू के पास पहुँचा। आज पूरे दस महीने के बाद मैंने ताँगा किराए पर किया था। इस रहस्य के जानने के लिये मेरा दम घुट रहा था। दिल में तय कर लिया था कि अगर बचा ने यह षड्यंत्र रचा होगा, तो बुरी तरह ख़बर लूँगा। आप बग़ीचे में टहल रहे थे। मुझे देखा तो घबराकर बोले—"कुशल तो है, कहाँ से भागे आते हो?"

मैंने कृत्रिम क्रोध दिखाकर कहा—"मेरे यहाँ तो कुशल है, लेकिन तुम्हारी कुशल नहीं।"

"क्यों भई, क्या अपराध हुआ है?"

"आप बतलाइए कि पाँच महीने तक मुझे जो १५) वेतन के ऊपर मिलते थे, वह कहाँ से आते थे?"

"तुमने बड़े बाबू से नहीं पूछा? तुम्हारे दफ़्तर का हाल मैं क्या जानूँ।"

मैं आजकल दानू से बेतकल्लुफ़ हो गया था। बोला—

"देखो दानू, मुझसे उड़ोगे, तो अच्छा न होगा। क्यों नाहक़ मेरे हाथों पिटोगे।"

"पीटना चाहो तो पीट लो भई, सैकड़ों ही बार पीटा है, एक बार और सही। बार पर से जो ढकेल दिया था, उसका निशान बना हुआ है, यह देखो।"

"तुम टाल रहे हो और मेरा दम घुट रहा है। सच बताओ, क्या बात थी?"

"बात-वात कुछ नहीं थी, मैं जानता था कि कितनी ही किफ़ायत करोगे ३०) में तुम्हारा गुज़र न होगा। और न सही, दोनों वक़्त रोटियाँ तो हों। बस, इतनी बात है। अब इसके लिये जो चाहे दंड दो।"

प्रेमचंद

राठौर-राजवंश *

ठौर-वंश क्षत्रियों के प्रसिद्ध ३६ राज-वंशों में एक प्राचीन राज-वंश है। इसने भारतवर्ष के कई प्रांतों में समय-समय पर राज्य किया है, और एक प्रांत से अपना अधिकार उठ जाने पर दूसरे प्रांत को हस्तगत किया है। भारत के इतिहास का एक बड़ा भाग इनकी शूरवीरता से भरा पड़ा है। 'आईन-अकबरी' से ज्ञात होता है कि सम्राट् अकबर की सेना में ६० हज़ार सवार और दो लाख पैदल राठौर थे। कर्नल टाड का मत है कि मुग़ल सम्राटों ने जितनी विजय प्राप्त की थी, उनमें से आधी का श्रेय राठौरों को था। उसी समय की कहावत "लाख तलवार राठोड़ान" अब तक प्रसिद्ध है। गत योरपीय महायुद्ध में भी राठौरों ने अपनी वीरता का जीता-जागता परिचय देने में कुछ उठा नहीं रक्खा। जमादार (अब रिसालदार) गोविंदसिंह मेड़तिया इसी प्रसिद्ध वंश का है, जिसने विश्वव्यापी योरपीय महायुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे उच्च सैनिक पदक "विक्टोरिया क्रास" प्राप्त किया है। लेफ्टिनेंट जेनरल महाराजा सर प्रताप-जैसे राठौर-योद्धा का नाम राजस्थान ही नहीं, भारत में और देश-देशांतर में भी प्रसिद्ध है। उन्होंने अपने जीवन में कई बड़ी लड़ाइयों में भाग लिया था, और यद्यपि उनकी आयु गत महायुद्ध में ७० वर्ष की हो चली थी, तब भी वे अपने वीरत्व के जोश को दमन नहीं कर सके और फ्रांस के भयंकर जाड़े और बेगवती ठंडी हवा की परवाह न कर, अपने १६ वर्ष के पौत्र, जोधपुर-नरेश महाराजा सुमेरसिंहजी को साथ ले दलबल-सहित रण-क्षेत्र में पहुँचे थे। उस समय किसी भी देश का ऐसा फ़ौजी आदमी रण-क्षेत्र में नहीं दिखाई देता था, जो उम्र में ईडर-नरेश सर प्रताप के बराबर हो। वहाँ पर जोधपुर की राठौर सेना ने भी अपने विरुद (ख़िताब) को सार्थक कर दिखाया। ये विरुद अर्थात् मोटो (मूल-मंत्र) राजस्थान के क्षत्रियों में प्राचीन समय से भिन्न-भिन्न दो प्रकार से चले आते हैं। जैसे मेवाड़ के गहलोत महाराणाओं का मोटो "जो दृढ़ राखे धर्म को तेहि राखे कर्तार", परंतु राठौरों का विरुद "रणबंका" है। जिसका अर्थ है "लड़ाई में बाँके।" कुछ वंशों के विरुदों के प्राचीन पूरे पद इस प्रकार हैं—

"बल हट बंका देवड़ा, करतब बंका गौड़ ।
हाड़ा बंका गाढ़ में, रणबंका राठोड़ ।"

अर्थात् देवड़ा बल और हठ में एक ही है, गौड़ अपने कर्तव्य में अपूर्व है। हाड़ा अपनी बात के धनी होने में लासानी है और राठौर रण-क्षेत्र में अद्वितीय है।

"भ्रज देशां चंदन बड़ां, मेरू पहाड़ां मोड़ ।
गरुड़ खगां लंका गढ़ां, राजकुलां राठोड़ ।"

इसका यह मतलब है कि देशों में भ्रज, दरख़्तों में चंदन, पहाड़ों में सुमेरु, पक्षियों में गरुड़, क़िलों में लंका और राजकुलों में राठौर बड़े हैं।

राठौरों की उत्पत्ति के विषय में बड़ा मत-भेद है। इनकी ख्याति में लिखा है कि ये इंद्र की रहट (रीढ़) से उत्पन्न हुए इसलिये राठौर कहलाए। किसी-किसी विद्वान् का मत है कि इनकी कुलदेवी राष्ट्र-सेना या राठाणी थी उसके नाम से राष्ट्रकूट या राठौर कहलाए। कहीं-कहीं लिखा है कि इनका मूल पुरुष राष्ट्रकूट था इससे ये राठौर प्रसिद्ध हुए। दूसरी ओर राठौरों के बड़वा भाट इनको दैत्यवंशी हिरण्यकश्यप की संतान बतलाते हैं। यही नहीं इतिहासज्ञ कर्नल टाड ने इन्हें भी राजपूतों के दूसरे वंशों की तरह उत्तर की ओर से आए हुए सीथियंस (शक) आदि अनार्यों की—जिन्होंने हिंदू-धर्म तथा सभ्यता स्वीकार कर ली थी—संतान लिखा है। बीसवीं शताब्दी के प्रसिद्ध योरपियन विद्वान् विन्सेंट स्मिथ और उसके लेखों की छाया पर निर्भर रहनेवाले कुछ भारतीय विद्वानों का भी कहना है कि राठौर, गहरवार, चंदेल आदि प्रसिद्ध राज-वंश प्राचीन आर्य क्षत्रिय नहीं हैं। किंतु ये गोंड, भड़, खरवड़ आदि जंगली असभ्य जातियों से निकले हैं और उन्होंने अपनी उत्पत्ति सूर्य और चंद्र से जा मिलाई है। कई लोगों का ऐसा भी अनुमान है कि राठौर दक्षिण के द्राविड़ हैं। परंतु राठौर अपने को शुद्ध क्षत्रिय आर्य नस्ल से और अयोध्या के महाराजा रामचंद्र के ज्येष्ठ पुत्र कुश के वंशज तथा सूर्यवंशी मानते हैं।

* यह लेख कई महीने से 'माधुरी'-कार्यालय में पड़ा हुआ था। चित्रों का प्रबंध करने में विलंब हो जाने के कारण अब प्रकाशित किया जा रहा है। स० मा०।

राठौरों का पहला वर्णन ईसा से २७२ वर्ष पहले मौर्यवंशी प्रतापी सम्राट् अशोक के दक्षिण के शिला-लेखों में मिलता है। इसके पहले भी ये लोग राज करते थे, किंतु उस समय का इतिहास नहीं मिलता। बौद्ध-धर्म की पुस्तक 'दीप-वंश' से पाया जाता है कि बौद्ध साधु मोगली-पुत्र "महारट्ठ" लोगों को उपदेश देने गया था[१]। भाजा, बेडसा, कारली और नानाघाट की गुफाओं के लेखों में महारट्ठ या महारट्ठानी-जाति का मुख्य दानी होना लिखा है। ये लेख ईसवी सन् की दूसरी सदी के माने जाते हैं। ऐसे ही सम्राट् सिकंदर (एलक्जेंडर) का हाल लिखनेवाले प्राचीन यूनानी लेखकों ने सिकंदर की चढ़ाई के समय (ई० स० पूर्व ३२६) में पंजाब प्रांत में "अरट्ट" नाम की एक जाति का उल्लेख किया है। इन अरट्टों की सहायता से ही मौर्यवंशी महाराजा चंद्रगुप्त ने पाटलीपुत्र का राज्य लिया था। और महाभारत में भी "अराष्ट्रों" का उल्लेख है। स्कंद-पुराण से ज्ञात होता है कि रट्टों (राष्ट्रकूटों) के ७ लाख गाँव थे *। कई विद्वानों का मत है कि ये शब्द राठौरों के लिये ही प्रयोग किए गए हैं और ये पर्यायवाची नाम हैं। इस प्रकार बहुत प्राचीन समय से राष्ट्रकूटों के होने के कुछ-कुछ प्रमाण मिलते हैं; परंतु संवत्, राजधानी और राजा का नाम कुछ भी प्राप्त नहीं होता। शिला-लेखों में इनका उल्लेख राष्ट्रिक (राष्टिक) नाम से किया गया है। राष्ट्रिक से रट्ट अपभ्रंश हुआ। सिरूर[३] और नवसारी से मिले शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों में यही (रट्ट) शब्द इनके लिये प्रयोग किया गया है।

प्राचीन समय में यह रीति थी कि संस्कृत के कठिन शब्दों को बिना पढ़े साधारण लोग बोलने की सुगमता के लिये काट-छाँटकर संक्षिप्त बना लेते थे। फिर देश में उस सांकेतिक नाम का अधिक प्रचार हो जाने पर विद्वान् लोग भी शिला-लेखों तथा दान-पत्रों में भी उसका व्यवहार करने लग जाते थे। ऐसे अनेक उदाहरण लिखे मिलते हैं। उनमें से कुछ दक्षिणी भारत के ही प्रमाण-स्वरूप लिखे जाते हैं। जैसे चालुक्य राजा विक्रमादित्य का संक्षिप्त नाम विक्कि या विक्कल, विजयादित्य का विज्ज या बेत, राजेंद्रचोड़ का राजिग। राठौर राजा गोविंदराज का गोग्गि, कर्कराज का कक्क या कक्कल। यादव राजा विष्णुवर्द्धन का बद्दिग आदि। इसी प्रकार राष्ट्रकूट नाम के मध्य के अक्षरों को छोड़कर आरंभ के र तथा अंत के ट अक्षरों को मिलाकर "रट्ट" शब्द बना लिया होगा। फिर उक्त नाम का देश में अधिक प्रचार हो जाने पर शनैःशनैः विद्वान् लोग लेखों में भी रट्ट शब्द का प्रयोग करने लग गए होंगे। इसी प्रकार चापोत्कट (चावड़ा-वंश) का संक्षिप्त रूप चाप लिखा मिलता है। इसी प्रथा से सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम के पूज्य जिनसेनाचार्य के गुरु वीरसेन ने एक जैन-ग्रंथ पर टीका लिखी थी। उसमें मान्यखेटपुर के मध्य अक्षरों को छोड़कर उसका नाम "माटपुर" लिखा है और आघाट-पुर (मेवाड़ में) को आटपुर लिखा है। उक्त प्रथा वर्तमान समय में भी है तथा अँगरेज़ी में भी संक्षिप्त रूप बनाने की रीति प्रचलित है। यथा ए० जी० जी० और डी० टी० एस० आदि।

रट्ट या राष्ट्र का अर्थ देश या राज्य से है। कालांतर में इस जाति का वैभव और भी बढ़ जाने के कारण लोग राष्ट्र शब्द के साथ "कूट" और "वर्य" शब्द जोड़कर "राष्ट्रकूट" या "राष्ट्रवर्य" का प्रयोग करने लगे। राष्ट्रवर्य से संभवतः राष्ट्रौर हो गया। यह शब्द नाडोल (मारवाड़ में) के ताम्र-पत्र में भी मिलता है। इस राष्ट्रौर शब्द से राठोड़ शब्द बन गया और यही आजकल प्रचलित है।

राठौर दक्षिण में उत्तर भारत से गए थे और वहीं से यह फिर उत्तर भारत में आए। ऐसा पाया जाता है और ऐसा ही राठौर लोग मानते हैं। विक्रमी संवत् से २१५ (ई० स० से २७२) वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम की छठी

---

१. General Cunningham's Bhilsa Tops. Page 89.

* स्कन्द-पुराण, कुमारिका-खंड, अध्याय ३९, श्लोक १३५।

२. डॉक्टर बर्नेल "रट्ट" शब्द को तैलगु-भाषा के रेड्डी शब्द का रूपांतर मानता है, जो उस भाषा में वहाँ के आदिम निवासी किसानों के लिये प्रयुक्त होता है।

३. Indian Antiquary, Vol. XXII P. 220.

४. Journal of the Bombay branch of the Royal Asiatic Society, Vol. XXVIII P. 266.

शताब्दी तक इनके इतिहास का कुछ पता नहीं चलता। इसके बाद विक्रम की सातवीं शताब्दी में अभिमन्यु नामक एक राजा का नाम मिलता है जो इस वंश का था और मानपुर में रहता था। उसके दिए हुए ताम्र-पत्र से पता चलता है कि वह मानांक राजा की चौथी पीढ़ी में था। इस ताम्र-पत्र की मोहर में सिंह पर सवार हुई देवी की मूर्ति खुदी है और वंशावली इस प्रकार है—

मानांक
|
देवराज
|
भविष्य
|
अभिमन्यु
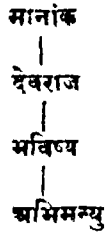
राठौरों के जो ताम्र-पत्र तथा शिला-लेख आज तक पाए गए हैं उनमें सबसे पुराना यही (राजा अभिमन्यु का) ताम्र-पत्र है। इसमें मानांक और देवराज का कुछ भी वृत्तांत नहीं है। केवल पिता-पुत्र होना लिखा है। देवराज के ३ पुत्र होना लिखा है, जिन्होंने युद्धों में सब शत्रुओं को विजय कर उनकी लक्ष्मी और पृथ्वी छीन ली। देवराज के तीन पुत्रों में से केवल बड़े भविष्य का नाम लिखा है। भविष्य के पुत्र अभिमन्यु के विषय में लिखा है—"उसकी राजधानी मानपुर थी और हरिवत्स कोट्ट को पकड़नेवाले जयसिंह के सामने उसने जटाभार साधु को उन्दिष्क वाटिका गाँव दान में दिया।" यह मानपुर शायद मान्यखेट का दूसरा नाम हो जो दक्षिण के राठौरों की राजधानी थी। इस ताम्र-पत्र से यह भी पाया जाता है कि कोट्ट या कोत-जाति के राजा उस समय तक विद्यमान थे। कोट्ट या कोत (कवित) जाति के राजा बहुत पुराने समय से इस देश में पाए जाते हैं, लेकिन वि० सं० की ८ वीं शताब्दी के बाद प्रयाग के क़िले के भीतरवाले शिला-लेख के सिवाय उनका पता नहीं चलता है। यह शिला-लेख गुप्त वंश के राजा समुद्रगुप्त का है। इसमें लिखा है कि समुद्रगुप्त ने पुष्पपुर (पटना) में कोट-वंश के राजा को सज़ा दी। इन कोट-वंशियों के छोटे-छोटे लेख दक्षिण में सोपारा की गुफा में मिलते हैं और कहीं-कहीं उनके सिक्के भी पाए जाते हैं। हरिवत्स कोट्ट को पकड़नेवाला जयसिंह अभिमन्यु का सेनापति या सामंत होगा।

दक्षिण में बाड़गी ज़िले के अंतर्गत येवूर गाँव के पास सोमेश्वर का एक मंदिर है। उसमें एक शिला-लेख है, जिस पर चालुक्य (सोलंकी) राजाओं की वंशावली खुदी हुई है। इसमें दक्षिण में सोलंकियों का राज्य स्थापित करनेवाले जयसिंह चालुक्य के विषय में लिखा है कि उसने राष्ट्रकूट कृष्णराज के पुत्र इंद्रराज से दक्षिण का राज्य (वि० सं० ५५० के लगभग) छीना था। इस (इंद्रराष्ट्रकूट) की सेना में ८०० हाथी थे। चालुक्य राजाओं के लेख और ताम्र-पत्रों से निश्चय होता है कि जयसिंह सोलंकी के पहले यानी विक्रम-संवत् की ६ठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वहाँ राठौर राज्य करते थे। उस समय राठौरों का राज्य बड़ा प्रबल था। क्योंकि सेना में ८०० हाथी रखना सामान्य राजा का काम नहीं हो सकता। राज्य के छिन जाने पर भी राष्ट्रकूट लोग बेलगाँव आदि स्थानों में जमे रहे।

राष्ट्रकूट इंद्र के पीछे की कई एक पीढ़ियों के नाम नहीं मिलते। फिर दन्तिवर्मा से उनकी वंशावली सिलसिलेवार मिलती है। इस प्रकार वि० सं० ६५० के लगभग से सं० १०३० तक ३८० वर्ष में १६ राष्ट्रकूट राजा दक्षिण में हुए और इसी समय उसके पश्चिमी भाग का नाम "महाराष्ट्र" पड़ गया, जो आज भी महाराष्ट्र के नाम से प्रसिद्ध है।

शिला-लेखों और ताम्र-पत्रों से ज्ञात होता है कि ये १—दन्तिवर्मा (दन्तिदुर्ग पहला) पूर्वोल्लिखित राष्ट्रकूट कृष्ण के पुत्र इंद्र का वंशज था और इसका समय वि० सं० ६५० (ई० स० ५९३) के आसपास अनुमान किया जाता है। इसका पुत्र २—इंद्रराज (पहला) था। जिसके बाद उसका पुत्र ३—गोविंदराज उत्तराधिकारी हुआ। इसने चालुक्य राजा मंगलीश के मारे जाने पर उसके भतीजे पुलकेशी के राज्य पाने के समय अपने पूर्वजों का खोया हुआ राज्य वापस छीनने का उद्योग किया था, किंतु इसे सफलता नहीं मिली और अंत में चालुक्य राजा से इसकी मित्रता हो गई। गोविंदराज (पहला) का

१. Journal of the Bombay branch of the Asiatic Society, Vol 16, P. 90.

१. Cave Temple Inscriptions, Page 92.
२. Epigraphica Indica, Vol, VI. P. 5.

पुत्र ५—कर्कराज (कक्क पहला) बड़ा दानी और वेदानुरागी था। उसके इंद्रराज और कृष्णराज नामक दो पुत्र थे। पिता के देहान्त पर बड़ा इंद्रराज (दूसरा) राजगद्दी पर बैठा। इसका विवाह चालुक्य-वंश की राजकुमारी से हुआ था जो चंद्रवंशियों की नवासी थी। इससे दन्तिदुर्ग (दूसरा) पैदा हुआ। ६—दन्तिदुर्ग (दन्तिवर्मा) बड़ा धीर-वीर और पराक्रमी हुआ। इसने वि० सं० ८१० से कुछ पहले चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा (दूसरा) से उसके राज्य का एक बड़ा भाग छीनकर अपने पूर्वजों का खोया हुआ राज्य वापस लिया और फिर दाक्षिण में राठौरों का राज्य स्थापित किया। उन चालुक्य राजाओं का मुख्य विरुद (उपाधि) "वल्लभ" को स्वयं अपने नाम के साथ धारण किया। इसने उत्तर में लाट-देश (दक्षिण गुजरात) तक का सारा प्रदेश विजय कर "राजाधिराज" तथा "परमेश्वर" की महत्ता सूचक उपाधियाँ भी धारण कीं। दन्तिदुर्ग के निःसन्तान मरने पर उसका चाचा ७—कृष्णराज (पहला) गद्दी पर बैठा। जैसा कि करडा के ताम्र-पत्र से साबित है कि इसने दाक्षिण के चालुक्यों का रहा-सहा राज्य भी छीनकर अपने क़ब्ज़े में कर लिया और अपने ख़िताब "अकाल वर्ष" तथा "शुभतंग" रक्खे। इसने अपने कुटुंबियों को मरवा डाला था। हैदराबाद निज़ाम राज्य में ईलोरा (इलापुर उर्फ़ अजंता) की प्रसिद्ध गुफा में जो कैलाश-मंदिर पर्वत काटकर बनाया गया है, वह इसी राजा का बनवाया हुआ है। भारत की शिल्पकारी का वह एक आदर्श नमूना है।

कृष्णराज के पश्चात् उसका ज्येष्ठ पुत्र ८—गोविंदराज (दूसरा) राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। वर्धा के ताम्र-पत्र से ज्ञात होता है कि यह भोग विलास में लीन रहता था। इससे इसका छोटा भाई ९—ध्रुवराज वि० सं० ८३६ के क़रीब इसको राजसिंहासन से उतार स्वयं राज्य का मालिक बन बैठा। ध्रुवराज ने उत्तर में अयोध्या तक और दक्षिण में कांची तक विजय प्राप्त की थी। इसने गौड़ों पर विजय पानेवाले परिहार राजा वत्सराज[१] को मारवाड़ में खदेड़ दिया था। लेखों में इसके नाम के साथ कविवल्लभ, निरुपम, धारावर्ष, श्रीवल्लभ, महाराजाधिराज और परमेश्वर आदि उपाधियाँ लिखी मिलती हैं। इसके कई पुत्र थे जिनमें से बड़ा गोविंदराज और दूसरे पुत्रों में एक इंद्रराज था। यह १०—गोविंदराज (तीसरा) राठौरों में ऐसा प्रतापी हुआ, जैसे यादवों में श्रीकृष्ण थे। इसने दक्षिण के बारह राजाओं की सम्मिलित सेना को हराकर लाट-देश को तो अपने छोटे भाई इंद्रराज को दिया था और लाट (गुजरात) से लेकर दक्षिण में क़रीब-क़रीब रामेश्वर तक का देश अपने अधिकार में रखकर वि० सं० ८७२ तक राज्य किया था। इसका पुत्र ११—अमोघवर्ष (पहला) भी बड़ा वीर और विद्वान् नरेश था। इसके विरुद "वीरनारायण", "नृपतुंग", "पृथ्वीवल्लभ", "लक्ष्मीवल्लभ", "महाराजाधिराज" आदि मिलते हैं। वि० सं० ९३४ (ई० सन् ८७७) तक इसका विद्यमान होना पाया जाता है। यह बाल्यावस्था में ही राजसिंहासन पर बैठा था। पूर्वी चालुक्य राजा विजयादित्य इसके राज्य को छीनना चाहता था। इसलिये इसने उससे कई लड़ाइयाँ लड़ीं। इसने मान्यखेट (मालखेड़—निज़ाम-राज्य में) नगर को अपनी राजधानी बनाया था और ६२ वर्ष के क़रीब राज्य किया था। यह राजा स्वयं विद्वान् और विद्वानों का आश्रयदाता था। जैन विद्वानों का भी इसने बड़ा सम्मान किया था, क्योंकि वह इस मत का माननेवाला था। इसके समय में जैनाचार्य गुणभद्रसूरि ने जैन-ग्रंथ उत्तर-पुराण (महापुराण का उत्तर भाग) बनाया था। उसमें लिखा है कि यह राजा उक्त जैनाचार्य के गुरु जिनसेन का शिष्य था। महापुराण जिनसेन का बनाया हुआ है। अमोघवर्ष की लिखी हुई प्रश्नोत्तरमाला-नामक एक छोटी-सी वेदांत की पुस्तक बड़ी उत्तम है। पश्चात् इस पुस्तक में बड़े-बड़े आचार्यों ने अपने श्लोक मिलाए। शंकराचार्य के शिष्य उसको अपने गुरु, आदि शंकर स्वामी का और जैनी उसे अपने आचार्य विमलसूरि का रचा हुआ बतलाने लग गए थे। किंतु जब उसका अनुवाद तिब्बती-भाषा में हुआ, तो वह अमोघवर्ष का रचा हुआ पाया गया। कनाड़ी-भाषा में "कवि राजमार्ग"-नामक एक अलंकार की पुस्तक है, वह भी अमोघवर्ष की रची मानी जाती है। इसी राजा के समय का अरबी-भाषा में "सिल्सिलुल् तवारीख़"-नामक एक ग्रंथ है, जिसे अरब के सौदागर सुलेमान ने

१. शायद यह मंडोवर के परिहार-राजाओं का पूर्वज हो।

हिजरी सन् २३७ (वि० सं० ९०१ - ई० स० ८५२) में लिखा था। उसमें सुलेमान ने बलहरा (वल्लभराज—राष्ट्रकूट) की संसार के ४ बड़े बादशाहों में गणना की है। इसमें लिखा है—"बलहरा भारत में सबसे बड़ा महाराजा है। इसके यहाँ अन्य राजाओं के यहाँ बड़ा आदर पाते हैं। यह महाराजा अरबवालों की तरह बड़ा दानी है। इसके पास बहुत-से हाथी, घोड़े, ऊँट हैं और धन भी खूब है। इसका राज्य कोकन (दक्षिण में) से चीन की भूमि तक मिला हुआ है। अरबवालों की तरह यह अपनी फ़ौज की तनख़्वाह वक़्त पर देता है। बलहरा किसी का ख़ास नाम नहीं है, पर इनका ख़ानदानी ख़िताब है, जैसा कि ईरान के बादशाहों का ख़ुसरो। हिंदोस्तान में कोई और राज्य चोरी से इतना अधिक सुरक्षित नहीं है, जितना यह राज्य है[१]।" इससे पता चलता है कि उस समय राठौरों का कैसा प्रताप था। (क्रमशः)

जगदीशसिंह गहलोत

विश्राम

काल वस्त्र वेष्टित सखि-गण से क्यों आवृत है ए घन वाम।
किस लज्जा-वश हो बतला दे छिपा रही है मुख अभिराम।
विरह-वह्नि से व्याकुल कब से देख रहा हूँ तेरी ओर।
कब आती है तप्त हृदय में शीतल जल की एक हिलोर।
जीवन-पथ पर देख चुका हूँ नहीं कहीं है सुख का लेश।
देख रहा हूँ कब मिलता है एक मनोरम शान्त प्रदेश।
जहाँ गुँजाऊँ शान्त चित्त हो अपनी मधुर रसीली तान।
कर विचरण स्वच्छंद सुनाऊँ वीर भाव से पूरित गान।
श्रमित हो गया तुझे सुनाते ए घन-वाम विनय अविराम।
बस निज कोमल शुभ्र अंक में क्षण भर करने दे विश्राम।

व्रजकिशोरशर्मा, "पंकज"

---

१. सुलेमान सौदागर से करीब एक हज़ार वर्ष पहले यूनानी-यात्री मेगस्थनीज़ के लिखे मुताबिक़ सारे भारत में चोरी का सर्वथा अभाव था।

कवि

(१)

कौन तुम झूमते हो मोह-मदिरा में मस्त,
रसिक-बिहारी अलबेले भोलेपन में ?
बाँसुरी बजाते किस कोमल कदंब तल,
नाच नट-नागर से मुग्ध मौन मन में ?
सींचते सुधा की धार से हो कौन मरु-प्रांत,
सिमट-सिमट मतवाले श्याम घन में ?
यौवन-समुद्र से उमड़ते हो किस ओर,
फूल से महँकते हो कैसे मधुवन में ?

(२)

झिंगुनी पै तान त्रिभुवन घूमते किधर,
हे दरिद्र ! लात मार के कुबेर-धन पर ?
फाड़-फाड़ कफ़्फ़न, चढ़ाते किसकी हो बलि,
भूतनाथ से महा भयंकर बदन पर ?
क्रोध की चिता में फूँक-ताप कौन शत्रु देश,
शेर से दहाड़ते हो कंटकित वन पर ?
धूलि की तरह लोट सज्जन चरण तल,
कौन हो, मगन तुम प्रान की लगन पर ?

(३)

कल्पना परी के साथ कमनीय केलि कर,
कौन-सी अलापते हो रागिनी मनोहरी ?
लौटते न नीड़ को हैं कोकिल कलाप आज,
मुग्धा मरती है छवि-नायिका दिगंबरी ?
जीवन-लहर बीच खूब बलखाती जाती,
धीरे अति धीरे अति धीरे आयु की तरी !
जगदीश ! तुम हो बिछाते किस कौतुक से,
चंद्रिका किरण-सी अमर कीर्ति सुंदरी ?

"गुलाब"

अवधेश बनरा

पीरी-पीरी पाग मौर झालर झमकदार,
तरल तरयोना में दिठौना विनन्यौ है आज।
घेरदार जामा पर्यो पटका घुमेरदार,
कोरदार पीरो पट कटि में तन्यौ है आज।
"जोतिसी" जगी है अंग अंगन में ओज भरी,
देखि-देखि आनँद को सिंधु उफन्यौ है आज।
गजरा गरे में कोर कजरा मरोरदार,
अवधनरेश बेश बनरा बन्यौ है आज।

रामनाथ ज्योतिषी

विधि-लीला

सेठजी—ज़रा चल बढ़ा, नहीं तो उतर कर ख़बर लूँगा।

हिंदी में वैद्यक-शास्त्र
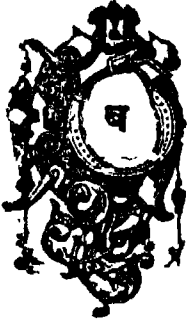
बहुत काल से हम लोग हिंदी-भाषा को राष्ट्र-भाषा के उच्चासन पर प्रतिष्ठित करने का उद्योग कर रहे हैं। हिंदी-साहित्य सम्मेलन, नागरी-प्रचारिणी सभा और अन्य अनेक संस्थाएँ तथा पुस्तक-प्रचारक व्यावसायिक व्यक्ति और कंपनियाँ इस क्षेत्र में सराहनीय उद्योग कर रही हैं; परंतु देश के दुर्भाग्य-वश, अधिकांश प्रकाशकों का ध्यान देश की आवश्यकताओं की ओर नहीं, अपितु मनोरंजन की ओर विशेष आकर्षित हो रहा है। उपन्यास, नाटक, गल्प और प्रहसन आदि मनोरंजन सामग्री की ही अभिवृद्धि हो रही है। परंतु क्या अन्य प्रांत-वासियों की रुचि को आकर्षित करने के लिये यह सामग्री यथेष्ट हो सकती है? क्या बँगला, गुजराती और मराठी जनता हिंदी-नाटकों को पढ़ने के लिये हिंदी की ओर झुक सकती है? * माना कि राष्ट्र-भाषा को राष्ट्र-भाषा होने के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति को पढ़ना चाहिए, परंतु सिद्धांत को समझकर कार्य में प्रवृत्त होनेवाले लोग कितने होते हैं? अधिकांश जनता तो अपने व्यक्तिगत लाभ की ओर ही ध्यान रखती है और संसार में उन्हीं वस्तुओं का अधिक प्रचार होता है जिनसे व्यक्तियों का अधिक-से-अधिक स्वार्थ सिद्ध होता हो। बँगला-भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने का यत्न नहीं किया गया तथापि हिंदी-भाषा-भाषियों में बँगला-भाषा सीखने की रुचि कुछ कम नहीं है। क्यों? इसीलिये कि उस भाषा में प्रायः हर प्रकार की रुचि के लोगों के लिये उपयुक्त साहित्य विद्यमान है। अतएव हिंदी के हित-चिंतकों का ध्यान भी शीघ्र-से-शीघ्र इस ओर आकर्षित होना चाहिए।

जिन विषयों के ज्ञान से जन-साधारण का अधिक-से-अधिक हित-साधन हो सकता है, जिनसे भूखे भारत की भूख भग सकती है, उन विषयों के साहित्य से हिंदी का भंडार परिपूर्ण करना चाहिए।

संप्रति भारत की वह अवस्था नहीं है कि केवल काव्य-रस पान के लिये जनता हिंदी की ओर खिंची चली आए। हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के लिये उसे राष्ट्रोप-योगी बनाना ही पड़ेगा। राष्ट्र में काव्य-रसिकों की संख्या ही कितनी है, इस बात पर ध्यान न देते हुए चाहे जितना सुरीला स्वर-संयोग कीजिए, वह असमय का राग कहलाएगा।

यदि सचमुच हिंदी-प्रकाशक हिंदी-हित के लिये कुछ करना चाहते हैं, तो उन्हें जन-साधारण की आवश्यकताओं का विचार करके अत्यंत शीघ्र अपने कार्य-क्रम को बदल देना चाहिए। नाटक, गल्प, काव्यादि की अपेक्षा कृषि, वाणिज्य, वैद्यक, वयन-शास्त्र, वस्त्र-रंजन-(रँगरेज़ी) विद्या प्रभृति विषयों से संबंध रखनेवाले साहित्य की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

आजकल जनता की रुचि दिनोंदिन वैद्यक की ओर विशेष रूप से बढ़ रही है। परंतु खेद का विषय है कि हिंदी में वैद्यक-शास्त्र-संबंधी साहित्य की दशा अत्यंत निराशा-जनक है। यही कारण है कि वैद्यक-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिये लोगों का झुकाव बंग-भाषा की ओर बढ़ता जाता है। संस्कृत-ज्ञान के लिये भी लोग प्रयत्न अवश्य करते हैं, परंतु ऐसी भाषाओं में सफलता प्राप्त करना अत्यंत कठिन है। यही कारण है कि जो लोग संस्कृत या बँगला नहीं सीख सकते, एक-दो छोटी-मोटी हिंदी-पुस्तकों में वैद्यक-शास्त्र की इतिश्री समझ बैठते हैं। परिणामतः अनाड़ी वैद्यों की संख्या बढ़ना स्वा-भाविक ही है। अतएव हिंदी में वैद्यक-संबंधी पुस्तकों की कमी केवल साहित्यिक अपूर्णता को ही प्रकट नहीं करती, अपितु जन-साधारण के स्वास्थ्य और जीवन को भी संकट में डाले हुए है।

हिंदी में वैद्यक-संबंधी मूल-ग्रंथों में तो 'नूतनामृत-सागर', 'शिवनाथ-सागर', 'वैद्यक-शिक्षा,' 'चिकित्सा-चंद्रोदय' आदि दो-चार गिनी-चुनी पुस्तकों के अतिरिक्त शून्य ही दृष्टि-गोचर होता है। यदि खोज की जाय तो शायद काय-चिकित्सा-संबंधी कुछ छोटी-छोटी पुस्तकें और ट्रैक्टों के नाम और भी मिल जायँ, परंतु शल्य, शालाक्य, अगदतंत्र, कौमारभृत्य, स्वस्थवृत्त आदि अन्य

---

* जहाँ तक हमें ज्ञात है, हिंदी-भाषा का सबसे अधिक प्रचार स्वर्गीय बाबू देवकीनंदनजी खत्री की चंद्रकांता-संतति द्वारा हुआ और हिंदी-भाषियों ने बँगला के उपन्यास और नाटक पढ़ने के लिये बँगला सीखी है—संपादक।

विषयों की ओर तो सफ़ाया ही नज़र आता है। शल्य शालाक्य में केवल 'जर्राही-प्रकाश' का ही नामोल्लेख किया जा सकता है। यदि श्रीमान् डॉ० त्रिलोकीनाथजी-कृत 'हमारे शरीर की रचना' न होती, तो शारीर-शास्त्र में भी किसी पुस्तक का नाम न ले सकते।

उपर्युक्त ग्रंथों में भी 'अमृत-सागर' को मौलिक ग्रंथ नहीं कह सकते। प्रथम यह ग्रंथ जयपुरी-भाषा में लिखा गया था, उसी का परिवर्द्धित हिंदी-अनुवाद 'नूतन अमृत सागर' के नाम से प्रसिद्ध है।

यह ग्रंथ चाहे मौलिक हो या अनुवाद, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इससे हिंदी-भाषा-भाषियों का बहुत हित साधन हुआ है।

संपूर्ण ग्रंथ चार खंडों में विभक्त है (१) उत्पत्ति-खंड, (२) विचार-खंड, (३) निदान-खंड और (४) चिकित्सा-खंड। इसमें काय-चिकित्सा संबंधी प्रायः सभी विषयों का थोड़ा-बहुत वर्णन आ गया है। औषध-निर्माण-विधि और निघंटु यद्यपि संक्षिप्त है तथापि अत्यंत उपयोगी है। ग्रंथ की भाषा भी अत्यंत सरल और सुपाठ्य है। क्रम कुछ-कुछ 'भाव-प्रकाश' से मिलता-जुलता ही है।

'वैद्यक-शिक्षा' और 'चिकित्सा-चंद्रोदय' यद्यपि लगभग एक ही शैली के ग्रंथ हैं, परंतु 'चिकित्सा-चंद्रोदय' का विस्तार बहुत अधिक है। इसमें विषय भी बहुत अधिक हैं और अद्यावधि प्रकाशित हिंदी के वैद्यक-ग्रंथों में शायद यही सबसे बड़ा ग्रंथ है। 'वैद्यक-शिक्षा' केवल भारतीय आयुर्वेद के आधार पर लिखी गई है और 'चिकित्सा-चंद्रोदय' में यूनानी से भी बहुत कुछ सहायता ली गई है। हाँ, 'वैद्यक-शिक्षा' का क्रम और संगठन वस्तुतः बहुत उत्तम है।

ये दोनों पुस्तकें जनसाधारण के लिये अवश्य ही बहुत उपयोगी हैं, परंतु हिंदी में श्रीमान् डॉ० गुलाम-जीलानी महोदय-कृत "घर का डॉक्टर"-जैसी एक भी पुस्तक नहीं है कि जिसमें विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों पर तुलनात्मक विचार किया गया हो। थोड़े ही समय में इसकी कई आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। इसी से पुस्तक का गौरव भली भाँति प्रकट होता है। हिंदी में भी एक ऐसी पुस्तक की अत्यंत आवश्यकता है और आशा है कि कोई विद्वान् वैद्य शीघ्र ही इस कमी को पूरा करने का यत्न करेंगे।

यह तो रही मूल-ग्रंथों की बात— अब अनुवादित ग्रंथों की गाथा सुनिए। हिंदी में 'तिब्बे अकबर', 'इलाजुल-गुरबा' आदि कुछ गिने-चुने यूनानी-ग्रंथों को छोड़कर प्रायः संस्कृत-ग्रंथों के ही अनुवाद दीख पड़ते हैं और चरक, सुश्रुत, भैषज्य-रत्नावली, चक्रदत्त प्रभृति प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथों के अनुवाद पाए जाते हैं। परंतु इनमें से अधिकांश अनुवादों में अर्थ का अनर्थ किया गया है। अतएव हिंदी-हितैषियों और आयुर्वेद-प्रेमियों का परम कर्तव्य है कि आयुर्वेद के भिन्न-भिन्न विषयों पर पृथक्-पृथक् उच्च कोटि के ग्रंथ लिखाने का प्रयत्न करें। प्राचीन आयुर्वेदीय ग्रंथों का परिमार्जित एवं अत्यंत सरल हिंदी में शुद्ध अनुवाद होना भी परमावश्यक है, केवल संस्कृत ही नहीं फ़ारसी, अरबी, अँगरेज़ी आदि भाषाओं के ग्रंथों के अनुवादों से भी आयुर्वेदीय साहित्य को परिपूर्ण करना चाहिए। विशेषतः स्वास्थ्य-रक्षा-संबंधी साहित्य की ओर तो हमारा ध्यान अत्यंत शीघ्र आकर्षित होना चाहिए।

कतिपय संस्कृताभिमानियों की धारणा है कि हिंदी-भाषा में आयुर्वेदीय संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद होने से महान् अनर्थ हो जायगा, विद्या अनधिकारियों के हाथ में आ जायगी। परंतु 'आयुर्वेदिक एंड यूनानी तिब्बी कॉलेज' देहली ने हिंदी-भाषा द्वारा आयुर्वेदीय शिक्षा प्रदान कर इस विचार को सर्वथा निर्मूल सिद्ध कर दिया है। अतएव इस विषय में विशेष कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हाँ, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जब तक अच्छे अनुवाद न होंगे, तब तक हिंदी द्वारा शिक्षा देना कठिन अवश्य है और इस कठिनता को देहली-कॉलेज के संचालक भी अनुभव कर रहे हैं। परंतु अनुवाद होना कुछ असंभव नहीं है, जब अन्यान्य गंभीर-से-गंभीर विषयों की पुस्तकें हिंदी में लिखी जा सकती हैं, तो कोई कारण नहीं कि आयुर्वेदीय ग्रंथों के लिये हिंदी अयोग्य समझी जाय।

हिंदी में वैद्यक-शास्त्र की पुस्तकें न होने से यह भी एक बड़ा अनर्थ हो रहा है कि दिन-प्रतिदिन अनाड़ी वैद्यों की संख्या बढ़ती जा रही है, क्योंकि सर्वसाधारण के लिये संस्कृत-ज्ञान प्राप्त करना सुलभ नहीं है और चिकित्सा-व्यवसाय की ओर जनता की रुचि बढ़ती जा रही है, परिणामतः लोग कुछ नुसख़े याद करके ही इस कार्य में प्रवृत्त हो जाते हैं और उनका उलटा-सीधा प्रयोग करके

जनता का स्वास्थ्य एवं धन का अपहरण कर रहे हैं। परंतु इसमें उन बेचारों का कुछ अधिक दोष नहीं, आयुर्वेदीय ज्ञान का मार्ग ही इतना संकीर्ण हो गया है कि उसमें बहुत ही अल्प संख्यक मनुष्यों का प्रवेश हो सकता है। आयुर्वेद की अवनति का भी यह एक प्रधान कारण है, उसकी उन्नति के लिये बहुत ही थोड़े मस्तिष्क कार्य कर सकते हैं। यदि सरल हिंदी-अनुवाद प्राप्त हो सकें, तो बहुसंख्यक अयोग्य वैद्य योग्य बनकर जनता के लिये उपयोगी सिद्ध हो सकेंगे, एवं आयुर्वेद भी उन्नत दशा को प्राप्त हो सकेगा। योग्य वैद्यों की संख्या-वृद्धि होने से जहाँ वह आयुर्वेदोन्नति के उपाय सोच सकेंगे, वहाँ जनता को भी उन पर अधिक विश्वास होगा और देश का विदेशीय औषधों में व्यय होनेवाला बहुत-सा धन बच सकेगा। निष्कर्ष चाहे जिस दृष्टि से विचार किया जाय, हिंदी-भाषा में उच्च कोटि के आयुर्वेदीय साहित्य की अत्यंत आवश्यकता है और इस विषय पर 'हिंदी-साहित्य-सम्मेलन' को भी अवश्य ध्यान देना चाहिए, क्योंकि इससे केवल वैद्य-समाज का ही नहीं, अपितु समस्त देश के लाभ होने की आशा है।

वैद्य गोपीनाथ

तुलसीदासजी की सुकुमार सूक्तियाँ

(शेषांश)

सिय सोभा हिय बरणि प्रभु, आपन दसा बिचारि;
बोले शुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि।

मैं पहले ही कह चुका हूँ कि उपमा की खोज में महाराज का दिल निमग्नता के आदर्श से बहुत ही नीचे उतर आया और तभी अपनी दशा का विचार शुरू हुआ। क्या खूब! "हृदय" की "सराहना" फिर भी भावनाओं के दर्जे पर थी और "विचार" मानसिक विचार होने के कारण उससे निम्नतर कोटि का है। उपर्युक्त प्रशंसा में यह सूक्ष्मता विचारणीय है कि किस प्रकार भावनाओं से मानसिक विचार की ओर उतार होता है और "क्यों" और "किसलिये" का प्रारंभ होता है। परंतु अब से पूर्व कम-से-कम नीची-सी-नीची मंज़िल पर भी भावनाओं का ही आधिक्य था और विचाराधिक्य इसी दोहे से प्रारंभ होता है। इसके साथ ही कविता में भी उतार है। इस मानसिक विचार ने अंतर पैदा कर दिया अर्थात् महाराज राम के हृदय में "आपन दसा" का "विचार" उत्पन्न हो गया। "मैं" और "तू" में कुछ पार्थक्य तो हो ही चुका था, अब तृतीय व्यक्ति की ओर तुरंत ही ध्यान जाता है और लक्ष्मण से वार्ता आरंभ होती है।

(१) "बरणि" और "बिचारि" की अपूर्ण क्रिया बनावट और उससे भावों में तात्कालिक परिवर्तन का संकेत यहाँ भी विद्यमान है।

(२) "सिय" और "शोभा" का तथा "सिय" और "हिय" का अनुप्रास अत्यंत मनोहर है।

(३) "सिय" कैसा छोटा और प्यारा नाम है। शृंगार में कैसा प्रिय शब्द है। "विदेहकुमारी" इत्यादि वाला उच्च व्यक्तित्व इस छोटे-से सुंदर नाम में विलीन हो गया; क्योंकि उपमा की खोज के ख़याल में काठिन्य-प्रिय मस्तिष्क उसके उपर्युक्त व्यक्तित्व को चाहे जितना भी स्पष्ट करता, पर वस्तुतः इस शृंगारी दृश्य में छोटी राजकुमारी सिय ही हमारे सामने पेश की गई है।

(४) शुद्धाचरण-संबंधी विचार भी दर्शनीय है। कोई अन्य कवि प्रेमिका, प्रियतमा इत्यादि संज्ञावाचक शब्दों को सीता के लिये राम से अवश्य ही प्रयुक्त करा देता। पर क्या मजाल कि तुलसीदासजी की कविता में ऐसी एक भी बात आ सके। सीता कितनी ही सुंदर सही और राम की अप्रकट भावना कितनी ही दृढ़ सही; परंतु अभी आकस्मिक है और आचार एवं मर्यादा की छाप उस पर नहीं हुई अतः सीताजी केवल उसी तरह एक वाह्य वस्तु हैं जैसे कोई सुंदर चित्र व पुष्प। आकस्मिक अनुभव एवं आचार-संबंधी बंधन का एकीकरण एवं पृथक्करण—दोनों प्रशंसनीय हैं। अर्थात् अभी राम के पवित्र हृदय में केवल सौंदर्य का आभास है और प्रेम-जनित भाव अप्रकट ही है। विवाह के पश्चात् "प्रिया" शब्द सीता के लिये बहुधा प्रयुक्त हुआ है।

इससे पूर्णतः प्रकट है कि यहाँ उस शब्द का स्वभाव उपर्युक्त पृथक्करण को निभाने के लिये ही है।

(५) आगामी पदों में तुलसीदासजी ने रामचंद्रजी की जिह्वा से स्वयं भी सीताजी की संक्षिप्त प्रशंसा कराई है और ये शब्द प्रयुक्त कराए हैं—"सुख, सनेह, शोभा गुणखानी।" परंतु अब तक कवि ने असाधारण सुंदरता के साथ केवल 'सुख' और 'शोभा'—इन्हीं दो अंशों की व्याख्या-पूर्ति की है। 'शोभा' सौंदर्य व गुण का वह भाग है जो अन्यों को अपनी आकर्षण-शक्ति से आकर्षित करता है। इस तरह नज़दीकी बढ़ती जाती है और 'गुण' व सुंदरता वास्तविकतया (absolute and not relative) न कि केवल आपेक्षिक, स्वयं ही अनुभूत एवं विश्वसनीय होती जाती है। ईश-प्रेम के संबंध में इसी प्रकार प्रेमिका के सौंदर्य को प्रकृत जगत में देखकर असली माशूक़ के गुणों का अनुभव तथा उस पर विश्वास होना प्रारंभ हो जाता है और तत्पश्चात् "समाधि" की अवस्था उत्पन्न होती है। सच है "सत्यं, शिवं, सुंदरम्" एक ही हैं। Beauty is truth, Truth is beauty और A thing of beauty is a joy for ever का भी यही अंतिम उद्देश्य है। अतः आगे विचारणीय बात यह है कि "गुण" और "सनेह" की खान होने का विश्वास कहाँ और किस प्रकार शुरू हुआ। परंतु स्मरण रहे कि ये सब शृंगार की श्रेणियाँ हैं। "सनेह" और "गुण" का विश्वास उत्पन्न होते ही गुणों के मास्तिष्कीय अन्वेषण के पूर्व ही विश्वास पूर्णरूपेण हो जाता है। अतः "चश्मे मजनूँ" (मजनूँ की आँख) बनकर "हुस्ने-लैला" (लैला के सौंदर्य) के अनुभव की आनंद-प्राप्ति भी शृंगार की विशेषता ही है।

हिय बरणि—अभी हृदय-रूपी जिह्वा द्वारा ही वर्णन था। आगे केवल जिह्वा द्वारा किया गया वर्णन इससे कहीं अधिक नीरस होगा। ऐसा होना ही चाहिए। साधारण जिह्वा में वह संलग्नता, निमग्नता, भाव एवं विचार का सूक्ष्म समावेश कहाँ? सत्य है—'फिर भी ज़बान ग़ैर है उसमें कहाँ है सोज़। होती ज़बाने-दिल तो सुनाते पयामे दिल।' [सोज़ = संलग्नता। पयाम = संदेश]। अस्तु। दोनों प्रशंसात्मक बातें पेश की गई हैं। विचार कीजिए और कवि के कौशल की सराहना कीजिए।

(१) केवल शृंगार की विचार-दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि छोटे भाई का संग तथा उसी से बातें होने के कारण ज़रूरत से ज़ियादा रुकावट है। पर विदित रहे कि 'अन्य' व निर्णायक पुरुष के समक्ष, चाहे जिस रूप में भी भावों का प्रकटीकरण यथासमय आवश्यक ही है और शब्दों में पूर्ण प्रकटीकरण की योग्यता न होने के कारण सदा ही कुछ-न-कुछ अंतर शेष रहेगा। इसके अतिरिक्त "कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है" के अनुसार कुछ पर्दा अनिवार्य ही है।

निवेदन है कि बहुधा तुलसीदासजी दोहे को विशेष प्रयोजन-वश प्रयुक्त किया करते हैं। यहाँ वे प्रयोजन ये हैं—

(अ) कविता की सुंदर उड़ान और रामचंद्रजी की हृदय-रूपी जिह्वा द्वारा सुंदर एवं सूक्ष्म व्याख्या के पश्चात् उसके निरीक्षण के निमित्त तथा काव्य-चिन्तना के आराम के लिये ठहराव का काम देता है—मानो उतार की सीढ़ी का एक डंडा बन जाता है।

(ब) यूनानी-नाटक रचयिताओं के Chorus की भाँति कवि के व्यक्तित्व को समीप लाकर गत बातों की आलोचना व उनको संक्षिप्त करते हुए आगे के लिये पहले ही से आनंद का आभास उत्पन्न करता है और हमारे विचार को दूसरी ओर प्रेरित करता है।

यह प्रथम ही कहा जा चुका है कि तुलसीदासजी के नाटकीय सिद्धांतानुसार कवि निरंतर ही रंगमंच और उपस्थित जनों के दर्मियान व्याख्याता बनकर विद्यमान रहता है और समयानुसार हमें चेतावनी देता रहता है कि कहीं हम दुराचार-रूपी गर्त में जाकर न गिर पड़ें और एक निर्लिप्त भ्रमर की भाँति सदुपदेश-रूपी शुद्ध रस लेते हुए पुष्प के रंग-रूप पर आसक्त होकर कहीं आदर्श-च्युत न हो जावें। इसलिये कोई-न-कोई आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी दूर, परंतु दृष्टि-सीमा के भीतर ही, एक विचित्र रीति पर उपस्थित रहता है जिसके विषय में यथास्थान अधिक लिखा जावेगा। यहाँ तुलसीदासजी स्वयं ही भक्त कवि की हैसियत से सामने हैं और प्रभु शब्द में उसी की ओर संकेत है, जिसकी व्याख्या आगे है।

[हाँ, एक बात यह भी विचारणीय है कि अभी हाल में रोमें रोलाँ (Romain Rolland), जो फ्रांस के साहित्य में अपना एक विशेष स्थान रखते हैं, की शेक्स-

स्वर्गीय संगीत

[चित्रकार - श्री० रामेश्वरप्रसाद वर्मा]

पियर-संबंधी समालोचना का अनुवाद "माडर्न रिव्यू" में प्रकाशित हुआ है। वे कहते हैं कि "वास्तविकता एवं चिंतना का सम्मिश्रण कराना ही किसी भी कौशल-संपन्न मनुष्य का कर्तव्य है और शेक्सपियर ने इस कार्य को समुचित-रूपेण प्रतिपादित किया है।" परंतु उनको भी इस कथन के हेतु शेक्सपियर-कृत समस्त नाटकों को एकत्रित कर उनसे प्रयोजनीय परिणाम निकालने की आवश्यकता हुई है। उदाहरण के लिये वे अपने लेख के अंत में कहते हैं कि "टेंपेस्ट (Tempest) नामी नाटक में हमें स्थान-स्थान पर आध्यात्मिकता का दर्शन होता है, मानो टेंपेस्ट का पूरा द्वीप ही असलियत से उठकर विचार-जगत् में पहुँच जाता है।"

यह सत्य ही है। पर एक विचारणीय विशेषता भी है। अगर हमको प्रत्येक नाटक के बाह्य दृश्य में आध्यात्मिक संकेत व विचारात्मक प्रेरणा न मिले, तो किसे अवकाश है कि रोमे रोलाँ की-सी सूक्ष्म-दृष्टि द्वारा समस्त नाटकों का अध्ययन करके यह परिणाम निकाले कि शेक्सपियर का असली मंशा हमें ऐसी शिक्षा देने का था कि यह जगत केवल एक अभिनय-मंच है और हम केवल उसके अभिनेता तथा यह समस्त जगत नितांत ही स्वप्नवत् है, इत्यादि, इत्यादि। मेरा तो विचार है कि प्रारंभिक नाटकों के लिखते समय शेक्सपियर को यह ख़याल भी न था (जिसे उसने स्वयं स्वीकार किया है) कि नाटककार का काम केवल प्रकृति को दर्पण दिखाना तथा वास्तविकता को पूर्णतः चित्रित कर देना है। परंतु जब उसे अपने दोषों का अनुभव हुआ और उसकी अवस्था भी अधिक हो जाने के कारण उसके रक्त-प्रवाह तथा भावावेश में शांति आने लगी, तब उसे यह ख़याल पैदा हुआ। इसीलिये व्याख्याकार लोग शेक्सपियर के जीवन के चतुर्थ भाग तथा उसकी तत्कालीन रचनाओं को On the height (विकास-काल) के नाम से संबोधित करते हैं। निःसंदेह उसने उस समय अपने पर अधिकार प्राप्त कर लिया था और मानवीयता एवं आध्यात्मिकता तथा वास्तविकता एवं चिंतना के सम्मिश्रण का उसे पूर्ण विश्वास हो गया था।

हमारा कवि तुलसी प्रारंभ से ही इसी विश्वासानुसार कार्य करता रहा है और इसी कारण हमें स्थान-स्थान पर मानवीयता एवं आध्यात्मिकता का सम्मिश्रण (जिसे ज़मीन को आसमान के कुलाबे मिलाना लिखा गया है) तथा वास्तविकता एवं चिंतना का सम्मिलन दृष्टि-गोचर होता है। हमारा कवि क़ुतुबनुमा (दिशा-सूचक यंत्र) की सुई की तरह और आध्यात्मिक व्यक्तियाँ (शिव, पार्वती इत्यादि) ध्रुव-नक्षत्र की भाँति इस संसार के कंटकाकीर्ण-पथ में हमारे पथ-प्रदर्शक के समान मौजूद हैं।]

प्रभु (१) इतने ही संकेत के अतिरिक्त अगर 'प्रभु' के व्यक्तित्व को अधिक बढ़ाया जावे, तो शृंगार का रंग फीका पड़ जावेगा। कवि भक्त है और उसका अभिप्राय यह है कि हम इस शृंगारी दृश्य में आध्यात्मिक आभास को एकदम भूल न जावें। पर साथ ही यह भी स्वीकार नहीं है कि उक्त आभास पर अभी से इतना ख़याल करें कि शृंगार का आनंद ही जाता रहे।

(२) वस्तुतः इस शृंगारी दृश्य में भी राम से ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ जिससे उनके 'प्रभुत्व' पर कोई आक्षेप हो सके और यही कारण है कि राम को "मर्यादा-पुरुषोत्तम" कहते हैं। वह आगे स्पष्ट कहते हैं कि "मोहिं अतिशय प्रतीत जिय केरी" अर्थात् मुझे अपने हृदय पर पूर्ण विश्वास है और अगर फिर भी हृदय सीता की ओर खिंचा जाता है, तो निःसंदेह उसका कारण 'विधाता' का कोई अनादि सिद्धांत या आध्यात्मिक उद्देश्य है। बहरहाल सिर्फ़ किसी प्राकृतिक प्रयोजन व बाह्य सौंदर्य के कारण रामचंद्रजी प्रेमासक्त नहीं हुए। यही है मानवीयता एवं आध्यात्मिकता का सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिंतना का सम्मिलन।

(३) पर धन्य महारानी सीता! जब तक स्वयं प्रभु को प्रभावित न किया, तो क्या किया।

"आपनि दसा बिचारि"—(१) तुलना कीजिए। सीताजी को अपनी दशा का ज्ञान भी सखियों के ख़याल दिलाने से बल्कि भय की ठोकर लगाने से उत्पन्न होगा, जब सब बोल उठेंगी कि "भयउ गहरु सब कहहिं सभीता।" सच है और नारी की यह रोचक विशेषता है। पुरुष में मस्तिष्क और स्त्री में हृदय का शासन होता है अतः पुरुष अपने भाव एवं विचार का जितना अन्वेषण कर सकता है, उतना स्त्री नहीं कर सकती।

(२) सांकेतिक रीति पर दूसरे अर्थ में क्या यह "प्रभु" होने का हेतु नहीं है कि उन्हें अपने भावों पर क़ाबू है। "दूसरे अर्थ" का वाक्य मैंने स्वेच्छा से व्यवहृत

किया है ; क्योंकि कवि उसे अन्य अर्थ में व्यवहृत कर रहा है और हम केवल श्लेषालंकार के साहाय्य से सांकेतिक रीति पर ही उसके दूसरे अर्थ लगा सकते हैं। परंतु मुख्य अर्थ वही है जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। यहाँ केवल कवि के सांकेतिक विवरण (Suggestiveness) द्वारा दूसरी ओर जाया जा सकता है।

(३) यह भी तुलना के योग्य है कि राम को कितनी जल्दी अपनी दशा का ज्ञान हो जाता है और सीता को कितनी देरी से। स्त्री की निमग्नता देर से उत्पन्न होती है, पर देर तक रहती है।

बोले—कैसा काव्य-चमत्कार है। राम की हृदय-रूपी जिह्वा ने जैसी विस्तृत व्याख्या की, वैसी सीता से संभव नहीं। वहाँ तो केवल "कहाँ गए नृपकिशोर मन चीता" का ही एक आकस्मिक प्रश्न होगा और कुछ नहीं। तात्पर्य यह कि जितना भावों में आधिक्य एवं तथ्य होता है, उतना ही विवरण कम होता है। व्याख्या-शक्ति एवं वाग्मिता दोनों का संबंध मस्तिष्क से है और अनुभव का संबंध हृदय से। इससे "उर अनुभवत" की दशा होती है, परंतु वहाँ बोलना कठिन है। प्रत्युत वहाँ तो यही होगा कि "न कहि सक सोऊ" फिर बेचारा कवि उसकी व्याख्या कैसे करे?

न सीता की हृदय-रूपी जिह्वा ने कुछ वर्णन किया और न सीता ने जिह्वा द्वारा ही सखियों से कुछ कहा। इसी कारण तो उनकी भावनाओं एवं प्रवृत्तियों की व्याख्या के हेतु सखियों की जिह्वा और कवि की लेखनी की अधिक आवश्यकता हुई।

शुचि-मन—(१) न अपवित्रता का विचारों में लेश है और न इसलिये कोई अनुचित लज्जा है।

(२) शृंगार-कोष में ऐसे पवित्र प्रेम के उदाहरण हैं ही, पर बहुत कम। सात्त्विक प्रेम में अधिक लज्जा की आवश्यकता नहीं है, यद्यपि उतनी लज्जा स्वाभाविक है, जिसे कवि ने यों प्रकट किया है—"कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है।" अतः इतनी ही लज्जा यहाँ भी है। राम और लक्ष्मण की वार्ता उस लज्जा एवं प्रेम के मिलन की व्याख्या है। प्रेम की गहनता इस धरातल पर प्रकट भी है और वह स्वयं गुप्त भी है। इसीलिये तो इस वार्ता के निमित्त तुलसीजी "बतकही" का प्रयोग करेंगे। सदाचार की दृष्टि से भी कुछ लज्जा आवश्यक है, क्योंकि वार्ता छोटे भाई से है।

शेक्सपियर के नाटक 'टेंपेस्ट' की नायिका मिरैण्डा (Miranda) और कालिदास के संसार-प्रसिद्ध नाटक की नायिका शकुंतला के प्रेम-प्रकाशन की रीति की यहाँ तुलना करने से ज्ञात होगा कि कितना अंतर है।

(३) तुलसीजी ने मित्र को इसलिये संग नहीं रक्खा, क्योंकि काव्य-जगत् में मित्र के साथ ऐसी वार्ता का काफ़ी ज़िक्र है। पर अपने छोटे भाई (व इसी प्रकार के अन्य संबंधी) से प्रेम की व्याख्या किस प्रकार और किस सीमा तक उचित हो सकती है, इसके उदाहरण अल्प ही हैं।

(४) मानवी भावों के सूक्ष्मदर्शी व्याख्यातागण जानते हैं कि इस समय रामचंद्रजी मन के ही दायरे में हैं। आरंभ में वह वाटिका में "मुदित मन" दिखाई दिए थे। इस समस्त अनुभव एवं अवलोकन पर भी उनका मन शुद्ध ही बना हुआ है। यद्यपि 'मुदित' का वाह्य चिह्न जो कदाचित् एक स्वाभाविक मुसकान के रूप में प्रकट रहा होगा, अब भावोद्वेग के कारण गुप्त हो गया ; पर आंतरिक निमग्नता का आनंद उससे कहीं अधिक हर्षवर्धक है। "मन सिय रूप लुभान"—बहरहाल हैं सब मन की ही दशाएँ। "बुद्धि" और "आत्मा" का विकाश है, पर "मन" के ही द्वारा।

अनुज—(१) भाई को साथ रखने का काव्यमय कारण बतलाया जा चुका है।

(२) यह भी कहा जा चुका है कि आचार-संबंधी परिधि से भावों को बाहर निकलने का अवकाश न देने के अभिप्राय से उधर सखियाँ और इधर लक्ष्मण मौजूद हैं।

(३) किसी को संदेह भी न हो कि यह मिलन पूर्व निश्चित था। अगर पाश्चात्य उपन्यासों की-सी मुलाक़ात होती, तो सखियाँ और लक्ष्मण दोनों स्थान-विरुद्ध होते।

(४) सच्चे प्रेम को अपने संबंधियों से छिपाने की ज़रूरत नहीं, और न वह एक शुद्ध एवं आकस्मिक भाव होने के कारण छिप ही सकता है और भी अनेक कारण होंगे, जिन्हें पाठकगण स्वयं ही अपनी योग्यतानुसार खोज सकते हैं, पर मुख्य प्रयोजन जिसने "आपन दशा" का "विचार" होते ही लक्ष्मण की उपस्थिति के ख़याल से राम की ज़बान के कुफ़्ल को खोल दिया, निम्नलिखित है—

(४) लक्ष्मणजी राम के "अनुज" हैं। अतः राम को कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए जिससे उनके अनुयायी पर बुरा प्रभाव पड़े। प्रकट में यह प्रेमिक-प्रेमिका के पारस्परिक अवलोकन (भए विलोचन चारु अचंचल) की मुग्धता तथा हृदय-रूपी जिह्वा द्वारा व्याख्या के समय शारीरिक स्तब्धता—ये सब बातें संभवतः लक्ष्मण पर बुरा प्रभाव डालतीं और कदाचित् ऐसा विचार उत्पन्न कर देतीं कि प्रेम में यह सभी उचित है। अतः राम को स्वकार्यों की व्याख्या उचित एवं अनिवार्य है जो जिह्वा-प्रयोग के बिना नहीं हो सकती। दूसरे यह कि जैसा मैंने पहले कहा है कि "कस" अर्थात "अन्य पुरुष" बहुधा समालोचक के रूप में होता है अतः संभवतः राम के दिल में यह ख़याल रहा हो कि कदाचित् लक्ष्मण के हृदय में छिद्रान्वेषण का ख़याल पैदा हो इसलिये सफ़ाई ज़रूरी है। तुलसीजी की कार्य-शैली कैसी अनुपम है कि जब कभी उन्होंने रामजी से कोई भी स्वप्रशंसा के शब्द प्रयुक्त कराए हैं, तो उन्हें अधिकतर अभियुक्त के रूप में रख दिया है कि सफ़ाई में कुछ स्वप्रशंसा अनिवार्य हो जाय और सगर्विता की कोई बात भी न मालूम हो। शासन-विधान में भी अभियुक्त को नेकचलनी के सबूत का मौक़ा दिया जाता है। सत्य है कि Self-knowledge, self-reverence & self-control lead man to sovereign power. अर्थात् आत्म-ज्ञान, स्वाभिमान तथा इंद्रियावसान मनुष्य को महान् शक्तिशाली बना देते हैं। इन तीनों का प्रकटीकरण यहीं से प्रारंभ होता है। परंतु राम का ऐसा ख़याल सिर्फ़ ख़याल ही है। लक्ष्मणजी उनके 'अनुज' हैं और उन्हें अपने बड़े भाई पर पूर्ण विश्वास है तथा उनके हृदय में भ्राता के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं सम्मान के भाव विद्यमान हैं और इसी कारण उनकी जिह्वा से एक शब्द भी आक्षेप का नहीं निकला। लक्ष्मणजी छिद्रान्वेषी उपदेशक बनकर साथ नहीं हैं, प्रत्युत सहृदय भ्राता बनकर। महाकवि 'ग़ालिब' ने ठीक ही लिखा है—

"यह कहाँ की दोस्ती है, कि बने हैं दोस्त नासेह।
कोई चारासाज़ होता, कोई ग़मगुसार होता।"

लक्ष्मण की ग़मगुसारी (सहानुभूति) और चारासाज़ी (सहृदयता) के नमूने आगे बहुत आएँगे।

(५) प्रेम-संबंधी सूक्ष्मताओं के ज्ञाताओं को यह भी विदित हो कि सात्त्विक प्रेम में आत्मिक संबंध का होना अत्यावश्यक है। कैसी रहस्यमयी घटना है कि राम और लक्ष्मण दोनों साथ हैं, पर सीता का प्रभाव केवल राम पर पड़ता है, लक्ष्मण पर नहीं। रामजी ने सत्य ही कहा था कि "सो सब कारन जान बिधाता......।"

वचन समय अनुहारि—(१) समय तथा स्थान का विचार वार्ता के लिये आवश्यक ही है। (२) कितना संकोच होना चाहिए और कितनी स्पष्टवादिता। (३) सफ़ाई के लिये किन-किन बातों पर ज़ोर देने की ज़रूरत थी, इत्यादि इत्यादि की व्याख्या कुछ प्रथम ही हो चुकी है और कुछ पद्यबद्ध-वार्ता की व्याख्या में होगी।

अब तुलसीजी की Xrays वाली व्याख्या की ज़रूरत ख़तम हुई और राम की जिह्वा स्वयं ही उनकी व्याख्याता बनी है। कितना उतार है और वस्तुतः यही वह वार्ता विषयक पराकाष्ठा है जो शृंगारी कविता का आदर्श है।

उपर्युक्त प्रशंसात्मक पदों के विषय में निम्न-लिखित बातें भी विचारणीय हैं।

(१) समस्त प्रशंसा और विशेषतः प्रारंभिक शब्दों में आकस्मिकता की विशेष छटा है—ठीक वैसा ही, जैसा शेक्सपियर के उन शब्दों में जिनके द्वारा उसने हेमलेट (Hamlet) की जिह्वा से अनायास ही यह कहलाया है—To be or not to be, that is the question—होना अथवा न होना, अस्तित्व अथवा अनस्तित्व, भी तो एक विशेष प्रश्न है।

ऐसा ज्ञात होता है कि मानो राम का हृदय अपनी संकेतमयी अँगुली उठाए विज्ञापन-ज्ञाता की जिह्वा द्वारा एकदम बोल उठा, "जनु बिरंचि सब निज निपुनाई... ।" इसलिये कहीं कर्ता, कहीं कर्म और कहीं वाक्य के अन्य भागों का अभिप्राय अनुमेय ही रह जाता है।

(२) पूर्ववाले लेखों में बतलाया जा चुका है कि ऐसी निमग्नावस्था में यह प्रशंसा हृदय के भीतर ही अधिक उपयुक्त है, जिसका चित्रण कवि की Xrays वाली शक्ति ही कर सकती है। ऐसी Soliloquy (स्वगत-वार्ता) जिसे अन्य न सुन सके, उसके लिये अनुपयुक्त है। अतः क्या मजाल कि लक्ष्मणजी भी कुछ सुन सके हों। हाँ, उस निमग्नता का प्रभाव राम के रंग-रूप तथा उनके कार्यों पर पड़ा होगा और लक्ष्मण पर भी

वह प्रतिबिंबित हुआ होगा—इन बातों को सुदक्ष अभिनेतागण (actors) वैसा रूप भरकर रंग-मंच पर भली भाँति प्रकट कर सकते हैं। कदाचित् लक्ष्मण के रूप से उनके प्रश्नात्मक विचारों को व्यक्त कर राम ने व्याख्या की है।

(३) सुंदरता की प्राकृतिक वास्तविकता से 'विदेह-कुमारी' के काव्य-पूर्ण चिन्तन की उड़ान भी दर्शनीय है।

(४) अंत में 'केहि पटतरिय' का स्वयं अपने ही से प्रश्न भी कैसा सुंदर एवं समयोचित है। ऐसे प्रश्नों द्वारा मुग्धता से सहसा सचेत हो जाने के उदाहरण साहित्यिक जगत् में अकसर मिलते हैं।

रामायण पर एक साहित्यिक नोट

एक सज्जन ने जो पश्चिमी भारत के निवासी मालूम होते हैं, अमेरिका में "माडर्न रिव्यू" में एक लेख प्रकाशित कराया है। लेख का मुख्य उद्देश्य यह प्रमाणित करना है कि देवनागरी-लिपि में बंगाली भाषा ही भारत की राष्ट्र-भाषा हो सकती है। हमें इस समय लेख के इस अंग से कोई वास्ता नहीं है। मगर उन महोदय ने तुलसीजी और हिंदी के विषय में जो ऐसा लिखा है कि हिंदी में तुलसी-कृत रामायण के अतिरिक्त ऐसी कोई अन्य पुस्तक ही नहीं है जो यूनिवर्सिटी में पढ़ाई जा सके और तुलसी की भाषा ऐसी ही पुरानी हो चुकी है जैसी चासर (chaucer) की भाषा। इन बातों से मेरा घोर मत-भेद है। जिन्होंने बिहारी, देव, सूर, भूषण, चंद, रहिमन, जायसी, राजा रघुराजसिंह इत्यादि के पद्यों का तनिक भी अध्ययन किया है, वे खूब ही जानते हैं कि 'नवरतन' रखनेवाली भाषा जिसमें सैकड़ों कवि हो चुके हैं, ऐसी निंदा के योग्य कदापि नहीं है। नवीन युग में भी ललित, पूर्ण, पं० सत्यनारायण, बा० मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध इत्यादि अपने ढंग के सुकवि ही हुए हैं। हिंदी का गद्य-साहित्य तो ऐसा उन्नत हो रहा है कि क्या कहना।

पर तुलसीजी का अनन्य भक्त होने के कारण मैं उपर्युक्त कथन को देखकर इतना अवश्य कहूँगा कि कम-से-कम तुलसीजी का प्रभाव उन महाशय पर भी पड़े बिना न रह सका जो किसी अन्य हिंदी-कवि की कृति को यूनिवर्सिटी-कोर्स में रखने योग्य नहीं समझते।

जो हिंदी-भाषा से तनिक भी अभिज्ञ है, वह जानता है कि तुलसीजी के कितने पद एवं वाक्य (उक्तियाँ) साधारण जनता के कंठाग्र हैं। उसकी भाषा को प्राचीन कहने के बजाय यह कहना अधिक युक्ति-युक्त होगा कि जिस प्रकार शेक्सपियर (Shakespeare) की भाषा ने आंग्ल-भाषा को प्रौढ़ता प्रदान की है उसी प्रकार की भाषा तुलसी की भी है, जिसे असंख्य जन, स्त्री-पुरुष, बालक, राजा से प्रजा तक—लिखते, पढ़ते, समझते और बोलते हैं। भाषा में किंचित् परिवर्तन होना स्वाभाविक है। तुलसी की रचना तीन-सौ वर्षों से अधिक की हो चुकी, पर उसकी भाषा ऐसी पुरानी नहीं कही जा सकती जैसी चासर (chaucer) की आंग्ल-भाषा। तुलसी की भाषा तो प्रायः अब भी सर्वसाधारण की ही भाषा है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं।

राजबहादुर लमगोड़ा

मनोकामना

स्वजाति में प्रीति बनी रहे सदा,
स्व-कामना-वृक्ष रहे फलों लदा।
बना रहे ऐक्य न भेद-भाव हो,
प्रभो ! हमारा जग में प्रभाव हो।
सुखी रहे देश न दैन्य-ग्रस्त हो,
स्व-तेज का सूर्य कभी न अस्त हो।
स्व-बंधुओं में हमको प्रतीति हो,
सदा हमारी समुदार नीति हो।
सुकार्य में नाथ ! सदा लगे रहें,
स्वभाव ही मध्य सदा पगे रहें :
करें सदा कार्य बनें न आलसी,
हमें प्रिया हो न अनिष्ट 'पालिसी'।
न धैर्य त्यागें, न कभी उदास हों,
न विघ्न-बाधा लख के हताश हों।
न प्रेम का भाव कभी विनष्ट हो,
प्रभो ! हमारी प्रतिभा न भ्रष्ट हो।
कुपात्र को दान नहीं दिया करें,
न दुष्ट का मान कभी किया करें।
अधर्म को धर्म कभी न मान लें,
कुकर्म की ओर न भूल ध्यान दें।

बना रहे प्रेम सदा स्वदेश का,
करें नहीं त्याग कभी स्ववेष का।
करें किसी की न कदापि चाकरी,
प्रभो! करे उन्नति नित्य नागरी।

मणिराम गुप्त

मुद्रण-यंत्र का आविष्कार और विकास
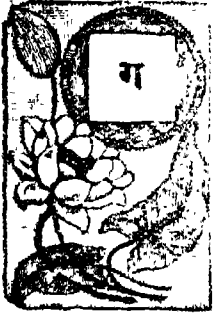
गत कई शताब्दियों के अंदर संसार के प्रत्येक विचारवान् पुरुष के हृदय में जिस कला ने अधिक-से-अधिक मनन, पढ़ने, जानने और खोज करने की प्रवृत्ति जगा दी है। जिसने एक जाति को दूसरी जाति की साहित्यिक मणियों को परख करने और उनकी ज्योति से अपना घर उजेला करने को बाध्य किया है, उसके संबंध में हिंदी-भाषा-भाषियों का ज्ञान बहुत परिमित है। मुद्रण-यंत्र और छपाई की कला ने आज न केवल हमारे ज्ञान के साधनों को सुलभ कर दिया है, वरन् मनुष्य के अंदर छिपी हुई, सत्य का अन्वेषण करनेवाली शक्ति को अधिकाधिक स्फूर्तिमान् और उपयोगी बनाने में भी वह दिन-रात लगी हुई है। हमारी दौड़-धूप का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। ऐसी शक्तिशालिनी कला के इतिहास के संबंध में कुछ चर्चा और विवेचन करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

ऐसा अंदाज़ लगाया गया है कि मुद्रण-कला का आविष्कार भवन-निर्माण-कला-संबंधी नक्क़ाशी को देखकर ही हुआ होगा। प्राचीन काल में 'फ़रमान' इत्यादि पत्थरों पर खुदवा दिए जाते थे। भारतीय बौद्ध-काल तो शिला-लेखों के लिये मशहूर ही है। इन्हीं शिलालेखों को देखकर मुहरों का आविष्कार हुआ होगा।

प्राचीन संस्कृत-काव्यों और नाटकों में ऐसे अनेक अवतरण मिलते हैं, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतवर्ष में प्राचीन काल में छपाई की कला अपने बहुत प्रारंभिक रूप में विद्यमान थी। राजाओं की प्रशस्तियों, महाभारत तथा अन्य अनेक नीति-ग्रंथों में राजकीय मुद्रा अर्थात् हस्ताक्षर की मुहर के विवरण मिलते हैं। 'मुद्राराक्षस'-नाटक और 'महाभारत*' में कई जगह विशिष्ट मुद्राओं का ज़िक्र आया है। इन विवरणों से यह भी मालूम होता है कि ये मुहरें कई प्रकार की होती थीं। कुछ मुहरें अँगूठी पर होती थीं और कुछ लाख, लकड़ी, मिट्टी और फल के टुकड़ों पर। राजकीय मुद्रा की यह-प्रथा मुसलमानी शासन-काल में भी प्रचलित थी और अब तो अनेक शिक्षित व्यक्ति तथा व्यापारी कंपनियाँ अपने नाम, पता, सन्, तारीख़ तथा विभिन्न सूचनाओं की मुहरें रखती हैं। योरपीय राज्य-वंशों में भी बहुत प्राचीन समय से मुहरों के उपयोग का पता चलता है। यह मुद्रण-कला की दूसरी विकासित अवस्था है।

टाइपों का आविष्कार तो बहुत बाद की बात है। पहले स्थिर और एक में ही मिले हुए अक्षर-समूह के आविष्कार का विचार लोगों के दिमाग़ में आया होगा। इस बात से सिद्ध होता है कि जिसे हम आजकल 'ब्लाक प्रिंटिंग' कहते हैं, वह छपाई की कला का प्रारंभिक रूप है। इस प्रकार की छपाई (ब्लाकों की) भारतवर्ष में बहुत काल से होती रही है और छींट इत्यादि कपड़े इसके प्रमाण हैं।

इस विषय में सभी विद्वान् एक मत हैं कि अक्षर बनाकर छापने की वर्तमान प्रथा का जनक चीन है। दू हाल्दे (Du Holde) तथा अन्य कई ईसाई-धर्म-प्रचारकों का मत है कि चीन में ईसा के ५० वर्ष पूर्व ही इस विद्या के अभ्यास के प्रमाण मिलते हैं। सबसे पहले लसदार मिट्टी की लेई पर अक्षर खोदने तथा मिट्टी का तख़्ता सुखाकर छापने की विधि का आविष्कार हुआ। यह प्रथा कितने दिनों तक चीन में प्रचलित रही इसके संबंध में कुछ ठीक पता नहीं चलता। पर छठी शताब्दी तक तो वह अवश्य ही प्रचलित थी। इसके बाद इस कार्य में कुछ और तरक़्क़ी हुई। मिट्टी के अक्षर तख़्ता उठाते समय प्रायः टूट जाते थे, फिर एक बार छापने पर बेकाम हो जाते थे। दसवीं शताब्दी में चीन

* महाभारत, वनपर्व।

के बुद्धिमान् मंत्री फूँग-ताओ (Foong Taou) ने लकड़ी के स्थिर अक्षरों द्वारा छापने की विधि निकाली। लकड़ी के आध इंच मोटे तख़्ते काटकर दो पेज के ब्लाक बनाए जाते थे। ये ब्लाक छील और खुरादकर खूब समतल एवं चिकने कर लिए जाते थे। इसके बाद चौकोर काटकर उन पर वार्निश की जाती थी। उस पर जो कुछ खोदना होता था, उसे एक पतले पारदर्शी काग़ज़ पर लिखते या खींचते थे। लिख चुकने के बाद यह काग़ज़ वार्निश लगी हुई समतल लकड़ी पर उलट दिया जाता था और ऊपर से उसे धीरे-धीरे रगड़ते थे। इस प्रकार काग़ज़ के उलटे अक्षर लकड़ी पर उतर आते थे। यहाँ तक का क़ायदा ठीक आजकल की 'लिथोग्राफ़ी' या काग़ज़ पर उतारी जानेवाली तस्वीरों की तरह था। इसके बाद बढ़ई उभरे हुए अक्षरों के आंतरिक समग्र लकड़ी की सतह काटकर नीची कर देता था। इस तरह अक्षर लकड़ी की सतह पर ऊपर उठे हुए बन जाते थे। इस विधि का प्रयोग आज भी अनेक अवसरों पर भारत-वर्ष में देखा जाता है। यह उस समय की 'कंपोज़िंग' थी। इसमें एक बड़ा दोष यह था कि एक बार जो कुछ उभर गया उसमें इच्छा होने पर भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। इस हिसाब से अशुद्धि-संशोधन अर्थात् 'प्रूफ़ करेक्शन' का उस ज़माने में प्रचार नहीं था।

ब्लाक तैयार हो जाने के बाद छापने की बारी आती था। प्रेस तो थे नहीं, अतएव ब्लाक एक समतल टेबुल पर रक्खे जाते थे। उसके सामने छापनेवाला (आजकल का प्रेसमैन) खड़ा होता था। छापनेवाले को ही रोशनाई एवं काग़ज़ लगानेवाले का भी काम करना पड़ता था। उसके एक ओर रोशनाई और दूसरी ओर ब्लाक की साइज़ के बराबर कटे हुए काग़ज़ों का ढेर होता था। दो बड़े-बड़े ब्रश भी सामने रक्खे रहते थे। एक ब्रश को वह उठाता और रोशनाई में डुबाकर उसे ब्लाक पर फेर देता था। इस प्रकार अक्षरों के मुँह पर रोशनाई फिर जाने के बाद वह ब्लाक पर काग़ज़ का एक टुकड़ा रख देता और फिर दूसरे ब्रश से धीरे-धीरे काग़ज़ को दबाता था। इसी रीति से ब्लाक के अक्षर काग़ज़ पर छप जाते थे। यह आजकल की छपाई का नियमित प्रारंभिक रूप था। छोटे भारतीय एवं विदेशी प्रेसों में आज भी प्रूफ़ उठाने में इसी रीति से काम लिया जाता है।

ऐसा मालूम होता है कि स्थिर अक्षरों (Immovable type) से छापने की यह विधि कई सौ वर्षों तक चीन में प्रचलित थी। इसके बाद इस छपाई के दोषों और असुविधाओं से ऊबकर धीरे-धीरे मिट्टी एवं लकड़ी के अलग-अलग अस्थिर अक्षरों (Movable type) का आविष्कार हुआ। इस विषय के विशेषज्ञ प्रोफ़ेसर डगलस का कथन है कि अस्थिर या चल अक्षरों से छापने की विधि चीन में बारहवीं शताब्दी में अच्छी तरह फैल गई थी। १३१७ ई० की छपी हुई कतिपय कोरियन पुस्तकें चीन, जापान और लंदन के अजायबघरों में आज भी देखी जा सकती हैं। इस प्रकार चीन ही छपाई का जनक सिद्ध होता है।

इस विषय में एक बात बड़े मार्के की है, जिससे भारत-वर्ष में प्रेस द्वारा छपाई होने का प्रमाण मिलता है। अँगरेज़ों का प्रथम गवर्नर जेनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ जब चेतसिंह-संबंधी राजनैतिक मामलों को सुलझाने के लिये काशी में ठहरा था, तो उसे वहाँ एक मुद्रण-यंत्र गड़ा हुआ मिला था। इस मुद्रा-यंत्र के विषय में उस समय के विशेषज्ञों से जाँच भी कराई गई थी और यह निश्चय हुआ था कि यह किसी भी प्रकार एक हज़ार वर्ष से कम का गड़ा हुआ नहीं है। बहुतों का तो यह अनुमान था कि बुद्ध-संघों में छपाई की प्रथा प्रचलित रही होगी और यह प्रेस भी आक्रमण-काल में ज़मीन में गाड़ दिया गया होगा। इस प्रेस के संबंध में डॉक्टर योगेंद्रनाथ घोष ने सन् १८७० ई० में 'नेशनल सोसायटी' में एक बड़ा ही खोज-पूर्ण और विस्तृत लेख पढ़ा था। इस लेख में वह लिखते हैं—

"वारेन हेस्टिंग्ज़ को बनारस ज़िले में ज़मीन के नीचे कुछ चीज़ें गड़ी मिलीं। सूचना पाकर मेजर एंबक ने वहाँ की ज़मीन खुदवाई, तो सब लोग आश्चर्य-विमूढ़ रह गए। उनको एक संदूक़ के अंदर दो छोटे-छोटे प्रेस और चल अक्षरों का पर्याप्त टाइप मिला। ये टाइप कंपोज़ किए हुए रक्खे थे। इस प्रेस के संबंध में बहुत खोज की गई और निश्चय हुआ कि इस स्थिति में यहाँ यह एक हज़ार वर्ष से कम का गड़ा नहीं है।"

श्रीघोष के इस लेख के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इस प्रेस का कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। संभव है, इंडिया ऑफ़िस के गुप्त काग़ज़-पत्रों में इसका हवाला

हो। यह भी नहीं मालूम कि उस प्रेस और टाइप का क्या हुआ? ऐसी अपूर्व वस्तु की रक्षा का प्रबंध तो अवश्य ही किया गया होगा। पता नहीं कि वह प्रेस भारत के किसी अजायबघर या लंदन म्यूज़ियम में सुरक्षित है या नहीं, पर यदि यह घटना इसी रूप में सत्य है, तो निःसंदेह भारत को ही इसका जनक मानना पड़ेगा, क्योंकि मेजर एबक ने जिन विशेषज्ञों से उक्त प्रेस की जाँच कराई थी, उन सबने उसे १,००० वर्ष के पहले का गढ़ा बताया। इस हिसाब से छठी शताब्दी में चल अक्षरों द्वारा प्रेस से छापने की विद्या का भारत में वर्तमान होना सिद्ध होता है। हमारे एक मित्र का अनुमान है कि—"प्रेस का आविष्कार बौद्धों द्वारा भारत में हुआ और धर्म-प्रचार के लिये विश्वस्त श्रमणों द्वारा संघों में गुप्त रूप से इससे काम लिया जाता रहा। इन भारतीय बौद्ध-धर्म-प्रचारकों ने ही चीन में इस विद्या को फैलाया होगा।" किंतु अनुमान इसके विरुद्ध भी किया जा सकता है। यह भी संभव है कि चीन से यह कला इन बौद्ध श्रमणों द्वारा भारत आई हो। जो भी हो, पर इतना कहा जा सकता है कि यदि प्रेसवाली उक्त घटना ठीक है, तो छठी शताब्दी में और संभवतः उसके पहले भी, भारत में चल अक्षरों द्वारा छपाई की विद्या प्रचलित थी।

भारत में छपाई की विद्या के प्रचलन की संभावना को मानते हुए भी जब तक पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते, यह स्वीकार कर लेना उचित होगा कि चीन ही छपाई की विद्या का जनक है। चीन से यह विद्या योरप में कब और कैसे पहुँची, इस विषय पर ठीक-ठीक निर्णय करने-योग्य प्रमाण हमारे पास नहीं हैं। बहुतों का ख़याल है कि योरपियन यात्री मार्कोपोलो द्वारा यह विद्या योरप पहुँची, पर दूसरे लोग इस बात को ग़लत बताते हैं। 'चैंबर्स इंसाइक्लोपीडिया' (भाग ८, पृष्ठ २६५) के विद्वान् संपादक-गण मार्कोपोलो के विवरण में लिखते हैं—

"यह वाहियात बात कही जाती है कि मार्कोपोलो (चीन से) 'ब्लाक-प्रिंटिंग' की विद्या अपने साथ लाया और उसने पैनफ़िलो कैस्टाल्डी-नामक एक इटैलियन व्यक्ति को इसकी विधि बताई जिससे मेंज-निवासी जान फास्ट ने यह विद्या सीखी। लंबार्डी के मुद्रकों ने देशाभिमान के फेर में पड़कर कैस्टाल्डी को 'चल अक्षरों का निर्माणकर्ता' बतलाया है और फ़ेतर में उसकी एक मूर्ति खड़ी करके अपने साथ ग़लती की है।"

कुछ और लोगों का कथन है कि योरपियन सौदागरों ने इस कला की विधियों को गुप्त-रूप से सीखा और अपने देश में जाकर उसका अभ्यास किया। योरप तक जाने में इस कला का मार्ग क्या है, इसे ठीक-ठीक जानने का इस समय कोई साधन हमारे पास नहीं है। कुछ लोग तातार से रूस का मार्ग बताते हैं और कुछ जापान, इंडीज़ और अरब खाड़ीवाले मार्ग के क़ायल हैं।

जो हो, १,०५० के पूर्व चीन में चल अक्षरों द्वारा छापने की विधि प्रचलित हो गई थी। १२८५ में योरप में भी लकड़ी के ठप्पों द्वारा छापने की विधि का आविष्कार हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि योरप में भी कई शताब्दियों तक यह विद्या गुप्त-रूप से सुरक्षित रही होगी। इसके प्रारंभकर्ताओं से जब तक हो सका, व्यक्तिगत लाभ और महत्त्व के लोभ से उन्होंने इस उपयोगी कला को लोगों की आँखों से दूर रक्खा। चल टाइप द्वारा छपाई का प्रारंभ योरप में पंद्रहवीं शताब्दी के मध्य भाग में हुआ था, किंतु इसके संबंध में विश्वास और दृढ़ता के साथ कुछ और कहना कठिन है। योरप के किस देश में इस विद्या का आविष्कार सबसे पहले हुआ? यह आविष्कार किसने किया? और किस सन् में किया? इन प्रश्नों का कोई निर्णीत उत्तर नहीं दिया जा सकता। आविष्कार की इस समस्या पर बड़ा मत-भेद और विवाद है एवं विभिन्न दलों द्वारा बीसों पुस्तकें खंडन-मंडन में लिखी जा चुकी हैं। सबसे सुंदर पुस्तकें जर्मन-भाषा में हैं और उनमें इस विषय की निष्पक्ष विवेचना करने की एक सीमा तक चेष्टा की गई है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि झूठे देशाभिमान ने इस प्रश्न को बहुत जटिल बना दिया है और इस प्रकार इसका निर्णय करने में कठिनाई उपस्थित कर दी है। मुद्रण-कला के विशेषज्ञ जान साउथवर्ड लिखते हैं— "The controversy as to the invention of Printing has lasted nearly four centuries, and it has unhappily been carried on with a vehemence and bitterness which perhaps no other controversy, not a religious one, has ever excited."

जहाँ एक दूसरे दल के प्रति आपस में इतनी कटुता का भाव है, वहाँ निष्पक्ष होकर कुछ निर्णय कर सकना बहुत कठिन है। कुछ लोग कास्टर को, कुछ गटनबर्ग को तथा कुछ विद्वान् फास्ट एवं जोफर को योरप में इस विद्या का आविष्कारक मानते हैं। १४६६ ई० तक इस विषय पर मत-भेद नहीं था और सब लोग यह मानते थे कि इसका आविष्कार जर्मन गटनबर्ग ने स्ट्रासबर्ग में किया और पीछे मेंज़ में एक प्रेस भी खोला, जिसमें सर्व-प्रथम पेरिस की मेजारिन लाइब्रेरी में प्राप्त लैटिन बायबिल छापी गई। जो लोग गटनबर्ग को मुद्रण-कला का आविष्कारक मानने से इनकार करते हैं, उनका कहना है कि उक्त प्रेस में छपी हुई किसी पुस्तक में उसका नाम नहीं मिलता और न उसके किसी साथी ने ही उसके आविष्कारक होने की बात लिखी है।

मुद्रण-कला के आविष्कार के संबंध में सबसे पहली पुस्तक १४६६ ई० में कोलोन में निकली। इसमें मुद्रण-कला के आविष्कार पर एक अध्याय है। इस पुस्तक के लेखक का कहना है कि—"यह कला सर्व-प्रथम राइन-नदी के किनारे जर्मनी के मेंज़-नगर में आविष्कृत हुई। इस आविष्कार का समय १४४० ई० है, यद्यपि सबसे पहली पुस्तक यहाँ न छपकर हालैंड में छपी।" पुस्तक-लेखक का कहना है कि "मुझे यह विवरण कोलोन के एक विश्वस्त समकालीन मुद्रक से मालूम हुई, जिसका नाम उलरिकज़ेल था।" विवाद का आरंभ इसी पुस्तक के पश्चात् होता है। १५८८ ई० एड्रियन दा जांग (Adriaen de Jonghe) ने जो 'जूनियस' के नाम से प्रसिद्ध है—एंटवर्प में 'बटाविया'-नामी एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसमें उसने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि मुद्रण-कला का आविष्कार हालैंड में हुआ। वह लिखता है—"१४४० में 'लोरेंस जेंजू'—जिसका उपनाम कास्टर था—ने लकड़ी के तख़्ते को काटकर अलग-अलग अक्षर बनाए और बच्चों के विनोद के लिये काग़ज़ पर उन्हें छापा। पीछे उसने एक अच्छी रोशनाई तैयार की और तसवीरों के साथ तख़्ते-के-तख़्ते छापने लगा। १४४१ में उसका एक कार्यकर्ता, जिसका नाम जान था, टाइपों को चुराकर मेंज़ भाग गया और वहाँ जाकर १४४२ में इन्हीं टाइपों से उसने दो पुस्तकें छापीं।" इस तारीख़ से आज तक यह विवाद सब ज़ोरों से चलाया जाता रहा है कि जर्मनी और हालैंड में से कौन देश इस कला का आविष्कारक है। १८७० में तो यह झगड़ा ऐसा चला कि गाली-गलौज तक की नौबत आ गई। इसी समय प्रसिद्ध डच विद्वान् डॉक्टर वान देर लिंडे ने एक ओज-पूर्ण लेख-माला प्रकाशित कर जूनियस के विवरण को ग़लत और अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया। इस निष्पक्ष विद्वान् ने देशाभिमान की परवा न कर यह भी सिद्ध किया कि—"कास्टर के पक्ष में पेश किए गए कतिपय काग़ज़ात नक़ली और जाली हैं और झूठे देशाभिमान से उत्तेजित होकर तैयार कराए गए हैं।" लिंडे की बात का खंडन मि० हेसल ने किया, जिसका प्रत्युत्तर भी उनको मिला। इस प्रकार के विरोधी विवरणों के होते हुए भी अधिकांश व्यक्ति गटनबर्ग को ही इस कला का आविष्कारक मानते हैं। अपने एक लेख (Moguntia or Mentz) में प्रसिद्ध अन्वेषणकर्ता डॉक्टर काटन लिखते हैं—" × × after all that has been written with much angry feelings upon the long contested question of the *origin of the Art of Printing*, Mentz appears still to preserve the best founded claim to the honour of being the birth place of the Typographic Art; because the specimens adduced in favour of Haarlem and Strasburg, even if we should allow their genuineness are confessedly of a *rude and imperfect execution*."

इस प्रकार अधिकांश व्यक्तियों का यह मत है कि गटनबर्ग ही इस आविष्कार का पिता था। जर्मनी में ही यह आविष्कार होने के संबंध में यह प्रमाण भी पेश किया जाता है कि वहाँ की छपाई आज भी समस्त संसार में बेजोड़ है।

मेंज़-निवासी डॉक्टर वेटर ने लिखा है—"साधारण लोगों के विचार के विरुद्ध मैं प्रभूत प्रमाणों के आधार पर यह कह सकता हूँ कि गटनबर्ग ने स्वयं लकड़ी के ब्लाकों से पुस्तकें छापी थीं।" गटनबर्ग का जन्म जर्मनी के इसी मेंज़-नगर में हुआ था। जब वह दस वर्ष का था, तो कतिपय झगड़ों के कारण उसके माँ-बाप उसे लेकर स्ट्रासबर्ग चले गए। वहीं उसने पहले आइने का कारबार शुरू किया, पर पीछे असफल होने पर छपाई की विधि का आविष्कार कर वह मेंज़ लौट गया और फ़स्ट

नामक एक सोनार पूँजीपति को शरीक कर यंत्र आदि बनाने में लग गया। इस कार्य में शोफर-नामक बढ़ई से उसे बहुत सहायता मिली। गटनबर्ग ने पहले लकड़ी के अक्षर बनाकर छापने की विधि निकाली। जान पड़ता है कि पहले इस कार्य में उसे घाटा हुआ। यहाँ तक कि फ़स्ट और उसमें मुक़दमे की नौबत आ गई, जिसमें फ़स्ट विजयी हुआ, पर गटनबर्ग छोड़ दिया गया। उसने अपने साथी शोफर की सहायता से अक्षरों का साँचा बना लिया और अक्षर ढालकर १४५५ के लगभग वह बाइबिल छाप डाली, जिसका ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं। इस बाइबिल की समस्त संसार में केवल २० प्रतियाँ हैं। एक लंदन की रायल लाइब्रेरी में भी मौजूद है। इस पुस्तक का कागज़, टाइप, छपाई और रोशनाई सभी वस्तुएँ बहुत सुंदर हैं, पर बहुत-से लोग यह कहते हैं कि यह पुस्तक स्वयं फ़स्ट ने ही छापी थी।

इधर यह हो रहा था, उधर हारलेम (Haarlem) का कास्टर अपनी उधेड़बुन में लगा हुआ था। उसने कुछ स्थली पुस्तकें छाप भी डाली थीं, पर वह पन्ने के एक ही ओर छापता था। उसे यह नहीं सूझता था कि एक ही पन्ने में दो पृष्ठ हो सकते हैं।

इन विवाद-ग्रस्त विवरणों से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि योरप में १२८५ ई० में लकड़ी के स्थिर—अचल अक्षरों द्वारा छापने की विधि निकली और दूसरी यह कि १४४० के लगभग जर्मनी या हालैंड में अलग-अलग एवं चल अक्षरों द्वारा छपाई का आविष्कार हुआ। १४६२ ई० में मेंज़-नगर पर जो आक्रमण हुआ, उसमें गटनबर्ग और फ़स्ट दोनों के कारखानों के अनेक मुद्रक दूसरे देशों को भाग गए और जहाँ गए वहाँ छापने की विधि और इस विद्या का संपूर्ण रहस्य भी अपने साथ ले गए। इनके द्वारा योरप के अन्य देशों में भी मुद्रण-कला का विस्तार हुआ। इस कार्य में इतनी शीघ्रता से उन्नति हुई कि १,२०० ई० पूर्व स्ट्रासबर्ग में १६, कोलेन में २२, नूरमबर्ग में १७ और आगसबर्ग में २० प्रधान मुद्रक हो गए थे। १५वीं शताब्दी के अंत तक मध्य और उत्तर योरप के लगभग ६० स्थानों में छपाई का कार्य होने लगा था। डॉक्टर काटन ने (१८५२ ई० में आक्सफ़ोर्ड से प्रकाशित) अपने 'टाइपोग्राफ़िकल गज़ेटियर' में इसके विस्तार का जो विवरण दिया है उससे मालूम होता है कि नेदरलैंड में २१, इटली में ३२, फ़्रांस में ३१ और स्पेन एवं पुर्तगाल में २२ स्थानों में छपाई का काम होता था।

इँगलैंड में इस विद्या के प्रचार के संबंध में इतना ही मालूम है कि विलियम कैक्सटन ने १,४७६ या १,४७७ में जर्मनी से सीखकर मुद्रण-विधि का इँगलैंड में प्रचार किया। इस संबंध में एक कथा बहुत प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि छठे हेनरी ने कैंटरबरी के प्रधान बिशप (आर्क बिशप ऑव् कैंटरबरी) की सलाह से इस कला को फ़्लैंडर्स (आजकल बेलजियम का एक प्रांत) से चुरा लाने के लिये विलियम कैक्सटन की अधीनता में कुछ आदमी भेजे। हारलेमवाले बेकार विदेशियों से इतने चिढ़ते थे कि ज़रा भी संदेह होने पर गिरफ़्तार कर लेते थे। कैक्सटन चालाक था अतएव उसने नगर में पैर न रक्खा और गहरी घूस के द्वारा अंत में सफलता प्राप्त की। एक कारीगर फ्रेडरिक कारसेली को रात-ही-रात ठीक करके जहाज़ पर इँगलैंड को रवाना हो गया। आक्सफ़ोर्ड पहुँचने पर इस कारीगर के ऊपर तब तक के लिये पहरा बिठाया गया जब तक कि उसने संपूर्ण बातें बतला नहीं दीं। इस घटना का समर्थन लैंबेथ पैलेस में मिले हुए प्रमाणों से होता है। इस कारीगर के ऊपर बने स्मृति-स्तंभ की लिपि में अब भी इन प्रमाणों को जो चाहे देख सकता है।

१४७७ ई० में 'वेस्ट मिनिस्टर-एबी' में कैक्सटन ने छापाखाना खोला, पर जनता में शिक्षा की कमी से अँगरेज़ी-भाषा के अस्थिर रूप के कारण उसे विशेष सफलता न हुई। उसने व्यावसायिक बुद्धि से ही यह कारबार चलाना चाहा था और यद्यपि एडवर्ड चतुर्थ की बहन लेडी मारगरेट (डचेज़ ऑव् बरगंडी) ने उसकी समय-समय पर सहायता भी की; परंतु उसे बराबर घाटा ही रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् वार्डी-नामक एक कर्मचारी ने यह कार्य सँभाला। उसने छपाई की कला में कई सुधार भी किए और कई सौ पुस्तकें छाप डालीं।

इसी प्रकार मुद्रण-कला में विस्तार के साथ उन्नति होने लगी। १५०७ ई० में स्काटलैंड में और १५३४-३५ के लगभग मेक्सिको के वाइसराय एंटोनियो दा मेंडोज़ा द्वारा अमेरिका में इस कला का प्रारंभ हुआ।

धीरे-धीरे इस कला का विकास होने लगा। १५०७ ई० में टाइप के साथ छापने के वर्तमान प्रेस का भी आरंभ

हुआ । यह सीधा सादा लकड़ी का बना हुआ यंत्र होता था । १६८३ ई० तक प्रेस की भली भाँति उन्नति हो चुकी थी । इस उन्नति का प्रधान श्रेय एमस्टर्डम के ब्ल्यू-नामक कारीगर को दिया जाता है ।

आजकल प्रेस पर छापते समय रोशनाई देने के लिये सरेस इत्यादि गलाकर रबर के रोलर बनाते हैं । इन रोलरों को बनाने की विधि सबसे पूर्व डानकिन एवं बेकन-नामक इंजीनियरों ने १८१३ में निकाली थी । मशीन पर रोशनाई देने की वर्तमान विधि का आविष्कार १८१८ ई० में टी मुडवर्ड कोपर ने किया ।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक छपाई के लिये साधारण प्रेस का ही व्यवहार होता था । १८०० ई० के लगभग स्टानहोप के तीसरे अर्ल लॉर्ड माहोन ने सुधरे हुए प्रेस या साधारण मशीन का आविष्कार किया । यह प्रेस ख़ालिस लोहे का बना था और उस पर काठ के पहले प्रेसों से दूने लंबे फ़ार्म छप सकते थे । दबाव डालने के परे साधन इसमें वर्तमान थे, जिससे छपाई भी पहले से बहुत अच्छी होने लगी । इस प्रेस से घंटे में २०० तख़्ते एक पीठे और १०० तख़्ते दोपीठे छप सकते थे । १८१४ के लगभग कॉनिग (Konig) नामक एक जर्मन ने लंदन के प्रसिद्ध दैनिक-पत्र टाइम्स के लिये दो मशीनें बनाईं, जिनके चलाने में आदमी की जगह भाप से काम लिया जाने लगा । २८ नवंबर १८१४ को संसार के इतिहास में पहली बार स्टीम-प्रेस से अख़बार की कॉपियाँ छापी गईं । इनमें १,१०० काग़ज़ प्रतिघंटे छपने लगे । पाँच-छः महीने के अंदर ही इस मशीन में कुछ और सुधार हुए जिससे छपाई का परिमाण १,१०० से बढ़कर १,८०० काग़ज़ प्रतिघंटा हो गया । १८१५ में कॉनिग ने दूसरी मशीन तैयार की जिसमें प्रतिघंटा ७५० दोपीठे काग़ज़ छपने लगे ।

इधर छापने की मशीनों के साथ हैंड-प्रेस में भी उन्नति होने लगी । १८२३ में लंदन के आर० डब्ल्यू० कोप ने एलबियन-नामक प्रेस निकाला । इससे प्रतिघंटा २५० काग़ज़ छपने लगे, और छपाई भी पहले से अच्छी होने लगी ।

१८४७ ई० में 'टाइम्स' के लिये एक दूसरी मशीन बनाई गई जिस पर फ़ार्म दोनों ओर से एक साथ ही छप जाता था । इस प्रकार 'डबल सिलेंडर-मशीन' का आरंभ हुआ । यह मशीन ख़ुद ही काग़ज़ लगाती और छपने पर अलग कर देती थी । इस मशीन ने मुद्रण-कला को ज़मीन से एकाएक आकाश पर उठा दिया । क्रांति-सी हो गई । १८६६ में 'टाइम्स' के मैनेजर जी० जे० सी० मेकडानल्ड और चीफ़ इंजीनियर जी० कैलवर्ली ने वाल्टर-प्रेस नाम की नई मशीन बनाई, इसमें काग़ज़ के तख़्ते काटकर लगाने की आवश्यकता न होती थी । एक रोलर में परेते के धागे के समान मीलों लंबा काग़ज़ लपेटा रहता था जो पूरे फ़ार्म के रूप में छपकर स्वयं ही कटता, उठता और गिरता जाता था । तब से यद्यपि इस मशीन में कुछ परिवर्तन हुए हैं; पर इनका आधार यही मशीन है । अब तो सिली-सिलाई कॉपियाँ तक मुड़कर गिरती जाती हैं और मशीन से ही कंपोज़िंग का काम भी लिया जाने लगा है ।

टाइम्स की उक्त वाल्टर मशीन बनने के बाद ही न्यू-यार्क के मेसर्स हो एंड को० ने बड़ी तेज़ मशीन तैयार की, इसका नाम 'हो-डबल-वेब-मशीन' है । इसके द्वारा ६ पेज के अख़बार की ४८,००० प्रतियाँ प्रतिघंटे के हिसाब से छपने लगीं । अधिकांश अख़बारों ने इस मशीन का उपयोग आरंभ कर दिया । इस मशीन से जब अख़बार निकलता था, तो कटा, मुड़ा और पतेवाले कवर से युक्त होता था । छपाई की मशीन के अतिरिक्त कंपोज़ करने तथा स्टीरियो ढालनेवाली मशीनों में इतनी तरक़्क़ी हुई कि एक फ़ार्म से १० स्टीरियो प्लेट्स ८ मिनट के अंदर ढाल-कर छपने-योग्य बनाए जा सकते हैं ।

भारत में मुद्रण-कला का प्रवेश 'ईस्ट-इंडिया-कंपनी' के समय में हुआ । १६७० ई० में भीमजी पारिख-नामक एक धनी गुजराती व्यापारी ने ईस्ट-इंडिया-कंपनी के डाइरेक्टरों के पास छापेख़ाने के काम में पूर्णतया निपुण एक आदमी भेजने की दरख़्वास्त दी । ८००) मासिक पर एक आदमी आया, पर उसे विशेष सफलता न मिली । अतएव पुनः प्रार्थना करने पर १६७८ में कंपनी ने एक होशियार कारीगर भेजा । उससे भीमजी ने नागरी अक्षर ढलवाए और एक छापाख़ाना खोला । हेस्टिंग्स के समय में सर चार्ल्स विलकिन्सन ने पहलेपहल बँगला का टाइप बनाया और पंचानन नामक व्यक्ति को यह विद्या सिखाई । १७७८ में श्री० एंड्रूज़ ने हुगली में बँगला प्रेस की नींव डाली । १८१२ ई० में फरीनूँजी मेहरवान

ने गुजराती अक्षर ढलवाए और एक प्रेस खोला। इस प्रकार भारतवर्ष में धीरे-धीरे मुद्रण-कला का प्रचार हुआ और अब तो सर्वत्र ही इस कला की धूम है।

मुद्रण-कला के विकाश-कार्य में साहित्य और राजनीति ने सबसे अधिक भाग लिया है। आजकल इस कार्य के तीन भाग किए जा सकते हैं—१ जॉबवर्क या फुटकर कार्य जिसमें पोस्टर, रसीदें, पैंफ़्लेट, नोटिसें इत्यादि छापने का कार्य शामिल है। (२) पुस्तक-मुद्रण। (३) समाचार-पत्र एवं पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन। इनमें अंतिम दो विभागों के कारण मुद्रण-कला की बहुत उन्नति हुई है। आजकल तो इन सबके लिये अलग-अलग मशीनों का आविष्कार हो गया है। अधिकांश समाचार-पत्र 'लीनो टाइप मशीन' एवं रोटरी मशीनों की सहायता लेने लगे हैं। 'टाइप रिवाल्विंग मशीन'-नामक नई छापे की मशीन ने तो कमाल कर दिया है, वह घंटे में तीन से साढ़े तीन लाख काग़ज़ तक छापती, काटती, भाँजती और लपेटती जाती है।

अच्छी छपाई के लिये अच्छी मशीन, सुंदर टाइप तथा रोशनाई के अतिरिक्त मनोरम जल-वायु की भी बड़ी आवश्यकता होती है। जल-वायु का छपाई पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि जर्मनी और विशेषतः लीपज़िग, ज़ुरिच एवं म्यूनिच की छपाई संसार में सर्वोत्तम होती है। भारतवर्ष में पूने के समीप के पर्वतीय स्थानों में अच्छी छपाई होती है। इसलिये भारत-सरकार ने वहाँ डाक के टिकट इत्यादि छापने का प्रेस खोला है। भारत के काशी, प्रयाग, झाँसी इत्यादि गर्म नगरों में गरमी के दिनों में अच्छी छपाई में बड़ी कठिनता पड़ती है। कभी-कभी तो रोलर भी पिघलने लगते हैं। हिंदी की छपाई में इंडियन-प्रेस प्रयाग ने बड़ी उन्नति की है।

इसमें संदेह नहीं कि संसार में मुद्रण-कला के विस्तार ने बहुत बड़ी क्रांति की है। धर्म, समाज, राजनीति, साहित्य सभी क्षेत्रों में उसके कारण घोर परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं। इस संबंध में विकाश के पथ का अभी अंत नहीं हुआ है। नई-नई मशीनें बनती जाती हैं और मालूम नहीं कि भविष्य में यह परमोपयोगी कला क्या रूप धारण करेगी।

श्रीअवधेशपति वर्मा

बुँदेलखंड-गौरव-गान

(१)

अब तक जिसकी कीर्ति-कथा फैली है घर-घर,
मरकर अपना नाम अमर कर गए वीर-वर।
धन्य-धन्य, बुँदेल-खंड की भूमि मनोहर,
न्यौछावर सब प्रांत हो रहे जिसके ऊपर।
ऊँचे-ऊँचे गिरि रुचिर अनुपम शोभा दे रहे,
हृदय जुड़ाने के लिये जगह-जगह झरने बहे।

(२)

प्रस्तर निर्मित दुर्ग, सुदृढ़, वर उच्च बने हैं,
सहज न जिनकी प्राप्ति, हो रहे लोह-चने हैं।
कीर्ति-केतु-संयुक्त स्तंभ बन रहे घने हैं,
बुँदेलों के यश-वितान हर ओर तने हैं।
हर्गिज़ राजस्थान से इसका गौरव कम नहीं,
पूर्ण मिले इतिहास तो कोई इसके सम नहीं।

(३)

'चंपत' की हो रही आज भी अमिट निशानी,
शक्तिधारिणी देवि-तुल्य थी जिनकी रानी।
'छत्रसाल' की अमर रहेगी कीर्ति-कहानी,
जिनकी अब तक देशभक्ति जा रही बखानी।
'प्राणबली' से थे बली, सच्चे शूर 'अमान' से,
पुजते हैं 'हरदौल' नृप जगह-जगह सन्मान से।

(४)

'वीरसिंह' के उचित न्याय ने धाक जमाई,
न्यायासन पर बैठ दया सुत पर न दिखाई।
मरहट्टों ने कीर्ति यहाँ भी कम न कमाई,
हो ज्वलंत दृष्टांत रही है 'लक्ष्मीबाई'।
सत्कवियों की मुख्यतः इसी भूमि में खान है,
'तुलसी' 'केशव' आदि का फैला सुयश महान है।

(५)

'रामलला' की कला ओरछे में है जारी,
रानी ने ला जिसे प्रेम-पूर्वक विस्तारी।
वर्द्धित करती नित्य सनातन महिमा भारी,
प्रतिमा में भी शक्ति, 'भक्ति' प्रकटाती न्यारी।
'देव' देवियों की यहाँ महिमा मन को मोहती,
प्रकृति स्वयं प्रभुता-भरी बनी सुंदरी सोहती।

(६)

'बक्राफल' से वीर यहीं प्रकटे अलबेले ;
'आल्हा' 'ऊदल' आदि खेल जो रण का खेले ।
'रंजित' आदिक हुए सुभट बाँके चंदेले ;
रुंड लड़े हैं यहीं हाथ में तेगा ले-ले ।
अगणित सच्ची सतियाँ इसी प्रांत में हो गईं ;
जीती ही पति साथ में चिता-सेज पर सो गईं ।

(७)

अब तक भग्न-स्थान अनेकों यहाँ पड़े हैं ;
साक्षी ही के लिये अभी तक जो कि अड़े हैं ।
'होगा जीर्णोद्धार' शुभाशा लिए खड़े हैं ;
गुदड़ी में भी लाल छिप रहे बड़े-बड़े हैं ।
सत्पुत्रों की ओर वे लगा रहे हैं टकटकी—
'माँ के लालों की सभी क्या उदारता है थकी ?'

(८)

श्रीमंतो ! इस ओर ध्यान आकर्षित करिए ;
कीर्ति-कौमुदी एक बार फिर विकसित करिए ।
प्रस्तुत हो इतिहास, स्व-भाषा का हित करिए ;
बिखरे हैं जो रत्न, यत्न से संचित करिए ।
पूर्वज-गण इस कृत्य से सौख्य-स्वर्ग में पायँगे ;
और सदा को आपके नाम अमर हो जायँगे ।

(९)

सचमुच वह ही जाति लोक में अमर कहाती—
जो अपना इतिहास स्वयं तैयार कराती ।
विद्वानों की ललित लेखनी आगे आती ;
अंकित करती चित्र, 'मित्र' बन तेज दिखाती ।
इसके हित धन व्यय किया कभी न जाता व्यर्थ है ;
जो 'शारद' को पूजता सच्चा वही समर्थ है ।

"रसिकेंद्र"

मराठी-नाटकों का क्रम-विकास

मराठी-नाटकों की आज जो अवस्था है, ७५ वर्ष पहले किसी को इसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी । उस समय केवल दो प्रकार के नाटक थे, एक "तमाशा", दूसरा "ललित" । इनमें से ललित बहुत प्राचीन काल से प्रचलित था और वह देवोत्सवों या नवरात्र (दशहरा) के अवसर पर किया जाता था । इसमें पहले, दस अवतारों में से किसी एक के चरित्र का दृश्य दिखाया जाता था, और अंत में राम के हाथों रावण को मरवा डाला जाता था और इस प्रकार ललित समाप्त हो जाता था । ललित का अभिनय बिलकुल भोंडी रीति से होता था । ललित रात्रि के समय रेंडी के तेल के पुराने दीपकों या मशाल या बड़ी-बड़ी बत्तियों के प्रकाश में किया जाता था । इस खेल के लिये कुछ बहुत अधिक सामग्री की आवश्यकता नहीं होती थी और न तमाशे के लिये किसी विशेष प्रकार के स्टेज की आवश्यकता पड़ती थी । खेल के समय किसी उपयुक्त स्थान में खादी आदि का रंगीन परदा लगा दिया जाता था । इस नाटक की सामग्री एक सामान्य परदा, दो-चार धोतियाँ और दो-चार साड़ियाँ होती थीं, और जब कभी किसी देवता या राक्षस का दिखाना अभीष्ट होता था, तो उस समय लाल का तीव्र और भड़कनेवाला प्रकाश कर दिया जाता था, जिससे कि उसकी महत्ता और तेज प्रकट हो । इस प्रकार के ललित पहले 'कोंकन' में बहुत होते थे, और अब भी महाराष्ट्र में अनेक स्थानों में विशेष-विशेष अवसरों पर ललित किए जाते हैं । ललित में ऐक्टिंग की सफ़ाई और स्टेज की सुश्रृंखला की आवश्यकता नहीं होती ।

तमाशे के आरंभ का कोई ठीक ऐतिहासिक पता नहीं चलता । सामान्यतः यह एक सामान्य नर्तक और उसके साथ डफ या मृदंग और इकतारे या तनतने

के साज़ के साथ किया जाता है। नृत्य के साथ-साथ उचित समय के अंतर से स्वाँग भी भरे जाते हैं, जिसका प्रयोजन यह होता है कि देखनेवालों का ध्यान बटे और उनका मनोरंजन बढ़े। नाचनेवाला प्रायः एक नवयुवक और सुंदर लड़का होता है, जो लड़कों के वेश में सजकर और पैरों में घुँघरू बाँधकर नाचा करता है। तमाशों में बाज़ारू हँसी-दिल्लगी होती है और इसमें प्रायः लावनियाँ गाई जाती हैं। इन लावनियों में सभ्यता के विरुद्ध शब्दों और विचारों का प्रदर्शन किया जाता है। इस प्रकार के तमाशों को बाजीराव द्वितीय (१७९२-१८१८) के समय में बहुत उत्तेजन मिला, क्योंकि वह स्वयं इन तमाशों का बड़ा प्रेमी था और तमाशा करनेवालों को प्रोत्साहित करता था। इस प्रकार के तमाशों में सभ्य पुरुष नहीं जाते थे, अतः बाजीराव की ओर से नाना फरनवीस को प्रायः इन तमाशों के देखने के लिये बुलाया जाता था, किंतु वह यथासंभव हील-हवाले करके टाल दिया करते थे। पेशवा की अभिरुचि देखकर अनेक विद्वान् ब्राह्मणों ने भी नचनियों को रखना और उनके द्वारा रुपया कमाना आरंभ कर दिया, किंतु आजकल केवल मरहटों, कुनबियों, किसानों और अन्य शूद्र-जातियों में ही इन तमाशों का प्रचार है, और ये प्रायः पटेल (गाँव के मुखिया) और देहातियों के मनोरंजन की सामग्री और निठल्ले समय का धंधा रह गया है। अब भी रियासत के कुछ इलाक़ों में अच्छे सभ्य ब्राह्मण भी इस प्रकार के तमाशों को चाव से देखते हैं। लावनियों के प्रसिद्ध रचयिताओं के, जिनकी रचनाएँ बहुत अच्छी समझी जाती हैं, मुख्य-मुख्य नाम ये हैं—होंडी कवि, रामशृंगारी, कृष्णकवि जोशी, हूनाजी, बलराम जोशी इत्यादि।

गोंदल और बहुरूपिया

ललित और तमाशे के अतिरिक्त "गोंदल" का संबंध भी मराठी-नाटकों से मिलता है। गोंदल-शब्द का अर्थ है 'गड़बड़'। इससे स्वयं सिद्ध है कि इसमें क्या होता होगा। गोंदल करनेवालों की एक जाति-विशेष होती है, जिनका व्यवसाय ही इस प्रकार के तमाशे करना है। ब्याह-शादी के अवसर पर प्रायः गोंदले बुलाए जाते हैं। इसमें गोंदल करनेवाला एक ही पहनावे में आरंभ से अंत तक रहकर स्वांग भरता है या अवतारों के चरित्रों की स्मृति नई करता है। आजकल गोंदल का रिवाज भी कम होता जा रहा है। इसी तरह बहुरूपिया की भी एक जाति होती है, जिसका व्यवसाय ही रूप बदलना है। इन लोगों में कुछ ऐसे कुशल रूप बदलनेवाले होते हैं कि उनके रूप देखकर बड़े-बड़े बुद्धिमान् और अनुभवी धोखा खा जाते हैं।

ललित, तमाशा और गोंदल मराठी-नाटकों के मूल हैं। मराठी-नाटकों के विषय में यह कहना कि ये संस्कृत-नाटकों से उत्पन्न हुए हैं, ज़बर्दस्ती की खींचतान है। कुलनापुर के निकट साँगलीनाम की एक छोटी-सी रियासत है। वहाँ का सबसे बड़ा रईस चिंतामनराव आपा था। उस समय वहाँ करनाटक से नाटक करनेवाली एक मंडली आई हुई थी, जिसका नाम भागवत था। उसने उस रईस की आज्ञानुसार सन् १८४२ ई० में कई मुख्य-मुख्य खेल किए। इस कंपनी के खेल रामलीला से मिलते हुए होते थे। इस कंपनी के खेलों में उनकी विशृंखलता के कारण सिवाय सामान्य कोटि के लोगों के और किसी समुन्नत श्रेणी के समुदाय का चित्त आकर्षित नहीं होता था, इसलिये चिंतामनराव महोदय के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि इनमें कुछ परिवर्तन करके इनको इस प्रकार से बनाया जाय कि सभ्य-समाज के मनोविनोद के अनुकूल हो जायँ।

विष्णुपंत भावे आपा साहब के मुसाहब थे। आपा साहब ने उन्हें आज्ञा दी कि वह उनके विचारानुसार मराठी में कुछ खेल तैयार करें। भावे एक सामान्य कोटि के कवि थे और विद्या के विशाल क्षेत्र में भी उनकी विशेष गति न थी, फिर भी प्रोत्साहन मिलने के कारण उन्होंने नाटक लिखना आरंभ किया। उनका पहला नाटक 'सीता-स्वयंवर' तैयार हुआ। यह खेल आपा साहब के सम्मुख सन् १८४३ ई० में किया गया। उस समय वहाँ ऐसे लड़के नहीं मिलते थे जो स्त्रियों का पार्ट कर सकें, और यह सबसे बड़ी कठिनता थी जिसका भावे को सामना करना पड़ा। किंतु यह खेल आपा साहब की इच्छानुसार तैयार किया गया था, इसलिये किसी-न-किसी प्रकार यह कठिनता भी दूर हो ही गई। कुछ दुष्ट-प्रकृति ब्राह्मणों ने स्त्रियों का पार्ट करनेवाले लड़कों को जाति-बहिष्कृत करने की चेष्टा की। आपा साहब ने इस विषय में बड़े-बड़े पंडितों और शास्त्रियों से

व्यवस्था माँगी। बहुत वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चय हुआ कि इस प्रकार के खेल धार्मिक दृष्टि से निषिद्ध नहीं हैं, और अंत में इसी मत के अनुकूल श्रीशंकराचार्य की निर्णायक व्यवस्था भी प्राप्त हो गई।

भावे के नाटकों की शैली

भावे के नाटक में पहले सूत्रधार परदे से बाहर आकर ईश्वर की स्तुति के गीत गाता था। इसके बाद विदूषक असभ्य वेष में शरीर पर पत्ते बाँधे हुए प्रकट होकर थोड़ी देर तक नाचता था। नाचने के बाद विदूषक और सूत्रधार में थोड़ी देर अनुप्रास-युक्त हास्य-पूर्ण वाक्यालाप होता था, जिससे दर्शकों को हँसी आ जाती थी, और अंत में दोनों का परस्पर परिचय होता था। इस मिलन के मध्य में सूत्रधार विदूषक पर अपने नाटक के विचार प्रकट करता था और उस खेल के प्रबंध में उससे सहायता चाहता था। पश्चात् गजानन की स्तुति की जाती थी और फिर परदा खुलता था और गणेशजी परदे के बाहर आते थे। सूत्रधार गणेशजी को प्रणाम करता था और नाटक में किसी प्रकार का विघ्न न उपस्थित हो, ऐसा आशीर्वाद माँगता था। इसके बाद परदा गिरता था और सूत्रधार सरस्वती का आवाहन करता था, और सरस्वती आती थी। इस प्रकार स्तुतियों के सिलसिले में नाटक आरंभ होता था। नाटक के आरंभ में सूत्रधार, नाटक में आनेवाली घटनाओं का संक्षेप कविता में वर्णन करता था। इन नाटकों में प्रायः पौराणिक घटनाओं का वर्णन किया जाता था, अतः देवताओं का दरबार और उनकी मंत्रणा-सभा का होना, और इसके विरुद्ध राक्षसों की सभाओं का संगठन इत्यादि। देवताओं की सभा में कोई ऐक्टर उनको अपनी ओर आकर्षित करने के लिये कोई उचित शब्द जैसे "सुनिए" या "ध्यान दीजिए" इत्यादि कहता था। इसके सुनते ही वह ध्यान देते और तत्काल सूत्रधार टपक पड़ता और जो कुछ ऐक्टर कहना चाहता था, वह स्वयं सूत्रधार पद्य में कहना आरंभ कर देता था। ऐक्टरों के वाक्य शृंखलाबद्ध और पहले से तैयार किए हुए नहीं होते थे। उनको घटनाओं और अवस्था के अनुसार जो उचित प्रतीत होता, वह कह-सुन लेते। राक्षसों और देवताओं की सभाओं में यही वाद-विवाद रहता था कि एक दूसरे पर किस प्रकार विजय प्राप्त की जाय। देवताओं के पार्ट करनेवाले गंभीरता से अपने वीरता के कार्यों को प्रकट करते थे, और राक्षसों के पार्ट करनेवाले कोलाहल, चीत्कार और तलवारों के चलाने और राल के भभकों से अपनी-अपनी वीरता प्रकट करते थे। स्त्रियों के पार्ट करनेवालों की बातों से दर्शकों के हृदयों में दया और समवेदना की लहर दौड़ जाती थी। सूत्रधार और विदूषक नाटक के आरंभ से अंत तक बराबर स्टेज पर काम करते रहते थे। स्टेज पर केवल एक बाहरी परदा होता था, वह भी सादा बिना चित्रकारी के इसके सिवा किसी और परदे की आवश्यकता न होती थी। परदा सरकनेवाले छल्लों के द्वारा एक साफ़ डोरी में पिरोया रहता था और आवश्यकता के समय वह स्टेज के किसी एक ओर खींच दिया जाता था। यही मानो परदे का उठना था। परदा उठ जाने के बाद स्टेज अंत तक बराबर खुला रहता था और खेल होता रहता था। दृश्य के परदे नहीं होते थे। जो दृश्य दिखाना अभीष्ट होता था, उसे केवल स्टेज पर ऐक्टर मुँह से कह दिया करते थे। दरबार या मंत्रणा-सभा का होना इस तरह दिखाया जाता था कि स्टेज पर एक पंक्ति में पाँच कुर्सियाँ रख दी जाती थीं। इन पर बैठकर देवता परस्पर मंत्रणा करते थे। इनकी सभा के समाप्त होने के बाद उन्हीं कुर्सियों पर राक्षसों की सभा होती थी। इसके बाद वहीं स्त्रियों का पार्ट करनेवाले ऐक्टर आ बैठते और परस्पर बातचीत करते थे। यदि कोई ऐक्टर अपनी बात का कोई अंश भूल जाता, या किसी ऐक्टर के आने में किसी कारण देर लगती, तो दूसरे ऐक्टरों में से कोई ऐक्टर विदूषक को अपनी ओर आकर्षित करके बातचीत आरंभ करता। इस तरह खेल का तार टूटने नहीं पाता था। स्टेज पर कुर्सियाँ आदि के इधर-उधर उठाने और रखने का काम भी विदूषक ही से लिया जाता था। सन् १८५१ ई० में इस थिएटर के सिरमौर आपा साहब का देहांत हो गया और उनकी जागीर आदि का प्रबंध अँगरेज़ी सरकार के हाथ में आ गया।

इन नाटकों की तैयारी में भावे की कंपनी कुछ ऋण-ग्रस्त भी हो गई थी, इसलिये भावे जन्मभूमि से बाहर, देश के अन्य भागों में अपनी कंपनी को ले गया, जिससे उसके खेलों को कुछ आय हो और ऋण-परिशोध का मार्ग निकल आए। भावे को स्वदेश से बाहर खेल

करने की आवश्यकता इस कारण भी हुई कि आपा साहब का उत्तराधिकारी अल्पवयस्क था और उसके मुख़्तार ने भावे की पूर्व-सहायता जारी रखने से इनकार कर दिया था। भावे के नाटक मैदानों में मँडवों के नीचे किए जाते थे। उसमें दर्शकों को कोई टिकट आदि नहीं दिए जाते थे, केवल थोड़ा-सा प्रवेश-शुल्क लेकर वह तमाशे की जगह में प्रविष्ट किए जाते थे। इस कुप्रबंध के कारण दुष्ट लोग बलात् बिना फ़ीस के अभिनयस्थान में घुस जाते थे, इससे खेल में विश्रृंखलता और गड़बड़ी मच जाती थी। उस समय सर्व-साधारण में एक यह भी पक्षपात-पूर्ण धारणा थी कि उन पुरुषों का मुख देखना दूषित है जो स्त्रियों का पार्ट करते हैं। इस कारण भी कंपनी को कुछ सफलता न हुई। ये नाटक मशालों के प्रकाश में खेले जाते थे।

भावे के खेलों से साँगली और उसके पास-पड़ोस के लोगों में नाटक से प्रेम उत्पन्न हो गया और एक-एक करके कितनी ही कंपनियाँ नाटक करने लगीं और देश के अन्य भागों में फिरने लगीं। भावे की कंपनी सन् १८६१ ई० तक स्थिर रही, और इसी शैली पर साँगलीकर, कोल्हापुरकर, अल्तेकर आदि ने कंपनियाँ स्थापित कीं।

भावे-कंपनी में गोपालराव मत्तेकर सूत्रधार का पार्ट बड़ी उत्तमता से करते थे। रघुपति फड़के स्त्रियों के पार्ट इस कुशलता से करते थे कि दर्शकों को असल-नक़ल में भ्रम हो जाता था। वह सुंदर और सुरूपवान् थे और गाना भी भली भाँति जानते थे, ऐक्ट बड़ी ही सुंदर रीति से करते थे। बापूराव नाके राक्षस का पार्ट करते थे। अल्तेकर कंपनी में विष्णु वाटवे ज़नाना पार्ट बड़ी सुंदरता से करते थे। भैरव भट्ट भी इस कंपनी में राक्षस का पार्ट बहुत अच्छा करता था। गणपति मेवेकर कोल्हापुर-कंपनी में नाचता ख़ूब था। उस समय गंगाधर वाटवे, पांडुरंग वाटवे, रामचंद्र साठे, वेंकट भट्ट, ताड़कानूकर और गोपालराव वरते विदूषक का काम ख़ूब करते थे।

साँगलीकर कंपनी में तानिया नातू, अल्तेकर कंपनी में रंगनाथ गोले और वासुदेव राते तथा पूनेकर कंपनी में रावजी पवार पटे के हाथ फेंकने में प्रसिद्ध थे। उस समय से अब तक अनुमानतः पौने दो सौ कंपनियाँ बनी होंगी। साझे में झगड़ा पैदा हो जाने के कारण पुरानी कंपनियाँ टूटती गईं और नई-नई बनती गईं। ये सब कंपनियाँ पौराणिक घटनाओं का ही अभिनय करती थीं। उस समय नाटक छापने की प्रथा नहीं थी, नाटक-लेखक अपने नाटकों के विभिन्न अंश हाथ से लिखकर ऐक्टरों को याद करने के लिये देते थे। ऐक्टर प्रायः अपठित या अल्प पठित होते थे, इसलिये उनको अपने-अपने पार्ट याद करना एक अत्यंत कठिन कार्य था। वह अपनी सुविधा इसमें समझते थे कि अपने-अपने पार्ट बेसोचे रट लें। रटने में यह कठिनता उपस्थित होती थी कि संयोग से यदि वह कोई शब्द भूल जाते या अवसर चूक जाते, तो यह सिलसिला टूट जाता था। इन नाटकों में गणेशजी और सरस्वती भी अनिवार्य-रूप से लाई जाती थीं। जैसा ऊपर वर्णन किया गया, विदूषक मसख़रे का पार्ट करता था। विदूषक का पार्ट करनेवाले प्रायः अपेक्षाकृत सहृदय, कुशाग्रबुद्धि और अनुभवी लोग रक्खे जाते थे, जिसमें वह अवसर पर बात को सुंदरता-पूर्वक निबाह लें। विदूषक का पार्ट करनेवाले प्रायः अन-वसर वार्तालाप करते थे अतः शोक के अवसरों पर हँसानेवाली बातचीत करना या इसके विरुद्ध। राक्षस के पार्ट करनेवाले प्रायः सामान्य परिचारक लोग, यथा कंपनी के रसोइया व पानी भरनेवाले, चुन लिए जाया करते थे। राक्षस का पार्ट करनेवाले लोगों की आकृति भयानक और बर्बर बनाने के लिये उनके मुँह अनेक रंगों से रँग दिए जाते थे। उनके मुँह में टीन और कई प्रकार के धातु के बड़े-बड़े कृत्रिम दाँत लगा दिए जाते थे और उनके सिरों में कृत्रिम लंबे-लंबे बाल या जटाएँ लगा दी जाती थीं और कमर में धोतियों और साड़ियों के फेट लपेट दिए जाते थे, जिसमें कमर बड़ी दिखाई दे। राक्षस हाथों में तलवार लिए उच्च स्वर से कोलाहल करते हुए, ढाल के लवों के साथ-साथ पटे के हाथ निकालते हुए स्टेज पर आते थे। उनके गलों में मूँगों, या लकड़ी के गोल-गोल बड़े-बड़े दानों या वृक्षों की जड़ों के छोटे-छोटे टुकड़ों की मालाएँ या सुनहरी पन्नी में मढ़े हुए दानों के हार पहनाए जाते थे।

राक्षस के खेल के समय स्टेज पर इतना कोलाहल रहता था कि दर्शकों के कान के परदे फटे जाते थे और छोटे-छोटे बच्चे भयभीत होकर थर्राने लगते थे।

देवताओं के पार्ट के समय स्टेज पर बिलकुल शांति रहती थी और महिमा बरसती थी। देवताओं

के हाथों पर और दोनों बाहों पर खरिया या सफ़ेद मिट्टी की लकीरें खींची जाती थीं, सिर के बाल गले में दोनों ओर छिटके रहते थे। देवताओं के चार हाथ होते थे, और उनके सिर पर सुनहरी पन्नी से मढ़ा हुआ और मोरपंख से सुसज्जित मुकुट होता था। देवता प्राचीन समय के पंडित और शास्त्रियों की तरह संस्कृत-भाषा के मोटे-मोटे शब्द और बड़े-बड़े वाक्य अपने भाषण में प्रयोग करते थे। गणेशजी का पार्ट करनेवाले को लाल कपड़े पहनाए जाते थे और उनके कागज़ की एक लाल लंबी सूँड़ लगाई जाती थी जो भीतर से खोखली होती थी। सरस्वती का पार्ट करनेवाला प्रायः लड़का हुआ करता था, जो मोर पर सवार होकर एक हाथ में एक छोटा-सा रूमाल लिए नृत्य करते हुए स्टेज पर प्रकट होता था, इसके पीछे पीठ पर मोर के पंख इस ढंग से लगाए जाते थे, मानों मोर ने अपनी पुच्छ खोल रक्खी है। इस लड़के का नृत्य इस कौशल से होता था कि मानों वह मोर नाच रहा है, जिस पर वह सवार है।

मारुति (महावीर हनुमान्) की पूँछ लगभग २० हाथ लंबी होती थी, जिस पर चिथड़े लिपटे होते थे और उसकी पूँछ को थाम रखने के लिये दो-तीन मनुष्य और नियत कर दिए जाते थे।

रावण के दस सिर और बीस हाथ होते थे। इसका पार्ट करनेवाले व्यक्ति के ९ सिर और १८ हाथ कागज़ के बनाकर लगा दिए जाते थे।

नारद का स्वाँग प्रायः एक लड़का भरता था। उसके मुखपर मुद्रे* लगाए जाते थे और उसकी चुटिया खड़ी रहती थी। सन् १८७४ ई० में इन पौराणिक नाटक कंपनियों के व्यवसाय में यह सुधार हुआ कि खेल रात-भर होते रहने की जगह केवल रात के ३ बजे तक होने लगा। दर्शकों के टिकट जारी होने लगे और हाथ से लिखे हुए विज्ञापन जहाँ सर्व-साधारण की दृष्टि पड़े ऐसी जगह चिपकाए और शौक़ीनों में बाँटे जाने लगे। सन् १८८४ के लगभग शिक्षित पुरुषों ने "आर्योद्धारक नाटक कंपनी" स्थापित की, क्योंकि इन लोगों ने अपने शिक्षा-काल में शेक्सपियर के नाटक इत्यादि पढ़े थे और जानते थे कि नाटक किस प्रकार करना चाहिए। इन शिक्षित पुरुषों की कंपनी काल-विशेष पर ही प्रकट होती थी, क्योंकि नाटक करना इनका व्यवसाय न था। इन्हीं लोगों में से आगे चलकर अति उत्तम नाटक लिखनेवाले हुए हैं। इस कंपनी के संरक्षक जोशी, कोंदो पंत छत्री, धारप इत्यादि थे और मिस्टर देवल भी इसी गरोह में से थे जिन्होंने शारदा, मृच्छकटिक, संशयकल्लोल इत्यादि नाटक लिखे हैं।

नाटक के लेखक और नाटक के प्रसिद्ध ऐक्टर और विदूषक मिस्टर पाट करते इसमें पार्ट करते थे। इस कंपनी में शिक्षित लोगों के भी सम्मिलित होने के कारण उनके उच्च विचारों के अनुसार इसके दो उद्देश्य निश्चित हुए—(१) अँगरेज़ी नाटकों के अध्ययन के पश्चात् मराठी-नाटकों की प्रक्रिया में सुधार करना, (२) नाटक के खेलों की आमदनी से सार्वजनिक कामों में सहायता देना।

इन दोनों उद्देश्यों में से पहले उद्देश्य में कंपनी को बहुत कुछ सफलता हुई, अतः स्टेज पर राक्षस का पार्ट करते समय कोलाहल में सुधार हुआ और खेल के भयानक अंश मनोरंजकता में परिणत हुए। दूसरे उद्देश्य में भी कंपनी को एक सीमा तक सफलता हुई, क्योंकि सर्व-साधारण को खेल देखने के लिये चार आने या आठ आने का टिकट लेना कोई भार नहीं प्रतीत होता था, वरन् वह बड़े उल्लास से नाटक देखने के इच्छुक रहते हैं। और इस प्रकार एक अच्छी रक़म सुगमता से प्राप्त हो जाती है। उसी समय से यह नियम चला आता है कि प्रत्येक नाटक कंपनी अपने खेल की दो-एक दिन की आमदनी लोक-हित के कामों के लिये दान कर देती है। इसके विरुद्ध यदि किसी लोक-हित के कार्य के लिये चंदा माँगा जाय, तो उनको इसका देना भार प्रतीत होता है और वसूल करने-वालों को भी बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता है। इसी समय से किताबी नाटक का श्रीगणेश हुआ और यही कंपनी इसकी जन्मदात्री हुई। इन सुधारों का यह प्रभाव हुआ कि ऐक्टरों के लिये उत्तम और सुंदर प्रकार के कपड़े समयानुसार तैयार हुए और आवश्यकतानुसार उत्तमोत्तम दृश्यों के परदे बनाए गए तथा स्टेज तैयार कराए जाने लगे और कंपनी बड़े-बड़े शहरों का दौरा करने जाने लगी, थिएटर बने तथा ड्रामों की पुस्तकें लिखी जाने लगीं।

जो-जो पुस्तकें लिखी गईं, उनमें प्रोफ़ेसर केलकर ने ऑथेलो का अति उत्तम अनुवाद किया है, प्रिंसिपल

* मुद्रा एक प्रकार की नक़्शी मोहर होती है, जिससे वैष्णव-संप्रदाय के लोग अपने गालों पर छाप लगाते हैं।—लेखक।

आगरकर ने, जो मराठी-भाषा के सुविख्यात लेखक हुए हैं, हेमलेट का मराठी में अनुवाद किया । सतारा की शाहू-नगरवासी कंपनी केलकर के अथेलो और आगरकर के हेमलेट के ड्रामे करती है जिसमें मिस्टर गणपतराव जोशी हेमलेट का पार्ट बड़ी ही उत्तमता के साथ करते थे और अथेलो में पट्रोशियो का पार्ट भी वैसी उत्तमता से करते थे । बलवंत-राव जोग कैथरैना का पार्ट करते थे । गोविंदराव सोनेकर ग्रोमियो (पट्रोशियो के नौकर) का पार्ट करते थे । ये पार्ट बहुत अच्छे होते थे । बलवंतराव जोग हेमलेट में ओफ़ेलिया का पार्ट करते थे ।

यह कंपनी झंझारराव, नानाजीराव, बाजीराव, बाजी देशपांडे और काचनगढ़ के मोहना इत्यादि खेल गद्य में करती है । मराठी गद्य में नाटक करनेवाली कंपनियों में सबसे अच्छे खेल इसी कंपनी के होते हैं, और यह कंपनी अँगरेज़ी नाटक-लेखकों जैसे शेक्सपियर और शेरिडन इत्यादि के लिखे हुए नाटकों के अनुवाद कराती और खेलती है । इसने शेरिडन के एक प्रसिद्ध ड्रामे का अनुवाद किया है । मराठी-भाषा में केलकर का अनुवाद किया हुआ 'त्राटिका' हास्य-पूर्ण नाटकों में सर्वोत्तम है । बलवंतराव तथा मिस्टर वागले का फ्रेंच-भाषा से अनुवाद किया हुआ, शिवाजीराव ढमाले और कंजोशी धनाजीराव अत्यंत मनोहर और आनंददायक प्रहसन हैं । इनसे अधिक किसी और ड्रामों में मनोरंज-कता और आनंद नहीं पाया जाता । मराठी में इससे उत्तम हँसी-दिल्लगी के शायद ही कोई नाटक हों । इसका एक मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि इसमें आरंभ से अंत तक हँसी को बड़ी उत्तमता से निबाहा गया है, और इस प्रकार निर्वाह करना अति कठिन है । मिस्टर सी० रांड़कर ने तुकाराम नाटक लिखा है, और मिस्टर जोशी ने श्री समर्थ रामदास की रचना की है । इन ड्रामों को भी यह कंपनी करती है । तुकाराम का पार्ट गणपतराव जोशी करते थे । रामदास इत्यादि जो साधु लोग हैं, उनको स्टेज पर लाना अच्छा नहीं मालूम होता । उन लोगों की जीवन-लीला नाटकों के लिये अशोभित है, क्योंकि उनका खेल करने से लोगों के हृदयों में जो उनकी महिमा है, वह कम हो जाती है । दूसरे इनमें आरंभ से अंत तक एक ही प्रकार की शांति विराजमान रहती है, इसलिये लोगों को मनोरंजक नहीं मालूम होते और उनका प्रभाव भी कम होता है । यदि इस प्रकार के नाटकों पर लेखक-गण लेखनी दौड़ावेंगे, तो संभवतः नाटकों की मनोरंजकता लुप्त हो जायगी ।

ऐतिहासिक नाटक

अँगरेज़ी-भाषा के प्रभाव से यहाँ के लोगों को यह अनुभव हुआ कि हमारी प्रत्येक वस्तु और साहित्य सामान्य कोटि का है, और अँगरेज़ी की प्रत्येक वस्तु बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण, निर्दोष और अनुकरण-योग्य है । किंतु मराठी के मेकाले मिस्टर विष्णुशास्त्री चिपलूणकर (१८५२-१८८२) ने इस भ्रम का खंडन आरंभ किया और उनके पथ-प्रदर्शन से हम फिर सीधे पथ पर आ गए । शिवाजी-उत्सव (जयंती) आरंभ हुई और उससे हमारे महान् पूर्वजों और शूरवीरों के चरित्र अपने यथार्थ रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होने लगे और हमारे हृदयों में उनकी महिमा जागृत हुई । इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि ऐतिहासिक नाटक लिखे जाने लगे । इनमें सबसे पहले ड्रामे "नारायण राव पेशवा का खून" (जो सन् १७७३ ई० में हुआ था), और उसके बाद "झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई का विद्रोह" हैं । (यह विद्रोह सन् १८५७ ई० में हुआ था) । यदि ये दोनों नाटक अपने यथार्थ ऐतिहासिक घटनाओं का सत्य-सत्य दर्पण होते, तो अच्छा होता, किंतु इनपर इतिहास से हटकर बहुत मिथ्या से काम लिया गया, जिससे इनका प्रभाव कम हो गया । कोल्हापुर के रणसिंह राव और ओवरसियर ने नारायणराव के खून पर एक बड़ा नाटक लिखा है, और कारलेकर ने अफ़ज़लख़ाँ के खून को नाटक के रूप में वर्णन किया है । टीपू सुलतान और दामाजी पंत इत्यादि पर भी नाटक लिखे गए हैं, किंतु इनमें बहुत कुछ अस्वाभाविकता पाई जाती है, अतः इनके वस्त्र और आभूषण और दरबार से इनकी वास्तविक महिमा प्रकट नहीं होती; और यही कारण है कि देखने-वालों पर इनका, जैसा चाहिए वैसा, प्रभाव नहीं पड़ता । नारायणराव का वध और झाँसी की रानी का विद्रोह अब तक कई बार स्टेज पर खेले गए, किंतु इनके आवश्यक सुधार की ओर लेखक या कंपनी ने ध्यान नहीं दिया ।

दामाजी पंत बेदर का एक सरदार था । यह बड़ा तपस्वी और ईश्वरभक्त था । बेदर-राज्य में एक बार अकाल पड़ा । दीन-दुखियों की सहायता के लिये दामाजी पंत ने सर-कारी मालगुज़ारी का वसूल किया हुआ अन्न लुटा दिया ।

बेदर के राजा को यह अच्छा न लगा, अतः उसने दामाजी के लिये दंड का विधान किया। दामाजी पंत पंढरपुर के विठोबा का अनुयायी था। उस समय मनीआर्डर का प्रचार न था, और यह काम महाजनों से लिया जाता था। अतः विठोबाजी महाजन के वेष में एक बहुत बड़ी रक़म लेकर उस नष्ट हुए अन्न की पूर्ति में राजा के सम्मुख उपस्थित हुआ और रुपया दे दिया। दरबार के समय दामाजी पंत भी बुलाए गए। राजा ने रुपया प्राप्त होने का हाल कहा और उनको आज्ञा दी कि उस महाजन को उपस्थित करो। दामाजी इसका रहस्य समझ गए और विचार किया कि केवल मुझे बचाने के लिये विठोबा को महाजन का वेष धारण करना पड़ा और उससे दामाजी को बड़ा पछतावा हुआ। विठोबाजी को बुलाने का कारण यह हुआ कि उसके रूप और चाल-ढाल ने राजा पर एक विशेष प्रभाव किया था। दामाजी पंत ने इस पछतावे में नौकरी छोड़ दी, किंतु इससे विठोबाजी को देखने की जो लालसा राजा के हृदय में उत्पन्न हो चुकी थी, वह दूर नहीं हुई, वरन् वह दामाजी से आग्रह करता था कि विठोबाजी को लाया जाय। अंत को अनेक कठिनाइयों के बाद दामाजी ने राजा को विठोबाजी का दर्शन कराया। इस घटना के संबंध में जो नाटक लिखा गया, वह अव्यावहारिक-सा है, जिसमें बहुत कुछ सुधार की आवश्यकता है। यदि इसका ऐतिहासिक घटनाओं से सुधार किया जाय, तो उससे मराठी नाटकों का सौंदर्य बढ़ जाय।

'शंकर-दिग्विजय' नामक नाटक अन्ना साहब किर्लोसकर ने, जो मराठी संगीत-नाटकों के आविष्कर्ता हैं, लिखा है। इस नाटक का अभिनय किर्लोसकर नाटक कंपनी करती थी। किर्लोसकर कंपनी में मोज़मदार, माटेकर, भावराव, कोलटकर और मोरोबाबा घोलीकर बहुत अच्छे ऐक्टर और काम करनेवाले थे। मोज़मदार पहले शकुंतला का पेस्ट करते थे, बाद में भावराव कोटकर शकुंतला का काम शाकुंतल-नाटक में करने लगे और सुभद्रा का काम सौभद्र-नाटक में करते थे, और मोरोबाबा घोलीकर दुष्यंत का काम करते थे। शंकर दिग्विजय नाटक में शंकराचार्य का आना और उनके जीवन-वृत्तांत और बुद्ध-धर्म पर ब्राह्मण-धर्म का सफलता प्राप्त करना दिखाया गया है। इसमें शंकराचार्य की जीवनी, नाटक के लिये उपयुक्त नहीं है, और यही कारण है कि यह नाटक प्रभावकारी नहीं होता। माधवराव प्रथम गणोत्कर्ष में संभाजी की दुष्टता का वर्णन है। बाजीराव मस्ताने, पानीपत का युद्ध, बाजी देशपांडे, राणा भीमदेव, टीपू सुलतान का प्रहसन, अफ़ज़लख़ाँ का प्रहसन, निश्चयाची पगड़ी, श्रीशिवाजी नाटक, निर्वैर मालूसरे, गुलचन चासोड़ या पानीपत का बदला, इत्यादि ऐतिहासिक नाटक हैं। ऐतिहासिक नाटकों का वास्तविक मनोरंजन उसी समय संभव है, जब कि वह ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ चलें। किंतु मराठी नाटकों में यह दोष पाया जाता है कि वह प्रायः ऐतिहासिक घटनाओं की बड़ी उपेक्षा करते हैं, जिसके कारण देखनेवालों पर जैसा चाहिए वैसा प्रभाव नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है कि पात्रों का पहनावा और ढंग ऐतिहासिक दृष्टि से उस समय के अनुकूल हो—जैसे शिवाजी यदि स्टेज पर लाए जायँ, तो उनका पहनावा भी वैसा ही दिखाना चाहिए, जैसा उनके समय में प्रचलित था। यदि प्राचीन समय के लोगों को वर्तमानकालिक वस्त्र पहनाकर स्टेज पर लाया जाय, तो वह बिलकुल अशोभित और अप्रभावकारी होगा। इसी तरह औरंगज़ेब यदि स्टेज पर एक नवयुवक की आकृति में दिखाया जाय, तो देखनेवालों पर उसका भी कुछ प्रभाव न होगा, क्योंकि इतिहास हमारे सामने औरंगज़ेब का जो चित्र उपस्थित करता है, उसमें औरंगज़ेब एक परिपक्व आयु का और गंभीर रूप में परिलक्षित होता है। किसी नाटक-लेखक ने एक नाटक शिवाजी और औरंगज़ेब की पुत्री के विवाह के नाम से लिखा है। यह सिर से पैर तक ऐतिहासिक सत्य के विरुद्ध है। शिवाजी का दिल्ली में बंदी होना यथार्थ घटना के विरुद्ध है, क्योंकि शिवाजी आगरे में बंदी हुए थे, न कि दिल्ली में। इन दोषों को शाहूनगर-वासी कंपनी ने एक सीमा तक दूर करने की चेष्टा की है, किंतु दूसरी कंपनियों ने कुछ भी नहीं किया। कुछ नाटक-लेखक या नाटक कंपनियाँ ऐतिहासिक घटनाओं को अपने विषय के अनुसार बना लेती हैं, या जिस प्रकार उनको स्टेज पर उचित प्रतीत होता है, उनकी मौलिकता में परिवर्तन कर लेती हैं। किंतु ऐतिहासिक नाटकों में इस प्रकार का वैयक्तिक हस्तक्षेप नितांत अनुचित है,

क्योंकि नाटक भी एक सीमा तक सर्व-साधारण की शिक्षा का द्वार होते हैं, और उनमें असत्य घटनाओं के प्रदर्शन से उनका यथार्थ उद्देश्य जो शिक्षा है, उसका नाश हो जाता है, और अनजान लोगों में बड़ा भ्रम फैल जाता है । महाराष्ट्र इतिहास पर वर्तमानकालिक अनुसंधान से बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है । मराठी नाटक प्रायः प्राचीन महाराष्ट्र-इतिहास के आधार पर निर्मित हुए हैं, किंतु, यदि, उनमें आधुनिक ऐतिहासिक अनुसंधान के अनुसार परिवर्तन कर दिया जाय, तो बहुत अच्छा होगा और जिस प्रकार नाटक-कंपनियाँ सार्वजनिक हित के कामों में आर्थिक सहायता करती हैं, उसी प्रकार, यदि, वह ऐतिहासिक नाटकों को आधुनिक अनुसंधान के अनुसार परिवर्तन कराने में सहायता करें, तो जनता के कल्याणकारी अभीष्ट के प्रतिकूल न होगा और इससे भारतीय राष्ट्र का भी उपकार होगा । मराठी ऐतिहासिक नाटक संगीत में भी लिखे गए हैं, किंतु ऐतिहासिक सत्यताओं का कविता में प्रकट करना अधिक लाभदायक नहीं है, क्योंकि दर्शकों का पूरा ध्यान गानों की ओर लगा रहता है और वे वास्तविक घटना से शिक्षा ग्रहण करने की कुछ भी परवा नहीं करते । इसके अतिरिक्त घटनाओं का यथार्थ चित्र जिस उत्तमता के साथ ऐक्टर के द्वारा गद्य में खींचा जा सकता है, उस उत्तमता से पद्य के द्वारा नहीं प्रकट किया जा सकता । इसलिये ऐतिहासिक नाटक पद्य के स्थान में गद्य में अधिक उचित और उपयोगी हो सकते हैं ।

सामाजिक नाटक

सामाजिक नाटकों में जो नाटक सबसे पहले लिखा गया, उसका नाम 'मार एलएल० बी०' का फ़ार्स (farce) था । इसमें अँगरेजी शिक्षा के हानिकारक परिणाम दिखाए गए हैं । जैसे इस शिक्षा से हम शारीरिक-दृष्टि से दुर्बल होते जाते हैं, हमारे चरित्र भ्रष्ट हो गए हैं, गुरुजनों की प्रतिष्ठा और आदर कम होता जाता है, नई-नई रीतियों को प्राचीन रीतियों पर महत्त्व दिया जाता है, अपने अधिक ज्ञान का एक घमंड हममें उत्पन्न होता है जिससे कि मिथ्या अहंकार और अहंमन्यता हममें उत्पन्न होती है । यह ड्रामा मोंगलीकर कंपनी पूना इत्यादि बड़े-बड़े स्थानों पर करती थी । इसमें नवीन शिक्षा और नवीन प्रणाली की हँसी उड़ाई जाती थी, इसलिए साधारण दर्शकों की इस खेल में बड़ी भीड़ होती थी । सामाजिक विषय का दूसरा नाटक जो तैयार हुआ, उसका नाम 'जरठोद्वाह' है । इस नाटक में एक बूढ़े मर्द के साथ जवान लड़की का ब्याह होना और उसके बुरे परिणाम दिखाए गए हैं । तीसरा सामाजिक नाटक नारायण बापूजी काँटेकर ने लिखा है । उसका नाम तरुणी शिक्षण है । इस नाटक में वर्तमान-काल की शिक्षा और नवीन आलोक के प्रभाव से जो परिणाम उत्पन्न हुए, उनका उल्लेख है । अतः भारतीय स्त्रियों की स्वतंत्रता, पुरुष और स्त्रियों के समान अधिकार, विधवाओं का पुनर्विवाह, अनिवार्य विवाह की निंदा, प्रीति के पश्चात् विवाह का होना, स्त्रियों के पहनावे और रहनगति में सुधार, और प्रतिमा-पूजन और छूत के मिटाने पर ज़ोर दिया गया है, और जाति-प्रथा के बंधन की बड़ी हानि यह बताई गई है कि इसके कारण हिंदू उन्नति नहीं कर सकते । भारतवर्ष में अँगरेज़ी शासन के आरंभ में इस प्रकार के विचार सामान्य रूप से उत्पन्न हो गए थे, इससे उस काल के लोगों के विचार उनके बिलकुल विरुद्ध थे । शिक्षित समाज ने इन नए विचारों का अनुसरण किया और इसके बुरे परिणाम उठाए । इस नाटक में इन नए विचारों का खंडन करते हुए वर्तमान-काल की स्त्री-शिक्षा के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं । जिस समय शीघ्रता से सुधार करनेवाले सुधारक लोग, जो अँगरेज़ी पहनावे और अँगरेज़ी रहन-सहन का अंधाधुंध अनुसरण करते थे, बहुत अधिक पैदा हो गए थे । उसी समय में ऐसे सुधारक भी विद्यमान थे, जो इस अंधाधुंध अनुकरण के प्रतिकूल थे और कहते थे कि प्राचीन और अर्वाचीन दोनों रीतियों में से अच्छी बातें चुनकर उनपर चलना चाहिए । जो सुधारक लोग पाश्चात्य फ़ैशन के अनुयायी थे, उनकी यह भूल थी कि उन्होंने उनके साथ-साथ भारतवर्ष के जलवायु और अन्य दशाओं को लक्ष्य में नहीं रक्खा था । ऐसे नाटकों में स्त्रियाँ नए फ़ैशन के पहनाव में स्टेज पर आती थीं, बैंड बजने की जगह और अन्य जनता के मनोरंजन के स्थानों में सैर करती हुई और स्वतंत्रता के गीत गाती हुई दिखाई देती थीं । इस प्रकार के खेल पूना और उसके निकटवर्ती लोगों के लिए एक नई बात थी । इसलिए पूना नगर में उसके देखने के लिए वह बड़ी दूर-दूर से और बहु संख्या में आते थे । सन् १८१० और

९१ ई० में कनसेंट बिल पास हुआ और प्रत्येक ओर धार्मिक-सुधार और फ़ैशन के सुधार की लहर दौड़ गई। ये ही कारण थे कि नाटक के खेलों में दर्शकों की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जाती थी और नाटक कंपनियाँ अपने खेलों में उन्नति करती जाती थीं।

कंसेंट बिल का नाटक

कनसेंट बिलका तात्पर्य यह था कि स्त्री-पुरुषों में उस समय तक संबंध पैदा किए न जायँ, जब तक कि स्त्रियों की आयु १२ वर्ष की न हो जाय। इस बिल के संबंध में दो दल हो गए; एक दलका विचार था कि हमारे धार्मिक और सामाजिक विषयों में सरकार को हस्तक्षेप न करना चाहिए, समाज स्वतः इसका सुधार कर लेगा, क्योंकि यदि इस समय सरकार को इस छोटे-से विषय में हस्तक्षेप करने का अवसर दिया गया, तो वह भविष्य में इससे बड़े-बड़े धार्मिक और सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप करने लगेगी और यह हमारे लिए हानिकारक होगा। इस विचार के समर्थक और प्रचारक तिलक और सर रमेशचंद्र मित्र जज इत्यादि थे। इसके विरुद्ध जो दूसरा दल था, उसमें जस्टिस रानाडे, मलाबारी, आगरकर इत्यादि थे। इनका यह विचार था कि जब जाति के व्यक्तिगण अपनी लाभदायक बातों पर चलना पसंद नहीं करते, तो सरकार का हस्तक्षेप करना विहित है, जिससे देश में सुधार हो। सारे तर्क-वितर्क के पश्चात् अंततः सरकार की ओर से वह बिल स्वीकृत हो गया। इस नाटक में इस प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप से जो बुरे परिणाम उत्पन्न हुए, वह बताए गए हैं।

कन्या-विक्रय-दुष्परिणाम

सन् १८९२ ई० में यह नाटक बंबई में इस कंपनी ने किया था। इसमें यह बताया गया है कि हरभटजी नामक ब्राह्मण ने अपनी युवती कन्या गंगो का ब्याह रुपए के लोभ में एक बूढ़े ब्राह्मण दामोदर पंत से कर दिया। कुछ दिन बाद दामोदर पंत मर गया और गंगो जवान विधवा होकर नाना प्रकार की विपत्तियों में ग्रस्त हो गई। अंत में उसके बच्चा उत्पन्न हुआ, और कलंकित होने के भय से गंगो ने उस बच्चे को मार डाला। यह एक सामान्य कोटि का नाटक है।

राव साहब गोपाल अनंत भट्ट ने परमावती नाम का एक नाटक लिखा है, जिसमें हमारे समाज की वर्तमान दशा को बतलाया है। इसमें लेखक ने अनेक प्रश्नों पर प्रकाश डाला है, अतः कृषि और बाल-विवाह पर भी विचार प्रकट किए गए हैं। इसमें पात्रों के चरित्र-चित्रण का बिलकुल ध्यान नहीं रक्खा गया। विविध प्रश्न एक ही स्थान पर एकत्रित कर दिए, जिससे आनंद जाता रहा। कौंटकर ने "शीघ्र सुधारणाचे परिणाम" अर्थात् शीघ्र सुधार करने के बुरे परिणाम पर नाटक लिखा है। इसमें शीघ्रता से सुधार करने से जो दूषण उत्पन्न होते हैं, उनको बताया है।

संगीत-नाटक

संगीत-नाटकों का आविष्कार बापूजी त्रिलोकेकर ने किया। प्राचीन पौराणिक नाटक भी संगीत ही थे, किंतु उनमें गाने का काम केवल एक ही सूत्रधार के अधीन रहता था। परंतु इन नवाविष्कृत नाटकों में गाने का काम अनेक ऐक्टरों को सौंप देने से दर्शकों को प्रत्येक के संगीतालाप से आनंद लाभ करने का अवसर मिल जाता था और नाटक के खेलों में समधिक मनोरंजन और मनोविनोद होता था। सन् १८८९ ई० में त्रिलोकेकर ने नल-दमयंती पुस्तक को गद्य-पद्य मिलाकर लिखा। शंकर मोरो अंतरे, देव नारायण डोंगरे और नारायण हरि भागवत इत्यादि गायनाचार्यों ने संगीत की शिक्षा में सहायता दी और 'हिंदू-सन्मार्गबोध-मंडली' इन नाटकों को स्टेज पर लाई। इसके बाद बलवंत पांडुरंग या अण्णा साहब किर्लोसकर ने इन संगीत-नाटकों को समुन्नत करने में सामातीत प्रयत्न किया। किर्लोसकर केवल गाना-बजाना जानता था और गान-विद्या से पूर्ण परिचित था, परंतु लिखने-पढ़ने के विचार से वह विद्वान् न था। उस समय हारमोनियम आदि बाजे भी न थे। इसके सिवा इसने तंबूरा, सारंगी इत्यादि से ही ऐक्टरों को शिक्षा देकर नाटक को सफल बनाने का प्रयत्न किया। उसने शाकुंतल, सुभद्रा और रामराज-वियोग संगीत-नाटक तैयार किए। किर्लोसकर को जैसे उत्तम ऐक्टर मिले थे, ऐसे ऐक्टर किसी कंपनी को नहीं मिले, और न ऐसी ख्याति किसी दूसरे संगीत-नाटक की हुई, और रुपया भी जितना उसको मिला, फिर किसी कंपनी को नहीं मिला। यह कंपनी अब तक विद्यमान है। इसकी गणना सुविख्यात कंपनियों में है। त्रिलोकेकर और किर्लोसकर नाटक अभी तक पौराणिक नाटकों की ही शैली पर थे, परंतु उनमें

संगीत के संमिलित करने से उन्होंने उनके रूप में कुछ सुधार किया। पौराणिक नाटकों में गजानन, सरस्वती और विदूषक स्टेज पर आया करते थे। इन तीनों को उन्होंने बिदा कर दिया। नाटक का आरंभिक परदा उठते ही मंगलाचरण के लिये तीन आदमी आते थे, फिर दो चले जाते थे, केवल एक सूत्रधार रह जाता था। उसके पश्चात् नटी अर्थात् सूत्रधार की पत्नी आती थी, और परस्पर इस प्रकार वार्तालाप होता जिससे कि प्रकट हो जाय कि नाटक में क्या होनेवाला है। उन्होंने इन नाटकों के ऐक्टरों, कपड़ों और बनाव-शृंगार में भी बहुत परिवर्तन किया। हरिश्चंद्र, दुष्यंत, अर्जुन और कृष्ण इत्यादि महान् व्यक्ति जब स्टेज पर आते थे, तो उनके शिरों पर मुकुट और कानों में कुंडल इत्यादि होते थे। उन्होंने ये मुकुट और कुंडल बिलकुल निकाल दिए और उनके स्थान पर आजकल के राजाओं के कपड़ों को पहना दिया। कृष्णजी इत्यादि देवताओं के चार हाथ होते थे, अब चार के स्थान में केवल दो रह गए। पहले उल्लेख हो चुका है कि राक्षसों का स्वाँग किस प्रकार भरा जाता था, और विदूषक के स्वाँग के संबंध में भी लिखा जा चुका है। अब विदूषक का पहनावा इतना बदल दिया गया है जिस प्रकार अँगरेज़ी नाटकों या सरकस में मसखरे का होता है। पहले राक्षस, नाटकों में धूमधाम और कर्कश स्वर के साथ स्टेज पर आते थे, अब उनको साधारण मनुष्य की तरह स्टेज पर आने को विवश किया गया। आपा साहब किर्लोसकर की नाटक कंपनी, जिसको स्थापित हुए ४० वर्ष से अधिक समय व्यतीत हुआ, अभी तक विद्यमान है। सन् १९०९ ई० में इस कंपनी ने अपना निजी थिएटर पूना में बना लिया है। इस थिएटर में आजकल अच्छे-से-अच्छे व्याख्यानदाता अपने-अपने व्याख्यान देते हैं और अनेक सार्वजनिक सभाएँ भी इसीमें होती हैं, और प्रति वर्ष नाटक कंपनियों का एक संमेलन होता है, जिसमें किसी सुप्रसिद्ध व्यक्ति को सभापति निश्चित करके कंपनियाँ अपनी समस्त कठिनाइयों को प्रकट करती हैं, और कानफ्रेंस उनकी उन्नति के उपायों पर विचार करती है। ऊपर लिखा गया है कि आपा साहब किर्लोसकर ने तीन नाटक लिखे हैं, उसी शैली पर डोंगरे ने संगीत इंद्र सभा नाटक लिखा है। किर्लोसकर और डोंगरे के समय में हारमोनियम इत्यादि बाजे न थे, इसलिये तंबूरे और सितार पर गाना पड़ता था, जिसके लिये सच्चा राग जानने की आवश्यकता होती थी। ऐसे लोगों की नौकरी यदि जाती भी रहे, तो वह कहीं न कहीं कुछ कमा सकते हैं। इसके विरुद्ध आजकल के, राग से अपरिचित नक़ली गानेवालों की नौकरी जाती रहे, तो सिवाय भूखों मरने के कोई उपाय नहीं। डोंगरे और किर्लोसकर के नाटकों में कालिदास, भवभूति और शूद्रक जैसे संस्कृत नाट्यकारों के नाटकों के अनुवाद ही होते थे, इसलिये दर्शकों के मनों पर इन नाटकों का गंभीर प्रभाव पड़ता था, विशेषतः गंभीर लोगों को उन विचित्रताओं के देखने से बहुत आनंद आता था। डोंगरे और किर्लोसकर की कंपनियों में असली राग गाया जाता था। इसके विरुद्ध आजकल जितनी संगीत कंपनियाँ हैं, उनमें फ़ारसी ढंग के गाने गाए जाते हैं, और वह असली और कलापूर्ण गाना नहीं होता।

मिस्टर पाठोर ने संगीत संभाजी नाटक और मिस्टर बरवे ने महाराणा प्रतापसिंह और संगीत प्रेमवंदन नाटक लिखे हैं, जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं को प्रकट किया गया है। इसके पश्चात् भी बहुत से संगीत-नाटकों में ऐतिहासिक घटनाएँ दिखाई गई हैं। परंतु इस प्रकार संगीत-नाटकों में किसी घटना का उत्तमतापूर्वक प्रकट करना लगभग असंभव है, क्योंकि जिस उत्तमता से गद्य में घटनाओं और हार्दिक-भावों का प्रकाश किया जा सकता है, उस उत्तमता से पद्य में नहीं हो सकता। और जिस प्रकार एक के बाद दूसरे विचार मनुष्य के हृदय में उत्पन्न होते हैं, वह संगीत में उसी क्रम से प्रकट नहीं किए जा सकते। संगीत में केवल गायन ही से संबंध होता है। इसलिये ऐसे नाटकों में, जैसा चाहिए वैसा, आनंद नहीं प्राप्त होता।

शेक्सपियर के कुछ नाटकों का अनुवाद संगीत में भी हुआ है, किंतु शेक्सपियर के नाटकों का तात्पर्य यह है कि लोगों के मनोगत भावों को उभारा जाय। यह बात गद्य ही से भलीभाँति लोगों के हृदयों पर प्रभाव कर सकती है, संगीत में ऐसा प्रभाव कहाँ। विशेषतः किसी घटना के प्रकाश में जो बात गद्य में उत्पन्न कर सकते हैं और जिसका विचार चिरकाल तक हृदय पर स्थिर रक्खा जा सकता है, वह राग के ऊँ-आँ से कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता। शेक्सपियर के नाटक का आशय संगीत में करने से नष्ट हो जाता है। बरवे ने लोकमत विजय नाम

से एक नया नाटक निर्माण किया है। सन् १९१७ में जो-जो समाचार-पत्र बंद हुए, और जिन-जिन नेताओं अर्थात् तिलक और नातू-भाइयों इत्यादि-इत्यादि पर कारागार की विपत्तियाँ आईं, भाषण और लेखन की स्वतंत्रता नष्ट हुई, और विद्रोह की जिस दुराशंका में सरकार आबद्ध हो गई थी, उसमें इन सब बातों और घटनाओं का चित्र खींचा गया है। ऐक्टरों को इस नाटक में ऐसे व्याख्यान याद कराए गए जिनसे लोगों के हृदय विशेष रूप से प्रभावित होते थे।

मिस्टर पाटनकर ने प्रेमदर्शन और कर्कशादमन संगीत नाटक लिखे हैं। प्रोफ़ेसर केलकर ने भी जिनका ऊपर उल्लेख किया गया "टॉमिंग ऑफ़ दी श्रू" का अनुवाद "त्राटिका" किया है। इसकी तुलना में पाटनकर का कर्कशा-दमन नाटक कुछ भी नहीं है। त्राटिका में जो विनोद और मनोरंजन उत्पन्न किया गया है, उसका शतांश भी पाटनकर-संगीत में नहीं पाया जाता। मिस्टर पाटनकर के नाटक प्रेमदर्शन में इस बात को बतलाया गया है कि दुर्भिक्ष-संबंधी कामों में जो ऑफ़िसर नियुक्त होते हैं, उनमें से कितनों ही की दृष्टि तो रुपए-पैसे पर होती है, और कुछ की स्त्रियों पर; और कुछ ऐसे होते हैं जो अपने लाभ के लिये ग़रीबों पर भाँति-भाँति के अत्याचार करते हैं। संगीत रूढ़ि-विनाशक नाटक में बाल-विवाह, विधवा-विवाह और चाय पीने के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं। इस नाटक में विविध बातों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया था, इसलिये यह अधिक पसंद नहीं किया गया।

मिस्टर श्रीपाद कृष्ण कोलटकर एक प्रसिद्ध नाटक-लेखक हैं। उन्होंने कई नाटक लिखे हैं। मूकनाटक, वीरतनय, गुप्तमंजूषा इत्यादि के अतिरिक्त और भी कई नाटक लिख रहे हैं। मूकनाटक का कथानक इस प्रकार है—शरचंद्र-राजा की एक बहन ब्याह के योग्य थी, जिसका नाम सरोजिनी था। विक्रांत नाम एक राजा था। उसे सरोजिनी से एक प्रकार का प्रेम हो गया था। उन दोनों का निकट-संबंध प्रकट करने के लिये इतना कहना पर्याप्त है कि विक्रांत शरचंद्र की स्त्री रोहिणी का फुफेरा-भाई था। शरचंद्र को मद्य-पान की बुरी टेव पड़ गई थी। एक बार नशे की हालत में उस पर आक्रमण किया गया और उस आक्रमण से विक्रांत ने उसको छुड़ाया। इसके बाद विक्रांत कृत्रिम गूँगा बनकर शरचंद्र के यहाँ नौकर हो गया और शरचंद्र की स्त्री से जो उसकी मातृस्वसा होती थी, सरोजिनी के प्रेम का अपना समस्त वृत्तांत कह दिया। रोहिणी ने विक्रांत को सरोजिनी से मिला दिया। सरोजिनी ने विक्रांत से इस प्रतिज्ञा पर विवाह करने का वचन दिया कि वह किसी उपाय से शरचंद्र का मद्य-पान का व्यसन छुड़ा दे। उसने बहुत कुछ प्रयत्न किया, किंतु असफल रहा और निराश होकर घर जाने को उद्यत हो गया। शरचंद्र पर जिन लोगों ने आक्रमण किया था, उनको केयूर-नामक एक राजा ने इस प्रयोजन से भिजवाया था कि शरचंद्र के मर जाने पर उसके राज्य पर अधिकार कर ले। स्वयं केयूर भी बधिर बनकर शरचंद्र के दरबार में विद्यमान था, और शरचंद्र के अमात्य वैकुंठ से सधबध गया था। विक्रांत जब शरचंद्र के यहाँ गूँगा बनकर रहता था और अभी सरोजिनी से उसकी भेंट नहीं हुई थी, उसी अवस्था में सरोजिनी विक्रांत पर आसक्त हो गई और चाहती थी कि विक्रांत उससे ब्याह कर ले, परंतु विक्रांत सहमत न हुआ। थोड़े समय बाद विक्रांत की ओर से एक व्यक्ति सरोजिनी के लिये सँदेशा लाया। उस समय पिछला सब भेद खुल गया और इन दोनों का ब्याह हो गया। वीरतनय लोकटकर का मौलिक नाटक है। लोकटकर की भाषा प्रांजल और विनोद-पूर्ण है। इसके गाने उच्च-कोटि के हैं, जिससे सामान्य समझ के लोग उनको हृदयंगम नहीं कर पाते। इसके नाटक में नौकर से लेकर बादशाह तक अत्यंत स्वच्छ, सरल और सभ्यता-पूर्ण शैली में बातचीत करते और अलंकारों और उपमाओं का व्यवहार करते हैं। यह निस्संदेह एक दोष है कि बड़े और छोटे की भाषा में कोई अंतर नहीं किया गया।

मिस्टर देवल ने शारदा, शाप-संभ्रम, दुर्गा, मृच्छकटिक आदि नाटक लिखे हैं। इनमें से सिवाय शारदा के शेष सब अनुवाद हैं। शारदा की कहानी यह है—

कांचन भट्ट की शारदा नाम की एक युवती पुत्री थी। भद्रेश्वर दीक्षित के द्वारा भुजंगनाथ-नामक एक धनवान् बूढ़े के साथ इसके विवाह की बातचीत पक्की हो गई। शंकराचार्य का एक शिष्य कोदंड इस प्रथा को मिटा देने में लगा हुआ था कि कोई युवती लड़की किसी बूढ़े के साथ न ब्याही जाय। जब भुजंगनाथ और शारदा

के विवाह की रीति हो रही थी और पाणिग्रहण के पूर्व के मंत्र पढ़े जा रहे थे और होम हो रहा था कि अकस्मात् कोदंड आया और प्रकट किया कि वर-कन्या एक गोत्र के हैं, इसलिये इन दोनों का विवाह शास्त्र के विरुद्ध है। इस घटना से भुजंगनाथ और कांचन भट्ट दोनों व्याकुल हो गए और शारदा की भी लज्जा के मारे यह दशा हुई कि उसने जीने की अपेक्षा मर जाना अच्छा समझा और आत्महत्या कर लेने के विचार से वह एक सरोवर के निकट गई। निकट ही था कि वह अपनी जान दे देती कि कोदंड ने उसका हाथ पकड़ लिया। परंतु शारदा इस प्रतिज्ञा पर अपना संकल्प त्यागने पर उद्यत हुई कि कोदंड उससे ब्याह कर ले। यद्यपि कोदंड ने इस सुधार के लिये कि बूढ़े और जवान का ब्याह न हो, पक्का प्रण कर लिया था कि वह आजन्म ब्रह्मचारी की दशा में रहेगा, परंतु शारदा के आग्रह पर वह ब्याह करने को उद्यत हो गया।

मिस्टर देवल के जितने नाटक हैं, वह सब संस्कृत के अनुवाद हैं। उनमें मिस्टर देवल को किसी प्रकार का कष्ट उठाना नहीं पड़ा। इसके विरुद्ध शारदा-नाटक में प्रत्येक बात को संगीत और कथानक में प्रकट करने से उनको असाधारण परिश्रम करना पड़ा। मिस्टर देवल ने शारदा-नाटक में विभिन्न बातों को एक ही जगह जमा कर दिया है। बूढ़े और जवान का ब्याह, देशस्थ और कोकनस्थ ब्राह्मणों का ब्याह, होम से पहले ब्याह का टूट जाना, जो धर्मतः विहित है, ऐसी विभिन्न बातों के स्थान पर यदि एक ही प्रश्न—बूढ़े और जवान के ब्याह की आलोचना की जाती, तो अच्छा होता। शारदा-नाटक में कोदंड को यदि उसके उच्च उद्देश्य अर्थात् बूढ़े और जवान को ब्याह न होने तक परिमित न रक्खा जाता, तो उचित था। ब्रह्मचारी रहने के महान् और पवित्र संकल्प के पश्चात् एक सुंदरी लड़की के हाथ लगते ही ब्याह करने का विचार कर लेना यथार्थ उद्देश्य पर बुरा प्रभाव डालता है। किंतु इसके विपरीत कांचन भट्ट और भुजंग का चित्र बहुत अच्छा खींचा गया।

देवल के नाटक में गद्य-पद्य भाषा बहुत सादी और ऐसी है, जिसे सर्वसाधारण समझ सकते हैं और नाटक का गाना उस कला पर अवलंबित है। एक समय में यही नाटक अच्छा और अत्यंत प्रसिद्ध था।

खाडिलकर भूतपूर्व संयुक्त-संपादक 'केसरी' के कई नाटक गद्य और संगीत में बहुत अच्छे हैं और भाषा इत्यादि की दृष्टि से कोलटकर नाटकों जैसे हैं। एक दूसरा नाटक-लेखक गड़करी अभी हाल ही में स्वर्गवासी हुआ है। इसके नाटकों में खाडिलकर और कोलटकर दोनों के नाटकों के गुण-दोष सामूहिक दृष्टि से उच्च कोटि के दिखाई देते हैं। 'एकच प्याला' में प्रकट किया गया है कि प्रत्येक अच्छी या बुरी टेव के ग्रहण करते समय मनुष्य पहले थोड़े ही से आरंभ करता है और आगे चलकर वह अधिकता में पड़ जाता है और फिर उससे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है।

खाडिलकर, कोलटकर और गड़करी के नाटक आजकल बहुत ही लोकप्रिय और मुख्य हैं। विशेषतः पूना और बंबई में गड़करी के 'एकच प्याला' में लोगों को बहुत ही आनंद प्राप्त होता है। खाडिलकर का एक नाटक 'अर्जुन और पुष्पधन्व' है, जो महाभारत से लिया गया है। इसका विवरण यह है कि अर्जुन और पुष्पधन्वा एक ऐसे देश पर चढ़ाई करने के लिये गए, जहाँ स्त्रियाँ-ही-स्त्रियाँ थीं। जिस समय पुष्पधन्वा स्त्रियों की सेनानायिका रूपमाया के सम्मुख आया, तो वह उसके रूप-लावण्य को देखकर आसक्त हो गया और रूपमाया भी पुष्पधन्वा पर मोहित हो गई। परिणाम यह हुआ कि दोनों का ब्याह हो गया। स्त्रियों की रानी प्रेमिला बड़ी ही गरबीली थी। अर्जुन की वीरता इत्यादि को देखकर उसका आधे से अधिक अहंकार जाता रहा। नदी में डूबते समय अर्जुन ने प्राण-रक्षा की थी, इससे उसका रहा-सहा घमंड भी जाता रहा और इन दोनों का परस्पर ब्याह हो गया। खाडिलकर को इस नाटक में यह दिखाना अभिप्रेत है कि स्त्रियाँ स्वभावतः दुर्बल हृदय हैं, और जिस प्रकार छिपकिली के आगे बिच्छू अपना डंक डाल देता है, इसी तरह स्त्रियों का घमंड पुरुषों के आगे व्यर्थ हो जाता है। टेनिसन ने 'प्रिंसेस' में स्त्रियों को तुच्छ प्रकट किया है, परंतु इतना नहीं जितना कि इस नाटक में खाडिलकर ने बताया है। खाडिलकर के नाटकों में प्रसिद्ध ये हैं—कीचक-वध, सवाई माधवराव और भावबंदकी।

आजकल गांधीजी के आंदोलनों पर भी नाटक लिखे गए हैं, जैसे कि खादी की टोपी, हिंदू-मुसलमानों का पारस्परिक

मेख, शुद्धि, छूत और अछूत का भेद रखना इत्यादि। इस प्रकार के नाटक मिस्टर वरोड़कर लिखते हैं। संगीत-नाटकों में राने और पाटनकर के नाटकों से लोगों के आनंद में बड़ा अंतर आ गया है। पाटनकर की सत्य विजय और विक्रम शशिकला इत्यादि नाटकों में बहुत ही तुच्छ विचारों, मिथ्या शब्दों और असभ्य शैलियों का प्रदर्शन किया गया है, जिसका आदर एक सामान्य कोटि के लौंडों के नाच से अधिक नहीं किया जा सकता। कितने ही विद्वानों ने पाटनकर से पूछा कि ऐसी असभ्यता के नाटक, जिनसे लोगों के चरित्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है, क्यों लिखते हो? उसने उत्तर में कहा—जब नाटक इतने बुरे हैं, तो लोग क्यों उनके देखने के लिये अधिक संख्या में एकत्रित होते हैं। यह कोई सम्यक् उत्तर नहीं है। नाटक लिखनेवालों पर लोगों के चरित्र-सुधार का उत्तरदायित्व आता है। पाटनकर की मृत्यु के बाद से इस प्रकार के नाटकों का आदर नहीं रहा। आजकल जितने नाटक प्रचलित हैं, उनमें संगीत का अंश अधिक रखने से नाटक का वास्तविक तात्पर्य नष्ट हो जाता है और अवस्था के सुधार का जो प्रयोजन है, वह लुप्त हो जाता है। यह भी एक दोष है कि नाटकों में प्रेम और शृंगार के ही कथानक अधिक होते हैं; दूसरी दोष-पूर्ण बात हमारे नाटकों में यह है कि स्त्रियों व लड़कियों के पार्ट प्रायः लड़के करते हैं। और बातें तो ये कर भी लेते हैं, परंतु जब जवानी के ज़ोर और प्रेम के आवेश के प्रकट करने का अवसर आता है, तो ये लड़के इन प्राकृतिक भावों के प्रकट करने में असमर्थ रह जाते हैं। इस प्रकार की बातों का सुधार इस प्रकार हो सकता है कि इन नाटकों पर न्याय और सिद्धांत के साथ समाचार-पत्रों और साहित्य-पत्रों में समालोचना लिखी जाय और प्रभावशाली व्यक्ति अपने प्रभाव से नाटक-कंपनियों को सुधार की ओर आकर्षित करें। मिस्टर एन्० सी० केलकर, संपादक 'केसरी' ने (जो एक बार नाटक-कानफ्रेंस के सभापति भी थे) सच कहा है कि—"आजकल नाटकों के आदर और सम्मान में जो अंतर आ गया है, उसका कारण यह है कि नाटक का व्यवसाय प्रायः अल्पज्ञ, अल्पबुद्धि, अल्पपठित लोगों के हाथ में आ गया है। उनकी रहन, गति, अशिष्टता और चाल-ढाल से तत्काल प्रतीत हो जाता है कि यह नाटक का आदमी है। क्या ही अच्छा हो कि विद्वान् और पारदर्शी सज्जन इस व्यवसाय को सफल बनाने का प्रयत्न करें, जिसमें सर्वसाधारण को ऐक्टरों की छिछोरी बातों के कारण एक लाभदायक कार्य की ओर से जो दुर्भाव हो गया है, वह दूर हो जाय। इसके अतिरिक्त नाटकवालों का यह कर्तव्य है कि वह अपने बालकों की शिक्षा का प्रबंध करें।" किंतु नाटक-वालों की कानफ्रेंस स्थापित हो जाने से बहुत कुछ आशा बँधती है। क्योंकि इनके वार्षिक अधिवेशनों में परस्पर विचार-विनिमय होता रहता है, और नाटक की कठिनताएँ और अन्य विविध प्रश्नों पर विचार होता रहता है। इससे आशा होती है कि इस कला में भविष्य में उन्नति होगी। किर्लोसकर कंपनी ने अपना स्थायी थिएटर बना लिया है, जैसा कि हम पहले लिख आए हैं। इसके अतिरिक्त उसने एक लायब्रेरी भी खोल दी है, जिसमें नाटक और तत्संबंधी पुस्तकों का संग्रह किया गया है। एक मासिक 'रंगभूमि' नामक पत्र भी जारी हुआ है, जो नाटक ही के विषय में आलोचना करता है।

'मौज' एक साप्ताहिक पत्र है, जिसमें चतुर्थांश नाटक के ज्ञान और ऐक्टरों के समाचारों के लिये रहता है। ये ऐसे लक्षण हैं, जिनसे भरोसा होता है कि अनतिदूर भविष्य में मराठी-नाटकों में बहुत कुछ सुधार कार्य-रूप में परिणत होनेवाला है।

क्रोड़-पत्र (क)

मराठी में सन् १६१८ ई० तक जितने नाटक लिखे गए हैं, उनका ब्योरा यह है—

१.	प्रहसन अर्थात् हँसी-विनोद के नाटक	८२
२.	वेदांती नाटक	२
३.	संगीत साधू नाटक	१५
४.	(गद्य) साधुओं पर	१४
५.	सामाजिक संगीत नाटक ...	२८
६.	(गद्य) सामाजिक नाटक ...	८२
७.	पौराणिक संगीत नाटक ...	८१
८.	पौराणिक (गद्य) नाटक ...	११३
९.	काल्पनिक संगीत नाटक (जिनका कथानक कल्पना पर अवलंबित है)	८०
१०.	काल्पनिक (गद्य) नाटक ...	११६
११.	ऐतिहासिक संगीत नाटक ...	१८
१२.	ऐतिहासिक (गद्य) नाटक ...	६१२

इस ८-९ वर्ष के समय में लगभग २० नाटक अवश्य लिखे गए होंगे। एक मराठी सुप्रसिद्ध समालोचक की यह सम्मति है कि मराठी-भाषा में जो नाटक लिखे गए हैं, उनमें से दो सौ वर्ष के पश्चात् एक भी जीवित न रहेगा और लोग इन सब नाटकों को भूल जायँगे।

(२)

मराठी के वर्तमान लोकप्रिय नाटक

लेखक.	नाटक का नाम.
खाडिलकर	१. (संगीत) द्रौपदी
	२. (,,) विद्याहरण
	३. (,,) मान-अपमान
	४. (गद्य) कांचनगडची मोहना
	५. (,,) भाऊबंदकी (जिसमें पेशवाओं के अंतिम काल में जो फूट फैली हुई थी, उसका चित्र है)
	६. (,,) प्रेमध्वज
	७. (,,) सवत-परीक्षा
	८. (,,) स्वामी माधवरावाचा मृत्यु
	९. (,,) कीचक-वध (कीचक जिसने द्रौपदी को सताया था और जो भीम के हाथ से मारा गया है। कथानक तो यह है। किंतु यह सब उदाहरण के रूप में है। वास्तव में लार्ड कर्ज़न के शासन-काल का चित्र खींचा गया है, इसलिये गवर्नमेंट ने इसको रोक दिया और ज़ब्त कर लिया है।)
कोलटकर	१. (संगीत) वीरतनय
	२. मूक-नायक
	३. गुप्त-मंजूषा
	४. वधू-परीक्षा
	५. जन्म-रहस्य
गडकरी	१. (संगीत) एकच प्याला
	२. (,,) राज-सन्यास
	३. (,,) प्रेम-सन्यास
	४. (,,) भाव-बंधन
देवल	१. (,,) मृच्छकटिक (महाकवि शूद्रक लिखित संस्कृत-नाटक का अनुवाद)
	२. (,,) शारदा
	३. (,,) शांकर-दिग्विजय
	४. (,,) संशय कलोळ
किर्लोसकर	१. (,,) शाकुंतल
	२. (,,) राम-राज्य-वियोग
आगरकर	१. (गद्य) वकार बलिष्ठ
	२. (,,) नाटिका
औंधकर	१. बेबंदशाही
वरेरकर	१. सत्त चे गुलाम
	२. संन्याशा चा संसार
ताड़पत्रिकर	१. गांधी टोपी
भलोड़े	१. निर्वैर सालोमरे
शेटे	१. रक्षाबंधन
	२. लोक-शासन
	३. राम-रहीम
देवस्थली	१. दशाभूल
जोशी	१. राक्षसी महत्वाकांक्षा
नाथ माधव	१. मरहट्यांचा अतनायदन
टपंस	१. शाह शिवाजी
	२. आशा-निराशा
एन०सी० केलकर	१. तृतिया चे बंड
	२. कृष्ण-अर्जुन-युद्ध
भोले	१. अरुणोदय
मोले	१. स्वराज्य-साधन

ये नाटक प्रायः स्टेज पर खेले जाते हैं।

(३)

प्रसिद्ध और सर्वोत्तम ऐक्टर

किर्लोसकर कंपनी, जो प्रसिद्ध संगीत नाटक कंपनी है, उसमें पहले भावराव कोलटकर स्त्री का ऐक्ट अति उत्तम करते थे। इनके बाद नाटेकर यह पार्ट करने लगे। आजकल माधवराव जोशी हीरो का और चाफेकर हीरो-

इन का पार्ट करते हैं। ललित-कला-दर्शक मंडली या कंपनी में पंढारकर हीरो का काम करते हैं, और गुरु हीरोइन का। रंगा बोदेछू नाटक कंपनी (Ranga Bodhechhu Natak Company) में रघुवीर सावकार ज़नाना पार्ट अच्छा करते हैं और वसुभाव भड़कमकर हीरो का पार्ट बहुत अच्छा करते हैं।

ऊपर लिखी हुई ललित-कला-दर्शक कंपनी में इस वर्ष से प्रथम केशवराव भोंसले जो प्रसिद्ध ज़नाना ऐक्टर थे, हीरोइन का पार्ट करते थे। उनका शारदा का ऐक्ट देखने ही योग्य था। इनकी मृत्यु के पश्चात् उनका काम गुरु करने लगे। मिस्टर गुरु का काम भी अच्छा है। केशवराव भोंसले जिस समय शारदा का पार्ट करते थे, उस समय मिस्टर गोरे कोदंड (अर्थात् शारदा नाटक के हीरो) का पार्ट करते थे।

इस समय की सुप्रसिद्ध गंधर्व नाटक कंपनी में राजहंस हीरोइन का पार्ट बहुत ही उत्तम रीति से करते हैं। इनका एकच प्याला संधू (हीरोइन) का पार्ट देखने योग्य है। इस कंपनी में तुलीराम का काम मिस्टर देवधर अद्वितीय करते थे। तुलीराम जो एकच प्याला में अपने मालिक को मदिरा पिलाना सिखाता है, अब इनका काम मिस्टर भांडारकर करते हैं। इस कंपनी में हीरो का पार्ट मिस्टर विनायकराव पटवर्धन करते हैं। भांडारकर से दूसरे नंबर पर मिस्टर वालावलकर हैं। इस कंपनी में मिस्टर बोडस का काम भी अच्छा है। महाराष्ट्र नाटक कंपनी में मिस्टर कारखानीस हीरो का पार्ट बहुत अच्छा करते हैं। थोड़े दिन हुए एक प्रसिद्ध ऐक्टर रूबप का देहांत हो गया, यह जाति का यहूदी था।

अनुरोध !

ऐ सुषमामय मंजु मूर्ति, आ, नयन-निकुंजों में कर वास;
पलक-पल्लवों में छिपकर रह, व्याप न सकें विरत्र के त्रास।
प्रेम चंद्र है उदित हो चुका, थिरक रहा है मोद-प्रकाश;
कहीं नहीं अज्ञान-तिमिर का—उस प्रदेश में है आवास।
जग के कुटिल कटाक्षों से हैं, विकल हो रहे तेरे प्राण;
आ जा सुंदरता की प्रतिमे, बढ़ चलकर उस ओर प्रयाण।
तेरा हीतल शीतल होगा, पाकर मेरी तप्त उसास;
अधरामृत पी शांत करूँगा, इस प्रमत्त मानस की प्यास।

प्रबोधचंद्र

छायावाद की छानबीन

इस मास की सरस्वती में एक 'सुकवि किंकर' महाशय ने 'आजकल के हिंदी कवि और कविता' शीर्षक एक लेख छपाया है। वह लेख जून मास के 'आज' की तीन संख्याओं में भी अवतरित किया गया है। लेख से लेखक की विद्वत्ता, काव्य-मर्मज्ञता और बुद्धिमत्ता टपकती है; पर साथ-ही-साथ एकदेशीयता और पक्षपात भी दिखाई देता है। लेख के शीर्षक से यह बोध होता है कि उक्त लेख में वर्तमान कविता-शैली, कविता के विषय तथा कवियों की आलोचना होगी। पर सारा निबंध पढ़ने के पश्चात् यह पता लगा कि लेखक महोदय ने उसमें छायावादी कवियों को ही अपना लक्ष्य बनाया है। इस बात पर लेख में ज़ोर दिया गया है कि छायावादी कवि बिलकुल निपढ़ और गँवार होते हैं। उनकी कविता निरर्थक होती है, वह हिंदी-साहित्य पर अत्याचार कर रहे हैं और कविता का गला घोंट रहे हैं। लेखक, पाठकों के सम्मुख पक्षपात छोड़कर यह बात दिखलाने की चेष्टा करेगा कि किस हद तक कविकिंकर-की ऐसी धारणाएँ ठीक हैं और छायावाद का कविकिंकर जी ने कहाँ तक मनन किया है और छायावाद पर लगाए उनके अभियोग कहाँ तक उचित हैं।

लेखक पहले ही यह कह देना चाहता है कि वह कवि नहीं है, न छायावादी कवियों की वकालत करने को उपस्थित हुआ है। कविता और साहित्य के क्षेत्र तक लेखक की पहुँच नहीं है और न उसने इस विषय का अध्ययन ही किया है। यह कुछ शब्द लिखने से उसकी यही अभिलाषा है कि जिस प्रकार 'सुकवि किंकर' ने अपना मंतव्य साहित्यज्ञों के सामने रक्खा है, उसी तरह लेखक साहित्य-जगत् के समक्ष अपने स्थूल विचारों को रख दे ताकि विद्वान्-समुदाय अपना मत प्रकाशित करे और सत्यासत्य की विवेचना करे।

सुकविजी का कहना है कि श्री रवींद्रनाथ टाकुर पचासों साल से साहित्य-क्षेत्र में अनवरत परिश्रम कर रहे हैं। 'बहुत कुछ ग्रंथ रचना कर चुकने पर उन्होंने एक विशेष

प्रकार की कविता की सृष्टि की है।.........अँगरेज़ी में एक शब्द है—मिस्टिक या मिस्टिकल। पंडित मथुराप्रसाद मिश्र ने अपने त्रैभाषिक कोष में उसका अर्थ लिखा है—गूढ़ार्थ, गुह्य, गुप्त, गोप्य और रहस्य। रवींद्रनाथ की इस नए ढंग की कविता इसी मिस्टिक शब्द के अर्थ की द्योतक है।' फिर आप लिखते हैं—'छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब हो कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े, तो उसे छायावाद कविता कहना चाहिये।'

इसमें क्या संदेह है कि रवींद्र बाबू पचासों साल से कविता-कुंज में अपने मधुर-गुंजार से लोगों को प्रसन्न कर रहे हैं, पर यह बात सहसा समझ में नहीं आती कि उन्होंने एक 'विशेष प्रकार की कविता की सृष्टि की है' अथवा 'यह नए ढंग की कविता' है। इस पर कुछ लिखने के पहले मिस्टिक शब्द पर कुछ कहना आवश्यक है। पं० मथुराप्रसाद मिश्र के त्रैभाषिक कोष से मिस्टिक का जो अर्थ सुकविजी ने निकाला है, वह ग्राह्य नहीं हो सकता। बहुत-से शब्द ऐसे हैं कि जो विशेष अर्थ में रूढ़ि हो जाते हैं। उस अवस्था में डिक्शनरी फिर सहायता नहीं दे सकती। बहुत-सी ऐसी रचनाएँ हो सकती हैं, जो गूढ़ हों, गुह्य हों, जिनका अर्थ गुप्त अथवा गोप्य हो, पर वह मिस्टिक नहीं हो सकतीं। प्रहेलिकाएँ, दृष्टिकूट इत्यादि ऐसी ही रचनाएँ हैं, पर उनसे 'मिस्टिसिज़्म' से कोई संबंध नहीं। हाँ, 'रहस्य' कुछ कुछ ठीक अर्थ का द्योतक होता है। 'मिस्टिसिज़्म' का अर्थ रहस्यवाद भी कभी-कभी लोग करते हैं। पर, यदि, 'छायावाद' नाम हिंदी में प्रयुक्त हो गया है, तो कोई हर्ज नहीं। 'छायावाद' का अर्थ जो कविजी कहते हैं कि 'किसी कविता के भावों की छाया कहीं अन्यत्र जाकर पड़े कुछ हो सकता है।' यह कोई आवश्यक बात नहीं है कि छायावाद इतना गूढ़ हो कि समझ में न आए। बहुत छायावादी कवियों की रचनाएँ ऐसी अवश्य हैं, जो भावुक हृदयवाले की समझ में सरलता से आ जाती हैं। बहुत-सी कठिन भी हैं। प्रसिद्ध बेलजियन कवि माटरलिंक छायावाद के संबंध में कहता है—

> "Those intuitions, grasps of guess,
> Which pull the more into the less,
> Making the finite comprehend.
> Infinity."

इसका भाव है कि हृदय की शक्ति, जिससे मनुष्य विराट् को परिमित रूप में अनुभव कर सकता है, जिसके द्वारा वह असीम को ससीम देख सकता है, वही मिस्टिसिज़्म—छायावाद है। ऐसी ही भावनाओं से भरी जो कविताएँ होती हैं, वही छायावादी कही जाने का दावा कर सकती हैं। छायावाद कोई सिद्धांत नहीं है, यह मनुष्य के मन की एक अवस्था, एक भावना है। साधारण गद्य-भाषा में यही कहा जा सकता है कि ईश्वर का, जगत् के महान् प्रणेता के अस्तित्व का अनुभव सचमुच कर लेना ईश्वर को प्रत्येक मूर्ति में, कण-कण में देखना ही छायावाद है। जैसे भगवान् कृष्ण ने कहा है—

> "सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
> अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धिसात्त्विकं।"

सचमुच सबसे उच्च ज्ञान विभक्त में अविभक्त और अनेकता में एकता ही देखना है। इसमें कौन कवि सफल हुए हैं, यह तो आगे दिखलाया जायगा। यहाँ पर इतना बतलाने का अभिप्राय है कि यदि कविता का इतिहास देखा जाय, तो यह बात बिना प्रयास दिखाई देगी कि रवींद्र बाबू के अतिरिक्त कितने ही और कवि भी छायावाद के रचयिता हो गए हैं। माटरलिंक का तो एक उदाहरण ही दिया गया है। योरप में विलियम ब्लेक और वर्ड्सवर्थ पूरे छायावादी कवि कहे जाते हैं। अँगरेज़ी छायावादियों ने छायावाद के चार भेद माने हैं और उनमें शेली, रोज़ेटी, ब्राउनिंग, कोवेन्ट्री पेटमूर, कीट्स, वागन, वर्ड्सवर्थ, कालरिज, टेनिसन, ब्लेक इत्यादि-इत्यादि पचीसों कवियों को किसी-न-किसी भाग में रक्खा है। संभव है, हिंदी-विज्ञ पाठक पूछें कि क्या अँगरेज़ी में सभी कवि छायावादी ही हैं। पर ऐसा नहीं है। 'रोमान्टिक' काल के अधिकांश कवियों का झुकाव अवश्य ही इधर रहा है। किसी का कम गंभीरता के साथ और किसी का अधिक। हाँ, पुरातन काल में इने-गिने 'क्रेशा' या 'ब्लेक' ही ऐसे थे। यह कवि लोग रवींद्र बाबू से सैकड़ों साल पहले हो चुके हैं। फ़ारसी में मौलाना रूम, खुसरो, फ़रीदुद्दीन अत्तार, शम्सतब्रेज़ और हाफ़िज़ बड़े विख्यात मिस्टिक कवि हो गए हैं। इनके समय और ठाकुर बाबू के समय में सदियों का अंतर है। इनकी कविताएँ भी उदाहरण-स्वरूप दिखाई जा सकती हैं, पर अँगरेज़ी और फ़ारसी की ऐसी कविताओं को हिंदी-पाठकों के सम्मुख रखना फ़िज़ूल है। जो सज्जन

यह भाषाएँ जानते होंगे, वह उन्हें पढ़ सकते हैं या उन्होंने पढ़ा ही होगा। उर्दू में, जहाँ शृंगारी कवियों की भरमार है, वहाँ छायावादी कवियों की संख्या भी कम नहीं है। 'आसी' की ग़ज़ल की कुछ पंक्तियाँ देखिए। इनमें छायावाद है या नहीं? और वह भी कितना सरल!

"वस्ल है पर दिल में अब तक जौक़े-राम पेचीदा है।
बुलबुला है ऐन दरिया में मगर नमदीदा है।
बेहिजाबी यह कि हर शै से है जलवा आशकार।
उस पे घूँघट यह कि सूरत आज तक नादीदा है।
फ़ितना-जारे हश्र सब कहते हैं जिस मैदान को।
वो तेरी नाज़े-निगह का गोशए-ज़बीदा है।"

पाठक स्वयं समझ लें कि रवींद्र बाबू ने क्या कोई नवीन सृष्टि की है? शायद कविकिंकर महाशय का अभिप्राय हो कि भारत में यह नवीन रचना है। उर्दू-कविता से यह तो सिद्ध ही होता है कि भारतीय कवि ऐसी भावनाओं से अपरिचित न थे। बँगला में, संभव है, उन्होंने नवीनता पैदा की हो, पर हिंदी में छायावादी कवि पहले भी हो चुके हैं। सभी लोग जानते हैं कि कबीर ने छायावाद की कविताएँ लिखी हैं। बहुतों की तो यहाँ तक धारणा है कि कबीर की कविताओं का रवींद्र बाबू की कविताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस विषय में निश्चित मत तो वही दे सकता है, जो बँगला और हिंदी दोनों का विद्वान् हो, और इस विषय से यहाँ कोई मतलब भी नहीं है। कबीर के यह दोहे छायावाद ही हैं या और कुछ—

उठा बगूला प्रेम का तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिन के पास।

*   *   *

सौ जोजन साजन बसे मानो हृदय मँझार।
कपट सनेही आँगने, जानु समुंदर पार।

*   *   *

यह तन वह तन एक है, एक प्रान दुइ गात।
अपने जिय से जानिए, मेरे जिय की बात।

*   *   *

अथवा—

पिया मिलन की आस रहौं कब लौं खरी।
ऊँचे चढ़ि नहिं जाय मने लज्जा-भरी।
पाँव नहीं ठहराय चढ़ूँ गिर-गिर परूँ।
फिरि-फिरि चढ़हुँ सम्हारि चरन आगे धरूँ।

*   *   *

अंतर पट दे खोल शब्द उर लाओरी।
दिल बिच दास 'कबीर' मिलैं तोहि बावरी।

यही नहीं मीरा इत्यादि के काव्य में भी छायावाद की झलक है। बिना अधिक ढूँढ़-खोज के एक पद उठाकर लिख दिया जाता है—

"कोई कछु कहै मन लागा।
ऐसी प्रीति लगी मनमोहन ज्यूँ सोने में सुहागा।
जनम-जनम को सोया मनुआँ, सतगुरु सब्द सुण जागा।
मात पिता सुत कुटुम कबीला टूट गया ज्यूँ तागा।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर भाग हमारा जागा।

भक्त-कवियों की ऐसी अनेक रचनाएँ दिखलाई जा सकती हैं। विस्तार-भय से और नहीं लिखी जाती हैं। दो उदाहरण और उपस्थित हैं। उन्हें पाठक कृपया पढ़ें और देखें कि हिंदी के पुराने शृंगारी कवि भी इन भावनाओं से दूर नहीं थे। यदि उस समय का समाज उन रचनाओं का आदर करता, तो वह भी सैकड़ों रचनाएँ कर सकते—

हाँ हाँ ब्रज बृंदावन माँहीं मैं बसत सदा,
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियत,
कुंजन में सुनियत गुंजन अलीन की।
बंसी बट तट नटनागर नटतु मोमें,
रासके बिलासकी, मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही भनक बनक ताल ताननकी,
तनक तनक तामें झनक चुरीनकी।

*   *   *

'देव' जिए जब पूछौ तो पीर—को पार कहूँ लहि आवत नाहीं।
सो सब झूठ मतै मत के बस मौन सोऊ लहि आवत नाहीं।
है नद संग तरंगनि में मन, फेन भयो गहि आवत नाहीं।
चाहे कह्यो बहुतेरो कछू पै, कहा कहिए कहि आवत नाहीं।

'रसखान' की एक सवैया है, जिसके अंतिम दो चरण इस प्रकार हैं—

टेरि कहौं सिगरे ब्रज लोगनि, काल्हि कोई कितनो समुझैहै;
माईरी वा मुखकी मुसुकानि, सम्हारि न जैहै, न जैहै, न जैहै।

इन रचनाओं और ब्लेक की इन पंक्तियों में कितनी सदृशता है। विशेषतः देव की कविताओं से—

To see a world in a grain of sand
And a Heaven in a wild flower,
Hold Infinity in the palm of your hand
And Eternity in an hour.

इन उदाहरणों से पाठक यह तो समझ गए होंगे कि रवींद्र बाबू ने किसी नई सृष्टि की कल्पना नहीं की है।

इन कविताओं में सहोक्ति अलंकार भी नहीं, क्योंकि सहोक्ति का लक्षण अलंकार-शास्त्रकारों ने लिखा है कि संग, साथ इत्यादि शब्दों के योग से एक का प्रधान रूप अन्य के गौण रूप में कथन हो। उससे छायावाद से कोई संबंध नहीं है। छायावाद का मतलब यह नहीं है कि 'द्वयर्थक' कविता हो। संभव है, लोग समझते हों कि ऐसी कविताएँ जो प्रियतम पर भी और ईश्वर पर भी लागू हैं, वही छायावाद है। बात ऐसी नहीं है। प्रियतम में कवि ईश्वर को देखता है। उसे 'हर ज़र्रा दयारे नज्द का तसवीरे जानाँ' बन जाता है।

यह भी प्रश्न हो सकता है कि पुरातन काल से छायावाद की कविता होती चली आई है, तो पूर्व काल में इस विषय पर इतनी प्रचुरता से रचनाएँ क्यों न हुईं। आजकल ही इस ढंग की कविताओं की ऐसी बाढ़ क्यों है? इसके अनेक कारण हैं। पहले भारतीयों का ध्यान हिंदी की ओर उतना आकर्षित नहीं होता था। केवल अँगरेज़ी ही में लोगों की रुचि रहती थी। जब पाश्चात्य साहित्य का रसास्वादन करने के पश्चात् इधर हिंदी काव्य-सागर में डुबकियाँ लगाई गईं, तो लोगों को सूर, तुलसी, इत्यादि रत्न तो हाथ लगे, पर साथ-ही-साथ मानव-शृंगार के घोंघे अधिक हाथ आए। ऐसी रचनाओं में चमत्कार, प्रसाद, शब्द-योजना गुणों के होने पर भी भाव उच्च दर्जे का नहीं मिला। उधर कीट्स और शेली दिमाग़ में चक्कर काट रहे थे। साथ ही हम यह नहीं कहते कि रवींद्र बाबू का प्रभाव नहीं पड़ा। अवश्य पड़ा, पर कोरी उनकी नक़ल नहीं की गई है; क्योंकि बँगला से अनभिज्ञ लोग भी ऐसी रचनाएँ कर रहे हैं।

असल में कविता, काल और समाज का प्रतिबिंब है। आजकल संसार में छायावाद का बादल छाया है और उसी की रसमयी बूँदों से संतप्त हृदय को शांति मिलने की संभावना है। माटरलंक बेलजियम में, ईट्स आयरलैंड में, रोमेरोलाँ फ्रांस में, जानबोयर और नुट-हांपसन नारवे में, इसकी वीणा का झंकार कर रहे हैं। संसार की प्रगति में भारत पीछे नहीं रह सकता।

छायावाद यह नहीं है कि अशोक पर लिखना है और सिकंदर की चर्चा की जाय। छायावादी अशोक और सिकंदर में एक ही शक्ति का अनुभव करता है। सुकवि किंकरजी कहते हैं—"पर रवि बाबू की गोपनशील कविता ने हिंदी के कुछ युवक कवियों के दिमाग़ में कुछ ऐसी हरकत पैदा कर दी है कि वे असंभव को संभव कर दिखाने की चेष्टा में अपने श्रम, समय और शक्ति का व्यर्थ ही अपव्यय कर रहे हैं। जो काम रवींद्रनाथ ने चालीस-पचास वर्षों के सतत अभ्यास निदिध्यास की कृपा से कर दिखाया है, उसे वे स्कूल छोड़ते ही कमर कसकर कर दिखाने के लिये उतावले हो रहे हैं। कुछ तो स्कूलों और कॉलेजों में रहते-ही-रहते छायावादी कवि बनने लग गए हैं।" कुछ आगे चलकर आपने कवि के लक्षण दिए हैं, और इसकी विवेचना की है कि कौन कवि हो सकता है।

रीति-ग्रंथों में कवि के लक्षण दिए हैं, पर यह कहीं नहीं लिखा है कि उसकी इतनी आयु होनी चाहिए और वह कहीं पढ़ता न हो। किंकरजी के ही कहने से 'प्रतिभा' एक आवश्यक वस्तु है। 'भानु' जी के अनुसार 'यः करोति काव्यं स कविः' सभी कवि हैं। कारलाइल कहता है—

At bottom clearly enough, there is no perfect poet! A vein of Poetry exists in the hearts of all men."

सुंदर दृश्य, सुंदर फूल, कोई सौंदर्यमयी वस्तु देखकर सभी का हृदय आनंद से परिपूर्ण हो जाता है; शब्दों में अपने भाव रच सके या नहीं, यह और बात है। कविता हृदय से संबंध रखनेवाली वस्तु है। कबीर की शिक्षा कितनी हुई थी। आजकल के कितने ही कवि, जो खड़ी बोली या ब्रजभाषा में कविता करते हैं और जिनकी रचना का साहित्य-समाज में आदर है, पहले कितना पढ़े हुए थे। बाबू हरिश्चंद्र ने पाँच साल की आयु में एक दोहा बनाया था। कीट्स २५ साल की आयु में मर गया और उसके पूर्व काफ़ी कविताएँ लिख गया। उसकी भी कोई विशेष शिक्षा न थी। वाल्मीकि ने किसी गुरुकुल में शिक्षा पाई थी अथवा नहीं; पर यदि लघुकौमुदी पढ़कर कविता करना आता है, जैसा किंकरजी

के बहुत कुछ कहने-सुनने से एक बालक ने किंकरजी को वचन दिया, तब तो संस्कृत के सभी विद्यार्थियों को कवि हो जाना चाहिए।

किंकरजी काव्य-प्रकाश-कार के मतानुसार कविता के उद्देश्य लिखते हैं। खेद है कि वे उद्देश्य मान्य नहीं हो सकते। कवि चाहे छायावादी हो, चाहे दूसरे स्कूल का। पर यदि वह सचमुच कवि है तो वह 'स्वान्तः सुखाय' ही कविता करता है—दूसरों को रिझाने और प्रशंसा पाने के लिये कविता नहीं करता। वह सुंदरता-प्रेमी है, इसलिये सुंदर रूप में अपनी कविता छिपाता है। पूर्व समय में पुस्तकें सिली हुई नहीं होती थीं और उनके पन्ने-पन्ने अलग रहते थे। अब पुस्तकें सुंदर जिल्दों से सुसज्जित बनती हैं, तो क्या अब वे पुस्तकें न रहीं? फिर क्या प्राचीन ढंग के कवि 'टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची पंक्तियों में' अपनी कविता नहीं छपवाते? इन बातों से और कविता से कोई संबंध नहीं हो सकता। पुराने समय के कवियों के पास प्रकाशन के ऐसे साधन न थे। उस समय अपनी कविता को पढ़कर दूसरे को सुनाना प्रकाशन का प्रचलित साधन था। पुराने कवि अपनी कविता दूसरों को सुनाते अवश्य थे, यह भी एक प्रकार का प्रकाशन ही हुआ। यदि ऐसा न होता, तो कैसे संभव था कि 'धर्मांध आततायियों से उनका कुछ बिगड़ न सका, जलप्लावन और भूकंप आदि का ज़ोर भी उनका नाश न कर सका।' जब दूसरों को सुनाया तभी तो 'पारखियों ने' उसे कंठ किया। साहित्य के स्थायित्व का सबसे बड़ा प्रमाण समय है। सूर, तुलसी, केशव, बिहारी अभीतक हैं, क्योंकि वे उत्कृष्ट कवि थे। छायावादी कविताएँ कहाँ तक स्थायी रहेंगी, यह समय ही बतलाएगा। यह न समझ लेना चाहिए कि वे सभी कवि जो छायावादी बनते हैं, सचमुच छायावादी ही हैं। जो सचमुच अंतर्जगत् से छायावादी कवि हैं, उनका सदैव आदर होगा। रद्दी रचनावाले सभी स्थानों में, सभी समय में पाए जाते हैं। क्या प्राचीन शैली के सभी कवि सुंदर कविता करने का दावा कर सकते हैं?

एक बात पर और दो शब्द कहकर दूसरी आवश्यक आलोचना का उत्तर देने का प्रयत्न किया जायगा। वह है 'उपनामों की लांगूल' पर किंकरजी की भर्त्सना। उपनाम से कुछ होता जाता नहीं, यह ठीक है। साथ ही यह भी ठीक है कि पुराने कवि भी इसका प्रयोग करते थे और आजकल भी पं० अयोध्यासिंहजी 'हरिऔध', पं०नाथूरामशंकरजी शर्मा 'शंकर', लाला भगवानदीनजी 'दीन' प्रभृति छायावादी कवि न होते हुए और उच्च कोटि के कवि होते हुए भी अपने नाम के साथ उपनाम जोड़े रहते हैं।

किंकरजी आजकल के कवियों को 'कवित्वहंता' बतलाते हैं और एक "कविता के विशेषज्ञ" जी का "हार्दिक उद्गार" कथन करते हैं—"आजकल जो हिंदी-कविताएँ निकलती हैं, उन्हें मैं अस्पृश्य समझकर दूर ही से छोड़ देता हूँ।" क्यों 'अस्पृश्य' समझते हैं यह नहीं बतलाया गया, इसलिये क्या कहा जाय। सुधारकों की सदा अवहेलना और उनका सदा विरोध करना यह एक स्वाभाविक नियम संसार में चला आ रहा है। रवि बाबू का विरोध क्या नहीं हुआ? डी० एल्० राय तक ने किया। कीट्स ने जब पहले अपनी पुस्तकें छपाईं तो उनका विरोध हुआ। मैथ्यू अरनल्ड कीट्स के संबंध में लिखते हैं—His first volume contained the Epistles......it had no success. It was mercilessly treated by Blackwood's Edinburgh Magazine, and by the Quarterly Review.

इसका यहाँ तक प्रभाव हुआ कि कुछ लोगों के कथनानुसार उसकी मृत्यु हो गई। संभव है, इसमें अत्युक्ति हो, पर उसके दिल पर गहरी चोट अवश्य पहुँची। शेली ने तो लिख ही दिया—

> 'The curse of cain
> Light on his head who pierced thy innocent breast,
> And scared the angel soul that was his earthly guest.'

आज कीट्स की कविता का कितना आदर है, इसका कहना ही क्या। बर्नर्ड शा को ही लोग 'कवित्वहंता' और मूर्ख आदि उपाधियों से अलंकृत करते थे। आज साहित्य-समाज का वह मणि है।

पुनः यह प्रश्न सुकविजी उठाते हैं कि कविता क्या है और इस निश्चय पर आते हैं कि छायावाद की कविता कविता नहीं है। आप ठीक ही कहते हैं कि इस विषय पर आचार्यों और शास्त्रकारों के मतों में भी भेद

है। ठीक! आपने बहुत कुछ लिखने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला कि तीन मुख्य गुण कविता में होने चाहिए। प्रसाद, चमत्कार और माधुर्य। फिर आप एक शास्त्री महाशय की सम्मति, "जो सर्वथा ठीक है" उद्धृत करते हैं। शास्त्री महोदय की सम्मति से आजकल की रहस्यमयी या छायामूलक कविता से तो 'चलो वीर पटुआखाली' अच्छी होती है। 'छायावादियों की रचना कभी-कभी समझ में नहीं आती। ये लोग बहुधा विलक्षण छंदों या वृत्तों का प्रयोग भी करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छः पदे, कोई ग्यारह पदे, कोई तेरह पदे। किसी की चार सतरें गज़-गज़ भर लंबी, तो दो सतरें दो ही दो अंगुल की! फिर ये लोग बेतुकी पद्यावली भी लिखने की बहुधा कृपा करते हैं।'

छायावाद के अच्छे कवियों में प्रसाद भी है, चमत्कार भी और माधुर्य भी। छंद-योजना भी सुंदर है। बहुत-से प्राचीन ढंग के कवियों में इन गुणों का समावेश नहीं है। इनका उदाहरण दिखला दिया जायगा, पर सदा प्राचीनता की ही लकीर पीटना आवश्यक नहीं है। जो छंद 'पिंगल' ने रच दिए, उसके अतिरिक्त भी छंद बन सकते हैं। प्रत्येक साहित्य में जब जागृति हुई है, तो पुराने आचार्यों के मत छोड़कर नई बातें ग्रहण की गई हैं। जो नियम रचना-स्वातंत्र्य में बाधा देते हैं, उनका त्याग कर देना बेजा नहीं है। अरस्तू ने अपने पोएटिक्स में नाट्य-शास्त्र के कुछ नियम बना दिए हैं। रोम इत्यादि ने उन्हीं नियमों की नक़ल की, पर जर्मनी और फ्रांस और इंगलैंड के शक्तिमय साहित्य ने उसकी अवहेलना कर दी। गेटे और विक्टर ह्यूगो ने उन नियमों को उठाकर फेंक दिया और नाट्य-कला-शिरोमणि शेक्सपियर ने उसकी परवाह न की। सबकी यदि नहीं तो छायावाद के उत्कृष्ट कवियों की कविताएँ, जिनकी पंक्तियाँ छोटी बड़ी मालूम होती हैं, पूर्ण धारायुक्त हैं। तुक मिले या नहीं, पर पढ़ने में मनोहर अवश्य हैं। कहीं से टूटती नहीं हैं। कुछ ऐसी हैं, जिन्हें कविता की तरह नहीं पढ़ सकते। रवि बाबू की अँगरेज़ी की कविताएँ भी इसी ढंग की हैं। क्या उन्हें सुकविजी कविता न कहेंगे? जिन्हें इच्छा है जोसेफ़ कैंबेल (आयरिश) की कविताएँ देखें और बताएँ कि एक पंक्ति तीन शब्द की और दूसरी पचीस की क्यों है? "A poet is painter of soul" वह भाव के आगे छंदों में बंद नहीं रहता।

किंकरजी के विचार से कविता का सबसे बड़ा गुण है प्रसाद। ऐसी दशा में जिस कविता में सबसे बड़ा गुण प्रसाद नहीं, वह कविता ही नहीं। अब नीचे की रचनाएँ पढ़िए—

कुंज मग में आज मोहन मिलो मोको बीर।
चली आवत थी अकेली भरे जमुना नीर।
गहे सारंग करन सारंग सुरन सँभारत बीर।
नैन सारग सैन सो तन करी जान अधीर।
आठ रवि तें देख तब तें परत नाहिं गँभीर :
अल्प 'सूर' सुजान कासो कहो मन की पीर।
(सूर)

* * *

केशव कहि न जाय का कहिए
देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहि मन रहिए।
सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे;
धोए मिटइ न मरई भीति दुःख पाइय यह तनु हेरे।
रवि कर नीर बसै अति दारुन मकर-रूप तेहि माहीं;
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं।
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै;
'तुलसिदास' परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै।
(तुलसी)

* * *

मामली पूजा मैं 'पजनेस' मानि न हीन करी ठकुराई;
रोके उदो। सबै हरगोत, बगेरन पै सिकराली बिछाई।
जानि परै न कला कछु आज की काहे सखी अजया चक लाई;
पोसे मराल कहौ केहि कारन पुरी भुजंगिनी क्यों पोसवाई।
(पजनेस)

उपर्युक्त अवतरणों को साधारण हिंदी जाननेवाले अथवा वह लोग भी, जिन्होंने विश्वविद्यालयों में हिंदी लेकर मैट्रिकुलेशन अथवा इंटरमीजिएट पास किया हो, तत्काल पढ़कर समझ नहीं सकते। इन कविताओं में माधुर्य है, चमत्कार है, पर प्रसाद नहीं है। यह कहना कि जिस कविता का अर्थ साफ़ न हो, वह कविता नहीं, अनुचित है। तुलसी, सूर और पजनेस कवि थे और अवश्य कवि थे। जहाँ रचना-गांभीर्य की आवश्यकता थी, वहाँ उन्होंने वैसी ही रचना की। किसी विषय के समझने

के लिये जब तक उसके लिये अंतर्बोध (Apperception) नहीं है, तब तक उसका समझ में आना असंभव है। विशेषतः कविता के लिये, वह भी छायावाद की कविता, जिसमें दिव्य विषयों का ही समावेश रहता है। अगर प्रसाद ही कविता का मुख्य गुण है, तो ये पंक्तियाँ भी कविता हो सकती हैं—

खटिया का टूटा बाध है;
मेरा कौन अपराध है।

तुक मिलता है, मात्रा ठीक है, व्याकरण ठीक है, अर्थ समझ में आता है। इसी प्रकार शब्दों में चमत्कार होने पर भी और मधुरिमा रहने पर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह रचना कविता की श्रेणी में रक्खी जा सके। ब्राउनिंग की कविता की अक्सर लोग शिकायत किया करते हैं कि, समझ में नहीं आती, पर उसकी गणना उत्तम कवियों में है।

विद्वद्वर बाबू श्यामसुंदरदास के एक भाषण का अवतरण दिया गया है। आप कहते हैं—"छायावाद और समस्या-पूर्ति से हिंदी-कविता को बड़ी हानि पहुँच रही है। छायावाद की ओर नवयुवकों का झुकाव है, और ये जहाँ कुछ गुनगुनाने लगे कि चट दो-चार पद जोड़कर कवि बनने का साहस कर बैठते हैं। इनकी कविता का अर्थ समझना कुछ सरल नहीं है।.........पूज्य रवींद्रनाथ का अनुकरण करके ही यह अत्याचार हिंदी में हो रहा है।"

अर्थ के बारे में ऊपर कहा जा चुका है। यदि रवि बाबू का अनुकरण ही किया गया, तो क्या पाप हो गया। भली चीज़ को अपनाना ऐब नहीं है। रह गया, अत्याचार हो रहा है, और कविता की जान ली जा रही है, सो बाबू श्यामसुंदरदास जैसे उत्तरदायी व्यक्ति का ऐसा कहना उचित नहीं है। समस्या-पूर्ति बहुत प्राचीन समय से होती चली आई है। भारतेंदु बाबू के समय भी होती रही शायद इससे लाभ ही हुआ होगा। रह गया छायावाद। यदि छायावाद से अँगरेज़ी, बँगला तथा अन्य योरपीय भाषाओं में लाभ हो रहा है, तो कोई कारण नहीं कि भारत ही ऐसा अभागा देश हो, जहाँ इससे हानि होने की संभावना है। सैकड़ों छायावादी कवियों में दो-चार तो उच्च श्रेणी के निकलेंगे कि नहीं? क्या प्राचीन प्रथा के सभी कवि सूर, तुलसी और देव हो गए या हो जाते हैं? साहित्य-क्षेत्र में भी योग्यतम की विजय (Survival of the fittest) का नियम लागू होता है। यहाँ भी उत्तम श्रेणी का साहित्य ही स्थायी हो सकता है।

कुछ ऐसे लोग अवश्य हैं, जिन्होंने यों ही ऊटपटांग लिखकर छायावाद को बदनाम कर रक्खा है। ऐसे ही बनावटी कवियों के उदाहरण सुकवि किंकरजी ने दृष्टांत में उपस्थित किए हैं। प्राचीन शैलीवाले भी कितने ही ऐसे तुक्कड़ हैं, जिनकी रचनाएँ उच्च कोटि की पत्रिकाओं में छपती हैं और जिनके अर्थ का कहीं भी पता नहीं रहता। पर ऐसे किसी व्यक्ति विशेष की कविता को लेकर उसकी छीछालेदर करना यहाँ पर अभीष्ट नहीं है। कौन हिंदी साहित्य का विद्यार्थी नहीं जानता कि श्रीयुत लाला भगवानदीन ने कविवर मैथलीशरण गुप्त की भारत-भारती की एक वृहत् समालोचना की थी। लाला भगवानदीनजी की कविताओं की आलोचना पं० नारायणप्रसादजी 'बेताब' ने कर डाली है। पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय के 'प्रिय प्रवास' की कड़ी समालोचना पहले के 'इंदु' की फ़ाइलों में पड़ी है। जब ऐसे महारथियों पर लेखनी उठ चुकी है, तब आजकल के नवयुवक प्राचीन शैली वाले कवियों पर दया आती है। क्या लिखा जाय? पर जो कुछ हो, दूसरों के छिद्रान्वेषण से कुछ लाभ नहीं है। छायावादी कवियों की रचनाओं में गुण और सरसता है कि नहीं, अब यही दिखलाना है।

श्रीयुत बाबू जयशंकर प्रसादजी की कुछ रचनाएँ पाठकों के सामने हैं। यह लेखक ने स्वयं उनके मुख से सुनी थीं। उनके 'आँसू' से यह ली गई हैं—

स्मृति

शशि मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाए;
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।

* * *

घन में सुंदर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक-सी;
आँखों में काली पुतली,
पुतली में श्याम झलक-सी।

इसकी तुलना निम्न पंक्तियों से कीजिये, कितना भाव-सादृश्य है—

श्रीकृष्ण का द्वारिका-प्रवेश

[हस्त-लिखित, सचित्र, अप्रकाशित ज्ञान-सागर से]

राउर चरन सरोज यह, पुर मुनि दुर्लभ येह,
सोइ प्यारी छवि स्याम की, हन अमित सुख देह

(ज्ञान-सागर

N. K. Press, Lucknow

He comes with western winds,
with evening's wandering airs,
With that clear dusk of heaven
that brings the thickest stars.
(Emile Bronte)

फिर आप लिखते हैं—

मैं अपलक इन नयनों से निरखा करता उस छवि को ;
प्रतिभा-डाली भर लाता कर देता दान सुकवि को ।
प्रतिमा में सजीवता सी, बसगयी सुछवि आंखों में ;
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में ।

Emile Bronte फिर आगे लिखती है—

Winds take a pensive tone, and stars
a tender fire :
And visions rise, and change, that kill me
with desire.

रचना इतनी मनमोहनी है कि लेखक कुछ और अवतरण देने का लालच संवरण नहीं कर सकता ।

कामना-सिंधु लहराता छवि पूरनिमा थी छायी ;
रत्नाकर बनी चमकती मेरे शशि की परछाईं ।

ठाकुर कहते हैं—

"The flute steals his smile from my friend's lips and spreads it over my life."
(Fruit Gathering)

लहरों में प्यास भरी थी, थे भँवर पात्र भी खाली ;
मानस का सब रस पीकर, लुढ़का दी तुमने प्याली ।

* * *

सोएगी कभी न वैसी, फिर मिलन कुंज में मेरे ;
चांदनी शिथिल अलसाई, सम्भोग सुखों से तेरे ।

* * *

उच्छ्वास और आंसू में विश्राम थका सोता है ;
रोई आंखों में निद्रा—बनकर, सपना सोता है ।

यदि इन पंक्तियों की कुछ आलोचना की जाय तो लेख और बढ़ जाय । दूसरी बात यह है कि लेखक को श्री प्रसादजी की कविताएँ अति प्रिय हैं । संभव है, उसे दोष न दीखते हों, इसलिये इनके देखने का भार दूसरों पर, विज्ञ-साहित्य-मण्डल, सहृदय-कवि-समाज, समालोचक-गण पर, ही छोड़ दिया जाता है । वही न्याय से उसका निश्चय करें । इन में प्रसाद, माधुर्य और चमत्कार है कि नहीं, इसकी तुलनात्मक आलोचना ज़रा कटु मालूम पड़ती है, नहीं तो कहा जाता कि आजकल कितने ही श्रेष्ठ कवियों से, जिनकी रचना कोर्स की पुस्तकों में आगयी हैं, अच्छी और बहुत अच्छी है । पर केवल 'प्रसाद' जी ही छायावादी कवि नहीं हैं । पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' जी की 'यमुने' की कुछ पंक्तियां पढ़िये—

मुग्धा के लज्जित पलकों पर तू यौवन की छवि अज्ञात ;
आंखमिचौनी खेल रही है किस अतीत शिशुता के साथ ?
किस अतीत-सागर संगम को बहते खोल हृदय के द्वार ;
बोहित के हित सरल अनिल से नयन-सलिल से स्रोत अपार ।

कितनी सरल, उच्च, भावपूर्ण उपमाएँ हैं । कटि और नितंब और कुच वाले कवियों को इसमें सिवाय नीरसता और शुष्कता के और क्या दिखाई देगा ।

और भी छायावादी कवियों की कृतियां हैं । सुंदर हैं । बिना उन्हें पढ़े केवल देखकर नाक-भौं चढ़ाने से और उन्हें 'अस्पर्श्य' समझकर छोड़ देने से क्या पता चलेगा ? हां, इन रचनाओं में यमक और अनुप्रास को ध्यान में रखकर भाव की हत्या नहीं की गई है । कविता समझने और उसका आनंद लूटने के लिये हमारा हृदय रसपूर्ण होना चाहिये । कवि के शब्दों में हम कह सकते हैं कि

"To know
Rather consists in opening out a way
Whence the imprisoned splendour may escape,
Than in effecting entry for a light
Supposed to be without."
(Browning.)

कृष्णदेवप्रसाद गौड़
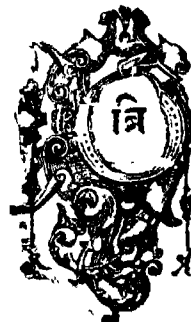
कोयले की हड़ताल

[ब्रि]टेन में गतवर्ष मई मास में जो सर्वत्र देशव्यापी कोयले की हड़ताल हुई थी, और जो पूर्ण रूप से दिसम्बर मास में समाप्त हुई है, कोई साधारण घटना नहीं थी । ब्रिटेन के २३००,००० श्रमिकों ने इस में भाग लिया था । श्री विलियम जानसन हिक्स, गृह मन्त्री ने बतलाया है कि खानों में कार्य बन्द हो जाने से देश को बड़ी भयानक क्षति पहुँची है । अब तक ६०००,०००,००० रुपये से अधिक की हानि हो

झगड़ा जनरल कौंसिल के समक्ष रख दिया। जनरल कौंसिल ने बहुत कुछ विचार कर यह निश्चय किया कि, राज्य के प्रधान मंत्री से मिला जाय। प्रधान मंत्री से मिलने के लिये जनरल कौंसिल में एक कमिटी बनाई, और यह कमिटी समय-समय पर प्रधान मंत्री से मिलती रही। प्रधान मंत्री के परामर्शानुसार ३० जुलाई को प्रातःकाल यह सूचित किया गया कि खनिकों को कोई आर्थिक सहायता उनकी इस कठिनाई में नहीं दी जावेगी, परंतु फिर शीघ्र ही संध्या समय यह विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि आर्थिक-सहायता एक परिमित समय तक के लिये दी जा सकती है। एक ही दिन की

ब्रिटेन के प्रधान मंत्री श्री बाल्डविन
(हड़ताल के समय में आपकी सहन-शीलता की सबने प्रशंसा की)

इन उपरोक्त घटनाओं को देखकर व्यवसाय-संघ की कार्य-कारिणी ने यह निश्चय किया कि खनिकों की सहायता के लिये मज़दूर सभा अपना सारा बल और धन विशेष कमिटी के सुपुर्द कर देगी। जनरल काउन्सिल के इस फ़ैसले से रेलवे संघों के इस निश्चय को और भी उत्तेजना मिल गई, जो उन्होंने कुछ ही दिन पूर्व किया था, कि जब खनिक खानों से कोयला निकालना बंद कर देंगे, तो हम भी कोयला उठाना बंद कर देंगे। जनता रेलवे के कर्म-चारियों का यह फ़ैसला सुनकर घबड़ा उठी।

एक स्वयंसेवक-मंडली ने, जिसका नाम पदार्थ संग्रह समिति था, उन नागरिकों को भरती करना आरंभ कर दिया, जो हड़ताल हो जाने की दशा में कार्य-संचालन में सहायता करें। यह समिति २५ सितंबर को स्थापित हुई। इसको गृह मंत्री ने तो पसंद किया, परंतु श्री मेकडानल्ड ने इसका इन शब्दों में विरोध किया—"स्वयंसेवकों को शांति स्थापित करने का अधिकार दिया जा रहा है, जिससे यह बात निश्चित है कि शांति कदापि स्थापित नहीं होगी।" सितंबर मास में ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने निश्चय किया कि हड़ताल नहीं होनी चाहिए।

उपर्युक्त निश्चय होने पर भी खनिकों की स्थिति पर विचार होता रहा, और जनवरी मास में यह निश्चय हुआ कि कोयले की समस्या अब ऐसी जटिल हो गई है कि इस विषय में कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। इसके पश्चात् खनिक-संघ के प्रतिनिधियों की एक सभा हुई और ११ फर्वरी को औद्योगिक कमिटी ने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसके अनुसार कार्य करने के लिये नेताओं ने भी अनुरोध किया। घोषणा में मुख्य रूप से यह प्रस्ताव किया गया था कि मज़दूर संघ ने कोयले की समस्या के विषय में अपने भाव गत जुलाई मास में सर्वथा स्पष्ट कर दिए हैं कि वे दृढ़तापूर्वक और ऐक्य के साथ उन प्रस्तावों का विरोध करेंगे, जो खनिकों की वर्तमान दशा के प्रतिकूल हों। मज़दूरी में भी कमी न होनी चाहिये और न काम करने के घंटे ही बढ़ने चाहिए, और जो राष्ट्रीय समझौता हो चुका है, उसमें कोई परिवर्तन न होना चाहिए।

१० मार्च १९२६ को राज्य-नियुक्त कमीशन की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। वस्तुतः यहीं से ही हड़ताल का झगड़ा आरंभ होता है। राज्य-मंत्री और औद्योगिक कमिटी ने गंभीरतापूर्वक इस रिपोर्ट पर विचार करने की सलाह दी। १५ दिन के पश्चात् राज्य-मंत्री ने यह घोषणा प्रकाशित की—राज्य इस रिपोर्ट को स्वीकार कर लेगा, यदि अन्य पक्षों ने भी इसको स्वीकार कर लिया। श्री स्मिथ, प्रधान खनिक संघ के प्रश्न पर यह भी उत्तर मिला कि यदि ३० ऐप्रिल तक खनिकों और मालिकों

में समझौता होगया, तो राज्य परिमित और अस्थिर सहायता दे देगा। इस विषय में राज्य ने १४ शर्तें उपस्थित कीं, जिनका मानना समझौते के लिये आवश्यक था।

१ एप्रिल को खनिक सभा की केंद्रीय समिति ने खनिक-संघ की कार्यकारिणी को कमीशन की रिपोर्ट पर अपनी आलोचना से सूचित किया। यह आलोचना जिस

ब्रिटेन के गृह मंत्री सर विलियम जायंसन हिक्स

(आप बड़े गम्भीर राजनीतिज्ञ हैं)

ढंग पर की गई थी, उससे यह प्रतीत होता था कि इस रिपोर्ट के आलोचक इसको स्वीकार करने के लिये उद्यत हैं। इसी सभा में यह भी स्पष्ट होगया कि इस विषय में बहुत कुछ मतभेद है। कमीशन की रिपोर्ट मालिकों के पक्ष में थी, अतएव उन्होंने इसको स्वीकार कर लिया और इस बात पर बल दिया कि निर्णीत वेतनों में कम से कम प्रतिशत मज़दूरी की वृद्धि भिन्न भिन्न ज़िलों में एक समान नहीं होनी चाहिए। यही नहीं उन्होंने यह प्रस्ताव भी उपस्थित किया कि यह कम से कम प्रतिशत की वृद्धि हर प्रांत में आपस में परामर्श करके निश्चित करनी चाहिए, और यह निश्चित वृद्धि, फिर अंतिम रूप में स्वीकार होने के लिये, राष्ट्रीय संघ में आनी चाहिये। खनिकों ने तत्काल ही मज़दूरी में कमी का घोर विरोध किया। इसके १२ दिन पश्चात् उन्होंने रिपोर्ट पर अपने लिखित विचार मालिकों के साथ सभा में उपस्थित किए। इसी समय एक और कठिनाई का सामना हुआ। ६ एप्रिल को खनिक संघ के प्रतिनिधियों की सभा हुई, और उन्होंने अपनी कार्यकारिणी की सिफ़ारिश पर एक प्रस्ताव यह पास किया कि सब ज़िले न्यूनातिन्यून प्रतिशत वृद्धि के राष्ट्रीय निर्णय को मानें और कम मज़दूरी और अधिक घंटों के प्रस्ताव को अस्वीकार करदें। यह प्रस्ताव औद्योगिक संघ की अनुमति से नहीं रक्खा गया था। इस संघ की यह राय थी कि झगड़ा अभी इस सीमा तक नहीं पहुँचा है, कि जनरल काउन्सिल की नीति के विषय में कोई अंतिम निर्णय कर लिया जाय। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि मालिकों के साथ परामर्श होते रहना चाहिये, जिससे मत-

'सम्राट् कुक' (बायें ओर) खनिक प्रतिनिधियों की सभा से वापस आ रहे हैं

भेद दूर होने में सहायता मिले। २३ ऐप्रिल को इस विषय में कोई और विशेष बात नहीं हुई और आगामी कुछ दिनों में मालिकों ने १५ दिन का नोटिस दे दिया, जिसका आशय यह था कि इसके पश्चात् समस्त ठीके नष्ट समझे जायँगे। हाँ, हर ज़िले की परिस्थिति के अनुसार, परामर्श करने के लिये वे तय्यार रहेंगे।

३० ऐप्रिल को मालिकों ने प्रधान मंत्री द्वारा अपने अंतिम प्रस्ताव खनिकों के पास भेजे। परंतु खनिकों ने उन्हें स्वीकार न किया। ३० ऐप्रिल की रात्रि को साढ़े ग्यारह बजे सारे परामर्शों का अंत हो गया। सम्मेलन की कार्य-कारिणी ने यह निश्चय कर दिया कि ३ मई को अर्ध रात्रि के समय बारबरदारी, लोहे और फ़ौलाद के व्यापार, छापे के व्यापार (जिसमें छापेख़ाने भी शामिल हैं) धातु और अन्य रासायनिक वस्तु (जिसमें मकान और अस्पताल सम्मिलित नहीं हैं)-संबंधी समस्त कार्य बंद कर दिये जायँ। जो संघ बिजली के कार्य से संबंध रखते थे, उनसे कहा गया कि बिजली देना बंद करदें। स्वास्थ्य-संबंधी सब कार्य जारी रहें और अस्पतालों के सब कार्य निर्विघ्नतापूर्वक चलते रहें। दूध और अन्य समस्त खाद्य पदार्थ जनता को बराबर मिलते रहें। इन प्रस्तावों पर कार्यकारिणी ने १ मई को विचार किया और दो बजे दिन को हर्षध्वनि के साथ उन संघों ने, जो ३६५३५२७ सदस्यों के प्रतिनिधि थे, उपर्युक्त नीति के पक्ष में सम्मति दी और उन संघों ने, जो केवल ४६५११ सदस्यों के प्रतिनिधि थे, उन प्रस्तावों को अस्वीकार किया। पाँच बजे संध्या के समय संघों की कार्यकारिणी ने हड़ताल करने के लिये नोटिस भेज दिये।

हड़ताल के नोटिस तय्यार हो जाने पर भी परामर्श होता रहा। जनरल काउन्सिल ने प्रधान मंत्री को सूचित किया कि इस झगड़े के विषय में हमें कार्य करने के लिये अधिकार मिल गये हैं। फिर भी कोई अंतिम निर्णय खनिकों के परामर्श बिना नहीं किया जा सकता। प्रधान मंत्री ने इस पर औद्योगिक कमिटी को परामर्श करने के लिये बुलाया। यह परामर्श साढ़े पाँच घंटे बराबर होता रहा, जिसमें प्रधान मंत्री, श्री बरकेनहैड, श्री स्टील मेरलैंड और श्री होरेस विलसन एक ओर थे और श्री पघ, श्री टामस, श्री स्वेल्ज, श्री सिटराइन दूसरी ओर। पर, इस परामर्श का भी कोई फल न हुआ।

इसके पश्चात् राज्य और मज़दूर-संघ के ६ सदस्यों की एक कमिटी ने, जिसमें श्री बरकेनहेड भी थे, यह निश्चय किया—"हम खनिकों से आग्रह करते हैं कि वे हमको इस आधार पर परामर्श आरंभ करने का अधिकार दें कि खनिक कमीशन की रिपोर्ट को समझौते का आधार समझते हैं, और हम यह जानते हुए परामर्श करते हैं कि, संभव है, मज़दूरी में कमी करनी पड़े।" इस निर्णय के विषय में श्री पघ ने कहा कि "ऐसा कोई निर्णय सम्मेलन के नेताओं के सामने कभी नहीं था।"

श्री बरकेनहेड के इस निर्णय पर मंत्रि-मंडल विचार कर ही रहा था कि यह समाचार मिला कि 'डेली मेल' पत्र के छापेख़ाने ने 'राजा और प्रजा के हितार्थ' नामक अग्रलेख छापना अस्वीकार कर दिया है। इस समाचार के पहुँचने पर मंत्रि-मंडल में क्या हुआ, इसका किसी को भी अब तक पता नहीं। इस समय प्रधान मंत्री ने मंत्रि-मंडल की ओर से सम्मेलन की जेनरल काउन्सिल को यह सूचना दी कि मंत्रि-मंडल और मज़दूर-संघ की कमिटी में जो परामर्श हो रहा था, इस विषय में सरकार को यह ज्ञात हुआ है कि संघों की कार्यकारिणी ने हड़-ताल करने के लिये आज्ञा दे दी है, और कुछ प्रत्यक्ष घटनाएँ भी हो चुकी हैं। इस कारण राज्य कोई और परामर्श करने से पहले सम्मेलन-कमिटी से यह आशा करता है कि जो घटनाएँ हो चुकी हैं, वह उनका विरोध करे और दूसरी हड़ताल करने के विषय में जो आज्ञाएँ दी गई हैं, वे तुरंत बिना किसी शर्त के वापिस ले ली जायँ। मंत्रि-मंडल की इस चिट्ठी ने खनिकों की जेनरल काउन्सिल में बड़ी घबराहट फैला दी और उन्होंने अपने प्रतिनि-धियों का डेपुटेशन भेजा। परंतु जब यह डेपुटेशन मंत्रि-मंडल के कमरे के पास पहुँचा तो, कमरे पर ताला लगा पाया। अतः खनिकों की जेनरल काउंसिल ने राज्य की उपर्युक्त सूचना पर विरोध प्रकट किया और अपने को 'प्रत्यक्ष घटनाओं' के बारे में निरुत्तरदाता ठहराया। इसके पश्चात् औद्योगिक कमिटी और खनिक कार्यकारिणी ने समझौते के लिये फिर कुछ प्रयत्न किया, परंतु प्रधान मंत्री की वक्तृता के आगे उनका कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। और श्री चर्चिल ने तो यह भी कह डाला कि ब्रिटिश-विधान को जो धमकी दी गई है, उसका दृढ़ता-पूर्वक पूरा उत्तर दिया जायगा, और समझौता तभी हो

सकेगा, जब हड़ताली बिना किसी शर्त के आत्म-समर्पण कर दें। इस बात को खनिकों की जेनरल काउंसिल ने स्वीकार नहीं किया।

इस लेख में उन सब बातों का लिखना कठिन है कि हड़ताल किस प्रकार हुई और राज्य और हड़तालियों ने

हड़ताल के 'सेनापति' श्री अरनेस्ट बिविन
(जिन्होंने हड़ताल का समस्त प्रबन्ध किया था)

अपने सपक्ष और विपक्ष में क्या क्या किया। अनुमान किया गया है कि हड़तालियों की संख्या निम्नलिखित थी—

खनिक	८५०,०००
रेलवे-कर्मचारी	४५०,०००
बोझ उठानेवाले	४००,०००
राज मज़दूर	३००,०००
लोहार इत्यादि	१५०,०००
छापेख़ानेवाले	१५०,०००
	२३००,०००

हड़ताल का समस्त प्रबंध श्री बिविन और श्री पिनसिल के हाथों में था।

हड़ताल के समय राज्य का प्रबंध विभाग आत्मरक्षा के नियमों पर किया गया। इँगलैंड को दस ज़िलों में विभाजित कर दिया गया और हर एक ज़िला एक सिविल कमिश्नर के आधीन था, और सिविल कमिश्नर चीफ़ सिविल कमिश्नर श्री मिचेल, पोस्टमास्टर जनरल, के निग्रह में थे। रविवार २ मई की रात्रि को स्वयंसेवकों के लिये अपील की गई और तुरंत ही स्वयंसेवक भरती होने लगे। शीघ्र ही स्वयंसेवकों की संख्या ४८८,१५५ तक पहुँच गई। पदार्थ-संग्रह-प्रबंध राज्य ने अपने हाथ में लिया। व्यवसाय-सम्मेलन ने भी इस कार्य में उसे सहायता दी। राज्य का प्रबंध बहुत अच्छा था। दूध का प्रबंध राज्य ने अपने हाथ में लिया था और इसके लिये उसने हाइडपार्क में एक विशाल भंडार खोल दिया था। अन्य खाद्य-पदार्थों का प्रबंध व्यापारियों ने किया, जो व्यावसायिक पंचायत के अधीन थे। प्रारंभ में लंडन के जहाज़ी गोदामों में बड़ी गड़बड़ रही और कुछ दिनों तक आटा और मांस लंडन के केंद्र में शस्त्रधारी कर्मचारी ले जाते थे। १२ मई को लंदन का बंदरगाह खोल दिया गया। १० मई को लंकाशायर के आटे के मिलों में भी हड़ताल हो गई। खाद्य पदार्थों पर कोई

वस्तान मूर
(प्रथम स्वयंसेवक एंजिन ड्राइवर—जो हैरो नगर से लंडन तक रेलवे ट्रेन ले गया)

निग्रह नहीं था, न उनके मूल्य में ही कोई अंतर किया गया। रेलवे कंपनियों ने धीरे-धीरे गाड़ियों की संख्या बढ़ाई। पहले तो माल का जाना ही बंद हो गया था, परन्तु स्वयं सेवकों की सहायता से हर प्रकार के चौपहिये ट्रम इत्यादि लंडन और प्रांतों में चलते रहे। पेट्रोल कंपनियों ने अपना सारा पेट्रोल इकट्ठा किया, क्योंकि उसका खर्च ३९ से ४० प्रतिशत तक बढ़ गया था। रेल के बंद हो जाने से मोटर-गाड़ियों की आमदरफ़्त बहुत बढ़ गई थी।

घरेलू और उद्योग-संबंधी कोयले के ख़र्च में राज्य ने बहुत कमी की। लोहे का काम सब बंद हो गया। इंजीनियरी-संबंधी व्यवसाय को बहुत हानि पहुँची। ऊनी और अन्य बुने हुए मालों में कुछ ऐसी हानि नहीं हुई। डाकख़ाने के काम में भी बहुत कमी हुई। बैंकों की अवस्था वैसी ही रही। सर्राफ़े में काम-धंधा कुछ नहीं हुआ, परंतु दर वैसी ही रही। ब्रिटिश सिक्के की दर बढ़ गई।

व्यावसायिक जनरल काउंसिल ने बार-बार कड़ी आज्ञाएँ भेजीं, कि किसी प्रकार का दंगा-फ़साद न होने पाए। इन आज्ञाओं का पूर्ण रूप से पालन हुआ। परंतु स्वयं-

(लंडन के हड़ताली, एक हड़ताली के साथ छेड़ने पर, उसका पीछा कर रहे हैं)

सेवकों के कार्य में विघ्न हुए और दक्षिणी लंडन, एडिनबरा, ग्लासगो और अन्य नगरों में कुछ गड़बड़ भी हुई। रेल को पटरी से उतारने के भी प्रयत्न किए गए, और संकट-कालीन क़ानून के अनुसार पकड़-धकड़ भी बहुत हुई। पूर्वी और दक्षिणी लंडन में बेकार लोगों के कारण, जिनमें कुछ अंश गुंडों का भी था, राज्य की ओर से जो प्रबंध हुआ, वह यह था कि समस्त काम करनेवालों और स्वयं-सेवकों को पूर्ण रक्षा के वचन दिए गए, और इस कार्य की सहायता और पुष्टि के लिये हड़ताल के आरंभ से अंत तक १८००० से २१६००० तक विशेष पुलिस नियत की गई। लंडन में ११००० और अन्य प्रांतों में ७००० मनुष्यों की अर्ध-सैनिक मंडलियाँ बनाई गईं। यह अर्ध-सेना वैसे तो कभी बाहर नहीं निकलती थी, पर जब निकलती थी, तो ऐसे प्रभावशाली रूप में कि, उसके भय से लड़ाई-झगड़े की कोई आशंका न रह जाय। दंगे-फ़साद तो हुए, परंतु उनसे एक प्राणी की भी हानि नहीं हुई, और न एक बार भी गोली चलाने की आवश्यकता उपस्थित हुई। पुलिस, स्वयं-सेवकों की निपुणता और उनकी सेवा, हड़तालियों के अधिकांश का आत्मशासन, यात्रि-जनता की पारस्परिक सहन-शीलता और शांत स्वभाव—इन बातों को जिसने देखा, उसीने सराहा और प्रशंसा की।

हड़ताल के कारण राज्य को ६४६९,००० रुपया ख़र्च करना पड़ा। ३ मई को बेकारों की संख्या १,१०४,६२६ थी और १० मई तक यह संख्या १,५७६००० तक पहुँच गई थी।

लंडन के सारे छापेख़ाने बंद हो गए थे, इस कारण राज्य ने 'मार्निंग पोस्ट' पत्र के कार्यालय को अपने हाथ में लिया और वहां से 'ब्रिटिश गज़ट' नामक दैनिक पत्र प्रकाशित करना आरंभ किया। इसके आठ अंक ५ और १३ मई के मध्य में प्रकाशित हुये। श्रमिकों की जनरल काउन्सिल ने 'ब्रिटिश वर्कर' नामक पत्र द्वारा "ब्रिटिश गज़ट" के आक्रमणों के उत्तर दिये। इन दोनों पत्रों से आंदोलन की अग्नि और भड़क उठी। 'ब्रिटिश गज़ट' तो यह ढोल बजाता था कि हड़ताल स्वयं ब्रिटिश-विधान पर ही एक आक्रमण है, और 'ब्रिटिश वर्कर' यह उत्तर देता था कि हड़ताल सर्वथा व्यावसायिक है। 'ब्रिटिश गज़ट' बाईस लाख छपता था, और 'ब्रिटिश वर्कर'

दस लाख। 'टाइम्स' सर्वथा बंद नहीं हुआ था, वह विश्वस्त समाचार केवल ४ पृष्ठों में निकालता रहा, और हड़ताल के अंत होने तक, हड़ताल से पहले जितना छपता था, उससे दुगना छपने लगा। कई प्रांतीय पत्र भी बराबर निकलते रहे, पर हड़ताल के दूसरे सप्ताह तक बहुत से लंडन के दैनिक पत्र लघु रूप में प्रकाशित होने लगे। इन पत्रों के साथ ही लंडन और अन्य अनेक नगरों में भी छोटे-छोटे पत्र निकलते थे, अधिकांश जनता "ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कंपनी" के समाचारों पर ही निर्भर रहती थी, क्योंकि इसका राज्य से संबंध था, और इसके समाचार निरीक्षण होकर निकलते थे।

ऐसी परिस्थिति में हड़ताल के विषय में कोई बात निश्चय करना या कोई विचार प्रकट करना कठिन था। राज्य के साथ देश के चारों ओर से सहानुभूति प्रकट की गई। संकट-कालीन क़ानून के विषय में ५ और ६ मई को पार्लियामेंट में मज़दूर दल की ओर से जो विरोध किया गया, वह निष्फल हुआ। राज्य को इस विषय में इतनी सहायता नहीं मिली कि व्यावसायिक जनरल काउन्सिल बिना किसी शर्त के ही आत्म-समर्पण करने के लिये विवश हो जाय।

७ मई को गिरजाघरों के मुखियों की एक सभा हुई, जिसके सभापति कैंटरबरी के बड़े पादरी थे। इस सभा ने तीन बातें निश्चित कीं—पहली यह कि हड़ताल खोल दी जाय, दूसरी राज्य हड़तालियों को आर्थिक सहायता दे, तीसरी खानों के मालिक अपने नोटिस वापिस लेलें।

८ मई को प्रधान मंत्री ने समस्त राष्ट्र के नाम एक अपील प्रकाशित की, जिसमें उन्होंने प्रार्थना की कि—"मैं शांति के लिये प्रार्थी हूँ, परंतु ब्रिटिश विधान की रक्षा को परित्याग नहीं किया जा सकता। राज्य खनिकों के रहन-सहन की वर्तमान पद्धति को घटाना नहीं चाहता। मैं जनता से आशा करता हूँ कि वह मुझ पर विश्वास करे कि मैं सब पक्षों के साथ और मनुष्य-मनुष्य में न्याय करूँगा।"

हड़ताल क़ानूनी-दृष्टि से क्या थी, इस विषय में ६ मई और ११ मई को श्री सीमन ने पार्लियामेंट में २ वक्तृताएँ दीं। पहली वक्तृता में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हड़तालियों के अधिकांश ने नोटिस दिए बिना ही काम छोड़कर कंट्राक्ट तोड़ दिया है, इस कारण (१) हड़ताल ग़ैर-क़ानूनी है, और (२) जिसने हड़ताल की सलाह या उसमें सहायता दी हो, उसकी तथा हड़ताल के प्रत्येक नेता की धन-संपत्ति से सारी क्षति वसूल की जायगी। दूसरी वक्तृता में उन्होंने यह तर्क भी किया कि वर्तमान हड़ताल कोई व्यापारिक झगड़ा नहीं है, हड़ताल-संबंधी समस्त कार्य सर्वथा अवैध और अव्यवस्थित है। श्री सीमन की इस राय की जस्टिस अस्टबरी के उस फ़ैसले से पुष्टि हो गई, जो उन्होंने उनकी वक्तृता से एक ही दिन पहले प्रकट किया था। जस्टिस अस्टबरी के फ़ैसले का तात्पर्य यह निकलता था कि हड़तालियों की यह कारवाई किसी व्यावसायिक झगड़े की सफलता के लिये नहीं है। उनकी रक्षा न १९०६ के "व्यापारिक विवाद ऐक्ट" से ही हो सकती है और न १९१५ के "राजद्रोह व संपत्ति-रक्षा ऐक्ट" से ही। अतएव हड़तालियों के ऊपर घोर हानिकारक कार्यक्रम रचने तथा व्यापारिक हानि पहुँचाने का अभियोग लगाया जा सकता है। जस्टिस अस्टबरी के इस फ़ैसले ने बड़े-बड़े वकीलों को आश्चर्य में डाल दिया। जस्टिस अस्टबरी के फ़ैसले और श्री सीमन की वक्तृताओं का यह परिणाम हुआ कि हड़ताली भयभीत हो गए और श्रमिक दल की जनरल काउंसिल को हड़ताल खोल देनी पड़ी। जस्टिस अस्टबरी ने अपने फ़ैसले में यह बात भी निश्चय कर दी कि सम्मेलन-फंड का रुपया धरोहरी अवस्था में है, इस कारण हड़ताल को इस रुपए से आर्थिक सहायता नहीं मिल सकती।

दूसरी वक्तृता के अंत में श्री सीमन ने 'अन्त तक लड़ने' की निरर्थकता और उसके घोर परिणाम को दिखलाया और पार्लियामेंट के श्रोताओं के सामने यह विचार उपस्थित किया कि जब उपरोक्त तीन शर्तें पूरी हो जायँ, तो राज्य को आर्थिक सहायता फिर दे देनी चाहिए। इस विषय में जो प्रस्ताव श्री सीमन और उनके सहकारियों ने निश्चय किया था, वह कुछ ऐसा था कि, भविष्य में किसी झगड़े की संभावना ही न हो। यह तो हो ही रहा था, परंतु उसके बीच में ही एक और शुभ घटना आ उपस्थित हुई।

शुभ घटना क्या थी? इस कोयले की हड़ताल के विषय में यदि कोई अत्यंत गुप्तभेद है, तो यह है, और इसका रहस्य आज तक नहीं खुला है। किसी ने श्री हरबर्ट सैमुएल को, जो कोयले कमीशन के प्रधान भी थे, और इटाली गए

हुए थे, या तो बुलाया या वह स्वयं ही वहाँ से आ गए। उनके आते ही श्रमिक मंत्री ने उनको यह विश्वास दिलाया कि हड़ताल के विषय में उनकी सम्मति पर अति सावधानी और सहानुभूति के साथ विचार किया जायगा।

१० मई तक श्री सैमुएल ने व्यावसायिक जनरल काउंसिल से परामर्श करके एक मसविदा बनाया और उसी रात्रि को खनिकों की कार्यकारिणी को विचार करने के लिये दे दिया। इस मसविदे में मार्मिक बात यह थी कि जब तक इस बात का विश्वास न हो जाय कि संगठनार्थ जिन प्रस्तावों को कमीशन ने निश्चय किया है, उनको कार्यान्वित न किया जायगा, वेतनों की पुरानी दरों पर कोई पुनर्दृष्टि नहीं हो सकती। इस प्रस्ताव में जो संशोधन खनिकों ने किया था और जिसको जनरल काउंसिल ने अस्वीकार कर दिया था, वह यह था कि वेतन की पिछली दरों पर कोई पुनर्दृष्टि नहीं होनी चाहिये।

जनरल काउंसिल ने यह विचार करके कि इस समय कुछ न कुछ फ़ैसले की बात करनी चाहिये, साथ ही समस्त संघों का सुरक्षित और बंध रहना भी आवश्यक है, मसविदे में वे शर्तें और बढ़ा दीं जो राज्य ने समझौते के विषय में अपने अंतिम प्रमाण-पत्र में सम्मिलित की थीं। यह मसविदा खनिकों के पास फिर भेजा गया और उनको सूचित किया गया कि जनरल काउंसिल इसको स्वीकार करना चाहती है, परंतु खनिकों ने इसे फिर भी स्वीकार नहीं किया। अगले दिन खनिकों से फिर प्रार्थना की गई कि वे उपरोक्त शर्तों को स्वीकार करलें, परंतु यह प्रयत्न भी निष्फल गया। इसके पश्चात् जनरल काउंसिल का डेपुटेशन उसी दिन दोपहर को प्रधान मंत्री से मिला और उनको सूचित किया कि हड़ताल खोल देने के विषय में शीघ्र कारवाई की जायगी। इस पर जो परामर्श हुआ उसके संबंध में श्री बिविन हड़ताल के 'सेनापति' ने प्रधान मंत्री से यह विश्वास दिलाने के लिये कहा कि हड़ताल उठने के साथ ही कोयले के मालिक अपने अपने नोटिसों को भी वापस ले लेंगे। इसी दिन तीसरे पहर खनिकों की कार्यकारिणी ने श्री सैमुएल के बनाये हुए मसविदे का विरोध प्रकाशित किया, और जब प्रधान मंत्री ने इस विषय में उनको अगले दिन फिर बुलाया, तो अपना मौखिक विरोध भी कह सुनाया। प्रधान मंत्री ने इस पर मसविदे की शर्तों में कुछ और परिवर्तन भी कर दिया। इससे पुनर्संगठन का विषय, जो राज्य प्रस्तावित करना चाहता था, कुछ अधिक विस्तार के साथ वर्णित होगया। साथ ही इस मसविदे में से इस बात की सारी चर्चा निकाल दी गई कि राज्य ही खानों को मोल ले लेवे। प्रधान मंत्री के प्रस्तावों और मसविदे में यह भेद था कि प्रधान मंत्री ने एक दम कमी करने का विरोध किया था।

खानों को राष्ट्र-संपत्ति बनाने के विषय में तो गवर्नमेंट स्वयं ही पीछे हट रही थी, परंतु वेतनों के घटाने के विषय में यह निश्चय किया गया कि श्री सैमुएल के मसविदे के समान पंचायत को यह झगड़ा सौंप दिया जाय। इसका पंच राष्ट्रीय पंचायत का निर्पक्ष प्रधान नियुक्त होना निश्चित हुआ। इस प्रकार अंत में समझौते की सभी बातें व्यर्थ हो गईं और दोनों पक्षों तथा राष्ट्र के लिये एक लंबा क्रियाशून्य समय, अर्थात् हड़ताल, आरंभ हो गया।

श्री सायमन की पार्लियामेंट की वक्तृताओं और जस्टिस अस्टबरी के इस फ़ैसले से कि हड़ताल से होने वाली हानियों की क्षतिपूर्ति हड़तालियों की धन-संपत्ति को नीलाम करके की जाय, हड़ताली भयभीत हो गये। उनका यह भयभीत होना भी यथार्थ था। जिस दिन हड़ताल खुली है, उससे एक दिन पहले समुएल के बनाये हुये मसविदे के अनुसार खनिकों से बहुत कुछ आग्रह किया गया कि वे इसे स्वीकार करलें, परंतु उन्होंने स्वीकार न किया।

मज़दूर संघ को इस समय हड़ताल के विषय में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह कठिनाई यह थी कि क्या खनिकों को सम्मिलित किये बिना ही हड़ताल खोल दी जाय। इस समय सम्मेलन कमिटी में बड़े तीक्ष्ण भाषण हुये। श्री टामस ने, जो श्रमिकों के बड़े शांत और विचारशील नेता समझे जाते थे, इस समय बड़ी आत्मिक-निर्बलता दिखलाई। कमिटी में भाषण करते हुए वह घबरा कर अपने पैरों पर उछल पड़े, मुख पीला पड़ गया, माथे पर पसीना आ गया, और रुँधे हुये गले से बोलते हुए उन्होंने श्रमिक-दल के सम्मुख त्याग-पत्र फेंक दिया और कहा—"कमिटी की इस बैठक में तो मैं उपस्थित हूँ ही, परंतु इसको अब मेरा अंतिम

मि० केम्प　　　　मि० जे० एच० टामस

(रेलवे-संघ के प्रधान श्री केम्प और मंत्री श्री टामस)

परिणाम है।" सभा-सदस्यों ने उनको मनाने का बहुत प्रयत्न किया, और एक सदस्य श्री बेन टिलेट ने यह भी कहा कि "जिमी ! तुम हमको नहीं छोड़ सकते। तुम को भी हमारी ऐसी ही आवश्यकता है, जैसी हमको आपकी है।" परंतु श्री टामस ने किसी बात पर भी ध्यान नहीं दिया, और मौन हो गये। श्री टामस के इस आचरण का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। यह हड़तालियों के सबसे बड़े नेताओं में समझे जाते थे। जिस समय हड़ताल आरंभ हुई थी, श्री टामस का नाम बड़े गौरव के साथ लिया जाता था। उनके सम्मिलित होने से हड़ताल का महत्त्व भी बहुत बढ़ गया था, परंतु उनके आने से जैसे उसके महत्त्व में अधिकता हुई थी, उससे कहीं अधिक हानि उनके इस अंतिम आचरण के कारण हुई। जब सेनापति ही ऐसी आत्मिक-निर्बलता दिखलाये, तो सेना युद्ध-क्षेत्र में कहाँ ठहर सकती है? परिणाम यह हुआ कि हड़ताल तुरंत ही शिथिल हो गई। ऐसी अवस्था में हड़ताल को खनिकों के सम्मिलित किए बिना ही खोलना पड़ा। श्री ह्वीटले ने, जो इंगलैंड के एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं, श्री टामस के इस आचरण पर यह विचार प्रकट किए हैं—"इसमें कोई संदेह नहीं कि जब सब बातें स्पष्ट हो जायँगी तो (हड़ताल की विफलता के
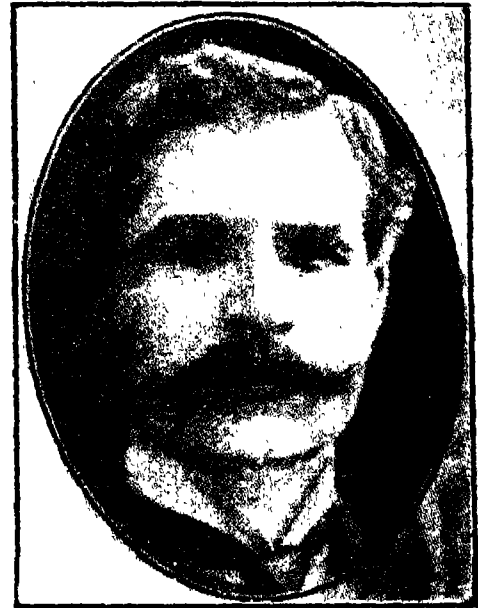
मि० रामज़े मेकडानल्ड

(पार्लियामेंट में श्रमिक-दल के प्रतिनिधि)

कारणों में) कायरता को एक प्रमुख स्थान मिलेगा।" हड़ताल की विफलता के कारणों में श्री रामज़े मेकडानल्ड ने धनाभाव भी बतलाया है। उनका कथन है कि "एक

लंबे युद्ध में वास्तविक सहायता धन से ही होती है।" श्री मेकडानल्ड ने "फारवर्ड" पत्र में यह भी लिखा था कि व्यवसाय सम्मेलन और खनिकों की युद्ध-नीति में बहुत कुछ भेद है। खनिक जहाँ तेरह सप्ताह शान्तिपूर्वक हड़ताल करने का विचार करते हैं, अन्य लोग तीन सप्ताह भी हड़ताल जारी रखने का साहस नहीं रखते। संघ सार्वजनिक हड़ताल से एक दूसरे की कोई सहायता नहीं कर सकते।

इस प्रकार ब्रिटेन के समस्त सहचारी हड़तालियों ने १२ दिन की हड़ताल के पश्चात् हड़ताल खोल दी। परंतु मूल हड़ताली खनिकों ने बड़ा साहस दिखलाया। उन्होंने इस हड़ताल को प्रायः ८ आठ मास तक जारी रखा। परंतु जैसा कि श्री मेकडानल्ड ने कहा है कि, एक लंबे युद्ध में वास्तविक सहायता धन की होती है, निर्धन खनिक कहाँ तक हड़ताल जारी रखते। आठ महीने का उनका साहस कुछ कम नहीं था। कोयले के मालिक धनी थे, वह मौन बैठे हुए यह सब लीला देखते रहे, और अपनी बात पर अड़े रहे। वह जानते थे कि निर्धन खनिक कब तक साहस दिखलायँगे। यह कोई दिनों की बात है। स्वयं क्या खायँगे, परिवार को क्या खिलायँगे। अंत में यही हुआ। खनिकों को हड़ताल खोलनी पड़ी, और मालिकों की उस समय तो विजय हो ही गई। कोयले के मालिक आठ घंटे का दिन निश्चित करना चाहते हैं। इस समय जो समाचार मिल रहे हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि उनको इस विषय में अभी तक पूर्णरूप से सफलता प्राप्त नहीं हुई है। खनिकों के मंत्री श्री लेन फ्रौक्स ने जो सूचना प्रकाशित की है, उसमें उन्होंने बतलाया है कि ४६६,१६४ खनिक आठ घंटे के दिन के प्रमाण से कार्य कर रहे हैं। २६१,९५० साढ़े सात घंटे के दिन के प्रमाण पर कार्य कर रहे हैं और कितने ही ज़िलों में अभी तक सात घंटे का दिन ही प्रचलित है। वेतनों के विषय में भी अभी कोई बात निश्चित नहीं हुई है।

खनिकों ने विवश होकर मालिकों की शर्तों पर काम करना शुरू कर दिया, परंतु इसको झगड़े का अंत कदापि नहीं समझना चाहिए। खनिकों के मुख्य नेता श्री कुक ने कहा है कि हम केवल पीछे हटे हैं, शीघ्र ही फिर युद्ध आरंभ करेंगे।

श्यामाचरण।

देशहित के ठेकेदार !

वह व्याख्यान ही क्या, जो आकाश और पाताल को न हिला दे !

१. मानव-जीवन का उद्देश्य

बस कि दुश्वार है हर काम का आसाँ होना !
आदमी को भी मुयस्सर नहीं इंसाँ होना !!

नुष्य-जीवन का उद्देश्य और मानव-कर्त्तव्य-ज्ञान जितना कठिन, जितनी ज़िम्मेदारी का कार्य है, उतना ही सरल और उभय लोक के लिए परोपकारी भी है। यों तो जगदीश्वर की सृष्टि में चींटी से लेकर हाथी तक अनेकों प्रकार की योनियाँ विद्यमान हैं, परंतु मनुष्य-योनि विधाता की सर्वोत्तम कारीगरी का सर्व-श्रेष्ठ आदर्श है। विवेक-बुद्धि और अलौकिक प्रेम की पर्याप्त मात्रा देकर जगदाधार ने मनुष्यों को अपने विकास तथा उन्नति का इतना विस्तीर्ण मार्ग दे दिया है कि वह अपने शुद्धाचरण, कर्म-कौशल द्वारा परमात्मा की पदवी में लीन हो सकता है। भगवान् उसके पीछे २ दौड़ सकते हैं, उसकी बलैयाँ ले सकते हैं, उस भक्त पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकते हैं। इसके असंख्य उदाहरण विद्यमान हैं। मनुष्यों को इससे बढ़कर और सम्मान पद क्या चाहिए ? हम यहाँ पर थोड़े शब्दों में इस बात पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे कि 'विवेचनात्मक-बुद्धि' और 'प्रेम' की व्याख्या क्या है, जिनके कारण मनुष्य जाति को सर्वोच्च पद प्राप्त हुआ है। वैसे जन्म लेना, माता के गर्भ में रहना, खाना, पीना, सोना और मरजाना तो पशु-पक्षी आदि में भी समान रूप से पाया जाता है। यदि मनुष्य इतने ही को अपना कर्त्तव्य समझकर शूकर की भाँति अपना पालन-पोषण करता हुआ इहलौकिक लीला समाप्त कर देता है, तो मेरे विचार में वह गोस्वामीजी के शब्दों में 'जननी यौवन विटप कुठारू' अवश्य है। पार्थिव शरीर का ढाँचा मनुष्य होने की निशानी नहीं है।

येषां न विद्या, न तपो, न दानं,
ज्ञानं, न शीलं, न गुणो, न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता,
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरंति ।

उपरोक्त बातें विद्या और उससे उत्पन्न विवेचनात्मक बुद्धि द्वारा ही ग्रहण की जा सकती हैं। श्रीतुलसीदासजी महाराज ने थोड़े ही शब्दों में संसार की मुख्य २ सभी बातों का सार बतला दिया है और उन्हें आठ भागों में विभक्त किया है। सुनिए—

१. नर समान नहिं कवनेहु देही, जीव चराचर जाँचत जेही।
नरक स्वर्ग अपवर्ग नसेनी, ज्ञान, विराग, भक्ति दृढ़ देनी।
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर, होयँ विषयरत मंद मंदतर।
काँच किरीच बदलि ते लेहीं, करते डारि परस मणि देहीं।
२. नहिं दरिद्र सम दुख जगमाहीं, ३. संतमिलनसम सुख कछु नाहीं।
४. पर उपकार वचन मन काया, संत सहज स्वभाव खगराया।
५. दुष्ट उदय जग आरति हेतू, यथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू।
पर सम्पदा विनाश नशाहीं जिमि कृषि हति हिम उपल बिलाहीं।

६. परमधर्म श्रुति विदित अहिंसा; ७. परनिंदा सम अघ न गरिसा।
८. मोह सकल व्याधिन कर मूला; तेहिते पुनि उपजहि बहु शूला।
काम बात, कफ लोभ अपारा; क्रोध पित्त नित छाती जारा।
प्रीति करहिं जो तीनों भाई; उपजै सन्निपात दुखदाई।

दोहा

एक व्याधि वश नर मरहिं, ये असाध्य बहु व्याधि;
सतत पीड़हिं जीव कहँ, सो किमि लहहि समाधि।

हमारे कुशल कवि ने सागर को मंथनकर ऐसे ८ रत्न निकाल कर रख दिए हैं, जिनकी तुलना होना एक प्रकार से असंभव है। हम देखते हैं, मनुष्य संसार के झूठे मोह-मद में भूलकर असत्य का पथ ग्रहण कर लेता है। अहंकार का रंगीन चश्मा उसकी आँखों को तिरमिरा देता है। कोई लक्ष्मी के लिये, कोई अधिकार के लिये, कोई दूसरों की उन्नति न देख सकने के प्रलोभन में, अपने मानसिक विचारों की नित्य हत्या करता हुआ, स्वनिश्चित स्वार्थ-पथ में बड़ी तेज़ी से दौड़ा जा रहा है। वह पथिक यह नहीं सोचता कि संसार की इस क्षणिक यात्रा करने के पश्चात् हम किस स्थान पर पहुँचेंगे। हमें जो कर्तव्य-ज्ञान देकर जगतनियंता ने इस जगती-तल पर भेजा है, उसकी आज्ञाओं का पालन हम कहाँ तक कर रहे हैं, उसका प्रत्युत्तर हमारे पास क्या है? हम देखते हैं कि पढ़े-लिखे पुरुषों की अपेक्षा ग्राम-वासियों में सच्ची बुद्धिमत्ता, सहनशीलता, ईश्वर का डर, अपने कर्तव्य का ज्ञान अधिक पाया जाता है। कविवर 'हाली' के शब्दों में—

"वो इल्म जिससे कि औरों को फ़ायदा न हुआ;
हमारे आगे बराबर हैं वो हुआ न हुआ।"

आगे चलकर व्यासजी दो शब्दों में मनुष्य जीवन के दो मुख्य अंगों का विवेचन करते हैं—

"अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्;
परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीडनम्।"

अर्थात्—परोपकार ही पुण्य है और दूसरे को क्लेश देना पाप है। इस समय मानव-कर्तव्य और प्रेम की व्याख्या कुछ दूसरी ही हो गई है। पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँगकर धीरे-धीरे हमारे भाई अपने यहाँ के उद्देश्यों के अर्थ में सरासर अनर्थ करते हैं। अपनी वाक्पटुता के भरोसे पर सत्य को छिपाकर असत्य का मार्ग निर्धारित करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते। बाह्य-आडंबर को प्रदर्शन कर संसार के ऊपर अपनी सज्जनता की धाक जमाना चाहते हैं। हम पूछते हैं, कितने ऐसे धार्मिक सज्जन हैं, जो केवल ईश्वर के डर से, ईश्वर की प्रीत्यर्थ पूजा-आवाहन करते हैं। भगवान् की प्रस्तर मूर्ति को समक्ष रखना, पोथियों को पढ़ लेना, माला के दानों को गिन लेना और रँगे-चुने कैलेंडर की तारीख पढ़कर सुना देने ही में कर्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती है। यह तो उस ईश्वर के द्वार तक पहुँचने की एक साधारण रास्ता बतानेवाली सहायक सीढ़ी हो सकती है। असली तत्त्व तो हृदय की स्वच्छता, विचारों की विमलता और विशुद्ध कर्म पर निर्भर है। वह तो अहंकार, अभिमान, छल, द्वेष, पाखंड, दग़ाबाज़ी से परे है। वहाँ तो यह शिक्षा है—

"अपने को इतना मिटा कि तू न रहे;
और तुझमें हुई की बू न रहे।"

और यह बात हृदय में मंत्र की तरह याद कर ले—

"करूँ मैं दुश्मनी किससे, कोई दुश्मन भी हो अपना,
मुहब्बत ने नहीं दिल में जगह छोड़ी अदावत की।"

गोस्वामी तुलसीदासजी की आँखों में सारा संसार भगवान्मय है—वह द्वेष किससे करें?

सीय राममय सब जग जानी;
करहुँ प्रणाम सप्रेम सुबानी।

मनुष्य स्वयं अपने विचारों को, अपने व्यवहारों को, जिस साँचे में चाहे ढाल सकता है। हिंदू लोग तो पुनर्जन्म मानते हैं, इसलिये उन्हें कर्म का डर अवश्य होना चाहिए। परंतु जो लोग पुनर्जन्म को नहीं भी मानते हैं, उन्होंने यह तो मुक्तकंठ से स्वीकार कर लिया है कि—'अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे का बुरा होता है' (As you will sow so you will reap) इन सबका तत्त्व यह है कि "संसार में इस प्रकार रह कि मृत्यु पश्चात्ताप का कारण न हो।" (Die peacefully)

यहाँ तक तो कर्म और विवेचनात्मक-बुद्धि द्वारा उसका निर्धारण हुआ। अब सृष्टि के मुख्य अंग और मानव-जीवन के बृहत् उद्देश्य—प्रेम को लीजिए। प्रेम सृष्टि का आधार है, संसार-संचालन की ईश्वरीय प्रेरणात्मक स्फूर्ति है। जहाँ प्रेम का सम्मिश्रण नहीं, वहाँ जीवन की सार्थकता भी नहीं। प्रेम की व्याख्या थोड़े शब्दों में यही हो सकती है कि—"प्रेम ही परमेश्वर है"! (Love is God) श्री० अश्विनीकुमारदत्त के शब्दों में—"प्रेम में

गंभीरता है, भयंकरता नहीं। कौतुक है, तरलता नहीं। आवेश है, उद्वेग नहीं। उच्छ्वास है, चंचलता नहीं। शासन है, उत्पीड़न नहीं। विवाद है, विषाद नहीं। अभिमान है, अपमान नहीं। प्रेम के आँखें होती हैं। भगवान् प्रेम-स्वरूप हैं। भगवान् के नेत्र विश्वव्यापी हैं। इसलिये प्रेम तीव्र दृष्टि से प्रेमी के हृदयस्थ तत्त्वों को जान लेता है।" प्रेम की कैसी हृदयग्राही व्याख्या है, कितना सुंदर विवेचन है। मानव-जीवन को कसौटी पर कसने के लिये कितने अच्छे साधनों का निदर्शन है। हम देखते हैं आजकल मोह को, क्षणिक आवेश को, प्रेम का स्वरूप दिया जाता है। लेकिन यह सरासर भूल है, भ्रम है और भ्रांतिक भावना है। प्रेम तो त्याग की पराकाष्ठा देखना चाहता है। विवेचनात्मक-बुद्धि उसे सहारा देती है और मनुष्य को सच्चा मनुष्य बनाती है। स्वार्थ से तो कोई भी ख़ाली नहीं है, परंतु उसकी भी सीमा है, उस पर भी नियमों का नियंत्रण है। अपनी उन्नति, अपने सम्मान-प्राप्त करने में ईर्षा तो सुंदर है, परंतु द्वेष और असत्य का सहारा मनुष्य तथा ईश्वर के प्रति विश्वासघात की सामग्री है। इनके द्वारा उपार्जित झूठी कीर्ति और अनुचित आत्मसम्मान घोरतम नीच कर्म और अक्षम्य अपराध है। हमारे विचार में थोड़ी समय के लिये कोई मानव-हृदय भले ही आनंद उठा ले, परंतु उसका शोचनीय पतन निश्चित है। उस पतन के बाद प्रायः ऐसा देखा गया है कि अंतर चक्षु खुल जाते हैं। मनुष्य को अपनी वास्तविक स्थिति का परिज्ञान होता है और उसे अपनी गत-कृतियों पर घृणा तथा पश्चात्ताप करना पड़ता है। मनुष्य यदि अपने पर थोड़ा भी नियंत्रण करना सीख ले, थोड़ा भी भगवान् का भय और कर्म का ज्ञान समझ रख ले, तो बहुत-सी भयंकर भूलें रोकी जा सकती हैं। मनुष्य दूसरों पर अपना स्थायी प्रभाव अपने आदर्श-कर्मों द्वारा ही स्थापित कर सकता है। अन्यथा—'पर उपदेश कुशल बहुतेरे ; जे आचरत ते न रन घनेरे' की भाँति शिक्षण-कला व्यर्थ ही जाती है। उसका दूसरों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमें पहले अपने को सचाई, प्रेम और परोपकार के साँचे में ढालना चाहिए, तब हम दूसरों से भी वैसी ही आशा कर सकते हैं। हमें इस समय किसी की वही बात याद आई कि—आप मुझे कितना चाहते हैं, उत्तर मिला कि अपने हृदय से पूछ लो। और ऐसी है भी ठीक। हृदय तो आईने की तरह स्वच्छ है, उसे दुर्विचारों के मल से यदि आप मलिन न होने देंगे, तो जो बात ठीक है, वही दिखाई देगी। उसमें कृत्रिमता का समावेश न होगा। आपके हृदय में यदि बुरे भाव न होंगे, आपके कर्मों में यदि कुटिलता न होगी, तो विश्वास रखिए कि दूसरे आपके प्रति वैसा करने का साहस न करेंगे। और यदि करेंगे भी तो उनकी आत्मा उन्हें धिक्कारेगी तथा अपनी कलुषता पर उन्हें ग्लानि होगी। यही विचारवान् और बुद्धिमान् पुरुषों का अनुभव है। सांसारिक लीला तो बहुत थोड़े समय के लिये है। उसे वास्तविकता का स्थान मत दो—कबीरजी के शब्दों में वह तो रोज़ उठने और लगनेवाली हाट है—

> या दुनिया में आइके, छाँड़ि देइ तू ऐंठ।
> लेना है सो लेइ ले, उठी जात है पैंठ।

यहाँ लेने-देने का मतलब कबीरजी का भलाई-बुराई से है। अच्छे कर्म और बुरे कर्म से है। क्योंकि, मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् यही चीज़ें उसके साथ जानेवाली हैं, यही ईश्वरीय-न्याय में सहारा देनेवाली हैं। शेष तो यहीं रहेगा। तब कहीं यह सोचते हुए यहाँ से न जाना पड़े कि—

> लाए न अपने साथ, न कुछ यां से ले चले।

संसार-जीवन-लीला तो परीक्षा-स्थल है। प्रभु बड़ा कौतुकी है। देखता है कौन नाट्यकार इस नाट्यशाला का सफल ऐक्टर सिद्ध होता है। जीवन-संग्राम में बड़े-बड़े विकट युद्धों का मोर्चा लेना पड़ता है। हमारा सेनापति देखता है कि कौन सैनिक अपने सच्चे कर्तव्य का पालन करता है और कौन भ्रम भावनाओं में फँसकर अपने स्वामी का नमकहराम बनता है। इसी पर उन सैनिकों की उन्नति, अवनति निर्भर है। जो चतुर हैं, जो दूरदर्शी हैं, वे इन नश्वर मोह-जालों में न फँसकर अपने को सच्चा सैनिक सिद्ध करते हैं और जो इनमें फँस गए, वे न इधर के रहे और न उधर के रहे।

बहुतों का मत है कि यह सब साधनाएँ संसार छोड़कर एकांतवास में ही कार्यान्वित की जा सकती हैं। जैसा कि दुनिया से ऊबकर "ग़ालिब" कहते हैं—

> रहिए अब ऐसी जगह चलकर जहाँ कोई न हो,
> हमसख़ुन कोई न हो और हमज़बां कोई न हो ;

'माधुरी' के प्रेमियों को बधाई !

नए वर्ष से विराट आयोजन

मूल्य में कमी, लेख और चित्रों में विशेषता

जगदीश्वर की अपार कृपा से 'माधुरी' का पाँचवाँ वर्ष इस अंक से सकुशल समाप्त होता है। अनेकों अड़चनों और कठिनाइयों के होते हुए भी पत्रिका को सर्वांगपूर्ण, रुचिकर बनाने में कोई प्रयत्न उठा नहीं रक्खा गया। इस सफलता का श्रेय हमारे लेखकों तथा कवियों की उदारता, ग्राहकों, एजेंटों तथा विज्ञापन-दाताओं के कृपावलंबन और हिन्दी-प्रेमी उदारमना, श्रीमान् श्री० विष्णुनारायणजी भार्गव के प्रशंसनीय उत्साह-दान पर निर्भर है, जिनके बलबूते पर ये कठिनाइयाँ तृणवत पार होगईं। हम उन महानुभावों को कृतज्ञ-हृदय से बधाई देते हैं; साथ ही विश्वास रखते हैं कि भविष्य में भी वे 'माधुरी' को द्विगुण उत्साह से अपनाकर हिन्दी-साहित्य-वृद्धि करने में हमारी सहायता करेंगे।

अगले अंक से सर्व-साधारण के लाभार्थ

'माधुरी' का वार्षिक मू० ६॥) ; छमाही ३॥) होगा

पृष्ठ-संख्या, पेपर, छपाई-सफ़ाई और चित्रों में कोई कमी न होगी।

नए वर्ष से 'माधुरी' की विशेषताएँ—

"बेदरो दीवार-सा एक घर बनाना चाहिए,
कोई हमसाया न हो और पासबाँ कोई न हो।
पड़िए गर बीमार तो कोई न हो तीमारदार,
और गर मर जाइए तो नूहख़्वाँ कोई न हो।"

परंतु कर्मवीर भगवान् कृष्ण का तो यह उपदेश है कि— संसार समर-स्थल में युद्ध करते हुए कर्तव्य पालन करो। इससे घबड़ाकर उदासीन बनने की चेष्टा करना कापुरुषता का चिह्न होगा। ठीक भी है—संसार में रहते हुए, कर्तव्य का पालन करते हुए, प्राणी-मात्र की शुभकामना करते हुए, छल-छिद्र, पाखंड, द्वेष-रहित ईश्वराराधना में लीन, सत्य का सहारा लिए हुए, अपने को किसी काम का कर्ता न समझकर धर्म के निश्चित पथ पर अग्रसर होते जाओ। उभय प्रकार से जीत है। यहाँ भी बोल-बाला है और उस लोक में भी जीत का डंका बजेगा। कर्म-त्याग उतनी प्रशंसा के योग्य नहीं है। सबमें रहकर सबसे पृथक् रहना ही सच्चे त्यागी का धर्म है। पुरुष का अर्थ ही पुरुषार्थ है। परोपकार में, ईश्वर की भक्ति में, ग़रीबों को सहायता देने में, दुष्टों के दमन में ही उसका सदुपयोग पात्रता का लक्षण है। अपने दृष्टि-कोण को अपने ही स्वार्थ तक परिमित न रखकर विस्तीर्ण कीजिए। विचारों को उदार बनाइए। हृदय-सिंहासन पर ममता की मूर्ति स्थापित करिए। प्रेम का विस्तीर्ण क्षेत्र तैयार कीजिए। स्नेह का अंजन आँखों में लगाकर सर्वत्र प्रेम-प्रतिमाओं को देखिए। दूसरों के हित को अपना हित और अनहित को अनहित समझने की विवेक बुद्धि उपार्जन कीजिए। ढकोसलों को छोड़िए। मनुष्य जाति की भलाई करने को ही अपना सबसे बड़ा स्वार्थ जानिए। जिस समय यह दशा होगी, उस समय आप देखेंगे, संसार कितना पवित्र, कितना मनोरम और कितना सरस है। प्रेम के सलिल-स्रोत में ग़ोते खाकर आप अपनी काया-पलट स्वयं ही कर लेंगे और सोचेंगे कि—

"वस्ल में हिज्र का ग़म हिज्र में मिलने की ख़ुशी,
कौन कहता है जुदाई से विसाल अच्छा है।"

उस समय यह अनुभव होगा कि यहाँ पर न कोई किसी का शत्रु है और न मित्र। सब भाई हैं, एक ही पिता के पुत्र हैं। सबको समान अधिकार है। संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रेम की पवित्र भागीरथी अप्रतिहत-गति से बह रही है। हम सब उसमें आनंद की डुबकियाँ लेते हुए जीवन सार्थक बना रहे हैं। उस समय तुलसीदासजी महाराज की यह उक्ति याद आएगी कि—

"दुहू हाथ मुद-मोदक मोरे" तथास्तु।

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

२. आह्वान

हृदय में है न दया का लेश, दुखी का समझेगा दुख कौन?
जिसे है अंतस्तल की दाह, न आता बैठा बन वह मौन!
हुआ है उत्कंठा का राज, बिछी हैं पथ में आँखें दीन;
खिंचा उर जाता है उस ओर, जहाँ मैं रहता संज्ञा-हीन!
रही कर परवशता है नृत्य, खड़ा हूँ करने को आह्वान!
हृदय है करता पशु-व्यवहार, सदय हो आजा, तजकर मान!

श्रीकैलासपति त्रिपाठी

× × ×

३. प्रणयोपालम्भ

मानता तुम्हें जो निज प्राणों से अधिक प्यारा,
ऐसे हो कठोर तुम उसे ही सताते हो;
आते हो न पास चाहे जितना बुलाए कोई,
पास भी जो आते तो न हाथ कभी आते हो।
'कौशलेंद्र' उलटे विधान हैं तुम्हारे सब,
लाता उर जो तुम्हें उसे न उर लाते हो,
होगा उपकार तुमसे किसी का कैसे जब,
मारते उसी को जिसको तुम्हीं जिलाते हो।

(२)

प्रेम के हो वश्य पर प्रेम करते न स्वयं,
होकर सरल भी कठिनता दिखाते हो;
मान से झुकाता उसे मान से छकाते तुम,
जिसको नचाते हो उसी से शरमाते हो।
'कौशलेंद्र' आप परदे में रहते हो किंतु—
चाहकों को बदनाम जग में बनाते हो;
छलिया बड़े हो है प्रतीति क्या तुम्हारी? कहीं—
लूटते किसी को कहीं आप लुट जाते हो?

कौशलेंद्र राठौर

× × ×

४. जुगनू के प्राते

(१)

कुहू निशा की अँधियारी में,
शांत सरोवर के उस पार;

वृक्षों के झुरमुट से उड़कर,
जा मालती-कुंज की डार।
(२)
रह-रहकर झिलमिल झोकों से,
खोज रहे क्या पंख पसार।
बार-बार कहती हूँ तुमसे,
अब न यहाँ बहती रस-धार।
(३)
ऐसी ही काली रातें थीं,
नीरव सोया था संसार।
प्रेम विसुध हम पड़े हुए थे,
डाले बाहु-पाश का हार।
(४)
मदमाती अलसित पलकों से,
रिम-झिम बरस रहा था प्यार।
उझक चले थे तुम बाहर से,
लिए दृष्टि का मृदु उपहार।
(५)
भेद-भरे नैनों की भाषा,
वे रहस्य—वे हार-विहार।
लेकर जा बैठे हैं निष्ठुर,
पथिक-प्रांत के भी उस पार।
(६)
उस अज्ञात सुदूर दिशा में,
रमे हुए हैं किसके द्वार।
रम्य-चिन्ह उनकी लीला के,
क्या न ला सकोगे दो-चार?

शंभुदयाल सक्सेना,
'साहित्य-रत्न'

× × ×

५. मधुप!

प्रातः वायु लगी बहने तो,
दिया प्रकृति ने घूँघट टाल।
मतवाली मुसुकान मनोहरता,
मादकता का उस काल।
चिटक-चिटक कर जब गुलाब ने,
दिया सँदेशा चारों ओर।
मधु-लालची मधुप कितने ही,
आकर लगे मचाने शोर।
प्याला पर प्याला भरकर,
कलियों ने किया मधुप सम्मान।
कली-कली के मुख-चुंबन में,
होने लगा मधुर रस-पान।
मतवाले मधुपों ने पीकर,
कलियों-कलियों का मकरंद।
मचा दिया सारे उपवन में,
हो-हो निडर लूट आनंद।
कितनी ही कलियाँ बिखेर दीं,
कर-करके पद दलित निशंक।
कितनी ही कलियों की केसर,
छीन-छीनकर कर दी रंक।
धूल उड़ा दी उपवन में,
मधुपों ने मिलकर खेली फाग।
बिछा दिया भू पर ले ले,
कलियों का संचित मधुर पराग।
कुछ लपेटकर निज गातों में,
उड़ते-फिरते चारों ओर।
लगे दिखाने अद्भुत शोभा,
लगे मचाने अनुपम शोर।
ठीक शराबी-सा मधुपों ने,
किया नाश सब सुंदर साज।
मानो उपवन की मादकता पर,
है बस उनका ही राज।
जिन कलियों ने निज संचित मधु,
दिया मधुप को हँस-हँस दान।
उसी निर्दयी मत्त मधुप ने,
कर दी उन कलियों को म्लान।
निष्ठुर नहीं-सा कोमल कलियों का,
दिया मींड़ नव गात।
ऐसे ही होती है मतवाले—
प्रेमी के रस की बात।

द्वारिकाप्रसाद मौर्य

× × ×

६. बुलबुलशाह और वर्ण-व्यवस्था

काश्मीर-राज्य में इस समय सैकड़े पीछे ८० से भी अधिक मुसलमान हैं। परन्तु जिस समय की बात हम करते हैं, उस समय वहाँ हिंदुओं की ही प्रधानता थी।

मुसलमान आटे में नमक के बराबर भी न थे। उस समय सिकंदर नाम के एक सिदियन राजा ने काश्मीर पर अधिकार कर रक्खा था। सिकंदर न हिंदू था और न मुसलमान। पर वह चाहता था कि हिंदू मुझे अपने धर्म में मिला लें। उसे इस धर्म पर हार्दिक श्रद्धा थी। वह नित्य गीता की कथा सुना करता था। पर ब्राह्मण लोग उसे हिंदू-धर्म की दीक्षा देने से इनकार करते थे। एक दिन गीता में यह श्लोक आया—

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।"

कथावाचक ब्राह्मण ने इसका अर्थ करते हुए कहा "दूसरे के उत्तम धर्म से अपना गुण-हीन धर्म भी कल्याणप्रद है। अपने धर्म में ही मरना श्रेष्ठ है और दूसरे का धर्म भयावह है।"

सिकंदर यह सुनकर चौंक उठा। उसने ब्राह्मण से श्लोक का अर्थ दुबारा करने को कहा। ब्राह्मण ने फिर वही शब्द दुहरा दिए। तब सिकंदर ने पूछा—क्या आप का अभिप्राय यह है कि मैं आपके धर्म को ग्रहण नहीं कर सकता? ब्राह्मण ने उत्तर दिया—जी हाँ। अपने-अपने धर्म में रहना ही अच्छा है, क्योंकि भगवान ने कहा है—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'।

यह सुनते ही सिकंदर की विचार-धारा का पथ एकदम परिवर्तित हो गया। वह हिंदू-धर्म से निपट निराश हो गया। हताश होकर उसने निश्चय किया कि कल सबेरे जो मनुष्य मुझे सबसे पहले दृष्टिगोचर होगा, मैं उसी का धर्म ग्रहण करूँगा। दूसरे दिन सबेरे उठकर वह अपने राजमहल की खिड़की [illegible] गया। दैवयोग से सबसे पहले उसकी दृष्टि एक बुड्ढे पर पड़ी। वह मिट्टी का लोटा लिए जा रहा था। उसने उस बुड्ढे को अपने पास बुलाया और पूछा—

"तुम्हारा क्या नाम है?"

"बुलबुल शाह।"

"तुम कौन हो?"

"मुसलमान।"

"क्या तुम मुझे अपने धर्म की दीक्षा दे सकते हो?"

"मेरे लिये इससे बढ़कर प्रसन्नता का विषय और क्या हो [illegible] है कि काश्मीर-नरेश मेरा धर्म-भाई बने। इस्लाम का दरवाज़ा मनुष्य-मात्र के लिये खुला है।"

बस, फिर क्या था, सिकंदर मुसलमान बन गया और इस्लाम के प्रचार में यत्नवान् हुआ। सबसे पहला काम उसने यह किया कि काश्मीरी ब्राह्मणों को बोरियों में बंद करके झेलम नदी में डुबा दिया। उसके प्रयत्न से अल्प ही काल में समस्त देश मुसलमान हो गया।

यह कोई कल्पित कथा नहीं, एक ऐतिहासिक सचाई है। बुलबुल शाह की क़ब्र अब तक श्रीनगर में मौजूद है।

पाठक, देखिए, गीता के एक श्लोक के अर्थ का अनर्थ कर देने से आर्य-धर्म और मातृ-भूमि की कितनी घोर हानि हुई! कथावाचक की बुद्धिहीनता ने देश के पाँवों में सदा के लिये विपत्ति और दासता की ज़ंजीर डाल दी। गीता के उपर्युक्त श्लोक का युक्ति-संगत और ठीक आशय यह है कि अपने धर्म अर्थात् कर्तव्य को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, चाहे वह कितना ही तुच्छ क्यों न हो। जो सिपाही अध्यापक के काम (धर्म) को अच्छा और अपने काम (कर्तव्य-कर्म) को बुरा समझकर अपनी ड्यूटी पूरी नहीं करता, और अध्यापक का कर्तव्य (धर्म) करने की अनुचित चेष्टा करता है, वह भारी भूल करता है। क्योंकि जिस (सिपाही के) काम के करने में वह समर्थ है, उसे तो वह करता नहीं, और (अध्यापक के) जिस काम को करने की उसमें योग्यता नहीं, उसके करने की चेष्टा करता है। इस मूर्खता का परिणाम सिवा हानि के और हो ही क्या सकता है? अग्नि का धर्म जलाना है, यदि वह इस धर्म (जलाने) को छोड़ दे, तो वह अग्नि ही नहीं रह जाती। उसका अस्तित्व उसी समय नष्ट हो जाता है। जो मनुष्य गुण, कर्म और स्वभाव के कारण जिस काम के करने के योग्य है, वही उसका धर्म है। उसको छोड़ कर दूसरा काम करने की चेष्टा करने से उसकी हानि का होना अवश्यंभावी है। कारण, उसमें उस दूसरे कार्य (धर्म) को करने की योग्यता नहीं। इसीलिये गीता में कहा है कि अपने धर्म में ही मरना अच्छा है, और यह बात है भी युक्ति-संगत।

काश्मीर की उपर्युक्त दुर्घटना को हुए [illegible] लगभग सत्रह सौ वर्ष हो गए। आशा थी कि हिंदू-समाज इस घटना से शिक्षा लेते हुए गीता के उपर्युक्त श्लोक का ठीक ठीक अर्थ ग्रहण करने का यत्न करेगा। परंतु देश का दुर्भाग्य—अभी तक भी जन्म की श्रेष्ठता के गीत

गाकर जाति को उसी पतितावस्था में रखने का यत्न किया जा रहा है, जिसमें कि विवेक-चक्षु फूट जाने के कारण वह पौराणिक काल में गिर पड़ी थी।

'माधुरी' की वैशाख की संख्या में महाशय रामसेवक त्रिपाठीजी ने "हिंदू-जाति और वर्ण-व्यवस्था" शीर्षक टिप्पणी लिखी है। उसमें आपने ऋषि-मुनियों के नाम की दुहाई देकर जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था के विरोधियों को खूब कोसा है। आपका कहना है कि इस वर्ण-व्यवस्था के कारण ही हिंदू-जाति का अस्तित्व आज तक सुरक्षित है; गीता और मनुस्मृति आदि शास्त्र वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं, महर्षिगण ने इसको बनाया है, इसलिए इसको मिटाना पाप है। आपने लिखा है कि "आजकल देखने में भी आ रहा है कि शूद्र-जाति के लोग यज्ञोपवीत धारणकर द्विजातीय (विशेषकर ब्राह्मण क्षत्रिय) बनने की कोशिश कर रहे हैं। वर्णसंकर सृष्टि-रचना का उद्योग कर रहे हैं।...... वेद-शास्त्र की निश्चित पथ-प्रणाली को मानने से साफ़ इनकार कर रहे हैं।" आपका मत है कि इस समय जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य कहलाते हैं, उन्हीं को ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनाए रक्खा जाय, जो शूद्र उन्नति करने का यत्न करे, उसे वहीं कुचल दिया जाय। क्योंकि उसकी इस चेष्टा से वर्णसंकरता होगी और वेद-शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन होगा। आप शूद्रों को अपने भाग्य पर संतुष्ट रहने का उपदेश करते हुए उन्हें गीता का वही उपर्युक्त श्लोक सुनाते हैं, जिसके अनर्थ के कारण सारा काश्मीर मुसलमान हो गया था। उसका अर्थ करते हुए आप लिखते हैं—

"दूसरे के उत्तम धर्म से आपका (अपना ?) गुण-हीन धर्म भी कल्याण-प्रद है, और अपने जाति-विहित कर्म करता हुआ मनुष्य पाप का भागी नहीं होता।"

हमें इस संबंध में इतना ही कहना है कि वर्ण-व्यवस्था मनुष्यों के लिये है, मनुष्य वर्ण-व्यवस्था के लिये नहीं। यदि इससे मनुष्य-समाज को कुछ लाभ होता हो, तो इसको रखने में कोई हानि नहीं। परंतु, यदि, यह हानिकारक है, तो इसको बनाए रखने के लिये ऋषियों और वेद-शास्त्रों का नाम लेकर रोब डालने की आवश्यकता नहीं। जन्म से वर्ण-व्यवस्था का सिद्धांत अत्यंत स्वार्थमूलक, अन्याय-मूलक और जाति के लिये घोर विनाशक है। इसका प्रतिपादन सिवा उस व्यक्ति के और कोई नहीं करेगा, जिसकी उससे स्वार्थ-सिद्धि होती है। यही कारण है कि आज तक किसी भी ऐसे व्यक्ति ने इसका समर्थन नहीं किया, जिसको हिंदू-समाज जन्म के कारण नीच या हीन-जाति समझता है। हमें क्षमा किया जाय, यदि श्रीयुत रामसेवकजी का जन्म किसी चमार या डोम के घर में हुआ होता; यदि 'त्रिपाठी' का दुमछल्ला लगाने के लिये उन्हें तीन वेद पढ़ कर किसी विश्वविद्यालय का प्रमाण-पत्र लेने की आवश्यकता होती; उनके शुद्धाचारी, धर्मात्मा और शिक्षित होने पर भी यदि नाम-मात्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, उनसे घृणा करते, और फिर वे कहते कि जन्म से वर्ण-व्यवस्था होनी चाहिए, तो दुनिया उनकी बात सुनने को तैयार होती। आप ब्राह्मण हैं, आपको जन्म से ऊँचाई की पैतृक जागीर मिल चुकी है। अब आप दूसरों को अपने बराबर बनता कैसे देख सकते हैं। आप कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था हिंदुओं का संगठन है। परंतु सच्चाई इसके सर्वथा विपरीत है। यह वर्ण-भेद हिंदू-संगठन की जड़ों पर कुल्हाड़ा है। यह उस जात पाँत की जननी है, जिसने ऊँच-नीच और छूत-छात का बखेड़ा उत्पन्न करके हिंदू-समाज को छिन्न-भिन्न कर दिया है; जिसके कारण बाईस करोड़ हिंदू सात करोड़ से पिटते रहते हैं। इसी ने हिंदुओं से इस भगवद्वाणी का निरादर कराकर इनको रसातल में पहुँचा दिया है—

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्...'

हिंदू-जाति वर्ण-व्यवस्था के कारण ही आज तक जीवित है, यह एक ऐसी ही उक्ति है, जैसे कोई कहे कि भारत में अँगरेज़ों का राज्य इसलिये है, क्योंकि ये मदिरा और चुरट पीते हैं।

जिस वर्ण-व्यवस्था का श्री रामसेवक जी प्रतिपादन करते हैं, उसका दूसरा और प्रचलित नाम जात-पाँत है। इसकी बेहूदगी देखिए कि संस्कृत के प्रोफ़ेसरों को सुनार, डॉक्टरों को धोबी, नाई, घर में रोटी बनानेवाले और निरक्षरों को ब्राह्मण-पंडित कहा जाता है।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था के हम विरोधी नहीं। वह स्वाभाविक है, वह सब जगह है। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही कहा जाता है। दूसरे देशों में हम देखते हैं कि पाँच भाई हैं। उनमें से एक अध्यापक है, दूसरा मोची है, तीसरे की दूकान है, चौथा पादरी है और

पाँचवाँ मज़दूर है। सब इकट्ठे रहते और खाते-पीते हैं, उनमें कोई छूत-छात नहीं। वहाँ डॉक्टर को धोबी और जज को बढ़ई कहकर नीच नहीं समझा जाता। और न वहाँ निरक्षर को ब्राह्मण और पंडित ही कहा जाता है, वहाँ तो fair field and no favour की बात है—जिसमें हिम्मत है, वह बढ़ जाय। अमीर-ग़रीब, शिक्षित-अशिक्षित, धर्मात्मा और पापात्मा की सामाजिक स्थिति और प्रतिष्ठा में सदा अंतर रहता है। परंतु यह भेद ऐसा नहीं, जो जन्म-मूलक जात-पाँत के सदृश कभी मिटाया न जा सके। अशिक्षित मनुष्य प्रयत्न करके शिक्षित बन सकता है। जन्म उसकी उन्नति में बाधक नहीं होता। हम पूछते हैं कि जिन देशों में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जन्माभिमानी लोग नहीं, वहाँ कौन-सी हानि हो रही है, और जहाँ वर्ण-व्यवस्था की दुहाई देनेवाले अपने को ऋषियों और महर्षियों की संतान कहकर इतरानेवाले दस-बारह करोड़ हैं, वह कौन-सा उन्नति के शिखर पर आरूढ़ है? स्मार्त-काल में कदाचित् इस ऊटपटांग जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था की आवश्यकता रही हो; परंतु इस समय तो यह एक अत्यंत हानिकारक चीज़ है। दुःख तो यह है कि जो लोग वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिये चिल्लाते हुए शास्त्रों और ऋषियों की दुहाई देते हैं, वे ऋषि-वाक्यों के आशय को समझने का यत्न नहीं करते, वरन् अपने पक्षपात-पूर्वक कथन से बेचारे शास्त्रों पर अन्याय का कलंक लगाते हैं। गीता में साफ़ लिखा है—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।'

फिर मनु कहते हैं—

"शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च।"

इतना ही नहीं। इतिहास बताता है कि ऋषि लोग जन्म की जात-पाँत या आजकल की वर्ण-व्यवस्था को न मानते थे। देखिए—

(१) शुक्राचार्य ब्राह्मण ने अपना विवाह राजा प्रियव्रत क्षत्रिय की कन्या उर्जस्वती से किया था।

(२) शृंगी ब्राह्मण ने पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रजी क्षत्रिय की बहन शांता से विवाह किया।

(३) यमदग्नि ब्राह्मण ने सूर्यवंशी राजा की कन्या रेणुका से किया।

(४) ऋचीक ब्राह्मण ने राजा गाधि क्षत्रिय की कन्या सत्यवती से विवाह किया।

(५) पिप्पलाद ब्राह्मण ने क्षत्रिया पद्मा से किया।

(६) अगस्त ब्राह्मण ने क्षत्रिया मुद्रालोपा से किया।

(७) रयिक ब्राह्मण ने राजकन्या जानश्रुति क्षत्रिया से किया।

(८) सौभरी ब्राह्मण ने मानधाता क्षत्रिय की कन्या से किया। अब प्रतिलोम विवाहों की कुछ सूची भी सुनिए—

(९) राजा प्रियव्रत क्षत्रिय ने विश्वकर्मा ब्राह्मण की पुत्री बर्हिष्मती से किया।

(१०) राजा नीप क्षत्रिय ने शुक्र ब्राह्मण की कन्या कृत्वी से किया।

(११) राजा ययाति क्षत्रिय ने शुक्र ब्राह्मण की कन्या देवयानी से किया।

(१२) ब्राह्मण दीर्घतमा और शूद्र कन्या के संबंध से कक्षीवान उत्पन्न हुए और कक्षीवान ने क्षत्रिय राजा की पुत्री से विवाह किया।

(१३) प्रमत्ता ब्राह्मणी का संबंध नाई के साथ हुआ और महामुनि मतंग की उत्पत्ति हुई।

(१४) कर्दम क्षत्रिय की पुत्री अरुंधती और (गणिका-पुत्र) वशिष्ठ मुनि का विवाह हुआ। इस संबंध से शक्ति-नामक पुत्र जन्मा। शक्ति का विवाह चंडाल कन्या अदृश्यंती से हुआ। उनके यहाँ पराशर मुनि का जन्म हुआ।

यह सूची बहुत लंबी की जा सकती है। मालूम नहीं, इन ऐतिहासिक विवाहों की विद्यमानता में भी जाति-पाँति तोड़कर विवाह करने के विरुद्ध वर्ण-संकरता का हौआ क्यों दिखलाया जाता है। वर्णसंकरता किसे कहते हैं? इसे समझने के लिये गहरे विचार की आवश्यकता है। आजकल जो लोग जन्म से ब्राह्मण या क्षत्रिय कहलाते हैं, उनमें से अधिकांश, इन शब्दों के वास्तविक अर्थों में, ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं। जैसे हम किसी का नाम रामप्रताप और किसी का नाम दीनदयालु रख देते हैं, परंतु रामप्रताप और दीनदयालु शब्द से उन दोनों व्यक्तियों के वास्तविक स्वरूप—गुण, कर्म, स्वभाव का कुछ बोध नहीं होता, उसी प्रकार ये ब्राह्मण और क्षत्रिय सर्वथा झूठे नाम हैं। इनका कुछ भी मूल्य नहीं। जिन

लोगों की सारी आयु आटा-दाल बेचते या क़र्क़ी करते बीत गई ; जिन्होंने न कभी किसी युद्ध में जाना तो दूर रहा, बंदूक़ को हाथ तक नहीं लगाया, उनको क्षत्रिय ; और जो सेना में सूबेदार और कप्तान हैं, उनको शूद्र और अछूत कहनेवाली वर्ण-व्यवस्था की लाश को सुरक्षित रखने से क्या लाभ होगा ? नाम-मात्र क्षत्रिय-युवक का नाम-मात्र ब्राह्मण कन्या के साथ विवाह वर्ण-संकरता का उत्पादक नहीं हो सकता, वरन् एक सुशिक्षिता और सुंदरी कन्या को एक निरक्षर और काले-कलूटे पुरुष के साथ, जाति-बंधन के कारण, ब्याह देने से ही वर्ण-संकर उत्पन्न होते हैं। इसी से समाज की हानि होती है। दुःख तो यह है कि वर्ण-व्यवस्था के टूटने और वर्ण-संकरता की दुहाई देनेवाले प्रायः वही लोग होते हैं, जो अपने आपको तो पहले ही ब्राह्मण या क्षत्रिय मान लेते हैं, और फिर दूसरों के लिये शूद्र और अछूत आदि की व्यवस्था देने बैठते हैं। इन भलेमानुसों से पूछना चाहिए कि इस बात का क्या प्रमाण है कि तुम शूद्र नहीं। दूसरों को शूद्र या नीच कहने का अधिकार तुमको किसने दिया ?

सामान्यतः यह समझा जाता है कि जन्मना ब्राह्मण बड़े अनुदार होते हैं। वे ही वर्ण-व्यवस्था और वर्ण-संकरता की दुहाई दिया करते हैं। परंतु बात ऐसी नहीं। लाहौर के जात-पाँत तोड़क-मंडल के मंत्री के रूप में मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि ब्राह्मणों में उदार से उदार और अनुदार से अनुदार मनुष्य हैं। इनमें कुछ लोग इतने उदार विचार के हैं कि उनकी टक्कर का मनुष्य किसी दूसरी जात में मिलना कठिन है। जो अनुदार हैं, उनकी अनुदारता की भी कोई सीमा नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि इनमें जो वस्तुतः विद्वान् हैं, जिन्हें अपनी योग्यता और संसार की प्रतिद्वन्द्वता में आगे निकल जाने की अपनी सामर्थ्य पर भरोसा है, वे सब उदार हैं। वे जन्म की श्रेष्ठता की डौंडी पीटकर विशेषाधिकार नहीं चाहते। वे सबको उन्नति का मौक़ा देने के पक्ष में हैं। परंतु जो समझते हैं कि, निष्पक्ष प्रतिद्वंद्वता में हम ठहर नहीं सकते, वे जन्म-मूलक वर्ण-व्यवस्था के विनाश पर आँसू बहाया करते हैं। हमारे मंडल के सदस्यों में ब्राह्मणों की अच्छी संख्या है, हमारे महोपदेशक पं० भूमानंदजी, हमारे मंडलेश्वर (प्रधान) श्री० भाई परमानंदजी, एम्० ए० और हमारे ऑफ़िस सुपरिंटेंडेंट श्री० महानंदजी, सब जन्म से ब्राह्मण हैं ; परंतु इन सज्जनों में जन्माभिमान की गंध तक नहीं।

आजकल की वर्ण-व्यवस्था या जात-पाँत (क्योंकि ये दोनों एक ही चीज़ के दो नाम हैं) बहुत पुरानी नहीं। अधिक-से-अधिक हम इसे स्मार्त या पौराणिक काल की मान सकते हैं। लकीर के फ़क़ीर बने रहने से देश का उद्धार नहीं हो सकता। ऋषि लोग समय-समय पर, आवश्यकता के अनुसार, नई-नई स्मृतियाँ बनाते आए हैं। उनमें एक दूसरे के विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। कारण जो बात एक काल में उपयोगी थी, दूसरे काल में उसके हानिकारक सिद्ध होने पर, उन्होंने उसको छोड़ देने की व्यवस्था की थी। वे हमारी बुद्धियों पर ताला लगाना नहीं चाहते थे। इस समय जात-पाँत का ढकोसला शुद्धि, दलितोद्धार और संगठन के मार्ग में घोर-रूप से बाधक सिद्ध हो रहा है। जिनको शुद्ध करके हम उनके साथ रोटी-बेटी का संबंध करने को तैयार नहीं, वे क्यों हमारे धर्म को ग्रहण करेंगे ? एक नाई को एक ब्राह्मण के साथ उसकी विपत्ति में क्या सहानुभूति हो सकती है, जब दोनों में रोटी-बेटी का कोई संबंध नहीं, जब नाई ब्राह्मण की दृष्टि में नीच और शूद्र है ? जन्माभिमानी द्विजों (वास्तव में शूद्रों) के सामाजिक अत्याचार से तंग आकर सात करोड़ दलित भाई हिंदू-समाज से अलग होने का निश्चय कर चुके हैं। वे अब अपने को हिंदू नहीं, आदि-धर्मी कहते हैं। सरकार भी उनको अलग अधिकार देने पर उतारू जान पड़ती है। इनके निकल जाने पर लुहार, बढ़ई, नाई, धोबी, तेली, कुम्हार, कहार, दरज़ी इत्यादि शिल्पियों के अलग होने की बारी आनेवाली है। ये शिल्पी लोग पहले ही बहुत अधिक संख्या में मुसलमान हो चुके हैं। जो थोड़े से अभी तक हिंदू बने रहे हैं, उनको भी 'कमीन' और 'शूद्र' कहकर अपमानित किया जाता है। ऋषि दयानंद के शब्दों में "यह वर्ण-व्यवस्था नहीं, हिंदुओं के लिये मरण-व्यवस्था है।" इसलिये इस डाकिनी से हिंदू-समाज जितनी जल्दी छुटकारा पाए, उतना ही अच्छा है।

संतराम

× × ×

७. कविता और उसका विकास

मनुष्य की सृष्टि चाहे जिन उपकरणों से हुई हो, किंतु हज़ारों वर्ष की अनुभूति ने इतना तो स्पष्ट कर दिया है कि वह खाने, पीने, कमाने और सोकर समय बितानेवाला जीव-मात्र नहीं है। उसकी सृष्टि में ही सृष्टा ने एक सत्य छिपा दिया था। अंदर होने के कारण उसे बाहरी प्रकाश की सहचरी आँखें देख नहीं पातीं; पर भूली-सी याद की तरह मानो उसकी धुँधली रेखा कभी-कभी हमारे अंतर्पट पर क्षण-दो-क्षण के लिये खिंच जाती है। जब से इस अनुभूति का पता चला है, तभी से हम वाणी द्वारा उसे बाहरी दुनिया में रखने की चेष्टा कर रहे हैं। जिस वाणी में दूसरी दुनिया की यह स्मृति, यह छाया, वह सत्य, जितना ही अधिक होता है, वह उतनी ही सफल और पूर्ण कविता कही जा सकती है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि दृश्य जगत् की चीज़ों को लेकर कविता हो नहीं सकती, पर वह कविता की प्रारंभिक श्रेणी है। उच्च कोटि की कविता वही कही जायगी, जिसमें मानव प्रकृति की मूल प्रक्रिया और आंतरिक सत्य की अभिव्यक्ति हो। प्रारंभिक श्रेणी की सांसारिक कविता में भी बहुत उच्च कोटि का प्रदर्शन किया जा सकता है, पर इस प्रदर्शन में अंतर्जगत की छाया का होना आवश्यक है। एक फूल को देखकर जैसे हमें उसमें एक आंतरिक रहस्य छिपा-सा दिखाई पड़ता है, उसी तरह संसार को देखकर हम एक और जगत की कल्पना करने को बाध्य होते हैं। इस भावना के कारण ही कविता के दो रूप सब साहित्यों में पाए जाते हैं। एक में बाह्य जगत् का प्रदर्शन होता है, और दूसरे में अंतर्जगत की अनुभूति और अभिव्यक्ति।

सच्चे कवि स्वभाव का सबसे प्रथम लक्षण यही है कि वह मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय में अधिक दूर तक मूलबद्ध हो। सहृदयता की मिट्टी पर ही यह पौधा उगता और बढ़ता है। सच्चा कवि सनकी या अपनी कला के लिये जीवित रहनेवाला कलाविद् नहीं है, और न वह स्वप्न-राज्य में घूमकर अमृत पीनेवाला जीव ही है। वह इनसे अधिक गहरे उपकरणों में पैठता है। वह इन सबसे ऊँचा एक मनुष्य है, जिसका हृदय उनकी सहानुभूति की रागिनी में भीगकर रो पड़ता है। यह हृदय औरों से भिन्न नहीं होता, केवल अधिक बड़ा, अधिक विकसित, अधिक खुला और अधिक ग्राहक होता है। वह औरों से भिन्न अनुभव नहीं करता, केवल अधिक गहराई तक अनुभव करता है।

सौंदर्य कवि का भोजन है। सौंदर्य की यह कल्पना जितनी ऊँची, पवित्र और मधुर होती है, कवि की प्राण-शक्ति भी उतनी ही उच्च कोटि की होती है। सौंदर्य एक आंतरिक भावना है, जिसे मनुष्य की उत्कंठा स्थूल रूप दे दिया करती है। इसे प्रायः सब मनोविज्ञान-वेत्ता मानते हैं कि सौंदर्य का उद्गम आंतरिक है, बाह्य नहीं। और प्रसिद्ध फ्रेंच कवि जोजेफ़ीन पेलाद के शब्दों में Le beau pour moi, c'est la salut—'सौंदर्य में ही हमारी मुक्ति अवस्थित है।' यही कारण है कि कविता का सर्वोत्तम युग वही होता है, जिसमें किसी देश, जाति या व्यक्ति के भीतर का सोया हुआ सौंदर्य जाग उठता है। मनुष्य की आँखों के सामने जो संसार फैला हुआ है, वह बहुत बड़ा होते हुए भी परिमित है और सच पूछिए, तो इसीलिये वह औपन्यासिक का सौंदर्य और संसार है—कवि का नहीं। संसार में आज तक जितने भी महान् कवि हुए हैं, उन्होंने बाह्य में अंतर को ही प्रत्यक्ष करने की चेष्टा की है।

कविता के इस मूलाधार—सौंदर्य—में इतना अधिक सत्य है कि एक वाक्य में कहना चाहें, तो कह सकते हैं कि सौंदर्य ही कवि-सृष्टि का स्रोत है। अपने चारों ओर जगत के अणु-अणु में एवं अपने अंदर जो सौंदर्य सोया पड़ा है, उसे जाग्रत करना—उसे ग्रहण करना ही कवि का कर्तव्य है। उच्च कविता का यही ध्येय है; किंतु सृष्टि के अनेक अंग ऐसे भी हैं, जिन्हें मनुष्य ने इस परिभाषा से अलग-सा कर रक्खा है और जो कविता के रूप में लाए जा सकते हैं। अतएव कविता के संबंध में और स्थूल निरूपण करना चाहें, तो कह सकते हैं कि सृष्टि या मनुष्य का कोई भी अंग जब भाव-प्रवणता के स्रोत में कल्पना से स्पर्शित होता है, तो कविता के रूप में आसानी से लाया जा सकता है।

जब मनुष्य के अंतर का किसी सत्य से स्पर्श होता है, तो उस असाधारण स्पर्श—उस आंदोलन में वह आनंद की एक विशेष कला—एक विशेष पुलक, भाव के एक विशेष ज्वार की अनुभूति करता है। उस विशेष प्रकार की अनुभूति, उस विशेष प्रकार के ज्वार का

प्रकाशन ही कविता है, किंतु प्रत्येक युग जीवन और अस्तित्व के कुछ ऐसे अंगों को प्रकट करता है, जो पहले सोचे नहीं गए थे। अतएव जीवन की परिवर्तन-शील कलाओं की अभिव्यक्तियों में भिन्नता आने के कारण प्रत्येक युग की कविता के रूप में कुछ-न-कुछ भिन्नता आ जाती है।

कवि जिस मानसिक शक्ति की सहायता से अपनी रचना की सृष्टि करता है, वह कल्पना है। यह कल्पना मनुष्य की बुद्धि और भाव-प्रवणता को जगाती और एक दूसरे को मिलाया भी करती है। बहुत से आदमियों का ख़्याल है कि कल्पना असत्य और अयुक्त विषय को आश्रय देने-वाली शक्ति है, किंतु यह भ्रम है। कल्पना वस्तुतः सत्य को समझने का एक साधन है। जिन वस्तुओं को हम नहीं जानते, जानी हुई वस्तुओं के द्वारा हम उनके रूप, रस और गुण को समझना चाहते हैं। समझने की इस सहायक प्रवृत्ति का नाम ही कल्पना है।

कल्पना के ऊँचे, शुद्ध और आध्यात्मिक प्रयोग के लिये सामग्री की आवश्यकता होती है, और यह सामग्री कवि अपने चिरसंचित संस्कारों, जीवन के अनुभवों, मन की तर्कनाओं और हृदय पर खचित जीवन की रेखाओं से लेता है। ये वस्तुएँ कल्पना का भोजन हैं। सबके ऊपर कवि की वह अन्तर्बेधिनी-दृष्टि उसे सहायता देती है, जो प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक वस्तु की अभिव्यक्ति में एक सौंदर्य सोया देखती है—जिसे सब नहीं देख पाते। यह दृष्टि कल्पना से बहुत सहायता पाती है। क्योंकि कल्पना, जैसा कि लोग सोचते हैं, असत्य या विकृत बुद्धि का चमत्कार नहीं है, और न गप ही। इसके विरुद्ध यह वह शक्ति है, जो सत्य को देखने में हमारी आँखों की सहायता करती है, फिर चाहे उसके कितने ही नए रूप क्यों न हों। यही शक्ति रूपहीन भाव को रूपवाली वस्तुओं से मिलने को बाध्य करती, अदृश्य एवं गुप्त कलाओं को मूर्तिमान् करती और मूक को प्रति-ध्वनित करती है। इस प्रकार के कल्पना-जन्य सत्य की छाया पड़ते ही जब हृदय तरंगित हो जाता है, तब मनुष्य एक अलौकिक आनंद का अनुभव करता है। सच पूछिए तो भाव-प्रवणता और सत्य के इस सीमा-चिह्न से ही कविता का जन्म होता है।

कवि जिस लक्ष्य को अपने सामने रखता है या जिस आदर्श को पूर्ण करना कविता का उद्देश्य है, उसके संबंध में नए पुराने सभी प्रकार के लोगों का मत है कि 'वह आनन्द प्राप्त करे और आनंद वितरण करे।' परन्तु आनंद की व्याख्या के संबंध में संसार में बहुत मत-भेद है। आनंद में सत्य का अंश जितना ही अधिक हो, या यों कहिए कि वह जितनी अधिक ऊँची मंज़िल पर कवि और श्रोता को पहुँचा सके, उतना ही वह ऊँचा आनंद है। वेदांत ने, इसीलिये जीवन का उद्देश्य भी 'निरतिशय आनन्द की प्राप्ति' ही निरूपित किया है। अतएव अंत में जाकर कविता और दर्शन के क्षेत्र बहुत समीप के हैं—क्षेत्र को अतिक्रम करने के रूप में ही भेद है। कविता जब तक आत्ममय न हो जाय, जब तक उसमें स्वप्रसूत-आध्यात्मिकता का अमृत न हो, वह अपने अंतिम आदर्श को पूरा नहीं करती। इसी बातको 'होरेस'ने यों कहा है—

'Aut prodesse volunt, aut delectare poetae.'

अर्थात् 'कविता का उद्देश्य मनुष्य को आनंद देना और उसको विकसित करना दोनों एक साथ है।'

हमारे चारों ओर जो आनंद है, उसे ग्रहण करना और हमारे पास तक पहुँचाना ही कवि अथवा कविता का उद्देश्य नहीं है, वरन् उसके स्पर्श द्वारा प्राणों को यह अनुभूति कराना भी उसका काम है कि यह आनंद किसी असीम परिकल्पना की छाया है, और इसका एक अनंत स्रोत एवं उद्गम है।

अच्छी कविता के लिये प्राचीन नियमों का बंधन आवश्यक नहीं है। यह बात भाव और भाषा दोनों पर लागू है। कितने ही लोग इस बात की हँसी उड़ाते हैं, पर उनकी उपेक्षा उस समय स्वयं उपेक्षणीय हो जाती है, जब हम देखते हैं कि कुछ ख़ास नियमों और बंधनों की आवश्यकता कविता स्वयं महसूस नहीं करती। संसार की श्रेष्ठ कविताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि अधिकांश सुंदर कविताएँ व्यक्ति-गत अनुभूतियों से ही उच्छ्वसित होती हैं।* इन व्यक्ति-गत अनुभूतियों के लिये सामाजिक पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। कविता के लिये

* एक अँगरेज़ काव्य-मर्मज्ञ ने लिखा है—"It remains for ever true in the region of poetry that immortal works are those which issue from personal feelings, which the spirit of system has not petrified."

जिस प्रकार बिना किसी दबाव के अपने आप निकले हुए अनाकृत (Spontaneous) भावोच्छ्वास की आवश्यकता है; उसी प्रकार अकृत्रिम भाषा और प्रकाशन-प्रणाली की भी ज़रूरत है। इसके लिये न तो यही नियम बनाया जा सकता है कि एक ख़ास मात्रा के तुकदार शब्दों का प्रयोग किया जाय, और न यही नियम बनाया जा सकता है कि छंदों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाय। कविता-रचना-प्रणाली में विशृंखलता और बंधन दोनों समान भाव से त्याज्य हैं। वस्तुतः ये गौण प्रश्न हैं। सच्ची बात तो यह है कि कविता में एक प्रवाह, एक संगीत और एक झंकार होनी चाहिए।

संसार के अनेक समालोचकों ने कविता-संबंधी प्राचीन नियमों की ज़रा भी अवहेला होते देखकर समय-समय पर अनेक कवियों की उपेक्षा की है—उन पर व्यंग्य-बाण बरसाए हैं, किंतु कविता के स्वाभाविक प्रवाह और विकास को रोकने में वे कभी सफल न हुए। बात यह है कि समालोचना और कविता के क्षेत्र अलग-अलग हैं। मनुष्य-चरित्र का विश्लेषण करने से यह सहज हो जाता है कि वह पहले अनुभव करता और फिर उस पर विचार करता एवं कसौटी पर रखता है। पहले उत्तेजना, भावनवशता और अव्यावहारिक संलग्नता होती है, और फिर—उसके बाद—विचार, विश्लेषण, उद्देश्य एवं कार्य की समालोचना इत्यादि का उदय होता है। इसीलिये कवियों को ठहरकर अध्ययन करने का जो उपदेश समालोचक और आचार्यगण दिया करते हैं, वह निष्फल होता है। कविता का क्षेत्र अनंत होने के कारण कवि उसको नए-नए रूपों में जगत् के सामने प्रकट किया करता है, किंतु जो प्राचीन काव्यों को पढ़ कर विद्वान् और समालोचक होते हैं, उनकी दृष्टि बँध जाती है और पुराने बटख़रों से ही वे प्रत्येक नए कवि को तौलते हैं। कविता के विकास के इतिहास से तो यही प्रगट होता है कि इस प्रकार की समालोचना ने उसको ऊँचा कभी नहीं उठाया। ऐसे आलोचक स्वयं प्राचीनता के दास होते हैं। अतएव वे सबको उसी ओर जाते हुए देखना चाहते हैं। इंगलैंड के प्रसिद्ध काव्यालोचक और आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी के काव्य-विभाग के अध्यक्ष श्री जान कैम्पबेल शेरप ने एक बार कहा था—

"We too readily, by the very nature of our studies become slaves to the past. Those who have spent their days in studying the master-minds of former ages, naturally take from their works canons of criticism by which they try all new productions. Hence it is that, when there appears some fresh and original creation, which is unlike anything the past has recognised, it is apt to fare ill before a learned tribunal. The learned and literary are so trained to judge by precedents, that they often deal harder measures and narrow judgement to young aspirants, than those do, who having no rules of criticism, judge merely by their own natural instincts. Literary circles think to bind by their formal codes young and vigorous genius, whose very nature it is to defy the conventional, and to achieve the unexpected."

थोड़े में इसका अर्थ यह है कि हम लोग अपने अध्ययन से ही अतीत के दास हो जाते हैं। जिन्होंने अपना अधिकांश समय पूर्वकाल के बड़े-बड़े लेखकों, कवियों और आचार्यों की रचनाओं के अध्ययन में व्यतीत किया है, वे स्वभावतः ही प्राचीन बटखरे से नई रचनाओं को तौलना चाहते हैं। इसलिए जब उनके सामने कोई नई, मौलिक और ताज़ी रचना आती है, तो वह स्वभावतः ही उनके द्वारा उपेक्षित होती है। विद्वान और साहित्यिक पुरुष प्राचीन साधनों से नवीन को जाँचने के इतने अभ्यस्त होते हैं कि वे प्रायः नवयुवक भावुक-कवियों के साथ उन लोगों की अपेक्षा अधिक निष्ठुरता का व्यवहार करते और संकुचित बुद्धि से काम लेते हैं, जिनके पास समालोचना के बँधे हुए नियम नहीं हैं और जो रचना को केवल अपनी हार्दिक प्रवृत्ति से जाँचते हैं। आचार्यगण इस नवीन और शक्तिमान प्रतिभा को प्राचीन नियमों से बाँधना चाहते हैं, जिसकी प्रकृति ही प्राचीन बँधे हुए रूपों को दबाकर अज्ञात की सृष्टि करना है।

सच बात तो यह है कि विश्लेषणहीन प्रतिभा द्वारा ही संसार ने सर्वोत्तम सत्यों को पाया है। कविता कोई लिखता नहीं, वह स्वयं ही लिख जाती है। वह अभ्यास और अध्ययन से सीखी जाने वाली चीज़ नहीं है। कवि इसलिये कविता नहीं लिखता कि उसकी ऐसा करने की कोई विशेष इच्छा रहती है, वरन् इसलिये कि वह

लिखने के लिये मजबूर हो जाता है। कोई अज्ञात शक्ति उतनी देर के लिये उसपर क़ाबू करके उसे वैसा लिखने को बाध्य करती है। उसकी अवस्था एक 'मेस्मेराइज़्ड' मनुष्य जैसी होती है। Ion में प्लेटो ने सुक़रात के मुँह से यही बात इस तरह कहलायी है—

"All good poets, epic as well as lyric, compose their beautiful poems not as works of art, but because they are inspired and possessed. × × × × for the poet is a light and winged and holy thing and there is no invention in him until he has been inspired. × × × When he has not attained to this state he is powerless and unable to utter his oracles."

इस बात के लिखने का तात्पर्य यही है कि कविता को किसी विशेष 'कोड' में जकड़ा नहीं जा सकता। उसके विकास के लिये सहृदयता का वातावरण, अंतर्बोधिनी दृष्टि, भावुक और गहराई तक अनुभव करने वाला हृदय, सत्यानुमोदित कल्पना और पवित्र एवं निस्सीम सौंदर्य की आवश्यकता है। विश्व के साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि जिस काल में समालोचना की प्रबलता होती है, उस काल में सर्वोत्तम कविताएँ नहीं लिखी जातीं। कविता के विकास में बंधन और नियम की विशेष आवश्यकता नहीं है। नियम और बंधन तो उन लोगों के लिये ही लाभदायक हो सकते हैं, जो कवि न बनकर काव्य के आलोचक बनना चाहते हैं। इसीलिये मानना पड़ता है कि कविता का साधन विश्लेषण और विपर्यय नहीं है, प्रवाह और सम्मिलन है। जब तक हिंदी में कविता और कवि के संबंध में इस तरह की ग़लतफ़हमी बनी रहेगी, अच्छी कविताओं की संख्या कभी अधिक न होगी।

—श्रीरामनाथ लाल 'सुमन'

१. होनहार

समय जो व्यर्थ न खोते हैं।
बात के पक्के होते हैं।
फूट का बीज न बोते हैं।
प्रेम के बहते सोते हैं।
  काम कर समय बिताते हैं।
  वही कुछ कर दिखलाते हैं।

बुरों से जो रहते हैं दूर।
भलाई से रहते भरपूर।
मानते अपना किया क़सूर।
सत्य को कभी न करते चूर।
  बात कह उसे निभाते हैं।
  वही कुछ कर दिखलाते हैं।

न जो नित खेला करते हैं।
ध्यान पढ़ने में धरते हैं।
दुःख दुखियों का हरते हैं।
सदा पापों से डरते हैं।
  न बढ़ बढ़ बात बनाते हैं।
  वही कुछ कर दिखलाते हैं।

बड़ों का जो करते हैं मान।
न छोटों का करते अपमान।
सादगी ही है जिनकी शान।
सदा करते ईश्वर गुणगान।
  गुणों को जो अपनाते हैं।
  वही कुछ कर दिखलाते हैं।

दूसरों का न बुरा तकते।
न जो पागल से हैं बकते।
काम पर जल्द न जो थकते।
भला औरों का कर सकते।
  नम्र बन हृदय चुराते हैं।
  वही कुछ कर दिखलाते हैं।

—सोहनलाल द्विवेदी

× × ×

२. मामा और भांजा

कालू अहीर के खेत में एक ऊँचा सा टीला था, जिसमें बहुत दिनों से एक प्रेत निवास करता था। कालू के बाप-दादे उस टीले को नहीं जोतते थे। उन्हें डर था कि यदि हम लोग इसमें खेती करने लगेंगे, तो प्रेत अप्रसन्न होकर कष्ट देगा। यही समस्या कालू के सिर पर भी आ खड़ी हुई। मगर वह साहसी था। सोचा एक व्यर्थ की शंका से इतनी ज़मीन क्यों छोड़ी जाय। ईश्वर के आगे भूत-प्रेत किसी की कुछ नहीं चलती। अस्तु, फरसा कुदाल सँभाल टीले पर पहुँच गया, और खोदना शुरू कर दिया। ज्यों ही उसकी पहली कुदाल पड़ी कि, प्रेत प्रत्यक्ष प्रकट होकर बोला—भाई, यह क्या करते हो? पहले तो कालू प्रेत को देखते ही डर गया, परंतु फिर जी कड़ाकर के बोला—मेरी ज़मीन है, मैं इसे समथल कर रहा हूँ।

प्रेत—तेरी ज़मीन है कि मेरी? क्या मुझे पहचानता नहीं?

कालू—क्या खूब, लगान तुम्हीं देते हो न! तुम्हें मैं खूब पहचानता हूँ। जाओ, नहीं तो गला ऐंठ दूँगा। समझे क्या हो?

प्रेत ने देखा कि यह तो मेरा भी चचा है। यदि इससे कुश्ती लड़ा और नीचे गिरा तो बड़ी बेइज़्ज़ती होगी। और यह भय दिखाने से डरेगा भी नहीं। तो अब इसे प्रलोभन देना चाहिए, नहीं तो मेरी धाक भी जाती रहेगी, और लोग कहेंगे कि इसने प्रेत को परास्त कर दिया।

अस्तु, वह बोला—भाई, तुम्हारे बाप-दादा इतनी ज़मीन छोड़ते आए हैं, इसलिए उन्हींके नाम पर तुम भी छोड़ दो। इसके बदले इसका मावज़ा हमसे ले लो।

कालू—तो सौ मन धान सालाना दिया करो, मैं छोड़े देता हूँ।

प्रेत—अच्छी बात है, मगर किसी से इसकी चर्चा न करना।

कालू—कभी नहीं, मगर धान न मिले, तो तुरंत आकर टीला समथल कर डालूँगा।

प्रेत—हाँ, हाँ, मुझे स्वीकार है।

फिर क्या था, कालू की चैन से बीतने लगी। प्रेत रात-रात धान पहुँचाता और यह चावल निकाल अपने बाल-गोपाल में मस्त रहता। गाँव के लोग बहुत हैरान थे कि, यह क्योंकर ऐसा खुशहाल है। मगर इसका भेद किसी को ज्ञात न था।

कई वर्षों के बाद प्रेत का भांजा उससे मिलने आया। उसने देखा कि मामा दिन-दिन दुर्बल होते जा रहे हैं, तो कारण पूछा। जब उसे सब बातें ज्ञात हो गईं तो आपेसे बाहर होकर कहा—यदि ऐसी बात थी, तो, मुझे क्यों ख़बर न दी? मैं उसे कच्चा ही खा जाता।

मामा—बेटा, वह बड़ा बली है। मेरी तो हिम्मत हार गई।

भांजा—ठीक है, आप बुड्ढे हो गए हैं, इसीलिए हिम्मत नहीं पड़ी। आज की रात, देखिएगा, मैं क्या तमाशा करता हूँ।

मामा—जाने दो बेटा, उस आदमी से रार न बढ़ाओ। तुम उसे कभी न जीत पाओगे।

भांजा—आप चुप रहें। बैठे-बैठे तमाशा देखें। क्या यह शोक की बात नहीं है कि आदमी प्रेत से सेवा कराए। निहायत अफ़सोस की बात है!

मामा—समझाना मेरा काम था, समझा दिया। अब समझना और न समझना तुम्हारे हाथ है।

ख़ैर, मामा से विदा हो भांजा कालू के घर

आया। देखा तो भीतर जाने का कोई रास्ता नहीं, और कालू भीतर है, अब क्या करे। तर्क-वितर्क करने के बाद वह साँप का रूप धारण कर पनाले में घुसा। उधर कालू बिल्ली की ताक में लट्ठ लिए बैठा था। बात यह थी, कि एक बिल्ली नित्य पनाले की राह आती और लड़कों की रोटियाँ चट कर जाती। संयोगवश उसी दिन उसने प्रतिज्ञा करली थी कि, बिल्ली को मारकर सब दिन के कष्टों से आज अवश्य मुक्त हूँगा। ज्यों ही प्रेत के भांजे (साँप) ने पनाले से मुँह निकाला कि, खोपड़ी पर कालू की लाठी खूब जोरों से बैठ गई। अब तो भांजेराम भी ताड़ गए कि जरूर यह प्रेत का चचा है। इससे बचकर जाना मुशकिल है। इतना सोच ही रहे थे कि उसकी दूसरी लाठी फिर जमी। अब भांजेराम अपने को छिपा न सके। तुरत प्रेत रूप में प्रत्यक्ष होकर कहने लगे—भई, मेरी जान छोड़ दो। मैं सौ मन चावल सालाना दिया करूँगा।

कालू खिलखिला कर हँस पड़ा और बोला—पहले तुम यह तो बतलाओ कि हो कौन?

भांजा—मैं टीलेवाले प्रेत का भांजा हूँ। अब जान छोड़ दो।

कालू—अच्छी बात है, तीन बार कह दो।

भांजे ने तीन बार 'सौ मन चावल सालाना दिया करूँगा' कहकर पिंड छुड़ाया और वहाँ से चला गया। रास्ते में सोचने लगा कि मामा के पास कौन मुँह लेकर जाँय। बढ़-बढ़ कर डींगें मारता था। अब वे क्या कहेंगे। अच्छा हो, इधर ही से भाग चलूँ। उधर मामा ने देखा कि भांजे को गए बहुत देर हो गई, तो आशंकित हो भांजे को देखने चला। दूर से देखा तो भांजा अपने घर की ओर भागा जा रहा है। उसने दौड़कर भांजे को पकड़ा। जब भांजे ने मामा को सामने देखा तो घिग्घी बँध गई। मामा ने पूछा—कहो क्या हुआ; भागे क्यों जाते हो?

भांजे ने सारी कथा कह सुनाई।

मामा ने कहा—देखा, घमंडी का सिर ऐसे ही नीचे होता है।

भांजा—अब ज़्यादा लज्जित न कीजिए। भला यह तो बतलाइए, अब यहाँ कैसे रहा जायगा। आप तो सस्ते छूटे हैं, सौ मन धान देकर जान बचा लेंगे। मैं सौ मन चावल कैसे दूंगा?

मामा—बस, आओ यहाँ से चलते बनें। अब इस जमीन पर ठिकाना नहीं।

भांजा—अगर कहीं वह हमको खोज निकाले तो?

मामा—आदमियों की आँखें इतनी तेज़ नहीं होतीं, मगर मेरी तो शान गई। जिस कारण सौ मन धान देता था, वह अकारथ हुआ।

भांजा—यह मेरे कारण हुआ, इसलिए माफ़ी चाहता हूँ।

जब चार छः महीने बीत गए, और कालू को न धान मिले न चावल ही, तो उसने कुदाल सँभाली और खेत में पहुँच टीले को समथल करने लगा, लेकिन अबकी कोई टोकनेवाला न था। खूब मज़े से खेती करने लगा। जो टीला व्यर्थ पड़ा हुआ था, उसमें उसने हज़ारों मन धान पैदा किए।

बहुत दिनों के बाद प्रेत अपनी जन्मभूमि का ध्यान कर वहाँ आया, तो देखा, टीले का कहीं पता नहीं। सिर पीट कर रोने लगा।

—गुरुराम विश्व शर्मा

× × ×

३. गिलहरी और श्रीरामचंद्र

भारत और लंका के बीच में समुद्र पर पुल बाँधने का काम जारी है। नल और नील नाम के इंजीनियरों की देखरेख में काम ज़ोरों से चल रहा है। अयोध्या के चक्रवर्ती महाराज दशरथ के पुत्र तपस्वी श्रीरामचंद्र अपने प्यारे छोटे भाई लक्ष्मण के साथ खड़े खड़े पुल बाँधने का तमाशा देख रहे हैं।

चतुर भालू और बंदर पत्थर के बड़े-बड़े ढोंके पहाड़ों से तोड़ कर इंजीनियरों के हाथों में दे रहे हैं, और वे उन्हें आगे के सिलसिले में बैठाकर पुल बाँधने का काम बढ़ा रहे हैं। हाँ, जहाँ तक ढोंके पानी में थम और जम चुके हैं और बाँध पक्का हो चुका है, वहाँ तक मामूली भालू बंदर भी पत्थर के छोटे बड़े टुकड़ों और पेड़ों की सिल्लियों को ढो-ढो कर बाँध ऊँचा और बराबर करने के लिए उसे पाट रहे हैं।

इसी समय एक छोटी सी गिलहरी दाँतों में एक तिनका दबाए हुए आयी और उसे बाँध पर डाल दिया। फिर दूसरा तिनका लाने के लिए लौटी और उसे भी बाँध पर डाल गयी। तीसरी बार जब वह अपना काम करके लौट रही थी, तो श्रीराम ने उसे बुलाया और कहा—"बेटी! मैं तेरी सेवा से बहुत प्रसन्न हूँ, आ आ पास मे आजा।" यह सुनकर जब वह गिलहरी निकट आयी तो भगवान राम ने अपनी प्रसन्नता के फल स्वरूप उसकी पीठ पर अपना दाहिना हाथ फेर दिया और पाँचों उँगलियों के निशान उभड़ आए, जो आजतक उसकी पीठ पर स्थिर रहकर भगवान् की महिमा दिखा रहे हैं।

इस पर नील ने पूछा—"प्रभो! हम लोग आपके काम में ऐसी जाँतोड़ मिहनत कर रहे हैं, पर आप कभी ऐसे प्रसन्न नहीं हुए, जैसे कि इस नाचीज़ गिलहरी पर।" भगवान ने कहा—"बेटा, डाह की कोई बात नहीं। सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धा का लघुदान भी बड़े-बड़े दानों को दबा देता है। तुम तो घर के जन हो, तुम पर प्रसन्नताई क्या। इसलिए गिलहरी से निष्काम काम करने की सीख सीखो।"

श्रीदामोदर सहाय सिंह, एल० टी०
'कविकिंकर'

× × ×

४. काला कौआ

काला कौआ आओ! आओ!!
दूध कटोरी का पी जाओ!

* * *

काला कौआ आओ! आओ!!
दूध कटोरी लेते जाओ!

* * *

काला कौआ आओ! आओ!!
भात कटोरी का खा जाओ!

* * *

काला कौआ आओ! आओ!!
मेरे लाला को समझाओ!

—सी० आर०

× × ×

५. उपवास करनेवाली मछली

ईश्वर की महिमा अपार है। उसकी लीला अगाध है। जितना ही कोई उसकी कृतियों को जानने का प्रयत्न करता है, उतनी ही नई-नई आश्चर्य-जनक घटनाएँ उसके संमुख आती जाती हैं। वर्तमान काल में पाश्चात्य जगत् नित्य नये-नये आविष्कार एवं अन्वेषण करने में तन्मय और दत्त-

चित्त हो रहा है ; किंतु क्या वे उस जगदीश्वर की लीला का पार पा सकने का साहस भी कर सके हैं ! हाँ, वे अशांत अवश्य हो रहे हैं । बार-बार द्विगुण उत्साह से कार्य करने में तत्पर होते हैं, परंतु अंत में उन्हें यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि ईश्वर की लीला अगाध है; उसका कोई पार नहीं पा सकता । सहयोगी 'अमृत बाज़ार पत्रिका' शीर्षक अँगरेज़ी दैनिक पत्र में अभी प्रकाशित हुआ है कि लंदन की "दी डीप सी एंगलिंग एसोसियेशन" (The Deep Sea Angling Asso-ciation) की प्रदर्शनी में एक मछली लाई गई है, जिसने विगत दो वर्ष से कुछ भोजन नहीं किया है ; एवं तत्वविवेचक विशेषज्ञों ने यह भी घोषित किया है कि वह और आगामी तीन वर्ष तक बिना किसी प्रकार के भोजन के जीवित रह सकती है । इसको 'प्रोटियस' नाम दिया गया है ।

× × ×

६. लंदन के अजायबघर में हाथी

लंदन में एक बड़ा अजायबघर है । उसमें और जानवरों के साथ हाथी भी पले हुए हैं । एक बार वहाँ से एक हाथी को कहीं दूसरी जगह ले जाना था । पर वह जाने पर किसी तरह राज़ी न होता था । आखिर उसे गाड़ी पर बिठाकर ले गए । मगर यह हाथी इतना ऊँचा था कि गाड़ी समेत शहर के फाटक से न निकल सका । इसलिये फाटक तोड़कर हाथी को जाने का रास्ता दिया गया ।

× × ×
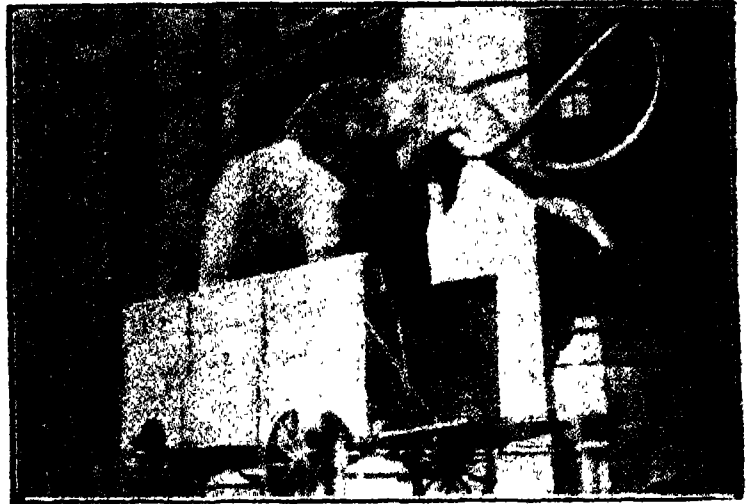
हाथी को गाड़ी पर सवार कराया जा रहा है

शहर का फाटक तोड़ा जा रहा है

७. चीन के वीर बालक

चीन में आज बड़े ज़ोर-शोर से लड़ाई हो रही है । परंतु बालकों को इसकी ज़रा भी परवा नहीं ।

हवाई जहाज़ बमगोले लिये शहर पर मँडला रहे हैं, और लड़के अपने खेल में मग्न हैं ।

चीनी लड़के खेल-कूद रहे हैं और हवाई जहाज़ ऊपर मँडला रहा है !

८. अट्ठाइस संतानों वाली मा

संसार में सबसे अधिक संतान उत्पन्न करने का श्रेय यदि किसी को मिल सकता है, तो वह एक मात्र श्रीमती आस्टिन (Austen) को । आप वाग्नूसले के समीप Platts Common नगर की रहनेवाली हैं । आपने २४ बच्चों को प्रसव किया है, एवं ४ गोद लिये हैं । आपकी एक लड़की के १२ बालक हैं, एवं दो और ग्यारह-ग्यारह बालक प्रसव कर चुकी हैं ।

× × ×

९. तेरा रूप

(षट्पद)

देखा है प्रत्यंग तुम्हारा, जो कहते थे ;
जो सेवक-से साथ सर्वदा ही रहते थे ;
जो अपने को बना रहे अवतार तुम्हारा ;
जो कुछ हो तुम वही, कहें जो मैं हूँ सारा ;
'भक्त' नहीं क्या विषय यह, अद्भुत और अनूप है,
समझ सके वे भी नहीं, कैसा तेरा रूप है !

गुरुराम भक्त, 'विशारद'

× × ×

१०. ग्वाला और बंदर

एक ग्वाला ग्राहकों के बहुत चेताने पर भी दूध में पानी मिलाकर बेचा करता और धर्म की दुहाई दिया करता था । एक दिन उसे एक जोड़ा बैल खरीदने की नौबत आयी । कुछ रुपये चादर के खूँट में बाँध कर बैल खरीदने के लिए वह सबेरे घर से चल पड़ा । पाँच छः कोस चलने के बाद जब उसे भूख लगी, तो एक गाँव के पास तालाब के किनारे पीपल के पेड़ के नीचे बैठ गया और सोचने लगा कि स्नान भोजन और थोड़ा आराम करके तीसरे पहर आगे बढ़ूँ ।

कपड़े उतार कर उसने स्नान करने के लिये तालाब में प्रवेश किया । उसी क्षण एक बड़ा सा बंदर पीपल के पेड़ पर से उतर आया । उसने झट ग्वाले की पोटली उठा ली और उछलकर पेड़ पर चढ़ गया । बंदर को पेड़ से उतरते ग्वाले ने देखा तो सही, पर बंदर ऐसी फुर्ती से पोटली लेकर निकल भागा कि ग्वाला चकित होने के सिवा कुछ कर न सका । वह बिना नहाए ही किनारे पर

दौड़ा आया और बड़ा दुखित हुआ। बैल खरीदने के लिये दो सौ रुपए, खाने के लिये कुछ पकवान और पहनने के लिये धोती ये तीनों चीज़ें चादर की पोटली में बँधी हुई थीं। परदेश में बेचारा ग्वाला भीगी धोती कब तक पहने रहता? भोजन क्या करता, सबसे बढ़कर बात तो यह थी कि, बरसों की कमाई योंही गई। उसकी अधीरता का ठिकाना न रहा। कोई आदमी भी वहाँ पर नहीं था, जिससे वह सहायता लेता। निराश होकर फूट-फूटकर कर रोने लगा।

उधर बंदर ने भरपेट पकवान भोजन किया। जब संतुष्ट हुआ तो अन्य वस्तुओं की ओर उसने ध्यान दिया, और धोती को अपने लिये निकम्मी वस्तु समझकर नीचे गिरा दिया। ग्वाले ने खुश होकर उसे उठा लिया और गीली धोती बदल डाली। धोती के मिल जाने से उसे आशा हो रही थी कि बंदर रुपए भी गिरा देगा, क्योंकि वे उसके काम के नहीं थे, पर वह मामूली बंदर नहीं था। उसने रुपयों की पोटली खोली। उन्हें डालियों के जोड़ पर गंभीर भाव से रखकर चारों ओर देखने लगा। फिर उसने अपने दोनों हाथों से एक-एक रुपया निकाल लिया, और एक हाथ का रुपया तालाब के बीच में और दूसरे हाथ का ग्वाले के आगे फेंक दिया। ग्वाले ने उस रुपए को उठा लिया। फिर बंदर ने वैसा ही किया और ग्वाले ने अपने सामने फेंका हुआ रुपया फिर उठाया। इसी भाँति बंदर ने आधे रुपए गंभीर जल में और आधे ग्वाले के सामने एक-एक कर फेंक दिए और उछल कर दूसरे पेड़ पर चला गया। इस प्रकार पानी का रुपया पानी में चला गया। ग्वाले ने जब सब रुपए बीन कर गिन लिये, तो उसे पूरे एक सौ रुपए मिले। इन रुपयों को लेकर वह पछताता हुआ घर लौट आया, क्योंकि एक जोड़ी बैल खरीदने के लिये उसके पास काफ़ी रुपए न रह गए थे। अब उसने दूध में पानी मिलाना सदा के लिये छोड़ दिया और उसकी गिनती गाँव के सच्चे ईमानदार आदमियों में हो गई। ईमानदारी के कारण कुछ ही बरसों में उसने बहुत धन भी इकट्ठा कर लिया और अपने दरवाज़े पर बहुत से बैल बाँध लिये। सच है—ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है।

श्रीदामोदर सहाय सिंह 'कविकिंकर'

---

१. खलिहान से धन

सान फ़सल काटकर खलिहान में जमा करते हैं। वहां अनाज खर, भूसा, डंटी, पत्ती आदि से अलग किया जाता है। अंदाज़ा लगाया जाता है कि हर एकड़ में १५-२० मन अन्न और ६०-८० मन खर, भूसे, आदि पैदा होते हैं। अन्न खाने के अतिरिक्त और भी अनेक कामों में लाया जाता है। इससे विस्फोटक पदार्थ, शराब, मुंह में लगाने के पाउडर आदि, जूते की रोशनाई, छापे की रोशनाई, कृत्रिम चमड़ा, रबर आदि, फोनोग्राफ़ के रेकार्ड, रेडियो और टेलिफ़ोन आदि के सामान, आदि बनते हैं। यूनाइटेड स्टेट्स के कृषि-विभाग ने नाज से तैयार होने वाले २१७ पदार्थों की एक मूची तैयार की है। ये सब पदार्थ, ख़्याल रहे, नाज से पैदा किए जाते हैं; किंतु खर, भूसे आदि क्या होते हैं? व्यापारिक दृष्टि से उनका, कम से कम, इन देशों में कोई भी उपयोग नहीं होता। इनका कुछ हिस्सा खेत में ही पड़ा रह जाता है, जो अंत में सड़गल कर भूमि को उर्वरा बनाता है। कुछ हिस्सा पशुओं को खिला दिया जाता है, और बाक़ी हिस्सा अन्य थोड़े से कामों में लगाया जाता है। पाश्चात्य देश वाले इस विषय में हमसे थोड़े ही अच्छे हैं। वे भी खलिहान के पदार्थों को कोई ख़ास उपयोग में नहीं लाते। किंतु मिनेसोटा, अमेरिका, के एक रसायनज्ञ मि० जार्ज एच० हैरिसन ने खलिहान के पदार्थों को व्यापारिक ढंग से काम में लगाने का एक तरीक़ा निकाला है। तरीक़ा और कुछ नहीं, उन्हें किसी बंद बर्तन में रख कर उनका रस चुलाना (distil करना) है। एक टन भूसे, डंटी और पत्ती में ज़रा सी आग लगा देने से, बीस सेर से अधिक राख नहीं बची रहेगी, किंतु इतने ही पदार्थ से १२,६०० घनफुट गैस निकाल लेने के बाद आठ मन कार्बन, ५ मन अलकतरा और १५ मन भूसे का तेल बचा रहेगा। भूसे के तेल में कीटाणुओं के नष्ट करने की शक्ति है, और वह फ़िनाइल के बदले में व्यवहृत हो सकता है। इस तेल की परीक्षा मिनेसोटा अस्पताल में हुई थी। जिससे पता लगा कि यह फ़िनाइल से भी तेज गुणसम्पन्न है। इसके अतिरिक्त, इसके व्यवहार से न तो जलन होती है और न यह शरीर के जीवित रेशों को ही नष्ट करता है। इसके पिच (अलकतरे) से जलरोधक पदार्थ (Water Proof) बनाए जा सकते हैं, और कार्बन को सफ़ूफ़ कर अच्छे प्रकार का रंग (Paint) बनाया जा सकता है। इस रंग की बाज़ार में अच्छी खपत हो सकती है। आपने इस प्रकार तैयार की हुई गैस से अपनी मोटर चलाई है और रंग से अपनी मोटर रंगी है। इस प्रकार आपने प्रमाणित किया

है कि वे पदार्थ व्यावहारिक भी हैं। एक टन भूसा आदि यदि आप बाज़ार में बेचें तो अधिक से अधिक २८-३० रु० मिलेंगे, किंतु उसी से बने हुए पदार्थों का मूल्य ७५०) होता है। कहिए, खलिहान अपरिमित धन का दाता है या नहीं? खेत में पैदा की हुई फ़सल में सिर्फ़ ¼ हिस्सा नाज और बाक़ी ¾ हिस्सा खर, भूसा आदि होता है, जो प्रायः सारा का सारा इस समय नष्ट कर दिया जाता है। क्या इस देश वाले उनके उपयोग का तरीक़ा सीखकर अपनी आय बढ़ाने का उद्योग करेंगे?

× × ×

२. स्कूल जाने वाले चूहे

पाठक स्कूल जानेवाले चूहोंकी बात सुनकर आश्चर्य करेंगे, क्योंकि चूहे मनुष्यों के चिर-शत्रु हैं। वे कई प्रकार की बीमारियों को फैलाते हैं और मनुष्यों की जान सदा जोखिम में डाले रहते हैं। मनुष्यों का भोजन हरण करना तो उनका नित्य का काम है। एक ओर कुछ लोग चूहों को नष्ट करने का

अन्न के २१७ उपयोगों में कुछ उपयोग ऊपर के चित्र में दिखाए गए हैं।

बीड़ा उठा चुके हैं और दूसरी ओर कुछ लोग उन्हें स्कूल भेजकर और शिक्षित कर मनुष्य-जाति को स्वास्थ्यवान्, सुखी और प्रसन्न बनाना चाहते हैं। शायद पाठकों को मालूम होगा कि चूहे वैज्ञानिकों के लिये बड़े उपयोगी प्राणी हैं। कितने ही बड़े बड़े नामी वैज्ञानिकों ने अपनी पहली परीक्षाएँ चूहों ही पर की थीं। अस्तु, आजकल जो चूहे स्कूल भेजे जा रहे हैं, वे सफ़ेद जाति के चूहे हैं। कैलिफ़ोर्निया के स्टैनफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में १०० सफ़ेद चूहे बड़ी सावधानता-पूर्वक पैदा किए गए हैं। वे सावधानी से खिलाए और रक्खे जाते हैं। हाल ही में उनकी बुद्धि की परीक्षा हुई थी। इससे अनुमान किया जाता है कि, मनुष्यों की बुद्धि पर अच्छा

प्रकाश पड़ेगा। कोलंबिया विश्वविद्यालय की कूकर प्रयोग-शाला में इसी जाति के १००० चूहे रक्खे गए हैं। वैज्ञानिक उनका अध्ययन बीमारी फैलाना रोकने की दृष्टि से कर रहे हैं। संसार की वैज्ञानिक संस्थाओं में चूहों की मांग इतनी बढ़ गई है कि उन्हें अधिक संख्या में पालना और बेचना आवश्यक हो पड़ा है।

फ़िलेडेलफ़िया का विस्टर इन्स्टिट्यूट चूहों को पालने में प्रति साल प्रायः १,८०,००० रुपया ख़र्च करता है। यहाँ से संसार के भिन्न भिन्न देशों को चूहे भेजे जाते हैं। हां, एक बात कहना भूल ही गया। ऊपर लिख आया हूं कि सिर्फ़ सफ़ेद रंग के चूहे इन संस्थाओं में पाले जाते हैं। इसका कारण यह है कि शरीर की बनावट, बाढ़ और क्रिया में वे मनुष्यों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। उनकी शारीरिक और मानसिक परीक्षाओं का जो फल निकलेगा, उससे मनुष्यों की शारीरिक और मानसिक योग्यता का ज्ञान हो सकेगा।

स्टेनफ़ोर्ड के परीक्षकों ने पता लगाया है कि चूहे अपनी पुरानी आदत को छोड़ कर नई आदत सीख सकते हैं। परीक्षा में इन बातों का भी पता लगाया जाता है कि चूहे नई आदत सीखने में कितने दिन लेते हैं। एक बार एक आदत सीख लेने पर वे उसे भूलते हैं या नहीं। यदि याद रखते हैं तो कितने दिनों तक, और भूलते हैं तो कितने समय में। पता लगा है कि चूहों की शारीरिक बाढ़ मनुष्यों से तीस गुना अधिक होती है। एक मास के चूहे के शरीर की बाढ़ ढाई वर्ष के शिशु की बाढ़ के बराबर होती है। प्रो० कैलविन पी० स्टोन ने और भी पता लगाया है कि चूहों की मानसिक वृत्ति का गठन मनुष्यों से ४० गुना अधिक होता है।

चूहों के वंश का अध्ययन बड़ा लाभ-प्रद सिद्ध हुआ है। मनुष्यों की चार पुश्तों का अध्ययन करने के लिए सौ वर्ष लग जायँगे; किंतु सिर्फ़ दो ही वर्षों में चूहों की चार पुश्तें हुईं और उनमें से प्रत्येक का अध्ययन किया गया। चूंकि मनुष्यों और चूहों के जनन-सिद्धांत प्रायः एक से हैं, इसलिए केवल दो ही वर्षों में वैज्ञानिकों को यह पता लग गया है कि इस विज्ञान में कैसी उन्नति की जा सकती है। प्रयोग-शाला के चूहों की परीक्षा कर वैज्ञानिक उन्हें बीमारी फैलाने से रोकने योग्य बनाने लगे हैं। साफ़ सुथरे मकानों में रख कर, चूहों के सोने, जगने, खाने और व्यायाम करने के समय पर लक्ष्य रक्खा जाता है। जिस प्रकार छोटे शिशु का पालन-पोषण किया जाता है, उसी प्रकार चूहों का भी। कई प्रयोग-शालाओं के परीक्षा-फलों को मिलाकर नव वैज्ञानिक किसी तथ्य पर पहुँचते हैं, इसलिए भूल होने की थोड़ी संभावना रहती है।

फालेज के कुछ चूहे।

इन परीक्षाओं से मानव-जाति की कैसी भलाई होगी, यह कहना अभी मुश्किल जान पड़ता है। किंतु चूहों के जीवन से एक बात का पता अवश्य लगा है। जीवन के लिए जैसे भोजन, निद्रा और आराम की आवश्यकता है, वैसे ही व्यायाम की भी। चूहे उछलने कूदने के अतिरिक्त प्रति दिन प्रायः ५ मील की दौड़ लगाते हैं। चूहों से चुहियाँ दौड़ने में तेज़ होती हैं।

× × ×

३. बोलने वाले चलचित्र।

बायस्कोप या सिनेमा के चित्र हँसने, बोलने, रोने, चलने-फिरने, उठने-बैठने आदि के भाव दर्शाया करते हैं। किन्तु उनमें एक बड़ी भारी त्रुटि रह जाती है, वे बोलते नहीं। केवल एक यही त्रुटि सारे मज़े को किरकिरा बना देती है। इस त्रुटि को दूर करने की चेष्टा बहुत दिनों से हो रही है। कुछ दिन हुए 'भाइटाफ़ोन' नामक एक मेशीन आविष्कृत हुई थी। इस मेशीन में शब्दोत्पादन के लिए फ़ोनोग्राफ़ के रेकार्ड व्यवहृत होते थे। किंतु इसमें कठि

भाई यह होती थी कि कभी-कभी किसी ख़ास पात्र की बातें, या तो उसके बोलना आरंभ करने के बाद सुनी जाती थीं या कभी पहले। इसलिए कोई कोई दृश्य बड़ा हास्यजनक हो जाता था। बायस्कोप और सिनेमा को पाश्चात्य-जगत् में जो स्थान प्राप्त है, उसकी हम लोग कल्पना भी नहीं कर सकते, इसलिए 'भाइटाफ़ोन' का प्रचार न हो सका।

मि० सी० ए० होक्सी ने 'फ़ोटोफ़ोन' नामक एक यंत्र तैयार किया है। यह यंत्र चित्र-प्रदर्शन के साथ ही शब्दों का भी उच्चारण करता है। कई सालों की परीक्षा के बाद यह यंत्र बन कर तैयार हुआ और पहली ही बार की परीक्षा में इसे आश्चर्य-जनक सफलता मिली। इस यंत्र में शब्द और चित्र एक ही 'फ़िल्म' पर छपे रहते हैं, इसलिए पात्रों के मुँह से निकली हुई बातों और चित्रों में असामंजस्य नहीं रहता, जैसा कि 'भाइटाफ़ोन' में हुआ करता था। फ़िल्मों को बनाने में एक 'पालो-फ़ोटो-फ़ोन' अर्थात् शब्द के चित्र लेने वाला कैमेरा, विशेष प्रकार की दो इलेक्ट्रिक मोटरें, और एक साधारण तरह का 'मोभी कैमेरा' (चल-चित्रों का फ़ोटो लेने वाला कैमेरा) काम में लाए जाते हैं। एक ओर 'मोभी' मेशीन उपरिलिखित मोटर से चलती है और चित्रों का फ़ोटो लेती है, दूसरी ओर डॉ० होक्सी के शब्द-कैमेरे—पालो-फ़ोटो फ़ोन—में लगा हुआ माइक्रोफ़ोन पात्रों के मुँह से निकले हुए शब्दों का चित्र लेता जाता है। दोनों मोटर 'मोभी' कैमेरा और शब्द कैमेरा की एक ही गति से चलते हैं, इसलिए चित्र और शब्द के चित्र साथ-साथ दो भिन्न 'फ़िल्मों' पर उतरते जाते हैं। दोनों फ़िल्म विशेषज्ञों द्वारा अँधेरी कोठरी में धोए जाते हैं और एक ही 'फ़िल्म' पर उनका चित्र उतारा जाता है, और यह अंतिम फ़िल्म बायस्कोप या सिनेमा में भेज दिया जाता है। बायस्कोप वालों को ऐसे फ़िल्म दिखलाने में कोई दिक़्क़त नहीं करनी पड़ती, क्योंकि ये साधारण फ़िल्म ही जैसे दिखलाए जाते हैं।

शब्द-कैमेरा इतना नाज़ुक होता है कि ७२ फ़ीट दूर के
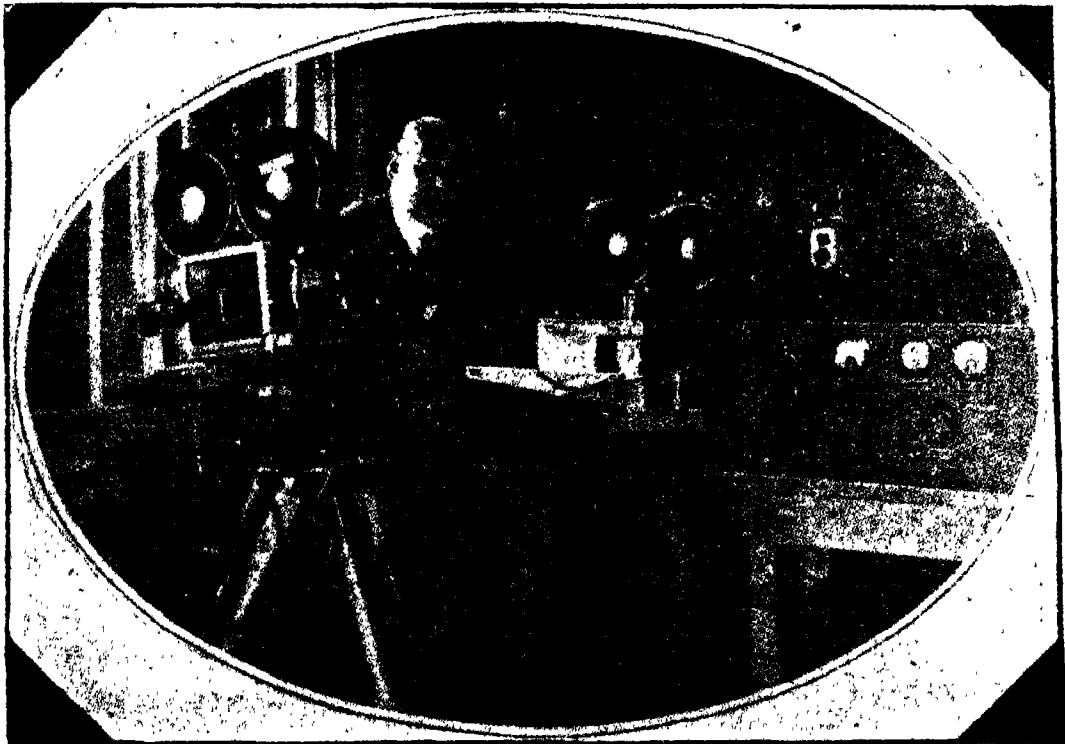
पालो फ़ोटो फ़ोन के आविष्कारक सी० ए० होक्सी। शब्द कैमेरा दाहिनी ओर दिखलाया गया है।

मनुष्य के मुँह से निकली हुई फुसफुसाहट का भी वह चित्र ले सकता है। पात्रों को अपने पार्ट के अतिरिक्त और कुछ भी बोलने की सख़्त मनाई होती है। मोटर चलने से जो आवाज़ निकलती है, उसका चित्रों पर प्रभाव न पड़े, इसलिए उन्हें कैमेरा से बहुत दूर पर रखा जाता है। यह कैमेरा बड़ा ही नाज़ुक है और वर्षों की खोज के बाद बन पाया है। इसी शब्द-कैमेरे ने बोलने वाले चल-चित्रों को संभव कर दिया है।

किंतु इस आविष्कार का यहीं अंत नहीं होता। न्यूयार्क के फ़ाक्स केस ने एक 'मोभी टोन' नामक मेशीन बनाई है। इसके द्वारा चित्र और शब्दों के चित्र एक बार ही में एक ही कैमेरा द्वारा लिए जाते हैं। शब्दों के चित्र, फ़िल्म के किनारे और अन्यान्य चित्र फ़िल्म के बीच में उतरते जाते हैं। इस कैमेरा में एक माइक्रोफ़ोन और बैंगनी रंग का चिराग़ लगा हुआ है, जो शब्दों को ग्रहण करने का काम करता है। हाँ, चित्र को दिखलाने के लिए एक ख़ास तरह के 'प्रोजेक्टर' की आवश्यकता होती है। अस्तु, इन आविष्कारों से पता चलता है कि वह दिन दूर नहीं, जब हम लोग बायस्कोपों में बोलते हुए चित्र देख सकेंगे।

× × ×

४. कृत्रिम प्राणी

प्रयोग-शालाओं में कृतिम प्राणियों की सृष्टि की चेष्टा बहुत दिनों से हो रही है, किंतु अभी तक कोई भी वैज्ञानिक अपनी चेष्टा में कृतकार्य नहीं हुआ है। बीच बीच में वैज्ञानिकों की चेष्टाओं की चर्चा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती है। उससे हमें उनके कार्यों का कुछ-कुछ आभास मिलता रहता है। कैलिफ़ोर्निया विश्व-विद्यालय के एक रसायनज्ञ ने बीस सालों तक कृत्रिम प्राणी की उत्पत्ति के लिए ऊसीटिन (Oocytin) नामक एक आश्चर्यजनक पदार्थ पर परीक्षाएँ की हैं। 'ऊसीटिन' को आप 'जीवन की चिनगारी' कहते हैं। आपकी परीक्षाओं के कुछ नतीजे हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। यह पदार्थ किसी भी पशु के रक्त से निकाला जाता है, और कुछ भूरे उजले रंग का सफ़ूफ़ होता है। इससे मछली के अंडे तैयार किए गए हैं। दूसरे शब्दों में इस पदार्थ द्वारा नए प्राणी तैयार किए गए हैं। यदि इसे हम कृत्रिम प्राणी तैयार करना कहें, तब तो कोई
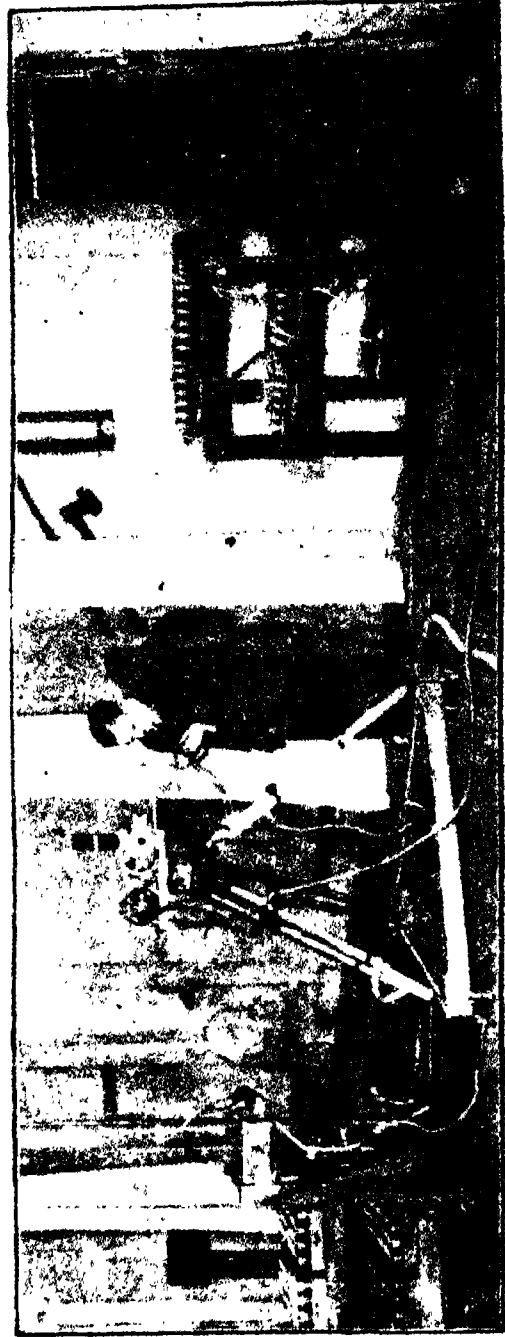
'मोभी टोन' और उसके आविष्कारक

बात ही नहीं। किंतु एक प्राणी के शरीर से लिए हुए 'कीड़े' से, उसे आप चाहे किसी भी नाम से पुकारिये, कृत्रिम रूप से प्राणी तैयार करना नहीं कहा जा सकता।

× × ×

५. कागज़ के कपड़े

कई साल हुए, एक अमेरिकन स्त्री पेरिस में एक दर्ज़ी

की दूकान पर कपड़ा सिलवाने गई। बातों-बात उसने कहा कि यदि काग़ज़ के कपड़े बनाए जायँ, तो कैसा हो? सालों की परीक्षा के बाद उसी स्त्री—मिसेज़ लिना बरया—ने काग़ज़ का कपड़ा बनाने में सफलता प्राप्त की है। इस कपड़े को 'सोना' कहते हैं। इसमें कपड़े सा न तो ताना होता है और न बाना। और न यह बहुत वज़नदार ही होता है। कपड़े जैसा इसे आप धुला सकते हैं, और इस्त्री करा सकते हैं। गरमी का इस पर प्रभाव नहीं पड़ता। यह चमड़े जैसा चिमड़ा होता है। कीड़े इसका कुछ भी नुक़सान नहीं कर सकते। धागे न होने से इसके उलझने का भी डर नहीं रहता। क्या यह काग़ज़ का कपड़ा, कपड़े का स्थान लेगा?

× × ×

६. बिजली की गऊ

दूर देशों की यात्रा करने वाले जहाज़ों पर ताज़े दूध का अभाव सा होता है। टिन में रखा हुआ दूध उतना स्वास्थ्यकर नहीं होता, जितना गऊ का शुद्ध दूध। जहाज़ों पर ताज़े दूध के अभाव को दूर करने के लिये स्टूअर्ट फेडरिक डिगविड ने एक यांत्रिक गऊ तैयार की है। यह गऊ दिन में दो तीन बार तक दुही जाती है और प्रत्येक बार में सेरों ताज़ा दूध यात्रियों के व्यवहार के लिए देती है। सफ़ूफ़ किया हुआ दूध, बिना नमक का मक्खन और पानी मिलाकर यह यान्त्रिक गऊ दूध प्रदान किया करती है। यह गऊ तैयार पनीर (Cream) भी जब चाहे दिया करती है। अभी यह यंत्र सिर्फ़ 'अस्टुरियास' नामक प्रसिद्ध जहाज़ पर लगाया गया है। यह प्रतिदिन १० से ८० गैलन तक दूध तैयार किया करता है। भविष्य में अन्य दूर-देशीय यात्रा करने वाले जहाज़ों पर ऐसे ही यंत्रों के रखने की व्यवस्था हो रही है।

× × ×

७. नब्ज़ देखने वाली मेशीन

इस देश में ऐसे ऐसे नब्बाज़ हो गए हैं, और हैं जो किसी प्रकार के रोग का निदान नब्ज़ देखकर बात-की बात में कर दिया करते हैं। बादशाही ज़माने में बेगमों की नब्ज़ देखने की बड़ी विचित्र प्रथा थी। बेगमों की कलाइयों में सूत का एक किनारा बांध दिया जाता था और दूसरा किनारा हकीम को पकड़ा दिया जाता था। हकीम इतने बड़े नब्बाज़ होते थे कि सिर्फ़ सूत ही पकड़कर बीमारी की शिनाख़्त कर लिया करते थे। किंतु समय ने पलटा खाया है। नब्ज़ से रोग का पहचानना पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र वालों के लिए असंभव सा हो गया है। किंतु डा० रडल्फ़ गोल्डस्मिथ ने एक ऐसे यन्त्र का

बिजली की गाय और उसके आविष्कारक स्टुअर्ट डिगविड

नब्ज़ देखने वाली मेशीन

आविष्कार किया है जो मनुष्यों की नब्ज़ देखता है। यह यंत्र हमारे शरीर पर डर, प्यार, आश्चर्य, शराब, काफ़ी या सिगरेट आदि के प्रभाव को बड़ी दुरुस्ती के साथ बतलाता है। इस यंत्र का एक हिस्सा आपके हाथ में बांध दिया जाता है, और दूसरे का एक ढोल पर लगे हुए काग़ज़ से संबंध करा दिया जाता है। नब्ज़ देखते समय यह ढोल घूमता रहता है, और काग़ज़ पर हृदय की क्रिया अंकित होती रहती है। इस यंत्र द्वारा नब्ज़ की पहचान बड़ी ख़ूबी के साथ होती है। पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र की एक बड़ी भारी त्रुटि को इस मेशीन ने दूर कर दिया है।

× × ×

८. धातु का एक नया मिश्रण

लंडन के एक रसायनज्ञ मिस्टर टी० डी० केली ने एक ऐसे धातु के मिश्रण (alloy) का आविष्कार किया है, जो लोहे से भी मज़बूत और सीसे से भी मुलायम है। आविष्कारक ने इसका नाम 'सोलियम' रखा है। इस पर तेज़ाबों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिए आशा की जाती है कि यह मिश्रण कुछ काल में प्लेटिनम नामक धातु का स्थान ग्रहण करेगा। प्लेटिनम आजकल संसार का सब से मूल्यवान धातु समझा जाता है। इसकी सभी विशेषताएँ 'सोलियम' में पायी जाती हैं। कई धातुओं के ओषिदों (Oxides) से यह मिश्रण बनता है।

× × ×

९. पृथ्वी की उत्पत्ति

पृथ्वी की उत्पत्ति के कई सिद्धांत अब तक पेश किए गए हैं। कहा जाता है कि आरंभ में पृथ्वी गैसों की बनी हुई थी, और धीरे धीरे इसने वर्तमान अवस्था प्राप्त की। यही धारणा अब तक के वैज्ञानिकों की थी, किंतु चिकागो विश्वविद्यालय के प्रो० टी० सी० चेंबरलेन ने अब एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया है। उनका कहना है कि सूर्य से ठंढे हुए टुकड़े सर्वदा निर्गत होते रहते हैं। उन्हीं ठंढे टुकड़ों में एक पृथ्वी भी है। बीस वर्षों के अध्ययन के बाद आपने यह सिद्धांत निश्चित किया है कि पृथ्वी सारी की सारी ठोस पदार्थों की बनी हुई है। पृथ्वी की टेढ़ी-मेढ़ी शक्ल, ज्योतिषियों का कहना है, आप के सिद्धांत की सत्यता प्रमाणित करती है। ज्वालामुखी पर्वतों से जो पदार्थ निर्गत होते हैं, उनके आकार से भी पृथ्वी के आकार की समता है। इसलिए इसमें ज़रा भी शक नहीं कि पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से ही हुई है।

× × ×

१०. शब्द की करामात

पाठक शायद जानते होंगे कि शब्द दो प्रकार के होते हैं : (१) जिन्हें हम सुन सकते हैं, और (२) जिन्हें हम नहीं सुन सकते। शब्दोत्पादन वायु के कंपन द्वारा होता है। तालाब के जल में पत्थर का एक टुकड़ा फेंकने से, टुकड़ा जहां गिरता है, उसे केंद्र मान कर जल-तरंग उठती हैं, और ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों फैलती जाती हैं। ठीक इसी प्रकार शब्द की भी गति है। शब्दोत्पादक वस्तु को केंद्र मान कर वायु की तरंगें चारों ओर फैलती हैं और शब्दवाहक का काम करती हैं। यदि शब्दोत्पादक वस्तु को किसी पात्र में रख कर उससे सारी हवा निकाल लें तो शब्द होते रहने पर भी शब्द सुनाई नहीं देगा।

शब्द जितना ही ज़ोर का होगा, तरंगें उतनी ही बड़ी होंगी और दूर तक फैलेंगी। धीमे शब्द छोटी तरंगें पैदा करते हैं। मनुष्य के कान इस प्रकार के बने हुए हैं कि वे सभी शब्दों को सुन नहीं सकते। बहुत धीमा तथा बहुत ज़ोर के शब्दों को हमारे कान ग्रहण करने की शक्ति नहीं रखते। जान हापकिंसन विश्वविद्यालय के प्रो० राबर्ट डब्ल्यू० वुड ने बड़े शक्तिशाली शब्दों को उत्पन्न किया है, जिसे हम सुन नहीं सकते, किंतु इसकी बड़ी बड़ी करामातें हैं। यह शब्द अपने पथ में आने वाले सभी जीवित तथा जड़ पदार्थों को नष्ट कर देता है। इसके रास्ते में जितने प्राणी, वृक्ष, सबमेरिन (जलडुब्बी), हवाई जहाज़, मोटर, रेल आदि आवेंगे सब बात-की-बात में नष्ट हो जायँगे, किंतु ख़ैरियत यही है कि यह मृत्यु-शब्द सिर्फ़ ठोस पदार्थों तथा जल के रास्ते चलता है। हवा में इसकी कोई रसाई नहीं। इसलिये जल के प्राणियों तथा जलयानों को इससे जितना भय है उतना हवा में या पृथ्वी पर चलनेवाली वस्तुओं को नहीं। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि उन्हें नष्ट करने की शक्ति इसमें नहीं है।

शब्द, प्रकाश और रेडियो एक ही विषय में समानता रखते हैं, और वह है इनका तरंगों के रूप में फैलना। जिस प्रकार प्रकाश का कुछ हिस्सा (ultra violet and infrared rays) ऐसा है, जिसे हम देख नहीं सकते

उसी प्रकार जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, शब्द भी ऐसे हैं, जिन्हें हम सुन नहीं सकते। जिन शब्दों का कंपन १६ से १६,००० प्रति सेकेंड के बीच है, उन्हें ही हम सुन सकते हैं। किंतु डा० वुड ने जिस शब्द का आविष्कार किया है, उसका कंपन प्रति सेकेंड १,८०,००० और ४,०७,००० के बीच है। इसके ज़रिए आपने तालाबों की मछलियों, चूहों तथा अन्य जानवरों और पौधों को नष्ट किया है।

लड़ाई के बाद से अदृश्य-प्रकाश और न-सुने-जानेवाले शब्दों की परीक्षाएँ आरंभ हुईं। अदृश्य प्रकाश के विषय में इन कालमों में मैं कई बार लिख चुका हूँ। तीव्र बैंगनी और लाल (ultra violet & infrared) किरण की मदद से ज्योतिषी-गण आकाशस्थित तारों के फ़ोटो ले रहे हैं। एक अँगरेज़ ने 'टेलिभिज़न' का यंत्र बनाने में और एक जापानी ने रात को फ़ोटो लेने के कैमेरे में इन्हीं किरणों का आश्रय लिया है। इनके अलावा इन किरणों का और भी उपयोग है।

प्रो० राबर्ट वुड, जिन्होंने एक ऐसा यंत्र निकाला है, जो मछलियों और अन्य पशुओं को बिना किसी आवाज़ के मार डालता है।

शब्दों की परीक्षा दो भागों में बँट गई है। एक श्रवण-सीमा से अधिक कंपनवाले शब्दों की परीक्षा और दूसरी श्रवण-सीमा से कम कंपनवाले शब्द। रेडियो वाले कम कंपनवाले शब्दों के पीछे पड़े हुए हैं, और प्रो० वुड अधिक कंपनवाले शब्दों की परीक्षा कर रहे हैं। आपने अपने आविष्कृत शब्द की उत्पत्ति के लिए एक विशेष प्रकार की मेशीन लगाई है। कार्टज़ नामक पत्थर के एक टुकड़े से होकर आप शक्तिशाली विद्युत् 'पास' कराते हैं। विद्युत्-धारा ज्यों ज्यों बदलती है, त्यों त्यों यह टुकड़ा फैलता और सिकुड़ता है। उसे देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वह साँस लेता है और छोड़ता है। यद्यपि यह क्रिया साधारण आँख को अदृश्य होती है, तथापि उससे बड़ा ज़ोरदार शब्द निकलता है। कार्टज़ का टुकड़ा तेल में डुबोया रहता है, जहाँ से कंपन तालाब में पहुँचाया जाता है। एक बार ऐसा शब्द उत्पन्न किया गया था, जिसमें मनुष्य मारने की शक्ति नहीं थी। परीक्षा के लिए एक मनुष्य ने तालाब में, जिसमें वह शब्द-तरंग भेजा जा रहा था, अपनी एक अँगुली डुबाई। इसका जो प्रभाव उसकी अँगुली पर पड़ा, वह शायद उसे जीवन पर्यंत नहीं भूलेगा।

श्रीरमेश प्रसाद

× × ×

११. तार द्वारा चित्र-दर्शन

बहुत से लोग स्वामी दयानंद को इसलिये हँसते हैं कि उन्होंने वेदों में तार और वायुयान के दर्शन किए और पुराने संस्कृत के टुकड़ों में यांत्रिक तथा भौतिक कला के निर्माण-सूत्र पाए और वेदों को सब विद्याओं का भंडार बताया। बहुत से लोग आर्यसमाजी लेखकों तथा वक्ताओं को यह कहकर चिढ़ाते हैं कि आर्य महाशय वेदों और पुराणों में वही भौतिक विज्ञान निकालते हैं, जो पाश्चात्य विद्वान् अपनी प्रतिभा के ज़ोर से उत्पादित करते हैं। ये लोग नई वस्तु क्यों नहीं बनाते। यदि वेदों में ऐसी सुरा का वर्णन है, जिसे पीकर देवता अमर हो जाते थे, तो, आज वह सुरा क्यों बन नहीं सकती? यदि रामचंद्र लंका से अयोध्या पुष्पक विमान पर एक दिन और एक रात में पहुँचे थे, तो आज रामायण के पढ़नेवाले दूसरा पुष्पक क्यों नहीं बना लेते? यदि श्रीकृष्णचन्द्र योग-माया के बल से दिन को

रात और रात को दिन बना सकते थे, तो महाभारत के पढ़नेवाले आज फिर वही कृपा क्यों पुनः नहीं कर सकते ? लोगों का मख़ौल, उनका बानक, उनका ताना यहाँ तक तो सच है कि उनका जवाब कोई क्रियात्मक रीति से कोई नई ईजाद करके नहीं दिखाता । परंतु यह बात नहीं है कि पुराने वर्णन के अनुसार पुराने नमूने की कलाएँ नए ढंग की सहायता से बन नहीं सकतीं ? बन अवश्य सकती हैं, केवल बनानेवाले वर्तमान-कालीन

रेडियो द्वारा कल्पित चित्र दर्शन

भारतवासियों की सच्ची चेष्टा की आवश्यकता है । नेपोलियन के कोष में असंभव शब्द का स्थान न था । इसी प्रकार भौतिक विज्ञान के सम्मुख कोई बात असंभव नहीं है । मनुष्य जो बात सोच सकता है, वह अवश्य कर भी सकता है । कोई कल्पना ऐसी नहीं जो किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी प्रकार से, किसी-न-किसी स्थान पर, किसी-न-किसी समय चरितार्थ न हो सके । वेदों और पुराणों का तो कहना ही क्या है, मेरे ख़याल में मामूली कथा और कहानियों में भी जो कल्पनाएँ की गई हैं, वह सचमुच चरितार्थ की जा सकती हैं । यदि योग्य व्यक्ति, योग्य साधन, उचित प्रबंध, अटूट विश्वास और वैज्ञानिक विधि से कल्पित ध्येय को क्रियात्मक वास्तविकता में परिवर्तित करने का निरंतर उपाय किया जाय । इस बात के समर्थन में मैं इस लेख में दो चित्र देता हूँ, जो एक मामूली कहानी की कल्पना के आधार पर सचमुच बनाए गए हैं । बर्नर्ड शा ने, बहुत दिन हुए, एक उपन्यास लिखा था, जिसमें जर्मनी के शहज़ादे को सवार करके अमरीका फ़तेह करने भेजा था । शा ने जो-जो कल पुर्ज़े केवल कल्पना से पाठक को बताए थे, प्रायः वे सब जर्मनी के महायुद्ध में सचमुच देखने में आ गए । इसी प्रकार बर्नर्ड शा ने एक दूसरे उपन्यास में एक कल्पित चित्र देकर बताया था कि, सन् ७१ ईसवी का अँगरेज़ वज़ीर अपने कमरे में बैठकर अमरीका के वज़ीर से बातचीत करेगा और उसके सामने परदे पर अमरीकन वज़ीर का जीता-जागता, बोलता, बात करता चित्र होगा, जो वास्तविक हाव-भाव का दर्शन कराएगा । इस यंत्र द्वारा रेडियो शक्ति के आधार तार-सहित तथा तार-रहित हज़ारों कोस की दूरी से एक मित्र दूसरे मित्रका दर्शन और भाषण प्राप्त कर सकेगा । इस चित्र में कल्पित परदा और कल्पित यंत्र दिया गया है ।

इस उपन्यास को पढ़कर डॉक्टर अलेक्ज़ेंडर सन ने विचार किया कि इस कल्पना को सचमुच क्यों न चरितार्थ किया जाय । डॉक्टर अलेक्ज़ेंडर सन ने बिजली के यंत्रों से परीक्षण करना प्रारंभ किया और न्यूयार्क के प्रसिद्ध शेनेकटडी के बिजलीघर में रहकर यह सिद्ध कर दिया है कि तार द्वारा फ़ोटो वा चित्र एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजा जा सकता है । तार द्वारा यद्यपि शा महाशय की कल्पना पूर्ण रूप से यथार्थ नहीं हो सकी है । क्योंकि कल्पना में पूरे क़द का चित्र दिखता है, परंतु छोटे चित्र २० मिनट में अमेरिका से लंदन तक पहुँच सकते हैं । डाक्टर अलेक्ज़ेंडर ने दो ऐसे चित्र रेडियो द्वारा एक स्थान न्यूयार्क से दूसरे स्थान लंदन तक भेजे हैं । यह चित्र इस लेख में दिए गए हैं । यह चित्र बहुत अच्छे नहीं, कदाचित भद्दे हैं, इसका कारण यह है कि सूक्ष्म बिजली की लहरों का यथोचित प्रतिबिम्ब

अमेरिका से लंदन भेजे हुए रेडियो चित्रों का नमूना

हज़ारों कोस जाकर फ़ोटो की प्लेट पर पूर्ण रूप से प्रभाव न डालकर कहीं अधिक काला कहीं अधिक सफ़ेद हो जाता है। इसका कारण यह है कि १२,००० मीटर लम्बी लहर को प्रापक तार पताका (लेनेवाला ऐनथेना) पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर सकता। इसीसे चित्र-कोष्ठ (फ़ोटो सेल) पर्याप्त रीति से प्रभावित नहीं होता। और, यदि, लहर लंबाई को छोटा करके १२ मीटर रक्खें, तो ऐनथेना विद्युत-लहरों को पकड़ तो लेगा, परंतु वह इतनी जल्दी प्रकाश-मार्ग से निकल जाती है कि प्रकाश उनका चित्र प्लेट पर अंकित नहीं कर सकता; क्योंकि यह प्लेट बिजली की रोशनी से प्रभावित होती है, जो वस्तुतः इतनी तीव्र नहीं होती कि तत्काल घूमते हुए प्लेट को प्रभावित कर दे।

कुछ हो, इन चित्रों को देखने से आशा होती है कि थोड़े दिनों बाद यथोचित चित्र दर्शन हो सकेगा। डॉक्टर अलेक्ज़ेंडर सन इसी खोज में लगे हैं, और आशा करते हैं कि वह अपनी ज़िंदगी में यह समस्या हल करके उपन्यास की कल्पना को वास्तव में प्रकट करके दिखलावेंगे।

× × ×

L वह स्थान है जहां से प्रकाश आता है। D वह स्थान है, जहां प्रकाश संचय होता है। A वह कपाटी है, जिसके द्वारा संचित प्रकाश गुज़रता है। S वह ताल वा लेंस है, जो संचित प्रकाश को फिर फैलाकर आगे बढ़ाता है। C वह मसाले का फ़िल्म है, जिसपर चित्र अंकित होता है और P फ़ोटो एलेकट्रिक सेल है।

फ़ोटो एलेकट्रिक कोष्ठ वह साधन है, जिससे रोशनी वा प्रकाश का आंदोलन विद्युद्धारा के आंदोलन में परिवर्तित हो जाता है। प्रकाश का प्रभाव फ़ोटो एलेकट्रिक सेल पर तत्काल होता है, यद्यपि वह सेलेरियम की नाईं शीघ्र क्रियाशील नहीं होता। इस कोष्ठ में केवल पोटाशियम धातु का ऋण ध्रुव होता है, जो शून्य में बंद होता है। जब प्रकाश इस धातु पर पड़ता है तो उसमें से एलेकट्रन विद्युत् परिमाणु निकल पड़ते हैं जो विद्युत् धारा पैदा करते हैं।
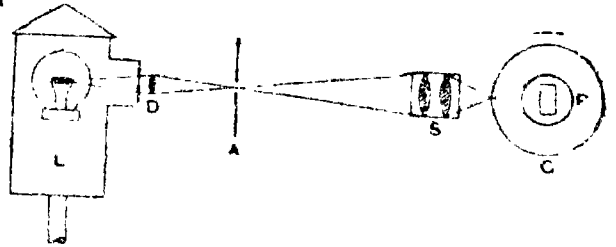
तार द्वारा आदमी की छाया एक स्थान से दूसरे स्थान पर कैसे चली जाती है।

फ़ोटो एलेकट्रिक सेल के ऊपर एक शीशे का बेलन होता है, जिसके अंदर एक फ़िल्म मोड़कर लगाया जाता है। यह फ़िल्म पारदर्शक होता है। प्रकाश पहले शीशे के बेलन पर पड़ता है, जो घूमता रहता है। शीशे द्वारा प्रकाश फ़िल्म पर पड़ता है, जो पारदर्शक होने के कारण फ़ोटो एलेकट्रिक सेल पर प्रकाश डालता है। जितना गाढ़ा प्रकाश वा छाया इस फ़िल्म पर पड़ती है, उतना ही कम या अधिक प्रकाश ऋण ध्रुव पर पड़ता है। इसी क्रम से विद्युत् धारा कम वा अधिक उत्पन्न होती है। यही धारा तार वा आकाश मार्ग से दूसरे स्थान प्रापक स्टेशन तक पहुँच जाती है, जहां यह विद्युत् धारा फिर प्रकाश और छाया में बदल जाती है। यह क्रिया दूसरे प्रबंध द्वारा होती है, जिसका चित्र नीचे दिया जाता है।

प्रापक चित्र-पानेवाला सिरा

इस चित्र में सारा प्रबंध संकेतक चित्र की तरह होता है। उसी प्रकार L अथवा प्रकाश आधार होता है। उसी प्रकार D अथवा संचायक ताल, लेंस लगा होता है। उसी प्रकार S अथवा प्रकाश फैलाने का साधन लगा होता है। परंतु यहां C अथवा घूमते बेलन में पारदर्शक फ़िल्म की जगह फ़ोटोग्राफ़िक प्रेट के नमूने का कोरा फ़िल्म लगा होता है। किंतु बड़ा भेद यह होता है कि प्रकाश मार्ग के बीच में एक छोटी सी खिड़की होती है, जिस पर एक ढकन लगा होता है, जिसे V अथवा प्रकाश वाल्व कहते हैं। यह ढकन विद्युच्चुंबकों के क्षेत्र में लटकता है और विद्युद्धारा के प्रभाव से अपनी जगह से छुटता और मिलता है। अतः जब विद्युतधारा का प्रवाह होता है, तो उसकी तीव्रता के अनुसार न्यून वा अधिक छिद्र का मुँह खोल देता है और उसीके अनुसार फ़ोटोफ़िल्म पर कम या ज़्यादा रोशनी पड़ती है।

इसी प्रकार के यंत्र आजकल अमेरिका में प्रचलित हैं, और जहाँ तहाँ तारचित्रण स्टेशन बनाये गये हैं। अमेरिका में यह काम सरकार का इजारा नहीं हैं, इस लिये सौदागरों ने निज की कंपनी बनाई हैं। तारचित्रण का काम प्रायः बोस्टन, न्यूयार्क, क्लीवलैंड, शिकागो अटलांटा, सानफ्रांसिसको, लास एंजिलिस और सेंट लुई में होता है। बेल टेलीफ़ोन लैबोरेटरी में यह काम विशेष रूप से होता है। विद्युच्चित्रण अधिकतर टेलीफ़ोन वाले तारों के द्वारा होता है। परंतु यह भी सिद्ध हो चुका है कि अनुकूल अवस्था में तार रहित मार्ग द्वारा आकाशी राह से भी यह भलीभाँति हो सकता है।

यदि गेंद, बल्ला, ताश, शतरंज, मछली का शिकार और घुड़दौड़ों में समय और धन नष्ट करने के स्थान पर हमारे अमीर बिजली के तमाशे बनाने और आकाश पाताल की सैर करने में लगाते, तो देश की उन्नति और विज्ञान की वृद्धि कैसी उत्तम होती।

महेशचरणसिंह, एम्० एससी०

१. बाल-विवाह की कुप्रथा को दूर करो।

आजकल भारतीय जनता बड़े असमंजस में है। एक ओर तो समाज-सुधारक और स्वास्थ्य-विभाग के कार्यकर्ता तथा मातृ-शिशु-हितैषिणी समितियों के संचालक इस बात का प्रबल आंदोलन कर रहे हैं कि बाल-विवाह की प्रथा को तोड़ कर विवाह की आयु बढ़ाई जाय और दूसरी ओर पुराने विचारों के कट्टर पक्षपाती पुकार रहे हैं कि इन बातों से तो हमारे धर्म का सर्वनाश हो जायगा।

आजकल भारतीय व्यवस्थापक सभा में दो क़ानूनों के प्रस्ताव पेश हैं। पहला प्रस्ताव डॉक्टर सर हरिसिंह गौड़ का है। आजकल धारा ३७५ इंडियन पीनल कोड के अनुसार यदि कोई पुरुष अपनी १३ वर्ष से कम आयु-वाली स्त्री से सहवास करे तो अपराधी समझा जाता है, और उसको दस वर्ष तक की क़ैद और जुर्माना हो सकता है। डॉक्टर सर हरिसिंह का प्रस्ताव है कि इस धारा में १३ वर्ष से बढ़ाकर १४ वर्ष की आयु कर दी जाय। दूसरा प्रस्ताव श्रीहरविलास शारदा का है। उनका कहना है कि १२ वर्ष से कम उम्र की कन्या का विवाह क़ानून से मना कर देना चाहिए, और यदि माता-पिता या अन्य संबंधी १२ से कम उम्र की कन्या का विवाह कर दें, तो वह नाजायज़ समझा जाय। परंतु उसमें यह भी शर्त है कि यदि माता पिता का अंतःकरण ऐसा करने की अनुमति न दे और उनकी कन्या ११-१२ वर्ष की आयु के बीच में हो, तो मैजिस्ट्रेट की अनुमति लेने पर वे उसका विवाह कर सकते हैं। अतः इस बिल के अनुसार ११वर्ष से कम उम्र की कन्या का विवाह बिलकुल असंभव है।

भारत में बाल-विवाह की बहुत ही घातक कुप्रथा प्रचलित है। सन् १९२१ की मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से सूचित होता है कि उस वर्ष में १ वर्ष से कम आयु की ६१२, पाँच वर्ष से कम आयु की २०२४, दस वर्ष से कम की ५७८५७ और १५ वर्ष से कम की ३३२०२४ हिंदू विधवाएं थीं। भारत के अधःपतन के अनेकों अन्य कारणों में बाल-विवाह की कुप्रथा भी एक ज़बरदस्त कारण है। जिस देश में इतनी छोटी उम्र में विवाह होता हो और बारह-तेरह या कभी-कभी इससे कम उम्र के बालक-बालिकाएँ माता-पिता बन जायँ, उस देश के बालक किस प्रकार योग्य नागरिक बन सकते हैं! इस उम्र में मनुष्य का पूर्ण शारीरिक तथा मानसिक विकास नहीं हो पाता, और ऐसे अल्पवयस्क माता-पिता से उत्पन्न होनेवाले बालक भी दुर्बल तथा रोगी होते हैं। इतनी छोटी उम्र में वे माता-पिता बनने की ज़िम्मेदारी को पूरा नहीं कर सकते। समय के पूर्व ही इतना बड़ा भार पड़ने से वे स्वयं भी दुर्बल तथा रोगी हो जाते हैं और उनमें शक्ति का ह्रास हो जाता है, जिससे भविष्य में

होनेवाले बालक दुर्बल तथा शक्तिहीन होते हैं। मातृ-शिशु-हितैषिणी समितियों ने भी इस बात को प्रत्यक्ष रूप से प्रमाणित कर दिया है कि बाल-मृत्यु की अधिकता का कारण अधिकतर स्त्रियों का छोटी उम्र में माताएँ बन जाना ही है। आँकड़ों से यह प्रमाणित होता है कि उन देशों में, जहाँ बाल-विवाह की प्रथा है, बाल-मृत्यु-संख्या अधिक है। भारतवर्ष में अन्य देशों की अपेक्षा सबसे अधिक बाल-मृत्यु होने का एक प्रधान कारण यहाँ की बाल-विवाह की कुप्रथा भी है। यद्यपि इन बातों के समझनेवाले कुछ लोग अब अपनी कन्याओं का विवाह बड़ी उम्र में करने लगे हैं, परंतु ऐसे मनुष्य बहुत ही कम हैं। अधिकतर मनुष्य अब भी अज्ञान में हैं और वे यही समझते हैं कि कन्याओं का विवाह बड़ी उम्र में करने से धर्म का नाश हो जाएगा और अपनी कन्याओं का विवाह बड़ी उम्र में करनेवाले माता-पिता को नरक का भागी बनना पड़ेगा। यह लेख लिखने का हमारा यही अभिप्राय है कि इससे लोगों को ज्ञात हो जाय कि हमारे शास्त्र इस बात की आज्ञा नहीं देते कि कन्याओं का विवाह जल्दी ही कर देना चाहिए और ऐसा न करने से धर्म का नाश हो जाएगा, यह केवल मनुष्यों का अज्ञान और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करना है। कोई भी धर्म, जो वास्तव में धर्म कहलाए जाने के योग्य हो, यह आज्ञा नहीं दे सकता कि वैवाहिक जीवन के भार को उठाने में समर्थ होने से पहले ही बालक-बालिकाओं की शादी कर देनी चाहिए। वेदों के देखने से पता चलता है कि वैदिक काल में हमारे यहाँ कन्याओं का विवाह छोटी उम्र में नहीं होता था। देखिए, ऋग्वेद के मंडल १ अध्याय १७१ श्लोक ४ और मन्त्र १ में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि:—

स्त्री पुरुषों को विवाह तब करना चाहिए जब कि उनका शारीरिक और मानसिक विकास पूर्ण रूप से हो जाय और वे पूर्ण ज्ञान तथा नैतिक शिक्षा प्राप्त करलें और ब्रह्मचर्य आश्रम को पूर्ण करलें। ऋग्वेद के मंडल ३ अध्याय ४ मन्त्र १६ में भी लिखा है:—पूर्ण यौवना स्त्री उस गाय की तरह, जिसे किसी ने नहीं दुहा है, पूर्ण आयु प्राप्त होने पर पूर्ण आयुवाले वर से विवाह करके मातृत्व के भार को वहन करने के लिए प्रस्तुत होवे।

पुराणों में जो स्वयंवरों का वर्णन है, उससे भी यही पता चलता है कि उस समय में कन्या का विवाह तभी किया जाता था, जब वह सब प्रकार से योग्य हो जाती थी और अपने जीवन के साथी को अपने अनुरूप चुन सकती थी। पतिव्रताओं में श्रेष्ठ सती सावित्री की कथा से शायद ही कोई शिक्षित हिंदू अपरिचित हो। उसके पिता जब अपनी कन्या के लिए योग्य वर ढूँढकर हार गए, तब उन्होंने सावित्री को ही बुलाकर कहा था कि, तुम अपने लिए स्वयं वर ढूँढो। इससे यही मालूम होता है कि, उस समय उसकी उम्र काफ़ी बड़ी होगी। क्योंकि योग्य वर को चुनना कितना कठिन और बुद्धिमानी का कार्य है, यह किसी भी अनुभवी मनुष्य से छिपा नहीं। महाभारत में लिखा है कि जब भीष्म अपने भाइयों के विवाह के लिए अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका को हर लाये, तो अम्बा ने कहा कि मैं तो अपने मन में राजा शाल्व को वर चुकी हूँ, और राजा शाल्व के फिर अम्बा को अंगीकार न करने पर उसने घोर तप किया था। इससे प्रत्यक्ष है कि उस समय उसकी बुद्धि प्रौढ़ हो चुकी थी। पुराणों में ऐसे एक नहीं अनेकों उदाहरण मिलते हैं।

धार्मिक सिद्धांतों के प्रतिपादक मनुस्मृति के उन कुछ श्लोकों पर बहुत ज़ोर देते हैं, जिनका मतलब वे यह लगाते हैं कि उनमें भगवान मनु ने कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने से पूर्व करने की आज्ञा दी है। इसमें संदेह है कि इस मत के परिपोषक मनुस्मृति में कोई ऐसा श्लोक बता सकें जिसमें स्पष्ट रूप से यह लिखा हो कि कन्या का विवाह रजस्वला होने से पूर्व ही करना चाहिए, और ऐसा न करने से पाप होता है।

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में, जिसमें कि "विवाह और गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों" का ही वर्णन है, भगवान मनु ने इस विषय पर कि विवाह और गौना किस वयस में करना चाहिए, कुछ भी नहीं लिखा। इस अध्याय में आरंभ में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है कि कैसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिए। इस अध्याय में इस संबंध की बहुत छोटी-छोटी और साधारण बातें भी बहुत विस्तारपूर्वक लिखी गई हैं, जैसे किसी द्विज को ऐसे कुटुंब की कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए, जिसमें कोई पुरुष न हो, जो वेदाध्ययन

न करते हों, जिनके अधिक बाल हों, या जिनको बवासीर, क्षय, मंदाग्नि या मृगी आदि रोग हों—चाहे वह कुटुंब कितना ही श्रेष्ठ और धनी क्यों न हो। इसमें यह भी लिखा है कि द्विज को उस कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए जो बौनी या रोगी हो, कंजी आँखोंवाली हो, जिसके शरीर पर रोम न हों, या बहुत अधिक हों, जो वाचाल हो या जिसका नाम तारों, पेड़ों, नदियों, पहाड़ों और पक्षियों पर हो, या जिसके कोई भाई न हो। आगे चलकर इस अध्याय में कन्या के कुटुंब और जाति चुनने का, विवाह की रस्मों का और पति को किन रात्रियों में स्त्री के पास जाना चाहिए और किन में नहीं, आदि का विस्तृत वर्णन है। इसीमें यह भी लिखा है कि स्त्रियों का आदर करने से किस प्रकार कुटुंब की उन्नति होती है, और इसके विपरीत करने से अवनति। देवताओं के पूजन, अतिथियों के सत्कार, पितरों के तर्पण, ब्राह्मणों के सत्कार, अर्थात् गृहस्थ के सभी कर्तव्यों का विस्तृत वर्णन है। परंतु उसमें यह कहीं नहीं लिखा है कि कन्या का विवाह उसके रजस्वला होने से पूर्व ही कर देना चाहिए। अतः यह साधारण बात है कि यदि भगवान मनु आवश्यक समझते तो विवाह की आयु के लिये स्पष्ट रूपसे अवश्य कुछ लिखते। मेरा कहना है कि हमारे लिये यह कदापि उचित नहीं है कि इस अध्याय को छोड़कर मनुस्मृति के कोने-खुतरे में पड़े हुए किसी श्लोक के शब्द का, जो विवाह की आयु के संबंध में नहीं है, मनमाना मतलब लगाकर मनु महाराज से वह बात कहलानी चाहें, जिसे शायद उनके कहने का कदापि इरादा न था।

चौथे और पांचवें अध्याय में अन्य बातों के साथ ही निजी नैतिक सिद्धांतों और स्त्रियों के कर्तव्यों का वर्णन है। इसमें भी विवाह और गौने की उम्र के संबंध में कुछ नहीं लिखा मिलता।

नवें अध्याय में, जिसमें वैश्यों और शूद्रों के लिये "दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानून" हैं, हमें ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनका अवलंब लेकर कुछ लोग कहते हैं कि कन्या का विवाह जल्दी करना चाहिए। नीचे हम मनुस्मृति से कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत करते हैं—

"कालेऽदाता पिता वाच्यो वाच्यश्चानुपयन्पतिः"
××× ॥ ४ ॥

अर्थात्—पिता जो (अपनी कन्या का विवाह) समय पर नहीं करता, निंदा के योग्य है। पति भी निंदा के योग्य है, यदि वह (ठीक समय पर) अपनी स्त्री से सहवास नहीं करता।

इस श्लोक से यह किसी भाँति प्रगट नहीं होता कि भगवान मनु का यह आदेश था कि कन्या का विवाह रजस्वला होने से पहले ही कर देना चाहिए। वास्तव में "समय पर" का यही अर्थ हो सकता है कि स्त्री और पुरुष का विवाह तभी करना चाहिए जब उनका पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा नैतिक विकास हो जाय और वह वैवाहिक जीवन व्यतीत करने के योग्य हो जायँ।

उत्कृष्टायाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याद्यथाविधि ॥ ८८ ॥

अर्थात् कन्या का विवाह विधिपूर्वक उस पुरुष से करना चाहिए जो उत्कृष्ट (कुल का) हो, सुंदर हो और समान (जाति का) हो, चाहे कन्या समय के अयोग्य भी हो ॥ ८८ ॥

काममामरणात्तिष्ठेद्गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित् ॥ ८९ ॥

अर्थात् यदि कन्या की आयु रजस्वला होने की हो गई है, तो भी यह अच्छा है कि वह मरणपर्यंत पिता के घर में रहे, परंतु उसे गुणहीन पति को (वर को) कभी नहीं देना चाहिए ॥ ८९ ॥

८८ वें और ८९वें श्लोकों को मिलाकर पढ़ने से यही भाव निकलता है कि भगवान मनु ने अधिक ज़ोर उत्तम वर की प्राप्ति के लिए दिया है। उत्तम वर के न मिलने पर उसे केवल इसीलिए न छोड़ देना चाहिए कि अभी कन्या कम आयु की है, और योग्य वर के न मिलने पर भी विवाह केवल इसी विचार से कदापि न कर देना चाहिए कि कन्या सयानी हो गई है।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्युतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ॥ ९० ॥

अर्थात् कन्या रजस्वला होने के अनंतर तीन वर्ष तक इंतिज़ार करे। इसके बाद समान (जाति के) वर को स्वयं चुन ले ॥ ९० ॥

इस श्लोक से यह भलीभाँति प्रत्यक्ष है कि यह आवश्यक नहीं समझा गया था कि रजस्वला होने से पूर्व कन्या का विवाह अवश्य कर देना चाहिए, क्योंकि कन्या

को यह अनुमति दी गई है कि यदि माता-पिता उसकी शादी न करें, तो उसे रजस्वला होने के उपरांत भी तीन वर्ष तक अवश्य ठहरना चाहिए; और फिर जब उसे स्वतंत्र रूप से विचार करने की शक्ति आजाए, तभी सुयोग्य वर को ढूंढे। यह आश्चर्य की बात है कि मनुस्मृति के पहले अध्यायों में, जिनमें विवाह और गृहस्थ तथा स्त्रियों के कर्तव्यों का विशेष रूप से वर्णन है, इस विषय पर कुछ भी नहीं लिखा है। यह नियम वैश्य और शूद्रों के लिये, जो दीवानी और फ़ौजदारी के क़ानून के अध्याय में है, जिससे केवल यह मतलब निकल सकता है कि यह नियम व्यक्तिगत रूप से पालन करने के लिये नहीं बनाये गये थे, प्रत्युत न्यायालयों के लिए थे, जब कि उन्हें ऐसे मामलों का निपटारा करना हो। सभी सभ्य देशों के क़ानून में विवाह की वय कम से कम दी जाती है, ताकि मुक़दमा करने वालों को यह स्वतंत्रता रहे कि उस नियुक्त आयु से नीचे कदापि विवाह न कर सकें। इसलिये मनु महाराज ने यह ठीक ही किया कि स्वीकृति की आयु (age of consent) रजस्वला होने के तीन वर्ष बाद रक्खी और इस हिसाब से हमारे यहाँ कम से कम १५-१६ वर्ष की आयु स्वीकृति की आयु है।

एक बात और भी विचारणीय है, और वह यह कि आजकल और पुराने ज़माने के समय में आकाश पाताल का अंतर है। संभव है, मनु ने जब अपनी पुस्तक लिखी, तब कन्याएँ पूर्ण शारीरिक और मानसिक उन्नति कर चुकने पर ही रजस्वला होती हों। क्योंकि हम देखते हैं कि, आजकल की कन्याएँ, अपनी माँ और दादी की अपेक्षा कम उम्र में ही रजस्वला हो जाती हैं। गाँवों में सीधासादा जीवन बिताने वाली कन्याएँ, अब भी शहरों में रहनेवाली कन्याओं की अपेक्षा देर में रजस्वला होती हैं। जल्दी रजस्वला हो जाने को वैवाहिक-जीवन के व्यतीत कर सकने की योग्यता का चिह्न न समझकर बीमारी का चिह्न समझना चाहिए। आजकल का दूषित वायुमंडल, भोगविलास की अधिकता और शारीरिक-निर्बलता आदि के कारण कन्याएँ जल्दी रजस्वला हो जाती हैं, और इस उम्र में वे वैवाहिक-जीवन के उत्तरदायित्व को पूर्ण करने में सर्वथा असमर्थ होती हैं। ऐसी स्थिति में उसी पुरानी लकीर को, जो आजकल की परिस्थिति में बहुत ही हानिकर सिद्ध हो रही है, बिना सोचे विचारे पीटते रहने में कोई बुद्धिमानी नहीं दिखाई देती। हमारी पुरानी वैद्यक की पुस्तकों में भी यही लिखा है कि २५ वर्ष की आयु होने पर पुरुष और १६ वर्ष की आयु होने पर स्त्री वैवाहिक-जीवन व्यतीत करने के उपयुक्त होते हैं।

इस पर भी यदि कन्याओं का विवाह छोटी उम्र में करने के पक्षपाती न मानें, और कहें कि बड़ी उम्र में कन्या का विवाह करने से अवश्य हमारे पुरातन धर्म का नाश हो जायगा, तो हम उनको याज्ञवल्क्य ऋषि के निम्नलिखित श्लोक की याद दिलाते हैं:—

> कायेन मनसा वाचा यत्नाद्धर्मं समाचरेत् ।
> अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्नतु ॥
>
> याज्ञवल्क्य ॥ १ । १५६ ॥

अर्थात् काया, मन और वाणी के द्वारा यत्न से धर्म पर चले। परंतु ऐसा धर्म-कार्य भी न करे, जिसे संसार उपेक्षा की दृष्टि से देखे। क्योंकि यह मनुष्य को स्वर्ग से दूर ले जाने वाला है। इसलिए यदि आजकल की स्थिति में बाल-विवाहकी प्रथा हानिकर है, और सब सभ्य संसार इसको बुरा समझता है, तो यदि हमारे शास्त्रों में इसका आदेश होता भी तो उसका पालन करना अनुचित ही है।

यह केवल मेरा ही विचार नहीं है, बल्कि कुछ इतिहासज्ञ और हिंदू धर्म के विचारशील लेखकों का भी कहना है कि, भारतवर्ष में पूर्व काल में स्त्री पुरुषों के लिए यह आदेश था कि वे ब्रह्मचर्य पूरा कर लेने पर और सांसारिक-कार्यों को पूर्ण करने के योग्य होने तथा शारीरिक और मानसिक पूर्णता को प्राप्त कर लेने पर ही विवाह करें। परंतु * जब इस देश पर मुसलमानों के घोर आक्रमण होने लगे और वे अबोध तथा बिन ब्याही हिंदू कन्याओं तक से ज़बरदस्ती विवाह करने लगे, तो हमारे विचारशील नेताओं ने इस घोर अत्याचार से हिंदू-समाज को सुरक्षित रखने के हेतु यही उपाय सोचा कि कन्याओं का विवाह जल्दी कर दिया जाय, ताकि वह

* मुसलमानों ने अपनी स्त्रियों को क्यों परदे में रखना शुरू किया? क्या इसलिये कि उन्हें हिन्दुओं से भय था? फिर, मुसलमानों का सबसे अधिक ज़ोर पंजाब में था, किन्तु पंजाब में परदा इतना कठोर नहीं है, जितना संयुक्तप्रान्त में। मुसलमानों में पर्दे का रिवाज हिंदुओं से कहीं अधिक है।

सम्पादक

चित्र-लेखन

[चित्रकार—श्री० शारदाचरण उकील]

चित्र लिखति नंदलाल को, रीझि रही रिझवारि ;
अधमेंदी अँखियन दई, मूँदी प्रीति उघारि ।

व्यभिचारियों की दृष्टि से दूर रहें। इसीलिए, शायद, टीकाकार वशिष्ठ ने यह लिखा कि कन्या जब घर में नंगी फिरा करती हो, अर्थात् इतनी छोटी हो कि उसे वस्त्र पहनाने की आवश्यकता ही न हो, तभी उसका विवाह कर देना चाहिए। इसी कारण पंजाब के पूर्वीय भाग में यह प्रथा प्रचलित हो गई कि कन्याओं का विवाह पेट में ही कर दिया जाने लगा। पंजाब तथा संयुक्तप्रांत में ही बाल-विवाह की प्रथा अधिक है, और पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में कम। परंतु अब, बीसवीं शताब्दी में, जब कि चारों ओर शांति का साम्राज्य है, इस घातक प्रथा का शीघ्र मूलोच्छेद कर देना चाहिए। *

मनुस्मृति के ९वें अध्याय के ९६वें श्लोक में लिखा है कि "प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः संतानार्थं च मानवाः" अर्थात् स्त्रियां गर्भ ग्रहण करने के हेतु और पुरुष गर्भाधान करने के लिए उत्पन्न किये गये हैं। परंतु मनुष्य से इतनी साधारण बात ही की आशा नहीं की जा सकती है। मनुष्य को जीवन में अनेकों छोटे बड़े कार्य करने होते हैं। इससे यह स्पष्ट प्रगट होता है कि भगवान मनु का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि मानव-जाति का धर्म केवल बच्चे उत्पन्न करना ही है। यह बहुत संभव है कि जब मनुस्मृति लिखी गई, तब भारत में जीवन-पर्यंत ब्रह्मचर्य रखने की प्रथा चल गई हो। मनुष्य आजीवन कुआँरे रह जाते हों और उस समय देश, जाति तथा कुटुंब की रक्षा और देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक हो कि जन संख्या बढ़े। इसी कारण, शायद, मनु ने इस श्लोक में ऐसा लिखा हो।

अंत में हम महामना पं० मदनमोहन मालवीयजी जैसे कट्टर सनातनधर्मी और धर्म के रहस्य के ज्ञाता महात्मा गांधी जैसे सर्वमान्य नेताओं की सम्मति दे कर इस लेख को समाप्त करती हैं। पं० मदनमोहन मालवीय का कहना है—

"मेरी भी यही राय है कि कोई पुरुष तब तक गौना न करे जब तक कि उसकी पत्नी १४ वर्ष की आयु पूर्ण न कर ले। × × × तब भी मेरा यह विचार है कि हमें इस बात को भूल न जाना चाहिए कि अधिकतर लोगों का यही विश्वास है कि कन्या ऋतुमती होते ही अपने पति से सहवास करने के योग्य हो जाती है। मैं इस बात से सहमत हूं कि यह विचार ग़लत है। मेरी यह सम्मति है कि स्त्री को १६ वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर ही पुरुष से सहवास करना चाहिए।"

महात्मा गांधी ने ७ अक्टूबर १९२६ के यंग इंडिया में "Sorrows of girl wives" शीर्षक लेख में अपने विचार यों प्रकट किये हैं—

"× × × निस्संदेह ऐसी परिस्थिति के लिए पुरुष ही उत्तरदायी है। परंतु, क्या स्त्रियों को यह उचित है कि पुरुषों को ही दोषी ठहराकर स्वयं छुटकारा पालें। क्या सुशिक्षिता स्त्रियों का अपनी बहनों और पुरुष जाति—जिसकी वे माता हैं—के प्रति यह कर्तव्य नहीं है कि वे सुधार का भार अपने ऊपर लें? उस शिक्षा से, जो कि उन्हें मिल रही है, क्या लाभ—यदि विवाह होने पर वे अपने पति के हाथों में केवल गुड़िया बनी रहें, और अपक्व अवस्था में ही छोटे क़दवाली संतान को पालन करने में लग जायँ? अगर उनकी इच्छा हो तो वे वोट के लिए आंदोलन करें। इसमें न समय और न कुछ मेहनत ही ख़र्च होती है। इससे तो केवल दिलचस्पी होती है। परंतु ऐसी वीर महिलायें कहां हैं, जो बालिका-पत्नियों और विधवाओं के बीच में जाकर कार्य करें और तब तक न स्वयं दम लें और न पुरुषों को लेने दें, जब तक कि बाल विवाह असंभव ही न हो जाय। × × × अतः हमें इन बिलों का स्वागत करना चाहिए और इनको पास कराने के लिये आंदोलन करना चाहिए। हमें आशा है कि क्रमशः विवाह की आयु १६ वर्ष की हो जायगी।"

दुर्गा देवी

* इस प्रांत में उच्च वर्णों में कन्याओं का विवाह १०-१२ वर्ष की उम्र से पहले नहीं होता, लेकिन कुनबियों, भरों, पासियों, चमारों आदि जातियों में २-३ वर्ष की आयु ही में कर दिया जाता है। क्या मुसलमान आततायियों की दृष्टि इन्हीं जातियों की कन्याओं पर सबसे अधिक पड़ी? इन जातियों में रूपवती कन्याएँ बहुत नहीं होतीं।

१. 'ईश' कवि

सन् ५७ के ग़दर के समय से उज्जैन वंशावतंस बाबू कुँवरसिंह की वीरता और रणधीरता इतिहास-प्रसिद्ध है। शाहाबाद ज़िले (बिहार) के जगदीशपुर नामक क़स्बे में बाबू साहब की राजधानी थी। जगदीशपुर से एक-डेढ़ कोस दक्खिन-पच्छिम की ओर, हरी-भरी अमराइयों से घिरा हुआ, दिलीपपुर नाम का एक बड़ा-सा गाँव है। बाबू साहब के कुछ वंशधर दिलीपपुर के सुप्रतिष्ठित रईस हैं। ईश कवि वहीं के निवासी थे। उनका शुभ जन्म संवत् १८६६ की आश्विन-पूर्णिमा को जगदीशपुर के गढ़ में हुआ था। आपके पिताजी का नाम बाबू तुलसीप्रसादसिंह था। वे संस्कृत, हिंदी, उर्दू और फ़ारसी के प्रकाण्ड पंडित थे। आपके तीन पुत्र और दो कन्याएँ थीं। कन्याओं का विवाह प्रतापगढ़ ज़िले (युक्त-प्रांत) की भदरी और सम्सपुर रियासतों में हुआ है। आपके पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र महाराजकुमार बाबू विश्वनाथप्रसादसिंह ही वर्तमान हैं, जिनके बा० गौरीशंकरप्रसाद सिंह, बा० दुर्गाप्रसाद सिंह और बा० उमाशंकरप्रसाद सिंह नाम के तीन पुत्र हैं।

'ईश' कवि का पूरा नाम था—महाराजकुमार बा० नर्मदेश्वरप्रसादसिंह। उनके हृदय में युवावस्था से ही काव्यानुराग उत्पन्न हुआ; किंतु वे ३६ वर्ष की अवस्था से ग्रंथ रचना करने लगे। आपकी सब से पहली रचना का नाम है 'शिवा शिव शतक', जिसको सुप्रसिद्ध संग्रहकार डुमराँव-राज्य-निवासी पं० नकछेदी तिवारी 'अजान कवि' ने सन् १८६२ ई० में काशी के भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित कराया था। यह 'शतक' पहले 'शैवशाक्त-मन-रंजिनी' नाम से 'कवि-वचन-सुधा' में छप चुका था। उक्त 'अजान' कवि की सहकारिता से ही उन्होंने डुमराँव में मिले हुए 'मदन-मंजरी' नामक काव्य ग्रंथ का संशोधन और संपादन कर भारतजीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित कराया था।

आपकी दूसरी रचना का नाम है—'शृंगारदर्पण' जिसको दिलीपपुर-निवासी काव्य-मर्मज्ञ श्रीमान् पं० धनंजय पाठक ने सन् १८८६ में स्वयं प्रकाशित किया था। पाठकजी महाराज अभी तक जीवित हैं। आपके पास प्राचीन हिंदी-काव्य ग्रंथोंकी हस्तलिपियोंका दर्शनीय संग्रह है। आपके पास 'सरस-रस' नामक प्रसिद्ध काव्यग्रंथ की बड़ी प्रामाणिक हस्तलिखित कापी मौजूद है। कविजी के अंतरंग दरबारियों में इस समय आप ही जीवित हैं।

ईश कवि की तीसरी प्रकाशित गद्य-रचना है—'धर्म-प्रदर्शिनी', जिसको उन्होंने सन् १६०६ में स्वयं प्रकाशित कर विद्वानों और राजों-महाराजों में वितरित किया था। यह ३०० पृष्ठ का एक आदर्श नीति ग्रंथ है, और इसके प्रत्येक पृष्ठ से उनका पांडित्य प्रकट होता है। इसके अंत के १६ पृष्ठों में उनकी कुछ भक्ति-वैराग्य-पूर्ण कविताएँ हैं। एक-दो उदाहरण देखिये—

ईश लसो तुम मम हिये, मो हिय तव कर माँह।
ज्यों कर में दर्पण लसत, दर्पण में मुख छाँह ॥ १ ॥

हम जानत नहिं आपको, तुम जानत हौ मोहि।
जब तुम मोहि जनाइहौ, जानि भूलिहौं तोहि ॥ २ ॥
सब नैनन में नैन तुव, प्रतिबिम्बित दिन रैन।
तेरेई नैनान में, बिलसत सबके नैन ॥ ३ ॥

अब हाथों 'शिवाशिवशतक' और 'शृंगारदर्पण' के भी कुछ उदाहरण देख लीजिये। बड़ी मधुर रचनाएँ हैं—

(कवित्त)

(क) सरद घटा के संग चपला छटा है कैधौं
घनसार माँह कैधौं केसर लकीर है।
कैधौं सत्यजुग माँह द्वापर की संधि सोहै
कैधौं हास्य संग ही किरन रस बीर है।
मले सो मिली है कैधौं चम्पक की लतिका यों
ईश्वर प्रसाद शिवा शिव की नजीर है।
देवगुर दिपि कला ससि पै परी है कैधौं
रजत अटा सों लगी कंचन जंजीर है ॥ १ ॥

अगुन गुनाकर त्रिसूलधर सूलहर हो
साकार निराकार बहु नाम हो अनाम।
अंजना के पति हो निरंजन कृपाल काल
ग्यानातीत ग्यान गम्य घोर रूप हो ललाम।
गोचर अगोचर अरूप हो अनंत रूप
व्यक्त हो अव्यक्त तमगुनी हो प्रकास धाम।
कामद हो काम दहो सर्बधारी सर्बद हो
सर्ब सर्ब ते परे हो तुम को करों प्रनाम ॥ २ ॥

शिवाशिव शतक

(बरवै छंद)

(ख) देखि पीठ पर बेनी हिए बिचार।
मेरु सिखर तें निकरी जमुना धार ॥ १ ॥
(वेणी वर्णन)

चिक बरुनी पल परदा ग्रह सित नैन।
मरकत आसन सोहत पुतरी मैन ॥ २ ॥
(नेत्र पुतली वर्णन)

स्याम रूप पीवत ये नैन सदाहिं।
पलक अधर सोइ स्याही कजरा नाहिं ॥ ३ ॥
(काजल वर्णन)

नासा दीप-सिखा है संसै नाहिं।
लग्यो धूम भ्रू छायो ऊपर ताहि ॥ ४ ॥
(नाक वर्णन)

रच्यौ काम करिगरवा जबहिं कपोल।
बसि गइ तासु पुतरिया मनहुँ अलोल ॥ ५ ॥
(कपोल तिल वर्णन)

जटित नीलमनि पग में पायल जाग।
मनहुँ जगत की अँखियाँ पग रहिं लाग ॥ ६ ॥
(पायजेब वर्णन)

जेहि हरि उदर माँह बहु लोक रहंत।
बड़े सोउ गुनि नैनन में निवसंत ॥ ७ ॥
(नेत्रदीर्घता वर्णन)

उनकी रचनाओं में प्राचीन कवियों के भावों की छाया भी कहीं कहीं मिलती है। जैसे उपर्युक्त दो (६, ७) अंतिम छंदों में क्रमशः द्विजदेव और भिखारीदास की निम्न-लिखित रचनाओं की छाया—

टटकी।
गयंदन की मटकी।
लोगन की अँखियाँ अटकी ॥ १ ॥

द्विजदेव

होत मृगादि बड़े बड़े बारन, बारन बृंद पहारन हेरे,
सिंधु में केते पहार परे, धरती में बिलोकिय सिंधु घनेरे।
लोकन में धरती है किती, हरि ओदर में बहु लोक बसेरे,
ते हरि 'दास' बसे इन नैनन, एते बड़े दृग राधिका तेरे ॥१॥

भिखारीदास

अच्छा, अब उनकी एक अप्रकाशित रचना के विषय में सुनिए। इसका नाम है 'पंचरत्न'। इसे उन्होंने अपने अंतिम जीवन-काल में रचा था। संवत् १९७१ की फागुन सुदी अष्टमी को प्रातःकाल अपने निवास-स्थान पर उनका स्वर्गवास हो गया, इसलिये 'पंचरत्न' प्रकाशित न हो सका। इस अप्रकाशित ग्रंथ में पाँच 'तरंग' हैं। प्रथम तरंग में देवस्तुति, द्वितीय में रास-विलास-वर्णन, तृतीय में समस्यापूर्त्तियाँ, चतुर्थ में ऋतु-वर्णन और पंचम में भक्ति-वैराग्यपूर्ण भजन। 'देवस्तुति' में श्रीविहारी नवरत्न-शीर्षक के अंदर जो नव कवित्त हैं, वे सुखसागर कवि की 'चित्तविनोदिनी' में संग्रहीत होकर छप चुके हैं। 'चित्त-विनोदिनी' नामक पुस्तक संवत् १९४७ में भारत-जीवन प्रेससे निकली थी। उसके रचयिता बाबू रामशरणसिंह (उपनाम सुखसागर कवि) आज़मगढ़ ज़िलेके 'रोआँ'—ग्रामनिवासी थे, और पूर्वोक्त जगदीशपुर के निवासी महाराजकुमार बाबू रघुनाथप्रसादसिंहजी रईस के दरबार में कारिंदा थे।

(१) पंचरत्न की प्रथम तरंग के एक-दो बिंदु का स्वाद लीजिए—

छोटी-छोटी रेख भृकुटी की अति नीकी लसें
अधखुली पलकों में आँखें मनो भरी लाज।
उन्नत सो भाल रांचे उन्नत सो नासिका है
गोल-गोल अरुन कपोल सुम सोभा साज।
अधर सो पानि लाल आँगुरी छबीली छोटी
तामे छोटे-छोटे नख हीर के कनी से राज।
साँवरे सलोने अंग-अंग द्युति की तरंगे
सोई जसुदा के गोद प्रगट बिहारी आज॥ १॥

बाहन तो निज बूढ़ो ही बैल पै दासन को गजबाजि सुचाल जू।
आपु बाघम्बर धारो सदा जरि अंबर औरन हेत रसाल जू।
साँप को हार गरे निज राजत दीनन देत मनान को माल जू।
नेकु निहारे निहाल करो सिव साईं तिहारी नई यह चाल जू॥ २॥

(२) द्वितीय तरंग से—

बन ऊजरी फूली अगस्त कली सर ऊजरी सोही कुमोदिनियाँ।
नभ ऊजरी तारे कतारे लसी जनु ऊजरी हीरन की कनियाँ।
भई ऊजरी चंद दुचंद प्रभा अति ऊजरी पूनो की चांदनियाँ।
रितु पाइ के ऊजरी सारद की भई ऊजरी रंग सभी दुनियाँ॥१॥

(३) तृतीय तरंग में डुमराँव-नरेश स्व० महाराजा राधाप्रसाद सिंह बहादुर, सी० आई० ई०, काशी-नरेश स्व० महाराजा ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह बहादुर, जी० सी० एस० आई०, स्वनामधन्य स्व० भारतेंदु हरिश्चंद्र और सूर्यपुराधीश स्व० राजा राजेश्वरीप्रसाद सिंहजी ("प्यारे" कवि) तथा काशीस्थ भारत-जीवन प्रेस की दी हुई समस्याओं की पूर्तियाँ संगृहीत हैं। यहाँ केवल भारतेंदुजी की एक समस्या की पूर्ति देखिये—

छिति छाई बिछाई सु चाँदनी-सी यह चाँदनियाँ चित चोरै लगी।
कछु सीतल हीतल को करती सुखदाइनी नैन-चकोरै लगी।
जनु कीरति 'ईस' दिगीसन लों तन ताप तिनूकनि तोरै लगी।
सरदीय सुधाकर की किरनें 'दिन द्वै ते पियूष निचोरै लगी'॥ १॥

(४) चतुर्थ तरंग से 'ऋतु-दर्शन'—

दृग कंज अली अलकावलि है किसलय पद पानि लसै बिलसे।
ससि आनन अंबर जोन्ह जरी कुसुमावली भूषन से सरसे।
कवि कोकिल 'ईस' कलाप करे बिकसी कली मंदहि मंद हँसे।
कहि कौन जसी जु न होत बसी सुरभी रितु पातुर के दरसे॥ १॥

(५) बस, पंचम तरंग का एक भजन—

सिव आज बने सुभ सावन हैं।
गरल कंठ छबि स्याम घटा की वृषभ बायु चढ़ि आवन है।
छन छन छटा न यह चपला की तीजो नैन डरावन है।
घरहरात घनघोर घटा ज्यों डमरू सबद सुनावन है।
सेत भासुकी हार बिराजत बकुल पाँति मनभावन है।
बरसत धारा धराकाम लों लटकी जटा सुभावन है।
'ईस' कृपा जेहि के उर अंतर ऐसो ध्यान सुहावन है।
ताके भीतर बाहर हूं यह सावन मोद बढ़ावन है॥ १॥

शिवपूजनसहाय

१. धर्म और समाज-सुधार ।

विधवा विवाह मीमांसा—लेखक श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए० ; पृष्ठ संख्या २१६; सजिल्द; मूल्य ३); प्रकाशक 'चाँद' कार्यालय, प्रयाग ।

आजकल, जब कि हिंदू-संगठन की खूब चर्चा हो रही है और विधवाओं की दशा की ओर समाज का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हो गया है, इस पुस्तक का प्रकाशित होना बहुत ही समयानुकूल है । लेखक महोदय ने शास्त्र और स्मृतियों के प्रमाणों से स्त्रियों का पुनरुद्वाह उचित सिद्ध किया है । पुस्तक में ११ प्रकरण हैं—(१) विवाह के प्रयोजन, (२) स्त्री और पुरुष के अधिकार एवं कर्तव्य, (३) पुरुषों का बहु विवाह तथा पुनर्विवाह, (४) स्त्रियों का बहु विवाह तथा पुनर्विवाह, (५) वेदों से विधवा विवाह की सिद्धि, (६) स्मृतियों की सम्मति, (७) पुराणों की साक्षी, (८) अँगरेज़ी क़ानून की साक्षी, (९) विधवा-विवाह-विषयक अन्य युक्तियाँ, (१०) विधवा विवाह के विरुद्ध आक्षेपों के उत्तर, (११) विधवा विवाह के प्रचलित न होने से हानियाँ । अंत में विधवा विवाह के विषय में देश के नेताओं की सम्मतियाँ दी गई हैं । इसी विषय की कई कविताओं के पश्चात् पुस्तक समाप्त करदी गई है । इन प्रकरणों को देखने से विदित होता है कि इस प्रश्न की मीमांसा करने में विद्वान् लेखक ने कोई बात उठा नहीं रक्खी है । आक्षेपों का प्रकरण बड़े विचारसे लिखा गया है । पुस्तक कई रंगीन चित्रों से सुसज्जित है और लेखक का फ़ोटो भी दिया गया है ।

× × ×

सतीदाह—लेखक श्रीयुत शिवसहायजी चतुर्वेदी; प्रकाशक 'चाँद' कार्यालय, प्रयाग; मूल्य २।।); सजिल्द; पृष्ठ संख्या २०८ ।

यह एक बँगला पुस्तक का परिवर्धित अनुवाद है । इसमें सती प्रथा पर बड़ी विद्वत्ता से प्रकाश डाला गया है । लेखक ने वेद, पुराण, स्मृति, साहित्य, इतिहास से प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि यह प्रथा यहाँ वैदिक काल से चली आती है । मगर मार्के की बात तो यह है कि लेखक ने योरप, जापान, सिथिया, चीन आदि देशों में सती-प्रथा के प्रमाण खोज निकाले हैं । पुस्तक बड़ी मनोरंजक है । पाँचवें प्रकरण में कई इतिहासिक घटनाएँ दी गई हैं । सती होते समय क्या क्या रस्में की जाती थीं, किस तरह बाजे बजते थे, सती होने वाली स्त्री को कैसे वस्त्र पहनाए जाते थे, यदि वह चिता भ्रष्ट हो जाती थी तो उसे कैसे प्रायश्चित्त करने पड़ते थे, आदि सभी बातों का वर्णन किया गया है । अपने विषय की हिंदी में यह अकेली पुस्तक है ।

× × ×

महावीर भगवान और महात्मा बुद्ध—लेखक श्री कामताप्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ; प्रकाशक श्री मूलचंद किसनदास कापड़िया ; कागज़ साधारण से कुछ अच्छा; छपाई उत्कृष्ट ; मूल्य १।।) ; प्रकाशक से प्राप्त ।

इस पुस्तक में जैन और बौद्ध धर्म की एक प्रकार से तुलना की गई है। दोनों धर्मों में जिन बातों में सदृशता है उनका भी उल्लेख है, और जिन बातों में वैषम्य है उन पर भी प्रकाश डाला गया है। लेखक के मत से जैन धर्म बौद्ध धर्म से पुराना है। तपश्चरण की मुख्यता, अहिंसा की व्यापकता और कर्म सिद्धांत की व्यावहारिकता का स्वीकार बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म में विशद रूप में हुआ है, ऐसी लेखक की राय है। बौद्ध भिक्षु और जैन साधुओं के आचरण में भी पार्थक्य दिखलाया गया है। इसी प्रकार से बौद्ध और जैन संघों में जो अंतर है उसका भी उल्लेख किया गया है। बौद्ध लोग मृत पशुओं का मांस खा सकते हैं, पर जैन किसी भी दशा में मांस नहीं खा सकता, इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है। पुस्तक में जो बातें लिखी गई हैं वे जिन ग्रंथों के आधार पर हैं, उनका उल्लेख फुट नोट में किया गया है। इस पुस्तक की भूमिका जैन-धर्म के विशेषज्ञ श्रीयुत विमलाचरण ला, एम्० ए०, बी० एल्०, पी० एच्डी०, डी० एफ्० आर०, ने ६ पृष्ठों में अँगरेज़ी में लिखी है। इस भूमिका में श्रीविमलाचरणजी ने आकाश, कर्म, जीव-अजीव, आत्मा, बंधन, निर्जर, मोक्ष, श्रावक, सदाचरण, सत्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, द्रव्य, ईश्वर और नरक जैसे विषयों को लेकर और उनके संबंध में जैनियों और बौद्धों में जो मत-भेद है, उसका उल्लेख किया है। इस भूमिका से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तक अच्छी और संग्रह करने योग्य है। बौद्ध और जैन-धर्म में क्या भेद है, यह बात पुस्तक के पढ़ने से समझ में आती है।

× × ×

२. नीति और उपदेश

संजीवन सन्देश—मूलकर्ता श्रीयुत टी० एल० वास्वानी। अनुवादकर्ता बा० वेणीमाधव अग्रवाल, एम० ए०, प्रोफ़ेसर, नालन्द कालेज बिहार। प्रकाशक हिन्दी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई। मूल्य १=)। सुन्दर जिल्द। कागज़ और छपाई बढ़िया।

प्रो० वास्वानी भारत के एक अमूल्य नर-रत्न हैं। आप इतिहास, साहित्य, दर्शन आदि के आचार्य हैं। आप बहुधा अंग्रेज़ी ही में लिखते हैं। यह पुस्तक आप ही के तीन लेखों का अनुवाद है। नवयुवकों के लिये विशेषतः और समस्त मानव-जाति के लिये सामान्यतः यह बड़ी उपयोगी रचना है। लेखक महोदय अपने 'पूर्वाभास' में लिखते हैं—

"नवयुवकों को मैं पुनरुत्थान की शक्ति मानता हूं। वास्तव में नवीकरण भी प्रकृति का एक नियम है। इसी कारण प्रति दिन नए फूल, नए रूप, नए रंग, और नए संगीत प्रकृति को सौंदर्यमय और आनंदमय बनाते हैं। प्रकृति में ही अनंत यौवन है।"

वास्वानी महोदय पक्के आदर्शवादी हैं। आदर्शवाद ही द्वारा आप भारत का उद्धार करना चाहते हैं—

"अनेक भारतीय युवक यह चाहते हैं कि जड़वादी इँगलैंड के साथ हम जड़वाद ही के अस्त्रों से युद्ध करें। एक देशभक्त विद्यार्थी ने मुझ से कहा कि हमें आततायी बनना चाहिए। किंतु द्वेष प्रतिहिंसक प्रवृत्ति है......नहीं, जड़वाद, युद्धवाद और द्वेषपूर्ण राष्ट्रवाद वैमनस्य तथा भेदभाव को बढ़ाते हैं, अतएव इनके द्वारा राष्ट्र की शक्ति क्षीण होती है।"

पहला लेख है युवक और राष्ट्र। दूसरा लेख है प्राचीन दिग्दर्शन और तीसरा पुरातन मुरली। ये लेख इस योग्य हैं कि हम एकांत में बैठकर पढ़ें और विचार करें।

× × ×

आगे बढ़ो—लेखक पं० बुद्धिनाथ झा 'कैरव'। प्रकाशक श्रीआगर शर्मा, व्यवस्थापक प्रमोद पुस्तकमाला, धर्मपुर गान्धी विद्यालय, कोढ़ा जिला पूर्निया। छपाई और कागज़ साधारण। मूल्य ||)। पृष्ठ संख्या ७०। प्रकाशक से प्राप्त।

इस पुस्तक में कुछ गद्यबद्ध निबंध हैं, जिनमें प्रगतिशील विचार प्रकट किए गए हैं। लेखक का उत्साह सराहनीय है।

× × ×

सात्त्विक जीवन—लेखक, श्री रामगोपालजी मोहता। पृष्ठ-संख्या १०२। मूल्य ।=)। प्रकाशक 'चांद' कार्यालय, प्रयाग। छपाई और कागज़ अच्छा।

जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट है, इसमें 'सात्त्विक जीवन' पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। धर्मशास्त्र और स्मृतियों के श्लोक उद्धृत करके सरल और शुद्ध जीवन की उपयोगिता सिद्ध की गई है। पुस्तक अच्छी है, और संग्रह करने योग्य है।

× × ×

३. उपन्यास और कहानी

चंद हसीनों के ख़ुतूत—लेखक पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'; प्रकाशक सुलभ ग्रंथ-प्रचारक मंडल ; मिलने का पता—कलकत्ता पुस्तक भंडार, १७१, हेरिसन रोड, कलकत्ता ; मूल्य ।।।); पृष्ठ संख्या १४०; काग़ज़ बढ़िया ऐंटीक ।

'उग्र' जी मनचले, ज़िंदादिल आदमी हैं । आपके लेखों में स्फूर्तिमय जातीय-भावों की गहरी चाशनी होती है । ड्रामा और गल्प का मैदान जीतने के बाद आपने उपन्यास नायिका से आँखें लगाई हैं । हिंदी की मुग्धा उपन्यास नायिका अभी उपासकों की 'जबींसाई' से कठोर नहीं होने पाई है । दो-चार सिजदे कीजिए और वरदान माँग लीजिए । उग्रजी ने तो पहले ही सिजदे में अपना रंग जमा लिया । कहानी मौलिक है, और कहने का ढंग भी मौलिक । ७ पत्रों द्वारा सारी कथा कह दी गई है । एक वीर हिंदू युवक ने एक मुसलमान सुंदरी के प्रेम में अपने प्राणों को अर्पण कर दिया है, और जब उसकी अर्थी ज़करिया स्ट्रीट होकर निकलती है, तो प्रेमिका भी उसके साथ जाती है, और अपना समस्त जीवन प्रेम पर बलिदान कर देने का निश्चय कर लेती है । वह यह ग़ज़ल गाकर अपने संतप्त हृदय को तस्कीन देती है—

न किसी की आँखों का नूर हूँ,
  न किसी के दिल का क़रार हूँ ।
जो किसी के काम न आ सके,
  मैं व' एक मुश्ते ग़ुबार हूँ ।
न तो मैं किसी का रक़ीब हूँ,
  न तो मैं किसी का हबीब हूँ ।
जो बिगड़ गया व' नसीब हूँ,
  जो उजड़ गया व' दयार हूँ ।

ख़तों की भाषा इतनी सलीस और बोल-चाल की है, जगह-जगह हृदय के कोमल भावों का ऐसा चित्रण, कि पढ़कर दिल फड़क उठता है । एक-एक शब्द से जवानी टपकी पड़ती है—एक जवान हृदय की जवान रचना है ।

× × ×

प्राणनाथ—अनुवादक श्रीयुक्त जी० पी० श्रीवास्तव्य, बी० ए०, एल्‌एल्० बी०; प्रकाशक 'चाँद' कार्यालय, प्रयाग; मूल्य २।।।); पृष्ठ-संख्या ३३० ; सजिल्द ।

यह स्व० श्री० रमेशचंद्र दत्त के प्रसिद्ध अँगरेज़ी उपन्यास 'The Lake of Palms' का स्वतंत्र अनुवाद है । यह दूसरा संस्करण है, इससे विदित होता है कि इस पुस्तक का कुछ आदर हुआ है । आख़िर में अनुवादक महोदय का चित्र और संक्षिप्त जीवनी है ।

× × ×

बनमाला—लेखक स्व० श्री चंडी प्रसादजी 'हृदयेश', बी० ए०; प्रकाशक 'चाँद' कार्यालय प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ५४८; मूल्य ३); सुंदर जिल्द ।

दैव की लीला विचित्र है । यह संग्रह उस समय प्रकाशित हुआ है, जब लेखक महोदय संसार में नहीं हैं । श्री चंडी प्रसादजी ने अपने जीवन के अल्पकाल ही में साहित्य की जो बहुमूल्य सेवा की, वह उनके नाम को बहुत दिनों जीवित रक्खेगी । उनकी शैली बड़ी परि-मार्जित और अपने ढंग की निराली है । वह अलंकारमय, सजीली शैली के अनुयायी थे, और इस रंग को उन्होंने अपना लिया था । हिंदी साहित्य का ऐसा कौन-सा प्रेमी है, जो यह शोक-संवाद सुनकर शोक से विह्वल न हो जाय । बनमाला उनकी उन कहानियों का संग्रह है, जो पिछले दो तीन वर्षों में चाँद में प्रकाशित हुई थीं । इन कहानियों में साहित्य है, रस है, सुंदर शब्द-योजना है, ओज है, चोट करनेवाले भाव हैं । इनमें से एक कहानी पर लेखक को एक पदक भी मिला था । प्रायः सभी कहानियाँ समाज के किसी-न-किसी दूषण को लक्ष्य करके लिखी गई हैं । 'आहुति', 'बलिदान,' 'उन्मादिनी' आदि कहानियाँ बड़ी करुणोत्पादक हैं । पुस्तक की छपाई और काग़ज़ बहुत उत्तम हैं ।

× × ×

व्याकरण चंद्रिका—लेखक, रायसाहब पं० सुखदेव तिवारी, बी० ए०, रिटायर्ड इन्सपेक्टर आफ़ स्कूल्स तथा प्रिंसिपल कान्यकुब्ज इंटरमीजियट कालेज, लखनऊ; संपादक पं० रामलाल अग्निहोत्री विशारद । प्रकाशक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ; काग़ज़ और छपाई अच्छी ; पृष्ठ संख्या २५२ । मूल्य ।।≈) ; प्रकाशक से प्राप्त ।

यह पुस्तक वर्नाक्यूलर स्कूलों की पांचवीं, छठी तथा सातवीं कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है । पुस्तक चार खंडों में विभक्त है । प्रथम और द्वितीय खंड

में हिंदी व्याकरण की प्रायः सभी जानने योग्य बातों का विवेचन बहुत ही सरल और स्पष्ट भाषा में उदाहरणों के समेत किया गया है। तीसरे खंड में अँग्रेज़ी व्याकरण के अनुकरण स्वरूप Parsing और Analysis की स्थूल बातों का सोदाहरण उल्लेख हुआ है। चौथे खंड में काव्य एवं छंदोशास्त्र तथा संगीत का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। पुस्तक के लेखक का संबंध बराबर शिक्षा विभाग से रहा है, इसलिये वे विद्यार्थियों की आवश्यकताओं और कठिनाइयों से भलीभाँति परिचित हैं। इस व्याकरण के लिखने में उन्होंने अपने इस अनुभव से पूरा लाभ उठाया है और व्याकरण को विद्यार्थियों के लिये अधिक से अधिक उपयोगी बनाने का स्तुत्य और सफल प्रयत्न किया है। हमारा विश्वास है कि इस व्याकरण से विद्यार्थियों को बड़ा लाभ होगा। हम इस पुस्तक का विद्यार्थि-समाज में बहुत प्रचार चाहते हैं।

× × ×

४. कविता

दीवाने नौशाद—रचयिता राजा नौशाद अली खाँ साहब, ताल्लुकेदार मेला रायगंज; प्रकाशक नामी प्रेस लखनऊ; मूल्य नहीं लिखा।

स्व० राजा नौशाद अलीखाँ उर्दू के अच्छे कवि थे। यह उन्हींकी रचनाओं का संग्रह है। राजा मुहम्मद एजाज़ रसूलखाँ साहब बहादुर, सी० एस० आई०, ताल्लुकेदार रियासत जहाँगीराबाद ने एक मार्मिक भूमिका लिखी है, जिसमें कविता के उद्भव और विकास की व्याख्या की गई है। आपने बहुत ठीक कहा है—

नस्र का एक सीधा-सादा फ़िक़रा नज़्म के क़ालिब में ढल कर कभी जादू हो जाता है, कभी एजाज़। जैसे जुदाई की सारी रात गुज़र गई और तुम न आए, ख़ैर सहर तो हो ही गई। इसी बात को नज़्म के लिबास में देखो—

रह गई बात कट गई शबेहिज्र, तुम न आए तो क्या सहर न हुई!

दीवान आदि से अंत तक लखनऊ के शृंगारमय रंग में डूबा हुआ है। शैली मँजी हुई है, और ज़ुबान बहुत साफ़। दर्द का रंग बहुत कम है, जो कविता का प्राण है। कहीं कहीं अच्छे शेर मिल जाते हैं। देखिए—

क़फ़स को बाग़ में सय्याद काश रख देता,
फड़क फड़क के हम अपने चमन में मर जाते।

× × ×

दिल की हसरतें हो गई हैं सामने आने के बाद,
जान जाएगी हमारी आपके जाने के बाद।

× × ×

मुबारकबाद देते हैं असीराने क़फ़स रोकर,
नज़र आता है जब सूए चमन कुछ कुछ धुआँ मुझको।

× × ×

नवीन पद्य संग्रह—संग्रहकर्ता पं० भगवतीप्रसाद वाजपेयी; प्रकाशक हिंदी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग; कागज़ और छपाई उत्कृष्ट; मूल्य ॥=); प्रकाशक से प्राप्त।

बड़ौदा-नरेश महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने हिंदी साहित्य सम्मेलन को पाँच सहस्र रुपये इसलिये दिए हैं कि, उससे वह पुस्तक प्रकाशन का काम करे। तदनुसार साहित्य-सम्मेलन की ओर से 'सुलभ साहित्य-माला' के प्रकाशन का काम हो रहा है। समालोच्य पुस्तक उक्त माला की १२वीं संख्या है। इस संग्रह में जीवित और मृत भिन्न-भिन्न कवियों की ८३ कविताओं का संग्रह है। प्रारंभ में ३३ पृष्ठों में कवि परिचय भी दिया गया है, इसमें उन कवियों का हाल है जिनके पद्य संग्रह में आए हैं। संग्रह अच्छा है। संग्रहकर्ता ने संकलनकार्य योग्यता के साथ किया है। शायद दो चार प्रसिद्ध कवियों के नाम छूट गए हैं, और इसी प्रकार से कुछ अप्रसिद्ध कवियों के नाम आगए हैं।

× × ×

उषा—लेखक साहित्य-शास्त्री पं० श्यामाकांत पाठक; प्रकाशक मध्यप्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन; पृष्ठ-संख्या १६; प्रकाशक से प्राप्त; पुस्तक पर मूल्य नहीं लिखा है।

इस छोटी सी पुस्तक में २१६ पंक्तियों में उषा पर पद्य-बद्ध रचना की गई है। इसकी अधिकांश पंक्तियों में कविता का परिपाक साधारण श्रेणी का हुआ है। कुछ पंक्तियाँ अच्छी भी हैं।

× × ×

५. स्वास्थ्य और शरीर-रक्षा

विद्यार्थियों का सच्चा मित्र—मूल लेखक 'महाकाल'-संपादक स्व० छोटालाल जीवनलाल शाह; अनुवादक पं० रामेश्वरप्रसाद पांडेय; संपादक श्री नाथूराम प्रेमी;

प्रकाशक हिंदी ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, बंबई ; छपाई और कागज़ उत्कृष्ट ; मूल्य ॥।≈)।

इस पुस्तक का दूसरा नाम 'सरल आरोग्य शिक्षा' है। मूल पुस्तक गुजराती में है। उक्त भाषा में इस पुस्तक के कई संस्करण निकल चुके हैं, और वह बड़ी लोकप्रिय प्रमाणित हुई है। हिंदी में भी यह लोकप्रिय होगी, ऐसी आशा है। पुस्तक उपयोगी और संग्रह करने योग्य है। अनुवाद सुंदर हुआ है। पुस्तक अनेक ज्ञातव्य बातों से भरी है।

× × ×

ब्रह्मचर्य-साधन—लेखक श्री निगमानंदजी ; पृष्ठ-संख्या ६४ ; कागज़ और छपाई साधारण ; मूल्य ।।); प्रकाशक श्रीमत् स्वामी शुद्धानंद दक्षिण बंगाल सारस्वतमठ, हालिसहर, २४ परगना ; प्रकाशक से प्राप्त।

यह पुस्तक सारस्वत ग्रंथावली की प्रथम संख्या है। पुस्तक में जिस विषय का प्रतिपादन है, वह उसके नाम से ही प्रकट है। ब्रह्मचर्य साधन विषय पर बहुत सी पुस्तकें निकल चुकी हैं। इनमें से कुछ पुस्तकें अच्छी भी हैं। समालोच्य पुस्तक में भी ब्रह्मचर्य विषय का प्रतिपादन अच्छे ढँग से किया गया है।

---

१. साहित्य के उद्देश्य

साहित्य का उद्देश्य क्या है, यह आप लोग भलीभाँति जानते हैं। जिस तरह भोजन के लिये स्वाद इतना आवश्यक नहीं जितनी उसकी पोषण-शक्ति, उसी भाँति साहित्य के लिये केवल मनोरंजकता और शृंगार ही वांछनीय नहीं हैं। भोजन का स्वादयुक्त होना इसीलिये आवश्यक है कि. वह खाया जा सके। उसी भाँति साहित्य में शृंगार का भी स्थान है। जिस तरह केवल चरपरी चटनी चाटकर हम जीवित नहीं रह सकते, उसी तरह केवल शृंगार और मनोरंजन से हमारी आत्मा का पोषण नहीं हो सकता। हमारा प्राचीन भाषा साहित्य दो चार अपवादों को छोड़ कर आदि से अंत तक शृंगार में डूबा हुआ है। कृष्ण और राधा को घसीट लाने से शृंगार का दूषण नहीं मिट सकता। इससे बढ़कर आपत्तिजनक और क्या हो सकता है कि आप अपनी सारी विलास-वृत्तियों को कृष्ण जैसे योगी के जीवन में घटित कर दें। उत्तम साहित्य की एक ही परख है— क्या वह आपके विचारों को फैलाता है? ऊँच-नीच की दुर्भावनाओं को आपके चित्त से मिटाता है? मानवी-चरित्र के रहस्यों को खोलता है? आपको जीवन-संग्राम में वीरों की भाँति कठिनाइयों का सामना करना सिखाता है? अगर हमारा साहित्य इन उद्देश्यों को पूरा नहीं करता, तो वह हेय है, घृणित है, और त्याज्य है। प्रेमी ने प्रेमिका को किस तरह कनखियों से देखा और प्रेमिका ने किस तरह लजाकर मुँह फेर लिया और घर में भाग गई—ऐसे भावों के विस्तार से किसी का भी कल्याण नहीं हो सकता। नायिका के सौंदर्य की व्याख्या करने में ज़मीन और आसमान के कुलावे मिलाना और असंभव उपमाओं की सृष्टि में अपनी संपूर्ण कवित्व-शक्ति को लगा देना वाणी का दुरुपयोग करना है। मगर, ख़ैर, वह विलास का युग था। या तो कविजनों और उनके आश्रयदाताओं को देश-काल की चिंता नहीं सताती थी, या देश में वे समस्याएँ नहीं उपस्थित हुई थीं, जो ऐसे साहित्य की वृद्धि में बाधक होतीं। किंतु इस युग में हमारा उसी लकीर को पीटते जाना अक्षम्य है। राष्ट्रभाषा-निर्माण की धुन में हम आज भी समस्यापूर्ति करने में मस्त हैं। हाँ, इधर दो एक साल से एक नए पद्य-साहित्य का आविर्भाव हो रहा है, जिसके लक्षणों से प्रतीत होता है कि, वह निकट भविष्य में—यदि प्रथम चुंबन और प्रथम मिलन ने उसे अपनी ओर न खींच लिया तो—एक बड़ी भारी कमी को पूरा कर देगा और राष्ट्र में एक नई स्फूर्ति का संचार करेगा।

यों तो साहित्य का क्षेत्र बहुत ही विस्तीर्ण है।

इतिहास और भूगोल का तो कहना ही क्या, वनस्पति-विज्ञान भी एक विशेष शैली से लिखा जाय, तो वह साहित्य का अंग बन सकता है, परंतु साधारणतः साहित्य उसी रचना को कहते हैं, जो हमारे मनोभावों और चरित्र का चित्रण करे। हम यहाँ साहित्य की परिभाषा नहीं कर रहे हैं, केवल स्थूल रूप से उसकी व्याख्या कर रहे हैं। अतएव नीति-निबंध, नाटक, काव्य और उपन्यास यही चार उसके मुख्य अंग हैं। आलोचना भी साहित्य का एक नवीन अंग है। इन चारों मार्गों का लक्ष्य एक ही है। केवल अभिरुचि और क्षमता ही निर्णय कर सकती है कि, हमें किस मार्ग का अवलंबन करना है। इनमें से कोई भी उपेक्षणीय नहीं। अगर आपको बेकन, कारलाइल और एमर्सन के निबंधों में आनंद आता है, तो शौक़ से पढ़िए, किंतु उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से न देखिए जो कालिदास या भवभूति के नाटकों तथा ह्यगो या हारडी के उपन्यासों में आनंद पाते हैं। हिंदी साहित्य में अभीतक निबंध का मैदान ख़ाली है, किंतु गंदे नाटक और तीसरे दरजे के उपन्यास इतनी कसरत से लिखे गए कि, कितने ही विचारशील सज्जन उनका नाम सुनकर कानों पर हाथ रखते हैं। यह पाठकों का दोष नहीं, उपन्यासकारों का दोष है, जिन्होंने जन-रुचि के प्रवाह में अपने आपको डाल दिया, और उसकी कुरुचियों को प्रसन्न करके टके सीधे करना ही अपना ध्येय समझ लिया। लेखक को कभी यह न भूलना चाहिए कि वह जनता का पथगामी नहीं, बल्कि पथदर्शक है। वह हँसाता है, मनोरंजन करता है, चुटकियाँ लेता है, पर ये उसके लिये गौण बातें हैं; उसका मुख्य उद्देश्य और ही कुछ है। अगर वह केवल मनोरंजन या जनता को प्रसन्न करने के लिये लिखता है, तो वह उन भाटों में गिने जाने के योग्य है, जिनका काम ही अपने स्वामी को प्रसन्न करना है। हम यह नहीं कहते कि लिखते समय आप इतने गंभीर हो जाँय, मानो कोई संत ज्ञानोपदेश कर रहा हो। नहीं, आपकी लेखनी का सहास होना आवश्यक है, गंभीर से गंभीर विषय में भी विनोद की हलकी सी चाशनी होनी चाहिए; यह आपकी मानसिक-स्वच्छंदता का प्रमाण है। हमारा तात्पर्य यह है कि हमें साहित्य के आदर्शों को कभी न भूलना चाहिए। हँसी में भी तो बहुत सी काम की बातें लिखी जा सकती हैं। अँग्रेज़ी में अडीसन और स्टील के निबंध हास्य और गंभीरता के सम्मिश्रण के बहुत उपयुक्त उदाहरण हैं। मगर, जो कुछ लिखिए, देश और काल का विचार करके, कोई उद्देश्य सामने रखकर, लिखिए। इस विषय को हम ज़रा और स्पष्ट कर देना चाहते हैं। आलोचकों का कथन है कि किसी उद्देश्य से रचा हुआ साहित्य उच्च कोटि का नहीं हो सकता। उच्च कोटि का साहित्य वही है जो "आर्ट फ़ार आर्ट्स सेक" लिखा गया हो। किंतु बिना किसी उद्देश्य के कोई चीज़ लिखी ही नहीं जा सकती। घर से निकल कर कहाँ जाना है, इसका निश्चय किए बिना हम एक क़दम भी आगे नहीं बढ़ा सकते। उद्देश्यरहित तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। देखना यह है कि उद्देश्य किस प्रकार का हो। कला की दृष्टि से उत्तम उद्देश्य तो वही है, जो 'शिव, सत्य और सुंदर' का आदर्श अपने सामने रक्खे। उद्देश्य हो, पर सार्वभौमिक हो, हृदय के मौलिक भावों और आवेगों को प्रदर्शित करनेवाला। रचना का विषय मनुष्य हो, कोई संस्था या सिद्धांत नहीं। सत्य और असत्य का संग्राम और अंत में सत्य की विजय, ईश्वरीय विधान और मानवी अभिलाषाओं का परस्पर द्वंद्व और अंत में ईश्वरीय विधान की जीत—ये सदैव से हमारे साहित्य के विषय रहे हैं, और रहेंगे। दुष्यंत और शकुंतला की कथा किसी काल में भी नई रहेगी, वह पुरानी हो ही नहीं सकती। वह सार्वभौमिक है। कवि ने इस आदर्श को छोड़ा और दलदल में फँसा। किंतु पिछले १०० वर्षों का योरपियन साहित्य उठा लीजिए, तो आप को मालूम होगा कि वह प्रचार प्रधान है, किसी मत विशेष का संपादन करने के इरादे से लिखा गया है। इस शताब्दी में हमारे सामाजिक और धार्मिक विचारों में इतना उलट फेर हुआ है, कि कवि के लिये उससे प्रभावित न होना असंभव था। कवि-चेतना साधारण मनुष्यों से कुछ अधिक तीव्र होती है। वह सामाजिक अनाचार और अनीति का सहन नहीं कर सकती। जिन बुराइयों को देखकर और लोग मीठी नींद सोते हैं, उन्हीं बुराइयों को दूर करने के लिये उसकी आत्मा तड़प उठती है। घर में आग लग जाने पर सभी उसे बुझाने दौड़ते हैं, कोई लोटा लेकर, कोई घड़ा लेकर, कोई फ़ायर ब्रिगेड लेकर। कवि भी अपनी लेखनी लेकर चारों ओर दहकती

हुई सामाजिक-अनीति की अग्नि को शांत करने के लिए उठ खड़ा होता है। लेकिन पाठक किसी कवि के मुँह से उपदेश नहीं सुनना चाहता। किसी साधु-महात्मा, अथवा किसी उपदेशक का व्याख्यान वह बड़े हर्ष से सुनता है, लेकिन उस उपदेश या व्याख्यान को वह कला के काँटे पर नहीं तौलता। हम पैम्फलिट लिखें, लाखों की संख्या में ट्रैक्टों का वितरण करें, किसी को आपत्ति नहीं होती। लेकिन ज्यों ही कवि प्रचारार्थ लेखनी उठाता है, त्यों ही पाठक कनौतियाँ खड़ी कर लेता है, जैसे सड़क के किनारे की झाड़ी को हिलते देखकर घोड़ा चौंक उठे। झाड़ी हिली क्यों? इसमें कोई शिकारी जानवर तो घात लगाए नहीं बैठा है? झाड़ी में छिपी हुई लोमड़ी या गिलहरी को प्रत्यक्ष देखकर ज़रा वह भी परवा न करता। कुछ यही भाव पाठक के हृदय में भी जागृत हो जाता है। अरे! यह महाशय भी उपदेश करने बैठ गए! उपदेशक जो बात कहता है, स्पष्ट कहता है। कवि अथवा उपन्यासकार उसी मत का सम्पादन करता है, पर छल करके। हम थियेटर में टिकट के दाम देकर तमाशा देखने जाते हैं। उपदेश सुनानेवाले तो हमें मुफ़्त ही में सुना देते। ट्रैक्ट तो हमें मुफ़्त ही में मिल सकते थे। हमने जो यह १) ख़र्च किया तो क्यों? इसीलिये न कि यहाँ हमें विनोद का आनंद मिलेगा। और यहाँ मिला क्या? उपदेश। हम तुरंत किताब को ज़मीन पर पटक देते हैं, और फिर उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देखते। कवि का कौशल यही है कि वह अपने उद्देश्य को अंत तक गुप्त रक्खे। जो लेखक इस छल-विद्या में निपुण होता है, वह ख्याति और कीर्ति पाता है। जो तमाशे को ढका नहीं रख सकता, वह अयोग्य समझ लिया जाता है।

पर, जैसा हम ऊपर कह आए हैं, गत शताब्दी के साहित्य को देखिये, तो उसमें आप प्रायः किसी-न-किसी मत का संपादन ही पावेंगे। फ्रेंच महाक्रांति ने न्याय और समता के आदर्श को पुनर्जीवन देकर साहित्य में भी क्रांति पैदा कर दी। विक्टर ह्यूगो संसार का सबसे कुशल उपन्यासकार माना जाता है, और यथार्थ भी यही है। ला मिज़रेब्ल् उसकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। उसमें एक सामाजिक अन्याय का परदा खोला गया है। फ्रांस में उस ज़माने में क़ैदियों के साथ बड़ा बुरा सलूक किया जाता था। एक बार जेलख़ाने से लौटने के बाद पुलीस उस आदमी को चैन नहीं लेने देती थी। समाज में भी उसका बहिष्कार किया जाता था। वह हलाल की कमाई से अपने जीवन का निर्वाह करने में असमर्थ कर दिया जाता था। ला मिज़रेब्ल् का हीरो ऐसा ही एक क़ैदी है। वह बार-बार चेष्टा करता है कि मेहनत मजूरी करके अपनी ज़िंदगी के दिन पूरे करे, पर समाज तथा पुलीस उसे चैन नहीं लेने देते। यहाँ तक कि जिस अनाथ लड़की को उसने पाला-पोसा, वह भी, एक उच्च कुल की वधू बनकर, उस बेचारे की उपेक्षा करती है, और अंत में इसी शोक से वह मरजाता है। उस पुस्तक का अंतिम दृश्य पढ़कर कौन ऐसा मनुष्य है, जिसकी आँखों से आँसू न निकल पड़ें। डिकिंस इंगलैंड का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास-लेखक है। उसके सभी उपन्यास किसी-न-किसी सामाजिक अन्याय की जड़ खोदने के लिये लिखे गए हैं। बर्नर्ड शा, ब्रियो, इबसेन आदि यूरोप के प्रधान नाट्यकार हैं। उनकी समस्त रचनाएँ सामाजिक अन्याय ही का भंडाफोड़ करने के लिये लिखी गई हैं। वेल्स, चेस्टर्टन, रोमे रोलाँ ने भी अधिकांश अपने विचारों का प्रचार करने के लिये ही लिखा है। रूसी समकालीन साहित्य का स्थान बहुत ऊँचा है। टुर्जेनीफ़, गोर्की, टाल्सटाय आदि उसके उज्ज्वल तारे हैं। उनकी रचनाओं में उन सभी विचारों का संपादन किया गया है, जिन्होंने कई बार विफल होने के बाद अंत में रूस की राज्यक्रांति का रूप धारण किया। यह सत्य है कि विचार-प्रधान रचनाओं को स्थायित्व नहीं प्राप्त होता। जिस अत्याचार का मूलोच्छेद करने को वे रची जाती हैं, उसके दूर होजाने के बाद फिर उनका केवल इतिहासिक महत्त्व शेष रह जाता है। पर, कुशल रचयिता अस्थायी को भी स्थायी बना सकता है। फ्रांस में अब क़ैदियों की वह दशा नहीं रही, इंगलैंड में अनाथालयों की दशा अब वह नहीं रही, लेकिन ला मिज़रेब्ल् और ओलिवर ट्विस्ट आज भी लोग उसी रुचि से पढ़ते हैं। अतएव हमें ऐसे काव्य, नाटक, निबंध और उपन्यास लिखने चाहिए, जो जनता में जीवन डाल सकें, उनकी न्याय-बुद्धि को जगा सकें, उनके दिलों से ऊँच-नीच के भेदभाव को मिटा सकें। मगर शर्त यही है कि साहित्यिक गुणों की रक्षा करते हुए हम अपनी रचनाओं में इन विचारों का समावेश कर सकें। यदि हम ऐसा करने में असमर्थ हों, तो हमारा साहित्य-क्षेत्र से दूर रहना ही अच्छा।

लेकिन दुर्भाग्य से हिंदी-साहित्य-सेवियों में अधिकांश ऐसे ही सज्जन हैं, जिनसे राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि की आशा रखना उनके साथ अन्याय करना है। वे अधिक-से-अधिक बंगला या मराठी साहित्य से अनुवाद कर सकते हैं। इससे अधिक उनकी गति नहीं। आश्चर्य तो यही है कि अन्य प्रांतों में क्यों उच्च-शिक्षा-प्राप्त सज्जन साहित्य की ओर झुकते हैं, और हिंदी में क्यों इस क्षेत्र में कोई पदार्पण नहीं करता। बंगाल में इस समय कम-से-कम आधे दरजन अच्छे उपन्यास लिखने वाले हैं। हिंदी में एक भी नहीं! क्यों? क्या ब्रह्मावर्त की भूमि, जिसने आदि से भारत का पथ-प्रदर्शन किया है, आज इतनी दुर्बल होगई है! हमारी समझ में तो इसका यही कारण मालूम होता है कि इस प्रांत के निवासी विवाह के बंधन में बहुत जल्द पड़ जाते हैं, और गृहस्थी की चिंता उन्हें इतनी ध्वस्त कर लेती है कि उनकी सारी रसमयी वृत्तियों का सर्वनाश होजाता है। बंगालियों में बाल-विवाह का रिवाज शिक्षित-समुदाय में बहुत कम होगया है। इसका फल यह है कि बंगाली युवकों की जितनी संख्या इस प्रांत में भी post-graduate क्लासों में नज़र आती है, उतनी इस सूबे के निवासियों की नहीं होती। यहाँ वालों को तो किसी तरह बी० ए० पास करके वकालत पढ़ने या और कोई धंधा देखने की जल्दी पड़ी रहती है। यही कारण है कि हमारे युवक पत्रों में बहुत कम लिखते हैं। आर्थिक-बाधाएँ उनकी साहित्य-चेतना को उभरने नहीं देतीं। साहित्य की खेती बंजर की खेती है। हमारे साहित्य-सेवियों में बहुत कम ऐसे हैं, जो केवल साहित्य-रचना से अपना निर्वाह कर रहे हों; और जो दो-चार हैं भी, उनका यह हाल है कि सारा दिन और कम-से-कम आधी रात कुछ-न-कुछ लिखने की फ़िक्र में कटती है। उनसे जो कुछ कहिए, वह लिखने को तैयार हैं। कहिए, कोई कोष संग्रह कर दें, बच्चों की कोई किताब ले बैठें, विज्ञान पर क़लम दौड़ावें, अर्थ-शास्त्र पर हाथ साफ़ करें। वे किसी चीज़ पर बंद नहीं। थोड़े दिनों में उनकी मौलिक प्रवृत्तियों का ह्रास होजाता है, और वे नोच खसोट के सिवा और किसी काम के नहीं रह जाते। मगर इस विषय में जनता का दायित्व कुछ कम नहीं है। प्रकाशक तो व्यवसायी जीव है, उसे जहाँ चार पैसे मिलने की आशा होगी, उधर लपकेगा। उससे यह आशा रखना कि वह लेखकों के सम्मानार्थ स्वयं त्याग करे, उस पर जुल्म करना है। हमारे लेखक बहुधा प्रकाशकों को कोसते देखे गए हैं, पर, हमने आज तक किसी प्रकाशक को नए साहित्य का प्रकाशन करके फूलते-फलते नहीं देखा। आपके यहाँ प्रकाशकों की संख्या ही ऐसी कौन ज़्यादा है, और जो हैं भी, वे स्कूली पुस्तकें, धार्मिक ग्रंथ, कजली-फाग-चौताल, क़िस्सा सियाहीज़ादा या तोता मैना की कहानी छापना अपना मुख्य और साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित करना गौण व्यवसाय समझते हैं। अगर नवीन साहित्य से उन्हें काफ़ी फ़ायदा होता, तो वे इधर-उधर क्यों लपकते। हम प्रकाशकों को इस विषय में क्षम्य ही नहीं, निर्दोष समझते हैं। दो-चार प्रकाशकों को तो हम जानते हैं, जो केवल साहित्य-सेवा के भाव से इस क्षेत्र में पड़े हुए हैं। उन्हें अगर अपने मूलधन का ब्याज भी मिलता जाय, तो वे संतुष्ट रहेंगे। लेकिन यहाँ बहुधा इसकी गुंजाइश भी नहीं। हम तो प्रकाशकों की अपेक्षा पठित-समाज को ही अधिक दोषी पाते हैं। हमारे यहाँ पुस्तक मोल लेना पाप समझा जाता है। हमारी आमदनी एक हज़ार रुपए महीने की क्यों न हो, हम मोटरों पर हवा खाने क्यों न निकलते हों, साल में ६ महीने पहाड़ों की सैर करते हों, फिर भी हमें एक या दो रुपए की पुस्तक मांगकर पढ़ने में संकोच नहीं होता। अगर हिंदी के कुछ रसिक ब्रह्मा, सियाम, अफ़्रीका आदि सुदूर प्रांतों में न होते, जहाँ माँगे की किताबें नहीं मिल सकतीं, तो, शायद, हिंदी के प्रकाशकों का कभी दिवाला निकल गया होता। यहाँ तो शहर में एक प्रति का आ जाना काफ़ी है। वह पुस्तक सारे शहर का चक्कर लगाती है, और अंत में उसके बिखरे हुए पन्ने अपनी जीवन-कथा सुनाने के लिये स्वामी के पास आते हैं। बहुधा तो उसका पता ही नहीं चलता। घूमते-घामते पुस्तक ऐसे हाथों में पहुँच जाती है, जहाँ से उसे फिर लौटना नसीब नहीं होता। किंतु यह उदासीनता अन्य भाषाओं की पुस्तकों के साथ भी की जाती तो तस्कीन होती कि इस गाँव की प्रथा यही है। नहीं, वही महाशय जो एक या दो रुपए की हिंदी पुस्तक नहीं ख़रीद सकते, दैनिक पायोनियर मँगाते हैं और ४८) उसकी नज़र करते हैं। उनके पुस्तकालय में आपको हिंदी का एक पन्ना भी न मिलेगा, पर अँगरेज़ी की चुनी हुई पुस्तकें, रूसी उपन्यास, फ्रेंच भाषा

से अनुवादित दस पाँच पुस्तकें अवश्य मिलेंगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि पठित-समाज भी उतना बड़ा अपराधी नहीं है, जितना हमने पहले समझा था। यहाँ स्वदेशी और विदेशी का प्रश्न फिर खड़ा होता है। मगर हम जैसे स्वदेशी के कट्टर पक्षपाती भी साहित्य और विज्ञान के विषय में किसी प्रकार का बंधन डालने की सलाह नहीं दे सकते। उच्च साहित्य सार्वभौमिक होता है, उसे स्वदेशी और विदेशी से कोई प्रयोजन नहीं। तो, जब हमें १) या २) में रूसी और फ्रेंच कल-कंठियों का मधुर गान सुनने को मिलता है, तो हम क्यों हिंदी कौए की कानफोड़ काँव काँव सुनें। बिलकुल सत्य है। साहित्यिक आत्मा, अगर मर नहीं गई है, तो उसे भी भूख और प्यास लगना स्वाभाविक ही है। उसे जहाँ अच्छी से अच्छी खाद्य-सामग्री मिलेगी, उधर जायगी। अगर उसी जोड़ की पुस्तकें—उतनी ही पोषक खाद्य-सामग्री—हिंदी में मिल सकें, तो शायद, हमें दूसरी दूकान पर जाने की ज़रूरत न पड़े। पर हमारी समझ में अँगरेज़ी पुस्तकों का संग्रह साहित्यिक-क्षुधा की तृप्ति के लिये नहीं, केवल अपनी रसिकता का प्रदर्शन करने के लिये किया जाता है। जब हमारे मिलने-जुलने वाले अधिकांश अँगरेज़ीदाँ हैं हम उसी समाज में घुले-मिले हुए हैं, तो हमारे लिये वही भोजन, वही परिधान और वही साहित्य-चर्चा अनिवार्य हो जाती है। अँगरेज़ धनी हैं, व्यवसाय-कुशल हैं, शक्तिशाली हैं, समस्त भूमंडल उनका क्रीड़ा-क्षेत्र बना हुआ है, वे लाखों के संस्करण निकालते हैं और लाखों विज्ञापन पर खर्च करते हैं। अगर अन्य बाज़ारों की भाँति साहित्य का बाज़ार भी उनके हाथ में है, तो कोई आश्चर्य नहीं। हम उतना बहुमूल्य कागज़, उतनी सुंदर छपाई, उतने सुंदर चित्र, उतनी सुंदर जिल्द कहाँ से लावें। हमारे पास तो आकर्षण का एक ही साधन है, और वह है रचना-कौशल। पर विचारोत्कर्ष के बिना रचना-कौशल नहीं हो सकता, और गहरे अध्ययन तथा वृहद् पर्यटन के बिना विचारोत्कर्ष संभव नहीं। अतएव जब तक साहित्य के मैदान में चोटी के लोग नहीं आते, साहित्य की दशा में सुधार होना मुश्किल है। अभी तो अधिकांश वही लोग हैं, जो कुछ बँगला, थोड़ी सी संस्कृत और बरायनाम अँगरेज़ी जानते हैं। वे बेचारे जो कुछ कर रहे हैं, वही बहुत है। आप उनसे अनुवादों के सिवा और आशा ही क्या कर सकते हैं—और वह भी बँगला से। इसमें संदेह नहीं कि बँगला साहित्य में बहुत कुछ ग्रहण करने योग्य है। बंकिम चंद्र, डी० एल० राय, रवींद्रनाथ ठाकुर, शरच्चंद्र, निरुपमा, मधुसूदन दत्त, आदि ऐसे नाम हैं, जो किसी भाषा को भी गौरवान्वित कर सकते हैं। किंतु बँगला साहित्य को स्वयं बंगाली आलोचकों ने Effeminate कहा है। एक चंचल विधवा, एक सुशीला सधवा और एक भावुक युवक, जो अंतःकरण से पत्नी का भक्त है, पर विधवा की घातों का शिकार हो जाता है—बस, थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यही अधिकांश बँगला उपन्यासों का आधार है। ऐसे उपन्यास आकर्षक होते हैं, मन को ऐसा खींचते हैं कि पाठक खाना-पीना भूल जाता है। पर, क्या वे पाठक के हृदय में उन भावों को भी जगाते हैं, जो राष्ट्र का निर्माण करते हैं? सारा उपन्यास इसी ईर्षा और द्वन्द्व में समाप्त हो जाता है। चरित्रों को घर से बाहर के संसार में निकलने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। घर का प्रेम हम में यों ही क्या कम है, कि उसे और भी दृढ़ किया जाय। हमें ऐसे साहित्य की ज़रूरत है, जो हमें साहसीक, कठिनाइयों की परवा न करने वाला, chivalrous बनाए, जो हमें सत्य और न्याय की रक्षा के लिये प्राण देना सिखाए। जो हमारे हृदयों को प्रेम के प्रकाश से आलोकित करदे।

× × ×

२. इँगलैंड में बालकों की स्वास्थ्य-रक्षा

इँगलैंड में खेल के जितने मैदान हैं, उतने शायद किसी योरपीय देश में न होंगे। उसकी व्यायाम-प्रियता संसार-प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि, इँगलैंड में एक अच्छे क्रिकेट के खिलाड़ी का जो सम्मान होता है, वह किसी बड़े-से-बड़े विद्वान का भी नहीं हो सकता। देश में खेल के मैदानों का विधान परमावश्यक है। अतएव इतने मैदानों के रहते हुए भी इँगलैंड में ऐसे मैदानों की संख्या बढ़ाने के लिये बड़े-बड़े प्रयत्न किए जा रहे हैं। नेताओं की ओर से इस कार्य के लिये धन की अपील प्रकाशित की गई है, और खब धन संग्रह किया जा रहा है। बादशाह तक इस आंदोलन में दिलचस्पी ले रहे हैं। भारतवर्ष में मैदानों की संख्या इतनी कम है कि बिरले ही ऐसे स्कूल हैं, जिनके पास अपना कोई

मैदान हो। शहर के स्कूलों में तो अकसर मैदान मिलते हैं, पर क़स्बाती और देहाती स्कूलों में तो मैदानों का होना एक असाधारण घटना है, और साधारण जनता के लिये तो खेल के मैदानों की ज़रूरत ही नहीं समझी जाती। एक-एक बँगले के लिये सैकड़ों एकड़ भूमि ले ली जाती है। फाटक पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिख दिया जाता है—अंदर आनेवालों को दंड दिया जायगा। हमारे बोर्डों को इस विषय में हस्तक्षेप करने का साहस नहीं होता। धनिक-समाज को अथवा साहब बहादुरों को वे कैसे नाराज़ कर सकते हैं? ज़मींदारों को भी अपने हलवे माँडे से मतलब है। बालकों को ताज़ी हवा सांस लेने को भी न मिले, युवकों को हाथ-पाँव फैलाने को उँगल भर भूमि मयस्सर न हो, पर धन और पृथ्वी के उपासकों को इसकी क्या परवा! इँगलैंड को संसार पर राज्य करना है। वहाँ के बालकों को हृष्ट-पुष्ट होना आवश्यक है, अन्यथा इँगलैंड के संसार-व्यापी साम्राज्य की रक्षा कौन करेगा। भारत को तो ग़ुलामी करनी है, और ऐसी जाति जितनी दुर्बल और साहसहीन हो, उतनी ही आसानी से उस पर शासन किया जा सकता है।

× × ×

३. एकाधिपत्य का पुनर्संस्कार

संसार के राजनैतिक-क्षेत्र में इस समय दो परस्पर विरुद्ध भावों की धाराएँ बहती हुई देख पड़ती हैं। एक ओर अगर ट्राट्स्की और चिचरिन हैं, तो दूसरी ओर मसोलिनी और कमाल हैं: एक जन-सत्ता का प्रचंड भक्त, दूसरा एकाधिकार का अनन्य उपासक। बालशेविक कहता है—हम धनपतियों का निशान मिटा देंगे, साम्राज्यवाद की जड़ खोदकर फेंक देंगे, व्यवसायवाद, युद्धवाद और पूँजीवाद को ख़ाक में मिला देंगे। फ़ैसिस्ट कहता है—जनसत्ता पाखंड है, तमाशा है, मानव-समाज की अधोगति है। राज्य करना हर 'ऐरे-ग़ैरे नत्थू-ख़ैरे' का काम नहीं। राज्य-बुद्धि लाख-दो-लाख में एक को मिलती है। किस दल से संसार का कल्याण होगा, यह तो भविष्य ही निश्चय कर सकेगा; पर, परिस्थितियों से कुछ ऐसा अनुमान होता है कि जनसत्तात्मक आदर्श का अब संसार में वह सम्मान नहीं रहा, जो २५ वर्ष पहले था। इँगलैंड का ट्रेड यूनियन बिल इसका प्रमाण है। फ़्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि सभी राष्ट्रों में जनतावाद के विरुद्ध एक हल-चल मच गई है। जबतक उसका वास्तविक रूप अज्ञेय था, संसार ने केवल उसका दार्शनिक रूप देखा था, उसका जादू सभी पर चलता हुआ मालूम होता था। साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का बल दिन-दिन घटता जाता था, यहाँ तक कि इँगलैंड जैसे पूँजी-प्रधान देश में भी एक बार श्रमिकों का राज्य हो ही गया। आशा यह थी कि योरपीय महा-समर साम्राज्यवाद का अंत कर देगा। किंतु बालशेविकों की विजय ने सारा नक़्शा पलट दिया। अब श्रमिक दल का बल घटाने के लिये समस्त संसार के धन, भूमि और अधिकार की शक्तियाँ आपस में संगठित होती जा रही हैं। पर हमारा विश्वास तो यह है कि, संसार संसार-व्यापक भ्रातृत्व की ओर जाकर ही दम लेगा, चाहे बीच की अगणित रुकावटों के कारण उसकी उन्नति में कितना ही विलंब क्यों न हो जाय। अगर मोक्ष आत्मा का अंतिम लक्ष्य है, तो universal brotherhood सभ्यता का अंतिम फल है। मसोलिनी, कमाल, रज़ा एकाधिकार के विजय के स्तंभ नहीं, वरन् उसकी अंतिम सांसें हैं।

× × ×

४. ट्रेड यूनियन बिल

गत वर्ष इंगलैंड में कोयले की हड़ताल से जो भीषण समस्या उपस्थित हो गई थी, उसका सदैव के लिये अंत कर देने के निमित्त वहाँ की वर्तमान महाजन सरकार ने एक ऐसा क़ानून बनाने की ठान ली है, जो ऐसी हड़तालों को असंभव कर दे। पूंजीपतियों और श्रमिकों का झगड़ा इस वक़्त समस्त संसार में हलचल मचाए हुए है, पर इंगलैंड के पूंजीपति जितनी निर्दयता से मजूरों को कुचल देना चाहते हैं, उसकी उपमा और कहीं नहीं मिल सकती। गत एक शताब्दी में श्रमिकों ने जो जो करके जो स्वत्व प्राप्त किए थे, वे सब एक क़ानून बनाकर छीने जा रहे हैं। इंगलैंड में पूंजीपतियों का प्राधान्य है। इंगलैंड की सारी विभूति उसके व्यवसाय पर अवलंबित है। पूंजीपति ही साम्राज्यवाद के पोषक और सैनिकता के उपासक हैं। पूंजीपतियों को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाकर इंगलैंड की वर्तमान सरकार एक दिन भी नहीं रह सकती। पूंजीपतियों को प्रसन्न करने के लिये इंगलैंड ने बालशेविकों से व्यापारिक संबंध विच्छेद किया है, और उन्हींको प्रसन्न करने के लिये उसने यह क़ानून

पेश किया है। इस बिल में ८ धारायें हैं, और उनमें से हरेक मजूरदल के लिये वज्राघात के समान है। पहली धारा के अनुसार ऐसी सारी हड़तालें दंडनीय होजाती हैं, जिनमें मजूरों का अपने मालिकों से कोई विरोध न हो। इस धारा ने सार्वदेशिक हड़ताल के लिये रास्ता बंद कर दिया। तीसरी धारा धरना या सत्याग्रह को क़ानून के विरुद्ध ठहराती है। चौथी धारा के अनुसार मजूर संघों को अपने कोप का कोई भाग राजनैतिक आंदोलन के लिये ख़र्च करना जुर्म है। पाँचवीं धारा के अनुसार किसी सरकारी कर्मचारी का मजूर संघों में सम्मिलित होना अपराध है। इन धाराओं से विदित हो जाता है कि, यह क़ानून जारी करने से सरकार का क्या अभिप्राय है। इसने मजूरों को बिलकुल पूँजीपतियों की इच्छा का दास बना दिया है। इतना ही नहीं, इस क़ानून से मजूर संघों की राजनैतिक सत्ता ही नष्ट हो जायगी। इस क़ानून को रद कराने के लिये राजनैतिक आंदोलन की बड़ी ज़रूरत पड़ेगी ; पर मजूर संघों को उस आंदोलन में अपने कोष को काम में लाने का अधिकार न होगा। अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे कि इंगलैंड पर मजूर दल का राज्य था। और आज मजूर दल को इस तरह कुचला जा रहा है कि वह कभी सिर ही न उठा सके। पूंजीपतियों को मजूरों को दबाए रखने के लिये सब कुछ करने का अख़्तियार है, पर ग़रीब श्रमिकों के लिये अपने स्वत्वों की रक्षा करना भी अपराध बना दिया गया है।

देखना है, कि इंगलैंड की बहुप्रशंसित जनसत्तात्मक बुद्धि इस बिल को ठुकरा देती है, या उस दल को, जिसने उसको जन्म दिया है।

× × ×

५. वक्तृत्व-कला का महत्त्व

लोग वर्तमान युग को विज्ञान तथा व्यवसाय का युग कहते हैं, पर हम उतनी ही यथार्थता से इसे भाषण कला का युग कह सकते हैं। भाषण-कला की आज जितनी महत्ता है, उतनी पहले भी कभी थी, इसमें संदेह है। जीवन के जिस क्षेत्र में जाइए, आपको इसी विभूति के चमत्कार दिखाई देंगे। शिक्षक के लिये इससे उत्तम और कोई साधन नहीं। पुस्तकों द्वारा जो बात आप बरसों में ग्रहण कर सकते हैं, भाषण द्वारा आप मिनटों और घंटों में हृदयंगम कर सकते हैं। समाज-सेवी के लिये इससे श्रेष्ठ और कोई साधन नहीं। और राजनीति की तो मानो यह जान ही है। आज संसार के किसी प्रांत को देखिए। जो सब से उत्तम भाषण कर सकता है, वही अपनी जाति का नेता है। उसके चरित्र को कोई नहीं पूछता, उसकी वाणी और व्यवहार में कितनी ही विषमता क्यों न हो, यदि वह अच्छा प्रभावशाली वक्ता है, तो उसके सारे क़सूर माफ़ हैं। महान से महान पद पर उसका अधिकार है, संसार उसके सामने तुच्छ है। यह विभूति इसी शक्ति में है कि आदमी प्रातःकाल सोकर उठने पर अपने को कीर्ति के शिखर पर बैठा पा सकता है। संध्या समय उसने केवल एक वक्तृता दी थी। सोते समय वह गुमनाम प्राणी था, पर सोकर उठा तो देखा सारा संसार उसके चरणों पर झुका हुआ है। आज संसार की महान् राज संस्थाओं के संचालक वही लोग हैं, जिनकी जिह्वा पर सरस्वती का निवास है। स्वामी विवेकानंद ने अमेरिका को प्रस्थान किया, तो उन्हें कोई न जानता था, कई महीनों के बाद लौटे तो सभ्य जगत उनकी कीर्ति गा रहा था। प्राचीन काल में तलवार विजय का आधार थी। खून की नदी बहाने पर कहीं जाकर विजय प्राप्त होती थी। आज वाणी ही विजय का अस्त्र है, जिसके द्वारा बिना रक्त की बूँद गिराए आपकी विजय-पताका भूमंडल पर फहरा सकती है। अपने विचारों के प्रचार का, जनता में शिक्षा फैलाने का, उन में नये जीवन-संचार का—यही एक मात्र साधन है। यह भी एक पश्चिम की चीज़ है। रोम और यूनान के अतीत गौरव की स्मृति अब भी सुक़रात, सिसरो और डेमास्थनीज़ की अमर कीर्तियों में विद्यमान है। आज-कल विद्यालयों में इस कला के विकास की ओर जितना ध्यान दिया जाता है, उससे कहीं अधिक की ज़रूरत है। हम चाहते हैं कि हमारे विद्यालयों का प्रत्येक विद्यार्थी निर्भीकता के साथ किसी भी समाज के सामने खड़ा हो कर अपनी वाणी से उसे मुग्ध कर सके। हम प्रत्येक युवक को इस संमोहन अस्त्र से लैस देखना चाहते हैं। हमें कहीं कहीं यह उपेक्षा की ध्वनि सुनाई देगी कि बातों का ज़माना गया, यह कामों का समय है। बातें करते हमें शताब्दियां गुज़र गईं। मगर, क्या जीवन के सभी काम फावड़े और कुदाल से होते हैं। हाँ, अगर इस कथन का यह आशय है कि, हमें दूसरों को सुधारने की चेष्टा करने के पहले अपने को सुधारना चाहिए, तो हम उसका अपनी पूरी शक्ति के साथ अनुमोदन करते हैं। इससे बढ़कर हास्यास्पद दृश्य नहीं हो सकता कि आप दूसरों को गढ़े से बचाते फिरें, और खुद औंधेमुँह गढ़े में गिरे हों। न ऐसे भाषणों का जनता पर प्रभाव ही पड़ सकता है। प्रभावोत्पादक शक्ति शब्दों में नहीं, आत्मबल और चरित्र में है। एक बलवान आत्मा की सीधी-सादी अलंकार-विहीन बात किसी रँगीसियार के सुसज्जित वाक्यों और लच्छेदार शब्दों से कहीं अधिक प्रभाव डालती है।

× × ×

६. इंदौर में हिंदी साहित्य

भारतवर्ष की बहुसंख्यक हिंदू रियासतों में शायद इंदौर ही एक ऐसी रियासत है, जिसने हिंदी साहित्य के उपकार के लिये एक छोटी सी रक़म पुरस्कार के रूप में देने की व्यवस्था की है। रियासत की वार्षिक रिपोर्ट को देखने से ज्ञात होता है कि हिंदी और मराठी दोनों ही भाषाओं के हितार्थ दो कमिटियाँ बनी हुई हैं। गत वर्ष रियासत ने दोनों कमिटियों में से हरेक को २५००) दिए। अब ज़रा देखिए कि हिंदी कमिटी ने इस धन को कैसे ख़र्च किया। इस कमिटी के सामने केवल ३० हिंदी पुस्तकें विचारार्थ आईं। उनमें से १८ पुस्तकों पर ६१०) पुरस्कार दिया गया। दो पुस्तकों के अनुवाद के निमित्त १४००) ख़र्च किए गए। मराठी पुस्तकों की कमिटी ने १२५ पुस्तकों पर विचार किया। उनमें से ७० पुस्तकों पर २३३०) पुरस्कार दिया गया। मराठी कमिटी से तो हमें कुछ कहना नहीं है, पर, हिंदी कमिटी से हमें यह पूछना है कि उसने हिंदी के लेखकों तथा प्रकाशकों को इस विषय की सूचना देने के लिये क्या

कारवाई की ? क्या उसने कोई विज्ञप्ति निकाली, और निकाली, तो किन पत्रों में ? हमें इस संबंध में कोई सूचना नहीं मिली । ३० हिंदी पुस्तकें, जिन पर कमिटी के विज्ञ सज्जनों ने विचार किया, कौन कौन सी थीं, किस विषय की थीं ? दो पुस्तकों के हिंदी अनुवाद पर १४००) ख़र्च हुए। क्या हम पूछ सकते हैं कि, वे कौन कौन सी पुस्तकें हैं, और किन विद्वानों द्वारा उनका अनुवाद हुआ है ? क्या यह पुरस्कार केवल इंदौर रियासत के निवासी हिंदी लेखकों को ही दिया जाता है या सार्वदेशिक है ? यदि केवल इंदौर वालों ही के लिये है, तो, हमें उसके विषय में कुछ कहने-सुनने का अधिकार नहीं है। पर, यदि, सार्वदेशिक है, तो कमिटी ने उसके विषय में हिंदी-साहित्य-संसार को अज्ञान में रखकर कोई सराहनीय कार्य नहीं किया । हम हिंदी कमिटी से अनुरोध करते हैं कि, भविष्य में वह अपने मंतव्यों को मुख्य पत्रों-पत्रिकाओं में प्रकाशित कर दिया करे, तभी उसका पुण्य उद्देश्य पूरा होगा । जब तक किसी को कुछ ज्ञात ही न हो, वह अपनी पुस्तकें कैसे कमिटी के पास भेज सकता है । उसको विस्तार के साथ बता देना चाहिए कि, किस विषय की पुस्तकों को वह पुरस्कृत करना चाहती है, निर्णायक कौन कौन सज्जन नियुक्त हुए हैं, पुस्तकें कितनी और किसके पास भेजी जानी चाहिए ? उसे निर्णायकों की एक रिपोर्ट भी प्रकाशित करनी चाहिए । मंगलाप्रसाद पारितोषिक के सिवा हिंदी में (लेखकों को प्रोत्साहित करने के लिये) और कोई व्यवस्था नहीं है । ऐसी दशा में साहित्य के हितैषियों की यही चेष्टा होनी चाहिए कि हिंदी साहित्य के उपकार के लिये जो धन निर्दिष्ट किया जाय, उसकी एक एक पाई का सद्व्यय हो ।

× × ×

७. संगठन

किसी जाति की राष्ट्रीयता की सबसे बड़ी पहचान यह है कि उसमें व्यक्ति को जाति पर मिटा देने वाले मनुष्य अधिक-से-अधिक संख्या में निकलें । संसार उन्हीं राष्ट्रों के सामने सिर झुकाता है, जिनमें यह बलिदान-शक्ति कर्तव्य बन जाती है । योरप, जापान, अमेरिका इसी शक्ति की बदौलत संसार के विधाता बने हुए हैं । जातीय-उन्नति और उत्थान का यही मूलतत्त्व है । बलिदान कोई सहज वस्तु नहीं है । मानवी-हृदय और आत्मा के उच्चतम भाव और विचार मानव-जीवन के उच्चतम संस्कार इसी शक्ति में छिपे हुए हैं, और राष्ट्रीय संगठन का तो मानो यह प्राण ही है । बलिदान के बिना संगठन नहीं होसकता, उसी भाँति जैसे सूर्य के बिना प्रकाश नहीं होसकता । असहयोग-काल में हमारी बलिदान-शक्ति उत्तेजित होगई थी । उसने जो कुछ कर दिखाया, वह भारत के इतिहास में बहुत दिनों तक यादगार रहेगा । किंतु, वह इस देश-व्यापी अंधकार में जुगनू की चमक थी। स्वार्थ और ईर्षा ने उसे शीघ्र ही चारों ओर से घेर लिया, और फिर उसी सघन अंधकार का राज्य होगया । हिंदू जाति को संगठित करने के लिये बलिदान की, स्वार्थ-त्याग की, उत्सर्ग की आवश्यकता है । हमारा ज़मींदार भाई अपने स्वार्थ को जौ भर भी नहीं छोड़ना चाहता, हमारा महाजन अपना प्याला रुधिर से अवश्य भरेगा, हमारा कर्मचारी-मंडल अपने अधिकार में रत्ती भर की कमी भी नहीं सह सकता, हमारा शिक्षित-समाज किसी प्रकार का कष्ट उठाने के लिये तय्यार नहीं । ऐसी दशा में हम संगठन के कार्य में उससे अधिक सफल न होंगे, जितना असहयोग-आंदोलन में हुए थे। क्या हमारे उन भूपतियों ने, जो संगठन के महान् कार्य में बड़ा उत्साह दिखा रहे हैं, अपनी रियासतों और इलाक़ों में बेगार और भाँति-भाँति के अन्याय-पूर्ण करों का बहिष्कार कर दिया है ? क्या चमार, कहार, पासी, भर आदि जातियों के भाई उनके द्वार पर गालियाँ नहीं खाते ? उन्होंने दलितों के शिक्षित करने के लिये कोई उद्योग किया ? हमें भय है कि उन्होंने कुछ भी नहीं किया । यह केवल कुँओं पर पानी भरने या मंदिरों में प्रवेश करने का प्रश्न नहीं है । यह प्रश्न है मन के संस्कार का, दिलों में बैठे हुए ऊँच-नीच के मिथ्या पाखंडों को मिटाने का । जो चमार आप के द्वार पर झाड़ू लगाता है, और आपके घोड़ों के लिये ज़बरन् घास छीलता है, उससे आप यह कैसे आशा रख सकते हैं कि वह अपनी दशा पर संतुष्ट हो ? असहयोग की असफलता का सबसे बड़ा कारण देहातों की ओर से आँखें बंद कर लेना था । हमारे लीडर देहातों में जाते हुए घबराते हैं, हमारे शिक्षित वर्ग देहातों में मनोरंजन की कोई सामग्री नहीं पाते । सभी दो-चार व्याख्यान देकर या एकाध महीने आँधी की तरह देहातों का दौरा करके,

और वह भी निर्वाचन के दिनों में, समाज और जाति का बेड़ा पार लगा देना चाहते हैं। लगन का कहीं नाम भी नहीं। हिंदू-सभा ने कार्यारंभ तो बड़े धूम-धाम से किया, पर हिंदु-मुस्लिम वैमनस्य की आग भड़का देने के सिवा उसने भी कोई प्रशंसनीय कार्य अबतक नहीं किया। अस्पर्श्यता की ओर कुछ कुछ ध्यान लोगों को अवश्य हुआ है, पर उसका श्रेय महात्मा गांधी को है। अब तक हिंदू सभा की ओर से देहातों को जगाने की कोई व्यवस्था नहीं की गई है।

मनुष्य सामाजिक-जीव है, वह उसी समाज में रहना चाहता है, जहाँ उसे संमान, सहायता और सहानुभूति मिले, जहाँ उसके कुछ अधिकार हों। हिंदू-समाज में पारस्परिक-प्रेम का घोर अभाव है, और दुर्भाग्य-वश दिन दिन उसकी और वृद्धि होती जाती है। पहले किसी गाँव में कोई मरजाता था, तो गाँव के सभी लोग उसकी अर्थी के साथ श्मशान तक जाते थे। किंतु अब यह प्रथा मिटती जारही है। कोई मुसलमान मरजाता है, तो सारा महल्ला उसके जनाज़े के साथ जाता है। राह चलते लोग जनाज़े में आ मिलते हैं; पर हिंदू मरता है तो कोई उसकी लाश को उठाने वाला भी नज़र नहीं आता। घर के लोग हुए, तो ख़ैर, नहीं तो किराए के मजूरों पर लाश जलाशय पहुँचाई जाती है। अगर कुछ लोग आ जाते हैं तो बिरादरी या नातेदारी के ख़याल से। स्वजातीय-भाव किसी के हृदय में जोश नहीं मारता। रात को कोई दुर्घटना होजाय, मुसलमान जमा होजाते हैं; हिंदू और भी दम साध लेता है। किसी मुसलमान औरत को छेड़े जाते देखकर बहुत से मुसलमान जमा होजाते हैं, हिंदू स्त्री को छेड़े जाते देखकर किसी हिंदू के कानों पर जूँ नहीं रेंगती। एक मुर्गीजिया (कबुलिया) आता है और कुलीन हिंदुओं की आँखों के सामने नीच जाति के हिंदुओं पर नाना अत्याचार करता है। किसी को चोट नहीं लगती। जहाँ समाज में इतनी विशृंखलता ने घर कर लिया हो, वहाँ इन छुटछुमासे की लेकचरबाज़ियों का कोई असर न होगा। जब समाज के अंदर विघटन के अनेक कारण अपना प्रभाव डाल रहे हैं, तो आप संगठन के कार्य में बिना भगीरथ उद्योग किए कभी सफल नहीं हो सकते। बिना सच्चे मिशनरियों के एक दल के हम कुछ नहीं कर सकते। हिंदू सभा को अपना सारा धन और बल ऐसे मिशनरियों की खोज में लगा देना चाहिए। इन मिशनरियों को देहातों में घूम घूमकर प्रेम और सहानुभूति का उपदेश देना और दलितों को सामाजिक कुप्रथाओं से बचाना होगा। वे प्रजा के friend, philosopher and guide होंगे। उनकी जीविका का प्रबंध हिंदू-सभा द्वारा ही होना चाहिए। देश में मिशनरियों की कमी नहीं है। केवल एक अशोक की आवश्यकता है, जो स्वयं त्यागमूर्ति हो। जिस देश में करोड़ों रुपए हर साल मंदिरों के बनवाने में ख़र्च कर दिए जाते हैं, जो देश ५० लाख से अधिक भिखमंगों, साधुओं और नागों का पालन करता है, उस देश में धन की कमी न होनी चाहिए।

× × ×

८. सेवक कवि और पावस

सेवक कवि का जन्म संवत् १८७२ में असनी ज़िला फ़तेहपुर में हुआ था। इनकी मृत्यु संवत् १९३८ में काशीजी में हुई। ये काशी के रईस बाबू हरिशंकरप्रसादजी के आश्रित कवि थे। इनके एक पूर्वज देवकीनंदन मिश्र, कवि थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका संबंध असनी के नरहरि नामक ब्रह्मभट्ट से था। उक्त ब्रह्मभट्ट की कन्या इनको ब्याही थी। देवकीनंदनजी के पौत्र ठाकुर कवि परम प्रसिद्ध थे। ठाकुरजी के धनीराम और सेवक दो पुत्र थे, और दोनों ही सुकवि थे। पुराने ढंग के अच्छे कवियों में सेवक का आदरणीय स्थान था। इनके बाद उस ढँग के बहुत कम अच्छे कवि हुए। सेवक की कविता संग्रह ग्रंथों में बहुत पाई जाती है। उनका एक ग्रंथ 'वाग्विलास' मुद्रित भी हुआ था। नहीं जानते वह अब सुलभ है या नहीं। हमारे पास उसकी एक प्रति मौजूद है। इनकी कविता का विशेष परिचय कभी लेख रूप में 'माधुरी' के पाठकों को कराया जायगा। आज पावस-संबंधी इनके दो-चार छंद पाठकों की भेंट किए जाते हैं। इससे पाठकगण इनकी कवित्व-शक्ति का अंदाज़ कर सकेंगे। हमारी राय में सेवकजी बड़े अच्छे कवि थे। उनके बनाए छंदों में उनकी प्रतिभा का पूरा चमत्कार दिखलाई पड़ता है। इस समय देश पावस के अलौकिक चमत्कारों का दर्शन कर रहा है। पावस के आश्रय में प्रकृति-सुंदरी की छटा वर्णनातीत हो रही है, इसलिये हम भी इस सुहावने समय का कुछ वर्णन सेवकजी के छंदों को उद्धृत करके करते हैं। आशा है

इन छंदों के पाठ से पाठकों का भी कुछ मनोरंजन अवश्य होगा—

उनये घन देखि रहे उनये दुनये से लता द्रुम फूलो करै,
एरी सेवक मत्त मयूरन के सुर दादुरऊ अनकूलो करै।
तरपै दरपै दिनि दामिनि दीह यहाँ मन मोह कबूलो करै,
मन भावती के सँग मैन मई घनस्याम सबै निसि झूलो करै।

मोर चहुँ ओर सोर करत कठोर जोर,
दादुर अथोर दई बोलत न रुकैं री।
झिल्ली झनकार मनो विषम कटारे मारे,
कोलिया पजारे विरहागि करि कूकैं री।
सेवक बिहारी बिन हारी हौं निहारी सोह,
बीजुरी सघन मन मारत न चूकैं री।
फूँकें तन ताप हूकें बाय की विविधि भूकें,
लूकें सम लागें मोहि जल की कनूकें री।

सर सरिता लौं सब सेवक थलनि जल,
सरसि गए ते फेरि सरसन लागे री।
कामना लता के दल बीर विरहागिनि ते,
झरसि गए ते फेरि झरसन लागे री।
जोर जब जागे नए बीजरी ते डोरे लाल,
दरसि गए ते फेरि दरसन लागे री।
देखि घनस्याम घनस्याम सें घुमड़ि नैन,
बरसि गए ते फेरि बरसन लागे री।

सावन बहार झूलै घन की घमंड पर,
घन की घमंड पौन चपला के झोले पै।
चंचलाऊ झूलै घन सेवक अकास पर,
झूलत अकास लाज हासिले के टोले पै।
हासि की उमंग झूलै मदन तरंग पर,
मदन तरंग मन लालन के चोले पै।
लालन को मन झूलै बालन के रंग पर,
बालन को मन झूलै बाग के हिंडोले पै।

कितनी सरस उक्तियाँ हैं। पहले और चौथे छंद में संयोग शृंगार का कैसा सुहावना दृश्य है। मनभावनी के साथ रात-रात भर घनश्याम का झूलते रहना कैसे सरस विचारों का परिचायक है। शब्द प्रवाह और भाषा-संगठन में कैसा निरालापन है। प्रसाद गुण का सुंदर प्रसाद प्रत्येक पाठक को मुग्ध कर देता है। दूसरे और तीसरे छंद में वियोग शृंगार का विकलकारी दृश्य है। जल के कनूकों का लूक के समान लगना वियोगियों को ही अनुभूत होता है। जो वियोगी नहीं, वे इस रहस्य को क्या जानें? तीसरे छंद का अंतिम पद कितना सुंदर है—

देखि घनस्याम घनस्याम सें उमड़ि नैन,
बरसि गए ते फेरि बरसन लागे री।

अश्रुप्रवाह का कैसा मनोरम और जीता-जागता चित्र है। धन्य सुकवि सेवक और धन्य तुम्हारी रचना!!

× × ×

६. मृत्यु-दंड

योरप और अमेरिका में यह चर्चा ज़ोरों से चल रही है कि भविष्य में दंड-विधान से मृत्यु-दंड उठा दिया जाय। मृत्यु-दंड के उठा देने के पक्ष में सामयिक पत्रों में लेख भी निकलते रहते हैं। लार्ड बकमास्टर ने हाल में एक पुस्तक की भूमिका में मृत्यु-दंड का घोर विरोध किया है, और इस दंड-प्रथा को उठा देने की सलाह दी है। उनका कहना है कि तर्क, न्याय तथा मनुष्यता इन सभी दृष्टियों से मृत्यु-दंड का होना अनुचित है। आख़िर, सरकार को दूसरे की जान लेने का अधिकार ही क्या है? यदि कोई मनुष्य आत्महत्या का उद्योग करता है, तो सरकार उस पर मुक़द्दमा चलाती है, और सरकार की ओर से कहा जाता है कि सरकार की मातहती में रहने वाले प्रत्येक प्राणी का जीवन सरकार की थाती के समान है। उसकी रक्षा का उत्तरदायित्व सरकार पर है। यदि कोई मनुष्य अपना जीवन नष्ट करने का उद्योग करता है, तो मानो वह सरकारी थाती को चुराना चाहता है, उसके उत्तरदायित्व के काम को बिगाड़ना चाहता है, इसलिये वह दंड्य है। भ्रूण-हत्या और गर्भ-पात-समस्या को भी सरकार इसी दृष्टि से देखती है, और ऐसे मामलों के अभियुक्तों को भी दंड मिलता है। पर, जहाँ आत्म-हत्या करने वालों और भ्रूण-हत्या के अभियुक्तों पर इतना कोप है, वहाँ सरकार स्वयं मृत्यु-दंड का विधान करके लोगों का जीवन नष्ट करती है। यह कैसा न्याय है। प्रत्येक प्राणी को जीवन दान करने वाला ईश्वर है, और ईश्वर ही इस जीवन को नष्ट भी कर सकता है। और किसी को तो यह अधिकार न होना चाहिये। लार्ड बकमास्टर का कहना है कि मृत्यु-दंड का जो यह उद्देश्य था, कि उससे क़त्ल और ख़ून के मामले कम हो जायँगे, सो इस उद्देश्य की पूर्ति में संपूर्ण विफलता हुई है; और ख़ून तथा क़त्ल के मामले बढ़ ही रहे हैं, घट नहीं रहे

हैं। ऐसी दशा में मृत्यु-दंड से क्या लाभ। फिर, यदि, मृत्यु-दंड पाने वालों की पूरी देख-रेख की जाय, और उनके सुधार का प्रयत्न किया जाय, तो, यह असंभव नहीं है कि कुछ लोग सुधर भी सकते हैं। सारांश, लार्ड बकमास्टर की चले तो वह मृत्यु-दंड को फ़ौरन् बंद कर दें। लार्ड महोदय के अनुयायियों की संख्या बहुत है, पर उन के विरोधी भी हैं। हाल ही में लंदन के 'ईवनिंग न्यूज़' पत्र में सर हर्बर्ट स्टीफ़ेन ने मृत्यु-दंड विधान का समर्थन किया है। उनका कहना है कि, मृत्यु-दंड सर्वथा उचित है। यदि सरकार को अन्य प्रकार की सज़ाएँ देने का अधिकार है, तो वह मृत्यु-दंड क्यों नहीं दे सकती है। सर स्टीफ़ेन की तो यह राय है कि मृत्यु-दंड की व्यवस्था केवल क़त्ल और ख़ून के मामलों तक न परिमित रहनी चाहिए, वरन् उसकी परिधि और अधिक विस्तृत होनी चाहिए। सर स्टीफ़ेन का कहना है कि मृत्यु-दंड की व्यवस्था कम-ख़र्चीली है। अभियुक्तों को जेल में रखने के कारण बहुत से आदमी देख-रेख के काम में अटके रहते हैं, जो बहु व्ययसाध्य है। फिर, मृत्यु-दंड से न्याय का अंतिम निर्णय हो जाता है; फिर और कोई घिस-घिस बाक़ी नहीं रह जाती है। यह भी बड़ी बात है। इसके अतिरिक्त ख़ूनी ने जिसका ख़ून किया है, उसके कुटुंबी और रिश्तेदारों को तभी पूर्ण संतोष होता है, जब वे देखते हैं कि ख़ूनी फाँसी पर लटका दिया गया। मृत्यु-दंड से ख़ून और क़त्ल के मामलों में अवश्य कमी हुई है। यदि मृत्यु-दंड उठा दिया जाय, तो समाज में उथल-पथल मच जाय और ख़ूनों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जाय। सर स्टीफ़ेन ने उदाहरण देकर अपने पक्ष का समर्थन किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि चूँकि मेरा संपर्क फ़ौजदारी अदालतों से ४० वर्ष से ऊपर रहा है, इसलिये ख़ूनियों की बाबत मेरी राय का महत्त्व लार्ड बकमास्टर की राय से अधिक होना चाहिए, जिनका काम अधिकतर दीवानी अदालतों से रहा है।

× × ×

१०. दो साहित्य-सेवियों का स्वर्गवास

पीलीभीत के प्रसिद्ध हिंदी-लेखक श्री चंडीप्रसादजी 'हृदयेश' का अचानक स्वर्गवास हो गया। आप हिंदी के एक उदीयमान लेखक थे। आपके लिखे कई उपन्यास हिंदी-संसार में ख़ासी लोकप्रियता प्राप्त कर चुके हैं। आप प्रयाग से प्रकाशित 'चाँद' में अधिक लिखते थे। 'माधुरी' पर भी आपकी कृपा थी। आप बड़े परिश्रमी, उत्साही और अध्यवसायी पुरुष थे। इस समय आप की अवस्था बहुत थोड़ी थी। अच्छे स्वास्थ्य और पूर्ण युवावस्था के संयोग से आपकी हिंदी-सेवा की लगन पूर्ण प्रोत्साहन प्राप्त कर रही थी। हिंदी-संसार को आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। पर होता वही है जो ईश्वर को मंज़ूर होता है। कहाँ तो हम लोग हृदयेशजी की भविष्य साहित्य-सेवा की आशा में अपने सरस्वती-मंदिर के शृंगार की कल्पना कर रहे थे, और कहाँ महाकाल ने उन्हें हमारे बीच से उठा लिया। हमारे मन के मनसूबे मन में ही रह गए। हृदयेशजी की इस असामयिक मृत्यु से हिंदी-संसार की बहुत बड़ी हानि हुई है। हम अत्यंत श्रद्धा और नम्रता से हृदयेशजी के कुटुंबियों के साथ इस महान् विपत्ति में सहानुभूति और समवेदना प्रकट करते हैं, और स्वर्गीय आत्मा की सद्गति के लिये ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। यदि हो सका, तो किसी अगली संख्या में हम हृदयेशजी का चित्र और विस्तृत चरित्र प्रकाशित करने की चेष्टा करेंगे।

हृदयेशजी की स्वर्ग-यात्रा का संवाद सुनकर हिंदी-संसार में जो शोक छा गया था, उसमें कुछ भी कमी न हो पाई थी कि, अचानक एक दूसरे हिंदी के धुरंधर विद्वान् और साहित्यसेवी का स्वर्गवास हो गया। लखनऊ के प्रसिद्ध साहित्यसेवी, हास्य-रस के अनुभवी लेखक, वयोवृद्ध पं० शिवनाथजी शर्मा को कौन नहीं जानता है। आपके हास्य-रस के लेखों को पढ़ने के लिये ही किसी समय लोग 'आनंद' पत्र पढ़ा करते थे। शर्माजी की लिखी 'मिस्टर व्यास की कथा' का पर्याप्त प्रचार और आदर है। लखनऊ नगरी में शर्माजी उस समय हिंदी की सेवा और प्रचार का बीड़ा उठाए हुए थे, जब यहाँ उर्दू का एकच्छत्र राज्य था। शर्माजी का हास्य रस बड़े मार्के का होता था। कभी-कभी तो आप ऐसी चुटकी लेलेते थे कि चित्त प्रसन्न हो जाता था। इस वृद्धावस्था में अपने कार्य-क्षेत्र लखनऊ में हिंदी का कुछ प्रचार देखकर शर्माजी प्रसन्न थे और भविष्य में हिंदी-साहित्य के विस्तार और प्रचार के काम को द्रुति गति से बढ़ाने को उत्सुक थे, पर 'मन चेती नहिं होति है प्रभु चेती ततकाल' इस कहावत के अनुसार शर्माजी को इस संसार से बिदा लेनी पड़ी।

शर्माजी वयोवृद्ध थे, उनकी अवस्था ढल चुकी थी, घर-गृहस्थी का काम उन्होंने अपने सुयोग्य पुत्र को सौंप रक्खा था। अंतिम दिन के स्वागत के लिये वे तैयार थे। यह सब था, पर क्या ही अच्छा होता कि अभी शर्माजी दो-चार बरस और जीवित रहते और वर्तमान तथा भविष्य में हिंदी के साहित्य-निर्माण कार्य में अपने अमूल्य अनुभवों से हम लोगों को कृतकृत्य करते। शर्माजी की मृत्यु से हिंदी-साहित्य की बहुत बड़ी हानि हुई है। इस घोर विपत्ति में हम शर्माजी के कुटुंबियों के साथ विशेष करके उनके सुयोग्य पुत्र पं० महेशनाथजी शर्मा के साथ हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं, और मृतात्मा की सद्गति के लिये ईश्वर से सतत प्रार्थना करते हैं।

श्रीहृदयेशजी और पं० शिवनाथजी की मृत्यु की बात सोच कर हमें बार-बार बेनी कवि का यह छंद याद आ जाता है—

कंज के कोस में भौंर फँस्यो अपसोस कियो मन में अति ऊबा,
ह्वैहै प्रभात उदैहै दिवाकर भागि हौं मैं यहि जाल सों डूबा।
बेनी कहै समुझ्यो नहिं बात औ काल को ख्याल न जान्यो अजूबा,
नालि लयो नलिनी गज यों रहिगो मन को मन में मनसूबा।

× × ×

११. 'हिंदू-पंच' को बधाई

कलकत्ते के सहयोगी 'हिंदू-पंच' ने अल्पकाल में ख़ासी उन्नति कर ली है। अब उसका प्रचार भी अच्छा है। जिन उद्देश्यों को सामने रखकर उसने जन्म लिया है, उनका प्रचार भी वह निर्भयता के साथ कर रहा है। हिंदू-संगठन का वह प्रबल समर्थक है और इस काम को वह अच्छे ढंग से कर रहा है। पर, जहाँ हिंदी-संसार ने उसे अपनाया है, हिंदू-जनता में उसका प्रचार है, वहाँ सरकार उससे नाराज़ है। अपने इस शैशव-काल में उसे एक से अधिक बार सरकारी कोपानल की तीव्र आँच के निकट जाना पड़ा है। अभी हाल ही में इसके संपादक पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा तथा मुद्रक को क्रम से छः और चार मास का सपरिश्रम दंड इस अपराध में हुआ था कि उन्होंने 'हिंदू-पंच' में बलिदान नामक नाटक प्रकाशित किया, जिसके कारण हिंदू और मुसलमानों में परस्पर वैमनस्य के भाव फैले। यह दंडाज्ञा प्रेसिडेंसी मैजिस्ट्रेट की अदालत से हुई थी। अभियुक्तों ने कलकत्ता हाईकोर्ट में इस आज्ञा के विरुद्ध अपील की थी। हर्ष की बात है कि जस्टिस घोष तथा जस्टिस ग्रीगरी की संयुक्त अदालत ने 'हिंदू-पंच' के संपादक को संपूर्ण निर्दोष पाया और उन्हें छोड़ दिया। इतना ही नहीं, जजों ने अपने फ़ैसले में यह बात भी कही है कि लेखक का उद्देश्य भिन्न-भिन्न संप्रदायों में वैमनस्य फैलाने का न था तथा अपने विचारों को प्रकट करने में उसने ईमानदारी का परिचय दिया है। इस प्रकार से 'हिंदू-पंच' के इस मामले का अंत हुआ और संपादक बड़ी-से-बड़ी अदालत द्वारा सर्वथा निर्दोष प्रमाणित हुए। इस उचित विजय के उपलक्ष्य में हम पं० ईश्वरीप्रसाद जी शर्मा को हृदय से बधाई देते हैं। सहयोगी 'प्रताप' और 'हिंदू-संसार' की विजय के बाद यह 'हिंदू-पंच' की विजय भी कम महत्त्व की नहीं है। 'प्रताप' पर एक सरकारी सब-इंस्पेक्टर का वार था, 'हिंदू-संसार' पर एक बड़े आदमी का। 'हिंदू-पंच' पर ख़ास सरकार का वार था। हर्ष की बात है कि 'हिंदू-पंच' इस बार से बच गया। उचित न्याय करनेवाले हाईकोर्ट के जजों की प्रशंसा करनी ही पड़ती है।

× × ×

१२. वैष्णवरत्न श्री रूपकलाजी

श्री अयोध्याजी में इस समय एक सुयोग्य और परम भक्त वैष्णव वैरागी रहते हैं। इनका नाम श्री रूपकलाजी है और निवास स्थान रूपकला-कुंज के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर बड़े बड़े योग्य पुरुष भारतवर्ष के भिन्न भिन्न अंचलों से आते हैं और श्री रूपकलाजी के दर्शन करके कृतकृत्य होते हैं। प्रायः ३४ वर्ष से रूपकलाजी ने अयोध्याजी के बाहर पैर नहीं रक्खा है। बस, इसी तीर्थ स्थान में हरिनाम संकीर्तन में आप निमग्न रहते हैं। आप रामानंदीय संप्रदाय के वैष्णव हैं, पर विचारों में औदार्य होने से मुसलमान और ईसाई सज्जन भी आप से प्रेम करते हैं। रूपकलाजी हिंदी के भी भक्त हैं और उसके प्रचार में भी सहायक रहते हैं। श्री जानकी नौमी नाम का धार्मिक महोत्सव आप बड़ी धूमधाम से करते हैं और उस अवसर पर श्री अयोध्याजी में बिहार, संयुक्तप्रांत, राजपूताना एवं गुजरात के वैष्णव भक्तों का अच्छा जमाव हो जाता है। श्री रूपकलाजी का जन्म एक सुयोग्य कायस्थ कुल में सन् १८४० ईसवी में हुआ था। इस समय आपकी आयु प्रायः ८७ वर्ष की है। वैराग्य ग्रहण करने के पूर्व आप

वैष्णवरत्न श्री रूपकलाजी

२० वर्ष तक सरकारी नौकर भी रहे थे। सन् १८९३ में आपको संसार से विरक्ति हुई, तभी से आप श्री अयोध्या जी में आ विराजे। आज भी सरकार से आपको १५०) मासिक पेंशन रूप में मिलता है। हिंदू समाज और धर्म की शोभा ऐसे ही विद्वान्, निस्पृही और यथार्थ भक्त साधुओं से है। माधुरी के पाठकों के लिये हम यहाँ पर श्री रूपकलाजी का चित्र देते हैं। ईश्वर करे, भारत के धार्मिक-उत्थान के लिये इस देश में सच्चे साधुओं का जन्म हो।

× × ×

१२. कृषि-सुधार की आयोजना

हमारे देश के कुछ मनुष्यों में ऐसा भ्रम फैला हुआ है, कि अमेरिका, जापान तथा योरप के देशों के सभी मनुष्य व्यापार और कला-कौशल ही पर अपना निर्वाह करते हैं। भारतवर्ष के प्राणियों से अधिक सुखी हैं। पहले तो यह कहना ही अनुचित है कि योरप के सभी देश भारतवर्ष से अधिक सुखी हैं। किसी हद तक ठीक होगा कि उन देशों में से अधिकांश भारतवर्ष से अधिक धनवान हैं। किंतु देश में अधिक धन होना, और प्रत्येक प्राणी का सुखी होना नितांत पृथक् हैं। यदि देश के कुछ धनियों के कोषों में करोड़ों रुपए बंद पड़े हों, तो उनसे इन दुःखियों का क्या, जिनको कि खाने को नाज तक नसीब नहीं? Capitalism के विषय में एक विद्वान् ने लिखा है—It makes the rich richer and the poor poorer. इसलिये Capitalism (पूँजीवाद) निर्धनों के लिये कभी हितकर नहीं हो सकता।

संसार में कला-कौशल की इतनी धूम-धाम होने पर भी, संसार के सभी देशों के अधिकतर मनुष्यों का उद्यम खेती ही है। कितने ही उन्नत देशों में तो कृषि के सिवाय कला-कौशलका तो नाम ही नहीं है; और वहाँकी प्रजा इतनीही सुखीहै, जितनी कि किसी कला-कौशल्य-प्रधान देशकी। डेनमार्क, जहाँकी भूमि तथा जलवायु भारतवर्ष की भूमि तथा जलवायु से किसी प्रकार बढ़कर नहीं है; केवल खेती की ही बदौलत योरप के सुखी देशों में गिना जाता है। जापान को हम, शायद, कला-कौशल-संपन्न देश समझते हैं, पर वहाँ भी मनुष्यों का मुख्य उद्यम खेती ही है। अमेरिका, जो संसार में सबसे सुखी देश समझा जाता है, केवल व्यापार और कला-कौशल से ही बैकुंठधाम नहीं बना हुआ है। वह कृषि-प्रधान देश है। इससे ज्ञात होता है कि खेती केवल भूखों को रोटी देनेवाली ही नहीं, वरन् देश को सुखी और धन-संपन्न बनाने का यंत्र भी है। चाहे भारतवर्ष में हज़ारों नए कारख़ाने खुल जायँ, और चाहे स्वराज्य भी मिल जाय, पर, यह निर्विवादहै कि, न तो इन कारख़ानोंसे ३२ करोड़ आदमियोंको काम ही दे सकतेहैं, और न यह हमारी दरिद्रता को दूर ही कर सकते हैं। होगा, तो कृषि से ही होगा।

अमेरिका का कृषि-वृत्तांत सुनकर हमें बड़ा आश्चर्य होता है। बात यह है कि जब से विज्ञान के सूर्य का अभ्युदय हुआ है, अमेरिका और योरप ने उनसे लाभ उठाकर इतनी उन्नति करली है कि, भारतवर्ष और उनकी दशा में आकाश और पाताल का अंतर हो गया है। हमने अभी तक दो-एक प्रांतीय विद्यालयों को खोलने के सिवा कृषकों के उद्धार की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। हमारे कृषक आज भी उसी अंधकार में पड़े हुये हैं। संगठन और विज्ञान की भनक तक उनके कान में नहीं पड़ी है। ऐसे संगठित और वैज्ञानिक संसार में रहते हुए यदि कोई मनुष्य इन साधनों से रहित होकर अपना और अपने परिवार का पेट पाल सके, तो उसके लिए यही बहुत है। उसके धनवान और सुखी

होने का प्रश्न तो कल्पनातीत ही समझना चाहिए। फिर, हमारे कृषक के पास न तो धन है, न विद्या और विज्ञान। हाँ, वह सर से पैर तक ऋण से अलबत्ता लदा हुआ है। और हमारा शिक्षित-समुदाय उसके हाथ से रोटी छीनने को तैयार है। यदि कृषक अपनी संतान को शिक्षित बनाता है, तो वह भी गाँव छोड़कर शहर में रहना आरंभ करता है। अतएव, कृषि का कार्य केवल निरक्षर, निर्धन और ऋण से दबे हुए मनुष्यों के हाथ में रह जाता है। यदि हमें कृषि का उद्धार करना है, तो हमें अपनी शिक्षा-प्रणाली को ऐसा बनाना होगा कि हमारे विद्यालयों से निकले हुए युवक कृषि के व्यवसाय को आदर की दृष्टि से देखें—स्वयं खेती करें, और दूसरों को करना सिखावें। इसके साथ ही हमें देहातों को भी, शहरों की भाँति ही, अच्छी सड़कों, वाचनालयों और सभ्यता के अन्य साधनों से विभूषित करना होगा, जिससे हमारे शिक्षित-समाज को देहातों में रहना बोझ न मालूम हो। हमारा उद्धार कृषि-सुधार पर है, और कृषि सुधार उस वक़्त तक संभव नहीं, जब तक कृषकों की ओर हमारे विधायक और नेता अधिक ध्यान नहीं देते। यह लिखते हुए हमें यह समाचार पढ़कर असीम आनंद हुआ कि मदरास के कृषि-विभाग के मंत्री ने अपने वेतन से ८००) मासिक कृषि की उन्नति के लिये व्यय करने का निश्चय किया है। हमें आशा है, अन्य प्रांतों के मंत्री भी इस अनुकरणीय उदारता का अनुकरण करेंगे।

॥ श्रीः ॥

माधुरी

विविध-विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र

मासिक पत्रिका

वर्ष ५, खंड २

माघ-आषाढ़, ३०३ तुलसी-संवत् (१९८३-८४ वि०)

फ़रवरी-जुलाई, १९२७ ई०

संपादक

पं० कृष्णविहारी मिश्र, बी० ए०, एल्‌एल्० बी०

श्री प्रेमचंद (धनपतराय, बी० ए०, सी० टी०)

अध्यक्ष—

श्री विष्णुनारायण भार्गव

नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

वार्षिक मूल्य ७॥)] यह मूल्य केवल इसी खंड तक है। [छमाही मूल्य ४)

लेख-सूची

१—पद्य

२—गद्य

चित्र-सूची

१—रंगीन चित्र

२—व्यंग्य चित्र